Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

7 3 v2

॥ श्री ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितविरचिता

वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी

...प्रणीतया 'बालमनोरमा' व्याख्यया समलङ्कृता

सैव

...पकाख्य-हिन्दी-व्याख्ययोपेता च

(कारकान्तः प्रथमो भागः)

व्याख्याकारः—

श्रीगोपालदत्तपाण्डेयः

एम० ए०, व्याकरणाचार्यः,

...काशप्राप्तः उप-शिक्षानिदेशकः (उत्तरप्रदेशस्थः) तथा नैनीतालस्थ-राजकीय-स्नातकोत्तर महाविद्यालयस्य भूतपूर्वः आचार्यः संस्कृतविभागाध्यक्षश्च

...सुरभारती प्रकाशन ...डय
वाराणसी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

□

संस्कृत व्याकरण के अध्ययन-अध्यापन में सिद्धान्तकौमुदी का अपना स्थान है। लगभग चार शताब्दियों से इसका पठन-पाठन अनवच्छिन्न रूप से चला आ रहा है। इस ग्रन्थ पर संस्कृत में लगभग २५ व्याख्यायें लिखी गई हैं। इनमें से बालमनोरमा व्याख्या विशद एवं विस्तृत होने के साथ ही कौमुदी के भावगाम्भीर्य को स्पष्ट करने में सुविदित होने के कारण अध्येता एवम् अध्यायक—दोनों ही के लिये मननीय हो गई है। इस पर भी आवश्यकता इस बात की थी कि सिद्धान्तकौमुदी की प्रामाणिक हिन्दी व्याख्या प्रकाशित की जाय। राष्ट्रभाषा के माध्यम से छात्रों को शब्द-विश्लेषण की प्रक्रिया तथा प्राचीन वैयाकरणों के सिद्धान्तों का परिज्ञान कराने के लिये सिद्धान्तकौमुदी का प्रस्तुत संस्करण इस कमी की पूर्ति की दिशा में एक सफल प्रयास है।

प्रस्तुत दीपिका व्याख्या में रूपसिद्धि (साधनिका) करते समय यथासाध्य प्रत्येक चरण को प्रक्रियोपयोगी सूत्रों द्वारा गणितीय-सोपान-परम्परा के समान स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। व्याख्या भी केवल कौमुदी की वृत्ति पर ही आधारित नहीं है, अपितु भाष्य, काशिका, रूपमाला, शेखर आदि मूल ग्रन्थों के आधार पर समाकलित प्रचुर सामग्री से विभूषित की गई है। सूत्रार्थ सम्पन्न करने में अनुवृत्तिक्रम, विभक्तिविपर्यय, शब्दों की यौगिक-सिद्धि, परिभाषाओं का ज्ञापन आदि विषयों का भी यथास्थान समावेश किया गया है। इसका प्रथम भाग (कारकान्त) आपके हाथों में है। ग्रन्थ के शेष तीन भाग भी मुद्रण में हैं, जो शीघ्र उपलब्ध होंगे।

□

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

186

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

॥ श्री. ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
४६

186 (30)

श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितविरचिता

वैयाकरण-

सिद्धान्तकौमुदी

श्रीवासुदेवदीक्षितप्रणीतया 'बालमनोरमा' व्याख्यया समलङ्कृता

सैव

दीपिकाख्य-हिन्दी-व्याख्ययोपेता च

(कारकान्तः प्रथमो भागः)

व्याख्याकारः—

श्रीगोपालदत्तपाण्डेयः

एम० ए०, व्याकरणाचार्यः,

अवकाशप्राप्तः उप-शिक्षानिदेशकः (उत्तरप्रदेशस्थः) तथा नैनीतालस्थ-राजकीय-स्नातकोत्तर-महाविद्यालयस्य भूतपूर्वः आचार्यः संस्कृतविभागाध्यक्षश्च

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वा रा ण सी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपाल मन्दिर लेन

पोस्ट बाक्स नं० १२९

वाराणसी २२१००१

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण

१९७९

मूल्य ५०–००

अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),

पोस्ट बाक्स नं० ६९

वाराणसी २२१००१

मुद्रक—

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

THE
CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA
46

823

VAIYĀKARAṆA SIDDHĀNTAKAUMUDĪ

OF

ŚRĪ BHATTOJIDĪKṢITA

(FIRST PART : KĀRAKĀNTA)

Containing

'BĀLAMANORAMĀ' OF ŚRI VĀSUDEVA DĪKṢITA

Edited with

THE 'DĪPIKĀ' HINDI COMMENTARY

By

Sri Gopal Datt Pande,
M. A., Vyakaranacharya,
Retired Deputy Director of Education, U. P. and Former Professor and Head of Sanskrit Department, D. S. B. Government Post-Graduate College, Nainital.

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
VARANASI

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

© CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

(Oriental Booksellers & Publishers)

K. 37/117, Gopal Mandir Lane

Post Box No. 129

VARANASI 221001

First Edition

1979

Price Rs. 50-00

Also can be had of

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

(Oriental Booksellers & Publishers)

CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)

Post Box No 69

VARANASI 221001

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समर्पणम्

ब्रह्मीभूतो म० म० पं० नित्यानन्दपन्तपर्वतीयमहाभागः

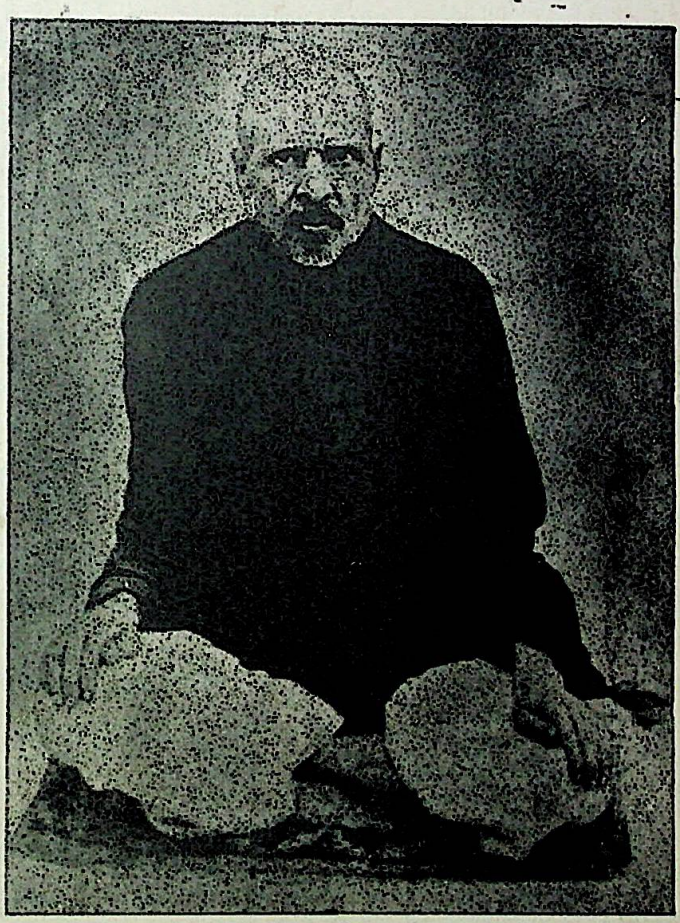

जन्म-संवत् १९२४] [निर्वाण-संवत् १९८८

नित्याप्तबोधतृप्तो विद्यां सकलां दधद्धृदये ।
व्याकृतिविहारहारी नित्यानन्दो गुरुर्जयति ॥
वेदाङ्गेषु प्रसिद्धेषु मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्य तन्मयरूपत्वात् तन्मुखं तन्मुखं मतम् ॥
त्वन्मुखात् कौमुदी सैषा बाल्येऽधीता मया गुरो !
अतस्तद्विवृतिं भक्त्या तुभ्यमेव समर्पये ॥

गोपालदत्तपाण्डेयः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

823

प्राक्कथन

संस्कृत-व्याकरण की परम्परा : वेदाङ्ग

विश्व-साहित्य में वेदों की प्राचीनता सर्वमान्य है। अतः भारतीय परम्परा में प्रत्येक विषय का सम्बन्ध वेदों से ही जोड़ने का प्रयत्न किया जाता है। इस हेतु व्याकरण-शास्त्र के आदिम स्रोत को ढूँढने के लिए वेदों के अभिमुख होना पड़ता है। 'वेदाङ्ग' नामकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा, कल्प, छन्द, निरुक्त, व्याकरण तथा ज्यौतिष–इन छहों अङ्गों की पृथक् रूप में मान्यता वेदों के संहिता-रूप में निबद्ध होने तथा उनकी स्वाध्यायप्रवृत्ति के बाद ही सम्भव हुई हो। वैदिक-चिन्तन के साथ ही अर्थानुसन्धान के लिए शब्दों के विश्लेषण का आविर्भाव स्वाभाविक था। इसी विश्लेषण के फलस्वरूप इस अङ्ग का नाम 'व्याकरण' रखा गया। छहों अङ्गों में इसकी प्रधानता भी स्वीकार की गई—'मुखं व्याकरणं स्मृतम्'। उपर्युक्त छहों वेदाङ्गों में से 'शिक्षा' और 'निरुक्त' में उल्लिखित अनेक बातें विशुद्ध रूप से वर्तमान काल के प्रचलित व्याकरण के क्षेत्र में आती हैं। शिक्षा और निरुक्त—इन दोनों वेदाङ्गों के जो ग्रन्थ आजकल उपलब्ध हैं उनमें बहुत से वचन ऐसे विद्यमान हैं, जिन्हें हम पाणिनीय व्याकरण से अभिन्न और समान रूप में पाते हैं। इस प्रकार व्याकरण, शिक्षा और निरुक्त, ये तीनों परस्पर सम्बद्ध हैं। शिक्षा और निरुक्त एक तरह व्याकरण के पूरक अङ्ग हैं। शेष तीनों वेदाङ्गों का सम्बन्ध वेदों से अवश्य है, व्याकरण से नहीं। इस दृष्टि से भर्तृहरि ने भी छहों अङ्गों में व्याकरण को सर्वप्रथम और सर्वप्रधान अङ्ग माना है—'प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः'।

वैदिकव्याकरण : प्रातिशाख्य

विशुद्ध रूप में वैदिक शाखाओं से सम्बद्ध शब्दों का अन्वाख्यान प्रातिशाख्यों में मिलता है। इनका वेदों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वेद की शाखाओं से सम्बद्ध होने के कारण इनका नाम 'प्रातिशाख्य' रखा गया। प्रातिशाख्यों में वेद की विभिन्न शाखाओं से सम्बद्ध व्याकरण के नियम दिए गए हैं। इन में वर्णोच्चारण-शिक्षा, संहिता का पद पाठ में परिवर्तन और पदपाठ का संहिता में परिवर्तन, सन्धिविज्ञान, स्वरविधान, पदों का विभाजन, स्वरसंचार आदि विषयों का विवेचन किया गया है। इसके साथ ही प्रातिशाख्यों में व्याकरण के पारिभाषिक शब्द भी मिलते हैं, जिन्हें परवर्ती वैयाकरणों ने उसी रूप में ग्रहण किया है। प्रातिशाख्यों में 'ऋक्प्रातिशाख्य' सबसे प्राचीन माना गया है। अनेक शाखाओं के नाम पर वाजसनेय-प्रातिशाख्य, साम-प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य, मैत्रायणीय-प्रातिशाख्य, अथर्वप्रातिशाख्य आदि सुप्रसिद्ध हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रातिशाख्यों के पूर्व भी ब्राह्मण-ग्रन्थों में कुछ ऐसे संकेत विद्यमान हैं, जिससे यह विदित होता है कि 'व्याकरण' शास्त्र की पर्याप्त चर्चा उस युग में होती रही हो। अथर्ववेद से सम्बद्ध 'गोपथब्राह्मण' में निम्नलिखित प्रचलित पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख है—धातु, प्रातिपादिक, आख्यात, लिङ्ग, वचन, विभक्ति, स्वर, उपसर्ग, निपात, वर्ण, अक्षर, पद, संयोग आदि। इसके अतिरिक्त मैत्रायणी संहिता में ६ विभक्तियों का उल्लेख विद्यमान है। ऐतरेय-ब्राह्मण में वाणी की सात विभक्तियों की ओर निर्देश किया गया है। वस्तुतः संहिता और ब्राह्मण-ग्रन्थों का उद्देश्य 'व्याकरण' का निर्वचन करना नहीं था। यह केवल प्रासङ्गिक रूप में जिज्ञासा मात्र है। आगे चलकर प्रातिशाख्यों ने इस कार्य को पूरा किया तथा उन्हें ही व्याकरण का प्रारम्भिक रूप समझना चाहिए। प्रातिशाख्यों के रूप में वैदिक काल में व्याकरणशास्त्र के उदय और विकास का यह परिणाम हुआ कि परवर्ती व्याकरण-ग्रन्थों के रचयिताओं को प्रातिशाख्यों से उपयुक्त सामग्री मिली। विशेषतः पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में वाजसनेयी प्रातिशाख्य से उपधा, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, आम्रेडित आदि पारिभाषिक शब्दों को उसी रूप में ग्रहण कर लिया तथा कई सूत्रों को भी कुछ परिवर्तन के साथ संगृहीत किया।

यास्क

इस प्रसङ्ग में यास्क के निरुक्त की चर्चा करना आवश्यक है। यद्यपि 'निरुक्त' को व्याकरण का ग्रन्थ नहीं माना जाता, तथापि शब्दों की निरुक्ति (व्युत्पत्ति) के सम्बन्ध में प्रक्रिया दिये जाने के कारण वह व्याकरण से साम्य रखता है। प्रातिशाख्य के अनुसार शब्दों के ये चार भेद—नाम, आख्यात, उपसर्ग, और निपात—इन्होंने भी स्वीकार किये हैं। पाणिनि से पूर्ववर्ती यास्क भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में बहुत प्रसिद्ध हैं। आधुनिक इतिहासकार यास्क को ८०० ई० पू० मानते हैं।

इस प्रकार पाणिनि के पूर्व व्याकरणशास्त्र की पूर्वपीठिका तैयार हो चुकी थी। व्याकरण का यह उदयकाल इस शास्त्र के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह इस शास्त्र का सर्जनात्मक युग था, जिसमें पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि ने अपनी रचनाओं द्वारा व्याकरण केमौलिक तथ्यों का निर्वचन प्रस्तुत किया। व्याकरण शास्त्र में महर्षि पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि की मुख्यता ने व्याकरण को प्रौढता के शिखर पर पहुँचा दिया।

त्रिमुनि व्याकरण

संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में पाणिनि युगपुरुष के रूप में आविर्भूत हुए। उन्होंने अतीत का संबल लेकर एक ऐसे व्याकरण की रचना की जिसने तत्कालीन तथा भविष्य में प्रयोग की जानेवाली संस्कृत-भाषा का मार्गदर्शन किया। पाणिनि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने अपने समय से पूर्व वैदिक और लौकिक साहित्य का सूक्ष्म विवेचनात्मक अध्ययन कर इन दोनों के बीच ऐसा तादात्म्य स्थापित किया जो संस्कृतभाषा के परिष्कृत रूप को चिरस्थायी बनाने के लिये उपयोगी सिद्ध हुआ। पाणिनि को इस कार्य में पूर्ण सफलता मिली। वैदिक प्रयोगों को मान्यता देने के साथ ही उन्होंने लौकिक संस्कृत को ऐसी नियमबद्ध शृङ्खला में आबद्ध किया, जिसने उसे स्थिरता प्रदान की। इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण बड़ा व्यापक रहा। उन्होंने अपने समय तक प्रचलित सभी शब्दों को, जो संस्कृत में समा चुके थे, संस्कृत के विशाल दायरे में लाने का अभूतपूर्व प्रयास किया। इसके फलस्वरूप जनसाधारण की दृष्टि में पाणिनीय-व्याकरण ही संस्कृत-व्याकरण का पर्यायवाची शब्द बन गया। इसका एकमात्र कारण उनकी अष्टाध्यायी की विशेषता थी, जिसे एकस्वर से विश्व का सर्वाधिक प्रौढ़ एवं प्रामाणिक व्याकरण-ग्रन्थ स्वीकार किया गया।

पाणिनि के आविर्भाव के साथ ही उनके पूर्ववर्ती वैयाकरणों का तेज मन्द हो गया और उन प्राचीन वैयाकरणों के ग्रन्थों का भी धीरे-धीरे लोप होता चला गया। उनमें से बहुतों का तो केवल नाम ही अवशेष रह गया है। फिर भी दस वैयाकरण ऐसे रहे जिनके मतों का उल्लेख पाणिनि ने अपने सूत्रों में प्रसङ्गवश किया है। यह पाणिनि की महत्ता थी कि उन्होंने इस प्रकार अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों का आधमर्ण्य स्वीकार किया है। उनके नाम हैं—आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक तथा स्फोटायन। इनमें से दो वैयाकरणों का विशेष प्रभाव रहा और यास्क ने भी उनका उल्लेख अपने निरुक्त में किया है। शब्दों की रचना के सम्बन्ध में ये दो वैयाकरण—गार्ग्य और शाकटायन—अपने-अपने पृथक् मतों के कारण भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में आज भी सुविदित हैं। इनमें से गार्ग्य का यह मत था कि केवल वे ही शब्द 'धातुज' माने जा सकते हैं, जिनमें धातु और प्रत्यय स्पष्टतया अभिलक्षित हो सकें। इसके विपरीत शाकटायन ने सभी शब्दों को धातुज माना है। शाकटायन के मत का ही प्रतिपादन यास्क ने अपने निरुक्त में किया है, जो आगे चलकर सिद्धान्त के रूप में मान्य हुआ। पाणिनि भी इसी मत के पोषक हैं।

इन दस वैयाकरणों के अतिरिक्त अन्य व्याकरण-प्रवक्ता भी प्रसिद्ध हुए हैं, जिनका पाणिनि की अष्टाध्यायी में तो उल्लेख नहीं हुआ है तथापि उनमें से इन्द्र, काशकृत्स्न, पौष्करसादि, भागुरि माध्यन्दिनि तथा वैयाघ्रपद्य का उल्लेख पाणिनि के उत्तरवर्ती विद्वानों ने अवश्य किया है। इनके अतिरिक्त भी पाणिनि ने कहीं-कहीं अपने सूत्रों में पूर्वाचार्यों का प्रतीकात्मक उल्लेख किया है। अधिक आचार्यों का मत सूचित करने के लिये पाणिनि ने उनका पृथक् नाम-निर्देश न कर 'एकेषाम्' 'सर्वेषाम्' आदि पदों का आश्रय लिया है। इसके साथ ही पाणिनि ने अपने समय की बोलियों का पारस्परिक विभेद दर्शाने के लिये 'प्राचाम्'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'उदोचाम्' आदि शब्दों का प्रयोग कर उस समय के पूर्वीय भाग और उत्तरीय भाग के वैयाकरणों का सामूहिक मत सूचित किया है।

उस समय वैदिक और लौकिक संस्कृत के साथ जन-साधारण में प्राकृत भाषा का भी प्रयोग होता रहा। बाद में प्राकृत और लौकिक संस्कृत का अन्तर स्पष्ट करने के लिये 'भाषा' की अपेक्षा सस्कृत नाम रखना उचित समझा गया। जिस प्रकार खड़ी बोली, भोजपुरी, अवधी एवं व्रजभाषा में आजकल अन्तर परिलक्षित होता है उसी तरह उस समय भी संस्कृत और प्राकृत में अन्तर था। फिर भी जनता में दोनों का प्रचलन समानान्तर रूप में विद्यमान था। अतः पाणिनि के सामने यह भी एक बड़ी समस्या थी। भाषा के उस सङ्क्रमण-काल में पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना कर संस्कृत भाषा को व्याकरण के रूप में ऐसी धरोहर प्रदान की, जिससे परवर्ती आचार्यों के लिये शब्दशास्त्र का मार्ग प्रशस्त हो गया तथा उन आचार्यों ने पाणिनि की अष्टाध्यायी को ही आधारभूत ग्रन्थ मानकर इस शास्त्र पर विचार करना आरम्भ किया।

कई शताब्दियों बाद पाणिनि की समन्वयात्मक बुद्धि के पारखी कात्यायन को सर्वप्रथम यह प्रतीत हुआ कि अपने महान् उद्देश्य की पूर्णता के प्रयास में पाणिनि की पकड़ में कहीं-कहीं कुछ कमी रह गई है। तदनुसार उन्होंने स्वयं वार्तिकों की रचना की। अवशिष्ट नियमों को उनमें समेटते हुए अष्टाध्यायी के पूरक-रूप में वार्तिकग्रन्थ को उन्होंने प्रस्तुत किया। अनेक विदेशी और देशी विद्वानों ने कात्यायन के इस प्रयास में विरोध की भावना भले ही पाई हो किन्तु उसमें शाश्वतिक विरोध की कोई गुंजाइश नहीं थी। वस्तुतः कात्यायन ने पाणिनि की समीक्षा ही की है। इस प्रकार इन्होंने १५०० वार्तिकों का समावेश किया।

इन दोनों आचार्यों—पाणिनि और कात्यायन—के प्रयासों में पारस्परिक समन्वय को समझने के लिए एक अन्तर्दृष्टिसम्पन्न व्यक्ति की आवश्यकता थी। उसे शेषावतार पतञ्जलि ने पहचान लिया। इन्होंने कात्यायन की तीखी पूरक-दृष्टि का आशय भी समझा। इसके साथ ही उन्हें यह भी आभासित हुआ कि कात्यायन के अनेक वार्तिक ऐसे हैं जिनके अस्तित्व के बिना भी पाणिनि के सूत्रों की उपादेयता में कोई कमी नहीं आसकती। पतञ्जलि कुछ और आगे बढ़े, उन्होंने पाणिनि की द्विरुक्तता को भी अपेक्षित नहीं समझा और स्थान-स्थान पर पाणिनि-सूत्रों के प्रत्याख्यान के रूप में अपने बुद्धिवैशद्य का परिचय दिया। फिर भी पतञ्जलि पाणिनि के पोषक ही रहे। वे पाणिनि की सरणि में पूर्णता को खोजना चाहते थे। उन्होंने स्थान-स्थान पर पाणिनि के समान कात्यायन के मत की समीचीनता पर प्रसन्नता ही अभिव्यक्त की। पतञ्जलि ने अधिकतर कात्यायन के वार्तिकों को पाणिनीय सूत्रों का उद्घोषक माना है और वे एक प्रकार से पाणिनि के अनुयायी ही हैं। इस ऊहापोह से पतञ्जलि इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि कात्यायन के कतिपय वार्तिकों को ही अनिवार्य माना जा सकता है। उनकी इस जिज्ञासा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने दोनों आचार्यों की कृतियों में सत्यान्वेषण करने पर ही विश्राम किया। इस नीर-क्षीर-विवेक से पतञ्जलि की साख और बढ़ी तथा पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में पतञ्जलि के सिद्धान्तों को अधिक मान्यता मिली—'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'। इन विशेषताओं ने पतञ्जलि के महाभाष्य को अपूर्व कृति बना दिया। यद्यपि पतञ्जलि से पूर्व भी व्याडि, कुणि प्रभृति आचार्यों के अनेक व्याख्याग्रन्थ बन चुके थे, किन्तु 'शब्दानुशासन' के क्षेत्र में युगान्तरकारी रूप में केवल पतञ्जलि के महाभाष्य को ही चिरस्थायी मान्यता मिली।

पाणिनि

पाणिनि की स्थिति के सम्बन्ध में अभी तक निश्चित नहीं हो सका है। विद्वानों में अब भी मतभेद है। श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक ने पाणिनि का समय २८०० ई० पू० निर्धारित किया है। म० म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने पाणिनि की स्थिति १२०० ई० पू० बतलाई है। इन्होंने यह तर्क दिया है कि पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि इनमें से प्रत्येक के मध्य ५०० वर्ष का अन्तर होना चाहिये। पतञ्जलि को २०० ई० पू० मानने पर ७०० ई० पू० कात्यायन तथा १२०० ई० पू० पाणिनि का समय हो जाता है। डॉ० गोल्डस्टूकर तथा डॉ० बेलवलकर पाणिनि को ७०० ई० पू० में होना मानते हैं। इन विद्वानों के अतिरिक्त डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने पाणिनि का समय ५०० ई० पू० माना है। आधुनिक विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पाणिनि का समय ७०० ई० पू० के आस-पास ही होना चाहिए। पाणिनि के ईसापूर्व अष्टम शताब्दी में होने के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्य बलदेव उपाध्याय ने 'निर्वाण' और 'श्रमण' शब्दों के प्रयोग को मुख्यतया आधार माना है। उनके अनुसार पाणिनि ने 'निर्वाण' शब्द को विशिष्ट अर्थ (मोक्ष) का बोधक नहीं माना है, अन्यथा पाणिनि उस विशेष अर्थ का निर्देश करते। इसी को अभिलक्षित कर "निर्वाणोऽवाते" सूत्र (६-२-५०) की व्याख्या करते हुए काशिकाकार ने 'निर्वाणोऽग्निः', 'निर्वाणो दीपः', 'निर्वाणो भिक्षुः' आदि उदाहरणों में 'निर्वाण' शब्द का अर्थ 'शान्त होना' किया है। इसके अतिरिक्त 'श्रमण' शब्द का संन्यास अर्थ भी पाणिनि के पूर्व उपनिषत्काल में प्रचलित रहा। 'शतपथ ब्राह्मण' में भी 'श्रमण' शब्द का प्रयोग 'सर्वोपाधि' की निवृत्ति के रूप में किया गया है। अतः बुद्धकाल के पूर्व भी 'श्रमण' शब्द का प्रयोग परिव्राजक के अर्थ में होता रहा है। फलतः पाणिनि बुद्ध के पूर्ववर्ती ही हैं। पाणिनि ने अपनी प्रतिभा के बल पर अष्टाध्यायी की रचना की। इसमें आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार चरण (पाद) हैं। प्रत्येक चरण (पाद) के सूत्रों की संख्या परस्पर भिन्न है। सम्पूर्ण अष्टाध्यायी में लगभग ४००० सूत्र हैं। व्याकरणीय प्रक्रिया की दृष्टि से 'अष्टाध्यायी' के तीन विभाग किये जा सकते हैं—१—वाक्यों से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदों का संकलन (१-२ अध्याय), २—पदों का प्रकृति-प्रत्यय विभाग (३-५ अध्याय) तथा ३—प्रकृति-प्रत्ययों के साथ आदेश-आगम आदि का संयोजन कर परिनिष्ठित पदों की निष्पत्ति (६-८ अध्याय)। तदनुसार अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय में शास्त्रीय व्यवहारोपयोगी संज्ञाओं का संकलन है। इन संज्ञाओं के अतिरिक्त प्रकरण-गत उपपद आदि संज्ञायें अन्यत्र तत्तत्प्रकरणों में भी संकलित की गई हैं। संज्ञाओं के साथ परिभाषाओं के सादृश्य होने से उनका समावेश भी संज्ञाओं के साथ ही हुआ है। द्वितीय अध्याय में समास तथा कारक-प्रकरण समाविष्ट हैं। तृतीय अध्याय में 'कृत्य' एवं 'कृत्' प्रत्ययों का समावेश है। चतुर्थ तथा पञ्चम अध्याय में तद्धित प्रत्ययों का विवरण दिया गया है। षष्ठ अध्याय में तिङन्त, सन्धि तथा स्वरों के सम्बन्ध में नियम बतलाये गये हैं। सातवाँ अध्याय अङ्गाधिकार (सुबन्त और तिङन्त) के नाम से प्रख्यात है। अन्तिम अष्टम अध्याय में द्वित्व-विधान, स्वर-वैदिक प्रक्रिया, सन्धि प्रकरण, षत्व तथा णत्व विधायक सूत्रों का समावेश किया गया है। इस अध्याय के अन्तिम तीन पाद 'त्रिपादी' के नाम से प्रसिद्ध हैं, जो पूर्ववर्णित सवा सात अध्यायों की दृष्टि में असिद्ध माने जाते हैं। इनमें ऐसे ही विधान समाकलित किये गए हैं। अष्टाध्यायी के परिशिष्ट के रूप में धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र, लिङ्गानुशासन तथा शिक्षासूत्र भी पाणिनि द्वारा रचित माने जाते हैं। इन्होंने "जाम्बवतीविजय" नामक काव्य भी लिखा। श्रीयुत युधिष्ठिर मीमांसक जी के कथनानुसार इनका 'द्विरूपकोष' नामक एक ग्रन्थ 'इण्डिया आफिस पुस्तकालय, लन्दन' में सुरक्षित है। पाणिनि की अष्टाध्यायी ने संस्कृत-भाषा को संयमित कर सदा के लिये एक रूप बना दिया। पाणिनि ने अपने युग तक उपलब्ध साहित्य का अनुशीलन कर परीक्षण करने के बाद व्याकरण-ग्रन्थ का निर्माण किया (लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्)।

पाणिनि को शालातुरीय कहा जाता है। तदनुसार इनके पूर्वज 'शलातुर' ग्राम के निवासी थे। पुरातत्त्वविशारदों के अनुसार पेशावर में अटक के समीप 'लाहुर' ग्राम ही प्राचीन शलातुर है। इनके गुरु उपवर्षाचार्य थे। तक्षशिला में इन्होंने विद्या प्राप्त की। यह किंवदन्ती है कि पाणिनि की मृत्यु त्रयोदशी को हुई, अतः वैयाकरण त्रयोदशी को अनध्याय रखते हैं।

कात्यायन

पाणिनि और पतञ्जलि के मध्य विचारों की शृङ्खला को जोड़ने वाले कात्यायन रहे। इन्होंने वार्तिक लिखे। वार्तिकों का वास्तविक रूप इस समय पृथक् उपलब्ध नहीं होता। महाभाष्य से ही कात्यायन के वार्तिक पहचाने जा सकते हैं। भाष्यकार ने वार्तिकों का उत्थापन कर सूत्रों के साथ उनकी आवश्यकता और अनावश्यकता पर विचार किया है। पाणिनि द्वारा अप्रयुक्त अनेक वैदिक तथा प्राचीन लौकिक शब्दों के सम्बन्ध की पूर्ति वार्तिकों द्वारा हो जाती है। कात्यायन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दाक्षिणात्य थे। इस सम्बन्ध में पतञ्जलि का निर्देश ही प्रमाण माना जाता है—'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः, लोके वेदे इति प्रयोक्तव्ये लौकिकवैदिकेषु इति प्रयुञ्जते। अधिकतर विद्वान् इन्हें ई० पू० पाँचवी शताब्दी में होना मानते हैं।

वार्तिक एक प्रकार से सूत्रों के व्याख्यान हैं। वृत्तिग्रन्थ भी सूत्रों के व्याख्यान ही हैं। तथापि कात्यायन ने अपने वार्तिकों में प्रक्रिया के अतिरिक्त व्याकरण की दार्शनिकता का भी विवेचन किया है, जिससे यह व्याकरण केवल शब्दरचना का ही साधन न रहा, किन्तु शब्दार्थ के गम्भीर तत्त्वों का उन्मेषक भी हुआ। वार्तिकों के अतिरिक्त कात्यायन की अन्य रचनायें ये हैं—(क) स्वर्गारोहण काव्य, (ख) कात्यायनस्मृति, (ग) उभयसारिका भाण (नाटक), तथा (घ) भ्राजश्लोक। किंवदन्ती है कि पाणिनि के 'जाम्बवती-विजय' की होड़ पर कात्यायन ने 'स्वर्गारोहण' काव्य लिखा। इनके काव्य के विषय में 'पतञ्जलि' ने महाभाष्य में संकेत किया है—'वाररुचं काव्यम्'।

पतञ्जलि

पाणिनि व्याकरण को सर्वाङ्गीण बनाने में पतञ्जलि का योगदान सर्वदा स्मरणीय रहेगा। यह गोणिका के पुत्र थे तथा गोनर्द (गोंडा) के निवासी थे। इन्हें शेषनाग का अवतार माना जाता है। भोजराज की प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार योगसूत्रप्रणेता पतञ्जलि, व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि तथा चरक-संहिता के रचयिता पतञ्जलि तीनों एक ही व्यक्ति थे—

"योगेन चित्तस्य पदेन वाचा, मल शरीरस्य तु वैद्यकेन।
यो व्याकरोत् तं प्रवरं मुनीनां, पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥"

महाभाष्य में उल्लिखित अनेक उदाहरण-वाक्यों से विद्वानों ने पतञ्जलि का समय निर्धारण किया है। महाभाष्य के दो वाक्यों में 'लङ्' लकार के प्रयोग से ऐतिहासिक विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'पतञ्जलि' पुष्यमित्र शुङ्ग के समकालीन थे। ये दो वाक्य हैं—(१) अरुणद् यवनः साकेतम् तथा अरुणद् यवनः माध्यमिकाम्। यह घटना पुष्यमित्र के समय मिनेंडर के आक्रमण की सूचना देती है। उसकी सेना ने साकेत (अयोध्या) तथा माध्यमिका को घेरा था। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित दो वाक्यों में पतञ्जलि ने पुष्यमित्र का उल्लेख करते हुए वर्तमान काल (लट् लकार। का प्रयोग किया है—(१) इह पुष्यमित्रान् याजयामः तथा (२) पुष्यमित्रो यजते। इससे पुष्यमित्र और पतञ्जलि का समकालीन होना सिद्ध होता है।

पतञ्जलि ने पाणिनि के कृतित्व को अच्छी तरह समझ कर उसकी सूक्ष्मता का निदर्शन किया है। उन्होंने कात्यायन के वार्तिकों को पाणिनीय सूत्रों के पूरक के रूप में समझा तथा उनकी आवश्यकता को देखकर उनके औचित्य और अनौचित्य पर विचार किया है। उन्होंने पाणिनि के सूत्रजन्य-लाघव को मान्यता दी। भाष्यकार का प्रमुख उद्देश्य पाणिनि के सूत्रों की स्पष्ट व्याख्या कर उनके तथ्यों का निरूपण करना था। उनका अध्ययन व्यापक था। इस कारण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके महाभाष्य में वेद, शास्त्र, काव्य, इतिहास तथा दर्शन आदि सभी विषयों का समावेश है। महाभाष्य व्याकरण और व्याकरण-दर्शन—इन दोनों का आकर ग्रन्थ है। उन्होंने जो कुछ कहा है वह सूत्रों और वार्तिकों के व्याख्यान के रूप में कहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूत्रकार और वार्तिककार के मत का विवेचन पतञ्जलि की व्याख्या के सहारे ही हो सकता है।

व्याख्याग्रन्थ

पतञ्जलि के पश्चात् पाणिनि-शाखा के वैयाकरणों को दो कोटियों में रखा जा सकता है—(१) एक तो वे जिन्होंने पाणिनि की अष्टाध्यायी को उपजीव्य मानकर उनके सूत्रक्रमानुसार व्याख्यायें कीं। (२) दूसरे वे जिन्होंने अष्टाध्यायी को उपजीव्य मानते हुए भी शिक्षण की सुविधा के विचार से (भाषा की व्याहारिकता के विचार से) प्रकरणों में वर्गीकरण कर प्रक्रिया की दृष्टि से सूत्र-क्रम में अपेक्षित परिवर्तन किया। इनमें से प्रथम कोटि को अष्टाध्यायी-परम्परा कहना उचित होगा तथा दूसरी को प्रक्रियानुसारि-परम्परा।

पाणिनि की अष्टाध्यायी पर सूत्रक्रमानुसार प्रमुख वृत्तिग्रन्थ काशिका है। काशी में रचे जाने के कारण इसका नाम 'काशिका' पड़ा। इसके रचयिता दो विद्वान् वामन तथा जयादित्य रहे। इसमें से प्रथम पाँच अध्याय तो जयादित्य द्वारा विरचित हैं। शेष तीन अध्याय वामन द्वारा विरचित हैं। इत्सिंग ने अपने यात्राविवरण (वि. सं. ७१९-७२२) में इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि का उल्लेख किया है। जयादित्य की अपेक्षा वामन का लेख अधिक प्रौढ़ है। इत्सिंग के अनुसार वि. सं० ७१८ में जयादित्य को मृत्यु हो चुकी थी। काशिका में प्रत्येक पाणिनि सूत्र की व्याख्या की गई है। इस व्याख्या में महाभाष्य के मत से भिन्न आचार्यों के मत भी व्यक्त किये गये हैं। सबसे मुख्य बात तो यह है कि वार्तिकों का पूरा स्वरूप 'काशिका' में ही उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त दूसरी विशेषता यह है कि काशिका में अपेक्षित गणपाठ भी सूत्र की वृत्ति के साथ साथ दिया गया है। काशिका में ऐसे अनेक ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है जो आज अप्राप्य हैं। ऐसा विदित होता है कि काशिकाकारों के समय तक उन ग्रन्थों का अध्ययन अवश्य होता रहा होगा। इन प्राचीन ग्रन्थों में से जो उदाहरण काशिका में लिए गए हैं, उनका भी ऐतिहासिक महत्त्व है। इस प्रकार उनसे पूर्व वैयाकरणों और उनके ग्रन्थों के विषय में जानकारी मिलती है। काशिका का मुख्य उद्देश्य पाणिनि की प्रक्रिया को सिद्ध करना है। इसीलिये आवश्यकतानुसार अनेक वार्तिकों को पाणिनि की इच्छा का अभिव्यञ्जक मानकर 'इष्टियों' के रूप में पढ़ दिया है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं काशिकाकार ने वार्तिकों की मूलभाषा में भी हेरफेर किया है। उसका कारण यह है कि उन्होंने वार्तिकों को भी संक्षेप के साथ भावनात्मक अभिव्यक्ति के रूप में सामान्य चर्चा का अङ्ग बना लिया है। अतः बहुत से वार्तिक छूट भी गए हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काशिका की व्याख्यायें—काशिका पर दो व्याख्यायें लिखी गईं—प्रथम (१) जिनेन्द्रबुद्धि की 'काशिकाविवरणपञ्जिका' जो 'न्यास' के नाम से अधिक प्रसिद्ध है और दूसरी व्याख्या हरदत्त की 'पदमञ्जरी' है। कैयट ने महाभाष्य की टीका (प्रदीप) में न्यासकार का खण्डन किया है। कैयट का समय १०२५ ई० के आस-पास माना गया है। बाणभट्ट ने भी 'कृतपदन्यासो लोक इव व्याकरणेऽपि' इस प्रकार कहकर न्यासग्रन्थ की ओर संकेत किया है। फलतः जिनेन्द्रबुद्धि का समय ६५ ई० के आस-पास होना चाहिये। 'न्यास' काशिका का बड़ा ही प्रौढ़, प्रयोगबहुल तथा पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यान है। इसमें ग्रन्थकार ने मूल के तथ्यों का विवरण बड़े अच्छे ढंग से किया है। न्यास की अपेक्षा 'पदमञ्जरी' सामान्य अध्येता के लिये कम उपयोगी सिद्ध हुई है। इसका कारण उसमें पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति का होना है। इस ग्रन्थ में स्वयम् उन्होंने अपना पूरा परिचय दिया है। तदनुसार उनके पिता पद्मकुमार, माता श्री, अनुज अग्निकुमार, तथा गुरु अपराजित थे। यह द्रविड़-देश के निवासी थे। कावेरी नदी के तटवर्ती किसी ग्राम में इनका निवास-स्थान रहा। कैयट का खण्डन-मण्डन करने के फलस्वरूप इनका आविर्भावकाल ११०० ई० के लगभग माना गया है। इन दोनों टीकाओं पर भी टीकायें लिखी गईं। 'न्यास' पर 'मैत्रेयरक्षित' (१०७५–११२५) ने 'तन्त्रप्रदीप' नाम की व्याख्या बड़े विस्तार के साथ लिखी। इसके अतिरिक्त मल्लिनाथ ने 'न्यासोद्योत', महामिश्र ने 'न्यासप्रकाश' नामक व्याख्यायें लिखीं। 'पदमञ्जरी' की दो टीकायें मञ्जरी-मकरन्द तथा कुङ्कुमविकास उपलब्ध होती हैं। इनके लेखक क्रमशः रङ्गनाथ यज्वा तथा शिवभट्ट हैं। ये दोनों टीकायें १८ वीं शताब्दी की हैं।

व्याख्याओं के प्रसङ्ग में भर्तृहरि का 'वाक्यपदीय' अवश्य उल्लेखनीय है। वाक्यपदीय में व्याकरण का दार्शनिक पक्ष उभर कर आया है। कात्यायन के द्वारा आरोपित दार्शनिक पृष्ठ भूमि का प्रकीर्ण रूप पतञ्जलि ने पल्लवित कर आगे के ग्रन्थकारों को पूर्ण रूप में प्रतिफलित करने का अवसर दिया। इस कार्य को भर्तृहरि ने पूरा किया। उन्होंने छन्दोबद्ध रचना कर 'वाक्यपदीय' के तीन काण्डों में दार्शनिक विश्लेषण के साथ ही शाब्दिक-प्रक्रिया के अङ्गों पर भी पूर्ण रूप से विचार किया है। वाक्यपदीय के तीनों काण्डों के नाम हैं—(१) ब्रह्मकाण्ड, (२) वाक्यकाण्ड तथा (३) प्रकीर्णकाण्ड। वाक्यपदीय के अतिरिक्त इन्होंने महाभाष्य पर भी टीका लिखी थी। 'भर्तृहरि' विरचित महाभाष्य की व्याख्या महाभाष्य की टीकाओं में सबसे प्राचीन मानी जाती है। यह व्याख्या सम्पूर्ण उपलब्ध नहीं है। प्रमुख रूप में 'त्रिपादी' अंश की व्याख्या ही उपलब्ध होती है। वर्धमान (१२ वीं शती) ने 'भर्तृहरि' को त्रिपादी का ही व्याख्याता माना हैं। इनके गुरु का नाम वसुरात था। चीनी यात्री इत्सिङ्ग ने भर्तृहरि को बौद्ध माना है। वस्तुतः वह बौद्ध नहीं थे। उनके वाक्यपदीय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का ब्रह्मकाण्ड इस बात का द्योतक है कि भर्तृहरि वैदिक मतावलम्बी थे। 'काशिका' में 'वाक्यपदीय' ग्रन्थ का नामतः निर्देश होने से यह वामन-जयादित्य से कुछ प्राचीन ही सिद्ध होते हैं। आचार्य दिङ्नाग ने भी अपने त्रैकाल्य-परीक्षा नामक ग्रन्थ में 'वाक्यपदीय' की प्रथम कारिका को भोटभाषा में परिणत किया है। अतः आचार्य बलदेव उपाध्याय जी ने भर्तृहरि को दिङ्नाग से पूर्ववर्ती माना है। तदनुसार भर्तृहरि का समय ४०० ई० से ५०० ई० के मध्य उन्होंने सिद्ध किया है।

सूत्रानुसारी व्याख्याताओं के सन्दर्भ में 'महाभाष्य' के टीकाकार कैयट की चर्चा करना भी आवश्यक है। इस टीका का नाम 'प्रदीप' है। कैयट ने अपनी टीका के आरम्भ में ही 'वाक्यपदीय' का ऋण स्वीकार करते हुए यह व्यक्त किया है कि मैंने यह व्याख्या भर्तृहरिनिबद्ध-साररूपी ग्रन्थसेतु के आश्रय से रची है। कैयट के इस ग्रन्थ ने महाभाष्य के आशय को समझाने में बड़ी मदद दी है। इनके नाम से इनका काश्मीर-वासी होना प्रतीत होता है। कैयट के साथ ही 'सूत्रानुसारी व्याख्या' परम्परा का अन्त हो गया। यह परम्परा चन्द्रगोमी से आरम्भ हुई थी। चन्द्रगोमिन् बौद्ध थे। इनके व्याकरण लिखने का मूल उद्देश्य बौद्धसम्प्रदायोपयोगो व्याकरण लिखना था। यह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुए, क्योंकि एकाङ्गी होने के कारण आगे चलकर इनके गन्थ का प्रचार नहीं हो सका। कैयट का समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। महाभाष्य पर और भी अनेक व्याख्यान लिखे गए किन्तु 'प्रदीप' की ज्योति में सबका प्रकाश मन्द पड़ गया। कैयट के अनन्तर अध्यापकों में यह प्रवृत्ति होने लगी कि प्रक्रियांश को सरल तथा बोधगम्य बनाने के लिए भाषा के परिप्रेक्ष्य में पाणिनीय व्याकरण का प्रकरणानुसार वर्गीकरण किया जाय। इस प्रवृत्ति के फल-स्वरूप प्रक्रियानुसारी व्याकरण-ग्रन्थों का प्रारम्भ होने लगा।

प्रक्रियानुसारी व्याख्याग्रन्थ

अष्टाध्यायी के सूत्रों को प्रकरण-क्रम से व्यवस्थित करने में सर्वप्रथम धर्म-कीर्ति ने पहल की। इन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम रूपावतार रखा। 'रूपा-वतार' नाम ही रूपसिद्धि की प्रधानता को सूचित करता है। अल्पाभ्यास से साध्य तथा व्यवहार के अनुकूल होने से पाणिनीय शास्त्र के आचार्यों की दृष्टि इस पद्धति की ओर गई तथा अष्टाध्यायी के सूत्रों को रूपसिद्धि के अनुसार संकलित किया गया। १२वीं शती के मध्यभाग में धर्मकीर्ति की स्थिति मानी गई है। यह भी बौद्ध थे। इन्होंने मङ्गलाचरण—श्लोक में 'सर्वज्ञ' को वन्दना की है। रूपावतार दो भागों में विभक्त है। तदनुसार पूर्वार्ध में सुबन्त का वर्णन है और आठ अवतारों (प्रकरणों) में विभाजित है। उत्तरार्ध तिङन्त तथा कृदन्त का परिचायक है। इस ग्रन्थ में पाणिनि के समस्त सूत्रों को खपाने की कोशिश नहीं की गई है। प्रधान प्रक्रियाओं के पूरे व्याख्यान मात्र तक ही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्होंने अपने कृतित्व को सीमित कर रखा है। पाणिनीय व्याकरण को पूरी तरह समझना समझाना इनका लक्ष्य था। 'रूपावतार' ही पाणिनीय प्रक्रिया-पद्धति का उपलब्ध आदिम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में पाणिनि के २६६४ सूत्र संकलित किए गए हैं। वदिक-प्रक्रिया को छोड़ दिया गया है।

तदनन्तर इस दिशा में विमल सरस्वती की रूपमाला का नाम उल्लेखनीय है। इनका समय १३५० ई० माना गया है। रूपमाला की शैली तथा कौमुदी-ग्रन्थों की शैली में समानता है। इसमें सूत्रों को प्रत्याहार, संज्ञा, परिभाषा, सन्धि, सुबन्त, तिङन्त, स्त्रीप्रत्यय, कारक, कृत्, तद्धित और समास के प्रकरणों में रखा गया है। तदनन्तर शब्दरूपों और धातुरूपों का विवेचन विशेष रूप से किया गया है।

रूपमाला के बाद विक्रम की चौदहवीं शती के अन्त में रामचन्द्राचार्य (१३७५ ई०) ने पाणिनीय व्याकरण पर 'प्रक्रियाकौमुदी' की रचना की। इस ग्रन्थ का प्रमुख उद्देश्य प्रक्रियाज्ञान कराना है और ग्रन्थकर्ता ने सरल और सुबोध शैली में अपने विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इस ग्रन्थ पर अनेक व्याख्यायें लिखी गईं जिनमें ग्रन्थकार के पौत्र विट्ठल की प्रसाद नाम की टीका सुप्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त 'शेषकृष्ण' का 'प्रक्रियाप्रकाश' (१५०० ई०) भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है।

प्रक्रियाकौमुदी दो भागों में विभक्त है। इसके पूर्वार्ध में सुबन्त शब्दों के ज्ञान के लिए क्रमशः संज्ञा, सन्धि, स्वादि, स्त्रीप्रत्यय, विभक्त्यर्थ, समास तथा तद्धित प्रकरणों का संकलन है। उत्तरार्ध में तिङन्त-विवरण है, जिसमें भ्वादि दशगणीय धातु, ण्यन्तादिप्रक्रिया, तथा 'कृत्' प्रत्ययों का क्रमशः विवेचन किया गया है। रूपों की सिद्धि के लिए प्रत्येक प्रकरण में उपादेय सूत्रों को समाकलित कर, लघुवृत्ति के साथ उचित दृष्टान्त भी दिये गये हैं। वैदिक प्रक्रिया छोड़ दी गई है। इस ग्रन्थ में २४७० पाणिनीय सूत्र संगृहीत हैं। यही वह ग्रन्थ है जिससे भट्टोजी दीक्षित ने (रामचन्द्र की प्रक्रिया-कौमुदी से) प्रेरणा प्राप्त कर 'सिद्धान्त-कौमुदी' की रचना की है। यद्यपि इसके पूर्ववर्ती ग्रन्थ रूपावतार से भी इन्होंने प्रेरणा प्राप्त की, तथापि रामचन्द्र द्वारा आरम्भ की हुई प्रक्रिया-कौमुदी का ही इन पर अधिक प्रभाव पड़ा। भले ही इसका प्रचार स्वयं कम हो गया हो। रामचन्द्राचार्य ने एक सौ से अधिक ऐसे शब्दों को सिद्ध किया गया है जो पाणिनीय सूत्रों से निष्पन्न नहीं हो सकते थे। इन्हें लोक-व्यवहार की दृष्टि से मुनित्रय के अतिरिक्त कातन्त्र आदि वैयाकरणों की प्रामाणिकता मान्य है।

भट्टोजीदीक्षित के आविर्भावकाल के विषय में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। फिर भी इनकी रचनाओं के हस्तलेखों के आधार पर इनका स्थिति-काल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निश्चित किया गया है। बंगाल की हस्तलिखित पुस्तकों के सूचीपत्र में म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्री ने इन के शब्दकौस्तुभ के १६३३ ई० में लिखे हुए एक हस्तलेख का उल्लेख किया है। फलतः दीक्षित का काल इससे पूर्व होना चाहिये। इसलिये इनका समय १५६०-१६१० ई० के मध्य माना जा सकता है। यह दक्षिण के निवासी थे। इनका पूरा परिवार विद्या-सम्पन्न था। इनके कुल को व्याकरणशास्त्र के पारंगत विद्वानों को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त है। इनके पिता लक्ष्मीधर भट्ट, भ्राता रङ्गोजी भट्ट, पुत्र भानुदीक्षित (रामाश्रम), भ्रातुष्पुत्र कौण्डभट्ट तथा पौत्र हरिदीक्षित थे। इन्होंने अपने गुरु शेषकृष्ण से व्याकरण और धर्मशास्त्र का अध्ययन किया। वेदान्त और मीमांसा का अध्ययन क्रमशः नृसिंहाश्रम तथा अप्पय्यदीक्षित से किया। इन तीनों विषयों में इन्होंने ग्रन्थरचना की, तथापि इनकी प्रसिद्धि वैयाकरण के रूप में अधिक हुई। इनके द्वारा विरचित प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं—(१) सिद्धान्तकौमुदी, (२) प्रौढमनोरमा, (३) शब्दकौस्तुभ, (४) वैयाकरणभूषणकारिका (५) तत्त्वकौस्तुभ (वेदान्त), (६) त्रिस्थलीसेतु (धर्मशास्त्र), (७) तिथिनिर्णय (धर्मशास्त्र), (८) प्रवरनिर्णय (धर्मशास्त्र) तथा (९) चतुर्विंशतिमतव्याख्या (धर्मशास्त्र)। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त धर्मशास्त्र में तथा विविध-विषयों में इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है।

व्याकरण में इनकी सर्वाधिक प्रचलित पुस्तक सिद्धान्तकौमुदी है। यह ग्रन्थ प्रक्रियाशैली की पूर्णता को प्राप्त कराने वाला अध्यवसाय है। इस ग्रन्थ में 'अष्टाध्यायी' के समग्र सूत्र समाकलित कर लिए गये हैं। भाषा की दृष्टि से 'वाक्य' को अभिलक्षित कर (सुप्तिङन्तचयो वाक्यम्) तदनुसार ही इन्होंने अपने इस ग्रन्थ को पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में विभक्त किया है। अतः (क) पूर्वार्ध में सुबन्त शब्दों की सिद्धि में उपयोगी प्रकरणों का समावेश कर उसके अन्तर्गत विभाजन में (१) संज्ञा, (२) परिभाषा, (३) सन्धि, (४) सुबन्त, (५) अव्यय, (६) स्त्रीप्रत्यय, (७) कारक, (८) समास तथा (९) तद्धित प्रकरणों को निबद्ध किया है। (ख) उत्तरार्ध में तिङन्त शब्दों के उपयोगी उपकरणों की पूर्ति के लिये (१०) तिङन्त (दश-गणी), (११) ण्यन्तादि प्रक्रियाएँ तथा (१२) कृदन्त प्रकरण समाकलित हैं। इसके अतिरिक्त अन्तिम दो प्रकरणों—(१३) वैदिक प्रकरण और (१४) स्वर प्रकरण—में वैदिक प्रयोगसम्बन्धी तथा वेदों में प्रयुक्त स्वरसम्बन्धी विशेषताओं का निदर्शन किया गया है। इन अन्तिम दोनों प्रकरणों में वैदिकी प्रक्रिया तो अष्टाध्यायी के अध्यायानुकूल संकलित है, परन्तु स्वरप्रक्रिया में यह नियम सर्वांशतः संगृहीत नहीं है। अन्तिम दो अध्यायों के पार्थक्य से यह विदित होता है कि पहले दीक्षित को 'लौकिक' शब्दों की ही सिद्धि अभीष्ट रही हो, क्योंकि उत्तर कृदन्त के अन्त में विद्यमान पुष्पिका इसी की उपसंहार-सूचक है—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"इत्थं लौकिकशब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शितम ।
विस्तरस्तु यथाशास्त्रं दर्शितः शब्दकोस्तुभे" ॥

फिर भी उन्हें वैदिक प्रयोगों के सम्बन्ध में निर्वचन न करने का अभाव खला हो और उन्होंने 'स्वरवैदिकी' को सर्वान्त में जोड़ दिया । तदनुसार उसके अन्त में पृथक् पुष्पिका की पूर्ति की—

"इत्थं वैदिकशब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शितम् ।
तदस्तु प्रीतये श्रीमद्भवानीविश्वनाथयोः ॥"

इस प्रकार दीक्षित ने लौकिक और वैदिक—दोनों प्रकार के शब्दों की सिद्धि का अन्वाख्यान कर प्रक्रिया-शैली को पूर्णता के शिखर तक पहुँचा दिया । यदि दीक्षित वैदिक अन्वाख्यान से उदासीन रहते तो उनकी सिद्धान्तकोमुदी भी पूर्ववर्ती अन्य प्रक्रिया-ग्रन्थों की तरह एकाङ्गी ही रहती । इस प्रकार सिद्धान्तकौमुदी में अष्टाध्यायी के ३९७८ सूत्र व्याख्यात हैं । जिनमें से लौकिक प्रकिया में व्याख्यात सूत्रों की संख्या ३३८६ है । वैदिक-प्रक्रिया में २६३ तथा स्वर-प्रक्रिया में ३२९ सूत्रों की व्याख्या की गई है । इस तरह इनका योग ३३८६ + २६३ + ३२९ = ३९७८ होता है । १४ माहेश्वरसूत्रों को सम्मिलित कर यह संख्या ३९९२ हो जाती है । 'स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका' में सूत्रों की संख्या ३९९५ बतलाई गई है—

'चतुःसहस्री सूत्राणां पञ्चसूत्रविवर्जिता ।
अष्टाध्यायी पाणिनीया सूत्रैर्माहेश्वरैः सह ॥ (१५ वां श्लोक) ।

इस तरह सम्पूर्ण अष्टाध्यायी का प्रतिनिधित्व करने से इसकी लोकप्रियता बढ़ी । निम्नलिखित प्रकरण-सारणी से सिद्धान्तकौमुदी का प्रक्रिया-विवरण स्पष्ट हो जायगा—

सिद्धान्तकौमुदी

१ संज्ञाप्रकरण (सूत्रपाठ संख्या ३३, वार्तिक पाठ सं० ३)
२ परिभाषाप्रकरण (सूत्र सं० १३, परिभाषा पाठ सं० ४)
३ सन्धिप्रकरण (सूत्र सं० १३१, वा० ३८, परि० ३)
अच्सन्धि (सूत्र सं० ६४, वा० २३, परि० २)→हल् सन्धि (सूत्र ३९, वा० ८, परि० १)→विसर्गसन्धि (सूत्र १२, वा० ५)→स्वादि-सन्धि (सूत्र १६, वा० २) ।
४ सुबन्तप्रकरण । सूत्र २६९, वा० २६, परि० ११)
अजन्तपुंलिङ्ग (सूत्र १०९, वा० ५, परि० ६)→अजन्तस्त्रीलिङ्ग (सूत्र २२, वा० १, परि० १)→अजन्तनपुंसकलिङ्ग (सूत्र १५, वा० ५) हलन्तपुंलिङ्ग (सूत्र ११६, वा० ७, परि० ४)→हलन्त-स्त्रीलिङ्ग (सूत्र ३)→हलन्तनपुंकलिङ्ग (सूत्र ४, वा० ४) ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५ अव्यय (सूत्र ६) ।
६ स्त्रीप्रत्यय (सूत्र ७९, वा० ५४, परि० १) ।
७ कारक (सूत्र ११५, वा० ३७, परि० १) ।
८ समास (सूत्र ४२५, वा० १२८, परि० ५)→अव्ययीभाव (सूत्र ३७, वा० २)→तत्पुरुष (सूत्र १४५, वा० ३७, परि० २)→बहुव्रीहि (सूत्र ७२, वा० २५, परि० १)→द्वन्द्व (सूत्र ३०, वा० ११) एकशेष (सूत्र ६, वा० ५)→सर्वसमासान्त (सूत्र १८, वा० ७)→अलुक् (सूत्र २७, वा० १३)→समासाश्रयविधि (सूत्र८७, वा० २६, परि० २) ।
९ तद्धित (सूत्र १०७९, वा० २२२)
अपत्याधिकार (सूत्र १३०, वा० २३), →रक्ताद्यर्थ (सू० ७७, वा० ३१)→चातुरर्थिक (सूत्र ३३, वा० ४), →शैषिक (सूत्र २०२, वा० ३३)→प्राग्दीव्यतीय (सूत्र ३४, वा० ५), →ठगधिकार (सू० ७८, वा० ११)→प्रग्घितीय (सूत्र ३५), छयतोरधिकार (सूत्र १९, वा० ९) →आर्हीय (सूत्र ४५, वा० ६)→ठञधिकार (सूत्र ३६ वा० १२) →ठजधिकार (सूत्र १७, वा० ३)→भावकर्मार्थ (सूत्र २३, वा० ४)→ पाञ्चमिक (सूत्र ४५, वा० १९)→मत्वर्थीय (सूत्र १०१ वा० २७) →प्राग्दिशीय (सूत्र २७, वा० ९)→प्रागिवीय (सूत्र ७७, वा० १६) →स्वार्थिक (सूत्र ८८, वा० १४) →द्विरुक्त (सूत्र १२, वा० ६) ।
१० तिङन्त (सूत्र ६७८, वा० १०८, परि० १०, धातुपाठ १९६७)
एवं
११ प्रक्रिया→भ्वादि (सूत्र २७२, वा० २३, परि० ४, धातु १०३५) →अदादि (सूत्र ६६, वा० ६, परि० ३, धातु ७२)→जुहोत्यादि (सूत्र १६, धातु २४)→दिवादि (सूत्र १८, धातु १४०)→स्वादि (सूत्र ११, वा० १, धातु ३५)→तुदादि (सूत्र ९, वा० ४, धातु १५६) →रुधादि (सूत्र ४, धातु २५)→तनादि (सू० ७, धातु ९)→क्र्यादि (सूत्र ९, वा० १, धातु ६१)→चुरादि (सूत्र १२, वा० १, धातु ४१०)→णिजन्त-प्रक्रिया (सू० ३३, वा० ६, परि० १)→सन्नन्त (सूत्र २२, वा० ३, परि० १)→यङन्त (सूत्र २१ वा० ४)→यङ्-लुगन्त (सूत्र ७, परि० १)→नामधातु (सूत्र २१, वा० २२)→ कण्ड्वादि (सूत्र १)→प्रत्ययमाला (वा० २)→आत्मनेपद (सूत्र ६६, वा० २२)→परस्मैपद (सूत्र ११, वा० २)→भावकर्म (सूत्र १०, वा० १)→कर्मकर्तृ (सूत्र ७, वा० ७)→लकारार्थ (सूत्र ५६, वा० ४) ।
१२ कृदन्त (सूत्र ५५८, वा० ११८)
कृत्यप्रक्रिया (सूत्र ६६, वा० १४)→पूर्वकृदन्त (सूत्र २७३, वा० ६७)→उत्तरकृदन्त (सूत्र २१९, वा० ३७) ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१३ वैदिकी प्रक्रिया (सूत्र २६१, वा० ४१)
प्रथम अध्याय (सूत्र ७, वा० ३)→द्वितीय अध्याय (सूत्र ६, वा० १)→तृतीय अध्याय (सूत्र ४२, वा० ७)→चतुर्थ अध्याय (सूत्र ४५ वा० ३)→पञ्चम अध्याय (सूत्र १८, वा० ५)→षष्ठ अध्याय (सूत्र ४७, वा० ८)→सप्तम अध्याय (सूत्र ४२, वा० ८)→अष्टम अध्याय (सूत्र ५१ वा० ६)।

१४ स्वरप्रक्रिया (सूत्र ३२८, वा० १२९, फिट् सूत्र ८५)
साधारण स्वर (सूत्र २०, वा० १०)→धातुस्वर (सूत्र ९)→प्रातिपदिक स्वर (सूत्र २८)→फिट् सूत्र (८५)→प्रत्ययस्वर (सूत्र २६ वा० ४)→समासस्वर (सूत्र २००, वा० ९)→तिङन्तस्वर (सूत्र ४५ वा० ६)।

इसके अतिरिक्त अन्त में चार परिशिष्ट और जोड़े गए हैं—(१) पाणिनीयशिक्षा, (२) गणपाठ, (३) धातुपाठ तथा (४) लिङ्गानुशासन।

भट्टोजी दीक्षित ने "सिद्धान्तकौमुदी" में सूत्रों की वृत्तियाँ अधिकतर 'काशिका' के अनुसार लिखी हैं। उदाहरणों के विषय में भट्टोजी दीक्षित ने 'प्रक्रिया कौमुदी' का अनुसरण किया है। दोनों में बहुत ही कम स्थलों पर अन्तर दिखाई पड़ता है। प्रक्रिया के सम्बन्ध में 'सुबन्त' से आरम्भ कर 'तिङन्त' को उत्तरार्ध में रखने की प्रेरणा उन्हें 'रूपावतार' से मिली है। शेष प्रक्रियांश पर 'प्रक्रियाकौमुदी' का ही प्रभाव पड़ा है। 'प्रक्रियाकौमुदी' से प्रमुख अन्तर यह है कि 'सिद्धान्तकौमुदी' में 'अष्टाध्यायी' का एक सूत्र भी छोड़ा नहीं गया है। दूसरा अन्तर यह है कि सिद्धान्तकौमुदी में अधिकतर वार्तिकों, परिभाषाओं और पूर्व व्याख्याताओं के विचारों का समावेश भी किया गया है। इस पर भी वार्तिकों आदि का सन्निवेश काशिका के ही क्रमानुसार किया गया है।

इन विशेषताओं के कारण परवर्ती समय में केवल 'सिद्धान्तकौमुदी' का ही प्रचार हो पाया। अन्य प्रक्रियाग्रन्थ उपेक्षित ही रह गये। इस ग्रन्थ पर टीकायें भी पचीस से अधिक लिखी गई हैं। इनमें से कुछ तो संपूर्ण ग्रन्थ पर लिखी गई है तथा कुछ टीकायें विभिन्न प्रकरणों तक ही सीमित रह गई हैं। डा० सूर्यकान्त बली ने अपनी पुस्तक "भट्टोजी दीक्षित और उनकी संस्कृत व्याकरण को देन" (Bhattoji Dikshita : His contribution to Sanskrit Grammar) में निम्नलिखित २४ टीकाओं का उल्लेख किया है, जिनमें से कुछ तो प्रकाशित हैं तथा कुछ अप्रकाशित—(१) प्रौढ मनोरमा (भट्टोजीदीक्षित) (२) तत्त्वबोधिनी (ज्ञानेन्द्र सरस्वती) (३) सुखबोधिनी (नीलकण्ठ वाजपेयी), (४) तत्त्वदीपिका (रामानन्द), (५) बृहच्छब्देन्दुशेखर (नागेश भट्ट), (६) लघुशब्देन्दुशेखर (नागेश भट्ट), (७) रत्नाकर (रामकृष्ण), (८) पूर्णिमा (रङ्गनाथ यज्वा),

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(९) बालमनोरमा (वासुदेव वाजपेयी), (१०) रत्नार्णव (कृष्णमित्र), (११) स्वरप्रक्रियाव्याख्या (रामचन्द्र), (१२) सुमनोरमा (तिरुमल द्वादशाह याजी), (१३) प्रकाश (तोप्पर दीक्षित), (१४) लघु मनोरमा (अज्ञातनामा), (१५) शब्दसागरी (अज्ञातनामा), (१६) शब्दरसार्णव (अज्ञातनामा), (१७) सुधाञ्जना (अज्ञातनामा), (१८) विकास (लक्ष्मीनृसिंह), (१९) रत्नाकर (शिवराम सरस्वती), (२०) फक्किका-प्रकाश (इन्द्रदत्त उपाध्याय), (२१) बालबोध (सारस्वत व्यूढ मिश्र), (२२) मानसरञ्जनी (वल्लभदेव), (२३) सुबोधिनी (जयकृष्ण), (२४) चन्द्रकला-लिङ्गानुशासनविवरण (भैरवमिश्र)। उपर्युक्त टीकाओं में से प्रथम 'प्रौढमनोरमा' स्वयं भट्टोजी दीक्षित की लिखी हुई है। यह टीका विशद एवं विस्तृत है।

'सिद्धान्तकौमुदी' में मतमतान्तरों का विवेचन कर भाष्योक्त सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करना भट्टोजी का मुख्य उद्देश्य है। फलतः उसी केन्द्र-बिन्दु से दीक्षित ने अपने व्याकरण-शास्त्र के गुरु द्वारा विरचित प्रक्रिया-प्रकाश में निहित पूर्वाचार्यों के मतों का खण्डन किया है। दीक्षित के मतों का खण्डन शेष कृष्ण के पौत्र शेष चक्रपाणि ने अपने ग्रन्थ 'परमतखण्डन' में किया है। इसके अतिरिक्त पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने ग्रन्थ 'मनोरमा-कुचमर्दन' में भट्टोजी के सिद्धान्तों की कटु आलोचना की है। इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भट्टोजी दीक्षित के पुत्र भानुजी दीक्षित ने अपने पिता के मत का समर्थन 'मनोरमा-मण्डन' लिखकर किया। भट्टोजी दीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित ने 'प्रौढमनोरमा' पर 'शब्दरत्न' नामक व्याख्या लिखी। कहा जाता है कि इस ग्रन्थ को नागेशभट्ट ने अपने गुरु हरिदीक्षित के नाम से लिखा है। इस में वर्णित सिद्धान्त अधिकतर नागेश द्वारा लिखित 'लघुशब्देन्दुशेखर' से मिलते हैं। डा० सत्यकाम वर्मा ने "संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास" नामक पुस्तक में प्रौढमनोरमा की उपयोगिता पर अपना यह विचार व्यक्त किया है कि "दीक्षित की इस रचना ने 'सिद्धान्तकौमुदी' की दुरूहता को दूर कर दिया है। यद्यपि प्रक्रियाकौमुदी पर रची गई विट्ठल की टीका कई अंशों में प्रौढमनोरमा से अधिक महत्त्वपूर्ण है, किन्तु उस पूर्णता में पाण्डित्य की अधिकता विद्यार्थियों को सुबुद्ध बनाने में असफल रही है। यदि प्रौढमनोरमा न होती तो रामचन्द्र की 'प्रक्रियाकौमुदी' निस्सन्देह सबसे अधिक प्रचार पाती"।

व्याकरण शास्त्र के विकास को देखते हुए अनुमान होता है कि १६ वीं शती से १८ वीं शती तक का समय सूत्रानुसारी एवं प्रक्रियानुसारी व्याख्याओं का संक्रमण काल रहा है। अतः भट्टोजी दीक्षित ने भी स्वयं पहले 'शब्दकौस्तुभ' की रचना की थी। यह व्याख्या भाष्यानुसारी है। सूत्रक्रम अष्टाध्यायी के अनुसार ही है। भाष्य के समान इसके प्रकरण भी आह्निकों में विभक्त हैं। आलोच्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तु भी स्वयं महाभाष्य ही है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'शब्दकौस्तुभ' में प्रक्रिया-विषयक बातें कम हैं, ऊहापोह अधिक हैं। शैली की दृष्टि से महाभाष्य की परम्परा में रहकर भी विषय की दृष्टि से यह 'वाक्यपदीय' की परम्परा में रहा है। यह ग्रन्थ अखण्ड और पूर्ण रूप में नहीं मिलता। इसके आरम्भ के ढाई अध्याय तथा बीच का चतुर्थ अध्याय—इतना ही अंश उपलब्ध है। 'शब्दकौस्तुभ' के आधार पर ही उनके भतीजे कौण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषणसार की रचना की है। उसमें धात्वर्थनिर्णय, लकारार्थनिर्णय आदि विषय शब्दकौस्तुभ पर ही आधारित हैं।

भट्टोजी दीक्षित के ही समकालीन ग्रन्थकार नारायणभट्ट हुए हैं, जिन्होंने प्रक्रियासर्वस्व लिखा। त्रिवेन्द्रम के श्रीरामस्वामी शास्त्री ने इनकी स्थिति १५६० ई० और १६६० ई० के मध्य रखी है। श्रीकुन्हनराजा ने इनके इस ग्रन्थ का रचनाकाल १६०७ ई० में निश्चित किया है। ऐसा लगता है कि 'सिद्धान्तकौमुदी' तथा 'प्रक्रियासर्वस्व' की रचना समान काल में ही हुई हो। अतः दोनों एक दूसरे से अप्रभावित एवं असूचित रहे हैं। नारायण भट्ट ने प्रक्रियाकौमुदी का आभार माना है। पाणिनीय के अतिरिक्त उन्होंने अपाणिनीय व्याकरण ग्रन्थों का भी आदर किया है। यह केरल के निवासी थे। इनकी तीन रचनायें व्याकरण से सम्बद्ध हैं—(१) प्रक्रियासर्वस्व, (२) धातुकाव्य तथा (३) अपाणिनीयप्रमाणता। प्रक्रियासर्वस्व को इन्होंने २० काण्डों में विभक्त किया है। विभाजन का क्रम यथासम्भव पाणिनि के सूत्र "सुप्तिङन्तं पदम्" (१-४-१४) पर आधारित है। सुबन्तप्रकरण में पहले संज्ञा, परिभाषा और सन्धिप्रकरण को पूरा किया गया है। इसके बाद सुबन्त के विषय आरम्भ होते हैं। ये विषय क्रमशः कृदन्त, तद्धित, समास और नाम-विभक्ति-प्रकरण हैं। इसके साथ ही इस खण्ड की समाप्ति की गई है। तिङन्त प्रकरण, का आरम्भ आत्मनेपदादि प्रक्रिया से होता है। तब तिङ्, लकारार्थ, सन्नन्त, यङन्त, यङ्लुक् प्रकरण क्रमशः आये हैं। इस तरह तीन आरम्भिक प्रकरण, छह सुबन्त-सम्बद्ध और छह तिङन्त प्रकरण कुल मिलाकर पन्द्रह प्रकरण हुए। इनसे अतिरिक्त पाँच प्रकरण और हैं। वे हैं—नामधातु, न्याय, धातुपाठ, उणादि तथा छान्दस। इस प्रकार कुल बीस प्रकरण होते हैं। डा० सत्यव्रत राम वर्मा के अनुसार इस ग्रन्थ में प्रक्रियाकौमुदी की अपेक्षा यह विशेषता है कि आख्यात-प्रकरण के बाद कृदन्त, विभक्त्यर्थ आदि को नहीं रखा गया है, क्योंकि उनका सम्बन्ध सुबन्त से है। यहाँ उस दोष को दूर करने का यत्न किया गया है। दूसरी विशेषता यह है कि प्रत्येक खण्ड में सूत्रों का क्रम यथासम्भव पाणिनीय-सूत्र-क्रम के ही अनुसार है। पाणिनि के सभी सूत्रों का समावेश भी किया गया है। वृत्ति में प्रत्येक सूत्र का सामान्य अर्थ समझाकर फिर उदाहरण दिये गए हैं। प्रसंगवश अधिकांश वार्तिकों की भी व्याख्या की गई है। उदाहरणों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को दृष्टि से यह ग्रन्थ अपनी श्रेणी के ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ है। इसके साथ ही चन्द्र और भोजराज के व्याकरणों से प्रभूत मात्रा में उद्धरण दिये गये हैं। इसमें पाणिनीयेतर मतों का भी पाणिनीय मत के समान ही आदर किया गया है।

इस नवीन पद्धति की प्रतिक्रिया यह हुई कि जन-समुदाय व्याकरण के मुख्य नियमों को जानने तक ही अपने को सीमित रखने लगा। इसके फलस्वरूप कौमुदी-ग्रन्थों के संक्षेप करने की ओर वैयाकरण अग्रसर हुए। यह कार्य भट्टोजी दीक्षित के जीवनकाल में ही आरम्भ हो गया। कुछ ही दिनों में सिद्धान्तकौमुदी के दो रूप—मध्यसिद्धान्तकौमुदी तथा लघुसिद्धान्तकौमुदी सामने आये। इसका श्रेय वरदराज भट्टाचार्य को मिला। इन दोनों में से 'लघुकौमुदी' की रचना संस्कृत व्याकरण के प्रारम्भिक अध्येताओं के लिये की गई है (पाणिनीय-प्रवेशाय)। वस्तुतः यह छोटी सी पुस्तक पाणिनीय-व्याकरण में प्रवेश पाने के लिये प्रथम सोपान सिद्ध हुई। लघुकौमुदी द्वारा साधारण व्याकरण-ज्ञान को प्राप्त हुए छात्रों की ज्ञानवृद्धि के लिये वरदराज ने द्वितीय सोपानरूप मध्यकौमुदी का सम्पादन किया। मध्यकौमुदी एक प्रकार से सिद्धान्तकौमुदी का सारभूत ग्रन्थ है। सिद्धान्तकौमुदी में प्रतिपादित मतमतान्तरों को छोड़कर शेष उपयोगी सभी सामग्री इसमें संकलित हो गई है। इन दोनों ग्रन्थों में 'सिद्धान्तकौमुदी' की अपेक्षा संक्षेप के अतिरिक्त क्रम-विन्यास में भी भिन्नता है। सन्धि, षड्लिङ्ग और अव्यय प्रकरणों के बाद स्त्री-प्रत्यय और कारक-प्रकरण को पहले न रखकर तिङन्त-प्रकरण पहले रखा गया है। बाद में कृदन्त, कारक, समास, तद्धित और सबके अन्त में स्त्रीप्रत्यय प्रकरण रखा गया है। अर्थज्ञान की दृष्टि से यह परिवर्तन किया गया है। इस परिवर्तन से नया प्रवेशार्थी आरम्भ में ही सुबन्त और तिङन्त का परिचय प्राप्त कर लेता है। लघुकौमुदी में १२७२ पाणिनि-सूत्र समाकलित किये गए हैं। मध्यकौमुदी में विस्तार होने के कारण २३१५ सूत्रों को लिया गया है। वरदराज की प्रसिद्धि भट्टोजी दीक्षित के शिष्य क रूप मे है। अतः इनका समय भट्टोजी दीक्षित के १०–१५ वर्षों के अन्तर में माना जा सकता है।

व्याकरणशास्त्र के 'आकर' ग्रन्थों की परम्परा का चूडान्त निदर्शन विश्वेश्वर पाण्डेय के ग्रन्थ 'व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि' में हुआ है। १८वीं शताब्दी के आरम्भ में आविर्भूत विद्वान् विश्वेश्वर ने इस ग्रन्थ का प्रणयन कर 'व्याकरण-शास्त्र' में एक कीर्तिमान स्थापित किया। प्रकृत ग्रन्थ में भी सूत्रक्रम को अभि-लक्षित कर आह्निकों में भाष्यानुसारी विभाजन किया गया है। १७वीं शताब्दी तक विरचित समग्र व्याकरण-ग्रन्थों का आलोडन कर विद्वान् लेखक ने प्रक्रिया तथा शास्त्रीय पदार्थों का निर्वचन किया है। व्याकरणशास्त्र के विचारणीय विषयों को तर्क (न्याय) एवं मीमांसा की कसौटी पर कस नवीनता प्रदान की है। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त लेखक ने इस ग्रन्थ में ३३ व्याकरणग्रन्थ, ५ मीमांसाग्रन्थ,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४ न्यायशास्त्र के ग्रन्थ तथा ७ काव्य-साहित्य के ग्रन्थों के उद्धरण दे मतमतान्तरों पर विचार कर प्राचीन तथा नवीन सिद्धान्तों की समीक्षा की है। अब तक इसके तीन अध्याय चौखम्बा संस्कृत सीरीज ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुके हैं। इसका इतना ही मुद्रित भाग १५०० पृष्ठों का है। अवशेष पाँच अध्याय अब तक हस्तलेख के रूप में भी प्राप्त नहीं थे। किन्तु अब मई सन् १९७३ की एक सूचना के अनुसार जम्मू (कश्मीर) स्थित 'रघुनाथ-मन्दिर पुस्तकालय' के संग्रह में अवशेष पाँच अध्याय भी उपलब्ध हैं। इसका कलेवर कितना विशाल होगा इसका अनुमान पूर्व प्रकाशित तीन अध्यायों की पृष्ठसंख्या से लगाया जा सकता है। लेखक ने सब शास्त्रों के अतिरिक्त नव्य-न्याय में भी ग्रन्थ-रचना की है। अतः व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि में तार्किकता के साथ व्याकरण को सम्बद्ध कर पदार्थों का निर्वचन किया गया है। इन्होंने ग्रन्थ के आरम्भ से ही बड़ा सूक्ष्म विचार आरम्भ किया है। उदाहरणार्थ—'अथ' शब्दार्थविवेचन, वेदपदार्थविचार, शाब्दबोध में भासमान शब्दों के सम्बन्ध में विचार, नियमविधि–परिसंख्याविधि का स्वरूप, अपभ्रंश शब्दों में शक्तिभ्रम होने पर भी शाब्दप्रमाजनकता आदि विषयों पर बड़ी विशदता के साथ गम्भीर एवं सूक्ष्म विचार किया गया है। इस आकर ग्रन्थ का आकार ही विस्तृत नहीं है किन्तु विचारों के वैशद्य ने इसे महत्त्वशाली बनाया है। प्रकृत-ग्रन्थ में दीक्षित के मतों की भी स्थान-स्थान पर समीक्षा की गई है। लेखक हरिदीक्षित के समकालीन थे। कूर्माचल (कुमायूँ) में यह किंवदन्ती चली आरही है कि इन्होंने भी कौमुदी के समान प्रक्रियानुसारी ग्रन्थ की रचना की थी। वह भी कौमुदी-परम्परा की वृद्धि में योगदान देता। कहा जाता है कि हरिदीक्षित के आग्रह से उस ग्रन्थ को इन्होंने स्वयं नष्ट कर दिया। इससे बढ़कर उदारता का और क्या उदाहरण हो सकता है? नागेश की अपेक्षा यह प्राचीन हैं। इनके ग्रन्थों में नागेश का कहीं उल्लेख नहीं हुआ है।

नव्यव्याकरण

भट्टोजी दीक्षित के ग्रन्थों के बाद व्याकरण-शास्त्र में वैचारिक परिवर्तन हुआ। इसका यह परिणाम हुआ कि मूल ग्रन्थों की रचना एक प्रकार से बन्द हो गई और व्याख्यायें अधिक लिखी जाने लगीं। ये व्याख्यायें मौलिक ग्रन्थों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इन व्याख्याओं में पूर्व ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं मतमतान्तरों का बड़ी गम्भीरता के साथ विवेचन किया गया है। यह विवेचन अर्थांश पर अधिक आधारित था। अतः शैली की नवीनता ने व्याकरण को नव्य न्याय या तार्किकता के साथ समन्वित कर दिया। इसका आरम्भ नागेश भट्ट ने किया। यह भट्टोजी दीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित के प्रमुख शिष्य थे। जनश्रुति के आधार पर नागेश ने हरिदीक्षित से १८ बार व्याकरण का अध्ययन किया था। यह असाधारण पण्डित थे। नागेश भी महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनके पिता शिवभट्ट तथा माता सती देवी थीं। प्रयाग के समीपस्थ शृङ्गवेर-पुर के राजा रामसिंह द्वारा यह सम्मानित हुए। फलतः नागेशभट्ट का समय अठारहवीं शती का पूर्वार्ध (१६७५-१७४५) माना जाता है। नागेश व्याकरण के अतिरिक्त धर्मशास्त्र, साहित्य और योग आदि अनेक शास्त्रों में पारङ्गत थे। इन्होंने केवल व्याकरण पर ही लगभग एक दर्जन स्वतन्त्र और टीका ग्रन्थों का प्रणयन किया। इनमें से लघुशब्देन्दुशेखर (सिद्धान्तकौमुदी की टीका), वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, परिभाषेन्दुशेखर और प्रदीप-विवरण बहुत प्रसिद्ध हैं। उद्योत के द्वारा महाभाष्य तथा शब्देन्दुशेखर (बृहत् तथा लघु) द्वारा प्रौढमनोरमा के गम्भीर रहस्यों का उद्घाटन करने में यह समर्थ रहे। परि-भाषेन्दुशेखर में इन्होंने परिभाषाओं के स्वरूप तथा क्षेत्र का प्रतिपादन कर प्रतिपाद्य-विषय को नवीनता के साथ उपस्थित किया है। व्याकरण का दार्शनिक विवेचन करने में इन्होंने अच्छी ख्याति प्राप्त की। भर्तृहरि के बाद इन्होंने इस विषय की ओर वैयाकरणों का ध्यान आकृष्ट किया। तात्त्विक दृष्टि से इन पर 'तन्त्रशास्त्र' का अधिक प्रभाव पड़ा है। फलतः भर्तृहरि और इनके मत में 'वाक्' सम्बन्धी सिद्धान्त में अन्तर हो गया है। भर्तृहरि ने व्याकरण के दार्शनिक तथ्यों की जानकारी के लिये आगम की ओर संकेत किया है। यह आगम शैवागम की ही अन्यतम एक धारा थी। इनके शिष्यों में सर्वप्रसिद्ध वैद्यनाथ पायगुण्डे थे। इन्होंने 'लघुशब्देन्दुशेखर' और 'परिभाषेन्दुशेखर' पर टीकायें लिखी हैं। ये टीकायें प्रमेयबहुल हैं। इसके अतिरिक्त शेखर पर भैरवमिश्र ने भी टीका लिखी। इस टीका की रचना १८२४ ई० में हुई।

नागेश के बाद काशी में नव्य-व्याकरण की परम्परा को प्रतिष्ठित एवं पल्ल-वित करने का श्रेय पण्डित गङ्गाराम शास्त्री त्रिपाठी को है। यह मूलतः कूर्मा-चल निवासी थे। इनके पिता अल्मोड़ा से १९वीं शती के आरम्भ में काशी आये। नव्यन्याय के साथ पाणिनीय व्याकरण के यह विशिष्ट विद्वान् थे। 'लघुशब्देन्दुशेखर' तथा 'परिभाषेन्दुशेखर'-इन दोनों ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन से इन्होंने नव्य-व्या-करण में परिष्कार-शैली को आरम्भ किया। इनसे आगे आने वाली पीढ़ी को इस नवीन शैली को पल्लवित करने का अवसर मिला। गुरु-परम्परा के अनुसार शिष्य और प्रशिष्य इन परिष्कारों की कोटि-प्रकोटियों में नवीनता लाने का प्रयत्न करने लगे। जहाँ पहले 'न्यास' तथा 'प्रक्रिया' में ही शास्त्रार्थ हुआ करते थे वहाँ अर्थोन्मेष के कारण परिष्कारों की कोटि-प्रकोटियों पर आधारित शास्त्रार्थ होने लगे। इस शैली में केवल परिष्कारों को ही अधिक महत्त्व दिया गया हो ऐसी बात नहीं है। विचारों की सूक्ष्मता के फलस्वरूप नागेश के मत की समीक्षा करने का विद्वानों को अच्छा अवसर मिला। नागेश ने अनेक स्थलों पर कैयट का खण्डन किया है। उस खण्डन की युक्तायुक्तता पर परवर्ती वैयाकरणों ने गम्भीर विचार किया है। वास्तविकता तो यह है कि 'प्रदीप' के आलोक के बिना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'भाष्य' की गहनता में प्रविष्ट करना सर्वथा असम्भव रहा। पं० गङ्गाराम शास्त्री द्वारा प्रचलित परिष्कारों की परम्परा अद्यावधि वाराणसी में अनवच्छिन्न रूप में चली आरही है। इनके तीन प्रमुख शिष्य थे—(१) नेपाल के राजगुरु एवं अमात्य पण्डित रङ्गनाथजी तथा अन्तिम पेशवाओं के गुरु पं० जगन्नाथ शास्त्री गाडगिळ तथा पं० रघुनाथ शास्त्री। इनमें से दो शिष्य राजमान्य थे। इन दोनों शिष्यों के अधिपतियों द्वारा पं० गङ्गाराम शास्त्री को प्रशस्त भूमि (माफी) उपहार के रूप में मिली। उपर्युक्त राजमान्य शिष्यों के अतिरिक्त पं० गङ्गाराम शास्त्री के वाराणसीस्थ शिष्यों में सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० काशीनाथ शास्त्री अष्टपुत्रे (१८००–१८५० ई०) का नाम उल्लेखनीय है (काश्यामेकः काशिनाथः)। यह मूल रूप में वाई (महाराष्ट्र) के रहने वाले थे। इनके पिता श्रीगोविन्दाचार्य अष्टपुत्रे पुणें स्थित राजकीय पाठशाला के अध्यापक थे। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा वाई में हुई। तदनन्तर कुछ दिनों पुणें रहने के पश्चात् इनके पिता ने सुप्रसिद्ध विद्वान् भास्कर शास्त्री अभ्यङ्कर के पास अध्ययन करने हेतु सातारा भेज दिया। उनके पास व्याकरण-शास्त्र का यथाविधि अध्ययन करने पर अधिक वैदुष्य सम्पादन करने की इच्छा से पण्डित जी वाराणसी आये। यहाँ उन्होंने पं० गङ्गाराम शास्त्री का शिष्यत्व ग्रहण कर नव्य-व्याकरण की नूतन परिष्कार-प्रणाली को अधिक प्रभावशाली बनाया। उनके द्वारा यह शैली काशी की विद्वन्मण्डली में समादृत तथा मण्डित हुई। इनके शिष्यों में श्री राजाराम शास्त्री कार्लेकर (१८२७–१९८५) प्रमुख रहे। व्याकरणाध्ययन करने के पश्चात् इन्होंने पेशवाओं के आग्रह से चित्रकूट में रहना स्वीकार किया। डा० मूर इनके वैदुष्य से बहुत प्रभावित हुए। तदनन्तर महाराज ग्वालियर के आग्रह पर कुछ दिन वहाँ भी रहे। किन्तु बाद में काशी आ गए और यहाँ राजकीय संस्कृत पाठशाला में २० वर्षों तक (१८५४–१८७४) अध्यापन कर आपने अनेक शिष्य तैयार किये। इनमें से श्रीबाल शास्त्री रानडे तथा श्रीयागेश्वर ओझा बहुत प्रसिद्ध हुए। बाल शास्त्री (१८३९–१८८२) अद्भुत प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। इनके पिता श्री गोविन्द भट्ट थे। इनका वास्तविक नाम विश्वनाथ रहा। ९ वर्ष की अवस्था में चित्रकूट में पेशवाओं के आश्रित विद्वानों ने 'बालखिल्य' की परीक्षा लेने पर इनकी कुशाग्र बुद्धि से प्रभावित हो इनका नाम बालसरस्वती रख दिया। कुछ दिनों तक ग्वालियर में इन्होंने पुणें से आये हुए विद्वान् मोर शास्त्री साठे तथा कुप्पा शास्त्री द्राविड से न्याय एवं मीमांसा-शास्त्र का अध्ययन किया। इतने से ही यह सन्तुष्ट नहीं हुए। अतः काशी आकर प्रथम पं० काशीनाथ शास्त्री के पास अध्ययन किया तदनन्तर पं० राजाराम शास्त्री का शिष्यत्व स्वीकार करें नव्य-व्याकरण का अध्ययन पूरा किया। अपने गुरु पं० राजाराम शास्त्री के साथ तीर्थाटन एवं यज्ञ-यागादि में भी इन्होंने भाग लिया। स्वतः यज्ञ करने की इच्छा होने के फलस्वरूप इन्होंने ज्योतिष्टोम याग किया। वह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भवन आज भी यज्ञशाला के नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने 'परिभाषेन्दुशेखर' पर परिष्कार लिखे। इनके सतीर्थ्य पं० यागेश्वर जी बलिया के मूल निवासी थे। वे प्रक्रिया के महनीय पण्डित थे। इन्होंने भी परिभाषेन्दुशेखर पर हैमवती नामक व्याख्या लिखी है। पं० बालशास्त्री के अनेक शिष्य प्रसिद्ध हुए। उनमें से म० म० पं० गङ्गाधर शास्त्री तैलङ्ग, म० म० पं० शिवकुमार शास्त्री, म० म० पं० दामोदर शास्त्री भारद्वाज, म० म० पं० तात्या शास्त्री पटवर्धन, म० म० पं० केशव शास्त्री मराठे, पं० रामनाथ द्विवेद (मनीष्यानन्दजी), पं० स्नेहीराम शास्त्री आदि मनीषी अपने समय के माने हुए विद्वान् थे। इनमें से पं० शिवकुमार शास्त्री, पं० दामोदर शास्त्री तथा पं० तात्या शास्त्री ने परिभाषेन्दुशेखर पर अलग अलक व्याख्यायें लिखीं। ये तीनों विद्वान् व्याकरण शास्त्र के अद्वितीय पण्डित रहे। पं० गङ्गाधर शास्त्री का वैदुष्य सब शास्त्रों में निर्बाध रहा। इनके अतिरिक्त विश्वनाथ दण्डी भट्ट भी बालशास्त्री जी के विरक्त एवं विद्वान् शिष्य थे। इन्होंने भी परिभाषेन्दुशेखर तथा बृहच्छब्देन्दुशेखर पर व्याख्यायें लिखी हैं। इन चारो विद्वानों के अनेक शिष्यों ने व्याकरणशास्त्र में बड़ी ख्याति प्राप्त की। उनमें से कतिपय विद्वानों का नामोल्लेख किया जा रहा हैं। जिनमें से म० म० पं० नित्यानन्द पन्त पर्वतीय अपनी विद्वत्ता तथा त्याग के कारण सुविदित रहे हैं। इन्होंने पं० गङ्गाधर शास्त्री से विद्याग्रहण कर आजन्म विद्यादान दिया। लघुशब्देन्दुशेखर पर 'दीपक' टीका लिख कर गुरुपरम्परागत परिष्कारों की सुरक्षा की। अन्य वैयाकरणों में नेपाल के राजगुरु पं० हेमराजजी, गुरुपुरोहित पं० भुवनेश्वरप्रसाद जी, म० म० पं० जयदेव मिश्र, म० म० पं० मुकुन्द झा बख्शी, पं० हरिनारायण त्रिपाठी (तिवाड़ी जी), पं० रामयशस्त्रिपाठी (महाशयजी), पं० सभापति उपाध्याय, पं० रामाज्ञा पाण्डेय, पं० गणपतिशास्त्री मोकाटे आदि विद्वानों ने राजसम्मान, अध्यापन एवं ग्रन्थलेखन द्वारा परिष्कार-पद्धति को आगे बढ़ाया। इन विद्वानों की रचनाओं में पं० सभापति उपाध्याय की वैयाकरणसिद्धान्त-मञ्जूषा की व्याख्या तथा 'सिद्धान्तकमुदी' की टीका एवं पं० रामाज्ञा पाण्डेय का व्याकरण-दर्शन ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। मेरे पूज्य मातामह म० म० पं० नित्यानन्द पन्त के शिष्यों में से, म० म० पं० सोताराम शास्त्री शेंडे, म० म० पं० माधवशास्त्री भांण्डारी तथा पं० गोपालशास्त्री नेने, इन तीनों ने अच्छी ख्याति प्राप्त की। इन विद्वानों ने अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया तथा ग्रन्थ भी लिखे। पं० सीतारामशास्त्री शेंडे ने 'वेदार्थविचारः' ग्रन्थ में वैदिक शब्दों की व्याख्या पर भी विचार किया है। पं० माधवशास्त्री ने महाभाष्य पर प्रथम दो आह्निकों में स्फोटविमर्शिनी व्याख्या लिखी है। मेरे पूज्य गुरु पं० गोपाल शास्त्री नेने ने वैयाकरणभूषणसार पर सरला नामक व्याख्या लिखी। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'निर्णयसिन्धु' सदृश धर्मशास्त्र के विशाल ग्रन्थ का सम्पादन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया तथा सिद्धान्तकौमुदी पर टिप्पणी लिखी। इन्हीं विद्वानों के महनीय उद्योग से वाराणसी आज भी व्याकरण-शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन में अग्रसर है। वस्तुतः काशी पाणिनीय व्याकरण के वैदुष्य का मेरुदण्ड है।

बालमनोरमा

सिद्धान्तकौमुदी की टीकाओं के प्रसङ्ग में बालमनोरमा का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इसके रचयिता वासुदेव दीक्षित हैं। इनके पिता महादेव वाजपेयी तथा माता अन्नपूर्णा थीं। तंजौर के महाराष्ट्र राजा शाहजी (१६८४-१७१०) के प्रधान मन्त्री प्रख्यात त्र्यम्बकराय मखी तथा सरफोजी प्रथम एवं तुक्कोजी महाराजाओं के (१७११–१७३५) मुख्य अमात्य आनन्दराय मखी द्वारा सम्पादित यज्ञों में महादेव वाजपेयी ने अध्वर्यु का कार्य किया था। अतः दीक्षित का समय १८ वीं शती का पूर्वार्ध है (१७००–१७६० ई०)। यह वैयाकरण होने के साथ ही मीमांसा शास्त्र के भी विद्वान् थे। पूर्वमीमांसा के सूत्रों पर इन्होंने अध्वरमीमांसा-कुतूहलवृत्ति नामक टीका लिखी है। 'कौमुदी' की टीकाओं में इनकी बालमनोरमा बहुत प्रसिद्ध है। इसका कारण इनकी लेखनशैली की विशेषता है। इनकी टीका का आधार मुख्यतः का शका, महाभाष्य तथा लघुशब्देन्दुशेखर हैं। इन्होंने पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तों की समीक्षा करने में इन तीन ग्रन्थों का आश्रय लिया है। माधवाचार्य के मत का खण्डन करने में विशेषतया भट्टोजी दीक्षित के पक्ष को मण्डित किया है। इन पर नागेश का अधिक प्रभाव पड़ा है। अतः इन्होंने अनेक स्थानों पर विस्तार के लिये लघुशब्देन्दुशेखर देखने के सम्बन्ध में निर्देश दिये हैं।

वासुदेव दीक्षित ने सूत्रों की व्याख्या करने में अनुवृत्त पदों का आश्रय लेकर आवश्यकतानुसार विभक्तिविपर्यय आदि से सूत्रस्थ पदों में आकाङ्क्षित विशेष्य-विशेषणभाव द्वारा सूत्रार्थ निष्पन्न किया है। कौमुदी ग्रन्थों के अर्थानुसारी प्रकरणों में विभाजित होने के कारण विधिसूत्रों में प्रायः पूर्व सूत्रों की अनुवृत्ति अपेक्षित रहती है। सूत्रस्थ पदों में पारस्परिक अन्वय होने के लिए सूत्रों में कहीं कहीं लुप्तविभक्तिक पदों की ओर भी अध्येताओं का ध्यान आकृष्ट कराया गया है। कहीं कहीं सूत्रों में सन्धि-नियमों के उल्लङ्घन का समाधान 'आर्ष' प्रयोग मान कर किया गया है। उदाहरणों की सिद्धि सूत्र-सम्बन्धी पूर्वापरभाव विचार कर नियमानुकूल ही की गई है। इसके साथ ही वासुदेव दीक्षित ने ग्रन्थोक्त उदाहरणों से सम्बद्ध अवशिष्ट प्रयोगों की सिद्धि के सम्बन्ध में दिग्दर्शन कराया है। बीच बीच में प्रसङ्गवश भाष्योक्त लाघव-गौरव की चर्चा कर "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्" सिद्धान्त की पुष्टि की गई है। परिभाषाओं के स्वरूप, समावेश, एवम् उनके याथार्थ्य के सम्बन्ध में न्यायमूलक एवं ज्ञापन आदि के विषय में यथास्थान विचार कर सैद्धान्तिक निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया गया है। गणित के समान ही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याकरणशास्त्र में प्रत्युदाहरणों का विशेष महत्त्व है। प्रत्युदाहरणों की उपस्थिति से ही सूत्रों के प्रत्येक पद की सार्थकता विदित होती है। अतः प्रत्युदाहरणों की प्रस्तुति द्वारा सूत्रोक्त पदों की सार्थकता के अतिरिक्त भट्टोजी दीक्षित द्वारा प्रतिष्ठापित निष्कर्षों के युक्तायुक्तत्व की समीक्षा भी यथास्थान की गई है। बालमनोरमा में अपेक्षाकृत विस्तार अधिक विद्यमान है। तत्त्वबोधिनी जितनी संक्षिप्त तथा परिमित अक्षरों से युक्त है, उतनी ही बालमनोरमा विस्तृत तथा विशद है। टीकाकार मीमांसाशास्त्र के भी पण्डित थे। अतः पदों के अन्वाख्यान में मीमांसाशास्त्र के साथ एकवाक्यता तथा वैषम्य आदि का विचार भी बड़े अच्छे ढंग से किया गया है। वाक्य, पद, स्फोट, जाति, व्यक्ति आदि प्रमेयबहुल शब्दों का शास्त्रीय विवेचन कर वासुदेव दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदीकार के अभीष्ट आशय को स्पष्ट करने में कमी नहीं आने दी। जिन सिद्धान्तों का मूलग्रन्थ में स्पष्टीकरण नहीं होने पाया है, उन्हें वासुदेव दीक्षित ने अपनी व्याख्या में स्पष्ट कर दिया है। संक्षेप के कारण सिद्धान्त-कौमुदी में फक्किकाओं की दुरूहता सुविदित है। उसे सुलझाना बड़ा कठिन काम रहा है। वासुदेव वाजपेयी ने उन फक्किकाओं की दुरूहता को शास्त्रार्थ करने की शैली में सोपान-परम्परा द्वारा सरल किया है। यही फक्किकायें लघुशब्देन्दुशेखर आदि विस्तृत टीकाग्रन्थों में शास्त्रार्थ का विषय बनी हैं। उन्हीं को अभिलक्षित कर शास्त्रीय पदार्थों का विचार करने के प्रसङ्ग में परिष्कारों द्वारा कोटियाँ एवं प्रकोटियाँ प्रस्तुत की जाती हैं।

वासुदेव दीक्षित ने लौकिक शब्दों के निर्वचनपर्यन्त ही बालमनोरमा टीका बनाई है। अतः कृदन्त-प्रकरण तक ही टीका लिखी गई है। वैदिक भाग की व्याख्या इन्होंने क्यों नहीं लिखी—यह बात समझ में नहीं आती। मीमांसा-शास्त्र का विद्वान् एवं यागादि प्रक्रिया में निष्णात व्यक्ति वैदिक प्रयोगों का अच्छा ज्ञाता होता है। ऐसे वैदिक विद्वान् को स्वर-वैदिकी प्रक्रिया की व्याख्या अवश्य लिखनी थी। कदाचित् उन्होंने लौकक-शब्दों की निष्पत्ति के सम्बन्ध में ही कौमुदी के अध्येताओं को पूरी जानकारी देने का व्रत ग्रहण किया हो। इस संकल्प को उन्होंने पूरा कर दिखाया। कुछ स्थलों पर प्रतिलिपि करने वाले व्यक्तियों के अज्ञानवश अथवा अन्य किसी कारण-वश बालमनोरमा में त्रुटियाँ परिलक्षित होती हैं। इन स्वाभाविक दोषों की ओर ध्यान न देते हुए यह बात निर्विवाद है कि सिद्धान्तकौमुदी की बालमनोरमा टीका व्याकरण के अध्येताओं के लिये बहुत उपयोगी है।

प्रकृत संस्करण

बीसवीं ई.ताब्दी के पूर्ववर्ती दो दशकों तक संस्कृत ग्रन्थों का पठन-पाठन एवं लेखन संस्कृत के माध्यम से होता चला आ रहा था। अंग्रेजी विद्यालयों और महाविद्यालयों में स्वतन्त्रताप्राप्ति के पूर्व प्रत्येक विषय के पाठन का माध्यम अंग्रेजी भाषा ही रही। अंग्रेजों ने भी संस्कृत का अभ्यास कर अनेक संस्कृत ग्रन्थों का अंग्रेजी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में अनुवाद किया। इस कार्य में भारतीय विद्वान् भी पीछे नहीं रहे। विश्वविद्यालयीय परीक्षाओं के सभी ग्रन्थों की व्याख्यायें अंग्रेजी में लिखी गईं। ये व्याख्यायें बड़ी सारगर्भित तथा उपयोगी सिद्ध हुईं। उस समय अन्वेषण एवम् अनुसन्धान की प्रवृत्ति ने अच्छे अच्छे विद्वानों को इस ओर प्रवृत्त किया। व्याकरण-महाभाष्य सदृश ग्रन्थ का सम्पादन डा० कीलहार्न ने बड़ी योग्यता के साथ किया। फिर क्या था ? अंग्रेजी अनुवादों की ऐसी बाढ़ आई कि डा० के० पी० त्रिवेदी ने परिभाषेन्दुशेखर, वैयाकरणभूषणसार आदि ग्रन्थों की भी अच्छी व्याख्यायें लिखीं। श्री श्रीशचन्द्र वासु ने काशिका तथा सिद्धान्तकौमुदी पर अंग्रेजी में विस्तृत व्याख्यायें लिखीं। इन व्याख्याओं द्वारा पाश्चात्य देशों में संस्कृत-भाषा एवं शास्त्रग्रन्थों के अध्ययन की ओर अधिक प्रवृत्ति होती चली गई। इस सम्बन्ध में बार्थलिक, वेबर, मैकडानल, गोल्डस्टूकर, थीम, एडजर्टन, रेनु आदि विद्वानों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि परिष्कार-जन्य शास्त्रार्थप्रणाली काशी के वैयाकरणों की मौलिक देन है। यह उनकी कल्पना-शक्ति का विशेष चमत्कार है। आरम्भ में इस प्रकार की युक्तियाँ केवल गुरुमुखैकगम्य थीं। आज के युग में क्रोडपत्रों के रूप में भी उनका पृथक् प्रकाशन हो गया है। फलतः इनके अध्ययन के लिये अब द्वार खुला हुआ है। परन्तु उनके भीतर प्रवेश करना तथा शाब्दिक चक्रव्यूह को तोड़ना साधारण बात नहीं है। वह गुरुकृपा पर अवलम्बित है।

इस बीच कुछ विद्वानों को यह आभासित होने लगा कि व्याकरण के अध्ययन में हम 'मूल' का परित्याग कर रहे हैं। 'कौमुदी' ग्रन्थों के अध्ययनाध्यापन ने प्रक्रिया की प्रधानता को गौण बना दिया है। 'प्राचीन' और 'नव्य' शब्दों को लेकर ही परस्पर-विरोध की भावना को प्रश्रय दिया गया। वस्तुतः यह विरोध तात्त्विक नहीं है। काशी में पिछले ४० वर्षों तक व्याकरण के अध्येताओं को अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कराई जाती थी। वही व्याकरण के अध्ययन का आधार रही। इसके अतिरिक्त 'कौमुदी'-ग्रन्थों का आधार भी पाणिनीय सूत्र ही हैं। कार्यकाल पक्ष का आश्रय लेकर प्रक्रिया-क्रम के अनुसार सूत्र-क्रम में कुछ परिवर्तन करने से अष्टाध्यायी का महत्त्व कम नहीं हुआ है। यह परिवर्तन केवल अध्येताओं की सुविधा के लिये किया गया है। इस क्रम से लक्ष्य एवं लक्षण दोनों की महत्ता विदित हुई। प्रमाण एवं प्रमेय—इन दोनों विषयों पर विचार करने का एक साथ अवसर मिला। केवल यह बात अवश्य शोचनीय रही कि इन दो शतकों से मौलिक ग्रन्थों की रचना का मार्ग एक प्रकार से अवरुद्ध ही रहा।

स्वन्तन्त्रता के बाद राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार की ओर देशवासियों का ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक था। इसके फलस्वरूप विश्वविद्यालयों में हिन्दी की प्रतिष्ठा बढ़ी और उसे शिक्षण का माध्यम बनाये जाने के कारण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृत ग्रन्थों की व्याख्यायें हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में लिखी जाने लगीं। इस प्रकार व्याकरण-शास्त्र के ग्रन्थों का ज्ञान भारतीय भाषाओं के माध्यम से छात्रवर्ग को सरलता से हो जाय—इस उद्देश्य को सामने रखकर सम्पूर्ण लघुकौमुदी एवम् सिद्धान्तकौमुदी (कारक-प्रकरण) की व्याख्यायें डा० कपिलदेव द्विवेदी तथा प्रो० बाबूराम त्रिपाठी आदि ने लिखकर छात्रवर्ग का बड़ा उपकार किया। श्री भोमसेन शास्त्री एम. ए. साहित्यरत्न ने 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' की विशद व्याख्या लिखकर बड़ी उपयोगी सामग्री प्रस्तुत की है। इसी प्रकार प्रो० महेशसिंह कुशवाहा, श्रीयुत पं० श्रीधरानन्द शास्त्री ने 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' पर विश्लेषणात्मक व्याख्यायें लिखी हैं। सम्पूर्ण सिद्धान्तकौमुदी पर हिन्दी में सर्वप्रथम व्याख्या लिखने का श्रेय पण्डितप्रवर श्री बालकृष्ण पञ्चोली जी को है। उन्होंने पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या लिखकर इस अभाव की पूर्ति की है। सम्पूर्ण महाभाष्य का मराठी भाषा में व्याख्यान म० म० पं० वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर ने लिखकर एक कीर्तिमान स्थापित किया है। व्याकरण-दर्शन के सम्बन्ध में डा० रामसुरेश त्रिपाठी की पुस्तक संस्कृत-व्याकरण-दर्शन बड़ी उपादेय है।

इतनी सामग्री के होते हुए भी चौखम्बा-विद्याभवन एवं चौखम्बा सुर-भारती प्रकाशन नामक संस्थाओं के प्रमुख संचालक वयोवृद्ध श्रीव्रजजीवन दास जी एवं उनके उत्साही सुपुत्रों ने मुझसे सिद्धान्तकौमुदी की सर्वजनोपयोगी हिन्दी व्याख्या लिखने का आग्रह किया। आदरणीय बाबू व्रजजीवनदास जी प्राचीन चौखम्बा संस्थान के संस्थापक-संचालक रहे हैं। वे मुख्यतः तत्कालीन मुद्रणालय के निर्देशक रहे। उनके समान मुद्रणकला-सम्बन्धी सूक्ष्म-विशेषज्ञ अब काशी में देखने को नहीं मिलते। संस्कृत-ग्रन्थों को छापने-छपवाने में कितनी कठिनाइयाँ होती है तथा उस कार्य में कितनी दक्षता की आवश्यकता होती है—इसके जानकार अब बहुत कम रह गए हैं। श्रीयुत व्रजजीवनदास जी के निर्देशन में हजारों की संख्या में संस्कृत-ग्रन्थ चौखम्बा-संस्थान से प्रकाशित हुए हैं। मेरे पूज्य मातामह महामहोपाध्याय पं० नित्यानन्द पन्त जी के साथ उनका सम्पर्क रहा है। अतः मैं उनके इस आग्रह को टाल नहीं सका। गुरु-स्मरण कर मैंने यह कार्य आरम्भ किया और उन्हीं की कृपा से सिद्धान्तकौमुदी की हिन्दी व्याख्या का यह कारकान्त प्रथम भाग संस्कृतज्ञों की सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ।

प्रस्तुत संस्करण में 'बालमनोरमा' भी सम्मिलित की गई है। 'दीपिका' हिन्दी व्याख्या का वर्ण्यविषय इस प्रकार है—(१) सूत्रों के साथ ही प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, अनुवृत्ति तथा सूत्रभेद दिखला कर छात्रों को सूत्रार्थ (वृत्ति) समझने की दिशा में स्वतः उन्मुख होने की रीति बतलाई गई है। (२) तदनन्तर ग्रन्थ की वृत्ति के शब्दों का तदनुरूप अर्थ दिया गया है। (३) इसके बाद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवरण में अनुवृत्त पूर्व-सूत्रों का उल्लेख करते हुए सूत्रस्थ पदों के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित कर सूत्रार्थ अभिव्यञ्जित किया गया है। इस प्रसङ्ग में विभक्ति-विपर्यय, अधिकार-प्रभाव, अपेक्षित पदों का आक्षेप, परिभाषाजन्य वैशिष्ट्य आदि कार्यों का निर्देश भी दिया गया है। (४) गणितीय पद्धति का अनुसरण कर प्रक्रियानुसारी सोपानक्रम से उदाहरणों की सिद्धि की गई है। प्रत्युदाहरणों द्वारा सूत्रों के पदों की यथाविहित सार्थकता प्रतिपादित की गई है। (५) प्रसङ्गवश शङ्का-समाधानों एवं फक्किकाओं का स्पष्टीकरण विशेष-विधान के अन्तर्गत समाविष्ट किया गया है। (६) ग्रन्थोक्त मूल शब्दों के साथ प्रासङ्गिक शब्दों की रूपनिष्पत्ति के विषय में निर्देश दिए गए हैं। (७) उपयोगी स्थलों की विशेषताओं की ओर ध्यान आकर्षित कराने के लिए निष्कर्ष एवं स्मरणीय पदों का अभिधान किया गया है। (८) नये प्रकरणों के आरम्भ में उपक्रम की प्रस्तुति पूर्वापर-सङ्गति के निर्देशार्थ की गई है। (९) प्रक्रिया का अनुसरण कर सूत्रक्रम के अतिरिक्त मध्य में जिन भिन्न उपयोगी सूत्रों का प्रयोग हुआ है, वहाँ सन्दर्भ के द्वारा प्रकरण-सङ्गति दिखाई गई है। (१०) इन विषयों के अतिरिक्त अन्य ज्ञातव्य बातों का समावेश यथास्थान किया गया है।

प्रकृत व्याख्या में उतनी ही बातों की ओर विशेष ध्यान दिया गया है जितनी सिद्धान्तकौमुदी के अध्येताओं के लिए अपेक्षित हैं। अधिक ज्ञातव्य बातें टीका-ग्रन्थों (प्रौढमनोरमा, लघुशब्देन्दुशेखर आदि) के अध्ययन से विदित हो सकेंगी। काशी की परम्परा भी यही रही है कि सिद्धान्तकौमुदी पढ़ाने का मुख्य उद्देश्य शब्दसाधुत्व की दिशा का ज्ञान कराना है। साथ ही उस प्रसङ्ग में आए हुए पूर्वाचार्यों के मतों की युक्तायुक्तता भी आवश्यक मानी गई है। आरम्भ में व्याख्या लिख तेसमय यह विचार था कि सिद्धान्तकौमुदी के षड्लिङ्ग-प्रकरण में आए हुए सभी प्रासङ्गिक शब्दों की रूपावलि दे दी जाय। किन्तु यह सम्भव न हो सका। उसका कारण यह हुआ कि पुस्तक का आकार बहुत बढ़ जाता। बालमनोरमा का समावेश होने से पुस्तक का आकार वैसे ही बढ़ गया है। मैंने हिन्दी टीका में बालमनोरमा को आधारभूत अवश्य माना है किन्तु उसका सर्वथा अनुसरण नहीं किया है। संस्कृत में निबद्ध सभी व्याख्याओं के लेखकों ने प्रायः सूत्रार्थ करने में महाभाष्य, काशिका आदि प्रक्रियाप्रधानग्रन्थों का ही अनुसरण किया है। वही क्रम मैंने भी अपनाया है। मतमतान्तरों की समीक्षा में प्रमाणस्वरूप आवश्यक टिप्पणियों के रूप में मूलग्रन्थों के प्रकीर्ण अंशों का उद्धरण देना ही मैंने अधिक उपयुक्त समझा।

इस सम्पादन-कार्य में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के अनुसन्धान-निदेशक डा० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी ('वागीश' शास्त्री) तथा सोरों (एटा) स्थित मेहता संस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाचार्य सुप्रसिद्ध वैयाकरण पं० धर्मानन्द

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शास्त्री कोठचारी ने समय-समय पर सत्परामर्श देकर मुझे अनुगृहीत किया है, उसके लिये मैं दोनों विद्वानों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

प्रकृत कार्य में मुझे कहाँ तक सफलता मिली है, इसका निर्णय सिद्धान्त-कौमुदी के अध्येता ही करेंगे। मेरे प्रमाद एवं अज्ञानवश तथा मुद्रणसम्बन्धी दोषों पर विज्ञजन ध्यान न देते हुए केवल मेरे परिश्रम पर विचार करें। त्रुटियों के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा सूचित किये जाने पर मैं अगले संस्करण में उनका परिमार्जन कर सकूँगा। जो अशुद्धियाँ दृष्टिगोचर हो पाई हैं, उन्हें शुद्धिपत्र में अङ्कित कर दिया गया है। पाठक उन्हें सुधारने का कष्ट करें। भगवान् विश्वनाथ की कृपा तथा विद्वानों के प्रोत्साहन से ग्रन्थ के अवशिष्ट भाग भी क्रमशः यथाशीघ्र प्रकाशित होंगें।

दीपावली
कार्तिककृष्णा ३०, सं० २०३६
वाराणसी

विद्वज्जनकृपाभिलाषी—
गोपालदत्त पाण्डेय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सङ्केत-निर्देश

(क) साधनिकोपयोगी चिह्न

१	+	—	संयुक्तार्थक
२	०	—	लोपार्थक
३	<	—	परिवर्तित
४	=	—	समान, समानार्थक
५	>	—	निष्पन्न, सिद्ध
६	√	—	धातु
७	→	—	सातत्य-सूचक

(ख) ग्रन्थसंकेत

१	ल० श० शे०	—	लघुशब्देन्दुशेखर ।
२	पा० शि०	—	पाणिनीय-शिक्षा ।
३	पा० सू०	—	पाणिनि-सूत्र ।
४	म० भा०	—	महाभाष्य ।
५	ऋ० प्रा०	—	ऋक्प्रातिशाख्य ।
६	व्या० सि० सु० वै० सि० सु०	—	व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि ।
७	ऋ० सं०	—	ऋक्संहिता ।
८	काम० नी०	—	कामन्दकीय नीति ।
९	रघु०	—	रघुवंश ।
१०	हला०	—	हलायुध कोष

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषयानुक्रमणिका

विषय			पृष्ट
१ संज्ञाप्रकरणम्	....	....	१
२ परिभाषाप्रकरणम्	....	....	६०
३ अच्सन्धिप्रकरणम्	....	...	७४
४ प्रकृतिभावप्रकरणम्	....	...	१२५
५ हल्सन्धिप्रकरणम्	....	....	१४३
६ विसर्गसन्धिप्रकरणम्	....	....	१७४
७ स्वादिसन्धिप्रकरणम्	...	...	१८६
८ अजन्तपुंल्लिङ्गप्रकरणम्	....	....	२०५
९ अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्	....	....	३३२
१० अजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्	....	....	३७०
११ हलन्तपुंलिङ्गप्रकरणम्	....	....	३९१
१२ हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्	....	....	५२५
१३ हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्	....	...	५३४
१४ अव्ययप्रकरणम्	....	....	५५९
१५ स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम्	....	....	५७२
१६ कारकप्रकरणम्	....	....	६८७
(क) कारकान्तान्तर्गत-सूत्रसूची	....	....	८१०
(ख) कारकान्तान्तर्गत-परिभाषासूची	....	....	८१६
(ग) कारकान्तान्तर्गत-वार्तिकसूची	....	....	८१७
(घ) गणपाठः	....	....	८१९
परिशिष्टम्			
(१) व्याकरणे विशेषोपयोगीनि लक्षणानि		....	८२१
(२) रूपदीपिका	....	....	८२३
(३) पङ्क्तिदीपिका	....	....	८३२
(४) शुद्धिपत्रम्	....	...	८४३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

॥ श्रीः ॥

बालमनोरमाव्याख्यासंवलिता

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

दीपिकाख्य-हिन्दीव्याख्या-सहिता

मुनित्रयं नमस्कृत्य तदुक्तीः परिभाव्य च ।
वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीयं विरच्यते ॥ १ ॥

❀ बालमनोरमा ❀

स जयति दिव्यनटेशो नृत्यति योऽसौ चिदम्बरसभायाम् ।
पाणिन्याद्या मुनयो यस्य च दयया मनोरथानभजन् ॥ १ ॥
अस्तु नमः पाणिनये भूयो मुनये तथास्तु वररुचये ।
किञ्चास्तु पतञ्जलये भ्रात्रे विश्वेश्वराय गुरवे च ॥ २ ॥
व्याख्याता बहुभिः प्रौढैरेषा सिद्धान्तकौमुदी ।
वासुदेवस्तु तद्व्याख्यां वष्टि बालमनोरमाम् ॥ ३ ॥

'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि च अध्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युः' इति वृद्धिसूत्रस्थभाष्यादिस्मृतिसिद्धकर्तव्यताकं ग्रन्थादौ कृतं मङ्गलं शिष्यशिक्षायै ग्रन्थतो निबध्नन् प्राचीनग्रन्थैरगतार्थतां विषयप्रयोजनसम्बन्धाधिकारिणश्च सूचयन् चिकीर्षितं प्रतिजानीते—मुनित्रयमिति श्लोकेन । इयं वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी विरच्यत इत्यन्वयः । इयमिति वाक्यावलिर्विवक्षिता । भाविन्या अपि तस्याः बुद्ध्या विषयीकरणादियमिति प्रत्यक्षवन्निर्देशः । व्याकरणमधीयते विदन्ति वा वैयाकरणाः, तेषां सिद्धान्ताः एते शब्दाः साधव इति निश्चितार्थाः, तेषां

❀ दीपिका ❀

हार्दं तमोऽपनीयाशु बुद्धेः स्फूर्तिविधायिनम् ।
पूर्णात्मानं शान्तरूपं नित्यानन्दं गुरुं भजे ॥ १ ॥

प्रकृत ग्रन्थ "वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी" के आरम्भ में ग्रन्थकार भट्टोजिदीक्षित पूर्व-परम्परा का अनुसरण कर ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति हेतु मङ्गलाचरण प्रस्तुत करते हैं—मुनित्रयम्[1] ।

अन्वय—मुनित्रयं नमस्कृत्य, च तदुक्तीः परिभाव्य, इयं वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (मया) विरच्यते ।

मूलार्थ—"तीन मुनियों को नमस्कार कर तथा उनके मतों पर सम्यक् विचार कर इस "वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी" नामक ग्रन्थ की रचना मेरे द्वारा की जा रही है" ।

विवरण—व्याकरणशास्त्र के ग्रन्थ-निर्माण करने में सर्वप्रथम व्याकरण के आद्यप्रवर्तक

१. मुनीनां त्रयम्=मुनित्रयम्, षष्ठी समासः । त्रयाणां मुनीनां समुदाय इति यावत् । पाणिनि-कात्यायन-पतञ्जलीन् इत्यर्थः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कौमुदी चन्द्रिका। अत्यन्तसादृश्यात्तद्व्यपदेशः। चन्द्रिका हि तमो निरस्यति। भावान् सुखं प्रकाशयति, दिनकरकिरणसंपर्कजनितं संतापमपगमयति। एवमियमपि ग्रन्थरूपवाक्यावलिः अज्ञानात्मकं तमो निरस्यति, मुनित्रयग्रन्थभावानायासं प्रकाशयति। अतिविस्तृतदुरूहभाष्यकैयटादिमहाग्रन्थपरिशीलनजनितं चित्तसन्तापं च शमयतीति अत्यन्तसादृश्याद्युज्यते चन्द्रिकातादात्म्याध्यवसायः। विरच्यते—क्रियते। वर्तमानसामीप्याद्वर्तमानव्यपदेशः। किं कृत्वेत्यत आह—मुनित्रयं नमस्कृत्येति। त्रयः अवयवा अस्य समुदायस्य त्रयं त्र्यवयवकसमुदायः। 'सङ्ख्याया अवयवेत यप्' तद्धितः। 'द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्' देशः। मुनीनां त्रयमिति षष्ठीसमासः। त्रयाणां मुनीनां समुदाय इति यावत्। यद्यपि मुनिशब्दस्य चाभेदान्वये त्रिशब्दस्य मुनिशब्दसापेक्षत्वात् असामर्थ्यात्तद्धितानुपपत्तिः, तथापि त्रयोऽवयवा अस्य समुदायस्य त्रयम् इति प्रथमं व्युत्पाद्यम्। अत्र त्रिशब्दस्य मुनिशब्दमनपेक्ष्यैव समुदायेऽन्वयान्नास्त्यसामर्थ्यम्। ततो मुनीनां त्रयमिति मुनिशब्दः समुदायेऽन्वेति, तस्य प्रत्ययार्थतया प्रधानत्वात्। न तु मुनिशब्दस्य त्रयशब्दैकदेशभूतत्रिशब्देनाभेदान्वयः, 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु तदेकदेशेन' इति न्यायात्। ततश्च मुनिशब्दत्रिशब्दयोः परस्परवार्तानभिज्ञयोरेव शब्दमर्यादया समुदायेऽन्वये सति पश्चात्सङ्ख्यायाः परिच्छेदकत्वस्वभावतया त्रित्वस्य परिच्छेद्यपर्यालोचनायां सन्निहितपदान्तरोपस्थितत्वान्मुनय एव परिच्छेद्यतया सम्बध्यन्ते—त्रयाणां मुनीनां समुदाय इति। सोऽयं पार्ष्टिकान्वयः अरुणाधिकरण (पू. मी. ३-१-४) न्यायविदां सुगम इत्यलं विस्तरेण। मुनित्रयमिति कर्मणि द्वितीया। 'नमःस्वस्ति' इति चतुर्थी तु न, कारकविभक्तेर्बलीयस्त्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्। नमस्कृत्य—अञ्जलिशिरःसंयोगादिव्यापारेण तोषयित्वेत्यर्थः। नमस्करोतेरञ्जलिशिरःसंयोगादिरूपव्यापारमात्रार्थकत्वे अकर्मकत्वापत्त्या द्वितीयानुपपत्तेः।

सुप्रसिद्ध तीन आचार्यों से प्रेरणा प्राप्त करने हेतु भट्टोजिदीक्षित का उन्हें नमन करना मङ्गलाचरण का प्रमुख कार्य है। वे तीन आचार्य **पाणिनि, कात्यायन** तथा **पतञ्जलि** हैं। इन तीनों की रचनायें क्रमशः 'सूत्र' (अष्टाध्यायी) 'वार्तिक' तथा 'भाष्य' कहलाती हैं। अतः ग्रन्थकार का इन्हीं तीनों को प्रणाम कर फिर ग्रन्थरचना की ओर प्रवृत्त होना स्वाभाविक ही है। मङ्गलाचरण के श्लोक में 'त्रयं' पद त्रिकसमुदाय का बोधक है। 'त्रयं' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यही सूचित करता है—त्रयः अवयवा अस्य समुदायस्य तत्–त्रि+तयप्[1]>अयच्[2]=त्रयम्,—यहाँ संख्यावाचक 'त्रि' शब्द से अवयवार्थ में तयप् (अयच्) प्रत्यय का विधान होने के कारण समष्टिगत अर्थ की प्रतीति होती है, अतः व्याकरणशास्त्र के आधारभूत पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि को प्रणाम कर अभीष्ट सिद्धि की प्रार्थना की गई है।

केवल प्रणाम करने से उनके विचारों का निदर्शन सम्भव नहीं। अतः ग्रन्थकार पुनः यह सूचित करते हैं कि उन्होंने तीनों मुनियों की रचनाओं—सूत्र, वार्तिक एवं भाष्य—का अच्छी तरह परिशीलन भी कर लिया है—**तदुक्तीः**[3] **च परिभाव्य**[4]। कारण यह है कि ग्रन्थावलोकन से उनके मतों एवं विचारों की समीक्षा सम्भव नहीं। इसलिये उन ग्रन्थों का मनन करना आवश्यक है। तभी मतमतान्तरों की समीक्षा सम्भव हो सकती है, अन्यथा नहीं। इस कथन से भट्टोजिदीक्षित ने **सिद्धान्तकौमुदी** की प्रामाणिकता सूचित की है। उन्होंने यह घोषित कर दिया है कि इस ग्रन्थ के उपजीव्य ग्रन्थ व्याकरण के मूलभूत सूत्र, वार्तिक एवं भाष्य हैं, जिनकी प्रामाणिकता सर्वमान्य है।

---

१. "संख्याया अवयवे तयप्" (५-२-४२)। २. "द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा" (५-२-४३)।
३. तेषाम्=पाणिनि-कात्यायन-पतञ्जलीनाम्, उक्तयः=सूत्र-वार्तिक-भाष्यरूपाणि, ताः।
४. सम्यग् विचार्य इत्यर्थः। परि+√भू (णिच्)+क्त्वा>ल्यप्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ननु प्राचीनेषु प्रक्रियाकौमुद्यादिग्रन्थेषु वैयाकरणसिद्धान्तानां सङ्ग्रहात्तैरेव ग्रन्थैः चरितार्थत्वात् किमनेन ग्रन्थेनेत्यत आह—तदुक्तीः परिभाव्य चेति। तस्य मुनित्रयस्य उक्तयः तदुक्तयः = सूत्रवार्तिकभाष्यात्मकग्रन्थरूपवाक्यावलयः, ताः परिभाव्य च = सम्यगालोच्य चेत्यर्थः। भूधातोः स्वार्थिकणिजन्ताद्रूपम्। चुरादौ हि 'भुवोऽवकल्कने' इत्यत्र ण्यन्तभूधातोश्चिन्तनार्थकत्वमपि वक्ष्यते मूलकृतैव। न च 'अनादरः परिभवः परीभावस्तिरस्क्रिया' इति कोशविरोधः शङ्क्यः, कोशस्य अण्यन्तभूधातुविषयत्वात् 'परौ भुवोऽवज्ञाने' इति सूत्रेण तिरस्कारार्थे वर्तमानादण्यन्तात्परिपूर्वकभूधातोर्भावे घञि परीभावशब्दस्य व्युत्पत्त्यवगमात्। एवं च तदुक्तीरिति तच्छब्दस्य बुद्धिस्थपरामर्शित्वात्प्राचां प्रक्रियाकौमुदीप्रसादादिकृतां उक्तीस्तिरस्कृत्येत्यर्थ इति व्याख्यानं क्लिष्टत्वादुपेक्षितम्। अनेन स्वग्रन्थस्य मुनित्रयग्रन्थानुयायित्वं, प्राचीनप्रक्रियाकौमुद्यादिग्रन्थानां तद्विरुद्धत्वं च सूचितम्। तच्च प्रौढमनोरमायां स्वयमेव मूलकृता प्रपञ्चितमेव। वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीत्यन्वर्थसञ्ज्ञया वैयाकरणसिद्धान्ताः प्रतिपाद्यत्वेन विषयाः। अनायासेन तदवगमः प्रयोजनम्। तस्य ग्रन्थस्य च जन्यजनकभावः सम्बन्धः। वैयाकरणसिद्धान्तजिज्ञासुरधिकारीति सूचितम्।

तदनन्तर ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के नाम की अन्वर्थता[1] अभिव्यंजित की है। व्याकरणशास्त्र का मुख्य कार्य शब्द-रचना के साथ शब्दसाधुत्व प्रतिपादन करना है। अतः आगे यह प्रदर्शित किया है कि यह ग्रन्थ व्याकरणशास्त्र के विद्वानों द्वारा निर्णीत सिद्धान्तों को प्रकाशित करने में चन्द्रिका (कौमुदी) के समान सिद्ध होगा। अर्थात् यह ग्रन्थ रात्रिगत अन्धकार को दूर करने वाली एवं वस्तुप्रकाशिका चन्द्रिका के समान अध्येताओं के अज्ञान-जन्य-अन्धकार को दूर कर व्याकरण के आद्यप्रवर्तक तीनों आचार्यों के ग्रन्थों में विद्यमान विषयों का अध्येताओं को अनायास एवम् असन्दिग्ध बोध कराने में समर्थ होगा।

शङ्का-समाधान—१. आरम्भ के मङ्गलाचरण-श्लोक में **'नमः'** पद[2] के सान्निध्य से **'मुनित्रयम्'** पद में चतुर्थी विभक्ति की आशङ्का नहीं करनी चाहिये। विभक्तियाँ दो तरह की होती हैं—उपपदविभक्ति और कारकविभक्ति। जो विभक्तियाँ किसी पद के सान्निध्य के कारण विहित की गई हैं, उन्हें (उप=समीपस्थ पद=शब्द के कारण) **उपपदविभक्ति** कहा जाता है। इसके अतिरिक्त क्रिया का आश्रय लेकर होने वाली विभक्ति **कारकविभक्ति** कहलाती है। क्रिया के साथ कारक का साक्षात् अन्वय होने के कारण यहाँ "नमस्कृत्य" पद से 'नमस्कार करना' इस प्रकार क्रिया की प्रतीति होती है। ग्रन्थकर्ता भट्टोजिदीक्षित को 'वन्दना करने' में 'तीनों मुनि' अभीष्ट होने के कारण 'मुनित्रयं' में द्वितीया-विभक्ति (कारकविभक्ति) का प्रयोग समुचित है। इस तरह उपपदविभक्ति की अपेक्षा कारकविभक्ति का प्राधान्य सूचित किया गया है[3]।

२. दूसरी शङ्का **'परिभाव्य'** शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में की जाती है। इस शङ्का का आधार "अमरकोष" में तिरस्कार के पर्यायवाची शब्दों में 'परिभव' तथा 'परीभाव' शब्दों का

---

१. व्याक्रियन्ते=व्युत्पाद्यन्ते शब्दाः अनेन इति **व्याकरणम्**—वि+आ+√कृ+ल्युट्>अन। व्याकरणम् अधीयते विदन्ति वा **वैयाकरणाः**—व्याकरण+अण्+जस्। सिद्धः अन्तः येषां ते सिद्धान्ताः। वैयाकरणानां सिद्धान्ताः—वैयाकरणसिद्धान्ताः, तेषां कौमुदी चन्द्रिका इव कौमुदी = प्रकाशिका। २. "नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च" (२-३-१६)। ३. 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी (प०)'। पदान्तरयोगनिमित्ता विभक्तिः उपपदविभक्तिः। प्रधानान्वयनिमित्तकविभक्तित्वं कारकविभक्तित्वम्। क्रियार्थकत्वं कारकपदेन प्राधान्योपलक्षणात्। प्रधानकार्ये च सर्वतो बलवत्त्वस्य "गतिबुद्धि०" (१-३-५२) इति सूत्रे व्यवस्थापनात् तन्मूलिकैवेयं परिभाषा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिगणित किया जाना है[1]। अतः परि+√भू का अर्थ 'तिरस्कार करना' होना चाहिये। तदनुसार 'प्राचीनों की उक्तियों का तिरस्कार कर' इस अर्थ की कल्पना भी कुछ लोग करते हैं। वस्तुतः इस कल्पना में कुछ सार नहीं है। श्लोक में 'तदुक्तीः' पद के सान्निध्य से तीनों मुनियों के कथन पर 'विचार करना' अर्थ ही युक्तिसंगत मालूम पड़ता है और यही अर्थ ग्रन्थकार को अभीष्ट है। इस अर्थ को स्वीकार करने में स्वयं पाणिनि ही प्रमाणभूत हैं। तिरस्कारार्थक 'परिभव' शब्द में 'णिच्' प्रत्ययरहित परि+√भू की कल्पना पाणिनि ने की है[2]। यहाँ पर स्वार्थ में विहित 'णिच्' प्रत्यय सहित परि+√भू स्वीकृत है। इसके अतिरिक्त धातु अनेकार्थक होते हैं, अतः परि+भू को विचारार्थक मानने में कोई आपत्ति नहीं है। इस अर्थ के स्वीकार करने में श्रीहर्ष का प्रयोग भी प्रमाणस्वरूप दिया जाता है। उन्होंने 'मनसा परिभाव्य किञ्चित्' यह प्रयोग विचारार्थक परि+√भू से ही निष्पन्न माना है।

३. ग्रन्थरचना करने में समय अपेक्षित होता है, अतः ग्रन्थकार के द्वारा प्रयुक्त 'इयम्' पद, जिसका प्रयोग सामने रखी हुई वस्तु को अभिव्यञ्जित करने में किया जाता है, उचित प्रतीत नहीं होता। ग्रन्थकार के हृदय में निहित विचारों का मूर्तरूप ग्रन्थ अवश्य भविष्यत् काल में प्रकट होगा, किन्तु बुद्धिगत विचार उसके पूर्ववर्ती होने के कारण उनका वर्तमानकाल में होना युक्तिसंगत है। अतः 'इयम्' यह उक्ति इस दृष्टिकोण से उचित है।

४. 'विरच्यते' क्रिया वर्तमान काल में प्रयुक्त होने पर भी भविष्यत् काल का बोध कराती है। पाणिनि के नियमानुसार आसन्न भूत अथवा प्रत्यासन्न भविष्यत् काल में वक्ता वर्तमान कालिक क्रिया का प्रयोग करने में स्वतन्त्र है[3]।

विशेष—ग्रन्थारम्भ में 'अनुबन्ध-चतुष्टय'[4] के निरूपण करने की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। कारण यह है कि ग्रन्थकार को अपने ग्रन्थ में अध्येताओं की अभिरुचि और प्रवृत्ति कराने के लिये 'विषय', 'प्रयोजन' आदि का निरूपण करना आवश्यक होता है। इसके साथ ही अध्येताओं की योग्यता के कारण उसके 'अधिकारी' होने के विषय में भी विचार करना ग्रन्थकार का ध्येय होता है। अन्यथा अनधिकारी के अध्ययन करने पर उद्देश्य की सिद्धि सम्भव नहीं। अन्त में ग्रन्थ का अध्ययन करने पर अध्येता का उसके साथ 'सम्बन्ध' स्थापित होता है।

किसी रचना में मानव की सोद्देश्य प्रवृत्ति का होना ही 'अनुबन्ध-चतुष्टय'[5] की कल्पना का बीज है। यह देखा गया है कि मानव उसी कार्य में प्रवृत्त होता है[6] जिसमें उसे अपने उद्देश्य की सिद्धि में सफलता मिले (**'इदं मदिष्टसाधनम्'**) तथा इसके साथ ही उसे यह भी देखना पड़ता है कि वह उस कार्य को करने में समर्थ भी है (**'इदं मत्कृतिसाध्यम्'**)। इस प्रकार ग्रन्थकार की ग्रन्थ-रचना में प्रवृत्ति **'इष्टसाधनता'** और **'कृतिसाध्यता'** के ज्ञान होने पर ही होती है। इस ज्ञान में **'इदं'** पद से **विषय**, **'मत्'** पद से **अधिकारी**, **'इष्ट'** पद से **प्रयोजन** तथा 'साधन' या 'साध्य' पद से **सम्बन्ध**—इन चारों का संकेत मिलता है।

---

१. 'अनादरः परिभवः परीभावस्तिरस्क्रिया' (अ० को० १।७।२२)।

२. "परौ भुवोऽवज्ञाने" (३-३-५५)—(१) परि+√भू+घञ्=परीभावः (२) परि√भू+अप्=परिभवः।

३. "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" (३-३-१३१)।

४. सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥ (मीमांसा श्लो० वा० १-१७)।

५. ग्रन्थाध्ययनविषयकप्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वमनुबन्धसामान्यलक्षणम्।

६. प्रवृत्तिमात्रं प्रति बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वप्रकारकज्ञानस्य कृतिसाध्यत्वप्रकारकज्ञानस्य च करणत्वेन तदुपपत्त्यर्थं ग्रन्थादौ अवश्यं यत्नः कर्तव्यः। निरुक्तज्ञानद्वयं च अनुबन्धज्ञानेन जायते। अवनुन्धाश्च विषयप्रयोजनसम्बन्धाधिकारिभेदेन चतुर्विधाः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संज्ञाप्रकरणम् ।

१ अइउण् । २ ऋलृक् । ३ एओङ् । ४ ऐऔच् । ५ हयवरट् । ६ लण् । ७ ञमङणनम् । ८ झभञ् । ९ घढधष् । १० जबगडदश् । ११ खफछठथचटतव् । १२ कपय् । १३ शषसर् । १४ हल् ।

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसञ्ज्ञार्थानि । एषामन्त्या इतः । लण्सूत्रेऽकारश्च । हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः ।

अथ वैयाकरणसिद्धान्तान्निरूपयिष्यन् व्याकरणशास्त्रस्य मूलभूतानि चतुर्दशसूत्राणि पठति—अइउणित्यादिना । ननिवमानि सूत्राणि मुनित्रयग्रन्थबहिर्भूतत्वादप्रमाणमित्यत आह—इति माहेश्वराणि सूत्राणीति । महेश्वरादागतानि माहेश्वराणि । 'तत आगतः' इत्यण् । महेश्वरादधिगतानीति यावत् । यदुक्तं पाणिनिशिष्यप्रणीतशिक्षायाम्—

'येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥' इति ।

इसी मर्यादा का अनुगमन करते हुए विद्वानों ने "सिद्धान्तकौमुदी" के मङ्गलाचरण श्लोक में भी अनुबन्धचतुष्टय की कल्पना की है । सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीनागेश भट्ट ने अपने ग्रन्थ **'लघुशब्देन्दुशेखर'** में इन चारों का इस प्रकार समावेश किया है[1] । उनके अनुसार वैयाकरणसिद्धान्त **विषय** है, उनका ज्ञान **प्रयोजन** है, ज्ञान का जिज्ञासु **अधिकारी** है तथा प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावादि **सम्बन्ध** है । बालमनोरमा में भी इसी प्रकार वर्णन किया गया है । इस विषय में म० म० पं० नित्यानन्द पन्त पर्वतीय जी की कल्पना कुछ भिन्न है । उनकी सम्मति में १—**वैयाकरणसिद्धान्तज्ञान** प्रकृत ग्रन्थ का **विषय** है, क्योंकि वैयाकरणों के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करना ही अध्येता का उद्देश्य रहता है । अध्येता के प्रवृत्त होने का उद्देश्य ही विषयरूप अनुबन्ध माना गया है । २—इसी प्रकार भाष्योक्त **रक्षा, ऊह, आगम, लघु (लाघव)** तथा **असन्देह** ये पाँच इसके भी **प्रयोजन** हैं । वैयाकरणसिद्धान्त-ज्ञान को प्रयोजन न मानने में उन्होंने यह युक्ति दी है कि वैयाकरणों के सिद्धान्तज्ञान के कौमुदी की रचना में प्रयोजन होने से वैयाकरणसिद्धान्तज्ञानरूप से वैयाकरणसिद्धान्तज्ञानरूपविषय के प्रयोजनज्ञान के विना अध्येता की प्रवृत्ति सम्भव नहीं हो सकेगी । अध्ययन में प्रवृत्ति का प्रयोजक अनुबन्धचतुष्टय का ज्ञान होना है । ३—इसी प्रकार केवल ज्ञान प्राप्त करने का इच्छुक व्यक्ति अधिकारी नहीं हो सकता । अन्यथा अपठित व्यक्ति को भी नाममात्र के लिये जिज्ञासा होने पर इसका अधिकारी माना जा सकेगा, किन्तु होता नहीं । अतः योग्यता होना उसके लिए आवश्यक है । इस हेतु जिसने पहले **काव्यकोषादि** का अध्ययन कर कुछ योग्यता सम्पादित कर ली हो वही इसका **अधिकारी** है[2] ।

मङ्गलाचरण करने के उपरान्त ग्रन्थकार 'संज्ञाप्रकरण' का आरम्भ करने हेतु संज्ञाओं के स्वरूप का निर्वचन करने के पूर्व शब्दरचना के आधारभूत वर्णों (अक्षरों) का परिचय पाणिनि-द्वारा उपदिष्ट 'माहेश्वर-सूत्रों' के रूप में दे रहे हैं । यह वर्णसमाम्नाय क्रमशः स्वर एवं व्यञ्जनों का बोधक है । इन चौदह सूत्रों का आरम्भ **'अइउण्'** सूत्र से होता है तथा **'हल्'** सूत्र में इसकी समाप्ति होती है ।

मूलार्थ—ये (१४) माहेश्वर सूत्र 'अण्' आदि संज्ञा के लिए हैं । इनके (१४ सूत्रों के) अन्तिम वर्ण (ण्, क्, ङ्, च् आदि) 'इत्' होते हैं (अर्थात् उनका लोप होता है, शास्त्रप्रवृत्ति

---

१. वैयाकरणसिद्धान्ता विषयाः, तज्ज्ञानं प्रयोजनं, तज्जिज्ञासुरधिकारीत्यादि सूचितम् । ल० शे० ।

२. **वैयाकरणसिद्धान्ता विषया** इति—चिन्त्यमिदम्—प्रवृत्तौ वैयाकरणसिद्धान्तज्ञानस्योद्देश्यत्वेन प्रवृत्त्युद्देश्यस्यैव विषयरूपानुबन्धत्वौचित्येन वैयाकरणसिद्धान्तज्ञानं विषय इति लेखन-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एतच्चतुर्दशसूत्रव्याख्यायां नन्दिकेश्वरकृतायां काशिकायामप्ययुक्तं—

'नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥' इति।

अत्र ननादेत्यन्तर्भावितण्यर्थो नदधातुः। ढक्कां नादयामासेत्यर्थः। नवपञ्चवारं चतुर्दशकृत्वः। एतच्छिवढक्कोत्थितं वर्णजालं शिवसूत्रजालतया विमर्शे जानामीत्यर्थः। आर्षस्तङ्। एवं च महेश्वरेण प्रोक्तानि माहेश्वराणीति निरस्तम्। एतेन माहेश्वरत्वादेतेषां सूत्राणां नाऽप्रामाण्यमित्युक्तं भवति। नन्वेवमपि अनर्थकवर्णराश्यात्मकानामेषां सूत्राणां वैयाकरणसिद्धान्तप्रकाशने उपयोगाभावादिह तदुपन्यासो व्यर्थं आह—अणादिसञ्ज्ञार्थानीति। अण् आदिः यासां ताः अणादयः, ऋणादयश्च ताः सञ्ज्ञाश्च अणादिसञ्ज्ञाः, ताः अर्थः प्रयोजनं येषां तानि अणादिसञ्ज्ञार्थानि। अनर्थकवर्णराशित्वेऽपि एषां सूत्राणां व्याकरणशास्त्रगतव्यवहारोपयोग्यणादिसञ्ज्ञासु उपयोगान्नानर्थक्यमिति भावः। कथमेषां सूत्रा-

---

में उनकी उपेक्षा की जाती है)। 'लण्' सूत्र में अकार की भी इत्संज्ञा होती है (अतः उसका भी लोप हो जाता है)। हकार इत्यादि में (व्यञ्जनों में) अकार (स्वरवर्ण) का समावेश उच्चारण की सुविधा के लिए है।

विवरण—'अइउण्' इत्यादि चौदह सूत्रों की प्रसिद्धि **माहेश्वरसूत्रों** के रूप में है। इस रूप में वर्णसमुदाय का परिचय महर्षि पाणिनि को **महेश्वर (भगवान् शंकर) की कृपा**[1] से प्राप्त हुआ है। इस सम्बन्ध में एक कथा प्रसिद्ध है—'पाणिनि अपने गुरु वर्षाचार्य के यहाँ अध्ययन करते समय अपनी प्रतिभा का विकास न होते हुए देख खिन्न रहा करते थे। तदनन्तर उन्होंने शिव की आराधना की। जिसके फलस्वरूप उन्हें इस प्रकार वर्णसमाम्नाय की प्राप्ति शिव के डमरूनिनाद से हुई।[2] आराधक को अपना अभीष्ट उसी रूप में प्राप्त होता है जिस रूप में उसे आवश्यकता रहती है। 'आकाशदेशस्थ शब्द' की (१४ सूत्रों की) उस रूप में कल्पना कर पाणिनि ने स्वर-व्यञ्जन-विभाग बड़े वैज्ञानिक ढंग से किया है। इस रूपमें स्वर-व्यञ्जनों के विभाग से प्रत्याहारों की कल्पना द्वारा विषय का निरूपण करने में बड़ा लाघव हुआ है। ये प्रत्याहार व्याकरण में उसी प्रकार उपयोगी होते हैं, जिस प्रकार गणित आदि में सूत्रभूत पारिभाषिक शब्द अपनी उपयोगिता प्रतिपादित करते हैं। 'प्रत्याहार' का अर्थ है—संक्षेप में कथन। अनेक वर्णों का बोध संक्षेप में हो जाने के कारण कार्यपद्धति में सुगमता हो जाती है। उदाहरणार्थ 'अच्' और 'हल्' प्रत्याहारों से क्रमशः 'स्वर' और 'व्यञ्जनों' का बोध हो जाता है। उतने अक्षरों को पृथक् कहने की आवश्यकता नहीं होती। इस कारण इन चौदह माहेश्वर-सूत्रों को 'प्रत्याहार-सूत्र' भी कहते हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी इस प्रकरण को 'प्रत्याहाराह्निक'—संज्ञा दी है।

स्यैवोचितत्वात्। **तज्ज्ञानं प्रयोजनमिति**—इदमपि चिन्त्यम्। अन्यस्य प्रयोजनज्ञानेऽन्यत्र प्रवृत्तेरसम्भवात्। वैयाकरणसिद्धान्तज्ञानस्य कौमुदीकरणप्रयोजनत्वेन वैयाकरणसिद्धान्तज्ञानत्वेन वैयाकरणसिद्धान्तज्ञानरूपविषयस्य प्रयोजनज्ञानमन्तराऽध्येतृप्रवृत्त्यसम्भवाद् अनुबन्धचतुष्टयज्ञानस्यैवाध्ययनप्रवृत्तिप्रयोजकत्वाच्च। तस्माद् 'रक्षोहागम' इत्यादि भाष्योक्तप्रयोजनमेव वक्तव्यम्। **तज्जिज्ञासुरधिकारीति**—इदमपि चिन्त्यम्—तज्जिज्ञासायाश्चाण्डालादेरपि सम्भवेन तस्याप्यधिकारित्वापत्तेः। तस्मादधीतकाव्यकोषादिर्द्विजातिरधिकारीति वक्तव्यम्। (लघुशब्देन्दुशेखर—**'दीपक'**-टीका पृ० ३, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला, १९५४ संस्करण)।

१. महेश्वरादागतानि इत्यर्थः। महेश्वरप्रसादलब्धानीति फलितम्। (ल० शे०)।

"येनाक्षरसामाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः॥" (पा० शि० ५६)।

२. "नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥ (नन्दिकेश्वरकृत काशिका)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

णामणादिसञ्ज्ञार्थत्वमित्यत आह—एषामन्त्या इत इति। एषामुदाहृतसूत्राणाम् अन्त्याः अन्ते भवाः णकारादिवर्णाः इत्सञ्ज्ञकाः प्रत्येतव्या इत्यर्थः। लणसूत्रे अकारश्चेति। इत इत्यनुषज्यते। तच्च एकवचनान्ततया विपरिणम्यते। लण्सूत्रे लकारात्परः अकारश्च इत्सञ्ज्ञकः प्रत्येतव्य इत्यर्थः। अनन्त्यत्वात्पृथक्प्रतिज्ञा। ननु लण्सूत्र एव अकारस्य इत्सञ्ज्ञकत्वे हयवरेत्यादौ पुनः पुनरकारोच्चारणस्य किं प्रयोजनमित्यत आह—हकारादिष्वकार उच्चारणार्थ इति। हकारादीनां सुखोच्चारणार्थं पुनः पुनरकारपाठ इत्यर्थः। अन्यथा ह्य्व्र् इत्येवं क्लिष्टोच्चारणापत्तेरिति भावः। अथवा अचं विना हलामुच्चारणाभावात् पुनः पुनरकारपाठो हकारादुच्चारणार्थ इत्येव व्याख्येयम्। अत एव 'उच्चैरुदात्तः' इति सूत्रे भाष्यम्—'नान्तरेणाचं व्यञ्जनस्योच्चारणं भवति' इति। अत्र च इदमेव अकारस्य पुनः पुनरुच्चारणं ज्ञापकम्। एवं च 'वणादकारः' इति कारप्रत्यये सति ककार इत्यादि (सिध्यति)। वाक् इत्याद्यवसानेषु वृक्ष इत्यादौ संयुक्तवर्णेषु च पदान्ते 'चोः कुः' इत्यादिविधिबलात् 'हलोऽनन्तराः संयोगः' इत्यादिशास्त्रबलाच्च नायं नियम (इत्यपि बोध्यम्) इत्यलम्।

'अक्षरसमाम्नाय' के द्योतक 'अइउण्' इत्यादि भी सूत्र कहे गये हैं। सूत्र का उद्देश्य कम शब्दों में किसी बात का स्पष्ट वर्णन करना है[1]। सूत्रों को भी कार्यों को सुविधा हेतु व्याकरण-शास्त्र में छह प्रकार से विभक्त किया गया है—संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम, अतिदेश तथा अधिकार[2]। इस विभाजन के अन्तर्गत चौदह माहेश्वर-सूत्रों का अन्तर्भाव संकेतित अर्थ का बोध कराने के कारण 'संज्ञासूत्रों' में किया गया है[3]। प्रत्याहारों की सिद्धि द्वारा "आदिरन्त्येन सहेता" (१-१-७१) की एकवाक्यता से शिवसूत्र के आदि और अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण की समष्टि 'अच्' 'हल्' आदि नाम से व्यवहृत होकर बीच में पड़े हुए वर्णों का समाकलन कर तदनुकूल वर्णों की अभिव्यक्ति में सार्थक हो जाते हैं। इस प्रकार ये प्रत्याहार स्वयं संक्षिप्त होते हुए भी स्पष्टतया अभीष्ट वर्णों का बोध कराते हैं।

प्रत्येक माहेश्वरसूत्र के अन्तिम व्यञ्जन की इत्संज्ञा होती है। इसका फल यह होता है कि प्रत्याहारों में उन व्यञ्जनों का (ण्, क्, ङ्, च् आदि का) समावेश नहीं किया जाता। इत्संज्ञक वर्ण का लोप होने से उनकी उपेक्षा हो जाती है। इन अन्तिम व्यञ्जनों की उपयोगिता प्रत्याहारों की रचना में उनके नामों में सार्थक होती है। गमनार्थक √'इण्' से निष्पन्न 'इत्' शब्द का अर्थ किसी कार्यविशेष को सम्पादित करने हेतु अन्त में प्रयुक्त वर्ण का निकल जाना है। अतः इत्संज्ञक वर्ण प्रत्याहार-गम्य नहीं हैं।

चौदह माहेश्वरसूत्रों में अन्तिम व्यञ्जनों को 'इत्'संज्ञक माना गया है। किन्तु इसका एक अपवाद भी है। वह है 'लण्' (मा० सू० ६) सूत्रस्थ लकारोत्तरवर्ती अकार की इत्संज्ञा होना। इसके साथ ही उस अकार की अनुनासिक के रूप में कल्पना की जाती है, क्योंकि स्वरवर्णों के इत्संज्ञा-विधायक "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" (१-३-२) सूत्र में सानुनासिक 'अच्' का इत्संज्ञा-विधान किया गया है। यह अकार अन्त में न होने के कारण इत्संज्ञा की परिधि के बाहर रहा, अतः इसका पृथक् निर्वचन किया जा रहा है। अन्तिम व्यञ्जनों के अतिरिक्त मध्य में पठित इस लकारो-

---

१. "अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥"

२. "संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च। अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्॥"

तत्र च नामकरणं संज्ञा। अनियमे नियमकारिणी परिभाषा। कर्तव्यत्वेनोपदेशो विधिः। बहुत्र प्राप्तौ संकोचनं नियमः। अन्यतुल्यत्वविधानम् अतिदेशः। उत्तरप्रकरणव्यापी अधिकारः।

३. एषां क्रमबोधकत्वेऽपि "आदिरन्त्येन सहेता" १-१-७१ इत्यनेनैकवाक्यतया वृत्तिपरिच्छेकत्वेन संज्ञासूत्रत्वम्। ल० शे०।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) हलन्त्यम् । १ । ३ । ३ ॥ हल् (मा. सू. १४) इति सूत्रेऽन्त्यमित्स्यात् ।

ननु चतुर्दशसूत्र्यां णकाराद्यन्तवर्णानाम् इत्सञ्ज्ञा प्रतिज्ञाता—'एषामन्त्या इत' इति । तदनुपपन्नम् । तेषां हि 'हलन्त्यम्' इति सूत्रेण इत्सञ्ज्ञा वक्तव्या । तच्च सूत्रं हल्पदार्थावगमोत्तरमेव प्रवृत्तिमर्हति । हल्सञ्ज्ञा च हलिति सूत्रे लकारस्य इत्सञ्ज्ञायां सत्याम् 'आदिरन्त्येन सहेता' इति सूत्रेण वाच्या । हलिति सूत्रे लकारस्य इत्सञ्ज्ञा च 'हलन्त्यम्' इति सूत्रेण वाच्या । एवं च हलिति सूत्रे लकारस्य इत्सञ्ज्ञायां सत्याम् 'आदिरन्त्येन' इति हल्सञ्ज्ञासिद्धौ 'हलन्त्यम्' इति सूत्रप्रवृत्तिः । 'हलन्त्यम्' इति सूत्रेण हल्सूत्रे लकारस्य इत्सञ्ज्ञायाम् 'आदिरन्त्येन सहेता' इति हल्सञ्ज्ञासिद्धिः—इत्येवं 'हलन्त्यम्' 'आदिरन्त्येन' इत्यनयोः परस्परसापेक्षत्वेन अन्योन्याश्रयत्वादबोधः ।

(१) एवं च हल्संज्ञामनुपजीव्यैव हल्सूत्रे लकारस्य केनचित् सूत्रेण इत्सञ्ज्ञामबोधयित्वा 'हलन्त्यम्' इति हलामित्सञ्ज्ञाबोधनं पाणिनेरयुक्तमित्याशङ्क्य हल्संज्ञामनुपजीव्यैव हल्सूत्रे लकारस्य इत्सञ्ज्ञां विधातुं 'हलन्त्यम्' इति सूत्रं द्विरावृत्य प्रथमसूत्रमुपक्षिपति—हलन्त्यम् । एकपदं सूत्रम् । हलि अन्त्यं हलन्त्यमिति विग्रहः । शौण्डादेराकृतिगणत्वात् 'सप्तमी शौण्डैः' इति सप्तमीसमासः, सुप्सुपेति समासो वा । हल्पदमिह सूत्रपरम् । 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इति पूर्वसूत्रात् इदित्यनुवर्तते । तदाह—हलिति सूत्रे इत्यादिना । इत्यादिति । इत्संज्ञकः स्यादित्यर्थः, सञ्ज्ञाप्रस्तावात् । एवं च अनेन सूत्रेण हल्सूत्रे लकारस्य हल्सञ्ज्ञामनुपजीव्यैव इत्संज्ञा सिद्धेति नान्योन्याश्रय इति भावः ।

त्तरवर्ती अकार की इत्संज्ञा का प्रयोजन 'र' प्रत्याहार की सिद्धि करना है । अकार की इत्संज्ञा द्वारा "हयवरट्" सूत्र (मा० सू० ५) के अन्तर्गत 'र्' के साथ अग्रिम वर्ण 'ल्' का ग्रहण होने के फलस्वरूप 'र' प्रत्याहार में दोनों वर्णों का समावेश होता है । तदनुसार आगे स्वरसन्धि में "उरण् रपरः" (१-१-५१) सूत्र के सहकार से अवर्ण के अनन्तर आने वाले 'लृकार' को गुण एवं वृद्धि 'अल्' तथा 'आल्' होते हैं । 'र' प्रत्याहार के अभाव में 'ऋ' तथा 'ॠ' सवर्ण होने के कारण 'रपर' अर्थात् केवल 'अर्' तथा 'आर्' के रूप में प्रसक्त होता ।

'हयवरट्' इत्यादि माहेश्वर सूत्रों में व्यञ्जनवर्णों का समावेश है । इन सूत्रों मे पठित व्यञ्जनोत्तर अकार की इत्संज्ञा नहीं होती । वहाँ व्यञ्जन की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये अकार की सहायता ली गई है । स्वरों की सहायता के विना व्यञ्जनों का उच्चारण स्पष्ट नहीं हो पाता ।[1]

(१) पद—हलन्त्यम् । अनुवृत्ति—इत् । संज्ञासूत्र ।

मूलार्थ—'हल्' (मा० सू० १४) इस सूत्र में अन्तिम वर्ण की इत्संज्ञा होती है ।

सन्दर्भ—प्रत्याहार-सूत्रों द्वारा स्वर-व्यञ्जनों का विभाग करने के अनन्तर प्रत्याहार-सिद्धि का उपक्रम किया जा रहा है । प्रत्याहारों की सिद्धि में "हलन्त्यम्" (१-३-३) तथा "आदिरन्त्येन सहेता" (१-१-७१) ये दो सूत्र अपेक्षित हैं । इन दोनों सूत्रों की एकवाक्यता के फलस्वरूप प्रत्याहारों की सिद्धि होती है । अतः इन दोनों का सामञ्जस्य अपेक्षित है । कारण यह है कि वाक्यार्थ-ज्ञान में पदों का अर्थ-ज्ञान होना आवश्यक है । ऐसी स्थिति में पूर्वसूत्र से अनुवृत्त 'उपदेशे' तथा 'इत्' पदों का एवं "हलन्त्यम्" (१-३-३) सूत्रस्थ 'अन्त्य' पद का अर्थज्ञान होने पर भी 'हल्' पद के अर्थ का ज्ञान न होने के कारण "हलन्त्यम्" सूत्र का अर्थबोध नहीं हो सकता । इसके लिये 'हल्' प्रत्याहार का पहले बनाना आवश्यक है । इसी प्रकार "आदिरन्त्येन सहेता" (१-१-७१) के तीनों पदों 'आदि' 'अन्त्य' तथा 'सह' इन तीनों पदों का अर्थज्ञान होने पर भी

---

१. नान्तरेणाचं व्यञ्जनस्योच्चारणं भवति महाभाष्य—"उच्चैरुदात्तः" (पा० सू० १-२-२९) ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) आदिरन्त्येन सहेता । १ । १ । ७१ ॥ अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य

(२) नन्वस्तु हल्सूत्रे लकारस्य इत्सञ्ज्ञा । ततः किमित्यत आह—आदिरन्त्येन सहेता । अन्ते भवः अन्त्यः । तेन इता सहोच्चार्यमाणः आदिः अण् अच् इत्यादिरूपः सञ्ज्ञेत्यर्थः, सञ्ज्ञाप्रस्तावात् । तत्र 'यस्मात्पूर्वं नास्ति परमस्ति स आदिः । यस्मात्परं नास्ति पूर्वमस्ति सोऽन्तः' इति आद्यन्तवत्सूत्रे भाष्यम् । तदिहाद्यन्तशब्दाभ्यां मध्यगा आक्षिप्यन्ते । अतस्तेषां सञ्ज्ञेति लभ्यते । 'स्वं रूपम्' इति पूर्वसूत्रात्स्वमित्यनुवर्तते । तच्च षष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते । तदेतदाह—अन्त्येनेतेत्यादि । स्वस्य चेति । अत्र च स्वशब्देन सञ्ज्ञाकोटि-प्रविष्ट आदिरेव परामृश्यते, नत्वन्त्योऽपि । अन्त्येनेति तृतीयया 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इति

'इत्' पदार्थ का ज्ञान न होने के कारण वाक्यार्थ-बोध नहीं हो सकता, क्योंकि 'इत्' पदार्थ का ज्ञान "हलन्त्यम्" सूत्र के अधीन है । 'इत्' पदार्थ-ज्ञान के अधीन "आदिरन्त्येन सहेता" का सूत्रार्थ है । उसके ज्ञान के अधीन 'हल्' पदार्थ-ज्ञान है । 'हल्' पदार्थ-ज्ञान के अधीन "हलन्त्यम्" सूत्रार्थ-ज्ञान है । इस प्रकार परस्पर अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होता है । उसे निवारण करने हेतु "हलन्त्यम्" सूत्र की आवृत्ति की गई है ।

विवरण—आवृत्ति करने पर प्रथम "हलन्त्यम्" सूत्र के द्वारा "हल्" मा० सू० १४ के अन्तिम वर्ण 'ल्' की इत्संज्ञा की जा रही है । इसके फलस्वरूप 'इत्' पदार्थ का ज्ञान होने के कारण "आदि रन्त्येन सहेता" सूत्र का बोध होने से अन्त्य इत्संज्ञक 'लकार' के सहित आदि वर्ण 'हकार'—'हयवरट्' सूत्र के हकार से आरम्भ होकर 'हल्' सूत्रस्थ हकारपर्यन्त—सब वर्णों को 'हल्' पद में समाविष्ट कर लेगा । इस प्रकार 'हल्' पदार्थ का बोध होने पर "हलन्त्यम्" (आवृत्त) सूत्र द्वारा अन्तिम व्यञ्जनों की इत्संज्ञा सिद्ध की जायगी ।[1]

विशेष—१. पाणिनि ने **"अष्टाध्यायी"** में प्रत्येक कार्य के विधायक-सूत्रों में सूत्रक्रम रखा है । जिसके फलस्वरूप उन्हें आवश्यकतानुसार बहुत से पदों को बार-बार नहीं कहना पड़ता । 'सिद्धान्तकौमुदी' में प्रकरणानुसार वर्गीकरण करने के कारण यह संभव नहीं है । अतः आगे के सूत्रों में उन पदों का निर्देश आरम्भ में ही कर दिया जायगा, जिससे सूत्रार्थ समझने में सुगमता होगी । इसके साथ ही व्याख्येय सूत्रों के पदों का भी संकेत किया जायगा ।

२. प्रकृत सूत्र की आवृत्ति करने पर यह सूत्र एकपदात्मक ही रहेगा (हलन्त्यम्) । 'हलन्त्यम्' शब्द का समास 'हलि अन्त्यम्' सप्तमी तत्पुरुष है, जिसके अनुसार सूत्रार्थ—हलि = 'हल्' सूत्र में, अन्त्यम्—अन्तिम वर्ण की इत्संज्ञा होती है—इस प्रकार किया जाता है । कुछ विद्वान् "हलन्त्यम्" में 'हलः अन्त्यम्'—षष्ठी तत्पुरुष की कल्पना कर 'हल्' (मा० सू० १४) के अन्तिम 'ल्' की इत्संज्ञा हो—ऐसा अर्थ करते हैं ।

(२) पद—आदिः, अन्त्येन, सह, इता । **अनुवृत्ति**—स्वं रूपम् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण के साथ आदिम वर्ण बीच में (पढ़े हुए) आए हुए वर्णों का तथा अपना भी (प्रत्याहार में) बोधक होता है । इस प्रकार 'हल्' प्रत्याहार की सिद्धि (हुई) ।

विवरण—यह प्रत्याहारसाधक संज्ञासूत्र है । सूत्र में उच्चरित 'अन्त्येन इता सह आदिः' अर्थात् 'अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण से युक्त आदि' (अण्, अक्, अच् इत्यादि रूप)—यह संज्ञा का स्वरूप है । जिस प्रकार 'गुण'संज्ञा-सूत्र "अदेङ् गुणः" (१-१-२) में 'अत्' (ह्रस्व अकार), एङ् (ए, ओ)—संज्ञी निर्दिष्ट हैं उस तरह इस सूत्र में संज्ञी का निर्देश नहीं किया गया है ।

---

१. इस सम्बन्ध में एक दूसरी कल्पना "हलन्त्यम्" सूत्र की बिना आवृत्ति किए की गई है । भाष्यकार ने 'हल् च हल् च = हल्' एकशेष किया है । 'हल्' पद में 'ह्स्य ल्' इस प्रकार समास कर प्रत्याहार वाले 'हल्' सूत्र के 'ल्' की इत्संज्ञा हकार के समीप में होने के कारण होती है । पश्चात् एकशेष होने से अन्तिम हल् की इत्संज्ञा की है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विहितया तस्य अप्राधान्यावगमात्, सर्वनाम्नां चोत्सर्गतः प्रधानपरामर्शित्वात्। न च इक् उक् इच् यय् मय् इत्यादिप्रत्याहाराः कथं स्युः इकारादीनामादित्वाभावादिति वाच्यम्, नहि सूत्रापेक्षमिहादित्वम्, किन्तु आद्यन्तशब्दाक्षिप्तसमुदायापेक्षम्। ततश्च अइउणिति इकारमारभ्य ऋलृक् इति ककारपर्यन्तं वर्णसमुदायं बुद्ध्या परिकल्प्य तदादित्वम् इकारस्य सम्भावनीयम्। एवमिजादिष्वपि। तथा अन्त्यत्वमपि बुद्धिकल्पितसमुदायापेक्षमेव, न तु सूत्रापेक्षम्। ततश्च रप्रत्याहारः सुग्रहः। अन्यथा लण्सूत्रे अकारस्यान्त्यत्वाभावात् स न स्यात्। अत्र आद्यन्तशब्दयोरन्यतराभावे मध्यगानामिति न लभ्येत। आदिरित्यस्याभावे हि अन्त्येनेता सहोच्चार्यमाणो वर्णः अन्त्यात्प्रागभाविनां वर्णानां सञ्ज्ञेत्येव लभ्येत। ततश्च हल्प्रत्याहारे अकारादीनामपि ग्रहणं स्यात्, अन्त्यलकारात्पूर्वभावित्वाविशेषात्। अन्त्येनेत्यभावे तु आदिरिता सहोच्चार्यमाण आदेः ऊर्ध्वभाविनां वर्णानां सञ्ज्ञेत्येव लभ्येत। ततश्च अच्प्रत्याहारे हकारादीनामपि ग्रहणापत्तिः, आदेरकारादूर्ध्वभावित्वाविशेषात्। उभयोरुपादाने तु मध्यगानामिति लभ्यते इत्यदोषः। परस्मिन् सति यस्मात्पूर्वो नास्ति स आदिः। पूर्वस्मिन् सति यस्मात्परो नास्ति सोऽन्त्य इति भाष्ये आद्यन्तशब्दार्थनिर्वचनेन आद्यन्तयोर्मध्यगाविनाभूतत्वेन ताभ्यां मध्यगानामाक्षेपात्। यद्यपि द्वयोरप्याद्यन्तशब्दौ सम्भवतः, उक्तनिर्वचनाविरोधात्, तथापि नेह द्वयोराद्यन्तशब्दौ भवतः। तथा सति हि अन्त्येनेता सह उच्चार्यमाण आदिः स्वस्य आदेः सञ्ज्ञेत्येव लभ्येत, उक्तरीत्या स्वशब्देन अन्त्यस्य परामर्शासम्भवात्। ततश्च उण् इत्युकारस्य सञ्ज्ञेति पर्यवस्येत्। तत्र एकस्य वर्णस्य वर्णद्वयात्मकसञ्ज्ञाविधानं व्यर्थमापद्येत, गौरवात्, प्रत्याहाराणां व्यवहारलाघवार्थत्वात् अतो मध्यमसत्त्व एवात्र आद्यन्तशब्दाविति ताभ्यां मध्यगानामिति लभ्यते। इतेति किम्? अम्प्रत्याहारः जमङणेति मकारेण मा भूत्। न चैवमपि सुट्प्रत्याहारः टा इति टकारेण किं न स्यात्, टान्तसमुदायापेक्षया तस्य अन्त्यत्वादिति वाच्यम्। प्रथमातिक्रमणे कारणाभावेन सुट्प्रत्याहारस्य औटष्टकारेणैव ग्राह्यत्वात्। उक्तं च जैमिनिना—'प्रथमं वा नियम्येत कारणस्यानतिक्रमात्' (पू. मी. १।१।४३) इति विस्तरभयाद्विरम्यते। इति हल्संज्ञायामिति। हल्सूत्रे लकारस्य हलन्त्यमित्यावृत्तप्रथमसूत्रेण इत्सञ्ज्ञायां सत्याम्, आदिरन्त्येनेति हल्सञ्ज्ञासिद्धौ चतुर्दशसूत्र्यामन्त्यणकारदिवर्णानां हल्त्वं सिद्धमित्यर्थः।

संज्ञी का बोध संज्ञा कराती है यह नियम है। यहाँ 'आदि' और 'अन्त्य' शब्द अवयवार्थक हैं। 'आदि' कहने से उसके पहले किसी का न होना किन्तु बाद में होना सूचित होता है। इसी प्रकार 'अन्त्य' कहने से उसके पश्चात् किसी का न होना किन्तु उसके पूर्व किसी के होने का आशय विदित होता है। इस तरह 'आदि' और 'अन्त्य' शब्द मध्यपठित वर्णों के (अवयवी के) अपेक्षी हैं और इस प्रकार वे अवयवी (मध्यपठित वर्ण) संज्ञी होंगे। इस सूत्र में "स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा" (१-१-६८) से 'स्वं रूपं' की अनुवृत्ति आने से मध्य-पठित वर्णों के साथ स्वयम् आदि वर्ण भी संज्ञी के अन्तर्गत समाविष्ट होता है। यहाँ 'स्वम्' पद षष्ठ्यन्त में परिवर्तित हो सूत्रस्थ 'आदिः' से अन्वित होने के कारण 'स्वस्य च रूपस्य' इस रूप में अर्थ का ग्रहण किया गया है। अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण का लोप होने से प्रत्याहार में उसका समावेश नहीं होता।

विशेष—प्रकृत सूत्र 'प्रत्याहार' बनाने के साथ उसके स्वरूप का निर्धारण भी करता है। अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण आदिम वर्ण के साथ मिलकर जो संक्षेप में सांकेतिक रूप बनाता है वह "प्रत्याहार" कहलाता है। सूत्रस्थ 'आदि' और 'अन्त्य' शब्द केवल माहेश्वर सूत्र-घटक आदि और अन्तिम वर्ण के बोधक ही नहीं हैं, किन्तु शास्त्रप्रवृत्ति में उपयोगी बुद्धिपरिकल्पित समुदाय के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

च सञ्ज्ञा स्यात्। इति हल्सञ्ज्ञायाम्। **हलन्त्यम् १।३।३॥** उपदेशेऽन्त्यं हल्

ततः किमित्यत आह—हलन्त्यम्। आवृत्तयोर्द्वितीयं सूत्रमेतत्। हल् अन्त्यमिति छेदः। हल्शब्दो नपुंसकलिङ्गोऽप्यस्ति, अन्त्यमिति नपुंसकसामानाधिकरण्यात्। 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इति पूर्वसूत्रादुपदेश इति इदिति चानुवर्तते। तदाह—उपदेशेऽन्त्यमित्यादिना। धातुप्रातिपदिकनिपातप्रत्याहारसूत्रप्रत्ययादेशागमानामन्त्यमिति भाष्यम्। अथ कोऽयमुदेशो नाम? तत्राह—उपदेश आद्योच्चारणमिति। उपशब्द आद्यर्थकः। दिशिरुच्चारणक्रियायाम्। भावे घञिति भावः। एतच्च 'आदेच उपदेशे' इत्यादिसूत्रे भाष्ये स्पष्टम्।

धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिङ्गानुशासनम्।
आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः॥

वाचक हैं। अतः 'इण्' प्रत्याहार का इकार "अइउण्" माहेश्वरसूत्र के आदि में न होने पर भी तदन्तर्वर्ती होने के कारण शास्त्रपरिकल्पित होने से अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण 'ण्' के साथ 'इ' के योग से 'इ' तथा 'उ' वर्णों का बोधक होता है। इसी प्रकार 'र' प्रत्याहार की स्थिति भी है। वहाँ 'हयवरट्–लण्' इन दो सूत्रों के अन्तर्वर्ती 'र–ल' इन दो वर्णों का समाश्रयण होता है। 'ल' के 'अकार' की इत्संज्ञा मानने के कारण उसके सहित आदि वर्ण 'र्' को समाविष्ट कर 'र' प्रत्याहार बनाया जाता है। यद्यपि 'ल' का अकार माहेश्वरसूत्र "लण्" के अन्त में पठित नहीं है तथापि 'ल' के अन्त में अकार की इत्संज्ञा मानने के फलस्वरूप वह 'र–ल' समुदाय का अन्तिम वर्ण है। इसी प्रकार 'र' भी 'हयवरट्' सूत्र के आदि में नहीं है, तथापि 'र' प्रत्याहारोपयोगी होने के कारण उस समुदाय के आदि में है।

(१) पद—हलन्त्यम्। **अनुवृत्ति**—उपदेशे, इत्। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—उपदेशावस्थाना में (विद्यमान) अन्तिम व्यञ्जन की इत्संज्ञा होती है। पाणिनि आदि आचार्यों का प्रथम उच्चारण 'उपदेश' कहा जाता है। इसके बाद 'अण्' 'अच्' इत्यादि प्रत्याहारों की सिद्धि होने पर (अन्त्य अथवा उससे भिन्न स्वर-वर्णों की इत्संज्ञा की गई है)।

सन्दर्भ—प्रत्याहार की सिद्धि होने के कारण व्यञ्जनों का बोध होने से माहेश्वरसूत्रों के अन्तिम वर्णों के इत्संज्ञारूप फल को बतलाने के लिए आवृत्त "हलन्त्यम्" (१-३-३) सूत्र का विवक्षित अर्थ अवगत कराया जा रहा है।

विवरण—अनुवृत्त (उपदेशे, इत्) तथा सूत्रस्थ (अन्त्यं, हल्) पदों की एकवाक्यता से 'उपदेशे अन्त्यं हल् इत्' इस प्रकार शाब्दबोध होता है। तदनुसार उपदेशावस्था में अर्थात् पाणिनि आदि द्वारा उच्चरित-अवस्था में विद्यमान अन्तिम[1] हल् = व्यञ्जन इत्संज्ञक होते हैं।

यहाँ 'उपदेश' शब्द का अर्थ आद्य[2] **उच्चारण** है। सामान्यतया 'आद्य' शब्द का अर्थ प्रथम होता है और वह भी किससे प्रथम इस तरह साकाङ्क्ष है। इस सन्देह का निवारण किया जा रहा है। जिस प्रकार आरम्भ में 'मुनित्रय' शब्द से व्याकरणशास्त्र के प्रसिद्ध तीन आचार्यों का बोध होता है, उसी तरह यहाँ 'आद्य' शब्द भी परम्परया **'तीन मुनियों'** के अर्थ में रूढ़ है[3]। इस कारण व्याकरणशास्त्र में प्रयुक्त मूलभूत सांकेतिक शब्दों को **'उपदेश'** के रूप में स्वीकार किया जाता है। ऐसे शब्द भाषा में प्रचलित नहीं हैं। काशिकाकार ने शास्त्रवाक्यों को 'उपदेश' कहा है और वे सूत्रपाठ तथा खिलपाठ के अन्तर्गत समाविष्ट किये गए हैं। सूत्रपाठ तो

---

१. अन्ते भवम् अन्त्यम्। २. उप (आद्य) √दिश्+घञ् (भावे)। "अत्र क उपदेशः? उच्चारणम्। कुत एतत्? दिशिरुच्चारणक्रियः। उच्चार्य हि वर्णानाह—उपदिष्टा इमे वर्णा" इति प्रकृतसूत्रे महाभाष्यम्। व्यवसिताः परिच्छिन्ना ये समुदाया धातुत्वप्रत्ययत्वादिना धर्मेण तेषां योऽन्त्यमित्यर्थः। कैयट—म० भा० "उपदेशेऽजनुनासिक इत्"। इत्यन्तर ।

३. आद्यं च तदुच्चारणमिति विग्रहः। पाणिनि-कात्यायन-पतञ्जलीनामित्यर्थः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति प्राचीनकारिका तु प्रौढमनोरमायां बहुधा दूषिता। उपदेशे किम्-'इदमस्थमुः' इति थसुप्रत्यये उकारस्योच्चारणार्थस्य निवृत्तौ मकारस्य प्रत्ययान्तत्वेऽपि इत्संज्ञा मा भूत्। तदेवं हलन्त्यमिति आवृत्तद्वितीयसूत्रेण चतुर्दशसूत्र्याम् अन्त्यणकारादिवर्णानाम् इत्सञ्ज्ञा सिद्धेति स्थितम्। ततः किमित्यत आह—ततः अण् अच् इत्यादिसञ्ज्ञासिद्धाविति। ततः णकारादीनामित्सञ्ज्ञासिद्ध्यनन्तरम् आदिरन्त्येनेत्यणादिसञ्ज्ञा सिद्धेत्यर्थः।

"अष्टाध्यायी" के रूप में है। "खिलपाठ" की कल्पना धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र तथा लिङ्गानुशासन के रूप में है। नागेश भट्ट ने अज्ञात वर्णों के स्वरूपज्ञान के लिए[1] तीनों मुनियों (पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि) द्वारा उच्चरित वर्णसमुदाय (शब्दों) की 'उपदेश' के रूप में कल्पना की है। इस आद्योच्चारण को धातु, सूत्र, गण, उणादि, लिङ्गानुशासन, आगम, प्रत्यय और आदेश के रूप में स्वीकार किया जाता है।[2] अतः इन सब के अन्त में आने वाला व्यञ्जन 'इत्' संज्ञक होता है। इनके क्रमशः उदाहरण—(१) माहेश्वरसूत्र—'अइउण्' में अन्तका णकार 'इत्'–संज्ञक होगा। (२) धातु—'ऋपूष् लज्जायाम्' में 'ष्' इत् होगा। (३) गण-पाठ में आये 'देवट्' 'नदट्' आदि का 'टकार' इत्संज्ञक है। (४) प्रत्यय—'शानच्' का 'चकार' इत्संज्ञक है। (५) आगम—'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (६–१–७१) से विहित 'तुक्' आगम का 'क्' 'इत्' होता है। (६) आदेश—"द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा" (४–२–४३) से विहित "अयच्" का चकार 'इत्' होता है। (७) उणादि—'कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्' (उणादि १–१) में 'उण्' का णकार 'इत्' माना गया है।

निष्कर्ष—अन्तिम व्यञ्जन की इत्संज्ञा होने पर "आदिरन्त्येन सहेता" (१–१–७१) की एकवाक्यता से 'अण्' 'अच्' इत्यादि प्रत्याहार बनाये जाते हैं। प्रत्याहार बनाने में "अइउण्" आदि चौदह माहेश्वरसूत्र उपयोगी हैं। प्रत्याहार का अर्थ है संक्षेप में कहना। प्रत्याहार बनाने में सर्व-प्रथम माहेश्वरसूत्रों में आदि और अन्त्यवर्ण ढूँढना चाहिये। उस सांकेतिक शब्द में बीच के सब वर्ण तथा आदि वर्ण समाविष्ट हो जायेंगे। अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण का समावेश प्रत्याहार में नहीं होता। वह केवल सांकेतिक शब्द का बोध कराने में उपयोगी होता है। उदाहरणार्थ "अण्" प्रत्याहार में "अ इ उ ण्" सूत्रस्थ आदि वर्ण 'अ' तथा इत्संज्ञक अन्तिम व्यञ्जन 'ण्' है। इन दोनों के मध्य में आने वाले वर्ण 'इ' 'उ' हैं। अतः 'अण्' से 'अ', 'इ', तथा 'उ'; ऐसे ही "अच्" 'अ' से प्रारम्भ कर 'च्' पर्यन्त तदन्तर्वर्ती सभी स्वर वर्ण अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ तथा 'अल्'= 'अ' से प्रारम्भ कर "हल्" के 'ल्' पर्यन्त सभी स्वर एवं व्यञ्जनों का बोधक होता है। 'हल्'=ह से आरम्भ कर "हल्" के 'ल्' तक सब व्यञ्जन वर्णों का समावेश कर लेता है। इसी प्रकार अन्य प्रत्याहारों की सिद्धि होती है। चौदह माहेश्वर सूत्रों से निम्नलिखित प्रत्याहारों की सिद्धि की जाती है।[3] अष्टाध्यायी में इनका उपयोग हुआ है।

---

१. अन्त्यपदोपदेशपदाभ्यां प्रत्यासत्त्या अज्ञातस्वस्वरूपज्ञापकोच्चारणविषयसमुदायं प्रति अन्त्य इह गृह्यते। ल० शे०। २. एका प्राचीनकारिका प्रसिद्धा वर्तते—

"धातुसूत्रगणोणादि-वाक्यलिङ्गानुशासनम्।
आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः॥"

महाभाष्ये च उपदेशस्य परिगणनम् अनया दिशा—"के पुनर्व्यवसिताः? धातु-प्रातिपदिक-प्रत्ययनिपातागमादेशाः।"

३. एकस्मान् ङ्ञमणवटा द्वाभ्यां षञ्भ्य एव कणमाः स्युः।
ञेयौ चयौ चतुर्भ्यो रः पञ्चभ्यः शलौ षड्भ्यः॥"

इस कारिका के अनुसार ४१ प्रत्याहार बनते हैं। दो प्रत्याहार और अधिक स्वीकृत किये गए हैं। काशिका में माहेश्वरसूत्र संख्या ७ के अन्तर्गत चार प्रत्याहारों का कथन पहले किया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्याहारबोधक-चक्र

क्र.सं. माहेश्वर सूत्र	इत्संज्ञक वर्ण	प्रत्याहार का नाम	प्रत्याहार-संख्या
(१) अइउण्	'ण्'	अण्	१
(२) ऋलृक्	'क्'	अक्, इक्, उक्	३
(३) एओङ्	'ङ्'	एङ्	१
(४) ऐऔच्	'च्'	अच्, इच्, एच्, ऐच्	४
(५) हयवरट्	'ट्'	अट्	१
(६) लण्	'ण्'	अण्, इण्, यण्	३
(७) ञमङणनम्	'म्'	अम्, यम्, ङम्, ञम्	(३+१) ४
(८) झभञ्	'ञ्'	यञ्	१
(९) घढधष्	'ष्'	झष्, भष्	२
(१०) जबगडदश्	'श्'	अश्, हश्, वश्, झश्, जश्, बश्	६
(११) खफछठथचटतव्	'व्'	छव्	१
(१२) कपय्	'य्'	यय्, मय्, झय्, खय्, चय्	(४+१) ५
(१३) शषसर्	'र्'	यर्, झर्, खर्, चर्, शर्	५
(१४) हल्	'ल्'	अल्, हल्, वल्, रल्, झल्, शल्	६
			४३

शङ्कासमाधान—१. "हलन्त्यम्" सूत्र में 'उपदेशे' पद की अनुवृत्ति न करने से लौकिक प्रयोग 'अग्निचित्' में 'त्' अन्त्य व्यञ्जन होने के कारण इत्संज्ञा की प्रसक्ति होने लगती। वस्तुतः यह 'त्' तुक्[1] आगम होने के कारण दिखाई पड़ता है, आद्य रूप में पठित नहीं है, अतः 'उपदेश' पद की सार्थकता है।

२. आरम्भ के चार माहेश्वरसूत्रों—'अइउण्', 'ऋलृक्' एओङ्', 'ऐऔच्' में सन्धिकार्य की प्रवृत्ति स्पष्ट प्रतीति के कारण नहीं होती।[2] सन्धि करने पर वर्णों की पृथक्ता को व्याख्यान के द्वारा सूचित करना पड़ता। कुछ लोग सूत्रों को वेद के समान मानकर विभक्तिलोप की कल्पना कर सन्धिकार्य के अभाव को सूचित करते हैं। तथापि पूर्वोक्त हेतु ही अधिक समीचीन है[3]।

३. चतुर्दश माहेश्वर-सूत्रों में 'ण्' का पाठ दो स्थानों पर हुआ है, एक तो 'अइउण्' सूत्र में दूसरा 'लण्' सूत्र में। उन दोनों की इत्संज्ञा होने से 'अण्' एवम् 'इण्' प्रत्याहारों में यह सन्देह होता है कि 'ण्'—पूर्व णकार से लिया जाय अथवा पर (दूसरे) णकार से। इस सन्देह का निराकरण व्याख्यान द्वारा इस प्रकार किया जाता है कि **"अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रयय:"** (१-१-६९) सूत्र में तो 'अण्' प्रत्याहार पर-णकार से माना जाय, अन्यत्र सब जगह पूर्व-णकार से। इण् प्रत्याहर पर-णकार से ही ग्राह्य है।[4]

बाद में "ञम्" प्रत्याहार का प्रयोग "ञमन्ताड्डः" उ० सू० ११९ में होने के कारण उसे फिर परिगणित किया। फिर भी एक 'चय्' प्रत्याहार की कमी रह गई। उसका प्रयोग भी "चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्" इस वार्तिक में मिलता है। इस प्रकार एक प्रत्याहार माहेश्वर सूत्र सं० १२ में और बढ़ाया गया।

१. अग्नि√चि+क्विप् (सर्वापहार) अग्नि√चि+त—तुक् आगम "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" (६-१-७१)। अग्निचित्+सु (विभक्तिलोप) = अग्निचित्।

२. स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थं गुणादीनामभावः। व्या० सि० सु० चौखम्बा सं० पृ० ७३।

३. छान्दसत्वाद्विभक्तिलोपकल्पनापेक्षया सन्धिकल्पनस्यैव युक्तत्वात्। व्या० सि० सु० पृ० ७३।

४. "परेणैवेण्ग्रहाः सर्वे पूर्वेणैवाण्ग्रहा मताः।
ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु॥"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्स्यात् । उपदेश आद्योच्चारणम् । ततः 'अण्' 'अच्' इत्यादिसञ्ज्ञासिद्धौ । **(३) उपदेशेऽजनुनासिक इत् । १ । ३ । २ ॥** उपदेशेऽनुनासिकोऽजित्सञ्ज्ञः स्यात् । प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः । 'लण्' (म. सू. ६) सूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः सञ्ज्ञा ।

---

(३) लण्सूत्रे अकारश्चेति प्रतिज्ञातम् । तस्य अकारस्य अनन्त्यत्वादहल्त्वाच्च हलन्त्यमिति इत्सञ्ज्ञायामप्राप्तायां तत्प्रापकं सूत्रमाह—उपदेशे । सञ्ज्ञाप्रस्तावात्सञ्ज्ञेति लभ्यते । तदाह—उपदेशे अनुनासिक इत्यादिना । सूत्रे अजिति कुत्वाभावः आर्षः । अजित्सञ्ज्ञः स्यादिति विवरणे कुत्वाभावः असन्देहार्थः । ननु मुखेन नासिकया चोच्चार्यमाणो वर्णः अनुनासिकः इत्यनुपदमेव वक्ष्यते । शास्त्रकृता च एते कतिपयवर्णास्तथोच्चारिताः, इतरे तु केवलं मुखेन उच्चारिता इति कथमिदानींतनैरवगन्तव्यमित्यत आह—प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीया इति । प्रतिज्ञायते अभ्युपगम्यत इति प्रतिज्ञा । नित्यस्त्रीलिङ्गोऽयम् । स्त्रिया-

---

४. 'ए' तथा 'ऐ' एवम् 'ओ' तथा 'औ' के स्थान-प्रयत्न एक होने के कारण परस्पर सवर्ण-संज्ञा प्राप्त होने से "एओङ्" "ऐऔच्"—ये दो सूत्र न कर एक ही सूत्र से काम चल सकता था, ऐसी शङ्का की जाती है । इन वर्णों का साम्य 'ए' 'ऐ' के कण्ठतालु स्थान तथा विवृत प्रयत्न होने से, एवम् 'ओ' 'औ' के कण्ठोष्ठ स्थान तथा विवृत प्रयत्न होने के कारण है । जैसे 'ऋ'–'ऌ' वर्णों की सवर्णसंज्ञा होने पर 'ऋ' ग्रहणमात्र से तीस प्रकार के ऋ–ऌ वर्णों का बोध होता है वैसे ही यहाँ पर चौबीस प्रकार के 'एच्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों के भेदों का बोध क्यों नहीं होता ?

इसका समाधान यह है कि पाणिनि ने "एओङ्" "ऐऔच्"–ये दो सूत्र पृथक् पढ़े हैं, अतः 'ए', 'ऐ' तथा 'ओ', 'औ' परस्पर सवर्ण-संज्ञक नहीं माने जाते । इस हेतु "एच्" प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों के चौवीस प्रकार की कल्पना भी नहीं की जाती ।

५. वर्णसमाम्नाय में सभी वर्ण एक बार ही उच्चरित किये गए हैं, हकार को दो बार क्यों पढ़ा ? भाष्यकार ने इसका हेतु यह बतलाया है कि 'अट्', तथा 'शल्' प्रत्याहारों में हकार का ग्रहण करने के लिये इसकी द्विरावृत्ति की गई है । (१) 'अट्' प्रत्याहार में हकार का ग्रहण होने से "अर्हेण" में "अट्कुप्वाङ्" (८-४-२) सूत्र से णत्व सिद्ध होता है । (२) इसी तरह 'शल्' प्रत्याहार में हकार का ग्रहण होने से "अधुक्षत्" में "शल इगुपधादनिटः क्सः" (३-१-४५) से 'च्लि' के स्थान पर 'क्स' होता है ।

६. वर्णसामाम्नाय में (माहेश्वर-सूत्रों में) ध्वनियों का स्थान और प्रयत्न के अनुसार वर्गीकरण ध्वनिविज्ञान के तत्त्वज्ञान का उत्तम उदाहरण है । वर्णों की संख्या भी ६३।६४ है । तदनुसार स्वर वर्ण २१+क से म तक स्पर्शवर्ण २५+यादिवर्ण ८+यम ४+अनुस्वार-विसर्ग २+जिह्वामूलीय–उपध्मानीय २+दुःस्पृष्ट (वैदिक ऌ) १+प्लुत लृकार १–मिलकर ६४ वर्ण माने गये हैं ।[1]

(३) पद—उपदेशे, अच्, अनुनासिकः, इत् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—उपदेशावस्था में विद्यमान अनुनासिक स्वरवर्ण की इत्संज्ञा होती है । पाणिनि द्वारा प्रोक्त वर्णों की अनुनासिकता ही सर्वत्र मान्य है । 'लण्'–सूत्रस्थ अवर्ण के साथ उच्चरित रेफ–'र्' और 'ल्' का बोधक होता है ।

प्रकरण-संगति—अन्तिम व्यञ्जनों की इत्संज्ञा का निरूपण करने के बाद अन्यत्र इत्संज्ञा के स्थलों को बतलाने का उपक्रम किया जा रहा है ।

---

१. "स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः ।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः ॥
अनुस्वारो विसर्गश्च ><क><पौ च(चापि)पराश्रितौ ।
दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो लृकारः 'लृत एव च ॥" पा० शि० ४–५ ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मित्यधिकारे 'आतश्चोपसर्गे' इति कर्मण्यङ्। अनुनासिकस्य भावः आनुनासिक्यम्। प्रतिज्ञा आनुनासिक्यं येषां ते प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनिशिष्या इत्यर्थः। शिष्यपरम्परया शास्त्रकृतां तथाविधमुच्चारणमिदानीन्तनानां सुगममिति यावत्। तदेवं लण्सूत्रे अकारस्य अनुनासिकत्वादित्सञ्ज्ञा सिद्धा। ततः किमित्यत आह—लण्सूत्रस्थेति। लण्सूत्रे तिष्ठतीति लण्सूत्रस्थः, स चासाववर्णश्च लण्सूत्रस्थावर्णः, तेन सहोच्चार्यमाणो रेफः = र इत्येवंरूपः रेफलकारयोः सञ्ज्ञेत्यर्थः। वस्तुतस्तु रप्रत्याहार एव नास्तीति शब्देन्दुशेखरे व्यक्तम्। ननु आदिरन्त्येनेति सूत्रे मध्यगानामादेश्च सञ्ज्ञेति स्थितम्। एवञ्च अजादिप्रत्याहारेषु सञ्ज्ञाकोटिप्रविष्टानामन्त्यानामितां ग्रहणाभावेऽपि णकारादीनामपि मध्यगत्वाविशेषात् ग्रहणं स्यात्। ततश्च रलयोः सञ्ज्ञेति पूर्वग्रन्थे रलयोरिति न्यूनं, टकारस्यापि मध्यगत्वेन ग्राह्यत्वादित्यत आह—प्रत्याहारेष्वितां न ग्रहणमिति। प्रत्याहारेषु अजादिसञ्ज्ञासु मध्यवर्तिनामपि इतां न ग्रहणमित्यर्थः। कुत इत्यत आह—अनुनासिक इत्यादि निर्देशादिति। आदिना 'तृपिदृपिकृपेः काश्यपस्य' इत्यादिसंग्रहः। कथमयं निर्देशः उक्तार्थे हेतुरित्यत आह—न हीति। अत्र अनुनासिकशब्दे ककारे परे इकारस्य अच्प्रयुक्तं कार्यम् 'इको यणचि' इति यणादेशः न दृश्यते हीति योजना। यदि हि अजादिप्रत्याहारेषु इतामपि ग्रहणं स्यात् तर्हि अच्प्रत्याहारे ऋलृक् इति ककारस्यापि प्रविष्टत्वेन अच्त्वात्तस्मिन् परे इकारस्य 'इको यणचि' इति यणादेशे 'लोपो व्योर्वलि' इति लोपे 'अनुनास्क' इति स्यात्, इकारो न श्रूयेत। श्रूयते च। अतः प्रत्याहारेष्वितां न ग्रहणमिति विज्ञायत

विवरण—सर्वप्रथम अच् = स्वरवर्ण कहाँ इत्संज्ञक समझे जायँ इसका निरूपण किया जा रहा है। तदनुसार पाणिन्यादि त्रिमुनि-द्वारा संकेतित अनुनासिक स्वरवर्ण इत्संज्ञक माने जाते हैं, वे स्वरवर्ण चाहे आदि में हों अथवा अन्त में। **अनुनासिक** से तात्पर्य नासिका द्वारा उच्चारण किया जाना है। स्वरों का सामान्यतः उच्चारण निरनुनासिक ही होता है अतः सानुनासिक स्वरों के विषय में यह कहा जाता है कि पाणिनि आदि के द्वारा (पाणिनीयाः) जिन स्वर वर्णों की अनुनासिकता (**आनुनासिक्याः**) यथास्थान संकेतित (**प्रतिज्ञा**) हो वे ही सानुनासिक स्वर माने जायँ।[1]

ऐसा अनुमान किया जाता है कि कोई चिह्नविशेष स्वरों की अनुनासिकता प्रकट करता था। अब केवल इत्संज्ञाकार्यवश अचों (स्वरों) की अनुनासिकता मानी जाती है। गुरुपरम्परया इत्संज्ञा कार्य का निरूपण किये जाने से वे स्वर (अच्) अनुनासिक समझे जाते हैं।

उदाहरणार्थ **'लण्'** (**मा० सू० ६**) सूत्र के लकारोत्तरवर्ती अकार की इत्संज्ञा पाणिनि द्वारा अनुनासिक माने जाने के कारण होती है। इसके फलस्वरूप **'हयवरट्'** (**मा० सू० ५**) का **'र्'—'लण्'** सूत्र के लकारोत्तरवर्ती अकार के साथ सम्पृक्त हो र्+अ **'र'** प्रत्याहार के रूप में 'र्' और 'ल्' इन दो वर्णों का बोधक होता है।

प्रत्याहारों में इत्संज्ञक वर्णों का समावेश नहीं किया जाता। वे परार्थक-मात्र हैं। इस विषय में पाणिनि ही स्वयं प्रमाणभूत माने जाते हैं। उन्होंने इसी सूत्र में **'अनुनासिक इत्'** इस प्रकार पदविन्यास किया है। पाणिनि को यदि इत्संज्ञक वर्णों का समावेश करना प्रत्याहारों में अभीष्ट होता तो 'अनुनासिक' पद के अन्तर्गत सकारोत्तरवर्ती इकार के बाद 'क्' का 'अच्' प्रत्याहार-वर्ण में परिगणन होने से **"इको यणचि"** (६-१-७७) की प्रवृत्ति होने के कारण यण् सन्धि हो जाती। उन्होंने इस प्रकार सन्धिकार्य नहीं किया है। अन्यथा यण् होने के बाद यलोप होकर 'अनुनास्कः'

---

१. यत्र इत्कार्यमिच्छन्ति तत्रैव प्रतिज्ञायते। प्रतिज्ञायते इति प्रतिज्ञा। अनुनासिकस्य भावः आनुनासिक्यम्। प्रतिज्ञा आनुनासिक्यं येषां ते इति प्रतिज्ञानुनासिक्याः। पाणिनिना प्रोक्ताः पाणिनीयाः। यथा 'लण्' इत्यत्र लकारे अकारः अनुनासिकः प्रतिज्ञायते।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्याहारेष्वितां न ग्रहणम्। 'अनुनासिक' इत्यादिनिर्देशात्। न ह्यत्र ककारे परेऽच्कार्यं दृश्यते। 'आदिरन्त्येन–' (सू. २) इत्येतत्सूत्रेण कृताः सञ्ज्ञाः प्रत्याहारशब्देन व्यवह्रियन्ते। (४) ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः। १। १। २७॥ उश्च ऊश्च ऊ३श्च वः। वां

इति भावः। यत्तु ऋलृक् इति ककारस्य अच्प्रत्याहारप्रविष्टत्वेऽपि 'प्रत्ययस्थात्' इत्यादिना इत्वविधिसामर्थ्यादेव यण्लोपश्च न भवति। अन्यथा लाघवाल्लोपमेव विदध्यात्। अतः प्रत्याहारेष्वितां न ग्रहणमित्यत्र अनुनासिक इत्यादिनिर्देशो न लिङ्गमित्याहुः। तन्न, 'प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यातो लोप आप्यसुपः' इति लोपविधौ वर्णाधिक्यप्रसङ्गात्। प्रत्याहारशब्दस्याप्रसिद्धार्थत्वादाह—आदिरन्त्येनेत्यादिना। प्रत्याहियन्ते संक्षिप्यन्ते वर्णा इति व्युत्पत्तेरिति भावः। न च अणुदित्सूत्रसिद्धासु अ इ उ इत्यादिसञ्ज्ञास्वतिप्रसङ्गः शङ्क्यः, योगरूढ्याश्रयणात् वैयाकरणसिद्धिवशाच्च तथा रूढिरिति भावः। तत्र वर्णसमाम्नायसूत्रेषु पूर्वेण णकारेण एकः प्रत्याहारः—अण्। ककारेण त्रयः–अक्, इक्, उक्। ङकारेण एकः–एङ्। चकारेण चत्वारः–अच्, इच्, एच्, ऐच्। टकारेण एकः–अट्। परेण णकारेण त्रयः–अण्, इण्, यण्। मकारेण चत्वारः–अम्, यम्, ञम्, ङम्। ञकारेण एकः–यञ्। पकारेण द्वौ–झष्, भष्। शकारेण षट्–अश्, हश्, वश्, झश्, जश्, बश्। वकारेण एकः–ळ्ह्। यकारेण पञ्च–यय्, मय्, झय्, खय्, चय्। रेफेण पञ्च–यर्, झर्, खर्, चर्, शर्। लकारेण षट्–अल्, हल्, वल्, रल्, झल्, शल्। अकारेण एको रप्रत्याहारः इति वर्णसमाम्नायिकाः प्रत्याहाराश्चतुश्चत्वारिंशत्। एतेषामेव शास्त्रे उपयोगात्। इङ् इत्यादिप्रत्याहारास्तु प्रयोजनाभावान्न भवन्ति, शास्त्रे तद्व्यवहाराभावात्। अत्रास्मदीया संग्रहकारिका—

'स्यादेको ङञणवटैः, षेण द्वौ, त्रय इह कणाभ्याम्।
चत्वारश्च चमाभ्यां, पञ्च यराभ्यां शलाभ्यां षट्॥'

(४) तदेवमणादिसञ्ज्ञासु सिद्धासु अचो ह्रस्वादिसंज्ञां विधत्ते—ऊकालोऽजिति। ह्रस्वदीर्घप्लुत इति समाहारद्वन्द्वः। सौत्रं पुंस्त्वम्। इतरेतरयोगद्वन्द्वो वा। तथासत्येकवच-

---

प्रयोग होता। अतः इस निर्देश से यह सिद्ध होता है कि प्रत्याहारों में इत्संज्ञक वर्णों का समावेश नहीं होता।

निष्कर्ष—विशेष प्रकार के अध्ययन में गुरुपरम्परा का महत्त्व कहा गया है। शिष्यवर्ग को क्रमशः गुरुपरम्परा से प्राप्त होने वाला ज्ञान अनेक गुत्थियों को सुलझाने में समर्थ रहा है। अतः वर्णों के अनुनासिकत्व आदि का ज्ञान कराने में पूर्वाचार्यों द्वारा उच्चरित वर्णों का चिह्न-विशेष लुप्त हो जाने पर भी कार्य-विशेष के द्वारा परम्परया उसका बोध कराया जाता है।

वर्णसमाम्नाय की 'प्रत्याहार' संज्ञा औपचारिक है, उसका कारण यह है कि वह प्रत्याहारसिद्धि में उपकारक होती है।

विशेष—अन्तिम व्यञ्जन और अनुनासिक स्वरवर्णों की इत्संज्ञा करने से प्रत्याहारों की सिद्धि की गई है। ये ४३।४४ प्रत्याहार[1] व्याकरण-शास्त्र की आधारशिला हैं। इनकी कल्पना से बहुत लाघव हो गया है। इत्संज्ञा का प्रयोजन उस इत्संज्ञक वर्ण का "तस्य लोपः" (१-३-९) से लोप करना है। अतः उसका समावेश प्रत्याहारों में नहीं होता।

(४) **पद**—ऊकालः, अच्, ह्रस्वदीर्घप्लुतः। संज्ञासूत्र।

---

१. पूर्व-वर्णित ४३ प्रत्याहार तथा १ प्रत्याहार 'र' और माना गया है, इस प्रकार व्याकरणोपयोगी ४४ प्रत्याहार हो जाते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद्-ह्रस्वदीर्घप्लुतसञ्ज्ञः स्यात् । स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन

नमार्षम् । उ ऊ उ३ इति त्रयाणाम् एकमात्रद्विमात्रत्रिमात्राणां द्वन्द्वसमासे सति सवर्णदीर्घेण ऊ इति प्रश्लिष्टनिर्देशः । तेषां कालः ऊकालः । कालशब्दो मात्रापर्यायः कालसदृशे लाक्षणिकः । ऊकालः कालो यस्येति विग्रहः । 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिवाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' इति द्विपदो बहुव्रीहिः । ऊकालशब्दे पूर्वपदे उत्तरखण्डस्य कालशब्दस्य लोप इत्यभिप्रेत्य फलितमाह—वां काल इवेत्यादिना । वः इति ऊशब्दस्य प्रथमाबहुवचनम् । वामिति षष्ठीबहुवचनम् । वां काल इव कालो यस्येति फलितार्थकथनम् । उक्तरीत्या द्विपद एव बहुव्रीहिः । क्रमादिति । यथासङ्ख्यसूत्रलभ्यमेतत्, इहैव तत्सूत्रमुपन्यस्तुमुचितम् । न च उ ऊ उ३ इत्युवर्णानां कथं ह्रस्वदीर्घप्लुतसञ्ज्ञाः, तेषां ऊकालसदृशकालत्वाभावात् सादृश्यस्य भेदनिबन्धनत्वादिति वाच्यम् । ऊशब्दस्यात्र एकमात्रद्विमात्रत्रिमात्रकुक्कुटरुतानुकरणत्वात् । स इति । स ह्रस्वः दीर्घः प्लुतश्च अच् प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन उदात्तत्वेनानुदात्तत्वेन स्वरितत्वेन च धर्मविशेषेण त्रिधा त्रिभिः प्रकारैर्वर्तते इत्यर्थः ।

मूलार्थ—उ, ऊ, और उ३—ये 'वः' पद से बोध्य हैं। उनके उच्चारण करने के समान उच्चारण किये जाने वाले स्वरों की क्रम से ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञा होती है। वह प्रत्येक उदात्त, अनुदात्त, स्वरित—इन भेदों से तीन प्रकार का है।

विवरण—प्रकृत सूत्र में 'काल' शब्द मात्राविशेष अर्थात् उच्चारण में लगने वाले समय का बोधक है। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत—ये तीनों संज्ञाये किसी स्वर-वर्ण के उच्चारण करने में प्रयुक्त सीमित मात्रा (काल) की एक प्रकार से मापक हैं। स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत इन तीनों भेदों के यथार्थ मापक उ, ऊ, और उ३ हैं[1]। अतः इन तीनों वर्णों के उच्चारण-काल से प्रत्येक स्वर-वर्ण का उच्चारण ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के रूप में निर्धारित किया जाता है।[2] इस प्रकार सूत्र के 'ऊकालः' पद के अवयव 'काल' शब्द के साथ तीनों प्रकार के उकारों का सम्बन्ध होने से 'उ-काल' से—एक मात्रिक, 'ऊ-काल' से—द्विमात्रिक और 'उ३काल' से—त्रिमात्रिक का बोध होता है[3]। इन तीनों कालों (मात्राविशेषों) का अन्वय सूत्रस्थ ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत शब्दों के साथ यथासंख्य परिभाषा के सहयोग से क्रमशः एकमात्रिक की ह्रस्व-संज्ञा, द्विमात्रिक की दीर्घ-संज्ञा और त्रिमात्रिक की प्लुत-संज्ञा होती है।[4] उच्चारणकाल के अनुसार ह्रस्व, दीर्घ, और प्लुत इन तीनों में से प्रत्येक स्वर आगे कहे जाने वाले वर्णधर्म उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के भेद से तीन प्रकार का माना गया है।

विशेष—ह्रस्व, दीर्घ, और प्लुत संज्ञाओं में दृष्टान्त के रूप में उवर्ण का ग्रहण इस कारण किया है कि कुक्कुट (मुर्गा) के—कु, कू, कू३—इस तरह बोलते समय जो क्रमशः आरोह (चढ़ाव) होता है, वही इस मात्राकाल का प्राकृतिक मापक समझा गया है। इस उच्चारणकाल के निर्धारण करने में आचार्य की दूरदर्शिता है और साथ ही स्वाभाविकता भी। मुर्गे के अतिरिक्त अन्य पक्षियों के उच्चारण करने में तीनों मात्राओं का समधिगत स्वरूप नहीं दिखाई पड़ता। चाष (नीलकण्ठ

---

१. उश्च, ऊश्च, उ३श्च वः । इतरेतरद्वन्द्वः । वः कालो यस्य स ऊकालः इति बहुव्रीहिः । वां कालो यस्य अचः इति फलितार्थकथनम् ।

२. ह्रस्वश्च दीर्घश्च प्लुतश्च = ह्रस्वदीर्घप्लुतः—समाहारद्वन्द्वः । सौत्रत्वान्न क्लीवत्वम् ।

३. 'ऊ' इति त्रयाणामयं मात्रिक-द्विमात्रिक-त्रिमात्रिकाणां प्रश्लिष्टनिर्देशः—काशिका ।

४. एकमात्रो भवेद्-ह्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते ।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं चार्धमात्रकम् ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रिधा । (५) उच्चैरुदात्तः । १।२।२९ ॥ तालवादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्प-

---

(५) उदात्तसञ्ज्ञामाह—उच्चैरुदात्तः । नादधर्मविशेषः उच्चैस्त्वं नेह विवक्षितम्, उपांशूच्चार्यमाणे अव्याप्तेः । किन्तु उच्चैश्शब्दः अधिकरणशक्तिप्रधानः ऊर्ध्वभागे इत्यर्थे वर्तते । ऊर्ध्वावयवस्य चावयवव्यपेक्षायां तालुकण्ठादिवर्णाभिव्यक्तिस्थानानामित्यर्थाल्लभ्यते । ऊकालोऽजिति सूत्रादजित्यनुवर्तते तदेतदाह—तालवादिष्वित्यादिना । सभागेष्विति ।

पक्षी) केवल एकमात्रिक उच्चारण करता है, कौआ द्विमात्रिक, मोर त्रिमात्रिक और न्यौला अर्धमात्रिक[1]। अतः दृष्टान्त के रूप में अकारादि अन्य स्वरों का ग्रहण नहीं किया गया ।

निष्कर्ष—स्वरों के उच्चारणकाल की इयत्ता के मापक एकमात्रिक ह्रस्व, द्विमात्रिक दीर्घ और त्रिमात्रिक प्लुत कहलाते हैं । इनमें ह्रस्व और दीर्घ का प्रयोग तो लोक में सर्वत्र प्रचलित है । प्लुत का प्रयोग लोक में अधिकतर किसी को सम्बोधित करने में होता है । जैसे **'दधि'** शब्द में इकार ह्रस्व, **'कुमारी'** शब्द में इकार दीर्घ और **'देवदत्त३ अत्र असि'** में अकार प्लुत है ।

(५) **पद**—उच्चैः, उदात्तः । **अनुवृत्ति**—अच् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—मुख के भीतर तालु आदि समान भागवाले स्थानों में ऊपरी भागों से उच्चरित होने वाले स्वरवर्ण उदात्तसंज्ञक कहलाते हैं । उदाहरण—**आ ये** ।

सन्दर्भ—ह्रस्वादि-मात्राकालिक तीन भेदों से युक्त स्वरों में से वर्णधर्म के अनुसार प्रत्येक के तीन भेदों में सर्वप्रथम **उदात्त** का निर्वचन किया जा रहा है ।

विवरण—प्रकृत सूत्र में केवल दो पद हैं—**'उच्चैः'** तथा **'उदात्तः'** । अष्टाध्यायी के क्रमानुसार १-२-२७ से **'अच्'** अनुवृत्त पद है । **'उदात्त'** संज्ञा है और **'उच्चैः अच्'**—ये दो पद संज्ञी हैं । सामान्यतया **उच्चैः** पद से ऊँची आवाज अर्थात् जोर से बोलना यह अर्थ निकलता है, किन्तु यहाँ **'उच्चैः'** पद मुख के अन्तर्गत तालु आदि भागों के ऊपरी भाग का बोधक माना गया है । तालु, कण्ठ, मूर्धा आदि स्थानों से वर्णों का उच्चारण होता है । उन स्थानों में जो ऊपरी भाग है, उन (उच्चैः)=ऊर्ध्व भागों से उच्चारित (अच्=) स्वर-वर्णों की **उदात्त** संज्ञा होती है । इस प्रकार उदात्त-स्वर में शरीर के सब अवयवों का आयाम=ऊपर की तरफ खींचा जाना, स्वर की रूक्षता एवं कण्ठपिटक का सिकुड़ना—ये यत्न हैं ।[2] अर्थात् प्रयत्न प्रेरित वायु जब मुख के भीतर विद्यमान उच्चारण-स्थानों के ऊपरी भागों में टकराकर स्वर-वर्णों की[3] अभिव्यक्ति के रूप में बाहर निकलता है तो वह वर्ण **उदात्त** स्वर (वर्णधर्म) से उच्चरित समझा जाता है ।

वेदों में इन स्वरों के चिह्न नियत हैं । ऋग्वेद में उदात्तस्वर का कोई चिह्न नहीं हैं । उदात्तस्वरयुक्त वर्ण अचिह्नित रहता है । यहाँ कौमुदीकार ने **आ ये** में आकार तथा एकार उदात्तस्वर के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं । ये दोनों शब्द निम्नलिखित ऋचा से गृहीत हैं—**"आ ये तन्वन्ति रश्मिभिस्तिरः समुद्रमोजसा । मरुद्भिरग्न आ गहि"** ॥[4] ऋ० सं० मं० १, सू० १९, ८ । इस ऋचा के प्रथम दोनों शब्द **आ ये** उदात्त हैं । इनमें आ निपातसंज्ञक होने के कारण "निपाता आद्युदात्ताः" नियम से आद्युदात्त है, अतः अचिह्नित है । **ये**=यत्+जस्<य+अ, जस् (शी = ई)<य+अ=य ई=ये—प्रथमा बहुवचन में मूलप्रकृतिक 'यत्' (य) "फिषोऽन्त उदात्तः"

---

१. चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रं त्वेव वायसः ।
शिखी रौति त्रिमात्रं तु नकुलस्त्वर्धमात्रकम् ॥ (पा० शि० ४९)

२. 'आयामो दारुण्यमणुता रवस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य'—म० भा० ।

३. 'अक्षराश्रयाः' (ऋ० प्रा० प० ३ सू० २) ।

४. प्रकृत ऋचा का अर्थ—"हे अग्ने ! जो मरुद्गण आकाश को सूर्यकिरणों के साथ व्याप्त करते हैं एवं अपने बल से समुद्र को तिरस्कृत करते हैं—उनके साथ आप यहाँ आयें ।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्नोऽजुदात्तसंज्ञः स्यात् । आ ये । (६) नीचैरनुदात्तः । १।२।३० ।। स्पष्टम् । अ॒र्वाङ् ।

ताल्वादीनां सावयवत्वकथनम् ऊर्ध्वभागे इत्यस्योपपादनार्थम्, तेषाम् अखण्डत्वे ऊर्ध्वभागे इत्यनुपपत्तेः । उदात्तमुदाहरति—आ ये इति । 'आ ये मित्रावरुणा' इत्यृचि आकार एकारश्च उदात्त इत्यर्थः ।

(फिट् सू० १-१) सूत्र के सहकार से अन्तोदात्त (अकार) है । 'जस्' प्रत्यय "अनुदात्तौ सुप्पितौ" (३-१-४) के अनुसार अनुदात्त है । य+ई=ये में गुणसन्धि होने पर "एकादेश उदात्तेनोदात्तः" (८-२-५) नियम से एकार भी उदात्त माना गया ।

निष्कर्ष—वर्णों की उच्चारण-प्रक्रिया में उदात्तादि वर्ण-धर्मों (स्वर) की निष्पत्ति पर सूक्ष्म विचार करते हुए पाणिनि ने यह बतलाया है कि गले की घण्टी से लेकर ओष्ठ-पर्यन्त भाग से वर्णों का उच्चारण भिन्न भिन्न स्थानों से होता है । वे स्थान कण्ठ, तालु, मूर्धा आदि हैं । उनका भी स्वरूप दो भागों में विभक्त है—एक ऊपरी भाग और दूसरा नीचे का भाग[1] । अतः उनमें से ऊपरी भाग में वायु के टकराने से जब अज्-वर्ण उच्चरित होते हैं, तब वे उदात्त कहलाते हैं ।

विशेष—उदात्तादि वर्णधर्म (स्वर) वेदों में उपयोगी हैं । पाणिनि का स्वरप्रकरण इस बात का द्योतक है कि आचार्य ने व्याकरण का प्रणयन लौकिक एवं वैदिक दोनों संस्कृतों को अभिलक्षित कर किया है । स्वरों की उपयोगिता वेदों में केवल उच्चारण तक ही सीमित नहीं है, अपितु उनका उपयोग अर्थ-निर्धारण करने में भी होता है । इस प्रसङ्ग में पाणिनि-शिक्षा में यह बतलाया गया है कि "स्वर अथवा वर्ण के विपरीत प्रकार के प्रयोग करने से दुष्ट शब्द अपने अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं कर पाता है । वह शब्द वज्र के समान होकर यजमान का विनाशक हो जाता है, जिस प्रकार स्वर के अपराध से 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व'—यह मन्त्र वाग्वज्र होकर यजमान का ही घातक सिद्ध हुआ" ।[2] प्रकृत उदाहरण में यजमान को 'इन्द्रशत्रु' शब्द षष्ठी-तत्पुरुष (इन्द्रस्य शत्रुः) समास में अभीष्ट होने से अन्तोदात्त स्वीकृत था । जिसका अर्थ 'इन्द्र के शत्रु वृत्रासुर की वृद्धि हो'—यह मान्य था, किन्तु प्रमादवश उसका उच्चारण पूर्वपदप्रकृतिस्वर अर्थात् आद्युदात्त के रूप में हो जाने के कारण 'इन्द्रशत्रुः' शब्द बहुव्रीहि-समासपरक (इन्द्रः शत्रुः=शातयिता यस्य सः) उच्चारण किये जाने से 'इन्द्र जिसे मारने वाला है ऐसा वह स्वयं बढ़े'—इस प्रकार विपरीत अर्थ से यजमान का ही विनाशक सिद्ध हुआ ।

सूत्र में प्रायः सभी वृत्तिकारों ने उच्चारण करने के विषय में 'ताल्वादिस्थानेषु'=तालु आदि स्थानों में—यही अर्थ स्वीकार किया है । वर्णसमाम्नाय-क्रम का अनुसरण करने पर तो अकार की प्राथमिकता होने से 'कण्ठादिस्थानेषु'=कण्ठादिस्थानों में—इस प्रकार कहना चाहिये[3] । यहाँ तथा अन्यत्र तालु-पद प्रयोग करने का यह स्वारस्य है कि मुख के अन्तर्गत विद्यमान उच्चारण-स्थानों में 'तालु' विस्तीर्णतम है । अर्थात् तालु मुख का विस्तीर्णतम अङ्ग है । इसी कारण ऋग्वेद में भी वरुणदेव के तालु (काकुद) में सात नदियों के प्रवह-

---

१. "ताल्वादिस्थानानाम् ऊर्ध्वाधोभेदेन भागद्वयम् । ऊर्ध्वभागेनोच्चार्यमाण उदात्तः, अधोभागेन त्वनुदात्तः । अभ्यासज्ञेयश्चायं स्वरविशेषः । षड्जवदिति । एते अचामेव गुणा न तु हलाम् ।" व्या० सि० सु० पृ० ५७३ ।

२. "मन्त्रो हीनः (दुष्टः शब्दः) स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्" ॥ पा० शि० ५२ ।

३. ताल्वादीति—इदं प्राचामनुरोधेन । वर्णसमाम्नायेऽकारस्य प्राथम्यात् कण्ठादीति वक्तुमुचितम् । एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम् । ल० शे० ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६) अनुदात्तसञ्ज्ञामाह—नीचैरनुदात्तः। स्पष्टमिति। उक्तरीत्या तालवादिषु अधोभागे निष्पन्नोऽच् अनुदात्तसञ्ज्ञः स्यादिति स्पष्टार्थकमित्यर्थः। अर्वाङ् इति। 'अर्वाङ् यज्ञस्संक्राम' इत्यृचि आद्यः अकारः अनुदात्त इत्यर्थः।

मान होने का रूपक विभक्तियों के द्वारा वर्णित है[1]। अतः निरुक्त में यास्क ने 'तालु' शब्द का निर्वचन √तॄ (पार करना) से किया है[2]। अथवा √लत् के (लम्बा होना अर्थ वाले) वर्णविपर्यय से 'तालु' शब्द बना है—जैसे तल। लत>तल>तालु। उसकी महत्ता के कारण 'कण्ठादि' पद के रूप में वृत्तिकारों ने अर्थ नहीं किया है।

(६) पद—नीचैः, अनुदात्तः। अनुवृत्ति—अच् (१-२-२७)। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—स्पष्ट है (पूर्ववत् तालु आदि समान भागवाले स्थानों में नीचे के हिस्से से उच्चरित होने वाला स्वरवर्ण अनुदात्त-संज्ञक हो)।

सन्दर्भ—क्रमप्राप्त अनुदात्त स्वर का निर्वचन किया जा रहा है।

विवरण—इस सूत्र में भी दो पद हैं 'नीचैः' तथा 'अनुदात्तः'। 'अच्' की अनुवृत्ति १-२-२७ से पूर्ववत् आ रही है। अनुदात्त संज्ञा है और नीचैः अच्—संज्ञी। यहाँ भी 'नीचैः' पद से मुख के अन्तर्गत तालु आदि भागों के निम्न भाग का बोध अपेक्षित है। अतः तालु आदि स्थानों के नीचैः=नीचे भागों से उच्चरित जो अच्=स्वर वर्ण उनकी अनुदात्त संज्ञा होती है। इस प्रकार अनुदात्त स्वर में उच्चार्यमाण स्थानों का संकोच एवं मृदुता होती है तथा स्वर की कोमलता एवं कण्ठविवर का फैलाव होता है[3]।

कौमुदीकार का उदाहरण है—'अर्वाङ्'। यहाँ 'अकार' अनुदात्त है। विग्रह—अर्वन्तमञ्चतीति अर्वाङ्—√ऋ (जाना)+वनिप् (वन्)=अर्वन्। ऋ=अर्—गुणसन्धि+वन्। वनिप् प्रत्यय में पकार इत्संज्ञक है, अतः वकारोत्तरवर्ती—अकार "अनुदात्तौ सुप्पितौ" (३-१-४) से उदात्त है, तथा 'ऋ' धातु होने के कारण "धातोः" (६-१-१६२) से आद्युदात्त है। इस प्रकार 'अर्वन्' शब्द आद्युदात्त है। अर्वन्+√अञ्च्+क्विन् (उपपद समास तथा 'क्विन्' प्रत्यय का लोप) <अर्व+अञ्च्=अर्वाङ् (नलोप, दीर्घ, संयोगान्तलोप)—समास होने पर "गतिकारकोपपदात् कृत्" (६-२-१३९) इस नियम से 'अञ्च्' धातु का अकार उदात्त है। सवर्ण-दीर्घ होने पर 'अर्वाङ्' में 'वाँ' का आकार "एकादेश उदात्तेनोदात्तः" (८-२-५८) से उदात्त हुआ। उदात्त स्वर से अवशिष्ट पूर्व 'अकार' को अनुदात्तस्वरता "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्" (६-१-१५२) नियम से हुई।

निष्कर्ष—यहाँ भी पूर्वसूत्र की तरह अर्थ यह होगा कि जब तालवादि स्थानों के निम्न भाग में वायु का आघात होकर अज् वर्णों (स्वरवर्णों) का उच्चारण किया जायगा तब अनुदात्त स्वर (वर्णधर्म) की निष्पत्ति होगी।

विशेष—ऋग्वेद में अनुदात्त-स्वर का चिह्न वर्ण के नीचे पड़ी-रेखा के द्वारा सूचित किया जाता है।

---

१. "सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्यं सुषिरामिव॥"—ऋ. सं. ८-६९ १२।

काकुदम्=तालु। काकुः जिह्वा साऽस्मिन्नुद्यते इति काकुदम्। म० भा० पस्पशाह्निकम्।

२. काकुदं तालित्याचक्षते। तालु तरतेः। तीर्णतममङ्गम्। लततेर्वा स्यात्, लम्बकर्मणः विपरीतात्। यथा तलम्। यास्क—निरुक्त अध्याय ५।

३. "अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता रवस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य"।

अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता। मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता। उरुता रवस्य=महत्ता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य। प्रकृतसूत्रस्थ म० भा०।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(७) समाहारः स्वरितः । १ । २ । ३१ ॥ उदात्तत्वानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसञ्ज्ञः स्यात् । **(८) तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् । १।२।३२ ॥**

---

(७) अथ स्वरितसञ्ज्ञामाह—समाहारः स्वरितः । पूर्वसूत्राभ्याम् उदात्तः इति अनुदात्त इति चानुवर्तते । ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः इत्यनुवर्तते । ततश्च उदात्तः अनुदात्तश्च अच् समाह्रियमाणः स्वरित इत्यर्थः प्रतीयते । एवं सति वर्णद्वयस्य स्वरितसञ्ज्ञा स्यात् न त्वेकस्य । अतो नैवमर्थः । किन्तु उदात्तानुदात्तपदे अनुवृत्ते धर्मप्रधाने षष्ठ्यन्ततया च विपरिणम्येते । तत्र समाहरणं समाहारः । अधिकरणे घञ् । ततश्च उदात्तत्वानुदात्तत्वयोर्धर्मयोर्यस्मिन्नचि मेलनं सोऽच् स्वरितसञ्ज्ञक इत्यर्थः । फलितमाह—उदात्तत्वानुदात्तत्वे इत्यादिना ।

(८) ननु उदात्तत्वानुदात्तत्वयोरेकस्मिन्नपि मेलने कस्मिन्भागे उदात्तत्वस्य समा-

---

(७) पद—समाहारः, स्वरितः । अनुवृत्ति—उदात्तः, अनुदात्तः, अच् । संज्ञासूत्र ।

मूलार्थ—उदात्त और अनुदात्त वर्णधर्मों का जिसमें समावेश हो, वह स्वरित कहलाता है ।

सन्दर्भ—क्रम-प्राप्त स्वरित-स्वर का निर्वचन किया जा रहा है ।

विवरण—स्वरित स्वर में उदात्त और अनुदात्त वर्णधर्मों का समावेश होने से उच्चारण की मध्यता सूचित होती है । कारण यह है कि उदात्त के बाद अनुदात्त के आगे रहने के कारण उच्चारण-स्थानों के ऊर्ध्वभाग से किया हुआ प्रयास अचानक निम्नभाग की ओर किये जाने पर उच्चार्यमाण-वर्ण विशेष प्रकार के स्वर की उत्पत्ति करते हैं । वह स्वर उदात्त और अनुदात्त-स्वरों को मध्य-कोटि में परिगणित होता है और उसकी स्वरित संज्ञा होती है[1] । इस प्रकार का अर्थ प्रकृत-सूत्रस्थ 'समाहारः' पद से अभिप्रेत है । 'समाहारः' यह संज्ञी है और 'स्वरितः' यह संज्ञा । किसका समाहार (एकीकरण) स्वरित कहलाये ? इस प्रकार की जिज्ञासा में उदात्त और अनुदात्त—ये दोनों पद समाकृष्ट होकर षष्ठ्यन्त में विपरिणमित हो जाते हैं । तदनुसार उदात्तस्य=उदात्त और अनुदात्तस्य=अनुदात्त का समाहारः=एकीकरण, स्वरितः=स्वरित कहलाता है ।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से यह अर्थ लाभ होता है कि स्वरित-स्वर के उच्चारण में न तो गात्रों का आयाम, न विश्रम्भ ही होता है, अपितु इसके विपरीत एक प्रकार से आक्षेप होता है । आक्षेप का अर्थ है गात्रों का तिर्यग्गमन । यह उच्चारणप्रकार समाहार-जन्य है ।

विशेष—उदात्त और अनुदात्त—ये दो परस्पर-विरोधी वर्णधर्म हैं । उन दोनों का एक स्वर-वर्ण में (स्वरित वर्ण=उदात्त+अनुदात्त) समावेश होना—यह एक विचित्र समस्या है । इसको हल करने के लिये यह कहना पड़ता है कि स्वरित-संज्ञक वर्ण में अंशद्वय की स्थिति समष्टिरूप में रहती है । उदात्त-धर्म की स्थितिवाले अंश में अनुदात्त-धर्म का अभाव तथा अनुदात्त-धर्मयुक्त अंश में उदात्त का अभाव रहता है । उदात्त और अनुदात्त शुद्ध और स्वतन्त्र स्वर हैं । इन्हीं दोनों के मेल से स्वरित की उत्पत्ति होती है[2] । ऋग्वेद में स्वरित वर्ण के ऊपर (सिर पर) एक खड़ी रेखा लगाई जाती है । जैसे क्वं ।

(८) पद—तस्य, आदितः, उदात्तम्, अर्धह्रस्वम् । संज्ञासूत्र ।

मूलार्थ—सूत्र में ह्रस्व पद अनावश्यक है[3] । उसका (स्वरित गुणवाले 'अच्' का) आरम्भिक आधा भाग उदात्त होता है और शेष अनुदात्त होता है ।

---

१. "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः" (८-४-६६) ।

२. "उदात्तानुदात्तौ स्वरौ तयोः स्वरितः स्वरो निष्पद्यते (ऋ० प्रा० प० ३ सू० १ उव्वटभाष्यम्) ।

३. अत्र ह्रस्वपदं स्वशास्त्रसंकेतितरूपेणाबोधकमित्यर्थः, किन्तु अर्धमात्राबोधार्थरूपकमिति भावः । ल० शे० ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्रस्वग्रहणमतन्त्रम् । स्वरितस्यादितोऽर्धमुदात्तं बोध्यम् । उत्तरार्धं तु परिशेषादनुदात्तम् । तस्य चोदात्तस्वरितपरत्वे श्रवणं स्पष्टम् ।अन्यत्र तूदात्तश्रुतिः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धा । 'क्व १

वेशः, कस्मिन् भागे अनुदात्तत्वस्य समावेश इत्यत आह—तस्यादितः । तस्य स्वरितस्य आदितः पूर्वभागे अर्धह्रस्वमुदात्तम् इत्यर्थः प्रतीयते । एवं सति दीर्घस्वरिते इयं व्यवस्था न स्यात् । अत आह—ह्रस्वग्रहणमतन्त्रमिति । तन्त्रं प्रधानम् । 'तन्त्रं प्रधाने सिद्धान्ते' इति कोशः । न विद्यते तन्त्रं वाच्यार्थलक्षणं प्रधानं यस्य तत् अतन्त्रम् अविवक्षितार्थकमित्यर्थः । ह्रस्वग्रहणं न कर्तव्यमिति यावत् । दीर्घस्वरितेऽप्युत्तरभागस्य वेदे अनुदात्तत्वदर्शनादिति भावः । ततश्च फलितमाह—स्वरितस्यादितोऽर्धमुदात्तं बोध्यमिति । ननु अनुदात्तत्वस्य निवेशव्यवस्था कुतो नोक्तेत्यत आह—उत्तरार्धं त्विति । ननु एवं सति अग्निमीळे इत्यत्र ईकारे स्वरिते कथमुत्तरार्धमनुदात्तं नेत्यत आह—तस्य चेति । चकारो वाक्यालङ्कारे । तस्य अनुदात्तभागस्य उदात्तस्वरितपरत्वे उदात्तस्वरितौ परौ यस्मात् सः उदात्तस्वरितपरः, तस्य भावः उदात्तस्वरितपरत्वम् । उदात्तपरकत्वे स्वरितपरकत्वे वा सति श्रवणं स्पष्टं भवतीत्यर्थः । अन्यत्रेति । उदात्तस्वरितपरकत्वाभावे अनुदात्तभागस्य उदात्ततरत्वापरपर्याया उदात्तश्रुतिः ऋग्वेदप्रातिशाख्ये विहितेत्यर्थः । तत्र त्वेवमुक्तम्—

'अनुदात्तः परः शेषः स उदात्तश्रुतिर्न चेत् ।
उदात्तं वोच्यते किञ्चित्स्वरितं वाक्षरं परम् ॥' ऋ० प्रा० (३।५)

इति स्वरिते पूर्वभागस्य उदात्तत्वे सति परः शेष उत्तरभागः अनुदात्तः प्रत्येतव्यः ।

सन्दर्भ—स्वरित-स्वर के उदात्त और अनुदात्त-समवेत अंश के विषय में विभाग की व्यवस्था की जा रही है ।

विवरण—स्वरित को उदात्त और अनुदात्त का समाहार बतलाया गया है । वहाँ कितना अंश उदात्त है और कितना अंश अनुदात्त (किस अंश में उदात्त और किस अंश में अनुदात्त है)—इस विषय का यह सूत्र व्यवस्थापक है । सूत्र में **'तस्य'** (उसका) पद सापेक्ष है । अर्थात् किसका ? अतः पूर्व सूत्र "समाहारः स्वरितः" (१-२-३१) से **स्वरित** पद समाकृष्ट होकर शाब्दिक अर्थ यह होता है कि तस्य=उस स्वरित-स्वर के पूर्वभाग में आधा ह्रस्व तो उदात्त होता है और अवशिष्ट भाग अनुदात्त होता है । इस तरह सूत्रार्थ करने पर दीर्घ और प्लुतस्वरित में यह विभाजन-व्यवस्था नहीं हो सकेगी, क्योंकि वेद में दीर्घ-स्वरित के उत्तर भाग में अनुदात्त का श्रवण स्पष्ट होता है । अतः सूत्र में **'ह्रस्व'** पद की आवश्यकता नहीं है । तदनुसार दीर्घस्वरित-वर्ण में दो मात्रायें होने के कारण आधी मात्रा उदात्त की तथा अवशिष्ट डेढ़ मात्रा अनुदात्त की तथा प्लुत-स्वरित में आधी मात्रा उदात्त की और ढाई मात्रा अनुदात्त की समझी जायगी ।

भट्टोजि दीक्षित ने सामान्यतया यह अर्थ स्वीकार किया है कि स्वरितवर्ण का आदिम भाग तो उदात्त होता है और अवशिष्ट उत्तरार्ध भाग अनुदात्त होता है । अनुदात्त का स्पष्ट श्रवण तब होता है जब उस अनुदात्त के बाद उदात्त अथवा स्वरित हो । इसके विपरीत उदात्त और स्वरित-वर्णों के परत्र स्थित न होने पर अर्थात् अनुदात्त और प्रचयवर्ण परत्र होने पर अनुदात्तभाग की 'उदात्ततर' नाम क उदात्तश्रुति ऋग्वेद-प्रतिशाख्य में प्रसिद्ध है[1] ।

---

१. तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा ।
अनुदात्तः परः शेषः स उदात्तश्रुतिः । ऋ० प्राति० ३, ४-५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वोऽश्वाः'। 'रथानां न येऽराः'। 'शतचक्रं योऽह्यः'।–इत्यादिष्वनुदात्तः। 'अग्निमीळे'

सः परः शेषः उदात्तश्रुतिः क्वचिद्भवति। किं सर्वत्र एवं? नेत्याह—न चेदित्यादिना। उदात्तं स्वरितं वा किञ्चिदक्षरं परं नोच्यते चेदिति योजना। तत्र अनुदात्तभागस्य स्पष्टं श्रवणमुदाहृत्य दर्शयति—क्वेत्यादिना,—इत्यादिष्वनुदात्त इत्यन्तेन। तत्र क्व इति ह्रस्व-स्वरितः। स तावत् वो इत्योकारात्मकोदात्तपरकः। येऽरा इत्येकारो दीर्घस्वरितः। स च रा इत्याकारात्मकोदात्तपरः। शतचक्रं यो इत्योकारः कम्पस्वरितः। स तु ह्य इत्यकारात्मकस्वरितपरकः। इत्येवमादिप्रदेशेषु अनुदात्तभागः स्पष्टं श्रूयत इत्यर्थः। अन्यत्र तूदात्त-

---

तदनुसार स्वरित में अनुदात्त-भाग का स्पष्ट श्रवण होने वाले उदाहरण दिये जा रहे हैं।

(१) क्व[१] वोऽश्वाः[1]। (२) रथानां न ये[२] ऽराः[2]। (३) शतचक्रं यो[३] ह्यः[3]।

इन उदाहरणों में स्वरों की स्थिति इस प्रकार है—१. प्रथम उदाहरण 'क्व' में ह्रस्व-स्वरित की व्यवस्था है। उसके अनन्तर 'वो' उदात्त है। उदात्त परक होने के कारण अनुदात्त की श्रुति स्पष्ट होती है। उच्चारणवैषम्य होने से श्रोता उसका श्रवण स्पष्ट कर लेते हैं। स्वरप्रक्रिया इस प्रकार है—

१. क्व— = किम्+अत्—"किमोऽत्" (५-३-१२)—अत् प्रत्यय<क्व+अत्—"क्वाऽति" (७-२-१०५)—किम्=क्व<क्व+अ=क्व—"अतो गुणे" (६-१-९७)—पररूप। "तित् स्वरितम्" (६-१-१८५) अत् प्रत्यय तकारेत्संज्ञक होने के कारण स्वरित।

वः = "अनुदात्तं सर्वमपादादौ" (८-१-१८)—अनुदात्त। अश्वाः = अश्+क्वन् (वन्)= व—"अशूप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन्" (उणादि सू० १-१५७)। अश्व+जस् (अस्)—"स्वौजसमौट्०" (४-१-२) प्र० ब० जस् विभक्ति–अश्वास्—"प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" (६-१-१०२) पूर्वसवर्णदीर्घ—रुत्व, विसर्ग=अश्वाः। "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" (६-१-१९७) नित् (वन्) प्रत्यय होने से आद्युदात्त। वः+अश्वाः = वोऽश्वाः—"एकादेश उदात्तेनोदात्तः" (८-२-५)—पूर्वरूप-सन्धि होने पर (अनुदात्त+उदात्त) 'वो' उदात्त।

---

१. पूरा मन्त्र—क्व[१]वोऽश्वाः क्वा[३]भीशवः कथं शीक कथा यय।
पृष्ठे सदो नसोर्यमः॥ ऋ. सं ५-६१-२।

अर्थ—हे मरुद्गण! आप के घोड़े कहाँ हैं? बाँधने की रस्सियाँ कहाँ हैं? किस तरह आप लोग शीघ्र चलने में समर्थ हुए हैं? कारण यह है कि इन घोड़ों की पीठ पर सजावट का सामान है तथा नथुनों में रस्सियाँ बँधी हैं।

२. पूरा मन्त्र—रथानां न ये[२]राः सनाभयो जिगीवांसो न शूरा अभिद्यवः।
वरेयवो न मर्या घृतप्रुषोऽभिस्वर्तारो अर्कं न सुष्टुभः॥
ऋ सं १०-७८-४॥

अर्थ—रथ के वृत्त में अनेक समान टुकड़ों की तरह अन्तरिक्ष में रहने वाले मरुद्गण भी परस्पर एक दूसरे पर आश्रित हैं। वे विजयशील शूरों के समान दीप्तिमान् हैं। मनुष्यों की तरह जल देने वाले हैं। प्रशंसकों के समान सूर्य के चारों ओर शब्द करने वाले हैं।

३. पूरा मन्त्र—यं सुपर्णः परावतः श्येनस्य पुत्र आभरत्।
शतचक्रं यो[३]ह्यो वर्तनिः॥ ऋ. सं. १०-१४४-४।

अर्थ—जिस सोमलता को श्येन का पुत्र सुपर्ण दूसरे लोक से यहाँ लाया, जो कि वृत्रवध में उत्साहवर्धक है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यादावुदात्तश्रुतिः। स नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकाननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा।

श्रुतिरित्येतदुदाहृत्य दर्शयति—अग्निमीळ इत्यादावुदात्तश्रुतिरिति। पदकाले अग्निमित्यन्तोदात्तम्। ईळ इति अनुदात्तम्। तत्र 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' इति संहितायाम् ईकारः स्वरितः। 'स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्' इत्येकारः प्रचयः, ततश्च ईकारः स्वरितः उदात्तस्वरितपरको न भवतीति तदुत्तरभागस्य उदाहृतप्रातिशाख्यवचनेन उदात्ततरत्वात्मिका उदात्तश्रुतिरेव भवतीत्यर्थः। तदेवमुदात्तह्रस्वः, अनुदात्तह्रस्वः, स्वरितह्रस्व इति ह्रस्वस्त्रिविधः। एवं दीर्घोऽपि त्रिविधः। तथा प्लुतोऽपि। ततश्च एकैकः अच् नवविध इति स्थितम्। स नवविधोऽपीति। उक्तरीत्या नवविधोऽपि सः अच् अनुनासिकत्वेन अननुनासिकत्वेन च द्विधा, द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां वर्तत इत्यर्थः। तदेवमनुनासिकाः नव अचः, अननुनासिकाश्च नवेत्यष्टादशविधत्वमेकैकस्याच इति स्थितम्।

इस प्रकार 'क्व॑' (स्वरित) के अनन्तर 'वो' उदात्त होने के कारण उत्तरार्ध स्वरित-भाग में अनुदात्त का श्रवण उपर्युक्त नियम के अनुसार होता है। इसका स्पष्टीकरण १॒́—इस चिह्न से किया गया है। ऊपर की ओर स्वरितका चिह्न तथा नीचे अनुदात्त-चिह्नित है। यह ह्रस्व-स्वरित का उदाहरण है।

२. दीर्घ-स्वरित का उदाहरण—रथा॑नां॒ न ये २॒॑ राः। ये = यत्+जस् (अस् = अ)—"स्वौजस्मौट्" (४-१-२)—जस् विभक्ति। य+जस् (शी)—"त्यदादीनामः" (७-२-१०२)—त् के स्थान में 'अ' आदेश—पररूप। य+ई=गुण। 'ये' में 'ए' फिट् स्वर से अन्तोदात्त है। अराः = (अर+जस्)—"फिषोऽन्त उदात्तः" (उणादि १-५) से अन्तोदात्त होने के कारण आरम्भ में 'अ' अनुदात्त हुआ। ये+अ॒राः = "एङः पदान्तादति" (६-१-१०९) पूर्वरूप होनेपर (ए+अ = अ) उदात्त 'ए' तथा अनुदात्त 'अ' का एकादेश रूप 'ए' = "स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ" (८-२-६) से स्वरित हुआ।

इस प्रकार ये २॒॑ में एकार स्वरित के अनन्तर 'अराः' का 'आ' उदात्त है। अतः उत्तरार्ध स्वरितभाग में अनुदात्त का श्रवण होता है। यहाँ पर '२' इस चिह्न से इसका स्पष्टीकरण द्विमात्रिक होने के कारण किया गया है।

३. श॒तच॑क्रं॒ यो३॒॑ह्यः॑—स्वरितपरक स्वरित में अनुदात्तश्रवण का उदाहरण। यः = यत्+सु। य+अ>य+सु। यत्—"फिषोन्त उदात्तः" (फिट् सू० १-१) अन्तोदात्त। यस्<यर्<य+उ—"अतोरोरप्लुतादप्लुते" (६-१-१३) र् = उ। यो—"आद् गुणः" (६-१-८७) अ+उ गुण-सन्धि। पूर्व-नियमानुसार (८-२-५) उदात्त और अनुदात्त की सन्धि उदात्त होने से 'ओ' उदात्त है। अह्यः = अहि शब्द की षष्ठी विभक्ति के अर्थ में 'अह्यः' प्रयोग है। अथवा √अह्+ण्यत् (कर्मणि) प्रत्यय में 'त्' इत्—अन्तिम अकार स्वरित है। किन्तु धातु-सम्बन्धी 'अ'—अनुदात्त है। इस प्रकार यो+अह्यः = योह्यः—पूर्वरूप सन्धि होने पर (ओ+अ) उदात्त 'ओ' एवम् अनुदात्त 'अ' एकाकार 'यो' होकर पूर्व नियम (८-२-६) से स्वरित हुआ। स्वरित 'ओ' के अनन्तर 'ह्यः' भी स्वरित है अतः स्वरित 'ओ' के उत्तरार्ध अवशिष्ट भाग में अनुदात्त का श्रवण होता है। त्रिमात्रिक का स्पष्टीकरण (कम्प) '३' से किया गया है।

अ॒ग्निमी॑ळे—इस वाक्यांश में 'ईळे' क्रियापद है। पदपाठ में पृथक् अन्विति होने के कारण सर्वानुदात्त है—"तिङ्ङतिङः" (८-१-२८)। संहितापाठ में 'अग्नि' पद में प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त होने के कारण 'ग्नि' का इकार उदात्त है। आरम्भ का अकार अनुदात्त है। तदनन्तर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(९) मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः । १।१।८ ॥ मुखसहितनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसञ्ज्ञः स्यात् । तदित्थम्—अ इ उ ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादश भेदाः ।

---

(९) अथानुनासिकसञ्ज्ञामाह—मुखनासिका । **मुखसहिता नासिका मुखनासिका । शाकपार्थिवादित्वात् सहितपदस्य लोपः । उच्यते उच्चार्यते इति वचनः । कर्मणि ल्युट् । मुखनासिकया वचन इति 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति तृतीयासमासः । तदेतदाह**—मुखसहितेत्यादिना । **मुखं च नासिका चेति द्वन्द्वस्तु न । तथा सति 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' इति समाहारद्वन्द्वनियमात् 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वे 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति ह्रस्वत्वे मुखनासिकवचन इत्यापत्तेः । ननु अष्टादश भेदाः किं सर्वेषामचामविशिष्टाः ? नेत्याह**—तदित्थमिति । **इयतां प्रबन्धेन यद् अचां भेदप्रपञ्चनं तद्**

'ई'—यह अनुदात्त होने के कारण स्वरित हुआ (८-४-६६) । 'ई' के अनन्तर आनेवाला वर्ण मूलरूप में अनुदात्त है न कि उदात्त अथवा स्वरित । अतः यहाँ पर स्वरित के पूर्वभाग उदात्त का ही श्रवण होता है । अवशिष्ट अनुदात्त का श्रवण नहीं होता । 'ळे' में एकश्रुति हो जाती है । इसे वैदिक साहित्य में 'प्रचय' संज्ञा दी गई है[1] । एकश्रुति में स्वरमिश्रण उदात्त तथा अनुदात्त के अंश की पृथक्ता नहीं की जा सकती है । इसकी स्थिति दूध और पानी के मिश्रण के समान है[2] । कारण यह है कि आगे आनेवाले अनुदात्त के कारण उच्चारण में स्वरितांश वाले अनुदात्त की पृथक् प्रतीति नहीं हो पाती । प्रचय-वर्ण अचिह्नित छोड़ दिये जाते हैं । अतः उदात्त का भ्रम हो सकता है । वस्तुस्थिति यह है कि अनुदात्त के बाद अचिह्नित वर्ण 'उदात्त' समझे जायँ तथा स्वरित के बाद अचिह्नित वर्ण 'प्रचय' समझे जायँ ।

विशेष—सूत्र में 'ह्रस्व' शब्द का विशिष्ट अर्थ काशिकाकार ने 'मात्रा' परक माना है । तदनुसार स्वरित के आदि में आधी मात्रा का भाग तो उदात्त होता है, अवशिष्ट उत्तर भाग अनुदात्त ।

इस विभाजन से ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत—इन तीनों के उदात्तादि भेद से नौ प्रकार होते हैं । उनका स्वरूप इस प्रकार होगा—१. ह्रस्वोदात्त, २. ह्रस्वानुदात्त ३. ह्रस्व स्वरित ४. दीर्घोदात्त, ५. दीर्घानुदात्त ६. दीर्घस्वरित ७. प्लुतोदात्त ८. प्लुतानुदात्त ९. प्लुत स्वरित । इन नौ प्रकारों के स्वर वर्णों को भी प्रत्येक अनुनासिक और अननुनासिक दो रूपों में विभक्त किया जाता है । अतः नौ अच् अनुनासिक और नौ अच् अननुनासिक होने से अचों (स्वर वर्णों) के अठारह भेद हो जाते हैं । इसकी निष्पत्ति अग्रिम सूत्र में वर्णित की गई है ।

(९) पद—मुखनासिकावचनः, अनुनासिकः । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—मुख सहित नासिका (नाक) से उच्चारण किया जाने वाला वर्ण अनुनासिक कहलाता है । इस तरह अ, इ, उ, ऋ प्रत्येक वर्ण के अठारह भेद हैं । दीर्घ न होने से 'ऌ' के बारह भेद हैं । ए, ओ, ऐ, औ के भी ह्रस्व न होने से बारह भेद हैं ।

सन्दर्भ—अष्टादश भेदों में अनुनासिक का निर्देश होने से उसके विषय में बतलाया जा रहा है ।

विवरण—'अनुनासिक' संज्ञा है तथा 'मुखनासिकावचनः' संज्ञी । अनुनासिक का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है नासिकाम् अनु (अनुगतः) = पश्चात् प्राप्तः—अर्थात् नासिका-द्वार से उच्चारित[3] । वर्णों का उच्चारण तो मुख से ही होता है किन्तु उसकी परिणति जब नासिकाद्वार की सहायता से की जाय

---

१. स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः (ऋ० प्रा० ३-१९)

२. 'तस्मात् क्षीरोदकवदुदात्तानुदात्तयोर्भेदतिरोधानमेकश्रुतिः । अत्रैव प्रचयव्यवहारो वैदिकानाम् ।' व्या० सि० सु० पृ० ५८० ।

३. अनुगतो नासिकाम् इति अनुनासिकः । नासिकाद्वारेण उच्चारितो वर्णः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऌवर्णस्य द्वादश, तस्य दीर्घाभावात् । एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात् । (१०) तुल्या-

---

इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण व्यवस्थितं वेदितव्यमित्यर्थः । अष्टादश भेदा इति । अष्टादश प्रकारा इत्यर्थः । दीर्घाभावादिति । तथा च उदात्तऌकारदीर्घः अनुदात्तऌकारदीर्घः स्वरितऌकार-दीर्घः । ते च अनुनासिकाश्चयः, अननुनासिकाश्चयः इति षड्भेदानामभावे सति ह्रस्वप्रपञ्चः प्लुतप्रपञ्चश्च षड्विध इति ऌकारस्य द्वादशविधत्वमेवेति भावः । ऌकारस्य दीर्घाभावे होतृ ऌकार इत्यत्र सवर्णदीर्घे कृते होतृकार इति ऋकारस्यैव तुल्यास्यसूत्रे 'अकः सवर्णे' इति सूत्रे च भाष्योदाहरणमेव प्रमाणम् । ह्रस्वाभावादिति । यद्येचो ह्रस्वाः स्युस्तर्हि वर्णसमाम्नाये त एव लाघवात् अ इ उ इत्यादिवत् पठ्येरन्, न तु दीर्घाः, गौरवात् । अतः एचः ह्रस्वाः न सन्तीति विज्ञायते । एवं च ह्रस्वप्रपञ्चषड्भेदाभावात् द्वादशविधत्वमेवैचामिति भावः ।

तब वह 'अनुनासिक' कहलाता है[1] । उदाहरणार्थ प्रत्येक वर्ग के अन्तिम पाँचों वर्ण ङ्, ञ्, ण्, न्, म् अनुनासिक हैं ।

इन दो भेदों के कारण पूर्वोक्त नौ भेदों को दुगुना करने से अठारह प्रकार का विवरण कोष्ठक में दिया जा रहा है—

स्वरों का अष्टादश-भेद-बोधक चक्र

अ, इ, उ, ऋ, ऌ	अ, इ, उ, ऋ, ए, ओ, ऐ, औ	अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ
ह्रस्वभेद	दीर्घभेद	प्लुतभेद
१. ह्रस्व उदात्तानुनासिक	७. दीर्घ उदात्तानुनासिक	१३. प्लुत उदात्तानुनासिक
२. ,, उदात्ताननुनासिक	८. ,, उदात्ताननुनासिक	१४. ,, उदात्ताननुनासिक
३. ,, अनुदात्तानुनासिक	९. ,, अनुदात्तानुनासिक	१५. ,, अनुदात्तानुनासिक
४. ,, अनुदात्ताननुनासिक	१०. ,, अनुदात्ताननुनासिक	१६. ,, अनुदात्ताननुनासिक
५. ,, स्वरितानुनासिक	११. ,, स्वरितानुनासिक	१७. ,, स्वरितानुनासिक
६. ,, स्वरिताननुनासिक	१२. ,, स्वरिताननुनासिक	१८. ,, स्वरिताननुनासिक

विशेष—सूत्र में 'मुख' पद न रखने पर केवल नासिका से उच्चरित वर्ण की ही अनुनासिक संज्ञा होगी । तदनुसार अनुस्वार के अतिरिक्त वर्गों के पञ्चम वर्णों की अनुनासिक संज्ञा नहीं होगी, क्योंकि अनुस्वार का ही केवल नासिका स्थान है । इसी प्रकार यदि 'नासिका' पद नहीं रखेंगे तो केवल मुख से उच्चारित वर्णों की ही अनुनासिकसंज्ञा होगी—इस प्रकार अर्थ होने पर क, च, ट, त, प–आदि वर्ण अनुनासिक होने लगेंगे । अतः दोनों पदों के रहने पर मुख तथा नासिका—इन दोनों की सहायता से उच्चार्यमाण वर्णों का ग्रहण अनुनासिक के रूप में होता है ।

निष्कर्ष—उच्चारण की अभिव्यक्ति बिना मुख के नहीं होती । वर्णों की नासिकायुक्त ध्वनि की स्पष्टता में मुख की सहायता अपेक्षित है । अतः सूत्र का संज्ञीरूप-पद—"मुखनासिकावचन"—यही सूचित करता है कि अनुनासिक वर्ण उसे कहते हैं जहाँ मुख की सहायता लेकर उच्चारण का साधन नासिका, उसी अवस्था में ध्वनि को अभिव्यक्ति करती है । यहाँ 'वचन' शब्द उच्चारण के साधनरूप में प्रयुक्त हुआ है ।

---

१. मुखं च नासिका च मुखनासिकम् । ईषद्वचनम् आवचनम् । मुखनासिकम् आवचनं यस्य सः–मुखनासिकावचनः (द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः) । किञ्चिन्मुखवचनं किञ्चिन्नासिकावचनम् । महाभाष्य ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्यप्रयत्नं सवर्णम् १।१।९॥ ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद्द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसञ्ज्ञं स्यात्। अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। इचुयशानां तालु। ऋटुरषाणां मूर्धा। लृतुलसानां दन्ताः। उपूपध्मानीयानामोष्ठौ। ञमङणनानां नासिका च। एदैतोः कण्ठतालु। ओदौतोः कण्ठोष्ठम्। वकारस्य दन्तोष्ठम्। जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्। नासिकानुस्वारस्य। इति स्थानानि। यत्नो द्विधा—आभ्यन्तरो बाह्यश्च। आद्यश्चतुर्धा—स्पृष्टेषत्स्पृष्टविवृतसंवृतभेदात्। तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्। विवृतमूष्मणां स्वराणां च। ह्रस्वस्याऽवर्णस्य प्रयोगे संवृतम्। प्रक्रिया-

---

(१०) अथ 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' इति अ इ उ इत्यादिसञ्ज्ञां वक्ष्यन् सवर्णसञ्ज्ञामाह—तुल्यास्येति। आस्यं मुखम्, तत्साम्यस्य सर्ववर्णेष्वविशिष्टत्वादव्यावर्तकत्वादास्यशब्दोऽत्र न मुखमात्रपरः किन्तु आस्ये मुखे भवमास्यं ताल्वादिस्थानम्। 'शरीरावयवाद्यत्' इति भावार्थे यत्प्रत्ययः। 'यस्येति च' इति प्रकृत्यन्तस्य अकारस्य लोपः। प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नः। आस्यं च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नौ, तुल्यौ आस्यप्रयत्नौ यस्य वर्णजालस्य तत्तुल्यास्यप्रयत्नं परस्परं सवर्णसञ्ज्ञकं स्यादिति भावः। तदाह—ताल्वादिस्थानमित्यादिना। मिथ इति। परस्परमित्यर्थः। कस्य किं स्थानमित्याकाङ्क्षायां तव्यवस्थापकानि पाणिन्यादिशिक्षावचनान्यर्थतः संगृह्णाति—अकुहेत्यादिना। अ इत्यष्टादशभेदा गृह्यन्ते। कु इति कादिपञ्चकात्मकः कवर्गः। न चाणुदित्सूत्रस्येदानीमप्रवृत्तेः कथमत्र अ इत्यष्टादशभेदानां ग्रहणमिति वाच्यम्। लौकिकप्रसिद्धिमाश्रित्यैव एतत्प्रवृत्तेः। एवमग्रेऽपि कथञ्चित्समाधानं बोध्यम्। अश्च कुश्च हश्च विसर्जनीयश्चेति विग्रहः। विसर्जनीयशब्दोऽपि विसर्गपर्यायः। इचुयशेति। इ इत्यष्टादश भेदाः। चु इति चवर्गः। इश्च चुश्च यश्च शश्चेति विग्रहः। तालु काकुदम्। ऋटुरषेति। ऋ इत्यष्टादश भेदाः। टु इति टवर्गः। आ च टुश्च

---

(१०) पद—तुल्यास्यप्रयत्नं, सवर्णम्। संज्ञा-सूत्र।

मूलार्थ—तालु आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न—ये दोनों जिन वर्णों के समान हों वे सवर्णसंज्ञक होते हैं। अ, कु (कवर्ग), ह और विसर्ग का कण्ठ-स्थान है। इ, चु (चवर्ग), य, और श का तालुस्थान हैं। लृ, तु (तवर्ग), ल और स का दन्त-स्थान है। उ, पु (पवर्ग), और उपध्मानीय का स्थान ओष्ठ है। ञ, म, ङ, ण तथा न का नासिका स्थान भी है। ए, ऐ—कण्ठतालु हैं। ओ, औ—कण्ठोष्ठ हैं। "व"—दन्तोष्ठ है। जिह्वामूलीय का स्थान जिह्वामूल है। अनुस्वार का स्थान नासिका है। ये (वर्णों के) स्थान हैं। प्रयत्न दो प्रकार के हैं—१. आभ्यन्तर और २. बाह्य। इनमें से प्रथम के चार भेद हैं—१. स्पृष्ट, २. ईषत्स्पृष्ट, ३. विवृत और ४. संवृत। स्पर्श वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न है। अन्तःस्थ वर्णों का ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न है। श, ष, स, ह वर्णों का तथा स्वर वर्णों का विवृत प्रयत्न है। ह्रस्व 'अ' का प्रयत्न प्रयोगदशा में संवृत है किन्तु प्रक्रियादशा में विवृत प्रयत्न रहता है। यह त्रकार (पाणिनि) ने ही ज्ञापित किया है।

सन्दर्भ—स्वरवर्णों के अष्टादश प्रकारों का निरूपण करने के पश्चात् सवर्णसंज्ञा का निरूपण किया जा रहा है।

विवरण—सूत्र से बोध्य संज्ञा 'सवर्ण' है और संज्ञी 'तुल्यास्यप्रयत्नम्'। यहाँ पर 'तुल्य' शब्द सदृश का पर्यायवाची है[1]। 'आस्य' पद से मुखप्रदेश के अन्तर्गत तालु आदि उच्चारण स्थान अपेक्षित हैं। यह (आस्य) होंठ से कण्ठमणि तक का भीतरी मुखभाग है। इस भीतरी भाग से टकरा कर वर्ण बाहर फैंके जाते हैं, अर्थात् अभिव्यक्त होते हैं[2]। इसी प्रकार 'प्रयत्न' शब्द भी

---

१. तुलया संमितं तुल्यम्। २. आस्ये भवम् आस्यम्। ओष्ठात् प्रभृति प्राक् काकलकात्। अस्यन्ति अनेन वर्णान् इति आस्यम्। महाभाष्य।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रश्च षश्चेति विग्रहः। ऋशब्दस्य आ इति प्रथमैकवचनान्तं धातो इतिवत्। लृतुलसेति। लृ इत्यस्य द्वादश भेदाः। तु इति तवर्गः। आ च तुश्च लश्च सश्चेति विग्रहः। लृशब्दस्यापि आ इत्येव प्रथमैकवचनान्तम्। आ अलौ अलः। दन्तशब्देन दन्तमूलप्रदेशो विवक्षितः। अन्यथा भग्नदन्तस्य तदुच्चारणानुपपत्तेः। उपूपेति। उ इत्यष्टादश भेदाः। पु इति पवर्गः। उश्च पुश्च उपध्मानीयश्चेति विग्रहः। उपध्मानीयशब्दमनुपदमेव स्वयं व्याख्यास्यति। धमञ्णनेति। ञश्च मश्च ङश्च णश्च नश्चेति विग्रहः। चकारेण स्वस्ववर्गीयस्थानसमुच्चयः। एदैतोरिति। एच्च ऐच्च एदैतौ। तपरकरणमसन्देहार्थम्, न तु 'तपरस्तत्कालस्य' इति तत्कालमात्रग्रहणार्थम्। तेन प्लुतयोरपि सङ्ग्रहः। कण्ठश्च तालु· चेति प्राण्यङ्गत्वात् समाहारद्वन्द्वः, एकवत्त्वं नपुंसकत्वं च। ओदौतोरिति। ओच्च औच्च ओदौतौ। तपरकरणं पूर्ववदसन्देहार्थमेव। कण्ठश्च ओष्ठौ चेति प्राण्यङ्गत्वात्समाहारद्वन्द्वः, एकवद्भावो नपुंसकत्वं च। वकारस्येति। दन्ताश्च ओष्ठौ चेति समाहारद्वन्द्वः। एकवत्त्वं नपुंसकत्वं च। जिह्वामूलीय-स्येति। जिह्वामूलीयशब्दमग्रे व्याख्यास्यति। एवमनुस्वारशब्दमपि। इति स्थानानीति। इति एवं प्रकारेण वर्ण अभिव्यक्तिस्थानानि प्रपञ्चितानीत्यर्थः।

ननु किमिह तुल्यास्यसूत्रे यत्किञ्चित्स्थानसाम्यं विवक्षितम्, उत यावत्स्थानसाम्यम्? न तावदाद्यः, तथा सति इकारस्य एकारस्य च तालुस्थानकतया सावर्ण्यापत्तौ भवत्येवेत्यत्र इकारादेकारे सवर्णदीर्घापत्तेः। न च एकारस्य वर्णसमाम्नाये पाठसामर्थ्यादिकारेण न सावर्ण्यमिति वाच्यम्, एकारपाठस्य अक् इक् उक् इति प्रत्याहारेषु एकारग्रहणनिवृत्त्यर्थ-त्वसम्भवात्। किञ्च वकारलकारयोर्दन्तस्थानसाम्येन सावर्ण्यापत्तौ 'तोर्लि' इत्यत्र लकारेण वकारस्यापि ग्रहणात् तद्वानित्यत्र दकारस्य परसवर्णापत्तिः। 'यवलपरे यवला वा' इत्यत्र यकारग्रहणं तु यथासङ्ख्यार्थं भविष्यति। न द्वितीयः, तथा सति कङयोः कण्ठस्थान-साम्येऽपि ङकारस्य नासिकास्थानाधिक्येन सावर्ण्याभावापत्तौ 'चोः कुः' 'क्विन्प्रत्ययस्य' इत्यत्र ङकारस्य ग्रहणानापत्त्या प्राङ् इत्यादौ नुमो नकारस्य' 'क्विन्प्रत्ययस्य' इति कुत्वेन ङकारानापत्तेः, तस्मात्स्थानसाम्यं दुर्निरूपमिति चेत्, अत्र ब्रूमः—यावत्स्थानसाम्यमेव सावर्ण्यप्रयोजकम्। एवं च इकारस्य एकारस्य च तालुस्थानसाम्येऽपि एकारस्य कण्ठ-स्थानाधिक्यान्न सावर्ण्यम्। वलयोश्च न सावर्ण्यम्। वकारस्य ओष्ठस्थानाधिक्यात्। एवं च 'तद्वानासाम्' 'यजुष्येकेषाम्' इत्यादिनिर्देशा उपपन्नाः। ङकारस्य नासिकास्थाना-धिक्येऽपि ककारेण सावर्ण्यमस्त्येव, आस्यभवस्थानसाम्यस्यैव सावर्ण्यप्रयोजकत्वात् नासिकायाश्च आस्यानन्तर्गतत्वात्। उक्तं च भाष्ये 'किं पुनरास्यं?, लौकिकम् ओष्ठात्प्रभृति प्राक्काकलकात्' इति। 'काकलको नाम चुबुकस्याधस्तात् ग्रीवायामुन्नतप्रदेशः' इति कैयटः। तस्मादास्यभवयावत्स्थानसाम्यं सावर्ण्यप्रयोजकमिति शब्देन्दुशेखरे विस्तरः।

ननु तुल्यास्यसूत्रे प्रयत्नशब्देन प्रशब्दबलादाभ्यन्तरयत्नो विवक्षित इति स्थितम्।

आभ्यन्तर तथा बाह्य दो प्रकार के प्रयत्नों का बोधक है। कारण यह है कि 'स्पृष्ट' इत्यादि वर्णों के गुण हैं। वर्णों के बाहर निकलने के पहले ये (आभ्यन्तर प्रयत्न) बाहर निकालने में प्रयत्नशील रहते हैं[1]। इसी कारण ये प्रयत्न कहलाते हैं। अतः जिन वर्णों के तालु-कण्ठ आदि स्थान तथा आभ्यन्तर-प्रयत्न समान हों वे परस्पर सवर्ण कहलाते हैं।

प्रसङ्गवश सवर्णसंज्ञोपयोगी वर्णों के प्रमुख आठ स्थानों का निरूपण किया जा रहा है। मूलार्थ भाग में निरूपित वर्णस्थानों का विवरण निम्न चक्र से स्पष्ट हो जायगा—

---

१. प्रकृष्टः यत्नः प्रयत्नः। २. आस्यं च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नौ। तुल्यौ आस्यप्रयत्नौ यस्य तत् तुल्यास्यप्रयत्नम्—द्वन्द्वगर्भितो बहुव्रीहिः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्राभ्यन्तरत्वविशेषणं किमर्थम्, व्यावर्त्याभावादित्यत आह—यत्नो द्विधेति। यत्नानामाभ्यन्तरत्वं बाह्यत्वं च वर्णोत्पत्तेः प्रागूर्ध्वभावित्वमिति पाणिन्यादिशिक्षासु स्पष्टम्। आद्य इति। आभ्यन्तरयत्न इत्यर्थः। कथं चातुर्विध्यमित्यत आह—स्पृष्टेति। कस्य कः प्रयत्न इत्याकाङ्क्षायां तद्व्यवस्थापकशिक्षावचनानि पठति—तत्रेति। तेषु मध्य इत्यर्थः। प्रयतनमिति। प्रयत्न इत्यर्थः। स्पर्शादिशब्दानग्रे व्याख्यास्यति। ह्रस्वस्यावर्णस्य संवृतमित्यन्वयः। एतावदेव शिक्षावचनम्। नन्वेवं दण्ड आढकमित्यत्र अकारस्य आकारस्य च विवृतसंवृतप्रयत्नभेदेन सावर्ण्याभावात् सवर्णदीर्घो न स्यादित्यत आह—प्रयोग इति।

स्थानबोधक चक्र[1]

वर्ण			उच्चारण-स्थान
स्वर	व्यञ्जन	विशेष	स्थान
अ (अठारह प्रकार का)	क, ख, ग, घ, ङ, ह	(ः विसर्ग)	कण्ठ
इ (,, ,,)	च, छ, ज, झ, ञ, य, श,		तालु
ऋ (,, ,,)	ट, ठ, ड, ढ, ण, र, ष		मूर्धा
ऌ (बारह प्रकार का)	त, थ, द, ध, न, ल, स		दन्त
उ (अठारह प्रकार का)	प, फ, ब, भ, म	(उपध्मानीय)	ओष्ठ
	ञ, म, ङ, ण, न		नासिका तथा स्वस्व-वर्गीय स्थान
ए, ऐ (प्रत्येक बारह प्रकार का)			कण्ठ+तालु
ओ, औ (,, ,,)			कण्ठ+ओष्ठ
	व		दन्त+ओष्ठ
		(जिह्वामूलीय)	जिह्वामूल
	ं	(अनुस्वार)	नासिका

वर्णोत्पत्ति में इन दोनों को उपयोगिता है। वर्णों के मुख से बाहर निकलने के पूर्व किये हुए प्रयत्न **'आभ्यन्तर'** हैं तथा बाद के प्रयत्न **'बाह्य'** हैं। भीतरी प्रयत्नों (आस्यप्रयत्न) की समानता सवर्ण-संज्ञा में उपयोगी है। बहिर्भूत होने के कारण बाह्य-प्रयत्न सवर्ण संज्ञा में उपयोगी नहीं होते। उनकी व्यावृत्ति सूत्र में 'आस्य' पद रखने के कारण है। यह 'आस्य' पद 'प्रयत्न' का विशेषण माना गया है। अतः यह (मुख के अन्दर होने वाले प्रयत्न) विशिष्ट अर्थ स्वीकार किया गया है[3]।

आभ्यन्तर-प्रयत्न चार हैं—**स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत** और **संवृत**। स्पृष्ट प्रयत्न २५ व्यञ्जनों

१. द्रष्टव्य पा० शि०—

"अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्तश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥
कण्ठ्यावहाविचुयशास्तालव्या ओष्ठजावुपू।
स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषा दन्त्या लृतुलसाः स्मृताः॥ १७॥
जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृतो बुधैः।
ए-ऐ तु कण्ठतालव्या ओ-औ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ॥ १८॥

२. यहाँ पर विसर्ग का स्थान 'कण्ठ' अकाराश्रित (अः) होने के कारण कहा गया है। वस्तुतः विसर्ग का स्थान तदाश्रयभूत वर्णानुसार समझा जाय। पाणिनीय शिक्षा में कहा भी है—"अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः"॥ २२॥

३. "प्रयत्नविशेषणमास्योपादानम्। सन्ति ह्यास्याद् बाह्याः प्रयत्नाः। ते ह्यापिता भवन्ति" भ० मा०।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दशायां तु विवृतमेव । एतच्च सूत्रकारेण ज्ञापितम् । तथाहि-(११) अ अ । ८।४।६८ ॥ (इति) विवृतमनूद्य संवृतोऽनेन विधीयते । अस्य चाष्टाध्यायीं सम्पूर्णां प्रत्यसिद्धत्वा-

---

शास्त्रीयप्रक्रियाभिः परिनिष्ठितानां रामः कृष्णः इत्यादिशब्दानां प्रयोगे क्रियमाण एव ह्रस्वस्यावर्णस्य संवृतत्वमित्यर्थः । प्रक्रियेति । शास्त्रीयकार्यप्रवृत्तिसमये तु ह्रस्वस्याप्यवर्णस्य विवृतत्वमेवेत्यर्थः । शिक्षावचनसिद्धं स्वाभाविकं ह्रस्वावर्णस्य संवृतत्वं प्रच्याव्य शास्त्रमूलभूते वर्णसमाम्नाये तस्य विवृतत्वेनैवोपदिष्टतया कृत्स्नशास्त्रीयप्रक्रियासमये ह्रस्वस्याप्यवर्णस्य विवृतत्वेन दण्डाढकमित्यादौ सवर्णदीर्घादिकार्यं निर्बाधमिति अइउणिति सूत्रभाष्ये स्पष्टम् । एवञ्च ह्रस्वस्यावर्णस्य संवृतमिति शिक्षावचनं परिशेषात् परिनिष्ठित-दशायामेव पर्यवस्यतीति न तदानर्थक्यमिति भावः । अयं च शिक्षावचनसङ्कोचः सूत्र-कारस्यापि सम्मत इत्याह—एतच्चेति । तदेवोपपादयितुं प्रतिजानीते—तथा हीति । यथा एतत् ज्ञापितं भवति तथा स्पष्टमुपपाद्यत इत्यर्थः ।

(११) अ अ । व्याकरणशास्त्रस्येदमन्तिमं सूत्रं द्विपदम् । तत्र अ इति प्रथमं पदं विवृतपरं लुप्तषष्ठीकम् । द्वितीयं तु संवृतपरं लुप्तप्रथमाकम् । ततश्च शिक्षावचनसिद्धं स्वाभाविकं संवृतत्वं प्रच्याव्य वर्णसमाम्नाये विवृतत्वेनोपदिष्टस्य अवर्णस्य संवृतः अवर्णो भवतीत्यर्थः । तदाह—विवृतमनूद्येति । विधीयत इति । प्रतिप्रसूयत इत्यर्थः । ननु प्रक्रियादशायामप्येतत्सूत्रं कुतो न प्रवर्तत इत्यत आह—अस्य चेति । अस्य अ अ इति

('क' से 'म' तक) अर्थात् पाँचों वर्गों के अक्षरों का है । **'स्पृष्ट'** का अर्थ है कि इन पचीस व्यञ्जनों के उच्चारण में जिह्वा विशेषतया तालु, कण्ठ, दन्त, मूर्धा का स्पर्श करती है एवं ओष्ठ परस्पर स्पर्श करते हैं । **अन्तःस्थ** = य, र, ल, व—इन चार वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न **ईषत्स्पृष्ट** है । **'ईषत्स्पृष्ट'** का अर्थ है जिह्वा द्वारा तालु आदि उच्चारणस्थानों का धीरे से स्पर्श किया जाना । **ऊष्मवर्ण** = श, ष, स, ह तथा **स्वर** वर्णों का **विवृत** प्रयत्न है । **'विवृत'** से यह तात्पर्य है कि उच्चारण करते समय जिह्वा एवं तालु आदि के बीच का मार्ग खुला रहे । अर्थात् उस समय वायु अवरुद्ध नहीं होती है । **संवार** प्रयत्न केवल ह्रस्व अकार का प्रयोग में अर्थात् व्यवहारकाल में होता है । वह भी प्रक्रियादशा में = व्याकरण रीति से शब्द-साधन की स्थिति में विवृत ही रहता है । कारण इसका यह है कि ह्रस्व अकार का संवृत-विधायक सूत्र **'अ अ'** (८-४-६८) अष्टाध्यायी का सर्वान्तिम सूत्र है एवं सम्पूर्ण अष्टाध्यायी के प्रति असिद्ध माने जाने से उस सूत्र द्वारा विहित कार्य की ओर शास्त्र की दृष्टि नहीं जाती, अतः वह विवृत माना गया है । इसका विवेचन स्वयं पाणिनि ने ही किया है, वह भी **'अ अ'** सूत्र का प्रणयन करते हुए । इसका स्पष्टीकरण करने के लिये दीक्षित यहीं पर प्रसङ्गवश उस सूत्र का अभ्युत्थान कर रहे हैं ।

(११) पद—अ, अ । **विधि-सूत्र** ।

मूलार्थ—विवार प्रयत्न का निरूपण कर, संवार प्रयत्न का विधान इस सूत्र से किया जा रहा है । इस सूत्र के (पाणिनि के ग्रन्थ अष्टाध्यायी के अन्त में होने से) असिद्ध होने के कारण, शास्त्रों की (विधीयमान पूर्व कार्यों की) दृष्टि में विवृतप्रयत्न ही है । तथा असिद्धविधायक सूत्र (आगे निर्दिष्ट है) ।

विवरण—इस सूत्र में दो पद हैं 'अ' 'अ' । पहला 'अ' अनुवाद (स्थानी) है और दूसरा विधि (आदेश) । वस्तुतः सूत्र में पहला 'अ' निर्विभक्तिक (विभक्तिलोपात्मक) प्रयुक्त हुआ है । वह षष्ठी विभक्ति में ('अस्य') प्रयुक्त होना चाहिये । तथा दूसरा 'अः' प्रथमा विभक्ति में प्रयुक्त होना चाहिये । इसका निर्वाह—"छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति" इस नियम से विभक्तिलोप-विधान के रूप में आर्ष समझा जाता है । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होता है कि 'अ' (अस्य) = विवार प्रयत्नवान् अकार के स्थान में (अः) संवारप्रयत्नवान् अकार हो । दोनों प्रकार के अकारों में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

च्छास्त्रदृष्ट्या विवृतत्वमस्त्येव। तथा च सूत्रम्—(१२) पूर्वत्रासिद्धम्। ८।२।१॥ अधिकारोऽयम्। तेन सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा। त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं

सूत्रस्य स्वप्राक्तनीं कृत्स्नामष्टाध्यायीं प्रति असिद्धत्वात् अविद्यमानत्वात् प्रक्रियादशायां विवृतत्वमस्त्येवेत्यन्वयः। ननु प्रक्रियादशायां ह्रस्वावर्णस्य कथं स्वाभाविकात्संवृतत्वात् प्रच्यवः, कथं वा विवृतत्वम्?, तस्य आकारादिधर्मत्वादित्यत आह—शास्त्रदृष्ट्येति। असिद्धत्वमिह न वास्तवात्यन्तासत्त्वं विवक्षितम्। किं तर्हि अविद्यमानत्वारोपात्मकमेव। एतावता न स्वाभाविकस्य संवृतत्वस्यावर्णात् प्रच्यवः, नापि विवृतत्वं तस्य वास्तवम्, प्रक्रियार्थं विवृतत्वस्यारोपादिति भावः। ननु 'अ अ' इति सूत्रस्य कृत्स्नामष्टाध्यायीं प्रत्यसिद्धत्वे किं प्रमाणमित्यत आह—तथा च सूत्रमिति। चो ह्यर्थे। तथा तेन प्रकारेण बोधकं सूत्रमस्ति हीत्यर्थः।

(१२) तथाविधं सूत्रमाह—पूर्वत्रासिद्धम्। पाणिनिप्रणीता अष्टाध्यायी। तत्र अष्टमाध्याये द्वितीयपादस्येदमादिमं सूत्रम्। इतः प्राक्तनं कृत्स्नं सूत्रजालं सपादसप्ताध्यायीति व्यवह्रियते। उपरितनं तु कृत्स्नं सूत्रजालं त्रिपादीति व्यवह्रियत इति स्थितिः। तत्र यदीदं सूत्रं स्वतन्त्रविधिः स्यात्, तदा इतः पूर्वस्मिन् शास्त्रे प्रवर्तमाने उपरितनं शास्त्रमसिद्धं स्यादित्यर्थो लभ्येत। ततश्च सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धेति पर्यवस्येत्। एवं सति त्रिपाद्यामपि पूर्वं शास्त्रं प्रति परं शास्त्रमसिद्धमित्यर्थो न लभ्येत। तथा सति किम् उक्तं किम्वुक्तमित्यत्र 'मोऽनुस्वारः' इति शास्त्रं त्रैपादिकं प्रति 'मय उञो वो वा' इति वत्वशास्त्रं त्रैपादिकं नासिद्धं स्यादित्यत आह—अधिकारोऽयमिति। अधिक्रियते उपरितनसूत्रजालशेषत्वेन पठ्यत इत्यधिकारः 'कर्मणि घञ्'। 'घञजबन्ताः पुंसि' इति पुंस्त्वम्।

प्रयत्नभेद होने से सूत्रस्थ 'अ' 'अ' पदों में सवर्ण दीर्घ नहीं हुआ। पहला 'अ' विवारप्रयत्नवान् है और दूसरा 'अ' संवारप्रयत्नवान्। सवर्णसंज्ञा में स्थान और प्रयत्न दोनों की समानता अपेक्षित है। यहाँ प्रयत्न की भिन्नता है अतः वे सवर्ण नहीं हैं।

निष्कर्ष—इस तरह 'अ अ' सूत्र की रचना कर पाणिनि ने शास्त्र के आरम्भ में स्थान-प्रयत्न का विवेचन कर 'ह्रस्व-अकार' को विवृतप्रयत्नवान् कहा है। यथोपदिष्ट विवार प्रयत्नवान् ह्रस्व-अकार के स्थान में संवार ह्रस्व-अकार का विधान यहाँ किया जा रहा है। लोक और वेद में व्यावहारिक दृष्टि से ह्रस्व अकार संवृत ही अनुभूत है, क्योंकि उसके उच्चारण करने में गला खुलता हुआ विदित नहीं होता है। इसके विपरीत दीर्घ 'आ' के उच्चारण करने में गले का खुलना सर्वविदित है। इस प्रकार व्याकरणशास्त्र का और व्यवहार का विरोध प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। इसका समन्वय करने के लिये प्रकृत सूत्र की उपादेयता है। इस सूत्र से संवृत-विधान होने के कारण व्यावहारिकता यथास्थित रहती है। शास्त्रीय दृष्टि से विवार प्रयत्न की स्थिति का निर्वाह इस सूत्र के अष्टाध्यायी के अन्त में होने के कारण असिद्धत्व की कल्पना से किया जाता है। इस कारण 'दण्ड+आढकम्' में सवर्णदीर्घ हो जाता है, क्योंकि प्रक्रिया-दशा में अकार का विवारप्रयत्न होने से दोनों (अ+आ) मिलकर दीर्घ हो जाता है। इस कल्पना का मूल "पूर्वत्रासिद्धम्"—असिद्धत्वविधान है।

(१२) पद—पूर्वत्र, असिद्धम्। अधिकारसूत्र।

सूत्रार्थ—यह अधिकार-सूत्र है। इस कारण सवा सात अध्यायों में पठित सूत्रों की दृष्टि में (अग्रिम) तीन पाद असिद्ध हैं। त्रिपादी में भी पूर्वशास्त्र की दृष्टि में पर त्रिपादीशास्त्र असिद्ध रहता है। बाह्य-प्रयत्न ग्यारह हैं—विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शास्त्रमसिद्धं स्यात्। बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा—विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति।

खयां यमाः खयः≍क≍पौ विसर्गः शर एव च।
एते श्वसानुप्रदाना अघोषाश्च विवृण्वते॥ १॥
कण्ठमन्ये तु घोषाः स्युः संवृता नादभागिनः।
अयुग्मा वर्गयमगा यणश्चाल्पासवः स्मृताः॥ २॥

वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो[1] वर्णः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धः। पलिक्क्नीः, चख्ख्नतुः, अग्ग्निः, घ्घ्नन्तीत्यत्र क्रमेण कखगघेभ्यः परे तत्सदृशा एव यमाः।

अर्यामति तदपेक्षया पुँल्लिङ्गनिर्देशः। इदं सूत्रमुपरितनसूत्रेष्वनुवृत्त्यर्थमेव, न तु स्वतन्त्रविधिरिति यावत्। 'मय उञो वो वा' इति सूत्रे पूर्वत्रासिद्धमित्यनुवर्तते। ततश्च मयः परस्य उञो वो वा स्यात्। इदं शास्त्रं पूर्वत्रासिद्धमिति तदेकवाक्यं सम्पद्यते। तत्र च अनुवृत्तपूर्वशब्देन इतः प्राक्तनं त्रिपादीस्थं सपादसप्ताध्यायीस्थं च कृत्स्नं सूत्रजालं विवक्षितमिति 'मोऽनुस्वारः' इति त्रिपादिकं शास्त्रं प्रति 'मय उञो वो वा' इति शास्त्रस्यासिद्धत्वं निर्बाधमित्याह—तेनेति। अधिकारत्वेनेत्यर्थः। परं शास्त्रमसिद्धमिति। असिद्धत्वं चात्र नात्यन्तासत्त्वम्। किन्तु पूर्वशास्त्रदृष्ट्येत्यनुपदमेवोक्तम्। परं शास्त्रमित्यनेन प्रक्रियाकौमुद्यादिग्रन्थोक्तं कार्यासिद्धत्वमप्रामाणिकं ध्वनितम्। कार्यासिद्धत्वं पूर्वपक्षयित्वा शास्त्रासिद्धत्वस्यैवात्र सूत्रे 'असिद्धवदत्राभात्' इति सूत्रे च भाष्ये सिद्धान्तितत्वात्। शास्त्रासिद्धत्वकार्यासिद्धत्वयोः फलभेदस्तु शब्देन्दुशेखरे व्यक्तः। अस्माभिश्च स्वादिसन्धौ मनोरथ इत्यत्र मूलव्याख्यावसरे हलन्तशब्दाधिकारे च अदःशब्दप्रक्रियाव्याख्यावसरे प्रपञ्चयिष्यते। तदेवम् 'अ अ' इति संवृतविधेः स्वप्राक्तनीं कृत्स्नाम् अष्टाध्यायीं प्रत्यसिद्धत्वात् प्रक्रियादशायामवर्णस्य ह्रस्वस्य विवृतत्वमेव। परिनिष्ठितदशायामेव संवृतत्वमिति स्थितम्। यद्यपि परिनिष्ठितदशायां संवृतविधिः क्वचिदप्यस्मिन् शास्त्रे नोपयुज्यते तथापि परिनिष्ठिते संवृतविधिबलात्संवृतत्वेन ज्ञाने सत्येव प्रयोगार्हतेति कल्प्यम्, विवृतसंवृतयोरुच्चारणभेदो वा कल्प्य इत्यलं बहुना।

अत्र बाह्यप्रयत्नान् प्रपञ्चयति—बाह्यप्रयत्नस्त्विति। प्रशब्दोऽत्र चिन्त्यः, प्रशब्दबलेन आभ्यन्तरयत्नस्यैव प्रयत्नशब्दवाच्यतायाः तुल्यास्यसूत्रे उक्तत्वात्, यत्नो द्विधेत्युपक्रमाच्च। तत्र विवक्षितार्थो वा अत्र प्रशब्दः। उदात्तानुदात्तस्वरितशब्दाः धर्मपराः। कस्य को बाह्ययत्न इत्याकाङ्क्षायां तद्व्यवस्थां श्लोकद्वयेन संगृह्णाति—खयामिति। यमशब्दो व्याख्यास्यते। श्वासः अनुप्रदानः येषां ते श्वासानुप्रदानाः श्वासाख्यबाह्ययत्नवन्तः। विवृण्वते कण्ठमिति। विवारः एषां यत्न इति भावः। संवृताः—संवाराख्ययत्नवन्तः। नाद-

---

खयों के यम, खय् प्रत्याहारस्थवर्ण, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय, विसर्ग और शर् प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण—ये सब श्वास नामक बाह्यप्रयत्नवान्, अघोष प्रयत्नवान्, (तथा) विवार प्रयत्नवान् (गला खुलने के कारण) हैं। इनके अतिरिक्त (खय् आदि से भिन्न हश्, हश्संबंधी यम, एवं अनुस्वार) घोषप्रयत्नवान्, संवारप्रयत्नवान्, तथा नादप्रयत्नवाले होते हैं। वर्गों के प्रथम, तृतीय तथा पञ्चम वर्ण, एवं इन्हीं वर्गों के यम, यण् प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण अल्पप्राणप्रयत्नवाले जानने चाहियें। वर्गों में (से) पहले चार वर्गों के पाचवें वर्ण आगे रहने पर, बीच में पूर्व वर्ण के समान वर्ण—'यम' नामक वैदिक व्याकरण में प्रसिद्ध है। (जैसे)—पलिक्क्नीः, चख्ख्नतुः, अग्ग्निः, घ्घ्नन्ति—इन उदाहरणों में, क्रमशः क् ख् ग् घ् के बाद में उन्हीं—क्, ख्, ग्, घ्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः—खयः, तथा तेषामेव यमाः, जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ, विसर्गः, शषसाश्चेत्येतेषां विवारः श्वासोऽघोषश्च। अन्येषां तु संवारो नादो घोषश्च। वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमाः, प्रथमतृतीययमौ, यरलवाश्चाल्पप्राणाः। अन्ये महाप्राणा इत्यर्थः। बाह्यप्रयत्नाश्च यद्यपि सवर्णसञ्ज्ञायामनुपयुक्ताः तथाप्यान्तरतम्यपरीक्षायामुपयोक्ष्यन्त इति बोध्यम्। कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यरलवा अन्तःस्थाः। शषसहा ऊष्माणः। अचः स्वराः। ><क><प इति कपाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशौ जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ। अं अः इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ। इति स्थानप्रयत्नविवेकः। 'ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्' (वा० १०५)। अकारहकारयोरिकारशकारयोर्ऋकारषकारयोर्लृकारसकारयोश्च

भागिनः—नादाख्ययत्नभाजः। अयुग्मा वर्गयमगा इति। कादिपञ्चकं चादिपञ्चकं टादिपञ्चकं तादिपञ्चकं पादिपञ्चकमिति पञ्चवर्गाः। वर्गगता यमगताश्च अयुग्माः प्रथमतृतीयपञ्चमवर्णा इत्यर्थः। अल्पासवः—अल्पप्राणाः। अथ श्लोकद्वयं व्याख्यास्यन् यमशब्दं तावत्सामान्यतो व्याचष्टे—वर्गेष्वित्यादिना। आद्यानां चतुर्णामिति निर्धारणे षष्ठी। एकैकस्मादित्यध्याहार्यम्। तेन 'अन्यारादितरर्ते' इति परशब्दयोगे पञ्चमीप्रसङ्गात् आद्यानां चतुर्णामिति षष्ठ्यनुपपन्नेति निरस्तम्। यमो नामेति। नामन्शब्द इति पर्यायः। तदयमर्थः—कादिचादिटादितादिपञ्चकात्मकेषु वर्गेषु एकैकस्य वर्गस्य आद्यानां चतुर्णां मध्ये एकैकस्मात् पञ्चमे वर्णे परे मध्ये पूर्ववर्णसदृशो वर्णो यम इति प्रातिशाख्ये प्रसिद्ध इति। अथ यमानुदाहृत्य दर्शयति—पलिक्क्नीत्यादिना तत्सदृश एव यमा इत्यन्तेन। एवं वर्गान्तरयमानामप्युदाहरणं याज्ञेत्यादि द्रष्टव्यम्। तदेवं यमशब्दं सामान्यतो व्याख्याय श्लोकद्वयं व्याचष्टे—तत्रेत्यादिना। तत्र खय इत्यस्य व्याख्या—वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः खय इति। खयां यमा इत्यस्य विवरणम्—तथा तेषामेव यमा इति। ><क><पौ इत्यस्य विवरणम्—जिह्वामूलीयोपध्मानीयाविति। विसर्ग-

---

के समान 'यम' (हैं)। तदनुसार वर्गों के प्रथम-द्वितीय वर्ण (खय्) और उन्हीं के यम, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय, विसर्ग (:) और श, ष, स—इन सबका विवार-श्वास-अघोष (प्रयत्न) है। इनके अतिरिक्त (वर्णों का) तो संवार, नाद और घोष (प्रयत्न) है। वर्गों के पहले तीसरे, पाँचवें (और) प्रथम-तृतीय वर्णों के यम, तथा य्, र्, ल्, व्—ये अल्पप्राण (हैं)। इन के अतिरिक्त (वर्ण) महाप्राण हैं।

बाह्यप्रयत्न यद्यपि सवर्ण-संज्ञा में उपयोगी नहीं हैं तो भी अत्यधिक सादृश्य बतलाने में उपयोगी होंगे, ऐसा समझना चाहिये। 'क' से प्रारम्भ कर 'म' पर्यन्त (वर्ण) स्पर्श (कहलाते हैं)। य्, र्, ल्, व्—को (इन्हें) अन्तःस्थ कहते हैं। श्, ष्, स्, ह्—(ये वर्ण) ऊष्म (हैं)। अच् प्रत्याहारस्थ वर्ण स्वर (कहलाते) हैं। >< क और >< प में क और प के पूर्व आधे विसर्ग के समान क्रमशः जिह्वामूलीय और उपध्मानीय (हैं)। 'अं' और 'अः' इन में स्वरवर्ण (अ) के बाद (ऊपर) एक बिन्दु तथा आगे (दो बिन्दु) क्रमशः अनुस्वार और विसर्ग कहलाते हैं। इस प्रकार स्थान और प्रयत्न का विवेचन किया गया है।

(वा०) 'ऋ' और 'ऌ' की आपस में सवर्णसंज्ञा जानी जाय। अकार और हकार की, इकार-शकार की ऋकार-षकार की और ऌकार-सकार की परस्पर सवर्णसंज्ञा प्राप्त होने पर—(अग्रिम नियम से निषेध किया जायगा)।

सन्दर्भ—इसके पूर्व वर्णित 'अ अ' (८-४-६८) सूत्र की सम्पूर्ण अष्टाध्यायी के प्रति असिद्धता का निर्वचन किया जा रहा है।

विवरण—असिद्ध की कल्पना में अष्टाध्यायी का विभाजन इस प्रकार किया गया है—(१)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दः प्रसिद्धत्वात् स एवोपात्तः। शर इत्यस्य विवरणम्—शषसा इति। एते श्वासानुप्रदानाः अघोषाश्च विवृण्वते। कण्ठमित्येतद्व्याचष्टे—एतेषां विवारः श्वासः अघोषश्चेति। अन्ये तु घोषाः स्युः। संवृता नादभागिन इत्येतद्व्याचष्टे—अन्येषां तु संवारो नादो घोषश्चेति। अयुग्मा वर्गायमगा इत्येतद्व्याचष्टे—वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमाः प्रथमतृतीययमाविति। पञ्चमानां यमाभावादिति भावः। यणश्चाल्पासवः स्मृता इत्येतद्व्याचष्टे—यरलवाश्चाल्पप्राणा इति। ननु श्लोकद्वये महाप्राण एतेषामिति नोक्तम्। अतो न्यूनतेत्याशङ्क्य तदपि परिशेषादुक्तप्रायमित्याह—अन्ये महाप्राणा इति। वर्गाणां द्वितीयचतुर्थाः, द्वितीयचतुर्थयमाः, शषसहाश्च अन्यशब्देन विवक्षिताः। यमानां यत्नविशेषकथनं वस्तुस्थितिकथनमात्रम्। अत्र शास्त्रे तदुपयोगाभावात्। तदयमत्र मध्यसिद्धान्तकौमुद्यां वरदराजीयः संग्रहः-'खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च। हशः संवारा नादा घोषाश्च। वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा यणश्चाल्पप्राणाः। वर्गाणां द्वितीयचतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः' इति। नन्विह बाह्यप्रयत्नप्रपञ्चनं व्यर्थम्, तुल्यास्यसूत्रे प्रयत्नशब्दस्य आभ्यन्तरयत्नमात्रपरत्वादित्याशङ्कते—बाह्यप्रयत्नाश्चेति। यद्य-

---

पहले सात अध्याय और एक पाद तथा (२) अवशिष्ट तीन पाद। रचना-क्रममें पाणिनि की अष्टाध्यायी के आठवें अध्याय के दूसरे पाद में यह सूत्र पठित है। इसके पूर्व पठित समग्र सूत्र सवा सात अध्याय (सपादसप्ताध्यायी) के अन्तर्गत आते हैं। इस सूत्र के अनन्तर पठित अवशिष्ट सूत्र 'त्रिपादी' नाम से प्रसिद्ध हैं। यदि इसे स्वतन्त्र विधिसूत्र माना जाता तो इस सूत्र से केवल 'त्रिपादीस्थ शास्त्र (पर-शास्त्र) पूर्व (सपादसप्ताध्यायीस्थ-शास्त्र) के प्रति असिद्ध होता है'—इतने ही अर्थ का लाभ होता। इस सामान्य अर्थ की अभिव्यक्ति 'पूर्वत्र' तथा 'असिद्धम्' इन दो पदों से होती है। इस स्थिति में 'किमु उक्तम्' 'किम्वुक्तम्'—इन उदाहरणों में सामञ्जस्य नहीं होगा। 'किम्+उ+उक्तम्'<किम्+व्+उक्तम्—"मय उञो वो वा" (८-३-३३)—उ=व्। ऐसी स्थिति में 'किम्' शब्दावयव 'म्' को "मोऽनुस्वारः" (८-३-२३) से अनुस्वार की प्राप्ति होती है। अतः इसे अधिकारसूत्र माना जाता है। यह स्वीकार करने पर त्रिपादी में भी पूर्व-शास्त्र के प्रति परशास्त्र असिद्ध होता है—इस अधिक अर्थ का लाभ होता है। तदनुसार 'किम्+व्+उक्तम्' में उकार के स्थान पर ८-३-३३ से होने वाला 'वकार' ८-३-२३ की दृष्टि में असिद्ध हो जाने के कारण अनुस्वार की प्रसक्ति नहीं होगी। पुनः वकार के अभाव में किमु+उक्तम् ऐसी स्थिति होने पर 'उ' को "निपात एकाजनाङ्" (१-१-१४)—प्रगृह्य-संज्ञा होने के कारण "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्" (६-१-१२५) से प्रकृतिभाव हो जाने से "अकः सवर्णे दीर्घः" (६-१-१०१) से दीर्घ आदेश नहीं होता।

विशेष—"पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र में 'असिद्ध' पद का अर्थ प्रवृत्त न होना अथवा निष्पन्न न होना है (न सिद्धम्-असिद्धम्)। असिद्ध के सम्बन्ध में दो पक्ष प्रसिद्ध हैं—'शास्त्रासिद्ध' और 'कार्यासिद्ध'। सिद्धान्तकौमुदी की वृत्ति में "पूर्वं प्रति परं शास्त्रम् असिद्धं स्यात्"—इस प्रकार निरूपण कर शास्त्रासिद्ध पक्ष का समर्थन किया गया है।

शास्त्रासिद्ध से यह तात्पर्य है कि एक ही समय किसी लक्ष्य में प्राप्त होने वाले दो शास्त्रों में सपादसप्ताध्यायी-शास्त्र की दृष्टि में त्रिपादीशास्त्र असिद्ध (अप्रवृत्त) होता है। कार्यासिद्ध का यह आशय है कि कार्य होने के पश्चात् असिद्ध समझा जाता है। इन दोनों की समीक्षा 'मनोरथः' उदाहरण द्वारा प्रस्तुत की जा रही है। १. मनस्+रथः< २. मनर्+रथः< ३. मन+उ+रथः< ४. मनोरथः। सर्वप्रथम 'स्'=र् में परिवर्तित—"ससजुषो रुः" (८-२-६६), तदनन्तर 'र्'='उ' में परिवर्तित—"हशि च" (६-१-११४), तत्पश्चात् गुण अ+उ—'ओ'—"आद् गुणः" (६-१-८७) होकर विभक्तिकार्य होता है। प्रकृत स्थल में 'स्' के स्थान पर 'र्' होने के बाद 'हशि च" (६-१-११४) से उकार एवं "रो रि" (८-३-१४) से रेफ का लोप—इन दोनों की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीति समुदायः शङ्काद्योतकः। परिहरति—तथापीति। सवर्णसंज्ञाप्रस्तावे बाह्यप्रयत्नानामुपयोगाभावेऽपि 'स्थानेऽन्तरतमः' इति वक्ष्यमाणान्तरम्यविचारे तेषामुपयोगसत्त्वान्न वैयर्थ्यम्। इह तत्प्रपञ्चनं तुल्यास्यसूत्रे आभ्यन्तरत्वविशेषणव्यावर्त्यत्वेनोपस्थितत्वात्प्रासङ्गिकमिति भावः। उदात्तादियत्नस्य तु अज्धर्मत्वस्य प्रसिद्धत्वादिह न तद्व्यवस्थोक्ता। अथ स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानामित्यादिसन्दर्भे उपन्यस्तान् स्पर्शादिशब्दान् व्याचष्टे—कादय इत्यादिना। कः आदिः येषां ते कादयः। मः अवसाने येषां ते मावसानाः। इदं च लोकप्रसिद्धपाठापेक्षम्। इति स्थानयत्नविवेक इति। स्थानप्रयत्नविवेचनं समाप्तमित्यर्थः। स्थानप्रयत्नेति प्रशब्दपाठस्तु चिन्त्यः, अविवक्षितार्थो वा प्रशब्दः।

ऋलृवर्णयोर्मूर्धदन्तात्मकभिन्नस्थानकत्वात् सवर्णसंज्ञायामप्राप्तायाम् 'ऋकारलृकारयोः सवर्णविधिः' इति तद्विधायकं वार्तिकम् अर्थतः संगृह्य पठति—ऋलृवर्णयोर्मिथः। आ च आ च रलौ। ऋशब्दस्य लृशब्दस्य च आ इति प्रथमैकवचनम्। ऋ लृ औ इति स्थिते लृकारस्य 'ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः' इति गुणः, अकारः, 'उरण्रपरः' इति रपरत्वम्,

---

प्राप्ति होती है। ऐसी स्थिति में 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (१-४-२) के अनुसार रेफ के लोप की प्राप्ति होने पर "पूर्वत्रासिद्धम्" (८-२-१) के द्वारा लोपशास्त्र असिद्ध होने से 'उ' होकर गुण होने के पश्चात् रूपसिद्धि होती है। कार्यासिद्ध पक्ष में रेफ-लोप-रूपी कार्य होने के अनन्तर असिद्ध का प्रतिपादन हो सकेगा। लोप हीने के पश्चात् पुनः रेफ रहने की (उस कार्य की) कल्पना कैसे की जायगी? विना रेफ के रहे उकार की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। लोप के बाद रेफ की विद्यमानता की संभावना कैसे? इस संबंध में 'पेट भरे व्यक्ति से तुम मत खाओ, कहने से क्या लाभ' (भुक्तवन्तं प्रति मा भुक्थाः इति ब्रूयात् किं तेन कृतं स्यात्)? यह लोकसिद्ध-न्याय स्मरण कराया जाता है अर्थात् वह स्वयं खाने में प्रवृत्त नहीं होगा। उसी तरह रेफ-लोप-कार्य हो जाने पर रेफ को कोई वापस नहीं ला सकता और असिद्ध-विधान तो तभी हो सकेगा जब कार्य हो जायगा। शास्त्र का असिद्ध विधान कार्य के होने की अपेक्षा नहीं रखता। यहाँ पर वह कार्य होने के पहले उस शास्त्र की प्रवृत्ति के क्षण में ही (रेफ-लोप की संभावना में) असिद्ध की कल्पना कर उकार के विधान में चरितार्थ हो जाता है।

विशेष—वर्णों की उत्पत्ति के उत्तर काल में (मुख के बाहर निकलते समय) होने वाला यत्न 'बाह्यप्रयत्न' कहलाता है[1]। वर्णोच्चारण की बाह्यप्रतिक्रिया में मुख का खुलना **'विवार'** कहलाता है। **'संवार'**=मुख का अच्छी तरह नहीं खुलना। **'श्वास'**=भीतर की वायु का स्वरतन्त्री को विना झंकृत किये बाहर आना। **'नाद'**—भीतर की वायु का स्वरतन्त्री को झंकृत कर बाहर आना। **'घोष'**—उच्चारण करते समय ध्वनि का रहना। **'अघोष'**—ध्वनि का न रहना। **'अल्पप्राण'**—भीतर की वायु का कम मात्रा में उपयोग। **'महाप्राण'**—भीतरी वायु का अधिक उपयोग होना। **'उदात्त'**—तालु आदि स्थानों के ऊपरी भाग से उच्चारण किया जाना। **'अनुदात्त'**—तालु आदि स्थानोंके निम्न भाग से उच्चारण होना। **'स्वरित'**—उदात्त और अनुदात्त का समाहार (मध्यमावस्था)।

---

१. एते च 'वर्णोत्पत्त्यनन्तरं मूर्ध्नि प्रतिघातान्निवृत्ते प्राणे जायन्त' इति बाह्या उच्यन्ते। वायुना कण्ठे अभिहन्यमाने गलविलस्य विकासाद् विवारः। तत्संकोचात् संवारः। संवृते गलविलेऽव्यक्तः शब्दो नादः। विवृते श्वासः। घण्टानिहादवत् स्थानाभिघातगे ध्वनौ नादोऽनुप्रतीयते, तदा नादध्वनिसंगाद् घोषो जायते। यदा श्वासोऽनुप्रदीयते, तदा श्वासध्वनिसंयोगाद् अघोषः। महति वायौ महाप्राणः। अल्पे वायौ अल्पप्राणः। यदा सर्वाङ्गानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति तमुदात्तमाचक्षते। यदा तु मन्दः प्रयत्नो भवति तमनुदात्तमाचक्षते। उदात्तानुदात्तसंनिकर्षात् स्वरितगुण इति। व्या. सि. सु. पृ० २२६।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋकारस्य यणादेशो रेफः। रलौ च तौ वर्णौ च ऋलृवर्णौ। तयोर्मिथः परस्परं सावर्ण्यं सवर्णत्वं वक्तव्यम्। तुल्यास्यसूत्रेण तदलाभादिति सूत्रकारः शिक्ष्यते। उक्तानुक्तदुरुक्त-चिन्तनात्मकं हि वार्तिकम्। अकारहकारयोरिति। उभयोः कण्ठस्थानविवृतप्रयत्नसाम्या-त्सावर्ण्यं प्राप्तम्। अकारस्य कवर्गेण तु न सावर्ण्यप्रसक्तिः। कण्ठस्थानसाम्ये सत्यपि विवृतस्पृष्टप्रयत्नभेदात्। विसर्जनीयस्य तु अकारोपरि शर्षु च पाठस्योपसङ्ख्यातत्वेन विवृतत्वेपि तेन अकारस्य न सवर्णसंज्ञा, प्रयोजनाभावात्। ततश्च अकारस्य हकारेण सावर्ण्यं परिशिष्यत इति भावः। इकारशकारयोरिति। तालुस्थानविवृतप्रयत्नसाम्यात् उभयोः सावर्ण्यं प्राप्तम्। इकारस्य चवर्गेण यकारेण च न सावर्ण्यप्रसक्तिः, इकारस्य विवृतत्वात्, चवर्गस्य स्पृष्टत्वात्, यकारस्य ईषत्स्पृष्टत्वाच्च। अत इकारस्य शकारेण सावर्ण्यं परिशिष्यत इति भावः। ऋकारषकारयोरिति। मूर्धस्थानविवृतयत्नसाम्यात् उभयोः सावर्ण्यं प्राप्तम्। ऋकारस्य टवर्गेण रेफेण च न सावर्ण्यप्रसक्तिः ऋकारस्य विवृतत्वात्, टवर्गस्य स्पृष्टत्वात्, रेफस्य ईषत्स्पृष्टत्वाच्च। अतः ऋकारषकारयोः सावर्ण्यं परिशिष्यत इति भावः॥

पतञ्जलि ने आठ बाह्य-प्रयत्न स्वीकार किये हैं। उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित—इन तीनों को बाह्य-प्रयत्न नहीं माना है, क्योंकि इन वर्णधर्मों के उच्चारण में आन्तरिक यत्न भी अपेक्षित होता है। तथापि कैयट आदि व्याख्याताओं ने इन तीनों को बाह्य प्रयत्न ही माना है। सवर्ण-संज्ञा में इनकी उपयोगिता न होने के कारण आन्तरतम्य परीक्षा में अन्य बाह्य-प्रयत्नों की उपयुक्तता के समान इनकी भी बाह्य-प्रयत्नों में गणना की गई है[1]।

आभ्यन्तर-प्रयत्न-बोधक चक्र

स्पृष्ट	ईषत्स्पृष्ट	विवृत	संवृत
क, ख, ग, घ, ङ च, छ, ज, झ, ञ ट, ठ, ड, ढ, ण त, थ, द, ध, न प, फ, ब, भ, म	य, र, ल, व	अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, श, ष, स, ह	प्रयोग दशा में ह्रस्व अकार

बाह्य-प्रयत्न-बोधक सारणी

विवार, श्वास, अघोष	संवार, नाद, घोष	अल्पप्राण	महाप्राण	उदात्त, अनु०, स्वरित
क, ख, श च, छ, ष ट, ठ, स त, थ प, फ जिह्वामूलीय, उप-ध्मानीय, विसर्ग	ग, घ, ङ, य ज, झ, ञ, व ड, ढ, ण, र द, ध, न, ल ब, भ, म, ह अनुस्वार	क, ग, ङ, य च, ज, ञ, व ट, ड, ण, र त, द, न, ल प, ब, म	ख, घ, श छ, झ, ष ठ, ढ, स थ, ध, ह फ, भ	अ, ए इ, ओ उ, ऐ ऋ, औ ऌ

१. उदात्तादिजनकयत्नस्याभ्यन्तरकार्यकत्वेऽपि उदात्तादिशब्दैर्विना बोधितानां तेषाम् 'अनुदात्त' इत्यनेनाविवक्षाबोधनात्। सवर्णसंज्ञानुपयुक्तत्वान्तरतम्यपरीक्षोपयुक्तत्वरूपसादृश्येन बाह्येषु गणनम्। ल० श० शे०।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिथः सावर्ण्ये प्राप्ते—(१३) **नाऽज्झलौ १।१।१०** ॥ आकारसहितोऽच् आच्, स च हल् चेत्येतौ मिथः सवर्णौ न स्तः । तेन दधीत्यस्य—हरति, शीतलं, षष्ठं, सान्द्रमित्येतेषु परेषु यणादिकं न । अन्यथा दीर्घादीनामिव हकारादीनामपि ग्रहणकशास्त्रबलादच्त्वं स्यात् ।

लृकारसकारयोरिति । दन्तस्थानविवृतप्रयत्नसाम्यादुभयोः सावर्ण्यं प्राप्तम् । लृकारस्य तवर्गेण लकारेण च न सावर्ण्यप्रसक्तिः, लृकारस्य विवृतत्वात्, तवर्गस्य स्पृष्टत्वात्, लकारस्य ईषत्स्पृष्टत्वाच्च । अतः लृकारस्य सकारेण सावर्ण्यं परिशिष्यते ।

(१३) एवं प्राप्ते प्रतिषेधति—नाऽज्झलौ । आसहितः अच् आच् । शाकपार्थिवादित्वात् सहितशब्दस्य लोपः । स च हल् च आज्झलौ । तुल्यास्यसूत्रात्सवर्णमित्यनुवर्तते । तच्च पुंल्लिङ्गद्विवचनान्ततया विपरिणम्यते । तदाह—आकारसहितोऽजित्यादिना । ननु किमर्थोऽयं प्रतिषेध इत्यत आह—तेनेत्यादि यणादिकं नेत्यन्तम् । तेन—प्रतिषेधेन । आदिना सवर्णदीर्घसंग्रहः । दधीति । इकारस्य हकारे षकारे सकारे च परे 'इको यणचि' इति यणादेशः, शीतलमित्यत्र शकारे परे सवर्णदीर्घश्च न भवतीत्यर्थः । नन्वस्तु अकारहकारयोः, इकार-

---

यम—वेद में वर्णों के आदिम चार वर्णों के बाद पाँचवाँ वर्ण आने पर पहले (पूर्ववर्ण) अक्षर के समान दूसरा अक्षर आगम के रूप में पढ़ा जाता हैं। इसे प्रातिशाख्य में **'यम'** कहा गया है। यह नाम **'यमल'** (जोड़वाँ बच्चों) के सदृश दोनों वर्णों में सारूप्य होने के कारण अन्वर्थक है। जैसे पलिक्क्नीः, चख्ख्नतुः, अग्ग्निः, अघ्घ्नन् में क्रमशः क, ख, ग, घ वर्णों के आगे पंचम वर्ण होने पर पूर्ववर्ण सदृश वर्ण आगम के रूप में पृथक् उच्चरित होता है।[1] आगमसहित वर्णों के उच्चारण करने में उनकी स्पष्टता के कारण उनके बाह्य-प्रयत्नों का उल्लेख किया गया है। पाणिनीय-शिक्षा में वर्णों के विभाजन करने में इन चारों की भी गणना की गई है।

ऋ-लृ-सावर्ण्य—'ऋ' का स्थान मूर्धा तथा 'लृ' का दन्त स्थान है। विवार प्रयत्न दोनों का एक होने पर भी परस्पर स्थानभेद होने के कारण सवर्ण-संज्ञा की प्राप्ति नहीं है। अतः पृथक् उल्लेख कियाजा रहा है। आ च लृवर्णश्च=ऋलृवर्णौ, तयोः=ऋलृवर्णयोः ऐसा विग्रह है। आ—'ऋ' शब्द के प्रथमा एकवचन में रूप है। अनन्तर ऋ+लृवर्णयोः में 'ऋत्यकः' (६-१-१२८) से प्रकृतिभाव होने के कारण दीर्घसन्धि नहीं हुई।

निष्कर्ष—स्थान और प्रयत्न की समानता के कारण अ-ह (कण्ठ-स्थान विवार-प्रयत्न), इ-श (तालुस्थान-विवारप्रयत्न) ऋ-ष (मूर्धा-विवार) लृ-स (दन्त-विवार) की परस्पर सवर्णसंज्ञा प्राप्त होती है। उसके निवारणार्थ अग्रिम सूत्र की उपयोगिता है।

(१३) **पद**—न, अज्झलौ। **अनुवृत्ति**—तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्। **संज्ञासूत्र (निषेध)**।

मूलार्थ—आकार एवम् 'अच्' (स्वर वर्ण) तथा 'हल्' (व्यंजनों) की परस्पर सवर्णसंज्ञा नहीं होती। इस कारण 'दधि+हरति', 'दधि+शीतलम्', 'दधि+षष्ठम्', 'दधि+सान्द्रम्' आदि उदाहरणों में यणादि कार्य नहीं होता। अन्यथा 'अणुदित्-सूत्र' के प्रभाव से दीर्घ आदि वर्णों की तरह हकार आदि में भी अच् (स्वरवर्ण) का विधान होने लगेगा। जैसा कि (आगे कहा जा रहा है)।

सन्दर्भ—क्रमप्राप्त स्वर-व्यञ्जनों की परस्पर सवर्ण-संज्ञा का निषेध किया जा रहा है।

विवरण—सूत्र में दो पद हैं 'न'+(आ)अज्झलौ'। न = निषेध। किसका ? पूर्वसूत्र "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" (१-१-९) से स्वर-व्यंजनों में प्राप्त सवर्ण-संज्ञा का निषेध सूचित किया गया है। 'आ(अ)ज्झलौ' पद में द्वन्द्व समास है—अच् च हल् च 'अज्झलौ'। तदनुसार स्वर और व्यंजनवर्ण

---

१. अनन्त्यश्च भवेत् पूर्वो ह्यन्त्यश्च परतो यदि ।
तत्र मध्ये यमस्तिष्ठेत् सवर्णः पूर्ववर्णयाः ॥ नारदीयशिक्षा ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शकारयोः, ऋकारषकारयोः, ऌकारसकारयोश्च सावर्ण्यम् । तथापि दधि षष्ठमित्यादौ यणादिकं न प्रसक्तम्, अच्परकत्वाभावादित्यत आह—अन्यथेत्यादिना। अन्यथा तेषां सावर्ण्याभ्युपगमे दीर्घादीनामिव हकारादीनामप्यचूत्वं स्यादित्यन्वयः। ननु वर्णसमाम्नाये हकारादीनाम् अकारचकारमध्यगत्वाभावात् कथमच्त्वमित्यत आह—ग्रहणकशास्त्रबलादिति। गृह्णन्त्यकारादयः स्वसवर्णान् येन तत् ग्रहणम्। करणे ल्युट्, स्वार्थे कः। अणुदित्सूत्रादित्यर्थः। यद्यप्यच्छब्दवाच्यत्वं वार्णसमाम्नायिकानामेव वर्णानाम्, तथापि 'इको यणचि' इत्यादौ अच्छब्देन अकारादिपूपस्थितेषु तैः अणुदित्सूत्रबलेन स्वस्वसवर्णानामाकारादीनामुपस्थितिरस्ति। ततश्चात्राच्पदवाच्याकारादिवाच्यत्वादाकारादीनामिव हकारादीनामपि लक्षणया अच्छब्देन ग्रहणं स्यादित्यर्थः। न च 'इको यणचि' इत्यादौ शक्यार्थमादायैवोपपत्तेर्न लक्षणासम्भवः। अणुदित्सूत्रं तु 'अस्य च्वौ' इत्यादौ सावकाशमिति वाच्यम्। 'ल्वादिभ्य' इत्यादिनिर्देशबलेन प्रत्याहाराणां स्वाच्यवाच्येषु लक्षणावश्यम्भावात्। तथा च अच्त्वं स्यादित्यस्य अच्पदबोध्यत्वं स्यादित्यर्थः।

परस्पर सवर्णसंज्ञक नहीं होते। वृत्तिकारों ने 'न+अच्' ('आच्') में दीर्घ होने पर आ का प्रश्लेष कर उससे दीर्घ तथा प्लुत आकार का ग्रहण किया है। इसमें प्रमाण "कालसमयवेलासु तुमुन्" (३-३-१६७) सूत्र है। 'वेलासु' में 'ला' के दीर्घ आकार तथा हकार में सवर्णसंज्ञा प्राप्त होने से 'सु' में "आदेश-प्रत्यययोः" (८-३-५९) से मूर्धन्य षकार प्राप्त होता है। इसी तरह 'हे पिपाꣳसो' में भी प्लुत आकार-हकार सवर्ण-संज्ञक होने से 'सन् प्रत्यय के सकार' (सो) में षत्व की प्राप्ति होती है। 'आकार' का प्रश्लेष कर व्यञ्जनों के साथ उसकी सवर्ण संज्ञा का निषेध होने से षत्व नहीं होता। अतः 'आकारसहितः अच्'—यह अर्थ सिद्धान्तकौमुदी में किया गया है। अथवा आकार का यदि विवृततर प्रयत्न माना जाय तो केवल विवृतप्रयत्नवान् 'आकार' के साथ सवर्णसंज्ञा न होने से 'विश्वपाभिः' में ढकार नहीं होगा[1]। मूल में दिये हुए उदाहरणों में—'दधि+हरति में 'इ' तथा 'ह' में कण्ठस्थानविवृत-प्रयत्न का साम्य, 'दधि+शीतलं' में तालु-विवृत-साम्य, 'दधि षष्ठं' में मूर्धा-विवृत-साम्य, 'दधि सान्द्रं' में दन्त-विवृत-साम्य होने से अ, इ, ऋ, तथा ऌ बुद्धि होने के फलस्वरूप निषेध करने के कारण इ के बाद ह, ष, स में यण्, तथा 'श' में दीर्घ-सन्धि की प्रवृत्ति नहीं होती। इस निषेध के अभाव में ग्रहणक-शास्त्र के प्रभाव से दीर्घादि में जैसे 'अक्' शब्द की प्रवृत्ति होती है वैसे ही हकारादि में भी प्रवृत्त होकर यणादि कार्य हो जाते।

विशेष—यहाँ भाष्यकार ने—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत, एवं विवृत तथा संवृत—पाँच प्रयत्नों की कल्पना कर ऊष्मवर्णों (श्, ष्, स्, ह्) का ईषद्-विवृत तथा स्वर-वर्णों का विवृत-प्रयत्न मान कर मूलोक्त उदाहरणों में प्रयत्नभेद होने के कारण कोई दोष नहीं होगा, अतः "नाज्झलौ" सूत्र को अनावश्यक बतलाया है। पुनः उन्होंने 'वाक्यापरिसमाप्ति' न्याय से सूत्र की उपयोगिता भी बतलाई है। इस न्याय का तात्पर्य यह है कि 'वाक्य' का अर्थात् 'महावाक्य' का अर्थ पूर्णतया निश्चित होने तक उस वाक्य में कही हुई बातों का उपयोग नहीं किया जा सकता है। अनेक उपवाक्यों का समूह महावाक्य होता है। अनेक उपवाक्यों में एक मुख्य अर्थात् अङ्गी और दूसरे उसके अङ्ग होते हैं। तदनुसार "अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः" (१-१-६९) सूत्रस्थ 'सवर्ण' पद का अर्थ निश्चित करने में "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" (१-१-९) तथा "नाज्झलौ" (१-१-१०) ये दो वाक्य उसके अङ्ग है। इसके अतिरिक्त 'अण्' पद का अर्थ बताने वाला वाक्य भी उसका अङ्ग है। 'अण्' पद

---

१. आकारस्य अइउण्-सूत्रोदाहृत-शिक्षोक्तरीत्या विवृततरत्वाद् विवृतेन हकारेण न सावर्ण्यम्। मतान्तरे तु दीर्घप्लुताकारयोः सवर्णदीर्घं कृत्वा तत्सहितोऽच् आच् इति व्याख्याय दीर्घप्लुताकारयोरपि सावर्ण्यनिषेधो व्याख्येयः। व्या. सि. सु. पृ. २४७।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा हि—(१४) **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः १।१।६९॥** प्रतीयते विधीयते इति प्रत्ययः। अविधीयमानोऽणुदिच्च सवर्णस्य सञ्ज्ञा स्यात्। अत्राण् परेण णकारेण। कु चु टु तु पु एते उदितः। तदेवम्। अ इत्यष्टादशानां सञ्ज्ञा। तथेकारोकारौ। ऋकारस्त्रिंशतः। एवम् लृकारोऽपि। एचो द्वादशानाम्। एदैतोरोदौतोश्च न मिथः सावर्ण्यम्, 'ऐऔच्' इति सूत्रारम्भसामर्थ्यात्। तेनैचश्चतुर्विंशतेः सञ्ज्ञाः स्युरिति नापादनीयम्। 'नाञ्झलौ' (सू० १३) इति सावर्ण्यनिषेधो यद्यप्याक्षरसमाम्नायिकानामेव, तथापि हकारस्याऽऽकारो न सवर्णः, तत्राप्याकारस्य प्रश्लिष्टत्वात्। तेन 'विश्वपाभिः' इत्यत्र 'हो ढः' (सू ६२४) इति ढत्वं न भवति। अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा। तेनाननुनासिकास्ते

---

(१४) किं तद् ग्रहणकशास्त्रमित्याकाङ्क्षायां तदुपपादनं प्रतिजानीते—तथा हीति। अणुदित्सवर्णस्य। प्रत्ययशब्दस्य अणादिप्रत्ययपरत्वे 'त्यदादीनामः' 'इदम इश्' इत्यादीनां पर्युदासो न स्यादित्यतो व्याचष्टे—प्रतीयत इति। उत् इत् यस्य सः उदित्—कु चु टु तु पु इत्यादिः। चकारात् 'स्वं रूपम्' इत्यतः स्वमित्यनुवर्तते। तच्च षष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते। तदाह—अविधीयमान इत्यादिना। अणिति पूर्वेण परेण वा प्रत्याहार इति संशये निर्धारयति—अत्रेति। अस्मिन्नेव सूत्रे अण् परेण (१) णकारेण। इतरत्र तु 'अणोऽप्रगृह्यस्य' इत्यादौ पूर्वेणेत्यर्थः। अत्र च आचार्यपारम्पर्योपदेशरूपं व्याख्यानमेव शरणम्। एवं चाणुदित्सूत्रेणानेन अकारादिभिश्चतुर्भिर्दीर्घप्लुतानामिव सवर्णभूतहकारादीनामपि ग्रहणादच्त्वात्तेषु परेषु इकारस्य यणादिकं स्यादिति नाञ्झलाधिति प्रतिषेध आवश्यक इति स्थितम्। अणुदित्सूत्रस्य फलमाह—तदेवमिति। तत् अणुदित्सूत्रम्, एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण फलतीत्यर्थः। त्रिंशत इति। ऋलृवर्णयोर्मिथः सवर्णतया ऋकारेण स्वाष्टादशभेदानां लृकारीयद्वादशभेदानां च ग्रहणादिति भावः। एवम् लृकारोऽपीति। ऋकार-

---

के निरूपक "आदिरन्त्येन सहेता" (१-१-७१) की उपयोगिता "नाञ्झलौ" (१-१-१०) से सम्बद्ध 'अच्' तथा 'हल्' ज्ञान के लिये आवश्यक है, अतः "आदिरन्त्येन सहेता" वाक्य "नाञ्झलौ" का भी अङ्ग है। "आदिरन्त्येन सहेता" में इत्-पदार्थ का द्योतक "हलन्त्यम्" वाक्य "आदिरन्त्येन सहेता" का अङ्ग है। "हलन्त्यम्" को उपदेश की आवश्यकता होने के कारण 'अइउण्' इत्यादि उपदेश उसका अङ्ग है। इस प्रकार समग्र उपवाक्यों की एकवाक्यता होने पर ही महावाक्य का अर्थ (अंगी का अर्थ) किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। तदनुसार यह क्रम निश्चित होता है—सर्वप्रथम वर्णों का उपदेश, पश्चात् इत्संज्ञा, ततः प्रत्याहार, तदनन्तर सवर्ण-संज्ञा, तत्पश्चात् सवर्णों का ग्रहण, इस क्रम के अनुसार सवर्ण का ग्रहण सब के अन्त में होने से उसका उपयोग उसके पूर्व होने वाले "नाञ्झलौ" के अङ्गभूत वाक्यार्थ में नहीं किया जा सकता। अतः "नाञ्झलौ" से सम्बद्ध 'अच्' पद अक्षर-समाम्नायिक वर्णों की सवर्ण-संज्ञा का निषेध करेगा। इस हेतु इकार-शकार सवर्ण नहीं माने जा सकते। विश्वपा+भिस् में आकार को ग्रहणकशास्त्र के बल से हकार के रूप में ग्रहण करने पर भी "नाञ्झलौ" सूत्र में दीर्घ-आकार का प्रश्लेष होने के कारण सवर्णसंज्ञा का निषेध होने से "हो ढः" (८-२-३१) से हकार के स्थान पर ढकार नहीं होता।

(१४) **पद**—अण्, उदित्, सवर्णस्य, च, अप्रत्ययः। **अनुवृत्ति**—स्वं रूपम्। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—विधान किये जाने वाले को प्रत्यय कहते हैं। अविधीयमान (प्रत्ययभिन्न) अण् और उदित् सवर्ण का बोधक होता है। यहाँ 'अण्' पद दूसरे णकार से लिया जाता है। कु, चु, टु, तु, पु—ये उदित् (उकार-इत्संज्ञक) कहलाते हैं। इस प्रकार 'अ'—अठारह का बोधक होता है। उसी तरह 'इकार' तथा 'उकार' भी। 'ऋकार' तीस का बोधक होता है, वैसे ही 'लृकार' भी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्यापि लृकारसवर्णत्वादिति भावः। ननु एकारेण ऐकारप्रपञ्चोऽपि गृह्येत, ऐकारेण एकारप्रपञ्चश्च। तथा ओकारेण औकारप्रपञ्चो गृह्येत्, औकारेण ओकारप्रपञ्चश्च। ततश्च एचश्चतुर्विंशतेः सञ्ज्ञाः स्युरित्येवं वक्तव्यम्, न तु द्वादशानामित्यत आह—एदैतोरिति। कुतो न सावर्ण्यमित्यत आह—ऐऔजिति। यदि ह्येदैतोः ओदौतोश्च परस्परं सावर्ण्यं स्यात् तर्हि एकारेण ऐकारप्रपञ्चस्य ओकारेण औकारप्रपञ्चस्य च आकारादिभिर्दीर्घप्लुतानामिव ग्रहणसम्भवात् 'ऐऔच्' इति सूत्रं नारभ्येत। आरभ्यते च। अतः एदैतोरोदौतोश्च न परस्परं सावर्ण्यमिति विज्ञायत इत्यर्थः। अच् इच् एच् इत्यादि प्रत्याहारास्तु ङकारेणैव निर्वाह्याः। न च 'एचोऽयवायावः' इत्यत्र यथासंख्यार्थमैऔजिति सूत्रमस्त्विति वाच्यम्। तत्र 'स्थानेऽन्तरतमः' इति सूत्रेणैव निर्वाहस्य वक्ष्यमाणत्वादिति भावः। वस्तुतस्तु 'ऐऔच्' इति सूत्राभावे 'वृद्धिरादैच्' 'न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्' 'प्लुतावैच इदुतौ' इत्यादौ एङ्ग्रहणापत्तौ एदोतोरपि ग्रहणे प्रसक्ते तन्निवृत्त्यर्थमैच्प्रत्याहार आवश्यक इति तदर्थमऔजित्यारम्भणीयमेव। अतः ऐऔजिति सूत्रारम्भस्य चरितार्थत्वात् एदैतोरोदौतोश्च मिथः सावर्ण्याभावसाधकत्वकथनमनुपपन्नमेव। एदैतोरोदौतोश्च मिथः सावर्ण्याभावस्तु वृद्धिरादैजित्यादौ क्वचिदैज्ग्रहणात् 'अदेङ्गुणः' इत्यादौ क्वचिदेङ्ग्रहणाच्च सुनिर्वाहः। अन्यथा सर्वत्र एङ्ग्रहणमेव एज्ग्रहणमेव वा कुर्यात्। तावतैव चतुर्णां ग्रहणसम्भवात्। अत ऐच् एङिति प्रत्याहारद्वयग्रहणसामर्थ्यादेदैतोश्च न मिथः सावर्ण्यम्। 'प्लुतावैच इदुतौ' 'एचोऽप्रगृह्यस्य' इति प्रत्याहारद्वयग्रहणवैयर्थ्याच्चेति शब्देन्दुशेखरे प्रपञ्चितम्। तेनेति। एदैतोरोदौतोश्च मिथस्सावर्ण्याभावेनेत्यर्थः। नापादनीयमिति। नाशङ्कनीयमित्यर्थः। एवं च एकारेण सह वर्तत इति सैः, हे सैरित्यत्र 'एङ्ह्रस्वात्' इति सम्बुद्धिलोपो न, ग्लावं ग्लाव इत्यत्र 'औतोऽम्शसोः' इत्यात्वं च न।

'एच्' (ए, ओ, ऐ, औ)–प्रत्येक बारह के बोधक होते हैं। 'ए' तथा 'ऐ' एवम् 'ओ' तथा 'औ' परस्पर सवर्णसंज्ञक नहीं होते—क्योंकि 'ऐऔच्' (मा० सू० ४) पृथक् सूत्र बनाया है। अतः 'ए' 'ओ' 'ऐ' -औ' में प्रत्येक वर्ण चौबीस का बोधक होता है—इस शंका का निवारण हो जाता है। यद्यपि "नाज्झलौ" सूत्र से वर्णसमाम्नाय (माहेश्वर-सूत्रों) में पठित स्वर-व्यञ्जनों की सवर्ण-संज्ञा का निषेध होता है तथापि दीर्घ-आकार तथा हकार की सवर्णसंज्ञा उस सूत्र में 'आकार' का श्लेष होने के कारण (आ सहित 'अच्') नहीं होती। इस कारण 'विश्वपाभिः' में "हो ढः" (८-२-३१) से ढकार नहीं होता।

सन्दर्भ—अष्टाध्यायी-क्रम में पठित इससे पूर्व "स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा" (१-१-६८) सूत्र से शब्द के स्वरूप का ही ग्रहण प्राप्त था, उसका सवर्णों नहीं लिया जा सकता था। इस सूत्र से सवर्णों की बोधकता सूचित की जा रही है। अतः इसे ग्रहणकशास्त्र कहा जाता है।

विवरण—सूत्र में 'अप्रत्यय' शब्द का प्रयोग यौगिक अर्थ में किया गया है। जिसका किसी सूत्र द्वारा विधान किया जाता है उसे प्रत्यय कहते हैं। इसके विपरीत–'अप्रत्ययः' का अर्थ होगा जिसका विधान न हुआ हो—अविधीयमान। इस अर्थ में 'अप्रत्यय' (प्रत्ययभिन्न) का अन्वय केवल 'अण्' पद के साथ होता है, 'उदित्' से नहीं। तदनुसार प्रत्ययभिन्न 'अण्' प्रत्याहार और उकार-इत्संज्ञक-(कवर्ग से पवर्ग तक ४५ व्यञ्जन)-वर्ण अपने स्वरूप तथा सवर्ण के भी बोधक होते हैं।[1] पूर्वसूत्र से अनुवृत्त 'स्वं रूपम्' पद षष्ठी में विपरिणमित हो 'स्वस्य च रूपस्य'—अपने स्वरूप

---

१. उत् इत् यस्य उदित्। अण् च उदित् च—अणुदित् (बहुव्रीहिगर्भः इतरेतरद्वन्द्वः)। न प्रत्ययः=अप्रत्ययः–नञ् तत्पुरुषः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्यादेतत्। हकारस्य आकारस्य च सवर्णसंज्ञा स्यात्, स्थानप्रत्यत्नसाम्यात्, अज्झलामेव सावर्ण्यनिषेधात् वार्णसमाम्नायिकानामेव वर्णानाम् अज्झलशब्दवाच्यत्वात् आकारप्रश्लेषे च प्रमाणाभावात्। न चाकारस्याच्त्वात् तेन आकारस्यापि अणुदित्सूत्रेण ग्रहणादाकारहकारयोर्न सावर्ण्यमिति वाच्यम्। ग्रहणकसूत्रं हि लब्धात्मकमेव सत् 'अस्य च्वौ' इत्यादौ प्रवृत्तिमर्हति। नाज्झलाविति प्रवृत्तिदशायां च ग्रहणकशास्त्रं न लब्धात्मकम्। तद्धि सवर्णपदघटितं सवर्णपदार्थावगमोत्तरमेव लब्धात्मकम्। सवर्णसंज्ञाविधायकं च तुल्यास्यसूत्रं सामान्यतः स्वार्थं बोधयदपि नाज्झलाविति्यपवादविषयं परिहृत्य तदन्यत्रैव पर्यवसन्नं स्वकार्यक्षमम्। तदुक्तम्—'प्रकल्प्यापवादविषयमुत्सर्गोऽभिनिविशते' इति। उक्तं च भाष्ये—'वर्णानामुपदेशस्तावत्। उपदेशोत्तरकाला इत्संज्ञा। इत्सञ्ज्ञोत्तरकालः आदिरन्त्येनेति प्रत्याहारः। प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्णसञ्ज्ञा। तदुत्तरकालमणुदित्सूत्रमित्येतेन समुदितेन वाक्येनान्यत्र सवर्णानां ग्रहणं भवति' इति। अन्यत्र = 'अस्य च्वौ' इत्यादावित्यर्थः। अत्र भाष्ये प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्णसंज्ञेत्यनेन नाज्झलाविति निषेधसहितः सावर्ण्यविधिर्विवक्षितः, केवलसावर्ण्यविधेः प्रत्याहारानपेक्षत्वेन प्रत्याहारोत्तरकालिकत्वनियमासम्भवात्। तथा चाणुदित्सूत्रस्य नाज्झलाविति निषेधसहिततुल्यास्यसूत्रप्रवृत्तेः प्रागलब्धात्मकत्वात् तेन नाज्झलावित्यत्र अज्ग्रहणेन सवर्णानां ग्रहणाभावात् सावर्ण्यविधिनिषेधाभावात् आकारहकारयोः सावर्ण्यं स्यादिति शङ्कते—नाज्झलाविति सावर्ण्येत्यादिना। यद्यपीति सम्भावनायाम्। अक्षरसमाम्नायश्चतुर्दशसूत्री। तत्र भवा आक्षरसमाम्नायिकाः। 'बह्वचोऽन्तोदात्तात्' इति ठञ्। न च नाज्झलाविति प्रवृत्तिदशायामणुदित्सूत्रप्रवृत्त्यभावेऽपि तत्र अजित्यनेन लक्षणया दीर्घप्लुतानां ग्रहणमस्तु। प्रत्याहाराणां स्ववाच्यवाच्येषु लक्षणाया अनुपदमेव प्रपञ्चितत्वादिति वाच्यम्। स्ववाच्यवाच्येषु हि प्रत्याहाराणां लक्षणा। न चांत्राच्छब्दवाच्याकारादिवाच्यता दीर्घप्लुतानामस्ति। अणुदित्सूत्रस्येदानीमप्रवृत्तेरिति भावः। परिहरति—तथापीति। वार्णसमाम्नायिकानामेव

का बोध कराते हैं—ऐसा अर्थ अभिव्यक्त करते हैं। प्रकृत सूत्र में 'सवर्णों वर्ण' संज्ञी हैं। 'अण्' प्रत्याहार-बोध्य वर्ण तथा 'उदित्' (उकार इत्संज्ञक)-बोध्य वर्ण संज्ञायें हैं। इस तरह यहाँ संज्ञायें अनेक हैं तथा प्रत्येक संज्ञा के संज्ञी सवर्णसंज्ञायुक्त वर्ण हैं। इस सूत्र में 'अण्' प्रत्याहार माहेश्वर-सूत्र 'ण्' के णकार तक लिये जाने के कारण अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ औ, ह, य, व, र, ल—वर्णों का बोधक होता है। कवर्ग=कु, चवर्ग=चु, टवर्ग=टु, तवर्ग=तु, पवर्ग=पु—ये उकार-इत्संज्ञक हैं। अतः इन वर्णों के वर्ण परस्पर सवर्णी होते हैं। स्पष्ट ज्ञान के लिये वर्णों के प्रकार बतलाये जा रहे हैं—अ=१८, इ=१८, उ=१८, ऋ=३० [ऋ-ऌ सवर्ण संज्ञा होने के कारण (ऋ=१८+ऌ=१२)] ए=१२, ओ=१२, ऐ=१२, औ=१२ (प्रत्येक के दीर्घ और प्लुत होने के कारण)। इनका विवरण पृ० ३६ पर चक्र में विद्यमान है। ए, ऐ, तथा ओ, औ के सवर्ण न होने के विषय में पहले बतलाया जा चुका है। अतः ये परस्पर २४ प्रकार के नहीं होते। हकार के साथ आकार की सवर्णसंज्ञा नहीं होती। इस सम्बन्ध में "नाज्झलौ" सूत्र की व्याख्या देखें।

ग्रहणकशास्त्र के प्रभाव से य, व, ल—ये तीनों वर्ण सानुनासिक और निरनुनासिक रूप में ग्राह्य हैं। इस कारण निरनुनासिक (साधारण) य्, व्, ल् के कहने से उनके अनुनासिक और निरनुनासिक दोनों प्रकार के भेदों का बोध होगा। जैसे—य्, यँ्, व्, वँ्, ल्, लँ्। अवशिष्ट दो वर्ण 'ह्' 'र्'—अनुनासिक नहीं हैं।[1]

---

१. "अमोऽनुनासिका न हौ"—(पा० शि० ५९)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वयोर्द्वयोः सञ्ज्ञा। (१५) तपरस्तत्कालस्य १।१।७० ॥ तः परो यस्मात्स च तात्पर-श्चोच्चार्यमाणः समकालस्यैव सञ्ज्ञा स्यात्। तेन 'अत्' 'इत्' 'उत्' इत्यादयः षण्णां संज्ञा।

नाज्झलाविति निषेध इत्यभ्युपगमेऽपि हकारस्य आकारो न सवर्ण इत्यर्थः। कुत इत्यत आह—तत्रापीति। अपि शब्दो व्युत्क्रमः। तत्र नाज्झलाविति सूत्रे आ-सहितः अच् आच् इत्याकारस्यापि सवर्णदीर्घेण श्लिष्टत्वादित्यर्थः। नन्वस्तु हकारस्य आकारस्य च सावर्ण्यम्, किं तत्प्रतिषेधार्थेन आकारश्लेषेणेत्यत आह—तेनेति। तेन हकारस्य आकारस्य च सादर्ण्य-प्रतिषेधेन हकारेण आकारस्य ग्रहणाभावात् विश्वपाभिरित्यत्र 'हो ढः' इति हकारस्य विधीयमानं ढत्वं पकाराकारस्य न भवति। आकारश्लेषाभावे तु तस्य हकारस्य च सावर्ण्यसत्त्वात् हकारेण आकारस्य च ग्रहणात् तस्य ढत्वं स्यादित्यर्थः। अत्र ढत्वस्या-सिद्धत्वात् संयोगान्तलोप एवापादनीय इति नवीनाः। 'कालसमयवेलासु तुमुन्' इति सूत्रे वेलास्विति लकारादाकारस्य निर्देशो नाज्झलावित्यत्र आकारश्लेषे प्रमाणम्। अन्यथा तत्र ढत्वस्य संयोगान्तलोपस्य वा आपत्तौ आकारो न श्रूयेतेत्यलम्। ननु ग्रहणक-सूत्रे अज्ग्रहणमेव क्रियताम्। अणुदित्सवर्णस्येति किमण्ग्रहणेन ह्यवरलानां सवर्णभावेन तेषु ग्रहणकशास्त्रस्य व्यर्थत्वादित्यत आह—अनुनासिकेति। तेनेति। उक्तद्वैविध्येन सवर्ण-त्वात् अननुनासिकास्ते यवलाः प्रत्येकं द्वयोर्द्वयोः सञ्ज्ञाः। अनुनासिकास्तु यवलाः अननुनासिकानामपि न सञ्ज्ञाः, 'भेदका गुणा' इत्याश्रयणात् वर्णसमाम्नाये अननु-नासिकानामेव तेषां पाठाच्च। एवं च यवलसङ्ग्रहार्थं ग्रहणकसूत्रे अज्ग्रहणमपहाय अण्ग्रहणमिति भावः।

(१५) ग्रहणकसूत्रे अण्-सवर्णानां ग्राहक इति स्थितम्। एवं सति अत् इत् उत् इत्यादितपराणामप्यणां स्वस्वसर्वसवर्णग्राहकत्वे प्राप्ते इदमारभ्यते—तपरस्तत्कालस्य। तपर इत्यावर्तते। प्रथमस्तावत्तपरशब्दः तः परः यस्मादिति बहुव्रीहिः। द्वितीयस्तु तात् पर इति पञ्चमीसमासः। ग्रहणकसूत्रादणित्यनुवर्तते। तस्य तपरत्वेन उच्चार्यमाणवर्णस्य काल

विशेष—(१) प्रकृत सूत्र में 'अण्' प्रत्याहार के पर-णकार ('लण्' सूत्र) तक ग्रहण करने में प्रमाण "उपसर्गादृति धातौ" (६-१-९१) सूत्र में पाणिनि द्वारा 'ऋत्'-पद का तकारसहित उच्चारण करना है। इस सूत्र में यदि पूर्व-णकार तक 'अण्' प्रत्याहार लिया जाता तो केवल अ, इ, उ वर्ण ही लिये जाते। 'ऋ' वर्ण इसके अन्तर्गत न आने से दीर्घ आदि का बोधक नहीं होता। अतः दीर्घादि के निवारणार्थ पाणिनि द्वारा उच्चरित 'त्' व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि "अणु-दित्०" सूत्र में 'अण्' प्रत्याहार 'लण्' सूत्र के 'ण्' तक लिया जाता है।

(२) सूत्र में 'अप्रत्यय' पद होने के कारण प्रत्ययावयव अ, इ, उ आदि वर्ण सवर्णों के ग्राहक नहीं होते। अतः "इदम इश्" (५-३-३) से विधीयमान 'इश्' आदेश में केवल ह्रस्व इकार का ग्रहण होता है। इसी प्रकार "त्यदादीनामः" (७-२-१०२) से विधीयमान 'अ' भी ह्रस्व ही लिया जाता है।

(१५) पद—तपरः, तत्कालस्य। अनुवृत्ति—सवर्णस्य, स्वं रूपम्। संज्ञा-परिभाषासूत्र।

मूलार्थ—'त्' के पूर्व तथा अनन्तर रहने वाला (स्वर)-वर्ण समान काल का ही बोधक होता है। इस कारण 'अत्' 'इत्' 'उत्' आदि केवल छह (प्रकार) के ही बोधक होते हैं। 'ऋत्' से तात्पर्य बारह प्रकार का है।

सन्दर्भ—ग्रहणक-शास्त्र का निरूपण करने के बाद उसके संकोच का स्वरूप बतलाया जा रहा है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इव कालो यस्येति बहुव्रीहिः। ऊकालः उष्ट्रमुख इत्यादिवत् समासः। एवं च 'अत्' 'इत्' इत्याद्यात्मकः अण् तपरत्वेन उच्चार्यमाणः स्वीयकालसदृशकालस्य सञ्ज्ञा स्यादित्यर्थः। तत्र अत् इत् उत् ऋत् इत्येतेषां तपराणां ह्रस्वाकारादीनामणां तत्तत्कालाः तत्तद्ह्रस्व-प्रपञ्चाः। एत्, ऐत्, ओत्, औत् इत्येतेषां तु तपराणामेकारादीनां तत्तत्कालाः तत्तद्दीर्घ-प्रपञ्चाः। तत्र ह्रस्वाकारादीनां तपराणां तत्तद्ह्रस्वप्रपञ्चवाचकत्वस्य एकारादीनां च दीर्घाणां तपराणां स्वस्वदीर्घप्रपञ्चवाचकत्वस्य लोकसिद्धत्वात् 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' इति न्यायेन सूत्रमिदं नियमार्थं सम्पद्यते। अण् तपरश्चेत् तत्कालस्यैव सवर्णस्य ग्राहकः, न त्वतत्कालस्येति। एवं च अतत्कालनिवृत्त्यात्मकपरिसङ्ख्यार्थमिदं सूत्रम्। वैयाकरणास्तु परिसङ्ख्याविधिमेव नियमविधिरिति व्यवहरन्ति। तदिदं सर्वमभिप्रेत्य व्याचष्टे— तः परो यस्मादित्यादिना। नियमविधानस्य फलमाह—तेनेत्यादिना। तेन नियमविधानेन। आदिना लृत् इत्यादिसंग्रहः। अत्, इत्, उत्, ऋत्, लृत्, एत्, ओत्, औत् इत्येते अष्टौ तपराः अणः स्वस्वसमानकालानां षण्णां षण्णामेव संज्ञाः, न त्वतत्कालानामित्यर्थः। ऋदिति द्वादशानामिति। ऋलृवर्णयोरिति सावर्ण्यविधानादिति भावः। नन्वेवम् लृदित्यपि द्वादशानां ग्रहणं स्यात्। तथा च 'पुषादिद्युताद्यृलृदितः' इत्यादिविधयः ऋदित्स्वपि प्रवर्तेरन्निति चेन्न, ऋदित्यनेन लृप्रपञ्चस्य ग्रहणेऽपि केचित् लृदिद्ग्रहणबलेन लृ इत्यनेन ऋप्रपञ्चस्य ग्रहणाभावात्। अन्यथा 'ऋतो ङि' इत्यादौ क्वचित् ऋद्ग्रहणस्य पुषादि-द्युताद्यृलृदित इत्यादौ क्वचित् लृदिद्ग्रहणस्य च वैयर्थ्यापत्तेः, प्रथमातिक्रमणे कारणाभावेन

विवरण—प्रकृत सूत्र के 'तपरः' शब्द में दो प्रकार से विग्रह सम्भव है—(१) तः परः यस्मात् सः = तपरः (बहुव्रीहि), (२) तात् परः = तपरः (पञ्चमी तत्पुरुष)। पूर्व दो सूत्रों से 'सवर्णस्य' तथा 'स्वं रूपम्' शब्द की अनुवृत्ति आती है। 'तत्काल' पद भी विशिष्ट अर्थ का बोधक है। उसका भी विग्रह इस प्रकार है—तस्य कालः = तत्कालः (षष्ठी तत्पुरुष)। तत्कालः इव कालो यस्य सः = तत्कालः (उत्तरपदलोपी बहुव्रीहि)। तदनुसार इन सब पदों को समाविष्ट कर यह अर्थ होता है कि तकार है पर जिससे अथवा तकार से परे जो (स्वर) वर्ण, वह उच्चार्यमाण समान काल (मात्रा) का ही बोधक होता है। अर्थात ह्रस्व के साथ 'त्' हो तो केवल छह प्रकार के ह्रस्व एवं दीर्घ के साथ 'त्' हो तो केवल छह प्रकार के दीर्घ तथा प्लुत के साथ 'त्' हो तो केवल छह प्रकार के प्लुत का ही बोधक होगा। अतः अपने उच्चारण-काल वाले तपर चाहे भिन्न गुण वाला (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक, निरनुनासिक) हो तो भी वह उन सवर्णियों का ग्रहण करा देगा, किन्तु भिन्न उच्चारण-काल वाले सवर्णों का नहीं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि 'तपर'-शब्दवाच्य अपने स्वरूप तक ही सीमित रह जाते हैं। उदाहरण—"अदेङ् गुणः" (१-१-२) में 'अत्'=पद में उच्चार्यमाण अकार केवल ह्रस्व-अकार का (एकमात्रिक) बोधक होगा, क्योंकि यहाँ 'अ' के बाद तकार है (तः परो यस्मात्)। इसी प्रकार 'एङ्' = ए तथा ओ केवल द्विमात्रिक एकार और ओकार के बोधक होंगे, क्योंकि सूत्र में 'एङ्' पद तकार के (पश्चात्) पर है (तात् परः = तपरः)। इसी तरह "इदितो नुम् धातोः" (७-१-५८) में 'इत्' पद ह्रस्व इकार (छहों प्रकार) का, "उदितो वा" (७-३-५६) में 'उत्' – ह्रस्व उकार (छहों प्रकार) का बोधक होगा। किन्तु "ऋद्धनोः स्ये" (७-२-७०) में 'ऋत्' पद से अभिप्रेत ऋ-वर्ण अपने ह्रस्व सवर्णी लृकार का भी ग्रहण करने से (६+६) बारह प्रकार का बोधक होगा।

विशेष—ग्रहणकशास्त्र के अन्तर्गत समकाल का बोधक होने से संज्ञासूत्रों में इसका क्रम रखा गया है। इसपर भी यह ग्रहणकशास्त्र में संकोच करता है, अतः परिभाषा-सूत्रों में भी इसका

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ऋत्' इति द्वादशानाम्। (१६) वृद्धिरादैच् १।१।१॥ आदेच्च वृद्धिसञ्ज्ञः स्यात्।

सर्वत्र ऋदिद्ग्रहणस्यैव कर्तुं शक्यत्वात्। इदमेवाभिप्रेत्य ग्रहणकसूत्रे ऋदिति द्वादशानामित्येवोक्तम्, न तु ऌदपीति। अत्र च तः परो यस्मादिति बहुव्रीहेः अत्, इत्, उत् इत्याद्युदाहरणम्। तात्पर इति पञ्चमीसमासस्य तु वृद्धिरादैजित्यकार उदाहरणम्। आत् ईत् ऊत् इत्यादि तु न तपरसूत्रस्योदाहरणम्। आकारादिषु हि तपरसूत्रमपूर्वविधानार्थम्, उत नियमार्थम्? नाद्यः, तपरसूत्रे ग्रहणकसूत्रादणित्यनुवृत्तेः। तत्र अणित्यस्य उक्तरीत्या वर्णसमाम्नायपठितवर्णमात्रपरत्वात्। तपरसूत्रे अण्ग्रहणानुवृत्त्यभावेऽपि जातिपक्षे आकारादिभिः दीर्घैः स्वस्वसमानकालिकप्रपञ्चस्य वाच्यतया लोकत एव सिद्धत्वेन तेषु तपरसूत्रप्रवृत्तेर्व्यर्थत्वात्। न द्वितीयः। उक्तरीत्या ग्रहणकसूत्रस्य वार्णसमाम्नायिकवर्णमात्रविषयतया आकारादिषु तस्य प्रवृत्त्यसम्भवेन तपरसूत्रस्य तेष्वतत्कालव्यावृत्तिफलकतन्नियमनार्थत्वानुपपत्तेः, सिद्धे सत्यारम्भस्यैव नियमार्थत्वात्। एवं च आत्, ईत् इत्यादि तपरकरणमसन्देहार्थमेवेत्यास्तां तावत्। तदेवं वृत्तः प्रत्याहारप्रपञ्चश्च।

(१६) इदानीं संज्ञान्तराणि विधास्यन् वृद्धिसंज्ञां तावदाह—वृद्धिरादैच्। यद्यपि

आकलन होता है। इसके अतिरिक्त इसे विधि अथवा नियमसूत्र भी माना गया है।[1] विधिसूत्र के विषय में काशिकाकार ने यह युक्ति दी है कि पूर्व सूत्र (१-१-६९) से यहाँ 'अण्' की अनुवृत्ति नहीं आती। अच् तथा अन्य तपरों का यही ग्रहणक-शास्त्र है।[2] "अतो भिस ऐस्" (७-१-९) इत्यादि स्थलों में "अणुदित०" सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि ये इसके उदाहरण हैं। नियमसूत्र के सम्बन्ध में भाष्यकार का गुणों के कारण भेद उत्पन्न नहीं होता—यह कथन—(अभेदका गुणाः) प्रमाण माना जाता है। "वृद्धिरादैच्" सूत्र में गुणों के बारे में दोनों पक्षों (भेदक और अभेदक) पर विचार करते हुए भाष्यकार ने अभेदक-पक्ष सिद्धान्तरूप में स्वीकार किया है। इस विषय में पाणिनि के 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' (७-१-७५) सूत्र का 'उदात्त' पद प्रमाण है। इससे यह सूचित होता है कि गुणों से अचों में भेद नहीं माना जाता। यदि गुण भेद उत्पन्न करते तो 'उदात्तः' शब्द का उच्चारण न कर ('अनङ् उदात्त होता है' कहने के बदले) 'अनङ्' सम्बन्धी अकार उदात्तस्वर से युक्त ही उच्चरित करते।[3] अतः "वृद्धिरादैच्" सूत्र के 'आत्' पद के स्थान में केवल 'आ' कहने पर भी सब प्रकार के आकार का ग्रहण हो जाने से उसके लिये तकार का उच्चारण करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती; तथापि आगे के 'ऐच्' पद में तपर करने का नियामक प्रभाव होने से 'खट्वा+ओदनः' इत्यादि उदाहरणों में दो स्थानियों को (आ+ओ) मिलाने पर चार-मात्रायुक्त आदेश "औ" नहीं होता।[4]

(१६) पद—वृद्धिः, आदैच्। संज्ञासूत्र।

---

१. इदं च सूत्रं विध्यर्थं नियमार्थं चेति पक्षद्वयमाकरसिद्धम्। व्या० सि० सु० पृ० ५२१।

२. विध्यर्थमिदम्। अणिति नानुवर्तते। अणामन्येषां च तपराणाम् इदमेव ग्रहणकशास्त्रम्। "अतो भिस ऐस्" (७-१-९) इत्येवमादिषु पूर्वग्रहणकशास्त्रं न प्रवर्तत एव। अतपरा अणस्तस्यावकाशः। प्रकृतसूत्रे काशिका।

३. अभेदका गुणा इत्येव न्याय्यम्। कुत एतत्। यदयमस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः इत्युदात्तग्रहणं करोति। यदि भेदका गुणाः स्युरुदात्तमेवोच्चारयेत्।—"वृद्धिरादैच्" (१-१-१) सूत्रे भाष्यम्।

४. अथ क्रियमाणेऽपि तकारे कस्मादेव त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्र-चतुर्मात्रा आदेशा न भवन्ति? तपस्तत्कालस्येति नियमात्। महाभाष्यम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१७) अदेङ्गुणः १।१।२॥ अदेङ् च गुणसञ्ज्ञः स्यात्। **(१८) भूवादयो धातवः**

पाणिनीयाष्टाध्याय्यामिदमादिमं सूत्रम्, तथापि नेदमादावुपन्यस्तम्, अस्य सूत्रस्य तपरकरणेन प्रत्याहारगर्भितत्वेन ग्रहणकशास्त्रनियमार्थतपरसूत्रप्रत्याहारसूत्रप्रवृत्युत्तर-प्रवृत्तिकतया प्रत्याहारशास्त्रग्रहणकशास्त्रप्रपञ्चनिरूपणात् प्रागुपन्यासानर्हत्वात्। न च सूत्रकृता अयमेव पाठक्रमः कुतो नाद्रियत इति वाच्यम्। स्वतन्त्रेच्छस्य महर्षेर्नियन्तु-मशक्यत्वात्। आच्च ऐच्चेति समाहारद्वन्द्वः। 'द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्' इति समासान्तस्तु न, अत एव निर्देशेन समासान्तविधेरनित्यत्वात्। 'चोः कुः' इति पदान्ते विहितं कुत्वमपि न, 'अयस्मयादीनि छन्दसि' इति भत्वात्। 'वृद्धिरादैजदेङ्' इति संहितापाठपक्षे चकारस्य 'झलां जशोऽन्ते' इति पदान्ते विहितं जश्त्वं तु भवत्येव, 'उभयसंज्ञान्यपि छन्दसि दृश्यन्ते' इति वचनात् 'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति' इति छान्दसविधीनां सूत्रेष्वपि प्रवृत्तेः। न चैवमपि पदत्वात् कुत्वं भत्वात् जश्त्वाभावश्च कुतो न स्यादिति वाच्यम्, 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' इति वचनादित्यलम्। आच्च ऐच्चेतीतरेतरयोगद्वन्द्वो वा। तथा सति सौत्रमेकवचनम्। आचार्यपारम्पर्योपदेशसिद्धसंज्ञाधिकारात् संज्ञेति लभ्यते। तदेतदाह आदैच्चेत्यादिना।

(१७) अदेङ् गुणः। संज्ञाप्रस्तावात् संज्ञेति लभ्यते, अच्च एङ् चेति समाहारद्वन्द्वः। तदाह—अदेङ् चेत्यादिना।

मूलार्थ—'आत्' (दीर्घ आकार) और 'ऐच्' (ऐ, औ) —ये वृद्धिसंज्ञक हैं।

सन्दर्भ—शब्दरचना में वर्णोच्चारण-सम्बन्धी विशेषताओं के स्वरूप का निर्वचन कर अष्टाध्यायी के प्रथम-सूत्र में वर्णित संज्ञा तथा अन्य संज्ञाओं के विषय में बतलाया जा रहा है।

विवरण—सूत्र में दो पद हैं। तदनुसार 'वृद्धि' सज्ञा है, 'आदैच्' संज्ञी। 'आत्' का तपर-करण (त) दोनों तरफ के वर्णों को प्रभावित करता है। अतः दीर्घ-आकार तथा द्विमात्रिक ऐ एवं द्विमात्रिक औ वृद्धिसंज्ञक होते हैं। 'आदैच्' पद समष्टि का बोधक है—आत्-च, ऐत्-च = आदैच्। (समाहारद्वन्द्व समास)। समासान्त-विधि अनित्य होने के कारण 'टच्' प्रत्यय की आशंका नहीं करनी चाहिये।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'आदैच्' पद संज्ञी होने से उद्देश्य है तथा 'वृद्धि' पद संज्ञा होने के कारण विधेय है। उद्देश्य का कथन प्रथम अपेक्षित है, जैसा कि "अदेङ् गुणः" (१-१-२) आदि में किया गया है। इस नियम की उपेक्षा इसलिये की गई है कि "वृद्धि"-शब्द यहाँ मङ्गलार्थक है, अतः उसका प्रयोग सर्वप्रथम किया गया है।

शङ्का-समाधान—"अयस्मयादीनि छन्दसि" (२-४-२०) से दोनों संज्ञाओं के (भ तथा पद) होने से यहाँ पदसंज्ञा का बाध होने के कारण "वृद्धिरादैच्" में अन्त्यवर्ण 'च्' को 'क्' (कुत्व) नहीं होता। इसी कारण दोनों सूत्रों को मिलाने पर "वृद्धिरादैजदेङ्गुणः" में भ-संज्ञा का बाध होने से जश्त्व हो जाता है (च् = ज्)[1]।

(१७) पद—अदेङ्, गुणः। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—'अत्' (ह्रस्व अकार) तथा 'एङ्' (ए, ओ)—ये गुणसंज्ञक होते हैं।

विवरण—इस सूत्र में भी दो पद हैं। 'अदेङ्' संज्ञी तथा 'गुणः' संज्ञा। 'गुण' पद से अ, ए

---

१. कुत्वं कस्मान्न भवति, भत्वात्। कथं भसंज्ञा? "अयस्मयादीनि छन्दसि" (१-४-२०) इति। यदि भसंज्ञा वृद्धिरादैजदेङ्गुण इति जश्त्वमपि न प्राप्नोति। उभयसंज्ञान्यपि छन्दांसि दृश्यन्ते। —महाभाष्यम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१।३।१॥ क्रियावाचिनो भ्वादयो धातुसञ्ज्ञाः स्युः (१९) प्राग्रीश्वरान्निपाताः १।

(१८) भूवादयो धातवः। भूश्च वाश्च भूवौ। आदिश्च आदिश्च आदी। प्रथमः आदि-शब्दः प्रभृतिवचनः, द्वितीयस्तु प्रकारवचनः। भूवौ आदी येषां ते भूवादयः। भूप्रभृतयो वासदृशाश्च ये ते धातुसंज्ञका इत्यर्थः। वाधातुसादृश्यं च क्रियावाचकत्वेन। तदाह—क्रियावाचिन इत्यादिना। क्रियावाचिनः किम्। धातुपाठे या इत्यस्य पाठात् याः पश्यन्ती-त्यत्र टाबन्तयच्छब्दस्य धातुत्वं मा भूत्। धातुत्वे हि 'आतो धातोः' इत्याल्लोपः स्यात्। वस्तुतस्तु लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया टाबन्तयच्छब्दस्यात्र न ग्रहणप्रसक्तिः। क्रिया-वाचिन इति तु वाशब्दस्य विकल्पार्थस्य निपातस्य धातुत्वनिवृत्त्यर्थम्, धातुपाठे वा इत्यस्य पाठात्। 'वा—गतिगन्धनयोः' 'या—प्रापणे' इत्यर्थनिर्देशस्याधुनिकत्वात्। क्रिया-वाचिन इत्युक्तौ तु न दोषः। वार्थस्य विकल्पस्य वा भविष्यति इति वा अभवदित्येवं भूतभविष्यत्कालसम्बन्धाभावेन क्रियात्वाभावादिति शब्देन्दुशेखरे स्थितम्। भ्वादयः किम्? वर्जनक्रियावाचिनो हिरुक् इत्यस्य धातुत्वं मा भूत्।

(१९) प्राग्रीश्वरान्निपाताः। प्रथमस्य चतुर्थपादे 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' इत्यनन्तरमिदं सूत्रम्। रीश्वरशब्दः 'अधिरीश्वरे' इति सूत्रैकदेशस्य अनुकरणम्। अनुकरणत्वात् नाप-

---

तथा ओ वर्णों का बोध होता है। पूर्वसूत्र के समान 'अदेङ्' पद समष्टि का सूचक है। अत् च एङ् च = अदेङ्—समाहार द्वन्द्व। 'अत्' में तपरकरण की उपयोगिता पूर्ववर्ण 'अ' के ह्रस्व रूप में तथा 'ए' 'ओ' के द्विमात्रिक रूप में ग्रहण करने के लिये है।

(१८) पद—भूवादयः, धातवः। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—क्रियावाचक भू आदि की धातुसंज्ञा होती है।

विवरण—प्रकृत सूत्र में 'भू आदि क्रियावाची शब्दों की धातुसंज्ञा होती है'—कहने से धातुओं का परिगणन करने में कोई अनुपपत्ति नहीं थी। इस तरह सूत्र "भ्वादयो धातवः" होना चाहिये। बीच में 'वा' पद का निवेश मङ्गलार्थक मानकर सूत्र की शब्दयोजना ठीक बतलाई जाती है[1]। दूसरी रीति 'भूवादयः' पद में द्वन्द्वगर्भित बहुव्रीहि समास मानकर सूत्र का यह अर्थ किया जाता है—'भू' जिनके आदि में है तथा 'वा' (धातु) के समान जो क्रियावाची शब्द हैं, उनकी धातु संज्ञा होती हैं। तदनुसार विग्रह ऐसा है—भूश्च वाश्च भूवौ, आदिश्च आदिश्च आदी, भूवौ आदी येषां ते भूवादयः। यहाँ 'भू' के साथ सम्बद्ध 'आदि' शब्द व्यवस्था-(क्रम)-वाची है तथा 'वा' के साथ 'आदि' शब्द प्रकार-(सादृश्य)-वाची है।

निष्कर्ष—'वा' के सदृश (क्रियावाची) भू आदि शब्द धातुपाठ में परिगणित होने पर 'धातु' कहलाते हैं। अतः पृथ्वी का पर्यायवाचक 'भू' शब्द धातुसंज्ञक नहीं होता। वैसे ही विकल्पार्थक 'वा' शब्द भी धातुसंज्ञक नहीं होता, क्योंकि वह 'वा-प्रकारक' (क्रियावाची) नहीं है। वह विकल्पार्थक निपात है। 'धातु' महासंज्ञा है—'दधति क्रियाम् इति धातवः' √धा+तुन् ('सितविगमिमसिसच्य-विधाञ्कुशिभ्यस्तुन्'—उणादि १-७२)। अतः स्वानुरूप भू—वा आदि संज्ञी के आक्षेप से अक्रि-यार्थक-शब्दों को धातुसंज्ञा नहीं होती।

(१९) पद—प्राक्, रीश्वरात्, निपाताः। संज्ञा-अधिकार।

सन्दर्भ—विविध संज्ञाओं के अन्तर्गत निपात (अव्यय) संज्ञा की अवधि बतलायी जा रही है।

मूलार्थ—यह अधिकार-सूत्र है।

---

१. भूवादीनां वकरोऽयं मङ्गलार्थः प्रयुज्यते।
भुवो वार्थं वदन्तीति भ्वर्था वा वादयः स्मृताः॥—काशिका।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४।५६। इत्यधिकृत्य। (२०) **चादयोऽसत्त्वे १।४।५७॥** अद्रव्यार्थाश्चादयो निपात-

---

शब्दः। अत एव प्रत्यक्षोपजीव्यत्वादिति चिन्तामणिवाक्यस्य प्रत्यक्षमितीति प्रतीकग्रहणं तद्व्याख्याने दृश्यते। इतः प्रभृतिः 'अधिरीश्वर' इति एतत्पादीयोपरितनसूत्रे रीश्वरशब्दात् प्राक् निपातसंज्ञकाः प्रत्येतव्या इत्यर्थः। निपातपदमनुवर्तत इति यावत्। रेफविशिष्टग्रहणं किम्। 'ईश्वरे तोसुन्कसुनौ' इति तृतीयाध्यायस्थस्यावधित्वं मा भूत। यदि तु प्रथमातिक्रमेण कारणाभावात् अधिरीश्वर इत्यस्यैवावधित्वम्, तदा सरेफग्रहणं स्पष्टार्थम्।

(२०) चादयोऽसत्त्वे। चः आदिः येषां ते चादयः गणपाठसिद्धाः। 'निपाता' इत्यधिकृतम्। सत्त्वशब्देन 'द्रव्यमुच्यते'। 'द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वम्' इत्यमरः। लिङ्गसङ्ख्याकारकान्वितं द्रव्यम्। चाद्यर्थाः समुच्चयादयः यदा चादिभिर्गम्यन्ते तदा लिङ्गाद्यन्विता न भवन्ति। यदा समुच्चयादिशब्दगम्याः, तदा लिङ्गाद्यन्विताः, शब्दस्वाभाव्यात्। न सत्त्वम् असत्त्वम् अद्रव्यं, तत्र वाचकतया विद्यमानाश्चादयः निपातसंज्ञकाः स्युरित्यर्थः।

विवरण—"अधिरीश्वरे" (१-४-९७) सूत्र के पहले (पर्यन्त) निपात-संज्ञक शब्द जाने जायँ। 'निपात' संज्ञा है, 'रीश्वरात् प्राक्'—संज्ञी। संज्ञी का स्वरूप आगे के सूत्रों से जाना जाता है। 'रीश्वरात्'-पञ्चमी विभक्ति 'ल्यप्' प्रत्यय के लोप को मानकर हुई है। उसके अनुसार 'रीश्वर' शब्द को अभिव्याप्त कर निपात-संज्ञा का अधिकार माना गया है। इसके फलस्वरूप च, वा, ह आदि की "चादयोऽसत्त्वे" (१-४-५७) निपात-संज्ञा होकर "स्वरादिनिपातमव्ययम्" (१-१-३६) से अव्यय-संज्ञा होती है। तत्पश्चात् "अव्ययादाप् सुपः" (२-४-८२) से विभक्ति का लोप हो जाता है। निपात-संज्ञा का यह फल है।

शङ्का-समाधान—सूत्र में 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग न कर 'रीश्वर' (रेफ सहित ईश्वर) का प्रयोग इस कारण किया है कि इस अधिकार की अवधि "ईश्वरे तोसुन्-कसुनौ" (३-४-१३) तक न समझी जाय। "अधिरीश्वरे" में 'रीश्वर' की प्रतीक को लेकर अधिकार की व्याप्ति सीमित कर दी गई है। यदि समीपस्थित 'ईश्वर' शब्द तक अधिकार की सीमा स्वाभाविक मानी जाय तो 'रीश्वर' शब्द का प्रयोग स्पष्ट प्रतीति के लिये समझा जाय[1]।

विशेष—निपात संज्ञा का अधिकार ४१ सूत्रों तक है। अतः पहले निपातसंज्ञा होने के पश्चात् अव्ययादि अन्य संज्ञाओं के होने में कोई बाधा नहीं होती। सूत्र में 'प्राक्' पद की आवृत्ति अथवा तन्त्र द्वारा दो बार अन्वय करने से दोनों लाभ होते हैं। "अधिरीश्वरे" सूत्र में 'रीश्वर' पद से 'प्राक्' पहले 'प्राक्-निपाताः'—यह अधिकार है। इस तरह उसका प्रभाव होने से प्रथम निपात संज्ञा होने के पश्चात् गति-उपसर्ग आदि संज्ञाओं का भी समावेश होता है[2]।

(२०) **पद**—चादयः, असत्त्वे। **अनुवृत्ति**—निपाताः। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—द्रव्यवाची से भिन्न अर्थ में 'च' आदि शब्दों की निपात संज्ञा होती है।

विवरण—पूर्व सूत्र से 'निपात' का अधिकार होने के कारण 'संज्ञा' का लाभ होता है। सूत्र में

---

१. वस्तुतो व्याप्तिमपेक्ष्य प्रत्यासत्तिर्लघीयसी। कपिञ्जलाधिकरणे लाघवस्यैव न्यायबीजत्वात्। तस्मादीश्वरपदमात्रोपादानेऽपि न दोषः। व्या० सि० सु० पृ० ८६८।

२. प्रागिति तन्त्रावृत्त्यन्यतरेण द्विरन्वेति। "अधिरीश्वरे" इत्यत्र रीश्वरात् प्राक् "प्राङ् निपाता" इत्यधिकारः। तस्य ह्यवधित्वे पूर्वं निपातसंज्ञाः सन्तः पश्चाद् गत्युपसर्गसंज्ञाः—इति संज्ञासमावेशसिद्धिः। अन्यथा पर्यायः स्यात्। तन्त्रादौ ज्ञापकं तु प्राग्-ग्रहणमेव। व्या. सि. सु. पृ० ८६७।

तन्त्रं नाम सकृत्कृतस्य उभयोपकारकत्वम्। यथा उभयोः प्रधानभूतयोर्मध्ये संस्थापितः प्रदीपः सकृत्कृतः उभयोपकारको भवति। आवृत्तिश्च पुनः पुनः पाठः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सञ्ज्ञाः स्युः । (२१) **प्रादयः** १।४।५८ ॥ अद्रव्यार्थाः प्रादयस्तथा । (२२) **उपसर्गाः क्रियायोगे** १।४।५९ ॥ (२३) **गतिश्च** १ । ४ । ६० ॥ प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसञ्ज्ञा गतिसंज्ञाश्च स्युः । प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि,

---

तदाह—अद्रव्यार्था इति । असत्त्वे किम्—छागः पशुः । चादौ पठितस्यापि पशुशब्दस्य अत्र द्रव्यवाचित्वान्न निपातत्वम् । इह तु स्यादेव पुष्टं पशु मन्यते । इह पशु इति सम्यगर्थे ।

(२१) प्रादयः । असत्त्व इत्यनुवर्तते, निपाता इति च । तदाह—अद्रव्येति । तथेति । निपातसंज्ञका इत्यर्थः । (२२) उपसर्गाः । (२३) गतिश्च । सूत्रद्वयमिदं व्याख्यासौकर्यात् सहोपात्तम् । प्रादय इत्यनुवर्तते । गतिरिति बहुत्वे एकवचनमार्षम् । तदाह—प्रादय इत्यादिना । क्रियायोग इति । क्रियया अन्वये सतीत्यर्थः । निपाता इत्यप्यत्रानुवर्तते, प्राग्रीश्वरात्तदधिकारात् । ततश्च प्रादयो निपातसंज्ञका एव सन्तो गत्युपसर्गसंज्ञका भवन्ति ।

'चादयः' (च, वा, ह आदि शब्द')—संज्ञी के रूप में निर्दिष्ट हैं । 'सत्त्व' (द्रव्य) शब्द 'पदार्थ' का पर्यायवाची है, जिसमें लिङ्ग और संख्या का अन्वय होता है[1] । अद्रव्य से तात्पर्य लिङ्ग एवं संख्या की प्रतीति का न होना है । ऐसे शब्द किसी पदार्थ (वस्तु) का बोध नहीं कराते । इस प्रकार (न सत्त्वम् असत्त्वम्, तस्मिन्–नञ् तत्पुरुष) किसी पदार्थ का बोध न कराने वाले चादि-गण में पढ़े (च आदिः येषां ते चादयः—बहुव्रीहि) शब्द निपातसंज्ञक होते हैं । चादि-गण में ७२ शब्द अव्ययों के अन्तर्गत हैं ।

विशेष—सूत्र में 'असत्त्व' पद चादि का विशेषण होने से द्रव्यवाची चादि शब्दों को निपात-संज्ञा नहीं होती । तदनुसार **'स्तोकेन** विषेण हतः' में 'स्तोक' शब्द विष का विशेषण होने से पदार्थ को सूचित करने के कारण निपात-संज्ञक नहीं हुआ, अतः तृतीया-विभक्ति का प्रयोग किया गया । 'लोष्टं नयन्ति पशु मन्यमानाः' में 'पशु' शब्द 'सम्यक्'–अर्थ में प्रयुक्त होने से अद्रव्यार्थक है । जिसके फलस्वरूप निपातसंज्ञक होने से अव्यय के समान उसका निरवभक्तिक प्रयोग किया गया है ।

(२१) पद—प्रादयः । **अनुवृत्ति**—असत्त्वे, निपाताः । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—द्रव्य भिन्न अर्थ में 'प्र'–आदि शब्द निपातसंज्ञक होते हैं ।

विवरण—'संज्ञा' का लाभ अधिकार (निपात) के फलस्वरूप होता है । 'संज्ञी'–प्रादयः (प्र आदिः येषां ते प्रादयः—बहुव्रीहि)—सूत्र के अन्तर्गत है । संज्ञी का विशेषण 'असत्त्वे' पद भी अनुवृत्ति होने के कारण द्रव्यभिन्न विशिष्ट अर्थ को सूचित करता है । तदनुसार द्रव्यभिन्नार्थक प्र, परा आदि २२ शब्दों की निपात-संज्ञा होती है ।

विशेष—(१) द्रव्यार्थक (पदार्थबोधक) परा आदि शब्द निपातसंज्ञक नहीं होंगे । अतः 'विः पक्षी', 'पराः (श्रेष्ठ) सेनाः' आदि प्रयोगों में 'वि' तथा 'परा' शब्द पदार्थ के बोधक होने के कारण निपात संज्ञक नहीं माने जाते । इस कारण यहाँ विभक्ति का प्रयोग करना समीचीन है । (२) "चादयोऽसत्त्वे" तथा "प्रादयः"—इन दोनों सूत्रों को पृथक् इसलिये किया गया है कि "उपसर्गाः क्रियायोगे" सूत्र में 'च'-आदि की अनुवृत्ति न हो ।[2]

२२. पद—उपसर्गाः, क्रियायोगे । **अनुवृत्ति**—प्रादयः । **संज्ञासूत्र** ।

२३. पद—गतिः, च । **अनुवृत्ति**—प्रादयः, क्रियायोगे । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—क्रिया के योग में 'प्र'–आदि शब्दों को उपसर्ग–संज्ञा तथा गति संज्ञा होती है । प्र,

---

१. सत्त्वमिति द्रव्यमुच्यते । लिङ्गसंख्यान्वितं द्रव्यम् ।

२. पृथग्योगकरणम् उत्तरसंज्ञाविशेषणार्थम् । 'उपसर्गाः क्रियायोगे" इति चादीनामुपसर्गसंज्ञा माभूत् । काशिका ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकडारादिति च बाध्यते। गत्युपसर्गसंज्ञयोस्तु गतिश्चेति चकारादेव समावेशः सिद्ध्यति। ततश्च प्रणेयमित्यादौ उपसर्गकार्यम् 'उपसर्गादसमासेऽपि' इत्यादि सिद्ध्यति। गतिकारकेत्यादि कार्यं च। निपातस्यानर्थकस्येत्यादि च। अथ प्रादीन् पठति--प्रपरेत्यादि। परा इत्याकारान्तम्। अथधातौ 'उपसर्गस्यायतौ' इति निर्दुरोर्लत्वम्-

---

परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अति, अपि, सु, उद्, अभि, प्रति, पर, उप—ये प्रादि हैं।

सन्दर्भ—निपात-संज्ञा के अन्तर्गत उपसर्ग तथा गति-संज्ञा का निरूपण किया जा रहा है।

विवरण—(पूर्वसूत्र से अनुवृत्त) 'प्र'–आदि शब्दों को क्रिया के योग में उपसर्ग तथा गति-संज्ञा—दोनों का विधान एकन्त्रात्मक किया जा रहा है। यहाँ क्रिया-योग पद से यह तात्पर्य है कि जिस धात्वर्थ क्रिया में जिस प्रादि शब्द के अर्थ का सम्बन्ध है उसी धातु के प्रति प्रादि की उपसर्गादि संज्ञायें होती हैं (क्रियायाः योगः=सम्बन्धः क्रियायोगः, तस्मिन्)। तदनुसार प्रवृद्धं कृतं—'प्रकृतम्' में 'प्र' शब्द का सम्बन्ध 'वृद्ध' के साथ होने से "गतिरनन्तरः" प्रकृति-स्वर नहीं हुआ, क्योंकि 'प्र' का योग 'कृत' (क्रियावाचक) से नहीं है। पाणिनि ने पृथक् दो सूत्रों की रचना की है। पूर्व-सूत्र १-४-५९ द्वारा उपसर्ग-संज्ञा का विधान तथा उत्तर-सूत्र १-४-६० द्वारा गति-संज्ञा का विधान किया है। दूसरे सूत्र में 'च' शब्द उपसर्ग-संज्ञा का समावेश करने के लिये है। इस तरह दो संज्ञाओं का निरूपण किया गया है। अन्यथा "आकडारादेका संज्ञा" (१-४-१) नियम से दोनों संज्ञाओं में से क्रमशः एक एक संज्ञा होती। एक साथ ही दोनों संज्ञाओं की प्रसक्ति होने से 'प्रणीतम्'—प्र+नीतम् में 'प्र' को 'उपसर्ग' तथा 'गति-'संज्ञक मान कर क्रमशः 'नीतं' के 'न' को "उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य" (८-४-१४) से 'ण' तथा "गतिरनन्तरः" (६-२-४९) से कृदन्त-उत्तरपद-प्रकृति-स्वर होने से 'प्र'–आद्युदात्त हुआ। इन दोनों सूत्रों को मिलाकर एक-सूत्र मानने से "ऊर्यादिच्वि-डाचश्च" (१-२-६१) सूत्र में 'उपसर्ग' तथा 'गतिसंज्ञा'–दोनों की अनुवृत्ति होने लगेगी। वहाँ केवल गति-संज्ञा की अनुवृत्ति के लिये योगविभाग किया गया है। इसके फलस्वरूप 'ऊरी स्यात्' में 'ऊरी' को उपसर्ग-संज्ञा न होने से "उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः" (८-३-८७) से 'अस्'-धातु सम्बन्धी 'स्' ('स्यात्') को मूर्धन्य षकार नहीं हुआ। "प्रादयः" "उपसर्गाः क्रियायोगे" को एक सूत्र मानने पर 'प्र' आदि के साथ क्रियायोग न रहने पर निपात संज्ञा नहीं होगी। इसके न होने पर "प्रगतः आचार्यः=प्राचार्यः" में 'प्र' शब्द को अभिलक्षित कर अव्ययपूर्वपद-प्रकृति-स्वर नहीं होगा। वस्तुतः वह सिद्धान्त में अभीष्ट है।

विशेष—१–प्रादि-'उपसर्ग' २२ हैं। उपसर्ग, निपात अथवा गतिसंज्ञक शब्द अव्यय होते हैं। इनके स्वतन्त्र अर्थ हैं तथा ये धातुओं और धातुज शब्दों के पूर्व लगते हैं। इन प्रचलित उपसर्गों के अर्थ इस प्रकार हैं—**प्र**—प्रकृष्ट, उत्कृष्ट, असीमित। **परा**—पृथक्, अनन्तर, विपरीत। **अप**—हटाना, हानि पहुँचाना, अलग होना। **सम्**—संयुक्त होना, पूर्णता, साथ आदि। **अनु**—पश्चात्, साथ, इत्यादि। **अव**[1]—दूर, नीचे, अपमान आदि। **निस्-निर्** निकलना, दूर हटना, बिना आदि। **दुस्-दुर्**—बुरा, कठिनाई, दुष्कर कर्म आदि। **वि**—विशेष, विरुद्ध, विपरीत, पृथक् आदि। **आङ्**—चारों तरफ, स्वल्प, तक आदि। **नि**—हटजाना, विपरीत, भीतर आदि। **अधि**—अधिक, ऊपर, बढ़कर आदि। **अति**—बहुत, बढ़कर, अतिक्रमण करना। **अपि**[2]—भी, समीप, ऊपर।

१–२. आचार्य भागुरि के मतानुसार 'अपि' तथा 'अव' के 'अ'–का विकल्प से लोप हो जाता है—"वष्टिभागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः"।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधि, अपि, अति, सु, उद्, अभि, प्रति, परि, उप—एते प्रादयः ।

निलयते दुलयते । निसो दुसश्च 'ससजुषो रुः' इति रुत्वस्यासिद्धत्वात् न लत्वम्—निरयते दुरयते । एतदर्थमेव निस्दुसोर्निर्दुरोश्च पृथक्पाठः ।

सु—श्रेष्ठ, पूर्णतया, बहुत अधिक । **उद्**—ऊपर आना, निकलना आदि । **अभि**—समीप, तरफ, (ओर), श्रेष्ठ आदि । **प्रति**—विपरीत, बदले में, ओर आदि । **परि**—चारों ओर, समीप । **उप**—समीप, पार्श्व, स्तुति, तुलना आदि ।

२–**निस्-निर्** तथा **दुस्-दुर्**—इन चारों को न पढ़कर केवल **निस्** तथा **दुस्**—दो ही पढ़ने चाहियें, क्योंकि 'स्' के स्थान पर 'र्' होने से कोई अन्तर नहीं रहता । पृथक् 'निर्' 'दुर्–पढ़ने का प्रयोजन 'निलयते' 'दुलयते' में र् = ल् का होना है—"उपसर्गस्यायतौ" (८-२-१९) । 'स्' को (८-२-६६) 'र्', निस् = निरयते, दुस् = दुरयते होने के पश्चात् 'र्' के असिद्ध होने के कारण 'ल्' की प्राप्ति नहीं है, अतः चारों को पृथक् पढ़ा गया है ।

३–**निपात और उपसर्ग** में भेद यह है कि निपात सिद्ध (कारक) और साध्य (क्रिया)—दोनों के—अर्थविशेष के द्योतक होते हैं, जब कि उपसर्ग केवल साध्य (क्रिया) के अर्थविशेष को द्योतित करते हैं । व्याकरण में निपात को वाचक इसलिये नहीं माना जाता है कि 'च' आदि का प्रयोग वाक्य के आरम्भ में नहीं किया जाता । उनके साथ षष्ठी आदि विभक्तियाँ भी नहीं लगतीं । लिंग और संख्या का योग भी उनके साथ नहीं होता[1] । पाद-पूरण में इनका प्रयोग होता है[2] । नाम और आख्यात से उपसर्ग और निपात इस दृष्टि से भिन्न हैं कि नाम और आख्यात साक्षात् वाचक हैं जब कि उपसर्ग और निपात साक्षात् अर्थवान् नहीं हैं । वे विशेष अर्थ के द्योतक-मात्र हैं ।[3] गार्ग्य ने उपसर्गों की वाचकता मानी है । उनके अनुसार उत्तर (उत्+तर) उत्तम (उत्+तम) आदि शब्दों में तर, तम प्रत्यय इस बात के साक्षी हैं, अन्यथा यह सम्भव नहीं हो सकता था । यास्क के अनुसार, शाकटायन उपसर्गों को नाम और आख्यात से भिन्न रूप में वाचक नहीं मानते थे । वैयाकरण-सम्प्रदाय में उपसर्ग द्योतकरूप में ही गृहीत हैं ।

४–**क्रिया और उपसर्ग** में भी बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है । उपसर्गसंज्ञा क्रिया से संयुक्त होने पर ही होती है ('उपसर्गाः क्रियायोगे') । लौकिक संस्कृत में ये धातु के पूर्व लगाये जाते हैं और वेद में बाद तथा शब्दों के बीच में भी ('छन्दसि परेऽपि', 'व्यवहिताश्च') लगते हैं । धातु के साथ उपसर्ग का संयोग होने पर अनेक प्रतिक्रियाएँ होती हैं । वे इस प्रकार हैं—(१) अर्थपरिवर्तन, जैसे—पतति, (गिरता है) उत्पतति (उड़ता है) (२) असन्देह जैसे—मनायते,—सुमनायते । (३) धात्वर्थ का अनुगामी होना । जैसे—सूते, प्रसूते । इनका प्रयोग केवल स्पष्टार्थक है ।[4] वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने भी उपसर्गों को द्योतक माना है न कि वाचक । धातुओं की अनेकार्थता मानते हुए आचार्यों ने उपसर्गों की द्योतकता स्वीकार की है । भर्तृहरि ने उपसर्गों की द्योतकता दो प्रकार के अनुमानों से सिद्ध की है—**सामान्यतो-दृष्ट** और **विशेषतो-दृष्ट** से । उदाहरणार्थ '**प्रपचति**' में 'प्र' शब्द आदि कर्म को द्योतित करते हैं, अतः सभी उपसर्ग द्योतक हैं ।

---

१. वैयाकरणगृहेषु प्राक्प्रयोग-स्वातन्त्र्यप्रयोगाभावात् षष्ठ्याद्यश्रवणाल्लिङ्गसंख्याविरहाच्च वाचक-वैलक्षण्येन द्योतक-निपाता इत्युद्घोष्यत एवेति । ध्वन्यालोक-लोचनटीका ।

२. क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत् ।
सत्त्वाभिधायकं नाम निपातः पादपूरणः ॥ निरुक्त–दुर्गाचार्यवृत्ति ।

३. निपाताश्चादयो ज्ञेया उपसर्गास्तु प्रादयः ।
द्योतकत्वात् क्रियायोगे लोकादवमता इमे ॥

४. धात्वर्थं बाधते कश्चित् कश्चित् तमनुवर्तते । तमेव विशिनष्ट्यन्य उपसर्गगतित्रिधा ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२४) न वेति विभाषा १ । १ । ४४ ॥ निषेधविकल्पयोर्विभाषासञ्ज्ञा स्यात् ।

(२४) न वेति विभाषा । 'मेध्यः पशुरनड्वान् विभाषितः' इत्यादियाज्ञिकप्रयोगे विभाषाशब्दः केवलविकल्पे दृष्टः । इह तु शास्त्रे निषेधो विकल्पश्चेति द्वयं मिलितं विभाषाशब्दार्थ इति बोधयितुमिदमारभ्यते । इति शब्दाभावे स्वं रूपं शब्दस्येति नवाशब्दयोः स्वरूपपरत्वान्नवाशब्दयोर्विभाषासंज्ञेत्यर्थः स्यात् । ततश्च 'विभाषा श्वेः' इत्यादौ नवाशब्दावादेशौ स्याताम् । इतिकरणे तु नायं दोषः । इति हि प्रत्येकं सम्बध्यते । ततश्च 'न' इति शब्देन योऽर्थो गम्यते निषेधः, 'वा' इति शब्देन योऽर्थो गम्यते विकल्पः, तदुभयस्य मिलितस्य विभाषा सञ्ज्ञा स्यादित्यर्थः फलति । एवं च नवाशब्दार्थयोरेव सञ्ज्ञित्वं लभ्यते, न तु नवाशब्दस्वरूपयोरिति नोक्तदोषः । तदाह—निषेधविकल्पयोरित्यादि । उभयत्र विभाषार्थमिदं सूत्रम् । तथाहि—प्राप्तविभाषा, अप्राप्तविभाषा, उभयत्र विभाषेति त्रिविधा । प्राप्तविभाषा यथा—'विभाषा जसि' इति वर्णाश्रमेतरे वर्णाश्रमेतरा इत्यत्र 'द्वन्द्वे च' इति नित्यतया सर्वनामसञ्ज्ञानिषेधे प्राप्ते विभाषेयम् । अप्राप्तविभाषा यथा—तीयस्य ङित्सु विभाषेति । द्वितीयस्मै द्वितीयायेत्यादौ तीयप्रत्ययस्य सर्वादिगणे पाठाभावात् अप्राप्तायां सर्वनामसञ्ज्ञायां विभाषेयम् । उभयत्र विभाषा यथा—विभाषा श्वेरिति श्वयतेर्लिटि यङि च सम्प्रसारणविभाषेयम् । तत्र लिटि शुशाव, शिश्वाय । शुशुवतुः, शिश्वियतुः, इत्याद्युदाहरणम् । यङि तु शोशूयते इति । अत्र यङंशे अप्राप्तविभाषैवेयम् । लिटि तु द्विवचनबहुवचनेष्वपित्सु 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति नित्यतया सम्प्रसारणं प्राप्तम् । पित्सु त्वेकवचनेषु सम्प्रसारणं न प्राप्तमेव । 'असंयोगाल्लिट् कित्' इति कित्त्वस्य अपित्स्वेव प्रवृत्तेः । एवं च प्राप्तेऽप्राप्ते च आरम्भात् 'विभाषा श्वेः' इत्युभयत्र विभाषेति

इसी प्रकार विशेषतोदृष्ट अनुमान से भी उपसर्गों की द्योतकता सिद्ध की है। जैसे 'प्र' शब्द के समानधर्मा सभी प्रादि हैं। 'प्र' में द्योतकत्व है, अतः सभी उपसर्ग द्योतक हैं।

(२४) पद—न, वा, इति, विभाषा । संज्ञासूत्र ।

मूलार्थ—निषेध और विकल्प की विभाषा संज्ञा होती है ।

विवरण—सूत्र में 'विभाषा' संज्ञा है और 'न' 'वा' संज्ञी । यहाँ संज्ञी 'न' तथा 'वा' शब्द का स्वरूप ग्राह्य नहीं हैं किन्तु इन दोनों शब्दों का अर्थ—'निषेध' 'तथा 'विकल्प' अपेक्षित है । इसका कारण 'न' 'वा' शब्दों के अनन्तर 'इति' शब्द की विद्यमानता है । अतः विभाषा-स्थलों में निषेध और विकल्प दोनों की उपस्थिति होती है । ऐसी परिस्थिति में पहले निषेध से विषय का सङ्कीर्णीकरण किये जाने पर पुनः विकल्प की प्रवृत्ति होती है । इस प्रकार 'विभाषा' शब्द का व्यवहार विकल्प के रूप में होता है और इसी अर्थ में वा, अन्यतरस्याम्, बहुलम् आदि शब्द भी हैं । विभाषा के तीन प्रकार हैं—प्राप्त-विभाषा, अप्राप्त-विभाषा और उभयत्र-विभाषा । 'विभाषा' संज्ञा का उपयोग 'प्राप्ताप्राप्तविभाषा' के लिये ही है । 'प्राप्तविभाषा' में उत्सर्गशास्त्र की एक बार निवृत्ति की जाती है अतः दूसरे पक्ष में उसकी प्रवृत्ति स्वतः हो जाने से इसकी उपयोगिता नहीं है । 'अप्राप्त-विभाषा' में भी एक बार कार्य की निवृत्ति होने पर दूसरे पक्ष में स्वतः उसकी प्रवृत्ति होने से विभाषा-संज्ञा का फल नहीं है । 'उभयत्र-विभाषा' के लिये इसका विधान है । तदनुसार "विभाषा श्वेः" (६-१-३०) इत्यादि सूत्रों में 'न वेति विभाषा' सूत्र के अभाव में केवल विधिरूप में प्रवृत्ति होने से लिट् लकार के पकारेत्संज्ञक तिङ्—प्रत्ययों में ही संप्रसारण विकल्प से होगा । कित्-प्रत्ययों में 'श्वि' धातु यजादि में परिगणित होने के कारण "वचिस्वपियजादीनां किति" (६-१-१६) से नित्य संप्रसारण हो जायगा । यदि निषेधरूप में प्रवृत्ति मानी जाय तो कित्-प्रत्ययों में ही संप्रसारण की प्रवृत्ति होगी न कि पित् प्रत्ययों के स्थलों में (पित् स्थल—प्रथम-पुरुष (तिप्), मध्यम पुरुष

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थितिः। तत्र यदि 'न वेति विभाषा' इति सूत्रं नारभ्येत, तर्हि अनड्वान्विभाषितः इत्यादियाज्ञिकप्रयोग इव विभाषा श्वेरित्यत्रापि केवलविकल्पः प्रतीयेत। भावः अभावश्चेति द्वयं तावद्विकल्पः। ततश्च विभाषाश्रुतौ प्रवृत्तिस्तदभावश्चेति द्वयमपि विधेयमिति लभ्यते। तत्र यदि 'विभाषा श्वेः' इति विकल्पो विधिमुखः—लिटि श्वयतेः सम्प्रसारणं भवति न भवतीति, तर्हि पित्स्वेव विकल्पस्य प्रवृत्तिः स्यात्। तत्र हि सम्प्रसारणस्य वचिस्वपीति किति विहितस्य अप्राप्तत्वेन प्रथमं भावनांशो विधेयः, तस्य पाक्षिकत्वाय न भवतीत्यपि विधेयम्। किन्तु तु प्रवृत्तिर्न स्यात्। तेषु हि वचिस्वपियजादीनां कितीति प्राप्तत्वात् प्रथमं भावनांशो न विधेयः। न भवतीत्यंश एव विधेयः। एवं च उभयांशविधेयत्वालाभात्तत्र विकल्पविधिरयं न प्रवर्तते, तत्र नित्यमेव सम्प्रसारणं स्यात्। यदि तु विकल्पो निषेधमुखः—लिटि श्वयतेः सम्प्रसारणं न भवति भवतीति, तर्हि कित्स्वेव प्रवृत्तिः स्यात्। तत्र हि वचिस्वपीति प्राप्तत्वान्न भवतीति प्रथमं विधेयम्। अभवनस्य पाक्षिकत्वलाभाय भवतीत्यपि विधेयम्। पित्सु तु प्रवृत्तिर्न स्यात्। तत्र सम्प्रसारणस्य अप्राप्ततया न भवतीत्यंशस्य प्रथमं विध्यनर्हत्वात्। न च पित्सु विधिमुखः किन्तु निषेधमुखः इत्युभयथापि प्रवृत्तिरिति वाच्यम्। सकृच्छ्रुतस्य विभाषाशब्दस्य क्वचिद्विधिमुखविकल्पबोधने क्वचिन्निषेधमुखविकल्पबोधने च असामर्थ्यात्। आवृत्त्या तद्बोधने तु स एव दोषः। 'न वेति विभाषा' इत्यारम्भे तु श्रुतक्रमानुरोधेन बोधात् नेत्यंशेन कित्सु पूर्वं निषेधः प्रवर्तते। ततः किदकिद्रूपे सर्वस्मिन् लिटि निःसम्प्रसारणतया ऐकरूप्यं प्रापिते सति, भवति न भवतीत्येकरूपेण विधिमुख एव विकल्पः प्रवर्तते। तदेवमुभयत्र विभाषार्थमिदं सूत्रम्।

प्राप्तविभाषायां तु नास्योपयोगः, तत्र भवनांशस्य प्राप्तत्वेन विध्यनर्हत्वात्। अप्राप्तविभाषायामपि न तस्योपयोगः, तत्र अभवनांशस्य सिद्धत्वेन विध्यनर्हत्वात्। न चैवमपि 'उणादयो बहुलम्' 'ह्रक्रोरन्यतरस्याम्' 'छन्दस्युभयथा' 'अनुपसर्गाद्वा' इत्यादिविधिषु

(सिप्) तथा उत्तम-पुरुष (मिप्) के एक वचन हैं। इन तीनों पुरुषों के अवशिष्ट द्विवचन और बहुवचन कित् हैं—"असंयोगाल्लिट् कित्"–१-२-५)। अतः समानता न होने से उभयथा प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिये **निषेध** और **विकल्प** की विभाषा-संज्ञा होने के कारण क्रमशः पहले कित्-स्थलों में संप्रसारण-निषेध प्रवृत्त होने पर तदनन्तर कित् तथा किद्भिन्न पूरे लिट् लकार में एकरूपता प्राप्त होने पर विकल्प का विधान किया जाता है। जिसके फलस्वरूप 'श्वि' धातु के लिट्-लकार में पित् और कित्-स्थलों पर विकल्प से सम्प्रसारण होता है। इस हेतु √श्वि के लिट् लकार में सम्प्रसारण की अप्राप्ति में विकल्प होने के कारण 'शुशाव' तथा 'शिश्राय' रूप बनते हैं। १–सम्प्रसारण होने पर प्रक्रिया—√श्वि+लिट्, <श्वि+तिप्, <श्वि+णल् (अ), <श् उ इ+अ—(सम्प्रसारण व् = उ), <श् उ+अ (पूर्वरूप—उ+इ = उ), <शौ+अ—"अचो ञ्णिति" (७-२-११५)—वृद्धि, <शु शौ+अ (रूपातिदेश होकर द्वित्व, अभ्याससंज्ञा), <शु शाव्+अ = शुशाव—"एचोऽयवायावः" (६-१-७५—औ = आव्)। २–सम्प्रसारण न होने पर प्रक्रिया—√श्वि+लिट्, <श्वि+तिप्, <श्वि+णल् (अ), श्वै+अ (वृद्धि), <श्वि श्वै+अ (रूपातिदेश होकर द्वित्व) <शि श्वै+अ—"हलादिः शेषः" (७-४-६०)—आदि का 'हल्' अवशेष, <शि श्व् आय्+अ = शिश्राय—ए=आय्। संप्रसारण की नित्यप्राप्ति के स्थलों पर विकल्प होने के उदाहरण शुशुवतुः तथा शिश्रियतुः हैं। इन दोनों की शब्दरचना इस प्रकार है— √श्वि+लिट्<श्वि+अतुस्<शु+अतुस् (सम्प्रसारण, पूर्वरूप), <शु शु+अतुस् (द्वित्व, किद्भाव, गुणनिषेध), <शु श् उव्+अतुस् (उवङ्), <शुशुवतुः—रुत्व-विसर्ग—स् = र् = :। इस प्रकार प्राप्ताप्राप्तविभाषा में इसकी प्रवृत्ति विकल्प से हुई।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२५) स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसञ्ज्ञा १।१।६८ ॥ शब्दस्य स्वं रूपं सञ्ज्ञि शब्दशास्त्रे

विभाषाशब्दाभावात् केवलविकल्पविधौ वैरूप्यं दुर्वारमिति वाच्यम्, विभाषाशब्दस्यात्र सूत्रे विकल्पवाचकशब्दोपलक्षणत्वात्। एवं च लोके ये विकल्पपर्यायाः शब्दाः, ते सर्वे अस्मिन् शास्त्रे निषेधविकल्पयोः प्रत्यायका इति सूत्रार्थपर्यवसानं बोध्यम्। भाष्ये तु विभाषादिशब्दानां लोकवदेव केवलविकल्पपरत्वेऽपि लक्ष्यानुरोधेनैव क्वचिद्विधिमुखेन क्वचिन्निषेधमुखेन विकल्पस्य प्रवृत्युपपत्तेः एतत्सूत्रं प्रत्याख्यातमित्यलं बहुना।

(२५) 'अग्नेर्ढक्' 'वाय्वृतुपित्रुषसो यत्' 'राज्ञो यत्' इत्यादौ लौकिकव्युत्पत्त्या उपस्थितानां वह्निवातादीनामर्थानां ढगादिप्रत्ययैः पौर्वापर्यासम्भवात् प्रातिपदिकादित्यनेनान्वयासम्भवाच्च तदर्थकपर्यायशब्दानां ग्रहणापत्तौ तन्निरासमार्थमिदं सूत्रमारभ्यते—स्वं रूपम्। अग्नेर्ढगित्यादौ अग्न्यादिशब्दस्य यत् स्वरूपं श्रुतं तदेव अग्न्यादिशब्दैः प्रत्येतव्यम्, न तु तदन्यः तत्तत्पर्यायोऽपि। शब्दशास्त्रे सङ्केतिता वृद्धिगुणादिसञ्ज्ञा शब्दसञ्ज्ञा, तत्र नायं नियम इत्यर्थः। तदाह—शब्दस्य स्वं रूपं सञ्ज्ञीति। बोध्यमित्यर्थः। न च वृद्धः गुणः इत्यादिसञ्ज्ञाविधिबलादेव तत्र तदर्थग्रहणं भविष्यतीति किमशब्दसञ्ज्ञेत्यनेनेति वाच्यम्। 'उपसर्गे घोः किः' इत्यत्र 'घुशब्दे' इति घुधातुनिवृत्त्यर्थत्वात् 'दाधाघ्वदाप्' इति सञ्ज्ञाकरणस्य 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' इत्यादौ आवश्यकतया सञ्ज्ञाकरणस्य सामर्थ्योपक्षयादित्यन्त्र विस्तरः। इदं सूत्रं भाष्ये प्रत्याख्यातम्।

विशेष—सूत्र में 'इति' शब्द का सम्बन्ध काकाक्षिगोलक-न्याय[1] से 'न' तथा 'वा'—दोनों के साथ है। जैसे कौए की एक आँख दोनों ओर काम पड़ने पर सरकती रहती है उसी के अनुसार यहाँ भी दोनों शब्दों के अर्थों में 'इति' शब्द का सम्बन्ध होता है। 'इति' शब्द के कारण ही 'न' तथा 'वा' का यहाँ—**निषेध** और **विकल्प** अर्थ लिया जाता है। लोक में शब्द अर्थ-प्रधान होता है किन्तु 'इति' शब्द के प्रयोग से शब्दपरक हो जाता है। व्याकरणशास्त्र में शब्द स्वरूपबोधक ही रहता है। यह आगे के सूत्र में स्पष्ट किया जायगा। तथा वहाँ 'इति' शब्द का प्रयोग करने पर अर्थ लिया जाता है। इसे ही 'इति' शब्द की पदार्थविपर्यासकता कहते हैं।

(२५) पद—स्वं रूपं, शब्दस्य, अशब्दसंज्ञा। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—व्याकरणशास्त्र की 'संज्ञा' को छोड़ कर अन्यत्र शब्द का अपना स्वरूप लिया जाता है।

सन्दर्भ—शब्दों के विषय में स्वरूप एवं अर्थ-ग्रहण करने के सम्बन्ध में सूत्र की उपादेयता बतलाई जा रही है।

विवरण—व्याकरणशास्त्र में निरूपित संज्ञाओं को छोड़कर शब्द अपने स्वरूप को ग्रहण करता है, न उस शब्द के अर्थ को और न उसके पर्यायवाची शब्दों को ही। शब्द तथा अर्थ दो पृथक् वस्तु हैं। लोक में सामान्यतया 'अग्निम् आनय' कहने से अग्नि से बोध्य अर्थ लिया जाता है अर्थात् अर्थ से काम लिया जाता है। व्याकरण-शास्त्र में यह सिद्धान्त नहीं है। अतः इस सूत्र की उपयोगिता है। तदनुसार "अग्नेर्ढक्" (४-२-३२) से ढक् प्रत्यय 'अग्नि' शब्द से होता है न कि अग्नि के अर्थ अंगारे अथवा कोयले से। सूत्र में 'स्वं रूपम्' अंश के रहने से अग्नि के पर्यायवाची 'वह्नि' 'ज्वलन' आदि शब्दों का भी ग्रहण नहीं होता। इसके साथ ही व्याकरणशास्त्र में

---

१. काकाक्षिगोलकन्यायस्वरूपम्—एकमेव चक्षुर्गोलकमुभयचक्षुःसम्बन्धिसदुभयचक्षुःकार्यकारकम्। उदाहरणं तु—"वलिनोद्विषतोर्मध्ये वाचात्मानं समर्पयन्। द्वैधीभावेन वर्तेत काकाक्षिवदलक्षितः॥ काम. नी. ११-२४।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या सञ्ज्ञा तां विना। (२६) येन विधिस्तदन्तस्य १। १। २७॥ विशेषणं तदस्तस्य

---

(२६) यत् शब्दस्वरूपम् उपादाय यो विधिरारभ्यते स तस्य तदन्तस्य च भवतीत्येतद्वक्तुमाह—येन विधिः। विधीयत इति विधिः, 'उपसर्गे घोः किः' इति दधातेः भावे

संकेतित वृद्धि-गुण आदि संज्ञाओं में यह नियम न लगने के कारण उन शब्दों से संज्ञी के रूप में अर्थ का ग्रहण होता है। अन्यथा 'वृद्धि' पद से आ, ऐ, औ का ग्रहण नहीं हुआ होता।

उपर्युक्त अर्थ के प्रकाशन में सूत्र के पदों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। शब्द का उच्चारण किसी अर्थ के तात्पर्य से किया जाता है। जिस अर्थ के तात्पर्य से जो शब्द उच्चरित होता है वह उसका अपना अर्थ होता है। अतः यहाँ **'स्व'** शब्द अर्थ का बोधक है। **'रूप'** शब्द शब्द के स्वरूप का बोधक है। इस तरह **'शब्दस्य'** शब्द का, **स्वम्**=अर्थ एवं **'रूपम्'**=शब्दस्वरूप **'संज्ञी'** जानना चाहिये। सूत्र में 'शब्द' संज्ञा है। **अशब्दसंज्ञा** पद में **शब्द** पद का अर्थ शब्दशास्त्र (व्याकरणशास्त्र) है। विग्रह भी 'शब्दे' (शब्दशास्त्रे) संज्ञा शब्दसंज्ञा (सप्तमी तत्पुरुष) है। न शब्दसंज्ञा=अशब्दसंज्ञा (नञ्)। षष्ठी-तत्पुरुष समास मानने पर 'कर्मसंज्ञा' आदि में अर्थ की संज्ञा होने से निषेध की प्रवृत्ति न होने के कारण "कर्मण्यण्" (३-२-१) इत्यादि सूत्रों से विहित 'अण्' आदि प्रत्ययों में भी शब्द के स्वरूप से ही अणादि प्रत्यय होने लगेंगे। अतः यहाँ षष्ठी-तत्पुरुष-समास नहीं है। इस प्रकार अर्थविशिष्ट शब्द (शब्द और अर्थ दोनों) संज्ञी है।

शङ्का-समाधान—प्रकृत सूत्र में रूप ग्रहण के विना भी **'स्वं'** पद से आनुपूर्वी शब्द का ग्रहण हो जायगा। पदयोजना के अनुसार शब्दस्य=शब्द का **स्वम्** = अपना अर्थात् आनुपूर्वी स्वरूप विना किसी प्रयास के निश्चित रूप से उपस्थित हो जायगा। अर्थ की प्रतीति में शक्तिग्रह की अपेक्षा होने से उसकी उपस्थिति नहीं होगी। अतः **'रूपं'** पद की क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि यहाँ 'शब्द' पद से रूप (स्वरूप) के समान अर्थ भी विवक्षित है—यह ज्ञापन करने के लिये 'रूपं' ग्रहण किया गया है। जिसके फलस्वरूप **"अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्"** परिभाषा ज्ञापित होती है। इस प्रकार ज्ञापन होने के कारण अर्थवान् शब्द का ग्रहण होता है। अतः 'काशे' शब्द के अवयव 'शे' अंश के अर्थवान् न होने के कारण प्रगृह्य-संज्ञा नहीं होती। जहाँ शब्द का अर्थवान् रूप से आश्रय नहीं लिया गया है वहाँ 'अर्थवद्ग्रहणे०' परिभाषा की उपस्थिति नहीं होती। उदाहरणार्थ विशिष्ट-वर्णसमुदायबोधक 'टि' के स्थान में एकार का विधान करने से अन्तिम स्वरवर्णसहित व्यञ्जन-समुदाय को एकार हो जाता है।

विशेष—महर्षि पतञ्जलि ने इन कल्पनाओं को निरर्थक बतलाया है। कारण यह है कि शब्द में अर्थ की योग्यता स्वाभाविक होने के कारण शब्द स्वयं अर्थ का बोध कराता है। व्याकरण में भी पशु, अपत्य, भरत आदि शब्दों से चौपाये प्राणी, सन्तान तथा भरत की सन्तान एवं जनपद आदि अर्थों का ही ग्रहण होता है। "अग्नेर्ढक्" आदि सूत्रों से विहित प्रत्ययों के स्थलों पर अग्नि के अर्थ के साथ प्रत्यय का पौर्वापर्य सम्भव न होने से वहाँ शब्द का ही स्वतः ग्रहण हो जाता, क्योंकि प्रातिपदिक शब्दों से ही प्रत्यय की स्थिति पर होती है। व्याकरणशास्त्र की संज्ञाओं के संकेतित अर्थ का बोध कराने में प्रमाण "दाधाघ्वदाप्" (१-१-२०) से होने वाली 'घु' संज्ञा है। 'घु' को संज्ञा मानने के कारण वहाँ 'घु' धातु का ग्रहण नहीं होता। "अर्थवत्०" परिभाषा भी स्वतः न्यायसिद्ध है, क्योंकि शब्दविशिष्ट अर्थ की उपस्थिति स्वाभाविक है। अतः उस परिभाषा के ज्ञापन के लिये भी इस सूत्र की उपयोगिता नहीं है।

निष्कर्ष—लोक में अभिधा आदि शब्द-शक्तियों के प्रभाव से अर्थ की प्रधानता होने के कारण वह विशेष्य के रूप में रहता है तथा तद्वाचक शब्द विशेषण के रूप में अप्रधान हो जाता है। शास्त्र में स्थिति इसके विपरीत है। वहाँ अर्थ विशेषण तथा शब्द विशेष्य रहता है। तदनुसार अर्थबोधक वर्ण-समुदाय संज्ञी के रूप में ग्राह्य है और वह शब्द-संज्ञक है।

(२६) पद—येन, विधिः, तदन्तस्य। **अनुवृत्ति**—स्वं रूपम् (च)। **संज्ञासूत्र।**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सञ्ज्ञा स्यात् स्वस्य च रूपस्य। समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः। उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्।

किप्रत्ययः। येनेति करणे तृतीया। शास्त्रकृत् विधाने कर्ता। धातोरित्यधिकृत्य एरजिति इकारेण करणेन धातोरच्प्रत्ययं विधत्ते पाणिनिः। करणं च व्यापारवत्। एरजित्यत्र विशेषणस्य इकारस्य पाणिनिकर्तृकविधानक्रियायां करणस्य इतरव्यावर्तनमेव व्यापारः। ततश्च विशेषणमेवात्र येनेति तृतीयान्तेनोच्यते। स्वं रूपमित्यतः स्वमित्यनुवर्तते, षष्ठ्यन्ततया च विपरिणम्यते। एवं च विशेषणसमर्पकः शब्दः तदन्तस्य स्वस्य च प्रत्यायक इति फलति। तदाह—विशेषणं तदन्तस्य संज्ञा स्यात्स्वस्य चेति। विशेषणसमर्पकः शब्दस्तदन्तस्य शब्दस्य विशेषणसमर्पकशब्दस्य च बोधकः स्यादिति यावत्। ततश्च एरजित्यत्र इकारान्ताद्धातोरच्प्रत्ययः स्यात् इकाररूपाद्धातोश्चेति फलति। यथा—चयः, अयः। केचित्तु करणं कर्तृपरतन्त्रमिति तृतीयया पारतन्त्र्यं लक्ष्यते, तच्च शब्दानां विशेषणत्वेनेति विशेषणत्वं यच्छब्दस्य लभ्यत इत्याहुः। तत्तु शब्देन्दुशेखरे दूषितम्। समासेति। वार्तिकमेतत् समासविधौ प्रत्ययविधौ च तदन्तविधेः प्रतिषेधो वाच्य इत्यर्थः। तेन कृष्णं परमश्रित इत्यत्र 'द्वितीया श्रिता०' इति समासो न भवति। सूत्रनडस्य गोत्रापत्यं

मूलार्थ—विशेषण तदन्त का बोधक होता है तथा अपने स्वरूप का भी। समास और प्रत्यय-विधि में तदन्त का ग्रहण नहीं होता। यह निषेध 'उक्'-इत्संज्ञक शब्द तथा वर्ण-ग्रहण को छोड़कर माना जाय (अर्थात् यहाँ तदन्त विधि होती है)।

सन्दर्भ—पूर्व सूत्र में विशेषण और विशेष्य का उल्लेख हुआ है, अतः विशेषण के विषय में निर्वचन किया जा रहा है।

विवरण—सूत्र में **'येन'**—करण-कारक में तृतीया है। करण को कर्ता के अधीन होने से परतन्त्र माना जाता है। **'विधि'** से तात्पर्य विधान किया जाना है (विधीयते इति विधिः)। **'तदन्तस्य'** में बहुव्रीहि समास है—सः अन्ते यस्य सः, तस्य। "स्वं रूपम्०" (१-१-७८) से **स्वं रूपम्** की अनुवृत्ति आती है। इन दोनों पदों का षष्ठी विभक्ति में विपरिणाम होकर 'स्वस्य रूपस्य'—इस तरह बोध होता है। इस प्रकार जिस (विशेषण) से विधि की जाय, वह विशेषण जिसके (तदन्तस्य) अन्त में हो, वह विशेषणान्त-समुदाय का बोधक होता है और अपने स्वरूप का भी। उदाहरण-स्वरूप 'चेयम्' में इस नियम का परीक्षण किया जा रहा है। √चि+यत्—"अचो यत्" (३-३-९७)। "धातोः" का अधिकार है। विभक्ति पंचमी है। कैसे धातु से ? 'अचः'—अच् धातु से यह अर्थ 'स्वं रूपम्०' की सहायता से स्वरूप का ग्रहण होने के कारण होता है। 'येन विधिः०' सूत्र के प्रभाव से 'अचः धातोः' अच्-विशेषणयुक्त धातु से यत् प्रत्यय का विधान होने के फलस्वरूप 'अजन्त धातु' √ 'चि' से यत् प्रत्यय हो गया। तत्पश्चात् गुण तथा विभक्ति-कार्य होते हैं।

(वा०) जिस विशेषण के कारण समास या प्रत्ययों का विधान होता है वहाँ तदन्तविधि नहीं होती। जैसे 'कष्टश्रितः' में कष्टं श्रितः विग्रह है। द्वितीया-तत्पुरुष समास है। यहाँ यदि 'श्रित' के पूर्व 'परम' विशेषण रखें तो समासविधि में तदन्त का ग्रहण न होने से समास नहीं होगा—कष्टं परमश्रितः रहेगा। इसी प्रकार 'नाडायनः' शब्द (नड+फक् = आयन) में नडादि गणपठित शब्दों से ही फक् प्रत्यय होने के फलस्वरूप नडाद्यन्त प्रादिपदिकों से 'फक्' प्रत्यय न होने के कारण 'सौत्रनाडिः' में इञ् प्रत्यय ही हुआ।

(वा०) पूर्ववार्तिक में संकोच किया जा रहा है। अतः जिन सूत्रों में 'उक्' (उ, ऋ, ऌ) इत् संज्ञकों का ग्रहण है तथा किसी एक वर्ण का प्रत्यय के रूप में विधान किया जाय वहाँ तदन्त का ग्रहण होता है। उगित् का उदाहरण—भवती, अतिभवती, परमभवती। इन उदाहरणों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२७) विरामोऽवसानम् १।४।११०॥ वर्णानामभावोऽवसानसञ्ज्ञः स्यात्।

सौत्रनाडिः। 'अत इञ्' 'अनुशतिकादीनां च' इत्युभयपदवृद्धिः। अत्र 'नडादिभ्यः फक्' इति न भवति। नन्वेवं सति पचन्तमतिक्रान्ता अतिपचन्तीत्यत्र 'उगितश्च' इति उगिदन्तात्प्रातिपदिकात् विहितो ङीप् न स्यात्, प्रत्ययविधौ तदन्तविधेः प्रतिषेधात्। तथा दाक्षिरित्यत्र 'अत इञ्' इति इञ् न स्यात्। अस्यापत्यम् इरित्यत्रैव इञ् स्यादित्यत आह—उगिदिति। इदमपि वार्तिकम्। द्वितीयायां चेति वर्जयतेर्णमुल्। उगिद्ग्रहणं वर्णग्रहणं च वर्जयित्वा समासप्रत्ययविधाविति उक्तः प्रतिषेधो भवतीत्यर्थः। उगिद्वर्णग्रहणे तु येन विधिरिति तदन्तविधिरस्त्येव। ततश्च अतिपचन्तीत्यत्र उगिदन्तप्रातिपदिकान्तात् उगितश्चेति ङीप्, दाक्षिरित्यत्र अवर्णान्तादिञ् च सिध्यति।

(२७) विरामोऽवसानम्। विरम्यते अस्मिन्नति विरामः। सामीपिकेऽधिकरणे घञ्। विरमणं क्रियाया अभावः, स च शब्दशास्त्रप्रस्तावात् वर्णानामुच्चारणाभावात्मक इति लभ्यते। तथा च यस्मिन् वर्णे उच्चारिते सति अव्यवहितोत्तरकाले वर्णान्तराणामुच्चारणाभावः स अन्त्यवर्णः अवसानसञ्ज्ञक इत्यर्थः फलति। तदभिप्रेत्य व्याचष्टे—वर्णानामित्यादिना। यस्मिन्नुच्चारिते सति वर्णान्तराणाम् उच्चारणाभावः सः अन्त्यवर्णः अवसानसंज्ञक इत्यध्याहारेण विवरणं योज्यम्। यद्वा वर्णानामुच्चारणाभावः विरामः। भावे घञ्। स च किञ्चिद्वर्णोच्चारणोत्तरकालिक एव गृह्यते, व्याख्यानात्। अस्मिन् पक्षे किञ्चिद्वर्णोच्चारणोत्तरं वर्णान्तराणामुच्चारणाभावः अवसानमिति विवरणयोजना। तत्र प्रथमपक्षे

में ङीप प्रत्यय–"उगितश्च" (४-१-६)—√भू+शतृ—ऋकार-इत्संज्ञक (उक्) होने के कारण सामान्य रूप में 'भवती' तथा तदन्त 'अतिभवती' दोनों प्रकार के शब्दों में हो गया। वर्णग्रहण में भी तदन्तविधि का निषेध न होने के कारण √इ+अच् (अ)—गुण, विभक्तिकार्य = अयः—में इकार स्वरूप का ग्रहण तथा 'चयः' 'जयः' में √चि—इकारान्त धातु का—ग्रहण होने से "एरच्"—अच् प्रत्यय हुआ।

निष्कर्ष—'स्वं रूपम्०' सूत्र अपने ही स्वरूप का बोध कराता है। प्रकृत सूत्र से स्वरूपविधि और तदन्तविधि दोनों होते हैं।

(२७) पद—विरामः, अवसानम्। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—वर्णों के अभाव को अवसान कहते हैं।

विवरण—**'अवसान'** संज्ञा है और **'विरामः'** संज्ञी। विराम शब्द का अर्थ है रुकना, विश्राम करना। यह विश्राम वर्णों के उच्चारण न करने से सम्बन्ध रखता है। शब्दों की पूर्णता होने पर विराम (विश्राम) होता है। काशिकाकार ने 'विराम' शब्द को दो रूपों में लिया है (१) विरमणं विरामः अर्थात् रुक जाना (उच्चारण न होना अर्थात् किसी वर्ण के बाद उच्चारण न किया जाना—वि√रम्+घञ् (भावे)। (२) विरम्यते अनेन इति विरामः—जिससे उच्चारण ठहरे अर्थात् वह वर्ण जिस पर उच्चारण रुक जाय—वि√रम्+घञ्—(करणे)। भाव और करण में घञ् प्रत्यय करने पर दोनों अर्थों में थोड़ा अन्तर है। (१) भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय करने पर उच्चार्यमाण अन्तिम अक्षर से आगे कोई वर्ण नहीं होता। (२) करण अर्थ में घञ् प्रत्यय करने पर उच्चार्यमाण अन्तिम वर्ण ही अवसान समझा जाता है। अवसान का प्रदेश 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (८-३-१५) है। तदनुसार राम+सु, <राम र्—'रु' तथा उकार की इत्संज्ञा, रामः—र्=विसर्ग। सूत्रार्थ के अन्तर्गत प्रथम अर्थ के अनुसार 'र्' के बाद किसी भी वर्ण के न होने से 'उच्चारण का अभाव' अवसान-संज्ञक है। इस स्थिति में "खरवसानयोः०" का अर्थ 'खर्' और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२८) परः सन्निकर्षः संहिता १।४।१०९ ॥ वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासञ्ज्ञः स्यात् । **(२९) सुप्तिङन्तं पदम् १ । ४ । १४ ॥** सुबन्तं तिङन्तं च पदसञ्ज्ञं स्यात् ।

खरवसानयोरित्यत्र खरि परतः रेफस्य विसर्गः, अवसाने तु रेफे स्थानिनीति योज्यम् । खरवसानयोरित्येकापि सप्तमी विषयभेदाद्भिद्यते । द्वितीयपक्षे तु अभावस्यापि बुद्धिकृतं परत्वं बोध्यम् ।

(२८) परः सन्निकर्षः । परः अतिशयितः 'दूरानात्मोत्तमाः पराः' इत्यमरः । सन्निकर्षः सामीप्यम्, अर्धमात्राधिककालव्यवधानाभावः, अर्धमात्राकालव्यवधानस्य अवर्जनीयत्वात् । तदेतदभिप्रेत्याह—अतिशयित इत्यादिना ।

(२९) सुप्तिङन्तं पदम् । सुप् इति स्वौजसमौडिति सूत्रे सु इत्यारभ्य सुपः पकारेण

अवसान पर रहते 'र्' = : । दूसरे प्रकार से अवसान के अर्थ में उच्चार्यमाण अन्तिम वर्ण की अवसान संज्ञा होने के फलस्वरूप 'र्' की अवसान-संज्ञा होती है । ऐसी स्थिति में विसर्गविधायक सूत्र का अर्थ यह होगा—'खर्' पर होने पर तथा अवसान में विद्यमान 'र्' को विसर्ग होता है" ।[1]

(२८) पद—परः, सन्निकर्षः, संहिता । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—वर्णों की अधिक समीपता को संहिता कहते है ।

विवरण—यहाँ **'संहिता'** संज्ञा है, **'परः संनिकर्षः'** संज्ञी । सन्निकर्ष=सामीप्य । परः= अत्यधिक । किसका सामीप्य ? उत्तर यह दिया जाता है कि शब्दरचना में वर्णों का सामीप्य अपेक्षित है । अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ इस प्रकार होगा—"उच्चरित वर्णों की अत्यधिक समीपता को संहिता कहा जाता है" । वर्णों का अत्यधिक सामीप्य आधी मात्रा के काल का व्यवधानस्वरूप माना जाता है[2] । उदाहरणस्वरूप **'दधि+अत्र' 'मधु+अत्र'** में क्रमशः इकार-अकार एवं उकार-अकार की अत्यधिक समीपता होने के फलस्वरूप "संहितायाम्" (६-१-७०) के अधिकार में "इको यणचि" (६-१-७४) से यण् आदेश (इ+अ=य, उ+अ=व) होगा ।

विशेष—किसी पद में वर्णों का उच्चारण करने पर पूर्व-वर्ण के उच्चारण करने के पश्चात् उत्तर-वर्ण का उच्चारण होता है । ऐसी स्थिति में पूर्व-वर्ण का नाश होने के कारण पौर्वापर्य संभव न होने से सामीप्य का प्रश्न ही नहीं उठता ? तब 'संहिता' कैसे सम्भव होगी ? इसके उत्तर में पतञ्जलि ने महाभाष्य में यह कहा है कि बुद्धिगत पौर्वापर्य (पूर्वापरीभाव) का आश्रय लेकर सामीप्य की कल्पना की जाय[3] । वार्तिककार ने 'संहिता' और 'अवसान' लोक में प्रसिद्ध होने के कारण इनके विषय में निर्वचन करना अनावश्यक बतलाया है[4] ।

(२९) पद—सुप्तिङन्तं, पदम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—सुप्-प्रत्ययान्त और तिङ्-प्रत्ययान्त शब्दों की पद-संज्ञा होती है ।

प्रसङ्ग—"अपदं न प्रयुञ्जीत" इस सिद्धान्त को अभिलक्षित कर 'पद' के स्वरूप का निर्वचन किया जा रहा है ।

---

१. खरवसानयोरित्येकापि सप्तमी विषयभेदाद् भिद्यते । खरि परे रेफस्य विसर्गः, अवसाने च रेफे स्थानिनि—इति । व्या. सि. सु. पृ. ८९४ ।

२. परो यः सन्निकर्षो वर्णानाम् अर्धमात्राकालव्यवधानं स संहिता संज्ञो भवति । काशिका ।

३. उच्चरितप्रध्वंसिनः खल्वपि वर्णाः । उच्चरितः प्रध्वस्तः । अथापरः प्रयुज्यते न वर्णो वर्णस्य सहायः । एवं तर्हि—"बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्ता शैरस्तत्वन्नीतिः । शब्देनार्थान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम्" ॥ बुद्धिविषयमेव शब्दानां पौर्वापर्यम् ।

४. वार्तिककारस्त्वाह—"संहितावसानयोर्लोकविदितत्वात् सिद्धमिति" ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३०) हलोऽनन्तराः संयोगः १।१।७ ।। अज्झिरव्यवहिता हलः संयोगसञ्ज्ञाः स्युः ।

प्रत्याहारः । न तु सप्तमीबहुवचनस्यैवात्र ग्रहणं, व्याख्यानात् । सुप् च तिङ् च सुप्तिङौ, तौ अन्ते यस्य तत् सुप्तिङन्तं शब्दरूपमिति शब्दशास्त्रप्रस्तावाल्लभ्यते । अन्तशब्दश्च प्रत्येकं सम्बध्यते । तदाह—सुबन्तमित्यादिना ।

(३०) हलोऽनन्तराः संयोगः । अन्तरशब्दोऽत्र व्यवधाने वर्तते । **'अन्तरमवकाशावधि-परिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये' इत्यमरः । व्यवधानं च विजातीयेनैव । अविद्यमानम् अन्तरं व्यवधानं येषामिति विग्रहः । 'नञोऽस्त्यर्थानाम्' इति विद्यमानपदस्य लोपः । तदाह—** अज्झिरित्यादिना । **अत्र हलौ च हलश्च हल इत्येकशेषः । तेन द्वयोरपि संयोगसंज्ञा लभ्यते । ततश्च शिक्षेत्यत्र 'गुरोश्च हलः' इत्यप्रत्ययः सिध्यति । अत्र च समुदायस्यैव संयोगसंज्ञा, महासञ्ज्ञाकरणात् व्याख्यानाच्च । न तु प्रत्येकम् । तथा सति 'सुदृषत्प्रासादः' इत्यत्र** पकारसन्धिौ तकारस्य संयोगत्वापत्तौ संयोगान्तलोपापत्तेः । **यत्र तु बहवो हलः श्लिष्टाः तत्रापि द्वयोर्द्वयोः संयोगसंज्ञा, न तु बहूनामेवेति शब्देन्दुशेखरे स्पष्टम् ।**

विवरण—सूत्र में **'पद'** संज्ञा है तथा **'सुप्तिङन्तं'** संज्ञी । **सुप्**–(प्रत्याहार) प्रातिपदिक-(नामविहित) संज्ञक विभक्ति-प्रत्यय ("स्वौजसमौट्०" (४-१-२) से विहित २१ 'सु' 'औ' 'जस्' आदि । **तिङ्**=(प्रत्याहार) धातु से विहित विभक्ति-प्रत्यय—"तिप्तस्झि०" (६-४-७८) से विहित १८ प्रत्यय । शब्द-रचना का प्रकरण होने से 'शब्दस्वरूपम्' का अध्याहार किया जाता है । उपर्युक्त दोनों प्रत्यय जिस 'शब्दस्वरूप' के अन्त में हों वे क्रमशः 'सुबन्त' और 'तिङन्त' कहलाते हैं । तदनुसार यहाँ विग्रह इस प्रकार है—सुप् च तिङ् च=सुप्तिङौ । सुप्तिङौ अन्ते यस्य तत्—(द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः) । द्वन्द्व-समास होने के कारण 'अन्त' शब्द का सम्बन्ध 'सुप्' और 'तिङ्' दोनों के साथ होता है । उदाहरण क्रमशः—(१) ब्राह्मणाः (ब्राह्मण+जस्) तथा (२) पठन्ति (पठ्+झि) हैं ।

विशेष—"प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः" नियम के अनुसार 'सुबन्त' और 'तिङन्त' अर्थ का लाभ स्वतःसिद्ध होने पर भी सूत्र में 'अन्त' ग्रहण इस बात का ज्ञापक है कि संज्ञाविधि में तदन्तविधि नहीं होती । जिसके फलस्वरूप 'गौरीकुमारितरा' में 'गौरी' शब्द को ह्रस्व नहीं होता । प्रक्रिया—कुमारी+तरप् (तर)+टाप् (आ) = कुमारीतरा<कुमारितरा, —'तरप्' को 'घ' संज्ञा होने के कारण "घरूपकल्पचेलड्०" (६-३-४३) से 'कुमारी' शब्द को ह्रस्व, <कुमारितरा+सु=कुमारि-तरा (दो कुमारियों में से जो अधिक कुमारी है) । यहाँ पर तरप् प्रत्यय की 'घ' संज्ञा होने के कारण तदन्तविधि का निषेध होने से 'कुमारितरा' समुदाय घप्रत्ययान्त नहीं समझा जायगा । अतः 'गौरीब्राह्मणितरा'–गौरी चासौ ब्राह्मणितरा में गौरी शब्द के साथ कर्मधारय समास होने पर 'ब्राह्मणितरा' समुदाय को घ–संज्ञा न होने से "घरूपकल्पचेलड्०" से ह्रस्व नहीं होता । "पदस्य" (८-१-१६) तथा "पदात्" (८-१-१७)—ये पदसंज्ञा के प्रदेश हैं ।

(३०) पद—हलः, अनन्तराः, संयोगः । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—स्वर वर्णों से अव्यवहित व्यञ्जनों की संयोग-संज्ञा होती है ।

विवरण—संज्ञा—**'संयोगः'** । संज्ञी—**'अनन्तराः हलः'** । व्यवधान-रहित (न विद्यते अन्तरं येषां ते अनन्तराः–बहुव्रीहि) दो या अधिक व्यञ्जनों का समुदाय (हलः) संयोग कहलाता है । 'हल्' प्रत्याहार के अन्तर्गत सभी व्यञ्जन आ जाते हैं । व्यवधान विजातीयों का होता है । व्यञ्जनों के विजातीय स्वरवर्ण है, अतः यहाँ उनका व्यवधान अपेक्षित नहीं हैं । सूत्र में 'हलः' बहुवचन हल्–जाति का बोधक है । इस तरह दो से अधिक व्यञ्जन मिलकर संयुक्त-वर्ण कहलाते हैं । संयोग-संज्ञा अन्वर्थक है । स्वर-वर्णों का व्यवधान न होने पर व्यञ्जन-समुदाय की संयोग-संज्ञा होती

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३१) ह्रस्वं लघु १ । ४ । १० ॥ (३२) संयोगे गुरु १ । ४ । ११ ॥ संयोगे परे ह्रस्वं गुरुसञ्ज्ञं स्यात् । **(३३) दीर्घं च १ । ४ । १२ ॥** दीर्घं च गुरुसञ्ज्ञं स्यात् ।

इति सञ्ज्ञाप्रकरणम् ।

---

(३१) ह्रस्वं लघु । **ह्रस्वं लघुसंज्ञं स्यादित्यर्थस्य स्पष्टत्वात् न व्याख्यातम् । अत एव निर्देशात् ह्रस्वशब्दो नपुंसकलिङ्गोऽपि ।**

(३२) संयोगे गुरु । ह्रस्वमित्यनुवर्तते । तदाह—संयोगे पर इत्यादिना ।

(३३) दीर्घं च । संयोग इति नानुवर्तते । **दीर्घमपि गुरुसंज्ञकमित्यर्थः** । इति सञ्ज्ञाप्रकरणमिति । **सन्धिकार्योपयोगिप्रथमाध्यायस्थसंज्ञानिरूपणं समाप्तमित्यर्थः ।**

इति श्रीवासुदेवदीक्षितविदुषा विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां बालमनोरमायां सञ्ज्ञाप्रकरणं समाप्तम् ॥

हैं[1]। संयोग-संज्ञा के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—(१) अग्निः में ग् न् दो व्यञ्जनों का संयोग (२) इन्द्रः में न् द् र् तीन वर्णों का संयोग । (३) तिलान्स्त्र्यावपति में न्, स्, त्, र्, य्—पाँच व्यञ्जनों का संयोग । (४) पक्ष में "नश्च" (८-१-३०) से धुट् आगम होने पर) तिलान्त्स्त्र्यावपति में न् , त्, स् , त्, र् , य्–छह व्यञ्जनों का संयोग है ।

विशेष—(१) कुछ विद्वान् 'हलः' पद में 'हलौ हलश्च' एकशेष स्वीकार कर दो व्यञ्जनों की संयोगसंज्ञा सिद्ध करते है । जिसके फलस्वरूप 'शिक्षा' शब्द में क् ष् का संयोग होने के कारण 'गुरोश्च हलः' (३-३-१०३) से 'अ' प्रत्यय की सिद्धि मानते हैं । (२) सूत्र में 'हलः' पद के अभाव में अव्यवहित स्वरवर्णों में संयोग-संज्ञा की प्राप्ति होने पर 'तितउच्छत्रम्' में तकार-उकार के सामीप्य होने से संयोग-संज्ञा होने पर "संयोगान्तस्य लोपः" (८-२-२३) से उकार का लोप हो जाता । अतः 'हलः' पद की सार्थकता है । (३) इसी प्रकार 'अनन्तराः' शब्द के अभाव में अचों से व्यवहित हलों की भी संयोग-संज्ञा होने के फलस्वरूप 'पचति पनसम्' में 'सम्' को संयोग-संज्ञा होने पर संयोग के आदि में विद्यमान सकार का "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च" (८-२-२९) सूत्र से लोप होने लगेगा । 'अनन्तराः' पद 'हलः' का विशेषण होने के कारण व्यञ्जनों के ही अव्यवहितोच्चारण में संयोगसंज्ञा होने से यहाँ ('सम्' में) प्राप्ति नहीं है ।

(३१) पद—ह्रस्वं, लघु । **संज्ञासूत्र । (३२) पद**—संयोगे, गुरु । **अनुवृत्ति**—ह्रस्वम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—(ह्रस्व की 'लघु' संज्ञा होती है) । ह्रस्व से पर संयुक्ताक्षर रहने से ह्रस्व की गुरु संज्ञा हो जाती है ।

सन्दर्भ—स्वरों के वर्गीकरण में वर्णित लघु-आदि संज्ञाओं का निर्वचन किया जा रहा है ।

विवरण—**संज्ञा**—लघु । **संज्ञी**—ह्रस्वम् । ह्रस्व स्वर की 'लघु' संज्ञा होती है । ह्रस्व का तात्पर्य एक-मात्रिक स्वर से है । अ, इ, उ, ऋ, ऌ एकमात्रिक स्वरों की 'लघु' संज्ञा होने के कारण √भिद्+ता में इकार को "पुगन्तलघूपधस्य च" (७-३-८६) से गुण हो जाता है—भेत्ता ।

'ह्रस्व' वर्ण के आगे यदि संयुक्ताक्षर हो तो वह 'गुरु' कहलाता है । **संज्ञा**—गुरु, **संज्ञी**—संयोगे (ह्रस्वम्) । इसके फलस्वरूप "भिक्षा" में भकारोत्तरवर्ती इकार को गुरु-संज्ञा होने पर गुरुमान् हलन्त √भिक्ष् से स्त्रीलिङ्ग में 'अ'कार प्रत्यय हो गया—√भिक्ष्+अ+टाप् (आ) <भिक्षा+सु=भिक्षा ।

(३३) पद—दीर्घं च । **अनुवृत्ति**—गुरु । **संज्ञासूत्र ।**

---

१. इयं च संज्ञा समुदायस्य, नावयवमात्रस्य, संयुज्यन्तेऽस्मिन् समुदाये वर्णा इत्यन्वर्थसंज्ञाविज्ञानात् । व्या. सि. सु. पृ० २०८ ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ परिभाषाप्रकरणम्

(३४) इको गुणवृद्धी १ । १ । ३ ।। गुणवृद्धिशब्दाभ्यां यत्र गुणवृद्धी विधीयेते तत्र 'इकः' इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते । **(३५) अचश्च १ । २ । २८ ।।** ह्रस्वदीर्घप्लुत-

---

(३४) इको गुणवृद्धी । इक इति षष्ठ्यन्तशब्दः स्वरूपपरः नपुंसकलिङ्गः प्रथमैकवचनान्तः । सोर्लुका लुप्तत्वात् 'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घो न । इकस् शब्द इत्यर्थः । उपतिष्ठत इति शेषः । 'वृद्धिरादैच्' 'अदेङ्गुणः' इत्यतो वृद्धिरिति गुण इति चानुवर्तते । इतिशब्दोऽध्याहार्यः । यत्र विधीयेते तत्रेत्यप्यध्याहार्यम् । गुणो वृद्धिरित्युच्चार्य यत्र गुणवृद्धी विधीयेते तत्र इक इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते इति योजना । तदाह— गुणवृद्धिशब्दाभ्यामित्यादिना । उपतिष्ठते इति । सङ्गतं भवतीत्यर्थः । 'उपाद् देवपूजासङ्गति-

---

मूलार्थ—दीर्घ स्वर की भी गुरु संज्ञा होती है ।

विवरण—**संज्ञा**—गुरु । **संज्ञी**—दीर्घम् । दीर्घ वर्ण भी 'गुरु' कहलाते हैं । इसका फल 'ईहां चक्रे' में √ईह् के इजादि तथा दीर्घ ईकार के गुरुमान् होने के कारण "इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः" (३-१-६६) से लिट् लकार में 'आम्' प्रत्यय हो गया ।

विशेष—अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय में केवल संज्ञासूत्र दिये गए हैं, जिनका उद्देश्य अन्य अध्यायों में प्रयुक्त व्याकरण के शब्दों का विवेचन करना है । इसी कारण इन्हें संज्ञासूत्र कहा गया है—'सम्'√ज्ञा+क (अ)+टाप् । सम्यक् जानीयुर्यया सा संज्ञा—अर्थात् जिसको अच्छी तरह जान लिया जाय । संज्ञा-सूत्रों की विशेषता यह है कि वे विधि-सूत्रों के अङ्ग नहीं बनते । वे अलग रहते हुए भी उनके उपकारक होते हैं । "सिद्धान्तकौमुदी" के इस प्रकरण में भट्टोजीदीक्षित ने केवल सन्धिकार्य में उपयोगी संज्ञाओं का संकलन किया है । इस दृष्टि से 'संज्ञा-प्रकरण' की समाप्ति सूचित की है । इस कारण आम्रेडित, टि, घु, भ, लोप आदि—अन्य संज्ञाओं का समावेश प्रयोगवश यथास्थान किया जायगा ।

संज्ञाप्रकरण समाप्त ।

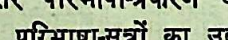

परिभाषा-प्रकरण

उपक्रम—संज्ञाप्रकरण के अनन्तर परिभाषा-प्रकरण आरम्भ होता है । नियमों के अभाव में नियम अर्थात् व्यवस्था करना परिभाषा-सूत्रों का उद्देश्य है—"अनियमे नियमकारिणी परिभाषा" । 'परिभाषा' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी इसी प्रकार है—परितः सर्वतो भाष्यन्ते नियमाः याभिः ताः=परिभाषाः । अर्थात् जिन से सब तरह के नियमों की स्थिरता की जाय वे परिभाषा-सूत्र हैं । परिभाषा-सूत्र भी संज्ञासूत्रों की तरह स्वयं विधान नहीं करते किन्तु अन्य विधि अथवा निषेध-सूत्रों के साथ इनकी भी एकवाक्यता होती है । तथापि संज्ञा और परिभाषासूत्रों में यह अन्तर है कि परिभाषासूत्र विधिसूत्रों का अङ्ग बन जाते हैं, किन्तु संज्ञासूत्र अंग नहीं बनते ।

(३४) पद—इकः, गुणवृद्धी । **अनुवृत्ति**—गुणः, वृद्धिः । **परिभाषासूत्र ।**

मूलार्थ—गुण और वृद्धि शब्दों से जहाँ क्रमशः गुण और वृद्धि का विधान किया जाता है वहाँ 'इकः' ('इक्' के स्थान में) षष्ठ्यन्त पद की उपस्थिति होती है ।

सन्दर्भ—अष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय में पठित सन्धिकार्यादि में उपयोगी परिभाषाओं का संकलन भट्टोजिदीक्षित इस प्रकरण में कर रहे हैं ।

विवरण—गुण और वृद्धि-विधायक सूत्रों में जहाँ स्थानी का निर्देश न किया गया हो वहाँ स्थानी के विषय में इस सूत्र के द्वारा व्यवस्था की जा रही है । तदनुसार विधिसूत्रों में स्थानी का निर्देशक कोई शब्द षष्ठी-विभक्ति में रहता है, वहीं दूसरा षष्ठ्यन्त पद इस परिभाषा के कारण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दैर्यत्राज्विधीयते तत्र 'अचः' इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते। (३६) आद्यन्तौ टकितौ

करण' इत्यात्मनेपदम्। सोऽयं पदोपस्थितिपक्षो भाष्यादौ सिद्धान्तितः। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' 'सिदेर्गुणः' इत्याद्युदाहरणम्। इक इत्यस्यान्वयप्रकारस्तु तत्र तत्र स्पष्टीभविष्यति। यत्र विधीयते इत्युक्त्वा वृद्धिर्यस्याचामित्याद्यनुवादे इक इति नोपतिष्ठते। अनुवादे परिभाषाणामनुपस्थितेः। 'त्यदादीनामः'इत्यादावपि नेदमुपतिष्ठते, तत्र गुणवृद्धिशब्दयोरश्रवणात्।

(३५) अचश्च। अच इत्यपि षष्ठ्यन्तशब्दः स्वरूपपरः, पूर्वसूत्रे इक इतिवत्। ऊकालोऽजित्यतः 'अचो ह्रस्वदीर्घप्लुतः' इत्यनुवर्तते। इति यत्र विधीयत इत्यध्याहार्यम्। फलितमाह—ह्रस्वेत्यादिना। 'दिव उत्' इत्यादौ तु नेदं प्रवर्तते, ह्रस्वादिशब्दानाम् अश्रवणात्। 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इत्याद्युदाहरणम्। श्रीपम्। नेह—सुपात् ब्राह्मणकुलम्।

उपस्थित हो जाता है। इसके फलस्वरूप अर्थ करते समय विधिसूत्रों में उच्चरित वास्तविक स्थानी का निर्देशक 'शब्द' इकः पद का विशेषण हो जाता है। अथवा 'इकः' शब्द सूत्र में उच्चरित षष्ठ्यन्त शब्द का विशेषण मान लिया जाता है। इसका यह तात्पर्य हुआ कि जहाँ गुण-वृद्धि पद से गुण-वृद्धि का विधान किया जाता है वहाँ 'इक्' के स्थान में गुण-वृद्धि का विधान समझना चाहिए। वह 'इक्' पद भी सामानाधिकरण्य संभव होने पर 'अङ्ग' के साथ सम्बद्ध होने से इगन्त-अङ्ग को गुण-वृद्धि का विधान करने में समर्थ होता है। इस परिभाषा के मानने से "मिदेर्गुणः" (७-३-६२) तथा "मृजेर्वृद्धिः" (७-२-११४) आदि सूत्रों से विधीयमान गुण तथा वृद्धि में स्थान का निर्देश न होने से 'इक्' की उपस्थिति होने के कारण 'मिद्' धातु के 'इक्' को गुण (इ=ए) तथा 'मृज्' धातु के 'इक्' (ऋकार) को वृद्धि (ऋ=आर्) होते हैं। "अदेङ् गुणः" से 'गुण'-पद तथा "वृद्धिरादैच्" सूत्र से अनुवृत्त 'वृद्धि' पद अपने शब्दस्वरूप में ही स्थित रहते हैं। प्रकृत सूत्र में उच्चरित 'गुण-वृद्धि' शब्द अर्थबोधक होने के कारण क्रमशः अ, ए, ओ तथा आ, ऐ, औ के परिचायक हैं।

विशेष—पूर्व दो सूत्रों से 'गुण' और 'वृद्धि' पद की अनुवृत्ति होते हुए भी प्रकृत सूत्र में पुनः 'गुण-वृद्धि' ग्रहण करने का यह फल है कि जहाँ 'गुणवृद्धि' शब्द अपनी संज्ञा में विधीयमान न हों वहाँ पर 'इक् के स्थान में गुण-वृद्धि नहीं होंगे। इसका उदाहरण "द्यौः" है—दिव्+सु, <दि औ+सु—"दिव औत्" (७-१-८२) व्=औ, <द्यौ+सु—इक् पद से विधीयमान न होने के कारण 'इ' के स्थान में 'औ' नहीं हुआ। इसी प्रकार 'सः' में (तद्+सु, <त अ+सु, <त सु, <स+सु<सः—स्=र्=:) "त्यदादीनामः" (७-२-१०२) से होने वाला अकार गुणशब्द से विधीयमान न होने के कारण अकार के स्थान में न होकर 'द्' के स्थान में हुआ।

(३५) पद—अचः, च। **अनुवृत्ति**—अच्, ह्रस्वदीर्घप्लुतः। **परिभाषासूत्र।**

मूलार्थ—ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत शब्दों से जहाँ किसी 'अच्' कार्य का विधान होता है वहाँ "अचः" ('अच्' के स्थान में) षष्ठ्यन्त पद की उपस्थिति होती है।

विवरण—सूत्र में केवल दो पद हैं अचः, च। जिनसे यह अपूर्ण अर्थ निकलता है 'और अच् के स्थान में'। क्या हो? इसके उत्तर के लिये "ऊकालोऽज्—ह्रस्वदीर्घप्लुतः" (१-२-१७) से 'अच्-ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत' शब्दों की अनुवृत्ति की जाती है। 'ह्रस्वदीर्घप्लुतः' पद की प्रथमा विभक्ति तृतीया-विभक्ति में विपरिणमित हो जाती है। तदनुसार ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत शब्दों के द्वारा अच्-कार्य का विधान होने पर वह कार्य 'अच्' के स्थान पर हो—ऐसा अर्थ किया जाता है। ह्रस्व का उदाहरण "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" (१-२-४७) सूत्र से ह्रस्व का विधान 'अच्' के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१।१।४६ ॥ टित्कितो यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः । (३७) मिदचोऽन्त्यात्परः

---

(३६) आद्यन्तौ टकितौ । आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ । टश्च कश्च टकौ । टकारादकार उच्चारणार्थः । टकौ इतौ ययोस्तौ टकितौ । द्वन्द्वान्त इच्छब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते । टित्किताौ आद्यन्तावयवौ स्तः । कस्येत्याकाङ्क्षायां यस्य तौ विहितौ तयोरित्यर्थाल्लभ्यते । तदाह—टित्किताविवादिना । क्रमादिति यथासङ्ख्यसूत्रलभ्यम् । टित् आद्यवयवः, कित् अन्तावयव इत्यर्थः । न चैवं सति मिलितयोरेकत्रान्वयाभावात् कथमिह द्वन्द्व इति वाच्यम्, प्रथमतः समुदायरूपेण परस्परं युगलयोरन्वयबोधमादाय द्वन्द्वप्रवृत्तौ सत्यां यथासङ्ख्यसूत्र-पर्यालोचनया पुनः प्रत्येकान्वयोपपत्तेः । 'एचोऽयवायावः' इत्यादावप्येवैव गतिः । लोके त्वेवञ्जातीयकप्रयोगः असाधुरेवेति भाष्यादिषु स्पष्टम् । अत्रैव यथासङ्ख्यसूत्रोपन्यासो युक्तः । 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' भविता । 'ङ्णोः कुक् टुक् शरि' प्राङ्क्पष्ट-इत्या-द्युदाहरणम् । 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' इति 'षष्ठी स्थाने-योगा' इत्यस्यानन्तरस्यैवायमपवादः । 'प्रत्ययः' 'परश्च' इत्यनेन तु परत्वादिदं बाध्यते । तेन 'चरेष्टः, 'गापोष्टक्' इत्यादयः परा एव भवन्ति ।

(३७) मिदचोऽन्त्यात्परः । मकारः इत् यस्य सः मित्—अन्त्यादचः परो भवतीत्यर्थे

स्थान पर होने के कारण 'अतिरिकुलम्' (अतिक्रान्तं रायं यत् कुलम्—जिस कुल ने धन का उल्लंघन किया है) में 'अतिरै' पदावयव 'ऐ' के 'अच्' (स्वर) होने के कारण "एच इग् ह्रस्वा-देशे" (१-१-४८) के आधार पर ए = इ हुआ । दीर्घ का उदाहरण 'चीयते—√चि+य+ते—"अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः" (७-४-२५) से सार्वधातुक परे रहते दीर्घ 'चि' के इकार को हुआ । प्लुत का उदाहरण—'देवदत्त३'—में वाक्य की 'टि' को प्लुत का विधान होने के फलस्वरूप अन्तिम अच्-वर्ण (अकार) को ही प्लुत हुआ ।

विशेष—ह्रस्व तथा दीर्घ शब्दों के अतिरिक्त अच्-कार्यों के विधान में 'अच्' की उपस्थिति न होने से "दिव उत्" (६-१-१३१) तथा "अष्टन आ विभक्तौ" (७-२-८४) से क्रमशः विधीयमान उकार तथा आकार 'व्' तथा 'न्' के स्थान में होते हैं । उदाहरण (१) 'द्युभ्याम्'—दिव्+भ्याम्, <दि उ+भ्याम्—व्=उ, <द्युभ्याम्—यण् । (२) अष्टाभिः—अष्टन्+भिस्, <अष्ट आ+भिस्, अष्टाभिः—दीर्घ, स्=र्=: ।

(३६) **पद**—आद्यन्तौ, टकितौ । **परिभाषासूत्र** ।

मूलार्थ—टकार-इत्संज्ञक तथा ककार-इत्संज्ञक आगम जिस आगमी को विधीयमान हो वह क्रमशः उसका आदि और अन्तका अवयव होता है ।

विवरण—सूत्र में केवल दो पद है, टकितौ, आद्यन्तौ । विग्रह है—टश्च कश्च=टकौ । टकौ इतौ ययोः तौ=टकितौ—द्वन्द्वगर्भित बहुव्रीहि । आदिश्च अन्तश्च—आद्यन्तौ—इतरेतरद्वन्द्व । अक्षरार्थ—टित् एवं कित् आद्यवयव एवं अन्तावयव होते हैं । अर्थात् किसी के अवयव को किया गया टकार-इत्संज्ञक विधान 'यथासंख्य' परिभाषा की सहायता से उसके आदि में तथा ककार-इत्संज्ञक विधान उसके अन्त में अवयव की तरह स्थित रहता है । **उदाहरण—टित्**—षट्त्सन्तः । प्रक्रिया—षड् + सन्तः, <षड् ध्+सन्तः—"डः सि धुट्" (८-३-२९) से धुट् (ध्) सकार का आदि-अवयव, <षड् त् सन्तः—चर्त्व—ध्=त् । **उदाहरण कित्**—भीषयते । प्रक्रिया—√भी+णिच् (इ), <भी ष्+इ—"भियो हेतु भये" पुक् (प्) आगम 'भी' का अन्तावयव, <भीषि+अ+त—त, शप् (अ), <भीषे+अ+त—गुण, <भीषय्+अ+त—अय्-आदेश, <भीषयते—'टि' (अ) को एकार ।

(३७) **पद**—मित्, अचः, अन्यात्, परः । **परिभाषासूत्र** ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१।१।४७॥ 'अचः' इति षष्ठ्यन्तम्। अचां मध्ये योऽन्त्यस्तस्मात्परस्तस्यैवान्तवयवो मित्स्यात्। (३८) **षष्ठी स्थानेयोगा १।१।४९॥** अनिर्धारितसम्बन्धविशेषा षष्ठी स्थानेयोगा बोध्या। स्थानं च प्रसङ्गः। (३९) **स्थानेऽन्तरतमः १।१।५०॥** प्रसङ्गे

'शे मुचादीनाम्' इत्यादाविदं न प्रवर्तते तत्रान्त्यस्याचोऽभावाद्। अत आह—अच इति षष्ठ्यन्तमिति। 'यतश्च निर्धारणम्' इत्यनेनेति शेषः। अच इत्येकत्वमविवक्षितम्। तदाह—अचां मध्य इत्यादिना। अन्तावयव इति। एतच्च आद्यन्ताविति यतः अन्तग्रहणानुवृत्त्या लभ्यते, आद्यन्तशब्दैकदेशस्यान्तशब्दस्य तन्मात्रे स्वरितत्वप्रतिज्ञाबलेनानुवृत्तिसम्भवात्। आदिग्रहणमनुवर्त्य परादित्वाभ्युपगमे तु वारीणीति बहुवचने 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति नान्ताङ्गस्य विहितो दीर्घो न सिध्येत्। अभक्तत्वे तु वहंलिहः इत्यत्र 'वहाश्रे लिहः' इति खशि, 'अरुर्द्विषत्' इति मुमि, तस्य 'मोऽनुस्वारः' इति मान्तस्य पदस्य विहितोऽनुस्वारो न स्यात्। वस्तुतस्तु—यस्य समुदायस्य मिद्विहितः तस्याचां मध्ये योऽन्त्यस्तस्मात्परः तस्य समुदायस्य अन्तावयव इति व्याख्येयम्। अत एव 'समुदायभक्तो मित्' इति भाष्यं सङ्गच्छते। समासाश्रयविधौ मूलकारश्च वक्ष्यति—'अङ्गस्य नुम्विधानात् तद्भक्तो हि नुम्' इति।

(३८) षष्ठी स्थानेयोगा। स्थानं प्रसङ्ग इति वक्ष्यति। तस्मिन् वाचकतया योगो यस्याः सा स्थानेयोगा, निपातनात् ससम्या अलुक्। स्थानेन योगो यस्या इति वा विग्रहः। निपातनादेत्वम्। इको यणचीत्यादौ षष्ठी स्थानरूपसम्बन्धार्थिकेत्यर्थः। लोके तावदेकशतं षष्ठ्यर्थाः, आर्था यौना मौखाः स्त्रौवाश्च। शब्दस्य शब्देन त्रय एव सम्बन्धाः—आनन्तर्यं, सामीप्यं, प्रसङ्गश्चेति। तत्रान्यतमार्थनिर्धारणार्थमिदं सूत्रमिति

मूलार्थ—यहाँ 'अचः' पद षष्ठीविभक्ति में प्रयुक्त है। अच् समुदाय में जो अन्तिम अच्, उससे पर मकार-इत्संज्ञक विधान होने पर वह उसी का अन्त-अवयव होता है।

विवरण—सूत्र में चार पद हैं—मित्, अचः, अन्त्यात्, परः। 'अचः'—निर्धारण अर्थ में षष्ठी विभक्ति है। एक वचन का प्रयोग जाति का सूचक है। अच्=स्वरवर्ण। अन्त्यः=अन्तिम अवयव। तदनुसार स्वरवर्णों में (अचः) विद्यमान जो अन्तिम अच्, (अन्त्यात्) उससे पर (परः) मकार-इत्संज्ञक (मित्) प्रत्ययादि की स्थिति रहती है। तात्पर्य यह है कि यदि किसी अच्-समुदाय का अवयव मकार-इत्संज्ञक होगा तो उसकी स्थिति उस अच्-समुदायके अन्तिम अज्-वर्णके पश्चात् रहेगी[1]। यह सूत्र "षष्ठी स्थानेयोगा" (८-१-४७) तथा "परश्च" (३-१-२) का अपवाद है। **उदाहरण**—ज्ञानानि। प्रक्रिया—ज्ञान+जस्, <ज्ञान+शि (इ)—"जस्-शसोः शिः" (७-१-२०), <ज्ञान+न्+इ—"नपुंसकस्य झलचः" (७-१-७२)—नुन् आगम मित् होने से 'ज्ञान' शब्द के अन्तिम अच्—'अ' के पश्चात्, <ज्ञानान्+इ—सर्वनामस्थान दीर्घ=ज्ञानानि। "परश्च" का अपवाद होने के कारण मकार—इत्संज्ञक विकरण (प्रत्यय) 'श्नम्' भी अन्तिम अच् के बाद होने से 'रुणद्धि' में 'रुध्' के अवयव 'उ' के बाद 'न' की स्थिति हुई। अन्यथा धकार के बाद 'नुम्' होता।

(३८) **पद**—षष्ठी, स्थानेयोगा। **परिभाषासूत्र।**

मूलार्थ—किसी सम्बन्ध-विशेष के निर्धारित न किये जाने पर 'षष्ठी'विभक्ति स्थान के साथ सम्बन्ध वाली होती है।

सन्दर्भ—किसी प्रकार के सम्बन्ध को न बतलाने वाली षष्ठी के विषय में व्यवस्था की जा रही है।

विवरण—योग के साथ सम्बद्ध होने के लिये यह परिभाषासूत्र है। भाष्यकार ने षष्ठी के एक सौ

---

१. समुदायभक्तोऽसौ नोत्सहतेऽवयवस्गेगन्ततां विहन्तुम्। (महाभाष्यम्)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सति सदृशतम आदेशः स्यात्। 'यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः'।

भाष्यम्। ततश्च 'इको यणचि' इत्यादौ इक इति षष्ठ्या स्थानमुच्यते। तस्मिन् प्रकृत्यर्थः इक् निरूपकतयाऽन्वेति। अचि परतः इकः प्रसङ्गे यण् स्यादिति। विवरणवाक्ये त्वस्मिन् इक इति—षष्ठी निरूपकतायामिति न पुनरुक्तिः शङ्क्या। यथा—देवदत्तस्यावयवः पाणिरिति। 'ऊदुपधाया गोहः' इत्यत्र तु गोह इति षष्ठी न स्थानार्थिका, उपधापदसमभिव्याहारेण अवयवषष्ठीत्वनिर्धारणात्, परिभाषाणां च अनियमे नियमनार्थमेव प्रवृत्तेः। तदेतदाह—अनिर्धारितेत्यादिना। अनिर्धारितः सम्बन्धविशेषो यस्या इति विग्रहः। तदेवमुदाहृतप्रकृतभाष्यरीत्या 'इको यणचि' इत्यादौ षष्ठी स्थानरूपसम्बन्धविशेषार्थिकेति स्थितम्। मतुप्सूत्रभाष्ये तु 'अनन्तरादयो न षष्ठ्यर्थाः' इति स्थितम्। एवं सति स्थाने इति सप्तम्यन्तपदेन योगो यस्या इति विग्रहे स्थाने इति सप्तम्यन्तस्यानुकरणम्। षष्ठीश्रुतौ स्थाने इति सप्तम्यन्तं पदमुपतिष्ठत इति फलति। स्थानेन स्थानपदार्थेन योगो यस्या इति तृतीयान्तविग्रहे तु अध्याहृतस्थानपदार्थनिरूपितसम्बन्धार्थिकेत्यर्थः। 'अस्तेर्भूर्भवतीति सन्देहः स्थाने अनन्तरे समीपे इति' इत्यादिप्रकृतसूत्रभाष्यस्य तु अस्तेरनन्तरे इत्यध्याहृतानन्तरादिपदार्थनिरूपितसम्बन्धे षष्ठीत्येवार्थः। अनन्तरादीनां षष्ठ्यर्थत्वं तु नास्त्येवेति प्रौढमनोरमायां 'हलन्त्यम्' इति सूत्रे स्थितम्। तद्व्याख्याने च शब्दरत्ने शब्देन्दुशेखरे च बहुधा प्रपञ्चितम्। अनिर्धारितेति किम्। 'ऊदुपधाया' इत्यत्र गोह इति षष्ठ्याः स्थानार्थकत्वं मा भूत्। सति तु तत्रापि स्थानार्थकत्वे गोहोऽन्त्यस्य उपधामात्रस्य च ऊत् स्यात्। ननु स्थानशब्द आधारवाची लोके प्रसिद्धः। यथा शिवस्थानं कैलासः, विष्णुस्थानं वैकुण्ठ इत्यादौ। एवं च 'इको यणचि' इत्यादौ षष्ठ्याः स्थानार्थकत्वे प्रकृत्यर्थस्य तत्र निरूपकत्वेन अभेदेन वा अन्वये सति इकोऽधिकरणे यण् स्यात् इति, इगधिकरणको यण् स्यादिति वा अर्थः स्यात्। तत इको निवृत्तिर्न स्यादित्यत आह—स्थानं च प्रसङ्ग इति। क्वचिदाभिचारेष्टौ दर्भाणां स्थाने शरैः प्रस्तरितव्यमित्यत्र स्थानशब्दस्य प्रसङ्ग इति दर्शनादिति भावः। एवं च तत्र यथा शरैर्दर्भा निवर्त्यन्ते, तद्वद् 'इको यणचि' इत्यादावपि यणादिभिरिगादयो निवर्त्यन्ते। तत्र च यः प्रसक्तो निवर्तते, स स्थानीति व्यवह्रियते, यो निवर्तयति स आदेश इति।

(३९) स्थानेऽन्तरतमः। स्थानं प्रसङ्ग इत्युक्तम्। अन्तरशब्दोऽत्र सदृशपर्यायः,

---

एक अर्थों का उल्लेख अनेकार्थ के रूप में किया है[1]। इस तरह षष्ठी के अनेक अर्थ होते हैं। जैसे—समीप, आनन्तर्य, अवयव, विकार, स्वस्वामिभाव आदि। इनमें से जिस षष्ठी का कहीं कोई सम्बन्ध न मिल पाता हो उसे 'अनियतयोगा षष्ठी' कहते हैं। इस प्रकार की 'षष्ठी' का सम्बन्ध 'स्थाने' शब्द के साथ होता है (स्थाने योगः अस्याः सा—स्थानेयोगा—व्यधिकरण बहुव्रीहि, निपातन से सप्तमी का लोप नहीं हुआ)। स्थान शब्द का अर्थ है (अवसर) प्रसङ्ग। जैसे 'दर्भाणां स्थाने शरैः प्रस्तरितव्यम्' (कुशों के प्रसङ्ग में काशों का उपयोग किया जाता है) में स्थान शब्द का आशय प्रसङ्ग है। इसके अनुसार "ऊदुपधाया गोहः" (६-४-८९) में उपधा का निर्देश होने के कारण √गूह् की उपधा ऊ-कार को दीर्घ होता है। किन्तु "इको यणचि" (६-१-७७) में 'इकः' पद के षष्ठी के अर्थ में किसी प्रकार निर्देश न होने के कारण 'इक्' के स्थान में'—ऐसा अर्थ किया जाता है।

(३९) पद—स्थाने, अन्तरतमः। अनुवृत्ति—स्थाने (षष्ठी)। परिभाषासूत्र।

मूलार्थ—प्रसङ्ग होने पर सदृशतम आदेश होता है।

---

१. एकशतं षष्ठ्यर्थाः। यावन्तो वा सन्ति ते सर्वे षष्ठ्यामुच्चारितायां प्राप्नुवन्ति। इष्यते च व्याकरणे या षष्ठी सा स्थानेयोगैनैव स्यादिति।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिशयितोऽन्तरः अन्तरतमः तदाह—प्रसङ्गे सतीत्यादिना। एकस्य स्थानिनः अनेकादेश-प्रसङ्गे सति यः स्थानार्थगुणप्रमाणतः स्थानिना सदृशतमः स एवादेशो भवतीत्यर्थः। अत्र स्थानशब्देन तालवादिस्थानं विवक्षितम्। गुणशब्देन प्रयत्नः। प्रमाणशब्देन एकद्विमात्रादिपरिमाणम्। तत्र स्थानतो यथा—दध्यत्र। तालुस्थानकस्य इकारस्य तालुस्थानको यकारः। अर्थतो यथा—'तृज्वत्क्रोष्टुः' इति क्रोष्टुशब्दस्य उकारान्तस्य तृजन्त आदेशो भवन्, अर्थसाम्यात् क्रोष्टृशब्द एव तृजन्त आदेशो भवति। गुणतो यथा—वाग्घरिः। अत्र हकारः स्थानी घोषनादसंवारमहाप्राणप्रयत्नवान्। तस्य गकार-सवर्णो भवंश्चतुर्थो घकारो भवति, तस्य हकारेण स्थानिना घोषनादसंवारमहाप्राणप्रयत्न-साम्यात्। ककारस्तु न भवति, तस्य श्वासाघोषविवाराल्पप्राणप्रयत्नकत्वात्। तथा खकारोऽपि द्वितीयो न भवति, तस्य महाप्राणप्रयत्नसाम्येऽपि श्वासाघोषविवारप्रयत्न-भेदात्। तथा तृतीयोऽपि गकारो न भवति, तस्य घोषनादसंवारप्रयत्नसाम्येऽपि अल्प-प्राणप्रयत्नभेदात्। अतएव ङकारो न भवति। नन्वत्र हकारस्य खकारो द्वितीयः कुतो न स्यात्, तस्य स्थानिना हकारेण श्वासाघोषविवारप्रयत्नभेदे सत्यपि महाप्राणप्रयत्नसाम्य-सत्त्वात्। तथा तृतीयो वा गकारः कुतो न स्यात्, तस्य स्थानिना हकारेण अल्पप्राण-प्रयत्नभेदेऽपि घोषनादसंवारप्रयत्नसाम्यसत्त्वात्, अतएव ङकारो वा कुतो न स्यादिति चेन्न, तमब्ग्रहणेन उक्तातिप्रसङ्गनिरासात्। अतिशयितो ह्यन्तरः अन्तरतमः। अतिशयितं च प्रयत्नतः सादृश्यं हकारेण घकारस्यैव, उभयोरपि घोषनादसंवारमहाप्राणात्मकप्रयत्न-चतुष्टयसाम्येन सादृश्यातिशयसत्त्वात्। खकारस्य महाप्राणप्रयत्नसाम्येऽपि घोषनादसंवार-प्रयत्नविरहात्। गङयोः घोषनादसंवारप्रयत्नसाम्येऽपि महाप्राणप्रयत्नविरहात्। प्रमाणतो यथा—'अदसोऽसेर्दादुदो मः' इति ह्रस्वस्य उकारः, दीर्घस्य ऊकारः। नन्वेवमपि चेता स्तो-

---

सन्दर्भ—अन्तरतम-परीक्षा के सम्बन्ध में व्यवस्था।

विवरण—यह संज्ञाप्रकरण में बतलाया गया है कि अन्तरतम-परीक्षा (सबसे अधिक निकटता बतलाना) में बाह्य-प्रयत्नों की भी उपयोगिता होती है। उसका निर्वचन यहाँ किया जा रहा है। जब किसी वर्ण के स्थान में अनेक आदेशों का अवसर आता है तब जो सबसे अधिक सदृशतम (अन्तरतम) हो, उसके स्थान में वही होता है। उदाहरण—सुधी+उपास्यः—यहाँ 'इ' के स्थान में यण्—य्, व्, र्, ल् चारों प्राप्त होते हैं। किन्तु 'ईकार' के स्थान में इन चारों में से 'य्' सबसे अधिक निकट है, क्योंकि 'इ' तथा 'य्' का तालु स्थान है।

विशेष—शब्दों का अत्यधिक सादृश्य चार प्रकार से देखा जाता है—(१) स्थानकृत, (२) अर्थकृत (३) गुणकृत (४) प्रमाणकृत। इनके क्रमशः उदाहरण (१) दण्डाग्रम्—दण्ड+अग्रम् में (अ+अ=आ) दोनों अकार (पूर्व तथा पर) कण्ठस्थानी हैं, अतः दीर्घ आकार भी कण्ठस्थानी हुआ। (२) भवताम् √भू+तस्, <भू+अ+तस्, <भव् अ+तस्, <भव+ताम् में "तस्थस्थमिपां०" (३-४-१०१) से प्रथम पुरुष द्विवचन के बोधक तस् के स्थान में द्विवचन-बोधक 'ताम्' हुआ। (३) वाग्घरिः—वाग्+हरिः में संवार, नाद, घोष, तथा महाप्राण प्रयत्न वाला 'ह्'='घ्' हुआ। यहाँ गुण से तात्पर्य प्रयत्नों से है। दोनों प्रकार के प्रयत्नों का साम्य अपेक्षित है। (४) प्रमाणकृत आन्तर्य में मात्रासाम्य अपेक्षित है। **उदाहरण**—अमुष्मै तथा अमूभ्याम्। इन दोनों में क्रमशः एकमात्रिक प्रमाणवाले (ह्रस्व) अकार के स्थान में ह्रस्व उकार तथा द्विमात्रिक आकार (दीर्घ) के स्थान में दीर्घ ऊकार हुए हैं—"अदसोसेर्दादुदोमः" (८-२-८०)। प्रक्रिया (१) अदस्+ङे<अद अ+ङे <अद+ङे<अद+स्मै अमु<स्मै—दकारोत्तरवर्ती एकमात्रिक 'अ'=ह्रस्व 'उ' तथा द् = म—"अदसोसेर्दादुदो मः" (८-२-८०), <अमुष्मै—षत्व। (२) अदस्+भ्याम्, <अद अ+भ्याम्–स् = अ ("त्यदादीनामः"), <अद+भ्याम्—पररूप, <अदा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(प १४) (४०) तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य १।१।६६ ॥ सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाऽव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम्। **(४१) तस्मादित्युत्तरस्य १।१।६७ ॥**

तेत्यत्र इकारस्य उकारस्य च 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणो भवन् प्रमाणत आन्तर्यवानकारः कुतो न स्यादित्यत आह—यत्रेति। तेन इकारस्य एकारः, उकारस्य ओकारश्च गुणो भवति, स्थानसाम्यात्। न त्वकारः, स्थानभेदात्। न च इकारेण एकारस्य उकारेण ओकारस्य च कथं स्थानसाम्यम्, एकारस्य ओकारस्य च कण्ठस्थानाधिक्यादिति वाच्यम्। यावत्स्थानसाम्यस्य सावर्ण्यप्रयोजकत्वेऽपि आन्तरतम्यपरीक्षायां कथञ्चित् स्थानसाम्यस्यैव प्रयोजकत्वात्। अत्र सूत्रे पूर्वसूत्रात् स्थानेग्रहणमनुवर्तते, एकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञाबलात्। तृतीयान्तं च विपरिणम्यते। अनुवर्त्यमानश्चायं स्थानशब्दः पूर्वसूत्रे प्रसङ्गपरोऽप्यत्र तालव्याद्यन्यतमस्थानपरः, शब्दाधिकाराश्रयणात्। अन्तरतम इत्यपि तेन सम्बध्यते। ततश्च स्थानेनान्तरतम इति वाक्यान्तरं सम्पद्यते। सति सम्भवे तालव्यादिस्थानत एवान्तरतमो भवतीत्यर्थः। ततश्च यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्तर्यं बलीय इति भवति।

(४०) तस्मिन्निति निर्दिष्टे। 'इको यणचि' इत्यत्र अचि इकः यण् स्यादित्यवगतम्। तत्र अचो वर्णान्तराधिकरणत्वं न सम्भवतीति सति सप्तम्याश्रयणीया। अचि सति इको यण् स्यादिति, तत्र व्यवहिते अव्यवहिते च इको यण् प्राप्तः। ततश्च समिधमित्यत्र धकारव्यवहिते अकारे सत्यपि मकारादिकारस्य यण् स्यात्। तथा अचि सति पूर्वस्य परस्य वा इको यण् प्राप्तः। ततश्च दध्युदकमित्यत्र इकारे अचि सति उकारस्य परस्यापि इको यण् स्यात्। तत्र अव्यवहित एव अचि भवति न व्यवहिते, पूर्वस्यैव भवति न परस्येत्येतदर्थमिदमारभ्यते। तस्मिन्निति न तच्छब्दः स्वरूपपरः। तथा सति 'तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ' इत्यादावेव प्रवर्तेत न त्विको यणचीत्यादौ। किन्तु इको यणचीत्यादिसूत्रगतस्य

+ष्याम्—दीर्घ ("सुपि च"), <अमू—ष्याम्—'द्'=म् तथा 'आ'=ऊ।

विशेष—प्रकृतसूत्र में "षष्ठी स्थानेयोगा" से 'स्थाने' की अनुवृत्ति आने पर पुनः 'स्थाने' ग्रहण करने का यह फल है कि जहाँ अनेक प्रकार के आन्तर्य की प्राप्ति हो वहाँ स्थानकृत आन्तर्य (सामीप्य) ही बलवान् होता है। उदाहरण—चेता। प्रक्रिया—√चि+लुट्, <चि+ति, <चि+तास्+ति, <चे+तास्+डा (आ)—इ = ए–गुण, <चेत्+आ—आस् (टिलोप) = चेता। इकार को होने वाला एकार गुण-स्थान-साम्य के कारण (इ–तालु, ए–कण्ठ-तालु) हुआ। अन्यथा प्रमाणकृत आन्तर्य से एकमात्रिक 'इ' के स्थान में ह्रस्व 'अकार' गुण के रूप में हो जाता।

(४०) पद—तस्मिन्, इति, निर्दिष्टे, पूर्वस्य। **परिभाषासूत्र।**

मूलार्थ—सप्तम्यर्थ पद से निर्दिष्ट किया हुआ कार्य अव्यवहित पूर्व के स्थान पर होता है।

विवरण—यहाँ 'इति' शब्द अर्थ-निर्देश के लिये है। अतः 'तस्मिन्' पद से शब्द-स्वरूप का ग्रहण नहीं होता। किन्तु सप्तमी विभक्ति यह उसका अर्थ लिया जाता है। 'निर्दिष्ट' का अर्थ अव्यवहित रूप में उच्चारित है। तदनुसार सप्तमी-विभक्ति से[1] निर्दिष्ट किया हुआ जो शब्द हो, उससे अव्यवहित पूर्व को कार्य होता है। इसके फलस्वरूप 'सुध्युपास्यः' में "इको यणचि" (६-१-७७) से विधीयमान 'यण्' (इ=य्) इस परिभाषा की एकवाक्यता होने पर 'इक्' और 'अच्' के मध्य किसी का व्यवधान न होने पर (सुधी+उपास्यः) धकारोत्तरवर्ती 'ई' के स्थान में ही हुआ।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'निर्दिष्ट' पद का ग्रहण व्यवधान-निवृत्ति के लिये है। अन्यथा 'अग्निचिदत्र" (अग्निचिद्—अत्र) में 'चि' के इकार को 'द्' का व्यवधान होने पर भी 'यण्' हो

---

१. निरिति नैरन्तर्ये। दिशिरुच्चारणार्थः। निर्दिष्टग्रहणमानन्तर्यार्थम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पञ्चमीनिर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम्। (४२) अलोऽ-

---

अचीत्यादिसप्तम्यन्तपदस्य तस्मिन्नित्यनुकरणम्। इतीत्यनन्तरं गम्येऽर्थे इति शेषः। निरिति नैरन्तर्ये। दिशिरुच्चारणे। एवं च 'इको यणचि' 'रायो हलि' इत्यादिसूत्रेषु अचि हलि इत्येवं सप्तम्यन्तपदगम्येऽर्थे दध्यत्र सुध्युपास्य इत्यादिप्रयोगदशायां निर्दिष्ट अव्यवहितोच्चारिते सति पूर्वस्य कार्यं भवति। न तु व्यवहितोच्चारिते, नापि परस्येति फलितोऽर्थः। व्यवधानं च वर्णान्तरकृतमेव निषिध्यते, न तु कालकृतम्। 'इको यणचि' इत्यादौ कालकृतव्यवधानस्य संहिताधिकारादेव निरासलाभात्, तत्र कालकृतव्यवधानस्याप्यनेनैव सूत्रेण निरासे संहिताधिकारस्य वैयर्थ्यापातात्। एवं च ये संहिताधिकारबहिर्भूताः 'आनङृतो द्वन्द्वे' 'देवता द्वन्द्वे च' इत्यादयः उत्तरपदे परतः आनङादिविधयः, ते सर्वे अग्नाविष्णू इत्यग्नाविष्णू इत्याद्यवग्रहे कालव्यवधानेऽपि भवन्ति। एतत्सर्वमभिप्रेत्य पर्यवसन्नार्थमाह—स-मानिर्देशेनेत्यादिना। इति सूत्राक्षरानुयायी पन्थाः। 'अतिशायने तमप्' इत्यत्र तु नेयं परिभाषा प्रवर्तते, सप्तम्यन्तातिशायनपदार्थस्य शब्दरूपत्वाभावेनाव्यवहितोच्चारितत्वरूपनिर्दिष्टत्वासम्भवात्। न चैवमपि 'कर्तृकर्मणोः कृति' इत्यत्रापि अस्याः परिभाषायाः प्रवृत्तौ कर्तृषष्ठी कर्मणि षष्ठी च कृष्णस्य कृतिः, जगतः कर्ता कृष्ण इत्यत्रैव स्यात्, न तु कृतिः कृष्णस्य, कर्ता जगत इत्यत्र इति वाच्यम्। लक्ष्यानुरोधेन क्वचिदेवज्ञातीयकेषु अस्याः परिभाषाया अप्रवृत्तिरिति 'इनाम्नलोप' इति सूत्रे भाष्ये प्रपञ्चितत्वात्। वस्तुतस्तु भाष्यानुसारेण अत्र सूत्रे निर्दिष्टग्रहणं संहिताधिकारसूत्रं च विफलमेवेति इको यणचीत्यत्र वक्ष्यते।

(४१) तस्मादित्युत्तरस्य। 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' 'उदःस्थास्तम्भोः पूर्वस्य' इत्यादिसूत्रगतपञ्चम्यन्तस्यानुकरणं तस्मादिति। इति-शब्दानन्तरं गम्येऽर्थे इति शेषः। निर्दिष्टे इत्यनुवर्तते। निरिति नैरन्तर्ये। दिशिरुच्चारणे। द्व्यन्तरित्यादिसूत्रेषु पञ्चम्यन्तगम्ये अर्थे द्व्यन्तरादिशब्दे निर्दिष्टे अव्यवहितोच्चारिते सत्येव ततः परस्यैव ईत्त्वं भवति, न तु

जाता। 'निर्दिष्ट' पद से सन्धिकार्य में 'संहिता' का विषय होने के कारण वर्णसम्बन्धी व्यवधान का ही निषेध होता है। कालकृत व्यवधान के निषेध से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जिसके फलस्वरूप 'संहिता'-अधिकार से सम्बन्ध न रखनेवाले विधान भी काल के व्यवधान होने पर सम्भव होते हैं। उदाहरणस्वरूप 'अग्नाविष्णू' इत्यादि स्थलों में अवग्रह की स्थिति में भी "देवताद्वन्द्वे च" (६-३-२६) से उत्तरपद को पर मान कर होने वाले 'आनङ्' आदि कार्य हो जाते हैं।

(४१) पद—तस्माद्, इति, उत्तरस्य। अनुवृत्ति—निर्दिष्टे। परिभाषासूत्र।

मूलार्थ—पञ्चमी-निर्देश से किया जाने वाला कार्य अन्य वर्णों के व्यवधान से रहित पर के स्थान में होता है।

विवरण—यहाँ भी 'इति' शब्द अर्थ-परक है। 'तस्मात्' पद से शब्दस्वरूप का ग्रहण नहीं होता। किन्तु पञ्चमी विभक्ति के रूप में उसका अर्थ लिया जाता है। 'निर्दिष्ट' पद की अनुवृत्ति रहने के कारण अव्यवहितांश की उपस्थिति होती है। तदनुसार विधिसूत्रों में पञ्चमी-विभक्ति से निर्दिष्ट किया हुआ जो पद हो, उससे अव्यवहित पर को कार्य होता है। जैसे—उत्थानम्। प्रक्रिया—उद्+स्थानम्<उद्+थ्+थानम्—"उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य" (८-४-६१) से 'उद्' एवं 'स्था' के बीच में व्यवधान न होने के कारण 'उद्' के पश्चाद्वर्ती विवार, नाद, अघोष और महाप्राण-प्रयत्नवान् स्=थ् (पूर्वसवर्ण), <उद्+थानम्—"झरो झरि सवर्णे" (८-४-६५) 'थ्' का लोप,<उत्थानम्—'द्'=त्—चर्त्व। इसके विपरीत 'उदस्थात्' (उद्+अस्थात्) में 'द्' तथा 'स्था' के मध्य 'अ' का व्यवधान होने से पूर्वसवर्ण नहीं हुआ। 'उद्' से 'अस्थात्' समीप है किन्तु "स्था-स्तम्भोः" में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्त्यस्य १।१।५२ ॥ षष्ठीनिर्दिष्टस्यान्त्यस्याल आदेशः स्यात् । (४३) **डिच्च १।१।५३ ॥** अयमप्यन्तस्यैव स्यात् । 'सर्वस्य' (सू ४५) इत्यस्यापवादः (४४) **आदेः परस्य**

व्यवहितोच्चारिते द्वयादिशब्दे । नापि ततः पूर्वस्य भवतीति नियमार्थमिदम् । तदाह—पञ्चमीनिर्देशेनेत्यादिना । उत्तरस्य किम् । 'तिङ्ङतिङ' इति निघात उत्तरस्यैव भवति—अग्निमीळे । नेह ईळे अग्निम् । अव्यवहिते किम् ? उत् प्रस्थानम् । 'उदः स्थास्तम्भोः' इति पूर्वसवर्णो न भवति ।

(४२) अलोऽन्त्यस्य । अलिति प्रत्याहारो वर्णपर्यायः । अल् इति षष्ठ्यन्तम् । 'षष्ठी स्थानेयोगा' इत्यतः षष्ठीस्थाने इत्यनुवर्त्तते । तच्च षष्ठीति प्रथमान्तं तृतीयान्ततया विपरिणम्यते । निर्दिष्टस्येति शेषः । स्थाने इत्यनन्तरं विधीयमान इति शेषः । स्थाने विधीयमान आदेशः षष्ठीनिर्दिष्टस्य यः अन्त्यः अल् तस्य स्यादित्यर्थः । तदाह—षष्ठीत्यादिना । त्यदादीनामः—यः सः । आदेश इति किम् ? आर्धधातुकस्येट् तृचः ऋकारात् पूर्वो मा भूत् । अल इति किम् । पदस्येत्यधिकृत्य विधीयमानं वसुस्रंस्विति दत्वं परमानडुह्यामित्यत्र अन्त्यस्य कृत्स्नस्य पदस्य मा भूत् ।

(४३) डिच्च । डकारः इत् यस्य स डित् । अलोऽन्त्यस्येऽनुवर्तते । तदाह—अयम-

---

'स्था' का निर्देश होने के कारण वह अपेक्षित नहीं हैं । सप्तम्यन्त ओर पञ्चम्यन्त पदों का निर्दिश्यमान में ही अन्वय होता है—"निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति" ।

विशेष—पञ्चम्यन्त पद से उत्तरवर्ती पद में ही कार्य का विधान होने के कारण 'ओदनं पचति' में "तिङ्ङतिङः" (८-१-२८) से अतिङन्त पद के पश्चाद्वर्ती 'पचति' को निघात (सर्वानुदात्त) होता है । इसे विपरीत स्थिति में रखने पर 'पचत्योदनम्' में 'ओदन'—पूर्ववर्ती 'पचति' क्रिया पद को निघात नहीं होता ।

(४२) पद—अलः, अन्त्यस्य । **अनुवृत्ति**—षष्ठी (स्थाने) । **परिभाषासूत्र ।**

मूलार्थ—षष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट आदेश अन्त्य 'अल्' के स्थान में होता है ।

विवरण—सूत्र में दो पद हैं—'अन्त्यस्य, अलः' । "षष्ठी स्थानेयोगा" से 'षष्ठी' तथा 'स्थाने' की अनुवृत्ति आती है । स्थान में आदेश का विधान होने से उसका आक्षेप होता है । 'अल्' प्रत्याहार के अन्तर्गत सभी स्वर-व्यञ्जन आ जाते हैं । तदनुसार इसकी वृत्ति इस प्रकार होगी—षष्ठी (निर्दिष्टस्य) स्थाने (जायमानः) आदेशः अन्त्यस्य अलः स्थाने भवति' । अर्थात् षष्ठी विभक्ति के निर्देश से जहाँ कार्य का विधान किया जाय वह अन्तिम वर्ण को ही होता है । **उदाहरण**—"त्यदादीनामः" (७-१-१०२) सूत्र में त्यदादिगणपठित शब्दों को 'अ' का विधान 'त्यदादीनां' षष्ठ्यन्त पद से किया गया है, अतः यः=यद्+'सु' में यद् के अन्तिम वर्ण 'द्' = अ हुआ, <य अ+सु, <य+सु—पररूप (अ+अ = अ), <य र् = यः—रुत्व, विसर्ग ।

विशेष—स्थानषष्ठी का यह अपवाद है । सूत्र में 'अलः' ग्रहण न करने पर पद के स्थान पर विधीयमान "वसुस्रंसु०" (८-२-७२) से होने वाला दत्वरूप कार्य 'विद्वद्भ्याम्' इत्यादि स्थलों में अन्त्य पद को होने लगेगा । वह न हो अतः 'अल्' ग्रहण किया । आदेश का आक्षेप न होने पर 'भविता'—(√भू+इ+तृच्) में "आर्धधातुकस्येड् वलादेः" (७-२-३५) से विधीयमान 'इट्' आगम 'तृ' के अवयव 'ऋ' के पूर्व होने लगेगा । आदेश ग्रहण करने से आगम-स्थल पर अन्तिम 'अल्' के पूर्व उसकी प्राप्ति नहीं होती । इट्-आगम 'ट्'-इत् होने के कारण आर्धधातुक-प्रत्यय 'तृ' के पूर्व में होगा ।

(४३) पद—डित्, च । **अनुवृत्ति**—अलः, अन्त्यस्य (षष्ठी) । **परिभाषासूत्र ।**

मूलार्थ—यह भी अन्त्य के स्थान में ही होता है । 'सर्वस्य' का अपवाद है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१।१।५४॥ परस्य यद्विहितं तत्तस्यादेर्बोध्यम्। 'अलोऽन्त्यस्य' (सू ४२) इत्यस्यापवादः।

पीति। ङिदपीत्यर्थः। अवङ् तातङ् अनङ् इत्यादिरादेश उदाहरणम्। नन्वलोऽन्त्यस्येति पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत्त आह—सर्वस्येति। 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' इति वक्ष्यमाणस्य सर्वादेशत्वविधेरयं विधिरपवादः। अपोद्यते बाध्यते अनेनेति अपवादः। बाहुलकः करणे घञ्। 'येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्यापवादः' इत्यपवादलक्षणम्। अप्राप्येति भावे क्तः। येनेति कर्तरि तृतीया। द्वौ नञावावश्यकत्वं बोध्यतः। यत्कर्तृकावश्यकप्राप्तौ सत्यां यो विधिरारभ्यते स आरभ्यमाणविधिः, तस्य अवश्यप्राप्तस्य अपवादो बाधक इति तदर्थः। अयं च न्यायसिद्धः। अवङादयो हि ङित आदेशाः सर्वे अनेकाल एव। तेषु चानेकाल्विषयेषु विधीयमानेन ङितामन्त्यादेशत्वेन स्वविषये अवश्यं प्राप्तम् अनेकाल्सामान्येन विहितं सर्वादेशत्वं बाध्यते, विशेषविहितत्वान्निरवकाशत्वाच्च विशेषशास्त्रं हि विशेषेषु झटिति प्रवर्तते, विशेषाणां स्वशब्देनोपात्तत्वात्। सामान्यशास्त्रं तु सामान्यमुखेन विशेषेषु प्रवर्तत इति तस्य तेषु मन्दप्रवृत्तिः। अतो विशेषशास्त्रं प्रबलम्। उक्तं च भट्टवार्तिके—

'अवश्यमेव सामान्यं विशेषं प्रति गच्छति।
गतमात्रं च तत्तेन विशेषे स्थाप्यते ध्रुवम्॥' इति।

किं च यदि ङिच्चेति शास्त्रम् अनेकाल्विशेषेषु ङित्सु न प्रवर्त्तेत, तर्हि तदनर्थकमेव स्यात्। अनेकाल्शित्सर्वस्येत्यस्य तु ङित्सु अप्रवृत्तावपि नानर्थक्यम्, 'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः' 'अस्तेर्भूः' इत्यादिष्वनेकाच्सु अङित्सु तस्य सावकाशत्वात्। अतो विशेषशास्त्रं प्रबलमिति।

(४४) आदेः परस्य। परस्येति। 'ह्रस्वान्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' इत्यादौ तस्मादित्युत्तर-

---

विवरण—सूत्र में केवल दो पद हैं 'च' तथा 'ङित्'। ये दोनों पद सापेक्ष हैं। अतः अनुवृत्त 'षष्ठी' पद 'ङित्' का विशेषण है। तदनुसार पदयोजना इस प्रकार होगी—'षष्ठीनिर्दिष्टो यो ङिदादेशः सः अन्त्यस्य अलः स्थाने भवति'। अर्थात् षष्ठीविभक्ति से निर्दिष्ट 'ङ्' इत्संज्ञक आदेश भी अन्तिमवर्ण के स्थान में होता है। "अनेकाल् शित् सर्वस्य" (१-१-५४) की प्राप्ति में यह पूर्व-अपवाद-सूत्र है। अर्थात् अनेकाल् (एक से अधिक अक्षर वाला) होने पर भी ङित् आदेश सम्पूर्ण स्थानी को अभिव्याप्त न कर अन्तिम वर्ण के स्थान पर ही होता है। इसके फलस्वरूप 'गवाग्रम्' में 'अवङ्' आदेश 'ङ्'—इत्संज्ञक होने के कारण 'गो' शब्द के अन्तिम वर्ण 'ओ' को हुआ (न कि सम्पूर्ण 'गो' शब्द के स्थान में)—गो+अग्रम्, <ग् अव + अग्रम्, <गव + अग्रम् <गवाग्रम्—दीर्घ।

विशेष—एकवर्णात्मक तथा अनेक-वर्णात्मक आदेशों की व्यवस्था के लिये पाणिनि ने तीन सूत्रों का प्रणयन किया है—(१) "अलोन्त्यस्य" (१-१-५२), (२) "ङिच्च" (१-१-५३) तथा (३) "अनेकाल् शित् सर्वस्य" (१-१-५५)। इनमें से सामान्यतया (१) एकवर्णात्मक आदेश स्थानी के अन्तिमवर्ण के स्थान पर होता है। (२) 'ङ्' इत्संज्ञक आदेश का क्षेत्र व्यापक है। वह एकवर्णात्मक तथा अनेक वर्णात्मक—दोनों अवस्थाओं में अन्त्य के ही स्थान पर होता है। (३) 'श्'—इत्संज्ञक तथा 'ङ्'-इत्संज्ञक के अतिरिक्त अन्य अनेक-वर्णात्मक-आदेश सम्पूर्ण स्थानी को अभिव्याप्त कर होते हैं।

(४४) पद—आदेः, परस्य। अनुवृत्ति—अलः। परिभाषासूत्र।

मूलार्थ—पर के स्थान पर विधान किया हुआ कार्य उसके आदि वर्ण के स्थान पर होता है।

विवरण—पञ्चमी विभक्ति का निर्देश होने के कारण कार्यपर को विहित होता है—"तस्मा-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४५) अनेकाल्शित्सर्वस्य १ । १ । ५५ ॥ स्पष्टम्। 'अलोन्त्य' सूत्रापवादः। 'अष्टाभ्य औश्' (सू ३७२) इत्यादौ 'आदेः परस्य' (सू ४४) इत्येतदपि परत्वादनेन बाध्यते ।

स्येति परिभाषया परस्य नियमितं कार्यं यत्, तत् तस्यादेरेव भवति। न त्वलोऽन्त्यस्येति तदन्तस्येत्यर्थः। तदाह—अलोऽन्त्यस्येत्यस्यापवाद इति। तत्र अल इत्यप्यनुवर्तनीयम्। तेन द्वीपमित्यत्र ईत्वं पान्तसमुदायस्य न भवतीति।

(४५) अनेकाल्शित् सर्वस्य। न एकः अनेकः, अनेकः अल् यस्य सः अनेकाल्, शकारः इत् यस्य सः शित्, अनेकाल्च शित् चेति समाहारद्वन्द्वः। स्पष्टमिति। अनुवर्तनीयपदान्तराभावादिति भावः। अस्तेर्भूरित्याद्युदाहरणम्। ननु अस्धातोर्भूर्भवतीत्युक्ते कृत्स्नस्यैवादेशः प्राप्त इति किमर्थमिदं सूत्रमारभ्यत इत्यत आह—अलोऽन्त्यसूत्रापवाद इति। अलोऽन्त्येति सूत्रैकदेशानुकरणम्। अनुकरणत्वादेव नापशब्दः, 'अधिरीश्वरे' इति ग्रहणालिङ्गात्। स्यादेतत्। अष्टन् शब्दाज्जसि शसि च 'अष्टन आ विभक्तौ' इति आत्वे अष्टा अस् इति स्थिते अष्टाभ्य औशिति कृताकारात् अष्टनः परयोर्जश्शसोर्विधीयमान औशादेशः अलोऽन्त्यस्येति बाधित्वा आदेः परस्येत्यादेरकारस्य प्राप्तः। अनेकाल्त्वाच्च सर्वादेशः प्राप्तः। एवम् 'अतो भिस ऐस्' इत्यादावपि। तत्र कतरच्छास्त्रं बोध्यम्, कतरच्च प्रवर्तत इत्यत्र किं विनिगमकमित्यत आह—अष्टाभ्य औशित्यादाविति। आदिना अतो भिस

दित्युत्तरस्य" (१-१-६७)। ऐसी स्थिति में पर को विहित कार्य अन्त्य के स्थान में प्राप्त था ("अलोन्त्यस्य"—१–१–५२)। किन्तु इस सूत्र के प्रभाव से वह कार्य पर के आदि-अक्षर को होता है[1]। इस तरह यह सूत्र "तस्मादित्युत्तरस्य" का शेष है। इस कारण सूत्रस्थ पद यही सूचित करते हैं—'परस्य' = पर को मान कर होने वाला (कार्य), (उसके) आदेः = प्रारम्भिक अलः = वर्ण के स्थान में होता है। उदाहरण—'उत्थानम्'। यहाँ मूलावस्था उद्+स्थानम् है। तथा 'उद्' से पर 'स्थानम्' को पूर्वसवर्ण का विधान किया गया है। इस नियम से 'स्थानं' के आदि-वर्ण 'स्' के स्थान पर 'थ्' होता है।

निष्कर्ष—पञ्चमी-विभक्ति का निर्देश कर 'पर' के स्थान पर विधीयमान आदेश 'पर' के आदि वर्ण के ही स्थान पर होता है। वह सम्पूर्ण 'पर' अथवा 'पर' के अन्तिम वर्ण को अभिव्याप्त नहीं करता।

(४५) पद—अनेकाल्—शित्, सर्वस्य। **अनुवृत्ति**—षष्ठी। **परिभाषासूत्र**।

मूलार्थ—स्पष्ट है। "अलोन्त्यस्य" सूत्र का यह अपवाद है। "अष्टाभ्य औश्" इत्यादि स्थलों में "आदेः परस्य" का भी यह सूत्र पर होने के कारण बाधक है।

विवरण—अनेक-वर्णात्मक (एकश्चासौ अल् च = एकाल्—कर्मधारय, न एकाल्=अनेकाल्—नञ् तत्पुरुष) तथा 'श्'-इत्संज्ञक ('श्' इत् यस्य सः शित्, अनेकाल् च शिच्च = अनेकाल्शित्—बहुव्रीहियुक्त-समाहारद्वन्द्व) षष्ठी-निर्दिष्ट आदेश की अभिव्याप्ति सम्पूर्ण स्थानी (सर्वस्य) को अभिलक्षित कर होती है। तात्पर्य यह है कि षष्ठी-विभक्ति से निर्दिष्ट स्थानी को अभिलक्षित करने वाला अनेक-वर्णात्मक एवं शकार-इत्संज्ञक आदेश सम्पूर्ण पद के स्थान पर होगा। **उदाहरण**—अनेकवर्णात्मक—(१) रामः—राम + भिस्, <राम + ऐस्-भिस्=ऐस्—"अतो भिस ऐस्"। यहाँ 'ऐस्' आदेश में दो वर्ण होने के कारण 'अनेकाल्' है। (२) शकारेत्संज्ञक ज्ञानानि—ज्ञान + जस्, <ज्ञान + शि (इ)—"जस्-शसोः शिः"—जस् = शि—शकारेत्संज्ञक होने से संपूर्ण 'जस्' के

---

१. परस्य शिष्यमाणं कार्यमादेरलः प्रत्येतव्यम्। क्व च परस्य कार्यं शिष्यते? यत्र पञ्चमीनिर्देशः। काशिका।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४६) स्वरितेनाधिकारः १ । ३ । ११ ॥ स्वरितत्वयुक्तं शब्दस्वरूपमधिकृतं बोध्यम् । परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः' (प ३६) । 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' (प ५१) 'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः' (प ५७) । निमित्तं विनाशोन्मुखं दृष्ट्वा तत्प्रयुक्तं कार्यं न कुर्वन्तीत्यर्थः ।

इति परिभाषाप्रकरणम् ॥

ऐसित्यादिसंग्रहः । अष्टाभ्य औशित्यादौ आदेः परस्येत्येतदपि परत्वादनेन बाध्यत इत्यन्वयः । अस्तेर्भूरित्यादौ अनेकाल्शिदित्यनेन यथा अलोऽन्त्यस्येति बाध्यते तथा अष्टाभ्य औशित्यादौ आदेः परस्येत्येतदपि बाध्यत इत्यर्थः । ननु अस्तेर्भूरित्यादौ अलोऽन्त्यस्येति प्राप्ते सत्येवानेकाल्शिदित्यारम्भात् येन नाप्राप्तिन्यायेनापवादत्वात्तेन तत्रालोऽन्त्यस्येत्यस्य बाधो युज्यते । आदेः परस्येत्यस्य तु अनेकाल्शित्सर्वस्येति नापवादः । अस्तेर्भूरित्यादावादेः परस्येत्यप्राप्तावपि तत्प्रवृत्तेरित्यत आह—परत्वादिति । विप्रतिषेधे परं कार्यमिति तुल्यबलविरोधे परप्रावल्यस्य वक्ष्यमाणत्वादिति भावः । आदेः परस्येत्यस्यावकाशः द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योप ईदित्यादिः । अनेकाल्शित्सर्वस्येत्यस्यावकाशः अस्तेर्भूः, इदम् इश् इत्यादिः । अतस्तुल्यबलत्वमुभयोः ।

(४६) स्वरितेनाधिकारः । अधिकारः व्यापृतिः । यथा लोके अधिकृतो ग्रामेऽसाविति व्यापृत इति गम्यते । शब्दस्य च उत्तरसूत्रेष्वनुवृत्तिरेव व्यापृतिः । स्वरितेन स्वरविशेषेण अधिकारः उत्तरत्रानुवृत्तिरूपव्यापारः प्रत्येतव्यः । यत् पदं शास्त्रकृता स्वरिताख्यस्वरविशेषविशिष्टमुच्चारितं तदुत्तरसूत्रेष्वनुवर्तनीयमिति यावत् । फलितमाह—स्वरितत्वयुक्त-

---

स्थान पर हुआ) <ज्ञान न् + इ—नुम्, <ज्ञानानि—सर्वनामस्थान-दीर्घ होने के पश्चात् रूप सिद्धि हुई ।

विशेष—जहाँ "आदेः परस्य" तथा "अनेकाल्शित् सर्वस्य" दोनों की प्राप्ति का प्रसङ्ग हो वहाँ सूत्रक्रम में 'पर' होने के कारण "अनेकाल्शित् सर्वस्य की ही प्रवृत्ति होती है । उदाहरण 'अष्टौ' । प्रक्रिया—अष्टन्+जस् (अस्)—इस स्थिति में "अष्टाभ्य औश्" सूत्र में पञ्चमीविभक्ति का निर्देश होने के कारण 'अष्टन्' शब्द से पर 'औश्' का विधान होने से "आदेः परस्य" परिभाषा के सहकार से 'अस्' के आदिवर्ण अकार को 'औ' आदेश की प्राप्ति हुई, तथापि 'पर' होने के कारण "अनेकाल्०" उसका बाधक हो गया । सम्पूर्ण जस्=औ ।

(४६) **पद**—स्वरितेन, अधिकारः । **परिभाषासूत्र** ।

मूलार्थ—'स्वरित'-धर्म से उच्चरित पद का प्रभाव आगे के सूत्रों पर होता है । (परि०) पर, नित्य, अन्तरङ्ग और अपवाद में क्रमशः एक के पश्चात् दूसरा बलवान् होता है । (प०) बहिरङ्गशास्त्र अन्तरङ्गशास्त्र की दृष्टि में असिद्ध है । (प०) व्याकरण के अध्येता विनाशोन्मुख-निमित्तक कार्य के (पाणिनीयाः) न करने वाले (अकृतव्यूहाः) होते हैं[1] । अर्थात् विनाशोन्मुख निमित्त को देखकर उससे सम्बद्ध कार्य नहीं करते हैं ।

विवरण—(१) प्रकृत सूत्र में 'स्वरितेन'—पद-सम्बन्धी तृतीया-विभक्ति "इत्थम्भूतलक्षणे" (१-१-२१) से विहित होने के कारण 'स्वरित' शब्द वर्णधर्म का बोधक है । तदनुसार स्वरित से युक्त पद का प्रभाव आगे के सूत्रों पर पड़ता है । अर्थात् उसकी अनुवृत्ति आगे होती है । यह 'अधिकार'

---

१. ऊह्यते=तर्क्यते इति ऊहः कार्यम् । विशिष्टो य ऊहः=विनाशोन्मुखनिमित्तकं कार्यम् । अकृतः व्यूहः यैः ते—अकृतव्यूहाः, पाणिनिना प्रोक्तमधीयते विदन्ति वा पाणिनीयाः । पाणिनिशास्त्राध्यायिनः ज्ञातारो वा ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मित्यादिना। आनुनासिक्यवत् स्वरितोच्चारणमपि प्रतिज्ञागम्यम्। अनुवृत्तावुत्तरावधिस्तु व्याख्यानादेवावगन्तव्यः। यद्यपि निवृत्तिवदनुवृत्तिरपि व्याख्यानादेव भविष्यतीति किं सूत्रेण? तथापि भाष्ये एतत्प्रयोजनं बहुधा प्रपञ्चितम्। परनित्येति। परादीनां मध्ये पूर्व-पूर्वापेक्षया उत्तरमुत्तरं शास्त्रं बलवत्तरमित्यर्थः। उत्तरोत्तरमित्यत्र 'आनुपूर्व्ये द्वे वाच्ये' इति द्वित्वम्। 'कर्मधारयवदुत्तरेषु' इति कर्मधारयवद्भावात् सुपो लुक्। बलवच्छब्दात् 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' इति ईयसुन्। 'विन्मतोर्लुक्' इति मतुपो लुक्। परापेक्षया नित्यान्तरङ्गापवादाः, नित्यापेक्षयापि अन्तरङ्गापवादौ, अन्तरङ्गापेक्षयापि अपवादः—इत्येवंक्रमेण पूर्वपूर्वापेक्षया उत्तरोत्तरबलवत्त्वमिति फलितोऽर्थः। परं विप्रतिषेध-सूत्रात् बलवत्। परानित्यं यथा—तुदति। अत्र 'तुदादिभ्यः शः' इति शप्रत्ययं बाधित्वा परत्वाद् लघूपधगुणः प्राप्तः, स च शप्रत्यये प्रवृत्ते सति न प्रवृत्तिमर्हति। शप्रत्ययस्तु कृते अकृतेऽपि लघूपधगुणे प्रवृत्तिमर्हतीति स नित्यः। 'कृताकृतप्रसङ्गो यो विधिः स नित्यः' इति हि तल्लक्षणम्। अतो नित्यः शप्रत्ययः लघूपधगुणं बाधित्वा प्रथमं प्रवर्तते। ततः 'सार्वधातुकमपित्' इति शस्य ङित्त्वात् 'कृङिति च' इति निषेधान्न गुणः। अक्लृप्ताभाव-कस्य नित्यशास्त्रस्याभावकल्पनापेक्षया क्लृप्ताभावकस्यानित्यशास्त्रस्यैव तत्कल्पनं युज्यत

शब्द अपने व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को सूचित करता है। स्वरितरूपी वर्णधर्म पाणिनि की प्रतिज्ञा का द्योतक है[1]। अर्थात् पाणिनि के अभीष्ट अधिकारसूत्र ही 'स्वरित' धर्म को ग्रहण करते हैं। अधिकार शब्द का अर्थ विनियोग भी है। विनियोग पद भी दूर तक प्रभावशाली होने का बोधक है। जिसके फलस्वरूप "प्रत्ययः" (३-१-१) का अधिकार तृतीयाध्याय से पञ्चम-अध्याय पर्यन्त रहता है। अर्थात् वहाँ तक प्रत्ययों का विवेचन किया जायगा। ऐसे ही "धातोः" (३-१-९१) का तृतीयाध्याय पर्यन्त अधिकार है। अर्थात् उस बीच धातुओं के सम्बन्ध में ही कार्यों का निर्देश होगा। (२) दूसरी कल्पना के द्वारा 'स्वरित' के अधिकार से पूर्व-अधिकार की निवृत्ति भी सूचित होती है[2]। तदनुसार सूत्र में 'स्वरिते' सप्तमीविभक्ति स्वीकार की जाती है। अतः स्वरित के होने पर (स्वरिते सति) पूर्वाधिकार-रूप अर्थ ग्राह्य नहीं होता (न अधिकारः)।

परिभाषा (१)—पर, नित्य, अन्तरङ्ग एवम् अपवाद में क्रमशः पूर्व की अपेक्षा पर बलवान् होते हैं[3]। १—पाणिनि ने त्रिपादीस्थ शास्त्रों के अतिरिक्त "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" के सहकार से पूर्व-शास्त्र की अपेक्षा पर-शास्त्र को बलवान् माना है। इससे पूर्व-शास्त्र की दुर्बलता सूचित होती है। दुर्बल का बलवान् से बाध किया जाना सर्वविदित है। यह बलशालिता तो सूत्रकार ने सूचित कर दी है (तथापि 'पूर्व' शास्त्र के नित्य होने की स्थिति में 'पर' शास्त्र भी दुर्बल होता है)। पूर्व की अपेक्षा पर की प्रबलता का उदा० 'वृक्षेभ्यः'। यहाँ (वृक्ष+भ्यस्) "सुपि च" (७-३-१०२) दीर्घ को बाध कर "बहुवचने झल्येत्" (७-३-१०३) से 'ए' हुआ। २—पर की अपेक्षा नित्य के बलवान् होने में उसकी व्यापकता कारण है। जो विधि सर्वथा प्राप्त रहे वह नित्य कहलाती है। जैसे 'तुदति' (√तुद्+अ+ति) में तुदादिगण का विकरण 'श' (अ)—लघूपध गुण के होने तथा न होने—

---

१. आधिक्रियते इत्यधिकारः—अधि√कृ+घञ्। स्वरितेन अधिकारगतिः। स्वरितत्वं च वर्ण-धर्मरूपमधिक्रियमाणपदघटकाज्निष्ठम्। तच्चानुनासिक्यवत् प्रतिज्ञागम्यम्। कियद् दूरमधिकार इत्यत्र सति गमके व्याख्यानमेव शरणम्।

२. यद्वा स्वरिते सति नाधिकार इत्यर्थः। तेन पूर्वाधिकारनिवृत्तिः। तथा च "विंशतिकात् खः" इत्यत्र स्वरितत्वदर्शनाद् "द्वित्रिपूर्वाद्०" (५-१-३०) इत्यस्य निवृत्तिरनुमीयते।

३. परश्च, नित्यश्च, अन्तरङ्गश्च, अपवादश्च—परनित्यान्तरङ्गापवादाः, तेषाम्। परादीनां मध्ये पूर्वपूर्वादुत्तरोत्तरं बलीयो भवतीत्यर्थः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति नित्यस्य बलवत्त्वे बीजम्। परादन्तरङ्गे यथा—उभये देवमनुष्याः। अत्र 'प्रथमचरम' इति परमपि विकल्पं बाधित्वा सर्वादीनीति नित्यैव सर्वनामसञ्ज्ञा भवति, तस्या विभक्तिनिरपेक्षत्वेन अन्तरङ्गत्वात्। अल्पापेक्षमन्तरङ्गमिति हि तल्लक्षणम्। तस्य बलवत्त्वे बीजमाह—असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे। अन्तरङ्गशास्त्रे प्रसक्ते बहिरङ्गशास्त्रमविद्यमानं प्रत्येतव्यमित्यर्थः। इयं तु परिभाषा 'वाह ऊठ्' सूत्रे भाष्ये स्थिता। परादपवादो यथा दध्ना। 'अस्थिदधि' इत्यनङ्, इह परमप्यनेकालिति सर्वादेशं बाधित्वा ङिच्चेत्यन्तादेशः, तस्य येन नाप्राप्तिन्यायेन तदपवादत्वात्। अपवादस्य बलवत्त्वे बीजं तु अनुपदमेवोक्तम्। नित्यादन्तरङ्गं यथा—ग्रामणिनि कुले। इह नित्यमपि इकोऽचीति नुमं बाधित्वा 'ह्रस्वो नपुंसके' इति ह्रस्वः। प्रथमतः कृते नुमि अनजन्तत्वात् ह्रस्वो न स्यात्। अन्तरङ्गादपवादो यथा—दैत्यारिः, श्रीशः। परमपि सवर्णदीर्घं बाधित्वा अन्तरङ्गत्वात् आद्गुणे यणि च प्राप्ते

दोनों अवस्थाओं में प्राप्त होता है, अतः वह नित्य है। उसके होने के पश्चात् 'श' विकरण को "सार्वधातुकमपित्" से ङ्-इत्संज्ञ के समान समझा जाने के कारण गुण का निषेध हो जाता है। ३—नित्य की अपेक्षा अन्तरङ्ग बलवान् होता है। जैसे—ग्रामणिनी कुले। प्रक्रिया—ग्रामणी + औट् (औ), <ग्रामणि + औ—"ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" १-२-४७—ह्रस्व, <ग्रामणिन् + औ, 'नुम्' आगम ("इकोऽचि विभक्तौ" ७-१-७३), <ग्रामणिन् + ई—औ=(शी-ई), <ग्रामणिनी। इस उदाहरण में नित्य 'नुम्' आगम को बाध कर अपवाद होने के कारण पहले 'ह्रस्व' हो गया। तदनन्तर 'नुम्' हुआ। ४—अन्तरङ्ग की अपेक्षा अपवाद बलवान् होता है। जैसे—सुधियौ। सुधी+औ—में 'यण्' (अन्तरङ्ग) को बाधकर अपवादस्वरूप 'इयङ्' (सुध् इय्—औ) हुआ। अपवाद के बाधक होने में उसका निरवकाश (अवसर न मिलना) होना है।[1]

परिभाषा (२)—'अन्तरङ्ग' और 'बहिरङ्ग' में प्राधान्य और अप्राधान्य की व्यवस्था की जा रही है। तदनुसार बहिरङ्ग-शास्त्र की असिद्धता (अप्रवृत्ति) सूचित की जा रही है। यह लोकसिद्ध भी है। कारण यह है कि अन्तरङ्ग-शास्त्र की प्रवृत्ति होने में बहिरङ्गशास्त्र की अपेक्षा कम हेतु होते हैं[2]। इस परिभाषा का ज्ञापक "वाह ऊठ्" (७-४-१३२) सूत्र में प्रयुक्त 'ऊठ्' पद है। इसके अनुसार 'विश्वौहः' की रूपसिद्धि द्रष्टव्य है। विश्ववाह् + शस् (अस्), <विश्व ऊ आह् + अस्—'व्' = ऊठ् (ऊ)—"वाह ऊठ्", <विश्व ऊह् + अस्—पूर्वरूप, <विश्वौह् + अस् = विश्वौहः—वृद्धि—"एत्येधत्यूठ्सु" (६-१-८९), स = र् = :। यहाँ पर 'व्' को संप्रसारण 'उ' तथा पूर्वरूप करने के पश्चात् (विश्व उह् + अस्) लघूपध गुण होने पर ("विश्व ओह् + अस्") सामान्यतया वृद्धि (अ + ओ =) औ होकर "विश्वौहः" की रूपसिद्धि हो सकती है। अतः "वाह् ऊठ्" सूत्र में 'ऊठ्' ग्रहण अन्तरङ्गशास्त्र की प्राथमिकता सूचित करता है। इस दृष्टि से "वृद्धिरेचि" से विहित वृद्धि के अन्तरङ्ग होने के कारण 'गुण' सन्धि बहिरङ्ग है, अतः 'ओ' के असिद्ध होने से वृद्धि नहीं होगी। इस हेतु 'ऊठ्' की सार्थकता है। 'ऊठ्' होने पर "एत्येधत्यूठ्सु" से वृद्धि होती है। अन्तरङ्ग परिभाषा त्रिपादीस्थ शास्त्रों में प्रवृत्त नहीं होती।

परिभाषा (३)—इस परिभाषा का अर्थ समझने में विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। शब्दों में विशेष अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है। शब्दार्थ तो यह है कि पाणिनि-व्याकरण के अध्येता कार्य करने में प्रवृत्त नहीं होते (अहतन्यूहाः)। ऐसी स्थिति में शास्त्र-प्रणयन ही व्यर्थ हो जायगा। जिज्ञासा होती है कि किस अवस्था में कार्य-प्रवृत्ति नहीं होती? उसके उत्तर में वृत्तिकारों ने इसको स्पष्ट किया है कि शास्त्रप्रवृत्ति के निमित्त का भविष्यत्काल में विनाश होने की सम्भावना में

---

१. निरवकाशो विधिरपवादः।
२. अल्पापेक्षम् अन्तरङ्गम्। बह्वपेक्षं बहिरङ्गम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथाच्सन्धिप्रकरणम् ।

(४७) इको यणचि ६ । १ । ७७ ॥ इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये ।

अपवादत्वात् सवर्णदीर्घः । अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः । न कृतः अकृतः व्यूहः प्रकृतिप्रत्यय-विवेचनं यैः ते अकृतव्यूहाः पाणिनिशिष्या इत्यक्षरार्थः । तर्हि सर्वस्य शास्त्रस्य वैयर्थ्य-मित्यतोऽध्याहृत्य व्याचष्टे—निमित्तमित्यादिना । सेदुष इत्याद्युदाहरणम् । तच्च शब्दा-धिकारे सेदिवस्शब्दनिरूपणावसरे मूल एव स्पष्टीभविष्यति । इयं परिभाषा निर्मूला निष्फला चेति परिभाषेन्दुशेखरे स्पष्टम् ।

इति श्रीवासुदेवदीक्षितविदुषा विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां
बालमनोरमायां परिभाषाप्रकरणं समाप्तम् ॥

(४७) इको यणचि । इक इति षष्ठी । अतः 'षष्ठी स्थानेयोगे'ति परिभाषया स्थान इति

अन्तरङ्ग कार्य की भी प्रवृत्ति पहले नहीं की जाती । उदाहरण—सेदुषः । सेद्+वस् (क्वसु)+अस् (शस्)—इस स्थिति में 'वस्' के 'व्' को मान कर होने वाला 'इट्' आगम अन्तरङ्ग होने पर भी प्रवृत्त नहीं होता है, क्योंकि 'इट्' आगम के प्रवृत्त होने में निमित्तस्वरूप 'वकार' का विनाश 'सम्प्रसारण' (उ) होने पर अवश्यम्भावी है । इस लिये कीचड़ में पैर डालकर पीछे धोने की अपेक्षा उससे दूर रहना ही अच्छा है—'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ।'

विशेष—१—संज्ञा तथा परिभाषाओं के विषय में व्याकरणशास्त्र के अध्येताओं को अभिलक्षित कर दो पक्ष माने गए हैं—१—**यथोद्देश** तथा २—**कार्यकाल** । इन दोनों पक्षों की ओर प्रवृत्त होने में छात्रों की विद्या के प्रति अपेक्षा और उपेक्षा-बुद्धि कारण हैं । अतः 'यथोद्देश' पक्ष को स्वीकार करने वाला अध्येता संज्ञा तथा परिभाषासूत्रों के अर्थ को यथास्थान ज्ञात कर विधिप्रदेशों में उनकी एकवाक्यता करने में समर्थ होता है । इसके विपरीत 'कार्यकाल'-पक्ष का अभिनिवेशी अध्येता उस समय उपेक्षा-बुद्धि से संज्ञा तथा परिभाषा-सूत्रों के अर्थ को ध्यान न देकर विधि-प्रदेश के उपस्थित होने पर उनकी एकवाक्यता हेतु पुनः उनके विषय में जिज्ञासा करता है । इसके पश्चात् वह विधिसूत्रों के आशय को समझ पाता है ।

२—छह प्रकार के सूत्रों में 'संज्ञा' के अनन्तर 'परिभाषा'-सूत्रों का परिगणन किया गया है । तदनुसार 'सिद्धान्तकौमुदी' के आरम्भ में संज्ञाओं का परिचय देने के उपरान्त इस प्रकरण में भट्टोजी दीक्षित ने सन्धिकार्य में उपयोगी परिभाषाओं का संकलन किया है । इस प्रकरण के अनन्तर विधि-सूत्रों में इन परिभाषाओं का यथास्थान उपयोग होगा ।

परिभाषा-प्रकरण समाप्त ।

अच्सन्धि-प्रकरण

उपक्रम—संज्ञा-प्रकरण में वर्णसमुदाय का निर्वचन करते समय सन्ध्यक्षरों की चर्चा हो चुकी है । सन्धि के ही प्रसङ्ग में "संहिता" संज्ञा की उपयोगिता का निदर्शन भी किया जा चुका है । वाक्य में सन्धिकार्य वक्ता की इच्छा पर निर्भर रहता है किन्तु एक पद में, धातु और उपसर्ग के मिलने पर तथा समास में 'संहिता' आवश्यक है[1] । सन्धियाँ भी पाँच प्रकार की मानी गई हैं, जिनमें सर्वप्रथम स्वरवर्णों की प्राथमिकता के कारण अच्सन्धि का प्रारम्भ किया जा रहा है ।

(४७) पद—इकः, यण्, अचि । **अनुवृत्ति**—संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

---

१. संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सुधी उपास्यः' इति स्थिते। स्थानत आन्तर्यादीकारस्य यकारः। 'सुध्य् उपास्यः'

लभ्यते। स्थानं-प्रसङ्ग इत्युक्तम्। वर्णानां वर्णान्तराधिकरणत्वासम्भवात् अचीति सति सप्तमी। 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्ये'ति परिभाषया वर्णान्तराव्यवहितोच्चारितेऽचि सति पूर्वस्येति लभ्यते। एवं च अचि परत इत्यर्थलभ्यम्। संहितायामित्यधिकृतम्। ततश्चार्धमात्राधिककालव्यवधानाभावो लभ्यते। एवं च फलितमाह—इकः स्थान इत्यादिना। इदं च सूत्राक्षरानुसारिप्राचीनमतानुसारेण। संहितायामिति सूत्रभाष्ये तु सामीपिकात्मकौपश्लेषिकाधिकरणे अचीति सप्तमी तस्मिन्नित्यनेनाश्रित्य संहिताधिकारः। इत्थं हि तत्र भाष्यम्—'अयं योगः शक्योऽवक्तुम्। कथम्? अधिकरणं नाम त्रिप्रकारं व्यापकमौपश्लेषिकं वैषयिकमिति। शब्दस्य तु शब्देन कोऽन्योऽभिसम्बन्धो भवितुमर्हति अन्यदत उपश्लेषात्। इको यणचि अच्युपश्लिष्टस्येति। 'तत्रान्तरेण संहिताग्रहणं संहितायामेव भविष्यति' इति। उप समीपे श्लेषः सम्बन्धः उपश्लेषः, तत्कृतमधिकरणमौपश्लेषिकं सामीपिकमिति यावत्। एवं च अच्समीपवर्तिनः इक इति फलति। सामीप्यं च कालतो वर्णतश्च व्यवधानाभावः। एवं च असंहितायामुक्तसामीप्याभावादेव यणभावसिद्धेः संहिताधिकारो न कर्तव्य इति भाष्यार्थः। एवं च तुल्यन्यायात् तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येत्यत्राप्यौपश्लेषिकाधिकारे सप्तमी। ततश्च अचीत्यादिसप्तम्यन्तार्थे अकारादावुच्चरिते सामीप्यसम्बन्धेन विद्यमानस्य पूर्वस्य कार्यं स्यादित्यर्थः फलति। न त्वव्यवहितोच्चारिते इत्यव्यवहितत्वविशेषमुच्चारिते देयम्, सामीपिकाधिकरणसप्तम्येव तल्लाभात्। सामीप्यस्य च तत्र कालतो वर्णतश्च व्यवधानाभावात्मकत्वात्। एवं च तत्र नैरन्तर्यार्थं निर्ग्रहणं न कर्तव्यम्। इदं च 'स्नुक्रमोः' इति सूत्रे, 'तत्र च दीयते' इति सूत्रे च कैयटे स्पष्टम्। अधिकरणत्रैविध्यं तु कारकाधिकारे आधारोऽधिकरणमित्यत्र स्पष्टीकरिष्यते। सुधी इति। ध्यै चिन्तायामिति धातोः 'ध्यायतेः सम्प्रसारणं चे'ति क्विपि यकारस्य सम्प्रसारणे, इकारे, पूर्वरूपे, हलश्चेति दीर्घे च धीशब्दः। सुष्ठु ध्यायन्तीति सुधियः। सु शोभना धीर्येषामिति वा सुधियः। सुधीभिरुपास्य इति विग्रहः। 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति समासः। 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इतो भिसो लुक्। सुधी उपास्य इति स्थिते ईकारस्य यकार इत्यन्वयः। प्रत्याहारेषु तद्वाच्यवाच्येषु लक्षणा 'नाज्झला'विति सूत्रे प्रपञ्चिता। तत्स्फोरणाय ईकार उदाहृतः। ननु ईकारस्य वरलाः कुतो न स्युः, यण्त्वाविशेषादित्य आह—स्थानत आन्तर्यादिति। तालुस्थानकत्वसाम्यादीकारस्य स्थाने 'स्थानेऽन्तरतमः' इति यकार

मूलार्थ—'इक्' के स्थान में 'अच्' परे रहते संहिता के विषय में 'यण्' आदेश होता है[1]। 'सुधी+उपास्यः' ऐसी स्थिति में 'स्थान' से सादृश्य होने के कारण 'ई' के स्थान में 'य्' हुआ। ऐसा होने पर तब सुध् य्+उपास्यः।

विवरण—इक्=इ, उ, ऋ, ऌ स्थानी हैं। यण्=य्, व्, र्, ल् आदेश हैं। "संहितायाम्" का अधिकार है। स्वर-वर्णों की स्थिति 'इक्'-वर्णों के अव्यवहित पश्चात् अपेक्षित है, क्योंकि 'अचि' पद सप्तमी विभक्ति में प्रयुक्त हुआ है—"तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य" (१-१-६६)। इस प्रकार 'इक्'

---

१. विद्यमान होते हुए भी जो बाद में न रहे, वह स्थानी कहलाता है। पहले न रह कर जो बाद में रहे वह 'आदेश' है। 'आदेश' शत्रु के समान स्थानी को हटा कर अपनी स्थिति रखता है। आदेश दो प्रकार का है—१. प्रत्यक्ष और २. आनुमानिक। प्रत्यक्ष आदेश—'अस्तेर्भूः'—√अस्=√भू। आनुमानिक—'ति'='तु'। "एरुः" (३-४-८६)—'इकार' से इकारान्त स्थानी का अनुमान किया जाता है तथा 'उकार' से उकारान्त आदेश का अनुमान।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति जाते। (४८) अनचि च ८।४।४७ ॥ अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि।

एव भवति, न तु वरलाः। भिन्नस्थानकत्वादित्यर्थः। अत एव 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्'इति सूत्रे भाष्यम्–'किमिहोदाहरणम्। इको यणचि। दध्यत्र। मध्वत्र। नैतदस्ति। 'स्थानेऽन्तरतमेनाप्येतत् सिद्धम्' इति। 'स्थानेऽन्तरतमः' इति सूत्रभाष्ये तु–'किमिहोदाहरणम्। इको यणचि। दध्यत्र। मध्वत्र। नैतदस्ति। संख्यातानुदेशेनाप्येतत् सिद्धम्' इत्युक्तम्। यथासंख्यसूत्रेणेत्यर्थः। नन्विह यण्शब्देन निरनुनासिका यवलाः रेफश्चेति चत्वारो गृह्यन्ते, यणो भाव्यमानतया तेन सवर्णानां ग्रहणाभावात्। गुणानाम् अभेदकत्वेऽपि यवलाः षट् रेफश्चेति सप्त गृह्यन्ते। इक्शब्देन तु षट्पष्टिर्गृह्यत इति विषमसंख्याकत्वात् कथमिह यथासंख्यसूत्रप्रवृत्तिरिति चेन्न, इक्त्वयण्त्वादिना अनुगतीकृतानां समत्वात्। ननु ऋलृवर्णाभ्यां प्रत्येकं त्रिंशदुपस्थितौ लृवर्णानां रेफादेशस्य ऋवर्णानां लादेशस्य च प्रसङ्ग इति न यथासंख्यसूत्रेण निर्वाह इति चेत्, शृणु—ऋत्वावच्छिन्नस्य रेफो भवति, लृत्वावच्छिन्नस्य लकारो भवतीति यथासंख्यसूत्राल्लभ्यते। ऋत्वजातिश्च न ऋवर्णेषु। ऋलृवर्णयोः सावर्ण्यविधिबलात्तु ऋत्वम् लृकारे, लृत्वम् ऋकारे च आरोप्यते कार्यार्थम्। एवं च वास्तवम् ऋत्वं लृत्वं च आदायात्र यथासंख्यप्रवृत्तिर्निबंधेत्यास्तां तावत्। सुध्य् उपास्य इति स्थिते इति। धकारस्य द्वित्वमिति वक्ष्यमाणेनान्वयः।

(४८) केन सूत्रेणेत्यत आह—अनचि च। 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' इत्यतः 'यर' इति षष्ठ्यन्तं 'वे'ति चानुवर्तते। 'अचो रहाभ्यां द्वे' इत्यतः अच इति पञ्चम्यन्तं द्वे इति चानुवर्तते। न अच् अनच् तस्मिन् अनचीति च पर्युदासः। तथा सति 'नञिव युक्तमन्यसदृशे तथा ह्यर्थगतिः' इति न्यायेन अञ्भिन्ने हलीत्यर्थः स्यात्। तथा सति लाघ-

---

और 'अच्' के मध्य किसी अन्य वर्ण का व्यवधान न होने पर 'यण्' आदेश होगा। इ, उ, ऋ, लृ के सवर्णों का ग्रहण होने से इनके ६६ भेदों का बोध होता है (१८+१८+३०)। य्, व्, ल्—यँ्, वँ्, लँ् = निरनुनासिक तथा सानुनासिक भेद से ६ प्रकार के तथा र् के+१ निरनुनासिक रूप में ग्रहण होने से—'यण्' के ७ भेदों का बोध होता है। ऐसी स्थिति में समानसंख्यक उद्देश्य और विधेय न होने के कारण स्थान-साम्य से इ = य् (तालु), उ = व् (ओष्ठ), ऋ = र् (मूर्धा), लृ = ल् (दन्त) आदेश होते हैं। तदनुसार "सुधी+उपास्यः" में धकारोत्तरवर्ती ईकार तथा उपास्यः के उकार के मध्य किसी वर्ण का व्यवधान न होने के कारण 'ई' = य् हुआ। यणादेश होने पर 'सुध् य्+उपास्यः' ऐसा रूप हुआ।

(४८) पद—अनचि, च। अनुवृत्ति—यरः, वा, अचः, द्वे। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'अच्' के पश्चाद्वर्ती 'यर्' को विकल्प से द्वित्व हो, किन्तु 'अच्' परे रहते नहीं होता। इस तरह द्वित्व से दो धकार हुए।

विवरण—अर्थ की दृष्टि से यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। केवल दो पद हैं—च, अनचि। शब्दार्थ है—"और 'अच्' परे रहते नहीं"। कार्य-विधान की आकाङ्क्षा को पूरा करने के लिये "यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा" (८-४-४५) से 'यरः' तथा 'वा' एवं "अचो रहाभ्यां द्वे" (८-४-४६) से 'अचः' तथा 'द्वे' की अनुवृत्ति आती है। सब पदों की स्थिति के अनुसार 'अच्'-वर्ण से पर (अचः—पञ्चमीविभक्ति) यर् के स्थान में (यरः-षष्ठीविभक्ति) द्वित्व होता है, किन्तु 'यर्' के पश्चात् यदि स्वर-वर्ण रहें तो उसे द्वित्व नहीं होगा (अनचि)। इस नियम के अनुसार सकारोत्तरवर्ती उकार (अच्) के पश्चाद्वर्ती 'ध्' (यर्) को (क्योंकि 'ध्' के पश्चात् 'य्' 'अच्' नहीं है) द्वित्व होकर "सु ध् ध् य्+उपास्यः" बना।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति धकारस्य द्वित्वम्। (४९) **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ १।१।५॥** आदेशः स्थानिवत्स्यात् न तु स्थान्यलाश्रयविधौ। अनेनेह यकारस्य स्थानिवद्भावेनाच्त्वमाश्रित्य 'अनचि' (सू० ४८) इति द्वित्वनिषेधो न शङ्क्यः, 'अनल्विधौ' इति तन्निषेधात्।

वाद्धलीत्येवं वदेत्। रामात्-इत्याद्यवसानेषु च द्वित्वं च स्यात्। अतः अचि न भवतीत्यसमर्थसमासमाश्रित्य प्रतिषेधपरं वाक्यान्तरम्। तदाह—अचः परस्येत्यादिना। इति धकारस्येति। अनेन सूत्रेण धकारस्य द्विरुच्चारणमित्यर्थः। धकारस्य उकारादचः परत्वादच्परकत्वाभावाच्चेति भावः।

(४९) ननु सुध्य् इत्यत्र ईकारस्थानिकस्य यकारस्य स्थानिवद्भावेनाच्त्वात् कथम् अच्परकत्वात् धकारस्य द्वित्वमिति शङ्कां हृदि निधाय तस्य स्थानिवद्भावप्रापकं सूत्रमाह—स्थानिवदादेशः। गुरुस्थानापन्ने गुरुपुत्रादौ स्थानापत्त्या तद्धर्मलाभो लोकतः सिद्धः। कुशादिस्थानापन्नेषु शरादिषु च वैदिकन्यायसिद्धः। इह तु शास्त्रे एवं रूपं शब्दस्येति वचनात् स्थानिधर्मा आदेशेषु न प्राप्नुयुरिति तत्प्राप्त्यर्थं स्थानिवदादेश इत्यारब्धम्। स्थानं प्रसङ्ग इत्युक्तम्। यस्य स्थाने अन्यद्विधीयते तत् स्थानि। येन विधीयमानेन अन्यत् प्रसक्तं निवर्तते स आदेशः। स्थानिना तुल्यः स्थानिवत्। 'तेन तुल्य'मिति वतिप्रत्ययः। आदेशः स्थानिना तुल्यो भवति, स्थानिधर्मको भवतीति यावत्। अलिति वर्णपर्यायः। विधीयत इति विधिः=कार्यम्। अलाश्रयो विधिः अल्विधिः। न अल्विधिः अनल्विधिः। अलाश्रयभिन्ने कार्ये कर्त्तव्ये इति प्रतीयमानोऽर्थः। अलाश्रयकार्ये कर्तव्ये स्थानिवन्न भव-

---

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'अनचि' पद प्रसज्य-प्रतिषेध' का सूचक है[1]। इससे केवल इतना ही अर्थ अभिप्रेत है कि 'यर्' के पश्चात् स्वर-वर्ण (अच्) नहीं होना चाहिये। चाहे 'यर्' के पश्चात् व्यञ्जन हो या कोई भी वर्ण न हो। ऐसी अवस्था ये 'वाक्' शब्द के 'क्' को भी द्वित्व होकर 'वाक्क्' रूप बनता है।

(४९) **पद**—स्थानिवत्, आदेशः, अनल्विधौ। **अतिदेश-सूत्र**।

मूलार्थ—आदेश स्थानी के समान होता है किन्तु स्थानि-सम्बन्धी एक वर्ण को आश्रय मान कर विधान होने से स्थानिवद्भाव नहीं होता।

विवरण—स्थानी और आदेश—दोनों—के भिन्न होने के कारण स्थानी के निमित्त होने वाले कार्य आदेश होने पर नहीं होंगे। वहाँ भी हों—यह इस सूत्र की उपयोगिता है। 'स्थानिवत्' शब्द में 'वति' प्रत्यय तुल्यार्थ में हुआ है। अतः इसका अर्थ हुआ 'स्थानी के समान' समझा जाय। किसे ? आदेश को। कब ? यदि स्थानी के आश्रयीभूत कार्य अनेक वर्णों को आश्रित कर होते हों (अनल्विधौ)[2]। इस तरह स्थानिवद्भाव से यह निष्कर्ष निकलता है कि आदेश होने पर स्थानिभूत कार्यों का विधान किया जाय। पूर्ववर्णित छह प्रकार के सूत्रों में यह आरोप-बोधक 'अतिदेश-शास्त्र' है। आदेश से स्थानी की निवृत्ति होने पर उसकी विद्यमानता तो नहीं रहती किन्तु अतिदेश से स्थानी के धर्मों का आदेश में आरोप किया जाता है। इसके अनुसार प्रकृत उदाहरण में 'य्' को स्थानिवद्भाव से अच् समझ कर "अनचि च" की प्रवृत्ति न होने की शङ्का निरर्थक है, क्योंकि 'य्' का स्थानी 'ई' एक वर्णात्मक है (अल्)।

विशेष—'अल्विधि' शब्द में (१) अला विधिः (तृतीया तत्पुरुष) (२) अलः विधिः

---

१. जहाँ 'नञ्' का सम्बन्ध क्रिया के साथ होकर वाक्यभेद होता है वहाँ 'प्रसज्य-प्रतिषेध' माना जाता है—"प्रसज्यायं क्रियागुणौ ततः पश्चात् निवृत्तिं करोति"। महाभाष्यम्—२-२-६।

२. स्थानिवत्सूत्र में दो वाक्य हैं—(१) आदेशः स्थानिवत् तथा (२) अनल्विधौ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीति फलितम्। अलाश्रयेति सामान्यवचनात् अला विधिः, अलः परस्य विधिः, अलो विधिः, अलि विधिश्चेति सर्वसंग्रहः। अला विधौ यथा—व्यूढोरस्केन। अत्र 'विसर्जनीयस्य सः' इति विसर्गस्थानिकस्य सकारस्य विसर्गत्वमाश्रित्य 'अट्कुप्वाङ्' इति णत्वं प्राप्तं न भवति। अलः परस्य विधौ यथा—द्यौः। 'दिव औत्' इति वकारस्थानिकस्य औकारस्य स्थानिवद्भावेन हल्त्वात् ततः परस्य सोर्हल्ङ्यादिलोपः प्राप्तो न भवति। अलो विधौ यथा—द्युकामः। दिव उदिति वकारस्थानिकस्य उकारस्य स्थानिवद्भावेन वकारत्वात् 'लोपो व्योर्वलि' इति लोपः प्राप्तो न भवति। अलि विधौ यथा—क इष्टः। यजेः क्तः। अत्र यकारस्थानिकसंप्रसारणस्य इकारस्य स्थानिवद्भावेन हश्त्वात् 'हशि च' इत्युत्वं प्राप्तं न भवति। अल् चेह स्थानिभूतः, स्थान्यवयवश्च गृह्यते। ततश्च आदेशस्य स्थानिभूतो योऽल्, तदाश्रयविधौ न स्थानिवदिति फलति। तत्र स्थानिभूताल्विधौ व्यूढोरस्केनेत्युदाहृतमेव। यथा वा—धिवि प्रीणने इति धातोर्लटि प्रथमपुरुषस्य झेरन्तादेशे 'धिन्विकृण्व्योर च' इति विकरणस्य उकारस्य यणि वकारे सति तस्य स्थानिवद्भावेनार्धधातुकत्वात् स्वतो वलादित्वाच्च इडागमः प्राप्तो न भवति, वकारस्य स्थानिभूतो योऽल् उकारः, तदादेशं वकारम् आर्धधातुकत्वेनाश्रित्य प्रवर्तमानस्य इटः स्थान्यलाश्रयत्वात्। स्थान्यवयवालाश्रयविधौ यथा—प्रतिदीव्य। इह क्त्वादेशस्य य इत्यस्य स्थानिवद्भावेन वलाद्यार्धधातुकत्वात् इडागमः प्राप्तो न भवति। इडागमस्य वलादित्वविषये स्थान्यवयवभूतालाश्रयत्वात्। तदेतदाह—आदेशः स्थानिवत्स्यान्नतु स्थान्यलाश्रयविधाविति। स्थान्यलाश्रयेत्यत्र स्थानीति किम्। रामाय। इह 'सुपि च' इति दीर्घस्य यजादिसुबाश्रयस्य आदेशगतयकाररूपालाश्रयत्वेऽपि तस्मिन् कर्तव्ये यादेशस्य स्थानिवद्भावेन सुप्त्वं भवत्येव, दीर्घस्य आदेशगतयकाररूपालाश्रयत्वेपि स्थान्यलाश्रयत्वाभावात्। तथा च नीधातोर्ण्वुलि अकादेशे वृद्धौ 'नै अक' इति स्थिते, ऐकारस्य स्थानिवद्भावेन ईकारधर्मकत्वादायादेशो न स्यात् ईकारस्य आयादेशाभावादिति वाच्यम्, इह हि स्थानिप्रयुक्तं यत् कार्यं शास्त्रीयं तदेवातिदिश्यते। ईकारस्य च आयादेशभावो न शास्त्रविहित इति न तस्य ईकारस्थानिके ऐकारे अतिदेश इत्यास्तां तावत्। अनेनेति। उदाहृतेन स्थानिवत्सूत्रेण इह सुध् य् इत्यत्र ईकारस्थानिकस्य यकारस्य स्थानिवद्भावेन अच्कार्यकारित्वमाश्रित्य अचि न द्वित्वमित्यर्थकेन अनचीत्यनेन यकारस्य द्वित्वनिषेधो न शङ्कनीय इत्यर्थः। कुत इत्यत आह—अनच्विधाविति तन्निषेधादिति। स्थानिवत्त्वनिषेधादित्यर्थः। यकारादेशस्थानिभूतो योऽल् ईकारः तद्गतमच्त्वं यकारे आश्रित्य वर्तमानस्य यकारद्वित्वनिषेधस्य स्थान्यलाश्रयत्वादिति भावः।

(पञ्चमी तत्पुरुष) (३) अलः विधिः (षष्ठी तत्पुरुष) तथा (४) अलि विधिः (सप्तमी तत्पुरुष)—चार प्रकार से विग्रह सम्भव है। इसके अनुसार क्रमशः (१) स्थानिभूत अल् के द्वारा (२) स्थानिभूत 'अल्' से परे (३) स्थानिभूत 'अल्' के स्थान पर तथा (४) स्थानिभूत 'अल्' के पश्चात् रहते हुए किसी कार्य को करना हो तो आदेश को स्थानिवद्भाव नहीं होगा। क्रमशः इनके उदाहरण—(१) व्यूढोरस्केन'—में विसर्ग के स्थान पर 'स्' हुआ है। उसको स्थानिवद्भाव होने से विसर्ग की तरह 'अट्' का आश्रय लेकर णत्व की प्राप्ति हो जायगी, वह नहीं होता। (२) 'द्यौः' में 'व्' = औ, इ = य्। 'द्यौस्' की स्थिति में 'औ' को स्थानिवद्भाव से 'व्' में 'हल्' का आश्रय लेकर विभक्ति 'सु' के लोप की प्राप्ति संभव होगी। निषेध होने से लोप नहीं होता (३) 'द्युकामः' में 'व्' = 'उ' है। 'उ' को स्थानिवद्भाव होने से 'व्' बुद्धि होने पर "लोपो व्योर्वलि" ६-१-६६ से उसका लोप प्राप्त होगा, वह नहीं होता (४) 'क इष्टः'—यज्+क्त = इष्टः (य् = इ—सम्प्रसारण)। किम्+सु,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५०) अचः परस्मिन्पूर्वविधौ १ । १ । ५७ ॥ अल्विध्यर्थमिदम् । परनिमित्तोऽजादेशः स्थानिवत्स्यात्, स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्य विधौ कर्तव्ये । इति यणः स्थानिवद्भावे

---

(५०) ननु सुध् य् इत्यत्र मास्तु 'स्थानिवद्' इति सूत्रेण स्थानिवद्भावः । तदुत्तर-सूत्रेण तु स्थानिवत्त्वं स्यादेवेति शङ्कामुद्भावयिष्यन् तथाविधमुत्तरसूत्रमाह—अचःपरस्मिन् । स्थानिवत्सूत्रेणैव सिद्धे किमर्थमिदं सूत्रमित्यत आह—अल्विध्यर्थमिति । अलाश्रयविधावपि स्थानिवद्भावार्थमित्यर्थः । तेन वव्रश्चेति सिध्यति । ओव्रश्चू छेदने । लिटि तिपि णलि द्वित्वम् । लिट्यभ्यासस्येति अभ्यासे रेफस्य सम्प्रसारणम् ऋकारः । पूर्वरूपम् । उरदत्वम् । रपत्वम् । हलादिश्शेषः । तत्राभ्यासे वकारस्य पुनः सम्प्रसारणं न, ऋकारस्थानिकस्य उरदत्त्वस्य स्थानिवद्भावेन सम्प्रसारणतया 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इति निषेधात् । पूर्वसूत्रेण त्वत्र स्थानिवद्भावो न सम्भवति, सम्प्रसारणनिषेधस्य स्थान्यलाश्रयत्वादिति भावः । पूर्वसूत्रादिह 'स्थानिवदादेश' इत्यनुवर्तते 'अच' इत्येतदादेश इत्यनेनान्वेति अच आदेश इति । परस्मिन्निति सति सप्तमी । ततश्च परनिमित्तक इति लभ्यते । तच्चादेश-विशेषणम् । तदाह—परनिमित्तोऽजादेशः स्थानिवत्स्यादिति । विधीयत इति विधिः कार्यम् । पूर्वस्य विधिः पूर्वविधिः । पूर्वत्वं च यद्यपि सावधिकम् । त्रयं चात्र संनिहितम्—स्थानी, आदेशः, परनिमित्तं चेति । तत्र स्थानी तावन्नावधिर्भवितुमर्हति, तस्यादेशेनापहारात् । नाप्यादेशः, नापि परनिमित्तम्, वैयाकरण इत्यत्र इकारस्थानिकयणादेशात् तत्पर-निमित्तादाकाराच्च पूर्वस्य न य्वाभ्यामित्यैकारस्य आयादेशकर्तव्ये यणादेशस्य स्थानिव-द्भावेनाच्त्वापत्तेः । तथापि स्थान्यपेक्षयैवात्र पूर्वत्वं विवक्षितम्, स्थानिन आदेशेनाप-हृतत्वेऽपि भूतपूर्वगत्या तत्पूर्वत्वस्य सम्भवात् । तदेतदाह—स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्य विधौ कर्तव्य इति । अत्र स्थानिनि सति यद्भवति तदादेशेऽपि भवति, यन्न भवति तदा-देशेऽपि न भवतीत्येवमशास्त्रीयस्यापि कार्याभावस्य अतिदेशो भवति । तत्राद्ये वव्रश्चेत्यु-

---

क+सु, क+र्, क य्, क ('य्' का लोप)+इष्टः की सिद्धि में 'कर्+इष्टः' इस स्थिति में 'इ' को स्थानिवद्भाव होने पर 'य्' के समान समझे जाने से 'र्' को उकार प्राप्त होने लगेगा, वह नहीं होता।

(५०) **पद**—अचः, परस्मिन्, पूर्वविधौ । **अनुवृत्ति**—स्थानिवद्, आदेशः । **अतिदेश-सूत्र** ।

मूलार्थ—'अल्'-विधि में स्थानिवद्भाव के लिये यह सूत्र है । परनिमित्तक अज्-रूपी आदेश को स्थानिवद्भाव होता है यदि उससे पहले कोई विधि (कार्य) करनी हो तो । इस तरह यण् (य्) को स्थानिवद्भाव की प्राप्ति होती है ।

सन्दर्भ—एक वर्ण ('अल्') का आश्रय लेने पर भी स्थानिवद्भाव किया जा रहा है ।

विवरण—पूर्वसूत्र से प्राप्त न होनेवाला स्थानिवद्भाव किया जा रहा है । 'अचः' पद स्थानी का निर्देशक है । 'परस्मिन्'-निमित्त सप्तमी है । 'पूर्वविधौ'-विषय-सप्तमी है । 'स्थानिवद्' तथा 'आदेशः' की अनुवृत्ति है । तदनुसार पूर्वविधि में 'पर' को मानकर किसी स्वर-वर्ण के स्थान पर होने वाला आदेश 'स्थानी' के समान ही होता है । इस प्रकार प्रकृत उदाहरण में 'इ्' = य् अच्-स्थानिक आदेश पर-निमित्तक है । अतः उसके पूर्व 'ध्' को द्वित्वविधि होने में स्थानिवद्भाव बाधक होता है ।

विशेष—१—'पूर्वविधिः' पद में भी षष्ठी-तत्पुरुष तथा पञ्चमी-तत्पुरुष दोनों समास हो सकते हैं (पूर्वस्य विधिः अथवा पूर्वस्मात् विधिः) । 'षष्ठी-तत्पुरुष' को मानकर भट्टोजी दीक्षित ने इस सूत्र का अर्थ किया है । २—प्रकृत सूत्र में 'अचः' पद के अभाव में परनिमित्तक व्यञ्जनरूपी आदेश को भी स्थानिवद्भाव हो जाने के कारण 'आगत्य' (आ√गम्+क्त्वा = ल्यप्) में 'म्' के लोप को स्थानिवद्भाव होने से 'तुक्' आगम नहीं होगा । 'अचः' कहनेपर स्थानिवद्भाव न होने के कारण 'तुक्'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

८० 1223 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्ते। (५१) न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु १।१।५८॥ पदस्य चरमावयवे द्विर्वचनादौ च कर्तव्ये परनिमित्तोऽजादेशो न स्थानिवत्। इति स्थानिव-

---

दाहृतमेव, तत्र 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणमि'ति निषेधकार्यस्य शास्त्रीयत्वात्। द्वितीये तु गणयतीत्युदाहरणम्। गण संख्याने इति चुरादौ अदन्तधातुः। तस्माण्णिच्। अतो लोपः। तिप्, शप्, णेर्गुणः, अयादेशो गणयतीति रूपम्। अत्र णिचि परतः उपधा-भूतस्य गकाराकारस्य 'अत उपधायाः' इति न भवति, प्रकृतसूत्रेणाल्लोपस्य स्थानि-वद्भावात्। अकारे स्थानिनि सति गकारादकारस्य उपधात्वभङ्गादुपधावृद्धिर्न प्रवृत्तिमर्हति। वृद्ध्यभावस्याशास्त्रीयत्वेऽपि अल्लोपे अतिदेशात्। न चात्र गकारादकारस्य स्थान्यकारान्न पूर्वत्वम्, णकारेण व्यवधानादिति वाच्यम्, पूर्वत्वम् ह्यत्र व्यवहिताव्यवहितसाधारणम्, उत्तरसूत्रे स्वरे निषेधाल्लिङ्गात्। तच्च तत्रैव स्पष्टीभविष्यतीत्यलम्। इति यण इति। अनेन सूत्रेण सुध् य् इत्यत्र धकारस्य द्वित्वनिषेधे कर्तव्ये ईकारस्थानिकस्य यकारस्य स्थानिवद्भावे प्राप्ते तत्प्रतिषेधसूत्रमारभ्यत इत्यर्थः।

(५१) न पदान्तद्विर्वचन। स्थानिवदादेश इति अचः परस्मिन्निति चानुवर्तते। पर-निमित्तकोऽजादेशो न स्थानिवदित्यन्वयः। पदान्तश्च द्विर्वचनं च वरे च यलोपश्च स्वरश्च सवर्णश्च अनुस्वारश्च दीर्घश्च जश्च चर्चेति द्वन्द्वः। तेषां विधयः—विधानानि। कर्मणि षष्ठ्या समासः। ततश्च पदान्तादिषु विधेयेषु इति लभ्यते। वर इत्यनेन वरे योऽजादेशः स विवक्षितः। आर्षो द्वन्द्वः। सप्तम्या अलुक्च। विधिशब्दः प्रत्येकमन्वेति—पदान्तविधौ द्विर्वचनविधावित्यादि। पदस्यान्तः चरमावयवः, पदान्तस्य विधाने पदान्तकर्मके विधाने पदस्य चरमावयवे कार्ये द्विर्वचनादौ च कार्ये इति यावत्। तदाह—पदस्य चरमेत्यादिना। पदान्तस्य स्थाने विधाविति तु न व्याख्याताम्, तथा सति एषो यन् हसतीत्यसिद्धेः। तथाहि—एषः यन् इति छेदः। इण्धातोर्लटः शतरि, शपि, लुकि, इकारस्य इणो यणिति यण्। अत्र एतत्तदोरिति सुलोपो न भवति, तस्य हलि परतो विधानात् इह च तस्मिन्

आगम हो जाता है। ३—इसी तरह 'परस्मिन्' पद के अभाव में परनिमित्तक के अतिरिक्त स्थलों में किसी प्रकार के अजादेश होने पर स्थानिवद्भाव होने लगेगा, वह न हो। जिसके फलस्वरूप 'युवजानिः' (युवतिः जाया यस्य सः) में (युवजाया+निङ्<युवजाय्+नि<युवजानि) 'नि' को स्थानिवद्भाव होने से 'आ'-वृद्धि होने पर 'वल्' प्रत्याहार को मानकर होनेवाला 'य्' लोप नहीं होगा, वह हो अतः 'परस्मिन्' कहा गया है। ४—'पूर्वविधौ' पद के न रहने पर स्थानिभूत 'अच्' से पूर्व को किसी कार्य के न होने पर भी परनिमित्तक आदेश को सर्वत्र स्थानिवद्भाव होने लगेगा, वह न हो। ऐसी कल्पना करने से 'हे गौः' में ओकार को णिद्वद्भाव होने के फलस्वरूप वृद्धिरूपी परनिमित्तक अज्-आदेश को स्थानिवद्भाव नहीं होता, क्योंकि सम्बोधन-विभक्ति का लोप उसके बाद होता है न कि पहले।

(५१) पद—न, पदान्त·····विधिषु। अनुवृत्ति—अचः, परस्मिन्, पूर्वविधौ, स्थानिवद्, आदेशः। अतिदेश-सूत्र (निषेध)।

मूलार्थ—पद के अन्तिम अवयव के विधेय होने पर तथा द्वित्वादि कार्य कर्तव्य होने पर 'परनिनिमित्तक' अजादेश को स्थानिवद्भाव नहीं होता। इस प्रकार स्थानिवद्भाव का निषेध हो गया।

सन्दर्भ—परनिमित्तक अज्-आदेश के स्थानिवद्भाव में संकोच किया जा रहा है।

विवरण—पूर्वसूत्र से प्राप्त स्थानिवद्भाव का निषेध किया जा रहा है। सूत्र में केवल दो पद हैं। इससे पहले के दोनों सूत्रों से 'अनल्विधौ' के अतिरिक्त पूरी अनुवृत्ति आ रही है। 'पदान्त·····विधिषु' में द्वन्द्वयुक्त षष्ठी-तत्पुरुष समास है। विग्रह इस प्रकार है—पदे अन्तः-पदान्तः,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्तव्ये इकारस्थानिकस्य यकारस्य स्थानिवद्भावेनाच्त्वात्। न च न पदान्तेति निषेधः शङ्क्यः, यो विधीयमानः पदस्य चरमावयवः सम्पद्यते तत्रैव तन्निषेधात्। इह च विधेयस्य सुलोपस्य पदानवयवत्वात्। पदान्तस्य स्थाने विधाविति व्याख्याने तु इह यकारस्य स्थादिवद्भावो न सिध्येत्, लोपस्य पदान्तसकारस्य स्थाने विधानात्। अत्र 'हश्चि च' इत्युत्वे तु कर्तव्ये यकारो न स्थानिवद्भवति, उकारस्य विधीयमानस्य पदचरमावयवत्वात्। एवं च पदान्तविधावित्यस्य एपो यन् इत्येतदुत्वविषये उदाहरणम्। सुलोपविषये तु प्रत्युदाहरणमिति भाष्ये स्पष्टम्। भाष्यप्रदीपोद्योते स्पष्टतरमेतत्। पदान्तविधौ कानि सन्तीत्याद्युदाहरणमनुपदमेव मूले स्पष्टीभविष्यति। द्विर्वचने सुध् य् इत्युदाहरणम्। न चेह द्वित्वे कर्तव्ये यकारस्य स्थानिवद्भावविरहेऽपि तन्निषेधे स्थानिवद्भावः स्यादेवेति वाच्यम्, अनचि चेति द्वित्वस्यानैमित्तिकतया तद्विषये यकारस्थानिवद्भावस्यानपेक्षितत्वेन तत्र तन्निषेधस्य वैयर्थ्यापत्त्या द्विर्वचनशब्देनात्र अचि नेति द्वित्वनिषेधस्यैव विवक्षितत्वादिति भावः। वरे यथा—यायावरः। 'यश्च यङः' इति 'या' धातोर्यङन्ताद्वरच्। सन्यङोरिति द्वित्वम्। यायाय वरः इति स्थिते 'अतो लोपः' इति यङोऽकारस्य लोपः। 'लोपो व्योरि'ति यकारलोपः। अत्र अजाद्यार्धधातुकमाश्रित्य 'आतो लोप इटि च' इत्याकारलोपे कर्तव्ये अल्लोपो न स्थानिवत्। यलोपे यथा—यातिः। या धातोर्यङि द्वित्वं क्ङिच् यायाय ति इति स्थिते, 'अतो लोपः' 'लोपो व्योरिति' यलोपः, अल्लोपस्य स्थानित्वादातो लोपः, लोपो व्योरिति यलोपः, यातिरिति रूपम्। अत्र अल्लोपो यलोपे कर्तव्ये न स्थानिवत्। न च वाव्योरित्यत्रापि लोपो व्योरिति यलोपे कर्तव्ये उकारादेशस्य वकारस्य स्थानिवत्त्वनिषेधः स्यादिति वाच्यम्, स्वरदीर्घयलोपेषु लोप एवाजादेशो न स्थानिवदिति वार्तिके परिगणनात्। इह च वकारस्य लोपरूपत्वाभावात्। स्वरविधौ यथा—चिकीर्षकः। चिकीर्ष इति सन्नन्तात् ण्वुल्। अकादेशः। सनोऽकारस्य 'अतो लोपः। अत्र ईकारस्य लितीत्युदात्तत्वे कर्तव्ये अल्लोपो न स्थानिवत्। यद्यपि ईकारः अल्लोपस्थानिभूतादकाराज्ज्यवहितपूर्व इति स्थानिवद्भावस्य प्राप्तिरिह नास्ति, तथाप्यस्मादेव ज्ञापकात् पूर्वसूत्रे पूर्वत्वं व्यवहिताव्यवहितसाधारणम्। तत्प्रयोजनं पूर्वसूत्र एवोक्तम्। सवर्णविधौ यथा—

सप्तमी-तत्पुरुष। पदान्तश्च, द्विर्वचनं च, वरे च, यलोपश्च, स्वरश्च, सवर्णश्च, अनुस्वारश्च, दीर्घश्च, जश् च, चर्चं = पदान्त...चरः। तेषां विधयः, तेषु = पदान्त...विधिषु। द्वन्द्व-समास के अन्तिम पद 'विधि'-शब्द का सम्बन्ध प्रत्येक के साथ होने से 'पदान्त' आदि विधियों में स्थानिवद्भाव नहीं होता। 'पदान्त' शब्द में 'अन्त' पद चरम अवयव का वाचक है। अतः वृत्ति में "पद के चरम (अन्तिम) अवयव विधेय रहने पर"—यह अर्थ किया गया है। प्रकृत उदाहरण में 'ध्' को द्वित्व-विधि में "अचः परस्मिन्०" से 'य्' को प्राप्त हुए स्थानिवद्भाव का निषेध होने से द्वित्व होकर 'सु ध् ध् य्+उपास्यः' स्थिति हुई।

विशेष—सूत्र के क्रमशः उदाहरण—(१) **पदान्तविधि**—'कानि सन्ति'। प्रक्रिया-किम्+जस्, √अस्+झि (अन्ति)। <क+अस्, <क+शि (इ), <कन्+इ, <कान्+इ = कानि+√अस्+अन्ति <स्+अन्ति, = सन्ति। प्रक्रिया के मध्य 'सन्ति' में √अस् के 'अ'-लोप होने पर "अचः परस्मिन्०" से प्राप्त स्थानिवद्भाव के कारण 'नि' के इकार को यणादेश की प्राप्ति का पद के अन्तावयव होने के कारण निषेध हो गया। (२) **द्विर्वचनविधि**—सुद्ध्युपास्यः। (३) **वरेविधि**—यायावरः। √या+यङ् (य), <या या+य, <या या+य्+वर (वरच्)-'अ' का लोप, <या या+य्+वर = यायावरः। यहाँ पर 'यङ्' (य) के 'अ' के लोप को स्थानिवद्भाव होने से धात्ववयव 'या' के आकार का लोप प्राप्त होने पर 'वरे' विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध हो गया। (४) **यलोपविधि**—कण्डूतिः। √कण्डू+यक् (य), <कण्डूय्+

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिण्ड्ढि । शिष् इति धातोः रौधादिकाल्लोण्मध्यमपुरुषैकवचनम् । सिप्, श्नम् । शिनप् सि । हित्वम् । धित्वम् । ष्टुत्वम् । षस्य जश्त्वं डकारः । शिनड्ढि श्नसोरल्लोपः । नश्चापदान्तस्येत्यनुस्वारः । अनुस्वारस्य ययीति तस्य परसवर्णः णकारः शिण्ड्ढि इति रूपम् । अत्र परसवर्णे कर्तव्ये अल्लोपो न स्थानिवत् । वस्तुतस्तु सवर्णविधौ नेदमुदाहरणम् । श्नमकारस्य लोपोऽत्र अजादेशः । तत्स्थानिभूतः श्नमकारः एव । तस्मिन् सति नकारस्यानुस्वारप्रसक्तिरेव नास्ति । तथा चानुस्वारस्य स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन कदाप्यदृष्टत्वात्तस्य परसवर्णे कर्तव्ये अचः परस्मिन्नत्यल्लोपस्य स्थानिवत्त्वं न प्रसक्तमिति किं तत्प्रतिषेधेन । यत्तु तत्त्वबोधिन्याम्—अनुस्वारस्य स्थानिभूतो नकारः श्नमकारात् पूर्वत्वेन दृष्ट इति तत्स्थानिकानुस्वारस्यापि तत्पूर्वत्वेन दृष्टत्वं स्थानिद्वारापि पूर्वत्वाभ्युपगमादित्युक्तम् । एवं सति तितउमाचष्टे तितापयतीत्यत्र पुगागमो न स्यात् । 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच् । इष्टवद्भावादुकारस्य टेरिति लोपः । अचो ञ्णितीति तकारादकारस्य वृद्धिः, आकारः, पुगागमः । तितापीत्यस्मात् लट्, तिप्, शप्, गुणः, अयादेशः—तितापयतीति रूपम् । अत्र अचो ञ्णितीति वृद्ध्या लब्धस्य अकारस्य पुगागमे कर्तव्ये उकारलोपस्य स्थानिवद्भावे सति उकारेण व्यवधानेन णिपरकत्वाभावात् पुगागमो न स्यात् । आकारस्य लोपस्थानिभूतादुकारात् पूर्वत्वस्य स्वतः अभावेऽपि स्थानिद्वारा सत्त्वादिति सिद्धान्तरत्नाकरे दूषितम् । प्रौढमनोरमाव्याख्याने तु शब्दरत्ने पादमाचष्टे पादयति, ततः क्विप्, पात् हसतीत्यादौ 'झयो हः' इति पूर्वसवर्णे कर्तव्ये पूर्वस्मात्परस्य विधिरिति पञ्चमीसमासप्राप्तस्थानिवद्भावनिषेधार्थमिह सूत्रे सवर्णग्रहणमिति प्रपञ्चितम् । अनुस्वारविधौ यथा शिंषन्ति । शिष्धातोर्लटि झिः । झोऽन्तः । श्नसोरल्लोपः । नश्चापदान्तस्येत्यनुस्वारः । शिंषन्ति । इह तु न परसवर्णः । षकारस्य यय्त्वाभावात् । अत्र अनुस्वारे कर्तव्ये अल्लोपो न स्थानिवत् । जश्विधौ यथा—सग्धिश्च मे । अद—भक्षणे क्विन् । बहुलं छन्दसीति घस्लृ आदेशः । 'घसिभसोर्हलि च' इत्युपधालोपः । झलो झलीति सलोपः । झषस्तथोरिति तकारस्य धत्वम् । 'झलाञ्झश् झशि इति जश्त्वेन घकारस्य गकारः । समाना ग्धिः अदनं सग्धिः । समानस्य च्छन्दसीति सभावः । अत्र जश्त्वे कर्तव्ये उपधालोपो न स्थानिवत् । चर्विधौ यथा—जक्षतुः । घसेर्लिटि अतुस् । द्वित्वम् । 'हलादिश्शेषः' । 'अभ्यासे चर्च' इति जश्त्वम् । 'कुहोश्चुः' इति जकारः । 'गमहन' इत्युपधालोपः । 'खरि च' इति

क्तिच् (ति)—'अ' लोप, <कण्डूय् ति, <कण्डूतिः । यहाँ भी 'अ'-लोप को स्थानिवद्भाव होने से 'य्'-लोप की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु स्थानिवद्भाव का निषेध होकर यह संभव हुआ । (५) स्वरविधि—चिकीर्षकः । √कृ+सन् (स), <कृ+स-दीर्घ, <किर्+स-ऋ = 'इर्', <किर् किर्+स, <कि किर्+स <चिकिर्+स <चिकीर्ष+ण्वुल् (अक), <चिकीर्ष्+अक = चिकीर्षकः । 'ण्वुल्' प्रत्यय में 'ल्' इत् होने से उसके पूर्व 'की' को उदात्त हुआ—"लिति" (६-१-१९३) । 'चिकीर्ष' में 'अ'-लोप को स्थानिवद्भाव होने पर 'र्ष' में 'अ' उदात्त हो जाता । वह इस निषेध के कारण नहीं हुआ । (६) सवर्ण तथा (७) अनुस्वार-विधि—शिण्ढि । √शिष् +लोट् (सिप्), <शि न (श्नम्) ष्+सि, <शि न ष्+हि, <शिन् ष्+हि-'अ' लोप, <शि न् ष्+धि, <शि न् ष्+ढि, <शि न् ड्+ढि, <शिन्+ढि—यहाँ 'न्' को अनुस्वार की प्राप्ति है । 'श्न' (न) के 'अ' लोप को स्थानिवद्भाव होने से अनुस्वार की प्राप्ति न होती, किन्तु स्थानिवद्भाव का निषेध होने से अनुस्वार हुआ—<शिं ढि—इस स्थिति में भी 'अ' लोप को स्थानिवद्भाव कर अनुस्वार को परसवर्ण होने में बाधा हो सकती थी, किन्तु निषेध होने से परसवर्ण हो गया=शिण्ढि । (८) दीर्घविधि—प्रतिदीव्ना । प्रतिदिवन्+टा (आ)-उपधालोप, < प्रतिदिव् न्+आ—इस स्थिति में 'अ' लोप को स्थानिवद्भाव होने से दीर्घ की प्राप्ति नहीं होती,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्भावनिषेधः । (५२) झलां जश् झशि ८।४।५३ ॥ स्पष्टम् । इति धकारस्य दकारः ।

चर्त्वम् । ककारः । 'शासिवसि' इति षः । अत्र चर्त्वे उपधालोपो न स्थानिवत् । भाष्ये तु पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवदित्यवष्टभ्य द्विर्वचनसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चरः प्रत्याख्याताः । किञ्च 'दीर्घदाचार्याणाम्' इत्युत्तरम् 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' प्रत्याख्यातः । किञ्च 'दीर्घाचार्याणाम्' इत्युत्तरम् 'अनुस्वारस्य ययिः परसवर्णः' 'वा पदान्तस्य' 'तोर्लि' 'उदःस्थास्तम्भोः पूर्वस्य' 'झयो होऽन्यतरस्याम्' 'शश्छोटि' इति षट्सूत्रीपाठोत्तरं 'झलाञ्जश् झशि' 'अभ्यासे चर्च' 'खरि च' 'वाऽवसाने' 'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः' इति पञ्चसूत्रीपाठ इति 'हलो यमां यमि' इति सूत्रस्थभाष्यसम्मतः सूत्रक्रमः । एवं च शिण्ढीत्यत्र न परसवर्णप्रसक्तिः । परसवर्णे कर्तव्ये पकारस्थानिकस्य जश्त्वस्यासिद्धत्वेन यय्परकत्वाभावादिति सर्वथापि सवर्णविधौ शिण्ड्ढीति नोदाहरणमित्यास्तां तावत् । इति स्थानीति । अनेन सूत्रेण सुध् य् इत्यत्र द्वित्वनिषेधे कर्तव्ये यकारस्य स्थानिवत्त्वनिषेध इत्यर्थः । एवं चाच्परकत्वाभावेन अनचि चेति निषेधाभावात् धकारस्य द्वित्वं निर्बाधमिति भावः । तथा च सुध् ध् य् इति स्थितम् ।

(५२) झलाञ्जश् झशि । स्पष्टमिति । झलां स्थाने जश् स्यात् झशि परतः स्पष्टार्थकम् । तत्र न किञ्चिद्व्याख्यातव्यमस्ति, पदान्तस्यानुवृत्त्यभावादित्यर्थः । इति धकारस्येति । प्रथमधकारस्येत्यर्थः । दकार इति । स्थानत आन्तर्यादिति भावः ।

किन्तु निषेध होने से दीर्घ होकर <प्रतिदीव् न्+आ = प्रतिदीव्ना । (९) जश्विधि—सन्धिः । √अद् = घस्+क्तिन् (ति)-'उपधा' लोप, घ् स्+ति <घ् ति, <घ् धि-'उपधा' (अ) लोप को स्थानिवद्भाव होने से 'जश्त्व' की प्राप्ति नहीं होती, निषेध होने से जश्त्व-घ् = ग् √<ग्धि+सु, (समाना चासौ ग्धिः-विग्रह) <समाना+सु, ग्धि+सु, <समान ग्धिः, <सग्धिः (समान=स) । (१०) चर्विधि—जक्षतुः । √अद्+लिट्, <घस्+लिट् (अतुस्), घ् स्+अतुस्-'उपधा' लोप, <घस् घ्स्+अतुस्, <घ्स्+अतुस्, <ज घ्स्+अतुस्—यहाँ 'उपधा' लोप को स्थानिवद्भाव होने से चर्त्व (घ् = क्) की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु निषेध होने के कारण चर्त्व होकर <ज क् स्+अतुस्, <ज क् ष्+अतुस् = जक्षतुः ।

(५२) पद—झलां, जश्, झशि । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—स्पष्ट है । इस प्रकार धकार के स्थान में दकार हुआ ।

विवरण—सूत्र स्वतः अपने में पूर्ण है । कहीं से अनुवृत्ति अपेक्षित नहीं है । 'झल्'—प्रत्याहारबोध्य (य, र, ल, व को छोड़ कर अन्य सभी व्यञ्जनवर्ण) वर्णों के स्थान पर 'झश्'-बोध्यवर्ण (वर्गों के तृतीय तथा चतुर्थ वर्ण) अव्यवहित रूप में परे रहते हुए 'जश्'-बोध्य-वर्ण (वर्गों के तृतीय वर्ण) होते हैं । तदनुसार धकार को द्वित्व होनेपर ('झल्') पूर्व धकार के स्थानपर स्थानतः सादृश्य होने के कारण दन्तस्थानीय (जश्) तृतीय वर्ण 'द्' हुआ, क्योंकि पूर्व 'ध्' के पश्चात् दूसरा 'ध्'—'झश्' प्रत्याहार-बोध्य है ।

— जश्त्व-बोधक वर्णसाम्य का स्पष्टीकरण —

स्थानी	साम्य	आदेश
'झल्' प्रत्याहारबोध्य वर्ण	उच्चारण-स्थान	'जश्'-प्रत्याहारबोध्य वर्ण
झ्, ज्, छ्, च्, श्	तालु	ज्
भ, ब्, फ्, प्	ओष्ठ	ब्
घ्, ग्, ख्, क्, ह्	कण्ठ	ग्
ढ्, ड्, ठ्, ट्, ष्	मूर्धा	ड्
ध्, द्, थ्, त्, स्	दन्त	द्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५३) अदर्शनं लोपः १।१।६० ।। प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यात् । **(५४) संयोगान्तस्य लोपः ८।२।२३ ।।** संयोगान्तं यत्पदं तदन्तस्य लोपः स्यात् । इति यलोपे प्राप्ते । 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' (वा ४८०६) । 'यणो मयो द्वे वाच्ये' (वा ५०१८) । 'मय इति पञ्चमी यण इति षष्ठी' इति पक्षे यकारस्यापि द्वित्वम् । तदिह धकारयकारयोर्द्वित्वविकल्पाच्चत्वारि रूपाणि । एकधमेकयम् । द्विधं द्वियम् । द्विधमेकयम् । एकधं

---

(५३) सुद् ध् य् इत्यत्र यकारस्य संयोगान्तलोपं शङ्कितुं लोपसञ्ज्ञासूत्रमाह—अदर्शनं लोपः । शब्दानुशासनप्रस्तावाच्छब्दविषयकश्रवणमिह दर्शनं विवक्षितम् । दर्शनस्याभावः अदर्शनम् । अर्थाभावेऽव्ययीभावः । 'स्थानेऽन्तरतमः' इत्यतः स्थाने इत्यनुवर्तते । स्थानं प्रसङ्ग इत्युक्तम् । शास्त्रतः शब्दस्य कस्यच्छ्रवणप्रसङ्गे सति यदश्रवणम्—तत् लोपसञ्ज्ञं भवतीत्यर्थः । तदाह—प्रसक्तस्येति । तत्र श्रवणाभावात्मके लोपे विहिते श्रवणार्थमुच्चारणमपि नास्तीत्यर्थाल्लभ्यते । प्रसक्तस्य किम् ? दधि इत्यादौ क्विपः अश्रवणात्मकलोपस्य प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' मा भूत् ।

(५४) संयोगान्तस्य लोपः । पदस्येत्यधिकृतम् । संयोगः यस्येति विग्रहः । संयोगान्तस्य पदस्य लोप इत्यन्वयः । न च कृत्स्नपदस्य लोपः । किन्तु अलोऽन्त्यस्येति परिभाषया तदन्त्यस्यैव । तदाह—संयोगान्तमित्यादिना । अत्र अन्तग्रहणं स्पष्टार्थमेव । पदविशेषणतया येन विधिरित्येव तदन्तलाभात् । यत्तु संयोगावान्तौ यस्येति विग्रहलाभार्थमन्तग्रहणम् । अन्यथा सुट्षत्प्रासाद् इत्यत्र पकारस्य लोपः स्यादिति । तन्न, संयोगसञ्ज्ञाया व्यासज्यवृत्तित्वात् प्रत्येकवृत्तित्वमभ्युपगम्य अन्तग्रहणप्रयोजनवर्णनस्य व्यर्थ-

---

(५३) पद—अदर्शनं, लोपः । अनुवृत्ति—इति । संज्ञासूत्र ।

मूलार्थ—विद्यमान वस्तु के न दिखलाई पड़ने को 'लोप' कहते हैं ।

सन्दर्भ—प्रकरण में प्रसङ्गवश 'लोप' संज्ञा का निर्वचन किया जा रहा है ।

विवरण—संज्ञा—लोप । संज्ञी—अदर्शनम् (न दर्शनम्) । यहाँ 'अदर्शन' शब्द का अर्थ अनुपलब्धि है और वह श्रवण तथा उच्चारण न होने के रूप में अपेक्षित है[1] । 'लोप' संज्ञा अदर्शन के अर्थ की होती है न कि आनुपूर्वी शब्द के रूप में[2] । इस हेतु "न वेति विभाषा" (१-१-४४) से मण्डूकप्लुति के समान 'इति' शब्द की अनुवृत्ति की जाती है । तदनुसार विद्यमान वस्तु की अनुपलब्धि का नाम 'लोप' हैं । उदाहरण—गौधेरः । प्रक्रिया—गोधा + ढक्, <गोधा+एय् र्, <गौध् + एय् र = गौधेर + सु = र् = : । 'य्' का लोप प्राप्त होते ही उसकी अनुपलब्धि हो जाती है ।

(५४) पद—संयोगान्तस्य, लोपः । अनुवृत्ति—पदस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—संयोगान्त पद के अन्तिम वर्ण का लोप होता है । इस तरह 'य्' का लोप प्राप्त होता है । (वा०) 'यण्' का लोप नहीं होता ऐसा समझा जाय । (वा०) 'मय' से अव्यवहित परे 'यण्' को द्वित्व जाना जाय । वार्तिक में कार्यवश 'मयः' पद पञ्चमी विभक्ति तथा 'यणः' पद को षष्ठी-विभक्ति में स्वीकार करने से 'य्' को भी द्वित्व होता है । तदनुसार यहाँ धकार तथा यकार को द्वित्व विकल्प होने से चार रूप बनेंगे—(१) एक ध्, एक य् । (२) दो ध्, दो य् । (३) दो ध्, एक य् । (४) एक ध्, दो य् । सुद्ध्युपास्यः । मद्ध्वरिः । धात्रंशः । लाक्तिः ।

विवरण—"पदस्य" (८-१-१६) के अधिकार में होने से 'पदस्य' की अनुवृत्ति लाकर 'अलो-

---

१. अत्र दृशिर्शनसामान्यवचनः । दर्शनं ज्ञानम् । तदिह शब्दानुशासनप्रस्तावात् शब्दविषयकं सत् श्रवणं सम्पद्यते ।

२. अर्थस्येयं संज्ञा न शब्दस्य । काशिका ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वियम् । सुद्ध्युपास्यः । मद्ध्वरिः । धात्त्रंशः । लाकृतिः । (५५) नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य

त्वादिति शब्दरत्ने विस्तरः । इति यलोप इति । सुध् य् इति यकारस्य अनेन सूत्रेण लोपे प्राप्ते तत्प्रतिषेधः आरभ्यते । यणः प्रतिषेधो वाच्यः । यणः संयोगान्तलोपप्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः । अनेन वार्तिकेन यकारस्य संयोगान्तलोपो न भवतीति शेषः । इदं वार्तिकम् आकरे प्रत्याख्यातम् । अर्थादत्र यकारस्य अचः परत्वाभावादच्परकत्वाच्च अनचि चेति द्वित्वाप्राप्तौ द्वित्वविधिमाह—यणो मयो द्वे वाच्ये । अनेन वार्तिकेन यकारस्य द्वित्वमित्यन्वयः । ननु यदि यण इति पञ्चमी मय इति षष्ठी तर्हि यणः परस्य मयो द्वित्वमिति लभ्यते । प्रकृते च यकारो न यणः परः, नापि मय् । अतः कथमनेन वार्तिकेन तस्य द्वित्वमित्यत आह—मय इतीति । पक्षे इत्यनेन उभयथा व्याख्यानमिष्टमिति सूचितम् । विनिगमनाविरहादिति भावः । अत्रापि वार्तिके यरोऽनुनासिक इत्यतो वाग्रहणमनुवर्तते । ततश्च फलितमाह—तदिहेति । तदित्यव्ययम् । इयता सन्दर्भेण यत् प्रपञ्चितं तेन इह सुध् य् इत्यत्र यकारधकारयोः द्वित्वविकल्पाच्चत्वारि रूपाणि सम्पद्यन्ते इत्यर्थः । एकधमेकयमिति । एकः धकारः यस्य तत् एकधम् । एकम् एकयमित्यपि । धकारयकारयोरपि द्वित्वाभावे एकधकारमेकयकारं च प्रथमं रूपमित्यर्थः । द्विधं द्वियमिति । द्वौ धकारौ यस्य द्विधम् । एवं द्वियमित्यपि । धकारयकारयोरुभयोरपि द्वित्वे द्वियकारं द्विधकारं च द्वितीयं रूपमित्यर्थः । द्विधमेकयमिति । धकारस्य द्वित्वे यकारस्य द्वित्वाभावे द्विधमेकयं च तृतीयं रूपमित्यर्थः । एकधं द्वियमिति । धकारस्य द्वित्वाभावे यकारस्य द्वित्वे एकधं द्वियं च चतुर्थं रूपमित्यर्थः । सुद्ध्युपास्य इति । इह 'न भूसुधियोः' इति निषेधस्तु न भवति, तस्य अजादौ सुपि विधानात् । इकोऽसवर्ण इत्यपि न, 'न समासे' इति तन्निषेधात् । मद्ध्वरिरिति । मधुर्नाम असुरविशेषः । तस्यारिश्शत्रुः मद्ध्वरिः । हरिरित्यर्थः । अत्र धकारादुकारस्य स्थानत आन्तर्यात् यथासङ्ख्यपरिभाषया वा वकारः । न चात्र वकारस्य दन्तस्थानाधिक्यात् न स्थानसाम्यमिति वाच्यम् । यावत्स्थानसाम्यस्य सावर्ण्यप्रयोजकत्वेऽपि आन्तरतम्ये यत्किञ्चित्स्थानसाम्यस्यापि प्रयोजकत्वात् । अन्यथा चेता स्तोतेत्यादौ इकारादेः एकाराद्यनापत्तेः । धात्त्रंश इति । अत्र तकारस्यैव द्वित्वम् । न तु रेफस्येत्यनुपदमेव वक्ष्यते अचो रहाभ्यामित्यत्र । लाकृतिरिति । लृवर्णस्य आकृतिरिव आकृतिर्यस्येति विग्रहः । अत्र

ऽन्त्यस्य' के साथ एकवाक्यता होने के पश्चात् संयोगान्त-पद (संयोगः अन्ते यस्य सः) के अन्तिम वर्ण का लोप होता है । तदनुसार यहाँ 'य्' का लोप प्राप्त हुआ । उसका निषेध इस वार्तिक द्वारा किया जा रहा है—(वा०) संयोगान्त पद के अन्तिम य्, व्, र्, ल् (यण्) का लोप नहीं होता । दूसरे वार्तिक में विद्यमान पदों में से 'मयः' पञ्चमी तथा 'यणः' षष्ठी विभक्ति है । इस प्रकार 'मय्' से अव्यवहित पर 'यण्' को विकल्प से द्वित्व-विधान किये जाने पर 'य्' को द्वित्व हुआ । इस तरह 'ध्' तथा 'य्'—इन दोनों वर्णों के विकल्प से द्वित्व होने के कारण यहाँ चार रूप होते हैं—(१) 'सुध्युपास्यः'—किसी भी वर्ण के द्वित्व न होने पर एक 'य्' । (२) सुद्ध्य्युपास्यः—'ध्' तथा 'य्' के द्वित्व होने पर (३) सुद्ध्युपास्यः—'ध्' को द्वित्व किन्तु 'य्' को द्वित्व न करने पर । (४) सुध्य्युपास्यः—केवल 'य्' को द्वित्व करने पर । इसका विग्रह है—सुधीभिः उपास्यः, अर्थात् विद्वानों द्वारा मान्य । इसी प्रक्रिया के अनुसार दूसरा उदाहरण मधु+अरिः = (१) मध्वरिः, (२) मद्ध्वरिः (३) मद्ध्वरिः (४) मध्वरिः—ये चार रूप क्रमशः बनते हैं । इसका विग्रह मधोः अरिः—अर्थात् मधु नामक राक्षस का शत्रु-विष्णु । तीसरा उदाहरण धातृ+अंशः = (१) धात्रंशः, (२) धात्त्रंशः । 'र्' को द्वित्व न होने के कारण दो रूप होंगे । विग्रह—धातुः अंशः—ब्रह्मा का अंश । चौथा उदाहरण लृ+आकृतिः = लाकृतिः । इस उदाहरण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८।४।४८॥ पुत्रशब्दस्य न द्वे स्त आदिनीशब्दे परे आक्रोशे गम्यमाने। पुत्रादिनी त्वमसि पापे। आक्रोशे किम्? तत्त्वकथने द्विर्वचनं भवत्येव। पुत्त्रादिनी सर्पिणी। 'तत्परे च' (वा ५०२१)। पुत्रपुत्रादिनी त्वमसि पापे। 'वा हतजग्धयोः' (वा

अकारे परे लृवर्णस्य दन्तस्थानसाम्यात् लकारः। न च दन्तस्थानसाम्यात् प्रथमातिक्रमे कारणाभावाच्च तस्य वकार एवास्तु। आन्तरतम्ये यत्किञ्चित्स्थानसाम्यस्य प्रयोजकतायाः मद्ध्वरिरित्यत्रोक्तत्वादिति वाच्यम्, अत्र हि चत्वारो यणो यवरला विधेयाः। 'तत्र वकार-विधिरुकारे ओष्ठस्थानसाम्यात् निस्सपत्नः सावकाशः, तत्र लकारस्य दन्तरूपस्थानभेदाद-प्राप्तेः। लाकृतिरित्यत्र लृवर्णे तु वकारो लकारश्चेत्युभयमपि प्राप्तम्। अत्र शब्दपरविप्रति-षेधमाश्रित्य लकारविधिः परत्वात् अपवादत्वाच्च वकारविधिं बाधते। यदि हि प्रथमातिक्रमे कारणाभावादत्रापि वकार एव स्यात् तर्हि लकारविधिर्निरवकाश एव स्यात्। अतोऽत्र लृवर्णस्य लकार एवेत्यास्तां तावत्।

(५५) नादिन्याक्रोशे। द्वे इत्यनुवर्तते, यर इति च। आक्रोशो निन्दा। आदिनीति ङ्यन्तं लुससप्तमीकम्। आदिनीशब्दे परे पुत्रशब्दस्यावयवो यः यर् तकारः तस्य न द्वित्वम्, आक्रोशे गम्ये इत्यर्थः। तदाह—पुत्रशब्दस्येत्यादिना। पुत्रशब्दस्यावयवस्येत्यर्थः। पुत्रादिनी त्वमसि पापे इति। पुत्रानत्तुं शीलमस्याः पुत्रादिनी। 'सुप्यजातौ' इति णिनिः, 'ऋन्नेभ्यः' इति ङीप्। हे पापे! त्वं पुत्रादिनीत्यन्वयः। पुत्रघातिनीत्यर्थः। ईदृशाक्रोशस्य प्रायेण स्त्रीष्वेव सम्भवात् सूत्रे आदिनीति ङ्यन्तमेव विवक्षितमिति हरदत्तः। माधवोऽ-प्येवम्। अत्र उकारात् परस्य तकारस्य 'अनचि च' इति प्राप्तं द्वित्वं निषिध्यते। रेफस्य तु न क्वापि द्वित्वप्रसक्तिरित्यनुपदमेव वक्ष्यते। आक्रोशे किमिति। आक्रोश इत्यस्य किं प्रयोजन मित्यर्थः। 'किं पृच्छायां जुगुप्सने' इत्यव्ययवर्गे अमरः। एवमुत्तरत्राप्येवज्ञातीयकेषु द्रष्टव्य-म्। तत्त्वकथन इति। यस्याः पुत्राः स्वयमेव म्रियन्ते तां प्रति पुत्रादिनीति वस्तुस्थितिकथने तु न द्वित्वनिषेधः, तत्र निन्दायाः अप्रतीतेरित्यर्थः। तत्परे च। वार्तिकमेतत्। सः आदिनी-शब्दः परो यस्मात् सः तत्परः। आदिनीशब्दपरके पुत्रशब्दे च परे पुत्रशब्दावयवस्य यरो न द्वित्वमित्यर्थः। पुत्रपुत्रादिनी त्वमिति। पुत्रस्य पुत्रानत्तीति विग्रहः। अत्र पूर्वस्य पुत्रशब्दस्य

में केवल एक ही रूप होगा। द्वित्व आदि की प्राप्ति नहीं है। अर्थ—'लृ' की आकृति की तरह स्वरूपधारी (लृकारस्य आकृतिरिव आकृतिर्यस्य)।

विशेष—प्रक्रिया-दशा में समास-युक्त शब्दों के विग्रह की स्थिति में विभक्तियों का लोप हो जाता है। तदनुसार 'सुधीभिः उपास्यः' इन दोनों पदों की विभक्तियों का लोप होने पर 'सुधी+उपास्य'—ऐसा स्वरूप होना चाहिये। सन्धिकार्य आदि के पश्चात् पुनः विभक्ति का प्रयोग किया जाता है। तथापि सुविधा की दृष्टि से 'सुधी+उपास्यः' आदि प्रयोग करते चले आ रहे हैं।

(५५) पद—न, आदिनी, आक्रोशे, पुत्रस्य। अनुवृत्ति—यरः, द्वे। विधि-सूत्र (निषेध)।

मूलार्थ—निन्दा की प्रतीति होने पर पुत्र शब्द के ('यर्') को द्वित्व नहीं होता, 'आदिनी' परे रहते।

विवरण—पूर्वसूत्र से प्राप्त लोप का निषेध किया जा रहा है। इस सूत्र में 'पुत्रस्य' षष्ठी-विभक्ति का अर्थ अवयव है। 'आदिनी' पद में सप्तमी-विभक्ति का लोप किया गया है। अतः अर्थ साकाङ्क्ष है। तदनुसार अनुवृत्त 'यरः' के साथ 'पुत्र' शब्द सम्बद्ध होकर 'पुत्र'—शब्दावयव 'यर्' का लोप निन्दा (आक्रोश) की अभिव्यक्ति होने पर 'आदिनी' शब्द परे रहते नहीं होता।

उदाहरण—'पुत्रादिनी' त्वमसि पापे (हे पापिनी, तू पुत्रों को खाने वाली है)। यहाँ 'उ' के पश्चात् 'त्' ('यर्') को प्राप्त द्वित्व नहीं हुआ। **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में 'आक्रोश'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५०२२)। पुत्रहती–पुत्रहती। पुत्रजग्धी-पुत्रजग्धी। **(५६) त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य ८।४।५०॥** त्र्यादिषु संयुक्तेषु वा द्वित्वम्। इन्द्रः—इन्द्रः। राष्ट्रम्—राष्ट्रम्।

आदिनीशब्दः परो न भवति, द्वितीयपुत्रशब्देन व्यवधानात्। अतः पूर्वसूत्रेण अप्राप्ते द्वित्व-निषेधे इदमारब्धम्। वा हतजग्धयोः। हतशब्दे जग्धशब्दे च परे पुत्रशब्दावयवस्य यरो द्वित्वं वा स्यादित्यर्थः। पुत्रहतीति। तकारद्वित्वे रूपम्। पुत्रो हतो ययेति विग्रहः। 'अस्वाङ्गपूर्वपदात्' इति ङीप् इति केचित्। वस्तुतस्तु जातिपूर्वादित्यस्य तत्रानुवृत्तेः गौरा-दित्वात् ङीषिति युक्तम्। पुत्रघातसाहसस्य स्त्रीष्वेव सम्भवात् स्त्रीलिङ्गमेवोदाहृतम्। पुत्रहतीति। द्वित्वाभावे रूपम्। एवं पुत्रजग्धीति। अनचि चेति द्वित्वविकल्पे सिद्धे पुत्र-शब्दस्य क्तान्ते चेत् हतजग्धयोरेव आक्रोश एवेति नियमार्थमिदं वार्तिकमित्याहुः।

(५६) त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य। त्रिचतुरादिषु हल्षु संयुक्तेषु आद्यस्य अचः परस्य यरः द्वित्वं शाकटायनमते। मतान्तरे तु नेत्यर्थः। इन्द्र इति नकारस्य द्वित्वविकल्पः। राष्ट्र-मित्यत्र पकारस्य द्वित्वविकल्पः।

पद का उल्लेख होने के कारण वास्तविक स्थिति में पुत्रों के भक्षण करने वाली सर्पिणी का अर्थ ग्रहण करने पर 'त्' को पक्ष में द्वित्व होकर 'पुत्त्रादिनी' रूप बनेगा। प्रथम वार्तिक द्वारा 'पुत्रा-दिनी' शब्दपरक 'पुत्र' शब्द के 'त्' को भी द्वित्व का निषेध किया जा रहा है। अतः 'पुत्रपुत्रा-दिनी' (पुत्र के पुत्रों को भी खाने वाली—पुत्रस्य पुत्राः = पुत्रपुत्राः तान् अत्ति) में 'त्र' को द्वित्व नहीं हुआ। दूसरे वार्तिक द्वारा पुत्र शब्द के अनन्तर 'हत' तथा 'जग्ध' शब्दों के रहने पर 'अच्' से परे 'यर्' को विकल्प से द्वित्व का विधान किया जा रहा है। इसके अनुसार 'पुत्रहती' एवं 'पुत्त्रहती'—'त्' को विकल्प से द्वित्व होने के कारण दो रूप बनेंगे (पुत्रः हतः यया सा—जिसने पुत्र का विनाश किया है—ऐसी स्त्री)। ऐसे ही 'पुत्रजग्धी' एवं 'पुत्त्रजग्धी'—ये दो रूप बनेंगे (पुत्रो जग्धो यया सा—पुत्र को खाने वाली)। दूसरे वार्तिक द्वारा यह नियमन किया जा रहा है कि 'पुत्र' शब्द के अनन्तर 'क्त' प्रत्यान्त केवल 'हत' तथा 'जग्ध' शब्दों के रहने पर 'त्' को द्वित्व विकल्प से होता है अन्य शब्दों को नहीं, अन्यथा "अनचि च" से द्वित्व विकल्प की प्राप्ति स्वतः रही। इस विधान की कोई आवश्यकता नहीं थी।

विशेष—पुत्र को भक्षण करने वाली हतभागिनी स्त्री के प्रति अन्य महिलाओं का आक्रोश (निन्दा) पारस्परिक मूर्खता का सूचक है। किसी महिला के पुत्रादि के विनष्ट होने पर अन्य मूर्ख महिलायें इस प्रकार शब्दों का प्रयोग करती हैं। वे दुःखिनी को और अधिक दुःख पहुँचाती हैं।

(५६) पद—त्रिप्रभृतिषु, शाकटायनस्य। **अनुवृत्ति**–अचः, यरः, द्वे। **विधिसूत्र** (निषेध)।

मूलार्थ—('अच्' के अनन्तर) तीन या अधिक वर्णों का संयोग होने पर शाकटायन के मत में द्वित्व नहीं होता है। अन्य आचार्यों के मत में द्वित्व होता है (अतः विकल्प से माना जाता है)। जैसे (१) इन्द्रः, इन्द्रः। (२) राष्ट्रम्, राष्ट्रम्।

विवरण—अर्थाभिव्यक्ति के लिये सूत्र स्वयम् में अपूर्ण है। अतः "नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य" से 'न' की अनुवृत्ति होने से द्वित्व-निषेध सूचित होता है। साथ ही 'अचः' 'यरः' तथा 'द्वे' इन पदों को समवेत कर अर्थ पूर्ण होता है—"तीन अथवा उससे अधिक संयुक्त वर्णों की स्थिति में (त्रिप्रभृतिषु—निर्धारण में सप्तमी) शाकटायन आचार्य के मत में 'अच्' से पर 'यर्' को द्वित्व का निषेध होता है।[1] अन्य आचार्य अर्थात् स्वयं सूत्रकार के मत में द्वित्व होने से विकल्प सिद्ध होता है।

---

१. "त्रिप्रभृतिषु०" इति सूत्रे वर्णानां सजातीयानामेव ग्रहणम्, परस्परसाहचर्यात्। न च तथाऽचः सम्भवति। अत एव "अचो रहाभ्याम्" इति सार्थकम्। ल० श० शे०।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५७) सर्वत्र शाकल्यस्य ८।४।५१ ॥ द्वित्वं न। अर्कः। ब्रह्मा। (५८) दीर्घादाचार्याणाम् ८।४।५२ ॥ द्वित्वं न। दात्रम्। पात्रम्। (५९) अचो रहाभ्यां द्वे

---

(५७) सर्वत्र शाकल्यस्य। नेत्यनुवर्तते। यत्र यत्र द्वित्वं विहितं तत्र तत्र शाकल्यस्य ऋषेर्मते द्वित्वं न भवतीत्यर्थः।

(५८) दीर्घादाचार्याणाम्। नत्यनुवर्तते। दीर्घात् परस्य यरो द्वित्वं केषाञ्चिदाचार्याणां मते न भवति। मतान्तरे तु भवति। अनचि चेत्यत्र वाग्रहणमनुवर्तते इति नाज्झलाविति सूत्रे कैयटः। एवं च अनचि चेत्येव द्वित्वविकल्पसिद्धौ त्रिप्रभृतिष्वित्यादिसूत्रत्रयं नारम्भणीयमिति प्रौढमनोरमायां स्थितम्। एतत्सूत्रत्रयविरोधादनचि चेत्यत्र वाग्रहणं नानुवर्त्यमिति युक्तं प्रतिभाति।

उदाहरण—'इन्द्रः' में (तीन संयुक्त वर्णों के होने से) 'न्' को द्वित्व। द्वित्व न होने पर 'इन्द्रः' (देवराज)। इसी तरह 'राष्ट्रम्'—'ष्' को द्वित्व। 'राष्ट्रम्'—द्वित्व न होने पर।

विशेष—दो से अधिक व्यञ्जनों के रहते हुए किसी व्यञ्जन को द्वित्व न करने में हेतु अच्छी तरह उच्चारण का न होना है। शाकटायन के मत का आदर पाणिनि ने किया है। वे पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरण रहे।

(५७) **पद**—सर्वत्र, शाकल्यस्य। **अनुवृत्ति**—अचः, यरः, द्वे, न। **विधिसूत्र** (निषेध)।

मूलार्थ—द्वित्व नहीं होता।

सन्दर्भ—अधिक व्यञ्जनों के अतिरिक्त केवल दो व्यञ्जनों के रहते हुए भी द्वित्व का नियमन किया जा रहा है।

विवरण—पूर्वोक्त द्वित्व-निषेध के सूचक अनुवृत्त पदों के अर्थ का समावेश 'सर्वत्र' के अन्तर्गत हो जाता है। तदनुसार आचार्य शाकल्य ने 'अच्' के अनन्तर रहने वाले 'यर्' को द्वित्व का निषेध कर दिया है। **उदाहरण**—(१) 'अर्कः' (सूर्य अथवा आँक का पेड़)—'र्' के पश्चाद्वर्ती 'क्' को "अचो रहाभ्याम् द्वे" (८-४-४६) से प्राप्त द्वित्व का निषेध। (२) 'ब्रह्मा' (जगदुत्पादक)—'ह्' के अनन्तर विद्यमान 'म्' को प्राप्त द्वित्व का निषेध।

(५८) **पद**—दीर्घात, आचार्याणाम्। **अनुवृत्ति**—अचः, यरः, द्वे, न। **विधिसूत्र** (निषेध)।

मूलार्थ—दीर्घ (स्वरवर्ण) से पर 'यर्' को द्वित्व नहीं होता।

विवरण—अर्थ की दृष्टि से सूत्र साकाङ्क्ष है। दीर्घ से पर क्या हो? अतः अनुवृत्त पदों का समष्टिगत अर्थ इस कार्य में सहायक होता है। तदनुसार दीर्घ स्वरवर्ण से अव्यवहित परे 'यर्' वर्णों को आचार्य के मत में द्वित्व नहीं होता। **उदाहरण**—(१) 'दात्रम्' (हँसुआ)। (२) पात्रम् (बर्तन)। इन दोनों शब्दों में "अनचि च" (८-४-४७) से प्राप्त 'त्' को द्वित्व नहीं हुआ।

विशेष—(१) इस सूत्र में 'आचार्य' पद में बहुवचन का प्रयोग अनेकता सूचित करने के लिये किया गया है। अन्य सूत्रों में विद्वानों का मत सूचित करने के लिये नाम-निर्देश करने के पश्चात् एकवचन-विभक्ति का ही प्रयोग किया गया—'शाकल्यस्य' तथा 'शाकटायनस्य' आदि। यहाँ पर बहुवचन का प्रयोग कर पाणिनि अनेक विद्वानों के मत को सूचित करते हैं। इस तरह यहाँ भी विकल्प है। (२) "यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा" (८-४-४५) सूत्र से "अनचि च" (८-४-४७) में 'वा' पद की अनुवृत्ति से द्वित्व-विकल्प का विधान किये जाने पर निर्वाह सम्भव था तथापि भिन्न आचार्यों के मतभेद को सूचित करने के लिये पाणिनि ने क्रम सं० ५६, ५७, तथा ५८ की उपयोगिता व्यक्त की है।[1]

---

१. "यरोऽनुनासिके०" इत्यतो वेत्यनुवृत्त्या "अनचि०" इत्येव सिद्धे तु सूत्रत्रयमपि विकल्पस्य मतभेदप्राप्तव्यवस्थाबोधनार्थमिति बोध्यम्। ल० श० शे०।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८।४।४६ ॥ अचः पराभ्यां रेफहाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः । हर्य्यनुभवः, हर्यनुभवः । नह् ह्यस्ति, न ह्यस्ति । (६०) हलो यमां यमि लोपः ८।४।६४ ॥ हलः परस्य यमो लोपः स्याद्वा यमि । इति लोपपक्षे द्वित्वाभावपक्षे चैकयं रूपं तुल्यम् । लोपारम्भफलं तु 'आदित्यो देवता अस्येत्यादित्यं हविः' इत्यादौ । 'यमां यमि' इति यथासङ्ख्यविज्ञानान्नेह ।

---

(५९) अचो रहाभ्यां द्वे । 'यरोऽनुनासिके' इत्यतो यर इति षष्ठ्यन्तं वेति चानुवर्तते । अच इति दिग्योगे पञ्चमी । पराभ्यामिति शेषः । रहाभ्यामित्यपि पञ्चमी । परस्येति शेषः । तदाह-अचः पराभ्यामित्यादिना । हर्य्यनुभव इति । हरेरनुभव इति विग्रहः । हरि अनुभव इति स्थिते रेफादिकारस्य यण् । तस्य द्वित्वम् । अथ हकारात् परस्योदाहरति—नह्यस्तीति । नहि अस्तीति स्थिते हकारादिकारस्य यण् तस्य द्वित्वम् । इहोभयत्र यकारस्य अचः परत्वाभावादच्परकत्वाच्च द्वित्वमप्राप्तं विधीयते । अत्र अनचि चेति रेफहकारयोर्द्वित्वं न भवति । द्वित्वप्रकरणे रहाभ्यामिति रेफत्वेन हकारत्वेन च साक्षाच्छ्रुतेन तयोः यरशब्दबोधितकार्यभावत्वव्यवधात्, 'श्रुतानुमितयोः श्रुतं बलीय' इति न्यायात् । हर् य् य् अनुभवः । नह् य् य् अस्ति इति स्थिते ।

(६०) उभयत्रापि प्रथमयकारस्य लोपविधिमाह—हलो यमां यमि लोपः । झयो होऽन्यतरस्यामित्यतोऽन्यतरस्यामित्यनुवर्तते । तच्च विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययं वार्थे वर्तते ।

---

(५९) पद—अचः, रहाभ्यां, द्वे । अनुवृत्ति—यरः, वा । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'अच्' से परे 'र्' तथा 'ह्' के अनन्तर आने वाले 'यर्' वर्णों को द्वित्व विकल्प से होता है । जैसे—हर्य्यनुभवः । नह्य्यस्ति ।

विवरण—'अचः' पद पञ्चमी विभक्ति में प्रयुक्त है तथा 'रहाभ्यां' का पूरक है । अतः 'अच्' (स्वरवर्णों) के अव्यवहित अनन्तर रहने वाले 'र्' तथा 'ह्' के पश्चाद्वर्ती 'यर्'—वर्णों ('ह्' के अतिरिक्त सभी व्यञ्जन) को विकल्प से द्वित्व होता है । उदाहरण—(१) 'हर्य्यनुभवः' (हरेः अनुभवः—अर्थात् हरि का अनुभव, हरि+अनुभवः—इ = य्)—हकारोत्तरवर्ती अकार (अच्) से पर 'र्' के पश्चात् विद्यमान 'य्' को द्वित्व हुआ । द्वित्व के अभाव में 'हर्यनुभवः' । (२) नह्य्यस्ति (नहि+अस्ति—यण्-इ = य्) में नकारोत्तरवर्त्ती अकार के अनन्तर रहने वाले 'ह्' के पश्चाद्वर्ती 'य्' को द्वित्व । द्वित्व के अभाव में एक-यकारात्मक रूप—नह्यस्ति । द्वित्व होने पर भी अग्रिम सूत्र से 'य्' का विकल्प से लोप होने पर एक-यकारात्मक रूप ही रहेगा । सूत्र की उपयोगिता आगे बतलाई जायगी ।

विशेष—इस सूत्र में 'र्' तथा 'ह्'—ये दोनों वर्ण द्वित्व के विधान में निमित्तस्वरूप हैं, अतः इन दोनों वर्णों को द्वित्व नहीं होता । निमित्त होने के कारण वे स्थानी नहीं रहते[1] । इस प्रकार 'र्' को छोड़ कर अन्य 'यर्'-वर्णों को द्वित्व होता है । 'ह्' का परिगणन 'यर्' प्रत्याहार में न होने के कारण उसे द्वित्व प्राप्त नहीं होता । इस सम्बन्ध में "तक्रकौण्डिन्य-न्याय" का दृष्टान्त दिया जाता है—"सब ब्राह्मणों को दही दिया जाय किन्तु कौण्डिन्य को मट्ठा"[2] । जैसे ब्राह्मण होने पर भी कौण्डिन्य को मट्ठा देने का विधान होने से दही देने का निषेध हो जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी निमित्तस्वरूप 'र्' 'ह्' को भी द्वित्व नहीं होता ।

(६०) पद—हलः, यमां, यमि, लोपः । अनुवृत्ति—अन्यतरस्याम् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'यम्' से अव्यवहितपूर्व 'हल्' के पश्चाद्वर्ती 'यम्' का विकल्प से लोप होता है । इस

---

१. नेमौ रहौ कार्यिणौ किं तर्हि निमित्तं द्विर्वचनस्य ।
२. सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयताम्, तक्रं कौण्डिन्याय ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माहात्म्यम् । (६१) **एचोऽयवायावः** ६ । १ । ७८ ॥ एचः क्रमादय्, अव्, आय्, आव्,

---

यमामिति बहुत्वं प्रयोगबहुत्वापेक्षम् । एकैकस्मिन् प्रयोगे बहूनां यमामसम्भवात् । हल इति दिग्योगे पञ्चमी । परस्येति शेषः । तदाह—हलः परस्य यम इत्यादिना । अनेन सूत्रेण उदाहरणद्वयेऽपि प्रथमयकारस्य लोपे सति एकयकाररूपं सम्पद्यते । लोपाभावपक्षे तु द्वियकाररूपं सम्पद्यते । ननु हलो यमामिति सूत्रमेतदर्थं नारम्भणीयम् । अचो रहाभ्यामिति यकारद्वित्वस्य वैकल्पिकतया द्वित्वे सति द्वियकाररूपस्य, द्वित्वाभावे एकयकाररूपस्य च सिद्धेरित्याशङ्क्य नास्य सूत्रस्यात्र प्रयोजनमित्याह—इति लोपेति । तर्हि किमस्य सूत्रस्य फलमित्यत आह—लोपारम्भेति । 'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः' इत्यदित्यशब्दात् शेषार्थण्यन्तात् देवतार्थे ण्यः । आदित्य य इति स्थिते । 'यस्येति च' इति यकारादकारस्य लोपे तकाराद्यकारस्य अनेन सूत्रेण लोपः । तस्मिन् सत्येव आदित्यमित्येकयकारं रूपं सिध्यति, नान्यथा । अतः सूत्रारम्भो न विफल इति भावः । अत्र 'आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति' इति लोपस्तु न, जातावर्थकत्वेन अपत्यत्वाभावात् । अत्र त्वेतत् सूत्रं न्याय्यत्वादुपन्यस्तमिति भावः । नन्वेवमपि महात्मनो भाव इत्यर्थे 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः' इति ष्यञि, टिलोपे, आदिवृद्धौ, माहात्म्यमित्यत्रापि तकारान्मकारस्य लोपः स्यात्, तस्य यस्त्वात् यकाररूपयम्परकत्वाच्चेत्यत आह—यमामिति । यथासङ्ख्यविज्ञानादिति । विज्ञायते अनेनेति विज्ञानं सूत्रम् । 'विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः' इत्यमरः । यथासङ्ख्यसूत्रादित्यर्थः । तथा च मकारस्य मकारे परत एव लोपलाभात् यकारे परे न लोप इत्यर्थः ।

(६१) एचोऽयवायावः । अय् च अव् च आय् च आव् चेति विग्रहः । इको यणचीत्यतोऽचीत्यनुवर्तते । यथासङ्ख्यपरिभाषया एकारस्य अय्, ओकारस्य अव्, ऐकारस्य आय्,

---

तरह लोप होने पर द्वित्व के अभाव में एक—यकारात्मक रूप होगा । लोप के विधान का फल तो आदित्य देवता है जिसका ऐसा हवि, इस अर्थ में 'आदित्यम्' आदि है ।

विवरण—यहाँ 'यम्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण (पंचम तथा अन्तःस्थ वर्ण) स्थानी तथा निमित्त—दोनों रूप में हैं । 'हलः'—पञ्चमी विभक्ति है । अतः व्यञ्जन-वर्णों से अव्यवहित पश्चाद्वर्ती वर्गों के पञ्चम तथा अन्तःस्थ वर्णों को द्वित्व का विधान किया जा रहा है । किस स्थिति में ? यदि 'यम्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण ही व्यञ्जनों के पश्चात् रहें । 'स्थानी' तथा 'निमित्त'—इन दोनों में संख्या की समानता होने के कारण 'स्थानी' तथा 'निमित्त' में वर्णों की समानता अपेक्षित है । इस कारण 'य्' 'व्', 'र्' 'ल्', 'ञ्' 'म्' 'ङ्' 'ण्' 'न्' का लोप इन्हीं वर्णों के क्रमशः पश्चात् रहने पर होगा । अतः "माहात्म्यम्' में 'त्' (व्यञ्जन) के पश्चाद्वर्ती 'म्' (यम्) का लोप 'य्' (यम्) परे रहते हुए भी नहीं हुआ, क्यों कि स्थानी 'म्' तथा निमित्तस्वरूप वर्ण 'य्' भिन्न-भिन्न हैं । **उदाहरण**—आदित्यम् । प्रक्रिया—(आदित्यः देवता अस्य) आदित्य+ण्य (य), <आदित्य्+य—आदिवृद्धि, 'अ'-लोप, <आदित्य—में 'त्' (हल्) के पश्चाद्वर्ती 'य्' (यम्) का लोप हुआ, क्यों कि इस 'य्' के पश्चात् भी प्रत्यय का 'य्' (यम्) विद्यमान है, <आदित्य+सु (अम्) 'आदित्यम्' । इस तरह 'स्थानी' तथा 'निमित्त' दोनों में समानता है । इसी प्रकार 'तादात्म्यम्' में भी समझा जाय ।

विशेष—'हर्यनुभवः' में तो 'य्' को विकल्प से द्वित्व होने पर पक्ष में इस सूत्र से 'य्' का लोप 'य्' परे रहने के कारण हो जायगा । अतः एक-यकारात्मक रूप ही होगा । इस कारण विकल्प से लोप होने का वास्तविक उदाहरण 'आदित्यम्' है । लोप के अभाव में दो-यकारात्मक रूप 'आदित्य्यम्' होगा । इस सूत्र के न होने पर एक-यकारात्मक रूप नहीं बन सकेगा ।

(६१) **पद**—एचः, अयवायावः । **अनुवृत्ति**—अचि, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'एच्'—प्रत्याहार के स्थान में क्रमशः अय्, अव्, आय् तथा आव् होते हैं ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एते स्युरचि। (६२) **तस्य लोपः १।३।९ ॥** तस्येतो लोपः स्यात्। इति यवयोर्लोपो न। उच्चारणसामर्थ्यात्। एवं च इत्संज्ञापीह न भवति। हरये। विष्णवे। नायकः। पावकः। (६३) **वान्तो यि प्रत्यये ६।१।७९ ॥** यकारादौ प्रत्यये परे ओदौतोरव्

औकारस्य आव्—इति लभ्यते। तदाह—एचः क्रमादिति। यथासङ्ख्यसूत्रभाष्यरीत्या तु अन्तरतमपरिभाषयैवात्र व्यवस्था ज्ञेया। इह 'इचोऽचि यणयवायाव' इत्येव सूत्रयितुमुचितम्।

(६२) एतेष्वादेशेषु यकारवकारयोर्हलन्त्यमिति इत्सञ्ज्ञायां लोपमाशङ्कितुमाह—तस्य लोपः। इत्संज्ञाप्रकरणान्ते इदं सूत्रम्। तत्र तच्छब्दः सन्निहितम् इतं परामृशति। तदाह—तस्येत इति। इत्यनेन सूत्रेण यवयोर्लोपो न शङ्कनीय इत्यर्थः। कुत इत्यत आह—उच्चारणेति। यद्यत्र यवयोर्लोपः स्यात्, तर्हि तयोः सूत्रे अनुच्चारणमेव स्यात्, 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति न्यायादिति भावः। तर्हि किमनयोरित्संज्ञयेत्यत आह—एवञ्चेति। उक्तप्रकारेण लोपाभावे सति इत्संज्ञापि इह यकारे वकारे च न भवति, फलाभावादित्यर्थः। क्रमेणोदाहरति—हरय इत्यादिना। हरे ए, विष्णो ए, नै अकः, पौ अक इति स्थितेषु एकारादीनां क्रमादयादयः।

विवरण—स्थानी—एच् = ए, ओ, ऐ, औ। **आदेश**—अय्, अव्, आय्, आव्। अधिकार-संहिता। **निमित्त**—स्वरवर्ण ('अचि' सप्तमी)। तदनुसार 'यथासंख्य' परिभाषा की उपस्थिति से स्थानी तथा आदेश समान-संख्यक होने के कारण क्रमशः ए = अय्, ओ = अव्, ऐ = आय् तथा औ = आव् में परिवर्तित होते हैं।

विशेष—ए, ओ, ऐ, औ के स्थान में अय्, अव्, आय्, आव् आदेश स्थान और प्रयत्न के सादृश्य से भी सम्भव है। ए, ओ, ऐ, औ सन्ध्यक्षर हैं। तदनुसार इनका स्थान और प्रयत्न क्रमशः इस प्रकार है—१. ए→संवृत-अकार तालुस्थान←अय्। २. ओ→संवृत-अकार ओष्ठस्थान←अव्। ३. ऐ→विवृत-अकार तालु स्थान←आय्। ४. औ→विवृत-अकार ओष्ठस्थान←आव्।

(६२) पद—तस्य, लोपः। **अनुवृत्ति**—इत्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—उस इत्संज्ञक वर्ण का लोप होता है। 'य्' 'व्' का उच्चारण किये जाने से उनका लोप नहीं होता। इस प्रकार यहाँ 'य्' 'व्' की इत्संज्ञा भी नहीं होती। उदाहरण—१. हरये। २. विष्णवे। ३. नायकः। ४. पावकः।

विवरण—सूत्र में 'तस्य' पद सार्वनामिक विशेषण के रूप में अनुवृत्त 'इत्' पद को अभिलक्षित कर प्रयुक्त हुआ है। प्रथमान्त 'इत्' पद का षष्ठी विभक्ति में विपरिणाम (परिवर्तन) कर 'इतः' अर्थात् 'इत्संज्ञक का'—यह अर्थ हो जाता हैं। 'तस्य' के साथ 'इतः' का सम्बन्ध होने पर 'सम्पूर्ण इत्संज्ञक वर्ण का लोप हो'—ऐसा आशय विदित होता है। नियमानुसार 'अय्' 'अव्' 'आय्' 'आव्' में 'य्' तथा 'व्' की इत्संज्ञा होने परं उनका लोप होना चाहिये। पाणिनि को यदि लोप अभीष्ट होता तो वे 'य्' 'व्' का उच्चारण न करते। अतः 'य्' तथा 'व्' के सहित आदेश-विधान होने के कारण लोप नहीं होता। इस हेतु उनकी इत्संज्ञा भी नहीं होती[1]। **उदाहरण**—१. हरये—हरि+ङे (ए), <हरे+ए—"घेर्ङिति"—गुण, <हर् अय्+ए—ए = अय्, <हरये (अर्थ—हरि के लिए)। २. विष्णु+ङे (ए) <विष्णो+ए <विष्ण् अव्+ए—ओ = अव्, <विष्णवे (विष्णु के लिये) ३. नी+ण्वुल् (वु), <नै+अक—वु = अक, वृद्धि, <न् आय्+अक—ऐ = आय्, <नायक—सु = र् = : (नेता)। ४. पू+ण्वुल् (वु), <पौ+अक—वु = अक, वृद्धि, <प् आव्+अक—औ = आव्, <पावकः—विभक्तिकार्य (अग्नि या पवित्र करने वाला)।

---

१. या या संज्ञा सा सा फलवती।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आव् एतौ स्तः। गोर्विकारो गव्यम्। 'गोपयसोर्यत्' (सू १५३८)। नावा तार्यं नाव्यम्। 'नौवयोधर्म' (सू १६४३) इत्यादिना यत्। 'गोर्यूतौ छन्दस्युपसङ्ख्यानम्' (सू ३५४३)। 'अध्वपरिमाणे च' (वा ३५४४) गव्यूतिः। 'ऊतियूति—' (सू ३२७४) इत्यादिना यूतिशब्दो निपातितः। 'वान्तः' इत्यत्र वकारात् 'गोर्यूतौ' इत्यत्र छकाराद्वा पूर्वभागे 'लोपो व्योः' (सू ८७३) इति लोपेन वकारः प्रश्लिष्यते। तेन श्रूयमाणवकारान्त आदेशः स्यात्। वकारो न लुप्यत इति यावत्।

---

(६३) वान्तो यि प्रत्यये। यि इति सप्तम्यन्तम्। तेन यकारादाविति लभ्यते, 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' इति वार्तिकात्। तत्र यस्मिन्निति सप्तम्यन्तं विवक्षितम्। अलिति वर्णपर्यायः। सप्तम्यन्ते वर्णग्रहणे यो विधिः स तद्वर्णादौ ज्ञेयः इति तदर्थः। येन विधिरित्यस्यायमपवादः। वकारः अन्ते यस्य सः वान्तः। पूर्वसूत्रोपात्तः अवादेशः आवादेशश्च विवक्षितः। तौ च क्रयोर्भवत इत्याकाङ्क्षायाम् ओदौतोरित्यर्थाल्लभ्यते, पूर्वसूत्रे तयोरेव तदुभयस्थानित्वेन क्लृप्तत्वात्। तदाह—यकारादाविति। गव्यमिति। गो य इति स्थिते ओकारस्य अच्परकत्वाभावात् 'एचोऽयवायावः' इत्यप्राप्ते अवादेशोऽत्र विधीयते। अस्ति चात्र य इत्यस्य प्रत्ययत्वमित्याह—गोपयसोर्यदिति। अनेन सूत्रेण गोशब्दात् विकारार्थे यत्प्रत्यय इति शेषः। नाव्यमिति। नौ य इति स्थिते औकारस्य अच्परकत्वाऽभावात् 'एचोऽयवायाव' इति अप्राप्ते वचनमिदम्। अस्ति चात्र य इत्यस्य प्रत्ययत्वमित्याह—नौ वय इति। गव्यं नाव्यमित्यत्र लोपः शाकल्यस्येति हलि सर्वेषामिति च वकारस्य लोपो न भवति, तयोः पदान्तविषयत्वात्। इह च भत्वेन पदत्वबाधात्। गोर्यूतौ छन्दस्युपसङ्ख्यानम्। छन्दसि वेदे यूतिशब्दे परे गोशब्दावयवस्य ओकारस्य

---

(६३) पद—वान्तः, यि, प्रत्यये। विधिसूत्र।

मूलार्थ—यकारादि प्रत्यय परे होनेपर 'ओ' तथा 'औ' को अव्, तथा आव् आदेश होता है। गौ का विकार 'गव्यम्'—'गोपयसोर्यत्'। नाव से पार करने योग्य 'नाव्यम्'—"नौवयोधर्म०" इत्यादि सूत्र से 'यत्' प्रत्यय। (वा०) १—'गो' शब्द से परे 'यूति' शब्द रहने पर वेद में 'अव्' आदेश होता है। २—तथा मार्ग के परिमाण अर्थ में 'यूति' शब्द परे रहते 'गो' शब्द को वकारान्त आदेश होता है। "ऊति-यूति०" इत्यादि सूत्र के अनुसार 'यूति' शब्द का निपातन किया गया है। "वान्त०" में 'व्' के पहले तथा "गोर्यूतौ छन्दसि" में 'छ्' के पहले 'व्' का प्रश्लेष है और उसका "लोपो व्योर्वलि" से लोप हो गया है। अतः 'अव्' तथा 'आव्' आदेश में 'व्' का श्रवण होता है। अर्थात् 'व्' का लोप नहीं होता।

विवरण—यह सूत्र "एचोऽयवायावः" का पूरक है। उस सूत्र में 'य्-अन्त' तथा 'व्-अन्त' आदेशों का विधान किया गया है। अतः पाणिनि ने 'अव्' तथा 'आव्' आदेशों की ओर ध्यान दिलाने के लिये इस सूत्र में 'वान्त' पद (वकारः अन्तः यस्य सः) का प्रयोग किया है। 'अव्' तथा 'आव्' आदेशों से दो स्थानियों—'ओ' तथा 'औ'—का आरोप होता है[1]। तदनुसार 'संहिता' (सन्धिकार्य) के विषय में यकारादि प्रत्यय परे होने पर (यि-प्रत्यये) 'ओ' और 'औ' के स्थान पर क्रमशः 'अव्' तथा 'आव्' आदेश होते हैं। **उदाहरण**—१—गव्यम्। गो+यम् (यत्) विकार अर्थ में "गोपयसोर्यत्" (४-३-१६०), <ग् अव्+यम्—(ओ=अव् यकारादि प्रत्यय 'यत्' परे होने पर), <गव्यम् (घी, दूध आदि)। २—नाव्यम् (नावा तार्यं—नौका से पार करने योग्य—जल) नौ+यम् (यत्—"नौवयोधर्म०" ४-४-९१), <न् आव्+यम्—औ = आव्, <नाव्यम्।

---

१. येन विना यदनुपपन्नं तत्तेनाक्षिप्यते।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थाने अव् इति वान्तादेशो भवतीति उपसङ्ख्यानम्। अधिकवचनं कर्तव्यमिति सूत्रकारः शिक्ष्यते। 'आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्' इत्युदाहरणम्। गव्यूतिः गोप्रचारभूमिः। गावो यूयन्ते मिश्र्यन्तेऽस्यामित्यधिकरणे युधातोः क्तिच्निति वेदभाष्ये भट्टभास्करः। अत्र यूतिशब्दस्य प्रत्ययत्वाभावात्तस्मिन् परतः 'वान्तो यि प्रत्यये' इत्यप्राप्तौ वचनमिदम्। अध्वपरिमाणे च। मार्गपरिमाणविशेषे गम्येऽपि यूतिशब्दे परे गोशब्दावयवस्य ओकारस्य अव् इति वान्तादेशस्य उपसङ्ख्यानं कर्तव्यमित्यर्थः। लोकेऽपि प्राप्त्यर्थमिदम्। यद्यपि पूर्ववार्तिकं वैदिकप्रक्रियायामेव उपन्यसनीयम्, तथाप्यत्र अनुवृत्तिबोधसौकर्यार्थमिह तदुपन्यासः। गव्यूतिरिति। यावति गोशब्दः यूयते मिश्र्यते श्रूयते तावानध्वा गव्यूतिः, क्रोशयुगम्। 'गव्यूतिः स्त्री क्रोशयुगम्' इत्यमरः। 'यु'धातोरधिकरणे क्तिन्। कथमिह 'यु'धातोर्दीर्घं इत्यत आह—ऊतियूतीति। निपातनादेव दीर्घ इति भावः। सिद्धप्रक्रियस्य निर्देशो निपातनम्।

ननु गव्यं नाव्यमित्यत्र भत्वेन पदत्वबाधात् 'लोपः शाकल्यस्य' इति 'हलि सर्वेषाम्' इति च वलोपाभावेऽपि गव्यूतिरित्यत्र लोपः स्यात्। अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वात् यूतिशब्दस्य यजादिस्वादिप्रत्ययत्वाभावेन तस्मिन् परतो भत्वाभावाच्चेत्यत आह—वान्त इत्यत्रेत्यादि। 'वान्तो यि प्रत्यय' इत्यत्र वकारात् गोर्यूतावित्यत्र छकाराद्वा पूर्वभागे वकारः प्रश्लिष्यत इत्यन्वयः। तर्हि व् वान्त इति, व् छन्दसीति च वकारः कुतो न श्रूयत इत्यत आह—लोपो व्योरिति लोपेनेति। अन्तर्हित इति शेषः। ननु प्रश्लेषे सति किमायातमित्यत आह—तेनेति। वान्तो यीति सूत्रे वकारात् प्राक् 'व्' इति प्रश्लिष्यमाणं वान्तस्य विशेषणम्। विशेषणत्वाच्च तदन्तविधौ सति वकारान्त इति लभ्यते। तत्र वान्तस्य पुनर्वान्तत्ववचनसामर्थ्यात् श्रूयमाणवकारवान् वान्त आदेशः स्यादिति लभ्यते। गोर्यूतावित्यत्र च इदमेव वान्तग्रहणमनुवर्तते इति तत्रापि श्रूयमाणवकारवान् वान्तादेश इति लभ्यते। गोर्यूतावित्यत्र छकारात् प्राक् व् इति प्रश्लिष्यमाणमपि पूर्वसूत्रादनुवृत्तस्य

विशेष—सूत्र में 'य्' शब्द की सप्तमी-विभक्ति का प्रयोग 'यि' किया गया है। वह 'प्रत्यये' का विशेषण है। सामान्यतः "येन विधिस्तदन्तस्य" के अनुसार विशेषण तदन्त का बोधक होता है, किन्तु यहाँ तदादिविधि होती है। इसके अनुसार सूत्र में उच्चारित केवल 'य्' वर्ण परे रहते 'अव्' एवम् 'आव्' आदेश (विधि) की प्रवृत्ति अपेक्षित नहीं है अपितु यकारादि प्रत्यय परे रहते कार्य का विधान समझा जाय[1]।

वार्तिक—१—'गो' शब्द के अनन्तर 'यूति' शब्द के रहते हुए 'ओ' के स्थान पर 'अव्' आदेश वेद में प्रयोग किये जाने पर होता है। लोक में भी 'गव्यूति' शब्द मार्ग-परिमाण अर्थ (दो कोस) में प्रयोग होता है, अतः उसकी उपयोगिता के लिये दूसरे वार्तिक द्वारा समाधान किया जा रहा है। २—मार्ग के परिमाण अर्थ में भी 'यूति' शब्द परे रहते 'गो' शब्द के 'ओ' को 'अव्' आदेश होता है। उदाहरण—गव्यूतिः। गो+यूतिः, <ग् अव्+यूतिः = गव्यूतिः। यूतिः—यु+क्तिन् (ति), <यू+ति—"ऊति-यूति-जूति-साति-हेति-कीर्तयश्च" (३-३-९७) के अनुसार 'धातु' के 'उ' को दीर्घ का निपातन=यूतिः। अर्थ—यूयते अस्याम् इति यूतिः, गवां यूतिः = गव्यूतिः—अर्थात् जहाँ गायें एकत्र हों—गोचर भूमि (वेद में) और लोक में दो कोस का नाप।

शङ्का-समाधान—'गव्यम्' तथा 'गव्यूतिः' उदाहरणों में "लोपः शाकल्यस्य" ८-३-१९ के अनुसार गकारोत्तरवर्ती अकार के अनन्तर 'व्' के लोप की आशंका नहीं करनी चाहिये। इसका

---

१. "येन विधि" रित्यस्यापवादभूतेन "यस्मिन् विधिस्तदादावलग्रहणे" इति परिभाषया अयमर्थो लभ्यते।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६४) धातोस्तन्निमित्तस्यैव ६।१।८० ॥ यादौ प्रत्यये परे धातोरेचश्चेद्वान्तादेशस्तर्हि तन्निमित्तस्यैव, नान्यस्य । लव्यम् । अवश्यलाव्यम् । 'तन्निमित्तस्यैव' इति किम् ? ओयते ।

वान्त इत्यस्य विशेषणमिति । तदन्तविधिना वान्तत्वलाभे वान्तस्य पुनर्वान्तत्ववचनसामर्थ्यात् श्रूयमाणवकारवान् इति लभ्यते इत्यर्थः । नन्वेतावता गव्यूतिरित्यत्र अवादेशे वकारस्य श्रूयमाणत्वलाभेऽपि लोपशङ्का न परिहृतेत्यत आह—वकारो न लुप्यत इति यावदिति । वकारस्य श्रूयमाणत्ववचनं वकारो न लुप्यत इत्यर्थे पर्यवसन्नमित्यर्थः । अश्रवणस्यैव लोपशब्दार्थत्वादिति भावः । यद्यपि वान्तो यीति सूत्रे वकारप्रश्लेपस्य तदुदाहरणे गव्यं. नाव्यमित्यत्र प्रयोजनं नास्ति, तत्र भत्वेन पदत्वस्य बाधेन उक्तलोपस्याप्राप्तेः । लव्यमित्यादौ स्वत एव पदत्वाभावाल्लोपस्याप्राप्तिः । गमिच्छति गव्यतीत्यत्र क्यजन्तेऽपि वकारस्य न लोपप्रसक्तिः, 'नः क्ये' इति नियमेन तत्र पदत्वाभावात् । तथापि गोर्यूताविति वार्तिके तदनुवृत्तौ गव्यूतिरित्यत्र प्रयोजनमस्त्येव । एवं च वार्तिक एव तत्प्रश्लेष उचितः । एतस्मादेवास्वरसात् छकाराद्वेत्युक्तम् । वस्तुतस्तु वकारप्रश्लेषोऽनुपपन्नः, तथा सति सूत्रे वार्तिके च प्रश्लिष्टस्य तस्य श्रवणप्रसङ्गात् । न च लोपो व्योरिति लोपात्तदश्रवणमिति वाच्यम्, वकारलोपस्य उदाहरणाभावाद्वकारग्रहणं न कर्तव्यमिति लोपो व्योरिति सूत्रस्थभाष्यविरोधात् । अतोऽत्र प्रश्लिष्टवकारस्य छान्दस एव लोपो वर्णनीयः । प्रक्रियाप्रकाशे तु 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्य' इति वचनात् गव्यूतिरित्यत्र न वकारलोप इत्युक्तम् । अन्ये तु 'इको गुणवृद्धी' इति सूत्रे अतो ल्लान्तस्येत्यत्र लुप्तनिर्दिष्टो वकार इति भाष्यप्रामाण्यात् क्वचिदस्ति वकारलोप इत्याहुः ।

(६४) ननु ओयते औयत इत्यत्रापि ओकारस्य औकारस्य च वान्तो यीति वान्तादेशः स्यादित्याशङ्क्य वान्तो यीति सूत्रं नियमयति—धातोस्तन्निमित्तस्यैव । एच इति, वान्तो यि प्रत्यय इति चानुवर्तते । सः यादिप्रत्ययः निमित्तं यस्य सः तन्निमित्तः । यादिप्रत्यये परे धातोरेचो भवन् वान्तादेशः यादिप्रत्ययनिमित्तकस्यैव एचो भवति, नान्य-

---

निवारण करने के लिये सूत्र के प्रारम्भिक पद "वान्तः" के पूर्व 'व्' का प्रश्लेप (व्-वान्तः) एवं प्रथम वार्तिक में 'छन्दसि' के 'छ' के पूर्व 'व्' का प्रश्लेष (व्-छन्दसि) किया जाता है । सूत्र के तथा वार्तिक के प्रश्लिष्ट वकार का "लोपो व्योर्वलि" ६-१-६६ से लोप होकर सूत्र तथा वार्तिक में परिवर्तन नहीं होता । 'व्' का प्रश्लेप करने से 'वकार-युक्त' अव् आदेश की स्थिति विदित होती है ।

वस्तुतः यह प्रयास अनावश्यक है । "लोपः शाकल्यस्य" से विधीयमान 'व्' का लोप पद के अन्त में रहने पर होता है । किन्तु 'गव्यम्' में भ-संज्ञा होने से इसकी प्राप्ति नहीं । वैदिक शब्द "गव्यूति" में विशेष विधान होने के कारण 'व्' का लोप नहीं होगा । इसके अतिरिक्त लोक में 'गव्यूतिः' शब्द मार्ग-परिमाण-अर्थ को विदित कराने वाली संज्ञा का बोधक है । संज्ञाशब्द में किसी प्रकार का विकार अभीष्ट न होने के कारण लौकक अर्थ को सूचित करने वाले "गव्यूति" शब्द में भी 'व्' का लोप नहीं होगा[1] ।

(६४) पद—धातोः, तन्निमित्तस्य, एव । **अनुवृत्ति**—वान्तः, यि प्रत्यये, एचः । **नियमसूत्र** ।

मूलार्थ—यकारादि-प्रत्ययपरक धातु के 'एच्' को यदि वकारान्त आदेश हो तो वह एच्-यकारादि-प्रत्यय-निमित्तक होना चाहिये, अन्यथा नहीं । सूत्र में तन्निमित्तक क्यों कहा ? ओयते । औयत ।

विवरण—यह नियम-सूत्र है । सामान्यतः "वान्तो यि प्रत्यये" सूत्र से 'ओ' तथा 'औ' को

---

१. सूत्रे तु न फलम्, गव्यादौ भत्वेन वान्तस्य पदत्वाभावात् लोपाप्राप्तेः । गव्यूतावपि छन्दसि सर्वविधीनां व्यवस्थितत्वान्न वलोपप्रसक्तिः । अध्वपरिमाणेऽपि संज्ञाशब्दोऽयम् । तत्र संज्ञात्वभङ्गापत्तेर्न वलोपः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्येत्यर्थः । तदाह—यादौ प्रत्यय इत्यादिना । लव्यमिति । लूञ्–छेदने । अचो यत् । सार्वधातुकार्धधातुकयोरित्यूकारस्य गुणः ओकारः । तस्य धात्ववयवत्वात् यादिप्रत्ययनिमित्तकत्वाच्च वान्तादेशः । अवश्यलाव्यमिति । 'ओरावश्यके' इति लूञो ण्यत् । अचो ञ्णितीत्यूकारस्य वृद्धिः औकारः । अवश्यमित्यव्ययम् । मयूरव्यंसकादित्वात्समासः । 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये' इति मलोपः । अत्र औकारस्य धात्ववयवत्वात् यादिप्रत्ययनिमित्तकत्वाच्च वान्तादेशः । ननु लव्यमवश्यलाव्यमित्यत्र वान्तो यीत्येव वान्तादेशः सिद्धः । अतस्तन्निमित्तस्यैवेति नियमार्थमिदं सूत्रमिति स्थितिः । तन्नियमविधेः किं प्रयोजनमिति पृच्छति—तन्निमित्तस्यैवेति किमिति । नियमस्य किं प्रयोजनमित्यर्थः । ओयते इति । वेञ्–तन्तुसन्ताने । कर्मणि लट् । भावकर्मणोरित्यात्मनेपदम् । यक् । 'वचिस्वपियजादीनाम्' इति वकारस्य सम्प्रसारणम् उकारः । पूर्वरूपम् । 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इत्युकारस्य दीर्घः । आङा सह उकारस्य 'आद् गुणः' इति गुणः ओकारः । तस्य परादिवद्भावेन धात्ववयवत्वेऽपि यादिप्रत्ययनिमित्तकत्वाभावात् न वान्तादेशः । नन्वत्र न धातुलोपसूत्रस्थभाष्यरीत्या 'आद् गुणः' इति गुणस्य ओकारस्य पदद्वयापेक्षत्वेन बहिरङ्गतया वान्तादेशे कर्तव्ये असिद्धत्वादोकाराभावान्न वान्तादेशप्रसक्तिरित्यस्वरसादाह—औयतेति । वेञः केवलात् कर्मणि तङ् । आत्मनेपदादि पूर्ववत् । 'आडजादीनाम्' इत्याट् । 'आटश्च' इति वृद्धिः औकारः । तस्य परादिवद्भावेन धात्ववयवत्वेऽपि यादिप्रत्ययनिमित्तकत्वाभावान्न

'य्' वर्ण से आरम्भ होने वाले प्रत्यय परे रहते क्रमशः 'अव्' तथा 'आव्' आदेश होने का विधान किया गया हैं। वह सर्वत्र धातुओं में नहीं प्रवृत्त होता। उसका यहाँ नियमन किया गया है। यह व्यवस्था 'एव' शब्द के द्वारा की जा रही है। पूर्व सूत्रों से अनुवृत्त 'वान्तः' 'यि प्रत्यये' तथा 'एचः' पदों के समावेश करने से 'निमित्त' तथा 'स्थानी' का ज्ञान होता है। तदनुसार धातु के ए, ओ (एच्) स्थानी हैं। अव्, आव्—आदेश हैं (वान्तः)। सर्वनामवाची 'तत्' शब्द पूर्वनिमित्त 'यादि' (यि) का परामर्शक है। अतः 'य्'–वर्ण से आरम्भ होने वाले प्रत्यय परे रहते विद्यमान स्थानिभूत धात्ववयव 'ए' तथा 'ओ' यदि 'य्' से आरम्भ होने वाले प्रत्यय को निमित्त मानकर हुए हों तभी उन्हें 'अव्' तथा 'आव्' आदेश होगा (सः निमित्तः यस्य सः = तन्निमित्तः)। इस प्रकार विपरीत-नियम का वारण किये जाने से प्रत्यय-निमित्तक 'एच्' (ए, ओ) को वकारान्त आदेश (अव्, आव्) की सम्भावना 'एच्'–धातु का अवयव रहने पर भी नहीं होती। अन्यथा 'वाभ्रव्यः' में 'अव्' आदेश नहीं हुआ होता। कारण यह है कि यहाँ 'ओ' धातुसम्बन्धी नहीं है। प्रक्रिया—बभ्रु+यञ् (य)—"मधुबभ्रवोर्ब्राह्मणकौशिकयोः" (४-१-१०६), <बाभ्रो+य—आदिवृद्धि तथा गुण ("आर्गुणः ६-४-१४६), <बाभ्रू अव्+य—ओ=अव्, <बाभ्रव्य+सु (र्=:)= वाभ्रव्यः। उदाहरण—१-लव्यम्। √लू+यत् (य), <लो+य, <ल् अव्+य, <लव्य+सु (अम्) = लव्यम् (अर्थ—काटने योग्य)। यहाँ यत् 'प्रत्यय' का आरम्भिक वर्ण 'य्' है। उसी को निमित्त मान कर 'लू' धातु को गुण 'ओ' हुआ है अतः ओ = अव्। इसी प्रकार 'अवश्यलाव्यम्' में 'औ' भी धातुसम्बन्धी है तथा ण्यत् (य) को निमित्त मान कर वृद्धि 'औ' होती है। प्रक्रिया—अवश्य—√लू+ण्यत् (य), <अवश्य लौ+य—आदि वृद्धि, <अवश्य ल् आव्+य, <अवश्य लाव्य+सु (अम्) अवश्यलाव्यम् (अर्थ—अवश्य काटने योग्य)। प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'तन्निमित्तक' पद का समावेश होने से 'य्' वर्ण से आरम्भ होनेवाले प्रत्यय को निमित्त मान कर होने वाले 'ओ' तथा 'औ' को 'अव्' तथा 'आव्' आदेश-विधान किये जाने से 'ओयते' तथा 'औयत' में क्रमशः 'अव्' तथा 'आव्' आदेश नहीं होते, क्यों कि 'ओ' तथा 'औ'–ये दोनों वर्ण 'यक्' (य) प्रत्यय को निमित्त मान कर नहीं हुए हैं, अपि तु गुण और वृद्धि होने के कारण हुए हैं। प्रक्रिया—(१)ओयते। आ—√वे+लट् (ते) (कर्म में), आ—वे+य+ते (यक्),

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औयत। (६५) क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे ६।१।८१ ॥ यान्तादेशनिपातनार्थमिदम्। क्षेतुं शक्यं क्षय्यम्। जेतुं शक्यं जय्यम्। 'शक्यार्थे' किम्। क्षेतुं योग्यं क्षेयं पापम्। जेयं मनः।

वान्तादेशः। नात्र वृद्धेर्बहिरङ्गत्वम् पदद्वयापेक्षत्वाभावात्। 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' इति न्यायेन नियमविधिसिद्धेः तन्निमित्तस्यैवेत्येवकारस्तु विपरीतनियमव्यावृत्त्यर्थः। एवकाराभावे हि 'यादिप्रत्ययनिमित्तकस्य चेदेचोः वान्तादेशस्तर्हि धातोरेवैचः' इत्यपि नियमः प्रतीयते। तथा च बाभ्रव्य इत्यत्र वान्तादेशो न स्यात्। बभ्रोरपत्यं बाभ्रव्यः 'मधुबभ्रोर्ब्राह्मणकौशिकयोः' इति यञ्। 'ओर्गुण' इत्युकारस्य गुणः ओकारः। तस्य यादिप्रत्ययनिमित्तकस्य धात्ववयवत्वाभावात् वान्तादेशो न स्यात्। अतः इष्टनियमावधारणार्थं तन्निमित्तस्यैवेत्येवकारः।

(६५) क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे। शक्यार्थे क्षय्यजय्यशब्दौ वाचकतया वर्तेते इत्यर्थः। ननु किमपि कार्यं विधेयमत्र न दृश्यते इत्यत आह—यान्तेति। प्रातिस्विकविधिं विना सिद्धप्रक्रियस्य शब्दस्वरूपस्य निर्देशो निपातनात्। ततश्च शक्यार्थके यादौ प्रत्यये परे क्षि-क्षये, जि-जये इति धातोरेचः अय् इति यान्तादेशः स्यादिति विधानमत्र फलति। शक्यार्थे क्षिज्योर्यान्त इति प्रातिस्विकविधौ गौरवादेवं निपातनमिति भावः। क्षय्यामिति। 'कृत्याः' इत्यधिकारे क्षिधातोरचो यदिति यत्प्रत्ययः। स च 'शकि लिङ् च' इति

<आ—उ ए+य+ते—व् = उ (सम्प्रसारण), आ—उ+य+ते (पूर्वरूप), ओ+य+ते (गुण) = ओयते—(अर्थ—बुना जाता है। (२) औयत। आ—√वे+लङ् (त) (कर्मणि), आ—√वे+य+त, <आ उ—ए+य+त, <आ—आ+उ+य+त—आट आगम, <आ+उ+य+त—दीर्घ, <औयत—(वृद्धि) (अर्थ—बुना गया)।

विशेष—इन दोनों उदाहरणों में 'ओयते' की सिद्धि इस सूत्र के बिना भी हो सकती है। कारण यह है कि 'गुण' के बहिरंग होने के कारण असिद्ध की कल्पना से 'अव्' आदेश नहीं होगा। 'औयत' में 'वृद्धि' के बहिरङ्ग न होने के कारण असिद्ध की कल्पना नहीं की जा सकती थी, अतः सूत्र की उपयोगिता है।

(६५) पद—क्षय्यजय्यौ, शक्यार्थे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—शक्य-अर्थ में निपातन[1] करने के लिये यह सूत्र है। क्षय होने में शक्य—क्षय्यम्। जीतने में समर्थ—जय्यम्। शक्यार्थ में ही क्यों कहा? योग्यता अर्थ में अय् आदेश न हो। नाश करने योग्य पाप—क्षेयं पापम्। जीतने योग्य मन—जेयं मनः।

विवरण—अर्थ-विशेष अपेक्षित होने पर शब्द की साधुता का उपाय बतलाया जा रहा है। उसके लिये विशेष-विधान की व्यवस्था है। केवल शक्य (सामर्थ्य) अर्थ में 'क्षय्य' और 'जय्य' शब्द विशेष-विधान (निपातन) से सिद्ध किये जा रहे हैं। स्वर वर्ण परे न होने से 'अय' की प्राप्ति न होने के कारण यह व्यवस्था की गई है। **उदाहरण**—१-क्षय्यम्। क्षि+यम् (यत्—"अचो यत्" ३-१-९७), <क्षे+यम्—गुण. <क्ष् अय्+यम्—'अय्' आदेश का निपातन। अर्थ—विनाश होने में समर्थ। २-जय्यम्। जि+यम्, <जे+यम्, <ज् अय्+यम् = जय्यम्—विजय पाने में समर्थ। **प्रत्युदाहरण**—शक्यार्थ से भिन्न में 'अय्' आदेश न हो। अतः १-'क्षेयम्' का अर्थ नाश

---

१. बहुत से शब्दों को आचार्यों ने निपातन से सिद्ध किया है। अर्थात् वे शब्द जैसे सुने जाते थे, जैसे लोक में प्रचलित थे, उनका उसी रूप में उल्लेख कर दिया गया है। प्रकृति-प्रत्यय का विचार उनके बारे में उस अर्थ के अनुसार कल्पित कर दिया जाता है—

"धातुसाधनकालानां प्राप्त्यर्थं नियमस्य च।
अनुबन्धविकाराणां रूढ्यर्थं च निपातनम् ॥ कैयट ५।१।११४—महाभाष्य।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६६) क्रय्यस्तदर्थे ६ । १ । ८२ ॥ तस्मै प्रकृत्यर्थायेदं तदर्थम् । क्रेतारः क्रीणीयुरिति बुद्धया आपणे प्रसारितं क्रय्यम् । क्रेयमन्यत् । क्रयणार्हमित्यर्थः । (६७) लोपः शाकल्यस्य ८ । ३ । १९ ॥ अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्वा लोपोऽशि परे । 'पूर्वत्रासिद्धम्'

शक्यार्थः । शक्यार्थे लिङ् स्यात्, चात् कृत्या इति तदर्थः । 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः इति इकारस्य गुणः एकारः । तस्याच्परकत्वाभावादप्राप्तः अयादेशः अत्र निपात्यते । जय्यमित्यपि पूर्ववत् । शक्यार्थे किमिति । शक्यार्थे इत्यस्य किं प्रयोजनमिति प्रश्नः । क्षेतुमित्यादि । क्षेतुं योग्यं क्षेयं पापम् । जेतुं योग्यं जेयं मन इत्यन्वयः । अर्हे कृत्यतृचश्चेति यत् । स च न शक्यार्थक इति नात्र यान्तादेश इत्यर्थः ।

(६६) क्रय्यस्तदर्थे । इदमपि यान्तादेशनिपातनार्थम् । तदर्थशब्दं व्याचष्टे—तस्मा इति । क्रय्यशब्दे यः 'क्रीञ्' धातुः यत्प्रत्ययप्रकृतिभूतः तस्य योऽर्थः अभिधेयः द्रव्यविनिमयरूपः क्रयः । सः प्रकृत्यर्थः तच्छब्देन विवक्षितः । तस्मै इदं तदर्थं क्रयार्थं वस्तु । तथा च क्रयार्थवस्तुनि गम्ये क्रीञ्धातोर्यादौ प्रत्यये परे इति फलति । यान्तः क्रीञस्तदर्थ इति विधौ गौरवान्निपातनमाश्रितम् । क्रयार्थत्वं चात्र फलोपधायकं विवक्षितमित्याह—क्रेतार इत्यादि क्रय्यमित्यन्तम् । योग्यतामात्रग्रहणे तु तदर्थे इत्यव्यावर्तकं स्यादिति भावः । क्रीञः कर्मणि 'अचो यत्' इति यत् । सार्वधातुकेति गुणः एकारः । अत्र एकारस्य अच्परकत्वाभावादनेन अयादेशविधिः । क्रेयमन्यदिति । गृहादौ भोजनाद्यर्थं सङ्गृहीतं धान्यादीत्यर्थः । 'अर्हे कृत्यतृचश्च' इति यत् । अत्र अयादेशो न भवति, फलोपधानस्य क्रयार्थत्वस्य तत्राभावादित्यर्थः ।

(६७) हरे एहि, विष्णो इह, श्रियै उद्यतः, गुरौ उत्कः, इत्यत्र एचां क्रमेण अयवायावादेशेषु कृतेषु यकारवकारयोर्वैकल्पिकं लोपं विधत्ते—लोपः शाकल्यस्य । 'भो भगो' इत्यतः 'अपूर्वस्येति' 'अशीति' चानुवर्तते । व्योर्लघुप्रयत्नेत्यतः व्योरित्यनुवर्तते । वकार-

---

करने योग्य पाप (क्षेतुं योग्यम्—पापम्) है । शक्यार्थ न होने के कारण 'अय्' आदेश नहीं हुआ । इसी प्रकार २–'जेयम्' (जीतने योग्य मन—जेतुं योग्यं मनः) में भी 'अय्' आदेश नहीं हुआ । इन दोनों उदाहरणों में 'योग्य' अर्थ में "अर्हे कृत्यतृचश्च" (३-३-१६९) से 'यत्' प्रत्यय का विधान है ।

(६६) पद—क्रय्यः, तदर्थे । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'तदर्थ' पद से धातु का अर्थ लिया जाता है । ग्राहक मोल लें इस दृष्टि से दूकान पर फैलाई हुई वस्तु के अर्थ में 'क्रय्यम्' शब्द निपातन से सिद्ध किया जाय । बेचने योग्य अर्थ में 'क्रेयम्' प्रयोग होगा ।

विवरण—निपातन की प्रक्रिया द्वारा 'क्रय्य' शब्द की साधुता का निर्वचन किया जा रहा है । सूत्र में दो पद हैं—'तदर्थे तथा 'क्रय्यः' । शब्दार्थ है–उसके अर्थ में । क्या हो ? पूर्वसूत्रसे 'निपातन' का आक्षेप होता है । किस रूप में ? 'क्रय्य' शब्द के रूप में । 'क्रय्य' शब्द की निष्पत्ति √क्री से हुई है अतः 'तद्' सर्वनाम से उस धातु का ग्रहण होता है । 'तदर्थे' शब्द में समास–तस्मै इदं= तदर्थम्, तस्मिन्—इस प्रकार है । तदनुसार 'क्री' धातु का अर्थ 'द्रव्य देकर मोल लेना' है । अतः द्रव्य देकर मोल लेने हेतु प्रसारित वस्तु के अर्थ में 'क्रय्य' शब्द की साधुता है, अन्य अर्थों में नहीं । इस प्रकार √क्री+यम् (कर्म में 'यत्' प्रत्यय), <क्रे+यम्, <क्र् अय्+यम्=क्रय्यम्—ए = अय् । अर्थ में प्रतिबन्ध होने के कारण 'बेचने योग्य'—अर्थ में 'क्रेयम्' शब्द का प्रयोग किया जायगा । 'अच्' परे न होने से 'अय्'–आदेश नहीं होता ।

(६७) पद—लोपः, शाकल्यस्य । अनुवृत्ति—अपूर्वस्य, अशि, व्योः, पदस्य । विधिसूत्र ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(सू १२) इति लोपशास्त्रस्यासिद्धत्वान्न स्वरसन्धिः । हर एहि—हरयेहि । विष्ण इह—विष्णविह । श्रिया उद्यतः—श्रियायुद्यतः । गुरा उत्कः—गुरावुत्कः । 'कानि सन्ति' 'कौ स्तः' इत्यत्रास्तेरल्लोपस्य स्थानिवद्भावेन यणावादेशौ प्राप्तौ, 'न पदान्त' (सू ५१) इति

यकारोरित्यर्थः । अपूर्वस्येति च व्योरित्यस्य विशेषणम् । अवर्णः पूर्वः यस्मात् सः अपूर्वः । अपूर्वस्य वस्य यस्य चेति प्रत्येकमन्वयाभिप्रायमेकवचनम् । पदस्येत्यधिकृतम् । अवर्णपूर्वकाभ्यां यकारवकाराभ्यां विशेष्यते । विशेषणत्वाच्च व्योरिति तदन्तता लभ्यते । ततश्च अवर्णपूर्वौ यः वकारो यकारश्च तदन्तपदस्य लोपः स्यात् अशि परत इत्यर्थः । अलोऽन्त्यपरिभाषया तादृशपदान्तस्येति लभ्यते । शाकल्यग्रहणान्मतान्तरे न भवतीति गम्यते । ततश्च फलितमाह—अवर्णपूर्वयोरित्यादिना । व्योरित्यनुवृत्तावपि वर्णसमाम्नाये यकारस्य प्राथम्यात् यवयोरित्युक्तम् । न च शाकल्यवंश्यानामेव पुरुषाणामेतल्लोपानुसरणं नान्येषामिति पुरुषभेदेन व्यवस्थार्थमेव शाकल्यग्रहणं कुतो न स्यादिति वाच्यम्, 'न वेति विभाषा' इति सूत्रभाष्ये आचार्यदेशशीलने न तद्विषयतेति प्रस्तुत्य 'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य' 'प्राचामवृद्धात्' इत्यादौ गालवाद्याचार्यग्रहणं प्राचामुदीचामित्यादिदेशविशेषग्रहणं न अविशेषेण विकल्पार्थमेव, न तु तत्तद्वंश्यतत्तद्देशभेदेन प्रयोगव्यवस्थार्थमिति सिद्धान्तितत्वात् । ननु हरे एहीत्यत्र अयादेशे यकारस्य लोपे सति 'ओमाङोश्च' इति पररूपं स्यात् । विष्णो इह, श्रियै उद्यतः, गुरौ उत्कः इत्यत्र अवायावादेशेषु वकारयकारलोपे 'आद् गुण' इति गुणः स्यादित्यत आह—पूर्वेति । वकारयकारयोर्लोपस्यासिद्धत्वेन ताभ्यां व्यवहिततया अच्परकत्वाभावादाशङ्कितः अच्सन्धिर्न भवतीत्यर्थः । तदेवमिक्सन्धि-

---

मूलार्थ—'अश्' परे रहते अवर्णपूर्वक पदान्त यकार और वकार का लोप विकल्प से होता है । "पूर्वत्रासिद्धम्" के प्रभाव से लोप-शास्त्र के असिद्ध होने से स्वर-सन्धि नहीं होती । हर एहि—हरयेहि । विष्ण इह—विष्णविह । श्रिया उद्यतः—श्रियायुद्यतः । गुरा उत्कः—गुरावुत्कः । कानि सन्ति, कौ स्तः—इन प्रयोगों में 'अस्' धातु के अकार के लोप को स्थानिवद्भाव होने से यण् तथा अव्—आदेश की प्राप्ति-सम्भावना में "न पदान्त" सूत्र से उसका निषेध होने के कारण ये कार्य नहीं होते ।

विवरण—सूत्रस्थ पदों का अर्थ केवल इतना है कि शाकल्य के मत में लोप होता है । किसका लोप तथा किस स्थिति में ? इसका समाधान पूर्व-सूत्रों से अनुवृत्ति किये जाने पर होता है । अतः "भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य योऽशि" (८-३-१७) से 'अपूर्वस्य' तथा 'अशि', एवं "व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य" (८-३-१८) से 'व्योः' की अनुवृत्ति आती है । "पदस्य" (८-१-१६) का अधिकार है । 'अ-पूर्वस्य' पद 'व्योः' का विशेषण है । विशेष्य-पद वचन-विपरिणाम द्वारा 'अ-पूर्वयोः' के रूप में ग्राह्य है । अधिकार के रूप में अनुवृत्त 'पदस्य' में तदन्तविधि होती है । 'अश्' प्रत्याहार के अन्तर्गत स्वरवर्ण, व्यञ्जनों में तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम एवं य्, र्, ल्, व् तथा ह् का समावेश होता है । अतः सूत्र का समष्टि-गत अर्थ यह होगा कि 'अश्'—प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों के परे रहते अवर्णपूर्वक पद के अन्त में रहने वाले 'य्' और 'व्' का लोप शाकल्य के मत में होता है । अन्य आचार्यों के मत में यह विधान न होने के कारण विकल्प से लोप का विधान माना गया है । **उदाहरण**—१-हरे+एहि, <हर् अय्+एहि (ए = अय्), <हर एहि । यहाँ पर सम्बोधन में 'हरे' पद का प्रयोग है । अतः उसके अन्तिम 'ए' = अय्—आदेशावयव 'य्'—पद के अन्त में है तथा उसके पूर्व 'र' का 'अ' है । एवं 'य्' के पश्चात् 'इ' (अश्) होने से 'य्' का लोप हो गया । लोप के न होने पर हरयेहि । इसी प्रकार २-विष्णो+इह, <विष्ण् अव्+इह, <विष्ण इह—'व्' का लोप । उसके अभाव में विष्णविह । ३-श्रियै+उद्यतः <श्रिय् आय्+उद्यतः, <श्रिया उद्यतः । लोपाभाव पक्ष में श्रियायुद्यतः । ४-गुरौ+उत्कः, <गुर् आव+उत्कः, <गुरा उत्कः । 'व्' लोपाभाव-पक्ष में गुरावुत्कः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्रेण पदान्तविधौ तन्निषेधान्न स्तः। (६८) एकः पूर्वपरयोः ६।१।८४॥ इत्यधिकृत्य।

रेच्सन्धिश्च निरूपितः। तदुभयत्रातिप्रसङ्गमाशङ्क्य समाधत्ते—कानीत्यादिना। यद्यपि तथापीत्यध्याहार्यम्। कानि सन्ति, कौ स्त इत्यत्र यद्यपि यणावादेशौ प्राप्तौ तथापि न भवत इत्यन्वयः। नन्वत्र इकारौकारयोः सकारपरकत्वादच्परकत्वाभावात् कथं यणावोः प्राप्तिरित्यत आह—अस्तेरल्लोपस्य स्थानिवद्भावेनेति। अस्धातोरादादिकाल्लटि प्रथमपुरुषबहुवचने 'सन्ति' इति रूपम्। प्रथमपुरुषद्विवचने तु 'स्तः' इति रूपम्। उभयत्रापि 'श्नसोरल्लोपः' इति धात्वादेरकारस्य लोप इति स्थितिः। तत्र अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वेनाच्त्वादिकारौकारयोरच्परकत्वाद्यणावादेशौ प्राप्नुत इत्यर्थः। न च स्थानिवदादेशोऽनल्विधाविति स्थानिवद्भावोऽत्र न सम्भवति, अल्लोपस्य स्थानिभूतो यः अकारः तं परं निमित्तत्वेनाश्रित्य प्रवर्तमानयोर्यणावादेशविध्योः स्थान्यलाश्रयत्वादिति वाच्यम्, 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' इति स्थानिवद्भावोपपत्तेः। अल्लोपस्य ङिति परे विधीयमानस्य परनिमित्तकाजादेशतया तत्स्थानीभूतादकारात् पूर्वत्वेन दृष्टयोरिकारौकारयोर्यणावादेशविधौ अचः परस्मिन्निति प्रवृत्तेरिति भावः। तर्हि कुतोऽत्र यणावादेशौ न भवतः? इत्यत आह—न पदान्तेति सूत्रेण पदान्तविधौ तन्निषेधादिति। पदान्तभूतेकारौकारयोः स्थाने भवतोर्यणावादेशयोः पदचरमावयवतया तयोः कर्तव्ययोः परिनिमित्तकस्याजादेशस्याल्लोपस्य स्थानिवत्त्वनिषेधादित्यर्थः।

विशेष—लोप होने के पश्चात् हर+एहि में "ओमाङोश्च"—पररूप तथा विष्ण+इह, श्रिया+उद्यतः एवं गुरा+उत्कः में गुणसन्धि (६-१-८७) की प्राप्ति होने पर भी "पूर्वत्रासिद्धम्" के अनुसार असिद्ध-विधान होने के कारण उनकी प्रवृत्ति नहीं होती। गुण और पररूप की दृष्टि में लोपशास्त्र असिद्ध होने के कारण वे प्रवृत्त नहीं होते।

शङ्का-समाधान—'कानि+सन्ति', 'कौ+स्तः'—इन दोनों उदाहरणों में "श्नसोरल्लोपः" ६-४-१११ से 'अस्' धातु के अकार का लोप होने पर "अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" से स्थानिवद्भाव होने पर क्रमशः 'यण्' तथा 'आव्' आदेश की प्राप्ति का निवारण "न पदान्त०" सूत्र के सहकार से पदान्त-विधि में स्थानिवद्भाव के निषेध द्वारा किया गया है, क्योंकि 'कानि' तथा 'कौ' दोनों सुप्प्रत्ययान्त परिनिष्ठित पद हैं।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि व्याकरण द्वारा शब्दों के अन्वाख्यान किये जाने के विषय में दो मत है—(१) **पद-संस्कार-पक्ष** तथा (२) **वाक्य-संस्कार-पक्ष**। भर्तृहरि ने दोनों मतों का उल्लेख किया है।[1] पद-संस्कार पक्ष में एक शब्द दूसरे शब्द से निरपेक्ष होता है। उसका संस्कार भी निरपेक्ष रूप में होता है तथा विवक्षानुसार उनका प्रयोग किया जाता है। वाक्य-संस्कार-(पदसमूहो वाक्यम्) पक्ष में प्रत्येक पद का संस्कार प्रयोग करने के समय किया जाता है[2]। पदावधिक और वाक्यावधिक अन्वाख्यान में यह भेद है कि सम्बन्ध-सामान्य की अपेक्षा में पद-संस्कार-पक्ष तथा सम्बन्ध-विशेष की अपेक्षा में वाक्य-संस्कार-पक्ष की उपयोगिता है। यद्यपि पद-संस्कार-पक्ष और वाक्य-संस्कार-पक्ष दोनों ही गृहीत हैं तथापि पद-संस्कार में व्याकरण-शास्त्र की उपयोगिता है। प्रकृति-प्रत्यय आदि की कल्पना पद-संस्कार में ही सम्भव है। पद-समूह के रूप में वाक्य की उपस्थिति होने के कारण वाक्य का साक्षात् अन्वाख्यान नहीं हो पाता।

१. केषां चित् पदावधिकमन्वाख्यानं, वाक्यावधिकमेकेषाम्। वाक्यपदीय १।२६-हरिवृत्ति।

२. न हि किञ्चित् पदं नाम रूपेण नियतं क्वचित्।
पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते॥

भर्तृहरि द्वारा उद्धृत संग्रहकार का मत। द्रष्टव्य—डा० रामसुरेश त्रिपाठी : संस्कृत व्याकरण-दर्शन।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६९) आद् गुणः ६ । १ । ८७ ॥ अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुण आदेशः स्यात्संहितायाम् । उपेन्द्रः । रमेशः । गङ्गोदकम् । **(७०) उरण् रपरः १ । १ । ५१ ॥**

---

(६८) अथ एकादेशसन्धिं निरूपयितुमाह—एकः पूर्वपरयोः । इत्यधिकृत्येति । पदद्वयात्मकमिदं सूत्रम् । उत्तरत्रानुवृत्त्यर्थं पठित्वा कतिपयसन्धयो विधास्यन्त इत्यर्थः ।

(६९) आद् गुणः । आदिति पञ्चमी, न तु तपरकरणम् । एकः पूर्वपरयोरित्यधिकृतम् । तदाह—अवर्णादचीत्यादिना । उपेन्द्र इति । उप इन्द्र इति स्थिते पकारादकारस्य तस्मादिकारस्य च पूर्वपरयोः कण्ठतालुस्थानकयोः तथाविध एको गुणः एकारः, आन्तरतम्यात् । अथ प्रत्याहारेषु स्ववाच्येषूक्तां लक्षणां स्मारयितुं दीर्घविषयोदाहरणमाह—रमेश इति । रमा ईश इति स्थिते आकारस्य ईकारस्य च स्थाने पूर्ववदेको गुणः एकारः । गङ्गोदकमिति । गङ्गा उदकमिति स्थिते आकारस्य उकारस्य च कण्ठोष्ठस्थानकयोस्तथाविध एको गुणः ओकारः । कृष्णर्द्धिरित्यत्र कृष्ण ऋद्धिरिति स्थिते 'आद् गुणः' इति प्राप्तम् । अत्र अकारः ऋकारश्चेति द्वौ स्थानिनौ । तयोः एकार ओकारश्चेति त्रयोऽपि गुणाः प्रसक्ताः, अकारेण स्थानिना त्रयाणामपि कण्ठस्थानसाम्याविशेषात् । ऋकारेण स्थानिना तु न कस्यापि

इन दोनों में से पद-संस्कार-पक्ष में 'कानि सन्ति' तथा 'कौ स्तः' में 'अ' लोप को स्थानिवद्भाव से प्राप्त 'यण्' तथा 'आव्' आदेश का निवारण ऊपर किया जा चुका है । वाक्यसंस्कार-पक्ष में पृथक् पदों की साधुता निष्पन्न करते समय प्रथम उपस्थित होने वाले विधान (शास्त्र) के अन्तरङ्ग होने के कारण उसकी पहले प्रवृत्ति होती है । इस नियम से कानि सन्ति में 'अकार' के लोप को स्थानिवद्भाव होने के कारण उससे पूर्ववर्ती 'इ' तथा 'कौ स्तः' में 'औ' को क्रमशः 'यण्' तथा 'आव्' आदेश की प्राप्ति होती है । उसका निवारण "अकृतव्यूह-परिभाषा" से हो जाता है ।

(६८) पद—एकः, पूर्वपरयोः । **अधिकारसूत्र** ।

मूलार्थ—इसका अधिकार है ।

विवरण—आदेश के विषय में यह अधिकार-सूत्र है । इसकी अवधि "ख्यत्यात् परस्य" (६-१-११२) तक है । इसके पूर्व वर्णित आदेशों में 'पूर्वपरयोः' तथा 'एकः' की अनुवृत्ति जायगी । तदनुसार पूर्व और पर वर्णों को मिला कर एकवर्णात्मक आदेश होगा ।

(६९) पद—आत्, गुणः । **अनुवृत्ति**—अचि । **विधिसूत्र** ।

सन्दर्भ—पूर्व-सूत्र में वर्णित अधिकार के फल का निर्वचन किया जा रहा है ।

विवरण—सूत्र में दो पद हैं—'आत्' (पञ्चमी विभक्ति) तथा 'गुणः' (प्रथमा विभक्ति) । शब्दार्थ—अवर्ण से परे गुण आदेश हो । किस स्थिति में ? इस आकाङ्क्षा की पूर्ति के लिये "इको यणचि" से 'अचि' की अनुवृत्ति की जाती है । 'संहितायाम्' अधिकार से 'सन्धि'—कार्य का विधान सूचित होता है । इस प्रकार अवर्ण से 'अच्' परे रहते पूर्व-पर दोनों वर्णों के स्थान में एक 'गुण' (अ, ए, ओ) आदेश होता है । **उदाहरण**—१–उप+इन्द्रः = उपेन्द्रः । पकारोत्तरवर्त्ती 'अकार' के पश्चात् 'इ' (अच्) रहते हुए दोनों वर्ण (स्थान सादृश्य के कारण) मिलकर 'ए' हो गया । इसी तरह २–गङ्गा+उदकम् में (आ+उ) गुण 'ओ' हुआ ।

गुणसन्धिबोधक-वर्ण-साम्य—

स्थानी — स्थान	आदेश	विशेष
(१) अ–कण्ठस्थान+इ — तालुस्थान	ए—कण्ठतालु ।	
(२) अ–कण्ठस्थान+उ— ओष्ठस्थान	ओ—कण्ठोष्ठ ।	
(३) अ–कण्ठस्थान+ऋ— मूर्धास्थान	अ (अर्)—कण्ठ-(मूर्धा)	"उरण् रपरः"
(४) अ–कण्ठस्थान+ऌ— दन्तस्थान	अ (अल्)—कण्ठ-(दन्त)	१-१-५१

विशेष—दीर्घ तथा वृद्धि-सन्धियाँ गुण–सन्धि की बाधक हैं ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ऋ इति त्रिंशतः संज्ञा' इत्युक्तम्, तत्स्थाने योऽण् स रपरः सन्नेव प्रवर्तते । तत्रान्तरतम्यात् 'कृष्णर्द्धिः' इत्यत्र अर् । 'तवल्कारः' इत्यत्र अल् । अचो रहाभ्याम्--(सू ५१) इति पक्षे द्वित्वम् । (७१) झरो झरि सवर्णे ८।४।६५ ॥ हलः परस्य झरो लोपो वा

स्थानसाम्यम्, तस्य मूर्धस्थानकत्वात् एतेषां च तदभावात् । एवं तव लृकार इति स्थिते त्रयो गुणाः प्रसक्ताः, अकारेण तेषां कण्ठस्थानसाम्याविशेषात् ।

(७०) लृकारेण तु स्थानिना न कस्यापि स्थानसाम्यम्, तत्र कतमो गुणो भवतीत्याकाङ्क्षायामिदमारभ्यते—उरण् रपरः । इत्युक्तमिति । अणुदित्सूत्रे इति शेषः । उः इति ऋ इत्यस्य षष्ठ्येकवचनम् । 'षष्ठी स्थाने' इति परिभाषया स्थाने इति लभ्यते । अनुवादे तत्परिभाषानुपस्थितावपि स्थाने ग्रहणं ततोऽनुवर्तते । तदाह—तत्स्थाने योऽणिति । 'स्थानेऽन्तरतमः' इत्यतोऽपि स्थानेग्रहणमनुवर्तते । स्थानं प्रसङ्ग इत्युक्तम् । प्रसङ्गावस्थायामित्यर्थो विवक्षितः । तदाह—रपरः सन्नेव प्रवर्तत इति । अत्र र इति प्रत्याहारो विवक्षितः । ततश्च रेफशिरस्को लकारशिरस्कश्च इति लभ्यते । तयोर्व्यवस्थां दर्शयति—तत्रेति । रेफलकारशिरस्कयोर्मध्ये कृष्णर्द्धिरित्यत्र अर्, तवल्कार इत्यत्र अलित्यन्वयः । कुत इयं व्यवस्थेत्यत आह—आन्तरतम्यादिति । त्रिषु गुणेषु प्रसज्यमानेषु अकारस्य अणो रेफलकारशिरस्कतया तस्य अर् अल् इत्येवमात्मकस्य अकारांशे स्थानीभूतेन अकारेण रेफांशे ऋकारेण लकारांशे लृकारेण च स्थानसाम्यादकारऋकारयोः स्थाने अरेव भवति, अकारलृकारयोः स्थाने अलेव भवति । एकारौकारौ तु गुणौ न भवत एव, तयोः ऋकारेण लृकारेण च स्थानसाम्याभावादित्यर्थः । न च एकार ओकारश्च कथं रपरौ न स्यातामिति वाच्यम्, पूर्वेणैव णकारेण ह्यत्राण् गृह्यते, प्रशास्तृणामित्यादिनिर्देशादित्यलम् । पक्षे द्वित्वमिति । ऋध-धातोः क्तिनि झषस्तथोरिति तकारस्य धत्वे ऋद्धिरिति द्विधकारं रूपं स्वाभाविकम् । तत्र अरादेशे रेफात् परस्य धकारस्य अचो रहाभ्यामिति कदाचिद् द्वित्वमित्यर्थः ।

---

(७०) पद—उः, अण्, रपरः । अनुवृत्ति—स्थाने, स्थाने । परिभाषासूत्र ।

मूलार्थ—'ऋ'कार के तीस प्रकार पहले बतला चुके हैं । उसके स्थान पर विधीयमान 'अण्' (अ, इ, उ) र-पर होकर प्रवृत्त होता है । इस तरह अत्यधिक सादृश्य होने से 'कृष्णर्द्धिः' में 'अर्' तथा 'तवल्कारः' में 'अल्' रूप में प्रवृत्त हुआ ।

सन्दर्भ—'ऋ'—के स्थान में होने वाले आदेश की विशेष-व्यवस्था ।

विवरण—'ऋ' के स्थान में गुण-वृद्धि की प्राप्ति होने पर अ, ए, ओ में कोई भी उसका अन्तरतम स्थानी नहीं है, अतः उसके विशेष विधान की आवश्यकता है । सूत्रस्थ पदों के साथ अनुवृत्त 'स्थाने' पद का समावेश कर यह अर्थ होगा—"ऋकार के स्थान में (उः स्थाने) होने वाला 'अण्'-आदेश (अ, इ, उ के रूप में) यदि प्राप्त हो तो वह इन वर्णों के पश्चात् 'र्' के साथ संयुक्त होकर (रः परः यस्मात्=रपरः) ही प्रवृत्त होता है ।" 'र' भी 'अण्' के समान प्रत्याहार है । उसमें 'र्' तथा 'ल्' दोनों का समावेश है । 'ऋ'-'लृ' की सवर्ण-संज्ञा होने से उसके तीस भेद पहले बतलाये जा चुके हैं । अतः 'लृ' के स्थान पर होने वाला 'अण्'-आदेश (अ, इ, उ) 'अल्' 'इल्' 'उल्' के रूप में प्रयुक्त होता है । उदाहरण—कृष्णर्द्धिः । कृष्ण+ऋद्धिः,<कृष्ण् अर् द्धिः-'अ'+'ऋ' = अर्<कृष्णर्द्धिः (अर्थ-कृष्ण का अभ्युदय) । यहाँ पर 'ऋ' के स्थान में होने वाला गुण-आदेश 'अ'-ए, ओ की अपेक्षा अधिक सदृश होने के कारण र-पर सहित 'अर्' रूप में प्रवृत्त हुआ । २—इसी तरह तव+लृकारः,<तव् अल्कारः—'अ'+'लृ' = अल्, <तवल्कारः (अर्थ—तुम्हारा लृकार) । 'कृष्णर्द्धिः' में (ऋध्-धि) स्वाभाविक दो-धकार हैं । ऋ=अर् के पश्चात् 'ध्' को कदाचित् द्वित्व होता है ।

विशेष—(१) 'र-पर' आदेश होने में 'ऋ' में विद्यमान उच्चार्यमाण 'रेफ' के अंश की सार्थकता है । कारण यह भर है हि कि 'ऋ' के स्थान में 'अ' = 'अर्', 'ऋ' के स्थान में 'इ' = 'इर्'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्यात्सवर्णे झरि। द्वित्वाभावे लोपे सत्येकधम्। असति लोपे, द्वित्वलोपयोर्वा द्विधम्। सति द्वित्वे लोपे चासति त्रिधम्। कृष्णर्धिः—कृष्णर्द्धिः—कृष्णद्र्द्धिः। 'यण इति पञ्चमी मय इति षष्ठी' इति पक्षे ककारस्य द्वित्वम्। लस्य तु 'अनचि च' (सू ४८) इति। तेन 'तवल्कारः' इत्यत्र रूपचतुष्टयम्।

द्वित्वं लस्यैव कस्यैव नोभयोरुभयोरपि।
तवल्कारादिषु बुधैर्बोध्यं रूपचतुष्टयम्॥

---

(७१) झरो झरि सवर्णे। 'झयो होऽन्यतरस्याम्' इत्यतः अन्यतरस्यामित्यनुवर्तते। हलो यमामित्यतः हल इति, लोप इति चानुवर्तते। तदाह—हलः परस्येत्यादिना। द्वित्वाभाव इत्यादिना। रेफात् परस्य ऋध् इति धात्वन्तस्य धकारस्य अचो रहाभ्यामिति द्वित्वाभावे सति झरो झरीति लोपे च सति एकधकारं रूपमित्यर्थः। असतीति। द्वित्वाभावे इत्यनुकृष्यते। तस्यैव ऋधेर्धकारस्य द्वित्वाभावे लोपे च असति द्विधकारं रूपम्। तथा तस्यैव ऋधेर्धकारस्य द्वित्वे लोपे च सति द्विधकारमेव रूपमित्यर्थः। सतीति। तस्यैव ऋधेर्धकारस्य द्वित्वे सति लोपे च असति त्रिधकारं रूपमित्यर्थः। यद्यपि द्विधपक्षे प्रथमधकारस्य, त्रिधपक्षे मध्यमधकारस्य च 'झलाञ्जश् झशि' इति जश्त्वेन दकारो भवति, तथापि प्रक्रियाभिप्रायेण भूतपूर्वगत्या वा द्विधत्वं त्रिधत्वं चेति न दोषः। अर्थं तवल्कार इत्यत्राह—यण इति। यणः परस्य मयो द्वित्वमिति व्याख्याने ककारस्य द्वित्वं, लकारस्य तु अनचि चेति द्वित्वमित्यर्थः। तेनेति। लकारककारयोर्द्वित्व-

---

तथा 'ऋ' के स्थान में 'उ' = 'उर्' इत्यादि रूपों में 'अण्'-आदेश की प्रसक्ति होने पर स्थानी और आदेश इन दोनों के संयुक्त उच्चारण की स्वाभाविक स्थिति रहती है। (२) इस सूत्र का अर्थ करने में चार प्रकार की कल्पनायें की गई हैं—(क) ऋकार के स्थान पर र-पर 'अण्' होता है। इस कथन में रपरत्व-विशिष्ट 'अण्' का विधान है। (ख) ऋकार के स्थान में 'अण्' ही होता है और र-पर होता है। इस कथन से 'अण्' और अण्-भिन्न के प्रसंग में 'अण्' का नियमन तथा 'र-पर' का विधान सूचित होता है। (ग) ऋकार के स्थान में होने वाले 'अण्' का अनुवाद कर केवल 'अण्'-विधान के बाद र-पर मात्र के विधान की कल्पना की जाती है। इस पक्ष में विधानोत्तर र-पर का समावेश है। (घ) ऋकार के स्थान में अण्-आदेश का प्रसंग होने पर वह 'र-पर' के रूप में ही प्रवृत्त होता है। इनमें से चतुर्थ पक्ष को अधिकतर वृत्तिकारों ने स्वीकार किया है।

(७१) पद—झरः, झरि, सवर्णे। अनुवृत्ति—अन्यतरस्याम्, हलः, लोपः। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'हल्' के पश्चाद्वर्ती 'झर्' का लोप विकल्प से हो यदि उसके अनन्तर भी सवर्ण 'झर्' रहे। द्वित्व के अभाव में लोप होने पर एक धकारात्मक रूप होगा। लोप न होने पर अथवा द्वित्व एवं लोप—इन दोनों के होने पर दो धकारात्मक रूप। केवल द्वित्व होने पर किन्तु लोप न करने पर तीन धकारात्मक रूप होगा। १—कृष्णर्धिः। २—कृष्णर्द्धिः। ३—कृष्णद्र्द्धिः। वा०—में 'यणः' को पञ्चम्यन्त तथा 'मयः' को षष्ठ्यन्त पद स्वीकार करने पर ककार को द्वित्व होता है। लकार को "अनचि च" से द्वित्व होने पर 'तवल्कारः' में चार रूप होंगे। "एक बार लकार को ही द्वित्व, एक बार ककार को द्वित्व, एक बार दोनों को द्वित्व नहीं तथा एक बार दोनों को द्वित्व होने से "तवल्कारः" इत्यादि शब्दों में बुद्धिमान् व्यक्तियों को चार प्रकार के रूपों का भेद जानना चाहिये।

विवरण—सूत्र साकाङ्क्ष है। अनुवृत्ति भी दो सूत्रों से आती है—"झयो होऽन्यतरस्याम्" (८-४-६८) से 'अन्यतरस्याम्' तथा "हलो यमां यमि लोपः" (८-४-६४) से 'हलः' और 'लोपः' की। अनुवृत्त पद 'हलः' में पञ्चमी विभक्ति है। अतः 'हल्' (व्यञ्जन-वर्णों) के पश्चात् रहनेवाले 'झर्' (पञ्चम व्यञ्जनों एवं अन्तःस्थ रहित अन्य व्यञ्जनवर्ण)-वर्णों का विकल्प से (अन्यतरस्याम्) लोप होता है यदि इसके अव्यवहित अनन्तर भी दूसरा सवर्ण 'झर्'-वर्ण रहे। "कृष्णर्धिः" (√ऋध्+क्तिन्)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(७२) वृद्धिरेचि ६ । १ । ८८ ॥ आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । गुणापवादः । कृष्णैकत्वम् । गङ्गौघः । देवैश्वर्यम् । कृष्णौत्कण्ठ्यम् । **(७३) एत्येधत्यूठ्सु ६ । १ ।**

विकल्पेनेत्यर्थः । द्वित्वं लस्यैवेति । लकारस्य द्वित्वे ककारस्य द्वित्वाभावे च सति द्विलकारमेककारं च प्रथमं रूपमित्यर्थः । कस्यैवेति । ककारस्य द्वित्वे लकारस्य द्वित्वाभावे द्विककारमेकलकारं च द्वितीयं रूपमित्यर्थः । नोभयोरिति । लकारककारयोरुभयोरपि द्वित्वाभावे एकलकारमेककारं तृतीयं रूपमित्यर्थः । उभयोरपीति । लकारककारयोरपि द्वित्वे द्विलकारं द्विककारं चतुर्थं रूपमित्यर्थः । तवल्कारादिष्विति । आदिना ममल्कारादिसङ्ग्रहः ।

(७२) वृद्धिरेचि । आद् गुण इत्यतः आदिति पञ्चम्यन्तमनुवर्तते । एकः पूर्वपरयोरित्यधिकृतम् । तदाह—आदेचीत्यादिना । गुणापवाद इति । 'आद्गुणः' इति प्राप्तावेतदारम्भादिति भावः । कृष्णैकत्वमिति । कृष्णस्य एकत्वमिति षष्ठीसमासः । 'पूर्णगुण' इति निषेधस्त्वनित्य इति तत्रैव मूले वक्ष्यते । कृष्णेति सम्बुद्ध्यन्तं पृथक्पदमित्यन्ये । अत्र

"अचो रहाभ्यां द्वे" विकल्प से द्वित्व होने के अभाव में धकार का लोप होने पर कृष्ण् अर् धिः = १—कृष्णर्धिः । यहाँ पर 'हल्' (र्) से परे 'झर्' (ध्) का लोप हुआ, क्योंकि उसके अनन्तर भी दूसरा 'ध्' (झर्) विद्यमान है । २—कृष्ण् अर् ध् धिः—प्रकृत सूत्र के द्वारा लोप विकल्प होने के कारण पहले द्वित्व कर पुनः लोप की प्रसक्ति होने पर (कृष्ण् अर् ध् ध् धि) दो धकारात्मक रूप = कृष्णर्द्धिः (जश्त्व-द्) । ३—कृष्ण् अर् ध् ध् धि-द्वित्व होने के पश्चात् प्रकृत-सूत्र की प्रवृत्ति न होने के कारण तीन धकारात्मक = कृष्णद्धिः ('ध्' को 'द्'-जश्त्व) । अर्थ—कृष्ण की ऋद्धि । गुण सन्धि के प्रभाव से 'तवल्कारः' में चार रूपों की सिद्धि प्रदर्शित की जा रही है । १—तव+लृकारः, <तव् अल्कारः—गुण (अ+लृ=अल्), <तवल्ल्कारः—"अनचि च" से 'ल्' को द्वित्व । २—<तवल् क् कारः—'क्' को 'यणो मयो द्वे वाच्ये' (वा०) से द्वित्व, क्यों कि 'ल्' (यण्) से परे 'क्' (यम्) है । ३—तवल्कारः—तव+लृकारः—गुण—अ+लृ = अल् । विकल्प होने के कारण 'ल्' तथा 'क्' में से किसी वर्ण को द्वित्व नहीं किया गया । ४—तवल्ल्क्कारः—'ल्' तथा 'क्' दोनों को द्वित्व हुआ ।

विशेष—१—'कृष्णर्धिः' में धकार के द्वित्व होने पर जश्त्व की प्राप्ति से 'द्' होने पर दोधकारात्मक रूप का कथन तथा तीन धकारों की स्थिति में दोनों धकारों को जश्त्व होकर 'द्' होने के कारण त्रिधकारात्मक रूप का कथन भूतपूर्व गति का आश्रय लेकर प्रक्रिया के अभिप्राय से कहा गया है । २—तवल्कारः इत्यादि रूप प्रचलित न होने के कारण अप्रसिद्ध हैं । केवल सन्धिकार्य के उदाहरण में ही इनकी उपयोगिता है ।

(७२) पद—वृद्धिः, एचि । **अनुवृत्ति**—आत् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अकार से 'एच्' परे रहते 'वृद्धि'—रूपी एक-आदेश होता है । 'गुण'-सन्धि का अपवाद है । कृष्णैकत्वम् । गङ्गौघः । देवैश्वर्यम् । कृष्णौत्कण्ठ्यम् ।

विवरण—"आद् गुणः" से अनुवृत्त पद 'आत्' तथा 'एच्'—स्थानी हैं । आदेश (वृद्धि) के अन्तर्गत आ, ऐ, औ वर्णों का समावेश होता है । "एकः पूर्वपरयोः" तथा "संहितायाम्" का अधिकार चला आ रहा । अतः दो वर्ण मिलकर एक वर्ण के रूप में परिवर्तित हो जायेंगे । इस सन्धि में अ-वर्ण के अव्यवहित अनन्तर 'एच्'—वर्णों का रहना आवश्यक है । तदनुसार अ-वर्ण के पश्चात् ए, ओ, ऐ, औ के रहते हुए पहले तथा आगे रहनेवाले वर्णों के स्थान पर एक ही वृद्धि (आ, ऐ, औ) आदेश होता है । "स्थानेन्तरतमः" के सहकार से वृद्धिसन्धि का स्वरूप इस प्रकार होता है—(१) 'अ' या 'आ'+ए = ऐ । (२) 'अ' या 'आ'+ऐ = ऐ । (३) 'अ' या 'आ'+ओ=औ । (४) 'अ' या 'आ'+औ = औ । **उदाहरण**—१—कृष्णैकत्वम् । कृष्ण+एकत्वम् <कृष्ण् ऐकत्वम् <कृष्णैकत्वम् (णकोरवर्ती 'अ'+एकत्वम् का 'ए' = ऐ । अर्थ—कृष्ण की एकता । २—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८९ ॥ अवर्णादेजाद्योरेत्येधत्योरूठि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । पररूपगुणापवादः । उपैति । उपैधते । प्रष्ठौहः । 'एजाद्योः' किम् ? उपेतः । मा भवान् प्रेदिधत् । पुरस्तादपवादन्यायेनेयं वृद्धिः 'एङि पररूपम्' (सू ७८) इत्यस्यैव बाधिका, न तु 'ओमाङोश्च' (सू ८०) इत्यस्य । तेन 'अवैहि' इति वृद्धिरसाधुरेव । 'अक्षादूहिन्यामुपसङ्ख्यानम्' । (वा ३६०४) । अक्षौहिणी सेना । स्वादीरेरिणोः' (वा ३६०६) । स्वैरः । स्वेनेरितुं शीलमस्येति स्वैरी । स्वैरिणी । 'प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु' (वा ३६०५) । प्रौहः । प्रौढः । 'अर्थवद् ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्' (प १५), 'व्रश्च०' (सू २९४) इति सूत्रे राजेः पृथग्भ्राजिग्रहणाज्ञापकात् । तेनोढग्रहणेन क्तान्तमेव गृह्यते, न तु क्तवत्वन्तस्यैकदेशः । प्रोढवान् ।

अकारस्य एकारस्य च कण्ठतालुस्थानकस्य स्थाने तथाविध ऐकार एकादेशः । गङ्गा ओघ इति स्थिते अकारस्य ओकारस्य च कण्ठोष्ठस्थानकस्य स्थाने तथाविध औकारः । एवं देवैश्वर्यम्, कृष्णौत्कण्ठ्यमित्यत्रापि । वस्तुतस्तु सङ्ख्यादिशब्दा न गुणवचना इति तत्रैव वक्ष्यामः ।

(७३) एत्येधत्यूठ्सु । एतिश्च एधतिश्च ऊठ् चेति विग्रहः । एतीति एधतीति च 'इक् श्तिपौ धातुनिर्देशे' इति श्तिपा निर्देशः । इण्-गताविति, एध वृद्धाविति च धातू विवक्षितौ । एचीत्यनुवर्तते । 'यस्मिन्विधिः' इति तदादिग्रहणम् । एजादाविति लभ्यते । तच्च एत्येधत्योरेव विशेषणम् । न तु ऊठः, असम्भवात् । एकः पूर्वपरयोरित्यधिकृतम् । आद् गुण इत्यतः आदिति पञ्चम्यन्तमनुवर्तते । तदाह—अवर्णादित्यादिना । उपैतीति । इण्-धातोर्लट् तिप् शप् लुक् । 'सार्वधातुक-' इति इकारस्य गुणः एकारः । उप एतीति स्थिते अनेन वृद्धिः । उपैधत इति । एध्-धातोर्लट् आत्मनेपदे तादेशः शप् । 'टित आत्मनेपदानाम्' इत्येत्वम् । उप एधते इति स्थिते अनेन वृद्धिः । प्रष्ठौह इति । प्रष्ठं वहतीति प्रष्ठवाट् ।

देवैश्वर्यम् । देव+ऐश्वर्यम् <देव् ऐश्वर्यम् <देवैश्वर्यम् (अ+ऐ = ऐ) । अर्थ—हे देव ! आपका ऐश्वर्य । ३—गङ्गौघः । गङ्गा+ओघः <गङ्ग् औघः <गङ्गौघः (आ+ओ = औ) । अर्थ—गङ्गा का प्रवाह । ४—कृष्णौत्कण्ठ्यम् । कृष्ण+औत्कण्ठ्यम् <कृष्ण् औत्कण्ठ्यम् <कृष्णौत्कण्ठ्यम् (आ+औ = औ) । अर्थ—कृष्ण की उत्कण्ठता ।

विशेष—वृद्धि-सन्धि 'गुण' का अपवाद होने के कारण उसे नहीं होने देती । अर्थात् 'गुण' और 'वृद्धि' सन्धि की एक साथ प्राप्ति होने पर वृद्धि-सन्धि होती है ।

(७३) पद—एत्येधत्यूठ्सु । **अनुवृत्ति**—वृद्धिः, एचि, आत् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'अ'कार के अनन्तर 'एज्' से प्रारम्भ होने वाले 'एति' 'एधति' तथा 'ऊठ्' रहने पर वृद्धिरूपी एक आदेश होता है । पररूप और गुणसन्धिका यह अपवाद है । उपैति । उपैधते । प्रष्ठौहः । एज्-आदि विशेषण क्यों कहा ? उपेतः । मा भवान् प्रेदिधत् । (सूत्रक्रम में) 'पूर्वपठित अपवाद-शास्त्र' (अग्रिम समीपस्थ शास्त्र का बाधक होता है न कि उसके पश्चाद्वर्ती शास्त्र का) न्याय से यह वृद्धि-विधान "एङि पररूपम्" (६-१-९४) का बाधक होता है न कि "ओमाङोश्च" (६-१-९५) का । अतः 'अवैहि' में वृद्धि-सन्धि करना ठीक नहीं है । (वा०) 'अक्ष' शब्द के अनन्तर 'ऊहिनी' शब्द के रहने पर 'वृद्धि' होती है । अक्षौहिणी सेना । (वा०) 'स्व' शब्द के अनन्तर 'ईर' तथा 'ईरिन्' शब्दों के रहने पर 'वृद्धि'-सन्धि होती है । स्वैर (स्वेन) अर्थात् स्वेच्छा से (ईर) गमन करनेवाला = स्वैरी । लिङ्गविशिष्ट-परिभाषा से स्वैरिणी । (वा०) 'प्र' के अनन्तर 'ऊढ', 'ऊढि' 'एष' तथा 'एष्य' शब्दों के रहने पर 'वृद्धि' होती है । प्रौहः । प्रौढः । (परि०) अर्थवान् के ग्रहण होने पर अनर्थक का ग्रहण नहीं होता । इस परिभाषा का ज्ञापक "व्रश्च-भ्रश्च०" (८-२-३६) इत्यादि सूत्र में 'राजि' के अतिरिक्त 'भ्राजि' पद का ग्रहण करना है । अतः 'ऊढ' पद से 'क्त'-प्रत्ययान्त का ही ग्रहण होता है न कि 'क्तवतु' का एकदेश-(अवयव)-स्वरूप

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रौढिः। 'इष इच्छायां तुदादिः', इष गतौ दिवादिः', 'इष आभीक्ष्ण्ये क्र्यादिः'। तेषां घञि ण्यति च 'एषः' 'एष्यः' इति रूपे। तत्र पररूपे प्राप्ते, अनेन वृद्धिः। प्रैषः। प्रैष्यः। यस्तु 'ईष उञ्छे' यश्च 'ईष गतिहिंसादर्शनेषु' तयोर्दीर्घोपधत्वात् ईषः, ईष्यः। तत्राद्गुणेन प्रेषः प्रेष्यः। 'ऋते च तृतीयासमासे'–(वा ३६०७) सुखेन ऋतः सुखार्तः। 'तृतीया' इति किम् ? परमर्तः। 'प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे (वा ३६०८–९)। प्रार्णम्। वत्सतरार्णमित्यादि। ऋणस्यापनयनाय यदन्यदृणं क्रियते तदृणार्णम्। दशार्णो देशः। नदी च

'वहश्च' इति ण्विः। 'वेरपृक्तस्य' इति वलोपः। 'अत उपधायाः' इति वृद्धिः। ततः शसि 'वसोः सम्प्रसारणम्' इत्यतः सम्प्रसारणमित्यनुवृत्तौ, 'वाह ऊठ्' इति सम्प्रसारणसञ्ज्ञकस्य ऊठः सम्प्रसारणाच्चेति पूर्वरूपम्। प्रष्ठ ऊह इति स्थिते अनेन वृद्धिः औकारः। नन्वत्र एत्येधतिग्रहणं व्यर्थम्, उपैधते इत्यत्र वृद्धिरेचीत्यनेनैव वृद्धिसम्भवात्। ऊठ् ग्रहणमपि व्यर्थम्, वृद्धिरेचीत्येव सिद्धेः। वाह ऊठ्-सूत्रे ऊठ् ग्रहणानर्थक्यं सम्प्रसारणेन कृतत्वात्। गुणस्तु प्रत्ययलक्षणत्वात्। 'एज्ग्रहणाद् वृद्धिः' इति वार्तिककृता तथैवोक्तत्वात्। ऊठ्ग्रहणं न कर्तव्यम्। वाहः इत्येव सूत्रमस्तु। भस्य वाहः सम्प्रसारणं स्यादिति सम्प्रसारणमेव विधीयताम्। ततश्च वकारस्य उकारे सम्प्रसारणे पूर्वरूपे सति उह इति स्थिते प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य ण्विप्रत्यये परे उकारस्य लघूपधगुणेन ओकारे कृते प्रष्ठ ओह इति स्थिते वृद्धिरेचीति वृद्धिरिति वार्तिकार्थः। तस्मादेत्येधत्यूठ्सु सूत्रं व्यर्थमित्यत आह–पररूपगुणापवाद इति। एत्येधत्योरेङि पररूपमित्यस्य, ऊठि आद् गुण इत्यस्यायमपवाद इत्यर्थः। यदि हि वाहः सम्प्रसारणमेव विधीयेत न तु ऊठ्, तर्हि वस्य सम्प्रसारणेन उत्वे कृते पूर्वरूपे सति तस्य लघूपधगुणो न भवति, तस्मिन् कर्तव्ये बहिर्भूतशस्प्रत्ययापेक्षभसञ्ज्ञापेक्षसम्प्रसारणाश्रितपूर्वरूपस्य बहिरङ्गतया अत्र असिद्धत्वात्। तथा च गुणाभावे प्रष्ठ उ आह इति स्थिते पूर्वरूपे प्रष्ठ उह इति स्थिते आद्गुण इति गुणे ओकारे प्रष्ठोह इति स्यात्। सम्प्रसारणसञ्ज्ञकस्य ऊठो विधौ तु प्रष्ठ ऊ आह इति स्थिते पूर्वरूपे लघूपधगुणस्याप्रसक्ततया ओकारस्याभावादुकारस्यैव सत्त्वात् वृद्धिरेचीत्यस्याप्रसक्तेरादगुण इति प्राप्ते एत्येधत्यूठ्स्वित्ति वृद्धौ प्रष्ठौह सिध्यतीत्यूठ्ग्रहणमावश्यकमिति। 'वाह ऊठ्' सूत्रे समुदाहृतवार्तिकं भाष्ये दूषितमित्यास्तां तावत्। उपेत इति। इण्-धातोर्लट्, तस्, शप्, लुक्। 'सार्वधातुकमपित्' इति तसो ङित्त्वात् तस्मिन् परत इकारस्य न

'क्त'। प्रोढवान्। प्रौढिः। √इष् = इच्छार्थ तुदादि गण-पठित, √इष् = गत्यर्थक दिवादि–गण पठित तथा √इष् = आभीक्ष्ण्यार्थक (पुनः पुनः) क्र्यादिगण पठित–से 'घञ्' एवं 'ण्यत्' प्रत्यय होने पर क्रमशः 'एष' तथा 'एष्यः' रूप बनते हैं। इनमें पररूप प्राप्त होने पर इस वार्तिक द्वारा 'वृद्धि' होती है। प्रैषः। प्रैष्यः। √ईष् = कण बटोरना तथा √ईष् = गमन, हिंसा, देखना— इन दोनों धातुओं के दीर्घोपध होने के कारण—ईषः (घञ्), ईष्यः (ण्यत्) रूप बनते हैं। तदनुसार गुण होगा—प्रेषः, प्रेष्यः। (वा०) तृतीया समास में 'अकार' के अनन्तर 'ऋत' शब्द के रहने पर 'वृद्धि' होती है। सुखेन ऋतः–सुखार्तः। 'तृतीया'—क्यों कहा ? परमर्तः। (वा०) प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण, दशन शब्दों के अनन्तर 'ऋण' शब्द रहने पर 'वृद्धि' होती है। प्रार्णम्। वत्सतरार्णम् इत्यादि। एक ऋण को चुकाने के लिए दूसरा लिया जाने वाला ऋण— ऋणार्णम्। दशार्ण देश है। दशार्णा नदी। ऋण शब्द का अर्थ दुर्ग, भूमि और जल भी है।

विवरण—सूत्र में केवल एक पद है। विग्रह—एतिश्च, एधतिश्च, ऊठ् च, तेषु = एत्येधत्यूठ्सु। द्वन्द्व समास। तदनुसार शब्दार्थ—एति, एधति तथा ऊठ् परे होने पर क्या हो ? इस आकाङ्क्षा की निवृत्ति के लिये "आद् गुणः" से 'आत्', "वृद्धिरेचि" से 'वृद्धि' एवं 'एचि' की अनुवृत्ति आती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुणः। अत्र इण् धातोरजादित्वाभावात्तस्मिन् परतो न वृद्धिः। मा भवान् प्रेदिधदिति। एध् धातोर्णिच्। लुङ् तिप्। 'नित्यं ङितः' इति इकारलोपः। 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः' इति चङ्। 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः'। 'चङि' इत्यजादेर्द्वितीयस्य धिशब्दस्य द्वित्वम्। अभ्यासे चर्चेति जश्त्वम्। न माङ्योग इत्याडभावः। भवच्छब्दयोगात् प्रथमपुरुषः। तच्च तिङन्ताधिकारे स्पष्टीभविष्यति। प्र इदिधदिति स्थिते एत्येधतीति न वृद्धिः, एध्धातोरेजादित्वाभावात्। तत्र एजादित्वविशेषणाभावे तु इहापि वृद्धिः स्यात्। न च 'णौ चङि' इत्येकारस्य ह्रस्वेन इकारे सति नायमेधधातुरिति वाच्यम्, एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्। अत्र माङं विहाय प्रेदिधदिति न प्रत्युदाहृतम्। तथा सति आडजादीनामित्याडागमे आटश्चेति वृद्धौ ऐदिधदिति स्यात्। तत्र एधतेरेजादित्वाद् वृद्धिरिष्टैव। भवच्छब्दस्तु चिन्त्यप्रयोजनः। ननु आ इहि, आद् गुणः एहि, अव एहीति स्थिते एकादेशस्य गुणस्य एकारस्य अन्तादिवच्चेति परादिवद्भावेन, आद्यन्तवदेकस्मिन्निति व्यपदेशिवद्भावेन च इण्धातोरेजादित्वात्तस्मिन् परे एङि पररूपमिति पररूपं बाधित्वा एत्येधत्यूठ्स्विति वृद्धौ अवैहीति स्यात्। अवेहीति इष्टं न स्यात्। न च ओमाङोश्चेति पररूपेण तन्निर्वाहः शङ्क्यः। एत्येधतीति वृद्धिर्हि यथा एङि पररूपमित्यस्यापवादः, न तथा ओमाङित्यस्यापवादः, येन नाप्राप्तिन्यायसाम्यात् इत्यत आह—पुरस्तादिति। 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान्विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' इति न्यायः। पूर्वपठिता अपवादा अव्यवहितानेवोत्तरान् विधीन् बाधन्ते, न तु व्यवहितानित्यर्थः। प्रकृते च एत्येधत्यूठ्सु इत्युत्तरं कानिचित् सूत्राणि पठित्वा 'एङि पररूप'मिति पठित्वा, पुनः कतिपयसूत्राणि पठित्वा ओमाङोश्चेति पठितम्। ततश्च उक्तन्यायेन एत्येधतीति वृद्ध्या एङि पररूपमित्येव बाध्यते, न त्वोमाङोश्चेति पररूपमपीति भावः। वस्तुतस्तु एत्येधतीति

सूत्रस्थ 'एति' पद से √इण् का ग्रहण होता है, क्योंकि इसका रूप 'एति' बनता है। 'एधति' पद से √एध् का ग्रहण होता है। अनुवृत्त 'एचि' पद 'एति' तथा 'एधति'—इन दोनों का ही विशेषण है। 'ऊठ्' का विशेषण किसी भी तरह सम्भव नहीं है। 'यस्मिन् विधिः०' इस परिभाषा की एकवाक्यता से 'एज्'-आदि अर्थ का लाभ होता है। इन सबका समावेश कर सूत्र का अर्थ है—"अवर्ण से 'एज्'-आदि √इण् तथा √एध् धातु तथा 'ऊठ्' परे होने पर पूर्व तथा पर दोनों वर्णों के स्थान पर एक-वर्णात्मक (आ, ऐ, औ) वृद्धि-आदेश होता है।"

उदाहरण—१—उपैति। उप+एति (आ—√इ+ति)। <उप् ऐ ति<उपैति (अ+ए = ऐ)। अर्थ—समीप जाता है। २—उपैधते। उप+एधते <उप् ऐ धते <उपैधते (अ+ए = ऐ)। अर्थ—समीप-बढ़ता है। इन दोनों उदाहारणों में पररूप की प्राप्ति रही। उसके अपवादस्वरूप इस विशेष-नियम से वृद्धि हुई। ३—प्रष्ठौहः। प्रष्ठ+ऊहः (√वाह्+क्त, वाह् = ऊठ्-('ऊ')) <प्रष्ठ् औ हः <प्रष्ठौहः (अ+ऊठ् = औ)। अर्थ—प्रष्ठं वहति-प्रष्ठवाह्, प्रष्ठं = गले में बाँधी जानेवाली लकड़ी को वहति = ढोता है—(प्रष्ठौहः)—अल्पवयस्क बैल। **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में 'एच्' आदि पद √इण् तथा √एध् के विशेषण के रूप में न रखने पर उप+इतः (उपेतः = समीप गया हुआ) तथा प्र+इदिधत् (√एध्-णिच्, लुङ्, तिप्-'ति', च्लि, (चङ्), ह्रस्व, धातु को द्वित्व, 'ति' के इकार का लोप, मा भवान् प्रेदिधत् (आप बहुत न बढ़ें) 'मा' शब्द के कारण 'आट्'-आगम की अप्राप्ति—में भी वृद्धि प्राप्त होने लगेगी। वह न हो, अतः 'एज्'-आदि पद इन दोनों धातुओं का विशेषण माना गया है। तदनुसार 'इतः' तथा 'इदिधत्' में धातु का पूर्व वर्ण एकार न होने के कारण वृद्धि नहीं हुई किन्तु "आद् गुणः" से गुण-सन्धि हुई।

विशेष—यह वृद्धि-विधान कितने पररूप-सूत्रों का बाधक है इसकी व्यवस्था बतलाई जा रही है। इस सम्बन्ध में 'पुरस्ताद् अपवादाः अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' न्याय (परिभाषा)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृद्धिःओमाङोश्चेत्यस्यापवाद एव न भवति। उपैति इत्यादौ अप्राप्तेऽपि तस्मिन् एत्येधतीति वृद्धेरारम्भात्। अतः पुरस्तादपवादा इति न्यायस्य नायं विषयः। ततश्च अव एहीत्यत्र एत्येधतीति बाधित्वा परत्वादोमाङोश्चेति पररूपं न्याय्यमित्येव वक्तुमुचितम्। अत एव भाष्ये—नाप्राप्ते एङि पररूपे एत्येधतीति वृद्धिरारभ्यमाणा भवति तस्यापवादः। आङि पररूपे तु प्राप्ते चाप्राप्ते च आरभ्यमाणा वृद्धिर्न तदपवादः इति स्पष्टमेवोक्तम्। यत्तु भाष्ये पक्षान्तरमुक्तम्—अथवा पुरस्तादपवादा अनन्तरान्विधीन् बाधन्ते इत्येवमेत्येधतीति वृद्धिरेङि पररूपमेव बाधते, न त्वोमाङोश्चेति पररूपमपि इति। तत्तु एत्येधतीति वृद्धेरेङि पररूपमोमाङोश्चेति सूत्रद्वयापवादत्वाभ्युपगमवादमात्रमाश्रित्य बाध्यसामान्यचिन्तामाश्रित्य वेत्यलं बहुना। अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्। आदिति, अचीति वृद्धिरिति चानुवर्तते। एकः पूर्वपरयोरिति च। ऊह–वितर्के। ऊहनमूहः सोऽस्या अस्तीत्यूहिनी। अक्षशब्दादूहिनीशब्दे परे पूर्वपरयोरचोः वृद्धिरेकादेशः स्यादित्यर्थः। अक्षौहिणीति मत्वर्थीय इनिः। नान्तत्वाद् ङीप्। अक्षाणामूहिनीति विग्रहः। परिणामविशेषविशिष्टा सेना अक्षौहिणी। 'पूर्वपदात् संज्ञायाम्' इति णत्वम्। अक्ष ऊहिनीति स्थिते, गुणे प्राप्ते, अनेन वार्तिकेन वृद्धिः। स्वादीरेरिणोः। स्वशब्दादीरशब्दे ईरिन्शब्दे च परे पूर्वपरयोरचोर्वृद्धिरेकादेशः स्यादित्यर्थः। स्वैर इति। ईर–गतौ। भावे घञ्। स्वेन छन्देन ईर इति विग्रहः। 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति समासः। स्व ईर इति स्थिते गुणे प्राप्ते अनेन वार्तिकेन वृद्धिः। स्वेनेरितुमिति। स्वेन छन्देन ईरितुं सञ्चरितुं शीलमस्येत्यर्थे सुप्यजातावितिणिनिः। स्वच्छन्दचारीत्यर्थः। उपपदसमासः। स्व ईरिन् इति स्थिते गुणे प्राप्ते अनेन वृद्धिः। प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु। प्र इत्युपसर्गात् ऊह, ऊढि, ऊढ, एष, एष्य एतेषु परेषु पूर्व-

---

का स्मरण कराया जा रहा है। इसका आशय यह है कि यदि अपवाद-शास्त्र (विशेष-विधान) के पश्चात् उत्सर्ग-शास्त्र (सामान्य-विधान) का निर्वचन किया गया हो तो वह अपवाद अपने समीपस्थ कार्यविधायक का ही बाधक होता है उससे आगे आने वाले कार्यों का बाधक नहीं होता। अतः "एत्येधत्यूठ्सु" (६-१-८९) से किया जाने वाला वृद्धि-विधान अपने निकटवर्ती उत्सर्ग-शास्त्र "एङि पररूपम्" (६-१-९४) का बाधक होता है न कि उसके पश्चाद्वर्ती "ओमाङोश्च" (६-१-९५) से विहित पररूप का। अतः 'अवैहि' यह प्रयोग असाधु है। यहाँ पर पररूप ही होगा। अव—आ+इहि <अव+एहि—अन्तरङ्ग होने के कारण गुण, <अवेहि—"अन्तादिवच्च" से पूर्वान्तवद्भाव की कल्पना द्वारा "ओमाङोश्च" (६-१-९५) पररूप। अर्थ—(आओ)।

(वा०) १—पद—अक्षात्, ऊहिन्याम्, उपसंख्यानम्। अनुवृत्ति—आत्, अचि, वृद्धिः। 'अक्ष' शब्द के पश्चात् 'ऊहिनी' शब्द रहने पर पूर्व तथा पर वर्ण (अ+ऊ) के स्थान पर वृद्धि (औ) होती है। यह कार्य "आद् गुणः" से प्राप्त गुण का बाधक है। उदाहरण—अक्षौहिणी। अक्ष+ऊहिनी (√ऊह्+घञ् (अ) = ऊह+इन् = ऊहिनी) <अक्षौहिणी (न=ण। अ+ऊ = औ) अर्थ—सेना-विशेष[1]—२१८७० हाथी तथा रथ+६५६१० घोड़े+१०,९३५० पैदल।

विशेष—वार्तिकस्थ 'उपसंख्यानम्' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है "समीप में बोध होना" (उप = समीपे, ख्यानम् = बोधनम्—√ख्या+ल्युट् (यु) = अन)। वृद्धि-विधायक सूत्र में इस वार्तिक का अन्वाख्यान होने के कारण यह वार्तिक भी वृद्धि का विधान करता है। तदनुसार यहाँ भी 'आत्', 'अचि', 'वृद्धिः' की अनुवृत्ति की जाती है।

---

१. "अक्षौहिण्यामित्यधिकैः सप्तत्यन्ताष्टभिः शतैः। संयुक्तानि सहस्राणि गजानामेकविंशतिः।
एवमेव रथानां तु संख्यानं कीर्तितं बुधैः। पञ्चषष्टिसहस्राणि षट्शतानि दशैव तु॥
संख्यातास्तुरगास्तज्ज्ञैर्विना रथ्यैस्तुरङ्गमैः। नृणां शतसहस्रं तु सहस्राणि नवैव तु॥
शतानि त्रीणि चान्यानि पञ्चाशच्च पदातयः॥"—इत्यमरभरतौ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परयोरचोर्वृद्धिरेकादेशः स्यादित्यर्थः। प्रौह इति। ऊह-वितर्के। भावे घञ्। गतिसमासः। प्र ऊह इति स्थिते अनेन वार्तिकेन वृद्धिः। प्रौढ इति। वह प्रापणे क्तः। 'वचिस्वपि' इति सम्प्रसारणम्। पूर्वरूपम्। 'होढः' इति ढत्वम्। 'झषस्तथोः' इति धत्वम्। ष्टुत्वम्। 'ढो ढे लोपः'। 'ढ्रलोपे' इति दीर्घः। प्र ऊढ इति स्थिते, गुणे प्राप्ते अनेन वृद्धिः। नन्वु प्रोढवानित्यत्रापि वहधातोः क्तवतु प्रत्यये ढत्वधत्वष्टुत्वढलोपदीर्घेषु प्र ऊढवदिति स्थिते प्राद्यूहोढेति वृद्धिः स्यात्, तत्रापि ऊढशब्दस्य परत्वेन श्रवणादित्यत आह—अर्थवदिति। अर्थवतः शब्दस्य ग्रहणसम्भवे अनर्थकस्य शब्दस्य ग्रहणं न भवतीत्यर्थः। इयं परिभाषा 'स्वं रूपम्' इत्यत्र रूपग्रहणात् तत्रैव सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। तेनेति। अर्थवत एव ग्रहणनिमेनेत्यर्थः। क्तान्तमेवेति। क्तप्रत्ययस्तावदर्थवान्, भावकर्मणोस्तद्विधानात्। क्तवतुप्रत्ययस्तु कर्तरि विदितः। अतस्तदेकदेशस्य क्तस्यानर्थकत्वात् प्राद्यूहोढेत्यत्र ऊढ ग्रहणेन ग्रहणं न भवति। अतस्तस्मिन् परे वृद्धिर्न भवति, किन्तु गुण एवेत्यर्थः। प्रौढिरिति। वह-धातोः क्तिन् ढत्वधत्वष्टुत्वढलोपदीर्घाः। प्र ऊढिः इति स्थिते गुणं बाधित्वा अनेन वृद्धिः। इप इच्छायामित्यादि। गणत्रयेऽपि ह्रस्वोपधा एव एते धातवः। तेषामिति निर्धारणे षष्ठी। तेषां मध्ये अन्यतमात् घञि ण्यति च सति लघूपधगुणे कृते एष एष्य इति च सिद्धे। प्र एष, प्र एष्य इति स्थिते एङि पररूपं बाधित्वा अनेन वृद्धिः। एतेन वृद्धिरेचीत्यनेन एषैष्यग्रहणयोर्गतार्थत्वं निरस्तम्। नन्वेवं सति प्रेप इति प्रेष्य इति च कथं प्रयोग इत्यत आह—यस्त्विति। तयोर्दीर्घोपधत्वेन लघूपधगुणाभावे ईष ईष्य इति च सिध्यति। तयोस्तु एतद्वार्तिके ग्रहणाभावात् तयोः परतो वृद्ध्यभावे आद्गुण इति गुणे प्रेषः प्रेष्य इत्यपि रूपद्वयमस्तीत्यर्थः। एषशब्दसाहचर्यात् एष्यशब्दोऽपि कृदन्त एव गृह्यते। तेन तिङन्ते ल्यबन्ते च न वृद्धिः। अग्नये प्रेष्य दूतम्, प्रेष्य गतः। ऋते च तृतीयासमासे। तृतीया-

---

(वा०) २-पद—स्वात्, ईरेरिणोः। अर्थ—'स्व'-शब्दावयव 'अ' के अनन्तर 'ईर' तथा 'ईरिन्' शब्दावयव 'अच्'-वर्ण रहने पर पूर्व-पर वर्णों के स्थान पर वृद्धिरूप एक-आदेश होता है। उदाहरण—स्वैरः। स्व+ईरः (स्वतन्त्र गमन)=स्वैरः-वृद्धि (अ+ई=ऐ)। स्व+ईरिन्=स्वैरी—स्वेन ईरितुं शीलमस्य—अपनी इच्छा से गमनशील। पुंलिङ्ग के समान स्त्रीलिङ्ग "स्वैरिणी" (यत्र तत्र विचरण करने वाली स्त्री) शब्द में भी 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' नियम से प्रकृत वार्तिक की प्रवृत्ति होने के कारण वृद्धि हुई। यहाँ भी गुण-सन्धि का बाध हुआ है।

(वा०) ३-पद—प्रात्, ऊहोढोढ्येषैष्येषु। अनुवृत्ति—वृद्धिः। अर्थ—'प्र' शब्द के अनन्तर 'ऊह', 'ऊढ', 'एष' और 'एष्य' शब्दों के रहने पर पूर्व-पर के स्थान पर वृद्धि-एकादेश होता है। उदाहरण—१-प्र+ऊहः=प्रौहः (अच्छा तार्किक)। २-प्र+ऊढः=प्रौढः (बढ़ा हुआ)। ३-प्र+ऊढिः=प्रौढिः (प्रौढता)। ४-प्र+एषः=प्रैषः (प्रेरणा)। ५-प्र+एष्यः=प्रैष्यः (प्रेरणीय, भृत्य)। 'इष्' धातु में दीर्घोपध होने से गुण होगा—प्रेषः, प्रेष्यः।

विशेष—१-प्रथम तीन उदाहरणों में गुण को बाध कर वृद्धि हुई है। अन्तिम दो उदाहरणों में पररूप ("एङि पररूपम्") का बाध किया गया है। २-'ऊढ' शब्द का प्रयोग √वह्+क्त (त) अर्थ में कर्म प्रत्यय होने के कारण साक्षात् उसी शब्द का प्रयोग किये जाने पर वृद्धि होगी। अतः 'क्तवतु' प्रत्ययान्त 'ऊढवान्' का एकदेश 'ऊढ' शब्द इस विधान में ग्राह्य नहीं है, क्यों कि वह कर्म में विहित नहीं है—अतः इस कार्य के लिये अनर्थक है। नियम है—"अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्"। इस परिभाषा में प्रमाण (ज्ञापक) "ब्रश्च-भ्रस्ज-सृज-मृज-यज-राज-भ्राजच्छशां षः" (८-२-३६) सूत्रस्थ 'भ्राज्' धातु का पृथक् ग्रहण किया जाना है। यदि अनर्थक शब्द का ग्रहण मान्य होता तो 'राज' ग्रहण करने से ही 'भ्राज्' का ग्रहण भी हो जाता, क्योंकि 'भ्राज्' का एकदेश 'राज' पद है। पृथक् ग्रहण करने से अनर्थक एकदेश-पदों का ग्रहण नहीं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दशार्णा । ऋणशब्दो दुर्गभूमौ जले च । (७४) उपसर्गादृति धातौ ६।१।९१ ॥ अवर्णान्ता-

समासे अकारात् ऋतशब्दे परे पूर्वपरयोरचोर्वृद्धिः स्यादित्यर्थः । सुखेन ऋत इति विग्रह-प्रदर्शनम् । ऋ–गतौ 'गत्यर्थाकर्मक' इति कर्तरि क्तः । प्रकृत्यादित्वात् तृतीया । सुप्सुपेति समासः । सुख ऋत इति स्थिते गुणे प्राप्ते अनेन वृद्धिः आकारः । रपरत्वे सुखार्त इति रूपम् । समासग्रहणस्य उदाहृतविग्रहवाक्यमेव प्रत्युदाहरणं दर्शितप्रायमिति तृतीयेत्यंशस्य प्रयोजनं पृच्छति—तृतीयेति किमिति । परमर्त इति । परमश्चासौ ऋतश्चेति कर्मधारयः । आद् गुणः । प्रवत्सतर । पञ्चम्यर्थे षष्ठी । प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण, दश, एतेषां ऋणशब्दे परे पूर्वपरयोरचोर्वृद्धिरेकादेशः स्यादित्यर्थः । प्रार्णमिति । प्रगतमृणमिति विग्रहे, 'प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया' इति गतिसमासः । प्र ऋणम् इति स्थिते गुणं बाधित्वा अनेन वार्तिकेन वृद्धिः आकारः । रपरत्वम् । वत्सतरः शिशुवत्सः, तस्य ऋणमिति विग्रहः । वत्सतरमधिकृत्य वा तद्ग्रहणार्थं वा यदृणं गृह्यते तत् वत्सतरार्णम् । एवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम् । आदिशब्देन कम्बलार्णं वसनार्णं दशार्णम् ऋणार्णमिति च गृह्यते । सर्वत्र षष्ठीसमासः । ऋणशब्दस्य ऋणशब्दे परे कथमन्वय इत्यत आह—ऋणस्येति । देशनदीविशेषयोः कथं दशार्णशब्दप्रवृत्तिरित्यत आह—ऋणशब्द इति । तथा च दश ऋणानि दुर्गभूमयः यस्मिन् देशे स दशार्णः देशविशेषः । दशविधानि ऋणानि जलानि यस्यां नद्यां सा दशार्णेति विग्रहः ।

(७४) उपसर्गादृति । 'आद्गुणः' इत्यतः आदिति पञ्चम्यन्तमनुवर्तते । तच्च उपसर्ग-

---

होता । अतः 'प्र+ऊढवान् = प्रोढवान्'—गुणसन्धि हुई । ३—'प्रैष', तथा 'प्रैष्य' इन दोनों उदाहरणों में क्रमशः √इष्+घञ् (अ) = एषः तथा √इष्+ण्यत् (य) = एष्यः के रूप हैं । √इष् धातु तुदादि, दिवादि तथा क्र्यादि गणों में पढ़ा गया है । अर्थ के अनुसार गण-विशेष का निर्णय किया जा सकता है । √ईष् दीर्घोपध होने से गुण—प्रेषः, प्रेष्यः ।

(वा०) ४—पद—यथास्थित । अनुवृत्ति—आत्, वृद्धिः । अर्थ—अकार के अनन्तर 'ऋत' शब्द के रहते हुए तृतीया-तत्पुरुष-समास में पूर्व तथा पर वर्णों के स्थान में (अ या आ+ऋ=आर्) वृद्धि आदेश होता है । उदाहरण—सुख+ऋतः (सुखेन ऋतः) <सुख् आर् तः <सुखार्तः (सुख से प्राप्त) । प्रत्युदाहरण—प्रकृत वार्तिक में 'तृतीया-समासे' पद के न रखने पर कर्मधारय-समास में भी 'वृद्धि' प्राप्त हो जायगी । ऐसी स्थिति में 'परमश्चासौ ऋतः' इस विग्रह में कर्मधारय समास होकर 'परम+ऋतः' रूप बनने पर वृद्धि होने लगेगी, किन्तु वह अभीष्ट नहीं है । अतः 'तृतीयासमासे' की सार्थकता है । यहाँ गुण होकर 'अर्'—'परमर्तः' बना ।

(वा०) ५—पद—प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानाम्, ऋणे । अनुवृत्ति—वृद्धिः । अर्थ—'प्र' 'वत्सतर' आदि छह शब्दों के पश्चात् 'ऋण' शब्द के रहने पर पूर्व और पर वर्ण (अ+ऋ) के स्थान पर 'वृद्धि' (आर्) होती है । क्रमशः उदाहरण—१-प्र+ऋणम् = प्रार्णम् । अर्थ—अधिक ऋण । २-वत्सतर+ऋणम् = वत्सतरार्णम् । अर्थ—बछड़े के लिये लिया हुआ ऋण । ३-कम्बल+ऋणम् = कम्बलार्णम् । अर्थ—कम्बल के लिए ऋण । ४-वसन+ऋणम्=वसनार्णम् । अर्थ—वस्त्र के लिए ऋण । ५-ऋण+ऋणम्=ऋणाणम् । अर्थ—एक ऋण के लिये दूसरा ऋण । ६-दश+ऋणम्=दशार्णम् । अर्थ—दस दुर्ग वाला देश । दशार्णा—नदी (दशविधानि ऋणानि जलानि यस्यां सा) । 'ऋण' शब्द का अर्थ—दुर्ग, भूमि तथा जल भी है ।

विशेष—(१) यह वार्तिक भी "आद् गुणः" का अपवाद है । (२) कालिदास ने 'मेघदूत' में दशार्ण देश का उल्लेख किया है "सम्पत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायि हंसा दशार्णाः" । दशार्ण—मालवा का पूर्वी भाग । राजधानी—विदिशा (भिलसा) ।

(७४) पद—उपसर्गात्, ऋति, धातौ । अनुवृत्ति—आत्, वृद्धिः । विधिसूत्र ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुपसर्गादृकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । उपार्च्छति । प्रार्च्छति । (७५) अन्तादिवच्च ६ । १ । ८५ ॥ योऽयमेकादेशः स पूर्वस्यान्तवत्परस्यादिवत्स्यात् । इति रेफस्य

विशेषणम् ,अतस्तदन्तविधिः–अकारान्तादिति लभ्यते । ऋतीति धातोर्विशेषणम् । यस्मिन्विधिरिति तदादिविधिः । ऋकारादाविति लभ्यते । 'वृद्धिरेचि' इत्यतो वृद्धिरिति चानुवर्तते । 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकृतम् । तदाह—अवर्णान्तादित्यादिना । एकादेश इति । पूर्वपरयोरिति शेषः । अन्यथा उपसर्गस्य धातोश्च सर्वादेशः स्यात् । उपार्च्छति—प्रार्च्छतीति । उप ऋच्छति इति स्थिते गुणे प्राप्ते अनेन वृद्धिः रपरत्वम् ।

(७५) अथ तस्य रेफस्य पदान्ते विहितं विसर्गमाशङ्क्य तस्य पदान्तत्वसाधनायाह—अन्तादिवच्च । एकः पूर्वपरयोरिति सूत्रमनुवर्तते । यथासङ्ख्यपरिभाषया अन्तादिवदित्यस्य क्रमेणान्वयः । ततश्च पूर्वपरयोर्भवन् एकः आदेशः पूर्वस्यान्तवत्परस्यादिवदिति लभ्यते । यद्यपि एकादेशस्य द्वौ वर्णौ स्थानिनौ–पूर्वः परश्च, तयोश्च वर्णयोः प्रत्येकमेकत्वात्तदपेक्षया एकादेशस्य अन्तादिवत्त्वकथनमसङ्गतम् । तथापि पूर्वपरवर्णयोर्भवन्नेकादेशः प्रथमस्थानिघटितसमुदायस्य पूर्वस्य यः अन्तः प्रथमस्थानी तत्कार्यकारी भवति । द्वितीयस्थानिघटितसमुदायस्य उत्तरस्य य आदिः द्वितीयस्थानी तत्कार्यकारी भवतीत्यर्थो विवक्षितः । तत्र पूर्वान्तवत्त्वे यथा—क्षीरपेण । क्षीरप इन इति स्थिते आद् गुण इत्येकादेशः एकारः । तत्र पूर्वान्तवत्त्वेन पे इत्युत्तरपदस्य एकाच्त्वात् 'एकाजुत्तरपदे णः' इति णत्वं भवति । अत्र एकादेशे स्थानिवत्सूत्रं तु न प्रवर्तते, एकदेशस्थानिभूतं पकारादकार-

---

मूलार्थ—अकारान्त उपसर्ग के अनन्तर ऋकारादि धातु रहने पर वृद्धिरूपी एकादेश होता है । उपार्च्छति । प्रार्च्छति ।

विवरण—"एकः पूर्वपरयोः" का अधिकार है । अनुवृत्त 'आत्' पद 'उपसर्गात्' का विशेषण है, अतः तदन्तविधि होती है । तदनुसार अवर्णान्त उपसर्ग के पश्चात् ऋकारादि-धातु के रहने पर पूर्व और परवर्ण वृद्धि-संज्ञक वर्ण में परिवर्तित हो जाते हैं (अ या आ+ऋ = आर्) ।

उदाहरण—१—उप+ऋच्छति = उपार्च्छति । अर्थ—समीप में चलता है । २—प्र+ऋच्छति = प्रार्च्छति । अर्थ—अधिक चलता है ।

विशेष—१—यह वार्तिक भी गुण-सन्धि का अपवाद है । २—प्रादि शब्दों की क्रियायोग में ही उपसर्ग-संज्ञा होने से सूत्रस्थ 'उपसर्ग' पद के प्रयोग से धातु का आक्षेप हो जायगा तथा ऋकारादि धातु परे रहनें पर वृद्धि हो जायगी, अतः धातु ग्रहण व्यर्थ है । वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि इस सूत्र का योगविभाग किया जाय—(१) उपसर्गादृति (२) धातौ । योगविभाग किये हुए दो सूत्रों में से पूर्वसूत्र का बाधक "ऋत्यकः" (६-१-१२८) है । उस सूत्र से पक्ष में प्रकृतिभाव की प्राप्ति होगी, किन्तु दूसरे सूत्र "धातोः" से इस बात की पुष्टि की जाती है कि प्रकृतिभाव को बाधकर ऋकारादि धातुओं में वृद्धि ही होती है[1] । प्रकृतिभाव का निवारण किये जाने से इस प्रकार वृद्धि-विधान की उपयोगिता है ।

(७५) पद—अन्तादिवत्, च । **अतिदेशसूत्र** ।

मूलार्थ—(पूर्व-पर के स्थान में होने वाला) एक-आदेश पूर्व के अन्त के समान तथा पर के आदि के समान हो । इस प्रकार रेफ के पदान्त होने पर (विसर्ग की प्राप्ति होती है) ।

विवरण—अतिदेश होने के कारण आरोप का विधान किया जा रहा है । सूत्र में दो पद हैं—'अन्तादिवत्' तथा 'च' । शब्दार्थ—च(और) अन्तादिवत् (अन्त तथा आदि के समान होता है) ।

---

१. उपसर्गादृति धातोर्वृद्धिरेव यथा स्यात् । यदन्यत् प्राप्नोति तन्मा भूदिति । किं चान्यत् प्राप्नोति ? ह्रस्वत्वमृत्यक इति । महाभाष्यम् ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदान्तत्वे । (७६) **खरवसानयोर्विसर्जनीयः ८ । ३ । १५ ॥** खरि अवसाने च परे रेफस्य विसर्जनीयः स्यात्पदान्ते । इति विसर्गे प्राप्ते । अन्तवद्भावेन पदान्तरेफस्य न विसर्गः । 'उभयथर्क्षु' (सू ३६३०) 'कर्तरि चर्षिदेवतयोः' (सू ३१६७) इत्यादिनिर्देशात् । उपसर्गेणैव धातोराक्षेपे सिद्धे 'धातौ' इति योगविभागेन पुनर्वृद्धिविधानार्थम् । तेन 'ऋत्यकः' (सू ९२) इति पाक्षिकोऽपि प्रकृतिभावोऽत्र न भवति । (७७) **वा सुप्या-**

मालम्ब्य पे इत्यस्य एकाजुत्तरपदत्वाश्रयेण प्रवर्तमानस्य णत्वस्थान्यलाश्रयत्वात् । यद्यपि एकाजुत्तरपदत्वमेव प्राधान्येन णत्वविधिराश्रयति, पकारादकारं स्थान्यलं तु तद्विशेषणीभूताच्त्वेनाश्रयति, तथाप्यनल्विधाविति निषेधोऽत्र भवत्येव, यथाकथञ्चित् स्थान्यलाश्रयस्यैव तत्र विवक्षितत्वात् । अन्यथा प्रतिदीव्येत्यत्र क्त्वादेशं स्थानिगतवलाद्यार्धधातुकत्वेनाश्रित्य इडागमे कर्तव्ये अनल्विधाविति निषेधानुपपत्तेः, तत्र वलः प्राधान्येनाश्रयणाभावात् । एतेन स्थानिवत्सूत्रेण गतार्थमिदं सूत्रमिति निरस्तम् । परादिवत्वे यथा—खट्वा । अत्र खट्वशब्दादजाद्यतष्टाप् । सवर्णदीर्घ आकारः । तस्य परादिवत्त्वेन टाप्त्वात्ततः परस्य सोर्हल्ङ्यादिलोपः । इदमपि स्थानिवद्भावेन अनिर्वाह्यम् । हल्ङ्यादिलोपस्यात्र स्थान्यलाश्रयताया मूलकृतैव वक्ष्यमाणत्वात् । न चैवं सति यजेर्लङि उत्तमपुरुषैकवचने इटि, शपि, आद्गुणे, अडागमे, अयजे इन्द्रमित्यत्र गुणस्य परादिवत्त्वेन इकारत्वात्तत्र इकारे परे सवर्णदीर्घः स्यादिति वाच्यम्, इह हि अल्पसमुदायधर्मा एव प्रातिपदिकत्वसुबन्तत्वप्रत्ययत्वादयः अतिदिश्यन्ते, न तु वर्णमात्रधर्मा अत्वह्रस्वत्वादयः । उक्तं च भाष्ये—'न वा अताद्रूप्यातिशात्' इति अन्तादिवर्णमात्रवृत्तिधर्मानतिदेशादयजे इन्द्रमित्येवंजातीयकेषु सवर्णदीर्घादिकं न भवतीत्यर्थ इत्यलमतिविस्तरेण । इति रेफस्येति । उपार्च्छतीत्यत्र आर् इत्येकादेशस्य पूर्वान्तवत्त्वेन रेफस्य पदान्तत्वे सति विसर्गे प्राप्ते इत्युत्तरेणान्वयः ।

(७६) कथं विसर्गप्राप्तिरित्यत आह—खरवसानयोः । रो रीत्यतः र इति षष्ठ्यन्तमनुवर्तते । तच्च पदस्येत्यधिकृतस्य विशेषणम् । येन विधिरिति रेफान्तस्येति लभ्यते । खरि

यह अर्थ साकाङ्क्ष है । इससे पूर्व "एकः पूर्वपरयोः" सूत्र के अधिकार से अन्तादिवत् का अन्वय यथासंख्य-परिभाषा के सहकार से 'पूर्व-परयोः' के साथ किया जाता है । अतः सूत्र का आशय है—"पूर्व और पर के स्थान पर होने वाला एक-आदेश क्रमशः पूर्ववर्ती वर्ण-समुदाय के अन्त के समान तथा परवर्ती वर्ण-समुदाय के आदि के समान समझा जाय" । तदनुसार उप+ऋच्छति <उपार्च्छति—एकादेश 'वृद्धि' होने पर 'उपार्' समुदाय में पदत्व का आरोप कर पूर्वान्तवद्भाव से 'र्' के पद के अन्त में होने के कारण विसर्ग की प्राप्ति होती है (जिसका निर्वचन आगे किया जा रहा है) ।

निष्कर्ष—सूत्र में विद्यमान 'अन्त' और 'आदि' शब्द एकादेश के स्थानी के बोधक हैं । अनुवृत्त 'पूर्व' और 'पर' शब्द एकादेश-घटित समुदाय के बोधक हैं । इस प्रकार पूर्व-समुदाय तथा पर-समुदाय के अन्त-वर्ण और आदि-वर्णों के स्वतन्त्र रूप में पृथक् रहते हुये प्रादिपदिकत्व, सुबन्तत्व, प्रत्ययत्व आदि व्यवहार, जो एकादेश-शास्त्र की प्रवृत्ति के पूर्व था, वह आदेश होने के पश्चात् भी वैसे ही किया जायगा ।

(७६) **पद**—खरवसानयोः, विसर्जनीयः । **अनुवृत्ति**—रः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'खर्' परे रहते तथा 'अवसान' के विषय में पदान्त में स्थित 'र्' के स्थान पर विसर्ग होता है ।

विवरण—'पदस्य' का अधिकार है । "रो रि" (८-३-१४) से 'रः' की अनुवृत्ति की जाती है । वह 'पदस्य' का विशेषण है । उसमें तदन्तविधि होती है । सूत्र में 'खर्'-प्रत्याहारान्तर्गत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पिशलेः ६।१।९२॥ अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ सुन्धातौ परे वृद्धिरेकादेशो वा स्यात्। आपिशलिग्रहणं पूजार्थम्। प्रार्षभीयति—प्रर्षभीयति। सावर्ण्यात् लृवर्णस्य ग्रहणम्। उपाल्कारीयति—उपल्कारीयति। तपरत्वाद्दीर्घे न। उप ऋकारीयति—उपर्कारीयति।

अवसाने च परतः रेफान्तस्य पदस्य विसर्जनीयः स्यादित्यर्थः। अलोऽन्त्यस्येत्यन्त्यस्य भवति। अभावरूपस्य चावसानस्य बुद्धिकृतं परत्वम्। फलितमाह—खरि अवसाने चेति। पदान्ते इति। विद्यमानस्येति शेषः। यदि तु अन्त्यवर्णस्य अवसानसंज्ञा, तदा अवसान इत्यत्र योजना विरामोऽवसानमित्यत्रोक्ता। इति विसर्ग इति। उपार्च्छतीत्यादौ अनेन विसर्गे प्राप्ते तत्परिहार उच्यत इत्यर्थः। अन्तवदिति। अन्तवत्त्वेन पदान्तत्वं प्राप्तस्य रेफस्य विसर्गो न भवतीत्यर्थः। कुत इत्यत आह—उभयथर्क्ष्विति। अन्यथा तत्रापि विसर्गनिर्देशः स्यादिति शेषः। नन्वत्र धाताविति व्यर्थम्, उपसर्गग्रहणादेव धातावित्यस्य सिद्धेः, क्रियायोगे सत्येव उपसर्गसञ्ज्ञाविधानात्। न च उपगत ऋकारः उपर्कार इत्यत्र क्रियायोगस्य सत्त्वादुपसर्गत्वाच्च वृद्धिप्राप्तौ तन्निवृत्त्यर्थमिह धातुग्रहणमिति वाच्यम्, 'यत्क्रियायुक्ताः प्रादयः तं प्रत्येव गत्युपसर्गसंज्ञा' इति परिभाषया गम्यमानगमनक्रियां प्रत्येव उपसर्गत्वात् प्रकृते च ऋकारादिनिमित्तकोपसर्गत्वस्यैव विवक्षितत्वादित्याशङ्क्याह—उपसर्गेणैवेत्यादिना। उपसर्गग्रहणेनैव धातोः आक्षेपे अन्यथानुपपत्तिरूपार्थापत्तितो लाभे सति पुनः धाताविति वचनं पुनर्विधानार्थमित्यन्वयः। कथं पुनर्विधानलाभः इत्यत आह—योगविभागेनेति। योगशब्दः सूत्रशब्दपर्यायः। उपसर्गादृतीति धाताविति च सूत्रं विभज्यते, तत्र उपसर्गादृतीति पूर्वसूत्रे धातावित्यर्थाल्लभ्यमादाय उक्तार्थलाभः। धातावित्युत्तरसूत्रेऽपि उपसर्गादृतीति पूर्वसूत्रमनुवर्तते। तथा च पूर्वसूत्रसमानार्थकमेतत्सूत्रं सम्पद्यत इति पुनर्विधानलाभ इत्यर्थः। किमर्थमिदं पुनर्विधानमित्यत आह—तेनेति। पुनर्विधानेनेत्यर्थः। न भवतीति। परोऽपि प्रकृतिभावः पुनर्विधानसामर्थ्यात् बाध्यत इत्यर्थः।

(७७) वा सुपि। 'उपसर्गादति धातौ' इति पूर्वसूत्रमनुवर्तते। आद् गुण इत्यतः वृद्धि-

---

वर्ण परे रहते तथा अवसान के विषय में रेफान्त-पद के स्थान में विसर्ग होता है। "अलोन्त्यस्य" परिभाषा से यह विसर्ग अन्त्य रेफ के स्थान पर होता है। इस प्रकार 'उपार्च्छति' में निर्दिष्ट अन्तादिवद्भाव से प्राप्त विसर्ग का वारण 'उभयथर्क्षु', 'कर्तरि चर्षिदेवतयोः' इत्यादि प्रयोगों से किया जाता है। सूत्र में "उपसर्ग" से ही धातु का आरोप स्वतः सिद्ध था, अनन्तर "धातोः" योगविभाग पुनः वृद्धि का विधान करता है। इस कारण "ऋत्यकः" से विहित वैकल्पिक प्रकृतिभाव नहीं होता। प्राप्त-विसर्ग के न होने में पाणिनि के दो सूत्रों "उभयथर्क्षु" (८-२-८) तथा "कर्तरि चर्षिदेवतयोः" (३-२-१८६) में प्रयुक्त विसर्गरहित 'उभयथर्क्षु' (उभयथा+ऋक्षु—अ+ऋ=अर्) तथा 'चर्षि' (च+ऋषि) शब्द ही प्रमाण हैं। अन्यथा इन दोनों उदाहरणों में भी पूर्वान्तवद्भाव के आश्रय से विसर्ग की प्राप्ति थी। उपर्युक्त दोनों सूत्रोक्त प्रयोगों से यह ज्ञापित होता है कि यहाँ पूर्वान्तवद्भाव से पूर्व-समुदाय में रहने वाले धर्म का आरोप नहीं होता। अतः विसर्ग नहीं हुआ।

(७७) **पद**—वा, सुपि, आपिशलेः। **अनुवृत्ति**—आत्, उपसर्गात् ऋति, धातौ, वृद्धिः।

विधिसूत्र।

मूलार्थ—अवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि नामधातु परे रहते विकल्प से वृद्धि होती है। 'आपिशालि' ग्रहण सम्मानार्थक है। प्रार्षभीयति—प्रर्षभीयति। सवर्ण-संज्ञा होने से लृकार का भी ग्रहण होता है। प्राल्कारीयति—प्रल्कारीयति। (ऋति) तपर-ग्रहण करने से दीर्घ ऋकार से आरम्भ होने वाले नामधातुओं में वृद्धि नहीं होती। उप+ऋकारीयति = उपर्कारीयति (गुण—अ+ऋ=अर्)। अर्थ—समीपस्थ 'ऋ' की इच्छा करने वाला।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(७८) एङि पररूपम् ६।१।९४ ॥ अवर्णान्तादुपसर्गादेङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः स्यात् । प्रेजते । उपोषति । इह 'वा सुपि' इत्यनुवर्त्यं वाक्यभेदेन व्याख्येयम् । तेनैङादौ

रेचीत्यतश्च आदिति वृद्धिरिति चानुवर्तते । आदित्यनेन उपसर्गादिति विशेष्यत इति तदन्तविधिः । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया सुप्शब्देन सुबन्तप्रकृतिको धातुर्विवक्षितः । एकः पूर्वपरयोरिति चाधिकृतम् , तदाह–अवर्णान्तादित्यादिना सुब्धाताविति । सुबन्तप्रकृतिकधातौ परत इत्यर्थः, सुबन्तस्य धातोरसम्भवात् । एकादेश इति । पूर्वपरयोरचोरिति शेषः । यद्यपि ऋच्छ गतावित्यादीनां क्विपि धातुत्वं सुबन्तत्वं च सम्भवति । तथापि तुल्यास्यसूत्रभाष्ये उपार्कारीयतीत्यादेरेतदुदाहरणत्वेन भाष्ये उक्तत्वात् सुबन्तप्रकृतिके इत्येव व्याख्यानमुचितम् । ननु वाग्रहणादेव सिद्धे आपिशलिग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—आपिशलिग्रहणमिति । आपिशलेराचार्यस्याप्ययमर्थः सम्मत इत्यादेर्लाभार्थः । प्रार्षभीयतीति । ऋषभमात्मन इच्छतीत्यर्थे 'सुप आत्मनः क्यच्' । 'सनाद्यन्ताः' इति धातुत्वम् । 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुपो लुक् 'क्यचि च' इति ईत्वम् । लट्, तिप्, शप्, पररूपम् । प्र ऋषभीयति इति स्थिते अनेन वृद्धिः आकारः रपरत्वम् । प्रर्षभीयतीति । वृद्ध्यभावपक्षे 'आद् गुणः' रपरत्वम् । सावर्ण्यादिति । ऋलृवर्णयोरिति सावर्ण्यादृतीत्यनेन लृतोऽपि ग्रहणमित्यर्थः । उपाल्कारीयतीति । ऋकारमात्मन इच्छतीत्यर्थे क्यजादिपूर्ववत् । लपरत्वं विशेषः । उपल्कारीयतीति । वृद्ध्यभावपक्षे गुणः लपरत्वम् । तपरत्वादिति । ऋतीति तपरकरणेन तत्कालस्यैव ग्रहणात् दीर्घऋकारे परे वृद्धिविकल्पोऽयं न भवति, किं तु गुण एवेत्यर्थः । ॠकारीयतीति । ॠकारमात्मन इच्छतीत्यर्थे क्यजादि पूर्ववत् । वृद्ध्यभावादत्र गुण इति ।

(७८) एङि पररूपम् । उपसर्गादिति धाताविति चानुवर्तते । आदित्यनुवृत्तमुपसर्गादित्यस्य विशेषणमिति तदन्तविधिः । यस्मिन् विधिरिति परिभाषया पदादिग्रहणम् । एकः पूर्वपरयोरिति चाधिकृतम् । तदाह–अवर्णान्तादित्यादिना । एकादेश इति । पूर्वपरयोरिति शेषः । प्रेजत इति । एजृ दीप्तौ । प्र एजते इति स्थिते वृद्धिरेचीति वृद्धिं बाधित्वा अनेन पररूपम्—एकारः । एज़ कम्पने इति तु परस्मैपदी । उपोषतीति । उष दाहे—लट्, तिप्, शप्, लघू-

---

विवरण—सूत्र में विकल्प का बोधक 'वा' शब्द विद्यमान है, अतः 'आपिशलि' ग्रहण पूर्वाचार्य के लिये सम्मान-बोधक है । अनुवृत्त पदों के साथ सूत्रार्थ इस तरह होगा—अवर्णान्त (आत्) उपसर्ग (उपसर्गात्) से ऋकारादि (ऋति) नामधातु (धातौ) परे रहते पूर्व-पर के स्थान में वृद्धि (वृद्धिः) रूपी एकादेश विकल्प से होता है" । **उदाहरण**—१–प्र+ऋषभीयति<प्र् आर् षभीयति= प्रार्षभीयति (अ+ऋ='आर्'—वृद्धि) । पक्ष में गुण (अ+ऋ=अर्)—प्र+ऋषभीयति< प्रर्षभीयति । २–'ऋ' तथा 'लृ' की सवर्णसंज्ञा होने के कारण अ+लृ=वृद्धि—आल् । प्र+लृकारीयति<प्राल्कारीयति । पक्ष में गुण—अ+लृ=अल् । प्र+लृकारीयति<प्रल्कारीयति । "उपसर्गादृति धातौ" सूत्र में 'ऋति' पद में 'त्' का उच्चारण करने से केवल ह्रस्व-ऋकारादि नामधातु का ग्रहण होगा ("तपरस्तत्कालस्य") न कि दीर्घ-ॠकार से आरम्भ होने वाले नामधातु था । अतः उप+ॠकारीयति = उपर्कारीयति (अ+ॠ = अर्)—गुण हुआ ।

विशेष—सुबन्त प्रकृति से प्रत्यय-विशेष संयुक्त होकर जो क्रियावाची शब्द बनते हैं, वे नामधातु कहलाते हैं ।

(७८) पद—एङि, पररूपम् । **अनुवृत्ति**—आत्, उपसर्गात्, धातौ । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अवर्णान्त उपसर्ग के अनन्तर 'एङ्'-आदि धातु रहने पर पूर्वपर के स्थान पर 'पररूप' एक-आदेश होता है । प्रेजते । उपोषति । इस सूत्र में "वा सुपि०" सूत्र से वा तथा सुपि की अनुवृत्ति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुब्धातौ वा। उपेडकीयति—उपैडकीयति। प्रोधीयति—प्रौधीयति। 'एवे चानियोगे' (वा ३६३१) नियोगोऽवधारणम्। क्वेव भोक्ष्यसे ? अनवक्लृप्तावेवशब्दः। 'अनियोगे'

पधगुणः। उप ओपतीति स्थिते वृद्धिं बाधित्वा अनेन ओकारः। ननु एडको मेषः, तमात्मन इच्छतीति एडकीयति, उप एडकीयतीति स्थिते अनेन नित्यमेव पररूपं स्यात्। इष्यते तु वृद्धिरपि उपैडकीयति उपेडकीयतीति। तत्राह—इहेति। एङि पररूपमित्यत्र वा सुपीत्यनुवर्तते। तच्च नैकवाक्यतया सम्बध्यते। तथा सति अवर्णान्तादुपसर्गादेङादौ सुब्धातौ परे पररूपमेकादेशो वा स्यादित्येवार्थः स्यात्। एवं सति प्रेजते उपोषतीत्यत्र नित्यं पररूपं न स्यात्। अतो वाक्यभेदेन व्याख्येयम्। एङि पररूपमिति प्रथमं वाक्यम्। अवर्णान्तादुपसर्गादेङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः स्यादिति तदर्थः। वा सुपीति द्वितीयं वाक्यम्। तत्र एङि पररूपमित्यनुवर्तते, धातौ उपसर्गादित्यादि च। ततश्च उक्तपररूप-विषये सुब्धातौ परे पररूपं वा स्यादिति लभ्यते। तदाह—तेनेति। उक्तरीत्या वाक्यभेदा-श्रयणेन एङादौ सुब्धातौ पररूपं पाक्षिकं भवति, तदितरधातौ तु नित्यमित्यर्थः। एवे चानियोगे। नियोगशब्दं व्याचष्टे—नियोगोऽवधारणमिति। अवधारणम् अन्ययोगव्य-

---

लाकर वाक्यभेद से व्याख्या की जाय। तदनुसार 'एङ्'-वर्णों से प्रारम्भ होने वाले नामधातुओं में विकल्प से पररूप होता है। उपेडकीयति। उपैडकीयति। प्रोधीयति। प्रौधीयति। वा० अनिश्चयवाची 'एव' शब्द में (पररूप होता है)। नियोग = अवधारण (निश्चय)। क्वेव भोक्ष्यसे ? अनिश्चयवाची 'एव' शब्द है। अनियोग क्यों कहा ? तवैव।

सन्दर्भ—यण्, अयादि-सन्धि, गुण तथा वृद्धि के अनन्तर 'पररूप' का निर्वचन किया जा रहा है।

विवरण—सूत्र का शब्दार्थ है—'एङ्' परे रहते पररूप होता है। अतः आकाङ्क्षा होती है किस से परे रहते ? इस सन्दर्भ में "आद् गुणः" से 'आत्', तथा "उपसर्गाद् ऋति धातौ" से 'उपसर्गाद्' एवं 'धातौ' की अनुवृत्ति करने पर सूत्रार्थ पूरा होता है—"अवर्णान्त उपसर्ग (आत्, उपसर्गात्) के अनन्तर 'ए तथा ओ'-वर्णों से आरम्भ होनेवाले (तदादि-विधि) धातुओं के रहने पर पूर्व और पर-वर्ण दोनों मिलकर केवल परवर्ण के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।" पररूप-सन्धि वृद्धि का बाध करती है। **उदाहरण**—१—प्र+एजते (अ+ए = ए)<प्र् एजते = प्रेजते। अर्थ—अधिक काँपता है। २—उप+ओषति (अ+ओ = ओ)<उप् ओषति = उपोषति। अर्थ—उपवास करता है।

प्रकृत सूत्र में "वा सुप्यापिशलेः" ६-१-९२ सूत्र से 'वा' तथा 'सुपि' इन दो पदों की अनुवृत्ति लाकर वाक्यभेद द्वारा 'ए' तथा 'ओ' से आरम्भ होने वाले नाम-धातुओं में भी विकल्प से पररूप की युक्तता बतलाई जा रही है। तदनुसार १—उप+एडकीयति<उपेडकीयति (पररूप)। पक्ष में वृद्धि—उपैडकीयति। अर्थ—मेंढक की तरह आचरण करता है। २—प्र+ओधीयति< प्रोधीयति (पररूप)। पक्ष में वृद्धि—प्रौधीयति। **अर्थ**—प्रवाह की तरह आचरण करता है।

(वा०) पद—एवे, च, अनियोगे। **अनुवृत्ति**—आत्। **पररूप-विधि**। **अर्थ**—अकारान्त शब्द के अनन्तर अनिश्चयार्थक 'एव' शब्द रहने पर 'पररूप' एकादेश होता है। इसके विपरीत निश्चयार्थक 'एव' शब्द के रहने पर 'वृद्धि' होगी। **उदाहरण**—क्व+एव = क्वेव भोक्ष्यसे (पररूप)। अर्थ—कहाँ भोजन करोगे ? अर्थात् भोजन करने के विषय में कोई निश्चय नहीं है। **प्रत्युदाहरण**—वार्तिक में 'अनियोग' पद से अनिश्चयार्थक 'एव' शब्द में ही पररूप का विधान होने से तव+एव = 'तवैव' में वृद्धि हुई। अर्थ—तुम्हारे ही यहाँ (भोजन करूँगा)। यहाँ 'एव' पद निश्चयार्थक है।

विशेष—१—'पररूप' = पश्चाद्वर्ती वर्ण का रूप। पूर्व-वर्ण+पश्चात् रहने वाला वर्ण=पश्चाद्वर्ती

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किम् ? तवैव। (७९) **अचोऽन्त्यादि टि १।१।६४॥** अचां मध्ये योऽन्त्य सः आदिर्यस्य तट्टिसंज्ञं स्यात्। 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' (वा ३६३२)। तच्च टेः। शकन्धुः। कर्कन्धुः। कुलटा। 'सीमन्तः केशवेशे' (वा ३६३३) सीमान्तोऽन्यः। मनीषा। हलीषा। लाङ्गलीषा। पतञ्जलिः। 'सारङ्गः पशुपक्षिणोः' (ग १३६)। साराङ्गोऽन्यः। आकृतिगणोऽयम्। मार्तण्डः। 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' (वा ३६३४)। स्थूलोतुः—

वच्छेदः। तदन्यस्मिन्नर्थे यः एवशब्दस्तस्मिन्नकारात् परे पूर्वपरयोः पररूपमेकादेशः। क्वेव भोक्ष्यस इति। अत्रेति न निश्चिनुम इत्यर्थः। क्र एव इति स्थिते वृद्धिं बाधित्वा अनेन वार्तिकेन पररूपमेकारः। अनवक्लृप्ताविति। अनवधारणे इत्यर्थः। तवैवेति। नान्यस्येत्यर्थः। अत्र एवशब्दस्य अवधारणार्थत्वात् न तस्मिन् परे पररूपम्।

(७९) अथ क्वचित् टेः पररूपं विधातुं टिसंज्ञामाह—अचोऽन्त्यादि हि। अच इति निर्धारणे षष्ठी। जातावेकवचनम्। अन्ते भवः अन्त्यः, अन्त्यः आदिः यस्य तत् अन्त्यादीति विग्रहः। फलितमाह—अचां मध्य इत्यादिना। शकन्ध्वादिष्विति। शकन्ध्वादिषु विषये तत्सिद्ध्यर्थं पूर्वपरयोः पररूपं वक्तव्यमित्यर्थः। ततश्च शकादिशब्दानां टेरचि परे टेश्च परस्याचश्च स्थाने पररूपमेकादेश इत्यर्थाल्लभ्यते। आदित्यनुवृत्तौ शकन्ध्वादिगणे सीमन्त इत्यादिकतिपयरूपाणामसिद्धेः। तदाह—तच्च टेरिति। शकन्ध्वादिगणं पठति—शकन्धुरित्यादिना। शकानां देशविशेषाणाम् अन्धुः कूप इति विग्रहः। शक अन्धुः इति स्थिते सवर्णदीर्घे प्राप्ते अनेन पररूपम्। अत्र शकशब्दे द्वावचौ। तत्र अन्त्यः अच् ककारादकारः, तदादिः अकार एव, 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति वचनात्। एवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम्। कर्कन्धुरिति। कर्कीणां राज्ञाम् अन्धुरिति विग्रहः। कर्क अन्धुः इति स्थिते पररूपम्। कुलटेति। अट गतौ। पचाद्यच्, टाप्। कुलानाम् अटेति विग्रहः। भिक्षार्थं व्यभिचारार्थं वा या गृहानटति सा कुलटा। कुलान्यटतीति विग्रहे तु कर्मण्यणि टिड्ढाणञिति ङीप् स्यात्। कुल अटेति स्थिते पररूपम्। सीमन्तः केशवेशे इति। गणान्तर्गतवार्तिकमेतत्। केशानां वेशः

वर्ण। तदनुसार इस सन्धि में पूर्व-वर्ण अपने अस्तित्व को पूर्णतः आत्मसमर्पित कर देता है। कारण यह है कि अनन्तर रहने वाले वर्ण सन्ध्यक्षर हैं। वे सामान्य वर्णों की अपेक्षा बलवान् हो जाते हैं। आदेश नये वर्ण के रूप में नहीं होता। २—प्रकृत सूत्र में "एङ्येङ्" (एङि+एङ्)—इस तरह शब्द-योजना करने पर संक्षेप में कार्य हो सकता था। अर्थ भी स्वयं सिद्ध हो जाता—"अवर्णान्त शब्दों के अनन्तर 'ए', 'ओ' वर्णात्मक धातुओं के रहने पर पूर्वपर के स्थान में क्रमशः 'ए', 'ओ' आदेश होते हैं।" तथापि आगे के सूत्रों में अनुवृत्ति ले जाने के लिये 'पर' ग्रहण किया गया है। 'रूप' ग्रहण स्पष्टार्थक है।

(७९) पद—अचः, अन्त्यादि, टि। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—सब अचों में जो अन्त्य 'अच्', वह जितने समुदाय का आदि है, उस समुदाय (भाग) की 'टि' संज्ञा होती है। (वा०) शकन्ध्वादि शब्दों में पररूप जाना जाय। वह भी 'टि' संज्ञक वर्णों का। शकन्धुः। कर्कन्धुः। कुलटा (वा०) केश-प्रसाधन अर्थ में 'सीमन्तः'। भिन्न अर्थ में 'सीमान्तः'। मनीषा। हलीषा। लाङ्गलीषा। पतञ्जलिः। (वा०) पशु-पक्षी अर्थ में 'सारङ्गः'। भिन्न अर्थ में साराङ्गः। यह आकृतिगण है। मार्तण्डः। 'ओतु' तथा 'ओष्ठ'-शब्दों के परे रहते समास में विकल्प से पररूप होता है। स्थूलोतुः—स्थूलौतुः। बिम्बोष्ठः—बिम्बौष्ठः। समास में क्यों कहा ? तवौष्ठः।

सन्दर्भ—कार्य-वश 'टि'—संज्ञा का निर्वचन किया जा रहा है।

विवरण—**संज्ञा**—'टि'। **संज्ञी**—'अचोऽन्त्यादि'। सूत्र अपने में सार्थक है। संज्ञी 'समुदाय' का बोधक है। उस समुदाय का स्वरूप अचः, अन्त्यादि पदों के द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है। तदनुसार अच्-वर्णों में ('अचः' पद निर्धारणार्थक षष्ठी विभक्ति में प्रयुक्त हुआ है) जो अन्तिम अच

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्निवेशविशेषः। तस्मिन् गम्ये सीमन्शब्दस्य टेरन् इत्यस्य अन्तशब्दस्यावर्णस्य च स्थाने पररूपमित्यर्थः। आदित्यनुवृत्तौ तु इदं न सिध्येत्। सीमान्तोऽन्य इति। ग्रामान्त-प्रदेशः इत्यर्थः। मनीषेति। मनस ईषेति विग्रहः। अत्र अस् इति टेः ईकारस्य स्थाने पर-रूपमीकारः। इष गतौ। 'गुरोश्च हलः' इत्यप्रत्ययः। टाप्। 'बुद्धिर्मनीषा' इत्यमरः। हलीषेति। 'ईषा लाङ्गलदण्डः स्यात्' इत्यमरः। हलस्य ईषेति विग्रहः। करिकलभ इतिवत् पुनरुक्तिः समाधेया। अत्र गुणे प्राप्ते पररूपम्। एवं लाङ्गलीषेत्यत्रापि। पतञ्जलिरिति। पतन् अञ्जलिर्यस्मिन्नमस्कार्यत्वादिति विग्रहः। अत्र अत इति टेः अकारस्य च स्थाने पररूपमकारः। केचित्तु, गोनर्दाख्यदेशे कस्यचिद्दृषेः सन्ध्योपासनसमये अञ्जलेर्निर्गत इत्यैतिह्यात् अञ्जलेः पतन्निति विगृह्णन्ति। मयूरव्यंसकादित्वात् समासः। सारङ्गः पशु-पक्षिणोरिति। इदमपि गणान्तर्गतं वार्तिकम्। भाष्ये तु न दृश्यते। सारशब्द उत्कृष्टे। 'सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबे वरे त्रिषु' इत्यमरः। साराणि अङ्गानि यस्येति विग्रहः। सार अङ्ग इति स्थिते सवर्णदीर्घे प्राप्ते अनेन पररूपम्। 'चातके हरिणे पुंसि सारङ्गः शबले त्रिषु' इत्यमरः। आकृतिगणोऽयमिति। आकृत्या एवंजातीयकतया निर्णेत-व्योऽयं गण इत्यर्थः। लोकप्रयोगानुसारेण एवं जातीयकाः शब्दाः अस्मिन् गणे निवेश-नीया इति यावत्। तत्फलमाह—मार्तण्ड इति। मृतम् अण्डं यस्य सः मृतण्डः कश्चिद्दृषिः।

('अन्त्य' का अर्थ—अन्त में रहने वाला 'अन्ते भवः'), वह जिसके आदि में है—ऐसा शब्दसमुदाय (अन्त्यः आदिर्यस्य शब्दस्वरूपस्य तत्-'अन्त्यादि') 'टि' संज्ञक होता है। 'टि' संज्ञक-वोध्यभाग 'मनस्'—शब्द में 'अस्'—समुदाय है। यहाँ अन्त्य 'अच्'—'न' कारोत्तरवर्ती अकार है, वह 'स्' के आदि में है, अतः उसके सहित शब्दस्वरूप 'अस्' हुआ। उसको 'टि' संज्ञा हुई। जहाँ अन्तिम 'अच्' के अनन्तर कोई व्यञ्जन नहीं होगा वहाँ उसी वर्ण को व्यपदेशिवद्भाव से 'टि' समझा जायगा। जैसे 'शक' में ककारोत्तरवर्ती अकार।

(वा०) १. पद—शकन्ध्वादिषु, पररूपं, वाच्यम्। **अनुवृत्ति**—अचि। **पररूपविधि**। **अर्थ**—'शकन्धु' आदि शब्दों के विषय में पररूप एकादेश होता है। यह पररूप 'मनीषा' तथा 'पतञ्जलि' शब्दों की सिद्धि को अभिलक्षित कर केवल अवर्ण से 'अच्' परे रहते ही नहीं होता, किन्तु 'टि' संज्ञक वर्णसमुदाय के अनन्तर 'अच्'—वर्ण के रहते पररूप होता है। **उदाहरण**—१—शक +अन्धुः (अ+अ = अ) <शक्+अन्धुः = शकन्धुः। अर्थ—शकों का कुआँ। २—कर्क+अन्धुः कर्कन्धुः (अ+अ = अ)। अर्थ—कर्क द्वारा निर्मित कुआँ। ३—कुल+अटा (अ+अ = अ) <कुलटा। विग्रह-कुलस्य अटा। अर्थ—दुराचारिणी स्त्री। **(ग०)** केश-प्रसाधन अर्थ में ही पररूप होता है, अन्यत्र नहीं। ४—अतः सीमन्+अन्तः (अन् 'टि' + अ = अ) <सीमन्तः—पररूप। अर्थ—संस्कार-विशेष। इससे भिन्न सीमा (छोर) अर्थ में सवर्ण-दीर्घ—सीम+अन्तः <सीमान्तः। ५—मनस्+ईषा <मनीषा (अस्-'टि'+ई = 'ई' पररूप)। अर्थ—बुद्धि। ६—हल + ईषा <हलीषा (अ+ई = 'ई' पररूप)। अर्थ—हल का डंडा। ७—पतत्+अञ्जलिः <पतञ्जलिः (अत्-'टि'+अ = 'अ'—पररूप)। विग्रह—पतन् अञ्जलिः यस्मिन् सः। अर्थ—व्याकरण-महाभाष्य-प्रणेता ऋषि। (ग) ८—पशु और पक्षी अर्थ में सार+अङ्गः <सारङ्गः (अ+अ ='अ' पररूप)। विग्रह—साराणि अङ्गानि यस्य सः। अर्थ—(पशु) हिरन, पक्षी—चातक। पशु-पक्षी से भिन्न अर्थ में सवर्ण दीर्घ—सार+अङ्गः = साराङ्गः। अर्थ—बलशाली। शकन्ध्वादि-गण में शब्दों का परिगणन नहीं किया गया है। आकृतिगण स्वीकार करने से गण में पढ़े हुए शब्दों के अतिरिक्त समान-कार्य वाले अन्य शब्दों का समावेश हो जाता है[1]। अतः 'मार्तण्ड' शब्द में भी पररूप की कल्पना की जाती है। ९—मृतण्ड का पुत्र (मृतण्डस्य अपत्यम्)—इस अर्थ में 'अण्'

---

१. आकृत्या गण्यते इति आकृतिगणः। प्रयोगतः अनुसर्तव्यो गणः इत्यर्थः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थूलौतुः। बिम्बोष्ठः—विम्बौष्ठः। 'समासे' किम्। तवौष्ठः। (८०) **ओमाङोश्च ६। १। ९५॥** ओमि आङि च आत्परे पररूपमेकादेशः स्यात्। शिवायों नमः। शिव एहि—शिवेहि। (८१) **अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ ६। १। ६८॥** ध्वनेरनुकरणस्य

मृत अण्ड इति स्थिते सवर्णदीर्घं बाधित्वा अनेन पररूपम्। ततः अपत्ये अणि मार्तण्डः। 'परं मार्ताण्डमास्थत्' इति सवर्णदीर्घस्तु छान्दसः। ओत्वोष्ठयोः। अवर्णात् ओतुशब्दे ओष्ठशब्दे च परे पूर्वपरयोः पररूपं वक्तव्यमित्यर्थः। स्थूलोतुरिति। 'ओतुर्विडालो मार्जारः' इत्यमरः। स्थूल ओतुः इति स्थिते वृद्धिं बाधित्वा पाक्षिकं पररूपम्। विम्बोष्ठ इति। बिम्बफलवत् रक्तवर्णौ ओष्ठौ यस्येति विग्रहः।

(८०) ओमाङोश्च। ओम् च आङ् चेति विग्रहः। आदिति पररूपमिति चानुवर्तते, एकः पूर्वपरयोरिति च तदाह—ओमित्यादिना। शिवायों नम इति। अत्र वृद्धिं बाधित्वा पररूपम्। शिवेहीति। आ इहीति स्थिते गुणे एहीति। ततः शिव एहि इति स्थिते वृद्धिं बाधित्वा पररूपमेकारः। न च शिव आ इहीति स्थिते सवर्णदीर्घे कृते पश्चाद् गुणे शिवेहीति रूपसिद्धेराङ्ग्रहणं व्यर्थमिति वाच्यम्, 'धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्' इति न्यायेन प्रथमम् आद्गुण इति गुणे कृते शिव एहीति स्थिते वृद्धौ प्राप्तायां तन्निवृत्त्यर्थत्वात्। भाष्ये तु आ ऋश्यात्, गुणः, अर्श्यात्। अद्य अर्श्यात् अद्यर्श्यादित्यत्र सवर्णदीर्घनिवृत्त्यर्थम् आङ्ग्रहणमिति स्थितम्।

(८१) अव्यक्तानुकरणस्य। पररूपमित्यनुवर्तते। अव्यक्तः अस्फुटवर्णविभागः वृक्षपतनादिजनितध्वनिः। तस्यानुकरणं तत्प्रतिपादकस्तसदृशः अपरिस्फुटवर्णविभागः शब्दस्यावयवः यः अत् शब्दः तस्मात् इति शब्दे परे अत्शब्दस्य इकारस्य च पररूपं

प्रत्यय होने के पूर्व मृत+अण्ड=मृतण्ड—पररूप। पश्चात् अण् तथा आदि-वृद्धि करने पर 'मार्तण्डः' रूप निष्पन्न होता है। अन्यथा 'मार्ताण्डः' रूप बनता।

(वा०) अर्थ—अवर्ण के अनन्तर सामासिक 'ओतु' तथा 'ओष्ठ' शब्द-सम्बन्धी 'ओ' रहे तो वहाँ पररूप विकल्प से होता है। १०-११ पक्ष में वृद्धि होकर दो रूप बनेंगे। स्थूल+ओतुः <स्थूलोतुः (पररूप)। एवं स्थूलौतुः (वृद्धि)। विग्रह-स्थूलश्वासौ ओतुश्च। अर्थ—मोटी बिल्ली। बिम्ब+ओष्ठः <विम्बोष्ठः (पररूप)। बिम्बौष्ठः (वृद्धि)। विग्रह—बिम्बवद् ओष्ठौ यस्य। अर्थ—बिम्ब-फल (कुंदरू) के समान होंठ। प्रत्युदाहरण—समास ग्रहण न करने पर तव+ओष्ठः <तवौष्ठः में भी विकल्प से पररूप हो जाता, क्योंकि यहाँ समास नहीं है। वह न हो। अतः समास-ग्रहण की सार्थकता है। केवल वृद्धि हुई। अर्थ—तुम्हारा होंठ।

विशेष—दीर्घ तथा वृद्धि-संधियों का पररूप बाध करता है।

(८०) पद—ओमाङोः, च। अनुवृत्ति—आत्, पररूपम्। विधिसूत्र।

मूलार्थ—अवर्ण के अनन्तर 'ओम्' तथा 'आङ्' रहने पर पररूप होता है।

विवरण—अनुवृत्त 'आत्' पद-बोध्य 'अवर्ण' तथा 'ओम्' का 'ओ' एवम् 'आङ्' शब्दावयव 'आ' स्थानी हैं। दोनों मिलकर एक-वर्णात्मक-आदेश के रूप में परिवर्तित (पररूप) हो जाते हैं। इन दोनों में पूर्व-परभाव रहता है। तदनुसार उदाहरण—१—शिवाय+ओं नमः <शिवायों नमः (पररूप—अ+ओ=ओ)। २—शिव+आ+इहि—इस स्थिति में दीर्घ (अ+आ) तथा (आ+इ) गुण दोनों की प्राप्ति है। <शिव+एहि (आ+इ=ए) अन्तरंग होने के कारण गुण, <शिवेहि (अ+ए=ए)—यहाँ पूर्वान्तवद्भाव से (एहि=आ+इहि) 'आङ्' का आरोप होने के कारण पररूप हुआ।

विशेष—यह कार्य भी वृद्धि तथा दीर्घ-सन्धि का बाध करता है।

(८१) पद—अव्यक्तानुकरणस्य, अतः, इतौ। अनुवृत्ति—पररूपम्। विधिसूत्र।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योऽच्छब्दस्तस्मादितौ पररूपमेकादेशः स्यात्। पटत् इति—पटिति। 'एकाचो न' (वा ३६३७)। श्रदिति। (८२) **नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा ६।१।९९॥** आम्रेडितस्य प्रागुक्तं न स्यात्। अन्त्यस्य तु तकारमात्रस्य वा स्यात्। 'डाचि बहुलं द्वे भवतः' (वा

स्यादित्यर्थः। अत्र इति शब्दे यः प्रथम इकारः तस्मिन्परे इति व्याख्येयम्। अन्यथा इतिशब्दस्य कृत्स्नस्यादेशप्रसङ्गात्। तदाह—ध्वनेरित्यादिना। अत्र अलोऽन्त्यस्येति न भवति 'नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिः' इति निषेधात्। पटत् इतीति प्रक्रियावाक्यप्रदर्शनम्। न तु पररूपाभावपक्षे रूपमिति भ्रमितव्यम्, अत्र पररूपस्य नित्यत्वात्। असंहितायां निर्देशो वा। पटितीति। उदाहरणमेतत्। वृक्षः पतित इत्याद्यध्याहार्यम्। अत्र अनेकाज्-ग्रहणं कर्तव्यमिति वार्तिकमर्थतः सङ्गृह्णाति—एकाचो नेति। एकः अच् यस्य सः एकाच् तथाभूतस्यानुकरणस्य उक्तं पररूपं नेत्यर्थः। श्रदितीति। अत्र एकाच्त्वात् न पररूपम्।

(८२) ननु पटत्पटत् इति इत्यत्र पटत्पटेति रूपमिष्यते। तत्राव्यक्तानुकरणस्येति पररूपं पटत्पटिति इत्येव स्यात्। अत्राह—नाम्रेडितस्य। अव्यक्तानुकरणस्यात् इताविति, पररूपमिति, एकः पूर्वपरयोरिति चानुवर्तते। आम्रेडितस्य अव्यक्तानुकरणस्य अवयवः यः अत्शब्दः तस्य इति शब्दे पररूपं न स्यात्। अन्त्यस्य तु वा। तुरवधारणे। अत्शब्दा-न्तस्य तकारस्यैव इकारस्य च पररूपं वा स्यात्। नत्वकारस्यापीत्यर्थः। तदाह—आम्रेडितस्य प्रागुक्तमित्यादिना। ननु पटत् पटत् इत्यत्र कथं द्वित्वमित्यत आह—डाचीति। 'डाचि बहुलं द्वे भवतः' इति द्वित्वमित्यन्वयः। ननु 'अव्यक्तानुकरणात् द्व्यजवरार्धा-दनितौ डाच्' इति डाचः कथमिह सम्भवः, इतिशब्दे परतस्तत्पर्युदासः स्यादित्यत आह—

मूलार्थ—ध्वनि के अनुकरण-सम्बन्धी 'अत्' शब्द के अनन्तर 'इति' शब्द के रहने पर पर-रूप-एकादेश होता है। पटत् इति = पटिति। वा० एकाच् रहने पर नहीं। श्रदिति।

विवरण—सूत्र में प्रयुक्त 'अव्यक्त'—पद ध्वन्यात्मक-शब्द को अभिलक्षित करता है[1]। 'ध्वनि' के सदृश किये गये उच्चारण को 'अनुकरण' कहते हैं (अव्यक्तं च तदनुकरणं च, तस्य)। तदनुसार किसी वस्तु के गिरने पर उस ध्वनि के अनुकरण-वाची 'अत्' शब्द के अनन्तर 'इति' शब्द के रहने पर पूर्व (अत्) तथा पर वर्ण (इ) दोनों मिलकर परवर्ण के रूप में एकरूप हो जाते हैं। **उदाहरण**—पटत्+इति (अत्+इ = इ) <पट्+इति <पटिति। अर्थ—'पटत्' इस ध्वनि का अनुकरण। (वा०) **पद**—एकाचः, न। **विधि** (निषेध)। अर्थ—सूत्रोक्त अव्यक्त-ध्वनि के अनुकरण-वाची—एक 'अच्' वाले पद में पररूप का निषेध किया जा रहा है। **उदाहरण**—श्रत्+इति <श्रद्+इति <श्रदिति—यहाँ पर 'श्रत्' शब्द में केवल एक 'अच्' (अ) रहने के कारण पररूप नहीं हुआ। यथाप्राप्त जश्त्व-सन्धि—त् = द्। अर्थ—'श्रत्' ध्वनि का अनुकरण।

(८२) **पद**—न, आम्रेडितस्य, अन्त्यस्य, तु, वा। **अनुवृत्ति**—अव्यक्तानुकरणस्य, इतौ, अतः, पररूपम्। **विधिसूत्र** (विकल्प)।

मूलार्थ—आम्रेडित-संज्ञक को पूर्वोक्त कार्य नहीं होता। केवल 'अत्' के 'त्' को पररूप विकल्प से होता है। 'डाच्' परे रहते 'वार्तिक' में बहुल ग्रहण करने से पक्ष में द्वित्व हुआ।

विवरण—पूर्व सूत्र में वर्णित पररूप का विशेष अवस्था में निषेध किया जा रहा है। इस सूत्र में दो बातों का विधान है। (१) एक तो अनुकरणात्मक आम्रेडित-संज्ञक (अव्यक्तानुकरणस्य) शब्द के अवयव 'अत्' भाग से (अतः) 'इति' शब्द परे रहते (इतौ) पररूप का निषेधात्मकविधान (न, आम्रेडितस्य), (२) दूसरा आम्रेडितसंज्ञक शब्द के अन्तिम-वर्ण ('त्') का विकल्प से पररूप-

---

१. शब्दो द्विधा—ध्वन्यात्मको, वर्णात्मकश्च। तत्राद्यो मृदङ्गादीनाम्। द्वितीयोऽस्मदादीनाम्। अव्यक्तपदेन चेह ध्वनिरेवाभिधीयते।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४६९७) इति बहुलग्रहणात् द्वित्वम् । (८३) तस्य परमाम्रेडितम् ८ । १ । २ ॥ द्विरुक्तस्य परं रूपमाम्रेडितसंज्ञं स्यात् । पटत्पटेति । (८४) झलां जशोऽन्ते ८।२।३९ ॥ पदान्ते झलां जशः स्युः । पटत्पटदिति । (८५) अकः सवर्णे दीर्घः ६ । १ । १०१ ॥

बहुलग्रहणमिति । वेत्यनुक्त्वा बहुलग्रहणमधिकविधानार्थम्, बहूनर्थान् लाति गृह्णातीति तद्व्युत्पत्तेरिति भावः । अभियुक्ता आहुः—'क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव । शिष्टप्रयोगाननुसृत्य लोके विशेषमेतत् बहुलग्रहे तु' इति ।

(८३) ननु किमाम्रेडितं नाम ? तत्राह—तस्य परमाम्रेडितम् । 'सर्वस्य द्वे' इत्यनन्तरमिदं सूत्रं पठ्यते । ततश्च तस्येत्यनेन द्विरुक्तस्येति लभ्यते । अवयववाचिपरशब्दप्रयोगे अत एव ज्ञापकात् षष्ठी । तदाह—द्विरुक्तस्येत्यादिना पटत्पटेतीति । पटत् पटत् इति स्थिते तकारस्य इकारस्य च पररूपम् इकारः । ततश्च आद्गुणः ।

(८४) अथ पररूपाभावपक्षे पटत्पटत् इतीत्यत्र तकारस्य दकारं विधत्ते—झलां जशोऽन्ते । पदस्येत्यधिकृतम् । तदाह—पदान्ते इति । पटत्पटदितीति । स्थानसाम्यात् तकारस्य दकारो जशिति भावः । अत्र अत्शब्दस्य पूर्वसूत्रेण पररूपापत्तौ पटत्पटितीति स्यादिति ध्येयम् ।

(८५) अकः सवर्णे । अक इति पञ्चमी । इको यणचीत्यतः अचीत्यनुवर्तते । एकः पूर्वपरयोरित्यधिकृतम् । तदाह—अकः सवर्णेऽचीत्यादिना । दैत्यारिरिति । दैत्य अरिः इति स्थिते

विधान (अन्त्यस्य तु वा) । इन दोनों विधानों में सूत्रार्थ की पूर्णता के लिये इससे पहले सूत्र के वर्ण्य-विषय का अनुसरण किया गया है । उसके अतिरिक्त इस विधान में अनुकरण-वाची शब्द के द्वित्व होने पर उसके दूसरे रूप (आम्रेडित) की अपेक्षा है । इसका स्वरूप अगले सूत्र में बतलाया गया है ("तस्य परमाम्रेडितम्") । अनुकरण-वाची शब्द में द्वित्व की व्यवस्था के लिये यह स्मरण कराया जा रहा हैं कि यद्यपि द्वित्व का विधान 'डाच्' प्रत्यय की विवक्षा में होता है तथापि उस वार्तिक में 'बहुल' पद का प्रयोग होने से 'डाच्' प्रत्यय के न होने पर भी द्वित्व हो जाता है ।

(८३) **पद**—तस्य, परम्, आम्रेडितम् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—द्वित्व के रूपो में दूसरे रूप की 'आम्रेडित' संज्ञा होती है । पटत्पटेति ।

सन्दर्भ—विधान में उपयोगी आम्रेडित-संज्ञा का निर्वचन किया जा रहा है ।

विवरण—"सर्वस्य द्वे" (८-१-१) के अधिकार-क्षेत्र में इस सूत्र से आम्रेडित संज्ञा की जा रही है । अतः 'तत्' शब्द से पहली बात (द्वित्व) की ओर संकेत किया गया है । तदनुसार किसी शब्द को दो बार कहने पर दूसरी बार का उच्चरित शब्द (पुनरुक्त) 'आम्रेडित' कहलायेगा ।

उदाहरण—पटत् पटत्+इति—'पटत्' शब्द को द्वित्व होने पर दूसरे 'पटत्' शब्द की आम्रेडित-संज्ञा, <पटत्पट+इति<पटत्पटेति—पहले सूत्र से प्राप्त 'अत्' पद के पररूप का निषेध तथा केवल 'त्' को विकल्प से पररूप करने के पश्चात् गुण हुआ ।

(८४) **पद**—झलां, जशः, अन्ते । **अनुवृत्ति**—पदस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पद के अन्त में 'झल्'-वर्णों के स्थान में 'जश्' प्रत्याहार-बोध्य वर्ण होते हैं ।

विवरण—'पदस्य' का अधिकार है । अतः पद के अन्त में विद्यमान 'झल्'-(पाँचो वर्गों में पञ्चम वर्णों के अतिरिक्त सब व्यञ्जन तथा ऊष्म-वर्ण) के स्थान में 'जश्' (तृतीय-व्यञ्जन-वर्ण) आदेश होता है । **उदाहरण**—पटत्पटत्+इति<पटत्पटद्+इति = पटत्पटदिति । पररूप के न होने पर दूसरे 'पटत्' शब्द के अवयव ('झल्') 'त्' (पद के अन्त में होने से) को स्थान-साम्य के कारण 'द्' (जश्) आदेश हुआ ।

(८५) **पद**—अकः, सवर्णे, दीर्घः । **अनुवृत्ति**—अचि । **विधिसूत्र** ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकः सवर्णेऽचि परे दीर्घ एकादेशः स्यात्। दैत्यारिः। श्रीशः। विष्णूदयः। 'अचि' किम्? कुमारी शेते। 'नाज्झलौ' (सू १३) इति सावर्ण्यनिषेधस्तु न दीर्घशकारयोः। ग्रहणकशास्त्रस्य सावर्ण्यविधिनिषेधाभ्यां प्रागनिष्पत्तेः। 'अकः' किम्? हरये। 'अकोऽकि दीर्घः' इत्येव सुवचम्। 'ऋति सवर्णे ऋ (ॠ) वा' (वा ३६४०)। होतॄकारः—होतृकारः। लृति सवर्णे 'लृ (ॡ) वा' (वा ३६४१)। होत्ॡकारः। पक्षे ऋकारः सावर्ण्यात्। होतृकारः। 'ऋति (ॠ) ऋ वा' 'लृति

द्वयोरकारयोरेको दीर्घः—आकारः, स्थानसाम्यात्। श्री ईश इति स्थिते ईकारयोरेकः ईकारः। विष्णु उदय इति स्थिते उकारयोरूकारः। अत्राचीत्यनुवृत्तेः किं प्रयोजनमिति पृच्छति—अचि किमिति। कुमारी शेत इति। अचीत्यननुवृत्तौ ईकारस्य शकारस्य च तालु-स्थानविवृतप्रयत्नसाम्येन सवर्णतया तयोर्दीर्घः ईकार एकादेशः स्यात्। तन्निवृत्त्यर्थम-चीत्यनुवर्तनीयमिति भावः। ननु ईकारशकारयोः स्थानप्रयत्नसाम्येऽपि न सावर्ण्यम्, नाज्झलाविति निषेधात्। अतः 'कुमारी शेते' इत्यत्र अकः सवर्ण इत्यस्याप्रसक्तेः अचीत्य-नुवृत्तिर्व्यर्थैवेत्यत आह—नाज्झलाविति। नाज्झलाविति सावर्ण्यनिषेधो वर्णसमाम्नायि-कानामेव, न तु दीर्घप्लुतानामपि। 'आदिरन्त्येन सहेता'इत्यनेन वर्णसम्नायिकानामेव अच्शब्दवाच्यत्वावगमात्। अत ईकारशकारयोः सावर्ण्यात् कुमारी शेते इत्यत्राति-प्रसङ्गः स्यादित्यचीत्यनुवृत्तिरावश्यकीत्यर्थः। ननु वर्णसमाम्नायिकानामेव अच्शब्दवाच्य-त्वेऽपि अच्शब्दोपस्थितेः अकारादिभिः ह्रस्वदीर्घप्लुतानामपि ग्रहणं भवति, अणुदित्सूत्र-बलात्। अत ईकारशकारयोर्न सावर्ण्यप्रसक्तिरित्यनुवृत्तिर्व्यर्थैवेत्यत आह—ग्रहणकेति। अणुदित्सवर्णस्येति ग्रहणकसूत्रं हि लब्धात्मकमेव सत् 'अस्य च्वौ' इत्यादौ प्रवृत्तिमर्हति। नाज्झलाविति प्रवृत्तिदशायां च ग्रहणकशास्त्रमिदं न लब्धात्मकम्। तद्धि सवर्णपदघटित-त्वात् सवर्णपदार्थावगमोत्तरमेव लब्धात्मकम्। सवर्णसंज्ञाविधायकं च तुल्यास्यसूत्रं सामान्यतः स्वार्थं बोधयदपि नाज्झलाविति अपवादविषयं परिहृत्य तदन्यत्रैव पर्यवसानं लब्ध्वा स्वकार्यक्षमतामश्नुते। उक्तं च—'प्रकल्प्यापवादविषयमुत्सर्गोऽभिनिविशते' इति। एवं च अणुदित्सूत्रस्य नाज्झलाविति निषेधसहिततुल्यास्यसूत्रप्रवृत्तेः प्रागलब्धा-

---

मूलार्थ—'अक्' के अनन्तर सवर्ण 'अच्' आने पर दीर्घरूपी एक-आदेश होता है। दैत्यारिः। श्रीशः। विष्णूदयः। 'अच्'-ग्रहण क्यों किया? कुमारी शेते। "नाज्झलौ" सूत्र से विहित सवर्ण-संज्ञा का निषेध 'दीर्घ-ईकार' तथा 'शकार के विषय में नहीं हो सकता, क्योंकि ग्रहणक-शास्त्र की प्रवृत्ति सावर्ण्य तथा उसके निषेध के पूर्व नहीं होगी। सूत्र में 'अकः' क्यों कहा? हरये। 'अक्' के अनन्तर 'अक्' के रहने पर दीर्घ होता है कहने में लाघव है। वा० 'अक्' से सवर्ण-ह्रस्व ऋकार परे रहते विकल्प से 'ॠ' होता है। होतर्ॠकारः। होतॄकारः। वा० 'अक्' से सवर्ण-ह्रस्व लृकार परे रहते विकल्प से 'ॡ' होता है। होत्ॡकारः। पक्ष में सवर्णसंज्ञा होने से होतृकारः। इन दोनों वार्तिकों द्वारा विधेय 'र् ॠ' के बीच में दो रेफ मिलकर एक मात्रात्मक हुए। उनके चारों ओर के अज्-भाग (स्वरांश) की दूसरी एकमात्रा हुई। 'इसी प्रकार' 'ल्ॡ' के बीच में दो लकार हैं। बाकी ऋकार के समान। इन दोनों स्थलों पर "ऋत्यकः" (६-१-१२८) से होने वाला वैकल्पिक प्रकृतिभाव आगे बतलाया जायगा।

सन्दर्भ—यणादि सन्धियों के अनन्तर स्वरसन्धि में प्रमुख दीर्घसन्धि का उपक्रम किया जा रहा है।

विवरण—"एकः पूर्वपरयोः" का अधिकार है। आदेश के रूप में 'दीर्घ' विधेय है। स्थानी—'अक्' (अ, इ, उ, ऋ, ऌ) तथा इनके पश्चाद्वर्ती 'अच्'—वर्ण (सामान्य रूप में स्वर-वर्ण) हैं। ये

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ऌ) ऌ वा' इत्युभयत्रापि विधेयं वर्णद्वयं द्विमात्रम्। आद्यस्य मध्ये द्वौ रेफौ तयोरेका मात्रा, अभितोऽज्भक्तेरपरा। द्वितीयस्य तु मध्ये द्वौ लकारौ। शेषं प्राग्वत्।

त्मकतया नाज्झलाविति अज्ग्रहणेन दीर्घप्लुतानां ग्रहणाभावेन ईकारशकारयोः सावर्ण्य-निषेधाभावेन सावर्ण्यसत्त्वात् कुमारी शेते इत्यत्र अकः सवर्ण इति प्राप्तौ तन्निवृत्त्यर्थ-मचीत्यनुवृत्तिराश्रयणीयेत्यर्थः। तदेतद् 'नाज्झलाविति सावर्ण्यनिषेधो यद्यपि' इति ग्रन्थ-व्याख्यावसरे प्रपञ्चितम्। अकोऽकि दीर्घ इत्येव सुवचमिति। एवं च सवर्णग्रहणं न कर्तव्य-मिति लाघवम्। दध्युकार इत्यत्र तु यथा संख्याश्रयणान्नातिप्रसङ्गः। ततश्च अचीत्यनु-वृत्तिरपि नाश्रयणीयेति भावः।

'ऋति ऋ वा' इति वार्तिकम्, अकः सवर्ण इत्यतोऽनुवृत्तसवर्णपदेन योजयित्वा पठति—ऋति सवर्णे ऋ वा। अक इत्यनुवर्तते। एकः पूर्वपरयोरिति च। अकः सवर्णे ऋति परे पूर्वपरयोः ऋ इत्येकादेशः स्यादित्यर्थः। होतृकार इति। होतृ ऋकार इति स्थिते अनेन द्वयोः ऋकारयोः स्थाने ऋकारविलक्षणो नृसिंहवत् द्व्यन्तरात्मा ऋकारः रेफद्वयवान् कश्चिद्वर्णो भवति। एतदभावपक्षे रूपं दर्शयति—होतृकार इति। अकः सवर्णे इति दीर्घः। ऌति सवर्णे ऌवा। अकः सवर्णे ऌति परे पूर्वपरयोः ऌ इत्येकादेशो वा स्यादित्यर्थः। होत्ऌकार इति। होतृ ऌकार इति स्थिते ऋकारस्य ऌकारस्य च स्थाने नृसिंहवत्द्व्यन्त-रात्मा ऌकारः द्विलकारवान् कश्चिद्वर्णो भवति। पक्ष इति। उक्तद्व्यन्तरात्मकवर्णाभावपक्षे ऋकारस्य ऌकारस्य च स्थाने अकः सवर्ण इति दीर्घो भवन् ऋऌवर्णयोरिति सावर्ण्या-दृकार एव भवति, ऌकारस्य दीर्घाभावादिति भावः। अत एव होतृ ऌकार इत्यत्र सवर्ण-दीर्घपक्षे होतृकार इत्येवोदाहृतं भाष्ये। अथ ऋति ऋ वा, ऌति ऌ वेत्यत्र विधेयवर्ण-स्वरूपं विविनक्ति—ऋति ऋ वा ऌति ऌ वेत्युभयत्रापि विधेयं वर्णद्वयं द्विमात्रमिति। तदेवोप-

---

दोनों परस्पर मिलकर 'दीर्घ' रूप में एकाकार हो जाते हैं। क्रमशः उदाहरण—१—दैत्य+अरिः <दैत्य् आ रिः = दैत्यारिः (अ+अ = आ) २—श्री+ईशः <श्र्+ई+ईशः=श्रीशः (ई+ई=ई)। ३—विष्णु+उदयः <विष्ण् ऊदयः = विष्णूदयः (उ+ऊ=ऊ)। 'अक्' के पश्चात् सवर्ण ऋकार एवं 'अक्' के पश्चात् दूसरे सवर्ण ऌकार के रहने पर विकल्प से नए वर्ण का विधान वार्तिककार के मत में होता है। तदनुसार दो वार्तिकों का अभ्युत्थान किया जा रहा है।

(वा०) १—पद—ऋति, सवर्णे, 'ॠ' वा। अर्थ—'अक्' के अनन्तर सवर्ण ऋकार के आने पर इन दोनों वर्णों के स्थान पर 'ॠ' आदेश विकल्प से होता है। उदाहरण—४—होतृ+ +ऋकारः <होतॄकारः (ऋ+ऋ = ॠ)। पक्ष में दीर्घ होकर होतृ+ऋकारः = होतृकारः (ऋ+ऋ = ऋ)। अर्थ—होता के द्वारा उच्चारित ऋकार। (वा०) २—पद—ऌति, सवर्णे, ल्ऌ, वा। अर्थ—'अक्' के अनन्तर सवर्ण 'ऌ' के रहने पर दोनों वर्णों के स्थान में विकल्प से 'ल्ऌ' होता है। पक्ष में ऋ—ऌ की सवर्ण-संज्ञा होने से दीर्घ होगा। उदाहरण—५—होतृ+ऌकारः <होत्ल्ऌकारः (ऋ+ऌ = ऌ)। पक्ष में होतृ+ऌकारः = होतॄकारः (ऋ+ऌ = दीर्घ-'ॠ') अर्थ—होता के द्वारा उच्चारित ऌकार। प्रत्युदाहरण—१—प्रकृत सूत्र में 'अच्' ग्रहण की अनुवृत्ति न करनेपर 'कुमारी+शेते' में 'ई' तथा 'श्' दोनों के तालु-स्थान तथा विवार-प्रयत्न समान होने से सवर्ण-संज्ञा प्राप्त होती है। वहाँ दीर्घ की प्रवृत्ति होने लगेगी, क्योंकि "नाज्झलौ" सूत्र द्वारा सवर्ण-संज्ञा का निषेध केवल चतुर्दश माहेश्वर-सूत्रों में पठित ह्रस्व-स्वर तथा व्यञ्जनों में ही प्रवृत्त होने से 'दीर्घ' ईकार के साथ शकार की सवर्ण-संज्ञा प्राप्त होने में किसी तरह बाधा उत्पन्न नहीं हो सकती। अतः दीर्घ-प्राप्ति के निवारणार्थ 'अचि' पद की सार्थकता है। 'शकार' के सवर्ण-अच् न होने के कारण दीर्घ नहीं होता। २—इसी तरह सूत्र में 'अकः' पद के अभाव में 'एच्'-प्रत्याहारान्तर्गत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इहोभयत्रापि 'ऋत्यकः' (सू ९२) इति पाक्षिकः प्रकृतिभावो वक्ष्यते । (८६) **एङः पदान्तादति ६ । १ । १०९ ॥** पदान्तादेङोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । हरेऽव । विष्णोऽव । (८७) **सर्वत्र विभाषा गोः ६ । १ । १२२ ॥** लोके वेदे चैऽन्तस्य गोरति

पादयति—आद्यस्य मध्ये इति । एका मात्रेति । **व्यञ्जनानामर्धमात्रतया एकैकस्य रेफस्य अर्धमात्रत्वादिति भावः ।** अभितोऽञ्जक्तेरिति । **अभित इत्यनन्तरं रेफाविति शेषः । अञ्जक्तेरिति सामान्याभिप्रायमेकवचनम् । रेफद्वयस्य पुरस्तादुपरिष्टाच्च विद्यमानयोः ह्रस्व-ऋकारांशयोरन्या मात्रेत्यर्थः ।** द्वितीयस्य इति । **विधेयस्येति शेषः ।** शेषं प्राग्वदिति । **लकार-योरेका मात्रा, तावभितो विद्यमानयोः लृकारांशयोरन्या मात्रेत्यर्थः । एतच्च तुल्यास्यसूत्रे भाष्यकैयटयोः स्पष्टम् । एतेन दीर्घे प्राप्ते ह्रस्वः ऋकारः लृकारश्चात्र विधीयत इति प्राचीन-ग्रन्थः परास्तः ।** पाक्षिक इति । **वैकल्पिक इत्यर्थः ।** प्रकृतिभाव इति । **निर्विकारस्वरूपेणाव-स्थानमित्यर्थः । सन्ध्यभाव इति यावत् ।**

(८६) एङः पदान्तादति । **'अमि पूर्वः' इत्यतः पूर्व इत्यनुवर्तते । एकः पूर्वपरयोरित्य-धिकृतम् । तदाह**—पदान्तादित्यादिना । **हरे अव इति स्थिते अवादेशं बाधित्वा पूर्वरूप-मेकारः । विष्णो अवेत्यत्र अवादेशं बाधित्वा पूर्वरूपमोकारः ।**

(८७) सर्वत्र विभाषा । **पदान्तादित्यनुवर्तते । 'प्रकृत्यान्तःपादम्' इत्यतः प्रकृत्येत्यनु-**

वर्णों के पश्चात् स्वर-वर्ण आने पर दीर्घ का प्रसंग होने लगेगा । तदनुसार हरे+ए में भी दोनों एकारों के सवर्ण होने से दीर्घ प्राप्त होने लगेगा । उसके निवारणार्थ 'अकः' पद सार्थक है । 'ए'कार 'अक्' नहीं है । अतः दीर्घ नहीं होता । यथाप्राप्त 'अय्'—आदेश हो जाता है ।

विशेष—प्रसङ्गवश दीर्घ-प्रकरण में पठित उपर्युक्त दोनों वार्तिकों से विधीयमान पाक्षिक 'ऋ॒' तथा 'ऌ॒' आदेशों में दो-मात्राओं की कल्पना की जा रही है । उस 'ऋ' के उच्चारण में 'दो रेफ' ('ऋ॒') तथा उनके चारों ओर (मात्रा के रूप में) अच् के सदृश भाग (ऽ) विद्यमान रहता है । इस तरह दो रेफों (व्यञ्जनों) की एक मात्रा तथा अच्-भाग की एक मात्रा (१+१ = २) मिलकर वह द्वि-मात्रिक समझा जाता है । इस विधीयमान वर्ण (ऋ॒) का ईषत्स्पृष्ट-प्रयत्न है । ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत मिलकर जो अठारह प्रकार का 'ऋ' प्रचलित है, उसका **विवार-प्रयत्न** है तथा उसके अन्तर्गत एक ही रेफ है । इसी प्रकार 'ऌ॒' में भी दो मात्रायें जानी जायें तथा उसका प्रयत्न भी **ईषत्स्पृष्ट** माना जाय । 'नृसिंह' के समान यह विचित्र कल्पना है ।

(८६) पद—एङः, पदान्तात्, अति । **अनुवृत्ति**—पूर्वम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पदान्त 'एङ्' के अनन्तर ह्रस्व 'अकार' रहे तो पूर्वरूप एकादेश होता है ।

सन्दर्भ—पररूप के अनन्तर पूर्वरूप-सन्धि का निरूपण किया जा रहा है ।

विवरण—आदेश-विधान के लिये सूत्र में "अमि पूर्वः" (६-१-१०७) से 'पूर्व' (पूर्वरूपम्) की अनुवृत्ति की जाती है । "एकः पूर्वपरयोः" का अधिकार है । अतः पद के अन्त में विद्यमान 'ए' या 'ओ' (एङ्) के अनन्तर ह्रस्व 'अकार' (अति) के आने पर पूर्व तथा पर दोनों वर्ण (ए+अ = ए, अथवा ओ+अ = ओ) मिलकर केवल पूर्व-वर्ण के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं । **उदाहरण**—१—हरे+अव<हर्ए व = हरेऽव (ए+अ = ए) । अर्थ—हे हरे ! (मेरी) रक्षा करो । २—विष्णो+अव<विष्ण्ओ व = विष्णोऽव (ओ+अ = ओ) । अर्थ—हे विष्णो ! रक्षा करो । दोनों उदाहरणों में क्रमशः 'ए' तथा 'ओ' सम्बोधन में 'गुण' होने के फलस्वरूप हुए हैं, एवं पद के अन्तावयव हैं ।

विशेष—(१) 'अय्'-आदि सन्धि का यह बाधक है । (२) पूर्वरूप' में पश्चाद्वर्ती वर्ण की भूतपूर्व स्थिति लुप्ताकार (ऽ) द्वारा दिखाई जाती है ।

(८७) पद—सर्वत्र, विभाषा, गोः । **अनुवृत्ति**—एङः, पदान्तात्, अति, प्रकृत्या । **विधिसूत्र** ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वा प्रकृतिभावः स्यात्पदान्ते । गो अग्रम्—गोऽग्रम् । 'एङन्तस्य' किम् ? चित्रग्वग्रम् । 'पदान्ते' किम् ? गोः । (८८) **अवङ् स्फोटायनस्य ६ । १ । १२३ ॥** 'अति' इति निवृत्तम् । अचि परे पदान्ते गोरवङ् वा स्यात् । गवाग्रम् । 'पदान्ते' किम् ? गवि ।

वर्तते । प्रकृत्या स्वभावेन निर्विकारस्वरूपेण अवतिष्ठत इत्यर्थः । 'यजुष्युर' इत्यतो यजुषीति निवृत्तम् । तत्सूचनाय सर्वत्रेत्युपात्तम् । तेन लोके वेदे चेति लभ्यते । तदाह—लोक इत्यादि । प्रकृतिभाव इति । स्वभावेनावस्थानमित्यर्थः । एवं च पूर्वरूपमवादेशश्च न । गो अग्रमिति प्रकृतिभावे रूपम् । पूर्वरूपे गोऽग्रमिति । अत्र एङ इत्यत्यनुवर्तते । ततश्च 'एकदेशविकृतमनन्यवद्भवति' इति न्यायेन चित्रग्वग्रमित्यत्र नातिप्रसङ्गः । हे चित्रगोऽग्रमित्यत्रापि न प्रकृतिभावः, प्रतिपदोक्तस्यैव एङो ग्रहणात्, प्रकृते च 'ह्रस्वस्य गुण' इत्योकारस्य लाक्षणिकत्वात् । गोरिति । गो अस् इति स्थिते गो इत्योकारस्य पदान्तत्वाभावान्न प्रकृतिभावः । न चैवमपदान्तत्वादेङः पदान्तादिति पूर्वरूपमपि दुर्लभमिति वाच्यम्, अत एव ङसिङसोश्चेति तत्र पूर्वरूपारम्भात् ।

(८८) अवङ् स्फोटायनस्य, अतीति निवृत्तमिति । एङः पदान्तादित्यत इति शेषः, व्याख्यानादिति भावः । पदान्तादिति, गोरिति, अचीति चानुवर्तते । स्फोटायनस्य ऋषेः मते अवङ्, अन्यस्य तु न । ततश्च विकल्पः सिद्धः । तदाह—अचि पर इत्यादिना । डिच्चेत्यन्तादेशः । ग्रवाग्रमिति । गो अग्रमिति स्थिते गकारादोकारस्यावङ् । गव अग्र इति स्थिते सवर्णदीर्घः । न च अग्रशब्दे अकारमचं परत्वेनाश्रित्य प्रवृत्तः अवङ् कथं तद्विघातकं सवर्णदीर्घं प्रवर्तयति, सन्निपातपरिभाषाया अनित्यत्वस्य रामायेत्यत्र वक्ष्यमाणत्वात् । गवीति । गो इ इति स्थिते ओकारस्य पदान्तत्वविरहान्नावङ् । नापि पूर्वसूत्राभ्यां

मूलार्थ—लोक और वेद में एङ्-अन्त 'गो'-शब्द के अनन्तर ह्रस्व अकार के रहने पर विकल्प से प्रकृतिभाव होता है । गो अग्रम्—गोऽग्रम् । एङन्त को क्यों कहा ? चित्रग्वग्रम् । पदान्त में क्यों कहा ? गोः ।

विवरण—सूत्र के पद साकाङ्क्ष हैं । अतः अनुवृत्त पदों की सहायता से सूत्रार्थ पूरा होता है । 'प्रकृतिभाव' का प्रकरण है, क्यों कि "प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे" (६-१-११५) से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति आ रही है । "एङः पदान्तादति" से एङः, पदान्ताद् और अति पद भी अर्थ को पूरा करने में सहायक होते हैं । 'एङः' तथा 'पदान्ताद्' पदों का षष्ठी-विभक्ति में परिवर्तन हो जाता है । तथा ये दोनों शब्द 'गोः' के विशेषण बन जाते हैं । तदनुसार (सर्वत्र) लौकिक एवं वैदिक प्रयोगों में पद के अन्त में विद्यमान एङन्त 'गो' शब्द के अनन्तर ह्रस्व अकार ('अति') रहने पर विकल्प से प्राकृतिक स्थिति रहती है (प्रकृत्या) । अर्थात् वहाँ रूपान्तर (सन्धिजन्य-कार्य) नहीं होता । प्रकृतिभाव न होने पर सन्धिकार्य होगा । **उदाहरण**—१—गो+अग्रम् = गो अग्रम् (ओ+अ = ओ)—यथास्थित रूप । २—विकल्प से होने के कारण पक्ष में 'गोऽग्रम्' (पूर्वरूप—"एङः पदान्तादति") । अर्थ—गायों में उत्तम । **प्रत्युदाहरण**—(१) सूत्र में 'एङन्त'-पद के अभाव में 'चित्रगु+अग्रम्' (चित्रा गावः यस्य सः—बहुव्रीहि समास, ह्रस्व होकर ओ = उ) में 'गो' शब्दावयव 'उ' कार को भी प्रकृतिभाव प्राप्त हो जायगा । 'एङन्त' का समावेश होने पर यहाँ 'ओ' एङ् न होने के कारण प्रकृतिभाव नहीं होता है । अतः यथाप्राप्त 'यण्' आदेश = 'चित्रग्वग्रम्' । अर्थ—चितकबरी गायों का श्रेष्ठ स्वामी । (२) सूत्र में 'पदान्त' पद की सार्थकता 'गो+अस्' ऐसी स्थिति में प्राप्त प्रकृतिभाव का वारण करने के लिये है । यहां 'भ'-संज्ञा होने के कारण 'ओ' पदान्त नहीं है । अतः "ङसिङसोश्च" पूर्वरूप हुआ = गोः ।

(८८) **पद**—अवङ्, स्फोटायनस्य । **अनुवृत्ति**—पदान्ताद्, गोः, अचि । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'अति' पद की निवृत्ति हो जाती है । पदान्त में 'गो'-शब्द के स्थान पर 'अवङ्'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवस्थितविभाषया गवाक्षः । (८९) इन्द्रे च ६।१।१२४ ॥ गोरवङ् स्यादिन्द्रे । गवेन्द्रः ।

प्रकृतिभावपररूपे । किन्तु अवादेशः । अतीत्यनुवृत्तौ तु गवेश इत्यदि न सिध्येत् । व्यवस्थितेति । क्वचित् भवतीत्यंश एव प्रवर्तते, क्वचित्तु न भवतीत्यंश एव, क्वचित्तूभयमित्येवं लक्ष्यानुसारेण व्यवस्था प्रवृत्ता विभाषा व्यवस्थितविभाषा सर्वत्र विभाषा गोरित्यत्राश्रीयते । ततश्च गवाक्ष इत्यत्र नित्यमवङ् इत्यर्थः । इदं च ।

'देवत्रातो गलो ग्राह-इति योगे च सद्विधिः ।
मिथस्तेन विभाष्यन्ते गवाक्षः संशितव्रतः ॥'

इवि 'शाच्छोः' इति सूत्रभाष्ये स्पष्टम् । गवाक्ष इति । गवां किरणानामक्षीवेति विग्रहः । अक्ष्णोऽदर्शनादित्यच् । पुंस्त्वं लोकात् । 'वातायनं गवाक्षः स्यात्' इत्यमरः ।

(८९) इन्द्रे च । गोः, अवङ् । अचीत्यनुवर्तते । तदाह—गोरिति । विकल्पनिवृत्त्यर्थः पुनरारम्भः । गवेन्द्र इति । गो इन्द्र इति स्थिते अवङ्, आद्गुणः ।

आदेश 'अच्'-परे रहते विकल्प से होता है । गवाग्रम् । पदान्त में क्यों कहा ? गवि । व्यवस्थित-विभाषा होने के कारण—गवाक्षः ।

विवरण—अनुवृत्त पदों की सहायता से सूत्रार्थ इस प्रकार है—"पदान्त में विद्यमान 'गो' शब्द के अनन्तर किसी भी स्वर-वर्ण के रहने पर 'गो' शब्द के ओकार के स्थान में ('ङित्' आदेश होने से 'अन्त' के स्थान में) आचार्य स्फोटायन के मत में 'अवङ्' आदेश होता है । अन्य आचार्यों के मत में नहीं । अतः वैकल्पिक विधान माना जाता है । इस सूत्र में "एङः पदान्तादति" से 'अति' पद की अनुवृत्ति नहीं आती । कारण यह है कि अग्रिम सूत्र "इन्द्रे च" (६-१-१२४) के पृथक् विधान करने से उस सूत्र में 'विभाषा' पद का सम्बन्ध नहीं होता । अन्यथा वहाँ भी 'गो' शब्द से 'इन्द्र' शब्द परे रहते "अवङ् स्फोटायनस्य" से 'अवङ्'-आदेश की प्राप्ति थी । यदि "अवङ् स्फोटायनस्य" में 'अति' (ह्रस्व अकार परे रहने) की अनुवृत्ति आती तो 'गो+इन्द्रः' में ह्रस्व अकार परे न होने से "अवङ् स्फोटायनस्य" की प्राप्ति न होने के कारण "पूर्व सूत्र से यहाँ अवङ् हो जाता"—भाष्यकार का यह कथन असंगत रहता । **उदाहरण**—१—गो+अग्रम् <ग् अव+अग्रम् (ओ = अव्) <गवाग्रम् (दीर्घ—अ+अ=आ) । अर्थ—गायों में उत्तम । **प्रत्युदाहरण**—१—'पदान्त' में कहने से 'गो+इ' (ङि) में 'ओ' की भ-संज्ञा होने से 'गो' शब्द के पदान्त में न रहने पर अवङ्-आदेश नहीं हुआ । यथाप्राप्त 'अव्'-आदेश होकर 'गवि' रूप बना । अर्थ—गाय के विषय में । २—'गवाक्षः' में व्यवस्थित विभाषा होने के कारण नित्य 'अवङ्'-आदेश हुआ । विग्रह—गवाम् अक्षि इव । गो+अक्षि+अच् (अ) = गो अक्ष । रचना-प्रक्रिया—गो+अक्षः <ग् अव+अक्षः (ओ = अवङ्) <गवाक्षः (दीर्घ) । अर्थ—झरोखा ।

विशेष—व्यवस्थित विभाषा कहने से यह तात्पर्य है कि कहीं कहीं विकल्प विधान में भावात्मक कार्य की ही प्रवृत्ति मानी जाती है, अभावात्मक की नहीं । अतः गवाक्षः में नित्य अवङ् की प्रवृत्ति होने में कोई दोष नहीं । व्यवस्थित विभाषा छह स्थानों में मान्य है—१—देवत्रातः, २—गलः, ३—ग्राहः, ४—'इति'-शब्द के योग में शतृ-शानच् प्रत्यय, ५—गवाक्षः तथा ६—संशित (व्रत अर्थ) ।[1] इस कारण इन छहों शब्दों के पाक्षिक दूसरे रूप नहीं बनते—१—देवत्राणः, २—गारः, ३—ग्रहः, ४—करोति इति, ५—गो अक्षः या गोऽक्षः तथा ६—संशातः ।

(८९) पद—इन्द्रे, च । **अनुवृत्ति**—गोः, अवङ् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'गो' शब्द के अनन्तर 'इन्द्र' शब्द के रहने पर 'अवङ्' आदेश होता है । गवेन्द्रः ।

विवरण—यदि इन्द्र शब्द परे हो तो 'गो' शब्द के ओकार के स्थान में 'अवङ्' आदेश होता

---

१. देवत्रातो गलो ग्राह इतियोगे च सद्विधिः ।
मिथस्ते न विभाष्यन्ते गवाक्षः संशितव्रतः ॥ शाच्छोरिति सूत्रे महाभाष्यम् ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ प्रकृतिभावः

(९०) प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ६ । १ । १२५ ॥ प्लुताः प्रगृह्याश्च वक्ष्यन्ते, तेऽचि परे नित्यं प्रकृत्या स्युः । एहि कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति । हरी एतौ । 'नित्यम्' इति किम् ? 'हरी एतौ' इत्यादावयमेव प्रकृतिभावो यथा स्यात्, 'इकोऽसवर्णे—(सू ९१) इति ह्रस्वसमुच्चितो मा भूत् । **(९१) इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ६।१।१२७ ॥**

---

(९०) अथ प्रकृतिभाव इति । निरूप्यत इति शेषः । प्लुतप्रगृह्याः । वक्ष्यन्त इति । दूराद्धूते चेत्यादिना ईदूदेदित्यादिना चेत्यर्थः । प्रकृत्येति । प्रकृत्यान्तःपादमित्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । प्रकृत्या स्वभावेनावस्थिता स्युरित्यर्थः । संधयो न भवन्तीति यावत् । एहि कृष्ण ३ अत्रेति । दूराद्धूते चेति णकारादकारः प्लुतः । तस्य अकारे न सवर्णदीर्घः । हरी एताविति । ईदूदेदिति रेफादीकारः प्रगृह्यः । तस्य यणादेशो न भवति । ननु सर्वत्र विभाषेति पूर्वसूत्रे विभाषेत्यस्य अस्वरितत्वादेव निवृत्तिसिद्धेरिह नित्यग्रहणं किमर्थमिति पृच्छति—नित्यमिति किमिति । उत्तरमाह—हरी एताविति । नित्यग्रहणे सत्येव हरी एताविति 'प्लुतप्रगृह्या अचि' इत्ययमेव केवलः प्रकृतिभावः स्यादित्यर्थः । यथाशब्दो योग्यतायाम् । अयमेव प्रकृतिभावः प्राप्तुं योग्यः । स च नित्यग्रहणे सति प्राप्नुयादित्यर्थः । एवमग्रेऽप्येवंजातीयकेषु । एवशब्दव्यवच्छेद्यं दर्शयति—एक इति । 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' इति वक्ष्यमाणो ह्रस्वसमुच्चितः प्रकृतिभावः माभूत् न भवेत् । माङि लुङ् । सर्वलकारापवादः । अकृते सति नित्यग्रहणे परत्वात् शाकलह्रस्वसहितप्रकृतिभावः प्रसज्येत । नित्यग्रहणे कृते तु तत्सामर्थ्यादेव परमपि शाकलह्रस्वसमुच्चितप्रकृतिभावं प्लुतप्रगृह्या इति केवलः प्रकृतिभावो बाधत इत्यर्थः ।

है । "ङिच्च" के सहकार से 'गो' शब्द का 'ओ'कार गृहीत है । **उदाहरण**—गो+इन्द्रः <ग अव+इन्द्रः (ओ=अवङ्) <गवेन्द्रः (अ+इ = ए—गुण) ।

(९०) पद—प्लुतप्रगृह्याः, अचि, नित्यम् । **अनुवृत्ति**—प्रकृत्या । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—प्लुत और प्रगृह्य आगे कहेंगे । उनके अनन्तर 'अच्'—वर्णों के रहने पर नित्य प्रकृतिभाव होता है । एहि कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति । हरी एतौ । 'नित्य' क्यों कहा ? 'हरी एतौ' इत्यादि में यह प्रकृतिभाव ही हो । 'इको सवर्णे०' के अनुसार ह्रस्व-सहित प्रकृतिभाव न हो ।

सन्दर्भ—सन्धियों का निर्वचन करने के अनन्तर विशेष अवस्था में शब्द की मौलिक स्थिति की साधुता का निरूपण करने के लिए प्रकृतिभाव के नियमों का उल्लेख किया जा रहा है । इसके पूर्व तीन सूत्रों का उल्लेख 'अवङ्' आदेश से सम्बद्ध होने के कारण वहीं कर दिया गया है । यहाँ सामूहिक रूप में प्रकृतिभाव का निरूपण किया जा रहा है ।

विवरण—"प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे" (६-१-१५) से "प्रकृत्या" पद की अनुवृत्ति करने पर सूत्रार्थ पूर्ण होता है । तदनुसार प्लुत या प्रगृह्य-संज्ञक शब्दों के पश्चात् किसी स्वर-वर्ण के रहने पर प्रकृतिभाव होता है । अर्थात् सन्धिकार्य नहीं होता । **उदाहरण**—१—आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति । कृष्ण ३—'प्लुत' के अनन्तर आनेवाले 'अत्र' शब्द के अकार के साथ दीर्घ-सन्धि नहीं हुई । इसी प्रकार २—हरी+एतौ = हरी एतौ में प्रकृतिभाव होने पर 'यण्'-सन्धि नहीं होती । **प्रत्युदाहरण**—इस सूत्र में 'विभाषा' की अनुवृत्ति न आने के कारण 'प्रकृतिभाव' का नित्य होना स्वयं सिद्ध था, पुनः 'नित्य' ग्रहण करने से योग-विभाग द्वारा सूत्र के द्वितीय अंश 'नित्यम्' से "इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च" से प्राप्त विकल्प-प्रकृतिभाव का बाध किया जाता है ।

(९१) पद—इकः, असवर्णे, शाकल्यस्य, ह्रस्वः, च । **अनुवृत्ति**—पदान्तात्, अचि । **विधिसूत्र** ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदान्ता इकोऽसवर्णेऽचि परे प्रकृत्या स्युर्ह्रस्वश्च वा। 'अत्र ह्रस्वविधिसामर्थ्यादेव प्रकृतिभावे सिद्धे तदनुकर्षणार्थश्चकारो न कर्तव्यः' इति भाष्ये स्थितम्। चक्रि अत्र—चक्र्यत्र। 'पदान्ताः' इति किम्? गौर्यौ। 'न समासे' (वा ३६८४)। वाप्यश्वः। 'सिति च'

---

(९१) इकोऽसवर्णे। इक इति षष्ठी। एङः पदान्तादित्यतः पदान्तादित्यनुवर्तते। तच्च षष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते। अचीति चानुवर्तते। ततश्च पदान्तस्येकः असवर्णेऽचि परे ह्रस्वः स्यादित्येकं वाक्यम्। चकारात् प्रकृत्यान्तःपादम् इत्यतः प्रकृत्येत्यनुकृष्यते। ह्रस्वः इति तत्रापि सम्बध्यते। ततश्च उक्तो ह्रस्वः प्रकृत्या स्वभावेन अवतिष्ठत इति वाक्यान्तरं फलितमाह—पदान्ता इक इत्यादिना। यदि चकारो न क्रियेत, तर्हि पदान्तस्य इकः असवर्णेऽचि ह्रस्वः स्यादित्येव लभ्येत। तस्य ह्रस्वस्य प्रकृतिभावो न लभ्येत। ततश्च चक्री अत्रेति स्थिते ईकारस्य ह्रस्वे सति तस्य यणादेशे चक्र्यत्रेत्येव स्यात्। चक्रि अत्रेति ह्रस्वसमुच्चितप्रकृतिभावविशिष्टं रूपं न स्यात्। इष्यते तदपि। अतः प्रकृत्येत्यनुकर्षणार्थश्चकार आवश्यक इति सूत्रकारस्य हृदयम्। भाष्यकारमतमाह—अत्र ह्रस्वेति। अत्र चकारो न कर्तव्यः, प्रकृत्येत्यनुकर्षस्य व्यर्थत्वात्। न च विहितस्य ह्रस्वस्य यण्निवृत्त्यर्थः स इति वाच्यम्, ह्रस्वविधिसामर्थ्यादेव यणो निवृत्तिसिद्धेः। अन्यथा यणमेव विदध्यात्। अतः 'प्रकृत्येत्यनुकर्षणार्थश्चकारो न कर्तव्यः' इति भाष्ये स्थितमित्यर्थः। चक्रि अत्रेति ह्रस्वसमुच्चिप्रकृतिभावपक्षे रूपम्। तदभावपक्षे तु यणि चक्र्यत्रेति रूपम्। न चात्र ककारस्य 'स्कोः संयोगाद्योः' इति लोपः शङ्क्यः, अचः परिस्मिन्निति यणः स्थानिवत्त्वेन अच्त्वेन पदान्तसंयोगाभावात्। न च 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' इति तन्निषेधः शङ्क्यः, तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेष्विति वचनात्। न समासे। वार्तिकमेतत्। समासे उक्तशाकलविधिर्न भवतीत्यर्थः। वाप्यश्च इति। वाप्यामश्च इति विग्रहः। शौण्डादेराकृतिगणत्वात्

मूलार्थ—पदान्त 'इक्' को सवर्णभिन्न 'अच्' परे रहते विकल्प से प्रकृतिभाव होता है और ह्रस्व भी होता है। यहाँ ह्रस्व-विधान से ही प्रकृतिभाव सिद्ध था उसके लिये 'च' पद की कोई आवश्यकता नहीं है—यह भाष्य में कहा है। चक्रि अत्र—चक्र्यत्र। 'पदान्ताः' क्यों कहा? गौर्यौ। (वा०) समास में नहीं होता। वाप्यश्वः। (वा०) सकार-इत्संज्ञक में (यह विधान) नहीं (होता)। पार्श्वम्।

विवरण—अनुवृत्त 'पदान्तात्' पद षष्ठी-विभक्ति में परवर्तित होकर 'इकः' का विशेषण हो जाता है। 'च' अव्यय से 'प्रकृत्या' का अनुकर्षण होता है। तदनुसार पद के अन्त में विद्यमान 'इक्'—(इ, उ, ऋ, ऌ)—वर्णों के अनन्तर सवर्ण-भिन्न (इ, उ, ऋ, ऌ के अतिरिक्त) स्वर-वर्ण रहने पर शाकल्य के मत में इक्-वर्ण ह्रस्व हो जाते हैं। तथा ये ह्रस्व वर्ण प्रकृतिस्थ रहते हैं। इन्हें सन्धिकार्य नहीं होता। अन्य आचार्यों के मत में यह विधान नहीं होता। **उदाहरण**—१—चक्री+अत्र=चक्रि अत्र—यहाँ पदान्त में दीर्घ-ईकार के पश्चात् 'ई' से भिन्न स्वर 'अ' होने के कारण ह्रस्व तथा प्रकृतिभाव हुआ। पक्ष में यण् चक्र्यत्र। **प्रत्युदाहरण**—स्थानिभूत 'इक्' की स्थिति पद के अन्त में न होने के कारण गौरी+औ = गौर्यौ में ह्रस्व तथा प्रकृतिभाव नहीं हुआ। अतः यण् हुआ। अर्थ—गौरी के दो रूप।

(वा०) १—पद—न, समासे। प्रकृतिभाव-निषेध। अर्थ—समास में प्रकृतसूत्र से विहित कार्य-कलाप नहीं होते। **उदाहरण**—वापी+अश्वः = वाप्यश्वः—यण् हुआ। विग्रह—वाप्याम् अश्वः। यहाँ सप्तमी तत्पुरुष समास होने के कारण विभक्ति-लोप होने के पश्चात् 'वापी+अश्व' इस स्थिति में 'इक्' (ई) के अनन्तर सवर्णभिन्न स्वर 'अ' होने पर भी प्रकृति-भाव तथा ह्रस्व नहीं हुए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वा ३६८४) । पार्श्वम् । (९२) ऋत्यकः ६ । १ । १२८ ॥ ऋति परेऽकः प्राग्वत् । ब्रह्म ऋषिः—ब्रह्मर्षिः । 'पदान्ताः' इत्येव । आच्छेत् । समासेऽप्ययं प्रकृतिभावः । सप्त

सुष्सुपेति वा समासः । सिति च । सकारः इत् यस्य सः सित्, तस्मिन् परे उक्तः शाकल-विधिर्न भवतीत्यर्थः । पार्श्वमिति । पर्शु पार्श्वास्थि । पर्शूनां समूहः पार्श्वम् । 'पर्श्वा णस् वक्तव्यः' इति णस् । आदिवृद्धिः । यणादेशः । अत्र पार्शु अ इति स्थिते उक्तः शाकलो विधिर्न भवति । ओर्गुणस्तु न, भस्यैव तद्विधानात् । 'सिति च' इति पदत्वेन भत्वबाधात् । अचो ञ्णितीति वृद्धिरपि न भवति । आदिवृद्धया तद्बाधात् । तथा च मूलकारो वक्ष्यति । 'आदिवृद्धिरन्त्योपधावृद्धी बाधते' इति । अत्र 'सिच्चित्यसमासयोः शाकलप्रतिषेधः' इति वार्तिकम् । तदिह द्विधा विभज्य व्याख्यातम् । न चैवं सति वाप्यश्व इत्यत्र कथं शाकल-प्रतिषेधः, तत्र समासस्य वैकल्पिकत्वादिति वाच्यम्, भाष्ये नित्यग्रहणस्य प्रत्या-ख्यातत्वात् ।

(९२) ऋत्यकः । अकः इति षष्ठी । शाकल्यस्य ह्रस्वश्चेत्यनुवर्तते । असवर्ण इति निवृत्तम् । एङः पदान्तादित्यतः पदान्तादित्यनुवर्तते । तच्च षष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते । ततः पदान्तस्य अकः ऋति ह्रस्वो वा स्यादित्येकं वाक्यं सम्पद्यते । चकारात् प्रकृत्येत्यनु-कृष्यते । उक्तो ह्रस्वः प्रकृत्या अवतिष्ठत इति द्वितीयं वाक्यं सम्पद्यते । तदाह—ऋति परे अकः प्राग्वदिति । ब्रह्म ऋषिरिति । ब्रह्मा ऋषिरिति स्थिते आकारस्य ह्रस्वः प्रकृतिभावश्च । ततश्च आद्गुण इति रपरः अकारो न भवति । अत्र आकारस्य इक्त्वाभावादिकोऽसवर्णे इत्यप्राप्ते इदं वचनम् । ब्रह्मर्षिरिति । उक्तह्रस्वसमुच्चितप्रकृतिभावाभावपक्षे आद्गुण इति अकारः । रपरत्वम् । 'ऋत्यस्य' इत्येव तु न सूत्रितम् । होतृ ऋकार इत्यत्र प्रकृतिभावार्थ-मग्रहणस्यावश्यकत्वात् । पदान्ता इत्येवेति । पदान्तग्रहणमत्राप्यनुवर्तनीयमेवेत्यर्थः ।

(वा०) २—पद—सिति, च । प्रकृतिभावनिषेध । अर्थ—सकार-इत्संज्ञक प्रत्यय परे रहते भी सूत्रोक्त कार्य नहीं होता ('इक्' को प्रकृतिभाव एवं ह्रस्व नहीं होते) । उदाहरण—पर्शु +अ (णस्) <पार्शु+अ (आदिवृद्धि—'आ') <पार्श्व+सु (अम्) <पार्श्वम्—प्रकृतिभाव का निषेध होने से यण् । विभक्तिकार्य ।

विशेष—१—प्रकृत सूत्र में ह्रस्व-विधान से ही स्वतः प्रकृतिभाव सिद्ध रहा, क्योंकि दीर्घादि में विधीयमान यणादि के समान यदि ह्रस्व-विधान के पश्चात् यणादि कार्य होते तो ह्रस्व-विधान व्यर्थ ही हुआ होता । अतः सूत्र में प्रकृतिभाव का अनुकर्षण करने के लिये 'च' पद की आवश्यकता नहीं है । महाभाष्य में पतञ्जलि ने यही प्रतिपादन किया है । २—शब्द की मूल स्थिति रहने के फलस्वरूप प्रकृतिभाव में यथाप्राप्त सन्धिकार्य नहीं होते ।

(९२) पद—ऋति, अकः । **अनुवृत्ति**—पदान्तात्, शाकल्यस्य, ह्रस्वः, प्रकृत्या । **विधि-सूत्र** ।

मूलार्थ—ह्रस्व ऋकार परे रहते 'अक्'—प्रत्याहारस्थ वर्णों के स्थान पर पूर्व सूत्र के समान विधान हो । ब्रह्म ऋषिः—ब्रह्मर्षिः । पदान्त में ही होता है । आच्छेत् । समास में भी यह प्रकृति-भाव होता है । सप्त ऋषीणाम् । सप्तर्षीणाम् ।

विवरण—पूर्व सूत्र में ह्रस्व तथा प्रकृतिभाव का विधान विकल्प से किया गया है । स्थानी का निर्देश यहाँ पृथक् है । 'पदान्तात्' पद का परिवर्तन षष्ठी-विभक्ति में किया गया है तथा वह 'अकः' का विशेषण है । तदनुसार ह्रस्व 'ऋकार' परे रहने पर (ऋति) पद के अन्त में विद्यमान अ, इ, उ, ऋ, ऌ, (अक्) के स्थान पर शाकल्य के मत में क्रमशः वे ही वर्ण ह्रस्व होते हैं तथा प्रकृतिस्थ रहते हैं । अर्थात् ह्रस्वादेश के पश्चात् कोई सन्धिकार्य नहीं होता । उदाहरण—ब्रह्मा+ऋषिः =ब्रह्म ऋषिः—'आ' के स्थान पर ह्रस्व अकार तथा प्रकृतिभाव । 'गुण' नहीं हुआ । पक्ष में—गुण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋषीणाम्–सप्तर्षीणाम् ॥ (९३) वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः ८।२।८२ ॥ इत्यधिकृत्य ।
(९४) प्रत्यभिवादेऽशूद्रे ८।२।८३ ॥ अशूद्रविषये प्रत्यभिवादे यद्वाक्यं तस्य टेः प्लुतः स्यात्, स चोदात्तः । अभिवादये देवदत्तोऽहम् भोः । आयुष्मान् भव देवदत्त ३ । 'स्त्रियां

आर्च्छदिति । ऋ गतौ । लङ् तिप् शप् । पाघ्राध्मेति ऋच्छादेशः । इतश्चेति इकारलोपः । आडजादीनामित्याडागमः । आटश्चेति वृद्धिः । आ ऋच्छदिति स्थिते आकारस्य अकः पदान्तत्वाभावान्नोक्तः प्रकृतिभावः । 'न समासे' इति पूर्वसूत्रस्थं निषेधवार्तिकमिह न सम्बध्यत इत्याह—समासेऽपीति । सप्त ऋषीणामिति । 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' इति समासः । सप्त ऋषीणामिति प्रकृतिभावपक्षे रूपम् । तदभावपक्षे तु आद्गुण इति गुणे रपरत्वे सप्तर्षीणामिति भवति ।

(९३) अथ प्लुतप्रगृह्या इति सूत्राकाङ्क्षितप्लुतप्रगृह्ययोर्मध्ये प्रथमोपात्तप्लुतप्रकरणमारभते—वाक्यस्य टेः । पदस्येत्यधिकृतम् । वाक्यस्य टेः पदावयवस्य प्लुतो भवति, स च उदात्तो भवतीत्यर्थः । अत्र पदस्येत्यनुवृत्तिर्नश्छव्यप्रशानित्याद्युत्तरार्था । इहानुवृत्तिविच्छेदे उत्तरत्रानुवृत्तेरसम्भवात् । वाक्यस्येत्यभावे पदस्य टेरित्युक्ते यावन्ति वाक्ये पदानि तावतां टेः प्लुतः प्रसज्येत । वाक्यस्येत्युक्ते तु वाक्यस्य टिरन्त्यस्यैव पदस्य सम्भवतीति न दोषः । टिग्रहणाभावे प्लुतश्रुत्या अचश्चेति परिभाषया अचः इत्युपस्थितौ तस्य वाक्यविशेषणत्वात् तदन्तविधौ अजन्तस्य वाक्यस्येत्यर्थे सति अलोऽन्त्यपरिभाषया वाक्यान्तस्याचः प्लुत इति पर्यवसानात् ग्रामं गच्छाग्निचिꣳत् इत्यादिहलन्तवाक्येषु प्लुतो न स्यात् । टिग्रहणे तु तत्सामर्थ्यादेव टिना अचो विशेषणात् टेरवयस्याचः प्लुत इत्यर्थो लभ्यत इति न दोष इति भाष्ये स्पष्टम् । इत्यधिकृत्येति । प्लुतविधय आरभ्यन्त इति शेषः ।

(९४) प्रत्यभिवादेऽशूद्रे । वाक्यस्य टेः प्लुतः उदात्त इत्यधिकृतम् । अशूद्र इति च्छेदः । न शूद्रः अशूद्रः द्विजातिः, तद्विषयः प्रत्यभिवादः, विधिवत् अभिवाद्यमानं प्रति विधिवदाशीर्वचनम् । भावे घञ् । अस्मिन् प्रत्यभिवादे विषये यद्वाक्यं तस्य टेः प्लुतः स्यात् । स चोदात्त इत्यर्थः । अभिवादविधिमाह—आपस्तम्बः–'दक्षिणं बाहुं श्रोत्रसमं

(अ+ऋ=अर्)—ब्रह्म+ऋषिः <ब्रह्मन् अर् षिः<ब्रह्मर्षिः । अर्थ—मन्त्रद्रष्टा । प्रत्युदाहरण—सूत्र में "पदान्तात्" की अनुवृत्ति आने से पदान्त-भिन्न 'अक्' के स्थान में ह्रस्व तथा प्रकृतिभाव नहीं होता । अतः 'आ+ऋच्छत्' <आर्च्छत् (आ+ऋ=आर्—वृद्धि) 'आ' के 'अक्' होने पर भी पद के अन्त में न होने से ह्रस्व तथा प्रकृतिभाव नहीं हुआ । अर्थ—गया ।

विशेष—१—इस सूत्र से विहित कार्य समास में भी होता है । अतः सप्त+ऋषीणाम् <सप्त ऋषीणाम्—प्रकृतिभाव । अतः 'गुण' नहीं हुआ । पक्ष में—सप्तर्षीणाम् । अर्थ—सात ऋषियों का ।

२—यह सूत्र "इकोऽसवर्णे०" का पूरक है ।

(९३) **पद**—वाक्यस्य, टेः, प्लुतः, उदात्तः । **अधिकार-सूत्र** ।

मूलार्थ—इसका अधिकार है ।

विवरण—सूत्र स्वयं में पूर्ण है । अधिकार होने के कारण आगे के सूत्रों में 'वाक्यस्य टेः', 'प्लुतः' तथा 'उदात्तः' की अनुवृत्ति जायेगी । यह अनुवृत्ति अष्टाध्यायी-क्रम से आगे के २६ सूत्रों में जाती है ।

(९४) **पद**—प्रत्यभिवादे, अशूद्रे । **अनुवृत्ति**—वाक्यस्य टेः, प्लुतः, उदात्तः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—शूद्रेतर को अभिलक्षित कर आशीर्वाद-वाक्य की 'टि' को प्लुत होता है और वह उदात्त होता है । श्रीमन् ! मैं देवदत्त प्रणाम करता हूँ । देवदत्त ३ तुम आयुष्मान् होओ । (वा०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न' (वा ४८६४)। अभिवादये गार्ग्यहम्। भो आयुष्मती भव गार्गि। नाम गोत्रं वा यत्र प्रत्यभिवादवाक्यान्ते प्रयुज्यते तत्रैव प्लुत इष्यते। नेह। आयुष्मानेधि। 'भोराजन्यविशां वेति वाच्यम्' (वा ४८६५)। आयुष्मानेधि भो३:। आयुष्मानेधीन्द्रवर्म३न्।

प्रसार्यं ब्राह्मणोऽभिवादयीत, उरःसमं राजन्यः, मध्यसमं वैश्यः, नीचैः शूद्रः।' 'प्राञ्जलिः' इति। 'तिष्ठन् प्रातरभिवादमभिवादयीतासावहं भोः' इति च। असाविति स्वनाम-निर्देशोऽभिमतः। 'देवदत्तोऽहं भोः' इति ब्रुवन् अभिवादम् आशीर्वचनं अभिवादयीत वक्तव्यत्वेन विज्ञापयेत्। ततश्च यथावर्णं दक्षिणं बाहुं प्रसार्य 'अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः' इति ब्रूयादित्यर्थः। अयमभिवादनप्रकारः।

प्रत्यभिवादनप्रकारस्तु मनुना दर्शितः—

'आयुष्मान् भव सौम्येति विप्रो वाच्योऽभिवादने।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः॥' इति।

अत्र 'नाम्नोऽन्ते' इतिवचनाद् 'आयुष्मान् भव सौम्येत्यनन्तरमभिवाद्यमानस्य नाम सम्बुध्यन्तं प्रयोक्तव्यम्' इति स्मृत्यन्तरसिद्धमनुगृहीतं भवति। अस्य नाम्नः अन्ते अकारश्च वाच्यः प्रयोज्यः। तस्मादकारात् पूर्वाक्षरः पूर्वः अच् प्लुतः प्रयोक्तव्य इत्यर्थः। एवं च आयुष्मान् भव सौम्य देवदत्त ३ अ इति प्रत्यभिवादवाक्यं सम्पन्नमिति स्थितिः। अभिवादये देवदत्तोऽहमिति अभिवादवाक्यप्रदर्शनम्। भोः इत्यस्याप्युपलक्षणम्। आयुष्मान् भव देवदत्त ३ इति प्रत्यभिवादवाक्यप्रदर्शनम्। अभिवादये इत्यस्य अभि-वादमाशीर्वचनं वक्तव्यत्वेन विज्ञापयामीत्यर्थः। भवेत्यनन्तरं सौम्यशब्दस्य देवदत्त इत्यनन्तरमकारस्याप्युपलणम्। अत्र देवदत्तशब्दे तकारादकारस्य प्लुतः। आयुष्मत्त्वस्य विधेयत्वात् सम्बोधनविभक्तक्त्यभावः। अत्र प्रत्यभिवादवाक्ये शर्मान्तं ब्राह्मणस्येत्यादि न भवति, एचोऽप्रगृह्यस्येति सूत्रे शर्मादिशब्दं विना केवलस्य नाम्नो भाष्ये उदाहरणाद् उक्तमन्वादिस्मृतिविरोधाच्च। अशूद्र इति किम्? 'कुशल्यसि तुषजक' इति भाष्यम्। एवञ्च शूद्रविषये आयुष्मान् भवेति न प्रयोक्तव्यमिति गम्यते। 'अशूद्रस्यसूयकेष्विति वक्तव्यम्' इति वार्तिकम्। शूद्रविषय एव प्लुतप्रतिषेधो न भवति, किंतु शूद्रवत् स्त्री-

---

स्त्री के विषय में (प्लुत) नहीं (हो)। मैं गार्गी प्रणाम करती हूँ। प्रिय गार्गि! तुम आयुष्मती होओ। (वा०) आशीर्वाद-स्वरूप-वाक्य के अन्त में जब नाम तथा गोत्र का प्रयोग किया जाय वहीं प्लुत होता है। यहाँ नहीं हुआ—आयुष्मान् होओ। (वा०) भोः शब्द, क्षत्रियवाचक शब्द तथा वैश्यवाचक शब्द यदि वाक्य के अन्त में रहें तो वहाँ प्लुत होता है। आयुष्मान् होओ भो३:। आयुष्मान् होओ इन्द्रवर्म३न्। आयुष्मान् होओ इन्द्रपालित ३।

सन्दर्भ—प्रकृति-भाव के प्रसङ्ग में आये हुये 'प्लुत' का विधान किया जा रहा है।

विवरण—प्रणाम करने के बाद पूज्यजनों के आशीर्वाद-स्वरूप कथन को 'प्रत्यभिवादन' कहते है। प्रणाम करने के पश्चात् गुरुजनों के द्वारा शूद्रेतर शिष्यों के प्रति शुभाकाङ्क्षायें प्रकट करने पर वाक्य की 'टि' को प्लुत होता है[1] और वह वर्ण उदात्तस्वर से युक्त होता है। उदाहरण—अभिवादन वाक्य—अभिवादये देवदत्तः अहम् भोः। प्रत्यभिवादनवाक्य—आयुष्मान् एधि देवदत्त ३। यहाँ 'टि'—संज्ञा अन्तिम पद 'देवदत्त' में 'त्त' की है, अतः वह प्लुत हुआ, जिसे ३ के अङ्क से सूचित किया है।

---

१. आयुष्मान् भव सौम्येति विप्रो वाच्योऽभिवादने।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः॥ मनुस्मृतिः—२।१२५।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आयुष्मानेधीन्द्रपालित३ ॥ (९५) दूराद्धूते च ८।२।८४ ॥ दूरात्सम्बोधने यद्वाक्यं

विषये असूयकविषयेऽपि प्लुतप्रतिषेधो भवतीति वक्तव्यमित्यर्थः। तत्र शूद्रविषये उदाहृतम्। स्त्रीविषये वार्तिकं विभज्यार्थतः सङ्गृह्णाति—स्त्रियां नेति। स्त्रीविषयकप्रत्यभिवादवाक्ये उक्तो विधिर्न भवतीत्यर्थः। अभिवादये गार्ग्यहमिति अभिवादनवाक्यप्रदर्शनम्। आयुष्मती भव गार्गीति प्रत्यभिवादवाक्यम्। अत्र न प्लुतः। असूयके तु उदाहरणं भाष्ये स्फुटम्। यद्यपि गार्गीति नाम न भवति, किं तु गोत्रमेव, तथापि भाष्ये गार्गीशब्दोदाहरणादेव अभिवादप्रत्यभिवादवाक्योर्नाम्नो गोत्रस्य च विकल्पः। तदाह—नाम गोत्रं वेति। अत्र नामशब्देन द्वादशेऽहनि पिता नाम कुर्यादिति विहितं नामैव गृह्यते। अत एव आयुष्मान् भव दण्डिञित्यादौ प्लुतो नेति भाष्ये स्पष्टम्। नाम गोत्रं वेति परिगणनस्य प्रयोजनमाह—नेहेति। आयुष्मानेधीति। अस्तेस्सिप् हिः, ध्वसोरित्येत्वं, हेर्धिः। श्नसोरल्लोपः। अत्र धकारादिकारस्य न प्लुतः, अनामत्वादगोत्रत्वाच्च। भोराजन्यविशाम्। भोश्शब्दस्य राजन्यवैश्यवाचकनाम्नोश्च टेः प्लुतो वा स्यादिति वक्तव्यमित्यर्थः। भोश्शब्दस्य अप्राप्ते इतरयोस्तु नामत्वात् प्राप्ते विभाषेयम्। तत्र भोश्शब्दे यथा—आयुष्मानेधि भोः। आयुष्मानेधि देवदत्त भोः इति भाष्यम्। अत एव प्रत्यभिवादवाक्यान्ते नाम्नोऽनन्तरं भोश्शब्दस्य भवशब्देन च प्रयोगविकल्पो गम्यते। राजन्ये यथा—आयुष्मानेधि इन्द्रवर्मञ्३न्, इन्द्रवर्मन्। वैश्ये यथा—आयुष्मानेधि इन्द्रपालित३ इति भाष्यम्। अत एव भाष्यात् प्रत्यभिवादवाक्ये शर्मान्तं ब्राह्मणस्य, वर्मान्तं क्षत्रियस्य, पालितान्तं वैश्यस्येति विधयोऽपि प्रवर्तन्त इति गम्यते। उक्तभाष्यमन्वादिस्मृतिविरोधाद्विकल्पः। अत्र भाष्ये अपर आहेत्युक्त्या प्रत्यभिवादे सर्वस्यैव नाम्नो भोश्शब्द आदेशो वक्तव्य इति पठित्वा आयुष्मानेधि भोः इत्येतावदेव सर्वत्र प्रत्यभिवादवाक्यमित्युक्तम्।

(९५) दूराद्धूते च। यत्र प्रदेशे स्थितस्य प्रयत्नोच्चारितं शब्दं बोध्यमानो न

(वा०) १—पद—स्त्रियां न। अनुवृत्ति—वाक्यस्य, टेः, प्लुतः। विधि-निषेध। अर्थ—स्त्री के प्रणाम करने के बाद प्रत्यभिवादन के वाक्य की 'टि' को प्लुत नहीं होता। अभिवादन-वाक्य—अभिवादये गार्गी अहम्। प्रत्यभिवादन-वाक्य—भो आयुष्मती भव गार्गि। स्त्री के विषय में होने से प्लुत नहीं हुआ।

विशेष—पुरुष-विषयक प्रत्यभिवादन वाक्य में भी जहाँ नाम तथा गोत्र का उल्लेख हो वहीं प्लुतादि होंगे[1], अन्यत्र नहीं। उदाहरण—(गोत्र का) आयुष्मानेधि गार्ग्य ३। प्रत्युदाहरण—आयुष्मान् एधि। यहाँ नाम—गोत्र आदि का उल्लेख न होने से प्लुत नहीं हुआ।

(वा०) २—पद—भोराजन्यविशां, वा, इति, वाच्यम्, प्लुतः। विधि (विकल्प)। अर्थ—प्रत्यभिवादन के विषय में भोः शब्द तथा क्षत्रिय एवं वैश्य वाचक व्यक्तियों के नाम उच्चारण किये जाने पर इनकी 'टि' को विकल्प से प्लुत होता है। उदाहरण—१—आयुष्मान् एधि 'भोः३'। यहाँ 'टि' (ओस्) प्लुत है। २—आयुष्मान् एधि इन्द्रवर्मञ्३न्। यहाँ 'अन्' भाग की 'टि' संज्ञा होने के कारण 'अ' (स्वर-वर्ण) को प्लुत हुआ (क्षत्रिय व्यक्ति-विशेष का नाम)। ३—आयुष्मान् एधि इन्द्रपालित ३ (वैश्यवाची व्यक्ति-विशेष का नाम होने के कारण 'त' (टि) को प्लुत हुआ)।

विशेष—इन तीनों उदाहरणों में भोः शब्द को प्लुत-विधान किसी नियम से प्राप्त नहीं था। 'राजन्य' तथा 'वैश्य'वाचक व्यक्तियों के प्रत्यभिवादन के विषय में नाम-निर्देश होने के कारण सूत्र (९४) से प्लुत प्राप्त रहा। अतः यहाँ 'अप्राप्त' तथा 'प्राप्त' विभाषा है।

(९५) पद—दूराद्, धूते, च। अनुवृत्ति—वाक्यस्य, टेः, प्लुतः। विधिसूत्र।

१. असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत्। मनुस्मृतिः—२।१२२।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तस्य टेः प्लुतः स्यात्। सक्तून्पिब देवदत्त ३। (९६) **हैहेप्रयोगे हैहयोः ८।२।८५ ॥** एतयोः प्रयोगे दूराद्धूते यद्वाक्यं तत्र हैहयोरेव प्लुतः स्यात्। हे ३ राम। राम है ३। (९७) **गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् ८। २। ८६ ॥** दूराद्धूते यद्वाक्यं तस्य

श्रृणोति किं त्वधिकं प्रयत्नमपेक्षते तद् दूरम्, हूतमाह्वानं भावे क्तः। तच्च सम्बोधनमिह विवक्षितम्। वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्त इत्यधिकृतम्। तदाह—दूरात्सम्बोधने इत्यादिना। यदि तु आह्वानमेवात्र विवक्षितं स्यात्, तर्हि एहि देवदत्तेत्यादौ आह्वानवाचकपदे सत्येव स्यात्। सम्बोधनपरत्वे तु तदन्यत्रापि भवतीत्यभिप्रेत्योदाहरति—सक्तूनिति।

(९६) हैहेप्रयोगे। है हे इत्यव्यये सम्बोधनद्योतके। तयोः प्रयोगे हैहयोः प्लुतः स्यादित्यर्थः। पूर्वसूत्रेण गुरोरनृत इत्यनेन च सिद्धे किमर्थमिदमित्याशङ्क्य नियमार्थमिति व्याचष्टे—हैहयोरेवेति। हैहयोरेवेति नियमार्थमिति भावः। पाहि है३ राम, पाहि हे३ रामेत्यत्र हैहयोरेव प्लुतः, न तु गुरोरनृत इत्यन्त्यस्यापीत्येतत् हैहयोरित्यनेन लभ्यत इति यावत्। प्रयोगग्रहणाभावे वाक्यस्य टेरित्यधिकारात् राम है३ राम हे३ इत्यत्रैव स्यात्। अतः प्रयोगग्रहणम्। ततश्च अनन्त्ययोरपि तयोः प्लुतो भवति।

(९७) गुरोरनृतोऽनन्त्यस्य। दूराद्धूते चेत्यनुवर्तते। वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः इत्य-

---

मूलार्थ—दूर से पुकारने पर वाक्य की 'टि' को प्लुत होता है। सत्तू खाओ देवदत्त ३।

विवरण—सूत्र का अर्थ अधिकारसूत्र से लिये गए पदों द्वारा पूर्ण हो जाता है। सूत्र में प्रयुक्त 'दूर' शब्द का अर्थ नागेश ने यह किया है—'जहाँ सुनने वाला बुलाने वाले के शब्द को न सुन सके उसके लिये किया जाने वाला प्रयत्न 'दूर' कहलाता है'। अर्थात् दूरी के कारण सुनने के लिये स्वाभाविक प्रयत्न से अधिक किया जाने वाला प्रयत्न 'दूर' शब्द से ग्राह्य है[1]। तदनुसार 'दूर' से (दूरात्) बुलाने के लिये (हूते) प्रयुक्त वाक्य की 'टि' को प्लुत होता है। **उदाहरण**—(वाक्य) सक्तून् पिब देवदत्त ३ (सत्तू खाओ हे देवदत्त ३)। यहाँ वाक्य के अन्तिम 'अ' (टि) को प्लुत हुआ।

विशेष—सम्बोध्यमान पद यदि वाक्य के अन्त में रहेगा तभी प्लुत होता है, अन्यथा नहीं। अतः 'देवदत्त आगच्छ' में प्लुत नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ 'देवदत्त' का प्रयोग वाक्य के आरम्भ में किया गया है।

(९६) **पद**—हैहेप्रयोगे, हैहयोः। **अनुवृत्ति**—दूरात्, हूते, वाक्यस्य टेः, प्लुतः। **नियमसूत्र**।

मूलार्थ—दूर से पुकारने के लिये प्रयुक्त वाक्य में 'है' तथा 'हे' शब्दों का प्रयोग करने पर इन्हीं दोनों शब्दों को ही प्लुत होता है। हे ३ राम। राम है ३।

विवरण—'है' तथा 'हे' सम्बोधनवाचक अव्यय हैं। कभी-कभी दूर से बुलाने में व्यक्ति के नाम के साथ 'है' 'हे' आदि अव्ययों का प्रयोग किया जाता है। ऐसी स्थिति में वाक्य की 'टि' को प्लुत करने में यह नियम किया जा रहा है कि 'है' तथा 'हे' अव्ययों को ही प्लुत हो, नामवाचक शब्दों को प्लुत न हो। **उदाहरण**—१—हे ३ राम। २—राम है ३। यहाँ क्रमशः 'हे' ३ तथा 'है' ३ शब्दों के 'ए' 'ऐ' को प्लुत हुआ।

विशेष—'है' तथा 'हे' शब्दों का प्रयोग वाक्य के आदि अथवा अन्त में—कहीं भी किया जा सकता है। अतः दोनों उदाहरणों में उनका प्रयोग क्रमशः 'आदि' तथा 'अन्त' में किया गया है।

---

१. दूरं यद्यप्यपेक्षाभेदादनवस्थितं तथापि हूतापेक्षं यत् तदाश्रीयते इति। यत्र प्राकृतात् प्रयत्नाद् यत्नविशेषे आश्रीयमाणे शब्दः श्रूयते तद् दूरम्। हूतग्रहणं च सम्बोधनमात्रोपलक्षणार्थं द्रष्टव्यम्। काशिका।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋद्भिन्नस्यानन्त्यस्यापि गुरोर्वा प्लुतः स्यात् । दे३वदत्त । देवद३त्त । देवदत्त ३ । 'गुरोः' किम् ? वकारात्परस्याकारस्य मा भूत् । 'अनृतः' किम् । कृष्ण ३ । एकैकग्रहणं पर्यायार्थम् । इह 'प्राचाम्' इति योगो विभज्यते । तेन सर्वः प्लुतो विकल्प्यते । (९८) अप्लुतवदुप-

---

धिकृतम् । दूरात् सम्बोधने यद्वाक्यं तत्र सम्बोध्यमानवाचकं यत् पदं तदवयवस्य ऋकार भिन्नस्य अनन्त्यस्य गुरोः प्लुतः स्यात् । अन्त्यस्य तु गुरोरगुरोश्च स्यादित्यर्थः, टेः अपिना समुच्चयात् । तदाह—दूरादित्यादिना । दे३वदत्तेत्यादिषु सर्वत्र एहीति शब्दः प्रागध्याहर्तव्यः । अन्यथा एकतिङ् वाक्यमिति वाक्यत्वानुपपत्तेः । पर्यायार्थमिति । अन्यथा सर्वेषां गुरूणां युगपत् प्लुतः स्यादिति भावः । इह प्राचामिति । गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्येत्येकं, प्राचामित्यन्यत् । अत्र प्लुत इत्येव अनुवर्तते । प्राचां मते प्लुतः स्यात्, नान्यमते इति फलति । ततः किमित्यत आह—तेनेति । एवं च 'सर्वः प्लुतः साहसमनिच्छता विभाषा वक्तव्यः' इति वार्तिकं न कर्तव्यमिति भावः । प्लुतशास्त्रत्यागात्मकं साहसमनिच्छतेत्यर्थः । प्लुतशास्त्रेषु श्रद्धाजाड्यं विहायेति यावत् ।

---

(९७) **पद**—गुरोः, अनृतः अनन्त्यस्य, अपि, एकैकस्य, प्राचाम् । **अनुवृत्ति**—दूराद्, हूते, वाक्यस्य, टेः, प्लुतः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—दूर से बुलाने के लिये प्रयुक्त वाक्य के ऋकारेतर एवम् अन्त्यभिन्न गुरु-संज्ञक स्वर-वर्णों को वैकल्पिक प्लुत पर्याय से होता है । दे३वदत्त । देवदत्त ३ । गुरु-संज्ञक क्यों कहा ? वकारोत्तरवर्ती अकार को न हो । ऋकारभिन्न क्यों कहा ? कृष्ण ३ । एक-एक कहने से पर्याय का अर्थ सूचित होता है । इस सूत्र के 'प्राचाम्' भाग को पृथक् सूत्र माना जाता है । अतः सभी प्लुत प्राचीन वैयाकरणों के मत में विकल्प से होते हैं ।

विवरण—दूर से बुलाने में वाक्य की 'टि' को ही प्लुत हो ऐसी बात नहीं है । इस सम्बन्ध में अन्य वर्णों के प्लुत करने में स्वाभाविक छूट दी जा रही है, जो बोलने में वक्ता के उच्चारण की सुविधा के द्योतक हैं । इस कारण सूत्र में अनेक पद हैं तथा अनुवृत्तपदों की भी अनेकता है । अतः अन्त्य भिन्न वर्णों में (अनन्त्यस्य) प्लुत-विधान के उपयोगी सभी वर्ण 'गुरु' संज्ञक (संयुक्तवर्ण से पूर्व वर्ण अथवा द्विमात्रिक) होने चाहियें । इसके साथ ही वह गुरुसंज्ञक वर्ण ऋकार के अतिरिक्त (अनृतः) हो । यह विधान प्राचीन आचार्यों को मान्य है । अन्य आचार्यों को नहीं, अतः विकल्प से होता है । इस प्रकार वाक्य की 'टि' (तथा अन्तिम 'अच्') को भी पक्ष में प्लुत होगा । **उदाहरण**—१—दे३वदत्त—आदि के 'एकार' को 'गुरु' (द्विमात्रिक) होने के कारण प्लुत । २—देवद३त्त । यहाँ 'द' संयुक्त वर्ण के (त्त) के पूर्व में होने से 'गुरु' संज्ञक हुआ, अतः प्लुत हुआ । ३—देवदत्त ३ । विकल्प होने के कारण अन्त में 'टि' (त्त) को प्लुत । **प्रत्युदाहरण**—१—'देवदत्त' शब्द में 'व' के अकार को 'प्लुत' न होने के लिये 'गुरु' शब्द का ग्रहण किया है । 'व' लघु वर्ण है । अन्यथा उसे भी प्लुत हो जाता । २—इसी प्रकार सूत्र में 'ऋकार-भिन्न' (अनृतः) पद का सन्निवेश होने से 'कृष्ण३' में ककारोत्तरवर्ती 'ऋ' के गुरु-वर्ण होने पर भी प्लुत नहीं हुआ ।

विशेष—१—सूत्र में 'अपि' शब्द के प्रयोग से यह सूचित होता है कि 'अन्त्य' तथा 'अन्त्य-भिन्न' सभी वर्णों को प्लुत होता है । २—शब्द के प्रत्येक वर्ण को प्लुत का विधान एक-एक बार क्रमशः होता है । जब एकार को प्लुत होगा तो अकार को नहीं, जब अकार को होगा तो एकार को नहीं । सब वर्णों के एक साथ प्लुत होने पर उच्चारण की समस्या खड़ी हो जायगी । ३—सूत्र के अन्तिम पद 'प्राचाम्' को योगविभागकर पूर्वार्ध से पृथक् मानने पर 'प्लुत' की अनुवृत्ति होने से सभी प्लुत-विधान प्राचीन वैयाकरणों के मत में विकल्प से होंगे । तदनुसार प्लुत के अभाव में प्रकृतिभाव न होने के कारण सन्धिकार्य की प्रवृत्त होगी ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थिते ६।१।१२९॥ उपस्थितोऽनार्ष इति शब्दः, तस्मिन्परे प्लुतोऽप्लुतवद्भवति (अप्लुतकार्यं यणादिकं करोतीत्यर्थः)। सुश्लोक ३ इति–सुश्लोकेति। 'वत्' किम्। अप्लुत इत्युक्तेऽप्लुत एव विधीयते, प्लुतश्च निषिध्येत। तथा च प्रगृह्याश्रये प्रकृतिभावे प्लुतस्य

(९८) अप्लुतवत्। किमिदमुपस्थितं नाम? अनार्षमितिकरणमिति भाष्यम्। अवैदिकः इतिशब्द इत्यर्थः। प्लुत इत्यध्याहार्यम्। अवैदिके इतिशब्दे परे प्लुतः अप्लुतवत् स्यादिति फलति। तदाह—उपस्थितोऽनार्ष इत्यादिना। अप्लुतवद्भावस्य प्रयोजनमाह—प्लुतकार्यं प्रकृतिभावं न करोतीति। अप्लुतकार्यं यणादिकं करोतीति पाठान्तरम्। सुश्लोक३ इतीति। तैत्तिरीये सुश्लोक३इति प्लुतान्तो मन्त्रः पठितः। पदपाठे अवग्रहे तस्माद् परतः इतिशब्दं पदकाराः पठन्ति। तत्र सुश्लोक३ इति इति स्थिते अप्लुतवद्भावेन प्रकृतिभावाभावे सति आद्गुणे सुश्लोकेतीति भवति। अत्र इतिशब्दः पदकारप्रक्षिप्तत्वादवैदिकः। तदेव सुश्लोकेति इत्युदाहरणं भाष्ये स्थितम्। पदकारास्तु सुश्लोक३ इति इत्येव अवगृह्णन्ति। तदपि संहिताया अविवक्षितत्वान्निर्वाह्यम्। संहितायामेव यणादिसंन्धिविधानात्। वत्किमिति। अप्लुतवदित्यत्र वद्ग्रहणस्य किं प्रयोजनमिति प्रश्नः। उत्तरमाह—अप्लुत इत्युक्त इत्यादिना। वद्ग्रहणं विहाय अप्लुत उपस्थित इत्युक्ते प्लुतस्य स्थाने अप्लुत एव विधीयते। अतः प्लुत एव निवर्तेत। ततश्च अग्नी३ इत्यत्र

(९८) पद—अप्लुतवद्, उपस्थिते। अतिदेश-सूत्र।

मूलार्थ—'उपस्थित' पद का अर्थ लौकिक 'इति' शब्द है। वह परे रहते 'प्लुत' को 'प्लुतभिन्न' के समान समझा जाय। अर्थात् प्लुत-भिन्न-अवस्था के अनुसार सन्धिकार्य प्रवृत्त होते हैं। सुश्लोकेति। 'वत्' क्यों कहा? केवल 'अप्लुतः' कहने से प्लुतभिन्न का विधान होने लगता तथा प्लुत का निषेध हो जाता। ऐसा होनेपर प्रगृह्य-संज्ञा को मानकर होनेवाले प्लुत का श्रवण नहीं होगा। अग्नी३इति।

विवरण—अतिदेश का विधान किया जा रहा है। सूत्र में निमित्त-वाची पद 'उपस्थिते' है। इसका अर्थ लौकिक 'इति' शब्द है। 'अप्लुतवत्' में तुल्यार्थक 'वति' प्रत्यय है। सूत्र का शब्दार्थ है—लौकिक 'इति' शब्द परे रहते अप्लुत के समान होता है। कब होता है? इस आकाङ्क्षा की निवृत्ति के लिये 'प्लुत' पदका अध्याहार किया जाता है। तदनुसार 'प्लुत'के अनन्तर लौकिक 'इति' शब्द के रहने पर 'प्लुत' को अप्लुत के समान समझा जाय[1]। अतिदेश का विधान करने से प्लुत की निवृत्ति नहीं होती किन्तु उसके निमित्त होने वाले प्रकृतिभाव की निवृत्ति हो जाती है। इसके फलस्वरूप यण् आदि सन्धिकार्य होते हैं। **उदाहरण**—सुश्लोक ३+इति <सुश्लोकेति। यहाँ ककारोत्तरवर्ती–अकार को "दूराद्धूते च" से प्लुत हुआ है। तदनन्तर 'इति' शब्द का प्रयोग करने पर उसे प्लुतभिन्न के समान समझा गया। अतः गुण-सन्धि हुई। प्रकृतिभाव नहीं हुआ। अर्थ—यश (शोभनाः श्लोकाः यस्य सः, तत्सम्बुद्धौ)। **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में 'वत्' का प्रयोग न करनेपर केवल 'अप्लुतः' कहने से 'अप्लुत'—का विधान होने के साथ ही प्लुत का निषेध भी हो जाता। इस कारण प्लुत का श्रवण नहीं होगा। कारण यह है कि सादृश्य की विवक्षा में 'प्लुत' को अप्लुत के समान समझा जाता है। अप्लुत की समानता प्लुत के रहने पर सम्भव होती है। अतः 'वत्' ग्रहण न करने पर 'अग्नी ३+इति' में प्रगृह्यसंज्ञा के आश्रित प्रकृतिभाव होने पर प्लुत का श्रवण नहीं होगा। 'ई' को प्लुत होने के पश्चात् उसके असिद्ध होने के कारण "ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" (१-१-११) से प्रगृह्यसंज्ञा हुई है। प्रगृह्य-संज्ञा को मानकर प्रकृतिभाव हुआ है। अतः वहाँ सन्धिकार्य नहीं होता, क्योंकि प्रकृतिभाव में 'प्लुत' और 'प्रगृह्य' दोनों ही निमित्त-स्वरूप रहते हैं।

१—अप्लुतवदित्य प्लुतकार्यं नेत्यर्थस्तु न शब्दमर्यादलभ्यः। प्लुते अप्लुत–सादृश्यविधानस्यैव शब्दतो लाभात्। भाष्ये प्लुतकार्यप्रतिषेधार्थमित्युक्तिस्तु फलितार्थाभिप्रायेणैवेति बोध्यम्। ल० श० शे०।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रवणं न स्यात्। अग्नी ३ इति॥ (९९) ई ३ चाक्रवर्मणस्य ६।१।१३०॥ ई३ प्लुतोऽचि परेऽप्लुतवद्वा स्यात्। चिनु हि ३ इति–चिनुहीति। चिनु हि३ इदम्–चिनु हीदम्। उभयत्र विभाषेयम्। (१००) ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् १।१।११॥

सम्बोधनप्रथमाद्विवचनान्तस्यानुकरणे प्रगृह्य ईकारः त्रिमात्रो न श्रूयेत। वत्करणे तु प्लुत कार्यस्य प्रकृतिभावस्यैव निवृत्तिर्गम्यते न तु प्लुतस्यापीति नोक्तदोषः इत्यर्थः।

(९९) ईश्चाक्रवर्मणस्य। ईश इति प्लुतस्य लुप्तप्रथमाविभक्तिको निर्देशः। उपस्थित इत्यस्वरितत्वान्निवृत्तम्। अप्लुतवदित्यनुवर्तते। इको यणचीत्यतः अचीत्यनुवर्तते। चाक्रवर्मणमुनेर्मते ईकारः अचि परे अप्लुतवद्भवति, नत्वन्यमत इत्यर्थः। तदाह—प्लुतोऽचि परेऽप्लुतवद्वेति। चिनु हिश इदमिति। किं मया कर्तव्यमिति पृष्टस्येदं प्रतिवचनम्। चिनु इति लोडन्तम्। उतश्च प्रत्ययादिति हेर्लुक्। हि इति त्वव्ययम्। 'विभाषा पृष्टप्रतिवचने हेः' इति प्लुतः। चिनु इत्यतः प्राक् देवदत्तेत्यध्याहार्यम्। इदमिति तु वाक्यान्तरस्थम्, न तु चिनु इत्येतेन एकवाक्यतामापन्नम्। अन्यथा वाक्यस्य प्लुतो न स्यात्। उभयत्रेति। इतिशब्दे परतो नित्यतया प्राप्ते, तदन्यत्र अप्राप्ते चारम्भादुभयत्र विभाषेयमित्यर्थः। विभाषाशब्दस्तु अव्ययमिति न भ्रमितव्यम्, नवेति विभाषायामिति भाष्यप्रयोगात्। विभाष्यते विकाश्यत इति विभाषा। 'गुरोश्च हलः' इत्यप्रत्ययः। टाप्।

(१००) ईदूदेद् द्विवचनम्। ईच्च ऊच्च एच्चेति समाहारद्वन्द्वः। ईदूदेदिति द्विवचनविशेषणत्वात्तदन्तविधिः। द्विवचनमित्यनेन तु प्रत्ययत्वेऽपि न तदन्तं गृह्यते, संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्तीति तन्निषेधात्। तदाह—ईदूदेदन्तमित्यादिना। हरी एता-

---

'वत्' ग्रहण करने से 'प्लुत' को प्रगृह्यसंज्ञा होने पर भी वह बना रहता है। अग्नी ३ इति का अर्थ—'अग्नी' यह (किसी ने कहा उसका अनुकरण)।

(९९) पद—ई ३, चाक्रवर्मणस्य। अनुवृत्ति—अप्लुतवद्, अचि। अतिदेशसूत्र।

मूलार्थ—प्लुत 'इकार' को 'अच्' परे रहते विकल्प से अप्लुतवद्भाव होता है। चिनु हिश इति। चिनु हीति। चिनु हिश इदम्। चिनु हीदम्। यहाँ उभयत्र विभाषा है।

विवरण—सूत्र में 'ई' पद का प्रयोग प्रथमा-विभक्ति में किया गया है। साथ ही विभक्ति का लोप भी किया गया है। "इको यणचि" से 'अचि' की अनुवृत्ति आती है। 'प्लुत' पद का अध्याहार है। तदनुसार प्लुत 'इ'कार के अनन्तर स्वर-वर्ण रहते हुए चाक्रवर्मण के मत में उसे अप्लुत के समान समझा जाय। अन्य आचार्यों के मत में यह विधान मान्य न होने के कारण विकल्प माना जाता है। उदाहरण—'चिनु हिश इति'—चिनु हीति। 'चिनु हिश इदम्'—चिनु हीदम्। यह वाक्य आज्ञार्थक है। किसी के पूछने के बाद आज्ञा दी जा रही है 'इकट्ठा करो' 'इसे इकट्ठा करो'। उदाहरण में 'हि' अव्यय है न कि 'सिप्' के स्थान पर हुआ 'हि'। उसका तो "उतश्च०" (६-४-१६) से लोप हुआ है। 'हि' को "विभाषा पृष्टप्रतिवचने हेः" (८-२-९३) से प्लुत हुआ है। 'हि' का अर्थ निश्चय है। उसे अप्लुत के समान मानने पर दीर्घसन्धि—चिनु हीति, चिनु हीदम् हुई।

विशेष—१—'इति' शब्द के पश्चाद्वर्ती होने पर "अप्लुतवदुपस्थिते" (६-१-१२९) से अप्लुतवद्भाव प्राप्त होने के कारण 'इति' शब्द के अतिरिक्त अन्यत्र प्राप्ति नहीं होती है। वहाँ भी अप्लुतवद्भाव विकल्प से होने के लिये सूत्र की उपयोगिता है। अतः यह 'उभयत्र विभाषा' का प्रकरण है। २—सूत्र में 'ईश' का प्रयोग प्लुत 'इ'कार को अभिलक्षित कर उच्चारण की सुविधा को दृष्टि में रख कर किया गया है।

(१००) पद—ईदूदेद्, द्विवचनं, प्रगृह्यम्। संज्ञासूत्र।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यसञ्ज्ञं स्यात् । हरी एतौ । विष्णू इमौ । गङ्गे अमू । पचेते इमौ । 'मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम' इत्यत्र त्विवार्थे वशब्दो वाशब्दो वा बोध्यः । **(१०१) अदसो मात् १ । १ । १२ ॥** अस्मात्परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्तः । अमी ईशाः ।

विति । अत्र ईकारस्य परादिवत्त्वाश्रयणात् द्विवचनत्वात् प्रगृह्यत्वे सति प्लुतप्रगृह्या इति प्रकृतिभावान्न यण् । विष्णू इमावित्यत्राप्येवम् । गङ्गे अमू इत्यत्र तु अयादेशो न भवति । ईदूदेदन्तमिति तदन्तविधेः प्रयोजनं दर्शयितुमाह—पचेते इमाविति । तदन्तविध्यभावे ईदूदेदात्मकं द्विवचनं प्रगृह्यमिति लभ्येत । एवं सति पचेते इत्यत्र इते इति द्विवचनस्य एदूरूपत्वाभावात् प्रगृह्यत्वं न स्यादिति भावः । ईदूदेदन्तं यद् द्विवचनान्तमिति व्याख्याने तु कुमार्यौरगारं कुमार्यंगारमित्यत्रातिप्रसङ्गः स्यात् । ईदूदेदन्तं द्विवचनमिति व्याख्याने तु नातिप्रसङ्गः, ओसो द्विवचनस्य ईदूदेदन्तत्वाभावात् । ननु 'मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम' इति भारतश्लोके मणी इवेति ईकारस्य प्रगृह्यत्वे सति प्रकृतिभावे सवर्णदीर्घो न स्यादित्यत आह--मणीवोष्ट्रस्येत्यादिना । 'वं प्रचेतसि जानीयादिवार्थे च तदव्ययम् ।' इति मेदिनी । 'व वा यथा तथैवं साम्ये' इत्यमरः ।

(१०१) अदसो मात् । अदस इत्यवयवषष्ठी । अदश्शब्दावयवान्मकारादित्यर्थः । ईदूदिति प्रगृह्यमिति चानुवर्तते । मादिति दिग्योगे पञ्चमी । परशब्दोऽध्याहार्यः । तदाह—अस्मात् परावीति । अदश्शब्दावयवमकारात् परावित्यर्थः । एदिति नानुवर्तते, अदश्शब्दे मकारात् परस्य एकारस्यासम्भवात् । द्विवचनमित्यपि नानुवर्तते, अदश्शब्दे मकारात्

मूलार्थ—दीर्घ ईकारान्त, दीर्घ ऊकारान्त एवं दीर्घ एकारान्त द्विवचन की प्रगृह्य संज्ञा होती है । हरी एतौ । विष्णू इमौ । गङ्गे अमू । पचेते इमौ । 'मणीवोष्ट्रस्य' में 'इव' के अर्थ में 'व' शब्द अथवा 'वा' शब्द समझा जाय ।

संदर्भ—'प्लुत' के अनन्तर प्रसङ्गवश प्रगृह्य-संज्ञा का निर्वचन किया जा रहा है ।

विवरण—सूत्र में 'प्रगृह्य'—**संज्ञा** है । **संज्ञी**—'ईदूदेद्, द्विवचनम्' । अर्थात् द्विवचन में विद्यमान दीर्घ 'ई', 'ऊ' तथा 'ए'कार रूपात्मक शब्दों की प्रगृह्य-संज्ञा होती है । 'त' पर (ईत, ऊत्, एत्) कहने से द्विमात्रिक (दीर्घ) ई, ऊ, ए का ग्रहण होता है—ईच्च, ऊच्च, एच्च—एषां समाहारः—ईदूदेत् । **उदाहरण**—हरी+एतौ <हरी एतौ—'हरि' शब्द के प्रथमा द्विवचन में 'हरी' (दीर्घ 'ई') । उसके पश्चात् 'ए' रहने पर प्रगृह्य-संज्ञा होने से प्रकृतिभाव हुआ । यण् सन्धि नहीं हुई । अर्थ—ये दो सिंह हैं । २—इसी प्रकार ऊकारान्त द्विवचन का उदाहरण है—('विष्णु' शब्द का द्विवचन) विष्णू+इमौ=विष्णू इमौ । यहाँ भी यण् नहीं हुआ । अर्थ—ये दो विष्णु के स्वरूप । ३—एकारान्त द्विवचन का १—गङ्गे+अमू = गङ्गे अमू । अर्थ—ये दो गङ्गा के रूप हैं । २—एकारान्त-स्वरूप का—पचेते+इमौ = पचेते इमौ (√ पच्—'लट्' म. पु. द्विवचन) । यहाँ 'अय्' आदेश नहीं हुआ । अर्थ--ये दो पका रहे हैं ।

विशेष—१–अन्य वृत्तिकारों ने 'मणीव'[1] आदि शब्दों की सिद्धि के लिये प्रगृह्य संज्ञा-प्रकरण में ऐसे शब्दों के प्रतिषेध की व्यवस्था के उपाय सुझाये हैं । भाष्य तथा वार्तिककार ने ऐसा उल्लेख कहीं नहीं किया है । 'मणी+व' आदि शब्दों में 'मणी+इव' सन्धि नहीं है, किन्तु उपमानार्थक 'व' या 'वा' शब्द से इनकी साधुता है[2] । दम्पतीव, रोदसीव इत्यादि प्रयोगों की साधुता वैदिक प्रयोगों के द्वारा की जा सकती है ।

(१०१) पद—अदसः, मात् । **अनुवृत्ति**—ईदूत्, प्रगृह्यम् । **संज्ञासूत्र** ।

---

१. "मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम" । महाभारतम् ।

२. वं प्रचेतसि जानीयात् इवार्थे च तदव्ययम् । मेदिनी ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामकृष्णावमू आसाते। 'मात्' किम्? अमुकेऽत्र। असति माद्ग्रहणे एकारोऽप्यनुवर्तेत।

परस्य ईकारस्य अमी इति बहुवचनत्वाद् ऊकारस्य च मकारात्परस्य तत्र द्विवचनान्तेष्वेव सत्त्वेन व्यावर्त्याभावात्। अमी ईशा इति। अदश्शब्दाज्जसि त्यदाद्यत्वं पररूपत्वं जसश्शी, आद्गुणः, अदे इति स्थिते एकारस्य एत ईदिति ईत्वं दस्य च मत्वम्, अमी इति रूपम्। अत्र ईकारस्य द्विवचनत्वाभावात् पूर्वसूत्रेण प्रगृह्यसंज्ञा न प्राप्तेत्यनेन सा विधीयते। रामकृष्णावमू इति। पुंल्लिङ्गाददश्शब्दात् प्रथमाद्विवचने औङि, त्यदाद्यत्वं, पररूपत्वं, वृद्धिरेचि, अदौ इति स्थिते, अदसोऽसेरित्यौकारस्य ऊत्वम्, दस्य मत्वम्—अमू इति रूपम्। यद्यप्ययमूकारो द्विवचनं भवति, तथापि पूर्वसूत्रेण प्रगृह्यत्वे कर्तव्ये उत्वमत्वयोरसिद्धतया दकारादौकारस्यैव शास्त्रदृष्ट्या सत्त्वात् पूर्वसूत्रेण तस्य प्रगृह्यत्वं न प्राप्तमित्यनेन विधीयते। अदसो मादिति सूत्रं प्रति तु उत्वमत्वे नासिद्धे, आरम्भसामर्थ्यात्। पूर्वसूत्रस्य तु तत्र न सामर्थ्यम्, हरी एतौ, विष्णू इमावित्यादौ चरितार्थत्वात्। स्त्रियौ फले वा अमू आसाते इति स्त्रीलिङ्गो नपुंसकलिङ्गश्च अदश्शब्दो नात्रोदाहरणम्। तथा हि स्त्रीलिङ्गाददश्शब्दात् औङि, त्यदाद्यत्वे, पररूपत्वे, टापि, औङ आप इति शीभावे, आद्गुणे, अदे इति स्थिते उत्वमत्वयोरमू इति रूपम्। तथा नपुंसकलिङ्गात्तस्मादौङि, त्यदाद्यत्वे, पररूपत्वे, नपुंसकाच्चेति शीभावे, आद्गुणे, उत्वमत्वयोरमू इत्येव रूपम्। अत्र पूर्वसूत्रेणैव प्रगृह्यत्वं सिद्धम्। उत्वमत्वयोरसिद्धत्वेऽप्येकारस्य द्विवचनस्य सत्वात्। अतः पुंलिङ्ग एव अदश्शब्दः अत्रोदाहरणमिति प्रदर्शयितुं रामकृष्णाविति युक्तम्। मात्किमिति। अदस इत्येव सूत्रमस्तु। माद्ग्रहणस्य किं प्रयोजनमिति प्रश्नः। अमुकेऽत्रेति। 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' इत्यकचि अदकश्शब्दाज्जसि, त्यदाद्यत्वं, पररूपत्वम्, जसश्शी, आद्गुणः, उत्वमत्वे, अमुके इति रूपम्। अत्र एकारस्य प्रगृह्यत्वनिवृत्त्यर्थं माद्ग्रहणम्। कृते च तस्मिन् एकारस्य मात्परत्वाभावान्न प्रगृह्यत्वमिति भावः। नन्वेवमपि माद्ग्रहणं व्यर्थम्, एद्ग्रहणमनुवर्त्य ईदूतोरेवात्र प्रगृह्यत्वविधानाभ्युपगमेन अमुके इत्यत्र प्रगृह्यत्वप्रसक्तेरेवाभावादित्यत आह—असतीति। अदसो मादित्यत्र ईदूदेताम् एकसमासपदोपात्तानां मध्ये ईदूतोर्द्वयोरनुवृत्तिप्रसक्तौ माद्ग्रहणादेतोऽनुवृत्तिः प्रतिबद्धा। माद्ग्रहणाभावे

मूलार्थ—'अदस्' शब्द के मकार से परे 'ई' और 'ऊ' को प्रगृह्यसंज्ञा होती है। अमी ईशाः। रामकृष्णावमू आसाते। 'मात्' क्यों कहा? अमुकेऽत्र। 'मात्' ग्रहण न करने पर एकार की भी अनुवृत्ति होने लगेगी।

विवरण—सूत्र में 'अदसः' पद षष्ठी-विभक्ति में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ षष्ठी-विभक्ति अवयवार्थक है। 'ई', 'ऊ' तथा 'प्रगृह्यम्' की अनुवृत्ति आरही है। सूत्र का आशय यह है—"अदस्-शब्दावयव मकार के अनन्तर विद्यमान 'ई' तथा 'ऊ' को प्रगृह्य-संज्ञा होती है। **उदाहरण**—१—'ई'कार—(अदस्+जस्<अद+ई<अदे<अमी) अमी+ईशाः=अमी ईशाः। प्रगृह्य-संज्ञा होने का फल है प्रकृतिभाव। अतः 'दीर्घ' नहीं हुआ। २—'ऊ'कार—(अदस्+औ<अद+औ<अदौ<अमू) (रामकृष्णौ) अमू+आसते=रामकृष्णावमू आसाते। प्रगृह्यसंज्ञा एवं प्रकृतिभाव होने से 'यण्' सन्धि नहीं हुई।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'मात्' पद के अभाव में "ईदूदेद्०" सूत्र से एकार की भी अनुवृत्ति आने से 'अदस्'—शब्दावयव 'ई' 'ऊ' तथा 'ए' को प्रगृह्यसंज्ञा होने के फलस्वरूप 'अमुके+अत्र'='अमुकेऽत्र' में भी प्रगृह्य-संज्ञा की प्राप्ति होने लगेगी। तदनुसार पूर्वरूप नहीं होगा। 'मात्' पद को सूत्र में रखने पर 'अदस्' शब्दावयव मकार से 'ई,' 'ऊ,' 'ए' वर्णों के अव्यवहित परे रहते ही प्रगृह्यसंज्ञा होगी। 'मात्' पद पञ्चमी-विभक्ति में होने से "तस्मादित्युत्तरस्य" के सहयोग से 'अव्यव-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१०२) शे १।१।१३ ॥ अयं प्रगृह्यः स्यात् । अस्मे इन्द्राबृहस्पती । (१०३) निपात एकाजनाङ् १।१।१४ ॥ एकोऽजिनपात आङ्वर्जः प्रगृह्यः स्यात् । इ विस्मये । उ वितर्के । इ इन्द्रः । उ उमेशः । 'अनाङ्' इत्युक्तेरङ्दाकारः प्रगृह्य एव । आ एवं नु मन्यसे । आ एवं किल तत् । ङित्तु न प्रगृह्यः । ईषदुष्णम् ओष्णम् । 'वाक्यस्मरणयोरङित्' । अन्यत्र

तु बाधकाभावादेतोऽप्यनुवृत्तिः स्यात् । ततश्च अमुक इत्यत्रापि एकारस्य प्रगृह्यत्वप्रसक्तौ तन्निवृत्त्यर्थं माद्ग्रहणम् । कृते तु तस्मिन् एतोऽनुवृत्तिप्रतिबन्धादमुके इत्यत्र न प्रगृह्यत्वम् । तथा च एकारानुवृत्तिफलकं माद्ग्रहणमिति भावः ।

(१०२) शे । एकपदं सूत्रम् । प्रगृह्यमित्यनुवर्तते । छन्दसीत्यनुवृत्तौ 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्याजाल' इति विहितः शे इत्येकारान्त आदेशः प्रगृह्यः स्यादित्यर्थः । तदाह—अयमिति । 'शे' आदेश इत्यर्थः । अस्मे इति । अस्मभ्यमित्यर्थः । भ्यसः शे आदेशः । लशक्वतद्धित इति शकार इत् । शेषे लोपः । अस्मे इति रूपम् । अद्विवचनत्वाद्प्राप्तौ वचनम् । यद्यपि छान्दसमिदं वैदिकप्रक्रियायामेव निबन्ध्यम् । तथापि अस्मे इति, त्वे इति इत्याद्यवग्रहे लोकार्थत्वस्यापि सत्त्वादिह तन्निबन्धनम्, पदपाठस्याधुनिकत्वात् ।

(१०३) निपात एकाच् । प्रगृह्यमित्यनुवर्तते । पुंल्लिङ्गतया च विपरिणम्यते । एकश्चासावच्चेति कर्मधारयः । एकोऽजित्यादिना । इ विस्मये इति । इ इति चादित्वान्निपातः । स च आश्चर्ये वर्तत इत्यर्थः । इ इन्द्रः । उ उमेशः । इ इति उ इति निपातः सम्बोधने । उभयोरपि एकाच्त्वान्निपातत्वाच्च प्रगृह्यत्वान्न सन्धिः । अनाङित्यत्र ङकारानुबन्धस्य प्रयोजनमाह—अनाङित्युक्तेरिति । आ एवमिति । पूर्वप्रक्रान्तवाक्यार्थस्य अन्यथात्वद्योतकोऽयमाकारः । पूर्वमित्थं नामंस्थाः, इदानीं त्वेवं मन्यसे इत्यर्थः । आ एवमिति । स्मरणद्योतको-

---

हित' अर्थ की उपस्थिति होती है । तदनुसार 'अमुके+अत्र' में 'म'कार तथा 'ए'कार के मध्य 'उ' तथा 'क्' वर्ण हैं, अतः प्रगृह्यसंज्ञा की प्राप्ति नहीं होती । 'अदस्' शब्दावयव 'म्' के अनन्तर 'ई' तथा 'ऊ' ही मिलते हैं । अतः पूर्वसूत्र से एकार की अनुवृत्ति भी नहीं की जाती ।

(१०२) पद—शे । अनुवृत्ति—प्रगृह्यम् । संज्ञासूत्र ।

मूलार्थ—'शे' की प्रगृह्य-संज्ञा होती है । अस्मे इन्द्रा बृहस्पती ।

विवरण—वेद में चतुर्थी बहुवचन के स्थान पर 'शे' आदेश का विधान किया गया है । 'प्रगृह्यम्' की अनुवृत्ति आती है । अतः संज्ञा 'प्रगृह्य' है । 'शे'—संज्ञी । तदनुसार चतुर्थी बहुवचन में प्रयुक्त वैदिक 'शे' प्रत्यय की प्रगृह्य-संज्ञा होती है । उदाहरण—अस्मे इन्द्रा बृहस्पती (इन्द्र और बृहस्पति हम लोगों के लिये) । यहाँ 'अस्मे' पद में 'शे' प्रत्यय विहित है—अस्मद्+भ्यस् <अस्मद्+शे ("सुपां सुलुक्०" (७-१-३९) से सम्पूर्ण भ्यस् = शे), <अस्मद्+ए ('श्' की इत्संज्ञा तथा लोप), <अस्म्+ए ('टि'—अद्-भाग का लोप) = अस्मे । प्रगृह्यसंज्ञा होने से प्रकृतिभाव, अतः अय् आदेश नहीं हुआ ।

(१०३) पद—निपातः, एकाज्, अनाङ् । अनुवृत्ति—प्रगृह्यम् । संज्ञासूत्र ।

मूलार्थ—'आङ्' के अतिरिक्त एक स्वरवर्ण वाले निपात प्रगृह्य कहलाते हैं । इ विस्मये, इ इन्द्रः । उ वितर्के, उ उमेशः । सूत्र में 'अनाङ्' पद होने के कारण ङकार-इत्संज्ञक 'आ' की प्रगृह्य-संज्ञा होती है । आ एवं नु मन्यसे । आ एवं किल तत् । ङकार इत्संज्ञक 'आ' की प्रगृह्य-संज्ञा नहीं होती । ईषदुष्णम्, ओष्णम् । ईषत् अर्थ (थोड़ा), क्रियायोग, मर्यादा तथा अभिविधि इन अर्थों में 'आ' ङकारेत्संज्ञक है । अन्यत्र अर्थात् वाक्य तथा स्मरण में 'आ' ङकारेत्संज्ञक नहीं है ।

विवरण—'प्रगृह्य' संज्ञा है तथा—संज्ञी 'अनाङ्-एकाज्-निपातः' । तदनुसार सूत्रार्थ है—'आङ्' से भिन्न (न आङ्—अनाङ्) एक-स्वर-वर्णात्मक अन्य—(एकश्चासौ अच्च—एकाच्) निपात

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ङित्' इति विवेकः । (१०४) ओत् १ । १ । १५ ॥ ओदन्तो निपातः प्रगृह्यः स्यात् । अहो ईशाः । (१०५) सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे १ । १ । १६ ॥ सम्बुद्धिनिमित्तक

ऽयमाकारः । इहोभयत्रापि आकारस्य ङित्त्वाभावान्न पर्युदासः । ङित्त्विति । ङित्तु आकारः प्रगृह्यो न भवति अनाङिति पर्युदासादित्यर्थः । ओष्णमिति । आ उष्णमित्यत्र आकारस्य ङित्त्वात् प्रगृह्यत्वाभावे सति आद्गुणः । ननु प्रयोगदशायां ङकारस्याश्रवणाविशेषात् ङिदङिद्विवेकः कथमित्यत आह—वाक्येति । प्रक्रान्तवाक्यार्थस्यान्यथात्वे च अङित् । अन्यत्र । ईषदाद्यर्थे गम्ये ङिदिति । विवेकः—भेदोऽवगन्तव्य इत्यर्थः । तथा च भाष्यम्—

'ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः ।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित्' ॥ इति ।

एकः अच् यस्येति बहुव्रीहिस्तु नाश्रितः । तथा सति प्रेदमित्यादावतिप्रसङ्गात् ।

(१०४) ओत् । निपात इत्यनुवर्तते । ओदिति तस्य विशेषणम् । अतस्तदन्तविधिः । प्रगृह्यमित्यनुवर्तते । पुंल्लिङ्गतया च विपरिणम्यते । तदाह—ओदन्त इत्यादिना । अहो ईशा इति । अनेकाच्त्वात् पूर्वसूत्रेण अप्राप्तौ वचनम् ।

प्रगृह्य-संज्ञक होते हैं । फल—प्रकृतिभाव अर्थात् सन्धिकार्य का अभाव । **उदाहरण**—१—इ+इन्द्रः = इ इन्द्रः । ('इ' निपात का अर्थ विस्मय है) अर्थात् अरे ! इन्द्र हैं । अतः यहाँ दीर्घ-सन्धि नहीं हुई । २—उ+उमेशः = उमेशः । ('उ'—का अर्थ वितर्क है) अर्थात् क्या यह शिव हैं ? यहाँ भी दीर्घ नहीं हुआ । 'आ' तथा 'आङ्' दोनों चादिगण में पठित हैं । शुद्ध 'आ' निपात होने के कारण प्रगृह्यसंज्ञक होता है । ङकार इत्संज्ञक 'आ' को प्रगृह्य-संज्ञा नहीं होती । इसी को यहाँ कारिका द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है कि "वाक्य और स्मरण अर्थ में 'आ' का अभिप्राय शुद्ध 'आ' से होता है । किन्तु अन्यत्र अर्थात् अल्प-अर्थ में, क्रिया के योग में, मर्यादा अर्थ में, तथा अभिविधि अर्थ में 'आ' को 'आङ्' के रूप में समझा जाय" । अतः ३—'आ एवं नु मन्यसे' में 'आ' को प्रगृह्य-संज्ञा हुई तथा प्रकृतिभाव होने के कारण वृद्धि-सन्धि नहीं हुई । अर्थ—आप् वैसा समझने लगे हैं ('आ'—वाक्य में) । ४—'आ एवं किल तत्'—यहाँ भी 'आ' की प्रगृह्यसंज्ञा हुई । प्रकृतिभाव एवं वृद्धि-सन्धि नहीं हुई । अर्थ—मुझे याद है कि यह बात वैसी ही है ('आ'—स्मरणार्थक) । वाक्य और स्मरण अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थों में प्रयुक्त 'आङ्' की प्रगृह्य-संज्ञा न होने से आ+उष्णम् = ओष्णम् में गुण-सन्धि हुई है । अर्थ—थोड़ा गरम है (आङ्—ईषद् अर्थ में) ।

विशेष—संज्ञा-प्रकरण में चादि शब्दों को "चादयोऽसत्त्वे" (१-४-५७) सूत्र से निपात-संज्ञा का विधान बतलाया जा चुका है । चादि गण में एक-स्वर-वर्णात्मक ११ निपात पड़े गए हैं । तदनुसार वे इस प्रकार हैं—अ (आक्षेप), आ (वाक्य और स्मरण), इ (सम्बोधन, विस्मय), ई (सम्बोधन), उ (सम्बोधन, वितर्क), ऊ (सम्बोधन), ए (सम्बोधन), ऐ (सम्बोधन), ओ (सम्बोधन) औ (सम्बोधन) और आङ् (मर्यादा, अल्पार्थक) । इन ग्यारहों में से 'आङ्' को छोड़कर शेष दस एक-स्वर-वर्णात्मक निपात प्रगृह्य-संज्ञक होते हैं ।

(१०४) पद—ओत् । **अनुवृत्ति**—निपातः, प्रगृह्यम् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—ओकारान्त निपात की प्रगृह्य-संज्ञा होती है । अहो ईशाः ।

विवरण—**संज्ञा**—'प्रगृह्य' । **संज्ञी**—'ओत्, निपातः' । अनुवृत्त पदों की सहायता से सूत्रार्थ पूर्ण होता है । सूत्रस्थ 'ओत्' पद अनुवृत्त 'निपातः' पद का विशेषण है । अतः तदन्तविधि होने से ओकारान्त निपात-वाचक शब्दों की प्रगृह्य-संज्ञा होगी । **उदाहरण**—अहो+ईशाः = अहो ईशाः । 'अहो' ओकारान्त निपात है, अतः प्रगृह्य-संज्ञा हुई । 'अहो' के पश्चात् अच्-'ईकार' के रहने से प्रकृतिभाव होने पर अय्-आदेश नहीं हुआ । अर्थ—अहो ! देवगण हैं ।

विशेष—निपात-संज्ञकों में ओकारान्त निपात छह हैं—ओ, आहो, उताहो, हो, अहो और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिक इतौ परे। विष्णो इति–विष्ण इति–विष्णविति। अनार्षे इति किम्? ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत्। (१०६) उञः १।१।१७॥ उञ इतौ वा प्रागुक्तम्।

---

(१०५) सम्बुद्धौ शाकल्यस्य। सम्बुद्धाविति निमित्तसप्तमी ओदित्यनुवृत्तेन अन्वेति। प्रगृह्यमित्यनुवर्तते, ङ्ल्लिङ्गतया च विपरिणम्यते। ऋषिर्वेदः, तदुक्तमृषिणेत्यादौ तथा दर्शनात्। ऋषौ भवः आर्षः। न आर्षः अनार्षः। अवैदिके इति शब्दे परत इत्यर्थः। शाकल्यग्रहणाद्विकल्पः। तदाह—सम्बुद्धिनिमित्तक इत्यादिना। विष्णो इतीति। अत्र ओकारः ह्रस्वस्य गुण इति सम्बुद्धिनिमित्तकः। अत्र ओदन्तत्वेऽपि निपातत्वाभावादप्राप्ते विभाषेयम्। विष्णवितीति प्रगृह्यत्वाभावे रूपम्।

(१०६) उञः। एकपदं सूत्रम्। शाकल्यस्य इतौ प्रगृह्यमिति चानुवर्तते। उ इति ञित् उकारः निपातः। तस्य इति शब्दे परे शाकल्यमते प्रगृह्यसंज्ञा स्यादित्यर्थः। तदा—उञ इतौ वा प्रागुक्तमिति। पूर्वोक्तं प्रगृह्यत्वमित्यर्थः। उ इति वितीति। निपात एकाजिति नित्यं प्राप्ते विकल्पोऽयम्। प्रगृह्यत्वपक्षे प्रकृतिभावे प्रथमं रूपम्। तदभावपक्षे यणादेशे द्वितीयं रूपम्।

अथो। इनमें से 'ओ' को एक-अच् वर्णात्मक होने से पूर्व-सूत्र ("निपात एकाजनाङ्") से प्रगृह्य-संज्ञा प्राप्त होती है। अवशिष्ट पाँच ओकारान्त निपातों के विषय में इस सूत्र की उपयोगिता है।

(१०५) पद—सम्बुद्धौ, शाकल्यस्य, इतौ, अनार्षे। अनुवृत्ति—ओत्, प्रगृह्यम्। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—वैदिक प्रयोग से भिन्न 'इति' शब्द के पश्चाद्वर्ती रहने पर उसके पूर्व सम्बुद्धि-निमित्तक 'ओ' कार को विकल्प से प्रगृह्य-संज्ञा होती है।

विवरण—'प्रगृह्य'—संज्ञा। संज्ञी—'सम्बुद्धौ ओत्'। 'सम्बुद्धौ' पद में प्रयुक्त सप्तमी विभक्ति निमित्त अर्थ को सूचित करती है। पाणिनि के अनुसार सम्बोधन का एकवचन 'सम्बुद्धि'-संज्ञक है—"एकवचनं सम्बुद्धिः" (२-३-४९)। तदनुसार सूत्रार्थ इस प्रकार होगा—"सम्बोधन के एक-वचन को मानकर होने वाले 'ओ' कार के अनन्तर वैदिक प्रयोग से भिन्न 'इति' शब्द के रहने पर शाकल्य के मत में उसकी प्रगृह्य-संज्ञा होती है"। अन्य आचार्यों के मत में नहीं होती। उदाहरण—१—विष्णो+इति = विष्णो इति। यहाँ पर 'विष्णु' शब्द के सम्बोधन का एकवचन 'विष्णो' रूप 'गुण' होकर बना है—"ह्रस्वस्य गुणः" (७-३-१०८)। अतः 'ओ' सम्बुद्धि-निमित्तक है। इसलिये प्रगृह्य-संज्ञा एवं प्रकृतिभाव हुआ। विकल्प होने से पक्ष में २—विष्ण इति। प्रक्रिया—विष्णो+इति, <विष्ण् अव्+इति (ओ = अव्) = विष्ण इति (वैकल्पिक-'व्'-लोप—"लोपः शाकल्यस्य")। 'व्' लोप न होने पर ३—विष्णविति (अर्थ—हे विष्णो! इस प्रकार)। प्रत्युदाहरण—सूत्र में "अनार्षे" (वेद से भिन्न) पद की सार्थकता के कारण 'ब्रह्मबन्धो+इति अब्रवीत्' में प्रगृह्यसंज्ञा नहीं हुई, क्योंकि यह ओकारान्त सम्बुद्धि-पद वैदिक-प्रयोग को अभिलक्षित कर प्रयुक्त हुआ है। अतः 'अव्' आदेश = ब्रह्मबन्ध् अव्+इत्यब्रवीत्<ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत्। यह प्रयोग वैदिक होने के कारण 'व्'-लोप भी नहीं हुआ। अर्थ है—हे ब्रह्मबन्धो! ऐसा कहा।

(१०६) पद—उञः। अनुवृत्ति—शाकल्यस्य, इतौ, प्रगृह्यम्। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—'उञ्' के अनन्तर 'इति' शब्द रहने पर पूर्वोक्त कार्य विकल्प से होता है। उ इति। विति।

विवरण—'प्रगृह्य' संज्ञा। संज्ञी—'उञ्'। प्रकरण प्रगृह्यसंज्ञा का चल रहा है। 'ञ्'-इत्संज्ञक निपातवाचक 'उ' के अनन्तर 'इति' शब्द के रहने पर शाकल्य के मत में उसको प्रगृह्य समझा जाय। अन्य आचार्यों की इस विषय में सहमति नहीं है। उदाहरण—उ+इति = उ इति—प्रगृह्य-संज्ञा के फलस्वरूप प्रकृतिभाव होने के कारण 'यण्'-सन्धि की प्रवृत्ति नहीं हुई। पक्ष में 'यण्' होकर विति। अर्थ—'उ' का उच्चारण।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उ इति–विति। (१०७) ऊँ १। १। १८॥ उञ इतौ दीर्घोऽनुनासिकः प्रगृह्यश्च ऊँ इत्ययमादेशो वा स्यात्। ऊँ इति–विति। (१०८) मय उञो वो वा ८। ३। ३३॥ मयः परस्य उञो वो वा स्यादचि। किमु उक्तम्, किम्वुक्तम्। वस्यासिद्धत्वान्नानुस्वारः।

---

(१०७) ऊँ। इदमप्येकपदं सूत्रम्। ऊँ इति दीर्घस्य अनुनासिकस्य ऊकारस्य लुप्तप्रथमाविभक्तिकस्य निर्देशः। उञ इत्यनुवर्तते। इतौ शाकल्यस्य प्रगृह्यमिति च। तदाह—उञ इतावित्यादिना। ऊँ इतीति। उक्तविधे ऊँकारादेशे रूपम्। प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिभावः। एतदादेशाभावपक्षे पूर्वसूत्रेण प्रगृह्यत्वे सति उ इतीति रूपम्। प्रगृह्यत्वस्याप्यभावे सति यणादेशे वितीति रूपमिति त्रीणि रूपाणि फलितानि। तदेवम् उञ ऊँ इत्येकमेव सूत्रं विभज्य व्याख्यातम्। एकसूत्रत्वे तु उञः इतौ परे ऊँ इत्ययं दीर्घोऽनुनासिकः प्रगृह्यश्चादेशः शाकल्यमते स्यात्। तदभावपक्षे तु 'निपात एकाच्' इति नित्यं प्रगृह्यत्वमित्येतावल्लभ्येत। ततश्च ऊँ इति उ इतीति पदद्वयमेव स्यात्, वितीति रूपं न लभ्येत। अतो विभज्य व्याख्यातम्।

(१०८) मय उञो वो वा। मय इति षष्ठी 'ङमो ह्रस्वा'दितः अचीत्यनुवर्तते। तदाह—मयः परस्येत्यादिना। किम्वुक्तमिति। किमु उक्तमिति स्थिते मकारादुकारस्य उञो 'निपात एकाच्' इति नित्यं प्रगृह्यत्वाद् प्रकृतिभावात् यणभावे प्राप्ते वत्ववचनमिदम्। ननु तर्हि इको यणचीत्यनन्तरमेव मय उञो वेति पठितव्यम्। वग्रहणाभावेन लाघवात् त्रिपाद्यां पाठे वग्रहणस्यापि कर्तव्यत्वेन गौरवादित्यत आह—वस्येति। यदि षष्ठस्य प्रथमे पादे

विशेष—प्रगृह्य संज्ञा तो "निपात एकाजनाङ्" से प्राप्त थी। विकल्प-विधान के लिये पृथक् सूत्र की सार्थकता है।

(१०७) पद—ऊँ। अनुवृत्ति—उञः, शाकल्यस्य, इतौ, प्रगृह्यम्। (विधि)-सञ्ज्ञासूत्र।

मूलार्थ—'उञ्' के अनन्तर 'इति' शब्द के रहने पर उसे 'ऊँ' आदेश होता है तथा उसकी 'प्रगृह्य' संज्ञा भी विकल्प से होती है। ऊँ इति।

विवरण—इस सूत्र में 'विधि' तथा 'संज्ञा' दोनों कार्य निर्दिष्ट हैं। अतः 'उञ्' के स्थान में शाकल्य के मत से प्रगृह्यसंज्ञक 'ऊँ' आदेश होता है। इस कारण यह विकल्प-विधान माना जाता है। उदाहरण—उ+इति = ऊँ इति। प्रक्रियः—उ = ऊँ। प्रगृह्यसंज्ञा के फलस्वरूप प्रकृतिभाव होने से यण्-सन्धि की अप्रवृत्ति। 'ऊँ' आदेश के अभाव में पूर्वोक्त रूप—'विति'।

विशेष—यदि इन दो सूत्रों के स्थान पर "उञ ऊँ" एक ही सूत्र माना जाय तो 'उञ्' से 'इति' शब्द परे रहते 'उञ्' के स्थान पर 'ऊँ' आदेश तथा प्रगृह्य-संज्ञा विकल्प से होंगे। इस विकल्प के अभाव में "निपात एकाजनाङ्" के अनुसार नित्यप्रगृह्य-संज्ञा होने के फलस्वरूप 'ऊँ इति' तथा 'उ इति' ये दो रूप ही बनेंगे। 'विति' रूप की सिद्धि नहीं हो सकेगी। इस कारण दो पृथक् सूत्रों की कल्पना की गई है।

(१०८) पद—मयः, उञः, वः, वा। अनुवृत्ति—अचि। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'मय्' के अनन्तर 'उञ्' के स्थान में वकार आदेश, उस 'उ' के पश्चात् किसी स्वरवर्ण के रहने पर, विकल्प से होता है। किमु उक्तम्—किम्वुक्तम्। 'व' कार के असिद्ध होने से अनुस्वार नहीं हुआ।

विवरण—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिये "ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्" (८-३-३२) सूत्र से 'अचि' पद की अनुवृत्ति की जाती है। 'उञ्' स्थानी है तथा 'व्' आदेश है। मयः पञ्चम्यन्त पद है। मय् = यकार को छोड़कर वर्गों के सभी वर्ण। उञ् = निपातसंज्ञक अव्यय। तदनुसार सूत्रार्थ होगा—'मय्' प्रत्याहार के अन्तर्गत वर्ण के अनन्तर विद्यमान 'उ' (उञ्) के स्थान पर उसके पश्चाद्वर्ती स्वर-वर्ण के होने पर ही विकल्प से 'व्' आदेश होता है। उदाहरण—किम्+उ+

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१०९) ईदूतौ च सप्तम्यर्थे १।१।१९ ॥ सप्तम्यर्थे पर्यवसन्नमीदूदन्तं प्रगृह्यं स्यात्। सोमो गौरी अधिश्रितः। मामकी तनू इति। 'सुपां सुलुक्—' (सू ३५६१) इति सप्तम्या लुक्। अर्थग्रहणं किम्? वृत्तावर्थान्तरोपसङ्क्रान्ते मा भूत। वाप्यामश्वो वाप्यश्वः।

इको यणचीत्यत्रैव मय उञो यणादेशविकल्पो विधीयेत, तर्हि किम्वुक्तमित्यत्र मोऽनुस्वार इति मकारस्य वकारे परे अनुस्वारः स्यात्। त्रिपाद्यां वत्वविधौ तु तस्यासिद्धत्वान्नानुस्वारः। त्रिपाद्यनुस्वारविध्यपेक्षया वत्वविधेः परत्वादिति भावः।

(१०९) ईदूतौ च। प्रगृह्यमित्यनुवर्तते। तच्च द्विवचनान्ततया विपरिणम्यते। शब्दस्वरूपस्य विशेष्यत्वात्तदन्तविधिः। ईदूतौ च सप्तम्यावित्येव सिद्धे अर्थग्रहणाद्यत्र सप्तम्या लुकि 'यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी' इति न्यायेन प्रकृतेरेव सप्तम्यर्थे पर्यवसानं तथाविधत्वमीदूदन्तयोर्गम्यते। तथा च सप्तम्यर्थे पर्यवसन्नावीदूदन्तौ शब्दौ प्रगृह्यौ स्त इत्यक्षरार्थः। फलितमाह—सप्तम्यर्थ इत्यादिना। सोमो गौरी अधिश्रित इति। गौर्यामित्यर्थः। सुपां सुलुगिति सप्तम्या लुक्। प्रगृह्यत्वे प्रकृतिभावान्न यण्। वातप्रमीत्यादिसप्तम्यन्तं तु नात्रोदाहरणम्, तत्र सप्तम्या लुप्तत्वाभावेन प्रकृतेः सप्तम्यर्थे अप्रवृत्तेः। मामकी तनू इति। मामक्यां तन्वामित्यर्थः। सुपां सुलुगिति सप्तम्या लुक्। प्रगृह्येभ्यः परत इतिशब्दप्रयोगस्य पदकारैर्नियमितत्वात्। पदपाठे मामकी इति तनू इतीत्यत्र प्रगृह्यत्वफलं बोध्यम्। ननु 'ईदूतौ च सप्तम्याः' इत्येव सूत्र्यताम्। षष्ठ्या च अर्थद्वारा सम्बन्धो विवक्ष्यताम्। ततश्च सप्तम्यर्थे विद्यमानमीदूदन्तमित्यर्थस्य अर्थग्रहणं विनैव लाभादर्थग्रहणं किमर्थमिति पृच्छति—अर्थग्रहणं किमिति। कस्मै प्रयोजनायेत्यर्थः। किमित्यव्ययम्। वृत्ताविति। अर्थग्रहणसामर्थ्यात् लुप्तसप्तम्यर्थमात्रे पर्यवसन्नमित्यर्थो विवक्षितः। ततश्च समासवृत्तौ लुप्तसप्तमीके ईदूदन्तपूर्वपदे सप्तम्यर्थमतिलङ्घ्य उत्तरपदार्थे प्रवृत्ते सति प्रगृह्यसञ्ज्ञा न भवति। मा भूदिति। माङि लुङ्। सर्वलकारापवादः। वाप्यामश्वो वाप्यश्च इति।

उक्तम्, <किम् व् उक्तम् = १—किम्वुक्तम् (उ = व्)। पक्ष में—२—किंमु उक्तम्। इस वाक्य का अर्थ है—क्या कहा? यहाँ वकार के न होने पर "निपात एकाजनाङ्"—से प्रगृह्यसंज्ञा होने से प्रकृतिभाव। अतः दीर्घ नहीं हुआ।

विशेष—वकारादेश होने पर किम् व्+उक्तम्—इस स्थिति में 'म्' के स्थान पर 'व्' (हल्) परे रहते अनुस्वार की प्राप्ति होती है। "पूर्वत्रासिद्धम्" परिभाषा की उपस्थिति होने से 'वकार'-आदेश "मोऽनुस्वारः" की दृष्टि में न होने के समान है। अतः 'हल्' परे न होने के कारण उसकी प्रवृत्ति नहीं होती।

(१०९) पद—ईदूतौ, च, सप्तम्यर्थे। **अनुवृत्ति**—प्रगृह्यम्। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—सप्तमी के अर्थ में स्थिर रहने वाले ईकारान्त एवम् ऊकारान्तरूप की प्रगृह्यसंज्ञा होती है। सोमो गौरी अधिश्रितः। मामकी तनू इति। "सुपां सुलुक्"० सूत्र से सप्तमी का लोप। 'अर्थ' ग्रहण क्यों किया? समासादिक में अन्य अधिक अर्थ से सम्बद्ध होने पर न हो। वाप्यामश्वो वाप्यश्वः।

विवरण—प्रगृह्य—संज्ञा। संज्ञी—(सप्तम्यर्थे) ईदूतौ। 'ई' तथा 'ऊ' में तदन्तविधि है। इस प्रकार सप्तमी के अर्थ में निष्पन्न (पर्यवसित) ईकारान्त एवम् ऊकारान्त शब्द प्रगृह्य-संज्ञक होते हैं। **उदाहरण**—१—सोमो गौरी अधिश्रितः। २—मामकी तनू इति। इनमें से पहला उदाहरण 'ई' कारान्त शब्दस्वरूप तथा दूसरा 'ऊ'कारान्त शब्दस्वरूप का है। प्रथम उदाहरण में संगति—गौरी+ङि (सप्तमी विभक्ति का एकवचन) = गौरी। यहाँ सप्तमी-विभक्ति का लोप होने पर भी 'गौरी' शब्द 'सप्तमी' के अर्थ में ('गौर्याम्' के प्रयोग की तरह) निष्पन्न है। अर्थ—सोम वाणी पर आश्रित है। इसी प्र०।२ तनू ङि० = 'तनू' में भी ('तन्वाम्' के प्रयोग के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(११०) अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः ८।४।५७ ॥ अप्रगृह्यस्याणोऽवसानेऽनुनासिको वा स्यात् । दधिँ—दधि । 'अप्रगृह्यस्य' किम् ? अग्नी ।

इति प्रकृतिभावप्रकरणम् । इत्यचसन्धिः ।

वाप्याम् अश्व इति विग्रहे सुप्सुपेति समासे वाप्यश्व इति रूपमित्यर्थः । अत्र वाप्यामिति सप्तम्या अधिकरणत्वमवगतम् । तच्चाधिकरणकारकं क्रियापेक्षम् । तत्र वाप्यामश्वो वर्तते इति क्रियाध्याहारे वर्तमानक्रियायां वाप्या अधिकरणत्वेन अश्वस्य कर्तृत्वेनान्वयात्तयोः परस्परमन्वयाभावादसामर्थ्यात् समासो नोपपद्यते । वाप्यां विद्यमानोऽश्वः इति विद्यमानपदस्याध्याहारेऽपि अश्वपदेनासामर्थ्यात् समासो न सम्भवति । अतः वाप्यामित्यस्य वाप्यां विद्यमाने अश्वे लक्षणया प्रवृत्तिं पुरस्कृत्य समासो वक्तव्यः । एवं च समासे लुप्तसप्तमीकस्य वापीशब्दस्य सप्तम्यर्थमतिलङ्घ्य तत्संसृष्टे आधेयभूते अश्वेऽपि प्रवृत्तेः सप्तम्यर्थमात्रविश्रान्त्यभावान्न प्रगृह्यत्वमिति भावः ।

(१९०) अणोऽप्रगृह्यस्य । वा अवसाने इत्यनुवर्तते । तदाह—अप्रगृह्येत्यादिना । अत्र

समान) समझा जाय । अर्थ—मेरे शरीर में । दोनों उदाहरणों में प्रगृह्यसंज्ञा के फलस्वरूप प्रकृतिभाव होने से 'यण्'–सन्धि नहीं हुई । प्रत्युदाहरण—इस सूत्र में 'अर्थ'–ग्रहण न करने पर भी 'सप्तमी'–पद से अर्थ का आक्षेप हो जाने पर उपर्युक्त उदाहरणों की सिद्धि तो हो सकती है । अतः सूत्र में 'अर्थ' ग्रहण क्यों किया ? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि समासादि वृत्तियों में सप्तमी के अतिरिक्त अन्य अधिक अर्थ का भी ग्रहण हो जाता है । ऐसे स्थलों पर प्रगृह्य-संज्ञा न होने के लिये 'अर्थ' पद की सार्थकता है । जैसे–वाप्याम् अश्वः = वाप्यश्वः । यहाँ पर "सुप्सुपा" अथवा "संज्ञायाम्" से सप्तमीविभक्ति में समास हुआ है । समास होने के पश्चात् वापी+अश्वः—मे यण्-सन्धि होती है । उसका कारण यह है कि यहाँ 'वापी' शब्द से केवल सप्तमी-विभक्ति का अर्थ सूचित नहीं होता किन्तु उसका सम्बन्ध अश्व के साथ भी संक्रान्त हो गया है । तदनुसार इसका अर्थ है—तालाब में घोड़ा । अतः प्रगृह्य-संज्ञा नहीं हुई ।

विशेष—१—वृत्तियाँ पाँच मानी गई हैं—१–कृत्, २–तद्धित, ३ समास, ४–सनाद्यन्त-धातु तथा ५–एकशेष । इनके कारण किसी भी 'शब्द' के मूलार्थ का विस्तार हो जाता है । अतः वाप्याम्–अश्वः = 'वाप्यश्वः' में सप्तमी-समास होने पर 'वापी' शब्द का अर्थ 'अश्व' शब्द के साथ संक्रान्त हो जाता है । २—वैदिक लोग पदपाठ करने पर द्विवचनान्त 'ई' 'ऊ' तथा 'ए' शब्द-स्वरूप के पश्चात् (मामकी इति, तनू इति) 'इति' शब्द का प्रयोग करते हैं । अतः पदपाठ में ही प्रगृह्य-संज्ञा का फल दिखाई पड़ता है ।[1]

(११०) पद—अणः, अप्रगृह्यस्य, अनुनासिकः । **अनुवृत्ति**—वा, अवसाने । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अवसान में रहने पर अप्रगृह्य 'अण्' के स्थान पर विकल्प से अनुनासिक होता है । दधिँ—दधि । अप्रगृह्य क्यों कहा ? अग्नी ।

विवरण—सूत्र का अर्थ पूर्ण होने के लिये "वाऽवसाने" (८-४-५६) से 'वा' तथा 'अवसाने' पदों की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार **स्थानी** है—प्रगृह्य-भिन्न 'अण्' (अ, इ, उ) तथा **आदेश** है—अनुनासिक । **निमित्त** है—अवसान । अर्थात् प्रगृह्यभिन्न निरनुनासिक अ, इ, उ, वर्ण पद के अन्त में रहने पर विकल्प से सानुनासिक हो जाते हैं । **उदाहरण**—दधिँ (दही) । इस उदाहरण में 'दधि' शब्दावयव अन्तिम इकार अवसान (अन्त) में रहने के कारण 'सानुनासिक' हो गया । पक्ष में यथास्थित निरनुनासिक रहा—दधि । **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में 'अप्रगृह्य' पद न रखने पर अवसान में प्रगृह्यसंज्ञक 'अण्'—वर्णों को भी अनुनासिक होने लगेगा । उसके निवारणार्थ 'अप्रगृह्य'

---

१. प्रगृह्येषु इति-शब्दप्रयोगस्य पदकारैर्नियमितत्वात् पदपाठे प्रगृह्यत्वफलमत्र बोध्यम् । ल० शे० शे० ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ हल्सन्धिप्रकरणम्

(१११) स्तोः श्चुना श्चुः ८ । ४ । ४० ॥ सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः । हरिश्शेते । रामश्चिनोति । सच्चित् । शार्ङ्गिञ्जय ।

ऋण् पूर्वेणैव णकारेण व्याख्यानात् । ततश्च कर्तृ इत्यत्र नानुनासिकः । इत्यच्सन्धीति । अल्पाच्तरमिति, सिद्धमनच्त्वादिति, कथमनच्त्वमिति च सूत्रवार्तिकभाष्यप्रयोगादेवं जातीयस्थलेषु असन्देहार्थं सन्ध्यभावोऽभ्यनुज्ञातः । अतोऽत्र कुत्वश्चुत्वयोरभावेऽपि च दोषः ।

इति श्रीवासुदेवदीक्षितविदुषा विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां बालमनोरमायाम् अच्सन्धौ प्रकृतिभावप्रकरणं समाप्तम् ।

---

(१११) स्तोः श्चुना श्चुः । स् च तुश्चेति समाहारद्वन्द्वः । पुंस्त्वमार्षम् । इतरेतरयोगद्वन्द्वो वा । तथा सत्येकवचनमार्षम् । एवं श्चुना श्चुरित्यत्रापि । श्चुनेति । सहार्थे तृतीया । योगे इत्यध्याहार्यम् । ततश्च सहशब्दयोगाभावेऽपि तदर्थस्य गम्यत्वात् तृतीया युज्यते, अस्मादेव निर्देशात् । तदाह—सकारतवगयोरित्यादिना । अत्र स्थान्यादेशानां यथासङ्ख्यं भवति । ततश्च सकारस्य शकारः, तवर्गस्य चवर्गः । तथापि त-थ-द-ध-नानां क्रमेण च-छ-ज-झ-ञ-इति फलितम् । त-थ-द-ध-नेत्यादिक्रमस्याप्यनादिलोकसिद्धत्वात् । श्चुना योगे इत्यत्र न यथासङ्ख्यमित्युत्तरसूत्रे वक्ष्यते । ततश्च सकारस्य तवर्गस्य शकारेण चवर्गेण च यथासम्भवं योगे श्चुत्वं भवति । हरिश्शेते इति । हरिस् शेते इति स्थिते,

---

पद की सार्थकता है । अतः 'अग्निी' में 'ई'कार अवसान में होते हुए भी "ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" के अनुसार द्विवचन में प्रगृह्य-संज्ञक होने के कारण अनुनासिक नहीं हुआ । अर्थ—अग्नि के दो रूप ।

उपसंहार—यहाँ 'अचों' का सन्धि-निरूपण समाप्त होता है । अर्थात् स्वरवर्णों के संहिता—(सान्निध्य)—निमित्तक नियमों का प्रकरण यहाँ पूरा हुआ । व्यञ्जनसन्धि के नियमानुसार 'अच्-सन्धि' शब्द में 'च्' के स्थान पर 'क्' (कुत्व) होना चाहिये किन्तु स्वयं पाणिनि ने भी "अल्पाच्तरम्" (२-२-३४) ऐसा प्रयोग किया है । इसी प्रकार वार्तिक-कार ने 'सिद्धमनच्त्वात्' तथा भाष्यकार ने 'कथमनच्त्वम्' प्रयोगों द्वारा कुत्व (क्) का अभाव सूचित किया है । इन प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि समासादिवृत्ति-घटक अच्-पदों में पदान्त-कार्य की प्रवृत्ति नहीं होती[1] । कुत्व आदि करने पर उस शब्द के विषय में सन्देह हो जाता कि 'अच्' है या 'अक्' । अतः असन्देह के लिये कुत्व न करना आवश्यक था । 'शेखर' में 'स्वरसन्धिप्रकरणम्' उल्लेख हुआ है ।

स्वर-सन्धि समाप्त ।

हल्सन्धिप्रकरण

उपक्रम—स्वरसन्धि के पश्चात् व्यञ्जनों की सन्धि के विषय में नियमों का उल्लेख किया जा रहा है । सर्वप्रथम 'श्चुत्व' सन्धि का विधायक सूत्र प्रस्तुत किया गया है ।

(१११) पद—स्तोः, श्चुना, श्चुः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सकार-तवर्ग को शकार-चवर्ग के योग में शकार-चवर्ग होते हैं । हरिश्शेते । रामश्चिनोति । सच्चित् । शार्ङ्गिञ्जय ।

विवरण—स्थानी हैं—सकार तथा तवर्ग (त, थ्, द्, ध, न्) । **आदेश** हैं—शकार तथा चवर्ग । **निमित्त** (साहचर्य) है—शकार तथा चवर्ग (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) । स्थानी तथा आदेश समान-संख्यक होने के कारण "यथासंख्य" परिभाषा के नियम से क्रमशः

---

१. 'सिद्धमनच्त्वात्' इति वार्तिकप्रयोगेण, 'अल्पाच्तरम्' इति सौत्रप्रयोगेण, 'कथमनच्त्वम्' इति भाष्यप्रयोगेण च वृत्तिघटकाच्पदे पदान्तकार्यस्य तत्सन्निधानेनश्चुत्वस्य चाभावो बोध्यते ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(११२) शात् ८।४।४४ ॥ शात्परस्य तवर्गस्य श्चुत्वं न स्यात् । विश्नः । प्रश्नः ।

शकारेण योगात् सकारस्य शकारः । 'श्चुना योगे इत्यत्र न यथासङ्ख्य'मित्यस्य प्रयोजनं दर्शयितुं सकारस्य चकारयोगेप्युदाहरति—रामश्चिनोतीति । रामस् चिनोतीति स्थिते, चवर्गयोगात् सकारस्य शकारः । श्चुना योगे इत्यत्रापि यथासंख्याश्रयणे तु इह सकारस्य शकारयोगाभावात् शकारो न स्यादिति भावः । सच्चिदिति । सत् चित् इति स्थिते श्चुत्वस्यासिद्धत्वात् जश्त्वेन तकारस्य दत्वे, तस्य श्चुत्वेन जकारे, खरि चेति चर्त्वेन तस्य चकारे च रूपम् । शार्ङ्गिन् जयेति स्थिते, चवर्गयोगात् नकारस्य श्चुत्वं ञकारः ।

(११२) शात् । न पदान्तादिति पूर्वसूत्राद् नेत्यनुवर्तते । स्तोः श्चुना श्चुरित्यतः स्तोरिति, चुरिति चानुवर्तते । न तु सकारः शकारश्च । शादिति दिग्योगे पञ्चमी । परस्येत्यध्याहार्यम् । तदाह—शात्परस्येत्यादिना । विश्न इति । विच्छू गतौ । 'यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ्' इति नङ् । 'छ्वोश्शूङ्' इति छस्य शः । ङित्त्वान्न गुणः । शकारयोगात् तवर्गीयनकारस्य श्चुत्वेन ञकारे प्राप्ते निषेधः । पूर्वसूत्रे श्चुना योगे इत्यत्रापि यथासङ्ख्याश्रयणे तु इह तवर्गीयस्य नस्य चुना योगाभावेन चुत्वस्याप्रसक्ततया तन्निषेधो व्यर्थः स्यात् । एवञ्च अस्मादेव निषेधात् पूर्वसूत्रे श्चुना योगे इत्यत्र न यथासङ्ख्याश्रयणमिति विज्ञायते । प्रश्न इति । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् । पूर्ववत् नङादि । अत्र 'ग्रहिज्या' इति सम्प्रसारणं न । 'प्रश्ने चासन्नकाले' इत्यादिनिर्देशात् । अत्र वर्गपञ्चमानां नासिकास्थानाधिक्येऽपि तत्तद्वर्गीयैरस्ति सावर्ण्यमिति तुल्यास्यसूत्रे अवोचाम ।

प्रभावित होते हैं । तदनुसार—१—स् = श् , २—त् = च् , ३—थ् = छ् , ४—द् = ज् , ५—ध् = झ् , ६—न् = ञ् में परिवर्तित होते हैं । साहचर्य में रहने वाले वर्णों में 'यथा-संख्य' नियम नहीं लगता । अर्थात् शकार तथा चवर्ग में से किसी का भी साहचर्य होने से सकार तथा तवर्ग के स्थान में शकार तथा चवर्ग आदेश होंगे । **उदाहरण**—क्रमशः—१—(हरिः शेते) हरिस्+शेते <हरिश्शेते (हरि सोता है)—'स्' = 'श्' ('श्' के योग में) । २—रामस्+चिनोति <रामश्चिनोति (राम इकट्ठा करता है)—'स्' = 'श' ('च्' के योग में) । ३—सत्+चित् <सच्चित् (सत् और चित् स्वरूप)—'त्' = 'च्' ('च्' के योग में) । ४—शार्ङ्गिन्+जय <शार्ङ्गिञ्जय (हे विष्णु, तुम विजयी हो)—'न्' = ञ् ('ज्' के योग में) ।

विशेष—श्चुत्व-विधान में शकार तथा चवर्ग का साहचर्य सकार तथा तवर्ग से पूर्व अथवा पर कहीं भी रह सकता है ।

(११२) पद—शात् । **अनुवृत्ति**—न, तोः, चुः । **विधिसूत्र** (निषेध) ।

मूलार्थ—शकार के अनन्तर विद्यमान तवर्ग को चवर्ग नहीं होता ।

विवरण—प्रसङ्ग श्चुत्व का चल रहा है । सूत्र में केवल एक पद है—शात् । वह भी निमित्तवाचक है । पञ्चमी विभक्ति में होने से अर्थ होगा—शकार से परे । क्या हो ? चवर्ग न हो । किसके स्थान में ? तवर्ग के स्थान में । तदनुसार इस अर्थ की कल्पना के लिये "न पदान्ताट्टोरनाम्" (८-४-४२) से 'न', "तोः षि" (८-४-४३) से 'तोः' तथा "स्तोः श्चुना श्चुः" (८-४-४०) से 'चुः' पदों की अनुवृत्ति की जाती है । इस तरह आशय होगा—शकार के पश्चात् तवर्ग के स्थान पर चवर्ग नहीं होता है । **उदाहरण**—१—विश्+नः <विश्नः—'श्' के पश्चात् 'न्' को पूर्व सूत्र से (१११) प्राप्त 'ञ्' नहीं हुआ । प्रक्रिया—√विच्छ्+नङ् (न), <विश्+न—'च्छ्' = श्—"छ्वोः शूडनुनासिके च" (६-४-१९), <विश्न+सु (= र = :)=विश्नः (गति, कथन) २—प्रश्+नः <प्रश्नः । यहाँ भी श्चुत्व का निषेध हुआ । प्रक्रिया—√प्रच्छ्+नङ् (न), <प्रश्+न—च्छ् = श् , <प्रश्न+सु <प्रश्नः (पूछना) ।

विशेष—यह सूत्र "स्तोः श्चुना श्चुः" का अपवाद है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(११३) ष्टुना ष्टुः ८।४।४१ ॥ स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात् । रामष्षष्ठः । रामष्टीकते । पेष्टा । तट्टीका । चक्रिण्ढौकसे । (११४) न पदान्ताट्टोरनाम् ८ । ४ । ४२ ॥ 'अनाम्' इति लुप्तषष्ठीकं पदम् । पदान्ताट्टवर्गात्परस्यानामः स्तोः ष्टुर्न स्यात् । षट् सन्तः । षट् ते । 'पदान्तात्' किम् ? ईट्टे । 'टोः' किम् ? सर्पिष्टमम् । 'अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्'

---

(११३) ष्टुना ष्टुः । स्तोरित्यनुवर्तते । तदाह—स्तोरिति । अत्रापि स्थान्यादेशानां यथासङ्ख्यम् । न तु ष्टुयोगे इत्यत्र । रामष्षष्ठ इति । रामस् षष्ठ इति स्थिते षकारयोगात् सस्य ष्टुत्वेन षः । अत्रापि ष्टुना योग इत्यत्र न यथासङ्ख्यमित्यस्य प्रयोजनं दर्शयितुं सकारस्य टवर्गयोगेऽपि उदाहरति—रामष्टीकत इति । टीकृ गतौ । तट्टीकेति । तस्य टीकेति विग्रहः । तद् टीका इति स्थिते ष्टुत्वेन तस्य डत्वे चर्त्वम् । चक्रिण्ढौकस इति । ढौकृ गतौ चक्रिन् ढौकसे इति स्थिते टवर्गयोगात् नस्य ष्टुत्वेन णत्वम् ।

(११४) न पदान्तात् । अनामिति तोरित्यस्य विशेषणम् । ननु भिन्नविभक्तिकमेतत्कथं तद्विशेषणमित्यत आह—अनामिति लुप्तषष्ठीकमिति । नामवयवभिन्नस्येत्यर्थः । स्तोः ष्टुरित्यनुवर्तते । तदाह—पदान्तादित्यादिना । ईट्टे इति । 'ईड स्तुतौ' आत्मनेपदी । ईड् ते इति स्थिते, खरि चेति डस्य चर्त्वम्, ततः परस्य तकारस्य ष्टुत्वम् । तस्य टवर्गात् परत्वेऽपि पदान्तात् परत्वाभावाद् न ष्टुत्वनिषेधः । सर्पिष्टममिति । सर्पिष् तमम् इति स्थिते 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य वा पदत्वात् षकारस्य पदान्तत्वात्ततः परस्य तकारस्य ष्टुत्वनिषेधो न भवति, पदान्ताट्टवर्गात्परत्वाभावात् । न च षकारस्य 'झलाञ्जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन डकारे सति तकारस्य टोः परत्वात् ष्टुत्वनिषेधः स्यादेवेति वाच्यम्—'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' इति षत्वस्यासिद्धत्वेन जश्त्वाभावात् । इह आदेशप्रत्यययोरिति षत्वं तु न भवति, 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इत्यधिकारात् । अनाम्नवति ।

---

(११३) पद—ष्टुना, ष्टुः । अनुवृत्ति—स्तोः । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—सकार-तवर्ग के स्थान में पकार-टवर्ग के योग में षकार-टवर्ग होते हैं ।

सन्दर्भ—'श्चुत्व' के अनन्तर 'ष्टुत्व' सन्धि का निरूपण ।

विवरण—स्थानी का निर्देश सूत्र में नहीं किया गया है । "स्तोः श्चुना श्चुः" सूत्र से 'स्तोः' की अनुवृत्ति होने से सकार तथा त्, थ्, द्, ध्, न् के रूप में स्थानी विदित होते हैं । इनके स्थान में क्रमशः षकार तथा ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण् आदेश होते हैं । साहचर्य ष् तथा टवर्ग में से किसी का भी पूर्व या पर कहीं भी रहे तो ष्टुत्व होता है । उदाहरण—१—रामस्+षष्ठः <रामष्+षष्ठः—स्=ष् ('ष्' के योग में) । अर्थ—राम छठा है । २—रामस्+टीकते<रामष्टीकते (राम जाता है)—'स्' = ष् ('ट्' के योग में) । २—पेष्+ता <पेष्टा—त् = ट् ('ष्' के योग में) । अर्थ—पीसने वाला । ४—तत्+टीका<तट्टीका—त् = ट् ('ट्' के योग में) । अर्थ—उसकी टीका । ५—चक्रिन्+ढौकसे <चक्रिण्ढौकसे—न् = ण् ('ढ्' के योग में) । अर्थ—हे कृष्ण ! तुम जाते हो ।

विशेष—उदाहरणों में साहचर्य का प्रकार पूर्व तथा पर दोनों रूपों में विद्यमान है ।

(११४) पद—न, पदान्तात्, टोः, अनाम् । अनुवृत्ति—स्तोः, ष्टुः । विधिसूत्र (निषेध) ।

मूलार्थ—पदान्त टवर्ग के अनन्तर 'नाम्'-भिन्न सकार तथा टवर्ग को ष्टुत्व नहीं होता । वा० पदान्त टवर्ग से परे नाम्, नवति, नगरी इनसे भिन्न सकार-तवर्ग को 'ष्टुत्व' नहीं होता—ऐसा कहा जाय ।

विवरण—ष्टुत्व का निषेध किया जा रहा है । सूत्रस्थ 'अनाम्' पद में षष्ठी-विभक्ति का लोप माना जाता है । अर्थात् 'नाम्' (षष्ठी विभक्ति का बहुवचन) के विषय में इस निषेध की छूट

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वा ५०१६)। षण्णाम्। षण्णवतिः। षञ्णगर्यः। (११५) तोः षि ८।४।४३॥ तवर्गस्य षकारे परे न ष्टुत्वम्। सन्षष्ठः। 'झलां जशोऽन्ते' (सू ८४)। वागीशः।

ष्टुत्वप्रतिषेधे नाम एव पर्युदासो न भवति, किन्तु नवतिनगरीशब्दावयवनकारस्यापि पर्युदासो वक्तव्य इत्यर्थः। षण्णामिति। षष् नामिति स्थिते 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदान्तत्वात् षस्य जश्त्वेन डकारे 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इति तस्य णकारः। अत्र टवर्गयोगाद् नकारस्य टुत्वम्। न पदान्तादिति निषेधस्तु न, अनामिति पर्युदासात्। षण्णवतिरिति। षडधिका नवतिरिति विग्रहः। अत्रापि नकारस्य न टुत्वनिषेधः, नवतिशब्दस्यापि पर्युदासात्। षण्णगर्य इति। पृथक् पदे न तु कर्मधारयः। 'दिक्सङ्ख्ये संज्ञायाम्' इति नियमात्। अत्रापि न पदान्तादिति नगरीशब्दे नकारस्य टुत्वनिषेधो न भवति, नगरीशब्दस्यापि पर्युदासात्।

(११५) तोः षि। ष्टुरिति नेति चानुवर्तते। तदाह—तवर्गस्येति। सन्षष्ठ इति। अत्र

दी जा रही है। अनुवृत्त पदों को समवेत कर सूत्र का आशय होगा—"पद के अन्त में विद्यमान टवर्ग के पश्चात् रहने वाले 'स्' तथा 'टवर्ग' के स्थान पर, क्रमशः 'ष्' तथा 'टवर्ग' आदेश नहीं होते। इसके साथ ही टवर्ग के पश्चाद्वर्ती 'नाम्' शब्द के 'न्' को 'ण्' (टुत्व) का निषेध नहीं होता"। **उदाहरण**—१—षष्+सन्तः<षड्+सन्तः <षट्+सन्तः=षट् सन्तः (छह सज्जन)। पद के अन्त में स्थित 'ट्' के पश्चात् 'स्' को 'ष्' का निषेध। २—षष्+ते <षड्+ते <षट्+ते = षट् ते (वे छह)। यहाँ पर भी पदान्त में विद्यमान 'ट्' के अनन्तर 'त्' को 'ट्' नहीं हुआ। **प्रत्युदाहरण**—१—सूत्र में प्रयुक्त 'पदान्तात्' शब्द के रहने पर पदान्त भिन्न 'टवर्ग' के पश्चात् रहने वाले 'सकार' और 'तवर्ग' के स्थान पर क्रमशः 'षकार' और 'टवर्ग' होते हैं। अतः √ईड्+ते<ईट्+ते = 'ईट्टे' में इस निषेध की प्रवृत्ति न होने से ष्टुना ष्टुः से ष्टुत्व (त् = ट्) हो गया। निषेध न होने का कारण 'ट्' का पद के अन्त में रहना है। २—सूत्र में 'टोः' पद न रखने पर "ष्टुना ष्टुः" सूत्र से 'ष्टुना' पद की अनुवृत्ति आती। 'ष्टुना'—तृतीया विभक्ति षष्ठी-विभक्ति में परिवर्तित होकर सूत्र का अर्थ होता है कि पदान्त 'ष्' तथा 'टवर्ग' के पश्चाद्वर्ती 'स्' एवं 'तवर्ग' को ष्टुत्व का निषेध होता है। ऐसी स्थिति में 'सर्पिष्+तमम्' में पदान्त 'ष्' के पश्चात् विद्यमान 'त्' को 'ट्' प्राप्त नहीं होगा (ष्टुत्व का निषेध)। किन्तु यहाँ ष्टुत्व होना अभीष्ट है। अतः सूत्र में 'टोः' पद रखने पर केवल पदान्त 'टवर्ग' के पश्चाद्वर्ती 'स्' तथा 'तवर्ग' को ष्टुत्व का निषेध होता है न कि 'ष्' के पश्चाद्वर्ती 'तवर्ग' के स्थान में 'टवर्ग का। अतः सर्पिष्+तमम् = सर्पिष्टमम्—में 'ष्' के पश्चादवर्ती 'ट्' को "ष्टुना ष्टुः" से ष्टुत्व हो गया।

(वा०) वार्तिक-कार 'नाम्' के अतिरिक्त 'नवति' तथा 'नगरी' शब्दों के भी पदान्त टवर्ग के पश्चात् विद्यमान 'न्' को 'ण्' होने का विधान करते हैं। सूत्रकार ने 'अनाम्' पद द्वारा केवल 'नाम्' के 'न्' को 'ण्' होने का विधान किया था। इस तरह वार्तिक-कार ने तीन शब्दों का समावेश कर निषेध की प्रवृत्ति में अधिक संकोच कर दिया है। तदनुसार १—षष्+नवतिः <षड्+नवतिः = षण्णवतिः (छियावने)। यहाँ पर (नवति का) 'न्' = ण। पुनः 'ड्' = ण्—यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा" (८-४-४५)। पक्ष में 'षड् णवतिः' भी रूप बनेगा। २—षष्+नगर्यः <षड् नगर्यः = षण्णगर्यः (छह नगरी)। यहाँ भी पूर्ववत् 'न' = ण् तथा 'ड्' = ण्। पक्ष में 'षड् णगर्यः'।

(११५) **पद**—तोः, षि। **अनुवृत्ति**—न, ष्टुः। **विधिसूत्र** (निषेध)।

मूलार्थ—षकार परे होने पर 'तवर्ग' के स्थान पर ष्टुत्व नहीं होता। सन् षष्ठः। पद के अन्त में 'झल्'—वर्णों के स्थान पर 'जश्' वर्ण होते हैं। वागीशः। चिद्रूपम्।

विवरण—ष्टुत्व का निषेध किया जारहा है। अतः "न पदान्तात्०" से 'न' तथा "ष्टुना ष्टुः"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिद्रूपम्। (११६) **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ८।४।४५** ॥ यरः पदान्तस्यानुनासिके परेऽनुनासिका वा स्यात्। एतन्मुरारिः—एतद्मुरारिः। स्थानप्रयत्नाभ्यामन्तरतमे स्पर्शे चरितार्थो विधिरयं रेफे न प्रवर्तते। चतुर्मुखः। 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' (वा ५०१७) तन्मात्रम्। चिन्मयम्। कथं तर्हि 'मदोदग्राः ककुभन्तः' इति? यवादि-

---

नकारस्य पकारयोगात् दुत्वं प्राप्तं निषिध्यते। अस्मादेव ज्ञापकात् ष्टुना ष्टुरित्यत्र ष्टुना योगे इत्यत्र यथासङ्ख्यं नेति विज्ञायते। 'झलाञ्जशोऽन्ते'इत्यच्सन्धिनिरूपणे प्रसङ्गादुपन्यस्तम्। हल्सन्धिप्रस्तावे पुनस्तदुपन्यासः।

(११६) यरोऽनुनासिके। न पदान्ताट्टोरित्यतः पदान्तादित्यनुवर्तते। तच्च षष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते। तदाह—यरः पदान्तस्येति। एतन्मुरारिरिति कर्मधारयः। एतद् मुरारिरिति स्थिते दस्य अनुनासिको नकारः, दन्तस्थानसाम्यात् स्पृष्टप्रयत्नसाम्याच्च। ननु चतुर्मुख इत्यत्रापि रेफस्य अनुनासिको णकारः स्यात्, रेफणकारयोः स्पृष्टेषत्स्पृष्टप्रयत्नभेदेऽपि मूर्धस्थानान्तर्यादित्यत आह—स्थाने इति। एतन्मुरारिरित्यादौ स्थानतः प्रयत्नतश्चान्तरतमे स्पर्शे चरितार्थे लब्धप्रयोजनोऽयमनुनासिकविधिः स्थानमात्रेण आन्तर्यमादाय रेफे न प्रवृत्तिमर्हतीत्यर्थः। 'यूनि लब्धे तु युवतिर्जरठे रमते कथम्' इति न्यायादिति भावः। प्रत्यये भाषायां नित्यम्। वार्तिकमेतत्। भाषा लौकिकप्रयोगः। तत्र प्रत्यये विद्यमाने अनुनासिके परतः प्रागुक्तोऽनुनासिको नित्यं भवतीत्यर्थः। तन्मात्रमिति। तत्

से 'ष्टुः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार सूत्र का अर्थ होगा—षकार परे रहते 'तवर्ग' के स्थान पर 'टवर्ग' नहीं होता। **उदाहरण**—सन्+षष्ठः = सन् षष्ठः (छठा सज्जन)। यहाँ "ष्टुना ष्टुः" से प्राप्त ष्टुत्व का निषेध होने के कारण 'तवर्ग' (न्) के अनन्तर 'ष्' होने से 'ण्'–टवर्ग नहीं हुआ।

प्रसङ्गवश 'जश्'–विधान का स्मरण कराया जारहा है। यह विधान पहले बतलाया जा चुका है (८४)। उसके उदाहरण—१—वाच्+ईशः<वाक्+ईशः, <वागीशः—'क्' = 'ग्'। विग्रह—वाचाम् ईशः। अर्थ—बृहस्पति। २—चित्+रूपम्, <चिद्रूपम्। अर्थ—ज्ञानस्वरूप।

विशेष—"स्थानेऽन्तरतमः" परिभाषा के प्रवृत्त होने से 'झल्—वर्ण अपने सदृशतम 'जश्'–तृतीयवर्णों के रूप में परिवर्तित होते हैं।

(११६) **पद**—यरः, अनुनासिके, अनुनासिकः, वा। **अनुवृत्ति**—पदान्तात्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पद के अन्तिम 'यर्' ('ह्' को छोड़कर सभी व्यञ्जन) को विकल्प से अनुनासिक (अपने वर्ग का पञ्चम वर्ण) होता है यदि उसके बाद कोई अनुनासिक अक्षर (पञ्चम वर्ण) हो तो।

विवरण—इस सूत्र में "न पदान्तात्०" से 'पदान्तात्' की अनुवृत्ति आती है। 'पदान्तात्' पञ्चमी विभक्ति में है। उसे प्रकृत सूत्र के **स्थानी** को अभिलक्षित करने वाले पद 'यरः' के अनुसार 'षष्ठी' विभक्ति में परिवर्तित कर दिया जाता है। 'यर्' प्रत्याहार के अन्तर्गत 'ह्' को छोड़कर सभी व्यञ्जनों का समावेश होता है। पाँच व्यञ्जन अनुनासिक हैं—ङ्, ञ्, ण्, न्, म्। ये **आदेश** हैं। तदनुसार 'ह्' के अतिरिक्त अन्य किसी व्यञ्जन वर्ण के अनन्तर पञ्चम-वर्ण के रहने पर स्थानी का सजातीय पञ्चम-वर्ण होता है। तथापि श्, ष्, स्, र् के स्थान पर अनुनासिक उदाहरण नहीं मिलते। **उदाहरण**—एतद् मुरारिः <एतन्मुरारिः। 'द्' (यर्) के अनन्तर 'म्' (अनुनासिक) रहने के कारण 'द्' = 'न्' (सजातीय अनुनासिक) हुआ। विकल्प होने के कारण पक्ष में 'एतद्मुरारिः'। अर्थ—यह विष्णु।

(वा०) **पद**—प्रत्यये, भाषायां, नित्यम्। **विधि** (अपवाद)। **अर्थ**—लौकिक प्रयोग में 'यर्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण के अनन्तर अनुनासिक वर्ण से आरम्भ होने वाले प्रत्यय के रहने पर नित्य अनुनासिक होता है। यह विकल्प-विधि का अपवाद है। **उदाहरण**—१—तद्+मात्रम्<तन्मात्रम् (उतना ही)। 'द्' = 'न्'। यहाँ पर 'तद्' शब्द के अनन्तर 'मात्रच्' प्रत्यय है—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग २५०) गणे दकारनिपातनात् । (११७) **तोर्लि ८।४।६०** ॥ तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः स्यात् । तल्लयः । विद्वाँल्लिखति । नकारस्यानुनासिको लकारः । (११८) **उदः**

प्रमाणं यस्य तत्तन्मात्रं 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' इति मात्रच्प्रत्ययः । चिन्मयमिति । 'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः' इत्यत्र नित्यमिति योगविभागात्तद्रूप्ये मयट् । कथं तर्हीति । यदि प्रत्यये परे नित्यमनुनासिकः स्यात् तदा 'मदोद्ग्राः ककुद्मन्त' इति कालिदासप्रयोगः कथमित्याक्षेपः । मतुपः प्रत्ययत्वेन तस्मिन् परे दकारस्य अनुनासिकनकारावश्यम्भावादिति । परिहरति—यवादीति । यवादिगणे ककुद्मच्छब्दे दकारस्य निर्देशान्न तस्यानुनासिकः । यदि तत्र दकारस्य नकार एव इष्टः स्यात्, तर्हि नकारमेव लाघवान्निर्दिशेदिति भावः ।

(११७) तोर्लि । अनुस्वारस्य ययीत्यतः परसवर्ण इत्यनुवर्तते । तदाह—तवर्गस्येत्यादिना । तल्लय इति । तस्य लय इति विग्रहः । तद् लय इति स्थिते दस्य परसवर्णः

"प्रमाणे द्वयसज्-दघ्नञ्-मात्रचः" (५-२-३७) । इस प्रत्यय का आरम्भिक वर्ण 'म्' अनुनासिक है । अतः नित्य अनुनासिक हुआ । इसी प्रकार २—चिद्+मयम्<चिन्मयम् में भी 'द्' = न् । यहाँ पर 'चिद्' शब्द के अनन्तर 'मयट्' प्रत्यय है—"तत्प्रकृतवचने मयट्" (५-४-२१) । अर्थ है—चेतनस्वरूप ।

शङ्का-समाधान—१—प्रकृत सूत्र के अनुसार 'चतुर्मुखः' में 'र्' के स्थान पर अनुनासिक 'ण्' की प्राप्ति होती है, क्योंकि यहाँ यर् ('र्') के अनन्तर 'म्'—अनुनासिक वर्ण विद्यमान है । इन दोनों वर्णों का स्थान 'मूर्धा' होने के कारण 'ण्' होने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये । इस शङ्का के प्रमाण में "स्थानेन्तरतमः" तथा "उरण् रपरः" दोनों सूत्रों को सम्मिलित कर पढ़ने में "स्थानेन्तरतम उरण्रपरः" ऐसा स्वरूप हो जाता है । इसमें दो प्रकार से विभक्तियाँ हो सकती हैं "स्थानेन्तरतमः+उरण्रपरः" अर्थात् 'स्थानेन्तरतम' शब्द में प्रथमा-विभक्ति तथा दूसरी तरह 'स्थानेन्तरतमे'+उरण्रपरः में सप्तमी-विभक्ति । इन दोनों में विभक्ति-भेद के कारण अर्थ भी भिन्न हो जाता है । प्रथमान्त पाठ को स्वीकार करने पर 'स्थानियों में सदृशतम' आदेश होने की सम्भावना से 'चतुर्मुखः' में स्थानकृत (मूर्धा) साम्य होने से 'र्' के स्थान पर 'ण्' की प्राप्ति होती है । इसका समाधान सप्तमी-विभक्ति-युक्त पाठ के द्वारा होता है । तदनुसार सदृशतम स्थानी में ही आदेश की सफलता का औचित्य स्वीकार किया जाता है । इस दृष्टि से स्थान और प्रयत्न इन दोनों का सादृश्य अपेक्षित है । ऐसा निकटतम सादृश्य 'पण्णाम्' इत्यादि उदाहरणों में सूत्र की प्रवृत्ति होने में सहायक हुआ है । जैसे 'ड्' का—'मूर्धा' स्थान तथा आभ्यन्तर प्रयत्न—'स्पृष्ट' है वैसा ही अनुनासिक वर्णों में 'ण्' भी है । अतः सूत्र की चरितार्थता में सदृशतम उदाहरणों के मिलने से केवल मूर्धास्थान की समानता होने पर 'र्' के स्थान पर अनुनासिक 'ण्' नहीं होता ।

२—वार्तिक के अनुसार अनुनासिक-वर्ण से आरम्भ होने वाले प्रत्यय परे रहने पर 'यर्' को नित्य-अनुनासिक का विधान होता है । तदनुसार कालिदास द्वारा किया गया 'ककुद्मन्तः' प्रयोग[1] किस तरह ठीक समझा जाय ? अन्त में यह समाधान दिया जाता है कि 'यवादिगण' में 'ककुद्मान्' पढ़े जाने से इस शब्द में अनुनासिक का विकल्प से होना प्रामाणिक माना गया है ।

(११७) **पद**—तोः, लि । **अनुवृत्ति**—परसवर्णः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—लकार परे रहते तवर्ग के स्थान में परसवर्ण होता है । तल्लयः । विद्वाँल्लिखति । नकार के स्थान पर अनुनासिक लकार हुआ ।

सन्दर्भ—प्रसङ्गवश परसवर्ण का निर्वचन ।

---

१. मदोद्ग्राः ककुद्मन्तः सरितां कूलमुद्रुजाः ।
लीलाखेलमनुप्रापुः महोक्षास्तस्य विक्रमम् ॥ रघु० ४-२२ ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ८।४।६१ ॥ उदः परयोः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः स्यात् । 'आदेः परस्य' (सू ४४) । उत्थानम् । उत्तम्भनम् । अत्राघोषस्य महाप्राणस्य सस्य तादृश एव थकारः । तस्य 'झरो झरि–' (सू ७१) इति पाक्षिको लोपः । लोपाभावपक्षे तु थकारस्यैव श्रवणम्, न तु 'खरि च' (सू १२१) इति चर्त्वम्, चर्त्वं प्रति थकारस्यासिद्धत्वात् ।

परनिमित्तभूतलकारसवर्णो भवति । स च लकार एव, अन्यस्य तत्सावर्ण्याभावात् । नकारस्येति । विद्वाँल्लिखतीत्यत्र विद्वान् लिखतीति स्थिते नकारस्य स्थानिनः अनुनासिकस्य परसवर्णो लकारो भवन् आन्तर्यादनुनासिक एव लकारो भवतीत्यर्थः ।

(११८) उदः स्थास्तम्भोः । 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इत्यत्र समासनिर्दिष्टमपि सवर्णग्रहणमिह निष्कृष्य सम्बध्यते, एकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञानात् । उद इति पञ्चमी । अतस्तस्मादित्युत्तरस्येति परिभाषया उदः परयोरिति लभ्यते । तदाह—उदः परयोरिति । पूर्वेति । पूर्वनिमित्तस्य उदो दकारस्य यः सवर्णः स आदेशः स्यादित्यर्थः । पूर्वसवर्णश्चायमलोऽन्त्यपरिभाषया स्थास्तम्भोरन्तादेशो न भवतीत्याह—आदेः परस्येति । अनया परिभाषया स्थास्तम्भोराद्यवयवस्य सकारस्यैव भवतीत्यर्थः । उत्थानमिति । ष्ठा गतिनिवृत्तौ । भावे ल्युट् । उत्तम्भनमिति । 'ष्टभि प्रतिष्टम्भे' भावे ल्युट् । स्तम्भु रोधने इति श्नुविधौ निर्दिष्टः सौत्रो वा धातुः । स्थास्तम्भोरिति पवर्गीयोपधनिर्देशस्य उभयसाधारणत्वात् । ननु उद् स्थानमित्यत्र सकारस्य पूर्वसवर्णविधौ पूर्वनिमित्तं दकारः तत्सवर्णांश्च त थ द ध नाः पञ्चैव, दन्तस्थानसाम्यात् स्पृष्टप्रयत्नसाम्याच्च । न तु लृकारः सकारश्च । तयोः स्थानसाम्येऽपि विवृतप्रयत्नत्वात् । नापि लकारः ईषस्पृष्टत्वात् । एतदतिरिक्ताश्च सर्वे वर्णाः

विवरण—इस सूत्र में "अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः" (८-४-५८) से 'परसवर्ण' की अनुवृत्ति आती है । **स्थानी**—तवर्ग = त्, थ्, द्, ध्, न् । **आदेश**—पर–सवर्ण । **निमित्त**—'ल्' परे रहने पर । तदनुसार लकार से पूर्व विद्यमान त्, थ्, द्, ध्, न् के स्थान पर आगे रहने वाले 'ल्' वर्ण का सजातीय–वर्ण होता है । **उदाहरण**—१—तद्+लयः<तल्लयः । द् = ल् । अर्थ—उसका विलय । २—विद्वान्+लिखति = विद्वाल्ँ लिखति । यहाँ पर 'न्' अनुनासिक होने के कारण आदेश भी सानुनासिक 'ल्ँ' के रूप में हुआ है । अर्थ—विद्वान् लिखता है ।

विशेष—'तवर्ग' के स्थान पर परसवर्ण लकार ही होता है । तवर्ग और लकार दोनो दन्तस्थानी हैं । अतः स्थान की समानता के कारण त्, थ्, द्, ध्, न् सभी वर्ण लकार परे रहने पर 'ल्' के रूप में परिवर्तित होते है । 'ल्' भी दो प्रकार का है—निरनुनासिक तथा सानुनासिक । तवर्ग में केवल 'न्' सानुनासिक है । अतः 'न्' के स्थान पर परसवर्ण सानुनासिक 'ल्ँ' होगा ।

(११८) पद—उदः, स्थास्तम्भोः, पूर्वस्य । **अनुवृत्ति**—सवर्णः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'उद्' के अनन्तर 'स्था' या 'स्तम्भ्' धातु रहने पर उसे पूर्वसवर्ण होता है । 'आदेः परस्य' परिभाषा के अनुसार उसके आदि में होता है । उत्थानम् । उत्तम्भनम् । यहाँ महाप्राण और अघोष प्रयत्नवान् सकार के स्थान पर तत्सदृश (वैसा ही) थकार हुआ । उसका "झरो झरि" सूत्र से वैकल्पिक लोप होता है । लोप के न होने पर थकार का ही श्रवण होता है न कि उसके स्थान पर "खरि च" से विहित चर्त्व का विधान । इसका कारण यह है कि चर्त्व के प्रति थकार असिद्ध है ।

सन्दर्भ—परसवर्ण के प्रसङ्ग में पूर्वसवर्ण का निरूपण ।

विवरण—'उद्' उपसर्ग के अनन्तर 'स्था' तथा 'स्तम्भ्' धातु को पूर्वसवर्ण होता है । "आदेः परस्य" की उपस्थिति होने से 'स्था' तथा 'स्तम्भ्' धातु के आदि के वर्ण 'स्' को पूर्वसवर्ण होगा । 'स्' से पूर्ववर्ण 'द्' है । अतः उसका सवर्ण 'थ्' माना जायगा, क्योंकि 'स्' और 'थ्' का विवार,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिन्नस्थानकत्वान्न दकारसवर्णाः। ततश्च पूर्वनिमित्तभूतदकारसवर्णाः त थ द ध नाः पञ्चापि सकारस्य प्राप्ताः। स्थानीभूतसकारेण दन्तस्थानत आन्तर्यस्य पञ्चस्वप्यविशिष्टत्वात्। आभ्यन्तरप्रयत्नत आन्तर्यस्य च पञ्चस्वप्यभावात्। स्थानीभूतसकारस्य विवृतप्रयत्नत्वाद् एतेषां च पञ्चानां स्पृष्टप्रयत्नत्वात्। अतोऽत्र बाह्यप्रयत्नत एवान्तर्यमादाय पञ्चस्वन्यतमव्यवस्थामाह—अत्राघोषस्य महाप्राणस्य सस्य तादृश एव थकार इति। अघोषस्येत्यनेन श्वासवतो विवारवतश्चेत्युक्तप्रायम्, समनियतत्वात्। स्थानीभूतस्तावत् सकारः अघोषश्वासविवारमहाप्राणात्मकयत्नचतुष्टयवान्। तस्य त-थ-द-ध-नेषु प्रथमतृतीयपञ्चमा न भवन्ति, तेषामल्पप्राणत्वात्। नापि चतुर्थो भवति, तस्य घोषनादसंवारयत्नकत्वात्। द्वितीयस्तु थकारः अघोषश्वासविवारमहाप्राणात्मकयत्नचतुष्टयवान्। अतः स एव थकारः पूर्वनिमित्तभूतदकारसवर्णः सकारस्य भवतीत्यर्थः। एवं च उद् स्थानमिति स्थिते दकारस्य 'खरि च' इति चर्त्वेन तकारे सकारस्य पूर्वसवर्णेन थकारे उत्थ्थानमित्येकतकारं द्विथकारं च रूपं सिद्धम्। एवम् उत्थ्तम्भनमित्यत्रापि बोध्यम्। तत्र द्वितकारमेकथकारं चेति विशेषः। तस्येति। सकारादेशस्य थकारस्येत्यर्थः। एवं च प्रथमथकारस्य लोपपक्षे एकतकारमेकथकारं च रूपमिति भावः। ननु प्रथमथकारस्य लोपाभावपक्षे एकतकारं च रूपमित्यनुपपन्नम्। प्रथमथकारस्य खरि चर्त्वे सति द्वितकारमेकथकारमित्यापत्तेरित्यत आह—लोपाभावेति, असिद्धत्वादिति। खरि चेति सूत्रापेक्षया उदः स्थादित्यस्य परत्वादिति भावः। उत्तृत्तम्भनमिति त्रितकारपाठस्तु प्रामादिकः, उक्तप्रक्रियाया उभयत्रापि साधारण्यात्। केचित्तु 'न मुने' इत्यत्र नेति योगविभागमभ्युपगम्य पूर्वसवर्णस्य थकारस्य चर्त्वं प्रत्यसिद्धत्वाभावाच्चर्त्वे उत्तृत्तम्भनमिति त्रितकाररूपं कथञ्चित् साधयामासुः। तत्तु मूलकृतो न सम्मतम्। मूले उभयसाधारण्येनैव प्रक्रियानिरूपणात्। वस्तुतस्तु 'दीर्घादाचार्याणाम्' इत्युत्तरम् अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः, वा पदान्तस्य, तोर्लि, उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य, झयो होऽन्यतरस्याम्, शश्छोऽटीति षट्सूत्रीपाठोत्तरं झलाञ्जश् झशि, अभ्यासे चर्त्वं, खरि च, वाऽवसाने, अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः, इति पञ्चसूत्रीपाठ इति हलो यमामिति सूत्रस्थभाष्यसम्मतः सूत्रक्रमः। एवं च खरि चेति चर्त्वे कर्तव्ये उदः स्थास्तम्भोरिति पूर्वसवर्णस्य थकारस्य असिद्धत्वाभावाच्चर्त्वे उत् त्थानमिति द्वितकारमेकथकारं च रूपम्, उत्तृत्तम्भनमिति तु त्रितकारमेव रूपमिति शब्देन्दुशेखरे प्रपञ्चितम्।

श्वास, अघोष और महाप्राण प्रयत्न है। उदाहरण—१—उद्+स्थानम् <उद्+थ् थानम् ('स्' = थ्), <उद्+थानम् ('थ्' का लोप—"झरो झरि सवर्णे") <उत्+थानम् ('द्' = त्—चर्त्व) = उत्थानम्। पाक्षिक 'थ्' का लोप न होने पर उत्थ्थानम्। यहाँ पर दो 'थ्' का श्रवण होता है। पहले 'थ्' को 'चर्त्व' की आशंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि "खरि च" (८-४-५५) की दृष्टि में पूर्वसवर्ण (८-४-६१) परवर्तीशास्त्र होने से असिद्ध है। केवल 'उद' उपसर्ग के 'द्' को चर्त्व होकर 'त्' होता है। अर्थ—उठना। २—उद्+स्तम्भनम्<उद् थ्तम्भनम् ('स्'='थ्'), <उद्+तम्भनम् ('थ्' का पाक्षिक लोप), <उत्+तम्भनम् ('द्' = 'त्'—चर्त्व) = उत्तम्भनम् (रोकना)। 'थ्' के पाक्षिक लोप न होने पर उत्थ्तम्भनम्।

विशेष—भाष्यकार ने सूत्रक्रम में कुछ परिवर्तन किया है। उनके अनुसार सूत्रक्रम इस प्रकार है—(१) दीर्घादाचार्याणाम्। (२) अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः। (३) वा पदान्तस्य। (४) तोर्लि। (५) उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य। (६) झयो होऽन्यतरस्याम्। (७) शश् छोऽटि। (८) झलां जश् झशि। (९) अभ्यासे चर्त्वं। (१०) खरि च। (११) वाऽवसाने। (१२) अणोऽ-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(११९) झयो होऽन्यतरस्याम् ८।४।६२ ॥ झयः परस्य हस्य पूर्वसवर्णो वा स्यात्। घोषवतो नादवतो महाप्राणस्य संवृतकण्ठस्य हस्य तादृशो वर्गचतुर्थ एवादेशः। वाग्घरिः—वाग् हरिः। **(१२०) शश्छोऽटि ८।४।६३ ॥** पदान्ताज्झयः परस्य शस्य

---

(११९) झयो हः। झय इति पञ्चमी। परस्येत्यध्याहार्यम्। ह इति षष्ठी। उदः स्थास्तम्भोरित्यतः पूर्वस्येति अनुस्वारस्य ययीत्यतः सवर्ण इति चानुवर्तते तदा—झयः परस्येत्यादिना। वाग्घरिरित्युदाहरणम्। वाच्शब्दश्चकारान्तः, कुत्वं जश्त्वम्। वाग् हरि-रिति स्थिते हकारस्य पूर्वसवर्णविधौ गकारः पूर्वनिमित्तम्, तत्सवर्णाः क ख ग घ ङाः पञ्च। तेषां हकारेण स्थानिना स्थानत आन्तर्यमविशिष्टम्। आभ्यन्तरप्रयत्नसाम्यं तु पञ्चानामपि हकारेण स्थानिना न विद्यते, स्पृष्टविवृतप्रयत्नभेदात्। अतः बाह्यप्रयत्नतः आन्तर्यमादाय पञ्चस्वन्यतमव्यवस्थामाह—घोषवत इत्यादिना। स्थानीभूतो हकारः घोष-नादसंवारमहाप्राणाख्यप्रयत्नचतुष्टयवान्। तस्य क-ख-ग-घ-ङेषु प्रथमतृतीयपञ्चमा न भवन्ति, तेषामल्पप्राणत्वात्। द्वितीयः खकारो न भवति, तस्याघोषश्वासविवारयत्न-कत्वात्। चतुर्थस्तु घकारः घोषनादसंवारमहाप्राणवान्। अतः स एव घकारो हकारस्य भवतीत्यर्थः। ततश्च वाग्घरिरिति भवति। पूर्वसवर्णाभावे तु वाग् हरिरिति।

(१२०) शश्छोऽटि। झय इति पञ्चम्यन्तमनुवर्तते। श इति षष्ठ्यै वचनम्। तदाह—

प्रगृह्यस्यानुनासिकः। इस क्रम के अनुसार "उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य" सूत्र "खरि च" के पूर्ववर्ती होने पर पूर्वसवर्ण से होने वाला 'थ्' असिद्ध न होने के कारण 'थ्' = 'त्' चर्त्व होने में कोई बाधा नहीं होती। अतः 'उत्थानम्' यह रूप भी बनता है। इसी प्रकार उत्तम्भनम्।[1]

(११९) पद—झयः, हः, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—पूर्वस्य; सवर्णः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'झय्' के अनन्तर विद्यमान 'ह्' के स्थान पर पूर्वसवर्ण विकल्प से होता है। कण्ठ-स्थानिक एवं संवार, नाद, घोष, महाप्राण—इन प्रयत्नों वाले 'ह्' के स्थान पर उसी के सदृश 'घ्' होता है। वाग्घरिः—वाग् हरिः।

विवरण—सूत्र में स्थानी है—'ह्'। आदेश का निर्देश न होने से "उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य" सूत्र से 'पूर्वस्य' तथा "अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः" सूत्र से 'सवर्णः' पद की अनुवृत्ति लाकर उसकी पूर्ति की जाती है। तदनुसार पूर्वसवर्ण के रूप में आदेश लिया जाता है। स्थानी के पहले भी 'झय्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण (वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ वर्ण) का होना आवश्यक है। पूर्वसवर्ण में "स्थानेऽन्तरमः" परिभाषा के अनुसार गुणकृत साम्य अपेक्षित है। अतः 'ह्' (स्थानी) के प्रयत्नों के अनुसार प्रत्येक वर्ग का 'चतुर्थ-वर्ण' अपने अपने वर्ग के प्रथम चार वर्णों के पूर्ववर्ती होने पर 'ह्' के स्थान पर पूर्वसवर्ण के रूप में होगा। प्रकृत उदाहरण में 'ह्' का स्थान कण्ठ है। तदनुसार क्, ख्, ग्, घ् चारों वर्णों की प्राप्ति होती है। अतः निकटतम आदेश के लिये प्रयत्नों का आश्रय लेना पड़ता है। 'ह्' के चार बाह्यप्रयत्न हैं—संवार, नाद, घोष तथा महाप्राण। ऐसा वर्ण केवल 'घ्' है। इस तरह **उदाहरण**—१—वाग्+हरिः = वाग्घरिः (झय् के पश्चाद्वर्ती 'ह्'='घ्')। वैकल्पिक होने के कारण पक्ष में वाग् हरिः (वाणी का चतुर)। अन्य उदाहरण इस प्रकार समझे जायँ—२—अज्+हीनम्=अज्झीनम् ('ह्'='झ्')। ३—मधुलिड्+हसति=मधुलिड्ढसति ('ह्' = ढ)। ४—तद्+हानिः = तद्धानिः ('ह्' = ध्)। ५—त्रिष्टुब्+हसति = त्रिष्टुब्भसति ('ह्' = भ्)।

(१२०) पद—शः, छः, अटि। **अनुवृत्ति**—पदान्तस्य, झयः, अन्यतरस्याम्। **विधिसूत्र**।

---

१. "हलो यमां०" (८-४-६४) इति सूत्रोक्तभाष्य-सम्मताष्टाध्यायी-पाठे तु थस्यासिद्धत्वा-भावेन चर्त्वं भवत्येव। ल० श० शे०।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छो वा स्यादटि। दस्य चुत्वेन जकारे कृते। (१२१) खरि च ८। ४। ५५॥ खरि परे झलां चरः स्युः। इति जकारस्य चकारः। तच्छिवः-तच्शिवः। 'छत्वममीति वाच्यम्' (वा ५०२५)। तच्छ्लोकेन-तच्श्लोकेन। अमि किम्? वाक् श्च्योतति। (१२२)

झयः परस्य शस्येति। तद् शिव इति स्थिते दकारस्य कुत्वेन जकारे कृते जकारस्य चकार इत्यन्वयः।

(१२१) केनेत्यत आह—खरि च। झलाञ्झशीत्यतो झलामिति, अभ्यासे चर्चेत्यतश्चरिति चानुवर्तते। तदाह—खरि पर इत्यादिना। इति जकारस्य चकार इति। स्थानत आन्तर्यादिति भावः। ततः छत्वम्। न तु प्रागित्यपि बोध्यम्। छत्वस्य चुत्वचर्त्वे प्रत्यसिद्धत्वात् हलो यमामिति सूत्रस्थभाष्यसंमतसूत्रक्रमे तु चुत्वेन जकारे कृते शस्य छत्वं ततो जकारस्य चर्त्वम्। न तु छत्वात् प्राक् चर्त्वम्, चर्त्वं प्रति छत्वस्यासिद्धत्वात्। तच्छिव इति। स चासौ शिवश्चेति, तस्य शिव इति वा विग्रहः। चोः कुरिति कुत्वं तु न,

---

मूलार्थ—पद के अन्त में विद्यमान 'झय्' के बाद 'श्' के स्थान पर विकल्प से 'छ्' आदेश होता है, यदि उस् 'श्' के बाद 'अट्' हो तो। 'द्' को श्चुत्व होकर 'ज्' हुआ।

विवरण—सूत्र के अर्थ में अनुवृत्ति द्वारा लाये गए पद उपयोगी हैं। अतः "झयो होऽन्यतरस्याम्" सूत्र से 'झयः' तथा 'अन्यतरस्याम्' एवं "वा पदान्तस्य" सूत्र से 'पदान्तस्य' की अनुवृत्ति की जाती है। 'पदान्तस्य' षष्ठीविभक्ति पञ्चमी-विभक्ति में परिवर्तित हो 'झयः' का विशेषण बन जाती है। इस प्रकार पदान्त में विद्यमान 'झय्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण (वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ-वर्ण) के अनन्तर 'श्' के स्थान पर 'छ्' आदेश विकल्प से होता है यदि उस 'श्' के पश्चात् 'अट्' वर्ण (स्वर वर्ण तथा ह्, य्, व्, र्) स्थित रहें तो। अतः 'श्' **स्थानी** है तथा 'छ्' **आदेश**। **उदाहरण**—तद्+शिवः <तज्+शिवः ('द्' = 'ज्'—श्चुत्व), <तच्+शिवः (ज् = च्—चर्त्व), <तच्छिवः—'श्' = 'छ्'। पक्ष में 'छ्' के न होने पर 'तच्-शिवः'। **अर्थ**—उसका शिव।

(१२१) **पद**—खरि, च। **अनुवृत्ति**—झलां, चर्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'झलों' को 'खर्' परे रहते 'चर्' होते हैं। इस तरह 'ज्' को 'च्' हुआ। तच्छिवः-तच् शिवः। वा० 'अम्' परे रहते छत्व होता है ऐसा कहा जाय। तच् श्लोकेन—तच्छ्लोकेन। अमि क्यों कहा? वाक् श्च्योतति।

विवरण—सूत्र में स्थानी तथा आदेश के निर्देशक पद नहीं है। केवल निमित्त—(साहचर्य) —वाचक पद 'खर्' विद्यमान है। अतः **स्थानिवाचक** पद 'झल्' की अनुवृत्ति "झलां जश् झशि" (८-४-५३) सूत्र से तथा **आदेश-वाचक** पद 'चर्' की अनुवृत्ति "अभ्यासे चर्च" (८-४-५४) सूत्र से की जा रही है। 'चर्' पद को वचन-विपरिणाम द्वारा प्रथमा का बहुवचन माना जाता है। इस तरह अर्थ होता है—'खर्' परे होने पर 'झल्' के स्थान पर 'चर्' आदेश होते हैं। ये आदेश स्थान-कृत आन्तर्य से निम्नलिखित रूप में होते हैं।

स्थानी 'झल्'	⟶	सादृश्य उच्चारण-स्थान	⟵	आदेश 'चर्'
क्, ख्, ग्, घ्		कण्ठ		क्
च्, छ्, ज्, झ्		तालु		च्
ट्, ठ्, ड्, ढ्		मूर्धा		ट्
त्, थ्, द्, ध्		दन्त		त्
प्, फ्, ब्, भ्		ओष्ठ		प्

उदाहरण—तज्+शिवः = तच् शिवः (ज् = च्)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोऽनुस्वारः ८।२।२३ ॥ मान्तस्य पदस्यानुस्वारः स्याद्धलि। 'अलोऽन्त्यस्य' (सू ४२)। हरिं वन्दे। पदस्य इति किम् ? गम्यते। **(१२३) नश्चापदान्तस्य झलि ८।३।२४ ॥** नस्य मस्य चापदान्तस्य झल्यनुवारः। यशांसि। आक्रंस्यते। 'झलि' किम्। मन्यते।

श्चुत्वस्यासिद्धत्वात्। छत्वममीति वाच्यम्। शश्छोऽटीति सूत्रे अटीति विहाय अमीति वक्तव्यमित्यर्थः। शश्छोऽमीति सूत्रं पठनीयमिति यावत्। तच् श्लोकेनेति। स चासौ श्लोकश्च, तस्य श्लोकः इति विग्रहः। लकारस्य अड्बहिर्भूतत्वात् तत्परकस्य शकारस्य सूत्रपाठतः छत्वे अप्राप्ते वार्तिकमिदम्। वाक्श्च्योततीति। तत्र तु कुत्वं भवत्येव, चकारस्य स्वाभाविकतया श्चुत्वनिष्पन्नत्वाभावेन असिद्धत्वाभावात्। अत्र वकारस्य अम्बहिर्भूतत्वात् तत्परकशकारस्यात्र छत्वम्।

(१२२) मोऽनुस्वारः। पदस्येत्यधिकृतम्। म इति षष्ठ्यन्तं पदस्यं विशेषणम्। तदन्तविधिः। हलि सर्वेषामित्यतो हलीत्यनुवर्तते। तदाह—मान्तस्येत्यादिना। अलोऽन्त्यस्येति। उपतिष्ठते इति शेषः। ततश्च मान्तस्य पदस्य यः अन्त्यः अल् तस्येत्यर्थः। पदान्तस्य मस्येति फलितम्। हरिं वन्दे इति। हरिम् वन्दे इति स्थिते मस्यानुस्वारः। गम्यत इति। गम्लृ गतौ। कर्मणि लट्। 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदे यक्। अत्र मस्य पदान्तत्वाभावान्नानुस्वारः।

(१२३) नश्चापदान्तस्य झलि। चकारान्मस्येत्यनुकृष्यते, अनुस्वार इति च। तदाह—

(वा०) पद—छत्वम्, अमि, इति, वाच्यम्। छ-विधि। अर्थ—छत्वविधायक-सूत्र में 'अटि' के स्थान पर 'अमि' कहा जाय। "शश्छोऽमि" कहने पर स्वर-वर्णों के साथ अन्तःस्थ (य्, र्, ल्, व्) तथा वर्गों के पञ्चम-वर्ण (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्) परे रहते 'झल्' के स्थान में 'चर्' होने की योजना की गई है। **उदाहरण**—तद्+श्लोकेन <तज्+श्लोकेन ('द्'='ज्'—श्चुत्व), <तच्+श्लोकेन ('ज्' = 'च्'—चर्त्व), <तच्छ्लोकेन ('श्' = 'छ्' 'अम्'—परे रहने के कारण)। छत्व के अभाव में तच् श्लोकेन। अर्थ—उसके श्लोक से।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत वार्तिक में 'अम्' पद के न रखने पर वाक्+श्च्योतति में 'क्' के अनन्तर 'श्' के स्थान पर 'छ्' आदेश की प्राप्ति होती है। उसके न होने में 'अमि' पद की सार्थकता है, क्योंकि उस् 'श्' के अनन्तर विद्यमान 'च्' 'अम्' प्रत्याहार के अन्तर्गत नहीं आता।

विशेष—यह वार्तिक "शश्छोटि" सूत्र का विस्तारक है। 'अट्' के स्थान पर 'अम्' का प्रयोग करने पर अधिक वर्णों का समावेश हो जाता है।

(१२२) पद—मः, अनुस्वारः। **अनुवृत्ति**—हलि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—मकारान्त पद से 'हल्' परे रहने पर अनुस्वार होता है। हरिं वन्दे। अन्त्य वर्ण के स्थान पर हुआ। पदस्य क्यों कहा ? गम्यते।

सन्दर्भ—अनेक व्यञ्जन-सन्धियों के अनन्तर अधिक उपयोगी अनुस्वार-सन्धि का निर्वचन किया जा रहा है।

विवरण—'पदस्य' का अधिकार है। अतः तदन्तविधि होती है। "अलोन्त्यस्य" की उपस्थिति से पद का अन्तिम—वर्ण 'म्' स्थानी है। उसके स्थान पर होनेवाला अनुस्वार आदेश है। किन्तु उस मकार के अनन्तर किसी व्यञ्जन का होना आवश्यक है। **उदाहरण**—हरिम्+वन्दे <हरिं वन्दे (म् = ं)। **अर्थ**—विष्णु को प्रणाम। **प्रत्युदाहरण**—इस सूत्र में 'पद' ग्रहण न करने पर गम्+य+ते (गम्यते) में 'म्' के स्थान पर 'य्' (व्यञ्जन) परे रहने से अनुस्वार की प्राप्ति हो जाती। वह न हो, अतः 'पद' ग्रहण किया। गम्+य+ते—ऐसी स्थिति में 'म्' पद के अन्त में न होने के कारण अनुस्वार नहीं होता।

(१२३) पद—नः, च, अपदान्तस्य, झलि। **अनुवृत्ति**—मः, अनुस्वारः। **विधिसूत्र।**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१२४) अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ८ । ४ । ५८ ॥ स्पष्टम् । अङ्कितः । अञ्चितः । कुण्ठितः । शान्तः । गुम्फितः । 'कुर्वन्ति' इत्यत्र णत्वे प्राप्ते तस्यासिद्धत्वादनुस्वारे परसवर्णे

नस्येत्यादिना । यशांसीति । यशश्शब्दात् जस् । जश्शसोः शिः । 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुम् । 'सान्तमहत' इति दीर्घः । यशान् सि इति स्थिते नकारस्य अनुस्वारः । आक्रंस्यते इति । क्रमु पादविक्षेपे । आङ्पूर्वात् कर्तरि लृट् । 'आङ उद्गमने' इति तङ्, स्यतासी लृलुटोरिति स्यः । स्नुक्रमोरिति नियमान्नेट् । आक्रम् स्य ते इति स्थिते मस्य अपदान्तत्वात् पूर्वेणाप्राप्ते वचनम् । मन्यत इति । कर्मणि लट् तङ् यक् । अत्र मस्य झल्परकत्वाभावान्नानेनानुस्वारः । अपदान्तत्वाच्च न पूर्वेण ।

(१२४) अनुस्वारस्य ययि । स्पष्टमिति । अनुवर्त्यपदान्तराभावादिति भावः । अङ्कित इति । 'अन्क पदे लक्षणे च' इति चुरादौ नोपधः । नश्चापदान्तस्येति कृतानुस्वारस्य निर्देश इति केचित् । ण्यन्तात् क्तः, इट् । निष्ठायां सेटीति णिलोपः । अनुस्वारस्यानेन परसवर्णः । परनिमित्तमत्र ककारः, तत्सवर्णः कवर्गः । सः अनुस्वारस्य भवन् नासिकास्थानसाम्यात् ङकार एव भवति । अञ्चित इति । अञ्चु गतिपूजनयोः । नोपधः । तस्मात् क्तः । अञ्चेः पूजायामिति इट् । नाञ्चेः पूजायामिति निषेधात् अनिदितामिति नलोपो न । अत्र नश्चापदान्तस्येत्यनुस्वारस्य परसवर्णो ङकारः । कुण्ठितः इति । कुठि प्रतिघाते इदित्वान्नुम्, क्तः, इट । अत्र नश्चेत्यनुस्वारस्य परसवर्णो णकारः । शान्त इति । शम उपशमे । क्तः । वा दान्तशान्तेत्यादिनिपातनान्नेट् । अनुनासिकस्य क्वीति दीर्घः । नश्चेत मस्यानुस्वारः ।

मूलार्थ—'झल्' परे होने पर अपदान्त 'न्' और 'म्' के स्थान पर अनुस्वार होता है । यशांसि । आक्रंस्यते । झलि क्यों कहा ? मन्यते ।

विवरण—यह सूत्र पदान्त-भिन्न में अनुस्वार-विधान करता है । अपदान्त 'न्' तथा 'म्' स्थानी हैं । आदेश है अनुस्वार (ं) । साहचर्य है 'झल्' प्रत्याहारस्थ वर्णों का । उनका भी 'न्' तथा 'म्' के परवर्ती होना अपेक्षित है । अतः "मोऽनुस्वारः" से 'मः' तथा 'अनुस्वारः' की अनुवृत्ति की जाती है । **उदाहरण**—१–यशांसि (अधिक यश) । शब्दरचना का प्रकार—यशस्+जस् (अस्), <यशन् स्+इ (जस् = शि तथा 'नुम्'—आगम), <यशान्+सि (उपधादीर्घ) = यशांसि—यहाँ पद के अन्त में न होने पर न् = अनुस्वार हुआ, क्योंकि 'न्' के बाद 'स्' = 'झल्' है । २—आक्रंस्यते । आ—√क्रम्+लृट्, <आ–क्रम्+स्यते = आक्रंस्यते । 'झल्—'स्' परे होने के कारण अपदान्त 'म्' = अनुस्वार (ं) अर्थ—आक्रमण करेगा । **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में 'झल्' ग्रहण न करने पर 'मन्यते' में अपदान्त 'न्' को 'य्' परे रहते ('झल्' न होने पर भी) अनुस्वार होने लगेगा । वह न हो । अतः झल् ग्रहण किया । मन्यते का अर्थ—मानता है ।

विशेष—यह सूत्र "मोऽनुस्वारः" का अपवाद है । अतः 'झल्' परे रहते पदान्त तथा अपदान्त दोनों ही स्थिति में 'म्' को अनुस्वार होता है । 'झल्' के अतिरिक्त अन्य व्यञ्जनों के पश्चाद्वर्ती होने पर पदान्त 'म्' को ही अनुस्वार होगा । तथा 'न्' के स्थान पर अनुस्वार 'झल्' परे रहते अपदान्त रहने की स्थिति में होता है ।

(१२४) पद—अनुस्वारस्य, ययि, परसवर्णः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—स्पष्ट है । अङ्कितः । अञ्चितः । कुण्ठितः । शान्तः । गुम्फितः । 'कुर्वन्ति' में 'ण्' की प्राप्ति होने पर उसके असिद्ध होने से 'न्' के स्थान पर अनुस्वार और परसवर्ण के असिद्ध होने के कारण 'न्' के स्थान पर 'ण्' नहीं होता ।

सन्दर्भ—अनुस्वार से प्रभावित परसवर्ण का निरूपण किया जा रहा है ।

विवरण—अनुस्वार के अनन्तर 'यय्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों के रहने पर उसकी स्थिति में परिवर्तन हो जाता है । वह अनुस्वार अपने परवर्ती वर्णों के पञ्चमवर्णों में परिवर्तित हो जाता है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

च कृते तस्यासिद्धत्वान्न णत्वम् । (१२५) वा पदान्तस्य ८।४।५९ ॥ पदान्तस्यानुस्वारस्य ययि परे परसवर्णो वा स्यात् । त्वङ्करोषि—त्वं करोषि । सय्यँन्ता—संयन्ता । सव्वँत्सरः—संवत्सरः । यल्लोकम्—यं लोकम् । अत्रानुस्वारस्य पक्षेऽनुनासिका यवलाः ।

तस्य परसवर्णः नकारः । गुम्फित इति । गुन्फ ग्रन्थे द्वितीयान्तः । नोपधः । क्तः इट् । 'नोपधात्थफान्ताद्वा' इत्यकित्वपक्षे नलोपो न । अत्र नश्चेत्यनुस्वारस्य परसवर्णः मकारः । ननु कृञ्धातोर्लट्, झिः, झोऽन्तः, तनादिकृञ्भ्य उः, गुणः, रपरत्वम् । 'अत उत् सार्वधातुके' । प्रत्ययोकारस्य यण् । न भकुर्छुरामिति निषेधात् वोरुपधाया इति दीर्घो न—कुर्वन्तीति रूपम् । नकारस्य नश्चापदान्तस्येत्यनुस्वारं बाधित्वा परत्वात् रषाभ्यामिति णत्वं स्यात् । न च त्रिपाद्यां नश्चापदान्तस्येत्यपेक्षया रषाभ्यामित्यस्य परत्वात्पूर्वत्रासिद्धमित्यसिद्धत्वात् अनुस्वारे सति परसवर्णे च नकारस्यैव श्रवणमिति वाच्यम् । एवमपि परसवर्णविधिना प्राप्तस्य नकारस्य रषाभ्यामिति णत्वप्राप्तेर्दुर्वारत्वादित्यत आह—कुर्वन्तीत्यादि । रषाभ्यामित्यपेक्षया परसवर्णस्य परतया णत्वे कर्तव्ये अनुस्वारस्थानिकपरसवर्णस्य नकारस्यासिद्धत्वान्न णत्वमिति भावः ।

(१२५) वा पदान्तस्य । 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इत्यनुवर्तते । तदाह—पदान्त-

---

अतः इसे पर-सवर्ण कहा जाता है । परसवर्ण के रूप में परिवर्तन होने का मुख्य कारण अनुस्वार का 'नासिका' से उच्चारित होना है । नासिका से उच्चारण करने की यह सुविधा वर्गों के पञ्चम-वर्ण के रूप में विद्यमान रहती है । परसवर्ण की प्रवृत्ति अपदान्त 'न्' 'म्' के स्थान पर हुए अनुस्वार के स्थान पर होती है । **उदाहरण**—१—√अङ्क्+क्त (त), अ न् क्+त (धातु को नुम् आगम), <अ न् क्+इ+त ('त' के पूर्व 'इट्' आगम), <अं क्+इत (न् = अनुस्वार) <अङ्कितः (+सु = र् = :) (अर्थ—चिह्नित) । यहाँपर अपदान्त 'न्' के स्थान पर 'यय्'—'क्' परे रहते "स्थानेन्तरतमः" परिभाषा के अनुस्वार कण्ठस्थानी कवर्ग का पञ्चम वर्ण 'ङ्' हुआ । इसी प्रकार २—अञ्च्+क्त (त), <अ न् च्+इत, <अन्+चितः <अं चि+तः = अञ्चितः (पूजित) । यहाँ पर अनुस्वार से च् परे रहते = ञ्—परसवर्ण । ३—√कुठ्+क्त (त), <कु न् ठ्+इत, <कुंठि+तः = कुण्ठितः । अर्थ—कुण्ठित । यहाँ पर अनुस्वार से 'ठ्' परे रहते = 'ण्' परसवर्ण । ४—√ शम्+क्त (त), <शाम्+त (दीर्घ), <शां+त = शान्तः (शान्त) । यहाँ पर अनुस्वार से 'त्' परे रहते = 'न्'—परसवर्ण । ५—√गुम्फ्+क्त <गुम्फ्+इ+त < गुंफ्+इ त = गुम्फितः (गूंथा हुआ) । यहाँ पर अनुस्वार से 'फ्' परे रहते = 'म्' परसवर्ण हुआ ।

शङ्का-समाधान—'कुर्वन्ति' में 'न्' के स्थान पर प्राप्त 'ण्' के निवारण का उपाय बतलाया जारहा है । अतः 'कुर्वन्ति' की सिद्धि की जा रही है—√ कृ+लट् (झि), <कृ+अन्ति (झ् = अन्त), <कृ+उ+अन्ति, <कर् उ+अन्ति ('गुण'—ऋ = अर्), <कुर् उ+अन्ति (अ = उ), <कुर्वन्ति (यण्—उ = व्) । ऐसी स्थिति में 'न्' के स्थान पर "रषाभ्याम्०" (८-४-१) सूत्र से 'ण्' तथा "नश्चापदान्तस्य झलि" (८-३-४) सूत्र से अनुस्वार की प्राप्ति होने पर "पूर्वत्रासिद्धम्" की उपस्थिति होने के कारण 'ण्' के असिद्ध होने से अनुस्वार तथा परसवर्ण करने पर 'कुर्वन्ति' रूप बनता है । परसवर्ण द्वारा निष्पन्न 'न्' के स्थान पर पुनः प्राप्त 'ण्' के होने की आशंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि "अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः" (८-४-५८) सूत्र से विहित परसवर्ण "रषाभ्याम्" (८-४-१) सूत्र की दृष्टि में असिद्ध होने से 'ण्' की प्रवृत्ति नहीं होती ।

(१२५) पद—वा, पदान्तस्य । **अनुवृत्ति**—अनुस्वारस्य, ययि, परसवर्णः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पदान्त में विद्यमान अनुस्वार के स्थान पर 'यय्' परे रहते विकल्प से परसवर्ण होता है । त्वङ्करोषि—त्वं करोषि । सय्यँन्ता—संयन्ता । सव्वँत्सरः—संवत्सरः । यल्लोकम्—यं लोकम् । यहाँ पर अनुस्वार के स्थान पर पक्ष में अनुनासिक य्, व्, ल् होते हैं ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१२६) मो राजि समः क्वौ ८ । ३ । २५ ॥ क्विबन्ते राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात् । सम्राट् । **(१२७) हे मपरे वा ८ । ३ । २६ ॥** मपरे हकारे परे मस्य म एव स्याद्वा । 'ह्वल ह्वल चलने' । किम् ह्वलयति—किं ह्वलयति । 'यवलपरे यवला वेति

स्येत्यादिना । त्वङ्करोषीति । त्वम् करोषीति स्थिते मोऽनुस्वारः । परसवर्णो ङकारः । तदभावपक्षे अनुस्वार एव श्रूयते । अत्रेति । सम् यन्तेति मोऽनुस्वारः । तस्य परनिमित्तभूतयकारसवर्णः अनुनासिक एव यकारो भवति, आन्तर्यात् । सय्यँन्तेति रूपम् । एवं सं वत्सर इति स्थिते अनुस्वारस्य परसवर्णः अनुनासिको वकारः सव्वँत्सर इति रूपम् । यं लोकमिति स्थिते, अनुस्वारस्य परसवर्णोऽनुनासिको लकारः । यँल्लोकमिति रूपम् । परसवर्णाभावपक्षे तु अनुस्वार एवेत्यर्थः ।

(१२६) मो राजि । म इति प्रथमान्तम् । 'मोऽनुस्वार' इत्यतो म इति स्थानषष्ठ्यन्तमनुवर्तते । सम इत्यवयवषष्ठी । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया क्विग्रहणेन क्विप्प्रत्ययान्तलाभः । तदाह—क्विवन्त इत्यादिना । म एवेति । न त्वनुस्वार इत्यर्थः । मस्य मविधानमनुस्वारनिवृत्त्यर्थमिति भावः । सम्राडिति । राजृ दीप्तौ । सम्पूर्वात् 'सत्सूद्विषद्रुहे' त्यादिना क्विप् । व्रश्चेति षत्वम् । जश्त्वेन डत्वम् । चर्त्वम् । अत्र मोऽनुस्वारो न भवति ।

(१२७) हे मपरे वा । मोऽनुस्वार इत्यतो म इति षष्ठ्यन्तमनुवर्तते । मो राजीत्यतः

विवरण—यह पूर्व-सूत्र का विस्तार है तथा पदान्त-विषयक अनुस्वार के स्थान पर विकल्प का विधान करता है । सम्पूर्ण पूर्व-सूत्र (१२४) की अनुवृत्ति होने से इस सूत्र का अर्थ होगा—"'यय्' परे होने पर पदान्त अनुस्वार के स्थान पर विकल्प से परसवर्ण होता है" । सब के अन्त में (अवसान) होने के कारण पदान्त में अनुस्वार की पृथक्ता का आभास होता है । उच्चारण में शीघ्रता करने पर आगे के वर्ण के साथ परसवर्ण होना स्वाभाविक है । अतः विकल्प विधान किया गया है । **उदाहरण**—१—त्वम्+करोषि <त्वं करोषि ('म्' = अनुस्वार), <त्वङ्+करोषि (ं = ङ्) पक्ष में—त्वं करोषि । अर्थ—तू करता है । २—सम्+यन्ता, <सं+यन्ता, <सय्ँ यन्ता (ं = य्ँ)—अनुनासिक यकार । पक्ष में संयन्ता । अर्थ—सहनशील । ६—सम्+वत्सरः <संवत्सरः (म् = ं), <सव्ँवत्सरः (ँ = अनुनासिक वकार) । पक्ष में संवत्सरः । अर्थ—वर्ष । ४—यम्+लोकम्, <यं लोकम् (म् = ं), <यल्ँ लोकम् (ँ = अनुनासिक लकार) । पक्ष में—यं लोकम् । अर्थ—जिस लोक को ।

विशेष—आदेशों में स्थानी के गुण विद्यमान रहते हैं । अतः अनुस्वार के स्थान में पर-सवर्ण के रूप में होने वाले य्, व्, ल् भी अनुनासिक (य्ँ, व्ँ, ल्ँ) होते हैं ।

(१२६) पद—मः, राजि, समः, क्वौ । **अनुवृत्ति**—मः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—क्विप् प्रत्ययान्त 'राज' धातु परे रहते 'सम्' के 'म्' को 'म्' ही रहता है । सम्राट् ।

विवरण—यहाँ पर "मोऽनुस्वारः" सूत्र से 'मः' की अनुवृत्ति आती है । सूत्र में 'समः' पद में षष्ठी-विभक्ति अवयवार्थ का बोध कराती है । तदनुसार क्विप्-प्रत्ययान्त (तदन्तविधि होने से) √राज् परे रहते ('राजि'-सप्तमी के कारण) 'सम्' उपसर्ग के अवयव 'म्' के स्थान पर 'म्' (मः) ही होता है । अर्थात् अनुस्वार नहीं होता । **उदाहरण**—सम्+√राज्+क्विप् <सम्राज्+सु, <सम्+राप् (ज् = 'प्'), <सम्+राड् (ष् = 'ड्'—जश्त्व), <सम्+राट् (ड् = 'ट्'—चर्त्व) <सम्राट्—'म्' = 'म्' । अतः अनुस्वार नहीं हुआ । अर्थ—सार्वभौम राजा ।

विशेष—यह सूत्र अनुस्वार-विधि का बाधक है ।

(१२७) पद—हे, मपरे, वा । **अनुवृत्ति**—मः (षष्ठी), मः (प्रथमा) **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—म-परक हकार (हम्) परे रहते 'म्' के स्थान में विकल्प से 'म्' ही होता है ।

√ह्वल, √ह्वल—चलने के अर्थ में हैं । किम् ह्वलयति—किं ह्वलयति । वा० यकार-परक हकार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वक्तव्यम्' (वा ४६०२) । (१२८) यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् १ । ३ । १० ॥ समसम्बन्धी विधिर्यथासङ्ख्यं स्यात् । किय्ँ ह्यः—किं ह्यः । किव्ँ ह्लयति—किंह्लयति ।

म इति प्रथमान्तमनुवर्तते । मः परो यस्मादिति विग्रहः । तदाह—मपरे इत्यादिना । ह्लयतीति ण्यन्ताल्लट् । 'ज्वलह्वलह्मलनमामनुपसर्गाद्वा' इति मित्त्वाण्णौ मितां ह्रस्वः । यवलपरे । यवलाः पराः यस्मादिति विग्रहः । यवलपरके हकारे परे मस्य म एव वा स्यादित्यर्थः ।

(१२८) यथासङ्ख्यम् । साम्यमिह सङ्ख्यातो विवक्षितम् । अनुदेशः विधानम् । समानामिति यदि कर्मणि षष्ठी तर्हि स्थान्यादिभिः समसङ्ख्यानां यत्र विधानम्, यथा एचोऽयवायाव इत्यादौ, तत्रैव यथासङ्ख्यप्रवृत्तिः स्यात् । 'समूलाकृतजीवेषु हन्-कृञ्-ग्रहः' इत्यत्र न स्यात्, तत्र विधेयस्य णमुल एकत्वात् । अतः समानामिति सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । एवं च समूलाद्युपपदानां हनादिधातूनां च समसङ्ख्यानामुपादानेन एकस्य प्रत्ययस्य विधिरपि समसङ्ख्याकसम्बन्धी विधिरेवेति तथापि यथासङ्ख्यप्रवृत्तिर्निर्बाधा । तदाह—समसम्बन्धी विधिरिति । यथासंख्यमिति । सङ्ख्याशब्देनात्र प्रथमत्वद्वितीयत्वादिरूपाः सङ्ख्याघटितधर्माः विवक्षिताः, तान् अनतिक्रम्य यथासङ्ख्यम् । ततश्च एचोऽय-

---

(ह्य्), वकारपरक हकार (ह्व्) तथा लकारपरक हकार (ह्ल्) परे रहते (ह्य, ह्व, ह्ल—वाद में रहें तो) 'म्' के स्थान पर विकल्प से 'य्' 'व्' 'ल्' आदेश होते हैं ।

विवरण—सूत्र के अर्थ को पूरा करने हेतु "मोऽनुस्वारः" सूत्र से 'मः' तथा "मो राजि समः क्वौ" सूत्र से भी 'मः' की अनुवृत्ति आती है । पहला 'मः' 'म्' शब्द की षष्ठी विभक्ति का रूप है । दूसरा 'मः' 'म' शब्द की प्रथमा विभक्ति का रूप है । तदनुसार सूत्र का अर्थ है—"मकार के अनन्तर ह्म् रहने पर पूर्व 'म्' के स्थान में विकल्प से 'म्' ही होता है । पक्ष में अनुस्वार होगा ।

उदाहरण—१—किम्+ह्लयति<किम् ह्लयति (म्=म्) । पक्ष में—किं ह्लयति (म् = ं) । इस प्रकार स्थानी और आदेश एक पक्ष में 'म्' के रूप में ही रहते हैं । अर्थ—क्या चलाता है ?

(वा०) पद—यवलपरे, यवलाः, वा । अर्थ—'म्' के बाद यदि ह् य्, ह् व्, ह् ल्—रहें तो 'म्' के स्थान में विकल्प से य्, व्, ल् होते हैं ।

विशेष—यह सूत्र भी अनुस्वार विधि का बाधक है ।

(१२८) पद—यथासंख्यम्, अनुदेशः, समानाम् । **परिभाषासूत्र** ।

मूलार्थ—समान-सम्बन्धी विधान क्रमशः संख्या के अनुसार होते हैं । किय्ँ ह्यः—किं ह्यः । किव्ँ ह्लयति—किं ह्लयति । किल्ँ ह्लादयति—किं ह्लादयति ।

सन्दर्भ—प्रसङ्गवश उद्देश्य तथा विधेय के समान-संख्यक होनेपर क्रम-व्यवस्था की जा रही है ।

विवरण—यह परिभाषा सूत्र है । अतः स्थानी और आदेश—इन दोनों के समान-संख्यक होने पर यथाक्रम विधान होने में स्वाभाविकता है । उसी का प्रतिपादन यहाँ किया जा रहा है । सूत्र में 'यथासंख्यम्' शब्द का अर्थ है—क्रमानुसार[1] (संख्याम् अनतिक्रम्य = यथासंख्यम्—अव्ययीभाव समास) । किन्हें क्रमानुसार रखा जाय ? इसके उत्तर में दो पद हैं—'समानाम्' तथा 'अनुदेशः' । अर्थात् समान संख्या वाले उद्देश्य और विधेयों (अनुदेशः) के रहने पर उद्देश्य के साथ विधेय क्रमशः (यथासंख्यम्) सम्बद्ध होते हैं[2] । तात्पर्य यह है कि जहाँ स्थानी और आदेश की संख्या बराबर हो वहाँ पर आदेश क्रम से होते हैं ।

---

१. संख्याशब्देन क्रमो लक्ष्यते । यथासंख्ये यथाक्रममनुदेशो भवति । काशिका ।

२. समानां समसंख्यानां समं पठितानामुद्देशिनाम् अनुदेशिनां च यथाक्रममुद्देशिभिरनुदेशिनः संबध्यन्ते । काशिका ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किल् ह्लादयति—किं ह्लादयति। (१२९) नपरे नः ८।३।२७॥ नपरे हकारे परे मस्य नः स्याद्वा। किन् ह्नुते—किं ह्नुते। (१३०) ङ्णोः कुक्टुक्शरि ८।३।२८॥ ङकारणकारयोः कुक्टुकावागमौ वा स्तः शरि। कुक्टुकोरसिद्धत्वाज्जश्त्वं न। 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' (वा ५०२३)। पौष्करसादिराचार्यः। प्राङ्ख्षष्टः—प्राङ्क्षष्टः—प्राङ् षष्टः। सुगण्ठ्षष्टः—सुगण्ट्षष्टः—सुगण्षष्टः।

वायावः इत्यादिषु प्रथमस्य स्थानिनः प्रथम आदेशः, द्वितीयस्य द्वितीय इत्येवंक्रमेण स्थान्यादेशतन्निमित्तादीनां समसङ्ख्याकानां क्रमेण अन्वयः प्रतिपत्तव्य इति फलितम्। प्रकृते च यपरके हकारे परे मकारस्य मकारः, वपरके वः, लपरके लः—इति सिध्यति। किंय् ह्य इति। यस्य यत्वे रूपम्। ह्य इत्यव्ययम्, पूर्वेद्युरित्यर्थः। यत्वाभावे मोऽनुस्वारः। किंव् ह्लयतीति। मस्य वत्वम्। ह्लल चलने, णिच्। किंल् ह्लादयतीति। मस्य लत्वम्। ह्लादी सुखे च। णिच्।

(१२९) नपरे नः। हे इति, वेति, म इति चानुवर्तते। नः परो यस्मादिति विग्रहः। तदाह—नपरे हकार इत्यादिना। किन् ह्नुत इति। ह्नुङ् अपनयने। मस्य नत्वे रूपम्। तदभावे मोऽनुस्वारः।

(१३०) ङ्णोः कुक्टुक् शरि। 'हे मपरे वा' इत्यतो वेत्यनुवर्तते। कुक् च टुक् चेति समाहारद्वन्द्वः। आगमाविति। एतच्च आद्यन्तौ टकिताविति लभ्यम्। यथासङ्ख्यपरिभाषया

इस परिभाषा की उपस्थिति से उपर्युक्त वार्तिक में प्रतिपादित आदेश यथाक्रम होते हैं। अर्थात् 'ह् य्' परे होने पर 'म्' के स्थान पर 'यँ', 'ह् व्' परे होने पर 'म्' के स्थान पर 'वँ' तथा 'ह् ल्' परे होने पर 'म्' के स्थान पर 'लँ' आदेश होते हैं। आदेशों के विकल्प से विधान होने के कारण पक्ष में "मोऽनुस्वारः" से 'म्' के स्थान पर अनुस्वार होता है। क्रमशः उदाहरण—१—किम्+ह्यः, <किंय् ह्यः (म् = यँ—अनुनासिक)। पक्ष में अनुस्वार—किं ह्यः। अर्थ कल क्या? २—किम्+ह्लयति, <किंव् ह्लयति (म् = वँ)। पक्ष में अनुस्वार—किं ह्लयति। अर्थ—क्या चलाता है? ४—किम्+ह्लादयति, <किंल् ह्लादयति (म्=लँ)। पक्ष में अनुस्वार—किं ह्लादयति। अर्थ—क्या प्रसन्न करता है?

(१२९) पद—नपरे, नः। अनुवृत्ति—हे, मः (षष्ठी)। विधिसूत्र।

मूलार्थ—नपरक हकार परे रहते 'म्' के स्थान पर 'न्' होता है।

विवरण—यहाँ पर स्थानी 'म्' है तथा आदेश 'न्'। साहचर्य है 'ह् न्' का। साहचर्य को स्थानी के अनन्तर रहना है (न—परे हे)। साहचर्य के दो वर्णों में से 'ह्' की अनुवृत्ति "हे मपरे" सूत्र से आती है। तथा स्थानी का ज्ञान "मोऽनुस्वारः" सूत्र से आने वाले 'मः' (षष्ठी-विभक्ति) पद से होता है। उदाहरण—किम्+ह्नुते <किन् ह्नुते ('म्'=न्—'ह् न्' परे रहने के कारण)। पक्ष में म् = अनुस्वार—किं ह्नुते। अर्थ—क्या छिपाता है?

(१३०) पद—ङ्णोः, कुक्, टुक् शरि। अनुवृत्ति—वा। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'ङ्' तथा 'ण्' को 'शर्' परे रहते 'कुक्' तथा 'टुक्' आगम विकल्प से होते हैं। 'कुक्' तथा 'टुक्' के असिद्ध होने से जश्त्व नहीं होता। वा० पौष्करसादि आचार्य के मत में 'चय्' वर्णों के स्थान पर द्वितीय वर्ण होते हैं। प्राङ्ख्षष्टः—प्राङ्क्षष्टः—प्राङ् षष्टः। सुगण् ठ् षष्टः—सुगण् ट् षष्टः—सुगण् षष्टः।

विवरण—इस सूत्र में "हे मपरे वा" सूत्र से 'वा' की अनुवृत्ति आ रही है। यहाँ 'ङ्' तथा 'ण्' उद्देश्य एवं 'कुक्' और 'टुक्' विधेय हैं। दोनों समान-संख्या वाले होने के कारण "यथासंख्यमनुदेशः समानाम्" परिभाषा के अनुसार यथाक्रम होते हैं। 'कुक्' और 'टुक्' में अन्तिम 'क्' तथा 'उ' की इत्संज्ञा होती है। केवल 'क्' तथा 'ट्' ही 'ङ्' तथा 'ण्' के अवयव के रूप में स्थित

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१३१) ङः सि धुट् ८।३।२९ ॥ डात्परस्य सस्य धुड् वा स्यात् । षट्त्सन्तः–षट्सन्तः ।

ङकारस्य कुक्, णकारस्य टुक् । उभयत्र ककार इत्, उकार उच्चारणार्थः । प्राङ् षष्ठः, सुगण् षष्ठ इति स्थिते, यथाक्रमं कुकि टुकि च तयोः पूर्ववयवत्वेन पदान्तत्वात् जश्त्व-माशङ्क्याह—कुक्टुकोरिति । चयो द्वितीयाः । पौष्करसादिशब्दस्य चयो द्वितीया इत्यर्थभ्रमं वारयति—पौष्करसादिराचार्य इति । तथा च विकल्पः फलतीति भावः । प्राङ्क् षष्ठ इति कुकि रूपम् । चयो द्वितीया इति पक्षे प्राङ्ख् षष्ठ इति रूपम् । न चात्र खकारस्य खरि चेति चर्त्वम्, खकारारम्भविधिसामर्थ्यात् । चयो द्वितीया इति, नादिन्याक्रोश इति सूत्रभाष्यपठितमिदम् । प्राङ् षष्ठ इति कुगभावे रूपम् । एवं टुक्यपि सुगण्ट्षष्ठ इत्यादि ।

(१३१) ङः सि धुट् । ङ इति पञ्चमी ततश्च तस्मादित्युत्तरस्येति परिभाषया सीति सप्तमी षष्ठी सम्पद्यते—डात्परस्य सस्येति । हे मपरे वेत्यतो वेत्यनुवर्तते । तदाह—डात्परस्येत्यादिना । तस्मिन्निति निर्दिष्टे इति नेह भवति, उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान् परत्वादिति न्यायात् । धुट् इति चतुर्थधकारनिर्देशः । टकार इत् । उकार उच्चारणार्थः । धुट् इति द्वितीयविधौ तत्सामर्थ्याच्चर्त्वं न स्यात्, अन्यथा तकारमेव विदध्यात् । चतुर्थविधेस्तु न तत्सामर्थ्यम्, प्रथमविधौ तस्य 'चयो द्वितीया' इत्यापत्तौ तन्निवृत्त्या चरितार्थत्वात् । षट् सन्त इति । षष् इति षकारस्य जश्त्वेन डः । षड् सन्त इति स्थिते चर्त्वस्यासिद्धत्वात् डात् परत्वात् सस्य धुट् आद्यवयवः । तस्य चर्त्वेन तकारः । चयो द्वितीया इति तु न चर्त्वस्यासिद्धत्वात् । ततो लक्ष्यभेदात् डस्य चर्त्वेन टः ।

रहते है । कारण यह है कि इनके 'क्' की इत्संज्ञा हुई है । ये "आद्यन्तौ टकितौ" परिभाषा के अनुसार आगम के रूप में स्थानी के साथ अन्तावयव होकर कार्य निर्वाह करते हैं । अतः सूत्र का अर्थ है—"ङ् तथा ण् के अनन्तर 'श्', 'ष्', 'स्' वर्णों के रहने पर क्रमशः ङ्, ण् के अन्त में विकल्प से 'क्' तथा 'ट्' वर्ण स्थित रहते हैं" । उदाहरण—१—प्राङ् षष्ठः <प्राङ् क् षष्ठः (क्–'कुक्' आगम) <प्राङ् ख् षष्ठः (क् = 'ख्'—द्वितीय वर्ण वार्तिक के अनुसार) । 'ख्' (द्वितीय वर्ण) के न होने पर—<प्राङ्क्षष्ठः (क्+ष् = क्ष्) । 'कुक्' आगम के अभाव में प्राङ् षष्ठः । अर्थ—छठा प्राग्देशवासी । २—सुगण्+षष्ठः, <सुगण् ट् षष्ठः, ('ट्'–'टुक्' = आगम) <सुगण् ठ् षष्ठः (ट् = 'ठ्') । द्वितीय वर्ण वैकल्पिक होने के कारण पक्ष में—सुगण् ट् षष्ठः । 'टुक्' के भी पक्ष में न होने के कारण—सुगण् षष्ठः । अर्थ—छठा अच्छा गिनने वाला ।

विशेष—आगम मित्रवत् होता है, अतः उसकी स्थिति अवयव के रूप में विद्यमान रहती है । इसके विपरीत **आदेश** शत्रुवत् होता है । उसके होने पर स्थानी विद्यमान नहीं रहता । उसको हटाकर आदेश होता है ।

(१३१) पद—ङः, सि, धुट् । अनुवृत्ति—वा । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'ङ्' के अनन्तर 'स्' के रहने पर 'धुट्' आगम विकल्प से होता है । षट् त् सन्तः—षट् सन्तः ।

विवरण—'धुट्' में 'ट्' तथा 'उ' की इत्संज्ञा होती है । केवल 'ध्' रहता है । 'ट्' इत्संज्ञक होने के कारण यह 'धुट्' आगम 'स्' का आदि-अवयव होगा—"आद्यन्तौ टकितौ" । सकार को 'ङ्' के अनन्तर रहना चाहिये । "हे मपरे वा" सूत्र से 'वा' की अनुवृत्ति आने के कारण यह आगम विकल्प से होता है । अर्थात् 'ङ्' 'तथा' 'स्' के मध्य 'ध्' विद्यमान रहेगा । उदाहरण—षष्+सन्तः, <षड् सन्तः (जश्त्व), <षड् ध् सन्तः ('धुट्' आगम-ध्), <षट् त् सन्तः (जश्त्व होने से ड् = 'ट्' तथा ध् = 'त्') । धुट् आगम न होने पर षट् सन्तः—ट् = ट् । अर्थ—छह सज्जन ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१३२) नश्च ८।३।३० ॥ नकारान्तात्परस्य सस्य धुड् वा स्यात् । सन्त्सः—सन्सः । (१३३) शि तुक् ८ । ३ । ३१ ॥ पदान्तस्य नस्य शे परे तुग्वा स्यात् । 'शश्छोऽटि' (सू १२०) इति छत्वविकल्पः । पक्षे 'झरो झरि–' (सू ७१) इति चलोपः । सञ्छम्भुः–सञ्च्छम्भुः–सञ्चशम्भुः–सञ्शम्भुः ।

अछौ अचछा अचशा अशाविति रूपचतुष्टयम् ।
रूपाणामिह तुक्छत्वच लोपानां विकल्पनात् ॥

---

(१३२) नश्च । सि धुट् इति, वेति चानुवर्तते । न इति पञ्चमी । तस्मादित्युत्तरस्येति परिभाषया सीति षष्ठी सम्पद्यते । तदाह—नकारान्तात् परस्येति । सन्त्स इति । धुटि धस्य चर्त्वम् ।

(१३३) शि तुक् । पूर्वसूत्राद् न इति पञ्चम्यन्तमनुवृत्तमिह षष्ठ्यन्तमाश्रीयते, शब्दाधिकाराश्रयणात् । पदस्येत्यधिकृतम् अवयवषष्ठ्यन्तमाश्रीयते । हे मपरे वेत्यतो वेत्यनुवृत्तम् । तदाह—पदान्तस्य नस्येत्यादिना । नान्तस्य पदस्येत्युचितम् । उकारः उच्चारणार्थः । सन् शम्भुरिति स्थिते नकारस्यान्तावयवस्तुक् । ननु तुग्ग्रहणं व्यर्थम् । डः सि धुडित्यतः धुडेवानुवर्त्य नकारात् परस्य शस्य विधीयताम् । खरि चेति चर्त्वे सन्त्-शम्भुरित्यस्य सिद्धिरित्यत आह—शश्छोऽटीति । छत्वविकल्प इति । शकारस्येति शेषः । धुटो विधौ तु तस्य परादित्वात्पदान्तत्वाभावात् छत्वं न स्यात्, छत्वविधेः पदाधिकारस्थत्वेन पदान्ताद् झयः परस्यैव शस्य तत्प्रवृत्तेर्भाष्ये सिद्धान्तितत्वात्, अन्यथा विसृपो विरप्-

---

(१३२) पद—नः, च । अनुवृत्ति—सि, धुट्, वा । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—नकारान्त के पश्चाद्वर्ती 'स्' को 'धुट्' आगम विकल्प से होता है ।

विवरण—प्रकृत सूत्र के अर्थ को पूरा करने के लिये "डः सि धुट्" सूत्र से 'सि' एवं 'धुट्' की अनुवृत्ति तथा "हे मपरे वा" सूत्र से 'वा' की अनुवृत्ति की जाती है । सूत्रस्थ 'नः' पद पञ्चमी विभक्ति में है तथा अनुवृत्त 'सि' पद सप्तमी विभक्ति में है । इस प्रकार 'पर' तथा 'पूर्व' दोनों की उपस्थिति होती है । अतः सन्देह होता है कि 'धुट्' आगम 'न्' के पूर्व हो अथवा 'स्' के पूर्व हो । इस सन्देह का निराकरण इस नियम से होता है कि जहाँ पञ्चमी तथा सप्तमी विभक्तियों का निर्देश हो वहाँ पञ्चमी विभक्ति को मानकर कार्य होता है (उभय-निर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्) । 'सि' पद की सप्तमी विभक्ति षष्ठी में परिवर्तित हो जाती है । इस प्रकार आशय यह है कि 'ध्' (धुट्—आगम) 'न्' के पश्चाद्वर्ती 'स्' का अवयव (सस्य) विकल्प से होता है । 'धुट्' में 'ट्' की इत्संज्ञा होने से यह 'ध्' सकार के आदि में स्थित रहता है । उदाहरण—सन्+सः <सन् ध् सः ('स्' के पूर्व 'ध्'), <सन् त् सः (ध् = 'त्'—चर्त्व) । 'धुट्' आगम के न होने पर—सन्सः । अर्थ—वह सज्जन ।

(१३३) पद—शि, तुक् । अनुवृत्ति—नः, वा, पदस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—पदान्त 'न्' के अनन्तर 'श्' के रहने पर विकल्प से 'तुक्' (त्) आगम होता है । "शश्छोटि" (१२०) सूत्र से 'श्' के स्थान में छकार-आदेश विकल्प से होगा । पक्ष में "झरो झरि" (७१) सूत्र से 'च्' का लोप होगा । सञ्छम्भुः । सञ्च्छम्भुः । सञ्च्शम्भुः । सञ् शम्भुः । 'ञ् छ्', 'ञ् च् छ्', 'ञ् च् श्' तथा 'ञ् श्'—वर्णात्मक चार रूप तुक्, 'छ्'-विधान तथा 'च्'-लोप के विकल्प होने से सिद्ध होते हैं ।

विवरण—सूत्रस्थ पदों का केवल यह अर्थ होता है कि 'श्' परे रहते 'तुक्' आगम होता है । 'तुक्' आगम किसका अवयव हो ? इस आकाङ्क्षा को निवृत्ति के लिए "नश्च" (१३२) सूत्र से पञ्चम्यन्त 'नः' की अनुवृत्ति आती है । विभक्ति-विपरिणाम से वह 'नः' पद षष्ठी विभक्ति में माना गया तथा 'पदस्य' का विशेषण भी । इसके साथ विशेषण होने से तदन्तविधि हो जाती है । तदनुसार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१३४) ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् ८ । ३ । ३२ ॥ ह्रस्वात्परो यो ङम् तदन्तं यत्पदं तस्मात्परस्याचो नित्यं ङमुडागमः स्यात् । प्रत्यङ्ङात्मा । सुगण्णीशः । सन्नच्युतः ।

शिन्नित्यादावपि शस्य छत्वापत्तेः । पक्षे इति । कदाचित् झरो झरीति तुकस्तकारस्य श्चुत्वमापन्नस्य लोप इत्यर्थः । सञ् छम्भुरिति । तकारस्य चत्वमापन्नस्य लोपे सति नकारस्य च श्चुत्वेन ञकारे रूपम् । सञ् च् छम्भुरिति । चुत्वमापन्नस्य तकारस्य लोपाभावे नकारस्य च श्चुत्वे ञकारे रूपम् । तुको जश्त्वं तु न, जश्त्वे तस्यासिद्धत्वाद् । अत एव श्चुत्वोत्तरमपि जश्त्वं न । सञ्च् शम्भुरिति । शस्य छत्वाभावे तकारनकारयोश्चुत्वे च रूपम् । सञ्शम्भुरिति । तुकः अभावे नकारस्य चुत्वे रूपम् । तदिदं रूपचतुष्टयमुक्तक्रमं श्लोकेन संगृह्णाति—ञछाविति । तुक्छत्वचलोपानां विकल्पनात् ञछौ ञचछा ञचशा ञशाविति रूपाणां चतुष्टयमित्यन्वयः ।

(१३४) ङमो ह्रस्वात् । ङम् प्रत्याहारः । ङम इति पञ्चम्यन्तम् । तद्विशेषणत्वात् पदस्येत्यधिकृतं पञ्चम्यन्ततया विपरिणम्यते । ङम इति च ह्रस्वादिति विशेषणसम्बन्धमनुभूय पदविशेषणत्वं भजत् तदन्तपरम् । ङम इति पञ्चमीबलात् अचीति सप्तमी षष्ठ्यर्थे । तदाह—ह्रस्वात्परे इत्यादिना । ङमुडागम इति । टकार इत् , उकार उच्चारणार्थः । संज्ञायां कृतं टित्त्वमानर्थक्यात्तदङ्गत्वात् संज्ञिभिः सम्बन्ध्यते । ततश्च डुट् णुट् नुट् इति त्रय आगमाः फलिताः । टित्त्वादच आद्यवयवाः यथासङ्ख्यं प्रवर्तन्ते । हे मपरे वेति वाग्रहणानुवृत्तिशङ्काव्युदासार्थं नित्यग्रहणम् । प्रत्यङ्ङात्मेति । प्रत्यङ् आत्मा इति स्थिते आकारात् प्राक् डुट् । सुगण्णीश इति । गण संख्याने, चुरादिः । ण्यन्ताद्विचि णिलोपः । न तु क्विप् । 'अनुनासिकस्य क्वि' इति दीर्घप्रसङ्गात् । ङमुटि कर्तव्ये णिलोपस्तु न स्थानि-

---

सूत्र का आशय यह होगा कि 'शकार परे रहने पर नकारान्त पद को विकल्प से 'तुक्' आगम होता है । 'क्'—इत् होने के कारण 'तुक्'—आगम 'न्' का अन्तावयव होगा । उदाहरण—सन्+शम्भुः <सन् त्+शम्भुः ('न्' के बाद 'तुक्' = 'त्'–आगम), <सन् च् शम्भुः, ('त्'='च्'—श्चुत्व), सञ् च्+शम्भुः ('न्'='ञ्'—श्चुत्व), <सञ् च्+छम्भुः ('श्'='छ्')<सञ् छम्भुः ('च्'–लोप "झरो झरि सवर्णे" ७३) । यहाँ तुक्, छत्व तथा 'च्' लोप—प्रत्येक कार्य विकल्प से होने के कारण चार रूप बनते हैं । उनकी स्थिति इस प्रकार है—(१) सञ् छम्भुः—तुक्, छकारादेश तथा 'च्' लोप होने कारण । (२) सञ् च् छम्भुः—'च्' लोप के न होने पर केवल 'तुक्' आगम और 'छ्' आदेश होने पर । (३) सञ् च् शम्भुः—'च्'—लोप एवं 'छ्'—आदेश के अभाव में केवल 'तुक्' आगम होने पर । (४) सञ् शम्भुः—'तुक्' आगम न होने पर । केवल श्चुत्व होने पर—'न्' = 'ञ्' । अर्थ—विद्यमान शिव ।

(१३४) पद—ङमः, ह्रस्वात्, अचि, ङमुण्, नित्यम् । अनुवृत्ति—पदस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—ह्रस्व वर्ण के पश्चाद्वर्ती 'ङम्'—अन्त पद से परे 'अच्' को नित्य 'ङमुट्' आगम होता है । प्रत्यङ्ङात्मा । सुगण्णीशः । सन्नच्युतः ।

विवरण—'ङम्' प्रत्याहार के अन्तर्गत ङ्, ण्, न् वर्ण आते हैं । 'पदस्य' का अधिकार है । 'पदस्य' पद पञ्चमी विभक्ति में परिवर्तित हो जाता है । उसका विशेषण 'ङम्' है और उसमें तदन्तविधि होती है । 'अचि' (सप्तमी) पद भी परिवर्तित होकर 'षष्ठी'—विभक्ति का स्वरूप ग्रहण कर लेता है । आगम-सूचक 'ङमुट्' पद में 'ट्' की इत्संज्ञा होने से 'ङम्' का आदि–अवयव होता है । उकार भी इत्संज्ञक है । 'ङमुट्' के 'ट्' का सम्बन्ध संज्ञी वर्णों के साथ होने के फलस्वरूप आगम 'डुट्', 'णुट्' तथा 'नुट्'—इन तीन रूपों में प्रतिफलित होता है । अतः सूत्र से यह तात्पर्य निकलता है कि ह्रस्व से पर पदान्त 'ङ्' 'ण्' 'न्' के पश्चाद्वर्ती स्वरवर्ण के आदि में अवयवस्वरूप

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१३५) समः सुटि ८ । ३ । ५ ॥ समो रुः स्यात्सुटि । 'अलोन्त्यस्य' (सू० ४२) । (१३६) अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा ८।३।२ ॥ अत्र रुप्रकरणे रोः पूर्वस्यानुनासिको

वत्, पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवदित्युक्तेः । सुगण् ईश इति स्थिते ईकारात् प्राक् णुट् । सन्नच्युत इति । सन् अच्युत इति स्थिते आकारात् प्राक् नुट् । न च परमदण्डिनावित्यत्र परमदण्डिन् औ इति स्थिते प्रत्ययलक्षणेन अन्तर्वर्तिविभक्त्या पदत्वान्नुट् स्यादिति वाच्यम् । उत्तरपदत्वे चापदादिविधाविति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधात् । वस्तुतस्तु इदं यत्रोत्तरपदस्य कार्यित्वं तत्रैव प्रवर्तते, अन्यथा पदव्यवायेऽपीति निषेधो सापक्रुम्भवापेनेत्यत्र न स्यात् । अतः परमदण्डिनौ इत्यत्र ङ्मुड्वारणाय उञि च पदे इत्यतः पदे इत्यनुवर्त्य अजादेः पदस्य ङ्मुडिति व्याख्येयमिति शब्देन्दुशेखरे प्रपञ्चितम् ।

(१३५) समः सुटि । सम इति षष्ठ्यन्तम् । 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ' इत्यतो रुग्रहणमनुवर्तते । तदाह—समो रुः स्यात् सुटीति । रु इत्युकार इत् । अलोऽन्त्यस्येति । उपतिष्ठते इति शेषः । सम्पूर्वात् करोतेस्तृचि 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इति सुडागमे सम् स्कर्तेति स्थिते समः रुत्वम् । सर् स्कर्तेति स्थिते ।

(१३६) अत्रानुनासिकः । 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ' इति रुत्वविध्यन्तरमिदं पठितम् । अतः अत्रेत्यनेन रुप्रकरणे इत्यर्थो गम्यते । पूर्वत्वं च रु इत्यपेक्षया ज्ञेयम्, प्रकृतत्वात् । तदाह—अत्र रुप्रकरणे रोः पूर्वस्यानुनासिको वा स्यादिति । उत्तरसूत्रे अनुनासिकाभावपक्षानुवादादेव विकल्पे सिद्धे वाग्रहणं स्पष्टार्थम् । परस्य नित्यं रुत्वम्, पूर्वस्य तु अनु-

---

'ङ्' 'ण्', 'न्' क्रमशः संयुक्त हो जाते हैं। **उदाहरण**—१—प्रत्यङ्+आत्मा <प्रत्यङ्ङात्मा ('आ' के पूर्व 'ङ्' (ङुट्) आगम)। अर्थ—अन्तरात्मा। २—सुगण्+ईशः <सुगण्णीशः ('ई' के पूर्व 'ण्' (णुट्) आगम। अर्थ—अच्छा गणितज्ञ। ३—सन्+अच्युतः <सन्नच्युतः ('अ' के पूर्व 'न्' (नुट्) आगम।) अर्थ—सत्स्वरूप विष्णु।

विशेष—इस सूत्र से पूर्व अनेक सूत्रों में विकल्प-विधान होने के कारण उसकी पुनरावृत्ति न होने के लिए यहाँ 'नित्यम्' पद का प्रयोग किया है। यदि 'नित्यं' पद न रखा जाता तो भी कोई हानि नहीं थी। कारण यह है कि 'हे मपरे वा' (१२७) सूत्र से अनुवृत्ति न आने के कारण 'ङ्मुट्' आगम स्वतः नित्य होता। तथापि आचार्य ने 'नित्य' ग्रहणकर ङ्मुट्–आगम की अनित्यता प्रदर्शित की है, क्योंकि 'सनाद्यन्ताः' 'तिङन्तम्' आदि प्रयोगों में 'ङ्मुट्'–आगम नहीं दिखाई पड़ता है।

(१३५) पद—समः, सुटि। **अनुवृत्ति**—रुः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'सम्' के स्थान में 'सुट्' परे रहते 'रु' होता है। वह अन्त्य अल् के स्थान में होता है ("अलोऽन्त्यस्य")।

विवरण—सूत्र में आदेश-सूचक पद न होने के कारण "मतुवसो रु सम्बुद्धौ" (८-३-१) से 'रु' की अनुवृत्ति की जाती है। अतः 'सम्' स्थानी है तथा 'रु' आदेश है। निमित्त-स्वरूप 'सुट्' को स्थानी का परवर्ती होना चाहिये। "अलोऽन्त्यस्य" परिभाषा की उपस्थिति से 'रु' (र्) आदेश 'सम्' के अन्तावयव 'म्' के स्थान पर होगा।

(१३६) पद—अत्र, अनुनासिकः, पूर्वस्य, तु, वा। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इस 'रु'–प्रकरण में 'रु' के पूर्ववर्ण को विकल्प से अनुनासिक होता है।

विवरण—सूत्रार्थ स्पष्ट है।

विशेष—इस सन्दर्भ में विशेष बात यह है कि इस सूत्र में निर्दिष्ट 'रु' प्रकरण से तात्पर्य "मतुवसो रु सम्बुद्धौ" (८-३-१) के प्रसङ्ग में होने वाला 'रु' लिया जाता है न कि "ससजुषो रुः" (८-२-६६) के प्रसङ्ग में होने वाला 'रु' प्रकरण। इसके अन्तर्गत इन सूत्रों का समावेश होता है—१—मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि (८-३-१), २—अत्रानुनासिक पूर्वस्य तु वा (८-३-२)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वा स्यात् । (१३७) अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः ८।३।४ ॥ अनुनासिकं विहाय रोः पूर्वस्मात्परोऽनुस्वारागमः स्यात् । 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (सू ७६) । (१३८) विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४ ॥ खरि विसर्जनीयस्य सः स्यात् । एतपवादे 'वा शरि' (सू १५१) इति पाक्षिके विसर्गे प्राप्ते, 'संपुंकानां सो वक्तव्यः' (वा ४८९२) । सँस्कर्ता—संस्कर्ता । 'समो वा लोपमेके' इति भाष्यम् । लोपस्यापि रुप्रकरणस्थत्वाद-

---

नासिकविकल्प इति वैपम्यस्य सिद्धस्यैव द्योतनार्थस्तुशब्दोऽपि स्पष्टार्थ एव । इदमेवाभिप्रेत्य मूले विवरणवाक्ये तु ग्रहणं त्यक्तमिति प्रौढमनोरमायाम् उक्तम् । अनेन सूत्रेण सर् इत्यत्र सकारादकारः अनुनासिकः । सँस्कर्ता ।

(१३७) अनुनासिकात् । अनुनासिकादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी । विहायेति गम्यम् । पूर्वस्येत्यनुवर्तते । पञ्चम्यन्ततया विपरिणम्यते । पूर्वत्वं च रुत्वकृतरेफापेक्षया । परत्वं च रोर्यः पूर्ववर्णस्तदपेक्षया । तदाह—अनुनासिकं विहायेति । अनुनासिकाभावपक्षे इत्यर्थः । आगमत्वं परशब्दलभ्यम् । ततश्च सकारादकारस्य अनुनासिकाभावपक्षे अकारात् परः अनुस्वारागमः । संर्स्कर्ता । अथ रेफस्य विसर्गविधिं स्मारयति—खरवसानयोरिति ।

(१३८) विसर्जनीयस्य सः । खरवसानयोरित्यतो मण्डूकप्लुत्या खरीत्यनुवर्तते, एकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञानात् । केचित्तु विसर्गश्रवणात् खरीत्यार्थिकम्, अवसानस्य तु न सम्बन्धः, व्याख्यानादित्याहुः, तदाह—खरीति । विसर्जनीयस्य स इति सिद्धे संपुंकानामिति पुनर्विधानं व्यर्थमित्यत आह—एतदपवाद इति । पुनर्विधानं वा शरीति पाक्षिकविसर्गबाधनार्थमिति भावः । संपुंकानामिति । सम् पुम् कान् एतेषां विसर्गस्य सकारो वक्तव्य इत्यर्थः । अनेन वार्तिकेनात्र विसर्गस्य नित्यमेव सत्वमिति शेषः । सँस्कर्तेति । अनुनासिकपक्षे रूपम् । संस्कर्तेति । अनुस्वारपक्षे रूपम् । उभयत्रापि द्विसकारत्वमेव । समो वेति । समो मस्य सुटि लोपम् एके आचार्या इच्छन्तीत्यर्थः । एकशब्दोऽन्यपर्यायः । 'एके मुख्योऽन्यकेवलाः' इत्यमरः । लोपपक्षेऽपि अनुस्वारानुनासिकाभ्यामेकसकारं रूपद्वयमित्याह—

३—आतोऽटि नित्यम् (८-३-३), ४—अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः (८-३-४), ५—समः सुटि (८-३-५), ६—पुमः खय्यम्परे (८-३-६), ७—नश्छव्यप्रशान् (८-३-७), ८—उभयथर्क्षु (८-३-८), ९—दीर्घादटि समानपादे (८-३-९), १०—नृन्पे (८-३-१०), ११—स्वतवान् पायौ (८-३-११), तथा १२—कानाम्रेडिते (८-३-१२) ।

(१३७) पद—अनुनासिकात्, परः, अनुस्वारः । अनुवृत्ति—रुः, पूर्वस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—अनुनासिक को छोड़कर 'रु' से पूर्व-वर्ण के अनन्तर अनुस्वार आगम होता है ।

विवरण—अष्टाध्यायी क्रम में पूर्व दो सूत्रों से 'रु' तथा 'पूर्वस्य' की अनुवृत्ति की जाती है । ये दोनों अनुवृत्त पद पञ्चमी-विभक्ति में परिवर्तित हो जाते हैं । तदनुसार सूत्र का आशय यह है कि अनुनासिक के पक्ष को छोड़कर 'रु' से पूर्ववर्ती वर्ण के पश्चात् अनुस्वार की स्थिति आगम के रूप में रहती है ।

विशेष—इस 'रु' प्रकरण में 'रु' आदेश होने पर 'अनुस्वार' तथा 'अनुनासिक' क्रमशः होते हैं ।

(१३८) पद—विसर्जनीयस्य, सः । अनुवृत्ति—खरि । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'खर्' परे रहते विसर्ग के स्थान में 'स्' आदेश होता है । इसके अपवादस्वरूप "वा शरि" सूत्र से वैकल्पिक विसर्ग की प्राप्ति होती है । वा० 'सम्', पुम्, और 'कान्' शब्दों के विसर्ग के स्थान पर 'स्' होता है । सँस्कर्ता—संस्कर्ता । कुछ आचार्यों की सम्मति में 'सम्' के मकार का लोप होता है, यह बात भाष्य में कही गई है । इस लोप के भी 'रु' प्रकरण में होने से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नुस्वारानुनासिकाभ्यामेकसकारं रूपद्वयम्। द्विसकारं तूक्तमेव। तत्र 'अनचि च' (सू ४६) इति सकारस्य द्वित्वपक्षे त्रिसकारमपि रूपद्वयम्, अनुस्वारविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीय-यमानामकारोपरि शर्षु च पाठस्योपसंख्यातत्वेनानुस्वारास्याप्यच्त्वात्। अनुनासिकवतां त्रयाणां 'शरः खयः' (वा० ५०१६) इति कद्वित्वे षट्। अनुस्वारवतामनुस्वारस्यापि द्वित्वे द्वादश। एषामष्टादशानां तकारस्य द्वित्वे वचनान्तरेण पुनर्द्वित्वे चैकतं द्वितं त्रित

लोपस्यापीति। अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वेत्यत्र रोः पूर्वस्येत्युपलक्षणं रुप्रकरणविधेयस्य लोपस्यापि, अन्यथा रुप्रकरणे इत्यर्थकस्य अत्रेत्यस्य वैयर्थ्यात्। एवमनुनासिकात् परोऽनुस्वार इत्यत्र रोः पूर्वस्मादित्यपि। ततश्च समो मलोपस्यापि रुप्रकरणस्थतया लोपात्पूर्ववर्तिनः अकारस्य कदाचिदनुनासिकः। तदभावपक्षे अकारात् परः अनुस्वारागमः इत्येवमनुस्वारानुनासिकाभ्यामेकसकारं रूपद्वयमित्यर्थः। द्विसकारं तु उक्तमेवेति। रुत्वपक्षे इति शेषः। ननु लोपपक्षे एव अनचि चेति सुट्सकारस्य द्वित्वेन द्विसकाररूपस्य सिद्धत्वात् समः सुटीति रुत्वविधानं व्यर्थमित्यत आह—तत्रेति। तत्र द्विसकाररूपयोर्मध्ये रुत्वे सति तत्स्थानिकसकारस्य अनचि चेति द्वित्वपक्षे त्रिसकारमपि रूपद्वयमित्यर्थः। एतदर्थमेव रुत्वविधानमिति भावः। स्कोरिति लोपे तु न, रुत्वस्यासिद्धत्वात्। न च लोपपक्ष एव सुट्सकारस्य अनचि चेति द्वित्वे प्रथमसकारस्य तेनैव सूत्रेण पुनर्द्वित्वे त्रिसकारमपि रूपद्वयं सिद्धमिति समो रुत्वविधिर्व्यर्थ एवेति वाच्यम्। लक्ष्ये लक्षणस्य सकृदेव प्रवृत्तिरिति न्यायात्। ननु वर्णसमाम्नाये अनुस्वारस्य पाठाभावाद् अच्त्वात् ततः परस्य सकारस्य कथमनुस्वारपक्षे द्वित्वमित्यत आह—अनुस्वारविसर्गेति। एतच्च हयवरट्सूत्रे भाष्ये स्थितम्। अकारोपरीति। इकाराद्युपरिपाठे पयःसु इत्यादौ इणः परस्य विहितमादेशप्रत्ययोरिति षत्वं स्यादिति भावः। कश्चित्तु इणः ष इति षत्वं स्यादिति वदन् बभ्राम, तत्र विसर्गस्यैव षत्वविधेः। एवं च अनुनासिकपक्षे एकसकारं द्विसकारं त्रिसकारमिति त्रीणि रूपाणि, एवमनुस्वारपक्षेऽपि त्रीणि रूपाणीति स्थितम्। अनुनासिक-

---

अनुनासिक एवम् अनुस्वार के यथाक्रम होने के कारण एक-सकारात्मक दो रूप हैं। दो सकारात्मक तो बतला दिये गए हैं। वहाँ "अनचि च" (४८) सूत्र से 'स्' को द्वित्व होने पर तीन सकारात्मक भी दो रूप होंगे। अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा यम-इनका अकार के ऊपर तथा 'शर्' में पाठ करने से अनुस्वार भी 'अच्' माना जाता है। अनुनासिकयुक्त तीन रूपों के 'क्' को "शरः खयः" से द्वित्व करने पर छह रूप होते हैं। अनुस्वारयुक्त तीन रूपों में भी 'क्' को द्वित्व करने पर बारह रूप। इन अठारहों में 'त' को द्वित्व करने पर पुनः दूसरे नियम से द्वित्व करने पर एक तकारात्मक, दो तकारात्मक तथा तीन तकारात्मक होने पर ५४ रूप बनेंगे। 'अण्' को अनुनासिक होने पर १०८ रूप निष्पन्न होते हैं।

विवरण—विसर्ग स्थानी है तथा 'स्' आदेश है। 'खर्' प्रत्याहारस्थ वर्णों का विसर्ग के पश्चात् रहना निमित्त है। इस हेतु "खरवसानयोर्विसर्जनीयः" (८-३-४५) सूत्र से 'खर्' की अनुवृत्ति की जाती है।

इस 'रु' प्रकरण के प्रसङ्ग में 'संस्कर्ता' आदि रूपों की सिद्धि के लिए यह उपक्रम किया गया है। तदनुसार (१) सम्+कर्ता <सम्+स् कर्ता ('सुट्' आगम—"संपरिभ्यां करोतौ भूषणे"), <सर्+स्कर्ता (म्=र्), सँर्+स्कर्ता ('र्' के पूर्व अनुनासिक), <सँः+स्कर्ता ('र्'=:)—इस स्थिति में विसर्ग के स्थान पर—'खर्' परे रहते 'स्' की प्राप्ति होने पर इसके अपवादस्वरूप "वा शरि" (८-३-३६) सूत्र से 'शर्' परक 'विसर्ग' ('स्कर्ता' का अवयव 'स्') के स्थान पर पाक्षिक विसर्ग की प्राप्ति होती है। ऐसी अवस्था में विसर्ग के स्थान पर नित्य सकार का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वतामिति। अनुनासिकपक्षे एकद्वित्रिसकाराणां कद्वित्वे त्रीणि, तदभावे त्रीणीति षडित्यर्थः। ननु ककारस्य अचः परत्वाभावात् कथमनचि चेति द्वित्वमित्यत आह—शरः खय इतीति। शरः परस्य खयो द्वे वा स्त इति वार्तिकार्थः। एवं च अनुनासिकपक्षे द्विककाराणि त्रीणि रूपाणि एककाकाराणि त्रीणीति षड् रूपाणि स्थितानि। अनुस्वारपक्षे तु द्वादश रूपाणीत्याह—अनुस्वारवतामिति। अनुस्वारस्यापीत्यपिना ककारसंग्रहः। अनुस्वारपक्षे एकद्वित्रिसकाराणां रूपाणामनुस्वारस्य शर्षु पाठस्योपसंख्यातत्वेन शर्त्वाद् द्वित्वविकल्पे सति द्वथनुस्वाराणि त्रीणि(३)एकानुस्वाराणि त्रीणि (३) इति षट् (६)। अथ षण्णामप्येषां शरः खय इति ककारस्य द्वित्वविकल्पे सति द्विककाराणि षट् (६) एककाकाराणि षट् (६) इत्यनुस्वारपक्षे द्वादश (१२) इत्यर्थः। एवं च अनुनासिकपक्षे षट् (६) अनुस्वारपक्षे द्वादश (१२) इत्यष्टादश रूपाणि। एषामिति। उक्तानाम् अष्टादशानां रूपाणां तकारस्य अचो रहाभ्यामिति द्वित्वविकल्पे सति प्रथमस्य तकारस्य यणो मय इति पुनर्द्वित्वे एकैकस्य एकतं द्वितं त्रितमिति सङ्कलनया एकतान्यष्टादश (१८) द्वितान्यष्टादश (१८) त्रिता-

---

विधान करने के लिए वार्तिक की उपस्थिति होती है। वा० पद—सम्पुंकानां, सः, वक्तव्यः। विधि (स्)। अर्थ—'सम्' 'पुम्' तथा 'कान्' सम्बन्धी विसर्ग के स्थान पर 'स्' आदेश होता है। तदनुसार <सँस्कर्ता (विसर्ग=स्)। (२) अनुनासिक के अभाव में अनुस्वार होनेपर संस्कर्ता। कुछ वैयाकरणों के अनुसार 'सम्' के 'म्' का लोप होने से अनुनासिक तथा अनुस्वार होने पर एक सकारात्मक दो रूप (३) सँस्कर्ता तथा (४) संस्कर्ता बनेंगे। इससे पहले दो सकारात्मक रूपों के 'स्' को अनचि च" (४८) से द्वित्व होकर तीन सकारात्मक (५) सँस्स्कर्ता तथा (६) संस्स्कर्ता–दो रूप बनेंगे। इन छह रूपों की समष्टि इस प्रकार है—१–सँस्कर्ता, २–सँस्कर्ता, ३–सँस्स्कर्ता। ४–संस्कर्ता, ५–संस्स्कर्ता, ६–संस्स्कर्ता। यहाँ पर अनुनासिक तथा अनुस्वार को जबतक 'अच्' नहीं माना जायगा तबतक "अनचि च" सूत्र से द्वित्व कैसे सम्भव हो सकता है? इसका उपाय यह बतलाया जारहा है कि अनुनासिक भी 'अच्' का एक विशेष प्रकार है। अतः उसके पश्चाद्वर्ती 'स्' को द्वित्व हो जायगा। रही अनुस्वार के विषय में अज्–विधान की शङ्का। उसे भी 'अच्' (स्वर-वर्ण) मानने में कोई बाधा नहीं है। कारण यह है कि अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, तथा यम—इनका अकार के ऊपर पाठ माना गया है तथा 'शर्' प्रत्याहार में भी पाठ है। इन छहों में से तीन अनुनासिकयुक्त तथा तीन अनुस्वारयुक्त रूपों के 'क्' को भी द्वित्व करने के लिए दूसरा वार्तिक प्रस्तुत किया जारहा है।

(वा०) पद—शरः, खयः। अनुवृत्ति—वा, द्वित्वम्। अर्थ—'शर्' से परे 'खय्' को पाक्षिक द्वित्व होता है। अतः अनुनासिक वाले उपर्युक्त तीन रूपों में 'क्' को पाक्षिक द्वित्व होने के कारण एककाकारात्मक तीन रूप तथा द्विककारात्मक तीन रूप मिलकर छह रूप बनेंगे—१–सँस्कर्ता, २–सँस्कर्ता, ३–सँस्स्क्कर्ता, ४–सँस्कर्ता, ५–सँस्स्क्कर्ता, ६–सँस्स्कर्ता। इसी प्रकार अनुस्वार–पक्ष में भी 'क्' को द्वित्व होने से छह रूप बनेंगे—१–संस्क्कर्ता, २–संस्कर्ता, ३–संस्स्क्कर्ता, ४–संस्कर्ता, ५–संस्स्क्कर्ता, ६–संस्स्कर्ता। अनुस्वार का पाठ 'शर्' प्रत्याहार में मानने के कारण उसे 'यर्' भी माना जा सकता है। अतः अनुस्वार को भी विकल्प से द्वित्व कर अतिरिक्त छह रूप बनकर समष्टि में बारह रूप बनेंगे—१–संस्कर्ता, २–संस्स्कर्ता, ३–संस्स्कर्ता, ४–संस्कर्ता, ५–संस्स्कर्ता, ६–संस्स्कर्ता, ७–संस्क्कर्ता, ८. संस्स्क्कर्ता, ९–संस्स्क्कर्ता, १०–संस्कर्ता, ११–संस्स्कर्ता, १२–संस्स्कर्ता। इस प्रकार १२ अनुस्वार पक्ष के तथा ६ अनुनासिक पक्ष में मिलाकर १८ रूप बनते हैं। इन अठारहों में "अचो रहाभ्यां द्वे" (८-४-४६) सूत्र से 'त्' को द्वित्व होने पर ३६ (१८+१८) रूप बनेंगे। पुनः 'त्' को 'यणो मयो द्वे वाच्ये' वार्तिक से द्वित्व करने पर ५४ (३६+१८) रूप बन जाते हैं। अतः एक 'त्' वाले १८, दो 'त्' वाले १८ तथा तीन 'त्'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिति चतुष्पञ्चाशत्। अणोऽनुनासिकत्वेऽष्टोत्तरं शतम्। (१३९) **पुमः खय्यम्परे ८।३।६॥** अम्परे खयि पुमःशब्दस्य रुः स्यात्। व्युत्पत्तिपक्षे 'अप्रत्ययस्य' (सू १५५) इति षत्वपर्युदासात् क≍पयोः प्राप्तौ, अव्युत्पत्तिपक्षे तु षत्वप्राप्तौ, 'संपुंकानां–' (वा ४८९२) इति सः। पुँस्कोकिलः–पुंस्कोकिलः। पुँस्पुत्रः–पुंस्पुत्रः। 'अम्परे' किम्? पुंक्षीरम्। 'खयि' किम्? पुंदासः। 'ख्याऽऽदेशे न' (वा १५१९)। पुंख्यानम्। (१४०)

न्यष्टादश इति सङ्कलनया चतुरधिकपञ्चाशद्रूपाणि (५४) सम्पद्यन्तीत्यर्थः। अणोऽनुनासिकत्व इति। अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक इति तकारादाकारस्य अनुनासिकत्वविकल्पे सति आनुनासिक्ये चतुष्पञ्चाशत् (५४), तदभावे चतुष्पञ्चाशत् (५४) इति सङ्कलनया अष्टाधिकं शतं (१०८) रूपाणि सम्पद्यन्तीत्यर्थः।

(१३९) पुमः। रुग्रहणमनुवर्तते। अम् परो यस्मादिति विग्रहः। तदा–अम्परे खयीति। पुमान् कोकिल इति कर्मधारये सुपो धातुप्रातिपदिकयोरिति लुग्लुकि संयोगान्तस्य लोप इति सकारलोपे पुम् कोकिल इति स्थिते मस्य रुत्वम्, अनुनासिकानुस्वारविकल्पः, विसर्गः, संपुकानामिति सः। ननु विसर्जनीयस्य स इत्येव सिद्धे संपुकानामित्यत्र पुंग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—व्युत्पत्तीत्यादि। ≍क≍पयोः प्राप्तौ संपुंकानामिति स इत्यन्वयः। विसर्जनीयस्य स इति सत्वापवादं कुप्वो≍क≍पौ चेति विधिं बाधितुं पुंग्रहणमित्यर्थः। ननु 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' इति षत्वविधिः कुप्वोरित्यस्यापवादः। अतस्तं षत्वविधिं बाधितुं पुंग्रहणमित्येव वक्तुमुचितमित्यत आह—अप्रत्ययस्येति। षत्वपर्युदासादिति। पूर्वो डुम्सुन्नित्यौणादिकप्रत्ययस्य मकारस्थानिकत्वाद् विसर्गस्येति भावः। ननु उणादयः अव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानीति आयनेयीति सूत्रस्थभाष्यरीत्या औणादिकप्रत्ययान्तेषु प्रकृति-

---

वाले १८—इन ५४ रूपों के अन्तिम 'आ' को "अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः" (८-४-५७) सूत्र से वैकल्पिक अनुनासिक होने पर १०८ (५४×२) रूप बनेंगे। अर्थ—संस्कार करने वाला।

(१३९) पद—पुमः, खयि, अम्परे। विधिसूत्र।

मूलार्थ—अम्परक 'खय्' परे रहते 'पुम्' शब्द के स्थान पर 'रु' होता है। व्युत्पत्ति पक्ष में "अप्रत्ययस्य" (१५५) के अनुसार षत्व का पर्युदास होने के कारण जिह्वामूलीय और उपध्मानीय (≍क≍प) प्राप्त होते हैं। अव्युत्पत्तिपक्ष में षत्व प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में "संपुंकानाम्" वार्तिक से 'स्' होगा। पुँस्कोकिलः—पुंस्कोकिलः। पुँस्पुत्रः—पुंस्पुत्रः। 'अम्परे' क्यों कहा? पुंक्षीरम्। 'खयि' क्यों कहा? पुंदासः। वा० ख्याऽऽ आदेश रहने पर नहीं होता। पुंख्यानम्।

विवरण—यहाँ पर स्थानी 'पुम्' शब्द का 'म्' है तथा आदेश–'र्' (रु)। निमित्त है—'अम्परे खयि'। खय् = वर्गों के प्रथम तथा द्वितीय वर्ण। अम् = स्वरवर्ण, पञ्चम व्यञ्जन, अन्तःस्थ तथा ह्। अर्थात् 'पुम्' शब्द के पश्चात् 'खय्'–वर्णों के रहने पर उसके अन्तिम वर्ण ("अलोन्त्यस्य")–'म्' के स्थान पर 'र्' आदेश होता है। इसके साथ ही यह भी अपेक्षित है कि 'खय्' के अनन्तर भी 'अम्'–प्रत्याहारस्थ वर्ण हों। **उदाहरण**—पुम्+कोकिलः <पुर् कोकिलः ('म्' = र्, यहाँ 'म्' के अनन्तर 'क्' खय्—है, उसके पश्चात् 'ओ'—अम् है), <पुँर्+कोकिलः ('रु' प्रकरण में होने के कारण अनुनासिक), <पुँः कोकिलः ('र्' = :), <पुँस्कोकिलः (:=स्—प्रकृत 'वार्तिक' से)। पक्ष में अनुस्वार होकर—पुंस्कोकिलः। अर्थ—नर कोयल। इसी तरह २—पुम्+पुत्रः, <पुर्+पुत्रः, <पुँर्+पुत्रः, <पुँः पुत्रः, <पुँस्पुत्रः। पक्ष में अनुस्वार—पुंस्पुत्रः। अर्थ—वीर पुत्र।

विशेष—प्रातिपदिक (संज्ञा शब्दों) शब्दों का ग्रहण दो रूपों में होता है—(१) व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न। १—व्युत्पन्न प्रतिपदिकों में प्रकृति-प्रत्यय की विद्यमानता होती है। २—अव्युत्पन्न

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नश्छव्यप्रशान् ८।३।७ ॥ अम्परे छवि नकारान्तस्य पदस्य रुः स्यात्, न तु प्रशान्शब्द-

---

प्रत्ययविभागाभावात् कथमिहाप्रत्ययस्येति पर्युदास इत्यत आह—व्युत्पत्तिपक्ष इति। औणादिकशब्देषु प्रकृतिप्रत्ययविभागव्युत्पादनमस्ति—नास्तीति। पक्षद्वयमादेशप्रत्यययोरिति सूत्रभाष्ये स्थितम्। तत्र व्युत्पत्तिपक्षे पुंस्शब्दस्य डुम्सुन्प्रत्ययान्ततया तत्र मकारस्थानिकविसर्गस्य अप्रत्ययस्येति पर्युदासेन इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्येति षत्वस्य तत्र न प्रसक्तिः। अतः तत्र कुप्वोरिति विधिं बाधितुं संपुकानामिति पुंग्रहणमित्यर्थः। अव्युत्पत्तीति। औणादिकशब्देषु प्रकृतिप्रत्ययविभागाभावपक्षे अप्रत्ययस्येति पर्युदासस्यात्राप्रसक्तेरिदुदुपधस्येति षत्वं बाधितुं सुंपुंकानामिति पुंग्रहणमित्यर्थः। पुँस्कोकिल इत्यनुनासिकपक्षे रूपम्। पुंस्कोकिल इत्यनुस्वारपक्षे रूपम्। ननु 'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि' अस्मात् ल्युट्, अनादेशः, चक्षिङः ख्याञ्, पुंसः ख्यानं पुंख्यानमित्यत्रापि पुमो मस्य रुत्वं स्यादित्यत आह—ख्याञादेशे नेति। भाष्ये 'चक्षिङः ख्याञ्' इति पठित्वा पूर्वत्रासिद्धमित्यसिद्धकाण्डे रषाभ्यामिति णत्वविध्यनन्तरं 'ख्शाञश्शस्य यो वा' इति पठितमिति वक्ष्यते। एवं च यत्वस्यासिद्धतया खकारस्य अम्परकत्वाभावात् 'पुमः खयि' इति रत्वं नेत्यर्थः। पुंख्यानमिति। 'मोऽनुस्वारः' 'वा पदान्तस्य' इति परसवर्णविकल्पः। न च 'वर्जने प्रतिषेधः, असनयोश्चे'ति अनादेशे परे प्रतिषेधात् कथमत्र ख्याञादेश इति वाच्यम्। ख्याञादेशप्रयोजनपरवार्तिके पुंख्यानमित्यादि प्रयोगात्तदुत्पत्तेः।

(१४०) नश्छव्यप्रशान्। न इति षष्ठ्यन्तपदस्येत्यधिकृतस्य विशेषणम्। तदन्त-

---

प्रातिपदिकों में रूढि शब्दों की तरह परम्परा का आश्रय लिया जाता है। इस प्रकार व्युपत्ति-पक्ष में 'पुम्' शब्द की निर्प्पत्ति इस तरह है—√पा+डुम्सुन्-प्रत्यय <पा+उम् स् (ड्, उन्—इत्संज्ञक), <प्+उम्स् ('टि' = आ का लोप)<पुम्स् <पुम् ('स्' लोप)। यहाँ पर 'पुन्' शब्द के 'म्' का परिवर्तित विसर्ग 'डुम्सुन्' प्रत्यय के अवयव के स्थान पर होने के कारण है। अतः प्रत्ययभिन्न न होने से "इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य" (८-३-४२) सूत्र से विसर्ग के स्थान पर 'ष्' की प्राप्ति नहीं है। ऐसी स्थिति में विसर्ग के स्थान पर "कुप्वो ँक ँपौ च" (८-३-३७) से जिह्वामूलीय की प्राप्ति होने पर प्रकृत वार्तिक से उसका बाध हो जाता है। इसी प्रकार अव्युत्पत्ति-पक्ष में 'पुम्' शब्द रूढ होने के कारण 'म्' के स्थान पर परिवर्तित विसर्ग प्रत्यय-भिन्न होने के कारण विसर्ग के स्थान पर 'स्' की प्राप्ति होती है। उसका भी बाधक होकर प्रकृत वर्तिक विसर्ग के स्थान 'स्' का विधान करता है।

प्रत्युदाहरण—१—सूत्र में 'खय्' के पश्चात् 'अम्'—प्रत्याहारस्थ वर्णों का रहना यदि न माना जाय तो 'पुंक्षीरम्' में भी 'म्' को 'र्' होने लगेगा। यहाँ 'म्' के अनन्तर 'क्' तो खय् है ही। 'अम्' ग्रहण करने पर उस 'क्' के पश्चात् 'ष्' वर्ण 'अम्' के अन्तर्गत न होने से 'र्' नहीं हुआ। अतः म् = ँ। २—इसी प्रकार सूत्र में 'खय्' न रखने पर केवल 'अम्' परे होने पर भी म् = र् होने लगेगा। ऐसी स्थिति में 'पुम्+दासः' में 'म्' के अनन्तर 'द्' के पश्चात् 'अम्'—'आ' रहने पर 'र्' होने लगेगा। 'खय्' ग्रहण करने से वह नहीं होता, क्योंकि 'द्' का समावेश 'खय्' प्रत्याहार में नहीं है। अर्थ—पुरुषस्वामिक दास।

(वा०) पद—१—ख्याञादेशे, न। **(विधि) रुत्व-निषेध। अर्थ**—'√चक्षिङ्' के स्थान में 'ख्याञ्' आदेश होने पर 'पुम्' के 'म्' के स्थान पर 'र्' (रुत्व) नहीं होता। **उदाहरण**—पुंख्यानम्। प्रक्रिया—(पुम्) √चक्ष्+ल्युट् (यु), <(पुम्) चक्ष्+अन (यु = अन), <(पुम्) ख्या+अन, <(पुम्) ख्यान (दीर्घ) <(पुम्) ख्यानम् (विभक्ति-कार्य), <पुम् +ख्यानम्, <पुंख्यानम्—'रु' का निषेध होने के कारण म् = ँ हुआ। **अर्थ**—पुरुष का वर्णन।

(१४०) पद—नः, छवि, अप्रशान्। **अनुवृत्ति**—अम्परे, रुः, पदस्य। **विधिसूत्र।**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्य । विसर्गः । सत्वम् । श्चुत्वम् । शार्ङ्गिँश्छिन्धि–शार्ङ्गिश्छिन्धि । चक्रिँस्त्रायस्व । चक्रि-स्त्रायस्व । पदस्य किम् ? हन्ति । 'अम्परे' किम् ? सन्त्सरुः । त्सरुः—खड्गमुष्टिः । 'अप्र-शान्' किम् ? प्रशान्तनोति । (१४१) नॄन्पे ८ । ३ । १० ॥ 'नॄन्' इत्यस्य रुः स्याद्वा

विधिः । अम्परे इत्यनुवर्तते, रु इति च । तदाह—अम्पर इत्यादिना । अप्रशानिति षष्ठ्यर्थे प्रथमा । तदाह—न त्विति । विसर्ग इति । शार्ङ्गिन् छिन्धि, चक्रिन् त्रायस्व इति स्थिते नकारस्यानेन रुत्वम् । अनुनासिकानुस्वारविकल्पः । ततो विसर्गः, सत्वं, सस्य श्चुत्वेन शकार इत्यर्थः । शार्ङ्गिँश्छिन्धीति । अनुनासिकपक्षे रूपम् । शार्ङ्गिंश्छिन्धीति । अनुस्वारपक्षे रूपम् । चक्रिँस्त्रायस्वेत्यनुनासिकपक्षे । अनुस्वारपक्षे तु चक्रिंस्त्रायस्वेति । त्रैङ् पालने । ङित्त्वादात्मनेपदी । त्राहीति प्राचीनग्रन्थस्तु प्रामादिकः । त्रायत इति त्राः, त्रा इवाचरित त्राति इत्याचारक्विबन्तात् लोट् परस्मैपदमिति वा कथञ्चित् समाधेयम् । प्रशानिति । प्रपूर्वात् शाम्यतेः क्विप् । अनुनासिकस्य क्वीति दीर्घः । मो नो धातोरिति मस्य नः । तस्यासिद्धत्वान्नलोपो न ।

(१४१) नॄन्पे । नॄन् इति द्वितीयान्तशब्दस्वरूपपरं षष्ठ्यन्तम् । षष्ठ्याः सौत्रो लुक् । नलोपाभावोऽपि सौत्र एव । मतुवसो रु इत्यतः रु इत्यनुवर्तते । उभयथर्क्ष्वित्यतो उभयथेत्यनुवर्तते । कदाचिद् भवति कदाचिन्न भवतीत्येवमुभयथा रुः प्रत्येतव्य इत्यर्थः ।

मूलार्थ—'अम्'-परक 'छव्' परे रहते नकारान्त पद के स्थान में 'रु' (र्) होता है, किन्तु 'प्रशान्' शब्द के 'न्' को रुत्व नहीं होता । विसर्ग, स् , तथा श्चुत्व हुए । शार्ङ्गिँश्छिन्धि । शार्ङ्गि-श्छिन्धि । चक्रिँस्त्रायस्व—चक्रिंस्त्रायस्व । 'पदस्य' क्यों कहा ? हन्ति । अम्परे क्यों कहा ? सन्-त्सरुः । त्सरु = खड्ग की मूँठ । अप्रशान् क्यों कहा ? प्रशान् तनोति ।

विवरण—पदान्त 'न्'—स्थानी तथा 'रु' (र्) आदेश है । निमित्त है—'अम्परक छव्' । 'छव्' = च्, छ्, ट्, ठ्, त्, थ् । 'अम्' = स्वरवर्ण, अन्तःस्थ, ह्, तथा वर्गों के पञ्चम वर्ण । अनुवृत्ति—"पुमः खय्यम्परे" से अम्परे तथा "मतुवसो रु०" से 'रुः' । अधिकार—पदस्य । 'नः' (विशेषण) में तदन्त-विधि । अतः सूत्र का आशय है—"अम्परक 'छव्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों के पश्चाद्वर्ती रहने पर 'प्रशान्' शब्द के अतिरिक्त अन्य नकारान्त पदों के स्थान पर 'रु' (र्) आदेश होता है ।" "अलोऽन्त्यस्य" परिभाषा की उपस्थिति से अन्त्य 'न्' के स्थान पर 'र्' होगा । उदाहरण—१—शार्ङ्गिन्+छिन्धि, <शार्ङ्गिर्+छिन्धि (न् = र् , क्योंकि उसके अनन्तर 'छव्'-'छ्' है तथा उसका पश्चाद्वर्ती वर्ण 'अम्'—इकार है), <शार्ङ्गिँर्+छिन्धि (अनुनासिक), <शार्ङ्गिँः +छिन्धि (र् = :), <शार्ङ्गिँस्+छिन्धि (: = स्), <शार्ङ्गिँश्छिन्धि (श्चुत्व—स् = श्) । पक्ष में अनुस्वार—शार्ङ्गिंश्छिन्धि । अर्थ—हे कृष्ण ! भव-बन्धनों की काटो । २—इसी प्रकार चक्रिन्+त्रायस्व, <चक्रिर्+त्रायस्व, <चक्रिँर्+त्रायस्व, चक्रिँः+त्रायस्व, <चक्रिँस्त्रायस्व । अनुस्वार होने पर—चक्रिंस्त्रायस्व । अर्थ—हे कृष्ण ! रक्षा करो । प्रत्युदाहरण—१–'हन्ति' में 'न्' पद के अन्त में न होने के कारण उसे 'र्' नहीं हुआ । २–'सन्त्सरुः' में 'न्' का पश्चाद्वर्ती वर्ण 'त्'—'छव्' होने पर भी उसके अनन्तर रहने वाला 'स्' वर्ण 'अम्' प्रत्याहारस्थ न होने से 'न्'= र् नहीं हुआ । अर्थ—खड्ग की अच्छी मूँठ । ३—'अप्रशान्' ग्रहण करने से 'प्रशान् तनोति' में 'न्' को प्रशान् शब्द से सम्बद्ध होने के कारण 'र्' नहीं हुआ ।

(१४१) पद—नॄन्, पे । अनुवृत्ति—रुः, उभयथा (= वा) । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'नॄन्'—रूप को पदान्त में विकल्प से 'रु' (र्) होता है ।

विवरण—नॄन्—सम्बन्धी 'न्' स्थानी है तथा 'र्'—आदेश । द्वितीया विभक्ति होने पर भी षष्ठ्यन्त अर्थ से सम्बन्ध का लाभ होता है । निमित्त है—'पे' = पकार परे रहने पर । सूत्र में आदेश-वाचक 'रु' की अनुवृत्ति "मतुवसो०" से आती है । विकल्पार्थक 'उभयथा' की अनुवृत्ति "उभयथर्क्षु"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पकारे परे। (१४२) कुप्वो ͡क ͡पौ च ८। ३। १७॥ कवर्गे पवर्गे च परे विसर्जनीयस्य क्रमाज्जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ स्तः, चाद्विसर्गः। येन नाप्राप्तन्यायेन 'विसर्जनीयस्य सः' (सू १३८) इत्यस्यापवादोऽयम्, न तु 'शर्परे विसर्जनीयः' (सू १५०) इत्यस्य। तेन 'वासः क्षौमम्' इत्यादौ विसर्ग एव। नॄ͡पाहि—नृ͡पाहि—नॄः पाहि—नृः

विकरण इति यावत्। तदाह—नॄनित्यस्येत्यादिना। अलोऽन्त्यस्य। नॄन् पाहीति स्थिते नस्य रुत्वम्। अनुनासिकानुस्वारविकल्पः। खरवसानयोरिति रेफस्य नित्यविसर्गे प्राप्ते।

(१४२) कुप्वो ͡क ͡पौ च। कुप्वोः इति छेदः। ओसस्सस्य रुत्वे तस्य खपरत्वात् विसर्गः, जिह्वामूलीयस्य शर्षूपसंख्यातत्वेन खत्वात्। तस्य च विसर्गस्य खपरे वा विसर्गलोपो वक्तव्य इति लोपः। अतः सूत्रे कुप्वोरिति न विसर्गः श्रूयते। विसर्जनीयस्य स इत्यतो विसर्जनीयस्येत्यनुवर्तते। तदाह—कवर्गे इत्यादिना। क्रमादिति। यथासंख्यसूत्रलभ्यम्। चाद्विसर्ग इति। 'शर्परे विसर्जनीयः' इत्यतो विसर्जनीय इत्यनुकृष्यत इत्यर्थः। चकारः पक्षे विसर्गसमुच्चयार्थ इति यावत्। अन्यथा जिह्वामूलीयोपध्मानीयाभ्यां विसर्गस्य बाध एव स्यादिति भावः। एवं च प्रकृते पकारे परे विसर्गस्य सत्वं बाधित्वा कदाचिदुपध्मानीयः कदाचिद्विसर्गः। तयोः उच्चारणे भेदः। इहादेशयोः कपावुच्चारणार्थौ, न तु विधेयकोटिप्रविष्टौ। ननु कुप्वोरिति जिह्वामूलीयोपध्मानीयविसर्गविधिना यथा विसर्जनीयस्य सत्वं बाध्यते, तथा शर्परे विसर्जनीय इति केवलविसर्गविधिरपि बाध्येत। तथा च वासः क्षौममित्यत्रापि कुप्वोरिति कदाचित् जिह्वामूलीयः कदाचिद्विसर्गश्च स्याताम्। इष्यते तु केवलविसर्ग इत्यत आह—येन नाप्राप्तेति। 'येन नाप्राप्ते यो विधि-

---

(८-३-८) से आरही है। "अलोऽन्त्य०" परिभाषा की उपस्थिति से 'नॄन्' शब्द के अन्तिम वर्ण 'न्' के स्थान पर पकार परे रहते 'रु' (र्) होगा।

(१४२) पद—कुप्वोः, ͡क ͡पौ, च। **अनुवृत्ति**—विसर्जनीयस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—विसर्ग के स्थान पर कवर्ग और पवर्ग परे रहते क्रमशः जिह्वामूलीय और उपध्मानीय होते हैं तथा विसर्ग भी। यह विधान "येन नाप्राप्त"० न्याय से "विसर्जनीयस्य सः" (१३८) का ही बाधक होता है न कि "शर्परे विसर्जनीयः" (१५०) सूत्र का। अतः 'वासः क्षौमम्' इत्यादि उदाहरणों में विसर्ग ही होता है। नॄ͡पाहि—नृ͡पाहि—नॄः पाहि—नृः पाहि—नृन् पाहि।

विवरण—सूत्र में **स्थानी** का उल्लेख नहीं है। इस अभाव की पूर्ति "विसर्जनीयस्य सः" (१३८) सूत्र से 'विसर्जनीयस्य' पद की अनुवृत्ति करने से होती है। आदेश हैं ͡क ͡पौ। निमित्तवाचक पद है—'कुप्वोः'[1]। तदनुसार विसर्ग के पश्चात् कवर्ग तथा पवर्ग के रहने पर विसर्ग के स्थान पर क्रमशः (͡क ͡प) जिह्वामूलीय और उपध्मानीय होते हैं[2]। सूत्रस्थ 'च' पद से विसर्ग की भी स्थिति रहती है। **उदाहरण**—नॄन्+पाहि <नॄर्+पाहि, (न् = र्), <नॄॅर् पाहि< नॄॅः पाहि १—नॄॅ͡पाहि (पकार परे रहते विसर्ग = उपध्मानीय)। पक्ष में विसर्ग—२—नॄॅः पाहि। अनुनासिक के न होने पर विसर्ग के स्थान पर 'र्' के पूर्व अनुस्वार तथा जिह्वामूलीय—३—नृ͡पाहि। पक्ष में विसर्ग—४—नृः पाहि। रुत्व के अभाव में ५—नॄन् पाहि।

विशेष—(१) यह सूत्र विसर्ग के पश्चात् क्, ख्, तथा प्, फ् रहने पर विसर्ग के स्थान में सकार नहीं होने देता। कारण यह है कि विसर्ग से 'खर्' प्रत्याहारस्थ वर्ण परे रहते विसर्ग के स्थान पर 'स्'—आदेश की प्राप्ति अवश्य होती है। अतः जिह्वामूलीय—उपध्मानीय विधान उस

---

१. कुश्च पुश्चेति कुपू, तयोः कुप्वोः।
२. कपावुच्चारणार्थौ। जिह्वामूलीयोपध्मानीयावादेशौ। काशिका।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाहि—नॄन्पाहि। (१४३) कानाम्रेडिते ८।३।१२ ॥ कान्नकारस्य रुः स्यादाम्रडिते परे। 'संपुंकानाम्' (वा ४८९२) इति सः। यद्वा, (१४४) कस्कादिषु च ८।३।४८

रारभ्यते स तस्यापवादः' इति न्यायः। प्राप्तेति भावे क्तः। येनेति कर्तरि तृतीया। कर्तृ-कर्मणोरिति षष्ठी तु न, न लोकेति निषेधात्। द्वौ नञावावश्यकत्वं द्योतयतः। यस्य विधेर-वश्यं प्राप्तौ सत्यामित्यर्थः। अनेन न्यायेन कुप्वोरिति विधिः विसर्जनीयस्य इत्यस्यैवाप-वादः। सत्त्वे प्राप्त एव तदारम्भात्। शर्परे विसर्जनीय इत्यस्य तु कुप्वोरिति नापवादः। कः करोतीत्यादौ शर्परे खरीत्यप्राप्तेऽपि कुप्वोरित्यस्यारम्भादित्यर्थः। तेनेति। वासः क्षौम-मित्यादौ कुप्वोरिति विधिना शर्परे इत्यस्य बाधाभावेन शर्परे खरीति केवलं विसर्ग एव भवतीत्यर्थः। नॄँ॒पाहि, नॄं॒पाहि इत्युपध्मानीयपक्षे आनुनासिक्ये अनुस्वारे च सति रूपद्वयम्—नॄँः पाहि, नॄंः पाहि इति विसर्गपक्षे 'अनुनासिकानुस्वाराभ्यां रूपद्वयम्। नॄन् पाहीति रुत्वाभावे रूपम्। तथा च पञ्च रूपाणि। सूत्रे पे इत्यकारः उच्चारणार्थः। तथा च नॄन्पुनातीत्यादावपि पञ्च रूपाणि भवन्ति।

(१४३) कानाम्रेडिते। कानिति द्वितीयान्तशब्दस्वरूपपरं षष्ठ्यन्तम्। षष्ठ्याः सौत्रो लुक्। नलोपाभावोऽपि सौत्र एव। अलोऽन्त्यपरिभाषया कान्शब्दान्तस्येति लभ्यते। रु इत्यनुवर्तते। तदाह—कान्नकारस्येत्यादिना। संपुंकानामिति। कान् इत्यस्य वीप्सायां द्विर्वचने कान् कान् इति स्थिते प्रथमनकारस्य रुत्वे अनुनासिकानुस्वारविकल्पः। रेफस्य

सकार का बाधक हो जाता है। इसके समान ही विसर्ग के पश्चात् शर्-परक 'खर्' रहनेपर "शर्परे विसर्जनीयः" (८-३-३५) सूत्र से विहित विसर्ग-विधान का भी यह बाधक होना चाहिये। किन्तु ऐसा होता नहीं। कारण यह है कि "शर्परे विसर्जनीयः" सूत्र से सर्वत्र विसर्ग के स्थान पर विसर्ग का विधान नहीं किया जाता। वह विसर्ग इस अनुबन्ध के साथ होता है कि विसर्ग के पश्चात् 'खर्' प्रत्याहारस्थ वर्ण के अनन्तर दूसरा वर्ण 'शर्' प्रत्याहारस्थ भी होना चाहिये। अतः इस सूत्र से विहित विसर्ग-विधान कभी कभी प्राप्त होता है। इस अन्तर को दिखलाने के लिये सूत्र की वृत्ति में "येन नाप्राप्त०" न्याय का स्मरण कराया गया है। इस न्याय का स्वरूप है—"येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति"। अर्थात् जिस कार्य की अवश्य-प्राप्ति होने पर जो दूसरा विधान किया जाता है वही उसका बाधक होता है। इस नियम से विसर्ग के स्थान पर अवश्य प्राप्त होने वाले सकार के विधायक "विसर्जनीयस्य सः" सूत्र का बाध "कुप्वोः॒क॒पौ च" सूत्र करता है। कदाचित् प्राप्त होने वाले "शर्परे खरि" सूत्र के विषय में जिह्वामूलीय एवम् उपध्मानीय विधायक शास्त्र की प्रवृत्ति बाधक के रूप में नहीं होती। अतः वासः+क्षौमम् = 'वासःक्षौमम्' (अर्थ—रेशमी वस्त्र) में विसर्ग के स्थान पर जिह्वामूलीय नहीं हुआ। यथाप्राप्त विसर्ग ही रहा। (२) विसर्ग के अनन्तर कवर्ग परे होने पर "यथासंख्य" परिभाषा से जिह्वामूलीय और पवर्ग परे होने पर उपध्मानीय आदेश होता है। (३) कवर्ग और पवर्ग में केवल चार वर्ण ही 'खर्'—प्रत्याहार में परिगणित हैं। वे हैं—क्, ख्, प्, फ्। अतः विसर्ग के पश्चात् क्, ख् रहने पर जिह्वामूलीय तथा प् फ् रहने पर उपध्मानीय होता है। पक्ष में विसर्ग होगा।

(१४३) पद—कान्, आम्रेडिते। **अनुवृत्ति**—रुः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—आम्रेडित परे रहते 'कान्' पदावयव 'न्' के स्थान पर 'रु' होता है। 'संपुंकानाम्०' वार्तिक से स्। अथवा (अग्रिम सूत्र से 'स्' विधान होगा)।

विवरण—सूत्र में आदेश-वाची पद नहीं है। उसकी अनुवृत्ति (रुः) आरही है। शब्द को द्वित्व करने पर दूसरा रूप = आम्रेडित कहलाता है। इस प्रकार यह तात्पर्य होगा कि 'कान्' शब्द की द्विरावृत्ति होने पर आवृत्त शब्द के पूर्व 'न्' को 'रु' (र्) आदेश होता है। **उदाहरण**—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

≍क≍पयोरपवादः। एष्विण उत्तरस्य विसर्गस्य षः स्यात्, अन्यस्य तु सः। काँस्कान्—कांस्कान्। कस्कः। कौतस्कुतः। सर्पिष्कुण्डिका। धनुष्कपालम्। आकृतिगणोऽयम्।

विसर्गः। तस्य विसर्जनीयस्य स इति सत्वं बाधित्वा कुप्वोरिति प्राप्तौ संपुंकानामिति सत्वमित्यर्थः। वस्तुतस्तु संपुंकानामिति वार्तिके कान् इति निष्फलमित्याह—यद्देति।

(१४४) कस्कादिषु च। इण इत्यनुवर्तते। इण इति पञ्चम्यन्तम्। विसर्जनीयस्य स इत्यतो विसर्जनीयस्येत्यनुवर्तते। कस्कादिष्विति विषयसप्तमी। कस्कादिगणे इणः परस्य विसर्गस्य षः स्यादित्यर्थः। सोऽपदादावित्यतः स इति प्रथमान्तमनुवर्तते। कस्कादिषु अनिणः परस्य विसर्गस्य सत्वं स्यादित्यर्थः। तदेवं वाक्यद्वयं सम्पद्यते। कस्कादिषु तथाविधानामेव कृतषत्वसत्वानां निर्देशादयं विषयविभागः। क≍पयोरपवाद इति। ≍क≍पयोरित्युपलक्षणं कुप्वोरिति विहितविसर्गस्यापि। अन्यस्य तु स इति। प्रकृते विसर्गस्य इणः परत्वाभावाद् न षत्वम्। किन्तु सत्वमित्यर्थः। काँस्कानिति अनुनासिकपक्षे रूपम्। कांस्कानिति अनुस्वारपक्षे रूपम्। अथ कस्कादिगणं पठति—कस्क इत्यादिना। वीप्सायां द्वित्वे पूर्वखण्डे अकारात् परस्य विसर्गस्य सत्वम्। कः कोऽत्र भोः इति प्रयोगे तु संहिताविरहात् सत्वाभावः, कस्कादिषु चेत्यस्य 'तयोर्यावचि संहितायाम्' इति संहिताधिकारस्थत्वादित्याहुः। कौतस्कुत इति। वीप्सायां द्विर्वचने कुतः कुत आगत इत्यर्थे तत आगत इत्यण्। अव्ययानां भमात्रे टिलोपः। अत एव निपातनाद् 'अव्ययात्स्यबि'ति न। सर्पिष्कुण्डिकेति। अत्र इणः परत्वात् षत्वम्। एवं धनुष्कपालं चतुष्कपालमित्यत्रापि। ननु कस्कादिगणे कांस्कानित्यस्य पाठाभावात् कथं सत्वमित्यत आह—आकृतिगणोऽयमिति। एवं च कस्कादित्वादेव कांस्कानित्यत्र सत्वसिद्धेः संपुंकानामित्यत्र कान्ग्रहणं न कर्तव्यमिति भावः।

कान्+कान्, <कार्+कान् (न्=र्), काँर्+कान् (अनुनासिक,) <काँः+कान् (र्=विसर्ग), काँस्कान् (विसर्ग=स्—'संपुंकानां सो वक्तव्यः')। पक्ष में अनुस्वार—कांस्कान्। अर्थ—किन्हें।

विशेष—दूसरे विधान से भी यही रूप बनेंगे। उसका निवर्चन आगे के सूत्र में किया जारहा है।

(१४४) पद—कस्कादिषु, च। **अनुवृत्ति**—सः, इणः, षः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इस गण में पड़े शब्दों के अवयव 'इण्' से परे विसर्ग को 'ष्' होता है। यदि 'इण्' से परे विसर्ग न रहे तो विसर्ग के स्थान में 'स्' होता है। काँस्कान्—कांस्कान्। कस्कः। कौतस्कुतः। सर्पिष्कुण्डिका। धनुष्कपालम्। आकृतिगण है।

विवरण—यहाँ पर **स्थानी** विसर्ग है। **आदेश** 'ष्' तथा 'स्'। "सोऽपदादौ" सूत्र से 'सः' तथा "इणः षः" सूत्र की पूरी अनुवृत्ति आती है। सूत्रार्थ है—'इण्' (इ, उ) के अनन्तर रहने वाले विसर्ग को 'ष्' होता है। 'इण्' से परे विसर्ग न रहने पर विसर्ग को 'स्' होता है। पहला उदाहरण पूर्वसूत्र में दिया गया है। २—कः+कः <क स्+कः <कस्कः। यहाँ पर विसर्ग 'इण्' से परे न होने कारण 'ष्' की प्राप्ति नहीं होती अतः 'स्' हुआ। अर्थ—कौन कौन। ३—कुतः+कुतः आगतः अर्थ में अण्, <कौतः (आदि वृद्धि)+कुतः, <कौतस्कुतः (विसर्ग=स)। अर्थ—कहाँ कहाँ से। ४—सर्पिस्+कुण्डिका, <सर्पिः+कुण्डिका (स्=र्), <सर्पिः+कुण्डिका (र्=:), <सर्पिष्+कुण्डिका=सर्पिष्कुण्डिका—इस उदाहरण में विसर्ग से पूर्व 'इ' अर्थात् 'इण्' होने से उसे 'ष्' हुआ। अर्थ—घी का बर्तन। ५—धनुः+कपालम्—:=ष्। यहाँ भी विसर्ग के पूर्व 'इण्' (उ) होने से उसे 'ष्' हुआ। अर्थ—धनुष की डोरी। कस्कादि आकृतिगण है।

विशेष—यह सूत्र "कुप्वो≍क≍पौ च" का अपवाद है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१४५) संहितायाम् ६।१।७२॥ इत्यधिकृत्य । **(१४६) छे च ६।१।७३॥** ह्रस्वस्य छे परे तुगागमः स्यात्संहितायाम् । कुत्वस्यासिद्धत्वाज्जश्त्वेन दः । ततश्चर्त्वस्यासिद्धत्वात्पूर्वं चुत्वेन जः । तस्य चर्त्वेन चः । चुत्वस्यासिद्धत्वात् 'चोः कुः' (सू ३७८) इति कुत्वं न । स्वच्छाया । **(१४७) आङ्माङोश्च ६ । १ । ७४ ॥** एतयोश्छे परे तुक्स्यात् । 'पदान्ताद्वा' (सू १४९) इति विकल्पापवादः । आच्छादयति । माच्छिदत् ।

---

(१४५) संहितायाम् । इत्यधिकृत्येति । छे चेत्यादि विधीयत इति शेषः । यद्यप्येतदिको यणचीत्यत्रैव वक्तव्यम् , तथापि सूत्रक्रमानुरोधादिहोक्तम् ।

(१४६) छे च । ह्रस्वस्य पितीत्यतः ह्रस्वस्येति तुगिति चानुवर्तते । संहितायामित्यधिकृतम् । तदाह—ह्रस्वस्येति । तुकः ककार इत् । उकार उच्चारणार्थः । कित्त्वात् ह्रस्वस्यावयवः । स्वस्य छायेति षष्ठीसमासे सुब्लुकि वकारादकारस्य तुकि स्वत् छायेति स्थिते वस्तुगत्या प्रक्रियाक्रमं दर्शयति—चुत्वस्येत्यादिना चुत्वेन ज इत्यन्तेन । ननु स्वच् छायेति स्थिते तुको ह्रस्वावयवस्य पदान्तत्वात् तत्स्थानिकचकारस्य चोः कुरिति कुत्वं स्यादित्याशङ्क्याह—चुत्वस्येति ।

(१४७) आङ्माङोश्च । छे तुगित्यनुवर्तते । तदाह—एतयोरिति । आङ्माङोरित्यर्थः ।

---

(१४५) पद—संहितायाम् । **अधिकार-सूत्र ।**

मूलार्थ—यह अधिकारसूत्र है ।

विवरण—"अनुदात्तं पदमेकवर्जम्" (६-१-१५८) तक इसका अधिकार है । उस सूत्र के पहले तक सभी सूत्रों में "संहितायाम्" की अनुवृत्ति जायेगी ।

विशेष—इस विषय में संज्ञाप्रकरण के अन्तर्गत "परः सन्निकर्षः संहिता" (१-४-१०९) सूत्र की व्याख्या देखें ।

(१४६) पद—छे, च । **अनुवृत्ति**—ह्रस्वस्य, तुक्, संहितायाम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—ह्रस्व के अनन्तर 'छ्' वर्ण रहने पर संहिता के विषय में 'तुक्' आगम होता है । 'श्चुत्व' के असिद्ध होने के कारण जश्त्व से 'द्' हुआ । तदनन्तर चर्त्व के असिद्ध होने के कारण पहले श्चुत्व होकर उसके स्थान में 'ज्' होगा । उसे चर्त्व से 'च्' होता है । 'चुत्व' के असिद्ध होने के कारण "चोः कुः" से कुत्व नहीं होता । स्वच्छाया । शिवच्छाया ।

विवरण—यहाँ **आगमी**—'ह्रस्व' है तथा **आगम**—'तुक्' है । 'संहिता' के अधिकार का प्रभाव होने से यह 'तुक्' आगम सन्धि के विषय में प्रवृत्त होता है । सूत्र के अर्थ की पूर्णता के लिये "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" (६-१-७१) से 'ह्रस्वस्य' तथा 'तुक्' पदों की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार सूत्रार्थ होता है—"ह्रस्ववर्ण को छकार परे रहते 'तुक्' आगम होता है ।" 'तुक्' आगम 'क्'—इत् होने से 'ह्रस्व' वर्ण का अन्तावयव होगा । **उदाहरण**–१–स्वत्+छाया, <स्वत्+छाया—(वकारोत्तरवर्ती अकार का अन्तावयव 'त्'—तुक्), <स्वद्+छाया 'श्चुत्व' के असिद्ध होने के कारण "झलां जशोऽन्ते" (८-२-३९) से 'जश्त्व' होकर (त = द्), <स्वज्+छाया ("खरि च" के असिद्ध होने के कारण श्चुत्व होकर 'द्' = 'ज्'), <स्वच्+छाया ("खरि" च—चर्त्व होकर ज् = च्) = स्वच्छाया । पुनः श्चुत्व के असिद्ध होने पर "चोः कुः" (८-२-३०) से 'च्' के स्थान पर 'क्' नहीं होता । अर्थ—अपनी छाया । २–शिव+छाया, <शिवत्+छाया, <शिवद् छाया, <शिवज् छाया, <शिव च् छाया = शिवच्छाया । अर्थ—शिव की छाया ।

(१४७) पद—आङ्माङोः, च । **अनुवृत्ति**—छे, तुक । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'आङ्' तथा 'माङ्' अव्ययों के अनन्तर 'छ्' परे रहते उसे 'तुक्' आगम होता है । "पदान्ताद्वा" सूत्र का यह अपवाद है ।

विवरण—यहाँ पर भी **आगमी** हैं 'आङ्' तथा 'माङ्' । एवम् आगम है 'तुक्' । 'छे' तथा तुक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१४८) दीर्घात् ६ । १ । ७५ ॥ दीर्घाच्छे परे तुक्स्यात् । दीर्घस्यायं तुक्, न तु छस्य, सेनासुराच्छाया' (सू ८२८) इति ज्ञापकात् । चेच्छिद्यते । (१४९) पदान्ताद्वा ६ । १ । ७६ ॥ दीर्घात्पदान्ताच्छे परे तुग्वा स्यात् । लक्ष्मीच्छाया—छक्ष्मीछाया ।

॥ इति हल्सन्धिप्रकरणम् ॥

ननु दीर्घादित्येव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—पदान्ताद्वेति । विकल्पापवाद इति । आच्छादयति । माच्छिददिति । तुकि पूर्ववत् प्रक्रिया ।

(१४८) दीर्घात् । छे तुगित्यनुवर्तते । तदाह—दीर्घाच्छे परे तुक् स्यादित्यादिना । 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' इति छकारस्य तुक् अन्तावयवः स्यात् । ततश्च छिदिधातोर्यङि, द्वित्वे, हलादिशेषे, अभ्यासचर्त्वे, अभ्यासगुणे, तङि, चे छिद्यते—इति स्थिते, छकारस्यान्त्यावयवे तुकि, तस्य चुत्वेन चकारे सति तत्पूर्वस्य छकारस्य खरि चेति चर्त्वेन चकारे सति, चेच्छिद्यत इति एकारात् द्विचकारमेव रूपं स्यात्, छकारो न श्रूयेतेत्यत आह—दीर्घस्यायं तुगिति । ततश्च छकारात् प्राक् दीर्घस्योपरि तुकि जश्त्वचुत्वचर्त्वेषु चेच्छिद्यत इति भवति । छकारस्य खर्परकत्वाभावाच्चत्वं न भवतीति चकारात् छकारश्रवणं निर्बाधम् । ननु दीर्घस्यायं तुगिति कुत इत्यत आह—सेनेति । उत्तरसूत्रे पदान्तदीर्घात् छे तुग्विकल्पविधानादिदं सूत्रमपदान्तविषयमभिप्रेत्य उदाहरति—चेच्छिद्यत इति ।

(१४९) पदान्ताद्वा । तुक्, छे, दीर्घात्, इत्यनुवर्तते । तदाह—दीर्घात् पदान्तादित्यादिना । अयमपि तुक्, दीर्घस्यैव न तु छस्य, उक्तज्ञापकात् ।

इति बालमनोरमायां हल्सन्धिप्रकरणं समाप्तम् ।

की अनुवृत्ति पूर्ववत् है । अतः 'ङ्'—इत्संज्ञक 'आ' तथा 'मा' को 'ह्' परे रहते उसका अन्तावयव 'त्' (तुक्) होता है । उदाहरण—१-आ+छादयति, <आ त्+छादयति, <आ द् छादयति, <आ ज्+छादयति, <आ च् छादयति=आच्छादयति । अर्थ—ढकता है । २-मा+छिदत्, <मा त् छिदत्, <मा द्+छिदत्, <मा ज्+छिदत्, <मा च्+छिदत्=माच्छिदत् । अर्थ—मत ढको ।

विशेष—(१) यह सूत्र "पदान्ताद्वा" (६-१-७६) सूत्र का पूर्वापवाद है । अतः उपर्युक्त उदाहरणों में विकल्प से तुक् नहीं होता । (२) 'मा च्छिदत' में "माङ्" के योग में 'अट्' आगम नहीं हुआ ।

(१४८) पद—दीर्घात् । अनुवृत्ति—छे, तुक् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—दीर्घ से छकार परे रहते उसे 'तुक्' आगम होता है । यह तुक् दीर्घ का अवयव है न कि छकार का । इसमें "सेनासुराच्छाया" सूत्र प्रमाण है । चेच्छिद्यते ।

विवरण—दीर्घ आगमी है तथा 'तुक्' आगम है । 'छ'कार का आगमी के अनन्तर रहना 'निमित्त' है । पूर्ववत् 'छे' तथा 'तुक्' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार दीर्घ को छकार परे रहने पर उसका अन्तावय 'त्' होगा । उदाहरण—√छिद्+यङ्, <छिद् छिद्+य, <छि छिद्+य, <छि छिद्+य+ते, <चि छिद्+य+ते, <चे+छिद्यते, <चेत्+छिद्यते, <चेद्+छिद्यते <चे च्+छिद्यते = चेच्छिद्यते । अर्थ—पुनः पुनः काटा जाता है ।

विशेष—(१) यहाँ आगमी दीर्घ है न कि छकार । इस विषय में पाणिनि का सूत्र "विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्" (२-४-२५) ही प्रमाण हैं । यदि 'ह्' का अन्तावयव 'तुक्' होता तो (त् <च् होने के पश्चात् छ् <च् होकर) 'च्छाया' प्रयोग हुआ होता । 'सुराच्छाया' प्रयोग ही दीर्घ के आगमी होने का ज्ञापक है । (२) इस सूत्र से विहित 'तुक्' आगम की प्रवृत्ति पदान्तभिन्न स्थलों में होती है । तथा यह 'तुक्' नित्य है ।

(१४९) पद—पदान्तात्, वा । अनुवृत्ति—दीर्घात्, छे, तुक् । विधिसूत्र ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ विसर्गसन्धिप्रकरणम्

'विसर्जनीयस्य सः' (सू १३८)। विष्णुस्त्राता। (१५०) शर्परे विसर्जनीयः ८।३।३५॥ शर्परे खरि विसर्जनीयस्य विसर्जनीयः, न त्वन्यत्। कः त्सरुः। 'घनाघनः

विसर्जनीयस्य सः। हल्सन्धिनिरूपणे प्रसङ्गादिदं व्याख्यातमपि प्रकरणानुरोधात् पुनरुपन्यस्तं विसर्जनीयपदानुवृत्तिप्रदर्शनार्थम्। विष्णुस्त्रातेति। विष्णुशब्दात् सुप्रत्यये तस्य रुत्वे विसर्गे सति विष्णुः त्रातेति स्थिते सत्वम्।

(१५०) शर्परे विसर्जनीयः। विसर्जनीयस्येत्यनुवर्तते। खरवसानयोरित्यतः खर्ग्रहणं मण्डूकप्लुत्या अनुवर्तते। शर् परो यस्मादिति बहुव्रीहिः। खर् विशेष्यम्। तदाह—शर्परे खरीति। विसर्गस्य विसर्गविधौ फलमाह—न त्वन्यदिति। विसर्गस्य विसर्गविधानं तदितरपरिसङ्ख्यानार्थमिति भावः। किं तदन्यदित्यत आह—इह यथायथमिति। 'यथास्वे यथायथम्' इति निपातितम्। यथासम्भवमित्यर्थः। कः त्सरुरित्यत्र सत्वम्, घनाघनः क्षोभण इत्यत्र कुप्वोरिति जिह्वामूलीयश्च न भवतीत्यर्थः। तथा च सत्वस्य कुप्वोरित्यस्य चायमपवाद इत्युक्तं भवति।

मूलार्थ—पद के अन्तिम दीर्घ स्वर के बाद 'छ्' परे रहते विकल्प से 'तुक्' आगम होता है। लक्ष्मीच्छाया—लक्ष्मीछाया।

विवरण—पदान्त में विद्यमान दीर्घ वर्ण आगमी है तथा आगम है 'त्' (तुक्)। अनुवृत्त पद हैं—दीर्घात्, छे तथा तुक्। तदनुसार 'छ्' परे रहते पद के अन्त में विद्यमान दीर्घ स्वर का अन्तावयव 'त्' विकल्प से होगा। **उदाहरण**—लक्ष्मी+छाया, <लक्ष्मी त् छाया ('लक्ष्मी' पद के अन्त में 'ई' दीर्घ होने से उसका अन्तावयव 'त्'), <लक्ष्मी द्+छाया, <लक्ष्मी ज् छाया, <लक्ष्मी च् छाया = लक्ष्मीच्छाया। वैकल्पिक होने के कारण तुक् न होने पर—लक्ष्मीछाया। **अर्थ**—लक्ष्मी की कान्ति।

विशेष—इस सूत्र से विधीयमान 'तुक्' आगम पदान्त में विद्यमान दीर्घ स्वरों को विकल्प से होता है।

हल्-सन्धि समाप्त।

विसर्गसन्धि-प्रकरण

उपक्रम—विसर्ग के साथ अन्य वर्णों के मेल से जो परिवर्तन होते हैं, उनका निर्वचन विसर्ग-सन्धि प्रकरण में किया जा रहा है। विसर्ग के साथ अनेक प्रकार के व्यञ्जन—वर्णों का मेल होता है।

पद—विसर्जनीयस्य, सः। **अनुवृत्ति**—खरि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—विसर्ग-सन्धि के उपयोगी इस सूत्र का विवरण हल्-सन्धि में दिया जा चुका है। इस प्रकरण में 'विसर्जनीय' पद की अनुवृत्ति आगे के सूत्रों में जाने के लिये उसका स्मरण दिलाया जा रहा है। **उदाहरण**—विष्णुः+त्राता, <विष्णुस्+त्राता = विष्णुस्त्राता (:='स्' हुआ, उसका पश्चाद्वर्ती वर्ण 'त्'—'खर्' है)। **अर्थ**—विष्णु रक्षक है।

(१५०) **पद**—शर्परे, विसर्जनीयः। **अनुवृत्ति**—विसर्जनीयस्य, खरि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'शर्—परक 'खर्' वर्णों के परे रहते विसर्ग के स्थान में विसर्ग ही होता है और कुछ नहीं। कः त्सरुः। घनाघनः क्षोभणः। यहाँ क्रमानुसार यथाप्राप्त 'स्' तथा जिह्वामूलीय नहीं होते।

विवरण—विसर्ग (:) ही स्थानी तथा आदेश दोनों है। साहचर्य में अनुबन्ध है। वह इस प्रकार है कि विसर्ग के अनन्तर रहनेवाले 'खर्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण का पश्चाद्वर्ती वर्ण 'शर्'-प्रत्या-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षोभणः'। इह यथायथं सत्वं जिह्वामूलीयश्च न। (१५१) **वा शरि ८। ३। ३६॥** शरि परे विसर्जनीयस्य विसर्जनीय एव वा स्यात्। हरिः शेते—हरिश्शेते। 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः' (वा ४९०६)। राम स्थाता, रामः स्थाता। हरि स्फुरति—हरिः स्फुरति। पक्षे विसर्गे सत्वे च त्रैरूप्यम्। 'कुप्वो ँकपौ ँच' (सू १४२)। क ँकरोति—कः करोति। क ँखनति—कः खनति। क ँपचति—

---

(१५१) वा शरि। विसर्जनीयस्येति, विसर्जनीय इति चानुवर्तते। विसर्गस्य विसर्गविधानं च तस्य सत्वपरिसङ्ख्यानार्थम्। वाग्रहणाच्च सत्वपरिसङ्ख्यानं पाक्षिकम्। तदाह—शरि परे इत्यादिना। हरिः शेत इति। विसर्गस्य विसर्जनीयपक्षे सत्वपरिसङ्ख्याने रूपम्। हरिश्शेत इति। विसर्गस्य विसर्गविध्यभावपक्षे सत्वे सति सस्य श्चुत्वेन शकारे रूपम्। खर्परे इति। खर् परो यस्मादिति बहुव्रीहिः। शर् विशेष्यम्। खर्परके शरि परे विसर्गस्य लोपविकल्पो वक्तव्य इत्यर्थः। लोपाभावपक्षे वा शरीति भवति। राम स्थातेति। रामः स्थातेति स्थिते विसर्गलोपे अविसर्गमेकसकारं रूपम्। एवं हरि स्फुरतीत्यत्रापि। पक्षे इति। विसर्गस्य लोपाभावे वा शरीति विसर्गे सति सविसर्गमेकसकारं रूपम्। तदु-

---

हारान्तर्गत हो। **उदाहरण**—कः त्सरुः = कः त्सरुः (: = : क्योंकि उसके अनन्तर 'त्'—'खर्' है तथा उसका पश्चाद्वर्ती वर्ण 'स्'—'शर्' प्रत्याहार के अन्तर्गत आता है)। अर्थ—कौन सी तलवार की मूठ। २—घनाघनः क्षोभणः—यहाँ भी : = :। अर्थ—शत्रुघातक इन्द्र।

विशेष—यह सूत्र सकार-विधि तथा जिह्वामूलीय-उपध्मानीय विधि का अपवाद है। तदनुसार 'कःत्सरुः' में "विसर्जनीयस्य सः" (१३८) सूत्र से प्राप्त सकार तथा "घनाघनः क्षोभणः" में "कुप्वो ँक ँपौ च" (१४२) सूत्र से प्राप्त उपध्मानीय नहीं हुआ।

(१५१) पद—वा, शरि। **अनुवृत्ति**—विसर्जनीयस्य, विसर्जनीयः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—विसर्ग के अनन्तर 'शर्' (श्, ष्, स्) रहने पर उसके स्थान पर विकल्प से विसर्ग ही होता है। हरिश्शेते—हरिःशेते। वा० 'खर्'—परक 'शर्' परे रहते विसर्ग का लोप विकल्प से होता है। राम स्थाता—रामः स्थाता। हरि स्फुरति—हरिः स्फुरति। पक्ष में विसर्ग और सकार होने पर तीन रूप होंगे। कवर्ग और पवर्ग परे रहते विसर्ग के स्थान पर क्रमशः जिह्वामूलीय तथा उपमध्मानीय होते हैं एवं पाक्षिक विसर्ग भी। क ँकरोति—कः करोति। क ँखनति—कः खनति। क ँपचति—कः पचति। क ँफलति—कः फलति।

विवरण—सूत्र में स्थानी तथा आदेश-वाचक शब्द न होने के कारण "विसर्जनीयस्य सः" (१३८) से 'विसर्जनीयस्य' तथा "शर्परे विसर्जनीयः" (१५०) से 'विसर्जनीयः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार **स्थानी** और **आदेश** दोनों ही विसर्ग हैं। निमित्त है—'शर्' का विसर्ग के अनन्तर रहना। यह विधान वैकल्पिक है।

उदाहरण—१-हरिः+शेते=हरिःशेते। विसर्ग के अनन्तर 'शर्'—'श्' रहनेसे विसर्ग। पक्ष में <हरिस् शेते (: = स्), <हरिश्शेते (स्=श्—श्चुत्व)=हरिश्शेते। अर्थ—हरि शयन करते हैं।

विशेष—यह विसर्ग-विधान 'स्' आदेश का बाधक है।

(वा०) पद—शर्परे, खरि, वा, विसर्गलोपः, वक्तव्यः। **विधि** (वैकल्पिक)। **अर्थ**—विसर्ग के अनन्तर विद्यमान 'खर्' प्रत्याहारस्थ वर्णों के पश्चात् यदि 'शर्'—वर्ण रहें तो विकल्प से विसर्ग का लोप होता है। इसके पहले "शर्परे विसर्जनीयः" (१५०) सूत्र से विकल्प से विसर्ग के स्थान पर विसर्ग का विधान बतलाया गया था। अतः पाक्षिक विसर्ग-लोप करने में इस वार्तिक की उपादेयता है। तदनुसार यहाँ तीन रूप होंगे—(१) विसर्ग का लोप। (२) विसर्ग-लोप न होने पर "वा शरि" (१५१) सूत्र से विकल्पात्मक 'स्'। (३) 'स्' के न होने पर विसर्ग की विद्यमानता। **उदाहरण**—(क) रामः+स्थाता = राम स्थाता (विसर्ग का लोप)। (ख)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कः पचति। क≍फलति—कः फलति। (१५२) **सोऽपदादौ** ८।३।३८॥ **विसर्जनीयस्य सः स्यादपदाद्योः कुप्वोः परयोः।** 'पाशकल्पककाम्येष्विति वाच्यम्' (वा ५०३३)। पयस्पाशम्। यशस्कल्पम्। यशस्कम्। यशस्काम्यति। 'अनव्ययस्येति वाच्यम्' (वा ४९०१) प्रातःकल्पम्। 'काम्ये रोरेवेति वाच्यम्' (वा ४९०२)। नेह।

भयाभावे सत्वे सति द्विसकारं रूपमिति रूपद्वयम्। ततश्च लोपपक्षसिद्धाविसर्गैकसकार-रूपसङ्कलनया त्रीणि रूपाणीत्यर्थः। कुप्वो≍क≍पौ च। हल्सन्धिनिरूपणे व्याख्या-तमप्येतत् प्रकरणानुरोधात् पुनरुपन्यस्तम्। क≍करोतीति जिह्वामूलीयपक्षे। कः करो-तीति विसर्गपक्षे। एवमग्रेऽपि।

(१५२) सोऽपदादौ। कुप्वोरित्यनुवर्तते। अपदादाविति तद्विशेषणम्। द्वित्वे एक-वचनमार्षं प्रत्येकाभिप्रायं वा एकवचनम्। विसर्जनीयस्येत्यनुवर्तते। तदाह—विसर्जनीय-स्येत्यादिना। कुप्वोरित्यस्यायमपवादः। पाशकल्पक इति। एतद्वार्तिकं ग्रन्थकृता न धृतम्। पयस्पाशमिति। याप्ये पाशप्। कुत्सितं पय इत्यर्थः। यशस्कल्पमिति। ईषदसमाप्तौ कल्पम्। ईषदसमाप्तं यश इत्यर्थः। यशस्कामिति। अज्ञाते कुत्सिते इत्यादिना कः। यशस्काम्यमिति। यश आत्मन इच्छतीत्यर्थे सुप आत्मन इत्यनुवृत्तौ काम्यच्चेति काम्यच्। सनाद्यन्ता इति

लोप के न होने पर विसर्ग के स्थान में पाक्षिक विसर्ग—रामः स्थाता। (ग) पक्ष में विसर्ग के स्थान पर 'स्'—रामस्स्थाता। अर्थ—राम स्थित रहेंगे। (२) (क) हरिः स्फुरति = हरि स्फुरति (विसर्गलोप)। (ख) हरिः स्फुरति (विसर्ग)। (ग) हरिस्स्फुरति (विसर्ग=स्)। अर्थ—हरि चलते हैं।

प्रसङ्गवश "कुप्वो≍क≍पौ च" (१४२) सूत्र का स्मरण कराते हुए उसके अन्तर्गत पूरे उदाहरण क्रमशः जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय एवं पाक्षिक विसर्ग का निदर्शन कर अङ्कित किये जा रहे हैं। (१) विसर्ग के अनन्तर 'क्' के पश्चाद्वर्ती रहने पर—क≍करोति (जिह्वामूलीय)। कः करोति (विसर्ग)। अर्थ—कौन करता है ? २–'ख्' परे रहते—क≍खनति (जिह्वामूलीय)। कः खनति (विसर्ग)। अर्थ—कौन खोदता है ? ३–क≍पचति (उपध्मानीय)। कः पचति (विसर्ग)। अर्थ—कौन पकाता है ? ४–क≍फलति (उपध्मानीय)। कः फलति (विसर्ग)। अर्थ–कौन फलता है।

(१५२) पद—सः अपदादौ। **अनुवृत्ति**—विसर्जनीयस्य, कुप्वोः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—विसर्ग के अनन्तर पदादिभिन्न कवर्ग तथा पवर्ग के रहने पर उसके स्थान में 'स्' होता है। वा० (इस सम्बन्ध में) पाशप्, कल्पप्, क तथा काम्यच् प्रत्ययों के रहने पर ही 'स्' होता है—यह बात कही जाय। पयस्पाशम्। यशस्कल्पम्। यशस्कम्। यशस्काम्यति। वा० (इस पर भी) अव्यय से भिन्न—यह कहा जाय। प्रातः कल्पम्। वा० काम्यच् प्रत्यय परे रहने पर 'रु' के ही विसर्ग के बारे में कहा जाय। अतः यहाँ नहीं हुआ—गीः काम्यति।

विवरण—अनुवृत्त पद 'कुप्वोः' के साथ समन्वय करने के लिए सूत्रस्थ पद सप्तमी के एक-वचनान्त 'अपदादौ' को सप्तमी के द्विवचनान्त पद में परिवर्तित किया गया है। तदनुसार दूसरा अनुवृत्त पद 'विसर्जनीयस्य' स्थानी के रूप में स्थित है। अतः विसर्ग के स्थान पर 'स्'–आदेश–का विधान किया जा रहा है। कब ? यदि विसर्ग के पश्चात् पदादिभिन्न कवर्ग एवं पवर्ग रहें तो। विसर्ग के पश्चात् पदादिभिन्न कवर्ग एवं पवर्ग की सम्भावना के विषय में वार्तिक-कार प्राप्त प्रयोगों के फलस्वरूप कुछ सीमा निर्धारित करते हैं।

(वा०) १—पदादिभिन्न कवर्ग तथा पवर्ग की सम्भावना प्रायः पाशप्, कल्पप्, क, एवं काम्यच् प्रत्ययों में ही होती है, अतः विसर्ग के पश्चात् इन प्रत्ययों के रहने पर उसे 'स्' आदेश होगा।

उदाहरण—१–पयः+पाशम् <पयस्पाशम् (कुत्सितं पयः—अर्थात् कुत्सित अर्थ में पयस्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीः काम्यति । (१५३) इणः षः ८।३।३९ ॥ इणः परस्य विसर्गस्य षकारः स्यात्पूर्वविषये । सर्पिष्पाशम् । सर्पिष्कल्पम् । सर्पिष्कम् । सर्पिष्काम्यति । (१५४) नमस्पुर-

---

धातुत्वाल्लडादयः । अनव्ययस्य । सोऽपदादाविति विधिः अव्ययविसर्गस्य न भवतीत्यर्थः । प्रातःकल्पमिति । ईषदसमाप्तौ कल्पप् । ईषदसमाप्तः प्रातःकाल इत्यर्थः । अधिकरणशक्तिप्रधानस्यापि प्रातश्शब्दस्य वृत्तिविषये शक्तिमत्प्रधानत्वं न विरुध्यते, दोषाभूतमहः, दिवाभूता रात्रिरितिवत् । काम्ये रोः । काम्यप्रत्यये परतः रुस्थानिकस्यैव विसर्गस्य सोऽपदादाविति विधिर्भवतीत्यर्थः । गीः काम्यतीति । गिरमात्मन इच्छतीत्यर्थे काम्यजादि पूर्ववत् । गृधातोः क्विपि 'ऋत इद्धातोः' इति इत्वे रपत्वे रेफस्य विसर्गः । तस्य च रुस्थानिकत्वाभावान्न सत्वम् । किन्तु कुप्वोरित्येव भवतीत्यर्थः ।

(१५३) इणः षः । इण इति पञ्चमी । परस्येत्यध्याहार्यम् । विसर्जनीयस्येत्यनुवर्त्तते ।

शब्द से पाशप् प्रत्यय—"थाप्ये पाशप्" (५-३-४७) । अतः विसर्ग = 'स्' । अर्थ—खराब दूध । २–यशः+कल्पम्, <यशस्कल्पम् (ईषद् ऊनं यशः—अर्थात् कम अर्थ में 'यशस्' शब्द से 'कल्पप्' प्रत्यय—"ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः" ५-३-६७) । अतः विसर्ग=स् । अर्थ—कम यशस्वी । ३–यशः+कम् <यशस्कम् (न्यून अर्थ में 'क' प्रत्यय—"अज्ञाते" अथवा "कुत्सिते" ५-३-७४) । अतः विसर्ग = स् । अर्थ—अपयशस्वान् । ४–यशः+काम्यति, <यशस्+काम्यति–आत्मनो यश इच्छति अर्थात् अपने यश की इच्छा में "काम्यच्च" (३-१-९) सूत्र से 'काम्यच्' प्रत्यय । अतः विसर्ग = स् । अर्थ—अपने यश का इच्छुक ।

(वा०) २–पद—अनव्ययस्य, इति, वाच्यम् । अर्थ—पूर्व वार्तिक के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण किया जा रहा है । अर्थात् उपर्युक्त प्रत्ययों के पश्चाद्वर्ती होने पर अव्ययभिन्न विसर्ग के स्थान पर 'स्' हो । अतः 'प्रातः+कल्पम्' (=प्रातः कल्पम्) में विसर्ग = : । 'स्' नहीं होता । यहाँ पर ईषद् ऊनं प्रातः–अर्थात् प्रातः काल के पूर्व अर्थ में 'कल्पप्' प्रत्यय हुआ है । 'प्रातर्' शब्द अव्यय है ।

(वा०) ३–पद—काम्ये, रोः, एव, इति वाच्यम् । अर्थ—'काम्यच्' प्रत्यय परे रहने पर 'रु' के स्थान पर होने वाले विसर्ग को ही 'स्' होता है—ऐसा कहा जाय । अतः गीः+काम्यति में विसर्ग के स्थान पर 'स्' नहीं हुआ, क्योंकि 'गीः' सम्बन्धी विसर्ग 'रु' को अभिलक्षित कर नहीं हुआ है । यह 'र्' धातु को 'इ' होने से 'इर्' के रूप में परिणत हुआ है । प्रक्रिया—√गृ+क्विप् <ग् इर् (ऋ = इ—इर्), <गिर्+सु, <गीर् <गीः काम्यति । अतः विसर्ग रहा । अर्थ—वाणी का इच्छुक ।

(१५३) पद—इणः, षः । अनुवृत्ति—विसर्जनीयस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—पूर्वोक्त विषय में 'इण्' से परे विसर्ग के स्थान में 'ष्' होता है । सर्पिष्पाशम् । सर्पिष्कल्पम् । सर्पिष्कम् । सर्पिष्काम्यति ।

सन्दर्भ—'स्' के समानान्तर 'ष्' का विधान किया जारहा है ।

विवरण—इस सूत्र का सम्बन्ध उपर्युक्त प्रथम वार्तिक से है । तदनुसार यहाँ स्थानी विसर्ग है । वह अनुवृत्ति द्वारा विदित है तथा आदेश है—'ष्' । अर्थात् इ, उ, के पश्चाद्वर्ती विसर्ग के अनन्तर पाश, कल्प, क, काम्य प्रत्यय रहने पर उस विसर्ग के स्थान पर 'ष्' आदेश होता है ।

उदाहरण—१–सर्पिः+पाशम् <सर्पिष्पाशम् ('इ' के अनन्तर विसर्ग = ष्) । अर्थ—दूषित घी । २–सर्पिः+कल्पम्<सर्पिष्कल्पम् ('इ' के अनन्तर : = ष्) । अर्थ—घी के समान । ३–सर्पिः+कम् <सर्पिष्कम् (विसर्ग = ष्) । अर्थ—थोड़ा घी । ४–सर्पिः+काम्यति <सर्पिष्काम्यति (विसर्ग = ष्) । अर्थ—घी का इच्छुक ।

विशेष—पूर्ववार्तिक सम्बन्धी प्रत्ययों के विषय में इस सूत्र द्वारा कुछ संकोच कर दिया गया है । तदनुसार 'इ' 'उ' से परे विसर्ग के स्थान पर 'ष्' तथा उसके अतिरिक्त स्थल पर 'ष्' नहीं होगा ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोर्गत्योः ८।३।४०॥ गतिसंज्ञयोरनयोर्विसर्गस्य सः कुप्वो परयोः। नमस्करोति। साक्षात्प्रभृतित्वात्कृञो योगे विभाषा गतिसंज्ञा। तदभावे—नमः करोति। पुरोऽव्ययम् (सू ७६८) इति नित्यं गतिसंज्ञा। पुरस्करोति। अगतित्वान्नेह। पूः, पुरौ, पुरः प्रवेष्टव्याः। (१५५) **इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य ८।३।४१॥** इकारोकारोपधस्याऽप्रत्ययस्य विसर्गस्य षः

तदाह—इणः परस्येति। पूर्वविषये इति। अत्र कुप्वोरिति अपदादाविति अनव्ययस्येति काम्ये रोरेवेति च सम्बध्यते इति भावः। तेन उच्चैःकल्पम्, दोःपाशं, गीःकाम्यतीत्यादौ न षत्वमिति भावः। सर्पिष्पाशमित्यादौ पूर्ववत् पाशवादि।

(१५४) नमस्पुरसोः। इत उत्तरमपदादाविति न सम्बध्यते। विसर्जनीयस्य स इति कुप्वोरिति चानुवर्तते। तदाह—गतिसंज्ञयोरित्यादिना। कुप्वोरित्यस्यायमपवादः। नमस्करोतीति। नमस् इति सकारस्य रुत्वे विसर्गे तस्य कुप्वोरिति विधिं बाधित्वा अनेन सत्वम्। ननु प्रादिषु पाठाभावात् कथं नमश्शब्दस्य गतित्वमित्यत आह—साक्षादिति। विभाषेति। साक्षात्प्रभृतीनि चेत्यत्र विभाषा कृञीत्यतो विभाषेत्यनुवृत्तेरिति भावः। तदभाव इति। गतित्वाभावपक्षे कुप्वोरिति जिह्वामूलीये सति नमः≍करोतीति रूपमित्यर्थः। पुरः प्रवेष्टव्या इति। 'पॄ पालनपूरणयोः', भ्राजभासेत्यादिना क्विप्, उदोष्ठ्यपूर्वस्येत्युत्वं, रपरत्वं, ततो जसि अनव्ययत्वेन गतित्वाभावान्न सत्वम्। अनव्ययत्वसूचनार्थमेव पूः पुरौ इत्युक्तम्।

(१५५) इदुदुपधस्य। विसर्जनीयस्येत्यनुवर्तते। इदुदुपधस्येति तद्विशेषणम्। इदुतौ उपधे यस्येति बहुव्रीहिः। कुप्वोरिति चानुवर्तते। तदाह—इकारोकारेति। अप्रत्ययस्येति। प्रत्ययावयवभिन्नस्येत्यर्थः। प्रत्ययभिन्नस्य विसर्गस्येत्यर्थे तु कविभिः कृतमित्यत्रापि षत्वं स्यात्। तत्र भिसः प्रत्ययत्वेऽपि विसर्गमात्रस्य प्रत्ययत्वाभावात्। अत्र इदुन्नद्यामप्रत्यय-

---

(१५४) पद—नमस्पुरसोः, गत्योः। अनुवृत्ति—विसर्जनीयस्य, सः, कुप्वोः। विधिसूत्र।

मूलार्थ—कवर्ग तथा पवर्ग परे रहते गतिसंज्ञक 'नमस्' तथा 'पुरस्' शब्दावयव विसर्ग के स्थान में 'स्' होता है। नमस्करोति। "साक्षात्प्रभृतीनि च" सूत्र से 'कृ' धातु के योग में विकल्प से गति संज्ञा होती है। गतिसंज्ञा न होने पर नमः करोति। 'पुरस्' शब्द को "पुरोऽव्ययम्" से नित्य गति-संज्ञा होती है। पुरस्करोति। गतिसंज्ञा से भिन्न स्थलों में 'स्' नहीं हुआ। पूः पुरौ, पुरः प्रवेष्टव्याः।

विवरण—सूत्र में स्थानी तथा आदेश का निर्देश नहीं किया गया है। उनकी पूर्ति "विसर्जनीयस्य सः" सूत्र से 'विसर्जनीयस्य' तथा 'सः' पदों की अनुवृत्ति के द्वारा की गई है। 'गत्योः' पद 'नमस्-पुरसोः' का विशेषण है। अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ है—गतिसंज्ञक 'नमस्' और 'पुरस्'-शब्दावयव विसर्ग के अनन्तर कवर्ग तथा पवर्ग के रहने पर उसके स्थान में 'स्' होता है।

उदाहरण—१-नमस् करोति, <नमर् करोति, <नमः करोति <नमस्करोति—विसर्ग=स्। 'नमस्' अव्यय को 'कृ' धातु (करना) के अर्थ में "साक्षात्प्रभृतीनि च" (१-४-७४) सूत्र से विकल्प से गतिसंज्ञा। गतिसंज्ञा न होने पर—नमः करोति ('स्' नहीं हुआ, विसर्ग ही रहा)। अर्थ—प्रणाम करता है। २-पुरस् करोति, <पुरर् करोति, <पुरः करोति, <पुरस्करोति-(:=स्)। 'पुरस्' अव्यय की नित्य गतिसंज्ञा—"पुरोऽव्ययम्" (१-४-६७)। प्रत्युदाहरण—अव्ययभिन्न 'पुरस्' शब्द को गतिसंज्ञा न होने से विसर्ग के स्थान पर 'स्' नहीं होता। जैसे—पूः, पुरौ, पुरः+प्रवेष्टव्याः <पुरः प्रवेष्टव्याः। 'पुरः' = 'पुर्' शब्द के प्रथमा बहुवचन में है।

विशेष—यह सूत्र भी "कुप्वो ≍क≍पौ च" का बाधक है।

(१५५) पद—इदुदुपधस्य, च, अप्रत्ययः। अनुवृत्ति—विसर्गस्य, कुप्वोः, षः। विधिसूत्र।

मूलार्थ—प्रत्यय के अतिरिक्त इकार एवम् उकार वर्णात्मक उपधाभूत विसर्ग के अनन्तर कवर्ग

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्यात्कुप्वोः । निष्प्रत्यूहम् । आविष्कृतम् । दुष्कृतम् । 'अप्रत्ययस्य' किम् ? अग्निः करोति । वायुः करोति । एकादेशशास्त्रनिमित्तकस्य न षत्वम्, कस्कादिषु भ्रातुष्पुत्रशब्दस्य पाठात् (वा ४९१५) । तेनेह न । मातुः कृपा । 'मुहुसः प्रतिषेधः' (वा ४९११) मुहुःकामा ।

स्येत्येतावतैव इदुद्भ्यामुत्तरस्य विसर्गस्येत्यर्थस्य सिद्धत्वादुपधाग्रहणं न कर्तव्यमिति हयवरट्सूत्रे भाष्ये स्थितम्—'उपधाग्रहणं न करिष्यते । इदुद्भ्यां तु परं विसर्जनीयं विशेषयिष्यामः' इति । निष्प्रत्यूहमिति । प्रत्यूहो विघ्नः तस्याभावः निष्प्रत्यूहम् । अर्थाभावे अव्ययीभावः । आविष्कृतमिति । 'प्रकाशे प्रादुराविः स्यात्'—इत्यमरः । दुष्कृतमिति । दुस् दुरिति प्रादौ पठितम् । तत्र प्रथमस्य सान्तस्य षत्वं निर्विवादम् । रेफान्तस्य तु इदुदुपधस्य सकारस्य यो विसर्जनीय इति हयवरट्सूत्रस्थभाष्यसम्मतपक्षान्तरे षत्वं न भवति, तत्र विसर्जनीयस्य सकारस्थानिकत्वाभावात् । अग्निः करोतीति । विसर्गस्य व्यपदेशिवद्भावेन प्रत्ययावयवत्वादिति भावः । ननु मातृशब्दात् पञ्चम्येकवचनं ङसिः । ऋत उदिति ऋकारस्य अकारस्य च उकारः एकादेशः । रपत्वम् । मातुर् स् इति स्थिते रात्सस्येति सलोपः । मातुः कृपेत्यत्रापि षत्वं स्यात् । उर् इत्येकादेशस्य पूर्वान्तत्वेन अप्रत्ययतया तदवयवरेफस्थानिकविसर्गस्य प्रत्ययावयवत्वाभावात् । न च उ इत्यस्यैव एकादेशतया पूर्वान्तत्वेऽपि रेफस्य प्रत्ययावयवत्वमस्तीति वाच्यम् । उरण् रपर इत्यत्र आद्यन्तौ टकितावित्यतः अन्तग्रहणानुवृत्तिमङ्गीकृत्य रेफस्य एकादेशान्तताया भाष्ये सिद्धान्तितत्वात् । अत एव च 'रदाभ्या'मिति सूत्रे 'थलि च सेटि' इति सूत्रे च 'गुणो भवति वृद्धिर्भवतीति रेफशिरा गुणवृद्धिसंज्ञकोऽभिनिर्वर्तते' इति भाष्यम् । 'उः स्थाने अण् प्रसज्यमान एव रपरो भवति, पूर्वभक्तश्च रेफः' इति कैयटश्च सङ्गच्छते । न च उर् इत्यस्य परादित्वे प्रत्यया-

---

एवं पवर्ग के रहने पर उस विसर्ग के स्थान पर 'ष्' होता है। निष्प्रत्यूहम् । आविष्कृतम् । दुष्कृतम् । अप्रत्ययस्य क्यों कहा ? अग्निः करोति । वायुः करोति । कस्कादिगण में भ्रातुष्पुत्र शब्द का पाठ होने से एक-आदेश-शास्त्रनिमित्तक को षत्व नहीं होता । इस कारण 'मातुः कृपा' में 'ष्' नहीं हुआ । वा० मुहुस् शब्दावय विसर्ग को 'ष्' नहीं होता । मुहुः कामः ।

विवरण—प्रकृत सूत्र में स्थानी है 'विसर्ग' तथा आदेश है 'ष्' । पूर्वानुसार कवर्ग तथा पवर्ग निमित्त हैं । 'विसर्ग' भी ह्रस्व इकार एवं ह्रस्व उकार उपधा के अवयव रूप में अपेक्षित है (इदुतौ उपधे यस्य तस्य) । इसके साथ ही वह विसर्ग प्रत्यय-भिन्न भी होना चाहिए । उदाहरण—१-निस् प्रत्यूहम्, <निर्+प्रत्यूहम्, <निः+प्रत्यूहम् <निष्+प्रत्यूहम्=निष्प्रत्यूहम्—विसर्ग = ष् । यहाँ पर 'निः' ऐसी स्थिति में विसर्ग के पूर्व ह्रस्व 'इ' उपधा के रूप में विद्यमान है एवं प्रत्ययभिन्न भी है । साथ ही वह अव्ययवाची शब्द का अवयव है । विग्रह—प्रत्यूहस्य अभावः । अर्थ—विघ्न रहित । अर्थाभाव में अव्ययीभाव समास । २-आविः+कृतम् <आविष+कृतम् = आविष्कृतम्—विसर्ग = ष् । यह भी इकारोपध विसर्ग का उदाहरण है । अर्थ—प्रकटित । ३-दुस्+कृतम्, <दुर् कृतम्, <दुः+कृतम् <दुष्+कृतम् = दुष्कृतम्—विसर्ग (उकारोपध) = 'ष्' । अर्थ—बुरा काम । प्रत्युदाहरण—१-(इकारोपध विसर्ग) अग्नि+सु <अग्नि र् = अग्निः+करोति=अग्निः करोति (विसर्ग = विसर्ग) । यहाँ पर विसर्ग 'सु' के स्थान पर हुआ है, जो कि प्रत्यय है । अतः 'ष्' नहीं हुआ । अर्थ—अग्नि करता है । २-(उकारोपध विसर्ग) वायु+सु, <वायु+र्, <वायुः +करोति=वायुः करोति (विसर्ग = विसर्ग) । इस उदाहरण में भी 'सु' प्रत्यय के स्थान पर विसर्ग हुआ है । अतः 'ष्' नहीं हुआ । अर्थ—वायु करता है ।

विशेष—भ्रातुष्पुत्र शब्द का पाठ कस्कादि-गण में किये जाने से यह विदित होता है कि उस गण में पठित शब्दों के विसर्ग को 'ष्' विधान करने में कोई विशेष प्रयोजन है । अन्यथा 'भ्रातुः' पद में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१५६) तिरसोऽन्यतरस्याम् ८ । ३ । ४२ ॥ तिरसो विसर्गस्य सो वा स्यात्कुप्वोः ।

वयवत्वमस्तीति वाच्यम् । मातृ अस् इत्यस्यां दशायां हि सकारसन्निधौ अकारस्य प्रत्ययत्वाभावेन तत्स्थाने भवन् उर् इत्यादेशः प्रत्ययत्वं न भजते, प्रत्ययत्वस्य समुदायनिवेशित्वात् । यस्तु कृते उरादेशे अवशिष्टः सकारः प्रत्ययसंज्ञकः, स तु लुप्त एव । अस्तु वा परादित्वेन उर् इत्यस्य प्रत्ययत्वम् । तथापि तस्य पूर्वान्तत्वात् तद्विसर्गस्य षत्वमप्रत्यूहम् । न च अन्तवत्त्वे कर्तव्ये षत्वस्यासिद्धत्वाद् न तत्रान्तवत्त्वप्रवृत्तिरिति वाच्यम् । पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवदित्युक्त्या तदितरातिदेशानां त्रिपाद्यामपि प्रवृत्त्यभ्यनुज्ञानात् । अत एव अमी क्षीरपेणेत्यत्र ईत्वणत्वे सिध्यतः । तत्र एकारे अदश्शब्दसम्बन्धित्वस्य पे इत्यत्र एकाजुत्तरपदत्वस्य च अन्तवत्त्वाधीनत्वात् । तस्मात् उर् इत्यस्य पूर्वान्तत्वे मातुः कृपेत्यत्र षत्वं दुर्वारमित्यत आह—एकादेशेति । एकादेशशास्त्रसम्पन्नरेफस्थानिकत्वेन विसर्गस्य एकादेशशास्त्रनिमित्तकत्वमिति भावः । भ्रातुष्पुत्रेति । एकादेशशास्त्रनिमित्तकस्यापि विसर्गस्य षत्वप्रवृत्तौ भ्रातुष्पुत्रशब्दस्य पाठो व्यर्थः स्यात् । कस्कादिषु चेति षत्वार्थो हि तत्र पाठः । षत्वस्य च अनेनैव सिद्धौ किं तेनेति भावः । मुहुसः । पत्वस्येति शेषः । अत्र 'पुम्मुहुसोः प्रतिषेधो वक्तव्यः' इति भाष्ये पठितम् । तत्र पुंग्रहणमनुवादमात्रम् । 'सम्पुंकानां सो वक्तव्य' इत्यनेन गतार्थत्वात् ।

(१५६) तिरसो । सोऽपदादावित्यतः स इत्यनुवर्तते, कुप्वोरिति, विसर्जनीयस्येति

उकारोपध विसर्ग होने से प्रकृत-सूत्र ("इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य") से विसर्ग के स्थान पर 'ष्' होने में कोई बाधा नहीं रही । इस कारण यह शङ्का उपस्थित होती है कि 'कस्कादि-गण' में भ्रातुष्पुत्र शब्द का पाठ निरर्थक है । अतः वह व्यर्थ होकर यह ज्ञापन करता है कि जहाँ पर इकारोपध अथवा उकारोपध विसर्ग की स्थिति एकादेश (दो वर्णों को मानकर एकवर्ण के रूप में) शास्त्र के निमित्त हुई हो तो वहाँ "इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य" सूत्र से विसर्ग के स्थान पर 'ष्' नहीं होता । इस नियम से 'मातुः कृपा' इत्यादि उदाहरणों में विसर्ग के स्थान पर 'ष्' नहीं हुआ । तदनुसार उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—मातृ+अस्, <मात् उर्+स् (ऋ+अ=उ='उर्'—"ऋत उत्"), <मातुर् ('स्' का संयोगान्त लोप), <मातुः । इस उदाहरण में विसर्ग की स्थिति "ऋत उत्" (६-१-१११) सूत्र के कारण ऋ+अ (षष्ठी विभक्ति के 'अस्' प्रत्यय का अवयव 'अ') = 'उ'—'उर्' के रेफ को मानकर हुई है । यहाँ पर एकादेश शास्त्र (दो वर्णों के स्थान पर एक वर्ण विधान करनेवाला सूत्र) "ऋत उत्" सूत्र है । वह रेफ ('उर्' का अवयव 'र्') की उत्पत्तिद्वारा आगे होनेवाले विसर्ग में परम्परा से निमित्त है । अतः मातुः+कृपा = मातुः कृपा में विसर्ग के स्थान पर 'ष्' नहीं हुआ । विसर्ग ही रहा । अर्थ—माता की कृपा ।

वा० २—पद—मुहुसः, प्रतिषेधः । **अनुवृत्ति**—विसर्जनीयस्य । **विधि** (निषेध) । **अर्थ**—'मुहुस्' शब्द-सम्बन्धी 'स्' के स्थान पर हुए विसर्ग को 'ष्' नहीं होता । उकारोपध विसर्ग होने के कारण उपर्युक्त सूत्र से प्राप्त षत्व का यह वार्तिक निषेध करता है । अतः मुहुः+कामा = मुहुःकामा में विसर्ग के स्थान पर 'ष्' नहीं हुआ । अर्थ—पुनः पुनः इच्छा करने वाली ।

(१५६) पद—तिरसः, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—विसर्गस्य, सः, कुप्वोः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'तिरस्' शब्दसम्बन्धी विसर्ग के अनन्तर कवर्ग तथा पवर्ग के रहने पर विकल्प से 'स्' आदेश होता है । तिरस्कर्ता । तिरः कर्ता ।

विवरण—'विसर्गस्य', 'सः' तथा 'कुप्वोः' पदों की अनुवृत्ति किये जाने पर सूत्र का अर्थ पूरा होता है । तदनुसार 'तिरस्' (अव्यय) शब्द-सम्बन्धी विसर्ग के स्थान पर कवर्ग तथा पवर्ग परे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिरस्कर्ता–तिरःकर्ता। (१५७) द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोऽर्थे ८। ३। ४३ ॥ कृत्वोऽर्थे वर्तमानानामेषां विसर्गस्य षकारो वा स्यात्कुप्वोः। द्विष्करोति—द्विःकरोति। इत्यादि। 'कृत्वोऽर्थे' किम् ? चतुष्कपालः। (१५८) इसुसोःसामर्थ्ये ८।३।४४ ॥ इसुसोर्विसर्गस्य

च। इण इति निवृत्तम्, असम्भवात्। तत्सन्नियोगात् ष इति च निवृत्तम्। तदाह—तिरसो विसर्गस्येत्यादिना। तिरस्कर्तेति। कुप्वोरिति प्राप्ते सत्वम्। तदभावे जिह्वामूलीय-विसर्गौ।

(१५७) द्विस्त्रिश्चतुरिति। इति करणानन्तरं शब्दानामिति शेषः। विसर्जनीयस्येति, कुप्वोरिति, अन्यतरस्यामिति, इणष्ष इति चानुवर्तते। 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' इति कृत्वोऽर्थः। तत्र वर्तमानानां द्विः त्रिः चतुः इति शब्दानां विसर्गस्येत्यन्वयः। तदाह—कृत्वोऽर्थ इत्यादिना। द्विष्करोतीति। 'द्वित्रिचतुर्भ्यस्सुच्' इति कृत्वोऽर्थे सुच्। आदिना त्रिष्करोतीति चतुष्करोतीति गृह्यते। सर्वत्र विसर्गस्य प्रत्ययावयवत्वादिदुदुपधस्येत्यप्राप्ते विभाषेयम्। षत्वाभावे कुप्वोरिति जिह्वामूलीयविसर्गौ। कृत्वोऽर्थे यो विसर्ग इति तु न व्याख्यातम्, तथा सति चतुष्करोतीत्यत्र अव्याप्तेः। चतुश्शब्दे च संयोगान्तलोपेन विसर्गस्य तत्र प्रातिपदिकावयवत्वात्। चतुष्कपाल इति। चतुर्षु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाश इत्यर्थे 'संस्कृतं भक्षाः' इत्यणि विवक्षिते तद्धितार्थोत्तरपदेति समासः। 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इत्यणो लुक्। अत्र चतुश्शब्दस्य कृत्वोऽर्थे अवृत्तेर्न तद्विसर्गस्य षत्वविकल्पः, किन्तु इदुदुपधस्येति नित्यमेव षत्वम्। ननु तत्र प्रत्ययावयवभिन्नस्येति व्याख्याने 'चतेरुरन्' इत्यौणादिकप्रत्ययावयवत्वात् विसर्गस्य कथमिह इदुदुपधस्येति नित्यं षत्वम्। अतस्तत्र प्रत्ययभिन्नस्येत्येव व्याख्यानमुचिम्। एवं चात्र चतुश्शब्दविसर्गस्य प्रत्ययत्वाभावादिदुदुपधस्येति नित्यषत्वं निर्बाधं भविष्यतीति चेत्, नैष दोषः। कविभिः कृतमित्यादौ षत्ववारणाय प्रत्ययावयवभिन्नस्येत्येव व्याख्यातुमुचितत्वात्। चतुश्शब्दस्तु अव्युत्पन्न एव।

रहते विकल्प से 'स्' की स्थिति रहती है। अतः पक्ष में यथाप्राप्त विसर्ग ही रहेगा। **उदाहरण**—तिरस्+कर्ता, <तिरर्+कर्ता, <तिरः+कर्ता, <तिरस्+कर्ता (: = स्), <तिरस्कर्ता। पक्ष में—तिरःकर्ता। अर्थ—तिरस्कार करने वाला।

(१५७) **पद**—द्विः-त्रिः-चतुः, इति, कृत्वोऽर्थे। **अनुवृत्ति**—विसर्जनीयस्य, षः, कुप्वोः, अन्यतरस्याम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'कृत्वसुच्'—प्रत्यय के अर्थ में विद्यमान द्विः त्रिः तथा चतुः शब्द-सम्बन्धी विसर्ग के पश्चात् कवर्ग-पवर्ग के रहने पर उसके स्थान में विकल्प से 'ष्' होता है। द्विष्करोति—द्विः करोति इत्यादि। 'कृत्वोर्थे' क्यों कहा ? चतुष्कपालः।

विवरण—सूत्र का अर्थ करने में अनुवृत्ति में आए पद सहायक हैं। तदनुसार सूत्रार्थ है–'कृत्वसुच्' प्रत्यय के अर्थ में विद्यमान द्विः, त्रिः, एवं चतुःशब्दसम्बन्धी विसर्ग के पश्चात् कवर्ग या पवर्ग के रहने पर वह विसर्ग विकल्प से 'ष्' में परिवर्तित हो जाता है। 'कृत्वसुच्' तद्धित-प्रकरण का प्रत्यय है। यह प्रत्यय क्रिया की पुनरावृत्ति के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस अर्थ में दूसरा प्रत्यय 'सुच्' भी है। ये दोनों प्रत्यय संख्यावाचक शब्दों से होते हैं। इस पर भी 'सुच्' प्रत्यय 'कृत्वसुच्' प्रत्यय का बाधक है। **उदाहरण**—१–द्वि+सुच् (स्)–"द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्", <द्वि+र् (रु), <द्विः+करोति, <द्विष्+करोति (: = ष्)। पक्ष में विसर्ग—द्विःकरोति। अर्थ—दो बार करता है। २–त्रि+स् (सुच्), त्रि+र् (रु), <त्रिः+करोति, <त्रिष्करोति, (: = ष्)। पक्ष में विसर्ग–त्रिः करोति। अर्थ—तीन बार करता है। इसी प्रकार ३–चतुष्करोति–चतुःकरोति। **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में 'कृत्वोऽर्थे' पद के कारण 'कृत्वसुच्' प्रत्यय के अर्थ में विकल्प से षत्व का विधान होने के कारण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षः स्याद्वा कुप्वोः। सर्पिष्करोति–सर्पिः करोति। धनुष्करोति–धनुः करोति। सामर्थ्यमिह व्यपेक्षा। 'सामर्थ्ये' किम् ? तिष्ठतु सर्पिः, पिब त्वमुदकम्। (१५९) नित्यं समासेऽनु-

---

अतः प्रत्ययावयवभिन्नस्येति पर्युदासस्तत्र न भवति, 'चतुष्पाद्भ्यो ढञ्' इत्यादिनिर्देशबलेन चतुश्शब्दे अव्युत्पत्तिपक्षस्यैवाङ्गीकार्यत्वात्। द्विनामा त्रिनामा च कश्चित्। द्विः करोति। त्रिः करोति। अत्रापि न षत्वम्, कृत्वोऽर्थे अवृत्तेः।

(१५८) इसुसोः। इणष्प इत्यतः ष इति, कुप्वोरिति, विसर्जनीयस्येति, अन्यतरस्यामिति चानुवर्तते। तदाह—इसुसोर्विसर्गस्येति। सर्पिष्करोतीति। व्युत्पत्तिपक्षेऽत्र अविसर्गस्य प्रत्ययावयवत्वादिदुदुपधस्येत्यप्राप्तौ विभाषावचनम्। षत्वाभावपक्षे कुप्वोरिति जिह्वामूलीयविसर्गौ। धनुष्करोतीत्यत्राप्येवम्। ननु एकार्थीभावलक्षणं सामर्थ्यं वृत्तावेव, न तु वाक्ये–इति समर्थसूत्रे भाष्ये कैयटादिषु च स्पष्टम्। एवं च सर्पिष्करोतीति धनुष्करोतीति वाक्ये कथमयं षत्वविकल्प इत्यत आह—सामर्थ्यमिह व्यपेक्षेति। विशिष्टा अपेक्षा पदानामाकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिवशाद् यः परस्परान्वयः सा व्यपेक्षा। इदं तु सामर्थ्यं वाक्येषु विद्यते। यथा राज्ञः पुरुषोऽश्वश्च राज्ञो देवदत्तस्य च पुरुषः इत्यादौ। एवं च सर्पिष्करोतीत्यादौ एतादृशं व्यपेक्षालक्षणं सामर्थ्यमस्तीति भवत्युदाहरणम्। व्यपेक्षालक्षणसंबन्धेनात्र सामर्थ्यमाश्रित्य सर्पिष्करोतीति भाष्ये उदाहृतत्वादिति भावः। न च पेचुः काष्ठैः, सख्युः कामः, कविभिः कृतमित्यादौ षत्वं शङ्क्यम्, अत्र प्रातिपदिकावयवयोरेव इसुसोर्ग्रहणात्, नित्यं समास इत्युत्तरसूत्रोदाहरणे तयोरेव सम्भवेनार्थाधिकाराश्रयणात् साहचर्याच्च। तिष्ठत्विति। तिष्ठतु सर्पिरित्येकं वाक्यम्। पिब त्वमुदकमित्यन्यत्। तत्र सर्पिरित्यस्य पिब इत्यत्रान्वयाभावान्न सामर्थ्यम्। अतो नायमत्र षत्वविकल्पः। नापि इदुदुप-

---

'चतुष्कपालः' मे विकल्प से षत्व नहीं हुआ। यहाँ पर 'चतुर्षु कपालेषु संस्कृतः' अर्थ में "संस्कृतं भक्षाः" (४-२-१६) सूत्र से 'अण्' प्रत्यय की विवक्षा में "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" सूत्र से समास होने पर विभक्तिलोप होता है। तदनन्तर अण् प्रत्यय का भी लोप हुआ। रेफ को विसर्ग होने पर "इदुदुपधस्य०" (१५५) सूत्र से नित्य षकार हुआ।

(१५८) पद—इसुसोः, सामर्थ्ये। अनुवृत्ति—विसर्जनीयस्य, वा, षः, कुप्वोः। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'इस्' तथा 'उस्' सम्बन्धी विसर्ग के अनन्तर कवर्ग और पवर्ग के रहने पर विसर्ग के स्थान में विकल्प से 'ष्' हो जाता है। सर्पिष्करोति—सर्पिःकरोति। धनुष्करोति–धनुः करोति। यहाँ व्यपेक्षारूप सामर्थ्य है। सामर्थ्ये क्यों कहा ? तिष्ठतु सर्पिः, पिब त्वमुदकम्।

विवरण—अब भी 'ष्'–विधान का प्रकरण चल रहा है। अतः विसर्ग स्थानी है तथा 'ष्' आदेश। अनुवृत्ति भी पूर्ववत् चली आ रही है। अतः 'इस्' तथा 'उस्' सम्बन्धी विसर्ग के स्थान में–क्, ख्, प्, फ्, वर्णों के पश्चाद्वर्ती होने पर–'ष्' विकल्प से होता है। इस षकार के विधान में पदों की परस्पर एकवाक्यता अपेक्षित है। उदाहरण—१–सर्पिस्+करोति, <सर्पिर्+करोति, <सर्पिः करोति, <सर्पिष्+करोति=सर्पिष्करोति ('इस्' सम्बन्धी–ः=ष्)। पक्ष में विसर्ग—सर्पिः करोति। अर्थ—घी बनाता है। २–धनुस्+करोति, <धनुर् करोति, <धनुः+करोति, <धनुष् करोति ('उस्' सम्बन्धी–ः = ष्)। पक्ष में विसर्ग—धनुःकरोति। अर्थ—धनुष बनाता है।

विशेष—सामर्थ्य दो प्रकार का है—१–व्यपेक्षा एवं २–एकार्थीभाव। प्रकृत सूत्र में व्यपेक्षारूप सामर्थ्य अपेक्षित है। (१) अन्वयबोध होने में शब्द–विशेष की अपेक्षा होना व्यपेक्षारूप सामर्थ्य है। (२) विशेष्य-विशेषणभाव-सहित समुदायार्थ की जहाँ प्रतीति रहे वहाँ एकार्थीभाव सामर्थ्य रहता है। प्रकृत सूत्र में प्रथम प्रकार का सामर्थ्य अपेक्षित है।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'सामर्थ्ये' शब्द के न रहनेपर 'तिष्ठतु सर्पिः, पिब त्वमुदकम्' में 'सर्पिः'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्तरपदस्थस्य ८।३।४५ ॥ इसुसोर्विसर्गस्यानुत्तरपदस्थस्य समासे नित्यं षः स्यात्कुप्वोः परयोः। सर्पिष्कुण्डिका। 'अनुत्तरपदस्थस्य' इति किम् ? परमसर्पिःकुण्डिका। कस्कादिषु सर्पिष्कुण्डिकाशब्दोऽसमासे व्यपेक्षाविरहेऽपि षत्वार्थो व्यपेक्षायां नित्यार्थश्च। (१६०) अतः

धस्येति नित्यं षत्वम्, प्रत्ययावयवत्वात्। अत एव प्रत्ययभिन्नस्य विसर्गस्येति व्याख्यानं नाश्रितम्। तथा सति तिष्ठतु सर्पिः, पिब त्वमुदकमित्यत्र विसर्गस्य प्रत्ययैकदेशस्य प्रत्ययभिन्नतया इदुदुपधस्येति षत्वापत्तेः।

(१५६) नित्यं समासे। इसुसोरित्यनुवर्तते, कुप्वोरिति, विसर्जनीयस्येति च। तदाह—इसुसोरित्यादिना। सर्पिष्कुण्डिकेति। सर्पिषः कुण्डिकेति विग्रहः। समासे व्यपेक्षालक्षणसामर्थ्यस्यापि सत्त्वात् 'इसुसोः सामर्थ्ये' इति षत्वविकल्पे प्राप्ते वचनमिदम्। परमसर्पिःकुण्डिकेति। अत्र विसर्गस्य उत्तरपदस्थत्वान्न षत्वम्। इदुदुपधस्येति षत्वं तु न विसर्गस्यात्र प्रत्ययावयवत्वात्। प्रत्ययभिन्नस्य विसर्गस्येति व्याख्याने तु अत्रापि इदुदुपधस्येति षत्वं स्यात्, अत्र विसर्गस्य प्रत्यैकदेशतया प्रत्ययभिन्नत्वात्। नन्वनेनैव सिद्धे कस्कादिषु सर्पिष्कुण्डिकाशब्दपाठो व्यर्थ इत्यत आह—कस्कादिष्विति। व्यपेक्षाविरहेऽपीति। तिष्ठतु सर्पिः, कुण्डिकां पश्येत्यादावित्यर्थः। अत्र चासमासत्वान्नित्यं समास इति न भवति, सामर्थ्याभावाच्च इसुसोः सामर्थ्ये इति च न भवति। प्रत्ययावयवत्वादिदुदुपधस्येत्यपि

के अनन्तर 'पिब' शब्द के रहने पर विसर्ग के स्थान पर 'ष्' की प्राप्ति होने लगेगी। उसके निवारणार्थ 'सामर्थ्य' पद की सार्थकता है। सर्पिः–पदार्थ का अन्वय 'पीना' क्रिया के साथ नहीं है, किन्तु उसका अन्वय (तिष्ठतु) 'रहने दो' के साथ होता है। अतः सामर्थ्याभाव से 'ष्' नहीं हुआ।

(१५६) पद—नित्यं, समासे, अनुत्तरपदस्थस्य। अनुवृत्ति—इसुसोः, विसर्जनीयस्य, कुप्वोः, षः। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उत्तरपद-भिन्न 'इस्' 'उस्' शब्दसम्बन्धी विसर्ग के स्थान में कवर्ग या पवर्ग परे रहते नित्य 'ष्' होता है। सर्पिष्कुण्डिका। 'अनुत्तरपदस्थस्य' क्यों कहा ? परमसर्पिःकुण्डिका। कस्कादिगण में सर्पिष्कुण्डिका शब्द का पाठ व्यपेक्षा के अभाव में समास न होने पर भी षत्व होने के लिये है। तथा व्यपेक्षा में नित्य षत्व होने के लिये है।

विवरण—पहले सूत्र की अपेक्षा इस विधान में थोड़ा अन्तर है। वह अन्तर 'अनुत्तर' पद का निवेश करने से सूचित होता है। दूसरी बात इस विधान का नित्य होना भी है। किसी शब्द की उत्तरपद में स्थिति समास में सम्भव होती है। अतः सामासिक स्थिति में 'इस्' 'उस' शब्दों के उत्तर–पद में रहने की अवस्था के अतिरिक्त 'इस्' 'उस्' शब्दावयव विसर्ग के स्थान पर 'ष्' होता है। उस विसर्ग के पश्चात् कवर्ग पवर्ग का होना भी आवश्यक है। उदाहरण—सर्पिस्+कुण्डिका, <सर्पिर्+कुण्डिका, <सर्पिः+कुण्डिका = सर्पिष्कुण्डिका ('इस्'–सम्बन्धी—: = ष्)। यहाँ पर 'इस्' पद सामासिक होने पर भी पूर्व–पद में स्थित है। विग्रह—सर्पिषः कुण्डिका। अर्थ—घी का बड़ा बर्तन। २–इसी प्रकार 'उस्'पदावयव विसर्ग के स्थान पर 'ष्' का उदाहरण–धनुस्+कपालम्, <धनुर्+कपालम्, <धनुः+कपालम् = धनुष्कपालम्। विग्रह—धनुषः कपालम्। अर्थ—धनुष की डोरी। प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अनुत्तरपदस्थस्य' पद होने के कारण 'परमसर्पिःकुण्डिका' में विसर्ग के स्थान पर 'ष्' नहीं हुआ। यहाँ पर कर्मधारय–समास होने के कारण 'सर्पिस्' शब्द 'परम' शब्द के अनन्तर रहने से उत्तरपद में है। 'सर्पिस्' सम्बन्धी विसर्ग प्रत्यय का अवयव है अतः "इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य" (१५५) सूत्र से नित्य 'ष्' भी नहीं होता। विग्रह—परमं च तत् सर्पिः—परमसर्पिः, तस्य कुण्डिका। अर्थ—बड़ा घी का पात्र।

विशेष—कस्कादिगण में 'सर्पिष्कुण्डिका' शब्द का समावेश किया गया है। उस गण में समावेश करने का यह प्रयोजन है कि समास न होने पर एकार्थीभाव में 'इस्' 'उस्' पदावयव विसर्ग

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य ८ । ३ । ४६ ॥ अकारादुत्तरस्यानव्ययस्य विसर्गस्य समासे नित्यं सकारादेशः स्यात्करोत्यादिषु परेषु, न तूत्तरपदस्थस्य । अयस्कारः । अयस्कामः । अयस्कंसः । अयस्कुम्भः । अयस्पात्रम् । अयस्सहिता कुशा अयस्कुशा । अयस्कर्णी । 'अतः' किम् ? गीःकारः । 'अनव्ययस्य' किम् ? स्वःकामः । 'समासे' किम् ? यशः करोति । 'अनुत्तरपदस्थस्य' किम् ? परमयशःकारः ।

न भवति । अतस्तत्र षत्वप्राप्त्यर्थं कस्कादिषु पाठ इति भावः । व्यपेक्षायामिति । इदं सर्पिष्कुण्डिकाया । इत्यत्रेत्यर्थः । तत्र इसुसोस्सामर्थ्ये इति विकल्पप्राप्तौ नित्यषत्वार्थः कस्कादौ पाठ इति भावः ।

(१६०) अतः कृकमि । अत इति पञ्चमी । 'विसर्जनीयस्य' इति नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य' इति चानुवर्तते । तदाह—अकारादित्यादिना । अयस्कार इति । कुप्वोरिति बाधित्वा

के स्थान पर 'इण्' वर्ण के पश्चाद्वर्ती होने से 'ष्' हो जाता है । अतः 'तिष्ठतु सर्पिः+कुण्डिकामानय' = 'तिष्ठतु सर्पिष्कुण्डिकामानय' इत्यादि प्रयोगों में नित्य षकार की सार्थकता है । यहाँ व्यपेक्षा न होने के कारण "इसुसोः सामर्थ्ये" (१५८) सूत्र से 'ष्' प्राप्त नहीं था । ऐसी स्थिति में 'कस्कादि-गण' में पाठ होने से नित्य 'ष्' होता है । दूसरी उपयोगिता व्यपेक्षा में नित्य 'ष्' होने के सम्बन्ध में है । इसका उदाहरण 'इदं सर्पिः+कुण्डिकायाः' = 'इदं सर्पिष्कुण्डिकायाः' है । यहाँ पर 'सर्पिस्' तथा 'कुण्डिका' दोनों शब्द पृथक् हैं । समासयुक्त नहीं है । 'सर्पिस्' का अन्वय भी 'कुण्डिका' के साथ होता है । ऐसी स्थिति में "इसुसोः सामर्थ्ये" (१५८) सूत्र से विकल्प 'ष्'—विधान प्राप्त होता है । उसके अपवाद स्वरूप नित्य 'ष्' होने के लिए 'कस्कादिगण' में 'सर्पिष्कुण्डिका' शब्द का पाठ सार्थक है ।

(१६०) **पद**—अतः, कृ-कमि-कंस-कुम्भ-पात्र-कुशा-कर्णीषु, अनव्ययस्य । **अनुवृत्ति**—विसर्जनीयस्य, नित्यं, समासे, अनुत्तरपदस्थस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—ह्रस्व अकार के अनन्तर रहने वाले अव्ययशब्द से भिन्न अन्य शब्द सम्बन्धी विसर्ग के स्थान पर समास में नित्य 'स्' होता है, यदि उस विसर्ग के बाद 'कृ' 'कृमि' आदि शब्द रहें तो । अयस्कारः । अयस्कामः । अयस्कंसः । अयस्कुम्भः । अयस्पात्रम् । अयस्कुशा । अयस्कर्णी । 'अतः' क्यों कहा ? गीःकारः । 'अनव्ययस्य' क्यों कहा ? स्वः कामः । 'समासे' क्यों कहा ? यशः करोति । 'अनुत्तरपदस्थस्य' क्यों कहा ? परमयशःकारः ।

विवरण—सूत्र का अर्थ अनुवृत्ति द्वारा लाये गए पदों की सहायता से पूरा होता है । यहाँ पर **स्थानी** 'विसर्ग' है तथा **आदेश**—'स्' है । 'स्' के विधान में 'ह्रस्व' अकार के अनन्तर ('अतः') अव्यय भिन्न किसी शब्द का विसर्ग अपेक्षित है (अनव्ययस्य विसर्गस्य) । वह विसर्ग भी सामासिक स्थिति में होना चाहिये (समासे) । सामासिक स्थिति में होने पर भी 'विसर्ग' का उत्तरपद में होना अपेक्षित नहीं है (अनुत्तरपदस्थस्य) । अनुबन्ध यह भी है कि विसर्ग के पश्चात् √ कृ, तथा √ कम् धातु तथा एवं 'कंस', 'कुम्भ', 'पात्र', 'कुशा' एवं 'कर्णी' शब्द रहें । इनके पश्चाद्वर्ती रहने पर विसर्ग=स् होता है ।

उदाहरण—(१) अयः<कारः = अयस्कारः (: = स्) । विग्रह—अयः करोति (कारः = √ कृ+अण्) । अर्थ—लोहार । (२) अयः+कामः = अयस्कामः (: = स) । विग्रह—अयः कामयते (√ कम्+णिच्+लट्-एक वचन) । अर्थ—लोहे का इच्छुक । (३) अयः+कंसः = अयस्कंसः (: = स्) । विग्रह—अयसः कंसः । अर्थ—लोहे का पात्र । (४) अयः+पात्रम् = अयस्पात्रम् (: = स्) । विग्रह—अयसः पात्रम् । अर्थ—लोहे का बर्तन । (५) अयः+कुशा[1] = अयस्कुशा (: = स्) । विग्रह—अयः सहिता कुशा । लोह सहित गूलर का शंकु ।

---

१. छन्दोगाः स्तोत्रीयगणनार्थानौदुम्बरान् शङ्कून् 'कुशा' इति व्यवहरन्ति । चिन्तामणिः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१६१) **अधश्शिरसी पदे ८ । ३ । ४७ ॥** एतयोर्विसर्गस्य सादेशः स्यात्पदशब्दे परे । अधस्पदम् । शिरस्पदम् । समास इत्येव । अधः पदम् । शिरः पदम् । अनुत्तरपदस्थस्येत्येव । परमशिरः पदम् । कस्कादिषु च । भास्करः ।

॥ इति विसर्गसन्धिप्रकरणम् ॥

सत्वम् । एवमग्रेऽपि—अयस्सहितेति । अयसो विकार इति तु नोक्तम्, जनपदेत्यादिना ङीष्प्रसङ्गात् । अयस्कर्णीति । अय इव कर्णौ यस्या इति विग्रहः । 'नासिकोदरे'ति ङीष् ।

(१६१) अधश्शिरसी । अधश्शिरसी इति षष्ठ्यर्थे प्रथमा । विसर्जनीयस्येति, स इति चानुवर्तते । तदाह—एतयोरिति । कुप्वोरित्यस्यापवादः । अधस्पदमिति । पदस्याधः इति विग्रहः । मयूरव्यंसकादित्वात् समासः । शिरस्पदमिति । शिरसः पदमिति विग्रहः । सौत्रक्रममनुरुध्य पुनराह—कस्कादिषु चेति । भास्कर इति । अत इति तपरकरणादतः कृकमीत्यस्य न प्राप्तिरिति सत्वप्राप्त्यर्थं कस्कादौ भास्करशब्दस्य पाठ इति भावः ॥ इति विसर्गसन्धिः ॥

---

(६) अयः+कुम्भः = अयस्कुम्भः (: = स्) । विग्रह–अयसः कुम्भः । अर्थ—लोहे का घड़ा ।
(७) अयः+कर्णी = अयस्कर्णी (: = स्) । विग्रह—अयसः कर्णी[1] । अर्थ—लोहे का बाण ।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'अतः' पद रहने से ह्रस्व अकार के अतिरिक्त कोई दूसरा वर्ण परे रहने पर विसर्ग के स्थान पर 'स्' नहीं होगा । अतः 'गीःकारः' में 'स्' नहीं हुआ । अर्थ—वाणी का प्रतिपादक । (२) सूत्र में 'अनव्यय' पद होने के कारण अव्ययवाची शब्दावयव विसर्ग के स्थान पर 'स्' नहीं होता । अतः 'स्वःकाम' में–: = 'स्' नहीं हुआ । अर्थ–स्वर्ग का इच्छुक । (३) सूत्र में 'समासे' पद होने के कारण समासातिरिक्त स्थल में विसर्ग को 'स्' नहीं होता । अतः 'यशः करोति' में–:=स् नहीं हुआ । अर्थ—यश करने वाला । (४) सामासिक शब्दों में भी अकार परवर्ती विसर्ग की स्थिति उत्तरपद में अपेक्षित न होने के कारण (अनुत्तरपदस्थस्य) 'परमयशःकारः' में : = स् नहीं हुआ । यहाँ पर कर्मधारय समास होने के कारण 'यशः' शब्द की स्थिति उत्तरपद में है । अर्थ—अधिक यश करने वाला ।

(१६१) पद—अधःशिरसी, पदे । **अनुवृत्ति**—विसर्जनीयस्य, सः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'अधस्' तथा 'शिरस्' शब्दावयव विसर्ग के स्थान में—'पद' शब्द परे रहते—'स्' आदेश होता है । अधस्पदम् । शिरस्पदम् । समास में ही होता है । अधः पदम् । शिरः पदम् । उत्तरपद से भिन्न को ही होता है । परमशिरःपदम् । कस्कादिगण-पठित शब्दों में भी ('इण्' के उत्तरवर्ती विसर्ग के स्थान पर 'ष्' तथा 'इण्' के अनुत्तरवर्ती विसर्ग के स्थान पर 'स्') आदेश होता है । भास्करः ।

विवरण—स्थानी–'विसर्ग' है तथा **आदेश** है–'स्' । समासयुक्त-पद में भी उत्तरपद के अतिरिक्त 'अधस्' तथा 'शिरस्' शब्द–'सबन्धी विसर्ग स्थानी के रूप में अपेक्षित है । विसर्ग के पश्चात् 'पद' शब्द की स्थिति वाञ्छित है । **उदाहरण**—१–अधस्+पदम्, <अधर्+पदम्, <अधः +पदम्=अधस्पदम् (: = स्) अर्थ—नीचे स्थान । २–शिरस्+पदम्, <शिरर् पदम्, <शिरः पदम् = शिरस्पदम् (: = स्) । अर्थ—शिरःस्थान । इस सूत्र में भी पूर्वसूत्र के समान स्थानिवाचक पद समास–युक्त होने चाहियें । अतः समास न करने पर विसर्ग के स्थान पर 'स्' नहीं हुआ—अधः पदम्, शिरः पदम् । इसके साथ ही समासयुक्त 'अधस्' तथा 'शिरस्' शब्द-सम्बन्धी विसर्ग उत्तरपदावयव नहीं होना चाहिये । अतः 'परमशिरःपदम्' में–: = 'स्' नहीं हुआ । यहाँ पर 'शिरस्' शब्द की स्थिति कर्मधारय समास होने के कारण उत्तरपद में है ।

---

१. कर्णी = बाणविशेषः । यथा—
"करोति कर्णिनो यस्तु यस्तु खड्गादिकृन्नरः ।
प्रयान्ति ते विशसने नरके भृशदारुणे" । (विष्णुपुराणम् २-६-१६) ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ स्वादिसन्धिप्रकरणम्

'स्वौजसमौट्०' (सू १८३) इति सुप्रत्यये 'शिवस् अर्च्यः' इति स्थिते । (१६२) **ससजुषो रुः ८।२।६६ ॥** पदान्तस्य सस्य 'सुजुष्' शब्दस्य च रुः स्यात् । जश्त्वापवादः ।

---

(१६२) ससजुषो रुः । ससजुषोः रुः इति छेदः । 'रो रि' रेफलोपः । सश्च सजूश्च ससजुषौ तयोरिति विग्रहः । रुविधौ उकार इत् । तत्फलं त्वनुपदमेव वक्ष्यते । स इति सकारो विवक्षितः । अकार उच्चारणार्थः । पदस्येत्यधिकृतं सकारेण सजुष्शब्देन च विशेष्यते । अतस्तदन्तविधिः । सकारान्तं सजुष्शब्दान्तं च यत् पदं तस्य रुः स्यादिति । स च अलोऽन्त्यस्येत्यन्त्यस्य भवति । ततश्च फलितमाह—पदान्तस्य सस्येति । सजुष्शब्दस्य चेति । सजुष्शब्दान्तं यत् पद तदन्तस्य पकारस्येत्यर्थः । ततश्च सजुषौ सजुष इत्यत्र षकारस्य न रुत्वम्, पदान्तत्वाभावात् । सजुष्शब्दान्तं यत्पदमिति तदन्तविधिना परमसजूरित्यत्र नाव्याप्तिः । न च सजूरित्यत्राव्याप्तिः शङ्क्या, व्यपदेशिवद्भावेन तदन्तत्वात् । 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपादिकेन' इति 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्न' इति च परिभाषाद्वयं प्रत्ययग्रहणे यस्मादितिविषयम्, न तु येन विधिरिति विषयमिति 'असमासे निष्कादिभ्यः' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । ननु शिवस् इति सकारस्य 'झलाञ्जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन दकारः स्यात्, जश्त्वं प्रति रुत्वस्य परत्वेऽपि असिद्धत्वादित्यत आह—जश्त्वा-

---

विशेष—'भास्कर' शब्द की साधुता के लिये 'कस्कादि-गण' में पाठ होने का स्मरण कराया जा रहा है । कारण यह है कि भाः+करः—ऐसी स्थिति में ह्रस्व अकार के अनन्तर विसर्ग न होने के कारण "अतः कृ-कमि-कंस०" (१६०) सूत्र से 'स्' आदेश की प्राप्ति नहीं हो सकती । अतः वहाँ पर 'कस्कादि'—गण में पाठ होने से—: = 'स्' होता है ।

स्मरणीय—विसर्ग-सन्धि के अन्तर्गत विसर्ग के स्थान पर कवर्ग-पवर्ग परे रहते विकल्प से 'ष्' आदेश हुआ है । ऐसे स्थलों पर ग्रन्थकार ने पाक्षिक रूपों का निदर्शन ही किया है । उन स्थलों पर यथाप्राप्त जिह्वामूलीय एवम् उपाध्मानीय की सम्भावना देखकर उनका समावेश भी कर लें ।

विसर्गसन्धिः समाप्त ।

स्वादिसन्धि प्रारम्भ

उपक्रम—'स्वादिसन्धि' नाम रखने का उद्देश्य यह है कि प्रातिपादिक शब्दों से प्रथमादि विभक्तियों के रूप में सुप्-प्रत्यय विहित हैं । उनमें सर्वप्रथम प्रत्यय 'सु' है । अतः उन विभक्तियों के जोड़े जाने पर जो सन्धि-जन्य परिवर्तन होते हैं उन्हें 'स्वादि-सन्धि' के अन्तर्गत रखा गया है ।

"स्वौजसमौट्०" सूत्र से 'सु' प्रत्यय का समावेश कर शिवस्+अर्च्यः ऐसी स्थिति होनेपर—

(१६२) पद—ससजुषोः, रुः । **अनुवृत्ति**—पदस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पदान्त में विद्यमान 'स'कार तथा 'सजुष्' शब्द के स्थान में 'रु' होता है । जश्त्व का अपवाद है ।

सन्दर्भ—सर्वप्रथम 'सु' प्रत्यय को अभिलक्षित कर सन्धि-जन्य परिवर्तन के स्वरूप का निर्वचन किया जा रहा है ।

विवरण—"पदस्य" का अधिकार है । सूत्रस्थ पद 'ससजुषोः' इसका विशेषण है । अतः उसमें तदन्तविधि अपेक्षित है । इस प्रकार पदान्त में विद्यमान 'स्' एवं 'सजुष्' का 'ष्' (सश्च सजूश्च ससजुषौ, तयोः) स्थानी हैं तथा आदेश 'रु' (र्) हैं । तदनुसार सूत्रार्थ होता है—'पदान्त'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१६३) अतो रोरप्लुतादप्लुते ६ । १ । ११३ ॥ अप्लुतादतः परस्य रोः उः स्याद-प्लुतेऽति । 'भोभगोअघो०—' (सू १६७) इति प्राप्तस्य यत्वस्यापवादः । उत्वं प्रति रुत्वस्यासिद्धत्वं तु न भवति, रुत्वमनूद्योत्वविधेः सामर्थ्यात् । **(१६४) प्रथमयोः पूर्व-**

पवाद इति । तथा च रुत्वस्य निरवकाशत्वान्नासिद्धत्वमिति भावः । तदुक्तं भाष्ये 'पूर्वत्रा-सिद्धे नास्ति विप्रतिषेधोऽभावादुत्तरस्य' इति, 'अपवादो वचनाप्रामाण्यात्' इति च । शिवर् अर्च्यः इति स्थिते ।

(१६३) अतो रोः । 'ऋत उ'दित्यतः उदित्यनुवर्तते । अतः इति पञ्चमी । एङः पदान्तादतीत्यत अतीत्यनुवर्तते । तदाह—अप्लुतादित्यादिना । नन्वत्र उत्वं बाधित्वा 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' इति यत्वं परत्वाद् स्यात् । न च यत्वस्यासिद्धत्वाद् उत्वं निर्बाधमिति वाच्यं, कृतेऽपि उत्वे तस्य स्थानिवत्त्वेन रुत्वाद्यत्वस्य दुर्निवारत्वाद् अत आह—यत्वस्यापवाद इति । यद्यपि भो भगो अघो इत्यंशे उत्वं नापवादः, तथाप्यपूर्वस्ये-त्यंशे उत्वमपवादः, प्राप्त एव अपूर्वकस्य रोर्यत्वे अतो रोरित्यस्यारम्भादिति भावः । ननु उत्वं प्रति रोरसिद्धत्वात् कथमुत्वं तस्येत्यत आह—उत्वं प्रतीति । शिव उ अर्च्य इति स्थिते ।

सकार तथा पदान्त 'सुजुष्' के 'ष्' के स्थान पर 'रु' (र्) आदेश होता है । 'रु' में 'उ' की इत्संज्ञा होने पर 'शिवर्+अर्च्यः' स्थिति हुई ।

विशेष—यह सूत्र "झलां जशोऽन्ते" से प्राप्त जश्त्व-विधि का बाधक है । 'रु'-विधान तथा 'जश्त्व'-विधान दोनों ही पदान्त में होने के कारण एकसाथ प्राप्त होते हैं । अतः "येन नाप्राप्त०" न्याय से 'रु' विधान जश्त्व का अपवाद है ।

(१६३) पद—अतः, रोः, अप्लुताद्, अप्लुते । **अनुवृत्ति**—उत्, अति । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—प्लुतभिन्न ह्रस्व अकार के अनन्तर रहने वाले 'रु' के स्थान पर 'उ'कार आदेश होता है यदि 'रु' के पश्चात् भी प्लुतभिन्न ह्रस्व अकार हो तो । "भो–भगो–अघो०" (१६७) सूत्र से प्राप्त 'य्' का अपवाद है । रु–विधि को अभिलक्षित कर 'उ'कार–विधान के सामर्थ्य से 'उ'–विधान के प्रति 'रु' असिद्ध नहीं होता है ।

विवरण—सूत्र में आदेश–वाचक पद नहीं है । वह "ऋत उत्" (६-१-१११) सूत्र से 'उत्' की अनुवृत्ति लाये जाने पर विदित होता है । "एङः पदान्तादति" (६-१-१०९) सूत्र से 'अति' पद की अनुवृत्ति करने पर निमित्त (साहचर्य) का परिज्ञान होता है । इस प्रकार सूत्र का अर्थ यह होता है–"अप्लुत ह्रस्व अकार से परे (अप्लुताद् अतः) 'रु' के स्थान में—अप्लुत अकार (अप्लुते अति) के पश्चाद्वर्ती होने पर—ह्रस्व उकार (उत्) होता है" । **उदाहरण**—शिवर्+अर्च्यः, <शिव उ+अर्च्यः ('र्' के पूर्व एवं पर ह्रस्व अकार होने से 'र्' = उ) ।

विशेष—यह सूत्र यकार–विधायक सूत्र "भो–भगो–अघो०–" (८-३-१७) का बाधक है । इसके बाधक होने में "सत्यपि सम्भवे बाधनं भवति"—यह न्याय नियामक है । यदि अकार के अनन्तर विद्यमान 'रु' के स्थान पर प्रकृत सूत्र से 'उ' नहीं होगा तो वैसी स्थिति में ही "भो–भगो०" सूत्र से 'य्' आदेश की सम्भावना होने लगेगी । ऐसी सम्भावना में 'य्' विधायक शास्त्र को प्रवृत्त होने नहीं दिया जाता । इस प्रकार 'उ' विधायक शास्त्र के बाधक होने पर भी यह शङ्का होती है कि "पूर्वत्रासिद्धम्" द्वारा प्रतिपादित असिद्ध-विधान के नियम से 'उ' विधायक-शास्त्र (६-१-११३) की दृष्टि में 'रु' विधान (८-२-६६) असिद्ध होने के कारण 'रु' के स्थान पर 'उ' की प्राप्ति ही नहीं है । इस स्थिति में बाध्य-बाधकभाव की सम्भावना का प्रश्न ही नहीं उठता । इसका उत्तर यह दिया जाता है कि 'रु' को अभिलक्षित कर ही 'उ'कार विधान किया गया है । इस कारण यहाँ 'रु' विधायकशास्त्र असिद्ध नहीं माना जाता ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सवर्णः ६ । १ । १०२ ॥ अकः प्रथमाद्वितीययोरचि परे पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशः स्यात् । इति प्राप्ते । (१६५) नादिचि ६ । १ । १०४ ॥ अवर्णादिचि परे न पूर्वसवर्णदीर्घः । 'आद्गुणः' (सू ६९) । 'एङः पदान्तादति' (सू ८६) । शिवोऽर्च्यः । 'अतः' इति तपरः किम् ? देवा अत्र । 'अति' इति तपरः किम् ? श्व आगन्ता । 'अप्लुतात्' किम् ? एहि सुस्रोत ३ अत्र स्नाहि । प्लुतस्यासिद्धत्वादतः परोऽयम् । 'अप्लुतात्' इति विशेषणे तु तत्सामर्थ्यान्नासिद्धत्वम् । तपरकरणस्य तु न सामर्थ्यम्, दीर्घनिवृत्त्या चरितार्थत्वात् । 'अप्लुते' इति किम् तिष्ठतु पय अ३ग्निदत्त । 'गुरोरनृत—' (सू ९७) इति प्लुतः ।

---

(१६४) प्रथमयोः । अकः सवर्णे इत्यतः अकः इति, इको यणचीत्यतः अचीत चानुवर्तते । एकः पूर्वपरयोरित्यधिकृतम् । प्रथमयोरित्यवयवषष्ठी । प्रथमाद्वितीये सुब्विभक्ती विवक्षिते । तदाह—अकः प्रथमेत्यादिना । इति प्राप्त इति । शिव उ इत्यत्र अकारस्य च उकारस्य च स्थाने पूर्वसवर्णे आकारे प्राप्त इत्यर्थः ।

(१६५) नादिचि । न आदिति छेदः । आदिति पञ्चमी । पूर्णसवर्ण इत्यनुवर्तते । तदाह—अवर्णादिति । अनेन शिव उ इत्यत्र पूर्वसवर्णदीर्घनिषेधः । आद् गुण इति । शिव उ इति स्थिते आद् गुण इति गुणं बाधित्वा पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते तस्मिन्निषिद्धे सति बाधके निवृत्ते गुणः पुनरुन्मिषति । 'देवदत्तस्य हन्तरि हते देवदत्तस्य न पुनरुन्मज्जनम्' इति न्यायस्तु नात्र प्रवर्तते । देवदत्ते हते सति तद्धन्तुर्हनने देवदत्तस्य न पुनरुन्मेष इति हि तदर्थः । देवदत्तं हन्तुमुद्युक्तस्य हनने तु देवदत्तस्य उन्मेषोऽस्त्येव । प्रकृते च पूर्वसवर्णदीर्घेण गुणो न हतः । किन्तु हनतोद्यमसजातीयं प्रसक्तिमात्रं पूर्वसवर्णदीर्घस्य स्थितम् । प्रसक्ते च तस्मिन्निषिद्धे गुणोन्मेषो निर्बाध एवेति स्वादिष्विति सूत्रे कैयटे स्पष्टम् । 'अपवादे निषिद्धे उत्सर्गस्य स्थितिः' इति न्यायश्च एतन्मूलक एव । 'तौ सत्' 'भिद्योद्धौ नदे' इत्यादिनिर्देशाश्चात्रानुकूला इत्यलम् । एङः पदान्तादतीति । शिवो अर्च्य इति स्थिते ओकारस्य अकारस्य च स्थाने पूर्वरूपम् ओकारः । देवा अत्रेति । देवास् अत्रेति स्थिते, सस्य

---

(१६४) पद—प्रथमयोः, पूर्वसवर्णः । अनुवृत्ति—अकः, अचि । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'अक्' के अनन्तर प्रथमा-द्वितीया-विभक्ति-सम्बन्धी 'अच्'-वर्ण के रहने पर पूर्व-सवर्ण दीर्घ एक-आदेश होता है । इस तरह इसकी प्राप्ति होने पर (अग्रिम सूत्र से निषेध किया जायगा) ।

विवरण—अधिकार—"एकः पूर्वपरयोः" (६८) । सूत्र के अर्थ को पूरा करने में 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६-१-१०१) से 'अकः' तथा "इको यणचि" (६-१-७७) से 'अचि' की अनुवृत्ति आ रही है । स्थानी हैं—'अक्' (अ, इ, उ, ऋ, ऌ)+प्रथमा-द्वितीया विभक्ति-सम्बन्धी 'अच्' वर्ण । आदेश—दोनों वर्णों के स्थान पर एक-वर्ण-स्वरूप 'सवर्ण-दीर्घ' है ।

विशेष—इसके प्राप्ति की सम्भावना अग्रिम सूत्र के उदाहरण में दी गई है ।

(१६५) पद—न, आत, इचि । अनुवृत्ति—पूर्वसवर्णः । विधिसूत्र (निषेध) ।

मूलार्थ—'अवर्ण' से 'इच्'—प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण परे रहते हुए पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता । 'आद्गुणः' (६९) से गुण । "एङ पदान्तादति" (८६) से पूर्वरूप । शिवोऽर्च्यः । 'अतः' पद त-पर सहित क्यों किया ? देवा अत्र । 'अति' पद में त-पर क्यों किया ? श्व आगन्ता । अप्लुतात् क्यों कहा ? एहि सुस्रोत ३ अत्र स्नाहि । प्लुत के असिद्ध होने के कारण यह ह्रस्व अकार से परे है । 'अप्लुतात्'—यह विशेषण मानने पर उसके सामर्थ्य से असिद्ध नहीं होता । दीर्घ निवृत्ति में चरितार्थ हो जाने के कारण 'तपर' उच्चारण प्लुत के असिद्ध न होने का बोध नहीं करा सकता । 'अप्लुते' क्यों कहा ? तिष्ठतु पय अ३ग्निदत्त । "गुरोरनृतः" सूत्र से यहाँ प्लुत हुआ है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रुः। तस्य दीर्घादाकारात् परत्वादतः परत्वाभावादुत्वं न। किन्तु भोभगो इति यत्वे लोपश्शाकल्यस्येति लोपः। श्च आगन्तेति। श्चस् आगन्तेति स्थिते, सस्य रुः, तस्य हश्वाकारपरकत्वाभावादुत्वं न, किन्तु यत्वं लोपश्च। एहीति। सुस्रोतः शब्दः कस्यचित् संज्ञा। सम्बुद्धेर्हल्ङ्यादिलोपः, दूराद् धूते चेति टेः प्लुतः, सस्य रुः। सुस्रोतश्३र् अत्रेति स्थिते प्लुतात् परस्य रोः उत्वनिवृत्तये अप्लुतादिति पदमित्यर्थः। नन्वत्र रोः अतः परत्वाभावादेव उत्वनिवृत्तिसिद्धेरप्लुतादिति व्यर्थमेवेत्यत आह—प्लुतस्यासिद्धत्वादतः परोऽयमिति। उत्वे कर्तव्ये प्लुतस्यासिद्धत्वादतः परोऽयं रुः। अतस्तस्य उत्वे प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थमप्लुतादिति त्वावश्यकमित्यर्थः। नन्वप्लुतादित्युक्तेऽपि रोरुत्वमत्र दुर्वारम्, उत्वे कर्तव्ये प्लुतस्यासिद्धतया अप्लुतात् परत्वस्यापि सत्त्वादित्यत आह—अप्लुतादिति विशेषणे तु तत्सामर्थ्यान्नासिद्धत्वमिति। यदि उत्वे कर्तव्ये प्लुतस्यासिद्धत्वम्, तर्हि अप्लुतादिति विशेषणं व्यर्थमेव स्यात्, दत्तेऽपि विशेषणे प्लुतस्यासिद्धतया अप्लुतात् परत्वस्यापि सत्त्वेन उत्वप्राप्तिदोषतादवस्थ्यात्। अतः अप्लुतादिति विशेषणसामर्थ्यात् प्लुतस्य नासिद्धत्वमिति विज्ञायते इत्यर्थः। नन्वेवमपि अप्लुतादिति व्यर्थम्। प्लुतात् परस्य रोः अत इति तपरकरणादेव उत्वनिवृत्तिसिद्धेः। न च उत्वे कर्तव्ये प्लुतस्यासिद्धत्वादतः परत्वस्यापि सत्त्वादुत्वं स्यादिति वाच्यम्, तपकरणसामर्थ्यादेव प्लुतस्यासिद्धत्वाभावविज्ञानेन अकः परत्वाभावेनैव उत्वनिवृत्तेः सम्भवादित्यत आह—तपरकरणस्य तु न सामर्थ्यमिति। प्लुतस्यासिद्धत्वाभावसाधने इति शेषः। कुत इत्यत आह—दीर्घनिवृत्त्येति। देवा अत्रेत्यादौ दीर्घव्यावृत्त्या लब्धप्रयोजनकत्वादित्यर्थः। येन विना यदनुपपन्नं तत्तस्य गमकम्। यथा दिवा अभुञ्जानस्य पीनत्वं रात्रिभोजनं विना अनुपपद्यमानं रात्रिभोजनस्य गमकम्। प्रकृते प्लुतस्यासिद्धत्वेऽपि अत इति तपरकरणं देवा अत्रेत्यादौ दीर्घव्यावृत्तिरूपं प्रयोजनं लब्ध्वा

विवरण—पूर्व सूत्र से प्राप्त 'पूर्वसवर्ण'-दीर्घ का निषेध किया जारहा है। 'आत्' पञ्चमी विभक्ति है। अतः ह्रस्व अकार से 'इच्' (इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ) परे रहते पूर्वसवर्ण-दीर्घ नहीं होता। उदाहरण—शिव+उ+अर्च्यः इस स्थिति में 'अ' के अनन्तर 'उ' (इच् प्रत्याहारस्थ वर्ण) रहने से प्राप्त पूवसवर्ण दीर्घ का निषेध होकर <शिवो+अर्च्यः (अ+उ=गुण), <शिवोऽर्च्यः—ओ+अ = पररूप हुआ।

प्रत्युदाहरण—१–पूर्वसूत्र में 'अतः' पद रखने से ह्रस्व अकार से परे 'रु' को उकार होता है। उसके न रहनेपर देव—जस् (अस्), <देवास्+अत्र, <देवार्+अत्र, <देवाय्+अत्र, <देवा अत्र। यहाँ पर देवार्+अत्र इस स्थिति में दीर्घ 'आ' के अनन्तर 'र्' को 'उ' प्राप्त होने लगेगा। वह न हो। इस कारण 'अतः' कहा। २–'र्' के पश्चात् भी ह्रस्व अकार अपेक्षित होने के कारण सूत्र में 'अति' पद का सन्निवेश किया गया है। उसके न रहने पर श्वस्+आगन्ता, <श्वर्+आगन्ता, <श्वय्+आगन्ता, <श्व आगन्ता। यहाँ पर 'श्वर्+आगन्ता' इस स्थिति में 'र्' के पश्चात् 'आ' होने पर 'उ' की प्राप्ति होने लगेगी। वह न हो। ३–सूत्र में 'अप्लुतात्' = प्लुत-भिन्न ह्रस्व अकार से परे 'र्' को 'उ' विधान अपेक्षित होने से 'सुस्रोतश्३ अत्र स्नाहि' में प्लुत-विधान असिद्ध होने के कारण 'सुस्रोतस्+सु' (सम्बोधन) में विभक्ति-लोप होने पर "दूरादधूते च" (८-२-८४) से 'अस्' के अकार ('टि') को प्लुत होने के पश्चात् 'सुस्रोतश्३र्' इस अवस्था में 'र्' को 'उ' प्राप्त होगा। 'अप्लुतात्' विशेषण रखने पर उस पद की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए असिद्ध-विधान नहीं माना जाता। तदनन्तर 'र्' के स्थान में 'य्' होकर पुनः उसका लोप होता है—<सुस्रोतश् य्+अत्र स्नाहि = सुस्रोतश् अत्र स्नाहि। केवल 'अतः' के तपर से प्लुत-भिन्न अर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि वह 'तपर' तो दीर्घ की निवृत्ति करने में चरितार्थ हो चुका है। इस हेतु ह्रस्व अकार का 'प्लुतभिन्न' विशेषण प्लुत के असिद्ध होने के कारण प्लुत-युक्त स्थलों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१६६) हशि च ६।१।११४ ॥ अप्लुतादतः परस्य रोः उः स्याद्धशि । शिवो वन्द्यः । रोरित्युकारानुबन्धग्रहणान्नेह । प्रातरत्र । भ्रातर्गच्छ । 'देवास् इह' इति स्थिते रुत्वम् । **(१६७) भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि ८।३।१७ ॥** एतत्पूर्वकस्य रोर्यादेशः स्यादशि

उपपद्यमानं कथं प्लुतस्यासिद्धत्वाभावं गमयितुं शक्नुयादिति भावः । तिष्ठतु पय अश्निं दत्तेति । अत्र पयस् इति स्थिते, सस्य रुः, तस्य प्लुतपरकत्वादुत्वं न । ननु दूराद्धूते चेति वाक्यस्य टेः प्लुतविधानात् कथमिह अग्निदत्तशब्दे आद्यवर्णस्य प्लुत इत्यत आह—गुरोरिति ।

(१६६) हशि च । अतो रोरप्लुतादिति पदत्रयमनुवर्तते । ऋतउदित्यतः उदिति च । तदाह—अप्लुतादित्यादिना । शिवो वन्द्य इति । शिवस् वन्द्य इति स्थिते सस्य रुः । तस्य अत्परकत्वाभावात् पूर्वसूत्रेण उत्वं न प्राप्तमिति वचनमिदम् । ननु प्रातरत्र भ्रातर्गच्छेत्यत्र रेफस्य अतो रोरिति हशि च उत्वं कुतो न स्यादित्यत आह—रोरित्युकारेति । उकारः अनुबन्धः इत् यस्य सः उकारानुबन्धः । तस्यैव उत्वविधौ ग्रहणात् प्रातरत्र भ्रातर्गच्छेत्यत्र रेफस्य उत्वं न भवति । प्रातर् इति हि रेफान्तमव्ययम् । न तत्र रेफः उकारानुबन्धवान् । भ्रातृशब्दात् सम्बुद्धिः सः । 'ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः' इति ऋकारस्य गुणः अकारो रपरः, हल्ङ्यादिना सुलोपः । अत्रापि न रेफः उकारानुबन्धवान् । अत उभयत्रापि रेफस्य उत्वं न भवतीत्यर्थः । अथ देवा इहेति रूपं दर्शयितुमाह—देवास् इह इति स्थिते रुत्विमिति ।

(१६७) भोभगो । रोस्सुपीत्यतो रोरित्यनुवर्तते । भो भगो अघो अ इत्येषां द्वन्द्वः ।

में प्राप्त 'उ' का निवारण करने के लिए आवश्यक है । ४-'र्' के पश्चात् भी 'अप्लुते अति' = प्लुत भिन्न ह्रस्व अकार की स्थिति अपेक्षित होने से 'तिष्ठतु पय अश्निदत्त' में 'पयस्' शब्द के अनन्तर प्लुत 'अ' होने के कारण 'स्' = 'र्' होने पर उस 'र्' = 'उ' की प्राप्ति नहीं होती । 'अ' को "गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम्" (९७) से प्लुत हुआ है ।

(१६६) पद—हशि, च । **अनुवृत्ति**—अतः, रः, अप्लुतात्, उत् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अप्लुत ह्रस्व अकार के पश्चाद्वर्ती 'र्' के अनन्तर 'हश्'-वर्ण रहने पर 'र्' के स्थान में 'उ' होता है । शिवो वन्द्यः । 'रु' में उकार के अनुबन्ध (इत्संज्ञक) रूप में ग्रहण करने से 'प्रातरत्र' तथा 'भ्रातर्गच्छ' में 'उ' नहीं हुआ । देवास्+इह ऐसी स्थिति में 'रु' हुआ ।

सन्दर्भ—अब 'रु' के पश्चात् व्यञ्जन-वर्णों के रहने पर 'उ'-विधान की योजना की जारही है ।

विवरण—सूत्र में **'स्थानी'** तथा **'आदेश'** का बोध अनुवृत्ति द्वारा लाए हुए पदों से होता है । तदनुसार सूत्रार्थ है—"प्लुतभिन्न ह्रस्व अकार के अनन्तर विद्यमान 'र्' के पश्चात् 'हश्'-वर्ण के रहने पर, 'रु' के स्थान पर 'उ' होता है । **उदाहरण**—शिवस्+वन्द्यः, <शिवर्+वन्द्यः (स् = र्), शिव उ+वन्द्यः ('व' = अप्लुत-अकार के अनन्तर 'र्' = उ), <शिवो वन्द्यः (अ+उ = 'ओ'—'गुण') ।

विशेष—१-प्रातर्+अत्र = प्रातरत्र में अप्लुत-अकार-'त' के पश्चात् 'र्' होने के कारण 'उ'-विधान की आशंका नहीं करनी चाहिये । कारण यह है कि 'उ'-विधान में स्थानी का ग्रहण 'रु' के रूप में है न कि केवल 'र्' के रूप में । अतः जहाँ रेफ-विधान 'उ' इत्संज्ञक वर्ण के साथ='रु' के रूप में होगा वहीं 'उ' की प्राप्ति होगी । यहाँ पर अव्ययवाची 'प्रातर्' का अवयव 'र्' है न कि 'रु' को अभिलक्षित कर हुआ है । इसी प्रकार २-'भ्रातर्गच्छ' में भी 'भ्रातृ' शब्द के सम्बोधन में विभक्ति (सु) का लोप होने पर "ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः" (७-४-११०) सूत्र से 'ऋ' को गुण 'अर्' होने के कारण उसका अवयव 'र्' है, न कि 'रु' होने के कारण । अतः 'उ' नहीं होता ।

(१६७) पद—भो-भो-अघो-अपूर्वस्य, यः, अशि । **अनुवृत्ति**—रोः । **विधिसूत्र ।**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परे । असन्धिः सौत्रः । 'लोपश्शाकल्यस्य' (सू ६७) । देवा इह–देवायिह । 'अशि' किम् ? देवास्सन्ति । यद्यपीह यत्वस्यासिद्धत्वाद्विसर्गो लभ्यते तथापि विसर्गस्य स्थानिवद्भावेन रुत्वाद्यत्वं स्यात् । न ह्ययमल्विधिः, रोरिति समुदायरूपाश्रयणात् । भोस्, भगोस्, अघोस् इति सकारान्ता निपाताः । तेषां रोर्यत्वे कृते । (१६८) व्योर्लघुप्रयत्नतरः

एते पूर्वे यस्मादिति बहुव्रीहिः । पूर्वशब्दश्च प्रत्येकं सम्बध्यते—भोपूर्वकस्य भगोपूर्वकस्य अघोपूर्वकस्य अकारपूर्वकस्य च रोरिति । तदाह—एतत्पूर्वकस्येति । अत्र सूत्रे भगो अघो इत्यत्र अघो अपूर्वस्येत्यत्र च एङः पदान्तादतीति पूर्वरूपमाशङ्क्याह—असन्धिरिति । सन्ध्यभावः सूत्रप्रयुक्तः इत्यर्थः । 'कृतलब्ध'—इत्यण् । देवाय् इह इति स्थिते यलोपं स्मारयति—लोपश्शाकल्यस्येति । देवा इहेति यलोपपक्षे रूपम् । तदभावे देवायिहेति । देवास्सन्तीति । देवास् सन्तीति स्थिते सस्य रुः । तस्य अश्परकत्वाभावाद्यत्वं न । किन्तु विसर्गः । विसर्जनीयस्य सः । नन्विह अश्ग्रहणं व्यर्थम् । न च देवार् सन्तीति स्थिते रेफस्य यत्वव्यावृत्त्यर्थं तदिति वाच्यम्, यत्वस्यासिद्धतया विसर्गे सति सत्वे देवास्सन्तीति सिद्धेरिति शङ्कते–यद्यपीति । परिहरति–तथापीति । अस्तु यत्वस्यासिद्धत्वात् रेफस्य विसर्गः । तथापि तस्य स्थानिवद्भावेन रुत्वाद्यत्वं दुर्वारम् । अतः अश्ग्रहणमावश्यकमिति भावः । ननु यत्वविधौ विसर्गस्य स्थानिवद्भावेन कथं रुत्वम् । अनल्विधाविति निषेधात् । विसर्गस्थानिभूतं रेफमाश्रित्य प्रवर्तमानस्य यत्वविधेः स्थान्यलाश्रयत्वादित्यत आह—न ह्यय-मल्विधिरिति । कुत इत्यत आह—रोरिति समुदायरूपाश्रयणादिति । यद्यपि यत्वविधिः विसर्गस्थानिभूतं रेफमाश्रयति तथापि नाल्विधिः । ह्रस्वत्वादिरूपवर्णमात्रवृत्तिधर्मपुरस्कारेण स्थान्यलाश्रयत्वस्य तत्र विवक्षितत्वात् । प्रकृते च यत्वविधिः रुत्वेनैव रेफमाश्रयति न तु रेफत्वेन, तथा सति प्रातरत्रेत्यादावतिव्याप्तेः । रुत्वं च रेफोकारसमुदायधर्मः, न तु रेफ-

---

मूलार्थ—इनके पश्चाद्वर्ती 'रु' के अनन्तर 'अश्'–वर्ण रहने पर 'रु' के स्थान पर 'उ' होता है । सूत्रस्थ शब्दों में सन्धि कार्य की अप्रवृत्ति है । "लोपःशाकल्यस्य" (६७) । देवा इह—देवायिह । 'अशि' क्यों कहा ? देवाः सन्ति । यद्यपि यहाँ पर 'य्' विधान के असिद्ध होने के कारण विसर्ग की स्थिति रहती है तथापि विसर्ग को स्थानिवद्भाव होकर 'र्'—बुद्धि होने से उसके स्थान पर 'य्' होने लगेगा । यह विधान एक वर्ण को मानकर भी नहीं हुआ है, क्योंकि 'रु' समष्टि के रूप में ग्राह्य है । भोस्, भगोस्, अघोस्—ये सकारान्त निपात हैं । इनके 'रु' को 'य्' करने पर (अग्रिम सूत्र से लघूच्चारणवान् 'य्' भी होता है) ।

विवरण—स्थानि–वाचक 'रु' की अनुवृत्ति "रोः सुपि" (८-३-१६) सूत्र से आ रही है । 'रु' का विशेषण 'भो' 'भगो' आदि पद हैं । भो–भगो–अघो–अ–पूर्वस्य में द्वन्द्व समास है—भोश्च, भगोश्च, अघोश्च, अश्च = भोभगोअघोअः । तदनन्तर बहुव्रीहि है—एते पूर्वे यस्मात् तस्य—भो-भगो–अघो–अपूर्वस्य । 'द्वन्द्व' समास के अन्त में रहने वाले 'पूर्व' शब्द का सम्बन्ध प्रत्येक के साथ होता है । भोस्, भगोस्, अघोस्—ये तीनों सकारान्त निपात (अव्यय) हैं । तदनुसार सूत्र का अर्थ होता है—"भोस, भगोस्, अघोस्–शब्दपूर्वक, तथा अवर्ण-पूर्वक 'रु' के स्थान पर 'अश्'—वर्ण (सब स्वर, वर्ग के तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम वर्ण, ह्, य्, व्, र्, ल्) परे रहते—'य्' आदेश होता है" । अवर्ण-पूर्वक 'रु' का उदाहण—देवास्+इह <देवार्+इह (स्=र्), <देवाय्+इह ('इ' =अश्–परे रहते अवर्ण के पश्चात् र्=य्), <देवा इह ('य्' लोप) । "लोपः शाकल्यस्य"–६७ से 'य्'–लोप के अभाव में देवायिह । प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'अश्' ग्रहण न करने पर–देवास्+सन्ति, देवार्+सन्ति, <देवाः सन्ति की रूपसिद्धि में 'र्' होने के पश्चात् उसके स्थान में 'य्' की प्राप्ति होने लगेगी । उसके निवारणार्थ 'अश्' ग्रहण किया है । इस सम्बन्ध में यह शङ्का की जाती है

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाकटायनस्य ८।३।१८ ॥ पदान्तयोर्वकारयकारयोर्लघूच्चारणौ वयौ वा स्तोऽशि परे। यस्योच्चारणे जिह्वाग्रोपाग्रमध्यमूलानां शैथिल्यं जायते स लघूच्चारणः। **(१६९) ओतो**

मात्रवृत्ति। अतो यत्वविधिः विसर्गस्थानिभूतं न रेफं वर्णमात्रवृत्तिधर्मपुरस्कारेणाश्रयतीति नाल्विधिः। अतो यत्वे कर्तव्ये विसर्गस्य स्थानिवद्भावेन रुत्वाद्यत्वं स्यात्। अतः अशीति परनिमित्तमाश्रितमिति भावः। निपाता इति। चादेराकृतिगणत्वादिति भावः। रोर्यत्वे कृते इति। भोभगोअघो इत्यनेनेति शेषः। भोय् अच्युत इति स्थिते लोपश्शाकल्यस्येति न भवति, यकारस्य अपूर्वकत्वाभावात्।

(१६८) व्योर्लघु। व् च य् च व्यौ तयोरिति विग्रहः। पदस्येत्यधिकृतम्। तच्च वकारयकाराभ्यां विशेष्यते। तदन्तविधिः। वान्तस्य यान्तस्य च पदस्येति लभ्यते। अलोऽन्त्यस्येत्यन्त्यस्य भवति। तथा च पदान्तयोर्वयोरिति फलितम्। लघुः प्रयत्नो यस्योच्चारणे स लघुप्रयत्नः। अतिशयितः लघुप्रयत्नः लघुप्रयत्नतरः। अन्यपदार्थस्य च वर्तिपदार्थप्रकर्षापेक्षः प्रकर्षः। लघुतरप्रयत्नक इत्यर्थः। प्रत्येकाभिप्रायमेकवचनम्।

कि 'र्' के स्थान पर 'विसर्ग' तथा 'य्' दोनों आदेशों के एकसाथ प्राप्त होने पर 'र्' के स्थान पर पश्चाद्वर्त्ती-शास्त्र होने के कारण 'य्' आदेश की सम्भावना होगी तथापि "पूर्वत्रासिद्धम्" परिभाषा की उपस्थिति से 'य्'-विधायक-शास्त्र के असिद्ध होने से विसर्ग होने के कारण रूपसिद्धि में कोई बाधा नहीं है। अतः पुनरपि 'अश्' ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस शङ्का के निराकरण में यह युक्ति दी जाती है कि विसर्ग को स्थानिवद्भाव होने से 'रु' बुद्धि होने के कारण उसके स्थान पर भी 'य्' प्राप्त होने लगेगा। 'य्' आदेश में स्थानी 'रु' के 'र्' तथा 'उ'—समुदाय रूप में ग्रहण करने से केवल एक वर्ण को मानकर होने वाले स्थानिवद्भाव के निषेध (अनल्विधौ) का यहाँ प्रसङ्ग नहीं है। अतः 'अश्' ग्रहण करने की आवश्यकता है।

विशेष—सूत्र में 'भगो' शब्दावयव 'ओ' के अनन्तर 'अघो' शब्द के 'अकार' के रहने पर एवं 'अधो' शब्दवयव 'ओ' के अनन्तर 'अपूर्वस्य' पद के 'अ' रहने पर "एङः पदान्तादति" (८६) सूत्र से पूर्वरूप-सन्धि करना आवश्यक था। सूत्रों के प्रयोग भी वैदिक प्रयोगों के समान माने-जाने से सन्धि-कार्य के न होने की कल्पना की जाती है।

(१६८) पद—व्योः, लघुप्रयत्नतरः, शाकटायनस्य। **अनुवृत्ति**—अशि, पदस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पदान्त में विद्यमान 'व्' 'य्' के स्थान में 'अश्' परे रहते विकल्प से क्रमशः लघु-प्रयत्नतर 'व्' 'य्' होते हैं। जिसके उच्चारण में जीभ के अग्र, उपाग्र, मध्य तथा मूल भाग की शिथिलता होती है, उसे लघु-उच्चारण कहते हैं।

विवरण—"पदस्य" का अधिकार है। 'व्' 'य्' का विशेषण होने से तदन्त विधि होने के फलस्वरूप **स्थानी** के रूप में पदान्त 'व्' 'य्' अपेक्षित हैं। आदेश भी 'व्' 'य्' ही हैं किन्तु उनके उच्चारण में विशेषता अपेक्षित है (लघुप्रयत्नतरः)। पूर्वसूत्र से 'अशि' की अनुवृत्ति आ रही है। इस प्रकार सूत्रार्थ होता है—'अश्' (स्वर वर्ण, 'ह्', अन्तःस्थ, पञ्चम, चतुर्थ तथा तृतीय वर्ण) परे रहते पदान्त में स्थित व्, य् के स्थान पर आचार्य शाकटायन के मत में लघुप्रयत्नवान् व् य् होते हैं। अतः विकल्प होता है।

विशेष—(१) वर्ण-समाम्नाय में अन्तःस्थ वर्णों के क्रम में पहले 'य्' होने के कारण 'य्वोः' कहना अधिक युक्तिसंगत रहा। तथापि "लोपो व्योर्वलि" सूत्र से प्राप्त 'य्'-लोप के निवारण करने हेतु यहाँ भी उसी प्रकार 'व्योः' क्रम रख दिया गया है (व् च य् च = व्यौ, तयोः)।

(२) इस 'य्' 'व्' के उच्चारण में विशेषता बतलाई जा रही है। वैसे तो य्, व् का प्रयत्न ईषद्-विवृत है और वह सामान्यतया वर्गीय वर्णों की अपेक्षा उच्चारित होने में सरल है। फिर भी उससे कुछ विचित्र तथा उच्चारण स्थानों का शीघ्र स्पर्श करने के कारण नये रूप में 'लघुप्रयत्नतर'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गार्ग्यस्य ८। ३। २०॥ ओकारात्परस्य पदान्तस्यालघुप्रयत्नस्य यकारस्य नित्यं लोपः स्यात्। गार्ग्यग्रहणं पूजार्थम्। भो अच्युत। लघुप्रयत्नपक्षे भो यच्युत। 'पदान्तस्य' किम्?

आन्तर्यात् यस्य यः, वस्य वः। अशीत्यनुवर्तते। शाकटायनमुनिग्रहणाद्विकल्पः। तदाह—पदान्तयोरित्यादिना। उच्चारणप्रयत्ने लघुतरत्वं विशदयति—यस्येति। ततश्च भोय्-अच्युतेत्यत्र यकारस्य पाक्षिको लघुप्रयत्नो यकारः। वकारोदाहरणं तु 'असावादित्य इति वृत्तिः' इति शब्देन्दुशेखरे।

(१६६) ओतो गार्ग्यस्य। ओत इति पञ्चमी। व्योरित्यतो यग्रहणमनुवर्तते न तु वकारोऽपि, ओतः परस्य तस्यासम्भवात्। पदस्येत्यधिकृतं यकारेण विशेष्यते। तदन्तविधिः। ओकारात् परो यः यकारस्तदन्तस्य पदस्येति लभ्यते। अलोऽन्त्यपरिभाषया पदान्तस्य यकारस्येति फलितम्। भोभगो इत्यतः अशीत्यनुवर्तते। लोपशाकल्यस्येत्यतो लोप इत्यनुवर्तते। स च पूर्वविहितलघुप्रयत्नस्य न भवति, विधानसामर्थ्यात्। तदाह—ओकारादित्यादिना। ननु लोपस्य कथं नित्यत्वम्। गार्ग्यग्रहणादित्यत आह—गार्ग्यग्रहणं पूजार्थमिति। व्याख्यानादिति भावः। भो अच्युतेति। अलघुप्रयत्नपक्षे यकारस्य नित्यं लोपः। लघुप्रयत्नपक्षे भोयच्युतेति। अत्र लघुप्रयत्नस्य विधिसामर्थ्यान्न लोपः। तोयमिति। अत्र यकारस्य पदान्तत्वाभावादोतो गार्ग्यस्येति न भवति। अनेन अत्र भोभगो इति नानुवर्तते इति सूचितम्।

नाम को सार्थक करता है[1]। इस प्रकार विशेष उच्चारण करने में केवल चौथाई मात्रा का काल अपेक्षित रहता है। इस तरह इन य् व् के उच्चारण करने में जीभ के अग्र, उपाग्र, मध्य एवं मूलभाग में कुछ शिथिलता होती है। इसका कारण उच्चारण करने में शीघ्रता होना है। इस मत के उद्भावक आचार्य शाकटायन हैं।

(१६६) पद—ओतः, गार्ग्यस्य। अनुवृत्ति—व्योः, लोपः, अशि। विधिसूत्र।

मूलार्थ—ओकार के पश्चाद्वर्ती रहते हुए पदान्त में विद्यमान अलघु-प्रयत्नवान् य्, व् का 'अश्' परे रहते नित्य लोप होता है। यहाँ 'गार्ग्य' ग्रहण सम्मानार्थक है। भो अच्युत। लघु प्रयत्न में—भोय्-अच्युत। 'पदान्तस्य' क्यों कहा? तोयम्।

सन्दर्भ—पूर्व सूत्र में शाकटायन के मत में य्, व् वर्णों के विशेष उच्चारण द्वारा उनकी विद्यमानता पर बल दिया गया है। अब उनके अतिरिक्त अन्य आचार्यों के मत में य्, व् के नित्य-लोप का विधान किया जा रहा है।

विवरण—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिये अनुवृत्ति द्वारा लाये गये पद सहायक हैं। पाणिनि के अष्टाध्यायी-क्रम में इस सूत्र के पूर्व "लोपः शाकल्यस्य" (८-३-१९) है। अतः वहाँ से 'लोपः' की अनुवृत्ति आती है। प्रकरण-वश 'व्' तथा 'य्' के लोप का विधान इस सूत्र का उद्देश्य है। ये दोनों वर्ण 'व्' तथा 'य्' पद के अन्त में अपेक्षित हैं और इनके पूर्व ओकार की स्थिति का होना आवश्यक है तथा 'य्' 'व्' के अनन्तर 'अण्'—प्रत्याहारस्थ वर्णों का रहना भी आवश्यक है।

उदाहरण—१-भोस्+अच्युत, <भो र्+अच्युत (स्=र्), <भो य्+अच्युत (र्=य्), <भो अच्युत (ओकार के अनन्तर पदान्त में विद्यमान 'य्' का लोप। उस 'य्' का पश्चाद्वर्ती 'अ'—'अश्' प्रत्याहारान्तर्गत है)। २-शाकटायन के मत में लघुप्रयत्नवान् 'य्' की स्थिति रहने पर भोय्-अच्युत। अर्थ—हे अच्युत। प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'य्' 'व्' का पदान्त में रहना आवश्यक होने से 'तोयम्' में 'य्' का लोप नहीं हुआ। यह 'य्' पदके अन्त में नहीं है। अर्थ—जल।

---

१. लघुः प्रयत्नः यस्योच्चारणे स लघुप्रयत्नः। अतिशयितः लघुप्रयत्नः लघुप्रयत्नतरः। प्रयत्ने लघुतरत्वं चैषां शैथिल्यजनकत्वमेव। ल. श. शे.।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तोयम् । (१७०) उञि च पदे ८।३।२१॥ अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्लोप उञि परे। स उ एकाग्निः । 'पदे' किम् ? तन्त्रयुतम् । वेञः सम्प्रसारणे रूपम् । यदि तु प्रतिपदोक्तो निपात उञिति ग्रहीष्यते, तर्हयुत्तरार्थं पदग्रहणम् । (१७१) हलि सर्वेषाम् ८।३।२२॥

---

(१७०) उञि च पदे । अपूर्वस्येति, पदस्येति, व्योरिति, लोप इति चानुवर्तते । तदाह—अवर्णेति । स उ एकाग्निरिति । उ इति निपातः । सस् उ इति स्थिते, सस्य रुः, भोभगो इत्यपूर्वत्वात् यत्वम् । लोपश्शाकल्यस्येति विकल्पनिवृत्त्यर्थमिदम् । वकारोदाहरणं तु 'असा उ एकाग्नि'रिति वृत्तिः । पदे किमिति । उञः पदत्वाव्यभिचारात् पदे इति तद्विशेषणस्य किं प्रयोजनमिति प्रश्नः । तन्त्रयुतमिति । तन्त्रे उतमिति विग्रहः । अयादेशः । अत्र यकारस्य लोपनिवृत्त्यर्थं पदग्रहणमिति भावः । नन्वत्र उञ्-परकत्वाभावादेव लोपनिवृत्तिसम्भवात् पदग्रहणं व्यर्थमेवेत्यत आह—वेञ इति । 'वेञ् तन्तुसन्ताने' इत्यतः क्तप्रत्यये, 'वचिस्वपियजादीनाम्' इति वकारस्य सम्प्रसारणे उकारे, पूर्वरूपे, उतमिति रूपम् । अत्र उञ्परकत्वेऽपि तस्य उञः पदत्वाभावात्तस्मिन् परे यस्य लोपो न भवतीत्यर्थः । ननु स उ एकाग्निरित्यत्र उञ् प्रतिपदोक्तः, चादौ पठितत्वात् । उतमित्यत्र तु उञ् लाक्षणिकः, सम्प्रसारणादिविधिनिष्पन्नत्वात् । ततश्च 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्' इति परिभाषया चादिपठितस्यैव उञोऽत्र ग्रहणं भविष्यति । न तु उतमित्यत्र उञोऽपि । अतः पदग्रहणं व्यर्थमेवेत्यत आह—यदीति । उत्तरार्थमिति । ङमो ह्रस्वादचीत्यर्थमित्यर्थः । एतच्चात्रैव भाष्ये स्पष्टम् ।

विशेष—प्रकृत सूत्र से 'य्' 'व्' के लोप का विधान नित्य माना गया है । अतः 'गार्ग्य' पद विकल्पार्थक का बोधक नहीं है । अन्य आचार्यों के साथ इस विषय में गार्ग्य की भी सम्मति होने के कारण उन्हें सम्मान दिया गया है ।

(१७०) पद—उञि, च, पदे । **अनुवृत्ति**—अपूर्वस्य, पदस्य, व्योः, लोपः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अवर्ण के पश्चाद्वर्ती एवं पदान्त में 'य्' 'व्' का लोप होता है यदि इन वर्णों के अनन्तर 'ञ्'—इत्संज्ञक 'उ' की विद्यमानता रहे तो । स उ एकाग्निः । पदे क्यों कहा ? तन्त्रयुतम् । वेञ् धातु का सम्प्रसारण होने पर रूप है । यदि प्रतिपदोक्त उञ् "निपात" लिया जाय तो आगे के सूत्रों के लिये 'पद' ग्रहण समझा जाय ।

विवरण—प्रकरण 'य्' 'व्'—वर्णों के लोप का ही है । लोप के निमित्त में भिन्नता है । इस सूत्र के द्वारा 'उञ्' (उ) अव्यय के पश्चाद्वर्ती 'य्' 'व्' के लोप का विधान किया जा रहा है । 'य्' 'व्' वर्णों का पद के अन्त में होना अपेक्षित है । तथा इन वर्णों के पूर्व अकार की स्थिति का होना भी आवश्यक है ।

उदाहरण—सस्+उ+एकाग्निः, <स र्+उ+एकाग्निः, <स य्+उ एकाग्निः, <स उ एकाग्निः ('उ' (उञ्) परे रहते 'य्' का लोप) । अर्थ—वही एक अग्नि । **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में 'पद' ग्रहण करने पर 'तन्त्रयुतम्' में 'य्' का लोप नहीं होता । स्थिति इस प्रकार समझी जाय—√ वेञ् (वे) क्त, <वे+त, <उ ए+त (सम्प्रसारण—व्=उ), <उ+त (पूर्वरूप), <उत+सु (अम्), <उतम् (विभक्ति कार्य)—यहाँ पर 'वेञ्' धातु को सम्प्रसारण होने से उकार हुआ है किन्तु पदसंज्ञक नहीं है । अतः—तन्त्रे+उतम्, <तन्त्रय्+उतम्, <तन्त्रयुतम् (ए=अय्)—में 'य्' का लोप नहीं हुआ । 'वेञ्' में 'ञ्' की इत्संज्ञा है । सम्प्रसारण होने से 'उ' हुआ । अतः 'उञ्' समझा गया ।

विशेष—यदि सूत्र में 'उञ्' पद से प्रतिपदोक्त अव्ययवाची शब्द ग्रहण किया जाय तो 'तन्त्रयुतम्' में कोई दोष नहीं है । कारण यह है कि यहाँ पर तो 'उ'कार 'वेञ्' धातु से निष्पन्न हुआ है । ऐसी स्थिति में 'पदे' ग्रहण की उपयोगिता अग्रिम सूत्र "ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्" में अनुवृत्ति ले जाने के लिये समझी जाय ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भोभगोअघोअपूर्वस्य लघ्वलघूच्चारणस्य यकारस्य लोपः स्याद्धलि सर्वेषां मतेन। भो देवाः। भो लक्ष्मि। भो विद्वद्वृन्द। भगो नमस्ते। अघो याहि। देवा नम्याः। देवा

(१७१) हलि सर्वेषाम्। भोभगोअघोअपूर्वस्येत्यनुवर्तते। व्योर्लघुप्रयत्नेत्यतः यकार-ग्रहणमनुवर्तते। तदाह—भोभगो इत्यादिना। लघ्वलघूच्चारणस्येति। ओकारात् परस्य यस्य लघुप्रयत्नतरस्यैवानेन लोपः। अलघुप्रयत्नतरस्य त्वोकारात् परस्य यस्य ओतो गार्ग्य-स्येत्येव सिद्धम्। अपूर्वकस्य तु यस्य लघ्वलघूच्चारणस्येति विवेकः। यकारस्येति। वकार-स्वत्र नानुवर्तते। भोभगोअघोअपूर्वस्य वकारस्याभावादिति वृत्तिः। 'अव्यपर' इति निर्देशादिति तदाशयः। वृक्षं वातीति वृक्षवाः, तमाचष्टे वृक्षव्, ण्यन्तात् क्विप्, इष्ठवद्भावाट्टिलोपः, णेरनिटीति णिलोपः, वृक्षव् करोतीत्यत्र अपूर्वकस्य वस्य सम्भवेऽपि नात्र लोपप्रसक्तिः, अशीत्यनुवर्त्य अशात्मके हलीति भाष्ये व्याख्यातत्वात्। वृक्षव् हसतीति तु अस्मादेव भाष्यादसाधुरित्याहुः। सर्वेषां मतेनेति। सर्वाचार्यसम्मतत्वादयं लोपो नित्य इति फलितम्। अत्र यदि 'विभाषा भवद्भगवदघवतामोच्चावस्य' इति वार्तिकेन 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ' इत्यत्र पठितेन एषामन्तस्य सम्बुद्धौ रुत्वं वा स्यात्, अव इत्यं-शस्य ओकारश्चेत्यर्थकेन निष्पन्नाः भोरादिशब्दा एव गृह्येरन्, तर्हि पुंल्लिङ्गैकवचनमात्रे भो हरे इत्यादिसिद्धावपि तदन्यत्र द्विवचनादौ स्त्रीनपुंसकयोश्च भो हरिहरौ, भो देवाः, भो लक्ष्मि, भो विद्वद्वृन्द इत्यादौ लोपो न सिध्येत्। अतः भोस् इत्यादिनिपातानाम्

(१७१) पद—हलि, सर्वेषाम्। अनुवृत्ति—भो, भगो, अघो, अपूर्वस्य, यस्य, लोपः। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'हल्' के पश्चाद्वर्ती होने पर भो, भगो, अघो एवम् अवर्णपूर्वक लघुप्रयत्नवान् एवम् अलघु-प्रयत्नवान् 'य्' का लोप सब आचार्यों के मत में होता है।

विवरण—सूत्र के स्पष्टीकरण में पूर्व सूत्रों की अनुवृत्ति अपेक्षित है। 'पदस्य' का अधिकार है। पदस्य का विशेषण होने के कारण 'यस्य' में तदन्त विधि होती है। वह 'य्' भो, भगो, अघो या अवर्ण पूर्वक होना चाहिये। ऐसी स्थिति में उस पदान्त 'य्' के अनन्तर कोई व्यञ्जन अवश्य विद्यमान रहे। यह लोप शाकटायन को भी मान्य है। 'सर्वेषाम्' पद से सर्वसम्मति सूचित की जारही है।[1] उदाहरण—१-भोस् देवाः, <भोर्+देवाः (स् = र्), <भो य् देवाः, (र् = य्) भो देवाः (य्-लोप)। अर्थ—हे देवगण। इसी प्रकार २-भो लक्ष्मि। इसी तरह ३-भो विद्वद्वृन्द। ४-भगोस्+नमस्ते, <भगोर्+नमस्ते, <भगोय्+नमस्ते, <भगो नमस्ते। अर्थ—तुम्हें प्रणाम। ५-अघोस्+याहि, <अघोर्+याहि, <अघोय्+याहि, <अघो याहि। अर्थ—हे पापी! तू जा। ६-देव+जस् (अस्)+नम्याः, <देवास्+नम्याः (दीर्घ), देवार्+नम्याः, <देवाय्+नम्याः, <देवा नम्याः (अकार-पूर्वक 'य्' का लोप)। अर्थ—देवता पूज्य हैं। ७-इसी प्रकार देवा यान्ति भी अकार-पूर्वक 'य्' लोप का उदाहरण है। अर्थ—देवगण जाते हैं।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'हलि' पद रखने पर 'य्' के अनन्तर व्यञ्जन-वर्ण का रहना अपेक्षित है। अतः देवाय्+इह = 'देवायिह' में नित्य 'य्' लोप नहीं हुआ। पक्ष में "लोपः शाकल्यस्य" (६७) से वैकल्पिक 'य्' लोप होने पर—'देवा इह'। यहाँ पर 'य्' लोप असिद्ध होने से गुण सन्धि नहीं हुई।

विशेष—१-इस सूत्र में 'व' की अनुवृत्ति नहीं लाई जाती है। केवल 'य्' की ही अनुवृत्ति आती है। अन्यथा 'अव्यपरे' आदि निर्देश असंगत हो जाते।

२—इस सूत्र से भो, भगो, अघो इत्यादि अव्यय-सम्बन्धी ओकार के अनन्तर लघु-उच्चारण-

१. सर्वेषां ग्रहणं शाकटायनस्यापि लोपो यथा स्यात्, लघुप्रयत्नतरो मा भूदिति। काशिका।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यान्ति । 'हलि' किम् ? देवायिह—देवा इह । (१७२) रोऽसुपि ८ । २ । ६९ ॥ अह्नो रेफादेशः स्यान्न तु सुपि । रोरपवादः । अहरहः । अहर्गणः । 'असुपि' किम् ? अहोभ्याम् । अत्र 'अहन्' (सू० ४४३) इति रुत्वम् । 'रूपरात्रिरथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम्' (वा ४७४८) । अहोरूपम् । गतमहो रात्रिरेषा । एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्—अहोरात्रः । अहोरथन्तरम् । 'अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः' (वा ४८५१) । विसर्गापवादः । अहर्पतिः । गीर्पतिः ।

मप्यत्र ग्रहणमित्यभिप्रेत्योदाहरति—भो देवा इत्यादि । देवा नस्या इति । न चात्र यकारस्य लोपो व्योरित्येव लोपः सिद्ध इति वाच्यम्, लोपो व्योरिति लोपं प्रति यत्वस्यासिद्धत्वात् ।

(१७२) रोऽसुपि । रः असुपीति छेदः । 'अहन्' इति सूत्रमनुवर्तते तच्च लुप्तषष्ठीकं पदम् । तदाह—अह्न इत्यादि । न तु सुपीति । पर्युदासाश्रयणे तु नञिव युक्तन्यायेन सुब्भिन्ने प्रत्यये परे इत्यर्थः स्यात् । ततश्च अहर्वानित्यादावेव स्यात्, न त्वहर्भातीत्यादावपि । अतः प्रसज्यप्रतिषेध आश्रितः । ननु अहन् इत्यस्य रुः स्यात् पदान्ते इत्यर्थकेन अहन्निति सूत्रेणैव सिद्धत्वात् किमर्थमिदमित्यत आह—रोरपवाद इति । अहरहरिति । नित्यवीप्सयोरिति द्विर्वचनम् । अहन् अहन् इति स्थिते रुत्वम् । 'न लुमता' इति निषेधात् सुप्परकत्वाभावः । अहन्निति रुत्वे तु अतो रोरप्लुतादित्युत्वं स्यात् । अहर्गण इति । अह्नां गण इति विग्रहः । अहन्निति रुत्वे तु हशि चेत्युत्वं स्यात् । अहोभ्यामिति । अहन् भ्याम् इति स्थिते नकारस्य सुप्परकत्वान्न रेफः । अत्रेति । अहन्निति रुत्वे हशि चेत्युत्वे आद्गुणः ।

रूपरात्रि । अहन्शब्दस्येति शेषः । रोऽसुपीति रत्वस्यापवादः । अहो रूपमिति । अह्नो रूपमिति विग्रहः । अहन् रूपमिति स्थिते नकारस्य रुत्वम्, उत्वम्, आद्गुणः । रत्वे तु

वान् 'य्' का लोप होता है । लघु-उच्चारण भिन्न प्रयत्नवान् (स्वाभाविक ईषद्विवृतप्रयत्नवान्) 'य्' का नित्य लोप "ओतो गार्ग्यस्य" (१६९) सूत्र का विषय है ।

३—'अ' वर्ण-पूर्वक लघुप्रयत्न तथा अलघुप्रयत्न—दोनों प्रकार के प्रयत्नों द्वारा उच्चरित 'य्' का लोप इसी सूत्र से होता है ।

(१७२) पद—रः, असुपि । अनुवृत्ति—अहन् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—अहन् शब्द को रेफ ('र्') आदेश होता है, किन्तु 'सुप्' परे रहते नहीं होता । 'रु' का अपवाद है । अहरहः । अहर्गणः । असुपि क्यों कहा ? अहोभ्याम् । यहाँ "अहन्" सूत्र से 'रु' हुआ है । वा० रूप, रात्रि, रथन्तर शब्दों के पश्चाद्वर्ती रहने पर 'अहन्' शब्द को 'रु' होता है । अहोरूपम् । गतमहो रात्रिरेषा । किसी अवयव विशेष से विकारयुक्त को अपने ही समान माने जाने से-अहोरात्रः । अहोरथन्तरम् । वा० अहन् आदि शब्दों के अनन्तर पति आदि शब्दों के रहने पर विकल्प से रेफ ('र्') होता है । विसर्ग का अपवाद है । अहर्पतिः । गीर्पतिः । धूर्पतिः । पक्ष में विसर्ग एवम् उपध्मानीय (होते हैं) ।

विवरण—सूत्र में **स्थानी** का निर्देश नहीं किया गया है । वह अनुवृत्ति से जाना जाता है । अतः "अहन्" (८-२-६८) सूत्र से 'अहन्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार "अलोन्त्यस्य" परिभाषा के आश्रय से 'अहन्' शब्द के अन्तिम वर्ण 'न्' के स्थान पर 'र्' आदेश होता है । किन्तु 'सुप्' अर्थात् विभक्तिवाचक प्रत्ययों के पश्चाद्वर्ती होनेपर 'र्' आदेश नहीं होता । **उदाहरण**—१-अहन् सु० +अहन् सु० <अहर्+अहर् (प्रकृत सूत्र से न्=र्), <अहरहः[1] (अन्तिम 'र्'=:) । अर्थ—

---

१. नित्यवीप्सयोः० इति (८-१-४) द्वित्वम् । "न लुमताङ्गस्य" (१-१-६२) इति निषेधात् सुप्परत्वाभावः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हशि चेत्युत्वं न स्यात्। गतमहो रात्रिरेषेति। अहन् रात्रिरिति स्थिते, रुत्वम्, उत्वम्, आद्गुणः। रुत्वे तु उत्वं न स्यात्। ननु अहश्च रात्रिश्चेति द्वन्द्वे, अहस्सर्वैकदेशेत्यादिना समासान्ते अचि, यस्येति चेति लोपे, अहन् रात्र इति स्थिते, नकारस्य रुत्वे उत्वे आद्गुणे, 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इति पुंस्त्वे, अहोरात्र इति रूपम्। अत्र नकारस्य रात्रिशब्दपरकत्वाभावात् कथं रुत्वम्। ततश्च रोऽसुपीति रत्वे उत्वं न स्यादित्यत आह—एकदेशेति। अहोरथन्तरमिति। अहश्च रथन्तरं चेति द्वन्द्वः। रथन्तरं सामविशेषः। अहरादीनाम्। ननु अहरादीनामिति रेफविशिष्टस्य उपादानात् रेफस्य रेफविधानं व्यर्थमित्यत आह—विसर्गापवाद इति। अहर्पतिरिति। अह्नां पतिरिति विग्रहः। गीर्पतिरिति। गिरां पतिरिति विग्रहः। धूर्पतिरिति। धुरां पतिरिति विग्रहः। उभयत्रापि 'वोरुपधाया' इति दीर्घः। पक्ष इति। रत्वाभावपक्षे विसर्गस्य कुप्वोरिति उपध्मानीयविसर्गौ। इदुदुपधस्येति तु तपरकरणान्न।

दिनों दिन। २–अहन्+गणः, <अहर्+गणः (न्=र्), <अहर्गणः। विग्रह—अह्नां गणः। अर्थ—दिनों का समूह। **प्रत्युदाहरण**—अहन्+भ्याम् में 'न्' के अनन्तर 'सुप्' (भ्याम्) रहने के कारण 'र्' नहीं हुआ। अतः "अहन्" (८-२-६८) सूत्र से 'रु' (र्), <अहर्+भ्याम्, <अह उ+भ्याम् (र्=उ—"हशि च"—१६६), <अहोभ्याम् (गुण)।

(वा०) १–**पद**—रूपरात्रिरथन्तरेषु, रुत्वं, वाच्यम्। **रु—विधि। अर्थ**—इस वार्तिक द्वारा 'अहन्' के अनन्तर 'रूप' 'रात्रि' तथा 'रथन्तर' शब्दों के रहनेपर 'रु' आदेश होता है। 'रु' आदेश होने का यह फल होता है कि वह 'उ' में परिवर्तित हो जाता है ("हशि च"—१६६)। तदनुसार **उदाहरण**—१–अहन्+रूपम्, <अहर्+रूपम् (न्='रु'–र्), <अह उ+रूपम् (रु=उ), <अहो रूपम् (गुण–सन्धि)। विग्रह–अह्नः रूपम्। अर्थ—दिन का रूप। २–(गतम्) अहन्+रात्रिः (एषा), अहर्+रात्रिः, <अह उ+रात्रिः, <अहो रात्रिः—गतमहो रात्रिरेषा। अर्थ–दिन गया और रात आई। ३–अहन्+रथन्तरम्, <अहर्+रथन्तरम्, <अह उ+रथन्तरम् <अहोरथन्तरम् (साम)। विग्रह—अहश्च रथन्तरं च, तयोः समाहारः—अहोरथन्तरम्। अर्थ—सामविशेष[1]। समासान्त में 'अच्' प्रत्यय होने के कारण 'अहोरात्रः' में 'रात्रि' शब्द का परिवर्तित रूप 'रात्र' होने पर भी इस वार्तिक से 'न्' के स्थान पर 'रु' हो गया है। यह व्यवहारसिद्ध है कि किसी के अङ्गविशेष में न्यूनता अथवा अधिकता रहने पर उसकी मूलावस्था भिन्न नहीं मानी जाती–'एकदेशविकृतमनन्यवत्'। विग्रह–अहश्च रात्रिश्च। रूपसिद्धि–अहन्+रात्रि+अच्, <अहोरात्रि (द्वन्द्व समास)+अच्, <अहोरात्र्+अ (इ—लोप)। <अहोरात्र+सु=अहोरात्रः। अर्थ—रातदिन।

विशेष—१–यह सूत्र "अहन्" (८-६८) का अपवाद है। २–प्रकृत सूत्र से 'र्' विधान होने के कारण "अतो रोरप्लुतादप्लुतेऽति" (१६३) सूत्र से अथवा 'हशि च' (१६६) सूत्र से 'र्' के स्थान पर 'उ' नहीं होता। उक्त दोनों सूत्रों में प्रतिपदोक्त 'रु' के रूप में स्थानी का ग्रहण होता है।

वा० २—**पद**—अहरादीनां, पत्यादिषु, वा, रेफः। **विधि** (विकल्प)। **अर्थ**—पत्यादि शब्दों के पश्चाद्वर्ती रहने पर 'अहर्' आदि शब्दों के अन्तिम वर्ण को विकल्प से रेफ ('र्') आदेश होता है। यह विधान विसर्ग का बाधक है। **उदाहरण**—१–अहन्+पतिः, <अहर्+पतिः ("अहन्" ८-२-६८ से न्=रु), <अहर्+पतिः = अहर्पतिः (प्रकृत वार्तिक से र्=र्)। विग्रह—अह्नां पतिः। अर्थ—सूर्य। २–गीर्+पतिः, <गीर्पतिः = गीर्पतिः (र्=र्)। विग्रह—गिरां पतिः। अर्थ—बृहस्पति। ३–धूर्+पतिः <धूर्+पतिः = धूर्पतिः (र्=र्)। अर्थ—भारवाहकों में श्रेष्ठ।

---

१. सामभेदे रथन्तरमिति क्लीवान्तः शब्दो दृश्यते। यथा ऋग्वेदे—
"जगता विन्धुं दिव्स्तभायद्रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत्"। ऋ. १।१६४।१२५।
रथन्तरे = एतन्नामके साम्नि—इति तद्भाष्ये सायणः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घूर्पतिः। पक्षे विसर्गोपध्मानीयौ। (१७३) **रो रि ८। ३। १४॥** रेफस्य रेफे परे लोपः स्यात्। (१७४) **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ७। ३। १११॥** ढरेफौ लोपयतीति तथा, तस्मिन् वर्णेऽर्थाद् ढकारे रेफात्मके परे पूर्वस्याणो दीर्घः स्यात्। पुना रमते। हरी रम्यः। शम्भू राजते। 'अणः' किम्? तृढः। वृढः। 'तृहू हिंसायाम्। वृहू उद्यमने'। पूर्वग्रहणमनुत्तरपदेऽपि पूर्वमात्रस्यैव दीर्घार्थम्। अजर्घाः। लीढः। 'मनस् रथः' इत्यत्र रुत्वे कृते 'हशि च' (सू १६६) इत्युत्वे 'रो रि' (सू १७३) इति रेफलोपे च प्राप्ते।

---

(१७३) रो रि। रः इति षष्ठी। 'ढो ढे' 'लोप' इत्यतो 'लोप' इत्यनुवर्तते। तदाह—रेफस्येति। पुनर् रमते इति स्थिते प्रथमरेफस्य लोपः।

(१७४) ढ्रलोपे। ढ् च रेफश्च ढ्रौ, तौ लोपयतीति ढ्रलोपः। ण्यन्तात्कर्मण्युपपदे अण्। उपपदसमासः। ढलोपनिमित्तं रेफलोपनिमित्तं च विवक्षितम्। तच्च ढकाररेफात्मकमेव—ढो ढे लोपः, रो रीति। तयोरेव ढ्रलोपनिमित्तत्वात्। तथा च ढलोपनिमित्ते ढकारे, रेफलोपनिमित्ते रेफे च परतः पूर्वस्याणो दीर्घ इति फलति। तदाह—ढरेफावित्यादिना। ढलोपे रेफलोपे च पूर्वस्याणो दीर्घ इति तु न व्याख्यातम्। तथा सति चयनीयमित्यनीयर् प्रत्ययान्ते तस्य लोप इति रेफलोपे यकारादकारस्य, चकार चचारेत्यादौ अभ्यासे अकारस्य च हलादिशेषेण रेफलोपे दीर्घापत्तेः। पुना रमत इति। पुनर् रमत इति स्थिते, रो रीति रेफलोपः। तन्निमित्ते रेफे परे नकारादकारस्य दीर्घः। हरी रम्य इति। हरिस् रम्य इति स्थिते रुत्वे रेफलोपे अनेन दीर्घः। शम्भू राजत इति। शम्भुस् राजत इति स्थिते, रुत्वे, रेफलोपे अनेन दीर्घः। त्रयाणामुदाहरणात् पूर्वेणैव णकारेणात्राण् गृह्यत इति सूचितम्। तृढः, वृढ इति। अत्र ऋकारस्य दीर्घनिवृत्त्यर्थमण्ग्रहणम्। ऋकारश्चात्र अण्ग्रहणेन न गृह्यते। पूर्वेणैव णकारेण प्रत्याहाराश्रयणात्। अन्यथा दीर्घश्रुत्या अच इत्युपस्थितौ किमण्ग्रहणेनेति भावः। ननु तृढो वृढ इत्यत्र ढ्रलोपस्यैवाभावात् दीर्घाप्रसक्तेरण्ग्रहणं व्यर्थमित्याशङ्क्य तत्र ढलोपं दर्शयितुमाह—तृहू हिंसायाम्। वृहू उद्यमन इति। आभ्यां क्तप्रत्यये 'हो ढः' इति ढत्वे 'झषस्तथोः' इति तकारस्य धत्वे, तस्य ष्टुत्वेन ढकारे, 'ढो ढे लोप' इति पूर्वस्य

विशेष—वैकल्पिक विधान होने के कारण पक्ष में रेफ के स्थान पर विसर्ग तदनन्तर विसर्ग होने के साथ पक्ष में जिह्वामूलीय एवम् उपध्मानीय भी होंगे।

(१७३) पद—रः, रि। अनुवृत्ति—लोपः। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'र्' के पश्चात् दूसरा 'र्' रहने पर पहले 'र्' का लोप होता है।

विवरण—'रः'—षष्ठी विभक्ति में होने से स्थानी है। "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" (६-३-११) सूत्र से अनुवृत्ति द्वारा आया हुआ 'लोपः' पद आदेश है। 'रि'—सप्तमी विभक्ति में होने के कारण निमित्तवाचक पद है। अर्थात् रेफ ('र्') के पश्चात् रेफ (र्) के रहनेपर पूर्व 'र्' का लोप होता है।

(१७४) पद—ढ्रलोपे, पूर्वस्य, दीर्घः, अणः। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'ढ्' तथा 'र्' (रेफ) लोप करने वाले 'ढ्' तथा 'र्' वर्णों के पश्चाद्वर्ती होने पर, उसके पूर्ववर्ती 'अण्' को दीर्घ होता है। पुना रमते। हरी रम्यः। शम्भू राजते। 'अणः' क्यों कहा? तृढः। वृढः। √तृह् हिंसा करना। √वृह् = तैयार रहना। 'पूर्व' ग्रहण करने से उत्तर पद में रहने पर भी पूर्व अण् को दीर्घ होता है। लीढः। अजर्घाः। मनस्+रथः—यहाँ पर 'रु' करने पर "हशि च" सूत्र से 'उ' तथा "रो रि" सूत्र से लोप की प्राप्ति होने पर (अष्टाध्यायी-क्रम में परवती विधान की प्रबलता होती है)।

विवरण—अर्थ की दृष्टि से सूत्र स्वयं में पूर्ण है। स्थानी है—'अण्' (अ, इ, उ)। आदेश है—'दीर्घ'। उसकी स्थिति 'ढ्' अथवा 'र्' लोप होने पर उन वर्णों के पूर्व में (पूर्वस्य) रहनी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ढकारस्य लोपे, तृढः वृढ इति रूपे। अत्र ढलोपनिमित्ते ढकारे परे ऋकारस्य दीर्घनिवृत्त्यर्थमण्ग्रहणमिति भावः। ननु 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' इत्येव सिद्धौ पूर्वस्येति किमर्थमित्यत आह—पूर्वग्रहणमिति। ढ्लोप इति सूत्रस्य 'अलुगुत्तरपदे' इत्युत्तरपदाधिकारस्थत्वादुत्तरपदस्थयोरेव ढ्लोपनिमित्तभूतढरेफयोः परतः पूर्वपदस्याणो दीर्घ इत्यर्थः स्यात्। ततश्च 'लिह आस्वादने' 'गुहू संवरणे' आभ्यां क्तप्रत्यये ढत्वधत्वष्टुत्वढलोपेषु इकारस्य उकारस्य च दीर्घो न स्यात्। तत्र ढलोपनिमित्तस्य ढस्य उत्तरपदस्थत्वाभावात् इकारस्य उकारस्य च पूर्वपदस्थत्वाभावाच्च। इष्यते च लीढो गूढ इति। अतः पूर्वग्रहणम्। कृते तु पूर्वग्रहणे तत्सामर्थ्यादनुत्तरपदस्थयोरपि ढरेफयोः परतः अपूर्वपदस्थस्यापि पूर्वस्याणो दीर्घः सिध्यतीत्यर्थः। तथा उत्तरपदे इत्यस्यानुवृत्तौ अङ्घाः इत्यत्रापि दीर्घो न स्यात्। गृधु अभिकाङ्क्षायाम्। यङ्लुक्, द्वित्वम्, हलादिः शेषः, अभ्यासस्य रुक्, कुहोश्चुः, लङ्, सिप्, शप्, लुक्, लघूपधगुणः, रपरत्वम्, इतश्चेति इकारलोपः, हल्ङ्यादिना सुलोपः, जर् गर् ध् इति स्थिते, 'एकाचो बश' इति गकारस्य भष्भावः घकारः, जश्त्वं दकारः, दश्चेति रुः, अडागमः, अजर्घर् र् इति स्थिते रो रीति रेफलोपः, ढ्लोप इति दीर्घः, विसर्गः, अजर्घाः इति रूपम्। अत्रापि रेफलोपनिमित्तरेफस्य उत्तरपदस्थत्वाभावात् तस्मिन् परतः अकारस्य दीर्घो न स्यात्। अत उत्तरपदानुवृत्तिनिवृत्तये पूर्वग्रहणम्। यद्यपि ढ्लोपे इत्यत्र ढलोपनिमित्तढकारविषये उत्तरपद इत्यस्यानुवृत्तिः असम्भवादेव न सम्भवति, तथापि अजर्घा इत्यत्र रेफलोपनिमित्तरेफविषये उत्तरपद

चाहिये। 'ढ्' का लोप 'ढ्' के पश्चात् विद्यमान रहने पर होता है—"ढो ढे लोपः" (८-३-१३)। इसी प्रकार 'र्' के पश्चात् 'र्' रहने पर पूर्ववर्ती 'र्' का लोप होता है। इस तरह सूत्रार्थ होता है—'ढ्' और 'र्' का लोप करने में निमित्तस्वरूप (ढश्च रश्च ढौ, तौ लोपयतीति ढ्लोपः, तस्मिन्) 'ढ्' तथा 'र्' वर्णों के पश्चाद्वर्ती होने पर उनसे पूर्व अ, इ, उ (अण्) के स्थान पर दीर्घ—आ, ई, ऊ आदेश होते हैं।

उदाहरण—१-(अकार का) पुनर्+रमते, ("रो रि"-१७३ से 'र्'—लोप), <पुना रमते ('रमते' के 'र्' से पूर्ववर्ती 'अ' = आ) अर्थ—फिर खेलता है। २—(इकार का) हरिर्+रम्यः, <हरि रम्यः ('र्' लोप), <हरी रम्यः (इ = ई) अर्थ—विष्णु सुन्दर हैं। ३—(उकार का)—शम्भुर्+राजते <शम्भु+राजते ('र्' लोप), <शम्भू राजते (उ = ऊ) अर्थ—शिव शोभित हैं। **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में 'अण्'—पद होने से 'तृढः', 'वृढः' में 'अण्' वर्णों के अतिरिक्त 'ऋ' को दीर्घ नहीं हुआ। प्रक्रिया—√ तृह्+क्त (त), <तृढ्+त (ह् = ढ्), <तृढ्+ध (त् = ध्—"झषस्तथोर्धोऽधः"), <तृढ्+ढ (ध् = ढ्—ष्टुत्व), तृढ+सु ('ढ्'—लोप) = तृढः। अर्थ—मरा हुआ। इसके समान ही 'वृढः' प्रयोग समझें। अर्थ—उद्युक्त। 'अण्' प्रत्याहार में अ, इ, उ वर्ण ही परिगणित हैं।

विशेष—१-प्रकृत सूत्र में 'ढ्लोपे' सप्तमी विभक्ति में प्रयुक्त होने से 'पूर्व' की उपस्थिति होगी। अतः 'अण्'—वर्ण तथा 'ढ्' एवं 'र्' के मध्य किसी वर्ण के रहने की आशंका न होने पर स्वतः 'ढ्' 'र्' के पूर्ववर्ती अण् को ही दीर्घ होगा। इस कारण यह शङ्का होती है कि सूत्र में 'पूर्व' शब्द का ग्रहण क्यों किया? इसका समाधान यह दिया जाता है कि यहाँ 'पूर्व' ग्रहण न करने पर "अलुगुत्तरपदे" (६-३-१) सूत्र से 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति आती। तदनुसार सूत्र का अर्थ यह होता कि उत्तरपद में विद्यमान 'ढ्' तथा 'र्' के लोप होने में निमित्तस्वरूप 'ढ्' तथा 'र्' परे रहते पूर्व 'अण्' को दीर्घ होगा। यह अर्थ होने पर 'पुना रमते' आदि उदाहरणों में समास-युक्त शब्द न होने के कारण उत्तरपद के अभाव में दीर्घ प्राप्त नहीं होगा। इसके साथ ही लिह्+त (क्त), <लिढ्+त, <लिढ्+ध, <लिढ्+ढ—इस स्थिति में 'ढ्' का लोप होने पर उत्तरपद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१७५) विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२ ॥ तुल्यबलविरोधे सति परं कार्यं स्यात्। इति रेफलोपे प्राप्ते—'पूर्वत्रासिद्धम्' (सू १२) इति 'रो रि' (सू १७३) इत्यस्या-

---

इत्यस्यानुवृत्तिनिवृत्तये पूर्वग्रहणम्। तदनुवृत्तौ हि नीरक्तम्, दूरक्तमित्यादावेव स्यात्। अजर्घा इत्यत्र न स्यात्, पुना रमत इत्यादौ असमासेऽपि न स्यात्। उत्तरपदशब्दस्य समासचरमावयव एव रूढत्वादित्यलम्। ननु मनोरथ इत्यत्र मनस् रथ इति स्थिते, सस्य रुत्वे, तस्य रेफस्य हशि चेत्युत्वं रो रीति लोपश्चेत्युभयं प्रसक्तम्। तत्र कतरद् बाध्यमित्यत्र निर्धारयति—मनस् रथ इत्यत्रेत्यादिना। मनस् रथ इत्यत्र रुत्वे कृते, हशि चेत्युत्वे, रो रीति रेफलोपे च प्राप्ते, उत्वमेवेत्यन्वयः।

(१७५) ननु परत्वात् रेफलोप एव स्यादिति शङ्कितुमाह—विप्रतिषेधे। विप्रतिपूर्वात् सेधतेर्धञि उपसर्गवशात् परस्परविरोधे विप्रतिषेधशब्दः। विरोधश्च तुल्यबलयोरेव लोकसिद्धः। न हि मशकसिंहयोर्विरोध इत्यस्ति। तदाह—तुल्यबलेति। द्वयोः शास्त्रयोः क्वचिल्लब्धावकाशयोरेकत्र लक्ष्ये युगपत्सम्भवस्तुल्यबलविरोधः। कार्यस्य परत्वं परशास्त्रविहितत्वम्। इति रेफलोपे प्राप्त इति। हशि चेत्यस्यावकाशः शिवो वन्द्य इति, रेफलोपस्यावकाशः पुना रमत इति। तत्र हि रोरित्युकारानुबन्धग्रहणात् हशि चेत्यप्रसक्तम्। ततश्च तयोस्तुल्यबलयोः उत्वरेफलोपयोः मनोरथ इत्यत्र युगपत् सम्भवादन्यतरस्मिन् बाधनीये

न रहने के कारण 'इ' को दीर्घ नहीं होगा। इसके फलस्वरूप 'लीढः' इष्टरूप की सिद्धि नहीं होगी। इस कारण 'पूर्व' ग्रहण किया है। अर्थ—चाटा गया। इसके अतिरिक्त 'अजर्घाः' में भी दीर्घ होने के लिये 'पूर्व' ग्रहण करना आवश्यक है। प्रक्रिया—√गृध्+यङ्, <गृध् (यङ् लोप), <गृध् गृध् ("सन्यङोः" ६-१-९ द्वित्व), <गर्ध्+गृध् ("गुणो यङ्लुकोः"—७-४-८२—गुण), <ग+गृध् ("हलादिः शेषः"—७-४-६०) <गर्+गृध् ("रुग्रिकौ च लुकि"—७-४ ९१), <जर्+गृध् (श्चुत्व—"कुहोश्चुः), <जर्+गृध्+सि (सनाद्यन्ता धातवः—३-१-३२—धातुसंज्ञा, लङ् लकार मध्यम-पुरुष—'सिप्'), <अ+जर्+गृध्+सि् (अट् आगम—"लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः" ६-४-७१), <अ+जर्+गर्ध्+स् (गुण तथा 'इ'लोप—"इतश्च" ३-४-१००), <अ+जर्+गर्ध् ('स्' लोप—"हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०" ६-१-६८), <अ+जर्+घर्ध् (ग् = घ्—"एकाचो बशो भष्०" ८-२-३७), <अ+जर्+धर्द् ('ध्' = 'द्'—"झलां जशोऽन्ते" ८-२-३९), <अ+जर्ध्+र् (द् = र्—"दश्च" ८-२-६५), <अ जर्ध र् ('र्' लोप—"रोरि" ८-३-१४), <अजर्धार्[1] (दीर्घ—"ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः") = अजर्घाः (र् = :)। प्रकृत उदाहरण में 'र्' लोप होने में निमित्तस्वरूप 'र्' उत्तरपद में न रहने से दीर्घ की प्राप्ति नहीं होगी। अतः सूत्र में 'पूर्व' शब्द ग्रहण किया है। 'पूर्व' ग्रहण करने से उत्तरपद की अनुवृत्ति नहीं की जाती।

२—मनस्+रथः, <मनर्+रथः (स् = 'र्')—इस स्थिति में "हशि च" (६-१-११४) सूत्र से 'र्' के स्थान में 'उ' तथा "रो रि" (८-३-१४) सूत्र से 'र्' का लोप दोनों के एक साथ प्राप्त होने पर (सन्देह का निवारण किया जारहा है)।

(१७५) पद—विप्रतिषेधे, परं, कार्यम्। परिभाषासूत्र।

मूलार्थ—तुल्य बल के कारण विरोध की सम्भावना में पर-कार्य होता है। इस प्रकार लोप की प्राप्ति होने पर "पूर्वत्रासिद्धम्" (१२) की उपस्थिति होने से "रो रि" शास्त्र के असिद्ध होने के कारण 'उ' ही होता है। मनोरथः।

विवरण—सूत्रार्थ अपने में स्वतः पूर्ण है। तदनुसार विप्रतिषेध = तुल्यबलविरोध की स्थिति में

---

१. गृधेर्यलोपे लङि सेरिलोपे हल्ङ्यादिलोपे रपरे गुणे च।
भष्भावजश्त्वे च रुरेफरत्वे ढ्रलोपदीर्घे च भवेदजर्घाः॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धत्वादुत्वमेव । मनोरथः । (१७६) एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ६।१।

सति परत्वादुत्वं बाधित्वा रेफलोपे प्राप्ते इत्यर्थः । तामिमां रेफलोपशङ्कां परिहरति—पूर्वत्रेति । तत्र रेफलोपस्यासिद्धत्वादित्यनुक्त्वा रोरीत्यस्यासिद्धत्वादिति ब्रुवन् पूर्वत्रासिद्धमित्यत्र शास्त्रासिद्धत्वमेवाभ्युपैति । न तु कार्यासिद्धत्वम् । तथा सति हि अतिदेशस्यारोपरूपत्वात् असिद्धत्वारोपान्निरधिष्ठानारोपासम्भवेन सूत्रोदाहरणसम्पत्त्यै परत्वाल्लक्ष्ये कार्यप्रवृत्तेरावश्यकतया परत्वात् त्रैपादिके कार्ये जाते तत्राऽभावप्रतियोगित्वारोपेऽपि देवदत्तस्य न पुनरुन्मज्जनमिति न्यायेन स्थानीभूतरोरभावात् हशि चेत्यस्य प्राप्तिर्न स्यात् । शास्त्रासिद्धत्वे तु यद्यत् त्रैपादिकं शास्त्रं प्रवृत्स्युन्मुखं तत्तच्छास्त्रे एवासिद्धत्वारोपात् पूर्वशास्त्रप्रतिबन्धकस्य परशास्त्रस्य उच्छेदबुद्धौ सत्यां 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इति न प्रवर्तते । तदुक्तम्—'पूर्वत्रासिद्धे नास्ति विप्रतिषेधोऽभावादुत्तरस्य' इति । ततश्च स्थानिनो निवृत्त्यभावात् पूर्वशास्त्रप्रवृत्तिर्निर्बाधा । एतच्च पूर्वत्रासिद्धमित्यत्र, अचः परस्मिन्नित्यत्र, षत्वतुकोरसिद्धः इत्यत्र च भाष्ये स्पष्टम् । न च 'तौ सत्' इत्यादिनिर्देशात् देवदत्तहन्तृहतन्यायो न सार्वत्रिक इति वाच्यम् । हते सति देवदत्ते तद्धन्तरि हतेऽपि देवदत्तस्य न पुनरुन्मेषः । हन्तृहन्तरि हतत्वारोपे तु सुतरां नोन्मेषः । देवदत्तं हन्तुमुद्युक्तस्य हनने तु देवदत्तस्य जीवनमस्त्येवेति न्यायशरीरम् । तावित्यादौ च वृद्धिहन्तुः पूर्वसवर्णदीर्घस्य हननोद्यमसजातीयं प्रसङ्गमात्रम् । न तु हननस्थानीया लक्ष्ये प्रवृत्तिः । अतस्तावित्यादौ नास्य न्यायस्य प्रवृत्तिरिति तौ सदित्यादिनिर्देशः कथमेतस्य न्यायस्यानित्यतां बोधयितुमीष्ट । स्पष्टं चैतत् स्वादिष्विति सूत्रे कैयटे । प्रकृते तु निरधिष्ठानारोपासम्भवात् हननसजातीया लक्ष्ये कार्यप्रवृत्तिरावश्यकी, ततश्च प्रवृत्तस्य रेफलोपस्यासिद्धत्वेऽपि देवदत्तहन्तृहतन्यायेन रोरुन्मेषाभावादुत्वं न भवतीति शब्दरत्ने प्रपञ्चितम् । न च उत्वकार्यासिद्धत्वपक्षेऽपि मनोरथसिद्धिरस्त्येव, दर्शनाभावरूपरेफलोपस्याभावरूपासिद्धत्वे सति रोरुन्मेषावश्यकत्वात् अभावाभावस्य प्रतियोगिरूपत्वादिति वाच्यम्, एवमपि कार्यासिद्धत्वे अमू, अमी इत्याद्यसिद्धेः । यथा चैतत्तथा अदस्शब्दनिरूपणावसरे प्रपञ्चयिष्यते ।

(१७६) एतत्तदोः । एतत्तदोरित्यत्र 'त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते' इत्येकशेषस्य त्यदाद्यत्वस्य चाभाव आर्षः । सु इति लुप्तषष्ठीकं पदम् एतत्तदोरित्यनेनान्वेति—एतत्तदोः सकारस्येति । अत एव सोर्लोपः सुलोपः इति न षष्ठीसमासः, असा-

---

पर-कार्य होता है । समान बलवालों का विरोध लोकप्रसिद्ध है । मच्छर और शेर का विरोध कहीं नहीं देखा जाता । सूत्रस्थ पूर्व-परभाव में पाणिनि की अष्टाध्यायी का क्रम अपेक्षित है । तुल्यबल का अभिप्राय है—"दो विभिन्न स्थलों पर चरितार्थ होने वाले सूत्रों का एक ही स्थल पर एक ही समय प्राप्त होना"[1] । इस नियम के अनुसार उपर्युक्त स्थिति (मनर्+रथः) में 'र्' लोप (८-३-१४) तथा 'उ' विधायक शास्त्रों (६-१-११४) में 'अष्टाध्यायी' के क्रमानुसार "रो रि" सूत्र से 'र्' लोप की प्राप्ति होती है । किन्तु "पूर्वत्रासिद्धम्" (१२) परिभाषा की उपस्थिति होने से "हशि च" (६-१-११४) की दृष्टि में "रोरि" (८-३-१४) शास्त्र के असिद्ध होने के कारण 'उ' विधान का औचित्य सिद्ध होता है । अतः मन उ+रथः (र् = 'उ') <मनोरथः (अ+उ = ओ—गुण) रूप सिद्ध होता है ।

(१७६) पद—एतत्तदोः, सु, लोपः, अकोः, अनञ् समासे, हलि । विधिसूत्र ।

---

१. तुल्यबलविरोधो विप्रतिषेधः । यत्र द्वौ प्रसङ्गावन्यार्थावेकस्मिन् युगपत्प्राप्नुतः स तुल्यबलविरोधो विप्रतिषेधः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१३२ ॥ अककारयोरेतत्तदोर्यः सुस्तस्य लोपः स्याद्धलि न तु नञ्समासे । एष विष्णुः । स शम्भुः । 'अकोः' किम् ? एषको रुद्रः । 'अनञ्समासे' किम् । असश्शिवः । 'हलि' किम् ?

मध्यात् । अविद्यमानः ककारः ययोस्तौ अकौ, तयोः अकोरिति बहुव्रीहिः । तदाह—अककारयोरित्यादिना । अनञ्समास इति न पर्युदासः । तथा सति नञिवयुक्तन्यायात् नञ्-समानसदृशे समास एव स्यात्, न एष विष्णुरित्यादिवाक्येषु इत्यभिप्रेत्याह—न तु नञ्समास इति । एष विष्णुः, स शम्भुरिति । एषस् विष्णुः, सस् शम्भुरिति स्थिते सकारस्य लोपः । एषको रुद्र इति । 'अव्ययसर्वनाम्नामकच्प्राक् टेः' इति अकच् । अत्र एतच्छब्दस्य सककारत्वान्न सुलोपः । तच्छब्दे अकचि 'सको रुद्रः' इत्यपि प्रत्युदाहरणम् । न च अकचि सति शब्दान्तरत्वात् प्राप्तिरेव नेति वाच्यम्, 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इति परिभाषया साकच्कस्य अशब्दान्तरत्वात् । परिभाषायां तु इदमेव ज्ञापकम् । असश्शिव इति । न सः अस इति विग्रहः । 'विसर्जनीयस्य स' इति सत्वे श्चुत्वेन शकारः । नञ्समा-सत्वान्न सुलोपः । अनेषश्शिवः—इत्यपि प्रत्युदाहरणम् । एषोऽत्रेति । एषस् अत्रेति स्थिते सस्य रुत्वम्, उत्वम्, आद्गुणः, हल्परकत्वाभावान्न लोपः । अत्र एतत्तदोरवयवस्य

मूलार्थ—नञ् समास के अतिरिक्त एवं ककार-रहित एतद् और तद् शब्दसम्बन्धी 'सु' का लोप 'हल्' परे रहते होता है । एष विष्णुः । स शम्भुः । 'अकोः' क्यों कहा ? एषको रुद्रः । 'अनञ् समासे' क्यों कहा ? असः शिवः । 'हलि' क्यों कहा ? एषोऽत्र ।

विवरण—प्रकृत सूत्र का कार्य है—'एतद्' तथा 'तद्'–सम्बन्धी 'सु'–विभक्ति का लोप-विधान । इन शब्दों के 'अकच्' प्रत्ययान्त रहने पर 'सु' लोप नहीं होता । इसके साथ ही 'नञ्' समास में भी यह विधान वर्जित है । 'सु' के अनन्तर 'हल्' (व्यञ्जन–वर्णों) का विद्यमान रहना 'सु'–विभक्ति के लोप में निमित्त है ।

उदाहरण—१–एतद्+सु (विष्णुः), <एत–अ+सु (द् = अ "त्यदादीनामः ७-२-१०२), <एत+सु (अ+अ = अ—पररूप "अतो गुणे"–६-१-९७), <एस+सु (द् = स्—"तदोः सः सावनन्त्ययोः"—७-२-१०६), <एष+स्+विष्णुः (स् = ष् "आदेशप्रत्यययोः"—८-३-५९), <एष विष्णुः—'सु' के अनन्तर 'हल्'–'व्' रहने के कारण 'स्' ('सु' विभक्ति) का लोप । अर्थ—यह विष्णु हैं । २–तद्+सु (शम्भुः), <त+अ सु, <त+सु, <स+स्+शम्भुः <स शम्भुः ('सु' विभक्ति के बाद 'हल्'–'श्' रहने के कारण उसका लोप) अर्थ—वह शिव हैं ।

प्रत्युदाहरण—१–सूत्र में 'अकोः' पद होने के कारण 'एषको रुद्रः' में अकच्—प्रत्यय होने से 'सु' लोप नहीं हुआ । रूपसिद्धि-प्रकार—एतद्+अकच् (अक्) <एत् अक् अद् ('अकच्'='अक्'–प्रत्यय 'टि' = अद् के पूर्व—"अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः"–५-३-७१), <एतकद्+सु, <एतक+सु, <एसक+सु, <एषक स्+रुद्रः, <एषकर् रुद्रः (स् = र्), <एषक उ+रुद्रः (र् = उ), एषको रुद्रः (अ+उ = ओ—गुणसन्धि) । इसी प्रकार 'तद्' शब्द से 'अकच्' प्रत्यय होने पर 'सको रुद्रः' में भी 'सु' लोप नहीं होगा । २–सूत्र में 'अनञ्–समासे' पद रहने पर नञ् समास में 'सु' विभक्तिलोप का प्रतिबन्ध लगा दिया गया है । अतः—न सः = असस्+शिवः <असर्+शिवः, (स् = र्) <असः+शिवः (र् = :) <असस्+शिवः (: = स्), = असश्शिवः (स् = 'श्'—श्चुत्व)—में 'सु' लोप न होने कारण यथाक्रम 'रु'–विधान, विसर्ग, सत्व तथा श्चुत्व–सन्धियाँ हुई हैं । ३–सूत्र में 'हलि' पद होने के कारण 'अच्' परे रहते 'सु' लोप नहीं होता । अतः–एषस्+अत्र, <एषर्+अत्र, <एष+उ+अत्र, <एषो+अत्र = 'एषोऽत्र' में 'सु' लोप न होने से यथाक्रम 'रु' विधान, उत्व, गुण तथा पूर्वरूप सन्धियाँ हुईं ।

विशेष—१–'अकच्–प्रत्यय होने पर 'एतद्' तथा 'तद्' शब्द विकृत होने के कारण अपने मूलरूप में नहीं रहते । अतः वहाँ सामान्य नियम से ही 'सु' लोप की प्राप्ति नहीं होगी । सूत्र में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एषोऽत्र । (१७७) **सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् ६।१।१३४ ॥** 'सस्' इत्येतस्य सोर्लोपः स्यादचि पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत । 'सेमामविड्ढि प्रभृतिम् य ईशिषे' । इह 'ऋक्पाद एव गृह्यते' इति वामनः । 'अविशेषाच्छ्लोकपादोऽपि' इत्यपरे । सैष दाशरथी रामः । 'लोपे चेत्' इति किम् ? स इत्क्षेति । स एवमुक्त्वा । 'सत्येव' इत्यवधारणं तु 'स्यश्छन्दसि बहुलम्' (सू ३५२६) इति पूर्वसूत्राद् बहुलग्रहणानुवृत्त्या लभ्यते । तेनेह न—'सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्' ।

इति स्वादिसन्धिप्रकरणम् ।

सोरिति न व्याख्यातम्, असम्भवात्, सोः परत्वेन विहितस्य प्रातिपदिकावयवत्वाभावात् । एतत्तद्भ्यां परस्य सोरित्यपि न भवति, एतत्तदोरिति षष्ठीविरोधात् । एतत्तद्भ्यां विहितस्येति व्याख्याने तु परमेष ददाति, परमस ददातीत्यत्र अव्याप्तिः । तत्र सोः समासाद्विहितत्वेन एतत्तद्भ्यां विहितत्वाभावात्, अनन्समास इति प्रतिषेधवैयर्थ्याच्च । अत एतत्तदर्थगतसङ्ख्याभिधायिनः सोरिति व्याख्येयम् ।

(१७७) सोऽचि लोपे । स इति प्रथमैकवचनान्तस्वरूपपरम् । षष्ठ्या लुक् । सस्शब्दस्येति लभ्यते । सुलोप इत्यनुवर्तते । तदाह—सस् इत्यादिना । इति स्वादिसन्धिः ।

इति श्रीवासुदेवदीक्षितविदुषा विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां बालमनोरमायां सन्धित्रयं समाप्तम् ।

'अकोः' प्रतिबन्ध लगाने की क्या आवश्यकता है ? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि शब्दों की मूलावस्था में किसी वर्ण का सन्निवेश होने पर वह मौलिक रूप से भिन्न नहीं माना जाता—"तन्मध्यपतितः तद्ग्रहणेन गृह्यते" । अतः 'अकच्' प्रत्यय होने पर 'सु'-विभक्ति का लोप न होने के लिये सूत्र में "अकोः" पद की आवश्यकता है ।

(२) 'सुलोपः' में 'सु' पद पृथक् है । उसमें षष्ठी-विभक्ति का लोप हुआ है । अतः वह 'सु' पद 'एतद्' तथा 'तद्' शब्द के साथ अन्वित होता है । तदनुसार उसका अर्थ है—"एतद् तथा 'तद्' सम्बन्धी 'सु' विभक्ति (स्) का लोप हो" ।

(३) सूत्र में 'एतत्तदोः' पद के सम्बन्ध में दो प्रकार की शङ्कायें होती हैं । (क) 'एतद्' तथा 'तद्' शब्दों में द्वन्द्वसमास होनेपर यह नियम है कि केवल उत्तर-पदस्थ शब्द अवशिष्ट रहता है—"त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत् परं तच्छिष्यते" । इसके अनुसार केवल 'तद्' शब्दका द्विवचन में प्रयोग क्यों नहीं किया गया ? (ख) इसके अतिरिक्त 'त्यदादि' शब्दों से विहित 'द्' के स्थान में 'अ' एवं पररूप आदि विधान भी उक्त प्रयोगों में क्यों उपेक्षित रहे ? वैदिक-प्रयोगों के साथ सूत्रों की समानता द्वारा इनका निवारण किया जाता है ।

(१७७) पद—सः, अचि, लोपे, चेत्, पादपूरणम् । अनुवृत्ति—सुलोपः । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'तद्' शब्द—सम्बन्धी 'सु' का 'अच्' परे रहते लोप होता है यदि लोप होने पर पाद-पूर्ति होती हो तो । सेमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषे । वामनाचार्य का यह मत है कि यहाँ वेद की ऋचा का ही चरण अपेक्षित है । अन्य आचार्यों का यह मत है कि सामान्यतः श्लोक का चरण भी लिया जाय । सैष दाक्षरथी रामः । 'लोप चेत्' क्यों कहा ? स इत् क्षेति । एवमुक्त्वा । इसके पूर्ववर्ती "स्यश्छन्दसि बहुलम्" (६-१-३३) सूत्र से 'बहुलम्' की अनुवृत्ति के कारण 'सत्येव' पद से अवधारण (निश्चय) अर्थ सूचित होता है । अतः यहाँ लोप नहीं हुआ—"सोऽहमाजन्मशुद्धानाम् ।"

विवरण—सूत्र में विधेय अंश की पूर्ति के लिये "एतत्तदोः०" (१७३) सूत्र से 'सुलोपः' की अनुवृत्ति लाई जाती है । 'स्' के षष्ठी-विभक्ति का लोप होने के कारण इसे मूलावस्था में 'सस्' के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप में रखा गया है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ होता है 'अच्' के पश्चाद्वर्ती होने पर 'सस्' ('तद्' शब्द) सम्बन्धी 'स्' ('सु' विभक्ति) का लोप होता है। लोप तभी होगा जब छन्द के पाद की पूर्ति होती हो। पाद की पूर्ति होने पर ही इस लोप की प्रवृत्ति होती है। अन्यत्र नहीं होती।

उदाहरण—१–"सेमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषे"[1]। यह जगती-छन्द (१२×४=४८ अक्षर) का एक चरण है। एक चरण में १२ अक्षर अपेक्षित हैं। उसकी पूर्ति 'स्' लोप से सम्भव है। अतः सस्+इमाम्—इस स्थिति में 'तद्' (सस्) शब्द सम्बन्धी 'स्' का लोप होने के पश्चात् गुण होकर 'सेमाम्' पद सिद्ध होता है। इसके अभाव में 'स इमाम्' की स्थिति में गुण न होने से १३ अक्षर हो जाने से छन्दोभङ्ग हो जाता। २–वैदिक छन्द के बाद लौकिक छन्द का उदाहरण—'सैष दशरथी रामः'।[2] यह अनुष्टुप्-छन्द का (८×४=३२) एक चरण है। एक चरण में ८ अक्षर अपेक्षित हैं। उसकी पूर्ति 'स्' लोप से सम्भव है। अतः 'सस्+एषः' स्थिति में 'स्' का लोप तथा वृद्धि होने से छन्द की पूर्ति हो जाती है। इसके अभाव में 'स एषः' अथवा 'स ऐषः' रूप निष्पन्न होने पर ९ अक्षर हो जाने से छन्दोभङ्ग हो जाता।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'लोपे चेत्' उल्लेख होने से पादपूर्ति की सम्भावना किसी दूसरे प्रकार से होने पर 'स्' का लोप नहीं होगा। १–अतः 'स इत् क्षेति सुधित ओकसि'[3] में 'स्' का लोप नहीं हुआ। यथाप्राप्त सन्धि कार्य–रु, य्, एवं य्-लोप हुए। यह त्रिष्टुप् छन्द (११×४=अक्षर) का एक चरण है। २–लौकिक उदाहरण—'स एवमुक्त्वा मघवन्तमुन्मुखः'[4]। यहाँ पर 'सस्+एवम्' स्थिति में यथाप्राप्त सन्धिकार्य–'रु' 'य्' तथा 'य्'–लोप–से पादपूर्ति सम्भव होने से 'स्' लोप

---

१. पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

सेमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषेऽया विधेम नवया महा गिरा।
यथा नो मीढ्वान्स्तवते सखा तव बृहस्पते सीषधः सोत नो मतिम्॥

ऋ० २।२४।१

अर्थ—हे बृहस्पते! तुम इस यज्ञ को अपने अधिकार में ले लो। हमारे बीच स्तुति करने वाले तुम्हारे मित्र की उत्तम स्तुतियाँ हमारी बुद्धि को श्रेष्ठ बनायें।

२. पूरा श्लोक इस प्रकार है—

सैष दशरथी रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः।
सैष कर्णो महादानी, सैष भीमो महाबलः॥

अर्थ—यह वही दशरथ के पुत्र राम हैं, यह वही राजा युधिष्ठिर हैं। यह वही महादानी कर्ण हैं तथा यह वही (सत्यवादी) युधिष्ठिर हैं।

३. पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

स इत्क्षेति सुधित ओकसि स्वे तस्मा इळा पिन्वते विश्वदानीम्।
तस्मै विशः स्वयमेवानमन्ते यस्मिन्ब्रह्मा राजनि पूर्व एति॥

ऋ० सं० ४।५०।८

अर्थ—वेदज्ञ पुरोहित से परामर्श लेने वाला राजा अपने भवन में सुख पूर्वक सोता है। उसकी भूमि उर्वरा रहती है। उसकी प्रजा विनीत रहती है।

४. पूरा श्लोक—

स एवमुक्त्वा मघवन्तमुन्मुखः करिष्यमाणः सशरं शरासनम्।
अतिष्ठदालीढविशेषशोभिना वपुःप्रकर्षेण विडम्बितेश्वरः॥ रघु० ३।५२

अर्थ—राजा रघु उन्मुख होते हुए देवेश इन्द्र से इस प्रकार कह कर धनुष पर बाण-सन्धान करते हुए 'आलीढ' नामक विशेष मुद्रा में सुशोभित शरीर के तनाव से शंकर को विडम्बित करते हुए स्थित रहे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथाजन्तपुंल्लिङ्गप्रकरणम्

(१७८) अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १ । २ । ४५ ॥ धातुं प्रत्ययं

(१७८) अथ स्वौजसमौडित्यादिना स्वादिप्रत्ययान् वक्ष्यति । तत्र ङ्याप्प्रातिपदिकादित्यधिकृतम् । किं तत् प्रातिपदिकमिति जिज्ञासायामाह—अर्थवदधातु । अर्थोऽस्यास्तीत्यर्थवत् नपुंसकलिङ्गानुसारात् शब्दस्वरूपमिति विशेष्यमध्याहार्यम् । अधातुरिति, अप्रत्यय इति च तद्विशेषणम् । न धातुरधातुरिति नञ्तत्पुरुषः । 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' इति पुंस्त्वम् । अप्रत्यय इत्यावर्तते । प्रत्ययभिन्नं प्रत्ययान्तभिन्नं च विवक्षितम् । पूर्ववत्पुंस्त्वम् । संज्ञाविधाविति निषेधस्तु प्रत्ययस्य यत्र संज्ञा तद्विषय इति भावः । तदाह—

नहीं हुआ । यह वंशस्थ छन्द (१२+४) का एक चरण है । लक्षण–'जतौ तु वंशस्थस्थमुदीरितं जरौ'–
ज → । ऽ ।, त → ऽ ऽ ।, ज → । ऽ ।, र → ऽ । ऽ.

इस प्रकार विधान करने में 'स्' लोप को कुछ सीमित कर दिया गया है । इस प्रतिबन्ध में चरण की पूर्ति होने का निश्चय अपेक्षित है । इस विषय में यह प्रमाण दिया जा रहा है कि अष्टाध्यायी-क्रम में इस सूत्र के पूर्व "स्यश्छन्दसि बहुलम्" (६-१-१३३) सूत्र है । वहाँ से 'बहुलम्' पद की अनुवृत्ति आती है । इस कारण उपर्युक्त विशेष अर्थ की कल्पना सम्भव हुई है । तदनुसार 'सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्'[1] में 'स्' लोप नहीं हुआ । यथाप्राप्त अन्य सन्धिकार्य हुए—रु, उ, गुण तथा पूर्वरूप । इनके होने पर 'अनुष्टुप्' (८×४ = ३२ अर्थ) की पूर्ति सम्भव है ।

विशेष—छन्दोभङ्ग होने की अवस्था में 'चरण' (पाद—एक चौथाई पद्यांश) शब्द का अर्थ वामनाचार्य केवल वैदिक मन्त्रों तक ही सीमित रखते हैं । अन्य आचार्यों ने व्यापक अर्थ स्वीकार किया है । उनके अनुसार सर्व-साधारण पद्यमयी रचना के किसी भी छन्द का चरण अपेक्षित है । अतः उदाहरण भी वैदिक एवं लौकिक—दोनों प्रकार के दिये गए हैं ।

उपसंहार—यहाँ सन्धिप्रकरण समाप्त होता है । इस सम्बन्ध में "पञ्चसन्धि" शब्द का प्रयोग होता चला आ रहा है । सामान्यतः 'स्वर' 'व्यञ्जन' तथा 'विसर्ग'—इन तीनों के परस्पर पौर्वापर्य होने से वर्णों में परिवर्तन होता है । फिर भी कुछ विशेषताओं के कारण 'प्रकृतिभाव' तथा 'सुप्' प्रत्ययों के सन्धि-जन्य परिवर्तनों को पृथक् नाम देकर सन्धियों की संख्या पाँच मान ली गई है ।

स्वादिसन्धि समाप्त ।

अजन्तपुंल्लिङ्ग-प्रकरण

उपक्रम—स्वादि प्रत्ययों का विधान प्रातिपदिक से होने के कारण सर्व-प्रथम 'प्रातिपदिक' का स्वरूप बतलाया जा रहा है । इसके साथ ही अव्युत्पत्ति-पक्ष में उसका निर्वचन किया जा रहा है ।

(१७८) पद—अर्थवत्, अधातुः, अप्रत्ययः, प्रातिपदिकम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—धातु, प्रत्यय तथा प्रत्ययान्त को छोड़ कर अर्थवान् शब्दों की प्रातिपदिक-संज्ञा होती है ।

विवरण—सूत्र में विहित संज्ञा—प्रतिपदिक है, तथा संज्ञी है—(अधातुः, अप्रत्ययः) अर्थवत्

---

१. पूरा श्लोक—

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥ रघु० १-५ ।

अर्थ—मैं (कालिदास) जन्म से ही पवित्र, आरब्ध कार्य को समाप्ति तक करने वाले, सार्वभौम एवम् इन्द्र के सहचारी रघुवंशियों का वर्णन करूँगा ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्ययान्तं च वर्जयित्वाऽर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात्[1]। (१७९) कृत्तद्धित-

---

धातुं प्रत्ययमित्यादिना। अव्युत्पन्ना डित्थादिशब्दा इहोदाहरणानि। अर्थवदिति किम्। धनं वनमित्यादौ प्रतिवर्णं प्रातिपदिकसंज्ञा मा भूत्। सत्यां हि प्रातिपदिकसंज्ञायां प्रतिवर्णं सुबुत्पत्तिः स्यात्, सङ्ख्याकारकाभावेऽपि प्रथमैकवचनस्य सोर्दुर्वारत्वात् प्रथमाविभक्तेः कारकानपेक्षत्वात् तदेकवचनस्य सङ्ख्यानवगमेऽपि प्रवृत्तेर्भाष्ये सिद्धान्तितत्वाच्च। न च हल्ङ्यादिना सुलोपात् प्रतिवर्णं सोरुत्पत्तावपि न क्षतिरिति वाच्यम्, एवमपि नलोपस्य दुर्वारत्वाद् अकारात् सोः रुत्वविसर्गापत्तेश्चेत्यलम्। अधातुरिति किम्। हन्धातोर्लङि, तिप्, शप्, लुक्, इतश्चेतीकारलोपः, अडागमः, हल्ङ्यादिलोपः, अहन्निति रूपम्। अत्र धातोः प्रातिपदिकसंज्ञायां सुबपवादे तिङि उत्पन्ने लुप्ते तस्मिन् प्रातिपदिकसंज्ञायाः प्रागुत्पन्नाया अनपगमाद् नलोपः स्यात्। न च प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य प्रत्ययान्तपर्युदासादेव न प्रातिपदिकत्वमिति वाच्यम्, एवमपि प्राक्प्रवृत्तप्रातिपदिकत्वस्यानपगमात्। न चैवमपि कार्यकालपक्षे नलोपार्थं प्रातिपदिकसंज्ञायां क्रियमाणायां प्रत्ययलक्षणेन प्रत्ययान्तस्य प्रातिपदिकसंज्ञा न स्यादिति वाच्यम्, तर्हि हे राजन्नित्यत्रापि प्रत्ययलक्षणेन प्रत्ययान्तत्वात् प्रातिपदिकत्वाभावे सति नलोपस्याप्रसक्तौ 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इति तन्निषेधवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। न च राजन्शब्दस्यौणादिककनिन्प्रत्ययान्तस्य कृत्तद्धितेति प्रातिपदिकत्वान्नलोपप्रसक्तौ 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इति निषेधोऽर्थवानिति वाच्यम्, उणादीनामव्युत्पत्तिपक्षे कृत्तद्धितेत्यस्याप्रवृत्तेः। एवं चास्मादेव निषेधात् प्रत्ययलक्षणमाश्रित्याप्रत्ययान्त इति पर्युदासो न प्रवर्तत इति विज्ञायते। एवं च अहन्नित्यत्राप्यप्रत्ययान्तत्वात् प्रातिपदिकत्वप्राप्तौ तन्निवृत्त्यर्थमधातुग्रहणम्। अप्रत्यय इति किम्। हरिषु करोषि इत्यत्र सुप्सिपोरर्थवत्त्वात् अप्रत्ययान्तत्वाच्च प्रातिपदिकत्वे प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थमप्रत्यय इति प्रत्ययपर्युदासः। न चात्र सुप्सिपोर्व्यपदेशिवद्भावेन प्रत्ययान्तत्वात् प्रत्ययान्तपर्युदासेनैव प्रातिपदिकत्वनिवृत्तिसम्भवात् किं प्रत्ययपर्युदासेनेति वाच्यम्, प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणमिति परिभाषया प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्यैव प्रत्ययान्ततया

(शब्दस्वरूपम्)। अर्थवान् शब्दों से ही स्वादि प्रत्ययों का विधान होता है। उनके द्वारा निष्पन्न शब्द 'सुबन्त' पद कहलाते हैं। इस तरह १—'प्रातिपदिक' संज्ञा होने में सर्वप्रथम अर्थवान् शब्द अपेक्षित है—अर्थः अस्य अस्ति इति अर्थवान्। यह संज्ञा-शब्दों का मूल रूप माना जाता है। इस सार्थक शब्द के साथ विभक्तियाँ लगती हैं। २—अर्थवान् शब्द 'धातु' के अतिरिक्त होने चाहियें। अतः 'अहन्' (√हन्–लङ्) में 'न्' लोप नहीं होता। ३—वे शब्द प्रत्यय-भिन्न भी हों। अतः 'रामेषु' में 'सुप्' की प्रादिपदिक संज्ञा न होने के कारण पुनः औत्सर्गिक एकवचन आने पर 'षु' में षत्व का "सात्पदाद्योः" ८-३-१११ से निषेध नहीं होता। ४—इसके साथ ही वे प्रत्ययान्त-भिन्न भी हों। अन्यथा 'हरिषु' आदि स्थलों में प्रत्ययान्त-समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा होने पर "सुपो धातुप्रातिपदिकयोः" (२-४-७८) से 'सु' का लोप हो जाता।

---

१. अधोलिखित रोचक सुभाषित में इस सूत्र का अर्थ छिपा हुआ है—

विद्वान् कीदृग्वचो ब्रूते ? को रोगी ? कश्च नास्तिकः ?
कीदृक् चन्द्रं न पश्यन्ति ? सूत्रं तत्पाणिनेर्वद ॥

प्रश्न—१—विद्वान् कैसे वचन बोलता है ? उत्तर—'अर्थवत्'। २—प्रश्न—कौन रोगी है ? उत्तर—निर्बल व्यक्ति—'अधातुः'। ३—प्रश्न—कौन नास्तिक है ? उत्तर—'अप्रत्ययः'—ईश्वर पर विश्वास न करने वाला। ४—प्रश्न—कैसे चन्द्रमा को लोग नहीं देखते ? उत्तर—'प्रातिपदिकम्'—प्रतिपदा के चन्द्रमा को लोग नहीं देखते।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समासाश्च १ । २ । ४६ ॥ कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च प्रातिपदिकसंज्ञाः स्युः । पूर्वसूत्रेण सिद्धे समासग्रहणं नियमार्थम् । यत्र सङ्घाते पूर्वो भागः पदं तस्य चेद्भवति तर्हि समासस्यैव ।

केवलप्रत्यययोः सुप्सिपोः पर्युदासालाभात् । अप्रत्ययान्त इति किम् । हरिषु करोषि । अत्र प्रकृतिप्रत्ययसमुदाययोः प्रत्ययभिन्नत्वादर्थवत्त्वाच्च प्रातिपदिकत्वं मा भूत् ।

(१७६) कृत्तद्धित । कृच्च तद्धितश्च समासश्चेति विग्रहः । पूर्वसूत्रात् प्रातिपदिकमित्यनुवर्तते, बहुवचनान्ततया विपरिणम्यते । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया कृत्तद्धितेति तदन्तग्रहणम् । तदाह—कृत्तद्धितान्तावित्यादिना । कृत्तद्धितान्तयोः प्रत्ययान्तत्वात् पूर्वसूत्रेणाप्राप्तौ कृत्तद्धितग्रहणम् । केवलयोः कृत्तद्धितयोः संज्ञायां प्रयोजनाभावात् संज्ञाविधाविति निषेधोऽत्र न भवति । अस्मादेव पूर्वसूत्रे संज्ञाविधावपि प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तलाभात् प्रत्ययान्तपर्युदासः । केचित्तु अर्थविदत्यनुवर्त्य तत्सामर्थ्यात् तदन्तविधिमाहुः । कृदन्ते यथा—कर्ता, भर्ता इत्यादि । तद्धिते यथा—औपगव इत्यादि । समासे यथा—राजपुरुष इत्यादि । ननु समासग्रहणं व्यर्थम्, समासे राजपुरुष इत्यादिशब्दानां पूर्वसूत्रेणैव प्रतिदिकत्वस्य सिद्धत्वात् । न च उत्तरपदोत्तरलुप्तप्रत्ययं प्रत्ययलक्षणेनाश्रित्य प्रत्ययान्तपर्युदासः शङ्क्यः, उत्तरपदमात्रस्य प्रत्ययान्तत्वेऽपि समुदायस्याप्रत्ययान्तत्वात्, प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेरेव ग्रहणात् प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य प्रत्ययान्तपर्युदासो न प्रवर्तत इति 'न ङिसम्बुद्धोः' इति निषेधेन ज्ञाप्यत इति पूर्वसूत्रे प्रपञ्चितत्वाच्चेत्यत आह—पूर्वसूत्रेत्यादिना । नियमशरीरं दर्शयति—यत्रेति । पूर्वो भागः पदमित्युपलक्षणम् । उत्तरभागस्तु प्रत्ययो नेत्यपि द्रष्टव्यम् । अन्यथा जन्मवानित्यादौ प्रातिपदिकत्वं न स्यात्, स्वादिष्वसर्वनामस्थाने इति पूर्वभावस्य पदत्वात् । न चात्र कृत्तद्धितेति तद्धितग्रहणसामर्थ्यादेव प्रातिपदिकत्वं सम्भवतीति वाच्यम्, दाक्षिरित्यादौ तद्धितग्रहणस्य चरितार्थत्वात् । तत्र हि प्रकृतिभागो न पदम्, भत्वेन तद्बाधात् । पूर्वो भागः पदमित्यनुक्तौ बहुपटव इत्यत्र प्रातिपदिकसंज्ञा न स्यात् । ईषदसमाप्तावित्यनुवृत्तौ 'विभाषा सुपो बहुच्पुरस्तात्तु' इति सूत्रेण पटव इति प्रथमावहुवचनान्तात् पूर्वतः बहुच्प्रत्यये कृते अर्थवदिति

---

(१७६) पद—कृत्तद्धितसमासाः, च । अनुवृत्ति—प्रातिपदिकम् । विधिसूत्र ।

सन्दर्भ—व्युत्पत्ति-पक्ष में प्रातिपदिक-संज्ञा का निर्वचन किया जा रहा है ।

मूलार्थ—कृत्प्रत्ययान्त, तद्धितप्रत्ययान्त तथा समास की भी प्रातिपदिक संज्ञा होती है । पहले सूत्र से सिद्ध होने पर भी यहाँ 'समास' ग्रहण नियम के लिए है । जिस शब्द-समूह में पूर्वभाग पद रहे तो उसकी प्रातिपदिक संज्ञा समास में ही होती है । इस नियम से वाक्य की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती ।

विवरण—यहाँ भी संज्ञा—'प्रातिपदिक' है तथा संज्ञी—'कृत्तद्धितसमासाः' । संज्ञा का बोध पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति में आए पद 'प्रातिप्रदिकम्' से होता है । पूर्वसूत्र के प्रभाव के कारण 'कृत्' और 'तद्धित' में तदन्तविधि होती है । कारण यह है कि 'कृत्' तथा 'तद्धित' दोनों ही प्रत्यय होने के कारण स्वतः अर्थवान् नहीं हैं । समास स्वतः अर्थवान् है । तदनुसार सूत्र का अर्थ होता है—"कृदन्त, तद्धितान्त एवं समास (कृत् च, तद्धितश्च, समासश्च—कृत्तद्धितसमासाः) भी प्रातिपदिक संज्ञक होते हैं" ।

विशेष—१—'कृत्' और 'तद्धित' प्रत्यय हैं । अतः कृदन्त और तद्धितान्त शब्दों को पहले सूत्र से प्रातिपदिक-संज्ञा प्राप्त नहीं रही । इस हेतु यहाँ पृथक् विधान किया गया है ।

२—समास के स्वतः अर्थवान् होने के कारण पूर्वसूत्र से यथानियम प्रातिपदिक-संज्ञा की प्राप्ति होनेपर इस सूत्र से विधान करने में विशेष प्रयोजन है । इस हेतु 'समास' पद यहाँ नियामक है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तेन वाक्यस्य न । (१८०) प्रत्ययः ३ । १ । १ ॥ आ पञ्चमपरिसमाप्तेरधिकारोऽयम् ।

प्रातिपदिकत्वात् तदवयवजसो लुकि 'चितः सप्रकृतेर्बह्वकजर्थम्' इति टकारादुकारस्य उदात्तत्वे चित्स्वरे कृते पुनर्जसि बहुपटव इति रूपम् । अत्र टकारादकार उदात्त इति स्थितिः । जसन्तात् पूर्वतो बहुच्प्रत्यये बहुपटव इति समुदायस्य प्रातिपदिकत्वाभावे तु ततो जसन्तरं नोत्पद्येत । न चेष्टापत्तिः, तथा सति बहुच्प्रकृतिभूतजसन्ते जसः प्रातिपदिकावयवत्वाभावेन 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति लुगभावाद् बहुपटव इति जसन्तस्यैव बहुच्प्रकृतितया चितस्सप्रकृतेर्विधीयमानश्चित्स्वरः जस एवाकारस्य स्यात् । इष्यते तु टकारादुत्तरस्य । बहुपटव इति समुदायस्य प्रातिपदिकत्वे तु प्रातिपदिकावयवत्वात् जसो लुकि पटुशब्दस्यैव बहुच्प्रकृतितया टकारादुत्तरस्य चित्स्वरे सति पुनर्जसि बहुपटवः इति रूपमुक्तं निर्बाधमिति भावः । नियमस्य फलमाह—तेनेति । उक्तनियमेनेत्यर्थः । अन्यथा 'देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन' इत्यादिवाक्यस्यापि प्रातिपदिकत्वापत्तौ सुब्लुक् स्यात् । न च वाक्यस्य प्रत्ययान्तत्वादेव न प्रातिपदिकत्वमिति वाच्यम्, प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेरेव ग्रहणादिति भावः । कृत्तद्धितसमासाश्चेति चकारः अनुक्तसमुच्चायार्थः । तेन 'निपातस्यानर्थकस्य प्रातिपदिकसंज्ञा वक्तव्या' इति वार्तिकं गतार्थम् ।

(१८०) प्रत्ययः । तृतीयाध्यायस्यादिमं सूत्रमिदम् । इत ऊर्ध्वमापञ्चमाध्यायपरिसमाप्तेः प्रत्ययशब्दः संज्ञात्वेनाधिक्रियत इत्यर्थः । हनश्च वधः, ईं च खनः, नडादीनां कुक्च इत्यादीनामादेशागमानां तु न प्रत्ययसंज्ञा, महासंज्ञाकरणात् ।

तदनुसार नियम का स्वरूप इस प्रकार है—"जिस शब्द-समुदाय के पूर्व तथा उत्तर भाग स्वतन्त्र रूप से प्रयोग के योग्य हों तो ऐसी स्थिति में समासयुक्त पदों की ही प्रातिपदिक-संज्ञा होती है"[1] । इस नियम से वाक्य आदि की प्रातिपदिक-संज्ञा नहीं होती । वाक्य की प्रातिपदिक-संज्ञा होने पर उसके पश्चात् आने वाली विभक्तियों का "सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः" (२-४-७१) से लोप हो जाने पर पुनः उसे एक पद मानना पड़ता । इस अनवस्था को दूर करने के लिये इस नियम की उपयोगिता सिद्ध होती है ।

निष्कर्ष—किसी शब्द (पद) के निष्पन्न होने में परिनिष्ठित होने की मध्यवर्ती स्थिति को प्रातिपदिक कहना अधिक उपयुक्त होगा । यह शब्द की वह अवस्था है जब उसमें सुब्विभक्तियों के ग्रहण करने की योग्यता हो जाती है ।

(१८०) पद—प्रत्ययः । संज्ञा-अधिकारसूत्र ।

मूलार्थ—पञ्चम अध्याय की समाप्ति तक इसका अधिकार है ।

सन्दर्भ—'सुप्'-विभक्तियों के प्रत्यय होने में प्रमाणभूत 'प्रत्यय'-अधिकार का प्रभाव बतलाया जारहा है ।

विवरण—तृतीय अध्याय (३-१-१) के आरम्भ से लेकर पाँचवे अध्याय की समाप्ति (५-४-१६०) तक 'प्रत्यय' संज्ञा का अधिकार रहेगा । यह अधिकार तथा संज्ञा-सूत्र दोनों ही है ।

विशेष—वैयाकरणों ने अन्वर्थक संज्ञाओं को 'महासंज्ञा' नाम दिया है[2] । 'प्रत्यय' भी महासंज्ञा

---

१. "यत्रार्थवति संघाते पूर्वो भागस्तथोत्तरः ।
स्वातन्त्र्येण प्रयोगार्हः समासस्यैव तस्य चेत् ॥"

२. 'प्रत्यय' इति महती संज्ञा क्रियते । संज्ञा च नाम यतो न लघीयः । कुत एतत् ? लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम् । तत्र महत्याः संज्ञायाः करणे एतत्प्रयोजनम्—'अन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत' । प्रत्याययतीति प्रत्ययः । उभयसाधनोऽयम् । कर्तृसाधनः कर्मसाधनश्च । एवमपि भवितुमर्हति । प्रत्याय्यते इति च प्रत्ययः । महाभाष्यम् ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१८१) परश्च ३।१।२ ॥ अयमपि तथा । **(१८२) ङ्याप्प्रातिपदिकात् ४।१।१ ॥** ङ्यन्तादावन्तात्प्रातिपदिकाच्चेत्यापञ्चमपरिसमाप्तेरधिकारः । 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्ग-विशिष्टस्यापि ग्रहणम्' (प ७२) इत्येव सिद्धे ङ्याब्ग्रहणं ङ्यावन्तात्तद्धितोत्पत्तिर्यथा

---

(१८१) परश्च । तृतीयाध्यायस्य द्वितीयसूत्रमेतत् । अयमपि तथेति । अयमपि योगः आपञ्चमपरिसमाप्तेरधिकारः इत्यर्थः । अवधिनियमे तु व्याख्यानमेव शरणम् ।

(१८२) ङ्याप्प्रातिपदिकात् । चतुर्थाध्यायस्यादिमं सूत्रमिदम् । ङी च, आप् च, प्रातिपदिकं चेति समाहारद्वन्द्वः । ङी इति–ङीप्ङीष्ङीनां सामान्येन ग्रहणम् । आबिति टाप्ङाप्चापां ग्रहणम् । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तग्रहणम् । तदाह—ङ्यन्तादित्यादिना । आपञ्चमेत्यवधिनियमे तु व्याख्यानमेव शरणम् । ननु प्रातिपदिकादित्येव सूत्र्यताम्, ङ्याब्ग्रहणं मास्तु । प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति परिभाषया ऊङ्प्रत्ययान्तात् श्वश्रूशब्दादिव दण्डिनी अजा खट्वा इत्यादिभ्योऽपि ङ्याबन्तेभ्यः सुबादिप्रत्ययसम्भवादित्यत आह—प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापीति । स्त्रीलिङ्गबोधकङीबादिप्रत्ययविशिष्टस्येत्यर्थः । यथा स्यादिति । यथेति योग्यतायाम् । ङ्याबन्तादेव तद्धितः प्राप्तुं योग्यः स च ङ्याब्ग्रहणे सत्येव स्यादित्यर्थः । व्यवच्छेद्यं दर्शयति—ङ्याब्भ्यां प्राङ् माभूदिति । ततश्च लोहिनिका च सिध्यति । तथाहि—लोहितशब्दस्तावत् 'वर्णानां तणतिनितान्तानाम्' इति फिट्सूत्रेणाद्युदात्तः । ततश्च ओकारः उदात्तः । 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' इति परिशिष्टौ

है । इसके अनुसार विभिन्न प्रत्यय अपने-अपने प्रकृतिवाचक शब्दों के बोधक होते हैं । 'प्रत्यय' शब्द की व्युत्पत्ति भी इसी अर्थ की सूचक है—'प्रत्याययति' (प्रति+√इ+णिच्+अच्–भावे) इति प्रत्ययः अथवा 'प्रत्याय्यते' इति प्रत्ययः (प्रति+√इ+णिच्+अच्—कर्मणि) । जैसे—सुप्, तिङ्, कृत्, तद्धित आदि प्रत्यय ।

(१८१) पद—परः, च । **अनुवृत्ति**—प्रत्ययः । **परिभाषा-अधिकार-सूत्र ।**

मूलार्थ—यह भी वैसा है ।

सन्दर्भ—प्रत्यय की स्थिति के विषय में नियम बतलाया जारहा है ।

विवरण—इसका भी पाँचवे अध्याय की समाप्ति पर्यन्त अधिकार है । यह सन्देह उपस्थित होता है कि प्रत्यय की स्थिति प्रकृतिवाचक शब्द के पूर्व में, मध्य में या पर कहाँ हो ? इसका निराकरण करने के लिये यह नियम करता है कि प्रत्यय की स्थिति प्रकृति के पश्चात् ही रहती है[1] । अतः सूत्रार्थ यह है कि 'जिसकी प्रत्यय संज्ञा की गई है, वह जिससे विधान किया जाय, उससे परे (परः) होता है ।

विशेष—कहीं-कहीं प्रत्ययों में इस नियम का अपवाद भी दिखलाई पड़ता है । ऐसे स्थलों पर पाणिनि ने विशेष यत्न द्वारा पूर्व अथवा मध्य में होने का सूत्र में ही निर्देश कर दिया है । जैसे—"विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु" (५-३-६८) सूत्र से 'बहुच्' प्रत्यय की स्थिति 'प्रकृति' के पूर्व (पुरस्तात्) रहती है—'बहुपटुः' । ऐसे ही "अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः" (५-३-७१) सूत्र से विधीयमान 'अकच्' प्रत्यय अव्यय तथा सर्वनाम-शब्दों की 'टि' के पूर्व ('प्राक्') स्थित रहता है—'उच्चकैः' ।

(१८२) पद—ङ्याप्प्रातिपदिकात् । **अधिकारसूत्र ।**

मूलार्थ—इसका भी पाँचवें अध्याय के अन्त तक अधिकार है । तदनुसार इस सूत्र के अनन्तर पाँचवे अध्याय तक कहे हुए प्रत्यय ङ्यन्त आबन्त तथा प्रातिपदिक से हुआ करेंगे । 'प्रातिपदिक'

---

१. प्रत्ययः पूर्वो भवति परो वा इति अनियमेन अध्याहारे प्रसक्ते पर एवेति नियमार्थं सूत्रारम्भः । 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि केवलः प्रत्ययः' इत्येतदपि एतन्नियमसिद्ध एव ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इकाराकारावनुदात्तौ। तथा च 'वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः' इति मणौ विद्यमानाल्लोहित-शब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायां ङीप्, तत्सन्नियोगेन तकारस्य नकारादेशश्च प्राप्तः। 'लोहिता-न्मणौ' इति स्वार्थिकः कन्नपि प्राप्तः। तत्र स्वार्थिकत्वादन्तरङ्गः परश्च कन् नत्वसन्नियोग-शिष्टं ङीपं बाधित्वा प्रवर्तेत, ततश्च ङीपो न प्रसक्तिः, कोपधत्वेन नोपधत्वाभावात्। ततश्च लोहितकशब्दात् 'अजाद्यतः' इति टापि प्रत्ययस्यादित्यादिना इत्वे लोहितिकेत्येव स्यात्, न तु लोहिनिकेति। इष्यते तु रूपद्वयमपि। ङ्याप्प्रातिपदिकादित्यत्र ङेऽग्रहणे तु तत्सामर्थ्यात् अन्तरङ्गं परमपि कनं बाधित्वा नत्वसन्नियोगशिष्टे ङीपि कृते, लोहिनी-शब्दात् कनि 'केऽणः' इति ह्रस्वे, लोहिनिकेति रूपम्। वर्णादनुदात्तादित्यस्य वैकल्पिक-तया नत्वसन्नियोगविशिष्टङीबभावे तु लोहितशब्दात् कनि, ह्रस्वे, पुनः कान्तात् टापि, प्रत्ययस्यादितीत्वे लोहितिकेत्यपि सिध्यति। तथा आर्यशब्दात् स्वार्थिके कनि, समुदायो-त्तरटापैव स्त्रीत्वबोधनसम्भवादेकाज्द्विर्वचनन्यायेन कन्नन्तादेव टापि, कनः पूर्वं टाबभा-वात्, आत्स्थानिकस्य अतोऽभावात् उदीचामातस्स्थाने इति इत्त्वविकल्पस्याप्रवृत्तौ, प्रत्यय-स्यादिति नित्यमित्वे आर्यिकेत्येव स्यात्, आर्यकेति न स्यात्। इष्यते तूभयमपि। ङ्या-प्प्रातिपदिकादित्यत्र आब्ग्रहणे तु तत्सामर्थ्यात् स्वार्थिक कनं बाधित्वा टापि, ततः कनि, केऽण इति ह्रस्वे, पुनः कन्नन्ताट्टापि, उदीचामातस्स्थाने इतीत्वविकल्पे रूपद्वयं सिध्यति। वस्तुतस्तु ङ्यापोर्ग्रहणं मास्तु, सुबन्तादेव तद्धितोत्पत्तिः। सुपः प्रागेव च ङ्यापौ

कथनमात्र से लिङ्गविशेष का भी ग्रहण स्वतः सिद्ध होने के कारण सूत्र में पुनः 'ङ्याप्' ग्रहण यह सूचित करता है कि 'ङी' तथा 'आप्' प्रत्ययों की उत्पत्ति के बाद ही तद्धित प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है, उसके पूर्व नहीं।

विवरण—तृतीय और पाँचवे अध्याय के मध्य यह तीसरा अधिकार-सूत्र है। पहले सूत्र "प्रत्ययः" द्वारा सामान्यतः प्रत्ययों के विधान के विषय में अवगत कराया गया है। दूसरे सूत्र "परश्च" द्वारा प्रत्ययों की स्थिति के सम्बन्ध में ज्ञात कराया गया। प्रकृत-सूत्र द्वारा (४-१-१) चतुर्थ तथा पञ्चम अध्यायों के मध्य विहित प्रत्ययों का प्रकृति-सम्बन्धी विवरण दिया जारहा है। अतः चतुर्थ तथा पञ्चमाध्याय के मध्य विहित प्रत्यय ङ्यन्त, आवन्त, तथा प्रातिपदिक शब्दों से होंगे (ङी च आप् च प्रातिपदिकं च, तस्मात्—समाहार-द्वन्द्व)। इन प्रत्ययों से पूर्व रहने वाली प्रकृति का विवरण तीन शब्दों द्वारा सूचित किया गया है। १–ङी = स्त्री प्रत्यय के तीन 'ईकारान्त प्रत्यय—'ङीप्', 'ङीष्' तथा 'ङीन्' हैं। २–आप् = स्त्रीप्रत्यय के तीन आकारान्त प्रत्यय—'टाप्', 'डाप्' तथा 'चाप्' स्वीकृत हैं। ३–प्रातिपादिक = अर्थवान् शब्द एवं कृदन्त, तद्धितान्त तथा समासयुक्त शब्दों का ग्रहण होता है।

शङ्का-समाधान—सामान्यतः 'प्रातिपदिक' से अर्थवान् शब्दों का बोध होता है। इस कारण 'प्रातिपदिक' अपने स्त्रीलिङ्गवाची शब्द का भी ग्राहक होता है—(परि०) "प्राति-पदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्"। अतः स्त्रीलिङ्ग-बोधक प्रत्ययों (ङी तथा आप्) का इस सूत्र में ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान शापक के रूप में दिया जा रहा है। तदनुसार यह व्यवस्था की जारही है कि स्त्री-प्रत्ययों के बाद ही तद्धित-प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है। उसके पूर्व नहीं। इस शापन के फलस्वरूप 'आर्यका' तथा 'आर्यिका' इन दोनों अभीष्ट रूपों की सिद्धि होती है। इस व्यवस्था के विधान का कारण यह है कि १–स्वार्थ (धर्म), २–द्रव्य (धर्मी), ३–लिङ्ग ४–संख्या तथा ५–कारक आदि के निमित्त होनेवाले कार्यों की प्राप्ति में पूर्व कार्यों की प्रमुखता है—"स्वार्थ-द्रव्य-लिङ्ग-संख्या-कारकाणां क्रमिकत्वम्"। इस क्रम के अन्तर्गत 'आर्य' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' तथा स्वार्थ में 'कन्' प्रत्यय की अपेक्षा होने पर, इन दोनों में से प्रथम 'कन्' प्रत्यय की प्राप्ति होने से–आर्य+क<'आर्यक' निष्पन्न होकर पश्चात् 'टाप्' प्रत्यय होने से आर्यक+टाप् = 'आर्यका' रूप बनेगा। ऐसी स्थिति में 'क' से पूर्ववर्ती 'अ' के स्थान पर नित्य 'इ' होने से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्यान्ङ्याभ्यां प्राङ् मामूदित्येवमर्थम् । (१८३) **स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् ४ । १ । २ ॥** ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः । सुङस्योरुकारेकारौ जशटङपाश्चेतः ।

प्रवर्तेते । स्वार्थद्रव्यलिङ्गसङ्ख्याकारककुत्सादिप्रयुक्तकार्याणां क्रमिकत्वात् । तथाहि–स्वार्थः प्रवृत्तिनिमित्तं जात्यादि । तज्ज्ञानं पूर्वं भवति, विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानस्य कारणत्वात् । ततस्तदाश्रयज्ञानम्, धर्मित्वेन प्रधानत्वात् लिङ्गादिभिराकाङ्क्षितत्वाच्च । ततः स्वमात्रापेक्षत्वात् लिङ्गस्य ज्ञानम् । ततो विजातीयक्रियापेक्षकारकापेक्षया सजातीयपदार्थापेक्षसङ्ख्याज्ञानम् । ततः कारकरूपविभक्त्यर्थापेक्षा भवति । तन्निवृत्तौ कुत्सादिज्ञानमिति कुत्सित इति सूत्रभाष्ये स्थितम् । शब्दरत्ने च परिष्कृतमेतत् ।

(१८३) स्वौजसमौट् । सु–औ–जस्, अम्–औट्–शस्, टा–भ्यां–भिस्, ङे–भ्यां–भ्यस्, ङसि–भ्यां–भ्यस्, ङस्–ओस्–आम्, ङि–ओस्–सुप्—इत्येकविंशतिः स्वादयः । समाहारद्वन्द्वः, इतरेतरयोगद्वन्द्वो वा, तथा सति सौत्रमेकवचनम् । ङ्याप्प्रातिपदिकादित्यधिकृतं, प्रत्ययः, परश्चेति च । यथायथं च विपरिणम्यते । तदाह—ङ्यन्तादित्यादिना । सुडस्योरिति । सु–ङसि इत्यनयोरुकारेकारौ, जस्–शस्–इत्यनयोर्जकारशकारौ, औट्–टा–इत्यनयोष्टकारः, ङे–ङसि–ङस्–ङि—इत्येतेषां ङकारः, सुप् इत्यस्य पकारः–इत्येते इत्संज्ञकाः प्रत्येतव्या इत्यर्थः । उपदेशेऽजनुनासिक इत्, 'चुटू' 'लशकतद्धिते' 'हलन्त्यम्' इति सूत्रैरिति शेषः । इत्संज्ञायां च लोपः । तदुच्चारणफलं तु तत्र तत्र वक्ष्यते ।

'आर्यिका' एक ही रूप बनेगा—"प्रत्यय-स्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः" (७-३-४४) । उपर्युक्त ज्ञापन के अनुसार पहले स्त्रीप्रत्यय 'टाप्' की प्रवृत्ति होगी । पश्चात् 'कन्' प्रत्यय के होने पर (आर्या+क) 'क' से पूर्ववर्ती 'आ' को "केऽणः" (७-४-१३) सूत्र से ह्रस्व होकर आर्यक+टाप् (आ) = 'आर्यका' रूप निष्पन्न होता है । ऐसी स्थिति में 'क' से पूर्ववर्ती 'अ' को आकारस्थानी होने के कारण विकल्प से 'इ' होने में (आर्यिका–आर्यका) कोई बाधा नहीं होती—"उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः" (७-३-४६) ।

(१८३) **पद**—स्वौजसमौट्···सुप् । **अनुवृत्ति**–ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—ङ्यन्त, आबन्त और प्रातिपदिक से परे स्वादि प्रत्यय होते हैं । 'सु' का उकार एवं 'ङसि' का इकार और ज्, श्, ट् तथा ङ् इत्संज्ञक हैं ।

सन्दर्भ—प्रथमा आदि सात विभक्तियों को सुप् प्रत्ययों के रूप में बतलाया जारहा है ।

विवरण—पूरे सूत्र में एक पद है । (समाहार) द्वन्द्व–समास होने के कारण 'सुप्' प्रत्ययों का संकलन किया गया है—सु च, औ च, जस् च, अम् च, औट् च, शस् च, टा च, भ्याम् च, भिस् च, ङे च, भ्याम् च, भ्यस् च, ङसि च, भ्याम् च, भ्यस् च, ङस् च, ओस् च, आम् च, ङि च, ओस् च, सुप् च—"स्वौजस···सुप्" । ये २१ प्रत्यय किस स्थिति में हों ? इसका समाधान "ङ्याप्प्रातिपदिकात्" (१२०) "प्रत्ययः" (१८०) "परश्च" (१८१) इन तीनों अधिकार-सूत्रों की अनुवृत्ति द्वारा किया जाता है । तब सूत्र से यह आशय विदित होता है कि 'ङी' प्रत्ययान्त 'आप्' प्रत्ययान्त तथा 'प्रातिपदिक' से परे 'सु' 'औ' 'जस्' आदि इक्कीस प्रत्यय होते हैं । इन प्रत्ययों का समावेश 'सुप्' प्रत्याहार में किया गया है । अतः 'सुप्' में 'प्' इत्संज्ञक है । अन्य वर्णों में 'सु' का उकार तथा 'ङसि' का इकार इत्संज्ञक हैं—"उपदेशेऽजनुनासिक इत्" (३) । इसके अतिरिक्त 'जस्' का 'ज्', 'शस्' का 'श्', 'औट्' तथा 'टा' का 'ट्', 'ङे' 'ङसि' 'ङस्' तथा 'ङि' का 'ङ्' भी इत्संज्ञक है । इनमें से 'प्' की इत्संज्ञा "हलन्त्यम्" (१) सूत्र से होती है । अन्य वर्णों की इत्संज्ञा के निर्देशक सूत्र यथास्थान उद्धृत किये जाएँगे ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१८४) विभक्तिश्च १।४।१०४॥ सुप्तिङौ विभक्तिसंज्ञौ स्तः। तत्र 'सु' 'औ' 'जस्' इत्यादीनां त्रिकाणां प्रथमादयः सप्तम्यन्ताः प्राचां सञ्ज्ञाः, तामिरिहापि व्यवहारः। **(१८५) सुपः १।४।१०३॥** सुपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवचनद्विवचनबहुवचनसंज्ञानि स्युः।

---

(१८४) अथ 'न विभक्तौ तुस्माः' इत्याद्युपयोगिनीं विभक्तिसंज्ञामाह—विभक्तिश्च। सुप् इति पूर्वसूत्रात् सुब्ग्रहणम्, तिङस्त्रीणीत्यतस्तिङग्रहणं चानुवर्तते, एकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञाबलात्। तदाह—सुप्तिङाविति। चकारः पुरुषवचनसंज्ञाभिः समावेशार्थः। तेन एकसंज्ञाधिकारस्थत्वेऽपि पर्यायत्वम्। अन्यथा रामेभ्यः, भवामः इत्यादौ विभक्तिसंज्ञाविरहेण न विभक्ताविति निषेधो न स्यात्। ननु प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा, कर्मणि द्वितीया, कर्तृकरणयोस्तृतीया, चतुर्थी सम्प्रदाने, अपादाने पञ्चमी, षष्ठी शेषे, सप्तम्यधिकरणे च इत्यादौ कथं प्रथमादिव्यवहारः सूत्रकृता पाणिनिना प्रथमादिसंज्ञानामनुक्तत्वादित्यत आह—तत्रेति। तेषु स्वादिप्रत्ययेषु मध्य इत्यर्थः। इत्यादीनामिति। आदिना औट्-शस्-इत्यादीनां ग्रहणम्। प्राचामिति। पाणिनेः पूर्वेषां स्फोटायनाद्याचार्याणां शास्त्रे प्रथमाद्याः सप्तम्यन्ताः संज्ञा स्थिता इत्यन्वयः। किं तत इत्यत आह—तामिरिति। ताभिः प्रथमादिसंज्ञाभिः इहापि पाणिनीयशास्त्रेऽपि व्यवहारः सम्भवतीत्यर्थः।

(१८५) सुपः। सुप् प्रत्याहारः। षष्ठ्येकवचनम्। 'तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः' इति सूत्रं तानीतिवर्जमनुवर्तते। एकश इति एकैकमित्यर्थः। 'सङ्ख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्' इति शस्। शसैव वीप्सायां अभिधानात् 'नित्यवीप्सयोः' इति

---

(१८४) पद—विभक्तिः, च। अनुवृत्ति—सुप्, तिङ्। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—'सुप्' और 'तिङ्' की विभक्ति संज्ञा होती है। इनमें से 'सु' 'औ' 'जस्' इत्यादि सात त्रिकों की वैयाकरणों ने क्रमशः प्रथमा आदि से सप्तमी तक संज्ञायें बतलाई हैं। उनका उसी रूप में यहाँ भी प्रयोग किया गया है।

सन्दर्भ—'सुप्' प्रत्याहार की विभक्ति-संज्ञा का निर्वचन किया जारहा है।

विवरण—'विभक्ति' संज्ञा है तथा संज्ञी—'सुप्' और 'तिङ्'। ये संज्ञार्थ अनुवृत्ति द्वारा सूच्य हैं। 'सुप्' और 'तिङ्' प्रत्याहार हैं। इनमें से 'सुप्' प्रत्याहार को पूर्व-सूत्र (१८३) में २१ प्रत्ययों के रूप में वर्णित किया गया है। शाकटायन आदि प्राचीन वैयाकरणों ने उसका विभाजन प्रत्येक को तीन-तीन के समुदाय (त्रिक) द्वारा सात त्रिकों के रूप में प्रथमादि सात विभक्तियों के नाम से किया था। ये संज्ञायें उसी रूप में पाणिनि को भी मान्य हैं। 'तिङ्' प्रत्यहार का निर्वचन 'तिङन्त' प्रकरण में किया जायगा। 'तिङ्' प्रत्याहार में १८ प्रत्ययों का समावेश है।

(१८५) पद—सुपः। अनुवृत्ति—त्रीणि, त्रीणि, एकवचनद्विवचनबहुवचनानि, एकशः। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—'सुप्' के तीन तीन वचन क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञक होते हैं।

सन्दर्भ—प्रत्येक 'त्रिक' का अवानन्तर विभाजन किया जारहा है।

विवरण—ये एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन संज्ञा हैं। संज्ञी—सुपः त्रीणि-त्रीणि वचनानि। संज्ञा का पूर्ण स्वरूप जानने के लिए "तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः" (१-४-१०२) सूत्र से 'एकवचन', 'द्विवचन', 'बहुवचन' तथा 'एकशः' पदों की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। 'संज्ञी' का पूरा स्वरूप जानने के लिये "तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः" (१-४-१०१) सूत्र से 'त्रीणि त्रीणि' पदों की अनुवृत्ति लाई जाती है। प्रकृत सूत्रस्थ 'सुपः' पद अनुवृत्त पदों के साथ सम्बद्ध होकर 'संज्ञी' की पूर्णता प्रतिपादित करता है। यह पहले बतला दिया गया है कि 'सुप्' प्रत्याहार के २१ प्रत्ययों को सात त्रिकों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक त्रिक के तीन प्रत्ययों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१८६) द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने १ । ४ । २२ ॥ द्वित्वैकत्वयोरेते स्तः । **(१८७) बहुषु बहुवचनम् १ । ४ । २१ ॥** बहुत्वे एतत्स्यात् । रुत्वविसर्गौ । रामः ।

द्वित्वं न । तच्च सङ्ख्यैकवचनाच्चेति सूत्रव्याख्यावसरे प्रपञ्चयिष्यते । तिङ्स्त्रीणि त्रीणीत्यतः त्रीणि त्रीणीत्यनुवर्तते । तदाह—सुपस्त्रीणीत्यादिना ।

(१८६) द्व्येकयोः । द्व्येकयोरिति भावप्रधानो निर्देशः । अन्यथा द्व्येकेष्विति स्यादित्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—द्वित्वैकत्वयोरिति ।

(१८७) बहुषु । पूर्वसूत्रावैरूप्याय इहापि बहुशब्दो बहुत्वपर इत्याह—बहुत्व इति । न चात्र सूत्रे बहुशब्दस्य बहुत्वपरत्वेऽपि बहुत्वस्य एकत्वात् बहुष्विति बहुवचनं कथमिति शङ्क्यम्, बहुत्वसङ्ख्याधारद्रव्यगतबहुत्वस्य बहुत्वगुणे आरोपेण तदुपपत्तेः । बहुत्वं च त्रित्वचतुष्ट्वादिपरार्धसङ्ख्याव्यापकीभूतधर्मविशेषः न तु त्रित्वाद्यन्यतममित्येकादशस्य

की क्रमशः एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन संज्ञा होती है । तदनुसार सातों त्रिकों का विभक्तियों के रूप में विभाजन अधोलिखित चक्र में वर्णित है—

'सुप्'—प्रत्याहार-बोधक चक्र

मूलरूप			←—— सुप्-प्रत्यय ——→		इत्संज्ञा-रहित-रूप	
एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	← विभक्तियाँ	→ एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
सु	औ	जस्	← प्रथमा	→ स् (:)	औ	अस् (:)
(,,)	(,,)	(,,)	← (सम्बोधन)	→ (स्)	(औ)	(अस्)
अम्	औट्	शस्	← द्वितीया	→ अम्	औ	अस् (:)
टा	भ्याम्	भिस्	← तृतीया	→ आ	भ्याम्	भिस् (:)
ङे	भ्याम्	भ्यस्	← चतुर्थी	→ ए	भ्याम्	भ्यस् (:)
ङसि	भ्याम्	भ्यस्	← पञ्चमी	→ अस् (:)	भ्याम्	भ्यस् (:)
ङस्	ओस्	आम्	← षष्ठी	→ अस् (:)	ओस् (:)	आम्
ङि	ओस्	सुप्	← सप्तमी	→ इ	ओस् (:)	सु

विशेष—'तिङ्'—प्रत्यय धातुओं में लगाये जाते हैं । उनकी संख्या १८ है । उनमें से ९ परस्मैपदी तथा अवशिष्ट ९ आत्मनेपदी धातुओं में संयुक्त होते हैं ।

(१८६) पद—द्व्येकयोः, द्विवचनैकवचने । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—द्वित्व तथा एकत्व की विवक्षा में द्विवचन तथा एकवचन होते हैं ।

सन्दर्भ—सात त्रिकों में सुप्-प्रत्ययों का वर्गीकरण करने के पश्चात् क्रमप्राप्त एक-वचन तथा द्विवचन के प्रसङ्ग में निर्देश दिया जारहा है ।

विवरण—दो तथा एक संख्या का अभिप्राय प्रकट करने में (द्वौ च एकश्च–द्व्येकौ, तयोः) क्रमशः द्विवचन का प्रत्यय तथा एक संख्या का अभिप्राय प्रकट करने में एक-वचन का प्रत्यय (द्विवचनं च एकवचनं च—द्विवचनैकवचने—इतरेतर-द्वन्द्व) होता है । उद्देश्य और विधेय दोनों समान संख्यक होने से "यथासंख्य०" (१२८) परिभाषा की उपस्थिति से क्रमशः अन्वित हो जाते हैं । **उदाहरण**—द्विवचन–बालकौ ('औ') । एकवचन–बालकः ('सु') ।

(१८७) पद—बहुषु, बहुवचनम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—बहुत्व की विवक्षा में बहुवचन होता है । रुत्वविसर्ग करने पर 'रामः' ।

सन्दर्भ—क्रमप्राप्त बहुवचन के प्रत्यय के प्रसङ्ग में निर्देश दिया जारहा है ।

विवरण—दो से अधिक कहने की अपेक्षा में बहुवचन के प्रत्यय होते हैं । जैसे—बालकाः ('जस्' प्रत्यय) ।

विशेष—वर्णक्रम नुसार प्रातिपदिक-शब्दों में विभक्तियों के अन्तर्गत रूपसिद्धि के प्रसङ्ग में सर्व-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१८८) सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ १ । २ । ६४ ॥ एकविभक्तौ यानि सरूपाण्येव दृष्टानि तेषामेक एव शिष्यते । 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (सू १६४) । 'नादिचि' (सू १६५) ।

प्रथमे 'बहुवचनेन सर्वप्राप्ते विकल्पः स्यात्' इति कपिञ्जलाधिकरणे तन्त्राप्यवार्तिकयोः स्थितम् । प्रपञ्चितं चास्माभिरध्वरमीमांसाकुतूहलवृत्तौ । एवं च बहुरोदन इति वैपुल्यवाचिनो बहुशब्दाद् न बहुवचनम् । द्व्यर्थकयोरित्यादिप्रायपाठबलेन सङ्ख्यानियतस्यैव तथाविधबहुत्वस्यात्र विवक्षितत्वम् । एकस्यामेव स्यादिविभक्तौ द्वारा इत्यादिप्रयोगे त्ववयववबहुत्वस्यावयवविन्यारोपाद् बहुवचनं कोशवृद्धव्यवहारबलादित्यलम् । रुत्वविसर्गाविति । रामशब्दात् प्रथमाविभक्तौ एकवचने सु प्रत्यये सति, उकारस्य इत्वेन लोपे ससजुषोरिति रुत्वे, खरवसानयोरिति विसर्ग इत्यर्थः । सु इत्युकारस्तु अर्वणस्त्रसावित्यादौ विशेषणार्थः । असीत्युक्ते हि असकारादावित्यर्थः स्यात् । ततश्च वाजमर्वत्सु इत्यत्र अर्वणस्तृधिर्न प्रवर्तेत । न चात्र रोरसुप्त्वात् तदन्तस्य पदत्वाभावात् रेफस्य पदान्तत्वाभावात् कथमिह विसर्ग इति वाच्यम्, स्थानिवद्भावेन रोः सुप्त्वात् । न च स्थानिवद्भावे कर्तव्ये त्रैपादिकस्य रोरसिद्धत्वं शङ्क्यम्, 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' इति अप्रत्ययग्रहणेन स्थानिवत्त्वातिदेशे रोरसिद्धत्वाभावज्ञापनात् । तत्र ह्यप्रत्ययग्रहणम् अग्निꣳ करोति, कविभिꣳ कृतमित्यादौ विसर्गपर्युदासार्थम् । स्थानिवत्त्वे कर्तव्ये रोरसिद्धत्वे तु तत्र विसर्गस्यैवाभावात् तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेत्यलम् । राम इति ।

'रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥' इति श्रुतिः ।

'करणाधिकरणयोश्च' इत्यधिकारे 'हलश्च' इत्यधिकरणे घञ् । कृत्तद्धितेति प्रातिपदिकत्वम् । अव्युत्पन्नः संज्ञाशब्दो वा । तथा सति अर्थवदिति प्रातिपदिकत्वम् ।

(१८८) अथ प्रातिपदिकार्थगतद्वित्वादिविवक्षायां प्रातिपदिकस्य द्व्यादिप्रयोगप्राप्तविदमारभ्यते—सरूपाणाम् । एकविभक्ताविति सरूपाणामित्यत्रान्वेति । समानं रूपं येषां तानि सरूपाणि । ज्योतिर्जनपदेत्यादिना समानस्य सभावः । निर्धारणे षष्ठी । वृद्धो यूनेत्युत्तरसूत्रादेवेत्यपकृष्यते । शिष्यत इति शेषः । कर्मणि घञ् । एकश्चासौ शेषश्चेति पूर्वकालैकेति समासः । एकस्यां विभक्तौ परतः सरूपाणामेव दृष्टानां मध्ये एकः शिष्यत इति फलति । तदाह—एकविभक्ताविति । एवेति किम् । मातृशब्दस्तावज्जननीवाची,परि-

---

प्रथम अकारान्त-पुंलिङ्ग 'राम' शब्द को उदाहरणस्वरूप लिया जारहा है । व्युत्पत्ति एवं अव्युत्पत्ति दोनों पक्षों में क्रमशः "अर्थवदधातु०" (१-२-४५) तथा "कृत्तद्धित०" (१-२-४६) सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा होने पर सुप्-प्रत्यय सम्बद्ध होंगे । अव्युत्पत्ति-पक्ष में 'राम' शब्द दशरथ-पुत्र अर्थ में रूढ़ माना जाता है । व्युपत्ति-पक्ष में √रम्+घञ् (अ) प्रत्यय करने पर (रमन्ते योगिनः अस्मिन्) 'राम' शब्द से सुप् प्रत्यय सम्बद्ध होते हैं । तदनुसार राम+सु (स्), <राम+र् (स् = र्— "ससजुषो रुः"), <रामः ("खरवसानयोर्विसर्जनीयः"—अवसान में र् = :) ।

(१८८) पद—सरूपाणाम्, एकशेषः, एकविभक्तौ । **नियमसूत्र ।**

मूलार्थ—एक विभक्ति में जिनका समान स्वरूप देखा जाय वहाँ उनमें से एक ही शेष रहता है । "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" (१६४) दीर्घप्राप्ति । "नादिचि" (१६५) दीर्घनिषेध । "वृद्धिरेचि" (७८)—वृद्धि । रामौ ।

सन्दर्भ—द्विवचन तथा बहुवचन की विवक्षा में क्रमशः दो बार या तीन बार उन्हीं शब्दों का प्रयोग प्राप्त होने पर 'एकशेष' द्वारा व्यवस्था की जारही है ।

विवरण—समान विभक्ति होने पर (एका चासौ विभक्तिः, तस्याम्) समान स्वरूपवाले शब्दों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'वृद्धिरेचि' (सू ७२)। रामौ। (१८९) चुटू १।३।७॥ प्रत्ययाद्यौ चुट्वू इतौ स्तः।

छेत्तृवाची च। तत्र मातृभ्यामिति भ्यामादौ क्वचित्सारूप्ये सत्यपि, औजसादिषु मातरौ मातारावितिवैरूप्यदर्शनान्नैकशेषः। यद्यपि कतिपयविभक्तौ उक्तयोर्मातृशब्दयोः सारूप्येणैव दर्शनमस्ति तथापि एकस्यामपि विभक्तौ परतः विरूपाणि न दृष्टानीत्यर्थो विवक्षितः। एतद्द्योतनायैव एकविभक्ताविति अत्र एकग्रहणम्। एवकारापकर्षसिद्धार्थकथनपरम् एकग्रहणं स्पष्टार्थमेवेति केचित्। एकशेष इत्येकपदोपादानं तु द्विबहूनामपि शेषो मा भूदित्येतदर्थम्। शेषपदानुपादाने तु सरूपाणां स्थाने एक आदेशः स्यात्। ततश्च अश्वश्च अश्वश्चेति द्व्युदात्तवतः स्थाने द्व्युदात्तवानादेशः स्यात्। तन्निवृत्त्यर्थं शेषग्रहणम्। एकविभक्ताविति सारूप्ये उपलक्षणम्। न तु विभक्तौ परतः एकशेषो भवतीति व्याख्यानमुचितम्, जननीपरिच्छेत्तृवाचिनोरेकशेषापत्तेरित्यादि प्रपञ्चितं प्रौढमनोरमायाम्। अत्र 'तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे' इति पूर्वसूत्रात् द्वन्द्व इत्यनुवृत्त्य द्वन्द्वे प्रसक्त इति व्याख्येयम्। ततश्च देवदेवः राजराज इत्यादौ नैकशेषः। द्वन्द्वापवाद एकशेष इति फलितम्। यद्यप्यनभिनिमित्तकत्वादन्तरङ्गोऽयमेकशेषः सुबुत्पत्तेः प्रागेव प्रवर्तते। तथापि द्वन्द्वापवाद एवायम्। असति ह्येकशेषे सुबुत्पत्तिः, पक्षे द्वन्द्वश्च स्यात्। सति तु अनेकसुबन्तविरहात् द्वन्द्वस्याप्राप्तिः फलिता। घटश्च घटश्च घटश्च तेषां समाहार इति समाहारद्वन्द्वविषये तु नास्य प्रवृत्तिः, अनभिधानात्। द्वन्द्वे कृते एकशेष इति तु न व्याख्येयम्। पन्थान इत्यादौ ऋक्पूरित्यादिसमासान्तापत्तेः। करावित्यादौ 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य' इत्याद्यापत्तेः। पूर्वसूत्रादिह द्वन्द्वग्रहणानुवृत्तौ 'इदितो नुम् धातोः' इत्यत्र इदित इति निर्देशो लिङ्गम्। इत् इकारः इत्संज्ञको यस्य सः इदित्, अत्र इच्छब्दयोरेकविभक्तौ सारूप्येऽपि द्वन्द्वविषयत्वाभावान्नैकशेषः, अन्यथा तथाप्येकशेषः स्यादित्यलम्। राम औ इति स्थिते प्रक्रियां दर्शयति—प्रथमयोरित्यादिना। वृद्धिं बाधित्वा पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते आह—नादिचीति। तस्मिन् प्रतिषिद्धे सति वृद्धेः प्रवृत्तौ रामौ इति रूपमित्यर्थः। देवदत्तहन्तृहतन्यायस्तु नात्र प्रवर्तत इति स्वादिसन्धौ मनोरथ इत्यत्र प्रपञ्चितम्। राम अस् इति स्थिते।

(१८६) चुटू। 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इत्यतः इदित्यनुवर्तते। तच्च द्विवचनान्त-

---

का (समानं रूपं येषाम् इति सरूपाः) एक रूप ही शेष रहता है (एकस्य शेषः=एकशेषः)। अर्थात् अन्य शब्द हट जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि दो या दो से अधिक समान स्वरूप वाले शब्दों के पश्चात् समान विभक्तियों के लगने पर उनमें से केवल एक शब्द ही शेष रहता है। अन्य शब्दों का लोप हो जाता है। **उदाहरण**—राम राम+औ, <राम+औ (एकशेष)—इस स्थिति में वृद्धि-सन्धि को बाधकर (अ+औ) पूर्वसवर्ण-दीर्घ (१६४) 'आ' की प्राप्ति होती है। 'इच्' परे रहने के कारण उसका बाधक "नादिचि" (१६५) है। अतः "वृद्धिरेचि" (७२) से वृद्धि होकर—'औ' आदेश = रामौ।

विशेष—एकशेष होने के कारण अनेक वस्तुओं के बोधक उस शब्द का अनेक बार प्रयोग नहीं करना पड़ता है। केवल उस शब्द का एक बार प्रयोग किया जाता है। वस्तुओं की संख्या का बोध द्विवचन एवं बहुवचन के प्रत्ययों से होता है।

(१८६) पद—चुटू। अनुवृत्ति—प्रत्ययस्य, आदिः, इत्। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—प्रत्यय के आदि में स्थित चवर्ग और टवर्ग की इत्संज्ञा होती है। इससे इत्संज्ञा हुई।

सन्दर्भ—'जस्'-विभक्ति में आदि-वर्ण 'ज्' की इत्संज्ञा करने के लिए सूत्र का उपस्थापन किया जारहा है।

विवरण—यहाँ संज्ञा है—इत्। संज्ञी-(आदिः) चुटू। अनुवृत्ति द्वारा आए पदों की सहायता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति जस्येत्संज्ञायाम् । (१९०) **न विभक्तौ तुस्माः १ । ३ । ४ ॥** विभक्तिस्थास्तवर्ग-सकारमकारा इतो न स्युः । इति सकारस्य नेत्त्वम् । (१९१) **अतो गुणे ६।१।९७ ॥** अपदान्तादकाराद् गुणे परतः पररूपमेकादेशः स्यात् । इति प्राप्ते । परत्वात्पूर्वसवर्ण-दीर्घः । 'अतो गुणे' इति हि 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान्विधीन्बाधन्ते नोत्तरान्' (प ६०) इति न्यायेन 'अकः सवर्णे दीर्घः' (सू ८५) इत्यस्यैवापवादः, न तु 'प्रथमयोः—'

तया विपरिणम्यते । 'आदिर्ञिटुडवः' इत्यत आदिग्रहणमनुवर्त्य द्विवचनान्ततया विपरिणम्यते । षः प्रत्ययस्येत्यनुवर्तते, तदाह—प्रत्ययाद्यावित्यादिना । इति जस्येति । इत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपः । जकारस्तु जसश्शीत्यादौ शसो निवृत्त्यर्थः ।

(१९०) अथ जसः सकारस्य हलन्त्यमितीत्संज्ञायां लोपमाशङ्क्याह—न विभक्तौ । तु स् म एतेषां द्वन्द्वः । इत् इत्यनुवृत्तं बहुवचनान्ततया विपरिणम्यते । तदाह—विभक्ति-स्था इत्यादिना ।

(१९१) अथ राम अस् इति स्थिते अकः सवर्णे दीर्घ इति सवर्णदीर्घस्यापवादं पर-रूपमाशङ्क्यानुमाह—अतो गुणे । एङि पररूपमित्यतः पररूपमित्यनुवर्तते । उस्यपदान्ता-दित्यतः अपदान्तादित्यनुवर्तते । एकः पूर्वपरयोरित्यधिकृतम् । अत इति पञ्चमी । तदाह—अपदान्तादित्यादिना । इति प्राप्त इति । न च परत्वात् 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति कुतो न स्यादिति वाच्यम् , 'अकः सवर्णे दीर्घ' इति प्राप्त एवारभ्यमाणपररूपस्य तदपवाद-त्वात् , परादपवादस्य बलीयस्त्वादिति भावः । परत्वादिति । अतो गुणे इत्यपेक्षया 'प्रथ-

---

से सूत्र का अर्थ यह होता है कि "उपदेशावस्था में (मूलरूप में उच्चरित) प्रत्यय के आदि में रहनेवाले चवर्ग और टवर्ग (चुश्च टुश्च–चुटू) इत्संज्ञक होते हैं । **उदाहरण**—'जस्' में 'ज्' की इत्संज्ञा हुई ।

विशेष—'जस्' में अन्तिम वर्ण 'स्' की इत्संज्ञा "हलन्त्यम्" (१) से प्राप्त होने पर अग्रिम सूत्र से उसका निषेध किया जारहा है ।

(१९०) पद—न, विभक्तौ, तुस्माः । **अनुवृत्ति**—उपदेशे, हलन्त्यम्, इत् । **संज्ञा-(निषेध) सूत्र ।**

मूलार्थ—विभक्ति-सम्बन्धी तवर्ग, सकार तथा मकार की इत्संज्ञा नहीं होती है । इसके अनुसार 'स्' की इत्संज्ञा नहीं हुई । रामाः ।

विवरण—'जस्' में 'स्' को अन्त्य में होने से प्राप्त इत्संज्ञा का निषेध किया जा रहा है । अष्टाध्यायी-क्रम के अनुसार पहले सूत्रों से अनुवृत्ति द्वारा आये—उपदेशे, अन्त्यम् तथा इत्–पद 'तवर्ग', 'स्' तथा 'म्' से अन्वित होकर सूत्र के अर्थ को पूरा करते हैं । तदनुसार मूलरूप में उच्चरित त्, थ्, द्, ध्, न्, स्, तथा म् यदि सुप्–प्रत्ययों के अन्त में स्थित हों तो वे इत्संज्ञक नहीं होते । इसका फल यह होता है कि इनका लोप नहीं होता ।

विशेष—"विभक्तिश्च" (१८४) सूत्र से 'जस्' की विभक्ति-संज्ञा होती है ।

(१९१) पद—अतः, गुणे । **अनुवृत्ति**—अपदान्तात्, पररूपम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अपदान्त (पदान्त-भिन्न) ह्रस्व अकार से 'गुण' संज्ञक वर्ण परे रहते पररूप एका-देश होता है । इसकी प्राप्ति होने पर अष्टाध्यायीक्रम में 'पर' होने के कारण पूर्वसवर्ण-दीर्घ होता है । (परि०) "पूर्वपठित अपवाद-शास्त्र अपने समीपवर्ती विधिशास्त्र का ही बाध करते हैं, दूरस्थ शास्त्र का नहीं ।" इस नियम से "अतो गुणे" सूत्र स्वसमीपवर्ती "अकः सवर्णे दीर्घः" का ही बाध करता है, दूरस्थ "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" सूत्र का बाध नहीं करता । रामाः ।

विवरण—इस सूत्र में "उस्यपदान्तात्" (६-१-९६) सूत्र से 'अपदान्तात्' तथा "एङि पर-रूपम्" (७८) सूत्र से 'पररूपम्' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार पदान्त भिन्न ह्रस्व अकार एवम् उसके पश्चाद्वर्ती 'गुण' वर्ण (अ, ए, ओ) स्थानी हैं (अपदान्तात् अतः गुणे परतः) ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(सू १६४) इत्यस्यापि। रामाः। (१९२) एकवचनं सम्बुद्धिः २। ३। ४९॥ सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं सम्बुद्धिसंज्ञं स्यात्। (१९३) एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः

मयोः पूर्वसवर्णः' इत्यस्य परत्वादित्यर्थः। ननु पररूपमिदम् अपवादत्वात् सवर्णदीर्घमिव पूर्वसवर्णदीर्घमपि कुतो न बाधते इत्यत आह—अतो गुण इति इतीत्यादि। अनन्तरान् अव्यवहितानित्यर्थः। उत्तरानिति। व्यवहितानित्यर्थः। अतो गुण इत्युत्तरम् अव्यक्तानुकरणस्येत्यादि पठित्वा, अकः सवर्णे दीर्घः, प्रथमयोः पूर्वसवर्णः इति पठितम्। ततश्च पररूपमिदं सवर्णदीर्घमेव बाधते, न तु तद्व्यवहितं पूर्वसवर्णदीर्घमपीति भावः। वस्तुतस्तु पुरस्तादपवादन्यायस्य नायं विषयः। न हि पररूपमिदं पूर्वसवर्णदीर्घस्यापवादः। भवन्तीत्यादौ अप्राप्तेऽपि पूर्वसवर्णदीर्घे एतस्य पररूपस्यारम्भादित्यलम्। रुत्वविसर्गौ सिद्धवत्कृत्याह—रामा इति।

(१९२) हे राम स् इति स्थिते, 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' इति विधास्यन् सम्बुद्धिसंज्ञामाह—एकवचनम्। प्रातिपदिकार्थलिङ्गेत्यतः प्रथमेत्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते। सम्बोधने चेत्यतः सम्बोधने इत्यनुवर्तते। तदाह—सम्बोधन इत्यादिना। सुः सम्बुद्धिरित्येव सुवचम्। प्रथमाग्रहणानुवृत्तेः सप्तमीबहुवचनस्य सुपो न ग्रहणम्। न चात्र

इनमें परस्पर पौर्वापर्य है। ये दोनों पूर्व तथा पर-वर्ण मिलकर परवर्ण के रूप (अ, ए, ओ) में एकादेश हो जाते हैं। अतः आदेश पररूप है। उदाहरण—पच+अन्ति = पचन्ति (अ+अ = अ)। प्रकृत प्रसङ्ग में राम शब्द के प्रथमा-बहुवचन की रूपसिद्धि की जा रही है—राम, राम, राम+जस्, <राम+जस् (एकशेष), <राम+अस्—"चुटू" से 'ज्' की इत्संज्ञा, <रामास् (अ+अ = आ), <रामार् (स् = र्), <रामाः (र् = :)। राम+अस्—इस स्थिति (अ+अ) में "अतो गुणे" (६-१-९७) पररूप की तथा "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" (६-१-१०२) सूत्र से पूर्वसवर्णदीर्घ की प्राप्ति एक साथ होती है। ऐसी अवस्था में "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" की उपस्थिति से पर-शास्त्र की प्रवृत्ति होने से पूर्व-सवर्ण दीर्घ होता है।

विशेष—पररूप और सवर्णदीर्घ इन दोनों की प्राप्ति होने पर पररूप के बाधक होने से इस प्रसङ्ग में यह शङ्का होती है कि राम+अस् इस स्थिति में पररूप क्यों नहीं हुआ? इसका उत्तर एक परिभाषा के माध्यम से दिया जा रहा है। परिभाषा का अर्थ यह है कि "पूर्वपठित अपवाद शास्त्र अपने समीपवर्ती विधि-शास्त्र के ही बाधक होते हैं, दूरस्थ विधि-शास्त्रों के बाधक नहीं"। तदनुसार "अकः सवर्णे दीर्घः" (६-१-१०१) तथा "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" (६-१-१०२) में "अकः सवर्णे दीर्घः" "अतो गुणे" के समीपस्थ है। अतः उसका ही बाध करता है।

(१९२) पद—एकवचनं, सम्बुद्धिः। अनुवृत्ति—प्रथमा, सम्बोधने। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—सम्बोधन में प्रथमा के एकवचन की 'सम्बुद्धि' संज्ञा होती है।

सन्दर्भ—किसी को बुलाने पर प्रथमा-विभक्ति का ही दूसरा नाम 'सम्बोधन' है। उसके एकवचन में स्वरूप-परिवर्तन होने के कारण उसकी पृथक्-संज्ञा की जारही है।

विवरण—सूत्र में 'सम्बुद्धि' संज्ञा है तथा 'प्रथमयोः एकवचनं' यह संज्ञी है। किस विभक्ति का एकवचन 'सम्बुद्धि'-संज्ञक होता है? तथा कब? इसका समाधान "प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा" (२-३-४६)—सूत्र से 'प्रथमा' पद की एवं "सम्बोधने च" सूत्र की अनुवृत्ति करने पर हो जाता है। 'प्रथमा' पद को षष्ठी विभक्ति में परिवर्तित किया जाता है—'प्रथमायाः'। तदनुसार सम्बोधन में प्रथमा-विभक्ति के एकवचन की 'सम्बुद्धि' संज्ञा होती है। इसका फल यथास्थान विदित होगा।

विशेष—इस सूत्र के स्थान पर "सुः सम्बुद्धिः" कहने से काम चल सकता था। अन्य सूत्रों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६।१।६९॥ एङन्ताद्ध्रस्वान्ताच्चाङ्गाद्धल्लुप्यते सम्बुद्धेश्चेत्। सम्बुद्ध्याक्षिप्तस्याङ्गस्यैङ्ह्रस्वाभ्यां विशेषणान्नेह—हे कतरत्कुलेति। हे राम। हे रामौ। हे रामाः। 'एङ्' ग्रहणं किम्? हे हरे, हे विष्णो। अत्र हि परत्वान्नित्यत्वाच्च सम्बुद्धिगुणे कृते ह्रस्वा-

---

प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तग्रहणं शङ्क्यम्। 'ह्रस्वस्य गुण' इति सम्बुद्धौ परतोऽङ्गस्य गुणविधिबलात्, संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिनिषेधाच्च। एतेन तदन्तसंज्ञा-निवृत्त्यर्थमेकवचनग्रहणमित्यपास्तम्।

(१९३) एङ्ह्रस्वात्। एङ्ह्रस्वादित्यङ्गविशेषणम्। तदन्तविधिः। सुतिस्यपृक्तं हलित्यतो हलिति प्रथमान्तमनुवर्तते। तच्चाङ्गादित्यत्रान्वेति—अङ्गात् परं हलिति। लोपो व्योरित्यतो लोप इत्यनुवर्तते। तच्च हलित्यनेन सामानाधिकरण्येनान्वेति। लुप्यत इति लोपः। कर्मणि घञ्। सम्बुद्धेरित्यवयवषष्ठी हलित्यनेनान्वेति। ततश्च एङन्ता-द्ध्रस्वान्ताच्चाङ्गात् परं यत् हल् सम्बुद्ध्यवयवभूतं तल्लुप्यते इति फलति। तदाह—एङ-न्तादित्यादिना। ननु एङ्ह्रस्वादित्यस्याङ्गाधिकारत्वाभावात् कथमङ्गस्य विशेष्यत्वलाभः? तस्य वा किं प्रयोजनम्? एङो ह्रस्वाच्च परं सम्बुद्ध्यवयवभूतं हल्लुप्यत इत्येवास्तु। तत्राह—सम्बुद्ध्याक्षिप्तस्येत्यादि। सम्बुद्धेः प्रत्ययत्वात् तत्प्रकृतेरङ्गत्वमथाल्लब्धम्। तस्य च एङो ह्रस्वेन च विशेषितत्वात् तदन्तविधौ एङन्ताद्ध्रस्वान्ताच्चाङ्गात् परं हल्लुप्यते इत्यर्थ-लाभात् इह लोपो नेत्यर्थः। इहेत्यस्य विशेष्यमाह—हे कतरत् कुलेतीति। कतरशब्दस्य नपुंसकत्वस्फोरणाय कुलशब्दः। कतरशब्दान्नपुंसकलिङ्गात् संबुद्धिः सुः। 'अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः' इति तस्य अद्ड् आदेशः। डकार इत्। डित्त्वसामर्थ्यादभत्वेऽपि टेरिति रेफाद-

---

द्वारा 'प्रथमा' तथा 'सम्बोधने' की अनुवृत्ति करने पर अभीष्ट अर्थ का लाभ हो जाता है। 'सम्बोधन' में प्रथमा का अधिकार होने से सप्तमी-विभक्ति के बहुवचन 'सु' को सम्बुद्धि-संज्ञा होने की आशङ्का का भी निवारण स्वतः हो जाता है।[1]

(१९३) पद—एङ्ह्रस्वात्, सम्बुद्धेः। अनुवृत्ति—हल्, लोपः। विधिसूत्र।

मूलार्थ—एङन्त ह्रस्वान्त अङ्ग से परे सम्बुद्धि के 'हल्' का लोप होता है। सम्बुद्धि से आक्षिप्त 'अङ्ग' पद 'एङ्' तथा 'ह्रस्व' दोनों पदों का विशेषण है। अतः 'हे कतरत्कुल' में दोष नहीं हुआ।

सन्दर्भ—'सम्बुद्धि'—संज्ञा होने का फल बतलाया जारहा है।

विवरण—यह सूत्र लोप-विधान करता है। इसके लिये "लोपो व्योर्वलि" (६-१-६६) से 'लोपः' तथा "हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०" (६-१-६८) से 'हल्' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। तब शब्दार्थ यह होता है कि एङ् तथा ह्रस्व से परे 'सम्बुद्धि' का अवयव लुप्त हो जाता है।

उदाहरण—१-ह्रस्वान्त अङ्ग का—(हे) राम+सु (स्), <राम (ह्रस्वान्त अङ्ग 'राम' के पश्चात् सम्बुद्ध्यवयव हल्—'स्' का लोप)। २—एङन्त अङ्ग के क्रमशः उदाहरण (क) (हे) हरि+सु (स्), <(हे) हरे+स् (इ = 'ए'—गुण), <(हे) हरे। (ख) (हे) विष्णु+सु (स्), <(हे) विष्णो+स् (उ = 'ओ'—गुण), <(हे) विष्णो।

विशेष—प्रकृत सूत्र के अर्थ को व्यापक बनाने के लिए 'प्रत्यय' से पूर्व 'अङ्ग' का आक्षेप किया जाता है—'येन विना यदनुपपन्नं तत तेन आक्षिप्यते'। सूत्रस्थ 'एङ्' और 'ह्रस्व' पद 'अङ्ग' के विशेषण होते हैं। तदनुसार सूत्र का अभीष्ट अर्थ यह होता है कि "एङन्त (जिसके अन्त में 'ए' या 'ओ' हो) और ह्रस्वान्त अङ्ग से परे सम्बुद्धि के अवयव 'हल्' का लोप होता है"। इसका फल यह होता है कि 'हे कतरत् कुल' में क्रमशः 'त्' का लोप नहीं होता तथा 'म्' का लोप

---

१. "सुः सम्बुद्धिः" इत्युचितम्। "सम्बोधने च" (२-३-४७) इत्यतः सम्बोधने इत्यनुवृत्तेः सप्तमीबहुवचने न दोषः। ल० श० शे०।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्परत्वं नास्ति। (१९४) अमि पूर्वः ६। १। १०७॥ अकोऽम्यचि परतः पूर्वरूप-

---

कारस्य लोपः 'वाऽवसाने' इति चर्त्वम्। कतरत् इति। यदि एङ्ह्रस्वादित्यत्राङ्गस्य विशेष्यत्वं न स्यात्, तदा कतरदित्यत्र तकारस्य हलो ह्रस्वादकारात् परत्वात् सम्बुद्धयवयवत्वाच्च लोपः प्रसज्येत। अङ्गस्य विशेष्यत्वे तु न दोषः। अत्र हि टिलोपानन्तरं कतर् इति रेफान्तमङ्गम्, तत्तु न ह्रस्वान्तम्। यत्तु ह्रस्वान्तं तन्नाङ्गम्। रेफादकारस्य सुस्थानिकाद् डादेशावयवत्वेन प्रत्ययावयवतया प्रकृतिभागानन्तर्भावात्। नन्विह हल्ग्रहणानुवृत्तिर्व्यर्था। एङन्तात् ह्रस्वान्ताच्चाङ्गात् परस्य संबुद्धेर्लोपः स्यादित्येव व्याख्यायताम्। अस्तु वा हलनुवृत्तिः। तथापि एङन्ताद्ह्रस्वान्ताच्चाङ्गात् परा या सम्बुद्धिः तदवयवो हल्लुप्यते इति कुतो न व्याख्यात इति चेत्? एवं सति हे ज्ञानेति न सिध्येत्। तदिदमजन्तनपुंसकलिङ्गाधिकारे ज्ञानशब्दप्रक्रियावसरे मूल एव स्पष्टीभविष्यति। हे हरे, हे विष्णो इति। हरिशब्दाद्विष्णुशब्दाच्च सम्बुद्धिः सुः। ह्रस्वस्य गुण इति गुणः। हे हरे स्, हे विष्णो स्—इति स्थिते, ह्रस्वात् परत्वाभावात् सुलोपो न स्यात्। अत एङ्ग्रहणमित्यर्थः। ननु गुणात्पूर्वं हे हरि स्, हे विष्णु स्—इत्यस्यामेव दशायां ह्रस्वात्परत्वादेव सुलोपसम्भवात् एङ्ग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—अत्रेति। सम्बुद्धिलोपापेक्षया अयं गुणः परः नित्यश्च। अकृतेऽपि सम्बुद्धिलोपे तत्प्रवृत्तेः, कृतेऽपि सम्बुद्धिलोपे प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य तत्प्रवृत्तेः। अतः सम्बुद्धिलोपात्प्रागेव ह्रस्वस्य गुणे कृते सति ह्रस्वात्वाभावात् सोर्लोपो न स्यात्। अतः एङ्ग्रहणमित्यर्थः।

अथ द्वितीया विभक्तिः। राम अम् इति स्थिते, न विभक्तौ तुस्मा इति मकारस्य नेत्त्वम्। अकः सवर्ण इति दीर्घं बाधित्वा अतो गुण इति पररूपं प्राप्तम्, तद् बाधित्वा प्रथमयोरिति पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते।

(१९४) अमि पूर्वः। अकः सवर्णे दीर्घ इत्यतः अक इति पञ्चम्यन्तमनुवर्तते। एकः

हो जाता है। रूपसिद्धि का प्रकार—(हे) कतर+सु, <कतर+अद्ड् (सु = अद्ड्), <कतर्ड+अद् ('ड्'—की इत्संज्ञा एवं लोप), <कतर्+अद् ('टि' = 'अ' का लोप), <कतरद्, <कतरत् (द् = त्—चर्त्व)। प्रक्रिया के मध्य कतर्+अद्—इस स्थिति में 'अङ्ग' के रेफान्त ('र्'–अन्त) होने के कारण ह्रस्वान्त न होने से 'अद्' के 'द्' का लोप नहीं हुआ। इसी प्रकार (हे) कुल+सु (अम्), <कुलम्, (अ+अ = अ—"अमि पूर्वः"—६-१-१०७ से पूर्वरूप होकर रूप निष्पन्न होता है), <कुल–यहाँपर पूर्वरूप होनेपर अकारान्त अङ्ग (ह्रस्वान्त अङ्ग) का अवयव 'म्' लुप्त हो जाता है। विशेषण-विशेष्य-भाव न मानने पर तदन्तविधि के सम्भव न होने से केवल इस अर्थ का लाभ होता—"अङ्ग से परे सम्बुद्धि के अवयव का लोप होता है, यदि वह हल्, एङ् या ह्रस्व से परे हो तो"। इस प्रकार का अर्थ होने पर हे कतर्+अद् ऐसी स्थिति में 'द्' का लोप हो जाता। तथा हे कुल+म्—इस स्थिति में अङ्ग से परे सम्बुद्धि न होने के कारण 'म्' का लोप नहीं होता। इन दोषों के निराकरण के लिये विशेष व्याख्या की गई है।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में एङ् ग्रहण न करने पर 'हे हरे' तथा 'हे विष्णो' में सम्बुद्धि-संज्ञक (सु) प्रत्यय परे रहते लोप की अपेक्षा "ह्रस्वस्य गुणः" (७-३-१०८) सूत्र पर होने के कारण पहले गुण (ए) होगा। 'ए'कार गुण होने पर ह्रस्ववर्ण के अभाव में 'स्' का लोप प्राप्त नहीं होगा। अतः 'एङ्' ग्रहण आवश्यक है।

(१९४) पद—अमि, पूर्वः। **अनुवृत्ति**—अकः, अचि, पूर्वपरयोः, एकः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'अक्' से 'अम्'–'सम्बन्धी 'अच्' परे रहते पूर्वरूप एकादेश होता है।

विवरण—द्वितीया-विभक्ति के एक-वचन का प्रत्यय 'अम्' है। उससे अव्यवहित 'अक्' (अ,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेकादेशः स्यात् । रामम् । रामौ । (१९५) **लशक्वतद्धिते १ । ३ । ८ ॥** तद्धितवर्ज-प्रत्ययाद्या लशकवर्गा इतः स्युः । इति शसः शस्येत्संज्ञा । (१९६) **तस्माच्छसो नः**

पूर्वपरयोरित्यधिकृतम् । इको यणचीत्यतः अचीत्यनुवर्तते । तदाह—अकोऽस्यचि । अमि विद्यमानो योऽच् तस्मिन् परे इत्यर्थः । रामम्मिति मकारादकारस्य असवर्यवाकारस्य च पूर्वरूपमकार एको भवति । अचीत्यनुवृत्तौ अकः अमि परे पूर्वपरयोः पूर्वरूपमेकादेशः स्यादिति लभ्येत । तथा सति अमो मकारसहितस्य पूर्वरूपं स्यात् । तन्मा भूदित्यजनुवृत्तिः । रामाविति । राम औट् इति स्थिते हलन्त्यमिति टकारस्य इत्संज्ञायां लोपः । औटष्टकारः सुडिति प्रत्याहारार्थः ।

(१९५) राम शस् इति स्थिते न विभक्तौ तुस्मा इति सकारस्य नेत्त्वम्, तत्र शकारस्य अनन्त्यत्वाद्धलन्त्यमित्यप्राप्तावाह—लशक्वतद्धिते । ल, श, कु इति समाहारद्वन्द्वः । उपदेशेऽजनुनासिक इत्, आदिर्ञिटुडवः, पः प्रत्ययस्य इत्यतः इदिति, आदिरिति, प्रत्ययस्येति चानुवर्तते । अतद्धित इति षष्ठ्यर्थे सप्तमी । तद्धितभिन्नस्य प्रत्ययस्य आदिभूतं लकारशकारकवर्गम् इत्संज्ञं भवतीत्यर्थः । तदाह—तद्धितवर्जेत्यादिना । अतद्धित इति किम् । 'कर्णललाटात्कनलङ्कारे' कर्णिका । अत्र ककारस्य तद्धितावयवत्वान्नेत्त्वम् सति तस्मिन् 'किति च' इत्यादिवृद्धिः स्यात् । एतेन प्रयोजनाभावादेव लशादितद्धितेषु नेत्त्वमित्यतद्धितग्रहणं व्यर्थमिति निरस्तम् । इति शस इति । शकारस्य इत्संज्ञायां तस्य लोप इति लोपः । शकारोच्चारणं तु जसः शी, तस्माच्छसो नः—इत्यादौ विषयविभागार्थम् ।

राम अस् इति स्थिते, अकः सवर्णे दीर्घ इति बाधित्वा, अतो गुण इति प्राप्ते प्रथमयोरिति पूर्वसवर्णदीर्घे, रामास् इति स्थिते । (१९६) तस्माच्छसो । 'प्रथमयोः पूर्व-

---

इ, उ, ऋ, ऌ) की स्थिति अपेक्षित है । इस तरह यहाँ पर **'स्थानी'** हैं—अक्+अम्—सम्बन्ध 'अच्' । इन दोनों के स्थान पर एकवर्णात्मक 'पूर्वरूप' आदेश होता है । **उदाहरण**—(द्वितीया-एकवचन) राम+अम् । यहाँ पर अक् = मकारोत्तरवर्ती अकार है । उससे परे 'अम्' का अकार 'अच्' है, अतः पूर्वरूप होकर = रामम् । (द्वितीया-द्विवचन) राम+औ, <रामौ—"वृद्धिरेचि" (७२) ।

विशेष—यह सूत्र "अकः सवर्णे दीर्घः" (८५), "अतो गुणे" (१६१) तथा "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" (१६४)—इन तीनों का बाधक है ।

(१९५) पद—लशकु, अतद्धिते । **अनुवृत्ति**—प्रत्ययस्य, आदिः, इत् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—तद्धित को छोड़ कर अन्यत्र प्रत्यय के आदि में विद्यमान ल्, श् तथा कवर्ग इत्संज्ञक होते हैं । इस प्रकार 'शस्' में 'श्' की इत्संज्ञा होती है ।

सन्दर्भ—प्रसङ्गवश प्रत्ययों के आदिम वर्णों की इत्संज्ञा का निरूपण किया जा रहा है ।

विवरण—सूत्र के अर्थ को पूरा करने हेतु इन सूत्रों से अनुवृत्ति लाई जा रही है—(१) "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" (१-३-२) से 'इत्', (२) "आदिर्ञिटुडवः" (१-३-५) से 'आदिः', तथा (३) "पः प्रत्ययस्य" (१-३-६) से 'प्रत्ययस्य' । अतः सूत्र का अर्थ होता है—"तद्धित-भिन्न प्रत्यय के आदिम वर्ण ल्, श् तथा कवर्ग (क्, ख्, ग्, घ्, ङ्) इत्संज्ञक होते हैं ।" तदनुसार द्वितीया-विभक्ति के बहुवचन में 'अस्' प्रत्यय के आदिम 'श्' की इत्संज्ञा होने पर 'अस्' विद्यमान रहता है ।

विशेष—इस सूत्र द्वारा 'तद्धितभिन्न' प्रत्ययों में इत्संज्ञा का निर्वचन होने के कारण 'तद्धित'-प्रकरण के 'ल' एवं 'कन्' आदि प्रत्ययों में इत्संज्ञा नहीं होती ।

(१९६) पद—तस्मात्, शसः, नः, पुंसि । **विधिसूत्र** ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुंसि ६ । १ । १०३ ॥ कृतपूर्वसवर्णदीर्घात्परो यः शसः सकारस्तस्य नः स्यात्पुंसि । **(१९७) अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ८ । ४ । २ ॥** अट् कवर्गः पवर्ग आङ् नुम् एतैर्व्यस्तैर्यथासंभवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः स्यात्समानपदे । 'पदव्यवायेऽपि' (सू १०५७) इति निषेधं बाधितुमाङ्ग्रहणम् । नुम्ग्रहणमनुस्वारोपलक्षणार्थम् । तच्चाकर्तुं शक्यम्, अयोगवाहानामट्सूपदेशस्योक्तत्वात् । इति णत्वे प्राप्ते ।

सवर्ण' इति पूर्वसूत्रकृतः सन्निहितः पूर्वसवर्णदीर्घः तस्मादित्यनेन परामृश्यते । दिक्शब्दयोगे पञ्चम्येषा । परस्येत्यध्याहार्यम् । शस इत्यवयवषष्ठी । स चावयवः परत्वेन विशेष्यते । स चावयवः अर्थात् सकार एव, अन्यस्यासम्भवात् । तदाह—कृतपूर्वेत्यादिना । कृतपूर्वेति किम् । दीर्घात् परस्य शसवयवस्येत्युक्तौ, एतान् गाः पश्येत्यत्र गोशब्दात् शसः सस्यापि नत्वप्रसङ्गः । अतः कृतपूर्वसवर्णदीर्घादिति । गा इत्यत्र च औतोम्शसोरित्याकार एकादेशः, न तु पूर्वसवर्णदीर्घ इति ततः परस्य न नत्वम् । शसः किम् । रामाः । प्रकृते च नत्वे रामान् इति रूपम् ।

(१९७) अत्र नकारस्य णत्वप्राप्तिमाशङ्क्तिमाह—अट्कुप्वाङ् । रषाभ्यां नो णः समानपदे इति पूर्वसूत्रमनुवर्तते । तत्र न इति षष्ठ्यन्तम् । तेन च सूत्रेण रषाभ्यामव्यवहितपरस्य णत्वं विहितम् । रामेणेत्यादौ अडादिव्यवधानेऽपि प्राप्त्यर्थमिदमारब्धम् । अट् प्रत्याहारः, कुः कवर्गः, पुः पवर्गः । अट् च, कुश्च, पुश्च, आङ्, च, नुम्च तैर्व्यवधानम्, तस्मिन् सत्यपि रषाभ्यां परस्य नस्य णत्वं स्यादित्यर्थः । अत्र अडादिभिः समस्तैर्व्यवधानं रामेणेत्यादिलक्ष्ये क्वाप्यसम्भावितम् । एकैकव्यवायेऽपीति व्याख्याने तु रामेणेत्यादावव्याप्तिः । यथासम्भवं मिलितैर्व्यवायेऽपीति व्याख्याने नराणामित्यादावेकमात्रव्यवधाने णत्वं न स्यात् । अतः अडादिभिर्व्यस्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च व्यवायेऽपीति व्याख्येयम् । एवं च क्षुभ्नादिषु चेति णत्वनिषेधसूत्रे क्षुभ्नशब्दपाठोऽर्थवान् । सरूपाणामित्यादिनिर्देशाश्च उपपन्ना भवन्ति । अत आह—अट्कवर्गेत्यादिना । विवरणावसरे अट् कवर्ग इत्याद्यविभक्तिकनिर्देशाश्च न दूष्यन्ते, भाष्ये तथा

मूलार्थ—पूर्वसवर्ण-दीर्घ से परे 'शस्'-सम्बन्धी 'स्' के स्थान पर पुंलिङ्ग में 'न्' होता है ।

विवरण—यह विधान 'पूर्वसवर्ण' के प्रसङ्ग में किया गया है । इस कारण सूत्र का 'तस्मात्' पद (= 'तत्' शब्द) अपने समीपस्थ पूर्वसवर्ण-दीर्घ का निर्देशक है । तदनुसार सूत्र का स्पष्टार्थ-यह है कि पूर्वसवर्ण दीर्घ होने के पश्चात 'शस्'-प्रत्यय-सम्बन्धी 'स्' के स्थान में (पुंलिङ्ग-वाचक-शब्दों में) 'न्' आदेश होता है । **उदाहरण**—राम+अस् ('श्' की इत्संज्ञा), <रामास् (पूर्वसवर्ण दीर्घ), <रामान् ('दीर्घ' होने के पश्चात् स् = न्) ।

(१९७) पद—अट्-कु-प्वाङ्-नुम्-व्यवाये, अपि । **अनुवृत्ति**—रषाभ्यां, नः, णः, समानपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ् तथा नुम् का यथासम्भव संमिलित अथवा अलग-अलग व्यवधान होने पर भी एक पद में 'र्' 'ष्' से परे 'न्' के स्थान पर 'ण्' होता है ।

सन्दर्भ—प्रसङ्गवश 'रामान्' में 'न्' के स्थान पर 'ण्' प्राप्त होने की आशङ्का व्यक्त की जा रही है ।

विवरण—अष्टाध्यायी-क्रम में इसके पूर्व "रषाभ्यां नो णः समान पदे" (८-४-१) सूत्र है । उस सूत्र की सम्पूर्ण अनुवृत्ति यहाँ आती है । सूत्र में साङ्केतिक शब्द हैं—१—अट् = 'स्वर' वर्ण तथा ह्, य्, व्, र् । २—कु = क्, ख्, ग्, घ्, ङ् । ३—पु = प्, फ्, ब्, भ्, म् । इन वर्णों के अतिरिक्त ४—'आङ्' (उपसर्ग) ५—तथा 'नुम्' (आगम) भी 'ण्' विधान में सहायक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१९८) पदान्तस्य ८ । ४ । ३७ ॥ पदान्तस्य नस्य णत्वं न स्यात् । रामान् ।

बहुलमुपलम्भात् । समानपद इति । एकपद इत्यर्थः । अखण्डमेव पदमिह विवक्षितम् । तेन रामनामेत्यादौ नातिप्रसङ्ग । मातृभोगीण इत्यादौ णत्वोपपत्तिस्तु तद्धिताधिकारे वक्ष्यते । आङा व्यवाये पर्याणद्धमित्युदाहरणम् । इह आङ्ग्रहणाभावे तु उपसर्गादसमासेऽपीत्यत्र तदननुवृत्त्या णत्वं न स्यात् । नन्वङ्व्यवाय इत्येवात्र णत्वं भविष्यति । किमाङ्ग्रहणेनेत्यत आह—पदव्यवायेऽपीति । ननु 'इवि प्रीणने' ल्युट्, अनादेशः, इदित्त्वान्नुम् । प्रेन्वनम् । अत्र कुमति चेति नुमा व्यवधानेऽपि णत्वं स्यात् । किं च 'बृहि वृद्धौ' ल्युट्, इदित्त्वान्नुम्, नश्चापदान्तस्येत्यनुस्वारः । बृंहणम् । 'तृंह हिंसायाम्' ल्युट् । स्वाभाविकोऽयमनुस्वारः, तृंहणम् । इहोभयत्रापि णत्वं न स्यात् । अनुस्वारस्य अडाद्यनन्तभावात् अत आह—नुम्ग्रहणमिति । नुम्ग्रहणेन अनुस्वारो लक्ष्यते । प्रयोगानुसारादित्यर्थः । एवं च नुम्ग्रहणं प्रत्याख्येयमित्याह—तच्चेति । ननु नुम्ग्रहणाभावे तल्लक्षितानुस्वारस्य कथं लाभ इत्याह आह—अयोगवाहानामिति । न विद्यते योगो येषां वर्णसमाम्नाये ते अयोगाः, अनुपदिष्टाः उपदिष्टैरगृहीताश्चेत्यर्थं वाहयन्ति प्रयोगं निर्वाहयन्तीति वाहाः, अयोगाश्च ते वाहाश्च अयोगवाहाः अनुस्वारविसर्गादयः । अट्सु उपदेशस्य पाठस्य हल्सन्धिनिरूपणावसरे उक्तत्वादित्यर्थः । स्पष्टं चैतत् हयवरट्सूत्रभाष्यवार्तिकयोः । उक्तं चात्रैव सूत्रे भाष्ये—नार्थो नुम्ग्रहणेन । अनुस्वारे कृते अङ्व्यवाय इत्येवात्र णत्वं सिद्धम् इति । इति णत्व इति । शसवयवस्य नकारस्य णकारे प्राप्ते इत्यर्थः ।

(१९८) पदान्तस्य । रषाभ्यां नो ण इत्यनुवर्तते, न भाभूपू इत्यतो नेति च । तदाह—

होते हैं । तदनुसार किसी अखण्ड-पद में (समानपदे) 'र्' 'ष्' के परे अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ् तथा नुम् आदि से व्यवहित 'न्' के स्थान पर 'ण्' होता है । 'अट्' आदि का यह व्यवधान पृथक् पृथक् अथवा दो-तीन वर्णों का सम्मिलित भी हो सकता है ।

विशेष—१—व्यवधान-कारक वर्णों में पृथक् 'आ' (आङ्) का समावेश करने में विशेष प्रयोजन है । कारण यह है कि 'अट्' प्रत्याहारस्थ वर्णों में 'अ'कार का ग्रहण होने से ग्रहणक-शास्त्र के प्रभाव से 'आ' का ग्रहण तो हो ही जायगा । अतः 'आङ्' के पृथक् ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है ? पृथक् ग्रहण करने का प्रयोजन यह है कि व्यवधान होने पर "पदव्यवायेऽपि" (८-४-३८) सूत्र से प्राप्त णत्व का निषेध 'आङ्' के व्यवधान होने पर न हो । अतः यह सूत्र "पदव्यवायेऽपि" का बाधक है ।

२—सूत्र में 'नुम्' पद का अभीष्ट अर्थ 'नुम्' के स्थान में होनेवाला अनुस्वार अथवा स्वाभाविक अनुस्वार—दोनों हैं । इसके फलस्वरूप 'बृंहणम्' तथा 'तृंहणम्' में क्रमशः नुम्—स्थानिक अनुस्वार एवं स्वाभाविक अनुस्वार के व्यवधान होने पर 'न्' के स्थान में 'ण्' होता है । ये दोनों रूप √बृहि एवं √तृंह् धातुओं से ल्युट् (अन) प्रत्यय करने पर सिद्ध होते हैं । √बृहि में 'नुम्' आगम होने के बाद 'न्' को अनुस्वार हुआ है तथा √तृंह में स्वाभाविक अनुस्वार है । वस्तुतः सूत्र में नुम् ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि 'अनुस्वार' को 'अयोगवाह' माना गया है । अयोगवाहों का अकार के ऊपर पाठ मानने के कारण 'अट्' ग्रहण से ही वह गतार्थ हो जाता है ।

३—प्रकृत उदाहरण 'रामान्' में 'र्' के अनन्तर 'आ' (अट्), 'म्' (पवर्ग), 'आ' (अट्)—इन तीनों के सम्मिलित व्यवधान होने पर अन्तिम 'न्' के स्थान पर 'ण्' प्राप्त होता है ।

(१९८) पद—पदान्तस्य । **अनुवृत्ति**—नः, णः, न । **विधि(निषेध)सूत्र ।**

मूलार्थ—पदान्त के 'न्' को 'ण्' नहीं होता ।

सन्दर्भ—प्रसङ्गप्राप्त 'ण्' विधान के निषेध का विषय निर्धारित किया जा रहा है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१९९) यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् १ । ४ । १३ ॥ यः प्रत्ययो यस्मात् क्रियते तदादि शब्दस्वरूपं तस्मिन्प्रत्यये परेऽङ्गसंज्ञं स्यात् । 'भवामि' 'भविष्यामि' इत्यादौ विकरणविशिष्टस्याङ्गसंज्ञार्थं तदादिग्रहणम् । 'विधिः' इति किम् ? स्त्री इयती । 'प्रत्यये

पदान्तस्य नस्येत्यादिना । अथ तृतीयाविभक्तिः । तत्र टा इति टकारस्य चुटू इतीत्संज्ञायां लोपः । टकारोच्चारणं तु टाङसिङसां द्वितीया टौस्त्रित्यादौ विशेषणार्थम् । राम आ इति स्थिते ।

(१९९) अङ्गकार्यं विधास्यन्नङ्गसंज्ञामाह—यस्मात्प्रत्ययविधिः । यस्मादिति प्रकृतिभूतादित्यर्थः । यः प्रत्यय इति । यच्छब्दान्तराध्याहारस्तु प्रत्यासत्तिलभ्यः । स च यस्याद्यस्य प्रत्ययस्य विधिः तस्मिन्प्रत्यये तदादेरङ्गसंज्ञेत्यर्थलाभाय । तत् प्रकृतिरूपम् आदिर्यस्य तत् तदादि । नपुंसकवशाच्छब्दस्वरूपमित्यध्याहार्यम् । तदाह—तदादि शब्दस्वरूपमिति । प्रकृते च रामशब्दस्य प्रकृतिमात्रस्य तदादित्वं व्यपदेशिवद्भावाद् बोध्यम् । ननु यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदङ्गमित्येवास्तु । किमादिग्रहणेनेत्यत आह—भवामीति । भूधातोर्लट् मिप् कर्तरि शबिति विकरणसंज्ञः शप् । गुणावादेशौ । अतो दीर्घो यञीति 'भव' इत्यङ्गस्य दीर्घः । भवामीति रूपम् । तथा भूधातोर्लट् मिप् , 'स्यतासी लृलुटोः' इति विकरणसंज्ञः स्यः । इट् । गुणावादेशौ । षत्वम् । अतो दीर्घो यञीति भविष्य इत्यङ्गस्य दीर्घः । भविष्यामीति रूपम् । अत्र आदिग्रहणाभावे मिप्प्रत्यये परतो भू इति प्रकृतिमात्रस्य अङ्गसंज्ञा स्यात् भूशब्दादेव मिप्प्रत्ययविधेरभावात् । ततश्च अतो दीर्घो यञीति मिप्प्रत्यये परतो दीर्घो न स्यात् । अतः आदिग्रहणमित्यर्थः । विधिरिति किमिति—यस्माद्यः प्रत्ययः परत्वेन श्रूयते तदादि शब्दरूपं तस्मिन् प्रत्यये अङ्गसंज्ञमित्येतावतैव सिद्धे विधिग्रहणं किमर्थमिति प्रश्नः । स्त्री इयतीति । इदं परिमाणमस्या इत्यर्थे इदंशब्दात् 'किमिदम्भ्यां वो

विवरण—व्याख्या की दृष्टि से सूत्र अपूर्ण है । अतः "रषाभ्यां नो णः समानपदे" (८-४-१) सूत्र से 'नः' (षष्ठी विभक्ति में) तथा 'णः' (प्रथमा-विभक्ति में) एवं "न-भा-भू-पू-कमि-गमिप्यायीवेपाम्" (८-४-३४) सूत्र से 'न' की अनुवृत्ति लाई जाती है । तदनुसार पद के अन्त में विद्यमान 'न्' को 'ण्' आदेश नहीं होता । इस प्रकार 'रामान्' में 'न्' के स्थान पर 'ण्' नहीं हुआ ।

(१९९) पद—यस्मात्, प्रत्ययविधिः, तदादि, प्रत्यये, अङ्गम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—जो प्रत्यय जिससे किया जाय उस प्रत्यय के परे रहते तदादि-शब्द-स्वरूप की 'अङ्ग'-संज्ञा होती है । 'भवामि' 'भविष्यामि' इत्यादि में 'विकरण' से युक्त को अङ्ग-संज्ञा होने के लिए सूत्र में 'तदादि' ग्रहण किया है । 'विधि' क्यों कहा ? स्त्री इयती । 'प्रत्यये' क्यों कहा ? प्रकृतियुक्त (सहित) प्रत्यय की अथवा उससे भी अधिक की अङ्ग-संज्ञा न हो ।

विवरण—**'अङ्ग' संज्ञा है । संज्ञी**—'यस्मात् प्रत्ययविधिः—तदादि' है । प्रत्यय से पूर्व 'अङ्ग' का आक्षेप होता है । अतः उसका स्वरूप प्रत्यय होने पर विदित होता है । इस कारण 'अङ्ग'-संज्ञा में 'प्रत्यय' को निमित्त भी माना गया है (प्रत्यये) । फलतः किसी भी शब्द से विधीयमान प्रत्यय परे रहते (यस्मात् प्रत्ययविधिः) उसका प्रत्यय से पूर्व शब्दस्वरूप (तदादि = तत्प्रकृतिरूपम् आदिर्यस्य तत्) 'अङ्ग'-संज्ञक होता है ।

उदाहरण—१—भवामि√भू+लट् , <भू+मि (मिप्), <भू+अ+मि, (शप्), <भो +अ+मि (गुण), <भव+मि (ओ = अव्)—इस स्थिति में 'मिप्' प्रत्यय परे होने पर 'भव' ('शप्' सहित समुदाय) की अङ्ग-संज्ञा होती है । फलतः ह्रस्व-अकारान्त अङ्ग होने के कारण "अतो दीर्घो यञि" (७-३-१०१) से दीर्घ होकर 'भवामि' (अ = आ) रूप बनता है । २—इसी प्रकार 'भविष्यामि' में 'मि' के पूर्व 'भविष्य' शब्द-समुदाय को अङ्ग-संज्ञा होने से दीर्घ होकर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किम् ? प्रत्ययविशिष्टस्य ततोऽप्यधिकस्य वा मा भूत् । (२००) अङ्गस्य ६ । ४ । १ ॥

घः' इति वतुप्, वस्य घश्च । तस्य इयादेशः । 'इदं किमोः' इति इदम ईश् । शित्त्वात् सर्वादेशः । ई इयत् इति स्थिते 'यस्येति च' इतीकारलोपः । इयत् इति प्रत्ययमात्रमवशिष्यते । उगितश्चेति ङीपि इयतीति रूपम् । अत्र विधिग्रहणाभावे स्त्री इयतीत्यत्र रेफादीकारस्य 'स्त्रियाः' इत्यङ्गकार्यमियङ् स्यात् । स्त्रीशब्दात्परत्वेन इयदिति प्रत्ययस्य श्रूयमाणत्वात् । न च यस्येति लोपस्याभीयत्वेनासिद्धत्वादजादिप्रत्ययपरकत्वाभावान्नात्र इयङः प्राप्तिरिति वाच्यम्, अन्यूनानतिरिक्तसमानाश्रये कार्ये कर्तव्य एव आभीयासिद्धत्वस्य प्रवृत्तेः । अस्ति च यस्येति चेति शास्त्रापेक्षया स्त्रिया इति सूत्रे अधिकस्य स्त्रीशब्दस्यापेक्षा । कृते तु विधिग्रहणे इयङत्र न भवति, वतुप इदम एवात्र विहितत्वेन तस्मिन् परे स्त्रीशब्दस्याङ्गत्वाभावात् । न च यस्येति लोपस्य इयङि कर्तव्ये अचः परस्मिन्निति स्थानिवद्भावः शङ्क्यः, पदान्तविधौ तन्निषेधात् । स्त्रीशब्दस्य सुनिरूपिताङ्गत्वेऽपि नेयङ् प्रत्यासत्त्या अजादिप्रत्ययनिरूपिताङ्गत्वे तत्प्रवृत्तेः । प्रत्यये किमिति । यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदाद्यङ्गमित्येतावदेवास्त्वित्यर्थः । प्रत्ययविशिष्टस्य ततोऽप्यधिकस्य वा मा भूदिति । तदादि शब्दरूपं कियदित्यपेक्षायामविशेषात् प्रत्ययविशिष्टं वा ततोऽप्यधिकं वा निरवधिकमङ्गं स्यात् । न च यस्मात्प्रत्ययेति प्रत्ययस्य श्रुतत्वात् प्रत्ययावध्येवाङ्गत्वं भविष्यतीति वाच्यम्, यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादीत्यर्थसमर्पणेन तस्य प्रत्ययग्रहणस्य चरितार्थत्वात् । ततश्च प्रत्ययविशिष्टस्याङ्गत्वे वव्रश्चेत्यत्र प्रत्ययविशिष्टस्याङ्गत्वेन

'भविष्यामि' रूप बनता है । यदि सूत्र में 'तदादि' पद नहीं होता तो उस विधीयमान प्रत्यय के पूर्व-समुदाय को अङ्ग-संज्ञा नहीं होता । केवल मूल प्रकृतिवाचक शब्द ही अङ्ग-संज्ञा की परिधि में आते । तदनुसार उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में अकारान्त अङ्ग न होने से 'दीर्घ' विधान असम्भव हो जाता । प्रत्युदाहरण—१–सूत्र में 'विधिः' पद के न रखने पर अर्थ में कुछ संकोच हो जायगा । तदनुसार अर्थ इस प्रकार होगा—'प्रत्यय परे रहते तदादि की 'अङ्ग' संज्ञा होती है' । इस तरह अर्थ होने पर 'स्त्री इयती' में प्रत्ययात्मक 'इयत्' शब्द परे रहने के कारण 'स्त्री' शब्द को अङ्ग-संज्ञा की सम्भावना में "स्त्रियाः" (६-४-७९) सूत्र से 'इयङ्'–आदेश की प्रवृत्ति हो जाती । 'इयती' की सिद्धि का प्रकार—इदम्+वत् (वतुप्), <इदम्+घ त (व=घ), <इदम्+इय त (घ = इय), <ई+इयत् (इदम् = ई), <इयत् ('ई'–लोप), <इयत्+ई (ङीप्)=इयती । सूत्र में 'विधि' शब्द के रखने पर 'इयती' परे रहते 'स्त्री' शब्द को 'अङ्ग-संज्ञा' इस कारण नहीं होती कि "इयती" शब्द का प्रत्ययात्मक रूप 'स्त्री' शब्द से विधीयमान नहीं है । २—सूत्र में 'प्रत्यये' पद न रखने पर सूत्र के अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता । कारण यह है कि 'प्रत्ययविधिः' पद में प्रत्यय-पद रहने से उसकी अवधि प्रत्यय ही रहती है । तथापि 'प्रत्यय'-पद की उपयोगिता प्रत्ययमात्र की अवधि तक अपने को सीमित रखने में सार्थक होती है । इसके फलस्वरूप प्रकृति-प्रत्ययान्त समुदाय एवं उससे भी अधिक समुदाय को अङ्ग-संज्ञा नहीं होती । फलस्वरूप 'वव्रश्च' की रूप सिद्धि हो जाती है—व्रश्च्+लिट्, <व्रश्च्+ति, <व्रश्च्+अ (णल्), <व्रश्च्+व्रश्च्+अ, <व्र ऋ अ+व्रश्च्+अ (सम्प्रसारण-र्=ऋ) <व्र+व्रश्च्+अ (ऋ+अ = ऋ–पूर्वरूप), <वर्+व्रश्च्+अ, <व+व्रश्च्+अ—इस स्थिति में 'अर्' को स्थानिवद्भाव होने के कारण सम्प्रसारण-धर्म (ऋ) का आरोप होने से 'व्र' को प्राप्त होने वाले सम्प्रसारण का "न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्" (६-१-३७) से निषेध होने पर हलादिशेष होकर = वव्रश्च । 'प्रत्यये' ग्रहण के अभाव में प्रत्ययविशिष्ट को अङ्ग मानने पर "उरत्" से विधीयमान 'अ' (अर्) के होने में प्रत्यय-निमित्तक अर्थ का लाभ न होने से केवल 'ऋ' को मानकर 'अ' (अर्) होने की अवस्था में स्थानिवद्भाव की प्रवृत्ति न होनेपर 'व्र' को सम्प्रसारण का निषेध नहीं होगा । अतः रूपसिद्धि नहीं हो सकेगी ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यधिकृत्य । (२०१) टाङसिङसामिनात्स्याः ७ । १ । १२ ॥ अकारान्तादङ्गाट्टादीनां क्रमादिनादय आदेशाः स्युः । णत्वम् । रामेण । (२०२) सुपि च ७।३।१०२ ॥

उरदित्यादेशस्य परनिमित्तत्वालाभादचः परस्मिन्निति स्थानिवत्त्वाप्रवृत्त्या 'न सम्प्रसारणे' इति सम्प्रसारणनिषेधो न स्यात् । अधिकस्याङ्गत्वे च देवदत्त ओदनमपाक्षीदित्यादौ देवदत्तादिशब्दोत्तरं सुपं निमित्तीकृत्य लुङ्पर्यन्तमङ्गत्वात्तस्य लुङ्परत्वेन देवदत्तादिशब्दात्पूर्वमभ्यडापत्तिः, अङ्गसंज्ञायाः प्रत्ययनिमित्तत्वाभावेन लुङादिनिरूपिताङ्गस्येत्यर्थस्य दुर्लभत्वात् । प्रत्यये इत्युक्तौ तु न कोऽपि दोष इत्यलम् ।

(२०१) टाङसिङसाम् । अङ्गस्येत्यधिकृतं पञ्चम्या विपरिणतम् । 'अतो भिस' इत्यस्मात् अत इति पञ्चम्यन्तमनुवृत्तम् अङ्गस्य विशेषणम् । तदन्तविधिः । तदाह—अकारान्तादङ्गादिति । परेषामिति शेषः । क्रमादिति यथासङ्ख्यसूत्रलब्धम् । टादीनामिति । टाङसिङसामित्यर्थः । इनादय इति । इन-आत्-स्य एते इत्यर्थः । राम-इन इति स्थिते आद् गुणः । णत्वमिति । अट्कुप्वाङिति नकारस्य णकार इत्यर्थः । राम-भ्याम् इति स्थिते न विभक्ताविति मस्य नेत्त्वम् ।

(२०२) सुपि च । अतो दीर्घो यञीत्यनुवर्तते । यञीत्यनेन सुपीति विशेष्यते ।

२–दूसरी आपत्ति प्रत्यय ग्रहण न करने पर 'देवदत्तः ओदनम् अपाक्षीत्' वाक्य में देवदत्त आदि शब्दों के उत्तरवर्ती 'सुप्' को निमित्त मानकर 'लुङ्' लकार-पर्यन्त ('अपाक्षीत्' तक) अङ्ग-संज्ञा की प्राप्ति होने से 'लुङ्' को मान कर होने वाला 'अट्' आगम 'देवदत्त' शब्द के पूर्व होने लगेगा ।

विशेष—यदि प्रकृति और प्रत्यय के मध्य विकरण आदि न हुए हों तो 'व्यपदेशिवद्भाव' से 'तदादि'–शब्दस्वरूप केवल प्रकृति ही मानी जाएगी ।

(२००) पद—अङ्गस्य । **अधिकारसूत्र ।**

मूलार्थ—इसका अधिकार है ।

सन्दर्भ—'अङ्ग-संज्ञा' के अनन्तर उसकी अनुवृत्ति जाने के लिए उपाय बतलाया जा रहा है ।

विवरण—इसका अधिकार सप्तमाध्याय के अन्त तक है । इस अधिकार के अन्तर्गत सूत्र अङ्गाधिकारीय कहे जाते हैं ।

(२०१) पद—टाङसिङसाम्, इनात्स्याः । **अनुवृत्ति**—अतः, अङ्गस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—ह्रस्व अकारान्त अङ्ग से परे 'टा' इत्यादि को क्रमशः 'इन' आदि आदेश होते हैं । ण–विधान । रामेण ।

विवरण—**स्थानी** हैं—'टा', 'ङसि', 'ङस्' । **आदेश** हैं—'इन', 'आत्' 'स्य' । यथासंख्य परिभाषा की उपस्थिति से क्रमशः टा=इन, ङसि=आत् तथा ङस् = स्य—आदेश होते हैं । किस स्थिति में होते हैं ? इसका समाधान "अतो भिस ऐस्" (७-१-९) सूत्र से 'अतः' पद की अनुवृत्ति लाये जाने से होता है । इसके अतिरिक्त 'अङ्गस्य' का अधिकार भी है । 'अङ्गस्य' पद की षष्ठी विभक्ति को पञ्चमी विभक्ति में परिवर्तित कर दिया जाता है । इसके फलस्वरूप 'अतः' पद 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से—ह्रस्व अकारान्त अङ्ग से परे रहने पर 'टा-' आदि के स्थान में (टा-ङसि-ङसाम्) 'इन' आदि आदेश (इनात्स्याः) होते हैं—इस प्रकार अर्थ का ज्ञान होता है । **उदाहरण**—(तृतीया–एकवचन) राम+टा, <राम+इन (टा = इन), <रामेन (अ+इ = 'ए'–गुण), <रामेण (न् = ण्—"अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि"–१९७) ।

(२०२) पद—सुपि, च । **अनुवृत्ति**—अतः अङ्गस्य, दीर्घः, यञि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—यञादि सुप् परे रहते ह्रस्व-अकारान्त अङ्ग को दीर्घ होता है ।

विवरण—सूत्र स्वयम् में अपूर्ण है । "अतो दीर्घो यञि" (७-३-१०१) सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यञादौ सुपि परे अतोऽङ्गस्य दीर्घः स्यात्। रामाभ्याम्। (२०३) अतो भिस ऐस् ७।१।९॥ अकारान्तादङ्गाद्भिस ऐस् स्यात्। अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः। रामैः। (२०४) ङेर्यः ७।१।१३॥ अतोऽङ्गात्परस्य 'ङे' इत्यस्य यादेशः स्यात्। रामाय।

यस्मिन् विधिरिति तदादिविधिरित्याह—यञादाविति। अतोऽङ्गस्येति। अदन्तस्याङ्गस्येत्यर्थः। राम-भिस् इति स्थिते न विभक्ताविति सस्य नेत्त्वम्।

(२०३) अतो भिस ऐस्। अत इति पञ्चमी। अङ्गस्येत्यधिकृतं पञ्चम्या विपरिणम्यते। अत इति तस्य विशेषणम्। विशेषणत्वात्तदन्तविधिः। तदाह—अकारान्तादिति। रुत्व-विसर्गौ सिद्धवत्कृत्याह—रामैरिति। यद्यपि एसि विहितेऽपि वृद्धौ रामैरित्यादि सिद्धम्। न च अतो गुण इति पररूपं शङ्क्यम्, एकारोच्चारणसामर्थ्यादेव तदसम्भवात्, अन्यथा इदमेव विद्ध्यात्। तथापि एदैतोर्द्विमात्रत्वाविशेषात् प्रक्रियालाघवाच्च ऐसो विधिः। अलोऽन्त्यस्येत्यन्तादेशमाशङ्क्याह—अनेकाल्त्वादिति।

अथ चतुर्थीविभक्तिः। तत्र ङे इति ङकारस्य लशक्वेतीत्संज्ञायां लोपः। तदुच्चारणं तु घेर्ङितीत्याद्यर्थम्। राम-ए इति स्थिते।

(२०४) ङेर्यः। ङेरित्येकारान्तात् षष्ठ्येकवचनम्। न तु ङि इति सप्तम्येकवचनात्,

---

करने पर **स्थानी** (अतः) तथा **आदेश** (दीर्घः) दोनों का परिज्ञान होता है। 'यञि' पद 'सुपि' का विशेषण है। इस प्रकार तदादि-विधि होने पर-'यञादि-सुप्' अर्थ होता है। 'अतः' पद 'अङ्गस्य' का विशेषण है। तदनुसार समष्टिगत अर्थ इस प्रकार होता है—'यञादि' सुप् प्रत्यय परे रहते ह्रस्व अकारान्त अङ्ग के स्थान में दीर्घ आदेश होता है। 'सुप्'-प्रत्ययों में भ्याम्, भिस्, भ्यस् तथा ङे के स्थान पर होने वाला 'य' आदेश ये चार यञादि हैं। तथापि इस सूत्र से केवल 'भ्याम्' तथा 'य' में ही दीर्घ होता है। 'भिस्' के स्थान में 'ऐस्' (२०३) होने से तथा 'भ्यस्' परे रहते 'अ' के स्थान पर 'ए' (२०५) होने के कारण दीर्घ प्राप्त नहीं होता। **उदाहरण**—(तृतीया-द्विवचन में) राम+भ्याम् ('म्' की इत्संज्ञा नहीं), <रामाभ्याम् (अ=आ—दीर्घ)।

(२०३) पद—अतः, भिसः, ऐस्। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अकारान्त-अङ्ग के पश्चाद्वर्ती 'भिस्' के स्थान पर 'ऐस्' आदेश होता है। ऐस् अनेक वर्णात्मक होने के कारण सम्पूर्ण 'भिस्' के स्थान पर आदेश होता है। रामैः।

विवरण—अङ्गस्य का अधिकार है। 'अतः' पद उसका विशेषण है। **स्थानी** है—'भिस्'। **आदेश** है—'ऐस्'। 'ऐस्' में दो वर्ण हैं, अतः अनेक अल् युक्त है। फलतः "अनेकाल्शित् सर्वस्य" (१-१-५५) परिभाषा की उपस्थिति से सम्पूर्ण 'भिस्' को अभिव्याप्त कर 'ऐस्' आदेश होता है। **उदाहरण**—(तृतीया बहुवचन) राम+भिस्, <राम+ऐस् (भिस्=ऐस्), <रामैस् अ+ऐ=ऐ—वृद्धि), <रामैर् (स्=र्), < रामैः ('र्'=:)।

विशेष—१-राम+भिस्—इस स्थिति में दो विधान प्राप्त होते हैं—"बहुवचने झल्येत्" (७-३-१०३) तथा "अतो भिस ऐस्" (७-१-९)। "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" की उपस्थिति से "बहुवचने झल्येत्" (७-१-१०३) से एकार की प्राप्ति का प्रसंग होता है। किन्तु 'निरवकाशो विधिः अपवादः' नियम से 'ऐस्' आदेश 'ए' विधान का बाधक होता है।[1] 'ए'-विधान तो बहुवचनान्त 'झल्' प्रत्ययों के परे रहने पर सर्वत्र प्राप्त होता है, अतः वह 'सावकाश' है। 'ऐस्' की प्राप्ति तो केवल 'भिस्' में ही है। उसे अन्यत्र अवसर न मिलने के कारण वह निरवकाश है। इसलिए 'ए'कार का बाधक है। २-'ऐस्' के 'स्' की इत्संज्ञा नहीं होती—"न विभक्तौ तुस्माः"।

(२०४) पद—ङेः, यः। **अनुवृत्ति**—अतः, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

---

१. एत्वं भिसि परत्वाच्चेत् अत ऐस् क्व भविष्यति।
कृतेऽप्येत्वे भौतपौर्व्यादैस्तु नित्यस्तथा सति॥ रूपावतारः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इह स्थानिवद्भावेन यादेशस्य सुप्त्वात् 'सुपि च' (सू २०२) इति दीर्घः । 'सन्निपात-लक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य' (प ८६) इति परिभाषा तु नेह प्रवर्तते । 'कष्टाय क्रमणे' (सू २६७०) इत्यादिनिर्देशेन तस्या अनित्यत्वज्ञापनात् । रामाभ्याम् ।

व्याख्यानात् । अतो भिस इत्यतः अत इति पञ्चम्यन्तमनुवर्तते । तेन च अङ्गस्येत्यधि-कृतं पञ्चम्या विपरिणतं विशेष्यते । तदाह—अतोऽङ्गादिति । अदन्तादङ्गादित्यर्थः । सुपि चेति दीर्घं मत्वा आह—रामायेति । ननु यादेशस्य सुप्त्वाभावात्तस्मिन् परतः कथं सुपि चेति दीर्घ इत्यत आह—इहेति । नन्वत्र दीर्घो यञादित्वेन च यादेशं परनिमित्तीकृत्य प्रवर्तते । स च यञंशे अलाश्रयः तस्मिन् कर्तव्ये यादेशस्य कथमिह स्थानिवद्भावः । अन-ल्विधाविति तन्निषेधादिति चेत् ? सत्यम्—इह दीर्घस्य यञादिसुबाश्रयतया आदेशगत-यकाररूपालाश्रयत्वेऽपि तस्मिन् कर्तव्ये यादेशस्य स्थानिवद्भावे सुप्त्वं भवत्येव, दीर्घस्य आदेशगतयकाररूपालाश्रयत्वेऽपि स्थान्यलाश्रयत्वाभावात् । 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घ' इति तु वरमप्यत्र नोपन्यस्तम् , अकृत्सार्वधातुकयोरिति पर्युदासबलेन तस्य असुप्त्वेव प्रवृत्ते-रित्याहुः । स्यादेतत् । सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येत्यस्ति परिभाषा । सन्निपातः संश्लेषः लक्षणं निमित्तं यस्य सः सन्निपातलक्षणः । विधिः कार्यम् । तद्विघा-तस्य=तं सन्निपातं विहन्तीति तद्विघातः, तस्य । 'कर्मण्यण्' इति कर्मण्युपपदे कर्तर्यण् । 'हनस्तोऽचिण्णलोः–' इति तकारः । 'हो हन्ते'रिति कुत्वम् । सन्निपातविघातकस्य न

मूलार्थ—ह्रस्व अकारान्त अङ्ग से परे 'ङे' के स्थान पर 'य' आदेश होता है । यहाँ 'य'–आदेश को स्थानिवद्भाव से 'सुप्' मानकर "सुपि च" (२०२) से दीर्घ हुआ । "कष्टाय क्रमणे" (३ १-१४) प्रयोग के अनुसार "सन्निपात०" परिभाषा अनित्य होने के कारण प्रवृत्त नहीं होती ।

विवरण—'अतः' तथा 'अङ्गस्य' की अनुवृत्ति लाई जा रही है । स्थानी है—'ङे' तथा आदेश है 'य' । यहाँ पर 'य' आदेश अनेक-अल्-युक्त (य्+अ) होने के कारण समग्र स्थानी (ङे) को अभिव्याप्त करता है । उदाहरण—(चतुर्थी के एकवचन में) राम+ङे, <राम+य (ङे = य), <रामाय ('म' के अकार को दीर्घ—"सुपि च"–२०२) ।

विशेष—१—'ङे' के स्थान पर 'य' आदेश होने के पश्चात् 'दीर्घ' की प्रवृत्ति होने के लिए 'य' में स्थानिवद्भाव द्वारा 'ङे' प्रत्यय में 'सुप्–' धर्म का आरोप किया जाता है । इस प्रसङ्ग में 'सन्निपात'-परिभाषा की प्रवृत्ति होने पर दीर्घ न होने के विषय में शङ्का की जा रही है । सन्निपात-परिभाषा का स्वरूप है "सन्निपात-लक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य" । इसका शाब्दिक अर्थ इस प्रकार है—सन्निपातः = संश्लेषः = सम्बन्धः, लक्षणं = निमित्तं यस्य सः = सन्निपातलक्षणः–अर्थात् उपजीव्य (उपकारक) के सम्बन्ध को मानकर होने वाला (विधिः) कार्य–तं=सन्निपातं विहन्तीति तद्विघातः-तस्य = तद्विघातस्य—उस सम्बन्ध के विनाश का—न निमित्तम् = अनिमित्तम्—निमित्त नहीं होगा । अर्थात् उपकार्य-विधि अपने उपजीव्य (उपकारक) के विनाशक कार्य के निमित्त नहीं होती । तदनुसार अकारान्त को मान कर होने वाला 'य' आदेश अपनी प्रवृत्ति में उपकारक–ह्रस्व-अकार के विनाशक दीर्घरूपी-कार्य में (यञादि के रूप में) निमित्त होकर नहीं रहेगा । अतः दीर्घ कैसे होगा ? इसका समाधान यह दिया जाता है कि दीर्घ-विधान में 'सन्निपात-परिभाषा' अनित्य है । इस विषय में पाणिनि का सूत्र "कष्टाय क्रमणे" (३-१-१४) प्रमाण स्वरूप दिया जाता है[1] ? स्वयं पाणिनि ने ही दीर्घ की प्रवृत्ति दिखला कर 'कष्टाय' शब्द का प्रयोग किया है ।

---

१. तस्याभावे निमित्तस्य नित्यभावो न विद्यते ।
लिङ्गमस्य प्रयोगस्य · कष्टायेति प्रकीर्तितम् ॥ रूपावतारः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२०५) बहुवचने झल्येत् ७।३।१०३ ॥ झलादौ बहुवचने सुपि परे अतोऽङ्गस्यैकारः स्यात् । रामेभ्यः । 'बहुवचने' किम् ? रामः । रामस्य । 'झलि' किम् ? रामाणाम् ।

निमित्तमित्यर्थः । उपजीवकमुपजीव्यस्य विघातकं न भवतीति यावत् । प्रकृते च अदन्त-सम्बन्धविघातकस्य दीर्घस्य कथं निमित्तं स्यादित्याशङ्क्य परिहरति—सन्निपातलक्षण इत्यादिना । तृतीयाद्विवचनात् दीर्घं सिद्धवत्कृत्याह—रामाभ्यामिति । भ्यसि न विभक्ताविति सस्य नेत्त्वम् । सुपि चेति दीर्घे प्राप्ते ।

(२०५) बहुवचने झल्येत् । अतो दीर्घो यञीत्यतः सुपि चेत्यतश्च अत इति सुपीति चानुवर्तते । झलीत्यनेन सुपीति विशेष्यते । यस्मिन् विधिरिति तदादिविधिस्तदाह—झलादाविति । अतोऽङ्गस्येति । अदन्तस्याङ्गस्येत्यर्थः । एत्वे सति रुत्वविसर्गौ सिद्धवत्कृत्याह—रामेभ्य इति । राम इति । अयोगवाहानामकारोपरि शर्षु चोपसङ्ख्यातत्वेन विसर्गस्य झल्त्वात् स्थानिवद्भावेन सुप्त्वाच्च तस्मिन् परत एत्वं प्राप्तम्, रुत्वविसर्गयोरसिद्धत्वेऽपि राम स् इति दशायां झलादिसुप्परत्वात् । अतो बहुवचनग्रहणमित्यर्थः । रामस्येति । बहुवचन-ग्रहणस्य प्रयोजनान्तरम् । षष्ठ्येकवचनस्य ङसः स्यादेशे तस्य स्थानिवद्भावेन सुप्त्वात् स्वतो झलादित्वाच्च तस्मिन् परत एत्वे प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थं बहुवचनग्रहणमित्यर्थः । सन्निपात-परिभाषा तु सर्वेषामिति निर्देशादेत्वविधौ न प्रवर्तत इत्याह । झलि किमिति । 'उतो वृद्धि-र्लुकि हलि' इत्यतो हलीत्यनुवर्त्य हलादौ बहुवचने सुपि एत्वमित्येव व्याख्यातुं शक्यते । तावतैव रामा इत्याद्यजादिबहुवचने एत्वनिरासादिति प्रश्नः । रामाणामिति । हलादौ बहु-

---

२—'य' का स्थानी 'ङे' है । वह अनेक-अल्-युक्त (ङ्+ए) होने के कारण स्थानिवद्भाव के निषेध की परिधि (अनल्विधौ) में नहीं आता ।

(२०५) पद—बहुवचने, झलि, एत् । अनुवृत्ति—अतः, अङ्गस्य, सुपि । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—झलादि बहुवचन सुप् परे रहते ह्रस्व अकारान्त अङ्ग को एकार आदेश होता है । बहुवचने क्यों कहा ? रामः । झलि क्यों कहा ? रामाणाम् । सुपि क्यों कहा ? पचध्वम् । (आगे के उदाहरण को अभिलक्षित कर) जश्त्व हुआ ।

विवरण—सूत्र में स्थानी का निर्देश नहीं है । वह अनुवृत्ति द्वारा जाना जाता है । इसके लिये "अतो दीर्घो यञि" (७-३-१०१) से 'अतः' पद की अनुवृत्ति की जाती है । "अङ्गस्य" (६-६-१) का अधिकार है । 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से 'अतः' पद में 'तदन्तविधि' होती है । इसी तरह 'सुपि' का विशेषण 'झलि' है । वहाँ तदादिविधि होगी—'झलादि सुप्' । इस प्रकार सूत्र का समष्टिगत अर्थ होगा—"बहुवचन में झलादि-सुप् प्रत्यय परे रहते ह्रस्व अकारान्त अङ्ग के अन्त्य 'अल्' के स्थान पर एकार होता है" । **उदाहरण**—(चतुर्थी के बहुवचन में) राम+भ्यस्, <रामेभ्यस् ('झल्'-आदि 'सुप्' = भ्यस् परे रहते अ = ए), <रामेभ्यर् ('स्' = 'र्') < रामेभ्यः (र् = :) । **प्रत्युदाहरण**—१-सूत्र में 'बहुवचने' निर्देश है । अतः 'रामः' में झलादि सुप् प्रत्यय-'सु' को एक-वचन में होने के कारण 'ए' नहीं हुआ । "प्रत्ययः" "परश्च" आदि प्रयोगों से भी इस सन्देह का निवारण किया जा सकता है । इसके साथ ही द्विवचन-स्थल 'रामाभ्याम्' इत्यादि में "सुपि च" (२०२) से विधीयमान दीर्घ 'ए'-विधान का बाधक है । ऐसी स्थिति में पुनरपि सूत्र में 'बहुवचने' पद की क्या उपयोगिता है ? इस हेतु दूसरा उदाहरण 'रामस्य' दिया जा रहा है । यहाँ पर 'राम+स्य' इस स्थिति में झलादि-सुप् प्रत्यय (स्य) होने से 'राम' शब्द में मकारोत्तरवर्ती 'अ' के स्थान पर 'ए' की प्राप्ति होने लगेगी । इस शंका का निवारण "टा-ङसि-ङसामिनात्स्याः" (२०१) सूत्र से विधीयमान 'स्य' के पूर्व 'अ' का श्लेष कर आदेश की 'अस्य' के रूप में कल्पना कर 'राम+अस्य' स्थित में "अतो गुणे" (१९१) से पररूप करने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सुपि' किम् ? पचध्वम् । जश्त्वम् । (२०६) वाऽवसाने ८ । ४ । ५६ ॥ अवसाने झलां चरो वा स्युः । रामात्–रामाद् । द्वित्वे रूपचतुष्टयम् । रामाभ्याम् । रामेभ्यः । रामस्य ।

वचने सुपि एत्वमित्युक्तौ रामाणामित्यत्राप्येत्वं स्यात् । तन्निवृत्त्यर्थं झल्ग्रहणमित्यर्थः । यद्यप्यत्र सन्निपातपरिभाषया ह्रस्वान्ताङ्गसन्निपातमुपजीव्य प्रवृत्तस्य नुटस्तद्विघातकमेत्वं प्रति निमित्तत्वासम्भवादेव एत्वं न भविष्यति । तथापि झल्ग्रहणमेत्वे सन्निपातपरिभाषाया अप्रवृत्तिज्ञापनार्थम् । तेन हलि सर्वेषाम् इति निर्देशात् सर्वशब्दे एत्वसिद्धावपि विश्वेषामित्यादावप्येत्वं भवति । पचध्वमिति । ध्वमो झलादिबहुवचनत्वेऽपि सुप्त्वाभावान्न तस्मिन् परत एत्वमित्यर्थः । न च 'बहुवचने झलीक्' इत्येवास्तु किन्त्वादन्तावयवे आद्गुणे च रामेभ्य इत्यादिसिद्धेरिति वाच्यम्, एवं सति ओसि चेत्युत्तरसूत्रेऽपि इगागमविधौ ज्ञानयोरित्यत्र इकोऽचि विभक्ताविति नुमापत्तेः ।

अथ पञ्चमीविभक्तिः । तत्र 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इति ङसेः इकार इत् । तस्य लोपः । ङकारस्तु लशक्वेति इत् । तस्य लोपः । तदुभयोच्चारणं तु 'ङसिङ्योः' 'घेर्ङिति' इत्याद्यर्थम् । 'टाङसिङसाम्' इति आत् । सवर्णदीर्घः । जश्त्वमिति । 'झलां जशोऽन्ते' इति नित्यतया जश्त्वं प्राप्तम् । तदपवादश्चर्त्वविकल्प आरभ्यत इत्यर्थः ।

(२०६) वाऽवसाने । 'झलां जश्झशि' इत्यतो झलामिति 'अभ्यासे चर्च' इत्यतश्चरिति चानुवर्तते । तदाह—अवसान इत्यादिना । द्वित्वे रूपेति । तकारदकारयोरनचि चेति द्वित्वे तदभावे च रूपचतुष्टयमित्यर्थः । तत्र चर्त्वपक्षे द्वितकारमेकतकारं च रूपम् । जश्त्वपक्षे द्विदकारमेकदकारं च । रामाभ्याम् । रामेभ्य इति । चतुर्थीवत् प्रक्रिया सुगमेति भावः ।

अथ षष्ठीविभक्तिः । ङसो ङकारस्य लशक्वतद्धित इति इत्वं, लोपः । ङकारोच्चारणं तु ङिति ह्रस्वश्चेत्याद्यर्थम् । टाङसिङसामिति स्यादेशं सिद्धवत्कृत्याह—रामस्येति । नन्विह सकारस्यानचि चेति द्वित्वे पूर्वसकारस्य खरि चेति चर्त्वेन दन्तस्थानतोऽन्तरतमे तकारे

पर 'रामस्य' की सिद्धि होना सम्भव है । इस प्रकार 'बहुवचने' पद का प्रयोग निरर्थक ही प्रतीत होता है । इसका उत्तर यह दिया जाता है कि द्विवचन 'राम+भ्याम्' इस स्थिति में झलादि-सुप्-प्रत्यय-(भ्याम्)-परे रहते 'एत्व' की प्रवृत्ति होने पर अनिष्टरूप बनने लगेगा । इसका कारण यह है कि "सुपि च" (२०२) से विधीयमान दीर्घ इसका बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि वह 'रामाय' इत्यादि उदाहरणों में चरितार्थ हो चुका है । २–सूत्र में 'झलि' पद का सन्निवेश व्यर्थ है ? कारण यह है कि "उतो वृद्धिर्लुकि हलि" (७-३-८९) सूत्र से 'हलि' की अनुवृत्ति किये जाने पर 'हलादि बहुवचन-सुप्'-प्रत्यय (नाम्) परे रहते 'रामाणाम्' में 'ए' आदेश प्राप्त होने की सम्भावना का निवारण 'सन्निपात-परिभाषा' से किया जा सकता है । अतः 'झल्' पद का सन्निवेश 'एकार' विधि में सन्निपात-परिभाषा की अनित्यता का ज्ञापक माना जाता है । ३–अनुवृत्ति द्वारा लाये गए 'सुपि' पद का यह फल है कि यह एकार-विधान 'सुप्' प्रत्याहार में ही प्रवृत्त होता है । अतः 'पचध्वम्' में तिङ्–प्रत्यय होने से चकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर 'ए' नहीं हुआ ।

(पञ्चमी के एक वचन में) राम+ङसि, <राम+अस्, <राम+आत् (ङसि = आत् "टा–ङसि–ङसामिनात्स्याः" २०१) <रामात् (सवर्ण-दीर्घ–अ+आ = आ) । इस स्थिति में "झलां जशोऽन्ते" (८४) सूत्र से (झल् = जश्) त् = द् हुआ । अवसान में यह 'चर्'-विधि का बाधक है ।

(२०६) पद—वा, अवसाने । अनुवृत्ति—झलाम्, चर् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—अवसान में 'झलों' के स्थान पर विकल्प से 'चर्' होता है । रामात्–रामाद् । ('त्' तथा द् को) द्वित्व होने पर चार रूप होते हैं । रामाभ्याम् । रामेभ्यः । रामस्य । 'स्' को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सस्य द्वित्वपक्षे 'खरि च' (१२१) इति चर्त्वेऽप्यान्तरतम्यात्स एव। न तु तकारः, अल्पप्राणतया प्रयत्नभेदात्। अत एव 'सः सि–' (सू २३४२) इति तादेश आरभ्यते। **(२०७) ओसि च ७। ३। १०४॥** ओसि परे अतोऽङ्गस्यैकारः स्यात्। रामयोः।

सति रामस्येति स्यादित्यत आह—सस्य द्वित्वेति। स एवेति। सकार एवेत्यर्थः। एवकार-व्यावर्तमाह—न तु तकार इति। ननु दन्तस्थानतः श्वासाघोषविवारात्मकबाह्यप्रयत्नतश्चा-न्तर्ये तकारेऽप्यविशिष्टमित्यत आह—अल्पप्राणतयेति। सकारः स्थानी महाप्राणः। तकारस्तु अल्पप्राणः। अतो बाह्यप्रयत्नभेदात् तकारो न भवति। इदमुपलक्षणम्। आभ्यन्तर-प्रयत्नभेदादपि सकारस्य तकारो न भवतीति द्रष्टव्यम्। अत एवेति। 'वस ।नवासे' इत्यादिधातोर्वत्स्यतीत्यादौ सकारस्य सकारे परे तकारो विधीयते। यदि तु तत्र खरि चेति सकारस्य तकारः स्यात्तर्हि तद्विधानमनर्थकं स्यादित्यर्थः। 'राम ओस्' इति स्थिते वृद्धौ प्राप्तायाम्।

(२०७) ओसि च। अतो दीर्घो यञीत्यतोऽत इत्यनुवर्तते। अङ्गस्येत्यधिकृतम्। बहुवचने झल्येदित्यत एदित्यनुवर्तते। तदाह—ओसि पर इति। अतोऽङ्गस्येति। अदन्ताङ्ग-

---

द्वित्व होने की अवस्था में "खरि च" (१२१) सूत्र से उसे 'चर्त्व' होने पर आन्तरतम्य होने से 'स्' के स्थान पर 'स्' ही होता है, 'त्' नहीं होता। 'त्' तथा 'स्' दोनों वर्णों में 'त्' का अल्पप्राण प्रयत्न होने से भिन्नता है। इसलिये "सः स्यार्धधातुके" (७-४-४९) सूत्र से 'स्' को 'त्' का विधान किया गया है।

विवरण—सूत्र में स्थानी तथा आदेश–दोनों का उल्लेख नहीं है। अतः "झलां जश् झशि" (८-४-५३) सूत्र से 'झल्' तथा "अभ्यासे चर्च" (८-४-५४) से 'चर्' की अनुवृत्ति की जाती है। तदनुसार **स्थानी** हैं 'झल्'–वर्ण तथा **आदेश** हैं—'चर्' वर्ण। निमित्त है 'अवसान' (किसी वर्ण का न होना)। **उदाहरण**—'रामात्' (द् = त्—अन्त में विद्यमान झल्–वर्ण–'द्' = 'चर्'–'त्')। विकल्प होने के कारण पक्ष में जश्त्व होने की स्थिति में 'रामाद्'। 'त्' तथा 'द्' को "अनचि च" (४८) सूत्र से विकल्प से द्वित्व होने पर दो तकारात्मक एवं दो दकारात्मक रूप बनेंगे। अतः दोनों मिलकर चार रूप हो सकते हैं। (पञ्चमी द्विवचन) राम+भ्याम्, <रामाभ्याम् (दीर्घ–"सुपि च" २०२)। (पञ्चमी बहुवचन) राम+भ्यस्, <रामेभ्यः (अ = ए–"बहुवचने झल्येत्" २०५)। (षष्ठी एकवचन) राम+ङस्, <राम+स्य (ङस् = स्य–सू० २०१)। 'रामस्य'—इस स्थिति में "अनचि च" (४८) से 'स्' को द्वित्व होने के पश्चात् "खरि च" (१२१) सूत्र से 'स्' के स्थान में 'चर्' 'स्' ही होगा। कारण यह है कि 'त्' का 'स्' के साथ स्थान-साम्य (दन्त) होने पर भी प्रयत्न-भेद है। 'त्' का आभ्यन्तर प्रयत्न 'स्पृष्ट' तथा बाह्य-प्रयत्न अल्पप्राण है। इसके विपरीत 'स्' का आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत एवं बाह्य-प्रयत्न 'महाप्राण' है। अतः स्थान-प्रयत्न-जन्य उभयसाम्य होने से 'झल्' 'स्' के स्थान में 'चर्' 'स्' ही होगा। इसी कारण "सः स्यार्धधातु के" (७-४-५९) सूत्र से 'स्' के स्थान पर 'त्'–विधान सार्थक है। इससे विदित होता है कि 'खर्'–'स्' के स्थान पर 'चर्'–'त्' नहीं होता।

(२०७) पद—ओसि, च। **अनुवृत्ति**—अतः, अङ्गस्य, एत्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ह्रस्व अकारान्त अङ्ग को 'ओस्' परे रहते 'ए' होता है। रामयोः।

विवरण—'स्थानी' और 'आदेश'—दोनों का लाभ 'अनुवृत्ति' लाए जाने पर होता है। तदनुसार "अतो दीर्घो यञि" (७-३-११०) से 'अतः' पद तथा "बहुवचने झल्येत्" (७-३-१०३) से 'एत्' पद की अनुवृत्ति लाई जारही है। 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से 'अतः' पद में तदन्तविधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्रार्थ होगा—"ओस् विभक्ति से अव्यवहित पूर्व ह्रस्व अकारान्त अङ्ग के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२०८) ह्रस्वनद्यापो नुट् ७ । १ । ५४ ॥ ह्रस्वान्तात्नद्यन्ताच्चावन्ताच्चाङ्गात्परस्यामो नुडागमः स्यात् । (२०९) नामि ६ । ४ । ३ ॥ नामि परेऽजन्तस्याङ्गस्य दीर्घः स्यात् ।

स्येत्यर्थः । 'रामे ओस्' इति स्थिते अयादेशं रुत्वविसर्गौ च सिद्धवत्कृत्याह —रामयोरिति । 'राम आम्' इति स्थिते सवर्णदीर्घे प्राप्ते ।

(२०८) ह्रस्वनद्या । ह्रस्वश्च नदी च आप्चेति समाहारद्वन्द्वाद्दिग्योगे पञ्चमी । 'परस्य' इत्यध्याहार्यम् । 'अङ्गस्य' इत्यधिकृतं पञ्चम्या विपरिणम्य ह्रस्वादिभिर्विशेष्यते, अतस्तदन्तविधिः । 'आमि सर्वनाम्नः' इत्यत 'आमि' इत्यनुवर्तते । तच्च 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' इति न्यायात् 'तस्मादित्युत्तरस्य' इति षष्ठ्यन्तं सम्पद्यते तदाह—ह्रस्वान्तादित्यादिना । आम् अत्र षष्ठीबहुवचनमेव न तु ङेरामित्यादिविहितम् इति भाष्ये स्पष्टम् । नुटि टकार इत् । उकार उच्चारणार्थः । टित्त्वादाद्यवयवः । 'राम–नाम्' इति स्थिते ।

(२०९) नामि । 'ह्रलोप' इत्यतो दीर्घ इत्यनुवर्तते । 'दीर्घश्रुत्या च 'अच' इत्युपस्थितम् । तेन चाङ्गं विशेष्यते । अतस्तदन्तविधिः । तदाह—अजन्तस्येति । 'नुटि' इति न सूत्रितम् । 'भृञ≍किन्नुट् च' इत्यौणादिकगन्प्रत्ययान्ते भृङ्शब्दे ऋकारस्य दीर्घापत्तेः । अङ्गनां पामनामित्यादौ तु न दीर्घः, अर्थवद्ग्रहणपरिभाषया अर्थवत एव नामो ग्रहणात् पामादिलक्षणेन प्रत्यये टापि द्वितीयैकवचने अमि कृते त्रयाणामपि प्रत्ययानां प्रत्येकमर्थवत्त्वेऽपि समुदायस्यानर्थकत्वात् । ननु नामीति सनकारग्रहणं मास्तु 'आमि' इत्येव सूत्र्यताम् । न च राम आम् इत्यस्यां दशायां दीर्घे सति ह्रस्वान्तत्वाभावात् 'ह्रस्वनद्यापः' इति नुट् न स्यादिति वाच्यम् । 'ह्रस्वान्तान्नुट्' इति वचनसामर्थ्यात् कृतेऽपि दीर्घे

स्थान पर 'ए' आदेश होता है । 'अलोन्त्यस्य' परिभाषा की उपस्थिति से आदेश अन्तिम वर्ण के स्थान पर होगा । **उदाहरण**—(षष्ठी-विभक्ति-द्विवचन) राम+ओस्, <राम+आस् (अ = ए, वृद्धि का बाधक), <रामय्+ओस् (ए = अय्), <रामयोर्, <रामयोर (स् = र्) रामयोः (र् = :) ।

विशेष—'ओस्' के 'स्' की इत्संज्ञा का निषेध हुआ—"न विभक्तौ तुस्माः" (१९०) ।

(२०८) **पद**—ह्रस्वनद्यापः, नुट् । **अनुवृत्ति**—आमि । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—ह्रस्वान्त, नद्यन्त और आवन्त अङ्ग से परे 'आम्' को 'नुट्' आगम होता है ।

विवरण—सूत्र 'नुट्' आगम का विधान करता है । "आमि सर्वनाम्नः सुट्" (७-१-५२) सूत्र से 'आमि' पद की अनुवृत्ति लाये जाने पर 'आगमी' का बोध होता है । 'अङ्गस्य' का अधिकार होने के कारण 'ह्रस्व', 'नदी' तथा 'आप्' शब्दों में तदन्तविधि की जाती है । पञ्चम्यन्त 'ह्रस्व नद्यापः' (ह्रस्वश्च, नदी च, आप् च—एतेषां समाहारः) तथा सप्तम्यन्त 'आमि' पद दोनों के रहने पर, 'पञ्चमी'–निर्देश के बलवान् होने के कारण सप्तम्यन्तपद 'आमि' को षष्ठी-विभक्ति में परिवर्तित किया गया है । 'नदी' परिभाषिक शब्द है । वह दीर्घ 'ईकारान्त' एवं दीर्घ 'ऊकारान्त' नित्य-स्त्रीलिङ्ग-शब्दों का बोधक होता है—"यूस्त्याख्यौ नदी" (१-४-३) । आप्='स्त्री-प्रत्यय' प्रकरण के तीन आकारान्त प्रत्ययों टाप्, डाप् तथा चाप् का बोधक है । 'नुट्' में 'ट्' की इत्संज्ञा होने के कारण "आद्यन्तौ टकितौ" परिभाषा की उपस्थिति होने से 'आम्' का आदि–अवयव होगा । अतः 'आम्' के पूर्व 'न्' की स्थिति रहेगी । इस प्रकार सूत्र का अर्थ होता है—"ह्रस्वान्त, नद्यन्त तथा आवन्त अङ्ग से परे 'आम्' विभक्ति के पूर्व 'न्'(नुट्)संयुक्त होता है" । **उदाहरण**—राम+आम्, <राम न्+आम् (सवर्ण दीर्घ को बाध कर 'नुट्' आगम) ।

(२०९) **पद**—नामि । **अनुवृत्ति**—दीर्घः, अच्, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'नाम्' परे रहते अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है । रामाणाम् । संनिपात-परिभाषा के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामाणाम्। 'सुपि च' (सू २०२) इति दीर्घो यद्यपि परस्तथापीह न प्रवर्तते, सन्निपात-परिभाषाविरोधात्। 'नामि' इत्यनेन त्वारम्भसामर्थ्यात्परिभाषा बाध्यते। रामे।

भूतपूर्वगत्याश्रयणेन नुडुपपत्तेरिति चेन्न, सनकारनिर्देशस्य वोपधाया इत्युत्तरार्थत्वात्। यदि हि आमीत्येवोच्येत तर्हि 'नोपधायाः' इत्युत्तरसूत्रेऽपि आमीत्येवानुवर्तेत। ततश्च नान्तस्योपधाया दीर्घः स्यादामीत्येव लभ्येत। एवं सति चर्मणां वर्मणामित्यादावपि दीर्घः स्यात्। अतो नामीति सनकारनिर्देशः इति भाष्ये स्पष्टमित्यलम्। 'अट्कुप्वाङ्' इति णत्वं सिद्धवत्कृत्याह—रामाणामिति। नन्वत्र परत्वात् 'सुपि च' इति दीर्घ एवोपन्य-सनीयः, न तु 'नामि' इति दीर्घः, फलविशेषाभावेऽपि न्यायानुरोधेनैव शास्त्रप्रवृत्तेः 'इको झल्' इति सूत्रे भाष्ये प्रपञ्चितत्वात् इति शङ्कते—सुपि चेति दीर्घो यद्यपि पर इति। परि-हरति—तथापीति। सन्निपातेति। ह्रस्वान्तसन्निपातमुपजीव्य प्रवृत्तस्य नुटः ह्रस्वविघातकं 'सुपि च' इति दीर्घं प्रति निमित्तत्वासम्भवादिति भावः। नन्विह 'नामि' इति दीर्घ-प्रवृत्तावपि सन्निपातपरिभाषाविरोधस्तुल्य इत्यत आह—नामीत्यनेन त्विति। यद्यत्र नामीति दीर्घो न स्यात्तर्हि तदारम्भो व्यर्थः स्यात्। ततश्च निरवकाशत्वाद्रामाणामित्यादौ नामीति दीर्घः सन्निपातपरिभाषां बाधित्वा प्रवर्तते। सुपि चेति दीर्घस्तु रामभ्यामित्यादौ सावकाशत्वाद्रामाणामित्यादौ नामि परे सन्निपातपरिभाषां न बाधितुमर्हति। तस्माद्रामाणामित्यादौ नामि परे दीर्घप्रवृत्तौ सन्निपातपरिभाषां बाधितुं नामीति दीर्घारम्भः। ननु नामीति दीर्घो निरवकाशत्वात्सन्निपातपरिभाषां बाधत इत्युक्तम्, यत्र ह्रस्वान्तसन्नि-पातमनुपजीव्य नुटः प्रवृत्तिस्तत्र सन्निपातपरिभाषानुपमर्देनैव नामीति दीर्घप्रवृत्तेः सावकाशत्वात्। यथा—कतीनामित्यत्र। तत्र हि 'षट्चतुर्भ्यः' इति नुट्। षट्संज्ञके-भ्यश्चतुरश्च परस्याऽऽमो नुट् स्यादिति हि तदर्थ इति चेत्? एवं हि सति कतेर्नामीत्येव सूत्र्येत। अजन्तस्याङ्गस्य नामि दीर्घ इत्येवं परं नामीति सामान्यसूत्रं नारभ्येत्। उक्तं हि भाष्ये—'न ह्येकमुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयति' इति। एकस्य शब्दस्य साधनाय सामान्यसूत्रं नारभणीयमित्यर्थः। अन्यथा मुद्गादणित्यनुपपत्तेरिति कैयटः। न चैवं

विरोध होने से पर होते हुए भी "सुपि च" सूत्र से विधीयमान दीर्घ की प्रवृत्ति यहाँ नहीं होती। "नामि" (२०९) सूत्र के पृथक् प्रणयन किये जाने से सन्निपात-परिभाषा बाधित हो जाती है। रामे। रामयोः। 'सुप्'-प्रत्यय परे रहते 'ए'कार करने पर ('षत्व-विधान' किया जारहा है)।

विवरण—**'स्थानी'** तथा **'आदेश'**—दोनों का लाभ अनुवृत्ति द्वारा होता है। "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" (६-३-१११) सूत्र से 'दीर्घ' पद की अनुवृत्ति के फलस्वरूप "अचश्च" (१-२-२८) परिभाषा की उपस्थिति से 'अचः' षष्ठ्यन्त पद 'अङ्गस्य' का विशेषण हो जाता है। अतः (स्थानी के रूप में) 'अजन्ताङ्ग' को 'नाम्' परे होने पर 'दीर्घ' (आदेश) होता है।

उदाहरण—राम+नाम्, <रामा+नाम् (अ = 'आ'-दीर्घ), <रामाणाम् ('न्' = ण्—"अट्-कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि" (१९७)।

विशेष—"सुपि च" (७-३-१०२) सूत्र के व्याख्याप्रसङ्ग में यह बतलाया जा चुका है कि "कष्टाय क्रमणे" (३-१-१४) निर्देश से दीर्घ-विधान में सन्निपात-परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः अष्टाध्यायी-क्रम में "नामि" (६-४-३) की अपेक्षा "सुपि च" (७-३-१०२) सूत्र पर होने से भूतपूर्व ह्रस्व का आश्रय लेकर दीर्घ करने में प्रवृत्त नहीं होता। "नामि" सूत्र से भी दीर्घविधान ही होता है—अतः सन्निपात-परिभाषा की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती? इसका उत्तर यह दिया गया है कि इस सूत्र में 'नाम्' शब्द का प्रतिपदोक्त उच्चारण कर दीर्घ का विधान किया गया है। अतः परिभाषा एवं पर-शास्त्र का यह बाधक हो जाता है। (सप्तमी-विभक्ति एकवचन)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामयोः। सुप्येत्वे कृते। (२१०) **अपदान्तस्य मूर्धन्यः** ८। ३। ५५॥ आपादपरिसमाप्तेरधिकारोऽयम्। (२११) **इण्कोः** ८।३।५७॥ इत्यधिकृत्य। (२१२) **आदेशप्रत्यययोः** ८। ३। ५९॥ 'सहेः साडः सः' (सू ३३५) इति सूत्रात् 'सः' इति षष्ठ्यन्तं

सति कतिशब्दस्याधिकस्य प्रवेशे गौरवमिति वाच्यम्, 'न तिसृचतसृ' इति नामि दीर्घनिषेधाकरणेन लाघवात्। एवं च कतेर्नामीत्यनुक्त्वा नामीति सामान्यसूत्रारम्भसामर्थ्याद्रामाणामित्यादावपि नामीति दीर्घः सन्निपातपरिभाषां बाधित्वा निविशते इति युक्तम्। एवं च आरम्भसामर्थ्यादिति मूलमपि कतेर्नामीत्यनुक्त्वा नामीति सामान्यसूत्रारम्भसामर्थ्यादिति व्याख्येयमित्यलं विस्तरेण।

अथ सप्तमीविभक्तिः। ङेर्ङकार इत्। राम इ इति स्थिते आद्गुणे इति मत्वाह—राम इति। रामयोरिति। षष्ठीद्विवचनवत्। सुप्येत्वे कृत इति। पकारस्येत्वे, लोपे, 'बहुवचने झल्येत्' इत्येत्वे कृत इत्यर्थः। 'रामे-सु' इति स्थिते आदेशप्रत्यययोरिति षत्वं विधास्यन्नाह—

(२१०) अपदान्तस्य। मूर्धन्यः—मूर्धस्थानकः। अष्टमाध्यायस्य तृतीयपादे मध्यत इदं सूत्रं पठितम्। इत आरभ्यैतत्पादसमाप्तिपर्यन्तमिदमधिक्रियत इत्यर्थः।

(२११) इण्कोः। इत्यधिकृत्येति। उत्तरत्र विधिष्वनुवर्तत इति भावः। इण् च कुश्चेति समाहारद्वन्द्वः। पुंस्त्वमार्षम्। इतरेतरयोगद्वन्द्वे त्वेकवचनमार्षम्। इणिति परणकारेण प्रत्याहारः। कुः कवर्गः।

(२१२) अथ षत्वविधायकं सूत्रमाह—आदेश। षष्ठ्यन्तमिति। 'सहेःसाडः सः' इति सूत्रे स् इत्यस्मात् षष्ठ्येकवचने सति सः इति निर्दिष्टमिति भावः। तच्चेह द्विवचनान्ततया विपरिणम्य आदेशप्रत्यययोरित्यत्र सम्बध्यते। ततश्च इण्कवर्गाभ्यां परयोः पदान्तयोरादेशात्मकप्रत्ययावयवात्मकयोः सकारयोर्मूर्धन्यः स्यादित्यर्थः। फलितमाह—इण्कवर्गाभ्यामित्यादिना। प्रौढमनोरमायां तु आदेशप्रत्यययोरित्येकापि षष्ठी प्रत्ययविषये अव-

---

राम+ङि, <राम+इ, ('ङ्' की इत्संज्ञा), <रामे (अ+इ = ए-गुण)। (सप्तमी-विभक्ति द्विवचन) राम्+ओस्, <रामे+ओस् (अ = ए-"ओसि च"—२०८), <रामयोस् (ए = अय्), <रामयोर् (स् = र्), <रामयोः (र् = :)। (सप्तमी-बहुवचन) राम+सुप्, <राम+सु ('प्'—इत्संज्ञा), <रामे+सु (अ = ए-"बहुवचने झल्येत्" २०५)।

(२१०) पद—अपदान्तस्य, मूर्धन्यः। **अधिकारसूत्र।**

मूलार्थ—इस पाद की समाप्ति पर्यन्त इसका अधिकार है।

विवरण—इस सूत्र का अधिकार-क्षेत्र अष्टाध्यायी के आठवें अध्याय के तृतीय चरण में पढ़े हुए अवशिष्ट सूत्रों तक है। इस पाद का अन्तिम सूत्र है—"निव्यभिभ्योऽड्व्यवाये वा छन्दसि" (८-३-११९)। अतः ८-३ ५४ से ८-३-११९ तक 'अपदान्तस्य' तथा 'मूर्धन्यः'—इन दो पदों की अनुवृत्ति जायगी।

(२११) पद—इण्कोः। **अधिकारसूत्र।**

मूलार्थ—इसका भी अधिकार है।

विवरण—यह 'षत्व'-प्रकरण का दूसरा अधिकार-सूत्र है। तदनुसार मूर्धन्य 'ष्' का स्थानी अपदान्त 'स्' है। उसका 'इण्' तथा 'कु' = कवर्ग का पश्चाद्वर्ती (इण् च कुश्च—अनयोः समाहारः, तस्मात्) होना आवश्यक है।

(२१२) पद—आदेशप्रत्यययोः। **अनुवृत्ति**—सः, अपदान्तस्य, मूर्धन्यः, इण्कोः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—"सहे साडः सः" (८-३-५६) सूत्र से षष्ठ्यन्त-पद 'सः' की अनुवृत्ति की जाती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदमनुवर्तते । इण्कवर्गाभ्यां परस्यापदान्तस्यादेशः प्रत्ययावयवश्च यः सकारस्तस्य मूर्धन्यादेशः स्यात् । विवृताघोषस्य सस्य तादृश एव षः । रामेषु । इण्कोः किम् ? रामस्य । 'आदेशप्रत्यययोः' किम् ? सुपीः । सुपिसौ । सुपिसः । 'अपदान्तस्य' किम् ? हरिस्तत्र ।

यवार्थिका, आदेशविषये चाभेदार्थिका । तथा च आदेशस्य प्रत्ययावयवस्य च सकारस्येति लभ्यत इति प्रत्ययशब्दस्य लक्षणां विनोक्तम् । सहविवक्षाभावेऽपि सौत्रो द्वन्द्व इति च स्वीकृतम् । यदि तु आदेशविषयेऽपि अवयवषष्ठी स्यात्–आदेशावयवस्य सस्य ष इति । तर्हि तिस्रः, तिसृणामित्यादौ दोषः । न च त्रिचतुरोः स्त्रियामित्यन्नादेशे सकारोच्चारणसामर्थ्यान्न तत्र षत्वमिति वाच्यम्, तिस्र इत्यत्र 'न रपरसृपिसृजिस्पृशिस्पृहिसवनादीनाम्' इति षत्वनिषेधेन चरितार्थत्वात् बिसं बिसमित्यादौ सकारस्य आदेशावयवतया षत्वापत्तेश्च, नित्यवीप्सयोरित्याष्टमिकद्विर्वचनस्यादेशरूपताया वक्ष्यमाणत्वात् । प्रत्ययो यः सकारस्तस्येति व्याख्याने तु जिगीषुरित्यादावेव स्यात्, रामेषु इत्यादौ न स्यात् । अतः आदेशः प्रत्ययावयवश्च यः सकारस्तस्येति व्याख्यातम् । प्रत्ययावयवलक्षणायां च हलि सर्वेषामिति निर्देशो लिङ्गम् । विवृताघोषस्येति । भूर्धन्यत्वम् । ऋटुरषेष्वविशिष्टम् । विवृतत्वरूपाभ्यन्तरप्रयत्नवतः अघोषरूपबाह्यप्रयत्नवतश्च सकारस्य तदुभयात्मकः षकार एव भवतीत्यर्थः । टकारनिवारणायाद्यं विशेषणम् । ऋकारवारणाय

अतः 'इण्'-'कवर्ग' से परे अपदान्त आदेशरूप एवं प्रत्ययावयव सकार के स्थान में मूर्धन्य 'ष्' आदेश होता है । विवार, अघोष प्रयत्नवान् 'स्' के स्थान में वैसा ही 'ष्' आदेश होता है । रामेषु । 'इण्कोः' क्यों कहा ? रामस्य । 'आदेश-प्रत्यययोः' क्यों कहा ? सुपीः, सुपिसौ, सुपिसः । अपदान्तस्य क्यों कहा ? हरिस्तत्र । इसी प्रकार कृष्ण, मुकुन्द आदि शब्द भी हैं ।

विवरण—सूत्र में **स्थानी** एवम् **आदेश** का उल्लेख न होने से पूर्वसूत्रों से ली जानेवाली अनुवृत्ति पर निर्भर रहना पड़ता है । अतः स्थानी का परिज्ञान "सहेः साडः स." (८-३-५६) सूत्र से आने वाले 'सः' (षष्ठी-विभक्ति) पद से होता है । "अपदान्तस्य मूर्धन्यः" (८-३-५५) अधिकार-सूत्र के 'मूर्धन्यः' पद द्वारा आदेश की अभिव्यक्ति होती है । स्थानी की स्थिति के विषय में दूसरे अधिकार-सूत्र "इण्कोः" (८-३-५७) की उपयोगिता है । प्रकृत-सूत्र 'आदेशप्रत्यययोः' में द्वन्द्व समास है—आदेशश्च प्रत्ययश्च, तयोः । 'आदेश' तथा 'प्रत्यय' शब्द स्थानिवाचक 'स्' से सम्बद्ध होकर उसकी विशेषता बतलाते हैं । उसमें भी 'आदेश' पद षष्ठी-विभक्ति में प्रयुक्त स्थानिभूत 'सः' के साथ अभेदरूप में अन्वित होता है तथा प्रत्यय पद 'सः' के साथ अवयव-रूप में सम्बद्ध होता है । तदनुसार सूत्र का अर्थ होता है—"'इण्'–प्रत्याहार (इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र, ल्) और 'क'वर्ग (क्, ख्, ग्, घ्, ङ्) से परे आदेश-स्वरूप एवं प्रत्ययावयव 'स्' के स्थान पर मूर्धन्य आदेश होता है" । आठों मूर्धन्य वर्णों (ऋ, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, र्, ष्) में 'स्' का समान स्थानी कोई भी नहीं है । अतः आभ्यन्तर तथा बाह्य-प्रत्यत्नों का साम्य अपेक्षित है । तदनुसार 'स्' तथा 'ष्'—इन दोनों का आभ्यन्तर प्रयत्न 'विवार' है तथा बाह्य प्रयत्नों में भी 'स्' तथा 'ष्' की समानता विवार, श्वास एवम् अघोष प्रयत्नों के कारण है । **उदाहरण**—रामे+सु = रामेषु (स् = 'ष्') । यहाँ पर मकारोत्तरवर्ती 'एकार'–'इण्' के अन्तर्गत है । उससे परे अपदान्त 'स्' है, अतः 'सुप्'–प्रत्ययावयव 'स्' को मूर्धन्य 'ष्' हो गया । आदेशरूप 'स्' के स्थान पर होने वाले 'ष्' के उदाहरण 'सुष्वाप' आदि हैं । **प्रत्युदाहरण**—१–सूत्र में मूर्धन्य-वर्ण के आदेश-रूप में विधान होने में 'स्' का 'इण्' तथा 'क'वर्ग से परे रहना आवश्यक है, अतः 'रामस्य' में 'स्' को 'ष्' नहीं हुआ । २–प्रकृत सूत्र के स्थान पर सूत्र का स्वरूप "च" रखने पर अनुवृत्ति द्वारा लाये जाने वाले पदों द्वारा 'इण्'–'कवर्ग' से परे 'स्' के स्थान पर 'ष्' आदेश का विधान होने से 'रामेषु' आदि की सिद्धि तो हो जाती, किन्तु—सु+पिस्+

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं कृष्णमुकुन्दादयः। (२१३) सर्वादीनि सर्वनामानि १।१।१७॥ सर्वादीनि शब्दस्वरूपाणि सर्वनामसंज्ञानि स्युः। तदन्तस्यापीयं संज्ञा। 'द्वन्द्वे च' (सू २२४) इति ज्ञापकात्। तेन 'परमसर्वत्र' इति त्रल् 'परमभवकान्' इत्यत्राकच्च सिध्यति।

द्वितीयम्। रामेष्विति। ननु सु इत्यस्य व्यपदेशिवद्भावेन सुबन्तत्वेन पदत्वात् सात्पदाद्योरिति षत्वनिषेधः स्यादिति चेन्न, प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेरेव ग्रहणादित्यलम्। सुपिसाविति। पिस गतौ, क्विप् धातुसकारोऽयम्, नत्वादेशः, नापि प्रत्ययावयव इति भावः।

(२१३) अथ सर्वादिशब्देषु सर्वनामकार्यं विधास्यत् सर्वनामसञ्ज्ञामाह—सर्वादीनि। सर्वः आदिः प्रथमावयवः येषां तानि सर्वादीनि। सर्वशब्दः स्वरूपपरः। नपुंसकवशात् शब्दरूपाणीति विशेष्यमध्याहार्यम्। तदाह—सर्वादीनि शब्देस्यादिना। ननु बहुव्रीहेरन्यपदार्थप्रधानत्वात् सर्वशब्दस्य च समासवर्तिपदार्थत्वादन्यपदार्थत्वाभावाद्विश्वादिशब्दानामेव सर्वादिशब्देन बहुव्रीहिणाऽवगमात् सर्वनामसंज्ञा स्यात्, न तु सर्वशब्दस्यापीति चेत्, उच्यते—सर्वः आदिर्यस्य समुदायस्येति विग्रहः। सर्वशब्दघटितः समुदायः समासार्थः। समुदाये च प्रवर्तमाना सर्वनामसञ्ज्ञा क्वचिदपि अप्रयुज्यमाने तस्मिन् वैयर्थ्यादानर्थक्यात्तदङ्गेष्विति न्यायेनावयवेष्वतरन्ती अविशेषात् सर्वशब्देऽपि भवति। एवं चात्र सर्वशब्दस्य स्वरूपेण वर्तिपदार्थता, समुदायरूपेण त्वन्यपदार्थप्रवेशः। न च समुदायस्यान्यपदार्थत्वे सर्वादीनीति बहुवचनानुपपत्तिः शङ्क्या, सर्वशब्दघटितस्य विवक्षितावयवसङ्घस्य समूहस्यान्यपदार्थत्वात्। उद्भूतावयवभेदः समुदायः समासार्थ

क्विप्, <सु पिस्+सु, <सुपिस्—इस स्थिति में 'स्' के स्थान पर 'ष्' की प्राप्ति हो जाती। अतः यथास्थित—"आदेश-प्रत्यययोः" रहने से 'सुपिस्' में 'ष्' नहीं हुआ। कारण यह है कि यहाँ पर 'स्' न तो आदेशस्वरूप है और न प्रत्ययावयव। तदनन्तर 'र्' होने के पश्चात् दीर्घ होकर 'र्' के स्थान पर विसर्ग होता है—सुपाः। इसी तरह सुपिसौ, सुपिसः में भी षत्व की प्रवृत्ति नहीं होती। ३—सूत्र में 'अपदान्तस्य' की अनुवृत्ति होने से हरिः+तत्र, <हरिस्तत्र (:=स्) में 'स्' पदान्त में होने के कारण उसके स्थान पर 'ष्' नहीं हुआ।

विशेष—इसी प्रकार कृष्ण, मुकुन्द आदि अन्य अकारान्त पुंलिङ्ग शब्दों के रूप राम शब्द के समान समझे जायँ।

अकारान्त-पुंलिङ्ग 'राम' शब्द के सिद्ध-रूप

विभक्ति	एक-वचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एक-वचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	रामः	रामौ	रामाः	पञ्चमी	रामात्-द्	रामाभ्याम्	रामेभ्यः
द्वितीया	रामम्	रामौ	रामान्	षष्ठी	रामस्य	रामयोः	रामाणाम्
तृतीया	रामेण	रामाभ्याम्	रामैः	सप्तमी	रामे	रामयोः	रामेषु
चतुर्थी	रामाय	रामाभ्याम्	रामेभ्यः	सम्बोधन	हे राम	हे रामौ	हे रामाः

(२१३) **पद**—सर्वादीनि, सर्वनामानि। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—सर्वादि-शब्दस्वरूप सर्वनामसंज्ञक होते हैं। "द्वन्द्वे च" सूत्र के ज्ञापक होने से तदन्त की भी सर्वनाम संज्ञा होती है। अतः 'परम-सर्वत्र' में 'त्रल्' तथा 'परमभवकान्' में 'अकच्' प्रत्यय सिद्ध होते हैं।

सन्दर्भ—अकारान्त पुंलिङ्ग 'सर्वनाम' शब्दों की प्रक्रिया में विशेषता होने के कारण सर्वप्रथम 'सर्वनाम' संज्ञा का क्षेत्र बतलाया जारहा है।

विवरण—'सर्वनाम'—संज्ञा है। **संज्ञी**—है 'सर्वादीनि'। 'सर्वादीनि' शब्द में तद्गुण-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति कैयटोक्तेरप्ययमेवार्थः। अतो न बहुवचनस्यानुपपत्तिः। तदेवं व्याख्याने हलि सर्वेषामित्यादिनिर्देशः प्रमाणम्। सर्वशब्दस्य सर्वनामत्वाभावे तु सर्वेषामित्यादौ सर्वनामकार्याणि सुडादीनि न स्युः। तथा च सर्वादीनीति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। तस्यान्यपदार्थस्य गुणाः विशेषणानि वर्तिपदार्थरूपाणि तेषां संविज्ञानं क्रियान्वयितया विज्ञानं यत्र सः तद्गुणसंविज्ञान इति व्युत्पत्तिः। यत्र संयोगसमवायान्यतरसम्बन्धेनान्यपदार्थे वर्तिपदार्थान्वयः तत्र प्रायेण तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। यथा—द्विवासा देवदत्तो भुङ्क्ते, लम्बकर्णं भोजयेत्यादौ। तत्र हि वाससोः कर्णयोश्च भुजिक्रियान्वयाभावेऽपि सन्निहितत्वमात्रेण तद्गुणसंविज्ञानत्वम्। प्रकृते च समुदाये अन्यपदार्थे सर्वशब्दस्य समवायान्तर्गतारोपितावयवावयविभावसम्बन्धसत्त्वात्तद्गुणसंविज्ञानत्वम्। स्वस्वामिभावादिसंबन्धेनान्यपदार्थे वर्तिपदार्थान्वये त्वतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। यथा—चित्रगुमानयेत्यादावित्यलम्। ननु सर्व विश्व इत्येवं सर्वादिशब्दानां केवलानामेव सर्वादिगणे पाठात् परमसर्वादिशब्दानां कथं सर्वनामतेत्यत आह—तदन्तस्यापीति। द्वन्द्वे चेतीति। द्वन्द्वे चेत्यनेन सर्वादिशब्दान्तद्वन्द्वस्य सर्वनामसंज्ञा प्रतिषिध्यते वर्णाश्रमेतराणामित्यादौ। यदि केवलानामेव सर्वादिगणपठितानां सर्वनामता न तु तदन्तानामपि, तर्हि तत्प्रतिषेधो व्यर्थः स्यात्। अतस्तदन्तस्यापीयं संज्ञेति विज्ञायत इत्यर्थः। ननु परमसर्वादिशब्देषु गणपठितानां केवलानामेव सर्वादिशब्दानामस्तु सर्वनामता, मास्तु तदन्तानामपि, 'सर्वनाम्नः स्मै' इत्यादिसर्वनामकार्याणामङ्गाधिकारस्थत्वेन पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य चेति परिभाषया परमसर्वस्मै इत्यादिषु सिद्धेरित्यत आह—तेनेति। तदन्तस्यापि संज्ञाबलेनेत्यर्थः। सिध्यतीति। सप्तम्याश्चलिति सप्तम्यन्तात् सर्वनाम्नो विधीयमानश्चल् 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' इत्यज्ञाताद्यर्थेषु विधीयमानोऽकच्च सिध्य-

---

संविज्ञान बहुव्रीहि-समास है—सर्वः आदिः येषां तानि। अन्यथा बहुव्रीहिसमास अन्य-पदार्थ-प्रधान होने के कारण 'सर्व' शब्द की 'सर्वनाम' संज्ञा नहीं होती। अर्थ की अभिव्यक्ति करने में 'सर्वादीनि' के विशेष्य पद 'शब्दस्वरूपाणि' का अध्याहार किया जाता है। अतः सर्वादिगण में पढ़े हुए शब्द 'सर्वनाम' कहलाते हैं। सर्वादि-गण में ३५ शब्द पढ़े गये हैं।

विशेष—१—सर्वनाम-संज्ञा-विधायक सूत्र में 'सर्वादीनि' पद विशेष्यवाची है। अतः उसकी प्रधानता है। इस हेतु 'सर्वादिगण' में पठित सर्वार्थादि वाचक ३५ शब्दों का उसी रूप में ग्रहण होता है। जिसके फलस्वरूप विशेषणीभूत-सर्वनामवाची शब्द सर्वनाम-संज्ञक नहीं होते। 'सर्वनाम' संज्ञा को महासंज्ञा (अन्वर्थक-संज्ञा) माना गया है। अतः साक्षादुच्चरित 'सर्वनाम'-शब्दों का ही प्राधान्य स्वीकृत है।[1] इस कारण संज्ञा-वाचक 'सर्व' शब्द की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती। अतः वहाँ चतुर्थी में 'सर्वाय' रूप बनेगा।

२—सर्वनामसंज्ञा में तदन्तविधि होती है। इसका ज्ञापक "द्वन्द्वे च" (१-१-३१) सूत्र है। "द्वन्द्वे च" सूत्र द्वारा द्वन्द्व-समास में सर्वनामसंज्ञा का निषेध किया जाता है। द्वन्द्वसमास में अनेक पद रहते हैं। सर्वनामवाची पद के अन्त में रहने पर समास में अप्रधानता सूचित होती है। अतः स्वयमेव वहाँ सर्वनाम-संज्ञा की प्रसक्ति नहीं होती। इस प्रकार यह निषेध तभी सम्भव हो सकता है जब द्वन्द्व-समास में सर्वनाम-संज्ञा मानी जाय। इससे यह ज्ञापित होता है कि 'सर्वनाम' शब्दों में तदन्तविधि मानी जाती है। इसका फल यह है सर्वादि-प्रकृतिक सप्तम्यन्त से होने वाला

---

१. महतीयं संज्ञा क्रियते। तत्र महत्याः संज्ञायाः करणे एतत् प्रयोजनम् अन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत। सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि भवन्ति, सर्वेषां नामानीति चातः सर्वनामानि। संज्ञोपसर्जने च विशेषेऽवतिष्ठेते'। महाभाष्यम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२१४) जसः शी ७ । १ । १७ ॥ अदन्तात्सर्वनाम्नः परस्य जसः शी स्यात् । अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः । न च 'अर्वणस्तृ–' (सू ३६४) इत्यादाविव 'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्' (प ६) इति वाच्यम्, सर्वादेशत्वात्प्रागित्संज्ञाया एवाभावात् । सर्वे । (२१५) सर्व-

---

तीत्यर्थः । चकारात् पञ्चम्यास्तसिलिति तसिल् च । न चावयवगतसर्वनामत्वेन तसिद्धिरिति वाच्यम्, 'कुत्सिते' इति सूत्रस्थभाष्यरीत्या सङ्घ्याकारकाभ्यां पूर्णार्थस्य इतरान्वयेन सुबन्तादेव तद्धितोत्पत्त्यवगमेन सर्वनामप्रकृतिकसुबन्तार्थकुत्सादिविवक्षायां सर्वनामावयवटेः प्रागकजित्यर्थपर्यवसानात्तदन्तसंज्ञाभावे तदसिद्धेरिति भावः ।

(२१४) सर्वशब्दात् जसि पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते—जसः शी । अतो भिस इत्यस्मादत इत्यनुवर्तते । 'सर्वनाम्नः स्मै' इत्यतः सर्वनाम्न इत्यनुवर्तते । तदाह—अदन्तादित्यादिना । शी इति दीर्घोच्चारणं नपुंसकाच्चेत्युत्तरार्थम् । तेन वारिणो इति सिध्यति । अनेकाल्त्वादिति । न तु शित्त्वप्रयुक्तं सर्वादेशत्वमत्रेति भावः । ननु 'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्' इत्यस्ति परिभाषा । अनुबन्धः इत्, तत्प्रयुक्तमनेकाल्त्वं सर्वादेशनिमित्तं न भवतीत्यर्थः । ततश्च शी इत्यत्र शकारस्य लशक्वतद्धित इति इत्संज्ञकत्वात् कथं तत्प्रयुक्तमनेकाल्त्वम् । अत एव 'अर्वणस्त्रसावनञः' इत्यत्र ऋकारमितमादाय तृ इत्यादेशस्य नानेकाल्त्वम्, अन्यथा तस्यापि सर्वादेशत्वापत्तेः । अतः शित्त्वप्रयुक्तमेवात्र सर्वादेशत्वमाश्रयितुं युक्तमित्याशङ्क्य निराकरोति—न चेत्यादिना । 'अवर्णस्तृ' इत्यादाविव नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वमिति नेत्यन्वयः । शी इति शकारस्य 'लशक्वतद्धित' इति इत्संज्ञा वक्तव्या । तेन च सूत्रेण प्रत्ययादिभूतानां लशकवर्गाणामित्संज्ञा विहिता । प्रकृते च शी इत्यस्य न स्वतः प्रत्ययत्वम्, किन्तु जसादेशत्वेन स्थानिवद्भावात् प्रत्ययत्वं वक्तव्यम् । स्थानिवद्भावश्च आदेशभावमापन्नस्य शी इत्यस्य भवति । एवञ्चादेशत्वसिद्धेः प्रागादेशविधिदशायां शी इति शकारस्य इत्संज्ञाया असिद्धेरनेकाल्त्वमप्रतिहतम् । अत एव शित्त्वात् सर्वादेश इत्यपि

'त्रल्' प्रत्यय 'परमसर्व' शब्द को सर्वनाम-संज्ञक माने जाने से हो जाता है तथा 'परमसर्वत्र' शब्द निष्पन्न होता है । इसी तरह 'परमभवकान्' में भी सर्वनामसंज्ञा-प्रयुक्त 'अकच्' प्रत्यय 'टि' के पूर्व ('भवत्' शब्दस्थ 'अत्'–वर्णसमुदाय के पूर्व 'व्' के बाद) हो जाता है—"अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः" (५-३-७१) ।

(२१४) पद—जसः, शी । अनुवृत्ति—अतः, सर्वनाम्नः । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—अदन्त सर्वनाम से परे 'जस्' को 'शी' आदेश होता है । अनेक वर्ण-युक्त होने से यह सर्वादेश है । (प०) 'अनुबन्ध-प्रयुक्त अनेकाल्त्व नहीं माना जाता' परिभाषा के अनुसार जैसे 'अर्वन्' शब्द से विधीयमान 'तृ' आदेश इत्संज्ञक 'ऋ'–रहित स्वीकार किया जाता है, उस प्रकार यहाँ इत्संज्ञक-रहित नहीं माना जाता, क्योंकि आदेश के पहले इत्संज्ञा की प्रवृत्ति नहीं हुई है ।

विवरण—सूत्र की व्याख्या के लिए "अतो भिस ऐस्" (७-१-९) से 'अतः' तथा "सर्वनाम्नः स्मै" (७-१-१४) सूत्र से 'सर्वनाम्नः' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है । 'अतः' पद 'सर्वनाम्नः' का विशेषण है । इस हेतु तदन्तविधि का ग्रहण होता है । इस प्रकार सूत्रार्थ होता है—"ह्रस्व अकारान्त सर्वनाम से परे 'जस्' के स्थान पर 'शी' आदेश होता है" । 'शी' में दो वर्ण (श्+ई) (अनेक-अल्) होने के कारण वह समग्र 'जस्' के स्थान पर होता है । उदाहरण—सर्व+जस्, <सर्व+शी, <सर्व+ई, <सर्वे (अ+ई=ए—गुण) ।

विशेष—१—यहाँ यह शङ्का की जारही है कि "नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्" परिभाषा के अनुसार अनेक–अल् के निमित्त होने वाले कार्य में इत्संज्ञक वर्ण की गणना नहीं की जाती । इस नियम का पोषक उदाहरण 'अर्वन्तौ' है । यहाँ पर 'अर्वन्' शब्द में 'न्' के स्थान में विधीयमान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाम्नः स्मै ७।१।१४ ॥ अतस्सर्वनाम्नो ङे इत्यस्य स्मै स्यात्। सर्वस्मै। **(२१६) ङसि-ङ्योः स्मात्स्मिनौ ७। १। १५ ॥** अतस्सर्वनाम्न एतयोरेतौ स्तः। सर्वस्मात्।

निरस्तम्। तृ इत्यत्र तु आदेशभावात् प्रागेव ऋकारस्य इत्संज्ञकत्वान्न तत्प्रयुक्तमनेकाल्त्वमिति वैषम्यमित्यभिप्रेत्य परिहरति—सर्वादेशत्वात्प्रागिति। शीभावे सति सर्व ई इति स्थिते आद्गुणं सिद्धवत्कृत्याह—सर्व इति।

(२१५) सर्वशब्दात् चतुर्थ्येकवचने 'ङेर्यः' इति प्राप्ते। सर्वनाम्नः स्मै। अतो भिस इत्यस्मादत इत्यनुवर्तते। ङेर्य इत्यतो ङेरिति च। तदाह—अतः सर्वेत्यादिना।

(२१६) सर्वशब्दात् पञ्चम्येकवचने टाङसिङसामिति प्राप्ते—ङसिङ्योः। ङसिश्च ङिश्चेति द्वन्द्वः। अतो भिस इत्यस्मादत इति, सर्वनाम्नः स्मै इत्यतः सर्वनाम्न इति चानुवर्तते। तदाह—अतः सर्वेति। एतयोरिति। ङसिङ्योरित्यर्थः। एताविति। स्मात्स्मिनावित्यर्थः। स्मायादेशस्य स्थानिवद्भावेन विभक्तित्वान्न विभक्ताविति तकारस्य नेत्त्वमिति मत्वाह—सवस्मादिति।

'तृ' आदेश है—"अर्वणस्त्रसावनञः" (६-४-१२७)। यदि 'ऋ' का भी समावेश आदेश में किया जाता तो 'अनेकाल्' होने के कारण समग्र 'अर्वन्' शब्द के स्थान में उसकी अभिव्याप्ति होती। इसी तरह यहाँ भी 'शी' आदेश में इत्संज्ञक 'श्'—वर्ण की गणना नहीं होनी चाहिये। इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि यहाँ की स्थिति कुछ भिन्न है। कारण यह है कि 'जस्' प्रत्यय के होते ही उसके स्थान में 'शी' आदेश हो जाता है। 'शी' आदेश में 'श्' की इत्संज्ञा-प्रसक्ति स्थानिवद्-भाव के बिना नहीं हो सकती, क्योंकि 'शी' में 'श्' की इत्संज्ञा में 'प्रत्यय' का होना आवश्यक है। अतः 'शी' आदेश होने के प्रसङ्ग में ('श्'—वर्ण में) इत्संज्ञक-रूप अनुबन्ध नहीं माना जा सकता। इस हेतु अनेक-वर्ण-युक्त होने से सर्वादेश का सिद्धान्त माना गया है।

२—'सर्व' शब्द के प्रथमा एक-वचन तथा द्विवचन के 'रूप' 'राम'-शब्द के समान सिद्ध होते हैं। अतः उनकी पुनरावृत्ति यहाँ नहीं की गई। अब उन्हीं विभक्तियों में रूपसिद्धि की जायगी, जहाँ विशेषकार्य का निदर्शन है।

३—यह पूर्वसवर्ण-दीर्घ का अपवाद है।

(२१५) पद—सर्वनाम्नः, स्मै। **अनुवृत्ति**—अतः, ङेः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अदन्त 'सर्वनाम' से परे 'ङे' के स्थान पर 'स्मै' आदेश होता है।

विवरण—यहाँ **स्थानी** है—'ङे' तथा **आदेश** है—'स्मै'। स्थानी के सम्बन्ध में सूचना "ङेर्यः" (२०४) से की जानेवाली अनुवृत्ति द्वारा मिलती है। इसके साथ ही "अतो भिस ऐस्" (२०३) से 'अतः' की अनुवृत्ति की जाती है। वह 'सर्वनाम्नः' का विशेषण है। 'अतः' में तदन्त विधि होने से "ह्रस्व अकारान्त 'सर्वनाम' से परे 'ङे' के स्थान पर 'स्मै' आदेश होता है"। यहाँ भी आदेश अनेक-वर्णों से युक्त (स्, म्, ऐ) होने के कारण समग्र 'ङे' को अभिव्याप्त करता है।

उदाहरण—सर्व+ङे, <सर्व+स्मै, <सर्वस्मै।

विशेष—यह सूत्र "ङेर्यः" (२०४) का बाधक है।

(२१६) पद—ङसि-ङ्योः, स्मात्-स्मिनौ। **अनुवृत्ति**—अतः, सर्वनाम्नः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अदन्त सर्वनाम से परे ङसि तथा ङि को क्रमशः 'स्मात्' और 'स्मिन्' आदेश होते हैं।

विवरण—यहाँ पर **स्थानी** हैं—'ङसि' तथा 'ङि'। एवम् **आदेश** हैं 'स्मात्' तथा 'स्मिन्'। 'यथासंख्य' परिभाषा की उपस्थिति से 'ङसि' = 'स्मात्' एवं 'ङि' = 'स्मिन्' आदेश होते हैं। पूर्ववत् 'ङसि' एवं 'ङि' विभक्तियाँ ह्रस्व अकारान्त सर्वनाम-वाची शब्द से परे अपेक्षित हैं। 'स्मात्' तथा 'स्मिन्' में 'त्' तथा 'न्' की इत्संज्ञा नहीं होती—"न विभक्तौ तुस्माः" (१९०)।

उदाहरण—सर्व+ङसि, <सर्व+स्मात्=सर्वस्मात्।

विशेष—यह सूत्र "टा-ङसिङसाम्०" (२०१) का अपवाद है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२१७) **आमि सर्वनाम्नः सुट् ७।१।५२ ॥** अवर्णान्तात्परस्य सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुडागमः स्यात् । एत्वषत्वे । सर्वेषाम् । सर्वस्मिन् । शेषं रामवत् । एवं विश्वादयोऽप्यदन्ताः । सर्वादयश्च पञ्चत्रिंशत् । सर्व विश्व उभ उभय डतर डतम अन्य अन्यतर इतर त्वत् त्व नेम सम सिम । 'पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्' (ग सू १) । 'स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्' (ग सू २) 'अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः' (ग सू ३) । त्यद् तद् यद् एतद् इदम् अदस् एक द्वि युष्मद् अस्मद् भवतु किम् इति ।

---

(२१७) सर्व आम् इति स्थिते 'ह्रस्वनद्यापः' इति नुटि प्राप्ते—आमि सर्वनाम्नः । 'आज्जसेरसुक्' इत्यतोऽनुवृत्तेन आदिति पञ्चम्यन्तेन अङ्गस्येत्यधिकृतं पञ्चम्या विपरिणतं विशेष्यते, तदन्तविधिः, परस्येत्यध्याहार्यम् । 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' इति षष्ठ्यन्तमापद्यते । सर्वनाम्न इति तु विहितविशेषणम् । ततश्च अवर्णान्ताद्ङ्गात् परस्य सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुडागमः स्यादित्यर्थः सम्पद्यते । तदाह—अवर्णान्तादित्यादिना । अवर्णान्तादित्यनन्तरस्य अङ्गादिति शेषः । अवर्णान्तात्सर्वनाम्नो विहितस्याम इति व्याख्याने तु येषां तेषामित्यादौ सुडागमो न स्यात् । तत्र आमो दकारान्ताद्विहितत्वात् । सर्वनाम्नः परस्येति तु न व्याख्यातम् । तथा सति वर्णाश्रमेतराणामित्यसिद्धेरित्यग्रे मूल एव स्पष्टीभविष्यति । एत्वषत्वे इति । बहुवचने झल्येदित्येत्वम् । सन्निपातपरिभाषा त्वत्र न प्रवर्तते इति बहुवचने झल्येदित्यत्रोक्तम् । 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वं, सुटोऽपि 'यदागमास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' इति प्रत्ययावयवत्वादिति भावः । सर्वेषामिति । नन्वामीति सप्तमीनिर्देशसामर्थ्यात्तस्मादित्युत्तरस्येति न प्रवर्तते । ततश्च आमि परे प्रकृतेरेव सुडागमो युक्त इति चेन्न, सप्तमीनिर्देशस्य 'त्रेस्त्रयः' इत्युत्तरार्थमावश्यकत्वादिति भावः । सप्तम्येकवचनस्य ङसिङ्योरिति स्मिन्नादेशं सिद्धवत्कृत्याह—सर्वस्मिन्निति । शेषमिति । शिष्यत इति शेषम् । कर्मणि घञ् । 'घञजबन्ताः पुंसि' इति तु प्रायिकमिति भावः । एवमिति । सर्वशब्दवदित्यर्थः । न च सर्वशब्दस्य बहुत्वव्यापकसर्वत्वात्मकधर्मविशेषप्रवृत्तिनिमित्तकत्वात् बहुवचनमेव न्याय्यमिति वाच्यम्, सर्वशब्दो हि बह्ववयवारब्धसमुदाये वर्तते । तत्र यदा अनुद्भूतावयवः तदा भवत्येकवचनम् । यथा सर्वो लोक इति । अनुद्भूतत्वम् अविवक्षितसङ्ख्याकत्वम् । यदा तु अनुद्भूतावयवकौ समुदायौ तदा द्विवचनम् । यथा सर्वौ व्यूहाविति । यदा तु उद्भूतावयवसमुदायः तदा बहुवचनम् । यथा सर्वे जना इति ।

अथ के ते सर्वादयः शब्दाः ? कति च ते ? इत्यत्राह—सर्वादयश्च पञ्चत्रिंशदिति । पञ्च च त्रिंशच्चेति द्वन्द्वः, पञ्चाधिकास्त्रिंशदिति शाकपार्थिवादित्वात् तत्पुरुषो वा । सङ्ख्यायास्त-

---

(२१७) पद—आमि, सर्वनाम्नः, सुट् । अनुवृत्ति—आत् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—अवर्णान्त अङ्ग से परे 'सर्वनाम' से विहित 'आम्' को 'सुट्' आगम होता है । 'ए' तथा 'ष्'-होने पर सर्वेषाम् । सर्वस्मिन् । अवशिष्ट रूप 'राम' शब्द के समान होते हैं । इसी तरह ह्रस्व अकारान्त 'विश्व' आदि शब्दों के रूप भी सिद्ध होते हैं । सर्वादि शब्द ३५ हैं । सर्व, विश्व, उभ, उभय डतर, डतम, अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, त्व, नेम, सम, सिम । (इनके अतिरिक्त) (ग०) १—पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर—ये सात शब्द व्यवस्था और असंज्ञा में सर्वनाम-वाची होते हैं । (ग०) २—(एवम्) 'ज्ञाति' तथा 'धन' अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थों में स्व-शब्द को सर्वनाम-संज्ञा होती है । (ग०) ३—(इसी प्रकार) बहिर्योग और उपसंव्यान अर्थ में 'अन्तर' शब्द सर्वनाम-संज्ञक होता है । (अवशिष्ट शब्द) त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु तथा किम् हैं । 'उभ' शब्द द्वित्व का बोधक है । इसलिये नित्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्र उभशब्दो द्वित्वविशिष्टस्य वाचकः। अत एव नित्यं द्विवचनान्तः। तस्येह पाठस्तु 'उभकौ' इत्यकजर्थः। न च कप्रत्ययेनेष्टसिद्धिः। द्विवचनपरत्वाभावेन 'उभयतः' 'उभयत्र' इत्यादावित्रायच्प्रसङ्गात्। तदुक्तम्—'उभयोऽन्यत्र' (वा २३२)। अन्यत्र द्विवचनपरत्वाभावे। उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्तीति कैयटः। अस्तीति हरदत्तः। तस्माज्जस्ययजा-

---

त्पुरुषस्योपसङ्ख्यानमिति ङच्तु समासान्तो न भवति। अन्यत्राधिकलोपादित्युक्तेः। पूर्वपरावरेति। गणान्तर्गतं सूत्रम्। व्यवस्थायामसंज्ञायां च पूर्वादीनि सप्त सर्वादिगण-प्रविष्टानि वेदितव्यानीत्यर्थः। सर्वनामसंज्ञा तु 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इत्येव सिध्यति। 'स्वमज्ञाती'ति, 'अन्तरं बहि'रिति च गणसूत्रद्वयमेवमेव योज्यम्। व्यवस्थादिशब्दाः अग्रे मूल एव व्याख्यास्यन्ते। इति शब्दः सर्वादिगणसमाप्तिद्योतनार्थः। तत्र विश्वशब्दोऽपि सर्वशब्दवदेव। उभशब्दे तु विशेषमाह—तत्रेति। सर्वादिषु मध्य इत्यर्थः। अत्र एवेति। द्वित्वविशिष्टवाचकत्वादेवेत्यर्थः। नित्यमिति। सर्वदा द्विवचनान्त इत्यर्थः। द्विवचनान्त एव न त्वेकवचनबहुवचने इति यावत्। तेन टाबादि न निवार्यते। नन्वेवं सति 'जसः शी' 'सर्वनाम्नः स्मै' 'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इत्युक्तानां सर्वनाम-कार्याणां द्विवचने अभावादुभशब्दस्य सर्वादिगणे पाठो व्यर्थ इत्यत आह—तस्येहेति। तस्य उभशब्दस्य इह सर्वादिगणे पाठस्तु उभकावित्यत्र 'अव्ययसर्वनाम्नामकच्प्राक्टेः' इत्य-कच्प्रत्ययार्थ इत्यर्थः। ननु मास्तु उभशब्दस्य सर्वादिगणे पाठः। मास्तु च सर्वनामता। मास्तु च तत्प्रयुक्तः अकच्। उभशब्दात् स्वार्थिके कप्रत्यये सत्यपि उभकाविति रूप-सिद्धेः। न च काकचोः स्वरभेदः शङ्क्यः। 'तद्धितस्य' इति प्रत्ययस्वरेण वा, 'चितः सप्रकृतेः' इति चित्स्वरेण वा अन्तोदात्तत्वे विशेषाभावात्। उक्तं च भाष्ये 'काकचोः को विशेषः?' इति। तत्राह—न चेति। कप्रत्ययेन उभकावितीष्टरूपसिद्धिर्न चेत्यन्वयः। कुतः इत्यत आह—द्विवचनेति। द्विवचनपरत्वाभावे उभशब्दादयच् विहितः। अकचि तु सति 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते'इति न्यायेन उभशब्देन उभकशब्दोऽपि गृह्यते। तस्य च उभक औ इत्यस्यां दशायां द्विवचनपरत्वादयच्प्रत्ययो न भवति। कप्रत्यये तु सति तस्य उभशब्दात् परतो विहितत्वेन तन्मध्यपतितन्यायाप्रवृत्त्या उभकशब्दस्य उभशब्देन ग्रहणाभावात् उभशब्दस्य कप्रत्ययव्यवधानेन द्विवचनपरकत्वाभावात् अयचि उभयकौ इति स्यात्। यथा उभयतः उभयत्रेत्यत्र द्विवचनपरकत्वाभावादयच्प्रत्ययोऽस्ति तद्वदि-त्यर्थः। द्विवचने सति अयच्प्रत्ययो नेत्यत्र किं प्रमाणमित्यत आह—तदुक्तमिति। वार्तिक-कृतेति शेषः। द्विवचने सति अयच्प्रत्ययो नेति यदभिहितं तत् 'उभयोऽन्यत्र' इति वदता वार्तिककृता उक्तमित्यर्थः। अन्यत्रेत्येतद्व्याचष्टे—अन्यत्र द्विवचनपरत्वाभावे इति। उदाहृत-वार्तिके अन्यत्रेत्यनेन द्विवचनादन्यस्मिन् परे इत्यर्थो विवक्षितः, 'अन्याभावो द्विवचनटा-ब्विषयत्वात्' इति पूर्ववार्तिके द्विवचनस्यैव प्रस्तुतत्वादिति भावः। टाब्ग्रहणं तु तत्रा-विवक्षितमिति कैयटादिषु स्पष्टम्। ततश्च सर्वनामतानिमित्तकाकजर्थं उभशब्दस्य सर्वादिषु पाठ इति स्थितम्। अत्र यद्वक्तव्यं तत्तद्धितप्रक्रियायाम् 'उभादुदात्तो नित्यम्' इत्यत्र वक्ष्यते। अथोभयशब्दे विशेषमाह—उभयशब्दस्येति। उभौ अवयवौ यस्यावयविनः स

द्विवचनान्त है। उसका सर्वादिगण में पाठ 'अकच्' प्रत्यय होने के लिये किया गया है। 'क'—प्रत्यय करने पर इष्टसिद्धि नहीं हो सकती (उभकौ रूप नहीं बन सकता), क्योंकि 'क'प्रत्यय में द्विवचनत्व का अभाव है। अतः 'उभयतः' 'उभयत्र' के समान यहाँ भी 'अयच्' प्रत्यय प्राप्त हो जायगा। जैसा कि कहा है—(वा०) 'द्विवचनपरत्व के अभाव में 'उभय'—अर्थात् 'अयच्' विधान है'। यह कैयट का मत है। हरदत्त का कथन है कि 'अयच्' में भी द्विवचन का विधान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देशस्य स्थानिवद्भावेन तयप्प्रत्ययान्ततया 'प्रथमचरम' (सू २२६) इति विकल्पे प्राप्ते विभक्तिनिरपेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वान्नित्यैव संज्ञा भवति। उभये। डतरडतमौ प्रत्ययौ। प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' (प २४)। यद्यपि 'संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति' (प २८) 'सुप्तिङन्तम्' (सू २९) इति ज्ञापकात्। तथापीह तदन्तग्रहणम्। केवलयोः संज्ञायाः प्रयोजनाभावात्। अन्यतरान्यतमशब्दावव्युत्पन्नौ स्वभावाद् द्विबहुविषये निर्धारणे वर्तेते। तत्रान्यतमशब्दस्य गणे पाठाभावान्न संज्ञा। 'त्व' 'त्व' इति

उभयः मणिः। 'उभादुदात्तः' इत्ययच्। अवयववृत्तेः सङ्ख्यावाचिनः उभशब्दावयविन्यर्थे अयच्प्रत्ययः स्यादिति तदर्थः। द्व्यवयवारब्धो मणिरित्यर्थः। मणेरवयविन एकत्वादुभयः इत्येकवचनम्। उभयश्च उभयश्च उभयश्चेत्येवं द्व्यवयवारब्धत्र्यादिमणिविवक्षायां तु बहुवचनम् उभये मणय इति। उभयश्च उभयश्चेति द्व्यवयवारब्धद्विमणिविवक्षायामुभयौ मणी इति द्विवचनं तु न भवति, उभयोऽन्यत्रेत्युदाहृतवार्तिके उभयशब्दस्य द्विवचनान्तादन्यत्रैव प्रयोगविध्यवगमात्। न च तत्र वार्तिके स्वार्थिकायजन्तस्यैवोभयशब्दस्य ग्रहणं स्वार्थिकायजन्तोभयशब्दोपक्रमेणैव तद्वार्तिकप्रवृत्तेरिति वाच्यम्, एतद्वार्तिकव्याख्यावसरे उभयो मणिः, उभये देवमनुष्याः—इति भाष्ये उदाहृतत्वेन तयप्समानार्थकायजन्तस्यापि तत्र ग्रहणावगमात्। एतदेवाभिप्रेत्य 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यव्ययत्वमुभयशब्दस्य द्विवचनाभावेनासर्वविभक्तित्वेऽपि न भवति, तसिलादयः प्राक्पाशपः, शस्प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः, अम्-आम्-कृत्वोऽर्थाः, तसिवती, नानाञौ इति परिगणितत्वादिति कैयटेनोक्तम्। तदाह—कैयट इति। एवं च उभयः, उभये। उभयम्, उभयान्। उभयेन, उभयैः। उभयस्मै, उभयेभ्यः। उभयस्मात्, उभयेभ्यः। उभयस्य, उभयेषाम्। उभयस्मिन्, उभयेषु—इत्येव रूपाणि न तूभयावित्यादिद्विवचनान्तप्रयोग इति सिद्धं भवति। हरदत्त इत्यस्वरसोद्भावनम्। तद्बीजं तु उभयोऽन्यत्रेति प्रागुक्तवार्तिकभाष्यविरोध एवेत्यन्यत्र विस्तरः। उभयशब्दात् जसि सर्वादीनीति नित्यां सर्वनामसंज्ञां बाधित्वा परत्वात् 'प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च' इति सर्वनामसंज्ञाविकल्पप्राप्तिमाशङ्क्य परिहरति—तस्मादित्यादिना। तस्मात् उभयशब्दात् जसि सति प्रथमचरमेति विकल्पे प्राप्ते नित्यैव संज्ञा भवतीत्यर्थः। सर्वादीनीत्यनेनेति शेषः। ननु प्रथमचरमादिष्वनन्तर्भावात् कथमुभयशब्दस्य प्रथमचरमेति विकल्पप्राप्तिरित्यत आह—तयप्प्रत्ययान्ततयेति। ननु तयपः अश्रवणात् कथमुभयशब्दस्य तयप्प्रत्ययान्तत्वमित्यत आह—अयजादेशस्य स्थानिवद्भावेनेति। उभादुदात्त इति सूत्रे 'सङ्ख्याया अवयवे तयप्' इति उभयशब्दाद्विहितस्य तयपोऽयजादेशः। तयब्ग्रहणमनुवर्त्य अयच् स्वतन्त्रः, प्रत्ययो वा इति पक्षद्वयं भाष्ये स्थितम्। तत्र प्रथमपक्षाभिप्रायेणात्र सर्वनामसंज्ञाविकल्पशङ्का बोध्या।

है। 'उभय' शब्द से 'जस्' विभक्ति में 'अयज्'—आदेश को स्थानिवद्भाव होने से 'तयप्' प्रत्ययान्त बुद्धि होने के कारण "प्रथमचरमतयाल्पार्ध०" (१-१-३३) सूत्र से विकल्प प्राप्त होनेपर विभक्ति की आकाङ्क्षा न रखने से अन्तरङ्ग होने के कारण नित्य सर्वनाम-संज्ञा होती है। उभये। डतर-डतम दोनों प्रत्यय हैं। (प०) "प्रत्यय का ग्रहण होने पर तदन्त का भी ग्रहण होता है"। यह सामान्य नियम है। यद्यपि "सुप्तिङन्तम् पदम्" (२९) इस ज्ञापक से संज्ञा-विधि में प्रत्यय का ग्रहण होने पर तदन्त-विधि नहीं होती तथापि यहाँ पर 'डतर' 'डतम' प्रत्ययों में सर्वनाम-संज्ञा का कोई प्रयोजन न होने से तन्दविधि होती है। 'अन्यतर' और 'अन्यतम' शब्द अव्युत्पन्न हैं। स्वभावतः दो और अनेकों के मध्य निश्चय (निर्धारण) करने में ये दोनों शब्द क्रमशः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वावप्यदन्तावन्यपर्यायौ, एक उदात्तोऽपरोऽनुदात्त इत्येके। 'एकस्तान्तः' इत्यपरे। नेम इत्यर्धे। समः सर्वपर्यायः। तुल्यपर्यायस्तु नेह गृह्यते, यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' (सू १२८) इति ज्ञापकात्। 'अन्तरं बहिर्योग' (ग सू ३) इति गणसूत्रे 'अपुरीति

ननु प्रथमचरमेति विकल्पस्य परत्वात् कथमिह सर्वादीनीति नित्यैव 'संज्ञे'त्यत आह—अन्तरङ्गत्वादिति। तदेवोपपादयति—विभक्तिनिरपेक्षत्वेनेति। प्रथमचरमेति जसि विकल्पविधिः। जसपेक्षत्वेन विभक्त्यपेक्षत्वाद् बहिरङ्गः। सर्वादीनीति नित्यसंज्ञाविधिस्तु तदनपेक्षत्वात् अन्तरङ्गः, अल्पापेक्षमन्तरङ्गमिति न्यायात्। अतोऽत्र परमपि प्रथमचरमेति विकल्पं बाधित्वा सर्वादीनीति नित्यैव संज्ञा भवति, परादन्तरङ्गस्य बलीयस्त्वादिति भावः। तथा च शीभावो नित्य इत्याह—उभये इति। ननु डतरडतमशब्दयोः क्वापि प्रयोगादर्शनात् किमर्थस्तयोः पाठ इत्यत आह—डतरडतमौ प्रत्ययाविति। 'किंयत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्' 'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्'। 'एकाच्च प्राचाम्' इति तद्धिताधिकारविहितौ डतरडतमौ प्रत्ययौ, 'प्रत्ययः' इत्यधिकृत्य तद्विधेः। अतः प्रत्ययग्रहणपरिभाषया डतरग्रहणेन कतरादिशब्दानाम् डतमग्रहणेन कतमादिशब्दानां च ग्रहणमिति भावः। शङ्कते—यद्यपीति। सुप्तिङन्तमिति। यदि संज्ञाविधावपि प्रत्ययग्रहणपरिभाषा प्रवर्तेत, तर्हि सुप्तिङ् पदमित्येव सूत्र्येत, प्रत्ययग्रहणपरिभाषयैव सुप्तिङन्तमित्यर्थलाभात्। अतः सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणपरिभाषा न प्रवर्तते इति विज्ञायते। एवञ्च प्रकृते सर्वनामसंज्ञाविधौ डतरडतमग्रहणे प्रत्ययग्रहणपरिभाषानुपस्थानात् कथं तदन्तग्रहणमित्याक्षेपः। परिहरति—तथापीति। अन्यत्र सञ्ज्ञाविधौ प्रत्यग्रहणेन तदन्तग्रहणाभावेऽपि इह सर्वनामसञ्ज्ञाविधौ डतरडतमग्रहणे तदन्तग्रहणमस्त्येवेत्यर्थः। कुत इत्यत आह—केवलयोरिति। 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापि केवलः प्रत्ययः' इति न्यायेन केवलप्रत्यययोर्डतरडतमयोः प्रयोगानर्हत्वेन तयोः सर्वनामसञ्ज्ञायां फलाभावादित्यर्थः। तस्मात् डतर-

---

प्रयुक्त होते हैं। इन दोनों में 'अन्यतम' शब्द का सर्वादिगण में पाठ न होने से 'सर्वनाम'-संज्ञा नहीं होती। 'त्व(त्)', 'त्व'—दोनों ह्रस्व-अकारान्त शब्द अन्यार्थक हैं। कुछ आचार्यों के मत में एक उदात्त है और दूसरा अनुदात्त। दूसरे आचार्य एक को तकारान्त (त्वत्) तथा दूसरे को अकारान्त मानते हैं। 'नेम' का अर्थ आधा है। 'सम' शब्द सकलार्थ-बोधक है, तुल्यार्थक नहीं। इस विषय में "यथासंख्यमनुदेशः समानाम्" (१२८) सूत्र में 'समानाम्' निर्देश ही प्रमाण है। 'अन्तरं बहियोग०' गणसूत्र में 'अपुरि' कहना चाहिये। अन्तरायां पुरि।

विवरण—प्रकृत सूत्र से विधीयमान **आगम** है 'सुट्' तथा **आगमी** है 'आम्'। अर्थ की पूर्णता के लिये "आज्जसेरसुक्" (७-१-५०) सूत्र से 'आत्' (पञ्चम्यन्त पद) की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। 'आत्' पद 'सर्वनाम्नः' का विशेषण है। तदन्तविधि होने से अकारान्त का ग्रहण होगा। 'आमि' सप्तमी-विभक्ति का षष्ठी-विभक्ति में परिवर्तन हो जाता है—"उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्"। 'सुट्' में 'ट्' इत्संज्ञक है। "आद्यन्तौ टकितौ" (३६) परिभाषा की उपस्थिति से 'स्' (आगम) 'आम्' का आद्यवयव होगा। इस प्रकार सूत्र का अर्थ है—"अवर्णान्त सर्वनाम के पश्चात् 'आम्' (षष्ठी बहुवचव) का आद्यवयव 'स्' (सुट्) होता है"। **उदाहरण**—(षष्ठी-बहुवचन) सर्व+आम्, <सर्व स्+आम् (सुट्-आगम), <सर्वे+साम् (आगम-विशिष्ट आम् को प्रत्यय मानने से झलादि बहुवचन (साम्) परे रहते अ = ए—"बहुवचने झल्येत्"—२०५), <सर्वेषाम् (स् = ष् "आदेशप्रत्यययोः"—२१२)। (सप्तमी एकवचन) सर्व+ङि, <सर्व+स्मिन् (ङि = स्मिन्) = सर्वस्मिन्। अवशिष्ट रूप 'राम' शब्द के समान समझे जायँ। इसी प्रकार अन्य अकारान्त 'विश्व' आदि 'सर्वनाम' शब्दों की रचना-प्रक्रिया जानी जाय।

स्मरणीय—यहाँपर 'सुट्' आगम द्वारा बाधित होने के कारण 'नुट्' आगम की प्रवृत्ति नहीं होती।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डतमग्रहणेनात्र कतरकतमादिशब्दानां ग्रहणमिति स्थितम्। ननु डतरग्रहणेनैव सिद्धे सर्वादिगणे अन्यतरशब्दपाठो व्यर्थः। अन्यतमशब्दस्यापि डतमप्रत्ययान्तत्वात् सर्वनामत्वापत्तिश्चेत्यत आह—अन्यतरान्यतमशब्दावव्युत्पन्नाविति। डित्थादिशब्दवत् प्रकृतिप्रत्ययविभागविहीनाविति्यर्थः। 'किंयत्तदेकेभ्य एव डतरडतमविधानादिति भावः। नन्वेवं सत्यन्यतरान्यतमशब्दाभ्यां द्विबहुनिर्धारणावगमः कथमित्यत आह—स्वभावादिति। एवञ्चान्यतमशब्दस्य न सर्वनामत्वमित्याह—तत्रेति। एतयोर्मध्ये इत्यर्थः। अन्यतरशब्दस्य तु डतरप्रत्ययान्तत्वाभावेऽपि सर्वादिगणे पाठादेव सर्वनामत्वमित्युक्तप्रायम्। अथ त्वत्वेत्येकप्रातिपदिकभ्रमं वारयन् अप्रसिद्धार्थत्वाद्व्याचष्टे—त्व त्व इति द्वावप्यदन्तावन्यपर्यायाविति। अन्यशब्दसमानार्थकाविति्यर्थः। द्वयोरप्यदन्तत्वे अन्यतरपाठवैयर्थ्यं परिहरति—एक इति। इत्येक इति। इति कतिपये वृत्तिकृदादयः मन्यन्त इत्यर्थः। 'एतं त्वं मन्ये' इत्युदात्तत्वस्य

'सर्व' शब्द के रूप (पुंल्लिङ्ग)

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सर्वः	सर्वौ	सर्वे	पञ्चमी	सर्वस्मात्	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः
द्वितीया	सर्वम्	सर्वौ	सर्वान्	षष्ठी	सर्वस्य	सर्वयोः	सर्वेषाम्
तृतीया	सर्वेण	सर्वाभ्यां	सर्वैः	सप्तमी	सर्वस्मिन्	सर्वयोः	सर्वेषु
चतुर्थी	सर्वस्मै	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः	सम्बोधन	हे सर्व	हे सर्वौ	हे सर्वे

विशेष—१—गणपाठ में सर्वादि शब्द ३५ बतलाये गये हैं। उनके क्रमशः अर्थ दिये जाते हैं। १—सर्व = सब। २—विश्व = सब। ३—उभ = दो। ४—उभय = दो का समुदाय। ५—डतर (प्रत्ययान्त-शब्द) = दो में से एक का निर्धारण। ६—डतम (प्रत्ययान्तशब्द) = अनेक में से एक का निर्धारण। ७—अन्य = दूसरा। ८—अन्यतर = दो में से एक। ९—इतर = दूसरा। १०—त्वत् = अन्य। ११—त्व = अन्य। १२—नेम = आधा। १३—सम = सब। १४—सिम = सब। १५—पूर्व = पहला। १६—पर = दूसरा। १७—अवर = पश्चिम। १८—दक्षिण = दक्षिण दिशा। १९—उत्तर = उत्तर दिशा। २०—अपर = पश्चिम। २१—अधर = नीचा। २२—स्व = अपना, आत्मीय। २३—अन्तर = बाहर का, अधोवस्त्र। २७—एतद् = यह। २८—इदम् = यह। २९—अदस् = वह। ३०—एक = एक संख्या। ३१—द्वि = दो संख्या। ३२—युष्मद् = तुम। ३३—अस्मद् = मैं। ३४—भवतु = आप। ३५—किम् = कौन।

२—'सर्वनाम'-वाची अकारान्त-पुंल्लिङ्ग 'सर्व'-आदि शब्दों तथा 'राम' शब्द के सदृश अकारान्त-पुंल्लिङ्ग अन्य शब्दों के ५ 'सुप्'-प्रत्ययों में अन्तर होता है—(१) प्रथमा-बहुवचन (२) चतुर्थी का एक-वचन, (३) पञ्चमी का एक-ववचन, (४) षष्ठी का बहु-वचन तथा (५) सप्तमी का एक-वचन।

३—'उभ' शब्द का प्रयोग केवल द्विवचन में होता है। यहाँ शङ्का यह होती है कि द्विवचन में कोई सर्वादिगण-प्रयुक्त कार्य तो होता नहीं अतः सर्वादिगण में 'उभ' शब्द का समावेश क्यों किया गया ? उत्तर—सर्वनाम संज्ञा-प्रयुक्त 'अकच्' प्रत्यय (अक्) 'उभ' शब्द में भी हो। अतः 'उभकौ' आदि रूप सिद्ध होते हैं। 'क' प्रत्यय के होने पर बीच में व्यवधान होने से द्विवचन का विघात हो जाता है। इसके विपरीत 'अकच्' प्रत्यय सर्वनामवाचक शब्दों की 'टि' से पूर्व होने के कारण 'उभ' शब्द के बीच में ही समाविष्ट होने से (उभ+अकच्, <उभ्+अक्+अ, <उभक+औ = उभकौ) द्विवचन का व्याघात नहीं होता। इस आशय की पोषक एक परिभाषा का स्मरण कराया जारहा है—'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते'। इस प्रकार 'अकच्' सहित 'उभक' तथा केवल 'उभ' शब्द में कोई अन्तर नहीं है। अतः 'उभक' के अनन्तर द्विवचनार्थक 'औ' के रहने से 'अयच्' नहीं हुआ। इसके विपरीत 'क' प्रत्यय होने पर द्विवचन की स्थिति के अभाव में 'उभयतः' 'उभयत्र' के समान 'अयच्' का विधान होने से 'उभयकौ' रूप बनेगा। इस अन्तर के स्पष्ट होने से यह कहा जाता है कि 'उभ' शब्द का सर्वादिगण में पाठ सार्थक है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'उत त्वः पश्यन्' इत्यादावनुदात्तत्वस्य च ऋग्वेदे दर्शनादिति भावः। एकस्तान्त इति। संहितापाठे त्वत् इति छेदमाश्रित्य प्रथमस्तकारान्तः, द्वितीयः अदन्त इत्यपरे मन्यन्त इत्यर्थः। अन्यथा एकश्रुत्या वा स्वरविनिर्मुक्तं वा सकृदेव पठेत्, तावतैव द्वयोरपि लाभात् 'त्वत्त्वसमसिमेत्यनुच्चानि' इति फिट्सूत्राच्च। 'स्तरीरु त्वद्भवति सूत उ त्वत्' इति ऋग्व्याख्यावसरे वेदभाष्ये 'त्वदिति सर्वादिपठितः अनुदात्तोऽयम् अन्यपर्यायः' इत्युक्तत्वाच्च। 'त्वदधरमधुरमधूनि पिबन्तम्' इति जयदेवप्रयोगाच्च। तत्र हि त्वच्छब्दोऽन्यपर्यायः। त्वतः अधर इति विग्रहः। अन्यस्या अधर इत्यर्थो न तु तवाधर इति विवक्षितम्, 'पश्यति दिशि दिशि रहसि भवन्तम्' इति पूर्ववाक्येनान्वयानुपपत्तेः। नेम इत्यर्धे इति। वर्तते इति शेषः। 'प्रनेमस्मिन् ददृशे सोमो अन्तः' इत्यृचि तथा दर्शनादिति भावः। सम इति। सर्वशब्दसमानार्थक एव समशब्दः सर्वादिगणे पठित इत्यर्थः। तुल्यपर्यायस्त्विति। तुल्यशब्दसमानार्थक इत्यर्थः। ज्ञापकादिति। अन्यथा तत्र समेषामिति निर्दिशेदिति भावः। ननु अष्टाध्यायीपठिते 'अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः' इति जसि

तथापि महाभाष्यकार पतञ्जलि इस बात से सहमत नहीं है। उनके मत में स्वार्थिक 'क' प्रत्यय भी 'उभ' शब्द के मौलिक प्रकृतिरूप द्वित्व अर्थ को प्रकट करने में समर्थ रहता है। अतः 'उभ' शब्द से पर द्विवचन का व्याघात नहीं होता। तदनुसार 'अयच्' की प्रवृत्ति भी नहीं होगी। इस कारण भाष्यकार ने सर्वादिगण में 'उभ' शब्द का समावेश आवश्यक बतलाया है[1]।

४—'उभय' शब्द का प्रयोग द्विवचन में नहीं होता। एक-वचन तथा बहु-वचन में ही इसका प्रयोग होता है। 'उभय' शब्द की सिद्धि इस प्रकार है—उभ+तयप्, <उभ+अय (तयप् = अयच्) = उभयः (उभौ अवयवौ यस्य सः)। इस से एकवचन और बहुवचन होने में प्रमाण "उभयोऽन्यत्र" वार्तिक है। इसका अर्थ यह है कि (अन्यत्र) द्विवचन के अभाव में 'उभय'-शब्द का प्रयोग होता है। कैयट इसी बात से सहमत हैं। तदनुसार "तद्धितश्चासर्वाविभक्तिः" (१-१-३८) सूत्र के भाष्य में एकवचन में 'उभयो मणिः' तथा बहुवचन में 'उभये देवमनुष्याः' उदाहरण भी दिए गए है। वहाँ भाष्यकार ने 'उभय' शब्द की अव्यय-संज्ञा का निवारण करने के लिए परिगणन किया है।[2] किन्तु हरदत्त इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके मत में 'पचतिकल्पम्' 'पचतिरूपम्' इत्यादि शब्दों में अव्ययसंज्ञा निवारण करने के लिए परिगणन की सार्थकता है। अतः 'उभय' शब्द से द्विवचन भी होता है[3]। इस सम्बन्ध में उन्होंने यह तर्क दिया है कि केवल उदाहरण से किसी सिद्धान्त को मान्यता नहीं दी जा सकती। अतः भाष्य में निर्दिष्ट उदाहरणों के अतिरिक्त कोई दूसरा उदाहरण न मिलने के विषय में कोई प्रमाण नहीं है। इन दोनों मतों में कैयट का मत अधिक मान्य है।

इस विवाद के अनन्तर 'उभय' शब्द से 'जस्' विभक्ति आने पर दूसरे सन्देह का अभ्युत्थान कर उसका निवारण किया जारहा है। स्थिति इस प्रकार है—संख्यावाचक सुबन्त 'उभ' शब्द से 'तयप्' प्रत्यय होता है—"संख्याया अवयवे तयप्" (५-२-४२)। 'तयप्' के स्थान में 'अयच्' आदेश होकर 'उभय' रूप निष्पन्न होता है—"उभादुदात्तो नित्यम्" (५-२-४४)। तदनन्तर उभय+

---

१. स्वार्थिकाः प्रत्ययाः प्रकृतितोऽविशिष्टा भवन्तीति प्रकृतिग्रहणेन स्वार्थिकानामपि ग्रहणं भवति। महाभाष्यम्।

२. "उभयशब्दस्य द्विवचनानुत्पादादसर्वविभक्तित्वम्। ततश्च "तद्धितश्चासर्वविभक्तिः" इति अव्ययसंज्ञाप्रसङ्गः। (तद्वारणाय) प्रतिपदं तद्धिताः पठितव्याः। तस्माद् गणपाठ एवाश्रयितव्यः"—इति "तद्धितश्चासर्वाविभक्तिः" सूत्रे कैयटः।

३. हरदत्तस्तु पचतिकल्पमित्यादिवारकत्वेन परिगणनसामर्थ्यस्योपक्षीणत्वात् उभयशब्दाद् द्विवचनं भवत्येवेत्यूचे। वै० सि० सु० पृ० ३१२।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वनामसञ्ज्ञाविकल्पविधायके सूत्रे 'अपुरीति वक्तव्यम्' इति वार्तिकपाठो भाष्ये दृश्यते। एवञ्चान्तराः पुर्यः इत्यत्र जसि सर्वनामसञ्ज्ञानिषेधेऽपि, अन्तरायां पुरीत्यत्र तन्निषेधाभावाद् अन्तरस्यामिति स्यादित्यत आह—गणसूत्र इति। यद्यपीदं वार्तिकं जसि विकल्पविधिप्रकरणे पठितं तथापि 'अन्तरं बहिः' इति गणसूत्रस्यैवायं शेषो नत्वष्टाध्यायीपठितस्य 'अन्तरं बहिः' इत्यस्य जसि विधायकस्य शेषः, जसश्शी इत्यत्र अत इत्यनुवृत्त्या टाबन्तात्तत्प्राप्तिविरहात्। ततश्च पुर्यां विशेष्यभूतायाम् अन्तरशब्दः सर्वादिगणे पाठं न लभते इत्येतद्वार्तिकार्थः पर्यवस्यति। एवञ्च जसोऽन्यत्रापि अन्तरशब्दस्य पुर्यां विशेष्यभूतायां सर्वनामत्वं नेति लभ्यते। अतः अन्तरायां पुरीत्यादौ सर्वनामकार्यं स्याडादि न भवतीत्य-

---

जस् विभक्ति आने पर (प्रथमा बहुवचन), <उभय+शी (ई) = उभये रूप बनता है। यहाँ यह शङ्का होती है कि 'अयच्' में स्थानिवद्भाव से 'तयप्'सम्बन्धी प्रत्यय का आरोप होने के कारण "प्रथमचरमतयाल्पार्ध०" (१-१-३३) सूत्र से 'जस्' विभक्ति में विकल्प से सर्वनाम-संज्ञा होकर 'उभये' एवं 'उभयाः' दो रूप क्यों न बनें ? इसका समाधान अन्तरङ्ग-बहिरङ्गभाव का समाश्रयण कर अन्तरङ्ग कार्य की प्रबलता द्वारा दिया जाता है। तदनुसार "प्रथमचरतमतयाल्पार्ध०" (१-१-३३) सूत्र से प्राप्त सर्वनामसंज्ञा की विकल्पता में 'जस्' विभक्ति की अपेक्षा है, अतः वह बहिरङ्ग है। इसके विपरीत "सर्वादीनि सर्वनामानि" (१-१-२७) से विहित नित्य सर्वनामसंज्ञा में किसी विभक्ति की अपेक्षा न होने से वह अन्तरङ्ग है। इस प्रकार अन्तरङ्ग-कार्य की प्रबलता होने से एक ही रूप 'उभये' बनेगा। पूर्वविप्रतिषेध से भी नित्य-सर्वनाम संज्ञा की प्रबलता ग्राह्य है।

५—'डतर' और 'डतम' प्रत्ययों को सर्वनाम-संज्ञा करने का कोई प्रयोजन सिद्ध न होने के कारण इन प्रत्ययों के होने पर तदन्त-शब्द-स्वरूप की सर्वनाम-संज्ञा का विधान अपेक्षित है—(प०) 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः'। यद्यपि इसके विपरीत "सुप्तिङन्तं पदम्" (२९) सूत्र में 'अन्त' पद के प्रयोग से यह सिद्धान्त स्वीकृत है कि संज्ञाविधि में प्रत्यय के ग्रहण से तदन्त-विधि नहीं होती। तथापि केवल प्रत्यय का संज्ञा-विधान निष्प्रयोजन होने के कारण यहाँ तदन्त-विधि मान्य है। अतः 'कतर' (किम्+डतर) तथा 'कतम' (किम्+डतम) आदि शब्द सर्वनाम-संज्ञक माने गए हैं।

६—'अन्यतर' तथा 'अन्यतम' शब्दों में क्रमशः 'डतर' एवं 'डतम' प्रत्ययान्त शब्दों का भ्रम-निवारण करने के लिये यह सूचित किया जारहा है कि ये दोनों शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपादिक हैं। दो में से किसी एक का निर्धारण करने में 'अन्यतर' शब्द का प्रयोग शब्द-शक्तिस्वभाव से द्विवचन में होता है। उसी प्रकार अनेक में से किसी एक का निर्धारण करने में 'अन्यतम' शब्द का प्रयोग शब्द-शक्ति-स्वभाव से बहुवचन का बोधक होता है। इन दोनों में से 'अन्यतम' शब्द का 'सर्वादि-गण' में पाठ न होने से सर्वनाम-संज्ञा नहीं होती। अतः सर्वनामसंज्ञक-कार्य नहीं होते।

शाकटायन इन दोनों शब्दों को व्युत्पत्ति-लभ्य (डतर-डतम-प्रत्ययान्त) मानते हैं। तो भी उन्होंने 'अन्यतर' शब्द को सर्वादिगण में नियामक माना है। जिसके फलस्वरूप 'अन्यतम' शब्द को सर्वादि-गण-कार्य नहीं होते।[1]

७—'त्व' (त्) तथा 'त्व' दोनों शब्द अन्यार्थक हैं। दोनों के अकारान्त होने के कारण एक का ही सर्वादिगण में समावेश करना उचित था। इस सम्बन्ध में कुछ आचार्य एक 'त्व' को उदात्त मानते हैं। वेद में प्रयुक्त 'त्व' शब्द उदात्त मिलता है—"एतं त्वं मन्ये" ('त्व' उदात्त)। तथा दूसरे 'त्व' को अनुदात्त मानते हैं। सुप्रसिद्ध ऋग्वेद की ऋचा "उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे" में 'त्व' अनुदात्त है। अन्य विद्वानों की सम्मति में पहले 'त्व' में 'त्' की इत्संज्ञा है। अतः मूलरूप में

---

१. शाकटायनेन "डतर-डतमान्तत्वेन तयोर्व्युत्पादनेऽपि अन्यतरपाठस्य नियमाकत्वाद् अन्यतमशब्दस्य गणकार्याद्यभावः" इति व्याख्यानात्। वै० सि० सु० पृ० ३१३।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वक्तव्यम्' (वा २४०) अन्तरायां पुरि। (२१८) **पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् १।१।३४ ॥** एतेषां व्यवस्थायामसंज्ञायां सर्वनामसंज्ञा गणपाठात्सर्वत्र या प्राप्ता सा जसि वा स्यात्। पूर्वे–पूर्वाः। स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था। व्यवस्थायां किम्? दक्षिणा गाथकाः। कुशला इत्यर्थः। असंज्ञायां किम्? उत्तराः कुरवः।

भिप्रेत्योदाहरति—अन्तरायां पुरीति। यद्यप्यन्तरशब्द एव सर्वादिगणे पठितः, न तु टावन्तः तथापि लिङ्गविशिष्टपरिभाषया वा एकादेशस्य पूर्वान्तत्वेन ग्रहणाद् वा सर्वनामत्वप्राप्तिर्बोध्या। सिमशब्दस्तु 'समः कृत्स्ने च शक्ते च स्यान्मर्यादावबद्धयोः' इति कोशे प्रसिद्धः।

(२१८) अथ सर्वादिगणान्तर्गतत्रिसूत्रीसमानाकारामष्टाध्यायीपठितां पूर्वपरेत्यादित्रिसूत्रीं पुनरुक्तिशङ्कां व्युदस्यन् व्याचष्टे—पूर्वपरेति। सर्वनामानीति विभाषा जसीति चानुवर्तते। तदाह—एतेषामिति। पूर्वादिसप्तानामित्यर्थः। गण इति। सर्वादिगण इत्यर्थः। या प्राप्तेति। सर्वादीनीत्यनेन नित्या सञ्ज्ञा या प्राप्तेत्यर्थः। अनेन पूर्वपरेति सूत्रं

वह 'त्वत्' पढ़ा जाय। इसके विषय में प्रमाण भी विद्यमान हैं। वेदभाष्यकार सायण ने **"स्तरीरु, त्वद्भवति सूत उ त्वत्"** के व्याख्याप्रसङ्ग में 'त्वत्' का अर्थ 'अन्य' किया है तथा उसे सर्वादिगण-में पठित अनुदात्तस्वरात्मक कहा है। इसी प्रकार जयदेव कवि के सुप्रसिद्ध प्रयोग 'त्वदधरमधुर-मधूनि पिवन्तम्' में भी 'त्वत्' शब्द को अन्यार्थक बतलाया गया है। इस सम्बन्ध में 'त्वत्त्वसमसिमेत्यनुच्चानि' (फि० सू०) भी प्रमाण माना जाता है। यहाँ भी 'त्वत्' पाठ है।

८—'नेम' शब्द का अर्थ आधा (अर्ध) है। **"प्रनेमस्मिन् ददृशे सोम"** आदि वैदिक प्रयोगों से इसका प्रामाण्य है।

९—'सम' शब्द सर्वार्थक है, तुल्यार्थक नहीं। इसके प्रमाणभूत स्वयं पाणिनि हैं। उन्होंने **"यथासंख्यमनुदेशः समानाम्"** (१-३-१०) सूत्र में तुल्यार्थक 'सम' शब्द में 'समानाम्' प्रयोग किया है। अन्यथा वे 'समेषाम्' प्रयोग करते। वेद में भी **"नमन्तामन्यके समे"** इस प्रकार प्रयोग मिलता है। 'सिम' शब्द भी सर्वार्थक है। **"आद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै"** आदि वैदिक प्रयोग इसके प्रमाण हैं।

१०—'पुरी' (नगरी) अर्थ में 'अन्तर'–शब्द की सर्वनाम-संज्ञा अभीष्ट नहीं है। अतः 'अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः' इस गणसूत्र में 'अपुरि' (अर्थात् 'पुरी'–अर्थ के अतिरिक्त) पद का समावेश करना चाहिये। तदनुसार 'अन्तरायां पुरि' में अन्तरा+ङि, <अन्तरा+आम् (ङि = आम्), <अन्तरा य्+आम्<अन्तरायाम्—सर्वनाम-संज्ञा-प्रयुक्त 'स्याट्' आगम नहीं हुआ। अतः अन्य आकारान्त-स्त्रीलिङ्ग शब्दों की भाँति 'याट्' आगम होकर रूपसिद्धि हुई।

(२१८) पद—पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि, व्यवस्थायाम्, असंज्ञायाम्। **अनुवृत्ति**—सर्वनामानि, विभाषा, जसि। **संज्ञा(विधि)विकल्प।**

मूलार्थ—'पूर्व'–आदि शब्दों की व्यवस्था और असंज्ञा अर्थ में सर्वत्र गणसूत्र से नित्य प्राप्त सर्वनाम-संज्ञा 'जस्' में विकल्प से होती है। पूर्वादि शब्दों के अर्थ से अपेक्षित अवधि के नियम को 'व्यवस्था' कहते हैं। 'व्यवस्थायाम्' क्यों कहा? दक्षिणा गाथकाः। अर्थात् निपुण हैं। असंज्ञायाम् क्यों कहा? उत्तराः कुरवः।

सन्दर्भ—सर्वादि-गण में पठित पूर्वादि नौ शब्दों की सर्वनाम-संज्ञा सूचित करने हेतु सूत्रात्मक तीन वचन हैं। उसी के अनुरूप तीन पाणिनि-सूत्र भी हैं। गण-पठित सूत्र पूर्वादि नौ शब्दों की नित्य सर्वनाम-संज्ञा करते हैं, किन्तु पाणिनि-सूत्रों द्वारा इन नौ शब्दों को प्रथमा-बहुवचन (जस्) में विकल्प से 'सर्वनाम-संज्ञा' का विधान किया गया है। समानविषयक होने के कारण अधो-लिखित तीन सूत्रों में उस अन्तर को स्पष्ट किया जारहा है।

विवरण—सूत्र के अर्थ को पूरा करने के लिये **"सर्वादीनि सर्वनामानि"** (१-१-२७) से 'सर्व-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२१९) स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् १ । १ । ३५ ॥ ज्ञातिधनान्यवाचिनः स्वशब्दस्य या

गणपठितं जसोऽन्यत्र नित्यतया सर्वनामसंज्ञार्थम्। अष्टाध्यायीपठितं तु जसि तद्विकल्पार्थमिति न पौनरुक्त्यमिति सूचितम्। स्वाभिधेयेति। अपेक्ष्यत इत्यपेक्षः कर्मणि घञ्। स्वस्य पूर्वादिशब्दस्याभिधेयं वाच्यं तेन अपेक्षस्याऽपेक्ष्यमाणस्य अवधेर्नियमः व्यवस्थाशब्देन विवक्षित इत्यर्थः। ततश्च नियमेनावधिसापेक्षार्थे वर्तमानानां पूर्वादिशब्दानां जसि सर्वनामसंज्ञाविकल्प इति फलति। व्यवस्थायां किमिति। पूर्वादिशब्दानां नियमेनावधिसापेक्ष एवार्थे विद्यमानत्वादिति प्रश्नः। दक्षिणा गाथका इति। अत्र दक्षिणशब्दो नावध्यपेक्ष इति भावः। दक्षिणपार्श्ववर्तिनो गायका इत्यत्र कस्मादित्यवध्यपेक्षा अस्त्येवेत्यत आह—कुशला इत्यर्थ इति। यद्यपि प्रावीण्यमपि कस्मादित्यवध्यपेक्षमेव, तथापि उत्तरे प्रत्युत्तरे च शक्त इत्यादि प्रत्युदाहरणं बोध्यमित्याहुः। असंज्ञायां किमिति। 'संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः' इति वक्ष्यमाणतया संज्ञायां सर्वनामत्वस्याप्रसक्तेरिति प्रश्नः। उत्तराः कुरव इति। कुरुशब्दो देशविशेषे नित्यं बहुवचनान्तः। सुमेरुमवधीकृत्य तत्रोत्तरशब्दो वर्तत इत्यस्तीह व्यवस्था, किं तु संज्ञाशब्दत्वान्नास्य सर्वनामता। पूर्वादिशब्दानां तु दिक्षु अनादिरूढ्यैक्षत इति न ते संज्ञाशब्दाः। कुरुषु तूत्तरशब्दस्याधुनिकरूढ्यैक्षत एवेत्ययं संज्ञाशब्द इति मन्यते। केचित्त्वसंज्ञायामित्यभावे संज्ञायामेव पूर्वादिशब्दानामप्राप्तविभाषा स्यादित्याहुः।

(२१९) स्वमज्ञातीति। अत्रापि सर्वनामानीति विभाषा जसीति चानुवर्तते। ज्ञातिश्च धनं च ज्ञातिधने तयोराख्या। न ज्ञातिधनाख्या अज्ञातिधनाख्या, तस्याम् अज्ञातिधनाख्यायाम्। स्वमिति शब्दस्वरूपापेक्षया नपुंसकत्वम्। तदाह—ज्ञातिधनान्येति। स्वे स्वा

नामानि' तथा "विभाषा जसि" (१-१-३२) सूत्र से 'विभाषा' एवं 'जसि' पदों की अनुवृत्ति लाई जाती है। तदनुसार अर्थ होता है—"सर्वनाम-संज्ञा के प्रकरण में पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, और अधर—इन सात शब्दों को (पूर्वश्च, परश्च, अवरश्च, दक्षिणश्च, उत्तरश्च, अपरश्च, अधरश्च = पूर्वपरावर···धराणि–इतरेतरद्वन्द्व) व्यवस्था और असंज्ञा में 'जस्'-विभक्ति-सम्बन्धी कार्य हेतु विकल्प से सर्वनाम-संज्ञा होती है"। गण-सूत्र से प्राप्त नित्य सर्वनाम-संज्ञा का 'जस्' में वैकल्पिक विधान किया जारहा है। **उदाहरण**—सर्वनाम-संज्ञा होने पर—पूर्व+जस्, <पूर्व+शी (जस् = शी), <पूर्व+ई, <पूर्वे। सर्वनाम-संज्ञा न होने पर—पूर्व+जस्, <पूर्व+अस् <पूर्वास् (अ+अ = आ—दीर्घ), <पूर्वार्, <पूर्वाः। सूत्र में प्रयुक्त 'व्यवस्था' शब्द पूर्व-परादि शब्दों के वाच्यार्थ-नियम का बोधक है—'स्वस्य = पूर्वादिशब्दस्य, अभिधेयः = दिग्देशकालरूपः, तेन अपेक्ष्यते इति स्वाभिधेयापेक्षः अवधिः, तस्य अवधेर्नियमः = स्वाभिधेयापेक्षा-नियमः)—अर्थात् यह किससे पूर्व है ? किससे पर है ? इत्यादि अवधि के नियम की आकाङ्क्षा यहाँ 'व्यवस्था' कहलाती है।

प्रत्युदाहरण—१–'दक्षिणा गाथकाः' (गानेवाले निपुण हैं) में 'दक्षिण' शब्द का अर्थ 'चतुर' (निपुण) है। दक्षिण-दिशा की अवधि का व्यवस्थापक न होने के कारण जस् = 'शी' आदेश नहीं हुआ। २—सूत्र में 'असंज्ञायाम्' पद रखने पर 'उत्तराः कुरवः' (उत्तरकुरुदेश) में सर्वनाम-संज्ञा नहीं हुई। यहाँ 'उत्तर' शब्द उत्तर-दिशा (संज्ञा) का बोधक है। अतः 'उत्तरे' नहीं हुआ।

विशेष—इसी तरह सूत्र में वर्णित अन्य शब्दों के 'जस्' विभक्ति में दो रूप बनेंगे—परे, पराः (बाद वाले)। अवरे, अवराः (पहले वाले)। दक्षिणे, दक्षिणाः (दक्षिण वाले)। उत्तरे, उत्तराः (उत्तर वाले)। अपरे, अपराः (दूसरे)। अधरे, अधराः (नीचे वाले)।

(२१९) पद—स्वम्, अज्ञातिधनाख्यायाम्। **अनुवृत्ति**—सर्वनामानि, विभाषा, जसि। **संज्ञा(विकल्प)सूत्र।**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्ता संज्ञा सा जसि वा स्यात्। स्वे—स्वाः। आत्मीया इत्यर्थः। आत्मान इति वा। ज्ञातिधनवाचिनस्तु स्वाः। ज्ञातयोऽर्था वा। **(२२०) अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः १।१।३६॥** बाह्ये परिधानीये चाऽर्थेऽन्तरशब्दस्य या प्राप्ता संज्ञा सा जसि वा स्यात्। अन्तरे—अन्तरा वा गृहाः। बाह्या इत्यर्थः। अन्तरे—अन्तरा वा शाटकाः। परिधानीया

इति। सर्वनामत्वे शीभावः। तदभावे तदभाव इति भावः। आत्मा आत्मीयं ज्ञातिः धनं चेति स्वशब्दस्य चत्वारोऽर्थाः। 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने' इत्यमरः। अत्र स्वो ज्ञातावात्मनीत्येकं वाक्यम्। ज्ञातावात्मनि च स्वशब्दः पुँल्लिङ्ग इत्यर्थः। स्वं त्रिष्वात्मीये इति द्वितीयं वाक्यम्। आत्मीये स्वशब्दो विशेष्यनिघ्न इत्यर्थः। स्वोऽस्त्रियां धने इति तृतीयं वाक्यम्। धने स्वशब्दः पुंनपुंसक इत्यर्थः। 'स्वः स्यात् पुंस्यात्मनि ज्ञातौ, त्रिष्वात्मीयेऽस्त्रियां धने' इति मेदिनीकोशः। यत्र ज्ञातिधनयोः पर्युदासात् आत्मनि आत्मीये च सर्वनामत्वं जसि विकल्प्यत इत्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—आत्मीया इत्यर्थः, आत्मान इति वेति। ज्ञातिधनपर्युदासस्य प्रयोजनमाह—ज्ञातिधनवाचिनस्त्विति। ज्ञातिवाचिनः धनवाचिनश्च सर्वनामत्वपर्युदासात् जसि स्वाः इत्येव रूपमित्यर्थः। न च ज्ञातिधनयोरप्यात्मीयत्वपुरस्कारे सर्वनामत्वं न स्यादिति वाच्यम्, आख्याग्रहणबलेन ज्ञातित्वधनत्वपुरस्कार एव पर्युदासप्रवृत्तेः।

(२२०) अन्तरम्। अत्रापि सर्वनामानीति विभाषा जसीति चानुवर्तते। बहिः अनावृतप्रदेशः, तेन योगः सम्बन्धः यस्य स बहिर्योगः। बहिर्विद्यमानोऽर्थ इति यावत्। उपसंवीयते परिधीयते इति उपसंव्यानम् अन्तरीयं वस्त्रम्। तदाह—बाह्य इत्यादिना।

मूलार्थ—ज्ञाति और धन से भिन्न अर्थ में 'स्व' शब्द को 'गणसूत्र' से नित्य प्राप्त होनेवाला संज्ञा 'जस्' परे रहते विकल्प से होती है।

विवरण—पूर्व सूत्र के अनुसार यहाँ भी अनुवृत्ति द्वारा लाए गए पदों से सूत्रार्थ पूरा होता है। 'स्व' शब्द के चार अर्थ हैं—आत्मा, आत्मीय, ज्ञाति (बान्धव) तथा धन। इन चारों में 'आत्मा' और 'आत्मीय' (अपना) इन दो अर्थों में गणसूत्र से प्राप्त नित्य 'सर्वनाम'-संज्ञा प्रथमा-बहुवचन (जस्) में विकल्प से होगी। **उदाहरण**—(सर्वनामसंज्ञा-पक्ष में) स्व+जस्, <स्व+शी, <स्व+ई, <स्वे। (सर्वनाम-संज्ञा न होने पर) स्व+जस्, <स्व+अस्, <स्वास्, <स्वार् <स्वाः। ज्ञाति और धन अर्थ में केवल 'स्वाः' एक ही रूप रूप बनेगा।

(२२०) पद—अन्तरम्, बहिर्योगोपसंव्यानयोः। **अनुवृत्ति**—सर्वनामानि, विभाषा, जसि। **संज्ञा(विधि)विकल्प।**

मूलार्थ—बाह्य और परिधानीय अर्थ में 'अन्तर' शब्द को गणसूत्र से प्राप्त नित्य सर्वनाम-संज्ञा 'जस्' परे रहते विकल्प से होती है।

विवरण—दोनों पूर्व सूत्रों के अनुसार यहाँ भी अनुवृत्ति द्वारा लाये गये पदों से सूत्र का अर्थ पूरा होता है। इस प्रसङ्ग में 'अन्तर' शब्द को 'जस्' परे रहते विकल्प से सर्वनाम-संज्ञा का विधान किया जाता है। 'अन्तर' शब्द के अनेक अर्थ हैं—(१) अवकाश, (२) अवधि, (३) परिधान, (४) अन्तर्धि, (५) भेद, (६) तादर्थ्य, (७) अवसर, (८) मध्य, (९) अन्तरात्मा (१०) छिद्र, (११) आत्मीय, (१२) विना, (१३) बहिः।[1] इनमें से केवल बाह्य तथा परिधान अर्थ में इस सूत्र द्वारा 'जस्' परे रहते विकल्प से सर्वनाम-संज्ञा होती है। **उदाहरण**—१—अन्तरे, अन्तराः

---

१. अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये।
छिद्रात्मीयविनाबहिरवसरमध्येऽन्तरात्मनि च॥ अमरकोषः—३-३-१८७।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यर्थः। (२२१) **पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा ७। १। १६॥** एभ्यो नवभ्यो ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ वा स्तः। पूर्वस्मात्–पूर्वात्। पूर्वस्मिन्–पूर्वे। एवं परादीनामपि। शेषं

---

(२२१) पूर्वादिभ्यो। ङसिङ्योः स्मात्स्मिनावित्यनुवर्तते इत्याह—एभ्य इति। पूर्व-परेत्यादित्रिसूत्रीनिर्दिष्टाः पूर्वादय इह विवक्षिताः। त्यदादयो हलन्ताधिकारे व्याख्यास्यन्ते। एकशब्दः सङ्ख्यायामिति। अर्थान्तरे तु द्विवचनबहुवचने अपि स्तः।

'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा।
साधारणे समानेऽल्पे सङ्ख्यायां च प्रयुज्यते॥' इति कोशः।

स्यादेतत्। त्वत्कपितृकः मत्कपितृक इति बहुव्रीहिः। त्वकं पिता यस्य, अहकं पिता यस्येति लौकिकविग्रहवाक्यम्। लौकिकत्वं प्रयोगार्हत्वम्। युष्मदस्मदोरजाद्यर्थे 'अव्ययसर्वनाम्ना'मित्यकचि युष्मकत् स्, अस्मकद् स इति स्थिते, 'ङे प्रथमयोः' इत्यमि, 'त्वाहौ सौ' इति त्वादेशे अहादेशे च सति 'शेषे लोपः' इति लोपे, 'अतो गुणे' 'अमि पूर्वे' च त्वकम् अहकम् इति रूपम्। युष्मद् स्-पितृ स्, अस्मद् स्-पितृ स्, इत्यलौकिकं विग्रहवाक्यम्। प्रयोगानर्हत्वम् अलौकिकत्वम् इति स्थितिः। तत्र त्वत्क-

---

गृहाः (नगरी से बाहर के घर)। सर्वनामसंज्ञा होने पर—अन्तर+जस्, <अन्तर+शी, <अन्तर+ई = अन्तरे। सर्वनाम संज्ञा न होने पर—'अन्तराः'। २—इसी प्रकार उपसंव्यान (उपसंवीयते इति उपसंव्यानम्) = परिधान अर्थ में—अन्तरे, अन्तराः वा शाटकाः (नीचे पहरने योग्य वस्त्र) दो रूप बनेंगे।

(२२१) **पद**—पूर्वादिभ्यः, नवभ्यः, वा। **अनुवृत्ति**—ङसिङ्योः, स्मात्स्मिनौ। **विधि-सूत्र** (विकल्प)।

मूलार्थ—पूर्वादि ९ शब्दों से परे 'ङसि' और 'ङि' को क्रमशः 'स्मात्' और 'स्मिन्' आदेश विकल्प से होते हैं। पूर्वस्मात्—पूर्वात्। पूर्वस्मिन्—पूर्वे। इसी तरह परादि शब्दों को भी (होते हैं)। अवशिष्ट प्रक्रिया 'सर्व' शब्द के समान जानी जाय। 'एक' शब्द संख्या में नित्य एकवचनान्त है।

विवरण—सूत्रार्थ को पूरा करने के लिये "ङसि-ङ्योः स्मात्-स्मिनौ" (७-१-१५) सूत्र की पूरी अनुवृत्ति करनी पड़ती है। तदनुसार **स्थानी** हैं—'ङसि' तथा 'ङि'। **आदेश** हैं—'स्मात्' तथा 'स्मिन्'। पूर्वोक्त तीन सूत्रों—२१८, २१९, तथा २२० में जिन नौ शब्दों का उल्लेख हुआ है, उन्हीं का यहाँ ग्रहण होता है। गणसूत्रों द्वारा नित्य सर्वनाम-संज्ञा प्राप्त होने के कारण इस सूत्र द्वारा विकल्प-विधान किया जा रहा है। **उदाहरण**—(सर्वनामसंज्ञा-पक्ष में) पञ्चमी एकवचन–पूर्व+ङसि, <पूर्व+स्मात्=पूर्वस्मात्। (सर्वनाम-संज्ञा न होनेपर) पूर्व+ङसि<पूर्व+आत्<पूर्वात्। सप्तमी एकवचन–(सर्वनाम-संज्ञा होने पर) पूर्व+ङि<पूर्व+स्मिन् = पूर्वस्मिन्। (सर्वनाम-संज्ञा न होने पर <पूर्व+ङि, <पूर्व+इ, <पूर्वे। इसी प्रकार 'पर' आदि शब्दों के रूप समझें।

स्मरणीय—यह सूत्र "ङसि-ङ्योः स्मात्स्मिनौ" (७-१-१५) का अपवाद है।

पूर्व शब्द के रूप (पुँल्लिङ्ग)

एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा पूर्वः	पूर्वौ	पूर्वे, पूर्वाः	पञ्चमी पूर्वस्मात्,पूर्वात्-द्	पूर्वाभ्याम्	पूर्वेभ्यः
द्वितीया पूर्वम्	पूर्वौ	पूर्वान्	षष्ठी पूर्वस्य	पूर्वयोः	पूर्वेषाम्
तृतीया पूर्वेण	पूर्वाभ्याम्	पूर्वैः	सप्तमी पूर्वस्मिन्, पूर्वे	पूर्वयोः	पूर्वेषु
चतुर्थी पूर्वस्मै	पूर्वाभ्याम्	पूर्वेभ्यः	सम्बो० हे पूर्व	हे पूर्वौ	हे पूर्वे, पूर्वाः

इसी के अनुरूप पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर, अन्तर तथा स्व शब्दों के रूप जाने जायँ।

विशेष—एक शब्द के आठ अर्थ हैं—१–अन्य, २–प्रधान, ३–प्रथम, ४–केवल, ५–साधारण,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्ववत् । एकशब्दः सङ्ख्यायां नित्यैकवचनान्तः । (२२२) **न बहुव्रीहौ १।१।२९ ।**॥ बहुव्रीहौ चिकीर्षिते सर्वनामसंज्ञा न स्यात् । त्वकं पिता यस्य स त्वत्कपितृकः । अहकं पिता यस्य स मत्कपितृकः । इह समासात्प्रागेव प्रक्रियावाक्ये सर्वनामसंज्ञा निषिध्यते । अन्यथा लौकिकविग्रहवाक्य इव तत्राप्यकच्प्रवर्तेत । स च समासेऽपि श्रूयेत । अतिक्रान्तो भवकन्तम् अतिभवकान् इतिवत् । भाष्यकारस्तु त्वकत्पितृकः मकत्पितृक इति रूपे

पितृको मत्कपितृक इति बहुव्रीहिदशायां कप्रत्ययो न सम्भवति । युष्मदस्मदोः सर्वनामत्वेनाकच्प्रसङ्गात् ।

(२२२) तत्रेदमारभ्यते—न बहुव्रीहौ । सर्वादीनि सर्वनामानीत्यनुवर्तते । बहुव्रीहौ सर्वादीनि सर्वनामानि न स्युरित्यर्थः प्रतीयते । एवं सति सूत्रमिदं व्यर्थम्, प्रियसर्वायेत्यादीनां बहुव्रीहिवर्तिनां सर्वादीनां स्वार्थोपसङ्क्रान्तार्थान्तरप्रधानकतया उपसर्जनत्वादेव सर्वनामत्वनिषेधसिद्धेः, 'संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः' इति वक्ष्यमाणत्वात् । अतो व्याचष्टे—बहुव्रीहौ चिकिर्षित इति । बहुव्रीहाविति विषयसप्तम्याश्रयणाद् अयमर्थो लभ्यते । तथा च बहुव्रीहौ प्रसक्ते सति ततः प्रागेव विग्रहवाक्येऽयं निषेधोऽर्थवान् । एकार्थीभावात्मकसामर्थ्यस्य समासदशायामेव सत्त्वेन विग्रहवाक्ये तद्भावेन तदानीमुक्तोपसर्जनत्वस्याभावादिति भावः । अथ लौकिकविग्रहवाक्यं दर्शयन् लक्ष्यभूतं बहुव्रीहिं दर्शयति—त्वकं पितेत्यादिना । सर्वनामत्वाभावात् कप्रत्यये 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति त्वमादेशे त्वत्कः मत्क इति च रूपम् । ननु बहुव्रीहिप्रवृत्तेः प्राक् अलौकिकविग्रहवाक्ये सर्वनामत्वनिषेधात् त्वकं पितेति कथं लौकिकविग्रहवाक्यप्रदर्शनमित्यत आह—इहेति । न बहुव्रीहावित्यस्मिन् सूत्र इत्यर्थः । प्रक्रियावाक्य इति । युष्मद् स्-पितृ स्, अस्मद् स्-पितृ स्—इत्यलौकिकविग्रहवाक्य एवेत्यर्थः । लौकिकविग्रहवाक्ये तु नार्यं निषेधः, बहुव्रीहिवत्तस्य स्वार्थे परिनिष्ठितत्वेन स्वतन्त्रप्रयोगार्हतया बहुव्रीहेस्तत्र चिकीर्षितत्वाभावात्, अलौकिकविग्रहात्मके प्रक्रियावाक्य एव तस्य चिकीर्षितत्वात् । यथा चैतत्तथा समासनिरूपणे वक्ष्यते । ननु अलौकिकविग्रहवाक्ये मास्तु सर्वनामतानिषेधः, को दोषः ? तत्राह—अन्यथेति । न बहुव्रीहावित्यलौकिकविग्रहवाक्ये निषेधाभावे सती-

---

६-अल्प तथा ८ संख्या[1] । इन आठों अर्थों में से संख्यावाचक 'एक' शब्द नित्य एकवचनान्त है । संख्यावाचक को छोड़कर अन्य अर्थों में 'एक' शब्द के रूप सभी विभक्तियों में एक-वचन, द्विवचन तथा बहुवचन में 'सर्व' शब्द के समान होते हैं । संख्या-वाचक एक शब्द के रूप इस प्रकार हैं—प्रथमा-एकः । द्वितीया—एकम् । तृतीया-एकेन । चतुर्थी-एकस्मै । पञ्चमी-एकस्मात् । षष्ठी-एकस्य । सप्तमी-एकस्मिन् ।

(२२२) पद—न, बहुव्रीहौ । अनुवृत्ति—सर्वादीनि सर्वनामानि । संज्ञा(निषेध)सूत्र ।

मूलार्थ—बहुव्रीहि समास में सर्वादि-शब्दों की सर्वनामसंज्ञा नहीं होती । त्वकं पिता यस्य स त्वत्कपितृकः । अहकं पिता यस्य स मत्कपितृकः । इन उदाहरणों में समास के पहले ही सर्वनामसंज्ञा का निषेध हो जाता है । नहीं तो लौकिक विग्रह-वाक्य की तरह वहाँ भी अकच् की प्रवृत्ति होने लगेगी । जैसा कि अतिक्रान्तः भवकन्तम् इस विग्रह के बाद अतिभवकान् में अकच् का श्रवण होता है वैसे ही उसका श्रवण समास में भी होने लगेगा ।

भाष्यकार ने 'त्वकत्पितृकः' और 'मकत्पितृकः' इन रूपों को अभिमत मान कर इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया है । पूर्व मुनियों की अपेक्षा उत्तरोत्तर मुनियों के वाक्यों में अधिक प्रामाण्य है ।

---

१. एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा ।
साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टापत्ति कृत्वैतत्सूत्रं प्रत्याचख्यौ। यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्। 'संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः' (वा २२५)। महासंज्ञाकरणेन तदनुगुणानामेव गणे सन्निवेशात्। अतः संज्ञाकार्यमन्तर्गणकार्यं च तेषां न भवति। सर्वो नाम कश्चित्तस्मै सर्वाय देहि। अतिक्रान्तः सर्वमतिसर्वस्तस्मै अतिसर्वाय देहि। अतिकतरं कुलम्। अतितत्।

त्यर्थः। तत्रापीति। अलौकिकविग्रहवाक्येऽपीत्यर्थः। नन्वलौकिकविग्रहवाक्ये भवत्वकच्। सत्यप्यकचि तस्य प्रयोगानर्हत्वेन बाधकाभावादित्यत आह—स चेति। अलौकिकविग्रहवाक्ये श्रुतस्य लौकिकविग्रहवाक्ये समासे च श्रवणनियमादिति भावः। उभयत्रापि तन्नियमे दृष्टान्तद्वयमाह—अतिक्रान्तो भवकन्तम् अतिभवकानिति वदिति। भवच्छब्दस्य सर्वादिगणे पाठात् सर्वनामत्वादलौकिकविग्रहदशायामकच्। ततश्च भवकत् अम् अति इत्यलौकिकविग्रहवाक्यं सम्पद्यते। तत्र 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासे सति 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुब्लुकि अतिभवकच्छब्दात् प्रथमैकवचने अतिभवकानिति रूपम्। समासाभावपक्षे तु भवकन्तमतिक्रान्त इति लौकिकविग्रहवाक्यं भवति। तत्र समासदशायां भवच्छब्दार्थस्य स्वोपसङ्क्रान्तार्थान्तरप्रधानतया उपसर्जनत्वेऽपि अलौकिकविग्रहदशायां भवच्छब्दस्यानुपसर्जनत्वात् सर्वनामत्वे सति प्रवृत्तः अकच् अतिक्रान्तो भवकन्तमिति लौकिकविग्रहवाक्ये अतिभवकानिति समासे चानुवर्तते, लौकिकविग्रहदशायां भवच्छब्दस्य उक्तरीत्या अनुपसर्जनत्वात्। समासे तस्योपसर्जनत्वेऽपि योनिभूतालौकिकविग्रहदशायां प्रवृत्तस्याकचो निवर्तकाभावात्। न च भवत् अम् इत्यलौकिकविग्रहदशायां सतोऽप्यनुपसर्जनत्वस्य समासदशायां विनाशं प्राप्स्यमानतया विनाशोन्मुखत्वात् अकृतव्यूहपरिभाषया अलौकिकविग्रहवाक्येऽपि सर्वनामत्वाभावात्

(वा०) संज्ञाबोधक शब्द एवम् उपसर्जनीभूत शब्द सर्वादि नहीं है। महासंज्ञा करने से तदनुरूप शब्दों का ही सर्वादिगण में समावेश माना जाता है। अतः सर्वादिगण-प्रयुक्त कार्य एवम् अन्तर्गण-प्रयुक्त कार्य उनको नहीं होता। किसी व्यक्ति का 'सर्व' नाम रखने पर 'सर्व' को देना इस अर्थ में (उसके चतुर्थी में) 'सर्वाय' रूप बनेगा। इसी प्रकार सब को अतिक्रमण करने के अर्थ में 'अतिसर्व' शब्द की चतुर्थी में 'अतिसर्वाय' रूप बनेगा। (इसी तरह) अतिकतरं कुलम्, 'अतितत्' (भी जाने जायँ)।

विवरण—प्रकृत-सूत्र में बहुव्रीहि-समास में 'सर्वादि' शब्दों को सर्वनाम-संज्ञा का निषेध किया जा रहा है। अतः "सर्वादीनि सर्वनामानि" (१-१-२७) सूत्र की पूरी अनुवृत्ति लाई जा रही है। जिसके फलस्वरूप 'त्वत्कपितृकः' (त्वकं पिता यस्य सः) एवं 'मत्कपितृकः' (अहकं पिता यस्य सः) उदाहरणों में समास होने से पहले ही सर्वनाम-संज्ञा का निषेध हो जाता है। तदनुसार 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्दों से 'अकच्' प्रत्यय न होने के कारण 'क' प्रत्यय होता है।

विशेष—१—यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि बहुव्रीहिसमास करने पर सर्वादि-शब्दों के अर्थ विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने से वे अप्रधान हो जाते हैं। अतः उन्हें सर्वनाम-संज्ञा प्राप्त ही नहीं होगी तो निषेध करने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यह है कि इस सूत्र का 'बहुव्रीहि' शब्द तदर्थक अलौकिक-विग्रहवाक्य का बोधक है। अतः बहुव्रीहि-समास के होने में अलौकिक-विग्रहवाक्य के अवयव सर्वादिगण-पठित शब्दों को सर्वनाम-संज्ञा नहीं होती। यहाँ पर लौकिक विग्रह वाक्य है—'त्वकं पिता यस्य'। इस अवस्था में 'युष्मत्' शब्द को सर्वनाम-संज्ञा हुई। प्रक्रिया इस प्रकार है—युष्मद्+अक् (अकच्) <युष्मकद् ('टि'='अद्' के पूर्व अकच् की स्थिति) <युष्मकद्+सु, <त्व+अकद्+सु (युष्म् = त्व), <त्वकद्+सु (अ+अ = अ-पररूप), <त्वक्+सु ('द्' का लोप), <त्वक्+अम्। सु = अम्)=त्वकम् (अ+अ=अ-'पूर्वरूप')। तदनन्तर 'त्वक' शब्द के साथ 'पितृ' शब्द का बहुव्रीहि-समास करने पर अलौकिक-विग्रह-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकज्दुर्लभः, ततश्च अतिक्रान्तो भवकन्तमिति लौकिकविग्रहवाक्ये अतिभवकानिति समासे च कथमकच्प्रसक्त इति दृष्टान्तासिद्धिरिति वाच्यम्। एवञ्जातीयकालौकिकविग्रहवाक्ये सर्वनामत्वप्रवृत्तौ अकृतव्यूहपरिभाषाया अनित्यत्वे च न बहुव्रीहाविति सूत्रमेव ज्ञापकम्। तथा हि—यद्यकृतव्यूहपरिभाषा सार्वत्रिकी स्यात्, तर्हि बहुव्रीहिविषयेऽपि युष्मद् स्–पितृ स् इत्याद्यलौकिकविग्रहवाक्ये अनुपसर्जनत्वस्य बहुव्रीहिकालिकविनाशोन्मुखतया सर्वनामत्वस्याप्रसक्तत्वात् 'न बहुव्रीहौ' इति नारभ्येत। अकृतव्यूहपरिभाषायास्तत्र प्रवृत्तेः भविष्यद्बहुव्रीहिकालिकविनाशोन्मुखमनुपसर्जनत्वं पुरस्कृत्य तदलौकिकविग्रहवाक्ये सर्वनामत्वस्याप्रसक्तत्वात् न तन्निषेधाय न बहुव्रीहावित्यर्थवत्। न च उदाहृतबहुव्रीहिविषयालौकिकविग्रहवाक्ये अकृतव्यूहपरिभाषामाश्रित्यैव सर्वनामत्वाभाव आश्रीयतां किं न बहुव्रीहाविति सूत्रेणेति वाच्यम्। एवं सत्यतिक्रान्तो भवकन्तमतिभवकानित्यादि न सिध्येत्। अकृतव्यूहपरिभाषया तदलौकिकविग्रहवाक्येऽपि सर्वनामत्वाभावेनाकचः प्रवृत्त्यभावे तस्यातिक्रान्तो भवकन्तमित्यादिलौकिकविग्रहवाक्ये अतिभवकानिति समासेऽपि च श्रवणं न स्यात्। एवं च बहुव्रीहिविषये अलौकिकविग्रहवाक्ये अकृतव्यूहपरिभाषायाः अप्रवृत्तिं सिद्धवत्कृत्य सर्वनामत्वनिषेधात्तदितरसमासविषयेऽप्यलौकिकविग्रहवाक्ये अकृतव्यूहपरिभाषायाः अप्रवृत्त्या सर्वनामत्वं विज्ञायते। एतदर्थमेव न बहुव्रीहाविति सूत्रमित्यन्यत्र विस्तरः। प्रत्याचख्याविति। सूत्रभाष्ययोरुभयोरपि स्मृतित्वाविशेषाद्विकल्पमाशङ्क्याह—यथोत्तरमिति। सूत्रकाराद्वार्तिककारस्य उभाभ्यामपि भाष्यकृत इत्येवं मुनीनामुत्तरोत्तरस्य ग्रन्थस्य प्रामाण्यं पूर्वपूर्वस्याप्रामाण्यमिति वैयाकरणसमय इति भावः। न चाकृतव्यूहपरिभाषाया उक्तरीत्या अनित्यत्वज्ञापनार्थमेतत्सूत्रमिति वाच्यम्। अकृतव्यूहपरिभाषाया निर्मूलत्वस्य निष्फलत्वस्य च हलन्ताधिकारे सेदिवस्–शब्दनिरूपणे 'समर्थानां प्रथमाद्वा' इत्यत्र च वक्ष्यमाणत्वात्। संज्ञोपसर्जनीभूता इति। आधुनिकसङ्केतः संज्ञा। अन्यविशेषणत्वेन स्वार्थोपस्थापकमुपसर्जनम्।

वाक्य की स्थिति होती है—"युष्मद्+सु, पितृ+सु"। इस स्थिति में सर्वनाम-संज्ञा का निषेध होने के कारण 'अकच्' नहीं हुआ। तदनुसार 'त्वकत्पितृकः'—यह अनिष्ट रूप नहीं बनता। इस प्रसङ्ग में 'अतिभवकान्' का दृष्टान्त दिया जा रहा है। यहाँ लौकिक विग्रह-वाक्य है—'अतिक्रान्तं भवकन्तम्'=अतिभवकान्। इस लौकिक-विग्रह में 'भवत्' शब्द विशेष्य के रूप में हैं। अतः 'अकच्' हुआ। अलौकिक विग्रह है—भवत्+अक् (अकच्)+अम्+अति (अतिक्रान्त), <भवकत्+अम्+अति ('टि'=अत् के पूर्व अक्), <अतिभवकत् (समास—'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' तथा विभक्तिलोप), <अतिभवकत्+सु=अतिभवकान्। इस उदाहरण में समास होने पर भी 'अकच्' की स्थिति बनी रहती है। कारण यह है कि अलौकिक-विग्रह दशा में 'भवत्' शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ है। समास न होने पर 'भवकन्तम् अतिक्रान्तः' इस लौकिक विग्रह-वाक्य में 'भवत्' शब्द उपसर्ग के रूप में प्रयुक्त होने पर भी अलौकिक विग्रह की स्थिति में उपसर्ग न होने के कारण वह अपनी 'प्रकृति' को नहीं छोड़ता है। इसी प्रकार पूर्व उदाहरण में 'अकच्' होकर 'त्वकत्पुत्रकः' रूप न बने। किन्तु वहाँ 'क' प्रत्यय ही हो।

इस विषय में भाष्यकार का मत इसके विपरीत है। उन्हें अकच्-सहित 'त्वकत्पितृकः' रूप अभिमत है। अतः इस सूत्र को उन्होंने अनावश्यक बतलाया है। इस सम्बन्ध में "धिन्विकृण्व्योर च" (३-१-८०) सूत्र की भाष्योक्ति प्रमाणरूप में उपस्थित की जा रही है। इस सूत्र की सहायता से 'धिनोति' रूप की सिद्धि होती है। धिवि+लट्, <धिवि+ति, <धिन् व्+ति (धातु को 'नुम्'-आगम), <धिन् अ+उ+ति (व्=अ "धिन्विकृण्व्योर च" तथा 'उ' विकरण), धिन्+उ+ति ('अ' लोप—"अतो लोपः"-६-४-४८)—इस स्थिति में धकारोत्तरवर्ती 'इ'कार को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न सर्वादय इति। सर्वादिगणे पठिता न भवन्तीत्यर्थः। महासंज्ञेति। टिङ्भादिवदेकाक्षरसंज्ञामकृत्वा सर्वेषां नामानीत्यन्वर्थसंज्ञाकरणबलेन प्राधान्येनोपस्थितस्वीयसर्वार्थवाचकत्वस्य सर्वनामशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वमित्यवगततया तथाविधानामेव सर्वादिगणे पाठानुमानादित्यर्थः। प्राधान्येनोपस्थितेत्यनेन उपसर्जनव्यावृत्तिः। प्राधान्येनोपस्थितसर्वार्थवाचकत्वमित्युक्ते पूर्वादिशब्देष्वव्याप्तिः, अतः स्वीयेति। सर्वार्थेत्यनेन संज्ञाशब्दव्यावृत्तिः, संज्ञाशब्दानामेकैकव्यक्तिविषयकत्वात्। संज्ञाकार्यमिति। सर्वनामसंज्ञाकार्यं शीस्मायादिकमित्यर्थः। अन्तर्गणेति। सर्वादिगणे अन्तर्गतो गणः अन्तर्गणः तदीयं कार्यम् 'अद्ड्तरादिभ्यः' 'त्यदादीनामः' इत्यादिकमित्यर्थः। सर्वाय देहीति। संज्ञाशब्दत्वात् स्मायादेशो न। अतिकतरमिति। कतरमतिक्रान्तं कुलम् अतिकतरमित्यत्र कतरशब्दस्य उपसर्जनत्वान्नाद्ड्डादेशः। अतितदिति। तमतिक्रान्तो ब्राह्मणः अतितदित्यत्र त्यदाद्यत्वं, 'तदोः सस्सौ' इति च न भवति।

लघूपध-गुण की प्राप्ति का निवारण 'अ'-लोप का स्थानिवद्भाव होने से किया गया। तत्पश्चात् 'धिनु+अति' में 'उ' को "सार्वधातुकार्धधातुकयोः" (७-३ ८४) सूत्र से गुण होकर 'धिनोति' रूप निष्पन्न होता है। यहाँ यह विचारणीय है कि आचार्य ने यह प्रयत्न क्यों किया? गुण का निवारण तो "न धातुलोप आर्धधातुके" (१-१-४) सूत्र से भी हो सकता था। वैसी स्थिति में लाघव की दृष्टि से "धिन्विकृण्व्योर्लः" सूत्र बनाकर 'व्'-लोप का विधान करते। 'व्' लोप का साक्षात् विधान न कर अकार-विधान, स्थानिवद्भाव, गुणनिषेध आदि गौरवात्मक कार्यों के समर्थन में "न धातुलोप आर्धधातुके" का भाष्यकार द्वारा प्रत्याख्यान किया जाना अभिलक्षित है[1]। इससे यह सिद्ध होता है कि व्याकरण-शास्त्र के त्रिमुनियों में पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर आचार्यों की विचारणा अधिक प्रामाणिक है।

२—सर्वनाम-संज्ञा के महासंज्ञा करने का प्रयोजन यह है कि संज्ञाबोधक 'सर्व' आदि शब्द तथा विशेषणीभूत सर्वादि शब्द इस परिधि में नहीं आते। केवल गण में पठित शब्द ही सर्वनाम-संज्ञक माने जाते हैं। अन्यथा बहुत कम अक्षरों से युक्त कोई 'नाम' इसका रखा जा सकता था। इतनी बड़ी 'सर्वनाम' संज्ञा तथा उसके शब्दों का गणपाठ द्वारा सीमित किया जाना ही इस बात का प्रमाण है कि संज्ञा-शब्द तथा विशेषणीभूतार्थ-वाचक शब्द सर्वादि नहीं माने जाते। अतः 'संज्ञोपसर्जनीयानां प्रतिषेधो वाच्यः' इस निषेधात्मक वार्तिक की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके फलस्वरूप किसी व्यक्ति-विशेष का नाम 'सर्व' रखने पर विभक्तियों में सर्वादिगण प्रयुक्त कार्य नहीं होंगे। अतः चतुर्थी के एकवचन में 'स्मै' आदेश नहीं होगा। राम शब्द के समान "ङेर्यः" (२०४) से 'य' आदेश होकर 'सर्वाय' रूप बनेगा। इसी प्रकार 'अतिसर्व' शब्द में 'सर्व' शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने से (सर्वादि न माने जाने के कारण) चतुर्थी-विभक्ति में 'अतिसर्वाय' रूप ही बनेगा। 'अतिसर्व' शब्द में 'अति' उपसर्ग का अर्थ=अतिक्रमण-कर्ता—विशेषण है। इसी प्रकार 'कतरम् अतिक्रान्तं' = 'अतिकतर' (कुलम्) में 'कतर' शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने से सर्वनाम-संज्ञक न माने जाने जाने के कारण 'अद्ड्' आदेश नहीं हुआ। अन्यथा 'अतिकतरद्' अनिष्ट रूप बनता। तथा 'तम् अतिक्रान्तम्' = 'अतितद्' में 'तद्' शब्द के उपसर्जन होने से

---

१. "क्वायमकारः श्रूयते, न क्वचिच्छ्रूयते। लोपोऽस्य भवति—अतो लोप आर्धधातुक इति। यदि न क्वचिच्छ्रूयते, किमर्थमयमुच्यते? न लोप एवोच्येत। नैवं शक्यम्। लोपे सति गुणः प्रसज्येत। अत्वे पुनः सति अकारलोपस्य स्थानिवद्भावात् गुणो न भविष्यति। ननु च लोपेऽपि सति "न धातुलोप आर्धधातुके" (१-१-४) इति प्रतिषेधो भविष्यति। आर्धधातुकलोपे प्रतिषेधः। न चैष आर्धधातुकनिमित्तो लोपः। अपि च प्रत्याख्यायते स योगः। तस्मिन् प्रत्याख्याते गुणः स्यादेव"। महाभाष्यम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२२३) तृतीयासमासे १ । १ । ३० ॥ सर्वनामता न स्यात् । मासपूर्वाय । तृतीयासमासार्थवाक्येऽपि न । मासेन पूर्वाय । (२२४) द्वन्द्वे च १।१।३१ ॥ द्वन्द्वे उक्तसंज्ञा न । वर्णाश्रमेतराणाम् । समुदायस्यैवायं निषेधः, न त्ववयवानाम् । न चैवं तदन्तविधिना सुट्प्रसङ्गः,

---

(२२३) तृतीयासमासे । सर्वादीनीत्यतः सर्वनामग्रहणम्, न बहुव्रीहावित्यतो नेति चानुवर्तत इत्यभिप्रेत्याह—इहेति । मासपूर्वायेति । मासेन पूर्वः इति विग्रहः । हेतौ तृतीया । पूर्वसदृशेति तृतीयातत्पुरुषसमासः । मासात् पूर्वभावीत्यर्थः । 'विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ' इत्यतः समासग्रहणे अनुवर्त्तमाने पुनः समासग्रहणं तृतीयासमासीयलौकिकविग्रहवाक्यरूपगौणसमासस्यापि परिग्रहार्थम् । ततश्च फलितमाह—तृतीयासमासार्थेति ।

(२२४) द्वन्द्वे च । सर्वादीनीत्यतः सर्वनामग्रहणं 'न बहुव्रीहौ' इत्यतो नेति चानुवर्तते । तदाह—द्वन्द्वे उक्तसंज्ञा नेति । सर्वनामसंज्ञा नेत्यर्थः । वर्णाश्रमेतराणामिति । 'वर्णाश्रमेतराणां नो ब्रूहि धर्मानशेषतः' इति याज्ञवल्क्यस्मृतिः । वर्णाश्च आश्रमाश्च इतरे चेति द्वन्द्वः । अत्र सर्वनामत्वाभावादामि सर्वनाम्न इति न सुट् । समुदायस्यैवेति । द्वन्द्वे विद्यमानानि यानि सर्वादीनि तानि सर्वनामानि न स्युरिति नार्थः, विद्यति-क्रियाध्याहारे गौरवात्, किन्तु द्वन्द्वे सर्वनामसंज्ञा न भवतीति प्रधानभूतया निषेध्यभवनक्रिययैव द्वन्द्वस्याधारतयाऽन्वयः । द्वन्द्वाधारा सर्वनामसंज्ञा न भवतीत्यक्षरार्थः । द्वन्द्वस्य सर्वनामसंज्ञा नेति फलितम् । वर्णाश्रमेतरेत्यादिसमुदायस्यैव द्वन्द्वता, न तु तदवयवानाम् । एवं च वर्णाश्रमेतरेत्यादिसमुदायस्यैव सर्वनामत्वनिषेधः, न तु तदवयवानामिति वस्तुस्थितिकथनम् । ननु द्वन्द्वावयवानां सर्वनामत्वनिषेधाभावे वर्णाश्रमेतरशब्दे इतरशब्दस्य सर्वनामतया ततः परस्यामः सुटि वर्णाश्रमेतरेषामिति स्यात् । न च अवर्णान्तात् सर्व-

---

सर्वनाम-संज्ञा नहीं हुई । "त्यदादीनामः" (७-२-१०२) से 'द्' के स्थान में 'अ' (अन्तर्गण कार्य) नहीं हुआ । अन्यथा 'अतिसः' अनिष्ट रूप बनता ।

(२२३) पद—तृतीयासमासे । अनुवृत्ति—न, सर्वादीनि, सर्वनामानि । संज्ञा-(निषेध)-सूत्र ।

मूलार्थ—तृतीया-समास में सर्वनामसंज्ञा नहीं होती । मासपूर्वाय । तृतीयासमासार्थ वाक्य में भी नहीं । मासेन पूर्वाय ।

विवरण—सर्वनाम-संज्ञा का निषेध किया जा रहा है । यहाँ पर "न बहुव्रीहौ" (२२२) से 'न' की अनुवृत्ति तथा "सर्वादीनि सर्वनामानि" पूरे सूत्र की अनुवृत्ति लाई जा रही है । अतः अर्थ होता है कि तृतीया-तत्पुरुष-समास में (तृतीयया समासः, तस्मिन्) सर्वादि-शब्दों की सर्वनाम-संज्ञा नहीं होती । उदाहरण—मासपूर्वाय । विग्रह—मासेन पूर्वाय । अलौकिक विग्रह—मास+टा, पूर्व+सु, <मास पूर्व (तृतीया-तत्पुरुष-समास), <मास पूर्व+ङे, <मासपूर्वाय—सर्वनामसंज्ञा का निषेध हो जाने से 'स्मै' नहीं हुआ, किन्तु ङे = 'य' तथा दीर्घ हुआ ।

विशेष—"विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ" (१-१-२८) सूत्र से 'समासे' पद की अनुवृत्ति लाए जाने से सूत्रार्थ सम्भव हो सकता था । अतः 'तृतीया' पद व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि समास के अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले अलौकिक-विग्रह-वाक्यस्थ 'सर्वादि' शब्दों की भी सर्वनाम-संज्ञा नहीं होती । इस प्रकार 'मासेन पूर्वाय' असमास-स्थल में भी सर्वनाम-संज्ञा का निषेध हो गया । अर्थ—एक महीने बड़ा ।

(२२४) पद—द्वन्द्वे, च । अनुवृत्ति—न, सर्वादीनि, सर्वनामानि । संज्ञा-(निषेध)-सूत्र ।

मूलार्थ—द्वन्द्व-समास में सर्वनाम-संज्ञा नहीं होती । वर्णाश्रमेतराणाम् । यह समुदाय का ही निषेधक है, अवयवों का नहीं । 'सर्वनाम' से विहित 'आम्' को 'सुट्' आगम होता है—यह व्याख्यान करने से यहाँ तदन्त-विधि हो जाने के कारण 'सुट्' आगम का विषय नहीं है ।

विवरण—पूर्ववत् 'न' तथा 'सर्वादीनि' एवं 'सर्वनामानि' की अनुवृत्ति आ रही है । सूत्रस्थ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुडिति व्याख्यातत्वात्। (२२५) विभाषा जसि १।१।३२॥ जसाधारं यत्कार्यं शीभावाख्यं तत्र कर्तव्ये द्वन्द्वे उक्ता संज्ञा वा स्यात्। वर्णाश्रमेतरे—वर्णाश्रमेतराः। शीभावं प्रत्येव विभाषेत्युक्तम्, अतो नाकच्, किं तु कप्रत्यय एव।

नाम्नोऽङ्गात् परस्यामः सुड्विधानादिह चामि परे इतरशब्दस्य सर्वनामत्वेऽप्यङ्गत्वाभावान्न ततः परस्यामः सुट्प्रसक्तिरिति वाच्यम्। सुड्विधिर्ह्ययमङ्गाधिकारस्थः। ततश्च 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' इति परिभाषया सर्वनामान्तादददन्तादङ्गात् परस्यामः सुड् विधीयते। ततश्च वर्णाश्रमेतरशब्दस्य समुदायस्य द्वन्द्वतया सर्वनामत्वनिषेधेऽपि तदवयवस्य इतरशब्दस्य सर्वनामतया तदन्ताङ्गात् परत्वादामः सुट् स्यात्। न चैवं सति द्वन्द्वस्य तन्निषेधो व्यर्थः स्यादित्याशङ्क्यम्, पदाङ्गाधिकारादन्यत्र तसिल्त्रलादिविधौ तन्निषेधस्यार्थवत्त्वादित्याशङ्क्य परिहरति—न चैवमित्यादिना। एवमित्यनन्तरं सतीति शेषः। एवं समुदायस्यैव निषेधे सति तदन्तविधिना सुट्प्रसङ्गो नेत्यन्वयः। कुत इत्यत आह—सर्वनाम्नो विहितस्येति। अवर्णान्तादङ्गात् परस्य सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुडिति व्याख्यानादित्यर्थः। प्रकृते च वर्णाश्रमेतरशब्दात् समुदायादाम् विहितः, न च स समुदायः सर्वनामसंज्ञकः, द्वन्द्वस्य तन्निषेधात्। इतरशब्दस्तु सर्वनामसंज्ञकः, न ततो विहितः आम्, आमः समुदायादेव विधानात्, अतो न सुडिति भावः। अवर्णान्तादङ्गात् सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुडिति व्याख्याने तु येषां तेषामित्यत्राव्याप्तिः। अतः अवर्णान्तादङ्गात् परस्य सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुडित्येव व्याख्येयम्।

(२२५) विभाषा जसि। सर्वनामग्रहणमनुवर्तते, द्वन्द्व इति च। जसि इत्यविभक्तिको निर्देशः। जसः इः जसिः तस्मिन्। आर्षः संप्रसारणेन लुक्। इशब्द इवर्णपरः सन् शी इतीकारमाचष्टे। ततश्च जसादेशे शीभावे कर्तव्ये इति फलितम्। तदाह—जसाधारमिति। जस् आधारो यस्येति बहुव्रीहिः। जस्स्थानिकमित्यर्थः। ननु जसि परतो द्वन्द्वे सर्वनामसंज्ञा वा स्यादित्येव कुतो न व्याख्यायत इत्यत आह—शीभावं प्रत्येवेत्यादिना। यदि तु

'द्वन्द्वे' पद में सप्तमी प्रथमा-विभक्ति के अर्थ में प्रयुक्त की गई है। अतः यह अर्थ होता है कि द्वन्द्व-समास-संज्ञक 'सर्वादि' शब्द 'सर्वनाम' संज्ञक नहीं होते। उदाहरण—वर्णाश्रमेतराणाम् (वर्ण और आश्रमों के अतिरिक्त धर्मों का)। विग्रह—वर्णाश्च, आश्रमाश्च, इतरे च। अलौकिक विग्रह—वर्ण+जस्, आश्रम+जस्, इतर+जस् = वर्णाश्रमेतर ("चार्थे द्वन्द्वः"—२-२-२९)+आम्—इस स्थिति में द्वन्द्व-समास होने के कारण 'सर्वनाम-संज्ञा' का निषेध होने से नुट् आगम होकर = 'वर्णाश्रमेतराणाम्' रूप बना। अतः 'सुट्' आगम नहीं हुआ।

विशेष—द्वन्द्व समास समुदाय का बोधक है। अतः द्वन्द्व-समास के अवयव-स्वरूप सर्वादि-शब्दों की सर्वनाम संज्ञा निष्कण्टक होती है। ऐसी स्थिति में "वर्णाश्च, आश्रमाश्च, इतरे च" में 'इतर'-शब्द के द्वन्द्व-घटक होने से तदन्तविधि करने पर सर्वनामान्त होने पर भी षष्ठी-विभक्ति में 'सुट्' आगम नहीं होता। कारण यह है कि यहाँ पर 'आम्' (विभक्ति) सर्वनाम-शब्द (इतर) से विहित नहीं है किन्तु समुदाय से विहित है।

(२२५) पद—विभाषा, जसि। अनुवृत्ति—द्वन्द्वे, सर्वादीनि, सर्वनामानि। संज्ञा-(निषेध)-सूत्र।

मूलार्थ—'जस्' को आधार मान कर होने वाले 'शी' आदेश किये जाने पर द्वन्द्व में सर्वनाम-संज्ञा विकल्प से होती है। वर्णाश्रमेतरे—वर्णाश्रमेतराः। 'शी' भाव करने में ही निषेध का विकल्प किये जाने से 'अकच्' नहीं हुआ, किन्तु 'क' प्रत्यय ही हुआ। वर्णाश्रमेतरकाः।

विवरण—पूर्व-सूत्र से द्वन्द्व-समास में 'सर्वादि' शब्दों को सर्वनाम-संज्ञा का निषेध किया गया है। उस सम्बन्ध में कुछ संकोच किया जा रहा है। वह भी केवल 'जस्' (प्रथमा-बहुवचन) विभक्ति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्णाश्रमेतरकाः। (२२६) प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च १।१।३३॥ एते जसः कार्यं प्रत्युक्तसंज्ञा वा स्युः। प्रथमे—प्रथमाः। शेषं रामवत्। तयः प्रत्ययस्तदन्ताः ग्राह्याः। द्वितये, द्वितयाः। शेषं रामवत्। नेमे—नेमाः। शेषं सर्ववत्। 'विभाषा

अकच् स्यात्, तर्हि तस्याव्यवधायकत्वाच्छीभावः प्रसज्येत। कप्रत्यये तु सति तेन व्यवधानान्नोक्तदोष इत्याह—वर्णाश्रमेतरका इति। न चाकचि कर्तव्ये विकल्पाभावेऽपि सर्वादीनीति नित्या सर्वनामसंज्ञा कुतोऽत्र न स्यादिति वाच्यम्, 'द्वन्द्वे च' इति तस्याः नित्यनिषेधात्। न च द्वन्द्वे चेति निषेधस्य उक्तरीत्या अवयवेषु प्रवृत्त्यभावाद्वर्णाश्रमेतरशब्दसमुदाये इतरशब्दस्यावयवस्य सर्वनामत्वानपायादकज्दुर्वार इति वाच्यम्, द्वन्द्वावयवमात्रे सुन्दरादिविशेषणान्वयाभाववत् कुत्सादिविवक्षाया अभावात्। समुदाये तद्विवक्षायां समुदायोत्तरप्रत्ययेन अवयवगतकुत्सादेरपि बोधेनोक्तार्थत्वादवयवेभ्यः पृथक् तदनुत्पत्तेः। अन्यथा अवयवेभ्यः प्रत्येकं कप्रत्ययापत्तेः। एतदेवाभिप्रेत्योक्तं भाष्ये—'वर्णाश्रमेतरशब्दे अकच् न भवति' इति। एवञ्च यदा इतरशब्देन द्वन्द्वं कृत्वा कुत्सिता वर्णाश्रमेतरा इति कुत्सायोगः क्रियते तदा कप्रत्यये सति वर्णाश्रमेतरका इत्येव रूपम्। यदा तु कुत्सितः इतरः इतरक इति अकचं कृत्वा वर्णाश्च आश्रमाश्च इतरकश्चेति द्वन्द्वः क्रियते, तदा शीभावविकल्पः स्यादेव।

(२२६) प्रथमचरमतया। विभाषा जसीत्यनुवर्तते, सर्वनामानीति च। तदाह—एत इति। प्रथमादय इत्यर्थः। उक्तसंज्ञा इति। सर्वनामसंज्ञका इत्यर्थः। तत्र नेमशब्दस्य जसि सर्वनामसंज्ञा गणे पाठान्नित्या प्राप्ता, तद्विकल्पोऽत्र विधीयते। नेमशब्दव्यतिरिक्तानां प्रथमादिशब्दानां तु गणे पाठाभावादप्राप्तैव सर्वनामसंज्ञा जसि विकल्पेन विधीयते। अतः नेमशब्दव्यतिरिक्तानां प्रथमादिशब्दानां जसोऽन्यत्र न सर्वनामकार्यमित्याह—शेषं रामवदिति। तयशब्दो न प्रातिपदिकमित्याह—तयः प्रत्यय इति। 'संख्याया अवयवे तयप्' इति विहित इति शेषः। तत इति। तस्मात् प्रत्ययत्वाद्धेतोः प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्ताः तयबन्ता ग्राह्या इत्यर्थः। द्वितये द्वितया इति। द्वावेवयवावस्येत्यर्थे तयप्। यद्यप्यवयवसमुदायः अवयवीतयबर्थः, तस्य च एकत्वादेकवचनमेव युक्तम्, तथापि यदा उद्भूतावयवभेदः समुदायस्तयबर्थः, उद्भूतत्वं च विवक्षितसङ्ख्याकत्वम्, तदा अवयवबहुत्वाभिप्रायम् अवयविनः अवयवाभेदाभिप्रायं वा बहुववचनमिति न दोषः। अत्र च तयब्ग्रहणमेव प्रमाणम्। अन्यथा तयबन्ताज्जस एवाभावात् किं तेन? चरमे चरमाः,

---

को अभिलक्षित कर विकल्प-विधि की जारही है। अतः 'जस्' के स्थान में 'शी'-आदेश कर्तव्य होने पर सर्वनाम-संज्ञा का वैकल्पिक विधान किया जा रहा है। उदाहरण—('सर्वनाम' संज्ञा होने में) वर्णाश्रमेतर+जस्, <वर्णाश्रमेतर+ई (शी), <वर्णाश्रमेतरे। (सर्वनाम-संज्ञा के अभाव में) वर्णाश्रमेतर+जस्, <वर्णाश्रमेतर+अस्, <वर्णाणमेतरास्, <वर्णाश्रमेतरार्, <वर्णाश्रमेतराः।

विशेष—प्रकृत सूत्र से 'शी-आदेश' करने पर ही सर्वनाम-संज्ञा के निषेध का विकल्प विधान है। इसके साथ ही द्वन्द्व-समास में सर्वनाम-संज्ञा-प्रयुक्त समुदाय से 'अकच्' की प्राप्ति होने पर पूर्वसूत्र से 'नित्य' निषेध होता है, अतः 'अकच्' नहीं हुआ। किन्तु 'क' प्रत्यय ही होता है—वर्णाश्रमेतरकाः।

(२२६) पद—प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाः, च। अनुवृत्ति—विभाषा, जसि, सर्वनामानि। संज्ञा-सूत्र।

मूलार्थ—इनको 'जस्' परे रहते विकल्प से सर्वनाम-संज्ञा होती है। 'तय' प्रत्यय होने से 'तदन्त' का ग्रहण होता है। द्वितये—द्वितयाः। शेष प्रक्रिया 'राम' शब्द के समान जानी जाय। नेमे—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकरणे तीयस्य ङित्सूपसङ्ख्यानम्' (वा २४२)। द्वितीयस्मै, द्वितीयाय इत्यादि। एवं तृतीयः। अर्थवद्ग्रहणान्नेह–पटुजातीयाय। निर्जरः। (२२७) जराया जरसन्यतरस्याम्

अल्पे–अल्पाः, अर्धे–अर्धाः, कतिपये—कतिपयाः, इत्यपि प्रथमशब्दवदुदाहार्यम्। अर्धशब्दस्त्वेकदेशवाची पुंल्लिङ्गः। समांशवाची तु नपुंसकलिङ्गः। 'वा पुंस्यर्धोऽर्धं समेऽशके' इति कोशात्। शेषं सर्ववदिति। नेमशब्दस्य सर्वादिगणे पाठादिति भावः। विभाषाप्रकरण इति। विभाषा जसीत्यधिकारे तीयान्तस्य च ङसि–ङस्–ङि–इत्येतेषु ङित्सु परेषु सर्वनामसंज्ञावचनं कर्तव्यमित्यर्थः। द्वितीयस्मै द्वितीयायेति। द्वयोः पूरणो द्वितीयः। द्वे स्तीय इति पूरणे तीयप्रत्ययः। इत्यादीति। द्वितीयस्मात्, द्वितीयात्, द्वितीयस्मिन् द्वितीये इति आदिशब्दार्थः। एवं तृतीय इति। ङित्सूदाहार्य इति शेषः। 'त्रेः सम्प्रसारणं

नेमाः। शेष रूप 'सर्व' शब्द के समान हैं। वा० 'तीय'—प्रत्ययान्त की ङित्–वचनों में विकल्प से 'सर्वनाम'-संज्ञा होती है। अर्थवान् का ग्रहण होने से यहाँ नहीं—पटुजातीयाय। निर्जरः।

विवरण—सूत्र के स्पष्टीकरण के लिए 'सर्वनामानि', 'विभाषा' तथा 'जसि' पदों की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। तदनुसार सूत्रार्थ होता है—"प्रथम, चरम, तयप्प्रत्ययान्त, अल्प, अर्ध, कतिपय तथा नेम शब्दों को 'जस्' परे रहते विकल्प से 'सर्वनाम'-संज्ञा होती है (प्रथमश्च, चरमश्च, तयश्च, अल्पश्च, अर्धश्च, कतिपयश्च, नेमश्च=प्रथम···नेमाः—इतरेतरद्वन्द्व)। इन शब्दों में से केवल 'नेम' शब्द का सर्वादि-गण में पाठ है। उसे नित्य सर्वनाम-संज्ञा प्राप्त रही। इस विधान के अनुसार 'जस्' के स्थान में विकल्प से 'शी'–आदेश होगा। शेष रूप 'सर्व'–शब्द के समान चलेंगे। अवशिष्ट छह शब्दों के केवल प्रथमा-बहुवचन में 'दो' रूप बनेंगे तथा अन्य विभक्तियों में 'राम' शब्द के समान रूप होंगे। **उदाहरण**—(क)–('सर्वनाम'-संज्ञा होने पर) प्रथम+जस् <प्रथम+शी, प्रथम+ई, <प्रथमे। सर्वनाम-संज्ञा न होने पर 'प्रथमाः'। सूत्र में 'तय'शब्द 'तयप्' प्रत्यय का बोधक है। अतः तदन्तविधि होने से 'तयप्'-प्रत्ययान्त शब्दों का ग्रहण होता है। तदनुसार द्वितय–द्वय, त्रितय–त्रय, चतुष्टय, पञ्चतय आदि का ग्रहण होगा। (ख)—(सर्वनाम-संज्ञा होने पर) द्वि+तय(तयप्)—"संख्याया अवयवे तयप्"—५-२-४२ (द्वौ अवयवौ यस्य सः), <द्वितय+जस्, <द्वितय+ई (शी), <द्वितये। सर्वनाम-संज्ञा न होनेपर—द्वितयाः। अवशिष्ट रूप 'राम' शब्द के समान बनेंगे। (ग)—सर्वनामसंज्ञा होने पर—नेम+जस्, <नेम+ई (शी) <नेमे। सर्वनाम-संज्ञा न होने पर—नेमाः। शेष रूप-सिद्धि 'सर्व'–शब्द के समान जानी जाय।

(वा०) **पद**—विभाषा-प्रकरणे, तीयस्य, ङित्सु, उपसंख्यानम्। **संज्ञा** (विकल्प)। **अर्थ**—"विभाषा जसि" (१-१-३२) के अधिकार में 'तीय'–प्रत्ययान्त की 'ङ्'–इत्–विभक्तियों में विकल्प से सर्वनामसंज्ञा का विधान समझा जाय। ङित्-विभक्तियाँ चार हैं—ङे, ङसि, ङस् तथा ङि। इन विभक्तियों में क्रमशः 'ङे' में 'द्वितीयस्मै'—'द्वितीयाय', ङसि में 'द्वितीयस्मात्'—'द्वितीयात्', 'ङि' में 'द्वितीयस्मिन्'—'द्वितीये' रूप बनेंगे। इसी तरह 'तृतीय'शब्द के 'तृतीयस्मै'—'तृतीयाय', तृतीयस्मात्—तृतीयात्, तृतीयस्मिन्—तृतीये रूप बनेंगे।

विशेष—एक परिभाषा है–'अर्थवान्' शब्दों का ग्रहण होने पर अनर्थक शब्दों का ग्रहण नहीं होता। तदनुसार प्रकृतसूत्र में "तीय" प्रत्यय का स्वरूपात्मक ग्रहण होता है। इस हेतु 'जातीयर्' प्रत्यय के अन्तर्गत 'तीय' शब्द निरर्थक होने के कारण इस सूत्र का लक्ष्य नहीं बनता। अतः (पटु+जातीयर्) = 'पटुजातीय' शब्द के (ङे) चतुर्थी–एकवचन में सर्वनाम-संज्ञा नहीं होती। इस प्रकार 'स्मै'–आदेश के न होने पर "ङेर्यः" (२०४) सूत्र से 'य' आदेश तथा दीर्घ होकर 'पटुजातीयाय' रूप बनता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७। २। १५१ ॥ जराशब्दस्य जरस् वा स्यादजादौ विभक्तौ। 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' (प ३०)। अनेकाल्त्वात्सर्वादेशे प्राप्ते 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' (प १३)।

च' इति पूरणे तीयप्रत्ययः। रेफस्य सम्प्रसारणम् ऋकारः 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपम्। ननु 'प्रकारवचने जातीयर्' इति पटुशब्दात् जातीयरि पटुजातीयशब्दः, तस्यापि तीयान्तत्वात् डित्सु सर्वनामत्वविकल्पः स्यादित्यत आह—अर्थवदिति। 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' इति परिभाषया अर्थवानेव तीयोऽत्र गृह्यते। जातीयरि तु समुदायस्यैवार्थवत्त्वं न तु तदेकदेशस्येति भावः।

(२२७) निष्क्रान्तो जराया निर्जरः। 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे' इति समासः। 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वत्वम्। निर्गतः जरा यस्मादिति बहुव्रीहिर्वा। अस्य निर्जरशब्दस्य

'द्वितीय' शब्द के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	द्वितीयः	द्वितीयौ	द्वितीयाः	पं० द्वितीयस्मात्–द्, द्वितीयात्–'द्'	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयेभ्यः
द्वि०	द्वितीयम्	द्वितीयौ	द्वितीयान्	ष० द्वितीयस्य	द्वितीययोः	द्वितीयानाम्
तृ०	द्वितीयेन	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयैः	स० द्वितीयस्मिन्, द्वितीये	द्वितीययोः	द्वितीयेषु
च०	द्वितीयस्मै, द्वितीयाय	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयेभ्यः	सं० हे द्वितीय	हे द्वितीयौ	हे द्वितीयाः

इसी प्रकार 'तृतीय' शब्द के रूप बनेंगे।

स्मरणीय—१–सर्वनाम-संज्ञा-विधायक सूत्र के 'सर्वादीनि' पद में तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि-समास माना गया है। तद्गुण-संविज्ञान का अर्थ महाभाष्य के टीकाकार कैयट ने इस प्रकार किया है—**तस्य** = अन्यपदार्थस्य, **गुणाः** = उपलक्षणानि, तेषाम् अपि कार्ये **संविज्ञानम्**। अर्थात् अन्य पदार्थ के साथ ही गुणों = उपसर्जनों (विशेषणों) का ज्ञान भी जब एक ही क्रिया में अन्वित होगा तब वह 'तद्गुण-संविज्ञान' होता है। उदाहरणार्थ 'लम्बे कानवाले को लाओ' कहने पर अन्य-पदार्थ (व्यक्तिविशेष) का 'लाना' क्रिया में अन्वय होने के साथ ही 'कान' का भी 'लाना' क्रिया में अन्वय अनुभव सिद्ध है। इसी प्रकार तद्गुण-संविज्ञान में वृत्तिघटक पदार्थ का भी क्रिया में अन्वय होता है। [1]तदनुसार 'सर्व-शब्दः आदिः येषां तानि' विग्रह होने पर उस ('सर्व'शब्दघटक) समुदाय के साथ 'सर्व' शब्द का भी ग्रहण होता है।

२—पूर्व-वर्णित 'उभ' शब्द के रूप (पुंलिङ्ग)

प्र० उभौ। द्वि० उभौ। तृ० उभाभ्याम्। च० उभाभ्याम्। प० उभाभ्याम्। ष० उभयोः। स० उभयोः।

३–'उभय' शब्द के रूप (पुंलिङ्ग)

प्र० उभयः, उभये। द्वि० उभयम्, उभयान्। तृ० उभयेन, उभयैः। च० उभयस्मै, उभयेभ्यः। प० उभयस्मात्, उभयेभ्यः। ष० उभयस्य, उभयेषाम्। स० उभयस्मिन्, उभयेषु।

(२२७) पद—जरायाः, जरस्, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—विभक्तौ, अचि। **विधिसूत्र** (विकल्प)।

मूलार्थ—'जरा' शब्द से अजादि-विभक्ति पर रहते हुए 'जरस्' आदेश होता है। परि० पद और अङ्ग के अधिकार में जो कार्य जिसको कहा गया है, वह उसको और तदन्त को होता है।

---

१. तथा च एक-क्रियान्वयित्वेन वृत्तिघटकपदार्थविशिष्टान्यपदार्थवाचकत्वं तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहित्वम्। प्रकृते च समुदायरूपान्यपदार्थान्वयिसर्वनामसंज्ञावत्तारूपक्रियायां सर्वशब्दस्यान्वय इति तद्गुणसंविज्ञानम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् जरशब्दस्य जरस्। निर्जरसौ। निर्जरसः। इनादीन्बाधित्वा यरत्वाज्जरस्। निर्जरसा। निर्जरसे। निर्जरसः। पक्षे हलादौ च रामवत्। वृत्तिकृता तु 'पूर्वविप्रतिषेधेनेनातोः कृतयोः सन्निपातपरिभाषाया अनित्यत्वमाश्रित्य जरसि कृते

विशेषं दर्शयितुमाह—जराया इति। 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यतो विभक्तावित्यनुवृत्तम्। 'अचि र ऋतः' इत्यतोऽनुवृत्तेन अचीत्यनेन विशेष्यते। 'यस्मिन् विधिः' इति तदादिविधिः। तदाह—जराशब्दस्येत्यादिना। ननु जराशब्दस्य विधीयमानो जरसादेशः कथं निर्जरशब्दस्य भवेदित्यत आह—पदेति। पदाधिकारे अङ्गाधिकारे च यस्य यद्धितं तत् तस्य तदन्तस्य च भवतीत्यर्थः। जरसादेशश्चायमङ्गाधिकारस्थत्वात् जराशब्दस्य तदन्तस्य च भवति। जरसावित्यादौ तु व्यपदेशिवद्भावेन तदन्तत्वं बोध्यम्। यद्यपि जराया इत्यस्य अङ्गविशेषणत्वादेव तदन्तविधिः सिद्धः, तथापि येन विधिरित्यस्य प्रपञ्चमूतेयं परिभाषेत्यदोषः। अत एव 'पदमङ्गं च विशेष्यं विशेषणेन च तदन्तविधिः' इति प्रौढमनोरमायामुक्तम्। ननु जराशब्दान्तस्य विधीयमानो जरसादेशः निर्जरशब्दस्य कृत्स्नस्य स्यात्, अनेकाल्त्वादित्याक्षिप्य समाधत्ते—अनेकाल्त्वादिति। निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति। प्रत्यक्षनिर्दिश्यमानस्यैवेत्यर्थः। अनया परिभाषया जराशब्दस्यैव जरस्। जराशब्द एव ह्यत्र स्थानी प्रत्यक्षनिर्दिष्टः। जराशब्दान्तस्य तु निर्देशस्तदन्तविधिलभ्यत्वात् आनुमानिक इति भावः। इयञ्च परिभाषा 'षष्ठी स्थानेयोगा' इति सूत्रसिद्धार्थकथनपरेति तत्रैव भाष्ये स्पष्टम्। ननु निर्जरशब्दस्य जराशब्दान्तत्वाभावात् कथमिह जरसादेश इत्यत आह—एकदेशेति। 'छिन्नेऽपि पुच्छे श्वा श्वैव, न चाश्वो न तु गर्दभ' इति न्यायादिति भावः। निर्जरसौ। निर्जरस इति। प्रथमाद्वितीययोः द्विवचने बहुवचने च रूपम्। अमि निर्जरसमित्युदाहार्यम्। ननु तृतीयैकवचने पञ्चम्येकवचने च, निर्जर आ, निर्जर अस् इति स्थिते इनातोः कृतयोः जरसादेशे निर्जरसिन निर्जरसादिति प्राप्तम्, तथा चतुर्थ्येकवचने षष्ठ्येकवचने च, निर्जर ए, निर्जर अस् इति स्थिते यादेशे स्यादेशे च सति अजादिविभक्त्यभावात् जरसादेशाभावे निर्जराय निर्जरस्येति प्राप्तम्, तदाह—इनादीनिति। इन-य-आत्-स्य इत्यादेशान् नुटं च परत्वात् बाधित्वा जरसादेशः। ततश्च अदन्तत्वाभावात् इनादयो न भवन्तीत्यर्थः। निर्जरसेति। तृतीयैकवचनम्। निर्जरसे इति। चतुर्थ्येकवचनम्। निर्जरस इति। पञ्चम्येकवचने षष्ठ्येकवचने च रूपम्। निरर्जरसोः निर्जरसां निर्जरसीत्यप्युदाहार्यम्। पक्ष इति। जरसादेशाभावपक्ष इत्यर्थः। हलादौ चेति। भिस ऐसादेशे निर्जरैरित्येव रूपम्, न तु जरसादेशे निर्जरसैरिति। अदन्तमङ्गमाश्रित्य प्रवृत्तस्य ऐसः सन्निपातपरिभाषया तद्विघातकजरसादेशनिमित्तत्वायोगात्। अथ वृत्तिकृदुल्लेखितं मतान्तरं दूषयितुम् अनुवदति—वृत्तिकृता त्वित्यादिना। पूर्वविप्रतिषेधेनेत्यादि केचिदित्यन्तो वृत्तिग्रन्थः। वृत्तिकृता तु इनातोः कृतयोः जरसि कृते निर्जरसिन निर्जरसादिति रूपम्, न तु निर्जरसा निर्जरस इति केचिदित्युक्तमित्यन्वयः। ननु इनादेशमादादेशं च

अनेक-वर्णात्मक होने से सम्पूर्ण के स्थान में आदेश प्राप्त होता है। परि० (किन्तु) आदेश निर्देशानुसार होते हैं। एक अंश में विकार होने पर वस्तु के अभिन्न समझे जाने से 'जर' शब्द के स्थान पर 'जरस्' आदेश होता है। निर्जरसौ। निर्जरसः। (सूत्रक्रम में) परवर्ती होने से 'इन'—आदि का बाधक होकर 'जरस्' (आदेश होता है)। निर्जरसा। निर्जरसे। निर्जरसः। पक्ष में हलादि-विभक्तियाँ परे रहते 'राम' शब्द के समान रूप बनेंगे। वृत्तिकार ने कुछ लोगों के मत में पूर्वविप्रतिषेध से 'इन' तथा 'आत्' आदेश करने के पश्चात् संनिपात-परिभाषा को अनित्य मानकर 'जरस्' आदेश करते हुए 'निर्जरसिन' तथा 'निर्जरसात्' रूप बनने के सम्बन्ध में उल्लेख किया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्जरसिन निर्जरसाद् इति रूपे, न तु निर्जरसा निर्जरसः इति केचित्' इत्युक्तम्। तथा भिसि निर्जरसैः इति रूपान्तरमुक्तम्। तदनुसारिमिश्र षष्ठ्येकवचने 'निर्जरस्य' इत्येव

परत्वाद् बाधित्वा जरसि कृते अदन्तत्वाभावात् कथमिनातौ स्यातामित्यत आह—पूर्वविप्रतिषेधेनेति। विप्रतिषेधे पूर्वस्य प्रवृत्तिर्यत्र बोध्यते तत् पूर्वविप्रतिषेधम्। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इति सूत्रं तेनेत्यर्थः। तत्र परशब्दस्येष्टवाचित्वमाश्रित्य विप्रतिषेधे क्वचित् पूर्वस्य कार्यस्य प्रवृत्त्यभ्युपगमेनेति यावत्। ननु इनातोः कृतयोः कथं जरसादेशः,

---

है। साथ ही 'भिस्' विभक्ति में दूसरा रूप 'निर्जरसैः' बतलाया है। उनके अनुसरणकर्ताओं के अनुसार षष्ठी के एकवचन में 'निर्जरस्य' यही रूप स्वीकार किया है। ये बातें भाष्य-विरुद्ध हैं।

विवरण—सूत्र के अनुसार **स्थानी** है—'जरा' तथा **आदेश** है 'जरस्'। यहाँ निमित्त-वाचक पद का निर्देश न होने से उसकी पूर्ति अनुवृत्ति द्वारा की जाती है। तदनुसार "अष्टन आ विभक्तौ" (७-२-८४) सूत्र से 'विभक्तौ' तथा "अचिर ऋतः" (७-२-१००) सूत्र से 'अचि' की अनुवृत्ति लाई जाती है। 'विभक्तौ' का विशेषण 'अचि' है। अतः तदादि-विधि होने से सूत्रार्थ होता है—"अजादि-विभक्तियों के परवर्ती होने पर 'जरा' शब्द के स्थान में 'जरस्' आदेश विकल्प से होता है"। अजादि-विभक्तियाँ ये हैं—औ, अस् (जस्), अम्, औ (औट्), अस् (शस्), आ (टा), ए (ङे), अस् (ङसि), अस् (ङस्), ओस्, आम् तथा इ (ङि)। अतः इन विभक्तियों में से किसी एक के भी परवर्ती होने पर 'जरा' शब्द के स्थान में विकल्प से 'जरस्' आदेश होगा। 'निर्जर' शब्द में 'स्थानी' के सम्बन्ध में यह सन्देह होता है कि यहाँ 'जरा' शब्द नहीं है किन्तु निर्जर है। अतः आदेश की प्रसक्ति कैसे हो? इसका समाधान एक परिभाषा (नियम) के माध्यम से दिया जा रहा है। (परि०) १—तदनुसार 'पद' और 'अङ्ग' के अधिकार में 'स्थानी' अपने स्वरूप के साथ पद के अन्त में स्वरूपात्मक स्थिति में होने पर भी आदेश का ग्राहक होता है। 'पद' और 'अङ्ग' पारिभाषिक शब्द हैं। इनमें से "पदस्य" (८-१-१६) का अधिकार "अपदान्तस्य मूर्धन्यः" (८-३-५५) सूत्र तक है। तथा "अङ्गस्य" (६-४-१) का अधिकार यहाँ से प्रारम्भ होकर सातवें अध्याय की समाप्ति-पर्यन्त है। प्रकृत सूत्र ७-२-१०१ 'अङ्गाधिकार' के अन्तर्गत है। अतः 'जरा' शब्द के सदृश तदन्त 'निर्जर' शब्द के स्थान पर 'जरस्' आदेश होगा। यहाँ नियमानुसार "अनेकाल्-शित् सर्वस्य" (१-१-५५) परिभाषा की उपस्थिति से सम्पूर्ण 'निर्जर' शब्द के स्थान पर 'जरस्' आदेश की प्राप्ति होती है। उसका निषेध दूसरी परिभाषा से किया जा रहा है। परि० २—अर्थ—आदेशों की प्रसक्ति सूत्रों में उच्चरित पदों को अभिलक्षित कर होती है। तदनुसार 'निर्जर' शब्दावयव 'जर' के स्थान में 'जरस्'-आदेश का विधान स्वीकृत है। फिर भी यहाँ 'निर्जर' शब्द में 'जरा' शब्द नहीं है किन्तु 'जर' शब्द है। आदेश कैसे हो? इसका समाधान एक लोकन्याय को अभिलक्षित कर दिया जा रहा है। तदनुसार किसी अङ्ग के विकृत हो जाने पर भी वस्तु भिन्न नहीं मानी जाती। अतः यहाँ पर 'जरा' के परिवर्तित रूप 'जर'-अंश के स्थान पर 'जरस्' आदेश होता है। **उदाहरण**—(क) निर्जर+औ, <निर्जरस्+औ (जरा=जरस्), <निर्जरसौ। विकल्प होने के कारण पक्ष में निर्जरौ। (ख) निर्जर+अस् 'जस्', ('ज्'—की इत्संज्ञा), <निर्जरस्+अस्, निर्जरसस् <निर्जरर् (स्=र्), <निर्जरः (र्=:)। पक्ष में निर्जराः। (ग) निर्जर+आ (टा), <निर्जरस्+आ, <निर्जरसा। पक्ष में निर्जरेण। (घ) निर्जर+ए (ङे) <निर्जर-स्+ए, <निर्जरसे (ङ) निर्जरस्+अस् (ङसि तथा ङस्), <निर्जरसस्, <निर्जरसर्, <निर्ज-रसः। पक्ष में निर्जरात् (ङसि), निर्जरस्य (ङस्)। इन विभक्तियों के अतिरिक्त सर्वत्र हलादि विभक्तियों में 'राम' शब्द के समान रूप सिद्ध होंगे।

विशेष—इस प्रसङ्ग में भट्टोजी दीक्षित माधवाचार्य के मत का उल्लेख कर अन्त में उसको अनुपयुक्त बतलाते हैं। तदनुसार माधवाचार्य का यह आशय है कि पूर्वविप्रतिषेध से तृतीया के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूपमिति स्वीकृतम्। एतच्च भाष्यविरुद्धम्। (२२८) पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकन्शकन्नुदन्नासन्छस्प्रभृतिषु ६। १। ६३ ॥ पाद-दन्त-नासिका-मास-हृदय-निशा-

---

सन्निपातपरिभाषाविरोधादित्यत आह—सन्निपातपरिभाषाया अनित्यत्वमाश्रित्येति। तथेति। भिस ऐसादेशे जरसादेशाभावपक्षे निर्जरैरिति रूपम्, सन्निपातपरिभाषाया अनित्यत्वात् जरसि कृते तु निर्जरसैरिति रूपान्तरमुक्तमित्यर्थः। तदनुसारीति। निर्जरसिनेत्यादि रूपं यैरुक्तं तदनुसारिभिरित्यर्थः। निर्जरस्येत्येकेति। पूर्वविप्रतिषेधेन स्यादेशे कृते अजादिविभक्त्यभावान्न जरस्। इनातोः पूर्वविप्रतिषेधे आश्रिते सति एकसूत्रोपात्तत्वात् स्यादेशविषयेऽपि पूर्वविप्रतिषेध आश्रयितुमुचितः। अतः निर्जरस्येत्येकमेव रूपं न तु निर्जरस इत्यपीति भावः। एतच्चेति। वृत्तिकृदुत्प्रेक्षितं केषाञ्चिन्मतं तदनुसारि मतं चेत्यर्थः। भाष्यविरुद्धमिति। 'टाङसिङसामिनात्स्याः' इत्यत्र नादेश एव विधेयः। इकारोच्चारणं मास्तु। तथा अदादेश एव विधेयः, न तु दीर्घ आदिति। रामेणेत्यत्र एकारस्तु योगविभागात् भवति। तथाहि 'बहुवचने झल्येत्' 'ओसि च' 'आङि चापः' सम्बुद्धौ च' इति सूत्रक्रमः। तत्र आङीति योगविभागः क्रियते। अत एकारः स्यात् आङि। रामेण। आपः सम्बुद्धौ चेत्यन्यो योगः। आप एकारः स्यात् सम्बुद्धौ आङि ओसि च। हे रमे, रमया, रमयोः। ङसेरदादेशे अकारोच्चारणसामर्थ्यात् 'अतो गुणे' इति न पररूपमित्यादि टाङसिङसामिति सूत्रे भाष्ये स्थितम्। निर्जरसिन निर्जरसादिति रूपसत्त्वे एतद्भाष्यासङ्गतिः स्पष्टैव। अत्र इकारस्य आकारस्य च श्रवणाय इनादेशे अदादेशे च इकाराकारोच्चारणावश्यकत्वात्। किं च गोनर्दीयस्त्वाह—अतिजरैरित्येव भवितव्यं सन्निपातपरिभाषया इति 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इति सूत्रे भाष्ये स्थितम्। निर्जरसैरिति रूपाभ्युपगमे एतदसङ्गतिः स्पष्टैव। अतः पूर्वविप्रतिषेधेनेत्यादिमतान्तरमशुद्धमित्यर्थः।

(२२८) अथ पादशब्दस्य शसादौ विशेषं दर्शयितुमाह—पद्दन्न इति। पद्-दत्-नस् मास्-हृद्-निश्-असन्-यूषन्-दोषन्-यकन्-शकन्-उदन्-आसन् इत्येषां समाहारद्वन्द्वः।

एकवचन तथा पञ्चमी के एकवचन में क्रमशः 'निर्जरसिन' तथा 'निर्जरसात्' रूप बनने चाहियें। इसका कारण यह है कि "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" (१७५) सूत्र में वे 'परं' के स्थान पर 'अपरं' पद की स्थिति मानते हैं। 'अपरं' का अर्थ उन्होंने 'पूर्वम्' किया है। अतः 'निर्जर+टा' एवं 'निर्जर+अस्' (ङसि) इस स्थिति में पूर्वविप्रतिषेध से 'टा = इन' तथा 'ङसि = आत्' आदेश 'जरस्' होने के पहले ही हो जायेंगे। तत्पश्चात् सन्निपात-परिभाषा के अनित्य होने के कारण जर = जरस् आदेश की प्रसक्ति होने पर क्रमशः 'निर्जरसिन' तथा 'निर्जरसात्' रूप बनने चाहियें। इस प्रकार तृतीया के बहुवचन में 'निर्जरसैः' रूप बनना चाहिये। षष्ठी के एकवचन में पूर्वविप्रतिषेध से 'ङस् = स्य' आदेश होने के पश्चात् अजादि-विभक्ति न मिलने के कारण 'जरस्' आदेश की प्रसक्ति न होने से 'निर्जरस्य' एक ही रूप बनना चाहिये। इन रूपों की सिद्धि के विषय में आगे चलकर भट्टोजी-दीक्षित ने अपनी अरुचि प्रकट की है तथा भाष्यकार की युक्तियों का सहारा लेकर इनका खण्डन किया है। वह इस प्रकार है—"भाष्यकार" ने "टाङसिङसामिनात्स्याः" (२०१) सूत्रस्थ 'इन' तथा 'आत्' आदेशों के स्थान पर क्रमशः 'ना' तथा 'अत्' आदेशों का विधान कर 'राम+टा' इस स्थिति में "आङि चापः" (७-३-१०५) सूत्र का योगविभाग कर 'आङ्' (टा) के रहने पर अकारान्त-अङ्ग को 'ए' आदेश होने के फलस्वरूप 'म' के अकार को 'ए'-आदेश होने से 'रामेण' आदि रूपों की सिद्धि की है। इस प्रकार 'ना' आदेश की प्रवृत्ति होने पर 'जरस्' आदेश की प्राप्ति सम्भव ही नहीं है। तब 'निर्जरसिन' एवं 'निर्जरसात्' रूप नहीं बन सकते। इस कारण भाष्य-विरोध होने से काशिकाकार का मत समीचीन नहीं है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असृज्-यूष-दोष-यकृत्-शकृत्-उदक-आस्य एषां पदादय आदेशाः स्युः शसादौ वा ॥ यत्तु 'आसनशब्दस्यासन्नादेशः' इति काशिकायामुक्तं तत्प्रामादिकम् । पादः । पादौ ।

शस् द्वितीयाबहुवचनं प्रभृतिः-आदिः येषामिति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्' इत्यतः अन्यतरस्यामित्यनुवर्तते । शसादिषु परेषु पदादय आदेशा वा स्युरित्यर्थः । पदाद्यादेशैश्च स्वानुरूपाः स्थानिन आक्षिप्यन्ते । तदाह—पादन्तेत्यादिना । यथासङ्ख्यपरिभाषया पादादीनां क्रमेण पदादय आदेशाः प्रत्येतव्याः । तत् प्रामादिकमिति । भ्रममूलकमित्यर्थः । 'हव्या जुह्वान आसनि' इति मन्त्रे 'आसन्यं प्राण-

'निर्जर' शब्द के रूप (पुंलिङ्ग)

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	निर्जरः	निर्जरसौ, निर्जरौ	निर्जरसः, निर्जराः
द्वि०	निर्जरसम्, निर्जरम्	निर्जरसौ, निर्जरौ	निर्जरसः, निर्जरान्
तृ०	निर्जरसा, निर्जरेण	निर्जराभ्याम्	निर्जरैः
च०	निर्जरसे, निर्जराय	निर्जराभ्याम्	निर्जरेभ्यः
पं०	निर्जरसः, निर्जरात्-द्	निर्जराभ्याम्	निर्जरेभ्यः
ष०	निर्जरसः, निर्जरस्य	निर्जरसोः, निर्जरयोः	निर्जरसाम्, निर्जराणाम्
स०	निर्जरसि, निर्जरे	निर्जरसोः, निर्जरयोः	निर्जरेषु
सम्बो०	हे निर्जर	हे निर्जरौ, हे निर्जरसौ	हे निर्जराः, हे निर्जरसः

(२२८) **पद**—पदनोमास्···ह्नासन्, शस्प्रभृतिषु । **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्याम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पाद, दन्त, नासिका, मास, हृदय, निशा, असृज्, यूष, दोष, यकृत्, शकृत्, उदक, आस्य शब्दों को 'शस्' आदि विभक्तियों के पश्चाद्वर्ती होने पर क्रमशः 'पद्' आदि आदेश होते हैं । काशिका में 'आसन' शब्द के स्थानपर 'आसन्' आदेश होने के विषय में कहा गया है, वह वस्तुतः भ्रमात्मक है । पादः । पादौ । पादाः । पादम् । पादौ । पदः । पादान् । पदा । पादेन । इत्यादि ।

विवरण—सूत्र में केवल आदेशात्मक शब्दों का निर्देश है । अतः 'पद्' आदि के समान 'पाद' आदि तदनुरूप **स्थानि-वाचक** शब्दों का आक्षेप होता है । विकल्पार्थक 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति "अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्" (६-१-५९) सूत्र से आ रही है । निमित्त-वाचक पद है—'शस्प्रभृतिषु' । अतः सूत्र के अनुसार 'शस्' से आरम्भ होकर 'सुप्'पर्यन्त विभक्तियों के पश्चाद्वर्ती होने पर १—पाद = पद्, २—दन्त = दन्, ३—नासिका = नस्, ४—मास = मास्, ५—हृदय=हृद्, ६—निशा=निश्, ७—असृज् = असन्, ८—यूष = यूषन्, ९—दोष = दोषन्, १०—यकृत् = यकन्, ११—शकृत् = शकन्; १२—उदक = उदन्, १३—आस्य = आसन्—ये आदेश होते हैं । **उदाहरण**—(क) प्रथमा एकवचन—पाद+स् (सु), <पाद+र्, <पादः । (ख) प्रथमा द्विवचन पाद+औ <पादौ । (ग) प्रथमा बहुवचन-पाद+जस्, <पाद+अस्, <पादास्, <पादार्, <पादाः । (घ) द्वितीया एकवचन—पाद+अम्, <पादम् । (ङ) द्वितीया द्विवचन—पाद+औ, <पादौ । (च) द्वितीया बहुवचन—पाद+अस् (शस्), <पद्+अस् (पाद = पद्) <पदस्, <पदर्, <पदः । वैकल्पिक होने के कारण पाद+अस्, <पादास्, <पादान् (स् = न्) । (छ) तृतीया एकवचन—पाद+(आ) टा, <पद्+आ (पाद = पद्), <पदा । 'पद्' आदेश न होने पर—पाद+टा, <पाद+इन (टा = इन), <पादेन (अ+इ = ए—गुण) । अवशिष्ट रूप इसी प्रकार समझे जायँ ।

विशेष—१—काशिकाकार ने सादृश्य होने के कारण 'आसन' शब्द के स्थान पर 'आसन्' आदेश होने की चर्चा की है । वह भ्रामक है । कारण यह है कि वैदिक-प्रयोग इसके प्रतिकूल हैं । वहाँ पर 'आसन्'-शब्द का प्रयोग मुख-वाची 'आस्य' शब्द को अभिलक्षित कर किया गया है—**"आस्नो वृकस्य वर्तिकाम्"** (आस्नः = मुखस्य) ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पादाः । पादम् । पादौ । पदः–पादान् । पदा–पादेनेत्यादि । (२२९) **सुडनपुंसकस्य १ । १ । ४३ ॥** सुडिति प्रत्याहारः । स्वादिपञ्चवचनानि सर्वनामस्थानसञ्ज्ञानि स्युरक्लीबस्य । (२३०) **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने १ । ४ । १७ ॥** कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्व-

---

मूचुः' इत्यादौ च आस्याथैकत्वस्यैव दर्शनादिति भावः । दन्तशब्दस्य सुटि रामवत् । शसि पद्भिति दत् आदेशः । दत् अस् इति स्थिते तकारस्य 'झलां जशोऽन्ते' इति पदान्ते विधीयमानजश्त्वमाशङ्क्य पदसंज्ञाविधायकं सूत्रं वक्ष्यति—स्वादिष्वसर्वनामस्थान इति ।

(२२९) तत्र किं सर्वनामस्थानमित्यत आह—सुडनपुंसकस्य । 'शि सर्वनामस्थानम्' इत्यतः सर्वनामस्थानमित्यनुवर्तते । अक्लीबं नपुंसकभिन्नप्रातिपदिक, तस्य सुट् सर्वनामस्थानसंज्ञं स्यादित्यर्थः । तत्र सुट्शब्दमप्रसिद्धार्थत्वाद् व्याचष्टे—सुडिति प्रत्याहार इति । सु इत्यारभ्य औटष्टकारेणेति शेषः । न तु टाटकारेण, प्रथमातिक्रमणे कारणाभावात् । तदेतदाह—स्वादिपञ्चवचनानीति ।

(२३०) स्वादिष्वसर्वनामस्थाने । असर्वनामस्थान इति बहुत्वेऽप्येकवचनमार्षम् । कप्प्रत्ययावधिष्विति । पञ्चमाध्यायान्ते विधीयमानकप्प्रत्ययोत्तरावाधकेष्वित्यर्थः । तत्र च

२—इस सूत्र द्वारा प्रयोगों के सम्बन्ध में नियम किया गया है । 'द्वितीया'—बहुवचन से सप्तमी-बहुवचन पर्यन्त 'पाद' एवं 'पद्' आदि दोनों शब्दों का प्रयोग होता है । प्रथमा-विभक्ति के तीनों वचनों तथा द्वितीया-विभक्ति के एक-वचन एवं द्विवचन में केवल 'पाद' आदि शब्दों का प्रयोग होता है ।

'पाद' शब्द के रूप

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	पादः	पादौ	पादाः
द्वि०	पादम्	पादौ	पदः, पादान्
तृ०	पदा, पादेन	पद्भ्याम्, पादाभ्याम्	पद्भिः, पादैः
च०	पदे, पादाय	पद्भ्याम्, पादाभ्याम्	पद्भ्यः, पादेभ्यः
पं०	पदः, पादात्	पद्भ्याम्, पादाभ्याम्	पद्भ्यः, पादेभ्यः
ष०	पदः, पादस्य	पदोः, पादयोः	पदाम्, पादानाम्
स०	पदि, पादे	पदोः, पादयोः	पत्सु, पादेषु
सं०	हे पाद	हे पादौ	हे पादाः

इसी तरह 'दन्त' आदि शब्दों के रूप बनेंगे ।

(२२९) **पद**—सुट्, अनपुंसकस्य । **अनुवृत्ति**—सर्वनामस्थानम् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—'सुट्' प्रत्याहार है । नपुंसकलिङ्ग के अतिरिक्त 'सु'–आदि आरम्भ की पाँच विभक्तियाँ सर्वनाम स्थान कहलाती हैं ।

विवरण—सूत्र का अर्थ अनुवृत्ति लाये जाने से पूर्ण होता है । अतः "शि सर्वनामस्थानम्" (१-१-४२) से 'सर्वनामस्थानम्' की अनुवृत्ति लाई जारही है । तदनुसार संज्ञा है—"सर्वनामस्थानम्" और संज्ञी है "अनपुंसकस्य सुट्" । 'सुट्' = प्रत्याहार है—सु, औ, जस्, अम्, औट् । तदनुसार पुल्लिङ्ग या स्त्रीलिङ्ग के पश्चाद्वर्ती 'सु' आदि पाँच वचन 'सर्वनामस्थान' संज्ञक होते हैं ।

(२३०) **पद**—स्वादिषु, असर्वनामस्थाने । **अनुवृत्ति**—पदम् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—कप्-प्रत्ययपर्यन्त सर्वनामस्थानभिन्न 'सु'–आदि प्रत्ययों के परवर्ती होने पर पूर्व की पदसंज्ञा होती है ।

विवरण—सूत्र में संज्ञा का बोधक पद नहीं है । वह "सुप्तिङन्तं पदम्" (१-४-१४) सूत्र से 'पदम्' की अनुवृत्ति आने के कारण जाना जाता है । 'स्वादिषु' पद सप्तम्यन्त है । "तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य" (१-१-६६) परिभाषा की उपस्थिति से "सर्वनामस्थानभिन्न 'सु'–आदि प्रत्ययों से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वनामस्थानेषु परतः पूर्वं पदसञ्ज्ञं स्यात्। (२३१) **यचि भम्** १।४।१८॥ यकारादिष्वजादिषु च कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु परतः पूर्वं भसञ्ज्ञं स्यात्। (२३२) **आ कडारादेका सञ्ज्ञा** १।४।१॥ इत ऊर्ध्वं 'कडाराः कर्मधारये'

व्याख्यानमेव शरणम्। एवं च दत् अस् इत्यत्र दत्शब्दस्य सुबन्तत्वाभावेन पदत्वाभावेऽपि अनेन सूत्रेण पदत्वात् 'झलां जशोऽन्ते' इति तकारस्य जश्त्वं स्यादित्याक्षेपः सूचितः

(२३१) भसंज्ञया पदसंज्ञाबाधात् न जश्त्वमिति समाधातुं भसंज्ञासूत्रमाह—यचि भम्। य् च अच्चेति समाहारद्वन्द्वः। 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इत्यनुवृत्तं यचीत्यनेन विशेष्यते। यस्मिन् विधिरिति तदादिविधिः। तदाह—यकारादिष्वित्यादिना। एवं च दत् अस् इत्यत्र दत् इत्यस्य भसंज्ञया पदसंज्ञाबाधान्न जश्त्वमिति भावः।

(२३२) ननु भपदसंज्ञयोरिह समावेशः कुतो न स्यात्। न च विप्रतिषेधे परं कार्यमिति परैव भसंज्ञा भवतीति वाच्यम्, विरोधो हि विप्रतिषेधः। न ह्यत्र द्वयोरपि संज्ञयोः

पूर्ववर्ती समुदाय की 'पद' संज्ञा" होगी। 'स्वादिषु' पद में बहुव्रीहि समास है—'सु' आदिः येषां ते स्वादयः, तेषु। अतः 'स्वादि'–प्रत्ययों का क्षेत्र व्यापक है। इनमें "स्वौजसमौट्०" (४-१-२) से लेकर "उरः प्रभृतिभ्यः कप्" (५-४-१५०) सूत्र पर्यन्त सभी प्रत्ययों का समावेश होता है। सु, औ, जस्, अम्, औट्—इन पाँच प्रत्ययों से भिन्न अवशिष्ट सभी प्रत्ययों के पश्चाद्वर्ती होने पर पूर्व-समुदाय पदसंज्ञक होगा।

(२३१) **पदः**—यचि, भम्। **अनुवृत्ति**—स्वादिषु, असर्वनामस्थाने। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—'सु' से आरम्भ कर 'कप्'–प्रत्यय पर्यन्त सर्वनामस्थान से भिन्न यकारादि तथा अजादि प्रत्ययों के पश्चाद्वर्ती होने पर पूर्व की 'भ'–संज्ञा होती है।

विवरण—**संज्ञा** है 'भ' तथा **संज्ञी** है—'पूर्वम्'। निमित्त-वाचक पदों (असर्वनामस्थाने, यचि, स्वादिषु) के सप्तमी-विभक्ति में होने से संज्ञी का आक्षेप 'पूर्व' समुदाय के रूप में होता है। अतः सूत्र का अर्थ होता है—"सर्वनामस्थान (सु, औ, जस्, अम्, औट्) से भिन्न यकारादि और अजादि (य् च अच् च इति यच्, तस्मिन् = यचि—समाहार-द्वन्द्व) स्वादि प्रत्ययों के पश्चाद्वर्ती होने पर उससे पूर्व-शब्द-समुदाय की 'भ'–संज्ञा होती है।

विशेष—१–यह 'पद'–संज्ञा का अपवाद-सूत्र है।

२—निम्नलिखित वर्गीकरण देखने से विदित होगा कि समग्र 'सुप्'–विभक्तियों का विभाजन १–'सर्वनाम-स्थान', २–'पद-स्थान' तथा ३–'भ-स्थान' के रूप में किया गया है।

सर्वनाम-स्थान ("सुडनपुंसकस्य")			पद-स्थान ("स्वादिष्वसर्वनामस्थाने")			भ-स्थान ("यचि भम्")		
एक०	द्वि०	बहु०	एक०	द्वि०	बहु०	एक०	द्वि०	बहु०
सु	औ	जस्	—	—	—	—	—	—
अम्	औट्	—	—	—	—	—	—	अः (शस्)
—	—	—	—	भ्याम्	भिस्	आ (टा)	—	—
—	—	—	—	भ्याम्	भ्यस्	ए (ङे)	—	—
—	—	—	—	भ्याम्	भ्यस्	अस् (ङसि)	—	—
—	—	—	—	—	—	अस् (ङस्)	ओस्	आम्
—	—	—	—	—	सुप्	इ (ङि)	ओस्	—
आरम्भ के पाँच प्रत्यय			——— हलादि प्रत्यय ———			अवशिष्ट अजादि-प्रत्यय		
५			७			९		= २१

---

(२३२) **पदः**—आकडारात्, एका, संज्ञा। **अधिकार**(नियम)**सूत्र**।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(सू ७५१) इत्यतः प्रागेकस्यैकैव सञ्ज्ञा ज्ञेया। या परा अनवकाशा च। तेन शसादावचि भसञ्ज्ञैव, न पदत्वम्। अतो जश्त्वं न। दतः। दता। जश्त्वम्—दद्भ्या-मित्यादि। मासः। मासा। भ्यामि रुत्वे यत्वे च यलोपः। माभ्याम्। माभिरित्यादि।

समावेशे विरोधोऽस्ति तव्यत्तव्यानीयरादौ कृत्कृत्यप्रत्ययादिसंज्ञासमावेशदर्शनादित्यत आह—आ कडारादिति। आङ् मर्यादायामित्याह—कडाराः कर्मधारय इत्यतः प्रागिति। आङ्हि नाभिविधौ, कडारशब्दस्यापि प्रवेशे प्रयोजनाभावात्। प्राक्कडारादिति कडारशब्दस्तु नोत्तरावधिः। 'कडाराः कर्मधारये' इति कडारशब्दस्य उत्तरावधित्वे अधिकलाभात्, प्राक्कडारादित्युत्तरं तत्पुरुषः द्विगुश्चेति चकाराच्च। संज्ञाद्वयसमावेशार्थो हि चकारः। तत्रैकसंज्ञाया नियमाप्रवृत्तौ किं तेन? नन्वस्त्विह एकैव संज्ञा, तथापि विनिगमनाविर-हात् भसंज्ञैवेति कुतो लाभः? तत्राह—या परा अनवकाशा चेति। विरोधाभावेन विप्रति-षेधसूत्रस्य सामान्याद्विशेषबलीयस्त्वस्य चाप्रवृत्तावपि परत्वनिरवकाशत्वयोः अन्यत्र बलवत्त्वेन दृष्टत्वादिहापि ताभ्यां व्यवस्था युज्यत इति भावः। द्वयोः सावकाशयोः परा संज्ञा बलवती। अन्यतरस्या निरवकाशत्वे तु सैवेति बोध्यम्। तत्र परा यथा—धनुषा शरैर्विध्यतीत्यत्र शराणां विश्लेषं प्रत्यवधिभूतस्यैव धनुषो व्यधनं प्रति साधकतमत्वाद-पादानत्वे करणत्वे च प्राप्ते परा करणसंज्ञैव भवति। अनवकाशा यथा—अततक्षदिति। अत्र तकारादकारस्य 'संयोगे गुरु' इति गुरुसंज्ञैव अनवकाशत्वात् भवति, न तु लघुसंज्ञा,

---

मूलार्थ—इसके अनन्तर "कडाराः कर्मधारये" (२-२-३८) सूत्र तक एक को एक ही संज्ञा होती है। उनमें से जो पर हो या अनवकाश हो उसे होना चाहिये। इसलिये 'शस्' आदि अजादि विभक्तियों में 'भ'-संज्ञा ही होती है, पदसंज्ञा नहीं। अतः 'जश्'-वर्ण नहीं हुआ। दतः। दता। 'जश्'-वर्ण होकर—दद्भ्याम् इत्यादि। मासः। मासा। 'भ्याम्'-विभक्ति में 'रु' तथा 'य्' होने पर 'य्' का लोप हुआ। माभ्याम्। माभिः। इत्यादि।

सन्दर्भ—दो संज्ञाओं के एक स्थल पर प्राप्त होने की स्थिति में व्यवस्था की जारही है।

विवरण—१-४-१ से लेकर २-२-३८ सूत्रों के मध्य एक पद की एक ही संज्ञा होगी, दो नहीं। अतः "कडाराः कर्मधारये" (२-२-३८) सूत्र तक जो संज्ञा-सूत्र हैं, उनमें से इस अधिकार में एक ही संज्ञा होगी, अनेक नहीं। यह नियम किया जा रहा है। जहाँ पर दो संज्ञायें प्राप्त हों, वहाँ कौन सी हो? कौन सी न हो? इसका उत्तर यह है कि जो संज्ञा उनमें से अष्टाध्यायी-सूत्रक्रम में पर हो और निरवकाश हो। अर्थात् जिसे चरितार्थ होने के लिए सूत्र के अतिरिक्त अन्यत्र स्थल न मिला हो। विभक्ति-विधायक 'शस्'-आदि अजादि प्रत्ययों में भ-संज्ञा तथा पद-संज्ञा दोनों की प्राप्ति होती है। वहाँ निरवकाश होने से भ-संज्ञा पद-संज्ञा की बाधक हो जाती है। साथ ही वह सूत्रक्रम में पर भी है। उदाहरण—(क) दन्त+शस्, <दन्त+अस्, <दत्+अस् (दन्त = दत्), <दतस्, <दतर्, <दतः। यहाँ पर 'अस्' के पश्चाद्वर्ती होनेपर 'दत्' की भ-संज्ञा हुई। पद-संज्ञा के अभाव में "झलां जशोऽन्ते" (८४) सूत्र से 'झल्'-'त्' के स्थान पर 'जश्'-'द्' नहीं हुआ। (ख) दन्त+आ (टा), <दत्+आ (दन्त = दत्), <दता। यहाँ पर भी भ-संज्ञा होने के कारण 'त्' को 'द्' नहीं हुआ। (ग) दन्त+भ्याम्, <दत+भ्याम्, <दद्भ्याम्। यहाँ हलादि-विभक्ति होने से पद-संज्ञा हुई। अतः 'त्' = 'द्'-जश्त्व हुआ। (घ) मास+अस् (शस्), <मास् +अस् (मास = मास्), <मासस्, <मासर् (स् = र्), मासः (र् = :)। (ङ) मास+ +आ (टा), <मास्+आ, <मासा—'भ' संज्ञा होने से 'मास्' के 'स्' को 'र्' नहीं हुआ। (च) मास्+भ्याम् <मार्+भ्याम् ('स्' = 'र्'—पद संज्ञा होने के कारण), <माय्+भ्याम् (र् = य्—"भो-भगो अघो०"—(१६७), <माभ्याम् ('य्' लोप)। (छ) मास+भिस्, <मास् भिस्, मार्+भिस्, <माय्+भिस्, <माभिः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२३३) भस्य ६।४।१२९ ॥ इत्यधिकृत्य । **(२३४) अल्लोपोऽनः ६।४।१३४ ॥** अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिपरो योऽन् तस्याकारस्य लोपः स्यात् ।

तस्याः असंयोगे परे चरितार्थत्वात् । अतः सन्वल्लघुनीति तत्र न प्रवर्तते । तेनेति । अनवकाशत्वेनेत्यर्थः । अत इति । पदत्वाभावात् जश्त्वं नेत्यर्थः । जश्त्वमिति । दत् भ्यामिति स्थिते 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदान्तत्वात् 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वमित्यर्थः । इत्यादीति । दद्भिः दते इत्यादिरादिशब्दार्थः । 'खरि च' इति चर्त्वे दत्सु । पक्षे रामवत् । मास इति । मांसशब्दस्य शसि पदत्व इति मास् इत्यादेशे रूपम् । मासेति तृतीयैकवचनम् । यत्व इति । मास् भ्याम् इति स्थिते स्वादिष्विति पदत्वात् 'ससजुषोः' इति रुः । 'भोभगो' इति तस्य यकारे 'हलि सर्वेषाम्' इति तस्य लोपे माभ्यां माभिरिति रूपमित्यर्थः । इत्यादीति । माभ्यः इत्यादिरादिशब्दार्थः । मास् सु इति स्थिते रुत्वे 'खरवसानयोः' इति विसर्गे 'वा शरि' इति सत्वविकल्पः मास्सु-मासु ।

(२३३) भस्य इति । इत्यधिकृतं स्पष्टमेव । यूषशब्दो मण्डवाची । 'मुद्गामलकयूषस्तु भेदी दीपनपाचनः' इत्यादि वैद्यशास्त्रे प्रसिद्धम् । तस्य शसि 'पदन्न' इति यूषन्नादेशे यूषन् अस् इति स्थिते ।

(२३४) अल्लोपोऽनः । अत् इति लुप्तषष्ठीकं भिन्नं पदम् । अन इत्यवयवषष्ठ्यन्तम् अतो विशेषणम्—अनोऽवयवो योऽकारः तस्य लोप इति । अङ्गस्येत्यधिकृतम् इहावयव-

---

'दन्त' शब्द के रूप

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	दन्तः	दन्तौ	दन्ताः
द्वि०	दन्तम्	दन्तौ	दतः, दन्तान्
तृ०	दता, दन्तेन	ददभ्याम्, दन्ताभ्याम्	दद्भिः, दन्तैः
च०	दते, दन्ताय	ददभ्याम्, दन्ताभ्याम्	ददभ्यः, दन्तेभ्यः
पं०	दतः, दन्तात्	ददभ्याम्, दन्ताभ्याम्	ददभ्यः, दन्तेभ्यः
ष०	दतः, दन्तस्य	दतोः, दन्तयोः	दताम्, दन्तानाम्
स०	दति, दन्ते	दतोः, दन्तयोः	दत्सु, दन्तेषु
सं०	हे दन्त	हे दन्तौ	हे दन्ताः

'मास' शब्द के रूप

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	मासः	मासौ	मासाः
द्वि०	मासम्	मासौ	मासः, मासान्
तृ०	मासा, मासेन	माभ्याम्, मासाभ्याम्	माभिः, मासैः
च०	मासे, मासाय	माभ्याम्, मासाभ्याम्	माभ्यः, मासेभ्यः
पं०	मासः, मासात्	माभ्याम्, मासाभ्याम्	माभ्यः, मासेभ्यः
ष०	मासः, मासस्य	मासोः, मासयोः	मासाम्, मासानाम्
सं०	मासि, मासे	मासोः, मासयोः	मास्सु, मासु, मासेषु
सं०	हे मास	हे मासौ	हे मासाः

(२३३) पद—भस्य । **अधिकार-सूत्र ।**

मूलार्थ—यह अधिकार-सूत्र है ।

विवरण—इस अध्याय की समाप्ति-पर्यन्त "भस्य" का अधिकार है । यह छठे अध्याय के चौथे पाद का १२९ वाँ सूत्र है । इस पाद का (छठे अध्याय का) अन्तिम सूत्र ६-४-१७५ है । वहाँ तक इसका अधिकार-क्षेत्र है । इस मध्य सभी कार्य 'भ'–संज्ञा को मानकर होंगे ।

(२३४) पद—अत्, लोपः, अनः । **अनुवृत्ति**—भस्य, अङ्गस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अङ्ग के अवयव सर्वनामस्थान से भिन्न यजादि स्वादिपरक 'अन्'–सम्बन्धी 'अ' का लोप होता है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२३५) रषाभ्यां नो णः समानपदे ८।४।१ ।। एकपदस्थाभ्यां रेफषकाराभ्यां परस्य नस्य णः स्यात् । यूष्णः । यूष्णा । 'पूर्वस्मादपि विधौ स्थानिवद्भावः' इति पक्षे तु 'अड्व्यवाये' इत्येवात्र णत्वम् । 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' (वा ४३३) इति त्विह नास्ति । 'तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु' (वा ४४०) इति निषेधात् ।

षष्ठ्यन्तमाश्रीयते । तच्चान इत्यत्रान्वेति—अङ्गावयवो योऽन् तदवयवस्य अकारस्य लोप इति । भस्येत्यधिकृतम् अन इत्यनेनान्वेति । ततश्चानः असर्वनामस्थानयजादिस्वादिपरत्वं लभ्यते । तदाह—अङ्गावयव इत्यादिना । अन्नन्तस्य भस्याङ्गस्याकारस्य लोपः स्यादिति प्राचां व्याख्याने तु तक्ष्णेत्यत्र तकारादकारस्यापि लोपप्रसङ्गः । भस्याङ्गस्यानोऽकारस्य लोप इति व्याख्याने तु अनसा मनसेत्यत्रातिव्याप्तिः । अन इत्यावर्त्य अन्नन्तस्य भस्याङ्गस्यानोऽकारस्य लोप इति व्याख्याने तु अनस्तक्ष्णेत्यत्रातिव्याप्तिरेव । तस्मादुक्तैव व्याख्येत्यन्यत्र विस्तरः ।

(२३५) यूषन् अस् इत्यत्र षकारादकारस्य लोपे यूष्न् अस् इति स्थिते—रषाभ्याम् । रषाभ्यामिति दिग्योगे पञ्चमी । परस्येत्यध्याहार्यम् । समानशब्द एकपर्यायः । यथा—समानग्रामा वयमिति । आधारसप्तमीबलात् विद्यमानाभ्यामिति लभ्यते । न इति षष्ठी । तदाह—एकपदस्थाभ्यामिति । एकत्वं चेहाखण्डत्वं विवक्षितम्, पदे इत्येतावतैव सिद्धे समानग्रहणसामर्थ्यात् । अन्यथा रामनामेत्यादौ 'अट्कुप्वाङ्' इति णत्वापत्तिः । एतस्यैव समानपदशब्दस्य तत्राप्यनुवृत्तेः । मातृभोगीणः इत्यत्र णत्वं तु तद्धिताधिकारे वक्ष्यते । यूष्ण इति । शसि रूपम् । यूष्णेति । तृतीयैकवचनम् । न चाल्लोपस्य स्थानिवद्भावात् नकारस्य पात् परत्वं नेति शङ्क्यम्, 'रषाभ्याम्' इति षात्परस्य हि नस्य णत्वे कर्तव्ये अल्लोपस्य स्थानिवद्भावो नापेक्षितः किन्तु णत्वाभावे तदपेक्षा, णत्वाभावश्चाशास्त्रीयत्वान्नातिदेश्यः । स्थानिनि सति यत्कार्यं भवति तदेव हि स्थानिवत्सूत्रेणाति-

---

विवरण—'भ' तथा 'अङ्ग' दो अधिकारों के अन्तर्गत लोप का विधान है । किसका लोप हो ? उत्तर—'अत्' = ह्रस्व अकार का । वह अकार भी सर्वनामस्थान-भिन्न यजादि-स्वादिपरक अन्-सम्बन्धी अपेक्षित है । अतः यह लोप द्वितीया-बहुवचन से आरम्भ कर सप्तमी-बहुवचन के मध्य विद्यमान अजादि-विभक्तियों को अभिलक्षित कर प्रवृत्त होगा ।

(२३५) पद—रषाभ्यां, नः, णः, समानपदे । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—एक पद में विद्यमान रेफ और षकार के पश्चाद्वर्ती 'न्' को 'ण्' होता है । यूष्णः । यूष्णा । 'पूर्वस्मात् विधिः' पक्ष में स्थानिवद्भाव होने से "अट्कुप्वाङ्०" सूत्र से 'ण्'-विधान समझा जाय । सपाद-सप्ताध्यायी की दृष्टि में त्रिपादी के असिद्ध होने से स्थानिवद्-भाव का औचित्य यहाँ नहीं, क्योंकि संयोगादिलोप, ल-विधान तथा 'ण'-प्रकरण में असिद्ध-विधान का निषेध किया गया है ।

विवरण—अर्थ की दृष्टि से सूत्र स्वतः पूर्ण है । अतः एक-पद में (समान-पद में) 'र्' तथा 'ष्' से अव्यवहित पर रहनेवाले 'न्' के स्थान में 'ण्' होता है । **उदाहरण**—(क) यूष+(अस्), <यूष्न्+अस् (यूष = यूषन्), <यूष्न्+अस् ('अन्'-सम्बन्धी 'अ' का लोप), <यूष्नस्, <यूष्णस् (न् = ण्), यूष्णर् (स् = र्) <यूष्णः (र् = :) । (ख) यूष+आ (टा), <यूषन्+आ (यूष=यूषन्) । यूष् न्+आ ('अन्' के 'अ' का लोप), <यूष्ना, <यूष्णा (न् = ण्) ।

विशेष—उपर्युक्त दोनों उदाहरणों-'यूष्णः' तथा 'यूष्णा'-में 'अ'-लोप को स्थानिवद्भाव कर इस सूत्र से 'ण्'-विधान के विषय में सन्देह की आशंका की जारही है । स्थानिवद्भाव करने वाले-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिश्यते। स्थानिनि सति यन्न भवति तदादेशेऽपि न भवतीत्येवं कार्याभावस्त्वशास्त्रीय-त्वान्नातिदिश्यते इति स्थानिवत्सूत्रे अवोचाम। यद्यपि 'अचः परस्मिन्' इत्यत्र अशास्त्रीयः कार्याभावोऽप्यतिदिश्यत इत्यभ्यधायि तथापि नेह तस्यापि सूत्रस्य प्रवृत्तिरस्ति, स्थानि-भूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्यैव विधौ तत्प्रवृत्तेः। इह चाल्लोपस्थानिभूतादकारात् परस्यैव णत्वविधानादिति भावः। ननु 'अचः परस्मिन्' इति सूत्रे स्थानिभूतादचः पूर्वस्मात् परस्य विधावजादेशः स्थानिवदिति पक्षोऽपि भाष्ये स्थितः, एवं चात्र लोपादेशस्थानि-भूतादकारात् पूर्वो यः षकारः तस्मात्परस्य नकारस्य णत्वविधौ लोपस्य स्थानिवद्भावे सति अकारेण व्यवधानात् पात्परत्वाभावात् कथं णत्वमित्यत आह—पूर्वस्मादिति। पक्षे त्विति आदिना अस्य पक्षस्यानित्यत्वं सूचितम्। अत एव प्रविगणय्येति भाष्ये प्रयुक्तं सङ्गच्छते। चुरादौ 'गण सङ्ख्याने' इत्यदन्तो धातुः। णिच्। अतो लोपः। अल्लोपस्य स्थानिवद्भावात् 'अत उपधायाः' इति वृद्धिर्न। ण्यन्तात् क्त्वो ल्यपि णिलोपं बाधित्वा 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इति णेरयादेशः। पूर्वस्मात् परस्य विधौ स्थानिवद्भावस्य नित्यत्वे इह 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इति णेरयादेशो न स्यात्। लोपस्थानिभूतादतः पूर्वस्मात् परस्य णेरयादेशविधावल्लोपस्य स्थानिवद्भावे सति अतो व्यवहितत्वेन णेर्लघुपूर्वात् णकारात् परत्वाभावात्, तस्मात् 'अचः परस्मिन्' इत्यत्र पूर्वस्मात् परस्य विधौ स्थानिवद्भाव-स्यानित्यत्वं विज्ञायते। एवं च गोशब्दात् सम्बुद्धौ ओतो णित्त्वे वृद्धौ हे गौरिति सिध्यति। अन्यथा औकारस्य स्थानिभूतादोकारात् पूर्वो यो गकारः तस्मात् परस्याः सम्बुद्धेर्लोपविधौ स्थानिवद्भावे ओकारादेङः परत्वात् सम्बुद्धिलोपः स्यादिति शब्देन्दु-शेखरे स्पष्टम्। अड्व्यवाये इत्येवेति। 'अट्कुप्वाङ्' इति सूत्रेणैवेत्यर्थः। पादव्यवहितपरस्य नस्य णत्वविधावुदाहरणं पुष्णातीत्यादि बोध्यम्। वस्तुतस्तु 'तत्रापि षटुत्वेनैव सिद्धे षग्रहणम् उत्तरार्थम्' इति स्पष्टमाकरे। नन्वल्लोपस्य णत्वे कर्तव्ये कथं स्थानिवद्भावः? पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवदिति निषेधात् णत्वस्य पूर्वत्रासिद्धीयत्वादित्यत आह—पूर्वत्रेति। संयोगादिलोपे लत्वे णत्वे च कर्तव्ये तस्य—पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवदित्यस्य दोषो—बाधः अप्रवृत्तिरिति यावत्। संयोगादिलोपे यथा—चक्रयत्र। इह 'अचः परस्मिन्' इति यणा-देशस्य स्थानिवद्भावात् 'स्कोस्संयोगाद्योः' इति ककारलोपो न। लत्वे यथा—निगाल्यते। अत्र णिलोपस्य स्थानिवत्त्वात् 'अचि विभाषा' इति लत्वम्। णत्वे यथा—मोषवपनी। वपतेर्ल्युट्, अनादेशः, उगित्त्वात् ङीप्, 'यस्येति च' इति नकारात् अकारस्य लोपः।

"अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" सूत्र (५०) में 'पूर्व-विधि' पद में 'पूर्वस्मात् विधिः'—पञ्चमी तत्पुरुष-समास भी स्वीकृत है। तदनुसार अर्थ होता है—'पूर्व वर्ण से अव्यवहित परवर्ती वर्ण को कार्य करने पर परनिमित्तक अच्-स्थानिक आदेश स्थानिवृत्ति-गुण के समान होता है'। इस प्रकार कल्पना से यहाँ पर 'ष्' के पश्चाद्वर्ती 'न्' को 'ण्' विधान होने में परनिमित्तक लोपादेश ('अ' लोप) को स्थानिवद्भाव करने से 'अकार' की विद्यमानता समझी जायगी। अतः 'अ' का व्यवधान होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'ण्' नहीं हो सकेगा। ऐसी स्थिति में 'अट्' (अ) का व्यवधान होने पर "अटकुप्वाङ्०" (८-४-२) से 'न्' = 'ण्' हो जायगा। इस पर पुनः यह शङ्का होती है कि णत्व-विधायक शास्त्र (८-४-१) त्रिपादी के अन्तर्गत पढ़ा गया है। अतः सपाद-सप्ताध्यायी के अन्तर्गत पठित "अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" (१-१-५७) की दृष्टि में उसके असिद्ध होने से स्थानिवद्भाव की प्राप्ति कैसे सम्भव होगी? इसके निवारण के लिये वार्तिक का आश्रय लिया जारहा है। (वा०) तदनुसार असिद्ध-प्रकरण में त्रिपादी-शास्त्र के सम्बन्ध में कुछ संकोच किया गया है। वह इस प्रकार है कि संयोगादि-लोप, 'ल्'-विधि, तथा 'ण्'-विधायक शास्त्र के अतिरिक्त त्रिपादी-शास्त्र में 'असिद्ध'—कल्पना मानी जाय।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२३६) न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८ । २ । ७ ॥ नेति प्रातिपदिकेति च लुप्तषष्ठीके पदे । प्रातिपदिकसंज्ञकं यत्पदं तदन्तस्य नकारस्य लोपः स्यात् । नलोपस्यासिद्धत्वाद्दीर्घत्वम् ऐस्त्वमेत्वं च न । यूषभ्याम् । यूषभिः । यूषभ्यः । इत्यादि । **(२३७) विभाषा ङिश्योः ६।४।१३६ ॥** अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिपरो योऽन् तस्याकारस्य लोपो वा

इह अकारलोपस्य स्थानिवत्त्वेन नकारस्य प्रातिपादिकान्तत्वाभावात् 'प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च' इति णत्वं न । यूषन् भ्यामिति स्थिते ।

(२३६) न लोपः । न इति स्थानषष्ठ्यन्तं पृथक्पदम् । आर्षः षष्ठ्या लुक् । नकारस्य लोपः स्यादित्यर्थः । अन्तस्येति नकारस्य विशेषणम् । अत एव च नस्य विशेषणसापेक्षत्वात् लोपशब्देन समासो न भवति, असामर्थ्यात् । कस्यान्त इत्यपेक्षायां पदस्येत्यधिकृतम् अवयवषष्ठ्यन्तमन्वेति । पदस्य योऽयमन्तावयवः तस्य नकारस्य लोप इति । कीदृश पदमित्यपेक्षायां प्रातिपदिकेति लुप्तषष्ठ्यन्तमन्वेति । प्रातिपदिकसंज्ञकं यत् पदं तस्य योऽयमन्तावयवो नकारः तस्य लोपः स्यादिति । अत एव प्रातिपदिकान्तस्येति न समस्तमेकं पदम् । तस्य पदशब्देनान्वितेनान्तशब्देनासामर्थ्यात् । तदाह—नेति प्रातिपदिकेति च लुप्तषष्ठीके पदे इति । तदन्तस्येति । तस्य पदस्य अन्तावयवो यो नकारः तस्येत्यर्थः । प्रातिपदिकग्रहणं किम्? 'अहन्' इति तिङन्तस्य न भवति । पदग्रहणं किम्? राजानौ । ननु नलोपे सति यूषभ्यामित्यत्र 'सुपि च' इति दीर्घः । यूषभिरित्यत्र 'अतो भिस ऐस्' इति ऐसादेशः स्यात् । यूषभ्य इत्यत्र 'बहुवचने झल्येत्' इति एत्वं स्यादित्यत आह—नलोपस्यासिद्धत्वादिति । इत्यादीति । यूष्णे-यूष्णः-यूष्णोः-यूष्णाम् इति आदिशब्दार्थः । यूषन् ङि इति स्थितिः । 'अल्लोपोऽनः' इति नित्य अल्लोपे प्राप्ते ।

(२३७) विभाषा ङिश्योः । अल्लोपोऽन इत्यनुवर्तते । अङ्गस्येति भस्येति चाधिकृतम् । भस्येत्यनेन च असर्वनामस्थानयजादिस्वादिपरत्वं पूर्ववदनो लभ्यते । तदाह—

---

(२३६) पद—न लोपः, प्रातिपदिकान्तस्य । अनुवृत्ति—पदस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—प्रातिपदिक-संज्ञक पद के अन्त में विद्यमान 'न्' का लोप होता है । 'न्'-लोप के असिद्ध होने के कारण दीर्घ, 'ऐ'-विधान तथा 'ए'-विधान नहीं होते । यूषभ्याम् । यूषभिः । यूषभ्यः । इत्यादि ।

विवरण—"पदस्य" का अधिकार है । 'नः'—षष्ठी-विभक्ति में है । 'अन्तस्य' पद 'नः' का विशेषण है । अधिकार द्वारा उपस्थित शब्द "पदस्य" प्रातिपदिक का विशेषण है । अतः प्रातिपदिक-संज्ञक पद के अन्त्य 'न'कार का लोप विवक्षित है । उदाहरण—(क) यूषन्+भ्याम्, <यूष+भ्याम् ('यूषन्' पद के अन्तिम 'न्' का लोप), <यूषभ्याम् । यहाँ पर 'न्' लोप होने के पश्चात् (यूष) अकारान्त अङ्ग होने के कारण "सुपि च" (२०२) सूत्र से विधीयमान दीर्घ की प्राप्ति का निवारण 'न्' लोप को स्थानिवद्भाव होने के कारण किया जारहा है । (ख) यूषन्+भिस्, <यूष+भिस् ('न्' लोप), यूषभिर् (स् = र्) <यूषभिः (र् = :) । यहाँ पर भी 'न्' लोप के अनन्तर "अतो भिस ऐस्" (२०३) सूत्र से प्राप्त 'ऐ'-विधान का निवारण 'न्' लोप को स्थानिवद्भाव होने से किया जाता है । (ग) यूषन्+भ्यस्, यूष+भ्यस्, यूष+भ्यर्, <यूषभ्यः । यहाँ पर "बहुवचने झल्येत्" (२२५) सूत्र से प्राप्त 'ए'कार का निवारण भी 'न्' लोप को स्थानिवद्भाव मान कर किया गया है ।

(२३७) पद—विभाषा, ङिश्योः । अनुवृत्ति—अल्लोपः, अनः, अङ्गस्य, भस्य । विधिसूत्र । (विकल्प) ।

मूलार्थ—'ङि' और 'शी' के पश्चाद्वर्ती होने पर अङ्ग के अवयव सर्वनाम स्थान से भिन्न

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्यात् ङिश्योः परयोः। यूष्णि–यूषणि। पक्षे रामवत्। 'पद्दन्नो—' (सू २२८) इति सूत्रे प्रभृतिग्रहणं प्रकारार्थम्। तथा च औङः श्यामपि दोषन्नादेशः। अत एव भाष्ये 'ककुद्दोषणी' इत्युदाहृतः। तेन 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' 'स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यादि च सङ्गच्छते। 'आसन्यं प्राणमूचुः' इति च। आस्ये भवः आसन्यः। दोष्शब्दस्य नपुंसकत्वमत एव भाष्यात्। तेन 'दक्षिणं दोर्निशाचरः' इति सङ्गच्छते। 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इति साहचर्यात्पुंस्त्वमपि। 'दोषं तस्य तथाविधस्य भजतः' इति। द्वयोर-

---

अङ्गावयव इति। ङिश्योरिति। ङिश्च शी चेति विग्रहः। 'नपुंसकाच्च' इति विहित एवात्र शी गृह्यते न तु जश्शसोश्शिः, तस्मिन् परे भत्वासम्भवात्। पक्षे इति। यूपन्नादेशाभाव-पक्षे इत्यर्थः। अथ क्वचित् शसादिभ्योऽन्यत्रापि पदाद्यादेशं साधयितुमाह—पद्दन्नो इति सूत्रे इति। प्रकारेति। प्रकारः सादृश्यम्। तच्च प्रत्ययत्वेन बोध्यम्। प्रभृतिग्रहणस्य प्रकारार्थत्वे प्रमाणं दर्शयति—अत एवेति। प्रभृतिग्रहणस्य प्रकारार्थकत्वादेवेत्यर्थः। 'ककुद्दोषणो याचते महादेवः' इत्येवं भाष्ये औङादेशभूतशीभावे परतः उदाहृतो दोषन्नादेशः अत एव सङ्गच्छते इत्यन्वयः। तेनेति। प्रकारार्थकप्रभृतिग्रहणेनेत्यर्थः। पदङ्घ्रिरित्यत्र पदिति प्रथमैकवचनम्, स्वान्तं हृदित्यत्र हृदिति च सङ्गच्छत इत्यर्थः। आदिना निशादि-सङ्ग्रहः। आसन्यं प्राणमिति। आसन्यं प्राणमूचुरिति च अत एव सङ्गच्छते इत्यन्वयः। आसनशब्दस्य आसन्नादेश इति भ्रमं वारयति—आस्ये भवः इति। प्राणशब्दसमभिव्याहारादियमेव व्युत्पत्तिरिति भावः। 'शरीरावयवाच्च' इत्यस्यशब्दात् भवार्थे यत्प्रत्यये आसन्नादेशः। 'ये चाभावकर्मणोः' इति प्रकृतिभावात् 'नस्तद्धिते' इति टिलोपो न। प्रभृतिग्रहणस्य प्रकारार्थत्वाभावे तु इह आसन्नादेशो न स्यात्, यत्प्रत्ययस्य शसादिषु सुप्सु अनन्तर्भावादिति भावः। ननु दोषणी इति भाष्ये नपुंसकप्रयोगोऽनुपपन्नः। 'दोषं तस्य तथाविधस्य' इत्यादौ पुंस्त्वस्यैव प्रयोगदर्शनादित्यत आह—दोष्शब्दस्येति। अत

यजादि-स्वादिपरक 'अन्' के अकार का लोप विकल्प से होता है। यूष्णि–यूषणि। पक्ष में 'राम' शब्द के समान रूप बनेंगे। "पद्दन्नोमास्" (२१८) सूत्र में 'प्रभृति' पद सादृश्यबोधक है। इसी के साथ ही भाष्य में 'औड्' के स्थान में 'शी' आदेश हो जाने पर 'ककुद्दोषणी' उदाहरण में 'दोषन्' आदेश दिखलाया है। इस कारण 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' तथा 'स्वान्तं हृन्मानसं मनः' आदि प्रयोग संगत होते हैं। 'आसन्यं प्राणमूचुः' प्रयोग में 'आस्य' शब्द के स्थान में 'आसन्' आदेश तथा 'यत्' प्रत्यय किया है। 'दोष्' शब्द को नपुंसकलिङ्ग मानने में भी भाष्य ही प्रमाण है। अतः 'दक्षिणं दोर्निशाचरः' प्रयोग संगत होता है। 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' में साहचर्य के कारण पुंलिङ्ग भी है। 'दोषं तस्य तथाविधस्य भजतः' में भी पुंलिङ्ग है। दो दिनों में हुआ—'द्व्यहः'।

विवरण—यहाँ "अल्लोपोऽनः" सूत्र की पूरी अनुवृत्ति की जाती है। "अङ्गस्य" तथा "भस्य" का अधिकार भी है। पूर्वसूत्र से 'ङि' तथा 'शी' विभक्तियों में 'अ' का नित्य लोप प्राप्त रहा। उसका विकल्प-विधान किया जारहा है। **उदाहरण**—(क) यूपन्+इ (ङि), <यूष्न्+इ ('अन्' के 'अ' का लोप), <यूष्णि (न=ण्—"रषभ्यां०" २३५)। (ख) पक्ष में यूषणि (न् = 'ण्'–"अट्-कुप्वाङ्"–१९७)। 'यूपन्' आदेश के अभाव में 'राम' शब्द के समान रूप बनेंगे। यूषन् = माँड़।

विशेष—प्रश्न—"पद्दन्नोमास्०" (२२८) सूत्र में 'प्रभृति' शब्द ग्रहण क्यों किया? 'शसादि' कहने से ही 'शस्' से लेकर 'ङि' पर्यन्त विभक्तियों के पश्चाद्वर्ती होने से 'पद्' आदि आदेश तो हो ही जाएँगे। ऐसी स्थिति में 'प्रभृति' पद का प्रयोजन विशेष उद्देश्य का सूचक माना गया है। तदनुसार 'प्रभृति' शब्द प्रत्ययों के सादृश्य का बोधक है। इस कारण 'शस्' विभक्ति के पूर्व प्रथमा के द्विवचन में भी 'औ' के स्थान पर होने वाले 'शी' आदेश को मान कर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्नोर्भवो द्व्यह्नः । (२३८) सङ्ख्याविसायपूर्वस्याह्नस्याहनन्यतरस्यां ङौ ६।३।११० ॥ सङ्ख्यादिपूर्वस्याह्नस्याहन्नादेशो वा स्यात् ङौ । द्व्यह्नि—द्व्यहनि—द्व्यह्ने । विगतमह-

---

एवेति । ककुद्दोषणी इति भाष्यादेव ज्ञेयमित्यर्थः । तेन दक्षिणमिति । 'तमुपाद्रवदुद्यम्य दक्षिणं दोर्निशाचरः' इति रघुवंशे । दक्षिणं दोरुद्यम्य तमुपाद्रवदित्यन्वयः । दोष्शब्दस्य द्वितीयैकवचनं दोः इति, पुंस्त्वे दोषमिति स्यादिति भावः । ननु भाष्यानुसारात् दोष-शब्दस्य नपुंसकत्वमेव स्यादित्यत आह—भुजेति । 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इति कोशात् पुंस्त्वमपीत्यर्थः । नन्वयं कोशः दोष्शब्दस्य नपुंसकत्वेऽप्युपपन्न इत्यत आह—साहचर्या-दिति । पुंल्लिङ्गभुजादिशब्दसाहचर्यादित्यर्थः, 'साहचर्याच्च कुत्रचित्' इति कोशे परि-भाषितत्वादिति भावः । दोष्शब्दस्य पुंस्त्वसाधने फलं दर्शयति—दोषं तस्येति । 'दोषं तस्य तथाविधस्य भजतश्चापस्य गृह्णन् गुणम्' इति श्रीहर्षः । दोषं हस्तं दूषणं च भजत-श्चापस्य गुणं मौर्वीम् अतिशयं च गृह्णन्नित्यन्वयः । अत्र दोषमिति दोष्शब्दस्य पुंल्लिङ्ग-द्वितीयैकवचनम् । अत्र सुप्रभृतिष्विति वचनात् सुपि क्वचिदेव पदाद्यादेशा इति गम्यते । द्व्योरह्नोरिति । तद्धितार्थे समासः । 'कालाट्ठञ्' इति ठञ् । 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति लुक् । 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' इति टच् । 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः' इत्यह्नादेशः । रामशब्दवद्रूपाणि ।

(२३८) ङौ विशेषमाह—सङ्ख्याविसायेति । सङ्ख्या च विश्च सायश्च सङ्ख्याविसायाः ते पूर्वं यस्मादिति विग्रह इत्यभिप्रेत्य आह—सङ्ख्येत्यादिना । सङ्ख्यापूर्वमुदाहरति—द्व्यह्नि द्व्यहनीति । अल्लोपे तदभावे च रूपम् । द्व्यह्ने इति । अहन्नादेशाभावे रूपम् । एवं विपूर्वमुदाहरति—विगतमिति । 'प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया इति समासः । पूर्ववदह्नादेशः ।

'दोष' शब्द में 'दोषन्' के प्रयोग की समीचीनता सिद्ध होती है । इस प्रकार भाष्यकार ने 'ककुद्दोषणी' यह प्रयोग किया है (ककुदः 'दोषणी' = बैल के दो आगे के चरण) । इसी तरह प्रथमा के एक-वचन में भी 'पाद' शब्द के स्थान में 'पद्' आदेश एवं 'हृदय' शब्द के स्थान में 'हृद्' आदेश के उदाहरण 'अमरकोष' में मिलते हैं—'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' तथा 'स्वान्तं हृन्मानसं मनः' । इनके अतिरिक्त 'आसन्यं प्राणमूचुः' (बृह० १-३-७—मुख में उत्पन्न होने वाला वायु=प्राण) में भी द्वितीया के एकवचन में 'आस्य' शब्द के स्थान पर 'आसन्' आदेश किया गया है । पूर्वोक्त 'दोषणी' उदाहरण द्वारा 'दोष' शब्द का नपुंसक लिङ्ग में भी प्रयोग किया जाना सूचित होता है । इसकी पुष्टि रघुवंश के इस श्लोकांश द्वारा की जारही है—'तमुपाद्रवदुद्यम्य दक्षिणं दोर्निशाचरः' (राक्षस ने दक्षिणं दोः = दाहिनी भुजा ऊपर उठाकर उसपर डाली) । 'दोष्' शब्द का प्रयोग नपुंसकलिङ्ग में ही हो ऐसी बात नहीं । अमरकोष-कार ने 'भुज-बाहू' पुंल्लिङ्गान्त शब्दों के साथ भी 'दोः' (दोष्) का प्रयोग किया है । इसी प्रकार का श्रीहर्ष ने भी 'दोषं तस्य तथा-विधस्य भजतः' यह प्रयोग किया है । यहाँ पर 'दोष' शब्द का प्रयोग पुंलिङ्ग में द्वितीया के एक-वचन में किया गया है (दोषं = हस्तम्—हाथ को) ।

'द्व्यह्न' शब्द की सिद्धि बतलाई जारही है । यह तद्धित-प्रत्ययान्त शब्द है । विग्रह है—द्व्योः अह्नोः भवः । लौकिक विग्रह—'द्वि-ओस्+अहन्—ओस्', <द्वि-अहन् (समास—"तद्धि-तार्थोत्तरपदसमाहारे च"—२-१-५१), <द्वि-अहन्+ठञ् ("कालाट्ठञ्"—४-३-११), <द्वि-अहन् (ठञ्लोप), द्वि-अहन्+टच् ("राजाहःसखिभ्यष्टच्"—५-४-९१), <द्वि+अह्न (अहन्=अह्न—"अह्नोऽह्न एतेभ्यः०" ५-४-८८), <द्व्यह्न । द्व्यह्न+सु <द्व्यह्न+स्, द्व्यह्न+र्, <द्व्यह्नः ।

(२३८) पद—संख्याविसायपूर्वस्य, अह्नस्य, अहन्, अन्यतरस्यां, ङौ । विधिसूत्र । मूलार्थ—संख्यादि-पूर्वक 'अह्न' के स्थान पर 'ङि' विभक्ति में 'अहन्' आदेश विकल्प से होता है । द्व्यह्नि-द्व्यहनि-द्व्यह्ने । बीता हुआ दिन अर्थ में—व्यह्नः । व्यह्नि-व्यहनि-व्यह्ने । दिन का सार्थ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यह्नः । व्यह्नि–व्यहनि–व्यह्ने । अह्नः सायः सायाह्नः । सायाह्नि–सायाहनि–सायाह्ने । इत्यदन्ताः । विश्वपाः । (२३९) दीर्घाज्जसि च ६ । १ । १०५ ॥ दीर्घाज्जसि इचि च

एवं सायं पूर्वमुदाहरति—अहः सायः इत्यादिना । अत एव ज्ञापकादेकदेशिसमासः । इत्यदन्तप्रकरणम् ।

अथ आकारान्ता निरूप्यन्ते–विश्वपा इति । आबन्तत्वाभावात् न सुलोपः । एतदर्थमेव हल्ङ्यादिसूत्रे सत्यपि दीर्घग्रहणे आब्ग्रहणमिति भावः । विश्वं पाति रक्षतीत्यर्थे 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति प्राप्ते वाऽसरूपन्यायेन 'आतो मनिन्क्वनिपश्च' इति चकाराद्विच् । यद्यपि तत्र 'विजुपे छन्दसि' इत्यतो छन्दसीत्यनुवर्तते, तथापि वेदे अनेन विच् । लोके तु 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति विच् । अन्ये तु 'क्विप्च' इति सूत्रेण क्विपमाहुः । 'घुमास्था' इतीत्वं तु न, 'वकारे ईत्वप्रतिषेधः' इति वार्तिकात्, क्वनिपि पावान इत्येतदर्थं तस्यावश्यकत्वात् । 'क्विपस्त्वादन्तेभ्यो भाष्यानुक्तक्विब्भ्योऽनभिधानमेव' इति शब्देन्दुशेखरे स्पष्टम् । अत एव भाष्ये पावानः इत्यत्र वनिपा रूपसिद्धिमाश्रित्य 'ईत्वमवकारादाविति वक्तव्यम्' इति वार्तिकं प्रत्याख्यातम् । ततश्च विश्वपाः इत्यत्र विजेव । विश्वपा औ इति स्थिते 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति प्राप्ते ।

(२३९) दीर्घाज्जसि च । 'प्रथमयोः' इत्यत पूर्वसवर्ण इति 'नादिचि' इत्यतो नेति

समय–सायाह्नः । सायाह्नि–सायाहनि–सायाह्ने । ह्रस्व अकारान्त शब्द समाप्त हुए । आकारान्त शब्द 'विश्वपा' के प्रथमा एक वचन में—विश्वपाः ।

विवरण—संख्यावाचक शब्द, वि तथा साय शब्द के पश्चाद्वर्ती 'अह्न' शब्द को ङि विभक्ति में (संख्या च, विश्व, सायश्च—संख्याविसायाः, ते पूर्वे यस्मात्—बहुव्रीहि), 'अहन्' आदेश विकल्प से होता है । (क) द्व्यह्न+(इ) ङि, <द्व्यहन्+इ (अह्न=अहन्), <द्व्यह्न्+इ <द्व्यह्नि ('अन्' के 'अ' का लोप "विभाषा ङिश्योः"—२२७) । (ख) लोप न होने पर—द्व्यहनि । (ग) 'अहन्' आदेश न होने पर द्व्यह्न+इ <द्व्यह्ने (गुण-सन्धि) ।

विशेष—वि+अह्न—'व्यह्न' शब्द की रूपसिद्धि दिखला रहे हैं । 'वि+अहन्' में समासादि कार्य 'द्व्यह्न' शब्द के समान जाने जायँ । (क) प्रथमा के एकवचन में—व्यह्न+सु, <व्यह्न+र्, <व्यह्नः । अर्थ—बीता हुआ दिन । (ख) इसी प्रकार सप्तमी के एकवचन में 'व्यह्नि', 'व्यहनि' तथा 'व्यह्ने' तीन रूप बनेंगे । (ग) तदनुसार 'सायाह्न' शब्द में भी सप्तमी के एकवचन में 'सायाह्नि', 'सायाहनि' तथा 'सायाह्ने' तीन रूप बनेंगे । 'सायाह्न' शब्द का अर्थ—'अह्नः सायः सायाह्नः (अर्थात् दिन का अन्तिम भाग) । शेष रूप 'राम' शब्द के समान जाने जायँ । इस प्रकार अकारान्त शब्दों की रूपसिद्धि का निदर्शन समाप्त होता है ।

'द्व्यह्न' शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	द्व्यह्नः	द्व्यह्नौ	द्व्यह्नाः
द्वि०	द्व्यह्नम्	द्व्यह्नौ	द्व्यहः
तृ०	द्व्यह्नेन	द्व्यहाभ्याम्	द्व्यहैः
च०	द्व्यह्नाय	द्व्यहाभ्याम्	द्व्यहेभ्यः
पं०	द्व्यह्नात्	द्व्यहाभ्याम्	द्व्यहेभ्यः
ष०	द्व्यह्नस्य	द्व्यह्नयोः	द्व्यहानाम्
स०	द्व्यह्नि, द्व्यहनि, द्व्यह्ने	द्व्यह्नयोः	द्व्यहेषु
सं०	हे द्व्यह्न	हे द्व्यह्नौ	हे द्व्यह्नाः

इसी प्रकार 'व्यह्न' 'सायाह्न' आदि शब्दों के रूप समझे जायँ ।

आकारान्त शब्द विश्वपा+स् (सु), <विश्वपा+र् (स्=र्), विश्वपाः (र्=:) । अर्थ विश्वं पाति–विश्व का रक्षक ।

(२३९) पद—दीर्घात्, जसि, च । अनुवृत्ति–पूर्वसवर्णः, न, इचि । विधि(निषेध)सूत्र ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परे पूर्वसवर्णदीर्घो न स्यात् । वृद्धिः । विश्वपौ । सवर्णदीर्घः–विश्वपाः । यद्यपीह औङि 'नादिचि' (सू १६५) इत्येव सिद्धम् । जसि तु सत्यपि पूर्वसवर्णदीर्घे क्षतिर्नास्ति, तथापि 'गौर्यौ' 'गौर्यः' इत्याद्यर्थं सूत्रमिहापि न्याय्यत्वादुपन्यस्तम् । (२४०) आतो धातोः ६ । ४ । १४० ॥ आकारन्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्याङ्गस्य लोपः स्यात् ।

इचीति च अनुवर्तते । तदाह—दीर्घादित्यादिना । नन्विदं सूत्रं व्यर्थम्, 'नादिचि' इत्येव सिद्धेरिति शङ्कते—यद्यपीह औङि नादिचीत्येव सिद्धमिति । ननु जसि विश्वपा अस् इति स्थिते पूर्वसवर्णदीर्घनिषेधार्थमिदं सूत्रमावश्यकम्, तत्र 'नादिचि' इत्यस्याप्रवृत्तेरित्यत आह—जसि त्विति । मास्तु पूर्वसवर्णदीर्घनिषेधः; पूर्वसवर्णदीर्घे सत्यपि जसि विश्वपाः इति सिध्यति; तन्निषेधे सत्यपि 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति कृतेऽपि विश्वपाः इत्येव रूपं सिध्यति, अतः किं तन्निषेधेनेत्यर्थः । परिहरति—तथापीति । इत्यादीति । आदिना लक्ष्म्यावित्यादि-सङ्ग्रहः । तत्र 'नादिचि' इत्यस्याप्रसक्त्या तन्निषेध आवश्यक इति भावः । ननु 'दीर्घा-ज्जसि च' इति सूत्रं यदि गौर्यौ इत्याद्यर्थमेव, तर्हि ईदन्ताधिकारे गौरीशब्दनिरूपणावसर एव तदुपन्यासो युक्त इत्यत आह—इहापि न्याय्यत्वादिति । विश्वपावित्यत्र 'नादिचि' इत्यस्य 'दीर्घाज्जसि' च इत्यस्य च प्राप्तौ परत्वेन 'दीर्घाज्जसि च' इत्यस्यैव उपन्यासौ-चित्यादित्यर्थः । 'अमि पूर्वः'–विश्वपाम् । औटि–विश्वपौ । शसि–विश्वपा अस् इति स्थिते पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते ।

(२४०) आतो धातोः । अङ्गस्येति भस्येति चाधिकृतम् । धातोरित्यात इति षष्ठ्यन्तेन विशेष्यते । तदन्तविधिः । 'अल्लोपोऽनः' इत्यतो लोप इत्यनुवर्तते । तदाह—आकारान्तो

मूलार्थ—दीर्घ से 'जस्' और 'इच्' के पश्चाद्वर्ती होने पर पूर्वसवर्ण-दीर्घ एकादेश नहीं होता है । यद्यपि 'विश्वपा' शब्द में "नादिचि" सूत्र से निषेध सिद्ध रहा और 'जस्' में पूर्वसवर्ण दीर्घ होने पर कोई क्षति नहीं है, तथापि 'गौर्यौ' 'गौर्यः' इत्यादि प्रयोगों के लिये इसकी उपयोगिता है । फिर भी दीर्घान्त होने से उसका यहाँ निर्देश कर दिया गया है ।

विवरण—सूत्रार्थ पूरा करने के लिए "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" (१६४) सूत्र से 'पूर्वसवर्णः' एवं "नादिचि" (१६५) से 'न' तथा 'इच्' (प्रत्याहार) की अनुवृत्ति लाई जाती है । "पूर्वपरयोः" (६८) का अधिकार है । तदनुसार सूत्र का अर्थ है—दीर्घ से 'जस्' (प्रथमा-बहुवचन) तथा 'इच्' (इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ) के पश्चाद्वर्ती होने पर पूर्व-पर के स्थान में सवर्ण-दीर्घ नहीं होता । उदाहरण—(क) विश्वपा+औ—इस स्थिति में "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" (१६४) सूत्र से पूर्वसवर्ण-दीर्घ प्राप्त था, किन्तु यहाँ दीर्घ-आकार (पा) से 'इच्' ('औ') के पश्चाद्वर्ती होने पर दीर्घ का निषेध हुआ, <विश्वपौ (आ+औ—"वृद्धिरेचि"—७२ से वृद्धि हुई) । (ख) विश्वपा+जस्, <विश्वपा+अस् ('ज्' की इत्संज्ञा), <विश्वपास् (पूर्वसवर्ण-दीर्घ), विश्वपार् (स् = र्), विश्वपाः (र् = :) ।

विशेष—'विश्वपौ' में तो 'रामौ' के समान स्थिति है । अतः पूर्वसवर्ण-दीर्घ का निषेध "नादिचि" (१६५) से हो जायगा । प्रकृत सूत्र की उपयोगिता कुछ भी नहीं है । तथापि 'दीर्घ' का प्रसङ्ग होने के कारण यहाँ निर्देश कर दिया गया । वास्तविक उपयोगिता गौर्यौ (गौरी+औ) तथा गौर्यः (गौरी+अस्) आदि उदाहरणों में है । इन उदाहरणों में 'अवर्णान्त दीर्घ' न होने के कारण "नादिचि" (१६५) का प्रसङ्ग नहीं है । अतः इस सूत्र से पूर्वसवर्ण-दीर्घ का निषेध होकर 'यण्'–सन्धि होती है ।

(२४०) पद—आतः, धातोः । अनुवृत्ति—लोपः, भस्य, अङ्गस्य । विधिसूत्र ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अलोऽन्त्यस्य' (सू. ४२)। विश्वपः। विश्वपा। विश्वपाभ्यामित्यादि। एवं शङ्खध्मादयः। 'धातोः' किम्? हाहान्। टा सवर्णदीर्घः। हाहा। ङे वृद्धिः। हाहै। ङसिङसोर्दीर्घः। हाहाः। ओसि वृद्धिः। हाहौः। ङौ आद्गुणः। हाहे। शेषं विश्वपावत्। 'आतः'

य इति। अलोऽन्त्यस्येति। अन्त्यस्याऽऽकारस्य लोप इति शेषः। विश्वपाभ्यामिति। अभत्वादाल्लोपो नेति भावः। इत्यादीति। विश्वपाभिः। विश्वपे। विश्वपः। विश्वपोः। विश्वपाम्। विश्वपि। विश्वपोः। विश्वपासु। एवं शङ्खध्मादय इति। शङ्खेन शङ्खे वा धमतीति। शङ्खध्माः। ध्मा-शब्दाग्निसंयोगयोः, पूर्ववत् विच् क्विब्वा। 'आदिना सोमपादिसङ्ग्रहः। सोमं पिबतीति सोमपाः। कीलालं पिबतीति कीलालपाः। वारिपर्यायेषु 'पयः कीलालमस्तम्' इत्यमरः। मधु पिबतीति मधुपाः इत्यादि। धातोः किमिति। 'आतोऽनापः' इत्येव सूत्र्यताम्, तावतैव रमा इत्याद्यावन्तेषु लोपव्यावृत्तेरिति प्रश्नः। हाहानिति। पूर्वसवर्णदीर्घे 'तस्माच्छसः'इति नत्वम्। हाहा इति गन्धर्वविशेषवाचकमव्युत्पन्नं प्रातिपदिकमेतत्। 'हाहा हूहूश्चैवमाद्या गन्धर्वास्त्रिदिवौकसाम्' इत्यमरः। सुटि विश्वपावत्। शसि हाहा अस् इत्यत्रापि 'आतोऽनापः' इत्याल्लोपः स्यात्, अतो धातुग्रहणमित्यर्थः।

मूलार्थ—आकारान्त धातु के रहने पर तदन्त-भसंज्ञक अङ्ग का लोप होता है। फलतः अन्त्य वर्ण का लोप होगा—विश्वपः। विश्वपाभ्याम् इत्यादि। इसी प्रकार 'शङ्खध्मा' आदि शब्द भी जाने जायँ। धातोः क्यों कहा? हाहान्। 'टा'-में सवर्णदीर्घ—हाहा। 'ङे'—में वृद्धि—हाहै। 'ङसि' तथा 'ङस्' में दीर्घ—हाहाः। 'ओस्' विभक्ति में वृद्धि—हाहौः। 'ङि'—विभक्ति में गुण—हाहे। अवशिष्ट रूप विश्वपा के समान हैं। 'आतः' इस योग-विभाग करने से धातु-भिन्न आकार का भी लोप कहीं होता है। क्त्वः। श्नः। आकारान्त समाप्त।

विवरण—सूत्रार्थ को पूरा करने के लिये "अल्लोपोऽनः" (२३४) सूत्र से 'लोपः' की अनुवृत्ति लाई जारही है तथा "भस्य" एवम् "अङ्गस्य" का अधिकार है। 'धातोः' विशेष्य-वाची पद है। इसका विशेषण है 'आतः'। अतः तदन्तविधि होकर 'आकारान्त' अर्थ का लाभ होता है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह है कि "आकारान्त धातु जिसके अन्त में हो, ऐसे 'भ'-संज्ञक अङ्ग का लोप हो"। "अलोन्त्यस्य" (४२) परिभाषा से भसंज्ञक-अङ्ग के अन्त्य वर्ण का लोप होगा। **उदाहरण**—(क) विश्वपा+अस् (शस्), <विश्वप्+अस् ('विश्वपा' शब्द में आकारान्त धातु 'पा' है, तदन्त 'भ'संज्ञक अङ्ग 'विश्वपा' है—उसके अन्त्य 'आ' का लोप), <विश्वपस्, <विश्वपर् (स्=र्), <विश्वपः (र्=:)। (ख) विश्वपा+भ्याम्, <विश्वपाभ्याम् ('आ'-लोप नहीं)। इसी प्रकार शङ्खध्मा आदि शब्दों की रूपसिद्धि जानी जाय।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र के स्थान पर "आतोऽनापः"—इस प्रकार शब्द-योजना करने से भी काम चल सकता था। तदनुसार आवन्त-भिन्न (अनापः) आकारान्त शब्दों के भसंज्ञक अङ्ग के अन्तिम वर्ण का लोप होने की कल्पना से 'विश्वपः' आदि रूपसिद्धि हो जाती। अतः 'धातोः' पद का प्रयोग क्यों किया? (क) उत्तर 'धातोः' के अभाव में अव्युत्पन्न दीर्घ-आकारान्त 'हाहा' शब्द की द्वितीया-विभक्ति 'हाहान्' (हाहा+शस्) में भी आकार का लोप होने लगेगा। वह इष्ट नहीं है। उसी प्रसङ्ग में 'हाहा शब्द की अन्य विभक्तियों में रूप-रचना बतलाई जारही है (ख) हाहा+(आ) टा, <हाहा (सवर्ण-दीर्घ)। (ग) हाहा+ए (ङे), <हाहै (वृद्धि)। (घ) हाहा+अस् (ङसि एवं ङस् दोनों में), <हाहास् (दीर्घ), <हाहार् (स्=र्), <हाहाः (र्=:)। (ङ) हाहा+ओस्, <हाहौस् (वृद्धि), <हाहौर् (स्=र्), <हाहौः (र्=:)। (च) हाहा+इ (ङि), <हाहे (आ+इ=गुण)। अवशिष्ट रूप 'विश्वपा' के समान होंगे।

विशेष—कहीं-कहीं प्रयोगों में धातु-भिन्न आकार का लोप भी मिलता है, अतः उनकी सिद्धि के लिये इस सूत्र का विभाजन किया जाता है—(१) आतः तथा (२) धातोः। योग-विभाग के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति योगविभागादधातोरप्याकारलोपः क्वचित्। क्त्वः। ष्नः। इत्यादन्ताः। हरिः। 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (सू १६४)। हरी। (२४१) जसि च ७। ३। १०९॥

टा सवर्णदीर्घ इति। टा इत्यविभक्तिकनिर्देशः प्रक्रियादशायां न दुष्यति। तृतीयैकवचने सवर्णदीर्घ इत्यर्थः। एवमग्रेऽपि योज्यम्। ङे वृद्धिरिति। हाहा ए इति स्थिते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धिरित्यर्थः। ङसिङसोरिति। हाहा अस् इत्यत्र सवर्णदीर्घ इत्यर्थः। ओसि वृद्धिरिति। हाहा ओस् इत्यत्र 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धिरित्यर्थः। ङौ आद्गुण इति। हाहा इ इत्यत्र 'आद् गुणः' इति गुण एकार इत्यर्थः। क्त्वा, ष्ना इति प्रत्ययौ अकारान्तौ विश्वपावत्। नन्वधातुत्वात् कथमिह आल्लोप इत्यत आह—आत इति। योगेति। 'आतो धातोः' इत्यत्र आत इति विभज्यते। आकारान्तस्य भस्याङ्गस्य लोपः स्यादित्यर्थः। तेन क्त्वः ष्नः इति शसि रूपं सिध्यति। धातोरिति योगान्तरम्। आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्याङ्गस्य लोपः स्यादित्यर्थः। आबन्तव्यावृत्त्यर्थं हाहादिव्यावृत्त्यर्थं चेदम्। आत इति योगविभागस्तु क्त्वः ष्नः इत्यादौ क्वचिदाल्लोपार्थः। ननु मालेवाचरति मालाः। आचारक्विबन्तात् कर्तरि क्विप्। सुबुत्पत्तिः। अत्र कृतेऽपि धातुग्रहणे शसादावाल्लोपो दुर्वारः, 'सनाद्यन्ताः' इति धातुत्वात् आदन्तत्वाच्च। न च 'अनाप इति वक्तव्यम्' इति वार्तिकादाबन्तेषु नाल्लोप इति शङ्क्यम्, उक्तरीत्या योगविभागमभ्युपगम्य 'अनाप' इति वार्तिकस्य भाष्ये प्रत्याख्यातत्वादिति चेन्मैवम्, एतद्वार्तिकभाष्यप्रामाण्यादेव आबन्तेभ्य आचारक्विबभावबोधनादिति शब्देन्दुशेखरे प्रपञ्चितम्। इत्यादन्तप्रकरणम्।

अथ इकारान्ता निरूप्यन्ते—हरिरिति। हरिशब्दात् सुः, रुत्वविसर्गौ। न च विसर्जनीयस्य अकारादुपरि उपसङ्ख्यानेनाच्त्वात् तस्मिन् परतो रेफादिकारस्य यणादेशः शङ्क्यः, यणादेशे कर्तव्ये विसर्जनीयस्यासिद्धत्वात्। प्रथमयोः पूर्वसवर्ण इति। हरि औ इति स्थिते अनेन पूर्वसवर्णदीर्घ सति हरी इति रूपमित्यर्थः। जसि हरि अस् इति स्थिते पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते।

(२४१) जसि च। 'ह्रस्वस्य गुणः' इत्यनुवर्तते। अङ्गस्येत्यधिकृतं ह्रस्वेन विशेष्यते।

प्रथम अंश से सामान्यतया धातुभिन्न आकारान्त शब्दों में आकार का लोप हो जायगा। अतः 'क्त्वः' (क्त्वा+अस् = ङसि में 'आ' का लोप हो गया। इसी प्रकार 'ष्नः' (ष्ना+अस् = ङसि) में भी 'आ' का लोप होता है। आकारान्त पुंल्लिङ्ग-शब्दों का निदर्शन समाप्त हुआ।

'विश्वपा' शब्द के रूप (संसार का रक्षक)

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	विश्वपाः	विश्वपौ	विश्वपाः
द्वि०	विश्वपाम्	विश्वपौ	विश्वपः
तृ०	विश्वपा	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभिः
च०	विश्वपे	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभ्यः
पं०	विश्वपः	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभ्यः
ष०	विश्वपः	विश्वपोः	विश्वपाम्
स०	विश्वपि	विश्वपोः	विश्वपासु
सं०	हे विश्वपाः	हे विश्वपौ	हे विश्वपाः

'हाहा' शब्द के रूप (गन्धर्व-विशेष)

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	हाहाः	हाहौ	हाहाः
द्वि०	हाहाम्	हाहौ	हाहान्
तृ०	हाहा	हाहाभ्याम्	हाहाभिः
च०	हाहे	हाहाभ्याम्	हाहाभ्यः
पं०	हाहाः	हाहाभ्याम्	हाहाभ्यः
ष०	हाहाः	हाहौः	हाहाम्
स०	हाहे	हाहौः	हाहासु
सं०	हे हाहाः	हे हाहौ	हे हाहाः

स्मरणीय—शङ्खध्मा, धनपा, अग्निध्मा आदि शब्दों के रूप 'विश्वपा' शब्द के समान होंगे।

(२४१) पद—जसि, च। अनुवृत्ति—ह्रस्वस्य, गुणः, अङ्गस्य। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'जस्' के पश्चाद्वर्ती होने पर ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणः स्याज्जसि परे। हरयः। (२४२) ह्रस्वस्य गुणः ७। ३। १०८॥ ह्रस्वस्य गुणः स्यात्सम्बुद्धौ। 'एङ्ह्रस्वात्–' (सू १९३) इति सम्बुद्धिलोपः। हे हरे। हरिम्। हरी। हरीन्। (२४३) शेषो घ्यसखि १। ४। ७॥ अनदीसञ्ज्ञौ ह्रस्वौ याविवर्णोवर्णौ तदन्तं सखिवर्जं घिसञ्ज्ञं स्यात्। 'शेषः' किम्? मत्यै? एकसञ्ज्ञा-

---

तदन्तविधिः। तदाह—ह्रस्वान्तस्येत्यादिना। हरय इति। अलोऽन्त्यपरिभाषया अन्त्यस्य गुणः, इकारस्य तालुस्थानसाम्यादेकारः, अयादेशः, रुत्वविसर्गाविति भावः।

(२४२) (हे) हरि स् इति स्थिते—ह्रस्वस्य गुणः। 'सम्बुद्धौ च' इत्यतः सम्बुद्धावित्यनुवर्तते। तदाह—ह्रस्वस्येत्यादिना। अनेन रेफादिकारस्य गुण एकारः। सम्बुद्धिलोप इति। एङः परत्वादिति भावः। न त्वत्र ह्रस्वात् परत्वमस्ति, परत्वान्नित्यत्वाच्च सम्बुद्धिगुणे कृते ह्रस्वात् परत्वाभावात्। हरिमिति। अमि पूर्वरूपे रूपम्। हरीनिति। पूर्वसवर्णदीर्घे 'तस्माच्छसः' इति नत्वम्।

(२४३) तृतीयैकवचने हरि आ इति स्थिते घिकार्यं वक्ष्यन् घिसंज्ञामाह—शेषो। 'यू स्त्याख्यौ' इत्यतो यू इत्यनुवर्तते। इश्च उश्च यू इवर्णश्च उवर्णश्च। 'ङिति ह्रस्वश्च' इत्यतो ह्रस्व इत्यनुवर्तते। तच्च यूभ्यां प्रत्येकमन्वेति। उक्तात् नदीसंज्ञकात् अन्यः शेषः। स च यूभ्यां प्रत्येकमन्वेति। शब्दस्वरूपमित्यध्याहार्यं यूभ्यां विशेष्यते। तदन्तविधिः। तदाह—अनदीसंज्ञावित्यादिना। शेषः किमिति। अनदीसंज्ञकत्वविशेषणं किमर्थमिति प्रश्नः। मत्यै

सन्दर्भ—क्रमप्राप्त इकारान्त पुंलिङ्ग—शब्दों में 'हरि' शब्द को अभिलक्षित कर रचना-प्रक्रिया बतलाई जारही है। (क) तदनुसार हरि+सु <हरि+स् ('उ' की इत्संज्ञा), <हरि+र् (स् = र्), हरिः (र् = :)। (ख) हरि+औ, <हरी (इ+औ = 'ई'—पूर्वसवर्णदीर्घ—"प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" (१६४)। (ग) हरि+जस्, <हरि+अस्—इस स्थिति में पूर्वसवर्ण-दीर्घ की प्राप्ति होने पर अपवाद के रूप में अग्रिम सूत्र की प्रवृत्ति होती है।

विवरण—अर्थ को पूर्ण करने के लिये सम्पूर्ण "ह्रस्वस्य गुणः" (७-३-१०८) सूत्र की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। "अङ्गस्य" का अधिकार हैं। ह्रस्व पद 'अङ्गस्य' का विशेषण है। अतः तदन्तविधि होती है। तदनुसार ह्रस्वान्त अङ्ग को 'जस्' विक्तक्ति के पश्चाद्वर्ती होने पर 'गुण' आदेश होता है"। उदाहरण—हरि+अम्, <हरे+अस् (ह्रस्वान्त अङ्ग 'हरि' के 'इ' को गुण= 'ए'), <हरय्+अस् (ए = अय्), <हरयर् (स् = र्), <हरयः (र् = :)।

विशेष—यह सूत्र पूर्वसवर्ण-दीर्घ का बाधक है।

(२४२) पद—ह्रस्वस्य, गुणः। अनुवृत्ति—सम्बुद्धौ। विधिसूत्र।

मूलार्थ—सम्बुद्धि के परवर्ती होने पर ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण होता है। 'एङ् ह्रस्वात्०" सूत्र से 'सम्बुद्धि' का लोप होता है। हे हरे। हरिम्। हरी। हरीन्।

विवरण—सूत्रार्थ को पूरा करने के लिए "सम्बुद्धौ च" (७-३-१०६) सूत्र से 'सम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति लाई जाती है। "अङ्गस्य" का अधिकार है। इस प्रकार स्थानी है 'ह्रस्वान्त अङ्ग' (अन्त्यवर्ण) तथा आदेश है—गुण। 'सम्बुद्धि' (सम्बोधन का एकवचन) का पश्चाद्वर्ती होना निमित्त है। उदाहरण—(क) (हे) हरि+'स्' (सु), <(हे) हरे+स् (इ = ए—गुण), <हे हरे—'स्'-लोप—"एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः"—१९३)। (ख) हरि+अम्, <हरिम् (इ+अ = इ-पूर्वरूप-"अमि पूर्वः—१९४)। (ग) हरि+औ, <हरी (पूर्वसवर्ण दीर्घ)। (घ) हरि+अस् (शस्), <हरीस् (इ+अ = ई—पूर्वसवर्ण दीर्घ), हरीन् (स् = न्—"तस्माच्छसो नः पुंसि"—१९६)।

(२४३) पद—शेषः, घि, असखि। अनुवृत्ति—यू, ह्रस्वः। संज्ञासूत्र।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धिकारात्सिद्धे शेषग्रहणं स्पष्टार्थम्। 'ह्रस्वौ' किम्? वातप्रम्ये। 'यू' किम्? मात्रे।

इति। शेषग्रहणाभावे 'ङिति ह्रस्वश्च'इति नदीत्वपक्षेऽपि घिसंज्ञा स्यात्। ततश्च 'आण्नद्याः' इत्याडागमे वृद्धौ 'घेर्ङिति' इति गुणे अयादेशे मतयै इति स्यादिति भावः। शेषग्रहणाभावेऽपि मत्य इत्यत्र घिसंज्ञा न भवति 'आ कडारादेका संज्ञा' इत्यनवकाशया नदीसंज्ञया बाधादित्यत आह—एकसंज्ञेति। वातप्रम्ये इति। ह्रस्वग्रहणाभावे वातप्रमी ए इति स्थिते ईकारान्तस्यापि घिसंज्ञा स्यात्। ततश्च 'घेर्ङिति' इति गुणे अयादेशे च वातप्रमये इति स्यात्, अतो ह्रस्वग्रहणमिति भावः। मात्रे इति। यू इत्यभावे मातृ ए इति स्थिते ऋकारान्तस्यापि घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति गुणे अकारे रपरत्वे मातरे इति स्यात्, अतः इदुताविति भावः। वस्तुतस्तु इदुताविति व्यर्थमेव। मात्रे इत्यत्र ऋकारान्तस्य घित्वेऽपि 'घेर्ङिति' इति गुणो न भवति 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इत्यत्र ङिग्रहणात् ज्ञापकात्। तद्धि मातरि इत्यादौ सप्तम्येकवचने गुणार्थम्। ऋकारान्तस्यापि घित्वे तु घेर्ङिति इत्येव गुणसिद्धौ किं तेन?

मूलार्थ—सखि शब्द को छोड़कर नदी-संज्ञा से भिन्न ह्रस्व इकारान्त तथा ह्रस्व उकारान्त शब्द 'घि' संज्ञक होते हैं। 'शेष' क्यों कहा? मत्यै। एक-संज्ञा के अधिकार से सिद्ध होने पर भी 'शेष' पद स्पष्टार्थक है। 'ह्रस्वौ' क्यों कहा? वातप्रम्ये। 'इदुतौ' क्यों कहा? मात्रे।

विवरण—संज्ञा है 'घि' तथा **संज्ञी** है 'शेषः'। 'शेष' शब्द का अर्थ स्पष्ट होने पर ही सूत्र का आशय विदित होगा। अष्टाध्यायी सूत्रक्रम में इस सूत्र के पूर्व "यू स्त्याख्यौ नदी" (१-४-३) सूत्र पढ़ा गया है। तदनन्तर उसी क्रम में "ङिति ह्रस्वश्च" (१-४-६) सूत्र भी विद्यमान है। यू = दीर्घ ईकारान्त तथा दीर्घ ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का बोधक है। इसके साथ ही 'ह्रस्वः' पद भी साहचर्य से विशेष अवस्था में स्त्रीलिङ्ग में 'ह्रस्व' इकारान्त तथा 'ह्रस्व' उकारान्त का बोधक होता है। इससे भिन्न शब्दस्वरूप 'शेष' पद से बोध्य होंगे। तदनुसार 'घि'-संज्ञक शब्दों में नदी-संज्ञक शब्दों के अतिरिक्त 'ह्रस्व' इकारान्त एवम् ह्रस्व उकारान्त शब्दों का समावेश होता है। 'ह्रस्व' इकारान्त शब्दों में भी 'सखि' शब्द इसका अपवाद है (असखि)। इस प्रकार 'नदी' संज्ञा में संकोच किया गया है। यह संकोच दो प्रकार का है—(१) पुंलिङ्ग में 'ह्रस्व' इकारान्त एवम् 'ह्रस्व' उकारान्त शब्द 'नदी' संज्ञक नहीं होते। (२) स्त्रीलिङ्ग-वाची 'ह्रस्व' इकारान्त एवं ह्रस्व उकारान्त शब्द ङिद्विभक्तियों में वैकल्पिक नदी संज्ञा न होने पर 'घि' संज्ञक माने जाते हैं। **उदाहरण**—'हरि' एवम् 'भानु' शब्द घि-संज्ञक हैं। **प्रत्युदाहरण**—(१) प्रकृत सूत्र में 'शेष' पद न रखने पर नदी-संज्ञा के प्रसङ्ग में भी 'घि'संज्ञा होने लगेगी। इसके फलस्वरूप 'मत्यै' (मति+ङे) में नदीसंज्ञा प्रयुक्त कार्य (आट्-आगम तथा वृद्धि) होकर घि-संज्ञा-प्रयुक्त कार्य भी होने लगेंगे। इस तरह (मति+ङे) मतयै रूप बनने लगेगा।

वस्तुतः यह युक्ति समीचीन नहीं है। दो संज्ञाओं की प्राप्ति में "आकडारादेका संज्ञा" (२३२) की उपस्थिति से नदी-संज्ञा के विषय को छोड़कर ही घि-संज्ञा होगी। अतः नदी-संज्ञा होने पर घि-संज्ञा की प्रवृत्ति नहीं होगी। तदनुसार 'मत्यै' में नदी-संज्ञा से सम्बद्ध ही कार्य होंगे। इस प्रकार प्रकृत सूत्र में 'शेष' पद का कोई प्रयोजन न होने से वह केवल स्पष्टार्थक है। २—सूत्र में 'ह्रस्वौ' पद का समावेश न करने पर दीर्घ ईकारान्त पुंलिङ्ग शब्द ('वातप्रमी') को भी 'घि' संज्ञा होने लगेगी। जिसके फलस्वरूप वातप्रमी+ए (ङे) इस अवस्था में 'घि'-संज्ञा होने के कारण गुण एवम् अय्-आदेश की प्रसक्ति होने से अनिष्ट रूप बनने लगेगा। वह न हो। अतः 'ह्रस्व' पद का समावेश किया गया। ३—सूत्र में 'इदुतौ' पद है। उसे न रखने पर ऋकारान्त शब्द को 'घि'-संज्ञा होने लगेगी। घि-संज्ञा होने से मातृ+ङे इस अवस्था में गुण आदेश होकर अनिष्ट रूप बनने लगेगा। इसके निवारणार्थ 'इदुतौ' पद का समावेश किया गया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२४४) आङो नाऽस्त्रियाम् ७ । ३ । १२० ॥ घेः परस्याङो ना स्यादस्त्रियाम् । आङिति टासञ्ज्ञा प्राचाम् । हरिणा । 'अस्त्रियाम्' किम् ? मत्या । **(२४५) घेर्ङिति ७ । ३ । १११ ॥** घिसञ्ज्ञकस्य ङिति सुपि गुणः स्यात् । हरये । 'घेः' किम् ? सख्ये ।

---

(२४४) आङो नाऽस्त्रियाम् । घेः परस्येति । 'अच्च घेः' इत्यतो घिग्रहणानुवृत्तेरिति भावः । हरिणेति । नादेशे 'अट्कुप्वाङ्' इति णत्वम् । ननु आङो विहितो नाभावः कथं टा इत्यस्य स्यादित्यत आह—आङितीति । प्राचामाचार्याणां शास्त्रे संज्ञितेत्यर्थः । मत्येति । 'स्त्रियां क्तिन्' इति क्तिन्नन्तमतिशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वान्नाभावो नेति भावः । हरिभ्याम् । हरिभिः । हरि ए इति स्थिते ।

(२४५) घेर्ङिति । 'सुपि च' इत्यतः सुपीति 'ह्रस्वस्य' इत्यतो गुण इति चानुवर्तते । तदाह—घिसंज्ञकस्येत्यादिना । यणोऽपवादः । हरये इति । गुणे अयादेशे । सुपि किं पट्वीति । 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीष् । तस्य ङित्त्वेऽपि सुप्त्वाभावात् तस्मिन् परतो न गुण इत्यर्थः । न च 'घेर्ङि' इत्येव सूत्र्यताम्, इद्ग्रहणं न कर्तव्यम् 'यस्मिन् विधिः' इति परिभाषया ङकारादौ सुपीत्यर्थलाभादिति वाच्यम्, एवं सति 'आण्नद्याः' इत्यत्रापि ङीत्येवानुवृत्तौ ङकारादेराम् आड् विधीयेत, ततश्च मत्यामित्यत्र आण्न स्यात्, आमो ङादित्वाभावात् । न च स्थानिवद्भावेन ङादित्वं शङ्क्यम्, अत्विधित्वात् स्थानिनो ङेर्ङकारस्यादित्वेनाश्रयणात् । इद्ग्रहणे तु स्थानिवद्भावः सम्भवति । अनुबन्धकार्ये

---

(२४४) पद—आङः, ना, अस्त्रियाम् । अनुवृत्ति—घेः । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—स्त्री-लिङ्ग के अतिरिक्त घि-संज्ञक शब्दों से परवर्ती 'आङ्' के स्थान पर 'ना' आदेश होता है । प्राचीन वैयाकरणों ने 'टा' को 'आङ्' कहा है । हरिणा । 'अस्त्रियां' क्यों कहा ? मत्या ।

सन्दर्भ—घिसंज्ञा-प्रयुक्त कार्य का निदर्शन किया जारहा है ।

विवरण—यहाँ स्थानी है 'आङ्' तथा आदेश है 'ना' । "अच्च घेः" (७-३-११९) सूत्र से 'घेः' की अनुवृत्ति आरही है । वह पञ्चमी-विभक्ति में होने से 'परवर्ती' अर्थ का बोधक होगा । तदनुसार सूत्रार्थ होगा—"स्त्रीलिङ्ग के अतिरिक्त ('अस्त्रियाम्') अन्य लिङ्गों में घिसंज्ञक शब्द से पश्चाद्वर्ती 'आङ्' के स्थान पर 'ना' आदेश हो" । उदाहरण—हरि+टा, <हरि+आ ('ट्' इत्संज्ञा-'चुटू'-१९९), <हरि+ना (आ=ना), <हरि+णा (न् = ण्-"अट्कुप्वाङ्नुम्०"—(१९७) = हरिणा । प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अस्त्रियां' पद रहने के कारण 'ह्रस्व' इकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द को घि-संज्ञा नहीं होती । अतः 'मत्या' (मति+टा) में घि-संज्ञा न होने से 'ना' आदेश नहीं हुआ ।

विशेष—'आङ्' पारिभाषिक शब्द है । प्राचीन आचार्यों ने तृतीया के एक वचन (टा) की 'आङ्' संज्ञा कही है[1] ।

(२४५) पद—घेः, ङिति । अनुवृत्ति—सुपि, गुणः । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—ङित्-सुप् परवर्ती होने पर 'घि'-संज्ञक शब्द को गुण होता है । हरये । 'घि' क्यों कहा ? सख्ये । 'ङिति' क्यों कहा ? हरिभ्याम् । 'सुपि' क्यों कहा ? पट्वी । "घेर्ङिति" (२४५) से गुण करने पर (अग्रिम सूत्र से पूर्वरूप) ।

विवरण—सूत्र में केवल स्थानी का निर्देश है—'घेः' । आदेश का निर्देश नहीं है । निमित्त-वाचक पद 'ङिति' है । ऐसी स्थिति में सूत्रार्थ की पूर्ति के लिये "सुपि च" (२०२) से 'सुपि' तथा "ह्रस्वस्य गुणः" (२४२) सूत्र से 'गुणः' की अनुवृत्ति की जारही है । तदनुसार 'गुण' आदेश होगा । किसके स्थान में ? 'घेः' = अर्थात् 'घि' संज्ञक अङ्ग के स्थान में । "अलोन्त्यस्य" परिभाषा

---

१. आङिति तृतीयैकवचनस्य पूर्वाचार्याणां संज्ञा । रूपावतारः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ङिति' किम्? हरिभ्याम्। 'सुपि' किम्? पट्वी। 'घेर्ङिति' इति गुणे कृते।

(२४६) ङसिङसोश्च ६। १। ११०॥ एङो ङसिङसोरति परे पूर्वरूपमेकादेशः

कर्तव्ये अनल्विधाविति निषेधाभावात् आमादेशदशायां ङेर्ङकारस्य इत्संज्ञालोपाभ्यामपहृतत्वेन आम्स्थान्यल्त्वाभावात् अनुबन्धानामनेकान्तत्वात्। एकान्तत्वपक्षेऽपि अल्ग्रहणेन अनुबन्धस्य ग्रहणं न भवति, 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' इत्यत्र शिद्ग्रहणात् ज्ञापकात्। अन्यथा इदम् इशित्यादिशितां शकारेणानुबन्धेन सहानेकाल्त्वादेव सिद्धे किं तेन? अत एव तिबाद्यादेशेषु पित्त्वादि सिध्यति। अत एव 'सेर्ह्यपिच्च' इत्यत्र अपिदित्यर्थवत्। अन्यथा पित्कार्यस्याल्विधित्वात्तत्र स्थानिवद्भावस्यैवाप्रसक्त्या हेः पित्त्वस्यैवाप्रसक्तौ किं तन्निषेधेन? तदिदं स्थानिवत्सूत्रे शब्देन्दुशेखरे प्रपञ्चितम्। गुणे कृत इति। ङसिङसोरिति शेषः। हरे अस् इति स्थिते अपदान्तत्वात् 'एङः पदान्तात्' इति पूर्वरूपे अप्राप्ते अयादेशे प्राप्ते।

(२४६) ङसिङसोश्च। 'एङः पदान्तात्' इत्यतः एङ इति, अतीति चानुवर्तते। 'अमि पूर्वः' इत्यतः पूर्व इत्यनुवर्तते। 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकृतम्। तदाह—एङो ङसिङसोरित्यादिना। हरेः इति। पूर्वरूपे रुत्वविसर्गौ। पञ्चम्येकवचनस्य षष्ठ्येकवचनस्य च रूप-

---

के अनुसार अन्त्यवर्ण के स्थान में गुण आदेश होगा। वह किस स्थिति में हो? 'ङिति सुपि'–अर्थात् घि-संज्ञक अंग से 'ङ्' इत्संज्ञक विभक्तियाँ परवर्ती हों तो। उदाहरण–हरि+ङे, <हरि+ए ('ङ्' इत्संज्ञा–"लशक्वतद्धिते"–१९५), <हरे+ए ('घि'-संज्ञक 'हरि' से पर ङित्सुप् 'ए', अतः अङ्ग को गुण—इ = ए), <हरय्+ए (ए = अय्), <हरये। प्रत्युदाहरण—१—सूत्र में 'घि'-संज्ञक अङ्ग का उल्लेख होने के कारण 'सख्ये' (सखि+ए) में गुण नहीं हुआ, क्योंकि 'सखि' शब्द को घि-संज्ञा नहीं होती ('असखि')। अन्यथा यहाँ भी 'सखि' में इकार को गुण होने लगता। २—सूत्र में गुण आदेश करने के लिये 'ङ्' इत्संज्ञक विभक्तियाँ निमित्तस्वरूप मानी हैं। अतः 'हरिभ्याम्' (हरि+भ्याम्) में 'इ' को गुण नहीं हुआ। ३—सूत्र में 'सुपि' अर्थात् 'ङित्' विभक्तियों के पर होने में ही गुण का विधान है। अतः 'पट्वी' (पटु+ङीप्—"वोतो गुणवचनात्"—४-१-४४) शब्द में 'ङीप्' प्रत्यय 'ङ्' इत् होने पर भी 'सुप्'-प्रत्यय न होने के कारण 'पटु' के 'उ' को गुण नहीं होता।

(२४६) पद—ङसि-ङसोः, च। अनुवृत्ति—एङः, अति, पूर्वरूपम् (एकः पूर्वपरयोः)। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'एङ्' से 'ङसि' तथा 'ङस्'-सम्बन्धी ह्रस्व अकार पर रहते हुए पूर्वरूप एकादेश होता है। हरेः। हर्योः। हरीणाम्।

विवरण—सूत्र में 'स्थानी' तथा 'आदेश' दोनों का निर्देश नहीं किया गया है। अतः "एङः पदान्तादति" (६-१-१०९) सूत्र से 'एङः' 'अति' तथा "अमि पूर्वः" (६-१-१०७) सूत्र से 'पूर्वः' (पूर्वरूपम्) की अनुवृत्ति लाये जाने से सूत्रार्थ पूरा होता है। फलतः सूत्रार्थ इस प्रकार है—"एङ् (ए, ओ) से 'ङसि' एवम् 'ङस्' सम्बन्धी ह्रस्व अकार के परवर्ती होने से पूर्व-पर के स्थान में 'पूर्वरूप' एकादेश होता है। उदाहरण—(क) हरि+अस् (ङसि), <हरे+अस् (गुण—"घेर्ङिति"—२४५), <हरे स् (ए+अ = ए—पूर्वरूप), <हरे र् (स् = र्), <हरेः (र्=:)। इसी प्रकार षष्ठी विभक्ति के एकवचन में भी रूप बनेगा। (ख) हरि+ओस् ('स्' की इत्संज्ञा का निषेध—"न विभक्तौ तुस्माः"—१९०), हर्य्+ओस् (इ = य्–यण्), हर्योर् (स् = र्) <हर्योः (र् = :)। (ग) हरि+आम्, <हरि+न्–आम् ('नुट्'-आगम–"ह्रस्वनद्यापो नुट्"—२०८), <हरी+नाम् (इ = ई–दीर्घ—"नामि"–२०९) <हरीणाम् (न = ण्)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्यात् । हरेः । हर्योः । हरीणाम् । (२४७) अच्च घेः ७ । ३ । ११९ ॥ इदुद्भ्या-मुत्तरस्य ङेरौत्स्याद् घेरन्तादेशश्चाकारः । वृद्धिः । हरौ । हर्योः । हरिषु । एवं श्रीपत्यग्नि-रविकव्यादयः । (२४८) अनङ् सौ ७ । १ । ९३ ॥ सख्युरङ्गस्यानङादेशः स्याद-

---

मेतत् । यद्यपि ङसिङसौ द्वौ, एङौ च द्वौ, तथापि न यथासङ्ख्यमिष्यते 'यथासङ्ख्यमनु-देशस्समानां स्वरितेन' इति सूत्रच्छेदमभ्युपगम्य यत्र स्वरितत्वं प्रतिज्ञातं तत्रैव यथा-सङ्ख्यविज्ञानादिति यथासङ्ख्यसूत्रभाष्ये स्पष्टम्, 'अच्च घेः' 'उपसर्गे घोः किः' इत्यादि-निर्देशाच्च । हर्योरिति । षष्ठीद्विवचने यणादेशे रूपम् । हरीणामिति । 'ह्रस्वनद्यापः' इति नुट्, 'नामि' इति दीर्घः, 'अट्कुप्वाङ्' इति णत्वम् । हरि इ इति स्थिते 'घेर्ङिति' इति गुणे प्राप्ते ।

(२४७) अच्च घेः । 'ङेराम्' इत्यतो ङेरित्यनुवर्तते । 'इदुद्भ्याम्' इति 'औत्' इति च सूत्रमनुवर्तते । तदाह—इदुद्भ्यामित्यादिना । अन्तादेश इति । अलोऽन्त्यपरिभाषालभ्यमेतत् । वृद्धिरिति । हर औ इति स्थिते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ हरौ इति रूपमित्यर्थः । हरिष्विति । 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वम् । अथ सखिशब्दात् सुः, सखि स् इति स्थिते ।

(२४८) अनङ् सौ । 'सख्युरसम्बुद्धौ' इत्यनुवर्तते । 'अङ्गस्य' इत्यधिकृतम् । तदाह—

---

(२४७) पद—अत्, च, घेः । अनुवृत्ति—इदुद्भ्याम्, औत् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—इकार एवम् उकार से परवर्ती 'ङि' के स्थान पर 'औ' तथा 'घि'-संज्ञक के स्थान पर 'अ' ('अत्') आदेश होता है । हर्योः । हरिषु । इसी तरह श्रीपति, अग्नि, रवि, कवि आदि शब्दों के रूप बनते हैं ।

विवरण—सूत्रार्थ पूरा करने के लिए "ङेराम्नद्याम्नीभ्यः" (७-३-११६) सूत्र से 'ङेः', तथा सम्पूर्ण सूत्र "इदुद्भ्याम्" (७-३-११७) एवं "औत्" (७-३-११८) की अनुवृत्ति करनी पड़ती है । तदनुसार समष्टिगत अर्थ होता है कि "ह्रस्व इकार और ह्रस्व उकार से परवर्ती (इदुभ्यामुत्तरस्य) 'ङि' के स्थान पर 'औ' तथा 'घि'संज्ञक शब्दसम्बन्धी अन्त्य-वर्ण के स्थान पर 'ह्रस्व-अकार' आदेश हो" । अतः यहाँ दो स्थानी हैं—(१) 'ङि' तथा (२) 'घिसंज्ञक का अन्त्यवर्ण' । इसी तरह उनके स्थान हर होनेवाले क्रमशः दो आदेश हैं—(१) 'औ' तथा (२) 'अ' । उदाहरण—(क) हरि+ङि, <हर+औ ('इ'='अ' तथा 'ङि'='औ') <हरौ (अ+औ—"वृद्धिरेचि"-७२) । (ख) हरि+ओस्, <हर्योस् (इ = य्—यण्), <हर्योर् (स् = र्), <हर्योः (र् = :) । (ग) हरि+सु (सुप्), <हरिषु ('स्' = 'ष्'—"आदेशप्रत्यययोः"—२१२) ।

'हरि' शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०	वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	हरिः	हरी	हरयः	पं०	हरेः	हरिभ्याम्	हरिभ्यः
द्वि०	हरिम्	हरी	हरीन्	ष०	हरेः	हर्योः	हरीणाम्
तृ०	हरिणा	हरिभ्याम्	हरिभिः	स०	हरौ	हर्योः	हरिषु
च०	हरये	हरिभ्याम्	हरिभ्यः	सं०	हे हरे	हे हरी	हे हरयः

स्मरणीय—श्रीपति, अग्नि, रवि, कवि आदि शब्दों के रूप 'हरि' शब्द के समान होंगे ।

(२४८) पद—अनङ्, सौ । अनुवृत्ति—सख्युः, असम्बुद्धौ, अङ्गस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' के परवर्ती होने पर अङ्ग-संज्ञक 'सखि' शब्द को 'अनङ्' होता है ।

सन्दर्भ—इकारान्त-पुंलिङ्ग 'सखि' शब्द के रूपों में 'हरि' शब्द की अपेक्षा भिन्नता होने से प्रसङ्गप्राप्त उनका निदर्शन किया जारहा है ।

विवरण—सूत्र में 'आदेश' का निर्देश है किन्तु 'स्थानी' का नहीं । अतः "सख्युरसम्बुद्धौ"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बुद्धौ सौ परे। 'ङिच्च' (सू ४३) इत्यन्तादेशः। (२४९) **अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा १।१।६५॥** अन्त्यादलः पूर्वो वर्ण उपधासञ्ज्ञः स्यात्। (२५०) **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ६।४।८॥** नान्तस्योपधाया दीर्घः स्यादसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे।

सख्युरङ्गस्येत्यादिना। सौ इति प्रथमैकवचनम्, न तु सप्तमीबहुवचनम्, असम्बुद्धाविति पर्युदासात्। अनङि ङकार इत्। नकारादकार उच्चारणार्थः। अनेकाल्त्वात् सर्वादेशत्वमाशङ्क्य आह—ङिच्चेति।

(२४९) सखन् स् इति स्थिते उपधाकार्यं वक्ष्यन् उपधासंज्ञामाह—अलोऽन्त्यात्। अल इति पञ्चमी अन्त्यादिति सामानाधिकरण्यात्। अल्प्रत्याहारः वर्णपर्यायः। पूर्वोऽप्यलेव गृह्यते, साजात्यादित्याह—अन्त्यादल इत्यादिना। अलः किम्? शिष्ट इत्यत्र शास्धातौ अस् इति सङ्घातात् पूर्वशकारस्य उपधात्वं न भवति। अन्यथा 'शास इदङ्हलोः' इति शकारस्य इकारप्रसङ्गः। वर्णग्रहणं किम्? शास्धातौ शा इति समुदायस्य उपधात्वं न भवति। अन्यथा शा इति समुदायस्य इकारः स्यात्। न चालोऽन्त्यपरिभाषया आकारस्यैव इकारो भवतीति वाच्यम्, 'नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिः' इति तन्निषेधात्।

(२५०) सर्वनामस्थाने। 'नोपधायाः' इति सूत्रमनुवर्तते। न इति लुप्तषष्ठीकं पदम्। तेनाङ्गस्येत्यवयवषष्ठ्यन्तं विशेष्यते। तदन्तविधिः। 'ढ्रलोपे' इत्यतो दीर्घ इत्यनुवर्तते। तदाह—नान्तस्येत्यादिना। सखान् स् इति स्थिते।

(७-१-९२) सूत्र की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। "अङ्गस्य" (२००) का अधिकार है। सौ = 'सु' शब्द की प्रथमा के एकवचन में है न कि सप्तमी के बहुवचन में। कारण यह है कि सूत्र में 'सौ' का विशेषण 'असम्बुद्धौ' पर्युदास के रूप में उल्लिखित है। अतः सूत्रार्थ होता है—"सम्बुद्धिभिन्न 'सु' (अर्थात् प्रथमा के एकवचन) विभक्ति के परवर्ती होने पर 'सखि'-शब्द के अङ्ग के स्थान में 'अनङ्' हो"। 'अनङ्' आदेश 'ङित्' होने से अन्तिम वर्ण के स्थान पर होगा। उदाहरण—सखि<सु, <सख् अन्+स् ('उ' की इत्संज्ञा एवं 'इ' के स्थान पर 'अन्'-आदेश)। ऐसी स्थिति में आगे के सूत्रों द्वारा प्रकिया बतलाई जारही है।

(२४९) **पद**—अलः, अन्त्यात्, पूर्वः, उपधा। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—अन्त्य 'अल्' से पूर्व-वर्ण की 'उपधा' संज्ञा होती है।

विवरण—'उपधा' **संज्ञा** है तथा **संज्ञी**—'अन्त्याद् अलः पूर्वः' (अल्)। तदनुसार समुदाय के अन्तिम वर्ण से पूर्व-वर्ण को 'उपधा' कहते हैं। उदाहरण—सख्-अन्-इ स्थिति में उपान्त्य वर्ण 'अ' है, वह उपधा-संज्ञक माना जायगा।

(२५०) **पद**—सर्वनामस्थाने, च, असम्बुद्धौ। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, नः, उपधायाः, दीर्घः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनाम-स्थान के परवर्ती होने पर नकारान्त उपधा की दीर्घ होता है।

विवरण—सूत्र में केवल निमित्त-वाचक पद विद्यमान हैं। 'स्थानी' तथा 'आदेश' दोनों के परिज्ञान के लिए अनुवृत्ति का आश्रय लेना पड़ता है। अतः "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः (६-३-१११) सूत्र से 'दीर्घः' तथा सम्पूर्ण सूत्र "नोपधायाः" की अनुवृत्ति लाई जाती है। "अङ्गस्य" (२००) का अधिकार है। 'नोपधायाः' में 'नः' षष्ठी-विभक्ति है। उसका लोप हुआ है। "अङ्गस्य" का विशेषण 'नः' है। तदन्त-विधि होने से सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान परे रहते 'नकारान्त'-अङ्ग की उपधा (स्थानी) को दीर्घ आदेश होगा। सर्वनामस्थान = सु, औ, जस्, अम्, औट् हैं। उदाहरण—प्रकृत शब्द में सखन्+स्—में अङ्ग की उपधा=उपान्त्य वर्ण 'अ' को दीर्घ होगा—सखान्+स्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२५१) अपृक्त एकाल्प्रत्ययः १ । २ । ४१ ॥ एकाल्प्रत्ययो यः सोऽपृक्तसञ्ज्ञः स्यात् । **(२५२) हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् ६ । १ । ६८ ॥** हलन्तात्परं दीर्घाद् यौ ङ्यापौ तदन्ताच्च परं सु ति सि इत्येतदपृक्तं हल् लुप्यते । 'हल्ङ्याब्भ्यः' किम् ? ग्रामणीः । 'दीर्घात्' किम् ? निष्कौशाम्बिः । अतिखट्वः । 'सुतिसि' इति किम् ?

---

(२५१) अपृक्तकार्यं वक्ष्यन् अपृक्तसंज्ञामाह—अपृक्त इति । **एकालिति कर्मधारयः ।** अत्रैकशब्दोऽसहायवाची । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । सु इत्यस्यापृक्तसंज्ञायाम् ।

(२५२) हल्ङ्याब्भ्यो । हल् च ङी च आप् च इति द्वन्द्वः । दिग्योगे पञ्चमी । परमित्यध्याहार्यम् । समासैकदेशयोरपि ङ्यापोरेव दीर्घादिति विशेषणम्, न तु हलः, असम्भवात् । एवं च दीर्घादिति द्वित्वे एकवचनमार्षम् । हल्ङ्याब्भ्य इत्यस्य सुतिस्याक्षिप्तप्रकृतिविशेषणतया प्रत्ययग्रहणपरिभाषया च तदन्तविधिः । ततश्च हलन्ताच्च दीर्घङ्याबन्ताच्च परमिति लब्धम् । सुतिसि इति समाहारद्वन्द्वः । अपृक्तमिति हलिति च सामानाधिकरण्येनान्वेति । उकारे इकारे च लुप्ते परिशिष्टः सकारस्तकारश्च सुतिसि इत्यनेन विवक्षितः । ततश्च हलित्यनेन सामानाधिकरण्यं न विरुध्यते । 'लोपो व्योः' इत्यतो लोप इत्यनुवर्तते । तच्च इह कर्मसाधनमाश्रीयते । लुप्यत इति लोपः । कर्मणि घञ् । तदाह—हलन्तात्परमित्यादिना । हल्ङ्याब्भ्यः किमिति । राम इत्यादावदीर्घान्तत्वान्न दोष इति प्रश्नः । ग्रामणीरिति । ग्रामं नयतीति विग्रहः । 'णीञ् प्रापणे' 'सत्सूद्विष' इत्यादिना क्विप् । 'अग्रग्रामाभ्यां नयतेर्णो वाच्यः' इति णत्वम् । हल्ङ्याबन्तत्वाभावान्न सुलोपः । दीर्घात् किमिति । ङ्यापोर्दीर्घत्वान्व्यभिचारात् किमर्थं दीर्घत्वविशेषणमिति प्रश्नः । निष्कौशाम्बिः । अतिखट्व इति । निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः, खट्वामतिक्रान्त इति विग्रहे 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या, 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थं द्वितीयया' इति समासः । 'गोस्त्रियोः' इति

---

(२५१) पद—अपृक्तः, एकाल्, प्रत्ययः । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—एक-वर्णात्मक प्रत्यय की 'अपृक्त' संज्ञा होती है ।

विवरण—'अपृक्त' संज्ञा है । 'एकाल्प्रत्ययः' संज्ञी । एकाल् = एकश्चासौ अल् च—कर्मधारय समास है । एक शब्द केवलार्थक है (असहायवाची) । अर्थात् एकवर्णात्मक प्रत्यय 'अपृक्त' संज्ञक होता है । **उदाहरण**—सखान्+स्—इस स्थिति में 'स्' विभक्ति प्रत्यय एकवर्णात्मक होने से अपृक्त-संज्ञक हुआ ।

(२५२) पद—हल्ङ्याभ्यः, दीर्घात्, सुतिसि, अपृक्तं, हल् । **अनुवृत्ति**—लोपः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—हलन्त से परवर्ती सु, ति, सि सम्बन्धी 'अपृक्त हल्' एवं दीर्घ ङी तथा आप् से परवर्ती 'सु' सम्बन्धी 'अपृक्त हल्' का लोप होता है । 'हल्ङ्याभ्यः' क्यों कहा ? ग्रामणीः । 'दीर्घात्' क्यों कहा ? निष्कौशाम्बिः । अतिखट्वः । 'सुतिसि' क्यों कहा ? अभैत्सीत् । 'तिप्' के साहचर्य से 'सिप्' का ग्रहण होने के कारण 'सिच्' का ग्रहण नहीं होता । 'अपृक्त' क्यों कहा ? राजा । संयोगान्त लोप के असिद्ध होने के कारण 'न्'–लोप नहीं हुआ । सखा । हे सखे ।

विवरण—'अपृक्त' हल् का लोप-विधान किया जा रहा है । इस हेतु "लोपो व्योर्वलि" (६-१-५६) सूत्र से 'लोपः' पद की अनुवृत्ति की जारही है । सूत्रस्थ 'हल्ङ्याब्भ्यः' पद में द्वन्द्व-समास है—हल् च, ङी च, आप् च, तेभ्यः । पञ्चमी-विभक्ति होने से 'पर' पद का अध्याहार किया जाता है । 'दीर्घात्' पद 'ङी' और 'आप्' का विशेषण है, क्योंकि व्यञ्जन (हल्) दीर्घ नहीं होते । 'दीर्घात्' में एकवचन का प्रयोग आर्ष माना जाय । 'हल्ङ्याभ्यः' पद सु, ति, सि से आक्षिप्त प्रकृति का विशेषण है । अतः तदन्तविधि द्वारा हलन्त, दीर्घ ईकारान्त (ङ्यन्त) तथा दीर्घ आबन्त से परवर्ती सु, ति, सि सम्बन्धी अपृक्त हल् का लोप अपेक्षित है । 'सुतिसि' में समाहार-द्वन्द्व समास

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभैत्सीत् । तिपा सहचरितस्य सिपो ग्रहणात्सिचो ग्रहणं नास्ति । 'अपृक्तम्' इति किम् ? बिभर्ति । 'हल्' किम् ? बिभेद । प्रथमहल् किम् ? राजा । नलोपादिर्न स्यात्, संयोगान्त-

---

ह्रस्वत्वम् । अत्र ङ्याप्पोर्ह्रस्वत्वान्न सुलोपः । सुतिसि इति किम् अभैत्सीदिति । भिदेर्लुङि सिच् । अत्र तकारात् सकारस्य लोपो न, सुतिस्यन्यतमत्वाभावादित्यर्थः । ननु सिच-स्सिरेवायमित्यत आह—तिपेति । तिपा सहचरितस्य विभक्तिरूपस्यैव ग्रहणात् सिचो ग्रहणं नेत्यर्थः । अपृक्तमिति किं बिभर्तीति । अत्र ति इति समुदायस्य न हल्त्वम् । तकारस्तु यद्यपि तेरवयवो हल्, तथापि तस्य नापृक्तत्वम् । वस्तुतस्तु उकारे इकारे च लुप्ते परिशिष्टः सकारस्तकारश्च सुतिसि इत्यनेन गृह्यते, हल्शब्दसामानाधिकरण्यादित्युक्तम् । नात्र इकारलोपोऽस्ति अतो हल्ग्रहणेनैव बिभर्तीत्यत्र लोपाभावसिद्धेः अपृक्तग्रहणस्य नेदं प्रत्युदाहरणम् । द्वितीयहल्ग्रहणस्य प्रयोजनं पृच्छति—हल् किमिति । बिभेदेति । भिदेर्लिट् तिप् णल् । णलः अकारस्य हल्त्वाभावान्न लोपः । प्रथमहल् किमिति । राजन् स् इति स्थिते उपधादीर्घे संयोगान्तलोपेनैव राजेत्यादिसिद्धेरिति प्रश्नः । नन्विदं राजेति कथं प्रत्युदाहरणम् । संयोगान्तलोपेनैव अन्यथासिद्धत्वादित्यत आह—नलोपादिर्न स्यादिति । संयोगान्त-लोपे सति नलोपो न स्यादिति भावः । अभिनोऽत्रेत्यत्र उत्वमादिशब्दार्थः । भिदेर्लङि सिप् । 'इतश्च' इति इकारलोपः । 'सिपि धातो रुर्वा' इति रुत्वम् । सलोपः । अत्र 'अतो रोरप्लुतात्' इत्युत्वं न स्यात् । कुत इत्यत आह—संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वादिति । हल्ङ्या-दिलोपस्तु नासिद्धः, षष्ठप्रथमपादस्थत्वादिति भावः । अत्र क्वचित् पुस्तकेषु 'दीर्घात्

है—सु च, ति च, सि च । इनमें से 'सु' का उकार तथा 'ति' एवं 'सि' के इकार की इत्संज्ञा एवं लोप होने पर अवशिष्ट स्, त, स् एकवर्णात्मक व्यञ्जन के रूप में प्राप्त होते हैं । (स्) सु प्रथमा का एकवचन है । (त) 'ति' और (स्) 'सि'—तिङ् प्रत्यय हैं । ये क्रमशः प्रथम तथा मध्यम पुरुष के एकवचन हैं । हलन्त से परवर्ती 'सु, ति, सि' ये तीनों प्रत्यय मिलते हैं, किन्तु 'ङी और आप्' से पर केवल 'सु' प्रत्यय ही मिलता है । ङी = ङीप्, ङीष् तथा ङीन् का बोधक है । आप् = टाप्, ङाप् तथा चाप् का ग्रहण होता है । उदाहरण—(क) सखान्+स्—इस स्थिति में हलन्त नकारान्त अङ्ग के परवर्ती 'स्' (सु) (अपृक्त हल्) का लोप होकर 'सखान्' रूप बनता है । (ख) हलन्त अङ्ग से परवर्ती 'त्' (ति) सम्बन्धी अपृक्त हल् के लोप का उदाहरण अहन्+त् (ति), <अहन् है । (ग) 'सि' सम्बन्धी अपृक्त हल् के लोप का उदाहरण अहन्+स् (सि), <अहन् है । (घ) दीर्घ ङी से परे स् (सु) लोप का उदाहरण नदी+स् (सु), <नदी है । दीर्घ 'आप् से परे 'सु' के लोप का उदाहरण अजा+स् (सु), <अजा है ।

प्रत्युदाहरण—१—सूत्र में 'हल्ङ्याभ्यः' पद का समावेश होने से 'ग्रामणीः' (ग्रामणी+स्) में 'ग्रामणी' शब्द से पर 'स्' अवश्य है, किन्तु 'ग्रामणी' शब्द न तो हलन्त है, न ङ्यन्त है और न आवन्त है । अतः 'स्' का लोप नहीं हुआ । 'रु' तथा विसर्ग हुए । २—सूत्र में दीर्घपद न रखने पर 'निष्कौशाम्बिः' (निष्कौशाम्बि+स्) तथा अतिखट्वः (अतिखट्व+स्) दोनों उदाहरणों में 'कौशाम्बि' तथा 'खट्व' शब्दों में हुए 'ह्रस्व' को स्थानिवद्भाव करने से क्रमशः ङ्यन्त' एवम् 'आवन्त' बुद्धि होने से 'स्' का लोप होने लगता । दीर्घ ग्रहण करने पर 'ङ्यन्त' एवम् 'आवन्त' शब्दों के दीर्घरूप में विद्यमान होनेपर ही 'स्' का लोप होगा । उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में श्रूयमाण दीर्घ न होने के कारण 'स्' का लोप नहीं हुआ । यथाप्राप्त 'र्' तथा 'विसर्ग' हुए । ३—सूत्र में 'सुतिसि' पद के अभाव में 'अभैत्सीत्' (अ+भैद्+स्+ईत) में √ 'भिद्' धातु के 'लुङ्' लकार-सम्बन्धी 'सिच्' के स् का लोप होने लगता, क्योंकि वह 'हलन्त' 'अभैद्' के 'द' से परवर्ती है । अतः 'सुतिसि' पद की उपयोगिता है । फलतः 'अभैत्सीत्' में 'सिच्' सम्बन्धी 'स्' होने के कारण 'स्' का लोप नहीं हुआ । 'सु' 'ति' प्रत्ययों के साहचर्य से 'सि' का 'स्' भी 'सिप्' प्रत्ययावयव ही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोपस्यासिद्धत्वात्। सखा। हे सखे। (२५३) सख्युरसम्बुद्धौ ७।१।९२॥ सख्युरङ्गात्परं सम्बुद्धिवर्जं सर्वनामस्थानं णिद्वत्स्यात्। (२५४) अचो ञ्णिति

किमित्यारभ्य 'संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वात्' इत्यन्तः सन्दर्भो न दृश्यते। युक्तं चैतत्, मूलकृतैव प्रौढमनोरमायामस्य सन्दर्भस्य प्रदर्शितत्वादिति शब्देन्दुशेखरे व्यक्तम्। सखेति। सुलोपे सति 'न लोपः' इति नकारलोपः। न चेह सुपमाश्रित्य अनङि कृते तन्नकारमाश्रित्य सोर्लोपो न सम्भवति, सन्निपातपरिभाषाविरोधादिति वाच्यम्, 'स्वतन्त्रः कर्ता' इत्यादिनिर्देशेन अनङो नकारमाश्रित्य सुलोपे कर्तव्ये सन्निपातपरिभाषाया अप्रवृत्तेरित्याहुः। हे सखे इति। 'अनङ् सौ' इत्यत्र असम्बुद्धावित्यनुवृत्तेरनङभावे ह्रस्वस्य गुणे 'एङ्ह्रस्वात्' इति सुलोपे रूपम्।

(२५३) सखि औ इति स्थिते णित्कार्यं वृद्धिं वक्ष्यन् णिद्वद्भावे दर्शयति—सख्युरसम्बुद्धौ। सख्युरिति दिग्योगे पञ्चमी। 'अङ्गस्य' इत्यधिकृतं पञ्चम्या विपरिणम्यते। परमित्यध्याहार्यम्। 'इतोऽत् सर्वनामस्थाने' इत्यतः सर्वनामस्थाने इत्यनुवर्तते।

लिया जायगा, अन्य 'स्' नहीं लिया जाता। ४—सूत्र में 'अपृक्त' पद के अभाव में 'बिभर्ति' (बिभ र्+ति) में 'हल्'—'र्' से परवर्ती 'ति' सम्बन्धी 'त्' का लोप होने लगता। वह न हो, अतः 'अपृक्त' पद रखा गया। उसके रहने से एक-वर्णात्मक 'हल्' अपेक्षित है। अतः सम्पूर्ण 'ति' के अवयव 'त्' का लोप नहीं हुआ। ५—सूत्र में अपृक्त-संज्ञक वर्ण भी 'हल्' (व्यञ्जन) के रूप में अपेक्षित है। अतः 'विभेद' (विभेद्+अ) में 'द्' के बाद 'णल्' सम्बन्धी 'अ' के अपृक्त (एक-वर्णात्मक) होने पर भी उसका लोप नहीं हुआ, क्योंकि वह 'हल्' (व्यञ्जन) नहीं है। ६—सूत्र में सर्व-प्रथमपद 'हल्' की आवश्यकता 'राजा' आदि रूपों की सिद्धि में विभक्ति-सम्बन्धी 'अपृक्त' 'हल्' का लोप करने के लिये है। उसके अभाव में 'राजा' पद की सिद्धि सम्भव मानकर शङ्का की जाती है। वह इस प्रकार है—राजन्+सु, <राजान्+सु (उपधा-दीर्घ), <राजान्+स्, (अनुबन्ध-लोप), <राजान् ('स्'-लोप "संयोगान्तस्य लोपः"—५४), <राजा ('न्'-लोप)। इसका समाधान यह दिया जारहा है कि 'न्' लोप (८-२-७) की दृष्टि में संयोगान्तलोप (८-२-२३) असिद्ध होने के कारण पदान्त न होने से 'न्' का लोप नहीं होगा। अतः प्रथम 'हल्' ग्रहण किया है[1]। जिसके फलस्वरूप 'हलन्त' 'न्'-से पर विभक्ति-सम्बन्धी अपृक्त हल्-'स्' का लोप प्रकृत सूत्र से होने के कारण 'न्' का लोप होने में कोई बाधा नहीं होती। उदाहरण—(क) इतना निरूपण करने के पश्चात् 'सखि' शब्द के प्रथमा एकवचन में रूप-सिद्धि करने में सूत्र की उपयोगिता दिखलाई जा रही है—सखान् सु, <सखान् ('स्' विभक्ति का लोप), <सखा ('न्' लोप)। (ख) (हे) सखि+सु, <(हे) सखे+सु (इ=ए—"हस्वस्य गुणः"—२४२), <हे सखे ('सु'-लोप—"एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः"—१९३)।

(२५३) पद—सख्युः, असम्बुद्धौ। अनुवृत्ति—अङ्गस्य, सर्वनामस्थाने, णित्। अतिदेश-सूत्र।

मूलार्थ—अङ्गसंज्ञक 'सखि' शब्द से परवर्ती सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान 'णित्' के समान समझा जाता है।

विवरण—"अङ्गस्य" का अधिकार है। उसका पञ्चमी-विभक्ति में परिवर्तन कर 'अङ्गात्' के रूप में ग्रहण होता है। फलतः विभक्तियाँ अङ्ग से परवर्ती ली जायेंगी। यह अतिदेश-सूत्र है। अतः 'विभक्ति' में आरोप किया जारहा है। सूत्र में 'आरोपवाची' पद का अभाव है। वह अनुवृत्ति

---

१. संयोगान्तस्य लोपे हि नलोपादिर्न सिध्यति।
रात्तु तेनैव लोपः स्यात् हलस्तस्माद् विधीयते॥ रूपावतारः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७।२।११५ ॥ ञिति णिति च परेऽजन्ताङ्गस्य वृद्धिः स्यात्। सखायौ। सखायः। सखायम्। सखायौ। घिसंज्ञाभावान्न तत्कार्यम्—सख्या। सख्ये। (२५५) ख्यत्या-

असम्बुद्धाविति भेदेनान्वेति। 'गोतो णित्' इत्यतो णिदिति प्रथमान्तमनुवृत्तम्। तत्सामानाधिकरण्यात् असम्बुद्धाविति सर्वनामस्थाने इति च सप्तम्याः प्रथमा कल्प्यते। तदाह—सख्युरङ्गादित्यादिना। णिद्वदिति। णित्कार्यकृत् स्यादित्यर्थः। णिच्छन्दस्तत्कार्यातिदेशार्थ इति भावः।

(२५४) अचो ञ्णिति। ञ् च ण् च ञ्णौ तौ इतौ यस्य तत् ञ्णित्। 'ञ्नुजेः' इत्यतो वृद्धिरित्यनुवर्तते। अङ्गस्येत्यधिकृतमचा विशेष्यते। तदन्तविधिः। तदाह—अजन्ताङ्गस्येत्यादिना। स्थानसाम्यादिकारस्य वृद्धिरकारः, तस्य अयादेशः इत्यभिप्रेत्य आह—सखायाविति। एवं सखायः, सखायम्, सखायौ। सखीन् इति शसि हरिवद्रूपम्, असर्वनामस्थानत्वाण्णित्त्वाभावात् न वृद्धिः। घिसंज्ञाभावादिति। 'शेषो घ्यसखि' इत्यत्र असखीति पर्युदासादिति भावः। न तत्कार्यमिति। घिप्रयुक्तकार्यं नेत्यर्थः। सख्येति। सखि आ इति स्थिते घित्वाभावात् 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इति नाभावाभावे यणि रूपम्। सख्ये इति। सखि ए इति स्थिते घित्वाभावात् 'घेर्ङिति' इति गुणाभावे यणि रूपम्। ङसिङ्योः सखि अस् इति स्थिते घित्वाभावात् 'घेर्ङिति' इति गुणाभावे यणि सख्यस् इति स्थिते।

से जाना जाता है। उसके लिए "गोतो णित्" (७-१-९०) सूत्र से 'णित्' का अनुवृत्ति लाई गई है। जिज्ञासा होती है कि किन विभक्तियों में 'ण्'-इत्-सादृश्य माना जाय ? इसकी पूर्णता के लिए "इतोऽत्सर्वनामस्थाने" (७-१-८६) सूत्र से 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति लाई जारही है। 'सर्वनाम-स्थान' से तात्पर्य है—सु, औ, जस्, अम, औट्। इनमें भी 'सम्बुद्धि' (सम्बोधन के एकवचन) में यह अतिदेश मान्य नहीं है (असम्बुद्धौ)। इस प्रकार तात्पर्य यह है कि 'सखि' शब्द से पश्चाद्वर्ती सम्बुद्धि-भिन्न सु, औ, जस्, अम्, औट् प्रत्यय 'ण्'-इत्संज्ञक के समान माने जायँ। इस तरह सादृश्य के विधान से इन प्रत्ययों के परवर्ती होने पर 'णित्'-सम्बन्धी कार्य होंगे।

(२५४) **पद**—अचः, ञ्णिति। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, वृद्धिः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'ञित्' एवं 'णित्' प्रत्ययों के परवर्ती होने पर अजन्त अङ्ग को वृद्धि होती है। सखायौ। सखायः। सखायम्। 'घि'-संज्ञा न होने से उसे मान कर होने वाले कार्य नहीं होते। सख्या। सख्ये।

विवरण—'णित्'-प्रयुक्त कार्य के प्रसङ्ग में वृद्धि-विधान किया जारहा है। सूत्र में **'स्थानी'** है—'अचः'। **'आदेश'**—का निर्देशक पद विद्यमान नहीं है। अतः "मृजेर्वृद्धिः" (७-२-११४) सूत्र से 'वृद्धिः' पद की अनुवृत्ति आरही है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। उसका विशेषण है 'अचः'। इस कारण तदन्तविधि होती है। इस प्रकार 'ञित्' एवं 'णित्' प्रत्ययों के परवर्ती होने पर अजन्त अङ्ग के स्थान में वृद्धि होगी। वह भी अन्त्यवर्ण को अभिलक्षित कर प्रवृत्त होगी। **उदाहरण**—(क) सखि+औ, <सखै+औ (सर्वनाम-स्थान होने के कारण—'औ' को णिद्वद्भाव-२५३ तथा इ = ऐ वृद्धि), <सख् आय्+औ (ऐ = आय्), <सखायौ। (ख) सखि+जस्, <सखि+अस् ('ज्'-इत्संज्ञा), <सखै+अस् (णिद्वद्भाव तथा वृद्धि), <सखायस् (ऐ = आय्), <सखायर (स् = र्), <सखायः (र् = :)। (ग) सखि+अम्, <सखै+अम्, <सखाय्+अम्, <सखायम्। (घ) सखि+औ (औट्), <सखै+औ, <सखाय्+औ, <सखायौ। (ङ) सखि+टा, <सखि+आ ('ट्' इत्संज्ञा), <सख्या (इ = य्—यणादेश)। तृतीयादि अजादि विभक्तियों में 'सखि' शब्द को 'घि'संज्ञा न होने से ('असखि') उस संज्ञा को मानकर होने वाले 'ना' इत्यादि कार्य नहीं होते। (च) सखि+ङे, <सखि+ए ('ङ्' इत्संज्ञा—"लशक्वतद्धिते"—३९५), <सख्ये (इ = य्-'यण्')।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्परस्य ६।१।११२॥ खितिशब्दाभ्यां खीतीशब्दाभ्यां कृतयणादेशाभ्यां परस्य ङसिङसोरत उत्स्यात्। सख्युः। (२५६) औत् ७।३।११८॥ इदुद्भ्यां परस्य ङेरौत्स्यात्। उकारानुवृत्तिरुत्तरार्था। सख्यौ। शेषं हरिवत्। शोभनः सखा सुसखा। सुसखायौ। सुसखायः। अनङ्णिद्वद्भावयोराङ्गत्वात्तदन्तेऽपि प्रवृत्तिः। समुदायस्य

---

(२५५) ख्यत्यात् परस्य। 'खिखी' इत्यनयोः 'तिती' इत्यनयोश्च कृतयणादेशयोः 'ख्यत्य' इति निर्देशः। यकारादकार उच्चारणार्थः। 'एङः पदान्तात्' इत्यतः अतीत्यनुवर्तते। तच्च परस्येति सामानाधिकरण्यात् षष्ठ्यन्तं विपरिणम्यते। 'ङसिङसोश्च' इत्यतो ङसिङसोरित्यनुवर्तते। अवयवषष्ठ्येषा। ततश्च ङसिङसोरवयवस्य अत इति लभ्यते। 'ऋत उत्' इत्यतः उदित्यनुवर्तते। 'एकः पूर्वपरयोः' इति तु निवृत्तम्। परग्रहणसामर्थ्यात्। अन्यथा ख्यत्यादिति पञ्चमीनिर्देशादेव सिद्धे किं तेन तदाह—खितिशब्दाभ्यामित्यादिना। सख्युरिति। सख्यस् इति स्थिते यकारादकारस्य उकारे रुत्वविसर्गौ। ङौ सखि इ इति स्थिते धित्वाभावात् 'अच्च घेः'इत्यस्याप्रवृत्त्या सवर्णदीर्घे प्राप्ते।

(२५६) औत्। 'इदुद्भ्याम्' इति सूत्रमनुवर्तते। 'ङेराम्' इत्यतो ङेरिति च, तदाह—इदुद्भ्यामित्यादिना। ननु धिसंज्ञकेषु हरिकन्यादिषु 'अच्च घेः'इति प्रवर्तते। नदीसंज्ञकेषु तु 'इदुद्भ्याम्' इति पूर्वसूत्रं प्रवर्तते। अतः सूत्रद्वयविषयादन्यौ सखिपतिशब्दौ एवास्य सूत्रस्य विषयौ इति व्यक्तम्। एवं च उकारानुवृत्तिर्व्यर्थैत्यत आह—उकारेति। उकारानुवृत्तिः 'अच्च घेः' इत्युत्तरसूत्रेऽनुवृत्त्यर्थेत्यर्थः। सख्यौ इति। ङेरौत्वे यणि रूपमिति भावः। सुसखेति। प्रादिसमासः। 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' इति टच् तु न भवति, 'न पूजनात्' इति निषेधात्। अनङ् सौ, उपधादीर्घः हल्ङ्यादिलोपः, 'न लोपः' इति नकारलोप इति भावः। सुसखायौ सुसखाय इति। णिद्वद्भावो वृद्धिः आयादेश इति भावः। नन्वनङ्णिद्वत्वे सखिशब्दस्य विधीयमाने कथं सुसखिशब्दे स्यातामित्यत आह—अनङ् इत्यादि। अङ्गाधिकारस्थतया 'पदाङ्गाधिकारे' इति परिभाषया सखिशब्दान्तेऽपि प्रवृत्तिरित्यर्थः। नन्वेवं सति

---

(२५५) पद—ख्यत्यात्, परस्य। अनुवृत्ति—अति, ङसिङसोः, उत्। विधिसूत्र।

मूलार्थ—कृत-यणादेश ह्रस्व 'खि' 'ति' एवम् दीर्घ 'खी' 'ती' शब्दों के परवर्ती 'ङसि' अथवा 'ङस्' सम्बन्धी अकार के स्थान पर 'उ' आदेश होता है।

विवरण—सूत्रार्थ को पूरा करने के लिये "एङः पदान्तादति" (६-१-१०९) सूत्र से 'अति', "ङसिङसोश्च" (६-१-११०) से 'ङसि'-'ङसोः' तथा "ऋत उत्" (६-१-१११) से 'उत्' की अनुवृत्ति लाई जाती है। 'अति' पद में सप्तमी विभक्ति का विपरिणाम 'परस्य' के साहचर्य से षष्ठी-विभक्ति में किया जाता है। 'खि'-'खी' तथा 'ति'-'ती' शब्दों के अनन्तर 'अ' वर्ण की स्थिति मानकर यण्-आदेश करने के पश्चात् 'ख्य'-'त्य'—अनुकरण किया गया है (ख्यश्च त्यश्च=ख्यत्यम्, तस्मात्, समाहार द्वन्द्व)। इस प्रकार 'अतः'—स्थानी है तथा 'उत्' आदेश है। तदनुसार सूत्र का अर्थ यह है कि यण् आदेश किये हुए ह्रस्वान्त 'खि' 'ति' अथवा दीर्घान्त 'खी' 'ती' शब्दों के परवर्ती 'ङसि' और 'ङस्'-सम्बन्धी 'अ' के स्थान पर 'उ' होता है। उदाहरण—सखि+अस् (ङसि) ('ङ्'-इत्संज्ञा), <सख्य्+अस् (इ=य्—यण्), <सख्य्+उस् (अ=उ) <सख्युस्, <सख्युर् (स्=र्), <सख्युः (र्=:)।

(२५६) पद—औत्। अनुवृत्ति—इदुद्भ्याम्। विधिसूत्र।

मूलार्थ—ह्रस्व इकार एवम् ह्रस्व उकार से पर 'ङि' विभक्ति को 'औ' आदेश होता है। 'औ' की अनुवृत्ति आगे सूत्रों में जाने के लिये है। सख्यौ। अवशिष्ट रूप हरिशब्द के समान हैं। अच्छा मित्र—सुसखा। सुसखायौ। सुसखायः। अनङ् तथा णिद्वद्भाव अङ्गाधिकारस्थ होने के कारण तदन्त-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सखिरूपत्वाभावात् 'असखि' (सू २३४) इति निषेधाप्रवृत्तेर्घिसंज्ञा। सुसखिना। सुसखये। ङसिङसोर्गुणे कृते कृतयणादेशत्वाभावात् 'ख्यत्यात्—' (सू २५५) इत्युत्त्वं न। सुसखेः। सुसखावित्यादि। एवमतिशयितः सखा अतिसखा। 'परमः सखा यस्य' इति विग्रहे परमसखा परमसखायौ इत्यादि। गौणत्वेऽप्यनङ्णित्त्वे प्रवर्तेते। सखीमतिक्रान्तोऽति-

---

सुसखिशब्दे असखि इति पर्युदासात् घित्वाभावे नत्वादि न स्यादित्यत आह—समुदायस्येति। न च सुसखिशब्दस्य सखिशब्दरूपत्वाभावेऽपि सखिशब्दान्तत्वादसखीति पर्युदासोऽपि दुर्निवार इति वाच्यम्, 'शेषो घ्यसखि' इत्यस्य पदाङ्गाधिकारस्थत्वाभावादिति भावः। सुसखिनेति। घित्वान्नात्वे रूपम्। सुसखये इति। 'घेर्ङिति' इति गुणे अयादेशः। ङसीति। ङसिङसोः 'घेर्ङिति' इति गुणे कृते 'ख्यत्यात्' इत्युत्त्वं नेत्यन्वयः। कुत इत्यत आह—कृतयणादेशत्वाभावादिति। 'ख्यत्यात्' इत्यत्र कृतयणादेशनिर्देशेन यत्र यणादेशप्रवृत्तिस्तत्रैवोत्त्वप्रवृत्तेरिति भावः। सुसखेरिति। ङसिङसोरेतद्रूपम्। सुसखाविति। 'अच्च घेः' इत्यौत्त्वम्। एवमिति। सुसखिशब्दवदित्यर्थः। अतिसखेति। प्रादिसमासः 'न पूजनात्' इति न टच्। वस्तुतस्तु उदाहृते सुसखिशब्दे अतिसखिशब्दे च घिसंज्ञा न भवत्येव। 'शेषो घ्यसखि' इत्यत्र हि असखीति शेषविशेषणम्। तदन्तविधिः। सखिशब्दान्तभिन्नः शेषो घिसंज्ञक इति लभ्यते। अत एव 'यस्येति च' इति सूत्रे 'ईकारे परतः इकारलोपे किमुदाहरणम्? सखीति। अत्र 'सख्यशिश्वीति भाषायाम्' इति ङीषि इकारलोपः। न च सवर्णदीर्घेण निर्वाहः शङ्क्यः। सखीमतिक्रान्तः अतिसखिः। प्रादिसमासः। 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वः। अतिसखेरागच्छति इत्यत्र इकारलोपाभावात् सवर्णदीर्घे तस्य एकादेशस्य पूर्वान्ततया सखिग्रहणेन ग्रहणात् असखीति पर्युदासे घिसंज्ञाप्रतिषेधापत्तेः। इकारलोपे तु सति ङीषो ह्रस्वत्वे कृते नायं सखिशब्दः, 'ङीषस्तदवयवत्त्वाभावात् इति भाष्यं सङ्गच्छते' इति शब्देन्दुशेखरे प्रपञ्चितम्। परमसखेति। बहुव्रीहित्वात्तत्पुरुषत्वाभावान्न टच्।

शब्दों में भी प्रवृत्त होते हैं। समुदाय 'सखि' रूपात्मक न होने से 'असखि' इस निषेध की प्रवृत्ति न होने के कारण 'घि' संज्ञा हुई। सुसखिना। सुसखये। 'ङसि' और 'ङस्' विभक्तियों में 'गुण' करने पर 'यण्'-आदेश न होने से "ख्यत्यात्०" (२५५) सूत्र से 'उ' नहीं हुआ। सुसखेः। सुसखौ। इत्यादि। इसी प्रकार 'अत्यधिक मित्र' अर्थ में 'अतिसखा'। 'परम मित्र है जिसका' अर्थ में परमसखा। परमसखायौ इत्यादि। गौण होने पर भी 'अनङ्' तथा 'णिद्वद्भाव' प्रवृत्त होते हैं। 'सखी को अतिक्रमण किया' इस अर्थ में 'अतिसखिः'। 'लिङ्ग-विशिष्ट परिभाषा' के अनित्य होने के कारण 'टच्' नहीं हुआ। 'हरि' शब्द के समान रूप बनेंगे। "गोस्त्रियोः" (१-१-४८) सूत्र से ह्रस्व होने के कारण यहाँ पर 'सखि' शब्द लाक्षणिक हो गया है, अतः 'अनङ्' तथा 'णिद्वद्भाव' नहीं होते। (प०) लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त में लाक्षणिक का ही ग्रहण होता है"।

विवरण—सूत्र के अर्थ को पूरा करने के लिये "ङेराम्नद्याम्नीभ्यः" (७-३-११६) सूत्र से 'ङेः' तथा सम्पूर्ण "इदुद्भ्याम्" (७-३-११७) सूत्र की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। अतः स्थानी है 'ङि' तथा आदेश है 'औ'। तदनुसार 'इ' तथा 'उ' से परवर्ती 'ङि' विभक्ति के स्थान पर 'औ' आदेश होता है। प्रसङ्गवश यह बतलाया जारहा है कि प्रकृत सूत्र में "इदुद्भ्याम्" (७-३-११७) सूत्र से आनेवाली ('उत्') उकार की अनुवृत्ति का कोई प्रयोजन नहीं है। आंशिक अनुवृत्ति केवल (इत्) इकार की ही लाई जाय। कारण यह है कि 'घि' संज्ञक शब्दों में "अच्च घेः" (२४७) सूत्र से 'ङि' के स्थान पर 'औ' होता है। तथा 'नदी' संज्ञक शब्दों में 'ङि' के स्थान पर 'आम्' आदेश होता है। इसके उन दोनों से भिन्न-विषयक होने के कारण 'सखि' तथा 'पति' शब्दों में प्रवृत्त होने से 'उ'कार की अनुवृत्ति व्यर्थ ही है। उसकी उपयोगिता अग्रिम सूत्र—"अच्च घेः"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सखिः । लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया अनित्यत्वान्न टच् । हरिवत् । इहानङ्णित्त्वे न भवतः, 'गोस्त्रियोः–' (सू० ६५६) इति ह्रस्वत्वेन सखिशब्दस्य लाक्षणिकत्वात् । 'लक्षणप्रति-

---

ननु बहुव्रीहौ सखिशब्दस्य गौणत्वात् कथमनङ्णित्त्वे, गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः इति न्यायात्, इत्यत आह—गौणत्वेऽपीति । 'मिदचोऽन्त्यात्' इति सूत्रे 'तृज्वत् क्रोष्टुः' 'स्त्रियां च' इति सूत्रयोश्च भाष्यकैयटयोस्तथा दृष्टत्वादिति भावः । अतिसखिरिति । 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः । 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वः । 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' इति टच् तु न भवति, तस्मिन् कर्तव्ये ह्रस्वस्य बह्वपेक्षतया बहिरङ्गतया असिद्धत्वेन ईकारान्तत्वात् । नन्वेवमपि 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति परिभाषया सखीशब्दान्तादपि टच् स्यादित्याशङ्क्य आह—लिङ्गविशिष्टेति । 'शक्तिलाङ्गलाङ्कुश' इति वार्तिके घटघटीग्रहणात्तस्याः अनित्यत्वमिति भावः । ननु हरिवदिति कथम्, अनङ्णिद्ब्रह्मावयोः प्रवृत्तौ रूपभेदादित्यत आह—इहेति । कुतो न भवत इत्यत आह—गोस्त्रियोरिति । लाक्षणिकत्वादिति । लक्षणं शास्त्रं तत्र भवः इत्यर्थे 'बह्वचोऽन्तोदात्तात्' इति,

---

(७-२-११९)—में अनुवृत्ति के लिये मानी गई है । उदाहरण—(क) सखि+ङि, <सखि+औ (ङि = औ), <सख्यौ (इ = य्—यण्) । अवशिष्ट रूप 'हरि' शब्द के समान बनेंगे । इसी क्रम में समास-युक्त 'सखि' शब्द की रचना-प्रक्रिया बतलाई जारही है । (ख) सुन्दर मित्र (शोभनः सखा) अर्थ में 'सुसखि' शब्द है । प्रक्रिया—शोभनः (सु) +सखि–"कुगतिप्रादयः" (२-२-१८) से समास, विभक्ति लोप । "न पूजनात्" (५-४-६९) सूत्र से समासान्त 'टच्' का निषेध हो गया । तदनन्तर सुसखि+सु, <सुसख्+अन्+स्, <सुसखान्+स्, <सुसखान्, <सुसखा । (ग) सुसखि+औ, <सुसखै+औ, <सुसखायौ । (घ) सुसखि+जस्, <सुसखि+अस् <सुसखै+अस्, <सुसखायस्, <सुसखायर्, <सुसखायः । (ङ) सुसखि+टा, <सुसखि+ना, <सुसखिना । सुसखि+ङे, <सुसखि+ए <सुसखे+ए, <सुसखये । (छ) सुसखि+ङसि, <सुसखि+अस्, <सुसखे+अस्, <सुसखे स् (पूर्वरूप), <सुसखेर्, <सुसखेः । (च) सुसखि+ङि, <सुसख+औ <सुसखौ । इन रूपों की विशेषता इस प्रकार है—समुदायात्मक 'सुसखि' शब्द सखि भिन्न है अतः—(१) तृतीया एकवचन में 'घि' संज्ञा का निषेध (असखि) नहीं होगा । तदनुसार टा = ना हुआ । (२) 'घि'संज्ञा होने से चतुर्थी के एकवचन में "घेर्ङिति" (२४५) से गुण । (३) पञ्चमी-षष्ठी विभक्तियों के एकवचन में 'घि'–संज्ञा होने के फलस्वरूप 'गुण' करने पर यणादेशयुक्त 'ख्य' न होने के कारण "ख्यत्यात्परस्य" (२५५) सूत्र से 'ङसि' एवं 'ङस्' सम्बन्धी 'अ' के स्थान में 'उ' नहीं हुआ । (४) सप्तमी के एकवचन में "अच घेः" (२४७) सूत्र से 'इ' के स्थान पर 'अ' तथा 'विभक्ति' के स्थान पर 'औ' आदेश होने पर वृद्धि-सन्धि द्वारा रूप-सिद्धि हुई है । (छ) इसके पश्चात् 'अत्यधिक विश्वस्तमित्र' (अतिशयितः सखा) इस अर्थ में अतिसखि+सु, <अतिसख् अन्+स्, <अतिसखान्+स्, <अतिसखान्, <अतिसखा रूप बनेगा । वैसे ही 'घनिष्ठ मित्र' अर्थ में परमसखा, परमसखायौ इत्यादि । समास होने पर विशेषण के रूप में प्रयुक्त 'समास-घटक' सखि शब्द की रूपरचना का वैशिष्ट्य बतलाया जा रहा है । 'महिला मित्र का अतिक्रमण करने वाला' ('सखीम् अतिक्रान्तः') अर्थ में द्वितीया तत्पुरुष समास करने के पश्चात् 'अतिसखी' शब्द को "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" (१-२-४८) सूत्र से ह्रस्व होकर अतिसखि+(स्) सु, <अतिसखि+र्, <अतिसखिः—रूप बनता है । इस प्रसङ्ग में प्राप्त समासान्त 'टच्' प्रत्यय का निवारण 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' परिभाषा अनित्य होने के कारण किया जारहा है । इस परिभाषा के अनित्य होने में प्रमाण 'शक्तिलाङ्गलाङ्कुशतोमरयष्टिघटघटीधनुष्षु ग्रहेरुपसंख्यानम्'–वार्तिक में 'घटी' पद का पृथक् ग्रहण करना है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणात्' (प ११४)। (२५७) पतिः समास एव १।४।८॥ पतिशब्दः समास एव घिसंज्ञः स्यात्। पत्या। पत्ये। पत्युः। पत्युः। पतीनाम्। पत्यौ। शेषं हरिवत्। समासे तु भूपतये। कतिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः।

वा अध्यात्मादित्वाद्वा ठन्। अतिसखिशब्दस्वरूपस्य सामान्यतश्शास्त्रादुन्नेयत्वादिति यावत्। सखिशब्दस्तु नैवम्। समानं ख्यायते जनैरित्यर्थे इणिति ङिच्चेति यलोप इति चानुवर्तमाने 'समाने ख्यः स चोदात्तः' इति ख्याधातोरिणश्च विशिष्योपादानेन व्युत्पादितत्वेन तस्य प्रतिपदोक्तत्वादिति भावः। ननु लाक्षणिकस्यापि ग्रहणं कुतो नेत्यत आह—लक्षणेति। लक्षणशब्देन लाक्षणिकं विवक्षितम्। विशिष्य प्रत्यक्षोपदिष्टं प्रतिपदोक्तमित्युच्यते। तयोर्मध्ये प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणमिति परिभाषितत्वादित्यर्थः। प्रतिपदोक्तं झटित्युपस्थितिकम्। लाक्षणिकं तु लक्षणानुसन्धानाद्विलम्बितोपस्थितिकम्। प्रतिपदोक्तमादाय शास्त्रस्य चरितार्थत्वान्न लाक्षणिके प्रवृत्तिरिति न्यायसिद्धा चेयं परिभाषा।

(२५७) अथ पतिशब्दे विशेषं दर्शयति—पतिः समास एव। 'शेषो ध्यसखि' इत्यतो घीत्यनुवर्तते। तदाह—पतिशब्द इत्यादिना। पत्या। पत्ये इति। घित्वाभावाच्चात्वगुणाभावे यणि रूपम्। पत्युरिति। 'ख्यत्यात्' इत्युत्वम्। पत्याविति। घित्वाभावात् 'अच्च घेः' इत्यभावे 'औत्' इति ङेरौत्वे यणि रूपम्। आरम्भसामर्थ्यादेव नियमार्थत्वे सिद्धे एवकारस्तु पतिरेव समासे घिरिति विपरीतनियमव्यावृत्त्यर्थः। तेन सुहरिणेत्यादि सिद्ध्यति।

अन्यथा 'घट' शब्द का ग्रहण करने पर 'लिङ्गविशिष्ट' परिभाषा की उपस्थिति से स्त्रीलिङ्गवाचक 'घटी' शब्द से भी 'अच्' प्रत्यय हो जाता। अतः पृथक् 'घटी' शब्द का समावेश उक्त परिभाषा के अनित्य होने का सूचक है। 'अतिसखि' शब्द में विभक्तियाँ अपेक्षित होने पर 'सखि' शब्द को अभिलक्षित कर होने वाले 'अनङ्' आदेश एवं णिद्वद्भाव आदि कार्य नहीं होते। उसका कारण यह है कि समास में 'सखि' शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है तथा इसी कारण 'सखी' शब्द को ह्रस्व हुआ है—"गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" (१-२-४८)। इस प्रकार यहाँ स्त्रीलिङ्ग-वाचक 'सखी' शब्द को ह्रस्व होने से 'अतिसखि' का अवयव 'सखि' शब्द लक्षण-वश (निमित्तवश) सम्पन्न हुआ है। इस हेतु साक्षात् 'सखि' शब्द को अभिलक्षित कर प्रतिपदोक्त कार्य—अनङ्, णिद्वद्भाव-आदि नहीं होते। इस बात को "लक्षण-प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्" परिभाषा द्वारा स्पष्ट किया गया है।

'सखि' शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०	वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	सखा	सखायौ	सखायः	पं०	सख्युः	सखिभ्याम्	सखिभ्यः
द्वि०	सखायम्	सखायौ	सखीन्	ष०	सख्युः	सख्योः	सखीनाम्
तृ०	सख्या	सखिभ्याम्	सखिभिः	स०	सख्यौ	सख्योः	सखिषु
च०	सख्ये	सखिभ्याम्	सखिभ्यः	सं०	हे सखे	हे सखायौ	हे सखायः

(२५७) पद—पतिः, समासे, एव। अनुवृत्ति—घि। संज्ञा (नियम) सूत्र।

मूलार्थ—'पति' शब्द को समास में ही 'घि' संज्ञा होती है। पत्या। पत्ये। पत्युः। पत्यौ। शेषरूप 'हरि' शब्द के समान बनेंगे। समास में—भूपतिना। कति' शब्द नित्य बहुवचनान्त है।

विवरण—"शेषो ध्यसखि" (१-४-७) सूत्र से प्राप्त 'घि'-संज्ञा का नियमन किया जारहा है। तदनुसार ह्रस्व इकारान्त 'पति' शब्द की 'घि'-संज्ञा समास में ही होती है, अन्यत्र नहीं।

उदाहरण—(क) पति+आ (टा), <पत्या—'घि'-संज्ञा का निषेध होने से 'ना' आदेश

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२५८) बहुगणवतुडति सङ्ख्या १।१।२३॥ एते संख्यासंज्ञाः स्युः। (२५९) डति

समासे तु भूपतये इति। भूपतिनेत्याद्युपलक्षणम्। 'सीतायाः पतये नमः' इत्यादि त्वार्षम्। अथ कतिशब्दे विशेषं दर्शयति—कतिशब्दो नित्यं बहुवचनान्त इति। 'किमः सङ्ख्यापरिमाणे' इत्यनेन किंशब्दात् बहुत्वसङ्ख्यावच्छिन्नसङ्ख्येयविषयप्रश्न एव डतिः—इति भाष्ये स्पष्टत्वादिति भावः।

(२५८) अथ पट्संज्ञाकार्यं वक्ष्यन् पट्संज्ञोपयोगिनीं सङ्ख्यासंज्ञामाह—बहुगण। बहुश्च, गणश्च, वतुश्च, डतिश्च इति समाहारद्वन्द्वः। एतत् सङ्ख्यासंज्ञः स्यादित्यर्थः। फलितमाह—एते इति। बह्वादय इत्यर्थः। बहुगणशब्दाविह त्रित्वादिपरार्धान्तसङ्ख्याव्यापकधर्मविशेषवाचिनौ गृह्येते, न तु वैपुल्यसङ्ख्यावाचिनौ, सङ्ख्यायतेऽनयेति अन्वर्थसंज्ञाविज्ञानात्। वतुडती प्रत्ययौ। संज्ञाविधावपि इह तदन्तग्रहणम्, केवलयोः प्रयोगानर्हत्वात्। वतुरिह 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्' इति तद्धितप्रत्ययो गृह्यते, न तु 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति वतिरपि, उकारानुबन्धात्। डतिरपि। 'किमः सङ्ख्यापरिमाणे डति च' इति विहितः तद्धित एव गृह्यते, वतुना साहचर्यात्। न तु भातेर्डवतुरिति विहितः कृदपि। ननु 'सङ्ख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्'इत्यादिसङ्ख्याप्रदेशेषु बह्वादीनामेव चतुर्णां ग्रहणं स्यात्, न तु लोकप्रसिद्धसङ्ख्यावाचकानामपि,

---

नहीं हुआ। अतः 'यण्' आदेश हुआ। (ख) पति+ए (ङे), <पत्ये—इसी प्रकार यहाँ गुण ("घेर्ङिति" सूत्र से) नहीं हुआ, किन्तु यण् हुआ। (ग) पति+अस् (ङसि तथा ङस् प्रत्यय), <पत्युस्, <पत्युर्, <पत्युः—'यण्' आदेश होने पर 'अ' के स्थान पर 'उ' ("ख्यत्यात्परस्य"—२५५)। (घ) पति+(इ) ङि, <पति+औ (ङि = औ), <पत्यौ—यहाँ पर "अच्च घेः" (७-३-११७) सूत्र से 'इ' के स्थान पर 'अ' नहीं। शेष रूप 'हरि' शब्द के समान बनेंगे। इसके विपरीत समास-युक्त 'पति' ('भूपति') शब्द को 'घि' संज्ञा होने से 'टा' तथा 'ङे' आदि विभक्तियों में 'ना' आदेश तथा 'गुण' आदि कार्य 'हरि' शब्द के समान होंगे। तदनुसार (ङ)—भूपति+टा, <भूपतिना (च)—भूपति ए (ङे), <भूपते+ए, <भूपतये—आदि रूप बनते हैं।

'पति' शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	पतिः	पती	पतयः
द्वि०	पतिम्	पती	पतीन्
तृ०	पत्या	पतिभ्याम्	पतिभिः
च०	पत्ये	पतिभ्याम्	पतिभ्यः
पं०	पत्युः	पतिभ्याम्	पतिभ्यः
ष०	पत्युः	पत्योः	पतीनाम्
स०	पत्यौ	पत्योः	पतिषु
सं०	हे पते	हे पती	हे पतयः

'भूपति' शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	भूपतिः	भूपती	भूपतयः
द्वि०	भूपतिम्	भूपती	भूपतीन्
तृ०	भूपतिना	भूपतिभ्याम्	भूपतिभिः
च०	भूपतये	भूपतिभ्याम्	भूपतिभ्यः
पं०	भूपतेः	भूपतिभ्याम्	भूपतिभ्यः
ष०	भूपतेः	भूपत्योः	भूपतीनाम्
स०	भूपतौ	भूपत्योः	भूपतिषु
सं०	हे भूपते	हे भूपती	हे भूपतयः

प्रसङ्ग-प्राप्त 'कति' शब्द की विशेषता बतलाई जारही है। वह नित्य 'बहुवचनान्त' है। उसकी रचना-प्रक्रिया—किम्+डति (प्रत्यय), <किम्+अति, <क्+अति, <कति ('टि'-'इम्' का लोप)।

(२५८) पद—बहुगणवतुडति, संख्या। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—इनकी 'संख्या'-संज्ञा होती है।

विवरण—सूत्रस्थ 'बहुगणवतुडति' पद में समाहार-द्वन्द्व-समास है—'बहुश्च, गणश्च, वतुश्च,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

च १।१।२५॥ डत्यन्ता सङ्ख्या षट्संज्ञा स्यात्। (२६०) प्रत्ययस्य लुक्श्लु-लुपः १।१।६१॥ लुक्श्लुलुप्शब्दैः कृतं प्रत्ययादर्शनं क्रमात्तत्तत्संज्ञं स्यात्। (२६१) षड्भ्यो लुक् ७।१।२२॥ षड्भ्यः परयोर्जश्शसोर्लुक् स्यात्। (२६२) प्रत्य-

---

'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययः' इति न्यायात्। ततश्च 'पञ्चकृत्व' इत्यादि न स्यादिति चेन्न—'सङ्ख्याया अतिशदन्तायाः कन्' इत्यत्र तिशदन्तपर्युदासबलेन सङ्ख्या-प्रदेशेषु कृत्रिमाकृत्रिमन्यायाप्रवृत्तिज्ञापनात्। नहि विंशतित्रिंशदादिशब्दानां कृत्रिमा सङ्ख्यासंज्ञाऽस्ति। न चैवं सति बहुगणग्रहणवैयर्थ्यं शङ्क्यम्, तयोर्नियतविषयपरिच्छेद-कत्वाभावेन लोकसिद्धसङ्ख्यात्वाभावात्। अत एव भाष्ये 'एतत्सूत्रमतिदेशार्थं यदयम-सङ्ख्यां सङ्ख्ये त्याह' इत्युक्तं सङ्गच्छत इत्यास्तां तावत्।

(२५९) डति च। डतीत्यविभक्तिको निर्देशः। प्रत्ययत्वात्तदन्तग्रहणम्। पूर्वसूत्रात् सङ्ख्ये त्यनुवर्तते। 'ष्णान्ता षट्' इत्यतः षडिति च। तदाह—डत्यन्तेति। सङ्ख्ये ति किम्? पति।

(२६०) अथ षट्संज्ञाकार्यं लुकं वक्ष्यन्नाह—प्रत्ययस्य लुक्। 'अदर्शनं लोपः' इत्यतो-ऽदर्शनमित्यनुवर्तते। प्रत्ययस्यादर्शनं लुक्श्लुलुप्संज्ञकं स्यादित्यर्थः प्रतीयते। एवं सति एकस्यैव प्रत्ययादर्शनस्य तिस्रोऽपि संज्ञाः स्युः। ततश्च हन्तीत्यत्र शब्लुकि 'श्लु' इति द्वित्वं स्यात्, जुहोतीत्यत्र श्लौ सति 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' इति वृद्धिः स्यात्, अतो नैवमर्थः किं तु लुक्श्लुलुप इत्यावर्तते। ततश्च लुक् श्लु लुप् इत्युच्चार्य विहितं प्रत्यया-दर्शनं यथासङ्ख्यपरिभाषया क्रमात् लुगादिसंज्ञं स्यादिति लभ्यते। अतो नोक्तसंकर इत्यभिप्रेत्य आह—लुक्श्लुलुप्शब्दैरित्यादिना। फले लुक्, जुहोत्यादित्यः श्लुः, जनपदे लुप् इत्यादिविधिप्रदेशेषु 'अस्य सूत्रस्य शाटकं वय' इतिवन्नाविसंज्ञाविज्ञानात् नान्यो-न्याश्रयः। तदेवं कतिशब्दस्य षट्संज्ञायाम्।

(२६१) षड्भ्यो लुक्। जश्शसोरित्यनुवर्तते। तदाह—षड्भ्यः परयोरित्यादिना।

डतिश्च'—तेषां समाहारः। तदनुसार-संख्या संज्ञा है संज्ञी हैं—'बहुगणवतुडति'। इनमें से आरम्भ के दो शब्द 'बहु' तथा 'गण' स्वरूपात्मक हैं। अन्तिम दो शब्द—'वतु' तथा 'डति' प्रत्यय के रूप में ग्राह्य हैं।

(२५९) पद—डति, च। अनुवृत्ति—षट्। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—'डति'-प्रत्यान्त संख्या की 'षट्' संज्ञा होती है।

विवरण—अष्टाध्यायी-क्रम में इससे पूर्व—"ष्णान्ता षट्" (१-१-२४) सूत्र से 'षट्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार संज्ञा है—'षट्' तथा संज्ञी है—'डति' (प्रत्यय)। नियमानुसार तदन्त-विधि होने से 'डति' प्रत्ययान्त शब्दों की 'षट्'-संज्ञा होगी। अतः 'कति' शब्द 'डति'-प्रत्ययान्त होने के कारण 'षट्'-संज्ञक हुआ। संख्या-संज्ञक तो है ही।

(२६०) पद—प्रत्ययस्य, लुक्श्लुलुपः। अनुवृत्ति—अदर्शनम्। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—'लुक्', 'श्लु', और 'लुप्'-शब्दों के रूप में किया गया जो अदर्शन (लोप), वह क्रम से लुक्, श्लु, और लुप् संज्ञक होता है।

विवरण—पूर्व सूत्र "अदर्शनं लोपः" (१-१-६४) से अदर्शन की लोप संज्ञा का निरूपण किया जा चुका है। तदनन्तर वही 'अदर्शन' (लोप) यदि लुक्, श्लु अथवा लुप् शब्दों द्वारा प्रत्यय के विषय में किया जाय तो उस 'अदर्शन' (लोप) की क्रमानुसार लुक् श्लु तथा लुप् संज्ञा होती है (लुक् च, श्लु च, लुप् च = लुक्श्लुलुपः—इतरेतर द्वन्द्व)। अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार से किये गए प्रत्ययों का अदर्शन (लोप) भिन्न-भिन्न संज्ञाओं से जाना जाता है।

(२६१) पद—षड्भ्यः, लुक्। अनुवृत्ति—जश्शसोः। विधिसूत्र।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यलोपे प्रत्ययलक्षणम् १ । १ । ६२ ॥ प्रत्यये लुप्तेऽपि तदाश्रितं कार्यं स्यात् । इति 'जसि च' (सू २४१) इति गुणे प्राप्ते । **(२६३) न लुमताङ्गस्य १ । १ । ६३ ॥** लुक् श्लु लुप् एते लुमन्तः । लुमता शब्देन लुप्ते तन्निमित्तमङ्गकार्यं न स्यात् । कति । कति । कतिभिः । कतिभ्यः । कतिभ्यः । कतीनाम् । कतिषु । अस्मद्युष्मदष्टसंज्ञकास्त्रिषु

---

(२६२) जसि लुप्तेऽपि 'जसि च' इति गुणमाशङ्क्यितुमाह—प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् । प्रत्ययः लक्षणं निमित्तं यस्य तत् प्रत्ययलक्षणम् । प्रत्ययस्य लोपे सति प्रत्ययनिमित्तकं कार्यं स्यादित्यर्थः । फलितमाह—प्रत्यये लुप्तेऽपीत्यादिना । स्थानिवद्भावादेव सिद्धे अल्विध्यर्थमिदं सूत्रम् । यत्र प्रत्ययस्यासाधारणं रूपं प्रयोजकं तदेव कार्यं प्रत्ययलोपे सति भवतीति नियमार्थं चेति भाष्यादिषु स्पष्टम् । इति जसि चेतीति । अनेन सूत्रेण लुप्तं प्रत्ययमाश्रित्य 'जसि च' इति गुणे प्राप्ते इत्यर्थः ।

(२६३) न लुमताङ्गस्य । प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणमित्यनुवर्तते । लु इत्येकदेशोऽस्यास्तीति लुमान् लुक्शब्दः श्लुशब्दः लुप्शब्दश्च । तेन शब्देन प्रत्ययलोपे विहिते सति प्रत्ययनिमित्तकमङ्गकार्यं न स्यादित्यर्थः । तदाह—लुक्श्लु इत्यादिना । अङ्गस्य इत्यनुवृत्तौ पञ्च सप्त इत्यादौ 'सुप्तिङन्तम्' इति पदसंज्ञा न स्यात्, जश्शसोर्लुकि लुप्तत्वात् । ततश्च 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति न लोपो न स्यात् । अतोऽङ्गस्येत्युक्तम् । एवं च जसि लुकि लुप्ते प्रत्ययलक्षणाभावात् 'जसि च' इति गुणो न भवति इत्यभिप्रेत्योदाहरति—कतीति । प्रसङ्गादाह—अस्मदिति । त्रिष्विति । पुंस्त्रीनपुंसकेष्वित्यर्थः । सरूपा इति । समानानि रूपाणि येषामिति विग्रहः । लिङ्गविशेषबोधकटाबाद्यभावादिति भावः । न चैवं सति 'अलिङ्गे युष्मदस्मदी' इति 'साम आकम्' इति सूत्रस्थभाष्यविरोध इति वाच्यम्, पदान्तर-

---

मूलार्थ—'षट्'-संज्ञक शब्दों से परवर्ती 'जस्' और 'शस्' का (लोप) हो ।

विवरण—सूत्र के अर्थ को पूरा करने के लिए "जश्शसोः शि" (७-१-२०) सूत्र से 'जश्शसोः' की अनुवृत्ति लाई जाती है । इस प्रकार 'षट्' संज्ञक शब्दों से परवर्ती 'जस्' और 'शस्' प्रत्ययों का 'लुक्' (लोप) विधान किया जारहा है ।

(२६२) पद—प्रत्ययलोपे, प्रत्ययलक्षणम् । **संज्ञा(नियम)सूत्र ।**

मूलार्थ—प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी तदाश्रित (प्रत्ययनिमित्तक) कार्य होता है ।

विवरण—सूत्र स्वयं में पूर्ण है । तदनुसार प्रत्यय का लोप होने पर (प्रत्ययलोपे), उस प्रत्यय को निमित्त (प्रत्ययः लक्षणं यस्य तत्) मानकर होने वाला कार्य हो जाता है । **उदाहरण**—तदनुसार कति+जस्—इस स्थिति में 'जस्' का लोप हो जाने पर भी प्रत्यय-लक्षण द्वारा "जसि च" (२४१) सूत्र से गुण प्राप्त होता है ।

विशेष—स्थानिवद्भाव करने से भी इस प्रकार कार्य का निर्वाह होनेपर इस सूत्र की उपयोगिता एकवर्ण का आश्रय लेने पर कार्य के विधान करने में है । इसके साथ ही यह सूत्र नियमार्थक भी है । नियम का प्रकार यह है—"जहाँ प्रत्यय का असाधारण रूप प्रयोजक हो वहाँ पर वही कार्य प्रत्यय का लोप होने पर होता है" । इसके फलस्वरूप 'सुदृषत् प्रासादः' में (शोभनाः दृषदः यस्मिन् प्रासादे) समास करने पर विभक्तिलोप के पश्चात् 'दृषद्' शब्द की 'अस्' विभक्ति को प्रत्ययलक्षण से 'असन्त' मानकर 'अत्वसन्तस्य चाधातोः" (६-४-१४) सूत्र से दीर्घ नहीं हुआ ।

(२७३) पद—न, लुमता, अङ्गस्य । **अनुवृत्ति**—प्रत्ययलोपे, प्रत्ययलक्षणम् । **विधि-(निषेध)-सूत्र ।**

मूलार्थ—लुक्, श्लु, तथा लुप् ये 'लु'मान् हैं । जहाँ 'लुमान्' शब्द से लोप हुआ हो, वहाँ तन्निमित्तक कार्य नहीं होता । कति । कति । कतिभिः । कतिभ्यः । कतिभ्यः । कतीनाम् । कतिषु ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरूपाः। त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। त्रयः। त्रीन्। त्रिभिः। त्रिभ्यः। त्रिभ्यः। (२६४) **त्रेस्त्रयः ७।१।५३॥** त्रिशब्दस्य त्रयादेशः स्यादामि। त्रयाणाम्। परमत्रयाणाम्। गौणत्वे तु नेति केचित्। प्रियत्रीणाम्। वस्तुतस्तु प्रियत्रयाणाम्। त्रिषु। द्विशब्दो नित्यं

संनिधानं विना लिङ्गविशेषो युष्मदस्मच्छब्दाभ्यां न प्रतीयत इति हि तदर्थः। अत एव 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' इति पञ्चन्नादिषट्संज्ञकेभ्यः टाङ्डीङ्निषेधः सङ्गच्छते। अन्यथा स्त्रीत्वाभावादेव तदभावे सिद्धे किं तेन? अत एव च 'ङे प्रथमयोः' इति सूत्रे भाष्ये युष्मानित्यत्र 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इत्युपन्यासः सङ्गच्छते। अत एव च 'नेतराच्छन्दसि' इति सूत्रे शिशीनुमादिभिर्युष्मदस्मदाद्यादेशानां विप्रतिषेधपरं वार्तिकं तद्भाष्यं च सङ्गच्छते इति दिक्। त्रिशब्दे विशेषमाह—त्रिशब्द इति। त्रि आम् इति स्थिते नुटि दीर्घे णत्वे त्रीणामिति प्राप्ते।

(२६४) त्रेस्त्रयः। 'आमि सर्वनाम्नः' इत्यतः आमीत्यनुवर्तते। तदाह—त्रिशब्दस्येत्यादिना। अनेकाल्त्वात् सर्वादेशः। नुट् दीर्घश्च। तदाह—त्रयाणामिति। 'त्रेरयङ्' इति तु नोक्तम्, इयङ् अनङ् इत्यादिवत् ङकारात्पूर्वस्य अकारस्य उच्चारणार्थत्वशङ्काप्रसङ्गात्। अङ्गाधिकारस्थत्वात् 'पदाङ्गाधिकारे' इति परिभाषया त्रेरिति तदन्तग्रहणमित्यभिप्रेत्योदाहरति—परमत्रयाणामिति। परमाश्च ते त्रयश्चेति विग्रहः। प्रियाः त्रयो यस्य इति प्रियत्रिशब्दो बहुव्रीहिः। तस्यान्यपदार्थप्रधानत्वादेकद्विबहुवचनानि सन्ति। अतो हरिवत्तस्य

'अस्मद्' 'युष्मद्' तथा 'पट्'-संज्ञक शब्द तीनों लिङ्गों में समान होते हैं। 'त्रि' शब्द नित्य बहुवचनान्त है। त्रयः। त्रीन्। त्रिभिः। त्रिभ्यः।

विवरण—पूर्व-सूत्र से प्राप्त प्रत्यय-लक्षण का निषेध किया जारहा है। वह भी केवल 'लु' शब्द द्वारा विधीयमान लोप-कार्य होने पर ही होगा ('लु' अस्यास्तीति लुमान्, तेन) लुक्, श्लु, तथा लुप्—ये तीनों 'लु' शब्द-वोध्य हैं। **उदाहरण**—(क) कति+जस्, <कति—यहाँ पर 'जस्' विभक्ति का लोप "षड्भ्यो लुक्" (२६१)। प्रत्यय-लक्षण द्वारा प्राप्त "जसि च" (२४१) गुण का इस सूत्र से निषेध हो गया। (ख) कति+शस् <कति। (ग) कति+भिस्, <कति+भिर्, <कतिभिः। (घ) कति+भ्यस्, <कतिभ्यर्, <कतिभ्यः। (ङ) कति+भ्यस्, <कति+भ्यर्, <कतिभ्यः। (च) कति+आम्, <कति+न्+आम् ('नुट्'—"ह्रस्वनद्यापो नुट्"—२०८), <कति+नाम्, <कतीनाम् (दीर्घ—"नामि"—२०९)। (छ) कति+सु (सुप्), <कतिषु (स् = ष् "आदेशप्रत्यययोः"—२१२)। प्रसङ्गवश 'अस्मद्' (हम) तथा 'युष्मद्' (तुम) एवं 'पट्'-संज्ञक शब्दों के विषय में सूचित किया जारहा है कि इन शब्दों के रूप तीनों लिङ्गों में समान होते हैं। 'त्रि' शब्द भी अनेक वस्तुओं का वोधक होने से बहुवचनान्त है। उसकी रूपसिद्धि इस प्रकार है—(क) त्रि+जस्, <त्रि+अस्, <त्रे+अस् (इ = ए-गुण "जसि च"-२४१), त्रयस् (ए = अय्), <त्रयर्, <त्रयः। (ख) त्रि+शस्, <त्रि+अस्, <त्रीस् (इ+अ = ई—पूर्वसवर्णदीर्घ), <त्रीन् (स् = न्)। (ग) त्रि+भिस्, <त्रि+भिर्, <त्रिभिः। (घ) त्रि+भ्यस्, <त्रि+भ्यर्, त्रिभ्यः। (ङ) त्रि+भ्यस्, त्रि+भ्यर्, <त्रिभ्यः।

(२६४) पद—त्रेः, त्रयः। **अनुवृत्ति**—आम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'आम्' विभक्ति पर रहते 'त्रि' शब्द को 'त्रय' आदेश होता है। त्रयाणाम्। कुछ लोगों के मत में 'त्रि' के अप्रधान रहने पर 'त्रय' आदेश नहीं होता। प्रियत्रीणाम्। वास्तव में 'प्रियत्रयाणाम्' ही ठीक है। त्रिषु। 'द्वि' शब्द नित्य द्विवचनान्त है।

विवरण—यहाँ पर स्थानी है 'त्रि' तथा आदेश है 'त्रय'। निमित्त-वाचक पद नहीं है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्विवचनान्तः। (२६५) त्यदादीनामः ७।२।१०२॥ एषामकारोऽन्तादेशः स्याद्विभक्तौ। 'द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः' (वा ४४६८)। द्वौ। द्वौ। द्वाभ्याम्। द्वाभ्याम्। द्वाभ्याम्। द्वयोः। द्वयोः। 'द्विपर्यन्तानाम्' इति किम्? भवान्। भवन्तौ। भवन्तः

रूपाणि। तत्र त्रयादेशमाशङ्क्य आह—गौणत्वे त्विति। त्रिशब्दस्य उपसर्जनत्वे 'त्रेस्त्रयः' इति न भवतीति केचिदाहुरित्यर्थः, 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इति न्यायाद् इति भावः। वस्तुतस्त्विति। प्रियत्रयाणामित्येव रूपं वस्तुत्वेन ज्ञेयमित्यर्थः। प्रामाणिकमिति यावत्। गौणमुख्यन्यायस्त्वत्र न प्रवर्त्तते, तस्य पदकार्य एव प्रवृत्तेः। अत एव उपसर्जनानां सर्वनामत्वप्रतिषेध आरब्धो वार्तिककृता। अत एव च प्रियतिस्रेत्यादौ तिस्रादयः भाष्ये उदाहृताः सङ्गच्छन्त इत्यन्यत्र विस्तरः। अथ द्विशब्दे विशेषमाह—द्विशब्द इति। तस्य द्वित्वनियतत्वादिति भावः। द्वि औ इति स्थिते।

(२६५) त्यदादीनामः। 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यतो विभक्तावित्यनुवर्तते। एषामिति। त्यदादीनामित्यर्थः। त्यद् आदिर्येषामिति विग्रहः। अन्तादेश इत्यलोऽन्त्यपरिभाषालभ्यः। विभक्तौ किम्? यत् फलम्। 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति लुकि अत्वं न। द्विपर्यन्तानामिति। सर्वादिगणे ये त्यदादयः पठिताः तेषामिह द्विपर्यन्तानामेव ग्रहणे भाष्यकारस्य इच्छेत्यर्थः। द्विशब्दस्य द्वित्वचने परतोऽत्वे कृते रामशब्दवद्रूपाणीत्याह—द्वावित्यादि। द्विपर्यन्तानामिति किमिति। युष्मदस्मदोरात्वयत्वलोपैर्बाधात् किमः कादेशविधानाच्च तेषां त्यदादिष्वन्तर्भावेऽपि न दोष इति प्रश्नः। भवान् भवन्ताविति। भवत् स् इति स्थिते 'उगिदचाम्' इति नुमि हल्ङ्यादिलोपे संयोगान्तलोपे 'अत्वसन्तस्य च' इति दीर्घे भवानिति रूपम्। द्विपर्यन्तानामित्यभावे तु भवत् स् इति स्थिते तकारस्य अत्वे कृते 'अतो गुणे' इति पररूपे 'उगिदचाम्' इति नुमि, सर्वनामस्थाने' इति दीर्घे सुलोपे सलोपे भवा इति स्यात्। तथा भवत् औ इति स्थिते पूर्ववत्तकारस्य अत्वे पररूपे नुमि दीर्घे च

अतः उसके लिए "आमि सर्वनाम्नः सुट्" (७-१-५२) सूत्र से 'आमि' की अनुवृत्ति लाई जारही है। तदनुसार 'आम्' (षष्ठी बहुवचन) के परवर्ती होने पर 'त्रि' शब्द को 'त्रय' आदेश होता है। उदाहरण—(क) त्रि+आम्, <त्रय+आम् (त्रि = त्रय), <त्रय+नाम् (नुट् आगम), त्रया+नाम् (दीर्घ—'नामि'-२०९), <त्रया+णाम् (न् = ण्), <त्रयाणाम्। (ख) त्रि+सु (सुप्), <त्रि+षु (स् = ष्), <त्रिषु।

विशेष—एक न्याय है—"गौण-मुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः" अर्थात् गौण और मुख्य को मानकर कार्य-विधान होने की स्थिति में 'मुख्य' को ही कार्य होता है। इस नियम से 'प्रिय हैं तीन जिसको' इस अर्थ में 'प्रियत्रि' शब्द का अवयव 'त्रि' अप्रधान होने के कारण (प्रियत्रि+आम्) षष्ठी के बहुवचन में त्रि=त्रय आदेश नहीं होता। तदनुसार प्रियत्रीणाम् रूप बनेगा। इस सम्बन्ध में कुछ आचार्यों का ऐसा मत रहा है। इस पर भट्टोजी दीक्षित ने अपनी अरुचि प्रकट की है। उसका कारण यह है कि गौण-मुख्य न्याय की प्रवृत्ति केवल पद-कार्य में ही होती है। इस हेतु यहाँ 'त्रि' = 'त्रय' आदेश होने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि 'त्रि' के स्थान में 'त्रय' आदेश विभक्ति को अभिलक्षित कर होता है। अतः त्रि = त्रय आदेश होकर अभीष्ट रूप 'प्रियत्रयाणाम्' होगा—प्रियत्रि+आम्, <प्रियत्रय+आम्, <प्रियत्रय+नाम्, <प्रियत्रया+नाम्, <प्रियत्रयाणाम्।

२—'द्वि' शब्द से दो वस्तुओं का बोध होने से उसका केवल द्वि-वचन में ही प्रयोग होता है।

(२६५) पद—त्यदीनाम्, अः। अनुवृत्ति—विभक्तौ। विधिसूत्र।

मूलार्थ—इनको विभक्ति पर रहते 'अ' हो। यह विधान 'द्वि'शब्द-पर्यन्त समझा जाय। द्वौ। द्वौ। द्वाभ्याम्। द्वाभ्याम्। द्वाभ्याम्। द्वयोः। द्वयोः। 'द्वि' पर्यन्त क्यों कहा? भवान्। भवन्तौ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संज्ञायामुपसर्जनत्वे च नात्वम्। सर्वाद्यन्तर्गणकार्यत्वात्। द्विर्नाम कश्चित्। द्विः। द्वी। द्वयः। द्वावतिक्रान्तोऽतिद्विः। हरिवत्। प्राधान्ये तु परमद्वावित्यादि। औडुलोमिः। औडुलोमी। बहुवचने तु उडुलोमाः। 'लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः' (वा २५६०)। बाह्वादीनोऽपवादः। औडुलोमिम्। औडुलोमी। उडुलोमान्। इति इदन्ताः। 'वातप्रमीः' (उ ४४१) इत्युणादिसूत्रेण माङ ईप्रत्ययः, स च कित्। वातं प्रमिमीते इति प्रातप्रमीः। 'दीर्घाज्जसि च' (सू २३९)। वातप्रम्यौ। वातप्रम्यः। हे वातप्रमीः। 'अमि पूर्वः'

भवानाविति स्यादिति भावः। अथ यदुक्तं 'संज्ञोपसर्जनीभूतानां सर्वादिगणकार्यमन्तर्गणकार्यं च न भवति' इति, तत् स्मारयति—संज्ञायामित्यादिना। द्विर्नामेति। नामेत्यव्ययं प्रसिद्धौ। द्विरिति प्रसिद्धः कश्चित् इत्यर्थः। अत्र च संज्ञाभूतस्य द्विशब्दस्य एकद्विबहुवचनानि सन्ति, एकद्विज्यादिष्वपि द्विसञ्ज्ञकत्वसम्भवादित्यभिप्रेत्य आह—द्विः द्वी द्वय इति। अतिद्विरिति। 'अत्यादयः' इति समासः। परमद्वाविति। कर्मधारयोप्ययम्। संज्ञोपसर्जनत्वाभावादिह अत्वं भवत्येव, आङ्गत्वेन पदाङ्गाधिकारपरिभाषया तदन्तग्रहणादिति भावः। उडूनि नक्षत्राणीव लोमानि यस्य स उडुलोमाः। तस्यापत्यमौडुलोमिः "बाह्वादिभ्यश्च' इति इञ्। 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः। आदिवृद्धिः। अस्य एकवचनद्विवचनयोः सर्वत्र हरिवद्रूपम्। तदाह—औडुलोमिः। औडुलोमी इति। बहुवचने तु उडुलोमा इति। ननु तथा रूपं कथम्, बाह्वादिगणस्थत्वेन इञः प्रसङ्गादित्यत आह—लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः। लोमन्शब्दात् बहुष्वपत्येषु विवक्षितेषु अकारः प्रत्ययो वक्तव्य इत्यर्थः। बाह्वादीन इति। बाह्वादिगणाद्विहितस्य इञोऽपवाद इत्यर्थः। उडुलोमन् अ इति स्थिते 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः। ञ्णित्त्वाभावात् कित्त्वाभावाच्च नादिवृद्धिः। उडुलोमशब्दः अकारान्तः। तस्य सर्वत्र बहुवचनेषु रामवद्रूपमिति भावः। इति इदन्तप्रकरणम्। अथेदानीमीकारान्ता निरूप्यन्ते। तत्र वातप्रमीशब्दो द्विधा। 'माङ् माने' इति धातोरीप्रत्ययान्तः क्विबन्तश्च। तत्र प्रथमं व्युत्पादयति—वातप्रमीरित्यादिना। किदित्यनन्तरं निपात्यत इति शेषः। वातमिति। वातमित्युपपदे कर्तरि माङ् धातोरीप्रत्यये कित्त्वात् 'आतो लोप इटि च' इत्यात्लोपे 'उपपदमतिङ्' इति समासे तस्मात् सुबुत्पत्तौ वातप्रमीरिति प्रथमैकवचनम्। अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः। एतदर्थमेव हल्ङ्यादिसूत्रे सत्यपि दीर्घग्रहणे ङीब्ग्रहणमिति भावः। दीर्घादिति। वातप्रमी औ इति स्थिते 'दीर्घाज्जसि च' इति पूर्वसवर्णदीर्घे निषिद्धे 'इको यणचि' इति यणि वातप्रम्याविति रूपमित्यर्थः। हे वातप्रमीरिति। दीर्घान्तत्वात् 'ह्रस्वस्य गुणः' इति न। अमीति। वातप्रमी अम् इति स्थिते 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे

भवन्तः। संज्ञावाचक एवं विशेषण के रूप में प्रयुक्त होनेपर 'अ' नहीं होता। कारण यह है कि यह विधान भी सर्वादिगण के अन्तर्गत ही विहित है। किसी व्यक्ति का 'द्वि' नाम रखने पर इकारान्त पुंलिङ्ग के समान सभी वचनों में इस शब्द का प्रयोग होगा। द्विः। द्वी। द्वयः। इसी प्रकार 'दो को अतिक्रमण करने वाले दो पुरुष' इस अर्थ में 'द्वि' शब्द का अर्थ 'अति'-शब्द के अर्थ में विशेषण-कल्पित होने से अप्रधान हो जाता है। अतः 'अतिद्विः' रूप बनेगा। प्रधानता होने पर तो 'परमद्वौ' इत्यादि। औडुलोमिः। औडुलोमी। बहुवचन में उडुलोमाः। वा० 'लोमन्'-शब्दान्त से अपत्यार्थ में बहुवचन विवक्षित होने पर 'अ' प्रत्यय होता है। "बाह्वादिभ्यश्च" से प्राप्त 'इञ्' का अपवाद है। औडुलोमिम्। औडुलोमी। उडुलोमान्। इकारान्त शब्द रूप समाप्त हुए। 'वातप्रमीः' इस उणादिसूत्र से √माङ् से 'ई' प्रत्यय होता है और वह 'कित्' समझा जाय। 'वायु को शीघ्र गति से नापने वाला' अर्थ में—वातप्रमीः। वातप्रम्यौ। वातप्रम्यः। हे वातप्रमीः। "अमि पूर्वः"—पूर्वरूप—वातप्रमीम्। वातप्रम्यौ। वातप्रमीन्। वातप्रम्या। वातप्रमीभ्याम्। वातप्रमीभ्याम्। वातप्रमी-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(सू १९४)–वातप्रमीम् । वातप्रम्यौ । वातप्रमीन् । वातप्रम्या । वातप्रमीभ्याम् । वातप्रम्ये । वातप्रमीभ्याम् । वातप्रम्यः । वातप्रमीभ्याम् । वातप्रम्यः । वातप्रम्योः । वातप्रम्याम् । दीर्घत्वान्न नुट् । ङौ तु सवर्णदीर्घः । वातप्रमी । वातप्रम्योः । वातप्रमीषु । एवं ययीपप्यादयः । यान्त्यनेनेति ययीर्मार्गः । पाति लोकमिति पपीः सूर्यः । 'यापोः

वातप्रमीमिति रूपमित्यर्थः । 'एरनेकाचः' इति यण्तु न, ईप्रत्ययान्तस्य धातुत्वाभावात् । वातप्रमीनिति । पूर्वसवर्णदीर्घे 'तस्माच्छसः' इति नत्वम् । वातप्रम्येति । अधित्वात् 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इति नाभावस्याभावे यण् । वातप्रम्ये इति । अधित्वात् ङेऽसिङस्सु 'घेर्ङिति' इति गुणो न । वातप्रम्यामिति । आमि यणादेशे रूपम् । दीर्घत्वान्न नुट्, 'ह्रस्वनद्यापः' इति ह्रस्वग्रहणादिति भावः । ङौ त्विति । वातप्रमी इ इति स्थिते परत्वाद्यणादेशं बाधित्वा सवर्णदीर्घे वातप्रमी इति रूपम् । अधित्वादिदुदन्तत्वाभावाच्च 'अच्च घेः' इति, 'औत्' इति च न भवति । वस्तुतस्तु 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' इति सूत्रे सप्तम्यन्तमीदूदन्तं लोके नास्ति । अतः 'सोमो गौरी अधिश्रितः, 'मामकी तनू' इति वेद एव तदुदाहरणम्' इति भाष्यविरोधाद्वातप्रमी इति सप्तम्यन्तस्य लोके प्रयोगो नेत्यनुमीयत इति शब्देन्दुशेखरे स्पष्टम् । यापोरिति । 'यापोः किद् द्वे च' इति औणादिकसूत्रम् । याधातोः, पाधातोश्च

भ्याम् । वातप्रम्ये । वातप्रम्यः । वातप्रम्यः । वातप्रम्योः । वातप्रम्योः । वातप्रम्याम् । दीर्घ होने के कारण 'नुट्' आगम नहीं । 'ङि' विभक्त में सवर्णदीर्घ । वातप्रमी । वातप्रमीषु । इसी प्रकार ययी, पपी आदि शब्दों के रूप होते हैं । 'जिसके सहारे लोग जाते हैं' (मार्ग) इस अर्थ में—ययीः । 'संसार की रक्षा करता है' अर्थ में (सूर्य)—पपीः । 'यापोः किद् द्वे च' इस उणादि सूत्र से 'ई' प्रत्यय हुआ । क्विप्-प्रत्ययान्त 'वातप्रमी' शब्द के अम्, शस् तथा ङि विभक्तियों में विशेषता है । वातप्रम्यम् । वातप्रम्यः । वातप्रम्यि । आगे आने वाले "एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य" सूत्र से यण् हुआ । इसके रूप 'प्रधी' शब्द के समान होंगे । 'बहुत श्रेष्ठ स्त्रियों वाला' अर्थ में बहुश्रेयसी । दीर्घ-'ङीप्'–अन्त होने से "हल्ङ्याभ्यः०" सूत्र से 'सु' का लोप हुआ ।

सन्दर्भ—'सर्वादि'–गण से सम्बद्ध कुछ विशेष विधान 'अन्तगणकार्य' के रूप में समाविष्ट हैं । उनका उल्लेख किया जारहा है ।

विवरण—यहाँ पर 'त्यदादि' स्थानी हैं तथा 'अ' आदेश है । [निमित्त-वाचक पद 'विभक्तौ' की अनुवृत्ति "अष्टन आ विभक्तौ" (७-२-८४) सूत्र से लाई जाती है । 'त्यदादि' शब्द सर्वादि-गण के अन्तर्गत समाविष्ट हैं । आदेश ('अ') का विधान अन्त्य वर्ण के स्थान पर होता है—"अलोन्त्यस्य" (४२) । भाष्यकार ने इस आदेश की अवधि 'द्वि' शब्द पर्यन्त निश्चित की है ।[1] इस प्रकार 'त्यदादि' पद त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक और द्वि—इन आठ शब्दों का बोधक है । उदाहरण—(क) द्वि+औ, <द्व+औ (इ=अ), <द्वौ (अ+औ = औ—वृद्धि) । (ख) द्वि+औ <द्व+औ, <द्वौ । (ग) द्वि+भ्याम्, <द्व+भ्याम् (इ=अ), <द्वाभ्याम् (दीर्घ—"सुपि च"-२०२) । (घ) द्वि+भ्याम्, <द्व+भ्याम्, <द्वाभ्याम् । (ङ) द्वि+भ्याम्, <द्व+भ्याम्, <द्वाभ्याम् । (च) द्वि+ओस्, <द्व+ओस्, <द्वे+ओस् (अ=ए—"ओसि च"-२०७), <द्वयोस् (ए=अय्), <द्वयोर्, <द्वयोः । (छ) इसी प्रकार सप्तमी के द्विवचन में भी—द्वयोः ।

प्रत्युदाहरण—१–भाष्य के अनुसार 'त्यदादि'–गण का अन्तिम शब्द 'द्वि' माना गया है । सर्वादि-गण में 'द्वि' शब्द के अनन्तर 'भवतु' शब्द पढ़ा गया है । इस कारण 'भवत्' शब्द के

---

१. त्यदादीनामकारेण सिद्धत्वाद् युष्मदस्मदोः शेषे लोपस्य लोपेन ज्ञायते प्राक् ततोऽदिति । यदयं त्यदादीनामत्वेन सिद्धे युष्मदस्मदोः शेषे लोपं शास्ति, तज् ज्ञापयति आचार्यः प्राक् ततः अत्वं भवतीति न सर्वेषामिति । महाभाष्यम् ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किद् द्वे च' (उ ४३९) इति ईप्रत्ययः। क्विबन्तवातप्रमीशब्दस्य त्वमि शसि ङौ च विशेषः—वातप्रम्यम्, वातप्रम्यः, वातप्रम्यि। 'एरनेकाचः—' (सू २७२) इति वक्ष्यमाणो

ईप्रत्ययः स्यात्, स कित्। प्रकृतिभूतयोर्द्वित्वं चेत्यर्थः। कित्त्वात् 'आतो लोप इटि च' इत्याल्लोपः। अभ्यासह्रस्वः। क्विबन्तवातेति। 'माङ् माने' इत्यस्मात् कर्तरि क्विपि 'घुमास्था' इति ईत्वे वातप्रमीशब्द इति केचित्। तन्न, 'ईत्त्वमवकारादौ' इति वार्तिक-विरोधात्। मीञ् हिंसायाम् इति मीधातोः क्विपि तु वातप्रमीशब्दो निर्बाधः। वक्ष्यमाणो यणिति। अमि पूर्वरूपं, शसि पूर्वसवर्णदीर्घं, ङौ सवर्णदीर्घं च बाधित्वा परत्वात् 'एरने-काचः' इति यण्, ईकारान्तधातुत्वादिति भावः। प्रधीवदिति। प्रकृष्टं ध्यायतीति प्रधीः। 'ध्यायतेः सम्प्रसारणं च' इति क्विपि यकारस्य सम्प्रसारणमिकारः। 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपम्। 'हलः' इति दीर्घः। अस्य च ईकारान्तधातुत्वात् अमि शसि ङौ च 'एरने-काचः' इति यणादेशः। वह्नय इति। 'वह्न्यादिभ्यश्च' इति ङीप्। श्रेयस्य इति। अतिप्रशस्ता

'त्' के स्थान पर 'अ' नहीं होता—भवान्, भवन्तौ, भवन्तः। २—'सर्वनाम' संज्ञा अन्वर्थक है। अतः सर्वादि शब्दों का विशेषण के रूप में प्रयोग करने पर 'सर्वनाम'-संज्ञा नहीं होती। तदनुसार त्यदादि शब्दों को अभिलक्षित कर जिन विशेष (अन्तर्गण) कार्यों का विधान किया गया है, वे भी अप्रधान एवम् संज्ञा वाचक शब्दों में प्रवृत्त नहीं होते। अतः व्यक्तिविशेष का 'द्वि' नाम रखने पर 'द्वि' शब्द के रूप इकारान्त पुंल्लिङ्ग 'हरि' शब्द के समान बनेंगे—(क) द्वि+स् (सु), <द्वि+र्, <द्विः। (ख) द्वि+औ, <द्वी (इ+औ = ई—पूर्व सवर्ण दीर्घ)। इसी प्रकार विशेषण के रूप में कल्पित 'द्वि' शब्द के रूप भी 'हरि' शब्द के समान ही होंगे—अतिद्वि+स् (सु), <अतिद्विर्, <अतिद्विः। अर्थ—अतिक्रमण करने वाले पुरुषद्वय। विग्रह-द्वौ अतिक्रान्तः= अतिद्विः। कर्मधारण समास में स्थिति कुछ भिन्न होती है। वहाँ पर 'द्वि'शब्दार्थ प्रधान रहता है। अतः 'अ'विधान आदि कार्य होते हैं—परमद्वि+औ, <परमद्व+औ (इ = अ), <परमद्वौ (अ+औ = औ—वृद्धि)।

विशेष—इकारान्त 'औडुलोमि' शब्द के विशेष कार्यों का उल्लेख किया जारहा है। यह अपत्यवाचक शब्द है—उडुलोमन्+इ(इञ्), <उडुलोम्+<इ ('टि' = अन् का लोप), <औडुलोम्+इ (उ = औ—आदिवृद्धि) औडुलोमि। इसका अर्थ है उडुलोमन् ऋषि की सन्तति। इनके बाल चमकीले थे। प्रथमा विभक्ति के एक-वचन तथा द्विवचन में क्रमशः 'हरि' शब्द के समान (क) 'औडुलोमिः' (ख) 'औडुलोमी' रूप बनते हैं। बहुवचन के रूपों में कुछ अन्तर होता है। उसका निर्देश किया जारहा है। (वा०) पद—लोम्नः, अपत्येषु, बहुषु, अकारः, वक्तव्यः। अर्थ—'लोमन्' शब्द से (लोम्नः) बहुवचन में (बहुषु) अनेक अपत्यों की विवक्षा होने पर (अपत्येषु) 'अ' प्रत्यय होता है। यह 'इञ्' प्रत्यय का बाधक है। (ग) इसके फलस्वरूप—उडुलोमन्+अ, उडुलोम्+अ (टि = 'अन्' का लोप), <उडु-लोम+(अस्)जस्, <उडुलोमास् (अ+अ = आ—पूर्वसवर्ण-दीर्घ), <उडुलोमार्, <उड्-लोमाः। (घ) द्वितीया एकवचन में औडुलोमिम्। (ङ) द्वितीया द्विवचन में औडुलोमी (च) द्वितीया बहुवचन में उडुलोमान् (पूर्वसवर्ण दीर्घ तथा स् = न्)। ह्रस्व इकारान्त-शब्दों (पुंल्लिङ्ग-वाची) का प्रकरण समाप्त होता है।

२—दीर्घ ईकारान्त (पुंल्लिङ्ग) शब्दों का प्रकरण प्रारम्भ होता है। (क) 'वातप्रमी' शब्द का अर्थ—वातं प्रमिमीते—अर्थात् वायु को नापने वाला—मृग। उपपद तत्पुरुष-समास। व्युत्पत्ति—वात-प्र-√ म +ई ("वातप्रमीः" उणादि ४४१-ई-प्रत्यय), <वातप्रमी ("आतो लोप इटि च"-६-४-६४ सूत्र से 'ई' प्रत्यय कित् होने के कारण 'आ' का लोप हुआ)। वातप्रमी+(स्)सु, <वातप्रमीर् (स् = र्), <वातप्रमीः (र् = :)। 'ङीप्'-प्रत्ययान्त न होने के कारण 'सु' का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यण् । प्रधीवत् । बह्वृचः श्रेयस्यौ यस्य सः बहुश्रेयसी । दीर्घङ्यन्तत्वात् 'हल्ङ्याप्—'

इत्यर्थः । 'द्विवचनविभज्योपपदे' इति ईयसुन् । 'प्रशस्यस्य श्रः' इति श्रः । 'उगितश्च' इति ङीप् । बहुश्रेयसीति । 'स्त्रियाः पुंवत्' इति पुंवत्त्वम् । 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वस्तु न, 'ईयसो बहुव्रीहेर्नेति वाच्यम्' इति तन्निषेधात् । बहुश्रेयसी स् इति स्थिते प्रक्रियां दर्शयति—दीर्घङ्यन्तत्वादिति । ननु श्रेयसीशब्द एव ङ्यन्तः, प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेरेव ग्रहणात् । न च 'स्त्रीप्रत्यये न तदादिनियमः' इति निषेधान्नेह तदादिनियम इति वाच्यम्, अनुपसर्जन एव स्त्रीप्रत्यये हि 'न तदादिनियमः' इति प्रतिषेधः । इह तूपसर्जनत्वात्तदादिनियमोऽस्त्येवेति चेत् ? अस्तु श्रेयसीशब्दस्यैव ङ्यन्तत्वम्, न तु बहुश्रेयसीशब्दस्य, तथापि हल्ङ्यादिलोपोऽत्र निर्बाधः । सोः ङ्यन्तात् श्रेयसीशब्दात्परत्वस्य अनपायात् । नहि हल्ङ्याब्भ्य इति विहितविशेषणम्, प्रमाणाभावात् या सा का इत्यादावव्याप्तेश्च । तत्र सोष्टाबन्ताद्विहितत्वाभावात् यत्तत्किमिति हलन्तेभ्यस्सुबुत्पत्तौ त्यदाद्यत्वे (किमः कत्वे च) सत्येव टापः प्रवृत्तेः । न च तत्र हलन्ताद्विहितत्वेन निर्वाहः शङ्क्यः, यः सः कः इत्यादावतिव्याप्तेः, कर्त्ता सखा इत्यादावव्याप्तेश्चेत्यास्तां

लोप नहीं हुआ । (ख) वातप्रमी+औ, <वातप्रम्यौ ("दीर्घाज्जसि च"—२३९—सूत्र से पूर्वसवर्ण-दीर्घ का निषेध होने के कारण 'यण्' सन्धि) । (ग) वातप्रमी+अस् (जस्), <वातप्रम्यस् (यण्), <वातप्रम्यर् (स्=र्), <वातप्रम्यः (र् = :) । (घ) वातप्रमी+अम्, <वातप्रमीम् (ई+अ = ई—"अमि पूर्वः"—१९४ पूर्वरूप) । (ङ) वातप्रमी+औ, <वातप्रम्यौ । (च) वातप्रमी+अस् (शस्), <वातप्रमीस् (ई+अ—पूर्वसवर्ण दीर्घ), <वातप्रमीन् (स् = न्) । (छ) वातप्रमी+आ (टा), <वातप्रम्या (यण्) । (ज) वातप्रमी+भ्याम्, <वातप्रमीभ्याम् । (झ) वातप्रमी+भिस्, <वातप्रमीभिर्, <वातप्रमीभिः । (ट) वातप्रमी+ए (ङे), <वातप्रम्ये (यण्) । (ठ) वातप्रमीभ्याम् । (ड) वातप्रमीभ्यः । (ढ) वातप्रमी+अस् (ङसि), <वातप्रम्यस्, <वातप्रम्यर्, वातप्रम्यः । (ण) वातप्रमीभ्याम् । (त) वातप्रमीभ्यः । (थ) वातप्रमी+अस् (ङस्), वातप्रम्यस्, <वातप्रम्यर्, <वातप्रम्यः । (द) वातप्रमी+ओस्, <वातप्रम्योस्, <वातप्रम्योर्, <वातप्रम्योः । (ध) वातप्रमी+आम्, <वातप्रम्याम् (दीर्घान्त होने से 'नुट्' आगम नहीं हुआ) । (न) वातप्रमी+इ (ङि), <वातप्रमौ (सवर्ण-दीर्घ) । (प) वातप्रम्योः । (फ) वातप्रमी+सु (सुप्), <वातप्रमीषु (स् = ष्) । (ब) सम्बोधन में—हे वातप्रमीः, हे वातप्रम्यौ, हे वातप्रम्यः ।

निर्देश—१-इसी प्रकार 'ययी' तथा 'पपी' शब्दों की रूप-सिद्धि होगी । इनका अर्थ—(१) ययी = मार्ग—यान्ति अनेन—अर्थात् जिससे लोग जाते हैं । व्युत्पत्ति—√ या+या+ई—("यापोः किद् द्वे च" उणादि ४३९—से द्वित्व, कित्व, ई प्रत्यय), <या—य्+ई <'आ'—लोप), ययी (पूर्व 'या'—'अभ्यास' को ह्रस्व) । ययी+सु = ययीः । (२) पपी : = सूर्य । अर्थ—पाति लोकम्—संसार की रक्षा करता है । व्युत्पत्ति 'ययी' शब्द के समान है ।

२—'वातप्रमी' शब्द की व्युत्पत्ति दूसरी तरह भी सम्भव है । 'क्विप्' प्रत्यय कर उसका लोप करने के पश्चात् 'वातप्रमी' शब्द की 'सनाद्यन्ता धातवः" (३-१-३२) से धातुसंज्ञा करने के पश्चात् विभक्तियाँ लगाई जायँ तो (क) द्वितीया के एक-वचन (अम्) में—वातप्रमी+अम् = वातप्रम्यम्, (ख) द्वितीया के बहुवचन (शस्) में—वातप्रमी+अस्=वातप्रम्यः । तथा (ग) सप्तमी के एक-वचन (ङि) में—वातप्रमी+इ = वातप्रम्यि रूप बनेंगे । इन तीनों रूपों में "एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य" (६-४-८२) सूत्र से यण् आदेश होता है । धातु-सम्बन्धी यणादेश क्रमशः "अमि पूर्वः", "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" तथा "अकः सवर्णे दीर्घः" का बाधक सिद्ध हुआ है । 'वातप्रमी' शब्द के रूप 'प्रधी' शब्द के समान हैं ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(सू १५२) इति सुलोपः। (२६६) **यू स्त्र्याख्यौ नदी १।४।३॥** ईदूदन्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ नदीसंज्ञौ स्तः। 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' (वा १०३६)। पूर्वं स्त्र्याख्यस्योपसर्जनत्वेऽपि इदानीं नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः। (२६७) **अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः**

तावत्। 'दीर्घाज्जसि च' इति पूर्वसवर्णदीर्घनिषेधे यणि बहुश्रेयस्यौ, बहुश्रेयस्यः। हे बहुश्रेयसी स् इति स्थिते।

(२६६) नदीकार्यं वक्ष्यन् नदीसंज्ञामाह—यूस्त्र्याख्यौ नदी। ईश्च ऊश्च यू। पूर्वसवर्णदीर्घः। 'दीर्घाज्जसि च' इति निषेधाभावश्छान्दसः। व्याख्यानाद्दीर्घयोरेव ग्रहणम्। स्त्रियमाचक्षाते स्त्र्याख्यौ। शब्दावित्यर्थाल्लभ्यते। यू इति तद्विशेषणम्। तदन्तविधिः। स्त्रियामित्येव सिद्धे आख्याग्रहणं नित्यस्त्रीलिङ्गलाभार्थम्। द्वित्वे नदीत्येकवचनं छान्दसम्। तदाह—'ईदूदन्तावित्यादिना'। यू किम्? मात्रे। 'आण्नद्याः'इति न भवति। स्त्रीलिङ्गाविति किम्? वातप्रम्ये। नित्येति किम्? ग्रामण्ये। ननु प्रकृते बहुश्रेयसीशब्दस्य पुंल्लिङ्गत्वात् कथं नदीसंज्ञेत्यत आह—प्रथमलिङ्गग्रहणं चेति। वार्त्तिकमेतत्। प्रथमस्य समासादिवृत्तिप्रवृत्तेः पूर्वं प्रवृत्तस्य स्त्रीलिङ्गस्य 'यू स्त्र्याख्यौ' इत्यत्र ग्रहणं कर्तव्यमित्यर्थः। नन्वेवं सति समासादिवृत्त्यभावे गौर्यादिशब्दानां नदीत्वं न स्यादित्याशङ्क्य अपिशब्दमध्याहृत्य व्याचष्टे—पूर्वमित्यादिना। समासादिवृत्तिप्रवृत्तेः पूर्वं स्त्रीलिङ्गस्य सतः वृत्तिदशायामुपसर्जनतया स्त्रीलिङ्गत्वाभावेऽपि नदीत्वं वक्तव्यमिति वार्तिकार्थं इति भावः।

(२६७) अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः। अम्बार्थानामिति। अम्बापर्यायाणामित्यर्थः। नद्यन्तानामिति। अङ्गाधिकारस्थत्वात्तदन्तविधिः। तुल्यन्यायत्वादम्बार्थानामित्यत्रापि तदन्तविधिर्बोध्यः।

३—'बहुश्रेयसी' शब्द की रूपसिद्धि का क्रम इस प्रकार है। विग्रह—बह्वयः श्रेयस्यः यस्य सः, बहुव्रीहि समास। बहुत श्रेष्ठ स्त्रियें है जिसकी ऐसा व्यक्ति। बह्वी-जस्+श्रेयसी-जस्, <बह्वी श्रेयसी, <बहुश्रेयसी (बह्वी = बहु—पुंवद्भाव)। (क) बहुश्रेयसी स्+(सु), <बहुश्रेयसी ('स्' लोप-"हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०"—२५२)।

(२६६) पद—यू, स्त्र्याख्यौ, नदी। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—दीर्घ ईकारान्त एवं दीर्घ ऊकारान्त नित्य स्त्रीलिङ्ग शब्दों की 'नदी' संज्ञा होती है। (वा०) शब्द की मौलिक अवस्था का लिङ्ग माना जाय। अर्थात् जो शब्द पहले स्त्रीलिङ्ग हो और उपसर्जनवश वह अन्य लिङ्ग में हो गया हो तो भी उसे नदी-संज्ञा होनी चाहिये।

विवरण—'नदी' संज्ञा है, 'स्त्र्याख्यौ' 'यू' संज्ञी। यू=ईश्च ऊश्च—यू। इतरेतर द्वन्द्व। यह 'स्त्र्याख्यौ' (स्त्रियमाचक्षाते) का विशेषण-वाची शब्द है, अतः तदन्तविधि हुई। अर्थात् स्त्रीलिङ्ग की आख्या रखने वाले (निरूपण करने वाले) दीर्घ ईकारान्त और दीर्घ ऊकारान्त शब्द 'नदी' संज्ञक होते हैं। समास होने के कारण 'बहुश्रेयसी' शब्द पुंलिङ्ग है, अतः 'ङीप्' प्रत्ययान्त होने पर भी समास हो जाने के कारण नित्यस्त्रीलिङ्ग न होने से उसे 'नदी' संज्ञा नहीं हो सकती। इसलिये वार्तिककार कहते हैं कि (वा०) किसी शब्द में नियम-वश लिङ्ग-परिवर्तन होने पर भी 'नदी' संज्ञा में पूर्वावस्था का लिङ्ग ग्राह्य है"। तदनुसार अन्य-पदार्थ में उपसर्जन-वश (विशेषण के रूप में प्रयुक्त) 'श्रेयसी' शब्द के पुंलिङ्ग में होने पर भी उसके मौलिक लिङ्ग (स्त्री-लिङ्ग) का ग्रहण होने से 'नदी' संज्ञा हुई।[1]

(२६७) पद—अम्बार्थनद्योः, ह्रस्वः। अनुवृत्ति—अङ्गस्य, सम्बुद्धौ। विधिसूत्र।

---

१. अवयवस्त्रीविषयत्वात् सिद्धम्। अवयवोऽत्र स्त्रीविषयः। तदाश्रया 'नदी'-संज्ञा भविष्यति। महाभाष्यम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७।३।१०७॥ अम्बार्थानां नद्यन्तानां च ह्रस्वः स्यात् सम्बुद्धौ। हे बहुश्रेयसि। शसि बहुश्रेयसीन्। (२६८) आण्नद्याः ७।३।११२॥ नद्यन्तात्परेषां ङितामाडागमः स्यात्। (२६९) आटश्च ६।१।९०॥ आटोऽचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्।

सम्बुद्धाविति। 'सम्बुद्धौ च' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः। अम्बागौर्यादिशब्देषु ह्रस्वत्वं तु व्यपदेशिवद्भावेन तदन्तत्वात् ज्ञेयम्। हे बहुश्रेयसि इति। ह्रस्वे सति 'एङ्ह्रस्वात्' इति सम्बुद्धिलोपः। ह्रस्वे गुणस्तु न, प्रक्रियालाघवाय 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इत्यनुक्त्वा 'अम्बार्थनद्योर्गुणः' इति वाच्ये ह्रस्वविधिसामर्थ्यादिति स्पष्टं भाष्ये। बहुश्रेयस्यौ। बहुश्रयस्यः। 'दीर्घाज्जसि च' इति पूर्वसवर्णदीर्घनिषेधे यण्। 'अमि पूर्वः–' बहुश्रेयसीम्। बहुश्रेयस्यौ। बहुश्रेयसीन् इति। पूर्वसवर्णदीर्घे सति 'तस्माच्छसः' इति नत्वमिति भावः। बहुश्रेयस्या। अघित्वान्नाभावो न, किन्तु यणादेशः। बहुश्रेयसीभ्याम्। बहुश्रेयसीभिः। बहुश्रेयसी ए इति स्थिते घित्वाभावान्न तत्कार्यम्। यणि बहुश्रेयस्ये इति प्राप्ते।

(२६८) आण्नद्याः। अङ्गस्येत्यधिकृतं पञ्चम्या विपरिणम्यते। नद्या इति पञ्चम्यन्तेन विशेष्यते। तदन्तविधिः। घेर्ङिति इत्यतः ङितीत्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते। तदाह—नद्यन्तादित्यादिना। टित्वादाद्यवयवः। बहुश्रेयसी आ ए इति स्थिते।

(२६९) आटश्च। 'इको यणचि' इत्यतः अचीति 'वृद्धिरेचि' इत्यतः वृद्धिरिति चानुवर्तते। 'एकः पूर्वपरयोः' इति चाधिकृतम्। तदाह—आटोऽचीत्यादिना। बहुश्रेयस्यै इति। बहुश्रेयसी आ ए इति स्थिते 'आटश्च' इति वृद्धौ यणादेशे च रूपमिति भावः।

मूलार्थ—सम्बुद्धि के परवर्ती होने पर अम्बार्थक और नदी-संज्ञा वाले शब्दों को ह्रस्व होता है। हे बहुश्रेयसि। 'शस्' में बहुश्रेयसीन्।

विवरण—"अङ्गस्य" (६-४-१) का अधिकारक्षेत्र है। "सम्बुद्धौ च" (७-३-१०६) सूत्र से 'सम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति आरही है। तदनुसार सम्बोधन के एकवचन में अम्बार्थ-वाची शब्द तथा नदी-संज्ञक शब्दों के अन्तिम वर्ण को ह्रस्व होता है। **उदाहरण**—(हे) बहुश्रेयसी+स् (सु), <हे बहुश्रेयसि+स् (नदी-संज्ञा होने से 'ई' को ह्रस्व 'इ'), <हे बहुश्रेयसि ('स्' लोप—"एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः" (६-१-१६९)।

(२६८) **पद**—आट्, नद्याः। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, ङिति। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—नद्यन्त से परवर्ती ङिद्वचनों को 'आट्' आगम होता है।

विवरण—प्रकृत सूत्र से 'आट्' आगम का विधान किया जारहा है। आगमी हैं 'ङ्'-इत्संज्ञक विभक्तियाँ। सूत्र में उसका उल्लेख नहीं किया गया है। अतः "घेर्ङिति" (७-३-१११) सूत्र से 'ङिति' की अनुवृत्ति लाई जाती है। इसके साथ ही सप्तम्यन्त 'ङिति' पद षष्ठी-विभक्ति में परिवर्तित किया जाता है। "अङ्गस्य" का अधिकार चल रहा है। उसका विशेषण-वाची पद 'नद्याः' पञ्चमी विभक्ति में है। इस कारण 'अङ्गस्य' पद भी 'पञ्चमी' (अङ्गात्) विभक्ति में परिवर्तित होता है। विशेषण होने से 'नद्याः' में तदन्तविधि होती है। इस तरह सूत्र का अर्थ होता है—"नद्यन्त अङ्ग (जिस अङ्ग के अन्त में 'नदी'-संज्ञक शब्द हों) से पश्चाद्वर्ती ङित्-विभक्तियों (ङे, ङसि, ङस्, ङि) का अवयव 'आट्' (आ) होता है। अर्थात् वह ङित्-विभक्तियों के आदि में संयुक्त हो जाता है। **उदाहरण**—बहुश्रेयसी+ए (ङे), <बहुश्रेयसी+आ—ए, ('ए' से पूर्व 'आट्' आगम)।

(२६९) **पद**—आटः, च। **अनुवृत्ति**—अचि, पूर्वपरयोः, वृद्धिः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'आट्' से परवर्ती 'अच्' को वृद्धि-एकादेश होता है।

विवरण—अर्थ के विचार से सूत्र अपूर्ण है। अतः "इको यणचि"–(४७) सूत्र से 'अचि' तथा "वृद्धिरेचि"–(७२) सूत्र से 'वृद्धि' पद की अनुवृत्ति लाई जाती है। तदनुसार 'आट्' से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुश्रेयस्यै । बहुश्रेयस्याः । बहुश्रेयस्याः । नद्यन्तात्परत्वान्नुट् । बहुश्रेयसीनाम् । (२७०) ङेराम्नद्याम्नीभ्यः ७ । ३ । ११६ ॥ नद्यन्तादाबन्तान्नीशब्दाच्च ङेराम् स्यात् । इह परत्वादाटा नुड् बाध्यते । बहुश्रेयस्याम् । शेषमीप्रत्ययान्तवातप्रमीवत् । अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः—अतिलक्ष्मीः । शेषं बहुश्रेयसीवत् । कुमारीमिच्छन् कुमारीवाचरन्

यद्यपि 'वृद्धिरेचि' इत्येव सिद्धम्, तथापि ऐक्षत इत्याद्यर्थम् 'आटश्च' इति सूत्रम् इहापि न्याय्यत्वादुपन्यस्तम् । बहुश्रेयस्या इति । ङसिङसोर्बहुश्रेयसी आ अस् इति स्थिते 'आटश्च' इति वृद्धौ आकारे यणि रूपमिति भावः । अत्रापि सवर्णदीर्घेण सिद्धम् । न्याय्यत्वात् 'आटश्च' इति वृद्धिः । नद्यन्तात्परत्वादिति । श्रेयसीशब्दस्य ईकारान्तनित्यस्त्रीलिङ्गतया नदीत्वेन बहुश्रेयसीशब्दस्य नद्यन्तत्वादिति भावः । बहुश्रेयसी ङि इति स्थिते 'अच्च घेः' इति 'इदुद्भ्याम्' इति च न भवति दीर्घत्वात् ।

(२७०) सवर्णेदीर्घे प्राप्ते—ङेराम्नद्याम्नीभ्यः । आङ्त्वात् प्रत्ययग्रहणपरिभाषया च तदन्तविधिम् अभिप्रेत्य आह—नद्यन्तादित्यादिना । ङेरिति सप्तम्येवचनं, व्याख्यानात् । नन्वामि कृते 'ह्रस्वनद्यापः' इति नुटि 'यदागमा' इति न्यायेन नामोऽप्याम्ग्रहणेन ग्रहणात् 'आण्नद्याः' इति आडागमः स्यादित्याशङ्क्य आह—इह परत्वादिति । न च कृतेप्याडागमे नुट् किं न स्यादिति वाच्यम्, 'विप्रतिषेधेन यद्बाधितं तद्बाधितमेव' इति न्यायादिति भावः । शेषमीप्रत्ययान्तेति । वातप्रमीशब्दस्यापि इवर्णान्तधातुत्वाभावेन अभि शसि ङौ च 'एरनेकाचः' इति यणः प्राप्त्यभावादिति भावः । 'लक्षेर्मुट् च' इति लक्ष धातोरीप्रत्यये तस्य मुटि च लक्ष्मीशब्दः । लक्ष्मीमतिक्रान्त इति विग्रहे 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे' इति समासः । अस्त्रीप्रत्ययान्तत्वान्नोपसर्जनह्रस्वः । अङ्यन्तत्वादिति । औणादिकप्रत्ययान्तत्वादिति भावः । शेषं बहुश्रेयसीवदिति । 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' इति नदीत्वादिति भावः । अथ धातुत्वमापन्ने कुमारीशब्दे पुंल्लिङ्गे श्रेयसीशब्दाद्वैलक्षण्यं दर्शयितुमाह—कुमारीमिच्छन्नित्यादिना । क्यजन्तादिति । कुमारीमात्मनः इच्छतीत्यर्थे 'सुप आत्मनः क्यच्' इति

'अच्' (स्वरवर्ण) के परवर्ती होने पर दोनों वर्णों के स्थान में वृद्धि-एकादेश होता है । उदाहरण—(क) बहुश्रेयसी+आ-ए, <बहुश्रेयसी+ऐ (आ+ए=ऐ—वृद्धि), <बहुश्रेयस्यै (ई = य्–यण्) । (ख) बहुश्रेयसी+अस् (ङसि), <बहुश्रेयसी+आ–अस् ('आट्' आगम), <बहुश्रेयसी+आस् (आ+अ = आ—वृद्धि), <बहुश्रेयस्यास्, <बहुश्रेयस्यार् (स् = र्), <बहुश्रेयस्याः (र् = :) । (ग) 'ङस्' में भी बहुश्रेयस्याः । (घ) षष्ठी के बहुवचन में बहुश्रेयसी+आम्, <बहुश्रेयसी+न्—आम् ('आम्' का पूर्वावयव 'न्' 'नुट्'–आगम—"ह्रस्वनद्यापो नुट्"–२०८), <बहुश्रेयसीनाम् ।

(२७०) पद—ङेः, आम्, नद्याम्नीभ्यः । अनुवृत्ति—अङ्गस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—नद्यन्त, आवन्त, और नी शब्द से परवर्ती 'ङि' को 'आम्' आदेश होता है । 'आट्' आगम 'पर' होने के कारण 'नुट्' का बाधक है । बहुश्रेयस्याम् । 'ई' प्रत्ययान्त होने के कारण शेष रूप 'वातप्रमी' शब्द के समान समझे जायँ । ङीप्–अन्त न होने से 'सु' का लोप नहीं हुआ । अतिलक्ष्मीः । शेष 'बहुश्रेयसी' शब्द के समान । कुमारी का इच्छुक अथवा कुमारी की तरह आचरण करने वाला ब्राह्मण—कुमारी । यह 'क्यच्' प्रत्ययान्त अथवा आचार अर्थ में 'क्विप्' प्रत्ययान्त (कर्ता में) शब्द है । अतः "हल्ङ्याप्" सूत्र से 'सु' विभक्ति का लोप हुआ ।

विवरण—अर्थ की दृष्टि से सूत्र स्वतः पूर्ण है । तदनुसार 'नदी' संज्ञक शब्द, 'आप्' प्रत्यय तथा 'नी' शब्द से परवर्ती 'ङि' के स्थान पर 'आम्' आदेश होता है । नदी = नित्य स्त्रीलिङ्ग ईकारान्त और ऊकारान्त शब्द । आप् = 'टाप्', 'ङाप्' और 'चाप्' । 'प्रत्यय' में तदन्तविधि होने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वा ब्राह्मणः कुमारी । क्यजन्तादाचारक्विबन्ताद्वा कर्तरि क्विप् । 'हल्ङ्याप्—' (सू २५२) इति सुलोपः । **(२७१) अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ६।४।७७ ॥**

क्यच् । कचावितौ । 'सनाद्यन्ताः' इति क्यजन्तस्य धातुत्वात् तदवयवसुपः अमः 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति लुक् । ततः 'क्विप् च' इति कर्तरि क्विप् । कपावितौ । इकार उच्चारणार्थः । अतो लोपः, 'लोपो व्योः' इति यलोपः । 'वेरपृक्तस्य' इति वलोपः । कुमारी इति रूपम् । आचारक्विबन्तादिति । कुमारीवाचरतीत्यर्थे 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः' इति क्विप् । कपावितौ । 'वेरपृक्तस्य' इति वलोपः । 'सनाद्यन्ताः' इति धातुत्वात् कर्तरि क्विप् । तस्य च पूर्ववत् कृत्स्नलोपः । कुमारीति रूपम् । न च क्विबर्थं प्रति कुमारीशब्दस्य उपसर्जनत्वात् 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वः शङ्क्यः, 'गोस्त्रियोः' इत्यत्र शास्त्री-योपसर्जनस्यैव ग्रहणात् कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमस्यैव ग्रहणात् । हल्ङ्यावितिं सुलोप इति । न च क्यजन्ते कथं सोर्लोपः पूर्वस्माद्विधावल्लोपस्य स्थानिवद्भावादिति वाच्यम्, 'क्वौ लुप्तं न स्थानिवत्' इति निषेधादिति भावः ।

(२७१) कुमारी औ इति स्थिते 'इको यणचि' इति यणपवादमियङमाशङ्क्तिमाह—

से 'आवन्त' शब्दों का ग्रहण होता है। "अङ्गस्य" का अधिकार है। अतः नद्यन्त, आवन्त एवं 'नी' के अङ्ग से परवर्ती 'ङि' के स्थान पर 'आम्' आदेश होगा। **उदाहरण**—बहुश्रेयसी+ङि, <बहुश्रेयसी+आम् (ङि = आम्), <बहुश्रेयसी+आ–आम् ('आट्' आगम 'आ' के पूर्व), बहुश्रेयसी+आम् (आ+आ = आ—वृद्धि), <बहुश्रेयस्याम् (ई = य्—यण्)। शेष रूप 'ई'-प्रत्ययान्त होने के कारण 'वातप्रमी' शब्द के समान होंगे।

'बहुश्रेयसी' शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०	वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	बहुश्रेयसी	बहुश्रेयस्यौ	बहुश्रेयस्यः	प०	बहुश्रेयस्याः	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभ्यः
द्वि०	बहुश्रेयसीम्	बहुश्रेयस्यौ	बहुश्रेयसीन्	ष०	बहुश्रेयस्याः	बहुश्रेयस्योः	बहुश्रेयसीनाम्
तृ०	बहुश्रेयस्या	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभिः	स०	बहुश्रेयस्याम्	बहुश्रेयस्योः	बहुश्रेयसीषु
च०	बहुश्रेयस्यै	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभ्यः	सं०	हे बहुश्रेयसि	हे बहुश्रेयस्यौ	हे बहुश्रेयस्यः

विवरण १—(क) 'अतिलक्ष्मी' शब्द के प्रथमा के एकवचन में 'स्' (सु) का लोप नहीं होता[1]। कारण यह है कि 'लक्ष्मी' शब्द का ईकार स्त्रीप्रत्यय-'ङी'-सम्बन्धी नहीं है। व्युत्पत्ति इस प्रकार है—√लक्ष्+म् (मुट्)+ई (उणादि प्रत्यय)=लक्ष्मी। 'लक्ष्मीम् अतिक्रान्तः' (लक्ष्मी को छोड़कर जानेवाला) = अतिलक्ष्मी (समास—"अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया")। अतिलक्ष्मी+स् (सु), <अतिलक्ष्मीर्, <अतिलक्ष्मीः। शेष रूप 'बहुश्रेयसी' शब्द के समान। २—(क) 'कुमारीम् इच्छन्' = कुमारी की इच्छा करने वाला अथवा 'कुमारीम् आचरन्' = कुमारी की तरह आचरण करने वाला ब्राह्मण = कुमारी (कुमारी+क्यच्, <कुमारी+य (सुप् = विभक्ति-लोप), <कुमारी+य+क्विप्, <कुमारी+य् ('क्विप्' का लोप), <कुमारी+य् ('अ'—लोप), कुमारी ('य्'—लोप)। कुमारी+सु (सु), <कुमारी ('स्'—विभक्तिलोप–"हल्ङ्याब्भ्यो०" २५२)।

(२७१) पद—अचि, श्नुधातुभ्रुवां, य्वोः, इयङुवङौ। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य। **विधिसूत्र**। **मूलार्थ**—श्नु-प्रत्ययान्त एवम् इवर्णान्त और उवर्णान्त धातु को तथा 'भ्रू' शब्द के अङ्ग को

---

१. इस सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों का एक श्लोक प्रसिद्ध है—
अवी-तन्त्री-तरी-लक्ष्मी-धी-ह्री-श्रीणामुणादिषु।
सप्तानामपि शब्दानां सोर्लोपो न कदाचन ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्नुप्रत्ययान्तस्य इवर्णोवर्णान्तस्य धातोः 'भ्रू' इत्यस्य चाङ्गस्येयङुवङौ स्तोऽजादौ प्रत्यये परे। 'ङिच्च' (सू ४३) इत्यन्तादेशः। आन्तरतम्यादेरियङ्, ओरुवङ्। इतीयङि प्राप्ते। (२७२) **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ६। ४। ८२॥** धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य इवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादजादौ प्रत्यये परे।

अचि श्नु। इश्च उश्च यू, तयोः य्वोः इवर्णोवर्णयोरित्यर्थः। श्नुश्च धातुश्च भ्रूश्चेति द्वन्द्वः। प्रत्ययग्रहणपरिभाषया श्नुप्रत्ययान्तं विवक्षितम्। य्वोरिति धातोरेव विशेषणम्। तदन्तविधिः। श्नुभ्रुवोस्तु नित्यमुवर्णान्तत्वान्न तद्विशेषणम्। इवर्णान्तत्वं तु असम्भवान्न तद्विशेषणम्, 'सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत्' इति न्यायात्। अङ्गस्येत्यधिकृतम्। ततश्च प्रत्यये परत इति लभ्यते। अचीति तद्विशेषणम्। तदादिविधिः तदाह—श्नुप्रत्ययान्तस्येत्यादिना। य्वोः किम्? चक्रतुः। अचीति किम्? आप्नुयात्। इयङ् उवङ् इत्यनयोरनेकाल्त्वात् सर्वादेशत्वमाशङ्क्य आह—ङिच्चेत्यन्तादेश इति। न च 'श्नुधातुभ्रुवाम् इवर्णोवर्णयोः' इत्येवं व्याख्यायतां ङित्त्वं च न क्रियतामिति वाच्यम्, एवं सति 'क्षिपति' इत्यादावतिव्याप्तेः। न च अजादिप्रत्यये परत इत्यनेन तन्निरासः शङ्क्यः, अङ्गाक्षिप्तप्रत्ययपरकत्वस्याङ्गविशेषणताया एवोचितत्वादित्यलम्। आन्तरतम्यादिति। तालुस्थानकस्य इवर्णस्य तादृश एव इयङ्, ओष्ठस्थानकस्य उवर्णस्य तादृश एवोवङित्यर्थः। इतीयङि प्राप्ते इति। कुमारी औ इत्यादाविति शेषः।

(२७२) एरनेकाचः। 'इणो यण्' इत्यतः यणित्यनुवर्तते। एरिति षष्ठ्यन्तम्। इवर्णस्येत्यर्थः। पूर्वसूत्रे 'श्नुधातुभ्रुवाम्' इति द्वन्द्वनिर्देशेऽपि धातोरिति पृथक्कृत्य षष्ठ्यन्तमनुवर्तते न तु श्नुभ्रुवावपि, तत्र इवर्णाभावात्। धातोरित्यनुवृत्तं चावर्तते। एकमवयवषष्ठ्यन्तम्। अन्यत् स्थानषष्ठ्यन्तम्। एरिति च धातोरिति षष्ठ्यन्तस्य विशेषणम्। तदन्तविधिः। इवर्णान्तधातोरित्यर्थः। अवयवषष्ठ्यन्तकृतधातोरित्येतत् असंयोगपूर्व-

---

'अजादि' प्रत्यय पर रहते 'इयङ्', 'उवङ्' आदेश होते हैं। 'ङ्'–इत् होने से आदेश अन्त्य वर्ण के स्थान पर होगा। अत्यधिक सादृश्य होने से इ = इयङ् तथा उ = उवङ् आदेश होते हैं।

विवरण—सूत्र के अनुसार स्थानी हैं—'श्नुधातुभ्रुवां य्वोः' तथा आदेश—'इयङुवङौ'। निमित्त-वाचक पद है—'अचि'। 'श्नुधातुभ्रुवां' में इतरेतर-द्वन्द्व-समास है। विग्रह इस प्रकार है—श्नुश्च, धातुश्च, भ्रूश्च श्नुधातुभ्रुवः, तेषाम्। इसी तरह 'य्वोः' पद में भी इतरेतर-द्वन्द्व-समास—इश्च उश्च यू, तयोः। प्रत्यय होने के कारण 'श्नु' तदन्त का बोधक है—'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः'। 'य्वोः' पद 'धातु' का विशेषण है, क्योंकि 'श्नु' और 'भ्रू' उवर्णान्त हैं। "अङ्गस्य" का अधिकार चल रहा है। तदनुसार सूत्र का अर्थ होगा—"अजादि प्रत्यय के परवर्ती होने की स्थिति में 'श्नु'-प्रत्ययान्त रूप, इवर्णान्त एवम् उवर्णान्त धातुरूप तथा 'भ्रू'-रूप अङ्ग को 'इयङ्' और 'उवङ्' आदेश होते हैं। ये आदेश "स्थानेऽन्तरतमः" (३९) परिभाषा की उपस्थिति से 'स्थान'-कृत सादृश्य होने से इ = 'इयङ्' तथा उ = 'उवङ्' आदेश होंगे। आदेश 'ङ्'-इत्संज्ञक हैं, अतः "ङिच्च" (४३) की उपस्थिति से 'अङ्ग' के अन्तिम 'इ' एवम् 'उ' के स्थान पर क्रमशः 'इय्' एवम् 'उव्' आदेश होंगे। तदनुसार कुमारी + औ—इस स्थिति में अन्त्य ईकार के स्थान पर 'इयङ्' आदेश प्राप्त होता है (उसका निषेध अग्रिम सूत्र से होगा)।

(२७२) **पद**—एः, अनेकाचः, असंयोगपूर्वस्य। **अनुवृत्ति**—यण्, अचि, धातोः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—धातु का अवयव संयोग से पूर्व न हो ऐसा जो इवर्ण, तदन्त अनेकाच् अङ्ग को अजादि प्रत्यय के परवर्ती होनेपर 'यण्' आदेश होता है। इस तरह यण् हुआ। कुमार्यौ। कुमार्यः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति यण्। कुमार्यौ। कुमार्यः। हे कुमारि। अमि शसि च कुमार्यम्, कुमार्यः। कुमार्यै। कुमार्याः। कुमारीणाम्। कुमार्याम्। कुमार्योः। प्रधीः। प्रध्यौ। प्रध्यः। प्रध्यम्। प्रध्यः। उन्नयतीत्युन्नीः। धातुना संयोगस्य विशेषणादिह स्यादेव यण्—उन्न्यः। हे उन्नीः। उन्न्यम्। ङेराम्—उन्न्याम्। एवं ग्रामणीः। 'अनेकाचः' किम्? नीः। नियौ। नियः।

स्येत्यत्र संयोगांशे अन्वेति। धात्ववयवसंयोगः पूर्वो यस्मात् स धात्ववयवसंयोगपूर्वः, तच्चिह्नः असंयोगपूर्वः तस्येति इवर्णविशेषणम्। अङ्गस्येत्यधिकृतं स्थानषष्ठ्यन्तधातुना विशेष्यते। तदन्तविधिः। अनेकः अच् यस्य तस्य अनेकाच इति अङ्गान्वयि। 'अचि श्नुधातुभ्रुवाम्' इत्यतोऽचीत्यनुवर्तते। तच्चाङ्गाक्षिप्तस्य प्रत्ययस्य विशेषणम्। तदादिविधिः। तदाह—धात्ववयवेत्यादिना। हरिं हरीन् इत्यादौ यण्निवृत्त्यर्थं धातोरित्यङ्गविशेषणम्। अन्यथा प्रध्यमित्यादाविव पूर्वरूपादीन् बाधित्वा यण् स्यात्। धात्ववयवेति संयोगविशेषणस्य तु प्रयोजनम् उन्नीशब्दनिरूपणावसरे मूल एव स्फुटीभविष्यति। अनेकाचोऽसंयोगादित्येव सुवचम्। ख्वोरित्यनुवर्तते। धात्ववयवसंयोगात् परौ न भवतः यौ इवर्णोवर्णौ तदन्तस्येत्यर्थलाभः। 'ओः सुपि' इति तु नियमार्थः—उवर्णस्य सुप्येव यणिति। ततश्च 'लुलुवतुः' इत्यादौ त्वतिप्रसङ्गाभाव इत्यलम्। इति यणिति। कुमार्यौ, कुमार्यः इत्यत्र 'एरनेकाचः' इति इयङपवादो यणित्यर्थः। नन्वन्तर्वर्तिसुपा अमा क्यजन्तस्य कुमारीशब्दस्य पदत्वात् 'इकोऽसवर्णे' इति प्रकृतिभावः स्यात्। अल्लोपस्य स्थानिवद्भावेऽपि तमाश्रित्यैव स दुर्वार इति चेत्? मैवम्, 'नः क्ये' इति क्यचि नान्तस्येव पदत्वनियमात्। अमि शसि चेति। अमि पूर्वरूपं शसि पूर्वसवर्णदीर्घं च बाधित्वा इयङि प्राप्ते तदपवादे 'एरनेकाचः' इति यणि अमि-कुमार्यम्, शसि-कुमार्यः इति रूपम्। 'तस्माच्छसः' इति नत्वं तु न, कृतपूर्वसवर्णदीर्घात् परत्वाभावात्। तथा च बहुश्रेयसीशब्दापेक्षया अम्शसोरेव रूपे विशेष इति भावः। प्रधीरिति। प्र ध्यायतीति प्रधीः। 'ध्यायतेः सम्प्रसारणं च' इति क्विप्। यकारस्य सम्प्रसारणमिकारः। 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपम्। 'हलः' इति दीर्घः। कृदन्तत्वेन प्रातिपदिकत्वात् सुबुत्पत्तिः। अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः। अजादौ सर्वत्र 'एरनेकाचः' इति यणेव। अस्त्रीत्वान्नदीकार्यं न। हे प्रधीः। प्रध्यौ। प्रध्यः। प्रध्यम्। प्रध्यः। प्रध्या। प्रध्ये। प्रध्योः। प्रधि। प्रकृष्टा धीर्यस्य स इति विग्रहे तु धीशब्दस्य नित्यस्त्रीत्वात् 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' इति नदीत्वान्नदीकार्यम्। अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः। प्रधीः। शेषमुदाहृतक्विबन्तकुमारीशब्दवत्। हे प्रधि। प्रध्यौ। प्रध्यः। प्रध्यम्। प्रध्यौ। प्रध्यः। प्रध्या। प्रध्यै। प्रध्याः। प्रधीनाम्। प्रध्याम्। उन्नीरिति। 'सत्सूद्विष' इत्यादिना उत्पूर्वान्नीधातोः क्विप्। सुबुत्पत्तिः। अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः। अजादौ तु प्रत्यये परे 'एरनेकाचः' इति यण्। नन्वत्र इवर्णस्य संयोगपूर्वकत्वात् कथमत्र यणित्यत आह—धातुनेति। धात्ववयवसंयोगपूर्वस्यैव यण् पर्युदस्यते, न चात्र संयोगो धात्ववयव इति भावः। हे उन्नीरिति। अस्त्रीत्वादनदीत्वात्। 'अम्बार्थ' इत्यादिना नदीकार्यं नेति भावः। उन्न्यमिति। पूर्वरूपापवादो यणिति भावः। शसादौ उन्न्यः। उन्न्या। उन्न्ये। उन्न्यः। उन्न्योः। ङेरामिति। नदीत्वाभावेऽपि 'ङेराम्' इति सूत्रे नीशब्दस्य पृथग्ग्रहणादाम्। आङ्त्वेन नीशब्दान्तादपि भवतीति भावः। एवं ग्रामणीरिति।

हे कुमारि। 'अम्' विभक्ति में—कुमार्यम्। 'शस्' में—कुमार्यः। कुमार्यै। कुमार्याः। कुमार्याः। कुमारीणाम्। कुमार्याम्। प्रधीः। प्रध्यौ। प्रध्यः। उन्नति करने वाला—उन्नीः। धातु का विशेषण 'संयोग' होने से यहाँ यण् होता है—उन्न्यौ। उन्न्यः। हे उन्नीः। उन्न्यम्। 'ङि' विभक्ति में 'आम्' आदेश—उन्न्याम्। इसी तरह 'ग्रामणीः'। 'अनेकाचः' क्यों कहा? नीः। नियौ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमि शसि च परत्वादियङ्–नियम् । नियः । ङेराम्—नियाम् । 'असंयोगपूर्वस्य' किम् ? सुश्रियौ । यवक्रियौ । गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते' (वा ५०३४) । शुद्धधियौ ।

ग्रामं नयति नियच्छतीति ग्रामणीः । 'अग्रग्रामाभ्यां नयतेर्णो वाच्यः' इति णत्वम् । अनेकाचः किमिति । 'एरनेकाचः' इत्यत्रेति शेषः । नीरिति । नीधातोः केवलात् पूर्ववत् क्विप् । अनेकाच्त्वाभावान्न यण् । किन्तु 'अचि श्नुधातु' इति इयङ् । एतावदेव उन्नी-शब्दादस्य वैलक्षण्यमिति भावः । सुश्रियाविति । 'श्रिञ् सेवायाम्' । 'क्विब्वचि' इत्यादिना क्विप् प्रकृतेर्दीर्घश्च । सु श्रयतीति शोभना श्रीरस्येति वा सुश्रीः । ततः अजादिप्रत्यये यण् न भवति, इवर्णस्य धात्ववयवसंयोगपूर्वकत्वादिति भावः । यवक्रियाविति । यवान् क्रीणा-तीति यवक्रीः । क्रीञ्धातोः क्विपि रूपम् । अत्रापि धात्ववयवसंयोगपूर्वकत्वान्न यणिति भावः । 'एरनेकाचः' इति सूत्रे 'गतिकारकपूर्वस्यैवेष्यते' इति वार्तिकं पठितम् । तत्ता-त्पर्यतः सङ्गृह्णाति—गतिकारकेतरेति । यथाश्रुते तु उदाहृतक्विबन्तकुमारीशब्दे यण् न स्यात् । शुद्धधियाविति । शुद्धा धीर्यस्येति विग्रहः । अत्र शुद्धशब्दस्य गतिकारकेतरत्वात्

नियः । पर होने से 'अम्' तथा 'शस्' में 'इयङ्' आदेश होता है । नियम् । नियः । 'ङि' के स्थान पर 'आम्'–नियाम् । 'असंयोगपूर्वस्य' क्यों कहा ? सुश्रियौ । यवक्रियौ । (वा०) 'गति'संज्ञक शब्द एवं कारक से भिन्न अन्य शब्द पूर्व पद रहने पर 'यण्' नहीं होता । शुद्धधियौ । परमधियौ । तब 'दुर्धियौ' एवं 'परमधियौ' किस प्रकार निष्पन्न हुए ? बतलाया जारहा है । 'दुःस्थिता धीः येषाम्' विग्रह करने पर 'दुर्' अव्यय 'धी' शब्द के प्रति 'गति'–संज्ञक नहीं है । जिस क्रिया से 'प्र'–आदि संयुक्त होते हैं, उसी क्रिया के प्रति वे 'गति' और 'उपसर्ग'-संज्ञक माने जाते हैं । 'वृश्चिकभी' शब्द में आरोपित अपादान विवक्षित नहीं है । वहाँ पर अर्थवश 'वृश्चिकस्य भीः' षष्ठी-समास मान-कर अथवा 'वृश्चिकसम्बन्धिनी भीः'—उत्तरपदलोपी-समास की परिकल्पना कर सन्देह का निवारण किया जाय ।

विवरण—सूत्र में केवल स्थानी का निर्देश है—'असंयोगपूर्वस्य, अनेकाचः, एः' । आदेश-वाचक पद 'यण्' अनुवृत्ति द्वारा लभ्य है । उसकी अनुवृत्ति "इणो यण्" ६-४-८१ सूत्र से लाई जारही है । इसके अतिरिक्त "अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ" (२७१) सूत्र से 'अचि' तथा 'धातोः' की अनुवृत्ति लाई जाती है । "अङ्गस्य" का अधिकार है ही । अनुवृत्त 'धातोः' पद की आवृत्ति की जाती है । इस प्रकार 'धातोः' पद 'अङ्गस्य' तथा 'असंयोगपूर्वस्य' पद के 'संयोग' अंश का विशेषण है । तदनुसार 'असंयोगपूर्वस्य एः' = जिस इवर्ण से पूर्व 'धातु' के अवयव का संयोग न हो ऐसा इवर्ण (स्थानी) अपेक्षित है । इस प्रकार अर्थ की अभिव्यक्ति में 'इवर्ण' धातु का विशेषण है और 'धातु' अङ्ग का विशेषण होता है । विशेषण होने के कारण दोनों में तदन्तविधि होती है । तब सूत्रार्थ होगा—"स्वर वर्णों से आरम्भ होने वाले प्रत्ययों के परवर्ती होने की स्थिति में उस अनेकाच् 'अङ्ग' के स्थान पर 'यण्' आदेश होता है जिसके अन्त में धातु हो और उस धातु के अन्त में ऐसा इवर्ण हो जिससे पूर्व धातु का अवयव संयुक्तवर्णात्मक न हो" । **उदाहरण**—(क) 'कुमारी+औ'–इस स्थिति में (नामधातु होने के कारण) 'कुमारी'–इवर्णान्त धातु है । इसके पूर्व धातु का अवयव संयुक्त-वर्णात्मक नहीं है । तदन्त अनेकाच् अङ्ग 'कुमारी' है । उससे पश्चाद्वर्ती 'औ' विभक्ति 'अजादि' है । अतः 'ई' के स्थान पर यण्= 'य्' होकर 'कुमार्यौ' रूप बनता है । (ख) कुमारी+अस् (जस्), <कुमार्यस् (ई = य्), कुमार्यर् (स् = र्) <कुमार्यः (र् = :) । प्रसङ्गवश अन्य विभक्तियों में रूपसिद्धि बतलाई जा रही है । (ग) सम्बोधन के एकवचन में—(हे) कुमारी+स् (सु), <(हे) कुमारि+स् (ह्रस्व—"अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः"—२६७), <हे कुमारि ('स्'–विभक्ति लोप) । (घ) द्वितीया के एकवचन में कुमारी+अम्, <कुमार्यम् (यण्–"एरनेकाचः"–२७२) । (ङ) कुमार्यौ । (च) कुमारी+अस्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमधियौ । कथं तर्हि 'दुर्धियः' 'वृश्चिकभियः' इत्यादि ? उच्यते । 'दुःस्थिता धीर्येषाम्' इति विग्रहे 'दुर्' इत्यस्य धीशब्दं प्रति गतित्वमेव नास्ति । यत्क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं

तत्पूर्वकस्य न यणिति भावः । शुद्धं ब्रह्म ध्यायतीति विग्रहे तु स्यादेव यण्—शुद्धधियौ इत्यादि । कथं तर्हीति । यदि गतिकारकेतरपूर्वस्यैव यण् पर्युदस्यते गतिकारकपूर्वस्य तु अवश्यं यण् तदा दुर्धियः वृश्चिकभियः इत्यादि कथमित्यन्वयः । आदिना दुर्धियौ वृश्चिकभियौ इत्यादिसङ्ग्रहः । दुस्थिता धीर्येषामिति विग्रहः । 'प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' इति बहुव्रीहिः पूर्वपदे उत्तरखण्डस्य लोपश्च । वृश्चिकात् भीरिति विग्रहः । अत्र दुरो गतित्वात् वृश्चिकस्यापादानत्वाच्च गतिकारकपूर्वत्वात् पर्युदासाभावे सति इयङ्पवादोऽत्र यण् दुर्वार इत्याक्षेपः । उच्यते इति । परिहार इति शेषः । गतित्वमेव नास्तीति । 'उपसर्गाः क्रियायोगे' 'गतिश्च' इति प्रादीनां क्रियान्वये गत्युपसर्गसंज्ञे विहिते । धीशब्दश्च बुद्धिगुणवाची, न तु क्रियावाची । अतो न तं प्रति दुरो गतित्वमिति गतिपूर्वकत्वाभावात् नात्र यण् किन्तु इयङेवेत्यर्थः । ननु लुप्तस्य स्थिताशब्दस्य क्रियाप्रवृत्तिनिमित्तकत्वात् तं प्रति दुरो गतित्वमस्त्येवेत्यत आह—यत्क्रियेति । यथा क्रियया युक्ताः प्रादयः तं प्रत्येव तद्वाचकशब्दं प्रत्येव गत्युपसर्गसंज्ञका इत्यर्थः । न चैवमप्यत्र स्थिताशब्दं

(शस्), <कुमार्यस् ('यण्'–२७२), <कुमार्यर्, <कुमार्यः । (छ) कुमारी+आ (टा), <कुमार्या । (ज) कुमारीभ्याम् । (झ) कुमारीभिः । (ञ) कुमारी+ए (ङे), <कुमारी+आ–ए (नदी-संज्ञा होने के कारण 'आट्' आगम), कुमारी+ऐ (आ+ए = ऐ—वृद्धि-"आटश्च"–२६९), <कुमार्यै (ई = य्—यण्) । (ट) कुमारीभ्याम् । (ठ) कुमारीभ्यः । (ड) कुमारी+अस् (ङसि), <कुमारी+आ–अस् ('आट्' आगम), <कुमारी+आस् (आ+अ = आ—वृद्धि–२६९), <कुमार्यास् (ई = य्—यण्), <कुमार्यार्, <कुमार्याः । (ढ) कुमारीभ्याम् । (ण) कुमारीभ्यः । (त) कुमार्याः (ङस्) । (थ) कुमार्योः (ओस्) (द) कुमारी+आम्, <कुमारी+न्–आम् ('नुट्' आगम), कुमारीणाम् (न् = ण्) । (ध) कुमारी+ङि, <कुमारी+आम् (ङि = आम्), <कुमार्याम् । (न) कुमार्योः । (प) कुमारीषु (सुप्) । तदनन्तर 'प्रधी' शब्द के रूप बतलाये जारहे हैं । विग्रह–प्र ध्यायति (अधिक सोचने वाला) । शब्दरचना—प्र √ध्यै+क्विप्, <प्रधि (सम्प्रसारण—य् = इ, पूर्वरूप), <प्रधी (इ = ई—दीर्घ) । (क) प्रधी+स् (सु), <प्रधीः ('रु' तथा विसर्ग हुए । 'ङी' प्रत्ययान्त न होने से 'सु' का लोप नहीं हुआ । (ख) प्रधी+औ, <प्रध्यौ (यण्–"एरनेकाचः०" २७२) । (ग) प्रधी+अस् (जस्), <प्रध्यस् (यण्), <प्रध्यर्, <प्रध्यः । अवशिष्ट रूप नीचे देखें ।

'प्रधी' शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०	वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	प्रधीः	प्रध्यौ	प्रध्यः	पं०	प्रध्यः	प्रधीभ्याम्	प्रधीभ्यः
द्वि०	प्रध्यम्	प्रध्यौ	प्रध्यः	ष०	प्रध्यः	प्रध्योः	प्रध्याम्
तृ०	प्रध्या	प्रधीभ्याम्	प्रधीभिः	स०	प्रधि	प्रध्योः	प्रधीषु
च०	प्रध्ये	प्रधीभ्याम्	प्रधीभ्यः	सं०	हे प्रधीः	हे प्रध्यौ	हे प्रध्यः

प्रकीर्ण—उन्नति=ऊपर ले जानेवाला अथवा उन्नति करनेवाला अर्थ में (उन्नीः)—उत् √नी+क्विप्, <उन्नी । (क) उन्नी+स् (सु), <उन्नीर्, <उन्नीः । 'डयन्त' न होने के कारण 'स्' लोप नहीं हुआ । 'रु' एवं विसर्ग हुए । (ख) उन्नी+औ—इस स्थिति में शङ्का होती है कि यहाँ 'नी' धातु के संयोगपूर्वक होने से "एरनेकाचः०" (२७१) सूत्र से 'यण्' प्राप्त नहीं होगा । समाधान यह है कि 'उन्नी' में संयोग 'उत्' उपसर्ग का अवयव है न कि 'नी' धातु का अवयव । अतः यण् की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्येव गत्युपसर्गसंज्ञाः। वृश्चिकशब्दस्य बुद्धिकृतमपादानत्वं नेह विवक्षितम्। वृश्चिक-

---

लुसं प्रति प्रवृत्तं दुरो गतित्वमादाय दुर्धीशब्दस्य गतिपूर्वकत्वमस्त्येवेति वाच्यम्। यत्क्रियायायुक्ताः प्रादयः, तत्क्रियावाचकं प्रत्येव गत्युपसर्गत्वम्, तथाविधक्रियावाचकस्यैव च गत्युपसर्गकार्यमित्यर्थस्य विवक्षितत्वात्। 'यत्क्रियायायुक्ताः' इति च प्रत्यासत्तिन्याय-लभ्यम्। वृश्चिकेति। वृश्चिकशब्दस्यापादानत्वं नेह विवक्षितमित्यन्वयः। कुत इत्यत आह—बुद्धिकृतमिति। आरोपितमित्यर्थः। अपादानत्वं हि विश्लेषावधित्वम्। न ह्यत्र वृक्षात् पर्णं पततीत्यत्र पर्णविश्लेषे वृक्षस्येव भयविश्लेषे वृश्चिकस्य अवधित्वमस्ति, वृक्षे पर्णवत् भयस्य वृश्चिके संश्लेषाभावात् विश्लेषस्य संश्लेषपूर्वकत्वात्। उक्तं च भाष्ये—'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति' इति। प्रकृते च वृश्चिके अपादानत्वारोपस्य वक्त्रधीन-त्वात्। इह च तदनारोपात् सम्बन्धमात्रविवक्षया षष्ठीमाश्रित्य वृश्चिकस्य भीरिति षष्ठी-समासे वृश्चिकभीशब्दस्य व्युत्पत्तिराश्रीयते। ततश्च कारकेतरपूर्वकत्वात् नात्र यणिति

प्रवृत्ति निर्बाध होती है = उन्यौ (ई = य्)। इसी तरह (ग) उन्नी+अस् (जस्), <उन्यस् (ई = य्—यण्), <उन्यर्, <उन्यः। सम्बोधन के एकवचन में (हे) उन्नी+स् (सु), <(हे) उन्नीर्, <हे उन्नीः। नित्य स्त्रीलिङ्ग दीर्घ ईकारान्त न होने से "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः" (२६७) सूत्र की प्रवृत्ति न होने के कारण ह्रस्व नहीं हुआ। (ङ) उन्नी+अम्, <उन्यम्। (च) उन्नी+ङि, <उन्नी+आम् (ङि = आम्), <उन्याम् (यण्)। (द) इसी तरह 'ग्रामणी' (=मुखिया) शब्द के प्रथमा में ग्रामणी+(स्) सु, <ग्रामणी+र्, <ग्रामणीः। शेष रूप 'उन्नी' शब्द के समान होंगे। प्रसङ्गवश 'नी' शब्द का प्रथमा-विभक्ति का रूप दिया जारहा है—नी+स् (सु) <नी+र्, <नीः। प्रत्युदाहरण—१-"एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य" (२७२) सूत्र में 'अनेकाच्' पद का समावेश करने पर 'नी' शब्द के (ले आनेवाला अर्थ में=नयति इति—√नी+क्विप्, <नी+औ, <नियौ (ई = इयङ्) प्रथमा-द्विवचन में 'नी' धातु अनेक-अच्-वर्णों से युक्त न होने के कारण उसे 'यण्' नहीं होता। 'इयङ्' आदेश होकर रूपसिद्धि होती है। (ख) इसी प्रकार नी+(अस्) जस्, <नियस् (ई = इयङ्), <नियर्, <नियः—की भी रचना-प्रक्रिया है। इसका प्रभाव स्वर वर्ण से प्रारम्भ होने वाली समस्त विभक्तियों पर पड़ेगा। अतः नी+(आ) टा = निया। नी+ए (ङे) = निये। नी+अस् (ङसि) = नियः। नी+अस् (ङस्) = नियः। नी+ओस् = नियोः। नी+आम् = नियाम् (ग) सप्तमी के एकवचन में नी+ङि <नी+आम् (ङि=आम्), <नियाम् (ई=इय्-इयङ्)। इसी प्रकार नी+ओस्=नियोः। २—इस सूत्र में 'असंयोगपूर्वस्य' पदका समावेश करने से 'धातु का अवयव' संयुक्तवर्ण से पहले अपेक्षित नहीं है। इसके फलस्वरूप अच्छी तरह सेवा करने वाला—'शोभना चासौ श्रीः—सुश्रीः। सुश्री+क्विप्, <सुश्री+सु = सुश्रीः। प्रथमा द्विवचन में सुश्री+औ—इस अवस्था में 'ई' के पहले 'श्' 'र्' संयुक्तवर्ण हैं। अतः 'यण्' नहीं होता। 'इयङ्' आदेश होने पर <'सुश्रियौ' (ई = इय्) रूप बनता है। (ख) इसी तरह 'यवक्रियौ' में भी 'क्' 'र्' का संयोग होने से 'यण्' नहीं हुआ। 'इयङ्' आदेश ही हुआ। अर्थ—यव मोल लेने वाला। विग्रह—यवान् क्रीणीतः, तौ। रचना-प्रक्रिया—यव+क्री+क्विप् <यवक्री+स् = यवक्रीः।

(वा०) अर्थ—गतिसंज्ञक शब्द एवं कारक से भिन्न शब्द (गतिश्च, कारकं च गतिकारके ताभ्याम् इतरत् पूर्वपदं यस्य तस्य) पूर्वपद में रहने पर इवर्णान्त धातु को 'यण्' नहीं होता। इसके फलस्वरूप यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल इकारान्त धातु या गति-पूर्वक एवं कारक-पूर्वक इकारान्त धातुओं के रहने पर ही 'यण्' होता है। (क) अतः शुद्धधी+औ—इस स्थिति में प्रकृत वार्तिक के आधार पर 'धी' शब्द के पूर्व 'शुद्ध' शब्द के 'गति' संज्ञक एवं 'कारक' न होने से 'यण्' आदेश नहीं हुआ। नियमानुसार इयङ् होकर <शुद्धधियौ रूप सिद्ध हुआ है (अर्थ—शुद्ध बुद्धि वाला। विग्रह—शुद्धा धीः यस्य सः शुद्धधीः)। (ख) इसी प्रकार 'परमधियौ' में भी यण् नहीं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्धिनी भीर्वृश्चिकभीरित्युत्तरपदलोपो वा। (२७३) न भूसुधियोः ६। ४। ८५॥
एतयोर्यण् न स्यादचि सुपि। सुधियौ। सुधियः। इत्यादि। सखायमिच्छति सखीयति। ततः क्विप् अल्लोपयलोपौ। अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वाद्यणि प्राप्ते 'क्वौ लुप्तं न स्थानिवत्'

भावः। न च वृश्चिकाद्भीरित्यादौ बुद्धिकृतमेवापादानत्वमादाय पञ्चम्युपपत्तेः 'भीत्रार्थानाम्' इति व्यर्थमिति वाच्यम्, तस्य सूत्रस्य भाष्ये प्रत्याख्यातत्वेन इष्टापत्तेरित्यलम्। परिहारान्तरमाह—वृश्चिकसम्बन्धिनीति। उत्तरपदेति। वृश्चिकसम्बन्धिनीति पूर्वपदे उत्तरखण्डस्य सम्बन्धिनीशब्दस्य लोपः। शाकपार्थिवादित्वादित्यर्थः।

(२७३) सुष्ठु ध्यायतीति सु शोभना धीर्यस्येति वा विग्रहे सुधीशब्दः। अत्र अजादौ परे 'एरनेकाचः' इति प्राप्ते—न भूसुधियोः। 'इणो यण्' इत्यतः यणिति 'ओः सुपि' इत्यतः सुपीति 'इको यणचि' इत्यतः अचीति चानुवर्तते। तदाह—एतयोरित्यादिना। एतयोरिति सूत्रोक्तभूसुधियोः परामर्शः। अचीति। अजादाविति। यणि प्रतिषिद्धे इयङमभिप्रेत्य आह—सुधियाविति। आदिना अजादिसर्वसङ्ग्रहः। प्रधीवद्भूपाणि। इयङेव विशेषः। अचीति वस्तुस्थितिः, अनजादौ यणः प्रसक्त्यभावात्। सुपीति किम्? सुधीभिरुपास्यः सुध्युपास्यः। वस्तुतस्तु सुपीति नानुवर्तनीयम्। 'एरनेकाचः' इति यणो ह्यत्र न प्रसक्तिः, तस्य अजादिप्रत्यये विधानात् उपास्यशब्दस्य प्रत्ययत्वाभावात्। 'इको यणचि' इति तु भवत्येव 'अनन्तरस्य' इति न्यायेन 'एरनेकाचः' 'ओः सुपि' इति च विहितयण एव प्रतिषेधात्। सुधिया उपास्यः सुध्युपास्यः इत्यत्र तु अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य 'एरनेकाचः' इति यणो 'न भूसुधियोः' इति प्रतिषेधेऽपि उपास्य इत्यचमाश्रित्य 'इको यणचि' इति यण् भवत्येव 'अनन्तरस्य' इति न्यायेन तस्यात्र प्रतिषेधाभावादित्यलम्। सखीयतीति। 'सुप आत्मनः' इति सखिशब्दात् क्यचि कृते 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घे सखीयतीति रूपम्। ततः क्विबिति। तस्मात् सखीयशब्दात् 'सनाद्यन्ताः' इति धातुसंज्ञकात् 'क्विप्च' इति सूत्रेण क्विबित्यर्थः। अल्लोपयलोपाविति। 'अतो लोपः' इति यकारादकारस्य लोपः, 'लोपो व्योः' इति यलोप इत्यर्थः। यलोपे कर्तव्ये अल्लोपस्तु न स्थानिवत्, 'न पदान्त'

हुआ। उपर्युक्त वार्तिक के अनुसार "दुर्धियौ" तथा "वृश्चिकभिया" प्रयोगों में 'यण्' के विषय में शङ्का होती है। कारण यह है कि 'दुर्धियौ' में 'दुर्' गति-संज्ञक है एवं 'वृश्चिकभिया' में 'वृश्चिक' शब्द कारक-वाची है। इस शङ्का का निवारण आगे किया जारहा है। यहाँ 'दुर्धी' शब्द का विग्रह इस प्रकार अपेक्षित है—'दुःस्थिता धीः येषाम्'। इस विग्रह के अनुसार 'दुर्' अव्यय का सम्बन्ध ध्यानरूप क्रियार्थ में न होने के कारण उसे 'गतिसंज्ञक' नहीं माना जाता है। यद्यपि 'दुर्' का सम्बन्ध लुप्त-क्रिया 'स्थिता' के साथ अवश्य है तथापि गति-संज्ञक होने में क्रिया और प्रादि की समानता होने के कारण अन्य क्रिया के साथ योग होने पर उसे गति-संज्ञक नहीं माना जाता। अतः 'दुर्धियौ' में यण् नहीं हुआ। इसी प्रकार 'वृश्चिक-भिया' (वृश्चिकभी+आ–टा) में 'वृश्चिक' शब्द को अपादनकारक न मानने से 'यण्' नहीं हुआ। यहाँ पर 'वृश्चिकभी' शब्द का अर्थ वृश्चिकसम्बन्धी भय (वृश्चिकसम्बन्धिनी सा चासौ भीः) अपेक्षित है। समास में 'सम्बन्धिनी' शब्द का मध्यम-पद-लोप हुआ है। 'सम्बन्ध' को कारक नहीं माना गया है। अतः कारक-पूर्वक न होने से यण् नहीं हुआ।

(२७३) पद—न, भूसुधियोः। अनुवृत्ति—यण्, अचि, सुपि। विधि-(निषेध)-सूत्र।

मूलार्थ—भू और सुधी शब्द को अजादि सुप्-प्रत्यय परवर्ती रहने पर 'यण्' नहीं होता। सुधियौ। सुधियः। इत्यादि। मित्र की इच्छा करने वाला अर्थ में 'सखीय' से क्विप् प्रत्यय करने पर 'अ' लोप, 'य्' लोप होते हैं। 'अ' लोप को स्थानिवद्भाव करने से 'यण्' की प्राप्ति होने पर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वा ४३१) । एकदेशविकृतस्यानन्यतयाऽनङ्णित्त्वे । सखा । सखायौ । सखायः । हे सखीः । अमि पूर्वरूपात्परत्वाद्यणि प्राप्ते ततोऽपि परत्वात् 'सख्युरसम्बुद्धौ' (सू २५३) इति प्रवर्तते । सखायम् । सखायौ । शसि यण् । सख्यः । सह खेन वर्तत इति सखः । तमिच्छतीति सखीः । सुखमिच्छतीति सुखीः । सुतमिच्छतीति सुतीः । सख्यौ । सुख्यौ । सुत्यौ । 'ख्यत्यात्' (सू २५५) इति दीर्घस्यापि ग्रहणादुकारः । सख्युः । सुख्युः ।

इति यलोपे स्थानिवत्त्वनिषेधात् । स्थानिवत्त्वादिति । 'अचः परस्मिन्' इत्यनेनेति शेषः । यणि प्राप्ते इति । खकारादीकारस्य 'इको यणचि' इत्यनेनेति शेषः । न चान्तर्वर्तिसुपा पदान्तत्वात् 'न पदान्त' इति निषेधः शङ्क्यः, 'नः क्ये' इति क्यचि नान्तस्यैव पदत्वात् । क्वौ लुप्तमिति । न पदान्तसूत्रे 'क्किलुगुपधात्वचङ्परनिर्हासकृत्वेषूपसङ्ख्यानम्' इति वार्तिके क्किलुगित्यंशस्यायमनुवादः । तत्र लुगिति लोपो विवक्षित इति तत्रैव भाष्ये स्पष्टम् । लुप्तमिति भावे क्तः । क्किप्रत्ययपरको लोपो न स्थानिवदित्यर्थः । ततश्च खकारादीकारस्याच्परकत्वाभावात् न यणिति भावः । यद्यपि 'न पदान्त' इति सूत्रे क्वौ लुप्तं न स्थानिवदिति निराकृत्य क्वौ विधिं प्रति न स्थानिवदित्येव स्वीकृतम्, तथापि गोमयतेः क्किपि गोमानिति भाष्यात् क्वौ लुप्तं न स्थानिवदित्यपि क्वचिदस्तीति शब्देन्दुशेखरे स्थितम् । ततश्च सखायमिच्छतीत्यर्थे सखी इति ईदन्तं रूपं स्थितम् । ततः सुबुत्पत्तिः । अनङ्णित्त्वे इति । 'अनङ् सौ' 'सख्युरसम्बुद्धौ' इत्युभाभ्यामिति शेषः । इदन्तसखिशब्दस्य विधीयमाने अनङ्णित्त्वे कथं सखीशब्दस्य ईदन्तस्य भवेतामित्यत आह—एकदेशेति । हे सखीरिति । अङन्तत्वान्न सुलोपः । स्त्रीत्वाभावान्नदीत्वाभावात् नदीकार्यं न भवति । यणि प्राप्ते इति । 'एरनेकाचः' इत्यनेनेति शेषः । शसि यणिति । पूर्वसवर्णदीर्घापवादो यण् । कृतपूर्वसवर्णदीर्घत्वाभावान्नत्वं नेति भावः । सख्या । सख्ये । सख्युः । सख्योः । सख्यौ । सह खेनेति । खमाकाशं खकारो वा । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । 'वोपसर्जनस्य' इति सभावः । तमिच्छतीति । सखमात्मन इच्छति इत्यर्थे 'सुप आत्मनः' इति क्यच् । 'क्यचि च' इतीत्वं, 'सनाद्यन्ताः' इति धातुत्वात् क्किपि अल्लोपयलोपयोः सखीशब्दः । एवं सुखीशब्दः, सुतीशब्दश्च । सखीरिति । अङन्तत्वान्न सुलोपः । सख्यादित्यादि । अजादौ 'एरनेकाचः' इति यणिति भावः । सख्यम् । सख्यः । सख्या । सख्ये । दीर्घस्यापीति । एतदर्थमेव तत्र कृतयणा निर्देश इति भावः । सख्याम् । सख्यि । सुखीसुतीशब्दयोरप्येवम् । लूनीरिति । लूञ् छेदने क्तः । 'ल्वादिभ्यः' इति नत्वम् । क्यचि ईत्वम् । अङन्तत्वान्न सुलोपः । 'क्षै क्षये' क्तः । 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यात्त्वम् । 'क्षायो मः' इति मत्वम् । क्यजादि पूर्ववत् । प्रस्तीमीरिति । 'स्त्यै' 'ष्टयै' शब्दसङ्घातयोः' क्तः । 'आदेच'

भी 'क्वि' का लोप होने के कारण स्थानिवद्भाव नहीं होता । एकदेश (किसी अङ्गविशेष) के विकृत होने पर भी अङ्गी के अभिन्न होने के कारण 'अनङ्' और 'णिद्वद्भाव' होते हैं । सखा । सखायौ । सखायः । हे सखीः । 'अम्' विभक्ति में पूर्वरूप की अपेक्षा पर होने के कारण 'यण्' प्राप्त होता है, किन्तु उससे भी पर होने से "सख्युरसम्बुद्धौ" सूत्र प्रवृत्त होता है । सखायम् । सखायौ । 'शस्' विभक्ति में यण्—सख्यः । इन्द्रियों के साथ रहने वाला—सख । उसकी इच्छा करने वाला 'सखीः' । सुख की इच्छा करनेवाला 'सुखीः' । सुत की इच्छा करनेवाला 'सुतीः' । सख्यौ । सुख्यौ । सुत्यौ । "ख्यत्यात् परस्य" में दीर्घ 'खी' का 'ख्य' में अनुकरण होने से 'उ'कार आदेश होता है । सख्युः । सुख्युः । सुत्युः । कटे हुए (लूनम्) की इच्छा करने वाला—'लूनीः' । क्षीण वस्तु की इच्छा करने वाला—'क्षामीः' । ध्वनित शब्द की इच्छा करने वाला—प्रस्तीमीः । इन शब्दों में 'ङसि'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुत्युः । लूनमिच्छतीति लूनीः । क्षाममिच्छतीति क्षामीः । प्रस्तीममिच्छतीति प्रस्तीमीः । एषां ङसिङसोर्यण् । नत्वमत्वयोरसिद्धत्वात् 'ख्यत्यात्' (सू २५५) इत्युत्वम् । लून्युः ।

इत्यात्त्वम् । 'प्रस्त्योऽन्यतरस्याम्' इति मः । 'स्त्यः प्रपूर्वस्य' इति सम्प्रसारणम् । 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपम् । 'हलः' इति दीर्घः । क्यजादि पूर्ववत् । सखी सुतीत्यादिवद्रूपाणि । ङसिङसोर्यणिति । 'एरनेकाचः' इत्यनेनेति शेषः । असिद्धत्वादित्यनन्तरं 'त्यात् परत्वात्' इति शेषः । शुष्कीयतेरिति । 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' इति श्तिपा निर्देशोऽयम् । शुष्कधातोः क्तः शुष्कः । 'शुषः कः' इति कत्वम् । शुष्कमात्मन इच्छतीत्यर्थे क्यजन्तात् शुष्कीयधातोः क्विपि शुष्कीरिति रूपमित्यर्थः । अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः । सखी-सुतीत्यादि-

---

और 'ङस्' विभक्ति में 'न्' और 'ऋ' के असिद्ध होने से यण् । "ख्यत्यात्०" सूत्र से 'उ'कार । लून्युः । क्षाम्युः । प्रस्तीम्युः । 'शुष्कीय' से क्विप्—शुष्कीः । इयङ् । शुष्कियौ । शुष्कियः । 'ङसि' तथा 'ङस्' में—शुष्कियः । इत्यादि । ईकारान्त-रूप-प्रकरण समाप्त होता है । उकारान्त 'शम्भु' शब्द के रूप हरि शब्द के समान हैं । इसी तरह 'विष्णु', 'वायु' तथा 'भानु' शब्दों के रूप भी होंगे ।

विवरण—सूत्र का अर्थ अनुवृत्ति लाये जाने पर पूर्ण होता है । अतः "अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ" (६-४-७७) सूत्र से 'अचि', "इणो यण्" (६-४-८१) सूत्र से 'यण्' तथा "ओः सुपि" (६-४-८३) सूत्र से 'सुपि' की अनुवृत्ति की जारही है । तदनुसार सूत्र का अर्थ होता है—"अजादि विभक्तियों के परवर्ती होने पर (अचि) 'भू' और 'सुधी' शब्दों के स्थान में (भूश्च सुधी च-भूसुधियौ, तयोः) यण् नहीं होता" । **उदाहरण**—(क) सुधी+औ—इस स्थिति में 'यण्' का निषेध होने के कारण "अचि श्नु०" (२७१) सूत्र से इ = इयङ् आदेश होने पर <सुधियौ—रूप । (ख) इसी तरह सुधी+अस् (जस्), <सुधियः ('यण्' का निषेध होने से इ = 'इयङ्' हुआ) ।

'सुधी' शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०	वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	सुधीः	सुधियौ	सुधियः	प०	सुधियः	सुधीभ्याम्	सुधीभ्यः
द्वि०	सुधियम्	सुधियौ	सुधियः	ष०	सुधियः	सुधियोः	सुधियाम्
तृ०	सुधिया	सुधीभ्याम्	सुधीभिः	स०	सुधियि	सुधियोः	सुधीषु
च०	सुधिये	सुधीभ्याम्	सुधीभ्यः	सं०	हे सुधीः	हे सुधियौ	हे सुधियः

विशेष—प्रसङ्गवश विभिन्न दीर्घ ईकारान्त शब्दों का अर्थ-निर्देश कर उनके विशेष-कार्यों का उल्लेख किया जारहा है । (क) मित्र की इच्छा करने वाला (सखायम् इच्छति) अर्थ में नामधातु से निष्पन्न 'सखी' शब्द के रूपों पर विचार किया जारहा है । तदनुसार सखीय+क्विप्, <सखीय्+क्विप् ('अ' कार का लोप), <सखी+क्विप् ('य्'-लोप) <सखी ('क्विप्' का सर्वापहार), सखी+स् (सु)—इस स्थिति के पूर्व प्रक्रिया के मध्य 'अ'कार के लोप को स्थानिवद्भाव होने से खकारोत्तरवर्ती 'इ' के स्थान पर 'यण्' आदेश की प्राप्ति होती है । उसका निषेध एक वार्तिक द्वारा किया जारहा है । (वा०) अर्थ—(फलतः) 'क्विप्' का लोप होने पर स्थानिवद्भाव नहीं होता । इस पर भी दूसरी शङ्का यह होती है कि यहाँ पर 'सखी' शब्द 'दीर्घ' ईकारान्त है । अतः ह्रस्व इकारान्त 'सखि' शब्द को अभिलक्षित कर होने वाले 'अनङ्' तथा 'णिद्वद्भाव' आदि का विधान कैसे सम्भव होगा ? इसका उत्तर 'एकदेशविकृतम् अनन्यवत्' (किसी अवयव के विकृत होने पर अवयवी भिन्न नहीं माना जाता) न्याय का आश्रय लेकर दिया जाता है कि केवल 'इ' के परिवर्तन होने से 'सखि' का मूलरूप विकृत नहीं होता है । अतः प्रथमा एकवचन में सखा, द्वि-वचन में सखायौ तथा बहु-वचन में सखायः रूप बनेंगे । इन रूपों की सिद्धि 'सखि' शब्द में देखी जाय । (ख) सम्बोधन के एक-वचन में (हे) सखी+स् (सु)—इस स्थिति में दीर्घ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षाम्युः । प्रस्तीम्युः । शुष्कीयतेः क्विप् । शुष्कीः । इयङ् । शुष्कियौ । शुष्कियः ।

शब्दवत् शुष्कीशब्दः । शुष्कियावित्यादि । संयोगपूर्वत्वान्न यण्, किं तु इयडिति विशेष इति भावः । ङसिङसोः शुष्कियः इति । न च कत्वस्यासिद्धत्वात् ख्यत्यात् परत्वादुत्वं शङ्क्यम्, इयङादेशे सति कृतयणादेशत्वाभावात् इति भावः । इति ईदन्तप्रकरणम् । अथ उदन्ता निरूप्यन्ते । शम्भुर्हरिरिदिति । तत्र पूर्वसवर्णदीर्घ ऊकारः, गुणस्तु ओकारः, अव् इत्यादयो

'ई'कारान्त (ङीप् आदि) प्रत्यय न होने के कारण 'सु' विभक्ति का लोप प्राप्त नहीं होता । इसके साथ ही 'नदी' संज्ञक न होने के कारण 'सखी' में दीर्घ 'ई' को ह्रस्व भी नहीं होता । इस कारण <हे सखी+र् (स् = र्), <हे सखीः (र् = :)—रूप बनता है । (ग) सम्बोधन के द्विवचन में हे सख्यौ तथा बहु-वचन में हे सख्यः रूप होते हैं । (घ) द्वितीया के एक-वचन में सख्यम् तथा (ङ) द्वि-वचन में सख्यौ रूप होते हैं । (च) द्वितीया के बहु-वचन में—सखी+अस् (शस्), <सख्यस् (यण् "एरनेकाचः"—२७२), <सख्यर्, <सख्यः—रूप बनेगा । पूर्वसवर्ण-दीर्घ न होने के कारण स् = न् नहीं होता । (छ) तृतीया में—सख्या, सखी-भ्याम्, सखीभिः । (ज) चतुर्थी में—सख्ये, सखीभ्याम्, सखीभ्यः । (झ) पञ्चमी में—सख्युः, सखीभ्याम्, सखीभ्यः । (ञ) षष्ठी में—सख्युः, सख्योः, सख्याम् । 'षष्ठी' बहुवचन में ह्रस्वान्त एवं नद्यन्त न होने के कारण 'नुट्' आगम नहीं हुआ । (ट) सप्तमी में—सख्यि, सख्योः सखीषु ।

२—पुनः 'सखी' शब्द की व्युत्पत्ति दूसरे प्रकार से दिखाकर उसके रूपों की विशेषता बतलाई जा रही है । (क) खेन सह वर्तते = सखः (इन्द्रियों के साथ रहने वाला) । सह ख+टा <सख (बहुव्रीहि समास—"तेन सहेति तुल्ययोगे"—२-२-२८ तथा सह = स—"वोपसर्जनस्य" ६-३-८२), <सख+सु (विभक्ति-लोप, पुनः 'सु'-विभक्ति), <सख+र्, <सखः । द्वितीयान्त 'सख' शब्द से नामधातु बनाने के पश्चात् क्विप् प्रत्यय कर प्रातिपदिक 'सखी' रूप निष्पन्न होता है । अर्थ—इन्द्रियों के साथ रहने वाले का इच्छुक-सखम् इच्छति-सखीः । सख+(य) क्यच् = सखीय, <सखीय+क्विप्, <सखी । प्रथमा के एक-वचन में सखी+स् (सु), <सखीर्, <सखीः । (ख) द्विवचन में सख्यौ । (ग) पञ्चमी तथा षष्ठी के एकवचन में सख्युः । यहाँ पर "ख्यत्यात् परस्य" (२५५) सूत्र में दीर्घ 'खी' का ख्य में अनुकरण मानने से 'ङसि' 'ङस्' सम्बन्धी 'अ' के स्थान पर 'उ' हुआ ।

३—इसी तरह 'सुख का इच्छुक' अर्थ में 'सुखी' शब्द के प्रथमा एक-वचन में (क) सुखीः । (ख) प्रथमा द्विवचन सुख्यौ । (ग) पञ्चमी तथा षष्ठी के एक-वचन में सुख्युः रूप बनेंगे । रूप-सिद्धि 'सखी' शब्द के समान है । इसी तरह (सुत) पुत्र का इच्छुक अर्थ में 'सुती' शब्द के रूप भी (घ) द्वितीया-एकवचन में 'सुत्यौ' तथा 'सुत्युः' (पञ्चमी तथा षष्ठी एकवचन में) बनते हैं ।

४—(क) इसी प्रकार कटे हुए की इच्छा करने वाला अर्थ में—'लूनीः' । शब्दरचना—√लू+त (क्त), <लून (त=न), <लून+य (क्यच्), लूनी+यू, ('य' में 'अ' का लोप, अ=ई), लूनी ('यू' लोप) । 'लूनी' शब्द के द्वितीया-एक-वचन तथा पञ्चमी-षष्ठी के एकवचन में क्रमशः 'लून्यौ' तथा 'लून्युः' ('न' के असिद्ध होने से 'अ'=उ) रूप बनेंगे । (ख) इसी प्रकार क्षीण वस्तु की इच्छा करनेवाला अर्थ में 'क्षामीः' । शब्द-निष्पत्ति—√क्षै+त (क्त), <क्षा+त, <क्षा+म (त=म), <क्षाम । क्षाम+य (क्यच्), <क्षामी+यू, <क्षामी+यू, <क्षामीः । 'क्षामी' शब्द के द्वितीया-एकवचन तथा पञ्चमी-षष्ठी के एक-वचन में क्रमशः 'क्षाम्यौ' तथा 'क्षाम्युः' रूप बनेंगे । इन दोनों शब्दों के तृतीयादि अजादि-विभक्तियों के रूप 'सुखी' शब्द के समान होंगे । (ग) दूसरा शब्द 'प्रस्तीमी' है । इसका अर्थ है—ध्वनित शब्द की इच्छा करने वाला—प्रस्तीमम् इच्छति । रचना-प्रकार—प्र√स्त्यै+त (क्त), <प्र-स्त्या+त (ऐ = आ), <प्र-स्त्या+म (त = म "प्रस्त्यो-ऽन्यतरस्याम्" ८-२-५४), <प्रस्ति+म (य् = इ तथा पूर्वरूप), <प्रस्तीम (इ=ई-दीर्घ—"हलः"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ङसिङसोः शुष्किय:। इत्यादि । इति ईदन्ता:। शम्भुर्हरिवत्। एवं विष्णुवायु-भान्वादय:। (२७४) तृज्वत्क्रोष्टुः ७। १। ९५॥ क्रोष्टुस्तृजन्तेन तुल्यं वर्तते

विशेषास्त्वान्तरतम्यात् सङ्गता इति भावः। 'क्रुश् आह्वाने रोदने च' इति धातोः 'सित-निगमिमसिसच्यविधाक्रुशिभ्यस्तुन्' इति तुन्प्रत्यये 'व्रश्च' इति शस्य षकारे ष्टुत्वेन टकारे च क्रोष्टुशब्दः। क्रुशधातोः कर्तरि तृचि तु क्रोष्टृशब्दः। द्वावपि शृगालवाचिनौ। तयोरविशेषेण सर्वत्र प्रयोगे प्राप्ते विशेषं दर्शयितुमाह।

(२७४) तृज्वत्क्रोष्टुः। प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तृच् इति तृजन्तं गृह्यते। 'तेन तुल्यम्' इति तृतीयान्ताद्वतिः। 'इतोऽत् सर्वनामस्थाने' इत्यतः सर्वनामस्थाने इति 'सर्व्युर-सम्बुद्धौ' इत्यतोऽसम्बुद्धाविति चानुवर्तते। तदाह—क्रोष्टुस्तृजन्तेनेत्यादिना। 'कार्यरूप-निमित्तार्थशास्त्रतादात्म्यशब्दिताः। व्यपदेशश्च सप्तैतानतिदेशान् प्रचक्षते।' इति अति-देशाः सप्त। तत्र प्राधान्यादिह तृजन्तरूपमेव अतिदिश्यते। तच्च न कर्तृ भर्तृ इत्यादि

६-४-२), प्रस्तीम+क्यच्, <प्रस्तीमी+स् (सु), <प्रस्तीमी+र्, प्रस्तीमीः (र् = :)। प्रस्तीमी +अस् ('ङसि' तथा 'ङस्'), <प्रस्तीम्यस्, <प्रस्तीम्युस्, <प्रस्तीम्युर्, <प्रस्तीम्युः। कुछ और विशेषता होने के कारण इस प्रसङ्ग में दो अन्य ईकारान्त शब्दों की निष्पत्ति एवं उनकी रूपरचना पर विचार किया जारहा है। (क) सूखी वस्तु की इच्छा करने वाला=शुष्कीः। रचना-प्रकार √शुष् +त (क्त), <शुष्क (त=क)। शुष्क+य (क्यच्), <शुष्की+य, <शुष्की+य्, <शुष्की +सु=शुष्कीः। (ख) शुष्की+औ, <शुष्कियौ (ई = इयङ्)। (ग) शुष्की+(अस्) जस्, <शुष्कियः (इयङ्, र्, विसर्ग)। (घ) पञ्चमी तथा षष्ठी एक-वचन में भी 'शुष्कियः'। यद्यपि 'त' के स्थान में होनेवाले 'क' के असिद्ध होने के कारण "ल्यत्यात्परस्य" (२५५) से 'ङसि'-'ङस्' सम्बन्धी 'अ' के स्थान पर 'उ' प्राप्त होता है, तथापि 'इयङ्' होने के बाद 'यण्'—आदेश संभावित न होने के कारण 'उ' नहीं होता। अतः तृतीयादि-अजादि-विभक्तियों में 'शुष्किया' 'शुष्किये' आदि रूप निष्पन्न होंगे। ईकारन्त शब्दों का प्रकरण समाप्त हुआ।

स्मरणीय—दीर्घ ईकारान्त शब्दों की निष्पत्ति द्वारा यह सूचित किया गया है कि 'नामधातु' अथवा आचार-अर्थ में 'क्यच्' प्रत्यय द्वारा व्युत्पन्न शब्दों को नित्य-स्त्रीलिङ्ग नहीं माना जा सकता। अतः उनमें स्त्री-लिङ्ग-विधायक कार्य भी नहीं होते। इसके अतिरिक्त 'इयङ्' एवं 'यण्' आदेशों के पृथक् विधान होने से अजादि विभक्तियों में भिन्नता हो जाती है। इन्हीं बातों का निरूपण उपर्युक्त शब्दों की व्युत्पत्ति द्वारा किया गया है।

विशेष—अब 'उकारान्त शब्दों का प्रकरण आरम्भ होता है। 'शम्भु' शब्द के रूप 'हरि' शब्द के समान हैं। प्रक्रिया 'हरि' शब्द के समान समझी जाय। तदनुसार विशेष कार्य हैं—'जस्' में गुण एवं अवादेश। 'टा' में घिसंज्ञाप्रयुक्त = 'ना' भाव। 'ङे' में गुण तथा 'अव्' आदेश। 'ङसि' तथा 'ङस्' में गुण एवं पूर्वरूप। 'ङि' में 'उ' = अ तथा 'ङि' = औ।

'शम्भु' शब्द के रूप (अर्थ—शिव)

वि०	एक०	द्वि०	बहु०	वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	शम्भुः	शम्भू	शम्भवः	प०	शम्भोः	शम्भुभ्याम्	शम्भुभ्यः
द्वि०	शम्भुम्	शम्भू	शम्भून्	ष०	शम्भोः	शम्भ्वोः	शम्भूनाम्
तृ०	शम्भुना	शम्भुभ्याम्	शम्भुभिः	स०	शम्भौ	शम्भ्वोः	शम्भुषु
च०	शम्भवे	शम्भुभ्याम्	शम्भुभ्यः	सं०	हे शम्भो	हे शम्भू	हे शम्भवः

स्मरणीय—इसी तरह विष्णु, वायु, भानु आदि शब्दों के रूप होंगे।

(२७४) पद—तृज्वत्, क्रोष्टुः। **अनुवृत्ति**—सर्वनामस्थाने, असम्बुद्धौ। **अतिदेश-सूत्र**।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे। क्रोष्टुशब्दस्य स्थाने क्रोष्टृशब्दः प्रयोक्तव्य इत्यर्थः। **(२७५) ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः ७। ३। ११०॥** ङौ सर्वनामस्थाने च परे ऋदन्ताङ्गस्य गुणः स्यात्। इति प्राप्ते। **(२७६) ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च**

तृजन्तरूपम्, किन्तु क्रोष्टृ इत्येव तृजन्तरूपम् अतिदिश्यते। क्रुश्धातोरुपस्थितत्वात् अर्थतं आन्तर्याच्च इत्यभिप्रेत्य फलितमाह—क्रोष्टुशब्दस्य स्थाने इति। निमित्तादीनामुदाहरणानि तु तत्र तत्र प्रदर्शयिष्यामः। क्रोष्टृ स् इति स्थिते।

(२७५) ऋतो ङि। 'ह्रस्वस्य गुणः' इत्यतो गुण इत्यनुवर्तते। अङ्गस्येत्यधिकृतम् ऋत इत्यनेन विशेष्यते। तदन्तविधिः। तदाह—ङौ सर्वेत्यादिना।

(२७६) ऋदुशनस्। 'सख्युरसम्बुद्धौ' इत्यतः असम्बुद्धाविति 'अनङ् सौ' इत्यतः

मूलार्थ—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान पर रहते 'क्रोष्टु' शब्द को तृज्वद्भाव होता है। 'क्रोष्टु' शब्द के स्थान पर 'क्रोष्टृ' शब्द का प्रयोग होता है।

सन्दर्भ—ह्रस्व उकारान्त शब्दों में विशेष-कार्यों का निदर्शन किया जारहा है।

विवरण—सूत्र के अर्थ की पूर्णता के लिये "इतोऽत्सर्वनामस्थाने" (७-१-८६) सूत्र से 'सर्वनामस्थाने' तथा "सख्युरसम्बुद्धौ" (७-१-९२) से 'असम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति लाई जाती है। पारिभाषिक शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं—सर्वनामस्थान ('सुट्') 'सु' 'औ' 'जस्', 'अम्' 'औट्'। सम्बुद्धि=सम्बोधन में प्रथमा का एकवचन। 'तृच्' प्रत्यय है। अतः 'तदन्तविधि' होने से 'तृजन्त' अर्थ अपेक्षित है। "स्थानेऽन्तरतमः" परिभाषा की उपस्थिति से यहाँ अर्थकृत[1] सादृश्य लिया जाता है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ होता है—"सम्बुद्धि-भिन्न सर्वस्थान के परवर्ती रहने पर 'क्रोष्टु' शब्द के स्थान पर ऋकारान्त ('तृच्'-प्रत्यय के समान) 'क्रोष्टृ' आदेश होता है। **उदाहरण**—(क) क्रोष्टु+स् (सु), <कोष्टृ+स् (कोष्टु = क्रोष्टृ) स्थिति होगी।

(२७५) पद—ऋतः, ङिसर्वनामस्थानयोः। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, गुणः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'ङि' और 'सर्वनामस्थान' पर रहते ह्रस्व ऋकारान्त अङ्ग को गुण होता है। इस प्रकार गुण प्राप्त होता है।

विवरण—"अङ्गस्य" का अधिकार-क्षेत्र है। सूत्रस्थ 'ऋतः' पद 'अङ्गस्य' का विशेषण है। अतः तदन्त-विधि होने से ह्रस्व-ऋकारान्त अङ्ग स्थानी के रूप में अपेक्षित है। आदेश-वाचक 'गुण' पद "ह्रस्वस्य गुणः" (७-३-१०८) सूत्र से अनुवृत्ति द्वारा लाया गया है। "अलोऽन्त्य" परिभाषा की उपस्थिति से यह आदेश 'अङ्ग' के अन्त्य वर्ण के स्थान पर होगा। तदनुसार समष्टि-रूप में यह अर्थ होता है कि ह्रस्व-ऋकारान्त अङ्ग के स्थान पर 'ङि-' तथा सर्वनामस्थान विभक्तियों के पश्चाद्वर्ती होने पर गुण आदेश होता है। तदनुसार क्रोष्टृ+औ—इस स्थिति में 'ऋ' के के स्थान पर 'अर्' गुण प्राप्त होता है। आगे उसका बाध किया जायगा।

(२७६) पद—ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां, च। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, अनङ्, सौ, असम्बुद्धौ। **विधिसूत्र।**

---

१. अतिदेश सात प्रकार के माने गए हैं—(क) सामान्यातिदेश। **उदाहरण**—गुरुवत् गुरुपुत्रे वर्तितव्यम्। (ख) रूपातिदेश। **उदाहरण**—"तृज्वत् क्रोष्टुः"। (ग) निमित्तातिदेश। **उदाहरण**—'पूर्ववत्सनः' (१-३-६२)। (घ) तादात्म्यातिदेश। **उदाहरण**—"सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे" (२-१-२)। (ङ) शास्त्रातिदेश। **उदाहरण**—"कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः" (३-१-८७)। (च) कार्यातिदेश। **उदाहरण**—"स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ" (१-१-५६) (छ) व्यपदेशातिदेश। **उदाहरण**—"आद्यन्तवदेकस्मिन्" (१-१-२१)। शबर स्वामी ने अतिदेश के विषय में यह श्लोक उद्धृत किया है—

"प्रकृतात् कर्मणो यस्मात् तत्समानेषु कर्मसु।
धर्मोपदेशो येन स्यात् सोऽतिदेश इति स्मृतः॥" शाबरभाष्य ७-१२।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७।१।९४॥ ऋदन्तानामुशनसादीनां चानङ् स्यादसंबुद्धौ सौ परे। (२७७) अप्तृ-न्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तॄणाम् ६।४।११॥ अवादीनामुपधाया दीर्घः स्यादसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे। नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्—उणादिनिष्पन्नानां तृन्तृजन्तानां संज्ञाशब्दानां चेद्भवति तर्हि नप्त्रादीनामेव। तेन

अनङिति चानुवर्त्तते। अङ्गस्येत्यधिकृतम् ऋदादिभिर्विशेष्यते, तदाह—ऋदन्तानामित्यादिना। उशनसादिष्वपि तदन्तविधिर्बोध्यः। अनङि ङकार इत्, नकारादकार उच्चारणार्थः। 'ङिच्च' इत्यन्तादेशः। क्रोष्टन् स् इति स्थिते।

(२७७) अप्तृन्। 'नोपधायाः' इत्यतः उपधाया इत्यनुवर्तते। 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति चकारवर्जमनुवर्तते। तदाह—अवादीनामिति। अत्र अष्टाध्याय्या तावत् 'तृन्' इति सूत्रेण 'ण्वुल्तृचौ' इति सूत्रेण च कर्तरि तृन्तृचौ विहितौ। तथा उणादिषु 'तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ' 'बहुलमन्यत्रापि' इति सूत्राभ्यां तृन्तृचौ विधाय 'नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृभ्रातृजामातृपितृदुहितृ' इति सूत्रेण नप्त्रादयो निपातिताः। ततश्च संज्ञाशब्दाः तृन्तृजन्ताः औणादिका इति स्थितिः। तत्र तृजन्तादेव सिद्धे नप्त्रादिग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—नप्त्रादिग्रहणमिति। नियमशरीरमाह—उणादीति। तेनेति। औणादिकेषु नप्त्रादिसप्तानामेव तृन्तृजन्तानां दीर्घ इति नियमेन तदितरेषां पितृभ्रात्रादीनां न दीर्घ इति भावः। न च प्रशास्तृशब्द औणादिको न भवतीति भ्रमितव्यम्, तस्यापि संज्ञाशब्दस्य शंसिक्षदादिगणप्रविष्टत्वेन औणादिकत्वात्। अत्र मूले व्युत्पत्तिपक्षे इत्युक्त्या अव्युत्पत्तिपक्षे नप्त्रादिसप्तानां तृन्तृजन्तत्वाभावादग्राह्यो नप्त्रादिग्रहणसामर्थ्यात्। तदितरपितृभ्रात्रादिशब्दानां तु औणादिकानामव्युत्पन्नतया तृन्तृजन्तत्वाभावादेव न दीर्घ इति सूचितम्। नन्वेवं सति उद्गातृशब्दस्यापि संज्ञाशब्दस्य शंसिक्षदादित्वेन औणादिकत्वात् तस्य च नप्त्रादिसप्तस्वनन्तर्भावात् कथं दीर्घ इत्यत आह—उद्गातृशब्दस्येति। 'ण्वुल्तृचौ' इति सूत्रस्थभाष्ये तु अप्तृ इत्येवास्तु, तृन्तृचोर्ग्रहणं मास्त्विति प्रपञ्चितम्। तृन्निति भाष्ये तृन्विधौ 'ऋत्विक्षु चानुपसर्गस्य' इति वक्तव्यम्। होता। पोता। अनुपसर्गस्य किम्? प्रशास्ता। प्रतिहर्ता। औणादिकतृजन्त एवायम्। नयतेस्तृन् वक्तव्यः पुक्च। नेष्टा।

मूलार्थ—ऋकारान्त शब्द, उशनस्, पुरुदंसस् और अनेहस् शब्दों के अन्तिम वर्ण को सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' पर रहते 'अनङ्' आदेश होता है।

विवरण—"अङ्गस्य" का अधिकार-क्षेत्र है। उसके विशेषण-वाची सब शब्दों में तदन्त-विधि होगी। 'स्थानी' तथा 'आदेश'—दोनों ही अनुवृत्ति द्वारा ज्ञेय हैं। अतः "अनङ् सौ" (७-१-९३) सम्पूर्ण सूत्र तथा "सख्युरसम्बुद्धौ" (७-१-९२) से 'असम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति की जाती है। तदनुसार ऋकारान्त शब्द, उशनस् (= शुक्राचार्य), पुरुदंसस् (= बिल्ली) और अनेहस् (= समय) शब्दान्त अङ्ग के स्थान में सम्बुद्धिभिन्न 'सु' विभक्ति पर रहते 'अनङ्' आदेश होगा। आदेश 'ङ्'-इत्संज्ञक है, अतः अन्तावयव 'ऋ' के स्थान पर 'अनङ्' होता है। **उदाहरण**—(क) क्रोष्टृ+स्, <क्रोष्ट्-अन्+स्—यह स्थिति रही।

(२७७) **पद**—अप्··· प्रशास्तॄणाम्। **अनुवृत्ति**—उपधायाः, सर्वनामस्थाने, असम्बुद्धौ। **नियम-सूत्र।**

मूलार्थ—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान पर रहते 'अप्' आदि शब्दों की उपधा को दीर्घ होता है। व्युत्पत्ति-पक्ष में 'नप्तृ' आदि शब्दों का ग्रहण करना नियमार्थक है। उणादि-निष्पन्न तृन्-तृजन्त शब्दों को यदि दीर्घ हो तो नप्तृ-आदि शब्दों को ही हो। इस कारण पितृ, भ्रातृ आदि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पितृभ्रातृप्रभृतीनां न । उद्गातृशब्दस्य तु भवत्येव, 'समर्थ—' (सू ६४७) सूत्रे 'उद्गातारः' इति भाष्यप्रयोगात् । क्रोष्टा । क्रोष्टारौ । क्रोष्टारः । क्रोष्टारम् । क्रोष्टारौ ।

त्विषेर्देवतायां तृन् वक्तव्यः अकारश्चोपधायाः अनिट्त्वं च । त्वष्टा । 'क्षदेश्च युक्ते तृन् वक्तव्यः' । क्षत्ता । इत्येवं होतृपोतृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृशब्दाः तृन्नन्ता व्युत्पादिताः । तन्मते तु तेषां पञ्चानामिह ग्रहणं प्रपञ्चार्थम् । नप्तृप्रशास्तृग्रहणमेव उक्तनियमार्थमित्यन्यत्र विस्तरः । क्रोष्टेति । क्रोष्टृन् स् इति स्थिते एकदेशविकृतस्यानन्यतया तृजन्तत्वाद्दीर्घः । हल्ङ्यादिना सुलोपः । नलोपः । यद्यपि 'सर्वनामस्थाने च' इत्येवात्र दीर्घः सिध्यति तथापि परत्वादप्तृन्नित्येव दीर्घो न्याय्यः । क्रोष्टाराविति । क्रोष्टु औ इति स्थिते तृज्वद्भावे 'ऋतो ङि' इति गुणे अकारे रपरत्वे एकदेशविकृतस्यानन्यतया तृजन्तत्वाद्दीर्घे रूपम् । एवं क्रोष्टारः, क्रोष्टारम्, क्रोष्टारौ । हे क्रोष्टो । असम्बुद्धावित्यनुवृत्तेर्न तृज्वद्भावः । शसि शम्भुवद्रूपम्—क्रोष्टूनिति । सर्वनामस्थाने इत्यनुवृत्तेः न तृज्वद्भावः । क्रोष्टु आ इति स्थिते ।

शब्दों को दीर्घ नहीं होता । उद्गातृ शब्द को दीर्घ होता है । भाष्यकार ने "समर्थः पदविधिः" २-१-१ सूत्र में 'उद्गातारः' प्रयोग दिया है । क्रोष्टा । क्रोष्टारौ । क्रोष्टारः । क्रोष्टारम् । क्रोष्टारौ । क्रोष्टून् ।

विवरण—सूत्र का अर्थ अनुवृत्ति के पदों द्वारा सम्पन्न होता है । स्थानी की पूर्ति 'उपधायाः' के द्वारा की जाती है—"नोपधायाः" (६-४-७) । आदेशवाचक पद 'दीर्घः' की भी अनुवृत्ति आती है—"ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" (६-३-१११) । निमित्त-वाचक पद सर्वनामस्थाने 'असम्बुद्धौ सौ' भी अनुवृत्ति द्वारा ही जाने जाते हैं—"सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ" (६-४-८) । तदनुसार समष्टिगत अर्थ यह है कि "सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान के परवर्ती होने की स्थिति में 'अप्'-शब्द (=जल), 'तृन्'-प्रत्ययान्त, 'तृच्'-प्रत्ययान्त, स्वसृ (=बहन), नप्तृ (=दौहित्र), नेष्टृ (=दाता), त्वष्टृ (=बढ़ई), (क्षत्तृ) (=सारथि या द्वारपाल), होतृ (=हवन करने वाला), पोतृ (=पवित्र करने वाला), और प्रशास्तृ (=शासन करने वाला) शब्दों की उपधा (उपान्त्य वर्ण) को दीर्घ होता है । उदाहरण—(क) क्रोष्टृन्+स्, <क्रोष्टान्+स् (उपधा का 'अ' = आ), <क्रोष्टान्, ('स्' = सुलोप—"हल्ङ्याब्भ्यः०" २५२), <क्रोष्टा ('न्'-लोप)। (ख) क्रोष्टु+औ, <क्रोष्टृ+औ (तृज्वद्भाव-क्रोष्टु = क्रोष्टृ), <क्रोष्टर्+औ (गुण-ऋ = अर्—"ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः"—२७५), <क्रोष्टारौ (उपधा-दीर्घ—"अप्तृन्तृच्०"—२७७) । (ग) क्रोष्टु+अस् (जस्), <क्रोष्टृ+अस्, <क्रोष्टर्+अस्, <क्रोष्टारस्, <क्रोष्टारर्, <क्रोष्टारः । (घ) क्रोष्टु+अम्, <क्रोष्टृ+अम्, <क्रोष्टर्+अम्, <क्रोष्टारम् । (ङ) क्रोष्टृ+औ = क्रोष्टारौ (पूर्ववत्) । क्रोष्टु+अस् (शस्), <क्रोष्टूस् (पूर्वसवर्ण-दीर्घ), <क्रोष्टून् (स् = न्) ।

विशेष—उणादि शब्दों के विषय में दो मत हैं—(१) व्युत्पत्ति तथा (२) अव्युत्पत्ति-पक्ष । व्युत्पत्ति-पक्ष को स्वीकार करने पर प्रकृत सूत्र में 'तृन्' और 'तृच्' प्रत्ययों के ग्रहण करने से 'नप्तृ'-आदि शब्दों के दीर्घ होने में किसी प्रकार बाधा सम्भव नहीं थी । कारण यह है कि 'अप्' तथा 'स्वसृ' शब्दों के अतिरिक्त 'नप्तृ'-आदि सभी शब्द 'तृन्' अथवा 'तृच्'-प्रत्ययान्त हैं । इस प्रकार "अप्-तृन्-तृच्-स्वसृणाम्" ही सूत्र का स्वरूप रखने पर काम चल सकता था । अतः 'नप्तृ'-आदि का ग्रहण करने से यह ज्ञापित होता है कि उणादि प्रत्ययों से निष्पन्न 'तृन्' एवं 'तृच्'-प्रत्ययान्त शब्दों को यदि दीर्घ होता हो तो केवल 'नप्तृ'-आदि को ही हो । अन्य शब्दों को नहीं" । इस नियम के कारण पितृ, मातृ, भ्रातृ आदि शब्दों को 'तृच्'-प्रत्ययान्त होने पर भी दीर्घ नहीं होता । इस सम्बन्ध में केवल 'उद्गातृ' शब्द ही एक मात्र इस विधान का अपवाद है, क्योंकि भाष्यकार ने "समर्थः पदविधिः" (२-१-१) सूत्र में 'उद्गातारः' शब्द का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रोष्टून्। (२७८) विभाषा तृतीयादिष्वचि ७। १। ९७॥ अजादिषु तृतीयादिषु क्रोष्टुर्वा तृज्वत्। क्रोष्ट्रा। क्रोष्ट्रे। (२७९) ऋत उत् ६। १। १११॥ ऋदन्ताङ्ग-

---

(२७८) विभाषा तृतीयादिष्वचि। तृज्वत्क्रोष्टुरित्यनुवर्तते। अचीति तृतीयादिविभक्ति-विशेषणम्। तदादिविधिः। तदाह—अजादिष्विति। क्रोष्ट्रेति। तृज्वद्भावे क्रोष्टृ आ इति स्थिते ऋकारस्य यण् रेफः। एवं क्रोष्ट्रे इति। तृज्वद्भावाभावपक्षे क्रोष्टुना, क्रोष्टवे। शम्भु-वत्। ङसिङसोस्तृज्वत्त्वे क्रोष्टृ अस् इति स्थिते।

(२७९) ऋत उत्। 'एङः पदान्तादति-ङसिङसोश्च' इत्यतः अतीति ङसिङसोरिति चानुवर्तते। ङसिङसोरित्यवयवषष्ठी अतीत्यत्रान्वेति। अङ्गस्येत्यधिकृतम्। ऋत इत्यनेन विशेष्यते। तदन्तविधिः। तदाह—ऋदन्तादित्यादिना। रपरत्वमिति। ऋकारस्य अकारस्य च स्थाने प्राप्नुवत उकारस्य ऋकारस्थानिकत्वानपायादिति भावः। उदिति तपरकरणं द्विमात्रनिवृत्त्यर्थम्। न च 'भाव्यमानोऽण् सवर्णान् न गृह्णाति' इत्येव तन्निवृत्तिः सिध्य-तीति वाच्यम्, तस्यानित्यत्वादिह द्विमात्रप्राप्तौ तन्निवृत्त्यर्थत्वात्। तदनित्यत्वं तु अनेनैव तपरकरणेन ज्ञाप्यते। ततश्च 'यवलपरे यवला वा' इति मकारस्य अनुनासिका एव

प्रयोग किया है[1]। इस तरह व्युत्पत्ति-पक्ष में प्रकृत-सूत्र को नियमार्थ माना गया है। अव्युत्पत्ति पक्ष में यह विधिसूत्र है।

(२७८) पद—विभाषा, तृतीयादिषु, अचि। अनुवृत्ति—तृज्वत्, क्रोष्टुः। अतिदेश-सूत्र।

मूलार्थ—अजादि तृतीयादि विभक्ति पर रहते 'क्रोष्टु' शब्द को विकल्प से तृज्वद्भाव होता है। क्रोष्ट्रा। क्रोष्ट्रे।

विवरण—प्रकृत सूत्र द्वारा तृतीयादि अजादि[2] विभक्तियों में 'तृज्वद्भाव' का विकल्प से विधान किया जारहा है। अतः "तृज्वत् क्रोष्टुः" (७-१-९५) सूत्र की पूरी अनुवृत्ति की जारही है। तृतीयादि अजादि विभक्तियों के अन्तर्गत आठ 'सुप्'-प्रत्ययों का ग्रहण होता है—आ (टा), ए (ङे), अस् (ङसि), अस् (ङस्), ओस्, आम्, इ (ङि), तथा ओस्। इस प्रकार इन आठ 'सुप्'-प्रत्ययों के परवर्ती होने पर 'क्रोष्टु' शब्द के स्थान में 'क्रोष्टृ' आदेश विकल्प से होगा। उदाहरण—(क) क्रोष्टु+आ (टा), <क्रोष्टृ+आ (क्रोष्टु = क्रोष्टृ), <क्रोष्ट्रा (यण्—ऋ = र्) पक्ष में क्रोष्टुना। (ख) क्रोष्टु+ए (ङे), <क्रोष्टृ+ए, <क्रोष्ट्रे। पक्ष में क्रोष्टवे।

(२७९) पद—ऋतः, उत्। अनुवृत्ति—अङ्गस्य, ङसिङसोः, अति। विधिसूत्र।

मूलार्थ—ह्रस्व ऋकारान्त अङ्ग से 'ङसि'-'ङस्'-सम्बन्धी अकार के परवर्ती होने पर (उस 'ऋ' तथा 'अ' के स्थान में) 'उ' आदेश होता है। यह आदेश रपर (उर्) होता है।

विवरण—अङ्गस्य का अधिकार है। उसका विशेषण सूत्रस्थ 'ऋतः' पद है। पञ्चम्यन्त ऋतः को अभिलक्षित कर 'अङ्गस्य' पद भी पञ्चमी विभक्ति में परिवर्तित हो जाता है। अतः तदन्तविधि होकर 'ह्रस्व-ऋकारान्त' अङ्ग से पर 'उ' आदेश का विधान किया गया है। स्थानी एवं निमित्त के विषय में जिज्ञासा की पूर्ति अनुवृत्ति द्वारा होती है। अतः "एङः पदान्तादति" (६-१-१०९) सूत्र से 'अति' तथा "ङसि-ङसोश्च" (६-१-११०) सूत्र से 'ङसि-ङसोः' पदों की अनुवृत्ति लाई जारही है। यहाँ "एकः पूर्वपरयोः" का भी अधिकार है। इस विधान में दो वर्ण (ऋ+अ) स्थानी हैं तथा

---

१. "...होतृपोतृनेष्टोद्गातारस्तर्हि न सिद्ध्यन्ति। होतापोतानेष्टोद्गातार इति प्राप्नोति"। महाभाष्यम्।

२. अचीति पदं तृतीयादिष्वेतस्य विशेषणम्। अतो 'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' इति तदादिविधिः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिङसोरति परे उकार एकादेशः स्यात् । रपरत्वम् । (२८०) रात्सस्य ८ । २ । २४ ॥ रेफात्संयोगान्तस्य सस्यैव लोपो नान्यस्य । इति रेफस्य विसर्गः । क्रोष्टुः । आमि परत्वात् तृज्वद्भावे प्राप्ते 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' (वा ४३७४) । क्रोष्टूनाम् ।

भवन्तीति 'छ्वोः' इति सूत्रे कैयटः । यत्तु तपरत्वं 'ढ्रलोपे' इति दीर्घनिवृत्त्यर्थमिति, तन्न, 'उरण् रपरः' इति सूत्रे 'ऊ रपरः' इति भाष्यप्रयोगविरोधात् । 'सुपत्रवाहिता बाणा ज्वलिता इव पन्नगाः । नैर्ऋतोरस्यभाज्यन्त सवितृ रश्मयो यथा ॥' इति रामायणप्रयोग-विरोधाच्चेत्यलम् । क्रोष्टुर् स् इति स्थिते ।

(२८०) रात्सस्य । संयोगान्तस्य लोप इत्येव सिद्धे नियमार्थमिदमित्याह—सस्यै-वेति । तेन ऊर्क् इत्यादौ न संयोगान्तलोपः । रेफस्य विसर्ग इति । 'खरवसानयोः' इति विसर्ग इत्यर्थः । परत्वादिति । परत्वान्नुटं बाधित्वा तृज्वत्त्वे कृते ततो नुटि 'नामि' इति दीर्घे णत्वे च कृते क्रोष्टृणामिति स्यादित्यर्थः । न च नुट् नित्य इति वाच्यम्, तृज्वत्त्वे कृते सन्निपातपरिभाषया नुटो दुर्लभत्वात् । नुमचिरेति । अचिरेत्यनुकरणम् । 'अचिर' इति विहितो रेफो विवक्षितः । प्रकृतिवदनुकरणं भवतीति त्वनित्यम् । ततश्च अचिरेत्यस्य समासप्रवेशेऽपि न लुक् । क्रोष्टूनामिति । तृज्वत्त्वं बाधित्वा नुटि कृते नामि इति दीर्घे रूपम् । क्रोष्टरीति । तृज्वत्त्वे क्रोष्टृ इ इति स्थिते 'ऋतो ङि' इति गुणे रपरत्वे रूपम् ।

आदेश एक 'उ' है । तदनुसार ऋकार के स्थान में विधीयमान आदेश "उरण्परः" (७०) परिभाषा की उपस्थिति से 'रपर' होने के कारण 'उर्' के रूप में ग्राह्य है । **उदाहरण**—(ग) क्रोष्टु+अस् (ङसि), <क्रोष्टृ+अस्, <क्रोष्ट्-उर्+स् (ऋ+अ = उ = उर्) । इस स्थिति में 'रस्' के अन्तिम 'स्' का "संयोगान्तस्य लोपः" (५४) सूत्र से लोप प्राप्त होता है । उसका नियमन अग्रिम सूत्र से किया जारहा है ।

(२८०) पद—रात, सस्य । **अनुवृत्ति**—संयोगान्तस्य, लोपः । **नियमसूत्र** ।

मूलार्थ—रेफ से पर केवल 'स्' का ही संयोगान्त लोप होता है, अन्य वर्ण का नहीं । रेफ के स्थान में विसर्ग हुआ । क्रोष्टुः । 'आम्' विभक्ति में पर होने के कारण तृज्वद्भाव प्राप्त होता है । (उसका निषेध) (वा०) नुम्, 'अच्'-परक 'र्'-आदेश तथा तृज्वद्भाव की अपेक्षा पूर्वप्रतिषेध से 'नुट्' आगम ही होता है । क्रोष्टूनाम् । क्रोष्टरि । क्रोष्ट्रोः । पक्ष में तथा हलादि-विभक्तियों में शम्भु शब्द के समान रूप होते हैं । ह्रस्व उकारान्त शब्दों का प्रकरण समाप्त होता है ।

विवरण—सूत्र का अर्थ सम्पन्न करने के लिये "संयोगान्तस्य लोपः" (८-२-२३) सूत्र की पूरी अनुवृत्ति लाई जाती है । तदनुसार सूत्रार्थ होता है—"रेफ से पर संयोगान्त 'स'कार का ही लोप होता है, किसी अन्य वर्ण का नहीं ।" इस प्रकार नियम होने से रेफ से पर अन्य वर्ण का लोप नहीं होता । सामान्य स्थिति में भी 'स्' का लोप "संयोगान्तस्य लोपः" (८-२-२३) सूत्र से प्राप्त था । **उदाहरण**—(ग) क्रोष्टुर्+सु—'र्' से पर 'स्' का लोप होने से <क्रोष्टुर्, <क्रोष्टुः (र् = :) । (घ) क्रोष्टु+आम्—इस स्थिति में दो विधान प्राप्त होते हैं—(१) "ह्रस्वनद्यापो नुट्" (७-१-५४) से 'नुट्' आगम तथा "तृज्वत् क्रोष्टुः" (७-१-९५) से 'तृज्वद्भाव' । अष्टाध्यायी-सूत्रक्रम में तृज्वद्भाव के 'पर' होने के कारण नियमतः उसकी प्राप्ति है । किन्तु पूर्व-विप्रतिषेध से 'नुट्' आगम उसका बाधक होता है । इसका उल्लेख वार्तिक द्वारा किया जारहा है । (वा०) तदनुसार 'नुम्' विधि, अच्-परक 'र्' आदेश तथा तृज्वद्भाव—इन तीनों की अपेक्षा 'पूर्व-विप्रतिषेध' से 'नुट्' आगम होता है । इन तीनों कार्यों के विधायक सूत्र क्रमशः ये हैं—"इकोऽचि विभक्तौ" (७-१-७३), "अचि र ऋतः" (७-२-१००) तथा "तृज्वत् क्रोष्टुः" (७-१-९५) । इनमें बाध्य-बाधक भाव का नियम पूर्व-विप्रतिषेध से माना गया है । अतः 'नुट्' आगम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रोष्टरि । क्रोष्ट्रोः । पक्षे हलादौ च शम्भुवत् । इत्युदन्ताः । हूहूः । हूह्वौ । हूह्वः । हूहूम् । हूह्वौ । हूहून् । इत्यादि । अतिचमूशब्दे तु नदीकार्यं विशेषः । हे अतिचमु । अतिचम्वै ।

क्रोष्ट्रोरिति । तृज्वत्वे ऋकारस्य यण् रेफः । पक्षे इति । तृतीयादिष्वजादिषु तृज्वत्त्वाभावपक्षे इत्यर्थः । ननु तृज्वत्क्रोष्टुः, स्त्रियां च, विभाषा तृतीयादिष्वचि इति त्रिसूत्री व्यर्था । शृगालवाचिनोः क्रोष्टृक्रोष्टुशब्दयोः स्वतन्त्रयोः सत्त्वादिति चेत्, शृणु-सर्वनामस्थाने स्त्रियां च ऋदन्तस्यैव क्रोष्टृशब्दस्य प्रयोगः । तृतीयादिष्वजादिषु तु उभयस्य, शसि हलादिषु च उदन्तस्यैवेति नियमार्था त्रिसूत्रीति । इति उदन्ताः । अथ ऊदन्ता निरूप्यन्ते । हूहूरिति । गन्धर्वविशेषवाचि अव्युत्पन्नं प्रातिपदिकमेतत् । हूह्वौ, हूह्वः इत्यादि । दीर्घाज्जसि च इति पूर्वसवर्णदीर्घनिषेधः । इको यणचि इति यणि रूपम् । हे हूहूः । हूहूम्, हूह्वौ

होकर <क्रोष्टु+न्+आम्, <क्रोष्टूनाम् (उ = ऊ—दीर्घ) रूप बनता है । (ङ) क्रोष्टु+ङि (ङि), <क्रोष्टृ+इ, <क्रोष्ट्-अर्+इ, (गुण—"ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः"—२७५), <क्रोष्टरि । (च) क्रोष्टु+ओस्, <क्रोष्टृ+ओस्, <क्रोष्ट्रोस् (यण्—ऋ = र), <क्रोष्ट्रोर्, <क्रोष्ट्रोः ।

विशेष—तृज्वद्भाव (क्रोष्टु = क्रोष्टृ) का विधान (सम्बोधन में 'सु' के अतिरिक्त) सु, औ, जस्, अम्, तथा औट् विभक्तियों में नित्य तथा टा, ङे, ङसि, ङस्, ओस्, ङि तथा ओस्—विभक्तियों में विकल्प से होता है । अतः वैकल्पिक तृज्वद्भाव के न होने पर उल्लिखित ७ सुप्-प्रत्ययों में तथा हलादि विभक्तियों में 'क्रोष्टु' शब्द के रूप 'भानु' शब्द के समान होते हैं । सुविधा के लिये उन सबका उल्लेख किया जारहा है ।

'क्रोष्टु' शब्द के रूप (अर्थ—गीदड़)

वि०	एक०	द्वि०	बहु०	वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	क्रोष्टा	क्रोष्टारौ	क्रोष्टारः	पं०	क्रोष्टुः, क्रोष्टोः	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभ्यः
द्वि०	क्रोष्टारम्	क्रोष्टारौ	क्रोष्टून्	ष०	क्रोष्टुः, क्रोष्टोः	क्रोष्ट्वोः, क्रोष्टोः	क्रोष्टूनाम्
तृ०	क्रोष्ट्रा, क्रोष्टुना	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभिः	स०	क्रोष्टरि, क्रोष्टौ	क्रोष्ट्वोः, क्रोष्टोः	क्रोष्टुषु
च०	क्रोष्ट्रे, क्रोष्टवे	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभ्यः	सं०	हे क्रोष्टो	हे क्रोष्टारौ	हे क्रोष्टारः

ह्रस्व उकारान्त शब्दों का प्रकरण समाप्त हुआ ।

निर्देश——१-दीर्घ ऊकारान्त शब्दों का प्रकरण आरम्भ होता है । तदनुसार (क) हूहू+स् (सु), हूहू+र् (स् = र्), <हूहूः (र् = :) । (ख) हूहू+औ, <हूह्वौ (यण्—उ=व्) । (ग) हूहू+अस् (जस्), <हूह्वस् (यण्—ऊ = व्), <हूह्वर्, <हूह्वः । (घ) हूहू+अम्, <हूहूम् (ऊ+अ = ऊ—पूर्वरूप) । (ङ) हूहू+औ <हूह्वौ । (च) हूहू+अस् (शस्), <हूह्वस् (ऊ+अ = ऊ—पूर्वसवर्ण-दीर्घ), <हूहून् (स् = न्) ।

'हूहू' शब्द के रूप (अर्थ—गन्धर्व-विशेष)

वि०	एक०	द्वि०	बहु०	वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	हूहूः	हूह्वौ	हूह्वः	पं०	हूह्वः	हूहूभ्याम्	हूहूभ्यः
द्वि०	हूहूम्	हूह्वौ	हूहून्	ष०	हूह्वः	हूह्वोः	हूह्वाम्
तृ०	हूह्वा	हूहूभ्याम्	हूहूभिः	स०	हूह्वि	हूह्वोः	हूहूषु
च०	हूह्वे	हूहूभ्याम्	हूहूभ्यः	सं०	हे हूहूः	हे हूह्वौ	हे हूह्वः

२—'अतिचमू' शब्द का अर्थ—सेना को अतिक्रमण करने वाला । विग्रह-चमूम् अतिक्रान्तः । समास-विधायक-वार्तिक—'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' । (क) स्थिति-अतिचमू+स् (सु), <अतिचमू+र्, <अतिचमूः । दीर्घ ऊकारान्त 'अतिचमू' शब्द की रूपसिद्धि कुछ विभक्तियों में 'हूहू' शब्द से भिन्न है । उसका कारण यह है कि 'अतिचमू' शब्द में समास होने के पूर्व

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिचम्वाः। अतिचम्वाः। अतिचमूनाम्। अतिचम्वाम्। खलपूः। (२८१) ओः सुपि ६। ४। ८४॥ धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य उवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादजादौ सुपि। 'गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते' (वा ५०३४)। खलप्वौ। खलप्वः। इत्यादि। एवं सुल्वादयः। 'अनेकाचः' किम्? लूः। लुवौ। लुवः। 'धात्ववयव—' इति किम्? उल्लूः। उल्ल्वौ। उल्ल्वः। 'असंयोगपूर्वस्य'

हूहून्। हूह्वा। हूह्वे। हूह्वः। हूह्वोः। हूह्वाम्। हूह्वि। अतिचमूशब्दे त्विति। चमूमतिक्रान्तः अतिचमूः। 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे' इति समासः। स्त्रीप्रत्ययान्तत्वाभावात् 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वो न भवति। नदीकार्यमिति। 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' इति वचनादिति भावः। खलपूरिति। खलं पुनातीति क्विप्। खलपू औ, खलपू अस् इति स्थिते 'अचि श्नुधातु' इति उवङि प्राप्ते।

(२८१) ओः सुपि। 'एरनेकाचः' इति सूत्रम् एरितिवर्जमनुवर्तते। 'अचि श्नुधातु' इत्यतः अचीत्यनुवृत्तम्, तेन सुपीति विशेष्यते। तदादिविधिः। 'इणो यण्' इत्यतः यणित्यनुवर्तते। तदाह-धात्ववयवेत्यादिना। गतिकारकेति। इदमपि वार्तिकम् अत्रानुवर्तत इति भावः। खलप्वौ खलप्व इति। कारकपूर्वकत्वादिह यणिति भावः। हे खलपूः। खलप्वम्। खलप्वौ। खलप्वः। खलप्वा। खलप्वे। खलप्वः। खलप्वः। खलप्वोः। खलप्वि। इह अजादौ 'एरनेकाचः' इति यणः असम्भवात् उवङि प्राप्ते अनेन सूत्रेण यणिति भावः। उवङोऽपवादो यणिति फलितम्। इयङुवङौ, 'एरनेकाचः' इति 'ओः सुपि' इति यण् च

उसका अवयव 'चमू' शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग है। अतः समास होने के अनन्तर भी पूर्वनिर्दिष्ट "प्रथमलिङ्गग्रहणं च" के अनुसार नदी-संज्ञा-प्रयुक्त कार्य यथानियम होंगे। ये विभक्तियाँ क्रमशः इस प्रकार हैं—(ख) सम्बोधन का एक-वचन—हे अतिचमू+स् (सु), <हे अतिचमु+स् (ऊ = उ-ह्रस्व—"अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः"-२६७), <हे अतिचमु ('स्'-लोप)। (ग) अतिचमू+ए (ङे), <अतिचमू+आ-ए ('आट्' आगम), <अतिचमू+ऐ (आ+ए = ऐ—वृद्धि), <अतिचम्वै (ऊ = व्—यण्)। (घ) अतिचमू+अस् (ङसि), <अतिचमू+आ-अस् ('आट्' आगम), <अतिचमू+आस् (आ+अ = आ—वृद्धि), <अतिचम्वास् (ऊ = व्—यण्), अतिचम्वार्, <अतिचम्वाः। (ङ) अतिचम्वाः (ङस्)। (च) अतिचमू+आम्, <अतिचमू+न्—आम् ('नुट्' आगम), <अतिचमूनाम् (ऊ=ऊ—दीर्घ)। (छ) अतिचम्+ङि, <अतिचमू+आम् (ङि = आम्), अतिचम्वाम् (ऊ = व्—यण्)। शेष रूप 'हूहू' शब्द के समान होंगे।

३—'खलपू' (अर्थ—खलिहान) शब्द में विशेष कार्यों का निर्देश किया जारहा है। (क) खलपू+स् (सु), <खलपू+र्, <खलपूः।

(२८१) पद—ओः, सुपि। अनुवृत्ति—अनेकाचः, असंयोगपूर्वस्य, अचि। विधिसूत्र।

मूलार्थ—धातु का अवयव संयोगपूर्व में न हो ऐसा जो उवर्णान्त धातु, तदन्त अनेकाच् अङ्ग को, अजादि सुप्-विभक्तियां पर रहते, यण् होता है। वा० 'गति'संज्ञक शब्द तथा कारक-शब्दों के अतिरिक्त पूर्वपद को 'यण्' नहीं होता। खलप्वौ। खलप्वः। इत्यादि। इसी तरह 'सुल्' आदि शब्दों के रूप होंगे। 'अनेकाचः' क्यों कहा? लूः। लुवौ। लुवः। 'धात्ववय' क्यों कहा? उल्लूः। उल्ल्वौ। उल्ल्वः। 'असंयोगपूर्वस्य' क्यों कहा? कटप्रुवौ। कटप्रुवः। 'गति'-इत्यादि क्यों कहा? परमलुवौ। 'सुपि' क्यों कहा? लुलुवतुः। स्वभूः। "न भूसुधियोः"—यण् निषेध। स्वभुवौ। स्वभुवः।

विवरण—सूत्र में केवल स्थानी का निर्देश है—'ओः'। आदेश-वाचक पद 'यण्' का लाभ "इणो यण्" (६-४-८१) सूत्र से अनुवृत्ति करने पर होता है। स्थानी के दो विशेषणों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किम् ? कटप्रूः । कटप्रुवौ । कटप्रुवः । 'गति–' इत्यादि किम् ? परमलुवौ । 'सुपि' किम् ? लुलुवतुः । स्वभूः । 'न भूसुधियोः' (सू २७३) स्वभुवौ । स्वभुवः । एवं स्वयम्भूः ।

सर्वत्र पूर्वरूपसवर्णदीर्घापवादाः । एवं सुल्वादय इति । सुष्ठु लुनातीति सुलूः । गतिपूर्वक-त्वादिहापि यण् । आदिना केदारलूरित्यादिसंग्रहः । कटप्रूरिति । 'प्रू गतौ' 'क्विब्वचि' इत्या-दिना क्विप्, उकारस्य दीर्घश्च । परमलुवाविति । परमश्चासौ लूश्चेति विग्रहः । गतिकारकेतर-पूर्वकत्वान्न यण् । लुलुवतुरिति । अनुसि लुलू इत्यस्य अनेकाच्त्वेऽपि सुप्परकत्वाभावान्न यणिति भावः । स्वभूरिति । स्वस्मात् भवतीति क्विप् । कारकपूर्वकत्वाद्यणि प्राप्ते आह— न भूसुधियोरिति । वर्षासु भवति वर्षाभूः । वर्षर्तावुत्पन्न इत्यर्थः । वर्षाशब्दो नित्यस्त्रीलिङ्ग-

---

'अनेकाचः' तथा 'असंयोगपूर्वस्य' का लाभ "एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य" (६-४-८२) सूत्र की अनुवृत्ति करने से होता है। इसके अतिरिक्त निमित्तवाचक पद 'सुपि' के विशेषण के रूप में 'अचि' पद तथा 'ओः' का विशेषण 'धातोः' पद "अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ" (६-४-७७) सूत्र से अनुवृत्ति द्वारा लाये जाते हैं। "अङ्गस्य" का अधिकार है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ होता है—"अजादि 'सुप्'-विभक्ति के परवर्ती रहने पर (अचि सुपि), उस अनेकाच् अङ्ग को 'यण्' आदेश होता है (अनेकाचः अङ्गस्य यण्), जिसके अन्त में उवर्णान्त धातु हो (ओः), किन्तु उस धातु-सम्बन्धी उवर्ण से पूर्व धातु का अवयव संयुक्त-वर्ण न हो (असंयोगपूर्वस्य)"। यहाँ पर सूत्र सं० २७२ में दिये हुए उपयोगी वार्तिक का स्मरण दिलाया गया है। जिसके अनुसार 'यण्' की प्रवृत्ति 'अङ्ग' के पूर्वपद में गतिसंज्ञक शब्द तथा कारक-वाची शब्द के रहने पर ही होती है, अन्यथा नहीं। **उदाहरण**—(ख) खलपू+औ—इस स्थिति में उवर्ण (पकारोत्तरवर्ती 'ऊ') से पूर्व धातु का अवयव संयुक्त नहीं है। तदन्त धातु = 'पू', एवं तदन्त अङ्ग = खलपू है। उससे पर अजादि सुप्-विभक्ति 'औ' है। अतः <खलप्वौ में 'उवङ्' का बाध कर ऊ = व्–यण्। इसी प्रकार (ग) खलपू+अस्, (ऊ=व्–यण्), <खलप्वस्, <खलप्वर् (स्=र्), <खलप्वः (र् = :)। इसी तरह आगे अजादि विभक्तियों में (घ) खलप्वम् (अम्), (ङ) खलप्वा (टा), (च) खलप्वे (ङे), (छ) खलप्वः ('ङसि' तथा ङस्), (ज) खलप्वोः (ओस्), (झ) खलप्वाम् (आम्) तथा (ञ) खलप्वि (ङि) रूप बनेंगे। 'खलपू' के समान ही 'सुलू' शब्द के रूप भी बनेंगे। विग्रह—सुष्ठु लुनाति—सुलू+क्विप् = सुलू+सु—सुलूः। अर्थ—अच्छी तरह काटने वाला।

प्रत्युदाहरण—१–सूत्र में 'अनेकाचः' पद की अनुवृत्ति किये जाने से (क) 'लुवौ' (लू+औ) तथा (ख) 'लुवः' (लू+अस्) में अङ्ग एक-अच्-स्वरूप होने के कारण 'यण्' नहीं हुआ। अतः 'उवङ्' आदेश हुआ। 'लू' शब्द के प्रथमा एक-वचन में (लू+सु) 'लूः' रूप बनता है। २–सूत्र में अनुवृत्ति द्वारा लभ्य 'धात्वयवय' पद रहने पर (क) 'उल्ल्वौ' (उल्लू+औ) तथा (ख) 'उल्ल्वः' (उल्लू+जस्) में 'यण्' आदेश होता है। उसका कारण यह है कि 'ऊ' से पूर्व विद्य-मान ('ल्ल्') संयोग धातु के वर्णद्वय का संयोग नहीं है, किन्तु उसके पूर्व 'उत्' उपसर्ग के साथ सन्धि होने कारण हुआ है। 'उल्लू' (ऊपर काटने वाला) शब्द के प्रथमा एकवचन में 'उल्लूः'। ३—सूत्र में अनुवृत्ति द्वारा लभ्य 'असंयोगपूर्वस्य' पद रखने पर (क) 'कटप्रुवौ' (कटप्रू+औ) तथा 'कटप्रुवः' (कटप्रू+अस्) में 'यण्' आदेश नहीं हुआ। उसका कारण यह है कि 'प्रू' में 'ऊ'कार के पूर्व 'प्' तथा 'र्'—दोनों वर्ण धातु के अवयव हैं तथा 'ऊ' के पहले हैं। अतः यण् नहीं होता। नियमानुसार 'उवङ्' आदेश हुआ। 'कटप्रू' शब्द का अर्थ है—(चटाई) बिछौने की ओर चलने वाला—कटं प्रवते = कट √प्रु +क्विप्। ४—सूत्र के साथ 'गति–कारक०' वार्तिक का सामञ्जस्य होने के कारण गति-संज्ञक शब्द एवं कारक-शब्दों से भिन्न शब्दों के पूर्ववर्ती होने पर 'यण्' आदेश की प्रसक्ति नहीं होगी। तदनुसार परमलुवौ (परमलू+औ) में 'परम' शब्द के गतिसंज्ञक न होने से 'यण्' नहीं हुआ। किन्तु 'उवङ्' आदेश होने पर रूपसिद्धि होती है। 'परमलू' शब्द में कर्मधारय समास है—परमश्चासौ लूश्च'। इस प्रकार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२८२) वर्षाभ्वश्च ६ । ४ । ८४ ॥ अस्योवर्णस्य यण् स्यादचि सुपि । वर्षाभ्वौ । वर्षाभ्वः । द्रुमतीति द्रुम्भूः । 'अन्दूदृम्भूजम्बूकफेलूकर्कन्धूदिधिषूः' (उ ९३) इत्युणादिसूत्रेण निपातितः । द्रुम्भ्वौ । द्रुम्भ्वः । द्रुम्भूम् । द्रुम्भ्वौ । द्रुम्भून् । शेषं हूहूवत् । 'हृन्' इति नान्ते हिंसार्थेऽव्यये भुवः क्विप् । हृन्भूः । 'हृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः' बहुवचनान्तः, 'अप्सुमनस्समासिकतावर्षाणां बहुत्वं च' इति लिङ्गानुशासने स्व्यधिकारे सूत्रकृतोक्तेः । 'वर्षाभूर्दर्दुरे पुमान्' इति यादवः । 'न भूसुधियोः' इति निषेधे प्राप्ते ।

(२८२) वर्षाभ्वश्च । 'ओः सुपि' इत्यनुवर्तते । 'अचि श्नुधातु' इत्यतः अचीति 'इणो यण्' इत्यतः यणिति चानुवर्तते । तदाह—अस्येति । वर्षाभूशब्दस्येत्यर्थः । द्रुमतीति । 'हृभी ग्रन्थे' तुदादिः । शविकरणस्य 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्त्वान्न गुणः । निपातित इति । कूप्रत्ययो नुम् चेह निपात्यते इत्यर्थः । 'नश्चापदान्तस्य' इत्यनुस्वारः, 'अनुस्वारस्य ययि' इति तस्य परसवर्णो मकारः । अत्र च ऊकारो न धात्ववयवः । अतः उवङ्, 'ओः सुपि' इति यण् च न, किन्तु 'इको यणचि' इत्येव यण् । स च 'अमि पूर्वः' इत्यनेन बाध्यत इत्याशयेनाह-द्रुम्भूमिति । शसि दीर्घाज्जसि च इति निषेधाप्रवृत्त्या पूर्वसवर्णदीर्घेण 'इको यणचि' इति यण् बाध्यत इत्यभिप्रेत्याह—द्रुम्भूनिति । द्रुम्भ्वा । द्रुम्भ्वे । द्रुम्भ्वः । द्रुम्भ्वः द्रुम्भ्वोः । द्रुम्भ्वाम् । इह तु 'हृन्कर' इति 'यण् न भवति, भूशब्दस्यार्थवत एव तत्र ग्रहणात् इह च भूशब्दस्य अनर्थकत्वात् । हृन्निति नान्तमव्ययं हिंसायां वर्तते । तस्मिन्नुपपदे भूधातोः क्विबित्यर्थः । हृन् हिंसायाम् भवते प्राप्नोतीति विग्रहः । हृन्भूरिति । तरुविशेषः । सर्पविशेष इत्यन्ये । स्वाभाविक एवात्र नकारः । तस्य पदान्तत्वात् 'नश्चापदान्तस्य' इति नानुस्वारः । अत एव न परसवर्णः । 'न भूसुधियोः' इति निषेधे प्राप्ते—हृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः । हृन्भ्वमिति । यणा पूर्वरूपं बाध्यत इति भावः । हृन्भ्व इति । शसि यणा पूर्वसवर्णदीर्घो बाध्यत इति भावः । करात् करे वा भवतीति करभूः । हृन्भूवदित्यभिप्रेत्याह—करभ्वम् करभ्व इति । 'हृन्कर' इत्युदाहृतवार्तिके दीर्घमध्यकारशब्दपाठ इति मतान्तरम् । तत्राह—दीर्घेति । स्वार्थिक इति । स्वस्याः प्रकृतेरर्थः स्वार्थः,

---

यहाँ 'परम' शब्द प्रातिपदिकार्थ का ही बोधक है। ५—सूत्र में निमित्तवाचक 'सुपि' पद के विद्यमान होने से 'लुलुवतुः' (लु-लू+अतुस्) में 'अतुस्' (= तस्) के 'तिङ्'-विभक्ति होने के कारण 'यण्' नहीं हुआ । 'उवङ्' आदेश होकर रूप सिद्ध होता है ।

विशेष—१-'इवर्णान्त' धातु को अभिलक्षित कर 'यण्'-विधायक-सूत्र "एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य" (६-४-८२) है । 'उवर्णान्त' धातुओं के विषय में प्रस्तुत सूत्र (२८१) प्रवृत्त होता है । "एरनेकाचः" २७२ सूत्र सब तरह के अजादि प्रत्ययों में यण् का विधान करता है, किन्तु प्रकृत सूत्र केवल अजादि सुप्-विभक्तियों में ही 'यण्' का विधायक है ।

२—दोनों ही सूत्र "अचिश्नु०" (६-४-७७) (इयङ्-उवङ्) के बाधक हैं ।

निर्देश—'स्वभू' शब्द (अर्थ—स्वयम् उत्पन्न होने वाला) पर विचार आरम्भ होता है । (क) स्वभू+स् (सु), <स्वभू+र्, <स्वभूः । (ख) स्वभू+औ, <स्वभुवौ ("न भूसुधियोः" २७३ से यण् निषेध, अतः 'उवङ्') । (ग) स्वभू+अस् (जस्), <स्वभुवस्, स्वभुवर्, स्वभुवः । शेष रूप 'लू' शब्द के समान बनेंगे ।

(२८२) पद—वर्षाभ्वः, च । **अनुवृत्ति**—ओः, सुपि, अचि, यण् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अजादि सुप्-विभक्ति पर रहते 'वर्षाभू' शब्द के उवर्ण को 'यण्' होता है । वर्षाभ्वौ । वर्षाभ्वः । गूँथता है अर्थ में द्रुम्भूः । 'द्रुम्भू' शब्द 'अन्दू-दृम्भू-जम्बू-कफेलू-कर्कन्धू-दिधिषूः'—उणादि सूत्र से व्युत्पादित है । द्रुम्भ्वौ । द्रुम्भ्वः । द्रुम्भूम् । द्रुम्भ्वौ । द्रुम्भून् । शेष रूप 'हूहू'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वा ४११८) । दृन्म्वम् । दृन्म्वः इत्यादि । खलपूवत् । करभूः । करभ्वम् । करभ्वः । दीर्घपाठे तु कर एव कारः । स्वार्थिकः प्रज्ञाद्यण् । कारभ्वम् । कारभ्वः । पुनर्भूर्यौगिकः पुंसि । पुनर्भ्वौ इत्यादि । दृग्भूकाराभूशब्दौ स्वयंभूवत् । इत्यूदन्ताः । धाता । हे धातः ।

तत्र भवः स्वार्थिकः । अध्यात्मादित्वाट्ठञ् । प्रज्ञाद्यणिति । 'प्रज्ञादिभ्योऽण्' इति प्रज्ञादिभ्यः स्वार्थे अण्विधानादिति भावः । दीर्घपाठे करपूर्वस्य उवङेव, ह्रस्वपाठे करपूर्वस्य यणेवेति विवेकः । पुनर्भवतीति पुनर्भूः । ननु 'पुनर्भूर्दिधिषूरूढा' इति कोशात् पुनर्भूशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वात् स्त्रीलिङ्गाधिकार एव तन्निरूपणं युक्तमित्यत आह—पुनर्भूर्यौगिकः पुंसीति । पुनः भवतीति क्रियानिमित्तस्य पुनर्भूशब्दस्य पुँल्लिङ्गत्वमप्यस्तीत्यर्थः । दृग्भू इति । दृशो भवतीति दृग्भूः । कारायां भवतीति काराभूः । कारा बन्धनालयः । स्वयम्भूवदिति । तत्र 'न भूसुधियोः' इति यणः प्रतिषेधात् प्रतिप्रसवाभावाच्चेति भावः । इत्यूदन्ताः । अथ ऋदन्ता निरूप्यन्ते । धातेति । 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' तत्र तृन् तृज्वा स्यात् । क्रोष्टुशब्दवदनङ्दीर्घसुलोपनलोपाः । हे धातरिति । 'ऋदुशनस्' इत्यत्रासम्बुद्धावित्यनुवृत्तेर्नानङ् । 'ऋतो ङि' इति गुणः अकारः, रपरत्वं हल्ङ्यादिलोपः, विसर्गः । 'अप्तृन्' इति दीर्घस्तु न, असम्बुद्धावित्यनुवृत्तेः । धातारावितिं । ङिसर्वनामस्थानयोः 'ऋतो ङि' इति गुणः अकारः, रपरत्वम्, 'अप्तृन्' इति दीर्घश्च । धातारः । धातारम् । धातारौ । शसि पूर्वसवर्णदीर्घः ऋकारः, नत्वम् , धातॄन् । टा यण् । धात्रा । ङे यण् । धात्रे । ङसिङसोः 'ऋत उत्' रपरत्वम्, सलोपः, विसर्गः । धातुः । धातुः । धात्रोः । धात्रोः । आमि 'ह्रस्वनद्यापः' इति नुट् । 'नामि' इति दीर्घः । नकारस्य रेफषकाराभ्यां परत्वाभावादप्राप्ते णत्वे । ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम् । ऋवर्णात् परस्येत्यर्थः । इदं तु वार्तिकं णत्वविधायकसूत्राणां सर्वेषां शेषभूतम् । ङौ 'ऋतो ङि' इति गुणः अकारः, रपरत्वम् । धातरि । धातृषु । न च धातृशब्दस्य हिरण्यगर्भसंज्ञाशब्दत्वाद् औणादिकशंसिक्षदादि-

---

शब्द के समान होते हैं । 'दृन्भू' शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार है—दृन्–√भू+क्विप् । दृन्भूः (हिंसा से जन्म) । (वा०) 'अजादि सुब्-विभक्ति पर रहते 'दृन्' 'कर' तथा 'पुनः' पूर्वक 'भू' के उवर्ण को 'यण्' होता है । दृन्भ्वौ । दृन्भ्वः । इत्यादि । शेष रूप 'खलपू' शब्द के समान होते हैं । करभ्वौ । करभ्वः । दीर्घ पाठ होने पर 'कर' शब्द से स्वार्थ में 'अण्' होकर 'कारः' रूप बनता है । (तदनुसार कारभू शब्द से) कारभ्वौ । कारभ्वः । 'पुनर्भू' शब्द पुंलिङ्ग में यौगिक है । पुनर्भ्वौ । इत्यादि । दृग्भू तथा काराभू शब्द के रूप स्वयम्भू शब्द के समान होंगे । इस प्रकार दीर्घ ऊकारान्त शब्दों का प्रकरण समाप्त होता है ।

सन्दर्भ—'वर्षाभू' (= मेंढक) शब्द के अजादि-विभक्तियों में विशेष-कार्य का निदर्शन किया जारहा है । अर्थ—वर्षासु भवति–वर्षा में उत्पन्न होने वाला ।

विवरण—प्रकृत सूत्र में "अचि श्नु धातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ" (६-४-७७) से 'अचि', "इणो यण्" (६-४-८१) सूत्र से 'यण्' तथा "ओः सुपि" (६-४-८३) से 'सुपि' की अनुवृत्ति किये जाने पर सूत्र का अर्थ पूर्ण होता है । तदनुसार अर्थ होता है—"अजादि सुब्-विभक्ति के परवर्ती रहने से 'वर्षाभू' शब्द के स्थान में 'यण्' आदेश होता है" । "अलोन्त्यस्य" परिभाषा की उपस्थिति से 'ऊ' के स्थान पर 'व्' आदेश होगा । **उदाहरण**—(क) वर्षाभू+औ, <वर्षाभ्वौ—यहाँ पर "ओः सुपि" २८१ सूत्र से प्राप्त 'यण्' का निषेध "न भूसुधियोः" (२७३) से प्राप्त रहा । इस सूत्र से उसका बाध होने के फलस्वरूप पुनः 'यण्' होकर रूप सिद्ध होता है । (ख) इसी तरह वर्षाभू+अस् (जस्), <वर्षाभ्वस्, <वर्षाभ्वर्, <वर्षाभ्वः ।

निर्देश—१—'दृम्भू' शब्द के रूप बतलाये जारहे हैं । अर्थ—दृभति = गूंथता है (गूँथने वाला) । "अन्दू-दृम्भू-जम्भू-कफेलू-कर्कन्धू-दिधिषूः" (उणा० १-९६) उणादि सूत्र से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धातारौ । धातारः । 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' (वा ४९६९) । धातॄणामित्यादि । एवं नप्त्रादयः । उद्गातारौ । पिता । व्युत्पत्तिपक्षे नप्त्रादिग्रहणस्य नियमार्थत्वान्न दीर्घः ।

तृन्नृजन्तत्वादिह कथम् 'अप्तृन्' इति दीर्घः ? औणादिकतृन्तृजन्तेषु नप्त्रादिसप्तानामेव दीर्घ इति नियमादिति वाच्यम्, धाञ्धातोः शंसिक्षदादित्वकल्पनायां प्रमाणाभावेन धातृशब्दस्य औणादिकत्वाभावादिति भावः । एवं नप्त्रादय इति । नप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तृशब्दाः धातृशब्दवदित्यर्थः । उद्गातृशब्दस्य औणादिकतृन्तृजन्तस्य नप्त्रादिष्वनन्तर्भावेऽपि समर्थसूत्रे 'उद्गातार' इति भाष्यप्रयोगादेव दीर्घ इत्युक्तं प्राक् । तदेतद् स्मारयति—उद्गातारावितिं । पितेति । धातृवदनङादि । सर्वनामस्थाने तु 'ऋतो ङि' इति गुणः अकारः, रपरत्वम् । 'अप्तृन्' इति दीर्घस्तु नेत्याह—व्युत्पत्तीति । पातीति पिता । तृच्प्रत्ययः, इट् आकारलोपश्चेति व्युत्पत्तिर्बोध्या । अव्युत्पत्तिपक्षे तु अप्तृन्तृजादिष्वनन्तर्भावात् दीर्घशङ्कैव नास्तीति भावः । पितरौ पितरः । पितरम् पितरौ पितॄन् इत्यादि धातृवत् । एवं जामातृभ्रात्रादय इति । उणादिषु 'नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृभ्रातृजामातृमातृपितृदुहितृ' इति सूत्रे पितृजामातृभ्रातृशब्दाः व्युत्पादिताः । तत्र पितृशब्दस्य व्युत्पत्तिरुक्ता । भ्राजेस्तृनि तृचि वा जलोपः—भ्राता । जायां मातीति जामाता । तृन्प्रत्ययः, तृज्वा यालोपश्च । अनयोरप्यौणादिकयोर्नप्त्रादिष्वनन्तर्भावात् न दीर्घ इत्यर्थः । आदिना

'दृम्भू' शब्द निपातित है । निपातन के रूप में 'नुम्' आगम तथा 'कू' प्रत्यय किये गये हैं । शब्द-सिद्धि का प्रकार—√ (दृभी) दृभ्+ऊ (कू), <दृ-नुभ+ऊ ('नुम्' आगम), <दृंभ्+ऊ (न् = ं), <दृम्भ्+ऊ (ं = म्—परसवर्ण) । (क) दृम्भू+स् (सु), दृम्भू+र्, <दृम्भूः । (ख) दृम्भू+औ, <दृम्भ्वौ (ऊ=व्-यण्) । (ग) दृम्भू+अस् (जस्), <दृम्भ्वस्, <दृम्भ्वर्, <दृम्भ्वः । (घ) दृम्भूम् ('अम्') । (ङ) दृम्भ्वौ (औ) । (च) दृम्भून् (शस्) । शेष रूप 'हूहू' शब्द के समान होंगे । २—इसी शब्द के समान 'दृन्भू' शब्द के रूप भी बनते हैं । दृन् भवते-हिंसा को प्राप्त करता है—दृन्भू (वृक्ष अथवा सर्प) । शब्द-निष्पत्ति में थोड़ा अन्तर है । 'दृन्भू' शब्द में 'दृन्' अव्यय+√भू धातु = दृन्भू+क्विप् प्रत्यय एवं उसका लोप (सर्वापहार) होता है । यहाँ 'भू' धातु की विद्यमानता है । इस कारण उससे पर अजादि-विभक्तियों में "न भूसुधियोः" (२७३) सूत्र से 'यण्' आदेश का निषेध प्राप्त रहा । उसका पुनर्विधान वार्तिक द्वारा किया जारहा है । (वा०) तदनुसार 'दृन्', 'कर' 'पुनर्' शब्दों के पूर्ववर्ती होने पर 'भू' के उकार को अजादि 'सुप्'-विभक्तियों के पश्चाद्वर्ती रहने पर 'यण्' आदेश होता है । अतः (ख) दृन्भ्वौ (औ), (ग) दृन्भ्वः (जस्) आदि रूप बनते हैं । शेष रूप 'खलपू' शब्द के समान होंगे । ३—इसी तरह 'करभू' (=नाखून) शब्द के रूप भी (क) 'करभूः', (ख) 'करभ्वौ', (ग) 'करभ्वः' आदि बनेंगे । कुछ विद्वान् उपर्युक्त वार्तिक में 'कर' के स्थान पर 'कार' दीर्घ 'क' पढ़ते हैं । उनके मत में 'कर' शब्द से स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय होकर 'कार' शब्द बनता है । अतः 'कारभू' शब्द के रूप भी ('करभू' के समान) (क) 'कारभ्वौ' (औ) तथा (ख) 'कारभ्वः' (जस्) आदि निष्पन्न होंगे । यहाँ भी उपर्युक्त वार्तिक से 'यण्' आदेश हो जायगा । ४—फिर उत्पन्न होता है (पुनः भवति) अर्थ में यौगिक 'पुनर्भू' शब्द पुंलिङ्ग है । अतः इस शब्द के रूप भी (क) 'पुनर्भ्वौ' (औ) आदि सिद्ध होंगे । ५—इसी प्रकार 'दृग्भू' (दृष्टि से होने वाला—दृशः भवति—इति 'कारभूः'—शब्दों के रूप 'स्वयंभू' शब्द के समान बनेंगे । 'ऊकारान्त' शब्दों का प्रकरण समाप्त हुआ ।

पुनः निर्देश—१-ऋकारान्त शब्दों में सर्वप्रथम 'धातृ' (= ब्रह्मा) शब्द को अभिलक्षित कर रूप सिद्ध किये जारहे हैं । (क) धातृ+स् (सु), <धात्-अन् सु (ऋ=अनङ् "ऋदुशनस्०" २७६), धातान्+स् (अ = आ-दीर्घ—"अप्-तृन्-तृच्०" २७७), <धातान् ('स्'-विभक्ति-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पितरौ, पितरः। पितरम्, पितरौ। शेषं धातृवत्। एवं जामातृभ्रात्रादयः। ना, नरौ,

---

मन्तृ-हन्तृ-इत्यनयोः ग्रहणम्, तयोरुणादिषु 'तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः' इति प्रकरणे 'बहुलमन्यत्रापि' इत्यत्र उदाहृतत्वात्। नेति। नृशब्दो मनुष्यवाची, तस्मात् सुः। 'ऋदुशनस्' इत्यनङ्। 'अप्तृन्' इति सूत्रे अनन्तर्भावात् 'सर्वनामस्थाने च' इति नान्तत्व-प्रयुक्तो दीर्घः। हल्ङ्यादिलोपः। नलोपः। ना इति रूपम्। नरौ नर इति। 'ऋतो ङि' इति गुणो रपरः। अप्तृन्नाद्यनन्तर्भावात् नान्तत्वाभावाच्च न दीर्घः। हे नः इति। 'ऋतो ङि' इति गुणो रपरः हल्ङ्यादिलोपो विसर्गश्च। नरम् नरौ। शसि पूर्वसवर्णदीर्घ ऋकारः,

---

लोप), <धाता ('न्' लोप)। (ख) हे धातृ+स् (सु), <हे धातर्+स् (ऋ = अर्—गुण "ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः" २७५), <हे धातर् ('स्' विभक्तिलोप), <हे धातः (र्= :)। (ग) धातृ+औ, <धातर्+औ (ऋ = अर्—'गुण'-२७५), <धातारौ ('दीर्घ'-२७७)। (घ) धातारः (जस्)। (वा०) अर्थ—'ऋ'वर्ण से पर 'न्' के स्थान पर 'ण्' होता है। उदाहरण—(ङ) धातृ+आम्, <धातृ+न्+आम् ('नुट्'-"ह्रस्वनद्यापो नुट्" २०८), <धातृ+नाम् (दीर्घ—"नामि" २०९), <धातृणाम् (प्रकृत वार्तिक से 'ऋकार' के पश्चाद्वर्ती 'न्' = ण्)।

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	धाता	धातारौ	धातारः
द्वि०	धातारम्	धातारौ	धातॄन्
तृ०	धात्रा	धातृभ्याम्	धातृभिः
च०	धात्रे	धातृभ्याम्	धातृभ्यः
पं०	धातुः	धातृभ्याम्	धातृभ्यः
ष०	धातुः	धात्रोः	धातॄणाम्
स०	धातरि	धात्रोः	धातृषु
सं०	हे धातः	हे धातारौ	हे धातारः

२—इसी तरह 'नप्तृ' 'होतृ', 'त्वष्टृ' आदि शब्दों के रूप बनेंगे।

३—'उद्गातृ' शब्द में भाष्यकार के प्रयोगानुसार विशेष कार्य ('दीर्घ') का स्मरण कराने हेतु उदाहरणस्वरूप 'उद्गातारौ' (औ) का उल्लेख किया गया है।

४—व्युत्पत्ति-पक्ष में (पाति इति पिता—रक्षा करने वाला) 'पितृ' शब्द की विभिन्न विभक्तियों में रूप-रचना-सम्बन्धी विशेष कार्यों का उल्लेख किया जारहा है। फलतः "अप्तृन् तृच्०" २७७ सूत्र में निर्दिष्ट नियम के अनुसार 'औ' 'जस्' 'अम्' एवम् 'औट्' सुप्-विभक्तियों में दीर्घ नहीं होता। (क) पितृ+स् (सु), <पितृ-अन्+सु (ऋ = अनङ् "ऋदुशनस्०" २७६), <पितान्+स् (उपधा दीर्घ—"सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ" २५०) <पितान् (विभक्ति लोप), <पिता ('न्' लोप)। (ख) पितृ+औ, <पितर्+औ (ऋ = अर्—गुण "ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः" २७५), <पितरौ। (ग) इसी प्रकार पितरः (जस्), (घ) पितरम् (अम्), (ङ) तथा पितरौ (औट्) रूप सिद्ध होते हैं। शेष विभक्तियों में 'धातृ' शब्द के समान रूप बनेंगे।

'पितृ' (= पिता) शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	पिता	पितरौ	पितरः
द्वि०	पितरम्	पितरौ	पितॄन्
तृ०	पित्रा	पितृभ्याम्	पितृभिः
च०	पित्रे	पितृभ्याम्	पितृभ्यः
पं०	पितुः	पितृभ्याम्	पितृभ्यः
ष०	पितुः	पित्रोः	पितॄणाम्
स०	पितरि	पित्रोः	पितृषु
सं०	हे पितः	हे पितरौ	हे पितरः

विशेष—"अट्कुप्वाङ्" (१९७) सूत्र में साक्षात् रेफ एवं 'ष्' से पर 'न्' के स्थान पर 'ण्' का विधान किया गया है। 'ऋ'कार का एकदेश रेफ साक्षात् 'र्' न होने के कारण 'ण्' विधान करने के लिये "ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्" वार्तिक की उपयोगिता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नरः। हे नः। (२८३) नृ च ६।४।६॥ 'नृ' इत्येतस्य नामि वा दीर्घः स्यात्। नॄणाम्–नृणाम्। इत्यृदन्ताः। 'कॄ' 'तॄ' अनयोरनुकरणे 'प्रकृतिवदनुकरणम्' (प ३७) इति वैकल्पिकातिदेशादित्त्वे रपरत्वे–कीः, किरौ, किरः। तीः, तिरौ, तिरः। इत्यादि गीर्वत्। इत्त्वाभावपक्षे तु 'ऋदुशनस्–' (सू २७६) इति 'ऋतो ङि–' (सू २७५) इति च

नत्वम्, नॄन्। टादावचि यणि रेफः–त्रा। त्रे। ङसिङसोः ऋत उत्, रपरः सलोपः विसर्गश्च। नुः। नुः। ओः। आमि नुट् 'नामि' इति नित्यं दीर्घे प्राप्ते।

(२८३) नृ च। नृइति लुप्तषष्ठीकम् 'नामि' इति सूत्रमनुवर्तते। 'ढ्रलोपे' इत्यतो दीर्घ इत्यनुवर्तते। 'छन्दस्युभयथा' इत्यतः उभयथेत्यनुवर्तते। तदाह–नृ इत्येतस्येत्यादिना। नॄणाम् नृणाम् इति। 'ऋवर्णान्नस्य' इति णत्वम्। ङौ 'ऋतो ङि' इति गुणः रपरत्वम्–नरि ओः नॄषु इत्यृदन्ताः। अथ ऋदन्ता निरूप्यन्ते। कॄ इत्यादिना। कॄ तॄ इत्यनयोरनुकरणे इत्त्वे रपरत्वे इत्यन्वयः। 'कॄ विक्षेपे' 'तॄ प्लवनतरणयोः' 'कॄ तॄ' इत्याभ्यां शब्दाभ्याम् अनुकरणे क्रियमाणे अनुकरणभूताभ्यां ताभ्यां धातुपाठपठितौ कॄ तॄ इत्येतौ विवक्षितौ। अत एवानुकरणस्य अनुकार्यमर्थः। अनुकार्यं च अनुकरणात् भिन्नमिति 'मतौ छः' इति सूत्रभाष्ये स्थितम्। आनुपूर्वीव्यत्ययेऽपि वाचकसादृश्यात् अर्थोपस्थापकत्वमिति अत्र कैयटे 'प्राग्दीव्यतोऽण्' इत्यत्र भाष्ये च स्पष्टमेतत्। ततश्च अनुकार्याभ्यां कॄ तॄ इत्याभ्याम् अनुकरणभूतयोः कॄ तॄ इत्येतयोरर्थवत्त्वेन प्रातिपदिकत्वात् सुबुत्पत्तिः। ननु अनुकरणभूतयोरनुकार्यशब्दस्वरूपवाचकत्वात् क्रियावाचकत्वाभावेन धातुत्वाभावात् 'ऋत इद्धातोः' इति कथमित्वम्? न च 'प्रकृतिवदनुकरणम्' इति वचनाद् अनुकरणभूतयोः धातुत्वमिति वाच्यम्, एवं सति अधातुरिति धातुपर्युदासात् प्रातिपदिकत्वानुपपत्तेरित्यत आह—प्रकृतिवदनुकरणमिति। वैकल्पिकातिदेशादिति। 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्' इत्यत्र त्यदाद्यत्वनिर्देशात् 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्' इत्येकशेषाकरणात् 'ओ यङि' 'क्षियो दीर्घात्' इत्यादौ धात्वनुकरणे विभक्तिनिर्देशाच्च प्रकृतिवदनुकरणमिति पाक्षिकम्। ततश्चात्रातिदेशभावमादाय धातुत्वात् 'ऋत इद्धातोः' इतीत्त्वम् अतिदेशाभावमादाय धातुत्वाभावात् प्रातिपदिकत्वात् सुबुत्पत्तिश्च न विरुध्यत इति भावः। कीरिति। कॄ धातुरित्यर्थः। ऋकारस्य इत्त्वे रपरत्वे 'र्वोरुपधायाः' इति दीर्घः। सोर्हल्ङ्यादिलोपः, विसर्गश्च। किराविति। अपदान्तत्वात् 'र्वोः' इति न दीर्घः। तीरिति। तॄ धातुरित्यर्थः। गीर्वदिति। गीःशब्दवद्रूपाणीत्यर्थः। किरम् किरौ किरः। किरा कोर्भ्याम् कीर्भिः। किरे। किरः। किरोः। कीर्षु। भ्यामादौ 'स्वादिष्व-

---

निर्देश—मनुष्य-वाचक 'नृ' शब्द के रूप 'पितृ' शब्द के समान होते हैं। केवल षष्ठी के बहुवचन में थोड़ा अन्तर है। वहाँ दो रूप बनेंगे। उसका निर्देश आगे किया जारहा है। (क) ना (सु), (ख) नरौ (औ), (ग) नरः (जस्) (घ) हे नः (सम्बोधन एक-वचन 'सु')। (ङ) नृ+आम्, <नृ+नुट्-आम् ('नुट्' आगम), नृ+नाम्—इस स्थिति में "नामि" (२०९) सूत्र से नित्य दीर्घ प्राप्त होता है (उसका विकल्प-विधान किया जारहा है)।

(२८३) पद—नृ, च। अनुवृत्ति—नामि, दीर्घः, उभयथा। विधि-(विकल्प)-सूत्र।

मूलार्थ—'नाम्' पर रहते 'नृ' को विकल्प से दीर्घ होता है। नॄणाम्। नृणाम्। ऋकारान्त शब्द समाप्त होते हैं। दीर्घ 'ऋकारान्त' धातुओं 'कॄ' 'तॄ' का अनुकरण करने पर (प०) प्रकृति के समान अनुकरण के वैकल्पिक माने जाने से 'इ' और 'रपर' विधान होते हैं। कीः। किरौ। किरः। तीः। तिरौ। तिरः। —इत्यादि 'गिर्' के समान होंगे। 'इ' (इर्) के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तपरकरणादनङ्गुणौ न। कृः, क्रौ, कः। कृम्, क्रौ, कृन्। क्रा। क्रे। इत्यादि। इत्यृदन्ताः। 'गम्लृ' 'शक्लृ' अनयोरनुकरणे अनङ्। गमा। शका। गुणविषये तु लपरत्वम्। गमलौ, गमलः। गमलम्, गमलौ, गमॄन्। गम्ला। गम्ले। ङसिङसोस्तु 'ऋत् उत्' (सू २७९)

सर्वनामस्थाने' इति पदत्वात् दीर्घः। इत्त्वाभावेति। प्रकृतिवदनुकरणमित्यस्यानित्यत्वात् अनुकरणस्य धातुत्वाभावात् 'ऋत इद्धातोः' इति इत्त्वाभावे सतीत्यर्थः। अनङ्गुणौ नेति। 'ऋत उत्' इत्युत्त्वमपि तपरकरणान्नेति द्रष्टव्यम्। अत एव 'ग्रो यङि' इत्यादिनिर्देशाः सङ्गच्छन्ते। कृरिति। कृधातुरित्यर्थः। क्रौ। क्रः इत्यादौ यण्। इत्यादीति। क्रः। क्रः क्रोः क्राम्। क्रि। इत्यृदन्ताः। अथ लृदन्ताः निरूप्यन्ते। गन्लृ शक्लृ इति। 'गम्लृ गतौ' 'शक्लृ शक्तौ' अजन्तौ धातू। अनङिति। ऋदुशनस् इत्यनेनेति शेषः। ऋलृवर्णयोः सावर्ण्यादिति भावः। गुणविषये त्विति। ङौ सर्वनामस्थाने च 'ऋतो ङि' इति गुणः अकारः लपर इत्यर्थः, 'उरण् रपरः' इत्यत्र रप्रत्याहारग्रहणादिति भावः। गमॄनिति। लृवर्णस्य दीर्घाभावात् ऋवर्ण एव। पूर्वसवर्णदीर्घे नत्वमिति भावः। ङसिङसोरित्विति। गम्लृ अस् इति स्थिते 'ऋत उत्' लपरः। गमुल् स् इति स्थिते 'संयोगान्तस्य लोपः' 'गमुल्' इति रूपम्। इत्यादीति। गम्लृभ्याम्। गम्लृभिः। गम्लृभ्यः। गम्लृभ्यः। आमि तु गमॄणाम्। गमलि गम्लोः गम्लृषु। वस्तुतस्तु 'उरण् रपरः' इत्यत्र अजितिवक्तव्ये अण्ग्रहणसामर्थ्यात् अण् पूर्वेणवेत्युक्तं भाष्ये। यदि लृकारस्य अण् लकारः स्यात् तर्हि लपरत्वार्थं परेणाण्ग्रहणस्यावश्यकत्वात् तदसङ्गतिः स्पष्टैव। तस्मादेवज्ञातीयकानां प्रयोगो न भाष्यसम्मत इत्याहुः। इति लृदन्ताः। अथ एदन्ता निरूप्यन्ते। इनेति। अः विष्णुः तस्यापत्यम् इः अत इञ्। 'यस्येति च' इत्यकारलोपः। इना सहेत्यर्थे 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः। 'वोपसर्जनस्य' इति सत्वम्। 'आद्गुणः' से इति रूपम्। ततः सुः, रुत्व-

---

न होने पर "ऋदुशनस्" तथा "ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः" सूत्र में 'त'पर होने से 'अनङ्' तथा 'गुण' नहीं होते। कृः। क्रौ। क्रः। कृम्। क्रौ। कृन्। क्रा। क्रे। इत्यादि। दीर्घ ऋकारान्त शब्दों का निर्वचन समाप्त।

लृकारान्त शब्द—'गम्लृ' 'शक्लृ' इनका अनुकरण करने पर अनङ्। गमा। शका। 'ल'पर (अल्) के रूप में गुण होगा। गमलौ। गमलः। गमलम्। गमलौ। गमॄन्। गम्ला। गम्ले। 'ङसि' और 'ङस्' में "ऋत उत्" (२७९) से 'उ'कार 'ल'पर होकर संयोगान्त वर्ण का लोप होने पर 'गुमुल्', 'शकुल्' आदि रूप बनेंगे। लृकारान्त शब्दों का प्रकरण समाप्त।

निर्देश—(एकारान्त शब्द) सेः, सयौ, सयः। स्मृतेः। स्मृतयः। एकारान्त शब्दों का निर्वचन समाप्त।

विवरण—सूत्र में केवल स्थानी का निर्देश है। आदेश (वैकल्पिक 'दीर्घ') एवं निमित्तवाचक पदों (नामि) का लाभ अनुवृत्ति द्वारा लाये गए पदों से होता है। तदनुसार "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" (६-३-१११) से 'दीर्घः', सम्पूर्ण सूत्र "नामि" (६-४-४) तथा "छन्दस्युभयथा" (६-४-५) सूत्र से 'उभयथा' की अनुवृत्ति लाई जाती है। फलतः 'नाम्' के परवर्ती होने पर 'नृ' शब्द के स्थान पर विकल्प से दीर्घ होगा। "अचश्च" (१-२-२८) परिभाषा की उपस्थिति से 'नृ' शब्दावयव 'ऋ' को दीर्घ होगा। अतः नृ+नाम्—इस स्थिति में दीर्घ। "ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्" वार्तिक से 'न्' = 'ण्' होने पर <नॄणाम् रूप बनता है। पक्ष में दीर्घ न होने पर—नृणाम्। ह्रस्व ऋकारान्त शब्दों का प्रकरण समाप्त होता है।

निर्देश—१-ऋकारान्त शब्द-रूपों पर विचार आरम्भ होता है। ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं है। अतः धातुपाठ में वर्णित कृ, तृ धातुओं का उच्चारणरूप अनुकरण कर रूप-सिद्धि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्युत्वे लपरत्वे 'संयोगान्तस्य लोपः' (सू ५४)। गमुल्। शकुल्। इत्यादि। इति लृदन्ताः। इना सह वर्तते इति–सेः, सयौ, सयः। स्मृतेः, स्मृतयौ, स्मृतयः। इत्येदन्ताः।

विसर्गौ—सेः। एवं स्मृतेः। स्मृतः इः कामो येनेति विग्रहे 'अनेकमन्यपदार्थे' इति बहुव्रीहिः। न च एकादेशस्य पूर्वान्तत्वात् से इत्यस्य अव्ययत्वात् 'अव्ययादाप्सुपः' इति लुक् शङ्क्यः, अव्ययमिति महासंज्ञया लिङ्गाद्यनन्वितार्थकस्यैव अव्ययत्वात्। अजादौ अयादेशं मत्वाह—सयौ सय इति। 'एङ्ह्रस्वात्' इति सम्बुद्धिलोपः–हे से। नन्वेवं सति हे हरे इत्यत्र सम्बुद्धिलोपो न स्यात्। सम्बुद्धिपरनिमित्तमाश्रित्य प्रवृत्तस्य गुणस्य सम्बुद्धिविघातकं सुलोपं प्रति सन्निपातपरिभाषया निमित्तत्वायोगात्। न चैवं सत्येङ्ग्रहणवैयर्थ्यं शङ्क्यम्, हे से इत्यत्र चरितार्थत्वादिति चेत्? शृणु—हे हरे इत्यत्र सम्बुद्धिरूपस्य स्वोपजीव्यगुणविघात्यत्वमेव नास्ति, सत्यपि तल्लोपे प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य संबुद्धिसत्त्वात्, तेन च गुणस्य निर्बाधत्वात्। केचित्तु 'गुणात् संबुद्धेः' इत्यनुक्त्वा 'एङ्ह्रस्वात्' इत्युक्तेः सन्निपातपरिभाषां बाधित्वापि सम्बुद्धिलोपः प्रवर्तत इत्याहुः। न च जसि सयः इति कथम् अन्तर्वर्तिविभक्त्या से इत्यस्य पदत्वेनायादेशं बाधित्वा 'एङः पदान्तात्'

की जारही है। अनुकरण के विषय में दो पक्ष हैं—(१) अनुकरण और अनुकार्य (प्रकृति) में समानता तथा (२) असमानता। (परि०) दोनों पक्षों में से प्रथम पक्ष ग्रहण करने पर 'कृ' तथा 'तृ' शब्दों में धातुवृत्ति धर्म (मौलिक धर्म) का अतिदेश कर तत्सम्बन्धी 'इ'कार विधान विभक्तियों में सहायक होता है। (क) कृ+स् (सु), <क्–इर्+स् ("ऋत इद्धातोः" ७-१-१००–'इत्'=इर्), <कीर्+स् (इ=ई–दीर्घ–"वोरुपधायाः दीर्घ इकः" ८-२-७६), <कीर् ('सु'–लोप), <कीः ('र्' = :)। (ख) कृ+औ, <किरौ। (ग) कृ+अस् <किर्+अस्, <किरस्, <किरर्, <किरः। इसी तरह (क) तृ+सु = तीः। (ख) तृ+औ = तिरौ। (ग) तृ+अस् (जस्) = तिरः। शेष रूप 'गिर्' के समान। (२) अनुकार्य और अनुकरण में साम्य न होना–इस मत में 'कृ' तथा 'तृ' शब्दों को 'इ'कार का विधान नहीं होगा। अतः इनके रूप इस प्रकार होते हैं—(क) कृ+स् (सु), <कृ+र्, <कृः। (ख) कृ+औ, <क्रौ (ऋ=र्–यण्), (ग) कृ+अस्, <क्रस् (यण्), <क्रर्, <क्रः। (घ) कृ+अम्, <कृम् ("अमि पूर्वः" (१९४) पूर्वरूप)। (ङ) कृ+औ, <क्रौ। (च) कृ+अस् (शस्), <कृस् (पूर्वसवर्ण दीर्घ), <कॄन् (स्=न्)। (छ) कृ+आ (टा), <क्रा (यण्), (ज) कृ+ए (ङे), <क्रे (यण्)। इसके अनन्तर—'क्रः, क्रोः, क्रान्' तथा 'क्रि, क्रोः, कृषु'—ये रूप षष्ठी तथा सप्तमी विभक्तियों में होंगे। दीर्घ ऋकारान्त-प्रकरण समाप्त।

२—इसी प्रकार लृकारान्त शब्दों के सम्बन्ध में भी 'गम्लृ' तथा 'शक्लृ' धातुओं का अनुकरण कर रूप-सिद्धि बतलाई जारही है। (क) गम्लृ+स् (सु), <गम्–अन्+स् (लृ = ऋ = अनङ्), <गमान्+स् (उपधा-दीर्घ), <गमान् (विभक्ति-लोप), <गमा ('न्' लोप)। (ख) गम्लृ+औ, <गमलौ (लृ = अल्—गुण—"ऋतो ङि०" २७५)। (ग) गम्लृ+अस् (जस्), <गमलः (गुण, रु, विसर्ग)। (घ) गम्लृ+अम्, <गमलम्। (ङ) गमलौ (औ), (च) गम्लृ+अस् (शस्), <गमॄस् (लृ+अ = ऋ—पूर्वसवर्ण-दीर्घ), <गमॄन् (स्=न्)। (छ) गम्ला (आ–'टा')। (ज) गम्लृ (ङे)। (ज) गम्लृ+अस् ('ङसि' तथा 'ङस्'), <गमुल्-स् (लृ = उ = उल्—"ऋत उत्" २७९), <गमुल् ('स्' – संयोगान्त-लोप)। इसी के समान 'शक्लृ' शब्द के रूप 'शका' (सु) तथा 'शकुल्' (ङसि) आदि बनेंगे। लृकारान्त-शब्दों का निर्वचन समाप्त।

३—एकारान्त शब्दों–'से' तथा 'स्मृते'–का रूप-सिद्धि-प्रकार—१–(क) से+स् (सु), <सेर्, <सेः। (ख) से+औ <सयौ (ए=अय्)। (ग) से+अस् (जस्), <सयस् (ए = अय्),

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२८४) **गोतो णित् ७ । १ । ९० ॥** गोशब्दात्परं सर्वनामस्थानं णिद्वत्स्यात् । गौः, गावौ, गावः । (२८५) **औतोऽम्शसोः ६ । १ । ९३ ॥** 'आ ओतः' इति छेदः । ओकारादम्शसोरचि परे अकार एकादेशः स्यात् । शसा साहचर्यात्सुवेव अम् गृह्यते । नेह–

इति पूर्वरूपापत्तेरिति वाच्यम् 'उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ' इति प्रतिषेधात् । उत्तरपदस्य तद्घटितस्य वा पदत्वे कर्तव्ये अन्तर्वर्तिविभक्तेः प्रत्ययलक्षणं नास्तीति हि तदर्थः । सेनासेवकादिशब्दगतस्य से इत्यस्य अनुकरणं वा अस्तु । तत्र जसि अयादेशस्य निर्बाधत्वात् । इत्येदन्ताः । अथ ओदन्ता निरूप्यन्ते । गोस् इति स्थिते ।

(२८४) गोतो णित् । गोत इति तपरकरणम् । 'इतोऽत् सर्वनामस्थाने' इत्यतः सर्वनामस्थाने इत्यनुवृत्तं प्रथमया विपरिणम्यते । तदाह—गोशब्दादित्यादिना । णिद्वत्स्यादिति । णिति परे यत् कार्यं तत्कार्यकारीत्यर्थः । गौरिति । णिद्वत्त्वे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धिः औकारः । रुत्वविसर्गाविति भावः । गावौ गाव इति । णिद्वत्त्वे वृद्धिः आवादेशश्चेति भावः । हे गौः । वृद्धौ एङः परत्वाभावात् न सम्बुद्धिलोपः । अमि गो अम् इति स्थिते णिद्वत्त्वात् वृद्धौ प्राप्तायाम् ।

(२८५) औतोऽम्शसोः । छेद इति । आ ओत इति च्छेदः, व्याख्यानादिति भावः । ओत इति तपरकरणम् । ओकारादित्यर्थः । अम् च शस् च अम्शसौ, तयोरिति विग्रहः । अवयवषष्ठ्यन्तमेतत् । 'इको यणचि' इत्यतः अचीत्यनुवर्तते । 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकृतम् । तदाह—ओकारादित्यादिना । शस् इह सुवेव गृह्यते न तु बहुल्पार्थादिति तद्धितः शस्, अचीत्यनुवृत्तेः तद्धितस्य च शसः अजादित्वासम्भवात् 'लशक्वतद्धिते' इत्यत्र तद्धितपर्युदासात् । ननु 'चिञ् चयने' लुङ्, अडागमः, उत्तमपुरुषो मिप् । 'तस्थस्थमिपाम्' इति तस्य अमादेशः । श्नुर्विकरणः 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणः

<सयर्, <सयः । २—(क) प्रथमा में—स्मृतेः (सु) । (ख) स्मृतयौ (औ), (ग) स्मृतयः (जस्) । शेष रूप-द्वितीया में—स्मृतयम्, स्मृतयौ, स्मृतयः । तृतीया में—स्मृतया, स्मृतेभ्याम् स्मृतेभिः । चतुर्थी में—स्मृतये, स्मृतेभ्याम्, स्मृतेभ्यः । पञ्चमी में—स्मृतयः, स्मृतेभ्याम्, स्मृतेभ्यः । षष्ठी में—स्मृतयः, स्मृतयोः, स्मृतयाम् । सप्तमी में—स्मृतयि, स्मृतयोः, स्मृतेषु । सम्बोधन में—हे स्मृते, हे स्मृतयौ, हे स्मृतयः । एकारान्त-शब्दों का प्रकरण समाप्त ।

४—ओकारान्त शब्दों में सर्वप्रथम 'गो' शब्द की रूपसिद्धि का प्रकार—(क) गो+स् (सु)—इस स्थिति में णिद्वद्भाव का विधान किया जारहा है ।

(२८४) **पद**—गोतः, णित् । **अनुवृत्ति**—सर्वनामस्थाने । **अतिदेशसूत्र ।**

मूलार्थ—'गो' शब्द से परवर्ती सर्वनामस्थान को णिद्वद्भाव होता है । गौः । गावौ । गावः ।

विवरण—यह अतिदेश-सूत्र है । सूत्रार्थ को सम्पन्न करने के लिये "इतोऽत्-सर्वनामस्थाने" (७-१-८६) सूत्र से 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति की जाती है । सप्तम्यन्त 'सर्वनामस्थाने' पद को प्रथमा-विभक्ति में परिवर्तित किया जाता है । अतः सूत्रार्थ है—"'गो' शब्द से परवर्ती सर्वनामस्थान-प्रत्यय (सु, औ, जस्, अम्, औट्) 'ण्–' इत्संज्ञक के समान हों" । **उदाहरण**—(क) गो+स्—में 'स्' के परवर्ती होने पर उसे 'ण्–' इत् के समान माना गया । फलतः "अचो ञ्णिति" (२५४) ओ = औ–वृद्धि <गौ+स्, <गौर्, <गौः । (ख) गो+औ, <गौ+औ (णिद्वद्भाव एवं वृद्धि), <गावौ (औ = आव्) । (ग) गावः (जस्) ।

(२८५) **पद**—आ, ओतः, अम्शसोः । **अनुवृत्ति**—अचि, एकः पूर्वपरयोः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'अम्' तथा 'शस्'–सम्बन्धी 'अच्' के परवर्ती होने पर ओकारान्त शब्द के अन्त्य 'अल्' को आकार आदेश होता है । 'शस्' के साहचर्य से 'सुप्'–विभक्तियों का 'अम्' ग्राह्य है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अचिनवम् । असुनवम् । गाम्, गावौ, गाः । गवा । गवे । गोः । इत्यादि । ओतो णिदिति वाच्यम् । विहितविशेषणं च । तेन–सुद्यौः, सुद्यावौ, सुद्यावः । सुद्यामित्यादि । 'ओकारान्ता-

---

ओकारः । अचिनो अम् इति स्थिते अवादेशे अचिनवमिति रूपम् । तत्र अचिनो अम् इति स्थिते अवादेशं बाधित्वा 'औतोऽम्शसोः' इत्यात्वे 'अचिनाम्' इति स्यादित्यत आह—शसेति । गामिति । परापि 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धिरिह न भवति आत्वस्य निरवकाशतया तदपवादत्वादिति भाष्यम् । न हि वृद्धिविषयादन्यत्र आत्वस्य प्रवृत्तिरस्तीति तदाशयः । न च द्योशब्दादमि आत्वं सावकाशं 'गोतो णित्' इति णित्त्वस्य तत्राभावे वृद्धेरप्रसक्तेरिति वाच्यम्, अस्मादेव भाष्यात् 'ओतो णित्' इति णित्त्वस्य वक्ष्यमाणत्वेन तस्यापि वृद्धिविषयत्वादिति भावः । गा इति । असर्वनामस्थानत्वान्न णिद्वत्त्वम् । नापि वृद्धिः । 'औतोऽम्शसोः' इत्यात्वमिति भावः । टादावचि अवादेशं मत्वाह—गवा गवे इति । गोरिति । 'ङसिङसोश्च' इति पूर्वरूपमिति भावः । इत्यादीति । गवोः गवाम् । गवि इति आदिशब्दार्थः । द्योशब्दः ओकारान्तः स्त्रीलिङ्गः । 'सुरलोको द्योदिवौ द्वे स्त्रियाम्' इत्यमरः । सु शोभना द्यौः यस्येति बहुव्रीहौ पुँल्लिङ्गः । सुद्यो स् इत्यादिसर्वनामस्थाने गोतो णित् इत्यप्राप्ते ओतो णिदिति वाच्यम् । गोत इति गकारमपनीय 'ओतो णित्' इति वाच्यमित्यर्थः । तत्र प्रमाणमनुपदमेवोक्तम् । न त्विदं वार्तिकम् । तत्र ओत इति तपरकरणम् । ओकारात् सर्वनामस्थानं णिदिति लभ्यते । विहितेति । ओकाराद्विहितं सर्वनामस्थानमित्येवमोत इत्ये-

---

अतः यहाँ नहीं हुआ—अचिनवम् । गाम् । गावौ । गाः । गवे । गोः । इत्यादि । 'ओतः णित्' कहना चाहिये तथा विहित-विशेषण भी है । अतः ये भी सिद्ध होते हैं । सुद्यौः । सुद्यावौ । सुद्यावः । ओकारान्त से विहित सर्वनाम स्थान को णिद्वद्भाव होता है—इस अर्थ से 'हे भानो' 'हे भानवः' में णिद्वद्भाव नहीं होता । (उः) शम्भु का (स्मृतः) स्मरण करने वाला—इस अर्थ में—स्मृतौः । स्मृतावौ । स्मृतावः । स्मृताम् । स्मृतावौ । स्मृताः । इत्यादि । ओकारान्त शब्दों का निर्वचन समाप्त ।

विवरण—"एकः पूर्वपरयोः" (६-१-८४) का अधिकार है । "इको यणचि" (६-१-७७) से 'अचि' की अनुवृत्ति आरही है । स्थानी है—'ओकार' तथा आदेश है 'आ' । तदनुसार ओकारान्त (ओतः) शब्द से 'अम्' तथा 'शस्'-सम्बन्धी स्वरवर्ण के परवर्ती होने पर आकार-एकादेश होता है (ओ+अ = आ) । उदाहरण—(क) गो+अम्, <गाम् (ओ+अ=आ) । (ख) गावौ (औ) । (ग) गो+अस् (शस्), +गाम् (ओ+अ = आ (सू० २८५), <गार , <गाः । (घ) गो+आ (टा), <गवा (ओ = अव्) । (ङ) गवे (ङे) । (च) गो+अस् (ङसि तथा 'ङस्'), <गोस् (ओ+अ=ओ—पूर्वरूप "ङसिङसोश्च" २४६), <गोर् (स् = र्) <गोः (र् = :) । इत्यादि ।

विशेष—१–"गोतो णित्" (२८४) सूत्र में 'गोतः' के स्थान पर 'ओतः' शब्द उच्चरित किया जाय । तदनुसार सूत्रार्थ में परिवर्तन होगा—"ओकारान्त शब्द से पर 'सर्वनामस्थान' णिद्वत् होते हैं" । इसके साथ ही अर्थ में कुछ विस्तार कर दिया जाय । जिसके अनुसार यह अर्थ किया जाय कि ओकारान्त से विहित सर्वनाम-स्थान प्रत्यय 'णिद्वत्' होते हैं[1] । फलतः 'सुद्यो' (= सुन्दर स्वर्ग) शब्द में भी णिद्वद्भाव होने से उसके रूप 'गो' शब्द के समान बनेंगे । (क) सुद्यो+स् (सु), <सुद्यौः (विभक्ति 'णित्' के समान होने से ओ = औ वृद्धि, स् = र् = :) । (ख) सुद्यौ+औ, <सुद्यावौ (णिद्वद्भाव, वृद्धि, औ = आव्) । (ग) सुद्यौ+अस् (जस्), <सुद्यावः (औ = आव्, स् = र् = :) ।

---

१. "गोतो णित्" इत्यत्र गोत इति तपरकरणम् ओकारान्तोपलक्षणार्थम् । वर्णनिर्देशेषु हि तपरकरणस्य प्रसिद्धिः । एवं च सुद्योशब्दादपि परं सर्वनामस्थानं णिद्वद् भवति । रूपावतारः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्विहितं सर्वनामस्थानम्' इति व्याख्यानान्नेह—हे भानो। हे भानवः। उः—शम्भुः स्मृतो येन सः—स्मृतौः, स्मृतावौ, स्मृतावः। स्मृताम्, स्मृतावौ, स्मृताः। इत्यादि। इत्योदन्ताः।

तद्विहितविशेषणमाश्रयणीयमित्यर्थः। तेनेति। 'गोतः' इति गकारमपनीय 'ओत' इति वचनेनेत्यर्थः। सुधामित्यादीति। गोशब्दवद्रूपाणीति भावः। हे भानो इति। ओकारात् परं सर्वनामस्थानं णिदिति व्याख्याने तु भानुशब्दात् सम्बुद्धौ 'ह्रस्वस्य गुणः' इति गुणे ओकारे सति सोः ओकारात् परत्वात् णिद्भत्वे वृद्धौ औकारे एङः परत्वाभावात् सुलोपाभावे रुत्वविसर्गयोः 'हे भानौः' इति स्यात्। अतो विहितविशेषणमित्यर्थः। ननु 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' इत्यत्र एङ्ग्रहणसामर्थ्यादेव 'हे भानो' इत्यत्र णित्त्वं तत्प्रयुक्तवृद्धिश्च न भवति। अन्यथा 'एद्ध्रस्वात्' इत्येव ब्रूयात्। अतो विहितविशेषणमनर्थकमित्यस्वारस्यादाह—हे भानव इति। तत्र 'जसि च' इति गुणे भानो अस् इति स्थिते ओतः परत्वाण्णिद्भत्वे वृद्धौ आवादेशे भानावः इति स्यात्। अतो विहितविशेषणमिति भावः। वस्तुतस्तु लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया हे भानो हे भानवः इत्यत्र णिद्भत्वाभावोपपत्तेः विहितविशेषणत्वाश्रयणं व्यर्थमेव। उः शम्भुरिति। उः इत्यस्य विवरणं शम्भुरिति। उः स्मृतो येनेति विग्रहे बहुव्रीहिः। 'निष्ठा' इति स्मृतशब्दस्य पूर्वनिपातः। आद्गुणः। स्मृतो इति रूपम्। ततः सुबुत्पत्तौ गोशब्दवद्रूपाणि। वस्तुतस्तु 'गोतो णित्' इति सूत्रशेषतया 'चोश्च वृद्धिर्वक्तव्या' इत्येव वार्तिकं भाष्ये दृश्यते। 'औतोऽम्शसोः' इत्यत्र ओतो णिदिति तु न दृश्यते। अतोऽन्यदोकारान्तं प्रातिपदिकं नास्तीत्याहुः। इत्योदन्ताः। अथैदन्ता निरूप्यन्ते। रैशब्दो धनवाची। 'अर्थरैविभवा अपि' इत्यमरः। तस्य हलादिविभक्तिषु विशेषं दर्शयति।

ओकारान्त-पुँल्लिङ्ग 'गो' शब्द के रूप (= बैल)

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०	विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	गौः	गावौ	गावः	प०	गोः	गोभ्याम्	गोभ्यः
द्वि०	गाम्	गावौ	गाः	प०	गोः	गवोः	गवाम्
तृ०	गवा	गोभ्याम्	गोभिः	स०	गवि	गवोः	गोषु
च०	गवे	गोभ्याम्	गोभ्यः	सं०	हे गौः	हे गावौ	हे गावः

२—'ओतः' पञ्चमी विभक्ति में है। इस कारण 'ओकारान्त से विहित' अर्थ माना गया है। अतः 'हे भानो' (सम्बोधन-एकवचन) में सम्बुद्धि ('सु' विभक्ति) के ओकारान्त से पर होने पर भी उसे णिद्भाव नहीं हुआ, क्योंकि वहाँ विभक्ति (सु) मूलतः 'भानु' शब्द ('उ') से विहित है। इसी प्रकार 'हे भानवः' में भी 'जस्' विभक्ति 'भानु' शब्द से विहित होने के कारण 'हे भानो+अस्' इस स्थिति में णिद्भाव नहीं हुआ। यथाप्राप्त 'अव्' आदेश होता है।

३—कुछ विद्वानों के मत में 'लक्षण-प्रतिपदोक्त' परिभाषा के आश्रय से प्रतिपदोक्त शब्दों का ग्रहण होने के कारण लक्षणवश-सम्पन्न ओकारान्त उदाहरणों में णिद्भाव स्वतः प्रवृत्त नहीं होगा। अतः 'विहित'—विशेषण आवश्यक नहीं है।

निर्देश—१—'स्मृतो' शब्द के रूप भी 'गो' शब्द के समान होंगे। शब्द-रचना-प्रक्रिया—'उः = शम्भुः स्मृतः येन' (= शम्भु का स्मरणकर्ता) अर्थ में "अनेकमन्यपदार्थे" (२-२-२४) से बहुव्रीहि-समास (उ+सु, स्मृत+सु = स्मृत उ)। क्त-प्रत्ययान्त 'स्मृत' शब्द की पूर्व में स्थिति—"निष्ठा" (२-२-३६)। (क) स्मृत+उ = स्मृतो। स्मृतो+स् (सु) <स्मृतौः—णिद्भाव, वृद्धि, रु, विसर्ग। (ख) स्मृतो+औ = स्मृतावौ (णिद्भाव, वृद्धि, 'आव्' आदेश)। (ग) स्मृतावः (जस्)। (घ) स्मृताम् ('अम्'—ओ+अ = आ)। (ङ) स्मृतावौ (औ)। (च) स्मृताः (शस्—आ+अ = आ, रु, विसर्ग)। ओकारान्त—प्रकरण समाप्त।

२—ऐकारान्त "रै" शब्द की रूपसिद्धि का निर्वचन किया जा रहा है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२८६) रायो हलि ७ । २ । ८५ ॥ रैशब्दस्य आकारोऽन्तादेशः स्याद्धलि विभक्तौ । राः । अच्यायादेशः—रायौ, रायः । रायम्, रायौ, रायः । राया, राभ्यामित्यादि । इत्यैदन्ताः । ग्लौः, ग्लावौ, ग्लावः । ग्लावम्, ग्लावौ, ग्लावः । इत्यादि । 'औतोऽम्शसोः' (सू २८५) इतीह न प्रवर्तते, 'ऐ औच्' (म० सू ४) इति सूत्रेण ओदौतोः सावर्ण्याभावज्ञापनात् । इत्यौदन्ताः ।

इत्यजन्तपुंल्लिङ्गप्रकरणम् ।

---

(२८६) रायो हलि । राय इति रैशब्दस्य षष्ठ्यन्तम् । 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यतः आ इति विभक्ताविति चानुवर्तते । हलीत्यनेन विभक्ताविति विशेष्यते । तदादिविधिः । तदाह—रैशब्देत्यादिना । हल्ग्रहणादचि आत्वं न, किं तु आयादेश एवेत्यत आह—अचीति । राः—आत्वे रुत्वविसर्गौ । 'अचि आयादेशमुदाहरति—रायौ राय इति । इत्यादीति । राभिः । राये राभ्याम् राभ्यः । रायः राभ्याम् राभ्यः । रायः रायोः रायाम् । रायि रायोः रासु । रैशब्दः छान्दस इति भाष्यम् । क्वयङन्त एव छान्दस इति पक्षान्तरम् । इत्यैदन्ताः । अथ औदन्ता निरूप्यन्ते । ग्लौशब्दश्चन्द्रवाची । 'ग्लौर्शुगाङ्कः कलानिधिः' इत्यमरः । तस्य हलादौ न कश्चिद्विकारः । अचि तु आवादेश इति मत्वाह—'ग्लौः ग्लावौ ग्लाव इति । ग्लावम् ग्लावौ ग्लावः । ग्लावा ग्लौभ्याम् ग्लौभिः । ग्लावे ग्लौभ्याम् ग्लौभ्यः ।

---

(२८६) पद—रायः, हलि । अनुवृत्ति—आ, विभक्तौ । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—हलादि विभक्ति पर रहते 'रै' शब्द को आकार अन्तादेश होता है । 'अच्'-विभक्तियों में 'आय्' आदेश होगा । राः । रायौ । रायः । राया । राभ्याम् । इत्यादि । ऐकारान्त-शब्द समाप्त ।

विवरण—स्थानी है (रायः) 'रै'शब्द तथा आदेश है 'आ' । निमित्तवाची-पद 'विभक्तौ' तथा स्थानिवाचक-पद 'आ' ये दोनों ही "अष्टन आ विभक्तौ" (७-२-८४) से अनुवृत्ति द्वारा लाये जाते हैं । तब सूत्र से यह बोध होता है कि हलादि विभक्तियों के परवर्ती होनेपर 'रै' शब्द के स्थान पर 'आ'कार आदेश होगा । "अलोन्त्यस्य" परिभाषा की उपस्थिति से 'ऐ' के स्थान पर 'आ' होगा । हलादि-विभक्तियाँ आठ हैं—सु, भ्याम्, भिस्, भ्याम्, भ्यस्, भ्याम्, भ्यस् और सुप् । इन विभक्तियों में यह आदेश होगा । अवशिष्ट अजादि विभक्तियों में ऐ = आय् होगा । उदाहरण—(क) रै+स् (सु), <रा+स्, रा+र्, <राः । (ख) रै+औ=रायौ (ऐ=आय्) । (ग) रै+अस् (जस्) = रायः । (घ) रै+अम् = रायम् । (ङ) रै+औ = रायौ । (च) रै+अस् (जस्) = रायः । (छ) रै+आ (टा) = राया । (ज) रै+भ्याम्, <रा+भ्याम् (ऐ=आ), <राभ्याम् । इत्यादि । ऐकारान्त शब्दों का प्रकरण समाप्त ।

ऐकारान्त पुंल्लिङ्ग 'रै' शब्द के रूप (= धन)

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	राः	रायौ	रायः
द्वि०	रायम्	रायौ	रायः
तृ०	राया	राभ्याम्	राभिः
च०	राये	राभ्याम्	राभ्यः
पं०	रायः	राभ्याम्	राभ्यः
ष०	रायः	रायोः	रायाम्
स०	रायि	रायोः	रासु
सं०	हे राः	हे रायौ	हे रायः

निर्देश—औकारान्त 'ग्लौ' शब्द की रूपसिद्धि का प्रकार—(क) ग्लौ+स् (सु), <ग्लौ+र्, <ग्लौः । (ख) ग्लौ+औ = ग्लावौ (औ = आव्) । (ग) ग्लौ+अस् (जस्)= <ग्लौ+र्, <ग्लौः । (ख) ग्लौ+औ = ग्लावौ (औ = आव्) । (ग) ग्लौ+अस् (जस्)= ग्लावः । (घ) ग्लौ+अम् = ग्लाम् । (ङ) ग्लावौ (औ) । (च) ग्लावः (शस्) । इत्यादि ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथाजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्

रमा । (२८७) औङ आपः ७ । १ । १८ ॥ आवन्तादङ्गात्परस्यौङः शी स्यात् ।

ग्लावः ग्लौभ्याम् ग्लौभ्यः । ग्लावः ग्लावोः ग्लावाम् । ग्लावि ग्लावोः ग्लौषु । ननु 'औतोऽम्शसोः' इत्यत्र ओद्ग्रहणेन सावर्ण्यादौकारस्यापि ग्रहणात् अम्शसोर्ग्लौशब्दस्य आत्वं कुतो न स्यादित्यत आह—औतोऽम्शसोरितीह न प्रवर्तत इति । ऐऔजित्यादिग्रन्थस्तु संज्ञाप्रकरणे व्याख्यातः । एवं जनानवतीति जनौः । क्विप् । उवरत्वरेत्यूठ् । एत्येधतीति वृद्धिः । जनावौ जनावः इत्यादि । इत्यौदन्ताः ॥

इति श्रीवासुदेवदीक्षितविदुषा विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां
बालमनोरमायां अजन्तपुँल्लिङ्गनिरूपणं समाप्तम् ॥

अथ अजन्तस्त्रीलिङ्गा निरूप्यन्ते । रमेति । रमत इति रमा । 'रमु क्रीडायाम्' इति पचाद्यचि 'अजाद्यतष्टाप्' । प्रत्ययान्तत्वादप्रातिपदिकत्वेऽपि 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इति ङ्यापोः पृथग्ग्रहणात्, लिङ्गविशिष्टपरिभाषया वा स्वादयः । 'हल्ङ्याप्' इति सुलोपः । अथ रमा औ इति स्थिते ।

(२८७) औङ आपः । आप इति पञ्चमी । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया आबन्तं विवक्षितम् अङ्गस्येत्यधिकृतं पञ्चम्या विपरिणम्यते । औङ इति षष्ठी । 'जसः शी' इत्यतः शीत्यनुवर्तते तदाह—आवन्तादित्यादिना । औङ्शब्दस्याप्रसिद्धार्थत्वादाह—औङितीति । संज्ञेति ।

औकारान्त पुंलिङ्ग 'ग्लौ' (= चन्द्रमा) शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०	वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	ग्लौः	ग्लावौ	ग्लावः	पं०	ग्लावः	ग्लौभ्याम्	ग्लौभ्यः
द्वि०	ग्लावम्	ग्लावौ	ग्लावः	ष०	ग्लावः	ग्लावोः	ग्लावाम्
तृ०	ग्लावा	ग्लौभ्याम्	ग्लौभिः	स०	ग्लावि	ग्लावोः	ग्लौषु
च०	ग्लावे	ग्लौभ्याम्	ग्लौभ्यः	सं०	हे ग्लौः	हे ग्लावौ	हे ग्लावः

विशेष—'ओ' तथा 'औ' परस्पर सवर्ण-संज्ञक नहीं हैं । इस कारण "औतोऽम्शसोः" (२८५) सूत्र से ओकार के स्थान पर होने वाला 'आ'कार आदेश 'औकारान्त' शब्दों में प्रवृत्त नहीं होता । इस सम्बन्ध में पहले निरूपण किया जा चुका है कि पाणिनि को 'ओ' तथा 'औ' की सवर्ण-संज्ञा अभीष्ट नहीं है । अन्यथा वे 'ऐऔच्' सूत्र का पृथक् उपदेश न करते । औकारान्त शब्दों का प्रकरण समाप्त ।

अजन्त-पुंलिङ्ग प्रकरण समाप्त ।

अजन्त-स्त्रीलिङ्ग प्रकरण

उपक्रम—अजन्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों में भी अन्त्य वर्णों का क्रम माहेश्वर-सूत्रों के अनुसार रखा गया है । अजन्त-पुंलिङ्ग में भी शब्दों की रूपसिद्धि इसी क्रम से रही है । सर्वप्रथम आकारान्त स्त्री-लिङ्ग 'रमा' शब्द को अभिलक्षित कर विभक्ति-कार्यों का निर्वचन किया जारहा है ।

निर्देश—(क) रमा+सु (सु) = रमा (स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्'-प्रत्ययान्त होने से 'सु' विभक्ति का लोप ("हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०"–२५२) ।

(२८७) पद—औङः, आपः । अनुवृत्ति—अङ्गस्य, शी । विधिसूत्र ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औङ् इत्यौकारविभक्तेः सञ्ज्ञा। रमे। रमाः। (२८८) सम्बुद्धौ च ७। ३। १०६॥ आप एकारः स्यात्सम्बुद्धौ। 'एङ्ह्रस्वात्—' (१९३) इति सम्बुद्धिलोपः। हे रमे, हे

प्राचां शास्त्रे स्थितेति शेषः। रमे इति। रमा औ इति स्थिते शीभावे तस्य स्थानिवत्त्वेन प्रत्ययत्वात् 'लशक्वतद्धिते' इति शस्येत्संज्ञायां लोपे 'आद्गुणः' इति एकारः। 'यस्येति च' इति लोपस्तु न, अभत्वात्। जसि सवर्णदीर्घं मत्वाह—रमा इति। पूर्वसवर्णदीर्घस्तु न भवति, 'दीर्घाज्जसि च' इति निषेधात्। हे रमा स् इति स्थिते।

(२८८) सम्बुद्धौ। 'बहुवचने झल्येत्' इत्यतः एदिति 'आङि चापः' इत्यतः आप इति चानुवर्तते। तदाह—आप इत्यादिना। आबन्तस्येत्यर्थः। 'अलोऽन्त्यस्य'। हे रमे स् इति स्थिते प्रक्रियां दर्शयति—एङ्ह्रस्वादिति। हल्ङ्यादिलोपस्तु न, परत्वात् प्रतिपदोक्तत्वाच्च एत्वे कृते हल्ङ्यादिलोपस्याप्राप्तेः 'एङ्ह्रस्वात्' इति लोपस्यैव परत्वेन न्याय्यत्वाच्चेति भावः। रमामिति। 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपम्। औङः शीभावे आद्गुणं मत्वाह—रमे इति। स्त्रीत्वादिति। शसि रमा अस् इति स्थिते पूर्वसवर्णदीर्घे सति कृतपूर्वसवर्ण-

---

मूलार्थ—आबन्त अङ्ग से 'औङ्' विभक्ति पर रहते 'शी' आदेश होता है। औकारान्त विभक्तियों को 'औङ्' कहा जाता है। रमे। रमाः।

विवरण—"अङ्गस्य" का अधिकार है। विशेषण-वाची पञ्चम्यन्त पद 'आपः' को अभिलक्षित कर 'अङ्गस्य' पद भी पञ्चमी विभक्ति में परिवर्तित हो जाता है। 'आपः' पद में तदन्त-विधि होती है। आदेश-वाची 'शी' पद का ज्ञान अनुवृत्ति द्वारा हुआ है—"जसः शी" (२१४)। तदनुसार आबन्त अङ्ग से 'औङ्' विभक्ति के परवर्ती होने पर उसके स्थान पर 'शी' आदेश होता है। 'शी' में 'श्' की इत्संज्ञा है। अतः सम्पूर्ण 'औ' के स्थान में 'शी' आदेश होगा। **उदाहरण**—(क) रमा+औ, <रमा+ई (औ=शी), <रमे (आ+ई=ए—'गुण')। (ख) रमा+अस् (जस्), <रमास् (आ+अ=आ-दीर्घ), <रमा र् (स्=र्), <रमाः ('र्'=:)।

विशेष—विभक्ति-विधायक "स्वौजस्०" इत्यादि सूत्र में 'औङ्' प्रत्यय का निर्देश न होने से यह शङ्का होती है कि किसके स्थान में 'शी' आदेश हो? इसका उत्तर यह है कि प्राचीन आचार्यों के अनुसार औकाररूप विभक्तियों की 'औङ्' संज्ञा है[1]। तदनुसार प्रथमा तथा द्वितीया विभक्तियों के द्वि-वचन में इस सूत्र की प्रवृत्ति होगी।

(२८८) **पद**—सम्बुद्धौ, च। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, आपः, एत्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सम्बुद्धि पर रहते आबन्त अङ्ग को 'ए'कार होता है। "एङ्ह्रस्वात्" (१९३) सूत्र से सम्बुद्धि का लोप। हे रमे। हे रमाः। रमाम्। रमे। रमाः। स्त्री-लिङ्ग शब्दों में 'स्' को 'न्' नहीं होता।

विवरण—**'स्थानी' तथा 'आदेश'**—दोनों को अभिलक्षित कर इस सूत्र में क्रमशः "आङि चापः" (७-३-१०५) सूत्र से 'आपः' तथा "बहुवचने झल्येत्" (७-३-१०३) सूत्र से 'एत्' की अनुवृत्ति की जारही है। "अङ्गस्य" का अधिकार है। 'आपः' पद उसका विशेषण है, अतः तदन्त-विधि होती है। तदनुसार सम्बुद्धि (सम्बोधन में एकवचन) के परवर्ती होने पर आबन्त (टाप्, डाप्, चाप्-प्रत्ययान्त) अङ्ग के स्थान में 'ए' आदेश होगा। "अलोन्त्यस्य" परिभाषा की उपस्थिति से 'आ' को अभिलक्षित कर आदेश होगा। **उदाहरण**—(क) हे रमा+स् (सु), <हे रमे+स्, <हे रमे ('स्'-लोप—"एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः" (१९३)। (ख) हे रमा+औ, <हे रमा+ई (आ=ए), <हे रमे ('स्'-लोप—"एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः" (१९३)। (ख) हे रमा+औ, <हे रमा+ई (आ=ई—"औङ आपः"—२८७), हे रमे (आ+ई=ए—गुण)। (ग) हे रमाः (जस्)। (घ) रमा+अम्, <रमाम् (आ+अ=आ पूर्वरूप—"अमि पूर्वः"—१९४)।

---

१. 'औङ्' इति प्रथमा-द्वितीययोर्द्विवचनस्य पूर्वाचार्याणां संज्ञा। रूपावतारः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रमे, हे रमाः। रमाम्, रमे, रमाः। स्त्रीत्वान्नत्वाभावः। (२८९) **आङि चापः ७। ३। १०५॥** आङि ओसि च परे आबन्तस्याङ्गस्यैकारः स्यात्। रमया, रमाभ्याम्, रमाभिः। (२९०) **याडापः ७। ३। ११३॥** आपः परस्य ङिद्वचनस्य याडागमः स्यात्। 'वृद्धिरेचि' (सू ७२) रमायै। सवर्णदीर्घः। रमायाः। रमायाः। रमयोः।

दीर्घात् परत्वेऽपि 'तस्माच्छसः' इति नत्वं स्त्रीलिङ्गत्वान्न भवतीत्यर्थः। रमा आ इति स्थिते।

(२८९) आङि चापः। ओसि च इत्यनुवर्तते। आप इति षष्ठी। अङ्गस्येत्यधिकृतम्। तदन्तविधिः। 'बहुवचने झल्येत्' इत्यत एदित्यनुवर्तते। तदाह—आङि ओसि चेत्यादिना। आङिति टासंज्ञा प्राचामित्युक्तम्। अलोऽन्त्यस्य एत्वे अयादेशः इत्याह—रमयेति। रमाभिरिति। 'अतो भिसः' इति तपरकरणादैस् न। रमा ए इति स्थिते।

(२९०) याडापः। आप इति पञ्चमी। 'घेर्ङिति' इत्यतो ङितीत्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते। तदाह—आपः परस्येत्यादिना। टित्त्वादाद्यवयवः। वृद्धिरेचीति। या ए इति स्थिते आकारस्य एकारस्य च स्थाने ऐकार एकादेश इति भावः। सवर्णेति। ङसिङसोः रमा अस् इति स्थिते याडागमे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति सवर्णदीर्घ इति भावः। यडित्येव

(छ) रमा+औ, <रमा+ई (औ = ई—"औङ आपः"—२८७), <रमे (आ+ई = ए—गुण)। (च) रमाः (स्त्रीलिङ्ग होने के कारण 'शस्'–में स् = न् नहीं हुआ)।

(२८९) पद—आङि, च, आपः। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, ओसि, एत्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'आङ्' (टा) तथा 'ओस्' पर रहते आवन्त अङ्ग को 'ए' आदेश होता है। वृद्धि। रमायै। रमाभ्याम्। रमाभ्यः। रमायाः। रमायाः। रमयोः। रमयोः। रमाणाम्। रमायाम्। रमयोः। रमासु। इसी तरह दुर्गा, अम्बिका आदि शब्दों के रूप बनते हैं।

विवरण—सूत्र में **स्थानी**—'आपः' का निर्देश है। **आदेश**–वाचक पद 'एत्' का लाभ अनुवृत्ति द्वारा होता है—"बहुवचने झल्येत्" (७-३-१०३)। निमित्त-वाचक एक पद 'आङि' तो सूत्र में विद्यमान है। दूसरे पद 'ओस्' की अनुवृत्ति "ओसि च" (७-३-१०४) सूत्र से की जारही है। अङ्गस्य का अधिकार है। अतः उसके विशेषण-वाची पद 'आप्' में तदन्तविधि होती है। तदनुसार 'आङ्' (टा) तथा 'ओस्' विभक्तियों के परवर्ती होने में आवन्त अङ्ग (जिसके अन्त में टाप्, डाप् तथा चाप् प्रत्यय हों) के स्थान पर 'ए' आदेश होगा। "अलोन्त्यस्य" परिभाषा की उपस्थिति से 'आ' के स्थान पर 'ए' आदेश होता है। **उदाहरण**—(क) रमा+टा (आ), <रमे+आ (आ = ए), <रमया (ए = अय्)। (ख) रमाभ्याम् (भ्याम्), (ग) रमाभिः ('भिस्',–र्, विसर्ग)।

(२९०) पद—याड्, आपः। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, ङिति। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—आवन्त अङ्ग से पर 'ङ्'–इत्संज्ञक विभक्तियों को 'याट्' आगम होता है। "वृद्धिरेचि"–रमायै। सवर्णदीर्घ—रमायाः। रमयोः। रमाणाम्। रमायाम्। रमयोः। रमासु। इसी तरह दुर्गा आदि।

विवरण—यह सूत्र 'याट्' आगम का विधायक है। 'ट्' इत्संज्ञक होने के कारण "आद्यन्तौ टकितौ (३६) परिभाषा की उपस्थिति होने से 'याट्' आगम 'ङ्' इत्संज्ञक विभक्तियों के आदि का अवयव होगा। इस हेतु "घेर्ङिति" (७-३-१११) सूत्र से 'ङिति' की अनुवृत्ति लाई जाती है। सूत्र में 'आपः' पद पञ्चमी विभक्ति में प्रयुक्त है। "अङ्गस्य" (६-४-१) का अधिकार है। तदनुसार अपने विशेष्य-वाची पद 'आपः' को अभिलक्षित कर 'अङ्गस्य' पद पञ्चमी विभक्ति में (अङ्गात्) परिवर्तित होता है। इसके अतिरिक्त आगमी होने के कारण 'ङसि' पद षष्ठी-विभक्ति में परिवर्तित

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रमाणाम् । रमायाम् । रमयोः । रमासु । एवं दुर्गादयः । **(२९१) सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च ७ । ३ । ११४ ॥** आबन्तात्सर्वनाम्नः परस्य ङितः स्याट् स्यादापश्च ह्रस्वः । याटोऽपवादः । सर्वस्यै । सवस्याः । सर्वस्याः । एकादेशस्य पूर्वान्तत्वेन ग्रहणात्

सुवचम् । 'अतो गुणे' इति पररूपं तु न, अकारोच्चारणसामर्थ्यात् । रमयोरिति । 'आङि चापः' इत्येत्वे अयादेश इति भावः । रमाणामिति । 'ह्रस्वनद्यापः' इत्यत्राब्ग्रहणान्नुटि पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्त्या 'नामि' इति दीर्घे 'अट्कुप्वाङ्' इति णत्वमिति भावः । रमायामिति । रमा इ इति स्थिते 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' इत्यामादेशे याडागमे सवर्णदीर्घ इति भावः । 'न विभक्तौ' इति मस्य नेत्वम् । सर्वशब्दाट्टापि सवाशब्दः । सोऽपि प्रायेण रमावत् । ङिस्सु 'याडापः' इति प्राप्ते ।

(२९१) सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च । 'याडापः' इत्यत आप इति पञ्चम्यन्तमनुवृत्तम् । तेन सर्वनाम्न इत्येतद्विशेष्यते । तदन्तविधिः । 'घेर्ङिति' इत्यतो ङितीत्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते । ततश्च आबन्तात्सर्वनाम्नः परस्य ङितः स्याट् स्यादित्यर्थः । टित्त्वादाद्यवयवः । ह्रस्वश्चेति वाक्यान्तरम् । आप इत्यनुवृत्तमावर्तते । षष्ठ्यन्ततया च विपरिणम्यते तच्च ह्रस्व इत्यत्रान्वेति । आपः स्थाने भवतीति तदर्थः । तदाह—आबन्तादिति । टापोपवाद इति । येन नाप्राप्तिन्यायादिति भावः । सर्वस्यै इति । सर्वा ए इति स्थिते स्याट् । वकारादाकारस्य ह्रस्वः, वृद्धिरिति भावः । सर्वस्याः इति । ङसिङसोः सर्वा अस् इति स्थिते स्याट्, आपो ह्रस्वः, सवर्णदीर्घ इति भावः । ननु आबन्तस्य सर्वाशब्दस्य सर्वादिगणे पाठाभावात्

किया जाता है । इस प्रकार ङे, ङसि, ङस् तथा ङि विभक्तियों के आदि-अवयव के रूप में 'या' स्थित रहता है । **उदाहरण**—(क) रमा+ए (ङे), <रमा+या-ए ('याट्'-आगम), <रमायै (आ+ए = ऐ-वृद्धि-"वृद्धिरेचि"-७२) । (ख) रमा+अस् ('ङसि' तथा 'ङस्') <रमा+या-अस् ('याट्' आगम,), <रमायास् (आ+अ = आ—दीर्घ), <रमायार्, (स् = र्) <रमायाः ('र्' = :) । (ग) रमा+ओस्, <रमे+ओस् (आ = ए—"आङि चापः"-२८९), <रमयोस् (ए = अय्), <रमयोर् (स् = र्), <रमयोः ('र्' = :) । (घ) रमा+आम्, <रमा+न्—आम् ('नुट्' आगम), <रमा+नाम् (आ = आ—दीर्घ), <रमाणाम् (न् = ण्) । (ङ) रमा+ङि, <रमा+आम् (ङि = आम्), <रमा+या—आम् ('याट्' आगम), <रमायाम् (आ+आ = आ—सवर्णदीर्घ) । (च) रमयोः (ओस्) । (छ) रमासु (सुप्) ।

'रमा' शब्द के रूप (= लक्ष्मी)

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	रमा	रमे	रमाः
द्वि०	रमाम्	रमे	रमाः
तृ०	रमया	रमाभ्याम्	रमाभिः
च०	रमायै	रमाभ्याम्	रमाभ्यः

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
पं०	रमायाः	रमाभ्याम्	रमाभ्यः
ष०	रमायाः	रमयोः	रमाणाम्
स०	रमायाम्	रमयोः	रमासु
सं०	हे रमे	हे रमे	हे रमाः

विशेष—इसी प्रकार दुर्गा, अम्बा आदि शब्दों के रूप बनेंगे ।

(२९१) पद—सर्वनाम्नः, स्याट्, ह्रस्वः, च । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, आपः, ङिति । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—आबन्त सर्वनाम से पर ङिद्विभक्तियों को 'स्याट्' आगम होता है तथा 'आप्' (आ) को ह्रस्व किया जाय । 'याट्' आगम का अपवाद है । सर्वस्यै । सर्वस्याः । सर्वस्याः । पूर्वान्तवद्भाव से एकादेश (दीर्घ) के ग्रहण होने के कारण "आमि सर्वनाम्नः सुट्" सूत्र की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'आमि सर्वनाम्नः—' (सू २१७) इति सुट् । सर्वासाम् । सर्वस्याम्, सर्वयोः, सर्वासु ।

कथं सर्वनामत्वमित्यत आह—एकादेशस्येति । वकारादाकारस्य आपश्च योयऽमेकादेशः सवर्णदीर्घः तस्येत्यर्थः । ननु एकादेशनिष्पन्नस्य आकारस्य पूर्वान्तत्वे आप्त्वव्याघातात् आबन्तत्वं व्याहतम् । न च परादिवत्त्वेन आबन्तत्वमपीति वाच्यम्, उभयत आश्रयणे नान्तादिवत् इति निषेधादिति चेत् ? सत्यम् । लिङ्गविशिष्टपरिभाषया आबन्तस्य सर्वनामत्वम् । आबन्तत्वं तु परादिवद्भावेनेत्याहुः । सर्वस्यामिति । ङौ सर्वा इ इति स्थिते 'ङेराम्' इत्याम् । सुटं बाधित्वा परत्वात् स्याट् ह्रस्वश्च । सकृद्गतिन्यायान्न पुनः सुट् । एवमिति ।

प्रवृत्ति होने के फलस्वरूप 'सुट्' आगम हुआ । सर्वासाम् । सर्वयोः । सर्वस्याम् । सर्वासु । इसी तरह 'विश्वा' आदि आकारान्त सर्वनाम-संज्ञक शब्दों के रूप जाने जायँ ।

सन्दर्भ—दीर्घ आकारान्त सर्वनाम-वाची शब्दों को अभिलक्षित कर ङिद्विभक्तियों में विशेष-विधान किया जारहा है ।

विवरण—सूत्र के अर्थ को पूरा करने के लिए पूर्व सूत्रों की अनुवृत्ति अपेक्षित है । अतः "याडापः" (७-३-११६) सूत्र से 'आपः' तथा "घेर्ङिति" (७-३-१११) सूत्र से 'ङिति' पद अनुवृत्ति द्वारा लाये जाते हैं । "अङ्गस्य" का अधिकार है । 'आपः' पञ्चमी विभक्ति है । सूत्रस्थ 'सर्वनाम्नः' पद का विशेषण होने के कारण इसमें तदन्त-विधि होती है । दूसरा अनुवृत्त पद 'ङिति' षष्ठी विभक्ति में परिवर्तित किया जाता है । इस तरह सूत्र के प्रथम वाक्यांश की पूर्ति हो जाती है । तदनुसार आबन्त सर्वनाम से पर ङिद्विभक्तियों को 'स्याट्' आगम होता है—आवन्तात् सर्वनाम्नः (परस्य) ङितः स्याट् (भवति) । द्वितीय वाक्यांश 'ह्रस्वश्च' को पूरा करने के लिये अनुवृत्त पद 'आपः' की आवृत्ति की जाती है । 'ह्रस्व' आदेश का स्थानिवाचकपद 'आपः' है । इस कारण वह षष्ठी-विभक्ति में परिवर्तित होता है । तदनुसार दूसरे वाक्यांश द्वारा 'आ' (स्त्रीप्रत्ययान्त 'आ'कार रूप) को ह्रस्व किया जाता है । इस प्रकार यह विधान 'याट्' आगम का अपवाद है ।

उदाहरण—(क) सर्वा+ए (ङे), <सर्व+स्या-ए, ('स्याट्' आगम तथा 'आ' को ह्रस्व), <सर्वस्यै (आ+ए = ऐ—वृद्धि) । (ख) सर्वा+अस् ('ङसि' एवं 'ङस्'), <सर्व+स्या-अस् ('स्याट्' आगम तथा 'आ' को ह्रस्व), <सर्वस्यास् (सवर्णदीर्घ), सर्वस्यार् (स् = र्), <सर्वस्याः ('र्' = :) । (ग) सर्वा+ओस्, <सर्व+ओस् (आ = ए—"आङि चापः"—२८९), <सर्वयोस् (ए = अय्), <सर्वयोर्, <सर्वयोः । (घ) सर्वा+आम् <सर्वा+स्-आम् ('आम्' के पूर्व 'सुट्' आगम—"आमि सर्वनाम्नः सुट्"—२१७), <सर्वासाम् । (ङ) सर्वा+ङि, <सर्वा+आम् (ङि = आम्), <सर्व+स्या-आम् ('स्याट्' आगम तथा 'आ' को ह्रस्व), <सर्वस्याम् (अ+आ = आ-सवर्णदीर्घ) । (च) सर्वासु (सुप्) । शेष रूप 'रमा' शब्द के समान सिद्ध होंगे । इसी तरह 'विश्वा' आदि आकारान्त सर्वनामवाची स्त्रीलिङ्ग शब्दों के रूप बनेंगे ।

'सर्वा' शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०	वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	सर्वा	सर्वे	सर्वाः	पं०	सर्वस्याः	सर्वाभ्याम्	सर्वाभ्यः
द्वि०	सर्वाम्	सर्वे	सर्वाः	ष०	सर्वस्याः	सर्वयोः	सर्वासाम्
तृ०	सर्वया	सर्वाभ्याम्	सर्वाभिः	स०	सर्वस्याम्	सर्वयोः	सर्वासु
च०	सर्वस्यै	सर्वाभ्याम्	सर्वाभ्यः	सं०	हे सर्वे	हे सर्वे	हे सर्वाः

विशेष—१—दीर्घ-आकारान्त-स्त्रीलिङ्ग शब्दों की अपेक्षा सर्वनामवाची 'सर्वा' आदि दीर्घ-आकारान्त शब्दों में पाँच सुप्-विभक्तियों में अन्तर है । ये विभक्तियाँ हैं—(१) ङे, (२) ङसि, (३) ङस्, (४) आम् (षष्ठी बहुवचन) तथा (५) ङि ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं विश्वादयोऽप्याबन्ताः। (२९२) विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ। १।१।२८॥ अत्र सर्वनामता वा स्यात्। उत्तरपूर्वस्यै–उत्तरपूर्वायै। दिङ्नामान्यन्तराले' (सू ८४५) इति प्रतिपदोक्तस्य दिक्समासस्य ग्रहणान्नेह––योत्तरा सा पूर्वा यस्याः उन्मुग्धायास्तस्यै उत्तरपूर्वायै। बहुव्रीहिग्रहणं स्पष्टार्थम्। अन्तरस्यै शालायै। बाह्यायै इत्यर्थः। 'अपुरि'

सर्वादिगणपठितविश्वादयः आबन्तत्वं प्राप्ताः सर्वशब्दवदित्यर्थः। उत्तरस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालम् उत्तरपूर्वा। 'दिङ्नामान्यन्तराले' इति बहुव्रीहिविशेषोऽयम्। तत्र विशेषं दर्शयितुमाह।

(२९२) विभाषा दिक्समासे। 'सर्वादीनि' इत्यतः सर्वनामग्रहणमनुवर्तते तदाह—अत्रेति। दिक्समासे इत्यर्थः। 'न बहुव्रीहौ' इत्यलौकिकविग्रहवाक्ये नित्यनिषेधे प्राप्ते विकल्पार्थमिति केचित्। गौणत्वादप्राप्ते विभाषेयमित्यन्ये। सर्वनामत्वपक्षे उदाहरति—उत्तरपूर्वस्यै इति। स्याङ्ढ्रस्वौ। उत्तरपूर्वायै इति। सर्वनामत्वाभावपक्षे याट्। उत्तरपूर्वस्याः–उत्तरपूर्वायाः। उत्तरपूर्वासाम्–उत्तरपूर्वाणाम्। उत्तरपूर्वस्याम्—उत्तरपूर्वायाम्। 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' इति मात्रग्रहणात् सम्प्रति असर्वनामत्वेऽपि पूर्वपदस्य पुंवत्त्वम्। ननु उत्तरा दिगिति मत्वा मोहवशात् पूर्वा दिक् यस्याः सा उत्तरपूर्वा। 'अनेकमन्यपदार्थे' इति बहुव्रीहिः। अत्रापि दिक्शब्दघटितसमासत्वात् सर्वनामताविकल्पे उत्तरपूर्वस्यै–उत्तरपूर्वायै इति रूपद्वयं स्यात्। स्याडागमस्तु नेष्यते। तत्राह—दिङ्नामानीति। 'दिङ्नामान्यन्तराले' इति बहुव्रीहिः प्रतिपदोक्तो दिक्समासः,

---

२—षष्ठी बहु-वचन में (सर्वा+आम्—इस स्थिति में) "अन्तादिवच्च" (७५) की उपस्थिति ये पूर्वान्तवद्भाव का आश्रय लेकर आकारान्त 'सर्वा' शब्द को 'सर्व' शब्द के समान सर्वनाम मान कर "आमि सर्वनाम्नः सुट्" (२१७) सूत्र से 'सुट्' आगम का विधान संभव होता है।

(२९२) पद—विभाषा, दिक्समासे, बहुव्रीहौ। अनुवृत्ति—सर्वादीनि, सर्वनाम। संज्ञासूत्र (विकल्प)।

मूलार्थ—इस विषय में 'सर्वनाम' संज्ञा विकल्प से होती है। उत्तरपूर्वस्यै–उत्तरपूर्वायै। यहाँ "दिङ्नामान्यन्तराले" सूत्र द्वारा साक्षात् दिशा-वाचक शब्द को अभिलक्षित कर समास का ग्रहण किया गया है। अतः अन्य-पदार्थ में दिशा-वाची शब्दों का बहुव्रीहि समास होने पर सर्वनामसंज्ञा नहीं होगी। जैसे किसी मूर्ख स्त्री को उत्तर दिशा का पूर्व में भ्रम होने पर 'उत्तरपूर्वा' (विग्रह–या उत्तरा सा पूर्वा यस्याः) शब्द की चतुर्थी विभक्ति में—'उत्तरपूर्वायै' रूप बनेगा। सूत्र में 'बहुव्रीहि' पद स्पष्टार्थक है। अन्तरस्यै शालायै। इसका बाह्य अर्थ है। अन्तरायै नगर्यै। 'अपुरि' कहे जाने से यहाँ सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई।

विवरण—सूत्र का अर्थ अनुवृत्ति के बिना पूरा नहीं होता। अतः "सर्वादीनि सर्वनामानि" (१-१-२७) सूत्र की अनुवृत्ति की जाती है। तदनुसार दिशाओं के बहुव्रीहि-समास में सर्वादि-गण-पठित शब्द विकल्प से सर्वनाम-संज्ञक होते हैं। साक्षात् दिशावाची शब्दों को अभिलक्षित कर बहुव्रीहि-समास का विधायक सूत्र है—"दिङ्नामान्यन्तराले" (२-२-२६)। इस सूत्र से विधीयमान समास की प्रवृत्ति विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति होने पर होती है। इस प्रकार चार मुख्य दिशाओं के मध्यवर्ती कोणों का बोध कराने में यह समास होता है। इसका उदाहरण है—'उत्तरपूर्वा'। इस शब्द का अर्थ है—उत्तर और पूर्व के बीच का कोण (ईशान)। विग्रह है—उत्तरस्याः पूर्वस्याः च दिशः अन्तरालम्। उदाहरण—(क) उत्तरपूर्वा+ए (ङे), <उत्तरपूर्व+स्या–ए (विकल्प से सर्वनाम संज्ञा, 'स्याट्' आगम तथा 'आ' को ह्रस्व), <उत्तरपूर्वस्यै (आ+ए = ऐ—वृद्धि)। पक्ष में उत्तरपूर्वायै ('याट्' आगम, वृद्धि)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्युक्तेर्नेह—अन्तरायै नगर्यै। (२९३) **विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम् ७। ३। ११५ ॥** आभ्यां ङितः स्याट् स्यादापश्च ह्रस्वः। इदं त्यक्तुं शक्यम्, तीयस्य ङित्सूपसङ्ख्यानात्। द्वितीयस्यै—द्वितीयायै। द्वितीयस्याः—द्वितीयायाः। द्वितीयस्याः—द्वितीयायाः। द्वितीयस्याम्—द्वितीयायाम्। शेषं रमावत्। एवं तृतीया। 'अम्बार्थ-

---

दिक्शब्दमुच्चार्य विहितत्वात्। न तु 'अनेकमन्यपदार्थे' इति बहुव्रीहिरपि। ततश्च लक्षण-प्रतिपदोक्तपरिभाषया न तस्य ग्रहणमित्यर्थः। योत्तरेति। उत्तरशब्दस्य पूर्वाशब्दस्य च सामानाधिकरण्यं द्योतयितुं यत्तच्छब्दौ। सामानाधिकरण्याभावे 'अनेकमन्यपदार्थे' इति बहुव्रीहेरसम्भवात्, 'बहुव्रीहिः समानाधिकरणानां वक्तव्यः' इति वचनात्। उन्मुग्धाया इति। तेन पूर्वोत्तरयोर्विरोधात् कथं सामानाधिकरण्यमिति शङ्का निरस्ता। ननु 'विभाषा दिक्समासे' इत्येवास्तु, बहुव्रीहिग्रहण न कर्तव्यम्। प्रतिपदोक्तत्वेन 'दिङ्नामानि' इति बहुव्रीहेरेव ग्रहणसिद्धेरित्यत आह—बहुव्रीहिग्रहणं स्पष्टार्थमिति। बाह्यायै इत्यर्थ इति। 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये। छिद्रात्मीयविनाबहिरवसरमध्येऽन्तरात्मनि च ॥' इति कोशात्। अर्थान्तरपरत्वे तु सर्वनामत्वाभावात् न स्यादिति भावः। अपुरीत्युक्तेरिति। 'अन्तरं बहिर्योगे' इति गणसूत्र इति शेषः।

(२९३) विभाषा। 'घेर्ङिति' इत्यतो ङितीत्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते। 'याडापः' इत्यत आप इति, 'सर्वनाम्नः स्याट्' इत्यतः स्याडिति ह्रस्व इति चानुवर्तते। तदाह—आभ्यामित्यादिना। इदमिति। 'विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम्' इति सूत्रं न कर्तव्यमित्यर्थः। कुत इत्यत आह—तीयस्येति। विभाषाप्रकरणे तीयप्रत्ययान्तस्य ङित्सु सर्वनामत्वोपसङ्ख्यानादित्यर्थः। न च तीयस्य ङित्सूपसङ्ख्यानमेव त्यजतामिति वाच्यम्? पुन्नपुंसकार्थं तस्यावश्यकत्वात्। अम्बार्थेति। व्याख्यातमिदं पुंसीदन्ताधिकारे। तत्र नदीविषये उदा-

---

विशेष—१—'दिशा'-वाची शब्दों का बहुव्रीहि समास अन्य-पदार्थ में भी होता है। किन्तु यहाँ पर प्रतिपदोक्त (साक्षात) दिशा-वाची शब्दों का विशेष अर्थ में बहुव्रीहि-विधान होने से उसी का ग्रहण किया जाता है। अतः अन्य-पदार्थ-प्रधान (समानाधिकरण) दिशावाची 'उत्तरपूर्वा' शब्द के चतुर्थी के एक-वचन में 'उत्तरपूर्वायै' एक ही रूप बनेगा। इस शब्द (उत्तरपूर्वा) का अर्थ है—पूर्व को उत्तर दिशा समझने वाली मूर्ख स्त्री। विग्रह—या उत्तरा सा पूर्वा यस्याः सा (उन्मुग्धा), तस्यै—उत्तरपूर्वायै।

२—प्रतिपदोक्त दिशा-वाची बहुव्रीहि समास का 'बहुव्रीहि' अधिकार में समावेश है। अतः प्रकृत सूत्र में 'बहुव्रीहि' पद की कोई आवश्यकता नहीं है। केवल "विभाषा दिक्समासे" इतने अंश से ही काम चल सकता था। अतः अधिक स्पष्ट प्रतीति होने के लिये 'बहुव्रीहि' पद का समावेश है।

३—प्रसङ्गवश 'अन्तरा' शब्द की चतुर्थी में 'अन्तरस्यै' रूप की समीचीनता बतलाई जा रही है। 'अन्तर' शब्द बाह्य तथा परिधान अर्थ में सर्वनामवाची है। अतः 'टाप्' (आ) प्रत्ययान्त बाह्य-अर्थ-बोधक 'अन्तरा' शब्द में 'अन्तर' शब्द-गत सर्वनामत्व का आश्रय लेकर चतुर्थी विभक्ति में पूर्वान्तवद्भाव से सर्वनाम-संज्ञा-निमित्तक 'स्याट्' आगम होता है—'अन्तरस्यै'। अर्थ—बाहरी दालान।

४—'नगरी' अर्थ से भिन्न 'अन्तरा' शब्द को सर्वनाम-संज्ञा होने का उल्लेख पहले किया जा चुका है ("अपुरीति वक्तव्यम्")। अतः नगरी अर्थ में 'अन्तरा' शब्द का चतुर्थी विभक्ति में ('रमा' शब्द के समान) 'अन्तरायै' रूप बनता है।

(२९३) **पद**—विभाषा, द्वितीयातृतीयाभ्याम्। **अनुवृत्ति**—ङिति, आपः, स्याट्, ह्रस्वः। **विधिसूत्र** (विकल्प)।

मूलार्थ—इनसे पर 'ङित्'—विभक्तियों को विकल्प से 'स्याट्' आगम एवं आ (आप्) को ह्रस्व होता है। 'तीय' प्रत्ययान्त शब्दों को 'ङित्'—विभक्तियों में विकल्प से सर्वनाम-संज्ञा होने के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नद्योर्ह्रस्वः' (सू २६७)। हे अम्ब। हे अक्क। हे अल्ल। 'असंयुक्ता ये डलकास्तद्वतां ह्रस्वो न' (वा ४५९२)। हे अम्बाडे। हे अम्बाले। हे अम्बिके। जरा। जरसौ—शीभावात्परत्वाज्जरस्। आमि नुटः परत्वात् जरस्—जरसामित्यादि। पक्षे हलादौ च रमावत्। इह पूर्वविप्रतिषेधेन शीभावं कृत्वा सन्निपातपरिभाषाया अनित्यतां चाश्रित्य 'जरसी' इति केचिदाहुः। तन्निर्मूलम्। यद्यपि जरसादेशस्य स्थानिवद्भावेनाबन्ततामाश्रित्य

ह्रतम्। अम्बार्थानुदाहरति—हे अम्बेत्यादि। शेषं रमावत्। अत्र भाष्ये 'डलकवतीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः'। हे अम्बाडे। हे अम्बाले। हे अम्बिके। तदिदं वार्तिकं न कर्तव्यमित्युक्त्वा द्व्यच्कस्यैवाम्बार्थस्य ह्रस्व इति स्थितम्। यथाश्रुतवार्तिके तु हे अल्ल इत्यत्राव्याप्तिः स्यादिति तदाशयः। तदत्र फलितमाह—असंयुक्ता इति। द्व्यच्कानामम्बार्थानां ह्रस्वः इत्यस्याङ्गत्वात्तदन्तविधिः। अतः जगदम्ब इत्यत्र द्व्यच्काम्बान्तत्वात् भवति ह्रस्वः। जरेति। 'जॄष् वयोहानौ'। 'षिद्भिदादिभ्यः' इत्यङ्। 'ऋदृशोऽङि' इति गुणः, रपरत्वम्। अदन्तत्वात् टाप्, सुः, हल्ङ्यादिना सुलोप इति भावः। जरसाविति। 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इति अजादौ जरसादेश इति भावः। ननु शीभावे कृते सति आबन्तसन्निपातमुपजीव्य प्रवृत्तस्य तस्य सन्निपातपरिभाषया आबन्तत्वविघातकजरसादेशनिमित्तत्वासम्भवेन जरसादेशाभावे आद्गुणे जरे इत्येव स्यादित्यत आह—शीभावादिति। जरसि कृते तु आबभावान्न शीभाव इति भावः। जरसः। जरसम् जरसौ जरसः। टा जरसा। न चात्र जर आ इति स्थिते जरसादेशं बाधित्वा परत्वात् 'आङि चापः' इत्येत्वे अयादेशे जरयेत्येव युक्तमिति वाच्यम्, एकदेशविकृतन्यायेन कृतेऽप्येत्वे प्रवृत्तस्य जरसादेशस्य नित्यतया तस्यैव प्रवृत्तेः, परान्नित्यस्य बलवत्त्वात्। कृते तु जरसि आबभावादेत्वं न। ङे जरसे। न चात्र जरा ए इति स्थिते जरसादेशं बाधित्वा परत्वात् याटि वृद्धौ जरायै इत्येव युक्तमिति वाच्यम्, अन्तरङ्गत्वेन जरसादेशस्यैव प्रवृत्तेः परादन्तरङ्गस्य बलवत्त्वात्, आपः परस्य ङितः सुपो विहितस्य याटो बह्वाश्रयत्वेन बहिरङ्गत्वात्। ङसिङसोः—जरसः। अत्रापि पूर्ववद्याट् न। जरसोः—एवं बाधित्वा नित्यत्वात् जरस्। आमि जरसाम्। नन्वामि नुटि कृते अजादिविभक्त्यभावात् कथं जरसादेश इत्यत आह—आमि नुट इति। ङौ जरसि। परमपि ङेरामं याटं च नित्यत्वादन्तरङ्गत्वाच्च क्रमेण बाधित्वा जरस्। पक्षे हलादौ च रमावदिति। जरसादेशाभावपक्षे हलादावपि रमावदित्यर्थः। मतान्तरं दूषयितु-

---

फलस्वरूप इस सूत्र का परित्याग किया जा सकता है। द्वितीयस्यै—द्वितीयायै। द्वितीयस्याः—द्वितीयायाः। द्वितीयस्याः—द्वितीयायाः। द्वितीयस्याम्—द्वितीयायाम्। शेष 'रमा'-शब्द के समान। इसी तरह 'तृतीया' शब्द भी है। अम्बार्थ और नदीसंज्ञक शब्दों को ह्रस्व होता है। हे अम्ब। हे अक्क। हे अल्ल। असंयुक्त 'ड' 'ल' 'क' वर्णों से निष्पन्न अम्बार्थक शब्दों को ह्रस्व नहीं होता। हे अम्बाडे। हे अम्बाले। हे अम्बिके। जरा। जरसौ। 'शी' आदेश की अपेक्षा 'पर' होने से 'जरस्'। 'आम्' में भी पर होने से 'जरस्'। 'जरसाम्' इत्यादि। 'जरस्' आदेश न होने पर तथा हलादि विभक्तियों में 'रमा' शब्द के समान रूप बनेंगे। किसी ने अपना यह मत व्यक्त किया था कि पूर्वविप्रतिषेध से 'शी' आदेश करने के पश्चात् सन्निपातपरिभाषा के अनित्य होने से 'जरसी' रूप बनेगा, किन्तु यह युक्तिसंगत नहीं है। यद्यपि 'जरस्' आदेश को स्थानिद्भाव कर 'आ'कारान्त का आश्रय लेकर "औङ आपः", "आङि चापः", "याडापः", "ह्रस्वनद्यापः" तथा "ङे-राम्०" सूत्रों से विहित पाँचों कार्य प्राप्त होते हैं। 'नस्' तथा 'पृत' शब्दों में भी इसी तरह की सम्भावना है। तो भी 'अनल्विधौ' निषेध होने से इनकी प्रवृत्ति नहीं होती। कारण यह है कि 'आ' का श्लेष करने से 'आप्' पद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'औङ आपः' (सू २८७) 'आङि चापः' (सू २८९) 'याडापः' (सू० २९०) 'ह्रस्वनद्यापः—' (सू २०८) 'ङेराम्—' (सू २७०) इति पञ्चापि विधयः प्राप्ताः। एवं नस्निश्पृत्सु। तथाप्यनल्विधावित्युक्तेर्न भवति। 'आ आप्' इति प्रश्लिष्याकार-

---

मनुवदति—इह पूर्वेत्यादिना। इह—जराशब्दे। जरा औ इति स्थिते शीभावमाश्रित्य जरसी इति केचिदाहुरित्यन्वयः। आश्रित्येत्यनन्तरं जरसादेशे कृते इति शेषः। ननु शीभावं बाधित्वा परत्वात् जरसादेश एव युक्त इत्यत आह—पूर्वविप्रतिषेधेनेति। विप्रतिषेधे परमित्यत्र परशब्दस्य इष्टवाचितामाश्रित्य क्वचित् पूर्वस्य प्रवृत्त्याश्रयणेनेत्यर्थः। ननु आबन्तसन्निपातमुपजीव्य प्रवृत्तस्य शीभावस्य सन्निपातपरिभाषया आबन्तसन्निपात-विघातकजरसादेशनिमित्तत्वं न सम्भवतीत्यत आह—सन्निपातपरिभाषाया अनित्यतां चेति। तन्निर्मूलमिति। पूर्वविप्रतिषेधाश्रयणस्य भाष्यापरिगणितेष्वप्रवृत्तेः सन्निपातपरिभाषायाः सर्वत्रानित्यत्वाश्रयणे प्रमाणाभावाच्चेति भावः। स्यादेतत्। जरसौ, जरसामित्यत्र 'औङ आपः' 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इत्यपेक्षया परत्वादस्तु जरसादेशः, अस्तु च ङेङसिङस्सु जरसे जरसः इत्यत्र याटमन्तरङ्गत्वात् बाधित्वा जरसादेशः, अस्तु च ङौ जरसि इत्यत्र नित्यत्वा-दामम् अन्तरङ्गत्वाद्याटं च बाधित्वा जरसादेशः, तथापि तस्य जरसादेशस्य स्थानिवत्त्वेन आबन्तत्वात् तदाश्रित्य एत्त्वशीभावयाड्नुडागमाः कुतो न स्युः ? किञ्च अनेनैव न्यायेन नासिकाशब्दस्य, निशाशब्दस्य, पृतनाशब्दस्य च एत्त्वशीभावयाड्नुडागमान् बाधित्वा 'पद्दन्नो' इत्यादिना नस् निश् पृत् इत्यादेशेषु क्रमेण कृतेषु तेषां स्थानिवद्भावेन आबन्त-त्वमाश्रित्य एत्त्वशीभावयाड्नुडागमाः प्रसज्येरन्निति शङ्कते—यद्यपीत्यादिना। परिहरति—तथापीति। स्थानिभूतावन्ताश्रयविधयः एते एत्त्वादिविधयः। अतस्तेषु कर्तव्येषु जरसाद्या-देशानां स्थानिवत्त्वं न सम्भवति, अनल्विधाविति तन्निषेधात्। ततश्च जरसाद्यादेशानामा-बन्तत्वालाभात् एत्त्वादिविधयो न भवन्तीत्यर्थः। ननु अल्त्वव्याप्याकारत्वादिधर्मपुरस्का-रेण स्थान्यलमाश्रित्य प्रवर्तमानो विधिरल्विधिः, न तु यथाकथञ्चित् अलाश्रयविधिरपि, रामायेत्यत्र 'सुपि च' इति दीर्घाभावप्रसङ्गात्। तत्र हि दीर्घो यजादिसुपि परतो विधी-यते। यादेशस्य च सुप्त्वं स्थानिवत्त्वलभ्यम्। यादेशस्य च एकारः अल् स्थानी। ततश्च दीर्घस्य स्वनिमित्तभूतसुप्त्वांशे तदाश्रयत्वादनल्विधाविति निषेधात् दीर्घे कर्तव्ये यादे-शस्य स्थानिवत्त्वाभावेन सुप्त्वाभावात् तस्मिन् परतो दीर्घो न स्यात्। अल्त्वव्याप्या-कारत्वादिधर्मपुरस्कारेण स्थान्यलमाश्रित्य प्रवर्तमानो विधिरल्विधिरित्याश्रयणे तु न

में 'आ' सहित 'आ'कार का ग्रहण होता है। इसी तरह "हल्ङ्याप्०" सूत्र में भी 'आ-आप्' तथा 'ङी-ई' प्रश्लेष करने से 'अतिखट्वः' तथा 'निष्कौशाम्बिः' आदि रूप निष्पन्न हो सकते हैं, अतः "हल्ङ्यादि०" सूत्र में 'दीर्घ' पद की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इतना होने पर भी 'अतिखट्वाय' में स्वतः आकार के साथ स्थानिवद्भाव से 'आप्' बुद्धि की परिकल्पना द्वारा 'याट्' आगम की प्राप्ति सम्भव है। किन्तु आबन्त अङ्ग से पर 'याट्' आगम का विधान होने से उपर्युक्त दोष को हटाया जा सकता है, क्योंकि उपसर्जन-स्त्रीप्रत्यय में तदादिविधि होती है। "पद्दनो०" सूत्र से 'नासिका' शब्द के स्थान में 'नस्' आदेश हुआ। नसः। नसा। नोभ्याम्। इत्यादि। पक्ष में तथा 'सुट्' में 'रमा' शब्द के समान रूप होंगे। 'निशा' शब्द के स्थान पर 'निश्' आदेश। निशः। निशा।

विवरण—अर्थ की सम्पूर्ति के लिये "वेर्ङिति" (७-३-१११) सूत्र से "ङिति", "याडापः" सूत्र से 'आपः' तथा "सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च" (७-३-११४) सूत्र से 'ह्रस्वः' पद की अनुवृत्ति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूपस्यैवापः सर्वत्र ग्रहणात्। 'हल्ङ्याप्—' (सू २५२) इति सूत्रेऽपि 'आ आप्' 'ङी ई' इति प्रश्लेषात्, 'अतिखट्वः' 'निष्कौशाम्बिः' इत्यादिसिद्धेर्दीर्घग्रहणं प्रत्याख्येयम्।

दोषः। दीर्घो हि यादेशस्थानिभूतम् एकारमेकारत्वेन नाश्रयति, किन्तु सुप्त्वेनैव। सुप्त्वं चाल्त्वव्याप्यं न भवति, भ्यामादावपि सत्त्वात्। ततश्च दीर्घस्यानल्विधित्वात् तस्मिन् कर्तव्ये यादेशस्य स्थानिवत्त्वेन सुप्त्वसम्भवात् दीर्घो निर्बाधः। प्रकृते च एत्त्वादिविधयः जरसादेशस्थानिभूतावन्तत्वपुरस्कारेण सम्भवत्प्रवृत्तिकाः। आप्त्वं च समुदायस्य धर्मः, नत्वाकारमात्रस्य। ततश्च एत्त्वादिविधीनामनल्विधित्वात्तेषु कर्तव्येषु जरसादेशस्य स्थानिवत्त्वेनाबन्तत्वं दुर्वारमित्याशङ्क्याह—आ आबित्यादिना। 'आङि चापः' इत्यादिषु सवर्णदीर्घेण आ आप् इति प्रश्लिष्य आकाररूपावन्ताश्रयणेन एत्त्वादयो विधीयन्ते। ततश्च ते आकारत्वरूपेणाप्यापमाश्रयन्तीति तेषामल्विधित्वात् तेषु कर्तव्येषु जरसादेशस्य स्थानिवत्त्वादाबन्तत्वं न सम्भवति। ततश्च एत्त्वादिविधयोऽत्र न भवन्तीत्यर्थः। प्रसङ्गादाह—एवमिति। यथा 'आङि चापः' इत्यादिषु आ आबिति प्रश्लेषः एवं हल्ङ्याब्भ्यः इत्यत्र ङी ई, आ आबिति सवर्णदीर्घेण प्रश्लेषात् दीर्घग्रहणं प्रत्याख्येयमित्यन्वयः। ननु तत्र दीर्घग्रहणाभावे 'अतिखट्वः, निष्कौशाम्बिरि'त्यत्रापि सुलोपः स्यात्। तथाहि खट्वाशब्दष्टावन्तः खट्वामतिक्रान्तः अतिखट्वः। 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे' इति समासः। कुशाम्बेन निर्वृत्ता नगरी कौशाम्बी। 'तेन निर्वृत्तम्' इत्यण्। 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप्। निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः निष्कौशाम्बिः। 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इति समासः। उभयत्रापि 'गोस्त्रियोः' इति आपः ङीपश्च ह्रस्वः, ततः सुब्उत्पत्तिरिति स्थितिः। अत्र स्थानिवत्त्वेनाकाररूपावन्तत्वस्य ईकाररूपङ्यन्तत्वस्य चानपायात् सोर्हल्ङ्यादिलोपे प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थं दीर्घग्रहणमावश्यकमेवेत्यत आह—अतिखट्वः, निष्कौशाम्बिरित्यादिसिद्धेरिति। अयमाशयः—ङी ई, आ आबिति प्रश्लेषे सति आत्वरूपेण ईत्वरूपेण च ङ्यापावाश्रित्य

आरही है। इनमें से सप्तम्यन्त पद 'ङिति' को 'षष्ठी' विभक्ति में परिवर्तित किया जाता है, क्योंकि 'ङ-इत्'-संज्ञक विभक्तियाँ आगमी हैं। उन्हीं को अभिलक्षित कर 'द्वितीया' (= दूसरी) और 'तृतीया' (= तीसरी) शब्दों से वैकल्पिक 'स्याट्' आगम एवम् 'आ' (आप्) को ह्रस्व किये जाने की व्यवस्था है। उदाहरण—(क) द्वितीया+ए (ङे), <द्वितीय+स्या–ए ('स्याट्' आगम एवम् 'आ' को ह्रस्व), <द्वितीयस्यै (आ+ए = ऐ-वृद्धि)। विकल्प होने से पक्ष में—द्वितीयायै ('रमायै' के समान 'याट्' आगम)। (ख) द्वितीया+अस् (ङसि' तथा ङस्), <द्वितीय+स्या–अस्, <द्वितीयस्यास्, <द्वितीयस्यार्, <द्वितीयस्याः। पक्ष में—द्वितीयायाः ('याट्' आगम)। (ग) द्वितीया+ङि, <द्वितीया+आम् (ङि = आम्), <द्वितीय+स्या–आम्, <द्वितीयस्याम्। पक्ष में—द्वितीयायाम्। शेष रूप 'रमा' शब्द के समान बनेंगे। 'तृतीया' शब्द के रूप भी इसी तरह होंगे।

विशेष—अजन्त-पुंलिङ्ग प्रकरण में 'द्वितीय' शब्द के प्रसङ्ग में यह निर्देश दिया जाचुका है कि 'तीय' प्रत्ययान्त शब्दों में 'ङ्-इत्'-विभक्तियों में विकल्प से सर्वनामसंज्ञा होती है (वा० "तीयस्य ङित्सु वा")। तदनुसार 'ङे', 'ङसि', 'ङस्' एवं 'ङि' में 'स्याट्' आगम एवं 'आ' को ह्रस्व विधान करने के लिए इस सूत्र (२९३) की कोई उपयोगिता प्रतीत नहीं होती।

निर्देश—१–मातृ-वाचक 'अम्बा', 'अक्का' तथा 'अल्ला' शब्दों के सम्बोधन के एकवचन में "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः" (२६७) सूत्र से ह्रस्व होने के पश्चात् 'स्' (सु) विभक्ति का लोप होकर क्रमशः 'हे अम्ब', 'हे अक्क' तथा 'हे अल्ल' रूप बनते हैं। इन शब्दों के शेष रूप 'रमा' शब्द के समान चलेंगे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न चैवमपि 'अतिखट्वाय' इत्यत्र स्वाश्रयमाकारत्वं स्थानिवद्भावेनाप्त्वं चाश्रित्य याट् स्यादिति वाच्यम्। आबन्तं यदङ्गं ततः परस्य याड्विधानात्। उपसर्जनस्त्रीप्रत्यये

सुलोपप्रवृत्तिर्वक्तव्या। ईत्वात्वयोश्च अल्त्वव्याप्यधर्मत्वात् तत्पुरस्कारेण प्रवर्तमानलोप-विधेरल्विधित्वान्न स्थानिवत्त्वेन ङ्याबन्तत्वमस्तीति न सुलोप इति। एवञ्च दीर्घग्रहण-प्रयोजनस्य प्रश्लेषेणैव सिद्धत्वात् हल्ङ्यादिसूत्रे दीर्घग्रहणं न कर्तव्यमित्यन्यत्र विस्तरः। स्यादेतत्। 'याडापः' इत्यत्र आ आविति प्रश्लेषे सत्यपि अतिखट्वायेत्यत्र याड्दुर्वारः। खट्वामतिक्रान्तः अतिखट्वः। 'अत्यादयः' इति समासे 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वत्वे रूपम्। ततो ङेर्यादेशे 'सुपि च' इति दीर्घे अतिखट्वायेति रूपम्। तत्र 'याडापः' इति याट् स्यात्। दीर्घे सति स्थानिवत्त्वेनाकाररूपाप्त्वस्य सत्त्वात्। न चाकारत्वस्य अल्त्वव्याप्य-धर्मत्वात् तत्पुरस्कारेण प्रवर्तमानयाड्विधेरल्विधित्वात् न दीर्घस्य स्थानिवत्त्वेनाकारत्वा-वच्छिन्नाप्त्वमिति वाच्यम्? याड्विधिर्हि आकाररूपाश्रयः। तत्र आकाररूपत्वं दीर्घस्य

२—'मातृ'-वाचक 'अम्बाडा', 'अम्बाला' तथा 'अम्बिका' शब्दों के सम्बोधन के एकवचन में 'ह्रस्व' नहीं होता। इस सम्बन्ध में भट्टोजी दीक्षित महाभाष्य में वर्णित फलितार्थ कथन का उल्लेख करते हैं। तदनुसार 'ड' 'ल' तथा 'क' वर्णों के संयुक्त न होने पर अम्बार्थ शब्दों को ह्रस्व नहीं होता है। इस नियम से 'अक्का' तथा 'अल्ला' शब्दों में तो क्रमशः 'क्' तथा 'ल्' का संयोग है, अतः वहाँ ह्रस्व हो जायगा। इसके विपरीत 'अम्बाडा', 'अम्बाला' तथा 'अम्बिका' शब्दों में 'ड', 'ल' तथा 'क' संयुक्त-वर्ण नहीं हैं। अतः ह्रस्व नहीं हुआ[1]।

३—'जरा' (= वृद्धावस्था) शब्द-सम्बन्धी कतिपय विशेषताओं का उल्लेख किया जारहा है। (क) जरा+स् (सु); <जरा ('विभक्ति' लोप)। (ख) जरा+औ—इस स्थिति में 'औ' के स्थान पर 'शी' आदेश तथा 'जरा' के स्थान पर 'जरस्' आदेश दोनों ही समकालिक प्राप्त होते हैं। इस अनवस्था में 'पर' होने के कारण 'जरस्' आदेश होने पर <जरसौ—रूप बनता है। (ग) इसी तरह जरस्+आम्—इस स्थिति में भी 'नुट्' की अपेक्षा 'पर' होने के कारण 'जरस्'-आदेश होने पर जरसाम्—रूप सिद्ध होता है। 'जरस्' आदेश न होने पर एवं हलादि विभक्तियों में 'रमा' शब्द के समान रूप बनेंगे। इस प्रसङ्ग में धातुवृत्तिकार आचार्य माधव के मत का उल्लेख किया जारहा है कि पूर्वविप्रतिषेध से 'जरस्' आदेश का बाध होने से 'शी' आदेश होकर 'जरसी' रूप बनना चाहिये न कि 'जरसौ'। सन्निपात-परिभाषा से 'जरस्' आदेश प्राप्त न होने की सम्भावना का निराकरण उसकी अनित्यता से हो जाता है। वस्तुतः यह मत समीचीन नहीं है। कारण यह है कि संनिपात-परिभाषा सर्वत्र अनित्य नहीं मानी जाती।

वि०	एक०	द्वि०	बहु०	वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	जरा	जरे, जरसौ	जराः, जरसः	पं०	जरायाः, जरसः	जराभ्याम्	जराभ्यः
द्वि०	जराम्, जरसम्	जरे, जरसौ	जराः, जरसः	ष०	जरायाः, जरसः	जरयोः, जरसोः	जराणाम्, जरसाम्
तृ०	जरया, जरसा	जराभ्याम्	जराभिः	स०	जरायाम्, जरसि	जरयोः, जरसोः	जरासु
च०	जरायै, जरसे	जराभ्याम्	जराभ्यः	सं०	हे जरे	हे जरे, हे जरसौ	हे जराः, हे जरसः

---

१. 'ङलक्वतीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः'—हे अम्बाडे, हे अम्बाले, हे अम्बिके। स तर्हि प्रतिषेधो वक्तव्यः। न वक्तव्यः। स कथं न वक्तव्यो भवति—"अम्बार्थं द्व्यक्षरं यदि"। महाभाष्यम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तदादिनियमात्। 'पद्दनो—' (सू २२८) इति नासिकाया नस्। नसः। नसा। नोभ्यामित्यादि। पक्षे सुटि च रमावत्। निशाया निश्। निशः। निशा।

स्वत एव सिद्धमिति न तत् स्थानिवत्त्वलभ्यम्, किन्तु आप्त्वमेव स्थानिवत्त्वलभ्यम्। आप्त्वं च समुदायधर्म एव, न त्वल्त्वव्याप्यधर्मः। तेन रूपेण स्थान्यलाश्रयत्वेऽपि अल्विधित्वाभावाद्याड्विधौ स्थानिवत्त्वं दुर्वारमिति शङ्कामुद्भाव्य परिहरति—न चेति। एवमपीति। 'याडापः' इत्यत्र आकारप्रश्लेषे सत्यपीत्यर्थः। स्वाश्रयमिति। स्वः आकारः आश्रयो यस्याकारत्वस्य तत्स्वाश्रयम्। स्वतस्सिद्धमिति यावत्। एवमपीत्यारभ्य याट् स्यादित्यन्तः सन्दर्भः शङ्कापरः। इति च न वाच्यमित्यन्वयः। कुत इत्यत आह—आवन्तं यदङ्गमिति। 'याडापः' इत्यत्र हि आब्ग्रहणेन प्रत्ययग्रहणपरिभाषया आबन्तं गृह्यते। अङ्गस्येति तद्विशेषणं भवति। ततश्चाबन्तादङ्गात् परस्य ङितो याड्विधीयते। यस्मात् शब्दात् यः प्रत्ययो विहितः तादृशप्रकृतिभूतशब्दरूपाद्यवयवकस्य तत्प्रत्ययरूपान्तावयवकस्य समुदायस्य ग्रहणमिति परिभाषार्थः। प्रत्ययग्रहणे प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्य ग्रहणमिति पर्यवसन्नार्थः। प्रकृते चातिखट्वायेत्यत्र खट्वशब्दादुदन्ताद् टाब्विधानात् खट्वा इत्येव टाबन्तम्, तच्तु ङितं विभक्तिं प्रति नाङ्गम्, अतिखट्वशब्दादेव ङितो विधानात्। यत्त्वङ्गम् 'अतिखट्व' इति, न तट्टाबन्तम्। अतः स्थानिवत्त्वेन आप्त्वे सत्यपि न याडिति भावः। ननु 'प्यङः सम्प्रसारणम्' इत्यत्र भाष्ये स्त्रीप्रत्यये वाचनिकस्तदादिनियमप्रतिषेधः पठितः। तत् कथमत्र तत्प्राप्तिरित्यत आह—उपसर्जनेति। तत्र भाष्ये 'स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न'

४—फिर भी यह शङ्का होती है कि जरा शब्द के स्थान पर 'जरस्' आदेश होने पर भी स्थानिवद्भाव से आवन्त-धर्म का आश्रय लेने पर "औङ आपः" (२८७) सूत्र से औङ् = शी, "आङि चापः" (२८९) सूत्र से टा = ए, "याडापः" (२९०) सूत्र से ङे, ङसि, ङस् तथा ङि विभक्तियों में 'याट्' आगम, "ह्रस्व नद्यापो नुट्" (२०८) सूत्र से 'आम्' में नुट् आगम तथा "ङेराम् नद्यामीभ्यः" (२७०) सूत्र से ङि = आम् क्यों नहीं होते? इसीके समान 'नस्' 'निश्' 'पृत्' आदि आदेश होने पर स्थानिवद्भाव से आवन्त का आश्रय लेकर उपर्युक्त पाँचों विधान वहाँ भी क्यों नहीं होते? तथापि अल्विधि में (एक वर्ण को मानकर होनेवाले कार्य में) स्थानिवद्भाव का निषेध होने से यह शङ्का निरस्त हो जाती है। यहाँ यह सन्देह होता है कि आवन्त-धर्म 'आ'वर्णात्मक न होने से स्थानिवद्भाव होने की आशङ्का में उपर्युक्त पाँचों विधानों की पुनरपि प्राप्ति कैसे न हो? इसका समाधान यह है कि उपर्युक्त पाँचों सूत्रों में विद्यमान 'आप्' एवं 'ङी' पदों में क्रमशः 'आ' (आ–आप्) एवं 'ई' (ई–ङी) का प्रश्लेष कर 'आ' एवं 'ई' के रूप में ही श्रवण होने पर 'याट्' आदि होते हैं। जिसके फलस्वरूप 'जरस्' आदेश होने पर स्थानिवद्भाव होने से भी 'आकार' विद्यमान न होने के कारण शीभाव आदि कार्य नहीं होते। इसी प्रकार "हल्ङ्याब्भ्यः०" (२५२) सूत्र में भी 'आ' एवं 'ई' का प्रश्लेष करने से 'आ' और 'ई' का स्वरूप रहने पर ही (स्) विभक्ति-लोप अपेक्षित है। इस परिकल्पना से (खट्वाम् अतिक्रान्तः) 'अतिखट्वः' तथा (निर्गतः कौशाम्ब्याः) 'निष्कौशाम्बिः' आदि समासयुक्त शब्दों में 'खट्वा' तथा 'कौशाम्बी' पदों में 'आ' एवम् 'ई' को ह्रस्व होने से स्थानिवद्भाव का आश्रय लेने पर भी 'आ' तथा 'ई' का स्वरूप विद्यमान न होने के कारण 'स्' (विभक्ति) लोप नहीं होता। इसके साथ ही यह लाघव भी है कि "हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०" सूत्र में 'दीर्घ' ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

५—उपर्युक्त स्थलों पर दोष-निराकरण होने पर भी 'अतिखट्वाय' में 'याट्' आगम प्राप्त हो सकता है। कारण यह है कि समास होने के पश्चात् 'अतिखट्व' शब्द से चतुर्थी एकवचन (ङे)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति उपसर्जनादन्यत्रैव तदादिनियमनिषेधस्य उक्ततया प्रकृते स्त्रीप्रत्यये उपसर्जने तदादिनियमस्य निर्बाधत्वादिति भावः। नन्वेवमप्याब्ग्रहणेन प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्ते गृहीते तेनाङ्गस्य विशेषणात् आवन्तान्तं यदङ्गमित्यर्थात् अतिखट्वायेत्यत्र स दोषस्तदवस्थ इति वाच्यम्, अङ्गस्य विशेषणत्वाश्रयणात्। अत एव 'ङ्याब्ग्रहणे अदीर्घ आदेशो न स्थानिवदि'ति वार्तिककारमतं ह्रस्वे फलाभावेन स्थानिवद्भावाप्रसक्त्या कथं तत्स्थानिके दीर्घे तल्लाभ इति भाष्यकारेण दूषितम्। अथ नासिकाशब्दे विशेषमाह—पदन्निति। शसि नसः। टा नसा। नोभ्यामित्यादीति। नस् भ्यामित्यत्र 'स्वादिषु' इति पदत्वे 'ससजुषो रुः इति रुत्वे 'हशि च' इत्युत्वे गुणे नोभ्याम् नोभिः इत्यादि रूपमित्यर्थः। नस्सु। पक्षे इति। शसादौ नसादेशाभावपक्षे इत्यर्थः। अथ निशाशब्दे विशेषं दर्शयति—निशाया निशिति। शसादौ 'पदनो' इत्यनेनेति शेषः। निश् भ्यामिति स्थिते।

की विवक्षा में ङे = 'य' आदेश तथा "सुपि च" (२०२) सूत्र से दीर्घ होने पर आकार की विद्यमानता (श्रवण) है तथा वह स्थानिवद्भाव से 'आप्'-रूप भी है। इस शङ्का का निराकरण स्वयमेव हो जाता है कि 'आप्' प्रत्यय है, अतः तदादि की उपस्थिति होती है। तदादि विशेष्य है एवं 'आप्' विशेषण है। तदनुसार तदन्तविधि होकर 'आवन्त तदादि-अभिन्न अङ्ग से पर ङिद्विभक्तियों को याट्' आगम का विधान "याडापः" (२९०) सूत्र से किया जाता है। 'अतिखट्वाय' में 'खट्वा' आवन्ततदादि है किन्तु वह अङ्ग नहीं है। अङ्ग 'अतिखट्व' है किन्तु वह आवन्त नहीं है। इस पर भी स्त्री-प्रत्यय में तदादि-नियम का प्रभाव न होने से 'अतिखटवाय' में पुनरपि 'याट्' आगम की आशंका की जाती है। किन्तु यह नियम अनुपसर्जन-विषयक है। यहाँ 'अतिखट्व' शब्द में स्त्री-प्रत्यय उपसर्जन है। अतः तदादि-विधि होने में कोई आपत्ति नहीं है।

६—नासिका शब्द के रूपों पर विचार किया जारहा है। प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के एक एवं द्विवचन में 'रमा' शब्द के समान रूप बनते हैं। (क) द्वितीया बहुवचन में नासिका+अस् (शस्), <नस्+अस् (नासिका = नस्—"पदन्नोमास्०" २२८), <नसस्, <नसर्, <नसः (रु, विसर्ग)। पक्ष में नासिकाः। (ख) नासिका+आ (टा), <नसा (नासिका = नस्)। पक्ष में नासिकया। (ग) नासिका+भ्याम्, <नस्+भ्याम् (नासिका = नस्), <नर्+भ्याम् (स् = र्), <न-उ+भ्याम् (र् = उ—"हशि च"—१६६), <नोभ्याम् (अ+उ = ओ—गुण)। पक्ष में नासिकाभ्याम्। शेष रूप नीचे देखें।

'नासिका' (= नाख) शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०	वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	नासिका	नासिके	नासिकाः	प०	नसः, नासिकायाः	नोभ्याम्, नासिकाभ्याम्	नोभ्यः, नासिकाभ्यः
द्वि०	नासिकाम्	नासिके	नसः, नासिकाः	ष०	नसः, नासिकायाः	नसोः, नासिकयोः	नसाम्, नासिकानाम्
तृ०	नसा, नासिकया	नोभ्याम्, नासिकाभ्याम्	नोभिः, नासिकाभिः	स०	नसि, नासिकायाम्	नसोः, नासिकयोः,	नःसु, नस्सु, नासिकासु
च०	नसे, नासिकायै	नोभ्याम्, नासिकाभ्याम्	नोभ्यः, नासिकाभ्यः	सं०	हे नासिके	हे नासिके	हे नासिकाः

७—इसी तरह 'निशा' शब्द के 'सर्वनाम-स्थान' में रूप 'रमा' शब्द के समान बनेंगे। आगे प्रक्रिया इस प्रकार है—(क) निशा+अस् (शस्), <निश्+अस्, <निशस्, <निशः (रु, विसर्ग)। पक्ष में निशाः। (ख) निशा+(आ) टा, निश्+आ <निशा। पक्ष में निशया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२९४) व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः ८।२।३६ ॥ व्रश्चादीनां सप्तानां छशान्तयोश्च षकारोऽन्तादेशः स्याज्झलि पदान्ते च । पस्य जश्त्वेन डः—निड्भ्याम् । निड्भिः । सुपि 'डः सि धुट्' (सू० १३१) इति पक्षे धुट् । चर्त्वम् । तस्यासिद्धत्वात् 'चयो द्वितीया—' (वा ५०२३) इति टतयोर्थो न । 'न पदान्ताट्टोः—' (सू० ११४) इति ष्टुत्वं न । निट्त्सु—निट्सु । (२९५) ष[illegible]ः कः सि ८।२।४१ ॥ पस्य ढस्य च कः स्यात्सकारे

(२९४) व्रश्चभ्रस्ज । व्रश्चादयः सप्त धातवः । छशौ वर्णौ, ताभ्यां शब्दरूपविशेष्यमादाय तदन्तविधिः । 'झलो झलि' इत्यतो झलीत्यनुवर्तते । पदस्येत्यधिकृतम् । 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इत्यतः अन्ते इत्यनुवर्तते । तदाह—व्रश्चादीनामिति । अन्तादेश इत्यलोऽन्त्यसूत्रलभ्यम् । पस्य जश्त्वेन ड इति । प्रकृतसूत्रेण शस्य पत्वे तस्य पकारस्य 'स्वादिषु' इति पदत्वात् 'झलाञ्जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन स्थानसाम्याड्डुकारे निड्भ्यामित्यादि रूपमित्यर्थः । सुपीति । निश् सु इति स्थिते 'व्रश्च' इति पत्वे तस्य जश्त्वेन डकारे 'डस्सि धुट्' इति कदाचित् धुडागमः । चर्त्वमिति । डधयोः इति शेषः । स्थानसाम्यात् डस्य टः, धस्य तः । तस्येति । चर्त्वस्येत्यर्थः । ठथौ नेति । धुडभावपक्षे टस्य ठो न, धुट्पक्षे तस्य थो नेत्यर्थः । 'नादिन्याक्रोशे' इति सूत्रस्थभाष्ये 'चयो द्वितीयाः' इत्यस्य पाठदर्शनात् तदपेक्षया चर्त्वस्य परत्वम् । अथ तकारस्य ष्टुत्वेन टकारमाशङ्क्य आह—न पदान्तादिति । स्वादिषु इति पदत्वं बोध्यम् । निट्त्सु इति । धुट्पक्षे रूपम् । तदभावपक्षे तु निट्सु ।

(२९५) तत्र धुडभावपक्षे निश् सु इति स्थिते 'व्रश्च' इति षत्वे तस्य पकारस्य

(२९४) पद—व्रश्च···छशां, षः । अनुवृत्ति—झलि, अन्ते, पदस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—झल् पर रहते या पदान्त में √व्रश्च् आदि सात धातुओं तथा छकारान्त एवं शकारान्त को षकार अन्तादेश होता है । 'ष्' को जश्त्व होकर 'ड्' हुआ । निड्भ्याम् । निड्भिः । 'सुप्' में "डः सि" सूत्र से पक्ष में 'धुट्' आगम तथा चर्त्व-विधि । उसके असिद्ध होने से "चयो द्वितीयाः" के अनुसार 'ट्' तथा 'त्' के स्थान पर 'ठ्' तथा 'थ्' नहीं होते । "न पदान्ताट्टोः" सूत्र से ष्टुत्व का निषेध होता है । निट्त्सु, निट्सु ।

विवरण—अनुवृत्ति द्वारा लाये गए पदों से सूत्रार्थ संपन्न होता है । अतः "झलो झलि" (८-२-२६) सूत्र से 'झलि' तथा "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च" (८-२-२९) सूत्र से 'अन्ते' पद की अनुवृत्ति की जाती है । "पदस्य" (८-१-१६) का अधिकारक्षेत्र है । तदनुसार समष्टिरूप में अर्थ होता है—"झल् पर रहते अथवा पदान्त में √व्रश्च् (=काटना), √भ्रस्ज् (=भूनना), √सृज् (=उत्पन्न करना), √मृज् (=पवित्र करना), √यज् (=यज्ञ करना), √राज् (=शोभित होना) √भ्राज्, (=प्रदीप्त होना) धातुओं तथा छकारान्त एवं शकारान्त शब्दों के स्थान पर 'ष्' आदेश होता है" । "अलोन्त्यस्य" की उपस्थिति से आदेश अन्त्य-वर्ण के स्थान पर होगा । उदाहरण—(क) निशा+भ्याम्, <निड्भ्याम् (ष् = ड्—जश्त्व—'झलां जशोऽन्ते"—८४) । पक्ष में निशाभ्याम् । (ख) निशा+भिस्, <निश्+भिस्, (निशा = निश), <निष्+भिस् (श् = ष्), <निड्+भिस् (ष् = ड्—जश्त्व), <निड्भिः (स् = र् = :) । पक्ष में निशाभिः । (ग) निशा+सु (सुप्), <निश्+सु, <निष्+सु, <निड्+सु, <निड्+ध्-सु ('धुट्'-आगम—"डः सि धुट्" १३२), <निट्त्सु—(चर्त्व-ड = ट्, ध् = त्) । धुट् आगम न होने पर निट्सु ।

विशेष—"खरि च" (८-४-५५) सूत्र से विधीयमान कार्य "चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्" वार्तिक की वृष्टि में असिद्ध होने के कारण 'त्' के स्थान पर 'थ्' नहीं हुआ । इसी तरह 'धुट्' के न होने पर 'ट्' के स्थान पर द्वितीय वर्ण 'ठ्' भी नहीं हुआ ।

(२९५) पद—षढोः, कः, सि । विधिसूत्र ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परे। इति तु न भवति, जश्त्वं प्रत्यसिद्धत्वात्। केचित्तु व्रश्चादिसूत्रे 'दादेर्धातोः—' (सू ३२५) इति सूत्राद् 'धातोः' इत्यनुवर्तयन्ति। तन्मते जश्त्वेन जकारे—निज्भ्याम्, निज्भिः। 'चोः कुः' (सू ३७८) इति कुत्वं तु न भवति, जश्त्वस्यासिद्धत्वात्। जश्त्वम्, श्चुत्वम्, चर्त्वम्—निच्शु। निच्छु। 'मांसपूतनासानूनां मांसपूत्स्नवो वाच्याः शसादौ वा' (३४९६)। पूतः। पूता। पूद्भ्याम्। पक्षे सुटि च रमावत्। गोपा

जश्त्वात् प्राक् ककारमाशङ्क्तिुमाह—षढोः कः सि। पश्च ढश्चेति द्वन्द्वः। सि इति सप्तमी। तदाह—एस्येत्यादिना। इति तु न भवतीति। पकारस्य ककारो न भवतीत्यर्थः। जश्त्वं प्रत्यसिद्धत्वादिति। 'झलाञ्जशोऽन्ते' इत्यपेक्षया 'षढोः कः सि' इत्यस्य परत्वादिति भावः। शसादिषु निशादेशाभावपक्षे सुटि च रमावत्। व्रश्चादिसूत्रे मतान्तरमाह—केचित्त्विति। 'एकाचो बशः' इत्युत्तरसूत्रे धातोरित्यस्यानुवृत्त्या मध्येऽपि तदनुवृत्तेरौचित्यादिति भावः। अनुवृत्तं च धातोरित्येतत् छशयोरेव विशेषणम्, व्रश्चादिषु धातुत्वाव्यभिचारात्। जश्त्वेनेति। निश् भ्यामित्यादौ निश् इत्यस्य धातुत्वाभावात् षत्वाभावे 'झलाञ्जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन शकारस्य स्थानसाम्यात् जकार इत्यर्थः। निज् भ्यामित्यत्र कुत्वमाशङ्क्याह—कुत्वं तु नेति। जश्त्वस्यासिद्धत्वादिति। कुत्वं प्रतीति शेषः। निच्शु इति। निश् सु इति स्थिते शस्य जश्त्वेन जः, सस्य श्चुत्वेन शः, जस्य चर्त्वेन चः, शस्य छत्वविकल्पः। मांसपूतना। मांस पूतना सानु इत्येतेषां मांस् पूत् स्नु इत्यादेशा वाच्या इत्यर्थः। 'पद्दन्नो' इति सूत्रे वार्तिकमेतत्। अत एवाह—शसादौ वेति। पद्दन्निति सूत्रस्य शसादौ विकल्पेन प्रवृत्तेरिति भावः। मांससानुशब्दयोरस्त्रीलिङ्गत्वात् पूतनाशब्दस्यैव शसादौ पूदादेशमुदाहरति—पूत इति। पक्षे इति। पूदादेशाभावपक्षे इत्यर्थः। गोपा विश्वपावदिति। आबन्तत्वाभावात् न

मूलार्थ—सकार पर रहते 'ष्' तथा 'ढ्' को 'क्' होता है। 'जश्'-विधान के प्रति असिद्ध होने के कारण यहाँ यह विधि नहीं होती। कुछ आचार्य इस सूत्र में "दादेर्धातोर्घः" (८-२-३२) सूत्र से 'धातोः' पद की अनुवृत्ति लाते हैं। उनके मत में 'जश्'-विधान होने से 'निज्भ्याम्' 'निज्भिः' रूप बनते हैं। सप्तमी बहुवचन में 'जश्'-विधान, श्चुत्व तथा चर्त्व होने पर 'निच्शु' रूप बनता है। 'जश्त्व' असिद्ध होने के कारण "चोः कुः" से कवर्ग नहीं होता। वा० शसादि विभक्ति पर रहते मांस, पूतना तथा सानु शब्दों के स्थान पर क्रमशः मांस्, पूत् एवं स्नु आदेश विकल्प से होते हैं। पूतः। पूता। पूद्भ्याम्। पक्ष में तथा सर्वनामस्थान विभक्तियों में रमा शब्द के समान रूप होंगे। 'गोपा' शब्द 'विश्वपा' शब्द के समान समझा जाय। 'मति' शब्द के रूप अधिकतर 'हरि' शब्द के समान बनते हैं। 'स्त्री' लिङ्ग होने के कारण 'शस्' विभक्ति के 'स्' = 'न्' नहीं होता—मतीः। 'ना'भाव भी नहीं—मत्या।

विवरण—सूत्र स्वतः पूर्ण है। स्थानी हैं 'ष्' तथा 'ढ्' (षढोः) एवम् आदेश है 'क्'। 'स्' का पश्चाद्वर्ती होना निमित्त है। फलतः 'स्' परवर्ती होने की स्थिति में उससे अव्यवहित पूर्व 'ष्' और 'ढ्' के स्थान पर 'क्' आदेश होता है। उपर्युक्त उदाहरण के मध्य निष्+सु—इस स्थिति में प्रकृत सूत्र (८-२-४१) से 'ष्' = 'क्' आदेश तथा 'जश्त्व'-विधि (८-२-३९) से 'ष्' = 'ड्'-दोनों ही प्राप्त होते हैं। किन्तु 'जश्त्व' की दृष्टि में 'क्'-विधान 'पर' होने कारण असिद्ध होने से यहाँ नहीं होता।

विशेष—कुछ आचार्य "दादेर्धातोर्घः" (८-२-३२) सूत्र से 'ष्'-विधायक सूत्र "व्रश्च भ्रस्ज०" (८-२-३६) में 'धातोः' पद की अनुवृत्ति लाते हैं। तदनुसार शकारान्त तथा छकारान्त शब्द भी धातु-वाची ही अपेक्षित होंगे। फलतः 'निश्+भ्याम्' स्थिति में 'श्'='ष्' प्राप्त नहीं होगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वपावत् । इत्यादन्ताः । मतिशब्दः प्रायेण हरिवत् । स्त्रीत्वान्नत्वाभावः—मतीः । नात्वं न—मत्या । (२९६) ङिति ह्रस्वश्च १ । ४ । ६ ॥ इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्द-

---

न सुलोप इत्यर्थः । इत्यादन्ताः । अथ इदन्ता निरूप्यन्ते । मतिशब्दः प्रायेण हरिवदिति । प्रायशब्दो बहुलपर्यायः । 'प्रायो भूम्नि' इत्यमरः । इह तु ईपदूनत्वे वर्तते । प्रकृत्यादित्वात्तृतीया । मतिशब्द ईपदूनहरिशब्दवत् प्रत्येतव्य इत्यर्थः । शसि विशेषमाह—स्त्रीत्वान्नत्वाभाव इति । 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इति नत्वस्य पुंस्त्वे विधानादिति भावः । तृतीयैकवचने घित्वान्नाभावमाशङ्क्याह—नात्वं नेति । 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इति नात्वविधौ अस्त्रियामिति पर्युदासादिति भावः ।

(२९६) इदन्तत्वात् 'यू स्त्र्याख्यावि'ति नदीत्वे अप्राप्ते ङित्सु तद्विकल्पं दर्शयितुमाह—ङिति ह्रस्वश्च । अत्र चकाराद्वाक्यद्वयमिदम् । तथा हि—'यू स्त्र्याख्यौ नदी' इत्यनुवर्तते । ईश्च, ऊश्च यू । 'दीर्घाज्जसि च' इति पूर्वसवर्णदीर्घनिषेधाभावश्छान्दसः । स्त्रिय-

---

उस मत में (जश्त्व) 'श्' = 'ज्' होकर 'निजभ्याम्' आदि रूप निष्पन्न होंगे । तथा सप्तमी के बहुवचन में निश्+सु, <निज्+सु (जश्त्व-'श्'='ज्), निज्+शु (श्चुत्व-'स्'='श्), <निच्शु (चर्त्व-'ज्'='च्) । 'श' के स्थान पर 'छ्' ("शश्छोऽटि"-१२०) होने से पक्ष में निच्छु । यहाँ 'च्' के स्थान पर 'क्' ("चोः कुः"-८-२-३०) आदेश की आशंका निर्मूल है, क्योंकि 'कवर्ग'-विधि की दृष्टि में जश्त्व-विधान (८-२-३९) अष्टाध्यायी-क्रम में पर होने से असिद्ध है ।

निर्देश—१-प्रसङ्ग-वश कुछ आकारान्त शब्दों से सम्बद्ध विशेष कार्यों का उल्लेख किया जारहा है । सर्वप्रथम 'पृतना' (= सेना) शब्द के प्रसङ्ग में वार्तिक द्वारा विधान किया जारहा है कि शसादि विभक्तियों (द्वितीया बहुवचन से आरम्भ कर सप्तमी बहुवचन पर्यन्त) में १—मांस = मांस्, २—पृतना = पृत् तथा ३—सानु = स्नु आदेश विकल्प से होते हैं । **उदाहरण**—(क) पृतना+अस् (शस्), <पृत्+अस् (पृतना = पृत्), <पृतस्, <पृतर् (स् = र्), पृतः (र् = :) । पक्ष मे पृतनाः । (ख) पृतना+आ (टा), <पृत्+आ, <पृता । पक्ष में पृतनया । (ग) पृतना+भ्याम्, <पृत्+भ्याम्, <पृद्भ्याम् (त् = द्-जश्त्व) । पक्ष में पृतनाभ्याम् । शेष रूपों में से सर्वनामस्थान-विभक्तियों में एवं सम्बोधन में 'रमा' शब्द के समान तथा तृतीया बहुवचन से सप्तमी बहुवचन पर्यन्त उपर्युक्त रूपों की तरह दोनों प्रकार से रूप बनेंगे ।

२—'गोपा' शब्द के रूप 'विश्वपा' शब्द के समान सिद्ध होते हैं । आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का विवरण समाप्त हुआ ।

३—ह्रस्व इकारान्त शब्दों का विवरण आरम्भ होता है । सर्व प्रथम 'मति' शब्द की रूप-सिद्धि के सन्दर्भ में यह सूचनीय है कि इस शब्द की प्रक्रिया प्रायः 'हरि' शब्द के समान है । 'सुट्' (सर्वनामस्थान-विभक्तियों) में 'मति' शब्द के रूप 'हरि' शब्द के समान बनते हैं । तदनन्तर विशेष कार्यों का उल्लेख किया जा रहा है । (क) द्वितीया बहुवचन में मति+अस् (शस्), <मतीस् (इ+अ = 'ई' पूर्वसवर्ण दीर्घ), <मतीर्, <मतीः । 'स्त्री' लिङ्ग होने के कारण 'स्' = 'न्' नहीं हुआ । (ख) मति+आ (टा), <मत्या—इ = य्-यण् । यहाँ पर भी 'टा'='ना' नहीं हुआ, क्योंकि "आङो नाऽस्त्रियाम्" (२४४) सूत्र भी स्त्रीलिङ्ग-वाची शब्दों में प्रवृत्त नहीं होता ।

(२९६) पद—ङिति, ह्रस्वः, च । **अनुवृत्ति**—यू, स्त्र्याख्यौ, नदी, इयङुवङ्स्थानौ, अस्त्री, वा । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—ङित्-विभक्तियों में 'इयङ्' या 'उवङ्' के स्थानी स्त्रीशब्द से भिन्न नित्य स्त्रीलिङ्ग ईकारान्त एवं ऊकारान्त तथा ह्रस्व इकारान्त एवं उकारान्त (शब्दों) को (स्त्रीलिङ्ग में) विकल्प से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ ह्रस्वौ चेवर्णोवर्णौ स्त्रियां वा नदीसंज्ञौ स्तो ङिति परे। 'आण्नद्याः' (सू २६८)। मत्यै—मतये। मत्याः—मतेः। मत्याः—मतेः। नदीत्वपक्षे

सेवाचक्षाते स्म्याख्यौ नित्यस्त्रीलिङ्गाविति यावत्। 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति सूत्रं नञ्वर्जमनुवर्तते। इयङुवङोः स्थानं स्थितिर्ययोस्ताविति विग्रहः। इयङुवङ्प्राप्तियोग्यावित्यर्थः। 'वामि' इत्यतो वेत्यनुवर्तते। ततश्च इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ नदीसंज्ञौ वा स्तो ङिति परे इति वाक्यमेकं सम्पद्यते। पुनरपि यू इत्यनुवर्तते। इश्च उश्च यू। ह्रस्व इति तत्र प्रत्येकमन्वेति। स्म्याख्याविति चानुवर्तते। स्त्रीलिङ्गावित्येतावदेव विवक्षितम्। न तु नित्यस्त्रीलिङ्गाविति, व्याख्यानात्। 'वामि' इत्यतो वेति चानुवर्तते। ततश्च स्त्रीलिङ्गौ ह्रस्वौ चेवर्णोवर्णौ नदीसंज्ञौ वा स्तो ङिति परे इति वाक्यान्तरं सम्पद्यते। तदाह—इयङुवङ्स्थानावित्यादिना। द्वितीयवाक्येऽपि स्त्रीलिङ्गे नित्यत्वविशेषणे तु इष्वशन्यरणिप्रभृतीनामुभयलिङ्गानां पटुलघुप्रभृतीनां त्रिलिङ्गानां च ङिति नदीत्वविकल्पो न स्यादिति बोध्यम्। तत्र ह्रस्वयोरप्राप्ते दीर्घयोस्तु 'नेयङुवङ्स्थानौ' इति निषेधादप्राप्ते नदीत्वे विभाषेयम्। नदीत्वपक्षे आह—आण्नद्या इति। सति ए इति स्थिते आटि वृद्धौ यणि च सिद्धं रूपमाह—मत्यै इति। मतये इति। नदीत्वाभावपक्षे 'शेषो घ्यसखि' इति घित्त्वात् घेर्ङितीति गुणे अयादेशे हरिशब्दवद्रूपम्। नदीत्वपक्षे ङसिङसोरादि वृद्धिराकारः, यण्—मत्याः। नदीत्वाभावे—मतेः। आमि नदीत्वाभावेऽपि ह्रस्वान्तत्वान्नुटि दीर्घः—मतीनाम्। ङौ विशेषमाह—नदीत्वपक्षे इति। नदीत्वपक्षे घित्त्वा-

---

'नदी'—संज्ञा होती है। "आण् नद्याः"—आट् आगम। मत्यै—मतये। मत्याः—मतेः। मत्याः—मतेः। 'नदी'—संज्ञा होने पर "औत्" सूत्र से ङि = औ आदेश प्राप्त होता है।

विवरण—प्रकृत सूत्र में दो वाक्य हैं। पहले वाक्य के निर्देशन में सम्पूर्ण "यू स्म्याख्यौ नदी" (१-४-३) सूत्र, "नेयङुवङ्स्थानावस्त्री" (१-४-४) सूत्र से 'इयङुवङ्स्थानौ' एवं 'अस्त्री' पद तथा "वामि" (१-४-२) सूत्र से 'वा' पद की अनुवृत्ति की जाती है। विशेषण-वाचक पदों की परस्पर योजना से प्रथम-वाक्य की शब्दावलि इस प्रकार होती है—'इयङुवङ्स्थानौ स्म्याख्यौ स्त्रीशब्दभिन्नौ (अस्त्री) ईदूतौ (यू) नदी संज्ञौ (नदी) वा स्तः ङिति'। तदनुसार प्रथम वाक्य से अभिप्रेत अर्थ के अनुसार "स्त्रीशब्द के अतिरिक्त इयङ्-उवङ्-स्थानिक नित्य स्त्रीलिङ्गी दीर्घ ईकार और ऊकार की ङे, ङसि, ङस्, और ङि प्रत्ययों के परवर्ती होने की स्थिति में विकल्प से 'नदी' संज्ञा होती है"। द्वितीय वाक्य की योजना में 'यूस्म्याख्यौ' 'इयङुवङ् स्थानौ' तथा 'वा' पद अनुवृत्ति द्वारा गृहीत हैं। किन्तु यहाँ पर पदों का अर्थ कुछ भिन्न है। 'स्म्याख्यौ' का अर्थ 'स्त्रीलिङ्ग-वाची' है। 'यू' शब्द 'इ'कार एवम् 'उ'कार का बोधक है (इश्च उश्च = यू)। सूत्रस्थ 'ह्रस्व' पद का सम्बन्ध 'इ' तथा 'उ' दोनों के साथ है। 'इयङुवङ्स्थानी' पद भी यद्यपि 'इ' 'उ' का विशेषण है। इस तरह दूसरे वाक्य का स्वरूप इस तरह है—'इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीलिङ्गौ ह्रस्वौ च इदुतौ ङिति नदी संज्ञौ वा स्तः'। अर्थात् इयङ्-उवङ्-स्थानिक स्त्रीलिङ्गवाची ह्रस्व इकारान्त एवं उकारान्त शब्द ङित्-विभक्तियों में स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से नदीसंज्ञक होते हैं। **उदाहरण**—(क) मति+ए (ङे), <मति+आ-ए ('नदी' संज्ञा का फल आट् आगम—"आण् नद्याः"—२६८), <मति+ऐ (आ+ए = ऐ—वृद्धि—"आटश्च" (२६९), <मत्यै (यण्)। नदी संज्ञा न होने पर पक्ष में मतये। 'घि'-संज्ञा होने के कारण गुण, 'अय्' आदेश। (ख) मति+अस् ('ङसि' तथा 'ङस्'), <मति+आ-अस्, ('आट्' आगम) <मति+आस् (वृद्धि), मत्यास् (यण्), <मत्यार्, <मत्याः। 'नदी' संज्ञा न होने पर—मतेः। पूर्ववत् 'घि' संज्ञा, गुण, पूर्वरूप।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'औत्' (सू २५६) इति ङेरौत्वे प्राप्ते । (२९७) इदुद्भ्याम् ७ । ३ । ११७ ॥ नदीसंज्ञकाभ्यामिदुद्भ्यां परस्य ङेराम् स्यात् । पक्षे 'अच्च घेः' (सू २४७) । मत्याम्—मतौ । एवं श्रुत्यादयः । (२९८) त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ७ । २ । ९९ ॥

भावात् 'अच्च घेः' इति अत्त्वसन्नियोगशिष्टमौत्त्वं न भवति, किन्तु ङेरामिति प्राप्तं, तद् बाधित्वा औदिति केवलमात्त्वे परत्वात् प्राप्ते सतीत्यर्थः ।

(२९७) इदुद्भ्याम् । 'ङेराम्' इति सूत्रान्नदीग्रहणं ङेराम् इति चानुवर्तते । तदाह—नदीसंज्ञकाभ्यामित्यादिना । पक्षे इति । नदीत्वाभावपक्षे 'अच्च घेः' इत्यत्त्वसन्नियोगशिष्टमौत्त्वमित्यर्थः । मत्याम्, मताविति । नदीत्वे तदभावे च रूपम् । मत्यामित्यत्र सन्निपातपरिभाषाया अनित्यत्वाद्यण् । एवं श्रुत्यादय इति । आदिना स्मृत्यादिसङ्ग्रहः ।

(२९८) त्रिचतुरोः । एतयोरेताविति । त्रिचतुरोः तिसृ चतसृ इत्येतावित्यर्थः । विभक्ताविति । 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । जश्शसोः—तिसृ अस् इति स्थिते ।

(ग) मति+ङि—इस अवस्था में 'नदी' संज्ञा करने पर "औत्" (२५६) सूत्र से 'ङि' के स्थान पर 'औ' आदेश प्राप्त होता है ।

(२९७) पद—इदुद्भ्याम् । अनुवृत्ति—नदी, ङेः, आम् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'नदी' संज्ञक 'इ' तथा 'उ' से परवती 'ङि' के स्थान पर 'आम्' होता है । पक्ष में "अच्च घेः" सूत्र से 'इ' = 'अ' तथा 'ङि' = औ । मत्याम्—मतौ । इसी तरह श्रुति, स्मृति आदि शब्दों के रूप होंगे ।

विवरण—स्थानी तथा आदेश—दोनों को जानने के लिए अनुवृत्ति करनी पड़ती है । अतः "ङेराम् नद्यामीभ्यः" (७-३-११६) सूत्र से 'नदी', 'ङेः' तथा 'आम्' पदों की अनुवृत्ति की जाती है । 'नदी' शब्द को विभक्ति-विपरिणाम द्वारा 'पञ्चमी' विभक्ति में परिवर्तित किया जाता है । तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि 'नदीसंज्ञक ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्दों से पर 'ङि' के स्थान पर 'आम्' आदेश होता है' । उदाहरण—(क) मति+ङि, <मति+आम् (ङि = आम्), मत्याम् (यण्) । 'नदी'-संज्ञा के अभाव में 'मतौ' । 'घि' संज्ञा होने से 'ङि' विभक्ति में "अच्च घेः" (२४७) सूत्र से 'मति' का 'इ' = 'अ' तथा 'ङि' = औ । पुनः वृद्धि हुई (अ+औ = औ) ।

'मति' शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	मतिः	मती	मतयः
द्वि०	मतिम्	मती	मतीः
तृ०	मत्या	मतिभ्याम्	मतिभिः
च०	मत्यै, मतये	मतिभ्याम्	मतिभ्यः
पं०	मत्याः, मतेः	मतिभ्याम्	मतिभ्यः
ष०	मत्याः, मतेः	मत्योः	मतीनाम्
स०	मत्यां, मतौ	मत्योः	मतिषु
सं०	हे मते	हे मती	हे मतयः

निर्देश—श्रुति, स्मृति आदि शब्दों के रूप इसी तरह जाने जायँ ।

विशेष—यह सूत्र "औत्" (२५६) का बाधक है ।

(२९८) पद—त्रिचतुरोः, स्त्रियाम्, तिसृचतसृ । अनुवृत्ति—विभक्तौ । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—विभक्तियाँ पर रहते स्त्रीलिङ्ग में 'त्रि' तथा 'चतुर्' के स्थान पर क्रमशः 'तिसृ' तथा 'चतसृ' आदेश होते हैं ।

विवरण—सूत्र के अनुसार दो स्थानी हैं—'त्रि' तथा 'चतुर्' । तथा दो ही आदेश हैं—'तिसृ' तथा 'चतसृ' । निमित्त-वाचक पद 'विभक्तौ' की अनुवृत्ति "अष्टन आ विभक्तौ" (७-२-८४) सूत्र से की जाती है । अतः "यथासंख्यमनुदेशः समानाम्" (१२८) परिभाषा की उपस्थिति से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्त्रीलिङ्गयोरेतयोरेतावादेशौ स्तो विभक्तौ परतः । (२९९) **अचि र ऋतः ७।२।१००॥** तिसृ चतसृ एतयोर्ऋकारस्य रेफादेशः स्यादचि । गुणदीर्घोत्त्वानामपवादः । तिस्रः । तिस्रः । आमि 'नुमचिर—' (वा ४३७४) इति नुट् । (३००) **न तिसृचतसृ ६।४।४॥** तिसृ चतसृ एतयोर्नामि दीर्घो न स्यात् ।

---

(२९९) अचि र ऋतः । पूर्वसूत्रात् तिसृचतसृ इत्यनुवर्तते । तच्चेह लुप्तषष्ठीकमाश्रीयते । तदाह—तिसृ इत्यादिना । ननु 'इको यणचि' इत्येव सिद्धमित्यत आह—गुणदीर्घोत्त्वानामपवाद इति । 'ऋतो ङि' इति गुणस्य 'प्रथमयोः इति पूर्वसवर्णदीर्घस्य 'ऋत उत्' इत्युत्त्वस्य च रत्वमपवाद इत्यर्थः । तिस्र इति । जश्शसोः रूपम् । तत्र जसि 'ऋतो ङि' इति गुणस्य रत्वमपवादः । शसि तु 'प्रथमयोः' इति पूर्वसवर्णदीर्घस्य रत्वमपवादः । आमीति । तिसृ आम् इति स्थिते नुटं बाधित्वा 'अचि र ऋतः' इति रत्वे तिस्रामिति प्राप्ते 'नुमचिरतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इति रत्वं बाधित्वा नुडित्यर्थः । तिसृ नामिति स्थिते 'नामि' इति दीर्घे प्राप्ते ।

(३००) न तिसृचतसृ । तिसृचतसृ इति लुप्तषष्ठीकं पदम् । 'ढ्रलोपे' इत्यतो दीर्घ इत्यनुवर्तते । 'नामि' इति सूत्रं चानुवर्तते । तदाह—तिसृ इत्यादिना । तिसृणामिति ।

"स्त्रीलिङ्ग में विभक्तियाँ पर रहते 'त्रि' = 'तिसृ' तथा 'चतुर्' = 'चतसृ' आदेश होते हैं ।" **उदाहरण**—त्रि+जस्, <तिसृ+जस् (त्रि = तिसृ)—इस प्रकार 'तिसृ' आदेश होने पर "ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः" (२७५) सूत्र से 'गुण' प्राप्त होता है (उसका बाध किया जारहा है)।

(२९९) **पद**—अचि, रः, ऋतः । **अनुवृत्ति**—तिसृ-चतसृ । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'अच्' के परवर्ती होने में 'तिसृ' तथा 'चतसृ' सम्बन्धी 'ऋ' के स्थान पर 'र्' आदेश होता है । गुण, दीर्घ तथा उ-विधि का यह अपवाद है । तिस्रः । तिस्रः । 'आम्' विभक्ति में 'नुमचिर०' के अनुसार 'नुट्' आगम होता है ।

विवरण—स्थानी है 'तिसृ' तथा 'चतसृ' शब्द-सम्बन्धी 'ऋ'कार । आदेश है—'र्' । अतः 'ऋ' के साकाङ्क्ष 'तिसृ'-'चतसृ'-दोनों पदों की अनुवृत्ति "त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ" (७-२-९९) सूत्र से (विभक्ति-विपरिणाम द्वारा) करनी पड़ती है । तदनुसार 'स्वर वर्ण पर रहते 'तिसृ' तथा 'चतसृ' शब्द के 'ऋ' के स्थान पर 'र्' आदेश होगा' । **उदाहरण**—(क) तिसृ+अस् (जस्), <तिस् र्+अस् ('ऋ' = 'र्'), <तिस्रर् (स् = र्), तिस्रः ('र्' = :) । इसी तरह द्वितीया के बहुवचन में भी (ख) तिसृ+अस् (शस्) तिस्रः । (ग) तृतीया में—त्रिभिः । (घ) चतुर्थी में—त्रिभ्यः । (ङ) पञ्चमी में—त्रिभ्यः । (च) षष्ठी में—त्रि+आम्, <तिसृ+न्—आम्—त्रि = तिसृ तथा 'नुट्' आगम । पूर्व-विप्रतिषेध से 'नुट्' आगम 'र्' आदेश का बाधक है ।

विशेष—यह सूत्र "ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः" (२७५) सूत्र से प्राप्त होने वाला गुण, "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" (१७४) सूत्र से प्राप्त होने वाला दीर्घ तथा "ऋत् उत्" (२७९) सूत्र से प्राप्त होने वाले 'उ' का बाधक है । इनमें से दो विधियाँ यहाँ पर क्रमशः प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति में प्राप्त होती हैं । 'प्रियत्रि' शब्द के 'ङसि' तथा 'ङस्' विभक्तियों में 'उ' की प्राप्ति होगी । इन विधियों का बाध होने के कारण यथास्थान 'ऋ' = 'र्' में परिवर्तित होता है ।

(३००) **पद**—न, तिसृचतसृ । **अनुवृत्ति**—दीर्घः, नामि । **विधि(निषेध)सूत्र** ।

मूलार्थ—'नाम्' पर रहते 'तिसृ' तथा 'चतसृ' शब्द को दीर्घ नहीं होता । तिसृणाम् । तिसृषु । 'त्रि' तथा 'चतुर्' शब्दों का 'स्त्रियाम्'-विशेषण होने के कारण—प्रियाः त्रयः त्रीणि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिसृणाम्। तिसृषु। 'स्त्रियाम्' इति त्रिचतुरोर्विशेषणान्नेह—प्रियास्त्रयस्त्रीणि वा यस्याः सा प्रियत्रिः। मतिशब्दवत्। आमि तु 'प्रियत्रयाणाम्' इति विशेषः। 'प्रियास्तिस्रो यस्य सः' इति विग्रहे तु—प्रियतिसा, प्रियतिस्रौ, प्रियतिस्रः। प्रियतिस्रमित्यादि। प्रियास्तिस्रो यस्य तत्कुलं प्रियत्रि। स्वमोर्लुका लुप्तत्वेन प्रत्ययलक्षणाभावान्न तिस्रादेशः।

'ऋवर्णान्नस्य' इति णत्वम्। ननु 'अचि र' इति रत्वम् 'ऋत उत्' इति उत्वस्य कथमपवादः स्यात् उत्वस्य ङसिङसोरेव प्राप्तेः त्रिचतुरशब्दयोश्च नित्यं बहुवचनान्तत्वेन ङसिङसोरभावादिति चेत्? न, 'प्रियतिस्रः' इत्यादिबहुव्रीहौ तत्सत्त्वात्। तच्चानुपदमेव वक्ष्यते। ननु प्रियाः त्रयः त्रीणि वा यस्याः सा प्रियत्रिः इति बहुव्रीहावपि तिस्रादेशः कुतो न स्यादित्यत आह—स्त्रियामित्यादि। प्रियत्रिशब्दो हि स्त्रीलिङ्गः। स्त्रियामिति त्रिचतुरोर्विशेषणम्, न तु तदन्तयोः, प्रमाणाभावात्। न चाङ्गत्वात्तदन्तलाभ इति वाच्यम्? एवमपि त्रिचतुरोरेव प्रत्यक्षश्रुतत्वेन स्त्रियामित्यस्य तद्विशेषणताया एवोचितत्वादिति भावः। 'डिति ह्रस्वश्च' इति नदीत्वविकल्पं मत्वाह—मतिशब्दवदिति। आमि त्विति। षष्ठीबहुवचने 'त्रेस्त्रयः' इति त्रयादेशस्य आङ्गत्वेन तदन्तेऽपि प्रवृत्तेरिति भावः। एवं च स्त्रियामित्यस्य त्रिचतुरन्ताङ्गविशेषणत्वे प्रियत्रिशब्दे पुंनपुंसकलिङ्गत्रिशब्दगर्भबहुव्रीहौ अतिव्याप्तिः स्यादिति त्रिचतुरोरेव स्त्रियामिति विशेषणमिति स्थितम्। अथ स्त्रीलिङ्गत्रिशब्दगर्भबहुव्रीहौ अव्याप्तिनिरासार्थमपि स्त्रियामिति त्रिचतुरोरेव विशेषणम्, न तु तदन्तयोरिति मत्वाह—प्रियास्तिस्र इत्यादि। प्रियतिसेति। समासे सति अन्तर्वर्तिविभक्तेर्लुक्का लुप्तत्वात् तिस्रादेशनिवृत्तौ प्रियत्रिशब्दात् सुः। अत्र प्रियत्रिशब्दस्य पुंल्लिङ्गत्वेऽपि त्रिशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वात्तिस्रादेशः। 'ऋदुशनस्' इत्यनङ्। 'सर्वनामस्थाने च' इति दीर्घः। नलोपः। स्त्रियामित्यस्य त्रिचतुरन्ताङ्गविशेषणत्वे त्वत्राव्याप्तिः स्यादिति भावः। ननु त्रिचतुरन्ताङ्गविशेषणत्वेऽपि नात्राव्याप्तिः प्रियास्तिस्रो यस्येति विग्रहवाक्ये प्रवृत्तस्य तिस्रादेशस्य समासेऽप्यनुवृत्तिसम्भवात् इति चेत्? मैवम्, लौकिकवाक्यं हि परिनिष्ठितत्वात् समासस्य न प्रकृतिः किन्तु अलौकिकमेव प्रक्रियावाक्यम्। ततश्च प्रिया अस् त्रि अस् इत्यलौकिकप्रक्रियावाक्ये समासप्रवृत्तौ 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते' इति परिभाषया तिस्रादेशं बाधित्वा विभक्तिलुकि प्रियत्रिशब्दात् समासात् सुबुत्पत्तौ त्रिचतुरोरित्यस्याङ्गत्वात् तदन्तविधावपि 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इति परिभाषया त्रिशब्दस्य तिस्रादेशः। स च स्त्रियामित्यस्य त्रिचतुरन्ताङ्गविशेषणत्वे सति न स्यात् प्रियत्रिशब्दस्याङ्गस्य पुँल्लिङ्गत्वात्। सति चात्र तिस्रादेशे 'नद्यृतश्च' इति कप् न। स हि समासान्तत्वात् समासवदलौकिकविग्रहवाक्ये प्रवृत्तिमर्हति। तदानीं च उत्तरपदस्य ऋदन्तत्वाभावान्न कप्। अन्तर्वर्तिविभक्तेर्लुका लुप्तत्वेन प्रत्ययलक्षणाभावाच्च जस्निमित्तकतिस्रादेशस्याभावात्। न चाकृते समासान्ते कपि प्रियत्रिशब्दात् सुबुत्पत्तौ

वा यस्याः सा—बहुव्रीहि-समास-युक्त 'प्रियत्रि' शब्द में 'तिसृ' आदेश नहीं होता। 'प्रियत्रिः' आदि रूप 'मति' शब्द के समान होते हैं। 'आम्' में प्रियत्रयाणाम्। 'प्रियाः तिस्रः यस्य सः' विग्रह में स्त्रीलिङ्गवाची 'त्रि' शब्द का प्रयोग करने से 'त्रि' शब्द को 'तिसृ' आदेश होकर प्रथमा एकवचन में 'प्रियतिसा' रूप बनेगा। आगे प्रियतिस्रौ, प्रियतिस्रः। प्रियतिस्रम्। इत्यादि। प्रियाः तिस्रः यस्य तत् कुलं—'प्रिय हैं तीन स्त्रियाँ जिसको ऐसे व्यक्ति का कुल' अर्थ की अपेक्षा में प्रथमा तथा द्वितीया एकवचन में प्रियत्रि। यहाँ पर 'सु' तथा 'अम्' विभक्तियों का लोप होने से प्रत्ययलक्षण न होने के कारण 'तिसृ' आदेश नहीं होता। "न लुमताङ्गस्य" (२६३) निषेध अनित्य होने से पक्ष में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'न लुमता—' (सू २६३) इति निषेधस्यानित्यत्वात्पक्षे प्रियतिसृ। 'रत्वात्पूर्वविप्रतिषेधेन नुम्' (वा ५०३६)। प्रियतिसृणी, प्रियतिसृणि। तृतीयादिषु वक्ष्यमाणपुंवद्भाव-

---

तिस्रादेशे सति कप् शङ्क्यः। अकृते कपि समासान्ते समासत्वस्यैवानिष्पत्त्या ततः सुबुत्पत्तेरसम्भवादित्यास्तां तावत्। प्रियतिस्राविति। गुणं बाधित्वा रत्वम्। प्रियतिस्र इति। जसि पूर्वसवर्णदीर्घं बाधित्वा रत्वम्। प्रियतिस्रमिति। अमि पूर्वरूपं गुणं च बाधित्वा रत्वम्। 'गुणदीर्घोत्वानामपवादः' पूर्वरूपस्याप्युपलक्षणम्। इत्यादीति। प्रियतिस्रौ। प्रियतिस्रः। प्रियतिस्रा। प्रियतिस्रे। ङसिङसोः प्रियतिस्रः इत्येव। 'ऋत उत्' इत्युत्वं बाधित्वा रत्वम्। प्रियतिस्रोः। आमि त्रयादेशं बाधित्वा परत्वात्तिस्रादेशे सति रत्वं बाधित्वा 'नुमचिर' इति नुट्—प्रियतिसृणाम्। प्रियतिस्रि–'ऋतोङि' इति गुणापवादो रत्वम्। प्रियतिस्रोः। ननु प्रियातिस्रो यस्य तत् कुलं प्रियत्रि इति कथम्? त्रिशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वेन तिसृभावप्राप्तेः इत्यत आह—स्वमोर्लुकेति। स्वमोर्नपुंसकात्' इति स्वमोर्लुका लुप्तत्वेन 'न लुमता इति प्रत्ययलक्षणाभावात् विभक्तिपरकत्वाभावान्न तिसृभाव इत्यर्थः। अनित्यत्वादिति। 'न लुमता' इत्यस्यानित्यत्वम् 'इकोऽचि विभक्तौ' इत्यञ्ग्रहणात् इति नपुंसकाधिकारे वक्ष्यते। अजादिविभक्तौ 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमपेक्षया परत्वात् 'अचि र ऋतः' इति रत्वमाशङ्क्याह—रत्वादिति। ल्यब्लोपे पञ्चमी। पूर्वविप्रतिषेधेन रत्वं बाधित्वा नुमित्यर्थः। प्रियतिसृणी इति। रत्वं बाधित्वा नुमि णत्वम्। प्रियतिसृणि इति। जश्शसोरिशिः। रत्वं बाधित्वा नुम्। शेः सर्वनामस्थानत्वान्नान्तलक्षणदीर्घः। णत्वम्

'प्रियतिसृ' रूप बनेगा। 'र्' आदेश की अपेक्षा पूर्व-विप्रतिषेध से नुम्—प्रियतिसृणी, प्रियतिसृणि। तृतीयादि विभक्तियों में पुंवद्भाव के विकल्प होने से पाक्षिक 'नुम्' तथा 'र्'–भाव होंगे। प्रियतिस्रः—प्रियतिसृणा। इत्यादि। 'द्वि' शब्द में 'अकार'–विधान के बाद 'टाप्'। द्वे। द्वे। द्वाभ्याम्। द्वाभ्याम्। द्वाभ्याम्। द्वयोः। द्वयोः। गौरी। गौर्यौ। गौर्यः। 'नदी'–संज्ञा को मानकर होनेवाले कार्य। हे गौरि। गौर्यै इत्यादि। इसी तरह 'वाणी' 'नदी' आदि शब्दों के रूप बनेंगे। परि० प्रातिपदिक का ग्रहण होने पर लिङ्ग-विशेष का भी ग्रहण होने से 'अनङ्' तथा 'णि'द्भाव प्राप्त होते हैं। किन्तु (परि०) विभक्ति में लिङ्गविशिष्ट का ग्रहण नहीं होता। सखी, सख्यौ, सख्यः—इत्यादि 'गौरी' शब्द के समान हैं। 'ङी'–अन्त में न होने के कारण 'स्' (विभक्ति) लोप नहीं हुआ—लक्ष्मीः। अवशिष्ट रूप 'गौरी' शब्द के समान होंगे। इसी तरह 'तरी' 'तन्त्री' आदि शब्दों के रूप जाने जायँ। स्त्री। हे स्त्रि।

विवरण—प्रकृत सूत्र का अर्थ सम्पन्न करने के लिये "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" (६-३-१११) सूत्र से 'दीर्घः' पद तथा "नामि" (६-४-३) सूत्र की पूरी अनुवृत्ति करनी पड़ती है। तदनुसार 'नाम्' ('नुम्'–आगम करने पर 'षष्ठी'-विभक्ति का बहुवचन) पर होने की स्थिति में 'तिस्' (स्त्रीलिङ्ग में 'त्रि' शब्द =) तथा 'चतस्' (स्त्रीलिङ्ग में 'चतुर्' =) शब्द को दीर्घ नहीं होता। "अचश्च" (३५) तथा "अलोन्त्यस्य" (४२) परिभाषाओं की उपस्थिति से इन दोनों शब्दों के अन्त्य 'अच्' (स्वरवर्ण) अर्थात् 'ऋ' को दीर्घ नहीं होगा। **उदाहरण**—तिस्+नाम्—इस स्थिति में 'दीर्घ' का निषेध होने पर 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' (वा०) से न् = ण् <तिसृणाम्। रूप सिद्ध होता है।

विशेष—यह सूत्र "नामि" (६-४-३) का अपवाद है।

निर्देश—१–बहुव्रीहि समास में 'त्रि' एवं 'चतुर्' शब्दों के स्थान पर 'तिस्' एवं 'चतस्' आदेश होने के सम्बन्ध में व्यवस्था की जारही है। 'त्रि' = तिस् तथा 'चतुर्' = चतस् आदेश का विधायक सूत्र है—"त्रिचतुरोः स्त्रियाम् तिसृचतसृ" (७-२-९९)। यह सूत्र "अङ्गस्य" अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत है। अतः उसका प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। तथापि 'अङ्गस्य'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकल्पात्पर्यायेण नुम्रभावौ। प्रियतिसृणा–प्रियतिस्रा इत्यादि। द्वेरत्वे सत्याप्। द्वे। द्वे। द्वाभ्याम्। द्वाभ्याम्। द्वाभ्याम्। द्वयोः। द्वयोः। इति इदन्ताः। गौरी, गौर्यौ, गौर्यः।

'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति सूत्रे प्रियतिसृणी, प्रियतिसृणि इति भाष्योदाहरणात् पूर्वविप्रतिषेधमाश्रित्य नुमा रत्वबाध इति बोध्यम्। प्रियतिसृणेति। टायां पुंवत्त्वाभावपक्षे नुमि रूपम्। प्रियतिस्रेति। पुंवत्त्वे नुमभावात् रत्वम्। इत्यादीति। आदिना प्रियतिस्रे, प्रियतिसृणे इत्यादि बोध्यम्। द्वेरत्वे इति। द्विशब्दाद्विभक्तौ सत्यां त्यदाद्यत्वे 'अजाद्यतः' इति टाबित्यर्थः। द्वे इत्यादि। टापि सति सवर्णदीर्घे द्वाशब्दस्य रमावद्रूपाणीति भावः। इति इदन्ताः। अथ ईदन्ता निरूप्यन्ते। गौरीति। गौरीशब्दात् गौरादिलक्षणङीषि 'यस्येति च' इत्यकारलोपे गौरीशब्दः। तस्मात् सुः, हल्ङ्यादिलोप इति भावः। गौर्याविति।

पद सूत्र में उपदिष्ट न होने के कारण (अनुमित होने से) वह 'त्रि' एवं 'चतुर्' शब्द का विशेषण नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि सूत्र में उच्चरित 'स्त्रियाम्' पद 'त्रि' एवं 'चतुर्' शब्दों के साथ विशेषण के रूप में अन्वित होता है। इस सम्बन्ध में यह परिभाषा नियामक है कि श्रुत एवम् अनुमित पदों के साथ अन्य पदों से सम्बद्ध होने की सम्भावना में दूसरे पद श्रुत (साक्षात् उच्चरित) पद के साथ ही सम्बद्ध होते हैं ('श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलवान्')। तो भी अनुमित-विशेषणवाची-'अङ्गस्य'-पद का इतना प्रभाव अवश्य होता है कि परिणामतः 'तदन्तविधि' होती है। इस तरह "स्त्री-लिङ्ग में विद्यमान 'त्रि'–एवं 'चतुर्' शब्दान्त अङ्ग को क्रमशः 'तिसृ' एवं 'चतसृ' आदेश होते हैं"। इस कारण अङ्ग स्त्रीवाचक अपेक्षित नहीं है। किन्तु 'त्रि' एवं 'चतुर्' शब्द का स्त्रीलिङ्ग में रहना अपेक्षित है, चाहे 'अङ्ग' पुंलिङ्ग या नपुंसकलिङ्ग में हो। तात्पर्य यह है कि बहुव्रीहि-समास करने पर अन्यपदार्थ—पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग अथवा नपुंसकलिङ्गवाची—कोई भी रहे, उसकी यहाँ अपेक्षा नहीं है। समासयुक्त शब्दों में 'त्रि' अथवा 'चतुर्' शब्द का स्त्रीलिङ्ग में होना उसके विग्रह-वाक्य से जाना जाता है। अर्थात् विग्रह-वाक्य में 'त्रयः' अथवा 'त्रीणि' रहे तो पुंलिङ्ग अथवा नपुंसकलिङ्ग समझा जाय। यदि 'तिस्रः' रहे तो स्त्रीलिङ्ग जानना चाहिये। १—परिणामतः बहुव्रीहि-समास करने पर विग्रहवाक्य में 'त्रि' शब्द के पुंलिङ्ग अथवा नपुंसक में होने के कारण 'प्रियत्रि' शब्द में त्रि = तिसृ आदेश नहीं होता। इस शब्द का विग्रह है—प्रियाः त्रयः अथवा प्रियाणि त्रीणि वा यस्याः सा (प्रिय हैं तीन पुरुष अथवा कुल जिसको)। यहाँ पर विग्रह-वाक्य में अन्यपदार्थ स्त्री-लिङ्ग में होने पर भी 'त्रि' शब्द पुंलिङ्ग में (प्रियत्रि) होने के कारण त्रि = तिसृ आदेश नहीं हुआ। (क) अतः प्रथमा एकवचन में 'मति' के समान प्रियत्रि+स् (सु), <प्रियत्रि+र्, <प्रियत्रिः रूप सिद्ध होता है। (ख) षष्ठी-विभक्ति के बहुवचन में प्रियत्रि+आम्, <प्रियत्रय+आम् (त्रि=त्रय—"त्रेस्त्रयः" (२६४), <प्रियत्रय+न्—आम् ('नुट्' आगम), <प्रियत्रयानाम् (अ = आ–दीर्घ–"नामि"–२०९), <प्रियत्रयाणाम् (न् = ण्।) २—प्रियाः तिस्रः यस्य सः—(तीन स्त्रियाँ प्रिय हैं जिस पुरुष को)—इस विग्रह-वाक्य में 'त्रि' शब्द स्त्री-वाचक होने से त्रि = तिसृ आदेश होकर प्रथमा एकवचन में प्रियतिसृ+सु, <'प्रियतिसृ' रूप बनता है। अन्यपदार्थ पुंलिङ्ग में होने के कारण रूपसिद्धि 'धातृ' शब्द के समान है। प्रथमा द्विवचन में विशेषता यह है—(ग) प्रियतिसृ+औ, <प्रियतिसृौ ("ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः"–२७५ सूत्र से प्राप्त गुण का बाध कर "अचि र ऋतः"—२९९ से ऋ = र्।) (घ) प्रियतिसृ+अस्, <प्रियतिस्रः (ऋ = 'र्' तथा स् = र् = :)। ३—प्रियाः तिस्रः यस्य तत्कुलं (=तीन कन्यायें जिसको प्रिय हैं ऐसा कुल)—इस विग्रह-वाक्य में यद्यपि 'त्रि' शब्द (तिस्रः =) स्त्री-वाचक है तथापि विग्रहवाक्य में अन्यपदार्थ (कुलम्) से प्रभावित होने के कारण स्थिति बदल जाती है। वहाँ 'कुलम्' पद के अर्थानुसार नपुंसक-लिङ्ग में विद्यमान 'सु' अथवा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नदीकार्यम्। हे गौरि। गौर्यै। इत्यादि। एवं वाणीनद्यादयः। प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्ग-विशिष्टस्यापि ग्रहणादनङि णिद्बद्भावे च प्राप्ते 'विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणम्' (प ७४)।

'दीर्घाज्जसि च' इति पूर्वसवर्णदीर्घनिषेधे यणिति भावः। नदीकार्यमिति। 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' 'आण्नद्याः' 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' 'ङेराम्नद्यामीभ्यः' इति विहितमित्यर्थः। 'यू स्त्र्याख्यौ' इति नदीत्वम्। बहुश्रेयसीवत्। एवं वाणीनद्यादय इति। 'वण् शब्दे' वण्यते शब्द्यते इति वाणी। 'इञ् वपादिभ्यः' इति इञ्। 'कृदिकारादक्तिनः' इति ङीप्। 'नदट्' इति पचादौ पठितात् टित्त्वात् ङीप्। आदिना कर्त्री दण्डिनी इत्यादिसंग्रहः। 'सख्यशिश्वीति भाषायाम्' इति सखिशब्दात् ङीषि 'यस्येति च इति इकारलोपे सखीशब्दः। तस्य 'अनङ् सौ' इत्यनङ्, 'सख्युरसम्बुद्धौ' इति णिद्भत्त्वं चाशङ्कते—प्रातिपदिकेति। विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणम्। 'युवोरनाकौ' इत्यत्र 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इत्यत्र च भाष्ये इयं परिभाषा पठिता। विभक्तिनिमित्तके कार्ये कर्तव्ये प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य

'अम्' विभक्ति का 'लुक्' (लोप) होता है (प्रिया–जस्+त्रि–जस् = प्रियत्रि+'सु' अथवा 'अम्'—इस स्थिति में "स्वमोर्नपुंसकात्—७-१-२३ सूत्र से 'सु' अथवा 'अम्' का लोप)। 'लुक्' शब्द से लोप का विधान होने पर "न लुमताङ्गस्य" (२६३) सूत्र से प्रत्ययलक्षण का निषेध होने के कारण लुप्त-विभक्ति का आश्रय नहीं लिया जासकता। विभक्ति परवर्ती न होने के कारण त्रि='तिस्' आदेश नहीं होता। तदनुसार प्रथमा के एक-वचन में 'प्रियत्रि' रूप सिद्ध होगा। शेष रूप इकारान्त नपुंसकलिङ्ग 'वारि' शब्द के समान बनेंगे। ४—"न लुमताङ्गस्य" (२६३) सूत्र से विधीयमान प्रत्ययलक्षण का निषेध अनित्य माना गया है। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त उदाहरण—'प्रियत्रि' के स्थान पर 'प्रियतिस्' रूप भी हो सकेगा। अर्थात् 'सु' अथवा 'अम्'-लुप्त-विभक्ति-को प्रत्ययलक्षण होने के कारण त्रि = तिस् आदेश होकर ऋकारान्त नपुंसकलिङ्ग के समान 'प्रियतिस्' रूप निष्पन्न होगा। फलतः इस पक्ष में प्रथमा के द्वि-वचन में 'प्रियतिसृणी' ('र्' भाव को बाधकर 'नुम्' तथा 'ण्') तथा बहुवचन में 'प्रियतिसृणि' (जस् = शि, नुम्, दीर्घ, तथा 'ण्' होकर रूप सिद्ध होंगे। तृतीयादि अजादि विभक्तियों में आगे विकल्प से 'पुंवद्भाव' का विधान बतलाया जायगा। तदनुसार पक्ष में नपुंसकलिंग में 'नुम्' एवं पुंलिंग में 'र्'–भाव होंगे। अतः तृतीया एकवचन में 'प्रियतिसृणा' (टा) एवं 'प्रियतिस्रा' (टा) दो रूप बनेंगे। इसी तरह चतुर्थी के एकवचन में भी 'प्रियतिसृणे' (ङे) एवं 'प्रियतिस्रे' (ङे) दो रूप होंगे।

२—'द्वि' शब्द का प्रयोग केवल द्वि-वचन में होता है। अतः (क) प्रथमा के द्विवचन में द्वि+औ, <द्व+औ (इ = 'अ'—"त्यदादीनामः"—२६५), <द्वा+औ (स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' तथा दीर्घ), <द्वा+ई (औ = ई (शी)—"औङ आपः"–२८७), <द्वे (गुण)। (ख) द्वितीया–द्वे। (ग) तृतीया—द्वि+भ्याम्, <द्व+भ्याम् (इ = अ), <द्वा+भ्याम् (टाप् तथा दीर्घ) <द्वाभ्याम्। (घ) चतुर्थी—द्वाभ्याम्। (ङ) पञ्चमी—द्वाभ्याम्। (च) षष्ठी—द्वि+ओस् <द्व+ओस्, <द्वा+ओस्, <द्वे+ओस् (आ = ए—"आङि चापः"—२८९), <द्वयोस् (ए = अय्), <द्वयोर् (स् = र्), <द्वयोः ('र्' = :)। (छ) सप्तमी में—द्वयोः। स्त्रीलिङ्ग में ह्रस्व इकारान्त शब्दों का निर्वचन समाप्त हुआ।

३—दीर्घ ईकारान्त 'गौरी' (= पार्वती) शब्द को अभिलक्षित कर विभक्तियों में रूपसिद्धि का प्रकार बतलाया जारहा है। 'गौरी' शब्द 'गौर+ङीष्' प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है। (क) गौरी+स् (सु), <गौरी ('स्'–विभक्तिलोप—"हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०"–२५२)। (ख) गौरी+औ, <गौर्यौ ("दीर्घाज्जसि च"—२३९ सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध होने के कारण यण्—इ='य्')। (ग) गौरी+अस्, <गौर्यस्, <गौर्यर्, <गौर्यः। (घ) सम्बोधन के एकवचन में—(हे) गौरी+सु, ('नदी' संज्ञा होने के कारण ह्रस्व "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः"—२६७),

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सखी, सख्यौ, सख्यः इत्यादि गौरीवत् । अङन्तत्वान्न सुलोपः—लक्ष्मीः । शेषं गौरीवत् । एवं तरीतन्त्र्यादयः । स्त्री । हे स्त्रि । (३०१) स्त्रियाः ६ । ४ । ७९ ॥ स्त्रीशब्दस्ये-

---

ग्रहणं नास्तीत्यर्थः । तथा च अनङ्, णिद्वत्वं च न भवतीति भावः । सखीति । ङ्यन्तत्वात् सुलोपः । सख्य इत्यादीति । गौरीवदेव रूपादीत्यर्थः । 'लक्ष्मेर्मुट् च' इति लक्षधातोरीप्रत्यये मुडागमे लक्ष्मीशब्दः । तस्य विशेषमाह—अङन्तत्वादिति । 'कृदिकारादक्तिनः' इति ङीपि तु सुलोपो भवत्येव । शेषं गौरीवदिति । अम्बार्थेत्यादिकार्यमित्यर्थः । एवं तरीतन्त्र्यादय इति । 'अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः' इति ईप्रत्यये तरीः स्तरीः तन्त्रीः इत्यादि । अत्राप्यङन्तत्वान्न सुलोपः । 'कृदिकारात्' इति ङीपि तु सुलोपः । शेषं गौरीवत् । स्त्री इति । 'स्त्यै शब्दसङ्घातयोः' । स्त्यायतः सङ्घते भवतः अस्यां शुक्रशोणिते इति स्त्री । स्त्यायतेः ड्रट् । डटावितौ । डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः । लोपो व्योरिति यलोपः । टित्वात् ङीप् । हल्ङ्यादिलोप इति भावः । हे स्त्रि इति । अम्बार्थेति ह्रस्वः । स्त्री औ इति स्थिते अधात्विकारत्वात् 'अचि श्नुधातु' इति इयङ्यप्राप्ते ।

(३०१) स्त्रियाः । अचि श्नुधात्वित्यतः अचीति इयङिति चानुवर्तते । तदाह—

<हे गौरि ('सु'लोप—"एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः"—१९३)। (ङ) चतुर्थी के एकवचन में गौरी+ए (ङे), गौरी+आ—ए ('आट्' आगम), <गौरी ऐ (आ+ए=ऐ—वृद्धि "आटश्च"—२५९), गौर्यै (ई = य्—यण्)। 'वाणी' एवं 'नदी' शब्दों के रूप भी इसी तरह हैं।

ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'नदी' (= नदी) शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०	वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	नदी	नद्यौ	नद्यः	पं०	नद्याः	नदीभ्याम्	नदीभ्यः
द्वि०	नदीम्	नद्यौ	नदीः	ष०	नद्याः	नद्योः	नदीनाम्
तृ०	नद्या	नदीभ्याम्	नदीभिः	स०	नद्याम्	नद्योः	नदीषु
च०	नद्यै	नदीभ्याम्	नदीभ्यः	सं०	हे नदि	हे नद्यौ	हे नद्यः

४—दीर्घ ईकारान्त 'सखी' शब्द के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम यह उल्लेखनीय है कि 'लिङ्गविशिष्ट' परिभाषा का आश्रय लेकर पुंलिङ्ग में 'सखि' शब्द से विहित 'अनङ्' एवं 'णिद्वद्भाव' आदि कार्य स्त्री-लिङ्ग में नहीं होते। उसका कारण यह है कि दूसरी परिभाषा 'विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणम्' के अनुसार विभक्तिनिमित्तक कार्यों में 'लिङ्गविशिष्ट' परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती। 'अनङ्' विधायक "अनङ् सौ" (२४८) सूत्र में स्पष्ट रूप से 'सु' विभक्ति का उल्लेख किया गया है। तदनुसार 'सखी' शब्द के रूप भी 'गौरी' शब्द की तरह सिद्ध होंगे—(क) सखी (सु)। (ख) सख्यौ (औ), (ग) सख्यः (जस्) आदि।

५—'लक्ष्मी' शब्द के प्रथमा के एकवचन में—लक्ष्मीः। 'ङीप्', 'ङीष्' अथवा 'ङीन्' स्त्री-प्रत्ययसम्बन्धी 'ई' न होने के कारण 'स्'—विभक्तिलोप नहीं हुआ। यथाप्राप्त 'र' तथा विसर्ग हुए। शेष रूप 'नदी' के तुल्य होते हैं।

६—इसी तरह 'तरी' (= नौका), ७—'तन्त्री' (= वीणा) आदि शब्दों के रूप सिद्ध होंगे।

८—'स्त्री' शब्द के विभक्ति-कार्यों का उल्लेख किया जाता है। (क) स्त्री+सु (सु), <स्त्री ('स्'-विभक्तिलोप—"हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०"—२५२)। (ख) हे स्त्री+स् (सु), <हे स्त्रि+सु (ह्रस्व "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः"—२६७), <हे स्त्रि ('सु'लोप—"एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः—१९३)।

(३०१) पद—स्त्रियाः। अनुवृत्ति—इयङ्, अचि। विधिसूत्र।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यङ् स्यादजादौ प्रत्यये परे। स्त्रियौ, स्त्रियः। (३०२) वाऽम्शसोः ६।४।८० ॥ अमि शसि च स्त्रिया इयङ् वा स्यात्। स्त्रियम्—स्त्रीम्। स्त्रियौ। स्त्रियः—स्त्रीः। स्त्रिया। स्त्रियै। स्त्रियाः। स्त्रियाः। स्त्रियोः। परत्वान्नुट्—स्त्रीणाम्। स्त्रियाम्, स्त्रियोः, स्त्रीषु। स्त्रियमतिक्रान्तोऽतिस्त्रिः। अतिस्त्रियौ।

गुणनाभावौत्वनुड्भिः परत्वात्पुंसि बाध्यते।
क्लीबे नुमा च स्त्रीशब्दस्येयङित्यवधार्यताम् ॥

स्त्रीशब्दस्येत्यादिना। स्त्रियौ स्त्रिय इति। औजसोः रूपम्। अमि शसि च स्त्रियम् स्त्रियः इति नित्यमियङि प्राप्ते।

(३०२) वाऽम्शसोः। वा अम्शसोः इति च्छेदः। स्त्रिया इति इयङिति चानुवर्तते। तदाह—अमि शसि चेत्यादिना। स्त्रियमिति। इयङि रूपम्। स्त्रीमिति। इयङभावे अमि पूर्वः। स्त्रियाविति। औटि रूपम्। स्त्रियः—स्त्रीः इति। शसि 'वाऽम्शसोः' इति इयङि तदभावे च रूपम्। स्त्रियेति। इयङ्। स्त्रियै इति। आण्नद्या इत्यात्, वृद्धिः, इयङ्। स्त्रियाः इति। ङसिङ्सोरात्, वृद्धिः, इयङ्। स्त्रियोरिति। ओसि इयङ्। परत्वान्नुडिति। आमि 'स्त्रियाः' इति इयङं बाधित्वा परत्वान्नुट्। स्त्रीणामिति। कृते नुटि अजादिविभक्त्यभावान्नेयङ्। स्त्रियामिति। ङेराम्। इयङ्। अथ प्रसङ्गात् पुंसि नपुंसके च स्त्रीशब्दस्य विशेषं दर्शयति—स्त्रियमतिक्रान्तोऽतिस्त्रिरिति। 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे' इति समासः। गोस्त्रियोरिति ह्रस्वत्वम्। दीर्घङयन्तत्वाभावाद् ईकाररूपङयन्तत्वाभावाद्वा हल्ङ्यादिलोपो न भवति। अतिस्त्रियाविति। 'स्त्रियाः' इत्यस्याङ्क्त्वात्तदन्तेऽपि एकदेशविकृतन्यायेन प्रवृत्तेरियङिति भावः। अथ जस्, टा, ङे, ङसि, ङस्, आम्, ङि इत्येतेषु अतिस्त्रीशब्दस्य इयङ् नेत्येतत् श्लोकेन सङ्गृह्णाति—गुणनाभावेत्यादिना। पुंसि गुणनाभावौत्वनुड्भिः, क्लीबे नुमा च परत्वात् स्त्रीशब्दस्य इयङ् बाध्यते, इत्यवधार्यतामित्यन्वयः। जसि चेति घेर्ङितीति च गुणः, 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इति नात्वम्, 'अच्च घेः' इत्यौत्वम्, 'ह्रस्वनद्यापः' इति नुट्, 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुम्, एतेषामियङपेक्षया परत्वादित्यर्थः। 'जसि च' इत्यनन्तरम्

मूलार्थ—अजादि-प्रत्यय पर रहते 'स्त्री' शब्द को 'इयङ्' होता है। स्त्रियौ। स्त्रियः।

विवरण—सूत्र में केवल 'स्थानी' का निर्देश है। आदेश—वाचक पद '.यङ्' तथा निमित्त-वाचक 'अचि' पद की अनुवृत्ति "अच इनुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ" (६-४-७७) सूत्र से की जाती है। 'प्रत्यये' का अध्याहार कर तदादि-विधि होने के फलस्वरूप अजादि प्रत्यय पर रहते 'स्त्री'—शब्द को विकल्प से इयङ् आदेश होगा। 'इयङ्' आदेश 'ङ्'-इत्संज्ञक होने के कारण "ङिच्च" की उपस्थिति से अन्त्य 'ई' को अभिलक्षित कर प्रवृत्त होगा। उदाहरण—(क) स्त्री+औ, <स्त्र्-इय्+औ, (ई = इय्), <स्त्रियौ। (ख) स्त्री+अस् (जस्), <स्त्र्-इय्+अस् (ई=इय्), <स्त्रियस्, <स्त्रियर्, <स्त्रियः।

(३०२) पद—वा, अम्शसोः। अनुवृत्ति—स्त्रियाः, इयङ्। विधिसूत्र (विकल्प)।

मूलार्थ—'अम्' और 'शस्' पर रहते 'स्त्री' शब्द को विकल्प से 'इयङ्' होता है। स्त्रियम्—स्त्रीम्। स्त्रियौ। स्त्रियः—स्त्रीः। स्त्रिया। स्त्रियै। स्त्रियाः। स्त्रियाः। स्त्रियोः। पर होने के कारण नुट्—स्त्रीणाम्। स्त्रियाम्, स्त्रियोः, स्त्रीषु। स्त्री को अतिक्रमण करने वाला—अतिस्त्रिः। अतिस्त्रियौ। कारिका—(अर्थ)—'स्त्री' शब्द के स्थान में 'इयङ्' आदेश—पुंलिङ्ग में गुण, ना-भाव, औत्व, तथा 'नुट्' आगम से एवं नपुंसकलिङ्ग में 'नुम्' आगम से पर होने के कारण—बाधित होता है। 'जस्' में—अतिस्त्रयः। हे अतिस्त्रे, हे अतिस्त्रियौ, हे अतिस्त्रियः। 'अम्' और 'शस्' में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'जसि च' (सू २४१) अतिस्त्रयः। हे अतिस्त्रे, हे अतिस्त्रयौ, हे अतिस्त्रियः। 'वाऽम्शसोः'। अतिस्त्रियम्–अतिस्त्रिम्। अतिस्त्रियौ। अतिस्त्रियः–अतिस्त्रीन्। अतिस्त्रिणा। 'घेर्ङिति' (सू २४५) अतिस्त्रये। अतिस्त्रेः। अतिस्त्रेः। अतिस्त्रियोः। अतिस्त्रीणाम्। 'अच्च घेः' (सू २४७) अतिस्त्रौ। अतिस्त्रियोः।

ओस्यौकारे च नित्यं स्यादम्शसोस्तु विभाषया।
इयादेशोऽपि नान्यत्र स्त्रियाः पुंस्यूपसर्जने ॥

इति गुण इति शेपः। अतिस्रयः इति। इयङ् बाधित्वा गुणे अयादेशे रूपम्। हे अतिस्त्रे इति। 'ह्रस्वस्य गुणः' इति गुणे 'एङ्ह्रस्वात्' इति सम्बुद्धिलोपः। वाऽम्शसोः इत्यनन्तरं इयङ्विकल्प इति शेपः। अतिस्त्रियमिति। अमि इयङ्पक्षे रूपम्। अतिस्त्रिमिति। इयङ्भाव-पक्षे 'अमि पूर्वः'। अतिस्त्रिय इति। 'वाऽम्शसोः' इति इयङ्। अतिस्त्रीनिति। इयङभावे पूर्वसवर्णदीर्घे 'तस्माच्छसः' इति नत्वम्। टा अतिस्त्रिणा। इयङं बाधित्वा परत्वात् 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इति नात्वम्। भ्यामादिष्वविकृतम्। ङे अतिस्त्रये। इयङं बाधित्वा परत्वात् 'घेर्ङिति' इति गुणे अयादेशः। ङसिङसोः अतिस्त्रेः। परत्वात् 'घेर्ङिति' इति गुणे 'ङसि-ङसोश्च' इति पूर्वरूपम्। अतिस्त्रियोः इयङ्। आमि इयङं बाधित्वा परत्वान्नुटि नामीति दीर्घे णत्वम्—अतिस्त्रीणाम्। इयङं बाधित्वा परत्वात् 'अच्च घेः'—अतिस्त्रौ। अतिस्त्रियोः अतिस्त्रिषु। अथ पुंसि पूर्वश्लोकसिद्धमेवार्थं बालबोधाय लघुतरोपायेन संगृह्णाति ओस्यौकारे चेदित्यादिना। उपसर्जनत्वदशायां पुंसि विद्यमानस्य स्त्रीशब्दस्य अचि यः इयादेशः 'स्त्रियाः' इति सूत्रविहितः सः ओसि षष्ठीसप्तमीद्विवचने, औकारे च प्रथमाद्वितीया-द्विवचने च नित्यं स्यात्, अम्शसोस्तु विभाषया विकल्पेन स्यात्, उक्तं च तेभ्योऽन्यत्र

विकल्प से इयङ्। अतिस्त्रियम्—अतिस्त्रिम्। अतिस्त्रियौ। अतिस्त्रियः—अतिस्त्रीन्। अतिस्त्रिणा। "घेर्ङिति"–गुण। अतिस्त्रये। अतिस्त्रेः। अतिस्त्रेः, अतिस्त्रियोः, अतिस्त्रीणाम्। "अच्च घेः"—अतिस्त्रौ। अतिस्त्रियोः। कारिका—(अर्थ)—समास में 'स्त्री' शब्द उपसर्जन होकर पुंलिङ्ग हुआ हो तो अजादि विभक्तियों में—ओस्, (षष्ठी-सप्तमी का द्विवचन) तथा 'औ' प्रथमा-द्वितीया का द्विवचन प्रत्ययों के पर रहने की स्थिति में 'स्त्री' शब्द को नित्य 'इयङ्' आदेश होता है एवम् 'अम्' 'शस्' विभक्तियों में विकल्प से होता है। इन चार विभक्तियों से अन्य अजादि विभक्तियों में 'इयङ्' आदेश होता ही नहीं। नपुंसक लिङ्ग में नुम्—अतिस्त्रि, अतिस्त्रिणी, अतिस्त्रीणि। अति-स्त्रिणा। 'ङे'प्रभृति अजादि-विभक्तियों में आगे बतलाये जानेवाले पुंवद्भाव होने पर पक्ष में पुंलिङ्ग की तरह रूप बनेंगे। अतिस्त्रये—अतिस्त्रिणे। अतिस्त्रेः—अतिस्त्रिणः। अतिस्त्रेः—अतिस्त्रिणः। अतिस्त्रिणोः—अतिस्त्रियोः। इत्यादि। स्त्रीलिङ्ग के रूप प्रायः पुंलिङ्ग के समान बनेंगे। 'शस्' में—अतिस्त्रीः। अतिस्त्रिया। "ङिति ह्रस्वश्च" विधान के अनुसार ह्रस्वान्तनिमित्तक नदी-संज्ञा की वैकल्पिकता। इयङ्–उवङ्-स्थानिक दीर्घ-ईकारान्त एवं दीर्घ-ऊकारान्त से सम्बद्ध होने के कारण 'अस्त्री' (निषेध) पर्युदास दीर्घान्त में ही प्रभावित करेगा न कि ह्रस्वान्त में। अतिस्त्रिये—अतिस्त्रिये। अतिस्त्रियाः—अतिस्त्रेः। अतिस्त्रियाः—अतिस्त्रेः। अतिस्त्रीणाम्। अतिस्त्रियाम्—अतिस्त्रौ। श्रीः, श्रियौ, श्रियः।

विवरण—'अम्' तथा 'शस्' विभक्तियों में पूर्व सूत्र से प्राप्त नित्य 'इयङ्' आदेश का विकल्प से विधान किया जारहा है। **स्थानी** है 'स्त्री' शब्द तथा आदेश है 'इयङ्'। इन दोनों पदों की अनुवृत्ति क्रमशः "स्त्रियाः" (६-४-७९) तथा "अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ" (६-४-७७) सूत्रों से की जारही है। अतः द्वितीया के एकवचन (अम्) तथा बहुवचन (शस्) पर रहते 'स्त्री' शब्द के 'ई'कार को विकल्प से 'इयङ्' (इय्) आदेश होगा।

उदाहरण—(क) स्त्री+अम्, <स्त्र्-इय्+अम् (ई = इय्), <स्त्रियम्। 'इयङ' न

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्लीबे तु नुम्। अतिस्त्रि, अतिस्त्रिणी, अतिस्त्रीणि। अतिस्त्रिणा। अतिस्त्रिणे। ङेप्रभृतावजादौ वक्ष्यमाणपुंवद्भावात्पक्षे प्राग्वद्रूपम्। अतिस्त्रये। अतिस्त्रेः—अतिस्त्रिणः। अतिस्त्रेः—अतिस्त्रिणः। अतिस्त्रियोः—अतिस्त्रिणोः इत्यादि। स्त्रियां तु

तु अचि सर्वत्र इयादेशो न स्यादिति योजना। क्लीबे तु नुमिति। इयङ् बाधते इति शेषः। अतिस्त्रि इति। स्त्रियमतिक्रान्तं कुलम् अतिस्त्रि। 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सुलुक्। अतिस्त्रिणी इति। अतिस्त्रि औ इति स्थिते 'नपुंसकाच्च' इत्यौङः शीभावः। इयङं बाधित्वा परत्वात् 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुम्। असर्वनामस्थानत्वान्न दीर्घः। णत्वम्। अतिस्त्रीणीति। जश्शसोः शिः। स्त्रिया इति इयङ्, जसि च इति गुणं च बाधित्वा नुम्। 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानत्वात् दीर्घः। णत्वम्। टा-अतिस्त्रिया। इयङं नुमं च बाधित्वा नाभावः। ङेप्रभृतावजादाविति। ङे ङसि ङस् आम् ङि ओस् इत्येतेषु 'तृतीयादिषु भाषित' इति पुंवद्भावस्य वक्ष्यमाणत्वात् पुंवद्भावपक्षे पुंल्लिङ्गातिस्त्रिशब्दवद्रूपम्। पुंवत्त्वाभावपक्षे नुमि वारिवद्रूपमित्यर्थः। टायां तु पुंवत्त्वे तदभावे च नात्वे रूपे विशेषाभावात् ङेप्रभृतावित्युक्तम्। अतिस्त्रये इति। पुंवत्त्वे 'घेर्ङिति' इति गुणे अयादेशः। अतिस्त्रिणे इति। पुंवत्त्वाभावे नुमि रूपम्। इहोभयत्रापि गुणेन नुमा च इयङ् बाध्यते। अतिस्त्रेरिति। ङसिङसोः पुंवत्त्वपक्षे 'घेर्ङिति' इति गुणे 'ङसिङसोश्च' इति पूर्वरूपम्। अतिस्त्रिण इति। ङसिङसोः पुंवत्त्वाभावपक्षे नुमि रूपम्। इहाप्युभयत्र गुणनुम्भ्यामियङ् बाध्यते। अतिस्त्रियोः—अतिस्त्रिणोरिति। पुंवत्त्वाभावे नुम्। पुंवत्त्वे इयङ्। इत्यादीति। आमि पुंवत्त्वे तदभावे च इयङं बाधित्वा नुडेव, न तु नुम्, 'नुमचिर' इति वचनात्। 'नामि' इति दीर्घः। अतिस्त्रीणाम्। अतिस्त्रौ—अतिस्त्रिणि। अतिस्त्रियोः—अतिस्त्रिणोः। तदेवमुपसर्जनस्त्रीशब्दस्य पुंनपुंसकविषये रूपाणि प्रदर्श्य प्रकृतमनुसरति—स्त्रियां त्विति। स्त्रियमतिक्रान्तेति विग्रहे 'अत्यादयः' इति समासे 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वत्वे सति अतिस्त्रिशब्दः। तस्य

होने पर—स्त्रीम् (पूर्वरूप)। (ख) स्त्रियौ (नित्य इयङ्)। (ग) स्त्री+अस (शस्), <स्त्र्-इय्+अस्, (इ = इय्) < स्त्रियस्, < स्त्रियः (रु, विसर्ग)। इयङ् न होने पर—स्त्रीः (पूर्वसवर्ण-दीर्घ, रु, विसर्ग)। (ग) स्त्री+आ (टा), <स्त्र्-इय्+आ (ई = इय्), <स्त्रिया। (घ) स्त्री+ए (ङे), <स्त्रिये (ई = इय्)। (ङ) स्त्री+अस् ('ङसि' एवं 'ङस्'), <स्त्री+आ-अस् ('आट्' आगम), स्त्री+आस् (आ+अ = आ—वृद्धि), <स्त्रियाः (इयङ्, रु, विसर्ग)। (च) स्त्री+ओस्, <स्त्रियोः (इयङ्, रु, विसर्ग)। (छ) स्त्री+आम्, <स्त्री+न्-आम् ('इयङ्' को बाध कर 'पर' होने से 'नुट्' आगम), <स्त्रीणाम् (दीर्घ, न् = ण्)। (ज) स्त्री+ङि, <स्त्री+आम् (ङि = आम्), <स्त्रियाम् (ई = इय्)। (झ) स्त्री+सु, <स्त्रीषु (स् = ष्—"आदेशप्रत्यययोः"-२१२।

'स्त्री' शब्द के रूप .

वि०	एक०	द्वि०	बहु०	वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	स्त्री	स्त्रियौ	स्त्रियः	पं०	स्त्रियाः	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभ्यः
द्वि०	स्त्रियम्,स्त्रीम्	स्त्रियौ	स्त्रियः, स्त्रीः	ष०	स्त्रियाः	स्त्रियोः	स्त्रीणाम्
तृ०	स्त्रिया	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभिः	स०	स्त्रियाम्	स्त्रियोः	स्त्रीषु
च०	स्त्रियै	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभ्यः	सं०	हे स्त्रि	हे स्त्रियौ	हे स्त्रियः

निर्देश—सामासिक 'अतिस्त्रि' शब्द में 'स्त्री' शब्द विशेषण (उपसर्जन) के रूप में प्रयुक्त होने से इसके रूप ह्रस्व इकारान्त पुंलिङ्ग के समान सिद्ध होते हैं। प्रसङ्गवश

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रायेण पुंवत्। शसि अतिस्त्रीः। अतिस्त्रिया। 'ङिति ह्रस्वश्च' (सू २९६) इति ह्रस्वान्तत्वप्रयुक्तो विकल्पः।, 'अस्त्री' इति तु इयङुवङ्स्थानावित्यस्यैव पर्युदासः,

---

प्रायेण उदाहृतपुंल्लिङ्गातिस्त्रिशब्दवद्रूपाणीत्यर्थः। शसि अतिस्त्रीरिति। 'वाऽम्शसोः' इति इयङभावे पूर्वसवर्णदीर्घे सत्यपि स्त्रीलिङ्गत्वात् 'तस्माच्छसः' इति नत्वं नेति भावः। अतिस्त्रियेति। स्त्रीलिङ्गत्वान्नात्वाभावे इयङ्। ह्रस्वान्तत्वेति। 'ङिति ह्रस्वश्च' इत्यत्र इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ नदीसंज्ञौ वा स्तः—इति प्रथमं वाक्यम्। ह्रस्वाविवर्णोवर्णौ स्त्रियां नदीसंज्ञौ वा स्तः—इति द्वितीयं वाक्यम्। तत्र द्वितीयवाक्याद् अतिस्त्रिशब्दस्य ङिस्सु नदीत्वविकल्प इत्यर्थः। ननु 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इत्यतः अस्त्रीत्यस्यानुवृत्तेः कथमिह नदीत्वविकल्प इत्यत आह—अस्त्री इति त्विति। इयङुवङ्स्थानावित्यादिप्रथमवाक्यविहितनदीत्वस्येवास्त्रीति पर्युदासः, न तु ह्रस्वावित्यादिद्वितीय-

---

उन विभक्ति-कार्यों का उल्लेख किया जाता है। विग्रह—'स्त्रियम् अतिक्रान्तः' (= स्त्री को अतिक्रमणकरने वाला पुरुष)—अति-स्त्री—"अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया" (वा०)—समास एवं विभक्तिलोप, <अतिस्त्रि—(ई = इ—ह्रस्व—"गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य"—१-२-४८), (क) अतिस्त्रि+स् (सु), अतिस्त्रिः (रु एवं विसर्ग)। (ख) अतिस्त्रि+औ, <अतिस्त्रियौ (ई = इयङ्)। इस प्रकार प्रथमा विभक्ति के एकवचन तथा द्विवचन में 'हरि' शब्द के समान ही रूप बनते हैं। इसके अनन्तर प्रथमा-बहुवचन, सम्बोधन-एकवचन, तृतीया-एकवचन, चतुर्थी, पञ्चमी तथा षष्ठी के एकवचन, षष्ठी-बहुवचन तथा सप्तमी-एकवचन में 'स्त्री'शब्द-प्रयुक्त 'इयङ्' विधान की अपेक्षा इकारान्त पुंलिङ्ग को अभिलक्षित कर होने वाले कार्य—'गुण', 'ना–भाव', 'औत्व'–तथा 'नुट्' आगम—पर होने से 'इयङ्' के बाधक होते हैं। अतः उल्लिखित विभक्तियों में 'इयङ्' नहीं होता। इन कार्यों में गुण के विधायक तीन सूत्र हैं—"जसि च" (२४१) "ह्रस्वस्य गुणः" (२४२) "घेर्ङिति" (२४५)। 'ना'भाव का विधायक सूत्र है—"आङो नाऽस्त्रियाम्" (२४४) 'औत्व' का विधायक सूत्र है—"अच्च घेः" (२४७)। 'नुट्'–आगम का विधायक सूत्र है—"ह्रस्वनद्यापो नुट्" (२०८)। तदनुसार (क) अतिस्त्रि+जस्, <अतिस्त्रयः—में "इयङ्" का बाध कर 'गुण' हुआ, अनन्तर 'अय्' आदेश। (ख) हे अतिस्त्रि+सु, <हे अतिस्त्रे—में भी सम्बुद्धि-निमित्तक गुण हुआ, अनन्तर विभक्तिलोप। प्रसङ्गवश उपर्युक्त कार्यों के अभाव में अतिस्त्रि+औ, <अतिस्त्रियौ तथा हे अतिस्त्रि+अस् (जस्), <हे अतिस्त्रियः में यथाप्राप्त 'इयङ्' आदेश हुआ। द्वितीया के एकवचन में "वाऽम्शसोः" (३०२) सूत्र द्वारा विकल्प से 'इयङ्' विधान होता है। अतः 'इयङ्' होने पर (ग) 'अतिस्त्रियम्' (अतिस्त्रि+अम्) तथा 'इयङ्' न होने पर 'अतिस्त्रिम्' (इ+अ = इ पूर्वरूप)। (घ) अतिस्त्रियौ (इयङ्)। (ङ) अतिस्त्रियः (इयङ्)। (च) अतिस्त्रीन् (पूर्वसवर्ण दीर्घ तथा स् = न्) (छ) अतिस्त्रि+टा, <अतिस्त्रिणा (टा = ना—'इयङ्' का बाधक)। (ज) अतिस्त्रि+ङे, <अतिस्त्रये ('गुण'—'इयङ्' का बाधक)। (झ) अतिस्त्रि+ङसि (तथा ङस्), <अतिस्त्रेः ('इयङ्' का बाधक 'गुण', अनन्तर पूर्वरूप)। (ञ) अतिस्त्रि+ओस्, <अतिस्त्रियोः (इयङ्)। (ट) अतिस्त्रि+आम्, <अतिस्त्रीणाम् ('नुट्' आगम—'इयङ्' का बाधक)। (ठ) अतिस्त्रि+ङि, <अतिस्त्रौ (इ = अ, ङि = औ–'इयङ्' का बाधक "अच्च घेः"—२४७)।

विशेष—१–पहली कारिका में 'इयङ्' के बाधक कार्यों का उल्लेख हुआ है। उनके अतिरिक्त स्थलों पर 'इयङ्' होने का निर्देश है। उसका विवरण दूसरी कारिका द्वारा दिया जारहा है। तदनुसार 'स्त्री'–शब्द उपसर्जन होकर यदि 'पुंलिङ्ग' हुआ हो तो प्रथमा एवं द्वितीया के द्विवचनों में ('औ') तथा षष्ठी एवं सप्तमी के द्विवचनों में ('ओस्') 'स्त्री'–शब्द को नित्य 'इयङ्', आदेश होता है। इसका विधायक सूत्र "स्त्रियाः" (३०१) है। इन स्थलों के अतिरिक्त द्वितीया के एक-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्संबद्धस्यैवानुवृत्तेः दीर्घस्यायं निषेधः, न तु ह्रस्वस्य। अतिस्त्रियै–अतिस्त्रये। अतिस्त्रियाः–अतिस्त्रेः। अतिस्त्रियाः–अतिस्त्रेः। अतिस्त्रीणाम्। अतिस्त्रियाम्–अतिस्त्रौ।

वाक्यविहितनदीत्वस्यापीत्यर्थः। कुत इत्यत आह—तत्संबद्धस्यैवानुवृत्तेरिति। नेयङुवङ्स्थानावित्यतः अस्त्रीत्यस्यानुवृत्तिर्वक्तव्या। ततश्च इयङुवङ्स्थानाविति यत्रान्वेति, तत्रैव तत्सम्बद्धस्य अस्त्रीत्यस्यानुवृत्तिरुचिता। एवं च ह्रस्वादिवाक्ये इयङुवङ्स्थानावित्यस्य अनुवृत्यभावाद् अस्त्रीत्यस्यापि तत्र नानुवृत्तिरिति भावः। अतिस्त्रियै इति। नदीत्वपक्षे आट् वृद्धिः। अतिस्त्रये इति। नदीत्वाभावे घित्त्वात् 'घेर्ङिति' इति गुणे अयादेशः। अतिस्त्रियाः—अतिस्त्रेरिति। नदीत्वे आट्। तदभावे गुणः, 'ङसिङसोश्च' इति पूर्वरूपम्। अतिस्त्रियामिति। नदीत्वपक्षे ङेराम्, आट्। अतिस्त्राविति। नदीत्वाभावपक्षे 'अच्च घेः'। श्रीरिति। श्रयन्त्येतामिति श्रीः। 'क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च' इति क्विप्, प्रकृतेर्दीर्घश्च। श्रीशब्दात् सुः अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः। श्रियौ श्रिय इति। 'दीर्घाज्जसि च' इति पूर्वसवर्णदीर्घनिषेधे 'इको यणचि' इति यणि प्राप्ते धात्ववयवेवर्णान्तत्वात् 'अचि

वचन ('अम्') तथा द्वितीया के बहुवचन ('शस्') में विकल्प से 'इयङ्' आदेश होता है ("वाऽम्शसोः"–३०२)। अतः पक्ष में यथाप्राप्त पूर्वरूप तथा पूर्वसवर्ण-दीर्घ होते हैं।

२—यदि 'स्त्री'-शब्द उपसर्जन होकर 'नपुंसक-लिङ्ग' हुआ हो तो 'पर' होने से 'नुम्' आगम ("इकोऽचि विभक्तौ"–७-१-७३) 'इयङ्' का बाधक होता है।

निर्देश—१—नपुंसक-लिङ्ग में प्रयुक्त 'अतिस्त्रि' शब्द को अभिलक्षित कर रूपसिद्धि का उल्लेख किया जारहा है। विग्रह—स्त्रियम् अतिक्रान्तं कुलम् (= स्त्री को अतिक्रमण करनेवाला कुल)। समास होने पर 'अतिस्त्रि' शब्द नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होने के कारण प्रथमा के एक-वचन में (क) अतिस्त्रि+सु, <अतिस्त्रि ('सु' लुक्)। प्रथमा द्विवचन में (ख) अतिस्त्रि+औ, <अतिस्त्रि +ई, (औ=शी), <अतिस्त्रि+न्—ई ('इयङ्' का बाधक 'नुम्'), <अतिस्त्रिणी (न्=ण्)। इसी प्रकार (ग) अतिस्त्रि+जस्, <अतिस्त्रीणि (घ) अतिस्त्रि+आ (टा), <अतिस्त्रिणा–में भी 'नुम्' आगम 'इयङ्' का बाधक रहा है। इनके अतिरिक्त 'ङे', 'ङसि', 'ङस्' तथा 'ओस्' अजादि-विभक्तियों में "तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य" (७-१-७४) सूत्र द्वारा विकल्प से पुंवद्भाव होने के कारण दो रूप बनते हैं। अतः नपुंसकलिङ्ग में 'नुम्' आगम होकर अतिस्त्रिणे ('ङे'), अतिस्त्रिणः ('ङसि' तथा 'ङस्') तथा अतिस्त्रिणोः ('ओस्') रूप बनेंगे। पुंवद्भाव होने पर अतिस्त्रये ('ङे'), अतिस्त्रेः ('ङसि' तथा 'ङस्') तथा अतिस्त्रियोः ('ओस्') रूप होते हैं।

२—यदि 'स्त्री' शब्द उपसर्जन होने पर भी 'स्त्रीलिङ्ग' ही रहे तो उस शब्द ('अतिस्त्रि') के रूप प्रायः पुंल्लिङ्ग के समान ही होते हैं। विग्रह–स्त्रियम् अतिक्रान्ता (= 'स्त्री' को अतिक्रमण करनेवाली स्त्री)। समास होने पर "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" (१-२-४८) सूत्र से ह्रस्व होने पर 'अतिस्त्रि'। (क) अतिस्त्रि+शस्, <अतिस्त्रीः (पूर्वसवर्ण दीर्घ, रु, विसर्ग, पुंल्लिङ्ग न होने से 'स्' = 'न्' नहीं हुआ)। (ख) अतिस्त्रि+टा, <अतिस्त्रिया–पुंल्लिङ्ग न होने से टा = ना नहीं हुआ, अतः इयङ्)। (ग) अतिस्त्रि+ङे, <अतिस्त्रियै तथा अतिस्त्रिये, (घ) अतिस्त्रि+ङसि एवं ङस् <अतिस्त्रियाः तथा अतिस्त्रेः (ङ) अतिस्त्रि+आम्, <अतिस्त्रीणाम् तथा अतिस्त्रियाम् (च) अतिस्त्रि+ङि, <अतिस्त्रियाम् तथा अतिस्त्रौ—दो दो रूप ("ङिति ह्रस्वश्च"–२९६ से 'नदी' संज्ञा विकल्प होने के कारण) बनते हैं। अग्रिम सूत्र "नेयङुवङ्स्थानावस्त्री" (१-४-४) में 'अस्त्री' पद इयङ्-उवङ्-स्थानिक दीर्घ ईकारान्त एवं दीर्घ ऊकारान्त शब्दों से सम्बद्ध होने के कारण ह्रस्व इकारान्त 'अतिस्त्रि' शब्द में नदी संज्ञा का निषेध नहीं होता है।

३—'श्री' शब्द की रूपसिद्धि का प्रकार बतलाया जारहा है। 'श्री' (=शोभा) शब्द√श्रि+क्विप्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीः, श्रियौ, श्रियः। (३०३) नेयङुवङ्स्थानावस्त्री १।४।४॥ इयङुवङोः स्थितिर्ययोस्तावीदूतौ नदीसंज्ञौ न स्तः, न तु स्त्री। हे श्रीः। श्रियम्, श्रियौ, श्रियः। श्रियै–श्रिये। श्रियाः–श्रियः। (३०४) वाऽऽमि १।४।५॥ इयङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू आमि वा नदीसंज्ञौ स्तः, न तु स्त्री। श्रीणाम्–श्रियाम्। श्रियाम्–श्रियि। प्रधी-

---

ङ्नुधातु' इतीयङ्। एकाच्त्वात् संयोगपूर्वकत्वाच्च यण् न। 'यूस्त्र्याख्यौ' इति नदीत्वात् 'अम्बार्थ' इति ह्रस्वे प्राप्ते।

(३०३) नेयङुवङ्। 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' इत्यतो यू नदीत्यनुवर्तते। स्थानशब्दो भावे ल्युडन्तः। इयङुवङोःस्थानं स्थितिर्ययोरिति बहुव्रीहिः। इयङुवङ्योग्यावितियावत्। तदाह—इयङुवङोरित्यादिना। हे श्रीरिति। अजादावियङ्योग्यत्वात् नदीत्वनिषेधात् 'अम्बार्थनद्योः' इति ह्रस्वो नेति भावः। श्रियमिति। अमि पूर्वरूपं बाधित्वा इयङ्। श्रियौ श्रिय इति। औट्शसोः पूर्ववत्। टा–श्रिया। श्रियै इति। 'ङिति ह्रस्वश्चे'ति ङिति नदीत्वपक्षे आट्, वृद्धिः। श्रिये इति। नदीत्वाभावे इयङ्। श्रियाः इति। ङसिङ्सोः नदीत्वे आट्, वृद्धिः। श्रियः इति। नदीत्वाभावपक्षे इयङेव। ङित्त्वाभावात् आमि 'ङिति ह्रस्वश्च' इति अप्राप्ते।

(३०४) वाऽऽमि। यू स्त्र्याख्यौ नदीत्यनुवर्तते। 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति नञ्वर्जमनुवर्तते। वा आमीति छेदः। अमि नदीकार्याभावात्। तदाह—इयङुवङ्स्थानावित्यादिना। श्रीणामिति। नदीत्वपक्षे 'ह्रस्वनद्यापः' इति नुट्। श्रियामिति। नदीत्वाभावे इयङ्। श्रियाम्–श्रियीति। नदीत्वे ङेराम्, आट्, इयङ्। नुट् तु न, 'आटा नुट् बाध्यते' इत्युक्तत्वात्।

तथा 'धातु' को दीर्घ होकर बना है। अन्त में 'ङी' प्रत्यय न होने से—(क) श्री+स् (सु), <श्रीः—में विभक्ति का लोप नहीं हुआ। यथाप्राप्त 'रु' तथा विसर्ग होते हैं। (ख) श्री+औ, <श्रियौ (इयङ्)। (ग) श्री+अस् (जस्), <श्रियः (इयङ्, रु, विसर्ग)।

(३०३) पद—न, इयङुवङ्स्थानौ, अस्त्री। अनुवृत्ति—यू, नदी। संज्ञा-(निषेध)-सूत्र।

मूलार्थ—'स्त्री' शब्द के अतिरिक्त इयङ्–उवङ्–स्थानी नित्य-स्त्रीलिङ्ग 'ई'कार तथा 'ऊ'कार की नदी-संज्ञा नहीं होती। हे श्रीः। श्रियम्, श्रियौ, श्रियः। श्रियै–श्रिये। श्रियाः—श्रियः।

विवरण—पूर्वसूत्र "यूस्त्र्याख्यौ नदी" (१-४-३) से 'यू' और 'नदी' पदों की अनुवृत्ति करने पर सूत्रार्थ पूरा होता है। तदनुसार 'स्त्री' शब्द को छोड़कर (अस्त्री), जिनके स्थान पर 'इयङ्' और 'उवङ्' आदेश होते हों (इयङुवङौ), ऐसे दीर्घ 'ई' और 'ऊ' (यू) को नदीसंज्ञा नहीं (न) होती। उदाहरण—हे श्री+स् (सु), <हे श्रीः (रु, विसर्ग)—'नदी'संज्ञा का निषेध होने से ह्रस्व नहीं हुआ। अतः विभक्ति का लोप भी नहीं हुआ। (ख) श्री+अम्, <श्रियम् (पूर्वरूप का बाधक इयङ्)। (ग) श्रियौ (इयङ्) (घ) श्रियः (इयङ्)। (ङ) श्री+ए (ङे), <श्री+आ—ए ("ङिति ह्रस्वश्च"–२९६ के अनुसार 'नदी' संज्ञा विकल्प होने पर 'आट्' आगम), <श्री+ऐ (आ+ए–वृद्धि–"आटश्च"–२६९), <श्रियै (इयङ्)। नदी-संज्ञा न होने पर–श्रिये (इयङ्)। (च) श्री+अस् ('ङसि' एवं 'ङस्'), <श्री+आ–अस् (नदी-संज्ञा पक्ष में 'आट्' आगम), <श्री+आस् (वृद्धि), श्रियाः (इयङ्, रु, विसर्ग)। नदीसंज्ञा न होने पर—श्रियः (इयङ्)।

(३०४) पद—वा, आमि। अनुवृत्ति—यू, स्त्र्याख्यौ, नदी, इयङुवङ्स्थानौ, अस्त्री। संज्ञासूत्र (विकल्प)।

मूलार्थ—'आम्' विभक्ति पर रहते 'स्त्री' शब्द के अतिरिक्त इयङ्-उवङ्-स्थानिक नित्य-स्त्रीलिङ्ग 'ई'कार एवं 'ऊ'कार को विकल्प से 'नदी' संज्ञा होती है। श्रीणाम्—श्रियाम्। श्रियाम्–

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दस्य तु वृत्तिकारादीनां मते लक्ष्मीवद्रूपम्, 'पदान्तरं विनापि स्त्रियां वर्तमानत्वं नित्यस्त्रीत्वम्' इति स्वीकारात्। 'लिङ्गान्तरानभिधायकत्वं तत्' इति कैयटमते तु पुंवद्रूपम्। 'प्रकृष्टा धीः' इति विग्रहे तु लक्ष्मीवत्। अमि शसि च—प्रध्यम्, प्रध्यः इति विशेषः। सुष्ठु धीर्यस्याः, सुष्ठु ध्यायति वेति विग्रहे तु वृत्तिकारमते सुधीः श्रीवत्। मतान्तरे तु

नदीत्वाभावे तु इयङ्वत्। श्रियोः। श्रीषु। प्रधीशब्दस्य त्विति। प्रध्यायतीत्यर्थे 'ध्यायतेः सम्प्रसारणं च' इति क्विपि यकारस्य सम्प्रसारणे इकारे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'हलः' इति दीर्घे निष्पन्नस्य प्रधी शब्दस्य वृत्तिकारहरदत्तादिमते लक्ष्मीवद्रूपाणि। तत्र 'एरनेकाचः' इति यण इयङो बाधितत्वेन इयङ्स्थानत्वाभावात् 'नेयङुवङ्स्थानौ' इति नदीत्वनिषेधाभावात् 'यू स्त्याख्यौ' इति नित्यनदीत्वे सति 'अम्बार्थे' इत्यादिनदीकार्यप्रवृत्तेरिति भावः। तत्र आम शसि च पूर्वरूपं पूर्वसवर्णदीर्घं च बाधित्वा यणेवेति विशेषः। ननु प्रध्यायतेः क्विपि निष्पन्नस्य प्रधीशब्दस्य प्रकर्षेण ध्यातृत्वप्रवृत्तिनिमित्तकस्य लिङ्गत्रयसाधारणत्वात् नित्यस्त्रीलिङ्गत्वाभावात् नदीत्वाभावात् कथं नदीकार्याणीत्यत आह—पदान्तरं विनापीति। पदान्तरसमभिव्याहाराभावेऽपि यः शब्दः स्त्रीरूपार्थबोधकः सः नित्यस्त्रीलिङ्गः इति विवक्षितः। अत एव ब्राह्मण्याम् आधीशब्दस्य आध्यै इति रूपमास्थितं भाष्ये। स्त्रियामेव यो वर्तते स एव नित्यस्त्रीलिङ्ग इत्यभ्युपगमे तु तदसङ्गतिः स्पष्टैव। आधीशब्दस्य क्रियाशब्दतया त्रिलिङ्गत्वात्। अतः पदान्तरं विनापि स्त्रियां वर्तमानत्वमेव नित्यस्त्रीत्वम्। इदं तु प्रधीशब्दस्य सम्भवत्येव, प्रकर्षेण ध्यातृत्वं निमित्तीकृत्य स्त्रियां वृत्तिसम्भवात्। परन्तु प्रधीरित्युक्ते पुंसः स्त्रियाश्च प्रतीतिप्रसक्तौ अन्यतरव्यवच्छेदाय ब्राह्मणः ब्राह्मणी इत्यादिपदान्तरसमभिव्याहारापेक्षा। नैतावतास्य पदान्तरसमभिव्याहाराभावे स्त्रियां वृत्तेरपीति। अतः प्रधीशब्दस्य नित्यस्त्रीलिङ्गत्वात् नदीकार्यं निबाधमिति भावः। लिङ्गान्तरेति। 'स्त्रीलिङ्गान्यालिङ्गानभिधायकत्वमेव नित्यस्त्रीत्वम्' इति कैयटमतम्। 'स्त्रीविषयावेव यौ यू तयोरेव नदीसंज्ञा' इति 'यू स्त्याख्यौ' इत्यत्र भाष्यादिति तदाशयः। पुंवद्रूपमिति। उदाहृतप्रधीशब्दस्य त्रिलिङ्गतया नित्यस्त्रीत्वाभावात् पुंसीव स्त्रियामपि अनदीत्वादिति भावः। प्रकृष्टेति। प्रकृष्टा धीरिति विग्रहे प्रादिसमासे प्रधीशब्दस्य मतद्वयरीत्यापि नित्यस्त्रीलिङ्गत्वात् लक्ष्मीवद्रूपमित्यर्थः। आम शसि चेति। प्रध्यायतीति, प्रकृष्टा धीरिति च विग्रहे प्रधीशब्दात् आम शसि च पूर्वरूपं पूर्वसवर्णदीर्घं च बाधित्वा 'एरनेकाचः' इति यण्—इत्येतावान् विशेषो लक्ष्मीशब्दापेक्षयेत्यर्थः। कैयटमते ब्राह्मण्याम् 'आध्यै' इति भाष्यप्रयोगस्तु बहुस्त्रीह्यभिप्रायेण नेयः। अत एव भाष्यात् 'नद्यृतश्च' इति कप् नेत्याहुः। सुष्ठु धीर्यस्या इति। सुष्ठु धीर्यस्या इति सुष्ठु ध्यायतीति उभयविधविग्रहेऽपि पदान्तरं विना स्त्रियां वर्तमानत्वं नित्यस्त्रीत्वमिति वृत्तिकारादिमते सुधीशब्दस्य नित्यस्त्रीलिङ्गत्वे 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति नदीत्वनिषेधात् 'ङिति ह्रस्वश्च' इति 'वाऽऽमि' इति च श्रीशब्दवद्रूपाणि प्रत्येतव्यानि। 'न भूसुधियोः' इति यण्निषेधे इयङ एव प्रवृत्तेरिति भावः। मतान्तरे तु पुंवदिति। लिङ्गान्तरानभिधायकत्वं

श्रिय। वृत्तिकार आदि के मत में 'प्रधी' शब्द के रूप 'लक्ष्मी' शब्द के समान होते हैं। उनके मत में किसी दूसरे पद के न रहने पर भी स्त्री-लिङ्ग में वर्तमान होने से नित्य-स्त्रीलिङ्गता रहती है। कैयट के अनुसार नित्यस्त्रीलिङ्ग वही माना जा सकता है जो स्त्रीलिङ्ग के अतिरिक्त दूसरे लिङ्ग का वाचक न हो। अतः इनके मत में पुंलिङ्ग के समान रूप चलेंगे। 'प्रकृष्टा धीः' (प्रशस्त बुद्धि) इस प्रकार विग्रह करने पर (दोनों मतों में) 'लक्ष्मी' शब्द के समान ही रूप बनेंगे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुंवत् । सुष्ठु धीः इति विग्रहे तु श्रीवदेव । ग्रामणीः पुंवत्, ग्रामनयनस्योत्सर्गतः पुंधर्मतया

नित्यस्त्रीत्वमिति कैयटमते तु त्रिलिङ्गतया नदीत्वाभावात् पुंवदेव रूपमित्यर्थः । ननु सुधीशब्दे बहुव्रीहिप्रवृत्तेः प्राक् धीशब्दस्य नित्यस्त्रीलिङ्गत्वात् 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' इति नदीत्वं दुर्वारमिति चेत् ? सत्यम्—यस्य वृत्तेः प्राक् नदीत्वं दृष्टं तस्य उपसर्जनत्वेऽपि नदीत्वमतिदिश्यते । इह च वृत्तेः प्राक् धीशब्दस्य केवलस्य एकाच्त्वाद्यणभावे इयङ्-योग्यतया 'नेयङुवङ्स्थानौ' इति नदीत्वनिषेधात् वृत्तावपि न तदतिदेश इत्यास्तां तावत् । सुष्ठु धीरिति तु विग्रहे तु श्रीवदेवेति । मतद्वयेऽपि नित्यस्त्रीलिङ्गत्वादिति भावः । ग्रामणीः पुंवदिति । स्त्रियामिति शेषः । ननु ग्रामं नयति नियमयतीति ग्रामणीशब्दस्य प्रधीशब्दवत् पदान्तरं विनापि स्त्रियां वर्तमानत्वात् । नित्यस्त्रीलिङ्गत्वान्नदीकार्यसत्त्वात् पुंवदिति

'अम्' में 'प्रध्यम्' तथा 'शस्' में 'प्रध्यः'–रूप होंगे। 'सुष्ठु धीः यस्याः' (= शोभन बुद्धि है जिसकी) अथवा 'सुष्ठु ध्यायति' (= अच्छी तरह ध्यान करने वाली) विग्रह करने पर 'सुधी' शब्द के रूप वृत्तिकार आदि के मत में 'श्री' शब्द के समान होंगे। कैयट के मत में पुंलिङ्ग की तरह रूप होंगे। किन्तु 'सुष्ठु धीः' (= अच्छी बुद्धि)—विग्रह करने पर सबके मत में 'श्री' शब्द के समान रूप बनेंगे। 'ग्रामणी' शब्द के रूप 'पुंलिङ्ग' के समान होते हैं। ग्राम का नेतृत्व स्वभावतः पुरुष का धर्म होने से दूसरे पद का प्रयोग न करने पर भी स्त्रीलिङ्ग में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार 'खलपू' शब्द भी पुंलिङ्ग के समान जाना जाय। दीर्घ ईकारान्त शब्दों का प्रकरण समाप्त हुआ।

विवरण—सूत्र के अर्थ को पूरा करने के लिये सम्पूर्ण "यूस्त्याख्यौ नदी" (१-४-३) सूत्र तथा "नेयङुवङ्स्थानावस्त्री" सूत्र से 'इयङुवङ्स्थानौ' एवं 'अस्त्री' पद की अनुवृत्ति करनी अपेक्षित है। तदनुसार—'आम्' विभक्ति पर रहते, 'स्त्री' शब्द को छोड़कर 'इयङ्'–'उवङ्'–स्थानी नित्यस्त्रीलिङ्गी दीर्घ ईकार तथा दीर्घ ऊकार, विकल्प से 'नदी'–संज्ञक होते हैं। **उदाहरण**—(क) श्री+आम्, <श्री+नुँ आम् ('इयङ्'–स्थानी नित्य स्त्रीलिङ्ग 'श्री' शब्द के 'ई' को नदी-संज्ञा विकल्प से होने के कारण 'नुट्' आगम), <श्रीणाम् (न् = ण्)। नदी संज्ञा के न होने पर—श्रियाम् (इयङ्)। (ख) श्री+ङि, <श्री+आम् ("ङिति ह्रस्वश्च"–२९६ के अनुसार वैकल्पिक नदी-संज्ञा होने पर ङि = आम्), <श्रियाम् (इयङ्)। नदी-संज्ञा न होने पर—श्रियि (इयङ्)।

विशेष—"यूस्त्याख्यौ नदी" (१-४-६) सूत्रस्थ 'स्त्याख्यौ' पद को अभिलक्षित कर 'नित्य-स्त्रीलिङ्ग' के सम्बन्ध में दो तरह से अर्थ किया गया है। प्रथम मत के अभिव्यञ्जक वृत्तिकार हरदत्त आदि हैं। इनके मत में वे ही शब्द नित्य-स्त्रीलिङ्ग माने जाते हैं, जो दूसरे पदों का सान्निध्य न होने पर स्वयं स्त्रीरूप का बोध कराते हों। इस अर्थ के अनुसार 'प्रधी' शब्द स्त्रीरूप अर्थ का बोधक है। इनके अनुसार 'प्रधी' शब्द का विग्रह है—'प्र (प्रकर्षेण) ध्यायति' मनोयोगपूर्वक ध्यान करने वाला (वाली)। ध्यान करने वाला व्यक्ति पुरुष एवं स्त्री कोई भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में सन्देह निराकरण करने के लिए पुरुष एवं स्त्री के बोधक शब्दों का प्रयोग कर दिया जाता है। तथापि शब्द-विशेष का प्रयोग न करने पर भी ध्यान करने की वृत्ति स्त्री में सर्वथा सम्भावित होने के कारण उसे नित्यस्त्रीलिङ्ग मानने में कोई बाधक नहीं होता। अतः प्रधी शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग होने से नदीसंज्ञक कार्यों में उसकी निर्बाध प्रवृत्ति होगी। तदनुसार इस मत में 'प्रधी' शब्द के रूप 'लक्ष्मी' शब्द के समान बनेंगे।

दूसरे मत के प्रतिपादक कैयट हैं। उनके अनुसार नित्यस्त्रीलिङ्ग-वाचक शब्दों में दूसरे लिङ्ग की वाचकता (बोधकता) कदापि नहीं होती[1]। इस दृष्टि से 'प्रधी' शब्द को नित्यस्त्रीलिङ्ग नहीं

---

१. 'आख्याग्रहणसामर्थ्यान्नियम आश्रीयते स्त्रियमेव यावाचक्षाते न तु लिङ्गान्तरमपीत्यर्थः'—इति नदीसंज्ञासूत्रे कैयटः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदान्तरं विनापि स्त्रियामप्रवृत्तेः। एवं खलपवनादेरपि पुंधर्मत्वमौत्सर्गिकं बोध्यम्। इति

कथमित्यत आह—ग्रामनयनस्येति। ग्रामनयनस्य लोके उत्सर्गतः सामान्यतः पुंधर्मतया (पुरुषकर्तव्यतया) ब्राह्मणीत्यादिपदान्तरसमभिव्याहारं विना स्त्रीलिङ्गप्रतीतेः वृत्तिकारादिमतेऽपि नित्यस्त्रीलिङ्गत्वाभावान्नदीत्वं नेत्यर्थः। एवमिति। खलपवनकटप्रवणादिक्रियाणामपि पुरुषकर्तव्यत्वम् औत्सर्गिकं सामान्यतः सिद्धम्। अतः खलपूः कटप्रूः इत्यादिशब्दानामपि स्त्रियां वृत्तिकारादिमतेऽपि नित्यस्त्रीत्वं न। अतः पुंवदेव रूपमित्यर्थः। इति

कहा जा सकता। 'प्रधी' शब्द के उपर्युक्त विग्रह में 'ध्यान' करने की योग्यता सभी में होने से तीनों लिङ्गों में 'प्रधी' की वाचकता हो सकती है। अतः इसे नित्य स्त्रीलिङ्गवाचक नहीं माना जासकता। इस कारण कैयट के मत में 'प्रधी' शब्द के रूप पुंलिङ्ग के समान होते हैं।

यदि 'प्रधी' शब्द का विग्रह 'प्रकृष्टा धीः' मानकर कर्मधारय समास (प्रादिसमास) किया जाय तो उपर्युक्त दोनों मतों में नित्यस्त्रीलिङ्ग-वाचकता होने से 'लक्ष्मी' शब्द के समान रूप होंगे। तथापि द्वितीया के एक-वचन (अम्) एवं द्वितीया के बहुवचन (शस्) में 'लक्ष्मी' शब्द की अपेक्षा भिन्नता है। इन दोनों में 'लक्ष्मी' शब्द के 'लक्ष्मीम्' (अम्) तथा 'लक्ष्मीः' (शस्) रूप सिद्ध होते हैं। प्रधी शब्द में 'प्रध्यम्' (अम्) रूप बनता है। यहाँ पर "अमि पूर्वः" (१९४) से प्राप्त पूर्वरूप का 'यण्'–"एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य"–बाधक है।

निर्देश—१–इसी प्रकार की प्रक्रिया 'सुधी' शब्द में भी है। वहाँ भी 'सुष्ठु ध्यायति' (=अच्छी तरह ध्यान करने वाला (वाली) तथा 'सुष्ठु धीः यस्याः' (अच्छी बुद्धि वाली) विग्रह करने पर हरदत्त के मत में 'श्री' शब्द के समान स्त्रीलिङ्ग में तथा कैयट के मत में 'पुंलिङ्ग' की तरह रूप चलेंगे। 'सुष्ठु धीः'—(=अच्छी बुद्धि) इस प्रकार विग्रह करने पर दोनों मतों में 'श्री' शब्द के समान ही रूप सिद्ध होंगे।

२—'ग्रामणी' (=गाँव का मुखिया) के रूप दोनों मतों में 'पुंलिङ्ग' के समान चलेंगे। कारण यह है कि ग्राम का नेतृत्व स्वभावतः पुरुष-साध्य है। वहाँ 'ब्राह्मणी' इत्यादि शब्दों का प्रयोग न करने पर भी स्त्री-लिङ्ग की प्रतीति न होने से वृत्तिकार आदि के मत में भी नित्यस्त्रीलिङ्ग नहीं है। इसी तरह 'खलपू' शब्द से वाच्य अर्थ (=खलिहान साफ करनेवाला) स्वभावतः पुरुष-साध्य होने से उसके रूप भी पुंलिङ्ग के समान होते हैं। 'दीर्घ' ईकारान्त शब्दों का निरूपण समाप्त होता है।

'श्री' (=लक्ष्मी) शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०	वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	श्रीः	श्रियौ	श्रियः	प०	श्रियाः, श्रियः	श्रीभ्याम्	श्रीभ्यः
द्वि०	श्रियम्	श्रियौ	श्रियः	ष०	श्रियाः, श्रियः	श्रियोः	श्रीणाम्, श्रियाम्
तृ०	श्रिया	श्रीभ्याम्	श्रीभिः	स०	श्रियाम्, श्रियि	श्रियोः	श्रीषु
च०	श्रियै, श्रिये	श्रीभ्याम्	श्रीभ्यः	सं०	हे श्रीः	हे श्रियौ	हे श्रियः

३—'उकारान्त' स्त्री-लिङ्ग शब्दों का प्रकरण आरम्भ होता है। सर्व-प्रथम यह निरूपण किया जारहा है कि 'धेनु' शब्द के रूप 'मति' के समान बनेंगे। अन्तर इतना ही है कि 'मति' शब्द में 'इ'कार को 'गुण' 'ए' होता है, यहाँ 'धेनु' शब्द में 'उ'कार के स्थान में 'गुण'—'ओ' हो जायगा। तदनुसार रूप दिये जारहे हैं।

'धेनु' शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०	वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	धेनुः	धेनू	धेनवः	पं०	धेन्वाः, धेनोः	धेनुभ्याम्	धेनुभ्यः
द्वि०	धेनुम्	धेनू	धेनूः	ष०	धेन्वाः, धेनोः	धेन्वोः	धेनूनाम्
तृ०	धेन्वा	धेनुभ्याम्	धेनुभिः	स०	धेन्वाम्, धेनौ	धेन्वोः	धेनुषु
च०	धेन्वै, धेनवे	धेनुभ्याम्	धेनुभ्यः	सं०	हे धेनो	हे धेनू	हे धेनवः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईदन्ताः । धेनुः मतिवत् । (३०५) स्त्रियां च ७ । १ । ९६ ॥ स्त्रीवाची क्रोष्टुशब्द-स्तृजन्तवद्रूपं लभते । (३०६) ऋन्नेभ्यो ङीप् ४ । १ । ५ ॥ ऋदन्तेभ्यो नान्तेभ्यश्च स्त्रियां ङीप् स्यात् । क्रोष्ट्री, क्रोष्ट्र्यौ, क्रोष्ट्र्यः । इत्युदन्ताः । वधूः गौरीवत् । भ्रूः श्रीवत् । हे सुभ्रूः । कथं तर्हि 'हापितः क्वासि हे सुभ्रु' इति भट्टिः । प्रमाद एवायमिति बहवः ।

ईदन्ताः । अथ उदन्ता निरूप्यन्ते । धेनुर्मतिवदिति । उकारस्य ओकारो गुणः, अवादेश इत्यादिविशेषस्तु सुगम इति भावः । अथ क्रोष्टुशब्दस्य स्त्रियां विशेषमाह ।

(३०५) स्त्रियां च । 'तृज्वत्क्रोष्टुः' इत्यनुवर्तते । रूपातिदेशोऽयमित्युक्तम् । तदाह—स्त्रीवाचीत्यादिना । तथा च स्त्रियामुदन्तः क्रोष्टुशब्दो नास्त्येव । किन्तु क्रोष्टृ इति ऋदन्त एवेति फलितम् ।

(३०६) ऋन्नेभ्यो ङीप् । ऋतश्च नाश्चेति द्वन्द्वः । स्त्रियामित्यधिकृतम् । 'ङ्याप्प्राति-पदिकात्' इत्यतः प्रातिपदिकग्रहणमनुवृत्तम् ऋन्नकारैर्विशेष्यते । तदन्तविधिः । तदाह—ऋदन्तेभ्य इत्यादिना । ङपावितौ । क्रोष्टृ ई इति स्थिते यणि क्रोष्ट्रीशब्दात् सुबुत्पत्तिः । गौरीवद्रूपाणीत्याह—क्रोष्ट्री इत्यादि । इत्युदन्ताः । अथ ऊदन्ता निरूप्यन्ते । वधूर्गौरी-वदिति । 'वहो धश्च' इत्यूप्रत्ययः हस्य धश्च । धात्ववयवोवर्णाभावात् नोवङ् । ऊकारस्य यण् वकार इत्यादिविशेषस्तु सुगम इति भावः । भ्रूः श्रीवदिति । 'भ्रमेश्च डूः' इति डूप्रत्ययान्तोऽयम् । 'अचि श्नुधातुभ्रुवाम्' इत्युवङ् इत्यादिविशेषस्तु सुगम इति भावः । सु शोभना भ्रूर्यस्याः सा सुभ्रूः । अस्त्रीप्रत्ययान्तत्वात् 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वो न भवति । 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति भ्रूशब्दस्य तदन्तस्य च निषेधात् नदीत्वं न । ततश्च 'अम्बार्थ' इत्यादिनदीकार्यं नेत्यभिप्रेत्याह—हे सुभ्रूरिति । कथं तर्हीति । यदि सुभ्रूशब्दे नदीकार्यं

---

(३०५) पद—स्त्रियां, च । अनुवृत्ति—तृज्वत्, क्रोष्टुः । अतिदेशसूत्र ।

मूलार्थ—स्त्रीलिङ्ग-वाची 'क्रोष्टु' शब्द 'तृजन्त' के समान रूपवाला होता है ।

विवरण—सम्पूर्ण सूत्र "तृज्वत् क्रोष्टुः" (७-१-९५) की अनुवृत्ति कर अर्थकृत सादृश्य द्वारा यहाँ रूपातिदेश का विधान किया जारहा है । तदनुसार स्त्रीलिङ्ग में भी 'क्रोष्टु' शब्द के स्थान पर 'क्रोष्टृ' शब्द का प्रयोग किया जायगा ।

(३०६) पद—ऋन्नेभ्यः, ङीप् । अनुवृत्ति—स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—ऋकारान्त तथा नकारान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय होता है । क्रोष्ट्री, क्रोष्ट्र्यौ, क्रोष्ट्र्यः । ह्रस्व उकारान्त शब्द समाप्त हुए । 'वधू' शब्द 'गौरी' के समान है । 'भ्रू' शब्द 'श्री' के समान जाना जाय । हे सुभ्रूः । भट्टिकाव्य में 'हापितः' क्वासि 'हे सुभ्रु' प्रयोग कैसे ? अनेक आचार्यों के अनुसार यह भूल है । 'खलपू' पुंलिङ्ग की तरह है । 'पुनर्भूः' । 'दृन्करः' वार्तिक से यण् उवङ् का बाधक होने के कारण "नेयङुवङ्०" सूत्र से निषेध नहीं हुआ । हे पुनर्भु । पुनर्भ्वम्, पुनर्भ्वौ ।

विवरण—"स्त्रियाम्" (४-१-१) का अधिकार है । "ङ्याप्प्रातिपदिकात्" (४-१-१) सूत्र से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति आरही है । पञ्चमी-एकवचन को बहुवचन में बदल दिया गया है । विशेषणवाची 'ऋन्नेभ्यः' में तदन्तविधि हुई । अतः ऋकारान्त तथा नकारान्त प्रातिपदिकों से (ऋतश्च नाश्च, तेभ्यः) पर स्त्रीलिङ्ग द्योतक 'ङीप्' प्रत्यय होता है । उदाहरण—(क) क्रोष्टु <क्रोष्टृ+ई (ङीप्)—'क्रोष्टु' शब्द के स्थान में 'क्रोष्टृ' आदेश होने के पश्चात् 'ङीप्' प्रत्यय हुआ । उसमें 'ङ्' तथा 'प्' इत्संज्ञक हैं । 'ई' मात्र अवशेष रहता है । 'यण्' होकर 'क्रोष्ट्री' शब्द निष्पन्न होता है । तदनन्तर क्रोष्ट्री+स् (सु), <क्रोष्ट्री (विभक्तिलोप) । (ख) क्रोष्टु <क्रोष्टृ+ई,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खलपूः पुंवत् । पुनर्भूः । 'ट्टन्कर—' (वा ४११८) इति यणा उवङो बाधनात् 'नेयङुवङ्—' (सू ३०३) इति निषेधो न । हे पुनर्भु । पुनर्भ्वम्, पुनर्भ्वौ, पुनर्भ्वः ।

न स्यात् तदा 'हापितः क्वासि हे सुभ्रु' इति कथं भट्टिराहेत्यर्थः । रावणेन सीतापहारोत्तरं रामविलापोऽयम् । हे सुभ्रु त्वया अहं हापितोऽस्मि विधिनेत्यर्थः । हापित इत्यस्य त्याजित इत्यर्थः । प्रमाद इति । 'अम्बार्थ' इति ह्रस्वस्य करणादिति भावः । बहव इति । कतिपये सामान्ये नपुंसकत्वमाश्रित्य कथञ्चित् समादधुः । खलपूः पुंवदिति । खलपवनस्य उत्सर्गतः पुंधर्मतया पदान्तरं विना स्त्रियां वर्तमानत्वाभावेन नित्यस्त्रीत्वाभावात् नदीत्वं नेति भावः । पूनर्भूरिति । 'पुनर्भूर्दिधिषूरूढा द्विः' इत्यमरः । तस्य 'नेयङुवङ्' इति निषेधमाशङ्क्याह—ट्टन्करेति । अम्शसोः पूर्वरूपं पूर्वसवर्णदीर्घं च बाधित्वा 'ट्टन्कर' इति यणिति मत्वाह—पुनर्भ्वम् पुनर्भ्वाविति । पुनर्भ्वौ । पुनर्भ्वाः । नद्यन्तत्वात् नुटि दीर्घे पुनर्भूनामिति स्थिते रेफान्नकारस्य भिन्नपदस्थत्वात् 'अट्कुप्वाङ्' इत्यप्राप्ते ।

<क्रोष्ट्री+औ <क्रोष्ट्र्यौ (यण्) । (ग) क्रोष्ट्री+अस् (शस्), <क्रोष्ट्र्यः (यण्, रु, विसर्ग) । रूपावलि 'गौरी' शब्द के समान है । उकारान्त शब्दों का निर्वचन समाप्त होता है ।

निर्देश—१-'दीर्घ' ऊकारान्त 'वधू' शब्द की रूपसिद्धि 'गौरी' शब्द के समान होगी । अन्तर 'यण्' वर्ण में है । नियमानुसार 'ऊ' के स्थान पर 'व्' यण् होगा । 'धातु' का अवयव 'ऊ' न होने के कारण 'उवङ्' प्राप्त नहीं हैं । इसके रूप स्मरणार्थ दिये जारहे हैं ।

'वधू' (= बहू) शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०	वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	वधू	वध्वौ	वध्वः	पं०	वध्वाः	वधूभ्याम्	वधूभ्यः
द्वि०	वधूम्	वध्वौ	वधूः	प०	वध्वाः	वध्वोः	वधूनाम्
तृ०	वध्वा	वधूभ्याम्	वधूभिः	स०	वध्वाम्	वध्वोः	वधूषु
च०	वध्वै	वधूभ्याम्	वधूभ्यः	सं०	हे वधु	हे वध्वौ	हे वध्वः

२—'भ्रू' शब्द के रूप 'श्री' शब्द के समान जाने जायँ । यहाँ 'उ'वर्ण होने के कारण 'उवङ्' होगा । 'सुभ्रू' शब्द के सम्बोधन में 'हे सुभ्रूः' (स्=र्=:) रूप बनता है । 'सुभ्रू' शब्द का विग्रह है—'शोभनौ भ्रुवौ यस्याः सा' (= अच्छे भौंहवाली स्त्री) । √ भ्रम्+(ऊ) ङ् (उणादि प्रत्यय), <भ्रू+ऊ (टि-'अम्'-लोप) = भ्रू । 'भ्रू' शब्द स्त्रीप्रत्ययान्त न होने के कारण "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" (१-२-४८) से ह्रस्व नहीं होता । "नेयङुवङ्स्थानावस्त्री" (२०२) से नदी संज्ञा का निषेध होने के कारण "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः" (२६७) से सम्बोधन में ह्रस्व भी नहीं हुआ । इस प्रसङ्ग में भट्टिकाव्य में प्रयुक्त 'हा-पितः क्वासि हे सुभ्रु' (हे सुन्दर भौंवाली 'तुमने भी मुझे छोड़ दिया, तुम कहाँ हो ?') पद्य में 'हे सुभ्रु' ह्रस्व प्रयोग की असमीचीनता पर आश्चर्य प्रकट किया जारहा है । कदाचित् कवि ने असावधानी से ऐसा प्रयोग किया हो । किन्तु महावैयाकरण की असावधानी कुछ समझ में नहीं आती ? इसलिये यह कहा जासकता है कि शोकविह्वल राम के द्वारा उच्चरित पद का कवि ने अनुकरण किया हो । इस तरह का प्रमाद विरह का पोषक होने से काव्य का गुण माना गया है[1] ।

३—'खलपू' शब्द भी पुंलिङ्ग है । इसी तरह 'पुनर्भू' (= ब्याही हुई स्त्री) शब्द भी है । इसके प्रथमा-एकवचन में 'पुनर्भूः' (सु, रु, विसर्ग) । नदी संज्ञा होने के कारण सम्बोधन के एकवचन में "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः" (२६७) से ह्रस्व होकर 'हे पुनर्भु' रूप होता है । कारण यह है कि 'ट्टन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः' वार्तिक द्वारा विहित यण् 'उवङ्' का बाधक है ।

---

१. विरहपीडितत्वेनानवधानलक्षणोऽत्र प्रमादः । स च विरहपोषकत्वात् काव्ये गुणः । ल. श. शे. ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३०७) एकाजुत्तरपदे णः ८।४।१२ ।। एकाजुत्तरपदं यस्य तस्मिन्समासे पूर्वपदस्थान्नि-मित्तात्परस्य प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिस्थस्य नस्य नित्यं णत्वं स्यात्। आरम्भसामर्थ्यान्नित्यत्वे सिद्धे पुनर्णग्रहणं स्पष्टार्थम्। यणं बाधित्वा परत्वान्नुट्। पुनर्भूणाम्। वर्षाभूः। भेकजातौ नित्यस्त्रीत्वाभावात्—हे वर्षाभूः कैयटमते। मतान्तरे तु हे वर्षाभु। 'भेक्यां पुनर्नवायां

---

(३०७) एकाजुत्तरपदे णः। समासस्य चरमावयवे रूढेन उत्तरपदशब्देन समासे इति लभ्यते। एकः अच् यस्मिन् तत् एकाच्, तत् उत्तरपदं यस्य सः एकाजुत्तरपदः, तस्मिन् समासे इति बहुव्रीहिगर्भो बहुव्रीहिः। 'रषाभ्यां नो णः' इत्यनुवर्तते। 'पूर्वपदात् संज्ञायाम्' इत्यतः पूर्वपदादित्यनुवर्तते। पूर्वं पदं यस्य तत् पूर्वपदम्। एकत्वमविवक्षि-तम्। पूर्वपदस्थाभ्यामिति लभ्यते। 'प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च' इत्यनुवर्तते। विद्य-मानस्येति शेषः। तदाह—एकाजुत्तरपदमित्यादिना। नन्विह णकारग्रहणं व्यर्थम्, 'रषाभ्यां नो णः' इत्यत एव तदनुवृत्तिसिद्धेः। न च 'प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च' इति विकल्पनिवृत्त्यर्थं पुनर्णग्रहणमिति वाच्यम्, आरम्भसामर्थ्यादेव नित्यत्वसिद्धेरित्यत आह—आरम्भेति। यणमिति। 'दृन्कर' इति यणमित्यर्थः। पुनर्भूणामिति। रेफस्य 'हशि च' इत्युत्वं तु न, रोरेव तद्विधानात्। ङेराम्—पुनर्भ्वाम्। वर्षाभूशब्दे विशेषमाह—भेकेति। 'वह्वादिभ्यश्च' इति ङीपो वैकल्पिकत्वात् ङीषभावे वर्षाभूशब्दः। स च भेकजातौ द्विलिङ्गः।

'भेक्यां पुनर्नवायां स्त्री वर्षाभूर्दर्दुरे पुमान्' इति यादवः।

दर्दुरो भेकः। एवं च 'लिङ्गान्तरानभिधायकत्वम्' इति कैयटमते नित्यस्त्रीलिङ्गत्वा-भावात् नदीत्वाभावे सति 'अम्बार्थ' इति ह्रस्वाभावे सति हे वर्षाभूरिति रूपमित्यर्थः।

अतः उवङ्-स्थानी न होने से "नेयङुवङ०" (३०३) सूत्र से नदी-संज्ञा का निषेध नहीं होता। इसके फलस्वरूप 'पुनर्भ्वम्' (अम्) 'पुनर्भ्वौ' (औ) तथा 'पुनर्भ्वः' (जस्) आदि अजादि विभक्तियों में यण् हुआ।

(३०७) एकाजुत्तरपदे, णः। अनुवृत्ति—रषाभ्यां, नः, पूर्वपदात्, प्रातिपदिकान्तनुम्-विभक्तिषु, च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—एक 'अच्' है उत्तरपद में जिसके ऐसा जो समास, उसमें पूर्वपदस्थ-निमित्त रेफ-षकार से पर प्रातिपदिकान्त-नुम् और विभक्ति में स्थित 'न्' को 'ण्' होता है।

विवरण—अर्थ की दृष्टि से सूत्र अपूर्ण है। सूत्र में आदेशवाचक पद 'णः' है। स्थानी का निर्देश नहीं है। इन सब की पूर्ति के लिये "रषाभ्यां नो णः" (८४-१) सूत्र से 'नः' तथा "रषाभ्यां" एवं "पूर्वपदात् संज्ञायामगः" (८-४-३) सूत्र से वचनविपरिणाम कर 'पूर्वपदाभ्यां' तथा सम्पूर्ण सूत्र "प्रतिपादिकान्तनुम्विभक्तिषु च" (८-४-११) की अनुवृत्ति की जा रही है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत आशय यह है कि जिस समासयुक्त शब्द में उत्तरपद एक-स्वर-वर्णात्मक हो (एकः अच् यस्मिन् तत् एकाच्, तत् उत्तरपदं यस्य तस्मिन्—एकाजुत्तरपदे—बहुव्रीहि-गर्भित-बहुव्रीहि), उस समस्तशब्द में पूर्वपदस्थित 'र्' तथा 'ष्' से परवर्ती (पूर्वपदाभ्यां रषाभ्यां) प्रातिपदिकसम्बन्धी अन्त्य नकार (न्), 'नुम्'-सम्बन्धी नकार तथा विभक्ति-सम्बन्धी 'न्' के स्थान पर (प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिस्थस्य नस्य) 'ण्' होता है। उदाहरण—(क) पुनर्भू+आम्, <पुनर्भू+न्-आम् ('दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः' वार्तिक से प्राप्त 'यण्' का 'पर' होने के कारण 'नुट्' आगम बाधक होता है), <पुनर्भू+ण्—आम् (पुनर्भू-शब्द में उपपद-समास होने के कारण 'पुनः' पूर्वपद तथा 'भू' उत्तरपद है। उत्तरपद-'भू'—एकाच् है। पूर्वपद 'पुनर्' में 'र्' भी विद्यमान है, उससे पर विभक्तिस्थ 'न्' को ण् हुआ), <पुनर्भूणाम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्त्री वर्षाभूर्दुंरे पुमान्' इति यादवः। 'वर्षाभ्वश्च' (सू २८२) वर्षाभ्वौ—वर्षाभ्वः॥ स्वयम्भूः पुंवत्। इत्यूदन्ताः। (३०८) न षट्स्वस्रादिभ्यः ४।१।१०॥ षट्-संज्ञकेभ्यः स्वस्रादिभ्यश्च ङीष्टापौ न स्तः।

मतान्तरे त्विति। 'पदान्तरं विनापि स्त्रियां वर्तमानत्वम्' इति वृत्तिकारादीनां मते तु वर्षा-भूशब्दस्य जातिशब्दतया पदान्तरं विनापि स्त्रियां वर्तमानतया नित्यस्त्रीत्वान्नदीत्वे 'अस्वार्थे' इति ह्रस्वे सति हे वर्षाभु इति रूपमित्यर्थः। ननु 'शिली गण्डूपदी भेकी वर्षाभ्वी कमठी डुलिः' इत्यमरकोशे वर्षाभूशब्दस्य भेकजातौ स्त्रीलिङ्गमात्रावगमात् कैयट-मतेऽपि नित्यस्त्रीत्वं कुतो न स्यादित्यत आह—भेक्यामिति। यादवकोशानुसारात् अमर-कोशे स्त्रीग्रहणमुपलक्षणमिति भावः। यद्वा अमरमतरीत्या कैयटमतेऽपि नित्यस्त्रीत्वमस्तु। अजादौ 'एरनेकाचः' इति यणः 'न भू सुधियोः' इति निषेधे प्राप्ते 'वर्षाभ्वश्च' इति यणः प्रतिप्रसव उक्तः तं स्मारयति—वर्षाभ्वश्चेति। स्वयम्भूः पुंवदिति। स्वयम्भूशब्दस्य चतु-रानने रूढत्वात् तस्य यौगिकस्य पदान्तरं विना स्त्रियामवृत्तेः न वृत्तिमते नित्यस्त्रीत्वम्। कैयटमते तु अनेकलिङ्गत्वात् न नित्यस्त्रीत्वमिति भावः। इत्यूदन्ताः। अथ ऋदन्ता निरूप्यन्ते 'सावसेर्ऋन्' इति सौ उपपदे असूधातोः ऋन्प्रत्यये स्वसृशब्दो भगिनीवाची। 'ऋन्नेभ्यः' इति ङीपि प्राप्ते।

(३०८) न षट्। षट् इत्यनेन षट्संज्ञका गृह्यन्त इत्याह—षट्संज्ञकेभ्यः इति। ङीष्टा-पाविति। 'ऋन्नेभ्यः' इत्यतो ङीबिति, 'टाबृचि' इत्यतष्टाविति चानुवृत्तेरिति भावः। स्वस्रादीन् पठति—स्वसा तिस्र इत्यादिना। अथ 'तिसृचतसृ' इत्यनयोः पाठो न कर्तव्यः 'न तिसृचतसृ' इति नामि दीर्घनिषेधादेव लिङ्गात् ङीबभावसिद्धेरिति 'कृन्मेजन्तः' इति सूत्रे कैयटः। न नन्दतीति ननान्दा। 'नञि च नन्देः' इति ऋन्, वृद्धिश्च। 'ननान्दा तु स्वसा पत्युः' इत्यमरः। दोग्धीति दुहिता। 'नेष्टृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृप्रातृजामातृमातृपितृ-दुहितृ' इति दुहेस्तृच्, इट् गुणाभावश्च निपातितः। मान्यते पूज्यते इति माता। मान्

विशेष—"रषाभ्यां नो णः समानपदे" (८-४-१) सूत्र से 'णः' की अनुवृत्ति आने के कारण 'ण्'-आदेश सम्भव होने पर भी प्रकृत सूत्र में पुनः 'णः' का समावेश स्पष्टार्थक है।

निर्देश—'वर्षाभू' शब्द की रूपसिद्धि पर विचार किया जा रहा है। यह शब्द पुंलिङ्ग एवं स्त्रीलिङ्ग दोनों में है। यादव कोष में इसका उल्लेख है कि माँदा मेंढक तथा पुनर्नवा अर्थ में 'वर्षाभू' शब्द स्त्रीलिङ्ग है तथा नर-मेंढक अर्थ में पुंलिङ्ग है। (क) वर्षाभू+स् (सु), <वर्षाभूः (रु, विसर्ग)। अतः कैयट के मत में नित्य-स्त्रीवाचक न होने के कारण पुंलिङ्ग में ही इसके रूप बनेंगे। (ख) जिसके फलस्वरूप सम्बोधन में 'ऊ' को ह्रस्व नहीं होगा—हे वर्षाभूः। हरदत्त के मत से इसके रूप स्त्रीलिङ्ग में निष्पन्न होंगे। अतः सम्बोधन के एक-वचन में 'ऊ' को ह्रस्व होकर 'हे वर्षाभु' रूप बनेगा। (ग) वर्षाभू+औ, <वर्षाभ्वौ ("एरनेकाचः" यण् की प्राप्ति, "न भूसुधियोः" निषेध, पुनः "वर्षाभ्वश्च" ५८२ यण्)। (घ) वर्षाभू+अस् (जस्), <वर्षाभ्वस् (यण्), <वर्षाभ्वः (स्=र्=:)। शेष प्रक्रिया पुंलिङ्ग के समान। 'स्वयम्भू' शब्द के रूप भी पुंलिङ्ग की तरह हैं। कारण यह है कि 'स्वयम्भू' शब्द 'ब्रह्मा' अर्थ में रूढ है। अतः यहाँ पदान्तर के बिना 'स्त्रीलिङ्ग' की प्रतीति न होने से हरदत्त के मत में 'नदी' संज्ञा सम्भव नहीं है। कैयट के मत में तो नित्य स्त्रीत्व किसी तरह भी सम्भव नहीं है।

(३०८) पद—न, षट्स्वस्रादिभ्यः। अनुवृत्ति—ङीप्, टाप्। विधि(निषेध)सूत्र।

मूलार्थ—'षट्' संज्ञक तथा 'स्वस्'-आदि शब्दों से ङीप् एवं टाप् नहीं होते। 'स्वस्' आदि शब्द सात हैं—स्वस्, तिस्, चतस्, ननान्दृ, दुहितृ, यातृ तथा मातृ। "अप्तृन्०" सूत्र से दीर्घ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा ।
याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः ॥'

'अप्तृन्—' (सू २७७) इति दीर्घः । स्वसा, स्वसारौ, स्वसारः । माता पितृवत् । शसि—मातॄः । इत्यृदन्ताः । द्यौः गोवत् । इत्योदन्ताः । राः पुंवत् । इत्यैदन्ताः । नौः ग्लौवत् । इत्यौदन्ताः ।

इत्यजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ।

पूजायाम् । तृचि नलोपश्च । यतते इति याता । 'यतेर्वृद्धिश्च' इति ऋन् उपधावृद्धिश्च । 'भार्यास्तु भ्रातृवर्गस्य यातरः स्युः परस्परम्' इत्यमरः । अप्तृन्नितीति । स्वसृशब्दात् सुः, 'ऋदुशनस्' इत्यनङ्, तृप्रत्ययान्तत्वाभावेऽपि 'अप्तृन्' इति सूत्रे स्वसृग्रहणात् दीर्घ इति भावः । माता पितृवदिति । 'अप्तृन्' इति सूत्रे औणादिकतृन्तृजन्तेषु नप्त्रादीनामेव दीर्घनियमनादिति भावः । इत्यृदन्ताः । अथ ओदन्ता निरूप्यन्ते । द्यौर्गोवदिति । 'ओतो णित्' इति णिद्वत्त्वातिदेशात् 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धिः । 'द्योदिवौ द्वे स्त्रियामभ्रम्' इत्यमरः । इत्योदन्ताः । अथ ऐदन्ता निरूप्यन्ते । राः पुंवदिति । 'रायो हलि' इत्यात्वम् । 'राः स्त्रीत्येके' इति क्षीरस्वाम्युक्तेः स्त्रीलिङ्गोऽप्ययमिति भावः । इत्यैदन्ताः । अथ औदन्ता निरूप्यन्ते । नौर्ग्लौवदिति । 'स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः' इत्यमरः । इत्यौदन्ताः ।

इति श्रीवासुदेवदीक्षितविदुषा विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां बालमनोरमायामजन्तस्त्रीलिङ्गनिरूपणं समाप्तम् ।

हुआ । स्वसा, स्वसारौ, स्वसारः । 'मातृ' शब्द की रूप-प्रक्रिया 'पितृ' शब्द के समान है, किन्तु 'शस्' में 'मातॄः' रूप बनता है । 'द्यो' शब्द के रूप 'गो' शब्द के समान होते हैं । 'रै' शब्द के रूप पुंलिङ्ग की तरह जाने जायँ । 'नौ' शब्द की रूपप्रक्रिया 'ग्लौ' शब्द की तरह है ।

सन्दर्भ—ऋकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'स्वसृ' शब्द के प्रसङ्ग में प्रकरणेतर कार्य की सूचना दी जा रही है ।

विवरण—सूत्र का अर्थ पूरा होने में "ऋन्नेभ्यो ङीप्" (४-१-५) सूत्र से 'ङीप्' तथा "टाबृचि" (४-१-९) सूत्र से 'टाप्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । अधिकारवश—"स्त्रियाम्", "प्रातिपदिकात्", "प्रत्ययः" तथा "परश्च" का भी प्रभाव है । अतः 'षट्'संज्ञक प्रातिपदिकों से तथा 'स्वसृ'-आदि प्रातिपदिकों से (स्वसा आदिः येषां ते स्वस्रादयः, षट् च स्वस्रादयश्च, तेभ्यः) स्त्रीलिङ्ग में विहित 'ङीप्' तथा 'टाप्' प्रत्यय नहीं होते । 'न'कारान्त तथा 'न'कारान्त संख्यावाची शब्द षट्संज्ञक कहलाते हैं । 'स्वसृ' आदि शब्दों का परिगणन कारिका में किया गया है । वे हैं—(१) स्वसृ (= बहन) (२) तिसृ (= तीन स्त्रियाँ) (३) चतसृ (= चार स्त्रियाँ), (४) ननान्दृ (= ननद) (५) दुहितृ (= लड़की) (६) यातृ (= पति के भाई की पत्नी) तथा (७) मातृ (माता) । उदाहरण—(क) स्वसृ+सु, <स्वस्—अन्+स् ("ऋन्नेभ्यो ङीप्"—४-१-५ से प्राप्त स्त्रीप्रत्यय का निषेध होने के कारण 'अनङ्'), <स्वसान्+सु ("अप्तृन्०"—२७७ सूत्र से दीर्घ), <स्वसान् ('विभक्ति' लोप), <स्वसा ('न्' लोप) । (ख) स्वसृ+औ, <स्वसर+औ (गुण), <स्वसारौ (दीर्घ) । (ग) स्वसृ+अस् (जस्), <स्वसर्+अस् (गुण), <स्वसारस् (दीर्घ), <स्वसारः (स् = र् = :) । (घ) 'शस्' में 'स्वसॄः'—पूर्वसवर्ण-दीर्घ, रु, विसर्ग । शेष रूप 'धातृ' शब्द के समान जाने जायँ ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ अजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

(३०९) अतोऽम् ७ । १ । २४ ॥ अतोऽङ्गात्क्लीबात्स्वमोरम्स्यात् । 'अमि पूर्वः' (सू १९४)—ज्ञानम् । 'एङ्ह्रस्वात्–' (सू १९३) इति हल्मात्रलोपः—हे ज्ञान ।

---

(३०९) अथाजन्तनपुंसकलिङ्गा निरूप्यन्ते । ज्ञानशब्दाद् सुः 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति तस्य लुकि प्राप्ते—अतोऽम् । अत इति पञ्चमी । अङ्गस्येत्यधिकृतं पञ्चम्या विपरिणम्यते । अत इत्यनेन विशेष्यते । तदन्तविधिः । 'स्वमोर्नपुंसकात्' इत्यनुवर्तते । तदाह—अतोऽङ्गादिति । अदन्तादङ्गादित्यर्थः । ज्ञानमिति । सोरमि कृते अमि पूर्वरूपम् इति भावः । अमोऽम्विधानं तु 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति लुङ्निवृत्त्यर्थम् । ननु अतः म् इत्येव छेदोऽस्तु, सोर्मकारादेशे ज्ञानमिति सिद्धेः, अमि च 'आदेः परस्य' इति अकारस्य मकारे अन्त्यस्य मकारस्य संयोगान्तलोपेनैव ज्ञानमिति सिद्धेरिति चेत् ? मैवम्—एवं सति ज्ञानमित्यत्र 'सुपि च' इति दीर्घापत्तेः । न च अदन्तसन्निपातमाश्रित्य प्रवृत्तस्य मादेशस्य तद्विघातकदीर्घनिमित्तत्वं न सम्भवति, सन्निपातपरिभाषाविरोधादिति वाच्यम्, 'सुपि च' इति दीर्घे कर्तव्ये सन्निपातपरिभाषाया अप्रवृत्तरित्युक्तत्वादित्यलम् । हे ज्ञानेति । हे ज्ञान स् इति स्थिते सोरमि कृते पूर्वरूपे 'एङ्ह्रस्वात्' इति मकारलोपे हे ज्ञानेति रूपम् । ननु एङ्ह्रस्वादित्यत्र सम्बुद्ध्याक्षिप्तस्य सम्बुद्ध्यैवान्वय उचितः । ततश्च एङन्ताद्ह्रस्वान्ताच्चाङात् परा या सम्बुद्धिः तदवयवस्य हलो लोप इति लभ्यते । ततश्च प्रकृते पूर्वरूपे कृते तस्य पूर्वान्तत्वाश्रयेण ज्ञान इत्यदन्तमङ्गम् । ततः परा सम्बुद्धिर्नास्ति मकारमात्रस्या सम्बुद्धित्वात्, सुस्थानिकस्याम एव सम्बुद्धित्वात्, अर्धविकारेण एकदेशविकृतन्यायानवताराच्च । न च पूर्वरूपात् प्राक् 'एङ्ह्रस्वात्' इत्यस्य प्रवृत्तिः किं न स्यादिति वाच्यम्, परत्वात् पूर्वरूपस्यैव पूर्वं प्रवृत्तेः । न च पूर्वान्तत्वात् पूर्वरूपस्याङ्गान्तर्भावात् ज्ञान इत्यदन्तमङ्गम्, पदादित्वाच्च अम् इत्यस्य सम्बुद्धित्वं चेत्याश्रित्य तदवयवहलो मकारमात्रस्य

निर्देश—१—'मातृ' शब्द के रूप 'शस्' (द्वितीया बहुवचन) के अतिरिक्त 'पितृ' शब्द के समान होते हैं । 'शस्' में 'मातॄः'—पूर्वसवर्ण-दीर्घ, 'रु' तथा विसर्ग होते हैं । 'स्त्री-लिङ्ग' में 'स्' के स्थान पर 'न्' नहीं होता ।

२—'द्यो' (= स्वर्ग) शब्द की प्रक्रिया 'गो' शब्द के समान है ।

३—'रै' शब्द भी पुंलिङ्गवत् जाना जाय । ४—'नौ' (= नाव) शब्द के रूप भी 'ग्लौ' शब्द की तरह बनेंगे ।

अजन्तस्त्रीलिङ्ग-प्रकरण समाप्त ।

अजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरण

उपक्रम—नपुंसकलिङ्ग में भी वर्णक्रमानुसार शब्दों का चयन किया गया है । सर्वप्रथम अकारान्त नपुंसक-लिङ्ग 'ज्ञान' शब्द को अभिलक्षित कर उसकी प्रक्रिया का दिग्दर्शन कराया जा रहा है ।

(३०९) पद—अतः, अम् । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, स्वमोः, नपुंसकात् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—ह्रस्व अकारान्त नपुंसक अङ्ग से पर 'सु' तथा 'अम्' के स्थान पर 'अम्' आदेश होता है । "अमि पूर्वः" से पूर्वरूप । ज्ञानम् । "एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः" (१९३) सूत्र से 'हल्' (व्यञ्जन) का लोप । हे ज्ञान ।

विवरण—सूत्रार्थ की पूर्ति के लिए सम्पूर्ण सूत्र "स्वमोर्नपुंसकात्" (७-१-२३) की अनुवृत्ति की जाती है । "अङ्गस्य" का अधिकार है । विशेष्य-वाची पद ('अतः') के अनुसार इसे भी पञ्चमी विभक्ति में परिवर्तित किया जाता है । तदनुसार ह्रस्व अकारान्त नपुंसक अङ्ग से पर 'सु' (प्रथमा-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३१०) नपुंसकाच्च ७ । १ । १९ ॥ क्लीबात्परस्यौङः शी स्यात् । भसंज्ञायाम् । (३११) यस्येति च ६ । ४ । १४८ ॥ भस्येवर्णावर्णयोर्लोपः स्यादीकारे तद्धिते च परे । इत्यकारलोपे प्राप्ते । 'औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः' (वा ४१८९) । ज्ञाने ।

'एङ्ह्रस्वात्' इति लोपो निर्बाध इति वाच्यम्, 'उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्' इति निषेधादित्यत आह–एङ्ह्रस्वादिति । हल्मात्रलोप इति । पूर्वरूपे कृते सम्बुद्धेर्मकारमात्रं यत् परिशिष्टं तस्य 'एङ्ह्रस्वात्' इति लोप इत्यर्थः । लक्ष्यानुरोधात् सम्बुद्ध्याक्षिसमङ्गं सम्बुद्धौ नान्वेति; किन्तु सम्बुद्धवयवबहल्येवान्वेति । ततश्च एङन्तात् ह्रस्वान्ताच्चाङ्गात् परो यः सम्बुद्धवयवबहल् तस्य लोप इति लभ्यते । प्रकृते च पूर्वरूपे कृतेऽपि ह्रस्वान्तादङ्गात् परत्वं सम्बुद्धवयवस्य मकारमात्रस्य अस्त्येवेति तस्य 'एङ्ह्रस्वात्' इति लोपो निर्बाध इत्यन्यत्र विस्तरः ।

(३१०) नपुंसकाच्च । 'जसः शी' इत्यतः शीति 'औङ आपः' इत्यतः 'औङः' इति चानुवर्तते । तदाह—क्लीबादिति । औङित्यौकारविभक्तेः संज्ञेत्युक्तम् । ज्ञान ई इति स्थिते ।

(३११) यस्येति च । यस्य ईतीति छेदः । इश्च अश्चतयोः समाहारः यं, तस्य इवर्णस्य अवर्णस्य चेत्यर्थः । भस्येत्यधिकृतम् । 'नस्तद्धिते' इत्यतः तद्धिते इत्यनुवर्तते । तदाह—भस्येत्यादिना । इत्याकारलोपे प्राप्त इति । 'सुडनपुंसकस्य' इति पर्युदासेन शीभावस्या-सर्वनामस्थानतया तस्मिन् परतो भत्वादिति भावः । औङः श्यामिति । औङः यः शीआदेशः तस्मिन् परतः 'यस्येति च' इति लोपस्य प्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः । श्यामिति निर्देशादेव नित्यस्त्रीत्वं बोध्यम् । औङ इति तु व्यर्थमेव । सर्वे इत्यादौ 'जसः शी' इत्यस्य भाधिकारेणैव व्यावृत्तिसिद्धेः । ज्ञाने इति । ज्ञान ई इति स्थिते आद्गुण इति भावः ।

एकवचन) और 'अम्' (द्वितीया-एकवचन) के स्थान पर 'अम्' आदेश होता है । 'अनेकाच्' होने के कारण यह आदेश सम्पूर्ण स्थानी को अभिव्याप्त करेगा । उदाहरण—(क)—ज्ञान+सु, <ज्ञान+अम् (सु = अम्), <ज्ञानम् (अ+अ=अ–पूर्वरूप–"अमि पूर्वः"–१९४) । (ख) (हे) ज्ञान+सु, <हे ज्ञान+अम् (सु = अम्), <हे ज्ञानम् (पूर्वरूप), <हे ज्ञान ('म्' व्यञ्जन मात्र का लोप—"एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः" १९३) ।

(३१०) पद—नपुंसकात्, च । अनुवृत्ति—औङः, शी । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—क्लीव से पर 'औङ्' को शी आदेश होता है ।

विवरण—स्थानी है—'औङ्' तथा आदेश है 'शी' । अनुवृत्ति द्वारा ये दोनों जाने जाते हैं । "औङ आपः" (७-१-१८) सूत्र से "औङः" तथा "जसः शी" (७-१-१७) सूत्र से 'शी' की अनुवृत्ति की जा रही है । पूर्ववत् "अङ्गस्य" का अधिकार है । तदनुसार 'नपुंसक' अङ्ग से पर 'औङ्' (प्रथमा तथा द्वितीया का द्विवचन प्रत्यय) के स्थान पर 'शी' आदेश होगा । उदाहरण—ज्ञान+औ, <ज्ञान+ई (शी)—इस स्थिति में "यचि भम्" (२३१) सूत्र से अङ्ग 'ज्ञान' की–'भ' संज्ञा होती है । उसका फल आगे बतलाया जारहा है ।

(३११) पद—यस्य, ईति, च । अनुवृत्ति—भस्य, लोपः, तद्धिते । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—ईकार और तद्धित पर रहते 'भ'संज्ञक 'इ'वर्ण और 'उ'वर्ण का लोप होता है । इस प्रकार 'अ' का लोप प्राप्त होने पर (वा०) 'औङ्' के स्थान पर होने वाला 'शी' यदि परवर्ती हो तो लोप का निषेध करना चाहिए । ज्ञाने ।

विवरण—अर्थ की पूर्णता के लिए सम्पूर्ण "भस्य" (६-४-१२९) सूत्र, "अल्लोपोऽनः" (६-४-१३४) से 'लोपः', तथा "नस्तद्धिते" (६-४-१४४) से 'तद्धिते' की अनुवृत्ति की जा रही है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३१२) जश्शसोः शिः ७।१।२० ॥ क्लीवादनयोः शिः स्यात् । **(३१३) शि सर्वनामस्थानम् १ । १ । ४२ ॥** 'शि' इत्येतदुक्तसंज्ञं स्यात् । **(३१४) नपुंसकस्य झलचः ७ । १ । ७२ ॥** झलन्तस्याजन्तस्य च क्लीबस्य नुमागमः स्यात्सर्वनामस्थाने परे । उपधादीर्घः । ज्ञानानि । पुनस्तद्वत् । शेषं रामवत् । एवं धनवनफलादयः ।

---

(३१२) जश्शसोः शिः । 'स्वमोर्नपुंसकात्' इत्यतो नपुंसकादित्यनुवर्तते । यदाह—क्लीवादिति । ज्ञान शि इति स्थिते स्थानिवत्त्वेन प्रत्ययत्वात् 'लशक्वतद्धिते' इति शकार इत् ।

(३१३) शि सर्वनामस्थानम् । उक्तसंज्ञमिति । सर्वनामस्थानसंज्ञकमित्यर्थः । अनपुंसकस्येति पर्युदासात् शि इत्यस्य सर्वनामस्थानत्वे अप्राप्ते वचनम् ।

(३१४) नपुंसकस्य झलचः । झल् च अच्चेति समाहारद्वन्द्वः । तेन च अङ्गस्येत्यधिकृतं विशेष्यते । तदन्तविधिः । 'इदितो नुम्धातोः' इत्यतो नुमित्यनुवर्तते । 'उगिदचाम्' इत्यतः सर्वनामस्थाने इत्यनुवर्तते । तदाह—झलन्तस्येत्यादिना । मित्त्वादन्त्यादचः परः । उपधादीर्घ इति । ज्ञानम् इ इति स्थिते 'सर्वनामस्थाने च' इति दीर्घ इत्यर्थः । पुनस्तद्वदिति । अमौट्शस्सु ज्ञानं ज्ञाने ज्ञानानि इति क्रमेण रूपाणीत्यर्थः । शेषं रामवदिति । शिष्यत इति शेषम् । कर्मणि घञ् । 'घञजवन्ताः पुंसि' इति प्रायिकमिति भावः ।

तदनुसार 'ई'कार अथवा तद्धित प्रत्ययों के परवर्ती होने पर भसंज्ञक 'इ'वर्ण और 'अ'वर्ण (इश्च अश्च, इति यं, तस्य) का लोप होता है। इस सूत्र के अनुसार ज्ञान+ई—इस स्थिति में 'भ' संज्ञक अङ्ग 'ज्ञान' के अन्त्य अकार का 'ई'कार पर होने से लोप प्राप्त होता है। वार्तिक से उसका निषेध किया जा रहा है—(वा०) 'औ' का स्थानापन्न 'शी' यदि पर हो तो 'भ'संज्ञक 'इ'वर्ण तथा 'उ'वर्ण का लोप नहीं होता'। अतः गुण (अ+ई) होकर<ज्ञाने रूप सिद्ध होता है।

(३१२) पद—जश्शसोः, शिः । **अनुवृत्ति**—नपुंसकात् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—नपुंसक अङ्ग से पर 'जस्' और 'शस्' को 'शि' आदेश होता है ।

विवरण—स्थानी है—'जस्' (प्रथमा का बहुवचन) एवं 'शस्' (द्वितीया-बहुवचन) तथा आदेश है—'शि' (इ) । "नपुंसकाच्च" (७-१-१९) सूत्र से 'नपुंसकात्' की अनुवृत्ति करने से 'शि' आदेश केवल नपुंसक-लिङ्ग में होता है। **उदाहरण**—ज्ञान+जस्, <ज्ञान+इ (शि)—स्थिति में आगे 'नुम्' आगम के सन्दर्भ में 'सर्वनामस्थान' संज्ञा का उल्लेख किया जा रहा है।

(३१३) पद—शि, सर्वनामस्थानम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—'शि'-यह 'सर्वनामस्थान'-संज्ञक होता है ।

विवरण—**संज्ञा** है—'सर्वनामस्थानम्' । **संज्ञी** है—'शि' । तदनुसार ज्ञान+इ—स्थिति में 'इ'(शि) की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा हुई ।

(३१४) पद—नपुंसकस्य, झलचः । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, नुम्, सर्वनामस्थाने । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'सर्वनामस्थान' पर रहते झलन्त एवम् अजन्त अङ्ग को 'नुम्' आगम होता है। उपधा को दीर्घ । ज्ञानानि । द्वितीया में वैसे ही । शेष रूप 'राम' शब्द के समान होंगे । इसी तरह 'धन' 'वन' 'फल' आदि भी हैं ।

विवरण—आगम-वाचक 'नुम्' की अनुवृत्ति "इदितो नुम् धातोः" (७-१-५८) सूत्र से की जाती है । इसके अतिरिक्त "उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः" (७-१-७०) सूत्र से 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । "अङ्गस्य" का अधिकार है । इसके विशेषण-वाची पदों में 'तदन्तविधि' हुई । अतः सर्वनामस्थान पर रहते झलन्त एवम् अजन्त नपुंसकलिङ्ग-अङ्ग को 'न्' ('नुम्') आगम होगा । 'म्'-इत्संज्ञक होने के कारण वह (नुम्) अन्त्य अच् से पर स्थित रहेगा । **उदाहरण**—ज्ञान+इ, <ज्ञान-न्+इ, ('अ' के बाद 'नुम्' आगम), <ज्ञानान्+इ (नान्त उपधा को दीर्घ—"सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ"—२५०), <ज्ञानानि । द्वितीया-विभक्ति के रूप भी इसी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३१५) अद्ड्डुतरादिभ्यः पञ्चभ्यः ७ । १ । २५ ॥ एभ्यः क्लीवेभ्यः स्वमारद्डादेशः स्यात् । (३१६) टेः ६ । ४ । १४३ ॥ डिति परे भस्य टेर्लोपः स्यात् । 'वाऽवसान' (सू २०६) । कतरत्-कतरद्, कतरे, कतराणि । 'भस्य' इति किम् ? पञ्चमः । टेर्लुप्तत्वात् 'प्रथमयोः—' (सू १६४) इति पूर्वसवर्णदीर्घः 'एङ्ह्रस्वात्—' (सू १९३) इति सम्बुद्धिलोपश्च न भवति—हे कतरत् । पुनस्तद्वत् । शेषं पुंवत् । कतमत् । इतरत् ।

(३१५) अद्ड्डतरादिभ्यः । अद्ड् डतरादिभ्य इति छेदः । दस्य ष्टुत्वेन डकारः । डस्य संयोगान्तलोपश्च आदेशस्वरूपावगतये न कृत इति कैयटः । डतर, डतम, अन्य, अन्यतर, इतर इति डतरादयः सर्वादिगणपठिताः । अत्र डतरडतमौ प्रत्ययौ । अतस्तदन्तग्रहणम् । 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सूत्रमनुवर्तते तदाह—एभ्य इत्यादिना । डकार इत् । कतर अद् इति स्थिते ।

(३१६) टेः । अल्लोपोऽन इत्यस्माल्लोप इति 'ति विंशतेर्डिति' इत्यतः डितीति चानुवर्तते । भस्येत्यधिकृतम् । तदाह—डितीत्यादिना । कतर अद् इत्यत्र रेफादकारस्य लोपः । चर्त्वविकल्पं स्मारयति—वाऽवसाने इति । ननु पररूपेण कतरदिति सिद्धेः अद्ड डित्करणस्य किं प्रयोजनमित्यत आह—टेर्लुप्तत्वादिति । टेर्लुप्तत्वात् पूर्वसवर्णदीर्घो न भवतीत्यन्वयः । डित्त्वाभावे 'टेः' इति लोपस्याप्राप्त्या पररूपं बाधित्वा पूर्वसवर्णदीर्घः प्रसज्येत इति भावः । ननु पूर्वसवर्णदीर्घाभावाय दकार एवादेशः क्रियतामित्यत आह—एङ्ह्रस्वादित्यादि । सोर्दकारादेशे सति तस्य स्थानिवत्त्वेन सम्बुद्धित्वात् ह्रस्वान्तादङ्गात् परत्वाच्च लोपः प्रसज्येत । अद्ड्डादेशे तु टिलोपे सति कतर् इत्यङ्गम्, न तद्ह्रस्वान्तम् । यत्तु ह्रस्वान्तं कतर इति, न तदङ्गम्, रेफादकारस्य प्रत्ययावयवत्वेन तदन्तस्य प्रत्ययपरकत्वाभावेन अङ्गत्वाभावात् । अतष्टिलोपप्रवृत्तये अद्ड्डादेशविधिरिति भावः । पुनस्तद्वदिति । प्रथमावत्

तरह हैं । तृतीया से सप्तमी विभक्ति तक रूपसिद्धि भी 'राम' शब्द के समान जानी जाय । 'धन' 'वन' 'फल' आदि शब्द भी 'ज्ञान' शब्द के समान हैं ।

(३१५) पद—अद्ड्, डतरादिभ्यः, पञ्चभ्यः । अनुवृत्ति—स्वमोः, नपुंसकात् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—नपुंसक-लिङ्ग में 'डतर'-आदि पाँचों से पर 'सु' और 'अम्' के स्थान पर 'अद्ड्' आदेश होता है ।

विवरण—"स्वमोर्नपुंसकात् (७-१-२३) सूत्र से 'स्वमोः', तथा 'नपुंसकात्' की अनुवृत्ति आने से सूत्र की आकाङ्क्षा पूरी होती है । तदनुसार 'डतर' आदि पाँच नपुंसकलिङ्गी शब्दों से 'सु' तथा 'अम्' पर रहते उनके स्थान पर 'अद्ड्' आदेश होता है । इन पाँचों में से 'डतर' तथा 'डतम' प्रत्यय हैं । अतः तदन्तविधि होने से 'डतर' तथा 'डतम' प्रत्ययान्त शब्द अपेक्षित होंगे । 'अन्य', 'अन्यतर' तथा 'इतर'—ये तीनों उसी रूप में ग्राह्य हैं[1] । 'अनेकाल्' होने के कारण 'अद्ड्' आदेश—'सु' एवम् 'अम्'—सम्पूर्ण स्थानी को अभिव्याप्त कर लक्ष्य में प्रवृत्त होगा ।

(३१६) पद—टेः । अनुवृत्ति—भस्य, लोपः, डिति । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'ड्'-इत्-संज्ञक प्रत्यय पर रहते 'भ'-संज्ञक 'टि' का लोप होता है । अवसान में विकल्प से चर्त्व । कतरत्—कतरद् । कतरे, कतराणि । 'भस्य' क्यों कहा ? पञ्चमः । 'टि' का लोप होने से "प्रथमयोः०" सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ तथा "एङ्-ह्रस्वात्०" सूत्र से सम्बुद्धि-लोप भी नहीं होता । हे कतरत् । पुनः उसी तरह । शेष रूप पुंलिङ्ग के समान । कतमत् । अन्यत् । अन्यतरत् । इतरत् । प्रथमा-एकवचन में 'अन्यतम' शब्द का रूप 'अन्यतमम्' होता है । (वा०) 'एकतर'

१. एको वै डतरान्तश्च डतमान्तस्तथाऽपरः ।
अन्येतरौ तरान्तोऽन्यः सूत्रे पञ्चविधं स्मृतम् ॥ रूपावतारः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्यत् । अन्यतरत् । अन्यतमशब्दस्य तु अन्यतममित्येव । 'एकतरात्प्रतिषेधो वक्तव्यः'[1] (वा ४२८७) । एकतरम् । सोरमादेशे कृते सन्निपातपरिभाषया न जरस् । अजरम् ।

द्वितीयेत्यर्थः । शेषं पुंवदिति । सर्ववदित्यर्थः । अन्यतमशब्दस्य त्विति । तस्याव्युत्पन्नप्रातिपदिकत्वेन डतमप्रत्ययान्तत्वाभावेन तन्नाद्डादेशो नेत्यर्थः । 'एकाच्च प्राचाम्' इति डतरजन्तादेकतरशब्दात् स्वमोरद्डादेशे प्राप्ते आह—एकतरादिति । एकतरशब्दात् परयोः स्वमोर्द्डादेशप्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः । अविद्यमाना जरा यस्य कुलस्येति विग्रहे 'नञोऽस्त्यर्थानाम्' इति बहुव्रीहौ विद्यमानपदलोपे 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वत्वे अजरशब्दः । तस्य प्रक्रियां दर्शयति—सोरिति । सोरमादेशे कृते अजरमित्यन्वयः । जरसादेशमाशङ्क्याह—सन्निपातेति । अदन्तसन्निपाताश्रयस्य अमः अदन्तत्वविघातकजरसादेशं प्रति निमित्तत्वायोगादिति भावः । अजरसी इति । 'नपुंसकाच्च' इति शीभावे जरसादेशे रूपम् । अजरे इति । जरसादेशाभावे रूपम् । जरसि रूपं दर्शयितुमाह—परत्वादिति । अजर अस् इति स्थिते 'जश्शसोः शिः' इति शिभावात् परत्वाज्जरसि कृते ततः शिभावे झलन्तत्वान्नुमित्यर्थ इति केचित् । तदेतत् 'जराया जरस्' इति सूत्रे अजरांसीत्यत्र 'नुम्जरसोः प्राप्तयोः

शब्द से पर 'सु' और 'अम्' के स्थान पर 'अद्ड्' आदेश का निषेध करना चाहिये । एकतरम् । 'स्' को 'अम्' आदेश करने पर 'सन्निपात'–परिभाषा से 'जरस्' नहीं । अजरम्, अजरसी–अजरे । 'पर' होने के कारण 'जरस्' आदेश करने पर 'झलन्त' होने से 'नुम्' आगम होता है ।

विवरण—सूत्र का अर्थ आकाङ्क्षित पदों की अनुवृत्ति द्वारा स्पष्ट होता है । अतः सम्पूर्ण सूत्र "भस्य" (६-४-१२९), "अल्लोपोऽनः" (६-४-१३४) से 'लोपः' तथा "तिर्विंशतेर्डिति" (६-४-१४२) से 'डिति' की अनुवृत्ति करने से यह स्पष्ट होता है कि 'ड्'–इत्संज्ञक प्रत्यय पर रहते 'भ'–संज्ञक अङ्ग की 'टि' (अन्त्य-अच्-सहित समुदाय) का लोप होगा । उदाहरण—(क) किम्+डतर,<क्+अतर, ('टि'='इम्' का लोप),<कतर (=दो में से कौन-सा एक)+सु, <कतर+अद् (सु = अद्ड्), <कतर्+अद् ('टि' ='अ' का लोप) <कतरद्, <कतरत् (द् = त्—चर्त्व "वाऽवसाने–२०५) । पक्ष में कतरद् । (ख) कतर+औ, <कतर+ई (औङ्=शी), कतरे (गुण) । (ग) कतर+जस्, <कतर+इ (जस् = शि), कतर–न्+इ, ('नुम्') <कतरान्+इ ('उपधा'–दीर्घ), <कतराणि (न्=ण्) । (घ) हे कतर+सु, <हे कतर+अद्, <हे कतर्+अद् ('टि' लोप), <हे कतरत् ('द्' = 'त्'–चर्त्व) । 'टि' (= अ) लोप होने के कारण ह्रस्वान्त अङ्ग न मिलने से पूर्वसवर्ण दीर्घ तथा 'सम्बुद्धि' (विभक्ति) का लोप नहीं हुआ[1] । (ङ) द्वितीया विभक्ति में भी प्रथमा के समान कंतरत्–द्, कतरे, कतराणि रूप बनते हैं । शेष रूप तृतीया से सप्तमी तक पुंलिङ्ग (सर्व शब्द) की तरह होते हैं । (च) 'कतम' (=बहुतों में कौन सा एक) शब्द 'डतम' प्रत्ययान्त है—किम्+डतमच्, <क्+अतम ('टि' लोप) = कतम । प्रथमा के एकवचन में कतम+सु, <कतम+अद् (सु=अद्), <कतम्+अद् ('टि' लोप), <कतमद्–त् (विकल्प से चर्त्व) रूप बनते हैं । (छ) इसी तरह 'इतर' (=दूसरा) से इतरत्, (ज) अन्य (=दूसरा) से अन्यत् (झ) तथा अन्यतर (= दो में से एक) से अन्यतरत् रूप 'सु' के स्थान पर 'अद्ड्' आदेश तथा 'टि' लोप होने पर बनेंगे । (वा०) 'डतर'–प्रत्ययान्त शब्दों में 'एकतर' (= कोई एक) शब्द से सु तथा अम् को 'अद्ड्' आदेश नहीं होता । अतः इस शब्द के प्रथमा-एकवचन में (ञ) 'एकतरम्' रूप होता है । एकतर+सु, <एकतर+अम् (सु = अम्—"अतोऽम्"–१०९), <एकतरम् (पूर्वरूप–"अमि पूर्वः"–१९४) । (ट) अन्यतम (= बहुतों

---

१. अपृक्तध्वेदमो दोषो निवृत्ते डतरादिषु ।
अद्ड्डित्वाड्डतरादीनां न लोपो न च दीर्घता ॥ रूपावतारः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अजरसी–अजरे। परत्वाज्जरसि कृते झलन्तत्वान्नुम्। (३१७) सान्तमहतः संयोगस्य। ६। ४। १०॥ सान्तसंयोगस्य महतश्च यो नकारस्तस्योपधाया दीर्घः स्यादसंबुद्धौ

विप्रतिषेधेन जरस्' इति भाष्यविरुद्धत्वादुपेक्ष्यम्। शिभावात् पूर्वमेव परत्वात् जरसः प्रवृत्तौ हि तदा जसः सर्वनामस्थानत्वाभावेन नुम एवाप्रसक्तेः तदसंगतिः स्पष्टैव। सर्वविप्रतिषेधमाश्रित्य जरसः पूर्वमेव शिभावे तु तद्भाप्यं सङ्गच्छते। एवञ्च जरसः पूर्वमेव शिभावे कृते तस्य सर्वनामस्थानत्वात् तस्मिन् परे नुम्जरसोः प्राप्तयोः नुमपेक्षया परत्वात् जरस्, ततो झलन्तलक्षणो नुमित्येव व्याख्येयम्। यदि हि जरसादेशात् प्रागेव अजन्तलक्षणो नुम् स्यात्, तदा अजरन् इ इति स्थिते 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इति न्यायेन जर इत्यस्य जरसि कृते अजरस् न् इ इति स्थिते सान्तसंयोगाभावात् 'सान्तमहतः' इति वक्ष्यमाणदीर्घो न स्यादित्यादि शब्देन्दुशेखरे निर्जरशब्दनिरूपणे अत्र च प्रपञ्चितम्। उभयथापि अजरन् स् इति स्थिते नान्तत्वाभावात् 'सर्वनामस्थाने च' इति दीर्घे अप्राप्ते।

(३१७) सान्तमहतः। 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति, 'नोपधायाः' इति चानुवर्तते। नेति लुप्तषष्ठीकं पदम्। 'ढ्रलोपे पूर्वस्य' इत्यतो दीर्घ इत्यनुवर्तते। नकारस्य उपधायाः

में से एक) शब्द का प्रथमा एकवचन 'ज्ञानम्' के समान 'अन्यतमम्' रूप सिद्ध होगा[1]। 'अन्यतम' शब्द डतम-प्रत्ययान्त नहीं है, किन्तु अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है। अतः 'सु' तथा 'अम्' के स्थान पर 'अद्ड्' आदेश नहीं होता। इसके अवशिष्ट रूप 'सर्व' शब्द की तरह हैं।

प्रत्युदाहरण—"टेः" सूत्र में 'भस्य' की अनुवृत्ति आने से 'भ'-संज्ञक अङ्ग की 'टि' का लोप अपेक्षित है। अतः 'पञ्चमः' में 'पद'-संज्ञा होने के कारण 'टि' का लोप नहीं होता। प्रक्रिया का प्रकार—विग्रह–पञ्चानां पूरणः। रूपनिष्पत्ति—पञ्चन्+डट्, <पञ्चन्+म (डट् = मट्)—इस स्थिति में "स्वादिष्वसर्वनामस्थाने" (२३०) से पद संज्ञा होने के कारण 'न्' लोप होकर 'पञ्चमः' रूप बनता है। "भस्य" की अनुवृत्ति न आने पर यहाँ 'टि' = 'अन्' का लोप होने पर अनिष्ट रूप सिद्ध होता।

निर्देश—अकारान्त नपुंसकलिङ्ग 'अजर' शब्द की रूपसिद्धि इस प्रकार है। विग्रह—न विद्यते जरा यस्य तत् = अजरम् (= वृद्धावस्थारहित देवकुल)। बहुव्रीहि-समास—"नञोऽस्त्यर्थानाम्०" (वा०), <अजरा, <अजर (आ=अ-ह्रस्व—"गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य"–१-२-४८), <अजर+सु, <अजर+अम् (सु = अम्) 'सु' को 'अम्' आदेश होने के पश्चात् सन्निपात-परिभाषा से 'जरस्' आदेश नहीं होता। अर्थात् ह्रस्व अकारान्त का आश्रय लेकर होने वाला 'अम्' आदेश ह्रस्व अकारान्त के विधातक 'जरस्' आदेश के प्रति निमित्त नहीं होगा। तदनन्तर पूर्वरूप होने पर 'अजरम्' रूप सिद्ध होता है। (ख) प्रथमा के द्विवचन में दो रूप होते हैं—'अजरसी' तथा 'अजरे'। प्रक्रिया—अजर+औ, <अजर+ई (औ = शी) <अजरस्+ई (जर् = जरस्), <अजरसी। "जराया जरसन्यतरस्याम्" (२२७) के न होने पर 'अजरे' ('ज्ञाने' की तरह)। (ग) प्रथमा बहुवचन में अजर+(अस्) जस्, <अजर+इ (शि), <अजरस्+इ (जर = जरस्), <अजर-न्-स्+इ (नुम्—"नपुंसकस्य झलचः"–३१४)—इस स्थिति में दीर्घ विधान का उपक्रम किया जारहा है।

(३१७) पद—सान्तमहतः, संयोगस्य। अनुवृत्ति—सर्वनामस्थाने, च, असम्बुद्धौ, न, उपधायाः, दीर्घः। विधिसूत्र।

मूलार्थ—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान पर रहते सकारान्त संयोग के और महत् शब्द के नकार की उपधा को दीर्घ होता है। अजरांसि। 'अम्'–लुक्' के अपवादस्वरूप 'अम्' को

---

१. उभयोरिदमन्यतरत् कतरच्चतरत्ततरत् पुनरेकतरम्।
इतरत्पुनरन्यदथान्यतमं कतमल्पमृतिष्विदमेकतमत्॥ रूपावतारः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वनामस्थाने परे । अजरांसि–अजराणि । अमि लुकोऽपवादमम्भावं बाधित्वा परत्वाज्जरस् । ततः सन्निपातपरिभाषया न लुक् । अजरसम्–अजरम् । अजरसी–अजरे । अजरांसि–अजराणि । शेषं पुंवत् । 'पद्दन्न—' (सू २२८) इति हृदयोदकास्यानां हृद् उदन् आसन् । हृन्दि । हृदा, हृद्भ्यामित्यादि । उदानि । उद्ना—

दीर्घ इति लभ्यते । संयोगस्येत्यवयवषष्ठ्यन्तं नकारे अन्वेति । सान्तेति षष्ठ्यन्तं पृथक्पदम् । आर्षः षष्ठ्या लुक् । सान्तस्येति लभ्यते । तच्च संयोगे अभेदेनान्वेति—सान्तो यः संयोगः इति । अत एवासामर्थ्यान्महच्छब्देन तस्या न समासः । महत इत्यप्यवयवषष्ठ्यन्तम् । तच्च नकारे अन्वेति । तदाह—सन्तसंयोगस्येत्यादिना । अजरांसीति । दीर्घे सति 'नश्चापदान्तस्य' इत्यनुस्वारः । अत्र उपधाया इति पूर्वत्वमात्रोपलक्षणम्, पारिभाषिकोपधात्वस्यासम्भवात् । अथ द्वितीयैकवचने रूपं दर्शयितुमाह—अमि लुक् इति । अजर अम् इति स्थिते 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति लुक् प्राप्तः, तं बाधित्वा तदपवादः 'अतोऽम्' इत्यम्भावः प्राप्तः, तं बाधित्वा 'विप्रतिषेधे परम्' इति परत्वाज्जरम् । अजरसमिति । वस्तुस्थितिकथनमेतत् । ननु 'लुगपवादस्याम्भावस्य जरसादेशेन बाधतत्वात् 'अपवादे निषिद्धे पुनरुत्सर्गस्य स्थितिः' इति न्यायेन अमो लुक् कुतो न स्यादित्यत आह—तत इति । ततो न लुगित्यन्वयः । जरसादेशानन्तरं अमो लुङ् न भवतीत्यर्थः । कुत इत्यत आह—सन्निपातेति । अम्सन्निपातमाश्रित्य प्रवृत्तस्य जरसः तल्लुकि निमित्तत्वाभावादिति भावः । शेषं पुंवत् । अजरसा–अजरेण । अजरसे–अजराय । अजरसः–अजरात् । अजरसः–अजरस्य । अजरसोः–अजरयोः । अजरसि–अजरे । हृदयोदकास्यशब्दाः सुटि ज्ञानवत् । शसादौ विशेषमाह—पद्दन्निति । हृन्दीति । हृदयशब्दात् शसः शिभावे हृदादेशे 'नपुंसकस्य झलचः' इति ऋकारात् परतो नुमि 'नश्चापदान्तस्य' इत्यनुस्वारे तस्य परसवर्णे नकारे रूपम् । इत्यादीति । हृदे । हृदः । हृदः । हृदोः । हृदाम् । हृदि । हृदोः । हृत्सु । हृदभावपक्षे ज्ञानवत् । उदकशब्दः सुटि ज्ञानवत् । शसादौ विशेषमाह—उदानीति । शसः शिभावे उदन्नादेशे 'सर्वनामस्थाने च' इति दीर्घः । 'अल्लोपोऽनः' इति तु न, शेः सर्वनामस्थान-

---

बाध कर 'पर' होने से 'जरस्' आदेश । तदनन्तर सन्निपात-परिभाषा की उपस्थिति से 'अम्' का (लोप) लुक् नहीं होता । अजरसम्—अजरम् । शेष पुं लङ्ग के समान । 'पद्दनो०" सूत्र से हृदय, उदक तथा आस्य शब्दों के स्थान पर क्रमशः हृद्, उदन् तथा आसन् आदेश होते हैं । हृन्दि । हृदा, हृद्भ्याम् इत्यादि । उदानि । उद्ना, उदभ्याम् इत्यादि । आसानि । आस्ना, आसभ्याम् इत्यादि । मांसि । मांसा, मान्भ्याम् इत्यादि । वस्तुतः "पद्दनो०" सूत्र में 'प्रभृति' शब्द प्रकारवाची है, यह पहले बतलाया जा चुका है । इसी कारण भाष्य में 'मांस्पचन्या उखायाः' उदाहरण दिया है । अयस्मयादि की कल्पना कर 'भ'-संज्ञा होने से संयोगान्त लोप नहीं हुआ । "पदन्नोमास्०" सूत्र में काशिकावृत्ति में यद्यपि 'छन्दसि' की अनुवृत्ति की गई है तो भी "अपो भि" सूत्रस्थ 'मान्छन्दसि' वार्तिक में 'छन्दस्' पद के सामर्थ्य से लोक में भी कहीं कहीं प्रयोग होने के सम्बन्ध में कैयट के मत का अनुसरण कर 'पद्' आदि का प्रयोग जान लिया जाय ।

विवरण—अर्थ की स्पष्टता के लिये "दूलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" (६-३-१११) से 'दीर्घ' पद, सम्पूर्ण "नोपधायाः" (६-४-७) सूत्र तथा "सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ" (६-४-८) सूत्र की अनुवृत्ति की जा रही है । तदनुसार 'सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान' पर होने की स्थिति में 'सकारान्त' संयोग के तथा 'महत्' शब्द के नकार की उपधा (उपान्त्य वर्ण) को दीर्घ होता है' । अतः सूत्र में 'स्थानी' हैं 'सान्त महतः' तथा 'नोपधायाः' । आदेश है—'दीर्घः' । 'सान्त' पद में षष्ठी-विभक्ति का लोप माना जाता है । **उदाहरण**—अजरन्स्+इ में सकारान्त-संयोग के पूर्व वर्ण 'न्' की उपधा ('अ')

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्भ्यामित्यादि । आसानि । आस्ना, आसभ्यामित्यादि । मांसि । मांसा, मान्भ्यामित्यादि । वस्तुतस्तु प्रभृतिग्रहणं प्रकारार्थमित्युक्तम् । अत एव भाष्ये 'मांस्पचन्या उखायाः' इत्युदाहृतम् । अयस्मयादित्वेन भत्वात्संयोगान्तलोपो न ।

त्वात् । उद्नेति । उदक आ इति स्थिते उदन्नादेशे अल्लोपः । उदभ्यामिति । उदन्नादेशे 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपः, 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदत्वात् । इत्यादीति । उद्ने । उद्नः । उद्नः । उद्नोः । उदनि–उद्नि । उद्नोः । उदन्नभावपक्षे ज्ञानवत् । आस्यशब्दः सुटि ज्ञानवत् । शसादौ विशेषमाह—आसानीत्यादिना । उदन्नादेशवद्रूपाणि । इत्यादीति । आस्ने । आस्नः । आस्नः । आस्नोः । आस्नि–आसनि । आस्नोः । आससु । आसन्नभावपक्षे ज्ञानवत् । मांसशब्दोऽपि सुटि ज्ञानवत् । 'मांसपृतनासानूनाम्' इति शसादौ मांस् आदेशः । अत्र नकारस्य 'नश्चापदान्तस्य' इति कृतानुस्वारस्य निर्देशः । अत एवाह—मान्भ्यामिति । मांस् आदेशे सकारस्य संयोगान्तलोपे सति निमित्तापायात् अनुस्वारनिवृत्तौ रूपम् । संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वान्नलोपोन । अथ सुट्यपि हृदाद्यादेशं साधयितुमाह—वस्तुतस्त्विति । इत्युक्तमिति । 'ककुद्दोषणी' इति भाष्यप्रयोगात् प्रभृतिग्रहणस्य प्रकारार्थत्वम् अजन्तपुँल्लिङ्गाधिकारे स्वयमुक्तमित्यर्थः । ननु प्रभृतिग्रहणस्य प्रकारार्थत्वेऽपि प्रत्ययत्वेन सादृश्यविवक्षायां प्रथमैकवचने हृत् इति प्रयोगोऽनुपपन्नः, सोर्लुका लुप्तत्वेन प्रत्ययलक्षणस्याप्यभावात् तदनित्यत्वाश्रयणे च मानाभावादित्यत आह—अत एवेति । मांस्पचन्या इति । पच्यते अस्यामुखायामिति पचनी । अधिकरणे ल्युट्,

---

को दीर्घ हुआ—<अजरान्स्+इ, <अजरांसि (न्=अनुस्वार–"नश्चापदान्तस्य झलि"–१२३) । 'जरस्' आदेश न होने पर अजाराणि । (घ) द्वितीया के एकवचन में 'वैकल्पिक जरस्' आदेश होने के कारण दो रूप बनते हैं—अजरसम्—अजरम् । स्थिति इस प्रकार है—अजर+अम् <अजरस्+अम् ("स्वमोर्नपुंसकात्" (७-१-२३) से प्राप्त 'अम्' के लोप का अपवादस्वरूप "अतोऽम्" (३०९) से प्राप्त 'अम्' आदेश का भी 'पर' होने से बाधक 'ज्रस्' वैकल्पिक आदेश), <अजरसम् ('सन्निपातपरिभाषा की प्रवृत्ति से 'अम्' का लोप नहीं हुआ) । जरस् आदेश न होने पर 'अजरम्' । शेष रूप पुंलिङ्ग-वाची 'निर्जर' शब्द के समान होते हैं । तदनुसार तृतीया एकवचन में अजरसा–अजरेण । चतुर्थी एकवचन में अजरसे—अजराय । पञ्चमी एकवचन में अजरसः–अजरात् । षष्ठी-एकवचन में अजरसः—अजरस्य । षष्ठी तथा सप्तमी के द्विवचन में अजरसोः—अजरयोः । सप्तमी के एकवचन में अजरसि—अजरे ।

निर्देश—१–हृदय, (=चित्त), उदक (= जल) तथा आस्य (=मुख) शब्दों के ('सुट्' प्रत्याहार) सर्वनामस्थान-विभक्तियों में ज्ञान शब्द के समान रूप होते हैं । 'शस्' से प्रारम्भ कर 'सुप्' पर्यन्त विभक्तियों में "पद्दन्नोमास्०" (२२८) सूत्र से हृदय, उदक तथा आस्य शब्दों को क्रमशः 'हृद्' 'उदन्' तथा 'आस्' आदेश होने के कारण दो दो रूप सिद्ध होते हैं । तदनुसार (क) हृदय+शस्, <हृदय+शि (शस् = शि), <हृद्+इ 'शि' (हृदय = हृद्), <हृन्द्+इ ('नुम्'), <हृन्दि (न् = ं = न–परसवर्ण) । (ख) हृदय+(आ) टा, <हृद्+आ, <हृदा । (ग) हृदय+भ्याम्, <हृद+भ्याम् (हृदय = हृद्), <हृद्भ्याम् । इसी तरह चतुर्थी आदि विभक्तियों में हृद् आदेश होने पर यह स्वरूप होगा—हृदे (ङे), हृदः ('ङसि' तथा ङस्), हृदोः (ओस्), हृदाम् (आम्), हृदि (ङि), हृत्सु (सुप्) । 'हृद्' आदेश न होने पर 'ज्ञान' शब्द के समान रूप होंगे—हृदयं, हृदये, हृदयानि । हृदयेन, हृदयाभ्याम् इत्यादि ।

२—(क) 'उदक'+शस्, उदक+इ (शि), <उदन्+इ (उदक = उदन्), <उदान्+इ (दीर्घ—"सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ"—२५०) उदानि । (ख) उदक+आ (टा),

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'पद्दन्—' (सू० २२८) इत्यत्र हि 'छन्दसि' इत्यनुवर्तितं वृत्तौ, तथापि 'अपो भि' (सू ४४२) इत्यत्र 'मासश्छन्दसि' (वा ४६३४) इति वार्तिके छन्दोग्रहणसामर्थ्या-

---

अनादेशः। टित्वात् ङीप् मांसस्य पचनीति षष्ठीसमासः। अत्र ङसो लुका लुसत्वात् प्रत्ययलक्षणभावे प्रत्ययपरत्वाभावात् मांस् आदेशो न स्यात्। अतो हृदाद्यादेशविधौ 'न लुमता' इति निषेधस्यानित्यत्वमाश्रीयत इत्यर्थः। ननु मांसपचन्या इत्यत्र अन्तर्वर्तिनं ङसं लुसमाश्रित्य मांस् इत्यस्यास्ति पदत्वम्, 'सुप्तिङन्तम्' इति पदसञ्ज्ञायाः प्रकृति-प्रत्ययधर्मत्वेन केवलाङ्गधर्मत्वाभावेन अत्र 'न लुमता' इति निषेधस्याप्रवृत्तेः। अन्यथा राजपुरुष इत्यत्र कथं नलोपः। ततश्चात्र सकारस्य संयोगान्तलोपो दुर्वार इत्यत आह—भत्वात् संयोगान्तलोपो नेति। ननु यजादिस्त्वादिप्रत्यये परे विधीयमानायाः भसञ्ज्ञायाः केवलाङ्गधर्मत्वात् तत्र लुका लुप्ते प्रत्ययलक्षणनिषेधात् कथमिह भसञ्ज्ञेत्यत आह—अयस्मयादित्वेनेति। मांस् आदेशस्य अयस्मयादिगणपठितत्वात् 'अयस्मयादीनि छन्दसि' इति भत्वमित्यर्थः। शङ्कते—पद्दन्नित्यत्रेति। पद्दन् इति सूत्रे 'शीर्षन् छन्दसि' इत्यतः छन्दसी-त्यनुवृत्तिः वृत्तिग्रन्थे प्रदर्शितेत्यर्थः। ततश्च वैदिकप्रक्रियायामेव तदुपन्यासो युज्यत इत्याक्षेपः। परिहरति—तथापीति। 'पद्दन्नो' इति सूत्रे छन्दोग्रहणानुवृत्तापि लोकेऽपि क्वचि-दित्यन्वयः। कुतो लोकेऽपि प्रयोग इत्यत आह—अपो भीत्यादि। 'अपो भि' इति सूत्रम्।

उदन्+आ, (उदक=उदन्), <उद्न्+आ (दकारोत्तरवर्ती 'अ' का लोप "अल्लोपोऽनः-२३४), <उद्ना। (ग) उदक+भ्याम्, उदन्+भ्याम्, <उदभ्याम् ('न्' लोप)। इसी प्रकार आगे की अजादि विभक्तियों में उद्ने (ङे), उद्नः (ङसि), उद्नः (ङस्), उद्नोः (ओस्), उद्नाम् ('आम्'), उदनि—उद्नि ('ङि')। यहाँ विकल्प से 'अ' लोप—"विभाषा ङिश्योः-२३७)। 'उदन्' आदेश न होने पर 'ज्ञान' शब्द के समान उदकं, उदके, उदकानि इत्यादि रूप बनेंगे।

३—(क) आस्य+शस् = आसानि (आस्य = आसन्, दीर्घ)। (ख) आस्य+टा=आस्ना (आस्य = आसन्, 'अ'-लोप)। (ग) आस्य+भ्याम्, <आसन्+भ्याम्, <आसभ्याम् ('न्' (लोप)। प्रक्रिया 'उदक' शब्द के समान है। आगे की अजादि विभक्तियों में—आस्ने (ङे), आस्नः (ङसि), आस्नः (ङस्), आस्नोः (ओस्), आस्नाम् (आम्), आस्नि—आसनि (ङि), तथा सप्तमी के बहुवचन में आससु रूप होते हैं। 'आसन्' आदेश के अभाव में आस्यम्, आस्ये, आस्यानि आदि रूप होंगे।

४—(क) मांस+शस्, <मांस्+(इ) शि ('मांसपूतनासानूनाम्' (वा०) मांस=मांस्) <मांसि। (ख) मांस+टा (आ), <मांस्+आ, <मांसा। (ग) मांस+भ्याम्, <मांस्+भ्याम् (मांस = मांस्), <मां+भ्याम् ("संयोगान्तस्यलोपः" 'स्' लोप), <मान्भ्याम् (संयोगान्त-लोप होने पर अनुस्वार अपनी मूल स्थिति 'न्' में परिवर्तित-'निमित्तापाये नैमित्तिक-स्याप्यपायः' तथा संयोगान्त-लोप असिद्ध होने के कारण 'न्' लोप नहीं हुआ)। आगे की विभक्तियों में—मान्भिः (भिस्), मांसे (ङे), मान्भ्यः, (भ्यस्), मांसः (ङसि तथा ङस्), मांसोः (ओस्), मांसाम् (आम्), मांसि (ङि), मान्सु-मान्त्सु (सुप्) आदि रूप होते हैं। वैकल्पिक पक्ष में सब रूप 'ज्ञान' शब्द के समान हैं।

विशेष—१-"पदन्नोमास्०" के सन्दर्भ में भाष्यकार का यह मत व्यक्त किया जा चुका है कि उस सूत्र में 'प्रभृति' शब्द सादृश्यार्थक है। विभक्ति के अतिरिक्त शब्द के रूप में भी सादृश्य लिया जा सकता है। अर्थात् 'पाद' 'दन्त' आदि शब्दों से किसी दूसरे शब्द के अव्यवहित पर रहते भी 'पद्' 'दन्' आदि आदेश सम्भव हो सकते हैं। अतः भाष्यकार ने 'मांसपचन्या उखायाः' में 'मांस' शब्द से विभक्ति पर न रहने पर भी 'मांस्' आदेश की युक्तता समर्थित की है। केवल विभक्ति पर रहने पर 'पद्' आदि आदेश की सम्भावना में यह प्रयोग समीचीन नहीं हो सकता था। कारण यह है कि 'मांसपचनी' (= मांस के पकाने वाला बर्तन) का विग्रह 'मांसस्य पचनी' (षष्ठी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

ल्लोकेऽपि क्वचित् इति कैयटोक्तरीत्या प्रयोगमनुसृत्य पदादयः प्रयोक्तव्या इति बोध्यम्। इत्यदन्ताः। (३१८) ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदकस्य। १। २। ४७॥ क्लीबे प्रातिपदिकस्याजन्तस्य ह्रस्वः स्यात्। श्रीपं ज्ञानवत्। श्रीपाय। अत्र सन्निपातपरिभाषया

अपस्तकारः स्यात् भादौ प्रत्यये परे इत्यर्थः। तत्रास्ति वार्तिकम्—'मासश्छन्दसि' इति। मास् इत्यस्य तकारः स्यात् भादिप्रत्यये परे छन्दसि इति तदर्थः। ऋग्वेदे 'मद्भिः शरद्भिः' इत्यादिमन्त्रमुदाहरणम्। यदि 'पद्दन्' इति छन्दोमात्रविषयं स्यात् तदा मास् इत्यादेशस्य छन्दोमात्रविषयत्वादलौकिकत्वात् मासश्छन्दसीति सस्य तकारविधौ छन्दोग्रहणं व्यर्थं स्यात्। अतो लोकेऽपि क्वचिदिति कैयटोक्तरीत्या 'पद्दन्' इत्यस्य लोकेऽपि प्रवृत्तिमनुमत्य पदाद्यादेशाः प्रयोक्तुं योग्या इत्यर्थः। इत्यदन्ताः।

(३१८) अथ आदन्ता निरूप्यन्ते। श्रियं पातीति श्रीपाशब्दो विश्वपाशब्दवत् विजन्तः। क्विबन्तो वा। तस्य नपुंसकत्वे ह्रस्वविधानमाह—ह्रस्वो नपुंसके। ह्रस्वश्रुत्या उपस्थितेन अच इत्यनेन प्रातिपदिकस्य विशेषणात् तदन्तविधिरित्याह—क्लीब इत्यादिना। न च कुले इति द्विवचने एकादेशस्य पूर्वान्तत्वेन ग्रहणात् अजन्तप्रातिपदिकत्वाद्ध्रस्वः स्यादिति वाच्यम्, 'अर्थवदधातुः' इत्यतः प्रातिपदिकग्रहणानुवृत्तौ पुनः प्रातिपदिकग्रहणेन अन्तवद्भावतः प्रातिपदिकत्वे ह्रस्वाभावबोधनात्। ज्ञानवदिति। ह्रस्वविधानात् दीर्घान्तत्वप्रयुक्तो न कश्चिद्विशेष इति भावः। जश्शसोः शिः श्रीपाणीति रूपम्, भिन्नपदस्थत्वेऽपि 'एकाजुत्तरपदे णः' इति णत्वप्रवृत्तेः। श्रीपेण—इनादेशे गुणे तस्य पूर्वान्तत्वादुत्तरपदस्य एकाच्त्वात्स्यादेव णत्वम्। श्रीपायेति। श्रीपाशब्दस्य ह्रस्वो नपुंसके' इति ह्रस्वत्वे ङेर्यादेशे

समास में) करने पर विभक्ति-लोप हो जाने से 'मांस्' आदेश की सम्भावना नहीं थी।

२—'मांस्पचन्या उखायाः' में (ङस्) विभक्ति का लोप होने पर अन्तर्वर्ती विभक्ति का आश्रय लेकर 'पद' संज्ञा निमित्तक संयोगान्त-लोप ('स्') की आशंका का निराकरण "अयस्मयादीनि छन्दसि" (१-४-२०) द्वारा विहित 'भ'-संज्ञा की परिकल्पना से किया गया है। 'भ'-संज्ञा से 'पद'-संज्ञा का बाध होने के फलस्वरूप 'स्' लोप नहीं होता।

३—उपर्युक्त आदेशों के सम्बन्ध में भट्टोजी दीक्षित ने यह सामञ्जस्य स्थापित किया है कि 'पद्' आदि आदेश का विषय लोक और वेद दोनों ही हैं। माधवाचार्य ने इन आदेशों को वैदिक प्रयोगों तक सीमित रखा था। वे "पद्दन्नोमास्" (६-१-६३) सूत्र में 'शीर्षश्छन्दसि" (६-१-६०) सूत्र से 'छन्दसि' पद की अनुवृत्ति लाकर इस मत का समर्थन करते हैं। इसके विपरीत कैयट ने दूसरी युक्ति देकर इसका खण्डन किया है। माधवाचार्य के मतानुसार 'मांस' शब्द के स्थान पर 'मांस्' का प्रयोग वैदिक-प्रयोगों में ही समीचीन होना चाहिये। इस सम्बन्ध में कैयट ने पाणिनि के "अपो भि" (७-४-४८) सूत्र से सम्बद्ध 'मासश्छन्दसि' वार्तिक के व्याख्यान की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। तदनुसार उक्त वार्तिक वेद में प्रयुक्त 'मांस्' शब्द के 'स्' को 'त्' का विधान करता है। उदाहरण भी वहाँ 'मादभिः शरद्भिः दुरोदरं तव' दिया गया है। माधवाचार्य की व्याख्या के अनुसार तो 'मांस्' का प्रयोग वेद में ही सम्भव होता, अतः 'मासश्छन्दसि' वार्तिक में 'छन्दसि' पद की क्या उपयोगिता है? वह निष्प्रयोजन होकर यह ज्ञापन करता है कि लोक में भी 'पद्' आदि आदेश प्रयोग-वश होते हैं। अब ह्रस्व अकारान्त शब्दों का प्रकरण समाप्त होता है।

४—आकारान्त नपुंसकलिङ्ग का प्रकरण आरम्भ होता है।

(३१८) पद—ह्रस्वः, नपुंसके, प्रातिपदिकस्य। विधिसूत्र।

मूलार्थ—नपुंसकलिङ्ग में अजन्त प्रातिपदिक को ह्रस्व होता है। श्रीपम्। 'ज्ञान' शब्द के समान है। श्रीपाय। यहाँ सन्निपात-परिभाषा से "आतो धातोः" से आकार का लोप नहीं होता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'आतोः धातोः' (सू २४०) इत्याकारलोपो न । इत्यादन्ताः । (३१९) स्वमोर्नपुंसकात् ७ । १ । २३ ॥ क्लीबादङ्गात्परयोः स्वमोर्लुक् स्यात् । वारि ।

'सुपि च' इति दीर्घरूपम् । सन्निपातपरिभाषा तु कष्टायेति निर्देशात् न प्रवर्तत इति प्रागुक्तम् । नन्वत्र ह्रस्वत्वे कृतेऽपि प इत्यस्य एकदेशविकृतन्यायेन धातुत्वानपायात् दीर्घे कृते आकारान्तत्वाच्च 'आतो धातोः' इत्याल्लोपः स्यात्, यादेशस्य स्वतो यकारादितया स्थानिवत्त्वेन स्वादिप्रत्ययतया च तस्मिन् परे भत्वस्यापि सत्त्वादित्यत आह—अत्र सन्निपातेति । ननु उपजीव्यविघातकं प्रति उपजीवकं निमित्तं न भवतीति सन्निपातपरिभाषया लभ्यते । प्रकृते च अदन्तमुपजीव्य प्रवृत्तस्य यादेशस्य आल्लोपं प्रति कथं न निमित्तत्वम् । यादेशस्य आकारमुपजीव्य प्रवृत्तत्वाभावेन आकारलोपं प्रति निमित्तत्वे बाधकाभावादिति चेत् ? मैवम्—यादेशस्तावत् ह्रस्वमवर्णमुपजीव्य प्रवर्तते, तद्विधावत इत्यनुवृत्तेः । ततश्च ह्रस्वत्वमवर्णत्वं च समुदितं यादेशस्य उपजीव्यम् । तत्र कष्टायेति निर्देशात् सन्निपातपरिभाषां बाधित्वा कृतेऽपि दीर्घे ह्रस्वत्वांश एव निवृत्तः । अवर्णत्वांशस्त्वनुवृत्त एव । तस्याप्याल्लोपेन निवृत्तौ उपजीव्यविघातः स्यादेवेति भवेदेव सन्निपातपरिभाषाविरोधः । अतो न भवत्याल्लोप इति कौस्तुभे समाहितम् 'इको गुणवृद्धी' इत्यत्र । वस्तुतस्तु आतो धातोरित्यत्र लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया प्रतिपदोक्त एवाकारान्तधातुर्गृह्यते । इह तु पाधातोर्ह्रस्वत्वे तु पुनर्दीर्घे सति अवगम्यमानं पास्वरूपं लाक्षणिकमेवेति न तस्यात्र ग्रहणमित्यास्तां तावत् । इत्यादन्ताः ।

(३१९) अथ इदन्ता निरूप्यन्ते । अथ वारिशब्दप्रक्रियां दर्शयितुमाह—स्वमोर्नपुंसकात् । 'षड्भ्यो लुक्' इत्यतो लुगित्यनुवर्तत इत्याह—क्लीवादित्यादिना । वारीति । सोरमश्च

विवरण—सूत्र स्वतः पूर्ण है । सूत्रार्थ—'नपुंसक लिङ्ग में वर्तमान प्रातिपदिक को ह्रस्व होता है' । "अचश्च" परिभाषा की उपस्थिति से 'अजन्त प्रातिपदिक' को अभिलक्षित कर ह्रस्व आदेश होगा । 'श्रीपा' शब्द का विग्रह है—'श्रियं पाति' (=सम्पत्ति वाला कुल) । (क) श्री पा+क्विप् 'श्रीपा'+सु—इस अवस्था में प्रकृत सूत्र से ह्रस्व—श्रीप+सु,-श्रीप+अम् (सु = अम्), <श्रीपम् (पूर्वरूप) (ख) श्रीपा+ङे, <श्रीप+ङे (आ = अ-ह्रस्व), <श्रीप+य ('ङेर्यः'-२०४), <श्रीपा+य=श्रीपाय ("सुपि च" २०२ दीर्घ) ।

विशेष—इस प्रसङ्ग में यह शंका है कि 'श्रीपा+ए' इस स्थिति में 'पा' के आकार का लोप क्यों न हो ? कारण यह है कि "आतो धातोः" (२४०) सूत्र के अनुसार यहाँ मूल रूप में √पा धातु है एवं 'ह्रस्व' होने पर भी 'एकदेशविकृत' न्याय से धातु का स्वरूप नष्ट नहीं होता तथा दीर्घ होने पर 'आ'कार रूप भी विद्यमान रहता है । अतः 'सन्निपात'-परिभाषा का आश्रय लेकर दीर्घ का निवारण किया जाता है—'अकारान्त को निमित्त मानकर होनेवाला 'य' आदेश अपने विघातक 'आ'लोप के प्रवृत्त होने में निमित्त नहीं होता' । वस्तुतः यह सन्निपात-परिभाषा का विषय नहीं है । "आतो धातोः" (२०४) की प्रवृत्ति साक्षात् धातुरूपात्मक आकार के लोप होने में होती है न कि लक्षण-वश सम्पन्न आकार-लोप का विधान करने में । 'श्रीपा+य' में दीर्घ होने के कारण 'आ'कार हुआ है, अतः 'लक्षण-प्रतिपदोक्त' परिभाषा से ही इसका निवारण सम्भव है ।

आकारान्त शब्दों का निर्देश समाप्त ।

(३१९) पद—स्वमोः, नपुंसकात् । अनुवृत्ति—लुक् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—नपुंसक अङ्ग से पर 'सु' और 'अम्' का लोप होता है । वारि ।

विवरण—स्थानी है—'स्वमोः' । आदेश-वाचक पद 'लुक्' की अनुवृत्ति "षड्भ्यो लुक्" (७१-२२) से की जाती है । "अङ्गस्य" का अधिकार है । इसके विशेष्य-वाचक 'नपुंसकात्' पद के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३२०) इकोऽचि विभक्तौ ७ । १ । ७३ ॥ इगन्तस्य क्लीवस्य नुमागमः स्यादचि विभक्तौ । वारिणी । वारीणि । 'न लुमता—' (सू २६३) इति निषेधस्यानित्यत्वात्पक्षे सम्बुद्धिनिमित्तो गुणः । हे वारे–हे वारि । 'आङोना–' (सू २४४)—वारिणा । 'घेर्ङिति' (सू २४५) इति गुणे प्राप्ते । 'वृद्धयौत्त्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन' (वा ४३

लुकि रूपम् । न च 'आदेः परस्य' इति अमः अकारस्यैव लुक् स्यात् न तु मकारस्यापीति शङ्क्यम्, प्रत्ययस्य लोप एव हि लुगित्युच्यते । अम् इति समुदाय एवेह प्रत्ययः; न तु तदेकदेशभूतमकारमात्रम् । अतो लुगमः सर्वादेश एव भवति ।

(३२०) इकोऽचि । 'इदितो नुम् धातोः' इत्यतो नुमित्यनुवर्तते । 'नपुंसकस्य झलचः' इत्यतो नपुंसकस्येत्यनुवर्तते । अङ्गस्येत्यधिकृतम् इका विशेष्यते । तदन्तविधिः । तदाह–इगन्तस्येत्यादिना । अचि विभक्ताविति । अजादौ विभक्तावित्यर्थः । 'इकोऽचि सुपि' इत्येव सुवचम् । विभक्तौ किम् ? मधु-मद्यम्, तस्येदं माधवम् । अणि परे नुमि टिलोपे माधमिति स्यात् । वारिणी इति । वारि औ इति स्थिते शीभावे नुमि 'अट्कुप्वाङ्' इति णत्वे रूपम् । वारीणि इति । जश्शसोः शिभावे नुमि 'सर्वनामस्थाने च' इति दीर्घे णत्वे रूपम् । हे वारि सु इत्यत्र सोर्लुकि प्रक्रियां दर्शयति—पक्ष इति । 'ह्रस्वस्य गुणः' इति सम्बुद्धिनिमित्तको गुणः कदाचिन्नवतीत्यर्थः । नन्विह सम्बुद्धेर्लुका लुप्तत्वात् 'न लुमता' इति प्रत्ययलक्षणनिषेधात् कथं गुण इत्यत आह—न लुमतेति निषेधस्यानित्यत्वादिति । अत्र च 'इकोऽचि विभक्तौ' इत्यत्राज्ग्रहणं ज्ञापकम् । हलादिषु भ्यामादिषु सत्यपि नुमि 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति तस्य लोपसम्भवादचीति व्यर्थम् । न च सम्बुद्धिन्यावृत्त्यर्थम् अज्ग्रहणम्, तत्र नुमि सति 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इति निषेधे सति नकारश्रवणप्रसङ्गादिति वाच्यम्, सम्बुद्धेर्लुका लुप्ततया प्रत्ययलक्षणाभावेन तत्र नुमः प्राप्तेरेवाभावात् । 'न लुमता' इति निषेधस्यानित्यत्वे तु सम्बुद्धौ प्रत्ययलक्षणेन प्राप्तं नुमं वारयितुमज्ग्रहणम् अर्थवदिति भवत्यज्ग्रहणं 'न लुमता' इत्यस्यानित्यत्वे लिङ्गमित्याहुः । अत एव 'इकोऽचि' इति सूत्रे हे त्रपो इति 'एङ्ह्रस्वात्' इति सूत्रे हे त्रपु इति च भाष्यं सङ्गच्छते । आङो नेति । रूपे विशेषाभावेपि नुमपेक्षया परत्वेन नाभावस्यैव न्याय्यत्वादिति भावः । ङसिङसोर्विशेषमाह—घेरिति । नुमं बाधित्वा परत्वात् गुणे प्राप्ते इत्यर्थः । वृद्धौ-

---

अनुसार 'अङ्गस्य' पद भी पञ्चमी-विभक्ति (अङ्गात्) में परिवर्तित होता है । तदनुसार 'नपुंसक अङ्ग से पर 'सु' (प्रथमा का एकवचन) तथा 'अम्' (द्वितीया-एकवचन) का लुक् (लोप) होता है' । इस लोप की प्रवृत्ति अकारान्त-नपुंसकलिङ्गी शब्दों में नहीं होती, क्योंकि वहाँ "अतोऽम्" (७-१-२४) सूत्र से 'सु' और 'अम्' के स्थान में 'अम्' का विशेष-विधान है । अतः अकारान्त शब्दों को छोड़कर अन्य सभी अजन्त तथा हलन्त शब्दों से पर 'सु' और 'अम्' का लोप होता है । इकारान्त नपुंसकलिङ्ग 'वारि' (= जल) शब्द की विशेष प्रक्रिया का दिग्दर्शन—वारि+सु, <वारि ('सु' का 'लुक्' = लोप) ।

(३२०) पद—इकः, अचि, विभक्तौ । अनुवृत्ति—अङ्गस्य, नपुंसकस्य, नुम् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—अजादि विभक्ति पर रहते नपुंसक इगन्त अङ्ग से 'नुम्' आगम होता है । वारिणी, वारीणि । "न लुमता०" सूत्र से विहित निषेध अनित्य होने के कारण पक्ष में सम्बुद्धि-निमित्तक गुण हुआ । हे वारि, हे वारे । "आङो नाऽस्त्रियाम्"–वारिणा । "घेर्ङिति" सूत्र से गुण प्राप्त होने पर (वा०) वृद्धि, औत्व, तृज्वद्भाव तथा गुण आदि की सम्भावना में पूर्वविप्रतिषेध से 'नुम्' ही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७३)। वारिणे। वारिणः। वारिणः, वारिणोः। 'नुमचिर–' (वा ४३७४) इति नुट्। 'नामि' (सू २०९) इति दीर्घः–वारीणाम्। वारिणि। वारिणोः। हलादौ हरिवत्।

त्वेति। वार्तिकम्। वृद्ध्यादीनां क्रमेण 'गावौ, हरौ, क्रोष्टा, हरये' इत्यवकाशः। नुमोऽवकाशः-वारीणि इति। अतिसखीनि इत्यत्र जश्शसोः 'सख्युरसम्बुद्धौ' इति णित्वाद् वृद्धिः परत्वाद् नुमं बाधित्वा प्राप्ता। वारिणि इत्यत्र ङौ तु 'अच्च घेः' इत्यौत्त्वं प्राप्तम्। प्रियक्रोष्टूनि इत्यत्र जश्शसोः तृज्वत्त्वं प्राप्तम्। वारिशब्दाद् ङ्यादौ गुणः प्राप्तः। अत्र पूर्वविप्रतिषेधान्नुमेवेत्यर्थः। वारिणे इति। ङयि गुणं बाधित्वा नुमि णत्वे रूपम्। वारिण इति। ङसिङसोर्गुणं बाधित्वा नुमि णत्वे रूपम्। वारिणोरिति। ओसि यणं बाधित्वा नुमि णत्वे रूपम्। वारि आमित्यत्र परत्वान्नुटं बाधित्वा नुमि प्राप्ते आह--नुमचिरेति नुडिति। नुम्नुटोः को विशेष इत्यत आह—नामीति। दीर्घ इति। नुमि तु सति तस्याङ्गभक्तत्वाद् 'नामि' इति दीर्घो न स्यादिति भावः। वारिणीति। ङौ 'अच्च घेः' इत्यौत्त्वं परमपि बाधित्वा 'वृद्ध्यौत्त्व' इति पूर्वविप्रतिषेधान्नुम्। न विद्यते आदिः उत्पत्तिः यस्य सः अनादिः ईश्वरः। अनादिः अविद्या। अनादि ब्रह्म। त्रिलिङ्गोऽयं विशेष्यनिघ्नः। तस्य नपुंसकत्वे प्रथमाद्वितीययोर्वारिवद्रूपाणि। टादिषु अचि विशेषमाह।

होता है। वारिणे। वारिणः। "नुमचिर०" के आश्रय से नुट्। "नामि" सूत्र से दीर्घ। वारीणाम्। वारिणि, वारिणोः। हलादि विभक्तियाँ 'हरि' शब्द के समान।

विवरण—सूत्रार्थ की परिपूर्ति "इदितो नुम् धातोः" (७-१-५८) से 'नुम्' तथा "नपुंसकस्य झलचः" (७-१-७२) से 'नपुंसकस्य' पद की अनुवृत्ति करने से होती है। इक् प्रत्याहार है = इ, उ, ऋ, ऌ। तदनुसार अजादि-विभक्ति पर रहते इगन्त नपुंसक का अवयव 'न्' (नुम्) होता है। 'नुम्' में 'म्' की इत्संज्ञा है। अतः "मिदचोऽन्त्यात् परः" (३७) परिभाषा की उपस्थिति से 'नुम्' आगम अन्त्य 'अच्' का परवर्ती होकर 'अङ्ग' का अवयव माना जायगा। उदाहरण—(क) वारि+औ, <वारि+ई (औ = 'शी' – ई), <वारि–न्+ई (अन्त्य अच् 'इ' से पर 'नुम्' आगम), <वारिणी (न् = ण्)। (ख) वारि+जस्, <वारि+शि (इ), <वारि–न्+इ ('नुम्' आगम), वारीन्+इ (उपधा-दीर्घ), <वारीणि। (ग) सम्बोधन के एकवचन में–हे वारि+सु, <हे वारि ('सु' 'लुक्'=लोप–"स्वमोर्नपुंसकात्"–२१९)। यहाँ पर "न लुमताङ्गस्य" (२६३) निषेध अनित्य होने के कारण 'प्रत्यय-लक्षण' होने से पक्ष में "ह्रस्वस्य गुणः" (२४२) से 'गुण' होकर दूसरा रूप 'हे वारे' होता है। (घ) वारि+आ (टा), <वारि+ना ('घि' संज्ञा होने से 'नुम्' की अपेक्षा 'पर' होने के कारण आ = ना), <वारिणा (न्=ण्)। (ङ) वारि+ए (ङे), वारि–न्+ए ('नुम्' आगम), <वारिणे (न् = ण्)। प्रक्रिया के मध्य 'वारि+ए'–इस स्थिति में 'घि'संज्ञा होने के कारण "घेर्ङिति" (२४५) से गुण होने की सम्भावना में वार्तिक द्वारा उसका निवारण किया जारहा है। तदनुसार—"वृद्धि, 'औ'–विधान, 'तृज्वद्भाव' और 'गुण' की अपेक्षा पूर्व शास्त्र की प्रबलता से 'नुम्' आगम होता है"। अतः गुण होकर इष्टरूप 'वारिणे' सिद्ध होता है। (च) वारि<अस् ('ङसि' तथा 'ङस्'), <वारिणः (नुम्, णत्व, रु, विसर्ग। (छ) वारि+ओस्, <वारि–न्+ओस्, <वारिणोः ('नुम्' आगम, रुत्व, विसर्ग)। (ज) वारि+आम्, <वारिन्+आम् ('नुमचिर०' वार्तिक के अनुसार पूर्व विप्रतिषेध से 'नुट्' आगम), <वारी+नाम् (दीर्घ–"नामि"–२०९), <वारीणाम् (न् = ण्)। (झ) वारि+इ (ङि), <वारिन्+इ, (नुम्), <वारिणि (न् = ण्)। (ञ) वारि+ओस्, <वारि–न्+ओस् (नुम्), <वारिणोः ('न्' = 'ण्', रु, विसर्ग)। हलादि विभक्तियों में 'हरि' शब्द के समान रूप होते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३२१) तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य ७ । १ । ७४ ॥ प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कमिगन्तं क्लीवं पुंवद्वा स्याट्टादावचि । अनादये–अनादिने इत्यादि । शेषं वारिवत् । पीलुर्वृक्षः, तत्फलं पीलु, तस्मै पीलुने । अत्र न पुंवत्, प्रवृत्तिनिमित्तभेदात् ।

---

(३२१) तृतीयादिषु । भाषितः पुमान् येन प्रवृत्तिनिमित्तेन तत् भाषितपुंस्कं प्रवृत्तिनिमित्तं, तदस्यास्तीति अर्श आद्यच् । शब्दस्वरूपं विशेष्यम् । पुंस्त्वे नपुंसकत्वे च एकप्रवृत्तिनिमित्तकमिति यावत् । 'इकोऽचि विभक्तौ' इत्यतः इकोऽचीति 'नपुंसकस्य झलचः' इत्यतो नपुंसकस्येति चानुवर्तते । षष्ठी च प्रथमया विपरिणम्यते । तदाह–प्रवृत्तिनिमित्तैक्य इत्यादिना । पुंवद्वेति । गालवग्रहणादिति भावः । अचीति । अजादावित्यर्थः । पुंवत्त्वे ह्रस्वनुमोरभावः फलति । घटपटादिशब्दास्तावत् घटत्वपटत्वादिरूपेणेव तत्तद्व्यक्तिं प्रत्याययन्ति न तु द्रव्यत्वपृथिवीत्वादिरूपेणेति निर्विवादम् । ततश्च यद्विशेषणं पुरस्कृत्य घटादिशब्दाः तत्तद्व्यक्तिषु प्रयुज्यन्ते तद्विशेषणं प्रवृत्तिनिमित्तमित्युच्यते । वाच्यतावच्छेदकमिति यावत् । एवं च नपुंसकत्वे लिङ्गान्तरे च यस्य एकमेव वाच्यतावच्छेदकं तत् शब्दस्वरूपं भाषितपुंस्कशब्देन विवक्षितम् । अनादिशब्दश्च उत्पत्त्यभावात्मकमनादित्वं पुरस्कृत्य स्त्रीपुंनपुंसकतत्तद्व्यक्तिप्रत्यायक इति भवति तस्य प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कता । अतस्तस्य टादावचि पुंवत्त्वविकल्प इत्यभिप्रेत्योदाहरति—अनादये—अनादिने इति । पुंवत्त्वे नुमः अप्रवृत्तेः 'घेर्ङिति' इति गुणः, पुंवत्त्वाभावे तु नुमिति भावः । इत्यादीति । अनादेः–अनादिनः । अनाद्योः–अनादिनोः । आमि तु अनादीनामित्येव । शेषं वारिवदिति । प्रथमाद्वितीययोः भ्यामादौ हलि च वारिवदित्यर्थः । प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये इत्यस्य प्रयोजनं दर्शयितुमाह—पीलुर्वृक्ष इत्यादि । यदा वृक्षविशेषः पीलुशब्दवाच्यस्तदा पुंल्लिङ्गः पीलुशब्दः । यदा पीलुजन्यफलं पीलुशब्दवाच्यं तदा नपुंसकलिङ्गः । 'फले लुक्' इत्यणो

---

(३२१) पद—तृतीयादिषु, भाषितपुंस्कं, पुंवद्, गालवस्य । अनुवृत्ति—इकः, अचि, नपुंसकस्य । अतिदेशसूत्र ।

मूलार्थ—प्रवृत्तिनिमित्त एक होने पर भाषितपुंस्कलिङ्गवाची शब्द को 'ट'कारादि विभक्ति-सम्बन्धी 'अच्' पर रहते विकल्प से पुंवद्भाव होता है । अनादये–अनादिने । इत्यादि । शेष 'वारि' शब्द के समान । वृक्ष-वाची पुंलिङ्ग—'पीलुः', 'फल' वाची–'पीलु' । चतुर्थी विभक्ति में—'पीलुने' । प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न होने से यहाँ पुंवद्भाव नहीं हुआ ।

सन्दर्भ—'अनादि' शब्द तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होता है । पुंलिङ्ग—न विद्यते आदिः = उत्पत्तिः यस्य= ईश्वरः । स्त्रीलिङ्ग—अनादिः = अविद्या । नपुंसकलिङ्ग—अनादि = ब्रह्म । नपुंसकलिङ्ग वाच्य रहने पर प्रथमा-द्वितीया विभक्तियों में 'वारि' शब्द के सदृश रूप होते हैं । तृतीयादि अजादि विभक्तियों में गालव के मत में विशेष-विधान हेतु प्रासङ्गिक व्यवस्था की जारही है ।

विवरण—यह अतिदेश-सूत्र है । सूत्र के स्पष्टीकरण के लिए "इकोऽचि विभक्तौ" (७-१-७३) सूत्र से 'इकः' तथा 'अचि' एवं "नपुंसकस्य झलचः" (७-१-७२) सूत्र से 'नपुंसकस्य' की अनुवृत्ति आती है । षष्ठ्यन्त 'इकः' तथा 'नपुंसकस्य'—ये दोनों पद 'प्रथमा'-विभक्ति में परिवर्तित होते हैं । विशेषणवाची 'इक्' शब्द 'इगन्त' का बोधक है । तदनुसार प्रकृत सूत्र का यह आशय है कि तृतीयादि अजादि विभक्ति पर रहते (टादावजादौ विभक्तौ) 'इक्'–अन्त नपुंसकलिङ्गवाची शब्द, जो पुंलिङ्ग में भी समान अर्थ (धर्म) में प्रयुक्त हुआ हो (भाषितः पुमान् यस्मिन् अर्थे तद् भाषितपुंस्कम् = प्रवृत्तिनिमित्तम्, तद् अस्य अस्ति), उसे आचार्य गालव के मत में पुंलिङ्ग-वाची शब्द के समान कार्य होते हैं । अन्य आचार्यों के मत में पुंवद्भाव नहीं है । फलतः 'पुंलिङ्ग' होने पर 'ह्रस्व' तथा 'नुम्' नहीं होते । उदाहरण—अनादि+ए (ङे), <अनादे+ए

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३२२) अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः ७ । १ । ७५ ॥ एषामनङ् स्याट्टादावचि, स चोदात्तः । 'अल्लोपोऽनः' (सू २३४) । दध्ना । दध्ने । दध्नः । दध्नः, दध्नोः, दध्नाम् । दध्नि-दधनि, दध्नोः । शेषं वारिवत् । एवमस्थिसक्थ्यक्ष्णोनि । तदन्तस्याप्यनङ्—अतिदध्ना । इति इदन्ताः । सुधि । सुधिनौ । सुधीनि । हे सुधे–हे सुधि । सुधिया–

लुक् । अत्र फले वाच्ये पुंवत्त्वं नेत्यर्थः । कुत इत्यत आह–प्रवृत्तिनिमित्तभेदादिति । वृक्षत्वव्याप्यजातिविशेषात्मकं पीलुत्वं वृक्षविशेषे वाच्ये प्रवृत्तिनिमित्तम् । फलविशेषे तु वाच्ये फलत्वव्याप्यजातिविशेषात्मकं पीलुत्वं प्रवृत्तिनिमित्तमिति प्रवृत्तिनिमित्तभेदादित्यर्थः । तदुक्तम्—'पीलुवृक्षः फलं पीलु पीलुने न तु पीलवे । वृक्षे निमित्तं पीलुत्वं तज्जत्वं तत्फले पुनः ।' इति । अस्थि, दधि, सक्थि, अक्षि एतेषां प्रथमाद्वितीययोर्वारिवद्रूपाणि ।

(३२२) टादावचि विशेषमाह—अस्थिदधि । तृतीयादिर्प्विति अचीति चानुवर्तते । तदाह—एषामित्यादिना । नुमोऽपवादः । अनङि ङकार इत्, अकार उच्चारणार्थः । ङित्त्वादन्तादेशः । दध्नि दधनि इति । 'विभाषा ङिश्योः' इत्यल्लोपविकल्प इति भावः । तदन्तस्यापीति । आङ्त्वादिति भावः । अतिदध्नेति । दधि अतिक्रान्तं कुलमतिदधि । अत्रापि नपुंसकस्येति सम्बध्यते । ततश्च धातोः 'आदृगमहन' इति किप्रत्यये दधिशब्दस्य पुंस्त्वे दधिनेत्येव । नपुंसकस्येति श्रूयमाणमस्थ्यादिभिरेवान्वेति । तेनातिदध्ना ब्राह्मणेनेत्यादि सिद्धम् । इति इदन्ताः । अथ ईदन्ता निरूप्यन्ते । सु ध्यायतीति, सु शोभना धीर्यस्येति वा विग्रहे सुधीशब्दस्य 'ह्रस्वो नपुंसके' इति ह्रस्वत्वे वारिवद्रूपाणीत्याह—सुधि सुधिनी इत्यादि । परत्वान्नुमा इयङ् बाध्यत इति भावः । सुधिया सुधिनेति । सुध्यातृत्वस्य शोभन-

---

(पुंवद्भाव होने पर 'गुण'), <अनादये (ए = 'अय्') । पक्ष में 'अनादिने' ('नुम्' आगम) । आगे की अजादि-विभक्तियों—'ङसि' तथा 'ङस्' में—अनादिनः, अनादेः । ओस्—अनादिनोः, अनाद्योः । ङि–अनादिनि, अनादौ । शेष रूप कवि शब्दवत् ।

विशेष—'भाषितपुंस्क' शब्द का आशय दो प्राचीन कारिकाओं में अभिव्यक्त किया गया गया है । जिस निमित्त (धर्म) को लेकर शब्द पुंलिङ्ग में प्रवृत्त होता है, यदि नपुंसक लिङ्ग में प्रवृत्त होने का निमित्त (धर्म) वही हो, तो उसे 'भाषितपुंस्क' कहा जाता है । 'अनादि' शब्द में इस प्रकार की समानता है । अतः वह 'भाषितपुंस्क' है । इसके विपरीत 'वृक्ष-विशेष' निमित्त होने से 'पीलु' शब्द की प्रवृत्ति पुंलिङ्ग में है तथा नपुंसकलिङ्ग में उससे उत्पन्न फल का बोध होना निमित्त है । दोनों की प्रवृत्ति होने में निमित्त (धर्म) का भेद स्पष्ट परिलक्षित होता है । अतः यहाँ पर पुंवद्भाव नहीं होता । तदनुसार चतुर्थी के एकवचन में 'पीलुने' (नुम् आगम) रूप सिद्ध होता है[1] ।

(३२२) पद—अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम्, अनङ्, उदात्तः । **अनुवृत्ति**—तृतीयादिषु, अचि । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'टा'दि अजादि विभक्ति पर रहते 'अस्थि'–आदि शब्दों को 'अनङ्' होता है और वह उदात्त भी होता है । "अल्लोपोऽनः"–दध्ना । दध्ने । दध्नः । दध्नः, दध्नोः । दध्नि–दधनि । दध्नोः । शेषरूप 'वारि' शब्द के सदृश । अस्थि, सक्थि, अक्षि शब्दों को भी इसी तरह जानें । तदन्त को भी अनङ् होता है—अतिदध्ना । सुधि, सुधिनी, सुधीनि । हे सुधे–हे सुधि । सुधिया–सुधिना ।

---

१. यन्निमित्तमुपादाय पुंसि शब्दः प्रवर्तते ।
क्लीबवृत्तौ तदेव स्यात् युक्तपुंस्कं तदुच्यते ॥
पीलुर्वृक्षः फलं पीलु 'पीलुने' न तु 'पीलवे' ।
वृक्षे निमित्तं पीलुत्वं तज्जत्वं तत्फले पुनः ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुधिना। सुधियाम्—सुधीनाम्। प्रध्या—प्रधिना। इति ईदन्ताः। मधु। मधुनी। मधूनि। हे मधो–हे मधु। एवमम्ब्वादयः। सानुशब्दस्य स्नुर्वा। स्नूनि—सानूनि। प्रियक्रोष्टु। प्रियक्रोष्टुनी। तृज्वद्भावात्पूर्वविप्रतिषेधेन नुम्–प्रियक्रोष्टूनि। टादौ पुंवत्पक्षे

ज्ञानवत्त्वस्य वा प्रवृत्तिनिमित्तस्य पुंसि नपुंसके च एकत्वात् पुंवत्त्वविकल्पः। एवं प्रधीशब्दः। तत्र 'न भू सुधियोः' इति निषेधाभावात् 'एरनेकाचः' इति यण्। इति ईदन्ताः। अथ उदन्ता निरूप्यन्ते। मध्वति। 'मधु मद्ये पुष्परसे' 'मधुर्वसन्ते चैत्रे च' इति कोशान्मधुशब्दस्य पुंनपुंसकयोः मद्यत्ववसन्तत्वादिरूपप्रवृत्तिनिमित्तभेदाद् न पुंवत्त्वविकल्पः। क्षुद्रीकाविकारवाचिनो मधुशब्दस्य तु नित्यनपुंसकत्वान्न पुंवत्त्वमिति विवेकः। सानुशब्दस्य स्नुर्वेति। 'पदन्' इति सूत्रे 'मांसपृतनासानूनां मांस्पृत्स्नवो वाच्याः' इति वार्तिकादिति शेषः। स्नूनि सानूनीति। शसि रूपम्, शसादावेव स्नुविधेः। प्रभृतिग्रहणस्य प्रकारार्थत्वे सुट्यपि स्नुर्भवति। अस्य च 'स्नुः प्रस्थः सानुरस्त्रियाम्' इति पुंनपुंसकत्वात् भाषितपुंस्कत्वादस्येव पुंवत्त्वविकल्पः। प्रियक्रोष्टु प्रियक्रोष्टुनी इति। प्रियः क्रोष्टा यस्येति विग्रहः। असर्वनामस्थानत्वान्न तृज्वत्त्वम्। अथ जश्शसोः शिभावे सति सर्वनामस्थानत्वाद् नुमं बाधित्वा परत्वात् तृज्वत्त्वे प्राप्ते आह—तृज्वद्भावादिति। 'वृद्ध्यौत्व' इति वार्तिकादिति भावः। प्रियक्रोष्टुनीति। जश्शसोः शिभावे नुमि 'सर्वनामस्थाने च' इति दीर्घे रूपम्। न च नित्यत्वादेव नुम् सिद्धेः किं पूर्वविप्रतिषेधेनेति वाच्यम्, नित्यत्वान्नुमि कृतेऽपि 'यदागमाः' इति न्यायेन 'तृज्वत्क्रोष्टुः' इत्यस्य नुम्विशिष्टस्य ग्रहणापत्तौ पुनस्तृज्वत्त्वापत्तेः। पूर्वविप्रतिषेधमाश्रित्य तृज्वत्त्वं बाधित्वा नुमि कृते तु न पुनस्तृज्वत्त्वम्, 'विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेव' इति न्यायादित्यलम्। पुंवत्पक्षे इति। तत्रापि तृज्वत्त्वपक्ष इत्यर्थः।

प्रध्या–प्रधिना। मधु, मधुनी, मधूनि। हे मधो–हे मधु। 'अम्बु' आदि भी इसी के समान हैं। 'सानु' शब्द को 'स्नु' आदेश विकल्प से होता है। स्नूनि–सानूनि। प्रियक्रोष्टु, प्रियक्रोष्टुनी। तृज्वद्भाव की अपेक्षा पूर्व-विप्रतिषेध से नुम्—प्रियक्रोष्टूनि। 'टा'दि विभक्तियों में विकल्प से पुंवद्भाव होने पर—प्रियक्रोष्ट्रा–प्रियक्रोष्टुना। प्रियक्रोष्ट्रे–प्रियक्रोष्टवे। पुंवद्भाव न होने पर तृज्वद्भाव की अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेध से 'नुम्' ही होता है। प्रियक्रोष्टुना। प्रियक्रोष्टुने। "नुमचिर०" के आश्रय से नुट्–प्रियक्रोष्टूनाम्। सुलु, सुलुनी, सुलूनि। फिर इसी तरह। सुल्वा–सुलुना। धातृ, धातृणी, धातृणि। हे धातः–हे धातृ। धात्रा–धातृणा। 'शातृ' 'कर्तृ' आदि भी इसी तरह।

विवरण—सूत्रार्थ के उपयोगी पदों–'तृतीयादिषु' तथा 'अचि'–की अनुवृत्ति क्रमशः "तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य" (७-१-७४) तथा "इकोऽचि०" (७-१-७३) सूत्रों से की जारही है। 'तृतीयादिषु' से सम्बद्ध 'अचि' तथा 'विभक्तौ' पद वचन-विपरिणाम से बहुवचन में बदल जाते हैं। तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "अजादि तृतीयादि विभक्तियों के परवर्ती होने की स्थिति में 'अस्थि' (= हड्डी), 'दधि' (= दही), 'सक्थि' (= जंघा) तथा 'अक्षि' (= आँख) शब्दों को 'अनङ्' (अन्) आदेश होता है और वह उदात्त होता है"। तृतीया आदि अजादि विभक्तियाँ आठ हैं—आ (टा), ए (ङे), अस् (ङसि), अस् (ङस्), ओस्, आम्, इ (ङि), ओस्। 'अनङ्' (अन्) आदेश 'ङित्' होने के कारण 'अङ्ग' के अन्त्य इकार के स्थान पर होगा। उदाहरण—(क) दधि+आ, <दध्ना। (ख) दधि+ए (ङे), <दध्ने। (ग) दधि+अस् ('ङसि' तथा 'ङस्'), <दध्नः। (घ) दधि+ओस् (षष्ठी तथा सप्तमी-द्विवचन)। (ङ) दधि+इ (ङि) दध्नि–दधनि। उपर्युक्त रूपों में 'दधि' का इकार 'अन्' में परिवर्तित होता है तथा "अल्लोपोऽनः" (२३४) सूत्र से 'धकारोत्तरवर्ती'–अकार का लोप होता है। सप्तमी के एकवचन में "विभाषा ङिश्योः" (२३७) के अनुसार 'अन्'–सम्बन्धी अकार का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रियकोष्ट्रा-प्रियक्रोष्टुना । प्रियक्रोष्ट्रे-प्रियक्रोष्टवे । अन्यत्र तृज्वद्भावात्पूर्वविप्रतिषेधेन नुमेव । प्रियक्रोष्टुना । प्रियक्रोष्टुने । 'नुमचिर' (वा ४३७४) इति नुट्-प्रियक्रोष्टूनाम् ।

प्रियक्रोष्ट्रेति । पुंवत्त्वे तृज्वत्त्वे च सति रूपम् । अनपुंसकत्वान्न नुम् । प्रियक्रोष्टुनेति । 'पुंवत्त्वे, तदभावे च तृज्वत्त्वाभावे रूपम् । पुंवत्त्वाभावपक्षेऽपि नुमं बाधित्वा परत्वान्नात्वमेव । प्रियक्रोष्ट्रे इति । पुंवत्त्वे तृज्वत्त्वे यण् । अनपुंसकत्वान्न नुम् । प्रियक्रोष्टवे इति । पुंवत्त्वे तृज्वत्त्वाभावे रूपम् । अन्येत्रेति । पुंवत्त्वाभावपक्ष इत्यर्थः । प्रियक्रोष्टुनेति । पुंवत्त्वतृज्वत्त्वयोरभावे रूपम् । तथा ङयि त्रीणि रूपाणि । एवं ङसिङसोः—प्रियक्रोष्टुः प्रियक्रोष्टोः प्रियक्रोष्टुनः ।

विकल्प से लोप होने के कारण 'दधनि' रूप भी बनेगा । शेष प्रक्रिया 'वारि' शब्द के समान है । अस्थि, सक्थि तथा अक्षि शब्द के रूप भी इसी के अनुसार होंगे ।

'वारि' शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	वारि	वारिणी	वारीणि
द्वि०	वारि	वारिणी	वारीणि
तृ०	वारिणा	वारिभ्याम्	वारिभिः
च०	वारिणे	वारिभ्याम्	वारिभ्यः
प०	वारिणः	वारिभ्याम्	वारिभ्यः
ष०	वारिणः	वारिणोः	वारीणाम्
स०	वारिणि	वारिणोः	वारिषु
सं०	हे वारे, हे वारि	हे वारिणी	हे वारीणि

'दधि' शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	दधि	दधिनी	दधीनि
द्वि०	दधि	दधिनी	दधीनि
तृ०	दध्ना	दधिभ्याम्	दधिभिः
च०	दध्ने	दधिभ्याम्	दधिभ्यः
प०	दध्नः	दधिभ्याम्	दधिभ्यः
ष०	दध्नः	दध्नोः	दध्नाम्
स०	दध्नि,दधनि	दध्नोः	दधिषु
सं०	हे दधे,हे दधि	हे दधिनी	हे दधीनि

विशेष—'अनङ्'–विधान अङ्ग-सम्बन्धी होने के कारण समास करने पर 'दधि'–शब्दान्त से भी 'टा' आदि विभक्तियों में 'अनङ्' आदेश प्रवृत्त होता है । अतः 'अतिदधि' शब्द से तृतीया के एकवचन में 'अतिदध्ना' ('अनङ्' तथा 'अ' का लोप) रूप सिद्ध होता है । इसका विग्रह है—दधि अतिक्रान्तं कुलम्—'अतिदधि' (= दही का अतिक्रमण किया हुआ कुल आदि) ।

निर्देश—१–'सुधि' (= सुबुद्धि वाला कुल—शोभना धीः यस्य तत्) शब्द के रूप भी प्रथमा तथा द्वितीया में सुधि, सुधिनी, सुधीनि—होते हैं । इनमें से द्विवचन तथा बहुवचन में 'नुम्' आगम 'पर' होने के कारण 'इयङ्' का बाधक है । सम्बोधन के एकवचन में 'वारि' शब्द के समान दो रूप—हे सुधे, हे सुधि–बनते हैं । पुंलिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग में प्रवृत्ति-निमित्त समान होने के कारण 'टा'–अजादि विभक्तियों में विकल्प से पुंवद्भाव होकर दो रूप सिद्ध होते हैं । पुंलिङ्ग के रूपों में 'यण्' का निषेध होने से 'इयङ्' आदेश होता है तथा नपुंसकलिङ्ग में 'नुम्' आगम होगा । तदनुसार रूपों का विवरण है—'टा'–सुधिया–सुधिना । 'ङे'–सुधिये–सुधिने । 'ङसि' तथा 'ङस्'–सुधियः–सुधिनः । 'ओस्'–सुधियोः–सुधिनोः । 'आम्'–सुधियाम्(इयङ्)–सुधीनाम् (नुट्, दीर्घ) । 'ङि'–सुधियि–सुधिनि । शेष रूप 'दधि' शब्द के समान हैं ।

२—'प्रधि' (= प्रकृष्ट बुद्धि वाला कुल–प्रकृष्टा धीः यस्य तत्) शब्द के प्रथमा, द्वितीया तथा सम्बोधन में 'सुधि' शब्द के समान रूप होते हैं । 'टादि'–अजादि विभक्तियों में भी पूर्ववत् विकल्प से पुंवद्भाव । अन्तर यह है कि पुंलिङ्ग में 'यण्' तथा नपुंसक-लिङ्ग में पूर्ववत् 'नुम्' आगम होगा—'प्रध्या'–'प्रधिना' । ईकारान्त शब्दों का निर्वचन समाप्त ।

३—उकारान्त शब्दों की रूप-प्रक्रिया इस प्रकार है । 'मधु' शब्द की प्रथमा विभक्ति में (क) 'मधु' ('सु' लोप), (ख) मधुनी (औ = शी तथा 'नुम्') (ग) मधूनि (जस् = शि, नुम्, उपधादीर्घ) रूप होते हैं । सम्बोधन के एक-वचन में (घ) हे मधो–हे मधु ("न लुमताङ्गस्य" निषेध अनित्य होने से 'सम्बुद्धि' में पाक्षिक गुण तथा 'स्' लोप) ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्युदन्ताः। सुलु, सुलुनी, सुलूनि। पुनस्तद्वत्। सुल्वा–सुलुना। इत्यूदन्ताः। धातृ, धातृणी, धातृणि। हे धातः–हे धातृ। धात्रा–धातृणा। एवं ज्ञातृकर्त्रादयः। इत्यृदन्ताः।

प्रियक्रोष्टोः प्रियक्रोष्ट्वोः प्रियक्रोष्टुनोः। आमि विशेषमाह—नुमचिरेति नुडिति। तृज्वत्त्वं नुमं च बाधित्वेति शेषः। पुंवत्त्वे तृज्वत्त्वं बाधित्वा नुट्। पुंवत्त्वाभावे तु तृज्वत्त्वं बाधित्वा नुम्, तदपि बाधित्वा नुडिति विवेकः। प्रियक्रोष्टरि–प्रियक्रोष्टौ–प्रियक्रोष्टुनि। भ्यामादौ हलि मधुवत्। इत्युदन्ताः। अथ ऊदन्ता निरूप्यन्ते। सुल्विति। सुष्ठु लुनातीति क्विप्। 'ह्रस्वो नपुंसके' इति ह्रस्वः। सुलुनी इति। 'ओः सुपि' इति यणं बाधित्वा परत्वान्नुम्। सुल्वेति। शोभनलवनकर्तृत्वं प्रवृत्तिनिमित्तमेकमिति पुंवत्त्वविकल्पः। पुंवत्त्वे ह्रस्वाभावेऽधित्वाद् नाभावो न, नुमभावश्च। 'ओः सुपि' इति यण्। पुंवत्त्वाभावपक्षे तु यणं बाधित्वा नुम्, ङेप्रभृतिषु तु पुंवद्भावे 'वृद्धयौत्त्व' इति पूर्वविप्रतिषेधेन नुमि सुलुने, पुंवत्त्वे तु सुल्वे इत्यादि रूपद्वयम्। इत्यूदन्ताः। अथ ऋदन्ता निरूप्यन्ते। धातृ इति। दधातीति धातृ। 'न लुमता' इति निषेधादनङ् न। धातृणी इति। 'इकोऽचि' इति नुमि 'ऋवर्णान्नस्य'

४—'अम्बु' (=जल) आदि शब्दों के रूप भी इसी तरह होते हैं।

५—'सानु'–(=पर्वत की चोटी) शब्द सम्बन्धी विशेषतायें–'सुट्' प्रत्याहार में=प्रथमा-विभक्ति के तीनों वचन तथा द्वितीया-विभक्ति के एक एवं द्विवचनों में (क) सानु, सानुनी, सानूनि। (ख) सानु, सानुनी–रूप होते हैं। द्वितीया बहुवचन में सानु+शस्, <स्नु+शस् (सानु='स्नु'–"मांसपूतनासानूनां मांस्पूत्स्नवे०" वार्तिक), <स्नु+शि, <स्नु-न्+इ ('नुम्'), <स्नूनि ('उपधा'दीर्घ)। पक्ष में सानूनि। तृतीयादि अजादि विभक्तियों में 'भाषितपुंस्क' होने के कारण विकल्प से पुंवद्भाव। पाक्षिक 'स्नु' आदेश होने के कारण रूपप्रक्रिया इस प्रकार है—(न) 'टा'–स्नुना, सानुना। (घ) 'ङे'–स्नुने, सानुने। (ङ) 'ङसि' तथा 'ङस्'–स्नुनः, सानुनः। (च) 'आम्'–स्नूनाम्, सानूनाम्। (छ) 'ङि'=स्नुनि, सानुनि। (ज) 'ओस्'–स्नुनोः, सानुनोः।

६—'क्रोष्टु' शब्द के नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होने पर रूप-प्रक्रिया इस प्रकार है। विग्रह–प्रियः कोष्टा यस्य तत् (=सियार को प्यार करनेवाला कुल)—प्रियक्रोष्टु। इस शब्द की प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति में (क) प्रियकोष्टु, प्रियक्रोष्टुनी, प्रियक्रोष्टूनि। (ख) प्रियकोष्टु, प्रियक्रोष्टुनी, प्रियक्रोष्टूनि रूप बनते हैं। उल्लेखनीय यह है कि 'जस्' तथा 'शस्' में 'शि' होने के पश्चात् 'शि' को सर्वनाम-स्थान'-संज्ञा होती है। अतः तृज्वद्भाव प्राप्त होने की आशंका का निवारण "वृद्धयौत्वतृज्वद्भाव०" वार्तिक से पूर्वविप्रतिषेध का आश्रय कर 'नुम्' ही होता है। तृतीयादि अजादि विभक्तियों में विकल्प से पुंवद्भाव होने पर 'आम्' के अतिरिक्त दो-दो रूप होते हैं—(ग) 'टा'—प्रियक्रोष्ट्रा, प्रियक्रोष्टुना। 'ङे'–प्रियक्रोष्ट्रे, प्रियक्रोष्टवे। 'ङसि' तथा 'ङस्'–प्रियक्रोष्टुः, प्रियक्रोष्टोः। ओस्'—प्रियक्रोष्ट्रोः, प्रियक्रोष्ट्वोः। 'आम्'–प्रियक्रोष्टूनाम्। 'ङि'–प्रियक्रोष्टरि, प्रियक्रोष्टौ। तृज्वद्भाव होनेपर 'ऋकारान्त-पुंलिग' वाची 'क्रोष्टृ' शब्द के समान कार्य होते हैं। तृज्वद्भाव न होने पर 'उकारान्त'-'पुंलिङ्ग' में निर्धारित प्रक्रिया अपनाई जाती है। 'टा' आदि में 'पुंवद्भाव' न होने पर तृज्वद्भाव की अपेक्षा 'नुम्' 'पर' होने के कारण तीसरा रूप भी होता है—प्रियक्रोष्टुना (टा), प्रियक्रोष्टुने (ङे), प्रियक्रोष्टुनः ("ङसि" तथा "ङस्"), प्रियक्रोष्टुनोः (ओस्), प्रियक्रोष्टुनि (ङि)।

७—इसी तरह 'सुलु' (=अच्छी तरह काटने वाला) शब्द के रूप-प्रथमा—(क) सुलु, सुलुनी, सूलूनि। (ख) द्वितीया–सुलु, सुलुनी, सुलूनि। तृतीयादि अजादि विभक्तियों में पुंवद्भाव विकल्प। पुंवत्पक्ष में 'लू' को ह्रस्व न होने के कारण 'घि'संज्ञा के अभाव में "ओः सुपि" (२८८) से यण् होता है। नपुंसक-पक्ष में 'नुम्' आगम होगा। तदनुसार 'टा'–सुल्वा, सुलुना। 'ङे'–सुल्वे, सुलुने। 'ङसि' तथा 'ङस्'–सुल्वः, सुलुनः। 'ओस्'–सुल्वोः, सुलुनोः। 'आम्'–सुल्वाम्, सुलूनाम्। 'ङि'–सुल्वि, सुलुनि। उकारान्त शब्दों का प्रकरण समाप्त।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३२३) एच इग्घ्रस्वादेशे । १ । १ । ४८ ॥ आदिश्यमानेषु ह्रस्वेषु एच इगेव स्यात् । प्रधु, प्रधुनी, प्रधूनि । प्रधुनेत्यादि । इह न पुंवत्, यदिगन्तं प्रधु इति तस्य

इति णत्वम् । धातृणि इति । जश्शसोः शिभावे नुमि 'सर्वनामस्थाने च' इति दीर्घे णत्वम् । 'न लुमता'इति निषेधस्यानित्यत्वात् सम्बुद्धिनिमित्तको ह्रस्वस्य पक्षे गुण इत्याह—हे धातः हे धातृ इति । धारणकर्तृत्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तैक्यात् टादावचि पुंवत्त्वविकल्प इत्याह—धात्रा-धातृणा इति । धात्रे–धातृणे । धातुः–धातृणः । धात्रोः–धातृणोः । 'नुमिचर' इति नुट् । धातृणाम् । धातरि–धातृणि । इत्यृदन्ताः । अथ ओदन्ता निरूप्यन्ते ।

(३२३) प्रकृष्टा द्यौः यस्येति बहुव्रीहौ प्रद्योशब्दस्य 'ह्रस्वो नपुंसके' इति ह्रस्वः प्राप्नुवन् एचां ह्रस्वाभावात् तेषां द्विस्थानत्वेन अ, इ, उ, ऋ, ऌ इत्येतेषां ह्रस्वानामन्तरतमत्वाभावाद् अन्यतरस्थानसाम्याश्रयेण अवर्णादिषु यस्य कस्यचिदनियमेन पर्यायेण वा प्राप्तावेदमारभ्यते—एच इक् । आदिश्यते इत्यादेशः । कर्मणि घञ् । तस्य ह्रस्वपदेन सह कर्मधारयः । विशेष्यस्यार्षः पूर्वनिपातः । आदेश इति निर्धारणे सप्तमी । सौत्रमेकवचनम् ।

'मधु' (= शहद) शब्द के रूप

वि० एक०	द्वि०	बहु०	वि० एक०	द्वि०	बहु०
प्र० मधु	मधुनी	मधूनि	प० मधुनः	मधुभ्याम्	मधुभ्यः
द्वि० मधु	मधुनी	मधूनि	ष० मधुनः	मधुनोः	मधूनाम्
तृ० मधुना	मधुभ्याम्	मधुभिः	स० मधुनि	मधुनोः	मधुषु
च० मधुने	मधुभ्याम्	मधुभ्यः	सं० हेमधो,हेमधु, हे मधुनी		हे मधूनि

८—'धातृ' (= धारण करनेवाला) शब्द की विशेष प्रक्रिया—(क) प्रथमा में—धातृ ('सु' लोप), धातृणी (औ = शी, नुम्, 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्'–न्=ण्), धातृणि (जस् = शि, नुम्, उपधादीर्घ, णत्व) । द्वितीया के भी रूप इसी तरह होते हैं । सम्बोधन के एकवचन में दो रूप—हे धातः, हे धातृ (१–'न लुमताङ्गस्य' निषेध के अनित्य होने से पाक्षिक गुण–'अर्', ः = विसर्ग, २–गुण के न होने पर 'सम्बुद्धि-लोप') । तृतीयादि अजादि विभक्तियों में प्रवृत्तिनिमित्त एक होने से 'आम्' को छोड़कर प्रत्येक विभक्ति में दो-दो रूप होंगे । पुंवद्भाव होने की स्थिति में 'यण्' । एवं पुंवद्भाव न होने पर 'नुम्' तथा णत्व । तदनुसार रूपावलि—'टा'–धात्रा, धातृणा । (ङे)—धात्रे, धातृणे । 'ङसि' तथा 'ङस्'–धातुः, धातृणः । 'ओस्'–धात्रोः, धातृणोः । 'आम्'–धातृणाम् । 'ङि'–धातरि–धातृणि । 'ज्ञातृ' (जाननेवाला) 'कर्तृ' (= करनेवाला) आदि शब्दों के रूप भी इसी तरह होते हैं । ऋकारान्त-शब्द-प्रकरण समाप्त ।

'धातृ' शब्द के रूप

वि० एक०	द्वि०	बहु०	वि० एक०	द्वि०	बहु०
प्र० धातृ	धातृणी	धातृणि	प० धातुः, धातृणः	धातृभ्याम्	धातृभ्यः
द्वि० धातृ	धातृणी	धातृणि	ष० धातुः, धातृणः	धात्रोः, धातृणोः	धातृणाम्
तृ० धात्रा,धातृणा	धातृभ्याम्	धातृभिः	स० धातरि, धातृणि	धात्रोः, धातृणोः	धातृषु
च० धात्रे, धातृणे	धातृभ्याम्	धातृभ्यः	सं० हेधातः, हेधातृ	हे धातृणी	हे धातृणि

९—ओकारान्त शब्दों की विशेष-प्रक्रिया का विवरण प्रस्तुत किया जारहा है । 'प्रद्यो' (प्रकृष्टा द्यौः यत्र–'प्रद्यो'–अच्छा आकाश वाला अर्थात् दिन) शब्द को अभिलक्षित कर ह्रस्व होने के सम्बन्ध में नियम किया जारहा है ।

(३२३) पद—एचः, इक्, ह्रस्वादेशे । नियमसूत्र ।

मूलार्थ—'एच्' के स्थान में ह्रस्व आदेश करने पर 'इक्' ही ह्रस्व हो । प्रधु, प्रधुनी, प्रधूनि । प्रधुना इत्यादि । 'प्रद्यो' से इगन्त 'प्रधु' भिन्न होने के कारण यहाँ पुंवद्भाव नहीं । आगे भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषितपुंस्कत्वाभावात् । एवमग्रेऽपि । इत्योदन्ताः । प्रवि, प्रविणी, प्रवीणि । प्रविणा । एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् 'रायो हलि' (सू २८६) इत्यात्वम्—प्राभ्याम् । प्राभिः । 'नुमचिर—' (वा ४३७४) इति नुटचात्वे—प्राणाम् इति माधवः । वस्ततस्तु सन्नि-

---

नदाह—आदिश्यमानेष्वित्यादिना । मध्ये इत्यपपाठः, तद्योगे षष्ठ्या एवौचित्यात् । इगेवेति । तेन अकारव्यावृत्तिः फलतीति भावः । यद्यपीकश्चत्वारः एचोऽप्येवम्, तथापि स्थान्यादेशानां यथासङ्ख्यं न भवति । न ह्ययमपूर्वविधिः किन्तु नियमविधिः । यथाप्राप्तमेव नियम्यते । एचां हि पूर्वभागः अवर्णसदृशः, उत्तरभागास्तु इवर्णोवर्णसदृशः । तत्र पूर्वभागसादृश्यमवर्णस्यास्ति । तस्य च इग्ग्रहणेन निवृत्तौ इवर्णसादृश्यमात्रमादाय एकारस्य ऐकारस्य च इवर्णः, उवर्णसादृश्यात् ओकारस्य औकारस्य च उवर्णः इति व्यवस्था न्यायप्राप्ता । यथाप्राप्तमेव नियम्यत इति न यथासङ्ख्यम् । ततश्च प्रद्योशब्दे ओकारस्य उकारः ह्रस्व इत्यभिप्रेत्योदाहरति—प्रद्यु इत्यादि । ननु पुंनपुंसकयोः प्रकृष्टस्वर्गवत्त्वमेकमेव प्रवृत्तिनिमित्तमिति टादौ पुंवत्त्वविकल्पः कुतो नेत्यत आह—इह न पुंवदिति । कुत इत्यत आह—यदिगन्तमिति । प्रद्योशब्द ओदन्तः पुंसि । प्रद्युशब्दस्तु उदन्तो नपुंसके । तथा च पुंसि प्रद्योशब्दस्य भाषितपुंसकत्वेऽपि नपुंसके प्रद्युशब्दस्य तदपेक्षया भिन्नत्वेन भाषितपुंस्कत्वाभावान्न पुंवत्त्वमित्यर्थः । केचित्तु पुंसि यः प्रद्योशब्द ओदन्तः, स एवेदानीं नपुंसकः, तस्य ह्रस्वान्तत्वेऽपि एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् । अतः पुंवत्त्वविकल्पोऽस्त्येवेत्याहुः । एवमग्रेऽपीति । प्रवि सुनु इत्यादावपीत्यर्थः । इत्योदन्ताः । अथ ऐदन्ता निरूप्यन्ते । एकारान्तस्योदाहरणं तु स्प्तुतः इः येन सः स्प्तुतेः । सु शोभनः स्प्तुतिर्यस्य तत् सुस्प्तुति इत्यादि बोध्यम् । प्रवीति । प्रकृष्टो राः धनं यस्य इति बहुव्रीहौ प्ररैशब्दः । तस्य नपुंसकह्रस्वत्वेन इकारः । सुटि वारिवत् । सोर्लुप्तत्वात् 'रायो हलि' इत्यात्वं न । टादावचि पुंवत्त्वविकल्पः प्रद्युशब्दवत् । भ्यामादौ हलि विशेषमाह—रायो हलीत्यात्वमिति । ननु रैशब्दस्य ऐदन्तस्य

इसी तरह (पुंवद्भाव नहीं होगा)। प्रवि, प्रविणी, प्रवीणि । प्रविणा । एकदेश-विकृत अभिन्न माने जाने से "रायो हलि" से 'आ' होता है । प्राभ्याम्, प्राभिः । आचार्य माधव के मत में 'आम्' में 'नुमचिर०' के आश्रय से 'नुट्' करने के पश्चात् 'आ' आदेश होकर 'प्राणाम्' रूप की निष्पत्ति होती है । वास्तव में 'सन्निपात-परिभाषा' से 'नुट्' में आत्व नहीं होता । यह बात भी कही जा चुकी है कि "नामि" सूत्र अपने आरम्भ-सामर्थ्य से सन्निपात-परिभाषा का बाधक होता है । प्रवीणाम् । सुनु, सुनुनी, सुनूनि । सुनुना । सुनुने इत्यादि ।

विवरण—**स्थानी** है 'एचः' तथा **आदेश** है 'इक्' । 'एच्' = ए, ओ, ऐ, औ एवं 'इक्' = इ, उ, ऋ, ऌ । आंशिक स्थान-साम्य के कारण ए-ऐ के स्थान पर 'इ' तथा ओ-औ के स्थान पर 'उ' आदेश का विधान किया जारहा है । **उदाहरण**—(क) प्रद्यो+सु <प्रद्यु+सु (ओ = उ-ह्रस्व), <प्रद्यु ('सु' लोप)। (ख) प्रद्युनी (औ = शी, नुम् आगम)। (ग) प्रद्यूनि (जस् = शि, नुम्, उपधा-दीर्घ)। 'टा'दि-अजादि विभक्तियों में यहाँ पुंवद्भाव नहीं होगा । कारण यह है कि 'पुंलिङ्ग' में 'प्रद्यो' शब्द है तथा नपुंसक-लिङ्ग में 'प्रद्यु' शब्द । अतः रूपभेद होने के कारण 'पुंद्भाव' नहीं होता । तदनुसार 'टा'दि अजादि-विभक्तियों में एक ही रूप होगा—प्रद्युना (टा), प्रद्युने (ङे) इत्यादि ।

विशेष—यह नियमसूत्र है । नियम करने का कारण यह है कि 'एच्' अर्थात् ए, ओ, ऐ, औ—संयुक्त स्वर हैं । इनका कोई स्वतन्त्र ह्रस्व वर्ण नहीं है । "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" (१-२-४७) सूत्र से नपुंसक लिङ्ग में एजन्त शब्दों को ह्रस्व तो प्राप्त होता है किन्तु इन अक्षरों में अ, इ, उ का संयोग होने के कारण ये तीनों प्राप्त होने लगते । इस स्थिति में प्रकृत सूत्र यह नियम करता है कि ए, ऐ, तथा ओ, औ के स्थान पर क्रमशः 'इ' तथा 'उ' ही ह्रस्व होते हैं ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पातपरिभाषया नुट्यात्वं न। 'नामि' (सू २०६) इति दीर्घस्त्वारम्भसामर्थ्यात्सन्निपात-परिभाषां बाधत इत्युक्तम्। इत्यैदन्ताः। सुनु, सुनुनी, सुनूनि। सुनुना। सुनुने। इत्यादि। इत्यौदन्ताः।

इत्यजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्।

विहितमात्वं कथमिदन्तस्येत्यत आह—एकदेशविकृतस्यानन्यत्वादिति। आमि विशेषमाह—नुमचिरेति। नुटि 'रायो हलि' इत्यात्वे प्रराणामित्यन्वयः। ननु प्ररि आमिति स्थिते नुटं बाधित्वा परत्वान्नुमि तस्याङ्गभक्तत्वाद् हलादिविभक्त्यभावात् कथमात्वमित्यत आह—नुमचिरेति। पूर्वविप्रतिषेधान्नुमं बाधित्वा नुट्यात्वं निर्बाधमिति भावः। सन्निपातेति। ह्रस्वान्तत्वमुपजीव्य प्रवृत्तस्य नुटस्तद्विघातकमात्वं प्रति निमित्तत्वासम्भवाद् इति भावः। ननु तर्हि ह्रस्वान्तत्वमुपजीव्य प्रवृत्तस्य नुटः तद्विघातकं 'नामि' इति दीर्घं प्रति कथं निमित्तत्वमित्यत आह—नामीति दीर्घस्त्विति। इत्युक्तमिति। रामशब्दाधिकारे इति शेषः। इत्यैदन्ताः। अथ औदन्ता निरूप्यन्ते। सु शोभना नौर्यस्येति विग्रहे बहुव्रीहौ 'ह्रस्वो नपुंसके' इति ह्रस्व उकार इति मत्वाह—सुनु इति। इत्यौदन्ताः।

इति बालमनोरमायाम् अजन्तनपुंसकलिङ्गनिरूपणं समाप्तम्।

अतः अन्तरतम होने से 'ए'–'ऐ' के स्थान में 'इ' एवम् 'ओ'–'औ' के स्थान पर 'उ' ह्रस्वादेश होगा। इस प्रकार 'अ' की निवृत्ति हो जाती है।

निर्देश—१–(क) 'ऐकारान्त' (प्ररै+सु) शब्द में यह उल्लेखनीय है कि प्रकृत सूत्र से ह्रस्व होने पर ऐ = इ होकर 'प्ररि'+सु (=अधिक धनी–प्रकृष्टो राः यस्य तत्), <प्ररि (विभक्ति-लुक्), (ख) प्ररिणी (औ), (ग) प्ररीणि (जस्) रूप बनते हैं। द्वितीया में भी इसी तरह। तृतीयादि अजादि विभक्तियों में 'प्रधु' शब्द की तरह पुंवद्भाव न होने से 'नुम्' एवं 'णत्व' होने के कारण 'प्ररिणा' 'प्ररिणः' आदि रूप बनेंगे। (घ) 'भ्याम्' आदि हलादि-विभक्तियों में प्ररै <प्ररि+भ्याम्—'एकदेशविकृत' न्याय का अनुसरण कर 'ऐ' = 'इ' में परिवर्तित होने पर भी "रायो हलि" (२८६) से 'आ' आदेश किये जाने से <प्रराभ्याम् आदि रूप सिद्ध होते हैं। (ङ) षष्ठी बहुवचन–प्ररै<प्ररि+आम् में "नुमचिर०" वार्तिक का समाश्रयण कर पूर्व-विप्रतिषेध से 'नुट्' आगम, दीर्घ तथा 'ण्' होने पर आचार्य माधव को 'प्ररणाम्' रूप मान्य है। वस्तुतः 'सन्निपात'–परिभाषा की उपस्थिति से 'नुट्' आगम होने पर 'ऐ' के स्थान पर 'आ' नहीं होगा। कारण यह है कि 'ऐ' के स्थान पर 'आ' विधान हलादि विभक्तियों में होता है। 'नुट्' आगम के पूर्व तो 'आम्' विभक्ति अजादि है। अतः ह्रस्वान्त (प्ररि) को अभिलक्षित कर विधीयमान 'नुट्' आगम ह्रस्वान्त के विनाशक 'आ' के विधान में निमित्त नहीं होगा। इस प्रकार 'प्ररीणाम्' ही समीचीन है। "नामि" सूत्र के आरम्भ-सामर्थ्य से 'दीर्घ'–विधान में सन्निपात परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है—यह कथन उपर्युक्त विषय से भिन्न है।

'ऐकारान्त शब्दों का निर्वचन समाप्त।

२—औकारान्त 'सुनौ' (= सुन्दर नौका वाला—शोभना नौः यस्य तत्) शब्द की रूप-प्रक्रिया बतलाई जारही है। (क) सुनौ <सुनु+सु (औ = उ–ह्रस्व), <सुनु ('सु' लुक्)। (ख) सुनुनी (औ)। (ग) सुनूनि (जस्)। (घ) सुनुना (टा) तथा (ङ) सुनुने (ङे) आदि तृतीयादि अजादि विभक्तियों में 'पुंवद्भाव' न होने से एक ही रूप बनता है। शेष रूपावलि 'मधु' शब्द के समान है। 'औकारान्त शब्दों का विवरण समाप्त।

अजन्त-नपुंसकलिङ्ग समाप्त।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ हलन्तपुंलिङ्गप्रकरणम्

(३२४) हो ढः ८।२।३१॥ हस्य ढः स्याज्झलि पदान्ते च। 'हल्ङ्याप्–' (सू २५२) इति सुलोपः। पदान्तत्वाद्धस्य ढः। जश्त्वचर्त्वे। लिट्–लिड्, लिहौ, लिहः। लिहम्, लिहौ, लिहः। लिहा, लिड्भ्याम् इत्यादि। लिट्त्सु–लिट्सु।

अथ हकारान्ता निरूप्यन्ते। तत्र वर्णसमाम्नायक्रममनुसृत्य हकारान्तमादौ निरूपयितुमाह।

(३२४) हो ढः। ह इति षष्ठ्यन्तम्। 'झलो झलि' इत्यतो झलीत्यनुवर्तते। पदस्येत्यधिकृतम्। 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इत्यतोऽन्ते इत्यनुवर्तते। तदाह हस्येति। झलीति। झलि परतः पूर्वस्य हकारस्य, पदान्ते विद्यमानस्य हकारस्य चेत्यर्थः। न च डकार एव कृतो न विहित इति वाच्यम्, 'वा द्रुह' इत्यत्र वक्ष्यमाणत्वात्। पदान्तत्वादिति। सुलोपे सति प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य झल्परत्वाच्चेत्यपि। लिडिति। 'लिह आस्वादने' क्विप्। हल्ङ्यादिना सुलोपः। हस्य ढत्वे 'वाऽवसाने' इति चर्त्वविकल्प इति भावः। लिड्भ्यामिति। 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदत्वात् 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वमिति भावः। इत्यादीति। लिड्भिः। लिहे। लिड्भ्यः। लिहः। लिहः। लिहोः। लिहाम्। लिट्त्सु इति। लिह सु इति स्थिते हस्य ढः। तस्य जश्त्वेन डः। 'खरि च' इति चर्त्वस्यासिद्धत्वात्ततः प्रागेव 'डः सि' इति धुट्। ततो डस्य चर्त्वेन टः। धुटश्चर्त्वसम्पन्नस्य तकारस्यासिद्धत्वात् 'चयो द्वितीयाः' इति न भवति। 'न पदान्तात्' इति तकारस्य प्लुत्वं न। लिट्सु इति। धुडभावे रूपम्। हस्य ढः। तस्य जश्त्वेन डः। तस्य चर्त्वेन टः। तस्यासिद्धत्वात् 'चयो

हलन्तपुंलिङ्ग आरम्भ

उपक्रम—'माहेश्वर' सूत्रों के अनुसार सवप्रथम 'ह'कारान्त 'लिह्' (=आस्वादन करनेवाला) शब्द को अभिलक्षित कर प्रक्रिया आरम्भ होती है। अतः वर्गानुसार व्यञ्जनों का 'क्रम' यहाँ नहीं लिया गया है।

(३२४) पद—हः, ढः। अनुवृत्ति—पदस्य (अधिकार), झलि, अन्ते। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'झल्' पर रहते तथा पदान्त में 'ह्' के स्थान में 'ढ्' होता है। "हल्ङ्याप्" से 'सु' लोप। पदान्त में ह् = ढ्। 'जश्' तथा 'चर्'–वर्णात्मक विधान होने से—लिट्, लिड्। लिहौ, लिहः। लिहम्, लिहौ, लिहः। लिहा, लिड्भ्याम्। लिट्त्सु, लिट्सु।

विवरण—स्थानी है—'ह' तथा आदेश है—'ढ्'। निमित्त है—'झलि' तथा 'पदान्ते'। "पदस्य" (८-१-१६) का अधिकार है। सूत्रार्थ के अपेक्षित पदों में से 'झलि' की अनुवृत्ति "झलो झलि" (८-२-२६) सूत्र से तथा 'अन्ते' पद की अनुवृत्ति 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (८-२-२९) सूत्र से की जारही है। तदनुसार—'झल्' वर्णों के परवर्ती होने पर पूर्व हकार को तथा पदान्त में स्थित 'ह्' के स्थान पर 'ढ्' होता है (क) 'लिह्'+सु (स्), <लिह् (विभक्ति-लोप–"हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०" (२५२), <लिढ् (पदान्त में ह् = ढ्), <लिड् ('ढ्' = 'ड्'–"झलां जश् झशि"–५२), <लिट् (चर्त्व–'ड्' = ट्—"वाऽवसाने"—२०६)। (ख) लिह्+औ, <लिहौ। (ग) लिह्+अस् (जस्), <लिहः (स् = र् = :)। इसी तरह द्वितीया में भी यथाश्रुत विभक्ति-योग—(घ) लिहम् (अम्), (ङ) लिहौ (औ), (च) लिहः (शस्)। तृतीया–(क) लिहा (आ–'टा'), (ख) लिड्भ्याम् (भ्याम्–ह् = ढ् = ड्)। (ग) लिड्भिः (भिस्)। चतुर्थी–(क) लिहे (ङे), (ख) लिड्भ्याम् (भ्याम्), (ग) लिड्भ्यः (भ्यस्)। पञ्चमी—(क) लिहः (ङसि), (ख) लिड्भ्याम् (भ्याम्), (ग) लिड्भ्यः (भ्यस्)। षष्ठी—(क) लिहः (ङस्), (ख) लिहोः (ओस्) (ग) लिहाम्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri Gyaan and eGangotri

(३२५) **दादेर्धातोर्घः** ८ । २ । ३२ ॥ उपदेशे दादेर्धातोर्हस्य घः स्याज्झलि पदान्ते च । उपदेशे किम् ? अधोग् इत्यत्र यथा स्यात् । दामलिहमात्मन इच्छति दामलिह्यति

द्वितीयाः' इति न । 'न पदान्तात्' इति तस्य न प्टुत्वमिति भावः । दुहधातोः क्विबन्तात्सुलोपे दुह् इत्यत्र ढत्वे प्राप्ते ढत्वं क्वचिदपवदति ।

(३२५) दादेर्धातोः । 'हो ढः'इत्यतो ह इति षष्ठ्यन्तमनुवर्तते । झलि इति, पदस्येति, अन्ते इति च पूर्ववदनुवर्तते । धातोरित्यावर्तते । एकं धातुग्रहणमवयवषष्ठ्यन्तं हकारेऽन्वेति—धातोरवयवस्य हस्येति । दादेरित्येतत्तु धातोरित्यत्र सामानाधिकरण्येनान्वेति । दः आदिर्यस्येति बहुव्रीहिः, धातोरिति द्वितीयं धातुग्रहणं तु धातोरुपदेशकालं लक्षयति । ततश्च फलितमाह—उपदेशे इत्यादिना । धातूपदेशकाले यो दकारादिर्धातुः तदवयवस्य हस्येत्यर्थः । आवृत्तधातुग्रहणलब्धोपदेशग्रहणस्य फलं पृच्छति—उपदेशे किमिति । अधोगिति । 'दुह् प्रपूरणे' लङ्, अडागमः, तिप्, शप्, तस्य लुक्, लघूपधगुणः, हल्ङ्यादिना तिपो लोपः, 'दादेः' इति हस्य घः,'एकाचो बशः' इति भष्भावेन दकारस्य धकारः । 'वाऽवसाने' इति चर्त्वंजश्त्वे इति भावः । यथा स्यादिति । यथेति प्राप्तियोग्यतायाम् । घत्वमत्र प्राप्तियोग्यम्, तच्च उपदेशग्रहणे सत्येव स्यादित्यर्थः । घत्वप्रवृत्तिवेलायां दुहधातोर्दकारादित्वं नास्ति, कृते अडागमे 'यदागमास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' इत्यकारादित्वात् । अतोऽत्र घत्वं न स्यादित्यव्याप्तिः स्यात् । उपदेशग्रहणे तु नार्थं दोषः घत्वप्रवृत्तिवेलायां दुहेरत्र दकारादित्वाभावेऽपि धातूपदेशकाले दादित्वादिति भावः । तदेवमव्याप्तिपरिहारफलमुक्त्वा अतिव्याप्तिपरिहारफलमाह—दामेति । ग्रीवासु गवादिपशुबन्धनार्थरज्जुपर्यायो दामशब्दः ।

(आम्) । सप्तमी—(क) लिहि (ङि), (ख) लिह्योः (ओस्) (ग) लिह्+सु, <लिढ्+सु लिड्+सु (ह्=ढ्=ड्–जश्त्व), <लिड्–ध्+सु ('धुट्' आगम "डः सि धुट्"–१३१), <लिट्–ध्+सु (ड्=ट्–"खरि च"–१२१), <लिट्त्सु (ध्=त्–चर्त्व) । पक्ष में 'धुट्' आगम न होने के कारण 'लिट्सु' ।

(३२५) **पद**—दादेः, धातोः, घः । **अनुवृत्ति**—पदस्य (अधिकार), हः, झलि, अन्ते । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'झल्' पर रहते अथवा पदान्त में दकारादि धातु के अवयव 'ह्' को 'घ्' होता है । 'उपदेशे' क्यों कहा ? अधोक् में भी हो । 'दामलिहम् आत्मनः इच्छति = दामलिह्यति अर्थ में प्रयुक्त—'दामलिट्' (= रस्सी चाटने वाले का स्वयम् इच्छुक)—में न हो ।

विवरण—**आदेश**–'घः' है । किन्तु स्थानी साकाङ्क्ष है । अतः "हो ढः" (८-२-३१) से 'हः' की अनुवृत्ति की जारही है । यहाँ पर 'दकारादि'–धातु का अवयव 'ह्' अपेक्षित है । निमित्तवाचक पदों में से "झलो झलि" (८-२-२६) सूत्र से 'झलि' की अनुवृत्ति तथा "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च" (८-२-२९) सूत्र से 'अन्ते' पद की अनुवृत्ति लाई जारही है । तदनुसार 'झल्' प्रत्याहारस्थ वर्णों के परवर्ती होने की स्थिति में या पद के अन्त में विद्यमान दकारादि धातु के अवयव 'ह्' के स्थान पर 'ढ्' होता है । यह सूत्र "हो ढः" (८-२-३१) का अपवाद है । महाभाष्यकार के व्याख्यानुसार मूलरूप में दकारादि धातु अपेक्षित है । फलतः 'अधोक्' में 'ह्' के स्थान पर 'घ्' होता है । स्थिति इस प्रकार है—√ दुह्+लङ्, <दुह्+ति, <दुह्+अ+ति ('शप्'), <दोह्+ति ('शप्' का लुक् तथा लघूपध गुण—उ = ओ), <अ–दोह्+ति (धातु के पूर्व 'अट्' आगम), <अ–दोह्+त् ('इ' लोप—"इतश्च"–३-४-१००), <अ–दोह् ('त्'–तिङ्–विभक्ति का लोप), <अ–दोघ् ('ह्' = 'घ्') <अधोघ् ('द्' = 'ध्'–भष्भाव), <अधोग्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ततः क्विपि दामलिट्। अत्र मा भूत्। (३२६) **एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः** ८। २। ३७॥ धातोरवयवो य एकाज् झषन्तस्तदवयवस्य वशः स्थाने भष् स्यात्सकारे ध्वशब्दे पदान्ते च। एकाचो धातोः इति सामानाधिकरण्येनान्वये त्विह न

'लिह् आस्वादने' दाम लेढीति दामलिट्। तमात्मन इच्छतीत्यर्थे 'सुप आत्मनः क्यच्' इति क्यचि 'सनाद्यन्ताः' इति धातुत्वात् तिपि शपि दामलिह्यतीति रूपम्। ततः क्विपीति। क्यजन्तात् कर्तरि क्विपि अल्लोपे यलोपे च दामलिहशब्दात् सोर्लोपे 'हो ढः' इति ढत्वे 'वाऽवसाने' इति चर्त्वविकल्पे दामलिट्-दामलिड् इति रूपमित्यर्थः। अत्र मा भूदिति। माङि लुङ्। सर्वलकारापवादः। अत्र धत्वं न भवेदित्येतदर्थमप्युपदेशग्रहणम्, कृते तु तस्मिन् धत्वमत्र न भवति, धातूपदेशे दामलिह् इति सुध्धातोः पाठाभावादिति भावः। तथा च प्रकृतोदाहरणे सौ दुध् इति स्थिते।

(३२६) एकाचो बशो। स् च ध्व् च स्ध्वौ तयोरिति विग्रहः। दश इति स्थानषष्ठी। एकाच इत्यवयवषष्ठी। एकः अच् यस्येति विग्रहः। झषन्तस्येत्यस्य शब्दस्येति विशेष्यम्। एकाच्कस्य झषन्तशब्दस्यावयवो यो बश् तस्य भष् स्यादित्यन्वयः। 'दादेर्धातोः' इत्यतो धातोरित्यवयवषष्ठ्यन्तमनुवर्तते। तच्च झषन्तशब्देनान्वेति। पदस्येत्यधिकृतम्। 'स्कोः संयोगाद्योः' इत्यतः अन्ते चेत्यनुवर्तते। तदाह—धातोरवयव इत्यादिना। ननु सम्भवति सामानाधिकरण्ये वैयधिकरण्याश्रयणस्यान्याय्यत्वात् एकाच् झषन्तो यो धातुः तदवयवस्य वश इत्येवान्वय उचित इत्यत आह—एकाचो धातोरित्यादि। गर्दभयतीति। 'तत्करोति

(घ् = ग्-जश्त्व), <अधोक् ('ग्' = 'क्'-चर्त्व "वावसाने")। पक्ष में 'अधोग्'। 'अदोह्' इस स्थिति में 'घ्' आदेश की प्राप्ति के समय 'अट्' आगम होने के कारण धातु के आदि में 'द्' विद्यमान नहीं रहता किन्तु वहाँ 'अ' है तथापि 'दुह्' धातु मूलरूप में दकारादि है। अतः 'ह्' = 'घ्' आदेश हुआ। इसके विपरीत 'दामलिट्' में 'ह्' = 'घ्' नहीं होता। मूलरूप में 'दकारादि'-धातु यदि अभीष्ट न होता तो दामलिह्+(स्) सु, <दामलिह्—स्थिति में 'ह्' को 'घ्' आदेश होने लगता। यद्यपि 'दामलिह्' (दाम-√लिह्+क्यच्) दकारादि नामधातु है तथापि 'धातु' पाठ में 'लिह्' धातु दकारादि न होने से 'घ्' नहीं हुआ। यथाप्राप्त ह् = 'द्' होकर 'दामलिट्-ड्' रूप सिद्ध होता है।

(३२७) पद—एकाचः, वशः, भष्, झषन्तस्य, स्ध्वोः। अनुवृत्ति—पदस्य (अधिकार), धातोः, अन्ते। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'सकार' या 'ध्व' पर रहते अथवा पदान्त में धातु का अवयव जो एकाच्-झषन्त, तदवयव 'वश्' को 'भष्' आदेश होता है। एकाच् झषन्त धातु के 'वश्' को 'भष्' होता है—ऐसा सामानाधिकरण्य से अन्वय किये जाने पर 'गर्धप्' में 'द्' को 'ध्' नहीं होगा। सूत्र में निमित्तस्वरूप 'स्' तथा 'ध्व' का समावेश होने से 'झलि' की अनुवृत्ति नहीं की जाती। अतः 'दुग्धम्' तथा 'दोग्धा' में 'द्' को 'ध्' नहीं हुआ। 'व्यपदेशिवद्भाव' से धातु का अवयव माने जाने के कारण 'भष्'-भाव हुआ। तदनन्तर 'जश्त्व' तथा 'चर्त्व' होने से रूपसिद्धि हुई। धुक्-धुग्। दुहौ, दुहः। षत्व तथा चर्त्व होने पर—धुक्षु।

विवरण—सूत्र के अर्थ में कुछ अधिक आयाम अपेक्षित है। "दादेर्धातोर्घः" (८-२-३२) सूत्र से 'धातोः' की अनुवृत्ति की जाती है। 'धातोः' पद में षष्ठी-विभक्ति अवयववाची है। इस षष्ठी का सम्बन्ध 'एकाचः' पद के साथ होता है। 'एकाचः' पद की षष्ठी-विभक्ति भी अवयवार्थक है (एकः अच् यस्य वर्णसमुदायस्य, तस्य)। 'एकाचः' पद का यह भी विशेषण है—'झषन्तस्य'। "पदस्य" का अधिकार है। इसके अथ ही "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (८-२-२९) सूत्र से 'अन्ते'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्यात्—गर्दभमाचष्टे गर्दभयति ततः क्विप्, णिलोपः—गर्धप् । झलीति निवृत्तम्, स्ध्वोर्ग्रहणसामर्थ्यात् । तेनेह न—दुग्धम्, दोग्धा । व्यपदेशिवद्भावेन धात्ववयवत्वाद्

तदाचष्टे' इति णिजन्तस्य 'सनाद्यन्ताः' इति धातुत्वात्तिबादि । ततः क्विविति । गर्दभि इति ण्यन्तात् कर्तरि क्विबित्यर्थः । कपाविति । वेर्लोपः । णिलोप इति । 'णेरनिटि' इत्यनेनेति शेषः । गर्धप् इति । गर्दभ् इत्यस्मात् सुः, हल्ङ्यादिलोपः । 'एकाचो बशः' इति दस्य धः । 'वाऽवसाने' इति चर्त्वम् । एकाचो धातोः झपन्तस्येत्यन्वये गर्दभ् इत्यस्य सुब्धातोरनेकाच्त्वात् दकारस्य भष्भावो न स्यात् । धात्ववयवस्य झपन्तस्येत्यन्वये तु दभ् इति एकाचो झपन्तस्य धात्ववयवत्वात् तदवयवस्य दस्य भष्भावो निर्बाध इति भावः । अत्र प्राचीनैः झलीत्यनुवर्तितम् । तदयुक्तमित्याह—झलीति निवृत्तमिति । सामर्थ्यादिति । झलीत्यनुवृत्तौ तद्वैयर्थ्यादिति भावः । ननु झलीत्यस्यानुवृत्तिरेवास्तु स्ध्वोरित्येव क्रियतामित्यत आह—तेनेति । झलीत्यननुवर्तनेनेत्यर्थः । दुग्धमिति । दुहेः क्तः । कित्त्वात् न लघूपधगुणः । 'दादेः' इति हस्य धः । 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तकारस्य धः । 'झलां जश् झशि' इति धस्य गः—दुग्धमिति रूपम् । दोग्धेति । दुहेस्तृच् । लघूपधगुणः । 'दादेः' इति हस्य धः । 'झषस्तथोः' इति तकारस्य धः । 'ऋदुशनस्' इत्यनङ् । 'सर्वनामस्थाने च' इति दीर्घः । हल्ङ्यादिलोपः । 'न लोपः' इति नकारलोपः—दोग्धा इति रूपम् । झलीत्यनुवृत्तौ इहोभयत्रापि धत्वे कृते भष्भावः स्यादिति भावः । ननु दुहेः क्विबन्तात् सोर्लोपे 'दादेः' इति धत्वे कृते दुघ् इति झपन्तमेकाच्कम् । तस्य धातुत्वात् धात्ववयवत्वाभावात् कथमिह दकारस्य भष्भावेन धकारः स्यादित्यत आह—व्यपदेशिवद्भावेनेति । विशिष्टः अपदेशः व्यपदेशः मुख्यव्यवहारः, सोऽस्यास्तीति व्यपदेशी, तेन तुल्यं व्यपदेशिवत् । धातावेव धात्ववयवत्वव्यवहारो गौणः, राहोश्शिरः इत्यादिवदिति भावः । इदं च 'आद्यन्तवदेक-

---

की अनुवृत्ति करनी है पड़ती है । सूत्र का समष्टिगत अर्थ करने में वृत्तिकारों ने वैयधिकरण्य से अन्वय कर 'धातु' का अवयव 'एकाच्' इस प्रकार परिकल्पना की है । सामानाधिकरण्य से अन्वय करने पर 'एकाच् झपन्त धातु के अवयवस्वरूप 'बश्' को 'भष्–भाव' की सम्भावना अपेक्षित रही किन्तु सामानाधिकरण्य का परित्याग कर वैयधिकरण्य से अन्वय करने पर सूत्र का यह अर्थ किया जाता है कि "सकार या 'ध्व' पर रहते अथवा पदान्त में जो 'झष्'–प्रत्याहारान्त 'एकाच्' धातु (केवल एक 'अच्'–वर्णात्मक समुदाय जिसके अन्त में किसी वर्ग का चतुर्थ वर्ण हो), तदवयव 'बश्' (ब्, ग्, ड्, द्) वर्णों के स्थान पर 'भष्' वर्ण (भ्, घ्, ढ्, ध्) आदेश होते हैं" । इस प्रकार स्थानी है—'बश्' तथा आदेश है 'भष्' । ये आदेश "स्थानेन्तरतमः" परिभाषा से आन्तरतम्य के आधार पर अपने अपने स्थान-सादृश्य से क्रमशः—ब् = भ्, ग् = घ्, ड् = ढ् तथा द् = ध्—होते हैं । इसके फलस्वरूप 'गर्धप्' (= गर्दभ कहनेवाला—गर्दभमाचष्टे गर्दभयति—क्विप्, णिलोप) में धातु का अवयव एकाच् (= 'दभ्')–झपन्त है तथा उसके अवयव 'बश्'–'द्' के स्थान पर भष्–'ध्' हो जाता है । प्रकृत सूत्र में 'झलि' कार्यपरक नहीं है । 'झलि' की अनुवृत्ति किये जाने पर उसका अन्वय 'एकाचः' के साथ होने से 'दुग्धम्' 'दोग्धा' आदि में 'घ्' होने के बाद 'द्' के स्थान पर 'ध्' हो जाता, जो कि अभीष्ट नहीं है । धातु में धात्वयव का गौण व्यवहार कर (व्यपदेशिवद्भाव) इस सूत्र की प्रवृत्ति आगे के उदाहरणों में होती है । (क) दुह्+स् (सु), <दुघ्+स्, <दुघ् ('स्' लोप), <धुघ् (भष्–भाव से 'द्' = ध्), <धुग् (जश्त्व), <धुक् (वैकल्पिक–चर्त्व) । पक्ष में धुग् । (ख) दुह्+औ <दुहौ । (ग) दुह्+अस् (जस्), <दुहः (स् = र् = :) । (घ) दुह्+सुप्, <दुघ्+सु, <धुघ्+सु, <धुग्+सु, <धुग्+पु, <धुक्+पु <धुक्षु । शेष हलादि विभक्तियों में 'भष्'-भाव होगा ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भष्भावः, जश्त्वचर्त्वे—धुक्-धुग्, दुहौ, दुहः। षत्वचर्त्वे-धुक्षु। (३२७) वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् ८। २। ३३॥ एषां हस्य वा घः स्याज्झलि पदान्ते च। पक्षे ढः। ध्रुक्-ध्रुग्-,ध्रुट्-ध्रुड्, द्रुहौ, द्रुहः। ध्रुग्भ्याम्-ध्रुड्भ्याम्। ध्रुक्षु-,ध्रुट्त्सु-ध्रुट्सु।

स्मिन्' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। धुक् धुगिति। क्विपः प्राक् प्रवृत्ताया धातुसञ्ज्ञाया अनपायाद् 'दादेः' इति घत्वे कृते झषन्तत्वात् भष्भावे चर्त्वविकल्प इति भावः। दुहौ दुहः। दुहम् दुहौ दुहः। दुहा। भ्यामादौ 'दादेः' इति घत्वे कृते स्वादिष्विति पदत्वात् पदान्तत्वप्रयुक्तो भष्भावः। 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वम्—धुग्भिः। दुहे धुग्भ्याम् धुग्भ्यः। दुहः। दुहः। दुहोः दुहाम्। दुह् सु इति स्थिते प्रक्रियां दर्शयति—षत्वेति। घत्वे कृते भष्भावे 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन गकारः। तस्य 'खरि च' इति चर्त्वस्यासिद्धत्वात् 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे कृते चर्त्वे धुक्षु इति रूपमिति भावः। द्रुह् जिघांसायाम्, मुह् वैचित्ये, ष्णुह् उद्गिरणे, ष्णिह् प्रीतौ एभ्यः क्विप्बन्तेभ्यः सोर्लोपे द्रुहेर्दादित्वाद् ढत्वं बाधित्वा नित्यं घत्वे प्राप्ते इतरेषामदादित्वादप्राप्ते घत्वे इदमारभ्यते।

(३२७) वा द्रुह। 'दादेः' इत्यतो घ इत्यनुवर्तते। झलीति पदस्येति अन्ते इति पूर्ववदनुवर्तते। तदाह—एषामिति। द्रुहादीनां चतुर्णामित्यर्थः। ध्रुक्—ध्रुगिति। घत्वपक्षे भष्भावे चर्त्वविकल्प इति भावः। ध्रुट्—ध्रुडिति। घत्वाभावपक्षे 'हो ढः' इति ढत्वे भष्भावे चर्त्वविकल्पः। अत्र भष्भावार्थमेव 'होढः' इति सूत्रे ढ एव विहितः, न तु डः। तथा सति झषन्तत्वाभावाद् भष्भावो न स्यात्। अचि सुपि द्रुहम् इत्यादि। ध्रुग्भ्यामिति। घत्वपक्षे भष्भावः। ध्रुड्भ्यामिति। घत्वाभावपक्षे ढत्वे जश्त्वे रूपम्। एवं भिसि भ्यसि च रूपद्वयम्। द्रुहः। द्रुहः द्रुहोः द्रुहाम्। धुक्षिति। घत्वे भष्भावे 'आदेशप्रत्ययोः' इति षत्वे 'खरि च' इति चर्त्वम्। ध्रुट्त्सिति। घत्वाभावपक्षे ढत्वे भष्भावे, ढस्य जश्त्वे, धुटि चर्त्वे डस्य चर्त्वम्। चर्त्वस्यासिद्धत्वात् 'चयो द्वितीयाः' इति तकारस्य

'दुह्' शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०	वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	धुक्, धुग्	दुहौ	दुहः	पं०	दुहः	धुग्भ्याम्	धुग्भ्यः
द्वि०	दुहम्	दुहौ	दुहः	ष०	दुहः	दुहोः	दुहाम्
तृ०	दुहा	धुग्भ्याम्	धुग्भिः	स०	दुहि	दुहोः	धुक्षु
च०	दुहे	धुग्भ्याम्	धुग्भ्यः	सं०	हे धुक्-धुग्	हे दुहौ	हे दुहः

(३२७) पद—वा, द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम्। अनुवृत्ति—पदस्य(अधिकार), झलि, अन्ते, घः। विधिसूत्र (विकल्प)।

मूलार्थ—'झल्' पर रहते या पदान्त में 'द्रुह्, मुह्, ष्णुह् तथा ष्णिह् सम्बन्धी 'ह्' को विकल्प से 'घ्' होता है। पक्ष में 'ढ्' होगा। ध्रुक् ध्रुग्, ध्रुट्-ध्रुड्, द्रुहौ, द्रुहः। ध्रुग्भ्याम्-ध्रुड्भ्याम्। ध्रुक्षु-ध्रुट्त्सु-ध्रुट्सु। मुह्, ष्णिह् तथा ष्णुह् के रूप भी इसी तरह होते हैं। विश्ववाट्-ड्, विश्ववाहौ, विश्ववाहः। विश्ववाहम्। विश्ववाहौ।

विवरण—अपेक्षित अनुवृत्ति—"झलो झलि" (८-२-२६) सूत्र से 'झलि', "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च" (८-२-९६) सूत्र से 'अन्ते' तथा "दादेर्धातोर्घः" (८-२-३१) सूत्र से 'घः'-इन पदों की करनी पड़ती है। "पदस्य" का अधिकार है। तदनुसार सूत्र का अर्थ यह है कि 'झल्'-(य्, र्, ल्, व् तथा पञ्चम वर्णों को छोड़ कर सब व्यञ्जन) वर्णों के पर रहने की स्थिति में द्रुह् (= द्रोही) मुह् (= मुग्ध), ष्णुह् (= वमन करने वाला) तथा ष्णिह् (= प्रिय) शब्दों के 'ह्' के स्थान पर विकल्प से 'घ्' होता है। स्थानी है—(उपर्युक्त चार शब्दों का) 'ह्' तथा आदेश है—'घ्'।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं मुहृष्णुहृष्णिहाम् । (३२८) इग्यणः सम्प्रसारणम् १ । १ । ४५ ॥ यणः स्थाने

थो न भवति । 'न पदान्तात्' इति ष्टुत्वं न । धुट्स्विति । धुडभावे रूपम् । हस्य ढः, भष्भावः, ढस्य जश्त्वेन डः, तस्य चर्त्वेन टः । एवमिति । भष्भाववर्जमिति शेषः । विश्वं वहतीत्यर्थे 'भजो ण्विः' इत्यतो ण्विरित्यनुवृत्तौ 'वहश्च' इति ण्विः । णकार इत् । वेर्लोपः । 'अत उपधायाः' इति वृद्धिः । उपपदसमासः । विश्ववाह् इति रूपम् । ततस्सोर्हल्ङ्या-बिति लोपे 'हो ढः' इति ढत्वे 'वाऽवसाने' इति चर्त्वविकल्पे विश्ववाट्-विश्ववाड्, विश्व-वाहौ, विश्ववाहः । विश्ववाहम् विश्ववाहौ इति सुटि रूपाणि सुगमत्वादुपेक्ष्य शसादौ अचि संप्रसारणकार्यं वक्ष्यन् सम्प्रसारणसंज्ञां दर्शयति ।

(३२८) इग्यणः सम्प्रसारणम् । यणः स्थाने इति । व्याख्यानात् स्थानार्थलाभः । 'षष्ठी स्थानेयोगा' इति तु नेह भवति, अनुवादे परिभाषाणामनुपस्थितेः, षष्ठीश्रुतौ सर्वत्र व्याख्यानादेव स्थानार्थलाभसम्भवात् 'षष्ठी स्थानेयोगा' इत्येतत् 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इत्येतदर्थमिति भाष्ये सिद्धान्तितत्वाच्च । संप्रसारणसंज्ञ इति । ततश्च 'वसोः सम्प्र-

पक्ष में "हो ढः" (३२४) से ह् = ढ् होगा । उदाहरण—(क) द्रुह्+सु (सु), <द्रुह् (विभक्तिलोप), <द्रुघ् (ह् = घ्), <ध्रुघ् (द् = ध्—"एकाचो बशो भष्०"—३२६), <ध्रुग् (घ् = ग्—जश्त्व), <ध्रुक् (ग् = क् चर्त्व "वाऽवसाने"–१८६)। पक्ष में ध्रुग् । 'घ्' न होने पर 'ध्रुट्'–'ध्रुड्' दो रूप होंगे । इन दोनों में द् = ध्–भष्भाव, 'ह्' को 'ढ्', जश्त्व तथा वैकल्पिक चर्त्व होते हैं । अजादि विभक्तियों में कोई परिवर्तन नहीं । (ख) द्रुह्+औ, <द्रुहौ । (ग) द्रुह्+अस् (शस्), <द्रुहस्, <द्रुहर् (स् = र्), द्रुहः (र् = :)। (क) द्वितीया में द्रुहम्, द्रुहौ, द्रुहः । (ख) तृतीया में द्रुहा, ध्रुग्भ्याम्–ध्रुड्भ्याम् ('घ्' विकल्प होने से पक्ष में 'ढ्', शेष प्रक्रिया प्रथमा-एकवचन के अनुसार)। (ग) चतुर्थी–द्रुहे, ध्रुग्भ्याम्–ध्रुड्भ्याम्, ध्रुग्भ्यः-ध्रुड्भ्यः । (घ) पञ्चमी—द्रुहः, ध्रुग्भ्याम्-ध्रुड्भ्याम्, ध्रुग्भ्यः-ध्रुड्भ्यः । (ङ) षष्ठी–द्रुहः, द्रुहोः, द्रुहाम् । (च) सप्तमी–द्रुहि, द्रुहोः, ध्रुक्षु (द्रुह्+सु, द्रुघ्+सु, ध्रुघ्+सु, ध्रुग्+सु, ध्रुग्+षु, ध्रुक्+षु = ध्रुक्षु)–ध्रुट्सु (ढत्व, भष्भाव, जश्त्व, धुट् आगम, चर्त्व तथा 'ड्' को भी चर्त्व)—ध्रुट्सु ('धुट्' आगम न होने पर 'त्' नहीं)। (छ) सम्बोधन—हे ध्रुक्-ग्–ध्रुट्-ड्, हे द्रुहौ, हे द्रुहः । मुह्, ष्णुह्, (स्नुह), ष्णिह् (स्निह्) आदि के रूप भी इसी तरह होते हैं । (क) विश्ववाह् शब्द की प्रक्रिया । विग्रह—विश्वं वहति=संसार को चलाने वाला, ईश्वर । विश्व√वह्+ण्वि, <विश्ववाह् ('वि'लोप, उपधा–'अ'–वृद्धि, <विश्ववाह्+सु (सु), <विश्ववाड् ('सु'लोप तथा ह् = ढ्), विश्ववाड् (ढ् = ड्–जश्त्व), <विश्ववाट् (ड् = ट्–चर्त्व-विकल्प), पक्ष में विश्ववाड् । (ख) विश्ववाहौ (औ)। (ग) विश्ववाहः (जस्)। (घ) विश्ववाहम् (अम्)। (ङ) विश्ववाहौ (औ)। (च) विश्ववाह्+अस् (शस्)—इस स्थिति में रूपसिद्धि के लिये उपयोगी विधान आगे बतलाये जारहे हैं ।

(३२८) पद—इक्, यणः, सम्प्रसारणम् । संज्ञासूत्र ।

मूलार्थ—'यण्' के स्थान में विधीयमान 'इक्' सम्प्रसारण कहलाता है ।

विवरण—संज्ञा है—सम्प्रसारण । संज्ञी है—'यणः इक्' । 'यण्' = य्, व्, र्, ल् । 'इक्' = इ, उ, ऋ, ऌ । यहाँ पर यण् चार हैं—य्, व्, र्, ल् । तथा उनके स्थान में होने वाले इक भी चार हैं—इ, उ, ऋ, ऌ । अतः क्रमानुसार अथवा स्थानकृत सादृश्य से 'य्' के स्थान में होने वाला 'इ', 'व्' के स्थान में होने वाला उ, 'र्' के स्थान में होने वाला 'ऋ' तथा 'ल्' के स्थान में होने वाला 'ऌ'—ये सब सम्प्रसारण-संज्ञक होंगे ।

विशेष—प्राचीन आचार्यों ने इस सूत्र की व्याख्या दो तरह से की है । उसका कारण यह है कि संज्ञी का बोध 'यणः इक्' इस वाक्य के अर्थ के रूप में (='यण्' के स्थान में हुआ अथवा होने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयुज्यमानो य इक् स सम्प्रसारणसंज्ञः स्यात् । (३२९) वाह ऊठ् ६ । ४ । १३२ ॥ भस्य वाहः सम्प्रसारणमूठ् स्यात् । (३३०) सम्प्रसारणाच्च ६ । १ । १०८ ॥ सम्प्रसारणादचि पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । 'एत्येधत्यूठ्सु' (सू ७३) । विश्वौहः । विश्वौ-

---

सारणम्' 'वचिस्वपियजादीनाम्' इत्यादौ सम्प्रसारणश्रुतौ यण्स्थानिकइगुपस्थितो भवति । तत्रान्तरतम्याद्यस्य इकारः, वकारस्य उकारः, रेफस्य ऋकारः, लस्य ऌकार इति ज्ञेयम् ।

(३२९) वाह ऊठ् । 'भस्य' इत्यधिकृतम् 'वसोः सम्प्रसारणम्' इत्यतः सम्प्रसारणमित्यनुवर्तते । तच्च ऊठ् इत्यनेनान्वेति । तदाह—भस्येत्यादिना । सम्प्रसारणमिति । तेन वाहो यो यण् वकारस्तस्य ऊठ् इति लभ्यते । सम्प्रसारणमित्यननुवृत्तौ 'अलोऽन्त्यस्य' इति हकारस्य स्यात् । तदनुवृत्तौ तु ऊठो यण्स्थानिकत्वलाभाद् नालोऽन्त्यस्येति भवति । विश्व ऊ आह् अस् इति स्थिते ।

(३३०) सम्प्रसारणाच्च । 'इको यणचि' इत्यतः अचीति 'अमि पूर्वः' इत्यतः पूर्व इति चानुवर्तते । 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकृतम् । तदाह—सम्प्रसारणादित्यादिना । विश्व ऊह् अस् इति स्थिते आद्गुणमाशङ्क्याह—एत्येधत्यूठ्सिति । अनेन गुणापवादो वृद्धिरिति शेषः । विश्वौहः । विश्वौहा । इत्यादीति । विश्ववाड्भ्याम् । विश्ववाड्भिः । विश्वौहे । विश्ववाड्भ्यः ।

वाला 'इक्') तथा इ, उ, ऋ, ऌ वर्णों के रूप में—दोनों तरह होता है[1] । (क) विधिसूत्रों में जहाँ 'सम्प्रसारण' का विधान किया जाता है वहाँ पर 'वाक्यार्थ' संज्ञी है । जैसे "व्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे" (६-१-१३) सूत्र द्वारा पुत्र और पति शब्द उत्तरपद (पर) रहते व्यङन्त पूर्वपद को सम्प्रसारण का विधान किया जाता है । अन्य आदेशों की तरह यह विधान शब्द के अथवा वर्ण के रूप में विहित नहीं है । अतः यहाँ 'वाक्यार्थ' की उपस्थिति होने से 'य्' को 'इ' होता है । तदनुसार 'कौमुदगन्धीपुत्रः' में 'य्' 'इ' में परिवर्तित हो जाता है । (ख) जिन सूत्रों में सम्प्रसारण को उद्देश्य मानकर उसके द्वारा कुछ विधान किया गया हो—वहाँ पर संज्ञी वर्णात्मक लिये जाते हैं । जैसे "सम्प्रसारणाच्च" (३-१-१०८) सूत्र से विधीयमान पररूप में 'सम्प्रसारण' शब्द से इ, उ, ऋ तथा ऌ वर्ण लिये जाते हैं । अर्थात् 'इ', 'उ' 'ऋ' तथा 'ऌ' से स्वर-वर्ण पर रहते पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है ।

(३२९) पद—वाहः, ऊठ् । अनुवृत्ति—भस्य(अधिकार), सम्प्रसारणम् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'भ'-संज्ञक 'वाह्' को सम्प्रसारण 'ऊठ्' होता है ।

विवरण—स्थानी है 'वाहः' तथा आदेश है 'ऊठ्' । "भस्य" (२३१) का अधिकार है । "वसोः सम्प्रसारणम्" (६-४-१३१) सूत्र से 'सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति आरही है । इस प्रकार 'भ'संज्ञक 'वाह्' शब्दावयव 'व्' के स्थान पर 'ऊठ्'-सम्प्रसारण होता है ।

(३३०) पद—सम्प्रसारणात्, च । अनुवृत्ति—पूर्वः, अचि (एकः, पूर्वपरयोः) । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—सम्प्रसारण से 'अच्' पर रहते पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप एक-आदेश होता है । "एत्येधत्यूठ्सु" से वृद्धि-विश्वौहः । विश्वौहा इत्यादि । केवल वैदिक प्रयोगों में ही 'ण्वि' प्रत्यय होता है—यह माना जाय तो लोक में णिच् प्रत्ययान्त √'वह्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय किया जाय ।

विवरण—अभीष्ट सूत्रार्थ के लिये "अमि पूर्वः" (१-१-१०७) से 'पूर्व' पद, "इको यणचि" (६-१-७७) से 'अचि' पद की अनुवृत्ति की जारही है । तदनुसार "सम्प्रसारण (य् = इ, व् = उ,

---

१. संप्रसारणसंज्ञायां लिङ्गाभ्यां वर्णवाक्ययोः ।
प्रविभागस्तथा सूत्र एकस्मिन्नेव जायते ॥ वाक्यपदीयम् ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हेत्यादि। 'छन्दस्येव ण्विः'-इति पक्षे णिजन्ताद्विच्। (३३१) **चतुरनडुहोरामुदात्तः**

विश्वौहः। विश्वौहः। विश्वौहोः। विश्वौहाम्। विश्ववाट्सु-विश्ववाट्सु। ननु वहश्चेति ण्विविधौ 'छन्दसि सहः' इत्यतः छन्दसीति केचिदनुवर्तयन्ति। तन्मते विश्ववाहशब्दस्य लोके कथं प्रयोग इत्यत आह—छन्दस्येव ण्विरिति पक्षे णिजन्ताद्विजिति। विश्वं वाहयतीत्यर्थे वाह् इ इति ण्यन्तात् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति विचि 'नेड्वशि कृति' इति इडभावे णिलोपे अपृक्तलोपे उपपदसमासे विश्ववाहशब्दो लोके प्रयोगार्हः। किन्तु तस्य ऊठ् न भवति, अचः परस्मिन्' इति णिलोपस्य स्थानिवत्त्वेन शसि तस्य भत्वाभावात्। वाहयतेः क्विपि विश्ववाहशब्दस्य तु ऊठ् निर्बाध एव, 'क्वौ लुप्तम्' इति णिलोपस्य स्थानिवत्त्वाभावेन तस्या भत्वानपायात्। अत एव 'विभाषा पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम्' इति सूत्रे प्रष्ठौहः आगतं प्रष्ठवाड्रूपमिति लौकिकविग्रहवाक्ये 'प्रष्ठौहः' इति प्रयोगः संगच्छते। क्वचित् पुस्तके 'छन्दस्येव ण्विरिति प्रामाणिका' इति पठ्यते। 'कव्यपुरीष' इत्याद्युत्तरसूत्रे तदनुवृत्तेरावश्यकत्वादिति तदाशयः। अनः शकटं वहतीत्यर्थे अनसि वहेः 'अनसो डश्च' इति क्विप्, सस्य डश्च। 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति यजादित्वाद् वकारस्य सम्प्रसारणम् उकारः। 'संप्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपम्। अनडुह् इति रूपम्। ततः सुबुत्पत्तिः। अनडुह् स् इति स्थिते।

(३३१) चतुरनडुहोः। अनयोरिति। चतुरनडुहोरित्यर्थः। सर्वनामस्थान इति 'इतोऽत्स-

---

र् = ऋ, ल् = ऌ) से किसी भी स्वर-वर्ण के पर रहने की स्थिति में पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है। स्थानी दो-वर्ण हैं तथा आदेश एक-वर्णात्मक है। अतः सम्पूर्ण सूत्र "एकः पूर्वपरयोः" (६-१-८३) की उपस्थिति से दोनों के स्थान पर एक आदेश का विधान है। **उदाहरण**—(क) विश्ववाह्+अस् (शस्), <विश्व-ऊ-आह्+अस् (अजादि प्रत्यय 'अस्' पर होने से 'वाह् 'भ'संज्ञक है, अतः 'व्' = सम्प्रसारण 'ऊ'), <विश्व-ऊ-ह्+अस् (सम्प्रसारण से अच् पर रहते ऊ+आ = 'ऊ' पूर्वरूप), <विश्वौहस् (अ+ऊ = औ—ऊठ् होने के कारण वृद्धि—"एत्येधत्यूठ्सु"-७३), विश्वौहर् (स् = र्), <विश्वौहः (र् = :)। (ख) विश्ववाह्+आ (टा), <विश्वौहा (सिद्धि पूर्ववत्)। आगे हलादि विभक्तियों में ह् = ढ् = ड् होता है। सप्तमी के बहुवचन में पाक्षिक 'षुट्' आगम होने से दो रूप बनेंगे—विश्ववाट्त्सु, विश्ववाट्सु। इन दोनों में 'चर्त्व' होने के कारण 'ड्' = 'ट्' तथा ध् = द् (जश्त्व) = 'त्' (चर्त्व) होता है।

'विश्ववाह्' शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	विश्ववाट्-ड्	विश्ववाहौ	विश्ववाहः
द्वि०	विश्ववाहम्	विश्ववाहौ	विश्वौहः
तृ०	विश्वौहा	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भिः
च०	विश्वौहे	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भ्यः
पं०	विश्वौहः	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भ्यः
ष०	विश्वौहः	विश्वौहोः	विश्वौहाम्
स०	विश्वौहि	विश्वौहोः	विश्ववाट्त्सु, विश्ववाट्सु
सं०	हे विश्ववाट्-ड्	हे विश्ववाहौ	हे विश्ववाहः

विशेष—'विश्ववाह्' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में यह शंका होती है कि वैदिक प्रयोगों में ही √वह् से 'ण्वि' प्रत्यय का विधान होने से लौकिक प्रयोग में इस शब्द की निष्पत्ति कैसे मानी जाय? इसका समाधान यह है कि यहाँ पर 'ण्वि' प्रत्यय न कर 'णिच्' प्रत्यय किया जाय। तदनन्तर 'विच्' प्रत्यय करने से यह रूप सिद्ध हो सकता है। विग्रह-विश्वं वाहयति—विश्ववाह्। प्रक्रिया विश्व√वह्+णिच्(णि)+विच्, <विश्ववाह्+इ+विच् (उपधावृद्धि-अ = आ), विश्ववाह्+विच् (णि-लोप), <विश्ववाह् ('विच्' का सर्वापहार)। इस तरह इस शब्द का लौकिक रूप सम्भव है।

(३३१) **पद**—चतुरनडुहोः, आम्, उदात्तः। **अनुवृत्ति**—सर्वनामस्थाने। **विधिसूत्र**।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७।१।९८॥ अनयोराम् स्यात्सर्वनामस्थाने परे स चोदात्तः। (३३२) सावनडुहः ७।१।८२॥ अस्य नुम् स्यात्सौ परे। 'आत्' इत्यधिकारादवर्णात्परोऽयं नुम्। अतो

र्वनामस्थाने' इत्यतः सर्वनामस्थाने इत्यनुवृत्तेरिति भावः। आमि मकार इत्। मित्त्वादन्त्यादचः परः। उकारस्य यण् वकारः। अनड्वाह स् इति स्थिते।

(३३२) सावनडुहः अस्येति। अनडुहशब्दस्येत्यर्थः। नुम् स्यादिति। 'आच्छीनद्योर्नुम्' इत्यतो नुमित्यनुवृत्तेरिति भावः। नुमि मकार इत्। उकार उच्चारणार्थः। मित्त्वादन्त्यादचः परः। अनड्वान् ह् स् इति स्थितम्। ननु आम्नुमौ एतौ मित्त्वादन्त्यादचः उकारात् परौ प्राप्तौ। तत्र 'चतुरनडुहोः' इत्याम् सर्वनामस्थाननिमित्तकः सामान्यविहितः। 'सावनडुहः' इति नुम् तु सर्वनामस्थानविशेषे सौ विहितत्वाद्विशेषविहितः। स च निरवकाशत्वात् सामान्यविहितमामं बाधेत, सोरन्यत्राम्विधेश्चरितार्थत्वात्। तथा च अनडुन् इति स्यात्। अनड्वान् इति न स्यात्। किञ्च सम्बुद्धौ हे अनडुह् स् इति स्थिते 'अम् सम्बुद्धौ' इत्यमागमः आमपवादोऽनुपदमेव वक्ष्यते। तत्र 'सावनडुहः' इति नुमपि प्राप्तः स च सम्बुद्धावसम्बुद्धौ च विहितत्वात् सामान्यविहितः। 'अम् सम्बुद्धौ' इत्यम् तु सम्बुद्धावेव विहितत्वाद् विशेषविहितः। स च निरवकाशत्वात् सामान्यं विहितं नुमं बाधेत, असम्बुद्धौ सौ नुम्विधेश्चरितार्थत्वात्। ततश्च हे अनड्वन्निति न स्यात्। 'हो ढः' इति ढत्वे हे अनड्वट् इति स्यादित्याशङ्क्याह—आदित्यधिकारादित्यादि नुम् न बाध्यत इत्यन्तम्। 'सावनडुहः' इति नुम्विधौ तावत् 'आच्छीनद्योः' इत्यत आदिति पञ्चम्यन्तमनुवर्तते। अतः अनडुहः अवर्णात् परो नुमिति लाभात् विशेषविहितेऽपि 'सावनडुहः' इति नुमा 'चतुरनडुहोः' इति सामान्यविहितः आम् न बाध्यते, अवर्णात् परत्वेन विधीयमानं नुमं प्रति आम उपजीव्यत्वात् उपजीव्योपजीवकयोर्विरोधाभावेन बाध्यबाधकभावविरहात् प्रत्युत आमभावे नुमः प्रवृत्त्यसम्भवात्। तथा 'अम् सम्बुद्धौ' इत्यमा च विशेषविहितेन 'सावनडुहः' इति नुम् न बाध्यते, न तु उपजीवकत्वेन विरोधाभावात्, प्रत्युत अमभावे नुमः प्रवृत्त्यसम्भवादित्यर्थः। ननु 'सावनडुहः' इति नुम्विधौ आदित्यनुवर्तताां नाम। तथापि आमुपजीवकत्वं नुमो न लभ्यते अनडुहि नुमो नकाराकारात् परत्वेऽपि आदित्यनुवृत्तेरविरोधा-

---

मूलार्थ—सर्वनामस्थान पर रहते 'चतुर्' और 'अनडुह्' शब्द को 'आम्' होता है और वह उदात्त भी होता है।

विवरण—"इतोत्सर्वनामस्थाने" (७-१-८६) सूत्र से 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति करने से निमित्त वाचक पद की पूर्ति हो जाती है। तदनुसार सर्वनामस्थान (सु, औ, जस्, अम्, औट्) पर होने की स्थिति में 'चतुर्' (= चार) तथा 'अनुडुह्' (= बैल) शब्दों को 'आम्' होता है। 'म्' इत्संज्ञक होने के कारण 'आ' की स्थिति 'अन्त्य' अच् से पर रहती है।

(३३२) पद—सौ, अनडुहः। अनुवृत्ति—नुम्, आत् (अधिकार)। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'सु' पर रहते 'अनडुह्' शब्द को 'नुम्' होता है। 'आत्' अधिकार होने के कारण यह 'नुम्' 'अ'वर्ण से पर होता है। इस कारण विशेष-विधान के रूप में 'नुम्' 'आम्' का बाधक नहीं होता। तथा 'अम्' भी 'नुम्' का बाधक नहीं होता है। 'सु'—का लोप। 'नुम्' विधान के सामर्थ्य से "वसुस्रंसु०" सूत्र से 'द्' भी नहीं होता। संयोगान्त-लोप असिद्ध होने के कारण 'न्'—लोप भी नहीं।

विवरण—"आच्छीनद्योर्नुम्" (७-१-८०) सूत्र से 'नुम्' की अनुवृत्ति की जारही है। अतः सूत्रार्थ होगा "'सु' (प्रथमा—एकवचन) पर रहते 'अनडुह्' शब्द को 'नुम्' आगम होता है"।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषविहितेनापि नुमा आम् न बाध्यते। अमा च नुम् न बाध्यते। सोर्लोपः। नुम्विधि-सामर्थ्यात् 'वसुस्रंसु—(सू ३३४) इति दत्वं न। संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वान्नलोपो न।

दिति चेद्, मैवम्—'सावनडुहः' इति नुम्विधौ मित्त्वादन्त्यादच इत्युपस्थितम्। तत्र च आदित्यनुवृत्तमन्वेति। ततश्चानडुहि यः अन्त्यरूपः अवर्णः तस्मात् परो नुमिति लभ्यते। नकाराकारस्तु नैवंविध इत्यामुपजीवकत्वं नुमो निर्बाधमेव। एवं सम्बुद्धौ अनुपजीवकत्वमपि ज्ञेयम्। क्वचित्पुस्तके 'आमा च नुम् न बाध्यत' इति पठ्यते। तत्रेयं योजना। ननु बह्वनड्वांहि कुलानीत्यत्र 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमपेक्षया परत्वादाम् स्यात्। कृते त्वामि पुनर्नुम् न भवति, विप्रतिषेधेन यद् बाधितं तद् बाधितमेव' इति न्यायादित्यत आह—आमा च नुम् न बाध्यत इति। 'पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम्' इति क्वचिद्विप्रतिषेधेन बाधितस्य पुनरुन्मेषादामि कृतेऽपि 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुम् निर्बाध इति भावः। सोर्लोप इति। अनड्वान् ह् स् इत्यत्र हल्ङ्यादिनेति शेषः। ननु कृते सुलोपे हकारस्य संयोगान्तलोपे नुमो नकारस्य पदान्तत्वाद् 'वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः' इति दत्वं कुतो न स्यादित्यत आह—नुम्विधीति। यदि ह्यत्र नुमो नस्य दत्वं स्यात् तर्हि अनड्वाह् इत्यत्र नुमभावेऽपि हस्य दत्वेनैव अनड्वाद् इति सिद्धेः नुम्विधिरनर्थकः स्यात्। अतो नुमो नस्य दत्वं नेति विज्ञायत इति भावः। ननु अनड्वान् ह् स् इत्यत्र सुलोपे संयोगान्तलोपे च कृते नकारस्य प्रातिपदिकान्तत्वात् पदान्तत्वाच्च 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपः किं न स्यात्? न च नुम्विधिसामर्थ्यान्नात्र नलोप इति वाच्यम्, नलोपाभावस्थले सम्बुद्धौ 'हे अनड्वन्' इत्यत्र नुम्विधेश्चरितार्थत्वात्। तत्र 'न डि सम्बुद्ध्योः' इति नलोप-प्रतिषेधादित्यत आह—संयोगान्तेति। हकारलोपस्यासिद्धत्वे सति नकारस्य प्रातिपदिकान्तत्वाभावात् पदान्तत्वाभावाच्च नलोपो नेत्यर्थः। अनड्वानिति। अनडुह् स् इति स्थिते आम्, यण्, नुम्, सुलोपः संयोगान्तलोपश्च। अथ सम्बुद्धौ अनडुह् स् इति स्थिते 'चतुरनडुहोः' इत्यामागमे प्राप्ते।

'म्'–इत्संज्ञक होने से 'नुम्' आगम 'अन्त्य-अच्' से पर होता किन्तु यहाँ स्थिति भिन्न है। कारण यह है कि "आच्छीनद्योर्नुम्" (८-१-८०) सूत्र से 'आत्' की भी अनुवृत्ति अधिकार के रूप में आती है। तदनुसार 'अनडुह्' शब्द के 'अन्त्य 'अ'वर्ण (= अ) से पर 'नुम्' की स्थिति अपेक्षित है। वह तब सम्भव होगा जब कि 'नुम्' होने के पूर्व ही 'आम्' आगम किया जाय, क्योंकि 'नुम्' के प्रवृत्त होने में वह उपकारक (उपजीव्य) है। इस प्रकार 'नुम्' उपजीवक (= सहायता का अपेक्षी) होता है। इस कारण 'नुम्' विधायकशास्त्र में विशेषता होने पर भी यह 'आम्' विधायक शास्त्र का बाधक नहीं होता। एवं सम्बोधन के एकवचन में विधीयमान 'अम्' भी 'नुम्' का बाधक नहीं होता। उदाहरण—(क) अनुडुह्+स् (सु), <अनडु-आह्+स् (अन्त्य 'अच्'–'उ' से पर 'आम्'–आगम), <अनड्वा–न्–ह्+स् (उ = व्–यण् तथा 'आ' से पर 'नुम्' = 'न्' आगम), <अनड्वान्–ह् ('सु'—विभक्तिलोप), <अनड्वान् ('ह्'–संयोगान्तलोप)।

विशेष—१–'अनड्वान्–ह्–स्' इस स्थिति में "वसुस्रंसुध्वस्वनडुहां दः"—सूत्र से 'स्' = 'द्' प्राप्त होता है, किन्तु 'नुम्' विधान में उपर्युक्त विशेषता होने के कारण 'स्' के स्थान पर 'द्' नहीं होता। अन्यथा 'ह्' के स्थान पर भी 'द्' हो सकता था।

२—"पूर्वत्रासिद्धम्" द्वारा प्रतिपादित असिद्ध-विधान से संयोगान्तलोप ('ह्' लोप) असिद्ध होने के कारण अन्तिम 'न्' का लोप नहीं होता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनड्वान्। (३३३) अम् सम्बुद्धौ ७। १। ९९॥ चतुरनडुहोरम् स्यात्सम्बुद्धौ। आमोऽपवादः। हे अनड्वन्। अनड्वाहौ। अनड्वाहः। अनडुहः। अनडुहा। (३३४) वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ८। २। ७२॥ सान्तवस्वन्तस्य स्रंसादेश्च दः स्यात्पदान्ते। अनडुद्भ्यामित्यादि। सान्त इति किम्? विद्वान्। पदान्त इति किम्?

---

(३३३) अम् सम्बुद्धौ। 'चतुरनडुहोः' इत्यनुवर्तते। तदाह—चतुरनडुहोरिति। अमो मकार इत्। मित्त्वादन्त्यादचः परः। हे अनड्वन्निति। 'अम्, यण्, नुम्, सुलोपः, संयोगान्तलोपश्च। अनड्वाहाविति। सर्वनामस्थानत्वादाम्। नुम् तु न, तस्य सावेव विधानात्। अनडुह इति। शसादावचि अविकृत एवानडुह् शब्द इति भावः। भ्यामादौ हलि विशेषमाह।

(३३४) वसुस्रंसु। वसुः प्रत्ययः, तेन तदन्तं गृह्यते। 'स्रंसु ध्वंसु अवस्रंसने' इति धातू। 'ससजुषो रुः' इत्यतः स इति लुप्तषष्ठीकमनुवृत्तम्। तेन च वसुर्विशेष्यते। तदन्तविधिः। सान्तत्वं स्रंसुध्वंस्वोर्न विशेषणम्, अव्यभिचारात्। नाप्यनडुहः, असम्भवात्। पदस्येत्यधिकृतं बहुवचनान्तत्वेन विपरिणम्यते। 'अलोऽन्त्यस्य' इति तदन्तस्य भवति। फलितमाह—सान्तेत्यादिना। यथासम्भवं रुत्वढत्वयोरपवादः। अनडुद्भ्यामिति। 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदत्वादिति भावः। इत्यादीति। अनडुद्भिः। अनडुहे। अनडुद्भ्यः। अनडुहः। अनडुहः। अनडुहोः। अनडुहाम्। दत्वे 'खरि च' इति चर्त्वम्—अनडुत्सु। सान्तेति किमिति। वसोरपि सान्तत्वाव्यभिचारात्प्रश्नः। विद्वानिति। विद्वस् स् इति स्थिते

---

(३३३) पद—अम्, सम्बुद्धौ। अनुवृत्ति—चतुरनडुहोः। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'सम्बुद्धि' पर रहते 'चतुर्' तथा 'अनडुह्' शब्द को 'अम्' होता है।

विवरण—सूत्र में 'आगमी' आकाङ्क्षित है। अतः "चतुरनडुहोरामुदात्तः" (७-१-९८) सूत्र से 'चतुरनडुहोः' की अनुवृत्ति की जारही है। तदनुसार सम्बुद्धि (सम्बोधन का एकवचन) पर रहते 'चतुर्' और 'अनडुह्' शब्दों को 'अम्' होता है। 'म्'—इत्संज्ञक होने के कारण 'अ' की स्थिति 'अन्त्य अच्' से पर ('डु' के पश्चात्) होगी। यह 'अम्' विधान् 'आम्' (सू० ३३४) का बाधक है। उदाहरण—हे अनडुह्+स् (सु), <हे अनडु–अ–ह्+स् ('डु' के पश्चात् 'अम्'='अ' आगम), <अनवड्वनह्+सु ('यण्' तथा 'नुम्'–आगम), <हे अनड्वन्–ह् ('स्'–लोप), <हे अनड्वन् ('ह्'–संयोगान्त लोप)। संयोगान्त लोप असिद्ध होने के कारण 'न्' का लोप नहीं हुआ। (ख) अनडुह्+औ, <अनडु-आह्+औ ('आम्' आगम), <अनड्वाहौ (उ=व्–यण्)। (ग) अनडुह्+अस् (जस्), <अनडु–आ–ह्+अस् ('आम्' आगम), <अनड्वाह्+अस् (उ=व्–यण्), <अनड्वाहः (स्=र्=:)। द्वितीया के एकवचन में इसी तरह—(घ) अनड्वाहम्, द्विवचन में—(ङ) अनड्वाहौ रूप बनेंगे। (च) बहुवचन में अनडुहः ('शस्' सर्वनामस्थान–विभक्ति न होने से 'आम् नहीं) (छ) तृतीया के एकवचन में अनडुहा (टा)।

(३३४) पद—वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां, दः। अनुवृत्ति—पदस्य(अधिकार), सः, अन्ते। विधिसूत्र।

मूलार्थ—पदान्त में सकारान्त–'वसु'–प्रत्ययान्त तथा 'स्रंसु' आदियों को 'द'कार होता है। अनडुद्भ्याम् इत्यादि। 'सान्त' क्यों कहा? विद्वान्। 'पदान्ते' क्यों कहा'? स्रस्तम्। ध्वस्तम्।

विवरण—अपेक्षित स्पष्टता के लिए "ससजुषो रुः" (८-२-६६) सूत्र से 'सः' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। "पदस्य" का अधिकार है। उसे बहुवचन में (पदानाम्) परिवर्तित किया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्रस्तम् । ध्वस्तम् । (३३५) सहेः साडः सः ८ । ३ । ५६ ॥ साड्रूपस्य सहेः सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात् । तुराषाट्–तुराषाड्, तुरासाहौ, तुरासाहः । तुराषाड्भ्यामित्यादि । तुरं सहत इत्यर्थे 'छन्दसि सहः' (सू ३४०९) इति ण्विः । लोके तु साहयतेः क्विप् ।

'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घे 'उगिदचाम्' इति नुमि सुलोपे संयोगान्तलोपे च रूपम् । अत्र वसोः सकारान्तत्वाभावान्न दत्वमिति भावः । स्रस्तं ध्वस्तमिति । क्तप्रत्ययान्तम् । अत्र पदान्तत्वाभावान्न दत्वम् । विद्वांसौ, अनड्वाहावित्याद्यपि प्रत्युदाहार्यम् । तुरासाह्शब्दात् सोर्हल्ङ्यादिलोपे हस्य ढत्वे कृते विशेषमाह ।

(३३५) सहेः साडः सः । 'इक्ष्तिपौ धातुनिर्देशे' इति 'षह मर्षणे' इति धातोरिक्प्रत्यये 'धात्वादेः षः सः' इति षस्य सत्वे सहिशब्दः । षह्धातोरित्यर्थः । साड् इति कृतढत्वडत्वबृद्धेरनुकरणम् । तदाह—साड्रूपस्येति । मूर्धन्येति । 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इति तदधिकारादिति भावः । मूर्धनि भवः मूर्धन्यः मूर्धस्थानक इत्यर्थः । तुराषाट्, तुराषाडिति । सुलोपे ढत्वे, जश्त्वेन डत्वे, सस्य मूर्धन्यः षकारः, विवृतप्रयत्नसाम्यात् । 'वाऽवसाने' इति

जाता है । इसका सम्बन्ध "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च" (८-२-२९) सूत्र से लाये गए 'अन्ते' पद के साथ किया जाता है । अनुवृत्ति द्वारा आया हुआ 'सः' पद 'वसु-स्रंसु-ध्वंस्वनडुहां' भाग का विशेषण होने के कारण तदन्त का बोधक होता है । 'वसु' भी प्रत्यय है अतः वह भी तदन्त (वसुप्रत्ययान्त) का बोधक है । √स्रंसु तथा √ध्वंसु धातु हैं । तदनुसार समष्टिरूप में यह अर्थ है कि "पदान्त में (पदानाम् अन्ते) श्रूयमाण सकारान्त 'वसु'–प्रत्ययान्त शब्द, उकारेत्संज्ञक 'स्रंसु' एवं 'ध्वंसु' तथा 'अनडुह्' के अन्त्य वर्ण को 'द्' आदेश होता है" । उदाहरण—(क) अनडुह्+भ्याम्, <अनडुद्भ्याम् ('भ्याम्' विभक्ति हलादि है, अतः "स्वादिष्वसर्वनामस्थाने"—२३० सूत्र से 'अनडुह्' की पद संज्ञा होने से ह् = द्) इसी तरह आगे भी हलादि विभक्तियों में 'ह्' के स्थान पर 'द्' आदेश होगा ।

प्रत्युदाहरण—१–सूत्र में 'वसु' प्रत्ययान्त का विशेषणवाची शब्द 'सकारान्त' है । इसके फलस्वरूप 'विद्वान्' रूप सिद्ध होने के पश्चात् श्रूयमाण सकारान्त न होने के कारण 'न्' के स्थान पर 'द्' नहीं हुआ । यदि 'सान्त' विशेषण न रखते तो विद्वान् पद मूलरूप में वस्वन्त है । अतः 'दकार' की सम्भावना हो जाती । २—पदान्त में 'स्रंसु', 'ध्वंसु' के 'स्' की अपेक्षा होने से 'स्रस्तम्' (स्रंस्+क्त) तथा 'ध्वस्तम्' (ध्वंस्+क्त) में धातु के बाद 'क्त' प्रत्यय होने से 'स्रस्' तथा 'ध्वस्' अंश पद के अन्त में नहीं हैं, अतः 'द्' नहीं हुआ ।

'अनडुह्' शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०	वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	अनड्वान्	अनड्वाहौ	अनड्वाहः	प०	अनडुहः	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भ्यः
द्वि०	अनड्वाहम्	अनड्वाहौ	अनडुहः	ष०	अनडुहः	अनडुहोः	अनडुहाम्
तृ०	अनडुहा	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भिः	स०	अनडुहि	अनडुहोः	अनडुत्सु
च०	अनडुहे	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भ्यः	सं०	हे अनड्वन्	हे अनड्वाहौ	हे अनड्वाहः

(३३५) पद—सहेः, साडः, सः । अनुवृत्ति—मूर्धन्यः(अधिकार) । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'सह्' के परिवर्तित 'साड्' रूप में 'स'कार के स्थान पर मूर्धन्य आदेश होता है । तुराषाट्–तुराषाड्, तुरासाहौ, तुरासाहः । तुराषाड्भ्याम् इत्यादि । 'तुरं सहते' इस अर्थ में "छन्दसि सहः" सूत्र से 'ण्वि' प्रत्यय । लोक में 'णिच्'–प्रत्ययान्त √सह् से क्विप् । "अन्येषामपि०" सूत्र से पूर्वपद को दीर्घ ।

विवरण—"अपदान्तस्य मूर्धन्यः" (८-३-५५) सूत्र से आदेश–वाचक शब्द "मूर्धन्यः" की अनुवृत्ति की जारही है । स्थानी है—√ 'सह्' धातुजन्य 'साड्' रूप का सकार (सहेः साडः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अन्येषामपि—' (सू ३५३९) इति पूर्वपदस्य दीर्घः । इति हान्ताः । (३३६) दिव औत् ७ । १ । ८४ ॥ दिविति प्रातिपदिकस्य औत्स्यात्सौ परे । अल्विधित्वेन स्थानिवत्त्वा-

---

चर्त्वपक्षेऽपि मूर्धन्यो भवत्येव, सूत्रे साड इति कृतजश्त्वनिर्देशस्य पदान्तोपलक्षणत्वादिति भावः । तुरासाहाविति । अपदान्तत्वान्न मूर्धन्य इति भावः । इत्यादीति । तुरापाड्भिः । तुरासाहे । तुरापाड्भ्यः । तुरासाहः । तुरासाहः । तुरासाहोः । तुरापाट्सु-तुरापाट्त्सु । अथ तुरापाट् शब्दं व्युत्पादयति—तुरं सहते इत्यर्थे छन्दसि सह इतीति । कर्मण्युपपदे सहेर्ण्विः स्यात् छन्दसीति तदर्थः । णकार इत्, उपधावृद्धिः, अपृक्तलोपः । ननु ण्विप्रत्ययस्य छन्दोविषयत्वेन तुरासाहशब्दस्य कथ लोके प्रयोग इत्यत आह—लोके त्विति । सहेर्ण्यन्तात् क्विपि णिलोपे अपृक्तलोपे च सति लोके प्रयोज्य इति भावः । ननु 'नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिपु क्वौ' इति हि सहौ क्विबन्ते पर एव पूर्वपदस्य विहितो दीर्घः कथमिह स्यादित्यत आह—अन्येषामपीति । सहेः किम् ? डकारेण सहितः सडः खुडादिशब्दः, स यस्य नाम सोऽपि लक्षणया सडः, तस्यापत्यं साडिः । अत इञ् । 'यस्येति च' इत्यकारलोपः, आदिवृद्धिः—साडिरिति रूपम् । अत्र न मूर्धन्य इति भाष्ये स्थितम् । इति हान्ताः । अथ वकारान्ता निरूप्यन्ते । दिव्शब्दः स्त्रीलिङ्गः । 'द्योदिवौ द्वे स्त्रियामभ्रं व्योम पुष्करमम्बरम्' इत्यमरः । सु शोभना द्यौर्यस्येति बहुव्रीहौ पुंसि सुदिव् स् इति स्थिते ।

(३३६) दिव औत् । 'सावनडुहः' सौ इत्यनुवर्तते । दिव इति षष्ठ्यन्तम् । 'दिवेर्डिविः' इत्यौणादिकम् अव्युत्पन्नं वा प्रातिपदिकं गृह्यते, न तु 'दिवु क्रीडादौ' इति धातुः, 'निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य' इति न्यायात् । तदाह—दिविति प्रातिपदिकस्येति ।

सः) । अर्थात् 'जब √ सह् धातु से प्रत्ययादि का विधान होने पर 'साड्' रूप निष्पन्न हो' तो उस 'स्' के स्थान पर मूर्धन्य ('ष्') आदेश होता है' । 'विवृत' प्रयत्न होने के कारण मूर्धन्य वर्णों में 'ष्' का 'स्' के साथ सादृश्य है । अतः स् = ष् । ऐसी स्थिति 'तुरासाह्' शब्द में है । उदाहरण—(क) तुरासाह्+सु (सु), <तुरासाह् ('स्'-विभक्ति-लोप), <तुरासाड् (ह् = ड्), <तुरासाड् (ड् = ड्-जश्त्व), <तुरापाड् ('साड्' रूपता प्राप्त करने पर प्रकृत सूत्र से स् = ष्), <तुरापाट् ("वावसाने"-२०६ पाक्षिक चर्त्व-ड् = ट्) । पक्ष में तुरापाड् । हलादि विभक्तियों में ही 'स्' के स्थान पर 'ष्' होगा, क्योंकि वहीं पदान्त-भिन्न 'स्' मिलता है । (ख) तुरासाहौ (औ) । (ग) तुरासाहः । (घ) द्वितीया में—तुरासाहम्, तुरासाहौ, तुरासाहः । (ङ) तृतीया में—तुरासाहा, तुरापाड्भ्याम् (स् = ष्), तुरापाड्भिः (स् = ष्) । (च) चतुर्थी में—तुरासाहे, तुरापाड्भ्याम्, तुरापाड्भ्यः । (छ) पञ्चमी में—तुरासाहः तुरापाड्भ्याम्, तुरापाड्भ्यः । (ज) षष्ठी-तुरासाहः, तुरासाहोः, तुरासाहाम् । (झ) सप्तमी-तुरासाहि, तुरासाहोः, तुरापाट्त्सु-तुरापाट्सु ('धुट्' आगम वैकल्पिक) । सम्बोधन—हे तुरापाट्-ड्, हे तुरासाहौ, हे तुरासाहः ।

विशेष—'तुरासाह्' शब्द की व्युत्पत्ति दो तरह से की जाती है । (क) वैदिक प्रयोग में इसका विग्रह है—'तुरं (= वेगं) सहते' । तुर-√ सह्+ण्वि, <तुर साह्+वि (उपधावृद्धि), <तुरसाह् ('ण्वि' का सर्वापहार), <तुरासाह् (दीर्घ-"अन्येषामपि दृश्यते"-६-३-१३७) । (ख) लोक में विग्रह है—तुरं साहयति । तुर-√ सह्+णिच् (इ), <तुरसाह्+णिच्+क्विप्, (उपधा-वृद्धि), <तुरसाह्+क्विप्, ('णि'-लोप), <तुरासाह् ('क्विप्'-लोप), <तुरासाह् ('र'=रा-दीर्घ) । 'तुरासाह्' शब्द के दो अर्थ हैं—इन्द्र तथा वेग को सहने वाला ।

(३३६) पद—दिवः, औत् । अनुवृत्ति—सौ । विधिसूत्र ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावाद् 'हल्ङ्याप्—' (सू २५२) इति सुलोपो न। सुद्यौः, सुदिवौ, सुदिवः। सुदिवम् सुदिवौ। (३३७) दिव उत् ६।१।१३१॥ दिवोऽन्तादेशः उकारः स्यात्पदान्ते। सुद्युभ्याम्। सुद्युभिः—इत्यादि। इति वान्ताः। चत्वारः। चतुरः। चतुर्भिः। चतुर्भ्यः।

औदिति तकार उच्चारणार्थः, न त्वादेशे तकारः श्रूयते। एवं चानेकाल्त्वप्रयुक्तं सर्वादेशत्वं न। तकारस्य इत्संज्ञा तु न, फलाभावात्। तित्स्वरितस्य तु नात्र सम्भवः, 'तिति प्रत्ययग्रहणम्' इति वार्तिकात्। ननु सुदिव् स् इत्यत्र वकारस्यौत्त्वे इकारस्य यणि, औकारस्य स्थानिवत्त्वेन हल्त्वाद् हल्ङ्यादिना सुलोपः स्यादित्यत आह—अल्विधित्वेनेति। औकारादेशस्थानिभूताद् वकारात्मकहलः परत्वमाश्रित्य प्रवर्तमानस्य सुलोपस्याल्विधित्वादिति भावः। सुद्यौरिति। आङ्गत्वात् तदन्तस्याप्यौत्त्वे यण्। रुत्वविसर्गौ। सुदिवाविति। अजादिषु सुदिव्शब्दः अविकृत एवेति भावः। भ्यामादौ हलि विशेषमाह।

(३३७) दिव उत्। अन्तादेश इति। अलोऽन्त्यसूत्रलभ्यम्। पदान्त इति। पदान्तादित्यनुवृत्तं सप्तम्या विपरिणम्यत इति भावः। उतस्तपरत्वं तु 'भाव्यमान उकारः सवर्णग्राहकः' इति ज्ञापनार्थमिति 'तित्स्वरितम्' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। सुद्युभ्यामिति। वकारस्य उत्त्वे इकारस्य यण्। अत्र उकारस्य 'हलः' इति दीर्घस्तु न, वकारस्थाने उकारस्य सम्प्रसारणत्वानवसायात्। सम्प्रसारणशब्देन विहितस्यैव यण्स्थानिकस्य इकः सम्प्रसारणत्वाद् इति 'इग्यणः' इति सूत्रे शब्देन्दुशेखरे स्पष्टम्। इत्यादीति। सुदिवे। सुद्युभ्यः। सुदिवः, सुदिवोः, सुदिवाम्। सुद्युषु। इति वान्ताः। अथ रेफान्ता निरूप्यन्ते।

मूलार्थ—'सु' पर रहते 'दिव्' शब्द को औकार आदेश होता है। एक 'अल्' को मानकर इस विधान के होने से स्थानिवद्भाव की सम्भावना नहीं है, अतः "हल्ङ्याप्०" सूत्र से 'सु'-लोप नहीं हुआ। सुद्यौः, सुदिवौ, सुदिवः। सुदिवम्, सुदिवौ।

सन्दर्भ—वकारान्त शब्द प्रयोग में नहीं दिखाई पड़ते। अतः वकारान्त 'सुदिव्' शब्द की रूपसिद्धि पर विचार आरम्भ होता है।

विवरण—"सावनडुहः" (७-१-८२) सूत्र से 'सौ' की अनुवृत्ति की जाती है। तदनुसार सूत्रार्थ है—"'सु'(प्रथमा-एकवचन)पर रहते 'दिव्' को 'औ' आदेश होता है"। 'दिवः' षष्ठी विभक्ति है। अतः "अलोन्त्यस्य" परिभाषा की उपस्थिति से 'दिव्' शब्द के 'व्' के स्थान पर 'औ' आदेश होगा। यहाँ पर 'स्थानी' के रूप में 'दिव्' धातु नहीं लिया जाता, किन्तु अव्युत्पन्न प्रातिपदिक 'दिव्' का ग्रहण होता है। केवल 'दिव्' शब्द स्त्रीलिङ्ग है। किसी दूसरे शब्द के साथ समास करने पर वह पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। इस कारण यह सम्भव होता है। प्रकृत सूत्र "अङ्गस्य" अधिकार के अन्तर्गत है। अतः 'दिव्'-शब्दान्त में भी यह सूत्र प्रवृत्त होगा। इस प्रकार 'सुदिव्' (= शोभना द्यौः यस्मिन् सः—सुन्दर आकाश से युक्त) शब्द को अभिलक्षित कर इस सूत्र की प्रवृत्ति होगी। **उदाहरण**—(क) सुदिव्+स् (सु), <सुदि-औ+स् (व्=औ), <सुद्यौस् (इ=य्—यण्), <सुद्यौर् (स्=र्), <सुद्यौः (र्=:)। (ख) सुदिव्+औ, <सुदिवौ। (ग) सुदिव्+अस् (जस्), <सुदिवर् (स्=र्), <सुदिवः (र्=:)। (घ) द्वितीया में—सुदिवम्, सुदिवौ, सुदिवः। (ङ) तृतीया-एकवचन-सुदिवा।

(३३७) **पद**—दिवः उत्। **अनुवृत्ति**—पदान्तात्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पदान्त में 'दिव्' के अन्त में 'उ' आदेश हो। सुद्युभ्याम्, सुद्युभिः। चत्वारः। चतुरः। चतुर्भिः। चतुर्भ्यः। चतुर्भ्यः।

विवरण—"एङः पदान्तादति" (७-१-१०९) सूत्र से 'पदान्तात्' की अनुवृत्ति की जारही है। उसे सप्तमी विभक्ति में परिवर्तित किया गया—'पदान्ते'। तदनुसार "पदान्त में 'दिव्'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्भ्यः । (३३८) षट्चतुर्भ्यश्च ७ । १ । ५५ ॥ षट्संज्ञकेभ्यश्चतुरश्च परस्यामो

'चतेरुरन्' इत्युणादिषु चतुर् शब्दो व्युत्पादितः नित्यं बहुवचनान्तः । चत्वार इति । जसि रूपम् । 'चतुरनडुहोः' इत्युकाराद् आम् । उकारस्य यणिति भावः । चतुर इति । शसादौ सर्वनामस्थानत्वाभावान्नाम् । चतुर् आम् इति स्थिते ह्रस्वान्तत्वाभावाद् नुट्यप्राप्ते ।

(३३८) षट्चतुर्भ्यश्च । षट्चतुर्भ्य इति पञ्चमी । 'आमि सर्वनाम्नः' इत्यतः आमीत्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते । षडिति षट्संज्ञकं गृह्यते न तु षष्शब्दः, 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः' इति न्यायात् । तदाह—षट्संज्ञकेभ्य इत्यादिना । नुटि टकार इत्, उकार उच्चारणार्थः । टित्त्वादाद्यवयवः । णत्वमिति । 'रषाभ्याम्' इत्यनेनेति शेषः । द्वित्वमिति । 'अचो रहाभ्याम्'

शब्दावयव 'व्' के स्थान पर 'उ' आदेश होता है" । (च) हलादि विभक्तियों में "स्वादिष्वसर्वनामस्थाने" (२३०) सूत्र के अनुसार सुदिव्+भ्याम् में 'सुदिव्' की पदसंज्ञा होने पर पदान्त 'व्' को 'उ' आदेश होकर <सुदि-उ+भ्याम्, <सुद्युभ्याम् (इ = य्) रूप सिद्ध होता है । (छ) तृतीया—बहुवचन में सुद्युभिः (भिस्) । (ज) चतुर्थी—सुदिवे, सुद्युभ्याम्, सुद्युभ्यः । (झ) पञ्चमी—सुदिवः, सुद्युभ्याम्, सुद्युभ्यः । (ञ) षष्ठी—सुदिवः, सुदिवोः, सुदिवाम् । (ट) सप्तमी—सुदिवि, सुदिवोः, सुद्युषु । (ठ) सम्बोधन—हे सुद्यौः, हे सुदिवौ, हे सुदिवः ।

विशेष—१—प्रकृत सूत्र में "दिव उत्" के स्थान पर "दिव उः" पढे जाने पर भी कार्यसाधन हो जाता । कारण यह है कि दीर्घ-उकार का निवारण तो "भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न" (विधीयमान से सवर्णों का ग्रहण नहीं होता है) इस परिभाषा से हो ही जाता । अतः 'त्'-सहित 'उ' (= उत्) का उच्चारण निष्प्रयोजन होकर यह ज्ञापन करता है कि 'विधीयमान उकार सवर्णों का बोधक होता है'—'भाव्यमानोऽप्युकारः सवर्णान् गृह्णाति' (परिभाषा) । तदनुसार दीर्घ आदि उकार की निवृत्ति के लिये 'त्' का उच्चारण सार्थक है[1] ।

२—'सुद्यु+भ्याम्' में 'व्' के स्थान पर 'उ' होने के पश्चात् 'उ' को "हलः" (६-४-२) सूत्र से दीर्घ होने की आशंका करना निरर्थक है । कारण यह है कि "हलः" सूत्र की प्रवृत्ति 'सम्प्रसारण' होने पर ही सम्भावनीय है । यहाँ 'व्' के स्थान पर 'उ' का विधान सम्प्रसारण के रूप में नहीं हुआ है ।

निर्देश—रकारान्त 'चतुर्' शब्द की रूप-प्रक्रिया बतलाई जारही है । 'चतुर' शब्द बहुवचनान्त है । (क) चतुर्+जस्, <चतु-आ-र्+अस् ('उ' के पश्चात् आम् = आ—"चतुरनडुहोरामुदात्तः"—३३१), <चत्वारस् (उ = व्—यण्), <चत्वारः (स् = र् = :) । (ख) चतुरः (शस्) । (ग) चतुर्भिः (भिस्) । (घ) चतुर्भ्यः (भ्यस्) । (ङ) चतुर्भ्यः (भ्यस्) । (च) चतुर्+आम्—स्थिति में आगे 'नुट्' विधान की व्यवस्था की जारही है ।

(३३८) पद—षट्चतुर्भ्यः, च । अनुवृत्ति—नुट्, आमि । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—षट्संज्ञक शब्द तथा 'चतुर्' शब्द से पर 'आम्' को 'नुट्' आगम होता है । णत्व । द्वित्व । चतुर्णाम् ।

विवरण—आगमी तथा आगम—इन दोनों का ज्ञान "आमि सर्वनाम्नः सुट्" (७-१-५२) सूत्र से 'आमः' (विभक्ति-परिवर्तन द्वारा) तथा "ह्रस्वनद्यापो नुट्" (७-१-५४) से 'नुट्' की अनुवृत्ति करने पर होता है । आगम (= नुट्) 'ट्'-इत्संज्ञक होने के कारण 'आगमी' (आम्) के आदि में स्थित रहेगा । तदनुसार 'षट्'-संज्ञक शब्दों तथा 'चतुर्' शब्द से पर 'आम्' के पूर्व

१—उतः तपरत्वं तु 'भाव्यमानोऽप्युकारः सवर्णग्राहकः' (प० भा० २०) इत्यर्थज्ञापनार्थमिति "तित्स्वरितम्" (६-१-८५) सूत्रे भाष्ये उक्तम् । तथाहि—"यदि भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेत्युच्यते, "अदसोसेर्दादुदो मः—अमूभ्यामित्यत्र न प्राप्नोति । एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—'भवत्युकारेण भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणमिति । यदयं दिव उदिति उकारं "तपरं करोति" ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नुडागमः स्यात् । णत्वम् । द्वित्वम् । चतुर्ण्णाम् । (३३९) रोः सुपि ८ । ३ । १६ ॥ सप्तमीबहुवचने रोरेव विसर्जनीयो नान्यरेफस्य । षत्वम् । षस्य द्वित्वे प्राप्ते । (३४०) शरोऽचि ८ । ४ । ४९ ॥ अचि परे शरो न द्वे स्तः । चतुर्षु । प्रियचत्वाः ।

इति णकारस्येति शेषः । द्वित्वस्यासिद्धत्वात् पूर्वं णत्वे कृते ततो णस्य द्वित्वम् । न च 'पूर्वत्रासिद्धमद्विर्वचने' इति निषेधः शङ्क्यः, द्वित्वे कर्तव्ये अन्यदसिद्धं नेति हि तदर्थः, न तु द्वित्वस्याप्यसिद्धत्वं नेति तदर्थ इति णत्वोत्तरमेव द्वित्वमिति भावः । चतुर् सु इति स्थिते रेफस्य विसर्गे प्राप्ते ।

(३३९) रोः सुपि । खरीत्यनुवृत्तेः सप्तमीबहुवचनमेवात्र सुप् । 'खरवसानयोः' इत्येव सिद्धे नियमार्थं एवैष विधिरित्याह–रोरेवेति । विपरीतनियमस्तु न, 'हलोऽनन्तराः संयोगः' इति निर्देशात् । षत्वमिति । 'आदेशप्रत्यययोः' इत्यनेनेति शेषः । रेफस्य इण्त्वेन ततः परत्वादिति भावः । षस्य द्वित्व इति । अचो रहाभ्यामित्यनेनेति शेषः ।

(३४०) शरोऽचि । 'अचो रहाभ्याम्' इत्यतो द्वे इति 'नादिन्याक्रोशे' इत्यतो नेति

नुट् = 'न्' आगम होता है । अतः (च) चतुर्+आम्, <चतुर्+न् आम्, <चतुर्+णाम् (न् = ण्—"रषाभ्यां नो णः समानपदे"–२३५), <चतुर्ण्णाम् ('ण्' को वैकल्पिक द्वित्व—"अचो रहाभ्यां द्वे"–५९) । पक्ष में चतुर्णाम् ।

विशेष—'चतुर्णाम्' में 'नुट्' आगम होने के पश्चात् 'न्' के स्थान पर 'ण्' एवं 'न्' को 'द्वित्व' ये दोनों एक साथ ही प्राप्त होते हैं । ऐसी स्थिति में अष्टाध्यायी-क्रम के अनुसार द्वित्वविधायक सूत्र 'पर' होने के कारण पहले क्यों नहीं प्रवृत्त होता ? इसके उत्तर में "पूर्वत्रासिद्धम्" के अनुसार असिद्ध का आश्रय लिया जाता है । इस प्रकार पूर्व-त्रिपादी की दृष्टि में पर-त्रिपादी असिद्ध होने के कारण यहाँ 'ण्'–विधायक शास्त्र (८-४-१) की दृष्टि में द्वित्वविधायक शास्त्र (८-४-४६) असिद्ध होने से 'ण्'–विधान ही पहले उचित है । यदि यह कहा जाय कि 'पूर्वत्रासिद्धीयम् अद्विर्वे' परिभाषा के अनुसार द्वित्व करने में "पूर्वत्रासिद्धम्" की प्रवृत्ति नहीं होती तो उपर्युक्त क्रम के विपरीत पहले 'द्वित्व' तब 'णत्व'–ऐसा क्रम होना चाहिये । अतः उपर्युक्त परिभाषा का विशेष अर्थ करने पर इसका समाधान दिया जाता है । परिभाषा का अर्थ है—'द्वित्व तथा उसके अतिरिक्त किसी अन्य कार्य करने की स्थिति में अन्य कार्य द्वित्व की दृष्टि में असिद्ध नहीं होता' । अर्थात् अन्य कार्य की दृष्टि में द्वित्व असिद्ध होता है । अतः द्वित्व असिद्ध होने के कारण पहले 'णत्व' होगा, तदनन्तर द्वित्व की प्रवृत्ति होगी ।

(३३९) **पद**—रोः, सुपि । **अनुवृत्ति**—खरि, विसर्जनीयः । **नियमसूत्र** ।

मूलार्थ—सप्तमी बहुवचन में 'रु' सम्बन्धी रेफ को विसर्ग होता है अन्य रेफ को नहीं । षत्व । 'ष्' को द्वित्व प्राप्त होने पर (आगे निषेध किया जारहा है) ।

विवरण—**स्थानी** है 'रोः', किन्तु 'आदेश'–वाचक शब्द सूत्र में नहीं है । अतः "खरवसानयोर्विसर्जनीयः" (८-३-१५) से 'विसर्जनीयः' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है । इस नियम-विधान की यह विशेषता है कि सप्तमी-बहुवचन (सुपि) में 'रु' के स्थान (रोः) पर ही विसर्ग आदेश होता है, अन्य रेफ को नहीं । **उदाहरण**—(क) चतुर्+सु (सुप्)—इस स्थिति में 'र्' को विसर्ग नहीं हुआ, क्योंकि 'चतुर्' में 'र्' स्वतःसिद्ध है न कि 'रु' के रूप में है, <चतुर्+षु ('रेफ' को 'इण्' माना जाता है अतः "आदेशप्रत्यययोः"–२१२ स् = ष्)—इस स्थिति में "अचो रहाभ्यां द्वे" (५९) से 'ष्' को वैकल्पिक द्वित्व प्राप्त होता है, उसका निवारण आगे के सूत्र से किया जारहा है ।

(३४०) **पद**—शरः, अचि । **अनुवृत्ति**—द्वे, न । **विधि(निषेध)सूत्र** ।

मूलार्थ—'अच्' पर रहते 'शर्' को द्वित्व नहीं होता । चतुर्षु । प्रियचत्वाः । हे प्रियचत्वः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हे प्रियचत्वः। प्रियचत्वारौ। प्रियचत्वारः। गौणत्वे तु नुट् नेष्यते। प्रियचतुराम्। प्राधान्ये तु स्यादेव। परमचतुर्णाम्। इति रेफान्ताः। कमलं कमलां वा आचक्षाणः कमल्,

---

चानुवर्तते। तदाह—अचि पर इत्यादिना। तथा च चतुर्षु इत्येकषकारमेव रूपम्। नच सत्यपि द्वित्वे 'झरो झरि सवर्णे' इति लोपादेव एकषकाररूपसिद्धेरिदं व्यर्थमिति वाच्यम्, लोपस्य वैकल्पिकत्वादिति भावः। प्रियाः चत्वारो यस्येति बहुव्रीहौ 'प्रियचतुर्' शब्दो विशेष्यनिघ्न एकद्विबहुवचनान्तः। तस्य सौ रूपमाह—प्रियचत्वारिति। प्रियचतुर् स् इति स्थिते 'चतुरनडुहोः' इत्युकारादाम्। तस्याङ्कत्वेन तदन्तेऽपि प्रवृत्तेः, तत उकारस्य यण्। हल्ङ्यादिलोपश्चेति भावः। हे प्रियचत्वरिति। 'अम् संबुद्धौ' इत्यमिति भावः। प्रियचत्वा-रावि॑ति। सुटि सर्वनामस्थानत्वादाम्। प्रियचत्वारः। प्रियचत्वारम्। प्रियचत्वारौ। शसा-दावाम् न—प्रियचतुरः। प्रियचतुरा प्रियचतुर्भ्याम् प्रियचतुर्भिः। प्रियचतुरे। प्रिय-चतुर्भ्यः। प्रियचतुरः। प्रियचतुरोः। आमि 'षट्चतुर्भ्यश्च' इति नुटमाशङ्क्याह—गौणत्वे त्विति। 'षट्चतुर्भ्यश्च' इति बहुवचननिर्देशात् तदर्थप्राधान्य एव नुडिति भावः। प्रिय-चतुरि। प्रियचतुर्षु। परमचतुर्णामिति। कर्मधारयः। आङ्कत्वात्तदन्तादपि नुडिति भावः। इति रान्ताः। अथ लकारान्ता निरूप्यन्ते। कमलमिति। कमलं पद्मम्। कमला लक्ष्मीः। कमलमाचष्टे इत्यर्थे कमलशब्दात्, कमलामाचष्टे इत्यर्थे कमलाशब्दात् 'तत्करोति तदा-चष्टे' इति णिचि 'सनाद्यन्ताः' इति धातुत्वात् तदवयवस्य सुपो लुकि 'णाविष्ठवत् प्राति-

---

प्रियचत्वारौ। प्रियचत्वारः। गौण होने पर 'नुट्' नहीं होगा—प्रियचतुराम्। प्रधान होने पर तो 'नुट्' होगा ही—परमचतुर्णाम्। 'कमल या लक्ष्मी कहने वाला'—अर्थ में—कमल्, कमलौ, कमलः। पत्व—कमल्षु।

विवरण—अपेक्षित पदों की अनुवृत्ति पूर्व दो सूत्रों से लाई जारही है—"अचो रहाभ्यां द्वे" (८-४-४६) से 'द्वे' तथा "नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य" (८-४-४८) से 'न'। सूत्रस्थ 'शर्' पद श्, ष्, स् वर्णों का बोधक है। तदनुसार स्वर-वर्णों के परवर्ती होने पर—श्, ष्, स् को—द्वित्व नहीं होता। उदाहरण—(छ) चतुर्+षु, <चतुर्षु—यहाँ 'ष्' के पश्चात् 'उ' होने के कारण द्वित्व नहीं हुआ। शंका—द्वित्व के अनन्तर "झरो झरि सवर्णे" (७१) से 'ष्' का लोप होने पर 'चतुर्षु' रूप सिद्ध हो सकता था, अतः इस निषेध का क्या प्रयोजन है? उत्तर—'लोप' वैकल्पिक होने से पक्ष में 'दो' षकारात्मक रूप भी बनने लगता, उसके निवारणार्थ "शरोऽचि" (३४०) की उपयोगिता है।

निर्देश—१—बहुव्रीहि समास में 'चतुर्' शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने पर ('प्रिय हैं चार जिसको' अर्थ में = प्रियाः चत्वारो यस्य) 'प्रियचतुर्' शब्द का सभी वचनों में प्रयोग होगा। (क) प्रियचतुर्+सु, <प्रियचतु-आ-र्+स् (तदन्त को भी 'आम्'-आगम), प्रिय-चत्वार्+स्, (यण्) <प्रियचत्वारः ('सु' लोप, र्=:)। प्रियचत्वारौ (औ)। प्रियचत्वारः (जस्)। (ख) सम्बोधन—हे प्रियचतुर्+सु, <हे प्रियचतु-अ-र्+सु, <प्रियचत्वर्+स् (यण्), <हे प्रियचत्वर् ('स्' लोप), <हे प्रियचत्वः (र्=:)। हे प्रियचत्वारौ, हे प्रिय-चत्वारः। द्वितीया—प्रियचत्वारम्, प्रियचत्वारौ, प्रियचतुरः। तृतीया—प्रियचतुरा, प्रियचतुर्भ्याम्, प्रियचतुर्भिः इत्यादि। षष्ठी बहुवचन में विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने से "षट्चतुर्भ्यश्च" (३३८) से 'नुट्' आगम न होने के कारण 'प्रियचतुराम्' रूप बनता है। कर्मधारय समास में (परमाश्च ते चत्वारः) 'नुट्' होने में कोई बाधा नहीं है, अतः "परमचतुर्णाम्" रूप होता है। रकारान्त शब्दों का प्रकरण समाप्त होता है।

२—लकारान्त शब्द की रूप-प्रक्रिया पर विचार आरम्भ होता है। 'कमल अथवा कमला

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कमलौ, कमलः। षत्वम्। कमल्षु। इति लान्ताः। (३४१) **मो नो धातोः ८।२।८४ ॥** मान्तस्य धातोर्नः स्यात्पदान्ते। नत्वस्यासिद्धत्वान्नलोपो न। प्रशाम्यतीति–प्रशान्,

---

पदिकस्य' इति इष्ठवत्त्वाट्टिलोपे कमल् इति रूपम्। कमलाविति। औजसादिषु न कोऽपि विकार इति भावः। कमलम् कमलौ कमलः। कमला कमलभ्याम् कमलिभः। कमले। कमलभ्यः। कमलः कमलोः कमलाम्। सुपि विशेषमाह—पत्वं कमल्ष्विति। लकारस्य इण्वादिति भावः। तोयमाचष्टे तोय् इत्यादियकारान्तास्तु न सन्त्येव, क्विपि 'लोपो व्योः' इति यलोपस्य दुर्वारत्वात्। णिलोपस्य स्थानिवत्त्वं तु न भवति, यलोपे तन्निषेधात्। वस्तुतस्तु 'न पदान्ता हलो यणः सन्ति' इति लण्सूत्रस्थभाष्यादनभिधानमेवजातीयकानामिति हरदत्तः। 'भोभगो' इति सूत्रे वृक्षव् करोतीति भाष्यं तु एकदेश्युक्तिरिति तदाशय इत्यलम्। इति लान्ताः। अथ मकारान्ता निरूप्यन्ते। अथ प्रपूर्वात् शमु धातोः क्विपि 'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति' इति दीर्घे सति निष्पन्ने प्रशाम्शब्दे विशेषमाह।

(३४१) मो नो धातोः। म इति षष्ठ्यन्तं धातोरित्यस्य विशेषणम्। तदन्तविधिः। पदस्येत्यधिकृतम्। 'स्कोः संयोगाद्योः' इत्यतः अन्ते इत्यनुवर्तते। तदाह—मान्तस्य धातोरित्यादिना। 'अलोऽन्त्यस्य' इति मकारस्य भवति। तत्र सोर्हल्ङ्यादिलोपे सति नकारस्य प्रातिपदिकान्तत्वात् पदान्तत्वाच्च 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपमाशङ्क्याह—नत्वस्येति। प्रशानिति। स्वरादिपाठेऽप्यस्य नाव्ययत्वम्, सत्त्ववाचित्वात्। असत्त्ववाचित्वे तु स्वरादिपाठादव्ययत्वमेवेति भावः। प्रशान्भ्यामिति। भ्यामादौ हलि 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदत्वान्नत्वमिति भावः। इत्यादीति। प्रशान्भिः। प्रशामे। प्रशान्भ्यः।

(= लक्ष्मी) को कहने वाला' (कमलं कमलां वा आचक्षाणः) अर्थ में कमल+णिच् (तत्करोति तदाचष्टे'—गणसूत्र), <कमलि ('टि' = 'अ' लोप), <कमलि+क्विप्, <कमल् ('णि'-लोप तथा 'क्विप्' का सर्वापहार)। (क) कमल्+सु, <कमल् (विभक्ति-लोप)। (ख) कमलौ (औ)। (ग) कमलः (जस्)। आगे—कमलम्, कमलौ, कमलः–इत्यादि। सप्तमी के बहुवचन में कमल्+सु, <कमल्षु ('इण्' प्रत्याहार में 'ल्' का समावेश होने से स् = ष् "आदेशप्रत्यययोः" २१२)।

(३४१) पद—मः, नः, धातोः। अनुवृत्ति—पदस्य (अधिकार), अन्ते। विधिसूत्र।

मूलार्थ—पदान्त में स्थित धातुसम्बन्धी 'म'कार को 'न'कार होता है। 'न'कार के असिद्ध होने से उसका लोप नहीं होता। प्रशाम्यति = विशेष शान्त होना अर्थ में—प्रशान्, प्रशामौ, प्रशामः। प्रशान्भ्याम् इत्यादि।

सन्दर्भ—मकारान्त शब्दों के सम्बन्ध में विशेष निर्देश दिये जारहे हैं।

विवरण—स्थानी है 'मः'। आदेश है—'नः'। 'मः' षष्ठी-विभक्ति है। षष्ठी का 'स्थान' अर्थ है। 'नः' प्रथमा-विभक्ति है। अतः 'न्' आदेश होगा। जिज्ञासा होती है कि किसका मकार? इसलिये सूत्र में ही निर्देश दिया है—'धातुसम्बन्धी' (धातोः) मकार। तथापि 'मकार' की स्थिति के विषय में जिज्ञासा बनी ही रहती है। अतः "पदस्य" (८-१-१६) अधिकार का आश्रय लेकर "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च" (८-२-२९) से 'अन्ते' की अनुवृत्ति की जाती है। तब सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि पद के अन्त में विद्यमान धातुसम्बन्धी 'म्' को 'न्' आदेश होता है। उदाहरण—(क) प्रशाम्+सु (सु), <प्रशाम् ('विभक्ति' लोप), <प्रशान् (म्=न्, इस नकार के असिद्ध होने से "न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य"–८-२-७ से 'न्' का लोप नहीं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रशामौ, प्रशामः। प्रशान्भ्यामित्यादि। (३४२) किमः कः ७।२।१०३॥
किमः कः स्याद्विभक्तौ। अकच्सहितस्याप्ययमादेशः। कः, कौ, के। कम्, कौ, कान्—

प्रशामः। प्रशामः प्रशामोः प्रशामाम्। प्रशामि। प्रशान्त्सु—प्रशान्सु। 'नश्च' इति धुड्-विकल्पः। अथ कायतेर्डिमिरिति निष्पन्नः किंशब्दः प्रष्टव्ये वर्तते। तस्य विशेषमाह।

(३४२) किमः कः। विभक्ताविति। 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति। भावः। ननु 'इमः' इत्येव सूत्र्यताम्। 'त्यदादीनामः' इत्यनुवृत्तौ-त्यदादीनाम् इमः अकारः स्यादित्यर्थलाभात्। द्विपर्यन्तानामिति तु न सम्बध्यते, द्विपर्यन्तेषु त्यदादिषु इमोऽसम्भवात्। एवं च किंशब्दे इम इत्यस्य स्थाने अकारे सति क इत्यदन्तत्वं सिध्यति। न च 'अलोऽन्त्यस्य' इति किंशब्दे इमो मकारस्यैव अकारः स्यात्। ततश्च इकारस्य यणि क्य इति स्यादिति वाच्यम्, 'नानर्थकेऽलोन्त्यविधिः' इति निषेधेन अलोऽन्त्यपरिभाषाया अप्रवृत्तौ इमः कृत्स्नस्य स्थाने अकारे सति क इत्यस्य सिद्धेरित्यत आह-अकच्सहितस्येति। त्यदादेरिमः अकारविधौ 'अव्ययसर्वनाम्नाम्' इति किंशब्दस्य अकचि कृते ककिम् इति स्थिते इमः अकारे कृते कक इति रूपं स्यात्। 'किमः कः' इत्युक्तौ तु साकच्चस्यापि किंशब्दस्य 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इति न्यायेन किंशब्दत्वात्तस्य कादेशे सति क इत्येव रूपं सिध्यतीति भावः। अत्र त्यदादीनामित्यनुवर्त्य वचनविपरिणामेन त्यदादेः किमः क इति व्याख्येयम्। अतः सर्वाद्यन्तर्गणकार्यत्वादुपसर्जनत्वे कादेशो न भवति। एवञ्च विभक्त्युत्पत्तौ कादेशे सर्वशब्दवद्रूपाणीत्याह—कः कावित्यादि। 'मारुते वेधसि ब्रध्ने पुंसि कः कं शिरोऽम्बुनोः' इत्यमरः। तत्र कशब्दस्य किंशब्दत्वाभावाद् न सर्वनामत्वम्। वेधसि तु किंशब्दोऽप्यस्ति। तस्य सर्वनामत्वमस्ति नास्तीति पक्षद्वयम् 'कस्येत्' इति सूत्रे भाष्ये स्थितम्। कार्यं हविरित्यत्र यदि किमः कादेशः, यदि वा शब्दान्तरम् उभयथापि कस्मा अनुब्रूहीति भवितव्यम्। सर्वस्य सर्वनामसंज्ञा। सर्वश्च प्रजापतिः। प्रजापतिश्च कः अपर आह—उभयथापि कायानुब्रूहीत्येव। संज्ञैषा तत्र भवतः इति। अथ इदंशब्दे विशेषमाह।

हुआ)। अजादि-विभक्तियों में कोई परिवर्तन नहीं—प्रशामौ (औ), प्रशामः (अस्) इत्यादि। हलादि-विभक्तियों में म् = न्—'प्रशान्भ्याम्' इत्यादि।

(३४२) पद—किमः, कः। अनुवृत्ति—विभक्तौ। विधिसूत्र।

मूलार्थ—विभक्ति पर रहते 'किम्' के स्थान पर 'क' आदेश होता है। 'अकच्' प्रत्यय होने पर भी यह आदेश होता है। कः, कौ, के। कम्, कौ, कान्—इत्यादि। 'सर्व' शब्द के समान समझें।

विवरण—'किम्' स्थानी है तथा 'क' आदेश है। निमित्त है—विभक्ति पर रहते। उसके लिये "अष्टन आ विभक्तौ" (७-२-८४) सूत्र से 'विभक्तौ' की अनुवृत्ति की जारही है। 'क' आदेश एक से अधिक अल्-युक्त (क्-अ) होने के कारण सम्पूर्ण 'किम्' को अभिव्याप्त कर प्रवृत्त होगा। उदाहरण-(क) किम्+स् (सु), <क+स् (किम् = क), <कः (स् = र् = :)। (ख) किम्+औ, क+औ (किम् = क), <कौ (अ+औ—वृद्धि)। (ग) किन्+जस्, <क+जस्, <क+ई (जस् = शी), <के (अ+ई = ए—गुण)। द्वितीया—कम्, कौ, कान्। आगे सभी विभक्तियों में 'सर्व' शब्द के समान रूप जाने जायँ। 'त्यदादि' सर्वनामों का सम्बोधन में प्रयोग नहीं होता[1]।

---

१. 'किम्' शब्दस्य सम्बोधनप्रथमा न सम्भवति, तस्य आभिमुख्यकारणयोग्यार्थकत्वाभावात्। एवमेव प्रायेण त्यदादीनामपि सम्बोधनाभावः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यादि सर्ववत्। (३४३) इदमो मः ७। २। १०८॥ इदमो मस्य मः स्यात्सौ परे। त्यदाद्यत्वापवादः। (३४४) इदोऽय् पुंसि ७। २। १११॥ इदम इदोऽय् स्यात्सौ पुंसि। सोर्लोपः। अयम्। त्यदाद्यत्वं पररूपत्वं च। (३४५) दश्च ७। २। १०९॥ इदमो दस्य मः स्याद्विभक्तौ। इमौ, इमे। त्यदादेः सम्बोधनं नास्ति

---

(३४३) इदमो मः। सावितिं। 'तदोः सः सौ' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः। 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यन्त्यस्य मस्य मः। ननु मस्य मविधिर्व्यर्थ इत्यत आह—त्यदाद्यत्वापवाद इति। इदम् स् इति स्थिते।

(३४४) इदोऽय् पुंसि। इद इति स्थानषष्ठी। इदम इत्यनुवर्तते। अवयवषष्ठ्येषा। 'यः सौ' इत्यतः सावित्यनुवर्तते। तदाह इदम इति। इदमशब्दस्यावयवो य इद् तस्येत्यर्थः। अयम् स् इति स्थिते—सोर्लोप इति। हल्ङ्यादिनेति शेषः। अयमिति। सुलोपे प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य मकारस्यानुस्वारस्तु न, मकारविधिसामर्थ्यात्। अन्यथा अनुस्वारमेव विदध्यात्, 'वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्' इति निषेधाच्च। अथ औजसादिषु विशेषमाह—त्यदाद्यत्वमिति। इदम् औ इति स्थिते 'त्यदादीनामः' इति मस्य अकार इत्यर्थः। पररूपत्वमिति। इद अ औ इति स्थिते 'अतो गुण' इति अकारयोरेकं पररूपम् अकार इत्यर्थः। इद औ इति स्थिते।

(३४५) दश्च। 'इदमो मः' इत्यनुवर्तते। द इति षष्ठी। इदमो दकारस्य इति लभ्यते। 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यतः अतिव्यवहितमपि विभक्ताविति एतद् मण्डूकप्लुत्या

---

(३४३) पद—इदमः, मः। अनुवृत्ति—सौ। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'सु' पर रहते 'इदम्' शब्द के स्थान में 'म्' होता है। "त्यदादीनामः" से विधीयमान 'अ' का यह अपवाद है।

विवरण—"तदोः सः सावनन्त्ययोः" (७-२-१०६) सूत्र से 'सौ' की अनुवृत्ति करने पर यह स्पष्ट होता है कि 'सु' विभक्ति पर रहते 'इदम्' के मकार के स्थान पर ("अलोन्त्यस्य के अनुसार) 'म्' आदेश हो। 'म'कार के स्थान पर 'म'कार आदेश होने से "त्यदादीनामः" (७-२-१०२) सूत्र से प्राप्त 'अ' आदेश का यह अपवाद है।

(३४४) पद—इदः, अय्, पुंसि। अनुवृत्ति—इदमः, सौ। विधिसूत्र।

मूलार्थ—पुंलिङ्ग में 'सु' विभक्ति पर रहते 'इदम्'-शब्दावयव 'इद्' को 'अय्' आदेश होता है। 'सु'-लोप। अयम्। त्यदादिनिमित्तक अकार तथा पररूप।

विवरण—"इदमो मः" (७-२-१०८) सूत्र से 'इदमः' तथा "यः सौ" (७-२-११०) सूत्र से 'सौ' की अनुवृत्ति करने पर सूत्रार्थ पूरा होता है—"पुंलिङ्ग में 'सु' विभक्ति पर रहते 'इदम्' शब्दावयव 'इद्' के स्थान पर 'अय्' आदेश हो"। 'अनेकाल्' होने के कारण सम्पूर्ण इद् = अय् आदेश होगा। उदाहरण—(क) इदम्+स् (सु), अय्-अम्+सु, (इद् = अय्), <अयम् ('स्'-विभक्तिलोप), (ख) इदम्+औ, <इद-अ+औ (म् = अ "त्यदादीनामः"-२६५) <इद+औ (अ+अ = अ—पररूप)। अनन्तर विधीयमान कार्य का निर्देश आगे किया जारहा है।

(३४५) पद—दः, च। अनुवृत्ति—इदमः, मः, विभक्तौ। विधिसूत्र।

मूलार्थ—विभक्ति के पर रहते हुए 'इदम्' शब्द के 'दकार' को मकार होता है। इमौ, इमे। 'त्यदादि' सर्वनाम-शब्दों का सम्बोधन में प्रयोग नहीं होता।

विवरण—सम्पूर्ण सूत्र "इदमो मः" (७-२-१०८) तथा "अष्टन आ विभक्तौ" से 'विभक्तौ' पद की अनुवृत्ति करने पर सूत्र का अर्थ यह है कि 'विभक्ति पर रहते इदम् शब्दावयक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्युत्सर्गः । (३४६) **अनाप्यकः ७ । २ । ११२ ॥** अककारस्येदम इदोऽन् स्यादापि विभक्तौ । आप् इति टा इत्यारभ्य सुपः पकारेण प्रत्याहारः । अनेन । (३४७) **हलि लोपः ७ । २ । ११३ ॥** अककारस्येदम इदो लोपः स्यादापि हलादौ । 'नानर्थकेऽलोऽ-

---

अनुवर्तते । 'तदोः सः सौ' इत्यतः साविति तु सन्निहितमपि नानुवर्तते, सौ इदमो दस्याभावात्, 'यः सौ' इत्युत्तरसूत्रे सौग्रहणाच्च । तदाह—इदमो दस्येत्यादिना । तथा च इम औ इति स्थिते रामवद्रूपाणीत्याह—इमावित्यादि । त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीति । प्रचुरप्रयोगादर्शनादिति भावः । नन्वेवं सति 'तदोः सः सौ' इति सूत्रे हे स इति भाष्यविरोध इत्यत आह—उत्सर्ग इति । प्राथिकमित्यर्थः । टादावचि विशेषमाह ।

(३४६) अनाप्यकः । अन्, आपि, अकः इति छेदः । न विद्यते क् यस्य सः अक्, तस्य अकः ककाररहितस्येत्यर्थः । 'इदमो मः' इत्यत इदम् इति, 'इदोऽय् पुंसि' इत्यत इद इति चानुवर्तते, 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यतो विभक्ताविति । तदाह—अककारस्येत्यादिना । आपोऽत्यनेन टाप्डाप्चापां ग्रहणं नेत्याह—आवित्यादिना । टा इत्याकारमारभ्येत्यर्थः । विभक्तावित्यनुवृत्तिसामर्थ्याद् न टावादिग्रहणमिति भावः । अनेनेति । इदम् आ इति स्थिते त्यदाद्यत्वं पररूपत्वम् । इदः अनादेशः । अन आ इति स्थिते इनादेशे गुण इति भावः । भ्यामादौ त्यदाद्यत्वे पररूपे च कृते 'अनाप्यकः' इति प्राप्ते ।

(३४७) हलि लोपः । आप्यक इति पूर्वसूत्रादनुवर्तते । 'इदमो मः' इत्यत इदम् इति, 'इदोऽय् पुंसि' इत्यत इद इति, 'अष्टनः' इत्यतो विभक्ताविति चानुवर्तते । हलीति विभक्तिविशेषणम् । तदादिविधिः । तदाह—अककारस्येत्यादिना । अलोऽन्त्यपरिभाषया इदो दकारस्य लोपमाशङ्क्याह—नानर्थक इति । परिभाषेयमुपधासंज्ञासूत्रे भाष्ये स्थिता ।

('इदमः'-अवयवार्थ-षष्ठी) दकार के स्थान पर ('दः'-स्थान-षष्ठी) 'म्' आदेश (मः—प्रथमा-विभक्ति) होता है । **उदाहरण**—(ख) इद+औ, <इम्-अ+औ (द् = म्), <इमौ (अ+औ=औ—पूर्वसवर्ण-दीर्घ का बाध होनेपर वृद्धि) । (ग) इदम्+जस् <इद-अ+जस् (म्=अ), इद+जस् (अ+अ = अ—पररूप), <इद+ई (जस् = शी), <इम्-अ+ई (द् = म्), <इमे (अ+ई = ए—गुण) । द्वितीया में—इमम्, इमौ, इमान् ।

विशेष—'त्यदादि' सर्वनाम शब्दों का सम्बोधन में प्रयोग नहीं होता ।

(३४६) **पद**—अन्, आपि, अकः । **अनुवृत्ति**—इदमः, इदः, विभक्तौ । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'आप्' पर रहते ककाररहित 'इदम्'-शब्दावयव 'इद्' के स्थान में 'अन्' आदेश होता है । 'आप्' प्रत्याहार 'टा' से आरम्भ होकर 'सुप्' के पकार तक है । अनेन ।

विवरण—"इदमो मः" (७-२-१०८) सूत्र से 'इदमः' (षष्ठी-अवयवार्थक), "इदोऽय् पुंसि" (७-२-१११) से 'इदः' (षष्ठी-स्थानवाची) तथा "अष्टन आ विभक्तौ" (७-२-८४) से 'विभक्तौ' पद की अनुवृत्ति की जारही है । 'आप्'—प्रत्याहार है । सुप्-विभक्तियों के अन्तर्गत तृतीया के एक-वचन 'आ' (टा) से प्रारम्भ हो सप्तमी के बहुवचन 'सुप्' तक विभक्तियों का समावेश होता है । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होता है कि तृतीया से आरम्भ कर सप्तमी-विभक्ति पर्यन्त 'सुप्' प्रत्ययों के परवर्ती रहने की स्थिति में ककार-रहित (अकः—न विद्यते 'क्' यस्य, तस्य) 'इदम्'-शब्दावयव 'इद्' भाग के स्थान पर—'अन्' आदेश होता है । **उदाहरण**—(क) इदम्+टा, <अन्-अ+टा (इद् = अन्), <अन+इन (टा = इन), <अनेन (अ+इ = ए गुण) ।

(३४७) **पद**—हलि, लोपः । **अनुवृत्ति**—आपि(विभक्तौ), अकः, इदमः, इदः । **विधिसूत्र** ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इदम् शब्दे इद् इत्यस्यानर्थकत्वात् तदन्तस्येति न लभ्यते। ततश्च इद् इत्यस्य कृत्स्नस्यैव लोप इति भावः। अनभ्यासविकार इत्यनुक्तौ बिभर्तीत्यादौ 'भृञामित्' 'अर्तिपिपर्त्योश्च' इतीत्वं कृत्स्नस्याभ्यासस्य स्यात्, द्वित्वे सति समुदायस्यैवार्थवत्त्वात्। 'हलि लोपः' इत्यत्र लोपग्रहणमपनीय 'हल्यश्' इत्येव सूत्रयितुमुचितम्। शित्त्वात् इदः कृत्स्नस्याकारे पररूपे 'सुपि च' इति दीर्घे आभ्यामित्यादिसिद्धेः। ननु इदम् भ्याम् इति स्थिते त्यदाद्यत्वे पररूपे इदो लोपे च कृते आभ्याम् इति स्थिते अङ्गस्याकारात्मकत्वात् अदन्तत्वाभावात् कथं 'सुपि च' इति दीर्घ इत्यत आह।

(३४८) आद्यन्तवदेकस्मिन्। आदित्वान्तत्वयोर्नित्यमन्यसापेक्षत्वादेकस्मिन् तत्प्रयुक्तकार्याणामप्राप्तौ तत्प्राप्त्यर्थमिदमारभ्यते। एकशब्दः असहायवाची। 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः। सप्तम्यन्तात् 'तत्र तस्येव' इति वतिः, एकस्मिन्नित्युपमेये सप्तमीदर्शनात्। वतिश्च द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् प्रत्येकं सम्बध्यते। तदाह—एकस्मिन् क्रियमाणं कार्यमादाविवान्त इव च स्यादिति। तदादितदन्तयोः क्रियमाणं कार्यं तदादौ तदन्त इव च असहायेऽपि स्यादित्यर्थः। एकस्मिन्निति किम्? दरिद्रातेः 'एरच्' इति न। आदित्वफलम्—औपगव इत्यादौ अण्प्रत्ययाद्युदात्तत्वम्। आभ्यामित्यादौ अन्तवत्त्वाद् दीर्घादिर्भवति। भाष्ये तु आद्यन्तवदित्यपनीय 'व्यपदेशिवदेकस्मिन्' इति सूत्रपाठः शिक्षितः।

मूलार्थ—हलादि 'आप्' विभक्ति पर रहते ककाररहित 'इदम्' शब्द के 'इद्' का लोप होता है। परि० 'अभ्यास' के विकार (परिवर्तन) को छोड़कर अनर्थक में अलोऽन्त्यविधि नहीं होती।

विवरण—सूत्रार्थ के लिये "इदमो मः" (७-२-१०८) से 'इदमः', "इदोऽय् पुंसि" (७-२-१११) से 'इद्' तथा "अनाप्यकः" (७-२-११२) से 'आपि' एवं 'अकः' तथा "अष्टन आ विभक्तौ" (७-२-८४) सूत्र से 'विभक्तौ' पदों की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ है कि "हलादि तृतीयादि विभक्ति पर होने की स्थिति में ककार-रहित 'इदम्' शब्द के अवयव 'इद्' भाग का लोप होता है"। तृतीया से सप्तमीतक 'हलादि' विभक्तियाँ ७ हैं—भ्याम्, भिस्, भ्याम्, भ्यस्, भ्याम्, भ्यस् और सुप्। इन्हीं विभक्तियों में प्रकृत सूत्र प्रवृत्त होगा। यह सूत्र "अनाप्यकः" (७-२-११२) का अपवाद है। तृतीया से सप्तमी-पर्यन्त अजादि-विभक्तियों में ही उसकी प्रवृत्ति होगी। उदाहरण—(ख) इदम्+भ्याम्, <इद+भ्याम् (द् = अ तथा पररूप), <अ+भ्याम् ('इद्' भाग का लोप)। यहाँ पर "अलोन्त्यस्य" (४२) परिभाषा की उपस्थिति से केवल 'द्' का लोप प्राप्त रहा। उसका निवारण विशेष नियम द्वारा किया जारहा है। परि० "अभ्यास-संज्ञा के निमित्त होने वाले रूपान्तर को छोड़कर अन्यत्र अर्थरहित भाग में "अलोऽन्त्यस्य" (४२) से आदिष्ट विधि नहीं होती"। 'अभ्यास' एक पारिभाषिक शब्द है। किसी धातु को द्वित्व होने पर उसके पूर्वभाग की 'अभ्यास'-संज्ञा होती है। इसका विधायक सूत्र "पूर्वोऽभ्यासः" (६-१-४) है। अतः इस उदाहरण में 'इद्' भाग के अर्थरहित होने से "अलोन्त्यस्य" की प्रवृत्ति नहीं हुई। अतः समग्र 'इद्' का लोप हो गया।

(३४८) पद—आद्यन्तवद्, एकस्मिन्। अतिदेशसूत्र।

मूलार्थ—एक (असहाय) के विषय में किया जाने वाला कार्य आदि और अन्त की तरह होता है।

विवरण—यह अतिदेश-सूत्र है। एक शब्द असहायवाची है। इसके अनुसार (वर्णों के अनेक न होनेपर) एक में ही 'आदि' और 'अन्त' धर्मों का आरोप होता है (आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ—इतरेतर द्वन्द्व, आद्यन्तवत्—षष्ठ्यर्थे 'वनि' प्रत्यय)। यह तभी सम्भव होगा जब कोई वर्ण एक ही हो और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकस्मिन्क्रियमाणं कार्यमादाविवान्त इव च स्यात् । आभ्याम् । (३४९) नेदमदसोरकोः ७ । १ । ११ ॥ अककारयोरिदमदसोर्भिस ऐस् न स्यात् । एत्वम् । एभिः । अत्वम् । नित्यत्वाद् ङेः स्मै । पश्चाद्धलि लोपः । अस्मै, आभ्याम्, एभ्यः । अस्मात्, आभ्याम्, एभ्यः । अस्य, अनयोः, एषाम् । अस्मिन्, अनयोः एषु । ककारयोगे तु—अयकम्,

---

तेन इयायेत्यादौ 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' इति द्विर्भावः, धुक् इत्यत्र व्यपदेशिवत्त्वेन धात्ववयवत्वात् भष्भावश्च सिद्ध्यति । विशिष्टः अपदेशः व्यपदेशः मुख्यो व्यवहारः सोऽस्यास्तीति व्यपदेशी मुख्य इति यावत्, एकस्मिन् तदादित्वतदन्तत्वतदवयवत्वादिप्रयुक्तकार्यं स्यादिति फलितम् । इदम् भिस् इति स्थिते त्यदाद्यत्वे पररूपे 'हलि लोपः' इति इदो लोपे अ भिस् इति स्थिते 'अतो भिस् ऐस्' इति प्राप्ते ।

(३४९) नेदमदसोरकोः । 'अतो भिस् ऐस्' इत्यतो भिस ऐसित्यनुवर्तते । अकोरिति षष्ठी । न विद्यते ककारो ययोरिति बहुव्रीहिः । तदाह—अककारयोरित्यादिना एत्वमिति । बहुवचने झलि' इत्यनेनेति शेषः । ङयि विशेषमाह—अत्वमित्यादि । अत्वं ङेः स्मै इत्यन्वयः । इदम् ए इति स्थिते त्यदाद्यत्वे पररूपे इद ए इति स्थिते ङेर्यादेशं बाधित्वा 'सर्वनाम्नः स्मै' इति स्मैभावः इत्यर्थः । ननु इद ए इति स्थिते स्मैभावात् परत्वादनादेशे 'विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेव' इति न्यायेन पुनः स्मैभावो न स्यादित्यत आह—नित्यत्वादिति । कृते अकृतेऽप्यनोदेशे प्रवृत्तियोग्यतया स्मैभावस्य नित्यत्वादनादेशात् प्रागेव स्मैभावे कृते अनादेशस्य हलि लोपेन बाध इति भावः । आभ्यामिति । पूर्ववत् । एभ्य इति । त्यदाद्यत्वं, पररूपत्वं, हलि लोपः, 'बहुवचने झल्येत्' इत्येत्त्वं चेति भावः । अस्मादिति । त्यदाद्यत्वं, पररूपत्वं, हलि लोपः, 'ङसिङ्योः' इति स्मादिति भावः । अस्येति । त्यदाद्यत्वं पररूपत्वं, स्यादेशः, हलि लोपश्चेति भावः । अनयोरिति । त्यदाद्यवं, पररूपत्वम्, 'अनाप्यकः' 'ओसि च' इत्येत्त्वम्, अयादेशश्चेति भावः । एषामिति । आमि—त्यदाद्यत्वं पर-

---

उसे ही मानकर आदि या अन्त-सम्बन्धी विधान अभीष्ट हो । इसलिये असहाय-अवस्था में (एक में) आदि और अन्त का आरोप कार्य-सम्पादन करने में इस सूत्र की उपयोगिता है । यह सिद्धान्त लोकन्याय पर आधारित है । इसे ही 'व्यपदेशिवद्भाव' कहते हैं । जैसे किसी व्यक्ति के एक ही पुत्र होने पर उसी में ज्येष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठादि का व्यवहार होता है—'देवदत्तस्य एकः पुत्रः, स एव ज्येष्ठः, स एव मध्यमः, स एव कनिष्ठः' । प्रकृत उदाहरण 'अ+भ्याम्' में केवल अकार के होने से उसे ही 'आदि' और 'अन्त' मानकर "सुपि च" (२०२) से 'अदन्त अङ्ग' निमित्तक दीर्घ होकर 'आभ्याम्' रूप सिद्ध होता है ।

(३४९) पद—न, इदमदसोः, अकोः । अनुवृत्ति—भिसः, ऐस् । विधि(निषेध)सूत्र ।

मूलार्थ—ककाररहित 'इदम्' और 'अदस्' शब्द से पर 'भिस्' को 'ऐस्' नहीं होता । एकार हुआ । एभिः । ह्रस्व अकार । नित्य होने से 'ङे'=स्मै । अनन्तर 'इद्' भाग का लोप । अस्मै, आभ्याम्, एभ्यः । अस्य, अनयोः, एषाम् । अस्मिन्, अनयोः, एषु । अकच् प्रत्यय होने पर—अयकम्, इमकौ, इमके । इमकम्, इमकौ, इमकान् । इमकेन, इमकाभ्याम्, इमकैः ।

विवरण—"अतो भिस ऐस्" (७-१-९) से 'भिसः' तथा 'ऐस्' की अनुवृत्ति की जाती है । तदनुसार 'अकच्'-आदि ककारयुक्त प्रत्ययों से रहित 'इदम्' तथा 'अदस्' से परवर्ती 'भिस्' के स्थानपर 'ऐस्' आदेश नहीं होगा । **उदाहरण**—(ग) इदम्+भिस्, <इद०+भिस् (म् = अ तथा पररूप), <अ+भिस् ('इद्' का लोप), <ए+भिस् (अ = ए—"बहुवचने झल्येत्" २०५, "अतो भिस ऐस्" ७-१-९ से प्राप्त भिस् = ऐस् का निषेध), <एभिः (रु, विसर्ग) । (क) इदम्+ङे, <इद+ङे (म् = अ तथा पररूप), <इद०+स्मै (ङे = स्मै), <अ+स्मै ('इद्'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इमकौ, इमके । इमकम्, इमकौ, इमकान् । इमकेन, इमकाभ्याम्, इत्यादि ।

(३५०) इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ २ । ४ । ३२ ॥ अन्वादेशविषय-

---

रूपत्वं, सुट्, हलि लोपः, एत्त्वषत्वे । अस्मिन्निति । अत्वं, पररूपत्वं, स्मिन्, हलि लोपश्चेति भावः । एष्विति । अत्वं, पररूपत्वं, हलि लोपः, एत्त्वषत्वे इति भावः । ककारयोगे त्विति । 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' इत्यनेन इदंशब्दस्य अकचि सतीत्यर्थः । अयकमिति । अकचि सति निष्पन्नस्य इदकंशब्दस्य तन्मध्यपतितन्यायेन 'इदमो मः' इत्यादाविदंग्रहणेन ग्रहणान्मत्वादिकमिति भावः । 'अनाप्यक' इति 'हलि लोपः' इति, 'नेदमदसोरकोः' इति च नेह प्रवर्तते, ककारयोगे तन्निषेधादित्याशयेनाह—इमकेन इमकाभ्यामिति । इत्यादीति । इमकैः । इमकस्मै । इमकेभ्यः । इमकस्मात् । इमकस्य इमकयोः इमकेषाम् । इमकस्मिन् इमकेषु ।

(३५०) इदमोऽन्वादेशे । अन्वादेशे अश् इति च्छेदः । अन्वादेशे इदमः अश् स्यात् तृतीयादिविभक्तौ, स चानुदात्त इति स्पष्टोऽर्थः । 'आशास्ते यं यजमानोऽसौ । आयुराशास्ते' इति प्रस्तुत्य 'तदस्मै देवा राधन्ताम्' इत्युदाहरणम् । तत् आयुरादि अस्मै यजमानाय देवाः साधयन्त्वित्यर्थः । अत्र अस्मै इत्युदाहरणम् । इद स्मै इति स्थिते प्रकृतेरशादेशे अनुदात्ते सति 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इति स्मै इत्यैकारः अनुदात्तः । तथा च अस्मै इति सर्वानुदात्तः । एवमाभ्यामित्यादावपि हलादावुदाहरणम्, द्वितीयादावचि टौसोरे-

---

का लोप), <अस्मै । (ख) आभ्याम् (पूर्ववत्) । (ग) एभ्यः (पूर्ववत्) । (क) इदम्+ङसि, इद+ङसि (म्=अ तथा पररूप), <इद०+स्मात् (ङसि = स्मात्), <अ+स्मात् ('इद्' का लोप), <अस्मात् । (ख) आभ्याम् (पूर्ववत्) । (ग) एभ्यः (पूर्ववत्) । (क) इदम्+ङस्, <इद+ङस्, (द् = अ, पररूप), <इद०+स्य (ङस = स्य), <अ+स्य ('इद्' का लोप), <अस्य । (ख) इदम्+ओस्, <इद०+ओस् (द् = अ, पररूप), <अन्-अ+ओस् (इद् = अन्), <अने+ओस् (अ = ए—"ओसि च"-२०७), <अनयोस् (ए = अय्), <अनयोः (स् =र् = :) । (ग) इदम्+आम्, <इद+आम् (द् = अ, पररूप), <इद०+स्-आम् ('सुट्' आगम), <अ+स्-आम् ('इद्' का लोप), <ए+साम् (अ = ए), <एषाम् (स् = ष्) । (क) इदम+ङि, <इद+ङि (अ, पररूप), <इद०+स्मिन् (ङि = स्मिन्), <अ+स्मिन् ('इद्' का लोप), <अस्मिन् । (ख) अनयोः (पूर्ववत्) । (ग) एषु (अत्व, पररूप, 'इद्' का लोप, एत्व, षत्व) ।

निर्देश—'तन्मध्यपतिताः तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' न्याय से 'अकच्' प्रत्ययान्त 'इदम्' (इदक) शब्द में भी पूर्व-प्रक्रिया के अनुसार सभी कार्य होंगे । "अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः" (५-३-७१) से 'अकच्' (अक्) प्रत्यय 'टि' अर्थात् 'अम्' के पूर्व होने से (इद्+अक्-अम्) 'इदकम्' को प्रकृति मानकर प्रथमा से तृतीया के द्विवचन तक रूप-प्रक्रिया 'इदम्' शब्द के समान है । (क) प्रथमा के एकवचन में म् = म्, इद् = अय् तथा विभक्ति-लोप होकर 'अयकम्' रूप बनता है । (ख) इमकौ (द् = म) । (ग) इमके (जस् = शी) । (क) इमकम् । (ख) इमकौ । (ग) इमकान् । प्रक्रिया 'राम' शब्द के समान । (क) इमकेन । (ख) इमकाभ्याम् (राम शब्द के समान) । (ग) इमकैः ('ककार' सहित होने से 'अन्'-आदेश, 'इद्' भाग का लोप तथा 'ऐस्'-निषेध-ये नहीं होते) । आगे की विभक्तियों में 'सर्व' शब्द के समान रूप होंगे—इमकस्मै, इमकाभ्याम्, इमकेभ्यः आदि ।

(३५०) पद—अन्वादेशे, अश्, अनुदात्तः, तृतीयादौ । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अन्वादेश में तृतीयादि विभक्ति पर रहते 'इदम्' शब्द को अनुदात्त 'अश्' आदेश

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्येदमोऽनुदात्तोऽशादेशः स्यात्तृतीयादौ। अश्वचनं साकच्कार्थम्। (३५१) द्वितीयाटौस्स्वेनः २। ४। ३४॥ द्वितीयायां टौसोश्च परत इदमेतदोरेनादेशः स्यादन्वादेशे। किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानमन्वादेशः। यथा 'अनेन व्याकरणमधीतम् एनं छन्दोऽध्यापय' इति। 'अनयोः पवित्रं कुलम्, एनयोः प्रभूतं स्वम्' इति। एनम्, एनौ, एनान्। एनेन। एनयोः। इति मान्ताः। गणयतेर्विच्। सुगण्,

---

नादेशस्य विशिष्य विधानात्। ननु अनुदात्तत्वमेवात्र विधीयताम्, न त्वशादेशोऽपि; त्यदाद्यत्वे हलि लोपे च अस्मै, आभ्याम् इत्यादिरूपस्यान्वादेशेऽपि सिद्धेरत आह—अश्वचनं साकच्कार्थमिति। 'इमकाभ्यां रात्रिरधीता, अथो आभ्यामहरप्यधीतम्' इत्यत्रान्वादेशे इमकाभ्याम् इति न भवति। अत्र अ अ इति प्रश्लिष्टनिर्देशाद् अनेकाल्त्वात् सर्वादेशत्वसिद्धेः शित्करणं न कर्तव्यमिति भाष्ये स्पष्टम्।

(३५१) द्वितीयाटौस्स्वेनः। द्वितीया च टाश्च ओश्च द्वितीयाटौसः, तेष्विति द्वन्द्वः। 'इदमोऽन्वादेशे' इत्यत इदम इति, अन्वादेश इति चानुवर्तते। 'एतदस्त्रतसोः' इत्यत एतद इति च। तदाह—द्वितीयायामित्यादिना। 'अन्वादेशशब्दं व्याचष्टे—किञ्चिदिति। विधातमिति। अपूर्वं बोधयितुमित्यर्थः। अन्वादेशमुदाहृत्य दर्शयति—यथेति। उदाहरणप्रदर्शने यथाशब्दः। 'ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः। एतमातं ङितं विद्याद्वाक्यस्मरणयोरङित्।' इत्यत्र तु एनादेशो न, पूर्वार्धस्थयच्छब्दयोगेन अनुवादत्वात्। किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य इत्यत्र च पूर्ववाक्ये यथाकथञ्चित्तदुपादानं विवक्षितम्, न त्विदमेवेत्याग्रह इति भाष्ये स्पष्टम्। इति मान्ताः। अथ णकारान्ता निरूप्यन्त। गणयतेर्विजिति। 'गण-सङ्ख्याने' इति चुरादिः अदन्तः। ततः सुपूर्वात् स्वार्थे णिच्। अलोपस्य स्थानिवत्त्वाद् नोपधावृद्धिः। तस्माद्विच्, अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति वचनात्। णिलोपः,

---

होता है। 'अश्' में 'श्' इत्संज्ञक वर्ण का निवेश होने से अकच्-युक्त पदों में भी वह समग्र स्थानी को अभिव्याप्त करेगा।

विवरण—'अन्वादेश' पद का शाब्दिक अर्थ है 'उक्त वार्ता का पुनः उपादान' (पश्चात्–अनु–आदेशः-अन्वादेशः)। अर्थात् किसी कार्य के सम्बन्ध में पहले कही गई बात को अन्य वार्ता के प्रसङ्ग में फिर कहना "अन्वादेश" कहलाता है। उदाहरण—'आभ्यां छात्राभ्यां रात्रिरधीता' (इन छात्रों द्वारा रातभर पढ़ा गया)—यह आदेश वाक्य है। उसी के विषय में कुछ और कहे जाने पर—'आभ्याम् अहरप्यधीतम्' (इन्होंने दिन में भी पढ़ा)—यह अन्वादेश होता है। इस प्रकार 'पुनः कथन' में 'इदम्' शब्द के स्थान पर अनुदात्त 'अश्' आदेश होता है। 'अश्' आदेश होने पर अथवा 'इद्' भाग का लोप होने पर रूप में तो भेद नहीं होता, तथापि स्वर में भेद होता है। किन्तु अकच्-युक्त 'इदम्' शब्द में रूप-भेद भी होगा। कारण यह है कि 'अश्' आदेश 'श्'–इत्संज्ञक होने के कारण समग्र 'इदम्' को अभिव्याप्त करेगा।

विशेष—'अन्वादेश' से अन्यत्र अर्थात् पूर्व-वाक्य में (आदेश-वाक्य में) 'आभ्याम्'–में विभक्ति (भ्याम्) उदात्त होने के कारण ("ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः" ६-१-१७१) अवशिष्ट 'आ' अनुदात्त रहता है। अन्वादेश में अनुदात्त 'अश्' (अ) आदेश होकर विभक्ति (भ्याम्) भी "अनुदात्तौ सुप्पितौ" (३-१-३) से अनुदात्त होती है—आभ्याम्।

(३५१) पद—द्वितीयाटौस्सु, एनः। अनुवृत्ति—एतदः, इदमः, अन्वादेशे, अनुदात्तः। विधिसूत्र।

मूलार्थ—द्वितीया विभक्ति, टा तथा ओस् पर रहते अन्वादेश में 'इदम्' तथा 'एतद्' शब्द के स्थान में 'एन' आदेश होता है। किसी कार्य के करने में पहले किसी को प्रवृत्त करा दिया जाय,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुगणौ, सुगणः। सुगण्ठ्सु-सुगण्ट्सु-सुगण्सु। क्विप्, 'अनुनासिकस्य क्विझलोः'—(सू २६६६) इति दीर्घः। सुगाण्, सुगाणौ, सुगाणः। सुगाण्ठ्सु-सुगाण्ट्सु-सुगाण्सु। इति णान्ताः। परत्वादुपधादीर्घः, हल्ङ्यादिलोपः, ततो नलोपः। राजा।

अपृक्तलोपः, ततः सुबुत्पत्तिः, हल्ङ्यादिना सुलोपः, सुगण् इति रूपम्। सुगणौ, सुगणः इत्याद्यविकृतमेव। सुपि 'ङ्णोः कुक्टुक्शरि' इति दुग्धिक्कल्पः। 'चयो द्वितीयाः' इति टस्य ठः इत्यभिप्रेत्याह—सुगण्ठ्सु इति। द्वितीयाभावे रूपमाह—सुगण्ट्सु इति। टुगभावे रूपमाह—सुगण्सु इति। सुगार्णाति। ऋणधातोरदन्ताद् णिच्, अल्लोपः। तस्य स्थानिवत्त्वाद् नोपधावृद्धिः। तस्मात् क्विप्, णिलोपः, अपृक्तलोपः, अनुनासिकस्य क्विझलोः' इति दीर्घः, सुगाण् इति रूपम्। सुगाणौ सुगाणः इत्यादि। न च दीर्घे कर्तव्ये णिलोपाल्लोपयोः स्थानिवत्त्वं शङ्क्यम्, दीर्घविधौ तन्निषेधात्, क्वौ विधिं प्रति तन्निषेधाच्च। इति णान्ताः। अथ नकारान्ता निरूप्यन्ते। अथ राजन्शब्दे विशेषमाह—परत्वादिति। हल्ङ्यादिलोपापेक्षया परत्वात् पूर्वमेव 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति दीर्घः। ततो हल्ङ्यादिलोप इत्यर्थः। न च 'विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेव' इति न्यायात्

पुनः उसी को अन्य कार्य के लिए आज्ञा देना 'अन्वादेश' है। जैसे—'इसने व्याकरण पढ़ लिया है, अब छन्दःशास्त्र पढ़ाओ'। 'इन दोनों का कुल बड़ा पवित्र है, इनके पास बहुत धन भी है'। एनम्, एनौ, एनान्। एनेन। एनयोः। एनयोः। (नकारान्त पुंलिङ्ग 'राजन्' शब्द) राजा।

विवरण—'एन' आदेश किसके स्थान में हो? इस आकाङ्क्षा की पूर्ति के लिये "इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ" (२-४-३२) से 'अन्वादेशे' तथा "एतदस्त्रतसोस्त्रतसौ०" (२-४-३३) से 'एतदः' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। तदनुसार 'द्वितीया-विभक्ति', 'टा' (तृतीया का एकवचन तथा 'ओस्' (षष्ठी एवं सप्तमी के द्विवचन) पर रहते अन्वादेश में 'इदम्' तथा 'एतद्' शब्द के स्थान पर 'एन' आदेश होता है। पूर्व सूत्र में 'अन्वादेश' की व्याख्या की जा चुकी है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'अन्वादेश' (उक्त का पुनरुपादान) होने में अम्, औट्, शस्, टा, और ओस् (षष्ठी-सप्तमी) इन-छह सुप् प्रत्ययों के परवर्ती होनेपर 'इदम्' तथा 'एतद्' शब्दों के स्थान पर 'एन' का प्रयोग (सर्वादेश) होगा। **उदाहरण**—(क) "अनेन व्याकरणमधीतम्, एनं छन्दोऽध्यापय"। इस वाक्य में किसी ने "अपने पुत्रादि के सम्बन्ध में व्याकरण-अध्ययन के विषय में ज्ञात कराया, पुनः उसको छन्दःशास्त्र पढ़ाने के लिये निवेदन किया"। यहाँ पर दूसरे वाक्य में 'एनम्' (इदम् = एन-द्वितीया एकवचन) प्रयोग किया गया। (ख) इसी प्रकार अन्य वाक्य में भी 'षष्ठी'-द्विवचन-'ओस्' पर रहते इदम् = एन आदेश होकर 'एनयोः' का प्रयोग हुआ है—'अनयोः पवित्रं कुलं, एनयोः प्रभूतं स्वम्'। इसी तरह अन्यत्र वाक्यों में 'अन्वादेश' की स्थिति रहने पर क्रमशः—एनम् (अम्), एनौ (औ), एनान् (शस्), एनेन (टा), एनयोः (ओस्) का प्रयोग होगा। मकारान्त शब्दों की प्रक्रिया समाप्त होती है।

निर्देश—१-'णकारान्त 'सुगण्' शब्द की विभक्तियों में प्रक्रिया का निदर्शन किया जारहा है। चुरादिगण-पठित अकारान्त √गण धातु से 'णिच्' प्रत्यय करने के पश्चात् 'विच्' प्रत्यय किया जाता है। धातु के अकार, णि, तथा 'विच्' का लोप होने पर 'सुगण्' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। इस शब्द के प्रथमा एक-वचन में विभक्ति-लोप होता है। तदनन्तर 'सुप्' तक कोई विशेष कार्य नहीं होता। केवल यथाश्रुत विभक्तियोग होता है। (क) इस प्रकार 'सुगण्' (सु), सुगणौ (औ), सुगणः (अस्-'जस्')—आदि रूप सिद्ध होंगे। (ख) सप्तमी बहुवचन में तीन रूप बनते हैं—(१) सुगण्ठ्सु—"ङ्णोः कुक्टुक् शरि" (१३०)। 'सु' के पूर्व 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' (वा०) वैकल्पिक ट् = ठ्। (२) सुगण्ट्सु (ट् = ठ् न होने पर)। (३) सुगण्सु ('टुक्' आगम के भी न होने पर)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३५२) न ङिसम्बुद्ध्योः ८।२।८॥ नस्य लोपो न स्याद् ङौ सम्बुद्धौ च। हे राजन्। ङौ तु छन्दस्युदाहरणम्। 'सुपां सुलुक्—' (सू ३५६१) इति ङेर्लुक्। निषेधसामर्थ्यात्प्रत्ययलक्षणम्। 'परमे व्योमन्'। 'ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः' (वा

कथमिह हल्ङ्यादिलोप इति वाच्यम्, 'पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम्' इति 'विप्रतिषेधे यद्बाधितम्' इत्यस्य असार्वत्रिकत्वादिति भावः। नलोप इति। 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नकारस्य लोप इत्यर्थः। हे राजन् स् इति स्थिते हल्ङ्यादिना सुलोपे सति नकारस्य पदान्तत्वात्, प्रातिपदिकान्तत्वाच्च लोपे प्राप्ते।

(३५२) न ङिसम्बुद्ध्योः। 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इत्यतो न लोप इत्यनुवर्तते। तत्र नेति लुप्तषष्ठीकम्। तदाह—नस्येत्यादिना। हे राजन्निति। 'सर्वनामस्थाने च' इति दीर्घस्तु न, असम्बुद्ध्यावित्युक्तेः। नन्वत्र ङिग्रहणं व्यर्थम्, राजनीत्यत्र भत्वात्पदत्वाभावान्नलोपस्याप्रसक्तेरित्यत आह—ङौ तु छन्दसीति। छन्दस्येवेत्यर्थः। ननु छन्दस्यपि ङौ परतो भत्वात् पदत्वाभावात् कथं नकारस्य लोपप्रसङ्गः येन तन्निषेधोऽर्थवान् स्यादित्यत आह—सुपामिति। ननु 'परमे व्योमन्' इत्यादौ ङेर्लुका लुप्तत्वात् प्रत्ययलक्षणाभावात् कथं तत्र 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इत्यस्य प्रवृत्तिरित्यत आह—निषेधसामर्थ्यादिति। छन्दस्यपि ङिलुकि प्रत्ययलक्षणाभावे सति 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इत्यप्रवृत्तौ तद्वैयर्थ्यादिति भावः। ननु यदि छन्दसि 'परमे व्योमन्' इत्यादौ ङेर्लुका लुप्तवेऽपि प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इत्यस्य प्रवृत्तिरभ्युपगम्यते, तर्हि चर्मणि तिला अस्य चर्मतिलः, ब्रह्मणि निष्ठा अस्य ब्रह्मनिष्ठः इत्यत्रापि समासे ङिलुकः प्रत्यलक्षणमाश्रित्य 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इति नकारस्य लोपनिषेधः स्यादित्यत आह—ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्य इति। उत्तरपदे परतो यः ङिः तस्मिन् परे 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इति निषेधस्य प्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः। एवं च चर्मतिल इत्यत्र उत्तरपदे परतः 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इति प्रतिषेधाभावाद् नकारस्य लोपो निर्बाध इति भावः। भाष्ये तु छन्दसि 'परमे व्योमन्' इत्यत्र 'अयस्मयादीनि छन्दसि' इति भत्वात् पदत्वाभावान्नकारलोपस्याप्रसक्तेर्ङौ प्रतिषेधो न कर्तव्य इति ङिग्रहणं प्रत्याख्यातम्। न च राजन्यतीत्यत्र लोके राजनीवाचरतीत्यर्थे 'अधिकरणाच्च' इति क्यचि 'सनाद्यन्ताः' इति धात्ववयवत्वात् 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति ङेर्लुकि राजन्य इत्यस्मात् तिपि राजन्यतीत्यत्राप्यन्तर्वर्तिविभक्त्या पदत्वमाश्रित्य नकारस्य लोप-

---

२—यदि 'णिच्' प्रत्ययान्त √ गण से 'विच्' प्रत्यय न किया जाय, किन्तु 'क्विप्' किया जाय तो 'धातु' के 'अ' को दीर्घ होकर 'सुगाण्' प्रातिपदिक की निष्पत्ति होती है। तब प्रथमा में (क) सुगाण्, सुगाणौ, सुगाणः–पूर्ववत् रूप बनेंगे तथा सप्तमी के बहुवचन में पूर्ववत्—सुगाण्ठ्सु, सुगाण्ट्सु, सुगाण्सु—ये तीन रूप भी बनेंगे।

३—'न'कारान्त 'राजन्' शब्द के विभक्ति-कार्यों का उल्लेख किया जारहा है। (क) राजन्+स् (सु), <राजान्+स् ("हल्ङ्याभ्यः"–२५२ का बाधक होने से–दीर्घ), <राजान् ('स्'–विभक्तिलोप–२५२), <राजा ('न्'–लोप)।

(३५२) पद—न, ङि, सम्बुद्ध्योः। अनुवृत्ति—नः, लोपः। विधि(निषेध)सूत्र।

मूलार्थ—'ङि' और 'सम्बुद्धि' पर रहते 'न्' का लोप नहीं होता। हे राजन्। 'ङि' पर रहते 'न्'-लोप न होने का उदाहरण वेद में है। 'परमे व्योमन्' में 'ङि' विभक्ति का "सुपां सुलुक्०" से लोप हुआ है। 'न्'-लोप का निषेध होने से प्रत्ययलक्षण होता है। वा० उत्तरपद-परक 'ङि' पर रहते इसका (न्-लोप निषेध का) निषेध करना चाहिये। अर्थात् 'ङि' के विषय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४७८५)। ङौ विषये उत्तरपदे परे 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इत्यस्य निषेधो वाच्य इत्यर्थः। चर्मणि तिला अस्य चर्मतिलः। ब्रह्मनिष्ठः। राजानौ, राजानः। राजानम्, राजानौ।

प्राप्तौ तन्निषेधार्थं ङिग्रहणस्यावश्यकत्वात्तत्प्रत्याख्यानभाष्यमनुपपन्नमिति वाच्यम्, एतद्भाष्यप्रामाण्यादेव राजनीवाचरतीत्यर्थे 'अधिकरणाच्च' इति क्यचोऽनभिधानाभ्युपगमादित्यलम्। राजानौ इत्यादौ सुटि 'सर्वनामस्थाने च' इति दीर्घः। शसि विशेषमाह—अल्लोपोऽन इति। अनेन सूत्रेण जकारादकारस्य लोप इत्यर्थः। राजन् अस् इति स्थिते—श्चुत्वमिति। ततश्च नकारस्य ञकारे राञ्ज इति सिद्धम्। ननु 'अचः परस्मिन्' इत्यल्लोपस्य पूर्वस्मादपि विधौ स्थानिवत्त्वात् कथमिह श्चुत्वमित्यत आह—न चाल्लोपः स्थानिवदिति। कुत इत्यत आह—पूर्वत्रेति। 'पूर्वत्रासिद्धे' इति श्चुत्वे कर्तव्ये स्थानिवत्त्वनिषेधादित्यर्थः। ननु अल्लोपो भसञ्ज्ञापेक्षो बहिर्भूतस्वादिप्रत्ययापेक्षो बहिरङ्गः। श्चुत्वं तु श्चुयोगमात्रापेक्षत्वादन्तरङ्गम्। ततश्च 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति परिभाषया श्चुत्वे कर्तव्ये बहिरङ्गस्याल्लोपस्यासिद्धत्वादकारेण व्यवधानात् कथमिह श्चुत्वमित्यत आह—नापीति।

में उत्तरपद पर रहते "न ङि सम्बुद्ध्योः" प्रवृत्त नहीं होता। इसके उदाहरण 'चर्मतिलः' 'ब्रह्मनिष्ठः' हैं। राजानौ, राजानः। राजानम्, राजानौ। "अल्लोपोऽनः"। श्चुत्व। पूर्वत्रासिद्ध में स्थानिवद्भाव का निषेध होने से यहाँ 'अ'-लोप को स्थानिवद्भाव नहीं किया जा सकता। 'यथोद्देश' पक्ष में भी षष्ठाध्यायस्थ "वाह ऊठ्" सूत्र में ज्ञापित 'असिद्ध'-परिभाषा के प्रति श्चुत्व असिद्ध होने पर भी अन्तरङ्ग के अभाव में परिभाषा की प्रवृत्ति न होने से बहिरङ्ग होने के कारण उसे असिद्ध नहीं माना जा सकता। ज् और ञ् मिलकर 'ञ्' हुआ। राञ्ज्ञः। राज्ञा।

विवरण—विशेष परिस्थिति में 'न्'-लोप का निषेध किया जारहा है। अतः "न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य" (८-२-७) से 'नः लोपः' की अनुवृत्ति करने से सूत्रार्थ पूरा होता है। तदनुसार 'ङि' (सप्तमी-एकवचन) तथा 'सम्बोधन का एकवचन' पर रहते 'न्'-लोप नहीं होता। यह सूत्र "न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य" का अपवाद है। **उदाहरण**—(क) हे राजन्+सु, <हे राजन् (सम्बोधन में 'सु'लोप होनेपर प्रकृत सूत्र से 'न्'-लोप का निषेध)। सम्बोधन के एकवचन में दीर्घ नहीं होता। 'ङि' प्रत्यय का उदाहरण वेद में मिलता है। कारण यह है कि लोक में 'राजन्' आदि नकारान्त शब्दों में सप्तमी का एकवचन 'इ' (ङि) अजादि प्रत्यय है, अतः भसंज्ञा होने से 'न्'-लोप की प्राप्ति नहीं तो निषेध कैसा? इसका उदाहरण है 'परमे व्योमन्'। वेद में (व्योम्नि = व्योमन्) "सुपां सुलुक्०" (७-१-३९) 'ङि' विभक्ति का लोप होता है। प्रकृत सूत्र से 'ङि' में विशेषतया 'न्'-लोप का निषेध किया जाता है, अतः "न लुमताङ्गस्य" (२६३) से प्रत्यय-लक्षण का निषेध नहीं होता। अर्थात् प्रत्ययलक्षण होने से 'ङि' को मान कर 'न्'-लोप का निषेध हो जाता है। इस परिकल्पना से 'ब्रह्मनिष्ठः' (ब्रह्मणि निष्ठा यस्य सः—ब्रह्मन्+ङि, निष्ठा+सु) तथा 'चर्मतिलः' (चर्मणि तिलाः अस्य) आदि उदाहरणों में प्रत्ययलक्षण मानकर 'ङि' पर आधारित 'न्'-लोप का निषेध प्राप्त होता है। एक विशेष-वार्तिक का आश्रय लेकर समास-स्थल पर इस दोष का प्रतीकार किया जारहा है। **वार्तिक** का अर्थ यह है कि 'ङि' के विषय में उत्तरपद पर रहते (= समास में) "न ङि सम्बुद्ध्योः" (३५२) सूत्र से प्राप्त 'न्' लोप-निषेध का प्रतिषेध करना चाहिये। इस प्रकार 'ब्रह्मनिष्ठः' आदि समास-युक्त स्थलों पर 'न्'-लोप हो जाने से इष्टरूप सिद्ध होते हैं। (ख) प्रकृत में 'राजन्' शब्द के प्रथमा-द्विवचन में—राजन्+औ <राजान्+औ (उपधादीर्घ), <राजानौ। (ग) राजन्+अस् (जस्), <राजानः (उपधा दीर्घ, स् = र् = :)। (घ) राजन्+अम्, <राजान्+अम् (उपधादीर्घ), <राजानम्। (ङ) राजानौ (औ)। (च) राजन्+अस् (शस्), <राज्-न्+अस् ('अन्'-सम्बन्धी 'अ' का लोप—"अल्लोपोऽनः-२३४), <राज्-ञ्+अस् (न्=ञ्—श्चुत्व), <राञ्ज्ञः (स् = र् = :)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अल्लोपोऽनः' (सू २३४)। श्चुत्वम् । न चाल्लोपः स्थानिवत्, पूर्वत्रासिद्धे तन्निषेधात् । नापि वहिरङ्गतया असिद्धः, यथोद्देशपक्षे षाष्ठीं परिभाषां प्रति श्चुत्वस्यासिद्धतयाऽ-

---

यथोद्देशेति । यथोद्देशं सञ्ज्ञापरिभाषमित्येकः पक्षः । उद्देशा उत्पत्तिप्रदेशाः, ताननतिक्रम्य यथोद्देशम् । यत्र प्रदेशे सञ्ज्ञापरिभाषयोरुत्पत्तिः, तत्रैव ते स्थिते प्रतिविधि व्याप्रियेते इत्यर्थः । 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति परिभाषेयं षष्ठाध्याये 'वाह ऊठ्' इति सूत्रे ज्ञापितेति तत्रैव भाष्ये स्पष्टम् । ततश्च इयं षाष्ठी परिभाषा त्रैपादिके श्चुत्वे कर्तव्ये अन्तरङ्गेऽपि न प्रवर्तते । तां प्रति श्चुत्वस्य अन्तरङ्गस्यासिद्धतया तद्दृष्ट्या श्चुत्वस्यैवाभावेन तद्विषये तस्याः परिभाषायाः प्रवृत्त्यसम्भवात् । तथा च श्चुत्वे कर्तव्ये बहिरङ्गस्याप्यल्लोपस्यासिद्धत्वाभावादिह श्चुत्वं निर्बाधमिति भावः । 'कार्यकालं सञ्ज्ञापरिभाषम्' इत्यप्यस्ति पक्षान्तरम् । प्रतिविधिप्रदेशं प्राप्य सञ्ज्ञापरिभाषे व्याप्रियेते इत्यर्थः । अस्मिन् पक्षे यद्यपि श्चुत्वमन्तरङ्गं पुरस्कृत्य 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति परिभाषाऽत्र प्रवृत्तिमर्हति, तथापि लक्ष्यानुरोधात् कार्यकालपक्षो नेहाश्रीयत इत्यलम् । जञोर्ज्ञ इति । ज्ञ्योगे तादृशध्वनेर्लोकवेदसिद्धत्वादिति भावः । नत्विदं वर्णान्तरम्, शिक्षादावदर्शनात् । अत एतज्ज्ञानमिति श्चुत्वसिद्धिरित्याहुः । राज्ञः । राज्ञेति । शसादावचि भत्वादल्लोपे नकारस्य श्चुत्वेन ञकार इति भावः । ननु राजन् भ्यामिति स्थिते 'स्वादिषु' इति पदत्वात् कृते नलोपे 'सुपि च' इति दीर्घः प्राप्नोति । तथा राजन् भिस् इति स्थिते नलोपे 'अतो

इस प्रसङ्ग में यह शङ्का होती है कि 'राज्ञः' में जकारोत्तरवर्ती अकार के लोप को "अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" (१-१-५७) से स्थानिवद्भाव द्वारा अकार की विद्यमानता का आहार्य-ज्ञान कर श्चुत्व विधान कैसे हो सकेगा ? इसके समाधान में 'असिद्ध'–विधान का आश्रय लिया जाता है । "पूर्वत्रासिद्धम्" (१-१-५७) के अनुसार अष्टाध्यायी-सूत्र-क्रम में पहले सवा-सात अध्यायों की अपेक्षा त्रिपादी-शास्त्र (अवशिष्ट तीन पाद) असिद्ध होता है । इस दृष्टि से विचार करने पर "अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" (१-१-५७) सूत्र 'सपाद-सप्ताध्यायी' के अन्तर्गत है तथा 'श्चुत्व'–विधायकशास्त्र (८-४-४०) 'त्रिपादी' के मध्य पठित है । अतः उसके असिद्ध होने से 'श्चुत्व' होने में स्थानिवद्भाव प्रवृत्त ही नहीं होता–'पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत्' । दूसरी तरह पुनः वही शङ्का की जारही है कि 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' परिभाषा की उपस्थिति होने से अन्तरङ्ग 'श्चुत्व' के प्रति बहिरङ्ग 'अ-लोप' असिद्ध होने के कारण 'अ' बुद्धि द्वारा 'श्चुत्व' विधान के विषय में पुनरपि सन्देह बना रहता है । 'श्चुत्व' केवल 'श्' तथा 'चवर्ग' का अपेक्षी होने से 'अन्तरङ्ग' है । "अल्लोपोऽनः" (२३४) की प्रवृत्ति में 'भ' संज्ञा की अपेक्षा है । अतः वह 'बहिरङ्ग' है । उक्त परिभाषा के सम्बन्ध में 'यथोद्देश'–पक्ष का आश्रय लेकर इसका निवारण किया जाता है । 'यथोद्देश' पक्ष के अनुसार अध्येता को संज्ञा या परिभाषा का अर्थज्ञान जिस स्थान पर कराया जाता है वहीं वह तदर्थ ज्ञान प्राप्त कर विधि-प्रदेश में स्वतः उन पदों के संकेत से अभीष्ट अर्थ को ग्रहण करने में समर्थ होता है । उसे पुनः उस विषय में जिज्ञासा नहीं करनी पड़ती । प्रकृत विषय से सम्बद्ध 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' परिभाषा "वाह ऊठ्" (६-४-१३२) से ज्ञापित होने के कारण षष्ठाध्याय की है । इस प्रकार षष्ठाध्यायस्थ परिभाषा की दृष्टि से त्रिपादीस्थ "स्तोः श्चुना श्चुः" (८-४-४०) शास्त्र अन्तरङ्ग होने पर भी असिद्ध ही माना जाता है । असिद्ध होने के कारण अन्तरङ्गशास्त्र का ज्ञान न होने से उस परिभाषा का यहाँ विषय न होने के कारण 'श्चुत्व' होने में कोई बाधा नहीं है ।

(छ) तृतीया का एकवचन—राजन्+आ (टा), <राज्ञा (अ–लोप तथा श्चुत्व) ।

विशेष—कार्यकाल-पक्ष में श्चुत्व के 'अन्तरङ्ग' होने से उपर्युक्त परिभाषा की प्रवृत्ति होने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये । अतः पुनरपि श्चुत्व होने में सन्देह बना रहता है । इस पक्ष में समा-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्तरङ्गाभावे परिभाषाया अप्रवृत्तेः। जनोर्ज्ञः। राज्ञः। राज्ञा। (३५३) नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति ८।२।२॥ सुब्विधौ स्वरविधौ संज्ञाविधौ कृति तुग्विधौ च नलोपोऽसिद्धः, नान्यत्र 'राजाश्वः' इत्यादौ। इत्यसिद्धत्वादात्वमेत्त्वमैस्त्वं च

भिसः' इत्यैस् प्राप्नोति। तथा राजन् भ्यस् इति स्थिते नलोपे 'बहुवचने झल्येत्' इत्येत्त्वं प्राप्नोति। न च नलोपस्यासिद्धत्वादिह दीर्घः ऐस् एत्त्वं च नेति वाच्यम्, नलोपविषये 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यस्य प्रवृत्तौ राजाश्वो दण्डश्च इत्यादावपि नलोपस्यासिद्धत्वात् सवर्णदीर्घयणाद्यनापत्तेरित्यत आह।

(३५३) नलोपः सुप्। नस्य लोपो नलोपः। विधिशब्दो भावसाधनः। विधानं विधिः। सुप्च स्वरश्च सञ्ज्ञा च तुक्च तेषां विधय इति सम्बन्धसामान्यषष्ठ्या समासः। कृतीति तु तुकैव सम्बध्यते, अन्यत्रासम्भवात्। तदाह—सुब्विधावित्यादिना। सुपो विधिः सुब्विधिः। सम्बन्धसामान्यं विवक्षितम्। सुबाश्रये विधाविति यावत्। स्वरस्य विधिः। कर्मणः शेषत्वविवक्षया षष्ठी। स्वरे विधेये इति यावत्। एवं सञ्ज्ञाविधावित्यपि कर्मणः शेषत्वविवक्षया षष्ठी। सञ्ज्ञायां विधेयायामिति यावत्। कृति परतो यस्तुक् तस्य विधिः कृति तुग्विधिः। इहापि कर्मणः शेषत्वविवक्षया षष्ठी। कृति परे यस्तुक् तस्मिन् विधेये इति यावत्। 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्येव सिद्धे अन्यनिवृत्तिफलकनियमार्थमेतदित्याह—नान्यत्रेति। अन्यत्रेत्येतदुदाहृत्य दर्शयति—राजाश्व इत्यादाविति। आदिना दण्ड्यश्च इत्यादिसङ्ग्रहः। अत्र सवर्णदीर्घयणादिविधीनां सुब्विध्याद्यनन्तर्भावात् तेषु कर्तव्येषु नलोपस्यासिद्धित्वाभावे सति नकारलोपस्य सत्त्वात् सवर्णदीर्घादिकं निर्बाधमिति भावः। प्रकृते राजभ्याम् राजभिः राजभ्यः इत्यत्र दीर्घादि न भवत्येवेत्याह—इत्यसिद्धत्वादिति। सुपि परतो दीर्घविधिः, भिस ऐस्विधिः, भ्यसि एत्त्वविधिश्च सुबाश्रयविधय इति तेषु कर्तव्येषु परिसङ्ख्याविधिलभ्यासिद्धत्वनिषेधाभावे सति 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति नलोपस्यासिद्धत्वान्न दीर्घादिकमित्यर्थः। वस्तुतस्तु अन्यनिवृत्तिफलकसिद्धविषयविधित्वमेव नियमविधित्वम्। अत एव 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इत्यत्र पञ्चानां पञ्चनखप्राणिनां भक्षणनियमे तदितरेषां पञ्चनखानां भक्षणप्रतिषेधो गम्यते इति पस्पशाह्निकभाष्ये प्रपञ्चितम्। तदाह—इत्यसिद्धत्वादिति। ननु दण्डिष्वित्यत्र नलोपे कृते इणः परत्वात् सस्य षत्वमिति स्थितिः। तत्र षत्वविधेः सुबाश्रयविधित्वात् तत्र कर्तव्ये नलोपस्यासिद्धत्वात् कथं षत्वमिति चेत्? मैवम्—न हि षत्वविधिः सुब्विधिः। सुप्त्वं तद्व्याप्यधर्मं वा पुरस्कृत्य प्रवर्त्तमानो विधिर्हि सुब्विधिरिह विवक्षितः। न च षत्वविधिस्तथा। अतस्तत्र नलोपस्य सिद्धत्वमस्त्येवेति षत्वं निर्बाधम्। अस्तु वा षत्वविधिरपि सुब्विधिः। तथापि तस्मिन् कर्तव्ये नलोपस्यासिद्धत्वं न भवत्येव। तदसिद्धत्वं हि किं 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यनेना-

---

धान यह दिया जाता है कि "पूर्वत्रासिद्धम्" (१-१-५७)—यह प्रत्यक्ष-सिद्ध वचन है तथा "असिद्धं बहिरङ्गमन्तङ्गे" परिभाषा "वाह ऊठ्" (६-४-१३२) सूत्र से ज्ञापित होने से आनुमानिक है। आनुमानिक होने के कारण वह गौण है। इस हेतु 'कार्यकाल-पक्ष' में भी उसकी प्रवृत्ति नहीं होती।

(३५३) पद—नलोपः, सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु, कृति। अनुवृत्ति—असिद्धः। नियमसूत्र।

मूलार्थ—सुप्-विधि, स्वरविधि, संज्ञाविधि तथा 'कृत्' सम्बन्धी तुग्विधि के विषय में 'न्'-लोप असिद्ध रहता है, अन्यत्र 'राजाश्वः' इत्यादि में असिद्ध नहीं होता। इस तरह असिद्ध होने से 'आ', 'ए' तथा 'ऐस्'-विधियाँ नहीं होतीं। राजभ्याम्, राजभिः। राज्ञे, राजभ्यः। राज्ञः, राज्ञोः,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न। राजभ्याम्, राजभिः। राज्ञे। राजभ्यः। राज्ञः, राज्ञोः, राज्ञाम्। राज्ञि–राजनि। प्रतिदीव्यतीति—प्रतिदिवा, प्रतिदिवानौ, प्रतिदिवानः। अस्य भविष्येऽल्लोपे कृते।

पाद्यते, उत 'नलोपः सुप्स्वर' इत्यनेनैव? न तावदाद्यः, नलोपविधेः पत्वविध्यपेक्षया पूर्वत्वेन तस्य पत्वे कर्तव्ये असिद्धत्वासम्भवात्। न द्वितीयः, 'नलोपः सुप्स्वर' इत्यनेन हि राजभ्यामित्यादौ नलोपस्यासिद्धत्वमपूर्वं न विधीयते, किन्तु 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यनेन प्राप्तमेव नियमार्थं पुनर्विधीयते राजाश्व इत्यादौ सुप्स्वरसञ्ज्ञातुग्विधिभिन्न-सवर्णदीर्घादिविधिसिद्धये। दण्डिष्वित्यत्र तु नलोपस्यासिद्धत्वं 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यनेन प्राप्तं न भवतीति तस्य 'नलोपः सुप्स्वर' इति सूत्रविषयत्वं न सम्भवति। अन्यथा सुष्विधावित्यनेन दण्डिष्वित्यादौ षत्वे कर्तव्ये नलोपासिद्धत्वमपूर्वं विधीयेत। राज-भ्यामित्यादौ तु दीर्घादौ कर्तव्ये सिद्धमेव नियमार्थं विधीयत इति विधिवैरूप्यमापद्येत। तस्माद्दण्डिष्वित्यादौ षत्वे कर्तव्ये नलोपस्यासिद्धत्वाभावाद् नलोपस्य सत्त्वादिणः परत्वानपायात् षत्वं निर्बाधमिति शब्देन्दुशेखरे प्रपञ्चितम्। प्रकृतमनुसरामः। स्वरविधौ यथा—पञ्चार्मम्। अत्र नलोपस्यासिद्धत्वादकारान्तत्वाभावाद् 'अर्मे चावर्णं द्व्यच्त्र्यच्' इति पूर्वपदाद्युदात्तत्वं न भवति। सञ्ज्ञाविधौ यथा—दण्डिदत्तौ दत्तदण्डिनौ। अत्र 'द्वन्द्वे धि' इति पूर्वनिपातनियमो न भवति, धिसञ्ज्ञाविधौ नलोपस्यासिद्धत्वेन इदन्तत्वविरहात्। कृति तुग्विधौ यथा—वृत्रहभ्याम् वृत्रहभिः। अत्र 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' इति विहितं क्विपमाश्रित्य 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इति न तुक्, नलोपस्या-सिद्धत्वेन ह्रस्वस्य नकारव्यवहितत्वात्। कृतीति विशेषणात् 'छे च' इति तुग्विधौ

राज्ञाम्। राज्ञि–राजनि। क्रीड़ा करने वाला अर्थ में (प्रतिदीव्यति इति) 'प्रतिदिवन्' शब्द है। उसके रूप प्रतिदिवा, प्रतिदिवानौ, प्रतिदिवानः। भसंज्ञा के विषय में 'अ' का लोप करने पर (वकारान्त की उपधा को दीर्घ-विधान किया जारहा है)।

विवरण—असिद्ध के विषय में नियामक होने के फलस्वरूप "पूर्वत्रासिद्धम्" (८-२-१) सूत्र से विभक्ति-विपरिणाम कर 'असिद्धः' पद अनुवृत्ति द्वारा लाया जाता है। तदनुसार इन कार्यों के विषय में 'न्' का लोप असिद्ध होता है—१–सुप्-सम्बन्धी कार्य (सुपः विधिः = सुब्विधिः, तस्मिन्) २—स्वरकार्य (स्वरस्य विधिः, तस्मिन्, 'शेष'-षष्ठी) ३—संज्ञा, (संज्ञायाः विधिः तस्मिन्, 'कर्म' में षष्ठी) ४—तथा कृत्प्रत्यय होने पर 'तुक्' आगम (कृति परतः यः तुक् तस्य विधिः, तस्मिन्, कर्मणि षष्ठी)। इनसे अन्यत्र अर्थात् दीर्घ, यण्–आदि विधियों में 'न्'–लोप असिद्ध नहीं होता। इसके फलस्वरूप 'राजाश्वः' (राज्ञः अश्वः = राजन्+अश्वः, <राज+अश्वः–'न्' लोप होने के पश्चात्) इत्यादि उदाहरणों में 'न्'–लोप असिद्ध न होने से सवर्ण-दीर्घ (अ+अ = आ) हुआ है। 'राजन्' शब्द में प्रकृत सूत्र से प्रभावित होने वाली विभक्तियाँ हैं—(क) भ्याम् (ख) भिस्, तथा (ग) भ्यस्। इन विभक्तियों में क्रमशः (क) राजभ्याम्, (ख) राजभिः तथा (ग) राजभ्यः रूप बनते हैं। उपर्युक्त हलादि विभक्तियों में पद-संज्ञा होने से 'राजन्' में 'न्' लोप होता है। उसके असिद्ध होने से उल्लिखित रूपों में क्रमशः "सुपि च" (७-३-१०२) से दीर्घ, "अतो भिस ऐस्" (७-१-९) से 'भिस्' = ऐस् तथा "बहुवचने झल्येत्" (७-३-१०३) से 'अ' के स्थान पर 'ए'–ये विधान नहीं होते। अजादि विभक्तियों में भ–संज्ञा होने के कारण 'अन्' के अकार का लोप होकर 'श्चुत्व' विधि से (क) राज्ञे (ङे), (ख) राज्ञः ('ङसि' तथा 'ङस्'), (ग) राज्ञोः (ओस्), (घ) राज्ञाम् (आम्) तथा (ङ) राज्ञि-राजनि (ङि) (विकल्प से 'अन्'–सम्बन्धी 'अ' का लोप—"विभाषा ङिश्योः"–१३७) रूप सिद्ध होते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३५४) हलि च ८।२।७७॥ रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घः स्याद्धलि। न चाल्लोपस्य स्थानिवत्त्वम्, दीर्घविधौ तन्निषेधात्। बहिरङ्गपरिभाषा तूक्त-

---

नलोपस्य नासिद्धत्वम्। ततश्च वृत्रहच्छत्रम्। इह स्यादेव 'छे च' इति तुक्। भाष्ये तु वृत्रहभ्यामित्यादौ नलोपस्य सत्त्वेऽपि सन्निपातपरिभाषया 'ह्रस्वस्य पिति'—इति तुक् न भविष्यतीति तुग्विधिग्रहणं प्रत्याख्यातम्। 'स्वादिषु' इति पदत्वद्वारा भ्यां-सन्निपातनिमित्तको नलोपस्तद्विघातकं न प्रवर्तयतीत्याशयः। ननु वृत्रहधनमित्यत्र तुग्व्यावृत्त्यर्थं तुग्विधिग्रहणमावश्यकम्, तत्रान्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य प्रवृत्तं पदत्वमादाय प्रवृत्तस्य नलोपस्य सन्निपातनिमित्तकत्वाभावादिति चेन्न, तुग्विधिग्रहणप्रत्याख्यानपरभाष्यग्रामाण्येन तादृशसन्निपातानिमित्तकनलोपविषयाणां वृत्रहधनमित्यादीनामनभिधानकल्पनादित्यास्तां तावत्। राज्ञि राजनीति। 'विभाषा ङिश्योः' इत्यल्लोपविकल्प इति भावः। प्रतिदिवेति। दिवु क्रीडादौ। तस्मात् 'कनिन्युवृषितक्षि' इत्युणादिसूत्रेण कनिन्प्रत्ययः। कनाविति। इकार उच्चारणार्थः। प्रतिदिवन्शब्दात् सुबुत्पत्तिः। 'सर्वनामस्थाने च' इति दीर्घः। हल्ङ्यादिना सुलोपे प्रतिदिवा इति रूपम्। सुटि राजवत्। अस्येति। प्रतिदिवन्शब्दस्य शसादावचि 'अल्लोपोऽन' इत्यल्लोपे सतीत्यर्थः।

(३५४) हलि च। 'वोरुपधाया दीर्घ इकः' इत्यनुवर्तते, 'सिपि धातोः' इत्यतो धातोरिति च। तच्च 'वोः' इत्यनेन विशेष्यते। तदन्तविधिः। तदाह—रेफवान्तस्येत्यादिना। रेफान्तस्य जीर्यतीत्युदाहरणम्। अपदान्तत्वात् 'वोरुपधायाः' इत्यप्राप्ते विधिः। प्रकृते च प्रति दिव् न् अस् इति स्थिते नकारे हलि परे वान्तस्य दिव्धातोरुपधाया इकारस्य दीर्घ इति भावः। ननु 'अचः परस्मिन्' इत्यल्लोपस्य स्थानिवत्त्वादकारेण व्यवधानाद् हल्परत्वाभावात् कथमिह दीर्घ इत्याशङ्क्य परिहरति—न चाल्लोपस्य स्थानिवत्त्वमिति। कुत इत्यत आह—'दीर्घविधौ तन्निषेधादिति। 'न पदान्त' इति सूत्रेण दीर्घविधौ स्थानिवत्त्वनिषेधादित्यर्थः। नन्वेवमपि भसञ्ज्ञापेक्षस्याल्लोपस्य बहिर्भूतप्रत्ययापेक्षत्वेन बहिरङ्गतयाऽन्तरङ्गे दीर्घे कर्तव्ये असिद्धत्वादकारेण व्यवधानाद् हल्परत्वाभावात् कथमिह दीर्घ इत्यत आह—बहिरङ्गेति। यथोद्देशपक्षे षाष्ठीं परिभाषां प्रति

'राजन्' शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०	वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	राजा	राजानौ	राजानः	प०	राज्ञः	राजभ्याम्	राजभ्यः
द्वि०	राजानम्	राजानौ	राज्ञः	ष०	राज्ञः	राज्ञोः	राज्ञाम्
तृ०	राज्ञा	राजभ्याम्	राजभिः	स०	राज्ञि,राजनि,	राज्ञोः	राजसु
च०	राज्ञे	राजभ्याम्	राजभ्यः	सं०	हे राजन्	हे राजानौ	हे राजानः

विशेष—"पूर्वत्रासिद्धम्" (८-२-१) से 'न्'-लोप स्वतः असिद्ध रहा, तथापि पुनः असिद्ध-विधान करने से उसके विषय को सीमित कर दिया है। जिसके फलस्वरूप 'न्'-लोप सर्वत्र असिद्ध न होकर केवल—सुप्, संज्ञा, स्वर तथा कृत् प्रत्ययों में तुक्विधि—इन्हीं में ही असिद्ध होता है।

निर्देश—'प्रतिदिवन्' शब्द के रूप 'सर्वनामस्थान' प्रत्ययों में 'राजन्' शब्द के समान होते हैं—(क) प्रतिदिवा, प्रतिदिवानौ, प्रतिदिवानः। (ख) प्रतिदिवानम्, प्रतिदिवानौ। द्वितीया बहुवचन में—प्रतिदिवन्+अस् (शस्), <प्रतिदिव्-न्+अस् ('अन्' के 'अ' का लोप)—इस स्थिति में (दीर्घ होता है)।

(३५४) पद—हलि, च। **अनुवृत्ति**—वोः, उपधायाः, दीर्घः, इकः, धातोः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'हल्' पर रहते रेफान्त और वान्त धातु की उपधा को दीर्घ होता है। दीर्घविधि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यायेन न प्रवर्तते। प्रतिदीव्नः। प्रतिदीव्ना इत्यादि। यज्वा, यज्वानौ, यज्वानः। **(३५५) न संयोगाद्वमन्तात् ६।४।१३७॥** वकारमकारान्तसंयोगात्परस्याऽनोऽकारस्य लोपो न स्यात्। यज्वनः। यज्वना, यज्वभ्याम् इत्यादि। ब्रह्मणः।

श्चुत्वस्यासिद्धतया अन्तरङ्गाभावे परिभाषाया अप्रवृत्तेः इति राजन्शब्दस्योक्तन्यायेन दीर्घस्यासिद्धतया तद्विषये 'असिद्धं बहिरङ्गम्' इति परिभाषा न प्रवर्तते इति भावः। प्रतिदीव्न इति। 'न भकुर्छुराम्' इति निषेधस्तु वान्तस्याभावान्नेति भावः। इत्यादीति। प्रतिदीव्ने। प्रतिदीव्नः। प्रतिदीव्नोः। भ्यामादौ हलि राजवदित्यर्थः। यज्वन्शब्दः सुटि राजवदित्याह—यज्वेति। शसि अल्लोपे प्राप्ते।

(३५५) न संयोगाद्वमन्तात्। वश्च मश्च वमौ, तौ अन्तौ यस्येति विग्रहः। 'अल्लोपोऽनः' इत्यनुवर्तते। तदाह—वकारेत्यादिना। अन्तग्रहणं स्पष्टार्थम्, वमोः संयोगविशेषणत्वादेव तदन्तलाभात्। इत्यादीति। यज्वने यज्वनः यज्वनोः। भ्यामादौ हलि राजवदित्यर्थः। मान्तसंयोगस्योदाहरणमाह—ब्रह्मण इति। शसादावचि नाल्लोपः। शेषं

में 'अ' लोप को स्थानिवद्भाव नहीं होता। बहिरङ्गपरिभाषा पूर्व-कथित न्याय से प्रवृत्त नहीं होती। प्रतिदीव्नः। प्रतिदीव्ना—इत्यादि। यज्वा, यज्वानौ, यज्वानः।

विवरण—'स्थानी' और 'आदेश' का ज्ञान पूरा सूत्र "वोरुपधाया दीर्घ इकः" (८-२-७६) तथा "सिपि धातो रुर्वा" (८-२-७४) से 'धातोः' की अनुवृत्ति करने से होता है। 'वोः' पद 'धातोः' का विशेषण है। अतः उसमें तदन्त-विधि होकर सूत्रार्थ पूरा होता है। तदनुसार 'हल्' (व्यञ्जन वर्ण) वर्ण पर रहते 'रकारान्त' और 'वकारान्त'—धातु की उपधा के 'इक्' (इ, उ, ऋ, ऌ) को दीर्घ होता है। **उदाहरण**—(ख) (उपर्युक्त स्थिति में) प्रतिदिव्-न्+अस्, <प्रतिदीव्-न्+अस् (दीर्घ), <प्रतिदीव्नः—'प्रतिदिव्' में वकारान्त धातु 'दिव्' उसकी 'उपधा' का 'इक्' वर्ण दकारोत्तरवर्ती 'इ' है—उसे दीर्घ = ई (स् = र् = :)। इसी प्रकार अन्य अजादि-विभक्तियों में भी (ग) प्रतिदीव्ना (टा), (घ) प्रतिदीव्ने आदि रूप होते हैं। शेष रूप 'राजन्' शब्द के समान।

विशेष—१—'प्रतिदीव्नः' आदि अजादि-विभक्तियों के विषय में "अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" (१-१-५७) से 'अ'लोप को प्राप्त स्थानिवद्भाव का निषेध दीर्घविधि होने के कारण "न पदान्त०" (१-१-५८) सूत्र से होता है। अतः प्रकृत सूत्र से 'दीर्घ' होने में कोई बाधा नहीं होती।

२—'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' परिभाषा का आश्रय लेकर अन्तरङ्ग कार्य—'दीर्घ'—करने में 'बहिरङ्ग' 'अ-लोप' को असिद्ध मानकर बाधा होने की आशङ्का का निवारण 'यथोद्देश' पक्ष में षष्ठाध्याय के "वाह ऊठ्" सूत्र में ज्ञापित 'असिद्ध'-परिभाषा के प्रति 'दीर्घ' विधान अन्तरङ्ग होने पर भी त्रैपादिक असिद्ध होने के कारण बिना किसी रुकावट के प्रवृत्त होता है।

निर्देश—'यज्वन्' (= याग-कर्ता) शब्द की विभक्तियों में विशेष-कार्यों का उल्लेख किया जारहा है। 'सर्वनाम-स्थान' में 'यज्वन्' शब्द के रूप 'राजन्' शब्द के समान होते हैं। (क) प्रथमा—यज्वा, (उपधादीर्घ, 'सु'-लोप आदि) यज्वानौ, यज्वानः। (ख) द्वितीया—यज्वानम्, यज्वानौ। बहुवचन में—यज्वन्+अस् (शस्)—इस स्थिति में 'अन्' के अकार का लोप प्राप्त होने पर (उसका निषेध किया जारहा है)।

(३५५) पद—न संयोगात्, वमन्तात्। **अनुवृत्ति**—अल्लोपः, अनः। **विधि(निषेध)सूत्र।**

मूलार्थ—वकारान्त, मकारान्त-संयोग से परवर्ती 'अन्'-सम्बन्धी अकार का लोप नहीं होता है। यज्वनः। यज्वना, यज्वभ्याम्—इत्यादि। ब्रह्मणः। ब्रह्मणा, ब्रह्मभ्याम्—इत्यादि।

विवरण—'अन्' सम्बन्धी अ-लोप का निषेध किया जारहा। अतः पूरे सूत्र "अल्लोपोऽनः" (६-४-१३४) की अनुवृत्ति की जारही है। तदनुसार वकारान्त एवं मकारान्त संयोग के परवर्ती

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मणा, ब्रह्मभ्याम् इत्यादि। (३५६) इन्हन्पूषार्यम्णां शौ ६।४।१२॥ एषां शावेवोपधाया दीर्घः, नान्यत्र। इति निषेधे प्राप्ते। (३५७) सौ च ६।४।१३॥ इन्नादीनामुपधाया दीर्घः स्यादसम्बुद्धौ सौ परे। वृत्रहा। हे वृत्रहन्। 'एकाजुत्तर-पदे—' (सू ३०७) इति णत्वम्—वृत्रहणौ, वृत्रहणः। वृत्रहणम्, वृत्रहणौ

राजवदिति भावः। 'वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः' इत्यमरः। वृत्रो नाम असुरः, तं हतवानित्यर्थे 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' इति क्विप्। कपावितौ। अपृक्तलोपः। उपपदसमासः। 'सुपो धातु' इत्यमो लुक् 'वृत्रहन्शब्दः'। तस्मात् सुबुत्पत्तिः। सौ विशेषमाह।

(३५६) इन्हन्। 'ढूलोपे' इत्यतो दीर्घ इत्यनुवर्तते। 'नोपधायाः' इत्यत उपधाया इति। तदाह—एषामिति। इन् हन् पूषन् अर्यमन् इत्यन्तानामित्यर्थः। अङ्गविशेषणत्वेन तदन्तविधिः। 'सर्वनामस्थाने च' इति सिद्धे नियमार्थमित्याह—शावेवेति। नान्यत्रेति। शेरन्यत्रेत्यर्थः। इति निषेधे प्राप्त इति। वृत्रहन्शब्दे हन् इत्यस्यापि शावेव दीर्घ इति नियमात् सौ परतः 'सर्वनामस्थाने' इति दीर्घे अप्राप्ते सतीत्यर्थः।

(३५७) सौ च। पूर्वसूत्रमनुवर्तते तत्र यदनुवृत्तं तच्च। तदाह—इन्नादीनामिति।

'अन्'-के 'अ' का लोप नहीं होगा। उदाहरण—(ख) 'यज्वन्+अस्'—इस स्थिति में यज्व्-अन् वकारान्त संयोग है, तदवयव 'अन्'-सम्बन्धी अकार का लोप नहीं हुआ = यज्वन्+अस्, <यज्वनः (स् = र् = :)। (ग) तृतीया में—यज्वना (टा), यज्वभ्याम्, यज्वभिः। (घ) 'ब्रह्मन्' शब्द में भी इसी तरह रूपसिद्धि होगी। (क) प्रथमा-ब्रह्मा, ब्रह्माणौ, ब्रह्माणः। (ख) द्वितीया-ब्रह्माणम्, ब्रह्माणौ, ब्रह्मणः। (ग) तृतीया-ब्रह्मणा, ब्रह्मभ्याम्, ब्रह्मभिः। यहाँ 'शसादि' अजादि विभक्तियों में 'ब्रह्म्-अन्' मकारान्त संयोग होने के कारण 'अ' का लोप नहीं हुआ। शेष रूप 'राजन्' शब्द के समान होंगे।

निर्देश—'वृत्रहन्' (= इन्द्र) शब्द को अभिलक्षित कर प्रक्रिया बतलाई जारही है।

(३५६) पद—इन्हन्पूषार्यम्णां, शौ। अनुवृत्ति—दीर्घः, उपधायाः, अङ्गस्य (अधिकार)। नियमसूत्र।

मूलार्थ—केवल 'शि' पर रहते इन्, हन्, पूषन्, और अर्यमन् शब्दों की उपधा को दीर्घ होता है, अन्यत्र नहीं। दीर्घ-निषेध प्राप्त होने पर ('सु' में दीर्घविधान किया जारहा है)।

विवरण—"ढूलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" (६-३-१११) सूत्र से 'दीर्घः' तथा "नोपधायाः" (६-४-७) से उपधायाः की अनुवृत्ति की जारही है। "अङ्गस्य" का अधिकार है। 'अङ्गस्य' पद वचन-विपरिणाम द्वारा बहुवचन (अङ्गानाम्) में परिवर्तित किया जाता है। विशेषण-वाची पदों में तदन्तविधि होने के फलस्वरूप इन्नन्त, हन्नन्त, पूषन्-अन्त तथा अर्यमन्-शब्दान्त अङ्गों की उपधा को 'शि' पर रहते दीर्घ होता है, इसके अतिरिक्त स्थलों में नहीं। (क) इसके अनुसार वृत्रहन्+स् में 'हन्'-अन्त होने से दीर्घ का निषेध प्राप्त होता है, क्योंकि वृत्रहन् से पर 'शि' नहीं है।

विशेष—उपर्युक्त नकारान्त शब्दों में "सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ" (६-४-८) सूत्र से "सर्वनाम-स्थान" में दीर्घ स्वतः सिद्ध ही रहा अतः उसके सम्बन्ध में यह नियम करता है कि इस सूत्र में निर्दिष्ट शब्दों की उपधा को 'शि' ('जस्' और 'शस्') पर रहते ही दीर्घ हो, अन्यत्र नहीं।

(३५७) पद—सौ, च। अनुवृत्ति—इन्हन्पूषार्यम्णां, शौ, दीर्घः, उपधायाः, असम्बुद्धौ, अङ्गस्य (अधिकार)। विधिसूत्र।

मूलार्थ—सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' विभक्ति पर रहते 'इन्' आदि की उपधा को दीर्घ होता है। वृत्रहा। हे वृत्रहन्। "एकाजुत्तरपदे णः" से णत्व। वृत्रहणौ। वृत्रहणः। वृत्रहणम्, वृत्रहणौ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३५८) हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ७ । ३ । ५४ ॥ ञिति णिति च प्रत्यये नकारे च परे

असम्बुद्धाविति । 'सर्वनामस्थाने च' इत्यतः तदनुवृत्तेरिति भावः । 'इन्हन्पूषा' इत्यस्यायमपवादः । हे वृत्रहन्निति । असम्बुद्धावित्यनुवृत्तेर्न दीर्घः । भिन्नपदत्वादाह—एकाजिति । वृत्रहणावित्यादि । शावेवेति नियमान्न दीर्घः । शसादावचि अल्लोपे कृते ।

(३५८) हो हन्तेः । हः इति स्थानषष्ठी, हन्तेरित्यवयवषष्ठी । ञ् च ण् च ञ्णौ, तौ इत् ययोस्तौ ञ्णितौ । इच्छब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते । ञ्णितौ च नश्च ञ्णिन्नाः, तेष्विति विग्रहः । अङ्गाधिकारात् प्रत्ययत्वं ञ्णितोर्लभ्यते । 'चजोः कु घिण्यतोः' इत्यतः कुग्रहणमनुवर्तते । तदाह—ञितीत्यादिना । हन्तेरिति ङितपा निर्देशः । हन्धातोरित्यर्थः । प्रकृते हकारस्य नकारपरत्वात् कुत्वम् । तत्र घोषवतो नादवतो महाप्राणस्य संवृतकण्ठस्य हस्य तादृशो वर्गचतुर्थो घकारः । वृत्रघ्नः इत्यादि सिद्धम् । नन्विह कथं न णत्वम् । भिन्नपदस्थत्वेऽपि 'एकाजुत्तरपदे ण' इति णत्वस्य दुर्वारत्वात्, कृतेऽप्यल्लोपे तस्य पूर्वस्माद्विधौ स्थानिवत्त्वादुत्तरपदस्य एकाच्त्वात्, स्थानिवत्त्वाभावेऽपि 'प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च' इत्यस्य 'कुमति च' इत्यस्य वा दुर्वारत्वादिति प्राप्ते तद्वारणार्थम् 'हन्तेरप्पूर्वस्य' इति सूत्रं विभज्य व्याचष्टे ।

विवरण—पूर्व नियमसूत्र में कुछ संकोच किया जारहा है । पूर्वसूत्र से सु, औ, जस्, अम्, तथा औट् में दीर्घ का निषेध प्राप्त रहा, उसमें से सम्बुद्धिभिन्न 'सु'विभक्ति उस परिधि के बाहर की जाती है । अतः सूत्र की व्याख्या हेतु पूरा "इन्हन्पूषार्यम्णां शौ" सूत्र तथा पूर्व सूत्र के उपजीव्य पद दीर्घः, उपधायाः तथा अङ्गस्य—सभी की यहाँ अनुवृत्ति अपेक्षित है । इसके साथ ही "सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ" (६-४-८) से 'असम्बुद्धौ' पद की भी अनुवृत्ति आती है । तदनुसार समष्टिरूप में यह अर्थ होता है कि "सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' विभक्तिपर रहते 'इन्, हन्, पूषन् तथा अर्यमन्-शब्दान्त अङ्गों की उपधा को दीर्घ हो" । यह पूर्व सूत्र का अपवाद है । उदाहरण—(क) वृत्रहन्+स्, <वृत्रहान्+स् ('हन्'-अन्त शब्द होने के कारण 'स्' पर रहते दीर्घ), वृत्रहान् (विभक्ति-लोप), <वृत्रहा ('न्'-लोप) । (क) हे वृत्रहन्+सु, <हे वृत्रहन् ('सम्बुद्धि' में 'दीर्घ' नहीं हुआ, विभक्ति-लोप, 'न्'-लोप का निषेध-"न डि सम्बुद्ध्योः"-३५२) । (ख) वृत्रहणौ (औ)—"इन्-हन्-पूषार्यम्णां शौ"-३५२ नियम के कारण दीर्घ नहीं हुआ, समानपद होने से न् = ण् "एकाजुत्तरपदे णः"-३०७ । (ग) वृत्रहणः ('जस्', में न्=ण्, स्=र्=:) । (घ) वृत्रहणम् (अम्) (ङ) वृत्रहणौ (औ) । (च) वृत्रहन्+अस् (शस्), <वृत्रहन्+अस् ('अन्' के 'अ' का लोप)—इस स्थिति में कुत्व-विधान बतलाया जारहा है ।

(३५८) पद—हः, हन्तेः, ञ्णिन्नेषु । अनुवृत्ति—कु, अङ्गस्य (अधिकार) । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'ञ्-इत्', 'ण्'-इत्-प्रत्ययों तथा 'न्' पर रहते 'हन्ति' ('हन्' धातु) के 'ह्' को कवर्ग होता है ।

विवरण—"चजोः कु घिण्यतोः" (७-३-५२) से 'कुः' की अनुवृत्ति करने पर आदेश के विषय में आकाङ्क्षा शान्त होती है । "अङ्गस्य" का अधिकार है । तदनुसार ञित् प्रत्यय, णित् प्रत्यय अथवा नकार (न्) पर रहते (ञ् च ण् च 'ञ्णौ', तौ इत् ययोः तौ ञ्णितौ, ञ्णितौ च नश्च, तेषु) 'हन्'-अन्त अङ्ग (हन्तेः) के 'ह्' के स्थान पर (हः) कवर्गीय वर्ण (कुः) होता है । 'ह्'-कवर्ग में 'ह्' के समान संवार, नाद, घोष तथा महाप्राण-प्रयत्नवान् 'घ्' है । अतः 'ह्' के स्थान पर 'घ्' आदेश होगा । केवल स्थान-सादृश्य से तो कवर्ग के पाँचों वर्ण प्राप्त होते । स्थान और बाह्यप्रयत्न-दोनों की समानता से 'ह्' = 'घ्' होगा । उदाहरण—वृत्रह् न्+अस्, <वृत्रघ्-न्+अस्—स्थिति में (णत्व की आशंका होती है) ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हन्तेर्हकारस्य कुत्वं स्यात्। (३५९) हन्तेः ८।४।२२॥ उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य हन्तेर्नस्य णत्वं स्यात्। प्रहण्यात्। (३५९क) अत्पूर्वस्य ८।४।२२॥ हन्तेरत्पूर्वस्यैव नस्य णत्वम्, नान्यस्य। प्रघ्नन्ति। योगविभागसामर्थ्यात् 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' (प ६२) इति न्यायं बाधित्वा "एकाजुत्तरपदे" (सू ३०७) इति णत्वमपि निवर्त्तते। नकारे परे कुत्वविधिसामर्थ्यादल्लोपो न स्थानिवत्। वृत्रघ्नः।

---

(३५९) हन्तेः। 'रषाभ्यां नो णः' इत्यनुवर्तते। 'उपसर्गादसमासेऽपि' इत्यत उपसर्गादित्यनुवर्तते। तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यम्। उपसर्गस्थादिति लभ्यते। तच्च रषयोः प्रत्येकमन्वेति। तदाह—उपसर्गस्थान्निमित्तादित्यादिना। निमित्तशब्देन रेफः षकारश्च विवक्षितः। प्रहण्यादिति। अत्र भिन्नपदस्थत्वादप्राप्ते णत्वे वचनम्। प्रकृतोपयुक्तमाह।

(३५९क) अत्पूर्वस्य। हन्तेरित्यनुवर्तते 'रषाभ्यां नो णः' इति च। उपसर्गादिति तु निवृत्तम्। हन्तेरत्पूर्वस्य नस्य णः स्यादिति लभ्यते। सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः। तदाह—हन्तेरत्पूर्वस्यैवेत्यादिना। प्रघ्नन्तीति। हन्तेर्लट्, झिः झोऽन्तः, शप्, लुक् 'गमहन' इत्युपधालोपः। 'हो हन्तेः' इति कुत्वम्। प्रघ्नन्तीति रूपम्। अत्र उपसर्गस्थरेफात् परत्वात्, 'हन्तेः' इत्यनेन प्राप्तं णत्वम् 'अत्पूर्वस्य' इति नियमान्न भवति। वृत्रघ्न इत्यत्र 'प्रातिपदिकान्त' इत्यादिणत्वं निवर्तते। ननु प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च, एकाजुत्तरपदे णः, कुमति च, हन्तेरत्पूर्वस्य—इति सूत्रपाठक्रमः। ततश्च 'अनन्तरस्य विधिः' इति न्यायेन 'अत्पूर्वस्य' इति नियमेन प्रघ्नन्तीत्यत्र हन्तेरित्यव्यवहितणत्वमेव निवर्तेत नत्वन्यदित्यत आह—योगेति। यदि 'अत्पूर्वस्य' इत्यनेन 'हन्तेः' इति णत्वमेव व्यावर्त्येत, तर्हि हन्तेरत्पूर्वस्य इत्येकमेव सूत्रं स्यात्, उपसर्गस्थान्निमित्तात् परस्य हन्तेरत्पूर्वस्य नस्य णत्वम् इत्येतावतैव प्रघ्नन्तीत्यत्र णत्वनिवृत्तिसम्भवात्। अतो योगविभागसामर्थ्यात् णत्वमात्रस्यायं नियम इति विज्ञायत इत्यर्थः। एकाजुत्तरेति। 'कुमति च' इत्यस्य 'प्रातिपदिकान्त' इत्यस्य चोपलक्षणम्, अल्लोपस्य पूर्वसमादपि विधौ स्थानिवत्त्वादेकाच्त्वमुत्तरपदस्य बोध्यम्। न च 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' इति वाच्यम्, 'तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वण वेषु' इत्युक्तेः। ननु वृत्रघ्नः इत्यत्र 'हो हन्ते' इति कथं कुत्वम्? पूर्वस्य विधावल्लोपस्य स्था-

---

(३५९) पद—"हन्तेः"। अनुवृत्ति—रषाभ्यां, नः, णः, उपसर्गात्। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उपसर्गस्थ निमित्त से पर 'हन्' के 'न्' को 'ण्' होता है। प्रहण्यात्।

विवरण—"हन्तेरत्पूर्वस्य" (८-४-२२) सूत्र को विभक्त कर प्रथम-अंश 'हन्तेः' की व्याख्या की जा रही है। "रषाभ्यां नो णः समानपदे" (८-४-१) सूत्र से 'रषाभ्यां, नः, णः' तथा "उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य" (८-४-१४) से उपसर्गात् की अनुवृत्ति करने पर सूत्र का यह अर्थ होता है कि "उपसर्गस्थ निमित्त रेफ (र्) तथा 'ष्' से पर 'हन्' धातु के 'न्' के स्थान पर 'ण्' होता है"। उदाहरण—'प्रहण्यात्'—'प्र' उपसर्ग में विद्यमान 'र्' से पर 'हन्+यात' में √हन् धातु सम्बन्धी न् = ण् हुआ।

(३५९ क) पद—अत्पूर्वस्य। अनुवृत्ति—हन्तेः, रषाभ्यां, नः, णः, उपसर्गात्। नियमसूत्र।

मूलार्थ—'हन्' धातु के ह्रस्व-अकारपूर्वक 'न्' को ही 'ण्' होता है अन्य को नहीं। प्रघ्नन्ति। योगविभाग करने का फल यह है कि 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' न्याय को बाध कर "एकाऽजुत्तरपदे णः" से प्राप्त 'ण्'-विधान की भी निवृत्ति होती हैं। नकार परक कवर्ग-विधान के सामर्थ्य से 'अ'-लोप को स्थानिवद्भाव नहीं होता। वृत्रघ्नः। वृत्रघ्ना—इत्यादि। (इस

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृत्रघ्ना इत्यादि। यत्तु वृत्रघ्नः इत्यादौ वैकल्पिकं णत्वं माधवेनोक्तं, तद्भाष्यवार्तिक-विरुद्धम्। एवं शार्ङ्गिन्, यशस्विन्, अर्यमन्, पूषन्। यशस्विन्निति विन्प्रत्यये इनोऽ-

---

निवर्त्त्वादित्यत आह—नकारे पर इति। माधवमतं दूषयितुमनुवदति—यत्विति। तुः पूर्व-वैषम्ये। वैकल्पिकमिति। 'प्रातिपदिकान्त' इति विहितमित्यर्थः। तद्भाष्येति। "कुब्यवाये हादेशेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः, किं प्रयोजनम्? वृत्रघ्नः। स्रुघ्नः। प्राघानि। 'हन्तेरत्पूर्वस्य' इति सूत्रे 'अत्पूर्वग्रहणं न कर्तव्यम्' इति अट्कुप्वाङ्' इति सूत्रे भाष्यम्। अत्र णत्वप्रकरणे हादेशकुब्यवाये प्रतिषेधविज्ञानात् 'प्रातिपदिकान्त' इति णत्वमपि हादेशकुब्यवाये न भवतीति विज्ञायते, तद्विरोधाद् माधवमतमुपेक्ष्यमित्यर्थः। एवमिति। वृत्रहन्शब्दवदि-त्यर्थः। 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' 'सौ च' इति दीर्घनियममात्रे दृष्टान्ते न तु कुत्वादौ, असम्भवात्। शार्ङ्गमस्यास्तीत्यर्थे 'अत इनिठनौ' इति मत्वर्थीय इनिः। यशोऽस्या-स्तीत्यर्थे 'अस्मायामेधास्रजः—' इति विनिः। 'तसौ मत्वर्थे' इति भत्वाच्च रुत्वम्। नन्वर्थ-वत्परिभाषया 'इन्हन्' इत्यत्रार्थवत एव इनो ग्रहणम्। ततश्च विन्प्रत्यये इनोऽनर्थकत्वात् तस्य कथं ग्रहणमित्याशङ्क्य परिहरति—यशस्विन्नित्यादिना। अनिनस्मन्निति। एतच्च 'येन

प्रसङ्ग में) माधवाचार्य ने 'वृत्रघ्नः' इत्यादि उदाहरणों में "प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च" से वैकल्पिक 'ण्'-विधि की आशंका व्यक्त की है, किन्तु वह भाष्य और वार्तिक दोनों के विरुद्ध है। शार्ङ्गिन, यशस्विन्, अर्यमन् और पूषन् शब्दों के रूप इसी तरह हैं। यशस्विन् में 'विन्'-प्रत्यय का एकदेश 'इन्' अनर्थक होने पर भी "इन्-हन्" सूत्र में लिया जाता है। इस सम्बन्ध में परिभाषा प्रमाण मानी गई है। 'जिसके अनुसार 'अन्', 'इन्', 'अस्' तथा 'मन्'—ये प्रत्यय अर्थवान् तथा अनर्थक—दोनों तरह से तदन्तविधि के प्रयोजक होते हैं'। अर्यम्णि—अर्यमणि। पूष्णि—पूषणि।

विवरण—पाणिनि द्वारा प्रणीत "हन्तेरत्पूर्वस्य" (८-४-२२) सूत्र को दो भागों में विभक्त कर द्वितीय-अंश "अत्पूर्वस्य" की व्याख्या की जा रही है। उसके लिये अविभक्त सूत्र का पूर्व अंश "हन्तेः" (८-४-२२) तथा "रषाभ्यां नो णः" की अनुवृत्ति की जाती है। तदनुसार सूत्र के द्वितीयांश से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "ह्रस्व अकार के पूर्ववर्ती होनेपर ही √'हन्' धातु के 'न्' को 'ण्' होता है"। इसके फलस्वरूप 'प्रघ्नन्ति' (प्र-हन्+ति) में 'न्' को 'ण्' नहीं हुआ। कारण यह है कि 'हन्' में हकारोत्तरवर्ती-अकार का लोप (उपधा-लोप) हो जाने से 'न्' के पूर्व 'अ' विद्यमान नहीं रहता।

विशेष—यह अंश नियामक है। यदि इस अंश से केवल समीपस्थ पूर्व-अंश ("हन्तेः") द्वारा प्राप्त 'ण्-विधि' का ही निषेध माना जाय तो योगविभाग करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। एक सूत्र होने पर उपसर्गस्थ-निमित्त (र्, ष्) से पर ह्रस्व-अकार-पूर्वक 'हन्' धातुसम्बन्धी 'न्' को 'ण्'-विधि होने के कारण 'प्रघ्नन्ति' में 'ण्'-विधान की निवृत्ति सम्भव होने से पृथक् योग-विभाग किये जाने के कारण द्वितीयांश की उपयोगिता बढ़ जाती है तथा "अत्पूर्वस्य"—अंश दूरस्थ 'ण्'-विधान का भी निवर्तक हो जाता है। फलतः "एकाजुत्तरपदे णः" (८-४-१२), "कुमति च" (८-४-१३) तथा "प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च" (८-४-११) से प्राप्त णत्व का भी यह निवर्तक होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस योगविभाग के विषय में 'पुर-स्ताद् अपवादाः अन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्'—इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती। योग-विभाग-जन्य नियम करने के फलस्वरूप 'वृत्रघ्नः' में "प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च" (८-४-११) से प्राप्त 'ण्' की निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि उपधा-लोप ('अन्' सम्बन्धी 'अ' का लोप) होने के कारण 'न्' के पूर्व 'अ' विद्यमान नहीं रहता। इस प्रसङ्ग में यह शङ्का होती है कि लोप हुए 'अ' के पूर्व वर्ण 'ह्' को 'घ्' आदेश करने में लोप को स्थानिवद्भाव क्यों न हो? तब तो 'घ्' प्राप्त ही नहीं होगा। इस स्थिति में 'कुत्व'-विधान व्यर्थ हो जायगा। किन्तु आचार्य ने 'कुत्व'-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नर्थकत्वेऽपि 'इन्हन्—(सू ३५६) इत्यत्र ग्रहणं भवत्येव । 'अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधि प्रयोजयन्ति' (प १७) इति वचनात् । अर्यम्णि–

विधिः' इति सूत्रे भाष्ये स्थितम् । राज्ञः इत्यत्र अन् अर्थवान्, दाम्नः इत्यत्र तु अनर्थकः । शार्ङ्गी इत्यत्र इन् अर्थवान्, यशस्वी इत्यत्र तु अनर्थकः । सुपथाः इत्यत्रास् अर्थवान्, सुस्रोताः इत्यत्र तु अनर्थकः । असन्तत्वादीर्घः । सुशर्मेत्यत्र मन् अर्थवान् सुप्रथिमा इत्यत्र तु अनर्थकः । 'मनः' इति न ङीप् । अर्यमन्शब्दे पूषन्शब्दे च अल्लोपे विशेष इत्याह—अर्यम्णि इत्यादि । 'विभाषा ङिश्योः' इत्यल्लोपविकल्पः । शसादावचि तु नित्यमल्लोप उक्तप्राय इति भावः । मह्यते पूज्यत इत्यर्थे कनिप्रत्ययः । इकार उच्चारणार्थः । ककार इत् । अन् इति प्रत्ययः शिष्यते । धातोरवुगागमः । तत्र ककार इत् । उकार उच्चारणार्थः । कित्त्वादन्तावयवः । महधातोर्हस्य घश्च इति त्रयं निपात्यते । 'श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन्क्लेदन्स्नेहन्मूर्धन्मज्जन्नर्यमन्विश्वप्सन्परिज्जन्मातरिश्वन्मघवन्' इत्युणादिसूत्रेण निष्पन्ने तस्मिन् मघवन्शब्दे विशेषमाह ।

विधान किया है, अतः उसके सामर्थ्य से स्थानिवद्भाव नहीं होता । फलस्वरूप 'ह्' के स्थान पर 'घ्' हो जाता है ।

२—'वृत्रघ्नः' में 'णत्व' के सम्बन्ध में आचार्य माधव का मत भिन्न है । उनके मत में यहाँ विकल्प से णत्व होकर दो रूप बनने चाहियें—वृत्रघ्नः, वृत्रघ्णः ("प्रातिपदिकान्तनुम विभक्तिपु च" (८-४-११) । कारण यह है कि 'न्' को 'ण्' आदेश होने में केवल एक (अल्) वर्ण निमित्त है, अतः स्थानिवद्भाव नहीं होगा ('अनल्विधौ') । इसके विषय में दीक्षित अपनी अरुचि प्रकट करते हैं, क्योंकि यह (अत्पूर्वस्य) योग-विभाग "प्रातिपदिकान्त०" (८-४-११) का भी निर्वतक है । इस समीचीनता के सम्बन्ध में भाष्य एवं वार्तिककार के मतों का उन्होंने उल्लेख किया है[1] । तदनुसार महाभाष्य में णत्व-विधायक "अटकुप्वाङ्०" (८-४-२) सूत्र में "कु-व्यवाये हादेशेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः" वार्तिक का उल्लेख है[1] । इससे यह सूचित होता है कि 'क'वर्ग के व्यवधान एवं 'ह्' को आदेश होने पर 'ण्'–विधि का निषेध किया जाय । वहाँ 'वृत्रघ्नः', 'स्रुघ्नः' तथा 'प्राघानि' आदि उदाहरण दिये हैं । इस तरह उक्त वार्तिक से ही 'वृत्रघ्नः' में 'ण्'–विधि का निवारण सम्भव था, सूत्र के द्वितीय-भाग 'अत्पूर्वस्य' की आवश्यकता नहीं रहती । वास्तव में यह वार्तिक का स्वतन्त्र कथन नहीं है, किन्तु योगविभागजन्य अर्थ का अनुवाद मात्र है । इस बात को भट्टोजी-दीक्षित ने 'प्रौढमनोरमा' में स्पष्ट करते हुए कहा है कि सूत्र के द्वितीय अंश का प्रत्याख्यान करने की अपेक्षा योग-विभाग को वार्तिक के अर्थ का संग्राहक समझा जाय ।[2]

निर्देश—'शार्ङ्गिन्' (इन्नन्त), 'यशस्विन्' (इन्नन्त), अर्यमन्, पूषन् आदि शब्दों के रूप इसी तरह समझे जायँ । 'यशस्विन्' में 'विन्' प्रत्यय का अंश 'इन्' अनर्थक है, क्योंकि वहाँ 'विनि' (विन्) प्रत्यय है, 'इन्' नहीं । अतः 'अर्थवान् के ग्रहण में अनर्थक का ग्रहण न होने से यहाँ दीर्घ कैसे सम्भव होगा ? यहाँ एक परिभाषा द्वारा यह समाधान दिया जाता है कि 'अन्, इन्, अस् तथा मन् का उच्चारण अर्थवान् की तरह अनर्थक में भी तदन्तविधि का प्रयोजक होता है । प्रसङ्गप्राप्त 'अर्यमन्' एवं 'पूषन्' शब्दों के सप्तमी-एकवचन में 'अन्' सम्बन्धी 'अ' का वैकल्पिक लोप होने के फलस्वरूप दो रूप होते हैं—१–अर्यम्णि-अर्यमणि, पूष्णि-पूषणि ("विभाषा ङिश्योः"–२३७) ।

---

१. 'कुव्यवाये हादेशेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः' । किं प्रयोजनम् ? वृत्रघ्नः, स्रुघ्नः, प्राघानि । "हन्तेरत्पूर्वस्य" (८-४-२२) इत्यत्पूर्वग्रहणं न कर्तव्यं भवति । महाभाष्यम् ।

२. 'एतच्च वार्तिकाशयवर्णनमात्रम्, न तु वस्तुस्थितिः । वार्तिकेन सूत्रावयवप्रत्याख्यानापेक्षया योगविभागमाश्रित्य वार्तिकार्थोपसंग्रहस्यैव न्याय्यत्वात् । प्रौढमनोरमा ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्यमणि । पूष्णि–पूषणि । (३६०) **मघवा बहुलम् ६ । ४ । १२८ ॥** मघवन्शब्दस्य वा तृ इत्यन्तादेशः स्यात् । ऋ इत् । (३६१) **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः ७ । १ । ७० ॥** अधातोरुगितो नलोपिनोऽञ्चतेश्च नुमागमः स्यात्सर्वनामस्थाने परे । उपधादीर्घः । मघवान् । इह दीर्घे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वं न भवति बहुल-

---

(३६०) मघवा बहुलम् । 'अवर्णस्यसौ' इत्यतः तृ इत्यनुवर्तते । तच्च लुप्तप्रथमाकम् । मघवेति तु पष्ठ्यर्थे प्रथमा । तदाह–मघवन्शब्दस्येत्यादिना । ऋ इदिति । 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इति ऋकार इत्संज्ञक इत्यर्थः । ऋ इत्यविभक्तिको निर्देशः प्रक्रियासमये न दुष्यति । 'अलोऽन्त्यस्य' इति नकारस्य तकारः । सर्वादेशस्तु न, नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम् इति वचनात् । मघवत् स् इति स्थिते ।

(३६१) उगिदचाम् । अधातोरिति छेदः । उक् इत् येषां ते उगितः । अच् इति लुप्तनकारस्य 'अञ्चु गतिपूजनयोः' इति धातोर्ग्रहणम् । अधातोरित्युगिद्विशेषणम्, न त्वञ्चतेः, असम्भवात् । 'इदितो नुम् धातोः' इत्यतो नुमित्यनुवर्तते । तदाह–अधातोरुगित इत्यादिना । नुमि मकार इत् । उकार उच्चारणार्थः मित्त्वादन्त्यादचः परः । अचिति अच् प्रत्याहारो न गृह्यते, व्याख्यानात् 'नपुंसकस्य झलचः' इत्यज्ग्रहणाच्च । अन्यथा 'उगिदचाम्' इत्येव सिद्धे तद्वैयर्थ्यात् वृद्धिः गुणः इत्यादिनिर्देशाच्च । अधातोरित्येतत्तु अग्रे गोमच्छब्दनिरूपणावसरे मूल एव व्याख्यास्यते । तत्प्रयोजनं च तत्रैव वक्ष्यते । उपधादीर्घ इति । मघवन् त् स् इति स्थिते हल्ङ्यादिना सुलोपे संयोगान्तलोपे च सति 'सर्वनामस्थाने च' इति दीर्घ इत्यर्थः । नन्विह दीर्घे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वाद् नान्तत्वाभावात् पचन्नित्यादाविव दीर्घो न सम्भवतीत्यत आह—दीर्घे कर्तव्य इति । बहुलंग्रहणादिति ।

'क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
शिष्टप्रयोगाननुसृत्य लोके विज्ञेयमेतद् बहुलग्रहे तु ॥' इति स्थितिः ।

अत्र दीर्घे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्य नासिद्धत्वम्, पचन्नित्यादौ तु असिद्धत्वमेवेति बहुलग्रहणाल्लभ्यत इत्यर्थः । ननु त्रादेशपक्षे मघवन्नित्येवास्तु, बहुलग्रहणेन संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वाभावकल्पनायां प्रमाणाभावात् । वेदे तु यज्ञेन मघवानित्यादौ दीर्घः

---

(३६०) पद—मघवा, बहुलम् । अनुवृत्ति—तृ । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'मघवन्' शब्द को विकल्प से 'तृ' अन्त-आदेश होता है । 'ऋ'कार की इत्संज्ञा होगी ।

विवरण—सूत्र में षष्ठी के अर्थ में 'मघवा' प्रथमा-विभक्ति का प्रयोग किया गया है । "अर्वण-स्रसावनञः" (६-४-१२७) सूत्र से 'तृ' की (लुप्त प्रथमा-विभक्ति) अनुवृत्ति आ रही है । तब सूत्र का यह अर्थ होता है कि "मघवन् शब्द के स्थान पर विकल्प से 'तृ' आदेश हो" । यहाँ पर 'तृ' आदेश में 'ऋ' की इत्संज्ञा होने के कारण 'आदेश' अनेक अल्-युक्त नहीं माना जाता, क्योंकि अनुबन्धों के कारण वर्णों में अनेकता नहीं होती ('नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्') । अतः "अलोन्त्यस्य" परिभाषा की उपस्थिति से 'मघवन्' शब्द के अन्त्यवर्ण 'न्' के स्थान पर 'तृ' आदेश होगा । उसमें भी 'ऋ' की इत्संज्ञा होने के कारण केवल 'त्' शेष रहेगा । अतः मघवन्+स् त
(सु), <मघवत्+स्—इस स्थिति में (आगे 'नुम्' विधि बतलाई जा रही है) ।

(३६१) पद—उगिदचां, सर्वनामस्थाने, अधातोः । अनुवृत्ति—नुम् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'सर्वनामस्थान' पर रहते धातु-भिन्न 'उक्'-इत् तथा 'न्'लोपी √अञ्च् को 'नुम्' होता है । उपधा-दीर्घ । मघवान् । "मघवा बहुलम्" सूत्र में 'बहुल' ग्रहण से दीर्घ कर्तव्य रहते संयोगान्त-लोप असिद्ध नहीं होता । और भी 'श्वन्नुक्षन्०' उणादिसूत्र से निपातित तथा लोक में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रहणात्। तथा च 'श्वन्नुक्षन्' (उ १६५) इति निपातनान्मघशब्दान्मतुपा च भाषायामपि शब्दद्वयसिद्धिमाश्रित्यैतत्सूत्रं प्रत्याख्यातमाकरे। 'हविर्जक्षिति निःशङ्को मखेषु मघवानसौ' इति भट्टिः। मघवन्तौ, मघवन्तः। हे मघवन्। मघवन्तम्, मघवन्तौ, मघवतः।

छान्दसो भविष्यतीत्यत आह—तथा चेति। त्रादेशपक्षे संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वाभावमभ्युपगम्यैवेत्यर्थः। निपातनादिति। कनिप्रत्ययस्य, अवुगागमस्य, घत्वस्य इति त्रयाणां निपातनादित्यर्थः। तथा च नान्तो मघवन्शब्दः सिध्यतीति भावः। मघशब्दादिति। धनपर्यायादित्यर्थः। मघः धनमस्यास्तीत्यर्थे मतुपि 'मादुपधायाश्च' इति वत्वे तान्तो मघवच्छब्दः सिद्ध इति भावः। भाषायामपीति। लोके छन्दसि च इत्यर्थः। शब्दद्वयेति। मघवन्शब्दो मघवच्छब्दश्चेति शब्दद्वयम् 'मघवा बहुलम्' इत्यस्य फलम्। तस्य सिद्धिमाश्रित्येत्यर्थः। आकर इति। 'केशाद्वः' इति सूत्रे कैयटग्रन्थ इत्यर्थः। तत्र ह्येवमुक्तम्—'मघवा बहुलम्' इत्येतन्न कर्तव्यम्। 'श्वन्नुक्षन्' इति निपातनाद् मघशब्दान्मतुपा च भाषायामपि शब्दद्वयस्य सिद्धत्वाद्' इति। त्रादेशपक्षे संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वाद् दीर्घाभावाश्रयणे मघवन्निति रूपम्, मतुपि तु 'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घे मघवानिति रूपमिति रूपभेदापत्त्या तदसङ्गतिः स्पष्टैवेति भावः। वस्तुतस्तु कन्यन्तस्य प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्, मतुपि तु 'हस्वनुड्भ्यां मतुप्' इति मतुवुदात्तत्वस्य 'न गोश्वन्' इति प्रतिषेधे सति पित्त्वादनुदात्तत्वे धकारादकारस्य फिट्स्वरेण उदात्तत्वमिति फलभेदात् कैयटग्रन्थश्चिन्त्य एव। मघवानिति दीर्घः शिष्टसम्मतश्चेत्याह—हविरिति। मखेषु यज्ञेषु निश्शङ्कः असौ मघवान् हविर्जक्षितीति भक्षयतीत्यर्थः। मघवन्तावित्यादि। सुटि त्रादेशो नुम्चेति भावः। शसादौ त्रादेशो न तु नुम्, असर्वनामस्थानत्वादित्यभिप्रेत्याह—मघवत

'मघ' शब्द से 'मतुप्' प्रत्यय करने पर उपर्युक्त दोनों—मघवन् तथा मघवत्-शब्दों की सिद्धि का आश्रयण कर भाष्य में कैयट ने उस सूत्र का प्रत्याख्यान किया है। भट्टिकाव्य में "हविर्जक्षिति निश्शङ्को मखेषु मघवानसौ" प्रयोग भी है। मघवन्तौ, मघवन्तः। हे मघवन्। मघवन्तम्, मघवन्तौ, मघवतः। मघवता, मघवद्भ्याम्—इत्यादि। 'तृ' न होने पर मघवा। वनिप्-प्रत्ययान्त 'मघवन्' शब्द वेद में मध्योदात्त है—"छन्दसीवनिपौ च"। विशेषता यह है कि लोक और वेद दोनों में अन्तोदात्त है। मघवानौ, मघवानः। 'सुट्' में 'राजन्'-शब्द के समान रूप हैं।

विवरण—"इदितो नुम् धातोः" (७-१-५८) सूत्र से 'नुम्' की अनुवृत्ति की गई है। सूत्र के पद 'उगित्' का अर्थ है—जिसमें 'उक्' अर्थात् उ, ऋ, और ऌ इत्संज्ञक हों (उक् इत् येषां ते, येषाम्)। तथा 'अच्' शब्द 'न्'-लोप किये जाने वाले √अन्नु धातु का बोधक है। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होता है कि "सर्वनामस्थान (सु, औ, जस्, अम्, औट्) पर रहते धातुभिन्न 'उक्'-इत् और नकारलोपी √अन्न् धातु को 'नुम्' आगम होता है"। 'म्'-इत्संज्ञक होने के कारण 'नुम्' ('न्') अन्त्य अच् से पर रहेगा। उदाहरण—(क) मघवत्+स्, <मघवन्-त्+स्, <मघवन्-तु (विभक्तिलोप) <मघवन्, (त्-संयोगान्त लोप) <मघवान् (उपधा दीर्घ)। यहाँ पर संयोगान्त लोप के असिद्ध होने से 'न्' लोप नहीं हुआ। दीर्घविधि इष्ट होने के सम्बन्ध में 'भट्टिकाव्य' में प्रवृत्त 'मघवान्' शब्द को भी प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया जा रहा है—"हविर्जक्षिति निःशङ्को मखेषु मघवानसौ" (यह इन्द्र यज्ञों में निःशङ्क होकर हविष्य को ग्रहण करता है)। 'ख' मघवन्+औ, <मघवत् औ (न् = त्), <मघवन्-त्+औ ('नुम्' आगम), <मघवन्तौ। (ग) मघवन्तः (जस्, प्रक्रिया पूर्ववत्)। (घ) सम्बोधन के एकवचन में—हे मघवन् (तृ, नुम्, तथा विभक्तिलोप, 'सम्बुद्धि' में उपधा-दीर्घ नहीं होता)। (ङ) द्वितीया में—मघवन्तम् (अम्), मघवन्तौ (औट्), मघवतः (शस्)-बहुवचन सर्वनामस्थान न होने से 'नुम्' आगम नहीं। (च)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मघवता, मघवद्भ्याम् इत्यादि। तृत्वाभावे—मघवा। 'छन्दसीवनिपौ च' इति वनिबन्तं मध्योदात्तं छन्दस्येव, अन्तोदात्तं तु लोकेऽपीति विशेषः। मघवानौ, मघवानः। सुटि

इति। मघवद्भ्यामित्यादि। आदेशे 'स्वादिषु' इति पदत्वाज्जश्त्वम्। सुपि आदेशे जश्त्वे चर्त्वे मघवत्सु। तृत्वाभावे मघवेति। नान्तात् सौ राजवद्रूपमिति भावः। ननु 'मघवा बहुलम्' इति सूत्रे 'अर्वणस्तृ मघोनश्च न शिष्यं छान्दसं हि तत्' इति वार्त्तिकभाष्यकैयटेषु मघवन्शब्दस्य छन्दोमात्रविषयत्वावगमात् कथं तस्य लोके प्रयोग इत्यत आह—छन्दसीवनिपावित्यादि। 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इत्यधिकारे 'केशाद्वोऽन्यतरस्याम्' इति सूत्रे 'छन्दसीवनिपौ च' इति वार्त्तिकम्। "छन्दसि ईवनिपौ च वक्तव्यौ, वश्च मतुप्च। रथीरभून्मुद्गलानी गविष्टौ, सुमङ्गलोरियं वधूः, ऋतवानं मघवानमीमहे" इति तत्र भाष्यम्। तत्र वनिप्प्रत्ययान्ते मघवन्शब्दे प्रत्ययस्वरेण वकारादकार उदात्तः। मघशब्दः फिट्स्वरेणान्तोदात्तः, 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' इति शिष्टस्वरेण मकारादकारः वकारादकारश्चानुदात्तः। 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' इति वकारादकारः स्वरितः। तथा च मघवन्निति रूपं मध्योदात्तं सम्पद्यते। एतादृशमघवन्शब्दविषयकं छान्दसत्वाभिधानम्। कन्यन्ते तु मघवन्शब्दे वकारादकारः प्रत्ययस्वरेणोदात्तः। शिष्टस्वरेण मकारादकारो घकारादकारश्च अनुदात्तौ। तथा च मघवन्निति रूपमन्तोदात्तमिति स्थितिः। एतादृशमघवन्शब्दस्तु लोकवेदसाधारणः, तस्य छन्दोमात्रविषयत्वे प्रमाणाभावात्। किं च

तृतीयादि अजादि विभक्तियों में भी 'नुम्' न होने से मघवता, मघवद्भ्याम् (तृ = द्—जश्त्व), मघवद्भिः—आदि रूप सिद्ध होंगे। 'तृ' आदेश न होने पर 'राजन्' शब्द के समान प्रथमा विभक्ति तथा द्वितीया-एकवचन एवं द्विवचन में (क) मघवा, मघवानौ, मघवानः। (ख) मघवानम्, मघवानौ रूप बनेंगे।

विशेष—१—'मघवान्' में उपधादीर्घ होने पर "मघवा बहुलम्" (६-४-१२८) सूत्र में कथित 'बहुल' पद के विशेष अर्थ से संयोगान्त-लोप असिद्ध नहीं होता। 'बहुल' शब्द अनेकार्थक है (बहून् अर्थान् लाति बहुलम्)। तदनुसार कार्य का कहीं प्रवृत्त होना, कहीं न होना, कहीं विकल्प से होना तथा कहीं कुछ दूसरा ही हो जाना—ये सब सम्भव होते हैं। इसमें शिष्टजन द्वारा किये गए प्रयोगों का विशेष ध्यान रखा गया है। शब्द-साधुत्व में शिष्ट-जन-प्रयोग का भी महत्त्व है।

२—आचार्य कैयट ने "मघवा बहुलम्" (३६०) सूत्र से 'तृ' आदेश के बिना भी 'मघवान्' तथा 'मघवा' रूपों की सिद्धि का प्रकार बतलाया है[1]। उनके अनुसार 'मघवन्' शब्द इस उणादि सूत्र में निपातित है—"श्वन्नुक्षन्-पूषन्-प्लीहन्-क्लेदन्-स्नेहन्-मूर्धन्-यज्वन्-अर्यमन्-विश्वप्सन्-परिज्मन्-मातरिश्वन्-मघवन्निति" (उ० सू० १-१६८)—√मह्+कनि (इन्), ह् = घ्, 'अवुक्' आगम = मघवन्। दूसरे प्रकार से लोक में भी मघवत् शब्द मघ+मतुप् (मत्) करने पर 'म्' के स्थान पर 'व्' आदेश होकर 'मघवत्' शब्द निष्पन्न होता है।

३—"मघवा बहुलम्" (६-४-१२८) सूत्र में भाष्यकार ने 'अर्वणस्तृ मघोनश्च न शिष्यं छान्दसं हि तत्' इस वाक्य से यह सूचित किया है कि 'अर्वन्' तथा 'मघवन्' शब्दों को 'तृ' आदेश का विधान वैदिक प्रयोग के लिये है। अतः यह सन्देह होता है कि लोक में इसका प्रयोग कैसे हो? इसका परिहार दूसरे स्थल के भाष्यप्रयोग द्वारा दिया जारहा है। वह इस प्रकार है—"केशाद्वोऽन्यतरस्याम्" (५-२-१०९) सूत्र में 'छन्दसि ईवनिपौ च वक्तव्यौ' वार्तिक द्वारा 'मघ' शब्द से

---

१. मघवेति। मघमस्यास्तीति मघवा। भाष्ये मतुपि तु मघवत्-शब्दः। "मघवा बहुलम्" इत्येतन्न कर्तव्यम्। श्वन्नुक्षन्निति निपातनात् मतुपा च भाषायामपि शब्दद्वयस्य सिद्धत्वात्' इति "केशाद्वोऽन्यतरस्याम्" सूत्रे कैयटः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजवत्। (३६२) श्वयुवमघोनामतद्धिते ६। ४। १३३॥ अन्नन्तानां भत्संज्ञकानामेषामतद्धिते परे सम्प्रसारणं स्यात्। 'सम्प्रसारणाच्च' (सू० ३३०) 'आद्गुणः' (सू० ६९) मघोनः। अन्नन्तानाम् किम् ? मघवतः। मघवता। स्त्रियां मघवती।

'वनो र च' इति सूत्रे भाष्यम्—'मघवन्शब्दः अव्युत्पन्नं प्रातिपदिकमि'ति। अयमपि मघवन्शब्दः फिट्स्वरेणान्तोदात्तः लोकवेदसाधारण एव, छन्दोमात्रविषयत्वे प्रमाणाभावादिति भावः। शब्दरत्ने तु 'न शिष्यं छान्दसं हि तत्' इत्युदाहृतभाष्यवार्तिकयोः सामान्यप्रवृत्तयोः मध्योदात्तमात्रविषयसंकोचे प्रमाणं न किञ्चिदस्ति। कविप्रयोगाणां तु 'तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे' इत्यादिविषये बहुशः प्रमाददर्शनात् तेषामपि नार्षवचनसङ्कोचकता। अतो मघवन्शब्दस्य सर्वस्यापि लोके असाधुत्वमेवेति प्रपञ्चितम्। सुटि राजवदिति। तृत्वाभावपक्षे नान्तत्वाद्दीर्घ इति भावः। शसादावचि मघवन् अस् इत्यादिस्थिते 'अल्लोपोऽनः' इति प्राप्ते।

(३६२) श्वयुवमघोनामतद्धिते। श्वा च युवा च मघवा च इति द्वन्द्वः। 'वसोः सम्प्रसारणम्' इत्यतः सम्प्रसारणमित्यनुवर्तते। 'भस्य' इत्यधिकृतम्। 'अल्लोपोऽनः' इत्यतः अन् इत्यपकृष्यते। तच्च श्वयुवमघोनां प्रत्येकं विशेषणं, तदन्तविधिः। फलितमाह—अन्नन्तानामित्यादि।' 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' इति वकारस्य सम्प्रसारणमुकारः। मघ उ अन् इति स्थिते पूर्वरूपमुक्तं स्मारयति—सम्प्रसारणाच्चेति। मघ उ न् इति स्थिते गुणं स्मारयति—आद्गुण इति। अन्नन्तानां किमिति। श्वयुवमघोनामन्नन्तत्वाव्यभिचारात् किमर्थमन्नन्तत्वविशेषणम्, मघवन्शब्दे नकारस्य त्रादेशपक्षेऽपि एकदेशविकृतस्यानन्यतया अन्नन्तत्वसत्त्वादिति प्रश्नः। मघवत इति। त्रादेशपक्षे मघवन्शब्दे सम्प्रसारणनिवृत्त्यर्थम् अन्नन्तत्वविशेषणम्। यद्यप्येकदेशविकृतस्यानन्यतया अन्नन्तत्वमस्त्येव, तथापि विशेषणसामर्थ्यात् श्रूयमाणनकारान्तस्यैव सम्प्रसारणमित्याहुः। स्त्रियां मघवतीति। मघवतः स्त्री मघवती, पुंयोगेन स्त्रियां वृत्तौ 'उगितश्च' इति ङीप्। अत्राप्यन्नन्तत्वविशेषणाद् न सम्प्रसारणमिति भावः। अत्र 'उगिदचाम्' इति नुम् तु न, ङीपा व्यवधानेन तान्तस्य उगितः

'वनिप्' (वन्) प्रत्यय कर 'मघवन्' शब्द निष्पन्न किया है। 'मघवानमीमहे' (= इन्द्र के पास जाते हैं) उदाहरण भी दिया है। 'वनिप्' प्रत्ययान्त 'मघवन्' शब्द मध्योदात्त है। धनवाची 'मघ' शब्द अन्तोदात्त ('फिषोन्त उदात्तः') है। 'मघ' शब्द से 'वनिप्' प्रत्यय करने पर उसके पित् होने से 'व' अनुदात्त है ("अनुदात्तौ सुप्पितौ"-३-१-४)। दोनों शब्दों का योग होने पर उदात्त से पर अनुदात्त 'व' स्वरित हो गया है। लोक में प्रयुक्त 'मघवन्' शब्द अव्युत्पन्न होने से 'अन्तोदात्त' है। किन्तु वह वेद और लोक दोनों में प्रयुक्त हो सकता है।

(३६२) पद—श्वयुवमघोनाम्, अतद्धिते। अनुवृत्ति—अनः, भस्य (अधिकार), सम्प्रसारणम्। विधिसूत्र।

मूलार्थ—तद्धित-भिन्न प्रत्यय परवर्ती रहते अन्नन्त भसंज्ञक श्वन्, युवन् और मघवन् शब्दों को सम्प्रसारण होता है। "सम्प्रसारणाच्च"—पूर्वरूप। "आद् गुणः"—गुण। मघोनः। 'अन्नन्तानां' क्यों कहा ? मघवतः। मघवता। स्त्रीलिङ्ग में मघवती। 'अतद्धिते' क्यों कहा ? माघवनम्। मघोना, मघवभ्याम् इत्यादि। शुनः। शुना, श्वभ्याम् इत्यादि। 'युवन्' शब्द में 'व्' के स्थान पर 'उ' करने पर (पूर्व यण् को सम्प्रसारण का निषेध किया जारहा है)।

विवरण—"भस्य" (६-४-१२९) का अधिकार है। 'भस्य' पद को बहुवचन में परिवर्तित किया जाता है—'भ-संज्ञकानाम्'। इसके अतिरिक्त "अल्लोपोऽनः" (६-४-१३४) से 'अनः' तथा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतद्धिते किम् । माघवनम् । मघोना । मघवभ्याम् इत्यादि । शुनः । शुना, श्वभ्यामित्यादि । युवन्शब्दे वस्योत्वे कृते । (३६३) न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् ६।१।३७ ॥

सर्वनामस्थानपरकत्वाभावात् । लिङ्गविशिष्टपरिभाषा तु नेह प्रवर्तते, विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणमित्युक्तेरिति भावः । माघवनमिति । 'साऽस्य देवता' इति मघवन्शब्दात् अणि आदिवृद्धिः । अत्राणस्तद्धितत्वात् तस्मिन् परे न सम्प्रसारणमिति भावः । मघवभ्यामिति । भ्यामादौ हलि नलोप इति भावः । इत्यादीति । मघोने । मघोनः । मघोनोः । मघोनाम् । मघोनि । श्वन्शब्दः प्रायेण राजवत् । शसादावचि 'श्वयुव' इति सम्प्रसारणं वकारस्य उकारः । शु अन् इति स्थिते 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपमिति मत्वाह—शुनः शुनेति । इत्यादीति । शुने । शुनः । शुनोः शुनाम् । शुनि । युवन्शब्दोऽपि प्रायेण राजवत् । शसादावचि विशेषमाह—युवन्शब्द इति । युवन् अस् इत्यादिस्थित 'श्वयुव' इति वकारस्य सम्प्रसारणे उकारे यु उ अन् इति स्थिते 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे यु उ न् इति स्थिते सवर्णदीर्घे यून इत्यादिरूपेषु सिद्धेषु, यकारस्यापि सम्प्रसारणे प्राप्त इत्यर्थः । 'लक्ष्ये लक्षण य सकृदेव प्रवृत्तिः' इत्यस्य तु नायं विषयः, कार्याश्रयवर्णभेदेन लक्ष्यभेदात् । अन्यथा संस्कर्तेत्यादौ, 'अनचि च' इत्यादेरसकृत्प्रवृत्त्यनुपपत्तेरिति भावः ।

"वसोः सम्प्रसारणम्" (६-४-१३१) से 'सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति की जारही है । 'अनः' पद 'श्व-युव-मघोनाम्' का विशेषण है । अतः तदन्त-विधि होकर सूत्रार्थ इस प्रकार होता है—"तद्धित-भिन्न-प्रत्यय पर रहते अन्नन्त भसंज्ञक श्वन्, युवन् तथा मघवन् शब्दों को (श्वा च, युवा च, मघवा च तेषाम्—द्वन्द्व-समास[1]) सम्प्रसारण होता है (व् = उ) । उदाहरण—मघवन्+अस् (शस्), <मघ-उ-अ-न्+अस् (व् = उ—सम्प्रसारण), <मघ-उ-न्+अस् (उ+अ = अ-पूर्वरूप—"सम्प्रसारणाच्च"-३३०), <मघोनस् (अ+उ = ओ-गुण), <मघोनः (स = र् = :) । इसी तरह मघोना (टा), मघवभ्याम् (भ्याम्) ('न्'-लोप असिद्ध होने से दीर्घ नहीं), मघवभिः, आदि रूप 'राजन्' शब्द के समान बनेंगे । प्रत्युदाहरण—१-सूत्र में 'अनन्त' की विवक्षा से 'नु' आदेशयुक्त 'मघवत्' शब्द को अभिलक्षित कर मघवतः (शस्) एवं मघवता (टा) आदि में सम्प्रसारण नहीं होता । अन्यथा वहाँ भी सम्भावना हो जाती । २-इन्द्रपत्नी इस अर्थ में "उगितश्च" (४-१ ६) से 'ङीप्' प्रत्यय होकर मघवती रूप बनता है । यहाँ पर भी 'अनन्त' न होने से सम्प्रसारण नहीं हुआ । ३—सूत्र में 'अतद्धिते' पद के न रहने पर तद्धित-प्रत्यय पर रहते 'माघवनी' में संप्रसारण (मघवन्+अण्, आदि-वृद्धि, अण्-अन्त होने से ङीप्) होने लगता । वह न हो—अतः 'अतद्धिते' कहा गया ।

निर्देश—'श्वन्' शब्द के कुछ विशेष रूप दिये जा रहे हैं । (क) प्रथमा—श्वा, श्वानौ, श्वानः । (ख) द्वितीया—श्वानम्, श्वानौ, शुनः (सम्प्रसारण) । (ग) तृतीया—शुना (सम्प्रसारण), श्वभ्याम् (न्-लोप), श्वभिः इत्यादि । (क) इसी तरह 'युवन्' शब्द के प्रथमा में—युवा, युवानौ, युवानः । (ख) द्वितीया के एक तथा द्विवचन में—युवानम्, युवानौ रूप बनते हैं ।

---

१. इस सूत्र को उपलक्षित कर एक सुभाषित प्रसिद्ध है—

"काचं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे ग्रथ्नासि बाले किमिदं विचित्रम् । (प्रश्न)
विचारवान् पाणिनिरेकसूत्रे श्वानं युवानं मघवानमाह ॥" (उत्तर)

अर्थ—माला गूँथती बाला से किसी ने पूछा कि तुम काँच, रत्न और सोने को एक ही डोरे में क्यों गूंथ रही हो ? यह बड़ी विचित्र बात है । तब उसने उत्तर दिया कि विचारशील पाणिनि ने भी तो एक ही सूत्र में श्वन् (कुत्ता), युवन् (जवान) तथा मघवन् (इन्द्र) को बैठा दिया है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न स्यात् । इति यकारस्य नेत्वम् । अत एव ज्ञापकादन्त्यस्य यणः पूर्वं सम्प्रसारणम् । यूनः । यूना । युवभ्यामित्यादि । अर्वा । हे अर्वन् । (३६४) अर्वणस्त्रसावनञः ६ । ४ । १२७ ॥ नञा रहितस्यार्वन्नित्यस्याङ्गस्य

---

(३६३) न सम्प्रसारणे । इति यकारस्येति । सवर्णदीर्घनिष्पन्नस्य उकारस्य 'अचः परस्मिन्' इति स्थानिवत्त्वेन सम्प्रसारणतया यकारस्य सम्प्रसारणपरकत्वात् न सम्प्रसारणमिकार इत्यर्थः । ननु उकारद्वयस्थानिकस्य ऊकारस्य स्थानिवत्त्वे सति तस्य उकारद्वयात्मकतया प्रथमेन उकारेण व्यवधानात् सम्प्रसारणपरत्वाभावात् कथमिह निषेधः । 'येन नाव्यवधानम्' इति न्यायस्य तु नायं विषयः, विव्यथे इत्यादौ 'व्यथो लिटि' इति वकारस्याव्यवहितसम्प्रसारणपरत्वे निषेधस्य चरितार्थत्वाद् इति चेन्मैवम् । एवं हि सति न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इति निषेधस्य 'व्यथो लिटि' इति सम्प्रसारणमात्रविषयकत्वमापद्येत । एवं च सति 'व्यथो यो लिटि' इति यकारग्रहणेनैव सिद्धे 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इति सूत्रमनर्थकमेव स्यात् । अतः 'श्वयुव' इति सम्प्रसारणनिषेधकत्वमस्यावश्यकमिति व्यवहितेऽपि सम्प्रसारणे परे यून इत्यादौ निषेधो निर्बाधः, 'यूनस्तिः' इत्यादिनिर्देशाच्चेत्यलम् । ननु सकृत्प्रवृत्त्यैव युवन्शब्दे यवयोः सम्प्रसारणे जाते निषेधो व्यर्थः, निमित्तत्वानुपपत्तिश्च । यद्वा प्रथमं यकारस्य सम्प्रसारणमस्तु । तदानीं सम्प्रसारणपरत्वाभावेन निषेधाप्रवृत्तेः । अनन्तरं तु वकारस्यापि सम्प्रसारणस्तु । तत्राह—अत एव ज्ञापकादिति । अन्यथा एतन्निषेधारम्भवैयर्थ्यापातादिति भावः । इत्यादीति । यूने । यूनः । यूनोः । यूनि । 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च' 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति ऋधातोः वनिपि गुणे रपरत्वे अर्वन्शब्दः अश्वे योगरूढः । तस्य सौ राजवद्रूपं मत्वाह—अर्वा हे अर्वन्निति ।

(३६४) अर्वणस्त्रसावनञः । तृ असौ इति छेदः । न विद्यते नञ् यस्येति बहुव्रीहिः ।

---

(३६३) पद—न, सम्प्रसारणे, सम्प्रसारणम् । विधि(निषेध)सूत्र ।

मूलार्थ—सम्प्रसारण पर रहते पूर्व यण् को सम्प्रसारण नहीं होता । इसलिये 'य्' को इकार नहीं हुआ । इस ज्ञापन से ही उत्तरवर्ती 'यण्' को पहले ही सम्प्रसारण हो गया । यूनः । यूना, युवभ्याम् । इत्यादि । अर्वा । हे अर्वन् ।

विवरण—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है । यदि पूर्व वर्ण 'यण्' हो और पर वर्ण 'सम्प्रसारण' हो तो पूर्व 'यण्' को सम्प्रसारण नहीं होता । यह स्थिति तब सम्भव होगी, जब पूर्व और पर दोनों वर्ण 'यण्' हों तथा पर वर्ण को 'सम्प्रसारण' कर दिया गया हो । पहले यण् को यदि पहले ही सम्प्रसारण कर दिया जाय तो कहीं भी परवर्ती सम्प्रसारण न मिलने से इस सूत्र को कोई लक्ष्य नहीं मिलेगा । अतः निषेध-रूप सामर्थ्य से यह विदित होता है कि पूर्व और पर दो 'यण्'-वर्णों के रहने की स्थिति में सम्प्रसारण की प्राप्ति होने पर पहले अन्तिम 'यण्' को सम्प्रसारण करना चाहिये । तदनन्तर इस सूत्र से पूर्व यण् को सम्प्रसारण का निषेध सार्थक होगा । उदाहरण—(ख) युवन्+अस् (शस्), <यु-उ न्+अस्, (सम्प्रसारण तथा पूर्वरूप) <यूनस्—इस स्थिति में उ+उ = ऊ दीर्घ होने के पश्चात् 'य्' को प्राप्त होने वाले सम्प्रसारण का निषेध होता है, <यूनः (स् = र् = :) । (क) यूना (टा, व् को सम्प्रसारण, पूर्वरूप, सवर्ण-दीर्घ), युवभ्याम् ('न्' लोप), युवभिः ('न्' लोप, स् = र् = :) । शेष रूप 'राजन्' के समान ।

निर्देश—अर्वन् शब्द (= घोड़ा) सम्बन्धी उल्लेखनीय कार्यों का निरूपण किया जारहा है । (क) प्रथमा-एकवचन-अर्वा ('सु' विभक्ति का लोप, दीर्घ, 'न्' लोप) । सम्बोधन एकवचन-हे अर्वन् ('स्'-विभक्ति-लोप, संबुद्धि में दीर्घ नहीं होता) ।

(३६४) पद—अर्वणः, तृ, असौ, अनञः । अनुवृत्ति—अङ्गस्य (अधिकार) । विधिसूत्र ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृ इत्यन्तादेशः स्यात् न तु सौ। उगित्त्वान्नुम्। अर्वन्तौ, अर्वन्तः। अर्वन्तम्, अर्वन्तौ, अर्वतः। अर्वता, अर्वद्भ्याम् इत्यादि। अनञः किम्? अनर्वा। यज्ववत्। (३६५) पथिमथ्यृभुक्षामात् ७। १। ८५॥ एषामाकारोऽन्तादेशः स्यात्सौ परे। आ आत् इति

अङ्गस्येत्यधिकृतम् अर्वणा विशेष्यते। तदाह—नञा रहितस्येत्यादिना। ऋकार इत्। 'अलोऽन्त्यस्य' इति नस्य तः। उगित्त्वान्नुमिति। 'उगिदचाम्' इत्यनेनेति भावः। अर्वन्ताविति। नुमो नस्य 'नश्चापदान्तस्य' इति अनुस्वारः, परसवर्ण इति भावः। शसादावचि असर्वनामस्थानत्वान्नुम् नेति मत्वाह—अर्वत इति। अर्वद्भ्यामिति। 'स्वादिषु' इति पदत्वाज्जश्त्वमिति भावः। इत्यादीति। अर्वद्भिः। अर्वते। अर्वद्भ्यः। अर्वतः अर्वतोः अर्वताम्। अर्वति। अर्वत्सु। अनञः किमिति। अनञः इत्यस्य किं प्रयोजनमित्यर्थः। अनर्वा यज्ववदिति। अनर्वन्शब्दो यज्ववदित्यर्थः। शसादावचि 'न संयोगाद्वमन्तात्' इत्यल्लोपो नेति भावः। पथिन्, मथिन्, ऋभुक्षिन्, एते नकारान्ताः। तेषु विशेषमाह।

(३६५) पथिमथ्यृभुक्षामात्। पन्थाश्च मन्थाश्च ऋभुक्षाश्च पथिमथ्यृभुक्षाणः तेषामिति विग्रहः। 'सावनडुहः' इत्यतः सावित्यनुवर्तते। आदिति तपरकरणम्। आकार एव विधेयः। तदाह—एषामित्यादिना। 'अलोऽन्त्यस्य' इति नकारस्य आकारः। ननु नकारस्य आन्तरतभ्याद् अनुनासिक एव आकारः प्राप्नोति। न च निरनुनासिकस्यैवाकारस्योच्चारणात् शुद्ध एव आकार इति वाच्यम्, गुणानामभेदकत्वाद् भेदकत्वेऽपि तपरकरणेन अनुनासिकस्याप्याकारस्य ग्रहणात्, व्यक्तिपक्षे तपरसूत्रस्य अनण्सु दीर्घप्लुतेषु विध्यर्थत्वात्। न च ग्रहणकसूत्रे वार्णसमाम्नायिकत्वेन निश्चितस्याण्ग्रहणस्य अप्रत्यय इत्यस्य च तपरसूत्रे अनुवृत्तेराकारस्येहानण्त्वाद् विधीयमानत्वाच्च न तत्काल इति वाच्यम्, तपरसूत्रे अण्ग्रह-

---

मूलार्थ—नञ्-रहित 'अर्वन्' अङ्ग को 'तृ' अन्तादेश होता है, किन्तु 'सु' पर रहते नहीं होता। 'उक्'-इत्संज्ञक होने से नुम्। अर्वन्तौ, अर्वन्तः। अर्वन्तम्, अर्वन्तौ, अर्वतः। अर्वता, अर्वद्भ्याम् इत्यदि। अनञः क्यों कहा? अनर्वा। 'यज्वन्' शब्द के समान।

विवरण—"अङ्गस्य" का अधिकार है। उसका सम्बन्ध 'अर्वन्' शब्द के साथ है। तदनुसार "नञ्-रहित (अनञः) 'अर्वन्'-अङ्ग के स्थान पर (अर्वणः) 'तृ' आदेश होता है"। 'मघवन्' शब्द के समान यहाँ भी 'तृ' आदेश अन्त्य वर्ण के स्थान पर होगा (देखें सूत्र सं० ३६०)। उदाहरण—(क) अर्वन्+औ, <अर्वत्+औ ('न्' = 'त्'), <अर्वन्-त्-औ ("उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः"—३६१-नुम्), अर्वत्+औ (न् = ÷), <अर्वन्तौ। (÷ = न्—परसवर्ण)। इसी तरह अर्वन्तः (जस्)। (ख) द्वितीया में—अर्वन्तम् (अम्), अर्वन्तौ (औ), अर्वतः ('सर्वनामस्थान' न होने से 'नुम्' नहीं)। (ग) तृतीया-अर्वता (टा), अर्वद्भ्याम् ('तृ' = त् = द्—जश्त्व), अर्वद्भिः इत्यादि। शेष रूप 'मघवत्' के समान।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'अनञः' कथन से 'अनर्वन्' (नञ्-समास-युक्त 'अर्वन्') शब्द में 'तृ' आदेश नहीं होता। अतः इसके रूप अनर्वा, अनर्वाणौ, अनर्वाणः—इत्यादि 'यज्वन्' के समान होंगे।

(३६५) पद—पथिमथ्यृभुक्षाम्, आत्। अनुवृत्ति—सौ। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'सु' विभक्ति पर रहते इन शब्दों को 'आ'कार अन्तादेश होता है। 'आ-आत्' प्रश्लेष होने के कारण शुद्ध 'आ' का विधान होने से अनुनासिक का ग्रहण नहीं होता।

विवरण—"सावनडुहः" (७-१-८२) सूत्र से 'सौ' की अनुवृत्ति करने पर सूत्रार्थ पूरा हो जाता है। अर्थात् "'सु' विभक्ति पर रहते पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् (पन्थाश्च, मन्थाश्च, ऋभुक्षाश्च, तेषाम्) शब्दों के अन्त्य 'न्' के स्थान पर 'आ' आदेश होता है"।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्लेषेण शुद्धाया एव व्यक्तेर्विधानान्नानुनासिकः। (३६६) **इतोऽत्सर्वनामस्थाने** ७।१।८६॥ पथ्यादेरिकारस्याकारः स्यात्सर्वनामस्थाने परे। (३६७) **थो न्थः** ७।१।८७॥ पथिमथोस्थस्य न्थादेशः स्यात्सर्वनामस्थाने परे। पन्थाः, पन्थानौ,

---

णस्य अप्रत्ययग्रहणस्य चानुवृत्तौ मानाभावादित्यत आह—आ आदिति। सवर्णदीर्घेणाकारान्तरं प्रश्लिष्यते। ततश्चानुनासिकरूप आकारो भवतीति लभ्यते। न च सवर्णदेशत्वं शङ्क्यम्। न ह्यत्र वर्णद्वयं विधीयते, विशेषणविशेष्यभावेनान्वयाभ्युपगमेन अननुनासिकाकारस्यैकस्यैव विधानादिति भावः। भाष्ये तु अनुनासिकविधेः संमतत्वे प्रतिपत्तिलाघवाय अनुनासिकस्यैव 'उञः' 'ऊँ' इत्यत्रैव उच्चार्य विधानसम्भवात्तदनुच्चारणाच्छुद्ध एव आकार इह विधेय इत्युक्तम्। तपरकरणं तु उच्चारणार्थमेव। वस्तुतस्तु 'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न' इति परिभाषयैव अनुनासिकाकारनिराससम्भवादाकारप्रश्लेषक्लेशो व्यर्थः। 'भाव्यमानोऽण् सवर्णान्न गृह्णाति' इति पाठस्तु प्रामादिकः, 'ज्यादादीयसः' इति सूत्रे 'आदिति तपरनिर्देशेनेयं परिभाषा ज्ञाप्यते—भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न' इत्येव भाष्ये पाठाद् अणुदित्सूत्रभाष्येऽप्यण्ग्रहणरहिताया एवास्याः परिभाषायाः पाठदर्शनाच्चेत्यास्तां तावत्। नकारस्य आत्वे पथि आ स् इति स्थिते।

(३६६) इतोऽत्। 'पथिमथ्यृभुक्षाम्' इत्यनुवर्तते। इति तपरकरणं स्पष्टार्थम्, पथ्यादिषु त्रिषु दीर्घप्लुतयोरसम्भवात्। भाव्यमानत्वादेव सवर्णाग्राहकत्वे सिद्धे अदितिपरकरणमपि स्पष्टार्थमेव। तदाह—पथ्यादेरित्यादिना। पथ आ स् इति स्थिते।

(३६७) थो न्थः। थः न्थ इति च्छेदः। थः इति षष्ठी। आदेशे अकार उच्चारणार्थः। पथिमथिग्रहणमनुवर्तते। ऋभुक्षिग्रहणं निवृत्तम्, तत्र थकाराभावात्। 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' इत्यतः सर्वनामस्थानग्रहणमनुवर्तते। तदाह—पथिमथोरित्यादिना। पन्थाः इति।

विशेष—प्रकृत सूत्र 'न्' के स्थान पर 'आ' विधान करता है। स्थानी—'न्'—अनुनासिक है, अतः सादृश्य होने से 'आ' भी सानुनासिक प्राप्त होता है। उसका निवारण सूत्रस्थ 'आत्' पद के पूर्व 'आ' का प्रश्लेप कर 'आकारान्त आ' की कल्पना द्वारा किया जाता है। इस कल्पना से निरनुनासिक 'आ' का विधान माना जाता है। प्रश्लेष के रूप में अर्थ करने से अनुनासिकत्व आदि गुणों की निवृत्ति (व्यावृत्ति) होती है। वस्तुतः प्रश्लेप किये बिना भी यहाँ काम चल सकता है। "अस्थिदधि०" (७-१-७५) सूत्र से ज्ञापित 'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न' (विधीयमान वर्ण से 'सवर्ण' का ग्रहण नहीं होता) परिभाषा से अनुनासिक का ग्रहण नहीं होगा।

(३६६) **पद**—इतः, अत्, सर्वनामस्थाने। **अनुवृत्ति**—पथिमथ्यृभुक्षाम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सर्वनामस्थान पर रहते 'पथ्यादि'—शब्दों के इकार को अकार होता है।

विवरण—सूत्रार्थ पूरा करने के लिये "पथिमथ्यृभुक्षामात्" (७-१-८५) सूत्र से 'पथिमथ्यृभुक्षाम्' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। तदनुसार पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों के ह्रस्व इकार के स्थान पर, 'सर्वनाम-स्थान'—विभक्तियों के परवर्ती होने की स्थिति में, ह्रस्व अकार ('अत्') आदेश होता है।

(३६७) **पद**—थः, न्थः। **अनुवृत्ति**—पथिमथोः, सर्वनामस्थाने। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'सर्वनामस्थान' पर रहते 'पथिन्' तथा 'मथिन्' के 'थ्' को 'न्थ्' आदेश होता है। पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः। पन्थानम्, पन्थानौ।

विवरण—'थः' स्थानी है तथा आदेश है 'न्थः'। किस शब्द का 'थ्' लिया जाय? इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिये "पथिमथ्यृभुक्षामात्" (७-१-८५) से 'पथिमथोः' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है (ऋभुक्षिन् में 'थ्' न होने के कारण उसकी अनुवृत्ति नहीं)। आदेश

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पन्थानः। पन्थानम्, पन्थानौ। (३६८) भस्य टेर्लोपः ७। १। ८८॥ भसंज्ञकस्य पथ्यादेष्टेर्लोपः स्यात्। पथः। पथा, पथिभ्यामित्यादि। एवं मन्थाः, ऋभुक्षाः। स्त्रियां नान्तलक्षणे ङीपि भत्वाट्टिलोपः–सुपथी, सुमथी नगरी। अनृभुक्षी सेना। आत्त्वं नपुंसके

नकारस्य आत्वे इकारस्य अत्त्वे थकारस्य न्थादेशे पन्थ आ स् इति स्थिते सवर्णदीर्घे रुत्वविसर्गाविति भावः। पन्थानाविति। पथिन् औ इति स्थिते सावित्युक्तेर्नात्त्वम्, 'इतोऽत्' इति इकारस्यात्त्वे थकारस्य न्थादेशे 'सर्वनामस्थाने च' इति दीर्घे रूपमिति भावः। एवं पन्थानः। पन्थानम्। पन्थानौ। शसादावचि विशेषमाह।

(३६८) भस्य टेर्लोपः। पथ्यादेरिति। पथिमथ्यृभुक्षाम् इत्यनुवर्तत इति भावः। पथः पथेति। पथिन् अस् पथिन् आ इति स्थिते इनो लोपे रूपद्वयमिति भावः। पथिभ्यामिति। नलोपे रूपम्। इत्यादीति। पथिभिः। पथे। पथिभ्यः। पथः पथोः पथाम्। पथि पथोः पथिषु। एवं मन्थाः ऋभुक्षाः इति। मन्थदण्डवाची मथिन्शब्दः। तस्य आत्त्वं, अत्त्वं, न्थादेशः, टिलोपश्च। मन्थाः। मन्थानौ। मन्थानः। मन्थानम् मन्थानौ मथः। मथा। मथिभ्याम्। मथे। मथः। मथोः। मथाम्। मथि। मथिषु। ऋभुक्षिन्शब्दस्तु इन्द्रवाची। तत्र 'थो न्थः' इतिवर्जमात्त्वादि भवति, षात्परत्वाण्णत्वं च। ऋभुक्षाणौ इत्यादि। यत्तु अत्र "पन्थानमात्मनः इच्छति पथीयति 'सुप आत्मनः क्यच्', 'नः क्ये' इति पदत्वात् नलोपः। 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घः। 'सनाद्यन्ताः' इति धातुत्वम्। ततः क्विप्। अल्लोपयलोपौ। एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् 'पथिमथि' इत्यात्त्वं, 'थो न्थः'। पन्थाः। 'इतोऽत्' इत्यत्त्वं तु तपरकरणान्न भवति। एरनेकाचः–इति यणं बाधित्वा परत्वान्नित्यत्वाच्च 'थो न्थः'। ततः संयोगपूर्वत्वान्न यण्। किन्त्वियङेव। पन्थियौ। 'भस्य टेर्लोपः पथः' इत्यादि प्रौढमनोरमातत्त्वबोधिन्यादावुक्तम् तदेतदनुनासिकविधौ सति प्रतिपत्तिलाघवायानुनासिकस्यैव उच्चारणे कार्ये तदनुच्चारणाच्छ्रुद्ध्यस्यैव विधानमिति भाष्यविरोधादुपेक्ष्यम्। 'पथीयतेः क्विपि हि ईकारस्य शुद्धाकारार्थम् अनुनासिकानुच्चारणस्यावश्यकत्वे तदसंगतिः स्पष्टैव। तस्मात् 'पथीयतेः क्विपः अनभिधानमेवोचितमि'ति शब्देन्दुशेखरे स्पष्टम्। प्रसङ्गादाह–स्त्रियामिति। सु शोभनः पन्थाः अस्या इति बहुव्रीहिः। 'ऋन्नेभ्यः'–इति ङीप्। 'भस्य टेर्लोपः' इति इनो लोपः। सुपथीति रूपम्। 'ऋक्पूः'–इत्यप्तु न, 'न

किस स्थिति में हो ? इसे जानने के हेतु "इतोत्सर्वनामस्थाने" (७-१-८६) से 'सर्वनामस्थाने' की भी अनुवृत्ति अपेक्षित है। इस प्रकार सूत्र का यह तात्पर्य है कि "सर्वनाम-स्थान विभक्तियों में पथिन् तथा मथिन् शब्दावयव 'थ्' के स्थान पर 'न्थ्' आदेश होता है"। उदाहरण—(क) पथिन्+स्, <पथि-आ+स् (न् = आ–"पथिमथ्यृभुक्षामात्–३६५), <पथ–आ+स् (इ = अ—"इतोऽत्सर्वनामस्थाने"—३६६), <पन्थ्-अ-आ+स् (थ् = न्थ्), पन्थास् (अ+आ = आ–दीर्घ), <पन्थाः (स् = र् = :)। पथिन्+औ, <पथ–न्+औ (इ = अ—"इतोऽत् सर्वनामस्थाने–३६६)। <पन्थ्-अ-न्+औ (थ् = न्थ्), <पन्थान्+औ (उपधादीर्घ), <पन्थानौ। पथिन्+अस् (जस्), <पथ–न्+अस्, <पन्थन्+अस्, <पन्थानस्, <पन्थानः। (ख) द्वितीया—पन्थानम् (अम्), पन्थानौ (औ)।

(३६८) पद—भस्य, टेः, लोपः। अनुवृत्ति—पथिमथ्यृभुक्षाम्। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'भ' संज्ञक पथ्यादि की 'टि' का लोप होता है। पथः। पथा, पथिभ्याम् इत्यादि। 'मन्थाः' तथा 'ऋभुक्षाः' भी इसी तरह। स्त्रीलिङ्ग में नकारान्त-निमित्तक ङीप् करने पर भ-संज्ञा होने से टि-लोप। सुपथी, सुमथी नगरी। अनृभुक्षी सेना। "न लुमताङ्गस्य" प्रत्ययलक्षण का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न भवति 'न लुमता—' (सू २६३) इति प्रत्ययलक्षणनिषेधात् । सुपथि वनम् । 'सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः' (वा ४७८६) । हे सुपथिन्—हे सुपथि । 'नलोपः सुप्स्वर' (सू ३५३) इति नलोपस्यासिद्धत्वाद्ध्रस्वस्य गुणो न । द्विवचने भत्वाट्टिलोपः—सुपथी । शौ सर्वनामस्थानत्वात्—सुपन्थानि । पुनरपि सुपथि, सुपथी,

---

पूजनात्' इति निषेधात् । न चैवमपि 'न पूजनात्' इति निषेधस्य पचः प्रागेव प्रवृत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् 'इनः स्त्रियाम्' इति कप् दुर्वार एवेति वाच्यम्, 'युवोरनाकौ' इत्यत्र सुपथीति भाष्यप्रयोगेण तस्यानित्यत्वज्ञापनात् । न च लिङ्गविशिष्टपरिभाषया 'पथिमथि'-इत्यात्वं थो न्थश्च कुतो नेति वाच्यम्, विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणात् । सुमथी : ति । सु शोभनः मन्थाः यस्या इति विग्रहः । ङीबादि पूर्ववत् । अनृभुक्षी सेनेति । अविद्यमानः ऋभुक्षाः यस्या इति विग्रहः । 'नञोऽस्त्यर्थानाम्'—इति समासः । ऋभुक्षाः स्वामी । अथ सु शोभनः पन्थाः अस्य वनस्येति बहुव्रीहौ सुपथिन्शब्दान्नपुंसकात् 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लुकि प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य सुप्परत्वसत्त्वात् 'पथिमथि' इत्यात्वमाशङ्क्याह—अत्वं नपुंसके इति । सम्बुद्धाविति । यद्यपि भाष्ये नपुंसकानामित्येव पठितम् तथापि हे चर्मन् हे चर्मेति भाष्ये

निषेध होने के कारण नपुंसक-लिङ्ग में 'आ'-विधान नहीं होता । सुपथि वनम् । वा० सम्बुद्धि में नपुंसक-लिङ्ग-वाची शब्दों के 'न'कार का विकल्प से लोप होता है । हे सुपथिन्—हे सुपथि । "नलोपः सुप्-स्वर-संज्ञा-तुग्विधिषु कृति" से 'न्'-लोप असिद्ध होने के कारण ह्रस्व को गुण नहीं हुआ । द्विवचन में भ-संज्ञा होने से टि-लोप । सुपथी । 'शि' की सर्वनामस्थान-संज्ञा होने से 'सुपन्थानि' । द्वितीया में भी सुपथि, सुपथी, सुपन्थानि । सुपथा । सुपथे, सुपथिभ्याम् इत्यादि ।

विवरण—सूत्र का अर्थ करने के लिए "पथिमथ्यृभुक्षामात्" (७-१-८५) से 'पथिमथ्यृभुक्षाम्' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है । तदनुसार 'भ'संज्ञक ('शसा'दि अजादि-विभक्तियाँ) पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों की 'टि' (अन्त्य 'अच्'-सहित-समुदाय) का लोप होगा । उदाहरण—(ख) पथिन्+अस् (शस्), <पथ्+अस् ('टि'='इन्' का लोप), <पथः (स् = र् = :) । (क) पथिन्+आ (टा), <पथ्+आ ('टि' = इन् का लोप), <पथा । पथिन्+भ्याम्, <पथिभ्याम् ('न्' लोप) । पथिन्+भिस्, <पथिभिः (न्-लोप, स् = र् = :) ।

'पथिन्' शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०	वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	पन्थाः	पन्थानौ	पन्थानः	प०	पथः	पथिभ्याम्	पथिभ्यः
द्वि०	पन्थानम्	पन्थानौ	पथः	प०	पथः	पथोः	पथाम्
तृ०	पथा	पथिभ्याम्	पथिभिः	स०	पथि	पथोः	पथिषु
च०	पथे	पथिभ्याम्	पथिभ्यः	सं०	हे पन्थाः	हे पन्थानौ	हे पन्थानः

निर्देश—१-मथिन् (=दही मथने की रई) शब्द के रूप भी मन्थाः, मन्थानौ, मन्थानः इत्यादि 'पथिन्' के समान होते हैं । इसी तरह 'ऋभुक्षिन्' (=इन्द्र) शब्द के रूप भी जाने जायँ । प्रसङ्गवश समासयुक्त पथिन्, मथिन्, ऋभुक्षिन् आदि शब्दों के स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्गों में रूप-सिद्धि का उल्लेख किया जा रहा है । १. स्त्रीलिङ्ग—(क) अच्छे मार्ग वाली नगरी अर्थ में (सु-शोभनः पन्थाः अस्याः = सुपथिन्+ङीप्, <सुपथ्+ई, <सुपथी+सु, <सुपथी ('स्'-विभक्ति लोप), सुपथ्यौ, सुपथ्यः आदि रूप 'नदी' शब्द के समान होते हैं । विभक्तियों में लिङ्ग-विशेष का ग्रहण न होने के कारण स्त्रीलिङ्ग में 'पथिन्' शब्द के 'न्' को 'आ' तथा 'थ्' के स्थान पर 'न्थ्' आदेश नहीं होते । इसी प्रकार 'प्रशस्त' मन्थनदण्ड से युक्त 'नगरी' अर्थ में (सु-शोभनः मन्थाः यस्याः) 'सुमथी' तथा 'इन्द्र अथवा स्वामी से रहित सेना' अर्थ में (अविद्यमानः ऋभुक्षाः यस्याः) 'अनृभुक्षी' शब्दों के रूप भी होते हैं । २—नपुंसकलिङ्ग—(क) 'प्रशस्त मार्ग वाला

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुपन्थानि । सुपथा । सुपथे सुपथिभ्यामित्यादि । (३६९) ष्णान्ता षट् १ । १ । २४ ॥ षान्ता नान्ता च संख्या षट्संज्ञा स्यात् । 'षड्भ्यो लुक्' (सू २६१) । पञ्च । पञ्च । संख्या किम् ? विप्रुषः, पामानः । शतानि सहस्राणि इत्यत्र सन्निपातपरिभाषया न लुक् ।

सम्बुद्धावेव उदाहृतत्वात् तन्मात्रविषयत्वमस्येति भावः । सम्बुद्धेर्लुका लुप्तत्वात् सम्बुद्धि-परत्वाभावात् 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इति निषेधाप्रवृत्तेः नित्यं नलोपप्राप्तौ विकल्पार्थोऽयमा-रम्भः । ननु नलोपपक्षे 'ह्रस्वस्य गुणः' इति सम्बुद्धौ परतः गुणे कर्तव्ये 'न लुमता' इति निषेधस्यानित्यत्वात् हे वारे हे वारि इतिवत् गुणविकल्पः स्यादित्यत आह—नलोपः सुविति । द्विवचने इति । सुपथिन्शब्दात् औङः शीभावे सति असर्वनामस्थानत्वेन भत्वात् 'भस्य टेर्लोपः' इति इनो लोपे सुपथी इति रूपमित्यर्थः । शाविति । सुपथिन्शब्दात् जश्शसोः शिभावे सति तस्य सर्वनामस्थानत्वात् 'इतोऽत्' इत्यत्वे, 'थो न्थः' इति थस्य न्थादेशे नान्तत्वात् दीर्घे सुपन्थानि इति रूपमित्यर्थः । पञ्चन्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । तस्य षट्सञ्ज्ञाकार्यं लुकं विधास्यन् षट्सञ्ज्ञामाह ।

(३६९) ष्णान्ता षट् । पूच नश्च ष्णौ टुत्वेन णः । ष्णौ अन्तौ यस्याः सा ष्णान्ता । 'बहुगणवतुडति सङ्ख्या' इत्यतः सङ्ख्येत्यनुवर्तते । तच्च पूर्वसूत्रे बहुगणवतुडति परमपि शब्दाधिकारादिह पञ्च षडित्यादिप्रसिद्धसङ्ख्याबोधकशब्दपरमाश्रीयते, बहुगणवतुडतिपु ष्णान्तत्वासम्भवात् । तदाह—षान्तेत्यादिना । षड्भ्यो लुक् इति । अनेन जश्शसोर्लुगिति शेषः । पञ्च पञ्चेति । जश्शसोर्लुकि नलोप इति भावः । सङ्ख्या किमिति । सङ्ख्याग्रहणानुवृत्तेः किं फलमिति प्रश्नः । विप्रुषः पामान इति । विप्रुष्शब्दस्य पामन्शब्दस्य च ष्णान्तत्वेऽपि सङ्ख्यावाचकत्वाभावेन षट्सञ्ज्ञाविरहात् ततः परस्य जसो न लुगिति भावः । ननु शतशब्दात् जश्शसोः शिभावे 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि 'सर्वनामस्थाने च' इति दीर्घे शतानीति रूपम् । एवं सहस्राणीत्यपि रूपम् । तत्र 'अट्कुप्वाङ्'–इति णत्वं विशेषः । इह 'यदागमाः'–इति न्यायेन नुमः अङ्गभक्तत्वात् शतन्शब्दसहस्रन्शब्दयोः नान्तसङ्ख्या-शब्दत्वात् षट्सञ्ज्ञायां सत्यां 'षड्भ्यो लुक्' इति जश्शसोर्लुक् स्यादत आह—शतानी-

---

वन' अर्थ में (सु-शोभनः पन्थाः यस्य वनस्य) 'सुपथिन्' शब्द के रूप सुपथि ('सु'-विभक्ति-लोप, 'न्' लोप), सुपथी (औ = शी, 'भ'संज्ञा होने से 'टि' = इन् का लोप), सुपन्थानि (जस् = शि, इ = अ, थ = न्थ्, उपधादीर्घ) बनेंगे । 'सुपथि' में विभक्ति-लोप होने के कारण "न लुमताङ्गस्य" (२६२) से प्रत्ययलक्षण का निषेध होने से 'आत्व' तथा 'न्थ्' आदेश नहीं होते । सम्बोधन के एकवचन में 'सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः' से वैकल्पिक 'न्'-लोप होने के कारण हे सुपथिन्–हे सुपथि–ये दो रूप बनते हैं । 'न्'-लोप असिद्ध होने के कारण (सू० ३५३) 'हे सुपथि' में "ह्रस्वस्य गुणः" (२४२) से 'इ' को गुण नहीं होता । प्रथमा के अनुसार द्वितीया में भी सुपथि, सुपथी, सुपन्थानि रूप होंगे । तृतीयादि अजादि विभक्तियों में 'टि'लोप होकर सुपथा, सुपथे, सुपथः, सुपथोः, सुपथाम्, सुपथि, सुपथोः—रूप बनेंगे । हलादि-विभक्तियों में 'न्'लोप होकर सुपथिभ्याम्, सुपथिभिः, सुपथिभ्यः, सुपथिषु रूप होंगे ।

२—नकारान्त 'पञ्चन्' शब्द के रूप सिद्ध किये जा रहे हैं ।

(३६९) पद—ष्णान्ता, षट् । अनुवृत्ति—संख्या । संज्ञासूत्र ।

मूलार्थ—षकारान्त और नकारान्त संख्यावाची शब्दों की 'षट्' संज्ञा होती है । 'षड्भ्यो लुक्' से जस्–शस् विभक्ति का लोप । पञ्च । पञ्च । संख्या क्यों कहा ? विप्रुषः, पामानः । 'शतानि' एवं 'सहस्राणि' में 'नुम्' करने पर संनिपात-परिभाषा के आश्रय से जस्–शस् का लोप नहीं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वनामस्थानसन्निपातेन कृतस्य नुमस्तदविघातकत्वात् । पञ्चभिः । पञ्चभ्यः । पञ्चभ्यः । 'षट्चतुर्भ्यश्च' (सू ३३८) इति नुट् । (३७०) नोपधायाः ३ । ४ । ७ ॥ नान्तस्योपधाया दीर्घः स्यान्नामि परे । नलोपः । पञ्चानाम् । पञ्चसु । परमपञ्च । परमपञ्चानाम् ।

त्यादि । सर्वनामेति । सर्वनामस्थानं परत्वेन उपजीव्य प्रवृत्तस्य नुमः सन्निपातपरिभाषया सर्वनामस्थानभूतजश्शसोर्लुकं प्रति निमित्तत्वाभावादित्यर्थः । पञ्चभिः इति । नलोपे रूपम् । पञ्चन् आम् इति स्थिते 'षट्चतुर्भ्यश्च' इति नुटि नलोपे तस्यासिद्धत्वात् 'नामि' इति दीर्घे अप्राप्ते आह ।

(३७०) नोपधायाः । नेति लुप्तषष्ठीकम् अङ्गस्येत्यधिकृतस्य विशेषणम् । तदन्तविधिः । 'ढ्लोपे' इत्यतो दीर्घ इत्यनुवर्तते, 'नामि' इति सूत्रं च । तदाह—नान्तस्येत्यादिना । नलोप इति । नलोपस्यासिद्धत्वात् प्रथमं दीर्घे ततो नलोप इत्यर्थः । परमेति । परमाश्च ते पञ्च चेति विग्रहः । 'षड्भ्यो लुक्' इत्यस्य 'षट्चतुर्भ्यश्च' इत्यस्य चाऽऽङ्गत्वात् तदन्तेऽपि

होना । अर्थात् सर्वनामस्थान के आश्रय से विहित 'नुम्' उसी का विघातक नहीं बनता । पञ्चभिः । पञ्चभ्यः । पञ्चभ्यः । "षट्चतुर्भ्यश्च" से नुट् आगम होने पर (दीर्घ-विधान किया जा रहा है) ।

विवरण—यह संज्ञा-सूत्र है । 'षट्' संज्ञा है तथा ष्णान्ता (संख्या) 'संज्ञी' । तदनुसार "बहुगणवतुडति संख्या" (१-१-२३) सूत्र से 'संख्या' की अनुवृत्ति किये जाने पर षकारान्त और नकारान्त (ष च नश्च ष्णौ, ष्णौ अन्ते यस्याः सा) संख्यावाचक शब्द 'षट्' संज्ञक होते हैं । इसका फल यह होता है कि षट्संज्ञक शब्दों से पर 'जस्' तथा 'शस्' का लोप हो जाता है—"षड्भ्यो लुक्" (२६१) । उदाहरण—(क) पञ्चन्+जस् <पञ्चन् ('जस्' का लुक्), <पञ्च ('न्'-लोप) । (ख) पञ्चन्+शस्, <पञ्चन् ('शस्' का लुक्) <पञ्च ('न्' लोप) । (ग) 'पञ्चन्+भिस्, <पञ्चभिः ('न्' लोप, स् = र् = :) । (घ) पञ्चन्+भ्यस्, <पञ्चभ्यः ('न्' लोप, स् = र् = :) । (ङ) पञ्चन्+भ्यस्, <पञ्चभ्यः । (च) पञ्चन्+आम्, <पञ्चन्+न-'आम्' ('नुट्' आगम—"षट्चतुर्भ्यश्च"-३३८), <पञ्चान्-नाम् ('न्' लोप के असिद्ध होने से "नामि"-२०९ से दीर्घ प्राप्त न होने पर आगे सूत्र सं० ३७० से दीर्घ होता है), <पञ्चानाम् ('न्' लोप) । (छ) पञ्चन्+सु, <पञ्चसु ('न्' लोप) ।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'संख्या' न कहने पर 'विप्रुष्' (= बिन्दु) तथा 'पामन्' (= चर्मरोग) शब्दों के क्रमशः पान्त और नान्त होने के कारण विप्रुषः (विप्रुष्+जस् तथा 'शस्') तथा 'पामानः' (पामन्+जस् तथा शस्) में 'जस्'-'शस्' का लोप प्राप्त हो जाता । संख्या-वाचक न होने से लोप नहीं हुआ ।

विशेष—शत+जस्, <शत+(इ) शि, (जस् = शि), <शत—न्+इ ('नुम्' आगम—"नपुंसकस्य झलचः"—१३४), <शतानि (उपधा दीर्घ-"सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ"-२५०) । 'शतानि' में प्रक्रिया के मध्य 'जस्' = 'शि' करने के उपरान्त 'नुम्' आगम होता है । उस समय यह शङ्का होती है कि 'शतन्' नान्त होने से 'जस्' (विभक्ति) का लोप क्यों न हो ? इसका समाधान यह है कि सन्निपात-परिभाषा की उपस्थिति होने से सर्वनामस्थान-संज्ञक इकार (शि) को निमित्त मानकर होने वाला 'नुम्' आगम अपने विघातक = सर्वनामस्थानप्रत्यय के नाशक कार्य ('लुक्' होने में) में निमित्त नहीं होता । इसी प्रकार 'सहस्राणि' में भी समझा जाय ।

(३७०) पद—न (:), उपधायाः । अनुवृत्ति—दीर्घः, नामि, अङ्गस्य (अधिकार) । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'नाम्' पर रहते 'न'कारान्त की उपधा को दीर्घ होता है । 'न्' का लोप । पञ्चानाम् । पञ्चसु । परमपञ्च । परमपञ्चानाम् । गौण होने पर 'लुक्' एवं 'नुट्' की प्रवृत्ति नहीं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गौणत्वे तु न लुङ्नुटौ। प्रियपञ्चा, प्रियपञ्चानौ, प्रियपञ्चानः। प्रियपञ्चानाम्। एवं सप्तन् नवन् दशन्। (३७१) अष्टन आ विभक्तौ ७। २। ८४॥ अष्टन आत्वं

प्रवृत्तिरिति भावः। प्रियाः पञ्च यस्येति बहुव्रीहौ प्रियपञ्चन्शब्दो विशेष्यनिघ्नः त्रिलिङ्गः। तस्य पुंस्त्वे विशेषमाह—गौणत्वे त्विति। 'षड्भ्यो लुक्' इति 'षट्चतुर्भ्यश्च' इति च बहुवचननिर्देशेन षट्चतुरर्थप्राधान्यावगमादिति भावः। प्रियपञ्चेति। सुटि हलादौ च राजवत्। शसादावचि तु 'अल्लोपोऽनः' इत्यकारलोपे नस्य श्चुत्वेन ञकारः। चकारे तु परे अनुस्वारस्य परसवर्णे ञकारः स्थित एव। तथा च ञकारद्वयमध्ये चकारः। अष्टन्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। तस्य विशेषमाह।

(३७१) अष्टन आ विभक्तौ। 'रायो हलि' इत्यतः हलि इत्यपकृष्यते। तच्च विभक्तेर्विशेषणम्। तदादिविधिः। तदाह—अष्टन आत्वमित्यादिना। ग्रहणकसूत्रे अण्ग्रहणेन वार्णसमाम्नायिकानामेव ग्रहणादाकारस्यानण्त्वात् भाव्यमानत्वाच्च शुद्ध एव नकारस्य आकारः।

होती। प्रियपञ्चा, प्रियपञ्चानौ, प्रियपञ्चानः। प्रियपञ्चानाम्। इसी प्रकार सप्तन्, नवन् तथा दशन् के रूप भी होते हैं।

विवरण—सूत्रार्थ के स्पष्टीकरण हेतु "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" (६-३-१११) सूत्र से दीर्घः तथा सम्पूर्ण "नामि" (६-४-१) सूत्र की अनुवृत्ति की जाती है। "अङ्गस्य" का अधिकार है। सूत्रस्थ 'नः' (लुप्तषष्ठी-विभक्ति) पद "अङ्गस्य" का विशेषण है। अतः तदन्तविधि होने पर सूत्रार्थ होगा—"नकारान्त अङ्ग की उपधा को 'नाम्' पर रहते दीर्घ होता है"। इसका उदाहरण 'पञ्चानाम्' है।

निर्देश—१—श्रेष्ठ पांच अर्थ में (परमाश्च ते पञ्च) कर्मधारय समास होनेपर 'अङ्ग' को मानकर होने वाले "षड्भ्यो लुक्" (२६१) तथा "षट्चतुर्भ्यश्च" (३३८) दोनों ही कार्य तदन्त में भी प्रवृत्त होते हैं। अतः प्रथमा में 'परमपञ्च' तथा षष्ठी में 'परमपञ्चानाम्' रूप बनते हैं। शेष रूप 'पञ्चन्' के समान होंगे।

२—पांच प्रिय हैं जिसको (= प्रियाः पञ्च यस्य) इस अर्थ में अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि होने पर 'प्रियपञ्चन्' शब्द में विभक्तियां अन्यपदार्थगत बहुत्व की वाचिका हैं न कि 'पञ्चन्' की। अतः गौण होने के कारण 'प्रियपञ्चन्' शब्द के रूप 'राजन्' शब्द के समान सभी वचनों में चलेंगे। (क) तदनुसार प्रथमा में प्रियपञ्चा, प्रियपञ्चानौ प्रियपञ्चानः। (ख) षष्ठी के बहुवचन में 'प्रियपञ्चानाम्' रूप बनता है। गौण होने के कारण 'जस्' का लुक् (लोप) तथा षष्ठी बहुवचन में 'नुट्' आगम नहीं हुआ। 'सप्तन्', 'नवन्', 'दशन्' शब्दों की भी यही प्रक्रिया है।

(३७१) पद—अष्टनः, आ, विभक्तौ। अनुवृत्ति—हलि। विधिसूत्र।

मूलार्थ—विभक्ति पर रहते 'अष्टन्' को 'आ' होता है।

विवरण—विभक्तियां अजादि और हलादि—दोनों ही हैं। यहाँ केवल हलादि-विभक्तियां ही अपेक्षित हैं। अतः "रायो हलि" (७-२-८५) सूत्र से 'हलि' पद का अपकर्ष (अनुवृत्ति के रूप में) किया जाता है। 'हलि' पद 'विभक्तौ' का विशेषण है। अतः तदादि-विधि होने से सूत्रार्थ होता है—"हलादि विभक्ति पर रहते 'अष्टन्' शब्द के अन्त्य-अल् को ("अलोऽन्त्यस्य" के आधार पर) 'आ' आदेश हो"।

विशेष—प्रकृत सूत्र 'न्' के स्थान पर 'आ'-विधान करता है। स्थानी के अनुनासिक होने पर 'आ' आदेश के अनुनासिक रूप में प्रवृत्त होने की आशंका नहीं करनी चाहिये। कारण यह है कि ग्रहणक-शास्त्र में 'अण्' पद का निवेश होने से माहेश्वर सूत्रों में उच्चरित वर्णों का ग्रहण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्याद्धलादौ विभक्तौ। (३७२) अष्टाभ्य औश् ७। १। २१॥ कृताकारादष्टनः परयोर्जश्शसोरौश् स्यात्। 'अष्टभ्यः' इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसोर्विषये आत्वं ज्ञापयति। वैकल्पिकं चेदमष्टन आत्वम्, 'अष्टनो दीर्घात्' (सू ३७१८) इति सूत्रे दीर्घग्रहणाज्ज्ञापकात्। अष्टौ। अष्टौ। परमाष्टौ। अष्टाभिः। अष्टाभ्यः। अष्टाभ्यः। अष्टानाम्।

---

(३७२) अष्टाभ्य औश्। 'जश्शसोः शिः' इत्यतः जश्शसोरित्यनुवर्तते। अष्टाभ्य इति पञ्चमी। तस्मादित्युत्तरस्येत्युपतिष्ठते। अष्टा इत्याकारान्तशब्दो विवक्षितः। तदाह—कृताकारादित्यादिना। नकारस्यात्वे कृते सति यः अष्टाशब्दः तस्मादित्यर्थः। शित्त्वात् सर्वादेशः। 'आदेः परस्य' इति तु नात्र प्रवर्तते, 'अनेकाल्शित्'—इति परेण तस्य बाधात्। औशादेशोऽयं 'षड्भ्यो लुक्' इत्यस्यापवादः। ननु जश्शसोः परतः अष्टन्शब्दस्यात्वं नास्त्येव, 'अष्टन आ विभक्तौ' इति आत्वविधौ हलीत्यपकर्षस्य उक्तत्वात्। ततश्च जश्शसोरौश्विधौ कृताकारात् अष्टन इत्यनुपपन्नम्। तत्राह—अष्टभ्य इति वक्तव्य इत्यादि। भ्यसि अष्टभ्यः अष्टाभ्यः इति रूपद्वये सत्यपि औश्विधौ लाघवादष्टभ्य इत्येव निर्देश उचितः, आकारनिर्देशात्तु जश्शसोरचि परतोऽप्यात्वं विज्ञायत इत्यर्थः। ननु 'अष्टन आ विभक्तौ' इति हलादिविभक्तौ अष्टनो नित्यमात्वविधानात् अष्टाभ्य इत्येव निर्देष्टव्यम्, प्रामाणिकगौरवस्यादोषत्वात् ततश्च औश्विधौ अष्टाभ्य इति निर्देशः जश्शसोरष्टनः कथमात्वं ज्ञापयेदित्यत आह—वैकल्पिकं चेदमिति। ज्ञापकादिति। 'अष्टनो दीर्घात्' इति सूत्रम्। दीर्घान्तादष्टन्शब्दात् परा असर्वनामस्थानविभक्तिरुदात्ता स्यादिति तदर्थः। अष्टाभिर्विकर्षतीत्यत्र भकारादिकार उदात्तः। 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' इति शिष्टमनुदात्तम्। दीर्घादिति विशेषणात् अष्टभिरित्यत्र आत्वाभावस्थले भिस उदात्तत्वं न भवति किन्तु मध्योदात्तत्वमेव, 'झल्युपोत्तमम्' इत्यस्य प्रवृत्तेः। षट्चतुर्भ्यो या झलादिविभक्तिस्तदन्ते पदे विद्यमानमुपोत्तममुदात्तं स्यादिति तदर्थः। यदि तु अष्टन आत्वं नित्यं स्यात् तर्हि अष्टभिरिति ह्रस्वान्तव्यावृत्तये क्रियमाणं दीर्घग्रहणमनर्थकं स्यात्, व्यावर्त्याभावात्। आत्वस्य विकल्पितत्वे तु तदभावपक्षे अष्टभिरिति व्यावर्त्यस्य सत्त्वात् दीर्घग्रहणमर्थवत्। अतो दीर्घग्रहणमष्टन आत्वस्य वैकल्पिकत्वे ज्ञापकमित्यर्थः। अष्टाविति। अष्टन्शब्दात् जश्शसोरौश्। शित्त्वात् सर्वादेशः। अष्टाभ्य इति निर्देशात् नकारस्याऽऽत्वम्, सवर्णदीर्घः वृद्धिरिति भावः। परमाष्टाविति। 'अष्टाभ्य औश्' इत्यस्य आङ्गात्वात्तदन्तेऽपि प्रवृत्तिरित्यर्थः। अष्टाभिरिति। हलादौ आत्वे सवर्णदीर्घः। अष्टानामिति। आदौ

होता है। प्रकृत सूत्र में 'आ' का ग्रहण किये जाने से उसका 'अण्' रूप में ग्रहण नहीं हो सकता, अतः वह सानुनासिक रूप में प्रवृत्त नहीं होता। इस प्रकार 'न्' के स्थान पर निरनुनासिक 'आ' होता है[1]।

(३७२) पद—अष्टाभ्यः, औश्। अनुवृत्ति—जश्शसोः। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'आ'-आदेश होने पर 'अष्टन्' से पर जस्-शस् के स्थान में 'औश्' आदेश होता है। 'अष्टभ्यः' के स्थान पर 'अष्टाभ्यः' कहना जस्-शस् के विषय में 'आ-विधि' का ज्ञापन है। "अष्टनो दीर्घात्" सूत्र में 'दीर्घ' ग्रहण करने से ज्ञापित होने के कारण 'अष्टन्' शब्द का आ-विधान वैकल्पिक माना जाता है। अष्टौ। अष्टौ। परमाष्टौ। अष्टाभिः। अष्टाभ्यः। अष्टाभ्यः। अष्टानाम्।

---

१. "अष्टन्-जनादि-पथिमथ्यात्वेषु आन्तरतम्यादनुनासिकः प्राप्नोति। अष्टाभिः, अष्टाभ्यः। जातः, जातवान्। पन्थाः, मन्थाः। सिद्धमनण्त्वात्। सिद्धमेतत्। कथम्? अनण्त्वात्। कथमनण्त्वम्? अण् वर्णान् गृह्णाति इत्युच्यते। न च आकारः अण्।" महाभाष्यम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अष्टासु । आत्वाभावे अष्ट अष्ट इत्यादि पञ्चवत् । गौणत्वे त्वात्वाभावे राजवत् । शसि—प्रियाष्ट्नः । इह पूर्वस्मादपि विधावल्लोपस्य स्थानिवद्भावान्न ष्टुत्वम् । कार्यकालपक्षे

नुटि कृते सति हलादित्वादात्वम् । न च नान्तत्वप्रयुक्तपट्सञ्ज्ञकसन्निपातमुपजीव्य प्रवृत्तस्य नुटः तद्विघातकमात्वं प्रति कथं निमित्तत्वमिति वाच्यम्, न हि पट्सन्निपातेन जातस्य नुटः आत्वेऽपि तद्विघातकत्वम्, कृतात्वेऽपि स्थानिवत्त्वेन पट्त्वसत्त्वात् 'शमामष्टानां दीर्घः श्यनि' इत्यादिनिर्देशेन अत्र सन्निपातपरिभाषायाः अनित्यत्वाश्रयणाच्चेति भावः । आत्वाभावे इति । 'अष्टनो दीर्घात्' इति दीर्घग्रहणेनात्वविकल्पस्य ज्ञापितत्वादिति भावः । यद्यपि 'अष्टनो दीर्घात्' इति सूत्रे शसादिविभक्तिषु परतः स्वरविधायके दीर्घग्रहणं शसादिष्वेवात्वविकल्पं ज्ञापयितुं शक्नोति, न तु जसि, तथापि ज्ञापकस्य सामान्यापेक्षत्वाज्जस्यप्यात्वविकल्प इति भावः । प्रियाः अष्टौ यस्येति बहुव्रीहौ प्रियाष्टन्शब्दो विशेष्यनिघ्नः एकद्विबहुवचनान्तः । तत्र विशेषमाह—गौणत्वे त्विति । अष्टन्शब्दार्थस्याप्राधान्ये सतीत्यर्थः । आत्वाभावे इति । 'अष्टनो दीर्घात्' इति दीर्घग्रहणेनात्वस्य वैकल्पिकत्वज्ञापनादिति भावः । राजवदिति । प्रायेणेति शेषः । प्रियाष्टा । प्रियष्टानौ । प्रियाष्टानः । प्रियाष्टानम् । प्रियाष्टानौ । शसि प्रियाष्ट्नः इति । 'अल्लोपोऽन' इत्यकारलोपः । ननु कृते अल्लोपे नकारस्य ष्टुत्वेन णत्वं कुतो न स्यादित्यत आह—इहेति । इहाल्लोपस्य स्थानिवद्भावान्न ष्टुत्वमित्यन्वयः । अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वे सति अकारव्यवहितत्वान्न ष्टुत्वमिति भावः । ननु स्थानिनि सति यत्कार्यं तदेवादेशेऽतिदिश्यते, स्थानिनि सति यत्कार्यं न भवति तदादेशे न भवति इत्येवं कार्याभावस्तु नातिदिश्यते । अन्यथा नायक इत्यादौ आयाद्यभावप्रसङ्गादिति स्थानिवत्सूत्रे स्थितम् । तस्मादल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात् न ष्टुत्वमित्यनुपपन्नम् । 'अचः परस्मिन्' इति सूत्रं तु यद्यपि स्थानिनि सति यत्कार्यं न भवति तदादेशेऽपि न भवतीत्येव कार्याभावस्यातिदेशकम्, तथापि न तस्यात्र प्रवृत्तिरस्ति, स्थानिभूतादचः पूर्वस्यैव विधौ तत्प्रवृत्तेः, इह च स्थानिभूतादचः परस्यैव ष्टुत्वप्रवृत्तेरित्यत आह—पूर्वस्मादपि विधाविति । स्थानिभूतादचः पूर्वस्मात् परस्यापि विधौ स्थानिवत्त्वाभ्युपगमादित्यर्थः । न च 'पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत्' इति निषेधः शङ्क्यः, 'तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु' इति तन्निषेधात् । 'अट्कुप्वाङ्—' इति णत्वं तु न शङ्क्यम्, टकारेण व्यवधानात् । शब्दकौस्तुभे तावत् 'तस्य दोषः' इत्यत्र णत्वग्रहणं

अष्टासु । 'आ'–विधि न होने पर अष्ट, अष्ट—इत्यादि 'पञ्चन्' शब्द के समान । गौण होने पर 'आ'–विधान न होने से 'राजन्' शब्द के समान । 'शस्' में प्रियाष्ट्नः । 'पूर्वस्मादपि विधौ' के अनुसार 'अ'–लोप को स्थानिद्भाव करने से अथवा कार्यकालपक्ष में बहिरंग 'अ'लोप के असिद्ध होने से 'ष्टुत्व' नहीं होता । प्रियाष्ट्ना—इत्यादि । 'जस्'–'शस्' में भी कल्प्यमान 'आ'–विधान प्राधान्य में ही होता है, अप्राधान्य में नहीं । इस कारण हलादि विभक्तियों में ही 'प्रियाष्टन्' को वैकल्पिक आत्व होता है । प्रियाष्टाः, प्रियाष्टाभ्याम, प्रियाष्टाभिः । प्रियाष्टाभ्यः । प्रियाष्टासु । अतः हलादि-विभक्तियों के अतिरिक्त 'प्रियाष्टन्' शब्द के रूप प्रायः 'राजन्' शब्द के सदृश हैं । हलादि विभक्तियों में 'हाहा' शब्द की तरह । 'नकारान्त' शब्दों की प्रक्रिया समाप्त । 'भप्'–भाव । जश्त्व–चर्त्व । भुत् भुद्, बुधौ, बुधः । बुधा, भुद्भ्याम् । भुत्सु । धकारान्त-शब्द समाप्त ।

विवरण—स्पष्टीकरण के लिए "जश्शसोः शिः" (७१-२०) सूत्र से 'जश्शसोः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तब सूत्र से यह अभिव्यक्षित होता है कि 'आकार-अन्तादेश' किये हुए 'अष्टन्' शब्द से पर 'जस्' तथा 'शस्' के स्थान पर 'औश' आदेश हो । 'श्'–इत्संज्ञक होने से 'औ' आदेश सम्पूर्ण 'जस्' और 'शस्' को अभिव्याप्त कर प्रवृत्त होगा । यह सूत्र "षड्भ्यो लुक्" (६-१-२२)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहिरङ्गस्याल्लोपस्यासिद्धत्वाद्वा । प्रियाष्ट्ना इत्यादि । जश्शसोरनुमीयमानमात्वं प्राधान्य एव, न तु गौणतायाम् । तेन प्रियाष्ट्नो हलादावेव वैकल्पिकमात्वम् । प्रियाष्टाः ।

मास्त्वित्युक्तम् । तद्भीत्याप्याह—बहिरङ्गस्याल्लोपस्यासिद्धत्वादिति । अल्लोपः अङ्गसञ्ज्ञाभसंज्ञापेक्षत्वाद् बहिरङ्गः । ष्टुत्वं तु तदपेक्षयाल्पापेक्षत्वादन्तरङ्गम् । तस्मिन् कर्तव्ये बहिरङ्गस्याल्लोपस्यासिद्धत्वादकारव्यवहितत्वात् न ष्टुत्वमित्यर्थः ।

ननु यथोद्देशपक्षे 'असिद्धं बहिरङ्गम्–'इति पाष्टीं परिभाषां प्रति ष्टुत्वस्यासिद्धतया अन्तरङ्गाभावेन परिभाषाया अप्रवृत्तेः कथमिहाल्लोपस्यासिद्धत्वमित्यत आह—कार्यकालपक्षे इति । लक्ष्यानुरोधादिह यथोद्देशपक्षो नाश्रीयते इत्यन्यत्र विस्तरः । अथ प्रियाष्टन्शब्दस्यात्वपक्षे विशेषमाह—जश्शसोरिति । 'अष्टाभ्य औश्' इति जश्शसोरौशादेशविधौ कृतात्वनिर्देशात् ज्ञाप्यमानमात्वमष्टन्शब्दस्य प्राधान्ये सत्येव भवति न तूपसर्जनत्वेऽपि, अष्टाभ्य इति बहुवचननिर्देशात् । अन्यथा 'हाहाः' इति पञ्चम्यन्तवत् 'अष्टा औश्' इति निर्दिशेत् इति 'ष्णान्ता षट्' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । ततः किमित्यत आह–तेनेति । अष्टन्शब्दस्य गौणतायां जश्शसोर्विषये आत्वाभावेनेत्यर्थः । हलादावेवेति । 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यत्र अष्टन् इत्येकवचननिर्देशेन अष्टन्शब्दार्थस्य प्राधान्याश्रयणे मानाभावादिति भावः । 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इत्यपि नात्र प्रवर्तते, तथा सति 'अष्टाभ्य औश्' इत्यत्र बहुवचनवैयर्थ्यादिति बोध्यम् । हलादावेवेत्येवकारेण जश्शसोरप्यात्वस्य पक्षेऽपि व्यावृत्तिरुक्तैवानूद्यते । औङादौ तु हलादित्वाभावादेव आत्वस्य न प्रसक्तिः । प्रियाष्टा इति । सौ हलि 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यात्वे रुत्वविसर्गौ इति भावः । 'षड्भ्यो

का अपवाद है । उदाहरण—(क) अष्टन्+जस्, <अष्ट–आ+जस् (न् = आ "अष्टन आ विभक्तौ"–३७१), <अष्ट–आ+औ (जस् = औ), <अष्टा+औ (अ+आ = आ–सवर्ण दीर्घ), <अष्टौ (आ+औ = औ—वृद्धि) । (ख) अष्टौ ('शस्' में भी पूर्वोक्त प्रक्रिया) । (ग) अष्टन्+भिस्, <अष्ट–आ+भिस् (न् = आ), <अष्टाभिः (सवर्ण-दीर्घ, स् = र् = :) । (घ) अष्टाभ्यः (पूर्ववत्) । (ङ) अष्टाभ्यः । (च) अष्टन्+आम्, <अष्टन्+न्–आम् ('नुट्' आगम), <अष्ट–आ+नाम् ('नुट्' आगम होने से हलादि विभक्ति होने पर न्=आ), <अष्टानाम् (अ+आ = आ—सवर्णदीर्घ) । (छ) अष्टन्+सुप्, <अष्ट–आ+सु (न् = आ), <अष्टासु (अ+आ = आ सवर्णदीर्घ) । वैकल्पिक 'आ' आदेश न होने पर 'अष्टन्' शब्द के रूप 'पञ्चन्' शब्द के समान होते हैं—अष्ट । अष्ट । अष्टभिः । अष्टभ्यः । अष्टभ्यः । अष्टानाम् । अष्टसु । कर्मधारय-समास की विवक्षा होने पर 'अष्टन्' का प्राधान्य होने से तदन्त 'परमाष्टन्' शब्द में 'अष्टन्' शब्द के समान 'परमाष्टौ' आदि रूप होते हैं ।

विशेष—१–प्रकृत सूत्र के सन्दर्भ में यह शङ्का होती है कि "अष्टन आ विभक्तौ" सूत्र से हलादि विभक्तियों में ही 'आकार का विधान किये जाने से, जस् तथा शस् विभक्तियाँ अजादि होने के कारण 'औश्' आदेश का लक्ष्य कैसे बनेंगी ? इसका समाधान यह दिया जाता है कि पाणिनि को 'जस्' और 'शस्' में 'आ'—विधान अभीष्ट है, क्योंकि उन्होंने "अष्टाभ्य औश्" सूत्र में आकारान्त 'अष्टा' का अनुकरण कर तदनन्तर 'भ्यस्' विभक्ति जोड़ी है । इससे यह ज्ञापित होता है कि 'अष्टन्' शब्द से जस्–शस् विभक्तियों में भी 'न्' के स्थान पर 'आ' होता है ।

२—"अष्टन आ विभक्तौ" (७–२–८४) सूत्र में विकल्पबोधक शब्द के अभाव में कैसे जाना जाय कि यह आ–विधान नित्य नहीं है ? इस विषय में स्वरविधायक "अष्टनो दीर्घात्" (६–१–१७२) सूत्र के 'दीर्घ' पद को ज्ञापक माना गया है । उस सूत्र से दीर्घान्त 'अष्टन्' (=अष्टा) शब्द से पर सर्वनामस्थान-भिन्न विभक्ति को उदात्त स्वर का विधान किया जाता है । 'आ'कार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रियाष्टाभ्याम् । प्रियाष्टाभिः । प्रियाष्टाभ्यः । प्रियाष्टाभ्यः । प्रियाष्टासु । 'प्रियाष्ट्नो राजवत्सर्वं हाहावच्चापरं हलि' । इति नान्ताः । भष्भावः । जश्त्वचर्त्वे । भुत्-भुद्, बुधौ,

---

लुक्' इति 'पट्चतुर्भ्यः'–इति च गौणतायां न प्रवर्तत इति च प्रागुक्तं न विस्मर्तव्यम् । तथा च अजादौ सर्वत्र राजवदेव रूपाणि । हलादिषु पक्षे आत्वमिति स्थितम् । तदेतत्सङ्गृह्णाति—प्रियाष्ट्नो राजवदिति । प्रियाष्टन् शब्दस्याजादिषु विभक्तिषु राजवदेव सर्वं रूपम् ; हलादिषु विभक्तिषु तु हाहाशब्दवदन्यच्च रूपम् । चकाराद्राजवदपि । तदित्थमत्र रूपाणि—प्रियाष्टा–प्रियाष्टाः । प्रियाष्टानौ । प्रियाष्टानः । प्रियाष्टानम् । प्रियाष्टानौ । प्रियाष्ट्नः । प्रियाष्ट्ना । प्रियाष्टाभ्याम्–प्रियाष्टभ्याम् । प्रियाष्टाभिः–प्रियाष्टभिः । प्रियाष्ट्ने । प्रियाष्टाभ्याम्–प्रियाष्टभ्याम् । प्रियाष्टाभ्यः–प्रियाष्टभ्यः । प्रियाष्ट्नः । प्रियाष्टाभ्याम्–प्रियाष्टभ्याम् । प्रियाष्टाभ्यः–प्रियाष्टभ्यः । प्रियाष्ट्नः प्रियाष्ट्नोः प्रियाष्ट्नाम् । प्रियाष्ट्नि–प्रियाष्टनि प्रियाष्ट्नोः प्रियाष्टासु–प्रियाष्टसु । 'वस्तुतस्तु 'ष्णान्ता षट्' इति सूत्रे भाष्ये 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यत्र हलीत्यपकर्षमुक्त्वा प्रियाष्टौ प्रियाष्टाः इति न सिध्यति, प्रियाष्टानौ प्रियाष्टान इत्येव प्राप्नोति इति शङ्कित्वे 'यथालक्षणमप्रयुक्त' इति समाहितम् । 'नैव वा लक्षणमप्रयुक्ते प्रवर्तते, प्रयुक्तानामेवान्वाख्यानात्' इति कैयटः । एवं च एषामनभिधानमेवोचितम् । अत एव 'अष्टाभ्य औश्' इति सूत्रे भाष्ये 'अष्टन आत्वम् इह वैकल्पिकम् , यदयमात्वभूतस्य ग्रहणं करोति अष्टाभ्य इति । अन्यथा अष्टन इत्येव ब्रूयात्' इत्युक्तम् । प्रियाष्टन्शब्दस्य लोके प्रयोगसत्त्वे तु तत्र गौणे औशादेशप्रवृत्त्यभावार्थं बहुवचननिर्देशस्यावश्यकत्वात् तदसङ्गतिः स्पष्टैव । तस्मात् प्रियाष्टन्शब्दप्रयोगविचारः सर्वोऽपि 'अभित्तिचित्रायित' इति शब्देन्दुशेखरे प्रपञ्चितम् । इति नान्ताः । अथ धकारान्ता निरूप्यन्ते । 'बुध अवगमने' कर्तरि क्विप् । बुध् इति धकारान्तः शब्दः । तत्र सुबुत्पत्तिः । सौ विशेषमाह—भभ्भाव इति । हल्ङ्यादिना सुलोपे

विधान यदि नित्य होता तो सूत्र में 'दीर्घ' पद की आवश्यकता नहीं थी । अतः 'दीर्घ' पद से यह ज्ञापित होता है कि 'जस्'–'शस्' के विषय में 'अष्टन्' के 'न्' को 'आ' विधान विकल्प से होता है ।

निर्देश—बहुव्रीहि-समास में विभक्तियों के अन्य-पदार्थ-गत बहुत्व का बोध कराने से 'अष्टन्' शब्द के गौण हो जाने के कारण 'प्रियाष्टन्' शब्द के रूप 'राजन्' शब्द के समान बनेंगे । प्रथमा—प्रियाष्टा, प्रियाष्टानौ, प्रियाष्टानः । द्वितीया—प्रियाष्टानम्, प्रियाष्टानौ, प्रियाष्ट्नः—'अचः परिस्मिन् पूर्वविधौ' सूत्र में 'पूर्वस्मात्-विधौ' पञ्चमी तत्पुरुष समास मानने पर 'स्थानिभूत अच् से पूर्व विद्यमान वर्ण से 'पर' को (यहाँपर 'न्' को) कार्य (ष्टुत्व) करने में स्थानिवद्भाव होने से यहां ष्टुत्व (न्=ण्) नहीं हुआ । अथवा अन्तरङ्ग 'ष्टुत्व' की दृष्टि में बहिरङ्ग 'अ'–लोप के असिद्ध होने से ष्टुत्व का निवारण हो सकता है । 'जस्' और 'शस्' विभक्तियों में भी कल्प्यमान आकार प्रधानरूप अर्थ में ही विहित है, अप्रधान में नहीं । इसलिये बहुव्रीहि समास-युक्त 'प्रियाष्टन्' शब्द से हलादि विभक्तियों में ही वैकल्पिक 'आ'–विधान प्रवृत्त होगा । अतः जस्–शस् में 'ओ' भी नहीं होगा । तदनुसार 'आ' होने पर हलादि-विभक्तियों में प्रियाष्टाः, प्रियाष्टाभ्याम्, प्रियाष्टाभिः, प्रियाष्टाभ्यः, प्रियाष्टासु आदि रूप बनते हैं । इसी का सारांश यह बतलाया जारहा है कि 'प्रियाष्टन्' शब्द के रूप अजादि विभक्तियों में 'राजन्' शब्द की तरह तथा 'आत्व' होने पर हलादि विभक्तियों में 'हाहा' शब्द के समान बनते हैं ।

२—(ज्ञापनार्थक √बुध् से कर्ता में क्विप् प्रत्यय करने पर) 'बुध्' (= समझने वाला) शब्द के रूपों का उल्लेख किया जारहा है । (क) बुध्+स्, बुध् (सुलोप), <भुध् (ब् = भ्–'भष्'भाव),

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वुधः । वुधा । भुद्भ्याम् । भुत्सु । इति धान्ताः । (३७३) **ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिग्ञ्चुयुजिक्रुञ्चां च ३ । २ । ५९ ॥** एभ्यः क्विन् स्यात् । अलाक्षणिकमपि किञ्चित्कार्यं

सति प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य सकारपरकत्वाद्वा पदान्तत्वाद्वा 'एकाचो बशः'–इति वकारस्य भष् भकार इत्यर्थः । जश्त्वचर्त्वे इति । 'वाऽवसाने' इति चर्त्वविकल्प इति भावः । भ्यादौ 'स्वादिषु'–इति पदत्वात् भष् , जश्त्वम्–भुद्भ्याम् । भुद्भिः । भुद्भ्यः । भुत्सु । इति धान्ताः । अथ जकारान्ता निरूप्यन्ते । अथ युज्शब्दस्य व्युत्पत्तिं दर्शयितुमाह ।

(३७२) ऋत्विग्दधृक् । धातोरित्यधिकृतम् । 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' इत्यतः क्विन्नित्यनुवर्तते । पञ्चम्यर्थे षष्ठी । तदाह—एभ्यः इति । ऋतौ उपपदे युज्धातोः, धृपधातोः, सृज्धातोः, दिश्धातोः, ष्णिह्धातोः, अञ्च् धातोः, युज्धातोः, क्रुञ्च् धातोश्चेत्यर्थः । ननु ऋत्विक् , दधृक्–इत्यादौ कुत्वद्वित्वादि कुत इत्यत आह—अलाक्षणिकमपीति । लक्षणानि सूत्राणि तद्विहितं कार्यं लाक्षणिकम् । सूत्रतः प्रत्यक्षानुपदिष्टमपि कार्यं निपातनात् सिद्धरूपनिर्देशात् लभ्यत इत्यर्थः । तत्र ऋताद्युपपदे यजेः क्विन् तस्य कित्त्वात् 'वचिस्वपियजादीनाम्' इति सम्प्रसारणं 'ग्रश्च—इति षत्वापवादः कुत्वं च, धृपेः क्विनि द्वित्वमन्तोदात्तत्वं च, सृजेः कर्मणि क्विन् अमागमश्च, दिशेः कर्मणि क्विन् , उत्पूर्वात् स्निहेः

<भुद्-मुत् (ध् = द् = जश्त्व, पाक्षिक चर्त्व)। वुध्+औ, <वुधौ । वुध्+अस् (जस्), <वुधः (स् = र् = :)। (ख) वुधन्, वुधौ, वुधः (अजादि विभक्तिया में विभक्तियोग)। (ग) वुधा, भुद्भ्याम्, भुद्भिः (हलादि-विभक्तियों में 'भष्' भाव, रु, विसर्ग)। आगे की प्रक्रिया इसी के अनुरूप होगी ।

(३७३) **पद**—ऋत्विक्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां, च । **अनुवृत्ति**—धातोः, प्रत्ययः–परश्च (अधिकार), क्विन् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इनसे 'क्विन्' प्रत्यय होता है । लक्षणवश न होने वाले कुछ कार्य 'निपातन' से कर लिये जाते हैं । कोई शब्द पहले न रखने पर √युज् धातु से 'क्विन्' करने पर 'क्' तथा 'न्' की इत्संज्ञा हुई ।

विवरण—सूत्रार्थ को पूरा करने में "स्पृशोऽनुदके क्विन्" (३-२-५८) सूत्र से 'क्विन्' पद की अनुवृत्ति करनी आवश्यक है । "धातोः" का अधिकार है । सूत्र में 'षष्ठ्यन्त-पद' पञ्चमी के अर्थ में प्रयुक्त है । इस प्रकार सूत्र का यह आशय है कि "ऋत्विक्, दधृक्, स्रक्, दिक्, ष्णिक्—ये याँच शब्द 'क्विन्' प्रत्ययान्त किये जाते हैं, तथा √ अञ्चु, √ युजि एवं √ क्रुञ्च धातुओं से भी 'क्विन्' प्रत्यय होता है ।

विशेष—इस सूत्र से 'क्विन्' प्रत्यय का विधान किया गया है । "धातोः" अधिकार से धातु-वाची शब्दों से पर 'क्विन' प्रत्यय होगा । केवल 'क्विन्' प्रत्यय से 'ऋत्विज्'—आदि शब्दों की निष्पत्ति सम्भव नहीं है । अतः सूत्र में प्रयुक्त सिद्धरूपों के निर्देश से यह ज्ञात होता है कि आचार्य पाणिनि को कुछ अन्य विधान भी मान्य हैं । इस प्रकार 'निपातन' के रूप में उन कार्यों को मान्यता दी जाती है । यहाँ निपातन इस प्रकार अपेक्षित है—(१) 'ऋतु' शब्द उपपद रहने √यज् से 'क्विन्' प्रत्यय, 'क्'इत–प्रत्यय होने से 'य्' को सम्प्रसारण 'इ' तथा पररूप (ऋतु+इज्) तथा यण् (ऋत्विज्), तदनन्तर 'सु'विभक्ति पर रहते ज् = ग् 'कुत्व' तथा वैकल्पिक चर्त्व होकर ऋत्विग्–क् (= यज्ञकर्ता) रूप बनता है । (२) √धृष् से क्विन्, धातु को द्वित्व तथा अन्तोदात्त स्वर-विधान—निपातन से किये जाते हैं । धातु को द्वित्व होने पर अभ्यास-कार्य होने पर 'दधृष्' शब्द से 'सु'विभक्ति पर रहते 'दधृक्' रूप बनता है । (३) √सृज् से कर्म-कारक में 'क्विन्' प्रत्यय तथा 'अम्' आगम–अन्त्य 'अच्' से पर–होकर यण् होने के पश्चात् स्रज् (= माला) रूप बनता है । इसके प्रथमा एकवचन में 'स्रक्–ग्' रूप बनेगा । (४) √दिश् से कर्म-कारक में क्विन् प्रत्यय का निपातन है । पूर्ववत् यहाँ भी कुत्वादि कार्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निपातनाल्लभ्यते । निरुपपदाद्युजेः क्विन् । कनाविति । (३७४) कृदतिङ् ३ । १ । ९३ ॥ सन्निहिते धात्वधिकारे तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्संज्ञः स्यात् । (३७५) वेरपृक्तस्य ६ । १ । ६७ ॥ अपृक्तस्य वस्य लोपः स्यात् । 'कृत्तद्धित' (सू १७९) इति प्रातिप-

---

क्विन् उदो दलोपः षत्वं च, अञ्चेः सु युपपदे क्विन् युजेः केवलात् क्विन्, क्रुञ्चेः क्विन् नलोपाभावश्च निपात्यते । यद्यपि अञ्चेः केवलस्यैवोपादानम् तथाप्युण्णिक्शब्दप्राहचर्यात् सोपपदस्यैवाञ्चेर्ग्रहणमित्याहुः । निरुपपदादिति । क्विन्विधिफलं हि नुमो नस्य कुत्वमेव । नुम् च असमासे एव वक्ष्यते । समासे तु सुयुगित्यादौ जस्य 'चोः कुः' इति कुत्वेनैव सिद्धतया क्विनि क्विपि च विशेषाभावादिति भावः । कनाविताविति । 'लशक्वतद्धिते' इति 'हलन्त्यमि'ति च सूत्राभ्यामिति शेषः । वकारादिकारस्तु उच्चारणार्थः ।

(३७४) अथ क्विन्नन्तस्य 'कृत्तद्धित'-इति प्रातिपदिकत्वं वक्तुं क्विनः कृत्संज्ञां दर्शयति—कृदतिङ् । धातोरित्यधिकृतम् प्रत्यय इति च । धातोरिति विहितविशेषणम् । धातोः विहितः प्रत्यय इति लभ्यते । धातोरित्यधिकृत्य विहित इति यावत् । तदाह—सन्निहिते धात्वधिकारे इति । तेन णिजादिनिरासः । युज् व् इति स्थिते ।

(३७५) वेरपृक्तस्य । 'लोपो व्योः' इत्यतः लोप इत्यनुवर्तते । उत्सृष्टानुबन्धाः सर्वे क्विबादयो वेरित्यनेन गृह्यन्ते । इकार उच्चारणार्थः, अपृक्तग्रहणात् । तदाह—अपृक्तस्य वस्येति । अपृक्तस्येति किम् ? जागृविः । क्विनः कृत्संज्ञायाः प्रयोजनमाह—कृत्तद्धितेति ।

होकर 'दिक्-ग्' (= दिशा) रूप बना है । (५) उत्+√स्निह् से 'क्विन्' प्रत्यय के साथ ही उपसर्ग का 'त्' लोप एवं षत्व निपातन किये जाते हैं । अनन्तर 'ष्' से पर न् = ण् होकर 'उष्णिह्' (=छन्दोविशेष) शब्द बना । इसकी प्रथमा-विभक्ति के एकवचन में 'उष्णिक्-ग्' रूप बनता है, (६) इसी तरह √अञ्चु, (७) √युजि तथा (८) √क्रुञ्च धातुओं से भी 'क्विन्' प्रत्यय कहा गया है । दूसरी बात इन तीनों धातुओं में यह अपेक्षित है कि √अञ्चु से सुबन्त उपपद रहने पर ही क्विन् प्रत्यय होता है (जैसे प्राङ् = पूर्व आदि) । √युज् और √क्रुञ्च्—इन दोनों धातुओं से उपपद-रहित होने पर ही 'क्विन्' होता है । √क्रुञ्च् में 'न्' लोप के अभाव का भी निपातन है ।

निर्देश—√'युज्' को अभिलक्षित कर 'क्विन्' करने पर 'क्' तथा 'न्' की इत्संज्ञा होने पर (उसकी 'कृत्' संज्ञा की जा रही है) ।

(३७४) **पद**—कृत्, अतिङ् । **अनुवृत्ति**—तत्र, धातोः, प्रत्ययः । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—इस धातु के अधिकार में तिङ्-भिन्न प्रत्ययों की 'कृत्' संज्ञा होती है ।

विवरण—सूत्र का आशय विदित होने के लिये "तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्" (३-१-९२) से 'तत्र' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है । 'तत्र' शब्द अपने पूर्ववर्ती अधिकार-सूत्र "धातोः" (३-१-९१) तथा "प्रत्ययः" (३-१-१) की ओर संकेत करता है । तदनुसार यह निष्कर्ष निकलता है कि 'धातु' के अधिकार में पठित तिङ्-भिन्न प्रत्यय 'कृत्'-संज्ञक होते हैं । इससे यह लाभ होता है कि ऐसे शब्दों की "कृत्तद्धितसमासाश्च" (१७९) से प्रातिपदिक-संज्ञा होकर 'सु'आदि विभक्तियाँ लगाई जाती हैं । प्रकृत में 'युज्' (= योग देनेवाला) के पश्चाद्वर्ती 'क्विन्' का अवशेष 'व्' कृत्संज्ञक हुआ । इसकी 'अपृक्त' संज्ञा भी है । उसका फल (लोप) आगे बतलाया जा रहा है ।

(३७५) **पद**—वेः, अपृक्तस्य । **अनुवृत्ति**—लोपः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अपृक्तसंज्ञक 'व्' का लोप होता है । "कृत्तद्धित०" सूत्र से प्रातिपदिक-संज्ञा होने से 'सु'-आदि प्रत्यय होते हैं ।

विवरण—"लोपो व्योर्वलि" (६-१-६६) से 'लोपः' की अनुवृत्ति करने पर सूत्रार्थ यह होगा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिकत्वात्स्वादयः। (३७६) युजेरसमासे ७ : १ । ७१ ॥ युजेः सर्वनामस्थाने नुम्स्यादसमासे । सुलोपः । संयोगान्तलोपः । (३७७) क्विन्प्रत्ययस्य कुः ८ । २ । ६२ ॥ क्विन् प्रत्ययो यस्मात्तस्य कवर्गोऽन्तादेशः स्यात्पदान्ते । नस्य कुत्वेनानुनासिको ङकारः । युङ् । 'नश्चापदान्तस्य–' (सू १२३) इति नुमोऽनुस्वारः । परसवर्णः । तस्यासिद्धत्वात् 'चोः कुः' (सू ३७८) इति कुत्वं न । युञ्जौ, युञ्जः । युञ्जम्, युञ्जौ युजः । युजा,

---

(३७६) युजेरसमासे । 'उगिदचाम्' इत्यतः सर्वनामस्थान इत्यनुवर्तते 'इदितो नुम् धातोः' इत्यतो नुमिति च । तदाह—नुम्स्यादित्यादिना । युन् ज् स् इति स्थिते प्रक्रियां दर्शयति—सुलोपः इति । परत्वात्पूर्वं नुमि ततो हल्ङ्यादिलोप इति भावः । संयोगान्तलोप इति । जकारस्येति शेषः ।

(३७७) क्विन्प्रत्ययस्य कुः । पदस्य इत्यधिकृतम् । 'झलाञ्जशोऽन्ते' इत्यतः अन्त इत्यनुवर्तते । क्विन् प्रत्ययो यस्मात् सः क्विन्प्रत्ययः तस्येति बहुव्रीहिः । क्विन्नन्तस्येति तु नार्थः । तथा सति क्विनः कुरित्येव ब्रूयात्, प्रत्ययग्रहणपरिभाषया क्विन्नन्तस्येत्यर्थलाभात् । तदाह—क्विन्प्रत्ययो यस्मादित्यादिना । बहुव्रीहेः प्रयोगं तु घृतस्पृशब्दनिरूपणे मूल एव वक्ष्यते । कुरिति कवर्गो गृह्यते, उदित्त्वात् । अणुदित्सूत्रे अप्रत्यय इत्येतत् अणेव सम्बध्यते न तु उदिता, उदित्करणसामर्थ्यात् । तेन कुरिति विधीयमानोऽपि सवर्णग्राहकः । ननु नकारस्य कुत्वे कखगघङाः पञ्चापि पर्यायेण प्राप्नुयुः । स्थानत आन्तर्यस्य पञ्चस्वप्यभावात् स्पृष्टप्रयत्नत आन्तर्यस्य पञ्चस्वप्यविशिष्टत्वात् घोषसंवारनादवता अल्पप्राणवता च नकारेण गकारस्यापि आन्तर्यसत्त्वात्, अत आह—नस्येति । नासिकास्थानत आन्तर्यादिति भावः । युङिति । युजिर् योगे । रुधादिः । युनक्तीति युङ् । नुमि कृते तदीयनकारस्य 'चोः कुः' इति कुत्वं न प्राप्नोतीति क्विन्प्रत्ययस्येत्यारम्भः ।

कि "अपृक्त-संज्ञक 'व्' का लोप हो"। अतः प्रकृत में 'युज्' के अनन्तर 'व्' का लोप होने पर प्रत्ययलक्षण से 'कृत्'–प्रत्ययान्त को आश्रय मान कर 'युज्' की प्रातिपदिक-संज्ञा होती है ।

(३७६) पद—युजेः, असमासे । अनुवृत्ति—नुम्, सर्वनामस्थाने । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—समास के अतिरिक्त 'युज्' को 'सर्वनामस्थान' पर रहते 'नुम्' होता है । 'सु'–लोप तथा संयोगान्त-लोप होने पर (आगे 'कुत्व'–विधान किया जारहा है) ।

विवरण—"उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः" (७-१-७०) से 'सर्वनामस्थाने' तथा "इदितो नुम् धातोः" (७-१-५८) से 'नुम्' की अनुवृत्ति करने पर प्रकृत सूत्र का अर्थ पूरा होता है । तदनुसार "समास-भिन्न क्विन्-प्रत्ययान्त 'युज्' को 'सर्वनामस्थान-संज्ञक प्रत्यय पर रहते 'नुम्' आगम होता है" । उदाहरण—(क) युज्+स् (सु), यु न् ज्+स् ('नुम्' आगम), <युन्-ज् ('स्' विभक्तिलोप), <युन् ('ज्'-संयोगान्त लोप होने पर 'कुत्व'-विधान आगे किया जारहा है ।)

(३७७) पद—क्विन्प्रत्ययस्य, कुः । अनुवृत्ति—पदस्य(अधिकार), अन्ते । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'क्विन्' प्रत्यय जिससे विहित हैं, उसे, पदान्त में कवर्ग अन्तादेश हो । 'न्' को कुत्व होकर अनुनासिक 'ङ्' हुआ । युङ् । "नश्चापदान्तस्य झलि" से 'नुम्', उस 'नुम्' (न्) को अनुस्वार, तदनन्तर परसवर्ण होता है । उसके असिद्ध होने से "चोः कुः" से कुत्व नहीं होता । युञ्जौ, युञ्जः । युञ्जम्, युञ्जौ, युजः । युजा, युग्भ्याम्—इत्यादि । असमासे क्यों कहा ?

विवरण—"पदस्य" (८-१-१६) का अधिकार है । "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च" (८-२-२९) सूत्र से 'अन्ते' पद की अनुवृत्ति करनी पड़ती है । अधिकार-लभ्य 'पदस्य' शब्द अनुवृत्त पद 'अन्ते' के साथ अन्वित होता है । तब सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा—"'क्विन्' प्रत्यय जिससे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युग्भ्याम् इत्यादि। 'असमासे' किम्? (३७८) चोः कुः ८।२।३०॥ चवर्गस्य कवर्गः स्यात् झलि पदान्ते च। इति कुत्वम्, 'क्विन्प्रत्ययस्य–' (सू० ३७७) इति कुत्वस्यासिद्धत्वात्। सुयुक्–सुयुग्, सुयुजौ, सुयुजः। 'युजेः' इति धातुपाठपठितेकारविशिष्टस्यानुकरणम्, न

अथ औजसादिषु विशेषमाह—नश्चेति। नुम इति। 'युजेरसमासे' इति विहितस्येति शेषः। परसवर्ण इति। 'अनुस्वारस्य ययि'–इति परसवर्णो ञकारः नासिकास्थानत आन्तर्यादिति भावः। तेन युञ्जावित्यादि सिद्धम्। नन्विह ञकारस्य झलि जकारे परे 'चोः कुः' इति कुत्वं कुतो न स्यादित्यत आह—तस्येति। परसवर्णस्येत्यर्थः। युग्भ्यामिति। 'स्वादिषु'–इति पदत्वाज्जकारस्य गकार इति भावः। युक्षु। असमास इत्यस्य व्यावर्त्यं सुयुज्शब्दं कथयिष्यन् तत्र विशेषमाह।

(३७८) चोः कुः। 'झलो झलि' इत्यतो झलीत्यनुवर्तते। पदस्येत्यधिकृतम्। 'स्कोः संयोगाद्योः'–इत्यतोऽन्ते इत्यनुवर्तते। तदाह—चवर्गस्येति। ननु 'चोः' इत्यत्र उकारस्य उपदेशाभावात् इत्त्वाभावेन उदित्त्वाभावात् कथमिह सवर्णग्रहणमिति चेत्? न, चोः इत्युकारान्तग्रहणसामर्थ्यादेव तत्र उकारस्य इत्त्वाभ्यनुज्ञानात्। अन्यथा 'चः कुः' इत्येव ब्रूयात्। इति कुत्वमिति। सुयुज्शब्दे जकारस्य कुत्वं गकारः, घोषसंवारनादाल्पप्राणसाम्यात् यथासङ्ख्यसूत्राच्चेति भावः। नन्विह 'क्विन्प्रत्ययस्य' इत्येव कुत्वं कुतो न स्यात्। यद्यपि सुपूर्वाद्युजेः 'सत्सूद्विष' इत्यादिना क्विपि उपपदसमासे सुयुज्शब्दो, न क्विन्नन्तोऽयम्, निरुपपदाद्युजेः क्विन्निति अनुपदमेवोक्तत्वात्, तथापि क्विन् प्रत्ययो यस्मात् इति बहुव्रीह्याश्रयणात् सम्प्रति क्विबन्तत्वेऽपि अनेनैव कुत्वमित्यत आह—क्विन्प्रत्ययस्येति।

विहित हो, उसे पदान्त में (पदस्य अन्ते) 'क'वर्ग अन्तादेश हो"। इसके आरम्भ में बतलाया जा चुका है कि √ युज्+क्विन् में 'क्' की इत्संज्ञा "लशक्वतद्धिते" (१९५) तथा 'न्' की इत्संज्ञा "हलन्त्यम्" (१) से होती है। अवशिष्ट 'व्' का "वेरपृक्तस्य" (३७५) से लोप होता है। तदनन्तर "कृत्तद्धितसमासाश्च" (१७९) से प्रातिपदिक-संज्ञा होने पर विभक्तियाँ जोड़ी जाती हैं। उदाहरण—(क) तदनुसार युज्+सु, <युन् ज्+स् (नुम्), <युन्–ज् ('स्' विभक्तिलोप), <युन् ('ज्'–संयोगान्तलोप), <युङ् ('न्' = 'ङ्'–कवर्ग–अन्तादेश)। (ख) युज्+औ, <युन्–ज्+औ, <युंज्+औ (न् = अनुस्वार—"नश्चापदान्तस्य झलि"—१२३), <युञ्जौ (अनुस्वार = ञ्–परसवर्ण)। परसवर्ण(ञ्)के असिद्ध होने से "चोः कुः" (८-२-३०) से कुत्व नहीं होता। (ग) युञ्जः (प्रक्रिया इसी तरह)। (घ) युञ्जम्। (ङ) युञ्जौ। (च) युज्+अस्, <युजः (शसादि विभक्तियों में 'सर्वनामस्थान' न होने से नुम्' नहीं)। (छ) युजा, युग्भ्याम् (ज् = ग्–कुत्व), युग्भिः–इत्यादि। (ज) सप्तमी के बहुवचन में युक्षु (युज्+सु–कुत्व, षत्व, चर्त्व)।

प्रत्युदाहरण—"युजेरसमासे" (३७६) सूत्र से समास न होने पर 'युज्' धातु को 'नुम्' आगम का विधान होने से समास की स्थिति में सुयुज्+स् (सु) (सुष्ठु युनक्ति–उपपद समास–सु–√ युज्+क्विप्) में नुम्' नहीं होता। साथ ही पूर्वसूत्र से (३७७) प्राप्त कुत्व असिद्ध होने के कारण दूसरे सूत्र से कुत्व-विधान किया जारहा है।

(३७८) पद—चोः, कुः। अनुवृत्ति—झलि, अन्ते, पदस्य (अधिकार)। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'झल्' पर रहते और पदान्त में 'च'वर्ग के स्थान पर 'क'वर्ग आदेश होता है। "क्विन् प्रत्ययस्य कुः" (८-२-६२) के असिद्ध होने से कुत्व हुआ। सुयुक्, सुयुजौ, सुयुजः। "युजेरसमासे" सूत्र में धातुपाठ के अनुसार 'युजिर्' धातु का ग्रहण किया गया है न कि 'युज्'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्विका निर्देशः। तेनेह न। युज्यते समाधत्ते इति युक्। 'युज समाधौ' दैवादिक आत्मनेपदी। संयोगान्तलोपः। खन्, खञ्जौ, खञ्जः—इत्यादि। 'ब्रश्च–' (सू २९४) इति षत्वम्, जश्त्वचर्त्वे-राट्-राड्, राजौ, राजः। राट्त्सु-राट्सु। एवं विभ्राट्। देवेट्, देवेजौ, देवेजः।

कुत्वस्यासिद्धत्वादिति। तथा चात्र 'चोः कुः' इत्येव न्याय्यमिति भावः। सुयुक्-सुयुगिति। 'वाऽवसाने' इति चर्त्वविकल्पः। ननु युक् इत्यपि रूपमिष्टं कथं सिध्येत्। क्विनि नुमि युङ्त्येवापत्तेः। न च 'ऋत्विक्'–इत्यादिसूत्रे 'युजेरसमासे' इति सूत्रे च युजीति इकार-विशिष्टस्यैव निर्देशात् 'युज समाधौ' इति दैवादिकस्य अकारान्तस्याग्रहणात् ततः 'क्विप् च' इति क्विपि नुमभावे कुत्वे युक् इति सिध्यतीति वाच्यम्, 'इक्ष्तिपौ धातुनिर्देशे' इति इक्प्रत्ययान्तत्वस्य उभयत्रापि सम्भवेन उभाभ्यां क्विनि नुमि युङ्त्येवापत्तेरित्यत आह—युजेरिति। 'युजेरसमासे' इति सूत्रे युजीति ऋत्विगादिसूत्रे युजीति च धातुपाठे 'युजिर् योगे' इति इकारविशिष्टः यः पठितः तस्यैव रेफशिरस्कतया ग्रहणम्, न त्विका निर्देशः, व्याख्यानादित्यर्थः। ततः किमित्यत आह—तेनेति। 'खजि गतिवैक्लव्ये'। क्विप्। इदित्त्वान्नुम्। 'नश्चापदान्तस्य'–इत्यनुस्वारः, परसवर्णो ञकारः खञ्ज्शब्दः। तस्य विशेषमाह—संयोगान्तेति। हल्ङ्यादिना सुलोपे जकारस्य संयोगान्तलोपः। ततो निमित्तापायात् अनुस्वारपरसवर्णयोर्निवृत्तिः। खन् इति रूपमित्यर्थः। 'अनिदिताम्'

धातु में इकार-निर्देश कर 'युजि' का। अतः समाधिकर्ता अर्थ में 'युज्' से नुम् नहीं हुआ, किन्तु कुत्व होकर 'युक्' रूप बना। यह 'युज्' धातु दिवादिगणपठित आत्मनेपदी है। 'खञ्ज्' शब्द के रूप–संयोगान्तलोप होकर खन्। खञ्जौ, खञ्जः इत्यादि। "ब्रश्च-भ्रस्ज०" इत्यादि सूत्र से 'ष्'–विधान तथा जश्त्व–चर्त्व। राट्–ड्, राजौ, राजः। राट्त्सु–राट्सु। इसी तरह विभ्राट् भी। देवेट्, देवेजौ, देवेजः। विश्वसृट्–ड्, विश्वसृजौ, विश्वसृजः। यहाँ सृज् और युज् को कुत्व नहीं होता—इस बात को आगे नपुंसकलिङ्ग में कहेंगे। परिमृट्। 'राज्' धातु के साहचर्य से फणादि–पठित 'ट्टुभ्राजृ' धातु का ग्रहण किया गया है। अतः 'एजृ' धातु के साथ पठित 'भ्राजृ' धातु को तो कुत्व होता ही है। विभ्राक्–ग्। विभ्राग्भ्याम् इत्यादि।

विवरण—'च'वर्ग(चोः)स्थानी है तथा 'क'वर्ग(कुः)आदेश है। निमित्त की आकाङ्क्षा शान्त करने के लिये "झलो झलि" (८-२-२६) सूत्र से 'झलि' तथा "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च" (८-२-२९) सूत्र से 'अन्ते' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। इसके साथ ही "पदस्य" का अधिकार है और वह 'अन्ते' के साथ अन्वित होता है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "पद के अन्त में या 'झल्' पर रहते 'च'वर्ग के स्थान पर 'क'वर्ग आदेश होता है। स्थानी और आदेश दोनों समानसंख्यक होने से च् = क्, छ् = ख्, ज् = ग्, झ् = घ् तथा ञ् = ङ् आदेश होंगे। इसके अतिरिक्त आभ्यन्तर-प्रयत्न के साथ बाह्य-प्रयत्न-साम्य से भी यह व्यवस्था सम्भव है। प्रकृत में ('सुयुज्' शब्द में) घोष, संवार, नाद तथा अल्पप्राण-प्रयत्नवान् 'ज्' के स्थान पर वैसा ही 'ग्' होगा। **उदाहरण**—(क) सुयुज्+स् (सु), <सुयुग् (विभक्तिलोप, ज् = ग्–कुत्व), <सुयुक्–ग् = क्—अवसान में वैकल्पिक चर्त्व। (ख) सुयुजौ (औ)। (ग) सुयुजः ('जस्')। (घ) आगे भी सुयुजा, सुयुग्भ्याम्, सुयुग्भिः इत्यादि रूप बनेंगे।

विशेष—१–'सुयुज्' शब्द में 'क्विन्' प्रत्यय न होने पर भी "क्विन्प्रत्ययस्य कुः" सूत्र में बहुव्रीहि–समास का आश्रयण (क्विन्–प्रत्ययो यस्मात् सः) करने से क्विबन्त में भी कुत्व की सम्भावना है। अन्यथा "क्विनः कुः" सूत्र पढ़ते। तथाऽपि "चोः कुः" (८-२-३०) से 'कुत्व' की पृथक् व्यवस्था इसलिये की गई है कि "पूर्वत्रासिद्धम्" के अनुसार "क्विन्प्रत्ययस्य कुः" (८-२-६२) से विहित कुत्व "चोः कुः" (८-२-३०) की दृष्टि में असिद्ध होने के कारण अभीष्ट रूप सिद्ध नहीं हो सकेगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वसृट्-विश्वसृड्, विश्वसृजौ, विश्वसृजः। इह सृजियज्योः कुत्वं नेति क्लीवे वक्ष्यते। परिमृट्। षत्वविधौ राजिसाहचर्यात् 'टुभ्राजृ दीप्तौ' इति फणादिरेव गृह्यते। यस्तु 'एजृ भ्रेजृ

इति नलोपस्तु न इदित्त्वात्। 'राजृ दीप्तौ' इत्यस्मात् क्विपि राज्शब्दः। तस्य विशेषमाह—ब्रश्चेति। हलङ्यादिना लुलोपे 'ब्रश्च'—इति षत्वम्। जश्त्वेन डकारः। 'वाऽवसाने' इति चर्त्वविकल्पः। भ्यामादौ 'स्वादिषु' इतिपदत्वात् षत्वं जश्त्वं च। राड्भ्यामित्यादि। 'डः सि धुट्' इति विकल्पं मत्वाह—राट्त्सु-राट्स्विति। एवं विभ्राडिति। राज्शब्दवत् षत्वादीत्यर्थः। 'टुभ्राजृ दीप्तौ' क्विप्। विशिष्य भ्राजत इति विभ्राट्। देवान् यजतीति देवेट्। देवान् यजतीति विग्रहे क्विपि यजादित्वाद् 'वचिस्वपि'—इति सम्प्रसारणम्। आद्गुणः। विश्वसृडिति। 'सृज विसर्गे' क्विपि 'ब्रश्च'-इति षत्वादि। ननु क्विबन्तेऽपि देवेज्शब्दे विश्वसृज् शब्दे च क्विन् प्रत्ययो यस्मादिति बहुव्रीह्याश्रयणादत्विक्शब्दवत् कुत्वं कुतो न स्यादित्यत आह—इहेति। 'सृजिदृशोः' इति सूत्रे काम्यच्सूत्रे च विश्वसृड्भ्यामिति उपयट् काम्यतीति च भाष्यप्रयोगात् 'क्विन्प्रत्यय'—इति कुत्वं नेत्यर्थः। परिसृडिति। 'सृज् शुद्धौ' क्विप्। 'ङिति च' इति निषेधाद् 'सृजेर्वृद्धिः' इति न भवति। 'ब्रश्च'-इति षत्वम्। परिमार्ष्टीति परिसृट्। अथ विभ्रागिति कुत्वं साधयितुमाह—षत्वविधाविति। ब्रश्चादिसूत्रे इत्यर्थः। अथ

२—√ युज् धातु से क्विन् प्रत्यय करने पर भी 'नुम्' होने के पश्चात् 'युङ्' यही रूप बनेगा। अभीष्ट रूप 'युक्' की सिद्धि नहीं हो सकेगी। कारण यह है कि धातुओं के अन्त में 'इक्' अथवा 'नि' का निर्देश कर विभक्तियों का प्रयोग करते हैं। "युजेरसमासे" में सन्देह होता है कि यहाँ 'युज्' शब्द से 'युजिर् योगे' अथवा 'युज समाधौ' धातुओं में से किसका ग्रहण हो? वामन-जयादित्य आदि प्राचीन व्याख्याताओं ने यहाँ पर 'युजि' को 'युजिर्' योगे के अनुकरण के रूप में स्वीकार किया है[1]। अतः समाधि अर्थ में √युज् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'नुम्' आगम नहीं होगा तथा कुत्व होकर 'युक्' (युज्+सु) रूप सिद्ध होगा।

निर्देश—१-'खञ्ज्' (= लूला) शब्द की रूपप्रक्रिया बतलाई जारही है। शब्द की व्युत्पत्ति—√ खजि+क्विप् <खनज् ('क्विप्' का सर्वापहार, नुम्-आगम), <खंज् (न् = अनुस्वार), खञ्ज् (अनुस्वार = ञ्—परसवर्ण)। (क) खञ्ज्+स् (सु), <खञ्ज् (विभक्तिलोप), <खञ् ('ज्'-संयोगान्त-लोप, ञ् = न्—अपनी मूलस्थिति में—"निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः" न्याय के अनुसार 'ज्' का लोप होने पर उसके कारण होने वाले अनुस्वार तथा परसवर्ण स्वयमेव हट गये)। खञ्ज्+औ, <खञ्जौ। खञ्ज्+अस्, <खञ्जः। (ख) द्वितीया—खञ्जम्, खञ्जौ, खञ्जः। (ग) तृतीया—खञ्जा, खञ्भ्याम्, खञ्भिः इत्यादि।

२—'राज्' (= शोभित होने वाला) शब्द के भेद। व्युत्पत्ति—√ राज्+क्विप् (क) राज्+स् (सु), <राज् ('सु'-लोप), <राष् (ज् = ष्—"ब्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः" (२९४), <राड्-ट् (ष् = ड्-जश्त्व, ड् = ट्-वैकल्पिक चर्त्व)। राजौ (औ), राजः (अस्)। (ख) सप्तमी के बहुवचन में—राट्सु-राट्त्सु (वैकल्पिक 'धुट्' आगम—"डः सि धुट्"—१३१ तथा ड् = ट्, ध् = त्-चर्त्व-"खरि च"—१२१)।

३—इसी तरह 'विभ्राज्' शब्द (= सूर्य) के रूप भी विभ्राट्, विभ्राजौ, विभ्राजः आदि होंगे।

---

१. (क) युजेरितीकारनिर्देशात् युज् समाधावित्यस्य ग्रहणं न भवति—युजमापन्ना ऋषयः। काशिका।

(ख) "योगार्थस्य प्राचुर्येण प्रसिद्धेः 'अभिव्यक्तपदार्था' इतिन्यायमूलकाद् व्याख्यानादित्यर्थः"। अत एव प्रतिपदोक्तस्यापि 'कुर शब्दे' इत्यस्य "न भकुर्छुराम्" (८-२-७९) इत्यत्र न ग्रहणमित्याहुः। म० म० पं० नित्यानन्द पन्त पर्वतीय-विरचित लघुशब्देन्दुशेखर-दीपक-व्याख्या।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भ्राजृ दीप्तौ' इति, तस्य कुत्वमेव। विभ्राक्–विभ्राग्। विभ्राग्भ्याम् इत्यादि। 'परौ व्रजेः षः पदान्ते (उ० ११७) परावुपपदे व्रजेः क्विप्स्याद्दीर्घश्च, पदान्तविषये षत्वं

परिव्राज्शब्दं व्युत्पादयति—परौ व्रजेः। औणादिकसूत्रमेतत्। 'क्विब्वचिप्रच्छि'–इत्यादिपूर्वसूत्रात् क्विबिति दीर्घ इति चानुवर्तते। पदान्त इति प इत्यनेनैव सम्बध्यते, न तु क्विब्दीर्घाभ्यामपि व्याख्यानात्। तदाह—परावुपपदे इत्यादिना। षत्वं चेति। 'चोः कुः' इत्यस्यापवाद इति भावः। विश्वस्मिन् राजते इत्यर्थे 'सत्सूद्विष'–इत्यादिना क्विपि उपपदसमासे विश्वराज्शब्दः। तस्य विशेषमाह।

४—देवों को पूजता है अर्थ में (देवान् यजते) 'देवेज्' शब्द के रूप भी देवेट्–ड्, देवेजौ, देवेजः आदि 'राज्' शब्द के समान हैं। व्युत्पत्ति इस प्रकार है—देव–√ यज्+क्विप्, <देव–इ–अज् (य्=इ–यजादि होने से सम्प्रसारण) <देव–इज् (इ+अ=इ–पूर्वरूप), <देवेज् (अ+इ=ए–गुण)।

५—संसार का उत्पादक अर्थ में (विश्वं सृजति) 'विश्वसृज्' शब्द के रूप भी विश्वसृट्–ड्, विश्वसृजौ, विश्वसृजः आदि बनेंगे। यहाँ भी ज्=प् ("व्रश्चादि०" सूत्र में पठित होने से), जश्त्व एवं चर्त्व आदि कार्य पूर्ववत् होंगे। व्युत्पत्ति इस प्रकार है—विश्व–√ सृज्+क्विप्=विश्वसृज्—क्विप् का सर्वापहार।

६—इसी प्रकार 'परिमृज्'–(शुद्ध करने वाला) शब्द के रूप भी परिमृट्–ड् आदि जानें जायँ। व्युत्पत्ति—परि–√मृज्+क्विप्–परिमृज्।

विशेष—१–"क्विन्प्रत्ययस्य कुः" (७-२-६२) सूत्र में बहुव्रीहि-समास का आश्रयण करने से इन उदाहरणों में से 'सृज्' तथा 'यज्' में 'ज्' के स्थान पर प्राप्त होने वाले 'ग्' (कुत्व) की आशंका-निवारण करने का संकेत भट्टोजी दीक्षित ने 'नपुंसकलिङ्ग' प्रकरण में किया है। वहाँ "सृजिदृशोर्झल्यमकिति" (६-१-५८) तथा "काम्यच् च" (३-१-९) सूत्रों में भाष्यकार के दिये हुए 'रज्जुसृड्भ्याम्' तथा 'उपयट्काम्यति' प्रयोगों में 'कुत्व' न करना ही इस बात का पोषक है[1]। यह इसका एक पक्ष है। दूसरा समाधान भट्टोजी दीक्षित ने हलन्त-नपुंसकलिङ्ग प्रकरण में यह भी दिया है कि "व्रश्चभ्रस्ज०" (८-२-३६) सूत्र से विधीयमान षत्व कुत्व का बाधक होता है। अतः सृज् तथा यज् को पदान्त में कुत्व नहीं होता।

२—"व्रश्चभ्रस्ज०" सूत्र में पठित 'भ्राजृ' धातु 'राजृ' के साहचर्य से फणादि-सात धातुओं के अन्तर्गत पठित "ट्वुभ्राजृ दीप्तौ" का ग्राहक होता है न कि भ्वादिगण में ही अन्यत्र दीप्त्यर्थक एजृ–भ्राजृ के साथ पठित 'भ्राजृ' का। अनेकार्थक शब्दों में साहचर्य भी वाच्य-वाचक-भाव-रूप शक्ति का निर्णायक होता है। अतः √'एजृ' के साथ पठित वि–√ 'भ्राजृ' धातु से क्विप्-प्रत्ययान्त 'विभ्राज्' शब्द से प्रथमा विभक्ति में कुत्व होकर 'विभ्राक्–ग्' रूप बनेगा। अजादि-विभक्तियों में कोई परिवर्तन नहीं होता—विभ्राजौ, विभ्राजः इत्यादि। हलादि-विभक्तियों में कुत्व होता है—विभ्राग्भ्याम् इत्यादि।

निर्देश—१–परिव्राज्' शब्द की रूप-प्रक्रिया बतलाई जारही है। परि–√ व्रज् धातु से 'क्विप्' प्रत्यय, दीर्घ तथा पदान्त में 'प्'–विधान होता है—"परौ व्रजेः षः पदान्ते" (उणादि–२१७)। अर्थ—परित्यज्य सर्वं व्रजति (=सब कुछ छोड़ कर विचरण करने वाला—संन्यासी)। (क) परिव्राज्+सु, <परिव्राज्, ('सु'–लोप) <परिव्राष् (ज्=ष्), <परिव्राड्–ट् (ष्=ड् तथा वैकल्पिक चर्त्व), परिव्राजौ, परिव्राजः इत्यादि रूप 'राज्' शब्द के समान होंगे।

---

१. "सृजिदृशोः" (६-१-५८) इति सूत्रे 'रज्जुसृड्भ्याम्' इति भाष्यप्रयोगात्, काम्यच्सूत्रे भाष्ये 'उपयट्काम्यति' इतिप्रयोगात् "क्विन्प्रत्ययस्य कुः" (८-२-६२) इति कुत्वं नेत्यर्थः। ल० श० शे०।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

च। परित्यज्य सर्वं व्रजतीति परिव्राट्, परिव्राजौ, परिव्राजः। (३७९) **विश्वस्य वसुराटोः ६। ३। १२८॥** विश्वशब्दस्य दीर्घोऽन्तादेशः स्याद्वसौ राट्शब्दे च परे। विश्वं वसु यस्य स विश्वावसुः। राडिति पदान्तोपलक्षणार्थम्। चर्त्वमविवक्षितम्। विश्वाराट्-विश्वाराड्,विश्वराजौ, विश्वराजः। विश्वाराड्भ्याम् इत्यादि। (३८०) **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ८। २। २९॥** पदान्ते झलि च परे यः संयोगस्तदाद्योः सकारककारयो-

---

(३७९) विश्वस्य वसुराटोः। 'ढ्रलोपे' इत्यतो दीर्घ इत्यनुवर्तते। तदाह—विश्वशब्दस्येति। विश्वं वस्विति। 'वसुर्ग्रहेऽग्नौ योक्त्रेऽशौ वसु तोये धने मणौ।' इति कोशः। विश्वावसुरित्युदाहरणं प्रासङ्गिकम्। 'आदित्यविश्ववसवः' इत्यमरप्रयोगे तु न दीर्घः, 'नरे संज्ञायाम्' इत्यतः संज्ञाग्रहणापकर्षात्। ननु राट् शब्दस्य कृतचर्त्वस्य निर्देशात् जश्त्वे सति दीर्घो न स्यादित्यत आह—राडिति। अविवक्षितमिति। व्याख्यानादिति भावः। विश्वाराट्-विश्वाराडिति। 'ब्रश्च'-इति षत्वम्, जश्त्वचर्त्वे। चर्त्वनिर्देशस्य पदान्तोपलक्षणत्वाज्जश्त्वपक्षेऽपि दीर्घः। यद्यपि त्रैपादिकं 'ब्रश्च'-इति पत्वं 'चोः कुः' इति कुत्वात्परम्। तथापि चवर्गान्तव्रश्चादिविषये षत्वमपवादत्वान्नासिद्धम्, अपवादवचनप्रामाण्यात् इति। विश्वराजाविति। अपदान्तत्वान्न दीर्घ इति भावः। 'अस्ज पाके' क्विप्। 'ग्रहिज्या'-इति सम्प्रसारणं रेफस्य ऋकारः। 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपम्। भृस्ज् शब्दः। ततः सुब्उत्पत्तिः। तत्र विशेषमाह।

(३८०) स्कोः संयोगाद्योः। पदस्येत्यधिकृतम्। चकारात् 'झलो झलि' इत्यतो झलीत्यनुवर्तते, पदस्यान्ते इति झलीति च संयोगेत्यनेन सम्बध्यते। संयोगेति लुप्तषष्ठीकं पृथक्पदम्। स् च क् च स्कौ, तयोरिति विग्रहः। 'संयोगान्तस्य लोपः' इत्यतो लोप इत्यनुवर्तते। तदाह—पदान्त इत्यादिना। 'अत्र काष्ठशक् स्थातेत्यत्र झल्परसंयोगादित्वात्

---

(३७९) पद—विश्वस्य, वसुराटोः। अनुवृत्ति—दीर्घः। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'वसु' और 'राट्' शब्द पर रहते 'विश्व' शब्द को दीर्घ अन्तादेश होता है। विश्व (जगत्) है धन जिसका = विश्वावसुः—गन्धर्वविशेष। 'राट्'—यह पदान्त का उपलक्षण है। यहाँ चर्त्व की विवक्षा नहीं है। विश्वाराट्-विश्वाराड्, विश्वराजौ, विश्वराजः। विश्वाराड्भ्याम् इत्यादि।

विवरण—सूत्र में आदेश-वाचक पद "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" (६-३-१११) सूत्र से 'दीर्घ' पद की अनुवृत्ति करने पर ज्ञात होता है। तब सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि " 'वसु' या 'राट्' शब्द पर रहते 'विश्व' शब्द के अन्त्य'अच्' को दीर्घ हो"। यहाँ 'राट्' में चर्त्व की विवक्षा नहीं है किन्तु वह पदान्त का उपलक्षण है, अतः इससे 'राट्' और 'राड्' दोनों का ग्रहण होता है। प्रसङ्गप्राप्त उदाहरण—संसार जिसका धन है इस अर्थ में 'विश्व' को दीर्घ होकर (विश्वं वसु यस्य सः)-विश्वावसु+स् (सु), <विश्वावसुः (स् = र् = :)। प्रकृत उदाहरण—(क) विश्व-राज्+क्विप्, विश्वराज्+स् <विश्वराष् (ज् = ष्), <विश्वराड् (ष् = ड्, दीर्घ) <विश्वाराट् (ड् = ट् वैकल्पिक चर्त्व, दीर्घ), विश्वराजौ (औ), विश्वराजः (अस्)। अर्थात् औ, अस् (जस्) आदि अजादि विभक्तियों में पदान्त न होने से दीर्घ नहीं हुआ। (ख) भ्याम् आदि विभक्तियों में पदान्त होने से दीर्घ होगा—विश्वाराड्भ्याम् इत्यादि।

निर्देश—'भृस्ज्' (= भड़भूजा) शब्द के प्रसङ्ग में संयोगादि-लोप बतलाया जारहा है।

(३८०) पद—स्कोः, संयोगाद्योः, अन्ते, च। अनुवृत्ति—झलि, लोपः, पदस्य (अधिकार)। विधिसूत्र।

मूलार्थ—पदान्त में या 'झल्' पर रहते संयोग के आदि सकार और ककार का लोप होता है। भृट्, भृड्। 'स्' को 'श्चुत्व' होने से 'श्' तथा उसे 'जश्त्व' होने से 'ज्' हुआ। भृज्जौ,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोपः स्यात्। भृट्-भृड्। सस्य श्चुत्वेन शः। तस्य जश्त्वेन जः। भृज्जौ, भृज्जः। 'ऋत्विग्'–(सू० ३७३) इत्यादिना ऋतावुपपदे यजेः क्विन्। क्विन्नन्तत्वात्कुत्वम्। ऋत्विक्-ऋत्विग्, ऋत्विजौ, ऋत्विजः। 'रात्सस्य' (सू २८०) इति नियमान्न संयोगान्तलोपः—

ककारस्य लोपप्राप्तौ तन्निवृत्त्यर्थं वार्तिकं पठितम्–'झलीत्यपहाय सङीति वक्तव्यम्' इति। सनः सकारमारभ्य महिङो डकारेण प्रत्याहारः। तदिदं वार्तिकं भाष्ये प्रत्याख्यातम्—'काष्ठशगेव नास्ति कुतः काष्ठशक् स्थाता' इति। ककारान्तेभ्यो नास्ति क्विप्, अनभिधानादित्याशयः। न च पृथक् स्थातेत्यत्र ककारस्य लोपनिवृत्तये 'सङि' इति वार्तिकमावश्यकमिति वाच्यम्, तत्प्रत्याख्यानपरभाष्यप्रामाण्यादेवज्ञातीयकसंयोगादिलोपप्राप्तियोग्योदाहरणानामप्रयोगावगमादिति' शब्देन्दुशेखरे स्पष्टम्। भृट्–भृडिति। भृस्ज् स् इति स्थिते हल्ङ्यादिलोपे 'स्कोः'–इति सकारलोपे जकारस्य ब्रश्चादिना पत्वे जश्त्वचर्त्वे इति भावः। यद्यपि जकारस्य संयोगान्तलोपेऽपि सकारस्य 'ब्रश्च'–इति पत्वे जश्त्वचर्त्वयोः भृट्–भृड् इति सिध्यति, तथापि न्याय्यत्वादिह संयोगादिलोप एव भवति। सस्येति। भृस्ज् औ इत्यादावचि पदान्तझल्परसंयोगादित्वाभावान्न संयोगादिलोपः। 'झलां जश् झशि' इति जश्त्वस्यासिद्धत्वात् सकारस्य श्चुत्वमिति भावः। तस्येति। शकारस्येत्यर्थः। तालुस्थानकत्वात् शकारस्य जकारः। न च जश्त्वस्यासिद्धत्वात् शकारस्य ब्रश्चेति षत्वं शङ्क्यम्, षत्वं प्रति श्चुत्वास्यासिद्धत्वात्। भ्यामादौ तु 'स्वादिषु' इति पदत्वात् संयोगादिलोपः। ब्रश्चेति षत्वं जश्त्वं च–भृड्भ्यामित्यादि। ऋत्विगित्यादिनेति। 'ऋ गतौ' औणादिकस्तुः। ऋतुः गमनं प्राप्तिः। दक्षिणाद्रव्यलाभो विवक्षितः। तस्मिन्निमित्ते यजन्ति यज्ञियव्यापारं कुर्वन्तीत्यर्थे ऋतावुपपदे यज्धातोः क्विन्। 'वचिस्वपि'–इति यकारस्य सम्प्रसारणमिकारः, पूर्वरूपम्, यणादेशश्च, ऋत्विज् इति रूपम्। ततः सोर्हल्ङ्यादिलोपः। एतावत् सिद्धवत्कृत्याह—क्विन्नन्तत्वात्कुत्वमिति। क्विन्प्रत्ययस्येत्यनेनेति शेषः। एतदर्थमेव क्विन्विधानमिति भावः। न च क्विपि 'चोः कुः' इति कुत्वेनैवैतत्सिध्यतीति वाच्यम्, 'चोः कुः' इति कुत्वं हि 'ब्रश्च'–इति पत्वेन अपवादत्वात् बाध्येत। क्विन्प्रत्ययस्येति कुत्वं तु क्विन्विधिसामर्थ्यादेव न बाध्यते, यष्टेत्यादौ पविधेश्च-

---

भृज्जः। 'ऋतु'–उपपद रहते √यज् से क्विन्, 'क्विन्'–प्रत्ययान्त होने से कुत्व होता है। ऋत्विक्–ऋत्विग्, ऋत्विजौ, ऋत्विजः। "रात् सस्य" इस नियम से संयोगान्त-लोप नहीं हुआ। ऊर्क्–ऊर्ग्, ऊर्जौ, ऊर्जः। त्यदादि-निमित्तक 'अ'कार-विधान तथा पररूप होने पर (अग्रिम सूत्र से 'त्' = 'स्' होता है)।

विवरण—आदेश–वाचक पद की पूर्ति के लिये "संयोगान्तस्य लोपः" (८-२-२३) सूत्र से 'लोपः' पद की अनुवृत्ति की जाती है। इसके साथ ही "झलो झलि" (८-२-२६) से निमित्त-वाचक 'झलि' पद की अनुवृत्ति भी अपेक्षित है। "पदस्य" (८-१-१६) का अधिकार है। तथा 'पदस्य' शब्द 'अन्ते' के साथ समन्वित होता है। 'पदस्यान्ते' तथा 'झलि'–ये दोनों पद 'संयोग' के साथ अन्वित होते हैं। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होता है कि "झल् पर होने की स्थिति में अथवा पदान्त में जो संयोग, उसके आदि में विद्यमान 'स्' और 'क्', इनका लोप हो"।

उदाहरण—(क) भृस्ज्+स्, <भृस्-ज् ('स्'-विभक्तिलोप), <भृज् (यहाँ पर पदान्त में स्थित संयोग के आदि-वर्ण 'स्' का लोप हुआ), <भृष् (ज् = ष्—"ब्रश्चभ्रस्ज०" २९४), <भृड् (ष् = ड्—जश्त्व–"झलां जशोन्ते"–८४), –भृट् (ड् = ट्–वैकल्पिक 'चर्त्व')। भृस्ज्+औ, <भृस्ज्+औ (जश्त्व असिद्ध होने के कारण पहले स् = श्–श्चुत्व होता है), <भृज्–

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ऊर्क्-ऊर्ग्' । ऊर्जौ, ऊर्जः । इति जान्ताः । त्यदाद्यत्वं पररूपत्वं च । (३८१) तदोः सः सावनन्त्ययोः ७ । २ । १०६ ॥ त्यदादीनां तकारदकारयोरनन्त्ययोः सः स्यात्सौ परे । स्यः, त्यौ, त्ये । त्यम्, त्यौ, त्यान् । सः, तौ, ते । परमसः, परमतौ, परमते । द्विपर्यन्तानामित्येव । नेह । त्वम् । न च तकारोच्चारणसामर्थ्यान्नेति वाच्यम्, अतित्वमिति

रितार्थत्वादिति भावः । ऊर्क्-ऊर्ग् इति । 'ऊर्ज् बलप्राणनयोः' चुरादिण्यन्तात् 'भ्राजभास'-इत्यादिना क्विप्, णिलोपः । ऊर्ज् इति रूपम् । ततः सोर्हल्ङ्यादिलोपः । 'चोः कुः' इति जस्य कुत्वं गकारः । 'वाऽवसाने' इति चर्त्वविकल्पः । न च कुत्वे कर्तव्ये णिलोपस्य स्थानिवत्त्वं शङ्क्यम्, पदान्तविधौ तन्निषेधात्, 'पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत्' इति वचनाच्च । इति जान्ताः । अथ दकारान्ता निरूप्यन्ते । त्यद्शब्दस्तद्शब्दपर्यायः । तस्य विशेषमाह—त्यदाद्यत्वं पररूपत्वमिति । सर्वत्र विभक्तावुत्पन्नायां 'त्यदादीनामः' इति दकारस्यान्त्यस्य अकारः, 'अतो गुणे' इति पररूपं चेत्यर्थः । ततश्च अदन्तवद्रूपाणीति भावः । त्यस् इति स्थिते ।

(३८१) तदोः सः सावनन्त्ययोः । त्यदादीनामिति । 'त्यदादीनामः' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । तकारदकारयोरिति । सूत्रे तश्च द् चेति विग्रहः । तकारादकार उच्चारणार्थ इति भावः । सः स्यादिति । आदेशेऽपि अकार उच्चारणार्थः । त्यौ इति । सावित्युक्तेर्न सत्वमिति भावः । त्ये इति । सर्वनामस्थात् जसः शीभाव इति भावः । स्मायादीनामप्युपलक्षणमिदम् । त्यम् त्यौ त्यान् । त्येन त्याभ्याम् त्यैः । त्यस्मै त्याभ्याम् त्येभ्यः । त्यस्मात् । त्यस्य त्ययोः त्येषाम् । त्यस्मिन् त्येषु । एवं तद्शब्दः । परमसः इति । अत्वादीनामाङ्गत्वात्तदन्तेऽपि प्रवृत्तेरिति भावः । ननु युष्मच्छब्दस्यापि त्यदादित्वात्तस्यापि प्रथमैकवचने त्वमित्यत्र 'तदोः सः सौ' इति सत्वं कुतो न स्यादित्यत आह—द्विपर्यन्तेति । 'त्यदादीनामः' इत्यत्र पठितं द्विपर्यन्तानामेवेष्यते' इति वार्तिकं 'तदोः सः सौ' इत्यत्राप्यनुवर्तते एवेत्यर्थः । ततः किमित्यत आह—नेहेति । इह शब्दविवक्षितमाह—त्वमिति ।

ज्+औ (श् = ज्—"झलां जश् झशि"-९२), <भृज्जौ । इसी प्रकार भृज्जः भी सिद्ध होता है । भृज्जम्, भृज्जौ, भृज्जः । भृज्जा, भृड्भ्याम् इत्यादि ।

निर्देश—१-ऋत्विज् (= यज्ञ करने वाला) शब्द की रूप-प्रक्रिया बतलाई जाती है । (क) ऋत्विज्+स् (सु), <ऋत्विज् ('स्'-विभक्तिलोप), <ऋत्विग् (ज् = ग् "क्विन्-प्रत्ययस्य कुः—३७७)—पक्ष में वैकल्पिक चर्त्व-ऋत्विक् । आगे ऋत्विजौ (औ), ऋत्विजः । ऋत्विजम् । तृतीया में ऋत्विजा, ऋत्विग्भ्याम, ऋत्विग्भिः । सप्तमी बहुवचन में 'ऋत्विक्षु' ।

२—'ऊर्ज्' (= बलवान्) शब्द की प्रक्रिया की विशेषता बतलाई जारही है । व्युत्पत्ति—√ ऊर्ज्+णिच् (इ)+क्विप्, <ऊर्ज् ('क्विप्' का सर्वापहार तथा 'णि'-लोप) । (क) ऊर्ज्+स् (सु), <ऊर्ज् ('स्'-विभक्तिलोप), <ऊर्ग् (पदान्तविधि में 'णि'लोप को स्थानिवद्भाव का निषेध होने से ज् = ग्-कुत्व—"चोः कुः"—३७८), ऊर्क् (पक्ष में वैकल्पिक चर्त्व) । ऊर्जौ (औ), ऊर्जः (अस्)—आदि । जकारान्त शब्दों का प्रकरण समाप्त हुआ ।

३—दकारान्त शब्दों के अन्तर्गत 'त्यदादि' शब्दों की विशेष-प्रक्रिया बतलाई जारही है । सर्वप्रथम 'त्यद्' (= वह) शब्द की रूप-सिद्धि का प्रकार बतलाया जाता है ।

(३८१) पद—तदोः, सः, सौ, अनन्त्ययोः । अनुवृत्ति—त्यदादीनाम् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'सु' विभक्ति पर हो तो त्यदादियों के अन्त्यमित्र तकार एवं दकार को सकार होता है । स्यः, त्यौ, त्ये । त्यम्, त्यौ, तान् । सः, तौ, ते । परमसः, परमतौ, परमते । इस विधान की अवधि 'द्वि'-शब्द पर्यन्त है । अतः यहाँ नहीं—'त्वम्' । गौण-प्रयोग 'अतित्वम्' में तकार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गौणे चरितार्थत्वात्। संज्ञायां गौणत्वे चात्वसत्वे न। त्यद्, त्यदौ, त्यदः। अतित्यद्, अतित्यदौ, अतित्यदः। यः, यौ, ये। एषः, एतौ, एते। अन्वादेशे तु–एनम्, एनौ, एनान्।

युष्मच्छब्दस्य द्विशब्दादुपर्येव सर्वादिगणे पाठादिति भावः। ननु 'त्वाहौ सौ' इति तकारोच्चारणसामर्थ्यादेव त्वमित्यत्र सत्वं न भवति। अन्यथा 'स्वाहौ सौ' इत्येव ब्रूयात्। अतो द्विपर्यन्तानामित्यनुवृत्तिरिह व्यर्थेत्याशङ्क्य निराकरोति—न चेति। तकारोच्चारण-सामर्थ्यादिह सत्वं नेति न वाच्यमित्यन्वयः। अतित्वमिति। द्विपर्यन्तानामित्यननुवृत्तौ त्वमित्यत्रापि सत्वं स्यात्। न च 'त्वाहौ सौ' इति तकारोच्चारणानर्थक्यम्, त्वामतिक्रान्तः अतित्वमिति गौणे युष्मच्छब्दस्य त्वादेशे त्वाहाविति तकारोच्चारणस्य लब्धप्रयोजनत्वा-दित्यर्थः। न च अतित्वमित्यत्रापि सत्वप्रवृत्तेर्दुर्वारत्वात् त्वाहाविति तकारोच्चारणानर्थक्यं दुर्वारमिति वाच्यम्, सत्वस्य सर्वाद्यन्तर्गणकार्यत्वेन गौणे तस्याप्रवृत्तेः। अत एवाह—

उच्चारण चरितार्थ हो जाने के कारण तकार-उच्चारण-सामर्थ्य से सकार-विधान में 'द्विपर्यन्त' की अनु-वृत्ति आवश्यक है। संज्ञा तथा गौण-प्रयोगों में 'अ'-विधान एवं 'सकार'-विधान नहीं होते। त्यद्, त्यदौ, त्यदः। अतित्यद्, अतित्यदौ, अतित्यदः। यः, यौ, ये। एषः, एतौ, एते। अन्वादेश में—एनम्, एनौ, एनान्, एनेन, एनयोः, एनयोः।

विवरण—'त्' और 'द्' स्थानी हैं तथा 'स्' आदेश है। यहाँ पर सभी 'त्' तथा 'द्' स्थानी के रूप में नहीं लिये जाते। केवल 'त्यदादि'-शब्दों के 'त्' और 'द्' ही इस सूत्र के लक्ष्य हैं। अतः "त्यदादीनामः" (६-३-१०२) से 'त्यदादीनाम्' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। तदनुसार "'सु' विभक्ति पर रहते त्यदादि शब्दों के (अनन्त्य) अन्त में न रहने वाले 'त्' और 'द्' के स्थान पर 'स्' आदेश होता है"। इस विधान में सर्वादि-गण के अन्तर्गत त्यदादि-शब्द ८ हैं–त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक तथा द्वि। **उदाहरण**—(क) त्यद्+स् (सु), <त्य–अ +स् (द् = अ–"त्यदादीनामः"–२६५), <त्य+स् (अ+अ = अ—पररूप), <स्य+स् (त् = स्), <स्यः (स् = र् = :)। त्यद्+औ, <त्य+औ (द् = अ तथा पररूप), <त्यौ (पूर्वसवर्ण दीर्घ को बाध कर वृद्धि)। त्यद्+जस्, <त्य+जस्, <त्य+ई (शी), <त्ये (गुण)। त्यम्, त्यौ, त्यान्। त्येन, त्याभ्याम्, त्यैः। त्यस्मै, (ङे = स्मै), त्याभ्याम्, त्येभ्यः। त्यस्मात् (ङसि = स्मात्), त्याभ्याम्, त्येभ्यः। त्यस्य, त्ययोः, त्येषाम् (सुट्–आगम, एत्व, षत्व)। त्यस्मिन् (ङि = स्मिन्), त्ययोः, त्येषु। शेष प्रक्रिया 'सर्व' शब्द के समान है।

(ख) 'तद्' (= वह) शब्द के रूप इसी तरह—सः, तौ, ते इत्यादि होते हैं।

(ग) अत्व आदि कार्य अङ्ग-सम्बन्धी होने से कर्मधारय-समास होने पर तदन्त में भी प्रवृत्त होते हैं। अतः 'परमतद्' (= उत्तम वह) शब्द के रूप भी परमसः, परमसौ, परमते आदि 'तद्' शब्द के समान ही बनेंगे।

(घ) 'यत्' (= जो) शब्द के रूप भी इसी प्रकार होंगे।

(ङ) 'एतद्' (= यह) शब्द के प्रथमा-एकवचन में 'स्' = 'ष्' (मूर्धन्य–"आदेशप्रत्यययोः" २१२) भी होगा। तदनुसार प्रथमा में एषः, एतौ, एते–रूप बनेंगे। 'एतद्' शब्द-सम्बन्धी अन्वादेश (पृ० ४२५) का विवरण 'इदम्' शब्द के साथ ही दिया जा चुका है। तदनुसार अन्वादेश में—(द्वितीया-विभक्ति) एनम् (अम्), एनौ (औ), एनान् (शस्), एनेन (टा), एनयोः (ओस्–षष्ठी-द्विवचन), एनयोः (ओस्–सप्तमी-द्विवचन)—रूप होते हैं। इन विभक्तियों में अकारान्त पुंलिङ्गवाची 'राम' शब्द के समान रूप सिद्ध होंगे।

विशेष—१–सर्वादिगण के अन्तर्गत 'त्यद्' से प्रारम्भ कर 'द्वि' शब्द पर्यन्त ८ शब्दों को 'त्यदादि' में परिगणित किया गया है। 'युष्मद्' शब्द इस परिगणन के बाहर है। अतः 'त्वम्' में प्रकृत सूत्र से 'द्' के स्थान पर 'स' नहीं होता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एनेन । एनयोः । एनयोः । (३८२) ङे प्रथमयोरम् ७ । १ । २८ । युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङे इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चामादेशः स्यात् । (३८३) मपर्यन्तस्य ७ । २ ।

संज्ञायामिति । त्यदिति । कस्यचिन्नामेदम् । अतित्यदिति । त्यमतिक्रान्त इति विग्रहः । यः इति । यद्शब्दस्य त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे सर्वशब्दवद्रूपाणि । तकाराभावान्न सत्वम् । एषः इति । एतद्शब्दस्य त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे सर्ववदेव रूपाणि । सौ तु तकारस्य-सत्वमिति विशेषः । अन्वादेशे त्विति । 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' इत्यस्य एतद्शब्देऽपि प्रवृत्तेरिति भावः ।

(३८२) अथ युष्मदस्मद्शब्दयोः प्रक्रियां दर्शयति—ङे प्रथमयोरम् । 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' इत्यतो युष्मदस्मद्भ्यामित्यनुवर्तते । परशब्दोऽध्याहर्तव्यः । ङे इति लुप्तषष्ठीकं पृथक्पदम् । प्रथमयोरिति प्रथमाद्वितीयाविभक्त्योर्लाक्षणिकमिति भाष्यम् । तदाह-युष्मदस्मद्भ्यामित्यादिना । सोरमादेशे कृते 'न विभक्तौ' इति मस्य नेरवम् । युष्मद् अम्, अस्मद् अम् इति स्थितम् ।

(३८३) अधिकृत्येति । कार्याणि वक्ष्यन्त इति शेषः ।

शङ्का—"त्वाहौ सौ" (७-२-९४) सूत्र के अनुसार 'त्वम्' में 'युष्म्' = 'त्व' आदेश होता है। यदि 'त्' के स्थान पर 'स्' अभीष्ट होता तो "त्वाहौ सौ" सूत्र से निर्वाह हो सकता था। अतः "त्वाहौ सौ" में 'त्'-उच्चारण करने से त्यदादि की सीमा 'द्वि'-शब्द पर्यन्त निर्धारित करने की क्या आवश्यकता है ? समाधान—त्वान् अतिक्रान्तः (= तुमको अतिक्रमण करने वाला) अर्थ में (गौण प्रयोग करने में) 'अतियुष्मद्' शब्द में 'त्व' आदेश करने पर 'अतित्वम्' में उस 'त्'-उच्चारण के चरितार्थ होने से 'द्वि-पर्यन्त अवधि' न रहने पर पुनरपि 'त्वम्' में 'स्' आदेश होने लगेगा। अतः 'त्यदादि' की 'द्वि'-शब्द पर्यन्त अवधि मानी गई है।

३—सर्वनाम-शब्दों का संज्ञा के रूप में प्रयोग करने पर अथवा विशेषण के रूप में प्रयोग होने पर 'अ'-तथा 'स'-विधान (सत्व) नहीं होते। त्यदादि भी सर्वादिगण के अन्तर्गत है। अतः गौण तथा उपसर्जन-संज्ञा-विषयक नियम 'त्यदादि' में भी प्रवृत्त होते हैं।

निर्देश—'युष्मद्' (= तू) तथा 'अस्मद्' (= मैं) शब्दों की प्रक्रिया बतलाई जारही है।

(३८२) पद—ङे-प्रथमयोः, अम् । अनुवृत्ति—युष्मदस्मद्भ्याम् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' से पर 'ङे' और प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति को 'अम्' आदेश होता है।

विवरण—"युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्" (७-१-२७) से 'युष्मदस्मद्भ्याम्' की अनुवृत्ति यहाँ अपेक्षित है। प्रकृत सूत्र में 'ङे' पद षष्ठी-विभक्ति में है। 'षष्ठी-विभक्ति का लोप होने से 'ङे' निर्विभक्तिक दिखाई पड़ता है। 'प्रथमयोः' पद प्रथमा तथा द्वितीया-विभक्तियों के अर्थ में लाक्षणिक है[1]। तदनुसार "'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्दों से पर 'ङे' (चतुर्थी-एकवचन) तथा प्रथमा और द्वितीया-विभक्ति के स्थान पर 'अम्' आदेश" होगा। आदेश अनेक-वर्णात्मक होने से सम्पूर्ण स्थानी को अभिव्याप्त कर प्रवृत्त होगा।

(३८३) पद—मपर्यन्तस्य । अधिकारसूत्र ।

---

१. "कयोरिदं प्रथमयोर्ग्रहणम् ? किं विभक्त्योराहोस्वित् प्रत्ययोः ? विभक्त्योरित्याह । अन्यत्रापि हि प्रथमयोर्ग्रहणे विभक्त्योर्ग्रहणं विज्ञायते न प्रत्ययोः । क्वान्यत्र ? प्रथमयोः पूर्वसवर्ण इति । अस्ति कारणं येन तत्र विभक्त्योर्ग्रहणं विज्ञायते । किं कारणम् ? अचीति वर्तते । न चाजादी प्रथमौ प्रत्ययौ स्तः । ननु चैवं विज्ञायते । अजादी यौ प्रथमौ अजादीनां वा यौ प्रथमाविति । यत्तर्हि तस्माच्छसो नः पुंसीत्यनुक्रान्तं पूर्वसवर्णे प्रतिनिर्दिशति, तज्ज्ञापयत्याचार्यो विभक्त्योर्ग्रहणमिति । इहाप्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति विभक्त्योर्ग्रहणमिति" । महाभाष्यम् ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९१ ॥ इत्यधिकृत्य । (३८४) त्वाहौ सौ । ७ । २ । ९४ ॥ युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य त्व अह इत्येतावादेशौ स्तः सौ परे । (३८५) शेषे लोपः ७ । २ । ९० ॥ आत्वयत्व-निमित्तेतरविभक्तौ परतो युष्मदस्मदोरन्त्यस्य लोपः स्यात् । 'अतो गुणे' (सू० १९१) । 'अमि पूर्वः' (१९४) । त्वम् । अहम् । ननु 'त्वम् स्त्री' 'अहम् स्त्री' इत्यत्र 'त्व अम्' 'अह अम्' इति स्थिते अमि पूर्वरूपं परमपि बाधित्वान्तरङ्गत्वाट्टाप् प्राप्नोति । सत्यम् ।

---

(३८४) त्वाहौ सौ । त्वश्च अहश्च त्वाहौ । मपर्यन्तस्येत्यधिकृतम् । 'युष्मदस्मदोर्-नादेशे' इत्यतो युष्मदस्मदोरित्यनुवर्तते तदाह—युष्मदस्मदोरित्यादिना । त्व अद् अम्, अह अद् अम् इति स्थितम् । यद्यप्यत्र 'त्वमावेकवचने' इत्येव युष्मद्शब्दस्य त्वादेशः सिद्धः, तथापि युष्मानतिक्रान्तः अतित्वमित्यत्र त्वादेशार्थमिह युष्मदस्त्वविधानम् । नहि तत्र 'त्वमावेकवचने' इत्यस्य प्रवृत्तिरस्ति, अत्र युष्मद्शब्दस्य बहुत्वविशिष्टे वृत्तेः । एक-वचनशब्दो हि तत्र एकत्वविशिष्टवृत्तिवाची न तु एकवचनसंज्ञकप्रत्ययवाचीत्यनुपदमेव वक्ष्यते ।

(३८५) शेषे लोपः । 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यतः 'विभक्तौ' इत्यनुवर्तते । विभक्ताविति-त्यनुवृत्तं शेष इत्यनेनान्वेति । 'युष्मदस्मदोरनादेशे' 'द्वितीयायां च' 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायां' 'योऽचि' इत्यात्वयत्वयोः प्रागुक्तत्वात्तद्विषयातिरिक्तविभक्तिरिह शेषशब्दार्थः । युष्मदस्मदोरिति चानुवृत्तम् । तदाह—आत्वयत्वेति । अन्त्यस्येति । अलोऽन्त्यपरिभाषा-लभ्यम् । शेषग्रहणमिह विभक्तिविशेषणं स्पष्टार्थमेव, विशेषविहिताभ्यामात्वयत्वाभ्यां स्व-विषये बाधसम्भवाद् इति प्रकृतसूत्रे 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्'इति सूत्रे च भाष्यकैयटयोः स्पष्टम् । अतो गुणे इति । पूर्वयोरकारयोः पररूपमिति भावः । त्व अम्, अह अम् इत्यत्र पूर्वसवर्णदीर्घमाशङ्क्याह—अमि पूर्व इति । अत्र शङ्कते—नन्विति । 'ननु च स्याद्विरोधोक्तौ' इत्यमरः । शङ्कायामिति यावत् । अन्तरङ्गत्वादिति । 'अजाद्यतः'–इति टापः परनिमित्तानपे-क्षतया पररूपादन्तरङ्गत्वं बोध्यम् । अर्धाङ्गीकारेण परिहरति—सत्यमिति । पररूपादन्तरङ्गष्टा-

---

मूलार्थ—इसका अधिकार है ।

विवरण—इस अधिकार का यह प्रभाव होगा कि 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' सम्बन्धी कार्य इन दोनों शब्दों के 'म्' अक्षर-पर्यन्त भाग को अभिव्याप्त कर होंगे ।

(३८४) पद—त्वाहौ, सौ । अनुवृत्ति—युष्मदस्मदोः, मपर्यन्तस्य (अधिकार) । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'सु' विभक्ति पर रहते 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों के 'म्'–पर्यन्त भाग के स्थान पर क्रमशः 'त्व' तथा 'अह' आदेश होते हैं ।

विवरण—सूत्र में स्थानि-वाचक पद नहीं है । "मपर्यन्तस्य" का अधिकार है । अतः "युष्मदस्मदोरनादेशे" (७-२-८६) से 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि " 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों के 'म्' पर्यन्त–भाग तक क्रमशः 'त्व' तथा 'अह' आदेश होंगे" । अनेकाल् होने से आदेश सम्पूर्ण स्थानी को अभिव्याप्त करता है ।

(३८५) पद—शेषे, लोपः । अनुवृत्ति—विभक्तौ । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—आत्व तथा यत्व-निमित्त से भिन्न विभक्ति पर रहते 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' के अन्त्य का लोप होता है । "अतो गुणे"—पररूप । "अमि पूर्वः"—पूर्वरूप । त्वम् । अहम् । शङ्का—त्वम् स्त्री, अहं स्त्री–इन दोनों स्थलों पर त्व+अम् तथा अह+अम् स्थिति में 'अम्' पर रहते सूत्र-क्रम में 'पर' होते हुए भी अन्तरङ्ग होने के कारण पूर्वरूप को बाध कर 'टाप्' प्राप्त होता है । उत्तर—'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों से लिङ्ग की प्रतीति नहीं होती । अतः स्त्रीत्व-द्योत्य न होने से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलिङ्गे युष्मदस्मदी । तेन स्त्रीत्वाभावान्न टाप् । यद्वा शेष इति सप्तमी स्थानिनोऽधिकरणत्वविवक्षया । तेन मपर्यन्ताच्छेषस्य 'अद्' इत्यस्य लोपः । स च परोऽप्यन्तरङ्गे अतो गुणे कृते प्रवर्तते । अदन्तत्वाभावान्न टाप् । परमत्वम् । परमाहम् । अतित्वम् । अत्यहम् ।

वित्यङ्गीक्रियते । इह प्रवृत्तिस्तु तस्य नाङ्गीक्रियते इत्यर्थः । अलिङ्गे युष्मदस्मदी इति । 'साम आकम्' इति सूत्रे भाष्ये पठितमेतत् । युष्मदस्मदी इति शब्दस्वरूपपरत्वान्नपुंसके । शब्दस्वरूपपरत्वादेव च 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्' इत्येकशेषोऽपि न अत एव भाष्यप्रयोगात् । तेनेति । अलिङ्गत्वेनेत्यर्थः । ननु 'ङे प्रथमयोः–' इति सूत्रे भाष्ये पुंसि युष्मानस्मानित्यत्र 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इति नत्वस्य सिद्धत्वात् 'शसो न' इति नत्वविधिवैयर्थ्यमाशङ्क्य स्त्रियां नपुंसके च युष्मान् ब्राह्मणीः पश्य, अस्मान् ब्राह्मणीः पश्य, युष्मान् ब्राह्मणकुलानि पश्य, अस्मान् ब्राह्मणकुलानि पश्य—इत्यत्र नत्वार्थं 'शसो न' इति नत्वविधानमित्यादि स्थितम् । किं च 'स्वमोर्नपुंसकादि'त्यधिकारे 'नेतराच्छन्दसि' इति सूत्रे 'नपुंसकादेशेभ्यो युष्मदस्मदोर्विभक्त्यादेशा विप्रतिषेधेन' इति वार्तिकतद्भाष्ययोः शिशीलुङ्नुम्भिर्नपुंसकविहितैस्त्वाहादियुष्मदस्मदादेशानां विप्रतिषेधः उपन्यस्तः । अतः युष्मदस्मदोरलिङ्गत्वमनुपपन्नम् । 'साम अकम्' इति सूत्रे 'अलिङ्गे युष्मदस्मदी' इति भाष्यं तु पुंस्त्रीनपुंसकलिङ्गपदान्तरसमभिव्याहारं विना लिङ्गविशेषो युष्मदस्मच्छब्दाभ्यां न प्रतीयते इत्येवम्परम् इति अत्रैव भाष्ये स्पष्टम् । एवं च युष्मदस्मदोः स्त्रीलिङ्गत्वात् टाप् दुर्वार इत्यस्वरसादाह–यद्वेति । अधिकरणत्वविवक्षयेति । 'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति' इति वक्ष्यमाणत्वादिति भावः । यदि हि 'शेषे' इति विभक्तिविशेषणं स्यात्, तर्हि व्यर्थमेव

'टाप्' नहीं होता । अथवा 'शेषे' सप्तमी-विभक्ति स्थानी की अधिकरणत्व-विवक्षा से षष्ठ्यर्थ की बोधक है । तदनुसार 'म्'–पर्यन्तभाग से शेषभाग (अद्) का लोप होता है । वह 'पर' होते हुए भी अन्तरङ्ग-शास्त्र "अतो गुणे" के पश्चात् प्रवृत्त होता है । अतः ह्रस्व-अकारान्त न होने से 'टाप्' नहीं होता । परमत्वम् । परमाहम् । अतित्वम् । अत्यहम् ।

विवरण—सूत्र में सर्वप्रथम 'शेष' पद की व्याख्या अपेक्षित है । पहले कहे हुए को छोड़ कर अन्य अवशिष्ट अंश 'शेष' कहलाता है (उक्तादन्यः शेषः) । प्रकृत प्रसंग में अष्टाध्यायी के सूत्र-क्रमानुसार "युष्मदस्मदोरनादेशे" (७-२-८६) तथा "योऽचि" (७-२-८९) सूत्रों से 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्दों को 'आ'कार और 'य'कार अन्तादेश का विधान किया गया है । इस प्रकार 'शेष' पद का अभिप्राय वहाँ उन स्थलों से है जहाँ 'आ'कार और 'य'कार का विधान न हुआ हो । इसके साथ ही "युष्मदस्मदोरनादेशे" (७-२-८६) से 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति भी की जारही है । तब इस सूत्र का यह अर्थ होता है कि "जहाँ 'आ' या 'य्' का विधान न हुआ हो, ऐसे स्थलों पर, 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्द के अन्त्य 'द्' का लोप हो" । इस प्रकार के स्थल प्रथमा, चतुर्थी, पञ्चमी तथा षष्ठी विभक्तियों के एकवचन एवं बहुवचन हैं ।[1] उदाहरण—प्रथमा-विभक्ति (क) युष्मद्+सु, <युष्मद्+अम् (सु = अम्–३८२), <त्व–अद्+अम् (युष्म् = त्व–३८४), <त्व–अ+अम् ('द्'-लोप–३८५), <त्व+अम् (अ+अ = पररूप—"अतो गुणे"–१९१), <त्वम् (अ+अ = अ–पूर्वरूप "अमि पूर्वः"–१९४) । (ख) अस्मद्+सु, <अस्मद्+अम् (सु = अम्), <अह–अद्+अम् (अस्म् = अह), <अह–अ+अम् ('द्'–लोप), <अह+अम् (पररूप), <अहम् (पूर्वरूप) ।

शङ्का—स्त्री को बोधित करते समय (त्वं स्त्री, अहं स्त्री) त्व+अम्, अह+अम्—इस स्थिति में 'टाप्' को बाध कर अष्टाध्यायी-सूत्रक्रम में 'पर' होने के कारण "अमि पूर्वः" (१९४) से यद्यपि

---

१. पञ्चम्याश्च चतुर्थ्याश्च, षष्ठी–प्रथमयोरपि । यान्यद्विवचनान्यत्र तेषु लोपो विधीयते ॥ काशिका ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३८६) युवावौ द्विवचने ७।२।९२॥ द्वयोरुक्तौ युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो

स्यात्, आत्वयत्वाभ्यां विशेषविहिताभ्यां स्वविषये लोपस्य बाधसम्भवात्। अतः शेषस्येत्यर्थं आस्थेयः। ततः किमित्यत आह–तेनेति। शेषस्य स्थाने इत्यर्थाश्रयणेनेत्यर्थः। मपर्यन्तादिति। मपर्यन्तस्येत्यपकृष्टं पञ्चम्यन्ततया विपरिणम्यत इति भावः। एतच्च 'त्यदादीनामः' इति सूत्रे 'टिलोपष्टाबभावार्थः' कर्तव्य इति स स्मृतः। अथवा शेषसप्तम्या 'शेषे लोपो विधीयते'—इति वार्तिकतद्भाष्ययोः स्पष्टम्। न च मपर्यन्तस्य त्व इति अह इति चादेशे कृते शिष्टस्य अद इत्यस्य मपर्यन्तात्परत्वं नास्तीति वाच्यम्, त्वाहादेशयोः कृतयोः अदो लोपप्रवृत्तिवेलायां मपर्यन्ताच्छेषत्वाभावेऽपि त्वाहादेशप्रवृत्तेः पूर्वकालिकमपर्यन्तशेषत्वमादाय तदुपपत्तेः। नन्वस्तु मपर्यन्ताच्छेषस्य अद्शब्दस्य लोपः। तथापि त्व अद् अम्, अह अद् अम् इति स्थिते पररूपापेक्षया परत्वाददो लोपे अदन्तत्वात् टाप् दुर्वार इत्यत आह–स चेति। शेषे लोप इत्यर्थः। अन्तरङ्गे इति। 'अतो गुणे' इत्यस्य बहिर्भूतविभक्त्यपेक्षलोपापेक्षया अन्तरङ्गत्वं बोध्यम्। अदन्तत्वाभावादिति। त्व अद्, अह अद् इत्यत्र पररूपे सति त्वद् अहद् इति स्थिते अतो लोपे त्व् अह् इत्यनयोरदन्तत्वाभावान्न टाबित्यर्थः। परमत्वमिति। 'ङे प्रथमयोः' इत्यादीना माङ्गत्वात् तदन्तविधिरिति भावः। अतित्वमिति। 'ङे प्रथमयोः' इत्यादीनां गौणे अप्रवृत्तौ मानाभावादिति भावः। युष्मद् औ, अस्मद् औ इति स्थिते 'ङे प्रथमयोः' इत्यमि कृते युष्मद् अम्, अस्मद् अम् इति स्थिते।

(३८६) युवावौ द्विवचने। 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इत्यतो युष्मदस्मदोरित्यनुवर्तते। मपर्यन्तस्येत्यधिकृतम्। उक्तिर्वचनम्। द्वयोः वचनं द्विवचनम्। तत्र समर्थयोरित्यर्थः। द्वित्वविशिष्टार्थवाचिनोरिति यावत्। न तु द्विवचनसञ्ज्ञके प्रत्यये परे इत्यर्थः, वचनग्रहणसामर्थ्यात्। अन्यथा द्वित्वे इत्येव ब्रूयात्। 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यतो विभक्तावित्यनुवृत्तौ

पूर्वरूप प्राप्त है किन्तु 'पर' की अपेक्षा अन्तरङ्गशास्त्र के प्रबल होने से 'टाप्' क्यों नहीं होता? उत्तर–"शेषे लोपः" सूत्र का सप्तमीविभक्ति में प्रयुक्त 'शेषे' पद षष्ठीविभक्ति के–'शेषस्य लोपः'–अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् अर्थनिर्देश करने में वह षष्ठ्यन्त का प्रत्यायक है। वह लोपरूप–आदेश पररूप ("अतो गुणे") से 'पर' होने पर भी विभक्तिलोप का अपेक्षी होने से बहिरंग होने के कारण अन्तरङ्गशास्त्र 'पररूप' की प्रवृत्ति के बाद ही चरितार्थ होता है। ऐसी स्थिति में सूत्र का अर्थ यह है कि "मपर्यन्तभाग से पर शेषभाग (अद्) का लोप हो"। इस प्रकार अर्थ करने में 'टि' का लोप होता है। प्रकृत में टि-लोप ('अद्' का लोप) होने पर ये दोनों 'त्व्' तथा 'अह्' हलन्त हो जाते हैं। अकारान्त न होने से 'टाप्' प्राप्त नहीं होता। कर्मधारयसमास-युक्त परमयुष्मद् तथा परमास्मद् शब्दों के रूप भी 'परमत्वम्' तथा 'परमाहम्' होते है। कारण यह है कि "ङे प्रथमयोरम्" इत्यादि विधान अङ्ग-सम्बन्धी हैं, अतः तदन्त को भी होते हैं। इसी प्रकार 'त्वाम् अतिक्रान्तः' एवं 'माम् अतिक्रान्तः' आदि गौण प्रयोगों में भी उपर्युक्त विधियाँ होती हैं। फलतः 'अतित्वम्' एवं 'अत्यहम्' रूप समीचीन माने गए हैं।

(३८६) पद—युवावौ, द्विवचने। **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मदोः, मपर्यन्तस्य (अधिकार)। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—द्वित्व की उक्ति में विभक्ति पर रहते 'युष्मद्' एवं 'अस्मद्' के 'म'पर्यन्त-भाग को 'युव' एवं 'आव' आदेश होते हैं।

विवरण—पूर्ववत् 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति आती है एवं 'मपर्यन्तस्य' का अधिकार भी है। इनके अतिरिक्त "अष्टन आ विभक्तौ" (७-२-८४) से विभक्तौ की भी अनुवृत्ति की जाती है। यहाँ पर 'द्विवचन' में 'वचन' शब्द विभक्ति का बोधक नहीं है किन्तु कथनार्थक है (द्वयोः वचनं=

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभक्तौ । (३८७) **प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् ७ । २ । ८८ ॥** इह युष्मदस्म-दोराकारोऽन्तादेशः स्यात् । युवाम् । आवाम् । 'औङि' इत्येव सुवचम् । भाषायाम् किम् ? युवं वस्त्राणि । मपर्यन्तस्य (सू ३८३) किम् ? साकच्कस्य मा भूत्—युवकाम्,

---

सत्यां द्वित्वे या विभक्तिस्तस्यां परतः इत्यर्थलाभात् । तदाह—द्वयोरुक्तावित्यादिना : द्वयोरुक्तावित्याश्रयणस्य फलमग्रे मूले एव स्पष्टीभविष्यति । युव अद्, आव अद् इति स्थिते 'शेषे लोपः' इति प्राप्ते ।

(३८७) प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् । 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यतः आग्रहणमनु-वर्तते । 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इत्यतो 'युष्मदस्मदोः' इति च । तदाह—इहेति । भाषायां प्रथमाद्विवचने परे इत्यर्थः । भाषायाम् इत्यस्य तु लौकिकव्यवहारे इत्यर्थः । युवाम् आवा-मिति । युव अद् अम्, आव अद् अम् इत्यत्र दकारस्य आत्वे पूर्वयोरकारयोः पररूपे ततः सवर्णदीर्घे 'अमि पूर्वः' इति भावः । औङीत्येव सुवचमिति । द्वितीयाद्विवचनेऽप्यात्वस्य इष्ट-त्वादिति भावः । युवं वस्त्राणीति । युष्मद् औ इति स्थिते मपर्यन्तस्य युवादेशे सति शेषलोपे रूपम् । मपर्यन्तस्य किमिति । युष्मदस्मदोः समस्तयोरेव युवावादेशयोः कृतयोरपि आत्वे पूर्वरूपे च युवाम् आवामिति सिद्धेरिति प्रश्नः । साकच्कस्येति । 'अव्ययसर्वनाम्नाम्' इति टेः प्रागकचि युष्मकद् औ, अस्मकद् औ इति स्थिते 'ङे प्रथमयोः' इत्यसि 'युवावौ

कथनम्) । अन्यथा 'द्विवचने' के स्थान पर 'द्वित्वे' ही कहा जा सकता था । अतः विभक्ति पर रहते द्वित्व-संख्या-युक्त संख्येय (पदार्थ) के वाचक 'युष्मद्' एवम् 'अस्मद्' शब्दों के 'म'पर्यन्त भाग के स्थान पर 'युव' एवं 'आव' आदेश होंगे । इससे यह स्पष्ट हो गया कि कोई भी विभक्ति पर रहते युव तथा आव आदेश होते हैं ।

(३८७) पद—प्रथमायाः, च, द्विवचने, भाषायाम् । अनुवृत्ति—आ, युष्मदस्मदोः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—प्रथमा-विभक्ति के द्विववचन पर रहते लोक में 'युष्मद्' एवम् 'अस्मद्' शब्दों को 'आ'कार होता है । सूत्र में "औङ्" कहना अच्छा है । भाषायां क्यों कहा ? युवं वस्त्राणि । युवाम् । आवाम् । "मपर्यन्तस्य" क्यों कहा ? अकच् प्रत्यय के साथ न हो । युवकाम् । आवकाम् । त्वया, मया के स्थान पर त्व्या, म्या न हो । तथा युवकाभ्याम्, आवकाभ्याम् इत्यादि प्रयोग सिद्ध नहीं होंगे ।

विवरण—सूत्र में स्थानी और आदेश दोनों ही अपेक्षित हैं । अतः 'युष्मदस्मदोः' की अनु-वृत्ति से स्थानी का लाभ होता है तथा "अष्टन आ विभक्तौ" (७-२-८४) से 'आ' की अनुवृत्ति द्वारा आदेश का बोध होता है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "लौकिक संस्कृत में (भाषायाम्) प्रथमा-विभक्ति के द्विवचन में 'युष्मद्' और 'अस्मद्' सम्बन्धी अन्त्यवर्ण 'द्' ("अलो-न्त्यस्य") के स्थान पर 'आ' आदेश होता है । उदाहरण—(क) युष्मद्+औ, <युष्मद्+अम् (औ = अम्), <युव-अद्+अम् (युष्म् = युव), <युव-अ-आ+अम् (द्=आ), <युव-आ+अम् (अ+अ=पररूप), <युवा+अम् (सवर्ण-दीर्घ), <युवाम् (आ+अ = आ-पूर्वरूप "अमि पूर्वः"—१९४) । (ख) इसी प्रकार—अस्मद्+औ, <अस्मद्+आम्, <आव-अद्+अम्, <आव-अ-आ+अम्, <आव-आ+अम्, <आवा+अम्, <आवाम् ।

प्रत्युदाहरण—१—सूत्र में 'भाषायां' कहने से वेद में 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों को आकार-अन्तादेश नहीं होता । अन्यथा वैदिक प्रयोगों में भी 'युवाम्' शब्द का प्रयोग अनिवार्य होता । अतः 'युवं वस्त्राणि' (=तुम दोनों वस्त्र धारण कर रहे हो)—इस मन्त्रांश में 'आ' नहीं हुआ—युष्मद्+औ, <युष्मद्+अम्, <युव-अद्+अम् <युव+अम् (शेषे लोपः), <युवम् (पूर्वरूप) ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवकाम्। 'त्वया' 'मया' इत्यत्र 'त्व्या' 'म्या' इति मा भूत्। 'युवकाभ्याम्'

द्विवचने' इति समस्तयोः साकच्कयोस्तन्मध्यपतितन्यायेन युवावादेशयोः 'प्रथमायाश्च' इति दकारस्य आत्वे अमि पूर्वं च युवाम् आवाम् इत्येव स्यात्। ककारो न श्रूयेत। अतो मपर्यन्तस्येति वचनमित्यर्थः। ननु समुदायादेशत्वेऽपि 'ओकारसकारभकारादौ सुपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकच्, अन्यत्र सुबन्तस्य टेः प्राक्' इति व्यवस्थाया वक्ष्यमाणत्वाद्युवामावामिति परिनिष्ठितसुबन्तयोष्टेः प्रागकचि युवकाम् आवकामिति सिध्यत्येव, अत्र साकच्कयोर्युवावादेशाप्रसक्तेरित्यस्वरसादाह—त्वया मयेति। यदि मपर्यन्तस्येति न स्यात् तदा 'त्वमावेकवचने' इति त्वमादेशौ समस्तयोः स्याताम्। ततश्च तृतीयैकवचने 'युष्मद् आ, इति स्थिते समस्तयोः स्थाने त्वमादेशयोः त्व आ, म आ इति स्थिते 'योऽचि' इति अकारस्य यत्वे त्व्या म्या इति स्यात्। अतो 'मपर्यन्तस्य' इति वचनम्। सति तस्मिन् मपर्यन्तस्य त्वमादेशयोः कृतयोः त्व अद् आ, म अद् आ—इति स्थिते अकारयोः पररूपे दकारस्य यत्वे च त्वया मया इति सिध्यतीत्यर्थः। ननु 'योऽचि' इति सूत्रस्थाने 'अच्ये' इति सूत्रमस्तु। अजादिविभक्तौ युष्मदस्मदोरन्त्यस्य एकारः स्यादिति तदर्थः। तथा च त्वमयोः समस्तादेशत्वेऽपि तदन्त्यस्य अकारस्य एत्त्वे अयादेशे च कृते त्वया मयेति सिध्यतीत्यस्वरसादाह—युवकाभ्यामावकाभ्यामिति च न सिध्येदिति। असति मपर्यन्तवचने इति शेषः। ओकारसकार इत्यादिवचनेन भ्यामि टेः प्रागकचि तन्मध्यपतितन्यायेन साकच्कयोः स्थाने युवावादेशयोः युवाभ्यामावाभ्यामित्येव स्यात्। ककारो न श्रूयेत। युष्मकद् अस्मकद् इत्यत्र मपर्यन्तस्यैव युवावादेशयोस्तु 'युष्मदस्मदोरनादेशे'

२—'मपर्यन्तस्य' अधिकार न होने पर भी 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों को अभिव्याप्त कर 'युव' तथा 'आव' आदेश होने से 'युवाम्' तथा 'आवाम्' रूप सिद्ध हो जाते हैं, अतः यह अधिकार क्यों किया जाय ? ऐसा न करने पर 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों से अकच् होने पर तन्मध्यपतित न्याय से 'युष्मकद्' तथा 'अस्मकद्' सम्पूर्ण के स्थान पर 'युव' एवं 'आव' आदेश होगा तो 'युवाम्' एवं 'आवाम्' ही रूप बनेंगे न कि 'युवकाम्' एवं 'आवकाम्'। इस आपत्ति का निराकरण भी दूसरे उपायसे सम्भव है। 'अकच्' प्रत्यय के सम्बन्ध में यह नियम है कि "ओकार, सकार तथा भकारादि सुब्विभक्तियां पर रहते 'सर्वनाम' की 'टि' के पहले अकच् की स्थिति रहती है, इनसे अन्यत्र स्थलों में सुबन्त की 'टि' के पहले 'अकच्' समाविष्ट होता है"। इस नियम से 'युवाम्' तथा 'आवाम्' रूपों के निष्पन्न होने के पश्चात् सुबन्त की 'टि' के पूर्व 'अकच्' संयुक्त होकर युवकाम् (युवाम्+अकच्, <युव्–अक्+आम् = युवकाम्) तथा आवकाम् (आवाम्+अकच्, <आव्–अक्+आम् = आवकाम्) रूप यद्यपि सिद्ध हो सकेंगे, किन्तु युवकाभ्याम्, आवकाभ्याम् रूप सिद्ध नहीं होंगे। यहाँ 'भ्याम्' भकारादि विभक्ति है अतः 'युवाभ्याम्' रूप निष्पन्न होने के पूर्व ही युष्मकद्+भ्याम् इस स्थिति में 'युव' आदेश सम्पूर्ण 'युष्मकद्' के स्थान पर होने से 'युवाभ्याम्' ही बनेगा न कि युवकाभ्याम्। इसके अतिरिक्त त्वया, मया रूप भी नहीं सिद्ध होंगे। तृतीया एकवचन (टा) में सम्पूर्ण 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' के स्थान पर 'त्व' एवं 'म' आदेश होने के पश्चात् "योऽचि" से 'त्व' 'म' के 'अ' को 'य्' करने पर 'त्व्या' एवं 'म्या' अनिष्ट रूप होंगे। अतः 'मपर्यन्तस्य' अधिकार की उपयोगिता है।

विशेष—द्वितीया के द्विवचन में भी 'आ'-विधान इष्ट है। अतः सूत्र में "प्रथमायाश्च द्विवचने" के स्थान में "औङि" पद रखने पर लघुभूतं-न्यास से कार्य चल सकता है। स्वयं पाणिनि ने अन्यत्र "औङ आपः" (७-१-१८) सूत्र में प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन के रूप में 'औङ्' का प्रयोग भी किया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"आवकाभ्याम्' इति च न सिध्येत्। (३८८) यूयवयौ जसि ७। २। ९३ ॥ स्पष्टम्। यूयम्। वयम्। परमयूयम्। परमवयम्। अतियूयम्। अतिवयम्। इह शेषे लोपोऽन्त्यलोप इति पक्षे जसः शी प्राप्तः। 'अङ्गकार्ये कृते पुनर्नाङ्गकार्यम् (प ९३) इति न भवति। 'ङे प्रथमयोः—' (सू ३८२) इत्यत्र मकारान्तरं श्लिष्ट्वा 'अम्' मान्त एवावशिष्यते,

---

इत्यात्वे युवकाभ्याम् आवकाभ्यामिति निबाधमित्यर्थः। 'ङे प्रथमयोः' इति जसः अमि कृते विशेषमाह।

(३८८) यूयवयौ जसि। स्पष्टमिति। युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य यूय वय इत्यादेशौ स्तो जसि परतः इति सुगममित्यर्थः। यूय अद् अम्, वय अद् अम् इति स्थिते पररूपे 'शेषे लोपः' इति मपर्यन्ताच्छेषस्य अदो लोपे परिनिष्ठितं रूपमाह—यूयम् वयमिति। परमयूयमिति। यूयवयविधेराङ्त्वात्तदन्तविधिरिति भावः। अतियूयमिति। गौणत्वेऽपि तदग्रवृत्तौ मानाभावादिति भावः। अत्र शीभावमाशङ्क्य परिहरति—इहेति। इह 'शेषे लोपः' इत्यन्त्यलोप इति पक्षे दकारस्य लोपे सति अवर्णान्तात् सर्वनाम्नः परत्वात् जसः शीभावः प्राप्तो न भवतीत्यन्वयः। कुत इत्यत आह—अङ्गकार्ये इति। अङ्गाधिकारविहिते कार्ये कृते सति। पुनः अङ्गाधिकारविहितं कार्यं न भवतीत्यर्थः। तेन त्वमित्यत्र पररूपे कृते 'अमि पूर्वः' इत्यस्य नानुपपत्तिः। 'ज्यादादीयसः' इति सूत्रे 'ज्ञाजनोर्जा' इति सूत्रे च 'अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः' इति परिभाषा स्थिता। सा चात्र अर्थतः उपनिबद्धा। न च द्वाभ्यामित्यत्र त्यदाद्यत्वे कृते 'सुपि च' इति दीर्घो न स्यादिति वाच्यम्, 'द्वयोरेकस्ये'-

---

(३८८) पद—यूयवयौ, जसि। अनुवृत्ति—मपर्यन्तस्य (अधिकार)। विधिसूत्र।

मूलार्थ—स्पष्ट है।

विवरण—'म'पर्यन्त अधिकार के फलस्वरूप इस सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "'जस्' विभक्ति पर रहते 'म'पर्यन्त 'युष्मद्' एवं 'अस्मद्' शब्द के स्थान पर क्रमशः 'यूय' एवं 'वय' आदेश होते हैं"। उदाहरण—(क) युष्मद्+जस्, <युष्मद्+अम् (जस् = अम्), <यूय-अद्+अम् <यूयद्+अम्, <यूय्+अम् ('अद्'-टि-लोप-"शेषे लोपः"-३८५), <यूयम्। (ख) इसी प्रकार वयम् (अस्मद्+जस् में जस् को अम् आदेश, अस्म् = वय, टि = अद् का लोप)। यूय तथा वय विधान अङ्ग-सम्बन्धी होने से तदन्त में भी होते हैं। गौणस्थल में भी ये आदेश होंगे। फलतः परमयूयम्, परमवयम् एवं अतियूयम्, अतिवयम् रूप बनते हैं।

विशेष—"शेषे लोपः" (३८५) सूत्र का अर्थ दो प्रकार से किया जाता है—(१) 'युष्मद्' एवम् 'अस्मद्' शब्द के अन्त्य-वर्ण का लोप अथवा (२) टि-भाग (अद्) का लोप। इनमें से प्रथम पक्ष में (अन्त्यवर्ण-लोप पक्ष में) यूयद्+अम्, वयद्+अम् इस स्थिति में स्थानिवद्भाव से 'अम्' में 'जस्' बुद्धि कर अन्त्यवर्ण 'द्' का लोप करने पर 'शी' आदेश की प्राप्ति है। उसका निवारण इस नियम से किया जाता है कि 'एक अङ्गाधिकारीय कार्य के बाद दूसरा अङ्गाधिकारीय कार्य नहीं होता'। यहाँ पर "अङ्गस्य" अधिकार के अन्तर्गत पहले ही 'जस्' के स्थान पर 'अम्' आदेश ("ङेप्रथमयोरम्") हो चुका है, अतः पुनः दूसरा अङ्गाधिकारीय कार्य—"जसः शी" नहीं होता—'अङ्गकार्ये कृते पुनर्नाङ्गकार्यम्' (परिभाषा)। इस परिभाषा का ज्ञापक "ज्ञाजनोर्जा" (२१४) (७-३-७९) सूत्र में 'जा' का दीर्घ-उच्चारण करना है[1]। 'ज्ञा' के स्थान पर 'ज' आदेश करने पर भी "अतो दीर्घो यञि" (७-३-१०१) से दीर्घ होकर 'जानाति' रूप सिद्ध हो सकता है। अतः दीर्घोच्चारण व्यर्थ होने से यह परिभाषा ज्ञापित हुई है।

---

१. "दीर्घोच्चारणं किमर्थम्? न "ज्ञाजनोर्ज" इत्येवोच्येत। का रूपसिद्धिः? जानाति। जायते। "अतो दीर्घो यञि" (७-३-१०१) इति दीर्घत्वं भविष्यति। एवं तर्हि सिद्धे सति यदीर्घोच्चारणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो भवति एषा परिभाषा-'अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिरिति"। महाभाष्य।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न तु विक्रियते इति व्याख्यानाद्वा। (३८९) त्वमावेकवचने ७। २। ९७॥ एकस्योक्तौ युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ। (३९०) द्वितीयायां च

त्यादिनिर्देशेन तदनित्यत्वज्ञापनात्। प्रकृते च शेषलोपस्य आङ्गस्य प्रवृत्तत्वादाङ्गः शीभावो न भवतीति भावः। ननु 'अङ्गकार्ये' इति परिभाषा नात्र प्रवर्तते, शीभावस्य अङ्गाधिकारविहितत्वेऽपि अङ्गाधिकरणत्वाभावात्, 'अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः' इति परिभाषास्वारस्येन तथैव प्रतीतेः। अतोऽत्र शीभावो दुर्वार इत्यस्वरसादाह—ङे प्रथमयोरिति। 'ङे प्रथमयोरम्' इत्यत्र अम् स् इति मकारान्तरं प्रश्लिष्यते। अम् च स् चेति द्वन्द्वः। अन्त्यो मकारः संयोगान्तलोपेन लुप्तः। प्रश्लिष्टश्च मकारः अमो विशेषणम्, तदन्तविधिः। मकारान्तः अम् स्यादिति लभ्यते। मकारान्तस्य अमः पुनर्मान्तत्वविधानात् अम् मान्त एव भवति न तु तस्य विकारो भवतीति लभ्यते, अतो न शीभाव इत्यर्थः। वस्तुतस्तु मकारान्तरश्लेषो भाष्ये अदर्शनादुपेक्ष्यः। सन्निपातपरिभाषयैवात्र शीभावो न भवति। दकारस्य शेषलोपो हि आत्वयत्वनिमित्तेतरात्मकशेषविभक्त्यात्मकस्य अमः युष्मदस्मदोश्च सन्निपातमाश्रित्य प्रवृत्तः ततः शीभावे तु आद्गुणे यूये वये इति स्यात्। तत्र एकादेशस्य पूर्वान्तत्वे प्रकृत्यनुप्रवेशात् प्रत्ययसन्निपातभङ्गः। परादित्वे तु युष्मदस्मत्सन्निपातविरोध इत्यलम्। अथ द्वितीयैकवचनस्य अमः 'ङे प्रथमयोः' इत्यमि कृते युष्मद् अम्, अस्मद् अम् इति स्थिते।

(३८९) त्वमावेकवचने। 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इत्यतो युष्मदस्मदोरित्यनुवर्तते। 'मपर्यन्तस्य' इत्यधिकृतम्। एकवचनशब्दो यौगिक एव, वचनग्रहणसामर्थ्यात्। तदाह—एकस्येत्यादिना। त्व अद् अम्, म अद् अम् इति स्थिते।

(३९०) द्वितीयायां च। शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—युष्मदस्मदोरिति। 'युष्मदस्मदोर-

---

'लघुशब्देन्दुशेखर' में नागेश ने इस सम्बन्ध में अरुचि प्रकट की है। उनके अनुसार अङ्गवृत्त-परिभाषा केवल अङ्ग-सम्बन्धी कार्यों के विषय में ही पुनः होने वाले अङ्ग-कार्य का निवारण करती है[1]। 'जस्' के स्थान पर 'शी' होने वाला कार्य तो प्रत्यय-सम्बन्धी है, अतः उपर्युक्त परिभाषा से यूयम्, वयम् में 'शी' आदेश का निवारण होना सम्भव नहीं है[2]। अतः सन्निपात-परिभाषा से 'शी' आदेश का निवारण करना उचित है[3]।

भट्टोजी दीक्षित ने दूसरा समाधान यह दिया है कि "ङे प्रथमयोरम्" से विधीयमान 'अम्' आदेश में दूसरे 'म्' का श्लेष कर यह अर्थ किया जाता है कि 'अम्' आदेश मकारान्त ही स्थित रहता है"। अर्थात् उसके स्थान पर कोई दूसरा आदेश नहीं होता।

(३८९) पद—त्वमौ, एकवचने। युष्मदस्मदोः, मपर्यन्तस्य (अधिकार)। विधिसूत्र।

मूलार्थ—एक के कथन पर युष्मद्-अस्मद् के 'म'पर्यन्त भाग के स्थान पर विभक्ति पर रहते 'त्व'-'म' आदेश होते हैं।

विवरण—क्रमप्राप्त 'युष्मदस्मदोः' तथा 'मं' पर्यन्तस्य की अनुवृत्ति करने पर सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "एक के कथन होने पर विभक्ति पर रहते युष्मद् तथा अस्मद् शब्दों के 'म'पर्यन्त भाग के स्थान पर क्रमशः 'त्व' एवं 'म' आदेश होते हैं।

(३९०) पद—द्वितीयायां, च। अनुवृत्ति—आ, युष्मदस्मदोः। विधिसूत्र।

---

१. अङ्गवृत्तपरिभाषया तस्य वारणमपि चिन्त्यम्, तस्या अङ्गसम्बन्धिकार्यविषयत्वात्। ल० श० शे०।

२. जसः शीत्यादीनां च प्रत्ययसम्बन्धि-कार्यतया तस्य अत्र प्रवृत्तेरयोगात्।

३. शेषविभक्तिभूतामादि-युष्मदादिसन्निपातेन जातस्य लोपस्य तद्विघातक-श्यादिनिमित्तत्वं नेति सन्निपातपरिभाषयैव श्याद्यभावः। ल० श० शे०।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७।२।८७॥ युष्मदस्मदोराकारः स्यात्। त्वाम्। माम्। युवाम्। आवाम्। (३९१) शसो न ७।१।२९॥ नेत्यविभक्तिकं पदम्। युष्मदस्मद्भ्यां परस्य शसो नकारः स्यात्। अमोऽपवादः। 'आदेः परस्य' (सू ४४)। 'संयोगान्तस्य लोपः'

नादेशे' इत्यतः तदनुवृत्तेरिति भावः। आकार इति। 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः। तथा च द्वितीयाविभक्तौ परतः युष्मदस्मदोराकारः स्यादिति फलति। 'अलोऽन्त्यस्य' इति दकारस्य भवति। त्व अ आ अम्, म अ आ अम् इति स्थिते पररूपे, सवर्णदीर्घे, अमि पूर्वरूपे च परिनिष्ठितं रूपमाह—त्वाम् मामिति। युवाम् आवामिति। पूर्ववत् 'द्वितीयायां च' इत्यात्वमिति विशेषः, 'प्रथमायाश्च' इत्यस्य अत्राप्रवृत्तेः। अथ शसि विशेषमाह।

(३९१) शसो न। 'ङे प्रथमयोः' इत्यतः अमित्यनुवर्तते। युष्मदस्मद्भ्यामिति च। युष्मदस्मद्भ्यां परस्य शसः अम् न स्यादिति लभ्यते। तथा च अमभावे 'द्वितीयायां च' इत्यात्वे पूर्वसवर्णदीर्घे 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इति नत्वे युष्मानिति यद्यपि पुंसि रूपं सिध्यति। तथापि युष्मान् ब्राह्मणीः पश्य, अस्मान् ब्राह्मणीः पश्य, युष्मान् ब्राह्मणकुलानि पश्य, अस्मान् ब्राह्मणकुलानि पश्य इति स्त्रीनपुंसकयोर्न सिध्येत्। अतो नेदं सूत्रं शसः अम् निषेधपरम्, किन्तु शसो नकारोऽत्र विधीयते इत्यभिप्रेत्य, तर्हि शसो नः इति प्रथमा कुतो न श्रूयते इत्याशङ्क्य आह—नेत्यविभक्तिकं पदमिति। लुप्तप्रथमाविभक्तिकमित्यर्थः। ततश्च फलितमाह—युष्मदस्मद्भ्यामित्यादिना। अमोऽपवाद इति। 'ङे प्रथमयोः' इति प्राप्ते एव नत्वविधेस्तदपवादता। युष्मद् अस्, अस्मद् अस् इति स्थिते 'द्वितीयायां च' इत्यात्वे अनेन शसो नकारः। स च 'अलोऽन्त्यस्य' इति नान्त्यस्येत्याह—आदेः परस्येति। संयोगान्तस्येति। अकारस्य नकारे कृते सकारस्य लोप इति भावः। यद्यपि शसः अमि

मूलार्थ—द्वितीया-विभक्ति पर रहते इन दोनों शब्दों को आकार-अन्तादेश होता है। त्वाम्। माम्। युवाम्। आवाम्।

विवरण—"अष्टन आ विभक्तौ" (७-२-८४) से 'आ' की अनुवृत्ति करने पर आदेश का परिज्ञान होता है। पूर्ववत् 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति आने से यह विदित होता है कि "युष्मद् और अस्मद्-सम्बन्धी-अन्त्यवर्ण ("अलोन्त्यस्य") के स्थान पर द्वितीया-विभक्ति में 'आ' आदेश होगा"। द्वितीया में उदाहरण—(क) युष्मद्+अम्, <त्व-अद्+अम् (युष्म्='त्व'-सू० ३८९), <त्व-अ-आ+अम् (द्=आ), <त्व-आ+अम् (अ+अ=अ-पररूप), <त्वा+अम् (अ+आ=सवर्णदीर्घ), <त्वाम् (आ+अम्=पूर्वरूप), <त्वाम्। (ख) अस्मद्+अम्, <म-अद्+अम्, <म-अ-आ+अम्, <म-आ+अम्, मा+अम्, <माम् (सिद्धि 'युष्मद्' के समान)। (ग) युष्मद्+औ, <युष्मद्+अम् (औ=अम्), युव-अद्+अम् (युष्म्=युव), <युव-अ-आ+अम् (द्=आ), <युव+आ+अम् (पररूप), <युवा+अम् (सवर्णदीर्घ), <युवाम् (पूर्वरूप)। (घ) अस्मद्+औ, <अस्मद्+अम्, आव-अद्+अम्, <आव-अ-आ+अम्, <आव+आ+अम्, <आवा+अम्, <आवाम् (विधि 'युष्मद्' के समान)।

(३९१) पद—शसः, न। अनुवृत्ति—अम्, युष्मदस्मद्भ्याम्। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'न'—यह निर्विभक्तिक पद है। इन दोनों शब्दों से पर 'शस्' को नकार आदेश होता है। संयोगान्त-लोप। 'अम्' का अपवाद है। युष्मान्। अस्मान्।

विवरण—इस सूत्र से नकार-विधान किया जाता है। 'न' पद में किसी विभक्ति का प्रयोग नहीं किया है। उसे प्रथमा-विभक्ति में (नः) समझा जाय। इसके साथ ही "युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्" (७-१-२७) से "युष्मदस्मद्भ्याम्" की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। तब सूत्र का यह अभिप्राय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(सू ४४) । युष्मान् । अस्मान् । (३९२) **योऽचि ७ । २ । ८९ ॥** अनयोर्यंकारादेशः स्यादनादेशेऽजादौ परतः । त्वया । मया । (३९३) **युष्मदस्मदोरनादेशे ७ । २ । ८६ ॥**

कृतेऽपि शकारस्य नकारे मकारस्य संयोगान्तलोपे युष्मान् अस्मानिति सिध्यति । तथापि 'सत्यपि सम्भवे बाधनं भवति' इति न्यायान्नत्वस्य अमपवादत्वमाश्रितम् । किञ्च अमि कृते 'ङे प्रथमयोः' इत्यत्र मकारान्तरश्लेषपक्षे अकारस्य नकारे मकारस्य संयोगान्तलोपो न स्यादित्यलम् । अथ तृतीया विभक्तिः । युष्मद् आ अस्मद् आ इति स्थिते ।

(३९२) योऽचि । 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इत्यनुवर्तते । 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यतः विभक्ताविति चानुवर्तते । अचीति विभक्तिविशेषणम् । तदादिविधिः । तदाह–अनयोरिति । युष्मदस्मदोरन्त्यस्येत्यर्थः । अचि किम् ? युवाभ्याम् । अनादेशे किम् ? त्वत्, मत् । 'पञ्चम्या अत्' इत्यदादेशे सति न यत्वम् । युष्मद् आ, अस्मद् आ इत्यत्र 'त्वमावेकवचने' इति मपर्यन्तस्य त्वमादेशयोर्दकारस्य यत्वे पररूपे च रूपमिति भावः ।

(३९३) युष्मदस्मदोरनादेशे । 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यत आ इति विभक्ताविति

होता है कि "युष्मद् और अस्मद् शब्द से पर 'शस्' के स्थान पर 'न्' आदेश हो" । यह आदेश "आदेः परस्य" (४४) परिभाषा की उपस्थिति से अस् (शस्) के आदि वर्ण 'अ' के स्थान पर होगा । यह 'अम्' का अपवाद है । **उदाहरण**—(क) युष्मद्+शस् (अस्), <युष्मद्+न्–स् ('अ'=न्), <युष्म–आ+न्-स् (द्+आ), <युष्मान्-स्, (दीर्घ) <युष्मान् ('स्'–संयोगान्त-लोप) । (ख) अस्मद्+अस् (शस्), <अस्मद्+न्-स्, <अस्म-आ+न्–स्, <अस्मान्–स् <अस्मान् (विधि 'युष्मद्' के समान) ।

विशेष—प्रकृत सूत्र से 'शस्' में 'अम्' का निषेध करने पर युष्मान् तथा अस्मान् रूप सिद्ध हो सकते थे । 'अम्' के न होने पर "द्वितीयायां च" (३९०) से 'आ' तथा पूर्वसवर्ण-दीर्घ करने के पश्चात् "तस्माच्छसो नः पुंसि" (१९६) से 'शस्' के 'स्' के स्थान पर 'न्' आदेश होने से पुंलिङ्ग में "युष्मान्" रूप बन जाता । तथापि स्त्रीलिङ्गवाची तथा नपुंसकलिङ्गवाची शब्दों की विवक्षा में—'युष्मान् ब्राह्मणीः पश्य', 'अस्मान् ब्राह्मणीः पश्य', 'युष्मान् ब्राह्मणकुलानि पश्य', 'अस्मान् ब्राह्मणकुलानि पश्य'–आदि उदाहरणों में 'शस्' के 'स्' को 'न्' आदेश न होने से युष्मान्–अस्मान् रूप सिद्ध नहीं हो सकेंगे । अतः यह सूत्र 'अम्' का निषेध नहीं करता किन्तु 'शस्' में नकार का विधान करता है ।

(३९२) **पद**—यः अचि । **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मदोः, अनादेशे, विभक्तौ । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—आदेशरहित अजादि-विभक्ति पर रहते इन दोनों शब्दों को यकार आदेश होता है । त्वया । मया ।

विवरण—**स्थानी** तथा समग्र निमित्त के विषय में परिज्ञान होने के लिये सम्पूर्ण "युष्मदस्मदोरनादेशे" (७-२-८६) सूत्र तथा "अष्टन आ विभक्तौ" (७-२-८४) से 'विभक्ति' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । 'अचि' पद 'विभक्तौ' का विशेषण है । अतः तदादि-विधि होने से 'अजादि-विभक्ति'–यह अर्थ विवक्षित होता है । तदनुसार "आदेशरहित अजादि-विभक्ति पर रहते 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्द-सम्बन्धी अन्त्य-वर्ण के स्थान पर 'य्' आदेश होगा" । तृतीया-विभक्ति—(क) युष्मद्–आ (टा), <त्व-अद्+आ (युष्म् = त्व), <त्व-अय्+आ (द् = य्), <त्वया (अ+अ = पररूप) । (ख) अस्मद्+आ (टा), <म-अद्+आ (अस्म् = म), <म-अय्+आ, <मया (सिद्धि 'युष्मद्' के समान) । **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में 'अनादेशे' कथन से आदेशयुक्त अजादि-विभक्ति में यकारादेश नहीं होगा । जैसे—युष्मत्, अस्मत् । इन उदाहरणों में 'भ्यस्' के स्थान पर 'अत्' आदेश होता है ।

(३९३) **पद**—युष्मदस्मदोः, अनादेशे । **अनुवृत्ति**—आ, विभक्तौ, हलि । **विधिसूत्र** ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनयोराकारः स्यादनादेशे हलादौ विभक्तौ । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युष्माभिः । अस्माभिः । (३९४) तुभ्यमह्यौ ङयि ७ । २ । ९५ ॥ अनयोर्मपर्यन्तस्य तुभ्यमह्यौ स्तो ङयि । अमादेशः । 'शेषे लोपः' (सू ३८५) । तुभ्यम् । मह्यम् । परमतुभ्यम् । परममह्यम् । अतितुभ्यम् । अतिमह्यम् । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् ।

चानुवर्तते । 'रायो हलि' इत्यतो हलीत्यनुवृत्तं विभक्तिविशेषणम्, तदादिविधिः । तदाह—अनयोरिति । युष्मदस्मदोरन्त्यस्येत्यर्थः । वस्तुतस्तु हलीति नानुवर्तनीयम्, 'योऽचि' इत्यजादौ यत्वविधानेन परिशेषादेव तत्सिद्धेः । युवाभ्याम् । आवाभ्यामिति । युष्मद्भ्याम्, अस्मद्भ्याम् इति स्थिते युवावादेशयोर्दकारस्य आत्वे सवर्णदीर्घ इति भावः । अत्र हलीत्यनुवृत्तौ 'योऽचि' इत्यज्ग्रहणं मास्तु । हलादावात्वस्य विशेषविहितत्वादेव यत्वनिवृत्तिसिद्धेरिति भाष्ये स्पष्टम् । युष्माभिः–अस्माभिरिति । 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इत्यात्वे सवर्णदीर्घ इति भावः । अथ चतुर्थी विभक्तिः । युष्मद् ए, अस्मद् ए इति स्थिते 'त्वमावेकवचने' इति प्राप्ते ।

(३९४) तुभ्यमह्यौ ङयि । ङे इत्यस्य सप्तम्येकवचनं ङयीति । 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इत्यतो युष्मदस्मदोरित्यनुवर्तते । मपर्यन्तस्येत्यधिकृतम् । तदाह—अनयोरिति । युष्मदस्मदोरित्यर्थः । अमादेश इति । 'ङे प्रथमयोः' इत्यनेनेति शेषः । शेषे लोप इति । अदो दस्य

मूलार्थ—आदेश-रहित हलादि-विभक्ति पर रहते युष्मद् और अस्मद् शब्द को 'आ'कार अन्तादेश होता है । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युष्माभिः । अस्माभिः ।

विवरण—सूत्रार्थ के स्पष्टीकरण हेतु "अष्टन आ विभक्तौ" (७-२-८४) सूत्र से 'आ' तथा 'विभक्तौ' एवं "रायो हलि" (७-२-८५) से 'हलि' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है । 'हलि' पद 'विभक्तौ' का विशेषण है । अतः उससे तदादि का ग्रहण होगा । फलतः "आदेशरहित (अनादेशे) हलादि-विभक्तियों पर रहते युष्मद् और अस्मद्-शब्द-सम्बन्धी अन्त्य वर्ण ("अलोन्त्यस्य") के स्थान पर 'आ'कार आदेश होता है । उदाहरण—(क) युष्मद्+भ्याम्, <युव–अद्+भ्याम् (युष्म्=युव), <युव-अ-आ+भ्याम् (द् = आ), <युव–आ+भ्याम् (पररूप), <युवाभ्याम् (सवर्णदीर्घ) । (ख) अस्मद्+भ्याम्, <आव–अद्+भ्याम्, <आव–अ–आ+भ्याम्, <आव–आ+भ्यान्, <आवाभ्याम् (सिद्धि 'युष्मद्' के समान) । (ग) युष्म–आ+भिस् (द् = आ), <युष्माभिस् (सवर्णदीर्घ), <युष्माभिः (स् = र् = :) । (घ) अस्मद्+भिस्, <अस्म–आ+भिस्, <अस्माभिः ।

(३९४) पद—तुभ्यमह्यौ, ङयि । अनुवृत्ति—युष्मदस्मदोः, मपर्यन्तस्य (अधिकार) । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'ङे'–विभक्ति पर रहते युष्मद् तथा अस्मद् के 'म'पर्यन्त भाग को क्रमशः तुभ्य और मह्य आदेश होते हैं । अम्–आदेश । "शेषे लोपः" से (अन्त्य-वर्ण अथवा 'टि') लोप । तुभ्यम् । मह्यम् । परमतुभ्यम् । परममह्यम् । अतितुभ्यम् । अतिमह्यम् । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् ।

विवरण—स्थानी का उल्लेख सूत्र में न होने से "युष्मदस्मदोरनादेशे" (७-२-८३) सूत्र से 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है । इसके साथ ही "मपर्यन्तस्य" अधिकार के प्रभाव से स्थानी की अभिव्याप्ति का ज्ञान होता है । तदनुसार " 'ङे' पर रहते 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्दों के म-पर्यन्त सम्पूर्ण भाग के स्थान पर ("अनेकाल्शित् सर्वस्य") क्रमशः 'तुभ्य' और 'मह्य' आदेश होते हैं ।" उदाहरण—चतुर्थीविभक्ति–(क) युष्मद्+ङे, <युष्मद्+अम् (ङे=अम्), <तुभ्य-अद्+अम् (युष्म् = तुभ्य), <तुभ्यद्+अम् (पररूप), <तुभ्यम् ('टि'–'अद्'–लोप अथवा 'द्' लोप होने पर पूर्वरूप) । (ख) अस्मद्+ङे, <अस्मद्+अम्, <मह्य–अद्+अम्, <मह्यद्+अम्, <मह्यम् । 'अङ्ग'सम्बन्धी कार्यों में तदन्त विधि होने से कर्मधारय-समास में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३९५) **भ्यसोभ्यम् ७ । १ । ३० ॥** भ्यसो भ्यम् अभ्यम् वा आदेशः स्यात् । आद्यः शेषे लोपस्यान्त्यलोपत्व एव । तत्राङ्गवृत्तपरिभाषया एत्त्वं न । अभ्यम् तु पक्षद्वयेऽपि साधुः । युष्मभ्यम् । अस्मभ्यम् । (३९६) **एकवचनस्य च ७ । १ । ३२ ॥** आभ्यां पञ्चम्येकवचनस्य अत् स्यात् । त्वत् । मत् । 'ङसेश्च' इति सुवचम् । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् ।

वा लोप इत्यर्थः । 'अमि पूर्वः' इति मत्वाह—मह्यमिति । परमतुभ्यमिति । तुभ्यमह्यविध्योराङ्त्वात्तदन्तेऽपि प्रवृत्तिरिति भावः । अतितुभ्यमिति । गौणत्वे तदप्रवृत्तौ मानाभावादिति भावः । युवाभ्याम् । आवाभ्यामिति । तृतीयाद्विवचनवदिति भावः ।

(३९५) भ्यसोभ्यम् । भ्यम् अभ्यमिति वा छेदः । तदाह—भ्यस इति । युष्मदस्मद्भ्यां परस्येति शेषः, 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' इत्यतस्तदनुवृत्तेः । ननु भ्यमादेशपक्षे 'शेषे लोपः' इत्यदो लोपे युष्मभ्यमस्मभ्यमिति मकारादकारो न श्रूयेतेत्यत आह—आद्य इति । लक्ष्यानुरोधादिह अन्त्यलोपपक्ष एवाश्रयणीयः । नन्वन्त्यलोपपक्षे दकारस्य लोपे सति 'बहुवचने झल्येत्' इत्येत्त्वं स्यादित्यत आह—तत्राङ्गवृत्तेति । 'अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः' इति परिभाषयेत्यर्थः । अङ्गे वृत्तं वर्तनं यस्य तद् अङ्गवृत्तं, अस्मिन् कार्ये प्रवृत्ते सति अन्यस्य अङ्गकार्यस्य वृत्तौ प्रवृत्तिविषये अविधिः, विधिर्नास्तीत्यर्थः । प्रकृते च शेषलोपे अङ्गकार्ये प्रवृत्ते सति अन्यत् अङ्गकार्यमेत्त्वं न भवतीति भावः । अभ्यम् त्विति । अभ्यमादेशस्तु टिलोपपक्षे अन्त्यलोपपक्षे च अनुकूल इत्यर्थः । तत्र अन्त्यलोपपक्षे अभ्यमो झलादित्वाभावात्तस्मिन् परे एत्त्वं न, किन्तु पररूपे सति युष्मभ्यम् अस्मभ्यम् इति सिध्यति । टिलोपपक्षे तु अङ्गस्य अदन्तत्वाभावादपि एत्त्वं न । अथ पञ्चमी विभक्तिः ।

(३९६) एकवचनस्य च । 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' इत्यतो युष्मदस्मद्भ्यामित्यनु-

---

'परमयुष्मद्' एवं 'परमास्मद्' शब्दों में 'क्रमशः 'तुभ्य' एवं 'मह्य' आदेश होकर 'परमतुभ्यम्' एवं 'परममह्यम्' रूप होंगे । इसी तरह विशेषण के कारण युष्मद् एवम् अस्मद् के अर्थ गौण होने पर भी तुभ्य एवं मह्य आदेश होकर 'अतितुभ्यम्' तथा 'अतिमह्यम्' रूप निष्पन्न होंगे । 'युष्मद्' के चतुर्थी-द्विवचन में (क) युवाभ्याम् तथा 'अस्मद्' के चतुर्थी-द्विवचन में (ख) आवाभ्याम् रूप होते हैं । इनकी सिद्धि पूर्ववत् जानी जाय ।

(३९५) **पद**—भ्यसः, भ्यम् (अभ्यम्) । **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मद्भ्याम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्द से पर 'भ्यस्' को 'भ्यम्' अथवा 'अभ्यम्' आदेश होता है । 'भ्यम्' आदेश मानने पर अन्त्य वर्ण 'द्' का लोप । इस पक्ष में अङ्गवृत्त-परिभाषा से 'ए' आदेश नहीं । 'अभ्यम्' दोनों पक्षों में ठीक है ।

विवरण—"युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्" (७-१-२७) सूत्र से 'युष्मदस्मद्भ्यां' की अनुवृत्ति करने से " 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्दों से पर 'भ्यस्' के स्थान में 'भ्यम्' अथवा 'अभ्यम्' आदेश होता है । **उदाहरण**—(क) युष्मद्+भ्यस्, <युष्मद्+भ्यम् (भ्यस् = भ्यम्), <युष्मभ्यम् (अन्त्य वर्ण 'द्' का लोप) । इस पक्ष में 'भ्य' परवर्ती होने पर मकारोत्तरवर्ती 'अ' के स्थान पर "बहुवचने झल्येत्" (२०५) से प्राप्त 'ए' का निवारण 'अङ्गवृत्त परिभाषा' से किया जाता है । 'अभ्यम्' आदेश करने पर 'टि'–'अद्' का लोप करने के पश्चात् ह्रस्व-अकारान्त अङ्ग न होने से एकार-आदेश की प्राप्ति नहीं है । तथा अन्त्य वर्ण 'द्' का लोप करने पर ('अभ्यम्') झलादि न होने से एकार-आदेश की प्राप्ति नहीं है । (ख) अस्मद्+भ्यस्, <अस्मद्+भ्यम् (भ्यस् = भ्यम्), <अस्मभ्यम् (अन्यवर्ण 'द्'–लोप) । पक्षान्तर में अन्य कार्य 'युष्मद्' शब्द के समान होंगे ।

(३९६) **पद**—एकवचनस्य, च । **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मद्भ्याम्, पञ्चम्याः, अत् । **विधिसूत्र** ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३९७) पञ्चम्या अत् ७।१।३१॥ आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत्स्यात्। युष्मत्। अस्मत्।
(३९८) तवममौ ङसि ७।२।९६॥ अनयोर्मपर्यन्तस्य तवममौ स्तो ङसि।

वर्तते, 'पञ्चम्या अत्' इति च। तदाह–आभ्यामिति। युष्मदस्मद्भ्यामित्यर्थः। अनेकाल्वात् सर्वादेशः। 'न विभक्तौ' इति तस्य नेत्त्वम्। त्वत् मत् इति। युष्मद् अस्, अस्मद् अस् इति स्थिते त्वमादेशयोः कृतयोः ङसेः अदादेशे सति पररूपे 'शेषे' इति टिलोपः। अन्त्यलोपपक्षे दकारलोपे सति त्रयाणामकाराणां पररूपमिति भावः। सुवचमिति। लाघवादिति भावः।

(३९७) पञ्चम्या अत्। 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' इत्यतो युष्मदस्मद्भ्यामित्यनुवर्तते। भ्यसो भ्यम् इत्यतो 'भ्यस्' इति। तदाह—आभ्यामिति। युष्मदस्मद्भ्यामित्यर्थः। युष्मद् अस्मदिति। युष्मद् भ्यस्, अस्मद् भ्यस् इति स्थिते भ्यसः अदादेशः शेषलोपश्च। अथ षष्ठी विभक्तिः।

(३९८) तवममौ ङसि। 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इत्यतो युष्मदस्मदोरित्यनुवर्तते।

मूलार्थ—इन दोनों शब्दों से पर पञ्चमी के एकवचन को 'अत्' आदेश होता है। त्वत्। मत्। "ङसेश्च" कहने में सरलता है। युवाभ्याम्। आवाभ्याम्।

विवरण—स्पष्टार्थ-बोध हेतु "युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्" (७-१-२७) से 'युष्मदस्मद्भ्यां' तथा सम्पूर्ण "पञ्चम्या अत्" (७१-२१) सूत्र की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार "'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्दों से पर पञ्चमी के एकवचन ('ङसि') के स्थान पर 'अत्' आदेश होता है। आदेश ('अत्') अनेकवर्णात्मक (अनेकाल्) होने के कारण सम्पूर्ण स्थानी (ङसि) को अभिव्याप्त कर प्रवृत्त होगा। पञ्चमी-विभक्ति—**उदाहरण**—(क) युष्मद्+ङसि, <युष्मद्+अत् (ङसि = अत्), <त्व-अद्+अत् (युष्म् = त्व), <त्वद्+अत् (पररूप), <त्वत् ('टि'-लोप—'अद्' लोप—पक्ष में 'द्' का संयोग 'अ' के साथ होकर रूपसिद्धि; अन्त्यलोप—'द्' का लोप—पक्ष में पुनः पररूप होकर रूपसिद्धि)। (ख) अस्मद्+ङसि, <अस्मद्+अत्, <म-अद्+अत्, <मद्+अत्, <मत्। प्रक्रिया 'त्वत्' के समान है। द्विवचन में (क) युवाभ्याम् एवम् (ख) आवाभ्याम्—रूप बनेंगे।

विशेष—पञ्चमी के एकवचन अर्थ का वाचक 'ङसि' प्रत्यय है। उसको अभिलक्षित कर आदेश का विधान किया जा रहा है। अतः इस सूत्र की अपेक्षा "ङसेश्च" कहने में लाघव है। वैयाकरण तो आधी मात्रा के लाघव में ही पुत्रोत्सव-सदृश प्रसन्नता मानते हैं—'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः'।

(३९७) **पद**—पञ्चम्याः, अत्। **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मद्भ्याम्, भ्यसः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इनसे पर पञ्चमी-सम्बन्धी 'भ्यस्' के स्थान पर 'अत्' आदेश होता है। युष्मत्। अस्मत्।

विवरण—"युष्मदस्मद्भ्याम् ङसोऽश्" (७-१-२७) से 'युष्मदस्मद्भ्यां' तथा "भ्यसोभ्यम्" (७-१-३०) सूत्र से 'भ्यसः' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्दों से पर पञ्चमी के 'भ्यस्' को 'अत्' आदेश होता है। ('अत्') आदेश अनेकाल् होने से सम्पूर्ण-स्थानी को अभिव्याप्त करता है। **उदाहरण**—(क) युष्मद्+भ्यस्, <युष्मद्+अत (भ्यस् = अत), <युष्म्+अत ('टि' लोप), <युष्मत् ('अन्त्य-लोप' पक्ष में 'द्'-लोप करने के पश्चात् 'पररूप' किया जायगा)। (ख) अस्मद्+भ्यस्, <अस्मद्+अत, <अस्म्+अत, <अस्मत्।

(३९८) **पद**—तवममौ, ङसि। **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मदोः, मपर्यन्तस्य। **विधिसूत्र**।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३९९) युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् ७।१।२७॥ स्पष्टम्। तव। मम। युवयोः। आवयोः। **(४००) साम आकम् ७।१।३३॥** आभ्यां परस्य साम आकम् स्यात्। भाविनः

मपर्यन्तस्येत्यधिकृतम्। तदाह—अनयोरिति। युष्मदस्मदोरित्यर्थः। 'त्वमावेकवचने' इत्यस्यापवादः।

(३९९) युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्। स्पष्टमिति। युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङसः अश् स्यादिति सुगममित्यर्थः। शित्त्वात् सर्वादेशः। तव ममेति। युष्मद् अस्, अस्मद् अस् इति स्थिते मपर्यन्तस्य तवममादेशयोः कृतयोः अशादेशे दकारात् पूर्वयोरकारयोः पररूपे अदो लोपः। अन्त्यलोपपक्षे दकारलोपः, त्रयाणामकाराणां पररूपमिति भावः। युवयोः। आवयोरिति। युष्मद् ओस्, अस्मद् ओस् इति स्थिते मपर्यन्तस्य युवावादेशयोः 'योऽचि' इति दस्य यत्वे पररूपमिति भावः।

(४००) साम आकम् आभ्यामिति। 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः। साम इति। सकारेण सहितः आम् साम् तस्येत्यर्थः। ससुट्कस्य आम इति यावत्। ननु युष्मद् आम्, अस्मद् आम् इति स्थिते अवर्णात् परत्वाभावात् सुटो न प्रसक्तिः। न च 'शेषे लोपः' इति दस्य लोपे कृते अवर्णात् परत्वमस्तीति वाच्यम्। आकमादेशात् प्राक् अनादेशतया शेषलोपस्यैवात्राप्रसक्तेः ससुट्कनिर्देशोऽनुपपन्नः व्यर्थश्चेत्यत आह—भाविन इति। भविष्यत इत्यर्थः। यदि तु आम आकम् इत्येवोच्येत, तर्हि आमः आकमादेशे कृते दकारस्य शेषलोपे सति स्थानिवत्त्वेन आकमादेशस्य आमत्वात् तस्य च अवर्णा-

---

मूलार्थ—'ङस्' पर रहते 'युष्मद्' और 'अस्मद्' के मपर्यन्त भाग को क्रमशः 'तव' एवं 'मम' आदेश होते हैं।

विवरण—"युष्मदस्मदोरनादेशे" (७-२-८६) से 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति आने पर स्थानि-सम्बन्धी जिज्ञासा शान्त हो जाती है। "मपर्यन्तस्य" का अधिकार होने से स्थानि-वाचक शब्दों की अभिव्याप्ति विदित होती है। अर्थात 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्दों के म-पर्यन्त अंश को अभिव्याप्त कर क्रमशः 'तव' एवं 'मम' आदेश होंगे।

(३९९) पद—युष्मदस्मद्भ्यां, ङसः, अश्। विधिसूत्र।

मूलार्थ—स्पष्ट है। तव। मम। युवयोः। आवयोः।

विवरण—'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्द से पर 'ङस्' के स्थान में 'अश्' आदेश होता है। 'अश' में 'श्'-इत्संज्ञक है, अतः आदेश सम्पूर्ण स्थानी को अभिव्याप्त कर प्रवृत्त होगा। षष्ठी विभक्ति—उदाहरण—(क) युष्मद्+ङस्, <तव-अद्+ङस् (युष्म् = तव), <तव-अद्+अ (ङस् = अश्), <तवद्+अ (पररूप), <तव ('टि'-अद्-लोप; अन्त्यलोप-पक्ष में पूर्वरूप। (ख) अस्मद्+ङस्, <मम-अद्+ङस् (अस्म् = मम), <मम-अद्+अ (ङस् = अश्) <ममद्+अ, <मम। (क) युष्मद्+ओस्, <युव-अद्+ओस् (युष्म् = युव "युवावौ द्विवचने"—३८६), <युव-अय्+ओस् (द् = य्—"योऽचि"—३९२), <युवय्+ओस् (अ+अ=अ-पररूप), युवयोः (स् = र् = :)। (ख) अस्मद्+ओस्, <आव-अद्+ओस्, <आव-अय्+ओस्, <आवय्+ओस्, <आवयोः।

(४००) पद—सामः, आकम्। अनुवृत्ति—युष्मदस्मद्भ्याम्। विधिसूत्र।

मूलार्थ—इन दो शब्दों से पर 'साम्' के स्थान पर 'आकम्' होता है। भावी 'सुट्' आगम की निवृत्ति के लिये 'साम्' ('सुट्' सहित आम्) का निर्देश किया गया है। युष्माकम्। अस्माकम्। त्वयि। मयि। युवयोः। आवयोः। युष्मासु। अस्मासु।

विवरण—प्रकरणवश "युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्" (७-१-२७) से 'युष्मदस्मद्भ्याम्' की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुटो निवृत्त्यर्थं ससुट्कनिर्देशः। युष्माकम्। अस्माकम्। त्वयि। मयि। युवयोः। आवयोः। युष्मासु। अस्मासु।

त्परत्वात् सुडागमः स्यात्। तत एत्वपत्वयोर्युष्मेषाकम् अस्मेषाकमिति स्यात्। अतः ससुट्कनिर्देशः। यद्यपि आकमादेशप्रवृत्तिकाले सुटो न प्रसक्तिः, तथापि आकमादेशोत्तरं दकारलोपे कृते स्थानिवत्त्वेन ऽः सुट् भविष्यति, तस्यापि स्थानषष्ठ्याः स्वीकरणान्निवृत्तिर्भवति। अन्यथा ससुट्कनिर्देशवैयर्थ्यादिति भावः। यदि तु शेपस्य लोप एवाश्रीयते, तदा कृतेऽप्याकमादेशे अदो लोपे अवर्णात् परत्वाभावादेव सुटः प्रसक्त्यभावात् सुसट्कनिर्देशो मास्तु। युष्माकम्। अस्माकमिति। आकमादेशे कृते अदो लोपे रूपम्। दकारलोपे तु सवर्णदीर्घः। एतदर्थमेव दीर्घोच्चारणम्। अन्यथा पररूपापत्तेः। न चाकारोच्चारणसामर्थ्यादेव पररूपनिरास इति वाच्यम्, कमादेशे प्राप्ते 'बहुवचने झल्येत्' इत्येत्वनिवृत्त्या चरितार्थत्वादित्यलम्। त्वयि मयीति। युष्मद् इ, अस्मद् इ इति स्थिते, मपर्यन्तस्य त्वमादेशयोः 'योऽचि' इति दस्य यत्वे पररूपे रूपमिति भावः। युवयोः। आवयोरिति। प्राग्वत्। युष्मासु अस्मास्विति। 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इति दकारस्य आत्वे सवर्णदीर्घ इति भावः।

अनुवृत्ति की जारही है। तदनुसार " 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों से पर 'साम्' के स्थान पर 'आकम्' आदेश होता है"। यहाँ 'सुट्' आगम सहित 'आम्'–विभक्ति 'साम्' शब्द से अभिहित है।

शङ्का—इस सम्बन्ध में यह सन्देह होता है कि 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्द तो हलन्त हैं, इनसे पर 'आम्' को "आमि सर्वनाम्नः सुट्" (२१७) से 'सुट्' आगम की प्राप्ति ही नहीं है। जब स्थानी 'साम्' नहीं है तो उसके स्थान पर 'आकम्' आदेश करने का क्या प्रयोजन है?

समाधान—इसके उत्तर में यह कहा जाता है यदि 'आम्' के स्थान पर 'आकम्' आदेश किया जाता तथा "शेषे लोपः" (३८५) से अन्त्यलोप-पक्ष में 'द्' का लोप होने पर ये दोनों शब्द 'अकारान्त' बन जाते। इस स्थिति में 'सुट्' आगम की सम्भावना होती। अतः भावी 'सुट्' आगम के निवारण हेतु सूत्र में 'साम्' को स्थानी माना गया है। परिणामस्वरूप 'आकम्' आदेश होने के बाद 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' के अन्त्यवर्ण 'द्' का लोप होने पर अकारान्त होने की स्थिति में भी 'सुट्' आगम नहीं होता। इस प्रकार यह सूत्र दो कार्य करता है—(१) एक तो 'आम्' के स्थान पर 'आकम्' का विधान तथा (२) दूसरा 'द्'–लोप हो जाने पर 'सुट्' आगम की निवृत्ति।

उदाहरण—(क) युष्मद्+आम्, <युष्मद्+आकम् ('आम्' = आकम्), <युष्म+आकम्, (शेषे लोपः—अन्त्यलोप-'द्' लोप), <युष्माकम् (अ+आ = आ—सवर्णदीर्घ)। (ख) अस्मद्+आम्, <अस्मद्+आकार, <अस्म+आकम्, <अस्माकम्। सप्तमी विभक्ति (क) युष्मद्+(इ) ङि, <त्व-अद्+इ (युष्म् = त्व), <त्व-अय्+इ (द् = य्–"योऽचि"–३९२), <त्वय्+इ (पररूप), <त्वयि। (ख) युवयोः (षष्ठी के समान)। (ख) आवयोः (षष्ठी के समान)। (क) युष्मद्+सु (सुप्), <युष्म-आ+सु (द् = आ—"युष्मदस्मदोरनादेशे"—३९३), <युष्मासु (सवर्णदीर्घ)। (ख) अस्मद्+सु (सुप्), <अस्म–आ+सु, <अस्मासु।

विशेष—१—सूत्र का स्वरूप "आम आकम्" होने पर 'आम्' के स्थान में 'आकम्' होने के पश्चात् स्थानिवद्भाव से 'आकम्' में 'आम्' का आहार्यारोप कर अन्त्यवर्ण 'द्' का लोप कर तत्पश्चात् 'सुट्' आगम तथा 'अ' के स्थान पर 'ए' आदेश की प्राप्ति होगी। तदनुसार 'युष्मेषाकम्' एवम् 'अस्मेषाकम्'—अनिष्ट रूप बनने लगेंगे। अतः भावी सुट् आगम की कल्पना कर यथान्यास "साम आकम्" ही ठीक है। ऐसी स्थिति में स्थानिवद्भाव होने से 'साम्' बुद्धि होगी, अतः 'सुट्' नहीं होगा। इस प्रकार व्याख्या में सौत्र-निर्देश ही प्रमाण है। "साम आकम्" निर्देश 'अन्त्यलोप' पक्ष को प्रबल बनाता है। केवल 'टि' लोप पक्ष होता तो यह प्रयास व्यर्थ ही रहता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समस्यमाने द्व्येकत्ववाचिनी युष्मदस्मदी ।
समासार्थोऽन्यसङ्ख्यश्चेत्स्तो युवावौ त्वमावपि ॥ १ ॥

'त्वमावेकवचने' इत्यत्र 'युवावौ द्विवचने' इत्यत्र च एकवचनद्विवचनशब्दौ यौगिकौ, न तु प्रत्ययपराविति स्थितम् । तत्फलं श्लोकचतुष्टयेन सङ्गृह्णाति—समस्यमान इति । तत्र प्रथमश्लोके चेदित्यनन्तरम्, अपीत्यध्याहार्यम् । यदि समस्यमाने युष्मदस्मदो द्व्येकत्ववाचिनी तदा समासार्थः अन्यसङ्ख्यश्चेदपि युवावौ त्वमावपि स्तः इत्यन्वयः । त्वाम् मां वा अतिक्रान्तः, अतिक्रान्तौ, अतिक्रान्ताः इति युवामावां वा अतिक्रान्तः, अतिक्रान्तौ, अतिक्रान्ताः इति च विग्रहे 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासं लभमाने युष्मदस्मदी द्वित्वैकत्वान्यतरविशिष्टार्थवाचिनी यदा, तदा समासार्थो मुख्यविशेष्यभूतः अन्यसंख्यश्चेदपि युष्मदस्मदर्थगतसंख्यापेक्षया अन्यसंख्याकश्चेदपि युष्मदस्मदर्थगत-द्वित्वे युवावौ तदर्थगतैकत्वे त्वमौ च द्विवचनैकवचनप्रत्ययपरत्वाभावेऽपि भवतः, युवावा-देशविधौ द्विवचनशब्दस्य, त्वमादेशविधौ एकवचनशब्दस्य च यौगिकत्वाश्रयणात् । एकवचने प्रत्ययेपरतस्त्वमादेशौ द्विवचने प्रत्यये परतो युवावादेशौ इत्यर्थाश्रयणे तु त्वाम् मां वा अतिक्रान्तौ, अतिक्रान्ताः इति विग्रहे अतियुष्मद् शब्दे अत्यस्मद्शब्दे च

२—"शेषे लोपः" (७-२-९०) सूत्र के अर्थ के प्रसङ्ग में पहले यह बतलाया जा चुका है कि इस की व्याख्या दो प्रकार से की गई है । (१) एक पक्ष के अनुसार 'अन्त्य' का लोप होता है । यह 'अन्त्यलोप' पक्ष है । (२) दूसरा 'टि'-लोप-पक्ष है । 'टि'—लोप करने से ये शब्द हलन्त हो जाते हैं, अतः वहाँ 'सुट्' सहित निर्देश की कोई उपयोगिता नहीं है ।

'युष्मद्' शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	त्वम्	युवाम्	यूयम्
द्वि०	त्वाम्, त्वा	युवाम्, वाम्	युष्मान्, वः
तृ०	त्वया	युवाभ्याम्	युष्माभिः
च०	तुभ्यम्, ते	युवाभ्याम्,वाम्	युष्मभ्यम्, वः
प०	त्वत्	युवाभ्याम्,	युष्मत्
ष०	तव, ते	युवयोः, वाम्	युष्माकम्,वः
स०	त्वयि	युवयोः	युष्मासु

'अस्मद्' शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	अहम्	आवाम्	वयम्
द्वि०	माम्, मा	आवाम्, नौ	अस्मान्, नः
तृ०	मया	आवाभ्याम्	अस्माभिः
च०	मह्यम्, मे	आवाभ्याम्,नौ	अस्मभ्यम्,नः
प०	मत्	आवाभ्यम्	अस्मत्
ष०	मम, मे	आवयोः, नौ	अस्माकम्, नः
स०	मयि	आवयोः	अस्मासु

सन्दर्भ—प्रसङ्गवश पहले यह कहा जा चुका है कि "त्वमावेकवचने" (७-२-९७) तथा "युवावौ द्विवचने" (७-२-९२) इन दोनों सूत्रों में 'एकवचन' एवं 'द्वि-वचन' शब्द यौगिक हैं न कि प्रत्ययार्थक । अर्थात् 'एकवचन' तथा 'द्विवचन' ये विभक्ति के विशेषण नहीं हैं किन्तु 'युष्मद्' एवम् 'अस्मद्' के अर्थ में अन्वित होते हैं । तदनुसार उपर्युक्त दोनों शब्दों से यह अभिप्रेत है कि एकत्व-विशिष्टार्थक एवं द्वित्व-विशिष्टार्थक 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों के स्थान पर त्व—म एवं युव—आव आदेश होते हैं । समास के कारण गौण अर्थ में इसके प्रभाव को स्पष्ट करने के लिये चार कारिकाओं का संग्रह किया गया है । तदनुसार उन कारिकाओं का अर्थ दिया जारहा है—

मूलार्थ—(१) यदि समास होने पर 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्द द्वित्वविशिष्ट अथवा एकत्व-विशिष्ट अर्थ के बोधक हों तथा विशेष्यभूत समासार्थ (समासघटक-पद 'युष्मद्'-'अस्मद्' शब्दों की अपेक्षा) भिन्न-संख्यार्थक हो तो भी उनके स्थान पर द्विवचन में 'युव'-'आव' एवं एक-वचन में 'त्व'-'म' आदेश होते हैं । (अर्थात् 'त्वाम् माम् वा अतिक्रान्तः, अतिक्रान्तौ, अतिक्रान्ताः, तथा 'युवाम् आवाम् वा अतिक्रान्तः' अतिक्रान्तौ, अतिक्रान्ताः' इस प्रकार विग्रह करने पर 'अत्यादयः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुजस्ङेङस्सु परत आदेशाः स्युः सदैव ते ।
त्वाहौ यूयवयौ तुभ्यमह्यौ तवममाविति ॥ २ ॥
एतौ परत्वाद् बाधन्ते युवावौ विषये स्वके ।
त्वमावपि प्रबाधन्ते पूर्वविप्रतिषेधतः ॥ ३ ॥
द्व्येकसङ्ख्यः समासार्थो बह्वर्थे युष्मदस्मदी ।
तयोरद्व्येकतार्थत्वान्न युवावौ त्वमौ च न ॥ ४ ॥

युष्मदस्मदोर्द्विवचने बहुवचने च प्रत्यये परे त्वमौ न स्यातां तथा युवामावौ वा अतिक्रान्तः–अतिक्रान्तौ, अतिक्रान्ताः इति विग्रहे युष्मदस्मदोरेकवचने बहुवचने च प्रत्यये परे युवावौ न स्यातामित्यव्याप्तिः स्यादित्यर्थः । ननु युष्मदस्मदोर्द्व्यर्थकत्वे युवावौ, एकार्थकत्वे तु त्वमौ इति किं सार्वत्रिकम् ? नेत्याह—सुजस्ङेङस्सु इति । द्वितीयश्लोकेऽस्मिन् उत्तरार्धे त्वाहावित्यादि तत्तत्सूत्रप्रतीकग्रहणम् । इतीत्यनन्तरं ये इत्यध्याहार्यम् । 'त्वाहौ सौ, यूयवयौ जसि, तुभ्यमह्यौ ङयि, तवममौ ङसि' इति सुजस् ङेङस्सु ये आदेशा विहिताः ते अतियुष्मदत्यस्मच्छब्दाभ्याम् एकद्विबह्वर्थवृत्तित्वेऽपि स्युरित्यर्थः । ननु तत्रापि द्व्यर्थकत्वे युवावौ, एकार्थकत्वे त्वमौ कुतो नेत्यत आह–एते इति । तृतीयश्लोके पूर्वार्धमेकं वाक्यम् । एते त्वाहादायः, स्वके स्वीये विषये सुजसादौ युवावौ बाधन्ते । कुतः ? परत्वात्—युवावापेक्षया एतेषां परत्वादित्यर्थः । नन्वस्त्वेवं त्वाहादिभिर्युवावोर्बाधः । त्वमौ तु तेभ्यः परौ कथं तैर्बाध्येतामित्यत आह—त्वमावपीति । पूर्वेति । विप्रतिषेधे सति पूर्वं पूर्वविप्रतिषेधः । 'सुप्सुपा' इति समासः । तृतीयान्तात्तसिः । विप्रतिषेधसूत्रे परशब्दस्य इष्टवाचितया क्वचिद्विप्रतिषेधे पूर्वकार्यस्य प्रवृत्त्याश्रयणादिति भावः । 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति सूत्रभाष्ये तु 'त्वमावेकवचने' इति सूत्रे 'शेष' इत्यनुवर्त्य 'सुजस्ङेङस्भिन्नविभक्तिषु' इति व्याख्यातम् । तदेवम् 'त्वमावेकवचने' 'युवावौ द्विवचने' इत्यत्र एकवचनद्विवचनशब्दयोर्यौगिकत्वाश्रयणस्य अव्याप्तिपरिहारार्थत्वमुक्त्वा अतिव्याप्तिपरिहारार्थत्वमाह—

क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' वार्तिक के आधार पर 'युष्मद् तथा अस्मद्' शब्दों के साथ समास होने पर समास-घटक 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' के वाच्य दो हों तो 'युव'–'आव' तथा वाच्य एक हो तो 'त्व'-'म' आदेश क्रमशः होंगे । तात्पर्य यह है कि सामासिक स्थिति में अतिक्रमण करने वाले एक, दो या इससे भी अधिक हों—इसका प्रभाव 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों के स्थान पर द्विवचन एवं एकवचन में होने वाले आदेशों पर नहीं पड़ता । इन आदेशों पर समास-घटक 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों से वाच्य (प्रतिपादित) पदार्थगत दो अथवा एक संख्या का प्रभाव पड़ता है । तदनुसार द्वि-वचन तथा एकवचन प्रत्ययों के पर न रहने पर भी ये आदेश होते हैं[1]) । (२) परन्तु समास में जब 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' के अनन्तर 'सु' (प्रथमा-एकवचन), 'जस्' (प्रथमा-बहुवचन), 'ङे' (चतुर्थी-एकवचन) तथा 'ङस्' (षष्ठी-एकवचन) रहे तो 'युष्मद्' शब्द के स्थान पर क्रमशः 'त्व', 'यूय', 'तुभ्य' तथा 'तव' एवम् 'अस्मद्' शब्द के स्थान पर क्रमशः 'अह', 'वय', 'मह्य' तथा 'मम' आदेश होते हैं । (३) 'युष्मद्' के स्थान में होने वाले ये त्व, यूय, तुभ्य तथा तव एवम् 'अस्मद्' के स्थान में होने वाले अह, वय, मह्य तथा मम आदेश

---

१. "यद्यपि समासो द्व्यर्थो भवति बह्वर्थो वा एकार्थे च युष्मदस्मदी, भवत एव त्वमौ । किमविशेषेण ? नेत्याह । तानेव विधीन् वर्जयित्वा ।" यद्यपि समासः एकार्थो वा भवति बह्वर्थो वा भवति द्व्यर्थे च युष्मदस्मदी, भवत एव युवावौ । किमविशेषेण । नेत्याह । "यूयवयौ जसि" (७-२-३५) "त्वाहौ सौ" (७-२-९४) "तुभ्यमह्यौ ङयि" (७-२-९५ । "तवममौ, ङसि" (७-२-९६) इत्येतान् विधीन् वर्जयित्वा" । महाभाष्यम्—("प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" ६-२-९८) ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वयेकसंख्य इति। चतुर्थश्लोकेऽस्मिन् यदा तदित्यध्याहार्यम्। यदा युष्मान् अस्मान् वा अतिक्रान्तौ अतिक्रान्तः इति विग्रहे समासे सति द्वित्वैकत्वविशिष्टः समासार्थः समासस्य मुख्यविशेष्यभूतः युष्मदस्मदी तु बह्वर्थके, तदा युवावौ त्वमौ च न स्तः, तयोः युष्मदस्मदोः द्वित्वैकत्वविशिष्टार्थकत्वाभावात्। युवावविधौ त्वमविधौ च युष्मदस्मदोर्द्वित्वैकत्वविशिष्टवाचित्वे सत्येव प्रवृत्तेराश्रयणात्। द्विवचने एकवचने च प्रत्यये परतः इत्यर्थाश्रयणे तन्नात्तिव्याप्तिः स्यादित्यर्थः। अत्र 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति सूत्रे भाष्ये 'त्रिचतुर्जु-

---

सु, जस्, ङे तथा ङस् के विषय में 'पर' होने से 'युव' तथा 'आव' के बाधक होते हैं। इसके अतिरिक्त ये आदेश पूर्वविप्रतिषेध से 'त्व' 'म' के भी बाधक होते हैं[1]। (४) जब समास होने पर समासार्थ द्विवचन अथवा एकवचन में हो तथा समास के अवयव 'युष्मद्' एवम् 'अस्मद्' शब्द 'बहु'वचन के हों तो 'एकत्व' एवं 'द्वित्व' प्रत्यायक 'त्व'–'युव' तथा 'म'–'आव' आदेश नहीं होंगे।

विशेष—१–भाष्यकार ने इस प्रसङ्ग में "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" (७-२-९८) सूत्र में विचार किया है। तदनुसार समास होने पर सामासिक पद के अवयव 'युष्मद्'–वाच्य-संख्या से एक का कथन होने पर निम्नलिखित रूप होते हैं। अर्थ—'त्वाम् अतिक्रान्तः, अतिक्रान्तौ, अतिक्रान्ताः' (= तुमको अतिक्रमण करनेवाला, वाले (दो), वाले)। यहाँ पर समास-घटक 'युष्मद्' (='त्वाम्') शब्द एकार्थप्रत्यायक है। समासार्थ अन्यपदार्थ है। सामासिक शब्द का स्वरूप इस प्रकार है—अति+युष्मद्–द्वितीया तत्पुरुष समास होने के पश्चात् प्रातिपदिक-संज्ञा होने से प्रथमाविभक्त्युत्पत्ति होने पर अतियुष्मद्+सु स्थिति होगी। समासघटक 'युष्मद्' शब्द से 'सु' विभक्ति पर होने के कारण 'द्वितीय-कारिका' में वर्णित नियमानुसार 'युष्मद्' के स्थान पर 'त्व' आदेश हुआ। इसके द्विवचन में प्रथम-कारिका के अनुसार 'त्व' आदेश होता है। बहुवचन में द्वितीय-कारिका के अनुसार 'यूय' आदेश होगा। द्वितीया के एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन में पहली कारिका के अनुसार 'त्व' आदेश होता है। सम्पूर्ण तृतीया विभक्ति में प्रथम-कारिका का विषय है (= त्व)। चतुर्थी के एक-वचन में दूसरी कारिका (= तुभ्य) तथा द्वि और बहुवचनों में प्रथम-कारिका का विषय है (= त्व)। पञ्चमी में भी प्रथम-कारिका के अनुसार 'त्व' आदेश होगा। षष्ठी के एक वचन में दूसरी कारिका (= तव) तथा द्वि एवं बहुवचन में प्रथम कारिका चरितार्थ होती है (= त्व)। पूरी सप्तमीविभक्ति में प्रथम कारिका अभिलक्षित होती है (= त्व)। इसी तरह 'अत्यस्मद्' शब्द भी है।

'अतियुष्मद्' (एकवचन) शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	अतित्वम्	अतित्वाम्	अतियूयम्
द्वि०	अतित्वाम्	अतित्वाम्	अतित्वान्
तृ०	अतित्वया	अतित्वाभ्याम्	अतित्वाभिः
च०	अतितुभ्यम्	अतित्वाभ्याम्	अतित्वभ्यम्
प०	अतित्वत्	अतित्वाभ्यान्	अतित्वत्
ष०	अतितव	अतित्वयोः	अतित्वाकम्
स०	अतित्वयि	अतित्वयोः	अतित्वासु

'अत्यस्मद्' (एकवचन) शब्द के रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	अत्यहम्	अतिमाम्	अतिवयम्
द्वि०	अतिमाम्	अतिमाम्	अतिमान्
तृ०	अतिमया	अतिमाभ्याम्	अतिमाभिः
च०	अतिमह्यम्	अतिमाभ्याम्	अतिमभ्यम्
प०	अतिमत्	अतिमाभ्याम्	अतिमत्
ष०	अतिमम	अतिमयोः	अतिमाकम्
स०	अतिमयि	अतिमयोः	अतिमासु

---

१. यद्येवं "यूयवयौ जसि" (७-२-९३), "त्वाहौ सौ" (७-२-९४), "तुभ्यमह्यौ ङयि" (७-२-९५) "तवममौ ङसि" (७-२-९६) इत्येतेभ्यो विधिभ्यः परत्वात् "त्वमावेकवचने" (७-२-९७) इति प्राप्नोति। नैष दोषः। शेष इति वर्तते। कश्च शेषः? जसादिभिरव्याप्तं यदेकवचनं तस्मिन् शेषेऽशेषत्वान्न भविष्यति। अथवा त्वमावेकवचन इत्यत्र "यूयवयौ जसि", "त्वाहौ सौ", "तुभ्यमह्यौ ङयि", "तवममौ ङसि" इत्येतदनुवर्तिष्यते। महाभाष्यम्—"प्रत्ययोत्तरपदयोश्च"—७-२-९८।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्वाम् मां वा अतिक्रान्त इति विग्रहे—अतित्वम् । अत्यहम् । अतित्वाम् । अतिमाम् : अतियूयम् । अतिवयम् । अतित्वाम् । अतिमाम् । अतित्वाम् । अतिमाम् । अतित्वान् । अतिमान् । अतित्वया । अतिमया । अतित्वाभ्याम् । अतिमाभ्याम् । अतित्वाभिः । अतिमाभिः । अतितुभ्यम् । अतिमह्यम् । अतित्वाभ्याम् । अतिमाभ्याम् । अतित्वभ्यम् । अतिमभ्यम् । ङसिभ्यसोः—अतित्वत् । अतित्वत् । अतिमत् । अतिमत् । भ्यामि प्राग्वत् । अतितव । अतिमम । अतित्वयोः अतिमयोः । अतित्वाकम् । अतिमाकम् । अतित्वयि ।

प्मदस्मदग्रहणेष्वर्थग्रहणम्' इति वार्तिकव्याख्यावसरे 'युवावौ द्विवचने' 'त्वमावेकवचने' इत्यत्र द्विवचनैकवचनशब्दयोर्यौगिकत्वाश्रयणमुपक्षिप्य युवाम् आवां वा अतिक्रान्तः—अतिक्रान्तौ—अतिक्रान्ताः इति विग्रहान् प्रदर्श्य, त्वाम् मां वा अतिक्रान्तः—अतिक्रान्तौ—अतिक्रान्ताः इति च विग्रहान् प्रदर्श्य, अतियुष्मदत्यस्मच्छब्दयोः सुजस्ङेङस्भ्योऽन्यत्र सर्वासु विभक्तिषु एकद्विबहुवचनेषु सर्वत्र युवावादेशौ त्वमादेशौ च उदाहृत्य प्रदर्शितौ ! सुजस् ङेङस्सु तु त्वाहौ, यूयवयौ, तुभ्यमह्यौ, तवममौ इत्येत एवादेशाः उदाहृताः । तदिदं श्लोकचतुष्टयेन संगृहीतम् ।

तदिदानीं तत्प्रपञ्चनपरभाष्यानुसारेणोदाहृत्य प्रदर्शयति—त्वाम् मां वा अतिक्रान्तः इत्यादिना । अतिक्रान्तौ अतिक्रान्ताः इति च विग्रहयोरुपलक्षणमेदम् । विग्रहे इत्यनन्तरं 'रूपाणि वक्ष्यन्त' इति शेषः । सुजस्ङेङस्भ्योऽन्यत्र सर्वासु विभक्तिषु एकद्विबहुवचनेषु समपर्यन्तस्य त्वमावेव भवतः । अवशिष्टप्रक्रियास्तु केवलयुष्मदस्मद्वज्ज्ञेयाः । सुजस्ङेङस्सु

२—'युवाम् आवाम् वा अतिक्रान्तः, अतिक्रान्तौ, अतिक्रान्ताः' (= तुम दोनों या हम दोनों को छोड़कर चला गया, चले गये)—इन अर्थों में 'अतियुष्मद्' एवम् 'अत्यस्मद्' शब्द—घटक 'युष्मद्' एवम् 'अस्मद्' से वाच्य पदार्थ-गत-द्वित्व-संख्या का बोध होने से प्रक्रिया इस प्रकार होगी । प्रथमा के एक-वचन में दूसरी कारिका के अनुसार क्रमशः 'त्व' एवम् 'अह' आदेश होंगे । द्विवचन में पहली कारिका के अनुसार 'युव'—'आव' आदेश होंगे । बहुवचन में दूसरी कारिका का विषय है, अतः 'यूय'—'वय' आदेश होंगे । पूरी द्वितीया-विभक्ति में पहली कारिका को अभिलक्षित कर 'युव—आव' आदेश होंगे । इसी तरह पूरी तृतीया-विभक्ति में भी पहला कारिका चरितार्थ होगी (= युव—आव) । चतुर्थी के एक-वचन में दूसरी कारिका के अनुसार 'तुभ्य—मह्य' आदेश होंगे । द्वि तथा बहुवचन में पहली कारिका चरितार्थ होगी (= युव—आव) । पूरी पञ्चमी-विभक्ति में पहली कारिका के अनुसार 'युव—आव' आदेश का विषय है । षष्ठी के एक वचन में द्वितीय कारिका के अनुसार 'तव—मम' आदेश होंगे । द्वि तथा बहुवचन में पहली कारिका चरितार्थ होती है (= 'युव—आव') । पूरी सप्तमी-विभक्ति में पहली कारिका अभिलक्षित होती है (='युव—आव') । इस सन्दर्भ में इन दोनों शब्दों के रूप निम्नलिखित हैं ।

'अतियुष्मद्' शब्द के रूप ('द्वि'—वचन)

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	अतित्वम्	अतियुवाम्	अतियूयम्
द्वि०	अतियुवाम्	अतियुवाम्	अतियुवान्
तृ०	अतियुवया	अतियुवाभ्याम्	अतियुवाभिः
च०	अतितुभ्यम्	अतियुवाभ्याम्	अतियुवभ्यम्
प०	अतियुवत्	अतियुवाभ्याम्	अतियुवत्
ष०	अतितव	अतियुवयोः	अतियुवाकम्
स०	अतियुवयि	अतियुवयोः	अतियुवासु

'अत्यस्मद्' शब्द के रूप ('द्वि'—वचन)

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	अत्यहम्	अत्यावाम्	अतिवयम्
द्वि०	अत्यावाम्	अत्यावाम्	अत्यावान्
तृ०	अत्यावया	अत्यावाभ्याम्	अत्यावाभिः
च०	अतिमह्यम्	अत्यावाभ्याम्	अत्यावभ्यम्
प०	अत्यावत्	अत्यावाभ्याम्	अत्यावत्
ष०	अतिमम	अत्यावयोः	अत्यावाकम्
स०	अत्यावयि	अत्यावयोः	अत्यावासु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिमयि । अतित्वयोः । अतिमयोः । अतित्वासु । अतिमासु । युवाम् आवां वा अतिक्रान्त इति विग्रहे सुजस्ङेङस्सु प्राग्वत् । औअमौट्सु—अतियुवाम् । अतियुवाम् । अतियुवाम् । अत्यावाम् । अत्यावाम् । अत्यावाम् । अतियुवान् । अत्यावान् । अतियुवया । अत्यावया । अतियुवाभ्याम् ३ । अत्यावाभ्याम् ३ । अतियुवाभिः । अत्यावाभिः । भ्यसि—अतियुवभ्यम् । अत्यावभ्यम् । ङसिभ्यसोः—अतियुवत् । अतियुवत् । अत्यावत् । अत्यावत् । ओसि—अतियुवयोः । अतियुवयोः । अत्यावयोः । अत्यावयोः । अतियुवाकम् । अत्यावाकम् । अतियुवयि । अत्यावयि । अतियुवासु । अत्यावासु । युष्मानस्मान्वा अतिक्रान्त इति विग्रहे सुजस्ङेङस्सु प्राग्वत् । औअमौट्सु—अतियुष्माम् । अतियुष्माम् । अतियुष्माम् । अत्यस्माम् । अत्यस्माम् । अत्यस्माम् । अतियुष्मान् । अत्यस्मान् । अतियुष्मया । अत्यस्मया । अतियुष्माभ्याम् ३ । अत्यस्माभ्याम् ३ । अतियुष्माभिः । अत्यस्माभिः । भ्यसि—अतियुष्मभ्यम् । अत्यस्मभ्यम् । ङसिभ्यसोः—अतियुष्मत् २ । अत्यस्मत् २ । ओसि—अतियुष्मयोः । अतियुष्मयोः । अत्यस्मयोः । अत्यस्मयोः । अतियुष्माकम् । अत्यस्माकम् । अतियुष्मयि । अत्यस्मयि । अतियुष्मासु । अत्यस्मासु ।

तु त्वाहौ, यूयवयौ, तुभ्यमह्यौ, तवममौ इत्येते एवादशाः पूर्वविप्रतिषेधात् त्वामौ बाधित्वा भवन्ति । ततश्च सुजस्ङेङस्सु केवलयुष्मदस्मद्वदेव रूपाणीति निष्कर्षः । अतित्वाकम् अतिमाकमिति । ननु 'साम आकम्' इति ससुट्कनिर्देशाद्यत्र आमः सुट्सम्भवः तत्रवाकम्, न चात्र सुट् सम्भाव्यते, इह युष्मदस्मदोरुपसर्जनत्वेन सर्वनामत्वाभावात् सुटः सर्वनाम्नः परस्यामो विहितत्वादिति चेत् ? मैवम्—ससुट्कत्वस्य सम्भावनामात्रविषयत्वात् । एवं च सुट् यत्र सम्भविष्यति तत्र सुटो निवृत्त्यर्थं ससुट्कनिर्देशः, यत्र तु सुट् न सम्भवति, तत्र केवलस्य आमः सुट् । अत्र च 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति सूत्रे अतित्वाकमतिमाक-

---

३—'युष्मान् अस्मान् वा अतिक्रान्तः/अतिक्रान्तौ/अतिक्रान्ताः' (= तुम लोगों या हम लोगों को छोड़कर चला गया/चले गये) अर्थ में 'अतियुष्मद्' एवम् 'अत्यस्मद्' में समास-घटक 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' बहुत्व संख्यार्थक हैं। अतः वहाँ एकवचन तथा द्विवचन को अभिलक्षित कर होने वाले 'त्व–म' एवं 'युव–आव' आदेश नहीं होते हैं। किन्तु द्वितीय-कारिका के अनुसार 'सु' (प्रथमा-एकवचन), 'जस्' (प्रथमा-बहुवचन), 'ङे' (चतुर्थी-एकवचन) तथा 'ङस्' (षष्ठी-एकवचन) में क्रमशः 'त्व–अह', 'यूय–वय', 'तुभ्य–मह्य' तथा 'तव–मम' आदेश होंगे। इनके अतिरिक्त 'युष्मद्'–'अस्मद्' शब्दों को अभिलक्षित कर यथाप्राप्त विधान यथानियम होंगे ("ङे प्रथमयोरम्", "प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्", "द्वितीयायां च", "शसो न", "योऽचि", "युष्मदस्मदोरनादेशे" तथा "साम आकम्")।

'अतियुष्मद्' शब्द के रूप ('बहु'–वचन)

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	अतित्वम्	अतियुष्माम्	अतियूयम्
द्वि०	अतियुष्माम्	अतियुष्माम्	अतियुष्मान्
तृ०	अतियुष्मया	अतियुष्माभ्याम्	अतियुष्माभिः
च०	अतितुभ्यम्	अतियुष्माभ्याम्	अतियुष्मभ्यम्
प०	अतियुष्मत्	अतियुष्माभ्याम्	अतियुष्मत्
ष०	अतितव	अतियुष्मयोः	अतियुष्माकम्
स०	अतियुष्मयि	अतियुष्मयोः	अतियुष्मासु

'अत्यस्मद्' शब्द के रूप ('बहु'–वचन)

वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	अत्यहम्	अत्यस्माम्	अतिवयम्
द्वि०	अत्यस्माम्	अत्यस्माम्	अत्यस्मान्
तृ०	अत्यस्मया	अत्यस्माभ्याम्	अत्यस्माभिः
च०	अतिमह्यम्	अत्यस्माभ्याम्	अत्यस्मभ्यम्
प०	अत्यस्मत्	अत्यस्माभ्याम्	अत्यस्मत्
ष०	अतिमम	अत्यस्मयोः	अत्यस्माकम्
स०	अत्यस्मयि	अत्यस्मयोः	अत्यस्मासु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४०१) पदस्य ८।१।१६॥ (४०२) पदात् ८।१।१७॥ (४०३) अनुदात्तं सर्वमपादादौ ८।१।१८॥ इत्यधिकृत्य। (४०४) युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वांनावौ ८।१।१२०॥ पदात्परयोरपादादौ स्थितयोरनयोः

मिति। भाष्ये तदुदाहरणं प्रमाणमित्यास्तां तावत्। तदेवमुपसर्जनयोः युष्मदस्मदोरेकार्थवाचित्वे उदाहरणान्युक्त्वा द्वयर्थवाचित्वे उदाहरति—युवाम् आवां वा अतिक्रान्त इति। अतिक्रान्तौ, अतिक्रान्ताः इति विग्रहयोरुपलक्षणम्। अत्र युष्मदस्मदोद्वयर्थवृत्तित्वात् सुजस्ङेङस्भ्योऽन्यत्र सर्वासु विभक्तिषु एकद्विबहुवचनेषु मपर्यन्तस्य युवावावेव भवतः, अवशिष्टास्तु प्रक्रियाः केवलयुष्मदस्मद्वत् ज्ञेयाः। सुजस्ङेङस्सु तु त्वाहौ, यूयवयौ, तुभ्यमह्यौ, तवममौ इत्येते एवादेशाः परत्वाद्युवावादेशौ बाधित्वा प्रवर्तन्ते। सुजस्ङेङस्सु केवलयुष्मदस्मद्वदेव रूपाणीति निष्कर्षः। अथ युष्मदस्मदोरुपसर्जनयोर्बह्वर्थवाचित्व उदाहरणान्याह—युष्मान् अस्मान्वेति। युष्मानस्मान्वा अतिक्रान्तः अतिक्रान्तौ अतिक्रान्ताः इति विग्रहेष्वित्यर्थः। द्वयेकसङ्ख्यः समासार्थः इति चतुर्थश्लोकस्योदाहरणान्येतानि। अत्र युष्मदस्मदोरेकद्वयर्थवाचित्वाभावात् सुजस्ङेङस्भ्योऽन्यत्र मपर्यन्तस्य क्वापि न त्वमौ नापि युवावौ। 'ङे प्रथमयोः' इत्याद्यास्तु भवन्त्येव। सुजस्ङेङस्सु तु त्वाहौ यूयवयौ तुभ्यमह्यौ तवममौ इत्येते भवन्त्येव, तेषामेकद्वयर्थविशेषनिबन्धनत्वाभावात्। प्राग्वदिति। केवलयुष्मदस्मद्वदित्यर्थः।

(४०१) पदस्य। (४०२) पदात्। (४०३) अनुदात्तं सर्वमपादादौ। इत्यधिकृत्येति। विधयो वक्ष्यन्त इति शेषः। अष्टमस्य प्रथमे पादे इमानि सूत्राणि पठितानि। तत्र 'पदस्य' इत्येतत् 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इत्यतः प्रागधिक्रियते। 'पदात्' इत्येतत्तु 'कुत्सने च सुप्यगोत्रादौ' इत्यतः प्रागधिक्रियते। 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' इति पदत्रयं तु आ पादसमाप्तेः अधिक्रियते इति भाष्यादिषु स्पष्टम्।

(४०४) युष्मदस्मदोः षष्ठी। षष्ठ्यादिविशिष्टयोरिति। षष्ठीचतुर्थीद्वितीयाभिः सह तिष्ठत इति षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थौ, तयोरिति विग्रहः। षष्ठ्यादिविशिष्टयोरिति यावत्। षष्ठी-

---

(४०१) पद—पदस्य। अधिकारसूत्र।

मूलार्थ—इसका अधिकार है।

विवरण—"अपदान्तस्य मूर्धन्यः" (८-३-५५) के पूर्व तक इसका अधिकार है। अतः इस बीच प्रत्येक कार्य 'पद' को अभिलक्षित कर होगा।

(४०२) पद—पदात्। अधिकारसूत्र।

मूलार्थ—इसका अधिकार है।

विवरण—"कुत्सने च सुप्यगोत्रादौ" (८-१-६९) पर्यन्त इसका अधिकार है। अतः इस बीच प्रत्येक कार्य पद से पर होगा।

(४०३) पद—अनुदात्तं, सर्वम्, अपादादौ। अधिकारसूत्र।

मूलार्थ—इसका अधिकार है।

विवरण—अष्टाध्यायी के प्रथम-पाद की समाप्ति—"विभाषितं विशेषवचने बहुवचनम्" (८-१-७४)—तक इसका अधिकार है।

विशेष—इस मध्य सब कार्यों में इन तीनों अधिकारों के फलस्वरूप प्रत्येक विधीयमान कार्य पद से होगा तथा चरण के आदि में न रहनेपर सम्पूर्ण पद के स्थान में वक्ष्यमाण आदेश अनुदात्त होंगे।

(४०४) पद—युष्मदस्मदोः, षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः, वाम्-नावौ। अनुवृत्ति—पदस्य, पदात्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ (तीनों का अधिकार)। विधिसूत्र।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्वां नौ इत्यादेशौ स्तः, तौ चानुदात्तौ । (४०५) **बहुवचनस्य वस्नसौ ८ । १ । २१ ॥** उक्तविधयोरनयोः षष्ठ्यादिबहुवचनान्तयोर्वस्नसौ स्तः । वांनावोरपवादः । (४०६) **तेमयादेकवचनस्य ८ । १ । २२ ॥** उक्तविधयोरनयोः षष्ठीचतुर्थ्यो-

---

चतुर्थीद्वितीयासु परतः तिष्ठत इति विग्रहस्तु न भवति, 'पदस्य' इत्यधिकारविरोधात् । पदस्येत्यनुवृत्तं हि द्विवचनेन विपरिणतं षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोरित्यस्य विशेषणम् । न हि षष्ठ्यादिविभक्तिषु परतः पदत्वमस्ति, भ्यामादौ तत्सत्त्वेऽपि तदितरत्र द्वितीयादौ तदभावात् । स्थग्रहणस्य तु प्रयोजनं मूल एव वक्ष्यते ।

(४०५) बहुवचनस्य वस्नसौ । उक्तविधयोरिति । षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्युष्मदस्मदोरित्यर्थः ।

(४०६) तेमयावेकवचनस्य । षष्ठीचतुर्थ्येकवचनान्तयोरिति । अत्र द्वितीयाग्रहणं नानुवर्तते, तत्र त्वामादेशयोर्वक्ष्यमाणत्वात् । 'तेमयौ' इति सूत्रे तेश्च मेश्च तेमयाविति विग्रह इति भावः । अयमपि वाम्-नावोरपवादः ।

मूलार्थ—पद से पर किन्तु पाद (चरण) के आदि में न रहने वाले षष्ठी, चतुर्थी तथा द्वितीया से युक्त 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों को क्रमशः 'वाम्' तथा 'नौ' आदेश होते हैं और वे अनुदात्त भी होते हैं ।

विवरण—उपर्युक्त तीनों अधिकारों की अनुवृत्ति के प्रभाव से 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों को षष्ठी, चतुर्थी तथा द्वितीया विभक्तियों में (षष्ठीचतुर्थीद्वितीयाभिः सह तिष्ठत इति षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थौ, तयोः) पाद (श्लोक या ऋचा के चरण) के आरम्भ में (अपादादौ) ये आदेश नहीं होते तथा ये आदेश अनुदात्त जाने जायँ । अधिकारलभ्य "पदस्य" वचनविपरिणामद्वारा 'पदयोः' के रूप में परिवर्तित किया गया है तथा वह 'षष्ठी-चतुर्थी-द्वितीयास्थयोः' का विशेषण है ।

निष्कर्ष—१-इस सूत्र की प्रवृत्ति में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं । 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों के पूर्व किसी पद का रहना आवश्यक है । २—पद्यरचना में 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्दों को 'श्लोक' अथवा 'ऋचा' के आदि में नहीं होना चाहिये ।

(४०५) **पद**—बहुवचनस्य, वस्नसौ । **अनुवृत्ति**—पदस्य, पदात्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ (तीनों का अधिकार), युष्मदस्मदोः, षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—उपर्युक्त स्थिति में विद्यमान इन दोनों शब्दों को षष्ठी, चतुर्थी तथा द्वितीया के बहुवचन में क्रमशः 'वस्' तथा 'नस्' आदेश होते हैं तथा ये 'अनुदात्त' रहते हैं । 'वाम्' और 'नौ' का अपवाद है ।

विवरण—उपर्युक्त तीनों अधिकारसूत्रों के अतिरिक्त "युष्मदस्मदोः०" (८-२-२०) से 'युष्मदस्मदोः' तथा 'षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः' की भी अनुवृत्ति की जारही है । प्रकृत-सूत्रस्थ 'बहुवचस्य' पद 'युष्मदस्मदोः' का विशेषण है । अतः उससे तदन्तविधि होती है । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "पद से पर, किन्तु पद्यरचना में श्लोक या ऋचा के आदि में न रहने पर—षष्ठी, चतुर्थी और द्वितीया-विभक्ति में विद्यमान बहुचनान्त 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों के स्थान पर क्रमशः 'वस्' और 'नस्' आदेश होते हैं । इन्हें 'र्' और विसर्ग होकर 'वः' तथा 'नः' रूप बनते हैं ।

(४०६) **पद**—तेमयौ, एकवचनस्य । **अनुवृत्ति**—तीनों अधिकारसूत्र—६-१-१६।१७-१८, षष्ठीचतुर्थीस्थयोः, युष्मदस्मदोः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—उपर्युक्त स्थिति में विद्यमान इन दोनों शब्दों को षष्ठी तथा चतुर्थी के एकवचन में क्रमशः ते, मे आदेश होते हैं और वे अनुदात्त रहते हैं ।

विवरण—तीनों अधिकार-सूत्रों की अनुवृत्ति पूर्ववत् चली आरही है । इसके अतिरिक्त स्थानी के विषय में जिज्ञासा की शान्ति "युष्मदस्मदोः०" (८-१-२०) सूत्र से 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रवचनान्तयोस्ते मे एतौ स्तः। (४०७) त्वामौ द्वितीयायाः ८।१।२३॥
द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वा मा एतौ स्तः।

श्रीशस्त्वावतु मापीह दत्तात्ते मेऽपि शर्म सः।
स्वामी ते मेऽपि स हरिः पातु वामपि नौ विभुः॥ १॥
सुखं वां नौ ददात्वीशः पतिर्वामपि नौ हरिः।
सोऽव्याद्वो नः शिवं वो नो दद्यात्सेव्योऽत्र वः स नः॥ २॥

---

(४०७) त्वामौ द्वितीयायाः। त्वाश्चमाश्चेति विग्रहः। एकवचनस्येत्यनुवर्तते। तदाह—द्वितीयेत्यादिना। अथ विभक्तिक्रमक्लृप्तद्वितीयाचतुर्थीषष्ठीक्रमेण एकद्विबहुवचनक्रमेण चोदाहरति। श्रीशः इत्यादि श्लोकद्वयेन। तत्र 'श्रीशस्त्वावतु मापीह' इति प्रथमः पादः। श्रियाः ईशः पतिः विष्णुः त्वा मा अपि पातु इत्यन्वयः। अत्र त्वाम्, माम् इति द्वितीयैकवचनान्तयोः त्वा मा इत्यादेशौ। दत्तात्ते मेऽपि शर्म स इति। स श्रीशः ते मेऽपि शर्म सुखं दत्तादित्यन्वयः। 'डुदाञ् दाने' आशिषि लोटि दत्तादिति रूपम्। दद्यादिति क्वचित् पाठः। अत्र तुभ्यम् मह्यम् इति चतुर्थ्येकवचनान्तयोः ते मे इत्यादेशौ। स्वामी ते मेऽपि स हरिरिति। अत्र तव मम इति षष्ठ्येकवचनान्तयोः ते मे आदेशौ। पातु वामपि नौ विभुरिति। विभुः सर्वव्यापकः वां नौ अपि पातु इत्यन्वयः। अत्र युवाम् आवाम् इति द्वितीयाद्विवचनयोः वां नौ इत्यादेशौ। सुखं वां नौ ददात्वीश इति। नौ इत्यनन्तरमपिशब्दोऽध्याहार्यः। अत्र युवाभ्याम् आवाभ्याम् इति चतुर्थीद्विवचनान्तयोः वांनावौ। पतिर्वामपि नौ हरिरिति। अत्र युवयोः आवयोरिति षष्ठीद्विवचनान्तयोः वांनावौ। सोऽव्याद्वो न इति। सः हरिः वः नः अपि अव्यात् रक्षतात् इत्यर्थः। अत्र युष्मान् अस्मान् इति द्वितीयाबहुवचनान्तयोः वस्नसौ। शिवं वो नो दद्यादिति। शिवमिति शुभमुच्यते। न इत्यनन्तरम् अपीत्यध्याहार्यम्। अत्र युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम् इति चतुर्थी-

---

करने पर होती है। इसके साथ ही 'षष्ठीचतुर्थीस्थयोः'[1] की अनुवृत्ति करने से 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों की स्थिति के विषय में परिज्ञान होता है। फलतः "पद से पर 'षष्ठी' तथा 'चतुर्थी' विभक्ति में स्थित एकवचनान्त 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्दों के स्थान पर क्रमशः 'ते' और 'मे' आदेश (साथ में अनुदात्त भी) होते हैं।

(४०७) पद—त्वामौ, द्वितीयायाः। अनुवृत्ति—पूर्वोक्त तीनों अधिकारसूत्र, युष्मदस्मदोः, एकवचनस्य। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उपर्युक्त स्थिति में विद्यमान द्वितीया के एकवचनान्त 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों के स्थान पर क्रमशः 'त्वा' 'मा' आदेश होते हैं।

विवरण—पूर्वोक्त तीनों अधिकार-सूत्रों की अनुवृत्ति के अतिरिक्त 'युष्मदस्मदोः' तथा "तेमयावेकवचनस्य" (८-१-२२) से 'एकवचनस्य" की अनुवृत्ति भी की जारही है। 'युष्मदस्मदोः' का विशेषण 'एकवचनस्य' है। अतः उससे तदन्तविधि का ग्रहण होता है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होता है कि—"पद से पर द्वितीया के एकवचनान्त 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों के स्थान पर क्रमशः 'त्वा' और 'मा' आदेश हों"।

मूलार्थ—(श्लोकार्थ) (१) लक्ष्मीपति तेरी तथा मेरी रक्षा करें। वह तेरे लिये कल्याणकारी हों। वह तेरे तथा मेरे अधीश्वर हैं। सर्वत्र व्यापक हरि (विष्णु) तुम दोनों तथा हम दोनों की रक्षा करें। भगवान् तुम दोनों तथा हम दोनों को सुख दें। विष्णु तुम दोनों हम दोनों के स्वामी हैं। वह तुम सब तथा हम सब की रक्षा करें। वह तुम सब तथा हम सब के लिये कल्याण-

---

१. द्वितीयान्तस्यादेशान्तरविधानसामर्थ्यात् षष्ठी-चतुर्थ्योरेवायं योगः। काशिका।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदात्परयोः किम् ? वाक्यादौ मा भूत् । त्वां पातु । मां पातु । अपादादौ किम् ? 'वेदैरशेषैः संवेद्योऽस्मान्कृष्णः सर्वदाऽवतु ।' स्थग्रहणाच्छ्रूयमाणविभक्तिकयोरेव । नेह—इति युष्मत्पुत्रो ब्रवीति । इत्यस्मत्पुत्रो ब्रवीति । 'समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः' (४७१४) । 'एकतिङ् वाक्यम्' (वा ११९९) । तेनेह न—ओदनं पच, तव भविष्यति । इह तु स्यादेव—'शालीनां ते ओदनं दास्यामि इति । 'एते वांनावादय आदेशा अनन्वादेशे वा वक्तव्याः' (वा ४७१७) । अन्वादेशे तु नित्यं स्युः । धाता ते

बहुवचनान्तयोः वस्नसौ । सेव्योऽत्र वः स नः इति । स हरिः वः नः अपि सेव्यः भजनीय इत्यर्थः । 'कृत्यानां कर्तरि वा' इति षष्ठी । अत्र युष्माकम्, अस्माकम् इति षष्ठीबहुवचनान्तयोः वस्नसौ । त्वां पातु मां पात्विति । अत्र युष्मदस्मदोः पदात् परत्वाभावात् 'त्वामौ द्वितीयायाः' इति न भवतीत्यर्थः । यद्यप्यत्र अस्मच्छब्दस्य पात्विति पदात् परत्वमस्ति, तथापि भिन्नकालं वाक्यद्वयमिह विवक्षितमित्यदोषः । संवेद्योऽस्मानिति । अत्रास्मच्छब्दस्य पादादौ स्थितत्वान्नादेशः । यद्यप्यनुष्टुप्छन्दस्कोऽयं श्लोकः । तत्र एकैकः पादः अष्टाक्षरः इति स्थितिः । तत्र सन्ध्यभावे 'अस्मान् कृष्णः सर्वदाऽवतु' इत्यस्य नवाक्षरत्वान्न पादत्वम् । कृते सन्धौ । ओकारस्य परादिरवे सति अष्टाक्षरत्वव्याघातः संवेद्य इत्यस्य पदत्वाभावात् अस्मदः पदात् परत्वाभावश्च । पूर्वान्तत्वे तु स्मानित्यस्य पादादिस्थितस्य नास्मच्छब्दरूपता, तथापि संवेद्यो इत्येकादेशविशिष्टस्य पूर्वान्तत्वात् पदत्वम्, स्मानित्यस्य तु एकदेशविकृतन्यायेन द्वितीयान्तास्मच्छब्दरूपत्वम् । वस्तुतस्तु ओकारस्य पूर्वान्तत्वात् 'संवेद्यो' इत्यस्य पदत्वम्, स्मानित्यादेरष्टाक्षरत्वं च । परादित्वाच्चास्मच्छब्दरूपता । 'उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्' इति तु नास्तीति इण्धातौ निरूपयिष्यामः । केचित्तु अपादादौ किम ? 'युष्मान् रक्षतु गोविन्दोऽस्मान् कृष्णस्सर्वदाऽवतु' इति प्रत्युदाहरन्ति । तन्न, युष्मानित्यस्य पदात् परत्वाभावादेवाप्राप्तेः अस्मानित्यस्य तु पदात् परत्वेऽपि समानवाक्यस्थपदात् परत्वाभावात् । ननु 'युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयान्तयोः' इत्येव सूत्र्यताम्, किं स्थग्रहणेन ? स्थग्रहणेऽपि कथञ्चित्तस्यैवार्थस्य लाभादित्यत आह—स्थग्रहणादिति । स्थाधातुः अहानौ वर्तते 'समये तिष्ठ सुग्रीव' इति यथा । समये—मर्यादायां विषये अनुवृत्तिं मा हासीरिति गम्यते । ततश्च षष्ठीचतुर्थीद्वितीयाः तिष्ठतः न परित्यजतः इति व्युत्पत्तिर्विवक्षिता । षष्ठ्यादिविभक्तीरपरित्यजतोरित्यर्थः । अलुसषष्ठ्यादिविभक्तिविशिष्टयोरिति फलतीति भावः । इति युष्मत्पुत्र इति । पदात् परत्वं सम्पादयितुम् इति शब्दः । युवयोर्युष्माकं वा पुत्रः, आवयोरस्माकं वा पुत्र इति विग्रहः । अत्र विभक्तेर्लुका

प्रद हों । वह तुम सब तथा हम सब के सेवनीय हैं । 'पदात्परयोः क्यों कहा ? वाक्य के आदि में न हो । त्वाम् पातु । (= तेरी रक्षा करें) । माम् पातु (= मेरी रक्षा करें) । 'अपादादौ' क्यों कहा ? 'वेदैरशेषैः संवेद्योऽस्मान् कृष्णः सर्वदाऽवतु' । 'स्थ' ग्रहण करने से ये आदेश श्रूयमाणविभक्तिस्थल में ही होते हैं । अतः 'युष्मपुत्रो ब्रवीति' एवम् 'अस्मत्पुत्रो ब्रवीति' में आदेश नहीं हुए । वा० 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों के स्थान पर होने वाले आदेश तथा अनुदात्त समानवाक्य में ही होते हैं । जिसमें एक तिङन्त-पद रहता है, उसे वाक्य कहते हैं । इसलिये 'ओदनं पच, तव भविष्यति'—इसमें आदेश नहीं हुए । इस वाक्य में तो होगा—'शालीनां ते ओदनं दास्यामि' । 'वां' 'नौ' आदि आदेश अन्वादेश न होने पर विकल्प से होते हैं । अन्वादेश में नित्य होंगे । 'धाता ते भक्तोऽस्ति' अथवा 'धाता तव भक्तोऽस्ति' । 'तस्मै ते नमः' ही होगा ।

विवरण—मूलस्थ श्लोकों में १–त्वाम् = त्वा, (द्वितीया-एकवचन) २–माम् = मा (द्वितीया एकवचन) ३–तुभ्यम् = ते, ४–मह्यम् = मे (दोनों चतुर्थी-एकवचन), ५–तव = ते, ६–मम =

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लुप्तत्वात् श्रूयमाणविभक्तिकत्वाभावाद्वादेशप्रवृत्तिः। तव पुत्रो मम पुत्र इति विग्रहस्तु न, 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति तत्र त्वमादेशयोर्वक्ष्यमाणत्वात्। समानवाक्ये इति। निमित्तनिमित्तिनोरेकवाक्यस्थत्वे इत्यर्थः। निघातशब्दः अनुदात्तवाची। एकतिङिति। तिङित्यनेन तिङन्तं विवक्षितम्। एकः तिङ् यस्येति विग्रहः। इदं च वाक्यलक्षणमेतच्छास्त्रोपयोग्येव। तेन 'पश्य शुनो धावति' इत्यादौ नाव्याप्तिरिति समर्थसूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। ओदनमिति। ओदनं पचेत्येकं वाक्यम्। तव भविष्यतीत्यपरं वाक्यम्। ततश्च तवेति युष्मच्छब्दस्य भिन्नवाक्यस्थत्वेनैकवाक्यस्थात् पदात् परत्वाभावान्नादेश इति भावः। शालीनामिति। व्रीहीणामित्यर्थः। प्रकृतिविकारभावे षष्ठी। इति वानावादयः इति। इदं च 'सपूर्वायाः' इति सूत्रे भाष्ये स्थितम्। धातेति। महादेवं प्रति वचनमेतत्। अन्वादेशे तु

मे (दोनों षष्ठी-एकवचन), ७-युवाम् = वाम्, ८-आवाम् = नौ, (दोनों द्वितीया-द्विवचन), ९-युवाभ्याम् = वाम् (चतुर्थी-द्विवचन), १०-आवाभ्याम् = नौ (चतुर्थी-द्विवचन), ११-युवयोः = वाम् (षष्ठी-द्विवचन), १२-आवयोः=नौ, (षष्ठी-द्विवचन) १३-युमान् = वः (द्वितीया-बहुवचन), १४-अस्मान् = नः (द्वितीया-बहुवचन), १५-युष्मभ्यम् = वः (चतुर्थी-बहुवचन), १६-अस्मभ्यम् = नः (चतुर्थी-बहुवचन), १७-युष्माकम् = वः (षष्ठी-बहुवचन), १८-अस्माकम् = नः (षष्ठी-बहुवचन)—इस प्रकार इन आदेशों के उदाहरण हैं। प्रत्युदाहरण—१-इन आदेशों में 'पदस्य' तथा 'पदात्' का अधिकार होने से वाक्य के आदि में 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों को 'वाम्' 'नौ' आदि आदेश नहीं होते। अतः 'त्वाम् पातु' तथा 'माम् पातु'—वाक्यों में 'त्वाम्' तथा 'वाम्' शब्दों को वाक्य के आदि में होने से 'त्वा' तथा 'मा' आदेश नहीं हुए। २—दूसरा अपदादि अधिकार होने से भी "वेदैरशेषैः०" श्लोक के द्वितीय चरण में आरम्भिक पद 'अस्मान्' के स्थान पर 'नः' आदेश नहीं हुआ।

विशेष—"युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ" (८-१-२०) सूत्र में 'स्थ' (तिष्ठति इति स्थः) ग्रहण करने से यह विदित होता है कि 'वाम्'-'नौ' आदि आदेश होने में द्वितीया-आदि विभक्तियों की विद्यमानता (श्रवण होना) आवश्यक है। इसके फलस्वरूप समास में प्रत्ययलक्षण द्वारा लुप्तविभक्तिक-ज्ञान-स्थल में पूर्वोक्त आदेश नहीं होते। अतः युष्मत्पुत्रः (=तुम्हारा पुत्र, युष्माकं पुत्रः षष्ठीतत्पुरुष-समास) में षष्ठी-विभक्ति की विद्यमानता न रहने पर 'वः' आदेश नहीं हुआ। इसी तरह 'अस्मत्पुत्रः' (= हमारा पुत्र) में भी आदेश नहीं हुआ। वा० 'युष्मद्' एवम् 'अस्मद्' शब्दों के स्थान में विधीयमान अनुदात्त (वाम्, नौ, ते, मे, वः तथा नः) आदेश समान-वाक्य में ही होते हैं। इस विधान में निमित्तस्वरूप समान-वाक्य अपेक्षित है। जिसमें एक क्रियावाचक पद रहे (एकं तिङन्तं यत्र) उसे वाक्य कहते हैं। अर्थात् निमित्त एवं निमित्ती की स्थिति जब एक वाक्य में रहे तब उसे 'समान-वाक्य' कहा जायगा। तात्पर्य यह है कि एक मुख्य क्रिया वाले पद-समूह को समान-वाक्य माना जायगा। पुनः इन आदेशों के विषय में यह व्यवस्था की जाती है (वा०) कि ये 'वाम्' 'नौ' आदि आदेश 'अन्वादेश' में तो नित्य होते हैं किन्तु 'अनन्वादेश' (कथित-कथन रूप अन्वादेश के न रहने पर) में विकल्प से होते हैं। तदनुसार 'धाता ते (अथवा तव) भक्तः अस्ति' (=ब्रह्मा तुम्हारे भक्त हैं) में 'तव' के स्थान पर 'ते' आदेश विकल्प से हुआ। तदनन्तर इस कथन से सम्बद्ध 'तस्मै ते नमः' (पूर्वोक्त आप को नमस्कार है) वाक्य में 'तव' के स्थान पर 'ते' आदेश नित्य हुआ। इन आदेशों में समान-वाक्य का प्रतिबन्ध होने के कारण 'ओदनं पच, तव भविष्यति'—इन दो वाक्यों में स्थित (=भात पकाओ, वह तुम्हारा होगा) में 'तव' के स्थान पर 'ते' आदेश नहीं हुआ, क्योंकि 'ओदनं पच'—यह भिन्न वाक्य है। इसके विपरीत एकमुख्यक्रियात्मक वाक्य 'शालीनां ते ओदनं दास्यामि' (= शाली-धान का भात तुम्हें दूँगा)—में 'तव' के स्थान पर 'ते' आदेश हुआ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मक्तोऽस्ति, धाता तव मक्तोऽस्तीति वा। तस्मै ते नम इत्येव। (४०८) **न चवाहाहैवयुक्ते ८। १। २४॥** चादिपञ्चकयोगे नैते आदेशाः स्युः। हरिस्त्वां मां च रक्षतु। कथं त्वां मां वा न रक्षेदित्यादि। युक्तग्रहणात्साक्षाद्योगेऽयं निषेधः। परम्परासम्बन्धे त्वादेशः स्यादेव। हरो हरिश्च मे स्वामी। (४०९) **पश्यार्थैश्चानालोचने ८। १।**

नित्यमित्यस्योदाहरणमाह—तस्मै ते नम इत्येवेति। अत्र 'योऽग्निर्हव्यवाट्, य इन्द्रो वज्रबाहुः' इत्यादि पूर्ववाक्यं द्रष्टव्यम्। एवं च किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं बोधयितुं पुनरुपादानादन्वादेशोऽयमिति तत्र नित्य एवादेश इति भावः।

(४०८) न चवाहा। च इत्यव्ययं समुच्चये, वा इति विकल्पे, हा इत्यद्भुते, अह इति खेदे, एव इत्यवधारणे, एतेषां द्वन्द्वः। युक्त इति भावे क्तः। तदाह—चादिपञ्चकयोगे इति। पञ्चानामन्यतमेन योगे इत्यर्थः। एते इति। वांनावादय इत्यर्थः।' 'युष्मदस्मदोः षष्ठी' इत्यादिसूत्रेभ्यस्तदनुवृत्तेरिति भावः। इत्यादीति। कृष्णो मम हा प्रसीदति। अद्भुतमिदमित्यर्थः। कृष्णो ममाह न प्रसीदति। अहेति खेदे। कृष्णो ममैव सेव्यः। ननु 'न चवाहाहैवैः' इत्येवास्तु, मास्तु युक्तग्रहणम्। 'वृद्धो यूना' इत्यादिवत् तृतीययैव तल्लाभादित्यत आह—युक्तग्रहणादिति। यत्र चाद्यर्थैः समुच्चयादिभिर्युष्मदस्मदर्थयोः साक्षादन्वयः तत्रैवायं निषेध इत्यर्थः। हरो हरिश्चेति। अत्र चशब्दस्य हरिहरयोः साक्षादन्वयः। समुचितयोर्हरिहरयोः स्वामीत्यत्रान्वयः। स्वामीत्यस्य मे इत्यनेनान्वयः। ततश्च चशब्दस्य अस्मच्छब्देन साक्षादन्वयाभावात्। मे आदेशस्य निषेधो नेति भावः।

(४०९) पश्यार्थैश्चानालोचने। दर्शनं पश्यः। 'दृशिर् प्रेक्षणे' इत्यस्मादत एव निपात-

---

(४०८) पद—न, चवाहाहैवयुक्ते। अनुवृत्ति—युष्मदस्मदोः, षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः, वां-नावौ, वहुवचनस्य वस्नसौ, तेमयौ एकवचनस्य, त्वमौ द्वितीयायाः। विधि(निषेध)सूत्र।

मूलार्थ—च, वा, हा, अह तथा एव—इनके योग में 'वाम्', 'नौ' आदि आदेश नहीं होते। जैसे—हरिः त्वां मां च रक्षतु। कथं त्वां मां च न रक्षेत्—इत्यादि। सूत्र में 'युक्त' कहने से 'युष्मद्' 'अस्मद्' के साथ साक्षात् योग रहने पर ही यह निषेध है। परम्परा से योग होने पर आदेश हो जाता है। जैसे—हरो हरिश्च मे स्वामी।

विवरण—प्रकरणवश पूर्वोक्त चारों सूत्रों ७-१-२०।२१-२२-२३ से सम्बद्ध 'युष्मद्' एवं 'अस्मद्' शब्दों के षष्ठी, चतुर्थी तथा द्वितीया विभक्तियों में विधीयमान 'वाम्' 'नौ' आदि आदेश—च, वा, हा, अह तथा एव के योग होने पर—नहीं होते। ये पाँचों अव्यय हैं। इनके अभीष्ट अर्थ इस प्रकार हैं—(१) च—समुच्चय। (२) वा—विकल्प। (३) हा—अद्भुत। (४) अह—खेद। (५) एव—अवधारण, निश्चय। सामान्यतः तृतीया-विभक्ति से सम्बद्ध-रूप अर्थ की कल्पना सम्भव होने के कारण प्रकृत सूत्र को "न च वाहाहैवैः"—इस रूप में पढ़ने पर भी निर्वाह हो सकता था। 'युक्त' पद का निवेश करने में यह तात्पर्य है कि 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्द के साथ समुच्चयादि-अर्थ-वाचक 'च' 'वा' आदि का साक्षात् सम्बन्ध होने पर ही 'त्वा' 'मा' आदि आदेशों का निषेध होगा। परम्परया सम्बन्ध होने पर यह निषेध नहीं होगा। उदाहरण—'हरिः त्वां मां च (वा)रक्षतु' (=हरि तुम्हारी और मेरी रक्षा करें)। प्रकृत वाक्य में 'त्वां' तथा 'मां' के साथ 'च' का साक्षात् सम्बन्ध है, क्योंकि 'तुम्हारी और मेरी'—अर्थात् दोनों को समवेत मानकर हरि रक्षा करता है। इसके विपरीत 'हरो हरिश्च मे स्वामी' (हर और हरि मेरे स्वामी हैं)—इस वाक्य में 'च' यद्यपि हर और हरि का समुच्चयार्थबोधक है तथापि 'अस्मत्' से साक्षात् सम्बद्ध न होने से यह निषेध प्रवृत्त नहीं हुआ। अतः नियम-प्राप्त 'मम' = 'मे' आदेश हो गया।

(४०९) पद—पश्यार्थैः, च, अनालोचने। अनुवृत्ति—पूर्वोक्त चार सूत्र ८-१-२०।२१, २२, २३। विधि(निषेध)सूत्र।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२५ ॥ अचाक्षुषज्ञानार्थैर्धातुभिर्योगे एते आदेशा न स्युः । चेतसा त्वां समीक्षते । परम्परासम्बन्धेऽप्ययं निषेधः । भक्तस्तव रूपं ध्यायति । आलोचने तु भक्तस्त्वा पश्यति चक्षुषा । **(४१०) सपूर्वायाः प्रथमाया विभाषा ८ । १ । २६ ॥** विद्यमानपूर्वात् प्रथमान्तात्परयोरनयोरन्वादेशेऽप्येते आदेशा वा स्युः । भक्तस्त्वमप्यहं तेन हरिस्त्वां त्रायते स

नात् । भावे शप्रत्ययः । 'पाघ्रा' इति पश्यादेशः । पश्यः दर्शनम् अर्थो येषां ते पश्यार्थाः, तैरिति विग्रहः । आलोचनं चाक्षुषं ज्ञानं तद्भिन्नमनालोचनम्, तत्र विद्यमानैः दर्शनार्थकैरित्यर्थः । पश्येति दृशिना ज्ञानसामान्यं विवक्षितम्, अनालोचने इति चाक्षुषपर्युदासात् । तदाह—अचाक्षुषेत्यादिना । चेतसेति । देवेत्यध्याहार्यम् । हे देव मनसा त्वां चिन्तयतीत्यर्थः । परम्परेति । 'न चवाहा' इत्यत्र युक्तग्रहणसामर्थ्यात् साक्षात्सम्बन्धविवक्षा युक्ता । इह तु तद्विवक्षायां मानाभावात् परम्परान्वयेऽपि स्यादेव निषेध इत्यर्थः । भक्तस्त्वेति । देवेत्यध्याहार्यम् । इह तवेत्यस्य रूपेणान्वयः न तु साक्षात् ध्यायतिनेति भावः । अनालोचने इत्यस्य प्रयोजनमाह—आलोचने त्विति ।

(४१०) सपूर्वायाः । वांनावाद्यादेशा अनन्वादेशे पाक्षिकाः, अन्वादेशे तु नित्या इत्युक्तम् । अन्वादेशेऽपि क्वचिद्विकल्पार्थमिदम् । सहशब्दोऽत्र सलोमक इत्यादिवत् विद्यमानवाची । विद्यमानं पूर्वं यस्या इति विग्रहः, तेन सहेति तुल्ययोगें इति सहस्य समासः तुल्ययोगवचनं प्रायिकम् इति वक्ष्यमाणत्वात् । प्रथमेत्यनेन तदन्तं गृह्यते । तदाह—विद्यमानेत्यादिना । परयोरित्यनन्तरं युष्मदस्मदोरिति शेषः । भक्तस्त्वमिति । देव दत्तेत्यध्याहार्यम् । हे देवदत्त त्वमपि भक्तः, अहमपि भक्तः इत्यन्वयः । तेनेति । भक्तत्वेनेत्यर्थः । त्रायते इति । पालयतीत्यर्थः । अत्र पूर्ववाक्योपात्तयुष्मदस्मदर्थयोरिह पुनरुपादा-

---

मूलार्थ—आँख से देखने के अतिरिक्त अर्थवाले धातुओं के योग में अन्वादेश नहीं होते । जैसे—चेतसा त्वां समीक्षते । परम्परा-सम्बन्ध में भी यह निषेध प्रवृत्त होता है । जैसे—भक्तः तव रूपं ध्यायति । देखना अर्थ में तो 'त्वा' 'मा' आदि आदेश होंगे । जैसे—भक्तः त्वा पश्यति चक्षुषा ।

विवरण—चक्षुरिन्द्रिय से साक्षात्कार करना अर्थ के अतिरिक्त अर्थवाले धातुओं के योग में पूर्वोक्त चार सूत्रों से विधीयमान 'त्वा', 'मा' आदि आदेश साक्षात् तथा परम्परा—दोनों सम्बन्धों में प्रवृत्त नहीं होते हैं । साक्षात् सम्बन्ध का उदाहरण—'चेतसा त्वां समीक्षते' (मन से तुमको भजता है) । इस वाक्य में 'समीक्षते' (देखता है) पद ज्ञानसामान्यार्थक है, अतः 'त्वा' आदेश नहीं हुआ । परम्परा-सम्बन्ध का उदाहरण—'भक्तः तव रूपं ध्यायति' (= भक्त तुम्हारे रूप का ध्यान करता है) । प्रकृत वाक्य में 'तव' पदार्थ का रूप के साथ साक्षात् सम्बन्ध है तथा ध्यान के साथ परम्परा-सम्बन्ध है, तो भी निषेध की प्रवृत्ति होने से 'तव' के स्थान पर 'ते' आदेश नहीं हुआ । प्रत्युदाहरण—'भक्तः त्वा पश्यति' । प्रकृत वाक्य में 'दृश्' धातु चक्षुरिन्द्रियज्ञानजनक क्रिया के अर्थ (देखना) का वाचक होने से 'त्वाम्' के स्थान पर 'त्वा' आदेश का निषेध नहीं हुआ ।

(४१०) पद—सपूर्वायाः, प्रथमायाः, विभाषा । अनुवृत्ति—पूर्वोक्त चार सूत्र । विधिसूत्र (विकल्प) ।

मूलार्थ—पूर्वत्र विद्यमान किसी प्रथमान्त शब्द से परवर्ती 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों के स्थान में ये अन्वादेश विकल्प से हों ।

विवरण—सूत्र में 'सह' शब्द विद्यमानार्थक है । पहले अन्वादेश में नित्य त्वा, मा आदि का विधान किया जा चुका है । अब विशेष स्थिति में विकल्प-विधान किया जारहा है । पूर्वोक्त चार सूत्रों के विषय में ही यह विकल्प-विधान है, अतः स्थानी और आदेश के विषय में वहीं से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माम् । त्वा मा इति वा । (४११) सामन्त्रितम् २ । ३ । ४८ ॥ सम्बोधने या प्रथमा तदन्तमामन्त्रितसंज्ञं स्यात् । (४१२) आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् ८ । १ । ७२ ॥ स्पष्टम् । अग्ने तव । देवास्मात्पाहि । अग्ने नय । अग्न इन्द्र वरुण । इह युष्मदस्मदोरादेशस्तिङन्तनिघातः आमन्त्रितनिघातश्च न । 'सर्वदा रक्ष देव नः' इत्यत्र तु

नादन्वादेशोऽयम् । अत्र तेनेत्येतत् पूर्वं विद्यमानं पदं, ततः परं 'हरिरिति प्रथमान्तं, ततः परस्य युष्मच्छब्दस्यान्वादेशेऽपि त्वादेशविकल्पः । तथा 'त्रायत' इत्येतत् पूर्वं विद्यमानं पदम्, ततः परं 'सः' इति प्रथमान्तम्, ततः परस्यास्मच्छब्दस्यान्वादेशेऽपि मादेशविकल्पः । 'त्रायत' इत्येतत् मध्यमणिन्यायेन उभयत्र सम्बध्यते । तेन निमित्त-निमित्तिनोः समानवाक्यस्थत्वं, सः इत्यस्य विद्यमानपूर्वत्वं च बोध्यम् ।

(४११) सामन्त्रितम् । प्रातिपदिकार्थसूत्रोपात्ता प्रथमा 'सा' इत्यनेन परामृश्यते । 'संबोधने च' इत्यतः संबोधने इत्यनुवर्तते । तदाह—सम्बोधने इत्यादिना । तदन्तमिति प्रत्ययग्रहणपरिभाषालभ्यम् । महासंज्ञाकरणात् संज्ञाविधावपि तदन्तग्रहणम् । अत एव हे है भो इत्यादीनामपि संज्ञा सिद्धा ।

(४१२) आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् । स्पष्टमिति । अनुवर्तनीयपदान्तराभावादिति भावः । अग्ने तवेति । 'अग्ने तव श्रवो वयः' इत्यृचि अग्ने इत्यविद्यमानवत् । देवास्मानित्यत्र देवशब्दः अविद्यमानवत् । 'अग्ने नय' इत्यृचि अग्ने इत्यविद्यमानवत् । 'अग्न इन्द्र वरुण' इत्यृचि अग्ने इत्यविद्यमानवदिति भावः । ततः किमित्यत आह—इहेति । अग्ने तवेत्यत्र देवास्मानित्यत्र च युष्मदस्मदोः तेनसावदेशौ न भवतः, तव अस्मानित्यनयोः पदात् परत्वाभावात् पादादौ स्थितत्वाच्च । 'अग्ने नय' इत्यत्र नयेति तिङन्तस्य 'तिङ्ङतिङः' इत्यनुदात्तत्वं न भवति । अतिङन्तात् परं तिङन्तं निहन्यते इति हि तदर्थः । इह च अग्ने इत्यतिङन्तस्य अविद्यमानवत्त्वादतिङन्तात् परत्वाभावात् नानुदात्तत्वम् । अग्न इन्द्र वरुणेत्यत्र तु 'आमन्त्रितस्य च' इति सर्वानुदात्तत्वं न भवति । पदात् परमामन्त्रितं निहन्यते इति हि तदर्थः । इह च अग्नेशब्दस्याविद्यमानवत्त्वेन पदात् परत्वाभावात् इन्द्रशब्दस्य नानुदात्तत्वम । एवं वरुणशब्दस्यापि नानुदात्तत्वम्, ततः प्राचीनयोः अग्ने

अनुवृत्ति की जारही है । तदनुसार "अन्य प्रथमान्त शब्दों के बाद षष्ठ्यादि विभक्तियों में विद्यमान 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों को अन्वादेश में 'ते' 'मे' 'वाम्' 'नौ' आदि आदेश विकल्प से होंगे" । उदाहरण—'भक्तस्त्वमप्यहं तेन हरिस्त्वां त्रायते स माम्' । इस श्लोकार्ध में 'त्वाम्' तथा 'माम्' के पूर्व क्रमशः 'हरिः' तथा 'सः' शब्द प्रथमान्त हैं, अतः अन्वादेश में इन्हें 'त्वा' तथा 'मा' आदेश विकल्प से होते हैं (=तुम और मैं भक्त हैं, अतः हरि तुम्हारी तथा मेरी रक्षा करता है) ।

(४११) पद—सा, आमन्त्रितम् । अनुवृत्ति—सम्बोधने, प्रथमा । संज्ञासूत्र ।

मूलार्थ—सम्बोधन में प्रथमान्त पद की आमन्त्रित संज्ञा होती है ।

विवरण—सूत्र में 'तद्' शब्द (सा) 'प्रथमा' का बोधक है । वह "प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा" (२-३-४६) सूत्रस्थ 'प्रथमा' का परामर्शक है । 'प्रथमा' पद भी साकाङ्क्ष है । अतः "सम्बोधने च" (२-३-४७) से 'सम्बोधन' पद की अनुवृत्ति की जाती है । तदनुसार सम्बोधन में प्रथमान्त-शब्दरूप की 'आमन्त्रित' संज्ञा होती है ।

(४१२) पद—आमन्त्रितं, पूर्वम्, अविद्यमानवत् । अनुवृत्ति—पदस्य । अतिदेशसूत्र ।

मूलार्थ—स्पष्ट है । अग्ने तव । देवास्मान् पाहि । अग्ने नय । अग्न इन्द्र वरुण । यहाँ पर 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों के स्थान पर त्वा, मा आदि आदेश, तिङन्त-निघात तथा आमन्त्रित-निघात भी नहीं हुए । 'सर्वदा रक्ष देव नः'—इस वाक्य में 'देव' पद को अविद्यमानवद्भाव होने पर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवेत्यस्याविद्यमानवद्भावेऽपि ततः प्राचीनं रक्षेत्येतदाश्रित्यादेशः। एवम् 'इमं मे गङ्गे यमुने' इति मन्त्रे यमुन इत्यादिभ्यः प्राचीनानामामन्त्रितानामविद्यमानवद्भावेऽपि मेशब्द-

---

इन्द्र इत्यनयोरविद्यमानवत्त्वात्। ननु 'सर्वदा रक्ष देव नः' इत्यत्र कथं नसादेशः, देवेत्यस्याविद्यमानवत्त्वादित्यत आह—सर्वदेति। 'लक्ष्मीपते तेऽङ्घ्रियुगं स्मरामि' 'प्रतापरुद्ध ते ख्यातिः' इत्यादौ तु ते इति विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम्, तत्र आमन्त्रितस्याविद्यमानवत्त्वात् युष्मद्शब्दत्य पादादिस्थत्वात्। एवमिति। 'इमं मे गङ्गे यमुने' इति मन्त्रे सर्वेषां निघात इत्यन्वयः। 'आमन्त्रितस्य च' इत्यनुदात्तत्वमित्यर्थः। सर्वशब्दं विशिनष्टि—यमुन इत्यादिभ्यः प्राचीनानामिति। इति आदिर्येषामिति विग्रहः। आदिना सरस्वतीशुतुद्रीत्यनयोर्ग्रहणम्। तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। यमुने, सरस्वति, शुतुद्रि इत्येतेषु एकैकस्मात्प्राचीनानां गङ्गे, यमुने सरस्वति इत्येषां सर्वेषां निघात इत्यर्थः। शुतुद्रिशब्दस्य तु अनुदात्तत्वं नेत्यविवादम्, तस्य द्वितीयपादादिस्थत्वात्। 'आमन्त्रितस्य च' इत्यत्र पदस्य, पदात्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ इत्यनुवृत्तं 'इमं मे' इत्यृचो जगतीच्छन्दस्कतया सरस्वतीस्यन्तप्रथमपादस्य द्वादशाक्षरस्य समासेः। ननु गङ्ग इत्यस्यानुदात्तत्वमुचितम्, तस्य मे इति पदात् परत्वात्। यमुने सरस्वति इत्यनयोस्तु नानुदात्तत्वसंभवः, ततः प्राचीनयोः गङ्गे यमुने इत्यनयोरविद्यमानवत्त्वेन पदात् परत्वाभावादित्यत आह—आमन्त्रितानामविद्यानवद्भावेऽपि मेशब्दमेवाश्रित्येति। आमन्त्रितानां मध्ये गङ्गे यमुने इत्यनयोरविद्यमानवद्भावेऽपीति योजनीयम्। एवं च इत्यादिभ्य इति सर्वेषामिति च बहुवचनमनुपपन्नमित्यपास्तम्। क्वचित् पुस्तकेषु यमुन इत्यादिप्राचीनामन्त्रताविद्यमानवद्भावेऽपीति पाठो दृश्यते। तत्र आदिना सरस्वतीत्येतदुच्यते। यमुने सरस्वतीत्याभ्यां प्राचीनयोरामन्त्रितयोरविद्यमानवद्भावेऽपीति सुगममेव। अयं च निघातः पदकाले स्पष्टं श्रूयते।

भी उसके पूर्व में स्थित 'रक्ष' पद को आश्रित कर आदेश हुआ। इसी तरह 'इमं मे गङ्गे यमुने' इस मन्त्र में 'यमुने' इत्यादि पदों से पूर्व पद को आमन्त्रित-संज्ञा-निमित्तक अविद्यमानवद्भाव होने पर भी 'मे' शब्द को मानकर सब शब्द अनुदात्त हो गये।

विवरण—यह अतिदेशसूत्र है (न विद्यमानम् = अविद्यमानं, तेन तुल्यम्—अविद्यमानवत्)। "पदस्य" (८-१-१६) की अनुवृत्ति आरही है। तदनुसार 'वाक्य में पूर्व-पद के रूप में स्थित आमन्त्रित-संज्ञक पद अविद्यमान के समान होता है'। उदाहरण—(१) 'अग्ने तव' (२) 'देव अस्मान् पाहि' (३) अग्ने नय। (४) 'अग्न इन्द्र वरुण'। प्रथम वाक्य में 'अग्ने' को अविद्यमानवद्भाव होने से 'पद से पर' न होने के कारण 'तव' को 'ते' आदेश नहीं हुआ। दूसरे वाक्य में 'देव' को अविद्यमानवद्भाव होने से 'अस्मान्' को 'नः' आदेश नहीं हुआ। इसी प्रकार तीसरे वाक्य में सम्बोधन विभक्त्यन्त से पर 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों के न रहने पर 'त्वा' आदि प्राप्त नहीं होते, किन्तु अतिङन्त (हे अग्ने) को आश्रित कर तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता। आमन्त्रित-संज्ञा होने का दूसरा फल यह है कि "आमन्त्रितस्य च" (६-१-१९७) से आमन्त्रित-संज्ञक को आदि-उदात्त होता है। इसके साथ ही आठवें अध्याय का दूसरा सूत्र भी "आमन्त्रितस्य च" (८-१-१९) है। उससे भी किसी शब्द से परवर्ती आमन्त्रित-संज्ञक को अनुदात्त होता है। अष्टमाध्याय-वाले सूत्र से यहाँ अनुदात्त नहीं हुआ, क्योंकि उससे पूर्वपद को अविद्यमानवद्भाव हो चुका था। 'सर्वदा रक्ष देव नः' वाक्य में 'हे देव' को अविद्यमानवद्भाव होने पर उससे पूर्व 'रक्ष' पद से पर 'अस्मान' को 'नस्' आदेश होता ही है। इसी प्रकार 'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि' ऋचा में पूर्व आमन्त्रित संज्ञक-पद नहीं के समान होने पर भी 'मे' पद से पर सब 'आमन्त्रितों' को अनुदात्त होता है। उपर्युक्त 'इमं मे०' आदि ऋचा में पदपाठ के समय सब शब्द अनुदात्त रहते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेवाश्रित्य सर्वेषां निघातः। (४१३) **नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम्** ८। १। ७३ ॥ विशेष्यं समानाधिकरणे विशेषणे आमन्त्रिते परे नाविद्यानवत्स्यात्। हरे दयालो नः पाहि। अग्ने तेजस्विन्। 'विभाषितं विशेषवचने' (सू ३६५५)। अत्र भाष्यम् 'बहुवचनमिति वक्ष्यामि' इति। बहुवचनान्तं विशेष्यं समानाधिकरणे आमन्त्रिते विशेषणे परे अविद्यमानवद्वा। यूयं प्रभवः, देवाः शरण्याः, युष्मान्भजे–वो भजे इति वा। इहान्वादेशेऽपि वैकल्पिका आदेशाः। सुपात्–सुपाद्, सुपादौ, सुपादः। सुपादम्।

---

(४१३) नामन्त्रिते। आमन्त्रितम् अविद्यमानवदित्यनुवर्तते। सामान्यवचनमित्यनेन विशेष्यसमर्पकः शब्दो विवक्षितः, विशेष्यस्य विशेषणापेक्षया सामान्यरूपत्वात्। तेन च विशेषणमाक्षिप्यते। समानाधिकरणे इति तन्नान्वेति। समानम् अधिकरणं यस्येति विग्रहः। समानशब्द एकत्वपरः। विशेष्यबोधकशब्देन अभेदसंसर्गेण एकार्थवृत्तित्वं विवक्षितमित्याशयेनाह—विशेष्यमित्यादिना। हरे दयालो इति। अत्र दयालो इति समानाधिकरणविशेषणे परे हरिशब्दो नाविद्यमानवत्। ततश्च दयालो इत्यस्याविद्यमानवत्त्वेऽपि हरे इति पदात् परत्वान्नसादेश इति भावः। अग्ने तेजस्विन्निति। इह तेजस्विन्निति विशेषणे परे अग्ने

---

(४१३) पद—न, आमन्त्रिते, समानाधिकरणे, सामान्यवचनम्। अनुवृत्ति—आमन्त्रितं, पूर्वम्, अविद्यमानवत्, पदस्य। अतिदेश(निषेध)सूत्र।

मूलार्थ—समानविभक्तिक विशेषण पर रहते हुए विशेष्य-वाची पद को अविद्यमानवद्भाव नहीं होता। जैसे–हरे दयालो नः पाहि। अग्ने तेजस्विन्। "विभाषितं विशेषवचने" में भाष्यकार ने कहा है—'बहुवचन' कहेंगे। अर्थात् समानाधिकरण आमन्त्रित विशेषण होने की स्थिति में बहुवचनान्त विशेष्य को विकल्प से अविद्यमानवद्भाव होता है। जैसे–यूयं प्रभवः। देवाः शरण्याः। युष्मान् भजे अथवा वः भजे। यहाँ अन्वादेश में भी विकल्प से आदेश होते हैं। सुपात्–द्, सुपादौ, सुपादः। सुपादम्, सुपादौ।

विवरण—सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिये इससे पूर्व सूत्र "नामन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्" (८-१-७२) से आमन्त्रितं, पूर्वम् तथा अविद्यमानवत् की अनुवृत्ति की जारही है। "पदस्य" का अधिकार है। तदनुसार 'समान-विभक्तिक (विशेषण-वाची) 'आमन्त्रित'–पद के परवर्ती रहने पर उससे पूर्ववर्ती विशेष्यवाची 'आमन्त्रित' पद को अविद्यमानवद्भाव नहीं होता अर्थात् ऐसी स्थिति में वह विद्यमान ही माना जाता है। **उदाहरण**—'हरे दयालो नः पाहि'। इस वाक्य में 'दयालु' विशेषण है तथा 'हरि' विशेष्य है। उसे अविद्यमानवद्भाव नहीं हुआ। अतः 'हरे' में आदि-वर्ण (अ) उदात्त है। 'दयालो' में अनुदात्त होगा। इसी प्रकार 'अग्ने तेजस्विन्' इस वाक्य में 'अग्ने' को अविद्यमानवद्भाव न होने से, उससे पर 'तेजस्विन्' शब्द को निघात हुआ। 'दयालो' को अविद्यमानवद्भाव होने पर भी 'हरे' पद से पर 'अस्मद्' शब्द है, अतः 'नः' आदेश हो गया।

विशेष—अष्टाध्यायी-क्रम में इस सूत्र के अनन्तर विद्यमान सूत्र की प्रसङ्गवश व्याख्या की गई है। तदनुसार भाष्यकार ने विशेष्यवाची पद के बहुवचन होने पर इस विधान के विकल्प से होने की व्यवस्था की है। इस प्रकार समानविभक्तिक विशेषणवाची शब्द के परवर्ती रहने की स्थिति में बहुवचनान्त विशेष्य-वाचक पद को विकल्प से 'अविद्यमानवद्भाव' होता है। अतः 'यूयं प्रभवः, देवाः शरण्याः (= आप देवता लोग समर्थ तथा शरण्य हैं), युष्मान् भजे' (= अतः मैं आपकी सेवा करता हूँ) —इन वाक्यों में विशेष्यवाची 'यूयं' तथा 'देवाः' शब्द बहुवचनान्त हैं। अतः पक्ष में अविद्यमानवद्भाव न होनेपर 'प्रभवः' (विशेषणवाचक पद) को अनुदात्त होता है। इस सूत्र की प्रवृत्ति न होने पर पक्ष में 'प्रभवः' को आद्युदात्त होगा। यही क्रम 'देवाः शरण्याः' में भी है। अन्वादेश में 'युष्मान्' के स्थान पर विकल्प से 'वः' आदेश होगा।

निर्देश—सुन्दर चरणवाला अर्थ में (शोभनौ पादौ यस्य–बहुव्रीहि-समास) 'सुपाद्' शब्द

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुपादौ । (४१४) पादः पत् ६ । ४ । १३० ॥ पाच्छब्दान्तं यदङ्गं मं तदवयवस्य पाच्छब्दस्य पदादेशः स्यात् । सुपदः । सुपदा, सुपाद्भ्यामित्यादि । इति दान्ताः । अग्निं मन्थतीत्यग्निमत्–अग्निमद्, अग्निमथौ, अग्निमथः । अग्निमद्भ्यामित्यादि । इति थान्ताः । 'ऋत्विग्—' (सू ३७३) इत्यादिसूत्रेणाञ्चेः सुप्युपपदे क्विन् । (४१५)

इत्यस्य अविद्यमानवत्त्वाभावात् पदात् परत्वात्तेजस्त्विन्नित्यस्य निघात इति भावः । सु शोभनौ पादौ यस्येति बहुव्रीहौ 'संख्यासुपूर्वस्य' इति पादशब्दान्त्यलोपे सुपाद्शब्दः । तस्य सुटि रूपाण्याह—सुपादित्यादिना । शसि विशेषमाह ।

(४१४) पादः पत् । भस्य अङ्गस्येति चाधिकृतं पाद इत्यनेन विशेष्यते । तदन्तविधिः । यदाह—पाच्छब्दान्तमिति । पाच्छब्दस्येति । पाच्छब्दान्तस्य विधीयमानोऽपि पदादेशः 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इति पाद्शब्दस्यैव सर्वादेशो भवति, न तु तदन्तस्येति भावः । इत्यादीति । सुपदे । सुपदः । सुपदः । सुपदोः । सुपदि । इति दान्ताः । अथ थकारान्ता निरूप्यन्ते अग्निमदिति । 'मन्थ विलोडने' इति भ्वादौ । 'मन्थ विलोडने' इति क्र्यादौ । उभाभ्यामपि क्विपि 'अनिदिताम्' इति नलोपे अग्निमथ् इति रूपम् । ततः सुब्उत्पत्तिः । सौ जश्त्वचर्त्वे इति भावः । भ्यामादौ जश्त्वेन थस्य दः—अग्निमद्भ्यामित्यादि । सुपि 'खरि च' इति चर्त्वम्—अग्निमत्सु । 'मथे विलोडने' इत्यस्याप्येतदेव रूपम् । 'मथि हिंसासंक्लेशनयोः' इति इदितस्तु नलोपाभावात् अग्निमन् अग्निमन्थावित्यादि । इति थान्ताः । अथ चकारान्ता निरूप्यन्ते । ऋत्विगित्यादिसूत्रेणेति । प्रअञ्चतीत्यर्थे 'अञ्चु गतिपूजनयोः' इति गत्यर्थकाद्धातोः नोपधात् क्विन्नित्यर्थः । पूजार्थस्य त्वग्रे

की प्रक्रिया बतलाई जारही है । (क) सुपाद्+सु (सु), <सुपाद् (विभक्तिलोप), सुपाद्+औ, <सुपादौ । सुपाद्+अस् (जस्), <सुपादः (स्=र्=:) । (ख) सुपाद्+अम्, <सुपादम् । सुपादौ (औ) ।

(४१४) पद—पादः, पत् । अनुवृत्ति—भस्य, अङ्गस्य । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'पाद्'–शब्दान्त भसंज्ञक-अङ्ग के अवयवस्वरूप 'पाद्' शब्द को 'पद्' आदेश होता है । सुपदः । सुपदा, सुपाद्भ्याम् इत्यादि । अग्नि को मथता है—इस अर्थ में अग्निमत्–द्, अग्निमथौ, अग्निमथः । अग्निमद्भ्याम् इत्यादि । "ऋत्विग्०" (३७३) इत्यादि सूत्र से 'सुप्' (प्र) उपपद 'अञ्च्' धातु से 'क्विन्' प्रत्यय होने पर (आगे 'न्'–लोप का विधान किया जारहा है) ।

विवरण—सूत्रार्थ को स्पष्ट रूप देने के लिये "अङ्गस्य" (६-४-१) तथा "भस्य" (६-४-१२९) की अनुवृत्ति करनी पड़ती है । सूत्रस्थ 'पादः' शब्द 'अङ्गस्य' का विशेषण है, अतः उससे तदन्तविधि होती है । तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "पाद्–अन्त वाले भसंज्ञक अङ्ग के स्थान पर 'पत्' आदेश हो" । 'निर्दिश्यमानस्य आदेशा भवन्ति' परिभाषा के अनुसार 'पाद्' शब्द को अभिलक्षित कर आदेश की प्रवृत्ति होगी । अनेकाल् होने के कारण सम्पूर्ण 'पाद्' शब्द को 'पत्' आदेश होता है । उदाहरण—सुपाद्+अस् (शस्), <सुपत्+अस् ('सुपाद्' की भसंज्ञा होने के कारण पाद् = पत्), <सुपद्+अस् (त्=द्), सुपदः (स्=र्=:) । (ग) सुपाद्+आ (टा), <सुपत्+आ = (पाद् = पत्), सुपदा (त्=द्) । सुपाद्+भ्याम्, <सुपाद्भ्याम् । सुपाद्भिः इत्यादि ।

निर्देश—१–'अग्नि को मथता है'—अर्थ में (अग्निं मथ्नाति) अग्निमथ् शब्द है । (क) अग्निमथ्+सु (सु), <अग्निमथ् (विभक्तिलोप), अग्निमद् (थ्=द्—जश्त्व)–अग्निमत्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ६।४।२४॥ हलन्तानामनिदितामङ्गानामुपधायाः नस्य लोपः स्याक्ङिति ङिति च। 'उगिदचाम्—' (सू ३६१) इति नुम्। 'संयोगान्तस्य लोपः' (सू ५४)। नुमो नकारस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (सू ३७७) इति कुत्वेन ङकारः। प्राङ्। अनुस्वारपरसवर्णौ। प्राञ्चौ, प्राञ्चः। प्राञ्चम्, प्राञ्चौ।

वक्ष्यते। क्विनि 'हलन्त्यम्' इति नकार इत्। इकार उच्चारणार्थः। 'लशक्वतद्धिते' इति ककार इत्। 'वेरपृक्तस्य' इति वकारलोपः। प्र अञ्च् इति स्थिते।

(४१५) अनिदिताम्। अङ्गस्येत्यधिकृतं बहुवचनेन विपरिणम्यते। हल इति तद्विशेषणम्। तदन्तविधिः। 'अनिदिताम्' इत्यपि तद्विशेषणम्। इत् ह्रस्व इकारः, इत् इत्संज्ञकः येषां तानि इदिन्ति, न इदिन्ति अनिदिन्ति, तेषामिति विग्रहः। अवयवषष्ठयन्तमेतत् उपधाया इत्यत्रान्वेति। उपधाया इत्यप्यवयवषष्ठयन्तम्। तच्च 'इनाम्नलोपः' इत्यतो नेत्यनुवृत्ते लुप्तषष्ठीके अन्वेति। क् च ङ् च क्ङौ, तौ इतौ यस्येति विग्रहः। तदाह—हलन्तानामित्यादिना। इति चकारात्पूर्वस्य नकारस्य लोपः। प्र अच् प्राच् इति स्थितम्। तस्मात् सुबुत्पत्तिः। सुटि विशेषमाह—उगिदचामिति। नुमिति। सौ विशेषमाह—संयोगान्तस्य लोपः इति। हल्ङ्यादिना सुलोपे सतीति शेषः। कुत्वेन ङकार इति। नासिकास्थानसाम्यादिति भावः। अनुस्वारपरसवर्णाविति। प्राच् औ इति स्थिते नुमि 'नश्चापदान्तस्य' इति नकारस्यानुस्वारः। 'अनुस्वारस्य ययि' इति तस्य परसवर्णो ञकारः। नस्य श्चुत्वं तु न भवति, अनुस्वारं प्रति तस्यासिद्धत्वादित्यर्थः। शसादावचि नुमभावाद् प्र अच् अस् इति स्थिते।

(द् = त्—वैकल्पिक चर्त्व), अग्निमथौ (औ), अग्निमथः (अस्)। अग्निमथम्, अग्निमथौ, अग्निमथः। अग्निमथा, अग्निमद्भ्याम् (थ् = द्—जश्त्व), अग्निमद्भिः इत्यादि।

२. प्र उपपद 'अञ्च' धातु से "ऋत्विक्दधृक्स्रग्०" (३७३) इत्यादि सूत्र से क्विन् प्रत्यय करने पर प्राञ्च् शब्द निष्पन्न होता है (= पूर्व)। उसकी रूप-प्रक्रिया बतलाई जारही है।

(४१५) **पद**—अनिदितां, हलः, उपधायाः, क्ङिति। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य (अधिकार), नलोपः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—हलन्त इकारेत्संज्ञक-भिन्न अङ्ग की उपधा के नकार का लोप ('क्'-इत्संज्ञक अथवा 'ङ्'-इत्संज्ञक प्रत्यय पर रहने की स्थिति में) होता है। "उगिदचाम्" से नुम्। संयोगान्त का लोप। 'नुम्' के नकार को "क्विन्-प्रत्ययस्य कुः" से कुत्व होकर 'ङ्' हुआ। प्राङ्। अनुस्वार तथा परसवर्ण होने पर प्राञ्चौ, प्राञ्चः। प्राञ्चम्, प्राञ्चौ।

विवरण—सूत्र के अर्थ को पूरा करने के लिये अधिकारसूत्र "अङ्गस्य" (६-४-१) तथा "इनाम्नलोपः" (६-४-२३) से 'लोपः' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। सूत्रस्थ 'हलः' शब्द 'अङ्गस्य' का विशेषण है, अतः तदन्तविधि होती है। तदनुसार सूत्र से यह बोध होता है कि 'कित् या ङित्-प्रत्यय पर रहते इकार-इत्संज्ञक-भिन्न हलन्त-अङ्ग की उपधा के नकार का लोप होगा'। **उदाहरण**—प्राञ्च् (प्र-अ न् च्), <प्र-अन्च् ('न्' का लोप), प्र-अन्च्+स् (सु), <प्र-अन् च्+स् (नुम्-आगम "उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः-३६१), <प्रान्च् ('सु'-विभक्ति का लोप), <प्रान् ('च्'-लोप "संयोगान्तस्य लोपः"-५४), <प्राङ् (न् = ङ्—कुत्व)। प्राच्+औ, <प्रान् च्+औ, (नुम्) <प्रांच्+औ (न् = अनुस्वार-"नश्चापदान्तस्य झलि"-१२३), प्राञ्चौ (अनुस्वार=ञ्-परसरसवर्ण-"अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः"-१२४)। प्राच्+अस् (जस्), <प्रान् च्+अस्, <प्रांच्+अस्, <प्राञ्चस्, <प्राञ्चः (स् = र् = :)। (ख) प्राञ्चम्, प्राञ्चौ। प्र+अच्+अस् (शस्)—इस स्थिति में (आगे 'अ'-लोप का विधान किया जा रहा है)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४१६) **अचः** ६ । ४ । १३८ ॥ लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्याकारस्य लोपः स्यात् । (४१७) **चौ** ६ । ३ । १३८ ॥ लुप्ताकारनकारेऽञ्चतौ परे पूर्वस्याणो दीर्घः स्यात् । प्राचः । प्राचा, प्राग्भ्यामित्यादि । प्रत्यङ्, प्रत्यञ्चौ, प्रत्यञ्चः । प्रत्यञ्चम्, प्रत्यञ्चौ । 'अचः' (सू ४१६) इति लोपस्य विषयेऽन्तरङ्गोऽपि यण् न प्रवर्तते 'अकृतव्यूहाः—'

---

(४१६) अचः । अच इत्यञ्चुधातोः अनिदिताम्' इति लुप्तनकारस्य षष्ठ्यन्तम् । भस्येत्यधिकृतम् । 'अल्लोपोऽनः' इत्यतः अल्लोप इत्यनुवर्तते । तदाह—लुप्तेति । इत्यकारलोपे प्र च् अस् इति स्थिते ।

(४१७) चौ । अञ्चुधातोरुकारान्तस्य लुप्तनकाराकारस्य चाविति सप्तम्यन्तम् । 'ढ्रलोपे' इत्यतः 'पूर्वस्य दार्घोऽणः' इत्यनुवर्तते । तदाह—लुप्तेति । प्राचः इति । यद्यपि 'अचः' इत्यल्लोपस्य 'चौ' इति दीर्घस्य चाभावेऽपि सवर्णदीर्घेण प्राचः इति सिध्यति, तथापि प्रतीचः इत्याद्यर्थं सूत्रम् । प्राग्भ्यामिति । प्राच् भ्याम् इति स्थिते 'चोः कुः' इति कुत्वम्, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वस्यासिद्धत्वात् । इत्यादीति । प्राग्भिः । प्राचे । प्राचः, प्राचोः, प्राक्षु । प्रत्यङ् इति । प्रतिपूर्वादञ्चेः क्विन्, यण्, 'अनिदिताम्' इति नलोपः, सुबुत्पत्तिः । 'उगिदचाम्' इति नुम्, हल्ङ्यादिना सुलोपः, चकारस्य संयोगान्तलोपः, नुमो नकारस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य' इति कुत्वेन ङकार इति भावः । प्रत्यञ्चाविति । प्रत्यच् औ इति स्थिते 'उगिदचाम्' इति नुमि तन्नकारस्य अनुस्वारे तस्य परसवर्णो ञकार इति भावः । एवं प्रत्यञ्चः । प्रत्यञ्चम्, प्रत्यञ्चौ । ननु प्रति अञ्च् इति स्थिते 'अन्तरङ्गत्वाद्यणि' कृते 'अनिदिताम्' इति नलोपे प्रत्यच् इत्यस्मात् शसि असर्वनामस्थानत्वाद् 'उगिदचाम्' इति नुमभावे 'अचः' इत्यकारलोपे 'चौ' इति दीर्घो न भवति, पूर्वस्याणोऽभावात् । ततश्च प्रत्यचः इति स्यादित्यत आह—अच इति लोपस्येत्यादि । 'अचः' इति लोपेन यण्निमित्तस्याकारस्य विनाशोन्मुखत्वादिह यण्नभवति ततश्च प्रति अच् अस् इति स्थिते 'अचः' इत्यकारलोपे सति 'चौ' इति इकारस्य दीर्घे प्रतीच इति रूपं निर्बाधम् । एतदर्थमेव 'अचः' इति 'चौ' इति

---

(४१६) पद—अचः । अनुवृत्ति—भस्य (अधिकार), अत् । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—लुप्त-नकारवान् 'अञ्च्' धातु सम्बन्धी भसंज्ञक-अकार का लोप होता है ।

विवरण—सूत्रार्थ की सुलभता के लिये अधिकारसूत्र "भस्य" (६-४-१२९) तथा "अल्लोपोऽनः" (६-४-१३४) सूत्र से 'अत्' की अनुवृत्ति की जाती है । तदनुसार 'लुप्तनकारवान् भसंज्ञक 'अञ्च्'-धातुसम्बन्धी 'अ' का लोप होता है' । सर्वनामस्थान-भिन्न अजादि-विभक्तियाँ भ-संज्ञक है । उदाहरण—प्र-अञ्च्+अस्—इस स्थिति में 'अच्' के 'अ' का लोप होकर <प्रच्+अस् रूप बनेगा ।

(४१७) पद—चौ । अनुवृत्ति—पूर्वस्य, दीर्घः, अणः । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—लुप्त-अकार एवं लुप्तनकारवान् 'अञ्च्' धातु के परवर्ती होने की स्थिति में पूर्व 'अण्' को दीर्घ होता है । प्राचः । प्राचा, प्राग्भ्याम् इत्यादि । प्रत्यङ्, प्रत्यञ्चौ, प्रत्यञ्चः । प्रत्यञ्चम्, प्रत्यञ्चौ । "अचः" से विधीयमान लोप के विषय में 'अकृतव्यूह परिभाषा' से अन्तरङ्ग यण् भी प्रवृत्त नहीं होता । प्रतीचः । प्रतीचा । अमुम् अञ्चति (= उसकी ओर जाता है)—इस विग्रह में अदस्+अञ्च् इस स्थिति में ('टि' के स्थान पर 'अद्रि' आदेश का विधान बतलाया जारहा है) ।

विवरण—सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिये "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" (६-१-१११) सूत्र से 'पूर्वस्य', 'दीर्घः' तथा 'अणः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार सूत्र का अर्थ यह होता है कि "लुप्त-नकार एवं लुप्त-अकारवान् √'अञ्च्' धातु के पर रहते हुए उससे पूर्व अण् (अ, इ, उ,) के स्थान पर दीर्घ आदेश होता है" । उदाहरण—प्र-च्+अस्, <प्राच्+अस् ('अञ्च्' के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(प ५७) इति परिभाषया । प्रतीचः । प्रतीचा । 'अमुमञ्चति' इति विग्रहे 'अदस् अञ्च्' इति स्थिते । (४१८) विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये ६ । ३ । ९२ ॥ अनयोः सर्वनाम्नश्च टेरद्र्यादेशः स्यादप्रत्ययान्ते अञ्चतौ परे । 'अदञ्चि अञ्च्' इति स्थिते यण् ।

चारब्धम् । प्राचः पश्येत्यत्र अल्लोपदीर्घयोरभावेऽपि सवर्णदीर्घेणैव रूपसिद्धेः । भाष्ये तु 'चौ' इत्यारम्भसामर्थ्यादेवात्र यण् नेति समाहितम् । न च प्राचः पश्येत्यादौ सावकाशत्वमिति वाच्यम्, सवर्णदीर्घेणैव निर्वाहात् । 'वार्णादाङ्गं बलीयः' इति परिभाषया 'अचः' इत्यल्लोपे सति सवर्णदीर्घासिद्धेः—इत्यन्यत्र विस्तरः । अदस् अञ्च् इति स्थित इति । क्विनि उपपदसमासे सुब्लुकि च सति अदस् अञ्च् इति स्थिते, अनिदिताम् इति नलोपे कृते अदस् अच् इति स्थिते सतीत्यर्थः ।

(४१८) विष्वग्देवयोश्च । अद्रि इति लुप्तप्रथमाकम् । अनयोरिति । विष्वग्देवशब्दयोरित्यर्थः । सर्वनाम्न इति । चकारेण 'आ सर्वनाम्नः' इत्यतस्तदनुकर्षादिति भावः । अप्रत्ययान्त इति । सूत्रे अप्रत्यय इत्यत्र नित्यम् अश्रूयमाणत्वादविद्यमानः प्रत्ययः क्विबादि-

---

'न्' तथा 'अ' का लोप होने के पश्चात् उससे पूर्व 'प्र' के 'अ' को दीर्घ हुआ), <प्राचस्, (विभक्ति के साथ 'च्' का संयोग) <प्राचः (स् = र् = :)। (ग) प्र–अन्°च्+आ (टा), <प्र–अ च्+आ ('न्'–लोप), प्र–च्+आ ('अ' लोप), <प्राचा (अ = आ – दीर्घ—"चौ"—४१७)। प्राच्+भ्याम्, <प्राक्+भ्याम् (च् = क्–कुत्व) <प्राग्भ्याम् (क् = ग्–जश्त्व)। प्राच्+भिस्, <प्राग्भिः (कुत्व, जश्त्व, रुत्व, विसर्ग)। आगे रूप इस प्रकार होंगे—प्राचे, प्राग्भ्याम्, प्राग्भ्यः । प्राचः, प्राग्भ्याम्, प्राग्भ्यः । प्राचः, प्राचोः, प्राचाम् । प्राचि, प्राचोः, प्राक्षु । हे प्राङ्, हे प्राञ्चौ, हे प्राञ्चः ।

निर्देश—'प्रत्यञ्च्' (= पश्चिम) शब्द की रूप-प्रक्रिया का दिग्दर्शन कराया जारहा है । (क) प्रति – अन्°च्+स् (सु), प्रति–अच्+स् ('न्' लोप), <प्रति—अन् च्+स् ('नुम्' आगम), <प्रति—अ न्–च् (विभक्ति–लोप), <प्रति+अन् ('च्'–संयोगान्तलोप) <प्रत्यन् (इ = य्—यण्), <प्रत्यङ् ('न्' = 'ङ्'—कुत्व "क्विन्प्रत्ययस्य कुः"—३७७)। प्रत्यञ्चौ, प्रत्यञ्चः । प्रत्यञ्चम्, प्रत्यञ्चौ, प्रतीचः । यहाँ तक सिद्धि 'प्राञ्च्' शब्द के समान है ।

विशेष—इस बीच यह शङ्का उपस्थित होती है कि 'प्रतीचः' के मध्य प्रति–अच्+अस्—इस स्थिति में 'न्' का लोप होने पर "अचः"–४१६ से 'अच्' के 'अ' के लोप की प्रवृत्ति के समय इकार से पर अकार रहने से अन्तरङ्ग होने के कारण 'यण्' आदेश क्यों नहीं होता ? इसका निवारण 'अकृतव्यूह' परिभाषा से किया जाता है । तदनुसार यणादेश के निमित्त अकाररूप 'अच्' का "अचः" (४१७) से नाश होने वाला है, अतः विनाशोन्मुख स्थिति में 'यण्' नहीं होता ।

निर्देश—'अदद्र्यञ्च्' शब्द की रूपप्रक्रिया बतलाई जारही है । अर्थ–अमुम् अञ्चति (उसकी ओर जाता है) । अदस्–अञ्च्+क्विन्०—इस स्थिति में उपपद–समास, अदस्–अन्°च्, <अदस्–अच् ('न्' लोप) (इस स्थिति में ('अद्' के स्थान पर 'अद्रि'–आदेश किया जायगा) ।

(४१८) **पद**—विष्वग्देवयोः, च, टेः, अद्र्यञ्चौ, अप्रत्यये । **अनुवृत्ति**—सर्वनाम्नः, उत्तरपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अविद्यमान-प्रत्यय (लोप होने वाला प्रत्यय) के अन्त में रहने वाले √अञ्च् धातु के पर रहते विष्वक्, देव अथवा सर्वनाम की 'टि' को 'अद्रि' आदेश होता है । अदद्रि–अञ्च् इस स्थिति में 'यण्' हुआ ।

विवरण—सूत्र का अर्थ स्पष्ट होने के लिये "आ सर्वनाम्नः" (६-३-९१) से 'सर्वनाम्नः' तथा "अलुगुत्तरपदे" (६-३-१) सूत्र से उत्तरपदे की अनुवृत्ति की जारही है । आदेश-वाचक 'अद्रि'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४१९) अदसोऽसेर्दादु दो मः ८ । २ । ८० ॥ अदसोऽसान्तस्य दात्परस्य उदूतौ स्तो दस्य मश्च । उ इति ह्रस्वदीर्घयोः समाहारद्वन्द्वः । आन्तरतम्याद्ध्रस्वव्यञ्जनयोर्ह्रस्वो दीर्घस्य दीर्घः । अमुमुयङ्, अमुमुयञ्चौ, अमुमुयञ्चः । अमुमुयञ्चम्, अमुमुयञ्चौ, अमुमुईचः । अमुमुईचा, अमुमुयग्भ्यामित्यादि । मुत्वस्यासिद्धत्वान्न यण् । 'अन्त्यबाधेऽन्त्यसदेशस्य'

र्यस्मादिति बहुव्रीह्याश्रयणादिति भावः । प्रकृते अदसष्टेरद्र्यादेशमुदाहृत्य दर्शयति—अद्रदि अञ्च् इति स्थित इति । अद्र्यादेशोऽयम् 'अनिदिताम्' इति नलोपे कृते प्रवर्तते, नलोपस्य परत्वादिति बोध्यम् । यणिति । रेफादिकारस्येति शेषः । अदद्र्यच् इत्यतः सुबुत्पत्तिः ।

(४१९) अदसो । अदसः असेः दात् उ दः मः इति च्छेदः । अदस इत्यवयवषष्ठ्यन्तम् । असेरिति तद्विशेषणम् । न विद्यते सिः यस्य सः असिः, तस्येति विग्रहः । इकार उच्चारणार्थः । दादिति दिग्योगे पञ्चमी । परस्येत्यध्याहार्यम् । तदाह—अदसोऽसान्तस्येति । असेः किम् ? अदस्यति । दात् किम् ? अमुया । अत्र 'अलोऽन्त्य' इति यकारस्य न भवति । ननु उदूताविति कथम्, उ इत्यस्यैव श्रवणादित्यत आह—उ इतीति । उश्च ऊश्च तयोः समाहार इति विग्रहे द्वन्द्वे सति सुब्लुकि सवर्णदीर्घे 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वे 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति ह्रस्वत्वे समाहारस्यैकत्वादेकवचनस्य सोः 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति लुकि उ इति रूपमित्यर्थः । आन्तरतम्यादिति । अर्धमात्रस्य व्यञ्जनस्य ईषत्सदृशो मात्रिको ह्रस्व उकारः, ह्रस्वस्य तु मात्रिकस्य मात्रिकत्वसादृश्यादुकारो ह्रस्वः, दीर्घस्य तु द्विमात्रत्वसादृश्यात् द्विमात्र ऊकार इत्यर्थः । अमुमुयङिति । अदद्र्यच् स् इति स्थिते 'उगिदचाम्' इति नुमि हल्ङ्यादिलोपे चकारस्य संयोगान्तलोपे, नुमो नकारस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वे अदद्र्यङ् इति स्थिते प्रथमदकारस्य मत्वे तदुत्तरस्याकारस्य उत्वे द्वितीयदकारस्य मत्वे तदुत्तरस्य रेफस्य उत्वे च कृते अमुमुयङिति रूपमिति भावः । प्रक्रियाक्रमस्तु सूत्रपौर्वापर्यज्ञानवतां सुगमः । अमुमुयञ्चाविति । प्राञ्चावितिवद्रूपम् । उत्वमत्वे पूर्ववत् । अमुमु इ अञ्च् औ इति स्थिते यणिति विशेषः । अमुमुईच इति । अमुमु इ अच् अस् इति स्थिते 'अन्तरङ्गोऽपि' यण् 'अच'इति लोपविषये न प्रवर्तते' इत्युक्तरीत्या अकृते यणि 'अच' इत्यकारलोपे 'चौ' इति इकारस्य दीर्घ इति भावः । अमुमुयग्भ्यामिति । 'चोः कुः' इति कुत्वमिति विशेषः । इकारे परे मकारादुकारस्य यणमाशङ्क्य आह—मुत्वस्यासिद्धत्वादिति । अमुमुईचे । अमुमुईचः । अमुमुईचोः । अमुमुयक्षु । मतान्तरमाह—अन्त्यबाध इति । अलोऽन्त्य-

---

शब्द में प्रथमा-विभक्ति का लोप हुआ है । 'अप्रत्यय' शब्द का अर्थ उन प्रत्ययों से है जिनका सर्वापहार होता है (अविद्यमानः प्रत्ययः यस्मात्—अर्थात् जिनका कोई अंश नहीं रहता) । तदनुसार "लुप्त-प्रत्ययान्त √ अञ्च् धातु पर रहते विष्वक्, देव या सर्वनाम-संज्ञक शब्दों की 'टि' (अन्त्य-अच्-सहित समुदाय) के स्थान पर 'अद्रि' आदेश होता है । इस प्रकार अदस्—अन्च्, <अद्—अद्रि—अन्च् ('अस्' = अद्रि), <अदद्रि—अन्च्, <अदद्र्यन्च् (इ=य्—यण्), <अदद्र्यच्+स् ('न' लोप)—इस स्थिति में आगे विधान बतलाया जारहा है ।

(४१९) पद—अदसः, असेः, दात्, उ, दः, मः । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—अविद्यमान-सकारान्त अदस्-शब्दावयव दकार से परवर्ती भाग को 'उ' तथा 'ऊ' एवम् 'द्' के स्थान पर 'म्' आदेश होते हैं । यहाँ 'उ' पद ह्रस्व तथा दीर्घ उकार का बोधक है । अत्यधिक सादृश्य होने से ह्रस्व या व्यञ्जन रहने पर ह्रस्व 'उ' तथा दीर्घ वर्ण रहने पर दीर्घ 'ऊ' होता है । अमुमुयङ्, अमुमुयञ्चौ, अमुमुयञ्चः । अमुमुयञ्चम्, अमुमुयञ्चौ, अमुमुईचः । अमुमुईचा,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(प १०४) इति परिभाषामाश्रित्य परस्यैव मुत्वं वदतां मते 'अदमुयङ्' । 'अः सेः सकारस्य स्थाने यस्य सः असिः, तस्य असेः' इति व्याख्यानात् 'त्यदाद्यत्वविषय एव मुत्वं नान्यत्र' इति पक्षे 'अदद्रयङ्' । उक्तं च (भाष्ये)—

'अदसोऽद्रेः पृथङ् मुत्वं केचिदिच्छन्ति लत्ववत् ।
केचिदन्त्यसदेशस्य नेत्येकेऽसेर्हि दृश्यते ॥' इति ।

परिभाषाया अप्रवृत्त्या अन्त्यस्य कार्याभावे सति अन्त्यसमीपवर्तिनः कार्यं भवतीत्यर्थः । प्रकृते च अदस इति नावयवषष्ठी, किन्तु स्थानषष्ठी । ततश्च 'अलोऽन्त्यस्य' इत्युपतिष्ठते । असान्तस्य अदसः अन्त्यस्य दात्परस्य उत्वं दस्य च म इति फलितम् । अदसश्चान्त्यवर्णः । सकारो दात्परो न भवति अद्र्यादेशे कृते तु इकारः अन्तः, सोपि दात्परो न भवति । ततश्च अलोऽन्त्यपरिभाषाया अप्रवृत्त्या अन्त्यस्य आदेशबाधे सति अन्त्यसमीपवर्तिन एव दात्परस्य उत्वम्, दस्य च मः, न तु तराः प्राचीनयोरपि दकारतदुत्तरवर्णयोर्मुत्वमित्यर्थः । नन्वेवं सति 'णो नः' इति धात्वादेर्णकारस्य विहितं नत्वं नेता इत्यत्रैव स्यात् नमतीत्यत्र न स्यादिति चेत् ? मैवम्—'अलोऽन्त्यपरिभाषाया अप्रवृत्त्या अन्त्यसदेशानन्त्यसदेशयोर्युगपत्प्राप्तौ अन्त्यसदेशस्यैव भवतीति परिभाषार्थं इति 'य्वोः सम्प्रसारणम्' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टं प्रपञ्चितत्वात् । यद्यपि 'य्वोः सम्प्रसारणम्' इति सूत्रे प्रकृतसूत्रे च 'अनन्त्यविकारे अन्त्यसदेशस्य' इति परिभाषा पठिता तथापि सैवात्रार्थतः संगृहीता । अन्त्यस्य विकार आदेशः अन्त्यविकारः । अन्त्यविकारस्याभावे अनन्त्यविकारे अर्थाभावेऽव्ययीभावेन सह नञ् तत्पुरुषो विकल्प्यते इति वक्ष्यमाणत्वात्तत्पुरुषः । अव्ययीभावपक्षे तु 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' इत्यम्भावाभावः अलोऽन्त्यपरिभाषाया अप्रवृत्त्या अन्त्यस्य आदेशाभावे सतीति यावत् । अदमुयङिति । अत्र पूर्वस्य दकारस्य तदुत्तराकारस्य च न मुत्वमिति विशेषः । मतान्तरमाह—अः सेः सकारस्येति । सेरित्यस्य विवरणं सकारस्येति । असेरिति नायं नञ्तत्पुरुषः, किन्तु अः सेः यस्य सः असिः, तस्य असेरिति विग्रहः । सेरिति स्थानषष्ठी, इकार उच्चारणार्थः, सकारस्थानिकाकारवत इत्यर्थः । अदसशब्दस्य त्यदाद्यत्वे कृते सकारस्थानिकाकारवत्त्वम् । अतः त्यदाद्यत्ववत एवादसशब्दस्य मुत्वं नान्यस्य इति फलितम् । अतः अद्र्यादेशे सति सकारस्थानिकाकारवत्त्वाभावान्न मुत्वमित्यर्थः । तदिदं पक्षत्रयमपि भाष्यसंमतमित्याह—उक्तं चेति । अदसः टेः अद्रेर्विधौ सति अदद्रयच् इत्यत्र प्रथमद्वितीय-

---

अमुमुयङ्भ्याम् इत्यादि । 'मुत्व' के असिद्ध होने से यण् नहीं हुआ । परि० 'अन्त्य का बाध होने पर अन्त्य-समीप को कार्य हो' परिभाषा का अवलम्बन कर पर को ही 'म'कार हो—इस सिद्धान्त के अनुसार 'अदमुयङ्' रूप होगा । 'अः सेः' इस विग्रह को स्वीकार कर सकार के स्थान में होने वाले अकार के होने पर मुत्व की प्रवृत्ति होती है अन्यत्र नहीं—इस पक्ष में अदद्रयङ् रूप बनेगा । कहा भी है—'अदस् शब्द को 'अद्रि' आदेश होने पर कुछ लोग लत्व के समान प्रक्रिया मानते हैं । कुछ लोग अन्त्यसमीप के स्थान पर मुत्व-विधान स्वीकार करते हैं । एक आचार्य 'असेः' को यौगिक मानकर मुत्व-विधान करने के पक्ष में ही नहीं हैं' । 'विष्वग्देवयोः' क्यों कहा ? अश्वाची । 'अञ्चतौ' क्यों कहा ? विष्वग्युक् । 'अप्रत्यये' क्यों कहा ? विष्वगञ्चनम् । अप्रत्यय ग्रहण यह ज्ञापित करता है कि अन्यत्र धातु ग्रहण में तदादिविधि होती है । इससे 'अयस्कारः' में "अतः कृकमिकंस०" से सकार हुआ । उदङ्, उदञ्चौ, उदञ्चः । शसादि अजादि प्रत्ययों में (विशेष विधान की व्यवस्था की जारही है) ।

विवरण—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है । अर्थ—"सकारान्त-भिन्न (असेः) अदस् शब्द के (अदसः) दकार से (दात्) पर वर्ण को 'उ' एवम् 'ऊ' आदेश होते हैं तथा दकार के स्थान पर (दः)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'विष्वग्देवयोः' किम् ? अश्वाची। 'अश्वतौ' किम् ? विष्वग्युक्। 'अप्रत्यये' किम् ? विष्वगञ्चनम्। अप्रत्ययग्रहणं ज्ञापयति—'अन्यत्र धातुग्रहणे तदादिविधिः' इति।

ययोः दकारयोः पृथङ् मुत्वं तदुत्तरयोः अवर्णरेफयोरुत्वं च युगपदेव। लत्ववत्। चलीकॢप्यते इत्यत्र चरीकृप्यते इति स्थिते रेफऋकारयोर्यथा 'कृपो रो लः' इति लत्वम्, तथा केचिदिच्छन्ति। अन्यसदेशस्यैव केचिद् लत्वमिच्छन्ति। अद्रयादेशे सति प्रथमयोर्द्वितीययोश्च मुत्वं नैव केचिदिच्छन्ति, हि यतः असेः सकारस्थानकाकारवत एव मुत्वं दृश्यते, अः सेः यस्येति बहुव्रीहिणा प्रतीयत इति योजना। विष्वग्देवयोः किमिति। विष्वग्देवयोश्चेति किमर्थमित्यर्थः। अश्वाचीति। अत्र विष्वग्देवयोः सर्वनाम्नश्चाभावाद्भादेश इति भावः। अप्रत्यये किम्। विष्वगञ्चनमिति। अत्र अन इति ल्युडादेशस्य श्रूयमाणतया अञ्चेर-

---

मकार (मः) होता है। सूत्रस्थ 'उ' पद से ह्रस्व उ एवं दीर्घ ऊ दोनों का ग्रहण होता है (उश्च ऊश्च = 'उ'-समाहार-द्वन्द्व)। ह्रस्व 'उ' तथा दीर्घ 'ऊ' होने में नियामक "स्थानेन्तरतमः" परिभाषा है। जिसके अनुसार इकार से अव्यवहित ह्रस्व स्वर अथवा व्यञ्जन पर रहते प्रमाणकृत सादृश्य से ह्रस्व 'उकार' होता है। एवं दकार से पर दीर्घ वर्ण रहने पर दीर्घ 'ऊ' होता है। उदाहरण—(क) अदद्रयङ् (नुम्, विभक्तिलोप, संयोगान्तलोप, कुत्व होने पर), <अमुमुयङ् (पहला 'द्' = 'म्' तथा 'अ' = 'उ'—'मु'। एवं दूसरा 'द्' = 'म्' तथा 'र्' = उ—'मु')। अदद्रयञ्च्+औ, <अदद्रयञ्चौ (अजादि विभक्ति होने के कारण 'नुम्' होने के पश्चात् अनुस्वार, परसवर्ण)। <अमुमुयञ्चौ ('उ' तथा 'म्' पूर्ववत्)। अमुमुयञ्चः (जस्)। अमुमुयञ्चम् (अम्), अमुमुयञ्चौ (औट्)। शस् में—अमुमु-इ-अन्च्+अस् (शस्), <अमुमु इ-अच्+अस् ('न्'-लोप), <अमुमु-इ-च्+अस् ('अ'—लोप), <अमुमु-ई-च्+अस् (इ = ई—दीर्घ "चौ" ४१७), <अमुमुईचः (स् = र् = :)। (ग) अमुमुईचा (द्वितीया बहुवचन के समान सिद्धि), अमुमुयग्भ्याम् (कुत्व तथा जश्त्व), अमुमुयग्भिः। (घ) अमुमुईचे, अमुमुयग्भ्याम्, अमुमुयग्भ्यः इत्यादि। 'अमुमुईचः' इत्यादि अजादि-विभक्तियों में द्वितीय 'मु' के अनन्तर 'ई' पर रहते 'यण्' नहीं होता, क्योंकि यण् (६-१-७७) की दृष्टि में 'मुत्व' (८-२-८०) असिद्ध है।

विशेष—१-इस सम्बन्ध में दूसरा मत प्रस्तुत किया जारहा है। प्रकृत सूत्र में 'अदसः' षष्ठी विभक्ति का अर्थ 'स्थान' है। उस पक्ष में अदद्रि+अञ्च् में 'अदस्' शब्द का अन्त्यवर्ण 'इ'-दकार से अव्यवहित पर नहीं है। दकार से अव्यवहित पर तो रेफ है, किन्तु वह अन्त्य नहीं है। "अलोन्त्यस्य" परिभाषा की उपस्थिति से अन्त्य 'अल्' को ही मुत्व की प्राप्ति है। ऐसी स्थिति में यह व्यवस्था है कि "अन्त्य को कार्य की प्राप्ति न होनेपर अन्त्य-समीप को ही कार्य का लक्ष्य बना लेना चाहिये।" तदनुसार अन्त्यसमीप-वर्ण (अद्रि के) रेफ को ही उकार आदेश कर उससे पूर्ववर्ती दकार के स्थान में मकार करने पर 'अदमुयङ' रूप सिद्ध होता है (अदस् के द् तथा अ को 'म्' तथा 'उ' नहीं)। अवशिष्ट कार्य—यण्, 'न्'-लोप, नुम्, संयोगान्त-लोप, विभक्तिलोप तथा कुत्व होंगे।

२—इसके अतिरिक्त 'असेः' पद का विशेष अर्थ स्वीकार कर प्रकृत स्थल में 'मकार' तथा 'उ'कार नहीं होते हैं। इन आचार्य के मत में सेः = सकार के स्थान में, अः = जहाँ अकार होता है, वहीं मुत्व का विधान होता है। तदनुसार जहाँ "त्यदादीनामः" (२६५) से अन्त्य 'स्' को 'अ' होगा, वहीं इस विधान की प्रवृत्ति होगी। अतः यहाँ मुत्व नहीं होता।

इस सम्बन्ध में कारिका द्वारा भाष्योक्ति भी प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत की जारही है। उसमें एक उदाहरण द्वारा यह बतलाया जारहा है कि जिस प्रकार 'चलीकृप्यते' में 'री' आगम के रेफ एवम् ऋकार के अवयव रेफ इन दोनों को "कृपो रो लः" (८-२-१८) से दो लकार हुए हैं, उसी प्रकार 'अमुमुयङ्' में भी दोनों दकारों को मकार एवम् तदुत्तर वर्णों को उकार होता है। इस मत में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तेनायस्कारः। 'अतः कृकमि—' (सू० १६०) इति सः। उदङ्, उदञ्चौ, उदञ्चः। शसादावचि– (४२०) उद ईत् ६। ४। १३९॥ उच्छब्दात्परस्य लुप्तनकारस्याञ्चते-

---

प्रत्ययान्तत्वं नेति भावः। ननु उत्तरपदाधिकारादञ्चुरूपे उत्तरपद इत्यर्थाद्विष्वगञ्चनमित्यत्र अद्रयादेशस्याप्रसक्तेः किमप्रत्ययग्रहणेनेत्यत आह—अप्रत्ययग्रहणमिति। तेनेति। अन्यथा 'अतः कृकमि' इत्यत्र 'नित्यं समासे' इत्यतोऽनुवृत्तसमासग्रहणेन उत्तरपदाक्षेपात् कृधातुरूपे उत्तरपदे इत्यर्थलाभादयस्कृदित्यत्रैव सत्वं स्यात् अयस्कार इत्यत्र न स्यादित्यर्थः। उदङिति। उत् अञ्चतीति विग्रहे क्विन्नादिरिति भावः। शसादौ 'अचः' इति लोपे प्राप्ते।

(४२०) उद ईत्। 'अचः' इति सूत्रमनुवर्तते, अल्लोप इत्यतः अत् इति च। भस्येत्यधिकृतम्। तदाह—उच्छब्दादित्यादिना। सम् अञ्चतीति विग्रहे क्विन्नादि।

'अदसः' पद अवयव षष्ठयन्त है। वहाँ "अलोऽन्त्यस्य" की प्रवृत्ति नहीं होती। दूसरे मत का उल्लेख 'अदसः' पद को ही स्थानषष्ठी मान कर किया गया है। अतः "अन्त्यवाधेऽन्त्यसदेशस्य" परिभाषा का प्रसङ्ग ऊपर बतला दिया गया है। तीसरा मत किन्हीं एक आचार्य का है। इस कल्पना में 'असेः' पद को यौगिक मान कर 'सेः अः' के रूप में व्याख्यान किया गया है। अतः 'अदद्रयङ्' में किसी भी दकार को मकार नहीं हुआ।

प्रत्युदाहरण—१—सूत्र में 'विष्वग्देवयोः' न कहने पर 'अश्वम् अञ्चति'—इस स्थल में भी 'अद्रि' आदेश हो जाता। २—सूत्र में 'अञ्चति' पद न रहने पर विष्वक् को 'युज् के योग में भी 'अद्रि' आदेश प्राप्त होने लगता। ३—सूत्र में 'अप्रत्ययान्त' पद 'अञ्चति' का विशेषण है। इससे यह सूचित होता है कि जिन प्रत्ययों की विद्यमानता दृष्टिगोचर नहीं होती ऐसे प्रत्ययों का 'अन्च्' धातु से परवर्ती होना अपेक्षित है। अतः 'विष्वगञ्चनम्' में विद्यमान ल्युट्-प्रत्ययान्त-परक' 'विष्वक्' की 'टि' को 'अद्रि' आदेश नहीं हुआ।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'उत्तरपद' का अधिकार है। इस कारण 'अञ्चु'रूप उत्तरपद रहने पर 'अद्रि' आदेश प्राप्त होगा, अन्यथा नहीं। ऐसी स्थिति में 'विष्वगञ्चनम्' में 'अद्रि' आदेश की प्राप्ति नहीं हैं। अतः सूत्र में 'अप्रत्यये' पद की कोई उपयोगिता नहीं है। वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि 'धातु के ग्रहण में तदादि-विधि' होती है। इस ज्ञापन से ल्युट् प्रत्ययान्त 'अञ्चनम्' के आदि में 'अन्च्' होने के कारण 'अद्रि' आदेश प्राप्त होने पर अप्रत्यये पद सार्थक है। इस ज्ञापन के फलस्वरूप 'अयस्कारः' में "अतः कृकमिकंस०" (१६०) से 'अयस्' शब्दावयव विसर्ग को सकार हुआ। यहाँ पर 'कृ' धातु से अण् प्रत्यय करने पर 'कार' शब्द निष्पन्न हुआ है। 'कृ' है आदि में जिसके ऐसा 'कार' शब्द उत्तर-पद में होने के कारण 'स्' हुआ।

निर्देश—क्विन्प्रत्ययान्त 'उदञ्च्' (उत्तर) शब्द की प्रथमादि विभक्तियों में रूपसिद्धि बतलाई जा रही है। सर्वनामस्थान-विभक्तियों में प्रक्रिया 'प्राङ्' के समान है। (क) प्रथमा—उदङ्, उदञ्चौ, उदञ्चः। द्वितीया—(ख) उदञ्चम्, उदञ्चौ। उदञ्च्+अस् (शस्), <उदच्+अस् ('न्' का लोप)—इस स्थिति में (विशेष कार्य का निदर्शन किया जा रहा है)।

(४२०) पद—उदः, ईत्। **अनुवृत्ति**—भस्य (अधिकार), अचः, अत्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'उद्' शब्द के बाद नलोपयुक्त 'अञ्च्' के अकार को ईकार होता है। उदीचः। उदीचा, उदग्भ्याम् इत्यादि।

विवरण—अर्थ की स्पष्टता के लिये सम्पूर्ण अधिकारसूत्र "भस्य" (६-४-१२९), एवं "अल्लोपोऽनः" (६-४-१३४) से 'अत्' पद तथा "अचः" (६-४-१३८) सूत्र की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। तब सूत्र से यह बोध होता है कि " 'उद्' से पर लुप्त नकारवान् √'अञ्च्' धातु के भसंज्ञक अङ्ग के अकार के स्थान पर 'ई' आदेश हो"। (पूर्वोक्त) **उदाहरण**—उदच्+अस्, <उदीच्+

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भँस्याकारस्य ईत्स्यात् । उदीचः । उदीचा, उदग्भ्यामित्यादि । (४२१) समः समि ६ । ३ । ९३ ॥ अप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे समः समिरादेशः स्यात् । सम्यङ्, सम्यञ्चौ, सम्यञ्चः । समीचः । समीचा । (४२२) सहस्य सध्रिः ६ । ३ । ९५ ॥ अप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे । सध्र्यङ् । (४२३) तिरसस्तिर्यलोपे ६ । ३ । ९४ ॥ अलुप्साकारेऽ-

---

(४२१) समः समि । समीति लुप्तप्रथमाकम् । अञ्चतावप्रत्यय इत्यनुवर्तते । तदभिप्रेत्य शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—अप्रत्ययेति । समीच इति । 'अचः' इति लोपे 'चौ' इति दीर्घः ।

(४२२) सहस्य सध्रिः । सहस्य सध्रिः स्यादप्रत्ययान्ते अञ्चतौ पर इति व्याख्यानं सुगमत्वादुपेक्षितम् । सध्र्यङ्क्ति । सह अञ्चतीति विग्रहे क्विन्नादि पूर्ववत् । सहस्य सध्र्यादेशे यण् ।

(४२३) तिरसस्तिर्यलोपे । तिरि इति लुप्तप्रथमाकम् । अञ्चतावप्रत्यये इत्यनुवर्तते । न विद्यते 'अचः' इत्यल्लोपो यस्य सः अल्लोपः, तस्मिन्निति विग्रहे । तदाह—अलुप्तेत्या-

---

अस् (अ = ई), <उदीचः (स् = र् = :) । (ग) उदीचा (टा), उदग्भ्याम् (कुत्व, जश्त्व), उदग्भिः इत्यादि ।

निर्देश—'सम्यञ्च्' (सम्+अञ्च्) (= ठीक चलने वाला) शब्द की रूप-सिद्धि बतलाई जारही है ।

(४२१) पद—समः, समि । **अनुवृत्ति**—अञ्चतौ, अप्रत्यये । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—लुप्त-प्रत्ययान्त √अञ्च् पर रहते 'सम्' के स्थान पर 'समि' आदेश होता है । सम्यङ्, सम्यञ्चौ, सम्यञ्चः । समीचः । समीचा ।

विवरण—सूत्रार्थ के लिये "विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये" (६-३-९२) से 'अप्रत्यये' तथा 'अञ्चतौ' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है "सर्वापहारि क्विन् आदि प्रत्ययान्त √अञ्च् के परवर्ती होने की स्थिति में 'सम्' के स्थान पर 'समि' आदेश हो" । **उदाहरण**—(क) सम्-अञ्च्+क्विन् <सम्-अञ्च्, <समि+अञ्च् (सम् = समि), <समि+अच् ('न्' लोप), <सम्यञ्च् (यण्), <सम्यन् च् (नुम्), सम्यन् च्+स्, <सम्यन्+च् ('स्' लोप), <सम्यन् ('च्' संयोगान्त-लोप), <सम्यङ् (न्=ङ्-कुत्व) । सम्यञ्चौ (औ), सम्यञ्चः (जस्) । (ख) सम्यञ्चम्, सम्यञ्चौ, समीचः ('अ' का लोप, दीर्घ) । (ग) समीचा, सम्यग्भ्याम्, सम्यग्भिः इत्यादि ।

निर्देश—'सध्र्यञ्च्'=साथ चलने वाला (सह+अञ्च्) शब्द के विशेष कार्य बतलाये जारहे हैं ।

(४२२) पद—सहस्य, सध्रिः । **अनुवृत्ति**—अञ्चतौ, अप्रत्यये । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—लुप्तप्रत्ययान्त √अञ्च् पर रहते 'सह' के स्थान पर 'सध्रि' आदेश होता है । सध्र्यङ् ।

विवरण—पूर्व सूत्र की भाँति यहाँ भी "विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये" (६-३-९२) से "अप्रत्यये' तथा 'अञ्चतौ' की अनुवृत्ति की जारही है । अतः 'लुप्त-प्रत्ययान्त √अञ्च् के परवर्ती होने की स्थिति में 'सह' के स्थान पर 'सध्रि' आदेश होगा' । अनेकाल् होने के कारण यह आदेश सम्पूर्ण स्थानी को अभिव्याप्त करेगा । **उदाहरण**—(क) सह-अच्+स्, <सध्रि-अच्+स् (सह = सध्रि), <सध्र्यच्+स् (यण्), <सध्र्यन्च्+स् ('नुम्'), <सध्र्यन् च् (विभक्ति-लोप), सध्र्यन् ('च्'-संयोगान्तलोप), <सध्र्यङ् (कुत्व) । सध्र्यञ्चौ, सध्र्यञ्चः । (ख) सध्र्यञ्चम्, सध्र्यञ्चौ, सध्रीचः । (ग) सध्रीचा, सध्र्यग्भ्याम्, सध्र्यग्भिः इत्यादि ।

निर्देश—'तिर्यञ्च्' (= तिर्यग्योनि, पशु-पक्षी आदि) शब्द (तिरस्-अञ्च्) की रूपसिद्धि के विशेष कार्य बतलाये जारहे हैं ।

(४२३) पद—तिरसः, तिरि, अलोपे । **अनुवृत्ति**—अञ्चतौ, अप्रत्यये । **विधिसूत्र** ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ञ्चतावप्रत्ययान्ते परे तिरसस्तिर्यादेशः स्यात् । तिर्यङ्, तिर्यञ्चौ, तिर्यञ्चः । तिर्यञ्चम्, तिर्यञ्चौ, तिरश्चः । तिरश्चा, तिर्यग्भ्यामित्यादि । (४२४) **नाञ्चेः पूजायाम् ६ । ४ । ३० ॥** पूजार्थस्याञ्चतेरुपधाया नस्य लोपो न स्यात् । अलुप्तनकारत्वान्न नुम् । प्राङ्, प्राञ्चौ, प्राञ्चः । नलोपाभावादकारलोपो न । प्राञ्चः । प्राञ्चा, प्राङ्भ्याम् इत्यादि ।

दिना । तिर्यङ्किति । तिरः अञ्चतीति विग्रहे क्विञ्चादि । तिरसस्तिर्यादेशे यण् । तिरश्च इति । शसादावचि 'अचः' इत्यल्लोपसत्त्वाच्च तिर्यादेशः सस्य श्चुत्वेन श इति भावः । पूजार्थाञ्चुधातोः क्विनि 'अनिदिताम्' इति नलोपे प्राञ्चे ।

(४२४) नाञ्चेः । 'अनिदिताम्' इति सूत्रात् उपधायाः क्ङितीत्यनुवर्तते । 'श्नान्नलोपः' इत्यतो नलोप इत्यनुवर्तते । तत्र नेति लुप्तषष्ठीकम् । तदाह—पूजार्थस्येत्यादिना । पूजाया गम्यत्वे सतीत्यर्थः । न त्वत्राञ्चुधातोः पूजार्थत्वमेव इह विवक्षितम् । अत एव अञ्चितं गच्छति इत्यत्र नलोपो न । अञ्चतेरत्र समाधानमर्थः । समाहितो भूत्वा गच्छतीति गम्यते । समाधानं च अव्याकुलत्वम्, अव्याकुलं गच्छतीत्यर्थः । अव्याकुलगमने च पूजा गम्यते । न त्वञ्चतेरेव सोऽर्थ इति 'अञ्चोऽनपादाने' इति सूत्रे भाष्यकैयटयोः स्पष्टम् । प्राङिति । प्रपूर्वादञ्चतेः क्विन् । प्रकर्षेण पूजनमञ्चेरर्थः । नलोपाभावे प्राञ्च् इत्यतः सुबुत्पत्तिः । हल्ङ्यादिलोपः संयोगान्तलोपः ततः अनुस्वारपरसवर्णनिवृत्तौ नकारस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वेन ङकार इति भावः । प्राञ्चाविति । स्वाभाविकनकारस्य अनुस्वारपरसवर्णाविति भावः । अलुप्तेति । 'उगिदचाम्' इत्यत्र नलोपिनोऽञ्चतेरेव ग्रहणान्नुम् न । ततश्च नकारद्वयश्रवणं न शङ्क्यमिति भावः । नलोपाभावादिति । शसादावचि 'अचः' इति लोपो न भवति । लुप्तनकारस्यैवाञ्चतेस्तत्र ग्रहणादिति भावः । प्राञ्च इति । प्र अञ्च् अस् इति स्थिते सवर्णदीर्घे रूपमिति भावः । 'नाञ्चेः पूजायाम्' इत्यनारम्भे सुटि नुमैव रूपसिद्धावपि शसादावचि नकारश्रवणं न स्यात्, 'अनिदिताम्' इति लोपप्रसङ्गात् । असर्वनामस्थानतया 'उगिदचाम्' इति नुमश्चाप्रसक्तेरिति बोध्यम् ।

मूलार्थ—अलुप्ताकार अप्रत्ययान्त √ अञ्च् पर रहते 'तिरस्' को 'तिरि' आदेश होता है । तिर्यङ्, तिर्यञ्चौ, तिर्यञ्चः । तिरश्चः । तिरश्चा, तिर्यग्भ्याम् इत्यादि ।

विवरण—यहाँ भी पूर्वानुसार 'अञ्चतौ' तथा 'अप्रत्यये' दोनों पदों की अनुवृत्ति की जारही है । तदनन्तर सूत्रार्थ होता है—"अलुप्त-अकारवाले तथा अविद्यमानप्रत्ययान्त √अञ्च् के परवर्ती होने की स्थिति में 'तिरस्' (सम्पूर्ण) के स्थान पर 'तिरि' आदेश हो" । शसादि अजादि विभक्तियों में भसंज्ञा होने से 'अ' का लोप होता है । अतः इनसे भिन्न सर्वनामस्थान विभक्तियों एवं हलादि-विभक्तियों के पर होने में 'तिरस्' के स्थान पर 'तिरि' आदेश होगा । **उदाहरण**—तिरस्-अञ्च्+क्विन्, <तिरि—अ न् च् (तिरस् = तिरि), <तिरि-अ च् ('न्' लोप), <तिरि-अ न् च्+स् ('नुम्' आगम), तिरि-अ न् च् (विभक्ति लोप), <तिरि-अन् (संयोगान्त-लोप), <तिर्यञ् (यण्), <तिर्यङ् (कुत्व), तिर्यञ्चौ, तिर्यञ्चः । तिर्यञ्चम्, तिर्यञ्चौ, तिरश्चः ("अचः" ४१६ अ-लोप होने से 'तिरि' आदेश नहीं) । तिरश्चा, तिर्यग्भ्याम्, तिर्यग्भिः (हलादि-विभक्तियों में अ-लोप न होने से 'तिरि' आदेश होता है) ।

निर्देश—पूजार्थक √अञ्च् से क्विन् प्रत्यय करने पर शब्दरूपों में अन्तर होता है । उस सम्बन्ध में सूचना दी जारही है ।

(४२४) पद—न, अञ्चेः, पूजायाम् । **अनुवृत्ति**—उपधायाः, क्ङिति, नलोपः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पूजार्थक √अञ्च् धातु की उपधा के 'न्' का लोप नहीं होता । नकार का लोप न होने से 'नुम्' आगम नहीं होगा । प्राङ्, प्राञ्चौ, प्राञ्चः । 'न्'-लोप न होने से अकार का लोप

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राङ्ख्षु –प्राङ्क्षु-प्राङ्षु । एवं पूजार्थे प्रत्यङ्ङादयः । 'क्रुञ्च कौटिल्याल्पीभावयोः' । अस्य 'ऋत्विग्' (सू ३७३) आदिना नलोपाभावोऽपि निपात्यते । क्रुङ्, क्रुञ्चौ, क्रुञ्चः । क्रुङ्भ्यामित्यादि । 'चोः कुः' (सू ३७८) । पयोमुक्-पयोमुग्, पयोमुचौ, पयोमुचः । 'व्रश्च-' (सू २९४) इति षत्वम् । 'स्कोः-' (सू ३८०) इति सलोपः । जश्त्वचर्त्वे । सुवृट्–सुवृड्, सुवृश्चौ, सुवृश्चः । सुवृट्त्सु–सुवृट्सु । इति चान्ताः । 'वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च'

प्राङ्भ्यामिति । 'स्वादिषु' इति पदत्वात् चकारस्य संयोगान्तलोपे अनुस्वारपरसवर्णनिवृत्तौ नकारस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य' इति कुत्वेन ङकारः इति भावः । इत्यादीति । प्राङ्भिः । प्राञ्चे, प्राङ्भ्याम् प्राङ्भ्यः । प्राञ्चः, प्राञ्चोः, प्राञ्चाम् । प्राञ्चि, प्राञ्चोः । प्राङ्ख्त्रिति । 'ङ्णोः कुक्टुक्' इति वा कुक् । 'चयो द्वितीयाः' इति पक्षे खश्च बोध्यः । एवमिति । सुटि पूर्ववदेव रूपाणि । शसादावचि प्रत्यञ्चः, प्रत्यञ्चा । प्रत्यङ्भ्याम् । अमुमुयञ्चः । अमुमुयङ्भ्याम् । उदञ्चः । उदङ्भ्यामित्यादि ज्ञेयम् । क्रुञ्च कौटिल्येति । नलोपाभावोऽपीति । 'अनिदिताम्' इति नलोपाभावः निरुपपदात् क्विन्नपि निपात्यत इत्यर्थः । सति तु नलोपे चकारो न श्रूयेत 'उगिदचाम्' इति नुमः सर्वनामस्थानेऽप्यप्रवृत्तेः । वस्तुतस्तु स्वाभाविकलोपधस्यैव धातुपाठे निर्देशात् नलोपस्यात्र प्रसक्तिरेव नास्ति । अत एव 'परेश्च घाङ्कयोः' इति सूत्रे भाष्ये क्रुञ्चेरयत्र चकारे परे 'चोः कुः' इति कुत्वमाशङ्क्य ऋत्विगित्यादिसूत्रे क्रुञ्चेति निपातनात् कुत्वं नेत्युक्तं सङ्गच्छते । यदि तु नस्यानुस्वारपरसवर्णाभ्यां ञकारो निर्दिश्येत, तर्हि तस्य 'चोः कुः' इति कुत्वप्रसक्तिरेव नास्तीति तदसङ्गतिः स्यात्, कुत्वे कर्तव्ये परसवर्णस्यासिद्धत्वादित्यास्तां तावत् । नोपधत्वमभ्युपेत्य आह—क्रुङ् इति । हलन्त्यादिलोपे संयोगान्तलोपे नकारस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य' इति कुत्वम् । क्रुङ्भ्यामिति । संयोगान्तलोपे नकारस्य कुत्वं ङकारः । अत्र प्रथमैकवचने भ्यामादावपि

भी नहीं हुआ । प्राञ्चः । प्राञ्चा, प्राङ्भ्याम् । प्राङ्क्षु–प्राङ्षु । पूजार्थ में 'प्रत्यङ्' आदि भी इसी प्रकार जाने जायँ । √क्रुञ्च = कुटिलता या अल्प होना । "ऋत्विग्०" सूत्र में इसका नलोप न होना भी बतलाया गया है । क्रुङ्, क्रुञ्चौ, क्रुञ्चः । क्रुङ्भ्याम् इत्यादि । 'चवर्ग के स्थान में 'कवर्ग' । पयोमुक्-ग्, पयोमुचौ, पयोमुचः । "व्रश्च–"भ्रस्ज०" सूत्र से 'ष्'–विधान ।" स्कोः संयोगाद्योरन्ते च" से 'स्' का लोप । जश्त्व तथा चर्त्व होकर–सुवृट्-ड्, सुवृश्चौ, सुवृश्चः । सुवृट्त्सु-सुवृट्सु । वा० वर्तमानकाल में पृषत्, महत्, बृहत्, जगत्—ये निपातित होते हैं । 'शतृ'–प्रत्यय की तरह इनके कार्य होते हैं । 'उक्'इत्संज्ञक होने से 'नुम्' आगम । "सान्तमहतः संयोगस्य" से दीर्घ । 'मह्यते'–पूजित होता है अर्थ में—महान्, महान्तौ, महान्तः । हे महन् । महतः । महता, महद्भ्याम् इत्यादि ।

विवरण—सूत्र में आदेश तथा निमित्तवाचक पदों के अभाव में "इनाच्लोपः" (६-३-२३) सूत्र से "नलोपः" तथा "अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति" (६-४-२४) से 'उपधायाः' तथा 'क्ङिति' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार 'पूजार्थ गम्यमान रहते √अञ्च् की उपधा के 'न्' का लोप नहीं होता' । धातुपाठ में √अञ्चु के दो अर्थ हैं—गति और पूजा । गति-अर्थ में रूपसिद्धि के प्रसङ्ग में यह बतलाया गया था कि "अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति" (४१५) से 'न्' का लोप होता है । पूजार्थ में इसका निषेध किया जारहा है । अतः रूपों में अन्तर होना स्वाभाविक है । **उदाहरण**—(क) प्र+अञ्च् = प्राञ्च्+क्विन्, <प्राञ्च्+सु (सु), ('क्विन्'–लोप) <प्राञ्च् (विभक्तिलोप), <प्राञ्च् ('च्'–संयोगान्त-लोप), <प्राङ् (न् = ङ्–कुत्व) । प्राञ्च्+औ, <प्राञ्चौ । प्राञ्चः (जस्) । (ख) प्राञ्चम्, प्राञ्चौ, प्राञ्चः ('न्' का लोप न होने से "अचः"–३१६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(उ० २४१)। एते निपात्यन्ते, शतृवच्चैषां कार्यं स्यात्। उगित्त्वान्नुम्। 'सान्त महतः—' (सू ३१४) इति दीर्घः। मह्यते पूज्यत इति महान्, महान्तौ, महान्तः।

क्रुत्वं निपातनादेव न भवति, चवर्गपञ्चमत्वकार एव सर्वत्रेति 'परेश्च घाङ्कयोः' इति सूत्र-भाष्यकैयटस्वरसः। ५योमुगिति। 'क्रुच्छृ मोक्षणे' क्विप्। सुपूर्वात् 'ओव्रश्चू छेदने' इति धातोः क्विपि 'ग्रहिज्या' इति सम्प्रसारणे सुवृश्चशब्दः। तस्य विशेषमाह—व्रश्चेतिपत्वमिति। हल्ङ्यादिना सुलोपे कृते चकारस्य पत्वमित्यर्थः। सलोप इति। धातुपाठे व्रश्च इति सस्य श्चुत्वे कृते व्रश्चु इति निर्देशः। तत्र श्चुत्वस्यासिद्धत्वात् 'स्कोः' इति सकारस्य लोप इत्यर्थः। 'वाऽवसाने' इति चर्त्वे डस्य टः। तदभावे जश्त्वेन ड इत्यर्थः। सुवृट्त्स्विति। चर्त्वस्यासिद्धत्वात् पूर्वं 'डः सि' इति वा धुट्। ततश्चर्त्वमिति भावः। इति चान्ताः। अथ तकारान्ता निरूप्यन्ते। अथ महच्छब्दे विशेषं वक्तुमाह—वर्तमाने। उणादिसूत्रमेतत्। निपात्यन्ते इति। तत्र 'पृषु सेचने' 'बृहि वृद्धौ' अनयोर्गुणाभावः, महेः कर्मणि अतिप्रत्ययः, गमेर्जगादेशश्चेति विशेषः। शतृवदिति। शतृप्रत्ययान्तवदित्यर्थः। उगित्त्वादिति। शतृ-वद्भावेन सुटि उगित्त्वान्नुमित्यर्थः। सान्तेति। सुटि महन्त् स्, औ इत्यादिस्थितौ नकारात् पूर्वस्य अकारस्य दीर्घ इत्यर्थः। मह्यते इति। 'कर्तरि कृत्' इति कर्त्रर्थं बाधित्वा निपात-नात् 'मह पूजायाम्' इति धातोः कर्मणि अतिप्रत्ययः इति भावः। महानिति। नुमि दीर्घे सुलोपे संयोगान्तलोप इति भावः। महान्ताविति। नुमि दीर्घे अनुस्वारपरसवर्णाविति भावः। हे महन्निति। असम्बुद्धावित्यनुवृत्तेः 'सान्तमहतः' इति दीर्घो नेति भावः। महत

से 'अ'लोप भी नहीं हुआ)। प्राङ्भ्याम्, प्राङ्भिः। सप्तमी के बहुवचन में तीन रूप बनते हैं—प्राङ्क्षु, प्राङ्त्सु, प्राङ्षु (पाक्षिक 'कुक्' आगम—"ङ्णोः कुक्-टुक् शरि"—१३० तथा 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' से पाक्षिक द्वितीय वर्ण 'ख्')।

निर्देश—१—इसी प्रकार पूजा करने वाला अर्थ में प्रति-√अञ्च् से-प्रत्यङ्, प्रत्यञ्चौ, प्रत्यञ्चः। प्रत्यञ्चम्, प्रत्यञ्चौ, प्रत्यञ्चः। प्रत्यञ्चा, प्रत्यङ्भ्याम्, प्रत्यङ्भिः आदि रूप बनेंगे।

२—√क्रुञ्च्=कुटिलता तथा कम होना अर्थ में "ऋत्विग्-दधृक्-स्रग्०" सूत्र से निपातित है। अतः 'न्' का लोप भी नहीं हुआ। तदनुसार क्रुङ् (विभक्तिलोप, 'च्'-संयोगान्तलोप, 'न्' = 'ङ्'-कुत्व), क्रुञ्चौ, क्रुञ्चः। क्रुञ्चम्, क्रुञ्चौ, क्रुञ्चः (अजादि विभक्तियों में कोई विकार नहीं)। क्रुञ्चा, क्रुङ्भ्याम्, क्रुङ्भिः इत्यादि रूप बनेंगे। 'भ्याम्' आदि हलादि-विभक्तियों में पदसंज्ञा होने से 'च्' का संयोगान्त लोप और 'न्' को कुत्व होकर ङ् होगा।

३—'पयोमुच्' (= मेघ) शब्द की रूपसिद्धि इस प्रकार है—(क) पयोमुच्+सु (सु), <पयोमुच् (विभक्तिलोप), <पयोमुक्-ग् (कुत्व, जश्त्व, पाक्षिक चर्त्व)। पयोमुचौ (औ)। पयोमुचः (अजादि वचनों में कोई परिवर्तन नहीं)। (ख) पयोमुचम्, पयोमुचौ, पयोमुचः। (ग) पयोमुचा, पयोमुग्भ्याम्, पयोमुग्भिः। (घ) पयोमुक्षु-इत्यादि। हलादि वचनों में यथाप्राप्त कुत्व एवं जश्त्व-चर्त्वादि होते हैं।

४—'सुवृश्च्' (=अच्छी तरह काटने वाला) शब्द की रूपसिद्धि का दिग्दर्शन कराया जारहा है। √ओव्रश्चू छेदने, क्विन्, सम्प्रसारण, पूर्वरूप = (क) सुवृश्च्+सु (सु), <सुवृश्च् (सुलोप), सुवृस्ष् (च् = ष्-"व्रश्चभ्रस्ज०"-२९४), <सुवृष् ('स्'-लोप-"स्कोः संयोगाद्योरन्ते च"-३८०), <सुवृड् ('ष्' = 'ड्'-जश्त्व, <सुवृट् (पाक्षिक चर्त्व)। सुवृश्च्+औ, <सुवृश्चौ। सुवृश्च्+अस्, <सुवृश्चः। (ख) द्वितीया—सुवृश्चम्, सुवृश्चौ, सुवृश्चः। (ग) तृतीया—सुवृश्चा, सुवृड्भ्याम्, सुवृड्भिः। (घ) सप्तमी के बहुवचन में सुवृट्त्सु-सुवृट्सु (वैकल्पिक 'धुट्' आगम-"डः सि धुट्"-१३१ तथा चर्त्व)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हे महन्। महतः। महता, महद्भ्यामित्यादि। (४२५) **अत्वसन्तस्य चाधातोः ६।४।१४॥** अत्वन्तस्योपधाया दीर्घः स्याद्धातुभिन्नासन्तस्य चासम्बुद्धौ सौ परे। परं नित्यं च नुमं बाधित्वा वचनसामर्थ्यादादौ दीर्घः। ततो नुम्। धीमान्, धीमन्तौ, धीमन्तः। हे धीमन्। शसादौ महद्वत्। धातोरप्यत्वन्तस्य दीर्घः। गोमन्तमिच्छति,

---

इति। असर्वनामस्थानत्वाच्छसादौ न दीर्घः। धीः अस्यास्तीत्यर्थे धीशब्दान्मतुप् पकार इत्, उकार उच्चारणार्थः। तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकत्वात् सुबुत्पत्तिः। धीमत् स् इति स्थिते।

(४२५) अत्वसन्तस्य। अनु इति लुप्तषष्ठीकं पृथक्पदम्। अङ्गविशेषणत्वात्तदन्तविधिः। अधातोरित्यसन्तविशेषणम्। 'नोपधायाः' इत्यतः उपधाया इत्यनुवर्तते। अत्वन्तस्य धातुभिन्नासन्तस्य च उपधाया इति लभ्यते। 'सर्वनामस्थाने चासंबुद्धौ' इत्यतः असंबुद्धाविति 'सौ च' इत्यतः साविति 'ढ्रलोपे' इत्यतो दीर्घ इति चानुवर्त्तते। तदाह—अत्वन्तस्येत्यादिना। ननु कृते अकृते च दीर्घे प्रवृत्त्यर्हस्य नुमो नित्यत्वात् परत्वाच्च मकाराकारात् नुमि कृते अत्वन्तत्वाभावात् कथमिह दीर्घ इत्यत आह—परमिति। वचनसामर्थ्यादिति। अन्यथा निरवकाशत्वापत्तिरिति भावः। ततो नुमिति। दीर्घे कृते नुमित्यर्थः। 'विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद् बाधितम्' इति त्वनित्यम्, 'पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम्' इत्युक्तेरिति भावः। धीमानिति। दीर्घे नुमि हल्ङ्यादिलोपे संयोगान्तलोपे रूपमिति भावः। हे धीमन्निति। असम्बुद्धौ इत्युक्तेः न दीर्घ इति भावः। महद्वदिति। असर्वनामस्थानतया शसादौ नुमभावादिति भावः। अत्वसोरिति वक्तव्ये अन्तग्रहणं तु अत्वन्तमात्रग्रहणार्थम्। अन्यथा उपदेशे ये अत्वन्तास्त एव गृह्येरन्, न तु मतुबादयः। नह्येते उपदेशे अत्वन्ता इत्याहुः। नन्वधातोरित्येतत् असन्तस्येव अत्वन्तस्यापि विशेषणं कुतो नेत्यत आह—धातोरपीति। अत्वन्तस्य धातुत्वेऽपि दीर्घार्थम् अधातोरित्येतस्य अत्वन्तविशेषणत्वं नाश्रितमित्यर्थः। ननु धातुपाठे अत्वन्तधातुरप्रसिद्ध इत्यत आह—गोमन्तमिति। आचरतीति वेत्यनन्तरम् इत्यर्थे इति शेषः। गोमन्तमिच्छतीत्यर्थे 'सुप आत्मनः क्यच्' इति क्यचि 'नः क्ये' इति नियमात् पदत्वाभावाज्जश्त्वाभावे गोमत्यशब्दात् 'सनाद्यन्ताः' इति धातुत्वात् कर्तरि क्विपि 'यस्य हलः' 'अतो लोपः' इति यलो-

---

५—वृषत् (=बूँद), बृहत् महत् (=बड़ा), जगत् (=संसार) शब्द वर्तमान अर्थ में उणादि सूत्र से 'शतृ' प्रत्यय के समान निपातित हैं। अतः "उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः"-३८१ से नुम् आगम तथा "सान्तमहतः संयोगस्य"-११७ से दीर्घ होकर 'महत्' शब्द की प्रथमा-विभक्ति के एक-वचन में 'महान्' रूप बनता है। प्रक्रिया—(क) महत्+स्, <मह-न्-त्+स् ('नुम्' आगम 'त्' से पूर्व), <महान् त्+स् (उपधादीर्घ-३१७), <महान्-त् (विभक्तिलोप), <महान् ('त्'-संयोगान्तलोप)। महान्तौ, महान्तः। (ख) महान्तम्, महान्तौ, महतः (शस्)। (ग) महता, महद्भ्याम्, महद्भिः। शसादि अजादि-वचनों में कोई विकार नहीं होता, भ्यामादि में जश्त्व होता है, सम्बोधन के एकवचन (सम्बुद्धि) में दीर्घ न होने के कारण 'हे महन्' रूप बनता है।

(४२५) पद—अत्वसन्तस्य, च, अधातोः। अनुवृत्ति—उपधायाः, सौ, दीर्घः। विधिसूत्र।

मूलार्थ—अत्वन्त की उपधा और धातुभिन्न असन्त की उपधा को सम्बुद्धिभिन्न सु पर रहते दीर्घ होता है। पर और नित्य 'नुम्' को बाध कर पहले ही वचनसामर्थ्य से दीर्घ होता है। तदनन्तर नुम् होगा। धीमान्, धीमन्तौ, धीमन्तः। हे धीमन्। शसादि विभक्तियों में 'महत्' शब्द के समान। धातु होने पर भी अत्वन्त को दीर्घ। गो-स्वामी की इच्छा करने वाला या उसके समान आचरण करने वाला अर्थ में क्यजन्त या आचार-क्विबन्त से कर्ता में क्विप् करने पर 'गोमत्'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोमानिवाचरतीति वा क्यजन्तादाचारक्विबन्ताद्वा कर्तरि क्विप्। 'उगिदचाम्-' (सू २६१) इति सूत्रेऽज्ग्रहणं नियमार्थम्–'धातोश्चेदुगित्कार्यं तर्ह्यञ्चतेरेव' इति। तेन 'स्रत्' 'ध्वत्'

पाल्लोपयोः गोमत् शब्दात् सुबुत्पत्तिः। गोमानिवाचरतीत्यर्थे तु 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः' इति क्विपि 'सनाद्यन्ताः' इति धातुत्वात् कर्तरि क्विपि सुबुत्पत्तिरिति भावः। एवंविधात् गोमत्शब्दात् सौ 'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घे सति 'उगिदचाम्' इति नुमि हल्ङ्यादिलोपे गोमानिति रूपं वक्ष्यति। तत्र गोमच्छब्दस्य क्यजन्तस्य आचारक्विबन्तस्य च 'सनाद्यन्ताः' इति धातुत्वात् कथमस्य 'उगिदचाम्' इति नुमागमः, अधातोरेव उगितो नुम्विधानादित्याशङ्क्याह—उगिदचामिति सूत्रे इति। उगितः सर्वनामस्थाने इत्येतावदेव सूत्रमस्तु अञ्चतेरुगित्त्वादेव सिद्धेः। अज्ग्रहणमतिरिच्यमानं नियमार्थमित्यर्थः। नियमशरीरमाह—धातोश्चेदिति। 'धातोश्चेदुगितः कार्यं स्यात् तर्हि अञ्चतेरेव न तु धात्वन्तरस्येति नियमार्थम्' इति पूर्वेणान्वयः। नियमस्य फलमाह—तेनेति। 'स्रन्सु ध्वन्सु गतौ' इत्युगितौ धातू, ताभ्यां क्विपि 'अनिदितां हल उपधायाः' इति नलोपे सुबुत्पत्तौ सोर्हल्ङ्यादिलोपे 'वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः' इति दत्वे स्रत् ध्वत् इति रूपमिष्टम्। उगितः सर्वनामस्थाने इत्युक्तं तु अत्रापि नुम् स्यात्। कृते त्वज्ग्रहणे

शब्द निष्पन्न होता है। "उगिदचाम्" सूत्र में 'अच्' ग्रहण नियमार्थक है। धातु को यदि उक्–इत्संज्ञक कार्य होता हो तो 'अञ्चु' को ही हो। अतः (स्रंसु) स्रत्, (ध्वंसु) ध्वत् इत्यादि में नहीं होता। (तथापि) यहाँ 'अधातोः' कथन भूतपूर्व-धातु में 'नुम्' होने के लिए है। गोमान्, गोमन्तौ, गोमन्तः इत्यादि। √ भा धातु से 'डवतु' प्रत्यय होने से—भवान्, भवन्तौ, भवन्तः। शतृ-प्रत्ययान्त को अत्वन्त न होने के कारण दीर्घ नहीं हुआ—भवन्।

विवरण—सूत्रार्थ पूरा करने के लिए "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" (६-३-१११) से 'दीर्घः', अधिकार–सूत्र "अङ्गस्य" (६-४-१), "नोपधायाः" (६-४-७) से 'उपधायाः', "सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ" (६-४-८) से 'असम्बुद्धौ' तथा "सौ च" (६-४-१३) सूत्र से 'सौ' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। सूत्रस्थ 'अतु' पद 'अङ्गस्य' का विशेषण है, अतः उससे तदन्त-विधि होती है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होता है—"सम्बुद्धि-भिन्न 'सु'–विभक्ति पर रहते 'अतु'–अन्तवाले अंग की एवम् धातुभिन्न अस्–अन्तवाले अङ्ग की उपधा को दीर्घ हो। मतुप्, वतुप्, डवतु-आदि प्रत्यय अत्वन्त हैं। इस प्रसङ्ग में धी+मतुप्=धीमत् (= बुद्धिमान्) शब्द को अभिलक्षित कर रूपसिद्धि बतलाई जारही है। **उदाहरण**—(क) धीमत्+स् (सु), <धीमात्+स् (उपधा को दीर्घ), <धीमान् त्+स् ('नुम्' आगम), <धीमान् त् (विभक्ति-लोप), <धीमान् ('त्'–संयोगान्तलोप)। धीमत्+औ, <धीम न् त्+औ ('नुम्' आगम), धीमन्तौ। धीमत्+अस्, <धीम न् त्+अस् (नुम्), <धीमन्तः (स् = र् = :)। (ख) धीमन्तम्, धीमन्तौ, धीमतः ('शस्' तथा आगे की विभक्तियों में सर्वनामस्थाननिमित्तक नुम् नहीं होता)। (ग) धीमता, धीमद्भ्याम्, धीमद्भिः। (घ) धीमते, धीमद्भ्याम्, धीमद्भ्यः। (ङ) धीमतः, धीमद्भ्याम्, धीमद्भ्यः। (च) धीमतः, धीमतोः, धीमताम्। (छ) धीमति, धीमतोः, धीमत्सु। (ज) हे धीमन्, (सम्बुद्धि में दीर्घ नहीं होता), हे धीमन्तौ, हे धीमन्तः।

विशेष—'नुम्' आगम की प्राप्ति दीर्घ होने के पहले भी रहती है और पश्चात् भी। इस स्थिति में उसके नित्य होने से तथा सूत्रक्रम में दीर्घ (६-४-१४) की अपेक्षा 'नुम्' (७-१-७०) पर होने के कारण भी उसे पहले ही प्रवृत्त होना चाहिये। 'नुम्' के पहले होने पर 'अतु'–अन्त न मिलने के कारण प्रकृत-सूत्र को प्रवृत्त होने के लिये कोई लक्ष्य ही नहीं मिलेगा। अतः सूत्र-विधान के सामर्थ्य से पहले दीर्घ होता है, तदनन्तर 'नुम्' होगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यादौ न। 'अधातोः' इति त्वधातुभूतपूर्वस्यापि नुमर्थम्। गोमान्, गोमन्तौ, गोमन्तः इत्यादि। 'मातेर्डवतुः' (उ ६३)। भवान्, भवन्तौ, भवन्तः। शत्रन्तस्य त्वत्वन्तत्वाभावान्न

उक्तनियमलाभादत्र नुम् न भवतीत्यर्थः। तर्ह्येतावतैव सिद्धे अधातोरिति किमर्थमित्यत आह—अधातोरिति त्विति। अधातुः पूर्वं भूतः अधातुभूतपूर्वः, पूर्वम् अधातुभूतस्यापि नुमर्थमधातोरित्येतदित्यर्थः। ततश्च उगिदचां सर्वनामस्थाने इत्येकं वाक्यम्। तत्र अधातोरित्यभावेऽपि अञ्ग्रहणादधातोरुगित इति लाभादधातोरुगितो नलोपिनोऽञ्चतेश्च नुमागमः स्यादित्यर्थः। अधातोरित्यपरं वाक्यम्। उक्तो नुमागमः अधातुभूतपूर्वस्यापि भवतीत्यर्थः। प्रकृते च क्यजाचारक्विबुत्पत्त्यनन्तरं धातुत्वे सत्यपि क्यजाद्युत्पत्तेः पूर्वम् अधातुत्वसत्त्वान्नुम् निर्बाध इत्यर्थः। एतत् सर्वम् 'उगिदचाम्' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। अत्र क्यच्पक्षे दीर्घे नुमि च कर्तव्ये अल्लोपो न स्थानिवत्, दीर्घविधौ तन्निषेधात्, कौ लुसं न स्थानिवदित्युक्तेश्च। अथ भवच्छब्दे विशेषमाह—मातेर्डवतुरिति। उणादिसूत्रमेतत्। मा धातोर्डवतुः स्यादित्यर्थः। डकार इत्। उकार उच्चारणार्थः। ङित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः। भवत् इति रूपम्। भवानिति। भवच्छब्दात् सुः। 'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घः, 'उगिदचाम्' इति नुम्, हल्ङ्यादिलोपः, संयोगान्तलोपश्चेति भावः। शत्रन्तस्य त्विति। 'लटः शतृशानचौ' इति भूधातोर्लटः शतृ-आदेशः। शकार इत्, ऋकार इत्, शप्, गुणः,

---

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'अधातोः' पद केवल 'असन्त' का ही विशेषण है न कि 'अतु-अन्त' का। अतः धातु होने पर भी 'अतु-अन्त' को दीर्घ होगा। इस दृष्टि से 'गोमत्' शब्द मूल रूप में धातुवाची न होने पर भी आचरण-अर्थ में क्यजन्त अथवा आचार-अर्थ में क्विप्-प्रत्यय करने पर "सनाद्यन्ता धातवः" (३-१-३२) से धातु-संज्ञा होने के फलस्वरूप पुनः कर्त्रर्थ में क्विप् प्रत्यय होने से विभक्तियाँ आती हैं। इस प्रकार निष्पन्न हुए 'गोमत्' शब्द से 'सु' विभक्ति की अपेक्षा में "अत्वसन्तस्य चाधातोः" (४२५) से दीर्घ होकर 'नुम्' आगम होने के पश्चात् विभक्तिलोप तथा संयोगान्तलोप होकर 'गोमान्' सिद्ध होता। 'धातु' की परिकल्पना कर अत्वन्त को दीर्घ करने से पुनरपि यह शङ्का होती है कि "उगिदचां०" ३६१ सूत्र से नुम् आगम कैसे सम्भव होगा? कारण यह है कि उक्त सूत्र से 'धातुभिन्न' (अधातोः) उक्-इत् को नुम् आगम का विधान किया गया है। इसका निवारण "उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः" (३६१) सूत्रस्थ 'अच्' पद के ज्ञापन से किया जारहा है। सम्पूर्ण "उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः" (३६१) सूत्र के स्थान पर यदि "उगितः सर्वनामस्थाने" यह स्वरूप रखा जाय तो √'अञ्चु' को, 'उ'कार इत्संज्ञा होने के कारण, 'नुम्' आगम सिद्ध हो जायगा। अतः 'अच्' ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि "यदि धातुओं को उक्-इत्संज्ञानिमित्तक कार्य हो तो वह कार्य केवल 'न्-लोपो'-'अञ्च्' को अभिलक्षित कर ही हो"। इस नियम के फलस्वरूप 'क्विप्-प्रत्ययान्त √ध्वंसु एवं √स्रंसु के 'उक्' (उ)—इत्संज्ञक होने पर भी 'नुम्' नहीं हुआ। 'ध्वंस्' तथा 'स्रंस्' के सकार को "वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः" (३४९) से 'द्' तथा चर्त्व (त्) होकर 'ध्वत्' (=नाश होनेवाला) तथा 'स्रत्' (=नीचे सरकने वाला) रूप बनते हैं। प्रकृत उदाहरण 'गोमत्' शब्द यद्यपि क्यजन्त एवम् आचार-क्विवन्त होने से सम्प्रति धातुसंज्ञक है तथापि प्रातिपदिकावस्था में वह धातुभिन्न (अधातु) है, अतः 'नुम्' आगम होने में कोई बाधा नहीं है। इस कारण 'नुम्'-विधायक सूत्र "उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः" (३६१) में 'अधातोः' पद 'भूतपूर्व-अधातु' अर्थ का बोधक है।

निर्देश—१-'गोमत्' शब्द की प्रमुख विभक्तियों का दिग्दर्शन इस प्रकार है। (क) गोमत्+स्, <गोमात्+स् (दीर्घ), <गोमा न्-त्+स् ('नुम्') <गोमा न्-तु ('सु' लोप), <गोमान् (त्-संयोगान्तलोप)। गोमत्+औ, <गोमन् त्+औ (नुम्), गोमन्तौ। गोमन्तः (अस्)। गोमन्तम्, गोमन्तौ, गोमतः इत्यादि।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दीर्घः। भवतीति भवन्। (४२६) उभे अभ्यस्तम् ६। १। ५॥ षाष्ठद्वित्वप्रकरणे ये द्वे विहिते उभे समुदिते अभ्यस्तसंज्ञे स्तः। (४२७) नाभ्यस्ताच्छतुः ७। १। ७८॥

अवादेशः, पररूपम्, भवत् इति रूपम्। तस्य तु अत्वन्तत्वाभावादत्वसन्तस्येति दीर्घो न भवति। तत्र उकारानुबन्धग्रहणादित्यर्थः। भवन्निति। सौ नुमि हल्ङ्यादिलोपे संयोगान्तलोपः। भवन्तावित्यादि तु पूर्ववदेवेति भावः। दाञ्धातोः लटः शत्रादेशे शप्। जुहोत्यादिभ्यः श्लुः। 'श्लौ' इति द्वित्वम्, अभ्यासहस्वः, 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इत्यल्लोपः, ददत् इति रूपम्। ततः सुवुत्पत्तिः। 'उगिदचाम्' इति नुमि प्राप्ते 'नाभ्यस्तात्' इति तन्निषेधं वक्ष्यन् अभ्यस्तसंज्ञामाह।

(४२६) उभे अभ्यस्तम्। 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' इत्यतो द्वे इत्यनुवर्तते। उभेग्रहणं समुदायप्रतिपत्त्यर्थम्। द्वे इत्यनेन च षष्ठाध्यायविहितमेव द्वित्वं विवक्षितम्, 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इति न्यायात्। तदाह—षाष्ठेत्यादिना। समुदिते किम्? नेनिजतीत्यत्र प्रत्येकमभ्यस्तसंज्ञायाम् 'अभ्यस्तानामादिः' इत्युदात्तः प्रत्येकं स्यात्।

(४२७) नाभ्यस्ताच्छतुः। 'इदितो नुम् धातोः' इत्यतो नुमित्यनुवर्तते। तदाह—अभ्य-

---

२—भवत् (= आप) शब्द-सम्बन्धी विशेषताओं का निदर्शन इस प्रकार है। व्युत्पत्ति- √भू+ङवतु (उणादि-प्रत्यय), <भू+अवत् ('टि' = 'आ' का लोप) भवत्। (क) प्रथमा—भवत्+स्, <भवात्+स् (दीर्घ—४२५), भवान्-त्-स् (नुम्), <भवान् त् ('सु'-लोप), <भवान् ('त्'-संयोगान्तलोप, इसके असिद्ध होने से 'न्'लोप नहीं होता)। भवन्तौ, भवन्तः। द्वि०—भवन्तम्, भवन्तौ, भवतः। तृ०—भवता, भवद्भ्याम्, भवद्भिः। च०—भवते, भवद्भ्याम्, भवद्भ्यः। प०—भवतः, भवद्भ्याम्, भवद्भ्यः। ष०—भवतः, भवतोः, भवताम्। स० भवति, भवतोः, भवत्सु। सं० हे भवन्, हे भवन्तौ, हे भवन्तः। सिद्धि 'धीमत्' शब्द के समान। 'शतृ'-प्रत्ययान्त (भू+अत्) में 'अतु'-अन्त न होने से दीर्घ नहीं होता—भवन् (होता हुआ)। 'भू' धातु से लट् = शतृ (अत्), शप् (अ), गुण, अवादेश, पररूप—भवत्+स्, <भवन्-त्+स्, <भवन् त् ('सु' लोप), <भवन् (संयोगान्तलोप)। भवन्तौ, भवन्तः आदि रूप होंगे।

३—'ददत्' (दा-अ+अत्, <दा-दा+अत्, <द दा+अत्, <ददत् (= देता हुआ) शब्द के प्रसङ्ग में अभ्यस्त-संज्ञा का निर्वचन किया जारहा है।

(४२६) पद—उभे, अभ्यस्तम्। अनुवृत्ति—द्वे। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—षष्ठाध्याय के प्रकरण में जो द्वित्व विहित है उसके दोनों मिलित रूप 'अभ्यस्त' कहलाते हैं।

विवरण—"एकाचो द्वे प्रथमस्य" (६-१-१) सूत्र से 'द्वे' की अनुवृत्ति करने पर सूत्र का यह आशय विदित होता है कि "अष्टाध्यायी में षष्ठाध्यायस्थ द्वित्व-प्रकरण के सम्मिलित दोनों रूप 'अभ्यस्त'-संज्ञक होते हैं।

विशेष—अष्टाध्यायी में द्वित्व-प्रकरण दो स्थानों पर वर्णित है—(१) छठे अध्याय में और (२) दूसरा आठवें अध्याय में। छठे अध्याय में प्रथम-पाद के पहले बारह सूत्र द्वित्व-विधायक हैं। आठवें अध्याय में प्रथम-पाद के पहले पन्द्रह सूत्र द्वित्व-विधायक हैं। इनमें से छठे अध्याय वाले द्वित्व-प्रकरण में ही अभ्यस्त संज्ञा होती है। कारण यह है कि 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इस न्याय से विधि और निषेध की प्रवृत्ति समीपस्थशास्त्र तक सीमित रहती है।

(४२७) पद—न, अभ्यस्तात्, शतुः। अनुवृत्ति—नुम्। विधि(निषेध)सूत्र।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभ्यस्तात्परस्य शतुर्नुम् न स्यात्। ददत्–ददद्, ददतौ, ददतः। (४२८) जक्षित्यादयः षट् ६।१।६॥ षड् धातवोऽन्ये जक्षितिश्च सप्तमः एतेऽभ्यस्तसंज्ञाः स्युः। जक्षत्–जक्षद्, जक्षतौ, जक्षतः। एवं जाग्रत्, दरिद्रत्, शासत्, चकासत्। दीधीवेव्यो-

---

स्तादित्यादिना। दददिति। ददत्शब्दात् सुः। हल्ङ्यादिलोपः। 'नाभ्यस्तात्' इति निषेधात् 'उगिदचाम्' इति नुम् न, अत्वन्तत्वाभावाच्च न दीर्घ इति भावः। 'जक्ष भक्षणहसनयोः, जागृ निद्राक्षये, दरिद्रा दुर्गतौ, चकास् दीप्तौ, शासु अनुशिष्टौ, दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः, वेवीङ् वेतिना तुल्ये' इति सप्त धातवः अदादौ पठिता लुग्विकरणाः। तेभ्यो लटः शत्रादेशे शप्लुकि सुबुत्पत्तौ 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति निषेध इष्यते। अभ्यस्तसञ्ज्ञायाश्च द्वित्वनिबन्धनत्वादिहाप्राप्ताविदमारभ्यते।

(४२८) जक्षित्यादयः षट्। अभ्यस्तमित्यनुवृत्तं बहुवचनान्ततया विपरिणम्यते। अत्र जक्षितिः आदिर्येषामिति तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहौ सति जक्षधातुमारभ्य षण्णामेव ग्रहणं स्यात्, वेवीङो न स्यात्। अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहौ तु जागृ इत्यारभ्य षण्णां ग्रहणं स्यात्, न तु जक्षेः। अतो व्याचष्टे—षड्धातवोऽन्ये जक्षितिश्च सप्तम इति। अत्र विवरणवाक्ये जक्षितिरिति श्तिपा निर्देशः, जक्षधातुरित्यर्थः। 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' इति इडागमे रूपम्। सूत्रे जक्ष् इति पृथक् पदम्। इतिना जक्षिः परामृश्यते। इति आदिः येषामित्यतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः। ततश्च इत्यादयः षट् इत्यनेन जक्ष धातोः अन्ये जागृ इत्यारभ्य षड् धातवो विवक्षिताः। च शब्दः अध्याहार्यः। एवं च जक्ष धातुश्च जागृधातुमारभ्य षड् धातवश्चेत्येवं सप्त धातवः अभ्यस्तसञ्ज्ञकाः स्युरिति फलतीत्यर्थः। तदिदं भाष्ये स्पष्टम्। जक्षदिति। अभ्यस्तत्वान्निषेध इति भावः। ननु दीधीवेव्योर्ङित्त्वात् 'अनुदात्तङित' इति आत्मनेपदसञ्ज्ञक एव लटः शानजादेशः स्यात् न तु शत्रादेश इत्यत आह—दीधीवे-

---

मूलार्थ—अभ्यस्त से पर 'शतृ' को नुम् नहीं होता। ददत्–ददद्, ददतौ, ददतः।

विवरण—"इदितो नुम् धातोः" (७-१-५८) सूत्र से 'नुम्' की अनुवृत्ति करने पर सूत्र से यह बोध होता है कि "अभ्यस्त-संज्ञक से पर 'शतृ' प्रत्यय को 'नुम्' आगम नहीं होता।" उदाहरण—(क) ददत्+स्, <ददद् ('नुम्' आगम का निषेध, क्योंकि यहाँ √दा को द्वित्व होने से 'ददत्' की अभ्यस्त संज्ञा हुई है, 'स्'–लोप, त्=द्–जश्त्व), <ददत् (द्=त्–पाक्षिक चर्त्व)। ददतौ, ददतः। ददतम्, ददतौ, ददतः। ददता, ददद्भ्याम्, ददद्भिः आदि रूप बनेंगे।

(४२८) पद—जक्षित्यादयः, षट्। अनुवृत्ति—अभ्यस्तम्। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—अन्य छह धातु तथा 'जक्ष्' को मिलाकर—इन सात धातुओं की भी 'अभ्यस्त'-संज्ञा होती है। जक्षत्–जक्षद्, जक्षतौ, जक्षतः। जाग्रत, दरिद्रत, शासत तथा चकासत भी इसी प्रकार हैं। √'दीधी' तथा √'वेवी' ये दोनों धातु 'ङ्'–इत् होने के कारण आत्मनेपदी हैं। तथापि ये दोनों वेद में ही प्रयुक्त होते हैं, किन्तु वहाँ पाक्षिक वैपरीत्य-नियम होने से परस्मैपदी हो जाते हैं। (अतः) इनके भी दीध्यत् एवं वेव्यत्–रूप होते हैं।

विवरण—"उभे अभ्यस्तम्" (६-१-५) से 'अभ्यस्तम्' की अनुवृत्ति करने पर यह विदित होता है कि 'जक्ष्' आदि सात धातु अभ्यस्त-संज्ञक होते हैं'। इन सात धातुओं का परिगणन निम्नलिखित कारिका में किया गया है—

"जक्षि-जागृ-दरिद्रा-शास्-दीधीङ्-वेवीङ्-चकास्तथा।
अभ्यस्तसंज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिताः॥"

इन धातुओं को बिना द्वित्व किये हुए अभ्यस्तसंज्ञा होती है। पूर्वसूत्र से द्वित्व करने पर सम्पूर्ण 'द्वित्व-रूप' को अभ्यस्त संज्ञा की गई है। कारिकोक्त सातों धातुओं से 'शतृ' प्रत्यय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ङित्त्वेऽपि छान्दसत्वाद्वचत्ययेन परस्मैपदम्। दीध्यत्, वेव्यत्। इति तान्ताः। गुप्–गुव्, गुपौ, गुपः। गुभ्यामित्यादि। इति पान्ताः। **(४२९) त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च ३। २। ६०॥** त्यदादिषूपपदेष्वज्ञानार्थाद् दृशेर्धातोः कञ् स्यात्, चात् क्विन्।

व्योरिति। दीधीवेव्योः छन्दोमात्रविषयत्वं तिङन्ताधिकारे वक्ष्यते। 'व्यत्ययो बहुलम्' इति छान्दसं परस्मैपदम्। अतः शानजसम्भवात् शत्रादेश एवेत्यर्थः। दीध्यद् वेव्यदिति। दीधी वेवी इत्याभ्यां लटः शत्रादेशे कृते शब्लुकि यणादेशः। अभ्यस्तत्वाच्च नुम् नेति भावः। तान्ताः। अथ पकारान्ता निरूप्यन्ते। गुपिति। 'गुपू, रक्षणे' क्विप्। 'आयादय आर्धधातुके वा' इति वैकल्पिकत्वादायप्रत्ययो नेति भावः। गुभ्यामिति। 'स्वादिषु' इति पदत्वाद् भ्यामादौ जश्त्वमिति भावः। इति पान्ताः। अथ शकारान्ता निरूप्यन्ते। तादृशशब्दं व्युत्पादयितुमाह।

(४२९) त्यदादिषु। चकारात् 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' इत्यतः क्विन् अनुकृष्यते। आलोचनमिह ज्ञानसामान्यं विवक्षितम्। तदाह—त्यदादिष्वित्यादिना। अनालोचने किम्? तं पश्यति तद्दर्शः। कर्मण्यण्। कञि तु किस्वाद् गुणो न स्यात्। तद्शब्दे उपपदे क्विनि उपपदसमासे सुब्लुकि तद् दृश् इति स्थिते।

करने पर सर्वनामस्थान-विभक्तियों में 'नुम्' आगम प्राप्त रहा, किन्तु प्रकृत सूत्र से अभ्यस्त-संज्ञा होने के फलस्वरूप "नाभ्यस्ताच्छतुः" (४२८) सूत्र से नुम् का निषेध हो जाता है। अतः 'जक्षत्' आदि सातों शब्दों के रूप 'ददत्' शब्द के समान सिद्ध होते हैं। **उदाहरण**—जक्षत्–द्, (= खाता हुआ) जक्षतौ, जक्षतः इत्यादि। इसी प्रकार जाग्रत् (= जागता हुआ), दरिद्रत् (= दुर्गति को प्राप्त होता हुआ), शासत् (शासन करता हुआ), चकासत् (= चमकता हुआ), दीध्यत् (=देता हुआ), वेव्यत् (=देता हुआ) शब्दों के रूप भी सिद्ध होंगे। इनमें से दीधीङ् तथा वेवीङ् धातुओं के शतृ-प्रत्ययान्त प्रयोग वेद में ही होते हैं। यद्यपि ये दोनों धातु 'ङित्' होने से आत्मनेपदी हैं, अतः 'शानच्' होना चाहिये। तथापि वेद में "व्यत्ययो बहुलम्" (३-१-८५) से सभी विधियों का व्यत्यय (वैपरीत्य) सिद्ध किया गया है। व्यत्यय करने से यह फल होता है कि नियमतः प्राप्त विधान को छोड़कर विपरीत-विधान को भी मान्यता मिल जाती है[1]। तदनुसार यहाँ 'परस्मैपद' मानकर शतृ-प्रत्यय होता है।

निर्देश—क्विप्-प्रत्ययान्त √गुप् धातु (= रक्षा करना) से प्रातिपदिक-संज्ञा करने पर 'गुप्' शब्द के रूप बतलाये जा रहे हैं। इस प्रकार प्रथमा-विभक्ति में—गुप्–व्, गुपौ, गुपः रूप होते होते हैं। तदनुसार एकवचन में विभक्तिलोप एवं जश्त्व तथा पाक्षिक चर्त्व हुए। अजादि विभक्तियों में व्यञ्जन-वर्ण विभक्तियों से संयुक्त हो जाते हैं। अन्य भ्यामादि हलादि विभक्तियों में जश्त्व होकर 'गुब्भ्याम्' आदि रूप बनेंगे।

(४२९) पद—त्यदादिषु, दृशः, अनालोचने, कञ्, च। **अनुवृत्ति**—क्विन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—त्यदादि उपपद रहते अज्ञानार्थक 'दृश्' धातु से 'कञ्' प्रत्यय होता है और क्विन् भी।

विवरण—पूर्व सूत्र "स्पृशोऽनुदके क्विन्" (३-२-५९) से 'क्विन्' की अनुवृत्ति करने पर यह ज्ञात होता है कि 'त्यद्' आदि सर्वनामवाची शब्दों के उपपद रहते हुए अज्ञानार्थक √दृश् से 'कञ्' तथा 'क्विन्' प्रत्यय होते हैं।

१. "किं पुनरिदं व्यत्ययो नाम? व्यतिगमनं व्यत्ययः। यस्य प्राप्तिः स न स्यात्। अन्य एव स्यात्। अथवा कोऽपि न स्यात्। के च ते विधयो येषां व्यत्ययो भवति? सुपां व्यत्ययः, तिङां व्यत्ययः, वर्णव्यत्ययः, लिङ्गव्यत्ययः, कालव्यत्ययः, पुरुषव्यत्ययः, आत्मनेपदव्यत्ययः, परस्मैपदव्यत्ययश्च।" महाभाष्यम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४३०) आ सर्वनाम्नः ६ । ३ । ९१ ॥ सर्वनाम्नः आकारोऽन्तादेशः स्याद् दृग्दृश्वतुषु । कुत्वस्यासिद्धत्वात् 'व्रश्च—' (सू २९४) इति षः । तस्य जश्त्वेन डः । तस्य कुत्वेन गः । तस्य चर्त्वेन पक्षे कः । तादृक्—तादृग्, तादृशौ, तादृशः । 'षत्वापवादत्वात्कुत्वेन खकारः' इति कैयटहरदत्तादिमते तु चर्त्वाभावपक्षे ख एव श्रूयते, न तु गः,

---

(४३०) आ सर्वनाम्नः । आ इत्यविभक्तिकनिर्देशः । 'दृग्दृश्वतुषु' इति सूत्रमनुवर्तते । तदाह—सर्वनाम्न इति । अन्तादेश इति । अलोऽन्त्यपरिभाषालभ्यमिदम् । दकारस्य आत्वे सवर्णदीर्घः । तादृश् इति रूपम् । ततः सुबुत्पत्तिः । कत्वस्येति । तादृश् स् इति स्थिते हल्ङ्यादिलोपे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वस्यासिद्धत्वात् 'व्रश्च' इति ष इत्यर्थः । तस्येति । 'व्रश्च' इति सम्पन्नस्य षकारस्येत्यर्थः । तस्य कुत्वेनेति । डकारस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वेन गकार इत्यर्थः । तस्य चर्त्वेनेति । गकारस्य 'वाऽवसाने' इति चर्त्वविकल्प इत्यर्थः । तादृगिति । स इव दृश्यत इति न विग्रहः 'कर्तरि कृत्' इति कर्तर्येव क्विन्विधानात् । किन्तु कर्मकर्तरि क्विन् । स इवायं पश्यति, ज्ञानविषयो भवतीत्यर्थः । 'दृशेरत्र 'ज्ञानविषयत्वापत्तिमात्रवृत्तित्वादज्ञानार्थता' इति 'त्यदादिषु दृशेः' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । रूढशब्द एवायमित्यन्ये । अथात्र कैयटादिमतं दूषयति—षत्वापवादत्वादिति । यद्यपि दधृगञ्चुयुजिक्रञ्चुषु अप्राप्तेऽपि व्रश्चादिषत्वे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वमारभ्यते । तथापि क्विपैव सिद्धे 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च' इति क्विन्विधानं 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वार्थं क्रियमाणं घृतस्पृक् तादृक् इत्यादिषु अप्रवृत्तौ निरवकाशमेव स्यात् । अतस्तद्विषये कुत्वस्य फलतः षत्वापवादत्वमिति भावः । क्विन्विधानं 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वार्थमेव इति 'स्पृशोऽनुदके' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । अनवकाशत्वादेव च षकारविषये कुत्वस्य नासिद्धत्वमपि । अन्यथा 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' इत्यादिना स्पृशादेः क्विन्विधिवैयर्थ्यात् । उक्तं च 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यत्र भाष्ये-'अपवादो वचनप्रामाण्यात्' इति । खकार इतीति । अघोषमहाप्राणसाम्यादिति भावः । ख एवेति । तादृक्, तादृग् इति रूपद्वयमिष्टम् । शकारस्य कुत्वेन खकारे सति तस्य 'वाऽवसाने' इति चर्त्वपक्षे

---

(४३०) पद—आ, सर्वनाम्नः । अनुवृत्ति—दृग्दृश्वतुषु । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'दृग्', 'दृश्' तथा 'वतु' पर रहते सर्वनाम-शब्दों को 'आ'कार अन्तादेश होता है । कुत्व के असिद्ध होने से "व्रश्चभ्रस्ज०" से 'ष्' । उसके स्थान पर जश्त्व से 'ड्', उसे कुत्व से 'ग्' तथा पाक्षिक चर्त्व होकर 'क्' होगा—तादृक्-ग्, तादृशौ, तादृशः । कैयट हरदत्त आदि का यह मत है कि यहाँ षत्व को बाधकर कुत्व होने से 'ख्' होता है । इनके मत में पाक्षिक चर्त्व न होने पर जश्त्व के असिद्ध होने से 'ख्' का श्रवण होता है न कि 'ग्' का । "दिगादिभ्यो यत्" सूत्र में 'दिगादि' शब्द-प्रयोग से जश्त्व असिद्ध नहीं होता । "व्रश्चभ्रस्ज०" से षत्व होने पर जश्त्व तथा चर्त्व करने के पश्चात् विट्-विड् रूप बनते हैं । आगे-विशौ, विशः । विशम्, विशौ, विशः-आदि रूप सिद्ध होंगे ।

विवरण—सूत्रक्रम में इससे पूर्व सम्पूर्ण सूत्र "दृग्दृश्वतुषु" (६-३-८९) की अनुवृत्ति करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि "दृग्, दृश् और वतु पर रहते सर्वनामवाची शब्दों के स्थान पर 'आ' आदेश होगा" । "अलोऽन्त्यस्य" परिभाषा की उपस्थिति से यह आदेश सर्वनाम-शब्दों के अन्त्य वर्ण को अभिलक्षित कर प्रवृत्त होगा । उदाहरण—(क) तद्-दृश्+क्विन् = तद्-दृश् ('क्विन्' का सर्वापहार) = वैसा । तद्-दृश् <त-आ-दृश् (द् = आ), <तादृश्+स् (सवर्ण-दीर्घ-अ+आ = आ), <तादृश् ('स्'-विभक्तिलोप), <तादृष् "क्विन्प्रत्ययस्य कुः" से प्राप्त कुत्व के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जश्त्वं प्रति कुत्वस्यासिद्धत्वात्। 'दिगादिभ्यो यत्' (सू १४२९) इति निर्देशान्नासिद्धत्वमिति वा बोध्यम्। 'व्रश्च—' (सू २९४) इति षत्वम्। जश्त्वचर्त्वे। विट्–विड्, विशौ, विशः। (४३१) नशेर्वा ८।२।६३॥ नशेः कवर्गोऽन्तादेशो वा स्यात्पदान्ते।

तादृक् इति रूपसिद्धावपि चर्त्वाभावपक्षे तादृख् इत्येव स्यात्, तादृग् इति गकारो न श्रयेतेत्यर्थः। नन्वस्तु शकारस्य खकारः। अथापि तस्य चर्त्वाभावपक्षे जश्त्वेन गकारो निर्बाध इत्यत आह—जश्त्वं प्रतीति। जश्त्वेन गकारे कर्तव्ये शकारस्थानकस्य कुत्वसम्पन्न-खकारस्यासिद्धतया झलोऽभावेन जश्त्वासम्भवादित्यर्थः। अथ कैयटादिमते उक्तदोषं निरस्यति—दिगादिभ्यो यदितीति। 'विश प्रवेशने' क्विप् विश् इति रूपम्। तस्य विशेष-माह—व्रश्चेतिषत्वमिति। विश् स् इति स्थिते हल्ङ्यादिलोपे 'व्रश्च' इति शकारस्य षकार इत्यर्थः। जश्त्वचर्त्वे इति। षस्य जश्त्वेन डः। 'वाऽवसाने' इति चर्त्वेन पक्षे टः इत्यर्थः। विड्भ्याम्। विट्सु विट्सु। 'णश अदर्शने' क्विप्। नश् इति रूपम्। ततः सुबुत्पत्तिः। सोर्हल्ङ्यादिलोपे व्रश्चादिना नित्यं षत्वे प्राप्ते।

(४३१) नशेर्वा। 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इत्यतः कुरित्यनुवर्तते, 'स्कोः संयोगाद्योः' इत्यतः अन्ते इति च। 'पदस्य' इत्यधिकृम्। तदाह—नशेः कवर्ग इत्यादिना। अन्तादेश

असिद्ध होने से (श्=ष्–"व्रश्चभ्रस्ज०"–२९४), <तादृड् (ष्=ड्–जश्त्व–"झलां जशोन्ते"–८४), <तादृग् (ड्=ग्–कुत्व "क्विन्प्रत्ययस्य कुः"–३७७), <तादृक् (ग्=क्–पाक्षिक–चर्त्व—"वाऽवसाने"–२०६)। तादृश्+औ, <तादृशौ। तादृश्+अस्, <तादृशः (स्=र्=:) तादृशम्, तादृशौ, तादृशः। तादृशा, तादृग्भ्याम् (श्=ष्=ड्=ग्), तादृग्भिः इत्यादि। 'कञ्' होने पर 'तादृशः' आदि।

विशेष—इस सम्बन्ध में कैयट आदि आचार्यों के मत का उल्लेख कर भट्टोजी दीक्षित ने उनका निवारण किया है। आचार्य कैयट आदि का यह कथन है कि 'तादृश्' शब्द में "व्रश्चादि०"—सूत्र से 'श्' के स्थान पर 'ष्' की प्राप्ति अवश्य है, किन्तु पूर्व में 'क्विन्' प्रत्यय होने से षत्व को बाधकर 'कुत्व'–विधान प्रवृत्त होगा। इस स्थिति में अघोष एवं महाप्राण प्रयत्नों के सादृश्य से 'श्' के स्थान पर 'ख्' (कुत्व) होना चाहिये। उसके स्थान पर पाक्षिक चर्त्व होकर 'तादृक्' एवं 'तादृख्' दो रूप बनेंगे। इस मत में 'तादृग्' रूप सिद्ध नहीं होता। 'ख्' को जश्त्व करने पर 'तादृग्' रूप सिद्ध होने की सम्भावना का निराकरण 'जश्त्व' के प्रति कुत्व असिद्ध होने से हो जाता है। इस प्रकार रूप-वैषम्य होने की स्थिति में भट्टोजी दीक्षित यह समाधान देते हैं कि पाणिनि को गकारात्मक रूप ही अभीष्ट है। इस विषय में "दिगादिभ्यो यत्" (४-३-५४) सूत्र में 'दिग्' शब्द का प्रयोग ही प्रमाण है।

निर्देश—√विश् से क्विप् प्रत्यय करने पर 'विश्' शब्द की विभक्तियों में रूपसिद्धि बतलाई जारही है। विश्+सु, <विश्० (विभक्ति-लोप), <विप् (श्=ष्="व्रश्च–भ्रस्ज०"–२९४), विड् (ष्=ड्–जश्त्व), विट् (ड्=ट्–पाक्षिक चर्त्व)। विशौ, विशः। विशम्, विशौ, विशः। विशा, विड्भ्याम्, विड्भिः इत्यादि।

(४३१) **पद**—नशेः, वा। **अनुवृत्ति**–पदस्य (अधिकार), अन्ते, कुः। **विधिसूत्र** (विकल्प)।

मूलार्थ—पदान्त में 'नश्' को विकल्प से कवर्गादेश होता है। नक्–नग्, –नट्–नड्, नशौ, नशः। नग्भ्याम्–नड्भ्याम् इत्यादि।

विवरण—सूत्र में आदेश-वाचक पद के अभाव में "क्विन्प्रत्ययस्य कुः" (८-१-६३) से 'कुः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। "पदस्य" (८-१-१६) का अधिकार-क्षेत्र है। 'पद' की अभि-व्याप्ति के सम्बन्ध में सन्देह का निवारण "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च" (८-२-२९) सूत्र से 'अन्ते' पद की अनुवृत्ति करने पर होता है। तदनुसार पद के अन्त में "नश् के स्थान पर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नक्-नग्,-नट्-नड्, नशौ, नशः। नग्भ्याम्–नड्भ्यामित्यादि। (४३२) स्पृशोऽनुदके क्विन् ३।२।५८ ॥ अनुदके सुप्युपपदे स्पृशेः क्विन् स्यात्। घृतस्पृक्–घृतस्पृग्, घृतस्पृशौ, घृतस्पृशः। क्विन् प्रत्ययो यस्मादिति बहुव्रीह्याश्रयणात् क्विप्यपि कुत्वम्। स्पृक्। षडगकाः प्राग्वत्। इति शान्ताः। 'ञिधृषा प्रागल्भ्ये'। अस्मात् 'ऋत्विग्' (सू ३७३) आदिना क्विन् द्वित्वमन्तोदात्तत्वं च निपात्यते। कुत्वात्पूर्वं जश्त्वेन डः गः कः। धृष्णोतीति

इत्यलोऽन्त्यसूत्रलभ्यम्। पक्षे 'ग्रश्च' इति षत्वम्। नक् नगिति। कुत्वपक्षे जश्त्वचर्त्वाभ्यां रूपे। नट् नडिति। षत्वपक्षे जश्त्वचर्त्वाभ्यां रूपे। नग्भ्याम्-नड्भ्यामिति। कुत्वपक्षे जश्त्वेन गकारः। षत्वपक्षे तु जश्त्वेन डकारः। 'मस्जिनशोर्झलि' इति नुम् तु न, धातोर्विहिते प्रत्यये एव तत्प्रवृत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात्।

(४३२) स्पृशोऽनुदके। अनुदके सुपीति। उदकशब्दभिन्ने सुबन्ते इत्यर्थः। 'सुपि स्थः' इत्यतः सुपीत्यनुवर्तते इति भावः। घृतस्पृक् घृतस्पृगिति। घृतं स्पृशतीति विग्रहे क्विन्। उपपदसमासः। सुब्लुक्। घृतस्पृश्शब्दात् सुबुत्पत्तिः। सोर्हल्ङ्यादिलोपः। 'क्विन्-प्रत्ययस्य' इति कुत्वस्यासिद्धत्वात् पूर्वं 'ग्रश्च' इति षः। तस्य जश्त्वेन डः। तस्य कुत्वेन गः। तस्य चर्त्वविकल्प इति भावः। घृतस्पृग्भ्याम्। घृतस्पृक्षु। अथ 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इत्यत्र 'क्विनः कुः' इत्येतावतैव क्विन्नन्तस्येति लब्धे प्रत्ययग्रहणं क्विन् प्रत्ययो यस्मादिति बहुव्रीहिलाभायेत्युक्तं युज्यशब्दनिरूपणावसरे। तस्य प्रयोजनमाह—क्विन् प्रत्ययो यस्मादिति बहुव्रीह्याश्रयणात् क्विप्यपीति। सति भवतीति शेषः। अनुदके सुप्युपपदे तावत् स्पृशेः क्विन् विहितः। अतो निरुपसर्गात् स्पृशेः क्विबेव। तस्य सम्प्रति क्विन्नन्तत्वाभावेऽपि कुत्वं भवत्येव, बहुव्रीह्याश्रयणेन कदाचित् क्विन्नन्तत्वमात्रेणापि क्विन्प्रत्ययान्तत्वयोग्यतालाभादिति भावः। षडगकाः प्राग्वदिति। षत्वजश्त्वकुत्वचर्त्वैरिति भावः। इति शान्ताः। अथ पकारान्ता निरूप्यन्ते। दृषेश्शब्दस्य व्युत्पत्तिं दर्शयति—ञिधृषेति। 'आदिर्ञिटुडवः' इति ञिः इत्। आकारस्तु 'उपदेशेऽजनुनासिकः' इति इत्। ऋत्विगादिनेति। क्विबादित्रयं निपात्यते। क्विनि लुप्ते धृष् इत्यस्य द्वित्वम्। 'उरत्' रपरत्वम्। हलादिः शेषः। 'कित्वाच्च लघूपधगुणः' दृधृष् इति रूपम्। 'ङित्यादिर्नित्यम्' इत्याद्युदात्तनिवृत्त्यर्थमन्तोदात्तनिपा-

---

विकल्प से 'कवर्ग'–आदेश होता है। "अलोन्त्यस्य" परिभाषा की उपस्थिति से आदेश अन्त्य-वर्ण के स्थान पर होगा। √नश्+क्विप्—नश् = न दिखाई देना, नश्वर। उदाहरण—(क) नश्+स्, <नश् (विभक्तिलोप), <नप् (श् = प्), <नड् (प् = ड्—जश्त्व), <नग् (ड = ग् विकल्प से कुत्व), <नक् (ग् = क्—पाक्षिक चर्त्व)। कुत्व के अभाव में नड्–नट् (ड् = ट्—पाक्षिक चर्त्व)। नश्+औ, <नशौ। नश्+अस्, <नशः (रुत्व, विसर्ग)। नशम्, नशौ, नशः। नशा, नग्भ्याम्–नड्भ्याम्, नग्भिः–नड्भिः। नशे, नग्भ्याम्–नड्भ्याम्, नग्भ्यः–नड्भ्यः। नशः, नग्भ्यान्–नड्भ्याम्, नग्भ्यः–नट्भ्यः। नशः, नशोः, नशाम्। नशि, नशोः, नक्षु (कुत्व पक्ष में), नट्त्सु (कुत्व न होने पर वैकल्पिक ष्टुट् आगम "डः सि धुट्"—१३१, तथा चर्त्व)—नट्सु ('धुट्' आगम न होने पर ड् = ट्—चर्त्व)।

(४३२) पद—स्पृशः, अनुदके, क्विन्। अनुवृत्ति—सुपि। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उदकभिन्न 'सुप्' उपपद रहते 'स्पृश्' से 'क्विन्' होता है। घृतस्पृक्–घृतस्पृग्, घृतस्पृशौ, घृतस्पृशः। "क्विन्-प्रत्ययस्य कुः" में बहुव्रीहि-समास मानने से 'क्विप्' में भी कुत्व होता है। स्पृक्। प्, ड्, ग्, क्—विधान पूर्व-निरूपित 'नश्' शब्द के समान समझे जायँ। √धृषा = प्रगल्भता। इस धातु से "ऋत्विग्०" सूत्र से 'क्विन्' प्रत्यय, द्वित्व तथा अन्तोदात्त निपातित हैं। कुत्व से पहले जश्त्व होकर ष्=ड्। तदनन्तर कुत्व–ड्=ग्। इसके पश्चात् वैकल्पिक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दधृक्–दधृग्, दधृषौ, दधृषः। दधृग्भ्यामित्यादि। रत्नानि मुष्णातीति रत्नमुट्–रत्नमुड्, रत्नमुषौ, रत्नमुषः। 'षड्भ्यो लुक्' (सू २६१)। षट्–षड्। षड्भिः। षड्भ्यः। षड्भ्यः। 'षट्चतुर्भ्यश्च' (सू ३३८) इति नुट्। 'अनाम्' इति पर्युदासान्न ष्टुत्वनिषेधः। 'यरोऽनुनासिके—' (११६) इति विकल्पं बाधित्वा 'प्रत्यये भाषायां

तनम्। कुत्वात्पूर्वमिति। जश्त्वं प्रति कुत्वस्यासिद्धत्वात् प्रथमं जश्त्वेन पस्य डकार इत्यर्थः। गः कः इति। 'क्विन्प्रत्ययस्य' इति डस्य कुत्वेन गकारः, तस्य चर्त्वेन ककार इत्यर्थः। रत्नमुडिति। 'मुष स्तेये' क्विप्, उपपदसमासः सुब्लुक्, हल्ङ्यादिलोपः, जश्त्वचर्त्वे इति भावः। षष्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। तस्य बहुवचनेष्वेव रूपाणि दर्शयति—षड्भ्यो लुगिति। अनेन जश्शसोः लुकि जश्त्वचर्त्वे इति शेषः। तदन्तविधिरिति। 'षड्भ्यो लुक्, षट्चतुर्भ्यश्च' इत्यनयोराङ्त्वादिति भावः। प्रियाः षट् यस्येति बहुव्रीहौ प्रियषष्शब्दस्य एकद्विबहुवचनानि सन्ति। प्रियषट्–प्रियषड्, प्रियषषौ, प्रियषषः इत्यादि रत्नमुष्शब्दवत्। तत्र 'षड्भ्यो लुक्' 'षट्चतुर्भ्यश्च' इति च लुङ्नुटावाशङ्क्य आह—गौणत्वे-

---

चर्त्व–ग् = क्। धृष्टता करना अर्थ में—दधृक्–दधृग्, दधृषौ, दधृषः। दधृग्भ्याम् इत्यादि। रत्न चुराने वाला अर्थ में रत्नमुट्–रत्नमुड्, रत्नमुषौ, रत्नमुषः। "षड्भ्यो लुक्"—से विभक्तिलोप, षट्–षड्। षट्–षड्। षड्भिः। षड्भ्यः। षड्भ्यः। "षट्चतुर्भ्यश्च" से 'नुट्'। नाम्–भिन्न में ष्टुत्व का निषेध होने से यहाँ ('नाम्' में) ष्टुत्व हुआ–षण्णाम्। षट्सु-षट्सु। तदन्तविधि होने से यथाप्राप्त विभक्ति-लोप तथा 'नुट्' आगम हुए। परमषट्। परमषण्णाम्। गौण होने पर विभक्तिलोप तथा 'नुट्' आगम नहीं होते। प्रियषषः। प्रियषषाम्। 'रु'–विधान के प्रति पत्व असिद्ध होने से "ससजुषो रुः" से 'पिपठिष्' में (रुत्व) 'ष्' = र्।

विवरण—सूत्रार्थ के स्पष्टीकरण हेतु "सुपि स्थः" (३-२-४) सूत्र से 'सुपि' की अनुवृत्ति की जारही है। अनुवृत्त 'सुपि' पद सूत्रस्थ पद 'अनुदके' से अन्वित होता है। तदनुसार सूत्र का यह आशय है कि "उदक-शब्द-भिन्न सुबन्त उपपद होने पर √ स्पृश् से 'क्विन्' प्रत्यय होता है"।

उदाहरण—'घृतं स्पृशति' (घृत का स्पर्श करने वाला) इस विग्रह में 'घृत' शब्द सुबन्त (द्वितीयान्त) है। वह उपपद रहते √स्पृश् से क्विन् प्रत्यय हुआ। क्विन् का सर्वापहार (लोप) तथा उपपद-समास करने पर 'घृतस्पृश्' प्रातिपदिक बनता है। उससे विभक्तियाँ जुड़ने पर रूपसिद्धि का दिग्दर्शन किया जारहा है। (क) घृतस्पृक्–घृतस्पृग् (विभक्तिलोप, कुत्व असिद्ध होने से श् = ष्, ष् = ड्–जश्त्व, ड् = ग्—कुत्व, ग् = क्—पाक्षिक चर्त्व), घृतस्पृशौ, घृतस्पृशः। अजादि विभक्तियों में कोई परिवर्तन नहीं होता। भ्याम् आदि हलादि-विभक्तियों में श् = ष् = ड् = ग् होकर घृतस्पृग्भ्याम्, घृतस्पृग्भिः आदि रूप बनेंगे। "क्विन्प्रत्ययस्य कुः" (३७७) सूत्र में (क्विन्प्रत्ययो यस्मात्, सः) 'क्विन् प्रत्यय जिससे हो'—इस प्रकार बहुव्रीहि समास करने से उपसर्ग-रहित √स्पृश् (= स्पर्श करनेवाला) से क्विप् करने पर भी क्विन्नन्त की योग्यता से कुत्व होगा। अतदगुणसंविज्ञान बहुव्रीहि से क्विन् की केवल प्रकृति का ग्रहण होता है। अर्थात् क्विन् प्रत्यय जिससे विधीयमान या किसी भी अवस्था में 'क्विन्' प्रत्यय हुआ हो, वहाँ भी कुत्व होगा। तदनुसार स्पृक्–ग्, स्पृशौ, स्पृशः आदि रूप बनेंगे।

निर्देश—१–षकारान्त शब्दों की रूपसिद्धि के प्रसङ्ग में 'दधृष्' शब्द की व्युत्पत्ति बतलाकर प्रक्रिया दिखलाई जारही है। धृष्टता करने वाला (धृष्णोति) अर्थ में √'धृष्' (√ञिधृषा धातु) से "ऋत्विग्०" ३७३ सूत्र से 'क्विन्' प्रत्यय, द्वित्व तथा अन्तोदात्त विधान कर 'दधृष्' शब्द निपातित है। उसकी विभक्तियों में रूप-प्रक्रिया इस तरह है—(क) दधृष्+स्, <दधृष् (विभक्तिलोप), <दधृड् (ष् = ड्–जश्त्व), <दधृग् (ड् = ग्–कुत्व), <दधृक् (ग् = क्–पाक्षिक चर्त्व), दधृषौ, दधृषः। दधृषम्, दधृषौ, दधृषः। दधृषा, दधृग्भ्याम्, दधृग्भिः इत्यादि।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नित्यम्' (वा ५०१७) इति वचनान्नित्यमनुनासिकः । षण्णाम् । षट्त्सु–षट्सु । तदन्तविधिः परमषट् । परमषण्णाम् । गौणत्वे तु प्रियषषः । प्रियषषाम् । रुत्वं प्रति षत्वस्यासिद्धत्वात् 'ससजुषो रुः' (सू १३२) इति रुत्वम् । (४३३) वोरुपधाया

त्विति । 'षड्भ्य' इति, 'षट्चतुर्भ्य' इति च बहुवचननिर्देशबलेन तदर्थप्राधान्य एव लुङ्-नुटोः प्रवृत्तेरिति भावः । पठितुमिच्छतीत्यर्थे 'पठ व्यक्तायां वाचि' इति धातोः 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' इति सन्प्रत्यये 'सन्यङोः' इति द्वित्वे हलादिशेषे 'सन्यतः' इत्यभ्यासस्य इत्त्वं, सन इट्, 'सनाद्यन्ताः' इति धातुत्वम् । पिपठिष इत्यस्मात् क्विप्, 'अतो लोपः' पिपठिष् इति पकारान्तम् । कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकत्वं, ततः सुः, तत्र विशेषं दर्शयति—रुत्वं प्रतीति । 'क्वौ लुसं न स्थानिवत्' इति निषेधाद्धलङ्यादिलोपे कृते 'ससजुषो रुः' इति रुत्वम् । न च सकाराभावः शङ्क्यः, रुत्वं प्रति षत्वस्यासिद्धत्वादित्यर्थः ।

(४३३) वोरुपधाया । र् च व् च वौ तयोरिति विग्रहः । 'सिपि धातो रुर्वा' इत्यतो

२—रत्नानि मुष्णाति (= रत्न चुराने वाला) अर्थ में उपपद-समास-युक्त क्विबन्त 'रत्नमुष्' शब्द से विभक्तियाँ आने पर इस प्रकार रूपसिद्धि होगी । (क) रत्नमुष्+सु् <रत्नमुष् (विभक्तिलोप) <रत्नमुड् (ष् = ड्–जश्त्व), <रत्नमुट् (पाक्षिक चर्त्व) । रत्नमुषौ, रत्नमुषः (कोई परिवर्तन नहीं) । भ्याम् आदि में—रत्नमुड्भ्याम्, रत्नमुड्भिः—आदि रूप बनेंगे ।

३—बहुवचान्त षष् (=छह–संख्यावाचक) शब्द की रूपप्रक्रिया का निदर्शन इस प्रकार है । (क) षष्–जस्, <षष् (विभक्तिलोप–"षड्भ्यो लुक्"–२६१), <षड् (जश्त्व), षट्–ड् (पाक्षिक चर्त्व) । (ख) षट्–षड् (शस्) । (ग) षड्भिः (भिस्) । (घ) षड्भ्यः (भ्यस्) । (ङ) षड्भ्यः (भ्यस्) । (च) षष्+आम्, <षष्+न्–आम् (नुट्–आगम–"षट्चतुर्भ्यश्च"–३३८), षड्+नाम् (ष् = ड्–जश्त्व), षड्+णाम् ('नाम्' पर होने से "न पदान्ताट्टोरनाम्" (११४) सूत्र से ष्टुत्व का निषेध नहीं हुआ–न् = ण्), <षण्+णाम् (ड् = ण्–'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' वा०), <षण्णाम् । (छ) षष्+सु, <षड्+सु (ष् = ड्–जश्त्व), <षड्+ध्–सु (पाक्षिक 'धुट्'–आगम–"डः सि धुट्"–१३१), <षट्त्सु (चर्त्व—ड् = ट्, ध् = त्), —षट्सु ('धुट्' आगम के न होने पर ड् =ट्–चर्त्व) । कर्मधारय-समास होने पर अङ्गसम्बन्धी कार्य होने के कारण 'परमषष्' (= मुख्य छह) शब्द के रूप 'षष्' शब्द के समान होंगे—परमषट्–ड् ('जस्' तथा 'शस्') एवं परमषण्णाम् (आम्) में क्रमशः यथाप्राप्त विभक्तिलोप एवं 'नुट्'–आगम आदि विधान होंगे । अन्यपदार्थ-प्रधानता में (प्रियाः षट् येषां ते = छह के प्रिय) षट्संज्ञक कार्य नहीं होंगे । "षड्भ्यो लुक्"–२६१ तथा "षट्चतुर्भ्यश्च"–३३७ सूत्रों में बहुवचन-निर्देश होने के कारण स्व-प्राधान्य में ही विभक्ति-लोप तथा नुट्-आगम का विधान है । अतः इनकी प्रवृत्ति नहीं होती । तदनुसार प्रियषषः (जस्) तथा प्रियषषाम् (आम्) में क्रमशः 'जस्' का लोप एवं 'नुट्' आगम नहीं हुए । 'रत्नमुष्' शब्द के समान 'प्रियषष्' शब्द के रूप बनेंगे ।

४—'पिपठिष्' शब्द की विभक्तियों में रूप बतलाये जारहे हैं । पठितुम् इच्छति = पढ़ने की इच्छा करनेवाला अर्थ में √पठ्+सन्, द्वित्व, अभ्यासादि कार्य, सन् को 'इट्'–आगम तथा 'स्' को 'ष्' करनेपर 'पिपठिष्' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है । (क) पिपठिष्+सु्, <पिपठिष् (विभक्ति लोप), <पिपठिर् ('सन्' सम्बन्धी 'स्' के स्थान में विधीयमान 'ष्' 'रुत्व'–विधायक शास्त्र की दृष्टि में असिद्ध होने से ष् = स् = र्) । इस स्थिति में आगे दीर्घ-विधान किया जारहा है ।

(४३३) पद—वोः, उपधायाः, दीर्घः, इकः । अनुवृत्ति—पदस्य (अधिकार), अन्ते, धातोः । विधिसूत्र ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दीर्घ इकः ८।२।७६॥ रेफवान्तस्य धातोरुपधायाः इको दीर्घः स्यात्पदान्ते। पिपठीः, पिपठिषौ, पिपठिषः। पिपठीर्भ्याम्। 'वा शरि' (सू० १५१) इति वा विसर्जनीयः। (४३४) **नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि ८।३।५८॥** एतैः प्रत्येकं व्यवधानेऽपि इण्कुभ्यां परस्य अस्य मूर्धन्यादेशः स्यात्। ष्टुत्वेन पूर्वस्य षत्वम्। पिपठीष्षु—पिपठीःषु। 'प्रत्येकम्' इति व्याख्यानादनेकव्यवधाने षत्वं न। निंस्त्व। निंस्से। नुम्ग्रहणं

धातोरित्यनुवर्तते। वोरिति तद्विशेषणम्। तदन्तविधिः। 'पदस्य' इत्यधिकृतम्। 'स्कोः संयोगाद्योः' इत्यतः अन्ते इत्यनुवर्तते। तदाह—रेफेत्यादिना। पिपठीरिति। ठकारादिकारस्य दीर्घे रेफस्य विसर्ग इति भावः। पिपठीर्भ्यामिति। 'स्वादिषु' इति पदत्वात् 'वोरुपधायाः' इति भ्यामादौ पदान्तत्वलक्षणो दीर्घ इति भावः। सुपि विशेषमाह—वा शरीति। पिपठिष् सु इति स्थिते पत्वस्यासिद्धत्वाद्रुत्वे दीर्घे विसर्जनीये तस्य सत्वं बाधित्वा 'वा शरि' इति विकल्पेन विसर्जनीयः। तदभावपक्षे विसर्जनीयस्य सत्वमित्यर्थः। तत्र विसर्जनीयपक्षे पिपठीः सु इति स्थिते इण्कवर्गाभ्यां परत्वाभावात् 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे अप्राप्ते।

(४३४) नुम्विसर्जनीय। इण्कोः इति, मूर्धन्यः इति चानुवर्तते। तदाह—एतैः प्रत्येकमित्यादिना। अत्र प्रत्येकमेव नुमादिभिर्व्यवधानं विवक्षितम्, न तु 'अट्कुप्वाङ्' इतिवत् यथासम्भवं व्यवधानमिति भाष्ये स्पष्टम्। ततश्च प्रकृते विसर्जनीयपक्षे तेन व्यवधानेऽपि षत्वमिति भावः। विसर्जनीयस्य सत्वपक्षे आह—ष्टुत्वेनेति। पिपठीस् सु इति स्थिते प्रथमसकारेण शरा व्यवायमाश्रित्य ईकारादिणः परत्वात् द्वितीयसकारस्य षत्वे सति पूर्वस्य सकारस्य ष्टुत्वेन षकारः, न तु 'आदेशप्रत्यययोः' इति षः, अपदान्तस्य इत्यनुवृत्तेरिति भावः। एवं च 'नुम्शर्व्यवायेऽपि' इत्येव सिद्धे विसर्जनीयग्रहणं व्यर्थमित्याहुः। अयोगवाहानां शर्व्वपि पाठादिह विसर्जनीयग्रहणं भाष्ये प्रत्याख्यातम्। निंस्त्वेति। 'णिसि चुम्बने' लुग्विकरणः। 'णो नः' इति णस्य नः। इदित्वान्नुम्। अनुदात्तेत्वादात्मनेपदम्। लोण्मध्यम-

---

मूलार्थ—रेफ और वकारान्त की उपधा के 'इक्' को दीर्घ होता है। पिपठीः, पिपठिषौ, पिपठिषः। पिपठीर्भ्याम्। "वा शरि" से वैकल्पिक विसर्ग।

विवरण—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। अतः "पदस्य" (८-१-१६) का अधिकार है। उसके अतिरिक्त "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च" (८-२-२९) सूत्र से 'अन्ते' तथा "रिपि धातो रुर्वा" (८-२-७४) से धातोः की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। सूत्रस्थ 'वोः' पद अनुवृत्त पद "धातोः" का विशेषण है, अतः उससे तदन्तविधि होती है। तदनुसार सूत्र से यह बोध होता है कि "पद के अन्त में रकारान्त और वकारान्त धातु की उपधा के इक् (इ, उ, ऋ, ऌ) को दीर्घ होगा"।

उदाहरण—क—(पूर्वोक्त) पिपठिर्, <पिपठीर् (रेफान्त-धातु के उपधाभूत इ = ई—दीर्घ), <पिपठीः (र् = :)। पिपठिषौ (औ)। पिपठिषः (अस्)। पिपठिषम्, पिपठिषौ, पिपठिषः। पिपठिषा, पिपठीर्भ्याम् (दीर्घ), पिपठीर्भिः। पिपठिषे, पिपठीर्भ्याम्, पिपठीर्भ्यः (दीर्घ)। पिपठिषः, पिपठीर्भ्याम्, पिपठीर्भ्यः। पिपठिषः, पिपठिषोः, पिपठिषाम्। पिपठिषि, पिपठिषोः, पिपठिष्+सु, <पिपठीर्+सु, पिपठीः+सु (र् = :)—इस स्थिति में (स् = ष्—विधान किया जारहा है।

(४३४) पद—नुम्विसर्जनीयशर्व्यवाये, अपि। **अनुवृत्ति**—मूर्धन्यः, सः, इण्कोः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इनमें से किसी एक के व्यवधान होने पर 'इण्' और 'कवर्ग' से पर 'स्' के स्थान पर 'ष्' होता है। ष्टुत्व से पूर्व स् = ष्। पिपठीष्षु-पिपठीःषु। 'प्रत्येक के व्यवधान होने पर'—इस प्रकार का व्याख्यान होने से अनेकों के व्यवधान होने पर षत्व नहीं होगा। निंस्त्व, निंस्से। 'नुम्'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नुम्स्थानिकानुस्वारोपलक्षणार्थं, व्याख्यानात्। तेनेह न–सुहिन्सु। पुंसु। अत एव न शर्ग्रहणेन गतार्थता। 'रात्सस्य' (सू २८०) इति सलोपे विसर्गः। चिकीः, चिकीर्षौ, चिकीर्षः। 'रोः सुपि' (सू ३३९) इति नियमान्न विसर्गः। चिकीर्षुं। 'दमेर्डोस्' (उ २२७)। डित्त्वसामर्थ्यात्टिलोपः। षत्वस्यासिद्धत्वाद्रुत्वविसर्गौ। दोः, दोषौ, दोषः। 'पद्दन्नो—' (सू २२८) इति वा दोषन्। दोष्णः। दोष्णा। दोषः। दोषा। 'विश

पुरुषैकवचनं थास्। थासः से। 'सर्वाभ्यां वामौ' इत्येकारस्य वत्वम्। निन्स्त्व इति स्थिते 'नश्चापदान्तस्य' इत्यनुस्वारे निंस्त्वेतिरूपम्। अत्र यथासम्भवं व्यवधानाश्रयणे तु नुम्स्थानिकानुस्वारेण सकारेण च व्यवहितस्य द्वितीयसकारस्य पत्वं स्यात्। अतः प्रत्येकं व्यवधानमाश्रितमिति भावः। निंस्से इति। उक्तधातोर्लण्मध्यमपुरुषैकवचनं थास्। तस्य 'थासः से' इति से आदेशः निंस्से इत्यत्रापि द्वितीयसकारस्य पत्वं न भवति प्रत्येकमेव व्यवधानाश्रयणादिति भावः। 'हिसि हिंसायाम्'। 'सुपूर्वादस्मात्' क्विप्, इदिरवान्नुम्, ततः सप्तमीबहुवचने सुहिन्त्सु इति स्थिते प्रथमसकारस्य संयोगान्तलोपे सुहिन्सु इति रूपम्। 'स्वादिषु' इति पदान्तत्वात् 'नश्चापदान्तस्य' इत्यनुस्वारो न। किं च पुम्शब्दात् सप्तमीबहुवचने पुंस्सु इति स्थिते प्रथमसकारस्य संयोगान्तलोपे पुंसु इति रूपम्। तत्र सुहिन्सु इत्यत्र नुमा व्यवधानात् षत्वं स्यात्। [नुम्ग्रहणस्यानुस्वारोपलक्षणार्थत्वे पुंसु इत्यत्र षत्वं स्यादित्यत आह—नुम्ग्रहणमिति। व्याख्यानादिति प्रकृतसूत्रे 'हयवरट्' सूत्रे च भाष्ये तथा व्याख्यानादित्यर्थः। नुम्ग्रहणं [नुम्स्थानिकानुस्वारोपलक्षणार्थमित्येतद् सूत्राक्षरानुगतमित्याह—अत एव न शर्ग्रहणेन गतार्थतेति। नुम्ग्रहणस्य नुम्स्थानिकानुस्वारोपलक्षणार्थत्वादेव शर्ग्रहणेन नुम्ग्रहणस्य गतार्थता लब्धप्रयोजनता नेत्यर्थः। नुम्ग्रहणस्य केवलानुस्वारोपलक्षणार्थत्वे तु शर्ग्रहणेनैव सिद्धत्वात् तद्ग्रहणमनर्थकं स्यात्, अनुस्वारस्य शर्ष्वपि पाठादिति भावः। चिकीरिति। कृधातोस्सनि 'इको झल्' इति सनः कित्त्वाट्टकारस्य गुणाभावे 'अज्झनगमां सनि' इति दीर्घः। ततः 'ऋत इद्धातोः' इति इत्त्वम्, 'हलि च' इति दीर्घः। ततः 'सन्यङोः' इति द्वित्वम्। हलादिशेषः। ह्रस्वः। 'कुहोश्चुः' इत्यभ्याससकारस्य श्चुत्वं, सस्य षत्वम्। चिकीर्ष इति रूपम् 'सनाद्यन्ताः' इति धातुत्वात्ततः क्विप्। 'अतो लोपः'। चिकीर्ष् इत्यस्मात् षकारान्तात् सुबुत्पत्तौ सोर्हल्ङ्यादिलोपे चिकीर्ष् इति स्थितम्। एतावत् [सिद्धवत्कृत्य 'रात्सस्य' इति नियमात् षकारस्य संयोगान्तलोपाभावमाशङ्क्य आह–रात्सस्येति। षत्वस्यासिद्धत्वादिति भावः। एवं चिकीर्भ्यामित्यादूह्यम्। विसर्गमाशङ्क्य आह—रोः सुपीति। प्रकृते रपरत्वसम्पन्नस्य रस्य रुत्वाभावादिति

से तात्पर्य 'नुम्' के स्थान में होनेवाला अनुस्वार है। अतः सुहिन्सु, पुंसु में षत्व नहीं हुआ। इस लिये 'शर्' कथन से अनुस्वार गतार्थ नहीं होता। "रात्सस्य" सूत्र से 'स्' लोप होने पर विसर्ग हुआ। चिकीः, चिकीर्षौ, चिकीर्षः। "रोः सुपि" नियम से विसर्ग नहीं हुआ। चिकीर्षुं। √दम धातु से डोस् (प्रत्यय)। 'ड्' इत् होने से 'टि'–लोप हुआ। षत्व असिद्ध होने से रुत्व, विसर्ग। दोः, दोषौ, दोषः। "पद्दन्नोमास्०" सूत्र से वैकल्पिक 'दोषन्' आदेश। दोष्णः। दोष्णा। दोषः। दोषा। √विश=प्रवेश करना। 'विश्' धातु से 'सन्' प्रत्यय करने के पश्चात् 'क्विप्'। षत्व के असिद्ध होने से संयोगान्त-लोप। "ब्रश्चभ्रस्ज०" से षकार, जश्त्व तथा चर्त्व करने पर विविट्-विविड्, विविक्षौ, विविक्षः। "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च" से 'क्' का लोप। तट्–तड्, तक्षौ, तक्षः। गोरट्–गोरड्, गोरक्षौ, गोरक्षः। णिच्-प्रत्ययान्त √तक्ष तथा √रक्ष धातुओं से 'क्विप्' करने पर 'णि' लोप को स्थानिवद्भाव होने से "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च" प्रवृत्त नहीं होता। 'पूर्वत्रा-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha and eGangotri

प्रवेशने' सन्नन्तात् क्विप् । कत्वस्यासिद्धत्वात्संयोगान्तलोपः । 'व्रश्च–' (सू २९४) इति षः । जश्त्वचर्त्वे । विविट्-विविड्, विविक्षौ, विविक्षः । 'स्कोः–' (सू ३८०) इति कलोपः । तट्-तड्, तक्षौ, तक्षः । गोरट्-गोरड्, गोरक्षौ, गोरक्षः । तक्षिरक्षिभ्यां ण्यन्ताभ्यां क्विपि

भावः । दमेर्डोसिति । औणादिकमेतत्सूत्रम् । 'दमु उपशमे' इत्येतस्माद्धातोर्डोस्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । डकार इत् । डित्त्वसामर्थ्यादिति । 'टेः' इति भस्य विहितष्टिलोप इह भत्वाभावेऽपि डित्त्वसामर्थ्यात् भवतीत्यर्थः । सकारस्य प्रत्ययावयवत्वात् पत्वं, दोप् इति षकारान्तं रूपम् । ततः सोर्हल्ङ्यादिलोपः । एतावत् सिद्धवत्कृत्य आह—पत्वस्यासिद्धत्वात् । रुत्वविसर्गाविति । षत्वस्यासिद्धत्वाद्रुत्वे सति विसर्गः । वा दोषन्निति । शसादाविति शेषः । दोष्ण इति । शसि दोषन्-आदेशे 'अल्लोपोऽनः' इत्यकारलोपे 'रषाभ्याम्' इति णत्वमिति भावः । दोःषु दोष्षु । विविक्षुशब्दं व्युत्पादयति—विशेति । सन्नन्तादिति । वेष्टुमिच्छतीति विग्रहे विशेः सन् । 'हलन्ताच्च' इति सनः कित्त्वान्न लघूपधगुणः । 'सन्यङोः' इति द्वित्वम् । हलादिः शेषः । शकारस्य झल्परकत्वात् 'व्रश्च' इति षः । 'षढोः कः सि' इति षस्य कः । प्रत्ययावयवत्वात् सस्य षत्वम् । 'सनाद्यन्ताः' इति धातुत्वात् क्विपि 'अतो लोपः' विविक्ष् इति षकारान्तं रूपमित्यर्थः । कत्वस्येति । विविक्ष् इत्यस्मात् सोर्हल्ङ्यादिलोपे षकारस्य संयोगान्तलोपः । 'स्कोः' इति ककारलोपस्तु न शङ्क्यः, संयोगादिलोपे कर्तव्ये 'षढोः कः सि' इति कत्वस्यासिद्धत्वादित्यर्थः । व्रश्चेति षः इति । संयोगान्तलोपे सति सकारस्य निमित्तस्य निवृत्त्या कत्वस्यापि निवृत्तौ झल्परत्वनिवृत्त्या पूर्वप्रवृत्तषत्वस्यापि निवृत्तौ पदान्तत्वाद् 'व्रश्च' इति शस्य ष इत्यर्थः । जश्त्वचर्त्वे इति । षस्य जश्त्वेनः डः, तस्य चर्त्वविकल्प इत्यर्थः । स्कोरिति । 'तक्षू तनूकरणे' अस्मात् क्विप् ततस्सोर्हल्ङ्यादिलोपे 'स्कोः' इति कलोपे षस्य जश्त्वेन डः, तस्य चर्त्वविकल्प इत्यर्थः ।

सिद्धे न स्थानिवत्' का निषेध 'तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु' इस अपवाद के कारण नहीं होता । इस हेतु संयोगान्तलोप होता है । तक्-तग् । गोरक्-गोरग् । "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च" से विधीयमान 'क्'-लोप के प्रति कुत्व असिद्ध होने से संयोगान्तलोप होने पर पिपक्-पिपग् । इसी तरह विवक् तथा दिधक् भी हैं । गत्यर्थक √ पिस धातु से अच्छा चलने वाला अर्थ में (सुष्ठु पेसति) सुपीः, सुपिसौ, सुपिसः । सुपिसा, सुपीर्भ्याम् । सुपीःषु, सुपीष्षु । एवं सतूः । √ तुस = खण्डन करना । विद्वान्, विद्वांसौ, विद्वांसः । हे विद्वन् । विद्वांसम्, विद्वांसौ ।

विवरण—सूत्रार्थ को स्पष्ट करने में "अपदान्तस्य मूर्धन्यः" (८-३-५५) सूत्र से 'मूर्धन्यः', "सहेः साडः सः" (८-३-५६) से 'सः' तथा सम्पूर्ण "इण्कोः" (८-३-५७) सूत्र की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार "नुम् (न्), विसर्ग (:) 'शर्' (श्, ष्, स्)—इनमें से किसी एक के व्यवधान होने पर 'इण्' ('अ' को छोड़कर बाकी स्वर, अन्तःस्थ वर्ण, तथा ह्) और 'कवर्ग' के पश्चाद्वर्ती 'स्' के स्थान पर 'ष्' (मूर्धन्य) आदेश होता है । **उदाहरण**—पिपठीःषु ('ई' के पश्चात् विसर्ग के व्यवधान होने पर 'स्' = ष्)—पिपठीष्षु ("वा शरि"—१५१ पाक्षिक होने के कारण विसर्ग के स्थान पर 'स्' तथा ष्टुत्व होकर पूर्व स् = ष्) ।

विशेष—१-प्रकृत सूत्र में वर्णित नुम्, विसर्ग तथा 'शर्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों में से किसी एक का व्यवधान होने पर षत्व होता है । उपर्युक्त निमित्तों में एक से अधिक का व्यवधान होने पर षकार नहीं होता । अतः √णिसि धातु के 'लोट्' लकार (निंस्त्व = चुम्बन करो) तथा 'लट्' लकार (निंस्से = चुम्बन करता है) के मध्यम पुरुष एकवचन में द्वितीय 'स्' को 'ष्' नहीं हुआ । इन दोनों उदाहरणों में 'नुम्-स्थानिक अनुस्वार' एवं 'स्'-दो वर्णों का व्यवधान है । अतः स् = ष् नहीं होता । 'यथासम्भव' व्यवधान कहने से यहाँ षत्व होने लगता ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तु 'स्कोः–' (सू ३८०) इति न प्रवर्तते, णिलोपस्य स्थानिवद्भावात् । 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' (वा ४३३) इति त्विह नास्ति, 'तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु' (वा ४४०) इति निषेधात् । तस्मात्संयोगान्तलोप एव । तक्-तग् । गोरक्-गोरग् । 'स्कोः–' (सू ३८०) इति कलोपं प्रति कुत्वस्यासिद्धत्वात्संयोगान्तलोपः–पिपक्–पिपग् । एवं

तङ्भ्याम् । तट्सु तट्त्सु । गोरडिति । 'रक्ष पालने' इत्यस्मात् कर्मण्युपपदे अणि प्राप्ते वाऽस-रूपन्यायेन क्विपि सुब्युत्पत्तौ तक्षृशब्दवद्रूपम् । तक्षिरक्षिभ्यामिति । इका निर्देशोऽयम् । तक्ष् रक्ष् धातुभ्यां 'हेतुमति च' इति णिच् चकार इत्, 'चुटू' इति णकार इत् । ततः 'सना-द्यन्ताः' इति धातुत्वात् क्विपि 'णेरनिटि' इति णिलोपे क्विपि लुप्ते तक्ष् रक्ष् इति षकारान्ते रूपे । ततः सुलोपे सति संयोगान्तलोपापवादः 'स्कोः संयोगाद्योः' इति ककारस्य लोपो न प्रवर्तते इत्यर्थः । णिलोपस्येति । 'णेरनिटि' इति णिलोपस्य 'अचः परस्मिन्' इति स्थानि-वत्त्वादित्यर्थः । तस्य दोष इति । तस्मादिति । 'स्कोः' इत्यस्याप्रवृत्तेरित्यर्थः । सति च षका-रस्य संयोगान्तलोपे ककारस्य जश्त्वचर्त्वे इत्यभिप्रेत्य आह—तक्–तग् । गोरक्–गोरगिति । 'डुपचष् पाके' अस्मात् सनि 'सन्यङोः' इति द्वित्वम् । हलादिः शेषः । 'सन्यतः' इत्यभ्या-साकारस्य इत्त्वम् । 'चोः कुः' इति चकारस्य कुत्वम् । प्रत्ययावयवत्वात् सस्य षः । पिपक्ष् इति रूपम् । ततः सोर्लोपे 'स्कोः' इति ककारस्य लोपमाशङ्क्य आह–कुत्वस्यासिद्धत्वादिति । चकारस्थानिकस्येति शेषः । सति च षकारस्य संयोगान्तलोपे झलपरत्वनिवृत्त्या पूर्वप्रवृत्त-ककारस्य निवृत्तौ पदान्तत्वात् कुत्वे जश्त्वचर्त्वे इत्यभिप्रेत्य आह–पिपक्–पिपगिति । पिपक्षौ,

---

२—प्रकृत सूत्र में महाभाष्यकार ने 'नुम्' पद की व्याख्या करते समय 'नुम्' को 'नुम्'–स्थानिक अनुस्वार के रूप में ग्रहण किया है । अतः जहाँ नकार श्रूयमाण होगा वहाँ इसकी प्रवृत्ति नहीं होगी । उदाहरणार्थ 'सुहिन्सु' में 'नुम्' का नकार अनुस्वार के रूप में परिवर्तित नहीं हुआ है, अतः केवल उसका व्यवधान होने पर भी 'स्' = 'ष्' नहीं हुआ । इसी प्रकार 'पुंसु' में मकारस्थानिक अनुस्वार होने से 'स् = ष्' नहीं हुआ । यहाँ अनुस्वार तो है, किन्तु वह नकार-स्थानिक नहीं है । अतः 'नुम्' कथन की सार्थकता सिद्ध होती है । अन्यथा 'शर्' प्रत्याहार में अनुस्वार का समावेश होने से सभी प्रकार के अनुस्वारों के व्यवधान में 'स्' के स्थान पर 'ष्' होने लगता । अनुस्वार को केवल 'नुम्' स्थानिक तक ही सीमित करने से उसकी उपयोगिता स्पष्ट विदित होती है ।

निर्देश—१-'कर्तुम् इच्छति' (= करने की इच्छावाला) अर्थ में 'चिकीर्ष्' शब्द की रूप-प्रक्रिया बतलाई जारही है । (क) चिकीर्ष्+स्, <चिकीर्षु ('स्'–विभक्तिलोप), <चिकीर् ('षत्व' असिद्ध होने से "रात्सस्य"–३८० से 'स्'–लोप), <चिकीः (र् = :) । चिकीर्ष्+औ, <चिकीर्षौ । चिकीर्ष्+अस्, <चिकीर्षः (स् = र् = :) । (ख) चिकीर्षम्, चिकीर्षौ, चिकीर्षः । (ग) चिकीर्षा, चिकीर्भ्याम् (हलादि विभक्तियों में 'पद' संज्ञा होने से 'स्' लोप—"रात्सस्य"–३८०), चिकीर्भिः । (घ) चिकीर्षे, चिकीर्भ्याम्, चिकीर्भ्यः । (ङ) चिकीर्षः, चिकीर्भ्याम्, चिकीर्भ्यः । (च) चिकीर्षः, चिकीर्षोः, चिकीर्षाम् । (छ) चिकीर्षि, चिकीर्षोः, चिकीर्षु ("रोः सुपि"–३३९ नियम से 'रु' न होने के कारण विसर्ग नहीं हुआ) ।

२— √दम्+डोस् (ओस्) प्रत्यय करने पर 'दोस्' ('टि' = अम्—लोप) के 'स्' को 'ष्' होने से 'दोष्' (= सुजा) प्रातिपदिक निष्पन्न होता है । उसकी रूपप्रक्रिया निम्न प्रकार है । (क) दोष्+स्, <दोष् (विभक्तिलोप), <दोर् ('ष्' असिद्ध होने से 'स्' बुद्धि होने पर स्= 'र्'), <दोः (र् = :) । दोषौ । दोषः । (ख) दोषम्, दोषौ, दोष्णः–दोषः (दोष् = पाक्षिक दोषन्, 'अन्'–का लोप, णत्व, रुत्व, विसर्ग) । (ग) दोष्णा–दोषा, (पाक्षिक 'दोषन्' आदेश,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवक्। दिधक्। इति षान्ताः। 'पिस गतौ' सुष्ठु पेसतीति–सुपीः, सुपिसौ, सुपिसः। सुपिसा, सुपीर्भ्याम्। सुपीःषु–सुपीष्षु। एवं सुतूः। 'तुस खण्डने'। विद्वान्, विद्वांसौ,

---

पिपक्षः इत्यादि। एवं विवगिति। वक्तुमिच्छतीति विग्रहे 'वच परिभाषणे' इत्यस्माद् विवक्ष् शब्दः पिपक्षशब्दवदित्यर्थः। दिधगिति। दग्धुमिच्छतीत्यर्थे 'दह भस्मीकरणे' इत्यस्मात्सनि, द्वित्वे, हलादिशेषे, अभ्यासेत्वे दिदहस इति स्थिते 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य धत्वे 'एकाचो वशः' इति दकारस्य धत्वे दिधग्स इति, धकारस्य चर्त्वेन ककारे प्रत्ययावयवत्वात् सस्य षत्वे ततः क्विपि अतो लोपे दिधक्ष् इति रूपम्। तस्मात् सुब्उत्पत्तौ सोर्लोपे चर्त्वस्यासिद्धत्वात् 'स्कोः' इत्यभावे षकारस्य संयोगान्तलोपे खरि परत्वाभावात् पूर्वप्रवृत्तककारस्य निवृत्तौ पदान्तत्वात् जश्त्वचर्त्वे इति भावः। दिधक्षौ दिधक्षः इत्यादि। इति षान्ताः। अथ सकारान्ता निरूप्यन्ते—सुपीरिति। 'वोरुपधायाः' इति दीर्घः। एवं सुतूरिति। विद्वानिति। 'विद ज्ञाने' अदादिः, लटः शत्रादेशे 'विदेः' शतुर्वसुः' शित्वात्

प्रक्रिया 'दोष्णः' के समान), दोर्भ्याम् (पद-संज्ञा होने से रुत्व), दोर्भिः। (घ) दोष्णे-दोषे, दोर्भ्याम्, दोर्भ्यः। (ङ) दोष्णः–दोषः, दोर्भ्याम्, दोर्भ्यः। (च) दोष्णः–दोषः, दोष्णोः–दोषोः, दोष्णाम्–दोषाम्। (छ) दोर्ष्णि–दोषि, दोष्णोः–दोषोः, दोर्षु–दोःषु ("वा शरि"–वैकल्पिक विसर्ग, षत्व, पक्ष में विसर्ग के स्थान पर सकार होने से उसे ष्टुत्व = ष्)।

(३) √ 'विश्'+सन्+क्विप् (वेष्टुम् इच्छति = प्रवेश करने का इच्छुक)—'विविक्ष्' प्रातिपदिक से विभक्तियाँ संयुक्त होने पर रूपसिद्धि बताई जारही है। (क) विविक्ष्+स् <विविक्ष् ('स्'-लोप) <विविक् ('ष्'-संयोगान्त-लोप), <विविष् ('क्' असिद्ध-होने से 'श्' = ष्—"व्रश्चभ्रस्ज०-२९४), <विविड् (ष् = ड्–जश्त्व), -विविट् (ड् = ट्—प्राक्षिक चर्त्व)। विविक्ष्+औ, <विवक्षौ। विविक्षः। विविड्भ्याम् इत्यादि।

४—√ तक्ष् (संकुचित करना) +क्विप्—'तक्ष्' शब्द के रूप भी तट्–तड्, तक्षौ, तक्षः आदि निष्पन्न होते हैं। भ्यामादि में तड्भ्याम्, तड्भिः इत्यादि।

५—गाम् रक्षति (= गाय की रक्षा करता है) अर्थ में गो–√रक्ष्+क्विप्—'गोरक्ष्' शब्द के रूप भी गोरट्–गोरड्, गोरक्षौ, गोरक्षः आदि 'विविक्ष्' के समान सिद्ध होते हैं।

६—णिच्-प्रत्ययान्त √ तक्ष् तथा √रक्ष् धातुओं से "सनाद्यन्ता धातवः" से धातुसंज्ञा होने के पश्चात् 'क्विप्' प्रत्यय तथा उसका सम्पूर्ण लोप होने पर 'तक्ष्' तथा 'रक्ष्' प्रातिपदिक निष्पन्न होते हैं। इनसे प्रथमा विभक्ति संयुक्त होने पर एक-वचन में 'तक्'–'तग्' एवं 'गोरक्'–'गोरग्' रूप बनेंगे। इन दोनों शब्दों में विभक्तिलोप होने के पश्चात् 'णिलोप' को स्थानिवद्भाव होने के कारण "स्कोः संयोगाद्योरन्तेच" (३८०) से 'क्'–लोप नहीं होता। "तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु"—इस नियम से "पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्" द्वारा विहित स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होता। अतः संयोगान्त-लोप ('ष्' का लोप) होकर, जश्त्व एवं पाक्षिक चर्त्व करने के पश्चात् उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं। 'औ' तथा 'जस्' में तक्षौ, तक्षः एवं गोरक्षौ, गोरक्षः रूप सिद्ध होंगे।

७—सन्नन्त √पच् से निष्पन्न 'पिपक्ष्' (पकाने की इच्छा करने वाला) प्रातिपदिक से विभक्तियाँ संयुक्त होने पर रूप-सिद्धि का दिग्दर्शन कराया जारहा है। (क) पिपक्ष्+स्, <पिपक्ष् (विभक्तिलोप), <पिपक् ('ष्'–लोप–'संयोगादिलोप'–के प्रति कुत्व असिद्ध होने से संयोगान्त-'ष्'-लोप), <पिपक्–पिपग् ('झल्' पर न होने के कारण 'ष्' की सत्ता में प्रवृत्त कुत्व की निवृत्ति =च्। किन्तु पदान्त होने से पुनः कुत्व (= क्), जश्त्व तथा पाक्षिक चर्त्व)। इसी प्रकार सन्नन्त √ वच् तथा √ दह् धातुओं से निष्पन्न 'विवक्ष्' (= बोलना चाहने वाला) तथा 'दिधक्ष्' (=जलाना चाहनेवाला) प्रातिपदिकों से 'विवक्'–'विवग्' एवं 'दिधक्'–'दिधग्' रूप निष्पन्न होंगे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्वांसः । हे विद्वन् । विद्वांसम्, विद्वांसौ । (४३५) **वसोः सम्प्रसारणम् ६।४।१३१ ॥** वस्वन्तस्य भस्य सम्प्रसारणं स्यात् । पूर्वरूपम्, षत्वम् । विदुषः । विदुषा । 'वसुस्रंसु—' (सू ३३४) इति दत्वम् । विद्वद्भ्याम् इत्यादि । सेदिवान् सेदिवांसौ सेदिवांसः ।

सार्वधातुकत्वात् शप्, लुक् । 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्त्वान्न लघूपधगुणः । कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकत्वं विद्वस्शब्दः । तस्मात् सुः, उगित्त्वान्नुम्, 'सान्तमहतः' इति दीर्घः, सुलोपः, सस्य संयोगान्तलोपः, तस्यासिद्धत्वान्नलोपो नेति भावः । सान्तत्वाभावात् 'वसुस्रंसु' इति दत्वं न । विद्वांसाविति । सुटि नुमि कृते 'सान्तमहतः' इति दीर्घः, 'नश्च' इति भावः । शसादावचि विशेषमाह ।

(४३५) वसोः सम्प्रसारणम् । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया वसोरिति तदन्तग्रहणम् । भस्येत्यधिकृतम् । तदाह—वस्वन्तस्येति । पूर्वेति । शसि वकारस्य उत्वे विदु अस् इति स्थिते 'सम्प्रसारणाच्च'इति पूर्वरूपे विदुस् इति स्थिते प्रत्ययावयवत्वात् सस्य षत्वमित्यर्थः । 'षत्वतुकोरसिद्ध' इति पूर्वरूपस्यासिद्धत्वं न शङ्क्यम्, पदान्तपदाद्योरेकादेश एव तत्प्रवृत्तेः । सुपि दत्वे चर्त्वम् विद्वत्सु । सेदिवानिति । 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' 'धात्वादेः षः सः', 'भाषायां सदवसश्रवः' इति लिटः क्वसुः, उकावितौ, 'लिटि धातोः' इति द्वित्वम्, हलादिशेषः, 'अत एकहल्मध्ये' इत्येत्त्वाभ्यासलोपौ, 'वस्वेकाजाद्घसाम्' इति इट्, सेदिवस्शब्दः । ततः सुः, उगित्त्वान्नुम्, 'सान्तमहतः' इति दीर्घः, सुलोपः, सस्य संयोगान्त-

---

८—गत्यर्थक √पिस् धातु से 'अच्छा चलने वाला'—(सुष्ठु पेसति) अर्थ की विवक्षा में 'सुपिस्' शब्द की रूपसिद्धि बताई जारही है । (क) सुपिस्+स् <सुपिस् ('स्'-विभक्तिलोप), <सुपिर् (स् = र्), <सुपीर् ("इ = ई—उपधादीर्घ-"र्वोरुपधाया दीर्घ इकः"-४३३), <सुपीः (र्=:) । सुपिसौ, सुपिसः । सुपिसा, सुपीर्भ्याम्, सुपीर्भिः । सप्तमी के बहुवचन में सुपीष्षु-सुपी.षु ("र्वोरुपधाया दीर्घ इकः "४३३ से इ = ई, र् = विसर्ग, विसर्ग से पर स् = ष्—"नुम्-विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि"-(४३५), विसर्ग = स्, स् = ष्-ष्टुत्वः पक्ष में "वा शरि"-१५१ से विसर्ग) । इसी तरह √तुस्-अच्छी तरह खण्डन करने वाला (सुष्ठु तोसति) अर्थ में 'सुतुस्' शब्द के रूप भी सुतूः, सुतुसौ, सुतुसः आदि 'सुपिस्' के समान बनेंगे ।

९—'प्रसङ्गप्राप्त 'विद्वस्' शब्द के रूपभेदों पर विचार किया जारहा है । व्युत्पत्ति—ज्ञानार्थक √विद्+लट् = शतृ, <विद्-अ+अत (शप्),<विद्-वस् ('शप्' का लोप तथा शतृ = वस्), विद्वस् (= ज्ञाता, विद्वान्) । (क) विद्वस्+स्, <विद्वन्-स् ('नुम्'-आगम "उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः-३६१), <विद्वान्-स्+स् (दीर्घ-"सान्तमहतः संयोगस्य"-३१७), <विद्वान्-स् (विभक्तिलोप), <विद्वान् ('स्'-संयोगान्तलोप, इस लोप के असिद्ध होने से 'न्'-लोप नहीं हुआ) । विद्वस्+औ, <विद्वन्-स्+औ ('नुम्'-आगम), <विद्वान्-स्+औ (दीर्घ), <विद्वांसौ (न् = अनुस्वार—"नश्चापदान्तस्य झलि-१२३) । विद्वांसः (प्रक्रिया पूर्ववत् तथा अन्तिम स् = र् = :) । (ख) सम्बोधन में हे विद्वन् (दीर्घ नहीं होता), हे विद्वांसौ, हे विद्वांसः । द्वि०—विद्वांसम्, विद्वांसौ । विद्वस्+अस् (शस्)—इस स्थिति में (आगे सम्प्रसारण-विधान किया जा रहा है) ।

(४३५) पद—वसोः, सम्प्रसारणम् । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य (अधिकार), भस्य (अधिकार) । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'वसु'-अन्त वाले भसंज्ञक अङ्ग को सम्प्रसारण होता है । पूर्वरूप तथा षत्व । विदुषः । विदुषा । "वसुस्रंसु०" से स् = द् । विद्वद्भ्याम् इत्यादि । सेदिवान्, सेदिवांसौ, सेदिवांसः । सेदिवांसम् । 'अकृतव्यूह' परिभाषा के आश्रय से 'इट्'-आगम अन्तरङ्ग होने पर भी सम्प्रसारण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेदिवांसम् । अन्तरङ्गोऽपीडागमः सम्प्रसारणविषये न प्रवर्तते 'अकृतव्यूहाः—' (प ५७) इति परिभाषया । सेदुषः । सेदुषा, सेदिवद्भ्याम् इत्यादि । 'सान्त-महतः—' (सू ३१७) इत्यत्र सान्तसंयोगोऽपि प्रातिपदिकस्यैव गृह्यते, न तु धातोः ।

लोपः, तस्यासिद्धत्वान्नलोपो न । सान्तवस्वन्तत्वाभावान्न दत्वमिति भावः । सेदिवांसाविति । नुमि 'सान्तमहतः' इति दीर्घः । ननु उक्तरीत्या निष्पन्नात् सेदिवस् शब्दात् शसि 'वसोः सम्प्रसारणम्'इति वकारस्य उत्वे पूर्वरूपे इकारस्य यणि सेद्युषः इति स्यात् । ततश्च सेदुषः इति वक्ष्यमाणं रूपमयुक्तम् । न च शसि भविष्यति भविष्यत्सम्प्रसारणरूपकार्यं पर्यालोच्य पूर्वमेव इट् न प्रवर्तते, पदावधिकान्वाख्यानाभ्युपगमादिति वाच्यम्, एवमपि बहिर्भूत-यजाद्यसर्वनामस्थानस्वादिप्रत्ययनिमित्तकसञ्ज्ञापेक्षतया सम्प्रसारणस्याङ्गस्य बहिरङ्गत्वेन इडागमस्यैवान्तरङ्गत्वात् प्रथमं प्रवृत्तेः, परादन्तरङ्गस्य बलवत्त्वादित्यत आह—अन्तरङ्गोऽपी-ति । अकृतेति । भविष्यता सम्प्रसारणेन बलादित्वस्य विनाशोन्मुखत्वादिति भावः । वस्तुतस्तु प्रथममपि सेदिवस्शब्दादेव सुबुत्पत्तिरस्तु । तथापि वकारस्य सम्प्रसारणे, उत्वे कृते, यणि सत्यपि सम्प्रसारणस्य बहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वात् 'लोपो व्योः' इति लोपे सेदुषः इति रूपं सिद्धम् । न च 'नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः' इति निषेधः शङ्क्यः, उत्तरकालप्रवृत्तिके अजानन्तर्य एव तत्प्रवृत्तेरभ्युपगमात् । इह च उत्तरकालप्रवृत्तिके वलि लोपे तदभावात् । किञ्च कृते इटि सम्प्रसारणप्रवृत्तावपि वलादित्वरूपनिमित्तनिवृत्त्या इटो निवृत्तौ सेदुषः इति निर्बाधम्, 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इति न्यायात् । किञ्च पदावधिकान्वाख्यानेऽपि सेद्वस् अस् इति स्थिते इट्सम्प्रसारणयोः प्राप्तौ प्रतिपद-

---

के विषय में प्रवृत्त नहीं होता है । सेदुषः । सेदुषा, सेदिवद्भ्याम् इत्यादि । "सान्तमहतः संयोग-स्य" सूत्र में 'महत्' शब्द के साहचर्य से प्रातिपदिक का सकारान्त-संयोग लिया जाता है न कि धातु का । 'सुष्ठु हिनस्ति' (= अच्छी तरह हिंसा करने वाला)—अर्थ में सुहिन्, सुहिंसौ, सुहिंसः । सुहिन्भ्याम् इत्यादि । सुहिन्सु, सुहिन्षु । ध्वत्-ध्वद्, ध्वसौ, ध्वसः । ध्वद्भ्याम् । इसी प्रकार स्रत् भी ।

विवरण—सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए "अङ्गस्य" (६-४-१) तथा "भस्य" (६-४-१२९)—इन दोनों अधिकारों का आश्रय लिया जाता है । सूत्रस्थ 'वसोः' पद 'अङ्गस्य' का विशेषण है । अतः इससे तदन्त-विधि होती है । तदनुसार "वस्वन्त भसंज्ञक अङ्ग के स्थान पर सम्प्रसारण होगा" । 'शस्' से प्रारम्भ कर 'सुप्'-पर्यन्त केवल अजादि-विभक्तियों में 'भ'-संज्ञा होती है । अतः उन्हीं अजादि विभक्तियों में सम्प्रसारण (व् = उ) प्रवृत्त होगा । उदाहरण—(पूर्वोक्त स्थिति) विद्वस्+अस्, <विद्-उ-अस्+अस् ('वस्' सम्बन्धी व् = उ–सम्प्रसारण), <विदु-स्+अस् (उ+अ = उ–पूर्वरूप "सम्प्रसारणाच्च"–३३०), विदुषस् (स् = ष्–"आदेशप्रत्यययोः"–२१२), <विदुषः (स् = र् = :) । (ग) तृतीया—विद्वस्+आ, <विद्-उ-अस्+आ (व् = उ–सम्प्रसारण–४२५), <विदुस्+आ (उ+अ=उ–पूर्वरूप–३३०), <विदुस्+आ, <विदुषा (स् = ष्–२१२) विद्वस्+भ्याम्, <विद्वद्+भ्याम् (स् = द्– "वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः"–३३४) । विद्वद्भ्याम् । विद्वद्भिः (स् = द तथा 'भिस्'–सम्बन्धी स् = र् = :) । (घ) चतुर्थी—विदुषे, विद्वद्भ्याम्, विद्वद्भ्यः । (ङ) पञ्चमी—विदुषः, विद्वद्भ्याम्, विद्वद्भ्यः । (च) षष्ठी—विदुषः, विदुषोः, विदुषाम् । (छ) सप्तमी—विदुषि, विदुषोः, विद्वत्सु (स् = द् = त् (चर्त्व)।

निर्देश—१-'सेदिवस्' शब्द (= गया हुआ) के रूपभेद बतलाये जारहे हैं । व्युत्पत्ति—(पदलृ) √सद्+लिट् = क्वसु (वस्), <सद्-इ+वस् ('इट्' आगम), सद्-सद्-इ+वस (धातु को द्वित्व)-सेदिवस् (एत्व तथा अभ्यासलोप) प्रातिपदिक हुआ । (क) सेदिवस्+

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महच्छब्दसाहचर्यात् । सुष्ठु हिनस्तीति–सुहिन्, सुहिंसौ, सुहिंसः । सुहिन्भ्याम् इत्यादि । सुहिन्त्सु–सुहिन्सु । ध्वत्–ध्वद् । ध्वसौ । ध्वसः । ध्वद्भ्याम् । एवं स्रत् ।

विधित्वेन शीघ्रोपस्थितिकत्वात् प्रथमं सम्प्रसारणे वलादित्वाभावादिटः प्राप्तिरेव नास्तीति सेदुषः इति निर्बाधमित्याहुः । सेदुषा सेदिवद्भ्यामित्यादीति । सेदिवत्सु । 'हिंसि हिंसायाम्' इदित्त्वान्नुम्, सुपूर्वात्क्विप्, इदित्त्वान्नलोपो न, 'नश्च' इत्यनुस्वारः, सुहिंस्शब्दात्सोर्लोपः, सकारस्य संयोगान्तलोपः, तस्यासिद्धत्वान्नलोपो न, नापि 'सर्वनामस्थाने च' इति दीर्घः । निमित्तापायादनुस्वारनिवृत्तिः । सुहिन् इति सौ रूपं वक्ष्यति । तत्र 'सान्तमहतः' इति दीर्घमाशङ्क्य आह—सान्तेति । सुहिन्भ्यामिति । 'स्वादिषु' इति पदान्तत्वात् सस्य संयोगान्तलोपे निमित्तापायादनुस्वारनिवृत्तिरिति भावः । सुहिन्त्सिवति । संयोगान्तलोपे अनुस्वारनिवृत्तिः । सुपः सकारमाश्रित्य पुनरनुस्वारस्तु न, पदान्तत्वात् । ध्वदिति । 'ध्वंसु अवस्रंसने' कृतानुस्वारनिर्देशः । क्विप् । अनुस्वारस्यासिद्धत्वात् 'अनिदिताम्' इति नलोपः । सोर्लोपः । 'वसुस्रंसु' इति दत्वम् । 'वाऽवसाने' इति चर्त्वविकल्प इति भावः । एवमिति । 'स्रंसु अवस्रंसने' क्विबादि पूर्ववदिति भावः । 'पूल् पवने' अस्मात् 'पूलो डुस्सुन्' इति उणादिसूत्रेण डुस्सुन्प्रत्ययः । डकारो नकार उकारश्च इत् । डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः । पुंस्शब्दात् सुबुत्पत्तिः । तत्र सुटि विशेषमाह ।'

स्, <सेदिवन्–स्+स् ('नुम्' आगम), <सेदिवान्-स्+सु (दीर्घ–"सान्तमहतः संयोगस्य"–३१७), <सेदिवान्–सु ('स्'–विभक्तिलोप), <सेदिवान् ('स्'–संयोगान्तलोप, इसके असिद्ध होने से 'न्' का लोप नहीं हुआ । सेदिवांसौ, सेदिवांसः । द्वि० सेदिवांसम्, सेदिवांसौ, सेदुषः । इस बीच 'सेदुषः' के प्रसङ्ग में यह शङ्का की जाती है कि सेद्–वस्+अस् स्थिति में 'वस्' (क्वसु) प्रत्यय को अभिलक्षित कर केवल वलादि की अपेक्षा होने से अन्तरङ्ग होने के कारण 'इट्' आगम, बहिरङ्ग सम्प्रसारण की अपेक्षा, पहले ही क्यों नहीं होता ? इसके समाधान में 'अकृतव्यूह' परिभाषा का आश्रय लिया जाता है । तदनुसार सम्प्रसारण होने पर इट् आगम के निमित्त (वलादित्व) का विनाश अवश्यम्भावी है, अतः विनाशोन्मुख को निमित्त मान कर इट्-आगम की प्रवृत्ति नहीं होती । वस्तुतः 'लक्षणप्रतिपदोक्त' परिभाषा का आश्रय लेने से साक्षात् 'वस्' को अभिलक्षित कर सम्प्रसारण की सर्वप्रथम प्रवृत्ति होगी । तदनन्तर 'इट्' आगम की प्राप्ति ही नहीं है । (ग) तृतीया—सेदुषा, सेदिवद्भ्याम्, सेदिवद्भिः । आगे की रूपप्रक्रिया 'विद्वस्' शब्द के समान है ।

२—'सुष्ठु हिनस्ति' (= अच्छी तरह हिंसा करने वाला)—अर्थ में 'सुहिन्स्' शब्द के रूपभेद बताये जारहे हैं । प्रथमा–सुहिन्स्+सु, <सुहिन्स् (विभक्तिलोप), <सुहिन् ('स्'–संयोगान्तलोप) । यहाँ सकारान्त-संयोग होने पर हकारोत्तरवर्ती इकार को "सान्तमहतः संयोगस्य"–३१७ से इस कारण दीर्घ नहीं होता कि उक्त सूत्र में 'महत्' शब्द के साहचर्य से प्रातिपदिक का ही सकारान्त-संयोग लिया जाता है न कि धातु का । सुहिन्स्+औ, <सुहिंसौ (न् = अनुस्वार–"नश्चापदान्तस्य झलि"–१२२) । सुहिंसः । द्वि० सुहिंसम्, सुहिंसौ, सुहिंसः । तृ० सुहिंसा, सुहिन्भ्याम् ('स्'–संयोगान्तलोप), सुहिन्भिः । सप्तमी के बहुवचन में सुहिन्स्+सु, सुहिन् द्+सु (स् = द्), <सुहिंत्सु (न् = अनुस्वार तथा द् = त्–चर्त्व) ।

३—√ध्वंस् (=नाश होना) धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करने पर अनुस्वार असिद्ध होने के कारण "अनिदिताम्०"–४१५ से 'न्'लोप होने के पश्चात् 'ध्वस्' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है । (क) ध्वस्+स्, <ध्वस् ('स्'–विभक्तिलोप), <ध्वद् (स्=द्), –ध्वत् (पाक्षिक चर्त्व), ध्वसौ, ध्वसः । द्वि० ध्वसम्, ध्वसौ, ध्वसः । तृ० ध्वसा, ध्वद्भ्याम्, ध्वद्भिः आदि रूप 'विद्वस्' शब्द के समान बनेंगे । इसी तरह √स्रंस्+क्विप्+सु, <स्रत् आदि रूप भी सिद्ध होंगे (= स्खलित होने वाला) ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४३६) पुसोऽसुङ् ७ । १ । ८९ ॥ सर्वनामस्थाने विवक्षिते पुंसोऽसुङ् स्यात् । असुङ उकार उच्चारणार्थः । 'बहुपुंसी' इत्यत्र, 'उगितश्च' (सू ४५५) इति ङीबर्थं कृतेन 'पूञो डुम्सुन्' इति प्रत्ययस्योगित्त्वेनैव नुम्सिद्धेः । पुमान् । हे पुमन् । पुमांसौ । पुमांसः । पुंसः । पुंसा, पुम्भ्याम्, पुम्भिः इत्यादि । पुंसि । पुंसु । 'ऋदुशन—' (सू २७६) इत्यनङ्—उशना, उशनसौ, उशनसः । 'अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ् नलोपश्च वाच्यः'

---

(४३६) पुंसोऽसुङ् । 'इतोऽत् सर्वनामस्थाने' इत्यतः सर्वनामस्थाने इत्यनुवृत्तिमभिप्रेत्य शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—सर्वनामस्थाने इति । पुंसः असुङ् स्यात् सर्वनामस्थाने इति फलितम् । ननु तत्पुरुषात् परमपुंसशब्दात् सुटि असुङादेशात् प्रागेव समासेत्यन्तोदात्तत्वं पकारादुकारस्य स्यात्, सर्वनामस्थानोत्पत्तेः प्रागेव समासस्वरस्य अन्तरङ्गत्वात् प्राप्तेः । इष्यते तु असुङि कृते परमपुमस् इत्यत्र मकारादकारस्य । अत आह—विवक्षिते इति । 'पुंसोऽसुङ्' इत्यत्र सर्वनामस्थान इति न परसप्तमी किन्तु विवक्षिते इत्यध्याहृत्य सर्वनामस्थाने प्रयोक्तुमिष्टे सति ततः प्रागेव असुङित्यर्थं आश्रीयते । एवं च सर्वनामस्थानोत्पत्तेः प्रागेव असुङि कृते 'समासस्य' इत्यन्तोदात्तत्वं परमपुमस् इत्यत्र मकारादकारस्य भवतीति न दोष इति भावः । न च परसप्तमीपक्षेऽपि सर्वनामस्थानोत्पत्तेः प्रागन्तरङ्गोऽपि समासस्वरः पकारादुकारस्य अकृतव्यूहपरिभाषया न भवति, असुङि कृते पकारादुकारस्य समाससान्ततायाः प्रनङ्गत्वादिति वाच्यम्, विवक्षित इत्यर्थाश्रयणेनैव सिद्धे अकृतव्यूहपरिभाषाया अस्वीकार्यत्वादिति भावः । अत्र असुङि उकार इत् उदित्कार्यार्थं इति प्राचीनमतं दूषयितुमाह—असुङ उकार उच्चारणार्थः इति । न त्वित्सञ्ज्ञकः, प्रयोजनाभावादिति भावः । ननु उदित्कार्यमस्ति प्रयोजनमित्यत आह—पूञो डुम्सुन्निति प्रत्ययस्य उगित्त्वेनैव नुम्सिद्धेरिति । ननु विनिगमनाविरह इत्यत आह—बहुपुंसीत्यत्र उगितश्च ङीबर्थं इति कृतेनेति । बह्वः पुमांसो यस्याम् इति बहुव्रीहौ सुब्लुकि निमित्तापायादसुङो निवृत्तौ बहुपुंसशब्दादुगित्त्वात् ङीपि बहुपुंसीशब्दः । अत्र ङीपः असर्वनामस्थानत्वात्तस्मिन् विवक्षिते असुङः प्राप्तिरेव नास्ति । डुम्सुन उगित्त्वादेव ङीप् वक्तव्यः । तदर्थं डुम्सुन उगित्त्वमावश्यकम् । तेनैव नुमोऽपि सिद्धत्वाद् असुङः उकार उच्चारणार्थ इति भावः । यद्यप्युणादिषु 'पातेर्डसुन्' इति वक्ष्यते । तथापि पाठान्तरमिदं द्रष्टव्यम् । 'स्त्रियाम्' इति सूत्रभाष्यकैयटयोस्तु सूतेः सस्य पः, उकारस्य ह्रस्वः, स्सुन् प्रत्यय इत्युक्तम् । पुमानिति । डुंसुन् इति कृतानुस्वारनिर्देशः । ततश्च पुंस् शब्दात् सौ विवक्षिते असुङ् । ङकार इत्, उकार उच्चारणार्थः, 'ङिच्च' इत्यन्तादेशः । निमित्तापायादनुस्वारनिवृत्तौ पुमस् सु उगित्त्वान्नुम्, 'सान्तमहतः' इति दीर्घः, सोर्लोपः सस्य संयोगान्तलोपः तस्यासिद्धत्वान्नलोपो नेति भावः । हे पुमन्निति । 'सान्तमहतः' इत्यत्र 'असम्बुद्धौ' इत्यनुवृत्तेः न दीर्घ इति भावः । पुमांसाविति । असुङि पुमस् औ इति

---

(४३६) पद—पुंसः, असुङ् । अनुवृत्ति—सर्वनामस्थाने । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—सर्वनामस्थान की विवक्षा में 'पुंस्' को 'असुङ्' होता है । उच्चारण की सुविधा के लिये 'उकार' का ग्रहण है । 'बहुपुंसी' इत्यादि में "उगितश्च" से ङीप् प्रत्यय होने के लिये √'पूञ्' धातु से 'डुमसुन्' प्रत्यय के 'उक्' की इत्संज्ञा को ङीप् का निमित्त माना जाता है । वैसे ही 'नुम्' के लिये भी मान लिया जायगा । पुमान् । हे पुमन् । पुमांसः । पुंसा, पुम्भ्याम्, पुम्भिः । पुंसु । "ऋदुशनस्०" सूत्र से अनङ् । उशना, उशनसौ, उशनसः । वा० इसके सम्बुद्धि में 'अनङ्' और न्-लोप भी विकल्प से होते हैं । हे उशनन्–हे उशन–हे उशनः । उशनोभ्याम् इत्यादि ।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वा ५०३७)। हे उशनन्–हे उशन–हे उशनः। उशनोभ्यामित्यादि। अनेहा, अनेहसौ, अनेहसः। हे अनेहः। अनेहोभ्यामित्यादि। वेधाः, वेधसौ, वेधसः। हे वेधः।

स्थिते नुमि 'सान्त' इति दीर्घः। 'नश्च' इति नुमोऽनुस्वार इति भावः। पुंसः। पुंसेति। शसादावसर्वनामस्थानत्वादसुङभावे रूपम्। यय्परत्वाभावान्न परसवर्ण इति भावः। पुम्भ्यामिति। सस्य संयोगान्तलोपे निमित्तापायादनुस्वारनिवृत्तौ भकारमाश्रित्य पुनरनुस्वारे परसवर्णे रूपमिति भावः। इत्यादीति। पुंसे। पुंसः, पुंसोः। पुंसीति। अत्र यय्परत्वाभावान्न परसवर्णः। नुमस्थानिकानुस्वारस्यैवोपलक्षणात् 'नुम्विसर्जनीय' इति षत्वं नेति भावः। 'वश कान्तौ' अस्मात् 'वशेः कनसिः' इति कनसिप्रत्ययः, ककार इत्, इकार उच्चारणार्थः। 'ग्रहिज्या' इति सम्प्रसारणम्। उशनस्शब्दः, तस्य सौ विशेषमाह—ऋदुशनेत्यनङिति। ङकार इत्, अकार उच्चारणार्थः, ङित्त्वादन्तादेशः। उशनन् स् इति स्थिते उपधादीर्घः, हल्ङ्यादिना सुलोपः, नलोपः, उशना इति रूपमिति भावः। यद्यपि वशधातुरुछान्दस इति लुग्विकरणे वक्ष्यते, तथापि तत् प्रायिकम्, 'यष्टि भागुरिः' इत्यादिनिर्देशात्, 'उशना भार्गवः कविः' इति कोशाच्च। अस्य सम्बुद्धाविति। एतच्च वृत्तौ पठितम्। वशधातौ माधवस्तु 'सम्बोधने तूशनसखिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम्' इति श्लोकवार्तिकमित्याह। भाष्यादृष्टत्वादिदमप्रामाणिकमेवेति प्रामाणिकाः। हे उशनन् इति। अनङि नलोपाभावे रूपम्। हे उशनेति। अनङि नलोपे रूपम्। हे उशन इति। अनङभावे रूपम्। उशनोभ्यामिति। सस्य रुत्वे 'हशि च' इत्युत्वे 'आद्गुणः'। उशनःसु–

अनेहा, अनेहसौ, अनेहसः। हे अनेहः। अनेहोभ्याम् इत्यादि। वेधाः, वेधसौ, वेधसः। हे वेधः। वेधोभ्याम् इत्यादि। 'अधातोः' कहने से दीर्घ नहीं हुआ। 'सुष्ठु वसते' अच्छी तरह पहनने वाला अर्थ में सुवः, सुवसौ, सुवसः। 'पिण्डं ग्रसते' (= पिण्ड को खाता है) अर्थ में पिण्डग्रः, पिण्डग्लः। √ ग्रसु तथा √ग्लसु धातु खाने के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

विवरण—सूत्र में 'पुंसः' स्थानी है तथा आदेश है—'असुङ्'। तदनुसार 'पुंस्' शब्द के स्थान पर 'असुङ्' आदेश का विधान किया जारहा है। तथापि यह आदेश किस अवस्था में हो—इस विषय में सूत्र में कोई निर्देश नहीं है। अतः "इतोऽत् सर्वनामस्थाने" (७-१-८६) से 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनन्तर यह स्पष्ट होता है कि "सर्वनामस्थान (सु, औ, जस्, अम्, औट्) की विवक्षा में 'पुंस्' शब्द के स्थान पर 'असुङ्' (अस्) आदेश हो"। 'असुङ्' आदेश 'ङ्'–इत् होने के कारण अन्त्यवर्ण (स्) के स्थान पर होगा। उदाहरण—(क) पुंस् (= पुरुष) +स्, पुं–अस्+स् (स् = अस्), <पुम्–अस्+स् (अनुस्वार अपनी पूर्वस्थिति 'म्' में परिवर्तित हो गया—"निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः"), पुम्–अ न् स्+ ('नुम्' आगम), <पुमान्–स्+स् (दीर्घ—"सान्तमहतः संयोगस्य"–३१७), पुमान्–स् ('स्'–विभक्तिलोप,), <पुमान् ('स्'–संयोगान्तलोप)। पुंस्–औ, <पुं–अस्+औ (स्=अस्), <पुम्–अस्+औ, <पुमन्–स्+औ, (नुम्) <पुमान्–स्+औ (दीर्घ), <पुमांसौ (न् = अनुस्वार)। पुमांसः। द्वि० पुमांसम्, पुमांसौ, पुंसः (सर्वनामस्थान न होने से 'असुङ्' आदेश नहीं हुआ)। तृ० पुंसा, पुम्भ्याम् ('स्' लोप तथा म् = अनुस्वार = परसवर्ण–'म्'), पुम्भिः। च० पुंसे, पुम्भ्याम्, पुम्भ्यः। प० पुंसः, पुम्भ्याम्, पुम्भ्यः। ष० पुंसः, पुंसोः, पुंसाम्। सं० पुंसि, पुंसोः, पुंसु ('स्'–संयोगान्तलोप तथा 'म्' = अनुस्वार)। सम्बो० हे पुमन् (सम्बुद्धि में दीर्घ नहीं होता), हे पुमांसौ, हे पुमांसः।

विशेष—'असुङ्' आदेश में 'उकार' केवल उच्चारण की सुविधा के लिये है। 'उकार' की इत्संज्ञा का अन्यत्र प्रयोजन "उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः" (३६३) से 'नुम्' आगम का विधान होना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेधोभ्यामित्यादि। अधातोरित्युक्तेर्न दीर्घः। सुष्ठु वस्ते, सुवः, सुवसौ, सुवसः।

उशनस्सु। अनेहेति। 'नञि हन एह च' इति नञि उपपदे हन्धातोरसुंन्, 'प्रकृतेरेहादेशश्च' उपपदसमासः, 'नलोपो नञः' 'तस्मान्नुडचि' अनेहस् शब्दः। ततः सुः, अनङ्, सुलोपः, उपधादीर्घः, नलोप इति भावः। हे अनेहः। अनेहोभ्यामित्यादि। वेधा इति। 'विधाञो वेध च' विपूर्वाद् धाञ्धातोरसुन् प्रकृतेर्वेधादेशश्च। असुनि उकार उच्चारणार्थः। उगित्त्वाभावान्न नुम्, ततः सुः, असन्तत्वाद् दीर्घः, सुलोपः, रुत्वविसर्गाविति भावः। 'वस आच्छादने' लुग्विकरणः। सुपूर्वादस्मात् 'क्विप्', सुवस् शब्दः, ततः सुः, हल्ङ्यादिलोपः, रुत्वविसर्गौ, सुव इति रूपं वक्ष्यति। अत्र 'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घमाशङ्क्य आह—अधातोरित्युक्तेर्न दीर्घ इति। न च सुवस्शब्दस्य असन्तत्वादधातुत्वाच्च दीर्घो दुर्वार

है। यहाँ 'उ'कार की इत्संज्ञा होने का यह प्रयोजन नहीं है। कारण यह है कि जहाँ 'असुङ्' आदेश नहीं होता, वहाँ पुंस् शब्द की व्युत्पत्ति में √पू+डुमसुन् (उमस्) प्रत्यय करने पर उसके 'उ' की इत्संज्ञा को मानकर 'बहुपुंसी' शब्द में "उगितश्च" (४-१-६) से 'ङीप्' प्रत्यय हुआ है। तदनुसार यहाँ भी 'नुम्' आगम प्रवृत्त होने में उसी 'उकार' का आश्रय लिया जा सकता है।

निर्देश—१-'उशनस्' (= शुक्राचार्य) शब्द के रूप बतलाये जारहे है। (क) प्रथमा—उशनस्+स्, <उशन-अन्+स् (स् = अन् "ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च" २७६), उशनन्-स् (अ+अ = अ-पररूप), उशनान्+स् (उपधादीर्घ), <उशनान् ('स्'-विभक्तिलोप), उशना ('न्'-लोप)। उशनस्+औ, <उशनौ। उशनसः। द्वि० उशनसम्, उशनसौ, उशनसः। तृ० उशनसा, उशनोभ्याम् (स् = रु, रु=उ; अ+उ=ओ-गुण), उशनोभिः इत्यादि। सप्तमी के बहुवचन में दो रूप होंगे—उशनःसु, उशनस्सु ("वा शरि" (१५१) से पाक्षिक विसर्ग होने के कारण दूसरे रूप में विसर्ग के स्थान पर 'स्' होने से दो सकारात्मक रूप होते हैं)। सम्बोधन के एकवचन में तीन रूप बनते हैं—(१) हे उशनन्, (२) हे उशन तथा (३) हे उशनः। इस प्रसङ्ग में प्रस्तुत वार्तिक का यह अर्थ है कि "उशनस् शब्द के सम्बोधन के एकवचन में वैकल्पिक 'अनङ्' तथा पाक्षिक 'न्'-लोप भी जाना जाय"। तदनुसार 'स्' के स्थान पर 'अन्' आदेश होने पर, पररूप एवं विभक्तिलोप करने पर (१) हे उशनन् रूप सिद्ध होता है। उक्त कार्यों के अतिरिक्त 'न्' का लोप होने पर (१) हे उशन रूप बनेगा। अनङ् न होने पर (३) हे उशनः (विभक्तिलोप होने के पश्चात् स् = र् = :)। द्वि तथा बहुवचनों में—हे उशनसौ, हे उशनसः।

२—'अनेहस्' (= काल) शब्द के रूप सम्बोधन-एकवचन को छोड़कर अन्य विभक्तियों में 'उशनस्' शब्द के समान सिद्ध होंगे। प्र० अनेहा, अनेहसौ, अनेहसः। द्वि० अनेहसम्, अनेहसौ, अनेहसः। तृ० अनेहसा, अनेहोभ्याम्, अनेहोभिः इत्यादि। सम्बोधन में—हे अनेहः (सम्बोधन में दीर्घ नहीं, 'सु' विभक्तिलोप तथा स् = र् = :), हे अनेहसौ, हे अनेहसः।

३—वेधस् (= ब्रह्मा) शब्द के रूपों में इन दोनों शब्दों की अपेक्षा कुछ अन्तर है। प्र० वेधस्+स्, <वेधास्+स् (धकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ—"अत्वसन्तस्य चाधातोः"-४२५), <वेधास् ('स्'-विभक्तिलोप), <वेधार् (स् = र्), <वेधाः (र् = :)। वेधसौ। वेधसः। द्वि० वेधसम्, वेधसौ, वेधसः। तृ० वेधसा, वेधोभ्याम् वेधोभिः। च० वेधसे, वेधोभ्याम्, वेधोभ्यः। प० वेधसः, वेधोभ्याम्, वेधोभ्यः। ष० वेधसः, वेधसोः, वेधसाम्। स० वेधसि, वेधसोः, वेधस्सु-वेधःसु। सम्बो० हे वेधः, हे वेधसौ, हे वेधसः।

४—'सुवस्' शब्द के प्रथमा-एकवचन में अन्य सकारान्त शब्दों के समान "अत्वसन्तस्य चाऽधातोः" (४२५) से दीर्घ नहीं होता। कारण यह है कि इस सूत्र से होने वाले दीर्घ की प्रवृत्ति धात्ववयव-भिन्न असन्त में होती है। यहाँ पर सुवस् में 'वस्' धातु का अवयव 'अस्' है, अतः दीर्घ नहीं हुआ। तदनुसार सुवः (विभक्ति-लोप होने पर स्=र् = :), सुवसौ, सुवसः रूप बनेंगे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पिण्डं ग्रसते–पिण्डग्रः । पिण्डग्लः । 'ग्रसु ग्लसु अदने' । (४३७) **अदस औ सुलोपश्च ७ । २ । १०७ ॥** अदस औकारोऽन्तादेशः स्यात्सौ परे सुलोपश्च । 'तदोः सः सौ–' (सू ३८१) इति दस्य सः । असौ । 'औत्वप्रतिषेधः साकच्कस्य वा वक्तव्यः सादुत्वं च' (वा ४४८२) । प्रतिषेधसंनियोगशिष्टमुत्वं तदभावे न प्रवर्तते । असकौ, असुकः ।

इति वाच्यम्, धात्ववयवभिन्नो यः अस् तदन्तस्य दीर्घ इत्याश्रयणात् । सुवोम्या-मित्यादि । 'वस निवासे' इति भौवादिकस्य तु नेदं रूपम्, तस्य यजादित्वेन सम्प्रसारण-प्रसङ्गात् । पिण्डग्रस्शब्दः सुवस्शब्दवत् । अदस्शब्दात् सौ त्यदाद्यत्वे प्राप्ते ।

(४३७) अदस औ । अदस इति षष्ठी । औ इत्यविभक्तिकनिर्देशः । 'तदोः सः सौ' इत्यतः सावित्यनुवर्तते । तदाह—अदस औकार इति । अन्तादेश इत्यलोऽन्त्यपरिभाषा-लभ्यम् । सकारस्य औत्वे कृते हलः परत्वाभावाद् हल्ङ्यादिलोपे अप्राप्ते सुलोपविधिः । दस्य स इति । मुत्वापवाद इति भावः । असौ इति । अदस् स् इति स्थिते सकारस्य औत्वे सुलोपे दस्य सत्वे च रूपम् । अथ 'अव्ययसर्वनाम्नाम्' इत्यकचि अदकस्शब्दात् सौ विशेषमाह—औत्वप्रतिषेध इति । 'अदस औ सुलोपश्च' इत्यत्र अदश्शब्देन तन्मध्यपतित-न्यायेन अदकस्शब्दस्यापि ग्रहणादौत्वे प्राप्ते विकल्पेन तत्प्रतिषेधो वक्तव्यः । 'तदोः सः सौ' इति दकारस्य सकारे कृते तस्मात् सकारात् परस्य श्कारस्य उकारश्च वा वक्तव्य इत्यर्थः । ततश्च अदकस् स् इति स्थिते औत्वाभावे दस्य सत्वे सति सकारात् परस्य अकारस्य उत्वे सति त्यदाद्यत्वे पररूपे रुत्वे विसर्गे असुकः इति रूपम् । औत्वप्रतिषेधा-भावपक्षे अदकस् स् इति स्थिते सकारस्य औत्वे सुलोपे दस्य सत्वे असकौ इति रूपं वक्ष्यति । तत्र औत्वप्रतिषेधाभावपक्षे औत्वे कृते सकारादकारस्य उत्त्वविकल्पः कुतो न

५—पिण्डग्रस् (= पिण्ड को खाने वाला—पिण्डं ग्रसते) तथा पिण्डग्लस् (पिण्डं ग्लसते) शब्दों में भी 'अस्' भाग धात्ववयव होने के कारण दीर्घ की प्रवृत्ति न होने से प्रथमा में पिण्डग्रः, पिण्डग्रसौ, पिण्डग्रसः आदि रूप बनेंगे । इसी प्रकार पिण्डलः भी जाना जाय ।

(४३८) **पद**—अदसः, औ, सुलोपः, च । **अनुवृत्ति**—सौ । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'सु' पर रहते 'अदस्' को 'औ' अन्तादेश होता है और 'सु' का लोप भी हो । "तदोः सः सावनन्त्ययोः" से द् = स् । असौ । वा० अकच्-सहित को औकार का निषेध विकल्प से करना चाहिए और सकार से परवर्ती वर्ण को उकार भी हो । निषेध के साथ होने वाला उकार-विधान उसके अभाव में प्रवृत्त नहीं होता । असकौ, असुकः । "त्यदादीनामः" से अकार फिर पररूप । वृद्धि । "अदसोऽसेः"० से मकार और ऊकार । अमू । जस् = शी । आद्गुणः से गुण ।

विवरण—"तदोः सः सावनन्त्ययोः" (७-२-१०६) सूत्र से 'सौ' की अनुवृत्ति करने पर सूत्र का अर्थ पूरा होता है । तदनुसार "सु-विभक्ति पर रहते अदस् शब्दावयव 'स्' के स्थान पर ("अलोन्त्यस्य" के आधार पर) 'औ' आदेश हो तथा 'सु'-विभक्ति का लोप भी हो" । **उदाहरण**—(क) अदस्+स्, <अद+औ, (स् = औ तथा विभक्तिलोप), <अस+औ (द् = स्–"तदोः सः सावनन्त्ययोः"–३८१), <असौ, (अ+औ=औ—वृद्धि) । वा० (अर्थ) 'अकच्'-प्रत्ययसहित 'अदस्' शब्द को औकार का निषेध विकल्प से होता है तथा 'स'कार से पर 'अ'कार को 'उ'कार भी विकल्प से हो' । तदनुसार **उदाहरण**—१-अदस्+अकच् = अद्-अक्-अस्+स् ("अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः" ५-३-७१ से विहित 'अकच्' प्रत्यय 'अदस्' की टि = 'अस्' के पूर्व), <असक+औ ('सु'-लोप तथा स् = औ एवं द् = स्), <असकौ (अ+औ = औ–वृद्धि) । 'सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः' (= एक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्यदाद्यत्वं, वृद्धिः, 'अदसोऽसेः-' (सू ४१९) इति मत्वोत्वे। अमू। 'जसः शी' (सू २१४)। 'आद्गुणः' (सू ६९)। (४३८) एत ईद् बहुवचने ८।२।८१॥ अदसो दात्परस्य एत ईत्स्यादृस्य च मो बह्वर्थोक्तौ। अमी। 'पूर्वत्रासिद्धम्' (सू १२)

स्यादित्यत आह—प्रतिषेधेति। 'सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः' इति न्यायादिति भावः। अमुकः अमुकशर्मा इत्यादि त्वसाध्वेवेत्याहुः। केचित्तु अदस्शब्द-पर्यायः अमुकशब्दः अव्युत्पन्न इत्याहुः। अदस् औ इति स्थिते प्रक्रियां दर्शयति—त्वदाद्यत्वमिति। पररूपमपि बोध्यम्। मत्वोत्वे इति। अदौ इत्यत्र दात् परस्य औकारस्य दीर्घ ऊकारः दस्य मत्वं चेत्यर्थः। जसि त्यदाद्यत्वं पररूपं च सिद्धवत्कृत्य आह—जसश्शीति। आद्गुणे अदे इति स्थितम्। तत्र दकारादेकारस्य ऊत्वे प्राप्ते।

(४३८) एत ईद् बहुवचने। 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' इत्यस्मात् 'अदसो दादिति' 'दो मः' इति चानुवर्तते। तदाह—अदसः इत्यादिना। बह्वर्थोक्ताविति। सूत्रे बहुवचनशब्दो यौगिकः। पारिभाषिकस्य ग्रहणे तु अमीभिरित्यादिसिद्धावपि अमी इति न सिध्येत्, अदे इत्येकारस्य बहुवचनतया तत्परकत्वाभावादिति भावः। ननु औजसादिषु त्यदाद्यत्वे पररूपे च उत्त्वमत्वयोः कृतयोः अमुऔ अमुअः इत्यादि स्यात्। मुत्वस्यासिद्धत्वान्न यणित्याशङ्क्याह—पूर्वत्रेति। विभक्तिकार्यमिति। त्यदाद्यत्वादिकमित्यर्थः। यदि तु 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यत्र कार्यासिद्धत्वमिष्येत, तर्हि अमू अमी इत्यादि न सिध्येत्। तथा हि 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति सिद्धे असिद्धत्वारोप उच्यते। निरधिष्ठानश्चासिद्धत्वारोपो न सम्भवति। ततश्च कार्यासिद्धत्वपक्षे सूत्रोदाहरणसम्पत्त्यै परत्वाल्लक्ष्ये कार्यप्रवृत्तेरावश्यकतया परत्वात् त्रैपादिके मुत्वे कृति सति उत्वस्थानिनोऽकारस्यापहारे सति, पश्चात् मुत्वेऽभावप्रतियोगित्वारोपेऽपि, 'देवदत्तस्य हन्तरि हते सति देवदत्तस्य न पुनरुन्मज्जनम्' इति न्यायेन स्थानिभूतस्य दकारादकारस्याभावात् वृद्धिगुणादि न स्यात्। शास्त्रासिद्धत्वपक्षे तु यद्यत् त्रैपादिकं शास्त्रं प्रवृत्त्युन्मुखं तत्तच्छास्त्र एवाभावारोपसम्भवात् पूर्वशास्त्रप्रतिबन्धकस्य परशास्त्रस्य उच्छेदबुद्धौ सत्यां 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इति न प्रवर्तते। तदुक्तं 'पूर्वत्रासिद्धे नास्ति विप्रतिषेधोऽभावादुत्तरस्य' इति। ततश्च स्थानिनः अकारस्य निवृत्त्यभावाद्

साथ जिनका विधान है वे साथ ही प्रवृत्त होते हैं और साथ ही निवृत्त होते हैं) नियम के आधार पर औकार-निषेध के न होने की स्थिति में (अर्थात् औकार होने पर) सकार से पर 'अकार' को पाक्षिक 'उ'कार भी नहीं हुआ। २—'औ'कार न होने पर अदकस्+स् इस स्थिति में "त्यदादीनामः" (२६५) से 'स्' = अ तथा पररूप एवं द् = स् – असक+स्, तदनन्तर सकारोत्तरवर्ती 'अ' के स्थान पर उकार होने के पश्चात् विभक्तिस्थ 'स्' को 'र्' एवं विसर्ग होने से 'असुकः' रूप सिद्ध होता है। प्रसङ्गवश 'अकच्'-सहित 'अदस्'-शब्द के प्रथमा-एकवचन में रूपसिद्धि बतला कर प्रकृत में 'अदस्'-शब्द के प्रथमा-द्विवचन की रूपसिद्धि का निर्वचन किया जारहा है। (क) अदस्+औ, <अद–अ+औ (स्=अ, "त्यदादीनामः"–२६५), <अद+औ (अ+अ=अ–"पररूप" अतो गुणे"–९९), <अदौ (अ+औ=औ–वृद्धि–"वृद्धिरेचि"–७२), <अमू (द् = म् एवम् औ = ऊ–"अदसोऽसेर्दादु दो मः"–४१९)। अदस्+जस्, <अद–अ+जस्, <अद+जस्, <अद+ई (जस् = शी—"जसः शी"–२१४), <अदे (अ+ई = ए—गुण "आद्गुणः–६९)—इस स्थिति में विशेष-विधान बतलाया जारहा है।

(४३८) पद—एतः, ईत्, बहुवचने। अनुवृत्ति—अदसः, दात्, दः, मः। विधिसूत्र।

मूलार्थ—बहुवचन में 'अदस्' के दकार से पर एकार को ईकार तथा 'द्' के स्थान पर 'म्' आदेश होते हैं। अमी। "पूर्वत्रासिद्धम्" के आधार पर पहले विभक्ति-कार्य तदनन्तर उकार और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति विभक्तिकार्यं प्राक्, पश्चादुत्वमत्वे। अमुम्, अमू, अमून्। मुत्वे कृते घिसंज्ञायां नाभावः। (४३९) न मु ने ८।२।३॥ नाभावे कर्तव्ये कृते च मुभावो नासिद्धः

वृद्धिगुणादिप्रवृत्तिर्निर्बाधा। एतच्च 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यत्र 'अचः परस्मिन्' इत्यत्र 'षत्वतुकोरसिद्धः' इत्यत्र च भाष्ये स्पष्टम्। प्रपञ्चितं च शब्देन्दुशेखरे शब्दरत्ने च इत्यास्तां तावत्। अमुमिति। अदस् अम् इति स्थिते त्यदाद्यत्वं पररूपम् 'अमि पूर्वः' उत्वमत्वे इति भावः। अमू इति। द्वितीयाद्विवचनं प्रथमाद्विवचनवत्। अमूनिति। शसि त्यदाद्यत्वं पररूपं पूर्वसवर्णदीर्घः नत्वम् ऊत्वमत्वे इति भावः। तृतीयैकवचने अदस् आ इति स्थिते त्यदाद्यत्वं पररूपम् उत्वमत्वे च सिद्धवत्कृत्य आह—मुत्वे कृते घिसंज्ञायां नाभाव इति। 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायाम् 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इति नाभाव इत्यर्थः। ननु 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति विभक्तिकार्यं प्राक् पश्चात् उत्वमत्वे इति प्रागुक्तम्। सम्प्रति तु मुत्वे कृते घिसंज्ञायां नाभाव इत्युच्यते। तदिदं पूर्वापरविरुद्धमिति चेत्? सत्यम्, यद्विभक्तिकार्यं प्रति मुत्वं निमित्तं न भवति, तदेव विभक्तिकार्यं प्राक् भवति, न त्वन्यदिति विवक्षितम्। इह च नाभावं प्रति मुत्वं निमित्तमिति प्रथमं मुत्वप्रवृत्तेरविरोधः 'न मु ने' इत्यारम्भसामर्थ्यादित्यलम्। ननु कृतेऽपि प्रथमं मुत्वे नाभावो न सम्भवति तस्मिन् कर्तव्ये मुत्वस्य असिद्धतया घेः परत्वाभावादित्यत आह।

(४३९) न मु ने। असिद्धमित्यनुवर्तते। म् च उश्चेति समाहारद्वन्द्वः, ने इति ना

मकार होते हैं। अमुम्, अमून्। मुत्व करने पर विसंज्ञा होने के फलस्वरूप 'टा' के स्थान पर 'ना' आदेश होगा।

विवरण—स्पष्ट-रूप में सूत्रार्थ की अभिव्यक्ति के लिए "अदसोऽसेर्दादुदो मः" (८-२-८०) सूत्र से 'अदसः', 'दात्', 'दः' तथा 'मः' की अनुवृत्ति करनी होगी। तदनुसार सूत्रार्थ यह होगा कि 'बहुवचन की विवक्षा में[1] अदस्-शब्दावयव दकार से पर एकार के स्थान पर ईकार (ई) आदेश होता है तथा दकार के स्थान पर मकार आदेश हो'। **उदाहरण**—(पूर्वोक्त) अदे—इस स्थिति में ए = ई तथा द् = म् होने पर—अमी रूप सिद्ध होता है। (ख) अदस्+अम्, <अद-अ+अम् (स् = अ—"त्यदादीनामः-२६५), <अद+अम् (अ+अ=अ-पररूप), <अदम् (अ+अ=अ-पूर्वरूप—"अमि पूर्वः"-१९४) <अमुम् (द् = म् तथा 'अ' = उ)। अदस्+औ, <अमू (सिद्धि पूववत्)। अदस्+शस्, <अद-अ+अस् <अद+अस्, <अदास् (पूर्वसवर्ण दीर्घ), <अदान् (स् = न्—"तस्माच्छसो नः पुंसि-१९६), <अमून् (द् = म् तथा आ = ऊ)। (ग) अदस्+टा, <अद-अ+टा, <अद+टा, <अमु+टा—इस स्थिति में मुत्व के असिद्धत्व का निषेध किया जारहा है।

विशेष—यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'अदस्' शब्द से विभक्तियाँ आने पर अनेक विधान किए जाते हैं। वे विधान दो प्रकार के हैं। उनमें से कुछ विधान तो अष्टाध्यायीक्रम में सपाद-सप्ताध्यायी के अन्तर्गत पठित हैं तथा कुछ 'त्रिपादी' में पठित हैं। इनमें परस्पर पौर्वापर्य की व्यवस्था "पूर्वत्रासिद्धम्" (८-२-१) से विहित असिद्ध-विधान द्वारा की गई है। तदनुसार "त्यदादीनामः" (७-२-१०२) से विधीयमान 'अकार' एवं "अतो-गुणे" (६-१-९७) से विधीयमान पररूप—ये दोनों सपाद-सप्ताध्यायी के अन्तर्गत होने के कारण "अदसोऽसेर्दादु दो मः" (८-२-८०) की अपेक्षा पहले ही प्रवृत्त होते हैं। तदनन्तर 'म्' एवम् उकार-विधान की प्रवृत्ति होती है।

(४३९) **पद**—न, मु, ने। **अनुवृत्ति**—असिद्धम्। (**अधिकार**) **असिद्ध-निषेध**।

---

१. "नेदं पारिभाषिकस्य बहुवचनस्य ग्रहणम्। किन्तर्हि? अन्वर्थग्रहणमेतत्"। महाभाष्यम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्यात्। अमुना। अमूभ्याम्। अमूभ्याम् अमूभ्याम्। अमीभिः। अमुष्मै। अमीभ्यः। अमीभ्यः। अमुष्मात्। अमुष्य, अमुयोः, अमीषाम्। अमुष्मिन्, अमुयोः अमीषु। इति सान्ताः।

इति हलन्तपुंल्लिङ्गप्रकरणम्।

इत्यस्य सप्तम्येकवचनम्। विषयसप्तमी सत्सप्तमी च एषा। तथा च नाभावे कर्तव्ये कृते च इति लभ्यते। तदाह—नाभाव इत्यादिना। प्रकृते च नाभावे कर्तव्ये मुत्वस्यासिद्धत्वाभावात् घेः परत्वान्नाभावो निर्बाधः। यदि तु नाभावे कर्तव्ये मुभावो नासिद्ध इत्येवाश्रीयते, तर्हि प्रकृते नाभावे कृते 'सुपि च' इति दीर्घः प्रसज्येत, दीर्घे कर्तव्ये मुत्वस्याऽसिद्धतया अकारसत्त्वात्। अतः कृतेऽपीत्याश्रितम्। ततश्च प्रकृते नाभावे कृतेऽपि दीर्घे कर्तव्ये मुत्वस्यासिद्धत्वाभावादकाराभावात् न दीर्घ इति भावः। अमूभ्यामिति। त्यदाद्यत्वे पररूपे 'सुपि च' इति दीर्घे दस्य मत्वम् आकारस्य ऊत्वम् इति भावः। अमीभिरिति। त्यदाद्यत्वं, पररूपं, 'नेदमदसोरकोः' इति ऐसूनिषेधः, 'बहुवचने झल्येत्' इत्येत्त्वम्, 'एत ईद्बहु वचने' इति ईत्त्वमत्वे इति भावः। अमुष्मै इति। त्यदाद्यत्वं, पररूपं, ङेः स्मै, उत्वमत्वं, षत्वमिति भावः। अमीभ्य इति। त्यदाद्यत्वं, पररूपं, 'बहुवचने झल्येत्' इत्येत्त्वम्, 'एत ईद्बहुवचने' इति ईत्त्वमत्वे इति भावः। अमुष्मै इति। त्यदाद्यत्वं, पररूपं, ङेः स्मै, उत्वमत्वे, षत्वमिति भावः। अमीभ्य इति। त्यदाद्यत्वं, पररूपं, 'बहुवचने झल्येत्' इत्येत्त्वम्, ईत्त्वमत्त्वे इति भावः। अमुष्मादिति। त्यदाद्यत्वं, पररूपं, ङसेः स्मात्, उत्व-

---

मूलार्थ—'ना'–भाव करने पर या कर चुकने पर 'मु'भाव असिद्ध नहीं होता। अमुना, अमूभ्याम्, अमीभिः। अमुष्मै, अमीभ्यः। अमुष्मात्। अमुष्य, अमुयोः, अमीषाम्। अमुष्मिन्, अमुयोः, अमीषु।

विवरण—विशेष परिस्थिति-वश असिद्ध-विधान का निषेध किया जारहा है। इसके लिये "पूर्वत्रासिद्धम्" (८-२-१) से 'असिद्धम्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। सूत्रस्थ 'ने' पद 'ना'–शब्द की सप्तमी का एकवचन है। यहाँ सप्तमी-विभक्ति का अर्थ 'विषय' (वैषयिक सप्तमी) अभीष्ट है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यक्त होता है कि "'ना' आदेश के विषय में या 'ना' आदेश हो जानेपर मकार और उकार आदेश ('म्' च 'उश्च'–मु समाहार द्वन्द्व) असिद्ध नहीं होते"। उदाहरण—(पूर्वोक्त) अमु+टा इस स्थिति में "आङो नाऽस्त्रियाम्" (७-३-११०) इस सपाद सप्ताध्यायीस्थ सूत्र के प्रति "अदसोऽसेर्दादु दो मः" (८-२-८०) इस त्रिपादीस्थ सूत्र द्वारा विधीयमान 'मकार' और 'उकार' असिद्ध-होने से उकारान्तरूप की कल्पना के अभाव में टा = ना आदेश प्राप्त नहीं था, किन्तु प्रकृत सूत्र से असिद्ध का निषेध होने से "शेषोध्यसखि" (२४६) से घिसंज्ञा होने के फलस्वरूप 'ना' आदेश हो जायगा। इस प्रकार 'अमुना' रूप की सिद्धि होती है। अदस्+भ्याम्, <अद+भ्याम् (अत्व, पररूप), अदा+भ्याम् (दीर्घ–"सुपि च"–२०२), <अमूभ्याम् (द्=म्, आ=ऊ)। अदस्+भिस्, <अद–अ+भिस्, <अदा+भिस्, <अमूभिः। (घ) अदस्+ङे, <अद–अ+ङे, <अद+स्मै (ङे=स्मै–"सर्वनाम्नः स्मै"–११५) अमु+स्मै, <अमुष्मै (स्=ष्)। अमूभ्याम्, अमूभ्यः। (ङ) अमुष्मात् (ङसि = स्मात्, अन्य कार्य पूर्ववत्)। (च) अदस्+ङस्, <अद+ङस्, <अद+स्य (ङस् = स्य), <अमु+स्य (मुत्व), <अमुष्य (स् = ष्)। अदस्+ओस्, <अद+ओस्, <अदे+ओस् (एत्व—"ओसि च"–२०७), <अदयोस् (ए = अय्), <अमुयोस् (मुत्व), <अमुयोः (स् = र् = :)। अदस्+आम्, <अद+आम्, <अद+स्–आम् (सुट्–आगम—"आमि सर्वनाम्नः सुट्"–२१७), <अदे+स्–आम् (अ = ए—"बहुवचने झल्येत्"–२०५), <अदी+स्–आम् (ए = ई–"एत ईद् बहुवचने"–४३८), <अमी+साम् (मत्व), <अमीषाम् (स् = ष्)। (छ) अदस्+ङि, <अद+ङि, <अद+स्मिन् (ङि = स्मिन्), <अमु+

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्

(४४०) नहो धः ८ । २ । ३४ ॥ नहो हस्य धः स्याज्झलि पदान्ते च । उपानत्-उपानद्, उपानद्भ्यां, उपानद्भिः । उपानद्भ्याम् । उपानत्सु । उत्पूर्वात् 'ष्णिह प्रीतौ' (धा

मत्वे, षत्वमिति भावः । अमुष्येति । त्यदाद्यत्वं, पररूपं, ङसः स्यादेशः, उत्वमत्वे, षत्वमिति भावः । अमुयोरिति । ओसि त्यदाद्यत्वं, पररूपम्, 'ओसि च' इत्येत्त्वम्, अयादेशः, उत्वमत्वे इति भावः । अमीषामिति । आमि त्यदाद्यत्वं, पररूपम्' आमि सर्वनाम्नः' इति सुट्, एत्त्वम्, ईत्त्वं, मत्वं, षत्वमिति भावः । अमुष्मिन्निति । ङौ त्यदाद्यत्वं, पररूपं, ङेः स्मिन्नादेशः, उत्वमत्वे, षत्वमिति भावः । अमीष्विति । सुपि त्यदाद्यत्वं, पररूपम्, एत्त्वम्, ईत्त्वमत्वे, षत्वमिति भावः । इति सान्ताः ।

इति श्रीवासुदेवदीक्षितविदुषा विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां बालमनोरमाख्यायां हलन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणं समाप्तम् ।

अथ हलन्तस्त्रीलिङ्गे हकारान्ता निरूप्यन्ते । 'णह बन्धने' 'णो नः' उपनह्यते इति विग्रहे उपपूर्वात् सम्पदादित्वात् कर्मणि क्विप्, 'नहिवृति' इत्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घः । उपानह् शब्दः स्त्रीलिङ्गः, पादुका । पादूरुपानत्स्त्री इत्यमरः ।

(४४०) नहो धः । 'हो ढः' इत्यतो हः इत्यनुवर्तते । पदस्य इत्यधिकृतम् । 'स्कोः संयोगा-' इत्यतः अन्ते इत्यनुवर्तते । 'झलो झलि' इत्यतः झलि इत्यनुवर्तते । तदाह—नहो हस्येत्यादिना । 'हो ढः' इति ढत्वापवादः । उपानदिति । उपानह् शब्दात् सोर्हल्ङ्यादिलोपः, हस्य धः, जश्त्वचर्त्वे इति भावः । अत्र दकार एव तु न विहितः । तथा सति नद्धमित्यत्र 'रदाभ्याम्' इति नत्वप्रसङ्गादित्यलम् । उपानद्भ्यामिति । हस्य धत्वे जश्त्वमिति भावः । उपानत्स्विति । धत्वे 'खरि च' इति चर्त्वमिति भावः । उष्णिह् शब्दः छन्दोविशेषवाची स्त्रीलिङ्गः । तं व्युत्पादयितुमाह—ष्णिह प्रीतावित्यादिना दलोपषत्वे इति । उदो

स्मिन् (मुत्व), <अमुष्मिन् (स् = ष्) । अमुयोः । अदस्+सुप्, <अद+सु, <अदे+सु, <अदी+सु, <अमी+सु, <अमीषु (स् = ष्) ।

'अदस्' शब्द के पुंलिङ्ग में रूप

वि०	एक०	द्वि०	बहु०	वि०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	असौ	अमू	अमी	प०	अमुष्मात्	अमूभ्याम्	अमीभ्यः
द्वि०	अमुम्	अमू	अमून्	ष०	अमुष्य	अमुयोः	अमीषाम्
तृ०	अमुना	अमूभ्याम्	अमीभिः	स०	अमुष्मिन्	अमुयोः	अमीषु
च०	अमुष्मै	अमूभ्याम्	अमीभ्यः	सं०	—	—	—

हलन्त-पुंलिङ्ग प्रकरण समाप्त ।

हलन्तस्त्रीलिङ्ग आरम्भ

उपक्रम—पुंलिङ्ग के समान हलन्त-स्त्रीलिङ्ग-शब्दों में भी व्यञ्जनों का क्रम वर्गानुसार नहीं रखा गया है । यहाँ भी माहेश्वर सूत्रों के अनुसार हकारादि क्रम का अनुसरण किया गया है ।

(४४०) पद—नहः, धः । अनुवृत्ति—हः, झलि, पदस्य (अधिकार), अन्ते । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—झल् पर रहते अथवा पदान्त में नह् धातु के 'ह्' को 'ध्' होता है । उपानत्-उपानद्, उपानद्भ्याम् । उपानत्सु । प्रीत्यर्थक उत+स्निह् धातु से 'ऋत्विक्०"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१२०१) इत्यस्मात् 'ऋत्विग्—' (सू ३७३) आदिना क्विन्। निपातनाद्लोपषत्वे। क्विबन्तत्वात्कुत्वेन हस्य घः। जश्त्वचर्त्वे। उष्णिक्–उष्णिग्, उष्णिहौ, उष्णिहः। उष्णिग्भ्याम्। उष्णिक्षु। इति हान्ताः। द्यौः, दिवौ, दिवः। द्युभ्याम्। द्युषु। इति

दकारस्य लोपः सस्य पत्वं च निपात्यत इत्यर्थः। न च 'धात्वादेः षः सः' इति कृत-सकारस्य' आदेशप्रत्यययोः' इत्येव पत्वसिद्धः किं तन्निपातनेन इति वाच्यम्, 'सात्प-दाद्योः' इति निषेधबाधनार्थं पत्वनिपातनस्यावश्यकत्वाद्। न च उष्णिह्शब्दात् समासात् सुबुत्पत्तेः पूर्वं स्निह इत्येतत् न पदम् नतरां सकारस्य पदादित्वमिति वाच्यम्, पदादादिरिति पक्षे पत्वनिषेधप्रसक्तेरित्याहुः। हस्य घ इति। घोषनादसंवारमहाप्राण-साम्यादिति भावः। न च 'क्विन्प्रत्ययस्य' इति कुत्वस्यासिद्धत्वात् 'हो ढः' इति ढत्व-मेवोचितमिति वाच्यम्, पत्वापवादः कुत्वमिति कैयटादिमते तुल्यन्यायतया पत्वस्येव ढत्वस्यापि कुत्वेन बाधात्। जश्त्वचर्त्वे इति। न च जश्त्वे कर्तव्ये 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वस्यासिद्धत्वं शङ्क्यम्, 'उष्णिगव्नु' इति निर्देशेन जश्त्वे कर्तव्ये कुत्वस्या-सिद्धत्वाभावज्ञापनात्। वस्तुतस्तु 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वं पत्वापवादो न भवति' इति मूलकारमते तुल्यन्यायात् ढत्वस्यापि नापवादः। ततश्च तद्दीत्या ढडगका इति बोध्यम्। इति हान्ताः। अथ वकारान्ता निरूप्यन्ते। द्यौरिति। दिव्शब्दः स्त्रीलिङ्गः। 'द्यो दिवौ द्वे स्त्रियाम्' इत्यमरः। तस्मात् सुः, 'दिव औत्' इति वकारस्य औकारः, इकारस्य यण्, रुत्वविसर्गौ, सुलोपस्य औस्वस्थानिभूतवकाराश्रयत्वेनाखिधित्वात् स्थानिवत्त्वाभावात् न हल्ङ्यादिलोप इति भावः। द्युभ्यामिति। भ्यामादौ हलि 'दिव उत्' इत्युत्वमिति भावः इति वान्ताः। अथ रेफान्ता निरूप्यन्ते। गीरिति। 'गॄ निगरणे' क्विप्, 'ऋत इद्धातोः' इति इत्वं, रपरत्वं, गिर्शब्दात् सुबुत्पत्तिः, सोर्लोपः, 'र्वोरुपधायाः' इति दीर्घः, रेफस्य विसर्ग इति भावः। भ्यामादौ तु हलि 'र्वोः' इति दीर्घः–गीर्भ्या-मित्यादि। गीर्षु। एवं पूरिति। गीर्वेदित्यर्थः। 'पॄ पालनपूरणयोः' क्विप्, 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य'

सूत्र से क्विन् प्रत्यय होने पर निपातन से 'द्–लोप' तथा षत्व भी किया गया है। क्विबन्त होने के कारण कुत्व होने से ह्=घ्। जश्त्व तथा चर्त्व हुए। उष्णिक्–उष्णिग्, उष्णिहौ, उष्णिहः। उष्णिग्भ्याम्, उष्णिक्षु। द्यौः, दिवौ, दिवः। द्युषु। गीः, गिरौ, गिरः। इसी प्रकार पूः। 'चतुर्' के स्थान पर 'चतस्' आदेश। चतस्रः। चतस्रः। चतसृणाम्। किम् के स्थान पर 'क' आदेश होने पर 'टाप्'। रूपसिद्धि सर्वा शब्द के समान। का, के, काः।

विवरण—'नह्' धातु को 'हकार' आदेश का विधान इस सूत्र से किया जारहा है। किन्तु किस स्थिति में हो? इस जिज्ञासा की शान्ति के लिए "हो ढः" (८-२-३१) से 'हः', "झलो झलि" (८-२-२६) से झलि एवं सम्पूर्ण अधिकार सूत्र "पदस्य" (८-१-१६), तथा "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च" (८-२-२९) से 'अन्ते' पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार सूत्र का समष्टि-रूप में अर्थ होता है कि "झल् (वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ वर्ण तथा श्, ष्, स्, ह्) पर रहते अथवा पदान्त में 'नह्' धातु के 'ह्' के स्थान पर 'ध्' हो"। उदाहरण—'उपानह्' (= जूता) शब्द को अभिलक्षित कर सर्वप्रथम उसकी व्युत्पत्ति बतलाई जारही है। उप–√नह्+क्विप् (कर्म अर्थ में), <उपनह् ('क्विप्' का सर्वापहार), <उपानह् ('उप' के 'अ' को दीर्घ–"नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु" (६-१-११६)। (क) उपानह्+सु, <उपानह् ('सु'–हल्ङ्यादि-लोप), <उपानध् (ह्=ध्), <उपानद् (ध्=द्–जश्त्व), –उपानत् (पाक्षिक चर्त्व)। उपानह्+औ, <उपानहौ। उपानह्+अस्, <उपानहः (स्=र्=:)। (ख) उपानहम्, उपानहौ, उपानहः। (ग) उपानहा, उपानद्भ्याम्, उपानद्भिः। (घ) उपानहे,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वान्ताः । गीः, गिरौ, गिरः । एवं पूः । चतुरश्चतस्रादेशः । चसस्रः । चतस्रः । चतसृणाम् ।

इत्युत्वं रपरत्वम् । पुरशब्दात् सोर्लोपः, 'र्वोः' इति दीर्घः, रेफस्य विसर्ग इति भावः । चतुरश्चतस्रादेश इति । जश्शसोः स्त्रीलिङ्गस्य चतुर्शब्दस्य 'त्रिचतुरोः स्त्रियाम्' इत्यनेनेति भावः । चतस्रः इति । परत्वात् 'चतुरनडुहोः' इत्यामं बाधित्वा चतसृभावे यण् । चतसृभावे कृते आम् तु न, 'विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद्बाधितमेव'इति न्यायादिति स्थानिवत्सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । चतसृणामिति । 'न तिसृचतसृ' इति दीर्घनिषेधः । इति रेफान्ताः । अथ मकारान्ता निरूप्यन्ते । किम इति । किम् शब्दात् स्त्रीलिङ्गाद्विभक्तौ 'किमः कः' इति प्रकृतेः कादेशे कृते अदन्तत्वात् टाबित्यर्थः । सर्वावदिति । सर्वाशब्दवदित्यर्थः । 'सर्व-

---

उपानद्भ्याम्, उपानद्भ्यः । (ङ) उपानहः, उपानद्भ्याम्, उपानद्भ्यः । (च) उपानहः, उपानहोः, उपानहाम् । (छ) उपानहि, उपानहोः, उपानत्सु । (ज) हे उपानत्-द्, हे उपानहौ, हे उपानहः ।

विशेष—"नहो धः" सूत्र की प्रवृत्ति सु, भ्याम्, भिस्, भ्यस् और सुप् इन हलादि वचनों में होती है । उपर्युक्त रूपों में इन विभक्तियों में 'ह्' के स्थान पर 'ध्' होने के पश्चात् जश्त्व होकर 'द्' विद्यमान रहता है । 'सु' में पाक्षिक चर्त्व की प्रवृत्ति होने से दूसरा तकारात्मक रूप भी सिद्ध होता है । 'सुप्' (सप्तमी बहुवचन) में 'ध्' को चर्त्व (त्) भी होता है ।

निर्देश—१—उदाहरणस्वरूप दूसरा हकारान्त शब्द 'उष्णिह्' (= वैदिक छन्द) भी लिया जारहा है । व्युत्पत्ति के अनुसार उत्-√स्निह्+क्विन् प्रत्यय तथा 'द्' लोप का निपातन होने से उष्णिह् (स् = ष्) प्रातिपदिक निष्पन्न होता है । (क) उष्णिह्+सु, <उष्णिह् ('सु'-लोप), <उष्णिघ् (ह् = घ्-कुत्व "क्विन् प्रत्ययस्य कुः" (३७७), <उष्णिग् (घ् = ग्-जश्त्व), -उष्णिक् (पाक्षिक चर्त्व) । उष्णिह्+औ, <उष्णिहौ ('ह्' का विभक्ति के साथ संयोग), उष्णिहः ('जस्' का स् = र् = :) । भ्याम् आदि हलादि विभक्तियों में कुत्व तथा जश्त्व होने से उष्णिग्भ्याम्, उष्णिग्भिः, उष्णिग्भ्यः आदि रूप बनेंगे । सप्तमी बहुवचन में उष्णिह्+सु, <उष्णिघ्+सु (ह् = घ्), <उष्णिक्+सु (घ् = क्-चर्त्व "खरि च"-१२१), <उष्णिक्+षु (स् = ष्), <उष्णिक्षु (क्+ष् = क्ष्) ।

२—वकारान्त 'दिव्' (=आकाश) शब्द के रूप-भेद बतलाये जारहे हैं । इसके प्रथमा-विभक्ति में द्यौः, दिवौ, दिवः रूप बनते हैं । रूपसिद्धि के लिये पुंलिङ्ग में 'सुदिव्' शब्द की रूपरचना-प्रक्रिया देखें (पृ० ४०३-४०४) ।

३—रेफान्त 'गिर्' (= वाणी) शब्द के रूपभेद दिखाये जारहे हैं । व्युत्पत्ति-√गॄ+क्विप्, <गॄ (क्विप्-लोप), <गिर् (ऋ=इ=इर्) । (क) गिर्+सु, <गिर् ('सु'-लोप), <गीर् (रेफान्त की उपधा को दीर्घ-"र्वोरुपधाया दीर्घ इकः"-४३३), <गीः (र् = :) । गिरौ ('पद' संज्ञा न होने से दीर्घ नहीं होता) । गिरः । भ्यामादि में पदसंज्ञा होने से दीर्घ होकर गीर्भ्याम्, गीःभिः, गीर्भ्यः आदि रूप बनेंगे । 'सुप्' में गीर्षु (दीर्घ तथा स् = ष्) ।

४—रेफान्त 'पुर्' (=नगरी) शब्द के सभी विभक्तियों में रूप 'गिर्' शब्द के समान सिद्ध होंगे । यहाँ उपधा में 'उ' को दीर्घ 'ऊ' होगा । शेष सब कार्य समान हैं । व्युत्पत्ति-√पॄ+क्विप्, <पॄ, <पुर् (ऋ = उ = उर्—"उदोष्ठ्यपूर्वस्य"-७.१.१०२) । (क) पुर्+सु, <पुर्, <पूर्, <पूः । पुरौ, पुरः । पूर्ष्याम् । पूर्भिः । पूर्ष्यः । पूर्षु इत्यादि ।

५—संख्यावाचक 'चतुर्' (= चार) शब्द बहुवचन में प्रयुक्त होता है । (क) प्रथमा-चतुर्+जस्, <चतस्+अस् (चतुर् = चतस्-"त्रिचतुरोः स्त्रियां तिस्-चतस्"-२९८), <चतस्रस् (स् = र्-यण्), <चतस्रः (स् = र् = :) । द्वितीया-चतस्रः (पूर्ववत्) । तृतीया-चतसृभिः । चतुर्थी-चतसृभ्यः । पञ्चमी-चतसृभ्यः । षष्ठी-चतसृणाम् (नुट्-आगम-"षट्चतुर्भ्यश्च"-३३८, णत्व तथा दीर्घनिषेध-"न तिसृचतसृ"-३००) । सप्तमी—चतसृषु ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति रेफान्ताः । किमः कादेशे टाप् । का, के काः । सर्ववत् । (४४१) यः सौ ७। २। ११० ॥ इदमो दस्य यः स्यात्सौ । 'इदमो मः' (सू ३४३) । इयम् । त्यदाद्यत्वम् । टाप् । 'दश्च' (सू ३४५) इति मः । इमे, इमाः । इमाम्, इमे, इमाः । अनया । हलि लोपः (३४७) । आभ्याम् आभ्याम् । आभ्याम् । आभिः । अस्यै । अस्याः, अनयोः, आसाम् । अस्याम्, अनयोः, आसु । अन्वादेशे तु एनाम्, एने, एनाः । एनया । एनयोः । एनयोः ।इति

नाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' इति न, शब्दस्वरूपपरस्य गौणतया क्रदाऽपि सर्वनामत्वाभावादिति भावः । अथ इदमशब्दस्य स्त्रीत्वे विशेषमाह ।

(४४१) यः सौ । 'इदमो मः' इत्यतः 'इदमः' इत्यनुवर्तते, 'दश्च' इत्यतः 'दः' इति च षष्ठ्यन्तमनुवर्तते । तदाह—इदमो दस्येति । पुंसि तु नेदं प्रवर्तते, 'इदोऽय् पुंसि' इति विशिष्यविधेः । नापि क्लीबे, तस्य सोः लुका लुप्तत्वात् । ततश्च परिशेषात् स्त्रियामेवेदम् । इयमिति । इदम् स् इति स्थिते-दकारस्य यत्वे, इयम् स् इति स्थिते त्यदाद्यत्वं बाधित्वा 'इदमो मः' इति मकारस्य मकारे कृते हल्ङ्यादिना सुलोप इति भावः । इदम् औ इति स्थिते प्रक्रियां दर्शयति । त्यदाद्यत्वमिति । त्यदाद्यत्वे सति पररूपे अदन्तत्वात् टापि 'दश्च' इति दकारस्य मत्वे इमा औ इति स्थिते—'ओङ आपः' इति शीभावे, आद्गुणे इमे इति रूपम् । इमा इति । जसि त्यदाद्यत्वं, पररूपम्, टाप्, 'दश्च' इति मः, पूर्वसवर्णदीर्घः इति भावः । अत्र विभक्तौ सत्यां त्यदाद्यत्वं, पररूपं, टाप् च सर्वत्र भवन्तीति बोध्यम् । इमाः इत्यत्र—इमा अस् इति स्थिते पूर्वसवर्णदीर्घः 'जसः शी' इति तु न, टापि कृते अदन्तात् परत्वाभावात् । इमामिति । अत्वपररूपटाब्मत्वेषु कृतेषु 'अमि पूर्वः' इति भावः । इमे इति । औटि औवत् । इमा इति । अत्वपररूपटाब्मत्वेषु पूर्वसवर्णदीर्घः, स्त्रीत्वान्नत्वाभाव इति भावः । अनयेति । इदम् आ इति स्थिते—अत्वं, पररूपम्, टाप्, 'अनाप्यकः'इति इद् इत्यस्य अन् आदेशः, अन् आ आ इति स्थिते 'आङि चापः' इत्येत्त्वे, अयादेश इति भावः । टाप्रभृत्यजादौ सर्वत्र अन् आदेश इति बोध्यम् । हलि लोपः इति । भ्यामादौ हलि इद् इत्यस्य लोप इत्यर्थः । आभ्यामिति । इदम् भ्याम् इति स्थिते इदो लोपे अत्वे पररूपे टापि च रूपमिति भावः । आभिरित्यप्येवम् । अस्यै इति । इदम् ए इति स्थिते अत्वपररूपटाप्सु स्याडागमे ह्रस्वत्वे इदो लोप इति भावः । अस्याः इत्यप्येवम् । अनयोरिति । इदम् ओस् इति स्थिते इदमः इदः अनादेशे अत्वपररूपटाप्सु 'आङि चापः' इत्येत्त्वे अयादेश इति भावः । आसामिति । इदम् आम् इति स्थिते अत्वपररूपटाप्सु सुटि इदो लोप इति भावः । अस्यामिति । इदम् इ इति स्थिते अत्वपररूपटाप्सु

६—मकारान्त 'किम्' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'का' रूप निष्पन्न होने के पश्चात् विभक्तियाँ संयुक्त होती हैं । किम्, <क (किम्=क), <क+आ (टाप्), <का । (क) का+स्, <का ('स्'-लोप) । का+औ, <का+ई (औ = शी), <के (गुण) । का+अस् (जस्), <कास (पूर्वसवर्ण दीर्घ), <कार् (स्=र्), <काः (र्=:)। आगे के रूप सर्वा शब्द के समान बनेंगे ।

(४४१) पद—यः, सौ । अनुवृत्ति—इदमः, दः । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'सु' पर रहते 'इदम्' के 'द्' को 'य्' होता है । "इदमो मः" से 'म्' = म् हुआ । इयम् । "त्यदादि" सूत्र से अकार, टाप्, "दश्च" से द्=म । इमे, इमाः । इमाम्, इमे, इमाः । अनया । "हलि लोपः"—'इद्' का लोप । आभ्याम् । आभ्याम् । आभ्याम् । आभिः । अस्याः, अनयोः, आसाम् । अस्याम्, अनयोः, आसु । अन्वादेश में—एनाम्, एने, एनाः, एनया, एनयोः, एनयोः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मान्ताः । 'ऋत्विग्—' (सू ३७३) आदिना सृजेः क्विन् अमागमश्च निपातितः । स्रक्–स्रग्, स्रजौ, स्रजः । स्रग्भ्याम् । स्रक्षु । इति जान्ताः । त्यदाद्यत्वं टाप् । स्या, त्ये, त्याः । एवं तद्, यद्, एतद् । इति दान्ताः । वाक्–वाग्, वाचौ, वाचः । वाग्भ्याम् । वाक्षु ।

ङेरामि स्याडागमे ह्रस्वत्वे इदो लोपः इति भावः । आस्विति । इदम् सु इति स्थिते अत्व-पररूपटाप्सु इदो लोप इति भावः । अन्वादेशे त्विति । 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' इत्येनादेशे टापि रमावद्रूपाणि इति भावः । इति मान्ताः । अथ जकारान्ता निरूप्यन्ते । स्रज्शब्दं व्युत्पादयति—ऋत्विगिति । 'सृज विसर्गे' अस्मात् क्विन्, ऋकारात् परः अमागमः, मकारः इत्, ऋकारस्य यण् रेफः, स्रज्शब्दः स्त्रीलिङ्गः । 'माल्यं माला स्रजो मूर्ध्नि' इत्यमरः । स्रक् स्रगिति । 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वं जश्त्वचर्त्वे इति भावः । इति जान्ताः । अथ दकारान्ता निरूप्यन्ते । त्यद्शब्दस्य प्रक्रियां दर्शयति—त्यदाद्यत्वमिति । विभक्तौ—अत्वे पररूपे टापि त्या इति रूपम् । सर्वत्र ततः सर्वावद्रूपाणि । सौ तु 'तदोः सः सौ' इति तकारस्य स इति विशेषः । एवमिति । तद् यद् एतद् एतेभ्यो विभक्तौ अत्वपर-

---

"ऋत्विक्०" आदि सूत्र से √सृज्+क्विन् तथा 'अम्'–आगम का निपातन है । स्रक्–स्रग्, स्रजौ, स्रजः । स्रग्भ्याम् । स्रक्षु । "त्यदादीनामः" से अ तथा टाप् । स्या, त्ये, त्याः । इसी तरह तद, यद्, एतद् शब्दों के रूप भी बनेंगे । वाक्–वाग्, वाचौ, वाचः । वाग्भ्याम् । वाक्षु । 'अप्' शब्द नित्य बहुवचनान्त है । "अप्तृन्०" सूत्र से दीर्घ । आपः । अपः ।

विवरण—सूत्र में स्थानी का उल्लेख न होने से "इदमो मः" (७-२-१०८) से 'इदमः' तथा "दश्च" (७-२-१०९) से 'दः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि " 'सु' पर रहते 'इदम्' शब्द के 'द्' के स्थान पर 'य्' आदेश हो" । **उदाहरण**—(क) इदम्+स् (सु), <इयम्+स् (द्=य्), <इयम् ('स्'–विभक्तिलोप), <इयम् ("त्यदादीनामः"–३४३ से प्राप्त 'अ' का बाधक म्=म्–"इदमो मः"–३४३) । इदम्+औ, <इद–अ+औ, (म्=अ–"त्यदादीनामः"–३४४), <इद+औ (अ+अ=पररूप) <इद–आ+औ ("अजाद्यतष्टाप्"–४-१-४ टाप्=आ), <इदा+औ (अ+आ=आ–दीर्घ) <इमा+औ (द्=म्—"दश्च"–३४५), <इमा+ई (औ=शी—"औङ आपः"—२८७), <इमे (आ+ई=ए–गुण) । इदम्+अस् (जस्), <इद–अ+अस् (म्=अ–"त्यदादी-नामः"–१४३), <इद+अस् (पररूप), <इद–आ+अस् (टाप्), <इदा+अस् (सवर्ण-दीर्घ), <इमा+अस् (द=म), <इमास् (पूर्वसवर्ण-दीर्घ), <इमाः (स्=र्=:) । 'टाप्' करने के बाद ह्रस्व-अकारान्त से पर न होने से 'जस्' को 'शी' आदेश नहीं होता । (ख) इदम्+अम्, <इद–अ+अम् (अत्व), <इद+अम् (पररूप), <इदा+अम् (टाप्), <इमा+अम् (द्=म्), <इमाम् (पूर्वरूप–"अमि पूर्वः"–१९४) । इमे (पूर्ववत्) । इदम्+(अस्) शस्, <इद–अ+अस्, <इद+अस्, <इदा+अस्, <इमा+अस्, <इमास् (पूर्वसवर्ण दीर्घ–आ +अ=आ), <इमाः (स्=र्=: , स्त्रीलिङ्ग में 'स्' ='न्' नहीं होता) । (ग) इदम्+आ (टा), <इद–अ+आ (अत्व), <इद+आ (पररूप), <इदा+आ (टाप्), <अन्–आ+आ (इद्=अन् "अनाप्यकः"–३४६), <अने+आ (आ=ए–"आङि चापः"–२८९), <अनया (ए=अय्) । इदम्+भ्याम् <इद–अ+भ्याम्, <इद+भ्याम्, <इदा+भ्याम्, <आ+भ्याम् ("इद्" का लोप–"हलि लोपः"–३४७), <आभ्याम् (दीर्घ) । इदम्+भिस्, <इद–अ–भिस्, <इद+भिस्, <इदा+भिस्, <आभिस्, <आभिः (स्=र्=:) । (घ) इदम्+(ए) ङे, <इद–अ+ए, <इद+ए, <इदा+ए, <इद+स्या–ए (स्याट् आगम तथा 'आ' को ह्रस्व–"सर्वनाम्नः स्याड् ह्रस्वश्च"–२९१), <अ+स्या–ए ('इद्' का लोप), <अस्यै (आ+ए=ऐ–

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति चान्ताः। अप्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। 'अप्तृन्–' (सू २७७) इति दीर्घः।

रूपटाप्सु सर्वावद्रूपाणि। तच्छब्दस्य तु तकारस्य सत्वम्। एतच्छब्दस्य तु तकारस्य सत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वमिति विशेषः। इति दान्ताः। अथ चकारान्ता निरूप्यन्ते। वागिति। वचेः 'क्विब्वचि' इत्यादिना क्विप् दीर्घश्च, 'वचिस्वपि' इति सम्प्रसारणाभावश्च, वाच् इति रूपम्। सुलोपः, 'चोः कुः', जश्त्वचर्त्वे इति भावः। इति चान्ताः। अथ पकारान्ता निरूप्यन्ते। अप्शब्द इति। 'अप्सुमनस्समासिकतावर्षाणां बहुत्वं च' इति स्त्र्यधिकारे लिङ्गानुशासनसूत्रात् नित्यं बहुवचनान्तत्वं स्त्रीत्वं चेत्यर्थः। दीर्घ इति।

वृद्धि)। आभ्याम् (पूर्ववत्)। आभ्यः (अत्व, पररूप, टाप्, 'इद्' का लोप तथा स्=र्=:)। (ङ) इदम्+अस् (ङसि), <इद–अ+अस्, <इद+अस्, <इदा+अस्, <इद+स्या–अस्, (स्याट् आगम तथा ह्रस्व), <अ+स्या–अस् ('इद्'-लोप), <अस्यास् (दीर्घ), <अस्याः (स्=र्=:)। आभ्याम् (पूर्ववत्), आभ्यः। (च) अस्याः (पूर्ववत्)। इदम्+ओस्, <इद–अ+ओस्, <इद+ओस्, <इदा+ओस् (टाप्), <अन्–आ+ओस्, <अने+ओस् (आ=ए–"आङि चापः"), <अनयोस्, <अनयोः। इदम्+आम्, <इद+आम्, <इदा+आम्, <इदा+स्–आम् (सुट्-आगम), <आस्+आम् ('इद्' का लोप), <आसाम्। (ज) इदम्+ङि, <इद+ङि, <इदा+ङि, <इदा+आम् ('ङि'=आम्), <इद+स्या–आम् ('स्याट्'-आगम तथा 'आ' को ह्रस्व), <अ+स्या–आम् ('इद्' का लोप), <अस्याम् (आ+आ=दीर्घ)। अनयोः (पूर्ववत्)। आसु (अत्व, पररूप, टाप् तथा 'इद्' का लोप)। अन्वादेश में "द्वितीया टौस्वेनः" (३५१) से 'एन' आदेश होने पर 'टाप्' (=आ) प्रत्यय करने के पश्चात् द्वितीया विभक्ति, तृतीया-एकवचन, षष्ठी तथा सप्तमी के द्विवचनों में 'एनाम्', 'एने', 'एनाः', 'एनया', 'एनयोः' तथा 'एनयोः' रूप 'रमा' शब्द के समान सिद्ध होंगे।

निर्देश—१–जकारान्त 'स्रज्' (माला) शब्द के रूप भेद बतलाये जारहे हैं। व्युत्पत्ति–"ऋत्विक्०"–३७३ सूत्र से √सृज्+क्विन् तथा 'अम्'-आगम (=अ) का निपातन कर 'स्रज्' (स्र+अज्=यण्) शब्द निष्पन्न हुआ है। (क) स्रज्+स्, <स्रज् (विभक्तिलोप), <स्रग् (ज्=ग्–कुत्व), —स्रक् (अवसान में पाक्षिक चर्त्व)। स्रज्+औ <स्रजौ। स्रजः (अस्)। (ख) स्रजम्, स्रजौ, स्रजः। (ग) स्रजा, स्रग्भ्याम्, स्रग्भिः। सप्तमी बहुवचन में स्रक्षु (कुत्व–ज्=ग्, तत्पश्चात् ग्=क्–चर्त्व, तदनन्तर 'स्'=ष् होने पर क्+ष्=क्ष्)।

२—'त्यद्' शब्द की रूप सिद्धि का प्रकार बताया जारहा है। (क) त्यद्+स्, त्य–अ+स् (द्=अ–"त्यदादीनामः"–२६५), <त्य+स् (अ+अ=पररूप), त्या+स् (टाप्), <स्या+स् (त्=स्–"तदोः सः सावनन्त्ययोः"–३८१), <स्या (विभक्ति-लोप)। त्यद्+औ, <त्य+औ (अत्व, पररूप), <त्या+औ (टाप्), त्या+ई (औ=शी), <त्ये (आ+ई=ए–गुण)। त्याः ('जस्' में अत्व, पररूप, टाप्, पूर्वसवर्ण दीर्घ, रुत्व, विसर्ग)। शेष विभक्तियों में 'सर्वा' शब्द के समान रूप बनेंगे।

३—'तद्' शब्द के स्त्रीलिङ्ग मे सा, ते, ताः आदि रूप बनते हैं।

४—इसी प्रकार 'यद्' शब्द के रूप भी या, ये, याः आदि बनेंगे।

५—इसी क्रम में 'एतद्' शब्द के रूप एषा, एते, एताः आदि सिद्ध होंगे।

६—चकारान्त 'वाच्' शब्द के रूपभेद बताये जारहे हैं। (क) वाच्+स्, <वाच् (विभक्तिलोप), <वाक् (च्=क्–"चोः कुः"–३७८), <वाग् (क्=ग्), पाक्षिक चर्त्व होने पर–वाक्। वाच्+औ, <वाचौ (पदान्त न होने से कुत्व नहीं)। वाचः। (ख) वाचम्, वाचौ, वाचः। (ग) वाचा, वाग्भ्याम् (च्=क्–कुत्व, तत्पश्चात् क्=ग्–जश्त्व), वाग्भिः। (घ)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपः । अपः । (४४२) अपो भि ७ । ४ । ४८ ॥ अपस्तकारः स्याद्भादौ प्रत्यये परे । अद्भिः । अद्भ्यः । अद्भ्यः । अपाम् । अप्सु । इति पान्ताः । दिक्–दिग्, दिशौ, दिशः । दिग्भ्याम् । दिक्षु । 'त्यदादिषु—' (सू ४२९) इति दृशेः क्विन्विधानादन्यत्रापि कुत्वम् । दृक्–दृग्, दृशौ, दृशः । इति शान्ताः । त्विट्–त्विड्, त्विषौ, त्विषः । त्विड्भ्याम् । त्विट्त्सु–त्विट्सु । सह जुषत इति सजूः, सजुषौ, सजुषः । सजूर्भ्याम् । सजूष्षु–सजूःषु ।

जसीति शेषः । अप इति । 'अप्तृन्' इत्यत्र 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इत्यनुवृत्तेः शसि न दीर्घ इति भावः ।

(४४२) अपो भि । 'अच उपसर्गात्तः' इत्यस्मात् त इत्यनुवर्तते । अङ्गाधिकारस्थमिदम् । ततश्च अङ्गावयवस्य यो भि इति सप्तम्यन्तेन विशेष्यते, तदादिविधिः । तदाह—अपस्तकार इत्यादिना । प्रत्यये किम् ? अडभक्षः । अद्भिरिति । पकारस्य तकारे जश्त्वमिति भावः । इति पान्ताः । अथ शकारान्ता निरूप्यन्ते । दिगिति । 'दिश अतिसर्जने' ऋत्विगादिना क्विन्, सुलोपः, 'व्रश्च' इति षः, तस्य जश्त्वेन डः, तस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वेन गः, तस्य चर्त्वविकल्प इति भावः । दृश्यन्ते अर्था अनयेति विग्रहे सम्पदादित्वात् दृशेः क्विप् । ततः सुलोपे 'व्रश्च' इति षत्वमाशङ्क्य आह—त्यदादिष्विति । अन्यत्रापीति । त्यदाद्युपपदाभावेऽपीत्यर्थः, क्विन् प्रत्ययो यस्माद्विहित इति बहुव्रीह्याश्रयणादिति भावः । दृगिति । षडगकाः प्राग्वत् । इति शान्ताः । अथ षकारान्ता निरूप्यन्ते । त्विडिति । 'त्विष दीप्तौ' क्विप्, सलोपः, जश्त्वचर्त्वे इति भावः । सजूरिति । 'जुषी प्रीतिसेवनयोः क्विप्, 'सहस्य सः संज्ञायाम्' इति वा 'ससजुषोः' इति निपातनाद्वा सहस्य सभावः, सुलोपः, 'ससजुषो रुः' इति पस्य रुत्वं, 'वोरुपधायाः' इति दीर्घः । 'आङः शासु इच्छायाम्' क्विप्, 'आशासः कावुपसङ्ख्यानम्' इत्युपधाया इत्वं, 'शासिवसिघसीनां च' इति सस्य षः,

---

वाचे, वाग्भ्याम्, वाग्भ्यः । (ङ) वाचः, वाग्भ्याम्, वाग्भ्यः । (च) वाचः, वाचोः, वाचाम् । (छ) वाचि, वाचोः, वाक्षु । (ज) हे वाक्–ग्, हे वाचौ, हे वाचः ।

(८) पकारान्त 'अप्' (= जल) शब्द नित्य बहुवचनान्त है । (क) अप्+अस् (जस्), <आप्+अस् ('अ' को दीर्घ–'आ'–"अप्तृन्तृच्०" २७७), <आपस्, <आपः (स्=र् = :) । (ख) अप्+अस् (शस्), <अपस्, <अपः (स् = र् = :) । सर्वनामस्थान न होने से दीर्घ नहीं ।

(४४२) पद—अपः, भि । अनुवृत्ति—तः, अङ्गस्य (अधिकार) । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—भकारादि प्रत्यय पर रहते 'अप्' शब्द को तकार होता है । अद्भिः । अद्भ्यः । अद्भ्यः । अपाम् । अप्सु । दिक्-ग्, दिशौ, दिशः । दिग्भ्याम् । दिक्षु । "त्यदादिषु०" सूत्र में 'दृश्' धातु से क्विन् विधान होने के कारण क्विन् से अन्यत्र भी कुत्व होता है । दृक्-दृग्, दृशौ, दृशः । त्विट्-त्विड्, त्विषौ, त्विषः । त्विड्भ्याम् । त्विट्त्सु-त्विट्सु । 'सह जुषते'–(साथ में प्रीति करने वाला) अर्थ में सजूः, सजुषौ, सजुषः । सजूर्भ्याम् । सजूःषु-सजूष्षु । 'ष्' के असिद्ध होने से रुत्व । आशीः, आशिषौ, आशिषः । आशीर्भ्याम् । असौ । "त्यदादीनामः" से अकार, तदनन्तर टाप् । औ के स्थान पर 'शी' आदेश, उकार तथा मकार होनेपर–अमू, अमूः । अमूम्, अमू, अमूः । अमुया, अमूभ्याम्, अमूभिः । अमुष्यै, अमूभ्याम्, अमूभ्यः । अमुष्याः । अमुष्याः । अमुयोः । अमुयोः । अमूषाम् । अमुष्याम् । अमूषु ।

विवरण—आदेश का बोध होने के लिये "अच उपसर्गात् तः" ७-४-४७ सूत्र से 'तः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । "अङ्गस्य" का अधिकार है । इस कारण 'प्रत्यये' की उपलब्धि होती है । सूत्रस्थ 'भि' पद (सप्तमी विभक्ति) 'प्रत्यये' का विशेषण है । अतः उससे तदादि-विधि होती है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षत्वस्यासिद्धत्वाद्धुत्वम्—आशीः, आशिषौ, आशिषः। आशीर्भ्याम्। आशीर्भिः। इति षान्ताः। असौ। त्यदाद्यत्वं, टाप्, ओङः शी, उत्वमत्वे। अमू। अमूः। अमूम्, अमू, अमूः।

आशिष्शब्दात् सोर्लोपः। एतावत् सिद्धवत्कृत्य आह—षत्वस्येति आशीरिति। पस्य रुत्वे कृते 'वोरुपधायाः' इति दीर्घ इति भावः। इति षान्ताः। अथ सकारान्ता निरूप्यन्ते। असाविति। अदस्शब्दस्य स्त्रियामपि पुंवदेव सौ रूपमित्यर्थः। अदस् सौ इति स्थिते प्रक्रियां दर्शयति—त्यदाद्यत्वमित्यादिना। अत्वे पररूपे टापि ओङः शीभावे आद्गुणे अदे इति स्थिते एकारस्य दीर्घत्वादूत्वं दस्य मत्वं चेत्यर्थः। विभक्तौ सत्याम् अत्वं, पररूपं टाबित्येतत् सर्वत्र ज्ञेयम्। अमूरिति। जसि—अत्वपररूपटाप्सु पूर्वसवर्णदीर्घे उत्वमत्वे। टापि सति अदन्तत्वाभावात् जसः शीभावो न। एकाराभावान्नेत्वम्। अमूमिति। पुंवत्, ऊत्वं तु विशेषः। अमू इति। औटि औवत्। अमूरिति। शसि जसीव रूपम्।

तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "भकारादि प्रत्यय पर रहते 'अप्' शब्द के 'प्' को ('अलोन्त्यस्य' के आधार पर) 'त्' आदेश होता है। 'सुप्'–विभक्तियों में भकारादि प्रत्यय केवल भ्याम् भिस् तथा भ्यस् हैं। इन विभक्तियों में ही प् = त् होगा। **उदाहरण**—(ग) अप्+भिस्, <अत्+भिस् (प् = त्), अद्+भिस् (त् = द्–जश्त्व), <अद्भिः (स् = र् = :)। (घ) अद्भ्यः ('भ्यस्' में भी प् = त्)। (ङ) अद्भ्यः। (च) अप्+आम्, <अपाम्। (छ) अप्+सु, <अप्सु। (ज) हे आपः।

निर्देश—१—शकारान्त 'दिश्' (= दिशा) शब्द के रूपभेदों की विशेषता बताई जारही है। (क) दिश्+स्, <दिश् ('स्'-विभक्तिलोप) <दिप् (कुत्व के असिद्ध होने से 'श्'=ष्–"व्रश्च-भ्रस्ज०"–२९४), <दिड् (प् = ड्–जश्त्व), <दिग् (कुत्व–"क्विन् प्रत्ययस्य कुः"–३७७), –दिक् (ग् = क्–अवसान में पाक्षिक चर्त्व)। दिशौ, दिशः। (ख) दिग्भ्याम् (श् = प् = ड् = ग्)। (ग) दिश्+सु, <दिक्षु (कुत्व असिद्ध होने से श् = प्, तत्पश्चात् जश्त्व–प् = ड्, तदनन्तर कुत्व–ग्, चर्त्व–क्, क् से पर 'स्' को ष् होकर क्+ष् = क्ष्)।

२—क्विप्–प्रत्ययान्त √दृश् से निष्पन्न 'दृश्' (= नेत्र) शब्द को अभिलक्षित कर 'कुत्व' के विषय में शङ्का का निवारण किया जारहा है। "क्विन्प्रत्ययस्य कुः" (३७७) सूत्र में 'अतद्गुण-संविज्ञान'-बहुव्रीहि-समास का आश्रयण कर 'क्विप्' में भी कुत्व-विधान की योग्यता पहले बताई जा चुकी है। तदनुसार 'दृक्-दृग्' आदि रूप भी 'दिश्' शब्द के समान सिद्ध होंगे।

३—षकारान्त (क्विबन्त) त्विष् (= दीप्ति) शब्द के विभक्तिसम्बन्धी विशेष कार्यों का निर्वचन किया जारहा है। (क) त्विट्-ड् (सुलोप, जश्त्व तथा पाक्षिक चर्त्व), त्विषौ, त्विषः। भ्यामादि विभक्तियों में ष् = ड्–जश्त्व होकर त्विड्भ्याम्, त्विड्भिः आदि रूप बनते हैं। (ग) सप्तमी-बहुवचन में त्विट्त्सु, त्विट्सु (वैकल्पिक 'धुट्' आगम तथा चर्त्व)।

४—'सह जुषते' (= साथ में प्रीति अथवा सेवन करना) अर्थ में क्विबन्त 'सजुष्' (सह = स–"सहस्य सः संज्ञायाम्"–६-३-७८) शब्द के प्रमुख रूपों की विशेषता बताई जारही है। (क) सजुष्+स्, <सजुष् (विभक्तिलोप), <सजुर् (ष् = र्—'ससजुषो रुः"—१६२), <सजूः (उपधा को दीर्घ तथा (र् = :)। सजुषौ, सजुषः। (ख) भ्याम् में सजूर्भ्याम् (ष् = र् तथा रेफ की उपधा 'उ' को दीर्घ–"वोरुपधाया दीर्घ इकः"–४३३)। (ग) सप्तमी बहुवचन में सजूष्षु, सजूःषु (ष् = र्, उपधा दीर्घ, र् = विसर्ग, विसर्ग = स्, 'विभक्ति' के सकार को 'शर्' व्यवधान होने से 'ष्'–"नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि"–४३४ तथा पूर्व सकार को ष्टुत्व, पक्ष में "वा शरि"–१५१ से विसर्ग के स्थान पर विसर्ग तथा विभक्ति 'स्' को 'ष्')।

४—शुभाशंसन अर्थ में आ-√शास् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'आशिष्' शब्द (उपधा-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमुया, अमूभ्याम्, अमूभिः । अमुष्यै, अमूभ्याम्, अमूभ्यः । अमुष्याः । अमुष्याः, अमुयोः अमूषाम् । अमुष्याम्, अमुंयोः, अमूषु । इति सान्ताः ।

इति हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ।

स्त्रीत्वान्नत्वाभावः । अमुयेति । अदस् आ इति स्थिते अत्वपररूपटाप्सु 'आङि चापः' इत्येत्त्वे अयादेशे उत्वमत्वे इति भावः । अमूभ्यामिति । अत्वपररूपटाप्सु, उत्वमत्वे इति भावः । एवममूभिरिति । अमुष्यै इति । अदस् ए इति स्थिते अत्वपररूपटाप्सु, स्याड्ढ्स्त्रौ, उत्वमत्वे, षत्वमिति भावः । अमूभ्यः इत्यपि भ्यांवत् । टापि अदन्तत्वाभावादेत्वं न । अमुष्या इति । ङसिङसोर्ङेवत् रुत्वविसर्गौ तु विशेषः । अमुयोरिति । ओसि अत्वपररूपटाप्सु 'आङि चापः' इत्येत्त्वे अयादेशे मुत्वमिति भावः । अमूषामिति । आमि अत्वपररूपटाप्सु सुटि ऊत्वमत्वे सस्य षत्वमिति भावः । अमुष्यामिति । अदस् इ इति स्थिते अत्वपररूपटाप्सु ङेरामि स्याड्ढ्स्त्रौ मुत्वमिति भावः । अमूष्विति । सुपि अत्वपररूपटाप्सु ऊत्वमत्वे षत्वमिति भावः । इति सान्ताः ।

इति श्रीवासुदेवदीक्षितविदुषा विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां बालमनोरमाख्यायां हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणं समाप्तम् ।

वयव आ = इ–'आशासः क्वाबुपसंख्यानम्'–वा० तथा स् = ष्–"शसिवसिघसीनां च"–८-३-६०) निष्पन्न होता है । उसके विभक्तिसम्बन्धी विशेष कार्य बताये जारहे हैं । (क) आशिष्+स्, <आशिष् (विभक्तिलोप), <आशिर् ('ष्' असिद्ध होने से 'स्' को रुत्व), <आशीर् (उपधा-दीर्घ–"वोरुपधाया दीर्घ इकः" ४३३), <आशीः ('र्' = :) । आशिषौ । आशिषः । (ख) भ्याम् में आशीर्भ्याम् (रुत्व तथा उपधा-दीर्घ) । सप्तमी बहुवचन में आशीष्षु-आशीःषु ।

५—'अदस्' शब्द की रूपसिद्धि बताई जारही है । (क) असौ (प्रथमा एकवचन में पुंलिङ्ग के समान रूप) । अदस्+औ, <अद-अ+औ (अत्व), अद+औ (अ+अ = अ–पररूप), <अदा+औ (टाप्), <अदा+ई (औ=शी), <अदे (आ+ई=ए–गुण), <अमू (द् = म् तथा ए = ऊ) । अमूः ('जस्' में अत्व, पररूप, टाप् करने पर पूर्वसवर्ण दीर्घ एवम् 'ऊ' तथा मकार एवं स् = र् = :) । (ख) अमूम् । अमू (पूर्ववत्) । अमूः (स्त्रीलिङ्ग 'शस्' में 'स्' को 'न्' नहीं, शेष कार्य पूर्ववत्) । (ग) अदस्+टा (आ), <अद-अ+आ (अत्व), <अद+आ (पररूप), <अदा+आ (टाप्), <अदे+आ (आ = ए–"आङि चापः"–२८९), <अदया (ए = अय्), <अमुया (उत्व एवं मत्व) । अमूभ्याम् (अत्व, पररूप, टाप् करने पर ऊत्व तथा मत्व) । अमूभिः (पूर्ववत्) । (घ) अदस्+ए (ङे), <अद-अ+ए, <अद+ए, <अदा+ए, <अद+स्या-ए (स्याट् आगम तथा 'आ' को ह्रस्व), <अदस्यै (आ+ए-ऐ = वृद्धि), <अमुष्यै (उत्व, मत्व, षत्व) । अमूभ्याम् । अमूभ्यः (पूर्ववत्) । (ङ) अमुष्याः (रुत्व तथा विसर्ग के अतिरिक्त शेष कार्य 'चतुर्थी' के समान) । अमूभ्याम् । अमूभ्यः । (च) अमुष्याः । अमुयोः (अत्व, पररूप, टाप् करने पर एत्व–"आङि चापः"–२८९ तथा अय्–आदेश एवं मुत्व) । अमूषाम् (अत्व, पररूप, टाप्, सुट् आगम, ऊ, मत्व तथा स् = ष्) (घ) अमुष्याम् (ङि = आम्, शेष कार्य पूर्ववत्) । अमुयोः । अमूषु (अत्व, पररूप, टाप्, ऊत्व, मत्व तथा षत्व ।

हलन्त-स्त्रीलिङ्ग-प्रकरण समाप्त ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

स्वमोर्लुक्। दत्वम्। स्वनड्वत्-स्वनड्वद्, स्वनड्वही। 'चतुरनडुहोः—' (सू ३३१) इत्याम्—स्वनड्वांहि। पुनस्तद्वत्। शेषं पुंवत्। इति हान्ताः। 'दिव उत्' (सू ३३७) अहर्विमलद्यु। अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पूर्वपदस्येवोत्तरखण्डस्यापि पदसंज्ञायां प्राप्तायाम्

अथ हलन्तनपुंसकलिङ्गे हकारान्ता निरूप्यन्ते। सु शोभनाः अनड्वाहः यस्य कुलस्येति। बहुव्रीहौ स्वनडुह्शब्दात् नपुंसकलिङ्गात् सुडुत्पत्तिः। ननु तत्र सौ परतः 'चतुरनडुहोः' इत्याम्, 'अम् संबुद्धौ' इत्यम्, 'सावनडुहः' इति नुम् च स्यात्। हल्ङ्यादिलोपं सुलोपेऽपि प्रत्ययलक्षणस्त्वादित्यत आह—स्वमोर्लुगिति। परत्वात् हल्ङ्यादिलोपं बाधित्वा 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति लुक्। ततश्च लुका लुप्तत्वेन प्रत्ययलक्षणाभावादामादि न भवतीति भावः। दत्वमिति। 'वसुस्रंसु' इत्यनेनेति शेषः। दत्वविधेः पदाधिकारस्थत्वेन तदन्तेऽपि प्रवृत्तेरिति भावः। न च तत्रापि 'न लुमता' इति निषेधः शङ्क्यः। दत्वस्य सुबन्तत्वरूपपदत्वनिमित्तकतया अङ्गकार्यत्वाभावादित्याहुः। स्वनडुदिति। दत्वे चर्त्वविकल्पः। 'उरः प्रभृतिभ्यः कप्' इति तु न शङ्क्यम्, तत्र गणे अनड्वानित्येकवचनस्यैव पाठादिति बहुव्रीह्यधिकारे मूल एव वक्ष्यते। स्वनडुही इति। 'नपुंसकाच्च' इत्यौङः शीभावः। स्वनड्वांहीति। 'जश्शसोः शिः' इति शिभावे तस्य सर्वनामस्थानत्वात् 'चतुरनडुहोः' इत्याम 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि 'नश्च' इत्यनुस्वार इति भावः। अत्र यद्वक्तव्यं तत्पुंल्लिङ्गनिरूपणे उक्तम्। इति हान्ताः। अथ वकारान्ता निरूप्यन्ते। विमला द्यौः आकाशं यस्य अह्नः इति बहुव्रीहौ सुब्लुकि विमलदिव् शब्दात् सोर्लुक्। एतावत् सिद्धवत्कृत्य आह—दिव उदिति। अहर्विमलद्यु इति। वस्य उत्वे इकारस्य यणिति भावः। अहर्ग्रहणं नपुंसकत्वसूचनार्थम्। ननु विमलदिव् औ इति स्थिते 'नपुंसकाच्च' इति शीभावे विमलदिवी इति रूपं वक्ष्यति। तदयुक्तम्, 'दिव उत्' इत्युत्त्वप्रसङ्गात्। न च विमलदिवी इति समुदायस्यैव सुबन्ततया पदत्वान्न वकारस्य दिव्शब्दरूपपदान्तत्वमिति वाच्यम्? 'द्युप्भ्यो धातु' इति लुप्तां दिव्शब्दोत्तरां विभक्तिं प्रत्ययलक्षणेनाश्रित्य दिव् इत्यस्य पदत्वात्। न च लुका लुप्तत्वात् न प्रत्ययलक्षणमिति वाच्यम्, पदसंज्ञायाः सुबन्तधर्मतया अङ्गधर्मत्वाभावेन तत्र 'न लुमता' निषेधाप्रवृत्तेः। अन्यथा राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः इत्यादौ पूर्वभागे नलोपादिकं न स्यादित्याशङ्क्य आह—अन्तर्वर्तिनीमित्यादि। उत्तरपदत्वे चेति। समासे उत्तरखण्डस्य पदसंज्ञायां कर्तव्यायाम् अन्तर्वर्तिविभक्तिलोपे

उपक्रम—पूर्व निर्दिष्ट-क्रमानुसार यहाँ भी सर्वप्रथम हकारान्त शब्दों से यह प्रकरण आरम्भ किया जारहा है। अधिकतर प्रक्रियोपयोगी सूत्र पहले प्रकरणों में आ चुके हैं। अतः ग्रन्थकार ने उन सूत्रों का यथास्थान निर्देश कर लक्ष्य-सिद्धि की है।

मूलार्थ एवं निर्देश—सर्वप्रथम क्रमप्राप्त 'स्वनडुह्' शब्द के रूपभेद बताये जारहे हैं। बहुव्रीहि समास (शोभनाः अनड्वाहः यस्य वा लस्य तत्—स्वनडुत् = अच्छे बैलवाला घर) करने पर अन्य पदार्थ होने से 'स्वनडुह्' शब्द नपुंसक-लिङ्ग में निष्पन्न होता है। उदाहरण—(क) स्वनडुह्+सु (सु), <स्वनडुह् (सूत्रक्रम में पर होने के कारण "हल्ङ्याभ्यो दीर्घात्०" ६-१-६८ को बाधकर "स्वमोर्नपुंसकात्" ७-१-२३ से 'सु' विभक्ति का लोप होता है, 'लुक्' शब्द से लोपविधान होने के कारण "न लुमताङ्गस्य" (२६३) द्वारा प्रत्ययलक्षण का निषेध करने से प्रथमा-विभक्ति में सामान्यतः "चतुरनडुहोरामुदात्तः" (३३१) से प्राप्त आम् आदि विधान नहीं होते), <स्वनडुद्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ प्रतिषेधः' (वा ४८०) इति प्रत्ययलक्षणं न। विमलदिवौ, विमलदिवि। 'अपदादिविधौ' किम् ? दधिसेचौ। इह षत्वनिषेधे कर्तव्ये पदत्वमस्त्येव। चकारस्य कुत्वे तु न। इति वान्ताः। वाः। वारी। अझलन्तत्वान्न नुम्। वारि।

प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधो वक्तव्यः पदादिविधिं वर्जयित्वा इत्यर्थः। वार्तिकमेतत्। विमलदिवौ इति। औङि रूपम्। विमलदिवि इति। शसि सति 'जश्शसोः शिः' इति शिभावे रूपसिद्धिः, अझलन्तत्वान्न नुम्। दधिसेचाविति। सिञ्चतेः क्विप्। दध्नः सेचौ दधिसेचौ। समासे पूर्वोत्तरपदावयवसुपोर्लुकि समासात् पुनः सुबुत्पत्तिरिति स्थितिः। तत्र उत्तरखण्डादुत्तरां विभक्तिलुप्तां प्रत्ययलक्षणेनाश्रित्य सेच् इत्यस्य पदत्वेन तत्सकारस्य पदादितया 'सात्पदाद्योः' इति षत्वनिषेध इष्टः। 'उत्तरपदत्वे प्रत्ययलक्षण-प्रतिषेधः' इत्येतावत्येवोक्ते तु सेच् इत्युत्तरखण्डस्य पदसंज्ञायां कर्तव्यायां प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधः स्यात्। तथा च सेच् इत्यस्य सुबन्तत्वाभावेन अपदतया तत्सकारस्य पदादित्वाभावेन षत्वनिषेधो न स्यात्। अतः अपदादिविधावित्युक्तम्। षत्वनिषेधस्य पदादिविधितया तस्मिन् कर्तव्ये प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य सेच् इत्यस्य पदत्वात् तत्सकारस्य 'सात्पदाद्योः' इति षत्वनिषेधो निर्बाधः। ननु सेच् इत्युत्तरखण्डस्य पदत्वे चकारस्य कुत्वं स्यादित्यत आह—चकारस्य कुत्वे तु नेति। कुत्वे कर्तव्ये तु सेच् इत्यस्य पदत्वं नास्त्येव, कुत्वस्य पदान्तविधित्वेन पदादिविभिन्नतया तस्मिन् कर्तव्ये प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधसत्त्वेन पदत्वाभावादिति भावः। ननु दधि सिञ्चत इति सोपपदाद्विचि उपपदसमासे षत्वं दुर्वारम्, 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः' इति वक्ष्यमाणत्वेन सेच् इत्यस्य अन्तर्वर्तिसुबभावेन अपदान्ततया 'सात्पदाद्योः' इति निषेधस्य तत्राप्रवृत्तेरिति चेत् ? अत्र सोपपदात् सिचेः विचः अनभिधानमिति भावः इति कैयटः समाहितवान्। पदात्,

---

(ह् = द्–"वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः"–३३४)–स्वनडुत् (अवसान में पाक्षिक चर्त्व)। स्वनडुह्+औ, <स्वनडुह्+ई (औ = शी–"नपुंसकाच्च"–३१०), <स्वनडुही। स्वनडुह्+जस् <स्वनडुह्+इ (जस् = शि—"जश्शसोः शिः" ३१२), <स्वनडु–आ–ह्+इ ('आम्'–आगम "चतुरनडुहोरामुदात्तः" (३३१), <स्वनडु–आ–न्–ह्+इ ('नुम्'–आगम"–"नपुंसकस्य झलचः" (३१४), <स्वनड्वान्–ह्+इ (उ = व्—यण्), स्वड्वांहि (न् = अनुस्वार—"नश्चापदान्तस्य झलि–१२३)। द्वितीया विभक्ति में भी यही रूप होते हैं। तृतीयादि विभक्तियों के रूप पुंलिङ्ग के समान ('अनडुह्' के समान) सिद्ध होंगे।

२—क्रमप्राप्त वकारान्त 'विमलदिव्' शब्द के रूपभेद बताये जाते हैं। बहुव्रीहि समास (विमला द्यौः यस्य तत् = विमल आकाशवाला दिन) करने पर 'विमलदिव्' शब्द से विभक्तियाँ संयुक्त होने पर रूपसिद्धि की जाती है। (क) विमलदिव्+स् (सु), <विमलदिव् ('सु'–लोप–"स्वमोर्नपुंसकात्" (३१९), <विमलदि–उ (व् = उ–"दिव उत्" ३३७), <विमलद्यु (इ = य्–यण्)। विमलदिव्+औ, <विमलदिव्+ई (औ = शी), <विमलदिवी। इस प्रसङ्ग में यह शङ्का होती है कि सामासिक स्थिति में 'दिव्' शब्दसम्बन्धी लुप्त-विभक्ति का प्रत्ययलक्षण से आश्रय कर 'दिव्' में पदत्व का आरोप कर "दिव उत्" (३३७) से वकार के स्थान पर उकार क्यों नहीं होता ? इसका निवारण एक वार्तिक द्वारा किया जारहा है। तदनुसार वार्तिक का अर्थ यह है कि "समास में उत्तर-खण्ड की पदसंज्ञा कर्तव्य होनेपर या कर चुकने पर पदादविधि के अतिरिक्त अन्तर्वर्ति विभक्ति-लोप में प्रत्ययलक्षण का प्रतिषेध कहना चाहिये"। अर्थात् पदादि-विधि में उत्तर-खण्ड को पद नहीं मानना चाहिये किन्तु समुदाय को ही पद माना जाय। इस वार्तिक के आधार पर 'विमलदिव्' के 'व्' को 'उ' नहीं होता। (ग) विमलदिव्+जस्, <विमलदिव्+इ (जस्=शि),

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चत्वारि। इति रेफान्ताः। 'न लुमता—' (सू २६३) इति कादेशो न। किम्, के, कानि। इदम्, इमे, इमानि। 'अन्वादेशे नपुंसके एनद्वक्तव्यः' (वा १५६९)। एनत्,

---

आदिः पदादिरिति पक्षे तु उपपदसमासेऽपि षत्वं सुपरिहरम्। न चैवमपि परमश्रासौ दण्डी च परमदण्डी, सः प्रियः यस्य सः परमदण्डिप्रियः इत्यस्य अवान्तरतत्पुरुषस्य उत्तरखण्डे नलोपानुपपत्तिः 'उत्तरपदत्वे च' इति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधेन तस्य पदत्वाभावादिति वाच्यम्, मध्यपदत्वानाक्रान्तस्यैव उत्तरखण्डस्य विवक्षितत्वादित्यास्तां तावत्। इति वान्ताः। अथ रेफान्ता निरूप्यन्ते। वारिति। वार् शब्दो रेफान्तो नपुंसकलिङ्गः। 'आपः स्त्री भूमि वार् वारि' इत्यमरः। वार् शब्दात् स्वमोर्लुक् रेफस्य विसर्ग इति भावः। चत्वारीति। चतुर् शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः, तस्य जश्शसोश्शिः, तस्य सर्वनामस्थानत्वात् 'चतुरनडुहोः' इति प्रकृतेः आम्। स च मित्त्वादन्त्यादच उकारात् परः, उकारस्य यण्, अझलन्तत्वान्न नुम् इति भावः। इति रेफान्ताः। अथ मकारान्ता निरूप्यन्ते। किम्शब्दात् स्वमोर्लुकि प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य विभक्तिपरकत्वात् कादेशमाशङ्क्य आह—न लुमतेति। सोरमश्चान्यत्र कादेशे सर्वशब्दवद्रूपाणीत्याह—के, कानीति। इदमिति। स्वमोर्लुकि रूपम्। 'इदमो मः, दश्च' इत्यादिविधयो न भवन्ति, 'न लुमता' इति निषेधादिति भावः। इमे इति। औङि अत्वं पररूपम्, 'दश्च' इति दस्य मः, 'नपुंसकाच्च' इति शीभावः, गुण इति भावः। इमानीति। जश्शसोश्शिः, अत्वं, पररूपं, 'दश्च' इति मः, 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुम्, 'सर्वनामस्थाने च' इति दीर्घ इति भावः। अन्वादेशे नपुंसके एनद्वक्तव्य इति। 'इदमेतदोः' इति शेषः। इदं च अम्येव भवति। तथा च भाष्ये 'एनदिति नपुंसकैकवचने वक्तव्यम्' इति पठित्वा 'कुण्डमानय प्रक्षालयैनत्'

<विमलदिवि। वार्तिक का प्रत्युदाहरण—उपर्युक्त वार्तिक के अर्थ करते समय यह बताया जाचुका है कि पदादि-विधि में प्रत्ययलक्षण का निषेध नहीं किया जाता। तदनुसार 'दधिसेचौ' में "सात् पदाद्योः" (८-३-१११) सूत्र से पदादि में ('सेच्' के सकार को) षत्व का निषेध हो जाता है। वार्तिक में 'अपदादि' न कहने पर यहाँ पद न होने से "सात्पदाद्योः" (८-३-१११) से षत्व-निषेध नहीं हो पाता। पुनरपि यह शङ्का उपस्थित होती है कि "दधिसेचौ" में 'सेच्'-भाग के उत्तरपद में होने से प्रत्ययलक्षण का निषेध होने के कारण समुदाय को पद मानने पर 'च्' को "चोः कुः" (३७८) से कुत्व क्यों न हो? इसका समाधान यह दिया जाता है कि "चोः कुः" से विधीयमान कुत्व पदान्त में होने के फलस्वरूप उसका विषय पदादिविधि से भिन्न है। इस कारण प्रत्ययलक्षण का प्रतिषेध होने से 'सेच्' को पदसंज्ञा नहीं होती। अतः यहाँ कुत्व का प्रसङ्ग नहीं है।

३—रेफान्त 'वार्' (जल) शब्द की रूपसिद्धि बताई जारही है। (क) वार्+सु, <वार् ('सु'-लुक्), <वाः (र् = :)। वार्+औ, <वार्+ई (औ=शी), <वारी। वार्+जस्, <वार्+इ (जस् = शि), <वारि (झलन्त न होने से 'नुम्' नहीं हुआ)। द्वितीया में भी यही रूप होते हैं। तृतीयादि विभक्तियों में कोई परिवर्तन नहीं होता। मूलशब्द विभक्तियों से संयुक्त हो जाता है—वारा, वार्भ्याम्, वार्भिः इत्यादि।

४—संख्यावाचक बहुवचनान्त 'चतुर्' शब्द (= चार) के रूप इस प्रकार हैं। (क) चतुर्+जस्, <चतुर्+इ (जस् = शि), चतु-आ-र्+इ ('इ'कार से पर 'आम्'-आगम) <चत्वारि (उ=व्-यण्) (ख) चतुर्+शस्, <चतुर्+इ (शस् = इ), चतु-आ-र्+इ, <चत्वारि। (ग) चतुर्भिः (घ) चतुर्भ्यः (ङ) चतुर्भ्यः (च) चतुर्णाम् (छ) चतुर्षु।

५—मकारान्त 'किम्' शब्द के रूप बताये जारहे हैं। (क) किम्+सु (सु), <किम ('सु'-लुक्)। किम्+औ, <क+औ (किम् = क), <क+ई (औ = शी), के (अ+ ई=

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एने, एनानि । एनेन । एनयोः । एनयोः । इति मान्ताः । ब्रह्म, ब्रह्मणी, ब्रह्माणि । 'सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः' । हे ब्रह्मन्–हे ब्रह्म । 'रोऽसुपि' (सू १७२) ।

इत्युदाहृतम् । औट्शसोः टायाम् ओसि च 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' इत्येनादेश एव इति मत्वा आह—एने इत्यादि । वस्तुतस्तु 'द्वितीयाटौस्स्वेनत्' इत्येव सूत्र्यताम् । नपुंसके अमो लुकि एनदिति सिध्यति । एनम्, एनौ, एनान् । एनेन, एनयोः इति तु त्यदाद्यत्वेन सिद्धमिति भाष्ये स्थितम् । परमार्थतस्तु नपुंसकैकवचने अमि एनदादेशः । एनम्, एनौ इत्याद्यर्थं 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' इत्यत्र एनादेशो विधातव्यः । येन नाप्राप्तिन्यायेन एनदादेशस्य त्यदाद्यत्वापवादत्वेन त्यदाद्यत्वासम्भवादिति शब्देन्दुशेखरे स्थितं भाष्यप्रदीपोद्योते प्रपञ्चितं च । इति मान्ताः । अथ नकारान्ता निरूप्यन्ते । ब्रह्मेति । वेदादौ वाच्ये ब्रह्मन् शब्दः नपुंसकलिङ्गः । 'वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः' इत्यमरः । स्वमोर्लुकि नलोप इति भावः । ब्रह्मणी इति । औङः शी, 'अट्कुप्वाङ्' इति णत्वम् । 'विभाषा ङिश्योः' इत्यल्लोपस्तु न, 'न संयोगाद्वमन्तात्' इति निषेधादिति भावः । ब्रह्माणीति । जश्शसोः शिः, तस्य सर्वनामस्थानत्वात् नान्तलक्षणो दीर्घः । ब्रह्मन्निति । 'सम्बुद्धौ नपुंसकानाम्' इति नलोपविकल्प इति भावः । अथ अहन्शब्दात् स्वमोर्लुकि 'अहन्' इति रुत्वे प्राप्ते आह—रोऽसुपीति । लुका लुप्तत्वेन प्रत्ययलक्षणाभावादिति भावः । अहर्भातीति ।

ए—गुण) । किम्+जस्, <किम्+इ (जस् = शि), <क+इ (किम्=क), <क–न्+इ, ('नुम्' आगम) <कानि (उपधादीर्घ) । द्वितीया–विभक्ति में भी यही रूप होते हैं । शेष पुंल्लिङ्गवत् ।

६—'इदम्' शब्द के रूप इस प्रकार हैं । (क) इदम्+स् (सु), <इदम् ('सु' लुक्–"स्वमोर्नपुंसकात्") । इदम्+औ, <इद–अ+औ, <इद+औ, <इद+ई(शी), <इदे, <इमे (द् = म्–"दश्च" ३४५) । इदम्+जस्, <इद अ+जस्, <इद+जस्, <इद+इ (शि), <इद–न्+इ ('नुम्' आगम), <इदा–न्+इ (उपधा-दीर्घ), <इमानि । द्वितीया में भी इसी तरह रूप होंगे । तृतीयादि विभक्तियों में पुंल्लिङ्ग के समान रूप सिद्ध होते हैं । वा० नपुंसकलिङ्ग में अन्वादेश में 'इदम्' तथा 'एनत्' शब्द के स्थान पर 'एनत्' आदेश होता है । वस्तुतः यह आदेश 'अम्' विभक्ति के विषय में ही उपयोगी है । कारण यह है कि 'अम्' के अतिरिक्त अन्य पूर्वोक्त विभक्तिवचनों में तो "द्वितीया टौस्स्वेनः" (३५१) से 'एन' आदेश करने पर निर्वाह हो सकता है । इस सम्बन्ध में भाष्यकार ने भी यही कहा है कि नपुंसकलिङ्ग के एकवचन में 'एनत्' आदेश का विधान किया जाय । तदनुसार (क) इदम्+अम्, <इदम् ('अम्'–(लुक्), <एनत् (इदम्=एनत्), <एनद् (त्=द्–जश्त्व)–एनत् । आगे एने, एनानि, एनेन तथा एनयोः में 'एनत्' आदेश करने पर अत्व तथा पररूप करने के पश्चात् अकारान्त 'एन' की स्थिति में अवशेष विभक्तिकार्य 'ज्ञान' शब्द के समान होंगे । 'एन' आदेश में अत्व तथा पररूप नहीं करना पड़ता ।

७—'ब्रह्मन्' (=वेद, तप, अथवा ब्रह्म) शब्द की रूपप्रक्रिया का दिग्दर्शन कराया जारहा है । प्रथमा विभक्ति में ब्रह्म (विभक्तिलोप तथा 'न्'लोप), ब्रह्मणी (औ = शी तथा 'न्' = ण्) ब्रह्माणि (जस् = शि, सर्वनामस्थानता, उपधादीर्घ) रूप निष्पन्न होते हैं । यही रूप द्वितीया में भी होते हैं । (ख) सम्बोधन के एकवचन में दो रूप बनते हैं—हे ब्रह्मन्–हे ब्रह्म । इसका कारण 'सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः' वार्तिक के आधार पर विकल्प से 'न्' लोप होना है । तदनुसार विभक्ति (सु) का लोप होकर दोनों रूप सिद्ध होते हैं ।

८—'अहन्' (= दिन) शब्द-सम्बन्धी विशेष कार्यों का स्मरण कराया जाता है । (क) अहन्+स् (सु), <अहन् ('सु'–लुक्), <अहर् (न्=र), <अहः (र्=:) । अहन्+ई (औ=शी), <अह्न्+ई, <अह्नी (वैकल्पिक 'अ'–लोप "विभाषा ङिश्योः"–२३७),—अहनी ('अ'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहर्भाति। 'विभाषा ङिश्योः' (सू २३७)। अह्नी-अहनी, अहानि। (४४३) अहन् ८।२।६८॥ अहन् इत्यस्य रुः स्यात्पदान्ते। अहोभ्याम्, अहोभिः। इह 'अहः' 'अहोभ्याम्' इत्यादौ रत्वरुत्वयोरसिद्धत्वान्नलोपे प्राप्ते, 'अहन्' इत्यावर्त्य एकेन नलोपाभावं निपात्य द्वितीयेन रुविधेयः। तदन्तस्यापि रत्वरुत्वे। दीर्घाण्यहानि यस्मिन् स दीर्घाह्नो निदाघः। इह हल्ङ्यादिलोपे प्रत्ययलक्षणेन 'असुपि' इति निषेधाद्रत्वाभावे रुः, तस्यासिद्धत्वान्नान्त-

---

अत्र रुत्वे तु 'हशि च' इत्युत्वे गुणे अहो भातीति स्यात्। रेफविधौ तस्य उत्वं न, रोरित्युकारानुबन्धग्रहणादिति भावः। अहानीति। जश्शसोः शिः, सर्वनामस्थानत्वात् उपधादीर्घः। अल्लोपस्तु न, सर्वनामस्थानत्वादिति भावः। टादावचि अल्लोपः। अह्ना, अह्ने इत्यादि। भ्यामादौ हलि विशेषमाह।

(४४३) अहन्। 'ससजुषो रुः' इत्यतो रुरित्यनुवर्तते, 'स्कोः संयोगाद्योः' इत्यतः 'अन्त' इति च। पदस्येत्यधिकृतम्। 'अहन्' इति लुप्तषष्ठीकम्। तदाह—अहन्नित्यस्येत्यादिना। अहोभ्यामिति। नकारस्य रुत्वे, 'हशि च' इत्युत्वे, गुण इति भावः। ननु अहः, अहोभ्यामित्यत्र रत्वरुत्वयोरसिद्धत्वान्नलोपः स्यात्। न च रत्वरुत्वे नलोपापवादाविति वाच्यम्, 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इति नलोपनिषेधस्थले हे अहरित्यत्र, दीर्घाणि अहानि यस्मिन् स दीर्घाह्नः, हे दीर्घाह्नो निदाघ इत्यत्र च नलोपे असत्यपि रत्वरुत्वयोरारम्भाद् इत्याशङ्क्य निराकरोति—इहेति। एकेनेति। आवृत्तयोः प्रथमेन 'अहन्' इति सूत्रेण पदान्ते अहन्नित्येव स्यात्, न तु नलोप इत्यर्थकेनेत्यर्थः। द्वितीयेनेति। 'अहन्नित्यस्य रुः स्यात् पदान्ते' इत्यर्थकेनेत्यर्थः। एवं च 'अह्नो नलोपप्रतिषेधः' इति वार्तिकं न कर्तव्यमिति भावः। तदन्तस्यापीति। अहन्शब्दान्तस्यापि रत्वरुत्वे भवतः, पदाधिकारस्थत्वादिति भावः। 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति' इति निषेधस्तु प्रत्ययविधिमात्रविषय इति 'असमासे निष्कादिभ्यः' इति सूत्रे भाष्यकैयटयोः स्पष्टम्। तदन्ते रुत्वप्रवृत्तिं दर्शयति—दीर्घाह्ना निदाघ इति। दीर्घाहन्शब्दात् पुँल्लिङ्गात् सौ परत्वादुपधादीर्घे कृते हल्ङ्यादिना सुलोपः। 'अहन्' इति रुत्वे, 'भोभगो' इत्यपूर्वत्वाद्यत्वे 'हलि सर्वेषाम्' इति यलोपे रूपमिति भावः। ननु सुलोपे कृते 'रोऽसुपि' इति रत्वे तस्य यत्वं न भवति। यत्वविधौ रोः इत्युकारानुबन्धग्रहणात्। तथा च दीर्घाह्नीति निदाघ इत्येव युक्तमित्यत आह—इह हल्ङ्यादीत्यादि। ननु नान्तलक्षणदीर्घस्य परत्वेऽपि अकृतव्यूहपरिभाषया हल्ङ्यादिलोपात् प्राक् प्रवृत्तिर्न सम्भवति, रुत्वेन नकारस्य विनाशोन्मुखत्वादित्यत आह—तस्यासिद्धत्वादिति। प्रवृत्तस्य रुत्वस्यासिद्धत्वान्नान्तलक्षणो दीर्घो निर्बाध इति

लोप के न होने पर)। अहन्+जस्, <अहन्+इ (शि), <अहान्+इ (सर्वनामस्थानता तथा उपधादीर्घ) <अहानि। (ख) द्वितीया-अहः, अह्नी-अहनी, अहानि। (ग) तृतीया एकवचन-अह्ना।

(४४३) पद—अहन्। अनुवृत्ति—रुः, अन्ते, पदस्य (अधिकार)। विधिसूत्र।

मूलार्थ—पदान्त में 'अहन्' के 'न्' को 'रु' आदेश होता है। अहोभ्याम्। अहोभिः। यहाँ 'अहः' 'अहोभ्याम्' इत्यादि में 'र' तथा 'रु' विधि के असिद्ध होने से 'न्'-लोप प्राप्त होनेपर 'अहन्' की आवृत्ति की जाय। प्रथम अंश से 'न्'-लोप के अभाव का निपातन कर आवृत्त अंश से 'रु' का विधान किया जाय। 'अहन्'-शब्दान्त में भी 'र' तथा 'रु'-विधि होते हैं। 'दीर्घाणि अहानि'—बहुव्रीहि समास करने पर (= बड़े दिन वाला ग्रीष्मऋतु) 'दीर्घाहन्' शब्द के प्रथमा में 'दीर्घाह्नः' रूप होता है। 'निदाघ' शब्द पर रहते 'हल्ङ्यादि०' लोप के पश्चात् प्रत्यय-लक्षण किये जाने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लक्षण उपधादीर्घः । सम्बुद्धौ तु हे दीर्घाहो निदाघ । दीर्घाहानौ, दीर्घाहानः । दीर्घाह्वा । दीर्घाहोभ्याम् । दण्डि, दण्डिनी, दण्डीनि । स्रग्वि, स्रग्विणी, स्रग्वीणि । वाग्मि, वाग्मिनी, वाग्मीनि । बहुवृत्रहाणि । बहुपूषाणि । बह्वर्यमाणि । इति नान्ताः । असृजः पदान्ते कुत्वम्, सृजेः क्विनो विधानात् । विश्वसृडादौ तु न, 'सृजिदृशोः–' (सू २४०५) इति

भावः । वस्तुतस्तु अकृतव्यूहपरिभाषाया निर्मूलत्वादिह हल्ङ्यादिलोपात् पूर्वमेव परत्वादुपधादीर्घ इत्येवोचितमित्यलम् । सम्बुद्धौ त्विति । सोरत्र हल्ङ्यादिलोपात् प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य असम्बुद्धौ इति प्रवृत्तेः । उपधादीर्घाभावे रुत्वे 'हशि च' इत्युत्वे, आद्गुणे, हे दीर्घाहो निदाघ इति रूपमित्यर्थः । अत्र 'रोऽसुपि' इति रत्वविधेस्तदन्तेऽपि प्रवृत्तौ फलं तु नपुंसके दीर्घाहर्निदाघजालमित्यादि बोध्यम् । दण्डीति । दण्डोऽस्यास्तीत्यर्थे 'अत इनिठनौ' इति इनिः । दण्डिन्शब्दात् स्वमोर्लुक्, नस्य लोप इति भावः । दण्डिनौ इति । औङश्शी । असर्वनामस्थानत्वात् 'इन्हन्' इति नियमाच्च न दीर्घ इति भावः । दण्डीनीति । 'जश्शसोः शिः' । 'इन्हन्' इति दीर्घ इति भावः । स्रग्वीति । 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इति स्रज्शब्दात् मत्वर्थीयो विनिः । स्रज् इत्यस्य अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वात् जस्य कुत्वं स्रग्विन्शब्दात् सुबुत्पत्तिः । दण्डिवद्रूपाणि । अत्र इनः अनर्थकत्वेऽपि 'इन्हन्' इत्यत्र ग्रहणं भवत्येव, 'अनिनस्मन्' इति वचनादिति बोध्यम् । वाग्मीति । 'वाचो ग्मिनिः' इति ग्मिनिः । तद्धितत्वान्न गकार इत्, चकारस्य जश्त्वम्, कुत्वम् । वाग्मिन्शब्दात् सुबुत्पत्तिः । स्रग्विवद्रूपाणि । बहवः वृत्रहणो यस्मिन् मन्वन्तरे इति बहुव्रीहौ बहुवृत्रहन्शब्दात् स्वमोर्लुकि, नलोपे, बहुवृत्रहेति रूपम् । औङः श्याम्, अल्लोपे, 'हो हन्तेः' इति कुत्वे, बहुवृत्रघ्नी इति रूपम् । 'अत्पूर्वस्य' इति नियमान्न णत्वम् । एतावत्सिद्धवत्कृत्य जश्शसोराह—बहुवृत्रहाणीति । शेः सर्वनामस्थानत्वेन तस्मिन् परे अल्लोपाभावात् 'इन्हन्' इत्युपधादीर्घे 'एकाजुत्तरपदे णः' इति णत्वमिति भावः । बहुपूषाणीति । बहवः पूषणो यस्मिन्निति बहुव्रीहिः । बहुपूष, बहुपूष्णो । 'रषाभ्याम्' इति णत्वम् । जश्शसोस्तु शिः, शौ दीर्घः, 'अट्कुप्वाङ्' इति णत्वम् । बह्वर्यमाणीति । बहवः अर्यमणो यस्मिन्निति बहुव्रीहिः । बहुपूषवद्रूपाणि । इति नान्ताः । अथ जकारान्ता निरूप्यन्ते । शरीरं यदा उत्पद्यते तदैव सृज्यते न दन्तादिवन्मध्ये इत्यर्थे सृज्धातोः नञ्पूर्वात् सम्पदादित्वात् क्विप् । उपपदसमासे 'नलोपो नञः' इति नकारलोपे असृज्शब्दो रक्तपर्यायो नपुंसकलिङ्गः । 'रुधिरासृग्लोहितास्रक्षतजशोणितम्' इत्यमरः । तस्य स्रग्मोर्लुकि विशेषमाह—असृजः पदान्ते कुत्वमिति । 'क्विन्प्रत्ययस्य' इति कुत्वस्यासिद्धत्वात् 'चोः कुः' इति प्राप्तं कुत्वं बाधित्वा तदपवादे व्रश्चादिपत्वे कृते तस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य' इति कुत्वेन खकारः, अघोषश्वासविवारमहाप्राणत्वसाम्यादित्यर्थः । न च षत्वस्य निरवकाशत्वं शङ्क्यम्, सृष्टमित्यादौ अपदान्ते 'क्विन्प्रत्ययस्य' इति कुत्वाभावस्थले षत्वस्य चरितार्थत्वात् । ननु क्विन्नन्तत्वाभावादिह 'क्विन्प्रत्ययस्यकुः' इति कुत्वं कुत इत्यत आह–सृजेः क्विनो विधानादिति । ऋत्विगादि–

पर 'असुपि' निषेध होने से 'न्' के स्थान पर 'र्' न होने के कारण 'रु' होता है। उसके असिद्ध होने से नान्त लक्षण उपधा दीर्घ होता है। सम्बोधन में हे दीर्घाहः। दीर्घाहानौ, दीर्घाहानः। दीर्घाह्वा, दीर्घाहोभ्याम् । दण्डि, दण्डिनी, दण्डीनि। स्रग्वि, स्रग्विणी, स्रग्वीणि। वाग्मि, वाग्मिनी, वाग्मीनि। बहुवृत्रहाणि। बहुपूषाणि। बह्वर्यमाणि। 'असृज्' को पदान्त में कुत्व होता है, क्योंकि √सृज् से क्विन् का विधान किया गया है। 'विश्वसृट्' इत्यादि में कुत्व नहीं होता, क्योंकि "सृजिदृशोः०" सूत्र में भाष्यकार ने 'रज्जुसृड्भ्याम्' प्रयोग दिया है। अथवा "व्रश्चादि०" सूत्र से √सृज् तथा √यज् को पदान्त में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्रे 'रज्जुसृड्भ्याम्' इति भाष्यप्रयोगात्। यद्वा 'व्रश्च–' (सू २९४) आदिसूत्रे सृजि-यज्योः पदान्ते षत्वं कुत्वापवादः। स्रगृत्विक्छब्दयोस्तु निपातनादेव कुत्वम्। असृक्छब्दस्तु अस्यतेरौणादिके ऋज्प्रत्यये बोध्यः। असृक्-असृग्, असृजौ असृञ्जि। 'पद्दनो—' (सू २२८) इति वा असन्। असानि। असृजा-अस्ना, असृग्भ्याम्-असभ्यामित्यादि। ऊर्क्-ऊर्ग्, ऊर्जौ, ऊर्ञ्जि। नरजानां संयोगः। 'बहूर्जि नुम्प्रतिषेधः' (वा ४३३१)

सूत्रेण इति शेषः। तथा च क्विन् प्रत्ययो यस्मादिति अतद्गुणबहुव्रीह्याश्रयणादिहापि कुत्वं निर्बाधमिति भावः। भाष्यप्रयोगादिति। न च रज्जुसृड्भ्याम् इति भाष्यप्रयोगात् विश्वसृडादौ कथं कुत्वाभाव इति वाच्यम्, ज्ञापकस्य सामान्यापेक्षत्वात्। न चैवं सति असृज्शब्देऽपि कुत्वं न स्यादिति वाच्यम्, अनन्ययपूर्वपदस्यैव सृजेर्भाष्यप्रयोगतः कुत्वाभावबोधनादिति भावः। ननु उदाहृतभाष्यप्रयोगात् विश्वसृड्रज्जुसृडादौ षत्वसिद्धावपि देवान् यजतीति देवेट् इत्यादौ 'चोः कुः' इति कुत्वस्यासिद्धत्वात् व्रश्चादिना षत्वे, तस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वं दुर्वारमित्यस्वरसादाह—यद्वेति। षत्वं कुत्वापवाद इति। यद्यपि सृष्टमित्यादौ अपदान्ते षत्वं सावकाशम्। तथापि यजिसृज्योः पूर्वोत्तरसाहचर्येण पदान्तेऽपि विशिष्य-विहितत्वान्निरवकाशत्वाच्च पदान्तविषये षत्वं कुत्वापवादः। तथा च विश्वसृडादौ देवेडादौ च षत्वं निर्बाधम्। अत एव 'सृजिदृशोः' इति सूत्रे रज्जुसृड्भ्यामिति काम्यच्विधिसूत्रे उपयट्काम्यतीति च भाष्यप्रयोगः सङ्गच्छत इति भावः। नन्वेवं सति स्रगृत्विक्छब्दयोरपि 'क्विन्प्रत्ययस्य' इति कुत्वं बाधित्वा व्रश्चादिना षत्वं स्यादित्यत आह—स्रगृत्विक्छब्दयोरिति। ऋत्विगादिसूत्रे ऋत्विक् स्रक् इति निपातनादेव कुत्वमित्यर्थः। न च स्रष्टा यष्टा इत्यादौ अपदान्ते निपातनात् कुत्वापत्तिरिति वाच्यम्। निपातनेन ह्यनयोः अपवादभूतपत्वस्य अप्रवृत्तिमात्रं बोध्यते, कुत्वं तु स्वशास्त्रेणैव यथायथं भवतीति न दोषः। ननु तर्ह्यसृक्छ-ब्देऽपि कुत्वापवादः षत्वं स्यात्, ऋत्विगादिसूत्रे स्रक्शब्दस्यैव कुत्वनिपातनात् इत्यत आह—असृक्छब्दस्त्विति। 'असु क्षेपणे' इत्यस्मात् औणादिके सृज्प्रत्यये सति निष्पन्नस्य असृक्छब्दस्य 'व्रश्च' इति षत्वाविषयत्वात् 'चोः कुः' इति कुत्वे सति असृक्छब्दो बोध्य इत्यर्थः। असृजीति। 'जश्शसोः शिः'। झलन्तत्वान्नुम्। 'नश्च' इत्यनुस्वारः। तस्य परस-वर्णो ञकार इति भावः। असानीति। शसश्शिः। नान्तत्वाद्दीर्घ इति भावः। अस्नेति। तृतीयैकवचने असन्नादेशे अल्लोपः। असृग्भ्यामिति। असन्नादेशाभावे कुत्वे जश्त्वमिति भावः। असभ्यामिति। भ्यामादौ असन्नादेशे नलोप इति भावः। ऊर्गिति। 'ऊर्ज बलप्राण-नयोः' क्विप्, स्वमोर्लुक्, कुत्वेन गः, तस्य चर्त्वविकल्प इति भावः। ऊर्ञ्जीति। जश्शसोः शिः। झलन्तत्वान्नुम्। स च मित्त्वादन्त्यादचः ऊकारात् परो भवति। तदाह—नरजानां संयोग इति। बहूर्क् छब्दोऽपि प्रायेण ऊर्ग्वदेव। जश्शसोः शिभावे कृते, झलन्तलक्षणनुमि ऊकारादुपरि प्राप्ते, 'बहूर्जि प्रतिषेधो वक्तव्यः, अन्त्यात् पूर्वं नुममेक इच्छन्ति' इति च

कुत्व के अपवादस्वरूप षत्व का विधान माना जाय। 'सृज्' तथा 'ऋत्विज्' शब्दों में तो निपातन से ही कुत्व जाना जाय। 'असृज्' शब्द की सिद्धि √अस्+ऋज् प्रत्यय करने पर होती है। असृक्-असृग्, असृजौ, असृञ्जि। "पद्दनो०" से वैकल्पिक असन् आदेश। असृजा-अस्ना। असृग्भ्याम्-असभ्याम् इत्यादि। ऊर्क्-ऊर्ज्, ऊर्जौ, ऊर्ञ्जि। न्, र्, ज् का संयोग है। 'बहूर्ज्' में नुम् का निषेध है। किन्तु अन्त्य से पूर्व 'नुम्' विकल्प से होता है। बहूर्जि-बहूर्ञ्जि (कुल)। त्यत्-त्यद्, त्ये, त्यानि। तत्-तद्, ते, तानि। यत्-यद्, ये, यानि। एतत्-एतद्, एते, एतानि। अन्वादेश में एनत्। यङन्त √भिद् धातु से क्विप्। बेभित्-द्, बेभिदौ। (जस्=) 'शि' विभक्ति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अन्त्यात्पूर्वो वा नुम्' (वा ४३३२)। वहूर्जि-वहूर्ज्जि वा कुलानि। इति जान्ताः। त्यत-त्यद्, त्ये, त्यानि। तत्-तद्, ते, तानि। यत्-यद्, ये, यानि। एतत्-एतद्, एते, एतानि। अन्वादेशे तु एनत्। वेभिद्यतेः क्विप्। वेभित्-वेभिद्, वेभिदी। शाव--ल्लोपस्य स्थानिवत्त्वादझलन्तत्वान्न नुम्। अजन्तलक्षणस्तु नुम् न, स्वविधौ स्थानिवत्त्वा--भावात्। वेभिदि ब्राह्मणकुलानि। चेच्छिदि। इति दान्ताः।

गवाक्छब्दस्य रूपाणि क्लीवेऽर्चागतिभेदतः।
असन्ध्यवङ्पूर्वरूपैर्नवाधिकशतं मतम्॥
स्वमसुप्सु नव, षड् भादौ षट्के, स्युस्त्रीणि जश्शसोः।
चत्वारि शेषे दशके, रूपाणीति विभावय॥

वार्तिकं प्रवृत्तम्। तदेतदर्थतः संगृह्णाति–वहूर्जीति। वहूर्ज् शब्दे अन्त्यादच ऊकारात् उपरि नुमः प्रतिषेधो वक्तव्यः, किन्तु अन्त्याद्वर्णात् पूर्वो नुम् वा स्यादित्यर्थः। वहूर्जीति। जश्श--सोर्नुमभावे रूपम्। वहूर्जीति। जकारात् पूर्वं रेफादुपरि नुमि कृते श्चुत्वस्यासिद्धत्वात् 'नश्च' इति तस्यानुस्वारे, तस्य परसवर्णे ञकारे रूपं बोध्यम्। अत्र 'बहूर्जि प्रतिषेधः' इति प्रथमवार्तिकं न कर्तव्यम्, 'नपुंसकस्य झलचः' इति सूत्रस्य अचः परो यो झल् तदन्तस्य क्लीबस्य नुम् स्यादिति व्याख्याने सति नुम एवात्राप्रसक्तेः। न चैवं सति वनानीत्या--दावव्याप्तिः शङ्क्या, 'इकोऽचि विभक्तौ' इत्यतः अचीत्यनुवर्त्य अजन्तस्य क्लीबस्य सर्व-नामस्थाने परे नुम् स्यादिति वाक्यान्तराश्रयणादिति भाष्ये स्थितम्। एवञ्च ऊर्ज् शब्दे शौ 'नरजानां संयोगः' इति मूलं भाष्यविरुद्धत्वादुपेक्ष्यमेव, तत्र अचः परस्य झलः-अभावेन नुमः अप्रसक्तेः। इति जान्ताः। अथ दकारान्ता निरूप्यन्ते। त्यदिति। त्यत्, तद्, यद्, एतद् एषां स्वमोर्लुक लुप्तत्वात् त्यदाद्यत्वं पररूपं, 'तदोः सः सौ' इति सत्वं च न भवति। इतरत्र तु सर्वत्र त्यदाद्यत्वे पररूपे च अदन्तवद्रूपाणि, सर्वनामकार्यं च इति बोध्यम्। अन्वादेशे त्वेनदिति। अन्वादेशे नपुंसकैकवचने एनद्विधानादिति भावः। औङि जश्शसोश्च–एने, एनानि। वेभिद्यतेरिति। इतपा निर्देशोऽयम्। बेभिद्य इति यङन्ताद्धातो-रित्यर्थः। 'भिदिर् विदारणे' तस्मात् यङि 'सन्यङोः' इति द्वित्वे, हलादिशेषे, 'अभ्यासे चर्च' इत्यभ्यासभकारस्य जश्त्वेन बकारे, 'गुणो यङ्लुकोः' इति गुणे, बेभिद्य इति रूपम्। तस्मात् 'सनाद्यन्ताः' इति धातुत्वात् क्विप्, अतो लोपः, 'यस्य हलः' इति यलोपः।

में 'अ'–लोप को स्थानिवद्भाव होने से झलन्त न होने के कारण 'नुम्' नहीं हुआ। अजन्तलक्षण 'नुम्' भी नहीं होता। स्वयम् को विधान होने में स्थानिवद्भाव नहीं होता। वेभिदि (ब्राह्मणकुल)। चेच्छिदि।

कारिका का अर्थ—नपुंसकलिङ्ग में अञ्चु धातु के पूजा तथा गति इन दो अर्थों की भिन्नता से सन्ध्यभाव, अवङ्–आदेश, पूर्वरूप—इनके योग से १०९ रूप बनते हैं। उनमें सु, अम् तथा सुप् में प्रत्येक के नौ रूप, भकारादि छह प्रत्ययों में प्रत्येक के छह रूप, जस् एवं शस् में प्रत्येक के तीन रूप तथा अन्य दस विभक्तियों में प्रत्येक के चार रूप मिलाकर यह संख्या १०९ होती है। वह इस प्रकार है—(गाय को ले जाता है अथवा पूजता है अर्थ में) गो+अञ्चु से "ऋत्विक्०" सूत्र से क्विन् प्रत्यय होने पर 'न्'–का लोप होता है। "अवङ् स्फोटायनस्य" से अवङ्–गवाक्–गवाग्। प्रकृतिभाव होनेपर गोअक–गोअग्। न होनेपर गोऽक्–गोऽग्। पूजार्थ में 'न्' को कुत्व होकर 'ङ्'। गवाङ्–गोअङ्–गोङ्। 'अम्' में भी यही नौ रूप होते हैं। औ = शी। भसंज्ञा होने से "अचः" से 'अ'–लोप। गोची। पूजार्थ में—गवाञ्ची–गोअञ्ची–गोञ्ची। जस् = शि, तथा शस् = शि। 'शि' के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथाहि–गामञ्चतीति विग्रहे 'ऋत्विग्—' (सू ३७३) आदिना क्विन्। ततो नलोपः। 'अवङ् स्फोटायनस्य' (सू ८८) इत्यवङ्, गवाक्-गवाग्। 'सर्वत्र विभाषा—' (सू ८७) इति प्रकृतिभावे, गोअक्-गोअग्। पूर्वरूपे, गोऽक्-गोऽग्। पूजायां नस्य कुत्वेन ङः। गवाङ्-गोअङ्-गोऽङ्। अम्यप्येतान्येव नव। औङः शी, भत्वात् 'अचः'

बेभिद्शब्दात् स्वमोर्लुक्, जश्त्वचर्त्वे बेभित् बेभिद् इति रूपमिति भावः। बेभिदौ इति। औङः श्यां रूपम्। जश्शसोश्शौ झलन्तलक्षणनुममाशङ्क्य आह—शाविति। स्थानिवत्त्वादिति। 'अचः परस्मिन्' इत्यनेनेति शेषः। न चात्र अल्लोपस्थानिभूतादचः पूर्वो दकार एव न त्रिकारः, तस्य दकारेण व्यवधानात्, तथा तस्य नुम्विधिः स्थानिभूतादचः पूर्वस्य विधिर्नेति वाच्यम्, 'अचः परस्मिन्' इत्यत्र व्यवहितपूर्वस्यापि ग्रहणस्योक्तत्वात्। 'क्ङौ लुसं न स्थानिवत्' इति तु न सार्वत्रिकमिति 'दीधीवेवीटाम्' इत्यत्र कैयटे स्पष्टम्। नन्वल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात् झलन्तलक्षणनुमोऽभावेऽपि अजन्तलक्षणो नुम् दुर्वार इत्यत आह—अजन्तलक्षणस्तु नुन् नेति। कुत इत्यत आह—स्वविधौ स्थानिवत्त्वाभावादिति। अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वमाश्रित्य मित्त्वादन्त्यादचः परः प्रवर्तमानो हि नुम् दकारोपरितनस्य अकारोपलक्षितदेशस्योपरि प्रवृत्तिमर्हति। तथा च लोपस्थानिभूतस्य स्वस्यैवात्र नुम्विधिः। तस्मिन् कर्तव्ये अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वं न सम्भवति, स्थान्यपेक्षया पूर्वस्यैव विधौ 'अचः परस्मिन्' इत्यस्य प्रवृत्तेः। स्थानिवत्सूत्रमपि स्थानिभूतस्य स्वस्य कार्यविधौ न प्रवर्तते, अनल्विधाविति निषेधादित्यर्थः। 'अचः परस्मिन्' इति सूत्रे पूर्वविधावित्यपनीय 'अपरविधाविति वक्तव्यं स्वविधौ स्थानिवत्त्वार्थम्' इति वार्तिकं तु भाष्ये प्रत्याख्यातमित्यदोषः। इति दान्ताः। अथ चकारान्ता निरूप्यन्ते।

'जायन्ते नव सौ, तथामि च नव, भ्याम्भिस्भ्यसां संगमे
षट्सङ्ख्यानि, नवैव सुप्यथ, जसि त्रीण्येव, तद्वच्छसि।
चत्वार्यन्यवचस्सु कस्य विबुधाः शब्दस्य रूपाणि तज्-
जानन्तु प्रतिभाऽस्ति चेन्निगदितुं पाण्मासिकोऽत्रावधिः॥'

इति प्राचीनस्य कस्यचित् प्रश्नस्य श्लोकद्वयेन उत्तरमाह—गवाक्छब्दस्येति। अर्चागतिभेदत इति। 'अनिदिताम्' इत्यङ्गेर्गतौ नकारस्य लोपः, पूजायां तु 'नाञ्चेः पूजायाम्' इति निषेधान्नस्य लोपो नेत्येवं गतिपूजात्मकार्थभेदनिबन्धननलोपतदभावाभ्यामिति यावत्। असन्धीति प्रकृतिभावो विवक्षितः। असंध्यवङ्पूर्वरूपैरित्यनन्तरं चशब्दोऽध्याहर्तव्यः। शतमित्यनन्तरमितिशब्दश्च। तथा च गत्यर्थपूजार्थभेदनिबन्धननलोपतदभावाभ्याम्, असन्ध्यवङपूर्वरूपैश्च गवाक्छब्दस्य रूपाणि नवाधिकशतमिति मतं सम्मतमित्यर्थः। एतेन 'विंशत्याद्याः सदैकत्वे संख्यास्संख्येय-

---

सर्वनामस्थान होने से नुम्। गवाञ्चि–गोअञ्चि–गोञ्चि। गति और पूजन अर्थ में तीन ही रूप बनते हैं। गोचा, गवाञ्चा–गोअञ्चा–गोञ्चा। गवाग्भ्याम्–गोअग्भ्याम्–गोऽग्भ्याम्। गवाङ्भ्याम्–गोअङ्भ्याम्–गोऽङ्भ्याम् इत्यादि। सप्तमी बहुवचन 'सुप्' विभक्ति में ङकारान्त पक्ष में "ङ्णोः कुक् टुक् शरि" से 'कुक्' आगम होता है। गवाङ्क्षु–गोअङ्क्षु–गोऽङ्क्षु। 'कुक्' आगम न होने पर गवाङ्षु–गोअङ्षु–गोऽङ्षु। गति अर्थ में 'नृ' लोप होने पर गवाक्षु–गोअक्षु–गोक्षु। गत्यर्थ तथा पूजार्थ इन दोनों में मिलाकर 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' वार्त्तिक से पाक्षिक 'ख्' का विधान होने से और ६ रूप नहीं हो सकते, क्योंकि 'चयो द्वितीयाः' वार्तिक की दृष्टि में चर्त्व के असिद्ध होने से वहाँ 'क्' ही नहीं है। 'कुक्' पक्ष में उसके असिद्ध होने से जश्त्व

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(सू ४१७) इत्यलोपः । गोचो । पूजायां तु, गवाञ्ची-गोअञ्ची-गोऽञ्ची । 'जश्शसोः शिः' (सू० ३१२) । शेस्सर्वनामस्थानत्वान्नुम् । गवाञ्चि-गोअञ्चि-गोऽञ्चि । गतिपूजनयो-

---

संख्ययोः' इति कोशात् शतशब्दस्य संख्यापरत्वे गवाक्छब्दस्य रूपाणामिति भाव्यम्, संख्येयपरत्वे तु मतमित्येकवचनानुपपत्तिरिति निरस्तम् । संख्येयपरत्वमाश्रित्य इति शब्दमध्याहृत्य नवाधिकशतं रूपाणीति मतमित्यर्थाश्रयणात् । यद्वा शतशब्दस्य संख्येयपरत्वेऽपि शतमित्येकत्वाभिप्रायं मतमित्येकवचनमित्यदोषः । नवाधिकशतमित्येतत् प्रपञ्चयति—स्वम्सुप्सु नवेति । प्रत्येकमिति शेषः । रूपाणीति सर्वत्रान्वेति । षड् भादौ षट्के स्युरिति । भिसि भ्यांन्नये, भ्यस्द्वये च प्रत्येकं षडित्यर्थः । त्रीणि जश्शसोरिति । प्रत्येकमिति शेषः । चत्वारि शेषे दशक इति । प्रत्येकमिति शेषः । स्वम्सुप्सु नवेत्येतदुपपादयति—तथाहीति गामञ्चतीति । गां गच्छति पूजयति वेत्यर्थः । क्विनि उपपदसमासे, सुब्लुकि, गो अञ्च् इति स्थिते प्रक्रियां दर्शयति—गतौ नलोप इति । गत्यर्थकत्वे 'अनिदिताम्' इति नस्य लोप इत्यर्थः । गवाक्-गवागिति । गो अच् स् गो अच् अम् इति स्थिते स्वमोर्लुकि, अक्लीबस्येति पर्युदासात् सर्वनामस्थानत्वाभावेन 'उगिदचाम्' इति नुमभावे, ओकारस्य अवङादेशे सवर्णदीर्घः, जश्त्वचर्त्वे इति भावः । सर्वत्रेति । अवङादेशस्य वैकल्पिकत्वात्तदभावपक्षे "सर्वत्र विभाषा'इति प्रकृतिभावात् 'एङः पदान्तादति'इति पूर्वरूपस्याप्यभावे सतीत्यर्थः । पूर्वरूपे इति । अवङः, प्रकृतिभावस्य चाभावे 'एङः पदान्तात्' इति पूर्वरूपे सतीत्यर्थः । तदेवं गत्यर्थकत्वे षड् रूपाणि । पूजायामिति । 'नाञ्चेः पूजायाम्' इति नलोपाभावात् गो अञ्च् इत्यस्मात् स्वमोर्लुकि, चकारस्य संयोगान्तलोपे नकारस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वेन ङकारः । ततः अवङि प्रकृतिभावे पूर्वरूपे च त्रीणि रूपाणीति भावः । पूर्वोदाहृतषड्रूपसङ्कलनया सौ नव रूपाणि । औङः शीति । गत्यर्थत्वे नलोपे औङश्शीभावे च सति क्लीबस्येति पर्युदासादसर्वनामस्थानतया भत्वात् 'अचः' इत्यल्लोपे गोची इत्येकमेव रूपम्, अकारस्य लुप्तत्वेन अवङाद्यसंभवात् । पूजायां त्विति । अलुप्तनकारत्वात् 'अचः' इत्यल्लोपो नेति भावः । तथा च औङि त्रीणि रूपाणि । पूर्वोदाहृतैकरूपसंकलनया प्रत्येकं चत्वारि रूपाणि । शेः सर्वनामेति । गत्यर्थकत्वे नलोपे सति, शौ 'उगिदचाम्' इति नुमि, तस्य

न होने के कारण वैकल्पिक द्वितीय-वर्णात्मक आदेश होगा । तदनुसार तीन रूप तो बढ़ ही जाते हैं । (कारिका)—इन रूपों में भी अनुनासिक एवं वैकल्पिक द्वित्व होने से ५२७ रूप सिद्ध होंगे । इसे विद्वान् स्वयं समझें । तिर्यक्, तिरश्ची, तिर्यञ्चि । यकृत्, यकृती, यकृन्ति । 'पदनो०' से वैकल्पिक 'यकन्' आदेश । यकानि । यक्ना, यकृता । शकृत्, शकृती, शकृन्ति । शकानि । शक्ना, शकृता । ददत्, ददती ।

विवरण—सूत्र में केवल स्थानी का निर्देश है । आदेश-वाचक पद की पूर्ति के लिये "ससजुषो रुः" (८-२-६६) से 'रुः' तथा "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च" (८-२-२९) से 'अन्ते' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । इसके साथ ही "पदस्य" (८-१-१६) का अधिकार भी है । तदनुसार इस सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "पद के अन्त में 'अहन्' शब्द के स्थान पर 'र्' आदेश हो" । "अलोऽन्त्यस्य" परिभाषा के अनुसार आदेश अन्त्य वर्ण को अभिलक्षित कर प्रवृत्त होगा । 'पदान्त' की अपेक्षा होने के कारण हलादि प्रत्ययों में ही इस आदेश की प्रवृत्ति होगी । उदाहरण—अहन्+भ्याम्, <अहर्+भ्याम्, (न्=र्), <अह-उ+भ्याम् (रु = उ-"हशि च"-१६६), <अहोभ्याम् (अ+उ = ओ—गुण) । अहोभिः (प्रक्रिया पूर्ववत्) । (घ) अह्ने, अहोभ्याम्, अहोभ्यः । (ङ) अह्नः, अहोभ्याम्, अहोभ्यः । (च) अह्नः, अह्नोः, अह्नाम् । (छ) अह्नि-अहनि (वैकल्पिक 'अ'लोप-"विभाषा ङिश्योः"-२३७), अह्नोः, अहःसु-रसु । सम्बोधन-हे अहः, हे अह्नी-हे अहनी, हे अह्नानि ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्त्रीण्येव। गोचा,-गवाञ्चा-गोअञ्चा-गोऽञ्चा। गवाग्भ्याम्-गोअग्भ्याम्-गोऽग्भ्याम्, गवाङ्भ्याम्-गोअङ्भ्याम्-गोऽङ्भ्याम् इत्यादि। सुपि तु ङान्तानां, पक्षे 'ङ्णोः कुक्—'

'नश्च' इत्यनुस्वारः, परसवर्ण इति भावः। पूजार्थकत्वे तु अलुप्तनकारत्वान्नभ् न। किन्तु स्वाभाविकनकारस्य अनुस्वारः परसवर्ण इति भावः। गतिपूजनयोः शौ अविशिष्टान्येव त्रीणि रूपाणीत्याह—गतिपूजनयोर्ञीण्येवेति। गोचेति। गत्यर्थकत्वे लुप्तनकारत्वाद् 'अचः' इत्यल्लोपे एकमेव रूपमिति भावः। पूजार्थत्वे तु अलुप्तनकारत्वात् 'अचः' इत्यल्लोपाभावे अवङि, प्रकृतिभावे, पूर्वरूपे च त्रीणि रूपाणीत्याह—गवाञ्चा गोअञ्चा गोऽञ्चेति। भ्यामि गत्यर्थकत्वे नलोपे सति चस्य जश्त्वे कुत्वे अवङ्सन्धिपूर्वरूपैः त्रीणि रूपाणि। पूजार्थत्वे तु नलोपाभावात् चकारस्य संयोगान्तलोपे नकारस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य' इति कुत्वेन ङकारे अवङ्सन्धिपूर्वरूपैः त्रीणि रूपाणीत्यभिप्रेत्याह—गवाग्भ्यामित्यादिना इत्यादीति। गवाग्भिः गोअग्भिः गोऽग्भिः। गवाङ्भिः गोअङ्भिः गोऽङ्भिः। गोचे गवाञ्चे गोऽञ्चे। भ्यामि, भ्यसि च प्राग्वत् षड् रूपाणि। ङसौ, गोचः-गवाञ्चः-गोअञ्चः-गोऽञ्चः। भ्यामि, भ्यसि च, प्राग्वत्। ङसि, गोचः-गवाञ्चः-गोअञ्चः-गोऽञ्चः। गोचोः-गवाञ्चोः-गोअञ्चोः-गोऽञ्चोः। गोचाम्-गवाञ्चाम्-गोअञ्चाम्-गोऽञ्चाम्। गोचि-गवाञ्चि-गोअञ्चि-गोऽञ्चि। ओसि प्राग्वत्। सुपि त्विति। पूजार्थकत्वे नलोपनिषेधात् चकारस्य संयोगान्तलोपे नकारस्य

विशेष—यद्यपि अहः, अहोभ्याम् इत्यादि स्थलों में रत्व तथा रुत्व दोनों ही विधानों के "नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य" (८-२-७) की दृष्टि से असिद्ध होने के कारण 'न्' लोप प्राप्त होता है। तथापि इसका निवारण "अहन्" (८-२-६८) सूत्र की आवृत्ति करने से हो जाता है। प्रथम से तो 'न्' लोप के अभाव का निपातन तथा द्वितीय से 'रु' विधान करने पर उक्त रूपों की सिद्धि ही जाती है।

निर्देश—१—प्रसङ्गवश यह स्मरण कराया जारहा है कि "अहन्" (८-२-६७) तथा "रोऽसुपि" (८-२-६९) से विधीयमान 'रु' एवं 'र्' आदेश "पदस्य" (८-१-१) अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत होने के कारण पदान्तविधि से प्रभावित होते हैं। अतः 'अहन्'-शब्दान्त पदों में भी यथास्थान इनकी प्रवृत्ति होती है। तदनुसार 'दीर्घाहन्' शब्द को अभिलक्षित कर रूपप्रक्रिया बताई जारही है। विग्रह—दीर्घाणि अहानि यस्मिन् सः—लम्बे दिनों वाला—ग्रीष्म ऋतु। (क) दीर्घाहन्+स् (सु), <दीर्घाहन् ('स्'-विभक्ति-लोप), <दीर्घाहर् (न् = रु), दीर्घाहार् (उपधादीर्घ), <दीर्घाहाः (र् = :)। दीर्घाहानौ (उपधा-दीर्घ), दीर्घाहानः। (ख) सम्बोधन के एकवचन में हे दीर्घाहः ('स्' विभक्तिलोप होने के पश्चात् प्रत्ययलक्षण द्वारा 'असम्बुद्धौ' निषेध के कारण उपधा-दीर्घ की प्रवृत्ति न होने से 'रु' होकर विसर्ग हुआ)। सम्बोधन के द्विवचन तथा बहुवचन में प्रथमा-विभक्ति के समान रूप होंगे। तृतीया में—दीर्घाह्ना, दीर्घाहोभ्याम्, दीर्घाहोभिः। अवशिष्ट रूप 'अहन्' शब्द के समान बनते हैं।

२—'दण्डिन्' (= दण्डधारण करनेवाला संन्यासी-कुल) शब्द के रूप इस प्रकार हैं। प्रथमा—दण्डि ('स्'-विभक्ति एवं 'न्'-लोप), दण्डिनौ, दण्डीनि (उपधादीर्घ)। द्वितीया में भी यही रूप होते हैं। तृतीयादि अजादि-विभक्तियों में कोई परिवर्तन नहीं होता। 'नकार' विभक्तियों से संयुक्त हो जाता है। हलादि विभक्तियों में 'न्' का लोप होता है।

३—स्रग्विन् (=माला से युक्त कुल) शब्द के रूप 'दण्डिन्' शब्द के समान होते हैं। केवल 'न्' के स्थान पर 'ण्' विधान अधिक है।

४—इसी प्रकार 'वाग्मिन्' (= वक्ताओं का कुल) शब्द के रूप भी जाने जायँ। शब्द-रचना—वाच्+ग्मिन्, <वाक्+ग्मिन्, <वाग्मिन्—दो गकार हैं, एक तो प्रत्यय का और दूसरा 'च्' का परिवर्तित कुत्व रूप है।

५—बहुवृत्रहन् (= बहुत इन्द्र) शब्द-सम्बन्धी विशेष-कार्यों का स्मरण दिलाया जारहा है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(सू० १३०) इति कुक्। गवाङ्क्षु-गोअङ्क्षु-गोऽङ्क्षु। गवाक्षु-गोअक्षु-गोऽक्षु। न चेह 'चयो द्वितीयाः' (वा २३) इति पक्षे ककारस्य खकारेण षण्णामाधिक्यं शङ्क्यम्। चर्त्वस्यासिद्धत्वात्। कुक्पक्षे तु तस्यासिद्धत्वाज्जश्त्वाभावे पक्षे चयो द्वितीयादेशात्त्रीणि रूपाणि वर्धन्त एव।

'क्विन्प्रत्ययस्य' इति कुत्वेन ङकारः। ततश्च अवङ्संधिपूर्वरूपैः त्रयाणां रूपाणां ङकारान्तानां कुगागम इत्यर्थः। कुगभावे तु गवाङ्षु-गोअङ्षु-गोऽङ्क्षिति त्रीणि रूपाणि सुगमत्वान्नोक्तानि। गतौ तु नलोपे सति तस्य कुत्वेन ककारे अवङ्संधिपूर्वरूपैः त्रीणि रूपाणि दर्शयति—गवाक्षु-गोअक्षु-गोऽक्ष्विति। तथा च सुपि नव रूपाणि। नन्वेषां मध्ये ककारवत्सु षड्रूपेषु 'चयो द्वितीयाः' इति ककारस्य खकारपक्षे षड् रूपाणि सखकाराण्यधिकानि स्युरित्याशङ्क्य निराकरोति-न चेहेति। चर्त्वस्येति। गतौ नलोपे सति, चकारस्य कुत्वे, तस्य जश्त्वेन गकारे, तस्य 'खरि च'इति चर्त्वेन ककारे, गवाक्षु, गोअक्षु, गोऽक्ष्विति त्रीणि रूपाणीति स्थितिः। तत्र 'चयो द्वितीयाः' इति शास्त्रदृष्ट्या चर्त्वशास्त्रस्यासिद्धत्वात् ककारो नास्त्येव, किन्तु गकार एवास्ति, तस्य चयत्वाभावात् 'चयो द्वितीयाः' इति न भवतीत्यर्थः। तथा च गतौ त्रयाणामाधिक्यं निरस्तम्। पूजायां तु कुक्पक्षे गवाङ्क्ष-गोअङ्क्षु-गोऽङ्क्षु इति त्रिषु ककारस्य द्वितीये सति खकारवतां त्रयाणामाधिक्यमिष्टमेवेत्याह—कुक्पक्षे त्विति। न चैवं सति नवाधिकशतमिति विरोधः शङ्क्यः, नवाधिकशतमिति सूत्रकारस्य मतमित्यर्थात्।

(क) बहुवृत्रह (सर्वनामस्थान न होने से दीर्घ नहीं किन्तु 'न्'-लोप)। बहुवृत्रघ्नी (औ = शी, वैकल्पिक 'अ'-लोप, ह् = घ्—"हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु"-३५८)—बहुवृत्रहणी ('अ'-लोप न होने पर न् = ण्—"एकाजुत्तरप॰दे णः"-३०७)। बहुवृत्रहाणि (जस् = शि, उपधा-दीर्घ—"इन्हन्पूषार्यम्णां शौ"-३५६)।

६—'बहुपूषन्' (= बहुत से सूर्यवाला—मन्वन्तर) शब्द के रूप इस प्रकार हैं। प्रथमा—बहुपूष ('स्'-विभक्ति एवं 'न्'-लोप), बहुपूष्णी—बहुपूषणौ (वैकल्पिक 'अ'-लोप तथा णत्व), बहुपूषाणि (उपधा-दीर्घ—३५६)।

७—'बहुर्यमन्' शब्द (बहवः अर्यमणः यस्मिन् = बहुत से सूर्य वाला—मन्वन्तर) के रूपसम्बन्धी विशेष कार्यों का स्मरण कराया जाता है। तदनुसार प्रथमा में ये रूप होते हैं—बहुर्यम ('स्'-विभक्ति एवं 'न्' लोप), बहुर्यम्णी—बहुर्यमणी (वैकल्पिक अ-लोप तथा णत्व), बहुर्यमाणि (उपधादीर्घ—३५६)।

८—'असृज्' (= रक्त) शब्द की प्रक्रिया इस प्रकार है। (क) असृज्+सु, <असृज् (विभक्तिलोप), <असृग् (कुत्व-"क्विन्प्रत्ययस्य कुः")—असृक् (पाक्षिक चर्त्व)। असृजौ (औ = शी, पदान्त न होने से कुत्व नहीं हुआ)। असृजि (जस् = शी, नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण)। द्वितीया-बहुवचन तथा तृतीयादि अजादि विभक्तियों में "पद्दन्नोमास्०" से पाक्षिक 'असन्' आदेश होगा। तदनुसार यहाँ असानि एवम् असृजि दो रूप बनते हैं। तृतीया—असृजा-असा (अलोप), असृग्भ्याम्-असभ्याम्, असृग्भिः-असभिः। चतुर्थी—असृजे-असे, असृग्भ्याम्-असभ्याम्, असृग्भ्यः-असभ्यः। पञ्चमी—असृजः-असः, असृग्भ्याम्-असभ्याम्, असृग्भ्यः-असभ्यः। षष्ठी—असृजः-असः, असृजोः-असोः, असृजाम्-असाम्। सप्तमी—असृजि-असि, असृजोः-असोः, असृक्षु-असासु। सम्बोधन—हे असृक्-ग्, हे असृजौ, हे असृजि।

९—'ऊर्ज्' शब्द (= बलवान्) के रूपभेद बताये जा रहे हैं। प्रथमा—ऊर्ज्+सु, <ऊर्ज्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊह्यमेषां द्विर्वचनानुनासिकविकल्पनात् ।
रूपाण्यश्वाक्षिभूतानि (५२७) भवन्तीति मनीषिभिः ॥

ऊह्यमेषामिति । प्रदर्शितानां द्वादशाधिकशतरूपाणामित्यर्थः । अश्वाक्षिभूतानि । सप्तविंशत्यधिकपञ्चशतानीत्यर्थः । अश्वशब्दो हि सप्तत्वसङ्ख्यावच्छिन्नलक्षकः, 'सप्ताश्वा हरितः सूर्यस्य' इति दर्शनात् । अक्षिशब्दस्तु द्वित्वसङ्ख्यावच्छिन्नलक्षकः, मनुष्यादिषु प्रायेणाक्ष्णोः द्वित्वात् । भूतशब्दस्तु पञ्चत्वसङ्ख्यावच्छिन्नलक्षकः पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां भूतशब्दवाच्यानां पञ्चत्वात् । तत्राश्वशब्देन प्रथमनिर्दिष्टेन सप्तत्वसंख्यैव विवक्षिता । अक्षिशब्देन तु द्वितीयनिर्दिष्टेन सूचितया द्वित्वसङ्ख्यया दशकद्वयात्मिका विंशतिसङ्ख्या विवक्षिता । भूतशब्देन तु तृतीयनिर्दिष्टेन सूचितया पञ्चत्वसङ्ख्यया पञ्चशतं लक्ष्यते । उक्तं च ज्यौतिषेण—

'एकदशशतसहस्रायुतलक्षप्रयुतकोटयः क्रमशः ।
अर्बुदमब्जं खर्वनिखर्वमहापद्मशङ्कवस्तस्मात् ॥
जलधिश्चान्त्यं मध्यं परार्धमिति दशगुणोत्तराः संज्ञाः ।' इति ॥

अत्र अश्वशब्दसूचितां सप्तत्वसङ्ख्यामादौ लिखित्वा तदुत्तरतः अक्षिशब्दसूचिता द्वित्वसङ्ख्या लेख्या । तदुत्तरतस्तु भूतशब्दसूचिता पञ्चत्वसङ्ख्या लेख्या । 'अङ्कानां वामतो गतिरिति' वचनात्-इत्यादि गणकसम्प्रदायप्रवर्तकलीलावत्यादिग्रन्थतो ज्ञेयम् । तथा च सप्त च विंशतिश्च पञ्च शतानि च रूपाणि भवन्तीति मनीषिभिरूह्यमित्यर्थः । तथा हि—सौ नवानां रूपाणामन्त्यवर्णस्य 'अनचि च' इति द्वित्वे तदभावे च अष्टादश रूपाणि । प्रथमाद्विवचने चतुर्णां मध्ये पूजार्थानां त्रयाणां जकारस्य 'अनचि च' इति द्वित्वे तदभावे च षड् रूपाणि । 'अणोऽप्रगृह्यस्य' इति तु न, प्रगृह्यत्वात् । गतौ त्वेकमेव । सङ्कलनया सप्त । जसि तु त्रयाणां जकारस्य द्वित्वे तदभावे च षड् रूपाणि, षण्णामेषामन्त्यस्य इकारस्य 'अणोऽप्रगृह्यस्य' इत्यनुनासिकपक्षे षट्, अनुनासिकत्वाभावपक्षे तु षट् स्थितान्येव । सङ्कलनया जसि द्वादश । तथा च प्रथमायां विभक्तौ सप्तत्रिंशत् । एवं द्वितीयायां विभक्तावपि सप्तत्रिंशत् । तृतीयैकवचने तु चतुर्णां मध्ये पूजार्थानां त्रयाणां जकारद्वित्वे तदभावे च षट्

('सु'-लुक्), ऊर्ग् (कुत्व)-ऊर्क् (पाक्षिक चर्त्व) । ऊर्जौ (औ=शी) । ऊर्ज्+जस्, <ऊर्ज्+इ (जस्=शि), <ऊ न् र् ज्+इ (ऊ से पर नुम्), <ऊन्र्जि । द्वितीया में भी यही रूप होंगे । 'बहूर्ज्' शब्द के अधिकतर रूप 'ऊर्ज्' शब्द के समान होते हैं । प्रथमा तथा द्वितीया के बहुवचनों में दो रूप बनते हैं—बहूर्जि-बहूर्ञ्जि । इसका कारण 'नुम्' का पाक्षिक प्रतिषेध होना है । इसके अतिरिक्त 'नुम्' भी अन्त्य वर्ण से पूर्व स्थित रहता है । तदनुसार 'नुम्' न होने पर कोई परिवर्तन नहीं हुआ । 'नुम्' होने पर श्चुत्व के असिद्ध होने से 'न्' के स्थान पर "नश्चापदान्तस्य झलि" (१२३) से अनुस्वार होने के पश्चात् परसवर्ण होकर 'ञ्' होता है ।

१०—सर्वनामवाची 'त्यद्' 'तद्', 'यद्' तथा 'एतद्' शब्दों के रूपों में प्रथमा तथा द्वितीया के एक-वचन में 'सु' एवम् 'अम्' का लोप होता है । द्विवचन तथा बहुवचन में द् के स्थान में अकार एवं पररूप होकर अकारान्त नपुंसक-लिङ्ग शब्द के समान रूप निष्पन्न होते हैं । तृतीया से सप्तमी विभक्ति तक इन्हीं शब्दों के पुंलिङ्ग के समान रूप बनते हैं । एतद् शब्द में अन्वादेश होने पर 'एनत्' आदेश होगा ।

११—यङन्त √भिद् तथा 'छिद्' धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'बेभिद्' (विदीर्ण होनेवाला) एवं 'चेच्छिद्' (=दो में विभक्त होने वाला) प्रातिपदिक निष्पन्न होते हैं । इन शब्दों से विभक्तियाँ संयुक्त होनेपर क्रमशः 'बेभित्-द्, बेभिदी, बेभिदि' एवं 'चेच्छित्-द्, चेच्छिदी, चेच्छिदि' रूप बनते हैं ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूपाणि, गतौ त्वेकमेव। सङ्कलनया सप्त। एषां सप्तानामन्त्यस्य आकारस्य अनुनासिकत्वपक्षे सप्त। तदभावे तु सप्त स्थितान्येव, सङ्कलनया चतुर्दश। भ्यामि तु षण्णां मध्ये गतौ गकारस्य, पूजायां ङकारस्य च द्वित्वे षट्, तदभावे षट् स्थितान्येव। सङ्कलनया द्वादश। एषु यकारस्य 'यणो मयः' इति द्वित्वे द्वादश, मय इति पञ्चमी यण इति षष्ठीत्याश्रयणात्। यकारद्वित्वाभावे तु द्वादश स्थितान्येव। सङ्कलनया चतुर्विंशतिः। एषु भकारस्य द्वित्वे चतुर्विंशतिः, तदभावे चतुर्विंशतिः स्थितान्येव। सङ्कलनया भ्यामि अष्टाचत्वारिंशत्। भिसि तु षण्णां मध्ये गतौ गकारस्य पूजायां ङकारस्य च द्वित्वे षट्, तदभावे षट् स्थितान्येव। सङ्कलनया द्वादश। एषु विसर्गस्य द्वित्वे द्वादश। अयोगवाहानाम् अट्सु शर्षु चोपसङ्ख्यातत्वेन विसर्गस्य यत्वात्। तस्य तु द्वित्वाभावे द्वादश स्थितान्येव, सङ्कलनया भिसि चतुर्विंशतिः। तथा च तृतीयाविभक्तौ षडशीतिः। चतुर्थ्येकवचने चतुर्णां मध्ये पूजार्थानां त्रयाणां भकारद्वित्वे तदभावे च षट्। गतौ त्वेकमेव। सङ्कलनया ङयि सप्त। एकारस्य अनण्त्वान्नानुनासिकः। भ्यामि तु प्राग्वदेव अष्टाचत्वारिंशत्। भ्यसि तु

इन दोनों शब्दों के प्रथमा एवं द्वितीया के बहुवचनों में 'नुम्' आगम नहीं होता। 'यङ्' से क्विप् होने की स्थिति में 'य' के अकार का लोप होता है। उस लोप को "अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" (५०) से स्थानिवद्भाव करने पर 'झल्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण अन्त में न् होने के कारण "नपुंसकस्य झलचः" (३१४) सूत्र से 'नुम्' आगम नहीं होता। इसके अतिरिक्त उसी अकार के लोप को स्थानिवद्भाव होने से अजन्त को अभिलक्षित कर होने वाला 'नुम्' आगम भी नहीं होता, क्योंकि अपने को विधान होने में स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है।

१२—'गवाञ्च्-च्' शब्द के सम्बन्ध में निर्देश दिये जारहे हैं। इस विषय में यह प्रवाद चला आरहा है कि किसी पण्डित ने राजसभा में यह प्रश्न किया कि कौन सा ऐसा शब्द है जिसके सब विभक्तियों में १०९ रूप सिद्ध होते हैं? यदि प्रतिभा हो तो इसका उत्तर कोई विद्वान् छह महीनों के भीतर दे। प्रश्नकर्ता ने विभक्तियों में सिद्ध होने वाले रूपों का विवरण भी दिया। उस शब्द के रूपों का विभाजन इस तरह बताया गया है। तदनुसार 'सु' तथा 'अम्' विभक्तियों में प्रत्येक के नौ रूप होते हैं। 'भ्याम्', 'भिस्' तथा 'भ्यस्' विभक्तियों में प्रत्येक के छह रूप होते हैं। 'सुप्' में भी नौ ही रूप बनते हैं। 'जस्' तथा 'शस्' में प्रत्येक के तीन रूप सिद्ध होते हैं। इन प्रत्ययों के अतिरिक्त अन्य सुप्-विभक्तियों में प्रत्येक के चार रूप बनते हैं[1]। इसका क्रमशः विश्लेषण किया जारहा है। (क) **प्रथमा**—सु—९, औ—४, जस्—३। **द्वितीया**—अम्—९, औट्—४, शस्—३। **तृतीया**—टा—४, भ्याम्—६, भिस्—६। **चतुर्थी**—ङे—४, भ्याम्—६, भ्यस्—६। **पञ्चमी**—ङसि—४, भ्याम्—६, भ्यस्—६। **षष्ठी**—ङस्—४, ओस्—४, आम्—४। **सप्तमी**—ङि—४, ओस्—४, सुप्—९।

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तरस्वरूप ग्रन्थ के मूलभाग में कारिका द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि नपुंसक लिङ्ग में 'गवाञ्च्-च्' शब्द के सब विभक्तियों में मिलाकर १०९ रूप बनते हैं। ये रूप √अञ्चु धातु के गति तथा पूजन इन दो अर्थों के कारण सम्भव हुए हैं। जिसके फलस्वरूप प्रकृतिभाव (असन्धि), अवङ्-आदेश तथा पूर्वरूप—इन विशेष विधानों के होने से इतने अधिक रूप निष्पन्न होते हैं तथा उपर्युक्त १०९ रूपों की सिद्धि का प्रकार भी बताया जारहा है। ऊपर बताया जा चुका है कि √अञ्चु धातु का प्रयोग दो अर्थों में होता है—पूजा तथा गति। उसके

१—"जायन्ते नव सौ तथामि नव भ्याम्-भिस्-भ्यसां सङ्गमे,
षट्-संख्यानि नवैव सुप्यथ जसि त्रीण्येव तद्वच्छसि।
चत्वार्यन्यवचःसु कस्य विबुधाः शब्दस्य रूपाणि तद्,
जानन्तु प्रतिभास्ति तन्निगदितुं षण्मासिकोऽत्रावधिः॥"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षण्णां मध्ये गतिपूजनयोः प्रत्येकं त्रयाणां गङ्योर्द्वित्वे षट्। तदभावे तु षट् स्थितान्येव। सङ्कलनया द्वादश। एषु यकारस्य 'यणो मयः' इति द्वित्वे द्वादश, तदभावे तु द्वादश स्थितान्येव। सङ्कलनया चतुर्विंशतिः। एषु विसर्गस्य द्वित्वे चतुर्विंशतिः, तदभावे तु चतुर्विंशतिः स्थितान्येव। सङ्कलनया भ्यसि अष्टाचत्वारिंशत्। तथा च चतुर्थ्यां विभक्तौ त्र्यधिकं शतम्। ङसौ तु पूजायां त्रयाणां रूपाणां ञकारद्वित्वे, तदभावे च षट्, गतौ त्वेकं स्थितमेव। सङ्कलनया सप्त। एषु विसर्गद्वित्वे सप्त, तदभावे तु सप्त स्थितान्येव। सङ्कलनया ङसौ चतुर्दश। भ्यामि भ्यसि च प्राग्वत् प्रत्येकम् अष्टाचत्वारिंशत्। तथा च पञ्चम्यां विभक्तौ दशाधिकं शतम्। ङसि तु ङसिवच्चतुर्दश। ओसि तु चतुर्णां मध्ये पूजायां त्रयाणां

गति अर्थ में 'न्' का लोप विहित है—"अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति"-(४१५)। पूजार्थक √अञ्चु धातु के 'न्' का लोप नहीं होता—"नाञ्चेः पूजायाम्" (४२४)। √अञ्चु धातु में श्रूयमाण 'ञ्' मूलरूप में 'न्' है। अनुस्वार और परसवर्ण होने के कारण 'ञ्' का श्रवण होता है। उसमें भी अनुस्वार एवं परसवर्ण-ये दोनों असिद्ध हैं। अतः 'नकार'-बुद्धि होने से 'न्' का लोप हो जाता है। 'गाम् अञ्चति' (=गाय के पीछे चलनेवाला कुल आदि) अर्थ में 'गो' शब्द उपपद रहते 'अञ्च्' धातु से 'क्विन्' प्रत्यय ("ऋत्विक्-दधृक्-स्रग्-दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च"—२७३) करने पर (गो अञ्च्+क्विन्) क्विन्का सर्वापहार हो जाता है। (क) गो-अञ्च्+स् (सु), <गो—अच्+स् ('न्'-लोप-४१५), <गो-अच् ('स्'-विभक्तिलोप) <ग्—अव-अच् (ओ = वैकल्पिक अवङ्—"अवङ् स्फोटायनस्य"-८८), <गवाच् (अ+अ = आ दीर्घ), <गवाज् (च् = ज्—जश्त्व)—(१) गवाग् (ज् = ग्-कुत्व-"क्विन्प्रत्ययस्य कुः"-३७७)-(२) गवाक् (पाक्षिक चर्त्व)। 'अवङ्' के न होने पर पाक्षिक प्रकृतिभाव ("सर्वत्र विभाषा गोः"-८७)-(३) गोअक (४) गोअग्। प्रकृतिभाव न होने पर पूर्वरूप ('एङः पदान्तादति'-८६) होने से (५) गोऽक् तथा (६) गोऽग्। पूजार्थ में (गाम् अञ्चति-गाय की पूजा करता है) गो-अञ्च्+स्, <गो-अन् च् ('स्'-विभक्तिलोप), <गो-अन् ('च्'-संयोगान्तलोप), <गो-अङ् (न् = ङ्-कुत्व-२७७), <गव+अङ् (ओ = वैकल्पिक 'अव'-८८), (७) गवाङ् (दीर्घ), अवङ् न होने पर (वैकल्पिक प्रकृतिभाव-८७)—(८) गो-अङ्। प्रकृतिभाव न होने पर पूर्वरूप—(९) गोऽङ्। (ख) गति अर्थ में गो-अन्-च्+औ, <गो-अच्+औ ('न्'-लोप-४१५), <गो-च्+ई (शी तथा 'अ'-लोप-"अचः"-४१६)—(१) गोची। पूजार्थ में 'न्'-लोप नहीं हुआ। ओ = पाक्षिक अवङ् तथा दीर्घ होकर—(२) गवाञ्ची। अवङ् के अभाव में पाक्षिक प्रकृतिभाव—(३) गोअञ्ची। प्रकृतिभाव के न होने पर पूर्वरूप—(४) गोञ्ची। गत्यर्थ तथा पूजार्थक दोनों अर्थों में प्रथमा-बहुवचन में समान रूप बनते हैं। कारण यह है कि गत्यर्थ में 'न्' का लोप होने पर भी जस् के स्थान पर शि की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने से 'नुम्' आगम होने के फलस्वरूप 'न्' की पुनः स्थिति हो जाती है। पूजार्थ में 'न्'लोप नहीं होता। प्रक्रिया—गो-अञ्च्+जस्, <गो-अञ्च्+इ (जस्=शि), <गव-अञ्च्+इ,—(१) गवाञ्चि। अवङ् के न होने पर पाक्षिक प्रकृतिभाव—(२) गोअञ्चि। प्रकृतिभाव के न होने पर पूर्वरूप—(३) गोऽञ्चि। गति अर्थ में तृतीया के एकवचन में 'न्' का लोप होने के कारण "अचः" (४१६) से 'अ' का लोप होता है। तदनुसार गो-अच्+आ (टा)—(१) गोचा। पूजार्थ में 'न्'-लोप न होने से 'अ'-लोप भी नहीं होता। अतः पाक्षिक अवङ्, पाक्षिक प्रकृतिभाव तथा पूर्वरूप होकर (२) गवाञ्चा-(३) गोअञ्चा—(४) गोञ्चा रूप सिद्ध होते हैं। गत्यर्थक तृतीया-द्विवचन में 'न्'-लोप 'च्' को जश्त्व = 'ज्', 'ज्' को कुत्व = 'ग्', पाक्षिक प्रकृतिभाव तथा पूर्वरूप होने पर—(१) गवाग्भ्याम्-(२) गोअग्भ्याम्-(३) गोऽग्भ्याम् रूप बनते हैं। पूजार्थ में 'च्' का संयोगान्तलोप, 'न्' को कुत्व='ङ्', पाक्षिक अवङ्, पाक्षिक प्रकृतिभाव तथा पूर्वरूप होने से (४) गवाङ्भ्याम्—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ञकारस्य द्वित्वे तदभावे च षट्,गतौ त्वेकम्। सङ्कलनया सप्त। एषु विसर्गस्य द्वित्वे तदभावे च चतुर्दश। आमि तु चतुर्णां मध्ये पूजायां त्रयाणां त्रिषु ञकारस्य द्वित्वे षट्, गतौ त्वेकम्। सङ्कलनया सप्त। एषु मकारस्य द्वित्वे तदभावे च चतुर्दश। तथा च षष्ट्यां द्विचत्वारिंशत्। ङौ पूजायां त्रयाणां ञकारस्य द्वित्वे, तदभावे च षट्, गतावेकम्। सङ्कलनया सप्त। एषु अन्त्यस्य इकारस्य अनुनासिकत्वे तदभावे च चतुर्दश। ओसि प्राग्वच्चतुर्दश। सुपि तु द्वादशानां मध्ये पूजायां क्रुगभावपक्षे ङकारस्य द्वित्वे त्रीणि, तदभावे तु त्रीणि स्थितान्येव, सङ्कलनया षट्। क्रुक्पक्षे तु 'चयो द्वितीयाः' इति द्वितीयादेशे खकारवन्ति त्रीणि,

---

(५) गोअङ्भ्याम्–(६) गोङ्भ्याम् रूप सिद्ध होते हैं। इसी तरह तृतीया-बहुवचन (भिस्) में उक्त प्रक्रिया के अनुसार (१) गवाग्भिः—(२) गोअग्भिः–(३) गोग्भिः,–(४) गवाङ्भिः–(५) गोअङ्भिः—(६) गोङ्भिः—रूप बनते हैं। चतुर्थी के एकवचन में तृतीया की तरह प्रक्रिया के अनुसार (१) गोचे—(२) गवाञ्चे—(३) गोअञ्चे—(४) गोञ्चे रूप जाने जायँ। द्विवचन में पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार (१) गवाग्भ्याम्–(२) गोअग्भ्याम्–(३) गोग्भ्याम्,–(४) गवाङ्भ्याम्–(५) गोअङ्भ्याम्–(६) गोङ्भ्याम् रूप होते हैं। इसी तरह बहुवचन में भी पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार (१) गवाग्भ्यः—(२) गोअग्भ्यः (३) गोग्भ्यः, (४) गवाङ्भ्यः–(५) गोअङ्भ्यः–(६) गोङ्भ्यः रूप निष्पन्न होते हैं। पञ्चमी के एकवचन (ङसि) में—(१) गोचः,–(२) गवाञ्चः–(३) गोअञ्चः–(४) गोञ्चः। द्विवचन में—(१) गवाग्भ्याम्–(२) गोअग्भ्याम्–(३) गोग्भ्याम्–(४) गवाङ्भ्याम्—(५) गोअङ्भ्याम्–(६) गोङ्भ्याम्। बहुवचन में—(१) गवाग्भ्यः–(२) गोअग्भ्यः–(३) गोग्भ्यः–(४) गवाङ्भ्यः–(५) गोअङ्भ्यः–(६) गोङ्भ्यः। षष्ठी के एकवचन (ङस्) में—(१) गोचः–(२) गवाञ्चः–(३) गोअञ्चः–(४) गोञ्चः। द्विवचन में—(१) गोचोः–(२) गवाञ्चोः–(३) गोअञ्चोः–(४) गोञ्चोः। बहुवचन में (१) गोचाम्,–(२) गवाञ्चाम्–(३) गोअञ्चाम्–(४) गोञ्चाम्। सप्तमी के एकवचन में—(१) गोचि,–(२) गवाञ्चि–(३) गोअञ्चि–(४) गोञ्चि। द्विवचन में (१) गोचोः,–(२)–गवाञ्चोः–(३) गोअञ्चोः–(४) गोञ्चोः। बहुवचन में नौ रूप बनते हैं। पूजार्थ में 'नृ'-लोप का निषेध होने से 'च्' का 'संयोगान्तलोप, 'नृ' के स्थान पर क्रुत्व = ङ्, अवङ्, प्रकृतिभाव, पूर्वरूप, "ङ्णोः कुक् टुक् शरि" (१३०) से 'कुक्'–आगम, "अपदान्तस्य मूर्धन्यः" (२१०)–'सुप्' का 'स्' = ष् तथा क्+ष् = क्ष् होने से क्रमशः (१) गवाङ्क्षु–(२)–गोअङ्क्षु–(३) गोङ्क्षु रूप बनते हैं। 'कुक्' आगम के न होने पर भी अवङ्, प्रकृतिभाव, पूर्वरूप तथा स् = 'ष्' होकर (४) गवाङ्षु,–(५) गोअङ्षु (६) गोङ्षु रूप सिद्ध होते हैं। गति अर्थ में 'नृ' लोप होने के पश्चात् 'अञ्च्' के 'च्' को क्रुत्व = 'क्', 'जश्त्व'–'क्' = 'ग्', चर्त्व–ग् = क्, विभक्त्यवयव 'स्' = ष् तथा क्+ष् = 'क्ष्' होकर पाक्षिक अवङ्, पाक्षिक प्रकृतिभाव तथा पूर्वरूप करने पर (७) गवाक्षु–(८) गोअक्षु–(९) गोक्षु रूप सिद्ध होते हैं।

विशेष—गति एवं पूजा—दोनों अर्थों में 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' वार्तिक के आधार पर प्रथम वर्ण के स्थान पर पाक्षिक द्वितीय वर्ण (क् = ख्) न होने का कारण यह है कि "ङ्णो कुक् टुक् शरि" (८-३-२८) सूत्र से सम्बद्ध उक्त वार्तिक की दृष्टि में "खरि च" (८-४-५५) सूत्र अष्टाध्यायी-क्रम में पर होने से असिद्ध है। अतः छह अधिक रूपों की सम्भावना युक्तिसंगत नहीं है। तथापि जश्त्व की दृष्टि में 'कुक्'–आगम के असिद्ध होने के कारण गत्यर्थ में विहित तीनों रूपों के 'क्' के स्थानपर उक्त वार्तिक की प्रवृत्ति होने के फलस्वरूप द्वितीय-वर्ण (ख्) का श्रवण होना निर्बाध है। इस स्थिति में तीन रूपों के और बढ़ने से यह संख्या ११२ हो जाती है। तब तो १०९ संख्या का अतिक्रमण हो जाता है। फिर भी यह कहा जाता है कि सूत्रकार को १०९ रूप ही मान्य हैं। इसलिये पूर्वोक्त कारिका में १०९ का ही उल्लेख है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तदभावे तु ककारवन्ति त्रीणि। सङ्कलनया षट्। षण्णामेषां ङकारद्वित्वे षट्, तदभावे तु षट् स्थितान्येव। सङ्कलनया द्वादश। एषां द्वादशानां 'खयः शरः' इति पकारद्वित्वे द्वादश, तदभावे तु द्वादश स्थितान्येव। सङ्कलनया चतुर्विंशतिः। 'शरोऽचि' इति निषेधस्तु न, तस्य सौत्रद्वित्वमात्रविषयत्वात्। तथा च कुक्पक्षे चतुर्विंशतिः, कुगभावे तु षट् स्थितान्येव। सङ्कलनया पूजायां त्रिंशत्। गतौ तु त्रयाणां ककारस्य द्वित्वे त्रीणि, तदभावे तु त्रीणि स्थितान्येव। षण्णामेषां 'खयः शरः' इति पकारद्वित्वे षट्, तदभावे तु षट् स्थितान्येव। सङ्कलनया द्वादश। तथा च सङ्कलनया गतौ पूजायां च द्विचत्वारिंशत्। एषा-

---

इतने ही रूप बनें यह बात नहीं है। यहाँ इससे अधिक कई गुने रूपों के सिद्ध होने का विधान बताया जाता है। तदनुसार अन्तिम कारिका द्वारा संकेतित अर्थ इस बात का द्योतक है कि पाक्षिक द्वित्व तथा पाक्षिक अनुनासिक की प्रवृत्ति होने के फलस्वरूप इन रूपों की संख्या ५२७ हो जाती है। वह इस प्रकार है—(क) पूर्वोक्त **प्रथमा-विभक्ति के एकवचन** में सिद्ध हुए ९ रूपों मे अन्तिम वर्ण को "अनचि च" (४८) से पाक्षिक द्वित्व होने पर यह संख्या ९ से बढकर १८ हो जाती है। **प्रथमा-द्विवचन** के रूपों में से पूजार्थक ३ रूपों के 'अ्' को "अनचि च" (४८) से पाक्षिक द्वित्व होकर ६ रूप बनेंगे। गत्यर्थक १ रूप को संमिलित कर यह संख्या ७ हो जाती है। **प्रथमा-बहुवचन** में पूर्वोक्त ३ रूपों के 'अ्' को पाक्षिक द्वित्व होने से ६ रूप बनेंगे। इन ६ रूपों के अन्तम इकार को "अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः" (११०) के आधार पर पाक्षिक अनुनासिक होने से यह संख्या १२ हो जाती है। फलतः **प्रथमा विभक्ति** में इन सबका योग ३७ हुआ। (ख) **द्वितीया-विभक्ति** में भी समान रूप होने के कारण ३७ रूप होंगे। (ग) **तृतीया-एकवचन** के ४ रूपों में से पूजार्थक ३ रूपों में 'अ्' को पाक्षिक द्वित्व होने पर ६ रूप बनेंगे। अवशिष्ट गत्यर्थक १ रूप को मिलाकर यह संख्या ७ हो जाती है। इन सातों के अन्तिम वर्ण 'आ' को पाक्षिक अनुनासिक होने के कारण दुगने रूप होकर इनकी संख्या १४ हो जायेगी। **तृतीया-द्विवचन** के ६ रूपों में से गत्यर्थक के 'ग्' तथा पूजार्थक के 'ङ्' को पाक्षिक द्वित्व होने पर रूप-संख्या १२ हो जायगी। इन बारहों में 'यणो मयो द्वे वाच्ये' वार्तिक के आधार पर 'य्' को पाक्षिक द्वित्व करने से २४ रूप बनेंगे। इन चौबीसों में से प्रत्येक के अन्त्य 'म्' को पाक्षिक द्वित्व होने से यह संख्या ४८ हो जाती है। **तृतीया-बहुवचन** में पूर्वोक्त ६ रूपों में से गत्यर्थक एवं पूजार्थक दोनों के 'क्' तथा 'ङ्' को पाक्षिक द्वित्व होने पर १२ रूप बनेंगे। इन बारहों के पाक्षिक विसर्ग के द्वित्व होनेपर तृतीया विभक्ति में मिलाकर २४ रूप निष्पन्न होंगे। (घ) **चतुर्थी-एकवचन** के चार रूपों में से पूजार्थक तीन रूपों के 'अ्' को पाक्षिक द्वित्व करने पर ६ रूप बनते हैं। गत्यर्थ में पूर्वोक्त एक ही रूप रहता है। इस तरह इनका योग ७ होता है। एकार के 'अण्' न होने से उसे अनुनासिक नहीं हुआ। द्विवचन 'भ्याम्' में तृतीया के अनुसार ४८ रूप होते हैं। बहुवचन 'भ्यस्' के गति एवं पूजार्थक दोनों के छह रूपों में से प्रत्येक के 'ग्' तथा 'ङ्' को द्वित्व करने पर अतिरिक्त ६ रूप बनते हैं। इन्हें मिलाकर १२ रूप हुए। इन बारहों में 'यणो मयो द्वे वाच्ये' वार्तिक के आधार पर 'य्' को पाक्षिक द्वित्व होने पर यह संख्या २४ हो जाती है। इन चौबीसों में विसर्ग को द्वित्व करने पर इनका योग ४८ होता है। (ङ) **पञ्चमी**-विभक्ति के एकवचन 'ङसि' में पूजार्थक तीन रूपों के 'अ्' को पाक्षिक द्वित्व होने से ६ रूप बनते हैं। गत्यर्थक एकरूप अवशेष है। उसे मिलाकर यह संख्या ७ हुई। इन सातों के विसर्ग को पाक्षिक द्वित्व होने से इनका योग १४ हो जाता है। द्विवचन 'भ्याम्' में पहले की तरह ४८ एवं **बहुवचन** 'भ्यस्' में भी ४८ रूप सिद्ध होत हैं। (च) **षष्ठी-एकवचन** 'ङस्' में पञ्चमी-एकवचन के समान १४ रूप निष्पन्न होते हैं। द्विवचन 'ओस्' के चार रूपों में से पूजार्थक तीन रूपों में 'अ्' को द्वित्व होकर ६ रूप बनेंगे। गत्यर्थक १ रूप के मिलने से यह संख्या ७ होती है। इन सातों के विसर्ग को पाक्षिक द्वित्व होने से इनका योग १४ हो जाता है। **बहुवचन** 'आम्' के चार रूपों में से पूजार्थक तीन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिर्यंक्, तिरश्ची, तिर्यञ्चि । पूजायां तु—तिर्यङ्, तिर्यञ्ची, तिर्यञ्चि । इति चान्ताः ।

मन्त्यानुनासिकत्वे तदभावे च सुपि चतुरशीतिः । एवं च सु अष्टादश (१८), औ सप्त (७), जस् द्वादश (१२), आहत्य प्रथमायां सप्तत्रिंशत् (३७) । अम् अष्टादश (१८), औट् सप्त (७), शस् द्वादश (१२), आहत्य द्वितीयायां सप्तत्रिंशत् (३७) । टा चतुर्दश (१४), भ्याम् अष्टाचत्वारिंशत् (४८), भिस् चतुर्विंशतिः (२४), आहत्य तृतीयायां षडशीतिः (८६) । ङे सप्त (७), भ्याम् अष्टाचत्वारिंशत् (४८), भ्यस् अष्टाचत्वारिंशत् (४८), आहत्य चतुर्थ्यां त्र्यधिकं शतम् (१०३) । ङसि चतुर्दश (१४), भ्याम् भ्यसोः (प्रत्येकं) अष्टाचत्वारिंशत् (४८+४८), आहत्य पञ्चम्यां दशाधिकं शतम् (११०) । ङस् चतुर्दश (१४), ओस् चतुर्दश (१४), आम् चतुर्दश (१४), आहत्य षष्ठ्यां द्वाचत्वारिंशत् (४२) । ङि चतुर्दश (१४), ओस् चतुर्दश (१४), सुप् चतुरशीतिः (८४), आहत्य सप्तम्यां द्वादशाधिकं शतम् (११२) । ततश्च सङ्कलनया पञ्चशतानि च, विंशतिश्च, सप्त च (५२७) रूपाणि । इति गवाक्छब्दप्रक्रिया । तिर्यंगिति । तिरः अञ्चति

रूपों के 'ञ्' को पाक्षिक द्वित्व होने पर ६ रूप एवम् अवशिष्ट गत्यर्थक १ रूप के योग से यह संख्या ७ होती है । इन सातों के 'म्' को पाक्षिक द्वित्व करने से दोनों मिलकर १४ रूप निष्पन्न होते हैं । (छ) सप्तमी-एकवचन के चार रूपों में से पूजार्थक तीनों रूपों में 'ञ्' को पाक्षिक द्वित्व करने से यह संख्या ६ हो जाती है । अवशिष्ट गत्यर्थक १ रूप मिलकर इनका योग ७ हो जाता है । इन सातों के अन्त्य 'इ' को पाक्षिक अनुनासिक करने से इनकी संख्या १४ हो जाती है । द्विवचन 'ओस्' में पहले की तरह १४ रूप सिद्ध होंगे । बहुवचन 'सुप्' के ९+३ = १२ रूपों में से पूजार्थक ६ रूप हैं । इनमें भी पाक्षिक 'कुक्' आगम होने से तीन रूप तो 'क्' वर्ण के संयुक्त होने के कारण तथा उसके न होनेपर तीन रूप 'ङ्' की विद्यमानता सूचित करते हैं । 'कुक्' आगम होनेपर 'चयो द्वितीयाः०' वार्तिक की पाक्षिक प्रवृत्ति होनेपर 'क्' के स्थान पर द्वितीय वर्ण 'ख्' होने से पूर्वोक्त तीन रूपों के अतिरिक्त ये तीन अधिक होने के कारण मिलकर ६ हो जाते हैं । इन छहों में 'ङ्' को पाक्षिक द्वित्व होने से यह संख्या १२ हो जाती है । इन बारहों में 'खयः शरः' वार्तिक के आधार पर 'घ्' को पाक्षिक द्वित्व होने से मिलकर २४ हो जाते हैं । "शरोऽचि" (३४०) से द्वित्व का निषेध केवल सूत्रोक्त विधान में प्रवृत्त होता है । यहाँ पर द्वित्व वार्तिक से विहित होने के कारण निषेध नहीं होता । 'कुक्' आगम न होने पर पूर्वोक्त अवशिष्ट ६ रूपों को सङ्कलित करने पर पूजार्थ में इनका योग ३० हो जाता है । गत्यर्थक तीन रूपों में 'क्' को पाक्षिक द्वित्व होने पर यह संख्या ६ हो जाती है । इन छहों के 'घ्' को 'खयः शरः' वार्तिक के आधार पर पाक्षिक द्वित्व होने से यह संख्या १२ होती है । इस तरह पूजार्थक एवं गत्यर्थक रूपों का योग ४२ हुआ । इन बयालीसों के अन्त्य 'उ' को पाक्षिक अनुनासिक करने पर ८४ रूप निष्पन्न होंगे । इस तरह 'गवाञ्च्' शब्द के सातों विभक्तियों में ५२७ रूप बनते हैं । पूर्वोक्त रूपों को संकलन करने से इनकी स्थिति इस प्रकार है—

विभक्ति	प्रत्यय	रूपसंख्या	योग
प्रथमा	सु, औ, जस्	१८+७+१२	३७
द्वितीया	अम्, औट्, शस्	१८+७+१२	३७
तृतीया	टा, भ्याम्, भिस्	१४+४८+२४	८६
चतुर्थी	ङे, भ्याम्, भ्यस्	७+४८+४८	१०३
पञ्चमी	ङसि, भ्याम्, भ्यस्	१४+४८+४८	११०
षष्ठी	ङस्, ओस्, आम्	१४+१४+१४	४२
सप्तमी	ङि, ओस्, सुप्	१४+१४+८४	११२
		महायोग	५२७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यकृत्, यकृती, यकृन्ति। 'पद्दन्—' (सू २२८) इति वा यकन्। यकानि। यक्ना—यकृता। शकृत्, शकृती, शकृन्ति—शकानि। शक्ना—शकृता। ददत्, ददती।

इति विग्रहे 'ऋत्विक्' आदिना क्विन्। गतौ 'अनिदिताम्' इति नलोपः। तिरस् अच् इत्यस्मात् सुबुत्पत्तिः, स्वमोर्लुक्, प्रत्ययलक्षणविरहात् असर्वनामस्थानत्वाच्च न नुम्। अभत्वात् 'अचः' इत्यल्लोपो न। तिरसस्तिर्यादेशः, यण्, 'क्विन्प्रत्ययस्य' इति कुत्वस्यासिद्धत्वात् चकारस्य 'चोः कुः' इति कुत्वम्, जश्त्वचर्त्वे इतिभावः। तिरश्ची इति। तिरस् अच् औ इति स्थिते औङः श्यामः, भत्वाद् 'अचः' इत्यल्लोपः। 'अलोपे' इत्युक्तेर्न तिर्यादेशः। सस्य श्चुत्वेन श इति भावः। तिर्यञ्चीति। तिरस् अच् इत्यस्माज्जसि 'जश्शसोः शिः' सर्वनामस्थानत्वान्नुम्, अनुस्वारपरसवर्णौ, तिरसस्तिरिः, यण्। अभत्वात् 'अचः' इत्यल्लोपो नेति भावः। पूजायां तु तिर्यञ्चिति। स्वमोर्लुकि अभत्वात् अलुप्तनकारत्वात् 'अचः' इत्यल्लोपाभावात्तिर्यादेशः, चकारस्य संयोगान्तलोपः, नस्य कुत्वेन ङकार इति भावः। तिर्यञ्ची इति। औङः श्यां रूपम्। अलुप्तनकारत्वादच इत्यल्लोपाभावात् तिरिः। तिर्यञ्चि इति। 'जश्शसोः शिः'। शेषं पुंवत्। इति चान्ताः। अथ तकारान्ता निरूप्यन्ते। यकृदिति। मांसपिण्डविशेषो यकृन्नाम याज्ञिकप्रसिद्धः। स्वमोर्लुक्, जश्त्वचर्त्वे इति भावः। यकृती इति। औङश्शी। यकृन्तीति। 'जश्शसोः शिः', झलन्तत्वान्नुम्, अनुस्वारपरसवर्णाविति भावः। शसादौ विशेषमाह—पदन्निति वा यकन्निति। यकानीति। शसश्शिः, यकन्नादेशः, सर्वनामस्थानत्वात् नान्तलक्षण उपधादीर्घ इति भावः। शक्नेति। टायां यकन्नादेशे अल्लोपः। यक्ने। यक्नः। यक्नोः। यक्निन्—यकनि। यकसु। यकन्नभावे यकृद्भ्यामित्यादि। शकृदिति। 'शकृच्छन्दः विष्ठावाची' यकृद्वत्। ददत् ददती इति। शतृप्रत्यया-

---

निर्देश—१—'तिर्यञ्च्' (= पक्षी 'तिरः अञ्चति' अर्थ में तिरस्—अञ्च्+क्विन्) शब्द के रूप बताये जा रहे हैं। (क) तिरस्—अञ्च् <तिरस्—अच्+सु (गत्यर्थ में 'न्'लोप), <तिरस्—अच् ('सु' विभक्तिलोप), <तिर्यच् (तिरस् = 'तिरि' आदेश तथा 'यण्'), <तिर्यक् (च् = क्—कुत्व), <तिर्यग् (क् = ग्—जश्त्व)—तिर्यक् (पाक्षिक चर्त्व)। तिरस्—अच्+औ, <तिरस—अच्+ई (शी), <तिरस्—च्+ई ('भ'संज्ञा होने से 'अ' लोप, "तिरसस्तिर्यलोपे" में 'अलोपे' कहने के कारण 'तिरि' आदेश नहीं), <तिरश्ची (स् = श्—श्चुत्व)। तिरस्—अच्+जस्, <तिरस्—अच्+इ (जस् = शि), <तिरस्—अन्च्+इ। (सर्वनामस्थान होने से नुम्), तिरि—अन् च्+इ (तिरस् = तिरि), <तिर्यञ्च्+इ ('न्' = अनुस्वार), <तिर्यञ्चि (अनुस्वार = ञ्—परसवर्ण)। पूजार्थ में तिर्यङ् ('स्'—विभक्तिलोप, 'न्' लोप नहीं, 'अ'लोप न होने से 'तिरि' आदेश, यण्, 'च्' का संयोगान्तलोप, न् = ङ्—कुत्व), तिर्यञ्ची (औ = शी, तिरस् = तिरि, यण्), तिर्यञ्चि (जस् = शि, तिरस्=तिरि, यण्)। द्वितीया में भी यही रूप होते हैं। तृतीया—तिरश्चा-तिर्यञ्चा, तिर्यग्भ्याम्-तिर्यङ्भ्याम्, तिर्यग्भिः-तिर्यङ्भिः। चतुर्थी—तिरश्चे-तिर्यञ्चे, तिर्यग्भ्याम्-तिर्यङ्भ्याम्, तिर्यग्भ्यः-तिर्यङ्भ्यः। पञ्चमी-तिरश्चः-तिर्यञ्चः, तिर्यग्भ्याम्-तिर्यङ्भ्याम्, तिर्यग्भ्यः-तिर्यङ्भ्यः। षष्ठी-तिरश्चः-तिर्यञ्चः, तिरश्चोः-तिर्यञ्चोः, तिरश्चाम्-तिर्यञ्चाम्। सप्तमी-तिरश्चि-तिर्यञ्चि, तिरश्चोः-तिर्यञ्चोः, तिर्यक्षु-तिर्यङ्क्षु-तिर्यङ्क्षु। हे तिर्यक्-हे तिर्यङ्, हे तिरश्ची-हे तिर्यञ्ची, हे तिर्यञ्चि।

२—यकृत् (= पित्त) शब्द की विभक्तियों में विशेष कार्य का स्मरण कराया जारहा है। प्रथमा—यकृत् ('सु'-विभक्ति लोप), यकृती (औ = शी), यकृन्ति (जस् = शि, नुमागम) द्वितीया बहुवचन से सप्तमी बहुवचन तक वैकल्पिक 'यकन्' आदेश यकानि (यकृत् = यकन्)-यकृन्ति। तृतीया—यक्ना (यकृत् = यकन् तथा 'अ'-लोप)—यकृता। यकृभ्याम्-यकृद्भ्याम्। यकृभिः-यकृद्भिः इत्यादि।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४४४) वा नपुंसकस्य ७।१।७९ ॥ अभ्यस्तात्परो यः शता तदन्तस्य क्लीवस्य नुम् वा स्यात्सर्वनामस्थाने परे । ददन्ति-ददति । तुदत् । (४४५) आच्छीनद्योर्नुम् ७ । १ ।

न्तोऽयं ददच्छब्दः पुंल्लिङ्गनिरूपणे व्युत्पादितः । तस्य स्वमोर्लुक् । औङश्शी । नुम् तु न, असर्वनामस्थानत्वात्, 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति निषेधाच्च । शौ 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नित्यं लुम्निषेधे प्राप्ते ।

(४४४) वा नपुंसकस्य । 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति सूत्रे नञ्वर्जमनुवर्तते । नपुंसकस्येति व्यत्ययेन पञ्चम्यर्थे षष्ठी । 'इदितो नुम् धातोः' इत्यतो नुमिति उगिदचाम्' इत्यतः सर्वनामस्थाने इति च अनुवर्तते । तदाह—अभ्यस्तादित्यादिना । ददन्तीति । नुमि अनुस्वार-परसवर्णौ । तुददिति । 'तुद व्यथने' अस्माच्छतृप्रत्यये 'तुदादिभ्यश्शः' इति शः । शपोऽपवादः । 'अतो गुणे' इति शतुरकारेण पररूपे तुदच्छब्दः, तस्मात् स्वमोर्लुक्, प्रत्यय-लक्षणविरहात् असर्वनामस्थानत्वाच्च न नुम्, जश्त्वचर्त्वे इति भावः । तुदच्छब्दादौङः श्याम्, असर्वनामस्थानत्वान्नुमि अप्राप्ते ।

(४४५) आच्छीनद्योर्नुम् । 'नाभ्यस्तात्' इत्यतः शतुरिति, 'वा नपुंसकस्य' इत्यतो वेति चानुवर्तते । आदिति पञ्चमी । अङ्गस्य इत्यधिकृतं पञ्चम्या विपरिणम्यते, तच्च आदि-त्यनेन विशेष्यते तदन्तविधिः । परस्य इत्यध्याहियते । शतुरित्यनन्तरमवयवस्येत्यध्या-हियते । तेन च अङ्गस्येति षष्ठ्यन्तं विशेष्यते, तदन्तविधिः । अङ्गस्येत्यस्य आवृत्तिर्बोध्या । तदाह—अवर्णान्तादित्यादिना । 'इदितो नुम्' इत्यतः अनुवृत्त्यैव सिद्धे नुम्ग्रहणं स्पष्टार्थम् ।

३—इसी तरह 'शकृत्' (= मल) शब्द के रूप भी सिद्ध होते हैं । प्रथमा—शकृत्-शकृद्, शकृती, शकृन्ति । द्वितीया में शकृत-शकृद्, शकृती, शकृन्ति-शकानि रूप बनेंगे । शेष विभक्तियों में भी वैकल्पिक 'शकन्' आदेश होगा ।

४—'शतृ'-प्रत्ययान्त (तकारान्त) शब्दों की विशेषता बताई जारही है । सर्वप्रथम 'ददत्' (=देता हुआ) शब्द की रूपनिष्पत्ति का प्रकार बताया जारहा है (क) प्रथमा—ददत् (विभक्ति लोप) । ददती (औ=शी) ।

(४४४) पद—वा, नपुंसकस्य । अनुवृत्ति—अभ्यस्तात्, शतुः । विधिसूत्र (विकल्प) ।

मूलार्थ—अभ्यस्त से पर 'शतृ'-प्रत्ययान्त नपुंसक अङ्ग को सर्वनामस्थान में विकल्प से 'नुम्' होता है । ददन्ति-ददति । तुदत् ।

विवरण—प्रकृत सूत्र में विधान की जिज्ञासा शान्त करने के लिए "इदितो नुम् धातोः" (७-१-५८) से 'नुम्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । इसके अतिरिक्त "नाभ्यस्ताच्छतुः" (७-१-७८) से 'अभ्यस्तात्' तथा 'शतुः' एवं "उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः" (७-१-७०) सूत्र से 'सर्वनाम-स्थाने' की भी अनुवृत्ति आती है । इसके साथ ही "अङ्गस्य" (६-४-१) का अधिकार भी है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "अभ्यस्त-संज्ञक से परवर्ती 'शतृ'-प्रत्ययान्त नपुंसक अङ्ग को विकल्प से 'नुम्' आगम हो" । यह सूत्र "नाभ्यस्ताच्छतुः" (७-१-७८) का अपवाद है ।

उदाहरण—ददत्+जस्, <ददत्+इ ('शि'-"जश्शसोः शिः"-३१२), <ददत् न्+इ ('ददत्' में द्वित्व होने के कारण "उभे अभ्यस्तम्"-४२६ से अभ्यस्त संज्ञा हुई है, अतः वैकल्पिक 'नुम्' आगम), <ददन्ति । पक्ष में नुम् आगम न होने पर—ददति । द्वितीया-विभक्ति में भी यही रूप बनेंगे । आगे अजादि विभक्तियों में कोई परिवर्तन नहीं होता । 'तुद्' में 'त्' ही रहता है ।

(५) दूसरे तकारान्त 'तुदत्' शब्द के रूपभेद बताये जारहे हैं । (क) तुदत्+सु, <तुदत् ('स्'-विभक्ति लोप) ।

(४४५) पद—आत्, शीनद्योः, नुम् । अनुवृत्ति—वा, नुम्, शतुः, अङ्गस्य (अधिकार) । विधिसूत्र (विकल्प) ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८० ॥ अवर्णान्तादङ्गात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्याङ्गस्य नुम् वा स्याच्छीनद्योः परतः। तुदन्ती-तुदती। तुदन्ति। भात्, भान्ती-भाती, भान्ति। पचत्। (४४६) शप्श्यनोर्नित्यम् ७। १। ८१ ॥ शप्श्यनोरात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नित्यं नुम् स्याच्छी-

---

तुदन्ती-तुदन्ती इति। औङः श्यां नुमि, तदभावे च रूपम्। शविकरणे कृते शतुरकारेण परस्मिन् एकादेशे सति तुद इत्यवर्णान्तमङ्गम्, तदादिग्रहणेन विकरणविशिष्टस्याप्यङ्गत्वात्। ततश्च तुदत् इत्यन्यस्तकारः शतुरवयवः, तुद इत्यवर्णन्तादङ्गात् परश्चेति नुमिति भावः। अवर्णान्तादङ्गात् परो यः शतृप्रत्ययः इत्याश्रयणे तु अत्र नुम् न स्यात्। शविकरणाकारस्य शतुरकारस्य च एकादेशे कृते तस्य पूर्वान्तत्वे शतुरवर्णान्तादङ्गात् परत्वाभावात्, परादित्वे अवर्णान्ताङ्गाभावात्, उभयत आश्रयणे च अन्तादिवत्वनिषेधादित्यलम्। तुदन्तीति। जश्शसोश्शिः, सर्वनामस्थानत्वान्नुमिति भावः। भादिति। 'भा दीप्तौ' लुग्विकरणः। लटः शतरि कृते सर्वणदीर्घे भात् इति रूपम्। तस्मात् स्वमोर्लुक्, जश्त्वचर्त्वे इति भावः। भान्ती-भाती इति। 'औङः शी' 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति वा नुमिति भावः। भान्तीति। जश्शसोः शिः, सर्वनामस्थानत्वान्नुमिति भावः। पचदिति। पचधातोः लटः शतरि शप्, 'अतो गुणे' इति पररूपम्। पचत् इत्यस्मात् स्वमोर्लुगिति भावः। औङः श्याम् 'आच्छीनद्योः' इति विकल्पे प्राप्ते।

(४४६) शप्श्यनोर्नित्यम्। 'आच्छीनद्योर्नुम्' इत्यनुवर्तते। 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इत्यतः शतुरित्यनुवर्तते। अवयव इति चाध्याहियते। तदाह—शप्श्यनोरादित्यादिना। पचन्ती इति।

मूलार्थ—अवर्णान्त अङ्ग से पर 'शतृ' प्रत्ययान्त शब्दस्वरूप को 'शी' प्रत्यय अथवा 'नदी' संज्ञक के पश्चाद्वर्ती होने की स्थिति में विकल्प से 'नुम्' होता है। तुदन्ती-तुदती। तुदन्ति। भात्, भाती-भान्ती, भान्ति। पचत्।

विवरण—आगमी का परिज्ञान होने के लिए "नाभ्यस्ताच्छतुः" (७-१-७८) से 'शतुः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त "वा नपुंसकस्य" (७-१-७९) से 'वा' की अनुवृत्ति आने के कारण विकल्प से 'नुम्' आगम होगा। "अङ्गस्य" (६-४-१) का अधिकार है। इस प्रकार सूत्र का यह आशय है कि "'शी' प्रत्यय एवं 'नदी'-संज्ञक पर होने की स्थिति में अवर्णान्त अङ्ग से पर 'शतृ'-प्रत्ययान्त शब्द-स्वरूप को विकल्प से 'नुम्' आगम हो"। 'नुम्' में 'म्' इत्संज्ञक होने के कारण यह 'शतृ'-प्रत्ययान्त-शब्दस्वरूप के अन्त्य-स्वरवर्ण के आगे होता है। उदाहरण—तुदत्+औ, <तुदत्+ई (शी), <तुदन् त्+ई (अवर्णान्त अङ्ग 'तुद' से पर 'शतृ' प्रत्यय के अवयव 'त्' से पूर्व 'नुम्' आगम), <तुदन्ती—'नुम्' न होने पर—तुदती। तुदत्+जस्, <तुदत्+इ ("जश्शसोः शिः"—३१२), <तुदन्ति (सर्वनामस्थानसंज्ञा होने से 'नुम्'—"उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः"—३६१)। इसी प्रकार द्वितीया विभक्ति में भी रूप होते हैं। अन्य विभक्तियों के रूप सरल हैं।

निर्देश—जुहोत्यादि-गण में पढ़े हुए दीप्त्यर्थक 'भा' धातु से शतृ प्रत्यय करने पर तकारान्त 'भात्' शब्दसम्बन्धी विशेष कार्यों का निर्वचन किया जारहा है। प्रथमा—(क) भात्+स् <भात् ('स्' विभक्ति-लोप), भान्ती-भाती (औ = शी, वैकल्पिक नुम्—"आच्छीनद्योर्नुम्"—४४६)। भान्ति (जस् = शि, सर्वनामस्थानसंज्ञा होने से 'नुम्'—३६१)।

(६) 'शतृ' प्रत्ययान्त √पच् धातु से निष्पन्न 'पचत्' शब्द-सम्बन्धी विशेष कार्यों का निर्वचन किया जारहा है। प्रथमा—(क) पचत्+स्, <पचत् ('स्'-लुक्)।

(४४६) पद—शप्श्यनोः, नित्यम्। **अनुवृत्ति**—शीनद्योः, नुम्, शतुः, अङ्गस्य (अधिकार)। **विधिसूत्र।**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नद्योः परतः । पचन्ती, पचन्ति । दीव्यत्, दीव्यन्ती, दीव्यन्ति । इति तान्ताः । स्वप्-स्वब्, स्वपी । नित्यात्परादपि नुमः प्राक् 'अप्तृन्—'(सू २७७) इति दीर्घः, प्रतिपदोक्तत्वात् । नुम् । स्वाम्पि । 'निरवकाशत्वं प्रतिपदोक्तत्वम्' इति पक्षे तु प्रकृते तद्विरहान्नुमेव । स्वम्पि । स्वपा । 'अपो भि' (सू ४४२) । स्वद्भ्याम् । स्वद्भिः । इति पान्ताः । 'अर्तिपॄवपि—'(उ २७४) इत्यादिना धनेरुस्, षत्वस्यासिद्धत्वाद्धत्वम् । धनुः, धनुषी ।

औङः श्यां नुमि रूपम् । पचन्तीति । जश्शसोः शौ सर्वनामस्थानत्वान्नुमि रूपम् । दीव्यदिति । दिवुधातोः लटः शतरि श्यन् । 'हलि च' इति दीर्घः । दीव्यच्छब्दात् स्वमोर्लुगिति भावः । दीव्यन्ती इति । औङः श्यां नुमि रूपम् । 'शप्श्यनोः' इति नित्यं नुमिति भावः । दीव्यन्तीति । जश्शसोः शौ सर्वनामस्थानत्वात् नुमिति भावः । इति तान्ताः । अथ पकारान्ता निरूप्यन्ते । स्वविति । सु शोभनाः आपो यस्मिन् सरसीति बहुव्रीहिः । 'ऋक्पूरब्धूः' इति समासान्तस्तु न भवति, 'न पूजनात्' इति निषेधात् । 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' इति न भवति, तत्र अप इति कृतसमासान्तग्रहणात् । स्वप्शब्दात् स्वमोर्लुगिति भावः । स्वपी इति । औङः श्यां रूपम् । असर्वनामस्थानत्वाद् न नुमिति भावः । जशसोः शौ स्वप् इति स्थिते, 'अप्तृन्' इति दीर्घे, झलन्तलक्षणनुमि, अनुस्वारे, परसवर्णे, स्वाम्पि इति वक्ष्यति । तत्र 'अप्तृन्' इति दीर्घं बाधित्वा परत्वान्नित्यत्वाच्च नुमि कृते अकारस्य उपधात्वाभावात् कथं दीर्घ इत्यत आह—नित्यादित्यादि । प्रतिपदोक्तत्वादिति । 'अप्तृन्' इति दीर्घस्य अप्शब्दमुच्चार्य विहितत्वादित्यर्थः । ननु निरवकाशत्वं प्रतिपदोक्तत्वमिति 'छदिरुपधिबलेर्ढन्' इति सूत्रे 'शेषाद्विभाषा इति सूत्रे च भाष्ये स्थितम् । 'अप्तृन्' इति दीर्घस्तु न निरवकाशः, आपः इत्यत्र सावकाशत्वात् । अतोऽत्र नित्यत्वात् परत्वाच्च पूर्वं नुमागमे कथं दीर्घ इत्याशङ्क्य इष्टापत्त्या परिहरति—निरवकाशत्वमित्यादि । स्वम्पीति । दीर्घं बाधित्वा नुमि अनुस्वारपरसवर्णाविति भावः । केचित्तु 'अप्तृन्' इति दीर्घस्य निरवकाशत्वरूपप्रतिपदोक्तत्वाभावेऽपि प्रतिपदविधिस्तेन शीघ्रोपस्थितिकतया प्रथमं प्रवृत्तौ स्वाम्पि इत्येव युक्तमित्याहुः । इति पान्ताः । अथ षकारान्ता निरूप्यन्ते । धनुश्शब्दं व्युत्पादयति—धनेरिति । 'जनेरुसिः' इत्यतः उसिरित्यनुवर्तमाने 'अर्तिपॄवपियजितनिधनितपिभ्यो नित्' इत्यौणादिकसूत्रेण 'धन धान्ये' इत्यस्माद्धातोः उस्प्रत्यय इत्यर्थः । प्रत्ययावयवत्वात् सस्य षत्वे धनुष्शब्दः । तस्मात् स्वमोर्लुक् । तत्र षकारस्य कथं रुत्वमित्यत आह—षत्वस्येति । धनुरिति । 'वोरुपधायाः' इति दीर्घस्तु न, रेफान्तस्य अधातुत्वात् । धनूंषीति । 'नश्च' इत्यनुस्वारः । एवं चक्षुर्हविरादय इति । 'चक्षेश्चिञ्च' इत्युसिः । शित्त्वेन सार्वधातुकत्वात् खशाजा-

---

मूलार्थ—'शी' अथवा 'नदी' संज्ञक पर रहते 'शप्' और 'श्यन्' प्रत्ययों के अकार से परवर्ती 'शतृ' प्रत्यय को नित्य 'नुम्' आगम होता है। पचन्ती, पचन्ति । दीव्यत्, दीव्यन्ती, दीव्यन्ति । स्वप्-स्वब् , स्वपी । प्रतिपदोक्त होने से नित्य और पर 'नुम्'–आगम होने के पहले ही "अप्तृन्०" सूत्र से दीर्घ होता है, तदनन्तर 'नुम्' आगम की प्रवृत्ति होती है । स्वाम्पि । निरवकाश को प्रतिपदोक्त मानने पर प्रकृत स्थल में 'नुम्' ही होगा । स्वम्पि । स्वपा । "अपोभि" से 'प्' = 'द्'–स्वद्भ्याम्, स्वद्भिः । √धन धातु से "अर्तिपॄवपि०" उणादि सूत्र से 'उस्' प्रत्यय करने पर षत्व होने के पश्चात् 'धनुष्' शब्द है । रुत्व । धनुः । धनुषी । "सान्तमहतः संयोगस्य" से दीर्घ । "नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि" से षत्व । धनूंषि । धनुषा, धनुर्भ्याम् । इसी तरह चक्षुष्, हविष् आदि शब्दों के रूप भी सिद्ध होंगे । सन्नन्त √पठ् धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करने पर 'पिपठिष्' प्रातिपदिक है । "वोरुपधाया दीर्घ इकः" से दीर्घ । पिपठीः । पिपठिषी । 'अ'–लोप को स्थानिवद्भाव होने से झलन्त-लक्षण 'नुम्' नहीं होता । स्वयं को कार्य विधान होने पर भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सान्त—'(सू० ३१७) इति दीर्घः। 'नुम्विसर्जनीय—' (सू ४३४) इति षत्वम्। धनूंषि। धनुषा, धनुर्भ्याम्। एवं चक्षुर्हविरादयः। पिपठिषतेः क्विप्। 'वोंः—'

देशो न। 'अर्चिशुचिहुसृपि' इत्यादिना हुधातोरिस्, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणः, अवादेशः। आदिना सर्पिरादयो ग्राह्याः। पिपठिषतेः क्विविति। 'पठ व्यक्तायां वाचि' सन्, इट्, द्वित्वं, हलादिशेषः, अभ्यासाकारस्य इत्वं, प्रत्ययावयवत्वात् षत्वं, 'सनाद्यन्ताः' इति धातुत्वम्। पिपिठिष इत्यस्मात् क्विप्, अतो लोपः, पिपठिष् इत्यस्मात् स्वमोर्लुक्, षत्वस्यासिद्धत्वाद्धुत्वम्। एतावत्सिद्धवत्कृत्य आह—वोंरिति दीर्घ इति। पिपठिषी इति। औङः श्यां रूपम्। शौ विशेषमाह—अल्लोपस्येति। वेभिद्शब्दनिरूपणे व्याख्यातमेतदनुपदमेव प्राक्। इति षान्ताः। अथ सकारान्ता निरूप्यन्ते। पय इति। 'पयः क्षीरं पयोऽस्तु

स्थानिवद्भाव नहीं होता, अतः अजन्त-लक्षण 'नुम्' भी नहीं। पिपठिषि। पिपठीर्भ्याम् इत्यादि। पयः, पयसी, पयांसि। पयसा, पयोभ्याम् इत्यादि। सुपुम्, सुपुंसौ, सुपुमांसि। अदः। विभक्ति-कार्य। उत्व और मत्व। अमू, अमूनि। शेष पुंलिङ्ग के समान।

विवरण—सूत्र से केवल विधान का नित्य होना विदित होता है। 'आगम' का प्रकरण चल रहा है। अतः आगम और आगमी का ज्ञान पूर्व सूत्रों से की गई अनुवृत्ति द्वारा होता है। इसके लिए "नाभ्यस्ताच्छतुः" (७-१-७८) से 'शतुः' तथा "आच्छीनद्योर्नुम्" (७-१-८०) से 'शीनद्योः' तथा 'नुम्' की अनुवृत्ति की जाती है। "अङ्गस्य" (६-४-१) का अधिकार है। तदनुसार यह विदित होता है "कि 'नदी'संज्ञक और 'शी' परवर्ती रहने की स्थिति में 'शप्' और 'श्यन्' सम्बन्धी अकार से पर 'शतृ' को 'नुम्' आगम होता है। 'म्'-इत् होने से 'नुम्' आगम 'शतृ'-प्रत्यय के अन्त्य स्वर (अकार) के पश्चात् स्थित रहेगा। स्मरण रहे कि 'शप्' और 'श्यन्' ये दोनों ही धातुओं के 'विकरण' हैं। 'शप्' तो भ्वादिगण में तथा 'श्यन्' दिवादिगण के धातुओं से संयुक्त होता है। अतः इन दोनों गणों में पठित धातुओं से 'शतृ' प्रत्यय किये जाने पर एवं उनसे 'नदी' संज्ञक और 'शी' पर रहने की स्थिति में उस 'शतृ' प्रत्यय को 'नुम्' आगम होगा। उदाहरण—पचत्+औ, <पचत्+ई (औ = शी), <पचन् त्+ई ('शतृ' के अन्त्य स्वर-'अ' के पूर्व 'नुम्' = 'न्'-आगम), <पचन्ती (न् = ं = न्-परसवर्ण)। पचत्+जस्, <पचत्+इ (शि), <पचन् त्+इ ('शि' की सर्वनामस्थानसंज्ञा होने से नुम् "उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः"-३६१), <पचन्ति (न् = ं = न् = परसवर्ण)।

निर्देश—१-क्रमप्राप्त 'श्यन्' प्रत्ययान्त √दिव् धातु से निष्पन्न 'दीव्यत्' (= चमकता हुआ) शब्द के रूप भी 'पचत्' शब्द के समान सिद्ध होते हैं। तदनुसार प्रथमा विभक्ति में दीव्यत्, दीव्यन्ती, दीव्यन्ति रूप होंगे। प्रक्रिया पूर्व-वर्णित 'ददत्' शब्द के समान है।

२—पकारान्त 'स्वप्' शब्द (सु-शोभनाः आपः यस्मिन् सरसि-बहुव्रीहि समास = स्वच्छ जल वाला सरोवर) की रूप-प्रक्रिया का निर्वचन किया जारहा है। प्रथमा-(क) स्वप्+सु ('सु'-विभक्ति लुक्), स्वप्-स्वब् (जश्त्व, पाक्षिक चर्त्व होने पर 'प्' भी)। स्वप्+औ, <स्वप्+ई (औ=शी), <स्वपी। स्वप्+जस्, <स्वप्+इ (जस्=शि), <स्वाप्+इ ('अप्' के अकार को दीर्घ-"अप्तृन्तृच्०" २७७), <स्वान् प्+इ (झलन्तलक्षण नुम्-"नपुंसकस्य झलचः"-३१४), <स्वांपि (न् = अनुस्वार), <स्वाम्पि (ं = न्-परसवर्ण)। यहाँ पर 'नुम्' आगम (७-१-७२) तथा दीर्घ (६-४-११) इन दोनों की प्राप्ति समकालिक है। नियमतः अष्टाध्यायी सूत्रक्रम में पर एवं नित्य (दीर्घ करने के पूर्व तथा पश्चात् दोनों अवस्थाओं में प्राप्त होने के कारण) होनेपर भी 'नुम्' आगम दीर्घ होने के पश्चात् ही प्रवृत्त होता है। इसका कारण यह है कि दीर्घविधायक सूत्र "अप्तृन्तृच्०" २७७ में साक्षात् 'अप्' शब्द का निर्देश किया गया है। यदि अन्यत्र लक्ष्य में जिसे प्रवृत्त होने का अवसर न हो-(निरवकाशत्वं प्रतिपदोक्तत्वम्)—वहीं प्रति-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(सू ४३३) इति दीर्घः। पिपठीः, पिपठिषी। अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वाज्झलन्तलक्षणो नुम् न। स्वविधौ स्थानिवत्त्वाभावादजन्तलक्षणोऽपि नुम् न। पिपठिषि। पिपठीर्भ्यामित्यादि

च' इत्यमरः। पयांसीति। शौ नुम्। 'सान्त' इति दीर्घः' अनुस्वार इति भावः। पयोभ्यामिति। रुत्वे, 'हशि च' इत्युत्वे, गुण इति भावः। सुपुमिति। सु शोभनः पुमान् यस्य गृहस्य इति बहुव्रीहौ, सुपुंस्शब्दात् स्वमोर्लुक्, संयोगान्तलोपः। सुपुंसी इति। औङः श्यां रूपम्। सुपुमांसीति। शेः सर्वनामस्थानत्वात् 'पुंसोऽसुङ्' इत्यसुङ्। सुपुमस् इ इति स्थिते, झलन्तलक्षणनुमि, 'सान्तमहतः' इति दीर्घः, 'नश्च' इत्यनुस्वारश्चेति भावः। अदः इति। अदस् शब्दात् स्वमोर्लुक्, रुत्वविसर्गौ, सान्तत्वात् न मुत्वम्, लुका लुप्तत्वात् त्यदाद्यत्वं नेति भावः। औङादावाह—विभक्तिकार्यमिति। त्यदाद्यत्वादिकमित्यर्थः। उत्वमत्वे

पदोक्त बाधक होता है। तब इस स्थिति में 'नुम्' आगम की प्रवृत्ति दीर्घ होने के पहले हो जायेगी। इसका कारण यह है कि "अप्तृन्तृच्"–२७७ सूत्र को 'आपः' इत्यादि उदाहरणों में दीर्घ करने का अवसर प्राप्त होता है, अतः उसे 'निरवकाश' नहीं कहा जा सकता। तब तो 'नुम्' होने पर 'उपधा' में अकार न होने के कारण दीर्घ नहीं होगा। ऐसी स्थिति में नुम् के 'न्' को अनुस्वार तथा परसवर्ण होने पर 'स्वम्पि' ही रूप बनेगा। द्वितीया में भी यही रूप बनेंगे। तृतीया में स्वपा (टा), स्वद्भ्याम् (प् = द्–"अपो भि"–४४२), स्वद्भिः (प् = द् के अतिरिक्त स् = र् = :)। उसके आगे विभक्तियों के रूप 'अप्' शब्द की तरह सिद्ध होंगे।

३—'धनुष्' शब्द-सम्बन्धी विशेष कार्यों का निर्वचन किया जारहा है। √धन धातु से "अर्तिपॄवपियजितनिधनितपिभ्यो नित्" उणादि सूत्रोक्त 'उस्' प्रत्यय करने पर 'धनुष्' शब्द निष्पन्न होता है। 'उस्' प्रत्ययावयव 'स्' को 'ष्' होने पर 'धनुष्' में षकार का श्रवण होता है। प्रथमा—(क)–धनुष्+सु, <धनुष् ('स्'–लोप), <धनुर् (षत्व असिद्ध होने के कारण (ष्)' स् = र्), <धनुः (र् = :)। धनुष्+औ, <धनुष्+ई (औ = शी), <धनुषी। धनुष्+जस्, <धनुष्+इ (जस् = शि), <धनुन् ष्+इ (झलन्तलक्षण नुम्–३१४), <धनून् ष्+इ (उ = ऊ–दीर्घ–"सान्तमहतः संयोगस्य"–३१७), <धनूंषि (स् = ष्–"नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि"–४३४ तथा न् = ं)। द्वितीया–धनुः, धनुषी, धनूंषि। तृतीया–धनुषा, धनुर्भ्याम् (स् = र्), धनुर्भिः। चतुर्थी–धनुषे, धनुर्भ्याम्, धनुर्भ्यः। पञ्चमी–धनुषः, धनुर्भ्याम्, धनुर्भ्यः। षष्ठी–धनुषः, धनुषोः, धनुषाम्। सप्तमी–धनुषि, धनुषोः, धनुःषु–धनुष्षु (वैकल्पिक विसर्ग)। सम्बोधन–हे धनुः, हे धनुषी, हे धनूंषि। इसी तरह 'चक्षुष्' (= नेत्र) तथा हविष् (= देवता को अभिलक्षित कर होम का पदार्थ घी तिल आदि) शब्दों के रूप जाने जायँ।

४—'पढ़ने का इच्छुक कुल' अर्थ में सन्नन्त पठ् धातु से 'पिपठिष्' शब्द निष्पन्न होता है। उससे विभक्तियाँ आने पर रूपसिद्धि बताई जारही है। प्रथमा (क) पिपठिष्+सु, <पिपठिष् (विभक्ति-लुक् = लोप), पिपठिर् (षत्व असिद्ध होने से 'रु'), <पिपठीर् (रेफ की उपधा–'इ' को दीर्घ—"र्वोरुपधाया दीर्घ इकः"—३३३), <पिपठीः (र् = :)। पिपठिषी (औ = शी)। पिपठिष्+जस्, <पिपठिषि। इस उदाहरण में 'जस्' के स्थान पर 'शि' होने के पश्चात् "नपुंसकस्य झलचः"–३१४ से 'नुम्' आगम नहीं होता। कारण यह है कि 'सन्' (प्रत्यय-सम्बन्धी 'ष') के अकार का "अतो लोपः" (६-४-४८) से लोप हुआ है। उसको स्थानिवद्भाव होने के कारण झलन्त नहीं रहा। 'अ' लोप को स्थानिवद्भाव मान कर अजन्तलक्षण 'नुम्' भी नहीं कर सकते, क्योंकि स्व-विधि में स्थानिवद्भाव की प्रवृत्ति नहीं होती। स्थानिवत्सूत्र में 'अनल्विधौ' निषेध होने के कारण यहाँ 'अ'-लोप को स्थानिवद्भाव नहीं होगा। प्रकृत स्थल में 'नुम्' म्-इत् है, अतः अन्त्य अच् से पर और उसी के अन्तावयव 'ष्' के आगे 'अ' के स्थान में उसकी प्रवृत्ति होगी, अतः वह (अल्विधि) एक वर्ण को मान कर होने वाला विधान है। इस प्रकार स्थानिवद्भाव

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुंवत् । इति षान्ताः । पयः, पयसी, पयांसि । पयसा, पयोभ्याम् इत्यादि । सुपुम्, सुपुंसी, सुपुमांसि । अदः । विभक्तिकार्यम् । उत्वमत्वे । अमू, अमूनि । शेषं पुंवत् । इति सान्ताः ।

इति हलन्तनपुंसलिङ्गप्रकरणम् ।

इति । 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति विभक्तिकार्योत्तरम् उत्वमत्वे इत्यर्थः । अमू इति । औङः शी, त्यदाद्यत्वं, पररूपं, गुणः, ऊत्वमत्वे इति भावः । अमूनीति । जश्शसोश्शिः, त्यदाद्यत्वं, पररूपम्, अजन्तत्वात् नुम्, उपधादीर्घः, ऊत्वमत्वे इति भावः । इति सान्ताः ।

इति श्रीवासुदेवदीक्षितविदुषा विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां बालमनोरमाख्यायां हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणं समाप्तम् ।

नहीं होता । द्वितीया में भी यही रूप होंगे । तृतीया-पिपठिषा, पिपठीर्भ्याम् ('ष्' के असिद्ध होने से 'रु' तथा रेफ की उपधा को दीर्घ), पिपठीभिः ('रु', उपधा-दीर्घ तथा विभक्तिस्थ स् = र् = :) । शेष विभक्तियों में पुंलिङ्ग के समान रूप होते हैं ।

५—सकारान्त 'पयस्' (= जल अथवा दूध) शब्द के रूपभेदों का स्मरण कराया जारहा है । प्रथमा (क) पयस्+स्, <पयस् ('स्'-विभक्ति-लुक्), <पयर् (स्=र्), <पयः (र् = :) । पयसी (औ = शी) । पयांसि (जस् = शि, झलन्तलक्षण नुम्, दीर्घ-"सान्तमहतः संयोगस्य"-३१७ तथा म् = अनुस्वार) । द्वितीया-पयः, पयसी, पयांसि । तृतीया-पयसा, पयोभ्याम् (स् = रु, रु = उ-"हशि च"-१६६, गुण), पयोभिः । चतुर्थी-पयसे, पयोभ्याम्, पयोभ्यः । पञ्चमी-पयसः, पयोभ्याम्, पयोभ्यः । षष्ठी-पयसः, पयसोः, पयसाम् । सप्तमी-पयसि, पयसोः पयःसु-पयस्सु (वैकल्पिक विसर्ग, पक्ष में : = 'स्') । सम्बोधन-हे पयः, हे पयसी, हे पयांसि ।

६—'सुपुंस्' (= अच्छे पुरुष वाला कुल—सु=शोभनः पुमान् यस्य गृहस्य—बहुव्रीहि समास) शब्द के रूपभेद बताये जारहे हैं । प्रथमा (क)-सुपुंस्+स्, <सुपुंस् ('स्' विभक्ति का लुक्=लोप), <सुपुम् ('स्'-संयोगान्त-लोप, निमित्त 'स्'-के विनाश होने पर-अनुस्वार अपनी मूल स्थिति 'म्' में परिवर्तित) । सुपुंस्+औ, <सुपुंस्+ई (औ = शी), <सुपुंसी । सुपुंस्+जस्, <सुपुंस+इ (जस् = शि), सुपुमस्+इ ('शि' को सर्वनामस्थान संज्ञा होने से 'अस्'-"पुंसोऽसुङ्"-४३६), <सुपुमन्स्+इ (नुम्-"उगिदचां सर्वमानस्थानेऽधातोः"-३६१), <सुपुमान्-स्+इ (दीर्घ-"सान्तमहतः संयोगस्य"-३१७), <सुपुमांसि (न् = अनुस्वार-"नश्चापदान्तस्य झलि" ११३) । द्वितीया में भी यही क्रम है । शेष विभक्तियों में पुंलिङ्ग के समान रूप होंगे ।

(७) 'अदस्' शब्द को अभिलक्षित कर नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा तथा द्वितीया विभक्तियों के रूप-भेद बताये जारहे हैं । प्रथमा (क)-अदस्+स्, <अदस् ('स्' विभक्ति का लुक्), <अदर् (स् = र्), <अदः (र् = :) । अदस्+औ, <अदस्+ई (औ = शी), अद-अ+ई (स् = अ-"त्यदादीनामः"-२६५), <अद+ई (अ+अ=अ-पररूप), <अदे (अ+ई =ए-गुण), <अमू (ए='ऊ' तथा द्=म्) । अदस्+जस्, <अदस्+इ (जस् = शि), <अद-अ+इ (स् = अ-२६५), <अद+इ (अ+अ=अ-पररूप), <अद-न्+इ (अजन्तलक्षण 'नुम्'), <अदान्+इ (उपधा दीर्घ), अमूनि ('ऊ' तथा 'म्') । इसी प्रकार द्वितीया में भी रूप सिद्ध होंगे । शेष विभक्तियों में रूप पुंलिङ्ग के समान जाने जायँ ।

हलन्त-नपुंसक-लिङ्ग समाप्त ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथाव्ययप्रकरणम्

(४४७) स्वरादिनिपातमव्ययम् १ । १ । ३७ ॥ स्वरादयो निपाताश्चाव्ययसंज्ञाः स्युः । स्वर् । अन्तर् । प्रातर् । पुनर् । सनुतर् । उच्चैस् । नीचैस् । शनैस् । ऋधक् । ऋते । युगपत् । आरात् । पृथक् । ह्यस् । श्वस् । दिवा । रात्रौ । सायम् । चिरम् । मनाक् । ईषत् । जोषम् । तूष्णीम् । बहिस् । अवस् । समया । निकषा । स्वयम् । वृथा । नक्तम् । नञ् । हेतौ । इद्धा । अद्धा । सामि । 'वत्' (ग ४)—ब्राह्मणवत् । क्षत्रिय-

---

अथाव्ययानि निरूप्यन्ते—(४४७) स्वरादिनिपातमव्ययम् । स्वर् आदिः येषां ते स्वरादयः, ते च निपाताश्चेति समाहारद्वन्द्वः । फलितमाह—स्वरादय इति । स्वरादीन् पठति—स्वरित्यादिना । स्वरादीनां चादीनां च पृथक्पाठस्तु 'निपाता आद्युदात्ताः' इति स्वरभेदार्थः, चादीनामसत्त्ववाचिनामेवाऽव्ययत्वम्, स्वरादीनां तु सत्त्ववाचिनामसत्त्ववाचिनां च तदिति व्यवस्थार्थश्च । स्वर्–स्वर्गे पारत्रिकसुखविशेषे, परलोके च । अन्तर्–मध्ये । प्रातर्–प्रत्यूषे । पुनर्–अप्रथमे विशेषे च । सनुतर्–अन्तर्धाने । स्वराद्याः पञ्च रेफान्ताः ! तेन स्वर्याति प्रातरत्रेत्यादौ 'हशि च' इत्युत्वं न, तत्र 'रोः' इत्युकारानुबन्धग्रहणात् । उच्चैस्–महति । नीचैस्–अल्पे । शनैस्–क्रियामान्द्ये । ऋधक्–सत्ये । वियोगशैघ्र्यसामीप्यलाघवेष्वित्यन्ये । ऋते–वर्जने । युगपत्–एककाले । आरात्–दूरसमीपयोः । पृथक्–भिन्ने । ह्यस्–अतीतेऽह्नि । श्वस्–अनागतेऽह्नि । दिवा–दिवसे । रात्रौ–निशि । सायम्–निशामुखे । चिरम्–बहुकाले । मनाक्, ईषत्–इदं द्वयमल्पे । जोषम्–सुखे, मौने च । तूष्णीम्–मौने । बहिस्, अवस्, इदं द्वयं बाह्ये । समया–समीपे, मध्ये च । निकषा–अन्तिके । स्वयम्–आत्मनेत्यर्थे । वृथा–व्यर्थे । नक्तम्–रात्रौ । नञ्–निषेधे । 'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता । अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः–' इत्यन्ये । हेतौ–निमित्ते । इद्धा–प्राकाश्ये । अद्धा–स्फुटावधारणयोः, तत्त्वाति-

---

उपक्रम—विभक्ति-जन्य परिवर्तनों का 'षड्-लिङ्ग' प्रकरण में निरूपण करने के बाद निर्विभक्तिक शब्दों के विषय में निर्वचन करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। अतः 'स्त्री-प्रत्यय' प्रकरण के पूर्व 'अव्ययप्रकरण' का समावेश किया गया है। अव्यय-वाची शब्द सदा एकरूप रहते हैं। इनमें लिङ्ग, वचन और विभक्तिजन्य कोई परिवर्तन नहीं होता।

(४४८) पद—स्वरादिनिपातम्, अव्ययम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ एवं विवरण—'स्वर्' आदि शब्दसमुदाय तथा 'निपात'संज्ञक शब्द 'अव्यय' कहलाते हैं (स्वर् आदिः येषां ते स्वरादयः, ते, निपाताश्च, समाहारद्वन्द्व)। 'स्वर्' आदि शब्दों का परिगणन किया जारहा है। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) **स्वर्** = स्वर्ग । (२) **अन्तर्** = मध्य । (३) **प्रातर्** = प्रातःकाल । (४) **पुनर्** = फिर से । (५) [1]**सनुतर्** = अन्तर्धान । (६) **उच्चैस्** = ऊँचा या महान् । (७) **नीचैस्** = नीचा या अल्प । (८) **शनैस्** = धीरे । (९) **ऋधक्** = सत्य, वियोग, शीघ्रता, सामीप्य । (१०) **ऋते** = विना । (११) **युगपत्** = एक साथ । (१२) **आरात्** = दूर तथा समीप । (१३) **पृथक्** = भिन्न । (१४) **ह्यस्** = गत दिन । (१५) **श्वस्** = आगामी दिन । (१६) **दिवा** = दिन । (१७) **रात्रौ** = रात । (१८) **सायम्** = सायंकाल । (१९) **चिरम्** बहुत समय तक । (२०) **मनाक्**=थोड़ा । (२१) **ईषत्**= थोड़ा । (२२) **जोषम्** = मौन, सुख । (२३) **तूष्णीम्** = मौन । (२४) **बहिस्** = बाहर ।

---

१. 'स्वर्' आदि पाँच अव्यय रेफान्त हैं। अतः 'स्वर्याति' 'प्रातरत्र' इत्यादि उदाहरणों में 'उ'कार आदि विधान नहीं होते, क्योंकि 'उ'कार विधान में साक्षात् 'रु' का ग्रहण किया गया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वत् । सना । सनत् । सनात् । उपधा । तिरस् । अन्तरा । अन्तरेण । ज्योक् । कम् । शम् । सहसा । विना । नाना । स्वस्ति । स्वधा । अलम् । वषट् । श्रौषट् । वौषट् । अन्यत् । अस्ति । उपांशु । क्षमा । विहायसा । दोषा । मृषा । मिथ्या । मुधा । पुरा ।

शययोरित्यन्ये । सामि-अर्धे, जुगुप्सिते च । वत्-इत्यनेन 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः', 'तत्र तस्येव', 'तदर्हम्' इति वतिप्रत्ययो गृह्यते । 'उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे' इति वतिस्तु न गृह्यते, 'परावतो नित्रत उद्वतश्च' इत्यत्राव्ययत्वाभावात् । वस्तुतस्तु 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्येव सिद्धे वतिग्रहणमिह व्यर्थमेव । ब्राह्मणवत्, क्षत्रियवत् इति वतिप्रत्यान्तस्योदाहरणम् । केवलप्रत्ययस्य अव्ययत्वे प्रयोजनाभावात् । सना, सनत्, सनात्-एतत्त्रयं नित्ये । उपधा-भेदे । तरस्-अन्तर्धौ, तिर्यगर्थे, पराभवे च । अन्तरा-मध्ये, विनार्थे च । अन्तरेण-वर्जने । वस्तुतस्तु 'अन्तराऽन्तरेण युक्ते' इति सूत्रे भाष्ये अन्तरा, अन्तरेण इत्यनयोः निपातत्वोक्तेरनयोः स्वरादिषु पाठः प्रक्षिप्त इति बोध्यम् । ज्योक् कालभूयस्त्वे, प्रश्ने, शीघ्रार्थे, सम्प्रति इत्यर्थे च । कम्-वारिमूर्धनिन्दासुखेषु । शम्-सुखे । सहसा-आकस्मिकाविमर्शयोः । विना-वर्जने । नाना-अनेकविनार्थयोः । स्वस्ति-मङ्गले । स्वधा-पितृहविर्दाने । अलम्-भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणनिषेधेषु । वषट्, श्रौषट्, वौषट्-एतत्त्रयं देवहविर्दाने । अन्यद्-अन्यार्थे । अस्ति-सत्तायाम् । 'उपसर्गविभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च' इति चाद्यन्तर्गणसूत्रादेव अस्तिशब्दस्य विभक्तिप्रतिरूपकस्य अव्ययत्वसिद्धेरिह स्वरादिगणे तस्य पाठो व्यर्थ इति मतुप्सूत्रे भाष्यकैयटयोः स्थितम् । उपांशु-अप्रकाशोच्चारणे, रहस्ये च । क्षमा-क्षान्तौ । विहायसा-आकाशे । दोषा-रात्रौ । मृषा, मिथ्या-इदं द्वयं वितथे । मुधा-

---

(२५) अवस् = बाहर । (२६) समया = समीप, मध्य । (२७) निकषा—निकट । (२८) स्वयम् = अपने से । (२९) वृथा = व्यर्थ । (३०) नक्तम् = रात में । (३१) नञ् = निषेध[1] । (३२) हेतौ = निमित्त । (३३) इद्धा = प्रकाश । (३४) अद्धा = स्पष्टता, निश्चय । (३५) सामि = आधा, निन्दित । (३६) वत्[2] = तुल्य (ब्राह्मणवत्, क्षत्रियवत् इत्यादि) । (३७) सना = नित्य । (३८) सनत् = नित्य । (३९) सनात् = नित्य । (४०) उपधा = विभाग । (४१) तिरस् = अन्तर्धान । (४२) अन्तरा = मध्य, विना । (४३) अन्तरेण = वर्जन । (४४) ज्योक् = काल-बहुलता, प्रश्न, शीघ्र, सम्प्रति । (४५) कम्—जल, मस्तक, निन्दा, सुख । (४६) शम् = सुख । (४७) सहसा—विना हेतुक, अविचार । (४८) विना = छोड़कर । (४९) नाना = अनेक । (५०) स्वस्ति = कल्याण, मङ्गल । (५१) स्वधा = पितृसम्बन्धी अन्नादि दान । (५२) अलम् = निषेध, सामर्थ्य, पूर्ति, भूषण । (५३) वषट् = देवसम्बन्धी हविर्दान । (५४) श्रौषट् = देवसम्बन्धी हविर्दान । (५५) वौषट् = देवसम्बन्धी हविर्दान । (५६) अन्यत् = दूसरा । (५७) अस्ति = विद्यमानता । (५८) उपांशु = अप्रकटित उच्चारण, रहस्य । (५९) क्षमा = क्षान्ति । (६०) विहायसा = आकाश । (६१) दोषा = रात्रि । (६२) मृषा = असत्य । (६३) मिथ्या = असत्य । (६४) मुधा = व्यर्थ । (६५) पुरा = पहले, लगातार । (६६) मिथो तथा (६७) मिथस् = एकान्त, परस्पर ।

---

१. कुछ विद्वानों ने 'नञ्' के छह अर्थ माने हैं—

"तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता ।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥"

२. 'वत्' से तद्धित प्रकरण में वर्णित तुल्यार्थक 'वति' प्रत्ययान्त शब्द अपेक्षित हैं । इसके विधायक "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" (५-१-११५), "तत्र तस्येव" (५-१-११६) तथा "तदर्हम्" (५-१-११७) सूत्र हैं ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिथो । मिथस् । प्रायस् । मुहुस् । प्रबाहुकम् । प्रबाहिका । आर्यहलम् । अभीक्ष्णम् । साकम् । सार्धम् । नमस् । हिरुक् । धिक् । अथ । अम् । आम् । प्रताम् । प्रशाम् । प्रतान् । मा । माङ् । आकृतिगणोऽयम् । इति स्वरादयः । च । वा । ह । अह । एव ।

व्यर्थे । पुरा–अविरते, चिरातीते, भविष्यदासन्ने च । मिथो, मिथस्–इदं द्वयं रहसि, सहार्थे च । प्रायस्–बाहुल्ये । मुहुस्–पुनरर्थे । प्रबाहुकम्–समानकाले, ऊर्ध्वार्थे च । प्रबाहिका–इति पाठान्तरम् । आर्यहलम्–बलात्कारे । शाकटायनस्तु आर्येति प्रतिबन्धे, हलमिति निषेधानुवादयोरित्याह । अभीक्ष्णम्–पौनःपुन्ये । साकम् सार्धम्–इदं द्वयं सहार्थे । नमस्–नतौ । हिरुक्–वर्जने । धिक्–निन्दाभर्त्सनयोः । अम्–शैघ्र्ये, अल्पे च । आम्–अङ्गीकारे । प्रताम्–ग्लानौ । प्रशाम्–समानार्थे । प्रतान्–विस्तारे । अत्र प्रतान् इति नान्तस्य पुनः पाठसामर्थ्यात् प्रताम्, प्रशाम् इति पूर्वयोः 'मो नो धातोः' इति नत्वं न । प्रशान् इति नान्तपाठस्तु असाम्प्रदायिकः । 'कृन्मेजन्तः' इति सूत्रभाष्यस्वरसोऽप्येवमिति शब्देन्दुशेखरे स्थितम् । मा, माङ् एतौ निषेधे । आकृतिगणोऽयमिति । ततश्च अन्येऽप्येवंजातीयकाः स्वरादिगणे ज्ञेयाः । तथाहि—कामम्–स्वाच्छन्द्ये । प्रकामम्–अतिशये । भूयस्–पुनरर्थे । साम्प्रतम्–न्याय्ये । परम्–किन्त्वर्थे । साक्षात्–प्रत्यक्षे । साचि–तिर्यगर्थे । सत्यम्–अर्धाङ्गीकारे । मङ्क्षु, आशु–इदं द्वयं शैघ्र्ये । संवत्–वर्षे । अवश्यम्–निश्चये । सपदि–शैघ्र्ये । बलवत्–अतिशये । प्रादुस्, आविस्–इदं द्वयं प्राकाश्ये । अनिशम्, नित्यम्, सदा, अजस्रम् सन्ततम्–एतत्पञ्चकं सातत्ये । उषा–रात्रौ । रोदसी–द्यावापृथिव्यर्थे । ओम्–अङ्गीकारे ब्रह्मणि च । अत्र अश्च उश्च म् चेति समाहारद्वन्द्वे ओम्शब्दः ब्रह्मविष्णुशिवात्मको ब्रह्मवाची । 'अवतेष्टिलोपश्च' इत्युणादिव्युत्पन्नस्तु ब्रह्मण्यङ्गीकारे चेति विवेकः । 'अवतेष्टिलोपश्च'इत्यस्यायमर्थः–'अव' धातोर्मन् स्यात् प्रत्ययस्य टिलोपश्चेति । अव् म् इति स्थिते 'ज्वरत्वर' इति वकारस्य उपधाभूतस्याकारस्य च 'ऊठ्', उकारद्वयस्य सवर्णदीर्घः, 'सार्वधातुक' इति तस्य गुणः, ओमिति रूपम् । उभयोरपि स्वरादित्वम् । न चौणादिकस्य 'कृन्मेजन्तः' इत्येव सिद्धमिति वाच्यम्, उणादौ हि, 'च्विरव्ययम्' इति पठ्यते । च्व्यन्तानां निपातत्वादेव सिद्धे नियमार्थमिदम्–

---

(६७) प्रायस् = बहुधा । (६८) मुहुस् = बार-बार । (५९) प्रबाहुकम् =समकाल में, ऊपर । (७०) आर्यहलम्[1] = बलात्कार । (७१) अभीक्ष्णम् = पुनः पुनः । (७२) साकम् तथा (७३) सार्धम् = साथ । (७४) नमस् = नति, नमस्कार । (७५) हिरुक् = छोड़ना । (७६) धिक् = निन्दा, भर्त्सना । (७७) अम् = शीघ्रता । (७८) आम् = स्वीकार । (७९) प्रशाम् = समान । (८०) प्रतान् = विस्तार । (८१) मा तथा माङ् = निषेध, मना करना । ये स्वरादि अव्यय आकृतिगण हैं । अर्थात् स्वरूप से जाने जाते हैं । तदनुसार टीकाकारों ने इनके स्वरूपात्मक अन्य शब्दों का भी संकलन किया है । उदाहरणार्थ—(१) कामम् = स्वच्छन्दता । (२) प्रकामम् = अतिशय । (३) भूयस् = पुनः । (४) साम्प्रतम् = न्याय्य । (५) परम् = किन्तु । (६) साक्षात् = प्रत्यक्ष । (७) साचि = तिर्यक् । (८) सत्यम् = आधा स्वीकार करना । (९) मङ्क्षु तथा (१०) आशु = शीघ्रता । (११) संवत् = वर्ष । (१२) अवश्यम् = निश्चय । (१३) सपदि = शीघ्रता । (१४) बलवत् = अतिशय । (१५) प्रादुस् तथा (१६) आविस् = प्रकट । (१७) अनिशम्, (१८) नित्यम्, (१९) सदा, (२०) अजस्रम् तथा (२१) सनातनम् = निरन्तर । (२२) उषा = रात्रि । (२३) रोदसी =

---

१. शाकटायन ने 'आर्य' शब्द प्रतिबन्धार्थक माना है । तथा 'हलम्' शब्द का अर्थ प्रतिषेध एवं विवाद किया है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवम् । नूनम् । शश्वत् । युगपत् । भूयस् । कूपत् । सूपत् । कुवित् । नत् । चेत् । चण् । कच्चित् । किंचित् । यत्र । नह । हन्त । माकिः । माकिम् । नकिः । (आकिम् । नाकिम्)

'उणादिपठितानां चादिस्वरादिपठितानां चेदव्ययत्वं तर्हि ब्विरेवाव्ययं नेतरदि'ति । ततश्च ओमित्यस्य औणादिकस्याप्राप्ते अव्ययत्वे स्वरादिपाठ इत्यलम् । भूः—पृथिव्याम् । भुवर्—अन्तरिक्षे । झटिति, प्राक्, तरसा—त्रयमिदं शैघ्र्ये । सुष्ठु—प्रशंसायाम् । दुष्ठु—निकृष्टे । सु—पूजायाम् । आः—आश्चर्ये । कु—कुत्सिते, ईषदर्थे च । अञ्जसा—तत्त्वे शीघ्रार्थे च । मिथु—द्वाविस्यर्थे । अस्तम्—विनाशे । स्थाने—युक्तार्थे । ताजक्—शैघ्र्ये । चिराय, चिररात्राय, चिरस्य, चिरम्, चिरेण, चिरात् इ ते षट्कं चिरार्थकम् । वरम् ईषदुत्कर्षे । आनुषक् आनुपूर्व्ये । अनुषक् अनुमाने । अमेनः—शीघ्रसाम्प्रतिकयोः । सुदि—शुक्लपक्षे । वदि—कृष्णपक्षे इत्यादि । इति स्वरादयः । अथ चादीनाह—च वा इत्यादिना । च समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहारेषु । वा विकल्पादिषु । 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरिवार्थेऽपि समुच्चये' । ह प्रसिद्धौ । अह अद्भुते, खेदे च । एव अवधारणे अनवक्लृप्तौ च । एवम् उक्तपरामर्शे । नूनम् निश्चये, तर्के च । शश्वत् पौनःपुन्ये, नित्ये सहार्थे च । युगपत् एककाले । भूयस् पुनरर्थे, आधिक्ये च । कूपत् प्रश्ने, प्रशंसायां च । कुवित्—भूर्यर्थे, प्रशंसायां च । नेत् शङ्कायां, प्रतिषेधविचारसमुच्चयेषु च । चेत् यद्यर्थे । चण् अयं चेदर्थे णित्, समुच्चयादिष्वननुबन्धकः । स्वरे भेदः फलम् । कच्चित् इष्टप्रश्ने । यत्र अनवक्लृप्त्यमर्षगर्हाश्चर्येषु । नावकल्पयामि, न मर्षये, गर्हे, आश्चर्यं वा यत्र भवान् वृषलं याजयेत् । नह प्रत्यारम्भे । हन्त हर्षे, विषादे, अनुकम्पायां, वाक्यारम्भे च । माकिः माकिम् नकिः इदं त्रयं वर्जने । माङ्नञौ स्वरादिपूर्तौ । अन्यतरत्र पाठ

द्यावापृथिवी । (२४) **ओम्** = अङ्गीकार, परब्रह्म । (२५) **भूः** = पृथिवी । (२६) **भुवर्** = अन्तरिक्ष । (२७) **झटिति** (२८) **द्राक्** तथा (२९) **तरसा** = शीघ्रता । (३०) **सुष्ठु** = प्रशंसा, अच्छा । (३१) **दुष्ठु** = निकृष्ट । (३२) **सु** = अच्छा, श्रेष्ठ । (३३) **आः** = आश्चर्य । (३४) **कु** = कुत्सित, थोड़ा । (३५) **अञ्जसा** = तत्त्व, शीघ्र । (३६) **मिथु** = दो । (३७) **अस्तम्** = विनाश । (३८) **स्थाने** = युक्त । (३९) **ताजक्** = शीघ्रता । (४०) **चिराय**, (४१) **चिररात्राय**, (४२) **चिरस्य**, (४३) **चिरम्**, (४४) **चिरेण** तथा (४५) **चिरात्** = चिरकाल । (४६) **वरम्** = अच्छा । (४७) **आनुषक्** = आनुपूर्व्य । (४८) **अनुषक्** = अनुमान । (४९) **अमेनः** = शीघ्र, साम्प्रतिक । (५०) **सुदि** = शुक्लपक्ष । (५१) **वदि** = कृष्णपक्ष ।

'च-' आदि अव्ययों की तालिका दी जारही है । (१) **च** = और, भी (द्वन्द्व समास के अर्थ—समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग तथा समाहार) । (२) **वा** = विकल्प । (३) **ह** = प्रसिद्धि । (४) **अह** = अद्भुत, खेद । (५) **एव** = निश्चय । (६) **एवम्** = इसी प्रकार । (७) **नूनम्** = निश्चय । (८) **शश्वत्** = नित्य, साथ, पुनः पुनः । (९) **युगपत्** = एकसाथ । (१०) **भूयस्** = पुनः पुनः, बार-बार । (११) **कूपत्** = प्रश्न, प्रशंसा । (१२) **कुवित्** = भूरि, प्रशंसा । (१३) **नेत्** = निषेध, विचार, सन्देह । (१४) **चेत्** = यदि । (१५) **चण्** = यदि । (१६) **कच्चित्** = अनुकूल प्रश्न । (१७) **यत्र** = जहाँ । (१८) **नह** = नहीं । (१९) **हन्त**=हर्ष, विषाद, अनुकम्पा, वाक्यारम्भ । (२०) **माकिः** (२१) **माकिम्** तथा (२२) **नकिः**= वर्जन, परित्याग । (२३) **माङ्** = नहीं । (२४) **नञ्** = नहीं । (२५) **यावत्** = जितना, जब तक । (२६) **तावत्** = उतना, तब तक । (२७) **त्वै** = तथा (२८) **द्वै** = विशिष्ट विचार । (२९) **रै** = दान । (३०) **श्रौषट्** (३१) **वौषट्** (३२) तथा **स्वाहा** = देवताओं के प्रीत्यर्थ हविष् आदि का प्रदान । (३३) **स्वधा** = पितृगणों के प्रीत्यर्थ अन्नादि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माङ् । नञ् । यावत् । तावत् । त्वै । द्वै । न्वै । रै । श्रौषट् । वौषट् । स्वाहा । स्वधा । वषट् । तुम् । तथाहि । खलु । किल । अथो । अथ । सुष्ठु । स्म । आदह । 'उपसर्ग-विभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च' (ग १६) । अवदत्तम् । अहंयुः । अस्तिक्षीरा । अ । आ ।

इति युक्तम् । उभयत्र पाठस्तु व्यर्थ एव । न च निपातस्वरार्थः इह पाठ इति वाच्यम्, 'फिषोऽन्त उदात्तः' इत्येव तत्सिद्धेः । न च सत्त्ववचनत्वेऽप्यव्ययत्वार्थं स्वरादिपाठ इति वाच्यम्, तथा सति लक्ष्मीवाचकस्यापि माशब्दस्याव्ययत्वापत्तेः । तस्माच्चादिष्वेव माङ्-नञौ पाठ्यावित्याहुः । यावत्, तावत् इदं द्वयं साकल्यावधिमानावधारणेषु । त्वै विशेषवितर्कयोः । द्वै वितर्के । न्वै इति पाठान्तरम् । रै दाने, अनादरे च । श्रौषट्, वौषट्, स्वाहा इदं त्रयं देवहविर्दाने । स्वधा पितृदाने । श्रौषडादीनामनेकाचां त्रयाणां स्वरभेदार्थं उभयत्र पाठः । तुम् । तुङ्कारे । तथाहि निदर्शने । खलु निषेधवाक्यालङ्कारनिश्चयेषु । किल इवार्थे, वार्तायाम्, अलीके च । अथ अयं मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्यधिकारप्रतिज्ञासमुच्चयेषु । अयं स्वरादावपि । तेन मङ्गलवाचकस्य सत्त्वार्थकत्वेऽप्यव्ययत्वम् । तथा च श्रीहर्षः—'यथाकुलाचारमथावनीन्द्रजां पुरन्ध्रिवर्गः स्नपयाम्बभूव ताम् ।' इति । अथ स्नपयाम्बभूव इत्यस्य मङ्गलस्नानं कारयामासेत्यर्थः । निपातश्चाथशब्दः । शूदङ्गादिध्वनिवत् मङ्गलम् । सुष्ठु स्वरभेदार्थः पुनः पाठः । स्म अतीते, पादपूरणे च । आदह उपक्रमहिंसाकुत्सनेषु । उपसर्ग-विभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च । चादिगणसूत्रमेतत् । उपसर्गप्रतिरूपकाः विभक्त्यन्तप्रतिरूपकाः अव्ययप्रतिरूपकाश्च चादिगणे पाठ्या इत्यर्थः । तत्रोपसर्गप्रतिरूपकमुदाहरति—अवदत्तम् इति । अत्र अवेत्युपसर्गप्रतिरूपकं, न तूपसर्गः । ततश्च 'अच उपसर्गात्तः' इति तो न भवति । तादेशे तु अवत्तमिति स्यात् । अहंयुरिति । अहमिति सुबन्तप्रतिरूपकम् अहङ्कारे । 'अहंशु-

---

देना । (३४) वषट्-वौषट् के समान[1] । (३०) तुम् = तू । (३६) तथाहि-जैसे । (३७) खलु = निश्चय (३८) किल = निश्चय । (३९) अथो तथा (४०) अथ = मङ्गल, अनन्तर, आरम्भ, प्रश्न, अधिकार, प्रतिज्ञा आदि । (४१) सुष्ठु=अच्छा । (४२) स्म = अतीत । (४३) आदह = उपक्रम, हिंसा, भर्त्सना । गणसूत्र-अर्थ-उपसर्गप्रतिरूपक (सदृश), सुबन्तसदृश, तिङन्तसदृश एवं स्वरप्रतिरूपक शब्द भी अव्यय होते हैं । इनके भी क्रमशः उदाहरण दिये जारहे हैं—(क) उपसर्गसदृश—(१) अवदत्तम्[2]—दिया हुआ । सुबन्तसदृश[3]—(२) अहंयुः = अहङ्कारवान् । (३) तिङन्तसदृश—अस्तिक्षीरा[4] = दूधवाली । (४) अ = सम्बोधन, विक्षेप, निषेध । (५) आ—वाक्य, स्मरण । (६) इ = सम्बोधन, जुगुप्सा, विस्मय । (७) ई (८) उ (९) ऊ (१०) ए (११) ऐ (१२) ओ तथा (१३) औ = सम्बोधन । (१४) पशु= सम्यक् । (१५) शुकम् = शीघ्रता । (१६) यथाकथा च = अनादर । (१७) पाट् (१८)

---

१. श्रौषट् आदि का पुनः पाठ स्वरभेद के लिए है ।

२. इस शब्द में 'अव' उपसर्ग नहीं है । अन्यथा "अच उपसर्गात् तः" (३०७८) से 'दा' = 'त्' आदेश होने पर 'अवत्तम्' रूप बनता । इस तरह के अन्य उदाहरण ये हैं—

"अवदत्तं विदत्तं च प्रदत्तं चादिकर्मणि ।
सुदत्तमनुदत्तं च निदत्तमिति चेष्यते ॥"

३. इस शब्द में भी 'अहम्' पद अस्मद्-शब्द की प्रथमा का एकवचन नहीं है । अन्यथा (अहं+युस्) "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" (१३७३) से मपर्यन्त भाग को 'मद्' आदेश होकर 'मद्युः' शब्द बन जाता ।

४. यहाँ भी 'अस्ति' क्रियावाचक शब्द नहीं है । अतः प्रकृत उदाहरण में 'अस्ति क्षीरं यस्याः' बहुव्रीहिसमास हो जाता है । अन्यथा नहीं होता ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इ । ई । उ । ऊ । ए । ऐ । ओ । औ । पशु । शुकम् । यथाकथाच । पाट् । प्याट् । अङ्ग । है । हे । भोः । अये । घ । विषु । एकपदे । युत् । आतः । चादिरप्याकृतिगणः । इति चादयः । (४४८) तद्धितश्चासर्वविभक्तिः १ । १ । ३८ ॥ यस्मात्सर्वा विभक्तिर्नोत्पद्यते स तद्धितान्तोऽव्ययं स्यात् । परिगणनं कर्तव्यम् । तसिलादयः प्राक्पाशपः, शस्-

---

भमोर्युस्' इति मत्वर्थीयो युस् । अत्र अहमिति न अस्मच्छब्दस्य प्रथमैकवचनम् । तथा सति 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति मपर्यन्तस्य मदादेशे मद्युरित्यापत्तेः । अस्तिक्षीरेति । अस्ति क्षीरं यस्याः इति बहुव्रीहिः, अत्र अस्तीति तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययं, नतु तिङन्तम् । तथा सति बहुव्रीह्यनुपपत्तेः । 'अनेकमन्यपदार्थे' इति बहुव्रीहिविधौ सुवित्यनुवृत्तेः । एवं च बहुव्रीहिविधौ 'अस्तिक्षीरेत्युपसंख्यानम्' इति वार्तिकं न कर्तव्यमिति 'अनेकमन्यपदार्थे' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । स्वरप्रतिरूपकानुदाहरति—अ इत्यादिना । अ सम्बोधने । आ वाक्यस्मरणयोः । इ सम्बोधनजुगुप्सावितर्कविस्मयेषु । ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ इति सप्तकं सम्बोधने । पशु सम्यगर्थे । शुकम् शैघ्र्ये । यथाकथाच सङ्गतोऽयमनादरे । पाट्, प्याट्, अङ्ग, है, हे, भोः, अये एते सप्त सम्बोधने । घ हिंसाप्रातिलोम्यपादपूरणेषु । विषु नानार्थे । एकपदे अकस्मादित्यर्थे । युत् कुत्सायाम् । आत इतोऽर्थे । चादिरप्याकृतिगण इति । यत् तत्-द्वयं हेतौ । अहोस्वित् विकल्पे । सम् सर्वतोभावे । कम् पादपूरणे । सुकम् अतिशये । अनु वितर्के । शश्वत् अन्तःकरणे आभिमुख्ये च । व पादपूरणे इवार्थे च । चटु चाटु द्वयं प्रियवाक्ये । हुम् भर्त्सने । इव सादृश्ये । अद्यत्वे इदानीमित्यर्थे इत्यादि । अत्र स्वरादि-चाद्योराकृतिगणत्वेऽपि येषां निपातस्वरः इष्टः ते चादिषु, अन्ये तु स्वरादिषु । स्वरद्वय-भाजस्तु उभयत्र बोध्याः । इति चादयः । अथ स्वरादिचादिभिन्नान्यव्ययान्याह ।

(४४८) तद्धितश्चासर्वविभक्तिः । असर्वविभक्तिरिति बहुव्रीहिः । यत्र सर्वाः विभक्तयः यस्मान्न भवन्तीति बहुवचनान्तविग्रहो न सम्भवति, अव्ययेभ्यः सप्तानां विभक्तीनाम् उत्पत्त्यभ्युपगमात् । तथाहि 'तद्धितश्च' इति प्रकृतसूत्रे भाष्ये तावत् 'द्व्येकयोर्द्विवचनैक-वचने' 'बहुषु बहुवचनम्' इते सूत्रविन्यासं भङ्क्त्वा 'एकवचनम्' 'द्व्योर्द्विवचनम्', 'बहुषु बहुवचनम्' इति सूत्रन्यासं कृत्वा एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते, द्विबह्वोरर्थयोः तस्य

प्याट्, (१९) अङ्ग, (२०) है, (२१) हे (२२) भोः तथा (२३) अये = सम्बोधन । (२४) घ = हिंसा, प्रतिकूलता, पादपूर्ति, सम्बोधन । (२५) विषु = नाना, अनेक । (२६) एकपदे = अकस्मात् । (२७) युत् = कुत्सा । (२८) आतः = इधर ।

विशेष—'च' आदि भी आकृतिगण हैं । इसके अतिरिक्त वे निपात भी हैं । स्वरादिगण में पठित कुछ शब्दों की यहाँ आवृत्ति की गई है । उनकी उपयोगिता 'स्वरसञ्चार' में है । निपात-संज्ञक होने से उनका आदि उदात्त होता है ।

'आकृतिगण' मानने से तत्सदृश अन्य अव्ययों का संकलन भी टीकाकारों ने किया है । वे इस प्रकार हैं । (१) यत् तथा (२) तत् = हेतु (जैसा, वैसा) । (३) अहोस्वित्=विकल्प । (४) सम् = सब तरह । (५) कम् = पादपूर्ति के लिये । (६) सुकम् = अतिशय । (७) अनु = वितर्क । (८) शश्वत् = अन्तःकरण, आभिमुख्य । (९) व = पादपूरण, इवार्थ । (१०) अद्यत्व = इस समय, आजकल ।

(४४८) पद—तद्धितः, च, असर्वविभक्तिः । अनुवृत्ति—अव्ययम् । संज्ञासूत्र ।

मूलार्थ एवं विवरण—पूर्व सूत्र से (२-१-३७) अव्ययम् की अनुवृत्ति आरही है । तदनुसार यह विदित होता है कि "तद्धित के जिस शब्द से सब विभक्तियाँ न हों ऐसा तद्धितान्त पद भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभृतयः प्राक्समासान्तेभ्यः। अम्। आम्। कृत्वोऽर्थाः। तसिवती। नानाविति। तेनेह न।

द्विवचनबहुवचने बाधके इत्यादि स्थितम्। ततश्च एकवचनमित्यनेन ङ्याप्प्रातिपदिकात् एकवचनं भवतीति सामान्यविधिना द्वित्वबहुत्वाभावे एकवचनमिति लभ्यते। एवं च द्विबहुत्वाभावे सति एकत्वे तदभावे च एकवचनमिति फलति। तत्र द्वित्वबहुत्वयोः द्विवचनबहुवचनोक्त्यैव ततोऽन्यत्र एकवचनस्य सिद्धत्वात् 'एकवचनम्' इति सूत्रं कर्मत्वाद्यभावेऽपि प्रापणार्थं सम्पद्यते। तथा च अलिङ्गसंख्येभ्योऽव्ययेभ्यः एकवचनं प्रवर्तमानं विनिगमनाविरहात् सर्वविभक्त्येकवचनं भवति। अत एव 'अव्ययादाप्सुपः' इत्यत्र प्रत्याहारग्रहणमर्थवत्। तस्मात्सर्वा विभक्तयो यस्मादिति न विग्रहः। किन्तु सर्वशब्दोऽत्र सर्वः पटो दग्ध इतिवत् अवयवकात्स्न्यें वर्तते। एवं च सर्वा वचनत्रयात्मिका विभक्तिः यस्मान्नोत्पद्यते, किन्त्वेकवचनान्येवोत्पद्यन्ते, स तद्धितान्तोऽव्ययसंज्ञः स्यादिति फलतीत्यभिप्रेत्याह—यस्मादिति। सर्वेति। वचनत्रयात्मिकेत्यर्थः। नोत्पद्यते इति। किन्त्वेकवचनान्येवोत्पद्यन्ते इति शेषः। स्यादेतत्—तिङश्चेत्यनुवृत्तौ 'प्रशंसायां रूपप्' इति रूपप्प्रत्यये 'ईषदसमाप्तौ कल्पप्' इति कल्पप्प्रत्यये च पचतिरूपं पचतिकल्पमिति रूपम्। प्रशस्तं पचति, ईषत् पचतीत्यर्थः। अत्राप्यव्ययत्वं स्यात्, असर्वविभक्तितद्धितान्तत्वात्। किञ्च उभयशब्दे अतिव्याप्तिः, तस्याप्यसर्वविभक्तितद्धितान्तत्वादित्यत आह—परिगणनमिति। वार्तिकमेतत्। तसिलादय इति। 'पञ्चम्यास्तसिल्' इत्यारभ्य 'द्विर्योश्च धमुञ्' इत्यन्ता

अव्ययसंज्ञक होगा।" उनका भी परिगणन करना चाहिये। ऐसे प्रत्ययों का क्षेत्र बताया जारहा है। (क) तद्धित-प्रकरण में "पञ्चम्यास्तसिल्" (५-३-७) से प्रारम्भ होकर "याप्ये पाशप्" (५-३-३७) से पहले तक प्रत्ययों का इसमें समावेश होता है। वे तद्धित-प्रत्यय ये हैं—१-तसिल्, २-त्रल्, ३-हि, ४-अत्, ५-दा, ६-र्हिल्, ७-दानीम्, ८-धुना, ९-घस् (आदि) १०-थाल्, ११-थमु, १२-धा, १३-अस्तातिं, १४-अतसुच्, १५-रिल्, १६-आति १७-अ, १८-आ, १९-आति, २०-एनप्, २१-आच्, २२-आहि, २३-असि, २४-धा, २५-ध्यमुञ्, २६-धमुञ्, २७-एधाच्, २८-शस्, २९-तसि, ३०-च्वि, ३१-साति, ३२-त्रा, ३३-डाच्, ३४-अम्, ३५-आम्, ३६-कृत्वसुच्, ३७-सुच्, ३८-धा, ३९-तसि, ४०-वति, ४१-ना और ४२-नाञ्। उपर्युक्त प्रत्ययान्त शब्दों के रूप सब विभक्तियों में नहीं बनते। अतः इस नियम से ये शब्द अव्यय-संज्ञक होंगे। उदाहरणार्थ—अतः (तसिल्), कुत्र (त्रल्), सदा (दा) आदि शब्द अव्यय हैं। (ख) इसी प्रकार 'शस्' प्रत्यय (५-४-४२) से लेकर समासान्त प्रत्ययों (५-४-६८) से पहले तक के प्रत्यय भी अव्ययसंज्ञक होते हैं। इस प्रकरण के अन्तर्गत इन प्रत्ययों का समावेश है—(१) शस् (उदा० बहुशः आदि) (२) तसि (आदितः) (३) च्वि (ब्रह्मीभवति) (४) साति (अग्निसात्) (५) त्रा (देवत्रा) तथा (६) डाच् (पटपटाकरोति)। (ग) इनके अतिरिक्त तद्धित के मकारान्त अन्य दो प्रत्यय-'अम्' ("अमु च च्छन्दसि" ६-४-१२, उदा० प्रतरम्) तथा 'आम्' ("किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे-५-४-११, उदा० किन्तमाम्) का भी इस परिगणन में समावेश किया गया है। अतः 'अम्' तथा 'आम्'-प्रत्ययान्त शब्द भी अव्ययसंज्ञक होते हैं। (घ) कृत्वसुच्-अर्थ के प्रत्यय भी अव्यय-संज्ञा में परिगणित किये गए हैं। ये प्रत्यय तीन हैं—(१) कृत्वसुच् ("संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्"-५-४-१७, उदा० पञ्चकृत्वः) (२) सुच् ("द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्"-५-४-१५, उदा० द्विः) (३) धा ("विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले" ५-४-२०, उदा० बहुधा)। (ङ) 'तसि' तथा 'वति' प्रत्ययान्त शब्द भी अव्यय में परिगणित हैं। (१) तसि—("तसिश्च"-४-३-११३, उदा० पीलुमूलतः) (२) वति ("तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" ५-१-११५, उदा० ब्राह्मणवत्)। (च) ना तथा नाञ् प्रत्ययों का भी परिगणन किया गया है। ना तथा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यर्थः। शस्प्रभृतय इति। 'बह्वल्पार्थात्' इत्यारभ्य 'अव्यक्तानुकरणात्' इति डाजन्ता इत्यर्थः। अम्, आमिति। 'अमु च च्छन्दसि' इत्यम्, 'किमेत्तिङव्यय' इत्याम् च गृह्यते। कृत्वोऽर्था इति। 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्, द्वित्रिचतुर्भ्यस्सुच्, विभाषा बहोर्वा' इति त्रय इत्यर्थः। तसिवती इति। 'तेनैकदिक्, तसिश्च' इति तसिः, 'तेन तुल्यम्' इत्यादिविहितो वतिश्च गृह्यते। 'प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः' इत्यस्य तु शस्प्रभृतित्वादेव सिद्धम्। एवं च स्वरादिषु वदित्यस्य प्रयोजनं चिन्त्यम्। नानाआविति। 'विनञ्भ्यां नानाञौ न सह' इति विहितौ नानाञौ। इति परिगणनं कर्तव्यमित्यन्वयः। गणे परिगणनेनैव सिद्धेः, 'तद्धितश्च' इति सूत्रं न कर्तव्यमिति भावः।

नाञ् ("विनञ्भ्यां नानाञौ न सह" ५-२-२७, उदा० विना–नाना)। उपर्युक्त परिगणन करने का फल यह है कि इन प्रत्ययों के अतिरिक्त अन्य असार्वविभक्तिक तद्धितान्त शब्द अव्ययसंज्ञक नहीं होते। जिसके फलस्वरूप 'पचतिकल्पम्' (= थोड़ा पकाता है) तथा 'पचतिरूपम्' (=मधुर पकाता है) शब्दों की अव्ययसंज्ञा नहीं हुई। यद्यपि 'कल्पप्' ("ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः" ५-३-६७) तथा 'रूपप्' ("प्रशंसायां रूपप्" ५-३-६६) प्रत्ययों से भी सब विभक्तियों का प्रयोग नहीं होता, तथापि उपर्युक्त परिगणन के अन्तर्गत न आने के कारण इन्हें अव्यय संज्ञा नहीं हुई, अतः विभक्ति का लोप नहीं हुआ। परिगणन होने से सूत्र की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

विशेष—इससे पूर्व स्वरादि तथा चादि निपात-शब्दों की अव्यय-संज्ञा की जा चुकी है। उन दोनों प्रकार के अव्ययों से भिन्न अन्य अव्ययों के विषय में भी निर्वचन किया गया है। तदनुसार असर्वविभक्तिक-तद्धितान्त शब्दों की 'अव्यय'–संज्ञा की जारही है। प्रकृत सूत्र में 'असर्वविभक्तिः' पद बहुव्रीहिसमास-परक है। उसका विग्रह है—न (उत्पद्यते) सर्वा विभक्तिः यस्मात् सः असर्व-विभक्तिः तद्धितः।[1] अर्थात् जिससे सब विभक्तियाँ (तीनों वचनों वाली) उत्पन्न न हों ऐसे तद्धित-प्रत्ययान्त शब्द अव्यय-संज्ञक होते हैं। इसी प्रकार यहाँ 'सर्व' शब्द अवयवों के साकल्य का प्रतीक है। तदनुसार यह स्पष्ट होता है कि तीनों वचनों से युक्त विभक्ति-वाले तद्धितान्त शब्द अव्यय-संज्ञा की परिधि में नहीं आते। केवल एकवचन से युक्त विभक्तिवाले तद्धितान्त शब्दों की अव्यय-संज्ञा होती है। जिसके फलस्वरूप उससे अधिक असर्वविभक्तिक-तद्धितान्त अव्यय-संज्ञक नहीं होते। ऐसे तद्धितान्त शब्दों का भाष्यकार ने परिगणन कर दिया है। इस प्रसङ्ग में भाष्यकार ने "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने" (१-४-२२) तथा "बहुषु बहुवचनम्" (१-४-२१) इन दो सूत्रों के स्थान पर "एकवचनम्", "द्व्योर्द्विवचनम्", "बहुषु वचनम्"—इन तीनों रूपों में रखकर यह सूचित किया है कि एकवचन तो उत्सर्गतः (स्वभावतः) हो जायगा तथा 'दो' एवं 'अनेक' अर्थों की विवक्षा में क्रमशः द्विवचन एवं बहुवचन बाधक हो जायेंगे। इस तरह द्वित्व और बहुत्व के अभाव में 'एकवचनम्' इस सूत्र से सामान्यतः ङ्यन्त, आवन्त और प्रातिपादिक से एक-वचन होगा। इस प्रकार द्वित्व और बहुत्व के अभाव में एकवचन स्वतः सिद्ध होनेपर भी 'एकवचनम्' इस कथन

---

१. "तदेवं सन्दृश्यताम्। अर्थरूपमेवैतदेवंजातीयकं येनात्र विभक्तिर्न भवतीति। तच्चाप्येतदेव-मनुगम्यमानं दृश्यताम्। किञ्चिदव्ययं विभक्त्यर्थप्रधानं किञ्चित् क्रियाप्रधानम्। उच्चैर्नीचैरिति विभक्त्यर्थप्रधानम्। हिरुक् पृथगिति क्रियाप्रधानम्। तद्धितश्चापि कश्चित् विभक्त्यर्थप्रधानः। कश्चित् क्रियाप्रधानः। तत्र यत्रेति विभक्त्यर्थप्रधानः। विना नानेति क्रियाप्रधानः। न चैतयोरर्थयोर्लिङ्ग-संख्याभ्यां योगोऽस्ति। अथापि असर्वविभक्तिरित्युच्यते। एवमपि न दोषः। कथम्? इदं चाप्यत्वे अतिबहु क्रियते। एकस्मिन्नेकवचनम्। द्व्योर्द्विवचनम्। बहुषु वचनमिति। कथं तर्हि? एकवचन-मुत्सर्गतः करिष्यते। तस्य द्विबहोरर्थयोः द्विवचन–बहुवचने बाधके भविष्यतः। न चाप्येवं विग्रहः करिष्यते–न सर्वाः = असर्वाः विभक्तयो यस्मादिति। कथं तर्हि? न सर्वा=असर्वा, असर्वा विभक्तिः अस्मात् इति।" महाभाष्यम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पचतिकल्पम्, पचतिरूपम् । (४४९) कृन्मेजन्तः १ । १ । ३९ ॥ कृद्यो मान्त एजन्तश्च तदन्तमव्ययं स्यात् । स्मारं स्मारम् । जीवसे । पिबध्यै । (४५०) क्त्वातोसुन्कसुनः

---

(४४९) कृन्मेजन्तः । कृद् मेजन्त इति छेदः । म् च एच्च मेचौ तौ अन्ते यस्येति बहुव्रीहिः । तदाह—कृद्यो मान्त इति । तदन्तमिति । केवलस्य कृतः प्रयोगानर्हत्वात् संज्ञाविधावपि तदन्तविधिरिति भावः । स्मारं स्मारमिति । 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' इति स्मृधातोर्णमुल्, 'अचो ञ्णिति' वृद्धिः, रपरत्वम्, 'नित्यवीप्सयोः' इति द्वित्वं, मान्तकृदन्तत्वादव्ययत्वम् । जीवसे इति । 'तुमर्थे सेसेनसे' इत्यादिना असेप्रत्ययः । पिबध्यै इति । 'तुमर्थे से' इत्यादिना शध्यैप्रत्ययः । शित्त्वात् सार्वधातुकत्वम् । 'पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्तिसर्तिशदसदाम्' इति पिबादेश इति भावः । शप् तु न, कर्त्रर्थं सार्वधातुके तद्विधेः, 'अव्ययकृतो भावे' इति सिद्धान्तादित्याहुः ।

(४५०) क्त्वातोसुन्कसुनः । कृत्वेति 'समानकर्तृकयोः' इति क्त्वा । उदेतोरिति । उत्पूर्वादिणः 'भावलक्षणे' इत्यादिना तोसुन् । विसृप इति । 'सृपितृदोः कसुन्' ।

से कर्मत्वादि के अभाव में भी एकवचन का होना सिद्ध होता है । इस प्रकार लिङ्ग और संख्या (वचन) से रहित अव्ययों से प्रवर्तमान एकवचन (विनिगमनाविरह से) सब विभक्तियों का एकवचन ही माना जाता है । अतः 'असर्वविभक्ति' में 'सर्वा विभक्तयः यस्मात्'—यह विग्रह नहीं किया जाता ।

(४४९) **पद**—कृत्, मेजन्तः । **अनुवृत्ति**—अव्ययम् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—मकारान्त तथा एजन्त कृत्प्रत्यान्त शब्दस्वरूप की अव्यय-संज्ञा होती है । स्मारं स्मारम् । जीवसे । पिबध्यै ।

विवरण—प्रकरणवश "स्वरादिनिपातमव्ययम्" (१-१-३७) सूत्र से 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति करने पर 'अव्यय'-संज्ञा का ज्ञान होता है । 'कृत्' पद प्रत्ययों का बोधक है । अतः उससे तदन्त का ग्रहण होगा ('प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः') । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि 'मकारान्त तथा एजन्त (ए, ओ, ऐ, औ-वर्णान्त) 'कृत्'-प्रत्ययान्त (म् च एच् च मेजौ, तौ अन्ते यस्य स मेजन्तः) शब्द भी अव्ययों में समाविष्ट होते हैं' । 'कृत्' प्रत्ययों में पाँच प्रत्यय मकारान्त हैं—(१) णमुल् ("आभीक्ष्ण्ये णमुल् च"-३-४-२२ आदि), (२) खमुञ् ("कर्मण्याक्रोशे खमुञ्"-३-४-२५) । (३) तुमुन् ("तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्-३-३-१०) (४) कमुल् ("शकि णमुल्कमुलौ"-३-४-१२) तथा (५) खमुञ् ("कर्मण्याक्रोशे कृञः खमुञ्"-३-४-२५) । इन मकारान्त प्रत्ययों में से 'कमुल्' तथा 'खमुञ्' प्रत्यय वेद में प्रयुक्त होते हैं । शेष तीन लौकिक संस्कृत के विषय हैं । इसी प्रकार 'एच्'-वर्णान्त प्रत्ययों में से 'एकारान्त'-से, असे, नसे इत्यादि तथा ऐकारान्त प्रत्यय 'अध्यै' 'कध्यै' आदि ("तुमर्थे सेऽसेनसेअसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन् शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः"-३-४-९) हैं । ये भी वेद के ही विषय हैं । इन प्रत्ययों का प्रयोग 'तुमुन्' प्रत्यय के अर्थ में होता है । **उदाहरण**-'म्' वर्ण अन्त वाले प्रत्यय-(१) स्मारं स्मारम् (√स्मृ+णमुल्, <स्मृ+अम्, <स्मारं, <स्मारं स्मारम्—णमुल् प्रत्यय करने पर वृद्धि होकर द्वित्व हो जाता है—अर्थ—बार-बार स्मरण करके) । (२) एकारान्त-प्रत्यय-जीवसे (√ जीव्+असे प्रत्यय—अर्थ—जीने के लिए) । (३) ऐकारान्त-प्रत्यय-पिबध्यै (√ पा+शध्यै, <पा+अध्यै, <पिब+अध्यै, <पिबध्यै = अर्थ—पीने के लिये) ।

(४५०) **पद**—क्त्वातोसुनकसुनः । **अनुवृत्ति**—अव्ययम् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—क्त्वा, तोसुन् और कसुन् प्रत्ययान्त शब्द अव्यय-संज्ञक होते हैं । कृत्वा । उदेतोः । विसृपः ।

विवरण—सूत्र में संज्ञा का निर्देश नहीं है, अतः प्रकरणवश "स्वरादिनिपातमव्ययम्" (१-१-३७) से 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । क्त्वा, तोसुन् तथा कसुन् प्रत्यय हैं, अतः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१।१।४०॥ एतदन्तमव्ययं स्यात्। कृत्वा। उदेतोः। विसृपः। (४५१) **अव्ययीभावश्च १।१।४१॥** अधिहरि। (४५२) **अव्ययादाप्सुपः २।४।८२॥** अव्ययाद्विहितस्यापः सुपश्च लुक् स्यात्। तत्र शालायाम्। अथ। विहितविशेषणान्नेह—अत्युच्चैसौ। अव्ययसंज्ञायां यद्यपि तदन्तविधिरस्ति, तथापि न गौणे। आव्ग्रहणं व्यर्थमलिङ्गत्वात् (वा १६३३)।

---

(४५१) अव्ययीभावश्च। अव्ययसञ्ज्ञः स्यादिति शेषः। अधिहरीति। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः, हरावित्यर्थः।

(४५२) अव्ययादाप्सुपः। आप् च सुप् च आप्सुप्, तस्य आप्सुपः, समाहारद्वन्द्वात् षष्ठी। 'ण्यक्षत्रियार्ष' इत्यतो लुगित्यनुवर्तते। तदाह—अव्ययाद्विहितस्येति। तत्र शालायामिति। तत्रेत्यस्याव्ययत्वात् आपो लुक्। स्त्रीत्वबोधनाय शालायामिति। अथेति। अत्र सुपो लुक्। विहितेति। अव्ययात्परस्येत्यनुक्त्वा अव्ययाद्विहितस्येति व्याख्यानादिति भावः। अत्युच्चैसाविति। उच्चैरतिक्रान्त इति विग्रहे 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीया' इति समासः। अधिकरणशक्तिप्रधानान्यव्ययानि वृत्तिविषये शक्तिमत्प्रधानानि भवन्ति। यथा दोषामन्यमहः, दिवाभूता रात्रिरिति। अतो द्वितीयासम्भवात् 'अत्यादयः' इति द्वितीयासमासस्याविरोधः। अत्र समासाद्विहितस्य सुपः अव्ययभूतादुच्चैश्शब्दात् परत्वेऽपि ततो विहितत्वाभावात् न लुक्। अत्युच्चैरिति समुदायस्य तु नाव्ययत्वम्, स्वरादिगणे उच्चैःशब्दस्य केवलस्य पाठादिति भावः। ननु स्वरादिगणे केवलोच्चैश्शब्दस्य पाठेऽपि 'स्वरा-

---

इन प्रत्ययों से तदन्त का ग्रहण होगा ('प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः')। तदनुसार "'क्त्वा'प्रत्ययान्त, 'तोसुन्'-प्रत्ययान्त तथा 'कसुन्'-प्रत्ययान्त शब्दरूप अव्यय-संज्ञक होंगे"। इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं—(१) क्त्वा (√कृ+क्त्वा, <कृत्वा = करके), (२) उदेतोः (उत्-√इ+तोसुन्,[2] <उत्-इ+तोस्, <उदेतोस्, <उदेतोर्, <उदेतोः (= उदय प्राप्त करने के लिए)। (३) विसृपः (वि-√सृप्+कसुन्[3], <वि-सृप्+अस्, <विसृपस्, <विसृपर्, <विसृपः (= जाने के लिए)।

(४५१) पद—अव्ययीभावः, च। अनुवृत्ति—अव्ययम्। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—अव्ययीभाव समास की भी अव्यय-संज्ञा होती है। अधिहरि।

विवरण—प्रकरणवश यहाँ भी "स्वरादिनिपातमव्ययम्" (१-१-३७) से अव्यय की अनुवृत्ति करने पर सूत्रार्थ पर्यवसित होता है। तदनुसार "अव्ययीभाव-समास 'अव्यय' संज्ञक होगा"। "अव्ययीभावः" (२-१-५) अधिकार के अन्तर्गत समास अव्ययीभाव कहलाता है। उदाहरण—अधिहरि (हरौ अधिकृत्य-हरि+ङि-अधि, विभक्त्यर्थ में 'अधि' अव्यय के साथ अव्ययीभाव-समास), <हरि-अधि, <अधि हरि (उपसर्जनसंज्ञक 'अधि' का पूर्व-निपात), <अधिहरि+सु (समासोत्तर विभक्त्युत्पत्ति), <अधिहरि = अव्ययसंज्ञा होने से विभक्ति का लोप (अर्थ = हरि के विषय में)।

(४५२) पद—अव्ययात्, आप्सुपः। अनुवृत्ति—लुक्। विधिसूत्र।

मूलार्थ—अव्यय से परवर्ती 'आप्' तथा 'सुप्' का लुक् होता है। तत्र शालायाम्। अथ। विहित-विशेषण होने से 'अत्युच्चैसौ' में लोप नहीं हुआ। अव्यय-संज्ञा में यद्यपि तदन्तविधि है तथापि गौण में तदन्तविधि नहीं होती। (वा०) सूत्र में 'आप्' ग्रहण व्यर्थ है, क्योंकि अव्ययार्थ लिङ्गान्वयी

---

१. "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" (३-४-२१)।
२. "भावलक्षणे स्थेणकृञ्वदिचरितमिजनिभ्यस्तोसुन्" (३-४-१६)।
३. "सृपितृदोः कसुन्" (३-४-१७)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ।'
इति (भाष्योक्ता) श्रुतिर्लिङ्गकारकसङ्ख्याऽभावपरा ।

दिनिपातमव्ययम्' इति अव्ययसञ्ज्ञा भवत्येव 'प्रयोजनं सर्वनामाव्ययसञ्ज्ञायाम्' इति वचनादित्याशङ्कते—अव्ययसञ्ज्ञायां यद्यपि तदन्तविधिरस्तीति । परिहरति—तथापि न गौणे इति । सर्वनामसंज्ञायामुपसर्जनस्य नेति प्रकृतः प्रतिषेधः अव्ययसंज्ञाविधावनुवर्तत इति 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टमिति भावः । आब्ग्रहणं व्यर्थमिति । 'अव्ययादाप्सुपः' इति सूत्रे इति शेषः । अलिङ्गत्वादिति । अव्ययानां लिङ्गाभावादित्यर्थः । तथा च वार्तिकम्—'अव्ययादाब्लुग्वचनानर्थक्यं लिङ्गाभावात्' इति । तथा 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इति सूत्रे भाष्येऽप्युक्तम्—'स्त्रीपुंनपुंसकत्वानि सत्त्वगुणाः, एकत्वद्वित्वबहुत्वानि च । एतानर्थान् ये न वियन्ति तदव्ययम्' इति । ननु अव्ययानां लिङ्गाभावे 'सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु' इत्याथर्वणश्रुतिविरोध इत्याशङ्क्य परिहरति—सदृशमिति । त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु सर्वेषु वचनेषु च यत् न व्येति विकारं न प्राप्नोति, किन्तु सदृशम् एकप्रकारमेव भवति, तदव्ययमिति आथर्वणश्रुतियोजना । अत्र विभक्तिवचनशब्दौ कारकसङ्ख्यापरौ, न तु प्रत्ययपरौ, अन्यतरग्रहणवैयर्थ्यात् । लिङ्गकारकेति । लिङ्गकारकसङ्ख्याभावः परः तात्पर्यविषयभूतो यस्या इति विग्रहः । लिङ्गेष्वित्यादिषु सप्तमी हि 'षष्ठी चानादरे' इति विहिता । तथा च लिङ्गकारकसङ्ख्याः अनाहत्य यन्न व्येति विकारं न प्राप्नोति, किन्तु सदृशम् एकप्रकारमेव भवति, तदव्ययमित्युदाहृतश्रुतेरर्थः । 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इति सूत्रभाष्ये 'स्त्रीपुंन-

---

नहीं है । अव्यय का स्वरूप-प्रतिपादक वचन-(अर्थ) "जो तीनों लिङ्गों, सभी विभक्तियों और वचनों में विकृत या भिन्नरूपात्मक न हो, वह अव्यय है" । यह श्रुति-वचन लिङ्ग तथा संख्या (वचन) के अभाव का बोध कराती है । आचार्य भागुरि 'अव' तथा 'अपि' उपसर्गों के अकार का लोप मानते हैं । इसके साथ ही उन्हें 'हलन्त' शब्दों में 'आप्' भी स्वीकार्य है । इसके उदाहरण वाचा, निशा, दिशा आदि हैं । वगाहः—अवगाहः । पिधानम्—अपिधानम् ।

विवरण—सूत्र में आदेश-विधायक शब्द नहीं है । उसका परिज्ञान होने के लिए "ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः" (२-४-५८) सूत्र से 'लुक' पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार "अव्यय से विहित 'आप्' (टाप्, डाप् तथा चाप्—आकारान्त स्त्रीवाचक प्रत्यय) तथा 'सुप्' (आप् च सुप् च—आप्सुप्, तस्य = आप्सुपः—समाहारद्वन्द्व) प्रत्ययों (विभक्तिवाचक प्रत्यय) का लुक् (= लोप) होता है" । **उदाहरण**—तत्र शालायाम् । इस वाक्य में 'तत्र' शब्द तद्धित (त्रल्) प्रत्ययान्त है । 'शाला' शब्द 'टाप्' प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग-वाची है । अतः 'तत्र' शब्द में भी 'टाप्' प्राप्त होता है किन्तु अव्यय से विहित होने के कारण उसका लोप हो जाता है । अतः 'तत्र' में कोई परिवर्तन नहीं होता । इसी प्रकार 'अथ' में भी विभक्ति का 'लुक्' (लोप) हुआ ।

विशेष—१—प्रकृत सूत्र में 'अव्ययात्' पद पञ्चमी-विभक्ति में है । सामान्यतः 'पञ्चमी-विभक्ति' से 'पर' अर्थ किया जाता है । किन्तु यहाँ प्राचीन व्याख्याकारों ने 'अव्यय से विहित'—इस प्रकार अर्थ कर विशेषता सूचित की है । जिसके फलस्वरूप 'अत्युच्चैसौ' (उच्चैः अतिक्रान्तः—ऊँचे स्थान को अतिक्रमण करने वाले दो व्यक्ति) में 'सुप्' (= औ) का लोप नहीं हुआ । इसका कारण यह है कि इस शब्द (अत्युच्चैस्+औ) में समास होने के बाद 'औ' विभक्ति 'अत्युच्चैस्' से विहित है, न कि 'उच्चैस्' से । अतः विभक्तिलुक् नहीं हुआ । यद्यपि अव्यय-संज्ञा में तदन्तविधि मान्य है तथापि गौण में तदन्तविधि प्रवृत्त नहीं होती । 'अत्युच्चैस्' पद का अवयव 'उच्चैस्' शब्द अन्योपसर्जन होने से गौण हो गया है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥'
वगाहः—अवगाहः । पिधानम्—अपिधानम् ॥

इत्यव्ययप्रकरणम् ।

नपुंसकत्वानि सत्त्वगुणाः, एकत्वद्वित्वबहुत्वानि च । एतानर्थान् ये न वियन्ति तदव्ययम्' इत्युपक्षिप्य तत्र प्रमाणतया अस्याः श्रुतेरुदाहृतत्वादिति भावः । अयं च लिङ्गकारक-संख्याभावनियमो निपातानामेव, स्वरादीनां तु कतिपयानां लिङ्गकारकसंख्यान्वयोऽस्त्येव, 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' इति सूत्रे भाष्ये 'चादीनामसत्त्ववचनानामेव संज्ञा । स्वरादीनां तु सत्त्ववचनानामसत्त्ववचनानां च' इत्युक्तत्वात् । स्वस्ति वाचयति, स्वस्ति वाच्य इति, क्षीणे पुण्ये स्वः पतति, प्रातर्यजते इत्यादौ कर्मकारकयोगदर्शनाच्च । अथ प्रसङ्गादाह—वष्टीति । अव अपि इत्युपसर्गयोः अकारस्य लोपं हलन्तानाम् आपं च भागुरिनामक आचार्यो वष्टि इच्छतीत्यर्थः । एवशब्दस्तु पादपूरणः । अवेत्युपसर्गे आदेरेवाकारस्य लोपो नान्यस्य, अपिना साहचर्यात् । भागुरिशब्दं दन्त्योष्ठ्यादि केचित्पठन्ति । तत्त्वबोधिन्यां तु पवर्गचतुर्थादिः पठितः । शब्देन्दुशेखरेऽप्येवम् । यथा वाचेति । परिगणनमिति केचित् । उदाहरणमात्रमित्यन्ये । यद्यपि 'वश कान्तौ' इत्यस्य छन्दोमात्रविषयत्वं वक्ष्यते, तथापि अस्मादेव लिङ्गाल्लोकेऽपीत्याहुः । वस्तुतस्तु वष्टि भागुरिरिति श्लोको भाष्ये न दृश्यते । प्रत्युत 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इति सूत्रस्थभाष्यपर्यालोचनया नास्तीत्येव युक्तम् । तत्र ह्येवमुक्तम्—आब्ग्रहणं न कार्यम्, खट्वा मालेत्यादौ अन्तवत्त्वेन प्रातिपदिकत्वादेव सिद्धम् इत्युक्त्वा क्रुञ्चा उष्णिहा देवविशेति हलन्तात् टापः स्वाद्यर्थमाब्ग्रहणमस्त्विति

२—"अव्ययादाप्सुपः" (२-४-८२) सूत्र में 'आप्' ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अव्ययार्थ लिङ्गान्वयी नहीं है । अतः अव्ययवाची शब्दों से 'टाप्' प्रत्यय प्राप्त नहीं होगा । पूर्वोक्त उदाहरण 'तत्र' में केवल सप्तमी का 'लुक्' होना ही अव्यय-संज्ञा का प्रयोजन है । भट्टोजी दीक्षित ने भाष्योक्त 'अव्ययादापो लुग्वचनानर्थक्यं लिङ्गाभावात्'—वार्तिक के आधार पर यहाँ इस विषय की चर्चा संक्षेप में की है ।

३—वृत्तिकारों ने अव्यय-प्रकरण के अन्त में दो कारिकाओं का उल्लेख कर अव्ययवाची शब्दों की विशेषता सूचित की है । इनमें से प्रथम कारिका में 'अव्यय' की सामान्य परिभाषा दी गई है । (अर्थ) तदनुसार जो शब्द तीनों लिङ्गों (पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग), सब विभक्तियों (कारक) और सब वचनों (संख्या) में किसी प्रकार बदलते न हों (न व्येति—विकारं न प्राप्नोति), वे अव्यय कहलाते हैं ।[1] अर्थात् ये सब दशाओं में एकरूप ही रहते हैं । इस प्रकार 'अव्यय' संज्ञा अन्वर्थक है[2] ।

४—दूसरी कारिका में आचार्य भागुरि के मत का प्रतिपादन किया गया है । उनके अनुसार 'अव' और 'अपि' उपसर्गों के आदि म अकार का लोप हो जाता है तथा हलन्त शब्दों से स्त्रीत्वविधायक

१. भाष्यकार ने इस कारिका को प्रणव-विद्या से सम्बद्ध आथर्वण श्रुति के रूप में उद्धृत किया है । यह वचन "गोपथ-ब्राह्मण" (१-१-२६) में है ।

२. "इहापि च संज्ञा क्रियते । संज्ञा च नाम यतो न लघीयः । कुत एतत् ? लब्ध्यर्थं हि संज्ञाकरणम् । तत्र महत्याः संज्ञायाः करणे एतत् प्रयोजनम् । अन्वर्था संज्ञा यथा विज्ञायेत—न व्येतीत्यव्ययमिति । क्व पुनर्न व्येति ? स्त्रीपुंनपुंसकानि सत्त्वगुणा एकत्वबहुत्वानि च । एतान् अर्थान् के चिद् वियन्ति के चित् न वियन्ति । ये न वियन्ति तद् अव्ययम्" । महाभाष्यम् ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आक्षिप्य 'क्रुञ्चानालभेत उष्णिहककुभौ देवविशं च' इति अकारान्तादेव तत्रापि टाबित्युक्त्वा 'डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्' इति बहुराजा, बहुराजे, बहुराजाः इत्यर्थम् आब्ग्रहणमिति समाहितम्। तस्मात् 'आपं चैव हलन्तानाम्' इत्याश्रित्य वाचा निशा दिशेत्युक्तम्। अत्र निश्दिशोरिगुपधलक्षणे के अदन्तत्वाट्टापि निशा इत्यादिरूपसम्भवेऽपि वाचाशब्दः असाधुरेवेति शब्देन्दुशेखरे स्थितम्।

इति श्रीवासुदेवदीक्षितविदुषा विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां बालमनोरमाख्यायाम् अव्ययनिरूपणं समाप्तम्।

'आप्' प्रत्यय का विधान भी होता है। इस विषय में पाणिनि की सम्मति न होने के कारण ये आदेश विकल्प से होंगे। 'अव' और 'अपि' के अकारलोप के उदाहरण क्रमशः 'वगाहः' (=गोता) तथा 'पिधानम्' (=ढकना) हैं। अकार का लोप न होने पर 'अवगाहः' (अव+√गाह्+घञ्) एवन् 'अपिधानम्' (अपि-√धा+ल्युट्) रूप बनते हैं। इसी प्रकार हलन्त शब्दों से 'आप्' प्रत्यय के उदाहरण वाचा (वाच्+आ), निशा (निश्+आ) तथा दिशा (दिश्+आ) आदि शब्द मिलते हैं। 'आप्' के अभाव में 'वाच्', 'निश्' तथा 'दिश्' शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रसिद्ध हैं।

५—'अव्यय' की उपर्युक्त परिभाषा 'निपात' शब्दों के सम्बन्ध में ही पूर्ण रूप से घटित होती है, क्योंकि कतिपय 'स्वर्' आदि अव्यय-शब्दों का लिङ्ग, कारक तथा संख्या के साथ अन्वय होता है। अतः भाष्यकार ने असत्त्ववाची 'च' आदि शब्दों को ही अव्ययसंज्ञा का विधान किया है। इसके साथ ही 'स्वर्' आदि शब्दों को, चाहे वे 'सत्त्ववाची' हों अथवा 'असत्त्ववाची', उन्हें अव्यय-संज्ञा के अन्तर्गत समाविष्ट किया है। इसके प्रमाणस्वरूप कैयट ने स्वस्ति वाचयति, (=स्वस्ति-वाचन करता है), स्वस्ति वाच्यः, (स्वस्ति-वाचन करना चाहिये), क्षीणे पुण्ये स्वः पतति (पुण्य क्षीण होने पर स्वर्ग से गिरता है), प्रातः यजते (प्रातः यज्ञ करता है) इत्यादि उदाहरण भी दिये हैं, जिनमें कर्म आदि कारकों के साथ 'स्वस्ति' आदि अव्ययों का सम्बन्ध दिखाया गया है।[1] इसी सम्बन्ध में आगे भाष्यकार ने यह भी निरूपित किया है कि अव्ययों में कुछ विभक्त्यर्थ-प्रधान हैं और कुछ क्रिया-प्रधान। जैसे 'हिरुक्' (=बिना), 'पृथक्' (अलग)-ये क्रिया-प्रधान अव्यय हैं। ऐसे प्रयोग 'पृथक् देवदत्तः' (=देवदत्त अलग) आदि वाक्यों में अवश्य देखे जाते हैं। यद्यपि इसमें कोई क्रियापद नहीं है, फिर भी ऐसे प्रयोग 'स्थिति' आदि क्रियापद के आक्षेप की आकाङ्क्षा रखते हैं। क्रिया-विशेषण होने के नाते इन्हें क्रिया-प्रधान माना गया है। क्रिया-प्रधान होने पर भी अव्यय होने के कारण इनके साथ लिङ्ग और संख्या का योग नहीं होता। इसी प्रकार उच्चैः, नीचैः आदि अव्यय विभक्त्यर्थ प्रधान हैं। उच्चैः, (=जोर से), नीचैः (=धीरे से) आदि शब्दों से साधन की प्रधानता सूचित होती है।[2]

अव्यय-प्रकरण समाप्त।

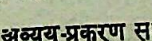

१. "किमर्थं पृथग् ग्रहणं स्वरादीनां क्रियते, न चादिष्वेव पठ्येरन्। चादीनां वै असत्त्ववचनानां निपातसंज्ञा, स्वरादीनां पुनः सत्त्ववचनानाम् असत्त्ववचनानां च"। महाभाष्यम्।

२. "तदेवं सन्दृश्यताम्। अर्थरूपमेवैतदेवंजातीयकं येनात्र विभक्तिर्न भवतीति। तच्चाप्येतदेवमनुगम्यमानं दृश्यताम्। किञ्चिदध्ययं विभक्त्यर्थप्रधानम्, किञ्चित् क्रियाप्रधानम्। उच्चैर्नीचैरिति विभक्त्यर्थप्रधानम्। हिरुक्, पृथगिति क्रियाप्रधानम्"। महाभाष्यम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम्

(४५३) स्त्रियाम् ४ । १ । ३ ॥ अधिकारोऽयम् समर्थानामिति यावत् ।

अथ स्त्रीप्रत्यया निरूप्यन्ते । तदेवम् 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इत्यधिकृत्य 'स्वौजस-मौट्' इति सूत्रं सप्रपञ्चं निरूप्य तदुत्तरमनुक्रान्तान् स्त्रीप्रत्ययान्निरूपयितुमाह—

(४५३) स्त्रियाम् । अधिकारोऽयमिति । 'अजाद्यतष्टाप्' इत्याद्युत्तरसूत्रेष्वनुवृत्त्यर्थमिदं सूत्रं न तु स्वतन्त्रविधिरित्यर्थः । कियत्पर्यन्तमयमधिकार इत्यत आह—समर्थेति । याव-दित्यवधौ । 'समर्थानां प्रथमात्' इत्यतः प्रागित्यर्थः । अत्रेदमवधेयम् ।

'स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः ।
उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम् ॥'

इति लक्षणलक्षितम् अवयवसंस्थानविशेषात्मकं लौकिकं स्त्रीपुंसयोर्लिङ्गम् । तदभावे तयोरुभयोरभावे सति यदुभयोरन्तरं सदृशं तन्नपुंसकमित्यर्थः । तदिदं लौकिकं लिङ्गम-स्मिन् शास्त्रे नोपयुज्यते, तस्य अचेतने खट्वामालादौ बाधात् स्त्रीप्रत्ययानापत्तेः, दारा-नित्यादौ 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इति नत्वानापत्तेश्च । किन्तु सत्त्वरजस्तमसां प्राकृतगुणानां वृद्धिः पुंस्त्वम्, अपचयः स्त्रीत्वम्, स्थितिमात्रं नपुंसकत्वम् । अत एव उत्कर्षापकर्ष-सत्त्वेऽपि स्थितिमात्रमादाय 'सामान्ये नपुंसकम्' इति प्रवादः । उत्कर्षापकर्षसाम्यात्मका-वस्थात्रयसाधारणस्थितिमात्रविवक्षायां नपुंसकं भवतीति तदर्थः । ईदृशमवस्थात्रयं केवलान्वयि, अयं पदार्थः, इयं व्यक्तिः, इदं वस्तु इति व्यवहारस्य सार्वत्रिकत्वात् । तच्चेदं लिङ्गमर्थनिष्ठमेव । तदुक्तं भाष्ये—'एकार्थे शब्दान्यत्वात् इष्टं लिङ्गान्यत्वमवय-वान्यत्वाच्च' इति । 'एकस्मिन्नेवार्थे पुष्यः तारका नक्षत्रम् इति शब्दनानात्वदर्शनात्, कुटीकुटीरादौ रेफाद्यवयवोपजनने लिङ्गभेददर्शनाच्च स्तनकेशाद्यतिरिक्तमेव लिङ्गमित्यर्थः' इति कैयटः । पुंल्लिङ्गः शब्दः इत्यादिव्यवहारस्तु वाच्यवाचकयोरभेदोपचाराद्बोध्यः । न च उपचयादिधर्माणां विरुद्धत्वादेकत्र समावेशायोगादेकस्य द्विन्निलिङ्गत्वाऽनापत्तिरिति

उपक्रम—शब्दरूप-प्रक्रिया में यह बताया जा चुका है कि 'ङी' प्रत्ययान्त', 'आप्' प्रत्ययान्त तथा प्रातिपदिकों से विभक्तियाँ संयुक्त होती है । ङीवन्त तथा आवन्त शब्दों का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में ही होता है । अतः यह जिज्ञासा होती है कि व्याकरणशास्त्र में शब्दों की लिङ्ग-व्यवस्था का विनिगमक क्या है ? प्राचीन वैयाकरणों ने इस विषय पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया है । भाषा के विकास के साथ ही आरम्भ में शब्दों का लिङ्ग-निर्धारण लौकिक लिङ्ग के आधार पर ही हुआ होगा । लोक में शारीरिक विशेषतायें (अवयवसंस्थान) ही पुरुष और स्त्री के भेद को बतलाते हैं । इसी को दृष्टिपथ में रखते हुए "स्त्रियाम्" (४-१-३) सूत्र के आरम्भ में महाभाष्यकार ने निम्नलिखित श्लोकवार्तिकों पर विचार किया है—

"स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः । उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम् ॥
लिङ्गात् स्त्रीपुंसयोर्ङ्याबे भ्रूकुंसे टाप् प्रसज्यते । नत्वं खरकुटीः पश्य खट्वावृक्षौ न सिध्यतः ॥
नापुंसकं भवेत् तस्मिन् तदभावे नपुंसकम् । असत्तु मृगतृष्णावत् गन्धर्वनगरं यथा ॥
आदित्यगतिवत्सत्र वस्त्रान्तर्हितवच्च तत् । तयोस्तु तत्कृतं दृष्ट्वा यथाकाशेन ज्योतिषः ॥
अन्योऽन्यसंश्रयं त्वेतत् प्रत्यक्षेण विरुध्यते । तटे च सर्वलिङ्गानि दृष्ट्वा कोऽध्यवसास्यति ॥
संस्त्यानप्रसवौ लिङ्गमस्थेयौ स्वकृतान्ततः । संस्त्याने स्त्यायतेर्ड्ट् स्त्री सूतेः सप् प्रसवे पुमान् ॥
तस्योक्तौ लोकतो नाम गुणो वा लुपि युक्तवत् ।"

इसके अनुसार स्तन, केश आदि स्त्रीत्व के प्रतीक हैं तथा रोम आदि पुंस्त्व के प्रतीक हैं । इन दोनों के सादृश्य का अभाव नपुंसकत्व का लक्षण माना जा सकता है । किन्तु स्त्री और पुरुष के विशेष शारीरिक चिह्नों के आधार पर भाषा में लिङ्गव्यवस्था का सर्वथा निर्वाह होना सम्भव

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाच्यम्, एकैकस्मिन् वस्तुनि क्षणभेदेन त्रयाणां धर्माणामपि समावेशोपपत्तेः। उक्तं च भाष्ये—'कश्चिदपि सत्त्वादिधर्मः क्वचिन्मुहूर्त्तमपि नावतिष्ठते, यावदनेन वर्धितव्यमपायेन वा युज्यते' इति। न चैवं सति युगपत् द्वित्रिलिङ्गत्वानापत्तिरिति वाच्यम्, नहि व्यवहारे स्वसमकालिकपदार्थसत्ता प्रयोजिका। तथा सति भूतभविष्यद्व्यवहारोच्छेदापातात्। तत्र कश्चिच्छब्दः एक लिङ्गविशिष्ट एवार्थे प्रयोज्यः, कश्चित्तु द्विलिङ्गे, कश्चित्तु त्रिलिङ्गे इत्येतत्तु लिङ्गानुशासनशास्त्रादवगन्तव्यम्। एषां पुंस्त्रीनपुंसकशब्दानां वृद्ध्यादिशब्दवदस्मिन् शास्त्रे संकेतश्च लिङ्गानुशासनत एव ज्ञेयः। उक्तं च भाष्ये 'अवश्यं तावत् कश्चित् स्वकृतान्त आस्थेयः' इति। वैयाकरणसिद्धान्त इत्यर्थः। 'कृतान्तौ यमसिद्धान्तौ' इत्यमरः। तत्र टिघुभादिसंज्ञावल्लघुसंज्ञामकृत्वा महासंज्ञाकरणसामर्थ्यात् सति संभवे स्तनकेशवतीत्यादिलौकिकं लिङ्गमप्यत्राश्रीयते। अन्यथा 'पशुना यजेत' इत्यत्र स्त्रीव्यक्तावपि सत्त्वाद्युपचयात्मकपुंस्त्वाद्यनपायात् 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इति नाभावस्याविरोधात् स्त्रीपशुरप्यालभ्येत। तदेतच्चतुर्थस्य प्रथमपादे 'तथालिङ्गम्' इत्यधिकरणे अध्वरमीमांसाकुतूहलवृत्तावुवोचाम। त्रिविधमपि एतल्लिङ्गं जातिव्यक्तिवत् प्रातिपदिकार्थ एव। प्रत्ययार्थत्वे प्राधा-

---

नहीं है। उदाहरणार्थ भ्रूकुंस (स्त्रीवेशधारी नट) में स्तन आदि शारीरिक चिह्न देखे जाते हैं। इस आधार पर स्त्रीत्व-बोधक प्रत्यय होना चाहिये। इसी तरह 'खरकुटी' (नापितगृह) में लोम-सम्बन्ध के कारण पुंस्त्वद्योतक प्रत्यय होने चाहियें। इसके अतिरिक्त इन विशेष चिह्नों के आधार पर लिङ्ग-व्यवस्था मानने से अचेतन पदार्थों में लिङ्गव्यवहार का कोई रास्ता नहीं रह जाता। 'खट्वा' में कौन सी स्त्रीगत विशेषता है कि स्त्रीत्व माना जाय? इसी प्रकार 'मृगतृष्णा' में जल नहीं है, किन्तु जिस तरह वहाँ जल की सत्ता न रहते हुए भी जल का अध्यास हो जाता है, उसी तरह अचेतन पदार्थों में लिङ्गचिह्न न रहते हुए भी चेतन-गत लिङ्ग का अध्यास क्यों न हो? मृगमरीचिका में तो सादृश्य के आधार पर जल का आरोप हो जाता है किन्तु खट्वा आदि अचेतन पदार्थों में स्त्री-पुरुषगत लिङ्ग का कोई सादृश्य न होने से आरोप भी सम्भव नहीं है। इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि जिस तरह सूर्य में गति-सत्ता होने पर भी सूर्य की गति का भान नहीं होता अथवा जिस तरह वस्त्र से ढकी वस्तु का ज्ञान नहीं होता उसी तरह खट्वा आदि अचेतन पदार्थों में भी लिङ्ग का प्रत्यक्ष नहीं होता। इस विषय पर पतञ्जलि ने भी कहा है—'कभी-कभी वस्तु की सत्ता होने पर भी उसकी अनुपलब्धि रहती है। इसके अनेक कारण हैं—(१) अत्यधिक सामीप्य, (२) अति विप्रकर्ष, (३) मूर्त्यन्तर व्यवधान, (४) तमसावृत, (५) इन्द्रियदौर्बल्य, तथा (६) अतिप्रमाद आदि।

अतः वैयाकरण लौकिक स्त्री-पुरुष-लिङ्गबोधक चिह्नों के आधार पर शास्त्रीय लिङ्ग की व्यवस्था स्वीकार नहीं करते। फलतः लिङ्ग-सम्बन्धी उनकी शास्त्रीय परिभाषा यह है—

"संस्त्यानप्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ स्वकृतान्ततः।
संस्त्याने स्त्यायतेर्ड्रट् स्त्री सूतेः सप् प्रसवे पुमान्॥"

वस्तुतः इस कारिका में स्त्री और पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति बताई गई है। संस्त्यान अर्थ में √स्त्यै+ड्रट् प्रत्यय करने पर 'स्त्री' शब्द निष्पन्न होता है। प्रसव अर्थ में √पू+डुमसुन् प्रत्यय करने पर पुमान् शब्द की निष्पत्ति प्रसिद्ध है। भाष्यकार और भर्तृहरि ने इस कारिका के आधार पर एक दार्शनिक वाद की कल्पना की है। पतञ्जलि के अनुसार 'स्त्री' का सम्बन्ध 'स्त्यायति' से है और शास्त्रीय स्त्री का सम्बन्ध भी उसी से है। लौकिक पुरुष का सम्बन्ध 'सूते' से है, वैसे ही शास्त्रीय पुरुष का सम्बन्ध भी उसी से है? परन्तु लोक में स्त्री अधिकरण है, उसमें गर्भ का संस्त्यान होता है तथा पुरुष कर्ता है, वह उत्पन्न करता है। जब कि शास्त्रीय अर्थ में दोनों भावसाधन हैं—संस्त्यान स्त्री है और प्रवृत्ति पुरुष है अर्थात् गुणों का संस्त्यान स्त्री है, गुणों की प्रवृत्ति पुमान् है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यापत्तौ अजा, खट्वा इत्यादौ स्त्रीत्वविशिष्टतादात्म्यावच्छिन्नाजादिबोधोऽनुभवसिद्धो विरुध्येत। किञ्च मातृदुहितृस्वसृगवादिशब्देषु विनापि टाबादिप्रत्ययं स्त्रीत्वविशिष्टार्थस्य बोधात्। प्रातिपदिकस्य तत्र शक्त्यावश्यकत्वे टाबादीनामपि शक्तिकल्पने गौरवम्। 'ऋकारान्ता मातृदुहितृस्वसृयातृननान्दरः, प्रावृड्विप्रुड्रुक्त्विषः' इत्यादिलिङ्गानुशासन-सूत्राण्यपि प्रकृतिविषयाण्येव दृश्यन्ते। अत एव च 'कृदिकारादक्तिनः' इत्यत्र अक्तिन इत्येतदर्थवत्। अन्यथा क्तिनैव स्त्रीत्वस्योक्तत्वात् ङीपोऽप्राप्तेः तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। न चैवमपि प्रकृत्यैव स्त्रीत्वस्योक्तत्वात् कथं टाबादय इति वाच्यम्, द्वावित्यादिवत् प्रकृत्युक्त-स्याव्यावर्तकत्वात्। अन्यथा टाबादिविधिवैयर्थ्यात्। तथा च स्त्रीत्वमिह प्रातिपदिकस्यैव वाच्यम्। टाबादयस्तु तद्द्योतकाः। तथा च टाबादिषु सत्सु अवश्यं स्त्रीत्वबोध इति नियमः न तु टाबादिषु सत्स्वेवेति नियम इति।

यहाँ गुण से अभिप्राय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से है। इस सम्बन्ध में कैयट ने दार्शनिक पुट दे दिया है। सांख्यदर्शन के समान सृष्टिप्रक्रिया का रूप देकर शब्दों के तीनों लिङ्गों-सम्बन्धी समस्या को सुलझाया है। तदनुसार गुणों से तात्पर्य सत्त्व, रजस् तथा तमस् से है। संस्त्यान का अर्थ तिरोभाव है तथा प्रवृत्ति का अर्थ आविर्भाव है। गुणों का तिरोभाव स्त्री है, आविर्भाव पुरुष है तथा साम्यावस्था नपुंसक है। गुणों की ये अवस्थायें केवल शब्द-गोचर हैं। उप-चय और अपचय सापेक्ष होते हैं। तदनुसार गुणों की प्रवृत्ति अथवा उपचय पुंस्त्व का प्रतीक है। गुणों का संस्त्यान अथवा अपचय स्त्रीत्व का प्रतीक है। गुणों की स्थिति अथवा साम्यावस्था नपुंसकत्व का द्योतक है। सर्वत्र सभी शब्दों में तीनों लिङ्गों की सत्ता होते हुए भी किसी विशेष शब्द से किसी विशेष लिङ्ग की अभिव्यक्ति शिष्टों के प्रयोग-वश है।[1]

इस प्रसङ्ग में कात्यायन का यह वार्तिक "लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य" बड़ा महत्त्वपूर्ण है। वार्तिककार ने यह अनुभव किया होगा कि शास्त्रीय-व्यवस्था शब्दों के लिङ्गनिर्णय करने में समर्थ नहीं हो सकती, क्योंकि शास्त्रीय-नियम तो एक बार बना दिये जाते हैं। इसके विपरीत भाषा स्रोतस्विनी के समान गतिशील है अतः लिङ्ग-व्यत्यय होना स्वाभाविक है। पुनश्च व्याकरण लोका-नुगामी भी है। अतः लिङ्ग-व्यवस्था में लोक भी प्रमाण है। शास्त्रीय व्यवस्था के बिना भी लोक-व्यवहार से लिङ्ग-परिचय सुलभ है। इसी आधार पर भाष्यकार ने पाणिनि के "स नपुंसकम्" (२-४-१७) सूत्र का प्रत्याख्यान किया है।

(४५३) पद—स्त्रियाम्। अधिकारसूत्र।

मूलार्थ—यह अधिकारसूत्र है। "समर्थानां प्रथमाद्वा" सूत्र से पहले तक इसका अधिकार है।

विवरण—यह अधिकारसूत्र है। इसके पूर्व "ङ्याप् प्रातिपदिकात्" (४-१-१) का अधिकार पञ्चमाध्याय-पर्यन्त चला आरहा है। किन्तु इस अधिकार में केवल 'प्रातिपदिकात्' अंश का ही आगे के स्त्रीप्रत्ययविधायक सूत्रों में सम्बन्ध बैठता है, 'ङ्याप्' का नहीं। इसका कारण यह है कि 'ङी'

---

१. सत्त्वरजस्तमसामुपचयः पुंस्त्वम्, तेषामपचयः स्त्रीत्वम्, तेषां स्थितिः नपुंसकत्वमित्यर्थः। उपचयापचयावेव भाष्यकारेण प्रसवसंस्त्यानशब्दाभ्यामुपात्तौ। प्रसवः आविर्भावः, संस्त्यानं तिरो-भाव इति च कैयटेन व्याख्यातम्, उपचयापचययोरपि साङ्ख्यादिमते तद्रूपत्वात्। चितिशक्तिं विना सर्वेषां पदार्थानां परिणामित्वादाविर्भावतिरोभावधर्मकत्वं, मध्ये स्थितेरप्यवश्यम्भाविता स्थितिधर्मकत्वं चेति उपचयापचयस्थितयः पदार्थमात्रधर्मा इति अप्राणिखट्वाघटादिसाधारणं गुणोपचयादिरूपं लिङ्गम्। यद्यप्यवस्थात्रयं प्राकृतपदार्थमात्रवृत्ति, तथापि कस्यचिच्छब्दस्य उपचयावस्थावैशिष्ट्येन बोधकत्वं, कस्यचिच्चापचयावस्थावैशिष्ट्येन, कस्यचित् स्थित्यवस्थावैशिष्ट्येन, कस्यचिदवस्थाद्वय-वैशिष्ट्येन, कस्यचिदवस्थात्रयवैशिष्ट्येनेति लिङ्गानुशासनतो वृद्धव्यवहारतश्च निर्णीयते।" म. म. पं. नित्यानन्द पन्त कृत लघुशब्देन्दुशेखर-'दीपक'व्याख्या।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४५४) अजाद्यतष्टाप् ४।१।४॥ अजादीनामकारान्तस्य च वाच्यं यत्स्त्रीत्वं तत्र द्योत्ये टाप् स्याद् । अजाद्युक्तिर्ङीषो ङीपश्च बाधनाय । अजा । अतः—खट्वा । अजादिभिः स्त्रीत्वस्य विशेषणान्नेह—पञ्चाजी । 'द्विगोः' (सू ४७९) इति ङीप् । अत्र हि समासार्थसमाहारनिष्ठं स्त्रीत्वम् । अजा । एडका । अश्वा । चटका । मूषिका । एषु जातिलक्षणो ङीष् प्राप्तः । बाला । वत्सा । होढा । मन्दा । विलाता । एषु 'वयसि प्रथमे' (सू ४७८)

---

(४५४) अजाद्यतष्टाप् । अजः आदिर्येषां ते अजादयः । ते च अच्चेति समाहारद्वन्द्वात् षष्ठी । 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इत्यतः प्रातिपदिकादित्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणतम् अजादिभिः अता च विशेष्यते । तदन्तविधिः । तत्राद्विषये 'समासप्रत्ययविधौ तदन्तविधेः प्रतिषेधो वक्तव्यः' इति निषेधो न, 'उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्' इत्युक्तेः । ङ्याब्ग्रहणं तु नानुवर्तते 'स्त्रियाम्' इत्यधिकारे तयोर्विधेयत्वात् । न च अजादिभिः प्रातिपदिकस्य विशेषणेऽपि तदन्तविधिर्नास्ति, 'समासप्रत्ययविधौ' इति निषेधात्, 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति' इति च निषेधादिति वाच्यम्, 'शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः' इत्यत्र अमहत्पूर्वेति वचनेनात्र तदन्तविधिज्ञापनात् । किञ्च स्त्रियां व्यक्तौ गम्यमानायामिति नार्थः, तर्हि अजा खट्वेत्यादौ अजत्वाद्याकारेण वस्तुतः स्त्रीव्यक्तौ गम्यमानायां टाबादिप्रत्ययाः स्युः । ततश्च टाबादिप्रत्ययेषु प्रयुज्यमाने स्त्रीत्वस्य भानं न नियतं स्यात् । अतः स्त्रियामिति भावप्रधानो निर्देशः स्त्रीत्वे इति यावत् । तदाह—अजादीनामित्यादिना । अजाद्यन्तानामित्यर्थः । द्योत्ये इति । उक्तरीत्या स्त्रीत्वस्य प्रातिपदिकार्थत्वादिति भावः । उक्तं च भाष्ये—'स्त्रियां यत् प्रातिपदिकं वर्तते तस्माट्टाबादयो भवन्ति स्वार्थे' इति । टाप् स्यादिति । प्रत्ययः परश्च इत्यधिकृतम् । कस्मात् परो भवतीत्याकाङ्क्षायां सन्निधानात् अजादिभ्यः अदन्ताच्चेति बोध्यम् । ननु अजादिगणे अज, अश्व इत्याद्यदन्तपाठो व्यर्थः, अदन्तत्वादेव सिद्धेरित्यत आह—अजाद्युक्तिरिति । 'वयसि प्रथमे' 'जातेरस्त्रीविषयात्' इत्यादिवक्ष्यमाणस्य ङीषो ङीषश्च अदन्तटाबपवादस्य बाधनार्थमजादिग्रहणमित्यर्थः । एवं च अदन्तटाबपवादौ ङीप्ङीषौ, तयोरप्यजादिटाबपवाद इति फलति । अजशब्दः छागजातौ वर्तते । 'अजा छागी स्तभच्छागवस्तच्छगलका अजे' इत्यमरः । अजशब्दात् टाप्, टापावितौ, सवर्णदीर्घः । व्यपदेशिवत्त्वात् अजन्तत्वम् । अत इति । उदाहरणं वक्ष्यत इति शेषः । खट्वेति 'खट काङ्क्षायाम्' 'अशू प्रुषिलटिकणि-

---

('ङीप्', 'ङीष्' तथा 'ङीन्') तथा 'आप्' ('टाप्', 'डाप्' तथा 'चाप्') का विधान तो इन्हीं सूत्रों से होता है । अतः यह अभिव्यञ्जित होता है कि "इस अधिकार के अन्तर्गत प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में प्रत्ययों का विधान किया जायगा" । साथ ही इस अधिकार की सीमा "समर्थानां प्रथमाद्वा" (४-१-८२) सूत्र है । अर्थात् इस सूत्र के पहले तक स्त्रीत्व का बोध कराने के लिये प्रातिपदिक से अनेक प्रत्ययों का विधान किया जायगा । वे प्रत्यय ये हैं—ङीप्, ङीष्, ङीन्, टाप्, डाप्, चाप्, ऊङ् तथा ति ।

(४५४) पद—अजाद्यतः टाप् । **अनुवृत्ति**—स्त्रियाम् (अधिकार), प्रातिपदिकात् (अधिकार) प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अजादिगण-पठित शब्दों से तथा ह्रस्व-अकारान्त शब्दों से तद्वाच्य स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'टाप्' प्रत्यय होता है । अजादि कथन 'ङीष्' और 'ङीप्' का बाधक है । अजा । ह्रस्व अकारान्त शब्द से—खट्वा । 'अजादि' अंश स्त्रीत्व का विशेषण है, अतः 'पञ्चाजी' में टाप् नहीं हुआ । यहाँ समासार्थ-समाहार से स्त्रीत्व बोध्य है । अजा, एडका, अश्वा, चटका, मूषिका, इनमें जातिलक्षण ङीष् प्राप्त है । बाला, वत्सा, होडा, मन्दा, विलाता । इनमें "वयसि प्रथमे" से 'ङीप्' प्राप्त है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति ङीप् प्राप्तः। 'सम्मस्त्राजिनशणपिण्डेभ्यः फलात्' (वा २४९९) सम्फला। भस्त्र-फला। 'ङ्यापोः—' (सू १००१) इति ह्रस्वः। 'सदक्काण्डप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पात्'

खटिविशिभ्यः क्वन्' खट्वशब्दः अदन्तः, तस्मात् टापि सवर्णदीर्घः। 'शयनं मञ्चपर्यङ्क-पल्यङ्काः खट्वया समाः' इत्यमरः। ननु 'प्रत्ययः, परश्च' इत्यनुवृत्तौ ङ्योगपञ्चम्या युक्तत्वात् अजादिभ्यः अतश्च टाप् स्यात् स्त्रीत्वे द्योत्ये इत्यर्थं एव युक्तः। तथा च 'अजाद्यतः' इति षष्ठ्याश्रयणमयुक्तमित्यत आह—अजादिभिरिति। अजाद्यत इति षष्ठी-माश्रित्य अजादीनाम् अदन्तस्य च वाच्ये स्त्रीत्वे टाबित्येवम् अजादिभिः स्त्रीत्वस्य विशेष-णादित्यर्थः। पञ्चाजीति। पञ्चानामजानां समाहारः इति विग्रहे 'तद्धितार्थ' इत्यादिना द्विगुः। 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः' इति स्त्रीत्वम्। 'द्विगोः' इति ङीप्। 'यस्येति च' इत्यकारलोपः। नन्वत्र समासे अजशब्दसत्त्वात्तद्वाच्यमेव स्त्रीत्वमित्यत आह—अत्रेति। हि यतः अत्र पञ्चाजशब्दे समासार्थभूतो यः समाहारः तच्चिष्टं स्त्रीत्वं पञ्चाजेति समुदायस्य वाच्यं न त्वजशब्दस्य, अतोऽत्र न टावित्यर्थः। न चोक्तरीत्या तदन्त-विधिसत्त्वादजशब्दान्तस्य पञ्चाजेति समासस्य ग्रहणात् तद्वाच्यत्वं स्त्रीत्वस्येति वाच्यम्, सत्यपि तदन्तविधौ अजादीनां श्रुतत्वेन स्त्रीत्वस्य तद्विशेषणताया एव न्याय्यत्वात्। अजादिभ्यष्टाप् स्त्रीत्वे द्योत्ये इति व्याख्याने तु स्त्रीत्वस्य अजादिशब्दवाच्यत्वालाभात् समाहारनिष्ठमपि स्त्रीत्वमादाय टाप् स्यादिति भावः। अथाजादीनुदाहरति—अजेत्यादिना। एडकेति। 'मेढ्रोरभ्रोरणोर्णायुर्मेषवृष्ण्यज एडके' इत्यमरः। अस्य स्त्रीत्वे कोशान्तरं श्रुत्यम्। अश्वेति। 'वाम्यश्वा वडवा' इत्यमरः। चटकेति। चटकः पक्षिजातिविशेषः। अस्य जाति-शब्दस्य स्त्रीत्वं श्रुत्यम्। अमरस्तु 'चटकः कलविङ्कः स्यात्तस्य स्त्री चटका' इत्याह। मूषिकेति। 'चुचुन्दरी गन्धमूषी दीर्घदेही तु मूषिका' इत्यमरः। एषु जातीति। अजादिपञ्चसु 'जातेरस्त्री' इति ङीष् प्राप्तः, सः अजादिटापा बाध्यत इत्यर्थः। बालादयः प्रथमवयो-वचनाः, तत्र होढादि त्रयस्य प्रथमवयोवाचित्वे कोशो श्रुत्यः। एष्विति। बालादिपञ्चसु 'वयसि प्रथमे' इति ङीप् प्राप्तः, स अजादिटापा बाध्यत इत्यर्थः। सम्मस्त्रेति। 'पाककर्ण' इति सूत्रभाष्ये पठितमिदं वार्तिकमर्थतः सङ्गृहीतम्। सम्, भस्त्र, अजिन, शण, पिण्ड-

---

(वा०) सम्, भस्त्रा, अजिन, शण और पिण्ड शब्द-पूर्वक फल शब्द से 'टाप्' होता है। सम्फला। भस्त्रफला। "ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्" सूत्र से ह्रस्व हुआ। (वा०) सत्, अञ्च्, काण्ड, प्रान्त, शत और एक शब्दपूर्वक 'पुष्प'शब्द से 'टाप्' होता है। सत्पुष्पा। प्राक्पुष्पा। प्रत्यक्पुष्पा। (वा०) जातिवाच्य होने पर 'महत्' शब्द यदि पूर्व में न हो तो शूद्र शब्द से 'टाप्' होता है। पुंयोग में शूद्री। अमहत्पूर्वा क्यों कहा ? महाशूद्री। क्रुञ्चा। उष्णिहा। देवविशा। ज्येष्ठा। कनिष्ठा। मध्यमा (पुंयोग में भी)। जाति में भी कोकिला। (वा०) 'नञ्'-पूर्वक मूल शब्द से 'टाप्' होता है। अमूला।

विवरण—पूरे स्त्रीप्रत्यय में दोनों अधिकारसूत्रों अर्थात् "स्त्रियाम्" (४-१-३) का तो सम्पूर्ण तथा "ङ्याप् प्रातिपदिकात्" (४-१-१) का आंशिक ('प्रातिपदिकात्') प्रभाव रहेगा। सूत्रस्थ 'अतः' पद 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है। इसलिए उसमें तदन्तविधि होती है। 'अजादि' शब्दों का गण में पाठ है। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "अजादि-गण-पठित शब्द तथा अकारान्त प्रातिपदिक से (अज आदिर्येषां ते अजादयः, अजादयश्च अच्च, तस्मात्) स्त्रीत्व द्योत्य रहने पर 'टाप्' प्रत्यय होता है"। 'टाप्' में 'ट्' ("चुटू"–१८९) तथा 'प्' ("हलन्त्यम्"–१) इत्संज्ञक होने से 'आ' मात्र अवशेष रहता है। सूत्रोक्त अजादिगणपठित शब्द अकारान्त हैं, अतः अकारान्त से ही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वा १४९६)। सत्पुष्पा। प्राक्पुष्पा। प्रत्यक्पुष्पा। 'शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः' (वा २४००–२४०१) पुंयोगे तु शूद्री। 'अमहत्पूर्वा' किम् ? महाशूद्री। क्रुञ्चा।

एतेभ्यः परो यः फलशब्दः तस्मादपि 'पाककर्ण' इति ङीप् न भवति, किन्तु टाबेवेत्यर्थः। सम्फलेति। सञ्जातानि फलानि यस्या इति विग्रहः। भस्त्रफलेति। भस्त्रेव फलानि यस्या इति विग्रहः। 'भस्त्रा चर्मप्रसेविका' इत्यमरः। ननु भस्त्राशब्दस्य नित्यस्त्रीत्वात् भाषितपुंस्कत्वाभावात् 'स्त्रियाः पुंवत्' इति पुंवत्त्वस्याप्रसक्तेः कथं ह्रस्व इत्यत आह—ङ्यापोरिति। 'ङ्याप्पोः संज्ञाच्छन्दसोर्बहुलम्' इति ह्रस्व इत्यर्थः। अजिनफला, शणफला, पिण्डफला। ओषधिविशेषसंज्ञा। सदच्काण्ड। अयमपि 'पाककर्ण' इति सूत्रपठितवार्तिकार्थसङ्ग्रहः। सत्, अच्, काण्ड, प्रान्त, शत, एक–एतेभ्यः परो यः पुष्पशब्दः तस्मादपि 'पाककर्णपर्ण-पुष्पफलमूलबालोत्तरपदाच्च' इति ङीप् न भवति, किन्तु टाबेवेत्यर्थः। सत्पुष्पेति। सन्ति पुष्पाणि यस्या इति विग्रहः। अच् इति लुप्तनकारः अञ्चुधातुः गृह्यत इत्यभिप्रेत्य उदाहरति–प्राक्पुष्पेति। प्राञ्चि पुष्पाणि यस्या इति विग्रहः। प्रत्यक्पुष्पेति। प्रत्यञ्चि पुष्पाणि यस्या इति विग्रहः। काण्डपुष्पा। शतपुष्पा। एकपुष्पा। शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः। 'अजाद्यत' इति प्रकृतसूत्रे पठितं वार्तिकमेतत्। शूद्रजातिः वाच्या चेत् अमहत्पूर्वः शूद्रशब्दः स्त्रियां टापं लभते। जातिलक्षणङीपोऽपवादः। शूद्रात् स्वभार्यायां विधिना ऊढायामुत्पन्ना स्त्री शूद्रा। जातिरित्यस्य प्रयोजनमाह—पुंयोगे त्विति। शूद्रस्य स्त्री इत्येवं पुंयोगात् स्त्रियां वृत्तौ जातिवाचित्वाभावान्न टाप्, किन्तु 'पुंयोगादाख्यानम्' इति ङीपेवेत्यर्थः। महाशूद्रीति। महती च सा शूद्रा चेति विग्रहः। कर्मधारयः। 'पुंवत् कर्मधारय' इति पुंवत्त्वम्। अत्र महत्पूर्वत्वान्न टाप्, किन्तु जातिलक्षणङीपेव। 'आभीरी तु महाशूद्री जातिपुंयोगयोः समा' इत्यमरः। नृपाच्छूद्रायामुत्पन्ना उग्रा, तस्यां ब्राह्मणादुत्पन्नः आभीरः, स्त्री चेदाभीरी। अत्र जातिग्रहणस्य अमहत्पूर्वग्रहणस्य च प्रयोजनविचारः शब्देन्दुशेखरे भाष्यप्रदीपोद्द्योते च स्फुटः। क्रुञ्चेति। क्रुञ्चशब्दः चकारान्तः 'ऋत्विक्'

('अतः') टाप् सिद्ध रहा। तथापि 'अजादि' ग्रहण से 'ङीप्' तथा 'ङीप्' प्रत्ययों को बाध कर इन शब्दों से 'टाप्' प्रत्यय ही होता हैं। 'अज' आदि शब्दों से ह्रस्व-अकारान्त-निमित्तक 'टाप्' का बाधक "जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" (५१८) 'ङीष्' प्रत्यय होता, एवम् 'वत्स' आदि वयोवाची शब्दों में "वयसि प्रथमे" (४७८) से ङीप् प्रत्यय बाधक होता। अतः इन प्रत्ययों के निवारणार्थ 'अजादि' गण पठित शब्दों से 'टाप्' विधान करने के लिये उसकी सार्थकता है। उदाहरण—अजादिगण-पठित शब्दों के—(१) अज+टाप्, <अज+आ ('ट्' तथा 'प्' की इत्संज्ञा एवं लोप), <अजा (अ+अ = आ–सवर्णदीर्घ "अकः सवर्णे दीर्घः"–८५)। 'अजा' शब्द से प्रथमा-विभक्ति के एक-वचन में 'सु' विभक्ति का "हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०" २५२ सूत्र से लोप होकर अजा रूप 'रमा' शब्द के तुल्य हुआ। इसी तरह 'ङीप्' आदि ईकारान्त प्रत्ययों से निष्पन्न स्त्रीलिङ्ग-वाचक शब्दों के रूप 'नदी' शब्द के तुल्य सिद्ध होंगे। अजा = बकरी। शेष शब्दों में इसी प्रकार प्रक्रिया है। (२) एडक >एडका (भेड़ी) (३) अश्व>अश्वा (घोड़ी), (४) चटक>चटका (चिड़िया), (५) मूषक>मूषिका (चुहिया)। इन जातिवाचक पाँच शब्दों से "जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" (५१८) से 'ङीष्' प्राप्त रहा। उसे बाध कर टाप् हुआ। (६) बाल >बाला (छोटी बच्ची), (७) वत्स >वत्सा (लड़की), (८) होड >होडा (कुमारी), (९) मन्द>मन्दा (कुमारी), (१०) विलात>विलाता (कुमारी)। इन शब्दों के वयोवाची होने के कारण "वयसि प्रथमे" (४७८) से 'ङीप्' प्राप्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उष्णिहा । देवविशा । ज्येष्ठा । कनिष्ठा । मध्यमेति पुंयोगेऽपि । कोकिला जातावपि । 'मूलान्नञः' (वा २५००) । अमूला । 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (सू ३०६) । कर्त्री । दण्डिनी ।

इत्यादिना क्विन्नन्तः पक्षिजातिविशेषे वर्तते । 'यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्' इति रामायणे । उष्णिहशब्दो हकारान्तः छन्दोविशेषे 'ऋत्विक्' इत्यादिना क्विन्नन्त एव । देवविश्शब्दः शकारान्तः गणविशेषात्मकमरुत्सु वर्तते 'मरुतो वै देवानां विशः' इति श्रुतेः । एतेषामदन्तत्वाभावादप्राप्ते टापि तद्विधानार्थमजादिषु पाठः । 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इति सूत्रभाष्ये त्वेषां त्र्याणामदन्तत्वम् आस्थितमिति 'वष्टि भागुरिरल्लोपम्' इति श्लोकव्याख्यावसरे प्रपञ्चितमनुपदमेव । ज्येष्ठेति । यदा ज्येष्ठादिशब्दाः प्रथमोत्पन्नादौ वर्तन्ते तदा अदन्तत्वादेव टाप् सिद्धः । यदा तु ज्येष्ठस्य स्त्रीत्वादिविवक्षा तदापि पुंयोगलक्षणं ङीषं बाधित्वा टाबर्थमिह पाठ इत्यर्थः । कोकिलेति । कोकिलशब्दस्य जातावपि जातिलक्षणङीषं बाधित्वा टाबर्थमिह पाठ इत्यर्थः । मूलान्नञ इति । 'पाककर्ण' इति सूत्रे पठितं वार्तिकमेतत् । नञः परो यः मूलशब्दः तस्मात् 'पाककर्ण' इति ङीप् न भवति, किन्तु टाबेवेत्यर्थः । अमूलेति । अविद्यमानं मूलं यस्य इति विग्रहे 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' इति बहुव्रीहिः । अत्र 'सम्भस्त्रेति, सदृक्काण्डेति, मूलान्नञः' इति च

रहा । उसे बाध कर 'टाप्' हुआ । (११) क्रुञ्च>क्रुञ्चा (वीणा, बगुली), (१२) उष्णिह्>उष्णिहा (छन्दो-विशेष), (१३) देवविश्>देवविशा (मरुद्गण) (१४) ज्येष्ठ>ज्येष्ठा (बड़ी), (१५) कनिष्ठ>कनिष्ठा (छोटी) (१६) मध्यम>मध्यमा (बीच की) । इन तीनों शब्दों से पुंयोग में "पुंयोगादाख्यायाम्" (५०४) से प्राप्त 'ङीष्' का निवारण किया गया है । (१७) कोकिल>कोकिला (कोयल) । इस शब्द से पुंयोग में "पुंयोगादाख्यायाम्" (५०४) से प्राप्त 'ङीष्' तथा "जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" (५१०) से प्राप्त 'ङीप्' को बाध कर 'टाप्' हुआ है । प्रकृत सूत्र में स्त्रीत्व अर्थ अजादि का विशेषण है । अतः 'पञ्चाजी' (= पाँच बकरियाँ—पञ्चानाम् अजानां समाहारः) शब्द में ङीप् । यहाँ स्त्रीत्व का बोध समासार्थ (-समाहार-) के कारण हुआ है । केवल 'अज' शब्द से स्त्रीत्व का बोध न होने के कारण 'टाप्' नहीं हुआ । संख्यावाचक 'पञ्च' शब्द पूर्व में होने से "द्विगोः" (४७९) से 'ङीप्' प्रत्यय ही हुआ । (ख) ह्रस्व अकारान्त शब्द का उदाहरण—खट्व>खट्वा (खाट) । अजादि-गण-पठित कुछ शब्दों में विशेष अर्थ को अभिलक्षित कर वार्तिकों का उपस्थापन किया जारहा है । **(वा०)** अर्थ—१—'सन्', 'भस्त्र', 'अजिन', 'शण' तथा 'पिण्ड' पूर्वक 'फल'-शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'टाप्' प्रत्यय होता है । **उदाहरण**—(१) सम्फल>सम्फला (समृद्धानि फलानि यस्याः = समृद्ध फलों वाली लता आदि) । (२) भस्त्रफल>भस्त्रफला (भस्त्रा इव फलानि यस्याः—बहुव्रीहि समास, 'भस्त्रा' शब्द के नित्यस्त्रीलिङ्गवाची होने के कारण "स्त्रियाः पुंवद्भाषित०" ८३१ से पुंवद्भाव की प्राप्ति न होने के कारण "ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्"-१००१ से ह्रस्व हुआ, अर्थ = भाथी) । (३) अजिनफल>अजिनफला (ओषधिविशेष) । (४) शणफल>शणफला (ओषधिविशेष) । (५) पिण्डफल>पिण्डफला (ओषधिविशेष) । इन पाँचों उदाहरणों में "पाककर्णपर्णपुष्पफलमूलबालोत्तरपदाच्च" (५१९) से 'ङीष्' प्रत्यय प्राप्त रहा, उसका 'टाप्' प्रत्यय बाधक है । **(वा०)** २—अर्थ—सत्, अञ्च्, काण्ड, प्रान्त, शत तथा एक शब्द-पूर्वक 'पुष्प' शब्दान्त स्त्रीवाचक से 'टाप्' प्रत्यय होता है । **उदाहरण**—(१) सत्पुष्प>सत्पुष्पा (सन्ति पुष्पाणि यस्याः = पुष्पयुक्त लता) । (२) प्राक्पुष्प>प्राक्पुष्पा (प्राञ्चि पुष्पाणि यस्याः = पहले ही पुष्पयुक्त) । (३) प्रत्यक्पुष्प>प्रत्यक्पुष्पा (प्रत्यञ्चि पुष्पाणि यस्याः = बाद में खिलने वाले पुष्पों से युक्त=अपामार्ग) । ये दोनों उदाहरण 'अञ्च' पूर्वक पुष्प-शब्दान्त के हैं । (४) काण्डपुष्प>काण्डपुष्पा (काण्डात् व्याप्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वार्तिकत्रयं 'पाककर्ण' इति सूत्रभाष्यपठितमपि फले विशेषाभावादजादिगणे मूले प्रपञ्चितम्। न चैतान्यजाद्यन्तर्गणसूत्राणीति भ्रमितव्यम्। अजादिराकृतिगणः। तेन 'न मु ने' इति सूत्रभाष्ये टायामादेश इति भाष्यप्रयोगः सिद्धः। अत एव च पूर्वमीमांसायां द्वितीयस्य प्रथमपादे 'स्तुतशस्त्रयोस्तु संस्कारो याज्यावद् देवताभिधायकत्वात्' इति स्तुतशस्त्राधिकरणे 'वशावद्वा गुणार्थं स्यात्' इति गुणसूत्रव्याख्यावसरे शाबरभाष्यभट्टवार्तिकयोः 'छागस्य वपाया मेदसः' इति प्राकृतमन्त्रस्य 'वायव्यामजां वशामालभेत' इत्यत्र छागाया वपाया इत्यूहानुक्रमणं सङ्गच्छते। अत एव च ब्रह्ममीमांसायां प्रथमस्य चतुर्थपादे 'चमसवदविशेषात्' इत्यधिकरणे शाङ्करभाष्यवाचस्पत्ययोः अजायां छागेति टाबन्तः प्रयोग उपपन्नः, अन्यथा जातिलक्षणङीष्प्रसङ्गादित्यास्तां तावत्। 'ऋन्नेऽभ्यः' इति सूत्रमजन्तस्त्रीलिङ्गाधिकारे प्रसङ्गात् व्याख्यातम्। इह तु सूत्रक्रमात् पुनस्तदुपन्यासः।

पुष्पाणि यस्याः सा = दौना)। (५) प्रान्तपुष्प>प्रान्तपुष्पा (प्रान्ते पुष्पाणि यस्याः सा = किनारे पर फूलों वाली लता)। (६) शतपुष्प>शतपुष्पा (शतानि पुष्पाणि यस्यां सा = सैकड़ों फूलों वाली = सौंफ)। (७) एकपुष्प>एकपुष्पा (एकमेव पुष्पं यस्यां सा = एक फूल वाली)। इन शब्दों में गी "पाककर्णपर्णपुष्पफल०" सूत्र से 'ङीष्' प्राप्त रहा, उसको बाधकर 'टाप्' प्रत्यय हुआ। (वा०) ३—अर्थ—प्रकृत वार्तिक का वाक्यार्थबोध तीन रूपों में होता है—१—शूद्रा—स्त्री अर्थ के बोधक 'शूद्र' शब्द से 'टाप्' प्रत्यय होता है। २—अमहत्पूर्वा—'महत्' शब्दपूर्वक स्त्रीवाचक शूद्र शब्द से 'टाप्' प्रत्यय नहीं होता। ३—जातिः—पहले दोनों वाक्यार्थों के साथ इसका सम्बन्ध है। तदनुसार वार्तिक का अर्थ इस तरह पर्यवसित होगा—" 'महत्' शब्द पूर्व में न रहने पर जातिवाच्य 'शूद्र' शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'टाप्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—शूद्र>शूद्रा (शूद्र जाति की स्त्री)। इस प्रकार यह वार्तिक "जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" (४१८) से प्राप्त 'ङीष्' प्रत्यय का बाधक है। 'शूद्र पुरुष की स्त्री' अर्थ में तो "पुंयोगादाख्यायाम्" (५०४) से 'ङीष्' प्रत्यय होकर 'शूद्री' रूप बनेगा। **प्रत्युदाहरण**—प्रकृत वार्तिक में 'महत्' पूर्वक 'शूद्र' शब्द से 'टाप्' का निषेध होने के फलस्वरूप 'महाशूद्र' शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य होने पर (महती च सा शूद्रा—"जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्"—५१८) जातिलक्षण 'ङीष्' होकर 'महाशूद्री' शब्द बनेगा। कोषकारों ने आभीर-जाति के अर्थ में 'महाशूद्र' शब्द का प्रयोग किया है। (वा०) ३—अर्थ—"नञ्" पूर्वक 'मूल' शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'टाप्' प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—अमूल>अमूला (न विद्यमानं मूलं यस्याः—बिना जड़वाली लता = अग्निशिखा वृक्ष)। प्रकृत उदाहरण में भी "पाककर्ण०" (५१९) से 'ङीष्' प्राप्त रहा। 'टाप्' प्रत्यय उसका बाधक है।

विशेष—'शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः' वार्तिक के प्रसङ्ग में यह शङ्का उठाई जाती है कि उक्त वार्तिक में 'अमहत्पूर्वं' ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है? कारण यह है कि समास-सम्बन्धी प्रत्ययों के विधान में तदन्तविधि न होने से महत्-पूर्वक शूद्र शब्द से 'टाप्' प्रत्यय प्राप्त नहीं होगा। अतः वह व्यर्थ होकर इस बात का ज्ञापक है कि तदन्तविधि का निषेध स्त्रीप्रत्ययों से भिन्न प्रत्ययों तक ही सीमित है। अतः यहाँ तदन्तविधि की सम्भावना में 'महाशूद्र' शब्द से प्राप्त 'टाप्' का निषेध करने के लिये वार्तिक में 'अमहत्पूर्वं' अंश की सार्थकता है। इस सन्दर्भ में नागेश आदि टीकाकारों ने 'महाशूद्री' शब्द के जातिवाचक होने के सम्बन्ध में अपने अपने ग्रन्थों में विचार किया है। "आभीरी तु महाशूद्री"—अमरकोष-२-६-१३ के इस वाक्य के अनुसार 'आभीर' शब्द 'महाशूद्र' का समानार्थक है। ब्राह्मण से 'उग्र'-कन्या में उत्पन्न होने वाली सन्तति को 'आभीर' कहा गया है। क्षत्रिय से शूद्रा स्त्री में उत्पन्न कन्या की 'उग्र' संज्ञा है। यह अनुलोम-सङ्कर है। स्मृतिग्रन्थों में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४५५) उगितश्च ४ । १ । ६ ॥ उगिदन्तात्प्रातिपदिकात्स्त्रियां ङीप्स्यात् । भवती । पचन्ती । 'शप्श्यनोः–' (सू ४४६) इति नुम् । 'उगिदचाम्—' (सू ३६१) इति सूत्रेऽज्ग्रहणेन 'धातोश्चेदुगित्कार्यं तर्ह्यञ्चतेरेव' इति नियम्यते । तेनेह न । उखास्रत् ।

---

(४५५) उगितश्च । उक् प्रत्याहारः । उक् इत् यस्य सः उगित् । उगित इति पञ्चम्यन्तम् । तेन प्रातिपदिकादित्येतत् विशेष्यते, तदन्तविधिः । 'उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्' इत्युक्तः 'समासप्रत्ययविधौ' इति प्रतिषेधो न । पूर्वसूत्रात् ङीबित्यनुवर्तते । तदाह—उगिदन्तादिति । उगित् द्विविधं प्रातिपदिकं प्रत्ययश्च । तत्र प्रातिपदिकमुदाहरति—भवतीति । सर्वादिगणे भवतु इति अव्युत्पन्नं प्रातिपदिकं पठितम्, तस्य व्यपदेशिवत्त्वेन उगिदन्तत्वाद् ङीप् । ङपावितौ, 'आच्छीनद्योर्नुम्' 'शप्श्यनोर्नित्यम्' इति नुम् न, शत्रन्तत्वाभावात् । 'उगिदचाम्' इत्यपि न; सर्वनामस्थानत्वाभावात् । अथ द्वितीयमुगित्मुदाहरति—पचन्तीति । पचेर्लटः शतरि शपि परररूपे पचच्छब्दः । तत्र शतृप्रत्ययः उगित्, तदन्तं पचत् इति प्रातिपदिकमिति । तस्मात् ङीपि 'शप्श्यनोर्नित्यम्' इति नुमिति भावः । यदि तु सर्वादिगणे पठितं भवतु इत्येतत् 'भातेर्डवतुः' इति व्युत्पाद्यते, तदा उगित्प्रत्ययान्तस्यैवोदाहरणं बोध्यम् । भूधातोः शतरि शपि ऊकारस्य गुणे अवादेशे भवच्छब्दात् ङीपि तु 'शप्श्यनोर्नित्यम्' इति नुमि भवन्तीति रूपम् । न च भवच्छब्दस्य अव्युत्पन्नत्वे तस्य कथं व्यपदेशिवत्त्वेन उगिदन्तत्वम्, 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन' इति वचनादिति वाच्यम्, प्रातिपदिकस्य तत्तत्स्वरूपेण ग्रहण एव तत्प्रवृत्तेः । 'उगिदचाम् इति सूत्रे' इत्यादिग्रन्थः हलन्ताधिकारे गोमच्छब्दनिरूपणे व्याख्यातः । तेनेति । अञ्चुव्यतिरिक्तधातोरुगित्कार्याभावलाभेनेत्यर्थः । उखेति । उखा कुण्डी । उखायाः स्रंसते, पर्णात् ध्वंसते

इस प्रकार की सन्तति को मातृजातिकर्मोपजीवी माना है[1] । तदनुसार 'आभीर' शब्द के समानार्थक 'महाशूद्र' शब्द में 'शूद्र' जाति का आरोप कर उसे अर्थवान् माना गया है ।[2]

निर्देश—प्रकरणवश 'ऋकारान्त' एवं 'नकारान्त' शब्दों से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीप्' प्रत्यय की चर्चा की जारही है । अजन्त-स्त्रीलिङ्ग-प्रकरण में 'क्रोष्टृ' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय कर 'क्रोष्ट्री' प्रातिपादिक की निष्पत्ति बताई जा चुकी है—"ऋन्नेभ्यो ङीप्"–३०६ । उसके क्रमशः उदाहरण—१–नकारान्त शब्द दण्डिन्+ई (ङीप्) <दण्डिनी (दण्ड धारण करने वाली) । २–ऋकारान्त शब्द—कर्तृ <कर्त्री (कर्तृ+ई–यण्, अर्थ–करने वाली) ।

(४५५) पद—उगितः च । **अनुवृत्ति**—ङीप् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'उक्'–इत्संज्ञक प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीप्' प्रत्यय होता है । भवती । पचन्ती । "शप्श्यनोर्नित्यम्" (४४९) से नुम् । "उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः" सूत्र में 'अच्' ग्रहण करने से यह नियम किया गया है कि धातुओं के विषय में 'उक्'–इत्संज्ञा–निमित्तक

---

१. अत एव शङ्खस्मृतौ "ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यैः क्षत्रिया-वैश्या-शूद्रासूत्पन्नाः क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रा एव भवन्ति" । ल. श. शे. ।

२. स्मृतिषु मातृजातिकर्मोपजीवित्वस्योक्तत्वात् आभीरेषु शूद्रत्वजातिमारोप्य शूद्रत्वावच्छिन्नधर्मितानिरूपितस्त्रीत्वनिष्ठप्रकारताप्रयोजकतापर्याप्त्यधिकरणत्वं जातिवाचकशूद्रशब्दान्तत्वं च 'महाशूद्र' शब्देऽस्तीति 'टाप्' स्यात्, तन्मा भूदिति अमहत्पूर्वग्रहणम् । तदन्तविध्यरूढ्यै महत्त्वविशिष्टशूद्रत्वावच्छिन्ने एव स्त्रीत्वान्वयात् शूद्रत्वाच्छिन्नधर्मितानिरूपितस्त्रीत्वनिष्ठप्रकारताप्रयोजकत्वपर्याप्तिर्महाशूद्रशब्दे एव न शूद्रशब्दे इति न ततष्टाप्प्रसक्तिरिति अमहत्पूर्वग्रहणस्य तदन्तविधिज्ञापकत्वं संगच्छते । सति तु तदन्तविधौ उक्तरीत्या टापः प्राप्तौ अमहत्पूर्वेति निषेधश्चरितार्थ इति प्रघट्टकार्थः । लघुशब्देन्दुशेखर–'दीपक' टीका—म० म० पं० नित्यानन्द पन्त पर्वतीय ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्विप्। 'अनिदिताम्—' (सू ४१५) इति नलोपः। पर्णध्वत्। अञ्चतेस्तु स्यादेव।

इति विग्रहः। 'पिठरं स्थाल्युखा कुण्डम्' इत्यमरः। 'स्रंसु ध्वंसु अवस्रंसने'। सुपीत्यनुवृत्तौ 'क्विप् च' इति क्विप्, उपपदसमासः, सुब्लुक्, 'अनिदिताम्' इति नलोपः, हल्ङ्यादिना सोर्लोपः, 'वसुस्रंसु' इति दत्वमिति भावः। स्यादेवेति। ङीबिति शेषः। प्राचीति। प्रपूर्वात् अञ्चतेः 'ऋत्विक्' इत्यादिना क्विन्, 'अनिदिताम्' इति नलोपः, उगित्त्वात् ङीप्,। 'अचः' इत्यकारलोपः, 'चौ' इति दीर्घः। एवं प्रतीची।

कार्य केवल √'अञ्च्' को ही होता है, अन्य धातुओं को नहीं। अतः 'उखास्रत्' में 'नुम्' आगम नहीं हुआ। √स्रंस् से क्विप् प्रत्यय तथा "अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति" से 'न्'-लोप। इसी प्रकार 'पर्णध्वत्'। √अञ्च् धातु में तो 'उक्' इत्संज्ञा-निमित्तक कार्य होगा। प्राची, प्रतीची।

विवरण—प्रकरणानुसार दोनों अधिकारों के अतिरिक्त "ऋन्नेभ्यो ङीप्" (४-१-५) से 'ङीप्' की अनुवृत्ति की जारही है। सूत्रस्थ 'उगित्' पद से 'उक्' इत्संज्ञक-वर्ण अपेक्षित हैं। 'उक्' प्रत्याहार के अन्तर्गत 'उ' 'ऋ' 'ऌ' वर्णों का समावेश है। सूत्रस्थ 'उगित्' पद अधिकारलभ्य 'प्रातिपदिकात्' पद का विशेषण है। अतः उसमें तदन्तविधि होती है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "'उक्'-इत्संज्ञकान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीप्' प्रत्यय हो।" 'उक्'-इत्संज्ञकों की प्रकृति दो रूपों में मिलती है—(१) प्रत्यय के रूप में तथा (२) प्रातिपदिक के रूप में। प्रातिपदिक के रूप में 'उ'-इत्संज्ञक प्रकृति का **उदाहरण**—(१) भवती (= आप)। भवतु > भवत् (सर्वादिगण में 'भवतु' शब्द का पाठ है, वह अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है एवम् 'उ'-इत्संज्ञक है), भवत्+ई (ङीप्, 'ङ्' तथा 'प्' की इत्संज्ञा)—भवती। 'शतृ' प्रत्यय न होने से "आच्छीनद्योर्नुम्" (४४५) एवं "शप्श्यनोर्नित्यम्" (४४६) सूत्रों से 'नुम्' नहीं हुआ। सर्वनामस्थानसंज्ञा न होने से "उगिदचां सर्वनामस्थाने०" (३६३) से भी 'नुम्' नहीं हुआ। (२) प्रत्यय के रूप में 'उ'-इत्संज्ञक का **उदाहरण**—पचन्ती (= पकाती हुई)। प्रक्रिया—√पच्+अत् ('लट्' = 'शतृ' प्रत्यय), <पच्+अ-अत् ('शप्' = अ), <पचत्+अ, (अ+अ = अ—पररूप "अतो गुणे" १९१), <पचत्+ई (ङीप्), <पचन्-त्+ई (नुम् आगम "शप्श्यनोर्नित्यम्"-४४६) = पचन्ती। इसी प्रकार दीव्यन्ती (= खेलती हुई) रूप भी सिद्ध होते हैं—दीव्यत्+ई (दिवादिगण-पठित √दिव् धातु से 'शतृ' प्रत्यय होने से 'श्यन्' विकरण तथा 'ङीप्'), <दीव्यन्-त्+ई ('नुम्' आगम-४४६), <दीव्यन्ती। 'शतृ' में 'ऋ' की इत्संज्ञा होने से 'उक्'-इत् माना गया।

शङ्का—'उखास्रत्' एवं 'पर्णध्वत्' शब्दों में 'ङीप्' प्रत्यय क्यों नहीं हुआ? 'उखायाः स्रंसते' तथा 'पर्णात् ध्वंसते' इन अर्थों में √उखा-स्रंस्+क्विप् एवं पर्ण-ध्वंस्+क्विप् करने पर उपपद समास होने के पश्चात् 'न'कार का लोप होने से उखास्रस् (=बटलोई से गिरी हुई लपसी) एवं 'पर्णध्वस्' (= पत्तों से गिरने वाली) प्रातिपदिक निष्पन्न होते हैं। इनसे प्रथमा-एकवचन में 'सु'-विभक्ति लगने पर—'उखास्रस्+सु' एवं 'पर्णध्वस्+सु'-इस स्थिति में विभक्तिलोप होता है—उखास्रस् एवं पर्णध्वस्। तदनन्तर 'स्=द्' ("वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः"—३३४) होकर पाक्षिक 'चर्त्व' करने से 'उखास्रत्' एवं 'पर्णध्वत्' रूप बनते हैं। मूलरूप में ये दोनों ('स्रंसु' एवं 'ध्वंसु') धातु हैं। इनमें 'उ' की इत्संज्ञा हुई है, अतः 'उक्' इत्संज्ञक वर्ण अन्त में होने से 'ङीप्' प्रत्यय की प्राप्ति है। **समाधान**—इसके सम्बन्ध में पूर्ववर्णित ज्ञापन का स्मरण कराया जारहा है। 'गोमत्' शब्द के प्रसङ्ग में (पृ० ५०१) यह बताया जा चुका है कि "उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः" (३६१) सूत्रस्थ 'अच्' ग्रहण द्वारा यह ज्ञापित हो चुका है कि धातुओं को यदि उगित्संज्ञा-निमित्तक कोई कार्य हो तो वह केवल 'अञ्चु' धातु को ही हो। इस ज्ञापन से उपर्युक्त इन दोनों उदाहरणों में 'ङीप्' नहीं हुआ। इस नियम से प्र-पूर्वक एवं प्रति+

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राची। प्रतीची। (४५६) वनो र च ४। १। ७॥ वन्नन्तात्तदन्ताच्च प्रातिपदिकात्स्त्रियां ङीप्स्यात्, रश्चान्तादेशः। वन्निति ङ्वनिप्क्वनिब्वनिपां सामान्यग्रहणम्। प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम् (प २४)। तेन प्रातिपदिकविशेषणात्तदन्तान्तमपि लभ्यते। सुत्वानमतिक्रान्ता—अतिसुत्वरी। अतिधीवरी। शर्वरी।

---

(३५६) वनो र च। वनः र च इति छेदः। र इति लुप्तप्रथमाकम्, अकार उच्चारणार्थः। चकारात् ङीप् समुच्चीयते। वन इति पञ्चम्यन्तम्। तेन वन्प्रत्ययान्तं तदन्तं च विवक्षितम्। प्रातिपदिकादित्यधिकृतम्। तदाह—वन्नन्तादित्यादिना। अन्तादेश इति। प्रकृतेरिति शेषः। नान्तत्वादेव ङीप् प्राप्तः, तत्सन्नियोगेन रेफमात्रमिह विधेयम्। सामान्येति। अनुबन्धविनिर्मुक्तवन्ग्रहणस्य त्रिष्वपि साधारणत्वादिति भावः। ननु वन्ग्रहणेन वन्प्रत्ययान्तं तदन्तं च कथं लभ्यत इत्यत आह—प्रत्ययग्रहणे इति। यस्मात् प्रकृतिभूतात् शब्दात् यः प्रत्ययो विहितः तदादेः सः प्रकृतिभूतः शब्दः आदिर्यस्य तस्य तदन्तस्य स प्रत्ययः अन्तो यस्य समुदायस्य तस्य च ग्रहणम्। प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्य तन्मध्यवर्तिनश्च ग्रहणमित्यर्थः। 'तिङ्ङतिङः' इत्यत्र तिङ्ग्रहणेन शबादिविकरणस्यापि ग्रहणार्थं तदादिग्रहणम्। 'यस्मात्' 'प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' इति सूत्रे इयं परिभाषा भाष्ये स्थिता। तेनेति। वन्नन्तेन प्रातिपदिकादित्यधिकृतस्य विशेषणात् पुनस्तदन्तविधिलाभादिति भावः। न चैवं सति वन्नन्तस्य कथं लाभ इति वाच्यम्, 'येन विधिस्तदन्तस्य' इत्यत्र 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' इत्यतः स्वमित्यनुवर्त्य विभक्तिपरिणामेन स्वस्य चेति व्याख्यानादिति भावः। तदेतदपिशब्देन सूचितम्। वन्नन्तमेव व्यपदेशिवत्त्वेन वन्नन्तान्तमिति केचित्। 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति' इति तु 'स्त्रियाम्' इत्यस्मिन् अधिकारे न प्रवर्तते, 'शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः' इत्यत्र अमहत्पूर्वेति लिङ्गात्। अथ वन्नन्तान्तमुदाहरति—सुत्वानमिति। 'षुञ् अभिषवे' 'सुयजोर्ङ्वनिप्' 'ह्रस्वस्य पिति कृति' इति तुक्। सुत्वन् शब्दः। सुत्वानमतिक्रान्ता इति विग्रहे 'अत्यादयः' इति समासः। सुब्लुकि ङीप्, नकारस्य रत्वम्, अतिसुत्वरीति रूपम्। अतिधीवरीति। 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च' 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति भाषायामपि क्वनिप्, 'घुमास्था' इति ईत्वम्। धीवानमतिक्रान्ता इति विग्रहे 'अत्यादयः' इति समासः, ङीप्, रश्च, अतिधीवरीति रूपम्। भाष्ये तु ध्यायतेः क्वनिपि सम्प्रसारणे 'हलः' इति दीर्घ इति स्थितम्। शर्वरीति। 'शॄ हिंसायाम्' 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च' 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति भाषायामपि वनिप्, सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणः, वनो र च' इति ङीप्, रश्च। वन्नन्तस्योदाहरणमेतत्। अतिशर्वरीति पाठे तु इदमपि वन्नन्तान्त-

---

अञ् धातु से स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में ङीप् होकर 'प्राची' एवं 'प्रतीची' रूप बनेंगे। प्रक्रिया—प्र–अन्च्+क्विन् एवं प्रति–अन्च्+क्विन् तथा 'न्'–लोप होने के पश्चात् ङीप् <प्र–अच्+ई एवं प्रति–अच्+ई, <प्रच्+ई एवं प्रतिच्+ई ('अ'–लोप–"अचः"–४१६), <प्राची (= पूर्व दिशा) एवं प्रतीची (=पश्चिम दिशा)। दोनों उदाहरणों से क्रमशः दीर्घ होकर ("चौ"–४१७) 'आ' एवं 'ई' होते हैं। ...

(४५६) पद—वनः, र, च। अनुवृत्ति—ङीप्, स्त्रियाम् (अधिकार), प्रातिपदिकात् (अधिकार)। विधिसूत्र।

मूलार्थ—वन्नन्त और वन्नन्तान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीप्' प्रत्यय होता है और 'न्' को 'र्' आदेश होता है। 'वन्' से 'ङ्वनिप्', 'क्वनिप्' तथा 'वनिप्' प्रत्ययों का सामान्यतः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'वनो न हश इति वक्तव्यम्' (वा.२४०५) हशन्ताद्धातोर्विहितो यो वन् तदन्तात्तदन्तान्ताच्च प्रातिपदिकान्ङीप् रश्च नेत्यर्थः.। 'ओणृ अपनयने' वनिप्, 'विड्वनोः—' (सू

स्योदाहरणम्। सुत्वरी, धीवरी, शर्वरी इति वन्नन्तस्योदाहरणानि। वनो नेति। पूर्ववत् वन्नन्तं वन्नन्तान्तं च गृह्यते। हश इति पञ्चमी। तेन च धातोरित्यधिकृत्य विहितेन वना आक्षिप्तं धातोरित्येतत् विशेष्यते, तदन्तविधिः। ङीविति रश्चेति चानुवर्तते। तदाह—हशन्तादित्यादिना। विहितविशेषणस्य प्रयोजनं दर्शयन् वन्नन्तोदाहरणं दर्शयितुमाह—ओणृ इत्यादिना। वनिविति। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इत्यनेनेति शेषः। अवावेति। ओणृ—इत्यस्मात् वनिपि, 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' इति णकारस्य आत्वे ओकारस्यावादेशे अवावन्शब्दः। स्त्रीत्वस्फोरणाय ब्राह्मणीति विशेष्यम्। अत्र ओण् इति धातोः हशन्तात् वन् विहितः, तदन्तत्वात् न ङीत्वे, किन्तु राजवद्रूपम्। हशन्तात् धातोः परो यो वन् इति व्याख्याने तु आत्वे सति वनो हशः परत्वाभावात् निषेधो न स्यादिति भावः।

ग्रहण होता है। (परि० प्रत्यय का ग्रहण करने पर जिससे वह विहित हो वहाँ तदादि-तदन्त रूप की उपस्थिति होती है। इस हेतु 'प्रातिपदिक' विशेषण से तदन्तान्त का भी लाभ होता है। सुत्वानम् (सोम निचोड़नेवाले को) अतिक्रान्ता (अतिक्रमण करनेवाली) अर्थ में 'अतिसुत्वरी' रूप बनता है। अतधीवरी। शर्वरी। (वा०) हशन्त धातु से विहित वन्नन्त एवं वन्नन्तान्त को 'ङीप्' और रेफादेश नहीं होंगे। √ओणृ (=हटाना) धातु से वनिप्, 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्" से न् को आकार। अवावा ब्रह्मणी। राजयुध्वा। (वा०) बहुव्रीहि में पूर्वोक्त-कार्य विकल्प से होता है। बहुधीवरी-बहुधीवा। पक्ष में 'डाप्' प्रत्यय भी। उसे आगे बताया जायगा।

विवरण—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिये "ऋन्नेभ्यो ङीप्" (४-१-५) से 'ङीप्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। प्रकरणवश "स्त्रियाम्" तथा "प्रातिपदिकात्" दोनों अधिकारों का प्रभाव भी है। तदनुसार सूत्र से दो विधान किए जाते हैं—एक तो 'ङीप्' प्रत्यय तथा दूसरा 'र्' आदेश। आदेश-सूचक पद 'र' में प्रथमाविभक्ति का लोप हुआ है। 'वनः' पद पञ्चम्यन्त है एवं अधिकारलभ्य 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है। अतः उसमें तदन्तविधि होती है। इसके साथ ही 'वन्' सम्बन्धी नकार के स्थान में रेफ ('र्') अन्तादेश करने में वाक्यभेद से षष्ठी-विभक्ति माननी पड़ती है, जिसके फलस्वरूप "अलोन्त्यस्य" परिभाषा की उपस्थिति होकर अन्तिम वर्ण को ही रेफ-आदेश होगा। तदनुसार सूत्र का पर्यवसित अर्थ यह होगा कि " 'वन्' प्रत्ययान्त तथा 'वन्नन्तान्त' प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय हो तथा 'वन्' प्रत्ययसम्बन्धी 'न्' को 'र्' आदेश भी हो"। 'वन्' प्रत्ययान्त शब्द नकारान्त हैं, अतः 'ङीप्' प्रत्यय तो "ऋन्नेभ्यो ङीप्" (४-१-५) से सिद्ध है। इस सूत्र की उपयोगिता केवल 'न्' के स्थान में 'र्' आदेश करने के लिए है। 'वन्'='ङ्वनिप्', 'क्वनिप्' तथा 'वनिप्' तीनों प्रत्ययों का बोधक है, क्योंकि इन तीनों प्रत्ययों में इत्संज्ञक वर्णों के निकल जाने पर 'वन्' अवशेष रह जाता है। तीनों प्रत्ययों के क्रमशः उदाहरण—१-सुत्वरी—(√षु) सु+वन् ("सुयजोर्ङ्वनिप्"-३-२-१०३), <सुत्+वन् ('तुक्'-आगम "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्"-६-१-७१), <सुत्वन्+ई (ङीप्), <सुत्वर्+ई ('न्' = र्)—सुत्वरी (=सोम निचोड़ने वाली)। २-धीवरी (धा+वन् क्विप् "अन्येभ्योऽपि दृश्यते"-३-२-७५, <धी+वन् (आ = ई-"घुमास्थागापाजहातिसां हलि"-६-४-६६), <धीवन्+ई (ङीप्), <धीवर्+ई ('न्' = र्), <धीवरी (=काम करने वाली)। ३-शर्वरी-शृ+वन् (वनिप्—"अन्येभ्योऽपि दृश्यते"—३-२-७५), <शर्+वन् (ऋ = अर्-गुण "सार्वधातुकार्धधातुकयोः—७-३-८४), <शर्वन्+ई (ङीप्), <शर्वर्+ई (न् = र्-शर्वरी = रात्रि)।

विशेष—सूत्रस्थ 'वन्' पद का अभीष्ट अर्थ 'वन्-अन्त' तथा 'वन्नन्तान्त' प्रातिपदिक (समासयुक्त वन्नन्त शब्द)-इन दोनों रूपों में स्वीकृत है। इस सम्बन्ध में वृत्तिकारों ने एक परिभाषा का आश्रय लिया है। यह परिभाषा "यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम्" (१-४-१३) सूत्र के भाष्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२९८२) इत्यात्त्वम् । अवावा ब्राह्मणी । राजयुध्वा । 'बहुव्रीहौ वा' (वा २४०७) ।

वन्नन्तान्तमुदाहरति—राजयुध्वेति । राजानं योधितवतीत्यर्थः । भूते कर्मणि क्विबित्यनुवर्तमाने 'राजनि युधि कृञः' इति क्वनिप् । कर्मीभूते राजनि उपपदे युधेः कृञश्च क्वनिबिति तदर्थः । उपपदसमासे सुब्लुक्, राजयुध्वन्शब्दः । अत्र हशो विहितो वन्, तदन्तो युध्वन्शब्दः तदन्तो राजयुध्वन्शब्दः अतो न ङीव्रादेशावित्यर्थः । बहुव्रीहौ । इदं वार्तिकम् । 'वनो र च' इति विधिः बहुव्रीहौ वा स्यादित्यर्थः । 'अनो बहुव्रीहेः' इति निषेधस्यापवादः । बहुधीवरीति । बहवो धीवानो यस्या इति विग्रहः । बहुधीवेति । ङीव्रत्वयोरभावे राजवद्रूपम् । न च बहूनि पर्वाणि यस्याः सा बहुपर्वेत्यत्रापि ङोव्रत्वविकल्पः स्यादिति वाच्यम्, 'अल्लोपोऽनः' इति उपधालोपयोग्यस्थल एव एतद्वार्तिकस्य प्रवृत्तेः भाष्ये उक्तत्वात् बहुपर्वन्शब्दे च 'न संयोगाद्वमन्तात्' इत्यल्लोपनिषेधात् । पक्षे इति । ङीव्रत्वाभावपक्षे 'डाबुभाभ्याम्' इति डाप् वक्ष्यत इत्यर्थः । डापावितौ बहुधीवन् आ इति स्थिते 'टेः' इति टिलोपे बहुधीवाशब्दात् सोर्हल्ङ्यादिलोपे बहुधीवा इति रमावद्रूपम् । ङीव्रत्वयोः डापश्चाभावे सौ बहुधीवेत्येव रूपम् । ङीव्रत्वयोः बहुधीवरीति । औजसादिषु तु बहुधीवर्यौ–बहुधीवे–बहुधीवानौ इत्यादि रूपत्रयमिति भावः ।

पर आधारित है । उसका स्वरूप इस प्रकार है—परि० "प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्" । अर्थ—जिस प्रकृतिरूप शब्द से (यस्मात्) जो प्रत्यय किया जाता है (विहितः), वह प्रकृतिरूप शब्द जिसके आदि में है (तदादेः) उसका, तथा वह प्रत्यय जिस समुदाय के अन्त में है उसका (तदन्तस्य) भी, ग्रहण करता है । अर्थात् प्रत्ययविधान में प्रकृति-प्रत्यय-समुदाय का एवं तन्मध्यवर्ती समुदाय का भी ग्रहण होता है । इस प्रकार 'वन्' पद के समान 'वन्नन्त' शब्द को भी 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण मानने से उससे भी तदन्तविधि का लाभ होने के कारण 'वन्नन्तान्त' प्रातिपदिक से (समासयुक्त वन्-प्रत्ययान्त शब्दों में) भी 'ङीप्' प्रत्यय तथा 'न्'='र्' आदेश होते हैं । तदनुसार 'अतिसुत्वरी' (सुत्वानम् अतिक्रान्ता = सोम निचोड़ने वाले का अतिक्रमण करने वाली) एवम् 'अतिधीवरी' (धीवानम् अतिक्रान्ता = काम करने वाले का अतिक्रमण करने वाली) में भी "वनो र च" (४-१-७) की प्रवृत्ति होने के फलस्वरूप 'ङीप्' प्रत्यय एवं 'न्' = 'र्' आदेश हुए । (वा०) अर्थ—'हश्' प्रत्याहार में पठित वर्णों से विहित 'वन्' प्रत्ययान्त एवं तदन्तान्त प्रातिपदिक को 'ङीप्' और 'न्' = 'र्' आदेश नहीं होते । वन्नन्त का उदाहरण—अवावा (ब्राह्मणी)—√ओण्+क्वनिप् (अन्येभ्योऽपि दृश्यते"–३-२-७५), <ओ-आ+वन् (ण्=आ–"विड्वनोरनुनासिकस्यात्"–६-४-४१), <अवावन् (ओ = अव्), <अवावन्+स् (सु)—अवावा (विभक्तिकार्य–'स्' लोप, दीर्घ 'न्'–लोप) अर्थ—दूर करने वाली) । √ओण् धातु के अवयव 'ण्' का 'हश्' प्रत्याहार में समावेश होने से तदुत्तर 'वन्' प्रत्ययान्त शब्द से उक्त वार्तिक द्वारा 'ङीप्' तथा 'न्' = 'र्' का निषेध हो गया । 'ब्राह्मणी' शब्द के साहचर्य से स्त्री का बोध होता है । वन्नतान्त का उदाहरण—राजयुध्वा ('राजानं योधितवान्' = भूतकाल में राजाओं को युद्ध कराने वाली)—राजन्–युध्+वन् (क्वनिप्–"राजनि युधि कृञः–३-२-९५), <राजयुध्वन्+स् , <राजयुध्वा (विभक्ति कार्य) । (वा०) अर्थ—बहुव्रीहि समास में 'ङीप्' एवं 'र्'–आदेश की प्रवृत्ति विकल्प से होती है । उदाहरण—बहुधीवा–बहुधीवरी । विग्रह—बहवः धीवानः यस्याः सा–बहुत कर्मकरों से युक्त नगरी । वैकल्पिक 'ङीप्' एवं 'र्' आदेश न होने पर 'बहुधीवन्' शब्द के रूप 'राजन्' शब्द के समान बनेंगे । पक्ष में "डाबुभाभ्याम् अन्यतरस्याम्"–४-१-१३ से वैकल्पिक 'डाप्' (आ) प्रत्यय होने पर—बहुधीवन्+आ ('टि'–अन् = लोप), <बहुधीवा+सु , <बहुधीवा (विभक्तिलोप) रूप बनेगा । इसके द्विवचन में 'रमा' शब्द की तरह 'बहुधीवे' रूप सिद्ध होगा ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुधीवरी-बहुधीवा। पक्षे डाव्वक्ष्यते। (४५७) **पादोऽन्यतरस्याम् ४। १। ८॥** पाच्छब्दः कृतसमासान्तस्तदन्ताःप्रातिपदिकात् ङीव्वा स्यात्। द्विपदी—द्विपाद्। (४५८) **टाबृचि ४। १। ९॥** ऋचि वाच्यायां पादन्ताट्टाप् स्यात्। द्विपदा ऋक्। एकपदा। 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' (सू ३०८)। पञ्च। चतस्रः। 'पञ्च' इत्यत्र नलोपे

---

(४५७) पादो। कृतसमासान्त इति। अन्तलोपात्मके समासान्ते कृते परिशिष्टः पाद्-शब्दः इह गृह्यत इत्यर्थः। तदन्तादिति। पाच्छब्दान्तादित्यर्थः। पाद इति पञ्चम्यन्तेन 'प्रातिपदिकात्' इत्यधिकृतस्य विशेषणादिति भावः। ङीव्वा स्यादिति। 'ऋन्नेभ्यः' इत्यतः तदनुवृत्तेरिति भावः। द्विपदीति। द्वौ पादौ यस्या इति बहुव्रीहिः। 'सङ्ख्या सुपूर्वस्य'इति पादशब्दान्तस्याकारस्य लोपः। ङीपि भत्वात् 'पादः पत्' द्विपदीति रूपम्। ङीबभावे तु-द्विपादिति।

(४५८) टाबृचि। पादन्तादिति। प्रातिपदिकादिति शेषः। 'पादोऽन्यतरस्याम्' इत्यतः अनुवृत्तेन पाच्छब्देन प्रातिपदिकादित्यधिकृतस्य विशेषणादिति भावः। 'पादोऽन्यतर-स्याम्' इति ङोपोऽपवादोऽयम्। द्विपदा ऋगिति। द्वौ पादौ यस्या इति विग्रहः। एकपदेति। एकः पादो यस्या इति विग्रहः। उभयत्रापि टापि 'पादः पत्'। 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्'

---

(४५७) पद—पादः, अन्यतरस्याम्। अनुवृत्ति—स्त्रियाम्, ङीप्, प्रतिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—कृत-समासान्त 'पाद्' शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य रहते विकल्प से 'ङीप्' होता है। द्विपदी-द्विपाद्।

विवरण—प्रकरणानुसार अभीष्ट पदों की अनुवृत्ति करने पर 'पाद्' शब्द से तदन्तविधि होने के कारण 'पाद्'-शब्दान्त-यह अर्थ अभिव्यञ्जित होता है। तदनुसार समासान्त-प्रत्यय ('पाद' के अकार का लोप) करने के पश्चात् अवशिष्ट 'पाद्' का यहाँ ग्रहण है। अतः 'पाद्' शब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते विकल्प से 'ङीप्' प्रत्यय होता है। उदाहरण—द्विपदी (दो चरण-वाली) विग्रह-द्वौ पादौ यस्याः सा—बहुव्रीहि समास। प्रक्रिया—द्वि+औ, पाद+औ, <द्विपाद, <द्विपाद् (दकारोत्तरवर्ती 'अ'कार का लोप-"संख्यासुपूर्वस्य-५-४-१४०), <द्विपाद्+ई (ङीप्), <द्विपदी ('ङीप्' में 'भ'संज्ञा होने के कारण 'पाद्' = 'पत्' तथा 'त्' = 'द्'-जश्त्व)। द्विपाद् ('ङीप्' के अभाव में भसंज्ञा न होने से 'पत्' आदेश नहीं हुआ)।

(४५८) पद—टाप्, ऋचि। अनुवृत्ति—पादः, प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च (चारों अधिकार-सूत्र). विधिसूत्र।

मूलार्थ—ऋचा वाच्य होने पर 'पाद्'-शब्दान्त से 'टाप्' प्रत्यय होता है। द्विपदा ऋक्। एकपदा। "न षट्स्वस्रादिभ्यः" से ङीप् तथा टाप् का निषेध। पञ्च। चतस्रः। 'पञ्च' में 'न्'-लोप करने पर भी "ष्णान्ता षट्" से विहित 'षट्' संज्ञा के प्रति ("नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति" इस नियम से) 'न्'-लोप असिद्ध होने के कारण "न षट्स्वस्रादिभ्यः" निषेध होने से 'टाप्' नहीं हुआ।

विवरण—पूर्व सूत्र से वैकल्पिक ङीप् प्राप्त था। विशेष अर्थ में उसका बाधकर 'टाप्' का विधान किया जारहा है। तदनुसार कृतसमासान्त 'पाद्'-शब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में यदि ऋचा वाच्य हो (ऋचि) तो 'टाप्' प्रत्यय होता है। उदाहरण—द्विपदा ऋक् (दो चरणवाली ऋचा)। एकपदा (एक चरणवाली ऋचा)। विग्रह आदि पूर्ववत् हैं। केवल 'टाप्' (आ) का विधान करना विशेष कार्य है।

निर्देश—प्रकरणवश इस स्थान पर "न षट्स्वस्रादिभ्यः" ४-१-१० सूत्र का उल्लेख किया जारहा है। अजन्त-स्त्रीलिङ्ग-प्रकरण में 'स्वसृ' शब्द की रूपप्रक्रिया के सन्दर्भ में इस सूत्र का विषय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृतेऽपि 'ष्णान्ता षट्' (सू ३६९) इति षट्संज्ञां प्रति 'नलोपः सुप्स्वर–' (सू ३५३) इति नलोपस्यासिद्धत्वात् 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' (सू० ३०८) इति न टाप्।

इति सूत्रभाष्ये तु पादशब्दसमानार्थकं पद्शब्दमवष्टभ्य प्रत्याख्यातमेतत्। न च ऋचि वाच्यायां द्विपदां द्विपादिति प्रयोगव्यावृत्तये एतत्सूत्रमिति वाच्यम्। एतद्भाष्यप्रामाण्येन तथाविधप्रयोगस्यापीष्टत्वादित्यलम्। न षट्स्वस्रादिभ्य इति। इदमजन्ताधिकारे ऋकारान्त-निरूपणे व्याख्यातम्। पञ्चेति। इहान्तरङ्गत्वात् नान्तलक्षणङीपि प्राप्ते षट्त्वान्निषिद्धे 'षड्भ्यो लुक्' इति जश्शसोर्लुकि नलोप इति भावः। चतस् इति। चतसृभावे सति ऋदन्तलक्षणङीब् न, स्वस्रादित्वात्। ननु 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' इति ङीवेव प्रतिषिध्यताम्, किं टावनुवृत्त्या? नान्तत्वात् टापः. प्रसक्तेरभावेन तन्निषेधवैयर्थ्यादित्यत आह—पञ्चेत्यत्रेति। पञ्चेत्यत्र 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' इति न टाबित्यन्वयः। अदन्तलक्षण-टाबिति शेषः। नान्तलक्षणङीपि प्रतिषिद्धे सति जश्शसोर्लुकि नलोपे कृते अदन्तत्वात् प्राप्तस्य टापः प्रतिषेधार्थमिह टावनुवृत्तिराश्रयणीयेति यावत्। न च नलोपस्यासिद्धत्वात् टापः प्रसक्तिरेव नेति वाच्यम्, सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु टाङ्विधेरनन्तर्भावेन तस्मिन् कर्तव्ये नलोपस्यासिद्धत्वाभावात्। ननु 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' इत्यत्र सत्यामपि टावनुवृत्तौ कथमिह

बताया जा चुका है। तदनुसार "षट्–संज्ञक प्रातिपदिकों से तथा 'स्वस्'–आदि प्रातिपदिकों से यथाप्राप्त 'ङीप्' एवं 'टाप्' नहीं होते"। उदाहरण—१–षट्संज्ञक प्रातिपदिक का—पञ्च। यहाँ 'पञ्चन्' शब्द नकारान्त होने के कारण "ऋन्नेभ्यो ङीप्"–३०६ से प्राप्त होने वाले 'ङीप्' का निषेध हो गया। केवल नकारान्त संख्यावाची शब्द को निमित्त मानकर 'षट्' संज्ञा की प्रवृत्ति होने से यहाँ 'ङीप्' का निषेध हुआ। तदनन्तर 'जस्' और 'शस्' का लोप होकर 'पञ्च' रूप सिद्ध होता है।

२—स्वस्रादि प्रातिपदिक का—चतस्रः (यहाँ स्त्रीलिङ्ग में 'चतुर्' > 'चतस्' आदेश होने पर ऋकारान्त-निमित्तक 'ङीप्'–३०६ का निषेध हुआ।)

विशेष—"न षट्स्वस्रादिभ्यः" (४-१-१०) सूत्र में 'टाप्' तथा 'ङीप्' दोनों की अनुवृत्ति की गई है। तदनुसार सूत्र से 'टाप्' और 'ङीप्' दोनों का निषेध किया जाता है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि 'पञ्चन्' में 'न्'–का लोप हो जाने पर भी संज्ञाविधि में ("नलोपः सुप्स्वरसंज्ञा-तुग्विधिषु कृति"–३५३) 'न्'–लोप असिद्ध होने के कारण नकारान्त-संख्यावाचक शब्द को निमित्त मानकर होने वाली 'षट्' संज्ञा पुनरपि विदित होगी। उस अवस्था में अकारान्त की प्रतीति होने पर भी प्राप्त टाप् का निषेध इस सूत्र से हो जाता है।

वार्तिककार के अनुसार "नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति" (८-२-२) में 'संज्ञा' पद अना-वश्यक है, क्योंकि 'न्'-लोप करने में 'षट्'संज्ञा परम्परया निमित्त-स्वरूप है। बिना षट्संज्ञा किये हुए 'जस्' और 'शस्' का लोप सम्भव नहीं है। 'जस्' और 'शस्' विभक्तियों का लोप किए बिना ("षड्भ्यो लुक्") 'पञ्चन्' आदि शब्दों में पदसंज्ञा नहीं हो सकेगी, उसके न होने पर 'न्'-लोप भी नहीं हो सकेगा। अतः सर्वप्रथम 'षट्' संज्ञा करने पर विभक्ति-लुक्, तत्पश्चात् 'न्'-लोप किए जाने पर 'पञ्च' शब्द अकारान्त हो जाता है। इस स्थिति में भूतपूर्व षट्संज्ञा का आश्रय कर "न षट्स्वस्रादिभ्यः" (४१-१०) से "टाप्" का निवारण सहज ही हो जायगा। इस हेतु 'पञ्चन्' में 'न्'–लोप के असिद्ध-विधान करने की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। अतः भाष्यकार ने 'संज्ञा-विधि' में 'न्'-लोप के असिद्ध होने का प्रयोजन 'धि'–संज्ञा माना है। वहाँ उन्होंने 'दण्डिदत्तौ', 'दत्तदण्डिनौ' ये उदाहरण द्वन्द्वसमास के दिये हैं। 'दण्डिन्' तथा 'दत्त' शब्दों में समास होने पर विभक्तिलोप होने के पश्चात् 'दण्डिन्' के 'न्' का लोप हो जाता है। 'न्'-लोप होने के अनन्तर दण्डि शब्द को इकारान्त होने से "शेषो ध्यसखि" (२४३) से 'धि'–संज्ञा होने पर द्वन्द्व-समास में उसके पूर्वनिपात होने का नियम ("द्वन्द्वे धि" २-२-३२) नहीं होता। इसका यह कारण है कि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४५९) मनः ४ । १ । ११ ॥ मन्नन्तान्न ङीप् । सीमा । सीमानौ । (४६०) अनो

षट्संज्ञानिबन्धनस्तन्निषेधः, नलोपे कृते षट्संज्ञाविरहात् । न च टाङिनषेधे कर्तव्ये नलोपस्यासिद्धत्वं शङ्क्यम्, टाङिनषेधस्य सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु अनन्तर्भावादित्यत आह—नलोपे कृतेऽपीत्यादि असिद्धत्वादित्यन्तम् । टाङिनषेधविधिरयं षट्संज्ञामपि विधत्ते, कार्यकालपक्षाश्रयणात् । ततश्च तस्मिन् कर्तव्ये नलोपस्यासिद्धत्वेन षट्संज्ञाया निर्बाधतया षट्संज्ञानिबन्धनष्टाप्प्रतिषेधोऽत्र निर्बाध इति भावः । वस्तुतस्तु नलोपस्यासिद्धत्वेऽपि भूतपूर्वषट्संज्ञामाश्रित्य टाङिनषेध उपपद्यते । अत एव 'षट्संज्ञायां नलोपासिद्धत्वस्य न फलम्' इति 'नलोपः सुप्स्वर' इति सूत्रभाष्ये उक्तमित्याहुः ।

(४५९) मनः । 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' इत्यतः नेति 'ऋन्नेभ्यः' इत्यतो ङीबिति चानुवर्तते । मन इति प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तं गृह्यते । तदाह—मन्नन्तान्न ङीबिति । सीमेति । 'षिञ् बन्धने' औणादिको मनिन् प्रकृतेर्दीर्घश्च । सीमन्शब्दात् ङीपि निषिद्धे राजवद्रूपम् । ङीपि सति तु अल्लोपे सीम्नीति स्यादिति भावः । ननु वक्ष्यमाणडापि सीमेति सौ रूपसिद्धेः किं ङीङिनषेधेनेत्यत आह—सीमानाविति । डापि तु सति सोमे इत्येव स्यादिति भावः ।

संज्ञाविधि में 'न्'-लोप् असिद्ध माना गया है । अतः पूर्वनिपात-सम्बन्धी व्यवस्था के अभाव में दोनों रूपों का उल्लेख किया गया है । इस प्रकार 'न्'-लोपासिद्धि के विषय में संज्ञाविधि का लक्ष्य 'षट्-संज्ञा' नहीं हो सकती ।[1]

२—"न षट् स्वस्रादिभ्यः" (४-१-१०) सूत्र से 'ङीप्' तथा 'टाप्' का निषेध साक्षात् षट्-संज्ञक शब्दों के अतिरिक्त तदन्त शब्दों में भी होता है । अतः 'प्रियपञ्चा द्रौपदी' (प्रियाः पञ्च यस्याः सा) में बहुव्रीहि समास होने पर पुनः विभक्ति लगने के पश्चात् (स्त्री-प्रत्यय में तदन्तविधि होने के कारण) 'ङीप्' एवं 'टाप्' आदि प्रत्यय नहीं हुये ।[2]

(४५९) पद—मनः । अनुवृत्ति—न, ङीप्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च (चारों का अधिकार) । विधि(निषेध)सूत्र ।

मूलार्थ—'मन्'-अन्त वाले शब्दों से 'ङीप्' नहीं होता ।

विवरण—प्रकरणानुसार उपर्युक्त चारों अधिकार-सूत्रों के अतिरिक्त "न षट्स्वस्रादिभ्यः" (४-१-१०) सूत्र से 'न' तथा "ऋन्नेभ्यो ङीप्" (४-१-५) से 'ङीप्' की अनुवृत्ति की जारही है । 'मनः' पद अनुवृत्त 'प्रातिपदिकात्' पद-का विशेषण होने से तदन्त का बोधक होगा । नकारान्त होने से 'मन्' में "ऋन्नेभ्यो ङीप्" (४-१-५) से 'ङीप्' प्रत्यय प्राप्त रहा, अतः उसका यहाँ निषेध किया जारहा है । तदनुसार "मन्नन्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय नहीं

---

१. "नलोपः सुप्" (८-२-२) इति सूत्रे भाष्ये संज्ञाविधौ नलोपासिद्धत्वस्य न फलम् । षट्संज्ञां विना विभक्तिलुकोऽभावेन नलोपाप्राप्त्या कृतायां षट्संज्ञायां लुकि नलोपे च प्राप्तस्य टापः जातषट्त्वाश्रयणेनैव निषेधसिद्धिरित्युक्त्वा 'दण्डिदत्तौ' 'दत्तदण्डिनौ' इति विसंज्ञायां प्रयोजनमुक्तम् ।" म० म० पं० नित्यानन्द पन्त कृत लघुशब्देन्दुशेखर-'दीपक' व्याख्या ।

२. "न षट्स्वस्रादिभ्यः" (४-१-१०) इति सूत्रे भाष्ये अनन्तरस्य ङीपो निषेधे 'पञ्च' इत्यत्र टापो निषेधो न स्यादित्याशङ्क्य 'उभौ न भवतः' इति व्याख्याय 'अथवा उभाविति न वक्तव्यम्, स्त्रियां यत् प्राप्नोति तस्य प्रतिषेधः' इत्युक्तम् । तेन 'अनन्तरस्य' इत्यादिन्यायानाश्रयणात् ङीप इव विप्रकृष्टस्य टापः, उत्तरस्य ङीपो, डापश्च निषेधो ध्वन्यते इति भावः ।" म० म० पं० नित्यानन्द पन्त कृत लघुशब्देन्दु-'दीपक' व्याख्या ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुव्रीहेः ४।१।१२॥ अन्नन्ताद् बहुव्रीहेर्नं ङीप् । बहुयज्वा । बहुयज्वानौ ।
(४६१) डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम् ४।१।१३॥ सूत्रद्वयोपात्ताभ्यां डाब्वा स्यात् ।

---

(४६०) अनो बहुव्रीहेः । अन इति बहुव्रीहेरित्यस्य विशेषणम्, तदन्तविधिः । नेति ङीविति च पूर्ववदनुवर्तते । तदाह—अन्नन्तादिति । बहुयज्वा, बहुयज्वानाविति । बहवो यज्वानो यस्या इति विग्रहः । नान्तलक्षणङीपः प्रतिषेधे राजवद्रूपाणि । 'न संयोगात्' इति निषेधान्नायमुपधालोपी । अतोऽत्र 'अन उपधालोपिनः' इति विकल्पो न प्रवर्तितुमर्हति ।

(४६१) डाबुभाभ्याम् । उभाभ्यामित्येतद्व्याचष्टे—सूत्रद्वयोपात्ताभ्यामिति । 'मन' इति 'अनो बहुव्रीहेः' इति च सूत्रद्वयोपात्तात् मन्नन्तादन्नन्तबहुव्रीहेश्च इत्यर्थः । नन्विहान्यतरस्यां ग्रहणं व्यर्थम् । न च तदभावे डाब्नित्यः स्यादिति वाच्यम्, डापो नित्यत्वे तेनैव ङीपो निवृत्तिसम्भवेन ङीब्निषेधवैयर्थ्यात् । एवं च ङीप्निषेधडापोर्वचनसामर्थ्यादेव विकल्पसिद्धेः अन्यतरस्यां ग्रहणं व्यर्थमिति चेत् ? स्पष्टार्थमिति केचित् । भाष्ये तु 'अन्यतरस्याम्' इति योगविभागमाश्रित्य 'बहुव्रीहौ वा' इति वार्तिकं प्रत्याख्यातम् । सीमेति । सीमन्शब्दात् डापि, टिलोपे सीमाशब्दात् सोर्हल्ङ्यादिलोपः । डाबभावपक्षेऽपि 'मनः' इति ङीब्निषेधे सौ सीमेत्येव राजवद्रूपम् । तर्हि डाब्विधेः किं फलमित्यत आह—सीमे सीमानाविति । मन्नन्तविषये उदाहरणान्तरमाह—दामेति । दाधातोरौणादिको मनिन् ।

होगा"। **उदाहरण**—सीमा, सीमानौ । 'ङीप्' का निषेध होने से 'राजन्' शब्द के समान रूप बनेंगे । तदन्तविधि होने के कारण 'अतिसीमन्' ('सीमानम्' अतिक्रान्ता) शब्द में भी 'ङीप्' प्रत्यय नहीं होता—"अतिसीमा, अतिसीमानौ" । 'सीमन्' शब्द की व्युत्पत्ति—सीयते = बाँध दी जाती है—√सि (षि)+मन् (मनिन्—"नामन्-सीमन्-व्योमन्-रोमन्-पाप्मन्-ध्यामन्"—उणादि ४-१५१), <सी+मन् (प्रकृतिवाचक शब्द को दीर्घ), <सीमन् (=चारों ओर की हद, मर्यादा) ।

(४६०) **पद**—अनः, बहुव्रीहेः । **अनुवृत्ति**—न, ङीप्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च (चारों अधिकारसूत्र) । **विधि(निषेध)सूत्र** ।

मूलार्थ—'अन्'-अन्त वाले बहुव्रीहि से 'ङीप्' नहीं होता । बहुयज्वा, बहुयज्वानौ ।

विवरण—प्रकारणानुसार विशेष अवस्था में नान्त-लक्षण 'ङीप्' का ही निषेध किया जारहा है । **उदाहरण**—बहुयज्वा-बहुयज्वानौ । विग्रह—बहवः यज्वानः यस्याः-बहुत यज्ञ-कर्ताओं वाली नगरी । बहुव्रीहि-समास में 'अन्'-अन्त वाले 'बहुयज्वन्' शब्द से 'ङीप्' नहीं हुआ । "ऋन्नेभ्यो ङीप्" (४-१-५) से नान्तलक्षण 'ङीप्' प्राप्त रहा । अतः 'राजन्' शब्द के समान रूप बनेंगे । इसी हेतु द्विवचन में 'बहुयज्वानौ' का उल्लेख किया गया है । प्रथमा के एक-वचन में आकारान्त रूप बनने के कारण द्विवचन आदि में भ्रमवश 'रमा' शब्द के समान रूप न समझे जायँ, अतः स्पष्टरूप में उसका उल्लेख कर दिया गया है ।

(४६१) **पद**—डाप्, उभाभ्याम्, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च (चारों अधिकार सूत्र) । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पूर्वोक्त दो सूत्रों में उल्लिखित शब्दों से स्त्रीत्व द्योत्य रहते विकल्प से 'डाप्' प्रत्यय होता है । सीमा, सीमे-सीमानौ । दामा, दामे-दामानौ । अमरकोष के अनुसार 'दामन्' शब्द का पुंलिङ्ग में प्रयोग नहीं होता । बहुयज्वा, बहुयज्वे-बहुयज्वानौ ।

विवरण—सूत्र में 'उभ' शब्द पूर्वोक्त दो सूत्रों ("मनः" ४-१-११ तथा "अनो बहुव्रीहेः" ४-१-१२) में विहित कार्यों का संग्राहक है । उन दोनों सूत्रों के विषय को अभिलक्षित कर 'डाप्' प्रत्यय का वैकल्पिक विधान किया जारहा है । 'अन्यतरस्याम्' पद विकल्प का समानार्थक है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीमा, सीमे–सीमानौ। दामा, दामे-दामानौ। 'न पुंसि दाम' इत्यमरः। बहुयज्वा,

---

'हिरण्मयं दाम दक्षिणा' इत्यादौ दामशब्दस्य नपुंसकत्वदर्शनादाह—न पुंसीति। दामन्-शब्दः पुंसि न, किन्तु स्त्रीनपुंसकयोरित्यर्थः, 'निषिद्धलिङ्गं शेषार्थम्' इति परिभाषितत्वात्। अन्नन्तबहुव्रीहेरुदाहरति—बहुयज्वेति। बहवो यज्वानो यस्या इति विग्रहः। डापि टिलोपे बहुयज्वाशब्दात् सोर्हल्ङ्यादिलोपः। ङीङ्निषेधे सौ एतदेव राजवद्रूपम्। डापः फलमाह—बहुयज्वेति। बहुयज्वानाविति। शसि बहुयज्वनः। अत्र अल्लोपस्तु न भवति, 'न संयोगाद्वमन्तात्' इति निषेधात्। अत एव 'अन उपधालोपिनः' इत्यस्य नायं विषयः। अथ बहवो राजानो यस्या इति बहुव्रीहौ बहुराजन्शब्दात् 'अनो बहुव्रीहेः' इति ङीङ्निषेधे 'डाबुभाभ्याम्' इति डापि च नान्तत्वमाकारान्तत्वं च प्राप्तम्, ङीबन्तत्वमपीष्यते, तदर्थमिदमारभ्यते।

तदनुसार "'मन्'–अन्त तथा बहुव्रीहि समास-युक्त 'अन्'–अन्त प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व द्योत्य रहते विकल्प से 'डाप्' (आ) प्रत्यय होगा"। क्रमशः उदाहरण—१–नञन्त से—सीमा, सीमे, सीमाः। प्रक्रिया—सीमन्+आ (डा), <सीम्+आ (टि = 'अन्' का लोप), <सीमा। भ्रमनिवारणार्थ द्विवचन तथा बहुवचन के रूप भी दिये गए हैं। इसी तरह 'दामन्' शब्द से (= हद, मर्यादा) 'डाप्' प्रत्यय होने पर प्रथमा विभक्ति में दामा, दामे, दामाः रूप बनेंगे। पक्ष में जब 'डाप्' नहीं होगा तो 'मनः' (४-१-११) से 'ङीप्' का निषेध होकर पूर्ववत् सीमा, सीमानौ, सीमानः। दामा, दामानौ, दामानः आदि रूप सिद्ध होंगे। २—अन्नन्त बहुव्रीहि से–'बहुयज्वा, बहुयज्वे, बहुयज्वाः' रूप बनेंगे। प्रक्रिया 'सीमन्' शब्द के समान जानी जाय। पक्ष में 'डाप्' न होने पर "अनो बहुव्रीहेः" (४-१-१२) से 'ङीप्' का निषेध होने पर नकारान्त 'राजन्' शब्द के समान 'बहुयज्वा, बहुयज्वानौ, बहुयज्वानः' आदि रूप निष्पन्न होंगे।

विशेष—१–कोषकार अमर सिंह के मत में 'दामन्' शब्द 'पुंलिङ्ग' नहीं है। स्त्री-लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग–दोनों में इसका प्रयोग होता है—"न पुंसि दाम" (अ. को. २-९-७३)। व्युत्पत्ति—द्यति दीयते अनेन वा–दामन्—जिससे बाँधा जाय = रस्सी—√ दो+मन् (मनिन्) अथवा √ दे+मन् (मनिन्), धातु के 'ओ' अथवा 'ए' को आकार का निपातन।

२—प्रकृत सूत्र में विकल्पार्थक 'अन्यतरस्यां' पद का समावेश करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। 'डाप्' प्रत्यय का नित्य विधान होने से 'ङीप्' प्रत्यय की निवृत्ति स्वतः सम्भव हो सकेगी। ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त दोनों सूत्रों से 'ङीप्'–निषेध का विधान व्यर्थ ही होगा। इस प्रकार 'ङीप्'–निषेध तथा 'डाप्' के विधान-सामर्थ्य से ही पाक्षिक प्रवृत्ति स्वतः सिद्ध हो जायेगी। अतः 'अन्यतरस्यां' पद स्पष्टार्थक है। भाष्यकार ने 'अन्यतरस्यां' पद की सार्थकता पाक्षिक 'ङीप्' होने के लिये मानी है। उन्होंने यह युक्ति दी है कि "डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्" (४-१-१३) सूत्र का विभाजन कर दो सूत्रों की कल्पना की जाय—(१) डाबुभाभ्याम् तथा (२) अन्यतरस्याम्। प्रथम अंश में "मनः" (४-१-११) तथा "अनो बहुव्रीहेः" (४-१-१२) दोनों का उपयोग किया जाता है। दूसरे अंश में 'मनः' की निवृत्ति हो जाती है। अतः दूसरे अंश द्वारा केवल अन्नन्त बहुव्रीहि से वैकल्पिक 'डाप्' विधान किया जाता है। पाक्षिक 'डाप्' तो प्रथम अंश से ही प्राप्त रहा अतः द्वितीय अंश से उसका पुनर्विधान "ऋन्नेभ्यो ङीप्" (४-४-५) सूत्र से विहित 'ङीप्' प्रत्यय के विकल्प-विधान का सूचक है। अन्यथा अन्नन्त प्रातिपादिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते "अनो बहुव्रीहेः" (४-१-११) से 'ङीप्' का निषेध होने के कारण 'ङीप्' प्रत्यय नहीं हो सकेगा। अतः "अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्" (४-१-२८) सूत्र को नियामक मानकर 'बहुव्रीहौ वा' वार्तिक का प्रत्याख्यान कर दिया गया है। नियम का स्वरूप यह है—"अन्नन्त बहुव्रीहि से वैकल्पिक 'ङीप्' प्रत्यय केवल उपधा-लोप होने वाले स्थानों पर ही हो, अन्यत्र नहीं"। इस नियम के फलस्वरूप

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

बहुयज्वे–बहुयज्वानौ । (४६२) अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम् ४ । १ । २८ ॥
अन्नन्ताद् बहुव्रीहेरुपधालोपिनो वा ङीप्स्यात् । पक्षे डाब्ङीब्निषेधौ । बहुराज्ञी । बहुराजा ।

(४६२) अन उपधा । इदं सूत्रं नात्र प्रकरणे पठितम्, किन्तु 'दामहायनान्ताच्च' इत्युत्तरं पठितं प्रसङ्गादत्रोपन्यस्तम् । 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्' इत्यतो बहुव्रीहेरित्यनुवर्तते, 'संख्याव्ययादेर्ङीप्' इत्यतो ङीबिति च । प्रातिपदिकादित्यधिकृतम् अन इत्यनेन विशेष्यते, तदन्तविधिः । तदाह—अन्नन्तादित्यादिना । पक्षे डाब्ङीब्निषेधाविति । कदाचित् ङीब्निषेधः कदाचित् डाप् चेत्यर्थः । अन्यतरस्यां ग्रहणस्य प्रयोजनमिदम् । अकृते त्वन्यतरस्यां ग्रहणे बहुयज्वादिशब्दे अनुपधालोपिनि सावकाशस्य 'अनो बहुव्रीहेः' इति ङीप्प्रतिषेधस्य 'डाबुभाभ्याम्' इति डापश्च बहुराजन्शब्दादावुपधालोपिनि अनवकाशेन ङीपा बाधः स्यात् । बहुराज्ञीति । ङीपि अल्लोपे सोर्हल्ङ्यादिलोप इति भावः । बहुराजेति । डापि ङीब्निषेधे च सौ रूपम् । बहुराज्ञ्याविति । ङीप्पक्षे औङि यण् । बहुराजे इति । डाप्पक्षे औङि रूपम् । बहुराजानाविति । ङीब्निषेधे औङि रूपम् ।

उपधा-लोप न होने वाले 'सुपर्वा', 'चारुपर्वा' इत्यादि स्थलों में 'ङीप्' नहीं होता, किन्तु 'डाप्' और 'ङीप्' का निषेध—ये दोनों विधान होते हैं । 'बहुव्रीहौ वा' वार्तिक का प्रत्याख्यान करने से 'बहुधीवरी' इत्यादि समास-युक्त वन्नन्त-स्थलों में "ऋन्नेभ्यो ङीप्" (४-१-५) से 'ङीप्' तथा उसके समीपस्थ "वनो र च" (४-१-७)[1] से 'न्' के स्थान में 'र्' आदेश भी हो जाता है ।

(४६२) पद—अनः, उपधालोपिनः, अन्यतरस्याम् । अनुवृत्ति—बहुव्रीहेः, ङीप्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च (चार अधिकार-सूत्र) । विधिसूत्र (विकल्प) ।

मूलार्थ—उपधालोपी अन्नन्त बहुव्रीहि से विकल्प से 'ङीप्' प्रत्यय होता है । पक्ष में डाप् तथा निषेध । बहुराज्ञी । बहुराजे–बहुराज्यौ–बहुराजानौ ।

विवरण—प्रकरणवश 'स्त्रियाम्' आदि चारों अधिकार-सूत्रों की अनुवृत्ति करने के अतिरिक्त "बहुव्रीहेरूधसो ङीष्" (४-१-२५) सूत्र से 'बहुव्रीहेः' तथा " "संख्याव्ययादेर्ङीप्" (४-१-३६) से 'ङीप्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । सूत्रस्थ 'अनः' पद अधिकार-सूत्रस्थ 'प्रातिपदिकात्' पद का विशेषण है । अतः उससे तदन्तविधि होती है । इस प्रकार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "अन्नन्त उपधालोपी बहुव्रीहि-समास से स्त्रीत्व द्योत्य रहते विकल्प से 'ङीप्' प्रत्यय होता है" । 'अन्यतरस्याम्' कथन से उपधालोपी अन्नन्त-बहुव्रीहि-समासवाले प्रातिपदिकों से "डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्" (४-१-१३) तथा "अनो बहुव्रीहेः" (४-१-१२) से क्रमशः विहित 'डाप्' प्रत्यय तथा 'ङीप्' का निषेध—ये दोनों विधान भी पक्ष में होते हैं । इस प्रकार इन शब्दों में तीन रूप बनेंगे—१–'ङीप्'-प्रत्यय-युक्त, २—'डाप्'–प्रत्यय-युक्त तथा ३—'ङीप्' तथा 'डाप्' के प्रतिषेधवाला । 'डाप्' तथा 'ङीप्'–प्रतिषेधवाले—ये दोनों रूप प्रथमा-एकवचन में समान ही बनते हैं । अतः इन दोनों का भेद दिखाने के लिए प्रथमा के द्विवचन में 'डाप्'–प्रत्यय का रूप दिखाया गया है । उदाहरण—(क) बहुराज्ञी (=बहुतराजाओं वाली नगरी) । विग्रह—बहवः राजानो यस्यां सा–बहुव्रीहि । प्रक्रिया—बहु–राजन्+ई (ङीप्), <बहुराज्न्+ई ('अ'–लोप–"अल्लोपोऽनः" (६-४-१३४) <बहु-

१. अथ तदन्यतरस्यां ग्रहणं शक्यमकर्तुम् । वाढं शक्यम् । कथम् ? इह डाबप्युच्यते प्रतिषेधोऽपि ङीवपि । तत्सर्वं वचनाद् भविष्यति । नैवं शक्यं विज्ञातुम् । अक्रियमाणे हि तत्रान्यतरस्यां ग्रहणेऽनवकाशो ङीप् डाप्प्रतिषेधौ बाधेत । डाप्प्रतिषेधावपि अनवकाशौ तौ वचनाद् भविष्यतः । सावकाशौ डाप्प्रतिषेधौ । कोऽवकाशः ? सुपर्वा चारुपर्वेति । तस्मादन्यतरस्यां ग्रहणं कर्तव्यम् । इदं तु खलु अन्यतरस्यांग्रहणं शक्यमकर्तुम् । इदमप्यवश्यं कर्तव्यम् । किं प्रयोजनम् ? डाप्प्रतिषेधाभ्यामुक्ते ङीव्-रावपि यथा स्यातामिति । र-विधाने बहुव्रीहेरुपसंख्यानं च उदितं, तन्न वक्तव्यं भवति" । महाभाष्यम् ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुराज्यौ–बहुराजे–बहुराजानौ। (४६३) प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः ६।३।४४॥ प्रत्ययस्थात्ककारात्पूर्वस्याकारस्येकारः स्यादापि परे, स आप् सुपः परो न चेत्। सविका। कारिका। अतः किम्? नौका। प्रत्ययस्थात् किम्? शक्नोतीति

---

(४६३) प्रत्ययस्थात्। ककारादिति। क् इति वर्णादित्यर्थः। अकार उच्चारणार्थः। 'वर्णात्कारः' इत्युक्तेः। एवञ्च सूत्रे कादित्यत्र अकार उच्चारणार्थ इति सूचितम्। स आविति। इत्वविधौ यः परनिमित्तत्वेनोपात्तः स आबित्यर्थः। सुपः परो न चेदिति। सूत्रे असुपः इति पञ्चम्यन्तम् असमर्थसमासः। आपि सुपः परस्मिन् सति इत्वं न भवतीत्यर्थो विवक्षित इति भावः। सविकेति। सर्वशब्दाट्टापि सवर्णदीर्घे सर्वाशब्दः, एकादेशस्य पूर्वान्तत्वेन ग्रहणात् सर्वनामकार्यम्। ततश्च 'अव्ययसर्वनाम्नाम्' इति टेः प्राक्कच्। तत्र ककारादकार उच्चारणार्थः। चकार इत्। अक् इति ककारान्तः प्रत्ययः टेः प्राग्भवति। सर्वकाशब्देऽस्मिन् ककारात्पूर्वस्य अत इत्वे सविकेति रूपम्। ननु ककारात्पूर्वस्य अकारस्य कथमित्वम्? ककारेण व्यवहिततया आप्परकत्वाभावादिति चेत्? न, 'येन नाव्यवधानम्' इति न्यायेन तद्व्यवधानस्य अबाधकत्वात्। कारिकेति। कृञो ण्वुल्, अकादेशः 'अचो ञ्णिति' इति ऋकारस्य वृद्धिः, रपरत्वं कारकशब्दात् टाप्, सवर्णदीर्घः, कात्पूर्वस्य रेफादकारस्य इत्वम्। कादिति संघातग्रहणे तु एतिका इति न सिध्यति। एतच्छब्दे टेः प्राक्कचि एतकद्शब्दात् जसि, त्यदाद्यत्वे पररूपे अदन्तत्वाट्टापि कात्पूर्वस्य इत्वे एतिका इति रूपम्। अत्राकचि अकारस्य उच्चारणार्थतया प्रत्ययस्थकशब्दाभावात् इत्वं न स्यात्, ककारादुत्तरावर्णस्याकजनवयवत्वात्। न चाकचि अकारस्य नोच्चारणार्थत्वमिति शङ्क्यम्, एवं सति निरित्यव्यये अकचि नकिर् इति न स्यात्। अतः कादित्यनेन ककारादित्येव विवक्षितम्। यका सकेत्यत्र 'न यासयोः' इति इत्वनिषेधाल्लिङ्गाच्च। अन्यथा तत्र प्रत्ययस्थककाराभावेन इत्वस्याप्राप्तेः किं तन्निषेधेनेत्यलम्। नौकेति। नौशब्दात् स्वार्थिकः कः, टाप्। अत्र ककारात् पूर्वस्य औकारस्य इत्वनिवृत्त्यर्थमत इति वचनम्। शकेति। 'शक्लृ शक्तौ' पचाद्यच्, टाप्। अत्र ककारस्य धात्ववयवस्य प्रत्ययस्थत्वाभावान्न ततः पूर्वस्य

राज्–अ्+ई ('न् = अ्–श्चुत्व), बहुराज्ञी+सु् (सु), = बहुराज्ञी'। बहुराज्यौ, बहुराज्यः आदि। पक्ष में ङाप्-बहुराजन्+आ (ङाप्), <बहुराजन्+आ (टि = 'अन्'–लोप), <बहुराजा+सु् (सु), <बहुराजा ('स्'–विभक्ति–लोप), बहुराजे बहुराजाः आदि 'रमा'वत्। (ग) 'ङीप्' एवं 'ङीप्' का निषेध होने पर बहुराजा, बहुराजानौ बहुराजानः आदि रूप 'राजन्' शब्दवत् बनेंगे।

(४६३) पद—प्रत्ययस्थात्, कात्, पूर्वस्य, अतः, इत्, आपि, असुपः। विधिसूत्र।

मूलार्थ—प्रत्ययस्थ ककार से पूर्ववर्ती अकार को 'आप्' पर रहते इकार होता है यदि वह 'आप्' सुप् से पर न हो। सविका। कारिका। 'अतः' क्यों कहा? नौका। 'प्रत्ययस्थात्' क्यों कहा? शक्नोति = समर्थ-अर्थ में-शका। 'असुपः' क्यों कहा? बहुपरिव्राजका नगरी। 'कात्' क्यों कहा? नन्दना। 'पूर्वस्य' क्यों कहा? पर को न हो—कट्टका। तपर सहित 'अतः' क्यों कहा? राका। 'आपि' क्यों कहा? कारकः। वा० मामक और नरक शब्द में ककार से पूर्ववर्ती अकार को इकार होता है। मामिका (= मेरी)। नरिका (मनुष्यों को आवाज देनेवाली=नरान् कायति)। (वा०) त्यक् और त्यप् प्रत्ययान्त में भी पूर्वोक्त कार्य होता है। दाक्षिणात्यिका। इहत्यिका।

विवरण—अर्थ की दृष्टि से सूत्र स्वतः पूर्ण है। स्थानी है 'ह्रस्व अकार' (अत्) तथा आदेश है 'ह्रस्व इकार' (इत्)। इकार-आदेश की प्रवृत्ति किस स्थिति में होगी, उस पर विचार किया जारहा है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शका। असुपः किम्? बहुपरिव्राजका नगरी। कात् किम्? नन्दना। पूर्वस्य किम्? परस्य मा भूत। कटुका। अत इति तपरः किम्? राका। आपि किम्? कारकः। मामकनरकयो-

---

इत्त्वम्। बहुपरिव्राजकेति। परिपूर्वाद् व्रजेः ण्वुल्। बहवः परिव्राजकाः यस्यामिति बहुव्रीहिः। सुपो लुकि बहुपरिव्राजकशब्दात् टाप्। अत्राकारस्य कात्पूर्वस्य इत्त्वं न, प्रत्ययलक्षणेन आपः सुबपेक्षया परत्वात्। 'न लुमता' इति निषेधस्तु न, तस्य लुमता लुप्ते प्रत्यये यदङ्गं तस्य कार्यं एव प्रवृत्तेः। इत्त्वं तु टाप्यनाङ्गकार्यमिति नात्र तन्निषेधः। यदि तु 'असुपः' इति पर्युदास आश्रीयेत, तर्हि बहुपरिव्राजक इति समुदायस्य सुब्भिन्नत्वादापः ततः परत्वादित्त्वं दुर्वारं स्यादिति भावः। पूर्वस्य किमिति। एकादेशे कृते परस्य ह्रस्वस्याभावात् पूर्वस्येत्यर्थसिद्धमिति प्रश्नः। कटुकेति। कटुशब्दात् स्वार्थे कः, टाप्, सवर्णदीर्घः। पूर्वस्येत्यनुक्तौ अत्र सवर्णदीर्घात् पूर्वं वर्णाद्ङ्गस्य बलीयस्त्वादपवादत्वाच्च द्वितीयककारादुत्तरस्य अकारस्य आपि परे इत्त्वं स्यादिति भावः। अत इति तपरः किम्? राका इति। 'कृदा-धाराचिक्लिभ्यः कः' इति राधातोः औणादिकः कप्रत्ययः। 'उणादयो बहुलम्' इति बहुलग्रहणात् 'केऽणः' इति ह्रस्वो न, ककारस्य नेत्त्वम्। टाप्, स्त्रीत्वं लोकात्। 'कला-हीने सानुमतिः पूर्णे राका निशाकरे' इत्यमरः। अत्र ककारात् पूर्वस्य दीर्घाकारत्वान्नेत्त्व-

---

(१) ह्रस्व अकार अर्थात् स्थानी को प्रत्ययसम्बन्धी होना चाहिये (प्रत्ययस्थात्)।

(२) प्रत्ययसम्बन्धी उस अकार से पूर्व ककार का होना आवश्यक है (कात् पूर्वस्य)।

(३) प्रत्ययस्थ उस ककार के पश्चात् स्त्रीत्व द्योतक 'आप्' (टाप्, डाप्, चाप्-इनमें से किसी एक) प्रत्यय का रहना आवश्यक है (आपि)।

(४) वह 'आप्' सुप् से परवर्ती न हो (असुपः)।

तदनुसार **उदाहरण**—१-सर्विका-(=सभा)। सर्व+आ (टाप्), <सर्वा (सवर्ण-दीर्घ), सर्वा+अक् (अकच्-"अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः"-५-३-७१), <सर्व्-अक्+आ (अकच् की स्थिति 'टि'='आ' के पूर्व), <सर्विका+सु, <सर्विका (विभक्तिलोप)। 'सर्वक' का ककार 'अकच्' प्रत्यय-सम्बन्धी है एवं उस ककार के पश्चात् आ (टाप्) विद्यमान है। अतः उससे पूर्व अ=इ हुआ। २—कारिका (=करने वाली, श्लोक)। कारक+आ (टाप्), <कारिका (अ=इ)। √कृ+ण्वुल् (=अक) प्रत्यय होने पर उसके ककार से पूर्व 'अ' को 'इ'कार हुआ है।

प्रत्युदाहरण—१-इकार-विधान में प्रत्ययस्थ 'ककार' होना चाहिये। अतः (√शक्+अच् ("नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः"-३-१-१३४), <शक+आ (टाप्), <शका (=कर सकने वाली) में 'इ' नहीं हुआ, क्योंकि 'क'कार √शक्लृ धातुसम्बन्धी है, प्रत्ययगत नहीं। २-ह्रस्व अकार के स्थान में इकार का विधान अपेक्षित है। अतः 'नौका' में प्रत्ययस्थ 'क'कार के पूर्व 'औ' के स्थान में 'इ' नहीं हुआ। यहाँ 'नौ' शब्द से स्वार्थिक 'क' (कन्) प्रत्यय करने पर नौक, तदनन्तर उससे 'टाप्' (आ) प्रत्यय होता है। ३—प्रत्यय से परवर्ती 'टाप्' सुप् से पर नहीं होना चाहिये। 'सुप्' का प्रतिबन्ध होने से 'बहुपरिव्राजका' (=बहुत संन्यासियों वाली नगरी) में ककार से पूर्व 'अ' होने पर भी जकारोत्तरवर्ती 'अ' के स्थान पर 'इ' नहीं हुआ। स्थिति इस प्रकार है—'बहवः परिव्राजकाः यस्यां' विग्रह करने पर बहु+जस्, परिव्राजक+जस्-बहुव्रीहिसमास-बहु-परिव्राजक+आ (टाप्) प्रत्यय। सामासिक स्थिति की लुप्त-विभक्ति (जस्) में प्रत्यय-लक्षण होने के कारण उससे पर 'टाप्' है, अतः इकार नहीं होता। ४—अकार की स्थिति ककार से पूर्व अपेक्षित होने के कारण 'नन्दना' (=प्रिय) में दकारोत्तरवर्ती 'अ' के स्थान पर 'इ' नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ पर 'न्' से पूर्व 'अ'कार है। स्थिति—√नन्द्+अन (ल्युट्-"नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" ३-१-१३४), <नन्दन+आ (टाप्), <नन्दना। दकारोत्तरवर्ती अकार प्रत्ययगत (ल्यु=अन) होने पर भी 'ककार' से पूर्व न होने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रुपसंख्यानम्' (वा ४५२४)। मामिका। नरान्कायतीति नरिका। 'त्यक्त्यपोश्च'

मिति भावः। मामकेति। मामकनरकशब्दयोः कात्पूर्वस्य इत्वं वक्तव्यमित्यर्थः। मामिकेति। ममेयमिति विग्रहे 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च' इत्यणि 'तवकममकावेकवचने' इति ममकादेशे आदिवृद्धिः, टाप्। 'टिड्ढाणञ्' इत्यादिना ङीप्तु न, 'केवलमामक' इत्यादिना सञ्ज्ञाच्छन्दसोरेव मामकशब्दात् ङीटिनियमात्। ततश्चात्र ककारस्य प्रत्ययस्थत्वाभावात् 'प्रत्ययस्थात्' इत्यप्राप्तौ वचनमिदम्। नरानिति। कै शब्दे 'आदेच उपदेशे' इत्यात्वे 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्यये 'आतो लोप इटि च' इति आलोपः, उपपदसमासः, सुपो लुक्, टाप्। अत्रापि ककारस्य प्रत्ययस्थत्वाभावात् 'प्रत्ययस्थात्' इत्यप्राप्तौ वचनम्। त्यक्त्यपोश्चेति। त्यगन्ते त्यबन्ते च प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्याकारस्य इत्वं वक्तव्यमित्यर्थः।

के कारण 'इ'कारादेश से रहित ही रहता है। ५—सूत्र में 'पूर्वपद' कथन से प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व 'अ' को 'इ'कार विवक्षित है। इसके फलस्वरूप 'कटुका' (=कड़वी) में द्वितीय ककार से 'पर' अवर्ण को इकार नहीं होता। यहाँ 'कटु' शब्द से स्वार्थ में 'क' प्रत्यय करने के पश्चात् 'टाप्' (आ) प्रत्यय होता है। कटुक+आ (टाप्)—इस स्थिति में सवर्ण-दीर्घ होकर 'कटुका रूप' निष्पन्न होता है। प्रकृत सूत्र में 'पूर्वस्य' न कहने पर 'कटुक+आ' इस स्थिति में वर्णसम्बन्धी कार्य की अपेक्षा अङ्गसम्बन्धी कार्य बलवान् होने के कारण तथा अपवाद होने से प्रबल होने के कारण सवर्णदीर्घ के पहले ही द्वितीय ककार से पर अकार को 'आप्' पर रहते 'इ'कार होने लगता। ६—सूत्र में इकार के स्थानी 'अ' का ह्रस्व होना अनिवार्य है। इसलिये तपरयुक्त 'अ' (अतः) न कहने पर प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व 'आ' को भी 'इ' होने लगता। इस प्रतिबन्ध के फलस्वरूप 'राका' (=पौर्णमासी) में 'आ' को 'इ' नहीं हुआ। स्थिति—√रा+क ("कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः"—उणादि-२-३२७), <राक+आ (टाप्), <राका। यहाँ र से पर 'आ' को "केऽणः"-७-४-१३ से ह्रस्व की आशंका का निवारण "उणादयो बहुलम्" (उणादि १-१) सूत्रस्थ 'बहुल' पद के अनेकार्थक होने से किया जाता है। ह्रस्व होने पर तो प्रकृत सूत्र से 'इ' होने में बाधा नहीं होती। ७—प्रत्ययस्थ ककार से 'आप्' (स्त्रीलिङ्ग के आकारान्त 'टाप्', 'डाप्' तथा 'चाप्' प्रत्ययों में से किसी एक) का पर रहना अपेक्षित होने से 'कारकः' (= करने वाला) में रेफोत्तरवर्ती 'अ' के स्थान पर 'इ' नहीं हुआ। अन्यथा 'कारक' शब्द में प्रत्ययावयव (ण्वुल् = अक) ककार से पूर्व अकार को इकार होने लगता। आप् (टाप्) पर न होने से 'इ' नहीं हुआ। (वा०) अर्थ—'मामक' और 'नरक' शब्दों में ककार से पूर्व 'अ' के स्थान पर 'इ'कार होता है यदि उस ककार से पर 'आप्' हो तो। इन दोनों शब्दों का ककार प्रत्ययस्थ न होने के कारण उपर्युक्त सूत्र से इकार प्राप्त नहीं रहा। अतः पृथक् विधान किया जारहा है। उदाहरण—१-मामिका (= मेरी)। स्थिति—मम+अ (अण्)—"युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च" (४-३-१), <ममक+अ (अस्मद्=ममक "तवकममकावेकवचने" उणादि ३२७), <मामक+अ (आदिवृद्धि), <मामक ('अ'-लोप-"यस्येति च"-६-४-१४१), <मामक+आ (टाप्)°। अण् प्रत्यय-निमित्तक 'ङीप्' इस कारण नहीं हुआ कि 'संज्ञा' और 'छन्द' में ही 'मामक' शब्द से 'ङीप्' प्रत्यय होता है अन्यत्र नहीं-"केवलमामकभागधेयपापापरसमानार्यकृतसुमङ्गलभेषजाच्च" (४८८), <मामिका ('क' से पूर्व 'अ' = 'इ', विभक्त्युत्पत्ति एवं उसका लोप)। २-इसी प्रकार नारिका। अर्थ—मनुष्यों को आवाज देने वाली-'नरान् कायति'-नर-√के+अ ('क' प्रत्यय), <नर-का+अ (ए = आ-"आदेच उपदेशेऽशिति" ६-१-४५), <नरक ('आ' लोप), <नरक+आ (उपपदसमास, सुप्-लुक्, टाप्), <नरका (सवर्णदीर्घ एवं विभक्तिकार्य)। (वा०) अर्थ—" 'त्यक्' और 'त्यप्' प्रत्ययों के अन्त में भी प्रत्ययस्थ 'क' से पूर्व 'अ' के स्थान पर 'इ' आदेश कहना चाहिए"। यह विधान "उदीचामातः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वा ४५२५) । दाक्षिणात्यिका । इहत्यिका । (४६४) न यासयोः ७ । ३ । ४५ ॥ यत्तदोरस्येन्न स्यात् । यका । सका । यकाम् । तकाम् । 'त्यकनश्च निषेधः' (वा ४५२६) । उपत्यका । अधित्यका । 'आशिषि वुनश्च न' (वा ४५२८) । जीवका । भवका । 'उत्तर-

---

'उदीचामातः स्थाने' इति विकल्पस्यापवादः । दाक्षिणात्यिकेति । दक्षिणस्यां दिशि अदूरे इति विग्रहे 'दक्षिणादाच् इत्याच्', 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यव्ययत्वम् । दक्षिणा-शब्दात् भवार्थे 'दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्' इति त्यक्, 'किति च' इत्यादिवृद्धिः, दाक्षि-णात्यशब्दात् टाप् । ततः स्वार्थिकः कः, 'केऽणः' इति टापो ह्रस्वः, पुनष्टाप्, इत्त्वमिति भावः । 'दक्षिणस्यां दिशि भवेति विग्रहे दक्षिणाशब्दात् टाबन्तादेव त्यकन्' इति मतं तु प्रौढमनोरमायां दूषितम् । इहत्यिकेति । 'अव्ययात्त्यप्' इति त्यप्, टाप्, स्वार्थिकः कः, 'केऽणः' इति ह्रस्वः, पुनः टाप् ।

(४६४) न यासयोः । नात्र कृतटापोः प्रथमान्तयोर्निर्देशः, यत्तदोरित्येव विवक्षित-मिति भाष्ये स्पष्टम् । 'प्रत्ययस्थात्' इत्यतः अत इति इदिति चानुवर्तते । तदाह—यत्तदो-रिति । यका । सका इति । 'अव्ययसर्वनाम्नाम्' इति यत्तच्छब्दयोष्टेः प्रागकचि सौ त्यदा-द्यत्वं, पररूपं, टाप्, हल्ङ्यादिना सुलोपः । तच्छब्दे 'तदो सः सौ' इति तकारस्य सकारः । उभयत्रापि 'प्रत्ययस्थात्' इति प्राप्तमित्त्वमत्र सूत्रे निषिध्यते । अथ 'न यासयोः' इत्यस्य प्रथमान्तानुकरणत्वे किं बाधकमित्यत आह—यकाम् तकामिति । त्यकनश्च निषेध इति । त्यकन्प्रत्ययान्तस्यापि 'प्रत्ययस्थात्' इति इत्त्वप्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः । उपत्यका अधित्यकेति । उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' इति त्यकन्, टाप्, सोर्हल्ङ्यादिलोपः । 'उपत्यकाऽद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः । ननु त्यकन्विधौ अकारस्य उच्चारण-सामर्थ्यादेव इत्त्वं न भवति । अन्यथा त्थिकनमेव विदध्यात्, अतः किं तन्निषेधेनेति चेत् ? मैवम्, पञ्चोपत्यको ग्राम इत्यत्र अकारश्रवणार्थत्वादित्यलम् । आशिषीति । आशिषि यो वुन्, तस्य योऽयमकादेशः, तदकारस्य 'प्रत्ययस्थात्' इति इत्त्वं नेति वक्तव्यमित्यर्थः । जीवका । भवकेति । जीवतात् भवतादित्यर्थः । जीवधातोः भूधातोश्च 'आशिषि च' इति

स्थाने यकपूर्वायाः" ४६५ से विहित वैकल्पिक 'इ'कारादेश का अपवाद है । अतः दो रूप नहीं बनेंगे । उदाहरण—१–दाक्षिणात्यिका (= दक्षिण के पास उत्पन्न) । प्रक्रिया—'दक्षिणस्यां दिशि अदूरे' (= दक्षिण दिशा से दूर नहीं) अर्थ में 'दक्षिण'+आच् प्रत्यय = 'दक्षिणा' (अव्यय), <दक्षिणा+त्य (त्यक्), <दाक्षिणा+त्य (आदिवृद्धि–अ = आ), दाक्षिणात्य+आ (टाप्), <दाक्षिणात्या+क (स्वार्थिक 'क' प्रत्यय), <दाक्षिणात्यक (आ = अ–ह्रस्व "केऽणः" ७–४–१३), <दाक्षिणात्यक+आ (टाप्), <दाक्षिणत्यका (दीर्घ), <दाक्षिणात्यिका (अ = इ, तदनन्तर विभक्ति–कार्य) २—इसी तरह इह+त्य (त्यप् "अव्ययात् त्यप्"–४-२-१०४), <इहत्य+आ (टाप्), <इहत्या+क, <इहत्यक (आ = अ–ह्रस्व ७-४-१३), <इहत्यक+आ (टाप्), <इहत्यका (दीर्घ), <इहत्यिका ('क' से पूर्व 'अ' = 'इ' तथा विभक्तिकार्य) ।

(४६४) पद—न, यासयोः । अनुवृत्ति—प्रत्ययस्थात्, कात्, पूर्वस्य, अतः, इत्, आपि, असुपः । विधि(निषेध)सूत्र ।

मूलार्थ—'यद्' तथा 'तद्' शब्दों के अकार को 'इ'कार नहीं होता । यका । सका । यकाम् । तकाम् । (वा०) 'त्यकन्' प्रत्ययान्त को इत्व निषेध कहना चाहिये । उपत्यका । अधित्यका । (वा०) आशीर्वाद अर्थ में 'वुन्' प्रत्ययसम्बन्धी ककार से पूर्व अकार के स्थान पर इकार नहीं होता । जीवका । भवका । (वा०) उत्तरपद का लोप होने पर भी 'अ' के स्थान पर 'इ' नहीं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदलोपे न' (वा ४५२९)। देवदत्तिका–देवका। 'क्षिपकादीनां च' (वा ४५३०)। क्षिपका। ध्रुवका। कन्यका। चटका। 'तारका ज्योतिषि' (वा ४५३१)। अन्यत्र तारिका। 'वर्णका तान्तवे' (वा ४५३२) अन्यत्र वर्णिका। 'वर्तका शकुनौ प्राचाम्'

वुन्, 'युवोरनाकौ' इति तस्य अकादेशः, सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति भूधातोरूकारस्य गुणः अवादेशश्च। उत्तरपदेति। उत्तरपदलोपेऽपि इत्त्वं नेति वक्तव्यमित्यर्थः। देवकेति। देवदत्तशब्दात् स्वार्थे कः। 'ठाजादाध्वूर्वं द्वितीयादचः' 'अनजादौ च विभाषा लोपो वक्तव्यः' इति दत्तशब्दलोपः। देवकशब्दात् टाप्। देवदत्तिकेति तु दत्तपदस्य लोपाभिव्यक्तये उपन्यस्तम्। क्षिपकादीनां चेति। क्षिपकादिशब्दानामित्त्वं नेति वक्तव्यमित्यर्थः। क्षिपकादिगणं पठति—क्षिपकेति। क्षिप प्रेरणे। 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः'। किरवान्न लघूपधगुणः, क्षिपाशब्दात् स्वार्थे कः, 'केऽणः' इति ह्रस्वः, पुनष्टाप्। ध्रुवकेति। 'ध्रुव स्थैर्ये' कुटादिः, क्षिपकेतिवद्रूपम्। यद्वा 'ध्रु स्थैर्ये' पचाद्यच् 'गाङ्कुटादिभ्यः' इति ङित्त्वान्न गुणः, गुणः, उवङ्, ध्रुवशब्दात् टाप्, ततः स्वार्थिकः, कः, 'केऽणः' इति ह्रस्वः पुनष्टाप। कन्यकेति। कन्याशब्दात् कः, 'केऽणः' इति ह्रस्वः, पुनष्टाप्। चटकेति। 'चट भेदने' पचाद्यच्, टाप्, स्वार्थे कः, 'केऽणः' इति ह्रस्वः, पुनष्टाप्। क्षिपकादिराकृतिगणः। तेन अलका इष्टका इत्यादि। तारका ज्योतिषीति। वार्तिकमिदम्। ज्योतिषि वाच्ये तारकेति भवति, इत्त्वं न भवतीति यावत्। 'तॄ प्लवनसन्तरणयोः' ण्वुल्, अकादेशः, ऋकारस्य वृद्धिः, रपरत्वम्' टाप्। ज्योतिरित्यनेन नक्षत्रम् अक्ष्णः कनीनिका च विवक्षिते। 'नक्षत्रसूक्षं भं तारा तारकाऽपि' इति 'तारकाऽक्ष्णः कनीनिका' इति चामरः। अन्यत्रेति। ज्योतिषोऽन्यत्रवाच्ये तारिकेत्येव भवतीत्यर्थः। वर्णका तान्तव इति। इदमपि वार्तिकम्। तान्तवे गम्ये वर्णकेति भवति, इत्त्वं नेत्यर्थः। तन्तूनां विकारस्तान्तवम्। 'ओरञ्'। वर्णकेति प्रावरणविशेषः। 'वर्ण वर्णक्रियाविस्तारगुणवचनेषु' चुरादिः। ण्यन्तात् ण्वुल्, अकादेशः, णिलोपः, टाप्। अन्यत्रेति। तान्तवादन्यत्र वर्णिकेति इत्त्वमित्यर्थः। वर्णिका स्तोत्रीत्यर्थः। वर्णिकेति ग्रन्थविशेषस्य संज्ञा वा। वर्तका शकुनौ प्राचामिति। इदमपि वार्तिकम्। शकुनिः पक्षी, तत्र गम्ये प्राचां मते वर्तकेति भवति। ह्रस्वं न भवतीत्यर्थः।

होता। देवदत्तिका–दत्तका। (वा०) क्षिपकादि-गण-पठित शब्दों के भी 'अ' के स्थान पर 'इ' नहीं होता। क्षिपका। ध्रुवका। कन्यका। चटका। (वा०) नक्षत्र अर्थ में 'तारका' शब्द समीचीन है। अन्यत्र तारिका। (वा०) तन्तुओं (सूत) से बने अर्थ में 'वर्णका' शब्द समीचीन है। अन्यत्र वर्णिका। (वा०) पूर्वी प्रदेश में रहने वाले लोगों के मत में पक्षि-विशेष अर्थ गम्यमान रहते 'वर्तका' शब्द समीचीन है। उत्तरदिशा के विद्वानों के मत में वर्तिका। (वा०) पितृकार्य (श्राद्धादि कार्य) वाच्य रहते 'अष्टका' शब्द समीचीन है। अन्यत्र अष्टिका। (वा०) सूतका, पुत्रिका तथा वृन्दारका शब्दों में वैकल्पिक इत्व-विधान कहा जाय। इस वार्तिक के 'वा' पद में 'वा+अ' सन्धि-विच्छेद किया जाय। तदनुसार ककार से पूर्व 'अकार' आदेश का विधान विकल्प से होता है। इस कारण पुत्रिका शब्द में 'ङीन्' प्रत्ययावयव इवर्ण को पाक्षिक अकार हुआ। अवशिष्ट शब्दों में इकार के बाधक अकार के स्थान पर पाक्षिक अकार ही होगा। सूतिका–सूतका इत्यादि।

विवरण—पूर्व-सूत्र से प्राप्त इकार का निषेध किया जारहा है। अतः पूर्वसूत्र (७-३-४४) के प्रत्येक पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व 'या' तथा 'सा' ('यासयोः') सम्बन्धी अकार के स्थान में 'इकार' आदेश नहीं होता। उदाहरण—१–यद् शब्द–यका। २–तद् शब्द—सका। 'यद्' तथा 'तद्' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' करने पर "त्यदादीनामः" (२६२) से 'अ', पररूप तथा 'दीर्घ' करने से 'या' 'सा' रूप सिद्ध होते हैं। 'तद्' शब्द में 'त्'='स्' भी होता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वा ४५३३)। उदीचां तु वर्तिका। 'अष्टका पितृदेवत्ये' (वा ४५३४)। अष्टिकान्या। 'सूतकापुत्रिकावृन्दारकाणां वेति वक्तव्यम्' (वा ४५३५)। इह वा अ इति छेदः।

प्राचां ग्रहणस्य प्रयोजनमाह—उदीचां त्विति। उदीचां मते तु शकुनौ गम्ये वर्तिकेति इत्वं भवतीत्यर्थः। वर्तयतेर्ण्वुल्, अकादेशः, णिलोपः, टाप्। 'कोयष्टिकष्टिट्टिभको वर्तको वर्तिकादयः' इत्यमरः। शकुनेरन्यत्र तु नित्यमेवेत्वम्। अष्टका पितृदेवत्ये इति। इदमपि वार्तिकम्। पितरश्च ता देवताश्च पितृदेवताः तदर्थं पितृदेवत्यम्। 'देवतान्तात् तादर्थ्ये यत्' इति यत्। पित्रर्थे कर्मणि वाच्ये अष्टकेति भवति 'प्रत्ययस्थात्' इति इत्वं नेत्यर्थः। अश्नन्ति पित्रर्थं ब्राह्मणाः यस्यामिति विग्रहे 'अश भोजने' इत्यस्मात् 'इष्यशिभ्यां तकन्' इति तकन् प्रत्ययः, 'ब्रश्च' आदिना शस्य षः, तकारस्य ष्टुत्वेन टः, अष्टकशब्दात् टाप्। अष्टिकान्येति। अष्टौ अध्यायाः परिमाणमस्या अष्टिका पाणिनीयाष्टाध्यायी, 'संख्याया अतिशदन्तायाः कन्' इति सूत्रेण अष्टौ इति सुबन्तात् कन् प्रत्ययः, सुबन्तात्तद्धितोत्पत्तेः सिद्धान्तयिष्यमाणत्वात्। ततस्तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकत्वात् 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति जसो लुकि निमित्तापायात् अष्टन आत्त्वनिवृत्तौ, अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वान्नकारलोपे, अष्टकशब्दात् टापि 'प्रत्ययस्थात्' इति इत्वं भवत्येव। न चान्तर्वर्तिसुपः परत्वं टापः शङ्क्यम्, ककारेण व्यवधानात्। असुपः इत्यस्य बहुपरिव्राजका नगरी इत्यत्र अव्यवहिते सुपः परे टापि चरितार्थत्वात्। अत एव 'क्षिपकादीनां

है। इन्हीं शब्दों से "अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः" (५-३-७१) से 'टि' भाग (= आ) से पहले 'अकच्' होकर 'य्+अक्–आ' = यका तथा 'स्+अक्–आ' = सका बना। 'यका' तथा 'सका' में पूर्व-सूत्र (४६३) से नित्य इकार प्राप्त था, प्रकृत सूत्र से उसका निषेध हो गया। सूत्र में प्रयुक्त 'या' तथा 'सा' प्रकृति से केवल प्रथमान्त का ही अनुकरण विवक्षित नहीं किन्तु 'यद्' तथा 'तद्' शब्द सम्बन्धी प्रत्ययस्थ ककार से पूर्ववर्त्ती अकार का होना अपेक्षित है। अतः 'यकाम्' 'सकाम्' ये दो उदाहरण द्वितीयाविभक्ति के पृथक् दिखाये गए हैं।

इस निषेध से सम्बद्ध ९ वार्तिकों का उल्लेख ग्रन्थ में किया गया है। उन वार्तिकों का क्रमशः अर्थ इस प्रकार है। १—'त्यकन्' प्रत्ययान्त शब्दों में ककार से पूर्व अवर्ण के स्थान पर 'इ'कार का निषेध किया जाय। **उदाहरण**—(क) उपत्यका (= पर्वत के निचले भाग की तराई)। (ख) अधित्यका (= पर्वत का ऊपरी पठार)। इन शब्दों (= उप तथा अधि) से आसन्न और आरूढ़ अर्थ में 'त्यकन्' प्रत्यय, टाप् तथा 'स्'-विभक्तिलोप होने पर 'उपत्यका' तथा 'अधित्यका' शब्द निष्पन्न होते हैं। "प्रत्ययस्थात्०" (४६३) सूत्र से प्राप्त 'इ'कार का प्रकृत वार्तिक के सहयोग से निषेध किया गया। २—आशीर्वाद अर्थ में 'वुन्' प्रत्यय के स्थान में होने वाले 'अक' आदेश सम्बन्धी 'अ' के स्थान में 'इ' नहीं होता। **उदाहरण**—(क) जीवका। (ख) भवका। ये दोनों शब्द आशीर्वादार्थक हैं। (क) जीवतात् (=जीओ) तथा (ख) भवतात् (=हो) अर्थ में क्रमशः √जीव् तथा √भू धातुओं से 'वुन्' प्रत्यय ("आशिषि च"–३-१-१५०) एवं उसके स्थानपर 'अक' आदेश ("युवोरनाकौ"–७-१-१) तथा 'टाप्' करने पर 'जीव्+अक+आ' = जीवका एवं 'भव्+अक+आ' = भवका रूप निष्पन्न होते हैं। प्रकृत वार्तिक से इकार-आदेश का निषेध हो गया। ३—उत्तरपद का लोप होने पर भी तथाकथित 'अ'कार के स्थान पर 'इ'कार नहीं होता। **उदाहरण**—देवका। 'देवदत्त' शब्द से स्वार्थ में 'क' प्रत्यय करने पर (देवदत्त+क) तद्धित प्रकरण में उत्तरपद–'दत्त'–का लोप ('अनजादौ च विभाषा लोपो वक्तव्यः'–वा०), तदनन्तर 'टाप्' प्रत्यय करनेपर 'देवका' रूप सिद्ध होता है। अतः प्रकृत वार्तिक से 'इ' का निषेध हो गया। उत्तरपद का लोप न होने पर इत्व का निषेध नहीं होगा, अतः 'देवदत्तिका' रूप बनेगा। ४—क्षिपकादि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कात्पूर्वस्याकारादेशो वेत्यर्थः। तेन पुत्रकाशब्दे ङीनः इवर्णस्य पक्षेऽकारः। अन्य-

---

च' इति निषेधोऽर्थवान्। अन्यथा क्षिपाशब्दात् सुबन्तात् स्वार्थिके कप्रत्यये सुपो लुकि अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य टापः सुबपेक्षया परत्वादसुपः इति निषेधसिद्धेः किं तेनेत्यलम्। 'वा सूतकापुत्रिकावृन्दारकाणाम्' इति वार्तिकमर्थतः पठति—सूतकेति। अत्र पुत्रिकाशब्दः इकारमध्यः न त्वकारमध्यः, स्त्रियां पुत्रशब्दस्य शार्ङ्गरवादित्वेन ङीनन्तत्वादिति कैयटः। अत्रेत्त्वविकल्पभ्रमं वारयति—इह वा अ इति। सवर्णदीर्घे सति वा इति निर्देश इति भावः। अत्र अ इति लुप्तप्रथमाकं, कात्पूर्वस्येत्यनुवर्तते, अति इति निवृत्तम्, पुत्रिकाशब्दे अतोऽभावात्। तदाह—कात्पूर्वस्येति। नन्वत्र इत्त्वविकल्प एव कुतो न विधीयत इत्यत आह—तेनेति। अत्वविधानेनेत्यर्थः। पुत्रशब्दात् शार्ङ्गरवादित्वात् ङीनि स्वार्थिके कप्रत्यये 'केऽणः' इति ह्रस्वे टापि पुत्रिकाशब्दः। अत्र इकारस्य इत्त्वविकल्पविधौ पुत्रिका पुत्रीकेति इन्मध्य ईन्मध्यश्च स्यात्। अत्वविधौ तु पुत्रका पुत्रिकेति अकारमध्यः इकारमध्यश्च भवतीति भावः। ननु सूतकाशब्दे वृन्दारकाशब्दे च कात्पूर्वस्याकारस्य

शब्दों में भी प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व अकार के स्थान पर इकार नहीं होता। उदाहरण—(क) क्षिपका। (ख) ध्रुवका। (ग) चटका। (४) कन्यका। इन चारों की सिद्धि इस प्रकार है—(क) √क्षिप्+अ (क)+आ (टाप्), <क्षिपा+क (स्वार्थ में 'क' प्रत्यय)+टाप्, क्षिपका (आ=अ-ह्रस्व-"केऽणः"-७-४-१३)। (ख) √ध्रु+अ (क)+आ (टाप्), <ध्रुवा+क+टाप्, <ध्रुवका। (घ) √चट्+अ (अच्)+टाप्, <चटा+क+आ (टाप्), <चटक+आ (ह्रस्व-आ=अ), <चटका। (ग) कन्या+क, <कन्यक (आ=अ-ह्रस्व), <कन्यक+आ (टाप्), <कन्यका। इन चारों शब्दों में 'अ' के स्थान पर 'इ' नहीं हुआ। क्षिपकादि आकृति-गण है। इस कारण अलका, इष्टका आदि शब्दों में भी ककार से पूर्ववर्ती 'अकार' के स्थान पर 'इकार नहीं हुआ। ५—(ज्योति) नक्षत्र तथा आँख की पुतली वाच्य हो तो 'तारका' ही बनता है, तारिका नहीं। तारका शब्द की निष्पत्ति—√तॄ+ण्वुल्, <तॄ+अक (वु=अक), <तारक (ऋ=आर्-वृद्धि), <तारका (टाप्)। इन दोनों से भिन्न अर्थ (पार कराने वाली) रहने पर 'इत्व' होकर 'तारिका' रूप बनेगा। इस प्रकार दोनों शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। ६—तन्तु-विकार बोध्य होने पर 'वर्णका' शब्द में इत्व नहीं होता। रूप-निष्पत्ति—√वर्ण (णिजन्त-चुरादिगण)+ण्वुल्, <वर्णि+अक, <वर्ण्+अक (णिलोप), <वर्णक+आ (टाप्)—वर्णका (=ओढ़नी)। अन्यत्र—वर्णिका (इत्व हुआ)। अर्थ—स्तुति करने वाली। ७—पक्षी (=बटेर) वाच्य रहते 'वर्तका' शब्द पूर्वीप्रदेश के वैयाकरणों को मान्य है। उत्तरी भाग के वैयाकरणों के मत में 'वर्तिका' शब्द ही साधु है। उनके मत में प्रत्ययावयव ककार से पूर्व 'अ' के स्थान में इकार-आदेश नित्य होगा। व्युत्पत्ति-√वृत्+ण्वुल् (=अक), <वर्तक, (ऋ=अर्-गुण), <वर्तक+आ (टाप्), <वर्तिका। ८—पितृकर्म (पितरश्च ता देवताश्च पितृदेवताः, तदर्थं पितृदेवत्यम्) अर्थात् श्राद्ध-कर्म अभीष्ट होने पर 'अष्टका' शब्द में इत्व नहीं होता। अष्टका=श्राद्ध, महालय पक्ष (आश्विन कृष्णपक्ष की अष्टमी तिथि के दिन अष्टका श्राद्ध किया जाता है)। अष्टका शब्द की व्युत्पत्ति—'अश्नन्ति ब्राह्मणाः यस्याम्' (=पितरों की तृप्ति के लिये ब्राह्मणों का भोजन करना) अर्थ में √अश्+तक् (तकन्—'इष्यशिभ्यां तकन्' उणादि ४३६), <अष्टक+आ (टाप्), <अष्टका[1]। इससे भिन्न अर्थ में अर्थात् आठ अध्यायवाली पुस्तक अर्थ

---

१. श्राद्धभेदः, तिथिभेदश्च। तिथिष्वपि अष्टमी एव अष्टकापदवाच्या। अत एव 'अष्टकाश्राद्धम्' इति प्रयोगः संगच्छते। यद्यपि तिस्रः अष्टकाः स्मृतिग्रन्थेषु सुप्रसिद्धाः सन्ति तथापि चान्द्राश्विनस्य कृष्णाष्टमी 'अष्टकासु' प्रमुखा। यतः अपर दिने नवम्याम् अन्वष्टकाश्राद्धविधानम् संपद्यते।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रेत्त्वबाधनार्थमकारस्यैव पक्षेऽकारः । सूतिका—सूतका इत्यादि । (४६५) **उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः ७ । ३ । ४६ ॥** यकपूर्वकस्य स्त्रीप्रत्ययाकारस्य स्थाने योऽकारस्तस्य कात्पूर्वस्येद्वा स्यादापि परे । 'केऽणः' (सू ८३४) इति ह्रस्वः ।

अकारविधिः किमर्थमित्यत आह—अन्यत्रेति । सूतकाशब्दे वृन्दारकाशब्दे च प्रत्ययस्थात्' इति नित्यमित्वे प्राप्ते तद्विकल्पार्थमित्यर्थः । 'घूङ् प्राणिगर्भविमोचने' धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहादकर्मकः । 'गत्यर्थाकर्मक' इत्यादिना कर्तरि क्तः, टाप्, स्वार्थिकः, 'केऽणः' इति ह्रस्वः, पुनष्टाप् । अत्राकारस्य अत्त्वाभावपक्षे 'प्रत्ययस्थात्' इति इत्त्वम् । वृन्दमस्यास्तीति मत्वर्थे 'शृङ्गवृन्दाभ्यामारकन्' इति आरकन्प्रत्ययः । अमरेण तावत् देवतावाची वृन्दारकशब्दः 'अमरा निर्जरा देवाः' इत्यादिना पुंल्लिङ्गेष्वनुक्रान्तः । रूपिवाची मुख्यवाची च त्रिलिङ्गः । 'त्रिषूत्तरे' इत्युपक्रम्य 'वृन्दारकौ रूपिमुख्यौ' इत्यमरः । स्त्रियां टाप् । अत्राप्यकारस्य अत्त्वाभावपक्षे इत्त्वम् ।

(४६५) उदीचामातः । प्रत्ययस्थात्' इति सूत्रमनुवर्तते । यश्च कश्च यकौ, तौ पूर्वौ यस्या इति विग्रहः । यकेति वर्णग्रहणम्, अकाराद्युच्चारणार्थौ । एकपूर्वाया इत्येतत् आत इत्यस्य विशेषणम् । तेन अर्थगतं स्त्रीत्वमाकारे आरोप्य यकपूर्वाया इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । तेन आकारस्य स्त्रीवाचकत्वं लभ्यते । तदाह—यकपूर्वस्येत्यादिना । 'उदीचां ग्रहणं विकल्पार्थमेव न तु देशतो व्यवस्थार्थम् इति 'न वेति विभाषा' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । न च 'षष्ठी स्थानेयोगा' इत्येव सिद्धेरिह स्थानेग्रहणं व्यर्थमिति वाच्यम्, अनुवादे परिभाषाणामनुपस्थितेः । तत्र च इदमेव स्थानेग्रहणं ज्ञापकम् । अत एव 'वृद्धिर्यस्यामादिस्तद् वृद्धम्' इत्यत्र यस्यादिः वृद्धिरित्यनुवादे इक्परिभाषा न प्रवर्तते । तत्प्रवृत्तौ

में 'अष्टिका' होगा । ९—सूतका, पुत्रिका, वृन्दारका शब्दों में प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व-वर्ण के स्थान में अकार-आदेश विकल्प से होता है । इस अर्थ की कल्पना से वार्तिकस्थ 'वा' शब्द में 'वा+अ' पदच्छेद माना गया है । तदनुसार उपर्युक्त अर्थ की युक्तता इस प्रकार है—'वा' = विकल्प से 'अः' = अकार आदेश हो' । अकार के स्थान पर अकार का विधान करने से इकार-आदेश की निवृत्ति हो जाती है । अतः 'पुत्रिका' शब्द में 'ङीन्' (पुत्र+ई–ङीन् = पुत्री, पुत्री+क = पुत्रीक, <पुत्रीक+टाप्–पुत्रिका 'दीर्घ' ई = इ) प्रत्यय के 'ईकार' को वैकल्पिक ह्रस्व करने पर 'इ'कार के स्थान पर 'अकार' आदेश होगा । तदनुसार पुत्रका एवं पुत्रिका (= बेटी) दो रूप बनेंगे । यदि 'वैकल्पिक' इकार विधान किया जाता तो 'ङीन्' प्रत्यय-सम्बन्धी 'ई' के स्थान पर पाक्षिक इकार होने से 'पुत्रिका' एवं 'पुत्रीका' दो रूप बनते । उसके निवारण हेतु अकार–विधान की सार्थकता है । 'सूतका' और 'वृन्दारका' शब्दों में "प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः" (४६४) से प्राप्त नित्य इकार–आदेश को विकल्प से अकार करने में अपवाद की सार्थकता है । 'सूतिका' (=प्रसव करने वाली) शब्द की व्युत्पत्ति—√सू (घू)+त (क्त), <सूत, <सूत+आ (टाप्), <सूता (दीर्घ), <सूता+क (स्वार्थिक 'क' प्रत्यय), सूतक (ह्रस्व–"केऽणः" ७-४-१३), <सूतक+टाप्, <सूतका (अ = अ),—सूतिका (पक्ष में अ = इ) । 'वृन्दारका' (देवस्त्री) शब्द की व्युत्पत्ति—वृन्द+आरक (आरकन्–"शृङ्गवृन्दाभ्याम् आरकन्"–वा०), <वृन्दारक+आ (टाप्), <वृन्दारका (अ = अ)–वृन्दारिका (पक्ष में अ = इ) ।

(४६५) पद—उदीचाम्, आतः, स्थाने, यकपूर्वायाः । **अनुवृत्ति**—न, प्रत्ययस्थात्, कात्, पूर्वस्य, अतः, इत्, आपि, असुपः । **विधिसूत्र** (विकल्प) ।

मूलार्थ—यकार एवं ककारपूर्वकस्त्रीप्रत्ययसम्बन्धी आकार के स्थान में विहित अकार को 'आप्' पर रहते विकल्प से 'इ'कार होता है । "केऽणः" से ह्रस्व । आर्यका–आर्यिका । चटकका–

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्यका—आर्यिका । चटकका—चटकिका । आतः किम् ? साङ्काश्ये भवा साङ्काश्यिका । यक इति किम् ? अश्विका । स्त्रीप्रत्यय इति किम् ? शुभं यातीति शुभंयाः । अज्ञाता

तु शालाशब्दस्य वृद्धसंज्ञा न स्यात्, शकारादाकारस्य इक्स्थानिकत्वाभावात् । ततश्च शालीय इति 'वृद्धाच्छ' इति छः न स्यात् , औपगवीय इत्यादावेव स्यादित्यलम् । केऽण इति ह्रस्व इति । आर्याशब्दात् स्वार्थिके कप्रत्यये यकाराकारस्य 'केऽणः' इति ह्रस्व इत्यर्थः । पुनष्टापि आर्यकाशब्दः । तत्र यकारादकारस्य आकारस्थानिकत्वादित्त्वविकल्पः । 'प्रत्ययस्थात्' इति नित्यस्य इत्त्वस्यापवादः । तदाह—आर्यका आर्यिकेति । यकारपूर्वस्य उदाहरणमिदम् । अथ ककारपूर्वस्य उदाहरति—चटकका चटकिकेति । चटकाशब्दात् स्वार्थे कः, 'केऽणः' इति ह्रस्वः, पुनष्टाप्, इत्वविकल्प इति भावः । साङ्काश्येकेति । सङ्काशेन निर्वृत्तं नगरं साङ्काश्यम् । 'वुञ्छण्कठच्' इत्यादिना सङ्काशादिभ्यो ण्यः, आदिवृद्धिः, 'यस्येति च' इत्यकारलोपः । साङ्काश्यशब्दात् भवार्थे 'धन्वयोपधाद् वुञ्', अकादेशः, 'यस्येति च' इत्यकारलोपः, टाप्, 'प्रत्ययस्थात्' इति नित्यमित्त्वम् । इह यकारादकारस्य

चटकिका । 'आतः' क्यों कहा ? साङ्काश्य में उत्पन्न साङ्काश्यिका । 'यकः' क्यों कहा ? अश्विका । 'स्त्रीप्रत्यये' क्यों कहा ? शुभंयिका (शुभ होना अर्थ में शुभंयाः, अज्ञात शुभ लक्षणवाली शुभंयिका)। धातु के अन्त में विद्यमान यकार और ककार के अकार को तो नित्य इकार होगा। सुनयिका । सुपाकिका ।

विवरण—'इकार के निषेध' का प्रकरण चल रहा है। अतः प्रकरण-सङ्गति के लिए "न यासयोः" (७-३-४५) सूत्र से 'न' की अनुवृत्ति तथा सम्पूर्ण सूत्र "प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः" (७-३-४४) की अनुवृत्ति अपेक्षित है। इसके साथ ही सूत्र में 'उदीचाम्' पद भी महत्त्वपूर्ण हैं। 'उदीचाम्' शब्द 'उदीच्य आचार्यों' के मत को प्रतिपादित करता है[1]। तदनुसार विशेष परिस्थिति में आचार्य पाणिनि ने इन आचार्यों के मत को मान्यता देकर उनसे भिन्न आचार्यों की मान्यता के फलस्वरूप पाक्षिक इत्व-निषेध द्वारा समन्वयात्मक मार्ग स्वीकार किया है। अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "यकार तथा ककार के पूर्व में स्थित (यकपूर्वायाः—यश्च कश्च यकौ, तौ पूर्वौ यस्याः) आकार के स्थान (आतः) में होने वाले (प्रत्ययस्थित ककार से पूर्व) अकार के

---

१. व्याकरणशास्त्र से सम्बद्ध दो शाखायें प्राचीन काल में प्रसिद्ध रही हैं। ये शाखायें 'उदीच्य' और 'प्राच्य' कहलाती थीं। पाणिनि उदीच्य शाखा से सम्बद्ध थे। वे इन्द्र को 'प्राच्य' मानते रहे। पाणिनि से पूर्व 'प्राच्य प्रदेश' का व्याकरण मान्य रहा है। ऐन्द्र व्याकरण में वे मूल भी विद्यमान थे, जिन्होंने आगे चलकर प्रकृति-प्रत्यय-विभागात्मक अनेक व्याकरणों को जन्म दिया। इस कारण पहले तो 'ऐन्द्र व्याकरण' का प्रभाव प्राच्य तथा उदीच्य शाखाओं में पूर्णतया समान रूप में विद्यमान रहा किन्तु बाद में 'प्राच्य-परम्परा' में ही अवशिष्ट रहा। काशिकाकार ने 'प्राच्य' और 'उदीच्य' के विभाजन की भौगोलिक सीमा इस श्लोक को उद्धृत कर दिखाई है—

"प्राग्रुदक्प्रौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा।
विदुषां शब्दसिद्धयर्थं सा नः पातु शरावती ॥"

शरावती नदी 'प्राच्य' तथा 'उदीच्य' देशों का विभाजन करती है। यह नदी सरस्वती तथा यमुना के पास ही बहनेवाली मानी गयी है। शालातुरीय पाणिनि भी स्वयं उदीच्य थे। ब्राह्मण-ग्रन्थों के उद्भव काल में उदक् देश ही संस्कृत-भाषा की विशुद्धि के लिये मान्य था। इतर प्रान्तों के लोग विशुद्ध टकसाली संस्कृत सीखने के लिए इस प्रदेश में जाया करते थे। शाङ्खायन ब्राह्मण की (८।६) यह उक्ति इस बात की द्योतक है—

"उदञ्च एव यन्ति वाचं शिक्षितुम्, यो वै तत आगच्छति तं शुश्रूषन्त" ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुभंयाः शुभंयिका। 'धात्वन्तयकोस्तु नित्यम्' (वा ४५३५)। सुनयिका। सुपाकिका।

आकारस्थानिकत्वाभावादित्त्वविकल्पो न भवतीति भावः। ननु स्त्रीबोधकस्य अत इद्धा स्यादित्येवास्तु, आत इति मास्तु। साङ्काश्यकाशब्दे यकारादकारस्य वुञादेशावयवत्वेन स्त्रीबोधकत्वाभावादिति चेत्, तर्ह्यात इति स्पष्टार्थमित्याहुः। अश्विकेति। अश्वाशब्दात् कः, 'केऽणः' इति ह्रस्वः, पुनष्टाप्, अश्वकाशब्दः। अत्र अकारस्य आकारस्थानिकत्वेऽपि यकपूर्वकत्वाभावादित्त्वविकल्पो न, किन्तु 'प्रत्ययस्थात्' इति नित्यमित्त्वमिति भावः। स्त्रीप्रत्यय इति किमिति। यकपूर्वाया इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशलब्धं स्त्रीप्रत्ययस्येति किमर्थमिति प्रश्नः। शुभंयिकेति। शुभमिति मान्तमव्ययम्। तस्मिन्नुपपदे 'या प्रापणे' इति धातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति विच्, शुभंयाशब्दात् स्वार्थे कः, 'केऽणः' इति ह्रस्वः, टाप्, शुभंयकाशब्दः। अत्र यकारादकारस्य धात्ववयवस्य स्त्रीवाचकत्वाभावादित्वविकल्पो न, किन्तु 'प्रत्ययस्थात्' इति नित्यमेवेत्त्वमिति भावः। 'यकपूर्वे धात्वन्तप्रतिषेधः' इति वार्तिकमर्थतः संगृह्णाति—धात्वन्तयकोस्तु नित्यमिति। यश्च कश्चेति विग्रहः। धात्वन्तय-कारककारयोरुपरि विद्यमानस्य अकारस्य नित्यमित्त्वम्, न तु विकल्प इत्यर्थः। सुनयि-केति। नीञ् धातोः पचाद्यच्। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे अयादेशे नयशब्दः। सु शोभनः नयः यस्याः सा सुनया, ततः स्वार्थे कः, 'केऽणः' इति ह्रस्वः, पुनष्टाप्, सुनयकाशब्दः। अत्र यकारस्य धात्वन्तत्वात् ततः परस्याकारस्य नेत्त्वविकल्पः, किन्तु

स्थान में आप् पर रहते उदीच्य आचार्यों के मत में इकार का निषेध नहीं होता"। अन्य आचार्यों को निषेध अभिमत होने से 'विकल्प' में भो रूप सिद्ध होते हैं। **उदाहरण**—१–यकारपूर्वक–आर्यका–आर्यिका (=पूजनीया)। २–ककारपूर्वक—चटकका–चटकिका (=गौरैया)। इन दोनों उदाहरणों में क्रमशः 'आर्या' तथा 'चटका' शब्दों से स्वार्थिक 'क' प्रत्यय करने पर "केऽणः" (७-४-१३) से ह्रस्व होता है। तदनन्तर पुनः 'टाप्' हुआ। इस स्थिति में क्रमशः 'य' तथा 'क' के पूर्व आकार-स्थानिक अकार ('र्य'-तथा 'क') होने के कारण 'टाप्' प्रत्यय पर रहते 'इ'–विधान विकल्प से हुआ। **प्रत्युदाहरण**—सूत्र के अनुसार स्थानी (अकार) का आकारस्थानिक होना आवश्यक है। अतः 'साङ्काश्यिका' शब्द में 'य'कारोत्तरवर्ती 'अकार' को नित्य इकार हुआ, क्योंकि यहाँ पर यकारोत्तर-वर्ती अकार स्वतःसिद्ध है, आकारस्थानिक नहीं है। इसे स्पष्ट करने के लिये साङ्काश्यिका शब्द की रचना-प्रक्रिया बताई जारही है—'सङ्काशेन निर्वृत्तं नगरम्' (सङ्काश से निर्मित नगर)–साङ्काश्यम् ("ण्य"–"वुञ्छण्कठ०" ४-२-८०)। तत्पश्चात् होना अर्थ में (भवार्थ) 'वुञ्' (= अक) प्रत्यय होकर 'साङ्काश्यक' शब्द निष्पन्न होता है। तदनन्तर साङ्काश्यक+आ–'टाप्' प्रत्यय होने पर अ के स्थान में इकार होकर 'साङ्काश्यिका' रूप सिद्ध होता है। २—सूत्र से 'य' एवं 'क'–से पूर्व अकार के स्थान पर 'इ' का वैकल्पिक विधान किये जाने से 'अश्विका' में विकल्प से 'इ' नहीं हुआ। यहाँ 'अश्व' शब्द से स्वार्थिक 'क' प्रत्यय करने के पश्चात् ह्रस्व तथा पुनः 'टाप्' करने के अनन्तर नित्य इत्व होगा, क्योंकि यहाँ इकारादेश के स्थानी अकार से पूर्व 'य' तथा 'क' इन दोनों वर्णों में से कोई भी नहीं है। ३—स्थानिरूप 'अकार' के भी स्त्रीप्रत्यय-सम्बन्धी आकार के आदेशरूप में स्वीकृत होने से 'शुभंयिका' (= शुभकारिणी) में नित्य इत्व होता है। यहाँ पर 'या'–धातुसम्बन्धी 'आ'कार है। सिद्धि-प्रकार—शुभम्–या+विच्, <शुभं या ('विच्' का सर्वापहार), <शुभं या+क, <शुभंयक ('या' के आकार को ह्रस्व "केऽणः"–७-४-१३), <शुभंयक+आ (टाप्), <शुभं-यिका (अ=इ)। **(वा०) अर्थ**—धात्वन्त यकार एवं ककारपूर्वक स्त्रीप्रत्ययसम्बन्धी आकारस्थानिक अकार को नित्य इकार आदेश होता है। **उदाहरण**—१–सुनयिका (= अच्छी नीतिवाली)। १–'सुनया' शब्द से 'क' प्रत्यय, ह्रस्व तथा नित्य इकार हुआ। 'सुनया' शब्दावयव 'नय' शब्द

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४६६) भस्त्रैषाजाज्ञाद्वास्वा नञ्पूर्वाणामपि ७ । ३ । ४७ ॥ स्वेत्यन्तं लुप्तषष्ठीकं पदम् । एषामत इद्वा स्यात् । तदन्तविधिनैव सिद्धे नञ्पूर्वाणामपीति स्पष्टार्थम् । भस्त्राग्रहणमुपसर्जनार्थम् । अन्यस्य तूत्तरसूत्रेण सिद्धम् । एषा द्वा एतयोस्तु सपूर्व-

---

'प्रत्ययस्थात्' इति नित्यमित्त्वमिति भावः । सुपाकिकेति । पच धातोर्ण्वुलि 'चजोः कु घिण्यतोः' इति चकारस्य कुत्वे उपधावृद्धौ पाकशब्दः । सु शोभनः पाको यस्याः सा सुपाका । स्वार्थे कः, 'केऽणः' इति ह्रस्वः, पुनष्टाप्, सुपाककाशब्दः । अत्र ककारस्य धात्वन्तत्वात् ततः परस्याकारस्य नेत्त्वविकल्पः, किन्तु 'प्रत्ययस्थात्' इति नित्य-मित्त्वमिति भावः ।

(४६६) भस्त्रैषा । यकपूर्वत्वाभावात् 'उदीचाम्' इत्यप्राप्तौ वचनमिदम् । स्वेत्यन्त-मिति । भस्त्रा, एषा, अजा, ज्ञा, द्वा, स्वा, एषां षण्णां द्वन्द्वः । ततः षष्ठ्या आर्धो लुक् । भस्त्रैषाजाज्ञाद्वास्वानामिति विवक्षितमिति भावः । एषामिति । भस्त्रादीनामित्यर्थः । अत इद्वेति । पूर्वसूत्राद्उदीचां ग्रहणस्य 'प्रत्ययस्थात्' इति सूत्रात् इदित्यस्य चानुवृत्तेरिति भावः । नन्वाङ्क्त्वात्तदन्तविधौ भस्त्रादिशब्दान्तानामिति लभ्यते, व्यपदेशिवत्त्वेन केवला-नामपि लभ्यते । एवं च नञ्पूर्वाणां तद्भिन्नपूर्वाणां केवलानां च सिद्धे नञ्पूर्वाणामपीति व्यर्थमित्यत आह—तदन्तविधिनैवेति । ननु तदन्तविधिना भस्त्रादिशब्दानां नञ्पूर्वाणाम-नञ्पूर्वाणां च प्राप्तौ नञ्पूर्वाणामेवेति नियमार्थं नञ्पूर्वग्रहणम् । तथा सति केवलानां भस्त्रादिशब्दानां ग्रहणव्यावृत्तिः स्यादित्यपिशब्द इति व्याख्यातुमुचितमिति चेत् ? न, एवं सति निर्भस्त्रिकेत्याद्यसिद्धेः । तस्मात् नञ्पूर्वाणामिति स्पष्टार्थमेवेति भाष्ये स्पष्टम् । ननु भस्त्राशब्दस्य नित्यस्त्रीलिङ्गतया 'अभाषितपुंस्काच्च' इत्युत्तरसूत्रेणैव इत्त्वविकल्प-सिद्धेरिह भस्त्राग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—भस्त्राग्रहणमुपसर्जनार्थमिति । निर्भस्त्रिका इत्युप-सर्जनत्वे त्रिलिङ्गतया भाषितपुंस्कत्वेन तत्र 'अभाषितपुंस्काच्च' इत्यस्य अप्रवृत्तेरिति भावः । अन्यस्य त्विति । उपसर्जनादन्यस्य भस्त्राशब्दस्य तु भस्त्रिका परमभस्त्रिकेत्यत्र नित्यस्त्री-लिङ्गतया 'अभाषितपुंस्काच्च' इत्युत्तरसूत्रेणैव पाक्षिकमित्त्वं सिद्धम् । अतः 'भस्त्रैषा' इत्यत्र भस्त्राग्रहणं तदर्थं न भवतीत्यर्थः । ननु अनेषका, परमैषका, अद्वके, परमद्वके इत्यत्रापि पाक्षिकमेतदित्त्वं स्यादित्यत आह—एषा द्वेति । एषा द्वा एतयोस्तु पूर्वपदसहितयोरिदं पाक्षिकमित्त्वं नेत्यर्थः । कुत इत्यत आह—अन्तर्वर्तिनीमिति । 'इदाप्यसुपः' इत्यनुवर्तते ।

√नी ('णीञ्') धातु से 'अच्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है । तदनन्तर 'टाप्' प्रत्यय करने से 'सुनया' शब्द सिद्ध होता है । तत्पश्चात् उससे 'क' प्रत्यय करने पर स्त्रीप्रत्ययजन्य 'आ' को ह्रस्व हुआ है । इस प्रकार उस आकार-स्थानिक अकार से पूर्व धातुसम्बन्धी यकार है । २—इसी प्रकार 'सुपाकिका' ('पाक') में ककारपूर्वक स्त्रीप्रत्ययसम्बन्धी आकारस्थानिक अकार है । अतः नित्य इकार हुआ ।

(४६६) पद—भस्त्रैषाजाद्वास्वाः, नञ्पूर्वाणाम् । अनुवृत्ति—न, उदीचाम्, आतः स्थाने, प्रत्ययस्थात्, कात्, पूर्वस्य, अतः, इत्, आपि, असुपः । विधिसूत्र (विकल्प) ।

मूलार्थ—सूत्र में 'स्वा' पर्यन्त लुप्तषष्ठीक पद है । 'नञ्' पूर्वक होने पर भी इनके 'अ' को विकल्प से 'इ' होता है । तदन्तविधि होने से समास में यह विधान स्वतः प्राप्त रहा । अतः सूत्रस्थ 'नञ्पूर्वाणां' कथन स्पष्टार्थक है । 'भस्त्रा' ग्रहण उपसर्जनार्थ है । प्रधानार्थ को तो "अभाषितपुंस्काच्च" सूत्र से वैकल्पिक इकार सिद्ध है । 'एषा' तथा 'द्वा' शब्दों में पूर्वपद विद्यमान रहने पर इत्व नहीं होता । कारण यह है कि लोप हुई विभक्ति का आश्रय लेने से 'असुपः' निषेध प्रवृत्त हो जाता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योर्नेत्त्वम्। अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य 'असुपः' इति प्रतिषेधात्। अनेषका। परमैषका। अद्वके। परमद्वके। स्वशब्दग्रहणं संज्ञोपसर्जनार्थम्। इह हि 'आतः स्थाने' इत्यनुवृत्तं

इह तु टाप् सुपः पर इति भावः। ननु टाबत्र सुपः परो न भवति। तथाहि—एतच्छब्दस्य टेः प्राक् 'अव्ययसर्वनाम्नाम्' इत्यकचि एतकद् शब्दात् सौ 'तदोः सः सौ' इति तकारस्य सत्वे, 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे, त्यदाद्यत्वे, पररूपे, स्त्रियामदन्तत्वात् टापि, सवर्णदीर्घे, हल्ङ्यादिलोपे, एषकेति रूपम्। ततः न एषकेति विग्रहे नञ्तत्पुरुषे कृते, 'नलोपो नञः' इति नञो नकारस्य लोपे, 'तस्मान्नुडचि इति नुटि, अनेषकेति रूपम्। तथा परमा एषकेति कर्मधारये, परमैषकेति रूपम्। अत्र सौ परे प्रवृत्तत्यदाद्यत्वसिद्धमदन्तत्वमाश्रित्य प्रवृत्तष्टाप् कथं सुपः परः स्यात्। न च नञ्तत्पुरुषे सोः सामासिके लुकि सति, सत्वत्यदाद्यत्वटाब्निवृत्तौ, समासात् पुनः सौ, सत्वत्यदाद्यत्वटाप्सु कृतेषु, हल्ङ्यादिलोपे, अनेपकेत्यत्र समासात् प्राक् प्रवृत्तात् सुपः पर एव टाबिति वाच्यम्, सामासिकलुगपेक्षया हल्ङ्यादिलोपस्यैवान्तरङ्गत्वात् प्रवृत्तेः। ततश्च लुप्तेऽपि सौ प्रत्ययलक्षणसत्त्वेन निमित्तानपायात् पूर्वप्रवृत्तसत्वत्यदाद्यत्वटापां निवृत्तिर्नास्ति। स च टाप् न सुपः पर इति चेत्, अत्र ब्रूमः—'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुक् बाधते' इति परिभाषया 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुब्लुग्विषये अन्तरङ्गोऽपि हल्ङ्यादिलोपो न प्रवर्तते। अतः राजकुमारीत्यादौ श्रूयमाणे एव सुपि समासः प्रवर्तते। एवं च गोमान् प्रियो यस्य सः गोमत्प्रियः इत्यत्र गोमच्छब्दात् सोर्लुका लुप्तत्वात् 'उगिदचाम्' इति नुमुपधादीर्घादिकं न इति 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्चे'ति सूत्रभाष्ये स्थितम्। 'कृत्तद्धित' इति सूत्रे प्रौढमनोरमायां परिष्कृतमेतत्। एवञ्च नञ् सु एतकद् सु इति स्थिते नञ्तत्पुरुषे कृते, 'अन्तरङ्गानपि' इति न्यायेन त्यदाद्यत्वप्रवृत्तेः प्रागेव सामासिकलुकि, अनेतकद्शब्दात् समासात्पुनः सौ, सत्वे, त्यदाद्यत्वे, पररूपे, टापि, सवर्णदीर्घे, सोर्हल्ङ्यादिलोपे, अनेषकेति भवति। अत्र सवर्णदीर्घप्रवृत्तेः प्राक्समासात्पूर्वोत्पन्नसुपः पर एव टाप् भवतीत्यास्तां तावत्। अद्वके इति। न सु द्वकि औ इति स्थिते नञ्तत्पुरुषे 'अन्तरङ्गानपि' इति न्यायेन त्यदाद्यत्वप्रवृत्तेः प्रागेव समासे औङो लुकि कृते, अद्विकशब्दात् समासात्पुनरौङि, त्यदाद्यत्वे, पररूपे, टापि, औङश्शीभावे, आद्गुणे, अद्वके इति भवति। अत्रापि समासात्पूर्वोत्पन्नादौङः सुपः पर एव टाबिति भावः। एवं परमद्वके इत्यत्रापि। स्यादेतत्—आत्मात्मीयज्ञातिधनवाची स्वशब्दः। तत्र ज्ञातावात्मनि च पुंल्लिङ्ग एव, आत्मीये तु विशेष्यनिघ्नः स्त्रीलिङ्गः। धने तु पुंनपुंसकलिङ्गः, 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने' इति कोशात्। यदा तु स्त्रीव्यक्तिविशेषस्य स्वशब्दः संज्ञा, तदापि स्त्रीलिङ्गः। तत्र 'स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्' इत्युक्तेः ज्ञातिधनवाचित्वे सर्वनामत्वं नास्ति। आत्मात्मीयवाचिन एव सर्वनामता, साप्यनुपसर्जनस्यैव भवति, 'संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः' इत्युक्तेरिति स्थितिः। तत्रात्मीयायां वाच्यायां सर्वनामत्वात् अकचि, टापि, 'प्रत्ययस्थात्' इति

है। अनेषका। परमैषका। अद्वके। परमद्वके। 'स्व' शब्द का ग्रहण 'संज्ञा' एवं 'उपसर्जन' के निमित्त है। यहाँ 'आतः स्थाने' की अनुवृत्ति पहले से आरही है। 'द्वा' तथा 'एषा' में सम्भव न होने से 'आकारस्थानिक' पद केवल 'स्व' शब्द के आकार का विशेषण है। 'भस्त्रा' आदि अन्य शब्दों में अव्यभिचरित (दोषरहित) होने से 'आतः' पद उनका विशेषण नहीं है। आत्मीयवाची 'स्व' शब्द से 'अकच्' प्रत्यय करने पर वह उपसर्जन रहित ही होता है। अर्थान्तर में (आत्मा, ज्ञाति तथा धन—इन अर्थों में) 'स्व' शब्द स्त्रीलिङ्ग नहीं है। संज्ञा तथा विशेषण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वशब्दस्यातो विशेषणम्, न तु द्वैषयोरसम्भवात्। नाप्यन्येषाम्, अव्यभिचारात्। स्वशब्द-स्त्वनुपसर्जनमात्मीयवाची अकजर्हः। अर्थान्तरे तु न स्त्री। संज्ञोपसर्जनीभूतस्तु कप्रत्य-

---

नित्यमित्त्वे, स्विकेत्येवेष्यते। तत्तु न युज्यते 'भस्त्रैषा' इत्यादिना इत्त्वविकल्पस्य दुर्वारत्वात्। न चात्र अकजकारस्य आत्स्थानिकत्वाभावान्नायमित्त्वविकल्प इति वाच्यम्, एषामत इद्वा स्यादिति विवरणवाक्ये आतः स्थाने इत्यनुवृत्तेरदर्शनादित्यत आह—स्वशब्दग्रहणं संज्ञोपसर्जनार्थमिति। स्वशब्दस्य संज्ञाभूतस्य सर्वनामत्वाभावादकजभावे, स्त्रियां टापि, सौ कृते, स्वार्थिककप्रत्यये, उक्तरीत्या 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग् बाधते' इति परिभाषया हल्ङ्यादिलोपं बाधित्वा प्रातिपदिकावयवत्वात् सोर्लुकि, 'केऽणः' इति ह्रस्वे, कप्रत्ययान्तात् पुनष्टापि, स्वकाशब्दः। निर्गता स्वस्या इति विग्रहे 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इति समासे सुब्लुकि, 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वे, टापि, सुपि, स्वार्थिके कप्रत्यये, 'केऽणः' इति ह्रस्वे, पुनष्टापि निस्स्वकाशब्दः। एतद्द्वयमेव 'भस्त्रैषा' इति स्वशब्दस्य उदाहरणम्। आत्मीयायां तु स्वशब्दो न संज्ञाभूतः, नाप्युपसर्जनीभूत इति नोदाहरणमित्यर्थः। कुत इत्यत आह—इह हीति। इह 'भस्त्रैषा' इति सूत्रे 'उदीचाम्' इति पूर्वसूत्रात् आतः स्थाने इत्यनुवृत्तम्, तच्च स्वशब्दस्यैव अतो विशेषणम्। एवं च स्वशब्दस्य आत्स्थानिकस्य अत इद्वा स्यादिति लभ्यते। एतद्विशेषविवक्षयैव एषामत इद्वा स्यादिति विवरणवाक्ये आतः स्थाने इत्यस्यानुवृत्तिर्न प्रदर्शितेति भावः। न तु द्वैषयोरिति। द्वा एषा इत्येतयोस्तु विषये आतः स्थान इति न सम्बध्यत इत्यर्थः। कुत इत्यत आह—असम्भवादिति। एषा द्वेति सर्वाद्यन्तर्गणत्यदादित्वप्रयुक्तसत्वात्वनिर्देशेन सर्वनामत्वावश्यकत्वादकच्। तदकारस्य आत्स्थानिकत्वस्याप्रसक्तेरित्यर्थः। नाप्यन्येषामिति। भस्त्राजाज्ञाशब्दानामपि आतः स्थान इति विशेषणं नेत्यर्थः। कुत इत्यत आह—अव्यभिचारादिति। भस्त्राजाज्ञाशब्दानां सर्वनामत्वाभावेनाकजनर्हतया कप्रत्ययान्ततया तेषु 'केऽणः' इति ह्रस्वसम्पन्नस्य अतः आत्स्थानिकत्वनियमेन तद्विशेषणवैयर्थ्यादित्यर्थः। ननु आतः स्थाने इत्यनुवृत्तं स्वशब्दस्य अतो विशेषणमस्तु, तावता आत्मीयायां स्विका इत्यत्र इत्त्वविकल्पशङ्कायाः किमायातमित्यत आह—स्वशब्दस्त्विति। अनुपसर्जनात्मीय-

---

के रूप में प्रयुक्त 'स्व' शब्द से 'क' प्रत्यय करने पर प्रकृत सूत्र का उदाहरण बन सकता है। इस प्रकार आत्मीय अर्थ में 'स्विका' तथा 'परमस्विका' रूप बनते हैं। निर्भस्त्रिका—निर्भस्त्रिका। एषका—एषिका। सूत्र में 'षकार'—निर्देशपूर्वक 'एषा' कथन से एतिके, एतिकाः में विकल्प से 'इकार' नहीं हुआ। अजका—अजिका। झका—झिका। द्वके—द्विके। निःस्वका—निःस्विका।

विवरण—इत्व-निषेध का क्रम अभी चल रहा है। अतः "न यासयोः" (७-३-४३) से 'न' तथा "उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः" (७-३-४६) एवं "प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः" (७-३-४५)—इन दोनों सम्पूर्ण सूत्रों की अनुवृत्ति अपेक्षित है। सूत्र में कुछ शब्दों का उल्लेख किया गया है तथा उनकी स्थिति के सम्बन्ध में भी निर्देश दिया गया है। वे छह शब्द हैं—'भस्त्रा', 'एषा', 'अजा', 'झा', 'द्वा' तथा 'स्वा'। ये शब्द चाहे 'नञ्'—पूर्वक हों (नञ्पूर्वाणाम्) या न हों (अपि), तो भी इनके आकारस्थानिक अकार के स्थान पर उदीच्य आचार्यों के मत में 'इ'कार नहीं होता। इनके विपरीत पाणिनि के मत में इत्व होने से 'विकल्प' सिद्ध होता है। 'भस्त्रैषाजाज्ञाद्वास्वाः' पद में प्रथमा विभक्ति षष्ठी के अर्थ में प्रयुक्त है। सूत्र में 'नञ्पूर्वाणां' पद की कोई उपयोगिता नहीं है, क्योंकि 'तदन्तविधि' होकर समासयुक्त शब्दों में भी प्रकृत-सूत्र की प्रवृत्ति हो जायगी। अतः यह पद केवल स्पष्टार्थक माना जाय। सूत्र में 'भस्त्रा' ग्रहण करने का उपयोग

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यान्तत्वाद्भवत्युदाहरणम्। एवं चात्मीयायां स्विका, परमस्विकेति नित्यमेवेत्त्वम्।

वाचो स्वशब्दस्तु सर्वनामत्वादकजर्हः। अतस्तदकारस्य आत्स्थानिकत्वाभावान्न प्रकृतसूत्रेणेत्त्वविकल्पशङ्का, किन्तु 'प्रत्ययस्थात्' इति नित्यमेव इत्त्वमित्यर्थः। ननु स्वशब्दस्य आत्मात्मीयज्ञातिधनवाचिनः आत्मीयायामुदाहरणत्वाभावेऽपि आत्मज्ञातिधनवाचिनस्तस्य उदाहरणत्वसम्भवात् स्वशब्दग्रहणं संज्ञोपसर्जनार्थमित्यनुपपन्नमित्यत आह—अर्थान्तरे तु न स्त्री इति। आत्मज्ञातिधनेषु स्वशब्दो न स्त्रीलिङ्गः। उदाहृतकोशरीत्या आत्मज्ञातिवाचिनः स्वशब्दस्य नित्यपुँल्लिङ्गत्वात् धनवाचिनस्तस्य पुंनपुंसकलिङ्गत्वाच्चेत्यर्थः। तथा च 'टापि' परे इत्यस्याभावान्नोदाहरणत्वप्रसक्तिः। 'प्रत्ययस्थात्' इत्यतः आपीत्यनुवृत्तेरिति भावः। इदमुपलक्षणम्। आत्मनि वाच्ये, स्वशब्दस्य सर्वनामत्वेन अकजर्हतया तदकारस्य आत्स्थानिकत्वाभावाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम्। ननु सञ्ज्ञोपसर्जनीभूतस्यापि स्वशब्दस्य कथमुदाहरणत्वम्? तस्याप्यकचि तदकारस्य आत्स्थानिकत्वाभावादित्यत आह—संज्ञोपसर्जनीभूतस्त्विति। संज्ञोपसर्जनीभूतस्य स्वशब्दस्य असर्वनामतया अकजनर्हत्वेन स्वशब्दात् सुबन्तात् स्वार्थिके कप्रत्यये, सुब्लुकि पुनष्टापि 'केऽणः' इति ह्रस्वापन्नस्य अतः आत्स्थानिकतया भवत्युदाहरणत्वमित्यर्थः। न चान्तर्वर्तिसुपः परष्टाविति शङ्क्यम्, केन व्यवधानादिति भावः। तदेवम् 'भस्त्रैषा' इत्यत्र आतः स्थाने इत्यनुवृत्तस्य स्वशब्देऽन्वयलाभात् स्वशब्दावयवस्य आत्स्थानिकस्य अत इद्वा स्यादिति लब्धम्, तस्य प्रयोजनमाह—एवं चेति। उक्तरीत्या स्वशब्दे आत्स्थानिकस्यैवातः इत्व-

---

गौणार्थ के लिए है। प्रधानार्थ में तो आगे आने वाले सूत्र—"अभाषित पुंस्काच्च"—(७-३-४८) से वैकल्पिक इकारादेश स्वतःसिद्ध है। 'भस्त्रा' शब्द का उपसर्जन के रूप में प्रयोग होने पर 'निर्भस्त्रिका' आदि का प्रयोग तीनों लिङ्गों में होने के कारण भाषितपुंस्क माना जायगा। इस स्थिति में 'अभाषित पुंस्काच्च" (७-३-४८) की प्रवृत्ति नहीं होगी। 'एषा' तथा 'द्वा' शब्दों के पूर्व में किसी शब्द की स्थिति होने पर यह पाक्षिक इकार-विधान नहीं होता। इसका कारण यह है कि लोप हुई विभक्ति में प्रत्ययलक्षण होने से 'सुप्' से पर 'आप्' की विद्यमानता का आरोप हो जाने के कारण 'असुपः'-यह निषेध प्रवृत्त हो जायगा। इसलिये वहाँ 'अनेषका' रूप बनता है। न+सु, एतद्+सु—इस स्थिति में 'अकच्' प्रत्यय करने से पहले ही 'नञ्' तत्पुरुष समास करने पर "अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुक् बाधते' परिभाषा से "त्यदादीनामः" (२६'५) की प्रवृत्ति के पहले ही सामासिक लुक् हो गया है। इसी प्रकार 'परमा चासौ एषका' में कर्मधारय समास है। इन दोनों उदाहरणों में 'न' और 'परमा' से पश्चाद्वर्ती लोप हुई विभक्ति ("सुपो धातुप्रातिपदिकयोः" २-४-७१) से 'आप्' पर होने के कारण 'इत्व' नहीं होता, क्योंकि "प्रत्ययस्थात्०" सूत्र में निषेधवाचक 'असुपः' पद है। अन्य दो उदाहरणों 'न द्वके=अद्वके' (नञ् तत्पुरुष समास) तथा 'परमे च द्वके'=परमद्वके (कर्मधारय समास) में 'टाप्' प्रत्यय सामासिक स्थिति में लुप्तविभक्ति से पर होने के कारण इत्व नहीं होता। 'स्व' शब्द के विषय में यह उल्लेखनीय है कि संज्ञा एवं विशेषण के रूप में प्रयोग किये जाने पर 'स्व' शब्द को सर्वनाम-संज्ञा नहीं होती (संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः)। अतः सर्वनामसंज्ञा न होने से 'अकच्' प्रत्यय भी नहीं होता। इस स्थिति में स्वार्थिक 'क' प्रत्यय करने पर (स्वा+क+आ को 'ह्रस्व' होने के उपरान्त पुनः 'टाप्' प्रत्यय करने पर) इस सूत्र से वैकल्पिक 'इत्व' होता है (स्विका–स्वका, परमस्विका–परमस्वका)। आत्मीयवाची 'स्व' शब्द की सर्वनामसंज्ञा होने के कारण उससे 'अकच्' प्रत्यय होने पर स्त्रीत्व-विवक्षा में 'टाप्' करने पर 'स्विका' 'परमस्विका' में नित्य इत्व ही होगा। इसका कारण यह है कि 'अकच्' प्रत्यय की स्थिति 'टि' के पूर्व रहने से आकार नहीं रहता। अतः ह्रस्व की प्रवृत्ति नहीं होती। आकार-स्थानिक 'अ'कार न होने से वैकल्पिक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्भस्त्रका-निर्भस्त्रिका । एषका-एषिका । कृतषत्वनिर्देशान्नेह विकल्पः । एतिके-एतिकाः ।

विकल्पलाभात् आत्मीयायां स्वशब्दस्य सर्वनामत्वादकचि तदकारस्य आत्स्थानिकत्वाभावादित्त्वविकल्पाप्रवृत्तौ 'प्रत्ययस्थात्' इति नित्यमेवेत्त्वमित्यर्थः । तदेवं प्रत्युदाहरणान्युक्त्या उदाहरणान्याह—निर्भस्त्रकेत्यादि । भस्त्राया निष्क्रान्तेति विग्रहे 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे' इति समासे, 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वत्वे, पुनष्टापि, समासात् सौ, कप्रत्यये, 'केऽणः' इति ह्रस्वे, निर्भस्त्रकशब्दात् पुनष्टापि, सवर्णदीर्घे, निर्भस्त्रकाशब्दः । तत्र 'प्रत्ययस्थात्' इति नित्यमित्त्वे प्राप्ते अनेन इत्त्वविकल्पे निर्भस्त्रिका निर्भस्त्रकेति रूपद्वयम् । केन व्यवधानान्न सुपः परष्टाबिति भावः । एषका एषिकेति । अकचि एतकद्शब्दात् सुः । 'तदोः सः सौ' सत्त्वम्, षत्वम्, त्यदाद्यत्वम्, पररूपम्, टाप्, 'प्रत्ययस्थात्' इति नित्यमित्त्वं बाधित्वा इत्त्वविकल्प इति भावः । ननु अकचि एतकद्शब्दात् स्त्रियामौजसादिषु एतिके एतिकाः इत्यादौ नित्यमित्त्वमिष्यते । तद्बाधित्वा अनेन इत्त्वविकल्पः स्यादित्यत आह—कृतषत्वेति । 'भस्त्रैतदजाज्ञाद्वास्वा' इति वक्तव्ये एषेति कृतषत्वनिर्देशात् औजसादिषु

इत्व भी प्राप्त नहीं होता । सूत्रोक्त पदों में से आकारस्थानिक अकार का उदाहरण केवल 'स्वा' शब्द ही है । पूर्वसूत्र से अनुवृत्त आकारस्थानिक-पद 'स्वशब्द के ह्रस्व अकार' का ही विशेषण हैं । 'द्वा' तथा तथा 'एषा' शब्दों में 'आतः स्थाने' का सम्बन्ध नहीं रहता, क्योंकि 'द्वि' तथा 'एतद्' शब्दों के विषय में त्यदादिगणप्रयुक्त अकार तथा सत्व आदि कार्यों के होने से सर्वनामता विद्यमान रहती है । इसके फलस्वरूप 'टि' के पूर्व 'अकच्' होने के कारण आकारस्थानिक अकार दुर्लभ ही रहता है । 'भस्त्रा' तथा 'अजा' शब्द सर्वनामवाची नहीं हैं । अतः उनसे 'अकच्' प्रत्यय होना सम्भव नहीं है । 'अकच्' प्रत्यय न होने के कारण 'क'प्रत्यय से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'टाप' प्रत्यय होगा । इस स्थिति में 'आ' को ह्रस्व होकर वैकल्पिक इत्व की प्राप्ति होने से कोई दोष नहीं है, अतः इन शब्दों के साथ भी 'आतः स्थाने' का कोई प्रयोजन नहीं है । इस हेतु सूत्र की वृत्ति में अनुवृत्त 'आतः स्थाने' वाक्यांश का किसी के साथ सम्बन्ध नहीं दिखाया गया है । आचार्य हरदत्त ने अपनी व्याख्या में यह बताया है कि 'आत स्थाने' केवल 'स्व'-शब्द सम्बन्धी ह्रस्व अकार (अतः) का विशेषण है । 'स्व' शब्द आत्मा, ज्ञाति तथा धनवाची अर्थों में स्त्री-लिङ्ग नहीं है । इन तीनों अर्थों में 'स्व' शब्द का प्रयोग नित्य पुंलिङ्ग में ही होता है तथा धनवाची 'स्व' शब्द का प्रयोग पुलिङ्ग तथा नपुंसक दोनों लिङ्गों में होता है । इस कारण इन तीनों अर्थों में 'टाप् प्रत्यय नहीं होगा । 'टाप्' प्रत्यय के न होने से इन अर्थों में 'स्व' शब्द के उदाहरण नहीं मिलेंगे । इसी प्रकार आत्मा अर्थ में 'स्व' शब्द को सर्वनामता होने से 'अकच्' प्रत्यय करने पर तत्सम्बन्धी अकार के आकारस्थानी न होने से वहाँ भी वैकल्पिक इत्व का उदाहरण सम्भव नहीं है । इस प्रकार इस सूत्र की व्याख्या करते हुए भट्टोजी दीक्षित ने पहले प्रत्युदाहरणों पर विचार किया है । अब क्रमशः उदाहरण दिये जारहे हैं । १—निर्भस्त्रका-निर्भस्त्रिका । विग्रह-भस्त्रायाः निष्क्रान्ता (= भाँथी से निकली हुई)-भस्त्रा+ङसि, निर् (समास-'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' वा०), <निर्-भस्त्रा ('निर्' का पूर्वनिपात), <निर्भस्त्र (उपसर्जन-ह्रस्व), <निर्भस्त्रा (टाप्), <निर्भस्त्रा+क (अज्ञात अर्थ में 'क' प्रत्यय), <निर्भस्त्र+क ('टाप्' के 'आ' को ह्रस्व-"केऽणः"-७-४-१३), <निर्भस्त्रक+आ (टाप्), <निर्भस्त्रिका (अ=इ, 'क' प्रत्यय का व्यवधान होने से 'टाप्' 'सुप्' से पर नहीं है)—निर्भस्त्रका ('इ'कार न होने पर) । २—एषका-एषिका (अर्थ-अज्ञाता एषा=अज्ञात यह स्त्री)—'एतद्' शब्द के 'अकच्' प्रत्ययान्त का स्वरूप है । प्रक्रिया-एतद्+अक् (अकच्), <एतकद् ('टि' से पूर्व 'अकच्' की स्थिति), <एतकद्+स् (सु), <एसकद्+स् (त=स्-"तदोः सः सावनन्त्ययोः" ३८१), <एषकद्+स् (स्=ष्), <एषक-अ+स् (द्=अ-"त्यदादीनामः"-३६५), <एषक+स् (अ+अ=अ-पररूप), <एषक+आ (टाप्)+स्, <एषका+स्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अजका-अजिका । झका-झिका । द्वके-द्विके । निःस्वका-निः-स्विका । (४६७) **अभाषित-पुंस्काच्च ७ । ३ । ४८ ॥** एतस्माद्विहितस्य आतः स्थाने इद्वा स्यात् । गङ्गका-

---

पत्वाभावान्नेत्त्वविकल्प इत्यर्थः । अजका अजिकेति । अजाशब्दात् कः, ह्रस्वः, पुनष्टाप् सवर्णदीर्घः, इत्त्वविकल्पः । झका झिकेति । ज्ञाधातोः 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कः, आतो लोप इटि च' इत्याल्लोपः । स्त्रियामदन्तत्वाट्टाप् , सवर्णदीर्घः । ज्ञाशब्दात् सुबन्तात् कः, सुब्लुक् , 'केऽणः' इति ह्रस्वः, पुनष्टाप् , सवर्णदीर्घः, इत्त्वविकल्प इति भावः । द्वके द्विके इति । अकचि द्वकिशब्दात् स्त्रियामौङि, त्यदाद्यत्वम्, पररूपम्, टाप्, इत्त्वविकल्पः, औङश्शी, आद्गुणः । निःस्वका, निःस्विकेति । स्वस्याः निष्क्रान्तेति विग्रहः । 'निरादयः' इति समासः । उपसर्जनह्रस्वः, टाप्, सुपि कः, कप्रत्ययान्तात् सुब्लुक्, पुनष्टापि सवर्णदीर्घः, इत्त्वविकल्प इति भावः ।

(४६७) अभाषितपुंस्काच्च । 'उदीचामातः स्थाने' इत्यनुवर्तते, अत इदिति च । अभाषितः पुमान् येनेति विग्रहः । विहितस्येत्यध्याहार्यम् । तदाह—एतस्मादिति । अभाषितपुंस्कादित्यर्थः । अयकपूर्वार्थं वचनम् । गङ्गका गङ्गिकेति । गङ्गाशब्दात् कः । 'केऽणः' इति ह्रस्वः, इत्त्वविकल्पः । विहितविशेषणस्य फलमाह—बहुव्रीहेरिति । अविद्यमाना खट्वा यस्या इति विग्रहे 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' इति बहुव्रीहौ

(दीर्घ तथा 'स्'-लोप), <एपिका (अ =इ-वैकल्पिक), 'इ' न होने पर-एपका । प्रकृत सूत्र में षकार सहित 'एषा' पद के प्रयोग से यह सूचित होता है कि 'औ', 'जस्' आदि विभक्तियों में 'पत्व' न होने के कारण पाक्षिक 'इ'कार नहीं होगा । वहाँ नित्य इकार होता है—एतिके, एतिकाः । ४—अजका-अजिका ('अजा एव' अर्थ में अजा+क स्वार्थिक प्रत्यय, ह्रस्व, पुनः टाप्, सवर्ण-दीर्घ, इत्त्व-विकल्प) । (५) झका-झिका । अर्थ=जानने वाली । प्रक्रिया-√ज्ञा+अ (क), <ज्ञ्+अ ('आ' का लोप), <ज्ञ+आ (टाप्), <ज्ञा (दीर्घ), <झ्+क, <झ+क (आ=अ-ह्रस्व "केऽणः" ७-४-१३), <झक+आ (पुनः टाप्), <झका (दीर्घ), <झिका (पाक्षिक इकार), इकार न होने पर—झका । (६) द्वके-द्विके । प्रक्रिया-द्वि+अक् (अकच्), <द्व्-अक्-इ ('टि' = 'इ' के पूर्व अकच), <द्वकि+औ (द्विवचन), <द्वक+औ (इ=अ-"त्यदादीनामः-२६५), <द्वक+आ (टाप्)+औ, <द्वका+औ (दीर्घ), <द्विका+औ (पाक्षिक इकार), <द्विका+ई (औ=शी-"औङ आपः"-८७), <द्विके (गुण) । पक्ष में इत्व न होने पर—द्वके । ६—निःस्वका-निःस्विका । विग्रह-(अपने से पृथक् हुई) स्वस्याः निष्क्रान्ता-स्व+ङसि-निस्, <निःस्वा (समास-'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' वा०), <निःस्व (उपसर्जन-ह्रस्व), <निःस्वा (टाप्), <निःस्वा+स्+क <निःस्वा+क ('सुप्'-लुक्), <निःस्वाक+आ (टाप्), <निःस्वक+आ (आ=अ-ह्रस्व) <निःस्वका (दीर्घ), <निःस्विका (पाक्षिक इत्व), इत्व न होने पर-निःस्वका ।

(४६७) **पद**—अभाषितपुंस्कात्, च । **अनुवृत्ति**—न, नञ्पूर्वाणाम् अपि, उदीचाम्, आतः स्थाने, प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्य, अतः, इत् । **विधि(विकल्प)सूत्र ।**

मूलार्थ—अभाषितपुंस्क से विहित 'आ'कार के स्थान में विकल्प से 'इ'कार होता है । गङ्गका-गङ्गिका । बहुव्रीहि-समास में भाषितपुंस्क होने के कारण उससे विहित आकार को नित्य इकार होगा । अज्ञाता अखट्वा अखट्विका । शैषिक 'कप्' प्रत्यय होने पर पाक्षिक इकार होगा ।

विवरण—वैकल्पिक 'इ'कार का प्रकरण अभी चल रहा है । वस्तुतः यह विकल्प एकपक्षीय 'इत्व' का निषेध होने के कारण है । अतः "न यासयोः" (७-३-४४) सूत्र से निषेध-वाचक 'न' की अनुवृत्ति की जारही है तथा 'इकार' से सम्बद्ध अन्य निमित्त-वाचक पदों के लिये इससे पूर्व ७-३-४६ सम्पूर्ण सूत्र एवं ७-३-४७ से 'नञ्पूर्वाणाम्' की अनुवृत्ति भी की जाती है । तदनुसार सूत्र का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गङ्गिका । बहुव्रीहेर्भाषितपुंस्कत्वात्ततो विहितस्य नित्यम् । अज्ञाता अखट्वा अवखट्विका ।

कृते, विद्यमानपदलोपे, नञो नलोपे, 'शेषाद्विभाषा' इति कबभावपक्षे, 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वे अखट्वशब्दात् टापि, सुपि, अज्ञातादौ के, सुब्लुकि, 'केऽणः' इति ह्रस्वे, पुनष्टापि अभाषितपुंस्काद्विहितस्य आतः स्थाने अतः अभावान्नेत्त्वविकल्पः, किन्तु 'प्रत्ययस्थात्' इति नित्यमित्त्वमित्यर्थः । अभाषितपुंस्कात् परस्येति व्याख्याने तु तादृशखट्वशब्दात् परस्य आतः स्थाने अतः इत्त्वादित्त्वविकल्पः स्यादिति भावः । शैषिके कपि त्विति । न स् खट्वा स् इत्यवस्थायां कपि सुब्लुक् । प्रत्ययलक्षणेन भागद्वयस्य सुबन्तत्वात् 'नञोऽस्त्यर्थानाम्' इति बहुव्रीहिसमासः । समासान्त इत्यन्वर्थसञ्ज्ञाबलात् कबन्तस्यैव समासत्त्वम् । ततश्च अखट्वाकशब्दे अखट्वा इत्यंशस्य उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्तसमासरूपप्रातिपदिकत्वाभावात् 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वो न भवति । नापि 'केऽणः' इति ह्रस्वः, 'न कपि' इति निषेधात्, किन्तु 'आपोऽन्यतरस्याम्' इति ह्रस्वविकल्पः । तत्र खट्वाशब्दात् विहितस्य कपः प्राग्वर्तिनः टापः अभाषितपुंस्काद्विहितत्वेन तत्स्थानिकह्रस्वाकारस्य अयम् इत्त्वविकल्पो भवत्येवेत्यर्थः । 'आपोऽन्यतरस्याम्' इति ह्रस्वाभावपक्षे तु अखट्वाकेत्येव बोध्यम् ।

समष्टिगत अर्थ इस प्रकार होगा कि "अभाषितपुंस्क शब्द से विहित प्रत्ययस्थित ककार से पूर्ववर्ती आकारस्थानिक अकार को नञ्पूर्व या अनञ्पूर्व होने पर उदीच्य आचार्यों के मत में इकार-आदेश नहीं होता है" । अन्य आचार्यों को इकार-आदेश अभीष्ट होने से यह विधान पाक्षिक हो जाता है । सूत्र में 'अभाषितपुंस्क' शब्द पारिभाषिक है । 'भाषिकपुंस्क' शब्द का विपरीतार्थ शब्द 'अभाषितपुंस्क' है । अतः नित्य स्त्रीलिङ्गवाची शब्दों को 'अभाषितपुंस्क' (न भाषितः पुमान् येन) कहा जाता है । उदाहरण—गङ्गका-गङ्गिका । प्रक्रिया-गङ्ग+आ (टाप्), <गङ्गा+क, <गङ्गक (आ = अ-ह्रस्व), <गङ्गक+आ (टाप्), <गङ्गका (दीर्घ), <गङ्गिका (पाक्षिक इकार), इकार न होने पर-गङ्गका । बहुव्रीहि-समास में अन्यपदार्थ-प्रधान होने के कारण "पुंलिङ्ग-वाची" होने से (भाषितपुंस्क) वैकल्पिक 'इत्व' न होकर "प्रत्ययस्थात्०" (७-३-४४) से नित्य इत्व होगा—अज्ञाता अखट्वा-अखट्विका । विग्रह-'न विद्यमाना खट्वा यस्याः' । प्रक्रिया—न खट्वा (उत्तरपदलोप), <अखट्वा ('न्'-लोप), <अखट्व (उपसर्जन-ह्रस्व), <अखट्व+आ (टाप्), <अखट्वा+सु, <अखट्वा+क, ('सुप्'-लुक्) <अखट्व+क ('क' से पूर्व 'आ' को ह्रस्व), अखट्वक+आ (टाप्), <अखट्विका (अभाषितपुंस्क से विहित न होने से वैकल्पिक इत्व नहीं, किन्तु नित्य इकार हुआ) । शैषिक 'कप्' करने पर अन्यपदार्थ-प्रधान न होने से 'खट्वा' शब्द विशेषण (उपसर्जन) के रूप में प्रयुक्त नहीं होता । अतः अभाषितपुंस्क होने से वैकल्पिक 'इ'कार होगा । उदाहरण—'अखट्विका' एवं 'अखट्वका' दो रूप बनेंगे । शैषिक 'कप्' में समासार्थ-विग्रह-वाक्य में बहुव्रीहिसमास के पूर्व ही 'कप्' प्रत्यय होता है । कप् होने के बाद समासादि कार्य होते हैं । प्रकृत उदाहरण में प्रथम स्थिति इस प्रकार है 'न+स्, खट्वा+स् +कप्' । तदनन्तर 'सुप्'-लुक् होने पर प्रत्ययलक्षण का आश्रय लिया जाता है । इस प्रकार दोनों भागों के सुबन्त होने से बहुव्रीहिसमास होता है । सर्वप्रथम तद्धितप्रत्यय होने के कारण तदन्त को प्रातिपदिक संज्ञा हुई है । अतः कप्-अन्त शब्द-समुदाय प्रातिपदिक है (न कि स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दसमुदाय) । इस स्थिति में 'अखट्वाक' के अवयव आकार को "केऽणः" (७-४-१३) से प्राप्त ह्रस्व का "न कपि" (७-४-१४) से निषेध होता है, किन्तु "आपोऽन्यतरस्याम्" (७-४-१५) से अभाषितपुंस्क खट्व से विहित 'आ' को वैकल्पिक ह्रस्व करने पर कप्-अन्त शब्द से पुनः 'टाप्' करने के पश्चात् आकार-स्थानिक अकार को पाक्षिक 'इ'कार निर्बाध होगा । 'इ'कार न होने पर 'अखट्वाका' (ह्रस्वविधान भी विकल्प से होता है) ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शौषके कपि तु विकल्प एव । (४६८) **आदाचार्याणाम् ७ । ३ । ४९ ॥** पूर्वसूत्रविषये आद्वा । गङ्गाका । उक्तपुंस्कात्तु शुभ्रिका । (४६९) **अनुपसर्जनात् ४ । १ । १४ ॥** अधिकारोऽयम् 'यूनस्तिः' (सू ५३१) इत्यभिव्याप्य । अयमेव स्त्रीप्रत्ययेषु तदन्तविधि

---

(४६८) आदाचार्याणाम् । पूर्वसूत्रविषय इति । अभाषितपुंस्काद्विहितस्यातः स्थाने अत इत्यर्थः । शुभ्रिकेति । शुभ्रशब्दो विशेष्यनिघ्नः अनियतलिङ्गः । ततः स्त्रियां टापि शुभ्राशब्दात् कः । 'केऽणः' इति ह्रस्वः, पुनष्टाप् । अत्र कात्पूर्ववर्तिनष्टापः अभाषितपुंस्काद्विहितत्वाभावात् तत्स्थानिकस्यातो नेत्त्वविकल्पः, किं तु 'प्रत्ययस्थात्' इति नित्यमित्वमित्यर्थः ।

(४६९) अनुपसर्जनादित्यधिकारस्य उत्तरावधिमाह—यूनस्तिरित्यभिव्याप्येति । 'यूनस्तिः' इत्यत्राप्ययमधिकारः न तु ततः प्रागित्यर्थः । अत्र च व्याख्यानमेव शरणम् । अत्र यद्वक्तव्यं तत् 'यूनस्तिः' इत्यत्र वक्ष्यते । ननु बहवः कुरुचराः यस्यां सा बहुकुरुचरा, नदमतिक्रान्ता अतिनदा इत्यादिषु उपसर्जनेषु कुरुचरनदादिशब्देभ्यः 'टिड्ढाणञ्' इत्यादिना विधीयमानानां ङीबादिप्रत्ययानां प्रसक्तिरेव नास्ति,समासप्रत्ययविधौ तदन्तविधिप्रतिषेधात् । तस्मादनुपसर्जनाधिकारो व्यर्थ इत्यत आह—अयमेवेति । अनुपसर्जनादित्यधिकार एवायं स्त्रीप्रत्ययेषु तदन्तविधिं ज्ञापयतीत्यर्थः । एतच्च भाष्ये स्पष्टम् । तत्फलं

---

(४६८) **पद**—आत्, आचार्याणाम् । **अनुवृत्ति**—अभापितपुंस्कात्, नञ्पूर्वाणामपि, आतः स्थाने, प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्य, अतः, आपि । **विधिसूत्र** (विकल्प) ।

मूलार्थ—पूर्वसूत्र के विषय में विकल्प से आत्व होता है । गङ्गका । भाषितपुंस्क में शुभ्रिका ।

विवरण—'इत्व'–प्रकरण का यह अन्तिम सूत्र है । अभाषितपुंस्क शब्दों के सम्बन्ध में अन्य आचार्यों का मत व्यक्त किया जारहा है । अतः सर्वप्रथम "अभाषितपुंस्काच्च" (७-३-४८) सूत्र से 'अभाषितपुंस्कात्' की अनुवृत्ति की जारही है । इसके साथ ही स्थानी तथा आदेश–वाचक पदों एवं निमित्तवाचक पदों का परिज्ञान होने के लिये ७-३-४७, ७-३-४६, ७-३-४४ सूत्रों से आवश्यक पदों की अनुवृत्ति की जारही है । इसके फलस्वरूप 'अभाषितपुंस्क' से विहित प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व आकारस्थानिक अकार को नञ्पूर्व तथा अनञ्-पूर्व दोनों तरह की स्थिति में आचार्यों के मत में (उदीच्य आचार्यों से अन्य) आकार (आत्) आदेश होता है । उदीच्य आचार्यों के मत में 'आ'कार आदेश नहीं होगा । उस स्थिति में पूर्वसूत्र से इत्व की वैकल्पिक प्रवृत्ति होगी तथा पक्ष में अकार ही रहेगा । इस प्रकार अभाषित-पुंस्क (नित्य स्त्रीलिङ्ग) शब्दों में तीन रूप बनेंगे । **उदाहरण**–१–गङ्गाका (प्रकृत सूत्र से अ = आ), २–गङ्गिका ('आ'कार न होने पर पूर्वसूत्र से पाक्षिक इत्व), ३–गङ्गका ('इत्व' न होने पर आ = अ—ह्रस्व–"केऽणः–७-३-१४) । 'भाषितपुंस्क' में "प्रत्ययस्थात्०" (४६४) से नित्य 'इ'कार होगा—शुभ्रिका (शुभ्रा+कप्, टाप्, दीर्घ, ह्रस्व तथा नित्य इत्व) ।

(४६९) **पद**—अनुपसर्जनात् । **अनुवृत्ति**—स्त्रियाम्, प्रत्ययः । **अधिकारसूत्र** ।

मूलार्थ—"यूनस्तिः" सूत्र-पर्यन्त इसका अधिकार है । स्त्रीप्रत्ययों में तदन्तविधि करने में यह ज्ञापक है ।

विवरण—यह अधिकारसूत्र है । "यूनस्तिः" (४-१-७७) तक इसकी अभिव्याप्ति रहेगी । तदनुसार इससे आगे विधीयमान 'टाप्' आदि स्त्री–प्रत्यय 'अनुपसर्जन' प्रातिपदिक से हुआ करेंगे, उपसर्जनयुक्त से नहीं । यहाँ "प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्" (१-२-४३) से विहित 'उपसर्जन'–संज्ञा से अभिप्राय नहीं है, किन्तु यहाँ उपसर्जन का शाब्दिक अर्थ 'गौण' लिया जाता है । एवम् 'अनुपसर्जन' का अर्थ 'प्रधान' है । व्याकरण में 'उपसर्जन' यह शब्द है जिसका अपना मूल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञापयति। (४७०) टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः ४।१।१५॥ ङ्नुपसर्जनं यट्टिदादि तदन्तं यददन्तं प्रातिपदिकं ततः स्त्रियां ङीप् स्यात्। कुरुचरी। नदट् नदी। उपसर्जनत्वान्नेह—बहुकुरुचरा। वक्ष्यमाणेत्यत्र टित्त्वादुगित्त्वाच्च ङीप्प्राप्तः

तु 'वनो र च' इत्यत्र वन्नन्तान्तलाभ इत्यादि ज्ञेयम्। ननु स्त्रीप्रत्ययेषु तदन्तविध्यभावेऽपि नद इवाचरति नदा स्त्री इत्यादिषु आचारक्विबन्तप्रकृतिककर्तृक्विबन्तेषु ङीबादिनिवृत्तये अनुपसर्जनाधिकारस्यावश्यकत्वात् कथं तस्य स्त्रीप्रत्ययविधिषु तदन्तविधिषु तदन्तविधिज्ञापकतेति चेत्, न—अनुपसर्जनाधिकारस्य स्त्रीप्रत्ययविधिषु तदन्तविधिज्ञापनार्थत्वपरभाष्यप्रामाण्येन स्त्रियामाचारक्विबन्तप्रकृतिककर्तृक्विबन्तानामनभिधानोन्नयनादित्यलम्।

(४७०) टिड्ढाणञ्। टित्, ढ, अण्, अञ्, द्वयसच्, दघ्नच्, मात्रच्, तयप्, ठक्, ठञ्, कञ्, क्वरप् एषां द्वादशानां समाहारद्वन्द्वात् पञ्चम्येकवचनम्। ढादयः एकादश प्रत्ययाः। प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तग्रहणम्। टित्तु प्रत्ययः अप्रत्ययश्च। टिदादिभिश्च प्रातिपदिकादित्यधिकृतं विशेष्यते, विशेषणत्वात् तदन्तविधिः। ततश्च टिदन्तात् ढाणादिप्रत्ययान्तान्ताच्च प्रातिपदिकादिति लभ्यते। 'अजाद्यतष्टाप्' इत्यस्मादतः इत्यनुवृत्तम्, तेनापि प्रातिपदिकं विशेष्यते। तदन्तविधिः। 'अनुपसर्जनात्' इत्येतत् श्रुतेषु टिदादिष्वेवान्वेति, न तु तदन्तेषु। स्त्रियामित्यधिकृतम्। तदाह—अनुपसर्जनं यट्टिदादीत्यादिना। तदन्तमिति। टिदन्तं ढादिप्रत्ययान्तं चेत्यर्थः। टित् त्रिविधः—प्रत्ययः, प्रातिपदिकम्, धातुश्च। तत्राद्यमुदाहरति—कुरुचरीति। कुरुषु चरतीति अधिकरणे उपपदे 'चरेष्टः' इति कर्तरि टः। टकार इत्। उपपदसमासः। न च प्रत्ययस्यैवात्र टित्त्वात् प्रत्ययग्रहणपरिभाषया चरेत्येव टिदन्तम्, न तु कुरुचरशब्दः, तदादिनियमादिति वाच्यम्, नदट् देवट् इत्यादेरप्रत्ययस्यापि टितः सत्त्वेन तत्र प्रत्ययग्रहणपरिभाषाया अप्रवृत्तौ 'येन विधिः' इति टिदन्तत्वस्य कुरुचरशब्दे सत्त्वात्। अथ द्वितीयं टितमुदाहरति—नदडिति। पचादिगणे पठितं प्रातिपदिकमेतत्। तृतीयं तु कृदन्ते स्तनन्धयीत्युदाहरिष्यते। अनुपसर्जनत्वविशेषणस्य प्रयोजनमाह—उपसर्जनत्वान्नेहेति। बहुकुरुचरेति। बहवः कुरुचराः यस्यामिति विग्रहः। बहुव्रीहिरयमन्यपदार्थप्रधानः। ततश्च टितः टप्रत्ययस्य उपसर्जनत्वान्न ङीप्। अनुपसर्जनत्वस्य प्रातिपदिकविशेषणत्वे तु ङीबत्र दुर्वारः। अत एव च आपिशलिना प्रोक्तमधीते आपिशला ब्राह्मणीत्यत्रापि न ङीप्। तत्र हि आपिशलिना प्रोक्तमित्यर्थे 'तेन प्रोक्तम्' इत्यणि आपिशलशब्दः। आपिशलमधीते

स्वतन्त्र स्वरूप व्युत्पत्ति के कारण या रचना में प्रयुक्त होने के कारण बदल गया हो और इसके साथ ही वह दूसरे शब्द के अर्थ का भी निर्धारण करे। बहुव्रीहि-समास में अन्यपदार्थ-प्रधान होने के कारण यह स्थिति दिखाई पड़ती है।

(४७०) पद—टिड्ढाणञ्···क्वरपः। अनुवृत्ति—अतः, ङीप्, स्त्रियाम्, अनुपसर्जनात्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—अनुपसर्जन टिदाद्यन्त अदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय होता है। कुरुचरी। उपसर्जन होने से 'बहुकुरुचरा' में ङीप् नहीं हुआ। नदट्>नदी। 'वक्ष्यमाणा' में 'ट्'-इत् तथा 'उक्'-इत् होने से 'ङीप्' प्रत्यय प्राप्त होता है, तथापि 'यासुट्' के 'ङित्'-विधान से यह ज्ञापन किये जाने से कि आदेश होने पर लकाराश्रित अनुबन्ध-कार्य न होने के कारण 'ङीप्' नहीं होता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यासुटो ङित्त्वेन 'लाश्रयमनुबन्धकार्यं नादेशानाम्' (प ७०) इति ज्ञापनान्न भवति । श्नः शानचः शित्त्वेन क्वचिदनुबन्धकार्येऽप्यनल्विधाविति निषेधज्ञापनाद्वा । सौपर्णेयी । ऐन्द्री ।

इत्यर्थे 'तदधीते तद्वेद' इत्यणि 'प्रोक्ताल्लुक्' इति लुप्ते स्त्रियामदन्तत्वाट्टापि आपिशलेति रूपम् । अनुपसर्जनादित्यस्य प्रातिपदिकविशेषणत्वे प्रोक्ताणन्तस्यानुपसर्जनत्वात् स्त्रियां वर्तमानत्वाच्च अणन्तत्वनिबन्धनो ङीप् दुर्वारः स्यात् । तस्य च श्रुतटिदाद्यन्वये तु प्रोक्ताणः उपसर्जनत्वान्न दोषः । अध्येत्रण् तु लुप्तः, अणो योऽकारः इति व्याख्यानेन वर्णाश्रयतया प्रत्ययलक्षणाभावात् । न च 'स्त्रियाम्' इत्यस्य श्रुतटिदादिविशेषणत्वात् प्रोक्ताणश्च स्त्रियामवर्तनादेव न ङीपः प्रसक्तिरिति वाच्यम्, ज्ञापिते तदन्तविधौ प्राधान्यात् 'स्त्रियाम्' इत्यस्य ङीप्प्रकृतिविशेषणतायां एव उचितत्वात्, अन्यथा अनुपसर्जनाधिकारवैयर्थ्याच्च । अत एव धीवानमतिक्रान्ता अतिधीवरीत्यादि सिद्धमित्यलम् । स्यादेतत्—'वच परिभाषणे' अस्मात् कर्मणि लृट्, 'लृटः सद्वा' इति तस्य शानजादेशः, 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्यः, कुत्वपत्वे, आने मुक । णत्वम्, टाप्, वक्ष्यमाणेति रूपम् । अत्र लृडादेशस्य स्थानिवत्त्वेन टित्त्वादुगित्त्वाच्च 'टिड्ढाणञ्' इति 'उगितश्च' इति च ङीप् प्राप्नोति । न च स्थानिनो लृटष्टकारस्य ऋकारस्य च इत्त्वाश्रयणात् ङीब्रेधेरल्विधित्वादनल्विधाविति निषेधः शङ्क्यः, 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' इति किति विहितस्य ईत्त्वस्य 'न ल्यपि' इति निषेधेन लिङ्गेन अनुबन्धकार्ये अनल्विधाविति निषेधाभावज्ञापनात् । अनुबन्धकार्येऽप्यनल्विधाविति निषेधप्रवृत्तौ हि क्त्वादेशस्य ल्यपः कित्त्वाप्रसक्तेस्तस्मिन् परतः ईत्त्वस्याप्रसक्त्या तन्निषेधवैयर्थ्यं स्पष्टमेव । अतो वक्ष्यमाणेत्यत्र स्थानिवत्त्वेन शानचष्टित्त्वादुगित्त्वाच्च ङीप् दुर्वार इत्याशङ्क्य परिहरति—वक्ष्यमाणेत्यादिना । वक्ष्यमाणेत्यत्र टित्त्वादुगित्त्वाच्च ङीप् प्राप्तो न भवतीत्यन्वयः । कुतो नेत्यत आह—यासुट इत्यादि ज्ञापनादित्यन्तम् । 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' इति लिङादेशानां तिप्, तस्, झि इत्यादिपरस्मैपदानां यासुडागमस्य ङित्त्वं विहितम् । 'यदागमाः' इति न्यायेन यासुडागमो लिङादेशावयवः । ततश्च स्थानिवत्त्वेनैव ङित्त्वसिद्धेर्यासुटस्तद्विधिवैयर्थ्यं स्यात् । अतः 'लाश्रयमनुबन्धकार्यमादेशानां न' इति विज्ञायते । ततश्च वक्ष्यमाणेत्यत्र लृडादेशस्य शानचः टिदुगित्कार्ये ङीपि कर्तव्ये स्थानिवत्त्वाभावान्न ङीवित्यर्थः । ननु 'लाश्रयमनुबन्धकार्यमादेशानां न' इति ज्ञापनेऽपि ब्रूतादित्यत्र 'ब्रुव ईट्' इति पितो विधीयमान ईडागमो दुर्वारः । तस्य तिबाश्रयत्वेऽपि लाश्रयत्वाभावेन तस्मिन् कर्तव्ये ततः स्थानिवत्त्वेन पित्त्वस्य निर्बाधत्वादित्यस्वरसादाह—श्नः शानच इति । श्ना

अथवा 'श्ना' के स्थान में विधीयमान 'शानच्' में भी 'श्' की इत्-संज्ञा करने के फलस्वरूप कहीं-कहीं अनुबन्ध कार्य में भी स्थानिवद्भाव का निषेध (अनल्विधौ) ज्ञापित करने से 'ङीप्' की प्रवृत्ति नहीं होती । सौपर्णेयी । ऐन्द्री । औत्सी । ऊरुद्वयसी । ऊरुदघ्नी । ऊरुमात्री । पञ्चतयी । आक्षिकी । लावणिकी । यादृशी । इत्वरी । स्वभाव-अर्थ के द्योतक 'ण' प्रत्यय में भी ङीप् होता है । चौरी । वा० नञ्, स्नञ्, ईकक और ख्युन् प्रत्ययान्त से तथा तरुण, तलुन शब्दों से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीप्' प्रत्यय होता है । स्त्रैणी । पौंस्नी । शाक्तीकी । आढ्यङ्करणी । तरुणी । तलुनी ।

विवरण—प्रकृत सूत्र से भी 'ङीप्' प्रत्यय का विधान किया जारहा है । 'प्रत्यय' होने के कारण 'ङीप्' की स्थिति प्रातिपदिक से 'पर' होगी । अतः इसका परिज्ञान होने के लिये "ऋन्नेभ्यो ङीप्" (४-१-५) से 'ङीप्', "ङ्याप्प्रातिपदिकात्" (४-१-१) से प्रातिपदिकात्, "अजाद्यतष्टाप्" (४-१-४) से 'अतः' तथा "स्त्रियाम्" (४-१-३) सूत्र की अनुवृत्ति अपेक्षित है । इसके अतिरिक्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औत्सी । ऊरुद्वयसी । ऊरुदघ्नी । ऊरुमात्री । पञ्चतयी । आक्षिकी । लावणिकी । यादृशी ।

इत्यस्मात् षष्ठ्येकवचने आल्लोपे श्न इति रूपम्, 'आतो धातोः' इत्यत्र आत इति योगविभागमाश्रित्य अधातोरपि क्वचिदाल्लोपाभ्युपगमात्। 'हलः श्नः शानज्झौ' इति श्नाप्रत्ययस्य शानजादेशो विधीयते। तत्र स्थानिवत्त्वेनैव सिद्धत्वात् शानचः शित्त्वं व्यर्थम्। न चानल्विधाविति निषेधः शङ्क्यः, 'न ल्यपि' इति लिङ्गेन अनुबन्धकार्ये अनल्विधाविति निषेधाभावस्यानुपदमेवोक्तत्वात्। एवं च क्वचिदनुबन्धकार्येऽपि अनल्विधाविति निषेधप्रवृत्तिर्विज्ञायते। तथा च वक्ष्यमाणेत्यत्र टिदुगित्कार्ये ङीपि अनल्विधाविति निषेधप्रवृत्त्या स्थानिवत्त्वाभावेन टित्त्वोगित्त्वयोरभावात् न ङीबित्यर्थः। वस्तुतस्तु 'लाश्रयमनुबन्धकार्यं नादेशानाम्' इत्यत्र यासुटो ङित्त्वं न ज्ञापकम्, तस्य तिप्सिब्मिबर्थत्वात्। नहि लिङादेशत्वेऽपि तिप्सिब्मिपां ङित्त्वं स्थानिवत्त्वलभ्यम्, 'हलः श्नः शानज्झौ' इति सूत्रे भाष्ये 'ङिच्च पिन्न, पिच्च ङिन्न' इति प्रपञ्चितत्वात्। तथा श्नश्शानचः शित्त्वमपि न लिङ्गम्, तत्र शित्त्वस्य भाष्ये प्रत्याख्यातत्वात् प्रत्युत शित्त्वस्य ज्ञापकत्वे 'सेर्ह्यपिच्च' इति हेरपित्त्वस्य तातङो ङित्त्वस्य च वैयर्थ्यमिति भाष्ये दूषणाभिधानाच्च। तस्मात् वक्ष्यमाणेत्यत्र ङीबेव युक्तः, टाप् त्वसाधुरेव। अजादित्वाट्टाबिति वा कथञ्चित् समाधेयमित्यास्तां तावत्। सौपर्णेयीति। सुपर्ण्याः अपत्यं स्त्री इत्यर्थे 'स्त्रीभ्यो ढक्' इति ढकि 'आयनेय्' इत्येयादेशः। 'यस्येति च' इतीकारलोपः, 'किति च' इत्यादिवृद्धिः। सौपर्णेयशब्दात् ङीप्, 'यस्येति च' इत्यकारलोपः, सौपर्णेयीति रूपम्। न च 'निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य' इति परिभाषया 'शिलाया ढः' 'ढश्छन्दसि' इत्यनयोरेव ग्रहणमिति वाच्यम्, तयोः स्त्रियामप्रवृत्तेरगत्या सानुबन्धकस्य ढस्याग्रहणादिति भाष्ये स्पष्टम्। ऐन्द्रीति। इन्द्रो देवता अस्या आमिक्षाया इति विग्रहः, 'साऽस्य देवता' इत्यणि, 'यस्येति च' इत्यकारलोपः, आदिवृद्धिः ऐन्द्रशब्दात् ङीप्, 'यस्येति च' इत्यकारलोपः। इन्द्रस्येयमिति वा विग्रहः, 'तस्येदम्' इत्यण्। औत्सीति। 'उत्सः प्रस्रवणं वारि' इत्यमरः। ऋषि-

---

"अनुपसर्जनात्" (४-१-१४) अधिकार होने से 'स्त्रीप्रत्यय' प्रकरण में तदन्तविधि होने के कारण सूत्र में प्रयुक्त 'टित्' 'ढ' आदि में सर्वत्र तदन्त शब्दों से 'ङीप्' प्रत्यय होगा। सूत्र में एक ही समासयुक्त-पद है—'टिड्ढाणञ्'··'क्वरपः'। उसमें समाहार-द्वन्द्व समास है—'टित् च, ढश्च, अण् च, अञ्च, द्वयसच् च, दघ्नच् च, मात्रच् च, तयप् च, ठक् च, ठञ् च, कञ् च, क्वरप् च—ढिड्ढाणञ्'··'क्वरप्, तस्मात्'··'क्वरपः। सूत्रस्थ 'टिड्ढाणञ्'··'क्वरपः' पूरा पद तथा अनुवृत्त 'अतः' पद 'प्रातिपदिकात्' के विशेषण हैं। अतः इनमें तदन्तविधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि—१-टित्-अन्त (जिसके अन्त में 'इत्-संज्ञक टकार' या 'टकार'-इत्संज्ञक प्रत्यय हो), २—ढ-प्रत्ययान्त, ३—अण्प्रत्ययान्त, ४—अञ्प्रत्ययान्त, ५—द्वयसच् प्रत्ययान्त, ६—दघ्नच्-प्रत्यान्त, ७—मात्रच्-प्रत्ययान्त, ८—तयप्-प्रत्ययान्त, ९—ठक्-प्रत्ययान्त, १०—ठञ्-प्रत्ययान्त, ११—कञ्—प्रत्ययान्त तथा १२—क्वरप्-प्रत्ययान्त अकारान्त अनुपसर्जन प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीप्' (ई) प्रत्यय होता है"। यह 'ङीप्' प्रत्यय 'टाप्' प्रत्यय का अपवाद है। इनके क्रमशः उदाहरण—१-'टित्' प्रत्ययान्त-(क) कुरुचर>कुरुचरी। 'कुरुषु चरति' (=कुरुदेश में चलनेवाली) अर्थ में अधिकरण उपपद रहते "चरेष्टः" (३-२-१६) से 'ट' प्रत्यय एवं उपपद समास हुए। 'ट' में 'ट्' का इत्संज्ञा होती है, 'अ' मात्र अवशेष रहता है। अतः कुरुचर्+अ=कुरुचर+ई (ङीप्), <कुरुचरी ('अ' का लोप "यस्येति च" (३११)। (ख) 'टित्' प्रातिपदिक-नदट्>नदी। 'नृदट्' पचादिगण-पठित प्रातिपदिक है। उसका अर्थ नदी है। 'ट्' की इत्संज्ञा है। (ग) टित् धातु-स्तनन्धय>स्तन्धयी। यहाँ '√धेट

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्वरी। 'ताच्छीलिके णेऽपि' (प ६८)। चौरी। नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुप-

---

विशेषो वा उत्सः। उत्सस्येयमिति विग्रहः। 'उत्सादिभ्योऽञ्', 'यस्येति च' ङीप्। उत्स-स्यापत्यं स्त्री औत्सी इति तु नोदाहरणम्। जातेरित्यनुवृत्तौ 'शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्' इत्येव सिद्धेः, 'गोत्रं च चरणैः सह' इत्यपत्यप्रत्ययान्तस्य जातित्वादित्यलम्। ऊरुद्वयसी ऊरुदघ्नी ऊरुमात्रीति। ऊरु प्रमाणमस्या इति विग्रहः। 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः'। ङीप्। पञ्चत-यीति। पञ्च अवयवा यस्या इति विग्रहः। 'सङ्ख्याया अवयवे तयप्'। ङीप्। आक्षिकीति। अक्षैर्दीव्यतीति विग्रहः। 'तेन दीव्यति खनति जयति जितम्' इति ठक्, आदिवृद्धिः, 'यस्येति च' इत्यकारलोपः। आक्षिकशब्दात् ङीप्, 'यस्येति च'। लावणिकीति। लवणं पण्यमस्या इति विग्रहः। 'लवणाट्ठञ्', 'ठस्येकः', आदिवृद्धिः, 'यस्येति च', लावणिक-शब्दात् ङीप्, 'यस्येति च'। ठेत्येव सिद्धे ठक्ठञोः पृथग्ग्रहणं तु ठनो ञिठस्य च व्यावृ-त्त्यर्थम्। दण्डोऽस्त्यस्याः दण्डिका, 'अत इनिठनौ'। काश्यां भवा काशिका, 'काश्यादिभ्य-ष्ठञ्ञिठौ' इति ञिठः। यादृशीति। 'त्यदादिषु दृशः' इति यच्छब्दे उपपदे कञ्, 'आ सर्वनाम्नः' इति यच्छब्दस्याकारः, ङीप्, 'यस्येति च'. इत्वरीति। 'इण् गतौ' 'इण्नशजि-

---

पाने' धातु टित् है। 'स्तनं धयति' (= स्तन को पीता है) अर्थ में कर्म उपपद रहते √धेट् धातु से "नासिकास्तनयोर्धर्माधिटोः" (३-२-२९) से 'खश्' (अ) प्रत्यय तथा उपपद समास होते हैं। अतः स्तनन्धय ('मुम्' आगम तथा अय्-आदेश)+ई (ङीप्) = स्तनन्धयी (= छोटी बच्ची, माँ का स्तन पान करने वाली)। २—ढ—सौपर्णेय>सौपर्णेयी (सुपर्णीकी पुत्री–गरुड की बहन) सुपर्णी+ढक्, <सुपर्णी+एय (ढ् = एय्), <सौपर्णी+एय (आदिवृद्धि), <सौपर्ण्+एय ('ई'-लोप–"यस्येति च"–३११) <सौपर्णेय+ई ('अ'-लोप)। ३—अण्–ऐन्द्र> ऐन्द्री (=इन्द्र सम्बन्धिनी)। इन्द्र+अण् ("साऽस्य देवता" ४-२-२४), <ऐन्द्र (आदिवृद्धि, अलोप), <ऐन्द्र +ई (ङीप्), <ऐन्द्री ('अ' का लोप)। ४—अञ्–औत्स>औत्सी (झरना-सम्बन्धी) उत्स+अ (अञ्–"उत्सादिभ्योञ्"–४-१-८६), <औत्स (आदिवृद्धि, 'अ'लोप), <औत्स+ई (ङीप्), =औत्सी 'अ'लोप। ५—द्वयसच् ऊरुद्वयस>ऊरुद्वयसी (जाँघतक जलवाली तलैया)। ऊरु+द्वय-सच् ("प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः"–५-२-३७), <ऊरुद्वयस्+ई (ङीप्), <ऊरुद्वयसी (अकार का लोप)। ६—दघ्नच्–ऊरुदघ्न>ऊरुदघ्नी (अर्थ ५ के समान)। ऊरु+दघ्नच्, <ऊरुदघ्न+ ई (ङीप्)। ७—मात्रच्–ऊरुमात्र>ऊरुमात्री (अर्थ ५ के समान)। यहाँ भी ऊरु+मात्रच्, <ऊरुमात्र+ई। ८—तयप्–पञ्चतय>पञ्चतयी (=पाँच अवयववाली)। पञ्च+तयप् ("संख्याया अवयवे तयप्"–५-२-४२), <पञ्चतय+ई (ङीप्)। ९—ठक्–आक्षिक>आक्षिकी (= पासों से खेलनेवाली)। अक्ष+ठक् ("तेन दीव्यति खनति जयति जितम्" ४-४-२), <अक्ष+इक (ठ = इक), <आक्ष्+इक (आदिवृद्धि, 'अ' का लोप), <आक्षिक+ई, आक्षिकी ('अ' का लोप)। १०—ठञ्–लावणिक>लावणिकी (=लवण बेचनेवाली)। लवण+ठञ्, ("लवणाट्ठञ्" ४-४-५२) <लावण+इक, (आदिवृद्धि, ठ=इक), <लावणिक ('अ' का लोप), <लावणिक+ई=लावणिकी। ११—कञ्–यादृशी (=जैसी)। यत्–दृश्+अ (कञ्–"त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च" ३-२-६०), <यादृश+ई, (त्=आ', दीर्घ, ङीप्) <यादृशी ('अ' का लोप)। १२—क्वरप्–इत्वर>इत्वरी (कुलटा)। √इ+वर (क्वरप्–"इण्नसर्जिसर्तिभ्यः क्वरप्" ३-२-१६३), <इत्वर ('तुक्'–आगम–"ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" ६-१-७१), <इत्वर+ई, (ङीप्), <इत्वरी ('अ' का लोप)। (परि०) अर्थ—शील (स्वभाव) अर्थ में विधीयमान 'ण' प्रत्यय को अभिलक्षित कर तदन्त प्रातिपदिक से 'ङीप्' प्रत्यय होगा। इस ज्ञापन में "कार्मस्ताच्छील्ये" (६-४-१७२) सूत्र प्रमाण है। वहाँ की स्थिति इस प्रकार है—प्रथमान्त 'कर्मन्' से शील अर्थ में "छत्रादिभ्यो णः" (४-४-६२) से 'ण' (= अ) प्रत्यय होने पर आदिवृद्धि होकर 'कार्मन्+अ'—इस स्थिति में "अन्" (६-४-१६७)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सङ्ख्यानम् (वा २४२५)। स्त्रैणी। पौंस्नी। शाक्तीकी। आढ्यङ्करणी। तरुणी। तलुनी।

सर्तिभ्यः क्रप्', 'ह्रस्वस्य पिति कृति' इति तुक्, इत्वरशब्दात् ङीप्, 'यस्येति च'। 'स्थेशभास' इति वरचो व्यावृत्तये ककारानुबन्धग्रहणम्। 'विन्यस्तमङ्गलमहौषधिरीश्वरायाः' इति भारविः। 'सैनमीश्वरा प्रदह' इति वेदे। क्रपि अन्यतरानुबन्धेनैव वरचो व्यावृत्तिसिद्धेः अनुबन्धद्वयोपादानं स्पष्टार्थम्। ईश्वरी तु ईश्वरशब्दात् ईश्वरस्य स्त्रीति पुंयोगे ङीप्। अथवा 'अश्नोतेराशुकर्मणि वरट् च' इति वरडन्तात् टित्वात् ङीप्। यद्वा 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च', 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति क्वनिपि वनिपि वा 'वनो र च' इति ङीब्रौ। ताच्छीलिके णेऽपीति। तच्छीले भवस्ताच्छीलिकः। तच्छीलार्थक इति यावत्। तस्मिन् णप्रत्यये सति तदन्तादपि ङीप् भवतीत्यर्थः। ज्ञापकसिद्धमेतत्। तथाहि—शीलमित्यनुवृत्तौ 'छत्रादिभ्यो णः' इति विहिते णप्रत्यये अण्कार्यं भवति, 'कार्मस्ताच्छील्ये' इति ज्ञापकात्। कर्म शीलमस्येति विग्रहे छत्रादित्वात् णप्रत्यये, 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे, कार्म इति भवति। न तु 'अन्' इति सूत्रेण अण्यन् प्रकृत्या स्यादित्यर्थकेन प्रकृतिभाव इति तदर्थः। अत्र अणि विहितस्य प्रकृतिभावस्य णप्रत्यये परतः प्रतिषेधात् ताच्छीलिके णप्रत्यये अण्कार्यं विज्ञायते। अतस्ताच्छीलिकणप्रत्ययान्तादण्कार्यं ङीप् भवतीति भावः। चौरीति। चुरा शीलमस्या इति विग्रहः। छत्रादित्वात् णः, आदिवृद्धिः, 'यस्येति च', चौरशब्दात् ङीपि, 'यस्येति च'। नञ्स्नञ्। नञ्, स्नञ्, ईकक्, ख्युन्, तरुण, तलुन एतेषामपि ङीब्विधौ वचनं कर्तव्यमित्यर्थः। नञादयश्चत्वारः प्रत्ययाः,

---

से प्राप्त टिलोपाभाव का निषेध करने के लिए अर्थात् 'टि'-लोप ('अन्' का लोप) करने के लिये "कार्मस्ताच्छील्ये" (६-४-१७२) सूत्र विद्यमान है। इस सूत्र के बिना भी 'कार्मः' रूप निष्पन्न हो सकता है। कारण यह है कि 'टि-लोप' तो "नस्तद्धिते" (६-४-१४४) से प्राप्त है और 'अण्' प्रत्यय परवर्ती न होने के कारण "अन्" (६-४-१६७) से विधीयमान प्रकृतिभाव होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार "कार्मस्ताच्छील्ये" (६-४-१७२) सूत्र की कोई उपयोगिता नहीं है। व्यर्थ होने के कारण उससे यह ज्ञापित होता है कि तच्छीलार्थक 'ण' प्रत्यय को 'अण्' के समान समझा जाय। इसके फलस्वरूप चौर>चौरी (= चोरी करने वाली स्त्री) रूप निष्पन्न होता है। चोर+ण (अ), <चौर+अ, (आदिवृद्धि), <चौर्+अ ('अ'-का लोप), <चौर+ई (ङीप्)—चौरी ('अ'-का लोप)। (वा०) अर्थ—नञ्, स्नञ्, ईकक् तथा ख्युन् प्रत्ययान्त शब्दों से एवं तरुण तथा तलुन प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीप्'-प्रत्यय का विधान किया जारहा है। इनके क्रमशः उदाहरण दिये जारहे हैं—१-नञ्-स्त्रैण>स्त्रैणी (=स्त्री सम्बन्धिनी)-स्त्री+न (नञ्-"स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्" ४-१-८७), <स्त्रै+न (आदिवृद्धि), <स्त्रैण (न्=ण), <स्त्रैण+ई (ङीप्), <स्त्रैणी ('अ' का लोप), २—स्नञ्-पौंस्न>पौंस्नी (पुरुष-सम्बन्धिनी)—पुंस्+स्नञ् (४-१-८७), <पौंस्-स्न (आदिवृद्धि), <पौंस्न ('स्'-का संयोगान्त-लोप), <पौंस्न+ई (ङीप्), <पौंस्नी ('अ' का लोप)। ३—ईकक्-शाक्तीक>शाक्तीकी (='शक्ति' नामक अस्त्रवाली)-शक्ति+ईकक् ("शक्तियष्टयोरीकक्" ४-४-५९), <शाक्ति+ईक (आदिवृद्धि), <शाक्तीक ('इ' का लोप), <शाक्तीक+ई (ङीप्), <शाक्तीकी ('अ'का लोप)। ४—ख्युन्-आढ्यंकरण> आढ्यंकरणी (=धनी बनाने वाली)-आढ्य-कृ+यु (ख्युन्), <आढ्य-कृ+अन (यु=अन), <आढ्यम्-कृ-अन ('मुम्' आगम), <आढ्यं कृ+अन (म्=अनुस्वार), <आढ्यङ्कृ+अन (परसवर्ण), <आढ्यङ्करन (ऋ=अर्-गुण), <आढ्यङ्करण (णत्व), <आढ्यङ्करण+ई (ङीप्), <आढ्यकरणी ('अ' का लोप)। ५—तरुण>तरुणी (युवति)। तरुण+ई (ङीप्), <तरुणी ('अ' का लोप)। ६—तलुन>तलुनी। तलुन+ई (ङीप्), <तलुनी ('अ' का लोप)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतस्तदन्तविधिः। स्त्रैणी पौंस्नीति। 'स्त्रीपुंसाभ्याम्' इति नञ्स्नञौ। तत्र स्त्रीशब्दान्नञि आदिवृद्धिः, णत्वम्, ङीप्, यस्येति च। पुंशब्दात् स्नञि आदिवृद्धिः, ङीप्, 'यस्येति

विशेष—प्रकृत-सूत्र "अनुपसर्जनात्" (४-१-१४) अधिकार के अन्तर्गत है। इसके फलस्वरूप 'बहुकुरुचरा' में 'ङीप्' प्रत्यय नहीं होता। इसका कारण यह है कि 'बहुकुरुचरा' में बहुव्रीहिसमास हुआ है (बहवः कुरुचराः यस्याम्)। बहुव्रीहि-समास में अन्यपदार्थ-प्रधान होता है। अतः 'ट्'-इत्संज्ञक ('ट' प्रत्ययान्त) प्रातिपदिकार्थ अन्य-पदार्थ (नगरी) में विशेषण (उपसर्जन) है। इस कारण यहाँ 'ट्' इत्संज्ञा-निमित्तक 'ङीप्' प्रत्यय नहीं हुआ। अनुपसर्जन को यदि प्रातिपदिक का विशेषण माना जाता तो यहाँ 'ङीप्' होने लगता। इसके अतिरिक्त "अनुपसर्जनात्" (४-१-१४) अधिकार स्त्री-प्रत्यय में तदन्तविधि का ज्ञापक भी है। यह सामान्य नियम है कि प्रत्यय का ग्रहण होने पर तदन्तविधि होती है। तथापि 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति' नियम से तदन्तविधि का निषेध होने के फलस्वरूप 'बहुकुरुचरा' में 'ङीप्' की प्राप्ति नहीं रही तो "अनुपसर्जनात्" (४-१-१४) की क्या उपयोगिता है? अतः वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि 'स्त्री-प्रत्यय' प्रकरण में तदन्तविधि होती है। तदन्तविधि होने पर 'ङीप्' प्राप्ति के निवारण करने में उसकी चरितार्थता है। इसी के फलस्वरूप 'अतिधीवरी' (धीवानम् अतिक्रान्ता) में भी 'ङीप्' प्रत्यय एवं 'र्' आदेश सिद्ध होते हैं। इससे यह तात्पय निकला कि "स्त्रियाम्" पद प्रधान प्रातिपदिकार्थ का ही विशेषण है।[1]

प्रासङ्गिक शङ्का—'वक्ष्यमाणा' में 'ङीप्' क्यों नहीं होता? सम्भावना इस प्रकार है—√वच् धातु से कर्म में लृट् लकार हुआ, उसके स्थान पर "लृटः सद्वा" (३-३-१४) से 'शानच्' आदेश (वच्+लृट्>शानच्), 'स्य' विकरण (वच्+स्य+आन), कुत्व (वक्+स्य+आन), पत्व (वक्+ष्य+आन), मुक् (म्) आगम (वक्+ष्य+म्-आन), णत्व (वक्ष्यमाण) तथा टाप् करने पर 'वक्ष्यमाणा' रूप निष्पन्न होता है। यहाँ 'लृट्' के स्थान पर 'शानच्' आदेश हुआ है। 'लृट्' के 'ट्' तथा 'ऋ' इत्संज्ञक हैं। 'ऋ'कार का समावेश 'उक्' प्रत्याहार में होता है। अतः स्थानिवद्भाव से 'शानच्' में स्थानिवृत्ति टित्व तथा उगित्व धर्म का आरोप कर "टिड्ढाणञ्०" ४७१ तथा "उगितश्च" ४५५ से 'ङीप्" प्राप्त होने के कारण 'वक्ष्यमाणी' रूप क्यों नहीं हुआ?

समाधान—इसके समाधान में यह कहा जाता है कि अल-विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध होता है (अनल्विधौ)। यहाँ 'ङीप्' की प्रवृत्ति 'लृट्' के 'ट्' तथा 'ऋ' की इत्संज्ञा का आश्रय लेकर होती है। ये दोनों वर्ण 'अल्' वृत्ति (= एक वर्णात्मक) हैं, अतः 'अनल्विधौ' प्रतिषेध के लिए यहाँ अवसर है।

शङ्का—यह कथन समुचित प्रतीत नहीं होता। कारण यह है कि प्रदाय (प्र-दा+क्वा>ल्यप्) प्रस्थाय (प्र-स्था+क्त्वा>ल्यप्) इत्यादि स्थलों में 'क्त्वा' के स्थान पर विधीयमान 'ल्यप्' आदेश में स्थानिवद्भाव से 'क्त्वा' प्रत्ययवृत्ति 'कित्त्व' धर्म का आरोप कर "घुमास्थागापाजहातिसां हलि" (६-४-६६) से 'ईकार' प्राप्त होता है। उसका निवारण करने के लिए पृथक् सूत्र "न ल्यपि" (६-४-६९) विद्यमान है। अन्यथा यहाँ भी 'अनल्विधौ' निषेध की प्रवृत्ति होने से 'ईकार' का निवारण किया जासकता था। अतः "न ल्यपि" (६-४-६९) निषेध व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि इत्संज्ञा-निमित्तक विधान में 'अनल्विधौ' निषेध की प्रवृत्ति नहीं होती। इस ज्ञापन से 'वक्ष्यमाणा' में स्थानिवद्भाव होने के कारण पुनरपि 'ङीप्' प्राप्ति की आशंका बनी हुई है।

समाधान—इसका समाधान करने के लिये पूर्व ज्ञापन में कुछ परिवर्धन किया जारहा है। वह इस प्रकार है कि 'लकारों के आश्रित इत्संज्ञा-विधान आदेशों में नहीं होते'। "यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च" (३-४-१०३) सूत्र का 'ङित्' पद इसका ज्ञापक है। इस सूत्र की प्रवृत्ति 'लिङ्'

---

१. अनुपसर्जनाधिकारेण तदन्तविधौ ज्ञापितेऽपि स्वांशे चारितार्थ्याभावेन प्रातिपदिकविशेषणत्वं स्त्रियामित्यस्योचितमिति भावः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४७१) यञश्च ४।१।१६॥ यञन्तात्स्त्रियां ङीप्स्यात्। अकारलोपे कृते।

च'। शाक्तीकीति। शक्तिः आयुधविशेषः प्रहरणम् अस्या इति विग्रहः। 'शक्तियष्टयोरीकक्' आदिवृद्धिः, ङीप्, 'यस्येति च'। आढ्यंकरणीति। अनाढ्यः आढ्यः क्रियते अनयेति विग्रहः। 'आढ्यसुभग' इत्यादिना ख्युन्। 'युवोः' इत्यनादेशः। 'अरुर्द्विषत्' इति मुम्, णत्वम्, ङीप्, 'यस्येति च'। तरुणी तलुनीति। यद्यप्यनयोः 'वयसि प्रथमे' इत्येव ङीप् सिद्धः, तथापि गौरादिषु पाठात् ङीषि प्राप्ते इदं वचनम्। गौरादिपाठात् ङीपि स्वरे विशेष इति भावः।

(४७१) यञश्च। यञ इति प्रत्ययत्वात्तदन्तग्रहणम्। 'ऋन्नेभ्यः' इत्यतो ङीबित्यनुव-

---

लकार में होती है। √भू धातु से 'लिङ्' लकार होने पर, उसके स्थान में तिप् होकर भू+ति रूप बनता है। इसके बाद इकार लोप (भू+त्), शप् (भू+अ-त्), गुण (भो+अ-त्) और 'अव्' आदेश होते हैं (भवत्)। इस स्थिति में लिङ्स्थानिक परस्मैपद 'तिप्' के 'त्' को 'यासुट्' आगम होता है (भव-यास्-त्)। तदनन्तर 'यास्' को 'इय्' आदेश (भव+इय्-त्), गुण (भवेय्-त्) तथा 'य्'-लोप होकर 'भवेत्' रूप सिद्ध होता है। 'यासुट्'-विधायक सूत्र में 'ङित्'-विधान करने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि आगम में स्थानिद्भाव से आगमी-वृत्ति धर्म का आरोप सम्भव होने के कारण 'यासुट्' में भी 'ङित्त्व' धर्म का आरोप स्वतः सिद्ध है (यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते)। अतः 'ङित्' ग्रहण कर उपर्युक्त ज्ञापन करने की आवश्यकता हुई। उक्त ज्ञापन के फलस्वरूप 'वक्ष्यमाणा' में 'लुट्'-वृत्ति टित्त्व एवम् उगित्त्व का आश्रयण 'शानच्' में नहीं हो सकता। इस हेतु 'ङीप्' प्राप्त नहीं है।

शङ्का—उपर्युक्त समाधान भी समीचीन नहीं है, क्योंकि भाष्यकार ने "सार्वधातुकमपित्" (१-२-४) सूत्र को 'सार्वधातुकम्' तथा 'अपित्' दो सूत्रों में विभक्त किया है। योगविभाग के द्वितीय पद 'अपित्' सूत्र में "यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च" (३-४-१०३) सूत्र से 'ङित्' का अनुकर्षण कर (अ =) 'नञ्' को विधेयपरक मानकर उसके साथ परस्पर अन्वय करने से इस प्रकार व्याख्या की है कि 'ङित् पित् न' (= ङकार-इत्संज्ञक को पकार-इत्संज्ञक नहीं कहा जा सकता) एवम् 'पित् ङित् न' (पकार इत्संज्ञक को ङकार-इत्संज्ञक नहीं कहा जा सकता)। इस व्याख्या के लिये यासुट्-विधायक सूत्र में 'ङित्' पद की सार्थकता व्यक्त की है। अतः 'ङित्' पद से पूर्वोक्त ज्ञापन सम्भव नहीं है। ज्ञापन के अभाव में पुनरपि 'वक्ष्यमाणा' में 'ङीप्' की प्राप्ति बनी रहती है।

समाधान—"हलः श्नः शानज्झौ" (३-१-८३) सूत्र में 'शानच्' का शकार इस बात का ज्ञापक है कि 'अनुबन्धाश्रय कार्य करने में भी कहीं-कहीं 'अनल्विधौ' से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है'। अन्यथा 'शानच्' में स्थानिवद्भाव से श्ना-गत 'शित्त्व' धर्म का आरोप सम्भव रहा।

शङ्का—यह समाधान भी समुपयुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि भाष्यकार ने 'शानच्' के शकार का प्रत्याख्यान किया है। प्रत्युत शित्व को ज्ञापक मानने पर "सेर्ह्यपिच्च" (३-४-८७) से 'सिप्' के स्थान पर विधीयमान 'हि' को अपित्त्व विधान करना एवं 'तातङ्' में 'ङ्'-इत् विधान का व्यर्थ होना—ये दोनों स्पष्टतया अभिलक्षित हैं। इस दोष के कारण 'अनल्विधौ' निषेध की प्रवृत्ति न होने से 'वक्ष्यमाणा' में प्राप्त 'ङीप्' निवारण के लिये दूसरा उपाय आवश्यक है।

उत्तर—इसका अन्तिम समाधान यही है कि 'अजादिगण' में 'वक्ष्यमाण' शब्द के पाठ की कल्पना कर 'टाप्' प्रत्यय किया जाय।

(४७१) पद—यञः, च। **अनुवृत्ति**—अतः, ङीप्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—यञन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीप्' प्रत्यय होता है। अकार का लोप करने पर (आगे 'ञ्फ' का विधान किया जायगा)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४७२) हलस्तद्धितस्य ६।४।१५०॥ हलः परस्य तद्धितयकारस्योपधाभूतस्य लोपः स्यादीति परे। गार्गी। 'अनपत्याधिकारस्थान्न ङीप्' (वा २४२६)। द्वीपे भवा द्वैप्या। अधिकारग्रहणात्—देवस्यापत्यं दैव्या। 'देवाद्यञञौ' इति हि यञ्

तंते। स्त्रियामित्यधिकृतम्। तदाह—यञन्तादिति। यद्यपि 'टिड्ढाणञ्' इति पूर्वसूत्र एव यञ्ग्रहणं कर्तुमुचितम्। तथापि 'प्राचां ष्फ तद्धितः' इत्युत्तरसूत्रे यञ एवानुवृत्तये पृथक् सूत्रमिति भावः। अकारलोपे कृते इति। गार्गीत्युदाहरणं वक्ष्यति। गर्गस्यापत्यं स्त्री इत्यर्थे 'गर्गादिभ्यो यञ्' इति यञ्, आदिवृद्धिः, 'यस्येति च' इति गकारादकारस्य लोपः। गार्ग्यशब्दात् ङीपि 'हलस्तद्धितस्य' इति यकारलोपात् परत्वात् 'यस्येति च' इति यकारादकारस्य लोपे कृते सति प्रक्रिया वक्ष्यत इत्यर्थः।

(४७२) हलस्तद्धितस्य। हल इति दिग्योगे पञ्चमी। परस्येत्यध्याहार्यम्। 'यस्येति च' इति सूत्रात् ईतीत्यनुवर्तते, 'सूर्यतिष्यागस्त्य' इत्यतः 'उपधाया' इति, 'य' इति षष्ठ्यन्तं च 'ढे लोपोऽकद्र्वाः' इत्यतः 'लोप' इति च तदाह—हलः परस्येत्यादिना। अकारलोपात् प्रागेव यकारलोपो न सम्भवति, अकारे सति यकारस्य ईकारपरकत्वाभावात्। ननु कृते अकारलोपे कथं यकारस्य उपधात्वम्। न च अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वं शङ्क्यम्, यलोपविधौ तन्निषेधादिति चेत्, न—यलोपे कर्तव्ये अल्लोपस्याभीयत्वेनासिद्धतया यकारस्य उपधात्वसम्भवात्। उपधाग्रहणानुवृत्तौ तु अल्लोपस्यासिद्धत्वाद्यकारस्य ईकारपरकत्वाभावात् लोपो न स्यात्। यदा तु सूत्रारम्भसामर्थ्यादेवाकारव्यवधानेऽपि यकारस्य लोपः सम्भवतीत्युच्यते, तदा उपधाग्रहणानुवृत्तिर्मास्तु। गार्गीति। इह 'गोत्रं च चरणैः सह' इति जातित्वेऽपि 'जातेरस्त्रीविषयात्' इति न ङीप्, योपधत्वात्। अनपत्याधिकारेति। 'तस्यापत्यम्' इत्यपत्याधिकारविहितभिन्नयञन्तान्न ङीविति वक्तव्यमित्यर्थः। द्वैप्येति। द्वीपे भवेति विग्रहे 'द्वीपादनुसमुद्रं यञ्' इति यञ्। आदिवृद्धिः। 'यस्येति च', टापि सवर्णदीर्घः। अस्य यञः अपत्याधिकारविहितत्वाभावान्नङीविति भावः। नन्वन-

---

विवरण—पाँचों अधिकार-सूत्रों के अतिरिक्त "ऋन्नेभ्यो ङीप्" (४-१-५) से 'ङीप्' की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। 'यञ्' प्रत्यय है। अतः वह तदन्त प्रातिपदिक का बोधक होगा। तदनुसार "'यञ्' प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीप्' प्रत्यय होता है"। अपत्यादि अर्थ में 'यञ्' प्रत्यय (तद्धित-प्रकरण में) विहित है। **उदाहरण**—गार्गी (= गर्गगोत्र की लड़की)। अपत्यार्थ में (गर्गस्य अपत्यं स्त्री) गर्ग शब्द से 'यञ्' ("गर्गादिभ्यो यञ्" ४-१-१०५) प्रत्यय करने पर आदिवृद्धि (गार्ग+य) करने के पश्चात् 'अ'कार का लोप होकर 'गार्ग्य' रूप बनता है। गार्ग्य+ई (ङीप्), <गार्ग्य्+ई (अलोप)।

(४७२) पद—हलः, तद्धितस्य। **अनुवृत्ति**—उपधायाः, ईति, भस्य, अङ्गस्य, लोपः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ईकार पर रहते 'हल्' से परवर्ती उपधास्वरूप तद्धित-यकार का लोप होता है। गार्गी। अपत्याधिकारस्थ न होने के कारण 'ङीप्' नहीं हुआ। द्वीप में होने वाली द्वैप्या। अधिकार ग्रहण होने से 'देव का अपत्य' अर्थ में दैव्या। "देवाद्यञञौ" से विधीयमान 'यञ्' प्रत्यय 'प्राग्दीव्यतीय' है, अपत्याधिकारीय नहीं।

विवरण—"भस्य" (६-४-१२९) और "अङ्गस्य" (६-४-१) अधिकार सूत्रों के अतिरिक्त "सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः" (६-४-१४९) से 'यः' और 'उपधायाः', "यस्येति च" (६-४-१४८) से 'ईति' तथा "ढे लोपोऽकद्र्वाः" (६-४-१४७) से 'लोपः' की अनुवृत्ति किये जाने पर सूत्रार्थ पूरा होता है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "ईकार परवर्ती होने की स्थिति में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राग्दीव्यतीयः, न त्वपत्याधिकारपठितः। (४७३) प्राचां ष्फ तद्धितः ४। १। १७॥
यञन्तात्ष्फो वा स्यात्स्त्रियाम्, स च तद्धितः। (४७४) षः प्रत्ययस्य १। ३। ६॥
प्रत्ययस्यादिः ष इत्स्यात्। (४७५) आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्

पत्याद्य ङीबित्येतावतैव द्वैप्येत्यत्रातिप्रसङ्गनिरासादधिकारग्रहणं किमर्थमित्यत आह—अधिकारग्रहणादिति। इह नेति शेषः। देवास्यापत्यमिति विग्रहे 'देवाद्यञञौ' इति यञ्, आदिवृद्धिः, 'यस्येति च'। दैव्यशब्दात् टाप्, सवर्णदीर्घः, दैव्येति रूपम्। अनपत्याद्य ङीबित्युक्ते अस्य यञः आपत्यत्वात् ङीबिनपेधो न स्यात्। अधिकारग्रहणे तु अत्रापि निषेधः स्यादेव, अस्य यञः आपत्यत्वेऽपि 'तस्यापत्यम्' इत्यधिकारबहिर्भूतत्वात्। तदेतदुपपादयति। देवादिति। 'देवाद्यञञौ' इति तु 'तस्यापत्यम्' इत्यधिकारात् प्रागेव 'प्राग्दीव्यतोऽण्' इत्यधिकारपठितः। स चापत्यादिविकारान्तार्थेषु साधारणत्वात् अपत्यार्थकोऽपि भवति, न त्वपत्याधिकारपठित इत्यर्थः। यद्यपि 'यञश्च' इति सूत्रे 'आपत्यग्रहणं कर्तव्यम्' इत्येव भाष्ये दृश्यते, यथापि तत्र आपत्यपदम् अपत्याधिकारविहितपरमिति मनोरमायां शब्दरत्ने च प्रपञ्चितम्।

(४७३) प्राचां ष्फ तद्धितः। यञ इत्यनुवर्तते, स्त्रियामित्यधिकृतम्। ष्फेति लुप्तप्रथमाकम्। तदाह—यञन्तादिति।

(४७४) षः प्रत्ययस्य। 'आदिर्ञिटुडवः' इत्यत आदिरित्यनुवर्तते। 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इत्यत इदिति च। तदाह—प्रत्ययस्यादिरिति। पकारस्य इत्सञ्ज्ञायां तस्य लोपः।

(४७५) आयनेयीनीयियः। आयन्, एय्, ईन्, ईय्, इय् एषां द्वन्द्वात् प्रथमा-

---

भसंज्ञक अङ्ग के 'हल्' (व्यञ्जन) से पर तद्धित के उपधाभूत यकार का लोप हो"। पूर्व सूत्र में निर्दिष्ट गार्ग्य्+ई-इस स्थिति में ईकार-पर रहते भसंज्ञक अङ्ग 'गार्ग्य्' के 'हल्'-गकार से पर तद्धित के उपधाभूत 'य्' का लोप ('अ' का लोप असिद्ध होने से) हुआ—गार्गी। 'यञ्' प्रत्यय को अभिलक्षित कर तदन्त प्रातिपदिक से विधीयमान 'ङीप्' प्रत्यय केवल अपत्याधिकारीय 'यञ्' प्रत्ययान्त से ही होता है। इसलिये 'द्वैप्या' (द्वीपे भवा-द्वीप में उत्पन्न स्त्री) में भवार्थक 'यञ्' प्रत्यय ("द्वीपादनुसमुद्रं यञ्" ४-३-१०) होने के कारण (अपत्यार्थक होते हुए भी) 'ङीप्' प्रत्यय नहीं हुआ, किन्तु टाप् ही हुआ। इसका कारण यह है कि यञ्-विधायक सूत्र 'प्राग्दीव्यति'-प्रकरण में पठित है न कि अपत्याधिकार-प्रकरण में।

(४७३) पद—प्राचां, ष्फ, तद्धितः। अनुवृत्ति—अतः, यञः, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—यञन्त से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ष्फ' प्रत्यय होता है और वह तद्धित-संज्ञक होता है।

विवरण—पाँच अधिकारसूत्रों के अतिरिक्त "यञश्च" (४-१-१६) से 'यञः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। अतः सूत्रार्थ यह होगा कि "अनुपसर्जन यञन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते प्राचीन आचार्यों के मत में 'ष्फ' प्रत्यय होता है और वह तद्धितसंज्ञक होता है"। 'ष्फ' लुप्तप्रथमान्त पद है।

(४७४) पद—षः, प्रत्ययस्य। अनुवृत्ति—उपदेशे, आदिः, इत्। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—प्रयय का आदि षकार 'इत्' होता है।

सन्दर्भ—प्रसङ्गप्राप्त 'ष्' की इत्संज्ञा का विधान बताया जारहा है।

विवरण—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिये "आदिर्ञिटुडवः" (१-३-५) से 'आदिः' तथा "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" १-३-२ से 'उपदेशे' एवं 'इत्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार उपदेशावस्था में प्रत्यय के आदि में विद्यमान 'ष्' की इत्संज्ञा होती है।

(४७५) पद—आयनेयीनीयियः, फढखछघां, प्रत्ययादीनाम्। अनुवृत्ति—अङ्गस्य। विधिसूत्र।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७।१।२ ॥ प्रत्ययादिभूतानां फादीनां क्रमादायन्नादय आदेशाः स्युः। तद्धितान्तत्वात्प्रातिपदिकत्वम्। षित्त्वसामर्थ्यात्ष्फेणोक्तेऽपि स्त्रीत्वे 'षिद्गौरा—'(सू ४९८) इति

बहुवचनम्। फ, ढ, ख, छ, घ, एषां द्वन्द्वात् षष्ठीबहुवचनम्। फादिष्वकार उच्चारणार्थः। यथासंख्यपरिभाषया क्रमेणान्वयः तदाह—प्रत्ययादिभूतानामित्यादिना। आयनो नस्य इत्त्वे नित्स्वरोपयोगेऽपि नेत्त्वम्, फिनो नित्करणात् ज्ञापकात्। तस्माहचर्यादीनोऽपि नस्य नेत्त्वम्। एयादिषु च यस्य नेत्त्वम्, प्रयोजनाभावात्। ननु ष्फस्य तद्धितसंज्ञा किमर्थेत्यत आह—तद्धितान्तत्वादिति। ष्फान्तस्य प्रातिपदिकत्वे प्रयोजनमाह—षिद्गौरेति वक्ष्यमाणो ङीषिति। 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इत्यत्र प्रातिपदिकादित्यनुवृत्तम्, ततश्च ष्फान्तस्य प्रातिपदिकत्वाभावे ङीष् न स्यादिति भावः। ननु ष्फप्रत्ययेनैव स्त्रीत्वस्य द्योतितत्वात् 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति न्यायादत्र कथं ङीषित्यत आह—षित्त्वसामर्थ्यादिति। ष्फेण द्योतितेऽपि स्त्रीत्वे षित्करणसामर्थ्यात् ङीषित्यर्थः। गार्ग्यायणीति। गर्गस्यापत्यं स्त्री इति विग्रहः। गर्गादियञन्तात् गार्ग्यशब्दात् ष्फः, षकार इत्, फकारस्य आयन्नादेशः, 'यस्येति च' यकारादकारस्य लोपः। 'हलस्तद्धितस्य' इति तु न भवति, ईतीत्यनुवृत्तेः। 'आपत्यस्य च' इत्यपि न, अनातीति निषेधात्। षित्त्वात् ङीष्। णत्वमिति भावः।

मूलार्थ—प्रत्यय के आदि में 'फ्' को आयन्, 'ढ्' को एय्, 'ख्' को ईन्, 'छ्' को 'ईय्' और 'घ्' को 'इय्' आदेश होते हैं। तद्धितान्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा होती है। 'ष्फ' से स्त्रीत्व उक्त होने पर भी 'ष'कार-इत्संज्ञा के सामर्थ्य से आगे कहे जाने वाले "षिद्गौरादिभ्यश्च" (४९९) से 'ङीष्' प्रत्यय होता है। गार्ग्यायणी।

विवरण—सूत्र स्वतः पूर्ण है। **स्थानी** ५ हैं—फ्, ढ्, ख्, छ्, तथा घ्। उसी प्रकार आदेश भी पाँच हैं— आयन्, एय्, ईन्, ईय् तथा इय्। 'यथासंख्य' परिभाषा की उपस्थिति से स्थानियों को यथाक्रम आदेश होंगे—फ् = आयन्, ढ् = एय्, ख् = ईन्, छ् = ईय् तथा घ् = इय्। ये आदेश 'फ्' आदि हल्मात्र के स्थान में होते हैं। इनमे अकार उच्चारणार्थ है। 'फ्' आदि प्रत्ययावयव वर्ण प्रत्यय के आदि में अपेक्षित हैं। **उदाहरण**—(पूर्वक्रमानुसार) गार्ग्य+फ (ष्फ), <गार्ग्य+आयन्-अ, <गार्ग्य्+आयन्+अ ("यस्येति च" ३१२-अलोप), <गार्ग्यायन+ई (ङीष्-"षिद्गौरादिभ्यश्च" (४९८), <गार्ग्यायनी ('अ' का लोप-३११), <गार्ग्यायणी (न् = ण्)।

विशेष—१-'आयन्' और 'ईन्' में नकार की इत्संज्ञा नहीं होती। यद्यपि 'न्' की इत्संज्ञा होने से "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" (६-१-१९७) से आद्युदात्त स्वर की उपयोगिता रही तथापि 'फिन्' प्रत्यय में 'न्' का उच्चारण करने से यहाँ भी 'न्' इत्सञ्ज्ञक नहीं माना जाता। वहाँ 'फि' कथन मात्र से 'फ्' के स्थान पर 'आयन्' आदेश-होने से आद्युदात्त तो हो जाता। 'अतः' वहाँ 'न्' का उच्चारण करने से यह ज्ञापित हुआ कि 'आयन्' तथा 'ईन्' में 'न्' की इत्संज्ञा नहीं होती। 'एय्' आदि में भी 'य्' की इत्संज्ञा नहीं होती, क्योंकि उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अर्थात् 'य्' की इत्संज्ञा मानकर किसी कार्य का विधान नहीं किया गया है।

२—"प्राचां ष्फ तद्धितः" (४७४) से विधीयमान 'ष्फ' प्रत्यय "स्त्रियाम्" (४-१-३) अधिकार के अन्तर्गत है। स्त्रीत्व रूप अर्थ उक्त होने के कारण पुनः स्त्रीलिङ्गबोधार्थक 'ङीष्' प्रत्यय नहीं होना चाहिये—"उक्तार्थानाम् अप्रयोगः"। इस परिकल्पना से 'ष्फ' प्रत्यय में 'ष्' का उच्चारण निरर्थक हो जायगा, अतः उसके निरर्थक होने से यहाँ 'उक्तार्थानामप्रयोगः' न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती। इस हेतु 'ष्' इत्संज्ञा को अभिलक्षित कर "षिद्गौरादिभ्यश्च" (४९९) से ङीष्-प्रत्यय होकर 'गार्ग्यायणी' रूप सिद्ध होता है। यद्यपि यहाँ स्त्रीत्व-बोधक दो प्रत्यय हुए हैं, तथापि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वक्ष्यमाणो ङीष् । गार्ग्यायणी । (४७६) सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः ४ । १ । १८ ॥ लोहितादिभ्यः कतशब्दान्तेभ्यो यञन्तेभ्यो नित्यं ष्फः स्यात् । लौहित्यायनी । कात्यायनी । (४७७) कौरव्यमाण्डूकाभ्यां च ४ । १ । १९ ॥ आभ्यां ष्फः स्यात् । क्रमेण टाङ्ङीषोरपवादः । 'कुर्वादिभ्यो ण्यः' (सू ११७५) । कौरव्यायणी । 'ढक्च मण्डूकात्'

---

(४७६) सर्वत्र । लोहितादिः गर्गाद्यन्तर्गणः । लोहितः आदिः येषामिति, कतः अन्तो येषामिति च विग्रहः । कतन्तेत्यत्र शकन्ध्वादित्वात् पररूपम् । यञ इत्यनुवृत्तं बहुवचनान्ततया विपरिणम्यते । 'प्राचां ष्फ तद्धितः' इति सूत्रं प्राचां वर्जमनुवर्तते । सर्वत्रेति सर्वेषु मतेष्वित्यर्थः । नित्यमिति यावत् । तदाह—लोहितादिभ्य इत्यादिना । लौहित्यायनीति लोहितस्यापत्यं स्त्री इति विग्रहः । लोहितशब्दात् गर्गादियञन्तात् ष्फः, फ इत्, फकारस्यायन्, 'यस्येति च' इति यकारादकारस्य लोपः तद्धित इत्यप्यनुवृत्तेः, पित्त्वात् ङीपिति भावः । कात्यायनीति । पूर्ववत् प्रक्रिया बोध्या ।

(४७७) कौरव्यमाण्डूकाभ्यां च । आभ्यामिति । कौरव्यमाण्डूकाभ्यामित्यर्थः । क्रमेणेति । कौरव्यशब्दात् टापः माण्डूकशब्दात् ङीषश्चापवाद इत्यर्थः । कौरव्यशब्दस्य यञन्तत्वात् माण्डूकशब्दस्य अण्णन्तत्वाच्च ङीपोऽपवाद इत्युचितमिति भ्रमं वारयितुमाह—कुर्वादिभ्य इत्यादिना । कौरव्यायणीति । कुरोरपत्यं स्त्री इति विग्रहः । 'कुर्वादिभ्यो ण्यः' इति ण्यः ।

स्त्रीत्व का भान द्विधा नहीं होता । इस स्थिति में दोनों में से कोई भी एक स्त्रीत्व-बोधक हो जाता है । अवशिष्ट दूसरा अनुवादकमात्र है ।

(४७६) पद—सर्वत्र, लोहितादिकतन्तेभ्यः । अनुवृत्ति—ष्फः, तद्धितः, अतः, यञः, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'यञ्'-प्रत्ययान्त 'लोहित' से लेकर 'कत' शब्द पर्यन्त प्रातिपदिकों से नित्य 'ष्फ' प्रत्यय होता है । लौहित्यायनी । कात्यायनी ।

विवरण—पाँचों अधिकार-सूत्रों की पूर्ववत् अनुवृत्ति आरही है । प्रकृत सूत्र से 'ष्फ' प्रत्यय का विधान किया जारहा है । उसके लिये "प्राचां ष्फ तद्धितः" (४-१-१७) से 'ष्फ' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । इसके अतिरिक्त "यञश्च" (४-१-१६) तथा "अजाद्यतष्टाप्" (४-१-४) से क्रमशः 'यञः' एवं 'अतः' की अनुवृत्ति की जारही है । अनुवृत्त 'यञः' पद बहुवचन में परिवर्तित किया जाता है । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा—"विशेषण के रूप में न होने पर 'लोहित' से लेकर 'कत' शब्द पर्यन्त (लोहितः आदिः येषां, कतः अन्तो येषाम्) यञ्-प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते सब आचार्यों के मत में (सर्वत्र) 'ष्फ' प्रत्यय होता है और वह तद्धित-संज्ञक होता है ।" गर्गादि-गण के अन्तर्गत लोहितादि-शब्द है । अतः "गर्गादिभ्यो यञ्" (४-१-१०५) से यञ्-प्रत्यय होने के पश्चात् प्रकृत सूत्र से 'ष्फ' प्रत्यय होगा । उदाहरण—१-लोहित>लौहित्य (यञ्, आदिवृद्धि, 'अ' का लोप) । लौहित्य+ष्फ, <लौहित्य+आयन्-अ (फ्=आयन्), <लौहित्य्+आयन ('अ' का लोप), <लौहित्यायन+ई (ङीप्)—लौहित्यायनी (= लोहित ऋषि की पुत्री) । २—इसी प्रकार कात्यायनी (कत ऋषि की पुत्री) भी सिद्ध होता है ।

विशेष—सूत्र में प्रयुक्त 'कतन्त' पद ('कत+अन्त') में "शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्" (वा०) के अनुसार पररूप हुआ है । सवर्णदीर्घ का यह अपवाद है ।

(४७७) पद—कौरव्यमाण्डूकाभ्यां, च । अनुवृत्ति—ष्फः, तद्धितः, अतः, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—(पूर्व विषय में) कौरव्य और माण्डूक शब्दों से 'ष्फ' होता है । यह क्रमशः 'टाप्' और 'ङीष्' का अपवाद है । 'कुरु' शब्द से "कुर्वादिभ्यो ण्यः" से 'ण्य' प्रत्यय । कौरव्यायणी ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(सू ११२२) इत्यण्। माण्डूकायनी। 'आसुरेरुपसङ्ख्यानम्' (वा २४३३)। आसुरायणी। (४७८) वयसि प्रथमे ४। १। २०॥ प्रथमवयोवाचिनोऽदन्तात्स्त्रियां

णकार इत्, 'ओर्गुणः', आदिवृद्धिः, 'गोत्रं च चरणैस्सह' इति जातित्वेऽपि योपधत्वात् 'जातेरस्त्रीविषयात्' इति ङीषभावे टाप् प्राप्तः। तं बाधित्वा ष्फः, प इत्, आयन्, 'यस्येति च' इत्यकारलोपः। षित्त्वात् ङीष्। 'यस्येति च' इति भावः। माण्डूकायनीति। मण्डूको नाम ऋषिः, तस्यापत्यं स्त्री इति विग्रहः। 'ढक् च मण्डूकात्' इत्यण्, आदिवृद्धिः, 'यस्येति च', 'गोत्रं च चरणैस्सह' इति जातित्वात् ङीष् प्राप्तः, तं बाधित्वा ष्फः, प इत्, आयन्, 'यस्येति च', षित्त्वात् ङीष्, 'यस्येति च' इति भावः। टाङ्ङीपोरपवाद इति पाठस्तु प्रामादिकः। आसुरेरुपसङ्ख्यानमिति। फस्येति शेषः। आसुरायणीति। असुरस्यापत्यं स्त्री इति विग्रहः। 'अत इञ्', आदिवृद्धिः, ष्फः, प इत्, आयन्। यस्येति च'। षित्त्वात् ङीष्, 'यस्येति च', णत्वमिति भावः।

(४७८) वयसि प्रथमे। प्राणिनां कालकृतावस्थाविशेषो वयः। तच्च कौमारं यौवनं वार्धकं चेति त्रिधा—

'पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रस्तु स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥'

इति दर्शनात्। चतुर्विधं वय इत्यन्ये—

'आद्ये वयसि नाधीतं द्वितीये नार्जितं धनम्।
तृतीये न तपस्तप्तं चतुर्थे किं करिष्यति॥'

इति दर्शनात्। प्रथमे वयसीत्यनन्तरं विद्यमानादिति शेषः। 'अजाद्यतष्टाप्' इत्यतः अत इत्यनुवृत्तेः प्रातिपदिकादित्यधिकृतं विशेष्यते। तदन्तविधिः। स्त्रियामित्यधिकृतम्।

'मण्डूक' शब्द से "ढक् च मण्डूकात्" 'अण्' प्रत्यय। माण्डूकायनी। (वा०) आसुरि शब्द से भी 'ष्फ' प्रत्यय का विधान किया जाय। आसुरायणी।

विवरण—प्रकृत सूत्र में पूर्व सूत्र के अनुसार ही अनुवृत्ति जानी जाय। तदनुसार सूत्र का अर्थ यह होगा—"विशेषण के रूप में अप्रयुक्त 'कौरव्य' तथा 'माण्डूक' से (कौरव्यश्च माण्डूकश्च-कौरव्यमाण्डूकौ, ताभ्याम्) भी स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ष्फ' प्रत्यय होता है और वह तद्धित-संज्ञक होता है"। उदाहरण—१-'कुरु' शब्द से "कुर्वादिभ्यो ण्यः" (४-१-१५१) से 'ण्य'-प्रत्यय (कुरु+य) होकर, "ओर्गुणः" (६-४-१४६) से गुण (कुरो+य), आदिवृद्धि (कौरो+य), तथा अव्-आदेश होकर (कौरव्य) रूप निष्पन्न होता है। इस स्थिति में यकारोपध होने से जातिवाचक 'ङीष्' प्राप्त न होने के कारण ह्रस्व अकारान्त होने से प्राप्त 'टाप्' को बाध कर प्रकृत सूत्र से 'ष्फ' प्रत्यय हुआ। कौरव्य+फ, <कौरव्य+आयन (फ्=आयन्), <कौरव्यायन ('अ' का लोप), <कौरव्यायणी ('ष्'-इत्संज्ञा होने के कारण 'ङीष्', ण्त्व)। २—इसी प्रकार माण्डूकायनी। मण्डूक>माण्डूक (अण्)>माण्डूकायनी-जातिलक्षण 'ङीष्' का बाधक 'ष्फ' प्रत्यय, तदनन्तर 'ष्'-इत्संज्ञक होने से 'ङीष्'। अर्थ—मण्डूक ऋषि की पुत्री। (वा०) अर्थ—'आसुरि' शब्द से भी 'ष्फ' प्रत्यय कहना चाहिये। तदनुसार 'असुरस्य अपत्यं स्त्री' (=असुर की पुत्री) अर्थ में "अत इञ्" (४-१-९५) सूत्र से 'इञ्' (इ) प्रत्यय, आदिवृद्धि, 'भ'-संज्ञानिमित्तक 'अ' का लोप होकर 'आसुरि' रूप निष्पन्न होता है। तदनन्तर 'ष्फ' प्रत्यय, आयन् आदेश, 'अ'-लोप, षकार इत्संज्ञक होने से 'ङीष्' एवं 'अ'-लोप होकर 'आसुरायणी' रूप सिद्ध होगा।

(४७८) पद—वयसि, प्रथमे। अनुवृत्ति—ङीष्, अतः, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ङीप्स्यात्। कुमारी। 'वयस्यचरम इति वाच्यम्' (वा २४३५)। वधूटी। चिरण्टी। वधूटचिरण्टशब्दौ यौवनवाचिनौ। 'अतः' किम्? शिशुः। कन्यायाः न, 'कन्यायाः

'ऋन्नेभ्यः' इत्यतो ङीबित्यनुवर्तते। तदाह—प्रथमवयोवाचिन इत्यादिना। कुमारीति। अप्रादुर्भूतयौवनेत्यर्थः। वृद्धकुमारीति तु वृद्धायामेव कुमारीत्वारोपाद् बोध्यः। वयस्यचरम इति। चरमम् अन्त्यं वयः, तन्निघ्नम् अचरमम्। प्रथमे इत्यपनीय अचरमे इति वक्तव्यमित्यर्थः। किमर्थमित्यत आह—वधूटी चिरण्टीति। अनयोर्द्वितीयवयोवाचित्वादप्राप्तिरिति भावः। अनयोर्द्वितीयवयसि अप्रसिद्धत्वादाह—वधूटचिरण्टशब्दौ यौवनवाचिनाविति। भाष्यप्रामाण्यादिति भावः। शिशुरिति। शिशुशब्दस्य प्रथमवयोवाचित्वेऽपि अदन्तत्वाभावात् न ङीबिति भावः। कन्याया नेति। ङीबिति शेषः। कुत इत्यत आह—कन्यायाः कनीन चेति। न च द्विवर्षा स्त्री इत्यादावपि ङीप् शङ्क्यः, शालादावपि प्रयोगसत्त्वेन द्विवर्षेत्यादेः

मूलार्थ—प्रथम-वयस् के बोधक ह्रस्व अकारान्त शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीप्' प्रत्यय होता है। कुमारी। (वा०) अन्तिम वयस् से भिन्न वयोवाची शब्दों से ङीप् विधान करना चाहिए। वधूटी। चिरण्टी।

विवरण—सूत्र से क्या विधान किया जारहा है तथा वह किस स्थिति में हो—आदि बातों का परिज्ञान होने के लिये "ऋन्नेभ्यो ङीप्" (४-१-५) से 'ङीप्', "अजाद्यतष्टाप्" (४-१-४) से अतः, "ङ्याप्-प्रातिपदिकात्" (४-१-१) से प्रातिपदिकात् की अनुवृत्ति आने के साथ ही "स्त्रियाम्" (४-१-३), "प्रत्ययः" (३-१-१) तथा "परश्च" (३-१-२) की अनुवृत्ति भी अपेक्षित है। "अतः" पद 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है। इस कारण उसमें तदन्तविधि होती है। सूत्रस्थ 'वयस्' शब्द कालकृत-शरीरावस्था (उम्र) का परिचायक है। ये अवस्थायें तीन मानी गई हैं—कौमार, यौवन तथा वार्धक्य। अन्य लोगों के मत में मानव-जीवन की चार दशायें हैं—बाल्य, कौमार, यौवन और वार्धक्य। अतः प्रथम-वयस् का अर्थ कौमारावस्था है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "कौमार-अवस्था-सूचक अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीप्' (ई) प्रत्यय हो"। उदाहरण—कुमार>कुमारी (= अविवाहित लड़की)। कुमार+ङीप् (ई), <कुमारी (अ का लोप)। (वा०) वार्तिककार सूत्र के अर्थ में कुछ परिवर्धन चाहते हैं। अतः उनका यह कथन है कि केवल प्रथम-वयस् तक ही 'ङीप्' प्रत्यय को सीमित न किया जाय किन्तु उसमें कुछ विस्तार किया जाय। तदनुसार वे सूत्रस्थ 'प्रथमे' पद के स्थान पर 'अचरमे' पद का समावेश कर "वृद्धावस्था-वाची शब्दों को छोड़कर अन्य वयोवाचक अकारान्त शब्दों से 'ङीप्' विधान करने के उद्भावक हैं—"वयस्यचरम इति वक्तव्यम्"। उदाहरण—वधूट>वधूटी (= युवति)। चिरण्ट> चिरण्टी (= युवति)। प्रत्युदाहरण—सूत्र से प्रथमवयो-वाची ह्रस्व-अकारान्त शब्दों से ही ('अतः') 'ङीप्' का विधान किये जाने से 'शिशुः' में 'ङीप्' नहीं हुआ। 'कन्या' शब्द में भी ङीप् नहीं हुआ। इस सम्बन्ध में पाणिनि का सूत्र "कन्यायाः कनीन च" (४-१-११६) ही प्रमाण है।

---

१. भाष्यकार ने इन दोनों शब्दों को द्वितीयावस्था-सूचक (युव) माना है। युवति अर्थ में 'वधूटी' शब्द का प्रयोग भी मिलता है—"गोपवधूटीदुकूलचौराय"। वधू+टि+ङीप्।

२. अर्थ—'चिरेण अटति पितृगृहात् भर्तृगेहम्'। व्युत्पत्ति-चिर-√अट्+अच् (अ)। पृषोदरादिगण में पाठ होने से 'ट्' के पूर्व 'नुम्' आगम, अनुस्वार तथा परसवर्ण। प्रकृत वार्तिक से ङीप्। अर्थात् जो सयानी होने पर भी अपने पिता के घर ही रहे। मुकुट के अनुसार यह शब्द चिरिण्टी है। व्युत्पत्ति—चिरम्√इट्+क (अ)। पृषोदरादिगण में पाठ होने से 'चिर' में अकारलोप, 'म्' को अनुस्वार एवं परसवर्ण तथा ङीप्। हेमचन्द्र 'चिरि' को स्वादिगण के अन्तर्गत सूत्रसम्बन्धी धातु मानते हैं। चिरिणोति इति चिरिण्टी (= जाने में जो विलम्ब करे)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कनीन च' (सू० १११९) इति निर्देशात् । (४७९) द्विगोः ४ । १ । २१ ॥ अदन्तात् द्विगोर्ङीप्स्यात् । त्रिलोकी । अजादित्वात्त्रिफला । त्र्यनीका सेना । (४८०) अपरिमाणबिस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धितलुकि ४ । १ । २२ ॥ अपरिमाणान्ताद् बिस्ता-

---

प्रथमवयोवाचित्वाभावात्, पदान्तरसमभिव्याहारप्रकरणादि अनपेक्ष्य यः वयोवाची तस्यैव विवक्षितत्वात् ।

(४७९) द्विगोः । 'स्त्रिया'मिति 'अत' इति 'ङीबिति चानुवर्तते । तदाह—अदन्तादिति । त्रिलोकीति । त्रयाणां लोकानां समाहार इति विग्रहः । 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति द्विगुसमासः । 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः' इति स्त्रीत्वम् । त्रिलोकशब्दाद् टाबपवादो ङीप् । 'यस्येति च' इति भावः । ननु त्रिफला त्र्यनीका इत्यत्रापि ङीप् प्राप्नोतीत्यत आह—अजादित्वात् त्रिफला त्र्यनीकेति । भवतीति शेषः । त्रयाणां फलानां समाहार इति, त्रयाणामनीकानामिति च विग्रहे 'तद्धितार्थ' इति द्विगुः । 'अकारान्तोत्तरपदः' इति स्त्रीत्वम्, 'द्विगोः' इति ङीपं बाधित्वा अजादित्वाट्टाबिति भावः । अनीकशब्दः ऐन्द्रवाय्यवाग्रत्वे शुकाग्रत्वे च वर्तते इति त्र्यनीकाधिकरणे मीमांसकाः ।

(४८०) अपरिमाण । 'द्विगोः' इति ङीबिति चानुवर्तते । प्रातिपदिकादित्यधिकृतमपरिमाणादिभिर्विशेष्यते । तदन्तविधिः । तदाह—अपरिमाणान्तादित्यादिना । अपरिमाणान्तमुदाहरति—पञ्चभिरिति । तद्धितलुकं दर्शयति—आर्हीयष्ठक्, अध्यर्धेति लुगिति । पञ्चभिरश्वैः क्रीतेति विग्रहे 'तद्धितार्थ' इति द्विगुः । 'आर्हादगोपुच्छसङ्ख्यापरिमाणाट्ठक्' इत्य-

---

(४७९) पद—द्विगोः । अनुवृत्ति—अतः, ङीप्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'ह्रस्व' अकारान्त द्विगु से ङीप् हो । त्रिलोकी । अजादिगण में पाठ होने से टाप्—त्रिफला । त्र्यनीका (सेना) ।

विवरण—'ङीप्' का प्रकरण चल रहा है । उसका परिज्ञान होने के लिये "ऋन्नेभ्यो ङीप्" (४-१-५) से ङीप् की अनुवृत्ति करनी पड़ती है । इसके साथ ही 'अतः' की अनुवृत्ति आने के कारण ह्रस्व अकारान्त 'द्विगु'-संज्ञक प्रातिपदिक से ही 'ङीप्' प्रत्यय होगा । अन्य पाँचों अधिकार-सूत्रों का भी प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है । तदनुसार "उपसर्जन-रहित ह्रस्व-अकारान्त द्विगु-संज्ञक प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीप्' प्रत्यय होगा" । उदाहरण—त्रिलोकी (= तीनों लोक) । विग्रह—त्रयाणां लोकानां समाहारः । "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" (२-१-५०) से समास होने पर 'त्रिलोक' शब्द निष्पन्न होता है । यहाँ संख्यापूर्वक शब्द आदि में होने से 'द्विगु' संज्ञा हुई—"संख्यापूर्वो द्विगुः" (२-१-५२) । समाहार-द्विगु एकार्थ-वाचक होता है—"द्विगुरेकवचनम्" (२-४-१) । 'द्विगु' समास में यह भी नियम है कि यदि उत्तरपद में 'अकारान्त' शब्द हो तो उसका प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में होता है—"अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियाम् इष्टः" । यह नियम होने से स्त्रीलिङ्ग में प्रकृतसूत्र से 'ङीप्' प्रत्यय हुआ—त्रिलोक+ई (ङीप्), <त्रिलोकी ('अ' का लोप) ।

विशेष—यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'अजादि-गण' में पठित शब्दों से 'टाप्' प्रत्यय होता है । वहाँ 'ङीप्' नहीं होता । अतः त्रिफल>त्रिफला (त्रयाणां फलानां समाहारः = प्रसिद्ध तीन काष्ठौषधि) तथा त्र्यनीक>त्र्यनीका (त्रयाणाम् अनीकानां समाहारः = तीन सेनाओं का समुदाय) रूप सिद्ध होंगे ।

(४८०) पद—अपरिमाणबिस्ताचितकम्बल्येभ्यः, न, तद्धितलुकि । अनुवृत्ति—द्विगोः, ङीप्, अतः, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च । विधि(निषेध)सूत्र ।

मूलार्थ—अपरिमाणान्त और बिस्तान्त द्विगु से विहित तद्धितप्रत्यय का लुक् (लोप) होने पर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्यन्ताच्च द्विगोर्ङीन्न स्यात्तद्धितलुकि सति। पञ्चभिरश्वैः क्रीता पञ्चाश्वा। आर्हीयष्ठक्। तस्य 'अध्यर्ध—' (सू १६९३) इति लुक्। द्वौ विस्तौ पचति द्विबिस्ता। द्व्याचिता। द्विकम्बल्या। परिमाणान्तात्तु द्व्याढकी। 'तद्धितलुकि' किम्? समाहारे पञ्चाश्वी।

धिकारे 'तेन क्रीतम्' इति ठक्, 'अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोर्लुगसंज्ञायाम्' इति तस्य लुक्। अत्र 'द्विगोः' इति ङीप् न भवति, अपरिमाणान्तद्विगुत्वात्। नन्वत्र 'द्विगोः' इति प्राप्तङीष्ठिन-षेधेऽपि 'टिड्ढाणञ्' इति ठग्निमित्तको ङीब् दुर्वारः। द्वाभ्यां शताभ्यां क्रीता द्विशतेत्यत्र 'सङ्ख्यायां अतिशदन्तायाः' इति कनः 'अध्यर्ध' इति लुकि 'अपरिमाण' इति निषेधस्य चरितार्थत्वात् इति चेत्? सत्यम्, 'टिड्ढाणञ्' इत्यत्र प्रत्यासत्त्या टिड्ढाणञादीनां यः अकारः तदन्तमिति विवक्षितम्। पञ्चाश्वशब्दश्चायं ठगवयवाकारान्तो न भवतीति न दोषः। न च प्रत्ययलक्षणेन ठगवयवाकारान्तत्वं शङ्क्यम्, वर्णाश्रये प्रत्ययलक्षणाभावात्। बिस्तादिशब्दानां तु परिमाणविशेषवाचित्वात् 'अपरिमाण' इत्यनेन अप्राप्तेः पृथगु-पादानम्। द्वौ विस्ताविति। 'सुवर्णबिस्तौ हेम्नोऽक्षे' इत्यमरः। 'गुञ्जाः पञ्चाद्यमाषकः'। ते 'षोडशाक्षः' इति च। गुञ्जापञ्चकं माषपरिमाणम्। माषषोडशकम् अक्षपरिमाणम्, तच्च-अशीतिगुञ्जात्मकम्। तस्मिन् हेमविषये अक्षपरिमाणे सुवर्णबिस्तशब्दावित्यर्थः। द्वौ बिस्तौ पचतीति विग्रहे 'तद्धितार्थ' इति द्विगुः। 'सम्भवत्यवहरति पचति' इति ठक्, तस्य 'अध्यर्ध' इति लुक्। 'द्विगोः' इति ङीपि अनेन प्रतिषिद्धे सति टापि द्विबिस्ता भूषा। द्विबिस्तपरिमाणकहिरण्यं द्रावयतीत्यर्थः। पचिरिह द्रावणे द्रष्टव्यः। द्व्याचितेति। 'आचितो दश भाराः' इत्यमरः। 'तुला स्त्रियां पलशतं भारः स्याद्विंशतिः पुमान्' इति च। द्वावाचितौ वहतीत्यर्थे। 'आढकाचितपात्राट् खोऽन्यतरस्याम्' 'द्विगोष्ठंश्च' इति खठनोरभावे प्राग्वतीयष्ठञ्। 'अध्यर्ध' इति तस्य लुक्। अनेन 'द्विगोः' इति ङीपि निषिद्धे टापि द्व्याचिता शकटी। द्विकम्बल्येति। कम्बलस्य प्रकृतिभूतं द्रव्यं कम्बल्यम् ऊर्णापल-

---

'ङीप्' नहीं होता। पाँच घोड़ों से खरीदी गई अर्थ में—पञ्चाश्वा। आर्हीय-प्रकरणस्थ 'ठक्' प्रत्यय का "अध्यर्ध०" से लुक्। दो बिस्ता गलाने वाली-द्विबिस्ता। द्व्याचिता। द्विकम्बल्या। परिमाणान्त शब्दों से द्व्याढकी। 'तद्धितलुकि' क्यों कहा? समाहार अर्थ में पञ्चाश्वी।

विवरण—विशेष अवस्था में 'द्विगु'संज्ञक प्रातिपदिक से 'ङीप्' प्रत्यय का निषेध किया जारहा है। अतः "द्विगोः" (४-१-२१) सूत्र की एवं "ऋन्नेभ्यो ङीप्" (४-१-५) से 'ङीप्' की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में की जारही है। पूर्वसूत्रोक्त अनुवृत्त पदों का प्रभाव भी विद्यमान है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "परिमाणभिन्न तथा बिस्त आचित और कम्बल्य शब्दान्त द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से (अपरिमाणं च, बिस्ता च, आचितश्च, कम्बल्यं च, तेभ्यः—इतरेतरद्वन्द्व) तद्धित-प्रत्यय के 'लुक्' (लोप) हो जाने पर (तद्धितलुकि) स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीप्' प्रत्यय नहीं होता"। बिस्ता आदि शब्द परिमाणवाची हैं, इनमें भी निषेध होने के लिये इनका ग्रहण किया गया है। यह विधान पूर्व-सूत्र का अपवाद है। उदाहरण—१-अपरि-माणान्त—पञ्चाश्वा। विग्रह-'पञ्चभिः अश्वैः कीता' (पाँच घोड़ों से खरीदी गई) अर्थ में "आर्हादगो-पुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक्" (६-१-१९) अधिकार में "तेन क्रीतम्" (५-१-२६) से 'ठक्' प्रत्यय (पञ्चाश्व+ठक्) करने पर "अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोर्लुगसंज्ञायाम्" (५-१-२८) से उसका लुक् (लोप) हुआ है। प्रकृत सूत्र से 'ङीप्' का निषेध होकर 'टाप्' प्रत्यय हुआ। २—बिस्तादि शब्द—(क) द्विबिस्ता (अस्सी गुंजा सोने को गलाने वाली =) 'द्वौ बिस्तौ पचति' अर्थ में "तद्धितार्थोत्तरपद-समाहारे च" (२-१-५०) से समास (द्विगु) होने पर "सम्भवत्यवहरति पचति" (५-१-५१) से विहित 'ठक्' प्रत्यय का "अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोर्लुगसंज्ञायाम्" (५-१-२८) से लुक् होने पर 'ङीप्' का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४८१) काण्डान्तात् क्षेत्रे ४ । १ । २३ ॥ क्षेत्रे यः काण्डान्तो द्विगुस्ततो न ङीप् तद्धितलुकि । द्वे काण्डे प्रमाणमस्या द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः । 'प्रमाणे द्वयसच्—'

शतम् । 'तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ' इत्यर्थे 'कम्बलाच्च संज्ञायाम्' इति यत् । द्वाभ्यां कम्बल्याभ्यां क्रीतेति विग्रहे 'तेन क्रीतम्' इति ठञः 'अध्यर्ध' इति लुक् 'द्विगोः', इति ङीपि अनेन प्रतिषिद्धे टाप् । नन्वत्र 'न तद्धितलुकि' इत्येवास्तु । तावतैव पञ्चभिरश्वैः क्रीता पञ्चाश्वेति सिद्धेः 'अपरिमाण' इति मास्तु । एवं च द्विबिस्ता द्व्याचिता द्विकम्बल्येत्यपि सिद्धेर्बिस्तादिग्रहणमपि मास्तित्वत्यत आह—परिमाणान्तास्त्विति ।

'गुञ्जाः पञ्च तु मापः स्यात्ते सुवर्णस्तु षोडश ।
पलं सुवर्णाश्चत्वारः पञ्च वापि प्रकीर्तितम् ॥
पलद्वयं तु प्रसृतं द्विगुणं कुडवं मतम् ।
चतुर्भिः कुडवैः प्रस्थः प्रस्थाश्चत्वार आढकः ॥" इति स्मृतिः ।

द्वावाढकौ पचतीति विग्रहे 'आढकाचितपात्रात् खोऽन्यतरस्याम्' द्विगोः ष्ठंश्च' इति खठनोरभावे प्राग्वतीयष्ठञ् । 'अध्यर्ध' इति लुक् । 'द्विगोः' इतिः ङीप् । द्व्याढकीति रूपम् । 'न तद्धितलुकि' इत्येतावत्येवोक्ते अत्रापि ङीपो निषेधः स्यात् । अतोऽपरिमाणान्न तद्धितलुकीति वक्तव्यम् । तावत्युक्ते द्विबिस्तेत्यादौ परिमाणत्वात् ङीन्निषेधो न स्यात् । अतो बिस्तादिग्रहणमपीति भावः ।

(४८१) काण्डान्तात् क्षेत्रे । 'द्विगोः' इति, न तद्धितलुकीति चानुवर्तते । तदाह—क्षेत्रे य दत्यादि । द्वे काण्डे इति । षोडशरत्न्यायामो दण्डः काण्डमिति स्मृतिः । द्वे काण्डे प्रमाणमस्या इति विग्रहे 'तद्धितार्थ' इति द्विगुसमासे द्विकाण्डशब्दस्य क्षेत्रवर्तित्वे नपुंसकत्वशङ्काव्युदासाय क्षेत्रभक्तिरिति विशेष्योपादानम् । तद्धितलुकं दर्शयितुमाह–प्रमाणे

निषेध होने से 'टाप्' प्रत्यय हुआ—द्विबिस्त>द्विबिस्ता । (ख) द्व्याचिता (= बीस गाड़ी अन्न ढोने वाली) । 'द्वौ आचितौ वहति' अर्थ में पूर्ववत् समास होने पर "द्विगोः ष्ठंश्च" (५-१-५३) से 'ठञ्' प्रत्यय होने के पश्चात् उसका 'लुक्' होता है । तत्पश्चात् खित्व द्योत्य रहते 'ङीप्' का निषेध होने से 'टाप्' हुआ—द्व्याचित>द्व्याचिता । (ग) द्विकम्बल्या (दो कम्बलों से खरीदी हुई =) 'द्वाभ्यां कम्बल्याभ्यां क्रीता' अर्थ में द्विकम्बल्य शब्द से समासादि होने पर "तेन क्रीतम्" (५-१-३६) से विहित 'ठक्' प्रत्यय का पूर्ववत् 'लुक्' हुआ । 'ङीप्' का निषेध होने से टाप्—द्विकम्बल्य>द्विकम्बल्या । **प्रत्युदाहरण**—१–सूत्र में परिमाणवाचक-भिन्न (अपरिमाण) शब्दों से 'ङीप्' का निषेध किये जाने से परिमाण-वाचक ह्रस्व-अकारान्त द्विगु से 'ङीप्' होकर 'द्व्याढकी' रूप बनेगा ('द्वौ आढकौ पचति' अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय तथा उसका लुक्) । २—सूत्र में 'ङीप्'–निषेध के प्रसङ्ग में तद्धित-प्रत्यय का लोप होना आवश्यक माना गया है । अतः 'पञ्चानाम् अश्वानां समाहारः' = 'पञ्चाश्वी' में तद्धितप्रत्यय का 'लुक्' न होने से 'ङीप्' निषेध नहीं हुआ । फलतः "द्विगोः" (४-१-२१) से ङीप् हुआ ।

विशेष—प्रकृत सूत्र में कुछ परिमाणवाची पारिभाषिक शब्द दिये गये हैं । कोष-ग्रन्थों में उनका अर्थ इस प्रकार दिया हुआ है—५गुंज=१ माष । १६ माष=१ सुवर्ण (अक्ष) । ४ अथवा ५ सुवर्ण=१ पल । २ पल = १ प्रसृत । १० पल = १ कुडव । ४ कुडव = १ प्रस्थ । ४ प्रस्थ = १ आढक ।

(४८१) पद—काण्डान्तात्, क्षेत्रे । **अनुवृत्ति**—न, तद्धितलुकि, द्विगोः, ङीप्, अतः, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधि(निषेध)सूत्र ।**

मूलार्थ—क्षेत्र के विषय में काण्डान्त-द्विगु से तद्धित-लुक् होने पर 'ङीप्' नहीं होता । द्वे काण्डे प्रमाणम् अस्याः (= दो काण्ड नापवाली भूमि) अर्थ में—द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः । "प्रमाणे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(सू १८३८) इति विहितस्य मात्रचः 'प्रमाणे लः' 'द्विगोर्नित्यम्' (वा ३१२९–३०) इति लुक्। 'क्षेत्रे' किम् ? द्विकाण्डी रज्जुः। (४८२) **पुरुषात्प्रमाणेऽन्यतरस्याम् ४।१।२४ ॥** प्रमाणे यः पुरुषस्तदन्ताद् द्विगोर्ङीन्वा स्यात्तद्धितलुकि। द्वौ पुरुषौ प्रमाण-

---

द्वयसजिति। न च काण्डादित्यस्य प्रातिपदिकविशेषणतया तदन्तलाभादन्तग्रहणं व्यर्थमिति शङ्क्यम्, असति ह्यन्तग्रहणे क्षेत्र इत्येतत् काण्डस्यैव विशेषणं स्यात्, श्रुतत्वात्। क्षेत्रे यः काण्डशब्दः तदन्तादिति लभ्येत। एवं च द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिरित्यत्र द्विकाण्डशब्दस्यैव क्षेत्रवर्तित्वात् काण्डशब्दस्य प्रमाणवाचित्वात् ङीन्निषेधो न स्यात्। द्वाभ्यां काण्डाभ्यां काण्डप्रमितक्षेत्राभ्यां क्रीता द्विकाण्डी वडवेत्यत्रैव ङीन्निषेधः स्यात्। अतः अन्तग्रहणम्। द्विकाण्डो रज्जुरिति। पूर्ववत् मात्रचो लुकि 'द्विगोः' इति ङीप्। क्षेत्रवृत्तित्वाभावात् न तन्निषेध इति भावः। ननु 'अपरिमाण' इति पूर्वसूत्रे परिमाणशब्देन किं परिच्छेदक-मात्रं विवक्षितम्, उत 'ऊर्ध्वमानं तिलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः। आयामस्तु प्रमाणं स्यात्' इति वार्तिकानुसारेण परितः सर्वतः आरोहतः परिणाहतश्च येन मीयते तत् परिमाणमित्याढककुड्याद्येव आयामव्यावृत्तं विवक्षितम्? नाद्यः, तथा सति द्वौ हस्तौ प्रमाणमस्यां इति विग्रहे द्विहस्ता भित्तिरित्यत्र पूर्ववन्मात्रचो लुकि ङीन्निषेधो न स्यात्। न द्वितीयः, तथा सति काण्डशब्दस्यायामप्रमाणपरतया उक्तपरिमाणपरत्वाभावेन 'अपरि-माण' इत्यनेनैव द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः इत्यत्रापि ङीन्निषेधसम्भवेन 'काण्डान्तात् क्षेत्रे' इति सूत्रारम्भवैयर्थ्यादित्युभयतः पाशा रज्जुरिति चेत्, सत्यम्—'अपरिमाण' इति पूर्व-सूत्रे पारिभाषिकमेव परिमाणं विवक्षितं, न त्वायामोऽपि। ततश्च द्विहस्ता भित्तिरित्यत्र 'अपरिमाण' इति ङीन्निषेधो निर्बाधः। काण्डान्तादिति सूत्रं तु काण्डान्तात् क्षेत्र एव ङीन्निषेधः, नान्यत्र द्विकाण्डी रज्जुरित्यादाविति नियमार्थमित्यन्यत्र विस्तरः।

(४८२) पुरुषात्। द्विगोरिति, तद्धितलुकीति, ङीविति चानुवर्तते। तदाह—प्रमाणे य

द्वयसच्०" से विहित 'मात्रच्' प्रत्यय का 'प्रमाणे लः' 'द्विगोर्नित्यम्' वार्तिकों से 'लुक्' हुआ। 'क्षेत्रे' क्यों कहा ? द्विकाण्डी रज्जुः।

विवरण—'द्विगु'-समास-युक्त शब्दों से 'ङीप्' न होने के सम्बन्ध में कुछ और नियम बताये जारहे हैं। 'ङीप्-निषेध' में तद्धित-प्रत्यय का लोप होना मुख्य निमित्त है। इस हेतु पूर्वसूत्र (४-१-२२) से 'न तद्धितलुकि' की आंशिक अनुवृत्ति करनी पड़ती है। शेष अनुवृत्तियाँ पूर्वसूत्र के अनुसार अन्य सूत्रों से की गई हैं। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "काण्डशब्दान्त अनुपसर्जन द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से तद्धित का 'लुक्' हो जाने पर स्त्रीत्व द्योत्य रहते (क्षेत्र-वाच्य होनेपर) ङीप् प्रत्यय न हो।" **उदाहरण**–द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः। 'द्वे काण्डे प्रमाणम् अस्याः'–सोलह हाथ के बराबर भूमि-भाग—अर्थ में तद्धितप्रत्यय 'मात्रच्' होता है ("प्रमाणे द्वयसज्-दघ्नञ्-मात्रचः" ५-२-३७), उसका 'प्रमाणे लो वक्तव्यम्' 'द्विगोर्नित्यम्' वार्तिकों से 'लुक्' हुआ है। अतः "द्विगोः" (३-१-२१) से प्राप्त 'ङीप्' का प्रकृत सूत्र से निषेध हो गया। परिणामतः 'टाप्' हुआ—द्विकाण्ड> द्विकाण्डा। 'द्विकाण्ड' पद की स्त्रीलिङ्ग-वाचक प्रतीति होने के लिये उदाहरण में 'भक्ति' शब्द का प्रयोग किया है। अन्यथा 'द्विकाण्ड' में द्विगु समास होने से नपुंसक-लिङ्ग की भ्रान्ति हो जाती। **प्रत्युदाहरण**–सूत्र में 'क्षेत्रे' न कहने पर रस्सी की लंबाई के सूचक 'द्विकाण्ड' शब्द से 'ङीप्' निषेध होने लगता। वह न हो, अतः 'क्षेत्रे' कहा। इस कारण यहाँ "द्विगोः" (४-१-२१) से 'ङीप्' हुआ।

(४८२) **पद**—पुरुषात्, प्रमाणे, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—न, तद्धितलुकि, द्विगोः, ङीप्, अतः, स्त्रियाम्, अनुपसर्जनात्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र** (विकल्प)।

४० वै० सि०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मस्याः सा द्विपुरुषी–द्विपुरुषा वा परिखा। (४८३) ऊधसोऽनङ् ५।४।१३१ ॥ ऊधोऽन्तस्य बहुव्रीहेरनङादेशः स्यात् स्त्रियाम्। इत्यनङि कृते डाब्ङीब्निषेधेषु प्राप्तेषु।

इत्यादिना। प्रमाणमायामः, 'आयामस्तु प्रमाणं स्यात्' इति वचनात्। द्वौ पुरुषाविति। पञ्चहस्तायामः पुरुष इत्युच्यते, 'पञ्चारत्निः पुरुषः' इति शुल्बसूत्रात्। द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्या इति विग्रहे 'तद्धितार्थ' इति द्विगुसमासः। 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' इति विहितस्य मात्रचः 'प्रमाणे लः', 'द्विगोर्नित्यम्' इति लुक्। अत्र उक्तरीत्या पुरुषप्रमाणस्य आयामात्मकस्य 'अपरिमाण' इति नित्यं ङीब्निषेधे प्राप्ते विकल्पार्थमिदं वचनम्। अन्ये तु 'तदस्य परिमाणम्' इति ठकः ठञो वा 'अध्यर्ध' इति लुक्। तत्र हि उत्तरसूत्रानुरोधात् परिमाणशब्देन परिच्छेदकमात्रं गृह्यते इत्याहुरित्यास्तां तावत्। द्विपुरुषी द्विपुरुषा वा परिखेति। तिर्यक् द्विपुरुषायतेत्यर्थः। दुर्गं परितः तत्संरक्षणार्थो जलाशयः परिखा।

अथ कुण्डमिव ऊधो यस्या इति बहुव्रीहौ कुण्डोधस्शब्दः। तत्र विशेषमाह।

(४८३) ऊधसोऽनङ्। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः' इत्यतो बहुव्रीहावित्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते, ऊधसः इत्यनेन विशेष्यते, तदन्तविधिः। तदाह–ऊधोऽन्तस्येति। समासान्तप्रकरणस्थत्वेऽपि ङित्त्वादस्यादेशत्वं बोध्यम्। इत्यनङि कृते इति। अनङि ङकार इत्,

---

मूलार्थ—प्रमाणवाचक पुरुष-शब्दान्त द्विगु से तद्धितप्रत्यय का 'लुक्' होने पर स्त्रीत्व द्योत्य रहते विकल्प से 'ङीप्' प्रत्यय होता है। दो पुरुष गहराई वाली खाई–अर्थ में द्विपुरुषी–द्विपुरुषा।

विवरण—पूर्वसूत्र के अनुसार यहाँ भी उन्हीं सूत्रों से अनुवृत्ति की जारही है। तदनुसार "प्रमाण[1] अर्थ में वर्तमान पुरुषशब्दान्त अनुपसर्जन द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते तद्धित-प्रत्यय का 'लुक्' होने पर विकल्प से 'ङीप्' प्रत्यय होता है"। अतः पक्ष में टाप् भी होगा।

उदाहरण—द्विपुरुषी–द्विपुरुषा (=दो पुरुष के बराबर खाई)। 'द्वौ पुरुषौ प्रमाणम् अस्याः' अर्थ में विहित 'मात्रच्' प्रत्यय का लुक् होने पर प्रकृत सूत्र से वैकल्पिक ङीप् हुआ। द्विपुरुष>द्विपुरुषी (ङीप्)। अथवा द्विपुरुष>द्विपुरुषा (टाप्)।

विशेष—पुरुष की लम्बाई के विषय में 'पाँच अरत्नि' नाप बताया गया है। अरत्नि[2]=कुहनी से कानी उगली (कनिष्ठिका) तक के छोर का नाप, ऊँचाई नापने का मापक। रत्नि = कुहनी से बन्द की हुई मुट्ठी तक नाप।

(४८३) **पद**—ऊधसः, अनङ्। **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—स्त्रीलिङ्ग में 'ऊधस्'-शब्दान्त बहुव्रीहि को 'अनङ्' आदेश होता है। 'अनङ्' आदेश करने से 'डाप्' 'ङीप्' तथा 'ङीप्' का निषेध प्राप्त होने पर (आगे 'ङीष्' विधान किया जारहा है)।

विवरण—प्रसङ्गवश 'अनङ्' आदेश का विधान किया जारहा है। 'ऊधस्' स्थानी है तथा 'अनङ्' आदेश है। आदेश किस स्थिति में हो? इस सन्दर्भ में निमित्त-वाचक-पद का परिज्ञान

---

१. यह परिभाषिक शब्द है। परिमाणवाचक शब्दों के अर्थ में तारतम्य दिखाने के लिये विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित कारिका प्रसिद्ध है—

"ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणन्तु सर्वतः।
आयामस्तु प्रमाणं स्यात् संख्या बाह्या तु सर्वतः॥"

इसके अनुसार तराजू पर रखकर तोलेजाने को **'उन्मान'** कहते हैं। पुरुष भी ऊर्ध्वमान है। मापक से चारों ओर समान (बराबर) करने पर जो वस्तु नापी जाय उसे **'परिमाण'** कहते हैं। लम्बाई नापी जाने पर **'प्रमाण'** कहा जाता है।

२. "बद्धमुष्टिकरो रत्निररत्निः सकनिष्ठिकः"—हला० १८–६।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४८४) बहुव्रीहेरूधसो ङीष् ४ । १ । २५ ॥ ऊधोऽन्ताद् बहुव्रीहेर्ङीष् स्यात्स्त्रियाम् । कुण्डोध्नी । 'स्त्रियाम्' किम् ? कुण्डोधो धेनुकम् । इहानङ्ऽपि न । तद्विधौ 'स्त्रियाम्'

अकार उच्चारणार्थः, 'ङिच्च' इत्यन्त्यस्य सकारस्य अन्, पररूपम्, 'कुण्डोधन्' इति स्थिते सतीत्यर्थः । डाब्ङीब्निषेधेष्विति । 'डाबुभाभ्याम्' इति वैकल्पिके डापि, 'अन उपधालोपिनः' इति वैकल्पिके ङीपि, तदुभयाभावे 'ऋन्नेभ्यः' इति प्राप्तस्य ङीपः 'अनो बहुव्रीहेः' इति निषेधे च प्राप्ते इत्यर्थः ।

(४८४) बहुव्रीहेः । ऊधस इति बहुव्रीहेर्विशेषणम्, तदन्तविधिः । स्त्रियामित्यधिकृतम् । तदाह—ऊधोऽन्तादिति । कुण्डोध्नीति । अनङि कृते ङीषि 'अल्लोपोऽनः' इति भावः । 'ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' इत्यमरः । ङीष्विधेस्तु स्वरे विशेषः फलम् । स्त्रियां

होने के लिए "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्" (५-४-११३) से 'बहुव्रीहौ' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । इसके साथ ही "समासान्ताः" (५-४-६८) का अधिकार होने से यह विधान समास का अवयव माना जाता है । "स्त्रियाम्" के अतिरिक्त पूर्वोक्त अन्य चारों अधिकार-सूत्रों का प्रभाव विद्यमान है । तदनुसार "ऊधस्-शब्दान्त बहुव्रीहि को समास का अन्तावयव 'अनङ्' आदेश होगा" । **उदाहरण**—कुण्डम् इव ऊधः अस्याः (= भरे प्याले की तरह स्तनों वाली धेनु) अर्थ में (कुण्ड+सु, ऊधस्+सु) बहुव्रीहिसमास होने पर 'कुण्डोधस्' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से 'अनङ्' आदेश (कुण्डोध+अन्) एवं पररूप होकर 'कुण्डोधन्' रूप निष्पन्न होता है । इस स्थिति में "डाबुभाभ्याम् अन्यतरस्याम्" (४-१-१३) से पाक्षिक 'डाप्', "अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्" (४-१-२८) से पाक्षिक ङीप् एवम् इन दोनों के न होने पर "ऋन्नेभ्यो ङीप्" (४-१-५) से प्राप्त 'ङीप्' का "अनो बहुव्रीहेः" (४-१-१२) से निषेध प्राप्त होने पर (आगे 'ङीप्' प्रत्यय का विधान बताया जारहा है) ।

(४८४) पद—बहुव्रीहेः, ऊधसः, ङीष् । **अनुवृत्ति**—स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—ऊधस्-शब्दान्त बहुव्रीहि से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय होता है । कुण्डोध्नी । 'स्त्रियां' क्यों कहा ? कुण्डोधः-धैनुकम् (गायों का समूह) । स्त्रीलिङ्ग में विधीयमान होने के कारण यहाँ 'अनङ्' आदेश भी नहीं हुआ ।

विवरण—'ऊधस्'-शब्दान्त बहुव्रीहि में 'अनङ्' आदेश होने पर पाक्षिक 'डाप्' एवं पाक्षिक 'ङीप्' तथा नकारान्त शब्द होने के कारण "ऋन्नेभ्यो ङीप्" से नित्य 'ङीप्' भी प्राप्त होते हैं । इस अनवस्था को दूर करने के लिये 'ङीष्' प्रत्यय का विधान किया जारहा है । तदनुसार "बहुव्रीहि-समास में वर्तमान 'ऊधस्'-शब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय होता है" । इस प्रकार यह विधान 'ङीप्-निषेध' तथा 'डाप्' का अपवाद है । यहाँ 'अनुपसर्जनात्' का अधिकार होने पर भी वह अप्रभावी रहता है, क्योंकि बहुव्रीहि-समास 'उपसर्जन' होता है । **उदाहरण**—१-कुण्डोध्नी । २—घटोध्नी । विग्रह—कुण्डम् इव ऊधः यस्याः सा । प्रक्रिया—कुण्ड+सु, ऊधस्+सु <कुण्डोधस् (बहुव्रीहि-समास, गुण), <कुण्डोध+अन्+ङीष् (अनङ्) <कुण्डोधन्+ई (पररूप), <कुण्डोध्न+ई ('अन्' सम्बन्धी 'अ' का लोप), <कुण्डोध्नी (अन्तिम-'अ' का लोप तथा विभक्तिकार्य) । **अर्थ**—प्याले के समान प्रशस्त स्तनवाली धेनु । इसी प्रकार २—घटोध्नी भी सिद्ध होगा । **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में 'स्त्रियाम्' की अनुवृत्ति आने के कारण 'कुण्डोधः' (धैनुकम्) में 'अनङ्' नहीं हुआ । इसका कारण यह है कि बहुव्रीहि-समास अन्य-पदार्थ प्रधान होता है । अतः कुण्डम् इव ऊधः यस्य तत्-'प्याले (कटोरे) की तरह अयान वाली गायों का कुल'—इस प्रकार अर्थ की विवक्षा में स्त्रीत्व की विवक्षा न होने के कारण 'ङीप्' नहीं हुआ । समासान्त-प्रकरण में 'अनङ्' विधान के साथ 'स्त्रियाम्' का अनुबन्ध होने से 'अनङ्' आदेश भी नहीं होता ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वा ३३६७) इत्युपसङ्ख्यानात् । (४८५) सङ्ख्याव्ययादेर्ङीप् ४ । १ । २६ ॥ ङीषोऽपवादः । द्व्यूध्नी । अत्यूध्नी । बहुव्रीहेरित्येव । ऊधोऽतिक्रान्ता अत्यूधाः । (४८६)

किमिति । ङीष्विधौ स्त्रियामित्यनुवृत्तिः किमर्थेति प्रश्नः । कुण्डोधो धैनुकमिति । कुण्डमिव ऊधो यस्येति विग्रहः । नपुंसकत्वस्फोरणाय धैनुकमिति विशेष्यम् । धेनूनां समूह इत्यर्थः । 'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्', 'इसुसुक्तान्तात्कः' । 'आदिवृद्धिः', क्लीबत्वं लोकात् । अत्र स्त्रीत्वाभावान्न ङीषित्यर्थः । ननु मास्तु ङीष्, अनङ् तु कुतो न स्यात्, समासान्त-प्रकरणस्थे ऊधसोऽनङ्विधौ 'स्त्रियाम्' इत्यभावादित्यत आह—तद्विधाविति । ऊधसोऽनङ्-विधौ 'स्त्रियाम्' इत्युपसङ्ख्यानादित्यर्थः । 'बहुव्रीहेः किम् ? ऊधः प्राप्तेति विग्रहे 'प्राप्ता-पन्ने च द्वितीयया' इति समासे प्राप्तोधाः ।

(४८५) सङ्ख्याव्ययादेर्ङीप् । सङ्ख्याव्ययादेरूधोऽन्तात् स्त्रियां ङीप् स्यादित्यर्थः । ङीषोऽपवाद इति । 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्' इत्यस्यापवाद इत्यर्थः । स्वरे विशेषः । सङ्ख्यादे-रुदाहरति—द्व्यूध्नीति । द्वे ऊधसी यस्या इति विग्रहः । अनङि ङीपि अल्लोप इति भावः । अव्ययादेरुदाहरति—अत्यूध्नीति । अतिशयितमूधो यस्या इति विग्रहः । बहुव्रीहेरित्येवेति । बहुव्रीहेरित्यनुवर्तते एवेत्यर्थः । ऊधोऽतिक्रान्तेति । 'अस्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासस्य अबहुव्रीहित्वान्न ङीप् । अत एव नानङ्, नापि ङीप् ।

विशेष—'ङीप्' और 'ङीष्' प्रत्ययों के संयुक्त होनेपर 'दीर्घ ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग-शब्द सिद्ध होते हैं । दोनों प्रत्ययों के होने पर 'नदी' संज्ञा भी समान रूप में ही होती है, अतः यहाँ 'ङीप्' विधान क्यों नहीं किया ? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि दोनों प्रत्ययों के अन्तिम वर्ण भिन्न-भिन्न हैं । अतः उनकी इत्संज्ञा होने पर 'स्वर' में अन्तर होता है । यही 'ङीप्' विधान का प्रयोजन है । 'ङीष्' में 'ष्' की इत्संज्ञा होती है और 'ङीप्' में 'प्' की । दोनों इत्संज्ञक-वर्ण भिन्न होने से दोनों के स्वर भिन्न हो जाते हैं । 'ङीप्' प्रत्यय किये जाने पर 'कुण्डोधन्' शब्द में पूर्वपदप्रकृति स्वर से ("बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्" ६-२-१) धकारोत्तरवर्ती अकार से अनुदात्तनिवृत्तिस्वर की अप्राप्ति होने के कारण अन्तोदात्त नहीं हो सकेगा ।[1] 'ङीप्' और 'ङीष्' के स्वर में यह भेद है कि 'ङीष्' का स्वर "आद्युदात्तश्च" (३-१-३) से आद्युदात्त होता है । एवं 'ङीप्' का स्वर "अनुदात्तौ सुप्पितौ" (३-१-४) से अनुदात्त होता है । कुण्डोध्नी ।

(४८५) **पद**—संख्याव्ययादेः, ङीप् । **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहेः, ऊधसः, स्त्रियाम्, प्रातिपदि-कात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—(संख्या तथा अव्यय-पूर्वक ऊधस्-शब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय होता है) । 'ङीष' का अपवाद है । द्व्यूध्नी । अत्यूध्नी । बहुव्रीहिसमास में ही होगा । ऊधः अतिक्रान्ता-अर्थ में अत्यूधाः । अर्थात् द्वितीया-तत्पुरुष में नहीं ।

विवरण—बहुव्रीहि-समास-युक्त 'ऊधस्'-शब्दान्त प्रातिपदिक से कुछ स्थलों पर 'ङीप्' का विधान किया जारहा है । पूर्वसूत्र से सामान्यतया 'ङीष्' प्रत्यय का विधान किया गया था । उसे सीमित कर दिया गया है । अतः सूत्रार्थ इस प्रकार होगा—"संख्यावाचक शब्द एवं अव्ययशब्द-पूर्वक 'ऊधस्'शब्दान्त बहुव्रीहिसमास-युक्त प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीप्' प्रत्यय होता है" । पूर्वसूत्र से प्राप्त 'ङीष्' का यह अपवाद है । **उदाहरण**—(क) संख्यापूर्वक—१—द्व्यूध्नी । २—त्र्यूध्नी । **विग्रह**—१—द्वे ऊधसी यस्याः सा । **प्रक्रिया**—द्वि+औ, ऊधस्+औ, <द्वि-ऊधस् (समास—"अनेकमन्यपदार्थे" २-२-२४, सुप्-लुक्), <द्व्यूधन् (अनङ्, यण्),

---

१. 'ङीपि तु कुण्डोधन्-शब्दे पूर्वपदप्रकृतिस्वरेण धकाराकारस्यानुदात्तनिवृत्तिस्वराप्राप्त्यान्तो-दात्तत्वं न सिध्येत् । ल० श० शे० ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दामहायनान्ताच्च ४ । १ । २७ ॥ सङ्ख्यादेर्बहुव्रीहेर्दामान्ताद्धायनान्ताच्च ङीप्स्यात् । दामान्ते डाप्प्रतिषेधयोः प्राप्तयोर्हायनान्ते टापि प्राप्ते वचनम् । द्विदाम्नी । अव्ययग्रहणाननुवृत्तेरुद्दामा वडवेत्यत्र डाब्निषेधावपि पक्षे स्तः । द्विहायनी बाला । 'त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य णत्वं वाच्यम्' (वा ५०३८) । 'वयोवाचकस्यैव हायनस्य ङीष्णत्वं चेष्यते' (वा २४४१) । त्रिहायणी । चतुर्हायणी । वयसोऽन्यत्र द्विहायना, त्रिहायना, चतुर्हायना

---

(४८६) दामहायनान्ताच्च । सङ्ख्यादेः ङीप् इति चानुवर्तते । तदाह—संख्यादेरिति । अव्ययग्रहणं तु नानुवर्तते, अस्वरितत्वादिति भावः । बहुव्रीहिविशेषणत्वादेव सिद्धे अन्तग्रहणं स्पष्टार्थम् । दामान्ते इति । द्विदामन्शब्दे दामान्ते 'डाबुभाभ्याम्' इति डापि, 'अन उपधालोपिनः' इति ङीपि, 'अनो बहुव्रीहेः' इति ङीप्प्रतिषेधे च प्राप्ते, 'द्विहा यनी'त्यत्रापि हायनान्ते अदन्तत्वाट्टापि प्राप्ते 'दामहायनान्ताच्च' इति वचनमित्यर्थः । द्विदाम्नीति । द्वे दामनी यस्या इति विग्रहः । ङीपि 'अल्लोपोऽनः' इति भावः । ननु अव्ययग्रहणानुवृत्तौ किं बाधकमित्यत आह—अव्ययग्रहणेति । उद्दामेति । उत्क्रान्तं दाम यस्या इति विग्रहः । डाब्निषेधावपीति । अपिना 'अन उपधा' इति ङीप् गृह्यते, अनूग्रहणे अनर्थकस्यापि ग्रहणात् । अथ हायनान्तस्य उदाहरति—द्विहायनी बालेति । द्वौ हायनौ यस्या इति विग्रहः । अथ त्रिहायणीत्यत्र भिन्नपदत्वात् णत्वप्राप्तावाह—त्रिचतुर्भ्यामिति । नन्वेवमपि द्विहायना

<द्व्यूधन्+ई (ङीप्), <द्व्यूध्नी ('अ'–लोप–"अल्लोपोऽनः" ६-४-१३४) । २—इसी तरह–त्र्यूध्नी भी सिद्ध होगा । (ख) अव्ययपूर्वक–अत्यूध्नी । विग्रह–अतिगतम् ऊधः यस्याः सा । स्वर–"निपाता आद्युदात्ताः" (फिट्० ६९) से 'अति' का 'अ' उदात्त है, शेष सब अच् अनुदात्त हो जायेंगे । इस के फलस्वरूप "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः" (८-४-६५) से 'ऊ' स्वरित हो जायगा । शेष प्रचय ।

विशेष—अनङ् आदि कार्य बहुव्रीहि में ही होते हैं । अतः 'ऊधः अतिक्रान्तः' अत्यूधाः में 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' से द्वितीया-तत्पुरुष-समास होने के कारण 'अनङ्' आदेश एवं 'ङीप्' नहीं हुए ।

(४८६) **पद**—दामहायनान्तात्, च । **अनुवृत्ति**—संख्यादेः, ङीप्, बहुव्रीहेः, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—संख्यादि दामान्त और हायनान्त बहुव्रीहि से (स्त्रीत्व द्योत्य रहते) 'ङीप्' प्रत्यय होता है । दामान्त शब्दों में डाप् तथा प्रतिषेध प्राप्त होने पर और हायनान्त शब्दों में 'टाप्' प्राप्त होने पर यह विधान है । द्विदाम्नी । 'अव्यय' की अनुवृत्ति न होने से 'उद्दामा वडवा' में पाक्षिक 'डाप्' एवं 'ङीप्' का निषेध भी होता है । द्विहायनी बाला । (वा०) 'त्रि' एवं 'चतुर्' शब्दों से परवर्ती 'हायन' के 'न'कार को 'ण'कार होता है । वयोवाचक 'हायन' शब्द से ही 'ङीप्' तथा 'न'कार को णत्व अभीष्ट है । त्रिहायणी । चतुर्हायणी । वयोवाची के अतिरिक्त–चतुर्हायना शाला ।

विवरण—केवल संख्यावाची-शब्दों के पूर्व में रहने पर दामान्त एवं हायनशब्दान्त बहुव्रीहिसमासयुक्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीप्' प्रत्यय का विधान किया जारहा है । इस विधान से "द्विदामन्" शब्द में "अनो बहुव्रीहेः" (४-१-१२) से प्राप्त 'ङीप्'–निषेध एवं "डाबुभाभ्याम् अन्यतरस्याम्" (४-१-१३) से प्राप्त 'डाप्' का बाध होता है । बहुव्रीहिसमासयुक्त हायनान्त शब्दों में "अजाद्यतष्टाप्" (४-१-४) से 'टाप्' प्राप्त रहा, उसका भी यह बाधक है । **उदाहरण**—द्विदाम्नी (दो रस्से वाली गाय) । विग्रह—द्वे दामनी यस्याः सा । प्रक्रिया—द्विदामन्+ई (ङीप्), <द्विदामन्+ई ('अ' का लोप—"अल्लोपोऽनः" ६-४-१३४), <द्विदाम्नी । (वा०) **अर्थ**—त्रि एवं चतुर्-शब्दपूर्वक 'हायन' शब्दावयव 'न्' के स्थान पर 'ण्' होता है । भाष्यकार को यह अभीष्ट है कि वयोवाचक 'हायन' शब्दावयव 'न्' के स्थान पर ही 'ण्' होता है । इस नियम से 'वर्ष' वाचक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाला। (४८७) **नित्यं संज्ञाछन्दसोः ४। १। २९ ॥** अन्नन्ताद् बहुव्रीहेरुपधालोपिनो ङीप्स्यात्सञ्ज्ञाछन्दसोः। सुराज्ञी नाम नगरी। अन्यत्र पूर्वेण विकल्प एव। वेदे तु शतमूर्ध्नी ॥ (४८८) **केवलमामकभागधेयपापापरसमानार्यकृतसुमङ्गलभेषजाच्च ४।१।३० ॥** एभ्यो नित्यं ङीप्स्यात्सञ्ज्ञाछन्दसोः। 'अथो त इन्द्रः केवलीर्विशः' 'मामकी

शाला इत्यत्रापि ङीप् स्यात्, त्रिहायना शालेत्यत्र तु ङीप् णत्वं च स्यातामित्यत आह—वयोवाचकस्येति। इष्यते इति। भाष्यकृतेति शेषः।

(४८८) केवलमामक। **'नित्यं संज्ञाच्छन्दसोः'** इति पूर्वसूत्रमनुवर्तते। एवं च 'अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्' इति अन्यतरस्यां ग्रहणं निवृत्तम्। 'संख्याव्ययादेर्ङीप्' इत्यतो ङीबित्यनुवर्तते। तदाह—एभ्य इति। केवल, मामक, भागधेय, पाप, अपर, समान, आर्यकृत, सुमङ्गल, भेषज—इत्येतेभ्यो नवभ्य इत्यर्थः। छन्दस्युदाहरति—अथो त इन्द्रः

हायन शब्दावयव 'न्' के स्थान पर 'ण्' नहीं होगा[1]। इसके फलस्वरूप 'त्रिहायणी' (त्रयः हायनाः यस्याः सा=तीन वर्ष वाली)। एवं 'चतुर्हायणी' (चत्वारः हायनाः यस्याः सा=चार वर्ष की लड़की) में 'ङीप्' एवं णत्व हुए। वयोवाची न होने के कारण 'ङीप्' एवं णत्व नहीं हुए—द्विहायना (दो कक्षवाली), त्रिहायना (तीन कक्ष वाली) तथा चतुर्हायना (चार कक्ष वाली) शाला (बड़ा भवन)। अतः यहाँ ह्रस्व अकारान्त होने से 'टाप्' प्रत्यय हुआ।

(४८७) **पद**—नित्य संज्ञाछन्दसोः। **अनुवृत्ति**—अन उपधालोपिनः, बहुव्रीहेः, ङीप्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—उपधालोपी अन्नन्त बहुव्रीहि से स्त्रीत्व द्योत्य रहते संज्ञा और वेद में 'ङीप्' प्रत्यय होता है। सुराज्ञी नामक नगरी। अन्यत्र पूर्वसूत्र से विकल्प ही होता है। वेद में शतमूर्ध्नी।

विवरण—अष्टाध्यायी क्रम में इससे पूर्व "अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्" (४-१-२८) सूत्र है। उसी सन्दर्भ में संज्ञा तथा छन्द के विषय में नित्य 'ङीप्' का विधान किया जारहा है। इस कारण पूर्वसूत्र से (४-१-२८) 'अनः उपधालोपिनः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त "ऋन्नेभ्यो ङीप्" (४-१-५) से 'ङीप्' तथा स्त्रीप्रत्यय-प्रकरण के उपयोगी चारों अधिकार-सूत्रों का प्रभाव विद्यमान है। अतः सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "संज्ञा तथा छन्द के विषय में अन्नन्त उपधालोपी बहुव्रीहिसमास से स्त्रीत्व द्योत्य रहते नित्य 'ङीप्' प्रत्यय होता है"। यह पूर्वसूत्र का अपवाद है। **उदाहरण**—(क) संज्ञा—सुराज्ञी (शोभनः राजा यस्याः सा = अच्छे राजा से प्रशासित नगरी का नाम)। सुराजन्+ई (ङीप्), <सुराज्-न्+ई ('अन्' की उपधा-'अ'-का लोप), <सुराज्-ञ्+ई (न् = ञ्—श्चुत्व), <सुराज्ञी। यहाँ नगरी का नाम भी 'सुराज्ञी' है। (ख) छन्द = (वेद) में शतमूर्ध्नी-शतं मूर्धानः यस्याः सा = सौ सिरवाली-शतमूर्धन्+ई (ङीप्), <शतमूर्ध्-न्+ई, <शतमूर्ध्नी।

विशेष—'संज्ञा' और 'वेद' में विशेषतया विधान करने के फलस्वरूप आरम्भ-सामर्थ्य से ही 'ङीप्' प्रत्यय नित्य हो जाता। अतः 'नित्य' पद की उपयोगिता आगे के सूत्र में विकल्प की अनुवृत्ति न जाने के लिये है।

(४८८) **पद**—केवल·····भेषजात्, च। **अनुवृत्ति**—संज्ञाछन्दसोः, ङीप्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—इन नौ शब्दों से संज्ञा और छन्द में 'ङीप्' प्रत्यय हो। अथो त इन्द्रः केवली-

---

१. "अथेह कथं भवितव्यम्—द्वौ हायनावस्य शालायाः द्विहायना त्रिहायना इति? 'हायनो वयसि स्मृतः'। वयोवाचिनो हायनशब्दस्य ग्रहणम्। न चैष वयोवाची। अथ णत्वं कस्मान्न भवति। णत्वमपि वयोवाचिन एव।" महाभाष्यम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तनू'। भागधेयी। पापी। अपरी। समानी। आर्यकृती। सुमङ्गली। भेषजी। अन्यत्र केवला इत्यादि। मामकग्रहणं नियमार्थम् अण्णन्तत्वादेव सिद्धेः। तेन लोकेऽसंज्ञायां

केवलीरिति। मामकी तनू इति। मदीयायामित्यर्थः। 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च' इत्यणि 'तवकममकावेकवचने' इति प्रकृतेर्ममकादेशः, ङीप्, 'सुपां सुलुक्' इति सप्तम्या लुक्। 'मित्रावरुणयोर्भागधेयी स्थ'। 'भागरूपनामभ्यो धेयः' इति स्वार्थिको धेयप्रत्ययः। भागशब्दस्य पुंल्लिङ्गत्वेपि 'स्वार्थिकाः प्रकृतेः क्वचिल्लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते' इति स्त्रीत्वम्, ङीप्। 'तन्वः सन्तु पापीः।' पापमस्यास्तीत्यर्थे अर्श आद्यजन्तात् स्त्रीत्वे ङीप्। 'उत वापरीभ्यो मघवा विजिग्ये।' अपरशब्दः पवर्गमध्यः। 'समानीव आकूतिः।' आर्यकृतीति क्वचित् वेदे अन्वेषणीयम्। एवं 'सुमङ्गलीरियं वधूः' इत्यत्र 'छन्दसीवनिपौ च' इति मत्वर्थे ईप्रत्ययः। 'शिवा रुद्रस्य भेषजी।' भेषजशब्दः रोगनिवर्तके औषधे प्रसिद्धः। अत एव सूत्रात् स्त्रीत्वमपि। यद्वा भिषजः इयमित्यर्थे अणि इकारस्य एकारः, अत एव निपातनात्। सञ्ज्ञायामप्येवमेव सर्वत्र ङीबुदाहार्यः। सञ्ज्ञाच्छन्दोभ्यामन्यत्र तु केवला मामिका इत्यादि। नन्वण्णन्तत्वादेव 'टिड्ढाणञ्' इति ङीपि सिद्धे मामकग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—मामकग्रहणमिति। लोके असञ्ज्ञायां च ङीञ्निवृत्त्यर्थमिति भावः। एवं भेषजशब्दस्य अण्णन्तत्वेऽपि ज्ञेयम्। एतदर्थमेव वैदिकप्रक्रियायाम् इदं नोपन्यस्तम्।

विंशः। मामकी। भागधेयी। पापी। अपरी। समानी। आर्यकृती। सुमङ्गली। भेषजी। अन्यत्र केवला इत्यादि। 'मामक' का ग्रहण नियमार्थक है, क्योंकि अण्-प्रत्ययान्त होने से 'ङीप्' तो स्वतः सिद्ध था। अतः लोक में तथा संज्ञा के अतिरिक्त 'मामिका' रूप बनेगा।

विवरण—पूर्वसूत्र में 'संज्ञा' तथा 'वेद' के विषय में केवल उपधालोपी एवं अन्नन्त बहुव्रीहि-समास-युक्त प्रातिपदिकों से ही 'ङीप्' का विधान किया गया है। प्रकृत-सूत्र से संज्ञा और वेद के विषय में केवल, मामक, भागधेय, पाप, अपर, समान, आर्यकृत, सुमङ्गल तथा भेषज-इन ९ शब्दों से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीप्' प्रत्यय होता है। अन्यत्र लौकिक प्रयोगविषयों में "अजाद्यतष्टाप्" (४-१-४) से 'टाप्' प्रत्यय होगा। क्रमशः वेद के **उदाहरण**—१—केवल>केवली। लोक में केवला। वैदिक उदाहरण—'अथो त इन्द्रः केवलोविंशः' (= इन्द्र ने तुम्हारी प्रजा को एक शासन में रहने वाला किया है)। २—मामक>मामकी। लोक में मामका। उद्धृत मन्त्रांश 'मामकी तनू' में सप्तमी विभक्ति का 'लुक्' (लोप) हुआ है—"सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः" (७-१-३९)। **अर्थ**—मेरे शरीर में। ३—भागधेय>भागधेयी। वैदिक उद्धरण—"मित्रावरुणयोर्भागधेयी स्थ"। **अर्थ**—मित्र एवं वरुण के भागरूप होते हो। भाग+धेय = भागधेय ('भागरूपनामभ्यो धेयः' वा०)। भाग शब्द यद्यपि पुंलिङ्गवाची है तथापि उसके साथ स्वार्थिक 'धेय' प्रत्यय संयुक्त होने से उसका प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में हुआ है—'स्वार्थिकाः प्रकृतेः क्वचित् लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते'। लोक में भागधेया। ४—पाप>पापी। वैदिक उद्धरण—'तन्वः सन्तु पापीः'। **अर्थ**—तुम्हारे मन पापयुक्त हैं। 'पाप' शब्द नपुंसकलिङ्गवाची है। उससे मत्वर्थीय 'अच्' प्रत्यय करने पर 'पापयुक्ता' अर्थ में पाप+ई ('ङीप्'), ततः 'अ'-लोप। लोक में पापा। ५—अपर>अपरी। वैदिक उद्धरण—'उतापरीभ्यो मघवा विजिग्ये'। **अर्थ**—इन्द्र ने कपट प्रयोगों पर विजय पाई। लोक में अपरा। ६—समान>समानी। वैदिक उद्धरण—'समानीव आकूतिः'। (= समान इच्छा)। लोक में समाना। ७—आर्यकृत>आर्यकृती। **अर्थ**—श्रेष्ठ पुरुष से उत्पन्न स्त्री। लोक में आर्यकृता। ८—मङ्गल>मङ्गली। वैदिक उद्धरण—'सुमङ्गलीरियं वधूः' अथ० २-१-९-२ (**अर्थ**—यह वधू कल्याणशीला है)। यहाँ 'ई' प्रत्ययान्त 'सुमङ्गली' शब्द का प्रयोग किया गया है। उसके प्रथमा-एकवचन में 'सुमङ्गलीः' रूप होता है। अन्त में 'ङी'-न होने से 'स्'-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मामिका । (४८९) **अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक् ४ । १ । ३२ ॥** एतयोः स्त्रियां नुक्स्यात् । 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (सू ३०६) । गर्भिण्यां जीवद्भर्तृकायां च प्रकृतिभागौ निपात्येते । तत्रान्तरस्त्यस्यां गर्भ इति विग्रहे अन्तःशब्दस्याधिकरणशक्तिप्रधानतयाऽस्तिसामानाधिकरण्याभावादप्राप्तो मतुब्निपात्यते । 'पतिवत्नी' इत्यत्र तु वत्वं निपात्यते । अन्तर्वत्नी ।

---

(४८९) अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक् । एतयोः स्त्रियां नुगिति । कित्त्वसामर्थ्याद् अयमागमः, न तु प्रत्यय इति भावः । कित्त्वादन्तावयवः । अन्तर्वत् न्, पतिवत् न् इति स्थिते आह—ऋन्नेभ्यो ङीबिति । गर्भिण्यामिति । गर्भिण्यां जीवद्भर्तृकायां च स्त्रियाम् अन्तर्वत् पतिवत् इति प्रकृतिभागौ नुक्सन्नियोगेन निपात्येते इत्यर्थः । वार्तिकमेतत् । कतरस्मिन् किं निपात्यत इत्यत आह—तत्रेति । तयोर्मध्य इत्यर्थः । अन्तरस्त्यस्यां गर्भ इति विग्रहे अप्राप्तो मतुब् निपात्यत इत्यन्वयः । कथमप्राप्तिर्मतुप इत्यत आह—अन्तःशब्दस्येत्यादि, अभावा-

---

विभक्ति का लोप नहीं हुआ । ९—भेषज>भेषजी । वैदिक उद्धरण–'शिवा रुद्रस्य भेषजी' ।[1] अर्थ—रुद्र का शरीर शान्तिदात्री ओषधि है । लोक में भेषजा । 'संज्ञा'–वाची शब्दों में भी 'ङीप्' प्रत्यय के उदाहरण इसी प्रकार जाने जायँ ।

विशेष—१–'मामक' शब्द 'अण्' (अस्मद्+अण्) प्रत्ययान्त है । उससे स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'टिड्ढाणञ्०' (४-१-१५) से 'ङीप्' प्रत्यय होकर 'मामकी' रूप निष्पन्न हो जाता । अतः प्रकृत सूत्र में 'मामक' ग्रहण नियमार्थ है । तदनुसार अण्–प्रत्ययान्त 'मामक' शब्द से 'ङीप्' प्रत्यय वेद एवं संज्ञा में ही होगा, अन्यत्र नहीं ।[2] अतः लोक एवं असंज्ञा में मामिका । २—औषध अर्थ में 'भेषज' शब्द अव्युत्पन्न रूढ़ है । 'भिषज्' से 'इदम्' अर्थ में अण् प्रत्यय करने पर 'भैषज' शब्द निष्पन्न हो जाता है । इकार के स्थान पर एकार का निपातन है ।

(४८९) **पद**—अन्तर्वत्पतिवतोः, नुक् । **अनुवृत्ति**—ङीप्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—इन दोनों (अन्तर्वत् तथा पतिवत्) शब्दों से 'नुक्' आगम होता है । "ऋन्नेभ्यो ङीप्" । गर्भिणी तथा जीवत्पतिका अर्थ में 'अन्तर्वत्' तथा 'पतिवत्'–ये प्रकृतिरूप निपातित हैं । यहाँ पर 'अन्तः अस्ति अस्याम् गर्भः' (= इसमें भीतर गर्भ है) अर्थ में 'अन्तः' शब्द अधिकरण-शक्ति-प्रधान होने से 'अस्ति' के साथ उसका सामानाधिकरण्य न हो सकने के कारण अप्राप्त 'मतुप्' प्रत्यय का निपातन किया जारहा है । 'पतिवत्नी' में वकार का निपातन किया गया है । अन्तर्वत्नी । पतिवत्नी । इसके प्रत्युदाहरण—अन्तः अस्ति–अस्यां शालायां घटः । पतिमती पृथिवी ।

विवरण—गर्भिणी और जीवद्भर्तृका अर्थों में क्रमशः 'अन्तर्वत्नी' तथा 'पतिवत्नी' शब्दों की सिद्धि के लिए 'नुक्' आगम का विधान किया जारहा है । अतः आगमी हैं ('अन्तर्वत्पतिवतोः') 'अन्तर्वत्' तथा 'पतिवत्' एवं आगम है नुक् । 'नुक्' में 'क्'–इत्संज्ञक है अतः "आद्यन्तौ टकितौ"

---

१. "मामकग्रहणं किमर्थम् ? नाणन्तादित्येवं सिद्धम् । नियमार्थोऽयमारम्भः । मामकशब्दात् संज्ञाछन्दसोरेव । क्व मां भूत् ? मामिका बुद्धिरिति" । महाभाष्यम् ।

२. शुक्लयजुर्वेदे तु मन्त्रस्वरूपमित्थम्—

"ॐ या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी ।
शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे ॥ य० सं० १६-४९ ।

अस्यायमर्थः—हे रुद्र ! या (तव), शिवा =शान्ता, तनूः शरीरं, तया = तन्वा, नः = अस्मान् जीवसे = जीवितुं, मृड = सुखय । कीदृशी तव तनूः, विश्वाहा = सर्वेषु अहःसु, शिवा=कल्याणदात्री, भेषजी = ओषधिरूपा वर्तते । पुनश्च या = तनूः, रुतस्य=शरीरव्याधेः, शिवा = समीचीना, भेषजी= नवर्तिकौषधिः वर्तते । तया अस्मान् सुखय ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पतिवत्नी । प्रत्युदाहरणं तु अन्तरस्त्यस्यां शालायां घटः । पतिमती पृथिवी । (४९०) **पत्युर्नो यज्ञसंयोगे ४ । १ । ३३ ॥** पतिशब्दस्य नकारादेशः स्याद्यज्ञेन सम्बन्धे । वसिष्ठस्य

दित्यन्तम् । 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इति सूत्रेण अस्तिसमानाधिकरणात् कर्तृकारकप्रधानप्रथमान्तात् मतुप्प्रत्ययो विहितः । यथा गौरस्यास्तीति गोमानित्यादौ । प्रकृते तु प्रथमान्तः कर्तृकारकप्रधानो गर्भशब्द एवास्तिसामानाधिकरणः, न तु अन्तः शब्दः, तस्याधिकरणकारकप्रधानतया अस्तिसामानाधिकरण्यासम्भवात् । अतोऽत्र अप्राप्तो मतुब्निपात्यत इत्यर्थः । ततश्च 'मादुपधायाश्च मतोर्वः' इति मकारस्य वत्वे अन्तर्वत् इति प्रकृतिभावः सम्पद्यत इति भावः । वत्वमिति । पतिरस्या अस्तीति विग्रहे 'तदस्यास्त्यस्मिन्' इति मतुपो मकारस्य मादुपधात् परत्वाभावेन 'मादुपधायाः' इति वत्वमप्राप्तं निपात्यत इत्यर्थः । प्रत्युदाहरणं त्विति । गर्भिण्यामेव मतुब्निपातनादन्तरस्त्यस्यां शालायां घट इति विग्रहवाक्यमेव, न तु मतुबित्यर्थः । पतिमती पृथिवीति । जीवद्भर्तृकायामेव वत्वनिपातनादिह वत्वाभाव इति भावः ।

(४९०) पत्युर्नो । पत्युरिति षष्ठी । 'न' इत्यकार उच्चारणार्थः । स्त्रियामित्यधिकृतम् । तदाह—पतिशब्दस्येति । यज्ञेनेति । यज्ञसम्बन्धः यज्ञेन सह स्वामितया सम्बन्धः । यज्ञफल-

---

(३६) की उपस्थिति से 'अन्तर्वत्' तथा 'पतिवत्' शब्दों का अन्तावय 'न्' होगा । 'नुक्' में 'उ' की इत्संज्ञा होने से 'न्' के अनन्तर 'ई' (ङीप्) की स्थिति रहेगी । इसके साथ ही 'मतुप्' प्रत्यय के मकार के स्थान पर 'व'कार का भी निपातन किया गया है । 'गर्भधारण करने वाली स्त्री' अर्थ में 'अन्तर्वत्नी' शब्दावयव 'अन्तर्' शब्द से 'मतुप्' प्रत्यय की सम्भावना नहीं रही, क्योंकि 'अन्तर्' शब्द के साथ 'मतुप्'-प्रत्यय के अर्थ—'अस्ति' (वर्तमानकालिक सत्ता)—का सामानाधिकरण्य नहीं है । कारण यह है कि 'अन्तर्' शब्द अधिकरणशक्ति-प्रधान है तथा 'अस्ति' का अर्थ है वर्तमानकालिक सत्ता । भीतर की वस्तु का बाह्य विद्यमानता के साथ सामानाधिकरण्य न होने से 'मतुप्' प्राप्त नहीं रहा । दूसर शब्द के अर्थ 'पतिः अस्ति अस्याः' में अस्त्यर्थ एवं पतिशब्दार्थ दोनों समान हैं । अर्थात् वर्तमानकाल-सम्बन्धी सत्ता-विशिष्ट पति तथा वर्तमानकालविशिष्ट सत्तावान् पति—ये दोनों एकार्थबोधक हैं । अतः सामानाधिकरण्य होने से "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्" (५-२-९४) से मतुप् प्रत्यय की प्राप्ति है । यहाँ केवल नकारादेश का निपातन है । तदनुसार १—अन्तर्वत्-न्+ङ्>अन्तर्वत्नी (= गर्भिणी) तथा २—पतिवत्-न्+ङ्>पतिवत्नी (=सधवा)-दोनों शब्द सिद्ध होते हैं । **प्रत्युदाहरण**—१-'अन्तर्' शब्द से 'मतुप्' प्रत्यय गर्भिणी अर्थ में ही निपातित है, अतः 'अन्तर्-अस्ति अस्यां शालायां घटः' (=जिस शाला के भीतरी भाग में घड़ा रखा है)—यह वाक्य ही प्रत्युदाहरण है । इस वाक्य में मतुप् नहीं हुआ । २—दूसरा प्रत्युदाहरण 'पतिमती पृथिवी' (= राजा से युक्त पृथिवी) है, क्योंकि 'जीवद्भर्तृका स्त्री' अर्थ में ही 'वत्' का निपातन है । अतः इस अर्थ में 'म्' के स्थान पर 'व्' नहीं होगा । यथाप्राप्त 'मतुप्' तथा 'ङीप्' हुए ।

(४९०) **पद**—पत्युः, नः, यज्ञसंयोगे । **अनुवृत्ति**—ङीप्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—यज्ञ-सम्बन्ध में 'पति' शब्द को स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'न'कार अन्त-आदेश होता है । वसिष्ठ की पत्नी । वह वसिष्ठ के द्वारा सम्पादित यज्ञ के फल को भोगनेवाली है । यज्ञ में पति-पत्नी को एक साथ ही अधिकार प्राप्त है ।

विवरण—प्रकृत सूत्र का पाठ 'ङीप्' के प्रकरण में होने के कारण 'पति' शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य रहते स्त्रीलिङ्गवाची 'ङीप्' प्रत्यय के साथ ही 'न'कार अन्तादेश का विधान भी किया जारहा है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्नी। तत्कर्तृकस्य यज्ञस्य फलभोक्त्रीत्यर्थः, दम्पत्योः सहाधिकारात्। **(४९१) विभाषा सपूर्वस्य ४। १। ३४॥** पतिशब्दान्तस्य सपूर्वस्य प्रातिपदिकस्य नो वा स्यात्। गृहस्य पतिः गृहपतिः—गृहपत्नी। 'अनुपसर्जनस्य' इतीहोत्तरार्थमनुवृत्तमपि न पत्यु-

---

भोक्तृत्वमिति यावत्। तदाह—तत्कर्तृकस्येति। वसिष्ठकर्तृकस्येत्यर्थः। ननु वसिष्ठकर्तृक-यज्ञस्य वसिष्ठ एव फलभोक्तेत्युचितम्, न तु तत्स्त्र्यपि, 'स्वर्गकामः' इत्यादि पुंल्लिङ्ग-शब्दैः पुंस एवाधिकारावगमात् इत्यत आह—दम्पत्योः सहाधिकारादिति। एतच्च प्रकृतसूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। अत एव पूर्वमीमांसायां षष्ठस्य प्रथमपादे 'लिङ्गविशेषनिर्देशात् पुंयुक्त-मैतिशायनः' इत्यधिकरणे 'स्ववतोऽस्तु वचनादैककर्म्यं स्यात्' इत्यधिकरणे च दम्पत्योः सहाधिकारः सिद्धान्ततः। प्रपञ्चितं चैतदस्माभिरध्वरमीमांसाकुतूहलवृत्तौ।

(४९१) विभाषा सपूर्वस्य। पत्युर्न इत्यनुवर्तते। प्रातिपदिकादित्यनुवृत्तं षष्ठ्या विप-रिणतं पत्युरित्यनेन विशेष्यते, तदन्तविधिः। सपूर्वस्येत्येतत् पतिशब्दान्तप्रातिपदिके अन्वेति। पूर्वावयवसहितस्येत्यर्थः। तदाह—पतिशब्दान्तस्येत्यादिना। यज्ञसंयोगाभावेऽपि अप्राप्तविभाषेयम्। गृहपतिः—गृहपत्नीति। नत्वपक्षे 'ऋन्नेभ्यः' इति ङीप्। अत्र गृहपति-शब्दः पतिशब्दान्तो गृहशब्दात्मकपूर्वावयवसहितश्चेति भावः। न च 'ग्रहणवता प्राति-पदिकेन' इति निषेधः शङ्क्यः, 'शूद्रा चामहत्पूर्वा' इति लिङ्गेन तस्य स्त्रियामित्यधिकारे अप्रवृत्तेरुक्तत्वात्। ननु दृढः पतिः यस्या इति बहुव्रीहौ दृढपतिः दृढपत्नीति नत्वविकल्प

अधिकतर वृत्तिकारों ने प्रकृत-सूत्र तथा अग्रिम-सूत्र को केवल नकारादेश का विधायक माना है। नकारादेश हो जाने पर 'पति' शब्द नकारान्त 'पतन्' हो जाता है। इस अवस्था में वृत्तिकार "ऋन्नेभ्यो ङीप्" (४-१-५) से ङीप् का विधान करते हैं। वस्तुतः यह सूत्र 'ङीप्' प्रकरण में पढ़ा गया है, अतः 'ङीप्' के साथ ही नकारान्तादेश का विधान किया जाना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। आचार्य धर्मकीर्ति ने 'रूपावतार' में इसी प्रकार अर्थ किया है।[1] दो विधान होने से 'पत्युः' पद में वाक्यभेद से 'पञ्चमी' एवं 'षष्ठी'—दोनों विभक्तियों का ग्रहण किया जाता है। तदनुसार 'षष्ठी' विभक्ति मानकर "अलोऽन्त्यस्य" (१-१-५१) परिभाषा के आश्रय से अन्त्य अल् 'इ'कार को नकारा-देश होगा तथा 'पञ्चमी' विभक्ति मानकर उससे पर 'ङीप्' प्रत्यय होता है। सूत्रस्थ 'संयोग' पद का अर्थ यहाँ साहचर्य है, क्योंकि यज्ञादि करने में दम्पती को एक साथ ही शास्त्रतः अधिकार प्राप्त है[2]। इसी सिद्धान्त का प्रतीक यह है कि विवाह के समय कन्या-पिता वर से यह प्रतिज्ञा कराता है कि धर्म, अर्थ एवं काम के समय पत्नी का अतिक्रमण न किया जाय—'धर्मे चार्थे च कामे च नातिचरितव्या त्वयेयमिति'। **उदाहरण**—(वसिष्ठस्य) पत्नी। पति+ङीप् (ई), <पत्-न्+ई, <पत्नी। वसिष्ठ के द्वारा सम्पादित यज्ञ के फल (पुण्य) का भोक्ता केवल वसिष्ठ ही नहीं किन्तु साहचर्य के कारण उनकी पत्नी भी है।

(४९१) पद—विभाषा सपूर्वस्य। **अनुवृत्ति**—पत्युः नः, ङीप्, स्त्रियां, प्रातिपदिकात्, अनुपसर्जनात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र** (विकल्प)।

मूलार्थ—(समास-युक्त) पतिशब्दान्त प्रातिपदिक को स्त्रीत्व द्योत्य रहते विकल्प से नकारादेश एवं 'ङीप्' होते हैं। गृहस्य पतिः—गृहपत्नी। अग्रिम सूत्रों में 'अनुपसर्जनात्' की अनुवृत्ति ले जाये जाने के कारण यहाँ भी उसकी अनुवृत्ति अपेक्षित होने से 'अनुपसर्जन' पद 'पति' शब्द का विशेषण नहीं

---

१. "पतिशब्दस्य नकारादेशो 'ङीप्' च भवति यज्ञसंयोगे गम्यमाने। यजमानस्य पत्नी"। रूपावतारः।

२. 'यज्ञसंयोगे' इति पतिशब्दस्य विशेषणं मन्यते। तेन यत्र यज्ञवाचिसमवधाने पतिशब्दः प्रयुज्यते 'पत्नीसंयाजा' इत्यादौ तत्रैव नत्वेन भाव्यमिति भावः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषणम्, किन्तु तदन्तस्य । तेन बहुव्रीहावपि । दृढपत्नी–दृढपतिः । वृषलपत्नी–वृषलपतिः । अथ 'वृषलस्य पत्नी' इति व्यस्ते कथमिति चेत् ? पत्नीव पत्नीत्युपचारात् । यद्वा आचारक्विबन्तात्कर्तरि क्विप् । अस्मिंश्च पक्षे–पत्नियौ, पत्नियः इतीयङ्विषये विशेषः ।

इष्यते, स तु न सम्भवति, 'अनुपसर्जना'दित्यधिकारात्, पतिशब्दस्यात्रोपसर्जनत्वात् । न च अनुपसर्जनात्' इति नात्र सम्बध्यते इति वाच्यम्, उत्तरत्रानुवृत्तये इहापि तदनुवृत्तेरावश्यकत्वादित्यत आह—अनुपसर्जनस्येत्यादि । किन्तु तदन्तस्येति । सपूर्वस्येति पत्यन्तस्य श्रुतत्वेन तद्विशेषणताया एव न्याय्यत्वात् । अवान्तरवाक्यार्थबोधोत्तरमेव अनुपसर्जनत्वविशेषणप्रवृत्त्या तत्काले सपूर्वस्य श्रुतत्वेन तेनैव सम्बन्धे जाते सति पश्चात् पतिशब्देऽपि पुनर्व्यापारे मानाभावादिति भावः । तेनेति । अनुपसर्जनत्वस्य पत्यन्तविशेषणत्वेनेत्यर्थः । यज्ञसंयोगग्रहणमनुवर्त्य प्राप्तविभाषा कुतो न स्यादित्यत आह–वृषलपत्नीति । पाति रक्षतीति पतिः, वृषलस्य पतिः स्त्री इति विग्रहः । अशूद्राधिकरणे शूद्राणां यज्ञाधिकारनिराकरणादिह यज्ञसंयोगाभावादप्राप्तमेव नत्वं विभाष्यत इति भावः । आक्षिपति—अथेति । आक्षेपारम्भद्योतकोऽथशब्दः, प्रश्नद्योतको वा । 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथ–' इत्यमरः । व्यस्ते इति । विग्रहवाक्ये इत्यर्थः । ततश्च सपूर्वत्वाभावात् न प्रकृतसूत्रेण नत्वविकल्पः, यज्ञसंयोगाभावाच्च न पूर्वसूत्रेण । अतो वृषलस्य पत्नीत्यनुपपन्नमित्याक्षेपः । इति चेन्नेति । इत्याक्षिपसि चेत् नैतदुक्तमित्यर्थः । पत्नीवेति । यज्ञसंयुक्तायां द्विजभार्यायां यः पत्नीशब्दो व्युत्पादितः तस्यैव शूद्रस्त्रियामपि अयज्ञसंयुक्तायां पाणिग्रहणादिधर्मपुरस्कारेण गौण्या वृत्त्या प्रयोगः । यथा गङ्गायामिति स्त्रीलिङ्गस्य तीरे प्रयोगः । उक्तं च भाष्ये—'तुपजकस्य पत्नीत्युपमानात्सिद्धम्' इति । यद्येति । प्रौढिवादमात्रमिदम्, स्त्रिया-

---

है, किन्तु 'पतिशब्दान्त' का विशेषण है । अतः बहुव्रीहि में भी यह पाक्षिक विधान प्रवृत्त होगा । दृढपत्नी–दृढपतिः । वृषलपत्नी–वृषलपतिः । समास-रहित स्थल में प्रयोग 'वृषलस्य पत्नी' प्रयोग कैसे सम्भव होगा ? लाक्षणिक प्रयोग समझा जाय ।

विवरण—पूर्वसूत्र द्वारा किये जाने वाले विधान को अधिक व्यापक बनाया जारहा है । प्रकृत सूत्र द्वारा वह विधान केवल 'पति' शब्द तक सीमित न रहकर 'पति-शब्दान्त' प्रातिपदिक में भी प्रवृत्त होता है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "पति शब्द के पूर्व किसी शब्द के विद्यमान रहने पर (सह=विद्यमानः, पूर्वः अवयवः यस्य, तस्य = सपूर्वस्य) भी पतिशब्दान्त अनुपसर्जन प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते विकल्प से 'ङीप्' प्रत्यय हो तथा अन्तिम-वर्ण के स्थान पर 'नकार'–आदेश भी हो" । जिस पक्ष में 'ङीप्' नहीं होगा उस पक्ष में नकारादेश भी नहीं होता । उदाहरण—'गृहस्य पतिः' अर्थ में गृहपत्नी–गृहपतिः । यहाँ षष्ठी-तत्पुरुष-समास करने पर 'गृहपति' शब्द पति-शब्दान्त है । एवं उसके पूर्व 'गृह' शब्द होने के कारण 'सपूर्व' भी है । अतः 'न्' = 'न्' आदेश तथा 'ङीप्' होकर 'गृहपत्नी' रूप बनेगा । पक्ष में गृहपतिः । 'अनुपसर्जनात्' का अधिकार होने से उसकी अनुवृत्ति आवश्यक है । अन्यथा मध्य में विच्छेद होने के कारण अग्रिमसूत्र में वह अनुवृत्ति नहीं जा सकेगी । अतः यहाँ अनुवृत्त 'अनुपसर्जन' पद पति-शब्द का विशेषण नहीं है किन्तु 'श्रुत', 'पतिशब्दान्त प्रातिपदिक' का विशेषण है । इसका फल यह हुआ कि बहुव्रीहि में अनुपसर्जन पतिशब्दान्त-प्रातिपदिक से यह वैकल्पिक-विधान सम्भव होता है । अतः 'दृढ पतिः यस्याः सा' (दृढपति वाली) अर्थ में 'दृढपत्नी' एवं 'दृढपतिः' दोनों रूप स्वीकृत हैं । यहाँ 'पत्यर्थ' अन्यपदार्थ में विशेषणरूप उपसर्जन है किन्तु दृढपत्यर्थ अविशेष है, अतः उपसर्जनरहित पत्यन्त प्रातिपदिक होने से वैकल्पिक 'नकार' एवं 'ङीप्' प्रत्यय हो जाते हैं । इसी तरह बहुव्रीहि-समास में 'वृषलपत्नी–वृषलपतिः' दोनों रूप बनेंगे । इस सम्बन्ध में यह शङ्का की जाती है कि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सपूर्वस्य' किम् ? गवां पतिः स्त्री। (४९२) नित्यं सपत्न्यादिषु ४। १। ३५॥ पूर्वविकल्पापवादः। समानस्य सभावोऽपि निपात्यते। समानः पतिर्यस्याः सा सपत्नी।

माचारक्विबन्तप्रकृतिकक्विबन्तशब्दाः न सन्तीति 'अनुपसर्जनात्' इत्यत्रोक्तत्वात्। सपूर्वस्येति किमिति। प्रातिपदिकविशेषणतया पतिशब्दस्य तदन्तलाभे सति पतिशब्दान्तस्य सपूर्वत्वाव्यभिचारात् सपूर्वस्येति किमर्थमिति प्रश्नः। गवां पतिः स्त्रीति। स्वामिनी, रक्षित्री वेत्यर्थः। असमस्तत्वात् गवामित्यस्य न पूर्वावयवत्वमिति भावः। यद्यपि 'यत्र सङ्गते पूर्वो भागः पदं तत्र चेत् प्रातिपदिकसञ्ज्ञा भवति तर्हि समासस्यैव' इति नियमेन गवां पतिः इति समुदायस्य पत्यन्तत्वेऽपि प्रातिपदिकाभावादेवात्र नत्वविकल्पो न भवति, तथापि गवां पतिरित्यत्र पतिशब्दस्यैव व्यपदेशिवत्त्वेन तदन्ततया नत्वविकल्पप्राप्तौ तन्निवृत्त्यर्थं सपूर्वस्येति वचनमिति भावः। वस्तुतस्तु 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन' इति निषेधादिह केवलपतिशब्दस्य पतिशब्दान्तत्वाभावादेव नत्वविकल्पनिवृत्तिसिद्धेः सपूर्वस्येति स्पष्टार्थमित्याहुः।

(४९२) नित्यं सपत्न्यादिषु। विषयसप्तम्येषा। सपत्न्यादिविषये तत्सिद्ध्यर्थं नित्यं नत्वमित्यर्थः। पूर्वविकल्पेति। 'विभाषा सपूर्वस्य' इति विकल्पस्यापवाद इत्यर्थः। आरम्भसामर्थ्यादेव नित्यत्वे सिद्धे नित्यग्रहणं स्पष्टार्थम्। ननु समानः पतिर्यस्याः सा सपत्नीति वक्ष्यति। तत्र समानशब्दस्य सभावोऽनुपपन्नः, अतः सदृशपर्यायेण सहशब्देनैव बहुव्रीहिराश्रयणीयः। एवं च 'वोपसर्जनस्य' इति वैकल्पिकः सभाव इत्यत आह—समानस्येति।

समासरहित स्थल 'वृषलस्य पत्नी' में 'न्' आदेश एवं 'ङीप्' नहीं होना चाहिये, क्योंकि न तो यहाँ पूर्वपद में समास है और न 'पति' शब्द उत्तरपद में है। इसका समाधान दो प्रकार से किया जाता है। १—प्रथम—उपचार अर्थात् लक्षणा का आश्रय लेकर यहाँ ये विधान किये जासकते हैं। ब्राह्मण-स्त्री में यज्ञादिसंयोग से व्युत्पादित 'पत्नी' शब्द का यहाँ लाक्षणिक (गौण) प्रयोग मानलिया जाय। २—द्वितीय—'ब्राह्मणादि की पत्नी के समान आचरण करने वाली'—इस अर्थ में आचार अर्थ में क्विप् प्रत्यय कर तदन्त से प्रातिपदिकार्थ कर्ता में पुनः 'क्विप्' प्रत्यय करने पर भी 'पत्नी' शब्द सिद्ध होता है। किन्तु इस तरह निष्पन्न 'पत्नी' शब्द से अजादि-विभक्तियाँ संयुक्त होनेपर 'इयङ्' आदेश होकर पत्नियौ, पत्नियः आदि रूप बनेंगे। प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'सपूर्व' शब्द पति शब्द का विशेषण है, अतः 'गवां पतिः स्त्री' (= गायों की स्त्री—रक्षिका) में समास न होने के कारण 'न'कारादेश एवं 'ङीप्' नहीं हुए हैं।

(४९२) पद—नित्यं सपत्न्यादिषु। अनुवृत्ति—पत्युः नः, ङीप्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—सपत्नी आदि शब्दों में नकार-आदेश नित्य होता है। पहले कहे हुए विकल्प का यह अपवाद है। 'समान' शब्द के स्थान में 'स' आदेश का निपातन किया जाता है। जिसका समान पति है अर्थ में 'सपत्नी'। एकपत्नी। वीरपत्नी।

विवरण—पूर्वसूत्र से बहुव्रीहि-समासयुक्त 'सपत्नी' आदि शब्दों में पाक्षिक 'न्'-आदेश प्राप्त है, उसका नित्य विधान किया जारहा है। इस कारण "पत्युर्नो यज्ञसंयोगे" (४-१-३४) से 'पत्युः नः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। सूत्रस्थ 'सपत्न्यादिषु' पद में विषय-सप्तमी है। अतः 'सपत्नी' आदि शब्दों के विषय में (=शब्द सिद्ध होने के लिये) 'त्' के स्थान पर नित्य नकार आदेश होगा। 'सपत्नी' आदि नौ शब्द इस गण में पढ़े गए हैं। तथा बहुव्रीहि-समास होने पर 'समान' शब्द के स्थान पर 'स' आदेश का निपातन भी किया जारहा है। तथा इसमें सूत्रस्थ 'सपत्नी' पद का प्रयोग ही प्रमाण है। सपत्न्यादि-गण में 'समान' शब्द का पाठ किया गया है, अतः 'समान' शब्द के पर्यायवाची

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकपत्नी । वीरपत्नी । (४९३) पूतक्रतोरै च ४ । १ । ३६ ॥ अस्य स्त्रियामै आदेशो ङीप्च । 'इयं त्रिसूत्री पुंयोग एवेष्यते' (वा २४४९) । पूतक्रतोः स्त्री पूतक्रतायी ।

इह गणे समान, एक, वीर, भ्रातृ, पुत्र इति समानादयः पठिताः । अतः समानशब्देनैव बहुव्रीहिरुचितः । तस्य च निपातनादेव नित्यं सभाव इति भावः । समानः पतिरिति । अत्र समानशब्द एकपर्यायः, पतिशब्दस्तु विवाहनिबन्धनभर्तृशब्दपर्यायः । वीरपत्नीति । वीरः पतिर्यस्या इति विग्रहः । सपत्न्यादित्वान्नत्वम् ।

(४९३) पूतक्रतोरै च । ऐ इति लुप्तप्रथमाकम् । पूतक्रतुशब्दात् स्त्रियां ङीप्स्यात्, प्रकृतेरैकारोऽन्तादेशश्चेत्यर्थः । इयं त्रिसूत्रीति । वार्तिकमिदम् । पूतक्रतोरित्यादिसूत्रत्रयं पुंयोगात् स्त्रियां वृत्तावेवेत्यर्थः । पूतक्रतायीति । पूतः क्रतुः येन सः पूतक्रतुः, तस्य स्त्रीत्यर्थे ङीप्, तकारादुकारस्य ऐकारः, तस्य आयादेश इति भावः । पुंयोग इत्यस्य प्रयोजनमाह—ययेति ।

'सह' आदि शब्दों के साथ 'पति' शब्द का समास होने पर 'स' आदेश नहीं होगा । उदाहरण—१—सपत्नी । विग्रह-समानः पतिः यस्याः सा (=जिस स्त्री का समान पति है) इस अर्थ में बहुव्रीहि-समास (समान+स्, पति+स्) होनेपर (समान पति) 'त्' के स्थान पर 'न्' आदेश एवं 'समान' शब्द के स्थान पर 'स' आदेश होकर 'ङीप्' प्रत्यय होने से 'सपत्नी' (= सौत) शब्द निष्पन्न होता है । २—इसी प्रकार एकपत्नी (एकः पतिः यस्याः सा अर्थात् जिसका एक ही पति है) एवं ३—वीरपत्नी (वीरः पतिः यस्याः सा—अर्थात् जिसका पति वीर है) आदि शब्द सिद्ध होते हैं ।

विशेष—पूर्वसूत्र से प्रतिपादित विकल्प का अपवाद तो पृथक् सूत्र-प्रणयन से ही सम्भव रहा, अतः सूत्र में 'नित्य' शब्द की कोई उपयोगिता नहीं है । वह केवल स्पष्टार्थक है ।

(४९३) पद—पूतक्रतोः, ऐ, च । अनुवृत्ति—ङीप्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'पूतक्रतु' शब्द के 'उ'कार को 'ऐ' आदेश होता है तथा 'ङीप्' प्रत्यय भी होता है । (वा०) ये तीनों सूत्र पुंयोग अर्थ में ही विधान करेंगे । पूतक्रतायी (= पूतक्रतुकी स्त्री) । 'यज्ञ को पवित्र करने वाली स्त्री'—इस अर्थ में 'पूतक्रतुः' शब्द का प्रयोग होगा ।

विवरण—पाँचों अधिकार-सूत्रों की पूर्ववत् अनुवृत्ति चली आरही है । 'ङीप्' प्रत्यय का प्रकरण अभी समाप्त नहीं हुआ है । प्रकृतसूत्र से 'पूतक्रतु' शब्दावयव (अन्तिम-वर्ण) 'उ'कार के स्थान पर 'ऐ' आदेश का विशेष विधान किया जारहा है । तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा—"विशेषणरहित पूतक्रतु प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीप्' प्रत्यय हो तथा 'ऐ'कार अन्तादेश भी होता है" । यहाँ भी वाक्यभेद से 'पूतक्रतोः' पद में षष्ठी एवं पञ्चमी दोनों विभक्तियाँ मानी जायेंगी । आदेश-वाचक (प्रकृत सूत्र तथा अग्रिम दो सूत्रों में) 'ऐ' पद लुप्त-प्रथमान्त है । इस प्रकरण में पठित तीनों सूत्र 'पुरुषयोग' की विवक्षा में ही विधान करते हैं । इस विशेष कथन में भाष्य-वार्तिक प्रमाण है । वा० भाष्यकार ने वहाँ वार्तिक का उल्लेख कर यह सूचित किया है कि 'पूतक्रतु' आदि के सम्बन्ध में किये जाने वाले विधान 'पुरुषयोग' में ही होते हैं—"प्रयोगप्रकरणे पूतक्रत्वादीनामुपसंख्यानम्" । इस वार्तिक में प्रयुक्त 'पूतक्रत्वादीनां' यह बहुवचनान्त पद समष्टिरूप में तीनों सूत्रों का बोधक है । उदाहरण—पूतक्रतायी (अर्थ—पूतक्रतोः स्त्री = पूतक्रतु नामक पुरुष की स्त्री) । पूतक्रतु+ई (ङीप्), <पूतक्रतै+ई (उ = ऐ), <पूतक्रतायी (ऐ = आय्) । जहाँ स्वयं स्त्री ही यज्ञ को पवित्र करने वाली है वहाँ पुंयोग न होने के कारण 'ङीप्' एवं 'ऐ'-आदेश नहीं होंगे—'पूतक्रतुः' ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'यया तु क्रतवः पूताः स्यात्पूतक्रतुरेव सा'। (४९४) **वृषाकप्यग्निकुसितकुसिदानामुदात्तः** ४। १। ३७॥ एषामुदात्त ऐ आदेशः स्यान्ङीप्च। वृषाकपेः स्त्री वृषाकपायी। 'हरविष्णू वृषाकपी' इत्यमरः। 'वृषाकपायी श्रीगौर्योः' इति च। अग्नायी। कुसितायी।

---

(४९४) वृषाकप्यग्नि। ऐ चेत्यनुवर्तते। तदाह—एषामिति। वृषाकपायीति। ङीप्, प्रकृतेरुदात्तः ऐकारोऽन्तादेशः, तस्य आयादेशः, तस्य ऐकारस्थानिकत्वात् तदाकारोऽप्युदात्तः 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' इति अवशिष्टानामचामनुदात्तत्वम्। उदात्त इति किम्? 'लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः' इति वृषाकपिशब्दो मध्योदात्तः, 'नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेः' इति यथा। अन्ते एकस्मिन् लघौ सति द्वित्रोर्वा लघ्वोः सतोः पूर्वः बह्वृक्कस्य गुरुः उदात्तः स्यादिति तदर्थः। ततश्च पकारादाकारस्य उदात्तत्वे 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' इत्यवशिष्टानामचामनुदात्तत्वमिति स्थितिः। तथा च पकारादिकारस्यानुदात्तत्वात् तत्स्थाने ऐकारः अनुदात्तः स्यात्। ततश्च तदादेशभूतायादेशाकारस्याप्यनुदात्तत्वं स्यात्। अतोऽत्र उदात्तत्वविधिः। अग्नायीति। 'अग्निर्मूर्धा' इत्यादौ अग्निशब्दः अन्तोदात्तः, ततो ङीप्, प्रकृतेरैकारोऽन्तादेशः, स च भवन्नान्तयादुदात्त एव भवति। अतस्तदादेशायादेशाकारस्य उदात्तत्वसिद्धेरुदात्त इत्येतदग्निशब्दे अन्वयं न लभते, प्रयोजनाभावात्। कुसितायी कुसिदायीति। कुसितकुसिदे अव्युत्पन्नप्रातिपदिके देवता-

---

(४९४) **पद**—वृषाकप्यग्निकुसितकुसिदानाम्, उदात्तः। **अनुवृत्ति**—ऐ, ङीप् अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इन शब्दों को उदात्त ऐकार अन्तादेश और ङीप् प्रत्यय भी होता है। वृषाकपि की स्त्री वृषाकपायी। शिव और विष्णु वृषाकपि हैं। उनकी स्त्री पार्वती एवं लक्ष्मी 'वृषाकपायी' हैं। अग्नि की स्त्री अग्नायी। कुसित की स्त्री कुसितायी। कुसिद की स्त्री कुसिदायी। कुसित तथा कुसिद दोनों शब्दों में सकारोत्तरवर्ती इकार ह्रस्व पढ़ा गया है, दीर्घ नहीं।

विवरण—पहले सूत्र में यह बताया जा चुका है कि इन तीन सूत्रों से 'ऐ'कार–अन्तादेश तथा 'ङीप्' विधान—ये दोनों कार्य पुंयोग में ही होंगे। प्रकृत सूत्र से वृषाकपि, अग्नि, कुसित तथा कुसिद–इन चार अनुपसर्जन प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व द्योत्य रहते (पुरुष के साथ योग दिखाते हुए) 'ङीप्' प्रत्यय तथा अन्तिम वर्ण के स्थान पर उदात्त ऐकार आदेश का विधान किया जारहा है।

उदाहरण—वृषाकपायी (वृषाकपेः स्त्री = वृषाकपि की स्त्री)। वृषाकपि+ई (ङीप्), <वृषाकपै+ई (इ = ऐ), <वृषाकपायी (ऐ = आय्)। अमरकोष के अनुसार 'वृषाकपि' शब्द शिव तथा विष्णु का समानार्थक है—'हरो विष्णुर्वृषाकपिः'। भानुदीक्षित ने 'वृषाकपि' शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की है। उनमें से एक व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'वृषः = धर्मः, वृषा = इन्द्रो वा कपिरिव वशे यस्य (= धर्म अथवा इन्द्र को कपि की तरह वश में करने वाले)। तदनुसार 'वृष' अथवा 'वृषा' उपपद रहते √कम्प् (कप्) धातु से 'कुडिकम्प्योर्नलोपश्च' (उणादि ४-१४५) से 'इ' प्रत्यय तथा धात्ववयव 'न्'लोप का विधान किया गया है। अमरकोषकार ने 'वृषाकपायी' शब्द को 'लक्ष्मी' और 'पार्वती' का समानार्थक बताया है। २—अग्नि> अग्नायी' (अग्नि की स्त्री)। ३—कुसित>कुसितायी' (कुसित की स्त्री)। ४—कुसिद> कुसिदायी') अन्तिम तीनों उदाहरणों में भी 'ङीप्' प्रत्यय, अन्तिम वर्ण के स्थान में 'ऐ' तथा 'आय्' आदेश होकर तीनों रूप सिद्ध हुए हैं। 'कुसीद' तथा 'कुसिद' शब्दों के अर्थ में अन्तर स्पष्ट करने के लिए भट्टोजी दीक्षित ने यह अवगत कराया है कि देवता–अर्थ में सकारोत्तरवर्ती इकार ह्रस्व जाना जाय। अन्यथा 'कुसीद' शब्द से ब्याज अर्थ की प्रतीति होने लगेगी।

विशेष—१–प्रकृत सूत्र से विहित अन्तिम वर्ण के स्थान पर 'ऐ' आदेश उदात्त होता है। उसके स्थान पर होनेवाला 'आय्' आदेश (आ) भी उदात्त होगा। वृषाकपाय्+ई—इस स्थिति में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुसिदायी। कुसिदशब्दो ह्रस्वमध्यो न तु दीर्घमध्यः। (४९५) मनोरौ वा ४।१।३८॥ मनुशब्दस्यौकारादेशः स्यादुदात्तैकारश्च वा, ताभ्यां सन्नियोगशिष्टो ङीप्च। मनोः स्त्री

विशेषस्य नामधेये, फिट्स्वरेणान्तोदात्ते। ततो ङीप् ऐकारश्चान्तादेशः, स च भवन्नान्तर्यादुदात्त एवेति। कुसितकुसिदशब्दयोरपि उदात्त इत्यस्य नान्वय इति वृत्त्यादिग्रन्थेषु स्थितम्। अत एवाह—कुसिदशब्दो ह्रस्वमध्यो न तु दीर्घमध्य इति। दीर्घमध्यत्वे हि 'लघावन्ते' इति मध्योदात्ततया शिष्टस्वरेण दकारादकारस्यानुदात्ततया तस्थाने ऐकारस्यानुदात्ततया तस्थाने आयाकारस्यानुदात्तत्वापत्त्या तन्निवृत्त्यर्थं तत्राप्युदात्तग्रहणस्यावश्यकत्वादुदाहृतवृत्त्यादि ग्रन्थविरोधः स्पष्ट एवेति भावः।

(४९५) मनोरौ वा। ऐ चेति, उदात्त इति, ङीबिति चानुवर्तते। तदाह—मनुशब्दस्येति। उदात्तैकारश्च वेति। औकारः, उदात्त ऐकारश्च वा स्यादित्यर्थः। उदात्तैकार इति समासनिर्देशादुदात्त इत्यौकारेण न सम्बध्यत इति सूचितम्, एतच्च वृत्तिपदमञ्जर्योः स्पष्टम्। चकारात् ङीप् ऐकारौकाराभ्यां समुच्चीयते। तदाह—ताभ्यामिति। ऐकारौकाराभ्यां समुच्चयेनैव विहित इत्यर्थः। ततश्च तदुभयाभावपक्षे ङीबपि नेति लभ्यते, 'सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः' इति परिभाषावशादिति भावः। इयं तु परिभाषा 'पूतक्रतोरै च' इति सूत्रभाष्ये स्थिता। मनायीति। 'यद्वै किं च मनुरवदत्' इत्यादौ मनुशब्दः 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' इत्याद्युदात्तः। 'धान्ये नित्' इत्यतो निदित्यनुवृत्तौ 'शृस्वृस्निहि०'

'आ' उदात्त होने से उससे पूर्व अवशिष्ट तीनों स्वर-वर्ण अनुदात्त माने जायेंगे—"अनुदात्तं पदमेकवर्जम्" (६।१।१५८)। उसके बाद विद्यमान यकारोत्तरवर्ती 'ई'कार 'ङीप्' प्रत्यय का प्रतीक है। 'ङीप्' प्रत्यय में 'प्' की इत्संज्ञा हुई है, अतः 'ई' अनुदात्त होगा—"अनुदात्तौ सुप्पितौ" (३।१।४)। उदात्त-'आ' से परवर्ती अनुदात्त 'ई' स्वरित हो जायगा—"उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः" (८।४।६६)=वृषाकपायी'। २—'अग्नि' शब्द अन्तोदात्त है—'फिषोन्त उदात्तः' (फिट्सूत्र १)। अवशिष्ट वर्ण (आदि में अकार) अनुदात्त होगा। तदनन्तर 'ङीप्'प्रत्यय करने पर 'इ' के स्थान पर उदात्त 'ऐ' आदेश होता है। उसके स्थान पर 'आय्' आदेश भी उदात्त होगा। अग्नाय्+ई इस स्थिति में 'ङीप्' (ई) अनुदात्त है। अतः उदात्त से पर अनुदात्त होने के कारण 'ई' स्वरित में परिवर्तित हो जायगा—अग्नायी'। ३—'कुसित' तथा ४—'कुसिद शब्दों में भी स्वरसञ्चार 'अग्नि' शब्द के समान है।

(४९५) पद—मनोः, औ, वा। अनुवृत्ति—उदात्तः, ऐ, ङीप्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'मनु' शब्द को स्त्रीत्व द्योत्य रहते विकल्प से औकार आदेश (पक्ष में उदात्त 'ऐ' आदेश) तथा 'ङीप्' होते हैं। मनावी-मनायी-मनुः।

विवरण—'मनु' शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य रहते विशेष-विधान किया जारहा है। 'मनु' शब्द से ङीप् प्रत्यय होने पर उसके अन्तिम वर्ण के स्थान पर पाक्षिक 'औ' तथा 'ऐ' आदेश का विधान बताया जारहा है। तदनुसार स्वर-सञ्चार में भी अन्तर हो जायगा। 'ऐ' तो पूर्ववत् उदात्त होगा। इस पक्ष में स्वरसंचार पूर्वसूत्र में आए हुए उदाहरणों के समान होगा। 'औ' आदेश होने पर प्रक्रिया में कुछ अन्तर हो जायगा। मूलतः 'मनु' शब्द आद्युदात्त है—'शृ-स्वृ-स्निहि-त्रप्यसि-वसि-हनि-क्लिदि-वन्धि-मनिभ्यश्च" (उणादि० १-१०)। मूलरूप में यद्यपि 'नु' (उ) अनुदात्त है तथापि विधीयमान उदात्त 'ऐ' आदेश से प्रभावित होने के कारण 'मनाय्+ई' में आकार भी उदात्त हुआ। शिष्टस्वर (अवशेष) होने से 'म' अनुदात्त हो जाता है। ततः 'ङीप्' (अनुदात्त 'ई') के साथ संश्लिष्ट होने पर 'यी' स्वरित होगा। इस प्रकार 'मनायी' मध्योदात्त पद है। (२) पक्षिक 'ऐ' आदेश न होने पर 'उ' को 'औ' आदेश होने की स्थिति में औकार भी 'उ'कार की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनायी—मनावी—मनुः । (४९६) वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः ४ । १ । ३९ ॥ वर्णवाची योऽनुदात्तान्तस्तोपधस्तदन्तादनुपसर्जनात्प्रातिपदिकाद् वा ङीप्स्यात् तकारस्य नकारादेशश्च । एनी । एता । रोहिणी । रोहिता । 'वर्णानां तणतिनितान्तानाम्' (फि ३३) इति फिट्सूत्रेणाद्युदात्तः । 'श्येण्या च शलल्या' इति गृह्यसूत्रम् । त्रीण्येतान्यस्या इति

इत्यादिना मनेरुप्रत्ययविधिः । ततश्च शिष्टस्वरेण नकारादुकारः अनुदात्तः । तस्य स्थाने उदात्त ऐकारः, तस्यायादेशः ङीप् चेति भावः । मनावांति । अत्रौकारोऽनुदात्त एव । मनुरिति । ऐकारस्य औकारस्य चाभावे तत्सन्नियोगशिष्टो ङीवपि नेत्युक्तमेव ।

(४९६) वर्णादनु । वेति ङीविति चानुवर्तते । अनुदात्तादिति वर्णादित्यस्य विशेषणम्, तदन्तविधिः । तोपधादित्यपि वर्णादित्यत्रान्वेति, तकारः उपधा यस्येति विग्रहः । तकारादकार उच्चारणार्थः । वर्णादित्यस्य 'स्वं रूपं शब्दस्य' इति वर्णशब्दादिति नार्थः, तोपधत्वासम्भवात्, किन्तु वर्णवाचिनः शब्दादित्यर्थो विवक्षितः । वर्णादित्येतत्प्रातिपदिकादित्यस्य विशेषणम्, तदन्तविधिः । त इति षष्ठी, तकारस्येत्यर्थः । न इत्यत्र नकारादकार उच्चारणार्थः, नकार इत्यर्थः । तदाह—वर्णवाचीत्यादिना । तदन्तादनुपसर्जनादिति । अनुपसर्जनादित्यनुवृत्तं वर्णान्ते अन्वेति, न तु वर्णादित्यत्रेति भावः । एनी । एतेति । श्वेतेत्यर्थः । एतशब्दात् ङीप्, तकारस्य नकारश्च । ङीवभावे टावेव । नत्वं तु न भवति, ङीपा सन्नियोगशिष्टत्वात् । एतशब्दः श्वेतपर्याय इति कल्पसूत्रव्याख्यातारो धूर्तस्वामिभवस्वामिरुद्रदत्तप्रभृतयो याज्ञिकाः । रोहिणी—रोहितेति । रोहितशब्दो रक्तवर्णपर्यायः । ङीपि णत्वे रोहिणीति । तदभावे टाप् । अनुदात्तान्तत्वं गमयितुमाह—वर्णानामिति । तान्तेत्यत्र तकारादकार उच्चारणार्थः । त, ण, ति, नि, त् इत्यन्तानाम् आदिरुदात्त इत्यर्थः । एतः, शोणः, शितिः, पृश्निः, पृशत् इति क्रमेणोदाहरणानि । प्रकृते एतशब्दे एकारस्य, रोहितशब्दे ओकारस्य चोदात्तत्वे 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' इति शिष्टस्वरेण अवशिष्टानामनुदात्तत्वादन्तानुदात्तत्वमित्यर्थः । ननु 'अनुपसर्जनात्' इत्यनुवृत्तस्य श्रुतवर्णविशेषणत्वमेव युक्तम्, न तु तदन्तविधिलभ्यवर्णान्तविशेषणत्वमित्यत आह—श्येण्येति । त्रीणि एतानि श्वेतानि अवयवसंस्थानानि यस्या इति बहुव्रीहौ श्येतशब्दः । तत्र एतशब्दस्य वर्णवाचिनः उपसर्जनत्वात् ङीन्त्वे न स्याताम् । अनुपसर्जनादित्यस्य वर्णान्तविशेषणत्वे तु श्येतशब्दस्यानुपसर्जनत्वान्न दोष इति भावः । शलल्येति । शल्यकाख्यशृगविशेषस्य अङ्गरुहा सूची शललीति याज्ञिकप्रसिद्धिः । गृह्यमिति । गृह्यन्ते संगृह्यन्ते औपासनाग्निसाध्यकर्मण्यत्रेति व्युत्पत्त्या आपस्तम्बाश्वलायनादिप्रणीतकल्पसूत्रविशेष उच्यते । श्येण्येति

मौलिक स्थिति (अनुदात्त) में ही रहता है—"मनौ" । तदनन्तर ङीप् ('ई' अनुदात्त) से संश्लिष्ट होने पर 'आव्' आदेश होने के पश्चात् 'मनावी' में उदात्त के अनन्तर 'आ'कार स्वरित हो जाता है । इस प्रकार 'मनावी' आद्युदात्त है । (३) 'ऐ' तथा 'औ' दोनों आदेशों के न होने पर सन्नियोगशिष्ट 'ङीप्' भी नहीं होगा । ऐसी स्थिति में 'मनुः' रूप बनेगा । वह भी आद्युदात्त ही रहेगा ।

(४९६) पद—वर्णात् अनुदात्तात्, तोपधात्, तः, नः । अनुवृत्ति—या, ङीप्, अतः, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र (विकल्पं) ।

मूलार्थ—अनुदात्तान्त एवं तकारोपध वर्ण (रंग) वाची प्रातिपदिक से वैकल्पिक 'ङीप्' के साथ 'त'कार को 'न'कार भी होता है । एनी—एता । रोहिणी—रोहिता । 'वर्णानां तणतिनितान्तानाम्०' इस फिट् सूत्र से यहाँ आद्युदात्त है । 'श्येत' शब्द अनुपसर्जन होने के कारण गृह्यसूत्र में उसका ङीवन्त-प्रयोग (श्येण्या शलल्या) मिलता है । 'श्येणी' पद में बहुव्रीहि समास है—'त्रीणि एतानि अस्याः' ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुव्रीहिः। 'अनुदात्तात्' किम्? श्वेता। 'घृतादीनां च' (फि २१) इत्यन्तोदात्तोऽयम्। अत इत्येव। शितिः स्त्री। 'पिशङ्गादुपसङ्ख्यानम्' (वा २४५५)। पिशङ्गी। पिशङ्गा। 'असितपलितयोर्नः' (वा २४५३)। असिता। पलिता। 'छन्दसि क्नमेके'

णत्वमार्षम्। यजुर्वेदे तु 'त्रि एण्या शलल्या निवर्तयेत' इति पठितम्। तत्र त्रीणि एतानि श्वेतानि यस्या इति विग्रहः। यणभावो णत्वं च आर्षमिति वेदभाष्ये भट्टभास्करः। ननु 'वर्णानां तणति' इति श्वेतशब्दस्याद्युदात्तत्वात् शिष्टस्वरेणानुदात्तान्तत्वमेवेत्यत आह—घृतादीनामिति। अत इत्येवेति। 'अजाद्यतष्टाप्' इत्यस्मादत इत्यनुवर्तते एवेत्यर्थः। शितिः स्त्रीति। 'शिती धवलमेचकौ' इत्यमरः। पिशङ्गीति। 'लघावन्ते' इति पिशङ्गशब्दस्य मध्योदात्ततया शिष्टस्वरेणानुदात्तान्तत्वेऽपि तोपधत्वाभावात् अप्राप्तो ङीबुपसङ्ख्यायते। 'अन्यतो ङीप्' इति वक्ष्यमाणङीषोऽपवादः। स्वरे विशेषः। असितेति। वार्तिकमेतत्। असितशब्दस्य कृष्णवाचकतया पलितशब्दस्य श्वेतवाचकतया च 'वर्णादनुदात्तात्' इति प्राप्ते ङीबनत्वे निषिध्यते। छन्दसि क्नमेके इति। इदमपि वार्तिकम्। असितपलितयोस्त-

---

'अनुदात्तात्' क्यों कहा? श्वेता। यहाँ 'घृतादीनां च' से अन्तोदात्त हुआ है। 'अतः' (='ह्रस्व अकार' की) अनुवृत्ति होने से 'शितिः' में 'ङीप्' तथा नकार नहीं होता। (वा०) 'पिशङ्ग' शब्द से भी पाक्षिक 'ङीप्' करना चाहिये। पिशङ्गी–पिशङ्गा। (वा०) 'असित' तथा 'पलित' से 'ङीप्' तथा 'त्' को 'न्' न हो। असिता। पलिता। (वा०) कतिपय आचार्य वेद में असित तथा पलित शब्दों में 'ङीप्' के साथ 'त्' के स्थान में 'क्न' आदेश का विधान करते हैं। असिक्नी। पलिक्नी। अवदान शब्द रङ्गवाचक नहीं है, किन्तु विशुद्धार्थक है। अतः स्त्रीलिङ्ग में 'अवदाता' रूप होगा।

विवरण—पाँचों अधिकार-सूत्रों के अतिरिक्त पूर्व-सूत्र से 'वा' एवं "ऋन्नेभ्यो ङीप् (४-१-५) से ङीप् की अनुवृत्ति अपेक्षित है। सूत्रस्थ 'अनुदात्तात्' पद 'वर्णात्' का विशेषण है। अतः वह तदन्त का बोधक होगा। इस प्रकार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "रंग-विशेष के बोधक अनुदात्तस्वरान्त एवं तकारोपध प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से 'ङीप्' प्रत्यय हो और 'त'कार के स्थान पर 'न'कार आदेश भी हो"। **उदाहरण**—१—एत>एनी (=चितकबरी)–एत+ई (ङीप्), <एन+ई, <एनी (त् = न्, भसंज्ञा होने के कारण 'अ' का लोप)। ङीप् न होने पर टाप्। एत>एता। २—रोहित>रोहिणी (रोहित+ङीप्, त् = न्, न् = ण्, 'अ'–लोप)। अथवा रोहित>रोहिता (टाप्)। 'टाप्' होने पर 'त्' = 'न्' नहीं होता—'सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः'। अर्थ—लाल रंग वाली।

विशेष—१—रंग-बोधक शब्द आदि-उदात्त होता है—"वर्णानां तणतिनितान्तानाम्" (फिट् सू० ३३)। तदनुसार 'एत' तथा 'रोहित' शब्दों के आदि वर्ण उदात्त हैं। 'शिष्ट स्वर' के अनुसार अन्य वर्ण अनुदात्त होते हैं—"अनुदात्तं पदमेकवर्जम्" (६-१-१५२)। अतः दोनों शब्दों में क्रमशः 'त' तथा 'हित' अनुदात्त हैं। प्रकृत 'फिट्-सूत्र' में त, ण, ति, नि तथा त्–अन्तवाले वर्ण-वाची शब्द आद्युदात्त बताये गए हैं। जैसे, त–एत,ण–शोणि,ति–शिति, नि–पृश्नि, त्–पृषत् शब्द हैं।

२—कल्पसूत्रों के टीकाकार रुद्रस्वामी, भवस्वामी, रुद्रदत्त प्रभृति विद्वान् 'एत' शब्द को 'श्वेत' का समानार्थक मानते हैं।

३—'अनुपसर्जनात्' का अधिकार होने पर भी यहाँ बहुव्रीहि-समासयुक्त 'त्रैत' शब्द उपसर्जन रहित ही है। कारण यह है कि यहाँ पर 'अनुपसर्जन' पद 'वर्णान्त प्रातिपदिकार्थ' का विशेषण है, न कि वर्ण-वाचक प्रातिपदिक का। अतः 'त्रैणी' (भुई की तरह रोयें वाली शल्यमृगी) में 'त्रीणि एतानि यस्याः सा' अन्यपदार्थ–प्रधान बहुव्रीहि होने पर भी 'एत' शब्द के उपसर्जन होने से 'त्रैणी'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वा २४५४)। असिक्नी । पलिक्नी । अवदातशब्दस्तु न वर्णवाची, किंतु विशुद्धवाची । तेन अवदाता इत्येव । (४९७) अन्यतो ङीष् ४ । १ । ४० ॥ तोपधभिन्नाद्वर्णवाचिनोऽनुदात्तान्तात्प्रातिपदिकात्स्त्रियां ङीष्स्यात् । कल्माषी । सारङ्गी । 'लघावन्ते द्वयोश्च

कारस्य ङीप्सन्नियोगेन क्नादेशम् अन्ये आचार्या इच्छन्तीत्यर्थः । असिक्नीति । असित-शब्दात् ङीप् तकारस्य क्नादेशे पररूपे 'यस्येति च' इत्यकारलोपः । क्न् इति नकारान्त एवादेश इत्यन्ये । एवं पलिक्नीत्यपि । 'पलितं जरसा शौक्ल्यम्' इत्यमरः । ननु 'अवदातः सितो गौरः' इति कोशादवदातशब्दस्य वर्णवाचित्वात् 'लघावन्ते' इति मध्योदात्ततया अनुदात्तान्तत्वे तोपधत्वाच्च 'वर्णादनुदात्तात्' इति ङीब्नत्वे स्यातामित्यत आह—अवदातशब्दस्त्विति । 'अवदातः सिते पीते शुद्धे' इति कोशात् 'दैप् शोधने' इत्यस्मात् तप्रत्यये अवदातशब्दस्य व्युत्पत्तेश्चेति भावः । एतच्च 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । 'अवदातः सितो गौरः' इति कोशस्तु शुद्धत्वसाधर्म्याद् बोध्यः ।

(४९७)-अन्यतो ङीप् । पञ्चम्यास्तसिः । वर्णादिति, अनुदात्तादिति तोपधादिति

—यह समास अनुपसर्जन है । अतः ङीप् तथा नत्व होते हैं—श्येत>श्येणी (वैदिक प्रयोग होने के कारण न्=ण्–आर्ष) । 'अनुपसर्जन' पद को 'वर्णान्त-प्रातिपदिक' का विशेषण मानने में गृह्यसूत्रोक्त 'श्येण्या शलल्या' पा० गृ० २-१-८ वाक्यांश ही प्रमाण है । यजुर्वेद के गृह्यसूत्र में इस प्रकार पाठ मिलता है—'त्रि एण्या शलल्या निवर्तयेत्' । यहाँ पर भी विग्रह उसी प्रकार है—'त्रीणि एतानि यस्याः सा' । समास होने पर नियमतः 'यण्' सन्धि होनी चाहिये । किन्तु भट्ट भास्कर ने यहाँ 'यण्' न होना तथा णत्व का विधान—ये दोनों कार्य आर्ष माने हैं । १—(वा०) अर्थ—'पिशङ्ग' शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य रहते विकल्प से 'ङीप्' होता है । उदाहरण—पिशङ्ग> पिशङ्गी (कमल के पराग की धूल के समान वर्ण वाली) । पक्ष में टाप्–पिशङ्गा । तकारोपध न होने के कारण उपर्युक्त सूत्र से 'ङीप्' प्राप्त नहीं होता, अतः वार्तिक से पृथक् विधान करना सार्थक है । २—(वा०) अर्थ–स्त्रीलिङ्ग-वाचक 'असित' तथा 'पलित' शब्दों से 'ङीप्' एवं 'त्' के स्थान पर 'न्' नहीं होते । उपर्युक्त सूत्र से प्राप्त 'ङीप्' तथा 'त्' के स्थान पर 'न्' का निषेध किया जा रहा है । उदाहरण—(क) असित>असिता (काली) । 'ङीप्' न होने के कारण 'टाप्' हुआ । (ख) पलित >पलिता (वृद्धावस्था–जनित बालों की श्वेतता) । यहाँ भी पूर्ववत् 'टाप्' हुआ । ३—(वा०) अर्थ—कतिपय आचार्यों के मत में (एके) 'असित' तथा 'पलित' शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय के साथ 'त' के स्थान पर 'क्न' आदेश होता है । (क) असित<असिक्नी (काली)–असित+ई (ङीप्), <असिक्न+ई (त = क्न) । (ख) २—पलित>पलिक्नी ।

विशेष—'अवदात' शब्द वर्णवाची नहीं है, किन्तु विशुद्ध-वाची है । अतः 'त्' के स्थान पर 'न्'–आदेश तथा ङीप् नहीं हुआ । ह्रस्व-अकारान्त होने से 'टाप्' हुआ ।

प्रत्युदाहरण—१—सूत्र में अनुदात्तान्त तकारोपध शब्दों के अपेक्षित होने से 'श्वेता' (=शुक्लवर्ण) में 'ङीप्' तथा 'त्' = 'न्' नहीं होते, क्योंकि श्वेत शब्द का घृतादि-गण में पाठ होने से वह अन्तोदात्त है ('घृतादीनां च' फिट् सूत्र २१) । २—इस सूत्र में 'अतः' की अनुवृत्ति आने के फलस्वरूप 'शिति' शब्द से ह्रस्व अकारान्त न होने के कारण 'ङीप्' तथा नत्व नहीं होते (अर्थ—काला व श्वेत) ।

(४९७) पद—अन्यतः, ङीप् । अनुवृत्ति—वर्णादनुदात्तात्, तोपधात्, अतः, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—तकारोपध शब्दों से भिन्न परन्तु वर्णवाचक अनुदात्तान्त अन्य प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय होता है । कल्याणी । सारङ्गी । "लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः" नियम से ये दोनों शब्द मध्योदात्त हैं । 'अनुदात्तान्त' क्यों कहा ? कृष्णा । कपिला ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह्वषो गुरुः' (फि ४२) इति मध्योदात्तावेतौ । 'अनुदात्तान्तात्' किम् ? कृष्णा । कपिला । (४९८) षिद्गौरादिभ्यश्च ४ । १ । ४१ ॥ षिद्भ्यो गौरादिभ्यश्च ङीष्स्यात् । नर्तकी । गौरी । 'आमनडुहः स्त्रियां वा' (वा ४३७८) अनडुही–अनड्वाही ।

चानुवर्तते । तत्र कस्मादन्यत इत्यपेक्षायां तोपधादिति प्रतियोगित्वेनान्वेति–तोपधापेक्षया अन्यत इति । तदाह—तोपधभिन्नादिति । कल्मापीति । चित्रवर्णेत्यर्थः । 'चित्रं किर्मीरकल्मापशबलेताश्च कर्बुरे' इत्यमरः । सारङ्गीति । 'सारङ्गः शबले त्रिषु' इत्यमरः । 'फिषोऽन्त उदात्तः' इत्यन्तोदात्तत्वशङ्कां व्युदस्यति–लघाविति । एतत्सूत्रं 'वृषाकपी'ति सूत्रव्याख्यावसरे व्याख्यातम् । कृष्णा कपिलेति । फिट्स्वरेणान्तोदात्ताविमाविति भावः ।

(४९८) षिद्गौरादिभ्यश्च । ष् इत् येषां ते षितः, गौरः आदिः येषां ते गौरादयः, षितश्च गौरादयश्चेति द्वन्द्वः । नर्तकीति 'नृती गात्रविक्षेपे' । 'शिल्पिनि ष्वुन्', 'षः प्रत्ययस्य' इति पकार इत्, 'हलन्त्यम्' इति नकारश्च इत्, 'युवोरनाकौ' इति अकादेशः, लघूपधगुणः, रपरत्वम् । नर्तकशब्दाद् ङीप्, टापोऽपवादः, 'यस्येति च' इत्यकारलोप इति भावः । गौरीति । श्वेतेत्यर्थः फिट्स्वरेण अन्तोदात्तत्वाद् 'अन्यतो ङीष्' इत्यप्राप्तेरिह विधिरिति भावः । संज्ञाशब्दो वाऽयम् । 'उमा कात्यायनी गौरी' इत्यमरः । 'दशवर्षा भवेद् गौरी' इति स्मृतिः । अनडुही–अनड्वाहीति । अनडुहः स्त्रीत्यर्थः । अनो वहतीति यौगिको वा । गौरादिगणे निपातनादेव ङीपि आम्विकल्पः । एवं च 'अनडुहः स्त्रियाम् आम् वेति

विवरण—पूर्व सूत्र के सन्दर्भ में यह निरूपण करना आवश्यक था कि तकारोपध वर्णवाची शब्दों से भिन्न अन्य वर्णवाचक शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में किस प्रकार रूप बनेंगे । अतः यह बताया जारहा है कि "तकारोपध वर्णवाची प्रातिपदिकों से भिन्न ह्रस्व अकारान्त प्रातिपदिकों से 'ङीष्' प्रत्यय होता है" । 'ङीप्' तथा 'ङीष्' में स्वर का अन्तर है । अनुवृत्त 'तोपधात्' पद का सूत्रस्थ 'अन्यतः' पद के साथ अन्वय करने पर 'तकारोपध के अतिरिक्त' अर्थ का लाभ होता है । उदाहरण—१–कल्माष> कल्माषी (नाना रङ्गवाली) । २–सारङ्ग>सारङ्गी (मिश्र रङ्गवाली) । ये दोनों शब्द अन्तोदात्त हैं । इसका निर्वचन इस प्रकार किया गया है । इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि अनेक स्वर-वर्ण-युक्त शब्दों में अन्तिम वर्ण के लघु होने पर अथवा अन्तिम दो वर्णों के लघु होने पर उससे पूर्व गुरु वर्ण उदात्त होता है ('लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः' फिट् सूत्र–४२) । तदनुसार 'कल्माष' और 'सारङ्ग' शब्दों में 'ल्मा' तथा 'र' वर्ण उदात्त हुए । अवशिष्ट आदि एवम् अन्तिम वर्ण अनुदात्त होने के कारण दोनों शब्द अनुदात्तान्त हैं । प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अनुदात्तान्त' पद की अपेक्षा होने से 'कृष्णा' तथा 'कपिला' में 'ङीष्' नहीं हुआ, क्योंकि इन दोनों शब्दों का अन्तिम वर्ण उदात्त है—'फिषः' (फिट् सूत्र १) ।

(४९८) पद—षिद्गौरादिभ्यः, च । अनुवृत्ति—ङीष्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'षित्' तथा गौरादिगण-पठित शब्दों से 'ङीष्' प्रत्यय होता है । नर्तकी । गौरी । वा० 'अनडुह्' से स्त्रीत्व द्योत्य रहते विकल्प से 'आम्' हो । अनड्वाही–अनडुही । (गण०) पिप्पल्यादिगण-पठित शब्दों से भी 'ङीष्' प्रत्यय होता है । यह आकृतिगण है ।

विवरण—प्रकरणवश 'ङीष्' प्रत्यय का विधान किया जारहा है । इसके लिये "अन्यतो ङीष्" (४-१-४०) से 'ङीप्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । इसके साथ ही अधिकार-सूत्रों की अनुवृत्ति यथापूर्व चली आरही है । सूत्र में 'गौरादि' आकृतिगण है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "षकार-इत्संज्ञक प्रातिपदिक और गौरादिगण में पढ़े हुए शब्दों से स्त्री-लिङ्ग में 'ङीष्' (ई) प्रत्यय हो ।" उदाहरण—१—'षित्'प्रातिपदिक—नर्तक>नर्तकी (= नृत्य करने वाली स्त्री)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'पिप्पल्यादयश्च' (ग ४७)। आकृतिगणोऽयम्। (४९९) सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः ६। ४। १४९॥ अङ्गस्योपधाया यस्य लोपः स्यात्स चेद्यः सूर्याद्यवयवः। 'मत्स्यस्य ङ्याम्' (वा ४१९८)। 'सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च' (वा ४१९९)।

वक्तव्यम्' इति वार्तिकं न कर्तव्यमिति भावः। पिप्पल्यादयश्चेति। अत्र गौर, मत्स्य, मनुष्य, शृङ्ग, गवय, हय, मुकय, गौतम, अनड्वाही, अनडुही, तरुण, तलुन, श्वन्-इति पठित्वा 'पिप्पल्यादयश्च' इत्युक्त्वा-पिप्पली, हरीतकी, कोशातकी, पृथिवी, मातामही इत्यादि पठितम्। पिप्पलीशब्दस्य जातिवाचित्वेऽपि नियतस्त्रीलिङ्गत्वाद् ङीपोऽप्राप्तेरिह पाठः। श्वन्शब्दस्य तु 'ऋन्नेभ्यः' इति ङीपि प्राप्ते ङीषर्थं इह पाठः। स्वरे विशेषः। आकृतिगणोऽयमिति। गौरादिरित्यर्थः। पिप्पल्यादेरवान्तरगणत्वे प्रयोजनं चिन्त्यम्। मत्स्यशब्दात् गौरादित्वात् ङीपि विशेषं दर्शयितुमाह।

(४९९) सूर्यतिष्यागस्त्य। 'ढे लोपोऽकद्र्वाः' इत्यतो लोप इत्यनुवर्तते। य इति षष्ठी, अङ्गस्येत्यधिकृतमवयवषष्ठ्यन्तम्, तच्च उपधायामन्वेति। अङ्गस्य उपधाभूतो यो यकारः तस्य लोपः स्यादिति लभ्यते। सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानामित्यवयवषष्ठ्यन्तं यकारेऽन्वेति, न त्वङ्गविशेषणम्। तदाह—अङ्गस्येत्यादिना। मत्स्यस्य ङ्यामिति। तेनेह न, मत्स्यस्येदं मात्स्यम्। सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां चेति। सूरीयः। सूरी। अगस्तीयः। अगस्ती। नेह-सौर्यम्, आगस्त्यम्। तिष्येति। 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' सन्धिवेलाद्यृतुनक्ष-

---

यहाँ √नृत् धातु से ष्वुन् (वु) प्रत्यय ("शिल्पिनि ष्वुन्"-३-१-१४५) एवं उसके स्थान पर 'अक' आदेश ("युवोरनाकौ" ७-१-१) तथा 'अ' का लोप होकर 'नर्तक' शब्द सिद्ध होता है। 'ष्वुन्' में 'ष्' की इत्संज्ञा होती है, अतः प्रकृत सूत्र से 'ङीष्' (ई) प्रत्यय हुआ। २—गौरादि-गण-गौर>गौरी (गौरवर्ण की स्त्री)। गौर+ई (ङीष्), <गौरी ('अ' का लोप)। (वा०) अर्थ—स्त्रीलिङ्ग में 'अनडुह्' शब्द को विकल्प से 'आम्' आगम होता है। 'आम्' आगम में 'म्' की इत्संज्ञा होने से उसकी स्थिति अन्त्य अच् से पर रहेगी। उदाहरण—अनडुह्-आम्+ई (ङीप), <अनडु-आ-ह्+ई, <अनड्वाही ('यण्' आदेश)। 'आम्' न होने पर अनडुही। अर्थ—गाय। गणसूत्र—अर्थ-'पिप्पली' आदि शब्दों से भी स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' होता है। उदाहरण—पिप्पल>पिप्पली (= छोटी पीपल)। हरीतक>हरीतकी (= हड़)। मातामह>मातामही (= नानी) आदि शब्द इस गण के उदाहरण हैं।

(४९९) पद—सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां, यः, उपधायाः। अनुवृत्ति—ईति, तद्धिते, भस्य, अङ्गस्य। विधिसूत्र।

मूलार्थ—सूर्य, तिष्य, अगस्त्य तथा मत्स्य शब्दों के अङ्गसम्बन्धी उपधाभूत 'य्' का लोप होता है। (वा०) 'ङी' पर रहते 'मत्स्य' शब्द के 'य्' का लोप होता है। (वा०) सूर्य और अगस्त्य शब्द से 'छ' प्रत्यय तथा 'ङी' प्रत्यय पर रहते 'य्' का लोप होता है। (वा०) नक्षत्र-वाचक 'तिष्य' तथा 'पुष्य' शब्दों के 'य्' का लोप होता है। मत्सी। 'मातामही' शब्द में "मातरि पित्र्च" से 'डामहच्' प्रत्यय को 'पित्' मानने से 'ङीष्' प्रत्यय प्राप्त रहा, तथापि मातामही का गौरादिगण में पाठ होने से षकारेत्संज्ञक प्रत्ययों से 'ङीष्' का अनित्य होना सूचित किया गया है।

विवरण—'भ' तथा 'अङ्ग' इन दो अधिकारों के अन्तर्गत यह सूत्र पढ़ा गया है। इस सूत्र से 'य्'—लोप का विधान किया जारहा है। तदनुसार "ईकार तथा तद्धित-प्रत्ययों के परवर्ती रहने पर सूर्य, तिष्य, अगस्त्य तथा मत्स्य शब्द-सम्बन्धी भ-संज्ञक अङ्ग की उपधा में विद्यमान 'य्' का लोप होता है"। सूत्रोक्त उदाहरणों में पहले "यस्येति च" (६-४-१४८) से अवर्ण का लोप होगा, तदनन्तर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम्' (वा ४२००)। मत्सी। 'मातरि षिच्च' (वा २७१०)–इति षित्त्वादेव सिद्धे गौरादिषु मातामहीशब्दपाठादनित्यः षितां ङीष्। दंष्ट्रा।

त्रेऽभ्योऽण्' इति च विहिते नक्षत्रसम्बन्धिनि अणि परतः तिष्यपुष्ययोर्यलोप इत्यर्थः। तत्र तिष्यस्य यलोपो नियम्यते। पुष्यस्य त्वप्राप्तो विधीयते। तिष्येण युक्तः पूर्णमासः, तिष्ये भवो वा तैषः। एवं पौषः। नेह—तिष्यस्य पुष्यस्य वाऽयं तैष्यः, पौष्यः। मत्सीति। मत्स्यशब्दात् गौरादिङीषि यलोपः, 'यस्येति च' इत्यकारलोपः। ननु 'पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः' इति सूत्रे मातुः पिता, पितुः पितेति विग्रहे मातृपितृभ्यां डामहचि टिलोपे मातामहपितामहशब्दौ निपातितौ। तत्र मातुर्माता पितुर्मातेति विग्रहे डामहचः षित्त्वं विहितम्—'मातरि षिच्च' इति, ततश्च षित्त्वविधानादेव ङीष्सिद्धेः गौरादिषु मातामहीशब्दपाठो न कर्तव्यः। न च 'मातरि षिच्च' इति न क्रियतामिति वाच्यम्, पितामहीस्यत्र ङीषर्थं तस्यावश्यकत्वादित्यत आह—मातरीति। दंष्ट्रेति। दंशेः 'दाम्नीशस' इति करणे ष्ट्रन्। अत्र षित्वे सत्यपि न ङीषिति भावः। सूर्यादीनामङ्गानामुपधाभूतस्य यकारस्य लोप इति तु न व्याख्यातम्। तथा सति सौरी बलाकेति न सिध्येत्। 'सूर्येणैकदिक्' इत्यर्थे 'तेनैकदिक्' इत्यणि तदन्ताद् ङीपि अण्णन्तमङ्गम्, न तु सूर्यशब्द इति तदसिद्धिः। वचनं तु सूरी कुन्तीत्यत्र चरितार्थमित्यन्यत्र विस्तरः।

कृत सूत्र से 'य्' का लोप होगा। "असिद्धवदत्राभात्" (६-४-२२) नियम से अकार-लोप असिद्ध है। असिद्ध होने की स्थिति में 'य्' से पर 'ई' अथवा 'तद्धित' नहीं रहता। अतः सूत्र में उपधा ग्रहण किया गया है। 'य' लोप का विधान विशेष अवस्था में ही होता है। इसका निदर्शन वार्तिकों द्वारा किया जारहा है। (वा०) अर्थ—१—'मत्स्य' शब्द के यकार का लोप केवल 'ङी' प्रत्यय पर रहते ही होता है, अन्यत्र नहीं। २—वा० अर्थ—'सूर्य' एवम् 'अगस्त्य' शब्द के यकार का लोप 'ङी' प्रत्यय तथा 'छ' प्रत्यय पर रहते होता है। ३—वा० अर्थ—नक्षत्र सम्बन्धी 'अण्' प्रत्यय पर रहने की स्थिति में 'तिष्य' एवं 'पुष्य' शब्दों के यकार का लोप होता है। क्रमशः उदाहरण—(१) सूर्य>सौरी (बलाका) अर्थात् सूर्य के समान दिशावाली। 'सूर्येण एक दिक्' अर्थ में "तेनैकदिक्" ४-३-११२ से 'अण्' प्रत्यय हुआ। आदि अच् को वृद्धि एवम् 'अण्' पर रहते "यस्येति च" (३-१-१) से अकार का लोप होकर (सौर्य्+अ), तदनन्तर 'ङीप्' तथा अ–लोप होकर 'सौर्य्+ई' रहा। पश्चात् प्रकृतसूत्र से 'य्' का लोप हो गया—सौरी। (२) तिष्य>तैषी। यहाँ "नक्षत्रेण युक्तः कालः" ४-२-३ से अण्, आदि वृद्धि, 'अ'लोप, 'ङीप्' तथा 'य्' लोप होकर—(=पुष्य नक्षत्र से युक्त तिथि)। (३) पुष्य>पौषी। (४) अगस्त्य>आगस्ती (अगस्त्य की पुत्री)। यहाँ 'अगस्त्यस्य अपत्यं स्त्री' इस अर्थ में "ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च" (४-१-११४) से अण् प्रत्यय होकर 'ङीप्' प्रत्यय होता है। अण्प्रत्ययान्त 'आगस्त्य' शब्द से 'छ' (= ईय) प्रत्यय करने पर "आगस्तीयम्" रूप सिद्ध होता है। यहाँ भी 'अ'–लोप होने के पश्चात् 'य्' का लोप होगा। (५) मत्स्य>मत्सी (= मछली)। 'मत्स्य' शब्द से 'ङीष्' प्रत्यय हुआ है—'मत्स्य+ई।' 'अ'–लोप असिद्ध होने से उपधा में विद्यमान 'य्' का लोप हुआ।

विशेष—'मातुः माता' इस अर्थ में 'मातृ' शब्द से 'डामहच्' प्रत्यय करने पर 'टि' (='ऋ') लोप होकर 'मातामह' शब्द निष्पन्न होता है। 'मातरि षिच्च' से 'डामहच्' प्रत्यय में 'षकार'–इत्संज्ञक का अतिदेश करने के फलस्वरूप स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में "षिद्-गौरादिभ्यश्च" (४९८) से 'ङीष्' प्रत्यय की प्राप्ति के फलस्वरूप 'मातामही' शब्द सिद्ध हो सकता है। अतः गौरादिगण में इसके पाठ करने का कोई औचित्य नहीं है। इस प्रकार वह व्यर्थ होकर यह ज्ञापन करता है कि 'ष्' की इत्-संज्ञा को अभिलक्षितकर होनेवाला 'ङीष्' अनित्य है। इसके प्रमाणस्वरूप 'दंष्ट्रा' (दंश्+ष्ट्रन्) में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय के 'ष्' की इत्संज्ञा होने पर भी 'ङीष्' प्रत्यय नहीं होता, किन्तु टाप हुआ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५००) जानपदकुण्डगोणस्थलभाजनागकालनीलकुशकामुककबराद् वृत्त्यमत्रावपनाकृत्रिमाश्राणास्थौल्यवर्णानाच्छादनायोविकारमैथुनेच्छाकेशवेशेषु ४। १। ४२॥
एभ्य एकादशभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः क्रमाद् वृत्त्यादिष्वर्थेषु ङीष् स्यात्। जानपदी वृत्तिश्चेत्, अन्या तु जानपदी। उत्सादित्वादञन्तत्वेन 'टिड्ढा—' (सू ४७०) इति ङीप्याद्युदात्तः। कुण्डी अमत्रं चेत्, कुण्डान्या। 'कुडि दाहे'। 'गुरोश्च हलः' (सू ३२८०) इत्यप्रत्ययः। यस्तु 'अमृते जारजः कुण्डः' इति मनुष्यजातिवचनस्ततो जातिलक्षणो ङीष् भवत्येव। अमत्रे हि स्त्रीविषयत्वादप्राप्तो ङीष् विधीयते, न तु नियम्यते। गोणी आवपनं चेत्, गोणान्या। स्थली अकृत्रिमा चेत्, स्थलाऽन्या। भाजी

---

(५००) जानपद। जानपदेत्यादि कबरादित्यन्तमेकं पदम्। समाहारद्वन्द्वात् पञ्चमी। जानपदीति। जनपदे भवेत्यर्थः। वृत्तिश्चेदिति। जीविका गम्या चेदित्यर्थः। ननु उत्सादित्वादञि ङीपैव सिद्धे ङीषविधिर्व्यर्थं इत्यत आह—उत्सादित्वादिति। 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इति ङीप्याद्युदात्तत्वम्, ङीषि तु प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वमिति भेद इत्यर्थः। कुण्डीति। 'पिठरं स्थाल्युखा कुण्डम्' इत्यमरः। 'पात्राऽमत्रे च भाजनम्' इति च। कुण्डशब्दस्य स्त्रीत्वमपि ङीष्विधिसामर्थ्यात्। 'पिठरे तु न ना कुण्डम्' इति विश्वः। कुण्डाऽन्येति। दहनीयेत्यर्थः। तदेव विशदयति—कुडि दाहे इति। गुरोश्चेति। गुरुमतो हलन्ताद्धातोः अप्रत्ययः स्यात् भावकर्मणोः स्त्रियामिति तदर्थः। ननु 'अश्नुते जारजः कुण्डो स्नुते भर्तरि गोलकः'—इति मनुष्यजातिविशेषवाची कुण्डशब्दोऽपि प्रत्युदाहरणं किं न स्यादित्यत आह—यस्त्विति। जातिलक्षण इति। 'जातेरस्त्रीविषयात्' इति जातिनिमित्तक इत्यर्थः। ननु अमत्रेऽपि वाच्ये कुण्डशब्दात् जातिलक्षणङीषि सिद्धे तद्वचनं व्यर्थम्। न च अमत्र एव ङीषिति नियमार्थं तदिति वाच्यम्, एवं सति मनुष्यजातिविशेषवाचित्वे ङीषोऽनुपत्तेरित्यत आह—अमत्रे हि स्त्रीविषयत्वादिति। 'जातेरस्त्रीविषयात्' इत्यनित्यस्त्रीलिङ्गात् ङीष् विहितः। अमत्रे कुण्डशब्दो नित्यस्त्रीलिङ्गः, 'पदान्तरं विना स्त्रियां वर्तमानत्वं नित्यस्त्रीत्वम्' इति स्वीकारात्। 'कुण्डी कमण्डलौ जारात् पतिपत्नीसुते पुमान्—' इति मेदिनीकोशाच्च। तथा च कुण्डशब्दात् जातिलक्षणङीष् प्राप्त एव विधीयते, न तु नियम्यते। अतो मनुष्यजातिवाचित्वेऽपि ङीष् निर्बाध इति भावः। आवपनं चेदिति। ओप्यते निक्षिप्यते अस्मिन्नित्यर्थे आङ्पूर्वाद्वपेर्ल्युट्। गोणान्येति। कस्याश्चिदिदं नाम। अकृत्रिमा चेदिति। इदानीन्तनपुरुषपरिष्कृता भूमिः कृत्रिमा, तद्भिन्नेत्यर्थः। स्थलान्येति। कृत्रिमेत्यर्थः। 'स्थलयोदकं परिगृह्णन्ति' इति यजुर्वेदे। भाजीति। भज्यते सेव्यते इति कर्मणि घञ्। 'घञजबन्ताः पुंसि' इति तु प्रायिकम्। श्राणा चेदिति। 'यवागूरुष्णिका

---

(५००) पद—जानपद· · ·कबरात्, वृत्त्यमत्र· · ·केशवेशेषु। अनुवृत्ति—ङीष्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—स्त्रीलिङ्ग में इन ग्यारह शब्दों से क्रमशः वृत्ति आदि अर्थों में 'ङीष्' प्रत्यय होता है। आजीविका अर्थ हो तो—जानपदी। यहाँ अन्यत्र भी जानपदी। उत्सादिगण में पाठ होने से 'अञ्' प्रत्ययान्त होकर 'ङीप्' प्रत्यय होगा, अतः आद्युदात्त शब्द है। पात्र अर्थ में कुण्डी। अन्यत्र कुण्डा। √'कुडि धातु' दाहार्थक है। "गुरोश्च हलः" (३-३-१०३) से 'अ' प्रत्यय हुआ। जारज-सन्तति के अर्थ में भी जातिवाचक 'कुण्ड' शब्द से जातिलक्षण 'ङीष्' होता है। पात्र-विशेष अर्थ में नित्यस्त्रीलिङ्ग होने के कारण अप्राप्त 'ङीष्' का विधान किया जारहा है। किसी प्रकार का विशेष नियम नहीं किया गया है। बोरा अर्थ में—गोणी। अन्यत्र गोणा। अकृत्रिम भूमि अर्थ में—स्थली। अन्यत्र स्थला। व्यञ्जन-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्राणा चेत्, भाजान्या। नागी स्थूला चेत्, नागाऽन्या। गजवाची नागशब्दः स्थौल्य-गुणयोगादन्यत्र प्रयुक्त उदाहरणम्। सर्पवाची तु दैर्घ्यगुणयोगादन्यत्र प्रयुक्तः प्रत्युदाहरणम्। काली वर्णश्चेत्, कालान्या। नीली अनाच्छादनं चेत्। नीलान्या। नील्या रक्ता शाटीत्यर्थः। 'नील्या अन्वक्तव्यः' (वा २६८०) इत्यन्। अनाच्छादनेऽपि न सर्वत्र,

---

श्राणा' इत्यमरः। भाजाऽन्येति। अश्राणेत्यर्थः। 'श्रा पाके' क्तः, 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' इति निष्ठानत्वम्, णत्वं च। पक्वेत्यर्थः। नागशब्दस्य स्थौल्ये क्वाप्यप्रसिद्धेराह—गजवाचीति। वर्णश्चेदिति। वर्णः प्रवृत्तिनिमित्तं चेदित्यर्थः। वर्णविशिष्टा चेदिति यावत्। अन्यथा कालशब्दस्य 'गुणे शुक्लादयः पुंसि' इति पुंस्त्वापातात्। सूत्रे वर्णा इति च्छेदः। अर्श आद्यजन्ताट्टाप्। कालान्येति। क्रौर्ययुक्तेत्यर्थः। संज्ञाशब्दो वा। अनाच्छादनं चेदिति। वस्त्रभिन्नं गवादिकमित्यर्थः। नीलाऽन्येति। नन्वत्राच्छादनस्य विशेष्यत्वे स्त्रीत्वानुपपत्तिः। पटीत्यस्य विशेष्यत्वेऽपि नीलवर्णवती पटीत्यर्थे ङीपः अप्रसक्तिरेव, 'नीलादोषधौ, प्राणिनि च' इति नियमस्य वक्ष्यमाणत्वादित्यत आह—नील्या रक्तेति। नील्या ओषध्या रागविशेषं प्राप्तेत्यर्थः। ननु कथमयमर्थो लभ्यत इत्यत आह—नील्या अनिति। 'तेन रक्तं रागात्' इत्यत्र इदं वार्तिकम्। नीलीशब्दादन्प्रत्यये सति 'यस्येति च' इति लोपे नीलशब्दः, तस्य नीलीरक्तवाचकस्य विशेषणांशे ओषधिवाचकत्वसत्त्वात्, 'नीलादोषधौ' 'प्राणिनि च' इति नियमे सत्यपि ङीपः प्राप्तेस्तन्निवृत्त्यर्थमनाच्छादनग्रहणमिति भावः। ननु नीला कुण्डीत्यत्रापि अनाच्छादनत्वात् ङीप् स्यादित्याशङ्क्य आह—अनाच्छादनेऽपीति। नीलादोषधौ, प्राणिनि च इति वार्तिकमेतत्। नीलात् अनाच्छादनेऽपि

विशेष—भाजी। अन्यत्र भाजा। मोटी स्त्री अर्थ में—नागी। अन्यत्र नागा। स्थूलता के कारण गजवाची 'नाग' शब्द स्त्री—अर्थ में प्रयुक्त होने पर इसका उदाहरण है। लम्बाई (दुर्बलता) के कारण 'सर्पवाची' नाग शब्द स्त्री—अर्थ में प्रयुक्त होने पर इसका प्रत्युदाहरण होगा। काले रंग की स्त्री—काली। अन्यत्र काला। गाय—नीली। अन्यत्र नीला (नीली रंगी हुई साड़ी)। "नील्या अन् वक्तव्यः" (वा०) से 'अन्' प्रत्यय। वस्त्र के अतिरिक्त अर्थ में भी सर्वत्र 'ङीष्' नहीं होता है, किन्तु ('नीलाद् औषधौ') ओषधि—वाच्य रहते ही 'ङीष्' होता है—नीली। 'प्राणिवाचक से भी ङीष् हो'—नीली गौः। 'संज्ञा में विकल्प से 'ङीष्' हो, नीली—नीला। लोहे के बने फाल अर्थ में—कुशी। अन्यत्र कुशा। सहवास की इच्छुक—कामुकी। अन्यत्र कामुका। केशों का सम्हालना—कबरी। अन्यत्र कबरा। अर्थात् चितकबरी।

विवरण—प्रकृतसूत्र से 'ङीष्' प्रत्यय का विधान किया जारहा है। सूत्र में द्वन्द्वसमास-प्रयुक्त दो लम्बे पद हैं। तदनुसार (१) जानपद (२) कुण्ड (३) गोण (४) भाज (६) नाग (७) काल (८) नील (९) कुश (१०) कामुक तथा (११) कबर शब्दों से क्रमशः (१) वृत्ति (२) पात्र—विशेष (३) बोरा (४) अकृत्रिम भूमि (५) पकाया हुआ व्यञ्जन (६) अधिक मोटा (७) काला रंग (८) वस्त्र से भिन्न अर्थ (९) लोहे का बना उपकरण—विशेष (१०) सम्भोग की इच्छा तथा (११) जूड़ा (बालों का सम्हालना) अर्थ वाच्य रहते स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय होता है। इनसे विपरीत अर्थ में अधिकतर 'टाप्' प्रत्यय होगा। क्रमशः उदाहरण—(१) जानपद>जानपदी (आजीविका)। 'जनपद' शब्द से भवार्थ में अण् प्रत्यय होकर 'जानपद' शब्द निष्पन्न होता है। जानपद+ई (ङीष्)—जानपदी ('अ' का लोप)। आजीविका अर्थ से भिन्न में भी जानपदी। कारण यह है कि उत्सादि—गण में 'जनपद' शब्द समाविष्ट है। अतः "उत्सादिभ्योऽञ्" (४-१-८६) से 'अञ्' प्रत्यय होने पर "टिड्ढाणञ्०" (४७०) से 'ङीप्' होगा। समान रूप होने पर भी स्वर में अन्तर होने के कारण 'ङीष्' प्रत्यय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किं तु 'नीलादोषधौ' (वा २४५६)। नीली। 'प्राणिनि च' (वा २४५८)। नीली गौः। 'संज्ञायां वा' (वा २४५७)। नीली-नीला। कुशी अयोविकारश्चेत्, कुशाऽन्या। कामुकी मैथुनेच्छा चेत्, कामुकाऽन्या। कबरी केशानां सन्निवेशश्चेत्, कबराऽन्या।

भवन् ङीष् ओषधौ प्राणिनि चैव स्यात्, न त्वन्यत्रेत्यर्थः। एवञ्च नीला कुण्डीत्यादौ न ङीषिति भावः। 'संज्ञायां वा' इत्यपि वार्तिकम्। संज्ञायामुक्तविषये तदन्यत्रापि ङीष् वा स्यादित्यर्थः। अयोविकारश्चेदिति। फाला इति प्रसिद्धः। कुशोऽन्येति। छन्दोगसूत्रे 'प्रस्तोता तु कुशाः कारयेद्यज्ञियस्य वृक्षस्य खदिरस्य दीर्घसत्रेष्वेके प्रादेशमात्रीः कुशपृष्ठास्त्वक्तस्समामज्जते' इति प्रसिद्धा। कामुकीति। कामयितुं शीलमस्या इति विग्रहे 'लषपत' इत्यादिना कमेरुकञ्। मैथुनेच्छावती चेदित्यर्थः। अर्शआद्यजन्ताट्टाप्। कामुकाऽन्येति। धनादीच्छावतीत्यर्थः।

की साथकता है। 'ङीष्'–अन्तोदात्त होता है—जानुपदी। 'ङीप्' होने पर अन्तानुदात्त—जानुपदी। (२) कुण्ड>कुण्डी (= संन्यासी का कमण्डलु)–'ङीष्'। अन्यत्र कुण्डा (= जलने वाली वस्तु)—'टाप्'। दाहार्थक √कुड् (कुडि) धातु से "गुरोश्च हलः" (३-३-१०३) से 'अ' प्रत्यय करने पर 'कुण्ड' ('नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण) शब्द निष्पन्न होता है। जारज–पुत्र की भी 'कुण्ड' संज्ञा है। मनुष्य-जाति-वाचक होने के कारण उस से स्त्रीत्व द्योत्य रहते "जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" (५१८) से 'ङीष्' प्रत्यय होता ही है। यद्यपि दोनों रूपों में एक ही प्रत्यय है एवं रूप-साम्य भी है तथापि पात्र-विशेष के अर्थ में कुण्ड–शब्द से जाति-लक्षण 'ङीप्' नहीं हो सकता। अतः उस अर्थ में विशेष रूप से 'ङीष्'–विधान किया जारहा है। 'कुण्ड' शब्द से 'अमत्र' अर्थ में ही 'ङीष्' हो–ऐसा नियम नहीं किया जारहा है। इस प्रकार यह अप्राप्त–विधि का उदाहरण है। (३) गोण>गोणी (=बड़ा बैला, बोरा)—ङीष्। नाम-विशेष—गोणा (टाप्)। (४) स्थल>स्थली(= अकृत्रिम भूमि)—ङीष्। कृत्रिम भूमि–स्थला (टाप्)। (५) भाज>भाजी (पाक-विशेष)–ङीष्। पके न होने पर भाजा (टाप्)। (६) नाग>नागी (= अत्यधिक मोटी स्त्री)–ङीष्। मोटी न होने पर–नागा (टाप्)। 'नाग' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—(क) हाथी तथा (ख) साँप। इन दोनों में से गजवाची 'नाग' शब्द 'स्थूलता' के कारण यहाँ स्त्री–अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। वही इसका उदाहरण है। 'लम्बाई' (कृशता) गुण के कारण 'सर्प'वाचक 'नाग' शब्द का प्रयोग दुर्बल स्त्री के अर्थ में प्रयोग करने पर इसका प्रत्युदाहरण होगा। (७) काल>काली (= काले वर्ण की स्त्री)। अन्यत्र–काला (= क्रूर स्त्री), टाप्। (८) नील>नीली (= नील गाय)—ङीप्। नीले रंग की साड़ी–नीला (टाप्)। यहाँ पर 'नीली' शब्द से 'अन्' प्रत्यय संयुक्त होने पर (नीली+अ, <नील्+अ) ='नील' शब्द निष्पन्न हुआ है। इस कारण "तेन रक्तं रागात्" (४-२-१) सूत्र में पठित 'नील्या अन् वक्तव्यः' वार्तिक का यहाँ स्मरण कराया गया है। अतः " 'नीली' नामक जड़ी से रँगी हुई साड़ी" के अर्थ में प्रयुक्त 'नीला' शब्द की समीचीनता बतायी जारही है। वस्त्रार्थ से भिन्न अर्थ में कहीं कहीं 'ङीष्' प्रत्यय की समीचीनता को बताने के लिये तीन वार्तिकों को प्रस्तुत किया जारहा है। वे इस प्रकार हैं—(क) वा०—अर्थ—'नील' शब्द से ओषधि–अर्थ में 'ङीप्' होता है। नील>नीली=ओषधि। (ख) वा०—अर्थ—संज्ञा–वाच्य 'नील' शब्द से वैकल्पिक 'ङीप्' होता है। पक्ष में 'टाप्' होगा। नील<नीली (ङीप्)–नीला (टाप्)। किसी का नाम। (९) कुश>कुशी (= लोहे की 'फाल')—ङीप्। इससे भिन्न–कुशा (टाप्)। 'गूलर की छोटी लकड़ी (शङ्कु)' को वेद में 'कुशा' कहा गया है। छन्दोगसूत्र में लम्बे समय तक होने वाले यज्ञों में स्तोत्रीय गणना करने लिये इनको उपयोगिता बताई गई है—"प्रस्तोता तु कुशाः कारयेद् यज्ञियस्य वृक्षस्य खदिरस्य दीर्घसत्रेष्वेके प्रादेशमात्रीः कुशपृष्ठास्त्वक्तस्समामज्जते"। (१०) कम्+उकञ्>कामुक (आदिवृद्धि)। कामुक>कामुकी (= वासनायुक्त स्त्री)–ङीष्। धनादि की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्रेत्यर्थः । (५०१) शोणात्प्राचाम् ४ । १ । ४३ ॥ शोणी–शोणा । (५०२) वोतो गुणवचनात् ४ । १ । ४४ ॥ उदन्ताद् गुणवाचिनो वा ङीष् स्यात् । मृद्वी–मृदुः ।

---

(५०१) शोणात् प्राचाम् । 'रोहितो लोहितो रक्तः शोणः कोकनदच्छविः–' इत्यमरः । 'वर्णानां तणतिनितान्तानाम्' इति शोणशब्दः आद्युदात्तः, अनुदात्तान्तः । 'अन्यतो ङीप्' इति नित्यं ङीपि प्राप्ते विकल्पार्थमिदम् ।

(५०२) वोतो गुणवचनात् । प्रातिपदिकादित्यनुवृत्तम् । वा उत इति च्छेदः । उतो गुणवचनस्य प्रातिपदिकस्य विशेषणात् तदन्तविधिः । तदाह—उदन्तादिति । वा ङीबिति ङीषिति नात्रानुवर्तते । 'गुणवचनात् ङीबाद्युदात्तार्थः' इति वार्तिकादिति भावः । मृद्वीति । मृदुशब्दात् ङीपि यण् । अत्र—

'सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते ।
आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः ॥'

इति भाष्ये गुणलक्षणमुक्तम् । सत्त्वं द्रव्यं समवायिकारणं तत्रैव निविशते समवैति यः स गुण इत्यन्वयः । द्रव्यमात्रसमवेत इति यावत् । मात्रपदात् सत्ताजातिर्व्यवच्छिद्यते, तस्याः द्रव्यगुणक्रियावृत्तित्वात् । अथ द्रव्यत्वे अतिव्याप्तिवारणाय आह—अपैतीति । कतिपयद्रव्येभ्योऽपगच्छतीत्यर्थः । द्रव्यत्वस्य सर्वद्रव्यवृत्तित्वान्नातिव्याप्तिः ।

इच्छुक>कामुका (टाप्) । (११) कवर>कवरी (= चित्र-विचित्र केशविन्यास वाली)—ङीष् । चितकबरी–कबरा (टाप्) ।

(५०१) पद—शोणात्, प्राचाम् । अनुवृत्ति—ङीष्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—शोणी । शोणा ।

विवरण—'ङीष्' का प्रकरण चल रहा है । पाँचों अधिकारसूत्रों की पूर्ववत् अनुवृत्ति आरही है । तदनुसार "उपसर्जनरहित शोण शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य रहते प्राचीन आचार्यों के मत में 'ङीष्' प्रत्यय होता है" । पाणिनि को 'टाप्' प्रत्यय अभीष्ट है । उदाहरण—[1]शोण>शोणी (= लाल घोड़ी) —ङीष् । अथवा शोणा (टाप्) । "अन्यतो ङीप्" (४९७) सूत्र से नित्य 'ङीष्' प्राप्त रहा । वैकल्पिक विधान के लिये इस सूत्र की सार्थकता है ।

(५०२) पद—वा, उतः, गुणवचनात् । अनुवृत्ति—ङीष्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र (विकल्प) ।

मूलार्थ—गुणवाची ह्रस्व-उकारान्त शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से 'ङीष्' होता है । मृद्वी–मृदुः । 'उतः' क्यों कहा ? शुचिः । 'गुण' क्यों कहा ? आखुः । वा० 'खरु' शब्द तथा संयोगोपध शब्दों से 'ङीष्' नहीं होता । खरुः (= पतिंवरा कन्या) । पाण्डुः ।

विवरण—'ङीष्' एवं पाँचों अधिकारसूत्रों की अनुवृत्ति पूर्ववत् आरही है । 'उतः' पद 'गुणवचनात्' एवं 'प्रातिपदिकात्'—इन दोनों पदों का विशेषण है । अतः वह तदन्त का बोधक है । तदनुसार "ह्रस्व-उकारान्त गुणवाची (गुणम् उक्तवान् इति गुणवचनः, तस्मात्) प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से 'ङीष्' प्रत्यय होता है" । उदाहरण—मृदु>मृद्वी (मृदु+ई–'ङीष्', यण्) –मृदुः ('ङीष्' न होने पर) । अर्थ—कोमल स्वभाववाली स्त्री । प्रत्युदाहरण—१–ह्रस्व उकारान्त (उतः) शब्द न होने के कारण 'शुचिः' (=पवित्रतायुक्त स्त्री) में 'ङीष्' नहीं हुआ । २—सूत्र में

---

१. शोणः कृशानौ स्योनाके लोहिताश्वे नदे पुमान् ।
त्रिषु कोकनदच्छाये ..... ॥ इत्यमर-टीकायां भानुदीक्षितः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'उतः' किम् ? शुचिः । 'गुण' इति किम् ? आखुः । 'खरुसंयोगोपधान्न' (वा २४६०) ।

रिति भावः । एवमपि गोत्वे अतिव्याप्तिवारणाय आह—पृथग्जातिषु दृश्यते इति । पृथक् भिन्नाः जातयः येषां ते पृथग्जातयः । भिन्नजातीयद्रव्यवृत्तिरिति यावत् । गोत्वस्य गोजातीयेष्वेव सत्त्वात् भिन्नजातीयेषु अश्वादिष्वसत्त्वान्नातिव्याप्तिरिति भावः । एवमपि क्रियायामतिव्याप्तिवारणाय आह—आधेयश्चाक्रियाजश्चेति । आधीयते उत्पाद्यते इत्याधेयः उत्पाद्यः अक्रियाजः अनुत्पाद्यः । उत्पाद्यत्वानुत्पाद्यत्वाभ्यां द्विविध इति यावत् । गुणो नित्यानित्यभेदेन द्विविधो भवति । नित्यगतानां गुणानां नित्यत्वात्, अनित्यगतानाम् नित्यत्वात् । क्रियायास्तु सर्वस्या अप्युत्पाद्यत्वान्नातिव्याप्तिरिति भावः । एवमपि द्रव्ये अतिव्याप्तिः, तस्य अवयवद्रव्यसमवेतत्वात् असमवायिकारणसंयोगनाशे ततोऽपायात् विजातीयपार्थिवाद्यवयवेषु सत्त्वात् ,नित्यानित्यभेदसत्त्वाच्च । अत आह–असत्त्वप्रकृतिरिति । अद्रव्यस्वभाव इत्यर्थः । द्रव्यभिन्न इति यावत् । अत्र मात्रपदेन सत्ताजातेः, अपैतीत्यनेन द्रव्यत्वस्य, पृथग्जातिषु दृश्यते इत्यनेन गोत्वादिजातेश्च निरासात् तद्भिन्नत्वमिति लब्धम् । 'आधेयश्चाक्रियाजश्च' इत्यनेन क्रियानिरासात् क्रियाभिन्नत्वं लब्धम् । असत्त्वप्रकृतिः इत्यनेन द्रव्यस्य निरासात् द्रव्यभिन्नत्वं लब्धम् । तथा च जातिभिन्नत्वे सति क्रियाभिन्नत्वे सति द्रव्यभिन्नत्वे सति समवेतत्वं गुणलक्षणं निष्कृष्टं वेदितव्यम् । समवेतत्वाभावाद-भावनिरासः । अत्र 'नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषास्त्वनन्ता एव' इति तार्किकाभिमतविशेष-पदार्थाङ्गीकारे तद्भिन्नत्वमपि निवेश्यम् । 'आकडारादेका संज्ञा' इति सूत्रभाष्ये तु 'समास-कृदन्ततद्धितान्ताव्ययसर्वनामजातिसंख्यासंज्ञाशब्दव्यतिरिक्तमर्थवच्छब्दरूपं गुणवचनसंज्ञं भवति' इत्युक्तम् । तदिदं प्रकृतसूत्रभाष्यस्थलक्षणस्यास्योक्तस्य प्रपञ्चनपरं वेदितव्यम् । परन्तु आकडारसूत्रभाष्ये संख्याशब्दभिन्नत्वमप्युपात्तम् । तदप्युक्तक्षलणे निवेश्यम् । न चैवमपि मृदुपटुवादिशब्दानां गुणविशिष्टद्रव्यवाचित्वात् गुणवचनत्वाभाव इति वाच्यम् ।

उकारान्त शब्द 'गुण'वाची अपेक्षित है । अतः 'आखुः' में ङीप् नहीं हुआ । 'आखु' शब्द के अनेक अर्थ हैं । (क) 'आखुः' = मूषिका अर्थ में द्रव्यवाची है । (ख) वैभव रहते हुए भी दान एवम् उपभोग न करने वाली स्त्री को भी 'आखुः' कहते हैं । इन दोनों अर्थों में 'आखु' शब्द से 'ङीष्' नहीं हुआ । उसका कारण यह है कि सूत्र में 'गुण' शब्द के साथ 'वचन' कहने से यह अभि-व्यञ्जित होता है कि जो शब्द गुण को विशेषण के रूप में कहने के अतिरिक्त गुणाश्रय द्रव्य के भी अभिधायक हों—उनसे ही ङीप् प्रत्यय होगा । (वा०) अर्थ—'खरु' शब्द तथा संयुक्तवर्णोपध शब्दों से 'ङीप्' प्रत्यय नहीं होता है । उदाहरण—१–खरुः (पति को वरण करने वाली कन्या) । खरु–उकारान्त है तथा उत्सुकता (गुण–वचन) होने के कारण सूत्र से ङीष् प्राप्त रहा । वार्तिक से उसका निषेध हो गया । २—संयोगोपध–पाण्डुः (श्वेतवर्णवाली स्त्री) । यहाँ भी उकारान्त–गुणवाचक शब्द होने से 'ङीष्' प्राप्त रहा । उपधा में संयुक्त वर्ण होने से उसका निषेध हो गया ।

विशेष—१–बालमनोरमा–टीकाकार ने प्रकृत सूत्र को 'ङीप्' का विधायक माना है । सिद्धान्त-कौमुदी की किसी भी पुस्तक में 'ङीप्' का निर्देश नहीं है । साथ ही यह सूत्र 'ङीष्' के प्रकरण में पढ़ा गया है । उसकी निवृत्ति कैसे सम्भव हो सकेगी ? इस पर उन्होंने भाष्य में पठित एक वार्तिक का आश्रय लिया है, जिसके अनुसार आद्युदात्त होने के लिये 'ङीप्' की अनुवृत्ति मानी है—'गुण वचनात् ङीप् आद्युदात्तार्थः' । किन्तु भाष्य में उसे वार्तिक के रूप में नहीं पढ़ा है । काशिका में वार्तिक का स्वरूप इस प्रकार है—'वसुशब्दाद् गुणवचनात् ङीवाद्युदात्तार्थम्' । अर्थात् 'वसु' शब्द को अभिलक्षित कर आद्युदात्त होने के लिये (वस्वी') 'ङीप्' प्रत्यय का विधान किया जाय ।

२—प्रकृतसूत्र में 'गुण-वचन' पद का अर्थ केवल 'गुण-वाची' नहीं है, किन्तु वह विशेष

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुणवचनेत्यन्वर्थसंज्ञया गुणोपसर्जनद्रव्यवाचित्वस्यैव विवक्षितत्वात्। एवञ्च रूपशब्दस्य न गुणवचनता, तस्य प्राधान्येन रूपवाचितया रूपवति प्रयोगाभावात्। रूपादिशब्दस्यापि गुणवचनशब्देन ग्रहणे 'गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः' इत्यत्रापि रूपादिशब्दानां ग्रहणापत्तौ रूपो घटः इत्यादिप्रयोगापत्तेः। प्रपञ्चितं चैतदरुणाधिकरणेऽस्माभिरध्वरमीमांसाकुतूहलवृत्तौ। शुचिरिति। शुक्लेत्यर्थः। 'शुक्लशुभ्रशुचिश्वेतविशदश्वेतपाण्डराः—' इत्यमरः। न च शुचधातोः 'इगुपधात् कित्' इत्यौणादिके इप्रत्यये व्युत्पन्नस्य शुचिशब्दस्य आकडारसूत्रे भाष्ये कृदन्तस्य गुणवचनत्वपर्युदासादेवात्र ङीप् न भविष्यतीति वाच्यम्, उणादीनाम् अव्युत्पत्तिपक्षाश्रयणात्। आखुरिति। मूषिकेत्यर्थः। आखोस्तु जातिविशिष्टद्रव्यवचनत्वादुक्तगुणवचनत्वाभावान्न ङीप्। 'खरुसंयोगोपधान्न' इति वार्तिकम्। खरुश्च संयोगोपधश्चेति समाहारद्वन्द्वः। खरुशब्दात् संयोगोपधाच्च 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीप् नेत्यर्थः। खरुशब्दमप्रसिद्धत्वात् व्याचष्टे—पतिवरा कन्येति। पतिलाभोत्कण्ठावतीत्यर्थः। औत्कण्ठ्यलक्षणोपसर्जनद्रव्यवाचितया गुणवाचित्वात् प्राप्तिः। पाण्डुरिति। श्वेतेत्यर्थः। संयोगोपधत्वात् न ङीप्।

अर्थ का द्योतक है। यहाँ पर 'गुण-वचन' शब्द अन्वर्थक है, तथा महासंज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुआ है[1]। अतः जो शब्द, गुण को विशेषण के रूप में कहते हुए उसी के साथ गुणाश्रय द्रव्य को भी विशेष्य के रूप में कहें, उनसे 'ङीष्' प्रत्यय का विधान सूत्रकार को अभीष्ट है; केवल गुण-वाचक से नहीं[2]। इस हेतु 'गुण' शब्द से 'मतुप्' प्रत्यय का लोप कर 'गुणवान्' अर्थ की कल्पना की जाय। अथवा 'गुण' की लक्षणा 'गुणी' में करने पर 'गुण-सम्पन्न गुणी' यह अर्थ मान लिया जाय। सूत्र में 'उतः' (उकारान्त) पद गुण-वचन का विशेषण है। अतः अ, ए, ओ रूप गुणसंज्ञकों का यहाँ ग्रहण नहीं होता, क्योंकि ये तीनों वर्ण गुणकथनपूर्वक द्रव्यवाचक नहीं हो सकते। इस प्रकार के आयाम में 'गुणवचन' के लक्षण के सम्बन्ध में जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। व्याख्याकारों ने समास, कृदन्त, तद्धितान्त, सर्वनाम, जाति, संख्या तथा संज्ञा शब्दों के अतिरिक्त अर्थवाचक शब्द को 'गुणवचन' कहा है। तदनुसार महाभाष्य में 'गुण' का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

"सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथक् जातिषु दृश्यते।
आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः"॥

प्रकृत परिभाषा में चार विशेषतायें हैं—(१) द्रव्यरूप आधार में (सत्त्वे) गुण उत्पन्न होता है (निविशते) तथा विनष्ट होता है (अपैति)। अर्थात् 'गुण' द्रव्यरूपी अधिकरण में उत्पन्न एवं विनाशयुक्त दोनों रूपों में रहता है। २—वह जाति से ('जातिषु'—पञ्चमी अर्थ में सप्तमी विभक्ति) भिन्न (पृथक्) है। ३—वह नित्य और अनित्य पदार्थों में रहने वाला है (आधेयश्चाक्रियाजश्च)। तथा ४—वह द्रव्य से भी भिन्न है (असत्त्वप्रकृतिः)।[3]

---

१. गुणसंज्ञायामेव लाघवात् कर्तव्यायां 'गुणवचने'ति महासंज्ञाकरणसामर्थ्यादित्यर्थः।

२. गुणवचनेत्यन्वर्थसंज्ञया गुणोपसर्जनगुणिवाचकानामेव तादृशानां सा संज्ञा इति न रूपादीनां ग्रहणम्। ल० श० शे०।

३. "सत्त्वे द्रव्ये, निविशते उत्पद्यते, अपैति नश्यति। एवं च द्रव्याधिकरणकोत्पादविनाशशालित्वमिति प्रथमविशेषणं फलितम्। जातिषु इति पञ्चम्यर्थे सप्तमी। जातिभ्यः पृथगित्यर्थः। तथा च जातिभिन्नत्वमिति द्वितीयं फलितम्। आधेयश्चाक्रियाजश्च पूर्ववत् नित्यवृत्तिधर्मवत्त्वमिति तृतीयम्। असत्त्वप्रकृतिः द्रव्यभिन्न इत्यर्थः। तेन द्रव्यभिन्नत्वं चतुर्थम्"। म० म० पं० नित्यानन्द पन्त कृत 'लघुशब्देन्दुशेखर' की 'दीपक' व्याख्या।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'खरुः, पतिवरा कन्या'। पाण्डुः। (५०३) **बह्वादिभ्यश्च ४। १। ४५॥** एभ्यो वा ङीष्स्यात्। बह्वी–बहुः। 'कृदिकारादक्तिनः' (ग ५०)। रात्रिः–रात्री। 'सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके' (ग ५१)। शकटिः–शकटी। 'अक्तिन्नर्थात्' किम्? अजननिः। क्तिन्नन्तत्वादप्राप्ते विध्यर्थं पद्धतिशब्दो गणे पठ्यते। 'हिमकाषिहतिषु च' (सू ९९२)

---

(५०३) बह्वादिभ्यश्च। गुणवचनत्वादेव सिद्धे बहुग्रहणं व्यर्थमेवेति प्राञ्चः। वस्तुतस्तु अनुपदोदाहृताकडारसूत्रभाष्यरीत्या सङ्ख्याशब्दानां गुणवचनत्वाभावात् अप्राप्तस्य ङीषो विधानार्थं बहुग्रहणमित्याहुः। बह्वी बहुरिति। वैपुल्यवाची बहुशब्दोऽयम्, त्रित्वादिसमनियतसङ्ख्याविशेषवाचित्वे तु एकवचनानुपपत्तेः। वैपुल्यवाचित्वेऽपि 'बहुगणवतुडति सङ्ख्या' इति सङ्ख्याशब्दत्वात् न गुणवचनत्वमिति न वैयर्थ्यमिति भावः। 'कृदिकारादक्तिनः' इति बह्वाद्यन्तर्गणसूत्रम्। कृतो य इकारस्तदन्तात् प्रातिपदिकात् ङीप् वा स्यात, न तु क्तिन्नन्तादित्यर्थः। रात्रिः रात्रीति। 'राशदिभ्यां त्रिप्' इति राधातोरौणादिकत्रिप्। गुणवचनत्वाभावात् उदन्तत्वाभावाच्चाप्राप्ते वचनम्। सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके। इत्यपि बह्वाद्यन्तर्गणसूत्रमेव। कृदिकारान्तादकृदिकारान्तादपि ङीप् वा स्यात्, न तु क्तिन्नर्थकप्रत्ययान्तादित्यर्थः। शकटिः शकटीति। शकटिशब्दस्य अव्युत्पन्नप्रातिपदिकत्वात् कृदन्तत्वाभावात् सर्वत इति वचनम्। अव्युत्पत्तिपक्षे रात्रिशब्दोऽप्युदाहरणं बोध्यम्। अजननिरिति। 'स्त्रियां क्तिन्' इत्यधिकारे 'आक्रोशे नञ्यनिः' इति नञि उपपदे जनेरनिप्रत्ययः, अक्तिन इत्युक्तौ अत्र निषेधो न स्यात्। अतः अक्तिन्नर्थादित्युक्तिरिति भावः। ननु

---

(५०३) **पद**—बह्वादिभ्यः, च। **अनुवृत्ति**—वा, ङीप्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र** (विकल्प)।

मूलार्थ—'बहु' आदि शब्दों से वैकल्पिक 'ङीष्' होता है। बह्वी–बहुः। (ग) कृत्प्रत्ययसम्बन्धी इकारान्त शब्दों से वैकल्पिक 'ङीष्' होता है, किन्तु 'क्तिन्'–प्रत्ययान्त से नहीं। रात्री–रात्रिः। (ग) कोई यह मानते हैं कि 'क्तिन्'-प्रत्यय के अर्थ से भिन्न कृत अथवा अकृत् इकारान्त से वैकल्पिक 'ङीष्' प्रत्यय होता है। शकटी–शकटिः। 'अक्तिन्–अर्थ' से क्यों कहा? अजननिः। 'क्तिन्'–अन्त से ङीष् प्राप्त न होने के कारण 'पद्धति' शब्द का पाठ गण में किया गया है। "हिमकादिषु च" से 'पाद' शब्द के स्थान में 'पद्' आदेश होता है। पद्धतिः–पद्धती।

विवरण—पूर्वसूत्र के सन्दर्भ में 'वैकल्पिक ङीप्' का विधान किया जारहा है। अतः 'वा' एवं 'ङीष्' की अनुवृत्ति के अतिरिक्त पाँचों अधिकारसूत्रों का प्रभाव भी यथापूर्व विद्यमान है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "बह्वादिगण-पठित प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से 'ङीष्' प्रत्यय होता है"। **उदाहरण**—बहु>बह्वी (= बहुत गुणों से युक्त स्त्री)–बहु+ई (ङीष्), यण्। पक्ष में 'बहुः' (बहु+स्, रुत्व, विसर्ग)। **(वा०) अर्थ**—प्रकृतसूत्र से सम्बद्ध होने के कारण वार्तिक में भी 'वा' की अनुवृत्ति आरही है। अतः 'क्तिन्'प्रत्ययान्त-भिन्न इकारान्त-कृत्प्रत्ययान्त शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से 'ङीप्' प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—रात्रि>रात्री (=रात)–रात्रि+ई (ङीष्)। रात्रि = √रा+त्रि—"राशदिभ्यां त्रिप्" (उणादि० ४।६७)। 'गुणवाची' तथा ह्रस्व उकारान्त न होने के कारण यहाँ अप्राप्त-विधि है। पक्ष में रात्रिः (स् = रु = विसर्ग)। **(ग० सू० २)—अर्थ**—कुछ आचार्यों के मत में (एके) 'क्तिन्'–प्रत्यय के अर्थ से भिन्न (अक्तिन्नर्थात्) सभी इकारान्त प्रातिपदिकों से (सर्वतः) स्त्रीलिङ्ग में वैकल्पिक 'ङीष्' प्रत्यय होता है। अर्थात् क्तिन्–प्रत्ययान्त को छोड़कर अन्य सभी इकारान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में वैकल्पिक 'ङीष्' होता है। **उदाहरण**—शकटि>शकटी (= बैल गाड़ी)—शकटि+ई (ङीष्)। पक्ष में शकटिः (स् = र् = विसर्ग)। 'शकटि' शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है। **प्रत्युदाहरण**—'ङीष्'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति पद्भावः। पद्धतिः—पद्धती। (५०४) पुंयोगादाख्यायाम् ४।१।४८॥ या पुमाख्या पुंयोगात्स्त्रियां वर्तते ततो ङीष् स्यात्। गोपस्य स्त्री गोपी। 'पालकान्तान्न'

हन्धातोः स्त्रियां कर्मणि क्तिनि 'अनुदात्तोपदेश' इत्यादिना नलोपे हतिशब्दः तस्य क्तिन्नन्तत्वात् कथं पद्धतिशब्दात् ङीपित्यत आह—क्तिन्नन्तत्वादिति। गणे इति। बह्वादिगण इत्यर्थः। ननु पादाभ्यां हतिरिति विग्रहे 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति तृतीयासमासे सुब्लुकि पाद हति इति स्थिते कथं पदादेशः, 'पादः पत्' इत्यत्र कृतसमासान्तल्लोपस्यैव पादशब्दस्य ग्रहणात् भत्वाभावाच्च। 'पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु' इत्यपि न सम्भवति, तस्य आज्यादिष्वेव परेषु प्रवृत्तेरित्यत आह—हिमकापीति। हिमादिषु परेषु पादशब्दस्य पदादेशः स्यादिति तदर्थः।

(५०४) पुंयोगात्। पुंयोगादिति हेतौ पञ्चमी। आख्यायामिति पञ्चम्याः सप्तम्यादेशः, 'सुपां स्थाने सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्' इत्युक्तः। आख्येत्यनेन वाचकः शब्दो विवक्षितः, कस्य वाचकः इत्यपेक्षायां पुंयोगादित्युपस्थितत्वात् पुंस इति लभ्यते। तथा च आख्याया-मित्यनेन पुंसि प्रसिद्धात् शब्दादिति लभ्यते। पुंयोगादिति स्त्रियामित्यत्रान्वेति। तथा च पुंयोगमाश्रित्य लक्षणया स्त्रियां वर्तमानादिति लभ्यते। तदाह—या पुमाख्येत्यादिना। ङीषिति। 'अन्यतो ङीप्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः। 'वोतो गुणवचनात्' इति पूर्वसूत्रे तु 'गुणवचनात् ङीबाद्युदात्तार्थः' इति वार्तिकात् ङीप् लब्ध इति न तत्रास्यानुवृत्तिः। गोपस्य स्त्रीति। गाः पातीति गोपः, 'आतोऽनुपसर्गे कः'। तज्जायायां तु गोरक्षणाभावेऽपि तन्नार्यात्वात् तद्व्यपदेशः। ततश्च पुंयोगमाश्रित्य लक्षणया स्त्रियां वर्तमानत्वात् ङीपि 'यस्येति च' इत्यकारलोप इति भावः। हरेः स्त्री, शम्भोः स्त्री इत्यादौ न ङीप्, स्त्रीप्रत्यय-विधिप्रकरणे अत इत्यनुवृत्तेः। या तु स्वयमेव गाः पाति, न तु गोपस्य स्त्री, सा तु गोपी। तत्र गोपशब्दस्य स्वत एव स्त्रियां वृत्त्या पुंयोगादवृत्तेः। न च गोपस्य माता श्वश्रूः मातुलानी वा गोपीति स्यादिति वाच्यम्, 'अकुर्वती पापं भर्तृकृतान् वधबन्धादीन् यथा लभते एवं तच्छब्दमपि' इति भाष्यस्वारस्येन जायापत्यात्मकस्यैव पुंयोगस्य विवक्षित-त्वात्। दुहितरि केकयी देवकी इत्यादयस्तु गौरादौ पाठ्या इति शब्देन्दुशेखरे स्थितम्।

प्रत्यय के विधान करने में द्वितीय गणसूत्र में 'क्तिन्'-प्रत्यय के अर्थ से भिन्न इकारान्त प्राति-पदिक अपेक्षित है। अतः 'अजननिः' (= व्यर्थ जन्म वाला) में 'ङीष्' नहीं हुआ। कारण यह है कि यहाँ पर "आक्रोशे नञ्यनिः" (३-३-११२) से विहित 'अनि' प्रत्यय (अ-√जन्+अनि) स्वरूपतः क्तिन्नन्त न होने पर भी "स्त्रियां क्तिन्" (३-३-९४) के अधिकार-क्षेत्र में है। अतः उसका परिगणन क्तिन्-प्रत्ययार्थ के रूप में होने से 'अक्तिन्नर्थात्' निषेध सार्थक होता है। क्तिन्-प्रत्ययान्त होने के कारण अप्राप्त 'ङीष्' का वैकल्पिक विधान करने के लिए 'पद्धति' (= मार्ग) शब्द का बह्वादिगण में पाठ किया गया है। फलतः वैकल्पिक 'ङीष्' हुआ—पद्धति>पद्धती। पक्ष में पद्धतिः। 'पादाभ्यां हतिः' (= पैरों से जाया जाना) अर्थ में तृतीया-समासादि होने पर पाद-हति इस स्थिति में "हिमकापिहतिषु च" (६-३-५४) से पाद के स्थान पर 'पद्' आदेश होकर 'पद्धति' शब्द निष्पन्न होता है।

(५०४) पदं—पुंयोगात्, आख्यायाम्। अनुवृत्ति—ङीष्, अतः, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—जो पुरुषवाचक शब्द, पुरुष के सम्बन्ध से स्त्रीलिङ्ग में विद्यमान हो, उससे 'ङीष्' प्रत्यय होता है। गोप की स्त्री—गोपी। वा० पालकान्त शब्दों से 'ङीष्' नहीं होता है। गोपालिका।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वा २४६१) गोपालिका । अश्वपालिका । 'सूर्याद् देवतायां चाव्वाच्यः' (वा२४७१)। सूर्यस्य स्त्री देवता सूर्या। 'देवतायाम्' किम् ? सूरी कुन्ती—मानुषीयम्।

आख्याग्रहणं किम्। प्रसूता। अयं हि शब्दो जातप्रसवामाह। स च प्रसवः पुंयोगनिमित्तकः, तन्निमित्ता चास्य स्त्रियां वृत्तिः, न त्वयं पुंसि प्रसिद्धः, अतो न ङीप्। अत्र 'गोपालकादीनां प्रतिषेधः' इति वार्तिकम्। अत्र आदिपदेन अश्वपालकेत्यादयः पालकान्ता एव गृह्यन्ते, भाष्ये तेषामेवोदाहरणात्। तदाह—पालकान्तान्नेति। पुंयोगलक्षणङीषिति शेषः। गोपालिकेति। गोपालकस्य स्त्रीत्यर्थः। ननु पालयतीति पालकः, कर्तरि ण्वुल्, 'युवोरनाकौ' इत्यकादेशः। 'णेरनिटि' इति णिलोपः। गवां पालक इति विग्रहे षष्ठीसमासे सुपो लुकि गोपालकशब्दः। तत्र किं शेषे षष्ठी, उत 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्मणि षष्ठी। न तावदाद्यः, प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य टापः समासावयवत्वात् पालकशब्दात् उत्पन्नसुपः परत्वेन असुप इति निषेधात् 'प्रत्ययस्थात्' इत्यत्वानुपपत्तेः। न चास्तु कर्मणि षष्ठीति द्वितीयः पक्षः, 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुबुत्पत्तेः' इति वचनेन सुबुत्पत्तेः प्रागेव पालकशब्देन प्रातिपदिकेन गवामिति षष्ठ्याः समासे सति समासात् उत्पन्नस्य टापः सुपः परत्वाभावेन इत्वस्य निर्बाधत्वादिति वाच्यम् 'तृजकाभ्यां कर्तरि' इति कारकषष्ठ्याः समासनिषेधादिति चेत् ? मैवम्, गाः पालयतीति गोपालः। कर्मण्यण्। उपपदसमासः। गोपाल एव गोपालकः, स्वार्थिकः कः। तद्धितावयवत्वात् सुब्लुक्। गोपालकस्य स्त्री गोपालिकेति व्युत्पत्त्याश्रयणात्। न ह्यत्र टाप् सुपः परः, केनव्यवधानात्। अस्तु वा शेषषष्ठ्या समासः। एवमपि न टाप् सुपः परः शेषत्वविवक्षायामपि, वस्तुतः कारकतया सुबुत्पत्तेः प्रागेव शेषषष्ठ्या समासप्रवृत्तेः। अत एव प्रकृतसूत्रे 'उपपदमतिङ्' इति सूत्रे च भाष्ये कुम्भकारपदे सुबुत्पत्तेः प्रागेव कुम्भस्येति शेषषष्ठ्या समास उपन्यस्तः सङ्गच्छत इति शब्देन्दुशेखरे प्रपञ्चितम्। सूर्यादेवतायामिति। देवताभूतायां स्त्रियां पुंयोगाद्वर्त्तमानात् सूर्यशब्दात् चाप् वक्तव्य इत्यर्थः। 'पुंयोगात्' इति ङीपोऽपवादः। चपावितौ। सूर्येति। चापि सवर्णदीर्घः। देवतायां किमिति। सूर्यस्त्रियां देवता-

---

अश्वपालिका। (वा०) 'सूर्य' शब्द से देवता वाच्य रहते 'चाप्' प्रत्यय होता है। सूर्य की स्त्री सूर्या (देवता)। 'देवतायां' क्यों कहा ? सूरी (कुन्ती)–यह मनुष्य जाति की स्त्री है।

विवरण–'ङीष्' का प्रकरण अभी चल रहा है। पूर्वक्रमानुसार अधिकारसूत्रों की अनुवृत्ति बराबर आरही है। विशेष अर्थ को अभिलक्षित कर स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में इस सूत्र से 'ङीष्' प्रत्यय का विधान किया जारहा है। सूत्रस्थ 'आख्यायाम्' (सप्तम्यन्त) पद पञ्चमी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'पुम्' शब्द की आवृत्ति की जारही है। एक बार 'पुम्' शब्द का अन्वय 'योग' शब्द के साथ तथा दूसरी बार 'आख्या' शब्द के साथ किया जाता है। 'पुंयोगात्' में 'हेतु' अर्थ को अभिलक्षित कर पञ्चमी-विभक्ति का प्रयोग किया है। 'पुमाख्या' शब्द का अर्थ पुरुषवाचक है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "यदि पुरुषवाचक शब्द का प्रयोग पुरुष के साथ सम्बन्ध (साहचर्य) होने के कारण स्त्रीलिङ्ग में भी वर्तमान हो तो विशेषण के रूप में प्रयोग न किये जाने वाले ह्रस्व अकारान्त प्रातिपदिक से 'ङीष्' प्रत्यय होता है। उदाहरण–गोप>गोपी (=गोप की स्त्री)–गोप्+ङीप् ('अ' का लोप)। स्वयं गोपालन करने पर यदि गोप की स्त्री न हो तो वहाँ टाप् प्रत्यय होकर 'गोपा' रूप निष्पन्न होगा। (वा०)अर्थ–जिस पुरुषवाचक शब्द के अन्त में 'पालक' हो उससे पुंयोग होने पर भी 'ङीप्' प्रत्यय नहीं होता। उदाहरण—गोपालक>गोपालिका (=गोपालक की स्त्री)–ह्रस्व अकारान्त होने के कारण 'टाप्' हुआ तथा 'क्' से पूर्व 'अ' को इकार। इसी प्रकार अश्वपालक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५०५) इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक् ४ । १ । ४९ ॥ एषामानुगागमः स्यान्ङीष् च । इन्द्रादीनां षण्णां मातुलाचार्ययोश्च पुंयोग एवेष्यते । तत्र ङीषि सिद्धे, आनुगागममात्रं विधीयते । इतरेषां चतुर्णामुभयम् । इन्द्राणी । 'हिमारण्ययोर्महत्त्वे (वा २४७२) । महद्धिमं हिमानी । महदरण्यम् अरण्यानी । 'यवाद्दोषे' (वा २४७३) । दुष्टो यवो यवानी । यवनाल्लिप्याम्' (वा २४७४) । यवनानां

त्वाव्यभिचारात् प्रश्नः । सूरी कुन्तीति । ङीषि 'सूर्यतिष्य' इति यकारलोपः, यस्येति च' इत्यकारलोपः । मानुषीयमिति । इयं कुन्ती मानुषी, न तु देवतेत्यर्थः । एतच्च महाभारतादौ स्पष्टम् । न च 'सूर्याद् देवतायां न' इत्येवोच्यताम्, ङीषि निषिद्धेः टापैव सूर्येति सिद्धेरिति वाच्यम्, टापि हि सति पित्त्वादनुदात्तत्वम्, 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इत्युक्तेः । चापि तु 'चितः' इत्यन्तोदात्तत्वमिति भेदः ।

(५०५) इन्द्रवरुण । आनुगागम इति । कित्त्वादागमलिङ्गादिति भावः । ङीप् चेति । 'अन्यतो ङीप्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । पुंयोग एवेष्यते इति । पुंयोगादित्यनुवृत्तेः, तेषां स्त्रीत्वे पुंयोगं विना अप्रवृत्तेश्चेति भावः । नन्वेवं पुंयोगादित्येव सिद्धे ङीष्विधिर्व्यर्थ इत्यत आह—तत्रेति । तत्र इन्द्रादिषु षट्सु मातुलाचार्ययोश्च पुंयोगादित्येव ङीषि सिद्धे तत्सन्नियोगेन आनुगागममात्रं विधीयत इत्यर्थः । इतरेषामिति । हिमारण्ययवयवनानां तु आनुक् ङीप् चेत्युभयं विधीयते, तत्र पुंयोगस्यासम्भवादिति भावः । इन्द्राणीति । आनुकि ककार इत्, उकार उच्चारणार्थः, कित्त्वादन्तावयवः, सवर्णदीर्घः, णत्वमिति भावः । वरुणानी, भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी, मृडानी इत्युदाहरणानि सुगमत्वादुपेक्षितानि । दीर्घोच्चारणं विना अनुनासिकौ तु परूपापत्तिः, अकारोच्चारणस्य अल्लोपनिवृत्त्या चरितार्थत्वात् । नुग्विधौ तु अल्लोपापत्तिरित्यन्यत्र विस्तरः । हिमारण्ययोर्महत्त्वे । इति वार्तिकम् । महत्त्वविशिष्टे हिमे अरण्ये च वर्तमानयोरानुङ्ङीपावित्यर्थः । महद्धिमं हिमानीति । महत्त्वयोगे स्त्रीत्वमत एव ज्ञेयम् । अरण्यानीति । महदरण्यमित्यर्थः । यवाद्दोषे । इति वार्तिकम् । आनुङ्ङीपाविति शेषः । दुष्टत्वे वृत्तौ स्त्रीत्वमत एव ज्ञेयम् । यवनाल्लिप्याम् । इत्यपि वार्तिकम् । लिपिरक्षरविन्यासः । तत्र लक्षणया वृत्तौ आनुङ्ङीपावित्यर्थः ।

>अश्वपालिका (= अश्वपालन करने वाले की स्त्री) । इस वार्तिक द्वारा 'ङीष्' प्रत्यय का निषेध किया गया है । (वा०) अर्थ—देवतारूप-स्त्री द्योत्य रहते सूर्य शब्द से पुंयोग में 'चाप्' (आ) प्रत्यय होता है । यह भी 'ङीष्' प्रत्यय का बाधक है । उदाहरण—सूर्य>सूर्या (= सूर्य की देवता-स्त्री)—सूर्य+आ (चाप्), <सूर्या (दीर्घ) । प्रत्युदाहरण—मनुष्य-जाति की स्त्री होने पर 'ङीष्' प्रत्यय होगा—सूर्य>सूरी (= सूर्य की मानवी स्त्री)—सूर्य+ई (ङीष्), <सूरी ('अ' का लोप होने पर 'य्'-लोप—"सूर्यतिष्यागस्त्य०" ४९९) । कुन्ती को 'सूरी' कहा जाता है ।

(५०५) पद—इन्द्र···मातुलाचार्याणाम्, आनुक् । अनुवृत्ति—पुंयोगात्, ङीष्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियां, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—इन्द्र आदि शब्दों से 'आनुक्' आगम और 'ङीष्' प्रत्यय भी होता है । इन्द्रादि छह शब्द तथा मातुल एवम् आचार्य शब्दों से पुंयोग में ही यह विधान होता है । इन शब्दों से 'ङीष्' प्रत्यय पुंयोग में सिद्ध होने से केवल 'आनुक्'—आगम का ही विधान किया जारहा है । अन्य चार शब्दों से दोनों का विधान है । इन्द्राणी । (वा०) हिम और अरण्य शब्दों से अधिक अर्थ में 'आनुक्' और 'ङीष्' होते हैं । अधिक हिम अर्थ में—हिमानी । बड़ा जंगल—अरण्यानी । (वा०) दोष अर्थ में 'यव' शब्द से 'आनुक्' और 'ङीष्' होते हैं । खराब जौ—यवानी । (वा०) लिपि अर्थ में 'यवन' शब्द से 'ङीष्' और 'आनुक्' होते हैं । यवनों की लिपि—यवनानी । (वा०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिपिर्यवनानी। मातुलोपाध्याययोरानुग्वा। मातुलानी–मातुली। उपाध्यायानी–उपाध्यायी। 'या तु स्वयमेवाध्यापिका तत्र वा ङीष् वाच्यः'। उपाध्यायी–उपाध्याया। 'आचार्यादणत्वं च' (वा २४७७)। आचार्यस्य स्त्री आचार्यानी। पुंयोग इत्येव। आचार्या, स्वयं व्याख्यात्री। 'अर्यक्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे' (वा २४७८)। अर्याणी–

मातुलोपाध्याययोरानुग्वेति। इदमपि वार्तिकम्। अत्र पुंयोगादिति सम्बध्यते, हिमादिष्विवात्र असम्भवाभावात्। अत्र आनुगेव तु विकल्प्यते, आनुगभावेऽपि पक्षे ङीप् भवत्येव। मातुलान्नित्यं प्राप्ते उपाध्यायादप्राप्ते विभाषेयम्। मातुलानी मातुलीति। मातुलस्य स्त्रीत्यर्थः। उपाध्यायानी उपाध्यायीति। उपाध्यायस्य स्त्रीत्यर्थः। या तु स्वयमेवेति। इदं तु वार्तिकं तृतीयस्य तृतीये 'इङश्च' इति सूत्रे पठितम्। या स्वयमेवाध्यापयति न तूपाध्यायस्य स्त्री, तत्र पुंयोगाभावेऽपि केवलङीष्विकल्पो वाच्य इत्यर्थः। 'युगान्तरे ब्रह्मवादिन्यः स्त्रियः सन्ति' तद्विषयमिदम्।

'पुरा युगेषु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा॥'

इति स्मरणात्। आचार्यादणत्वं च। इत्यपि वार्तिकम्। चकारः आनुङ्ङीषोः समुच्चयार्थः। आचार्यानीति। आचार्यस्य स्त्रीत्यर्थः। 'अट्कुप्वाङ्' इति णत्वं न भवति।

'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥'

'एकदेशमुपाध्यायः' इति स्मृतिः। पुंयोग इत्येवेति। पुंयोगग्रहणमनुवर्तत एवेत्यर्थः। तत्प्रयोजनमाह—आचार्येति। अत्र पुंयोगाभावं विशदयति—स्वयं व्याख्यात्रीति। धर्मोपदेष्ट्रीत्यर्थः। 'यस्माद्धर्मानाचिनोति स आचार्यः' इति स्मरणादिति भावः। अर्यक्षत्रि–

मातुल और उपाध्याय शब्दों से 'आनुक्' एवं 'ङीष्' होते हैं। मातुलानी–मातुली। उपाध्यायानी–उपाध्यायी। स्वयम् अध्यापिका होने पर विकल्प से 'ङीष्' होता है। उपाध्यायी–उपाध्याया। (वा०) 'आचार्य' शब्द से णत्व न हो। आचार्य की स्त्री–आचार्यानी। पुंयोग में ही यह विधान है। स्वयम् पढ़ाने वाली—आचार्या। (वा०) अर्य और क्षत्रिय शब्दों से स्वार्थ में 'ङीष्' और 'आनुक्' विकल्प से होते हैं। वैश्य वर्ण की स्त्री–अर्याणी अथवा अर्या। क्षत्रियाणी–क्षत्रिया। पुंयोग में—अर्यी तथा क्षत्रियी। 'ब्रह्माणी' शब्द कैसे निष्पन्न हुआ? ब्रह्मा की जीवन-साधिका अर्थ में कर्म उपपद रहते "कर्मण्यण्" से 'अण्' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है।

विवरण—इस सूत्र पर पूर्व सूत्र का प्रभाव पूर्णतया अभिलक्षित होता है। प्रकृत सूत्र में इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, हिम, अरण्य, यव, यवन, मातुल तथा आचार्य ये १२ शब्द पढ़े गए हैं। अतः पुंलिङ्ग के हेतु से यदि स्त्रीत्व में ये वर्तमान हों तो इन शब्दों से 'ङीष्' प्रत्यय तथा 'आनुक्' (आन्) आगम होता है। 'आनुक्' में 'क्' की इत्संज्ञा होने से "आन्महतः समानाधिकरणजातीयोः" (३६) परिभाषा की उपस्थिति से आगम की स्थिति सूत्रोक्त १२ प्रातिपदिकों के अन्त में रहेगी। 'इन्द्र'–आदि छह शब्दों का एवं 'मातुल' तथा 'आचार्य' इन दो शब्दों को पुंयोग में ही 'आनुक्'–आगम तथा 'ङीष्' प्रत्यय होते हैं। इनमें "पुंयोगादाख्यायाम्" (५०५) से 'ङीष्' तो स्वतः सिद्ध था, यहाँ उसका अनुवाद मात्र है। 'आनुक्'–आगम का ही विशेषतया विधान है। इन आठों से भिन्न अवशिष्ट चार शब्दों में 'ङीष्' एवम् 'आनुक्'–आगम दोनों विधानों की चरितार्थता है। इसी बात को अभिलक्षित कर हिम, अरण्य, यव और यवन शब्दों के विषय में पुंयोग असम्भव होने के कारण आगामी वार्तिकों में विशिष्ट अर्थ का निर्देश किया गया है। **उदाहरण**—१–इन्द्र>इन्द्राणी (=इन्द्र की स्त्री)–इन्द्र–आन्+ई (ङीष्), <इन्द्राणी (न्='ण्'–"अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्या। स्वामिनी वैश्या वेत्यर्थः। क्षत्रियाणी—क्षत्रिया। पुंयोगे तु—अर्यी, क्षत्रियी। कथं 'ब्रह्माणी' इति। ब्रह्माणमानयति जीवयतीति 'कर्मण्यण्' (सू २९१३)।

याभ्यां वा। इति वार्तिकम्। आनुङ्ङीपाविति शेषः। स्वार्थ इति व्याख्यानलभ्यम्। तेन पुंयोगनिरासः। अत एव भाष्ये 'अर्याणी अर्या' इत्येवोक्तम्। पुंयोग एवं प्रवृत्तौ तु उपाध्यायीतिवत् अर्यीति ङीपमेवोदाहरेत्। अर्यशब्दं व्याचष्टे—स्वामिनी वैश्या वेत्यर्थ इति। 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' इति निपातनादिति भावः। क्षत्रियाणी क्षत्रियेति। क्षत्रियात् क्षत्रियायां भार्यायामुत्पन्नेत्यर्थः 'सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः' इत्युपक्रम्य 'विन्नास्वेष विधिः स्मृतः' इति स्मरणात्। विन्नास्वित्यस्य ऊढास्वित्यर्थः। पुंयोगे तु अर्यी क्षत्रियीति। अर्यस्य स्त्री अर्यी, क्षत्रियस्य स्त्री क्षत्रियी, वैश्या शूद्रा वेत्यर्थः। कथमिति। 'इन्द्रवरुण' इत्यादिसूत्रे ब्रह्मन्शब्दस्य अग्रहणात् ब्रह्मणः स्त्रीत्यर्थे ब्रह्माणीत्यानुङ्ङीषौ कथमिति प्रश्नः? उत्तरमाह—ब्रह्माणमिति। आनयतीत्यस्य व्याख्यानं जीवयतीति। 'अन प्राणने'। प्राणनं जीवनम्। अस्माद्धातोर्हेतुमण्णिचि, उपधावृद्धौ, तिपि, शपि, गुणायादेशौ आनयतीति रूपम्। भर्तृजीवनस्य जायासौभाग्यायत्तत्वात्। ततश्च ब्रह्माणमानयतीति विग्रहे आनि इति ण्यन्तात् 'कर्मण्यण्' इत्यणि, 'णेरनिटि'इति णिलोपे आनशब्देन

---

(१९७)। २—वरुण>वरुणानी (=वरुण की स्त्री)। ३—भव>भवानी (=शिव की स्त्री)। ४—शर्व>शर्वाणी (=शिव की स्त्री)। ५—रुद्र>रुद्राणी (=रुद्र की स्त्री)। ६—मृड>मृडानी (=शिव की स्त्री)। विशेष अर्थ के विधायक वार्तिक—१-अर्थ—हिम और अरण्य—इन दो शब्दों से आधिक्य अर्थ में ही 'ङीष्' प्रत्यय और 'आनुक्' आगम होते हैं। उदाहरण—७—हिम>हिमानी (=सदा विद्यमान रहने वाला हिम)। ८—अरण्य>अरण्यानी (=घना जङ्गल)। यास्क ने 'अरण्यस्य पत्नी'—इस अर्थ में 'अरण्यानी' (९-२९) शब्द माना है। यहाँ पत्नी का अर्थ पालन करनेवाली है, क्योंकि अरण्य का केन्द्रीभूत घना जगल होता है। वहाँ सिंहादि हिंसक पशु आश्रय ग्रहण करते हैं तथा वह बाह्य-अरण्य का रक्षक होता है। वा० २-अर्थ—'यव' शब्द से (दुष्ट) अर्थ में 'ङीष्' प्रत्यय एवं 'आनुक्' आगम होते हैं। उदाहरण—९-यव>यवानी (=अजवायन)। छोटा दाना होना ही इसका दोष है। वा० ३—अर्थ—'यवन' शब्द से 'लिपि' अर्थ में 'ङीष्' एवम् 'आनुक्' होते हैं। उदाहरण—१०-यवन>यवनानी (=यवनों की लिपि)। वा० ४—अर्थ—'मातुल' और 'उपाध्याय' शब्दों से 'आनुक्' आगम विकल्प से होता है। पाक्षिक 'आनुक्' आगम के न होने पर "पुंयोगादाख्यायाम्" (५०५) से 'ङीष्' होगा। उदाहरण—११-मातुल>मातुलानी (=मामी)। 'आनुक्' न होने पर ङीष्-मातुली। ११ (अ)-उपाध्याय>उपाध्यायानी=गुरु की पत्नी। 'आनुक्' न होने पर 'ङीष्'-उपाध्यायी। जो स्वयम् अध्यापिका है वहाँ विकल्प से ङीष् होता है। उदाहरण—उपाध्याय>उपाध्यायी (ङीष्)। 'ङीष्' न होने पर 'टाप्' उपाध्याया। वा० ५—अर्थ—'आचार्य' शब्द से परवर्ती 'आनुक्'-सम्बन्धी 'ञ्' को 'ण्' नहीं होता। उदाहरण—१२-आचार्य>आचार्यानी (=आचार्य-पत्नी, आचार्य-आन्+ङीप्, 'ञ्' को 'ण्' नहीं हुआ)। पुंयोग न होने पर 'स्वयम्' अध्यापन 'करने वाली' अर्थ में—आचार्या (टाप्)। वा० ६-अर्थ—'अर्य' और 'क्षत्रिय' शब्दों से स्वार्थ में विकल्प से 'ङीष्' एवम् 'आनुक्' होते हैं। 'स्वार्थ' कहने से 'पुंयोग' अर्थ अभिलक्षित नहीं है। उदाहरण—१-अर्य>अर्याणी (स्वामिनी अथवा वैश्य-स्त्री) पक्ष में अर्या। २—क्षत्रिय>क्षत्रियाणी (=क्षत्रिय की स्त्री) पक्ष में क्षत्रिया। पुंयोग में तो 'पुंयोगादाख्याम्" (५०५) से 'ङीष्' होता है—१-अर्य>अर्या (=वैश्य पुरुष की पत्नी)। २—क्षत्रिय>क्षत्रियी (=क्षत्रियपुरुष की पत्नी)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५०६) क्रीतात्करणपूर्वात् ४ । १ । ५० ॥ क्रीतान्ताददन्तात्करणादेः स्त्रियां

ब्रह्माणमित्यस्य उपपदसमासे सुब्लुकि नलोपे सवर्णदीर्घे ब्रह्मानशब्दात् 'टिड्ढाणञ्' इति ङीषि, 'यस्येति च' इत्यकारलोपे, 'पूर्वपदात् संज्ञायाम्' इति णत्वे ब्रह्माणीति रूपमिति भावः। 'एकाजुत्तरपदे' इति तु न, अणि सति प्रातिपदिकस्य द्व्यच्कत्वात् लुप्तेऽप्यणि लोपस्य स्थानिवत्त्वात्। 'पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत्' इति तु न, 'तस्य दोषः' इत्युक्तेः।

(५०६) क्रीतात्करणपूर्वात। प्रातिपदिकादित्यनुवृत्तम् अत इत्यनुवृत्तेन क्रीतादित्यनेन च विशेष्यते, तदन्तविधिः। तदाह—क्रीतान्तादित्यादिना। करणमादिर्यस्येति विग्रहः। प्रातिपदिकशब्दो विशेष्यम्, तेन करणादेरिति पुंस्त्वमुपपन्नम्। वस्त्रक्रीतीति। ननु वस्त्रेण क्रीतेति टाबन्तेन विग्रहे 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति समासात्मकं प्रातिपदिकमादन्तमेव, न त्वदन्तमिति कथमत्र ङीषिति चेत्? सत्यम्, समासस्य तावदलौकिकविग्रहवाक्यं प्रकृतिः। वस्त्र भिस् क्रीत इति स्थिते 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः' इति परिभाषया सुबुत्पत्तेः प्रागेव क्रीतशब्देन समासे 'सुपो धातु' इति सुब्लुकि वस्त्रक्रीतेति प्रातिपदिकस्य अदन्तत्वं निर्बाधमिति भावः। एतच्च 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। तर्हि धनक्रीतेत्यत्रापि ङीष् स्यादित्यत आह—क्वचिन्नेति। 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति बहुलग्रहणेन 'गतिकारकोपपदानाम्' इत्यस्य क्वचिदप्रवृत्त्यवगमादिह सुबन्तेन समासः। तत्र च सुपः प्रागेवान्तरङ्गत्वात् टापि सति ततः सुपि टाबन्तप्रकृतिकसुबन्तेन समासे सुब्लुकि धनक्रीताशब्दस्य अदन्तत्वाभावान्न ङीषित्यर्थः।

शङ्का—"इन्द्रवरुण०" (५०६) सूत्र में 'ब्रह्मन्' शब्द का उल्लेख न होने के कारण 'आनुक्'—आगम एवम् 'ङीप्' प्रत्यय का विधान न होने से 'ब्रह्मणः स्त्री' अर्थ में 'ब्रह्माणी' रूप निष्पन्न नहीं हो सकता। अतः 'ब्रह्माणी' शब्द की समीचीनता किस प्रकार है ?

समाधान—('ब्रह्मन्') कर्म उपपद रहते ण्यन्त √अन् ('अनु' प्राणने) धातु (आनि) से 'अण्' ("कर्मण्यण्" ३-२-१) प्रत्यय तथा णिलोप करने पर उपपद समास, विभक्ति लोप, 'न्'—लोप तथा दीर्घ होने से 'ब्रह्मान' शब्द निष्पन्न होता है। तदनन्तर "टिड्ढाणञ्" (४७०) से ङीप् प्रत्यय, अ—लोप तथा "पूर्वपदात्संज्ञायाममगः" (७-४-३) से 'न्' के स्थान में 'ण्' होने पर 'ब्रह्माणी' (= ब्रह्मा के जीवन में साधनस्वरूप रहने वाली) शब्द सिद्ध होता है।

(५०६) पद—क्रीतात्, करणपूर्वात्। **अनुवृत्ति**—ङीप्, अतः अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'करण' पूर्व एवं क्रीतान्त ह्रस्व-अकारान्त प्रातिपदिक से वैकल्पिक 'ङीप्' होता है। वस्त्रक्रीती। कहीं नहीं भी होता। धनक्रीता।

विवरण—पूर्वक्रमानुसार 'ङीप्' एवम् अधिकार-सूत्रों की अनुवृत्ति चली आरही है। सूत्रस्थ 'क्रीतात्' तथा 'अतः' ये दोनों पद अनुवृत्त 'प्रातिपदिकात्' पद के विशेषण हैं। अतः इन दोनों में तदन्त-विधि होती है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "करणकारकयुत 'क्रीत' शब्दान्त उपसर्जनरहित (ह्रस्व-अकारान्त) प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीष्' प्रत्यय हो"। **उदाहरण**—वस्त्रक्रीत>वस्त्रक्रीती (वस्त्र से खरीदी हुई)। 'वस्त्रेण क्रीता' इस अर्थ में "कर्तृकरणे कृता बहुलम्" (२-१-३२) से समास होने पर 'ङीप्' प्रत्यय होता है। 'वस्त्र+भिस्, क्रीत' इस अलौकिक विग्रह की स्थिति में ही कारक उपपद होने के कारण कृदन्त 'क्रीत' शब्द के साथ 'सुप्' उत्पत्ति होने के पहले ही समास हो जाता है—'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः"। तदनन्तर "सुपो धातुप्रातिपदिकयोः" (२-४-७१) से विभक्ति का लुक्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ङीष् स्यात् । वस्त्रक्रीती । क्वचिन्न—धनक्रीता । (५०७) क्तादल्पाख्यायाम् ४ । १ । ५१ ॥ करणादेः क्तान्तादन्तात्स्त्रियां ङीष् स्यादल्पत्वे द्योत्ये । अभ्रलिही द्यौः । 'अल्पाख्यायाम्' किम् ? चन्दनलिप्सा अङ्गना । (५०८) बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात्

एवं च अत इत्यनुवृत्तेरेतत्प्रयोजनमित्युक्तं भवति । एतच्च 'उपपदमतिङ्' इत्यत्र कैयटे स्पष्टम् । करणपूर्वात् किम् ? सुक्रीता । न चैवमपि वस्त्रेण क्रीतेति वाक्यात् ङीष्प्रसङ्गः क्रीतेति प्रातिपदिकस्य करणपूर्वत्वात् अदन्तत्वाच्चेति वाच्यम्, करणपूर्वादिति हि क्रीतान्तस्य प्रातिपदिकस्य विशेषणम्, न तु क्रीतशब्दस्य । करणं पूर्वं यस्मिन् इति बहुव्रीहिः । करणशब्दात्मकपूर्वावयवात् क्रीतान्तसमासप्रातिपदिकादित्यर्थः । एतदर्थमेव पूर्वग्रहणम् । अन्यथा क्रीतात्करणादित्येवावक्ष्यदित्यलम् ।

(५०७) क्तादल्पाख्यायाम् । करणादेरिति । करणपूर्वादित्यनुवृत्तेरिति भावः । क्तान्तादिति । क्तान्तान्तादित्यर्थः, प्रत्ययग्रहणपरिभाषालब्धक्तान्तेन प्रातिपदिकस्य विशेषणात् । अदन्तादिति । अत इत्यनुवृत्तेरिति भावः । अल्पत्वे द्योत्ये इति । अल्पाख्यायामिति समुदायोपाधिः । अल्पत्वं करणगतं क्रियागतं वा । अभ्रलिही द्यौरिति । अभ्रैरल्पैराच्छन्नेत्यर्थः । अभ्रैरीषदाच्छन्नेति वा ।

(५०८) बहुव्रीहेश्च । क्तादिति अत इति चानुवर्तते । तदाह—बहुव्रीहेरिति । क्तान्तादिति । क्तान्तान्तादित्यर्थः । तेनेति । जातिपूर्वादिति विशेषणेन ब्रह्मादिपूर्वान्न ङीषित्यर्थः । 'सुखा-

---

(लोप) होने पर 'वस्त्रक्रीत' अकारान्त प्रातिपदिक से 'ङीष्' प्रत्यय होता है । इसके अपवादस्वरूप कहीं-कहीं 'धनक्रीता' (= धन से खरीदी हुई) आदि उदाहरणों में 'ङीष्' प्रत्यय नहीं भी होता । अतः "कर्तृकरणे कृता बहुलम्" (२-१-३२) सूत्र में 'बहुल ग्रहण करने से 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः'—यह नियम प्रवृत्त नहीं होता । फलतः सुबन्त से ही समास हो जाता है । इस स्थिति में अन्तरङ्ग होने के कारण पहले ही लिङ्ग-बोधक-प्रत्यय 'टाप्' हो जाता है । तब विभक्ति आने पर टाबन्तप्रकृतिक सुबन्त के साथ समास करने पर 'सुप्' (विभक्ति) का लोप होने से 'धनक्रीता' शब्द ह्रस्व अकारान्त नहीं रहता । अतः 'ङीष्' नहीं होता ।

(५०७) पद—क्तात्, अल्पाख्यायाम् । अनुवृत्ति—करणपूर्वात्, अतः, अनुपसर्जनात्, ङीष्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—करण-पूर्व क्तप्रत्ययान्त अदन्त से अल्पता द्योतित होने पर स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय होता है । अभ्रलिही (थोड़े बादलों से घिरा) द्यौः (आकाश) । 'अल्पाख्यायाम्' क्यों कहा ? चन्दनलिप्सा (अङ्गना) ।

विवरण—करण-पूर्व क्त-प्रत्ययान्त एवं ह्रस्व-अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीष्' प्रत्यय का विधान किया जारहा है । सूत्रक्रमानुसार पूर्वसूत्र से (४-१-५०) 'करणपूर्वात्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । स्त्री-प्रत्यय-प्रकरण-सम्बन्धी अनुवर्तनीय अन्य पदों का अपेक्षित सम्बन्ध पूर्ववत् विद्यमान है । तदनुसार सूत्र का यह अभिप्राय है कि "करणकारकवाची शब्द पूर्वपद में रहने पर उपसर्जनरहित क्त-प्रत्ययान्त ह्रस्व-अकारान्त प्रातिपदिक से अल्पार्थ गम्यमान होने पर स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय हो" । उदाहरण—अभ्रलिप्त>अभ्रलिप्ती (छिटपुट बादलों वाला आकाश) द्यौः । प्रक्रिया—पूर्व-सूत्रोक्त उदाहरण के अनुसार । प्रत्युदाहरण—सूत्र में करण-वाचक शब्द के अल्पार्थक अपेक्षित होने से 'चन्दनलिप्सा' अङ्गना (चन्दनेन लिप्सा = चन्दन पोती हुई स्त्री) पद में (पर्याप्त चन्दन पोतने के कारण) 'ङीष्' नहीं हुआ । अतः अकारान्त होने से टाप्' प्रत्यय हुआ ।

(५०८) पद—बहुव्रीहेः, च, अन्तोदात्तात् । अनुवृत्ति—क्तान्तात्, अतः, अनुपसर्जनात्, ङीष्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४।१।५२॥ बहुव्रीहेः क्तान्तादन्तोदात्ताददन्तात्स्त्रियां ङीप् स्यात्। 'जातिपूर्वादिति वक्तव्यम्' (वा २४८४)। तेन बहुनञ्सुकालसुखादिपूर्वान्न। ऊरुभिन्नी। नेह—बहुक्रीता। 'जातान्तान्न' (वा २४७९)। दन्तजाता। 'पाणिगृहीती भार्यायाम्' (वा २४८०)।

दिभ्यः कर्तृवेदनायाम्' इत्यत्र सुखादिगणः पठितः। 'जातिकालसुखादिभ्योऽनाच्छादनात् क्तोऽकृतमितप्रतिपन्नाः' इति, 'नञ्सुभ्याम्' इति, 'बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि' इति च क्तान्त-बहुव्रीहावन्तोदात्तविधायकानि। अत्र जातिपूर्वादित्युक्तेर्बह्वादिपूर्वस्यान्तोदात्तत्वेऽप्यर्थात् पर्युदास इति भावः। ऊरुभिन्नीति। ऊरू भिन्नौ असंयुक्तौ यस्या इति विग्रहः। 'निष्ठा' इति भिन्नशब्दस्य पूर्वनिपातस्तु न भवति, 'जातिकालसुखादिभ्यः परा निष्ठा वाच्या' इति वार्तिकात्। 'जातिकालसुखादिभ्यः' इत्यादिसूत्रेणान्तोदात्तमिदम्। जातिलक्षणं तु 'जातेरस्त्रीविषयात्' इत्यत्र वक्ष्यते। बहुक्रीतेति। बहवः क्रीताः ययेति विग्रहः। अकृता, सुकृता, मासयाता, सुखयाता, दुःखयाता इति च भाष्ये प्रत्युदाहृतम्। जातान्तान्न। इति वार्तिकम्। 'बहुव्रीहेश्च' इत्युक्तो ङीप् नेत्यर्थः। दन्तजातेति। दन्ताः जाताः यस्या इति विग्रहः। ऊरुभिन्नीतिवत् परनिपातः। पाणिगृहीती भार्यायामिति। इदमपि वार्तिकम्।

मूलार्थ—अन्तोदात्तयुक्त क्तप्रत्ययान्त अदन्त बहुव्रीहि से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय होता है। वा० जातिवाचक-पूर्वपद से 'ङीप्' प्रत्यय कहना चाहिये। इस कारण बहु, नञ्, सु, काल तथा सुख आदि शब्द पूर्वपद में रहते यह प्रवृत्त नहीं होता है। ऊरुभिन्नी। 'बहुक्रीता' में ङीप् नहीं हुआ। वा० 'जात'-शब्दान्त बहुव्रीहि से 'ङीप्' नहीं होता। दन्तजाता। वा० 'भार्या' अर्थ में 'पाणिगृहीती' अर्थात् ङीप् प्रत्यय होता है। अन्यत्र-पाणिगृहीता।

विवरण—'क्त' प्रत्ययान्त बहुव्रीहि-समास-युक्त ह्रस्व-अकारान्त शब्दों से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीप्' प्रत्यय होने के सम्बन्ध में कुछ अनुबन्ध लगाया जारहा है। अनुवृत्तियाँ भी सूत्र-क्रमानुसार क्रमशः बढ़ती चली जारही हैं। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "बहुव्रीहि-समास में भी (च) जो शब्द क्त-प्रत्ययान्त एवं अन्तोदात्त (अन्तोदात्तात्) होने के साथ ही ह्रस्व अकारान्त हों, उनसे स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय होता है"। इस पर भी वार्तिककार कुछ और प्रतिबन्ध लगा रहे हैं। **(वा०) अर्थ**—उनके अनुसार बहुव्रीहि-समास में केवल जाति-वाचक शब्दों के पूर्वपद में रहने पर 'ङीप्' प्रत्यय होगा। इसके फलस्वरूप बहु, नञ्, सु, काल तथा सुखादि शब्दों के पूर्वपद में रहने पर 'ङीप्' प्रत्यय नहीं होगा। **उदाहरण**—ऊरुभिन्न> ऊरुभिन्नी (ऊरू भिन्नौ यस्याः = असंयुक्त जाँघ वाली स्त्री)। प्रकृत उदाहरण में 'भिन्न' शब्द (भिद्+क्त) क्त प्रत्ययान्त है, उससे पूर्व 'ऊरु' पद जातिवाचक है। बहुव्रीहि-समास होने पर 'निष्ठा'-संज्ञक ('क्त'-प्रत्यय) पद की स्थिति उत्तर पद में रहती है। अतः भिन्न पद का प्रयोग उत्तरपद में किया गया है—"जातिकालसुखादिभ्यः परा निष्ठा वाच्या" (वा०)। जातिवाची 'ऊरु' शब्द से पर 'भिन्न' शब्द अन्तोदात्त है-"जातिकालसुखादिभ्योऽनाच्छादनात् क्तोऽकृतमितप्रतिपन्नाः" (६-२-१७०)। **प्रत्युदाहरण**—जातिवाचक शब्द न होने के कारण बहु, नञ्, सु, काल आदि सुख से युक्त क्त-प्रत्ययान्त अन्तोदात्तान्त शब्दों से 'ङीप्' नहीं होता। बहुक्रीता (बहवः क्रीता यया—जिसने बहुतों को खरीदा)। अतः ह्रस्व अकारान्त होने से 'टाप्' हुआ। **वा० अर्थ**—'जात' शब्द अन्त में रहने पर पूर्व-वार्तिक से प्राप्त 'ङीप्' नहीं होता। **उदाहरण**—दन्तजात>दन्तजाता (जिसको दाँत उत्पन्न हुए हैं—दन्ता जाता यस्याः)। 'ङीप्' के निषेध होने से 'टाप्' हुआ। 'क्त' प्रत्ययान्त होने से 'जात' शब्द उत्तर पद के रूप में रहा। **(वा०) अर्थ**—शास्त्रीय विधि से (अग्निसाक्षिक) विवाह (पाणिग्रहण) करने पर 'पाणिगृहीत' शब्द से 'ङीप्' प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—पाणिगृहीत>पाणिगृहीती (विधिवत् जिसका पाणि = हाथ पकड़ा हो—पाणिः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाणिगृहीता अन्या। (५०९) अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा ४।१।५३॥ पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम्। सुरापीती–सुरापीता। 'अन्तोदात्तात्' किम्? वस्त्रच्छन्ना।

विधिवदूढा भार्या तस्यां विद्यमानादेव पाणिगृहीतशब्दात् ङीपित्यर्थः। विवाहकाले विधिवत् पाणिः गृहीतो यस्या इति विग्रहः। पाणिगृहीताऽन्येति।

(५०९) अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा। स्वाङ्गलक्षणमुत्तरसूत्रे वक्ष्यते। अस्वाङ्गं यत् पूर्वपदं तस्मात् परं यत् क्तान्तं तदन्तात् बहुव्रीहेर्ङीप् वा स्यादिति सूत्रार्थः। यद्यपि अस्वाङ्गं पूर्वपदं यस्य तस्मात् क्तान्तबहुव्रीहेरित्यपि व्याख्यातुं शक्यम्, तथापि उत्तरसूत्रे अस्वाङ्गपूर्वपदादित्यनुवृत्तस्य कर्मधारयसमासाश्रयणादिहापि तथाव्याख्यानमुचितम्। ननु बहुकृता, अकृता इत्यादावपि अस्वाङ्गपूर्वपदक्तान्तबहुव्रीहित्वात् ङीप्विकल्पः स्यादित्याशङ्क्याह—पूर्वेणेति। 'बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात्' इति पूर्वसूत्रेण नित्ये ङीपि प्राप्ते तद्विकल्पोऽत्र विधीयत इत्यर्थः। एवं च जातिपूर्वादित्यस्य अन्तोदात्तादित्यस्य च इहापि सम्बन्धात् बहुकृता इत्यादौ नातिप्रसङ्ग इति भावः। सुरापीती सुरापीतेति। सुरा पीता ययेति विग्रहः। ऊरुभिन्नीतिवत् पूर्वनिपातः। अन्तोदात्तात् किमिति। 'बहुव्रीहेश्च' इत्यत्र श्रुतम् 'अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा' इत्यत्रानुवृत्तमपि अन्तोदात्तादित्येतत् किमर्थमिति प्रश्नः। वस्त्रच्छन्नेति। ऊरुभिन्नीतिवत् पूर्वनिपातः। अथ वस्त्रच्छन्नेत्यत्र 'जातिकालसुखादिभ्यः' इत्यन्तोदात्तत्वमाशङ्क्य निरस्यति—अनाच्छादनादिति। तथा च बहुव्रीहित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरे शेषनिघातेन अनुदात्तान्तमेतदिति भावः। अत एवेति। 'अस्वाङ्गपूर्वपदात्' इत्यनेन 'बहुव्रीहेश्च' इति पूर्वसूत्रेण च वस्त्रच्छन्नेत्यत्र वैकल्पिको नित्यश्च ङीष् नेत्यर्थः। अन्तोदात्तत्व एवोभयोः प्रवृत्तेरिति भावः।

गृहीतः यस्याः अतः 'ङीप्' हुआ)। **प्रत्युदाहरण**—शास्त्रीय विधि से परिगृहीत न होने पर दासी आदि को 'पाणिगृहीता' कहा जाता है (अतः 'टाप्' हुआ)।

(५०९) **पद**—अस्वाङ्गपूर्वपदात्, वा। **अनुवृत्ति**—बहुव्रीहेः च अन्तोदात्तात्, क्तात्, ङीष्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र** (विकल्प)।

मूलार्थ—पूर्वसूत्र से नित्य प्राप्त होने पर वैकल्पिक विधान किया जारहा है। सुरापीती–सुरापीता। 'अन्तोदात्तात्' क्यों कहा? वस्त्रच्छन्ना। 'आच्छादन'–अर्थ न होने से उदात्त का निषेध हुआ है। अतः पूर्वसूत्र से भी 'ङीप्' नहीं हुआ।

विवरण—बहुव्रीहि-समास-युक्त एवं स्वाङ्गवाचक से भिन्न 'क्त'प्रत्ययान्त शब्दों से पाक्षिक 'ङीष्' प्रत्यय होने के सम्बन्ध में विशेष व्यवस्था की जारही है। अतः 'पूर्व-सूत्र' (४-१-५२) की पूरी अनुवृत्ति अपेक्षित है। अन्य अधिकार-सूत्रों का प्रभाव भी पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "'स्वाङ्ग'-वाची शब्द पूर्वपद में न होनेपर (अस्वाङ्गं पूर्वपदं यस्य सः, तस्मात्) बहुव्रीहिसमाससयुक्त एवं अन्तोदात्तस्वरयुत क्त–प्रत्ययान्त ह्रस्व-अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते विकल्प से (वा) 'ङीष्' प्रत्यय होता है"। पूर्वसूत्र ("बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात्" ४-१-५२) से नित्य 'ङीष्' प्रत्यय प्राप्त रहा, प्रकृत-सूत्र से पाक्षिक हुआ। **उदाहरण**—सुरापीत>सुरापीती (सुरा पी हुई—सुरा पीता यया सा)—ङीष्। पक्ष में टाप्–सुरापीता। **प्रत्युदाहरण**—यहाँ 'ङीष्' होने के लिये 'अन्तोदात्तान्त' शब्द अपेक्षित है। इस कारण 'वस्त्रच्छन्ना' (वस्त्र से ढकी) में 'ङीष्' नहीं हुआ। उसका कारण यह है कि "जातिकालसुखादिभ्यः०" (६-२-१७०) से विधीयमान अन्तोदात्त आच्छादन अर्थ में नहीं होता। 'वस्त्रच्छन्ना' में पूर्वपद 'वस्त्र' आच्छादनार्थक है। इस प्रकार यहाँ "बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्" (६-२-१) से पूर्वपद उदात्त होगा। अतः शेष अनुदात्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अनाच्छादनात्' इत्युदात्तनिषेधः। अत एव पूर्वेणापि न ङीष्। (५१०) **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् ४।१।५४॥** असंयोगोपधमुपसर्जनं यत्स्वाङ्गं तदन्ताददन्तात्प्रातिपदिकाद्वा ङीष्। केशानतिक्रान्ता अतिकेशी—अतिकेशा। चन्द्रमुखी—चन्द्रमुखा। संयोगोपधात्तु सुगुल्फा। उपसर्जनात् किम्? शिखा। स्वाङ्गं त्रिधा।

'अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्।'

सुस्वेदा, द्रवत्वात्। सुज्ञाना, अमूर्तत्वात्। सुमुखा शाला, अप्राणिस्थत्वात्। सुशोफा,

---

(५१०) स्वाङ्गाच्च। उपसर्जनादिति असंयोगोपधादिति च स्वाङ्गादित्यत्रान्वेति। स्वाङ्गादित्येतत् अत इत्यनुवृत्तं च प्रातिपदिकादित्यनुवृत्तस्य विशेषणम्, तदन्तविधिः। तदाह—असंयोगोपधमित्यादिना। वा ङीषिति। 'अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा' इत्यतो वेति 'अन्यतो ङीष्' इत्यतः ङीषित्यस्य चानुवृत्तेरिति भावः। बहुव्रीहेरित्यनुवर्तमाने उपसर्जनग्रहणं किमर्थमित्याशङ्क्य परिहरति—केशानतिक्रान्तेति। 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे' इति समासस्तत्पुरुषः। अत्र बहुव्रीहित्वाभावेऽपि प्राप्त्यर्थमुपसर्जनग्रहणमिति भावः। 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' इति केशशब्दस्य उपसर्जनत्वम्। चन्द्रमुखी—चन्द्रमुखेति। चन्द्र इव मुखं यस्या इति विग्रहः। सुगुल्फेति। सु शोभनौ गुल्फौ यस्या इति विग्रहः। 'तदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्'। 'तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ' इत्यमरः। उपसर्जनात् किमिति। केवलकेशादिशब्दानाम् अनुपसर्जनानां स्त्रीत्वविरहादेवाप्राप्तेः प्रश्नः। शिखेति। अत्र स्वाङ्गान्तत्वात् केवलशिखाशब्दात् ङीप्निवृत्त्यर्थमुपसर्जनग्रहणमित्युक्तम्। अन्यथा टापं बाधित्वा पक्षे ङीष् स्यादिति भावः। शोभना शिखा सुशिखेति क्वचित् पुस्तकेषु दृष्टम् तत् प्रक्षिप्तं वेदितव्यम्। टाबन्तेन समासे अनदन्तत्वादेव प्राप्तिविरहात्। ननु स्वस्य अवयवीभूतस्य अङ्गं स्वाङ्गम्। तथा च सुमुखा शालेत्यादावतिव्याप्तिः, अत्र मुखशब्दार्थस्य प्रथमभागस्य अवयवीभूतशालाङ्गत्वात्। किञ्च सुकेशी रथ्येत्यत्राव्याप्तिः, तत्र केशानां रथ्याङ्गत्वाभावादित्यत आह—स्वाङ्गं त्रिधेति। 'अद्रवं मूर्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्। अतस्थं तत्र दृष्टं च, तेन चेत्तत्तथायुतम्—' इति भाष्ये त्रिधा निरुक्तं पारिभाषिकं स्वाङ्गमिह विवक्षितमित्यर्थः। तत्र प्रथमार्धं प्रथमं स्वाङ्गलक्षणमित्यभिप्रेत्य विच्छिद्य पठति—अद्रवमिति। न विद्यते द्रवः यस्य तत् अद्रवम्। मूर्तिः अवयवसंयोगः अस्यास्तीति मूर्तिमत्, अवयवसंयोगसमवायिकारणं द्रव्यमिति यावत्। प्राणिनि—प्राणवति जन्तौ विद्यमानं प्राणिस्थम्। अविकारजं रोगादिविकाराजन्यं च यत् तत् प्रथमं स्वाङ्गमित्यर्थः। अद्रवमित्यस्य प्रयोजनमाह—सुस्वेदेति। सु शोभनः स्वेदः घर्मजः उदकप्रस्रवः यस्या इति विग्रहः। स्वेदस्य शोभनत्वं तु दुर्गन्धाभावः। द्रवत्वादिति। न

होने के कारण 'वस्त्रच्छन्ना' शब्द अनुदात्तान्त है। फलतः वैकल्पिक एवं 'नित्य' ङीष्—दोनों ही नहीं होते। 'टाप्' प्रत्यय हुआ।

(५१०) पद—स्वाङ्गात्, च, उपसर्जनात्, असंयोगोपधात्। अनुवृत्ति—वा, अतः, ङीष्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—असंयोगोपध और विशेषणवाची जो 'स्वाङ्ग'वाचक शब्द, तदन्त से स्त्रीलिङ्ग में वैकल्पिक 'ङीष्' होता है। केशों का अतिक्रमण करने वाली = अतिकेशी—अतिकेशा। चन्द्रमुखी—चन्द्रमुखा। संयोगोपध होने के कारण—सुगुल्फा। 'उपसर्जनात्' क्यों कहा? शिखा। 'स्वाङ्ग' तीन प्रकार का है—(१) अद्रव—न पिघलने वाला, मूर्तिमान्—आकार से युक्त तथा प्राणिस्थित अविकारज। द्रवत्व होने के कारण—सुस्वेदा। अमूर्त होने के कारण—सुज्ञाना। अप्राणिस्थ होने से—सुमुखा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकारजत्वात्। 'अतत्स्थं तत्र दृष्टं च।' सुकेशी–सुकेशा वा रथ्या। अप्राणिस्थस्यापि प्राणिनि दृष्टत्वात्। 'तेनचेत्तत्तथा युतम्।' सुस्तनी–सुस्तना वा प्रतिमा। प्राणिवत्प्राणि-

---

स्वाङ्गत्वमिति शेषः। अतो न ङीपित्यर्थः। मूर्तिमदित्यस्य प्रयोजनमाह—सुशानेति। सु-शोभनं ज्ञानं यस्या इति विग्रहः। अमूर्तत्वादिति। न स्वाङ्गत्वमिति शेषः। प्राणिस्थमित्यस्य प्रयोजनमाह—सुमुखा शालेति। सु–शोभनं मुखं–प्रथमभागः यस्या इति विग्रहः। अप्राणि-स्थत्वादिति। न स्वाङ्गत्वमिति शेषः। अविकारजमित्यस्य प्रयोजनमाह—सुशोफेति। सु अधिकः शोफः श्वयथुः यस्या इति विग्रहः। 'शोफस्तु श्वयथुः' इत्यमरः। विकारजत्वादिति। रोगजत्वादित्यर्थः। न स्वाङ्गत्वमिति शेषः। अतत्स्थं तत्र दृष्टं चेति। द्वितीयं स्वाङ्गलक्ष-णम्। तच्छब्देन प्राणी परामृश्यते। अतत्स्थम् अप्राणिस्थं तत्र प्राणिनि दृष्टं यत् तदपि स्वाङ्गमित्यर्थः। रथ्येति। रथ्यास्थानां केशानां प्राणिस्थत्वाभावात् पूर्वलक्षणेन स्वा-ङ्गत्वासिद्धेर्लक्षणान्तरमिति भावः। उक्तलक्षणमुदाहरणे योजयति—अप्राणिस्थस्यापीति। इदानीं प्राणिस्थत्वाभावेऽपि कदाचित् प्राणिस्थत्वादपि स्वाङ्गत्वमित्यर्थः। तेन चेत्तत्तथा

शाला। विकारज होने से सुशोफा। (२) प्राणिस्थ न होकर भी प्राणी में दृष्ट हो। प्राणिस्थ न होने पर प्राणी में दिखाई पड़ने से—सुकेशी-सुकेशा (मार्ग)। (३) जिस अङ्ग से प्राणी युक्त होता हो, उसी अङ्ग से अप्राणी भी युक्त हो। प्राणी के समान ही प्राणिसदृश में विद्यमान होने के कारण—सुस्तनी–सुस्तना (प्रतिमा आदि)।

विवरण—'उपसर्जनात्' एवम् 'असंयोगोपधात्'—ये दोनों पद 'स्वाङ्गात्' पद से अन्वित (सम्बद्ध) होते हैं। सूत्रस्थ 'स्वाङ्गात्' पद तथा अनुवृत्त 'अतः' पद ये दोनों 'प्रतिपदिकात्' के विशेषण हैं। अतः ये दोनों पद तदन्त के बोधक होंगे। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "यदि असंयोगोपध (जिसकी उपधा में संयुक्त–वर्ण न हो) तथा विशेषण के रूप में प्रयुक्त (उपसर्जन) 'स्वाङ्ग'वाची शब्द अन्त में हो तो अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में पाक्षिक 'ङीप्' प्रत्यय हो"। सूत्रस्थ 'उपसर्जन' पद का अर्थ गौण है, किन्तु यहाँ 'स्वाङ्ग' शब्द अपने अङ्ग का वाचक नहीं है। वह परिभाषिक शब्द है। उसके तीन लक्षण हैं—(क) प्रथम लक्षण के अनुसार जो तरल न होते हुए भी (अद्रवम्) मूर्तिमान् (मूर्तिमत्) तथा प्राणी में वर्तमान (प्राणि-स्थम्) होने के साथ ही विकार-रहित हो (अविकारजम्), वह स्वाङ्ग है। **उदाहरण**—अतिकेश >अतिकेशी अथवा अतिकेशा। 'अतिकेश' शब्द समासयुक्त है ('केशान् अतिक्रान्ता' अर्थ में 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' (वा०) से द्वितीया-तत्पुरुष-समास) तथा उसके अन्त में 'केश' शब्द आया है। वह प्राणी से संश्लिष्ट है तथा साकार होने के कारण 'स्वाङ्ग' है। तत्पुरुष-समास होने के कारण उपसर्जन (गौण) भी है। इसके साथ ही 'अतिकेश' शब्द का उपान्त्यवर्ण 'श्' संयोग–पूर्व भी नहीं है। अतः प्रकृत सूत्र से (ङी) 'ङीष्' प्रत्यय होकर 'अतिकेशी' (= बालों का उल्लंघन करने वाली = माला आदि) रूप बनता है। वैकल्पिक होने के कारण पक्ष में 'टाप्'–'अतिकेशा'। (ख) दूसरे लक्षण के अनुसार जो इस समय प्राणी में स्थित न हो (अतत्स्थं = अप्राणिस्थम्) किन्तु प्राणी में कभी अवश्य देखा गया हो (च = किन्तु, तत्र = प्राणिनि दृष्टम्), वह भी 'स्वाङ्ग' है। **उदाहरण**—सुकेश>सुकेशी अथवा सुकेशा–रथ्या (अच्छे बालों वाली गली)। बालों को काटे जाने के कारण गली में फेंक दिया गया है। बाल यद्यपि इस समय प्राणी से संश्लिष्ट नहीं हैं, किन्तु कटने के पूर्व अवश्य प्राणी में देखे गए थे। अतः पारिभाषिक 'स्वाङ्ग' होने से वैकल्पिक 'ङीष्' हुआ। पक्ष में टाप्। (ग) तीसरे लक्षण के अनुसार वह भी 'स्वाङ्ग' है जो प्राण्यङ्ग के समान आकृति-युक्त होकर अप्राणी को प्राणी के समान शोभित करता है (तेन—प्राणिस्थेन अवयव-विशेषेण, तत–स्तनाद्याकृतिकं वस्तु, तथा–प्राणिद्रव्यवत्, युतं सम्बद्धम्, तदापि 'स्वाङ्ग' भवति= स्यात्)। **उदाहरण**—सुस्तन>सुस्तनी अथवा सुस्तना। प्रकृत उदाहरण में प्रतिमा (मूर्ति) का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सदृशे स्थितत्वात्। (५११) नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च ४।१।५५॥
एभ्यो वा ङीष्। आद्ययोर्बह्वज्लक्षणो निषेधो बाध्यते, पुरस्तादपवादन्यायात्। ओष्ठादीनां

युतमिति। तृतीयं स्वाङ्गलक्षणम्। अत्र भाष्ये 'स्वाङ्गमप्राणिनोऽपि' इति शेषः पूरितः। चेदिति यद्यर्थे। तेन प्राणिस्थेन स्तनाद्यङ्गाकृतिकावयवविशेषेण तत् अप्राणिद्रव्यं प्रतिमादि तथा प्राणिद्रव्यवत् युतं सम्बद्धं यदि, तदा तत् स्तनाद्याकृतिकम् अप्राणिनोऽपि स्वाङ्गमित्यर्थः। सुस्तनी सुस्तना वा प्रतिमेति। सु शोभनौ स्तनौ स्तनाकृती अवयवौ यस्या इति विग्रहः। प्रतिमागतयोः स्तनाकृतिकावयवयोः कदाचिदपि प्राणिस्थत्वाभावात् प्राण्यन्तरे अदृष्टत्वाच्च पूर्वलक्षणद्वयस्याप्यप्रवृत्तेर्लक्षणान्तरमिदम्। अथोदाहरणे लक्षणं योजयति—प्राणिवदिति। सप्तम्यन्ताद्वतिः। प्राणिवत् प्राणिसदृशे प्रतिमादिद्रव्ये स्थितत्वात् स्वाङ्गमित्यर्थः। न च कल्याणपाणिपादेति बहुव्रीहावपि ङीष् स्यादिति वाच्यम्, 'अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा' इत्यनुवृत्तेः। अत्र हि पाणिपादेति समुदायो न स्वाङ्गम्, किन्तु स्वाङ्गसमुदाय एव। यत्तु स्वाङ्गं पादेति, न तु तत् अस्वाङ्गात् पूर्वपदात् परम्, पाणिपदेन व्यवधानात्। तथा च स्वाङ्गस्य पादस्य अस्वाङ्गात् पूर्वपदात् कल्याणशब्दात् परत्वाभावान्न ङीषिति भाष्ये स्पष्टम्।

(५११) नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च। 'अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा' इत्यतो वेति 'अन्यतो ङीष्' इत्यतो ङीषिति चानुवर्तते तदाह—एभ्य इति। उपसर्जनभूतनासिकादिशब्दान्तेभ्य इत्यर्थः, पूर्वसूत्रादुपसर्जनादित्यनुवृत्तेः। ननु 'स्वाङ्गाच्च' इति पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—आद्ययोरिति। नासिकोदरशब्दयोर्विषये 'न क्रोडादिबह्वचः' इति निषेधः प्राप्तः, सः अनेन ङीष्विकल्पविधिना बाध्यत इत्यर्थः। बह्वज्लक्षणनिषेधस्तु सुजघनेत्यादौ सावकाश इति भावः। ननु सहनासिका, अनासिका, सहोदरा, अनुदरा इत्यत्र 'सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च' इति निषेधोऽप्यनेन बाध्यताम्। 'सहनञ्' इत्यस्य सकेशा, अकेशा इत्यादौ सावकाशत्वादित्यत आह—पुरस्तादिति। 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' इति न्यायादित्यर्थः। ततश्च 'सहनञ्' इति निषेधो 'न

सुन्दर वक्षःस्थल प्राण्यङ्ग के समान आकृतियुक्त होकर प्रतिमा को सुशोभित करता है। अतः 'स्वाङ्ग'-वाची होने से पाक्षिक 'ङीष्' हुआ। 'ङीष्' के अभाव में टाप्। इसी प्रकार चन्द्रमुख> चन्द्रमुखी अथवा चन्द्रमुखा (= चन्द्रमा के तुल्य मुख वाली)। विग्रह = चन्द्रः इव मुखं यस्याः सा। समास-बहुव्रीहि। प्रत्युदाहरण—सुगुल्फ (= सुन्दर गुल्फ वाली—शोभनौ गुल्फौ यस्याः सा)। 'सुगुल्फ' शब्द की उपधा में संयुक्त वर्ण ('ल्फ्'-) है, अतः वैकल्पिक 'ङीष्' नहीं हुआ। अतः सुगुल्फ+टाप् >सुगुल्फा रूप सिद्ध होता है। २-स्वाङ्ग-वाचक शिख शब्द उपसर्जन (गौण) न होने के कारण 'शिखा' में वैकल्पिक 'ङीष्' नहीं हुआ। 'शिख' शब्द समास-युक्त न होने से उपसर्जन नहीं है। अतः शिख>शिखा में 'टाप्' होता है। १-सुस्वेदा (= अच्छे पसीने वाली), २-सुज्ञाना (= अच्छे ज्ञान वाला), ३-सुमुखा (= अच्छे अग्रभाग वाली शाला) तथा ४-सुशोफा (=बहुत फूली हुई)-इन उदाहरणों में क्रमशः १-द्रव, २-अमूर्त ३-अप्राणिस्थ तथा ४-रोगज अर्थ होने से 'स्वाङ्ग' (प्रथम लक्षण के अनुसार) न होने के कारण वैकल्पिक 'ङीष्' नहीं हुआ। अतः 'टाप्' हो गया।

(५११) पद—नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गात्, च। अनुवृत्ति—स्वाङ्गात् च उपसर्जनात्, वा, ङीष्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—इन से वैकल्पिक ङीप् होता है। 'पुरस्तात्-अपवाद०' न्याय से प्रथम दो शब्दों को "न क्रोडादिबह्वचः" से निषेध प्राप्त रहा, उस का इस विधान से बाध किया जारहा है। ओष्ठादि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पञ्चानां तु 'असंयोगोपधात्' इति पर्युदासे प्राप्ते वचनं, मध्येऽपवादन्यायात्। सहनञ्लक्षणस्तु प्रतिषेधः परत्वादस्य बाधकः। तुङ्गनासिकी–तुङ्गनासिकेत्यादि। नेह। सहनासिका। अनासिका। अत्र वृत्तिः–'अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्'। स्वङ्गी–स्वङ्गेत्यादि। एतच्चानुक्तसमुच्चयार्थेन चकारेण सङ्ग्राह्यमिति केचित्। 'भाष्याद्यनुक्तत्वादप्रमाणम्' इति प्रामाणिकाः। अत्र वार्तिकानि। 'पुच्छाच्च' (वा २४८९)। सुपुच्छी–

क्रोडादि' सूत्रेण व्यवहितत्वात् 'नासिकोदर' इत्यनेन बाधं नार्हतीत्यर्थः। ओष्ठादिपञ्चकस्य प्रयोजनमाह—ओष्ठादीनामिति। सुगुल्फेत्यादौ असंयोगोपधादित्यस्य सावकाशत्वादिति भावः। ननु सहोष्ठा अनोष्ठा इत्यादौ 'सहनञ्' इति निषेधोऽप्यनेन बाध्यतामित्यत आह—मध्येऽपवादेति। 'मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' इति न्यायादित्यर्थः। ननु 'नासिकोदर' इति ङीप्विकल्पस्तुङ्गनासिकी इत्यादौ सावकाशः। 'सहनञ्' इति निषेधस्तु सहकेशेत्यादौ सावकाशः, सहनासिकेत्यादौ तु उभयप्राप्तौ कतरस्य बाध इत्यत आह—सहनञ्लक्षणस्त्विति। अस्येति। 'नासिकोदर' इति ङीप्विकल्पविधिरित्यर्थः। तुङ्गनासिकी। तुङ्गनासिकेति। 'न क्रोडादिबह्वचः' इति बह्वञ्लक्षणङीप्निषेधं बाधित्वा 'नासिकोदर' इति विकल्पः। इत्यादीति। कुम्भोदरी–कुम्भोदरा। अत्र बह्वञ्लक्षणङीप्निषेधं बाधित्वा ङीप्विकल्पः। बिम्बोष्ठी–बिम्बोष्ठा। सुजङ्घी–सुजङ्घा। शुभ्रदन्ती–शुभ्रदन्ता। सुकर्णी–सुकर्णा। सुभ्रुङ्गी–सुभ्रुङ्गा। ओष्ठादिषु संयोगोपधत्वेऽपि ङीप्विकल्पः। नेह। सहनासिकेति। सहशब्दो विद्यमानवचनः, सह नासिका यस्याः इति विग्रहः। अविद्यमाना नासिका यस्या इति च विग्रहः। इह उभयत्रापि 'सहनञ्विद्यमान' इति ङीप्निषेधः न तु 'नासिकोदर' इति ङीप्विकल्प इत्यर्थः। वक्तव्यमिति। वा ङीपिति इति शेषः। संयोगो–

पाँच शब्दों को 'मध्ये अपवाद' न्याय से 'असंयोगोपध' निषेध प्राप्त होने से यह वैकल्पिक विधान किया गया है। आगे आने वाला "सहनञ्०" सूत्र इसकी अपेक्षा पर होने से इस विधान का बाधक है। तुङ्गनासिकी–तुङ्गनासिका इत्यादि। 'सहनासिका' तथा 'अनासिका' में यह विधि प्रवृत्त नहीं होती। यहाँ वृत्तिकार कहते हैं कि "अङ्ग, गात्र तथा कण्ठ से वैकल्पिक 'ङीप्' हो"। स्वङ्गी–स्वङ्गा इत्यादि। कतिपय आचार्यों के मत में "नासिकोदरौष्ठ०" सूत्रगत 'च' से ही अनुक्तशब्दों का संग्रह हो जाता है। भाष्यकार आदि द्वारा कुछ न कहे जाने से वृत्तिकार का कथन अप्रमाणिक है। यहाँ ये वार्तिक हैं—१–पुच्छान्त प्रातिपदिक से भी वैकल्पिक ङीप् हो। सुपुच्छी–सुपुच्छा। २–कबरादि से पर पुच्छ-शब्दान्त से नित्य ङीप् हो। विचित्र वर्णयुक्त पूँछवाली मोरनी—कबर-पुच्छी। ३–उपमानवाचक से परवर्ती पक्ष तथा पुच्छान्त शब्दों से भी नित्य 'ङीप्' होता है। (क) उल्लू के पंखों के समान पार्श्व-भाग वाली शाला–उलूकपक्षी। (ख) उल्लू के पिछले भाग के समान पृष्ठभाग वाली सेना—उलूकपुच्छी।

विवरण—स्वाङ्ग-वाची शब्दों के सन्दर्भ में नासिका आदि सात शब्दों को अभिलक्षित कर वैकल्पिक 'ङीप्' विधान किया जारहा है। अतः प्रमुख रूप में "स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्" (४-१-५४) सूत्र से 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्' तथा "अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा" (४-१-५३) से 'वा' एवं "अन्यतो ङीप्" (४-१-४०) से ङीप् की अनुवृत्ति अपेक्षित है। अन्य चार अधिकारों का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "नासिका, उदर, ओष्ठ, जङ्घा, दन्त, कर्ण तथा शृङ्ग—इन स्वाङ्गवाची शब्दों के विशेषण के रूप में प्रयुक्त (उपसर्जन) होने पर तदन्त प्रातिपदिकों से भी (च) स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से 'ङीप्' प्रत्यय हो"। इन सात शब्दों में से आरम्भिक 'नासिका' तथा 'उदर'–(दोनों) शब्द अनेक अच्–युक्त हैं। इसके फलस्वरूप "न क्रोडादिबह्वचः" (४-१-५६) से प्राप्त होने वाले ङीप्–निषेध का यह बाधक है। इसके बाधक होने में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुपुच्छा। 'कबरमणिविषशरेभ्यो नित्यम्' (वा २४९०)। कबरं चित्रं पुच्छं यस्याः सा कबरपुच्छी मयूरीत्यादि। 'उपमानात्पक्षाच्च पुच्छाच्च' (वा २४९१)। नित्यमित्येव।

पधत्वाद्वचनम्। स्वङ्गीति। सु शोभनानि अङ्गानि यस्या इति विग्रहः। सुगात्री-सुगात्रा। सुकण्ठी-सुकण्ठा। वृत्तिग्रन्थस्य मूलं दर्शयति-एतच्चेति। प्रामाणिका इति। एवं च तन्वङ्गी, सुगात्री, कलकण्ठी इत्यपभ्रंशा एवेति भावः। पुच्छाच्चेति। संयोगोपधत्वेऽपि पुच्छ-शब्दान्तात् ङीष्वेति वक्तव्यमित्यर्थः। कबरमणीति। कबरादिभ्यः परो यः पुच्छशब्दः-तदन्तात् नित्यं ङीषिति वक्तव्यमित्यर्थः। पुच्छाच्चेत्युक्तविकल्पापवादः। कबरमित्यस्य व्याख्यानं चित्रमिति। इत्यादीति। मणिपुच्छी। वृश्चिकी विषपुच्छी। शरपुच्छी पक्षिजाति-विशेषः। उपमानादिति। उपमानात् परौ यौ पक्षपुच्छशब्दौ तदन्तादपि ङीषित्यर्थः। नित्यमित्येवेति। नित्यमित्यनुवर्तत एवेत्यर्थः। विकल्पापवादः। उलूकपक्षी शालेति। उलूकः पक्षिविशेषः, उलूकपक्षाविव पक्षौ पार्श्वे यस्या इति विग्रहः। 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य

"पुरस्ताद् अपवादाः अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्" न्याय का आश्रय लिया जारहा है। तदनुसार अष्टाध्यायी-क्रम में पूर्वपठित अपवादस्वरूप वैकल्पिक ङीष्-विधान अपने अनन्तर-पठित ङीष्-निषेध का बाधक हो जाता है। सूत्र में अवशिष्ट पाँच शब्दों के विषय में "मध्ये अपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्" न्याय का आश्रय लिया जा रहा है। अर्थात् मध्य में पढ़ा हुआ अपवाद-शास्त्र अपने पूर्वविधि का बाधक होता है, उत्तर-पठित शास्त्र का बाधक नहीं होता। जिसके अनुसार इन पाँचों शब्दों के उपान्त्य में संयुक्त वर्ण होने से "स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद् असंयोगोपधात्" से (४-१-५४) 'ङीष्' का निषेध प्राप्त होनेपर उसका यह (४-१-५५) बाधक हो जाता है। इन दोनों न्यायों के अन्तर्गत न होने के फलस्वरूप "सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च" (४-१-५७) से विधीयमान 'ङीष्-निषेध' सूत्र-क्रम में 'पर' होने के कारण इस वैकल्पिक-'ङीष्' का बाधक होता है। **उदाहरण**—१—तुङ्गनासिक>तुङ्गनासिकी अथवा तुङ्गनासिका (तुङ्गा नासिका यस्याः सा = ऊँची नाकवाली)। बहुव्रीहि-समास होने के पश्चात् प्रकृत-सूत्र से पाक्षिक ङीष् (ई) होने पर दीर्घ ईकारान्त शब्द निष्पन्न होता है। 'ङीष्' न होने पर टाप्। २—तिलोदर>तिलोदरी अथवा तिलोदरा (तिलम् उदरे यस्याः सा = पेट पर तिलवाली)। ३—बिम्बोष्ठ>बिम्बोष्ठी अथवा बिम्बोष्ठा (बिम्बफल के समान ओष्ठ वाली)। ४—सुजङ्घ>सुजङ्घी अथवा सुजङ्घा (शोभना जङ्घा यस्याः = सुन्दर जाँघ वाली)। ५—शुभ्रदन्त>शुभ्रदन्ती अथवा शुभ्रदन्ता (स्वच्छ दाँतों वाली)। ६—सुकर्ण>सुकर्णी अथवा सुकर्णा (सुन्दर कानों वाली)। ७—सुशृङ्ग>सुशृङ्गी अथवा सुशृङ्गा (अच्छे सींगों वाली गाय)। 'ङीष्' अथवा 'टाप्' के अतिरिक्त 'तुङ्गनासिकी' तथा 'सुजङ्घी' में 'तुङ्गा' तथा 'शोभना' को पुंवद्भाव हुआ है—"स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु" (६-३-३४)। 'बिम्बोष्ठी' में विकल्प से पररूप हुआ है—'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' (वा०)। सर्वत्र समास होने से ये सब उपसर्जन हैं।

विशेष—'सह'-पूर्वक नासिका (सह नासिका यस्याः) शब्द तथा 'नञ्' पूर्वक नासिका शब्द (अविद्यमाना नासिका यस्याः) स्वाङ्गवाची हैं। तथा उनसे बहुव्रीहि-समास होने पर स्त्रीत्वविवक्षा में प्रकृतसूत्र से प्राप्त पाक्षिक 'ङीष्' का "सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च" (४-१-५७) सूत्र से पर होने के कारण बाध होने के फलस्वरूप 'टाप्' होता है—सहनासिका (नाक वाली), अनासिका (बिना नाक वाली)।

प्रसङ्गप्राप्त वार्तिकों को उपस्थापित किया जारहा है। **(वा०) १-अर्थ**—उपधा में संयुक्त-वर्ण होने पर भी पुच्छशब्दान्त बहुव्रीहि से वैकल्पिक 'ङीष्' का विधान किया जाय। **उदाहरण**—सुपुच्छ>सुपुच्छी अथवा सुपुच्छा (अच्छी पूँछवाली)। **(वा०) २-अर्थ**—कबर, मणि, विष तथा शर शब्दों से पर पुच्छशब्दान्त प्रातिपदिक से नित्य 'ङीष्' होता है। प्रथम वार्तिक का यह अपवाद है। **उदाहरण**—(क) कबरपुच्छ>कबरपुच्छी (चितकबरी पूँछवाली मोरनी)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उलूकपक्षी शाला । उलूकपुच्छी सेना । (५१२) न क्रोडादिबह्वचः ४ । १ । ५६ ॥
क्रोडादेर्बह्वचश्च स्वाङ्गान्न ङीष् । कल्याणक्रोडा । अश्वानामुरः क्रोडा । आकृतिगणोऽयम् ।

बहुव्रीहिर्वाच्य उत्तरपदलोपश्च' इति समासः । संयोगोपधत्वादप्राप्ते विधिः । उलूकपुच्छी सेनेति । उलूकपुच्छमिव पुच्छं पश्चिमान्तो यस्या इति विग्रहः । पूर्ववदेव बहुव्रीहिः । 'पुच्छाच्च' इति विकल्पस्यापवादः ।

(५१२) न क्रोडादिबह्वचः । क्रोडा आदिर्यस्येति, बह्वचः अचः यस्येति च विग्रहः । क्रोडादिश्च बह्वच् च इति समाहारद्वन्द्वः । क्रोडादेरिति । क्रोडादिर्गणः, बह्वच् च यत् स्वाङ्गं तदन्तात् ङीप् नेत्यर्थः । कल्याणक्रोडेति । कल्याणी क्रोडा यस्या इति विग्रहः । 'स्त्रियाः पुंवत्' इति कल्याणशब्दस्य पुंवत्त्वम् । अश्वानामिति । हरदत्तादिमते क्रोडाशब्दो नित्यस्त्रीलिङ्गः । उपसर्जनह्रस्वत्वे अदन्ततया 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्' इति प्राप्तो ङीप् निषिध्यते ।

(ख) मणिपुच्छ>मणिपुच्छी (चमकती पूँछवाली) । (ग) विषपुच्छ>विषपुच्छी (बिच्छू) । (घ) शरपुच्छ>शरपुच्छी (पक्षिविशेष) । (वा०) ३-अर्थ—उपमान-वाचक से पर पक्ष तथा पुच्छ-शब्दान्त प्रातिपदिक से 'ङीष्' होता है । यह भी विकल्प-विधान का अपवाद है । उदाहरण—१—उलूकपक्ष>उलूकपक्षी (उलूकपक्षौ इव पक्षौ यस्याः सा-शाला = उल्लू के पंखों की तरह पार्श्वभाग वाला बड़ा कक्ष) । २—उलूकपुच्छ>उलूकपुच्छी (उलूकपुच्छमिव पुच्छं यस्याः = उल्लू की पूँछ की तरह पृष्ठ भाग वाली सेना) ।

विशेष—वृत्तिकार माधवाचार्य का यह मत है कि अङ्ग, गात्र तथा कण्ठ शब्दान्त प्रातिपदिक से भी पृथक् वैकल्पिक 'ङीप्' विधान किया जाय । तदनुसार उन्होंने स्वङ्ग>स्वङ्गी अथवा स्वङ्गा (शोभनानि अङ्गानि यस्याः = शोभन अङ्गवाली स्त्री) ये उदाहरण भी दिये हैं । इसी तरह उनके मत में सुगात्र>सुगात्री अथवा सुगात्रा, सुकण्ठ>सुकण्ठी या सुकण्ठा रूप निष्पन्न होंगे । अन्य विद्वानों को उपर्युक्त पृथक् विधान करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि प्रकृत सूत्र के अन्त में उच्चरित 'च' पद अनुक्तार्थ का संग्राहक है । अतः वृत्तिकारोक्त वचन उसी से गतार्थ हो जाता है । इसके अतिरिक्त एक बात और भी है । वह यह है कि भाष्यकार ने इस प्रसङ्ग में कोई निर्देश नहीं दिया है । इस कारण वृत्तिकार के उपर्युक्त वचन को मानने में कोई प्रबल युक्ति नहीं दिखाई पड़ती ।

(५१२) पद—न, क्रोडादिबह्वचः । अनुवृत्ति—स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्, ङीप्, अतः, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधि(निषेध)सूत्र ।

मूलार्थ—स्वाङ्गवाचक क्रोडादि और अनेक-अच्-युक्त स्वाङ्गवाची शब्दों से 'ङीप्' नहीं होता । कल्याणक्रोडा । अश्वों के वक्षःस्थल को 'क्रोडा' कहते हैं । यह आकृतिगण है । सुजघना ।

विवरण—क्रोडादि-गण-पठित तथा अनेक-अच्-युक्त स्वाङ्गवाची अकारान्त प्रातिपदिकों के विषय में 'ङीष्' का निषेध किया जारहा है । अतः प्रमुख रूप में "स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्" (४-१-५४) से 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्' की आंशिक अनुवृत्ति तथा "अन्यतो ङीप्" (४-१-४०) से 'ङीष्' की अनुवृत्ति की जारही है । "स्त्रियाम्" आदि चार अधिकारों का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान हैं । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "क्रोडादि-गण पठित शब्द एवं बह्वच्क स्वाङ्गवाचक ह्रस्व-अकारान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीष्' नहीं होता" । स्वाङ्गवाची होने के कारण इन शब्दों से "स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्" (४-१-५४) से 'ङीप्' प्राप्त था, यहाँ उसका निषेध किया जारहा है । उदाहरण—१—क्रोडादि-कल्याणक्रोड>कल्याणक्रोडा (कल्याणी क्रोडा यस्याः सा: = प्रशस्त वक्षःस्थलयुक्त अश्वा) । २—अनेक अच्युक्त शब्द-सुजघन>सुजघना (शोभनं जघनं यस्याः सा=सुन्दर जाँघ वाली) । यहाँ ङीप् का प्रतिषेध होने से 'टाप्' हो गया । क्रोडादि आकृतिगण है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुजघना। (५१३) सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च ४।१।५७॥ सहेत्यादित्रिकपूर्वान्न ङीष्। सकेशा। अकेशा। विद्यमाननासिका। (५१४) नखमुखात्संज्ञायाम्

अमरस्तु 'न ना क्रोडं भुजान्तरम्' इति स्त्रीत्वं नपुंसकत्वं चाह। क्वचित् कोशे पुंस्त्वमपि दृश्यते। क्रोडादिगणे क्रोडेति प्रातिपदिकं पठ्यते। एवं च लिङ्गत्रयेऽपि उदाहरणं निर्बाधम्। आकृतिगणोऽयमिति। क्रोडादिरिति शेषः। सुजघनेति। बह्वच उदाहरणम्। सुशोभनं जघनं यस्या इति विग्रहः।

(५१३) सहनञ्। त्रिकपूर्वादिति। स्वाङ्गादिति शेषः। सकेशेति। सह केशा यस्या इति बहुव्रीहिः। सहशब्दो विद्यमानवचनः। 'वोपसर्जनस्य' इति सभावविकल्पः। 'स्वाङ्गाच्च' इति प्राप्तस्य निषेधः। 'नासिकोदर' इति ङीष्विकल्पोऽप्यनेन बाध्यत इत्युक्तं स्मारयितुमुदाहरति—विद्यमाननासिकेति। विद्यमाना नासिका यस्या इति बहुव्रीहिः।

(५१४) नखमुखात् सञ्ज्ञायाम्। नखमुखादिति समाहारद्वन्द्वः। शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—ङीष् नेति। 'स्वाङ्गाच्च' इति प्राप्तस्य निषेधोऽयम्। शूर्पणखेति। राक्षसीविशेषस्य

विशेष—आचार्य हरदत्त के मत में 'क्रोडा' शब्द नित्य स्त्रीलिङ्गवाची है। अतः उपसर्जननिमित्तक ह्रस्व होनेपर स्वाङ्गवाची अकारान्त शब्द (क्रोड) को अभिलक्षित कर प्राप्त होने वाले 'ङीष्' का इस सूत्र से निषेध हो जाता है। अमर-कोषकार के मत में 'क्रोड' शब्द स्त्री-लिङ्ग तथा नपुंसक-लिङ्ग-दोनों लिङ्गों में है ('न ना क्रोडं भुजान्तरम्' अ. को. २-६-७७)। मेदिनीकोषकार ने पुंलिङ्ग-वाची 'क्रोड' शब्द का भी उल्लेख किया है ('क्रोडः शनौ सूकरे ना, न पुमानङ्गरक्षसोः')। इस प्रकार 'क्रोड' शब्द तीनों लिङ्गों में मिलता है। क्रोडादि-गण में 'क्रोड' (प्रातिपदिक) पढ़ा गया है, न कि टावन्त। फलतः तीनों लिङ्गों में इसके उदाहरण निष्पन्न हो सकते हैं।

(५१३) पद—सहनञ्विद्यमानपूर्वात्, च। अनुवृत्ति—न, स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्, ङीष्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधि(निषेध)सूत्र।

मूलार्थ—'सह', 'नञ्' और 'विद्यमान' पूर्वक स्वाङ्गवाची शब्द से 'ङीप्' नहीं होता। सकेशा। अकेशा। विद्यमाननासिका।

विवरण—विशेष-अवस्था में स्वाङ्गवाची शब्दों से 'ङीप्'-निषेध का प्रकरण अभी चल रहा है। अतः प्रमुख रूप में "न क्रोडादिबह्वचः" (४-१-५६) से 'न' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त पूर्वसूत्र के अनुसार अन्य अनुवृत्त पदों का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार "'सह', 'नञ्' तथा 'विद्यमान' शब्द यदि पूर्व में हों (सह च, नञ् च, विद्यमानं च सहनञ्विद्यमानं, तत् पूर्वं यस्य सः सहनञ्विद्यमानपूर्वः, तस्मात्-द्वन्द्वगर्भित बहुव्रीहि) तो 'स्वाङ्ग'वाची उपसर्जनान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय नहीं होता"। "स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्" (४-१-५४) तथा "नासिकोदरौष्ठ-जङ्घा-दन्त-कर्ण-शृङ्गाच्च" (४-१-५५) से प्राप्त होने वाले 'ङीप्' का यह निषेध करता है। 'ङीष्' का निषेध होने से 'टाप्' हो जाता है। उदाहरण—१-'सह' पूर्वक-सकेश > सकेशा (विग्रह-सह केशा यस्याः = केशों से युक्त स्त्री)। यहाँ 'सह' शब्द विद्यमानार्थक है। "तेन सहेति तुल्ययोगे" (२-१-२८) से समास तथा "वोपसर्जनस्य" (६-३-८२) से सह के स्थान पर 'स' आदेश हुआ है। २—'नञ्' पूर्वक—अकेश > अकेशा (न विद्यमानाः केशाः यस्याः सा = केशरहित स्त्री)। यहाँ पर 'नञोऽस्त्यर्थानां बहुव्रीहिर्वा चोत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः" (वा०) से 'नञ्' का 'अस्ति' के अर्थ में बहुव्रीहि-समास तथा उत्तरपद (विद्यमान) का लोप हुआ है। ३—'विद्यमान' पूर्वक—विद्यमाननासिक > विद्यमाननासिका (विद्यमाना नासिका यस्याः = नाकवाली)।

(५१४) पद—नखमुखात्, संज्ञायाम्। अनुवृत्ति—न, स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्, ङीष्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधि(निषेध)सूत्र।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४।१।५८॥ ङीष्न स्यात्। शूर्पणखा। गौरमुखा। 'संज्ञायाम्' किम्? ताम्रमुखी कन्या। (५१५) दिक्पूर्वपदान्ङीप् ४।१।६०॥ दिक्पूर्वपदात्स्वाङ्गान्तात्प्राति-

---

नाम। शूर्पाणीव कररुहाः यस्या इत्यस्वपदविग्रहः, सञ्ज्ञात्वेन नित्यसमासत्वात्। 'पूर्वपदात् सञ्ज्ञायाम्' इति णत्वम्। केवलयौगिकत्वे तु ङीप् भवत्येव। णत्वं तु न। गौरमुखेति। कस्याश्चिन्नाम। श्वेतं मुखं यस्या इत्यस्वपदविग्रहः। ताम्रमुखेति। यौगिकोऽयम्। ताम्रं मुखं यस्या इति विग्रहः।

(५१५) दिक्पूर्वपदान्ङीप्। दिक् पूर्वपदं यस्येति विग्रहः। स्वाङ्गादित्यनुवर्तते। प्रातिपदिकादिति च। 'अन्यतो ङीष्' इत्यतो ङीपित्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते। तदाह—दिक्पूर्वेत्यादिना। प्राङ्मुखीति। प्राक् मुखं यस्या इति विग्रहः। ङीषो ङीब्विधेः फलमाह—आद्युदात्तं पदमिति। ङीपः पित्त्वादनुदात्तत्वे बहुव्रीहिप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तत्वम्, ङीषि तु प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वं स्यादित्यर्थः। न च स्वतन्त्रो ङीबेव विधीयतामिति वाच्यम्, तथा सति प्राग्गुल्फेत्यादावपि 'असंयोगोपधात्' इति निषेधं बाधित्वा ङीप्-

---

मूलार्थ—(संज्ञा द्योत्य रहते नखान्त और मुखान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में) 'ङीष्' नहीं होता। शूर्पणखा। 'संज्ञायां' क्यों कहा? ताम्रमुखी कन्या।

विवरण—पूर्वसूत्र के (५१३) समान अनुवृत्तियाँ करने पर सूत्रार्थ उपपन्न होता है। सूत्रस्थ 'नखमुखात्' पद का अन्वय अनुवृत्त 'स्वाङ्गात्' पद के साथ किया गया है। 'स्वाङ्गात्' पद 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है। अतः उसमें तदन्तविधि होगी। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "स्वाङ्ग-वाची 'नख' शब्दान्त तथा 'मुख' शब्दान्त प्रातिपदिकों से संज्ञार्थक स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय नहीं होता"। अतः 'टाप्' होगा। "स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्" (४-१-५४) से विधीयमान 'ङीप्' की प्राप्ति का यह प्रतिषेध है। उदाहरण—१-शूर्पनख>शूर्पणखा (शूर्पाणि इव नखानि यस्याः सा = सूप के समान नखवाली-इस नाम की राक्षसी)। "पूर्वपदात्संज्ञायामगः" (८-४-३) सूत्र से न् = ण्। २—गौरमुख>गौरमुखा (गौरं मुखं यस्याः = गोरे मुख वाली इस नाम की स्त्री)। प्रत्युदाहरण—सूत्र में संज्ञावाची शब्दों से ही 'ङीष्' का निषेध किया गया है। अतः किसी का नाम न होनेपर 'ताम्रमुखी' शब्द में 'ङीष्' (स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्" ४-१-५४) ही होगा। यहाँ पर 'ताम्रं मुखं यस्याः' इस अर्थ में ताम्रमुखी शब्द यौगिक है, संज्ञाबोधक नहीं। अतः निषेध नहीं हुआ।

(५१६) पद—दिक्पूर्वपदात्, ङीप्, अनुवृत्ति—स्वाङ्गात्, ङीष्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—दिशावाची शब्दों के पूर्व-पद में रहने पर स्वाङ्गान्त प्रातिपदिक से पर 'ङीप्' के स्थान में 'ङीप्' आदेश होता है। प्राङ्मुखी। यह आद्युदात्त पद है।

विवरण—'स्वाङ्ग'-वाची शब्दों का प्रकरण अभी समाप्त नहीं हुआ है। 'स्वाङ्गात्' पद 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है। अतः उसमें तदन्त-विधि होती है। "अन्यतो ङीष्" (४-१-४) से अनुवृत्त 'ङीप्' पद षष्ठी-विभक्ति में परिवर्तित किया जारहा है। फलतः 'ङीष्' स्थानी है तथा 'ङीप्' आदेश है। स्वर में विशेषता होने के लिये 'ङीष्' के स्थान पर 'ङीप्' का विधान किया जारहा है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "दिशावाची शब्दों के पूर्वपद में रहते हुए स्वाङ्गान्त प्रातिपदिकों से विधीयमान 'ङीष्' के स्थान पर 'ङीप्' आदेश हो"। उदाहरण—प्राङ्मुख>प्राङ्मुखी (प्राक् मुखं यस्याः=पूर्वाभिमुखी)। 'ङीष्' के स्थान पर 'ङीप्' विधान का फल यह है कि 'प्राङ्मुखी' में आद्युदात्त स्वर हो गया। उसका कारण यह है कि 'ङीप्' में पकार की इत्संज्ञा होने से "अनुदात्तौ सुप्पितौ" (३-१-३) से 'ई' अनुदात्त होता है। इसके फलस्वरूप

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदिकात्परस्य ङीषो ङीबादेशः स्यात्। प्राङ्मुखी। आद्युदात्तं पदम्। (५१६) **वाहः** ४।१।६१॥ वाहन्तात्प्रातिपदिकान्ङीष्स्यात्। ङीषेवानुवर्तते न ङीप्। 'दित्यवाट्

प्रसङ्गात्। ङीषो ङीबादेशविधौ तु 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' इति विहितङीषो ङीब्विधानान्न दोषः। 'असंयोगोपधात्' इत्यस्यानुवृत्यङ्गीकारे तु प्रतिपत्तिगौरवमिति भावः।

(५१६) वाहः। वाह इति पञ्चम्यन्तं प्रातिपदिकादित्यनुवृत्तस्य विशेषणम्, तदन्तविधिः। तदाह—वाहन्तादिति। ङीषेवानुवर्तत इति। 'अन्यतो ङीष्' इत्यत इति शेषः। न ङीविति। 'दिक्पूर्वपदात्' इति पूर्वसूत्रे सन्निहितमपि ङीग्रहणमिह नानुवर्तते, अस्वरितत्वादित्यर्थः। स्वरे विशेषः। दित्यौहीति। गवां तावत् षण्मासात्मकमेकैकं वयः। 'गर्भाश्च मे, वत्साश्च मे' इत्यनुवाके अनुक्रान्तानि वयांसि। तत्र तृतीयं वयो दित्यशब्देनोच्यते इति यजुर्वेदभाष्ये भवस्वाभिधूर्तस्वाम्यादिकृतकल्पभाष्येषु च स्पष्टम्। दित्यं वहतीति विग्रहे 'च्छन्दसि सहः' 'वहश्च' इति ण्विः, उपधावृद्धिः, उपपदसमासः। दित्यवाह्शब्दात् ङीप्, 'वाह ऊठ्', 'एत्येधत्यूठ्सु' इति वृद्धिः, दित्यौहीति रूपम्। ण्विप्रत्ययस्य छन्दोमात्रविषयत्वाद्वेदवाक्यमुदाहृतम्। लोके तु वाहयतेः क्विपि वाहशब्दात् ङीषि दित्यौहीति रूपमस्ति। वैदिकप्रक्रियायामुपन्यसनीयमप्येतत् सूत्रमेतदर्थमिहोपन्यस्तम्।

"बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्" (६-२-१) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर होने के कारण आद्युदात्त हो गया। 'ङीप्' होने पर प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त हो जाता। वह अभीष्ट नहीं है।

(५१६) पद—वाहः। **अनुवृत्ति**—छन्दसि, ङीप्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'वाह्'-शब्दान्त प्रातिपदिक से 'ङीष्' होता है। 'ङीप्' की अनुवृत्ति की जाती है, 'ङीप्' की नहीं। दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे।

विवरण—प्रकरणवश बीच में ही 'स्वाङ्गवाची' शब्दों के 'उपसर्जन' (गौण) होने पर ङीषादि प्रत्ययों का विधान किया गया था। वह प्रकरण अब समाप्त होता है। अतः 'अनुपसर्जनात्' का प्रभाव पुनः पूर्ववत् आरम्भ होता है। अन्य चार अधिकारों की भी अनुवृत्ति चली आरही है। इन सब के अतिरिक्त "दीर्घजिह्वी च छन्दसि" (४-१-४९) से 'छन्दसि' पद की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। तदनुसार "वैदिक प्रयोग में वाह्शब्दान्त अनुपसर्जन प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीप्' प्रत्यय होता है"। सूत्र में प्रयुक्त 'वाहः' पद से यह सूचित होता है कि √वह् धातु से 'ण्वि' प्रत्यय करनेपर निष्पन्न 'वाह्' से ही 'ङीप्' प्रत्यय होगा, केवल √वह धातु से नहीं। **उदाहरण**-दित्यवाह्>दित्यौही। प्रक्रिया—'दित्यं वहति' अर्थ में उपपद-समास होकर 'दित्यवह्' रूप निष्पन्न होता है। दित्यवह्+ण्वि (=व्), <दित्यवह् (ण्वि प्रत्यय का सर्वापहार), <दित्यवाह् (उपधावृद्धि-"अत उपधायाः"-७-२-११६), <दित्यवाह्+ङीप् (ई), <दित्य-ऊ-ह्+ई (व् = ऊठ्—"वाह ऊठ्"-६-४-१३२ तथा पूर्वरूप), <दित्यौही (अ+ऊ = औ वृद्धि-"एत्येधत्यूठ्सु"-६-१-८६), <दित्यौही+सु (विभक्ति), <दित्यौही ('स्' लोप-"हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०"-६-१-६६)। अर्थ—तृतीय वय को प्राप्त हुई गाय।

विशेष—गायों का तृतीय-वय 'दित्य' है। छह महीने की अवधि एक वय के लिये नियत है। यजुर्वेद में पठित "गर्भाश्च मे वत्साश्च मे" अनुवाक में भवस्वामी आदि भाष्यकारों ने इसी तरह समय निर्धारित किया है। वैदिक प्रक्रिया का उपयोगी प्रयोग होते हुए भी 'ङीप्' प्रत्यय की समीचीनता दिखाने के लिये इस प्रकरण में इसे समायोजित किया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

च मे दित्यौही च मे'। (५१७) **सख्यशिश्वीति भाषायाम् ४।१।६२॥** इति शब्दः प्रकारे भाषायाम् इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। तेन छन्दस्यपि क्वचित्। सखी। अशिश्वी। 'आ धेनवो धुनयन्तामशिश्वीः।' (५१८) **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् ४।१।६३॥** जातिवाचि यन्न च स्त्रियां नियतमयोपधं ततः स्त्रियां ङीष्स्यात्। 'आकृतिग्रहणा जातिः'।

---

(५१७) सख्यशिश्वी। सखिशब्दात् अशिशुशब्दाच्च स्त्रियां ङीष् निपात्यते भाषायाम्। लौकिकप्रयोगो भाषा। तर्हि वेदे नैव स्यादित्यत आह—इति शब्द इति। प्रकारे इत्यनन्तरं वर्तते इति शेषः। प्रकारः सजातीयता। भाषायामित्यस्येति। स च इतिशब्दः भाषायामित्यस्यानन्तरं सन्निवेश्यते इत्यर्थः। ततश्च भाषायां वेदे चेति फलितम्। नन्वेवं सति भाषायामिति व्यर्थमित्यत आह—तेनेति। भाषाग्रहणेन भाषायां सर्वत्र भवति, वेदे तु क्वचिदिति लभ्यत इत्यर्थः। सखीति। सखिशब्दात् ङीपि 'यस्येति च' इति खकारादिकारस्य लोपः। भाषायां किम्? 'सखा सप्तपदा भव'। अशिश्वीति। न विद्यते शिशुर्यस्या इति विग्रहः। अशिशुशब्दात् ङीपि उकारस्य यण्। 'अशिश्वी शिशुना विना' इत्यमरः। छन्दस्यपि क्वचिदित्यस्योदाहरणमाह—'आ धेनवो धुनयन्तामशिश्वी'रिति। अशिश्वीशब्दात् जसि 'दीर्घाज्जसि च' इति पूर्वसवर्णदीर्घनिषेधाभावश्छान्दसः।

(५१८) जातेरस्त्री। अर्थे कार्यासम्भवाच्छब्दे कार्यं विज्ञायत इत्याह—जातिवाचीति। न च स्त्रियां नियतमिति। स्त्री विषयः नियमेन वाच्या यस्याः इति बहुव्रीहिणा स्त्रीविषयशब्दो नियतस्त्रीलिङ्गपरः। तथा च अस्त्रीविषयादित्यनेन अनियतस्त्रीलिङ्गादिति विवक्षितम्, नैयत्यलाभायैव विषयग्रहणम्। अन्यथा अस्त्रिया इत्येवावक्ष्यदिति भावः। ननु यदि 'नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्' इति तार्किकोक्ता जातिः, तर्हि शुक्लादिगुणस्य

---

(५१७) पद—सखी, अशिश्वी, इति, भाषायाम्। अनुवृत्ति—ङीष्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'भाषा' के अनन्तर 'इति' शब्द प्रकारवाची समझा जाय। अतः छन्द (वेद) में कभी-कभी ऐसा निपातन (प्रयोग) होता है। 'आ धेनवो धुनयन्तामशिश्वीः'।

विवरण—'सखी' और 'अशिश्वी' शब्दों का स्त्रीलिङ्ग में निपातन किया जारहा है। अर्थात् 'सखि' तथा 'अशिशु' शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय का विधान किये जाने में वृत्तिकारों को विशेष आयास करना पड़ा है। तदनुसार सूत्रस्थ 'इति' पद को 'भाषायाम्' के अनन्तर समायोजित कर उन्होंने अर्थ-विशेष की कल्पना की है। यहाँ पर 'इति' शब्द का अर्थ सादृश्य है। सूत्र में 'भाषा' शब्द का सन्निवेश करने से 'लोक' में तो यह निपातन सर्वत्र होता है किन्तु वेद में कहीं-कहीं। अतः वेद में 'सखे सप्तपदा भव' आदि टाबन्त प्रयोग मिलते हैं। तथा 'आ धेनवो धुनयन्तामशिश्वीः' में ङीषन्त 'अशिश्वी' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। 'अशिश्वीः' प्रथमा के बहुवचन में है। इस वैदिक प्रयोग (अशिश्वीः) में पूर्व-सवर्ण-दीर्घ का निषेध नहीं किया गया।

उदाहरण—१-सखि>सखी (ङीष्)। अर्थ—सहचरी। २—अशिशु>अशिश्वी (अशिशु+ई, यण्)। अर्थ—न विद्यते शिशुः यस्याः सा—बिना बच्चे वाली स्त्री।

(५१८) पद—जातेः, अस्त्रीविषयात्, अयोपधात्। अनुवृत्ति—ङीष्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—नित्य स्त्रीलिङ्ग-भिन्न एवं यकारोपध भिन्न जातिवाचक शब्दों से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीष्' प्रत्यय होता है। (१) आकृति से जिसका ज्ञान हो वह 'जाति' है। अर्थात् एक रूप से जो पहचाना जाय उसे 'जाति' कहते हैं। तटी। (२) जिससे सब लिङ्ग न हों तथा एकत्र एक बार ग्रहण हो जाने पर अन्यत्र विना कहे जिसका ज्ञान हो—वह भी जाति है। अर्थात् एक व्यक्ति का परिचय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुगतसंस्थानव्यङ्ग्यचेत्यर्थः । तटी । 'लिङ्गानां च न सर्वभाक्' । 'सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या' 'असर्वलिङ्गत्वे सत्येकस्यां व्यक्तौ कथनाद् व्यक्त्यन्तरे कथनं विनापि सुग्रहा जातिः' इति लक्षणान्तरम् । वृषली । 'सत्यन्तम्' किम् ? शुक्ला । 'सकृत्' इत्यादि किम् ? देवदत्ता ।

नित्यस्त्रैकत्वपक्षे शुक्लेत्यादावतिव्याप्तिः, औपगवी कठी इत्यादावव्याप्तिश्च । 'सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः—' इत्यादिस्मृत्या जननेन यत् प्राप्यते ब्राह्मणत्वादि सा जातिश्चेद्युवत्वादावव्याप्तिः । तथा च युवतितरेत्यत्र 'जातेश्च' इति पुंवत्त्वनिषेधो न स्यात् इति चेत् ? न, 'आकृतिग्रहणा जातिः, लिङ्गानां च न सर्वभाक् । 'सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या, गोत्रं च चरणैः सह ॥' इति भाष्योक्तत्रिविधजातेर्विवक्षितत्वात् इत्यभिप्रेत्य भाष्योक्तत्रैविध्यं प्रपञ्चयति—आकृतिग्रहणा जातिरिति । प्रथमेति शेषः । आकृतिः अवयवसन्निवेशविशेषः । गृह्यते अनेनेति ग्रहणं व्यञ्जकम्, करणे ल्युट्, सामान्ये नपुंसकम्, आकृतिः ग्रहणं यस्या इति विग्रहः । उपसर्जनत्वात् 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप्न । फलितमाह—अनुगतेति । सर्वासु घटादितत्तद्व्यक्तिषु एकरूपतत्तदाकारव्यङ्ग्येति यावत् । गृह्यत इति कर्मणि ल्युट्, आकृत्या ग्रहणा आकृतिग्रहणेति तु न व्याख्येयम्, 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप्प्रसङ्गात् । तटीति । 'तटं त्रिषु' इत्यमरः । जलसमीपप्रदेशः आकृतिविशेषविशिष्टस्तटः, अतस्तटत्वमाकृतिव्यङ्ग्यत्वाज्जातिः, अतस्तटशब्दस्य जातिवाचित्वादनियतस्त्रीलिङ्गत्वादयोपधत्वाच्च ङीषिति भावः । युवत्वादिकमप्याकृतिव्यङ्ग्यत्वात् जातिरेव । अनेन प्रथमलक्षणेन अनुगताकारप्रत्ययसिद्धा तटत्वादिजातिरुक्ता । नन्वेवं सति वृषलत्वादीनां जातित्वं न स्यात्, तदवयवसन्निवेशस्य ब्राह्मणादिसाधारण्येन वृषलत्वादीनां तद्व्यङ्ग्यत्वाभावादित्याशङ्क्याह—लिङ्गानां च न सर्वभाक् । सकृदाख्यातनिर्ग्राह्येति । अन्या जातिरिति शेषः । लिङ्गानामिति कर्मणि षष्ठी । सर्वाणि लिङ्गानि न भजते इत्यर्थः । असमर्थसमास आर्षः । सकृदित्यतः पूर्वम् एकस्यां व्यक्ताविति शेषः । आख्यातेति भावे क्तः, उपदेश इत्यर्थः । निर्ग्राह्येत्यस्य व्यक्त्यन्तरे उपदेशं विनापि सुगमेत्यर्थः, निरित्युपसर्गवशात् । निर्ग्राह्येत्यनन्तरमन्या जातिरिति शेषः । फलितमाह—असर्वेति । एकस्यामिति । एकस्यां व्यक्तौ वृषल इत्युपदेशात् व्यक्त्यन्तरे तदुपदेशं विनापि सुगमेति यावत् ।

कराने पर उसके सदृश दूसरे व्यक्ति के विषय में विना कहे जाति का बोध हो जाय और वह शब्द चाहे सभी लिङ्गों में न हो—यह जाति का दूसरा लक्षण है। वृषली । 'सति'पर्यन्त क्यों कहा ? शुक्ला । 'सकृत्' इत्यादि क्यों कहा ? देवदत्ता । (३) चरण-वाची शब्दों के साथ 'गोत्र' प्रत्ययान्त शब्द भी जाति-कार्य को प्राप्त करते हैं । औपगवी । कठी । वह्वृची । 'ब्राह्मणी' शब्द का शार्ङ्गरवादि गण में पाठ होने से 'ङीन्' के द्वारा 'ङीष्' बाधित होता है । 'जातेः' क्यों कहा ? मुण्डा । 'अस्त्रीविषयात्' क्यों कहा ? वलाका । 'अयोपधात्' क्यों कहा ? क्षत्रिया । वा० यकारोपध के प्रतिषेध में हय, गवय, मुकय, मनुष्य और मत्स्य-शब्दों को छोड़कर अन्य शब्द लिये जायँ । हयी । गवयी । मुकयी । मनुषी । मत्सी ।

विवरण—'ङीप्' का प्रकरण अभी चल रहा है । पाँचों अधिकारसूत्रों का भी प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है । सूत्रस्थ 'अस्त्रीविषयक' शब्द से तात्पर्य है—'जिसका विषय केवल स्त्रीलिङ्ग न हो' (स्त्री विषयो यस्य स स्त्रीविषयः, न स्त्रीविषयः—अस्त्रीविषयः) । अर्थात् नियत-स्त्रीलिङ्ग से भिन्न हो । 'अयोपध' से तात्पर्य—'यकारोपध भिन्न शब्दों से है' ('य' उपधा यस्य सः—योपधः, न योपधः—अयोपधः) । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "यकार-भिन्न उपधावाले नित्य-स्त्रीलिङ्ग-भिन्न जातिवाची प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीप्' प्रत्यय हो" ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'गोत्रं च चरणैः सह।' अपत्यप्रत्ययान्तः शाखाध्येतृवाची च शब्दो जातिकार्यं लभत इत्यर्थः। औपगवी। कठी। कलापी। वह्वृची। ब्राह्मणीत्यत्र तु शार्ङ्गरवादिपाठाङ्ङीना

लक्षणान्तरमिति। जात्यन्तरमित्यर्थः। अन्यथा उक्ततटत्वादिजातेरेव 'आकृतिग्रहणा जातिः' इत्युक्तलक्षणादन्यदिदं लक्षणमिति स्यात्, नहीदं युज्यते, तटस्य सर्वलिङ्गत्वात्। वृषलीति। वृषलत्वं ह्यसर्वलिङ्गं नपुंसकत्वाभावात्, एकस्यां व्यक्तौ वृषलत्वे उपदिष्टे सति तदपत्यसहोदरादिषु तदुपदेशं विना तस्य सुग्रहत्वात् सकृदाख्यातनिर्ग्राह्यं चेति भावः। ब्राह्मणत्वं तु पुत्रपौत्रादौ यद्यपि न सुगमम्, ब्राह्मणात् क्षत्रियायामुत्पन्नस्य ब्राह्मणत्वाभावात्, तथापि पित्रादौ सुगममेव। एवं क्षत्रियत्वं वैश्यत्वं च तत्पित्रादावेव सुग्रहम्। सत्यन्तं किमिति। असर्वलिङ्गत्वे सतीति किमर्थमित्यर्थः। शुक्लेति। बलाकेति शेषः। 'गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति'—इति कोशात् विशेषनिघ्नतया त्रिलिङ्गत्वादसर्वलिङ्गत्वाभावात् शुक्लत्वं न जातिः। अवयवसंस्थानव्यङ्ग्यत्वाभावान्न पूर्वलक्षणमपि। देवदत्तेति। संज्ञात्वेन नपुंसकलिङ्गहीनतया असर्वलिङ्गत्वेऽपि न सकृदाख्यातनिर्ग्राह्यत्वमिति भावः। अनेन द्वितीयलक्षणेन जननिमित्तकब्राह्मणत्वादिजातिसङ्ग्रहः। नन्वेवमपि औपगवी कठीत्याद्यसङ्ग्रहः, औपगवत्वादेरनुगतसंस्थानव्यङ्ग्यत्वाभावात्, सर्वलिङ्गत्वाच्चेत्यत आह—गोत्रं च चरणैः सहेति। जातिरित्यनुषज्यते। गोत्रशब्देन अपत्यं विवक्षितम्, न तु पौत्रप्रभृतीति परिभाषिकम्, व्याख्यानात्। अत एवानन्तरापत्यप्रत्ययान्ते अवन्तीत्यत्र जातिप्रयुक्तो ङीषिति 'अनुपसर्जनात्' इति सूत्रस्थभाष्यं सङ्गच्छते। शब्देन्दुशेखरे तु पारिभाषिकमेव गोत्रमिह विवक्षितमिति प्रपञ्चितम्। चरणशब्दस्तु शाखाध्येतरि प्रसिद्धः। चरणैः सह गोत्रं जातिरिति लभ्यते। गोत्रं चरणाश्च जातिरिति यावत्। यद्यपि अनुगताकारप्रत्ययवेद्या जननविशेषप्रयुक्ता चेति द्विविधैव जातिर्लोके प्रसिद्धा। तत्र गोत्रचरणा नान्तर्भवन्ति। तथापि 'अतस्मिन् तच्छब्दस्तद्वाचिषु शब्देषु तत्कार्यार्थः' इत्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—अपत्यप्रत्ययान्त इत्यादिना। गोत्रमुदाहरति—औपगवीति। उपगोरपत्यं स्त्री इत्यर्थे 'तस्यापत्यम्' इत्यणि 'टिड्ढाणञ्' इति ङीपं बाधित्वा परत्वादनेन ङीष्। स्वरे भेदः। चरणमुदाहरति—कठीति। कठेन प्रोक्तमधीयानेत्यर्थः। कलापीति। वैशम्पायनान्तेवासित्वनिबन्धनो णिनिः। 'कठचरकाल्लुक्' इति तस्य लुक्। ततः 'तदधीते'

भाष्यकार ने सूत्रस्थ 'जाति' शब्द को पारिभाषिक माना है। तदनुसार उन्होंने इसका वर्गीकरण तीन प्रकार से किया है। (१) प्रथम लक्षण के अनुसार 'आकार से जो व्यञ्जित हो वह जाति है' (आकृतिः ग्रहणं = व्यञ्जकं यस्याः सा—आकृतिग्रहणा जातिः)। अर्थात् अवयव-सन्निवेश से जिसका ज्ञान हो जाय वह 'जाति' है। उदाहरण—तट>तटी (ङीष्)। नदी आदि का जल-समीपवर्ती स्थान 'तट' कहलाता है। उसका बोध उस स्थान की आकृति से होता है। अतः 'तटत्व' जाति है। उसका तीनों लिङ्गों में प्रयोग होने के कारण वह शब्द नियत-स्त्रीलिङ्ग नहीं है तथा 'तट' शब्द की उपधा में 'य्' वर्ण भी नहीं है। अतः स्त्री-लिङ्ग में 'ङीष्' होकर 'तटी' शब्द निष्पन्न होता है।

(२) 'जाति' का लक्षण यदि वही माना जाय तो यह शङ्का होती है कि लोक में जो 'वृषलत्व' आदि धर्म जाति माने जाते हैं उनमें जाति का उक्त लक्षण घटित नहीं होता, क्योंकि शारीरिक अङ्ग सभी ब्राह्मण वृषल आदि में समान रूप से रहते हैं। अतः अवयव-सन्निवेश मात्र से वृषलत्वादि की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इस हेतु दूसरा जाति-परिचायक-साधन बताया जारहा है। तदनुसार जो शब्द सभी लिङ्गों में प्रवृत्त नहीं होते (लिङ्गानां च न सर्वभाक्) अर्थात् जो शब्द

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ङीष् बाध्यते। जातेः किम्? मुण्डा। अस्त्रीविषयात् किम्? बलाका। 'अयोपधात्' किम्? क्षत्रिया। 'योपधप्रतिषेधे हयगवयमुकयमनुष्यमत्स्यानामप्रतिषेधः' (वा २४९५)।

इत्यणः 'प्रोक्ताल्लुक्' इति लुक्, ततो ङीप्। चरणविषये उदाहरणान्तरमाह—बह्वृचीति। बहवः ऋचः अध्येयाः यस्या इति विग्रहः। 'ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे' अनृचबह्वृचावध्येतर्येव इत्यकारः समासान्तः, ततो ङीप्। 'पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते। अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा—' इति यमादिस्मृतिः। ननु 'लिङ्गानां च न सर्वभाक्' इति 'गोत्रं च चरणैः सह' इति च जातिलक्षणे ब्राह्मणीति परित्यज्य वृषली औपगवी इत्येवं कुत उदाहृतमित्यत आह—ब्राह्मणीत्यत्रेति। ब्रह्मणः अपत्यमित्यर्थे 'तस्यापत्यम्' इत्यणि 'ब्राह्मोऽजातौ' इति टिलोपाभावे आदिवृद्धौ ब्राह्मणशब्दः। स्त्रियां तु जातिलक्षणं ङीपं बाधित्वा 'शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्' इति ङीन्, शार्ङ्गरवादिगणे तत्पाठस्य निरवकाशत्वादिति भावः। तदेवं जातिस्वरूपमुक्त्वा ङीष्विधौ तद्ग्रहणस्य प्रयोजनं पृच्छति—जातेः किमिति। मुण्डेति। मुण्डत्वं नाम विलुप्तसर्वकेशत्वम्, तत्तु नाकृतिव्यङ्ग्यम्, केशदशायामपि तदाकृतेः सत्त्वात्। नापि 'लिङ्गानां च' इति लक्षणलक्षितम्, सर्वलिङ्गत्वात्। नापि गोत्रचरणान्तर्भूतम् अतो न जातिरिति भावः। अस्त्रीविषयात् किमिति। विषयग्रहणलभ्यं नियतत्वं प्रवेश्य अनियतस्त्रीलिङ्गादिति किमर्थमित्यर्थः। बलाकेति। पक्षिवर्गे 'बलाका विसकण्ठिका' इत्यमरः। बलाकात्वस्य आकृतिव्यङ्ग्यतया जातित्वेऽपि नियतस्त्रीलिङ्गत्वान्न ङीषित्यर्थः। यद्यपि बलां कायतीति यौगिकत्वे त्रिलिङ्गत्वमस्ति, तथापि प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये स्त्रीलिङ्गान्यलिङ्गरहितभिन्नादित्यर्थो विवक्षित इति न दोषः, जातिविशेषे नियतस्त्रीलिङ्गत्वात्। भाष्ये तु अनियतस्त्रीलिङ्गत्वमङ्गीकृत्य अजादित्वाट्टाबिति समाहितम्। क्षत्रियेति। 'लिङ्गानां च न सर्वभाक्' इति जातिलक्षणसत्त्वेऽपि

पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग—इन तीनों लिङ्गों से युक्त न हों एवं एक बार बताने से जिसका ज्ञान अन्यत्र भी हो जाय (सकृदाख्यात निर्ग्राह्या)—उसे भी जाति कहा जाता है। जैसे यज्ञदत्तादि को ब्राह्मण कहने से उसके पिता आदि के विषय में 'ब्राह्मणत्व' जाति विदित हो जाती है, उसी प्रकार 'वृषल' कहने से उसकी सन्तति में 'वृषलत्व' जाति का ज्ञान हो जाता है। अतः वृषल>वृषली 'ङीप्' प्रत्यय होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। दूसरे लक्षण के अर्थ में 'सब लिङ्गों में न होने पर' (असर्वलिङ्गत्वे सति)—यह विशेषण देने से 'शुक्ला' में 'ङीप्' नहीं हुआ, क्योंकि 'शुक्ल' शब्द विशेष्य के अधीन होने से तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होता है। अतः वह जातिवाचक नहीं है। इसके साथ ही एक व्यक्ति का परिचय कराने पर भी व्यक्त्यन्तर में बिना बताये परिचय न होने से 'देवदत्ता' को जाति नहीं कहा जा सकता। अतः 'ङीप्' नहीं हुआ।

(३) 'जाति' के उपर्युक्त दो लक्षणों से भी तद्धितान्त औपगवी, कठी इत्यादि शब्दों में 'ङीष्' प्रत्यय के विधान का औचित्य सिद्ध करने के लिये तीसरा लक्षण बताया जारहा है। उपगु के गोत्रापत्य तथा कठ-शाखा के अध्ययन करने वाले शिष्यवर्ग में उपर्युक्त दोनों लक्षणों के विद्यमान न होने से तीसरे लक्षणकी आवश्यकता हुई है। कारण यह है कि 'उपगु' की सन्तति के असाधारण धर्म को बताने वाला कोई शारीरिक चिह्न ऐसा नहीं है जिससे उस कुल का ज्ञान हो जाय। इसके साथ ही इनका प्रयोग तीनों लिंगों में भी होता है। अतः तीसरे लक्षण द्वारा गोत्र-प्रत्ययान्त एवं शाखाध्येतृवाची शब्दों का भी पारिभाषिक जाति में समावेश किया जाता है। इस तरह इन दोनों अर्थों का बोध कराने वाले प्रत्ययों से निष्पन्न शब्द भी जातिप्रयुक्त कार्य को प्राप्त करते हैं। **उदाहरण**—(क) औपगव>औपगवी (उपगु की कन्या)। (ख) कठ>कठी (कठ शाखाध्येत्री)। (ग) कलाप>कलापी। (घ) बह्वृच>बह्वृची (ऋग्वेद पढ़ने वाली अथवा बहुत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्यी । गवयी । मुकयी । 'हलस्तद्धितस्य' (सू ४७२) इति यलोपः । 'मनोर्जातावञ्यतौ षुक्च' (सू ११८५) । मनुषी । 'मत्स्यस्य ङ्याम्' (वा ४१९८) । मत्सी ।

योपधत्वान्न ङीपिति भावः । योपधप्रतिषेधे हयगवयेति । वार्तिकमिदम् । हयादीनां योपधत्वेऽपि ङीष् वाच्य इत्यर्थः । हयीति । अश्वा प्रसिद्धा । गवयीति । गोसदृशश्चतुष्पाज्जातिविशेषः । मुकयीति । चतुष्पाज्जातिविशेषः । हल इति । मनुष्यशब्दात् स्त्रियां ङीषि मनुष्य ई इति स्थिते 'हलस्तद्धितस्य' इति यकारस्य लोपे 'यस्येति च' इत्यकारलोपे मनुषीति रूपमित्यर्थः । 'हलस्तद्धितस्य' इति लोपप्रवृत्तये यकारस्य तद्धितावयवत्वं दर्शयितुमाह—मनोर्जातावितिं । तद्धिताधिकारे अपत्याधिकारस्थमिदं सूत्रम् । मनुशब्दादपत्ये अञ्यतौ प्रत्ययौ स्तः प्रकृतेः षुक्च, प्रकृतिप्रत्ययसमुदायेन जातौ गम्यायामिति तदर्थः । मत्स्यशब्दाद् ङीपि यकारस्य तद्धितावयवत्वाभावादप्राप्ते लोपे आह—मत्स्यस्य ङ्यामिति । 'सूर्यतिष्य' इति सूत्रे वार्तिकमिदम् । मत्स्यस्यावयवस्य यकारस्य लोपः स्यात् ङ्यामेवेति नियमार्थमिदम् । मत्सीति । ङीपि यकारलोपे 'यस्येति च' इति लोप इति भावः । ङ्यां किम् ? मात्स्योऽवतारः ।

ऋचार्ये पढ़ने वाली—बहवः ऋचः अध्येया यस्याः)। इन चारों उदाहरणों में से (क) में 'उपगु' शब्द से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय, आदिवृद्धि, गुण तथा 'अव्' आदेश होकर 'औपगव' शब्द निष्पन्न होता है। 'अण्' प्रत्यय होने के कारण "टिड्ढाणञ्०" (४७०) से प्राप्त 'ङीप्' को बाधकर प्रकृत सूत्र से 'ङीष्' प्रत्यय हुआ। (ख) 'कठ से प्रोक्त वेद को पढ़ने वाली' अर्थ में 'कठ' शब्द से "कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च" (४-३-१०४) से विहित 'णिनि' प्रत्यय का "कठचरकाल्लुक्" (४-३-१०७) से लुक् होने पर "तदधीते तद्वेद" (४-२-५९) से विहित 'अण्' प्रत्यय का "प्रोक्ताल्लुक्" (४-२-६४) से लुक् (लोप) होने पर प्रकृत सूत्र से 'ङीष्' होकर 'कठी' पद निष्पन्न होता है। (ग) वैशम्पायन का अन्तेवासी (छात्र) अर्थ में 'कलाप' शब्द से 'णिनि' प्रत्यय तथा उसका 'लुक्' आदि विधान 'कठी' शब्द के समान जाने जायँ। (घ) 'बहवः ऋचः अध्येयाः यस्याः' अर्थ में "ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे" (५-४-७४) के पूरक "अनृचबह्वृचावध्येतर्येव" (वा०) नियम के अनुसार समासान्त 'अ' प्रत्यय होने के पश्चात् प्रकृत सूत्र से 'ङीप्' प्रत्यय हुआ। इन उदाहरणों से प्राचीन काल में स्त्रियों के भी विदुषी एवं ब्रह्मवादिनी होने का प्रमाण मिलता है।

प्रत्युदाहरण—१—प्रकृत सूत्र से 'जाति'वाचक शब्दों से ही 'ङीष्' का विधान होने के कारण 'मुण्डा' शब्द में 'ङीष्' नहीं हुआ, क्योंकि 'मुण्डत्व' गुण है न कि पारिभाषिक 'जाति'। २—सूत्र में 'ङीप्' होने के लिये दूसरा प्रतिबन्ध 'नियत स्त्रीलिङ्ग का न होना है'। इस कारण नियत-स्त्रीलिङ्गवाची शब्द 'बलाका' (पक्षी) में 'ङीष्' नहीं हुआ। किन्तु 'टाप्' हुआ। ३—प्रकृतसूत्र से 'ङीष्' होने में यकारोपध शब्दों की अपेक्षा न होने के कारण 'क्षत्रिय' शब्द से 'ङीष्' नहीं हुआ, क्योंकि यह शब्द यकारोपध है। अतः टाप्—क्षत्रिया।

विशेष—जातिवाची यकारोपध शब्दों में 'ङीष्' प्रत्यय की सर्वथा अप्राप्ति के निवारणार्थ वार्तिक का आश्रय लिया जारहा है। (वा०) **अर्थ**—तदनुसार हय, गवय, मुकय, मनुष्य तथा मत्स्य शब्दों से भिन्न यकारोपध शब्दों में ही 'ङीष्' का निषेध समझा जाय। अतः इन शब्दों से ङीष् होकर ये रूप निष्पन्न होते हैं—हय>ह्यी, (= घोड़ी), मुकय>मुकयी (=खच्चरी), मनुष्य>मनुषी (=मानवी), मत्स्य>मत्सी (=मछली)। इन शब्दों में से 'मनुषी' में मनुष्य्+ई इस स्थिति में 'अ' लोप होने के पश्चात् "हलस्तद्धितस्य" (६-४-१५०) से 'य्' लोप हो 'मनुषी' रूप सिद्ध होता है। इसी भाँति 'मत्स्य' शब्द से 'ङीष्' प्रत्यय होने पर 'अ'-लोप होने के पश्चात् 'य्' लोप-विधायक वार्तिक को प्रस्तुत किया जारहा है। तदनुसार (वा०) **अर्थ**—'ङी' पर रहते 'मत्स्य' शब्द के 'य्' का लोप होता है। अतः मत्स्+ई = मत्सी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५१९) पाककर्णपर्णपुष्पफलमूलवालोत्तरपदाच्च ४ । १ । ६४ ॥ पाकाद्युत्तरपदाज्जातिवाचिनः स्त्रीविषयादपि ङीष्स्यात् । ओदनपाकी । शङ्कुकर्णी । शालपर्णी । शङ्खपुष्पी । दासीफली । दर्भमूली । गोवाली । ओषधिविशेषे रूढा एते । **(५२०) इतो मनुष्यजातेः ४ । १ । ६५ ॥** ङीष् स्यात् । दाक्षी । योपधादपि । उदमेयस्यापत्यं स्त्री

---

(५१९) पाककर्ण । **'जातेरस्त्रीविषयात्'** इति पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—स्त्रीविषयादपीति । **नियतस्त्रीलिङ्गादपीत्यर्थः । नियतस्त्रीलिङ्गत्वात् पूर्वेणाप्राप्तिरिति भावः । जातिवाचित्वं दर्शयितुमाह**—ओषधिविशेषे रूढा इति । **अवयवव्युत्पत्ति रहिता इत्यर्थः ।**

(५२०) इतो मनुष्यजातेः । **शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे**—ङीष् स्यादिति । **इदन्तान्मनुष्यजातिवाचिनः स्त्रियां ङीष्स्यादित्यर्थः । स्त्रीप्रत्ययविधिषु अत इत्यनुवृत्तेरिदन्तात् 'जातेरस्त्रीविषयात्' इत्यप्राप्तौ वचनम् ।** दाक्षीति । **दक्षस्यापत्यं स्त्री इत्यर्थे अत इञि अल्लोपः, आदिवृद्धिः, ङीष्, 'यस्येति च' इति इकारलोपः । 'गोत्रं च चरणैः सह' इति जातिवाचित्वम् । दक्षः प्रजापतिविशेषः ।** योपधादपीति । **अयं ङीषिति शेषः । पुनर्जाति-**

---

(५१९) पद—पाककर्णपर्णपुष्पफलमूलवालोत्तरपदात्, च । **अनुवृत्ति**—जातेः, ङीष्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—पाक, कर्ण आदि शब्द उत्तरपद में हों तो जातिवाची नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्द से भी 'ङीष्' प्रत्यय होता है । ओदनपाकी । शङ्कुकर्णी । शालपर्णी । शङ्खपुष्पी । दासीफली । दर्भमूली । गोवाली । ये शब्द ओषधि-विशेष में रूढ़ हैं ।

विवरण—पाक, कर्ण आदि शब्दों के उत्तरपद में रहने पर जातिवाची शब्दों को अभिलक्षित कर 'ङीष्' का विधान होने से "जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" (४-१-६३) से 'जाति' पद की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है । चारों अधिकार-सूत्रों का प्रभाव तथा प्रकरणवश 'ङीष्' का सातत्य पूर्ववत् विद्यमान है । तदनुसार "पाक, कर्ण, पर्ण, पुष्प, फल, मूल, वाल (पाकश्च, कर्णश्च, पर्णं च, पुष्पं च, फलं च, मूलं च वालश्च ··· वालाः इत्येते शब्दाः उत्तरपदे यस्य, तस्मात्)—ये शब्द यदि उत्तरपद में हों तो जातिवाची प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय होता है" । पूर्वसूत्र से नियतलिङ्ग शब्दों के विषय में ङीष् प्राप्त न होने के कारण इस सूत्र की उपयोगिता है । **उदाहरण**—१—ओदनपाक>ओदनपाकी (नीलझिण्टी—जड़ी) । २—शङ्कुकर्ण>शङ्कुकर्णी (ओषधिविशेष) । ३—शालपर्ण>शालपर्णी (इसी नाम से प्रसिद्ध ओषध) । ४—शङ्खपुष्प>शङ्खपुष्पी (छोटे सफेद फूलों वाली प्रसिद्ध ओषधि) । ५—दासीफल>दासीफली (ओषधि-विशेष) । ६—दर्भमूल>दर्भमूली (ओषधिविशेष) । ७—गोवाल>गोवाली (ओषधि-विशेष) । ये शब्द ओषधि-विशेष में रूढ़ होने से जातिवाचक हैं । अतः 'ङीष्' प्रत्यय हुआ है ।

(५२०) पद—इतः, मनुष्यजातेः । **अनुवृत्ति**—ङीष्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—ङीष् हो । दाक्षी । यकारोपध से भी ङीष् हो । उदमेय की कन्या—औदमेयी । 'मनुष्य' क्यों कहा ? तित्तिरिः ।

विवरण—'ङीष्' एवं पाँचों अधिकारसूत्रों का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है । सूत्रस्थ 'इतः' पद अनुवृत्त 'प्रातिपदिकात्' पद का विशेषण है । अतः वह तदन्त का बोधक होता है । इस प्रकार सूत्रार्थ यह होता है कि "मनुष्यजातिवाचक उपसर्जन-रहित इकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय हो" । **उदाहरण**—दाक्षि>दाक्षी (दक्ष की स्त्री-सन्तान) । दक्ष+इञ् = दाक्षि (इञ्—"अत इञ्" ४-१-९५) रूप निष्पन्न होने के पश्चात् ('इकारान्त जातिवाचक' से) 'ङीष्' हुआ । **प्रत्युदाहरण**—१—सूत्र में 'मनुष्य'-वाचक इकारान्त शब्द से ही 'ङीष्' प्रत्यय का विधान अपेक्षित होने से पक्षि-वाचक 'तित्तिरि' शब्द (= तीतर) से 'ङीष्' नहीं हुआ ।

विशेष—'जाति'वाचक शब्दों के सन्दर्भ में स्त्री-प्रत्यय विधान करने में "जातेरस्त्रीविषयाद-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औदमेयी। 'मनुष्य'–इति किम्? तित्तिरिः। (५२१) ऊङुतः ४।१।६६॥ उकारान्तादयोपधान्मनुष्यजातिवाचिनः स्त्रियामूङ् स्यात्। कुरूः। 'कुरुनादिभ्यो ण्यः' (सू ११९०), तस्य 'स्त्रियामवन्ति—' (सू ११९५) इत्यादिना लुक्। अयोपधात् किम्? अध्वर्युः। 'अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनामुपसङ्ख्यानम्' (वा २५०२)। रज्ज्वादि-पर्युदासादुवर्णान्तेभ्य एव। अलाब्वा। कर्कन्ध्वा। अनयोर्दीर्घान्तत्वेऽपि 'नोङ्धात्वोः'

ग्रहणेन योपधग्रहणेन अनुवृत्त्यभावबोधनादिति भावः। औदमेयीति। उदमेयो नाम कश्चित्, तस्यापत्यं स्त्री इत्यर्थे अत इञ्, 'यस्येति च' इत्यल्लोपः, आदिवृद्धिः, औदमेयि-शब्दात् ङीप् 'यस्येति च' इति इकारलोपः। तित्तिरिरिति। तित्तिरिः पक्षिजातिविशेषः। स्त्रियां ङीप् न, अमनुष्यजातिवाचित्वादिति भावः। 'स्त्रीपुंसयोरपत्यान्तद्विचतुष्पट्पदोरगाः' इत्यमरकोशादयं स्त्रियामपि भवति द्विपात्त्वात्।

(५२१) ऊङुतः। 'अयोपधा'दिति 'मनुष्यजाते'रिति चानुवर्तते, उत इति तद्वि-शेषणम्, तदन्तविधिः। तदाह—उकारान्तादित्यादिना। कुरूरिति। कुरुक्षेत्रस्य राजा कुरुः, तस्यापत्यं स्त्रीत्यर्थः। 'गोत्रं च चरणैः सह' इति जातित्वम्। कुरुशब्दात् ऊङि सवर्ण-दीर्घः। ऊङि दीर्घोच्चारणस्य प्रयोजनं भाष्ये स्पष्टम्। 'तस्यापत्यम्' इत्यणमाशङ्क्याह—कुरुनादिभ्यो ण्य इति। अपत्याधिकारस्थमिदं सूत्रम्। अनेन सूत्रेण अणपवादो ण्यप्रत्यय इत्यर्थः। तर्हि स श्रूयेतेत्यत आह—तस्येति। अध्वर्युरिति। अध्वर्युशाखाध्यायिनीत्यर्थः। चरणत्वात् जातित्वम्। 'पुरा युगेषु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते। अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा—' इति यमादिस्मृतिः। अप्राणिजातेश्चेति। वाचकानामिति शेषः। रज्ज्वादिभिन्नानामप्राणिजातिवाचकानामपि ऊङ उपसङ्ख्यानमित्यर्थः। नन्वत्र उत इति सम्बध्यते वा न वा? नाद्यः, अलाबूरिति भाष्योदाहरणविरोधात्, अलाबूशब्दस्य ऊदन्त-त्वात्। न द्वितीयः, अदन्तादपि अप्राणिजातिवाचिनः ऊङापत्तेरित्यत आह—रज्ज्वादि-पर्युदासादिति। उत इति न सम्बध्यते। अदन्तेषु नातिप्रसङ्गः। 'नञिवयुक्तमन्यसदृशा-

---

योपधात्" (५१८) सूत्र से 'जाति' पद की अनुवृत्ति करने से निर्वाह हो सकता था। इस सूत्र में पुनः 'जाति'ग्रहण करने से यह लाभ होता है कि यकारोपध जातिवाचक शब्दों से भी 'ङीष्' प्रत्यय हो जाता है। पूर्वसूत्र से 'जाति' की अनुवृत्ति आने पर उसके साहचर्य से 'यकारोपधभिन्न' (अयोपधात्) की भी अनुवृत्ति लानी पड़ती। उसके निवारण करने के लिए यहाँ पुनः 'जाति' ग्रहण करना सार्थक है। अतः उदमेय>औदमेयि>औदमेयी (उदमेय की स्त्री-सन्तति) में 'ङीष्' प्रत्यय हो गया।

(५२१) पद—ऊङ्, उतः। अनुवृत्ति—मनुष्यजातेः, अयोपधात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—यकारोपधभिन्न उकारान्त मनुष्य-जाति वाची से स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' प्रत्यय होता है। कुरूः। "कुरुनादिभ्यो ण्यः" से विधीयमान 'ण्य' प्रत्यय का "स्त्रियामवन्ति"० से लुक् (लोप) होता है। 'अयोपधात्' क्यों कहा? अध्वर्युः। वा० रज्जु आदि शब्दों को छोड़कर प्राणिभिन्न जातिवाची प्रातिपदिक से स्त्री-लिङ्ग में 'ऊङ्' होता है। 'रज्जु' आदि से भिन्न इस कथन से उवर्णान्त शब्दों से ही यह विधान किया जाता है। अलाब्वा। कर्कन्ध्वा। इन दोनों शब्दों के दीर्घ ऊकारान्त होने पर भी 'ऊङ' प्रत्यय करने का फल यह है कि "नोङ्धात्वोः०" से विभक्ति को प्राप्त होने वाले उदात्त का निषेध हो जाता है। प्राणिजाति से तो 'कृकवाकुः' में 'ऊङ्' नहीं होगा। रज्ज्वादि शब्दों से—रज्जुः, हनुः इत्यादि रूप होंगे।

विवरण—अब 'ऊङ्' प्रत्यय का विधान किया जारहा है। सूत्रार्थ को उपपन्न करने में "इतो मनुष्यजातेः" (४-१-६५) से 'मनुष्यजातेः' तथा "जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" (४-१-६४) से 'अयोपधात्' की अनुवृत्ति प्रमुखरूप में अपेक्षित है। अधिकार-सूत्रों का प्रभाव पूर्ववत विद्यमान है। सूत्रस्थ 'उतः' पद 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है। अतः वह तदन्त का बोधक होगा। तदनुसार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(सू ३७२१) इति विभक्त्युदात्तत्वप्रतिषेध ऊङः फलम्। प्राणिजातेस्तु कृकवाकुः। रज्ज्वादेस्तु रज्जुः, हनुः। (५२२) बाह्वन्तात्सञ्ज्ञायाम् ४। १। ६७॥ स्त्रियामूङ् स्यात्। भद्रबाहूः। 'संज्ञायाम्' किम्? वृत्तबाहुः। (५२३) पङ्गोश्च ४। १। ६८॥

धिकरणे तथा ह्यर्थगतिः' इति न्यायेन रज्ज्वादिसदृशानामुवर्णान्तानामेव ग्रहणादिति भावः। अलाब्वेति। अलाबूशब्दादूङि सवर्णदीर्घे अलाबूशब्दात् ऊङन्तात् सुबुत्पत्तिः। टायां यणादेशे अलाब्वा इति रूपम्। एवं कर्कन्धूशब्दादूङन्तात् टायां कर्कन्ध्वा इति रूपम्। 'कर्कन्धूर्बदरी' इत्यमरः, 'तुम्ब्यलाबूरुभे समे' इति च। ननु ऊदन्तत्वादनयोरूङ्विधिर्व्यर्थ इत्यत आह—अनयोरिति। कृकवाकुरिति। पक्षिजातिविशेषः। अत्र मनुष्यजातित्वाभावात् पूर्वेणापि न ङीष्।

(५२२) बाह्वन्तात्सञ्ज्ञायाम्। 'ऊङुतः' इत्यतः ऊङित्यनुवर्तते, स्त्रियामित्यधिकृतम्, प्रातिपदिकादिति च। तदाह—स्त्रियामूङ् स्यादिति। भद्रबाहूरिति। कस्याश्चित्सञ्ज्ञा। सञ्ज्ञायां किमिति। सञ्ज्ञायामित्येतत् किमर्थमिति प्रश्नः। वृत्तबाहुरिति। वृत्तौ बाहू यस्या इति विग्रहः। स्त्रियामपि नोङ्।

(५२३) पङ्गोश्च। ऊङिति सूत्रशेषः। भग्नपादत्वं पङ्गुत्वं न जातिः, आसीने शयाने च आकृत्या दुर्ग्रहत्वात्, एकस्यां व्यक्तौ विकलपादोऽयं पङ्गुरिति पङ्गुत्वस्योपदेशेऽपि

"यकारोपधभिन्न एवं मनुष्यजातिवाचक उकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ऊङ्' (ऊ) हो"। **उदाहरण**—कुरु>कुरूः (कुरुवंश की स्त्री) कुरु+ऊ>कुरू+स् (सु)>कुरूः। 'कुरु' शब्द की सिद्धि कुरु+यु (ण्य)-"कुरुनादिभ्यो यः" (४-१-१७२), <कुरु('ण्य' का ण्लोप-"स्त्रियामवन्तिकुन्तिकुरुभ्यश्च" (४-१-१७४)। 'कुरु' शब्द में अपत्यार्थक 'अण्' प्रत्यय न होने से 'ङीप्' की आशंका करना निर्मूल है। **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में 'अयोपधात्' का अनुवृत्ति आने से 'अध्वर्युः' में 'ऊङ्' नहीं हुआ, क्योंकि यह शब्द यकारोपध है। स्पष्टता के लिये स्त्रीलिङ्गवाची शब्द का समावेश किया है। अध्वर्युः ब्राह्मणी ('अध्वर्यु' शाखा की अध्येत्री)।

वा० अर्थ—रज्ज्वादि-सदृश (अर्थात उकारान्त) किन्तु रज्ज्वादि-से अतिरिक्त प्राणिजाति-भिन्न उकारान्त शब्दों से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ऊङ्' प्रत्यय होता है। **उदाहरण**—१-अलाबू (=लौकी), <अलाबू+आ (टा), <अलाब्वा (यण् आदेश)। २—कर्कन्धू (=बेर), <कर्कन्धू+आ (टा), <कर्कन्ध्वा (यण्)। यह तृतीया-विभक्ति का रूप है। ये दोनों शब्द मूलतः दीर्घ ऊकारान्त हैं, अतः 'ऊङ्' प्रत्यय का विधान करने पर भी कोई परिवर्तन नहीं होता। तथापि 'स्वर' में विशेषता है। तदनुसार 'कर्कन्धू' आदि 'ऊङ्'-प्रत्ययान्त शब्दों से परवर्ती शसादि विभक्तियाँ उदात्त नहीं होतीं ("नोङ्धात्वोः०" ६-१-१७५)। इस प्रकार उदात्त-निषेध ही इसका फल है। **प्रत्युदाहरण**—प्राणिजाति-वाचक शब्द होने के कारण 'कृकवाकुः' (=मुर्गी) में 'ऊङ्' नहीं हुआ। 'रज्जुः' (= रस्सी), 'हनुः' (ठोड़ी) आदि शब्दों से भी 'ऊङ्' नहीं हुआ, क्योंकि इन शब्दों से भिन्न 'ऊङ्' प्रत्यय का विधान किया गया है।

(५२२) **पद**—बाह्वन्तात, संज्ञायाम्। **अनुवृत्ति**—ऊङ्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' हो। भद्रबाहूः। 'संज्ञायाम्' क्यों कहा? वृत्तबाहुः।

विवरण—प्रमुख अनुवृत्ति-'ऊङ्' (४-१-६६)। अधिकारसूत्रों का प्रभाव पूर्ववत्। सूत्रार्थ—'बाहु' शब्दान्त प्रातिपदिकों से संज्ञा के विषय में स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ऊङ्' होता है। **उदाहरण**—भद्रबाहु>भद्रबाहूः (= इस नाम की स्त्री)। **प्रत्युदाहरण**—'वृत्तबाहुः' (वृत्तौ बाहू यस्याः सा = गोल भुजाओं वाली) में 'ऊङ्' नहीं हुआ, क्यों कि यह संज्ञा (किसी का नाम नहीं है)।

(५२३) **पद**—पङ्गोः, च। **अनुवृत्ति**—ऊङ्, अनुपसर्जनात, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात, प्रत्ययः, परश्च। **विधिसूत्र**।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पङ्गूः। 'श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च' (वा ५०३९)। चादूङ्। पुंयोगलक्षणस्य ङीषो-

व्यक्त्यन्तरेषु आसनशयनाद्यवस्थेषु तस्य दुर्ग्रहत्वात्, गोत्रचरणानन्तर्भावाच्च। ततश्च 'ऊङुतः' इत्यप्राप्तौ वचनमिदम्। श्वशुरस्येति। वृत्त्यादौ पठितमिदम्। चकारात् ऊङनुकृष्यते। श्वशुरस्य स्त्री इत्यर्थे पुंयोगलक्षणे ङीपि प्राप्ते तदपवाद ऊङ्, तत्सन्नियोगेन रेफादकारस्य शकाराद् उकारस्य लोपश्चेत्यर्थः। न च शकारादकारस्य लोपः शङ्क्यः, 'अन्त्यबाधेऽन्त्यसदेशस्य' इति वचनात्। 'यस्येति च' इति तु नात्र भवति ईकारे तद्धिते च तद्विधानात्। ननु श्वश्रूरित्यत्र कथं स्वादयः, 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इत्यधिकृत्य तद्विधेः, अस्य च ङ्याबन्तत्वाभावात्, ऊङन्तस्य च प्रत्ययान्तत्वेन प्रातिपदिकत्वाभावादित्यत आह—लिङ्गविशिष्टेति। 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति परिभाषयेत्यर्थः। वस्तुतस्तु श्वशुरस्येति वचनममूलकमेव, भाष्ये अदृष्टत्वात्, 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इति सूत्रस्थभाष्यविरोधाच्च। तत्र हि 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इत्यत्र ऊङोऽपि ग्रहणं कर्तव्य-

मूलार्थ—('पङ्गु' से भी ऊङ् होता है)। पङ्गूः। वा० श्वशुर शब्द के उकार और अकार का लोप होता है तथा 'ऊङ्' प्रत्यय भी होता है। पुंयोगनिमित्तिक 'ङीप्' का अपवाद है। लिङ्गविशिष्ट-परिभाषा का आश्रय करने से विभक्तियाँ संयुक्त होंगी। श्वश्रूः।

विवरण—"ऊङुतः" (४-१-६६) सूत्र से 'ऊङ्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। अन्य अधिकार-सूत्रों का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार 'पङ्गु' शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ऊङ्' प्रत्यय होता है। उदाहरण—पङ्गु>पङ्गूः (पङ्गु+ऊ–ऊङ्, सवर्णदीर्घ, विभक्तिकार्य)। 'पङ्गु' शब्द के जातिवाचक न होने के कारण पूर्वसूत्र (४-१-६८) से 'ऊङ्' प्रत्यय प्राप्त नहीं होता। अतः इस सूत्र से पृथक् विधान किया जा रहा है। **(वा०) अर्थ**—श्वशुर शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ऊङ्' प्रत्यय होता है तथा 'ऊङ्' प्रत्यय होने पर 'श्वशुर' शब्द के 'शकार' से पर उकार एवं 'रकार' से पर अकार का लोप भी होता है। 'ऊङ्' का सामीप्य होने से अन्तिम अकार का लोप होता है, आदिम आकार का नहीं। "श्वशुरः श्वश्रूवा" सूत्रस्थ 'श्वश्रू' शब्द का प्रयोग ही उकार तथा अकार के लोप होने में प्रमाण है। यह अपूर्व विधान नहीं है। उदाहरण—श्वशुर>श्वश्रूः (=सास)। श्वशुर+ऊ (ऊङ्), <श्वश्-र्+ऊ ('उ' एवम् 'अ' का लोप), <श्वश्रू+स् (विभक्ति), <श्वश्रूर् (स्=र्), <श्वश्रूः (र्=: विसर्ग)। यह विधान पुंयोग-लक्षण ('श्वशुरस्य स्त्री' इस अर्थ में प्राप्त) 'ङीष्' प्रत्यय ("जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्"–५१८) का अपवाद है।

विशेष—यद्यपि 'श्वश्रू' शब्द से सुप्–विभक्तियाँ संयुक्त होना सम्भव नहीं, क्योंकि 'ङी' तथा 'आप्'–अन्त प्रातिपादिकों से स्वादि प्रत्यय विहित हैं ("ङ्याप्प्रातिपदिकात्"–१८२)। 'ऊङ्'–अन्त प्रातिपदिकों से स्वादि-प्रत्ययों की उत्पत्ति होने के विषय में उपर्युक्त सूत्र में कोई निर्देश नहीं दिया गया है। तथापि 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्'–इस नियम से स्त्रीलिङ्गवाची 'श्वश्रू' शब्द से भी विभक्तियाँ संयुक्त होने में कोई बाधा नहीं है।

विशेष—महाभाष्य में प्रकृत वार्तिक का उल्लेख न होने से इस वार्तिक की प्रामाणिकता में अनेक वैयाकरणों को सन्देह है। इस सन्दर्भ में नागेशभट्ट ने 'लघुशब्देन्दुशेखर' में यह निर्देश दिया है कि 'श्वश्रू' शब्द 'ऊङ्'प्रत्ययान्त नहीं है, किन्तु अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है।[1] इस सन्दर्भ में "ङ्याप्प्रातिपदिकात्" (४-१-१) सूत्र में उल्लिखित भाष्यकार के विचारों को ही प्रामाणिक माना गया है। वहाँ पर यह शङ्का उठाई गई है कि "ङ्याप्प्रातिपदिकात्" (१८२) सूत्र में 'ऊङ्' का भी उल्लेख करना आवश्यक है, अन्यथा 'ऊङ्' प्रत्यान्त शब्दों से विभक्तियाँ संश्लिष्ट नहीं होंगी? इसके समाधान में यह युक्ति दी गई है कि उवर्णान्त शब्दों से 'ऊङ्' प्रत्यय करने पर 'सवर्ण' दीर्घ होने के

१. भाष्ये त्विदं न दृश्यते। "ङ्याप्" (४-१-१) इति सूत्रस्थभाष्यस्वरसस्त्वयमनूङन्तोऽव्युत्पन्नं प्रातिपदिकमिति।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऽपवादः। लिङ्गविशिष्टपरिभाषया स्वादयः। श्वश्रूः। (५२४) ऊरूत्तरपदादौपम्ये ४।१।६९॥ उपमानवाचिपूर्वपदमूरूत्तरपदं यत्प्रातिपदिकं तस्मादूङ् स्यात्।

मित्याक्षिप्य उवर्णान्तादूङ् विधीयते। तत्र सवर्णदीर्घे एकादेशे कृते पूर्वान्तत्वेन प्रातिपदिकत्वलाभादेव सिद्धमित्युक्तम्। यदि ह्युक्तरीत्या श्वश्रूशब्दो व्युत्पाद्यते तर्हि रेफादकारस्य लुप्तत्वेन एकादेशाप्रसक्तेस्तदसङ्गतिः स्पष्टैव। तथा च श्वश्रूरित्यव्युत्पन्नं प्रातिपदिकमिति शब्देन्दुशेखरे स्पष्टम्।

(५२४) ऊरूत्तर। ऊरुः उत्तरपदं यस्येति बहुव्रीहिः। प्रातिपदिकादित्यनुवर्तते। उत्तरपदेत्यनेन पूर्वपदमाक्षिप्तम्, औपम्ये इति तत्रान्वेति। उपमीयते अनयेत्युपमा उपमानम्, उपमैव औपम्यं, स्वार्थे ष्यञ्। तदाह—उपमानवाचीति। करभोरूरिति। करभाविव ऊरू यस्या इति विग्रहः। 'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः' इत्यमरः। करभोरुत्वस्याजातित्वादप्राप्तौ वचनम्, ऊर्वाकृतेः करभसदृशपुरुषोरुसाधारणत्वेन करभसादृश्यघटितकरभोरुत्वस्य आकृतिग्राह्यत्वाभावात् असर्वलिङ्गत्वाद्यभावाच्च। उपमानवाचीति किम्? वृत्तोरुः, करभोपमोरुरित्यादौ नोङ्, करभशब्दस्य करभसदृशे अवृत्त्या उपमानवाचित्वाभावात्। संहितशफ। संहित शफ लक्षण वाम एतत्पूर्वपदादप्यूरूत्तरपदादूङ् स्यादित्यर्थः। पूर्वेणैव सिद्धे किमर्थमित्यत आह—अनौपम्यार्थमिति। संहितोरूरिति। संहितौ संश्लष्टौ ऊरू यस्या इति विग्रहः। सैव शफोरूरिति। संहितोरूरेव शफोरूरित्यनेनोच्यत इत्यर्थः। शफशब्दं विवृणोति—शफौ खुराविति। यद्यपि 'शफं क्लीबे खुरः पुमान्' इत्यमरः, तथापि 'शफः खरे गवादीनाम्' इति चन्द्रकोशात् पुंस्त्वमिति भावः। ननु शफत्वमूर्वोः प्रत्यक्षविरुद्धमित्यत आह—ताविवेति। यतः शफाविव, अत ऊरू शब्देनोच्येते इत्यर्थः। कुतस्तत्सादृश्यमित्यत आह—संश्लिष्टत्वादिति। तर्ह्युपमानवाचिपूर्वपदत्वादेव सिद्धमित्यत आह—उपचारादिति। शफवत् वास्तवं संश्लिष्टत्वमवलम्ब्य शफत्वस्य आरोपादित्यर्थः। एवं च शफशब्दात् तत्सादृश्यप्रतीतेर्नोक्तदोष इति भावः। लक्षणोरूरिति। लक्षणौ ऊरू यस्या इति विग्रहः। ननु मार्दवादिगुणपर्यायस्य लक्षणशब्दस्य कथमूरुशब्दसामानाधिकरण्यमित्यत आह—लक्षणशब्दादिति। लक्षणमनयोरस्तीति विग्रहे

पश्चात् दीर्घ ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द निष्पन्न होते हैं। उनमें 'पूर्वान्तवद्भाव' से प्रातिपदिक-धर्म का आरोप करने से 'सुप्'-विभक्तियाँ संयुक्त हो जायेंगी। यदि 'श्वशुर' शब्द से 'ऊङ्' प्रत्यय करने पर 'श्' से परवर्ती 'उ'कार एवं रेफ से परवर्ती अकार का लोप होने से 'श्वश्रू' शब्द की व्युत्पत्ति मानी जाय तो 'रेफ से परवर्ती अकार-लोप के' एकादेश न होने के कारण उपर्युक्त भाष्य-वचन की एकवाक्यता नहीं हो सकेगी। अतः नागेश भट्ट ने 'श्वश्रू' शब्द को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक माना है।

(५२४) पद—ऊरूत्तरपदात्, औपम्ये। अनुवृत्ति—ऊङ्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—उपमानवाची-पूर्वपदक 'ऊरु'शब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' होता है। करभोरूः।

विवरण—प्रकरण-वश "ऊङुतः" (४-१-६६) सूत्र से प्रमुख रूप में "ऊङ्" पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है। स्त्रीप्रत्यय के चारों अधिकार सूत्रों का प्रभाव पूर्ववत् विद्यमान है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "ऊरु-शब्द उत्तरपद रहने पर (ऊरुः उत्तरपदं यस्य, तस्मात्) तदन्त प्रातिपदिक से औपम्य गम्यमान होने पर स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' प्रत्यय होता है"। उदाहरण—करभोरु>करभोरूः। प्रक्रिया-'करभौ इव ऊरू यस्याः'—हाथी की सूंड के समान जङ्घावाली—अर्थ में बहुव्रीहि-समास होने पर 'करभोरु' शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रातिपदिक का उत्तरपद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करभोरूः । (५२५) संहितशफलक्षणवामादेश्च ४ । १ । ७० ॥ अनौपम्यार्थं सूत्रम् । संहितोरूः । सैव शफोरूः । शफौ खुरौ ताविव संश्लिष्टत्वादुपचारात् । लक्षणशब्दादर्श-आद्यच् । लक्षणोरूः । वामोरूः । 'सहितसहाभ्यां चेति वक्तव्यम्' (वा २५०३) । हितेन सह सहितौ ऊरू यस्याः सा सहितोरूः । सहेते इति सहौ ऊरू यस्याः सा सहोरूः ।

लक्षणशब्दात् 'अर्शआदिभ्योऽच्' इत्यच्प्रत्यय इत्यर्थः । तथा च लक्षणयुक्तौ इत्यर्थ-लाभादिह नोक्तदोष इति भावः । वामोरूरिति । वामौ सुन्दरौ ऊरू यस्या इति विग्रहः । 'वामौ वल्गुप्रतीपौ द्वौ' इत्यमरः ।

(५२५) सहितेति । सहित सह आभ्यां परः यः ऊरुशब्दः तस्मादपि ऊङ् स्यादिति वक्तव्यमित्यर्थः । ननु संहितग्रहणेनैव एकदेशविकृतन्यायेन सिद्धे पुनः सहितग्रहणं व्यर्थ-मित्यत आह--हितेनेति । हितेन सहेति विग्रहे 'तेन सह' इति बहुव्रीहौ 'वोपसर्जनस्य' इति सभावे सहितशब्द इत्यर्थः । ननु सहशब्दस्य विद्यमानवचनत्वे सहोरूरित्यत्र सहशब्दप्रयोगो व्यर्थ इत्यत आह--सहेते इति । रतिकालिकमर्दनमिति शेषः । विद्यमान-वचनत्वेऽपि सहशब्दस्य न वैयर्थ्यमित्याह--यद्वेति । अतिशयेन विद्यमानत्वं विवक्षितमिति न वैयर्थ्यमिति भावः ।

'ऊरु' है तथा उपमान-वाचक 'करभ' शब्द के पूर्व में रहने से 'ऊङ्' (ऊ) प्रत्यय होने पर सवर्ण-दीर्घ होने के पश्चात् विभक्तिस्थ 'स्' को 'र्' तथा विसर्ग होने पर 'करभोरूः' रूप सिद्ध होता है ।

विशेष—जातिवाचक न होने के कारण 'ङीष्' की प्राप्ति नहीं है ।

(५२५) **पद**—संहितशफलक्षणवामादेः, च । **अनुवृत्ति**—ऊरूत्तरपदात्, ऊङ्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उपमानवाचक-शब्दों के पूर्वपद में न रहने इस सूत्र की उपयोगिता है । संहितोरूः । उसी को 'शफोरूः' भी कहा जाता है । खुरों की तरह मिले रहने के कारण लक्षणा होने से ऐसा प्रयोग भी होता है । लक्षण-शब्द से अर्शस्-आदि-गणनिमित्तक 'अच्' प्रत्यय हुआ । लक्षणोरूः । वामोरूः । वा० सहित और सह शब्द पूर्व रहने पर भी 'ऊङ्' प्रत्यय होता है । हित से युक्त(=सहितौ) जङ्घा हैं (ऊरू) जिसकी (यस्याः)—इस अर्थ में सहितोरूः । 'भार सहने वाली जाँघ हैं जिसकी' इस अर्थ में सहोरूः । अथवा विद्यमानवाची सह शब्द से ऊरु की विशेषता बताई जारही है ।

विवरण—'ऊङ्'-प्रत्यय का प्रकरण सावशेष है । अतः 'ऊङ्' की अनुवृत्ति करने के अतिरिक्त पूर्वसूत्र (४-१-६१) से 'ऊरूत्तरपदात्' की आंशिक अनुवृत्ति लाई जाती है । फलतः उपमान-वाचक (औपम्य) की अभिव्यक्ति न होने पर संहित, शफ, लक्षण, वाम आदि शब्दों के पूर्व पद में रहने पर तथा 'ऊरु' शब्द उत्तरपद में होने पर स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' प्रत्यय होता है । उदाहरण-१-संहितोरूः । प्रक्रिया-'संहितौ ऊरू यस्याः सा' (=मिली हुई जाँघवाली)-अर्थ में समास होने के पश्चात् 'संहितोरु' से ऊङ्-प्रत्यय, सवर्ण-दीर्घ तथा विभक्तिकार्य होने पर 'संहितोरूः' शब्द सिद्ध होता है । २-शफोरु <शफोरू (ऊङ्) । अर्थ—खुर के समान संश्लिष्ट जङ्घा वाली । 'शफोरू' शब्द 'संहितोरू' का समानार्थक है । शफ अर्थात् खुरों की तरह संयुक्त होने से जङ्घा में शफत्व का आरोप किया गया है । ३—लक्षणोरु>लक्षणोरूः (= शोभन चिह्नों से युक्त जङ्घा वाली स्त्री) । यहाँ पर 'लक्षणवान्' अर्थ में लक्षण शब्द से "अर्श आदिभ्योऽच्" (५-२-१२७) सूत्र से 'अच्' प्रत्यय करने पर 'लक्षण' शब्द निष्पन्न हुआ है । ४—वामोरु>वामोरूः = सुन्दर जाँघ वाली । (वा०) अर्थ—सहित और सह शब्दों से परवर्ती 'ऊरु' शब्द के होने पर तदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' प्रत्यय होता है । १—हित से युक्त (सहितौ) ऊरु वाली (ऊरू यस्याः सा) अर्थ में सहितोरु>सहि-तोरूः । २—पीड़ा को सहते हैं (सहेते) अर्थ में 'सहौ' (सह्+अच्+औ) शब्द निष्पन्न होता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्वा विद्यमानवचनस्य सहशब्दस्य ऊर्वतिशयप्रतिपादनाय प्रयोगः । (५२६) **संज्ञायाम् ४ । १ । ७२ ॥** कद्रुकमण्डल्वोः संज्ञायां स्त्रियामूङ् स्यात् । कद्रूः । कमण्डलूः । संज्ञायाम् किम् ? कद्रुः । कमण्डलुः । अच्छन्दोऽर्थं वचनम् । (५२७) **शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् ४ । १ । ७३ ॥** शार्ङ्गरवादेरञो योऽकारस्तदन्ताच्च जातिवाचिनो ङीन्स्यात् ।

---

(५२६) सञ्ज्ञायाम् । 'कद्रुकमण्डल्वोः' इति, ऊङिति चानुवर्तते, स्त्रियामित्यधिकृतम् । तदाह—कद्रुकमण्डल्वोः सञ्ज्ञायां स्त्रियामूङ् स्यादिति । अच्छन्दोऽर्थमिति । पूर्वसूत्रे छन्दसीत्युक्तत्वात् लोके सञ्ज्ञायामप्राप्तौ अयमारम्भः । कद्रूरिति नागानां मातुः सञ्ज्ञा । एतच्च महाभारतादौ स्पष्टम् । कमण्डलूरिति कस्यचिन्मुनेस्य सञ्ज्ञा । अत एव 'चतुष्पाद्भ्यो ढञ्' इत्यत्र कामण्डलेय इत्युदाहरिष्यते । पात्रपर्यायस्तु नोदाहरणम्, तस्य स्त्रीलिङ्गत्वाभावात् ।

(५२७) शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् । शार्ङ्गरवादीति लुप्तपञ्चमीकम् । अञ इति षष्ठी अत इत्यनुवृत्ते पञ्चम्यन्ते अन्वेति । जातेरित्यनुवृत्तमता विशेष्यते । तदन्तविधिः । तदाह—शार्ङ्गरवादेरित्यादिना । शार्ङ्गरवीति । शृङ्गारोरपत्यं स्त्रीत्यर्थे अण्, आदिवृद्धिः, रपरत्वम्,

---

है । सहोरु>सहोरूः ('सहौ' ऊरू यस्याः सा) । अथवा सह शब्द विद्यमान-वाची है । 'ऊरु' की प्रमुखता सूचित करने के लिए उसका प्रयोग किया गया है ।

(५२६) **पद**—संज्ञायाम् । **अनुवृत्ति**—कद्रुकमण्डल्वोः, ऊङ्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'कद्रु' तथा 'कमण्डलु' से संज्ञा-वाची होने पर स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ऊङ्' होता है । कद्रूः । कमण्डलूः । 'संज्ञायां' क्यों कहा ? कद्रुः । कमण्डलुः । लौकिक प्रयोगार्थ यह विधान है । अतः 'कद्रुः' एवं 'कमण्डलुः' उकारान्त ही रहेंगे ।

विवरण—पूर्वसूत्र ("कद्रुकमण्डल्वोश्छन्दसि"-४-१-७१) से 'कद्रुकमण्डल्वोः' तथा "ऊङुतः" (४-१-६६) से 'ऊङ्' की अनुवृत्ति करने पर सूत्रार्थ सम्पन्न होता है । तदनुसार "संज्ञा के विषय में लोक में कद्रु और कमण्डलु शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' प्रत्यय होता है" । पूर्व-सूत्र के अनुसार इन दोनों शब्दों से 'ऊङ्' प्रत्यय वैदिक प्रयोगों तक ही सीमित था । अतः यहाँ 'छन्दसि' की अनुवृत्ति नहीं की जाती । **उदाहरण**—१-क्रद्रु>कद्रूः (= कद्रू नाम की विनता की पुत्री) । २—कमण्डलु>कमण्डलूः (मृग-विशेष) । यहाँ 'कमण्लु' के समान—इस अर्थ में संज्ञा में विहित 'क' प्रत्यय का "लुम्मनुष्ये" (५-३-९८) सूत्र से लोप होकर संज्ञावाचक 'कमण्डलु' शब्द निष्पन्न होता है, उससे स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ऊङ्' प्रत्यय का विधान किया गया है । **प्रत्युदाहरण**—'संज्ञा' न होने पर 'ऊङ्' नहीं होगा । अतः 'कद्रुः' एवं 'कमण्डलुः' उकारान्त ही रहेंगे ।

विशेष—पूर्व सूत्र से वेद में 'संज्ञा' एवं 'असंज्ञा' दोनों में 'ऊङ्' सिद्ध है । अतः यह सूत्र वेदभिन्न लौकिक प्रयोगार्थ है ।

(५२७) **पद**—शार्ङ्गरवाद्यञः, ङीन् । **अनुवृत्ति**—अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—शार्ङ्गरवादिगण-पठित शब्दों से तथा 'अञ्'-प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीन्' प्रत्यय होता है । शार्ङ्गरवी । वैदी । इस सूत्र में 'जातेः' की अनुवृत्ति होने से पुंयोग में 'ङीष्' ही होता है । गण० 'नृ' तथा 'नर' शब्दों को वृद्धि और 'ङीन्' भी होता है । नारी ।

विवरण—पाँचों अधिकार-सूत्रों की अनुवृत्ति के अतिरिक्त यहाँ मण्डूकप्लुति से 'जातेः' पद की भी अनुवृत्ति की जारही है । सूत्रस्थ 'शार्ङ्गरवादि' शब्द लुप्तपञ्चम्यन्त है । तथा 'अञः' पद अनुवृत्त 'प्रातिपदिकात्' पद का विशेषण है । अतः उसमें तदन्तविधि हो जाती है । तदनुसार "शार्ङ्गरवादि-गण में पढ़े हुए शब्दों से तथा 'अञ्' प्रत्ययान्त जातिवाचक प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शार्ङ्गरवी । वैदी । 'जातेः' इत्यनुवृत्तेः पुंयोगे ङीषेव । 'नृनरयोर्वृद्धिश्च' (ग ५४) इति

ओर्गुणः, 'गोत्रं च चरणैः सह' इति जातित्वात् ङीपि प्राप्ते ङीन् । स्वरे विशेषः । वैदीति । विदस्यापत्यं स्त्रीत्यर्थः । 'अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्' । गोत्रत्वेन जातित्वात् ङीपि प्राप्ते ङीन् । अजा अकारस्य विशेषणान्नेह-शूरसेनी । 'जनपदशब्दात्' इत्यत्पत्ये अञ् । 'अतश्च' इति तस्य लुक् । अत्र जातिलक्षणङीषेव न तु ङीन् । अजो लुप्तत्वेन नकारादकारस्य अजोऽवयवत्वाभावात् । नृनरयोर्वृद्धिश्चेति । चकारात् ङीन् । नारीति । नृनरशब्दयोरुदाहरणम् । तत्र नृशब्दात् 'ऋन्नेभ्यः' इति ङीपि प्राप्ते ङीन्, ऋकारस्य वृद्धिः, रपरत्वम् । जातिलक्षणङीषस्तु नृशब्दान्न प्रसक्तिः, तत्र अत इत्यनुवृत्तेः । नरशब्दात्तु ङीनि नकारादकारस्य वृद्धिः । ननु परमपि 'यस्येति च' इति लोपं बाधित्वा अन्तरङ्गत्वादलोऽन्त्यपरिभाषया रेफादकारस्य वृद्धिः स्यात् । न च कृतायामपि वृद्धौ 'यस्येति च' इत्यकारलोपः स्यादिति वाच्यम्, वृद्धिविधिसामर्थ्यादेव तस्य लोपाभावसिद्धेरिति चेदुच्यते—नृनरयोरित्यत्र नर् इति रेफान्तस्य लुप्ताकारस्यानुकरणम् । नरः अः नरः, ना च नरश्च नृनरौ, तयोरिति विग्रहः । न चैवमपि वानरीशब्दे अतिप्रसङ्ग इति वाच्यम्, अर्थवत एव ग्रहणात् । न च नृशब्दात् ङीनि वृद्धौ नारीति सिद्धेर्नरग्रहणं व्यर्थमिति वाच्यम्, नरत्वजातिवाचिनः नरशब्दात् स्त्रियां जातिलक्षणङीपि नरीति व्यावृत्यर्थत्वात् । वस्तुतस्तु 'नृनरयोर्वृद्धिश्च' इति गणसूत्रं नारब्धव्यमेव । 'तदस्य धर्म्यम्' इत्यनुवृत्तौ 'ऋतोऽञ्' इति सूत्रेण 'नरस्य चेति वक्तव्यम्' इति वार्तिकेन च नुर्धर्म्या नरस्य धर्म्यत्यर्थे नृशब्दान्नरशब्दाच्च अञि, ततः 'टिड्ढाणञ्' इति ङीपि नारीति सिद्धेः । 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' इति प्रकृतेराद्युदात्तत्वे ङीपः पित्त्वादनुदात्तत्वम् । ङीन्यपि नित्स्वरेण प्रकृतेरुदात्तत्वमिति स्वरे विशेषाभावात् । न चैवं सति मनुष्यधर्म्यत्वेनैव बोधः स्यात्, न तु नरत्वेनेति वाच्यम्, योग्यतया हि तद्धर्म्या नरत्वजातिविशिष्टैव बुध्यते । अत एव वास्तुनि भवो वास्तव्य इति रूपस्य 'दिगादिभ्यो यत्' इति भावार्थकतया सिद्धत्वात् 'वसेस्तव्यत्कर्तरि णिच्च' इति वचनं न कर्तव्यमिति भाष्यं सङ्गच्छते । रूढानां यथाकथंचिदन्वाख्यानमिति कैयट इति शब्देन्दुशेखरे स्थितम् ।

द्योत्य रहते 'ङीन्' प्रत्यय होता है" । यह विधान "जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" (५१८) से प्राप्त 'ङीष्' प्रत्यय का बाधक है । उदाहरण-शृङ्गरु>शार्ङ्गरव>शार्ङ्गरवी (ङीन्) । अर्थ-'शृङ्गरु' मुनि की स्त्री-सन्तान । प्रक्रिया—शृङ्गरु+अण् (अ), <शार्ङ्गरु+अ (आदिवृद्धि), <शार्ङ्गरो+अ (उ=ओ-"ओर्गुणः" ६-४-१४६), <शार्ङ्गरव (अवादेश),<शार्ङ्गरव+ई (ङीन्), <शार्ङ्गरवी (अ-लोप) । २—विद>वैद>वैदी (विद की स्त्री-सन्तति) । प्रक्रिया—विद+अ (अञ्-"अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्" (४-१-१०४), <वैद्०+अ (आदिवृद्धि), <वैद ('अ' का लोप), <वैद्०+ई (ङीन्), <वैदी ('अ' का लोप) । ये दोनों शब्द गोत्रवाची होने के कारण जातिवाची हैं ('गोत्रं च चरणैः सह') । अतः 'ङीष्' को बाधकर 'ङीन्' हुआ है । पुंयोग की विवक्षा में "जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" (५१८) से ङीष् ही होगा । वहाँ शार्ङ्गरवस्य स्त्री—'शार्ङ्गरवी' एवं बिदस्य स्त्री-'वैदी'—ये समान रूप ही बनेंगे । किन्तु दोनों प्रत्ययों के स्वरों में भेद है । 'ङीन्' में 'न्' की इत्संज्ञा होने से वह आद्युदात्त होता है—"ञ्नित्यादिर्नित्यम्" (६-१-१९१) । वा० १—जातिवाचक 'नृ' तथा 'नर' शब्दों से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'ङीन्' प्रत्यय होता है और उनके 'अच्' को वृद्धि भी होती है । उदाहरण—(१) नृ>नारी (स्त्री) । प्रक्रिया-नृ+ई (ङीन्), <न्-आर्+ई (वृद्धि-ऋ = आर्), <नारी । (२)नर+ई (ङीन्),<नार्०+ई (अ = आ-वृद्धि), <नारी ('अ' का लोप) । इन दोनों शब्दों से क्रमशः "ऋन्नेभ्यो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गणसूत्रम्। नारी। (५२८) यङश्चाप् ४।१।७४॥ यङन्तास्त्रियां चाप्स्यात्। यङिति ञ्यङ्ष्यङोः सामान्यग्रहणम्। आम्बष्ठ्या। कारीषगन्ध्या। 'षाद्यन्नश्चाव्वाच्यः'

---

(५२८) यङश्चाप्। पकारो 'हल्ङ्याब्भ्यः' इत्यत्र ग्रहणार्थः। चकारः 'चितः' इत्यन्तोदात्तार्थः। सामान्येति। यङ्रूपस्य उभयत्रापि सत्त्वादिति भावः। ञ्यङमुदाहरति—आम्बष्ठ्येति। अम्बष्ठस्यापत्यं स्त्रीत्यर्थः। 'वृद्धेत्कोसल' इति ञ्यङ्। आम्बष्ठ्यशब्दाच्चाप्। ष्यङमुदाहरति—कारीषगन्ध्येति। करीषं गवादिपशुपुरीषं, तस्येव गन्धो यस्य सः करीषगन्धिः। 'उपमानाच्च' इति गन्धस्य इकारोऽन्तादेशः। करीषगन्धेः गोत्रापत्यं स्त्री इत्यर्थे अण्प्रत्ययः। 'अणिञोरनार्षयोः' इति तस्य ष्यङादेशः। षाद्यन्न इति। षकारात् परो यो यञ् तदन्तादपि चाबित्यर्थः। शार्कराक्ष्येति। शर्कराक्षस्यापत्यं स्त्रीत्यर्थः। पौतिमाष्येति। पूतिमाषस्यापत्यं स्त्रीत्यर्थः। 'गर्गादिभ्यो यञ्' इत्युभयत्र यञ्।

ङीप्" (३०६) से 'ङीप्' तथा "जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" (५१८) से 'ङीष्' प्राप्त रहे, उनका बाध होने पर 'ङीन्' प्रत्यय हुआ है।

(५२८) पद—यङः, चाप्। अनुवृत्ति—स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'यङ्'-प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'चाप्' प्रत्यय होता है। यहाँ 'ञ्यङ्' तथा 'ष्यङ्' का सामान्यतया ग्रहण किया गया है। आम्बष्ठ्या। कारीषगन्ध्या। वा० षकार से पर यञन्त से भी स्त्रीलिङ्ग में 'चाप्' होता है। शार्कराक्ष्या। पौतिमाष्या।

विवरण—आवन्त स्त्री-प्रत्ययों में से 'चाप्' (आ) का विधान बताया जा रहा है। स्त्रीप्रत्ययसम्बन्धी चारों अधिकारसूत्रों की अनुवृत्ति यथापूर्व की गई है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "यङन्त-प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में 'चाप्' प्रत्यय हो"। यङ् से यहाँ 'ञ्यङ्' तथा 'ष्यङ्'-इन प्रत्ययो का सामान्यतया ग्रहण होता है। क्रमशः उदाहरण—१-'ञ्यङ्' प्रत्ययान्त का-अम्बष्ठ>आम्बष्ठ्य>आम्बष्ठ्या। 'अम्बष्ठस्य अपत्यं स्त्री'—इस अर्थ में "वृद्धेत्कोसलाजादाञ्यङ्" (४-१-१७१) से 'ञ्यङ्' (य) प्रत्यय (अम्बष्ठ+य) होने पर आदिवृद्धि (आम्बष्ठ+य) होकर 'अ' लोप होने के पश्चात् 'आम्बष्ठ्य' रूप निष्पन्न होता है। तदनन्तर प्रकृत सूत्र से 'चाप्' (आ) प्रत्यय (आम्बष्ठ्य+आ) करने के पश्चात् सवर्णदीर्घ होने पर 'आम्बष्ठ्या' रूप सिद्ध होता है (='अम्बष्ठ' जाति की कन्या)। २—'ष्यङ्' प्रत्ययान्त का उदाहरण—करीषगन्ध>कारीषगन्ध्य>कारीषगन्ध्या। 'करीषस्य इव (गोबर की तरह) गन्धः यस्य' (गन्धवाली) इस अर्थ में "उपमानाच्च" (५-४-१३७) से अकार के स्थान पर इकार होने से 'करीषगन्धि' निष्पन्न होता है। तदनन्तर 'करीषगन्धेः गोत्रापत्यम्' इस अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होकर उसके स्थान पर "अणियोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे" (४-१-७८) से 'ष्यङ्' (य) आदेश होने पर 'कारीषगन्ध्य' शब्द निष्पन्न होता है। अब ष्यङन्त से 'चाप्' (आ) प्रत्यय (कारीषगन्ध्य+आ) होने के पश्चात् सवर्णदीर्घ होकर 'कारीषगन्ध्या' शब्द सिद्ध होता है (करीषगन्धि की स्त्री-अपत्य)। यद्यपि 'ष्यङ्' आदेश स्त्रीलिङ्ग में विहित है तथापि "यङश्चाप्" (४-१-७४) सूत्र में 'ङ्'-इत्संज्ञक यकार" (यङ्) का ग्रहण करने से ष्यङ् प्रत्ययान्त से भी 'चाप्' प्रत्यय होता है। वा०—अर्थ—षकार से परवर्ती 'यञ्' को भी 'चाप्' होता है। उदाहरण—शर्कराक्ष>शार्कराक्ष्य>शार्कराक्ष्या। (शर्कराक्ष की स्त्री-सन्तति)। शर्कराक्ष+यञ् ("गर्गादिभ्यो यञ्" ४-१-१०५), <शार्कराक्ष्य (आदिवृद्धि, अलोप) शार्कराक्ष्य+आ ('चाप्'), <शार्कराक्ष्या (सवर्णदीर्घ)। प्रक्रिया के मध्य 'अ'लोप होने के पश्चात् 'शार्कराक्ष्+य'-इस स्थिति में 'ष्' से पर 'यञ्' सम्बन्धी यकार के विद्यमान होने पर प्रकृत वार्तिक से 'चाप्' प्रत्यय हुआ। इसी प्रकार पूतिमाष>पौतिमाष्य>पौतिमाष्या भी जाना जाय। अर्थ—पूतिमाष की स्त्री-सन्तति।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वा २५०५) । शार्कराक्ष्या । पौतिमाष्या । (५२९) **आवट्याच्च** ४ । १ । ७५ ॥ अस्माच्चाप्स्यात् । 'यञश्च' (सू ४७१) इति ङीपोऽपवादः । अवटशब्दो गर्गादिः । आवट्या । (५३०) **तद्धिताः** ४ । १ । ७६ ॥ आपञ्चमसमाप्तेरधिकारोऽयम् । (५३१) **यूनस्तिः** ४ । १ । ७७ ॥ युवन्शब्दात्तिप्रत्ययः स्यात्, स च तद्धितः ।

---

(५२९) आवट्याच्च । ननु कथमवटशब्दस्यापत्यमित्यर्थे यञन्तत्वमित्यत आह—अवट-शब्द इति । आवट्येति । अवटस्यापत्यं स्त्रीत्यर्थः । गर्गादित्वेऽपि 'यस्येति च' इत्यकारलोपे आदिवृद्धौ आवट्यशब्दात् चाप् ।

(५३०) तद्धिताः । वक्ष्यमाणाः प्रत्ययाः तद्धितसंज्ञकाः प्रत्येतव्या इत्यर्थः । अधिकार-सूत्रमेतत् । उत्तरावधिमाह—आपञ्चमेति ।

(५३१) यूनस्तिः । तद्धिता इत्यनुवृत्तमेकवचनेन विपरिणम्यते । तदाह—युवन्शब्दात्तिप्रत्ययः स्यात् स च तद्धित इति । स्त्रियामिति शेषः । 'समर्थानाम्' इत्यतः प्राक् तदधि-कारस्योक्तत्वादिति भावः । नान्तलक्षणङीपोऽपवादः । नन्वत्र तद्धितग्रहणानुवृत्तिर्व्यर्था । न च 'कृत्तद्धित' इति प्रातिपदिकत्वार्थं तदनुवृत्तिरिति वाच्यम्, प्रातिपदिकत्वाभावेऽपि

---

(५२९) पद—आवट्यात्, च । अनुवृत्ति—चाप्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'आवट्य' शब्द से भी 'चाप्' प्रत्यय होता है । "यञश्च" से विधीयमान 'ङीप्' का अपवाद है । 'अवट' शब्द गर्गादिगण में पठित है। आवट्या ।

विवरण—'अवट' शब्द से 'चाप्' प्रत्यय का विधान किया जा रहा है । 'यञ्' प्रत्ययान्त होने के कारण पूर्व-सूत्र की प्राप्ति नहीं है, क्योंकि वहाँ 'यञन्त' पद 'ञ्य' तथा 'ष्य' प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों का बोधक है । अतः पूर्व सूत्र से 'चाप्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । शेष अनुवृत्तियाँ भी यथापूर्व की जा रही हैं । तदनुसार 'आवट्य' शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य रहते 'चाप्' (आ) प्रत्यय होता है । यह विधान "यञश्च" (४७१) से प्राप्त होने वाले 'ङीप्' का अपवाद है । उदाहरण—अवट>आवट्य>आवट्या । अर्थ—अवट की स्त्री-सन्तति । 'अवट' शब्द गर्गादि-गण में है ।

विशेष—'चाप्' प्रत्यय में चकार की इत्संज्ञा होने से वह अन्तोदात्त होता है—"चितः" (६-१-१६) ।

(५३०) पद—तद्धिताः । अधिकारसूत्र ।

मूलार्थ—पाँचवें अध्याय की समाप्ति-पर्यन्त इसका अधिकार है ।

विवरण—यह अधिकार-सूत्र है । यहाँ से आगे पाँचवें अध्याय की समाप्ति-पयन्त जो भी प्रत्यय कहे जायेंगे, उन सब की 'तद्धित' संज्ञा होगी । अर्थात् यहाँ से आगे 'तद्धिताः' यह पद 'प्रत्ययः' का विशेषण हो जायगा । अतः सर्वत्र इस प्रकार अर्थ होगा—"अमुक प्रत्यय का विधान किया जाता है और उसकी 'तद्धित' संज्ञा भी हो" ।

(५३१) पद—यूनः, तिः । अनुवृत्ति—तद्धिताः, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'युवन्' शब्द से 'ति' प्रत्यय हो और वह 'तद्धित'-संज्ञक भी हो । यहाँ लिङ्गविशिष्ट-परिभाषा से प्रातिपदिकत्व सिद्ध होने पर भी 'तद्धित' का अधिकार आगे के लिये उपयोगी है । युवतिः । उपसर्जनरहित से ही 'ति' होगा । 'बहुत युवकों से युक्त (नगरी)'—'बहवो युवानो यस्यां सा'—इस अर्थ में विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने से 'ति' नहीं हुआ । अतः 'बहुयुवा' । प्रक्रिया—√यु धातु से शतृ-प्रत्यय करने के पश्चात् तदन्त से 'ङीप्' होने पर 'युवती' शब्द निष्पन्न होता है ।

विवरण—पाँचों अधिकार-सूत्रों की अनुवृत्ति के अतिरिक्त 'तद्धिताः' की भी अनुवृत्ति आ-रही है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "युवन् शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'ति' प्रत्यय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिङ्गविशिष्टपरिभाषया सिद्धे तद्धिताधिकार उत्तरार्थः। युवतिः। अनुपसर्जनादित्येव। बहवो युवानो यस्यां सा बहुयुवा। युवतीति तु यौतेः शत्रन्तान्ङीपि बोध्यम्।

इति स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम्।

लिङ्गविशिष्टपरिभाषया तिप्रत्ययान्तात् सुब्युत्पत्तिसिद्धेरित्यत आह–लिङ्गविशिष्टस्येति। युवतिरिति। स्वादिष्विति पदत्वात् 'न लोप' इति नकारलोपः। अनुपसर्जनादित्येवेति। अनुवर्तत एवेत्यर्थः। बहुयुवेति। उपसर्जनत्वात्तिप्रत्ययाभावे नान्तलक्षणङीपः 'अनो बहुव्रीहेः' इति निषेधे 'डाबुभाभ्याम्' इति डापि च रूपम्। ननु 'युवतीभिः परिवृत' इत्यादौ कथं युवतीशब्द ईकारान्त इत्यत आह—युवतीति त्विति। 'यु मिश्रणे' इत्यस्माल्लटः शतरि, शपो लुकि, उवङि, उगित्त्वान्ङीपि युवतीशब्दो व्युत्पन्नो बोध्य इत्यर्थः। पतिं सुखेन मिश्रयन्ती योषिदुच्यते। अन्ये तु युधातोरौणादिके बाहुलकात् कतिप्रत्यये, कित्त्वात् गुणाभावे, उवङि उगित्त्वात् ङीपि युवतीशब्दः सिध्यतीत्याहुः।

इति श्रीमद्वासुदेवदीक्षितविदुषा विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां बालमनोरमाख्यायां स्त्रीप्रत्ययनिरूपणं समाप्तम्।

होता है और उसकी 'तद्धित' संज्ञा भी हो"। तद्धित–संज्ञा होने के फलस्वरूप "कृत्तद्धितसमासाश्च" (१-२-४६) से प्रातिपदिक संज्ञा, तदनन्तर विभक्त्युत्पत्ति होती है। इस सम्बन्ध में यह शङ्का की जाती है कि "प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्"—इस परिभाषा का आश्रयण कर पुंलिङ्गवाची 'युवन्'–शब्द में रहने वाले प्रातिपदिकत्व धर्म का स्त्रीलिङ्गवाची 'युवति' शब्द में आरोप होने पर विभक्त्युत्पत्ति होने में किसी प्रकार से बाधा नहीं होगी, अतः 'तद्धिताः' अधिकार की क्या उपयोगिता है? आगे के सूत्रों में अनुवृत्ति जाने के लिये उसका यहाँ उल्लेख किया गया है। **उदाहरण**—युवन्+ति, <युव+ति ("स्वादिष्वसर्वनामस्थाने" १-४-१७ से पद-संज्ञा तथा 'न्' का लोप–"न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य" ८-२-७), <युवति+स् (विभक्ति), '<युवतिः (स्+र=:)।

विशेष—१–'अनुपसर्जनात्' अधिकार के फलस्वरूप विशेषण के रूप में प्रयुक्त न होने पर (अनुपसर्जन) युवन्–शब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग मे 'ति' प्रत्यय होगा, अन्यथा नहीं। फलतः 'बहवो युवानो यस्यां सा' (=बहुत से युवकों से युक्त नगरी) अर्थ में बहुव्रीहि–समास होने पर 'ति' प्रत्यय नहीं होता, क्योंकि यहाँ अन्यपदार्थ 'नगरी' में 'युवन्' शब्दार्थ उपसर्जन हो गया है। 'ति' प्रत्यय न होने से नकारान्त शब्द को अभिलक्षित कर "ऋन्नेभ्यो ङीप्" (३०६) से प्राप्त 'ङीप्' का "अनो बहुव्रीहेः" (४६०) से निषेध किये जाने पर "डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्" (४६१) से 'डाप्' प्रत्यय होकर 'बहुयुवा' रूप सिद्ध होता है (बहुयुवन्+आ, <बहुयुव्+आ—टि–'अन्' का लोप = बहुयुवा)।

२—स्त्रीलिङ्ग में 'युवती' शब्द का प्रयोग भी प्रचलित है। उसकी व्युत्पत्ति का प्रकार बताया गया है। तदनुसार √यु धातु से 'लट्' लकार के स्थान पर 'शतृ' प्रत्यय करने पर "उगितश्च" (४५५) से 'ङीप्' प्रत्यय होकर 'युवती' शब्द निष्पन्न होता है। अन्य विद्वानों के अनुसार √यु धातु से उणादिस्थ 'कतु' (अत्) प्रत्यय करने पर 'उवङ्' होने के उपरान्त "उगितश्च" (४५५) से ङीप् होने के पश्चात् 'युवती' शब्द सिद्ध हो सकता है।

स्त्री–प्रत्यय–प्रकरण समाप्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ कारकप्रकरणम्

(५३२) प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा २।३।४६॥ नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः। प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्या-

---

(५३२) अथ कारकप्रकरणप्रारम्भः। तदेवम् 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इत्यधिकृत्य विहिताः स्वादिप्रत्ययाः सप्रपञ्चं निरूपिताः। तत्र प्रथमादिसप्तम्यन्तसप्तविभक्तीनामर्थविशेषव्यवस्थां दर्शयितुमुपक्रमते—प्रातिपदिकार्थ। ननु प्रवृत्तिनिमित्तं व्यक्तिश्चेति द्विकं प्रातिपदिकार्थः, प्रवृत्तिनिमित्तं व्यक्तिः लिङ्गं चेति त्रिकं प्रातिपदिकार्थः, प्रवृत्तिनिमित्तं व्यक्तिः लिङ्गं संख्या चेति चतुष्कं प्रातिपदिकार्थः, प्रवृत्तिनिमित्तं व्यक्तिः लिङ्गं संख्या कारकं चेति पञ्चकं प्रतिपदिकार्थः, इत्येते पक्षाः 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' 'स्त्रियाम्' इत्यादिसूत्रेषु भाष्ये स्थिताः, मञ्जूषायां प्रपञ्चिताश्च। तत्र त्रिकादिपक्षेषु लिङ्गस्यापि प्रातिपदिकार्थत्वात् पृथग्ग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—नियतेति। नियता उपस्थितिर्यस्येति

कारक-प्रकरण-प्रारम्भ

उपक्रम—लोकव्यवहार में अर्थ की स्पष्ट प्रतीति वाक्य से होती है। वाक्य के स्वरूप पर ऊहापोह सुदूर भूत में ही आरम्भ हो गए थे। अष्टाध्यायी में वाक्य से सम्बद्ध कार्यों के विधान अवश्य वर्णित हैं, किन्तु वाक्य की परिभाषा के विषय में उल्लेख नहीं मिलता। उसकी पूर्ति वार्तिककार कात्यायन ने की है। अतः उन्हें **वाक्यकार** भी कहा जाता है। उनका यह विशिष्ट नाम दो तरह से सार्थक है। प्रथम—उन्होंने पाणिनि के सूत्रों पर 'वार्तिक' लिखकर 'वाक्य' का सरल रूप प्रस्तुत किया है। उससे उनकी रचना या वस्तु के आकृति-परक स्वरूप का अन्तर विदित होता है। सूत्र में वाक्य-रचना की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। उसे 'वृत्ति' 'भाष्य' आदि के रूप में पूर्ण करना पड़ता है, जब कि 'वाक्य' स्वयं में एक पूर्ण इकाई है। 'वार्तिक' इन्हीं सरल लघु वाक्यों के रूप में लिखे गए थे। उनमें सूत्रात्मक संक्षेप नहीं था। द्वितीय—वे वाक्यकार के नाम से इस कारण प्रसिद्ध हुए कि उन्होंने सर्वप्रथम 'वाक्य' का लक्षण निर्धारित किया। वार्तिककार ने 'वाक्य' के दो पारिभाषिक लक्षण दिये हैं। उनमें से एक है—**'आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं 'वाक्यम्'**। यहाँ 'आख्यात' पद से एक क्रियापद अभीष्ट है। अर्थात् अव्यय, कारक, एवं विशेषणसहित आख्यात वाक्य है। जैसे—अव्ययसहित—'उच्चैः पठति'। कारकसहित—'ग्रामं गच्छति'। क्रियाविशेषणसहित—'सुष्ठु पचति'। दूसरे लक्षण के अनुसार 'वाक्य' का स्वरूप है **'एकतिङ् वाक्यम्'**। इस लक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि दो आख्यात वाले वाक्य को एक वाक्य न माना जाय।

वाक्य एक है, अवयवरहित है। वाक्य में अवयव की कल्पना बाद में की जाती है। मूलरूप में वाक्य अपने आप में अविच्छिन्न है, पूर्ण है। वाक्य के अवयव-रहित स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए वैयाकरणों ने चित्रबुद्धि[1] आदि का आश्रय लिया है। सर्वप्रथम चित्र हमारे सामने पूर्ण

---

१. "चित्रस्थस्यैकरूपस्य यथा भेदनिदर्शनैः।
नीलादिभिः समाख्यानं क्रियते भिन्नलक्षणैः॥
तथैवैकस्य वाक्यस्य निराकाङ्क्षस्य सर्वतः।
शब्दान्तरैः समाख्यानं साकाङ्क्षैरनुगम्यते॥" वाक्यपदीय २-८।९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धिवये सङ्ख्यामात्रे च प्रथमा स्यात् । उच्चैः । नीचैः । कृष्णः । श्रीः । ज्ञानम् । अलिङ्गा

विग्रहः । यस्मिन् प्रातिपदिके उच्चारिते यस्यार्थस्य नियमेनोपस्थितिः स तदर्थ इत्यर्थः । एवञ्च तटः तटी तटम् इत्याद्यनियतलिङ्गेषु नियमेन कस्यापि लिङ्गस्योपस्थित्यभावात् प्रातिपदिकार्थशब्देनाग्रहणात् पृथक् लिङ्गग्रहणमावश्यकमिति भावः । मात्रशब्दस्य वचनशब्देनैवान्वयभ्रमं वारयति—मात्रशब्दस्येति । प्रातिपदिकार्थश्च लिङ्गं च परिमाणं च वचनं चेति द्वन्द्वः । प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनान्येव प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रमित्यस्वपदविग्रहः । मात्रशब्दोऽवधारणे । 'मात्रं कात्स्न्र्येऽवधारणे' इत्यमरः । 'मयूरव्यंसकादयश्च' इति नित्यसमासः । मात्रशब्दस्य द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् प्रातिपदिकार्थे, लिङ्गे, परिमाणे, वचने च प्रत्येकमन्वय इत्यर्थः । वचनं संख्येति वक्ष्यति । ननु प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्रे परिमाणमात्रे सङ्ख्यामात्रे च प्रथमेत्यनुपपन्नम् । लिङ्गादीनां केवलानां प्रातिपदिकार्थं विना क्वाप्यनुपस्थितेरित्याशङ्क्य अत एव बाधकात्

रूप में रहता है । तदनन्तर उसके भिन्न-भिन्न भागों में दृष्टि जाती है । उसी तरह वाक्य भी अपने आप में पूर्ण है, निराकाङ्क्ष है एवम् अवयवरहित है । उसे समझने के लिये हम शब्दों (पदों) में बाँटते हैं तथा शब्दों का एक दूसरे से सम्बन्ध जोड़कर वाक्य का विश्लेषण करते हैं । जिस तरह मोर के अण्डे के भीतर विद्यमान रस में भावी मयूर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग, चक्रक आदि अविभक्त रूप में पड़े रहते हैं तथा बाद में विभक्त होकर अलग-अलग अवयव के रूप में प्रत्यक्ष होते हैं, उसी तरह वाक्य में पद आदि अविभक्त रूप में होते हैं । उनकी अलग-अलग प्रतीति अन्वाख्यान के सहारे हमारे सामने आती है । वैसे ही पद के सम्यक् ज्ञान के लिए हम उसे प्रकृति-प्रत्यय में विभक्त करते हैं । वह प्रकृति-प्रत्यय-विभाग भी काल्पनिक है । इस प्रकार वाक्य का वास्तविक विभाग नहीं होता, किन्तु यथासम्भव शीघ्र बोध कराने के लिए विभाग का आश्रय लिया जाता है ।

इस दृष्टि से वाक्य ही अर्थ-वाचक माना गया है । वर्ण अथवा पद सिद्धान्त में अर्थ के वाचक नहीं हैं । वाक्य की अखण्डता को अभिलक्षित कर व्याकरण-दर्शन में 'वाक्यस्फोट' का प्राधान्य सर्वविदित है । 'वाक्यस्फोट' की प्रधानता को ध्यान में रखकर भट्टोजी दीक्षित ने ग्रन्थ के आरम्भ में 'वाक्यस्फोट' के अभिव्यञ्जक एवं वाक्य की साधुता के प्रतिपादक पञ्चसन्धि-प्रकरण का निर्वचन किया है । 'वाक्य' की पूर्णता का बोध कराने के लिए सुबन्त (विभक्तियाँ) तथा तिङन्त (धातु-सम्बन्धी प्रत्यय) पदों का स्वरूप जानना आवश्यक है । इस बात को ध्यान में रखकर 'सूची-कटाह' न्याय से सर्वप्रथम 'सुबन्त' शब्दों का निर्वचन षड्-लिङ्ग प्रकरण में किया गया है । 'सुप्'-विभक्तियों के प्रकृति-रूप 'प्रातिपदिक' के साधुत्व प्रतिपादक समास, तद्धित आदि का निर्वचन करने की अपेक्षा भट्टोजिदीक्षित ने कारक-प्रकरण को प्राथमिकता दी है । उसका कारण यह है कि समास, तद्धित आदि के उद्देश्य को कार्यान्वित करने में कारकों की उपयोगिता सर्वविदित है । तथापि 'कारक'-प्रकरण के पूर्व 'स्त्री-प्रत्यय' प्रकरण का निर्वचन उन्होंने इस हेतु किया है कि 'प्रातिपदिक' के समान ही 'ङ्यन्त' एवं 'आबन्त' शब्दों से भी 'सुप'-विभक्तियाँ संयुक्त होती हैं । अतः सुप्-विभक्तियों के अर्थ का ज्ञान आवश्यक है । इसका निरूपण करने के लिए प्रसङ्गप्राप्त 'कारक-प्रकरण' आरम्भ होता है ।[1]

---

१. आरोहणावरोहणक्रमयोर्मध्येऽवरोहणक्रमेण शब्दसाधुत्वाभिधायकग्रन्थरचने प्रवृत्तः श्रीमद्-भट्टोजिदीक्षितः पूर्वं वाक्यस्फोटस्यैवास्मत्सिद्धान्तसिद्धतया वाक्यस्फोटाभिव्यञ्जकवाक्यसाधुत्वबोधकं

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियतलिङ्गाश्च प्रातिपदिकार्थमात्र इत्यस्योदाहरणम्। अनियतलिङ्गास्तु लिङ्गमात्रा-

लिङ्गमात्रे अधिके इति विवक्षितमित्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—लिङ्गमात्राद्याधिक्य इति। लिङ्गमात्राधिक्ये चेत्यर्थः। प्रातिपदिकार्थमात्र इत्यस्योदाहरति—उच्चैरित्यादि। नन्वव्ययेषु 'सामान्ये नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वस्य च कृष्णशब्दे पुंस्त्वस्य च श्रीशब्दे स्त्रीत्वस्य च ज्ञानशब्दे नपुंसकत्वस्य च भानात् कथं प्रातिपदिकार्थस्योदाहरणान्येतानीत्यत आह—अलिङ्गा इत्यादि। 'अव्ययादाप्सुपः' इति सूत्रे 'आब्ग्रहणं व्यर्थमलिङ्गत्वात्' इति भाष्योक्तरीत्या अव्यये कस्यापि लिङ्गस्यानुपस्थितिरिति प्रातिपदिकार्थमात्रे इत्यस्य भवत्यव्ययमुदाहरणम्। कृष्णशब्दे पुंस्त्वस्य, श्रीशब्दे स्त्रीत्वस्य, ज्ञानशब्दे नपुंसकत्वस्य च नियमेन

वाक्य-विन्यास में तीन बातें प्रमुख हैं—(क) पदों का परस्पर समन्वय, (ख) कारक और (ग) पदों का क्रम। संस्कृत में प्रथम दो बातों पर विशेष विचार हुआ है किन्तु अंग्रेजी भाषा में पदों के क्रम पर अधिक विचार किया गया है। संस्कृत विभक्ति-प्रधान भाषा है अतः उसमें पदों का परस्पर सम्बन्ध विभक्तियों से निर्धारित होता है, भले ही वे पद कहीं रख दिये जायँ। वहाँ क्रम-परिवर्तन से अर्थ-परिवर्तन नहीं होता। इसके विपरीत अंग्रेजी आदि विभक्तिरहित भाषाओं में क्रम-परिवर्तन करते ही अर्थपरिवर्तन हो जाता है। यद्यपि संस्कृत में केवल पदों का क्रम ही महत्त्व नहीं रखता तथापि इस विषय में पूर्णतया स्वच्छन्दता नहीं बरती जासकती है। पदों के परस्पर समन्वय से तात्पर्य है—वाक्य में पदों के लिङ्ग, वचन, पुरुष या काल की समरूपता। संस्कृत में पदों के परस्पर समन्वय के विषय में तीन बातें उल्लेखनीय है—(क) कर्ता और क्रिया का समन्वय, (ख) विशेषण और विशेष्य का समन्वय तथा (ग) सापेक्ष शब्दों का अपने पूर्ववर्ती सम्बद्ध शब्दों से समन्वय।

संस्कृत व्याकरण में 'वाक्य-विन्यास' के सन्दर्भ में कारक-प्रकरण पर विशेष विचार हुआ है। तदनुसार वाक्य में संज्ञा और क्रिया के बीच जो सम्बन्ध है, उसके आधार पर ही 'कारक' नाम दिया गया है। वस्तुतः यह क्रिया की निष्पत्ति में लगी हुई द्रव्यशक्ति है, जिसे साधन भी कहते हैं। इसी का दूसरा नाम कारक है[1]। वह शक्ति मूल-रूप में एक है—'कर्तृत्वशक्ति'। वही शक्ति अवान्तर-व्यापार की विवक्षा से करण, सम्प्रदान आदि नाम प्राप्त कर छह रूपों में प्रकाशित होती है[2]। उसी शक्ति के ये छह भेद कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण नाम से प्रसिद्ध हैं[3]। इनमें कर्ता की प्रधानता इसलिये मानी जाती है कि करण आदि की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति उसी के अधीन होती है।

(५३२) पद—प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे, प्रथमा। विधिसूत्र।

पञ्चसन्धिप्रकरणमुक्त्वा ततो वाक्यसाधुत्वबोधनाय वाक्यघटकसुबन्त-तिङन्त-पदसाधुत्वबोधनस्य आवश्यकतया सूचीकटाहन्यायेन पूर्वं सुबन्तस्यैव साधुत्वबोधकषड्लिङाव्ययप्रकरणे अभिधाय सुप्प्रकृतिभूत–प्रातिपदिकसाधुत्वबोधक–समासतद्धित-प्रकरणापेक्षया तदीयोद्देश्यतावच्छेदकसम्पादकतया सुप्साधुत्वबोधक-कारकप्रकरणस्य लेखनावश्यकत्वेऽपि सुप्प्रातिपदिकयोरन्तर्गतत्वेन स्त्रीप्रत्ययोत्तरमपि "ङ्याप्प्रातिपदिकात्" (४-१-१) इत्यनेन स्वादेर्विधानाच्च पूर्वं स्त्रीप्रत्ययप्रकरणमुल्लिख्य तदनन्तरमस्यैव निरूपणीयत्वादाह—स्वौजसेति। म० म० पं० नित्यानन्द पन्त पर्वतीय कृत 'लघुशब्देन्दुशेखर'–'दीपक' व्याख्या।

१. "स्वाश्रये समवेतानां तद्वदेवाश्रयान्तरे। क्रियाणामभिनिष्पत्तौ सामर्थ्यं साधनं विदुः॥"
वाक्यपदीय, तृतीय-काण्ड, साधनसमुद्देश १।

२. निमित्तभेददेकैव भिन्ना शक्तिः प्रतीयते।
षोढा कर्तृत्वमेवाहुस्तत प्रवृत्तेर्निबन्धनम्॥ वाक्यपदीय ३, साधनसमुद्देश, ३७।

३. कर्ता कर्म च करणं सम्प्रदानं तथैव च। अपादानाधिकरण इत्याहुः करकाणि षट्॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धिक्यस्य। तटः–तटी–तटम्। परिमाणमात्रे द्रोणो व्रीहिः। द्रोणरूपं यत्परिमाणं

भानमस्ति, तथा नियतलिङ्गत्वात्। अतस्तेषु लिङ्गानामपि प्रातिपदिकार्थान्तर्भावात् तेषामपि प्रातिपदिकार्थमात्रे इत्युदाहरणत्वं निर्बाधमिति भावः। यद्यपि कृष्णः पटः, कृष्णा पटी, कृष्णं वस्त्रम् इत्यादौ कृष्णशब्दस्त्रिलिङ्गः, तथापि भगवत्पर एवात्र कृष्णशब्दो विवक्षित इति भावः। न च प्रातिपदिकोक्तार्थे किं प्रथमयेति वाच्यम्, एकत्वादिसङ्ख्या-बोधार्थत्वात्। न चान्ययात् प्रथमोत्पत्तेः फलाभावः 'अव्ययादाप्सुपः' इति लुकोऽवश्यं प्रवृत्तेरिति वाच्यम्, पदत्वार्थं सुबुत्पत्तेरावश्यकत्वात्। तेन उच्चैरित्यादौ रुत्वविसर्गौ 'उच्चैस्ते सम्यगुच्चारणम्' इत्यादौ तेमयादिसिद्धिश्च भवति। अनियतेति। अनियतलिङ्गास्तु

मूलार्थ—नियत उपस्थिति वाले अर्थ को प्रातिपदिकार्थ कहा जाता है। 'मात्र' शब्द का प्रत्येक से सम्बन्ध है। केवल प्रातिपदिकार्थ में, लिङ्गमात्राधिक्य में, परिमाणमात्र में तथा वचनमात्र में प्रथमा विभक्ति होती है। जैसे—उच्चैः, नीचैः, कृष्णः, श्रीः, ज्ञानम्। प्रातिपदिकार्थमात्र के उदाहरण वे शब्द हैं जिनका कोई लिङ्ग नहीं है अथवा जिनका लिङ्ग निश्चित है। 'अनियतलिङ्ग' शब्द लिङ्गमात्र के आधिक्य के उदाहरण हैं। जैसे—तटः, तटी, तटम्। परिमाणमात्र की अधिकता में (प्रथमा-विभक्ति का उदाहरण)—द्रोणो व्रीहिः। इसका अर्थ है—'द्रोणरूप परिमाण से नापा हुआ धान्य (व्रीहि)'। प्रत्यय (= विभक्ति) के परिमाण–अर्थ में प्रकृति (द्रोण) का अर्थ (विशेष-परिमाण) अभेद सम्बन्ध से विशेषण होता है तथा प्रत्यय (=विभक्ति) का अर्थ (साधारण परिमाण) परिच्छेद्य-परिच्छेदकभाव सम्बन्ध से व्रीहि का विशेषण हो जाता है—यही इसका तात्पर्य (विवेक) है। 'वचन' का अर्थ संख्या है। एकः। द्वौ। बहवः। (संख्यारूप =) अर्थ उक्त होने से विभक्ति प्राप्त न होने के कारण सूत्र में 'वचन' ग्रहण किया गया है।

सन्दर्भ—"ङयाप्प्रातिपदिकात्" (४-१-१) अधिकार के अन्तर्गत सात विभक्तियों के सु, औ, जस् आदि २१ प्रत्ययों का परिचय कराया जा चुका है ("स्वौजसमौट्०" ४-१-२)। मुख्यरूप से उन सातों विभक्तियों के अर्थ बतलाने के लिये इस प्रकरण का आरम्भ किया जारहा है। क्रम-प्राप्त प्रथमा-विभक्ति से आरम्भ कर सप्तमी-विभक्ति-पर्यन्त सभी विभक्तियों का अर्थ निरूपित करना इस प्रकरण का मुख्य उद्देश्य है।

विवरण—प्रथमा-विभक्ति का अर्थ बतलाने का उपक्रम किया जारहा है। तदनुसार सूत्र का विश्लेषण करना आवश्यक है। सूत्रस्थ 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे' पद का विग्रह इस प्रकार है—प्रातिपदिकस्य अर्थः प्रातिपदिकार्थः (षष्ठी-तत्पुरुष)। प्रातिपदिकार्थश्च, लिङ्गञ्च, परिमाणञ्च, वचनञ्च–प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनम् (समाहार-द्वन्द्व)। प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनान्येव प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रम्, तस्मिन्, प्रतिपदिकार्थ···मात्रे। यह नियम है कि 'द्वन्द्व' समास के अन्त में विद्यमान शब्द का प्रत्येक शब्द के साथ सम्बन्ध होता है। इस नियम के अनुसार 'प्राति-पदिकार्थे' 'लिङ्गे' 'परिमाणे' तथा 'वचने' शब्द के साथ 'मात्र' शब्द का अन्वय होता है। मात्र शब्द का अर्थ अवधारण है। तदनुसार "प्रातिपदिकार्थ मात्र में, लिङ्गमात्र की अधिकता में, परिमाणमात्र में और संख्यामात्र में प्रथमा-विभक्ति होती है"। क्रमप्राप्त **'प्रातिपदिकार्थ'** शब्द की व्याख्या की जारही है। यह 'नियतोपस्थितिक' है। अर्थात् जिस शब्द के उच्चारण के समनन्तर जो वस्तु नियत (निश्चित) रूप से उपस्थित हो, वही उस प्रातिपदिक का अर्थ होता है[1]। जैसे 'घट' शब्द का उच्चारण करते ही 'कम्बुग्रीवादिमत्त्व' अर्थ की उपस्थिति होती है, वही उसका अर्थ है। अतः केवल प्रातिपदिकार्थ को अभिलक्षित कर 'घट' शब्द से प्रथमा-विभक्ति हो जायगी—'घटः'। फलतः किसी भी शब्द से

---

१. नियता उपस्थितिः यस्य स नियतोपस्थितिकः। नि-पूर्वकयमधातोर्व्यापकत्वमर्थः। आश्रयश्च कार्थः। षष्ठ्यर्थश्च विषयता। तथा च व्यापकताश्रयोपस्थितिविषयत्वं प्रातिपदिकार्थत्वमिति शब्दतो लभ्यते।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरित्यर्थः। प्रत्ययार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थोऽभेदेन संसर्गेण विशेषणम्, प्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहौ विशेषणमिति विवेकः। वचनं सङ्ख्या।

तटादिशब्दाः लिङ्गमात्राधिक्यस्योदाहरणम्। तत्र लिङ्गानामनियतोपस्थितिकतया प्रातिपदिकार्थानन्तर्भावादित्यर्थः। तटः तटी तटमिति। 'तटं त्रिषु' इत्यमरः। परिमाणमात्रे इति। उदाहरणं वक्ष्यते इत्यर्थः। द्रोणो व्रीहिरिति। द्रोणः परिमाणविशेषः।

जालसूर्यमरीचिस्थं त्रसरेणुरिति स्मृतम्। तेऽष्टा लिक्षा तु तास्तिस्रो राजसर्षप उच्यते॥
गौरस्तु ते त्रयष्षट् ते यवो मध्यस्तु ते त्रयः। कृष्णलः पञ्च ते माषः ते सुवर्णस्तु षोडश॥
पलं सुवर्णाश्चत्वारः पञ्च वापि प्रकीर्तितम्। पलद्वयं तु प्रसृतं द्विगुणं कुडवं मतम्॥
चतुर्भिः कुडवैः प्रस्थं प्रस्थाश्चत्वार आढकः। आढकैस्तैश्चतुर्भिस्तु द्रोण इत्यभिधीयते॥
कुम्भो द्रोणद्वयं शूर्पः खारी द्रोणास्तु षोडश॥' इति स्मरणात्। व्रीहिरिति। जातावेकवचनम् 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' इति वचनात्। व्रीहिराशिरिति यावत्। न ह्येकस्याः व्रीहिव्यक्तेः द्रोणपरिमाणं सम्भवति। ननु द्रोणाख्यपरिमाणविशेषस्य व्रीहिव्यक्तेश्च कथमभेदान्वयः, धर्मधर्मिणोर्भेदादित्यत आह—द्रोणरूपमिति। तथा चाभेदान्वयस्य बाधादेव द्रोणपरिमाणस्य व्रीहिव्यक्तेश्च परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेनान्वयाभ्युपगमान्नोक्तदोष इति भावः। ननु द्रोणशब्दस्य परिमाणविशेषवाचिनो नियतपुँल्लिङ्गत्वे प्रातिपदिकार्थमात्रे इत्येव सिद्धम्। यदि तु 'अस्त्रियामाढकद्रोणौ' इति द्विलिङ्गता, तर्हि लिङ्गमात्राधिक्ये इत्येव सिद्धम्। तत् किं

विभक्तियाँ संयुक्त होने के पूर्व उसमें अर्थप्रकाशन की योग्यता (शक्ति) होना आवश्यक है। शब्द की मौलिक स्थिति को 'प्रातिपदिक' कहा गया है ("अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्"–१७८)। सामान्य अर्थ की अपेक्षा कुछ अधिक प्रतीत हो तो केवल लिङ्गरूप अर्थ, परिमाणरूप अर्थ तथा संख्यारूप अर्थ ही हो। इस कथन से यह स्पष्ट हो गया कि 'प्रातिपदिकार्थ' के साथ ही जहाँ लिङ्ग, परिमाण तथा संख्या-रूप अर्थों की प्रतीति होगी वहाँ भी उन शब्दों से प्रथमा-विभक्ति ही संयुक्त होगी।

इस सूत्र के क्रमशः उदाहरण दिए जारहे हैं। (क) **प्रातिपदिकार्थमात्र**—उच्चैः (ऊपर), नीचैः (नीचे), कृष्णः (वसुदेव के पुत्र), श्रीः (लक्ष्मी) तथा ज्ञानम् (ज्ञान)। इनमें प्रथमा विभक्ति का अर्थ केवल उन शब्दों से निश्चित प्रतीत होने वाला अर्थ है। इन पाँचों शब्दों में से प्रथम दो शब्द–'उच्चैस्' और 'नीचैस्'–अव्यय हैं, अतः अलिङ्ग हैं। इन से 'सु' विभक्ति आने पर "अव्ययादाप्सुपः" (२-४-८२) से उसका लोप हो जाता है। तीसरा शब्द 'कृष्णः' (कृष्ण+सु) नित्य पुंलिङ्ग-वाची है। चौथा शब्द 'श्रीः' (श्री+सु) नित्य स्त्रीलिङ्ग है। पाँचवाँ शब्द 'ज्ञानम्' (ज्ञान+सु) नित्य नपुंसकलिङ्ग है। अतः 'प्रातिपदिकार्थ' के उदाहरण अलिङ्ग (अव्यय) और नियतलिङ्ग (निश्चितलिङ्ग) होंगे। (ख) **लिङ्गमात्र** की अधिकता के उदाहरण—तटः, तटी, तटम्। 'तट' (= किनारा) शब्द का प्रयोग तीनों लिङ्गों में होता है। इन तीनों प्रयोगों में 'सु' विभक्ति क्रमशः विसर्ग, 'सु'-लोप तथा 'अम्' के रूप में परिवर्तित हो गई है। इन शब्दों में उस विभक्ति का अर्थ उसकी मूल प्रकृति (प्रातिपदिक) के साथ पुलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग भी है। (ग) **परिमाणमात्र**—'द्रोणो व्रीहिः' (द्रोण भर चावल)। 'द्रोणः' (द्रोण+सु) में 'विभक्ति' का अर्थ है सामान्य-परिमाण (नाप, तोल) तथा प्रकृति–'द्रोण' का अर्थ है द्रोण नामक परिमाण-विशेष। इन दोनों का अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है। यह नियम है कि विशेषण और विशेष्यवाची शब्दों में अभेदार्थ की प्रतीति होती है। तदनुसार यहाँ भी 'विभक्ति' का 'सामान्य परिमाण' अर्थ 'विशेष्य' के रूप में माना जायगा। तथा प्रकृति–'द्रोण'–का परिमाण-विशेष अर्थ विशेषण के रूप में लिया जायगा। इस प्रकार 'द्रोण' से 'द्रोणाभिन्न' (= द्रोणरूपात्मक) परिमाण अर्थ की प्रतीति होती है ('सामान्यविशेषयोः अभेदः')। अब अग्रिम पद 'व्रीहि' के अर्थ के साथ प्रत्ययार्थ परिमाण का परिच्छेद्य-परिच्छेदकभाव से अन्वय होता है। नापी जाने वाली वस्तु को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकः । द्वौ । बहवः । इहोक्तार्थत्वाद्विभक्तेरप्राप्तौ वचनम् । (५३३) सम्बोधने च

परिमाणग्रहणेनेति चेत्तत्राह—प्रत्ययार्थे परिमाणे इति । न हि द्रोणत्वेन रूपेण परिमाण-विशेषवाचिद्रोणशब्दात् स्वार्थे प्रथमाविभक्तिरिष्यते, येन प्रातिपदिकार्थमात्रे इत्यनेन गतार्थता स्यात् । किं तु द्रोणत्वेन परिमाणवाचिनो द्रोणशब्दात् परिमाणत्वसामान्यरूपेण द्रोणपरिमाणे विवक्षिते प्रथमा विभक्तिर्विधीयते । ततश्च प्रत्ययार्थे परिमाणसामान्ये द्रोणशब्दार्थात्मकप्रकृत्यर्थः परिमाणविशेषः सामान्यविशेषात्मकाभेदसंसर्गेणान्वेति । परि-माणसामान्यात्मकंप्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीह्यवन्वेति । तथा च द्रोणा-ख्यपरिमाणविशेषात्मकं यत् सामान्यपरिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरिति बोधः फलति । अन्यथा द्रोणाख्यपरिमाणविशेषपरिच्छिन्नो व्रीहिरिति बोधः स्यात् । परिमाणसामान्यं न प्रतीयेत । तदर्थमिह परिमाणग्रहणमित्यर्थः । वचनं संख्येति । पूर्वाचार्यैस्तथा संज्ञाकरणादिति परिमाणमात्राधिक्ये इतिवत् भावः । तथा च सङ्ख्यामात्रे प्रथमेति लभ्यते । न च लिङ्ग-मात्राधिक्ये परिमाणमात्राधिक्ये इतिवत् सङ्ख्यामात्राधिक्ये इति कुतो न व्याख्यातमिति वाच्यम् , केवललिङ्गपरिमाणयोः काप्युपस्थित्यभावेन तथा व्याख्यानेऽपि एकद्विबहुशब्दे-ष्वेकत्वद्वित्वबहुत्वानां केवलानां नियतोपस्थितिसत्त्वेन सङ्ख्यामात्रे इत्येव व्याख्यातु-मुचितत्वात् । अत एव भाष्ये वचनग्रहणांशे एकः द्वौ बहवः इत्युदाहृतम् । ननु एकः द्वौ बहवः इत्यत्र एकत्वद्वित्वबहुत्वानां नियमेनोपस्थित्या 'प्रातिपदिकार्थे' इत्येव सिद्धे वचन-ग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—इहेति । प्रकृतिभिरेवैकत्वादीनामुक्तत्वात् 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति न्यायेन प्रथमाविभक्तेरप्राप्तौ तदर्थं वचनग्रहणमित्यर्थः । तथा च विभक्तिरिहानु-वादिका शब्दसाधुत्वार्थं प्रयोज्या, 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापि प्रत्ययः' इति अन-भिहितसूत्रभाष्यसिद्धन्यायादिति भावः । इदमेवाभिप्रेत्योक्तं भाष्ये—'उक्तेष्वप्येकत्वादिषु प्रथमा' इति । मात्रग्रहणात् कारकाद्याधिक्ये प्रथमा न भवति । तत्र 'अर्थे प्रथमा' इत्येव सूत्रयितुमुचितमिति प्रौढमनोरमादौ प्रपञ्चितम् ।

(५३३) सम्बोधने च । इहेति । सम्बोधने अधिके गम्येऽपि प्रथमा स्यादित्यर्थः । सम्बोधनमभिमुखीकृत्य ज्ञापनम् । हे रामेति । मां पाहीति शेषः । इह रामं प्रति मद्रक्षणं

'परिच्छेद्य' कहा जाता है तथा मापक या मान 'परिच्छेदक' होता है । 'द्रोणो व्रीहिः' वाक्य में 'व्रीहि' पद का अर्थ 'मेय' है और 'द्रोण' शब्द की 'सु' विभक्ति का अर्थ 'मापक' (मान) है । 'मान' और 'मेय' दोनों में रहने वाले परस्पर सम्बन्ध को ग्रन्थ में 'परिच्छेद्य-परिच्छेदकभाव' कहा गया है । उपर्युक्त प्रकार से शाब्दबोध होने पर 'द्रोणो व्रीहिः' वाक्य का अर्थ यह होगा—'द्रोण' नामक माप से नापा हुए चावल' । (घ) वचनमात्र के उदाहरण हैं—एकः (एक), द्वौ (दो) तथा बहवः (बहुत) । यहाँ पर 'वचन' शब्द संख्या का बोधक है । इन तीनों उदाहरणों में क्रमशः (एक+सु) एकत्व, (द्वि+औ) द्वित्व तथा (बहु+जस्) बहुत्व का बोध होता है । यदि एकत्व, द्वित्व तथा बहुत्व अर्थ विभक्तियों का न होकर प्रकृत्यर्थ ही होता तो पुनरुक्ति दोष हो जाता तथा 'उक्तार्थानाम् अप्रयोगः' नियम के अनुसार विभक्तियों की उत्पत्ति असम्भव थी । अतः इस सूत्र में 'वचन' ग्रहण कर विभक्ति का विशेष-विधान करना पड़ा है ।

विशेष—१–'द्रोण' काठ का या लोहे का एक पात्र होता था, जिसमें भर कर 'धान' को नापा जाता रहा । इस प्रकार 'द्रोण' तोल-विशेष है । प्रायः १० सेर के लगभग तोल को 'द्रोण' कहा गया है ।

२—'मात्र' शब्द के ग्रहण करने का दूसरा फल यह है कि 'कारक' आदि अर्थ की अधिकता प्रतीत होने पर प्रथमा-विभक्ति नहीं होती ।

(५३३) पद—सम्बोधने, च । अनुवृत्ति–प्रथमा । विधिसूत्र ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२।३।४७॥ इह प्रथमा स्यात्। हे राम। (५३४) कारके १।४।२३॥

ज्ञाप्यम्। न च 'हे राजन् सार्वभौमो भव' इत्यत्र सार्वभौमशब्दादपि सम्बोधनप्रथमा स्यादिति वाच्यम्, सम्यक् बोधनमेव हि सम्बोधनम् समित्युपसर्गबलात्। श्रोतरि विशिष्य राजत्वादिना ज्ञाते सत्येव तं प्रति कश्चिदर्थो ज्ञापयितुं शक्यः, नान्यथा। ततश्च सम्बोधनविभक्तिरियमनुवाद्यविषयैवेति लभ्यते, न तु विधेयविषया। तथा च सार्वभौमत्वस्य विधेयस्य इदानीमसिद्धत्वेन अनुवाद्यत्वाभावान्न सार्वभौमशब्दात् सम्बोधनविभक्तिरिति मञ्जूषायां विस्तरः। इति प्रथमा विभक्तिः।

(५३४) अथ द्वितीया विभक्तिः। कारके। इत्यधिकृत्येति। संज्ञा वक्ष्यन्ते इति शेषः।

मूलार्थ—सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति होती हैं। हे राम।

विवरण—पूर्व सूत्र से (२-३-४६) 'प्रथमा' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार सम्बोधन अर्थ में भी प्रथमा विभक्ति होती है। 'प्रातिपदिकार्थ' से अधिक प्रतीति होने वाले अर्थ के कारण उसका पृथक् निर्देश किया जारहा है। सम्मुखीकरण को सम्बोधन कहा जाता है। सिद्ध पदार्थ का क्रिया के प्रति विनियोग करने के लिए सम्बोधन का आश्रय लिया जाता है। सम्बोधन के लिए प्रयुक्त विभक्ति आमन्त्रित-विभक्ति भी कही जाती है। उदाहरण—हे राम। इस शब्द में 'सु' विभक्ति का अर्थ सम्बोधन है। "एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (६-१-६९) सूत्र से विभक्ति का लोप हो जाता है। 'हे' पद सम्बोधन का प्रतीक है। इसका प्रयोग स्पष्टता के लिए किया जाता है। 'हे' आदि प्रयोग के विना भी सम्बोधन-अर्थ की प्रतीति होती है। सम्बोधन के अर्थ का क्रिया में अन्वयबोध होता है। इसके फलस्वरूप आगे कही जाने वाली बात का अध्याहार होकर उसके साथ एकवाक्यता की जाती है। अतः 'मां पाहि' (= मेरी रक्षा करो) आदि वाक्यांश से इसकी पूर्ति की जाती है। इस प्रकार यहाँ सम्बोधित राम से रक्षा करने की प्रार्थना अभीष्ट है।

विशेष—यहाँ 'राम' कहने से (= प्रातिपदिकार्थ =) व्यक्ति-विशेष 'दशरथपुत्र राम' का ज्ञान होने के अतिरिक्त 'अभिमुखीकरण'-रूप अर्थ की अधिकता होने से 'प्रातिपदिकार्थ' में प्रथमा सम्भव नहीं थी। अतः पृथक् सूत्र के द्वारा विधान किया गया है।

(५३४) पद—कारके। अधिकारसूत्र।

मूलार्थ—यह अधिकार-सूत्र है।

विवरण—अधिकार होने के कारण "तत्प्रयोजको हेतुश्च" (१-४-५५) सूत्र तक इसकी अनुवृत्ति रहेगी। इसके फलस्वरूप अपादानादि संज्ञा-विधान करने वाले सूत्रों में 'कारके' का प्रभाव पड़ने के कारण कर्म, कर्ता, करण आदि 'कारक' कहलाते हैं। कारक का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'करने वाला' (करोति इति कारकम्—√कृ+ण्वुल्>कारक)। क्या करने वाला है? इस आकाङ्क्षा की पूर्ति के लिये 'करोति' का अथ 'क्रियां निर्वर्तयति' (= क्रिया को संपन्न करता है)—यह किया जाता है। दूसरे शब्दों में कारक का 'क्रिया के साथ अन्वय होता है'। कारक छह हैं—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण। सम्बन्ध कारक नहीं हैं, क्योंकि उसका क्रिया के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता।

विशेष—(१) अपादानादि का विशेषण होने से 'कारक' यह संज्ञा तथा अधिकार दोनों रूपों में ग्राह्य है। (२) 'कारक' अन्वर्थक शब्द है।[1] आगे के सूत्रों में अनुवृत्ति जाने के लिए पाणिनि द्वारा प्रयुक्त सप्तम्यन्त पद 'कारके' को भाष्यकार ने 'प्रथमा' विभक्ति के अर्थ में प्रयुक्त माना है। अतः उनके मत में 'कारक' पद वाक्यभेद से प्रत्येक सूत्र में अन्वित होता है।

---

१. "कारके" इति महती संज्ञा क्रियते। संज्ञा च नाम यतो न लघीयः। कुत एतत्? लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्। तत्र महत्याः संज्ञायाः करणे एतत् प्रयोजनम्। अन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत—करोतीति कारकमिति"। महाभाष्यम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यधिकृत्य । (५३५) कर्तुरीप्सिततमं कर्म १ । ४ । ४९ ॥ कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसञ्ज्ञं स्यात् । 'कर्तुः' किम् ? माषेष्वश्वं बध्नाति । कर्मण ईप्सिता

क्रियाजनकं कारकम्, करोति—क्रियां निर्वर्तयतीति भाष्ये व्युत्पत्तिदर्शनात् । ब्राह्मणस्य पुत्रं पश्यतीत्यत्र ब्राह्मणस्यान्यथासिद्धत्वान्न कारकत्वम् ।

(५३५) कर्तुरीप्सित । कारके इत्यनुवृत्तं प्रथमया विपरिणम्यते । आप्तुमिष्यमाणमीप्सिततम् । आप्लृ व्याप्तौ, अस्मात् सन्नन्तात् 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इति वर्तमाने क्तः । मतिरिच्छा, बुद्धेः पृथग्ग्रहणात् । 'क्तस्य च वर्त्तमाने' इति कर्तरि षष्ठी । अतिशयेनेप्सितमीप्सिततमम् । धात्वर्थव्यापाराश्रयः कर्ता । केनाप्तुमित्याकाङ्क्षायां कर्तृविशेषणीभूतव्यापारेणेत्यर्थाल्लभ्यते, तत् फलितमाह—कर्तुः क्रिययेत्यादिना । क्तप्रत्ययोपात्तवर्तमानत्वं तु न विवक्षितम् । तेन कटं करोति, कृतवान् इत्यादौ नाव्याप्तिः । आप्तिः सम्बन्धः । एवं च कर्त्रा स्वनिष्ठव्यापारप्रयोज्यफलेन सम्बन्धुमिष्यमाणमित्यर्थः । यथा तण्डुलान् पचति इत्यत्र विक्लित्त्यनुकूलव्यापारः पचेरर्थः । तत्तोदकप्रस्वेदनकृतप्रशिथिलावयवकत्वात्मकं मृदुविशदत्वं विक्लित्तिः, तदनुकूलव्यापारः अधिश्रयणोदकासेचनैधोपधमनप्रज्वलनादिरूप इति 'कारके' इत्यादिसूत्रभाष्ये स्पष्टम् । अत एव 'फलव्यापारयोर्धातुः' इति सिद्धान्तः । तथा च तण्डुलानधिश्रयणादिव्यापारेण विक्लेदयतीत्यर्थः । अधिश्रयणादिरूपकर्तृव्यापारप्रयोज्यविक्लित्तिरूपफलाश्रयत्वात् तण्डुलानां कर्मत्वम् । ननु कर्तृग्रहणं व्यर्थम् । न च व्यापारलाभाय तदिति वाच्यम्, केनाप्तुमित्याकाङ्क्षायां कारकाधिकारादेव

---

(५३५) पद—कर्तुः, ईप्सिततमं, कर्म । अनुवृत्ति—कारके । संज्ञासूत्र ।

मूलार्थ—कर्ता (अपनी) क्रिया से (जिस पदार्थ को) सर्वाधिक प्राप्त करने की इच्छा करता है, उस कारक को 'कर्म' कहते हैं । 'कर्तुः' पद का क्या प्रयोजन है ? माषेषु अश्वं बध्नाति । यहाँ पर 'माष' कर्म को अभीष्ट हैं, कर्ता को नहीं । 'तमप्' पद का क्या प्रयोजन है ? पयसा ओदनं भुङ्क्ते । 'कर्म' पद की अनुवृत्ति आने पर इस सूत्र में पुनः 'कर्म' पद से 'आधार' की निवृत्ति होती है । नहीं तो 'गेहं प्रविशति' में ही द्वितीया होती ।

विवरण—'कर्म' संज्ञा है तथा 'कर्तुः ईप्सिततमम्' संज्ञी । अनुवृत्त 'कारके' पद प्रथमा-विभक्ति में परिवर्तित हो जाता है ।[1] 'कारके' पद की अनुवृत्ति के फलस्वरूप प्रकृत सूत्र को दो भागों में विभक्त किया जाता है–'कर्तुः ईप्सिततम्' तथा २–'कर्म' । पहले भाग में 'कारक' पद की अनुवृत्ति आने से उसका अर्थ इस प्रकार होता है—'क्रिया के द्वारा (क्रियया) कर्ता (कर्तुः) जिसे विशेष रूप से (इष्टतमं) प्राप्त करना चाहता है (आप्तुम्), उसकी कारक-संज्ञा (कारके) होती है' । तदनन्तर दूसरे अंश 'कर्म' से यह अभिव्यञ्जित होता है कि 'उस कारक की 'कर्म' संज्ञा हो' ।[2] इस प्रकार 'कारक' और 'कर्म'–इन दोनों की एकवाक्यता हो जाती है । 'करण' आदि अन्य संज्ञाओं के साथ भी इसी प्रकार अर्थ समझा जाय । 'कर्मसंज्ञा' होने के फलस्वरूप द्वितीया-विभक्ति होती है ।

---

१. जो विभक्ति जिस रूप में श्रुत है, उसी रूप में जब अन्वय की उपपत्ति नहीं होती तो अन्यथा अनुपपत्ति के आधार पर दूसरे के साथ सम्बन्ध की चरितार्थता के लिए 'विभक्ति-विपरिणाम' कर लिया जाता है । यह विपरिणाम सामर्थ्य से अनुमित होता है । अथवा 'तदेव इदम्' इस रूप में उपचरित (लाक्षणिक) होता है ।

"विभक्त्यन्तरयोगो हि यस्य तद्विषयान्तरे । विभक्त्यन्तरसम्बन्धः सामर्थ्यादनुमीयते ॥
सारूप्यात् तु तदेवेदमिति तत्रोपचर्यते । शब्दान्तरे विभक्त्या तु युक्तं शास्त्रे तदश्रुतम् ॥"
(वाक्यपदीय, वृत्तिसमुद्देश ४५९–४६०)

२. कर्तृनिष्ठा या आत्यन्तिकी प्राप्तीच्छा तद्विषयः कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् । यद्व्यापारवत्त्वप्रयुक्तं कर्तृत्वं तेनैव प्राप्तुमिष्टमिति सन्निधिलभ्यम् । तेन क्रियाजन्यफलशालित्वलाभः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माषाः, न तु कर्तुः। 'तमब्ग्रहणं' किम् ? पयसा ओदनं भुङ्क्ते। 'कर्म' इत्यनुवृत्तौ पुनः

तल्लाभादिति पृच्छति—कर्तुः किमिति। माषेष्वश्वं बध्नातीति। माषेषु भक्षणाय प्रवृत्त्युन्मुखमुदरव्यथाभयात्तद्भक्षणान्निवर्तयितुमन्यत्र बध्नातीत्यर्थः। अत्र माषाणां कर्मत्वनिवृत्त्यर्थं कर्तृग्रहणमिति भावः। कर्तृग्रहणे कृते तु नोक्तदोष इत्याह—कर्मण ईप्सिता माषाः, न तु कर्तुरिति। बन्धनकर्मीभूतस्याश्वस्यैवात्र माषा ईप्सिताः, न तु बन्धनकर्तुः, अश्वरक्षणस्यैव तदपेक्षितत्वादित्यर्थः। तमब्ग्रहणं किमिति। तमवन्तमीप्सिततममित्येतत् किमर्थं 'कर्तुरुद्देश्यं कर्म' इत्येवास्त्विति प्रश्नः। पयसा ओदनं भुङ्क्ते इति। पयसा मिश्रमित्यर्थः। यद्यप्यत्र भोक्तुरोदन एव पयसा मिश्रः उद्देश्यः, न तु केवलं पयः, नापि केवल ओदनः। न ह्यसौ केवलपयःपानेन तुप्यति नापि केवलौदनेन। तथापि यथा भुक्त्वानेव पयोलिप्सया पुनरोदनभोजने प्रवर्तते तदेदं प्रत्युदाहरणम्। तत्र यद्यपि पय एव उद्देश्यं भुजिक्रियां प्रति, तथापि भुजिक्रियाकर्मीभूतमोदनं प्रति मिश्रणसाधनतया गुणत्वेनैव तदुद्देश्यं न तु भोज्यत्वेन। अतस्तत्र पयसो गुणत्वेन ओदनस्य तत्संस्कार्यतया उद्देश्यत्वादोदनस्यैव ईप्सिततमत्वम्, न तु पयसोऽपि। तस्याप्योदन एव ईप्सिततमः, गुणेष्वस्य नानुरोध इति भावः। न च तमब्ग्रहणं किमर्थम् ? 'कर्तुरीप्सितं कर्म' इत्येवास्त्विति वाच्यम्, अग्नेर्माणवकं वारयति' इत्यत्र माणवकस्य 'वारणार्थानामीप्सितः' इत्यपादानत्वनिवृत्त्यर्थत्वादिति प्रकृतसूत्रभाष्ये स्थितम्। तदेतद्वारणार्थानामिति सूत्रव्याख्यावसरे स्फुटीभविष्यति। प्राचीनैस्तु कैश्चित् 'तमब्ग्रहणं किम्' ? पयसा ओदनं भुङ्क्ते' इति ग्रन्थः केवलतमब्ग्रहणप्रयोजनपरतया व्याख्यातः। ते भाष्यविरुद्धत्वादुपेक्ष्याः। ननु 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इत्यतोऽनुवृत्तेरिह कर्मग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—

उदाहरण—'देवदत्तः ओदनं पचति' (देवदत्त भात पकाता है)। इस वाक्य में कर्त्ता अर्थात् देवदत्त पाक-क्रिया के द्वारा 'ओदन' (भात) को विशेष रूप से पकाने का इच्छुक है, अतः 'ईप्सिततम' होने से 'ओदन' की कर्म संज्ञा हुई है। जिसके फलस्वरूप 'ओदनम्' (ओदन+अम्) द्वितीयान्त पद हुआ।

प्रत्युदाहरण—१-सूत्र में 'कर्तुः' पद न रखने पर 'माषेषु अश्वं बध्नाति' (=उड़द के खेत में घोड़े को बाँधता है) में 'माष' को भी कर्म संज्ञा हो जाती, क्योंकि उड़द खाना भी घोड़े को अभीष्ट है। किन्तु 'कर्तुः' पद का प्रयोग करने पर 'माष' को कर्म-संज्ञा नहीं हुई, क्योंकि 'माष' घोड़े (कर्म) को तो अभीष्ट हैं, किन्तु बाँधने वाले (कर्ता) को ईप्सिततम नहीं है। वाक्य में 'बध्नाति' क्रिया का उल्लेख किया गया है। उसके (क्रिया के) द्वारा कर्ता का इष्टतम अश्व है, अतः वह कर्मसंज्ञक हुआ। 'बन्धन' क्रिया का अधिकरण होने से 'माषे' में 'सप्तमी' विभक्ति हुई है। २-सूत्र में 'तमप्' ग्रहण न करने पर केवल 'ईप्सित' को भी कर्मसंज्ञा होने लगती। उसका निराकरण करने के लिए 'तमप्' ग्रहण किया गया है। जिसके फलस्वरूप 'पयसा ओदनं भुङ्क्ते' (=दूध से भात खाता है) में 'पयस्' को 'कर्म' संज्ञा नहीं हुई। यद्यपि भोजन क्रिया के द्वारा कर्ता को 'पय' तथा 'ओदन' दोनों ही अभीष्ट हैं तथापि ओदन को निगलने में 'पय' सार्थक है, 'कर्ता' का इष्टतम नहीं है। अतः 'पयसा' में तृतीया विभक्ति हुई।

विशेष—अष्टाध्यायी में इस सूत्र से पूर्व "अधिशीङ्स्थासां कर्म" (१-४-४६) यह सूत्र पढ़ा गया है। तदनुसार वहाँ से 'कर्म' पद की अनुवृत्ति करनी सुलभ थी। यहाँ पुनः 'कर्म' ग्रहण करने में गौरव ही है। उसकी क्या उपयोगिता है ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि पूर्वसूत्र से 'कर्म' की अनुवृत्ति आने पर उसके साथ ही 'आधार' पद की भी अनुवृत्ति आ जाती। तब तो 'कर्ता के ईप्सिततम आधार' की कर्म संज्ञा होती। ऐसी स्थिति में 'गेहं प्रविशति' इस वाक्य में तो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मग्रहणमाधारनिवृत्त्यर्थम् । अन्यथा गेहं प्रविशतीत्यत्रैव स्यात् । (५३६) अनभिहिते

कर्मग्रहणमाधारेति । अधिशीङ्स्थित्र हि आधारः इत्यनुवर्तते । इहापि तदनुवृत्तिर्माभूदिति कर्मग्रहणमित्यर्थः । ननु हरिं भजतीत्यादावसम्भवादेव तदनुवृत्तिर्न भविष्यतीत्यत आह—अन्यथा गेहं प्रविशतीत्यत्रैव स्यादिति । हरिं भजतीत्यादौ न स्यादित्येवकारार्थः ।

(५३६) अनभिहिते इत्यधिकृत्येति । द्वितीयादि वक्ष्यत इत्यर्थः ।

कर्म संज्ञा हो जाती, क्योंकि यहाँ पर 'गेह' (= घर) क्रिया का आधार भी है तथा क्रिया के द्वारा कर्ता का ईप्सिततम भी है। किन्तु 'देवदत्तः ओदनं पचति' में पाक-क्रिया द्वारा कर्ता का ईप्सिततम 'ओदन' है, पर वह 'पचन' क्रिया का आधार नहीं है। अतः यहाँ 'कर्म' संज्ञा न हो सकेगी। इस हेतु प्रकृत सूत्र में पृथक् 'कर्म' पद ग्रहण किया गया है।

(५३६) पद—अनभिहिते। अधिकारसूत्र।

मूलार्थ—इसका अधिकार है।

विवरण—अनभिहित शब्द का अर्थ है—अकथित (न अभिहितः—अनभिहितः)। इस कथन से यह तात्पर्य है कि 'अनिर्दिष्ट कर्म आदि कारकों में आगे कही हुई विभक्तियाँ होती हैं'। इस अधिकार का प्रभाव यद्यपि पाद के अन्त तक है, परन्तु विशेषतया यह कारक-विभक्तियों में ही प्रभावी होता है, उपपद-विभक्तियों में नहीं। इस सम्बन्ध में यह जिज्ञासा होती है कि किसके द्वारा अनभिहित हो? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि प्रायः तिङ्, कृत्, तद्धित एवं समास द्वारा कर्म आदि अर्थ उक्त होते हैं। अतः तिङ्-कृदादि द्वारा कर्मादि उक्त (निर्दिष्ट) न होने पर ही द्वितीया आदि विभक्तियाँ होंगी। इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं। (क) तिङ्—हरिः सेव्यते (=हरि की सेवा की जाती है)। यहाँपर 'लट्' लकार कर्मवाच्य में है, अतः 'कर्म' उक्त (निर्दिष्ट) होने से द्वितीया विभक्ति नहीं होगी, किन्तु 'तिङ्' के साथ सामानाधिकरण्य होने के कारण प्रथमा विभक्ति हुई। (ख) कृत्—लक्ष्म्या सेवितः (=लक्ष्मी के द्वारा सेवित)। यहाँ 'सेवितः' में कर्मवाच्य में 'क्त' प्रत्यय हुआ है। इस प्रकार 'कृत्' के द्वारा कर्म उक्त हुआ है। अतः 'सेवितः' में द्वितीया नहीं होगी, किन्तु प्रथमा विभक्ति हुई। (ग) तद्धित—शतेन क्रीतः शत्यः (=सौ से खरीदा हुआ)—शत+यत् (य)। तद्धितप्रकरणस्थ 'यत्' प्रत्यय ("तेन क्रीतम्" ५-१-३६) में 'कर्म' उक्त होने से 'शत्यः' में द्वितीया नहीं होगी, किन्तु प्रथमा हुई। (घ) समास—प्राप्तः आनन्दः यं सः—प्राप्तानन्दः (= जिसको आनन्द ने प्राप्त कर लिया है)। यहाँ पर बहुव्रीहि-समास ("अनेकमन्यपदार्थे" २-२-२४) द्वितीया-विभक्ति के अर्थ (कर्म) में हुआ है, अतः 'कर्म' का निर्देश हो जाने के कारण 'प्राप्तानन्दः' में द्वितीया नहीं होगी। कर्म उक्त होने से प्रथमा हुई। इनके अतिरिक्त कभी-कभी 'निपात' (अव्यय) से भी 'कर्म' उक्त होता है। निपात के द्वारा अभिधान का उदाहरण—'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' (= विष-वृक्ष को भी बढ़ा कर स्वयं काटना उचित नहीं है)। 'असाम्प्रतम्' शब्द में 'नञ्' समास है—न साम्प्रतम् = असाम्प्रतम्। इसका अर्थ समझने के लिए 'साम्प्रतम्' शब्द का अर्थ जानना चाहिये। 'साम्प्रतम्' का अर्थ है—'युज्यते' (= उचित)। अतः 'असाम्प्रतम्' का अर्थ होगा—'उचित नहीं है'। √'युज्' धातु दिवादिगण में पढ़ा हुआ है। यहाँ 'लट्' लकार कर्ता में है। तदनुसार इस वाक्यांश का तात्पर्य यह है कि 'विषवृक्ष को बोनेवाला स्वयं काटना नहीं चाहता'। इस प्रकार यहाँ 'असाम्प्रतम्' शब्द (निपात) से विषवृक्ष-रूप कर्म का अभिधान होने से 'विषवृक्ष' पद में द्वितीया-विभक्ति नहीं हुई।

विशेष—यहाँ पर दूसरे उपाय से भी अभिधान सम्भव है। 'छेत्तुं' के साथ इच्छार्थक क्रियापद 'युज्यते' (= इष्यते) का अध्याहार किया जा सकता है। 'युज्यते' क्रियापद (लट्) को कर्मवाच्य में मान लेने से 'कर्म' उक्त हो जाता है। अतः अभिधान-सूचक वाक्य में 'प्रायः' पद देने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार ऐसे स्थलों पर 'तिङ्' से ही अभिधान (प्रतिपादन) सम्भव है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२।३।१॥ इत्यधिकृत्य। (५३७) **कर्मणि द्वितीया २।३।२॥** अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात्। हरिं भजति। अभिहिते तु कर्मणि 'प्रातिपदिकार्थमात्रे' इति प्रथमैव। अभिधानं च प्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैः। तिङ्–हरिः सेव्यते। कृत्–लक्ष्म्या सेवितः।

---

(५३७) कर्मणि द्वितीया। 'अनभिहिते' इत्यनुवृत्तं व्याचष्टे—अनुक्ते इति। हरिं भजतीति। तुष्ट्यनुकूलपरिचरणात्मकव्यापारो भजेरर्थः, पूजादिव्यापारेण हरिं तोषयतीत्यर्थः। कर्तृनिष्ठपूजनादिव्यापारप्रयोज्यतुष्टरूपफलाश्रयत्वाद्धरिः कर्म। हरिनिष्ठतुष्ट्यनुकूल एकदेवदत्तनिष्ठो वर्तमानो व्यापार इति बोधः, 'भावप्रधानमाख्यातम्' इति निरुक्तकारयास्कवचनात्। क्रियाप्रधानं तिङन्तमिति तदर्थः। एवं च हरिनिष्ठतुष्ट्यनुकूलव्यापाराश्रयो देवदत्त इति प्रथमान्तविशेष्यकबोधस्तार्किकसम्मतो नादर्तव्य इति मञ्जूषादौ प्रपञ्चितम्। अभिहिते त्विति। हरिः सेव्यते इत्यादाविति शेषः। प्रथमैवेति। तद्विधावनभिहिताधिकाराभावात् 'अभिहिते प्रथमा' इति वार्तिकाच्चेति भावः। अत्र भाष्ये कटं करोति भीष्ममुदारं दर्शनीयं शोभनमित्यत्र कटशब्दादुत्पाद्यमानया द्वितीयया कर्मणोऽभिहितत्वात् भीष्मादिभ्यो द्वितीया न प्राप्नोतीत्याशङ्क्य 'तिङ्कृत्तद्धितसमासैरभिधानम्' इति परिगणितम्। तत्र प्रायेणेत्यध्याहृत्याह—अभिधानं चेति। समासैरित्यनन्तरं विवक्षितमिति शेषः। तिङिति। अविभक्तिकनिर्देशोऽयं तिङभिधानप्रदर्शनाय। हरिः सेव्यत इति। 'लः कर्मणि' लकारः। 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदम्। तिङन्तेन अभिहितत्वाद्धरेः कर्मणो न द्वितीयेति भावः। हरिं भजतीति वाक्यार्थः। कर्तृकर्मलकारयोरेकरूप एव वाक्यार्थबोध इति वैयाकरणसमयः। कृदिति। तिङितिवदयमप्यविभक्तिकनिर्देशस्तूदाहरणसूचनाय। लक्ष्म्या सेवित इति। हरिरिति शेषः। भूते कर्मणि क्तः, कर्तरि तृतीया। लक्ष्मीनिष्ठपरिचरणजनिततुष्ट्याश्रयो हरिरिति बोधः। 'सत्त्वप्रधानानि नामानि' इति यास्कस्मृतिमनुरुध्य प्रातिपदिकेषु प्रथमान्तोपात्तविशेष्यकबोधस्यैव सर्वसम्मतत्वात्। अत्र सेवितहरेः कर्मणः कृता अभिहितत्वान्न द्वितीया। तद्धितेति। अयमप्यविभक्तिकनिर्देशस्तदुदाहरणसूचनाय। शतेन क्रीतः शत्य इति। पटादिरिति शेषः। 'शताच्च ठन्यतावशते' इति यत्प्रत्ययस्तद्धितः। अत्र कर्मणस्तद्धितेनोक्तत्वान्न द्वितीया। समासेति। अयमप्यविभक्तिकनिर्देशस्तदुदाहरणसूचनाय। प्राप्तानन्द इति। देवदत्तादिरिति शेषः। 'गत्यर्थाकर्मक' इत्यादिना प्राप्तेति कर्तरि क्तः। अन्यपदार्थकर्मणे बहुव्रीहिसमासेनाभिहितत्वान्न द्वितीयेति भावः। आनन्दकर्तृप्राप्तिकर्मीभूत इति बोधः। प्रायेणेत्यस्य फलं दर्शयति—क्वचिदिति। विषवृक्षोऽपीति असाम्प्रतमित्यत्रान्वेति। संवर्ध्येत्यत्र छेत्तुमित्यत्र चान्वये द्वितीयापत्तेः। तत्र त्वर्थाद्विषवृक्षमिति गम्यते। न साम्प्रतमिति विग्रहे नञ्तत्पुरुषः। युज्यत इत्यर्थ इति। युजिर् योगे

---

(५३७) पद—कर्मणि, द्वितीया। अनुवृत्ति—अनभिहिते। विधिसूत्र।

मूलार्थ—कर्म अनुक्त होने पर द्वितीया हो। हरिं भजति। कर्म उक्त होने पर तो 'प्रातिपदिकार्थ'मात्र में प्रथमा होगी। 'कर्म' आदि का अभिधान प्रायः तिङ, कृत्, तद्धित तथा समास द्वारा होता है। तिङ्–हरिः सेव्यते (= हरि की सेवा की जाती है)। कृत्—लक्ष्म्या सेवितः (=लक्ष्मी द्वारा सेवित)। तद्धित—शतेन क्रीतः शत्यः (= सौ से खरीदा हुआ)। समास—प्राप्तः आनन्दः यं स प्राप्तानन्दः (= जिसको आनन्द ने प्राप्त कर लिया है)। कहीं-कहीं निपात द्वारा भी कर्मादि उक्त होते हैं। जैसे—'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' (= विष का पेड़ भी बढ़ा कर स्वयं काटना उचित नहीं)। 'साम्प्रतम्' का अर्थ 'उचित' है।

विवरण—'कर्म'संज्ञा होने के फलस्वरूप द्वितीया-विभक्ति का विधान किया जारहा है। "'अनभिहिते" (२-३-१) अधिकार का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार 'कर्म' का कथन (प्रतिपादन)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तद्धित–शतेन क्रीतः शत्यः। समास–प्राप्तः आनन्दो यं स प्राप्तानन्दः। क्वचिन्निपातेनाभिधानम्। यथा–'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्।' साम्प्रतमित्यस्य हि

कर्मणि लकारः। औचित्या न युज्यते। औचित्ययुक्तो न भवतीति यावत्। 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः। अत्र वृक्षस्य कर्मणो निपातेनाभिहितत्वान्न द्वितीयेति भावः। वस्तुतस्तु छेत्तुमिति तुमुन्नत्र दुर्लभः। कृष्णं द्रष्टुं यातीत्यत्रेव क्रियार्थक्रियोपपदत्वाभावेन 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' इत्यस्याप्रवृत्तेः। 'शकधृष' इत्यादिनापि तुमुन्न, शकादियोगाभावात्। किन्तु 'इच्छार्थेषु' इत्यनुवृत्तौ 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' इति तुमुन्, अक्रियार्थोपपदत्वेऽपि तस्य प्रवृत्तेः। यथा इच्छति भोक्तुमित्यादि। एवं च तुमुनः साधुत्वाय इष्यत इत्यध्याहार्यम्। विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य छेत्तुमिष्यत इति यत् तदसाम्प्रतम्—अयुक्तमित्यर्थः। एवं चात्रापि तिङाभिहितत्वादेव द्वितीयानिवारणात् तिङ्कृत्तद्धितसमासैरभिधानम् इति परिगणनवार्तिके प्रायेणेत्यध्याहारो विफल इति शब्देन्दुशेखरे स्थितम्। पक्वमोदनं भुङ्क्त इत्यत्र तु पचिभुजिक्रियानिरूपिते द्वे कर्मत्वशक्ती। तत्र गुणभूतपचिनिरूपितकर्मत्वशक्तेः क्तप्रत्ययाभिहितत्वेऽपि प्रधानभूतभुजिक्रियानिरूपितामनभिहितां कर्मत्वशक्तिमादाय द्वितीया निर्बाधेति भाष्ये स्पष्टम्। ननु यथा बहुपटु रित्यादौ तद्धितेन बहुच्प्रत्ययेन उक्तत्वात् कल्पबादयो न भवन्ति, तथा क्रियते कटः इत्यादावपि तिङादिभिरुक्तत्वात् द्वितीयादयो न भविष्यन्ति, 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति न्यायात्। किञ्च कटं करोतीत्यादौ सावकाशा द्वितीया कृतः कटः इत्यादौ न भवत्येव, अनवकाशया प्रथमया बाधात्। न च वृक्षः प्लक्षः इत्यादिः प्रथमाया अवकाश इति वाच्यम्, तत्र गम्यामस्तिक्रियां प्रति कर्तृत्वेन तृतीयाप्रसङ्गात्। अस्तु वा तत्र प्रथमाया अवकाशः। तथाप्युभयोः सावकाशत्वे परत्वात् प्रथमैव स्यात्। एवं चानभिहिताधिकारो व्यर्थ इति चेत्? मैवम्, 'कर्मणि द्वितीया' इत्यादीनां 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' 'बहुषु बहुवचनम्' इत्यनयोश्च एकवाक्यतया कर्मणि यदेकत्वं द्वित्वं बहुत्वं वा तत्र एकद्विवचनानीति लभ्यते। तत्र 'अनभिहिते' इत्यारम्भे अनभिहिते कर्मणि यदेकत्वं तत्र द्वितीयेत्येवमर्थः स्यात्। 'अनभिहिते' इत्यभावे तु कर्मणि यदेकत्वं तत्र द्वितीयैकवचनमित्येव पर्यवस्येत्। तथा सति कृतः कट इत्यादौ क्तेन कर्ममात्रोक्तावपि तदेकत्वस्यानुक्तया द्वितीयैकवचनं दुर्वारं स्यात्। न प्रथमाया निरवकाशत्वं शङ्क्यम्, नीलमिदं न तु रक्तमित्यादौ विशेषणान्तरनिवृत्तितात्पर्यके अस्तिक्रियाया अनावश्यकत्वेन तत्र प्रथमायाः सावकाशत्वात्। नापि तत्र परत्वात् प्रथमैव भविष्यतीति वाच्यम्, कर्तव्यः कट इत्यादौ ततोऽपि परत्वेन कृद्योगलक्षणषष्ठीप्रसङ्गात्। एवं च सङ्ख्या विभक्त्यर्थ इति पक्षे 'अनभिहिते'

यदि किसी अन्य प्रकार से न हुआ हो तो 'कर्म' में द्वितीया विभक्ति होगी। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिस वाच्य में क्रिया में प्रत्यय होता है, वह अर्थ 'उक्त' माना जाता है। उसके अतिरिक्त अन्य अर्थ उक्त होते हैं। उदाहरणार्थ कर्तृवाच्य में प्रत्यय होने पर 'कर्ता' उक्त समझा जायगा, कर्म और भाव अनुक्त (अनभिहित) होंगे। उदाहरण—'हरिं भजति' (=हरि को भजता है। इस वाक्य में 'लट्' लकार (= तिङ् प्रत्यय) कर्ता अर्थ ("लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः" (३-४-६९) में हुआ है। इस प्रकार 'कर्म' उक्त नहीं है। अनुक्त कर्म होने से 'हरिम्' (हरि+अम्) द्वितीया विभक्ति हुई। 'कर्म' उक्त होने पर "प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा" (५३२) से 'प्रातिपदिकार्थ मात्र' में प्रथमा विभक्ति होगी।

'अभिधान' के सम्बन्ध में पूर्वसूत्र की व्याख्या देखें।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युज्यत इत्यर्थः । (५३८) तथायुक्तं चानीप्सितम् १ । ४ । ५० ॥ ईप्सिततमवत्क्रियया युक्तमनीप्सितमपि कारकं कर्मसञ्ज्ञं स्यात् । ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पशति । ओदनं भुञ्जानो

इत्यारब्धव्यम् । यदि तु पञ्चकं प्रातिपदिकार्थः इत्यनाश्रित्य कारकं विभक्त्यर्थं इत्याश्रीयते तदा कारकस्य क्तप्रत्ययादिनोक्तत्वान्न द्वितीयादिविभक्तिप्रसक्तिः । एकत्वादिसङ्ख्याबोधश्च प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रवृत्तया प्रथमयैव सम्भवति । अतः 'अनभिहिते' इति नारब्धव्यमिति भाष्यकैयटकौस्तुभादिषु स्पष्टम् । अतिविस्तरस्तु मञ्जूषायामनुसन्धेयः ।

(५३८) तथायुक्तं चानीप्सितम् । तथाशब्दस्य सादृश्यवाचकस्य प्रतियोगिसापेक्षत्वादाह–ईप्सिततमवदिति । पूर्वसूत्रे सन्निहितत्वादीप्सिततममेव सादृश्यप्रतियोगीति भावः । क्रिययेति । क्रियाजन्यफलयुक्तमित्यर्थः । पूर्वसूत्रे ईप्सिततमस्य कर्मत्वमुक्तम् । द्वेष्योपेक्ष्यसङ्ग्रहार्थमिदं वचनम् । तत्र उपेक्ष्यमुदाहरति—ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशतीति । संयोगानुकूलव्यापारः स्पृशेरर्थः । अत्र स्पृश्यमानस्य तृणस्य ईप्सिततमत्वाभावेऽपि गङ्गां स्पृशतीत्यादौ स्पृश्यमानस्येप्सिततमस्य गङ्गादेरिव क्रियाजन्यसंयोगात्मकफलाश्रयत्वात्कर्मत्वमिति भावः । द्वेष्यमुदाहरति—विषं भुङ्क्त इति । यदा कश्चिद्बलवता वैरिणा निगृह्यमाणो विषं भुङ्क्ते तदेदमुदाहरणम् । भुजेर्हि मुखे प्रक्षिप्तस्य गलविवरप्रवेशानुकूलः हनुचलनादिव्यापारोऽर्थः । विषस्य द्वेष्यतया ईप्सिततमत्वाभावेऽपि ओदनं भुङ्क्ते

---

(५३८) पद—तथायुक्तं, च, अनीप्सितम् । अनुवृत्ति—कर्म, कारके (अधिकार)। संज्ञासूत्र ।

मूलार्थ—क्रिया से युक्त ईप्सिततम के समान अनीप्सित (उपेक्ष्य) भी 'कारक' संज्ञक होने के साथ कर्मसंज्ञक होता है । जैसे—ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति । (ओदनं भुञ्जानो) विषं भुङ्क्ते ।

सन्दर्भ—पूर्व सूत्र में यह बताया जा चुका है कि क्रिया के माध्यम से कर्ता का ईप्सिततम 'कर्म' माना जाता है । जहाँ पर कर्म के लिये क्रिया होती है, वहाँ कर्म 'ईप्सित' होता है । ईप्सित के साथ अनीप्सित भी कर्म हो जाता है । इसी का प्रतिपादन किया जारहा है ।

विवरण—प्रकरणवश "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" (१-४-४९) से 'कर्म' की अनुवृत्ति आरही है । "कारके" (१-४-२३) का प्रभाव विद्यमान है । सूत्रस्थ 'तथा'शब्द सादृश्यवाची है । वह अपने प्रतियोगी का सापेक्ष्य है । पूर्व सूत्र में सन्निहित होने के कारण 'ईप्सिततम' ही सादृश्य का प्रतियोगी है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "जिस प्रकार कर्ता की अत्यन्त ईप्सिततम वस्तु क्रिया से युक्त होती है उसी प्रकार (तेन प्रकारेण युक्त=तथायुक्तम्) कर्ता की अनीप्सित वस्तु भी यदि क्रिया से संयुक्त हो तो, उसकी भी 'कर्म' संज्ञा हो" । इस कथन से द्वेष्य और उदासीन कर्म का भी संग्रह किया गया हैं । (क) उदासीन कर्म का उदाहरण—ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति (=गाँव को जाते हुए तिनके को भी छूता है) । प्रकृत उदाहरण में 'गच्छति' (= जाता है) क्रिया के सम्बन्ध से 'ग्राम' तो कर्ता का ईप्सितम है । फिर भी जाते-जाते तिनके का स्पर्श भी अनायास हो जाता है । यद्यपि 'स्पर्श' करने के विषय में कर्ता उदासीन है तो भी उससे युक्त 'तृण' की कर्मसंज्ञा हो जाती है, अतः 'तृणम्' में (तृण+अम्) द्वितीया हुई । (ख) द्वेष्य का उदाहरण—(ओदनं भुञ्जानो) विषं भुङ्क्ते (= भात खाते हुए विष खा लेता है) । इस उदाहरण में खाने वाले को विष ईप्सित नहीं है । भोजन-क्रिया द्वारा कर्ता का प्राप्य इष्टतम 'ओदन' हैं । 'भुङ्क्ते' क्रिया के साथ योग होने पर प्रकृत सूत्र से अनीप्सित होने पर भी 'विष' की कर्म-संज्ञा हुई । उसके फलस्वरूप विषम् (विष+अम्) में द्वितीया विभक्ति होगी ।

विशेष—इस प्रकार ईप्सिततम, ईप्सित तथा अनीप्सित कर्मों में अन्तर दिखाया गया है । ईप्सित से अन्य सभी कर्म अनीप्सित के अन्तर्गत आते हैं । भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' में ईप्सित-कर्म

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषं भुङ्क्ते। (५३९) अकथितं च १।४।५१॥ अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्।

दुह्याच्पच्दण्ड्रुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमथ्मुषाम्।
कर्मयुक्स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम्॥

'दुहादीनां द्वादशानां तथा नीप्रभृतीनां चतुर्णां कर्मणा यद्युज्यते तदेवाकथितं कर्म' इति परिगणनं कर्तव्यमित्यर्थः। गां दोग्धि पयः। बलिं याचते वसुधाम्। अविनीतं विनयं

इत्यादौ भुज्यमानस्य ईप्सिततमस्य ओदनादेरिव क्रियाजन्यफलविवरप्रवेशात्मकफलाश्रयत्वात् कर्मत्वमिति भावः। न च 'धातूपस्थाप्यफलशालि कर्म' इत्येवास्तु, किमीप्सितानीप्सितयोः पृथग्ग्रहणेनेति वाच्यम्, अग्नेर्माणवकं वारयतीत्यत्र हि 'वारणार्थानामीप्सितः' इति माणवकस्यापादानत्वं तन्निवृत्त्यर्थं 'कर्तुरीप्सिततमम्' इति वक्तव्यमेव। एवं च द्वेष्योदासीनसङ्ग्रहार्थं 'तथायुक्तं च' इति सूत्रमावश्यकमित्यास्तां तावत्।

(५३९) अकथितं च। अकथितशब्दं व्याचष्टे—अपादानादिविशेषैरिति। अपादानं सम्प्रदानम् अधिकरणं कर्म करणं कर्ता हेतुः इति कारकसप्तकम्। तदेतद्यदा अपादानत्वादिविशेषात्मना न विवक्षितं, किन्तु सम्बन्धसामान्यात्मनैव तदा तत्कर्मसंज्ञकमित्यर्थः। ननु नटस्य शृणोति इत्यत्र नटसम्बन्धिश्रवणमित्यर्थके नटस्यापि कर्मत्वं स्यात्, तस्य क्रियान्वयित्वेन कारकत्वात्, वस्तुतः अपादानस्य सम्बन्धित्वेन विवक्षितत्वाच्चेत्याशङ्क्य परिगणयति—दुह्याजिति। वार्तिकार्थसङ्ग्रहश्लोकोऽयम्। अतो व्याचष्टे—दुहादीनामिति। 'दुह प्रपूरणे' 'टुयाच् याच्ञायाम्' 'डुपचष् पाके' 'दण्ड दण्डनिपातने' चुरादिः, निग्रह इत्यर्थः, इह ग्रहणार्थकः, 'रुधिर् आवरणे' 'प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्' श्लोके प्रच्छीत्यत्रेकार उच्चारणार्थः, इका निर्देशे तु 'ग्रहिज्या' इति सम्प्रसारणप्रसङ्गात्, 'चिञ् चयने' 'ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि' 'शासु अनुशिष्टौ' 'जि अभिभवे' 'मन्थ विलोडने' 'मुष स्तेये' इति द्वादशानामित्यर्थः। चतुर्णामिति। 'णीञ् प्रापणे' 'हृञ् हरणे' 'कृष विलेखने' 'वह प्रापणे' इति चतुर्णामित्यर्थः। कर्मणा यद्युज्यते इति। कर्मयुगित्यस्य व्याख्यानमिदम्। करणे उपपदे कर्मणि वाच्ये 'सत्सूद्विष' इत्यादिना क्विबिति भावः। यद्यपि—

'दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ।
ब्रुविशासिगुणेन च यत्सचते तदकीर्तितमाचरितं कविना॥'

इति प्रकृतसूत्रस्थश्लोकवार्तिके पचिमथिमुष्यादयो न पठिताः, तथापि चकारेण तेऽपि सङ्ग्राह्या इति कैयटः। गां दोग्धि पय इति। क्षरणानुकूलव्यापारः क्षारणपर्यायो दुहेरर्थः।

के तीन भेद लिखे हैं—निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य। इन में से निर्वर्त्य और विकार्य का उल्लेख कात्यायन ने भी किया है। ईप्सित के अतिरिक्त अन्य कर्मों को भर्तृहरि ने चार प्रकार का दिखाया है—औदासीन्य रूप से प्राप्य, अनीप्सित, संज्ञान्तर से अनाख्यात और अन्यपूर्वक। 'अकथित' भी कर्म है। इसका निरूपण आगे किया जारहा है।

(५३९) पद—अकथितं च। अनुवृत्ति—कर्म, कारके। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—अपादानादि से अविवक्षित कारक की कर्म-संज्ञा होती है। दुह्, याच्, पच्, दण्ड्, रुध्, प्रच्छ्, चि, ब्रू, शास्, जि, मथ्, तथा मुष् इन बारह धातुओं तथा नी, हृ, कृष् और वह् धातुओं के कर्म के साथ जिसका सम्बन्ध होता है वही 'अकथित' है। इस प्रकार परिगणन करना चाहिये। जैसे—दुह्—गां दोग्धि पयः। याच्—बलिं याचते वसुधाम्। पच्—ताण्डुलान् ओदनं पचति। दण्ड्—गर्गान् शतं दण्डयति। रुध्—व्रजम् अवरुणद्धि गाम्। प्रच्छ्—माणवकं पन्थानं पृच्छति।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

याचते । तण्डुलानोदनं पचति । गर्गाञ्छतं दण्डयति । व्रजमवरुणद्धि गाम् । माणवकं

क्षारणात्मकव्यापारप्रयोज्यक्षरणात्मकफलाश्रयत्वात्पयः कर्म । गौस्तु क्षरणे अपादानम् । तदपादानत्वमुपेक्ष्य सम्बन्धित्वात्मना गोर्विवक्षायां कर्मत्वमनेन भवति । ततश्च शेषषष्ठी-निरासे द्वितीया भवति । तदिदमुक्तं प्रौढमनोरमायाम्—गोसम्बन्धपयःकर्मकं दोहनमर्थ इति । तथा च न मापाणामश्नीयादित्यत्रेव शेषत्वविवक्षायां प्राप्तां षष्ठीं बाधितुमिदं सूत्रम् । गोरपादानत्वविवक्षायां तु पञ्चम्येव—गोः पयो दोग्धीति । गोसकाशात् पयः-क्षारयतीत्यर्थः । यदि तु गौः पयोविशेषणं तदा षष्ठ्येव । गोसम्बन्धि यत्पयः तत् क्षारयतीत्यर्थः । एवमग्रेऽप्यूह्यमिति प्राचीनमतानुसारी पन्थाः । वस्तुतस्तु अपादानत्वादि-विशेषरूपेणाविवक्षितं किन्तु कर्मत्वेनैव विवक्षितम् अकथितम् । तादृशमपादानादि कर्म-संज्ञकं स्यादित्यर्थः, कारकत्वव्याप्यसंज्ञानां स्वबोध्ये कर्मत्वादिशक्तिमत्त्वबोधकत्वात् बोधोऽपि तथैव । एवं च गां दोग्धि पयः इत्यत्र गोकर्मकं पयःकर्मकं च दोहनमित्येव बोधः । अवधेः सकाशाद् द्रवद्रव्यविभागो हि क्षरणम् । तच्च गोपनिष्ठव्यापारप्रयोज्यम् । एवञ्च कर्तृव्यापारप्रयोज्यक्षरणात्मकविभागविशेषाश्रयत्वात् गोः पयसश्च पूर्वसूत्राभ्यां कर्मत्वमस्त्येव । अतः उभयकर्मकबोध एव युक्तः, न तु सम्बन्धित्वेन गोर्बोधः । अत एव प्रकृतसूत्रभाष्ये 'अकथितम्' इत्यनेनैव सिद्धत्वात् पूर्वसूत्रद्वयस्य वैयर्थ्यमाशङ्क्य ईप्सितमात्रस्याप्यनेनकर्मसञ्ज्ञायां 'वारणार्थानाम्'इत्यस्यानवकाशतया अग्नेर्माणवकं वारयतीत्यत्र माणवकस्याप्यपादानसंज्ञायां प्राप्तायां 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इत्यारब्धव्यम् । ततश्च द्वेष्योपेक्ष्यसङ्ग्रहाय 'तथायुक्तं चानीप्सितम्' इत्यारब्धव्यमिति समाहितम्—

चि–वृक्षम् अवचिनोति फलानि । ब्रू तथा शास्–माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा । जि–शत जयति देवदत्तम् । मथ्–सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति । मुष्–देवदत्तं शतं मुष्णाति । नी, हृ, कृष् तथा वह्–ग्रामम् अजां नयति, हरति, कर्षति वहति वा । यह संज्ञा (इन धातुओं के) अर्थ पर आश्रित है । जैसे (याच् का समानार्थक) बलिं भिक्षते वसुधाम् । (ब्रू का समानार्थक) बलिं भिक्षते वसुधाम्, माणवकं धर्मं भाषते–अभिधत्ते–वक्ति इत्यादि । 'कारक' का क्या प्रयोजन है ? माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति । वा० अकर्मक धातुओं के योग में देश, काल, भाव और गन्तव्य-मार्ग की 'कर्म' संज्ञा होती है । जैसे—(देश =) कुरून् स्वपिति । (काल =) मासम् आस्ते । (भाव =) गोदोहम् आस्ते । (गन्तव्य मार्ग =) क्रोशम् आस्ते ।

विवरण—प्रसङ्गवश 'अकथित' कर्म के सम्बन्ध में निर्देश दिये जारहे हैं । 'कर्म' (कर्तुरीप्सिततमं कर्म" १-४-४९) की अनुवृत्ति तथा "कारके" अधिकार का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "जब किसी कारक की अपादान आदि विशेष संज्ञा न करनी हो तो उसकी भी कर्मसंज्ञा हो" । तात्पर्य यह है कि जब अपादान आदि कारकों को अपादान आदि के रूप में वक्ता नहीं कहना चाहता तो उन कारकों (अकथित) को भी कर्म मान लिया जाता है । वक्ता की इच्छा पर निर्भर होने के कारण जब अपादानादि कारकों का बताना इष्ट होगा तो ये संज्ञायें भी होंगी । यहाँ पर इनका परिगणन कर कारिकोक्त १६ धातुओं के प्रधान कर्म से जो सम्बन्धित होता है उसकी कर्मसंज्ञा का विधान बताया जारहा है । महाभाष्य में श्लोकवार्तिक इस प्रकार पढ़ा गया है—

"दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ ।
ब्रुविशासिगुणेन च यत् सचते तदकीर्तितमाचरितं कविना" ॥

इसके अनुसार दुह्, याच्, रुध्, प्रच्छ् भिक्ष्, तथा चिञ्–इन धातुओं के उपयोग (दूध इत्यादि) का जो निमित्त (=कारण, गो इत्यादि) है, उसकी अपूर्वविधि में (अकथित होने पर)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पन्थानं पृच्छति । वृक्षमवचिनोति फलानि । माणवकं धर्मं ब्रूते, शास्ति वा । शतं जयति

'एतेन कर्मसंज्ञा सर्वा सिद्धा भवत्यकथितेन ।
तत्रेप्सितस्य किं स्यात् प्रयोजनं कर्मसंज्ञायाः ॥
यत्तु कथितं पुरस्तादीप्सितयुक्तं च तस्य सिद्ध्यर्थम् ।
ईप्सितमेव तु यत्स्यात्तस्य भविष्यत्यकथितेन' ॥

इति श्लोकद्वयेनेति शब्देन्दुशेखरे स्थितम् । 'एतेन कर्मे' त्यादिभाष्यार्थस्तु कैयटे भाष्यप्रदीपोद्द्योते च स्पष्ट इत्यास्तां तावत् । बलिं याचते वसुधामिति । हरिरिति शेषः । बलिर्नामासुरविशेषः । मह्यं देहीति प्रार्थना याचेरर्थः । दानानुकूलो मह्यं देहीति शब्दप्रयोगरूपव्यापार इति यावत् । बलिकर्तृकं वसुधाकर्मकं दानं प्रार्थयत इत्यर्थः । कर्तुः कर्मत्वविवक्षायां द्वितीयेति नव्याः । प्रार्थनारूपव्यापारजन्यदाने जनकतया आश्रयत्वात् । बलिसम्बन्धि यद्वसुधाकर्मकं दानं तत् प्रार्थयत इत्यर्थ इति तु प्राचीनाः । अविनीतं विनयं याचत इति । अभ्युपगमप्रार्थना याचेरर्थः । यदा कश्चिद् बलवान् अविनीतः दुर्बलं कश्चिद् बाधते तदा दुर्बलमधिकृत्येदं वाक्यं प्रवृत्तम् । अविनीतकर्तृकं विनयकर्मकमभ्युपगमं प्रार्थयत इत्यर्थः । कर्तुः कर्मत्वविवक्षायां द्वितीयेति नवीनाः । अविनीतसम्बन्धिनमभ्युपगममिति तु प्राचीनाः । तण्डुलानोदनं पचतीति । विक्लित्त्यनुकूलव्यापारः पचेरर्थः । तण्डुलौदकप्रस्वेदनजनितप्रशिथिलावयवकत्वात्मकं मृदुविशदत्वं विक्लित्तिः । तया ओदनाख्यद्रव्यान्तरं प्रकृतिभूतेषु तण्डुलेषु समवेतं निष्पद्यत इति स्थितिः । तत्र शिथिलावयवसंयोगविशेषात्मिका विक्लित्तिः समवायसम्बन्धेन तण्डुलेषु वर्तते । ओदने तु जन्यजनकभावेन वर्तते । तण्डुलैः प्रकृतिभूतैः ओदनं करोतीत्यर्थः । तण्डुलसमवायिकारणिकां तत्समवेतामोदनजनिकां विक्लित्तिं निर्वर्तयतीत्यर्थः । तत्र व्यापारफलं विक्लित्तिं प्रति जन्यतया आश्रयत्वात् ओदनः प्रधानं कर्म । तादृशौदनजनिकां विक्लित्तिं प्रति समवायित्वेनाधारत्वात् । तण्डुलानां गुणकर्मत्वमिति तद्विवक्षायां द्वितीया । तण्डुल-

---

कर्म संज्ञा होती है । एवं ब्रूञ् तथा शास् धातुओं के प्रधान कर्म (धर्म आदि) से जो सम्बन्धित होता है (माणवक आदि) उसे भी महामनीषी पाणिनि ने (कवि)[1] 'अकथित' (अकीर्तित) कहा है (अर्थात् उसके अकथित की भी कर्मसंज्ञा होती है) । इस कारिका में केवल ८ धातुओं का ही उल्लेख किया गया है, १६ धातुओं का नहीं । अतः पच्, मथ्, मुष् इत्यादि ८ धातुओं का संग्रह भाष्योक्त कारिका के 'च' (और) शब्द से कर लिया जाता है[2] । इस सम्बन्ध में कैयट ने यही सुझाव दिया है ।

कौमुदी में उल्लिखित कारिका द्वारा क्रियाओं के सम्बन्ध में उदाहरण प्रस्तुत किये जारहे हैं । इन क्रियाओं के दो कर्म हैं—(क) प्रधान (कथित) तथा (ख) अप्रधान (अकथित) । उक्त १६ धातुओं और उनके समानार्थक अन्य धातुओं का फल प्रधान कर्म में ही समाप्त नहीं हो जाता, किन्तु एक और कर्म भी रहता है । इनके क्रमशः उदाहरण—इस प्रकार हैं । (१) दुह् (=दुहना)–गां पयः दोग्धि में "कर्तुरीप्सिततमम्" (१-४-४९) से 'कर्म' संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई है । 'पयः' यह प्रधान कर्म है और 'गाम्' गौण । (२) याच् (= माँगना)—बलिं याचते वसुधाम् (= बलि से पृथ्वी माँगता है । अपादान के अर्थ में 'बलिं' में द्वितीया । अविनीतं विनयं याचते (= अशिष्ट से विनय

---

१. कविशब्दस्य व्याख्यां कुर्वन् प्रकृतसूत्रे कैयट आह—'कविशब्दो मेधाविवचनः, क्रान्तदर्शनात्' ।

२. 'गुणेन च' इति चकारः अनुक्तसमुच्चयार्थः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवदत्तम् । सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति । देवदत्तं शतं मुष्णाति । ग्राममजां नयति, हरति,

---

सम्बन्धिनीमोदनजनिकां विक्लित्तिं निर्वर्तयतीति तु प्राचीनाः । गर्गान् शतं दण्डयतीति । दण्ड धातुः ग्रहणानुकूलव्यापारार्थकः । ताडनादिना गर्गेभ्यः सुवर्णशतं गृह्णातीत्यर्थः । ताडनादिव्यापारप्रयोज्यग्रहणविषयत्वात् शतं प्रधान कर्म । गर्गाणाम् तु तद्ग्रहणावधित्वात् गुणकर्मत्वम् । ग्रहणं हि परकीयद्रव्यस्य परस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं स्वीकरणम् । तत्र स्वत्वविश्लेषे गर्गाणामवधित्वापादनत्वम्, ग्रहणघटकतादृशविश्लेषप्रतियोगिभूतस्वत्वाश्रयत्वात् कर्मत्वं च । तत्रापादानत्वमनादृत्य कर्मत्वविवक्षायां द्वितीया । गर्गसम्बन्धिकमिति तु प्राञ्चः । व्रजमवरुणद्धि गामिति । निर्गमप्रतिबन्धपूर्वकयत्किञ्चिदधिकरणकचिरस्थित्यनुकूलबन्धनद्वारकपिधानादिव्यापारो रुधेरर्थः । गां निर्गमप्रतिबन्धपूर्वकं व्रजे चिरस्थितिकां करोतीत्यर्थः । अत्र चिरस्थितिं प्रति व्रजस्याधिकरणत्वमुपेक्ष्य गोद्वारा तत्स्थित्याश्रयतया कर्मत्वविवक्षायां द्वितीया । व्रजसम्बन्धिनं गोकर्मकं चिरस्थित्यनुकूलव्यापारं करोतीत्यर्थः—इति प्राचीनाः । माणवकं पन्थानं पृच्छतीति । जिज्ञासितव्यार्थज्ञानानुकूलः केन पथा गन्तव्यमित्यभिलाषादिरूपव्यापारः पृच्छेरर्थः । तत्र विषयतया ज्ञानरूपफलाश्रयत्वात् पन्थाः प्रधानकर्म । तज्ज्ञानं प्रति जनकतया आश्रयत्वात् माणवको गुणकर्म । माणवकेन पन्थानं ज्ञातुमिच्छतीत्यर्थः । अत्र माणवके करणत्वमुपेक्ष्य कर्मत्वविवक्षायां द्वितीया । पथिविषयकं माणवकसम्बन्धि ज्ञानमिच्छतीत्यर्थ इति प्राञ्चः । वृक्षमवचिनोति फलानीति । वृक्षात् प्रच्याव्य फलान्यादत्त इत्यर्थः । प्रच्याव्यादानानुकूलव्यापारो लोष्टप्रहारादिरूपः अवपूर्वकचिञ्धातोरर्थः । तत्र प्रच्याव्यादानविषयत्वात् फलानि प्रधानकर्म । प्रच्यवावधित्वाद् वृक्षोऽपादानम् । तस्यापादनत्वमुपेक्ष्य कर्मत्वविवक्षायां द्वितीया, वृक्षस्य फलप्रच्यवाश्रयत्वेन कर्मत्वात् प्रच्यवस्य विभागस्य द्विनिष्ठत्वात् । वृक्षसम्बन्धि यत् प्रच्यवफलादानं तत् करोतीत्यर्थ इति प्राचीनाः । माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वेति । बोधनानुकूलव्यापारः 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इत्यादिशब्दप्रयोगात्मको ब्रूञोऽर्थः । माणवकाय धर्मं बोधयतीत्यर्थः । व्यापारप्रयोज्यबोधविषयत्वाद्धर्मः प्रधानकर्म । बोधविषयेण कर्मणाऽभिप्रेयमाणत्वान्माणवकः सम्प्रदानम् । तस्य सम्प्रदानत्वमुपेक्ष्य धर्मद्वारा बोधाश्रयत्वात् कर्मत्वविवक्षायां द्वितीया । धर्मविषयकं माणवकसम्बन्धिनं बोधं जनयतीत्यर्थ इति तु प्राञ्चः । शासेस्तु धर्मं कुर्वित्यादिविधिघटितशब्दप्रयोगरूपो बोधनानुकूलव्यापारोऽर्थः । इतरत् प्राग्वत् । शतं जयति

की प्रार्थना करता है । अपादान के अर्थ में 'अविनीत' में द्वितीया । (३) पच् (= पकाना)—तुण्डुलान् ओदनं पचति (= चावलों से भात पकाता है) । करण अर्थ में 'तण्डुलं' कर्म है । (४) दण्ड् (= दण्ड देना)—गर्गान् शतं दण्डयति (= गर्ग-वंशीयों पर सौ रुपये दण्ड लगाता है । अपादान की अविवक्षा में 'गर्गान्' कर्म । (५) रुध् (= रोकना)—व्रजम् अवरुणद्धि गाम् (= गाय को बाड़े में रोकता है) । अधिकरण की अविवक्षा में 'व्रजम्' गौण कर्म । (६) प्रच्छ् (= पूछना)—माणवकं पन्थानं पृच्छति (= बालक से मार्ग पूछता है) । अपादान की अविवक्षा में 'माणवकम्' अप्रधान कर्म है । (७) चि (= चुनना)—वृक्षम् अवचिनोति फलानि (= पेड़ से फल चुनता है । अपादान की अविवक्षा में 'वृक्षम्' गौण कर्म । (८) ब्रू (= कहना)—माणवकं धर्मं ब्रूते (= बालक को धर्म की शिक्षा देता है) । सम्प्रदान की अविवक्षा में 'माणवकं' अप्रधान कर्म । (९) शास् (= उपदेश देना)—माणवकं धर्मं शास्ति (= बालक को धर्म का उपदेश देता है) । सम्प्रदान की अविवक्षा में 'माणवकम्' गौण कर्म । (१०) जि (=जीतना)—शतं जयति देवदत्तम् (= देवदत्त से सौ रुपये जीतता है) । अपादान की अविवक्षा में 'देवदत्तम्'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्षति, वहति वा । अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा । वलिं भिक्षते वसुधाम् । माणवकं धर्मं भाषते,

---

देवदत्तमिति । जि अभिभवे । ग्रहणानुकूलताडनादिव्यापारो जयतेरर्थः । गर्गान् शतं दण्डयतीतिवद् व्याख्येयम् । सुधां क्षीरनिधिं मथ्नातीति । 'मन्थ विलोडने' । द्रवद्रव्यगतसारोद्धवनानुकूलः मन्थनदण्डभ्रमजनितसङ्क्षोभात्मक आस्फालनपर्यायो व्यापारो मन्थेरर्थः । क्षीरोदधेः सकाशात् सुधां मन्थनदण्डभ्रमणेनोद्धावयतीत्यर्थः । व्यापारप्रयोज्योद्धवाश्रयत्वात् सुधा प्रधानकर्म । क्षीरोदधिस्तु उद्धवं प्रत्यपादानम् । तस्यापादानत्वमुपेक्ष्य सुधाद्वारा उद्धवाश्रयत्वात् कर्मत्वविवक्षायां द्वितीया । सुधाश्रयं क्षीरोदधिसम्बन्धिनं उद्धवं करोतीत्यर्थ इति तु प्राचीनाः । देवदत्तं शतं मुष्णातीति । अपश्यति देवदत्ते तदीयं सुवर्णशतं तस्मादपनीयादत्त इत्यर्थः । परस्वामिकद्रव्यस्य स्वामिनः सकाशादपनीयादानानुकूलः स्वाम्यज्ञातो निशासञ्चारभित्तिच्छिद्रकरणादिरूपव्यापारो मुषेरर्थः । व्यापारप्रयोज्यापनयनपूर्वकादानाश्रयत्वाच्छतं प्रधानकर्म अपनयनावधित्वाद् देवदत्तोऽपादानम् । अपादानत्वमनादृत्यापनीयादेयद्रव्यस्वामितया देवदत्तस्यापनीयादानाश्रयत्वात् कर्मत्वविवक्षायां द्वितीया । शतकर्मकं देवदत्तसम्बन्ध्यपनीयादानं करोतीत्यर्थः इति तु प्राञ्चः । ग्राममजां नयतीति । ग्रामे अजां प्रापयतीत्यर्थः । णीञ् प्रापणे । देशान्तरसंयोगानुकूलश्चलनगमनपर्यायो व्यापारः प्राप्तिः, न तु देशान्तरसंयोगमात्रम् । ग्रामं प्रति चलनदशायामेव प्राप्नोति गच्छतीति प्रयोगदर्शनात् । चलनेन संयोगे जाते ग्रामं गता प्राप्तेत्येव दर्शनात् । तादृशप्राप्त्यनुकूलो दण्डोद्यमनमार्गान्तरगतिप्रतिबन्धपूर्वकयोग्यमार्गसंयोजनादिरूपव्यापारो नीधातोरर्थः । एतादृशव्यापारप्रयोज्यग्रामसंयोगतदनुकूलगमनोभयाश्रयत्वादजा प्रधानकर्म । तादृशाजाधारत्वात् ग्रामोऽधिकरणम् । अधिकरणत्वमनादृत्य ग्रामस्यापि तथाविधसंयोगाश्रयत्वात् कर्मत्वविवक्षायां द्वितीया । अजाकर्मकं ग्रामसम्बन्धि नयनमित्यर्थ इति तु प्राचीनाः । एवमेव ग्रामम् अजां हरति कर्षति वहतीत्यपि व्याख्येयम्, तत्र देशान्तरसंयोगानुकूलम् अजाचलनं वाहकद्वारकं, तादृशचलनानुकूलव्यापारः स्कन्धग्रहणादिरूपो हरतेरर्थः । रज्जुबन्धनादिना बलाच्चालनं कृषेरर्थः । शकटाद्यारोपणादिरूपसंयोगानुकूलप्राप्त्यनुकूलो वहेरर्थ इति विशेषः । अर्थनिबन्धनेयं संज्ञेति । कैयटादिभिस्तथा व्याख्यातत्वादिति भावः । तथा च एतदर्थकधात्वन्तरसंयोगेऽपि द्विकर्मकत्वं लभ्यते । वस्तुतस्तु भाष्ये याचिरुधीत्याद्युदाहृतश्लोकद्वय-

---

अप्रधान कर्म है । (११) मथ् (= मथना)—सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति (= समुद्र से अमृत मथता है) । अपादान की अविवक्षा में 'क्षीरनिधिम्' गौण कर्म है । (१२) मुष् (= चुराना)—देवदत्तं शतं मुष्णाति (= देवदत्त के सौ रुपये चुराता है) । अपादान की अविवक्षा में 'देवदत्तं' गौण कर्म । (१३–१६) नी (= ले जाना), हृ (=हरना), कृष् (= खींचना), वह् (= ढोना)—ग्रामम् अजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा (= गाँव में बकरी को ले जाता है, हरता है, खींचता है, ढोता है) । अधिकरण की अविवक्षा में 'ग्रामम्' गौण कर्म है ।

प्रकृत सूत्र से होने वाली 'कर्म' संज्ञा सूत्र में उल्लिखित धातुओं के अर्थ पर आधारित है । अतः पूर्वोक्त धातुओं के समान-अर्थ वाले अन्य धातुओं से भी अपादानादि की अविवक्षा में 'कर्म' संज्ञा होगी । तदनुसार कुछ उदाहरण दिये जारहे हैं । (१) √ 'याच्' का समानार्थक √भिक्ष् धातु (=माँगना)—वलिं भिक्षते वसुधाम् (=वलि से पृथ्वी माँगता है) । अपादान की अविवक्षा में 'वलि' गौण कर्म है । (१) √'ब्रू' के समानार्थक √भाष्, 'अभि–√धा' तथा √वच् (= कहना)—माणवकं धर्मं भाषते, अभिधत्ते, वक्ति वा (= बालक को धर्म का उपदेश देता है) । सम्प्रदान की अविवक्षा में 'माणवक' गौण कर्म है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिधत्तं, वक्तीत्यादि। 'कारकं' किम्? माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति। अकर्मक-धातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्याऽध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम्' (वा ११०३—

परिगणिताः दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिन्व्रूंशासय इत्यष्टावेव धातवो द्विकर्मकाः न तु पचिदण्डिजिप्रभृतयस्तद्बहिर्भूता अपि। अर्थनिबन्धनेयं सञ्ज्ञेत्यपि न युक्तम्, भाष्ये अदर्शनात्, भाष्ये याचिग्रहणेनैव सिद्धे भिक्षिग्रहणवैयर्थ्याच्च। नन्वेवं सति अहमपीदमचोद्यं चोद्ये इति 'तद्राजस्य बहुषु' इति सूत्रस्थभाष्यविरोधः। तत्र हि चुदधातुः चौरादिकः प्रच्छिपर्यायः, कर्मणि लट्, उत्तमपुरुषैकवचनम्। अप्रष्टव्यमहं पृच्छ्ये इत्यर्थः। अत्र चुदेर्द्विकर्मकत्वदर्शनात् अर्थनिबन्धनेयं सञ्ज्ञेति विज्ञायत इति चेत्? न, तावता चुदधातोरपि द्विकर्मकत्वलाभेऽपि तदन्येषां द्विकर्मत्वे मानाभावात्। अत एव 'कर्तुरीप्सिततमम्' इतिसूत्रभाष्ये, 'द्व्यर्थः पचिः तण्डुलानोदनं पचतीति तण्डुलान्विक्लेदयन्नोदनं निर्वर्तयतीति गम्यते। तण्डुलानोदनं पचतीति तण्डुलविकारमोदनं निर्वर्तयतीति गम्यते'। ओदनं पचतीति ओदनार्थान् तण्डुलान् विक्लेदयतीति गम्यत इत्युदाहृतम्। कर्तुरीप्सिततममित्येव तण्डुलानामपि कर्मत्वमिति पचेरेतदुदाहरणत्वमनुपपन्नमेव। तस्माद्भाष्यपरिगणितबहिर्भूतधातूनामन्तर्भावितण्यर्थकत्व एव द्विकर्मकत्वमिति शब्देन्दुशेखरे स्थितम्। ननु कुरून्स्वपिति देवदत्तः, मासमास्ते इत्यादौ कुर्वादेरनुद्देश्यत्वात् 'कर्तुरीप्सिततमम्' इति कर्मत्वं न सम्भवति, कर्तुरेव स्वापादिक्रियाश्रयत्वात् 'तथायुक्तम्' इत्यपि न कर्मत्वमित्यत आह—अकर्मकधातुभिरिति। ग्रामसमूहात्मककुरुपञ्चालाऽवन्त्यादिपरोऽत्र देशशब्दः, न तु ग्रामादिरपि। तेन ग्रामे स्वपितीत्यत्र न द्वितीया। अत्र च 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इति लिङ्गम्। अन्यथा 'अधिशेते अधितिष्ठति अध्यास्ते वा वैकुण्ठं

प्रत्युदाहरण—'कारके' अधिकार के कारण 'कारकम्' की अनुवृत्ति होने से 'माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति' (= बालक के पिता से मार्ग पूछता है)—इस वाक्य में 'माणवक' कारक न होने के कारण उसकी अविवक्षा अपेक्षित नहीं है, अतः द्वितीया नहीं हुई। सम्बन्ध को कारक नहीं माना गया है।

(वा०) अकर्मक धातुओं के योग में देश (= स्थान), समय, भाव (=क्रिया) तथा गन्तव्य मार्ग को बतलाने वाले शब्द 'कर्म' संज्ञक होते हैं। यहाँ 'भाव' का अर्थ है किसी क्रिया के करने में लगने वाला समय। क्रमशः **उदाहरण**—(क) देशवाची—कुरून् स्वपिति (= कुरु देश में सोता है)। 'सोना' (स्वपिति) अकर्मक क्रिया है, उसके योग में देशवाची 'कुरु' शब्द कर्मसंज्ञक हुआ। अधिकरण की अविवक्षा में 'कुरून्' कर्म हुआ, अतः द्वितीया विभक्ति हुई। देशवाची शब्दों का बहुवचन में प्रयोग होने से प्रकृत वाक्य में 'कुरून्' (कुरु+शस्) शब्द दिया गया है। (ख) कालवाची—मासम् आस्ते (= महीने भर रहता है)। 'आस्ते' अकर्मक क्रिया के योग में कालवाची 'मासम्' शब्द (अधिकरण की अविवक्षा में) 'कर्म' संज्ञक है। (ग) भाववाची—गोदोहम् आस्ते (= गाय दुहने के समय रहता है)। अधिकरण की अविवक्षा में 'गोदोहम्' 'कर्म' संज्ञक हुआ। (घ) गन्तव्य-मार्गवाची क्रोशम्—आस्ते (= कोस भर है)। अत्यन्त संयोग न होने पर भी अकर्मक धातु 'आस्' के योग में गन्तव्य मार्ग 'क्रोश' की कर्मसंज्ञा होने से द्वितीया विभक्ति हुई—'क्रोशम्'।

विशेष—भाष्य में उपर्युक्त वार्तिक का उल्लेख नहीं हुआ है। अतः नागेश भट्ट इसे कर्मसंज्ञा-विधायक नहीं मानते। अकर्मक धातुओं में काल, भाव, गन्तव्य अध्वा तथा देश की कर्मसंज्ञा होने के सम्बन्ध में नागेश ने भाष्योक्त यह समाधान दिया है—'कालभावाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा अकर्मणाम्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

११०४)। कुरून् स्वपिति। मासमास्ते। गोदोहमास्ते। क्रोशमास्ते। (५४०) गति-

हरिः' इत्यत्राप्यनेनैव कर्मत्वसिद्धेस्तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेत्यभिप्रेत्योदाहरति—कुरून् स्वपितीति। देवदत्त इति शेषः। कुरुषु निद्रां करोतीत्यर्थः। देवदत्तात्तु न तृतीया, तिङा अभिहितत्वादिति भावः। कुर्वादिशब्दाः जनपदविशेषेषु स्वभावान्नित्यबहुवचनान्ताः। मासमास्ते इति। मासस्याधिकरणसंज्ञां बाधित्वा कर्मत्वम्। गोदोहमिति। दोहनं दोहः। भावे घञ्। भावो धात्वर्थः। गोदोहनकालोऽत्र विवक्षितः। न चेह कालत्वादेव सिद्धिः शङ्क्या, अहोरात्रसमूहस्य मासादेरेव तत्र ग्रहणात्। गन्तव्यत्वेनाध्वनो विशेषितत्वात् नियतपरिमाणः क्रोशादिरेव गृह्यत इत्यभिप्रेत्योदाहरति—क्रोशमास्ते इति। गन्तव्यत्वविशेषणादध्वन्यास्ते इत्यत्र न भवति। अनत्यन्तसंयोगार्थमिदं वार्तिकम्। अत्यन्तसंयोगे तु 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इत्येव सिद्धमिति प्राचीनानुसारी पन्थाः। वस्तुतस्तु 'अकर्मकधातुभिर्योगे' इत्यादिवचनं भाष्ये न दृश्यते। किन्तु अकर्मकधातूनां कथं द्विकर्मकत्वमित्याशङ्क्यां 'कालभावाध्वगन्तव्याः कर्मसञ्ज्ञा ह्यकर्मणाम् देशश्च' इत्युक्तम्। हिशब्दघटितत्वादिदं न विधायकम्, किन्तु अनुवादकमेव। तथाहि 'कुरून् स्वपिति' इत्यादौ स्वापादिक्रियया कुर्वादीन् व्याप्नोतीत्यर्थः, धातूनामनेकार्थतया कदाचित् तेषां स्वापादिकरणकव्यापनेऽपि वृत्तेः। ततश्च 'कर्तुरीप्सिततमं' इत्येव सिद्धम्। यदा तु स्वपादिधातूनां स्वापादावेव वृत्तिः, न तु व्याप्तिपर्यन्ते, तदा कुरुषु स्वपिति, मासे आस्ते इत्यधिकरणत्वमेव। एतच्च 'अकथितं च' इत्यत्र 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इत्यत्र च भाष्ये स्पष्टम्। अत एव 'समां समां विजायते' इति सूत्रे समायां समायां विजायते इति विग्रहकथनं भाष्ये सङ्गच्छते। अन्यथा द्वितीयाप्रसङ्गात्। अत एव च लकारार्थप्रक्रियायाम् 'अत्यन्तापह्नवे लिङ् वक्तव्यः' इत्यत्र 'कलिङ्गेष्ववात्सीः नाहं कलिङ्गान् जगाम' इति मूलकृदुदाहृते वाक्ये कलिङ्गेष्विति सप्तमी सङ्गच्छते। उक्तं च हरिणा—

'कालभावाध्वदेशानामन्तर्भूतक्रियान्तरैः। सर्वैरकर्मकैर्योगे कर्मत्वमुपजायते॥' इति।

इति शब्देन्दुशेखरे प्रपञ्चितम्।

(५४०) गतिबुद्धि। गतिश्च बुद्धिश्च प्रत्यवसानं च तानीति द्वन्द्वः। प्रत्यवसानं

देशश्च'। अर्थात् अकर्मक धातुओं के ('मासम् आस्ते' इत्यादि में) साथ कालादि का सम्बन्ध होने पर स्वभावतः कर्मत्व शक्ति आजाती है। इसका कारण यह है कि धातुओं का अर्थ केवल क्रियापरक ही नहीं है किन्तु कार्यसिद्धि पर्यन्त उनकी अभिव्याप्ति (व्यापकता) रहती है। उसमें भी धात्वर्थ का साधन विशेषण के रूप में साकाङ्क्ष रहता है। इस प्रकार 'मासम् आस्ते' आदि वाक्यों से यह तात्पर्य विदित होता है—'आसनेन मासं व्याप्नोति' (= एक आसन से महीने भर स्थिर रहता है)[1]। इसी को अभिलक्षित कर भर्तृहरि ने भी 'वाक्यपदीय' में स्पष्ट रूप से यह कहा है कि "काल, भाव, मार्ग तथा देशवाची शब्दों का अकर्मक धातुओं के अन्तर्निहित अर्थ के साथ सम्बन्ध होने पर कर्मता सिद्ध होती है"[2]।

(५४०) पद—गति·····कर्मकाणाम्, अणि, कर्ता, सः, णौ। अनुवृत्ति—कर्म, कारके। संज्ञासूत्र (नियम)।

---

१. "भाष्यकृतस्त्वाहुः 'प्राकृतमेवेदं' कर्मेति। व्यापनादिविशिष्ट आसनादिर्मासमास्ते इत्यादौ धात्वर्थः। ततो विशेषणीभूतव्यापनादिक्रियापेक्षं स्वाभाविकमेवैतत्कर्म। ततश्चासनादेः करणत्वेनान्वयः" व्या० सि० सु० पृ० १०४४।

२. "कालभावाध्वदेशानामन्तर्भूतक्रियान्तरैः।
सर्वैरकर्मकैर्योगे कर्मत्वमुपजायते॥"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ १।४।५२॥ गत्याद्यर्थानां शब्दकर्मणामकर्मकाणां चाणौ यः कर्ता स णौ कर्म स्यात्।

"शत्रूनगमयत्स्वर्गं वेदार्थं स्वानवेदयत्।
आशयच्चामृतं देवान्वेदमध्यापयद्विधिम्॥
आसयत्सलिले पृथ्वीं यः स मे श्रीहरिर्गतिः।"

भक्षणम्। गतिबुद्धिप्रत्यवसानानि अर्थो येषामिति विग्रहः। शब्दः कर्म येषां ते शब्दकर्माणः, तेषामिति बहुव्रीहिः। अविद्यमानं कर्म येषां ते अकर्मकाः। उभयत्रापि कर्मशब्दः कारकपरः। गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थाश्च शब्दकर्माणश्च अकर्मकाश्च तेषामिति द्वन्द्वः। अणौ कर्ता अणिकर्ता। यच्छब्दोऽध्याहार्यः। तदाह—गत्याद्यर्थानामित्यादिना। णौ अनुत्पन्ने सति शुद्धधातुवाच्यां क्रियां प्रति यः कर्ता सः ण्यन्तधातुवाच्यां प्रयोजकव्यापारात्मिकां क्रियां प्रति कर्मसंज्ञकः स्यादित्यर्थः। 'क्रमेणोदाहरति—शत्रूनिति। शत्रूनगमयत् स्वर्गम्' इति गत्यर्थकस्योदाहरणम्। शत्रवो युद्धे मृताः स्वर्गमगच्छन्, तान् यः शस्त्रघातेनागमयत् स्वर्गं स श्रीहरिर्मे गतिरित्यन्वयः। अत्र गमेरण्यन्तावस्थायां शत्रवो गमनक्रियां प्रति कर्तारः, स्वर्गस्तु कर्म। ण्यन्तावस्थायां तु णिजर्थाच्यां प्रयोजकव्यापारात्मिकां शस्त्रघातक्रियां प्रति घातयिता हरिः कर्ता। शत्रवस्तु कर्म, शस्त्रघातजन्या या क्रिया स्वर्गप्राप्तिस्तदाश्रयत्वात्। एवञ्च हरिः प्रयोजककर्ता, शत्रवस्तु प्रयोज्यकर्तारः। प्रयोजककर्तुर्हरेः शाब्दं प्राधान्यम् अन्यानधीनत्वलक्षणं चार्थप्राधान्यमस्ति। शत्रूणां तु अन्याधीनस्वर्गप्राप्तिकर्तृत्वं प्रयोजकाधीनत्वात् गुणभूतमेव। शेषित्वलक्षणमार्थप्राधान्यं तु प्रयोज्यशत्रुगतकर्तृत्वस्यैव, प्रयोजकव्यापारस्य प्रयोज्यस्वर्गप्राप्त्यर्थत्वादिति स्थितिः। तत्रान्यानधीनत्वलक्षणस्यार्थप्राधान्यस्य शब्दप्राधान्यस्य च प्रयोजकव्यापारे सत्त्वात् तदनुरोधि शत्रुगतं कर्मत्वं 'कर्तुरीप्सिततमम्' इत्येव सिद्धम्। अतो नियमार्थमिदं सूत्रम्। णिजर्थनाप्यमानस्य प्रयोज्यकर्तुर्यदि कर्मत्वं भवति, तर्हि गत्यर्थादीनामेवेति। तेन पाचयति देवदत्तेन इत्यादौ प्रयोज्यकर्तुर्न कर्मत्वम्, किन्तु कर्तृत्वमेव। तदेतत् 'हेतुमति च'इति सूत्रे भाष्यकैयटयोः स्पष्टम्। उक्तं च हरिणा—'गुणक्रियायां स्वातन्त्र्यात् प्रेषणे कर्मतां गतः। नियमात् कर्मसंज्ञायाः स्वधर्मेणाभिधीयते—' इति। स्वधर्मेणेति तृतीययेत्यर्थः। एवं च स्वर्गकर्मकं शत्रुनिष्ठं यद् गमनं तदनुकूलो यन्निष्ठो व्यापारः स श्रीहरिर्मे गतिरिति वाक्यार्थः। एवमग्रेऽप्यूह्यम्। वेदार्थं स्वानवेदयदिति। बुद्ध्यर्थधातोरुदाहरणम्। स्वशब्दः आत्मीयपरः, स्वे स्वकीयाः विधिप्रमुखाः वेदार्थमविदुः, तान् हरिः वेदार्थमवेदयदित्यर्थः। अत्र स्वेषां प्रयोज्यकर्तॄणां कर्मत्वम्। आशयच्चामृतं देवानिति। प्रत्यवसानार्थस्य उदाहरणम्। देवा अस्रुतमाश्नन्, तान् हरिराशयदित्यर्थः। वेदमध्यापयद्विधिमिति। शब्दकर्मणः उदाहरणमेतत्। विधिः ब्रह्मा वेदमधीतवान्, तं हरिः अध्यापयदित्यर्थः। अत्र प्रयोज्यकर्तुर्विधेः कर्मत्वम्। आसयत्सलिले पृथ्वीमिति। अकर्मकस्योदाहरणम्। सलिले पृथ्वी आस्ते, तां

मूलार्थ—गति-आदि अर्थवाची, शब्दकर्मक तथा अकर्मक धातुओं के अण्यन्तावस्था का कर्ता ण्यन्त-अवस्था में 'कर्म' हो जाता है। जैसे—गत्यर्थक—शत्रून् अगमयत् स्वर्गम्। बुद्ध्यर्थक—वेदार्थं स्वान् अवेदयत्। प्रत्यवसानार्थक-देवान् अमृतम् आशयत्। शब्दकर्मक—विधिं वेदम् अध्यापयत्। अकर्मक—सलिले पृथिवीम् आसयत्। 'यः स मे श्रीहरिः गतिः'—इस वाक्य का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है। 'गति' इत्यादि कहने का क्या प्रयोजन है? पाचयति ओदनं देवदत्तेन। 'अण्यन्त' कहने का क्या प्रयोजन है? गमयति देवदत्तः यज्ञदत्तम्। उसको दूसरे के प्रेरित करने पर गमयति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'गति'—इत्यादि किम् ? पाचयत्योदनं देवदत्तेन । 'अण्यन्तान.' किम् ? गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तं, तमपरः प्रयुङ्क्ते, गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः । 'नीवह्योर्नं' (वा ११०९)। नाययति, वाहयति वा भारं भृत्येन । 'नियन्तृकर्तृकस्य वहेरनिषेधः (वा १११०)। वाहयति रथं वाहान्सूतः । 'आदिखाद्योर्नं' (वा ११०९)। आदयति,

---

हरिरासयदित्यर्थः । अत्र पृथिव्याः प्रयोज्यकर्त्र्याः कर्मत्वम् । यः स मे श्रीहरिर्गतिरिति प्रतिवाक्यमन्वयः । नीवह्योर्नेति । णीञ् प्रापणे, वह प्रापणे इत्यनयोः ण्यन्तयोः प्रयोज्यकर्तुः 'गतिबुद्धि' इत्युक्तं नेति वक्तव्यमित्यर्थः । नाययति वाहयति वेति । भृत्यो भारं नयति वहति वा, तं प्रेरयतीत्यर्थः । अत्र प्रयोज्यकर्तुर्भृत्यस्य णिच्प्रकृत्यर्थं नयनं वहनं च प्रति कर्तुः प्रयोजकव्यापारं प्रति कर्मत्वे निवृत्ते णिच्प्रकृत्यर्थं प्रति कर्तृत्वस्यैव निरपवादत्वेनावस्थानात् तृतीया बोध्या । यद्यपि नीवह्योः प्रापणमर्थः, तथापि गत्यनुकूलव्यापारार्थके प्रापणे गतेर्विशेषणत्वेन प्रविष्टतया गत्यर्थत्वात् प्राप्तिरिति भावः । नियन्तृकर्तृकस्य वहेरनिषेध इति । एवञ्च तत्र प्रयोज्यकर्तुरुक्तस्य 'नीवह्योर्न' इति प्रतिषेधस्याभावे सति प्रयोज्यस्य कर्मत्वं वक्तव्यमिति फलितम् । वाहयतीति । वाहा अश्वा वहन्ति, तान् सूतः प्रेरयतीत्यर्थः । 'नियन्ता प्राजिता यन्ता सूतः क्षन्ता च सारथिः' इत्यमरः । 'वहन्ति बलीवर्दाः यवान्, वाहयति बलीवर्दान् देवदत्तः' इति भाष्योदाहरणात् नियन्ता पशुप्रेरक एव विवक्षितः । आदिखाद्योर्नेति । अद भक्षणे, खाट भक्षणे, अनयोः प्रयोज्यकर्तुः कर्मत्वं नेति वक्तव्यमित्यर्थः । प्रत्यवसानार्थकत्वात् प्राप्तिः । आदयति खादयति वेति । अत्ति

देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः । वा० 'नी' और 'वह्' धातुओं में नहीं होता । जैसे—नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन । वा० 'वह्' धातु के कर्ता का यदि कोई नियन्ता हो तो निषेध नहीं होता । जैसे—वाहयति रथं वाहान् सूतः । वा० ण्यन्त √'अद्' √और 'खाद्' को भी कर्मसंज्ञा नहीं होती । जैसे—आदयति खादयति वा अन्नं वटुना । वा० अहिंसार्थक √भक्ष् को भी कर्मसंज्ञा नहीं होती । जैसे—भक्षयति अन्नं वटुना । 'अहिंसार्थक' का क्या प्रयोजन है ? भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम् । वा० जल्पति आदि धातुओं के सम्बन्ध में भी कर्मसंज्ञा कहनी चाहिये । जैसे—जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः । वा० दृश् धातु के सम्बन्ध में भी कहा जाय । जैसे—दर्शयति हरिं भक्तान् । इससे यह ज्ञापित होता है कि सूत्र में ज्ञान-सामान्य (जानना) अर्थवाले धातुओं का ही ग्रहण होता है, ज्ञानविशेष के बोधक धातुओं का ग्रहण नहीं होता । इसके फलस्वरूप स्मरति, जिघ्रति आदि में कर्मसंज्ञा नहीं होती—स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन । वा० शब्दायति को भी (कर्मसंज्ञा) नहीं होती । जैसे—शब्दाययति देवदत्तेन । धातु के अर्थ के द्वारा कर्म संगृहीत होने से अकर्मक होने के कारण यहाँ प्राप्ति है । इस सूत्र में अकर्मक वे ही लिए जाते हैं जिनका देश और काल से भिन्न कर्म न हो । किन्तु जिनका कर्म अविवक्षित हो, वे अकर्मक नहीं माने जाते । इससे 'मासम् आसयति देवत्तम्' इत्यादि वाक्यों में कर्मता सिद्ध होती है और 'देवदत्तं पाचयति' इत्यादि में नहीं ।

विवरण—ण्यन्त धातुओं के मूल रूप के कर्ता को 'कर्म'-संज्ञा का विधान किया जा रहा है । प्रकरणवश 'कर्म' तथा 'कारके' पदों की अनुवृत्ति यथापूर्व चली आरही है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि 'गत्यर्थक, बुद्ध्यर्थक, भोजनार्थक (प्रत्यवसानार्थक), शब्दकर्मक तथा अकर्मक धातुओं का जो अण्यन्त अवस्था (सामान्य अवस्था) का कर्ता रहे उसे ण्यन्त-अवस्था (प्रेरणार्थक अवस्था) में कर्मसंज्ञा हो'' (गतिश्च, बुद्धिश्च, प्रत्यवसानं च—गतिबुद्धिप्रत्यवसानानि, गतिबुद्धिप्रत्यवसानानि अर्था येषां ते—गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थाः । शब्दः कर्म यस्य तत्—शब्दकम, गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थाश्च, शब्दकर्म च, अकर्मकाश्चेति गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाः, तेषाम्, गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणाम्) । ग्रन्थोक्त कारिका के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खादयति वा अन्नं बटुना। 'भक्षेरहिंसार्थस्य न' (वा १११९)। भक्षयत्यन्नं बटुना। 'अहिंसार्थस्य' किम्? भक्षयति बलीवर्दान्सस्यम्। 'जल्पतिप्रभृतीनामुपसङ्ख्यानम्' (वा ११०७)। जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः। 'दृशेश्च' (वा ११०८)।

खादयति वा अन्नं बटुः, तं प्रेरयतीत्यर्थः। भक्षेरिति। अहिंसार्थकस्य भक्षधातोः प्रयोज्यकर्तुः कर्मत्वं नेति वक्तव्यमित्यर्थः। ननु 'गतिबुद्धि' इस सूत्रे अणौ कर्तुः णौ कर्मत्वमुक्तम्। भक्षधातुस्तु चुरादित्वात् नित्यं स्वार्थिकण्यन्तः। तस्याणि कर्ता नास्त्येव। अतस्तस्य कर्मत्वनिषेधोऽनुपपन्नः, अप्रसक्तत्वादिति चेत्? न, अत एव निषेधालिङ्गात् 'गतिबुद्धि' इति सूत्रे णिग्रहणेन हेतुमत एव विवक्षितत्वात्। एवञ्च हेतुमण्णिचि अनुत्पन्ने सति अण्यन्तभक्षिधातुवाच्यां क्रियां प्रति कर्तुः हेतुमण्यन्तवाच्यां क्रियां प्रति कर्मत्वमित्यर्थः पर्यवस्यतीति न दोषः। भक्षयत्यन्नं बटुनेति। चुरादिण्यन्तात् भक्षधातोर्हेतुमण्णिचि पूर्वणेर्लोपे हेतुमण्यन्तात्तिबादौ सति भक्षयतीति रूपम्। एवञ्च भक्षयत्यन्नं बटुः, खादतीत्यर्थः। तं प्रेरयतीति ण्यन्तस्यार्थः। भक्षयति बलीवर्दान् सस्यमिति। क्षेत्रे प्ररूढमलूनं सस्यमिह विवक्षितम्। तस्य तदानीमन्तःप्रज्ञजीवत्वात् तद्भक्षणं हिंसैवेति भावः। जल्पतिप्रभृतीनामिति। एतेषामणौ यःकर्ता स णौ कर्म स्यादिति वक्तव्यमित्यर्थः। जल्पयति भाषयति वेति। धर्ममिति शेषः। पुत्रो धर्मं जल्पति, भाषते वा, तं देवदत्तः प्रेरयतीत्यर्थः। गत्यर्थादिष्वनन्तर्भावाद्वचनम्। न च शब्दनक्रियार्थत्वादेव सिद्धे वचनमिदं व्यर्थमिति वाच्यम्, अत एव 'शब्दकर्माकर्मकाणा'मित्यस्य शब्दः कर्मकारकं येषामित्यर्थात्। अन्यथा वेदमध्यापयद्विधिमित्यसिद्धेः। वार्तिके आदिना व्याहरतिवदत्यादीनां संग्रहः। भाष्ये तु 'के पुनर्जल्पतिप्रभृतयः, जल्पति विलपति आभाषते' इत्येवोक्तम्। परिगणनमित्येके। उदाहरणमात्रप्रदर्शनमित्यन्ये। दृशेश्चेति। 'दृशिर प्रेक्षणे' अस्याप्यणौ यः कर्ता

क्रम	अर्थ	सामान्य अर्थ (अण्यन्तावस्था)	प्रेरणा अर्थ (ण्यन्तावस्था)	प्रयोज्य कर्ता	प्रेरणा अर्थ कर्म
१.	गत्यर्थक	← शत्रवः स्वर्गम् अगच्छन् (शत्रु स्वर्ग गए)	→ हरिः शत्रून् स्वर्गम् अगमयत् (हरि ने शत्रुओं को स्वर्ग भेजा)	← शत्रवः	→ शत्रून्
२.	बुद्ध्यर्थक	← स्वे वेदार्थम् अविदुः (स्वजनों ने वेदार्थ जाना)	→ हरिः स्वान् वेदार्थम् अवेदयत् (हरि ने स्वजनों को वेदार्थ बताया)	← स्वे	→ स्वान्
३.	भक्षणार्थक	← देवाः अमृतम् आश्नन् (देवों ने अमृत खा लिया)	→ हरिः देवान् अमृतम् आशयत् (हरि ने देवों को अमृत खिलाया)	← देवाः	→ देवान्
४.	शब्दार्थक	← विधिः वेदम् अध्यैत (ब्रह्मा ने वेद पढ़ा)	→ हरिः विधिं वेदम् अध्यापयत् (हरि ने ब्रह्मा को वेद पढ़ाया)	← विधिः	→ विधिम्
५.	अकर्मक	← पृथ्वी सलिले आस्त (पृथ्वी जल पर थी)	→ हरिः पृथ्वीं सलिले आसयत् (हरि ने पृथ्वी को जल पर रखा)	← पृथ्वी	→ पृथ्वीम्

कारिका का अर्थ—जिस श्री हरि (विष्णु) ने शत्रुओं को स्वर्ग भेजा, स्वजनों को वेद का अर्थ बताया, देवों को अमृत खिलाया, ब्रह्मा को वेद पढ़ाया और पृथ्वी को जल पर रखा, वही हरि मेरा उद्धार करने वाले हैं।

विशेष—प्रेरणार्थक 'णिच्' प्रत्यय होने के कारण उपर्युक्त वाक्यों में प्रयोज्य-कर्ता की कर्मसंज्ञा होती है, किन्तु वाक्य की मौलिक स्थिति में रहने वाला कर्म यथावत् बना रहता है। वही मुख्य कर्म होता है। इस सूत्र से विधीयमान जो प्रयोज्य-कर्ता की कर्मसंज्ञा होती है, वह गौण कर्म होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शयति हरिं भक्तान्। सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानामेव ग्रहणं, न तु तद्विशेषार्थानामित्यनेन ज्ञाप्यते। तेन स्मरति जिघ्रति इत्यादीनां न। स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन। 'शब्दायतेर्नै' (वा ११०५)। शब्दाययति देवदत्तेन। धात्वर्थसङ्गृहीतकर्मत्वेनाकर्म-

---

स णौ कर्म स्यादिति वक्तव्यमित्यर्थः। दर्शयतीति। हरिं भक्ताः पश्यन्ति, तान् गुरुः प्रेरयतीत्यर्थः। ननु दृशेर्बुद्धिविशेषात्मकत्वादेव सिद्धे किमर्थमिदं वचनमित्यत आह—सूत्रे इति। 'गतिबुद्धि' इति सूत्रे बुद्धिग्रहणेन ज्ञानसामान्यवाचिनां 'विद ज्ञाने, ज्ञा अवबोधने' इत्यादीनामेव ग्रहणम्, न तु ज्ञानविशेषवाचिनामित्येतत् 'दृशेश्च' इत्यनेन विज्ञायते। अन्यथा 'दृशेश्च' इत्यस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। तेनेति। ज्ञापनेनेत्यर्थः। स्मरति जिघ्रतीत्यादीनामिति। आदिना प्रेक्षते इत्यादीनां संग्रहः। स्मारयतीति। स्मरति प्रियां देवदत्तः, जिघ्रति चन्दनं देवदत्तः, तं यज्ञदत्तः, प्रेरयतीत्यर्थः। शब्दायतेर्नेति। शब्दं करोतीत्यर्थे 'शब्दवैर' इत्यादिना क्यङि, 'अकृसार्वधातुकयोः' इति दीर्घे, 'सनाद्यन्ताः' इति धातुत्वे श्तिपा निर्देशोऽयम्। शब्दायेति क्यङन्तधातोः अणौ कर्ता णौ कर्म नेति वक्तव्यमित्यर्थः। शब्दाययति देवदत्तेनेति। शब्दायते देवदत्तः, तं यज्ञदत्तः प्रेरयतीत्यर्थः। देवदत्तस्य कर्मत्वाभावात् प्रयोज्यकर्तृत्वमादाय तृतीयैव। अत्र शब्दकर्मकत्वात् प्राप्तिरिति भ्रमं निरस्यति—धात्वर्थेति। शब्दकर्मकमुत्पादनं शब्दायेति क्यङन्तस्य धातोरर्थः। एवं च

प्रत्युदाहरण—१-गत्याद्यर्थक धातुओं के ही अण्यन्त-अवस्था के कर्ता की कर्म-संज्ञा क्यों कही? इस प्रतिबन्ध के अभाव में इनके अतिरिक्त धातुओं के अण्यन्त-अवस्था के कर्ता को कर्मसंज्ञा होने लगती। उसके न होने के लिये यह प्रतिबन्ध लगाया गया है। जिसके फलस्वरूप गत्यादि को छोड़-कर अन्यत्र अणिजन्त क्रिया का कर्ता णिजन्त में (प्रेरणा में) करण-कारक में ही आता है। इस लिए इस नियम को गत्यादि—अर्थ तक ही सीमित कर दिया गया है। तदनुसार 'देवदत्तः ओदनं पचति' (= देवदत्त भात पकाता है—अण्यन्त अवस्था) वाक्य को प्रेरणार्थक वाक्य में (णिजन्त) परि-वर्तित करने पर उसके कर्ता 'देवदत्त' को कर्मसंज्ञा नहीं होती—'देवदत्तेन ओदनं पाचयति (= वह देवदत्त से भात पकवाता है)। कर्तृवाच्य होने के कारण प्रेरक कर्ता उक्त होगा, किन्तु प्रयोज्य-कर्ता अनुक्त ही रहेगा, अतः उससे "कर्तृकरणयोस्तृतीया" (२-३-१८) सूत्र से तृतीया-विभक्ति हुई (देवदत्तेन)। २-प्रकृत सूत्र में 'अण्यन्तानां' पद के अभाव में एक बार 'णिच्' प्रत्यय करने के पश्चात् दुबारा 'णिच्' प्रत्यय करने पर पूर्व णिजन्त कर्ता के स्थान पर भी कर्मसंज्ञा होने लगती, उसे न होने के लिए यह प्रतिबन्ध लगाया है। जिसके फलस्वरूप 'विष्णुमित्रः देवदत्तेन यज्ञदत्तं गमयति' में 'देवदत्त' की कर्मसंज्ञा नहीं हुई। यहाँ पर सर्वप्रथम वाक्य की स्थिति इस प्रकार है—(१) यज्ञ-दत्तः गच्छति (यज्ञदत्त जाता है)। वाक्य की यह मौलिक (अणिजन्त) स्थिति है। इसे प्रेरणार्थक (णिजन्त) में परिवर्तित करने पर इसका स्वरूप यह होगा—(२) देवदत्तः यज्ञदत्तं गमयति (=देव-दत्त यज्ञदत्त को भेजता है)। यहाँ सूत्रोक्त नियम से प्रयोज्य-कर्ता 'यज्ञदत्त' की कर्मसंज्ञा हुई। इसे पुनः दुबारा प्रेरणार्थक वाक्य में परिवर्तित करने पर इसका स्वरूप यह होता है—(३) विष्णुमित्रः देवदत्तेन यज्ञदत्तं गमयति (= विष्णुमित्र देवदत्त से यज्ञदत्त को भिजवाता है)। अब इस अवस्था के प्रयोज्य-कर्ता 'देवदत्त' की कर्मसंज्ञा नहीं हुई क्योंकि वह ण्यन्त-अवस्था का कर्ता है। अतः पूर्ववत् तृतीया-विभक्ति हुई (देवदत्तेन)।

विशेष—सूत्रोक्त नियम के कुछ महत्त्वपूर्ण अपवाद हैं और उन अपवादों के 'प्रत्यपवाद भी हैं। उनका वार्तिको द्वारा निर्वचन किया जारहा है। वा० १—अर्थ—'नी' तथा 'वह्' धातुओं के अण्यन्तावस्था का कर्ता ण्यन्तावस्था में कर्म नहीं होता। ये दोनों धातु प्रापणार्थक हैं। 'प्रापण' का अर्थ पहुँचाना है। 'गत्यर्थ' में इसका समावेश होता है। अतः सूत्र से 'प्रयोज्यकर्ता' को प्राप्त होने वाली कर्मसंज्ञा का निषेध हो गया। उदाहरण—सामान्य (अणिजन्त) स्थिति—भृत्यः भारं नयति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कत्वात्प्राप्तिः। येषां देशकालादिभिन्नं कर्म न सम्भवति तेऽत्राऽकर्मकाः, न त्वविवक्षित-कर्माणोऽपि। तेन 'मासमासयति देवदत्तम्' इत्यादौ कर्मत्वं भवति, 'देवदत्तेन पाचयति'

शब्दात्मकं कर्म धात्वर्थे अन्तर्भूतम्। अतः शब्दायेति क्यङन्तधातुरकर्मकः, 'धात्वर्थ-बहिर्भूतकर्मकत्वमेव सकर्मकत्वम्' इति 'सुप आत्मनः' इति सूत्रे भाष्ये प्रपञ्चितत्वात्। तस्मादकर्मकत्वादेवात्र प्राप्तिरित्यर्थः। एवं च 'शब्दाययति सैनिकै रिपून्' इति कर्म प्रयुञ्जानाः परास्ताः। ननु मासमास्ते देवदत्तः, तं प्रेरयति मासमासयति देवदत्तं यज्ञदत्त इत्यत्र देवदत्तस्य प्रयोज्यकर्तुः कर्मत्वं न स्यात्। आसधातोर्गत्यादिष्वनन्तर्भावात्। न चाकर्मकत्वात्तदन्तर्भाव इति वाच्यम्, 'अकर्मकधातुभिर्योगे' इति मासस्य कर्मतया

वहति वा (=नौकर बोझ ले जाता है, ढोता है)→परिवर्तित स्थिति (णिजन्त)—देवदत्तः भृत्येन भारं नाययति वाहयति वा (=देवदत्त नौकर से भार पहुँचवा रहा है, ढुलवा रहा है)। अतः 'भृत्य' की कर्मसंज्ञा नहीं होती। 'कर्ता' में तृतीया-विभक्ति हुई। वा० २—अर्थ—जहाँ √वह् धातु नियन्ता (पशुप्रेरक या सारथि) के द्वारा प्रेरित हो वहाँ प्रथम वार्तिक से प्राप्त निषेध नहीं होता (प्रत्यपवाद)। अर्थात् वहाँ सूत्रोक्त नियम के अनुसार अण्यन्तावस्था के कर्ता को ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा हो जायगी। उदाहरण—(अण्यन्तावस्था)—वाहाः रथं वहन्ति (=घोड़े रथ को ढोते हैं)। परिवर्तित स्थिति (ण्यन्तावस्था)-सूतः वाहान् रथं वाहयति (सारथि घोड़ों से रथ ढुलवाता है)। यहाँ पर 'सूत' नियन्ता है। अतः वाहाः>वाहान् कर्म होगा। वा० ३-अर्थ—यदि √भक्ष् धातु हिंसा (पीड़ा देना, दुःख देना) अर्थ में नहीं है तो अण्यन्तावस्था के कर्ता को ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा नहीं होगी (सूत्र का अपवाद)। उदाहरण—सामान्य स्थिति (स्वार्थ णिच्)—बटुः अन्नं भक्षयति (=बटु अन्न खाता है)→ परिवर्तित (ण्यन्तावस्था)—'गुरुः बटुना अन्नं भक्षयति'। स्वार्थ णिच् (प्रेरणार्थक 'णिच्' से भिन्न) के कर्ता 'बटु' की कर्म संज्ञा नहीं हुई। अतः कर्ता में तृतीया विभक्ति हुई। प्रत्युदाहरण—हिंसार्थक √भक्ष् धातु के प्रयोज्य-कर्ता को कर्मसंज्ञा का निषेध नहीं होगा। अतः सामान्य स्थिति 'बलीवर्दाः सस्यं भक्षयन्ति' (=बैल अनाज खाते हैं) से→ परिवर्तित स्थिति में 'सः बलीवर्दान् सस्यं भक्षयति' (वह बैलो को धान खिला रहा है) प्रयोज्य-कर्ता को बलीवर्दाः>बलीवर्दान्—कर्मसंज्ञा हुई। पराया खेत चराने में हिंसा है। वा० ४—अर्थ—√जल्प् आदि धातुओं के अण्यन्तावस्था के कर्ता की कर्म-संज्ञा होती है। यह वार्तिक सूत्र का पूरक है, क्योंकि सूत्र में इस अर्थ का ग्रहण नहीं किया गया है। उदाहरण—अण्यन्ता-वस्था—पुत्रः धर्मं जल्पति भाषते वा (=पुत्र धर्म कहता है)→ परिवर्तित (ण्यन्तावस्था)—देवदत्तः पुत्रं धर्मं जल्पयति भाषयति वा (=देवदत्त पुत्र से धर्म कहवाता है)। अतः प्रयोज्य-कर्ता की पुत्रः>पुत्रम्—कर्मसंज्ञा हुई। वा० ५—अर्थ—√ 'दृश्' धातु के प्रयोज्य-कर्ता की भी कर्मसंज्ञा होती है। इस वार्तिक से यह विदित होता है कि सूत्र में 'बुद्धि' अर्थ से सामान्य ज्ञान (जानना) अर्थ को प्रकट करने वाले धातुओं का ही ग्रहण होता है, विशेष-ज्ञान के बोधक 'स्मृ' (=स्मरण करना), 'घ्रा' (=सूँघना) आदि का ग्रहण नहीं होगा, अन्यथा √दृश् धातु भी ज्ञान में समाविष्ट हो जाता। अतः √दृश् धातु के अतिरिक्त 'स्मृ' आदि के प्रयोज्य-कर्ता की कर्मसंज्ञा नहीं होगी। उदाहरण—'दृश्'-सामान्यावस्था—'भक्ताः हरिं पश्यन्ति' (=भक्त हरि को देखते हैं)→परिवर्तित अवस्था (ण्यन्तावस्था)-'पूजकः भक्तान् हरिं दर्शयति' (=पूजक भक्तों को हरि का दर्शन कराता है)। वार्तिकोक्त नियम से भक्ताः>भक्तान्—कर्म हुआ।

विशेष-ज्ञानार्थक धातुओं के प्रयोज्य-कर्ता को कर्म-संज्ञा नहीं हुई-'यज्ञदत्तः देवदत्तेन प्रियां स्मार-यति पुष्पं घ्रापयति वा'। (=यज्ञदत्त देवदत्त से प्रिया का स्मरण कराता है या फूल सुँघवाता है)। प्रकृत वाक्य के प्रयोज्य-कर्ता 'देवदत्त' की कर्मसंज्ञा न होने से तृतीया-विभक्ति हुई (देवदत्त>देव-दत्तेन)। इसकी मौलिक स्थिति इस प्रकार है—'देवदत्तः प्रियां स्मरति, पुष्पं जिघ्रति वा' (=देवदत्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यादौ तु न। (५४१) हृक्रोरन्यतरस्याम् १।४।५३॥ हृक्रोरणौ यः कर्ता स णौ वा कर्मसंज्ञः स्यात्। हारयति कारयति वा भृत्यं–भृत्येन वा कटम्। अभिवादि-

---

आसेरकर्मकत्वासम्भवात्। किं च ओदनादिकर्मणः अविवक्षायां देवदत्तः पचति, पाचयति देवदत्तेन यज्ञदत्त इत्यत्र प्रयोज्यकर्तुर्देवदत्तस्य कर्मत्वं स्यात्, तदानीं पचेरकर्मकत्वेन गत्यादिष्वन्तर्भावादित्यत आह—येषामिति। इदं च प्रकृतसूत्रे भाष्यकैयटयोः स्पष्टम्।

(५४१) हृक्रो। हा च का च हृकरौ तयोरिति विग्रहः। हारयति कारयति वेति। हरति करोति वा कटं भृत्यः, तं प्रेरयतीत्यर्थः। अत्र प्रयोज्यकर्तुर्भृत्यस्य कर्मत्वविकल्पः। हृक्रोर्गत्यर्थादिष्वनन्तर्भावादप्राप्ते विभाषेयम्। हृक्रोरर्थान्तरे तु प्राप्तविभाषा। अभ्यवहारयति सैन्धवान् सैन्धवैर्वा, विकारयति सैन्धवान् सैन्धवैर्वा। अत्र अभ्यवहारतेर्भक्षणार्थत्वात्

प्रिया को स्मरण करता है या फूल सूंघता है)। वा० ६–अर्थ—शब्दाय (नामधातु) के प्रयोज्य–कर्ता की कर्म संज्ञा नहीं होती। उदाहरण—'देवदत्तः शब्दायते' (=देवदत्त शब्द करता है) >यज्ञदत्तः देवदत्तेन शब्दाययति (=यज्ञदत्त देवदत्त से हल्ला करवाता है)। प्रकृत वार्तिक से कर्मसंज्ञा का निषेध होने से देवदत्तः>देवदत्तेन में तृतीया विभक्ति हुई। 'शब्दाय' (क्यङन्त नामधातु) को अकर्मक माना गया है। अतः "गतिबुद्धि०" (५४०) सूत्र से धातुसम्बन्धी अण्यन्तावस्था के कर्ता को ण्यन्तावस्था में कर्म-संज्ञा प्राप्त रही। कारण यह है कि जिन धातुओं के अर्थ में कर्म अभिलक्षित होता है, वे अकर्मक माने जाते है। 'शब्दायते' में इसी प्रकार की स्थिति है। 'शब्दाय' (नामधातु) से 'शब्द' करता है' अर्थ की प्रतीति होती है। अतः यहाँ पर 'धातु' अकर्मक है। धातुओं के अकर्मक होने में चार[1] कारण अपेक्षित हैं—(१) धातु का अन्य अर्थ में प्रयोग होना। जैसे—नदी वहति। (२) धातु के अर्थ में कर्म का संग्रह हो जाना। जैसे—देवदत्तः शब्दायते। (३) कर्म की प्रसिद्धि होना। जैसे—देवः वर्षति। (४) कर्म की अविवक्षा होना। जैसे—देवदत्तः पचति।

विशेष—"गतिबुद्धि०" (५४०) सूत्र में 'अकर्मक पद से उन्हीं धातुओं का ग्रहण किया जायगा, जिन का देश, काल, भाव तथा गन्तव्य मार्ग से भिन्न कर्म सम्भव न हो। इस के फलस्वरूप जो धातु कर्म की अविवक्षा के कारण अकर्मक समझे जाते हैं, उन्हें अकमर्क नहीं माना गया है। यहाँ पर दोनो प्रकार के उदाहरण दिये जारहे हैं। (१) मासम् आस्ते देवदत्तः (=देवदत्त महीने भर बैठता है)→यज्ञदत्तः देवदत्तं मासम् आसयति (=यज्ञदत्त देवदत्त को महीने भर ठहराता है)। इस उदाहरण में 'मास' कर्म होते हुए भी 'आस्' को अकर्मक माना गया है, क्यों कि 'मास' (कर्म) के कालवाची होने से धातु को सकर्मक नहीं माना जाता, अतः √आस् धातु के प्रयोज्य-कर्ता देवदत्त को कर्म संज्ञा होगई—देवदत्तः>देवदत्तम्। (२) देवदत्तः पचति (देवदत्त पकाता है)→यज्ञदत्तः देवदत्तेन पाचयति (=यज्ञदत्त देवदत्त से पकवाता है)। प्रकृत उदारण में 'पच्' धातु सकर्मक है, किन्तु कर्म की अविवक्षा होने से यहाँ अकर्मक है। उपर्युक्त व्याख्या के फलस्वरूप उसे अकर्मक नहीं माना जासकता। तदनुसार कर्मसंज्ञा न होने से प्रयोज्य-कर्ता 'देवदत्त' को कर्मसंज्ञा नहीं होती। कर्ता के अनुक्त होने से तृतीया विभक्ति हुई—देवदत्तः>देवदत्तेन।

(५४१) पद—हृक्रोः, अन्यतरस्याम्। अनुवृत्ति—अणि कर्ता स णौ, कर्म, कारके। संज्ञा-(विकल्प) सूत्र।

मूलार्थ—'हृ' तथा 'कृ' धातुओं के अण्यन्तावस्था के कर्ता को ण्यन्तावस्था में विकल्प से कर्म संज्ञा होती है। जैसे—हारयति कारयति वा भृत्यं भृत्येन वा कटम्। वा० आत्मने-पद में णिजन्त

---

१. धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात्।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्' (वा १११४)। अभिवादयते दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा।

विकारयतेरकर्मकत्वाच्च प्राप्तः। अभिवादीति। हेतुमण्यन्तस्याभिपूर्वकवदधातोर्दृशिप्रकृतिकण्यन्तस्य चात्मनेपदिनोऽणौ कर्ता णौ कर्म वेत्यर्थः। अभिवादयते इति। अभिवदति नमस्करोति देवं भक्तः, तं गुरुः प्रेरयतीत्यर्थः। कर्तृगामिनि फले 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदम्। अत्र भक्तस्य प्रयोज्यकर्तुः कर्मत्वविकल्पः। अप्राप्तविभाषेयम्। परस्मैपदे तु अभिवादयति देवं भक्तेनेत्येव। पश्यति देवं भक्तः, तं गुरुः प्रेरयति दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा। 'गतिबुद्धि' इत्यत्र बुद्धिग्रहणेन ज्ञानसामान्यवाचिन एव ग्रहणमित्युक्तम्। तथापि 'दृशेश्च' इति नित्यं प्राप्ते विकल्पः।

अभि√वद् तथा √दृश् धातुओं के प्रयोज्य-कर्ता को विकल्प से कर्मसंज्ञा होती है। जैसे—अभिवादयते देवं भक्तं भक्तेन वा।

विवरण—सूत्रार्थ उपपन्न करने के लिये "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" (१-४-४८) से 'कर्म' पद की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त "गतिबुद्धि०" (१-४-५२) सूत्र से 'अणि कर्ता स णौ' अंश की अनुवृत्ति भी की जारही है। "कारके" (१-४-२३) अधिकार-सूत्र का प्रभाव भी यथापूर्व विद्यमान है। 'अन्यतरस्यां' पद विकल्पार्थ का बोधक है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि '√हृ' और√'कृ' धातुओं के अण्यन्तावस्था के कर्ता को ण्यन्तावस्था में विकल्प से कर्म-संज्ञा होती है। **उदाहरण**—(१) (अण्यन्त) 'भृत्यः कटं हरति' (=नौकर चटाई ले जाता है)>ण्यन्त—'यज्ञदत्तः भृत्यं भृत्येन वा कटं हारयति' (=यज्ञदत्त नौकर से चटाई ढुलवाता है)। इस वाक्य के प्रयोज्य-कर्ता 'भृत्य' को विकल्प से कर्मसंज्ञा हुई—भृत्यः>भृत्यम् (द्वितीया विभक्ति)। कर्म-संज्ञा न होने पर कर्ता के अनुक्त होने से तृतीया-विभक्ति—भृत्यः>भृत्येन। (२) (अण्यन्त)—भृत्यः कटं करोति (=नौकर चटाई बनाता है)>(ण्यन्त) 'यज्ञदत्तः भृत्यं भृत्येन वा कटं कारयति' (=यज्ञदत्त नौकर से चटाई बनवाता है। यहाँ पर भी√कृ धातु के प्रयोज्य-कर्ता को विकल्प से 'कर्म'संज्ञा हुई, भृत्यः>भृत्यम्। कर्मसंज्ञा न होने पर तृतीया विभक्ति हुई, भृत्यः>भृत्येन।

विशेष—प्रकृत सूत्र 'प्राप्ताप्राप्त-विभाषा' (उभयत्र) का उदाहरण है। अभि तथा अवपूर्वक √हृ धातु भोजनार्थक होने से तथा √कृ धातु अकमक होने से—इन धातुओं के प्रयोज्य-कर्ता को "गतिबुद्धि०" (५४०) सूत्र से कर्मसंज्ञा प्राप्त रही तथा अन्य अर्थों में प्राप्त नहीं रही। इस सूत्र से दोनों प्रकार की स्थिति में विकल्प से कर्म-संज्ञा की गई है।

(वा०) अभिपूर्वक √वद् (नमस्कारार्थक) तथा √दृश् (=देखना) धातुओं के अण्यन्तावस्था के कर्ता को ण्यन्त आत्मनेपदी के साथ विकल्प से कर्म-संज्ञा होती है। क्रमशः **उदाहरण**—(१) 'भक्तः देवम् अभिवदति' (भक्त देवता को नमस्कार करता है)>पूजकः भक्तं भक्तेन वा देवम् अभिवादयते (पुजारी भक्त से देवता को प्रणाम करवाता है)। (२) 'भक्तः देवं पश्यति' (=भक्त देवता को देखता है)>'पूजकः भक्तं भक्तेन वा दर्शयते' (पुजारी भक्त को देवता का दर्शन करवाता है)।

विशेष—(१) दोनों स्थलों पर पाक्षिक कर्म-संज्ञा हुई है। इन दोनों उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण में नमस्कारार्थ का "गतिबुद्धि०" (५४०) सूत्र में ग्रहण न होने से प्रयोज्य-कर्ता को कर्मसंज्ञा प्राप्त नहीं है। किन्तु द्वितीय उदाहरण में 'दृशेश्च' वार्तिक से नित्य प्राप्त है। अतः इस वार्तिक से दोनों स्थलों पर विकल्प-विधान होने के कारण सूत्र के समान उभयत्र विभाषा है।

(२) परस्मैपद में कर्मसंज्ञा नहीं होगी—'अभिवादयति देवं भक्तेन'। द्वितीय उदाहरण—'दर्शयति देवं भक्तम्'। यहाँ पर 'दृशेश्च' वार्तिक से प्रयोज्य-कर्ता को कर्मसंज्ञा हुई भक्तः>'भक्तम्'।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५४२) अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म १।४।४६ ॥ अधिपूर्वाणामेषामाधारः कर्म स्यात् । अधिशेते, अधितिष्ठति, अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः । **(५४३) अभिनिविशश्च १।४।४७ ॥** अभिनीत्येतत्सङ्घातपूर्वस्य विशतेराधारः कर्म स्यात् । अभिनिविशते सन्मार्गम् । 'परिक्रयणे सम्प्रदानम्—'(सू ५८०) इति सूत्रादिह मण्डूकप्लुत्या अन्यतरस्यां ग्रहण-

---

(५४२) अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म । शीङ्, स्था, आस् एषां द्वन्द्वः । अधिपूर्वाः शीङ्-स्थासः इति विग्रहे शाकपार्थिवादित्वादुत्तरपदलोपः । तदाह—अधिपूर्वाणामिति । अधिकरण-संज्ञापवादोऽयम् । अधिशेते इति । अधिशेते वैकुण्ठं हरिः, अधितिष्ठति वैकुण्ठं हरिः, अध्यास्ते वैकुण्ठं हरिरित्यन्वयः । अधिस्तु सप्तम्यर्थस्याधारस्य द्योतकः । वैकुण्ठे शेते तिष्ठत्यास्ते वेत्यर्थः ।

(५४३) अभिनिविशश्च । आधार इति कर्मेति चानुवर्तते । अभिनीति संघातग्रहणम् । तदाह—अभिनीत्येतत्सङ्घातपूर्वस्येति । अभिनिविशते सन्मार्गमिति । आग्रहवानित्यर्थः । अप्रतिहत-प्रवृत्तिमानिति यावत् । नन्वेवं सति पापेऽभिनिवेशः इत्यत्रापि कर्मत्वात् द्वितीया स्यादित्यत आह—परिक्रयणे इति । 'परिक्रयणे' इति सूत्रादन्यतरस्यां ग्रहणमनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाश्रयणात् क्वचिन्नेत्यन्वयः । तर्हि अभिनिविशते सन्मार्गमित्यत्रापि

---

(५४२) पद—अधिशीङ्स्थासां, कर्म । **अनुवृत्ति**—आधारः, कारके । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—'अधि' पूर्वक इन धातुओं के आधार को कर्म-संज्ञा होती है । जैसे—अधिशेते, अधितिष्ठति, अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः ।

सन्दर्भ—अष्टाध्यायी-सूत्रक्रम में इस से पूर्व क्रिया के आधार की अधिकरण-संज्ञा बताई गई है । विशेष-अवस्था में आधार की कर्मसंज्ञा होती है । प्रसङ्गवश यहाँ उसी का निर्वचन किया जारहा है ।

विवरण—सूत्रार्थ उपपन्न होने के लिए "आधारोऽधिकरणम्" (१-४-४५) से 'आधारः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । "कारके" (१-४-२३) का अधिकार है । तदनुसार "अधि-उपसर्गपूर्वक √शी, √स्था तथा √आस् धातुओं के आधार को कर्म-संज्ञा होती है" । यह अधिकरण-संज्ञा का अपवाद है । क्रमशः—**उदाहरण**—(१) हरिः वैकुण्ठम् अधिशेते (= हरि वैकुण्ठ में सोते हैं) । (२) हरिः वैकुण्ठम् अधितिष्ठति (= हरि वैकुण्ठ में रहते हैं) । (३) हरिः वैकुण्ठम् अध्यास्ते (= हरि वैकुण्ठ में हैं) । इन तीनों उदाहरणों में क्रिया का आधार 'वैकुण्ठ' है । अतः वैकुण्ठ की कर्म-संज्ञा होने के कारण "कर्मणि द्वितीया" (२-३-२) से द्वितीया-विभक्ति हुई ।

विशेष—ये तीनों धातु अकर्मक हैं, किन्तु आधार की कर्म संज्ञा होने के कारण सकर्मक हो जाते हैं ।

(५४३) पद—अभिनिविशः, च । **अनुवृत्ति**—कर्म, आधारः, कारके । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—'अभि-नि'—इस समुदाय के पूर्व में रहने पर √विश् धातु के आधार को कर्मसंज्ञा होती है । जैसे—अभिनिविशते सन्मार्गम् । "परिक्रयणे सम्प्रदानम्०" सूत्र से मण्डूकप्लुति से इस सूत्र में 'अन्यतरस्यां' की अनुवृत्ति करने पर व्यवस्थित-विभाषा का आश्रयण करने से कहीं कहीं द्वितीया नहीं भी होती ।

विवरण—पूर्व सूत्र के अनुसार यहाँ भी आधार की कर्म-संज्ञा का विधान किया जारहा है । तदनुसार "अधिशीङ्स्थासां कर्म"[1] (१-४-४६) से 'कर्म' तथा "आधारोऽधिकरणम्" (१-४-४५) से 'आधारः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । 'कारके' का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है । फलतः 'अभि-नि' (दो उपसर्गों से युक्त) पूर्वक √विश् धातु के आधार की कर्म संज्ञा होती है । यह भी अधिकरण-संज्ञा का अपवाद है । 'अभि' तथा 'नि' उपसर्गों का यथाक्रम रहना सर्वथा अपेक्षित है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाश्रयणात्क्वचिन्न । पापेऽभिनिवेशः । (५४४) **उपान्वध्याङ्वसः १ । ४ । ४८ ॥** उपादिपूर्वस्य वसतेराधारः कर्म स्यात् । उपवसति, अनुवसति, अधिवसति, आवसति वा वैकुण्ठं हरिः । 'अभुक्त्यर्थस्य न' (वा १०८७) । वने उपवसति ।

'उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु ।
द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यये ॥' (वा १४४४)

विकल्पः स्यादित्यत आह—व्यवस्थितेति । ननु 'परिक्रयणे' सम्प्रदानमन्यतरस्याम्, आधारोऽधिकरणम्, अधिशीङ्स्थासां कर्म, अभिनिविशश्च' इति सूत्रक्रमः । 'तत्र 'अभिनिविशश्च' इत्यत्र कथमन्यतरस्यांग्रहणानुवृत्तिः, 'आधारोऽधिकरणम्' 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इत्यत्र च तदनुवृत्तेरभावादित्यत आह—मण्डूकप्लुत्येति । तुल्यमिति शेषः । मण्डूकाः यथा मध्ये पदानि सन्ततमप्रक्षिपन्त एव उत्प्लुत्य गच्छन्ति तद्वदनुवर्त्येत्यर्थः । 'एष्वर्थेष्वभिनिविष्टानाम्' इति समर्थसूत्रे भाष्यप्रयोगोऽत्र मानम् ।

(५४४) उपान्वध्याङ्वसः । उप अनु अधि आङ् इत्येतेषां द्वन्द्वः । उपान्वध्याङ्पूर्वो वस् इति विग्रहे शाकपार्थिवादित्वात् समासः । तदाह—उपादिपूर्वस्येति । उपवसतीत्यादि । वैकुण्ठे वसतीत्यर्थः । उपसर्गाः आधारत्वद्योतकाः । अत्र 'वसेरश्यर्थस्य प्रतिषेधः' इति वार्तिकम् । तत्राश्यर्थशब्दो निवृत्तिवचनः । 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु'-इत्यमरः । भोजनस्याश्यर्थः निवृत्तिर्यस्मात् प्रतीयते सः अश्यर्थः, भोजननिवृत्तिवाचकस्य अशेराधारस्य कर्मत्वप्रतिषेध इति यावत् । तदेतदर्थतः सङ्गृह्णाति—अभुक्त्यर्थस्य नेति । अथोपपद-विभक्तयः । उभसर्वतसोरिति । वार्तिकम् । उभशब्दसर्वशब्दप्रकृतिकतसन्तयोः प्रयोगे सति द्वितीया कार्येत्यर्थः । धिगिति । धिक्शब्दस्य प्रयोगे सति द्वितीया कार्या । 'प्रकृतिवदनु-करणम्' इत्यव्ययत्वात्सुपो लुक् । उपर्यादिष्वित्यनेन 'उपर्यध्यधसस्सामीप्ये' इति सूत्रोपात्तान्यव्ययानि गृह्यन्ते । आम्रेडितान्तेष्विति । द्विरुक्तस्य परमाम्रेडितम्, तदन्तेषु कृत-द्विर्वचनेष्विति यावत् । तथा च कृतद्विर्वचनेषु उपर्यादिषु त्रिषु प्रयुज्यमानेषु द्वितीयेत्यर्थः । तत इति । उक्तप्रदेशेभ्योऽन्यत्रापि द्वितीया दृश्यत इत्यर्थः । उभयतः कृष्णं गोपा इति । कृष्णस्य पार्श्वद्वयेऽपीत्यर्थः । आद्यादित्वात् तसिः । 'उभयोऽन्यत्र' इत्ययच् । षष्ठ्यर्थे

इन का वैपरीत्य भी नहीं होना चाहिये । उदाहरण—अभिनिविशते सन्मार्गम् (=सन्मार्ग पर मन लगाता है) । इस उदाहरण में प्रवेश-क्रिया के आधार 'सन्मार्ग' की कर्म संज्ञा होने से द्वितीया विभक्ति हुई>सन्मार्गम् ।

विशेष—"परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्" (१-४-४४) सूत्र से मण्डूकप्लुति कर 'अन्य-तरस्यां' पद की अनुवृत्ति की जाती है । इस के फलस्वरूप व्यवस्थित-विभाषा का आश्रयण कर 'विकल्प' का निर्देश किया गया है । अतः किन्हीं स्थलों पर सूत्र की प्रवृत्ति बिलकुल नहीं होगी । तदनुसार 'पापेऽभिनिवेशः' (= पाप में प्रवृत्ति) में द्वितीया नहीं होती । नियमानुसार सप्तमी-विभक्ति हुई ।

(५४४) **पद**—उपान्वध्याङ्वसः । **अनुवृत्ति**—कर्म, कारके, आधारः । **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—'उप' आदि पूर्वक √'वस्' धातु का आधार कर्म होता है । जैसे–उपवसति, अनुवसति, अधिवसति, आवसति वा वैकुण्ठं हरिः । वा० 'भूखा रहना' अर्थ में (कर्मसंज्ञा) नहीं होती । जैसे—वने उपवसति । वा० 'तस्' प्रत्ययान्त 'उभ' और 'सर्व' शब्द, 'धिक्' शब्द, आम्रेडितान्त (द्वित्व रूप में प्रयुक्त) उपरि-आदि तीन शब्द—इन के योग में द्वितीया विभक्ति होती है । इन से अन्यत्र भी कहीं कहीं दिखाई पड़ती है । जैसे–(१) उभयतः कृष्णं गोपाः । (२) सर्वतः कृष्णम् ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उभयतः कृष्णं गोपाः। सर्वतः कृष्णम्। धिक् कृष्णाभक्तम्। उपर्युपरि लोकं हरिः। अध्यधि लोकम्। अधोऽधो लोकम्। 'अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' (वा १४४२–१४४३)। अभितः कृष्णम्। परितः कृष्णम्। ग्रामं समया। निकषा लङ्काम्।

द्वितीया। सर्वतः कृष्णमिति। कृष्णस्य सर्वेषु पार्श्वेषु गोपा इत्यर्थः। धिक् कृष्णाभक्तमिति। धिक् निन्दायाम्। कृष्णाभक्तस्य निन्देत्यर्थः। केचित्तु कृष्णाभक्तो निन्द्य इत्यर्थः, प्रथमार्थे द्वितीयेत्याहुः। धिङ् मूर्खेत्यत्र तु निपिद्धाचरणमित्यध्याहार्यम्। उपर्युपरीति। 'उपर्यध्यधसस्सामीप्ये' इति द्विर्वचनम्। लोकस्य समीपे उपरि हरिरस्तीत्यर्थः। अध्यधीति। लोकस्य समीपदेशे हरिरस्तीत्यर्थः। अधोऽध इति। लोकस्य समीपे अधो हरिरस्तीत्यर्थः। अभितः परित इति। 'ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' इत्यस्य प्रपञ्चोऽयम्। योगेऽपीत्यनन्तरं द्वितीयेति शेषः। अभितः कृष्णमिति। गोपा इति शेषः। कृष्णस्य पार्श्वद्वयेऽपीत्यर्थः। परितः कृष्णमिति। कृष्णस्य सर्वेषु पार्श्वेषु गोपा इत्यर्थः। 'पर्यभिभ्यां च' इति तसिल्। ग्रामं समया

---

(३) धिक् कृष्णाभक्तम्। (४) उपर्युपरि लोकं हरिः। (५) अध्यधि लोकम्। (६) अधोऽधो लोकम्। वा० अभितः, परितः, समया, निकषा, हा तथा प्रति के योग में भी द्वितीया विभक्ति होती है। अभितः कृष्णम्। परितः कृष्णम्। ग्रामं समया। निकषा लङ्काम्। हा कृष्णाभक्तम्। अर्थात् उसके विषय में विषाद करता है। बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्।

विवरण—आधार-कर्म का प्रकरण पूर्ववत् चल रहा है। पूर्वसूत्र के अनुसार 'कर्म' 'आधार' तथा 'कारके' पदों की अनुवृत्ति करने पर प्रकृत सूत्र का अर्थ यह होगा कि "'उप' 'अनु' 'अधि' तथाआङ् उपसर्ग-पूर्वक √वस् धातु के आधार को भी कर्म-संज्ञा होती है" (उप च, अनु च, अधि च, आङ् च-उपान्वध्याङः, तेभ्यो वस्-उपान्वध्याङ्वस्, तस्य—द्वन्द्वगर्भित तत्पुरुष)। **उदाहरण**—(१) हरिः वैकुण्ठम् उपवसति (= हरि वैकुण्ठ में रहते हैं) (२) हरिः वैकुण्ठम् अनुवसति (= हरि वैकुण्ठ में रहते हैं)। (३) हरिः वैकुण्ठम् अधिवसति (= हरि वैकुण्ठ में रहते हैं)। (४) हरिः वैकुण्ठम् आवसति (= हरि वैकुण्ठ में रहते हैं)। (**वा०**) **अर्थ**—'भोजन न करना' अर्थ में 'उप'–पूर्वक √'वस्' धातु के आधार की कर्म-संज्ञा नहीं होती। यह वार्तिक सूत्र से प्राप्त कर्म-संज्ञा का निषेध करता है। **उदाहरण**—**वने** उपवसति (= वन में उपवास करता है)। यहाँ पर 'वन' को कर्म-संज्ञा का निषेध होने के कारण अधिकरण में सप्तमी विभक्ति हुई।

प्रसङ्गवश **उपपद** द्वितीया-विभक्ति का निर्वचन किया जारहा है। इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम एक श्लोक-वार्तिक उपस्थापित किया गया है। वा० **अन्वय**—उभसर्वतसोः द्वितीया कार्या। आम्रेडितान्तेषु उपर्यादिषु त्रिषु द्वितीया कार्या। ततः अन्यत्र अपि (द्वितीया) दृश्यते। १—**अर्थ**—'तस्' प्रत्ययान्त 'उभ' और 'सर्व' शब्दों के योग में द्वितीया–विभक्ति होती है[1]। **उदाहरण**—(क) उभयतः **कृष्णम्** गोपाः। (= कृष्ण के दोनों ओर गोप हैं)। 'तस्'–प्रत्ययान्त 'उभ' शब्द (उभयतः) के योग में द्वितीया–विभक्ति हुई। सम्बन्ध–अर्थ में षष्ठी विभक्ति प्राप्त थी। (ख) सर्वतः **कृष्णं** गोपाः। (= कृष्ण के चारों ओर गोप हैं)। 'तस्'–प्रत्ययान्त 'सर्व' शब्द (सर्वतः) के योग में द्वितीया हुई है। यहाँ भी षष्ठी विभक्ति प्राप्त रही। २—**अर्थ**—निन्दार्थक 'धिक्' शब्द के योग में द्वितीया–विभक्ति होती है। **उदाहरण**—धिक् **कृष्णाभक्तम्**। (= कृष्ण के अभक्त को धिक्कार है)। 'धिक्' के योग में द्वितीया। 'धिक् मूर्ख' (= मूर्ख! तुम्हें धिक्कार है) इत्यादि वाक्यों में 'त्वाम्' पद का अध्याहार किया जाता है। ३—आम्रेडितान्त (अर्थात् द्वित्व होने पर आगे वाला रूप—"तस्य परमाम्रेडितम्" ८।३) 'उपरि' 'अधि' तथा 'अधस्'

---

१. उभसर्वयोः तसौ, तयोः—उभसर्वतसोः। तदन्तयोर्योगे द्वितीया कार्या इत्यर्थः। प्रकृतिद्वित्वेन तसोरिति द्वित्वनिर्देशः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हा कृष्णाभक्तम् । तस्य शोच्यते इत्यर्थः । 'बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्' । (५४५) अन्तराऽन्तरेण युक्ते २ । ३ । ४ ॥ आभ्यां योगे द्वितीया । अन्तरा त्वां मां हरिः ।

निकषेति । समया निकषा इति च आकारान्ते अव्यये ग्राममित्यस्य प्रत्येकमन्वयः । ग्रामस्य समीपे इत्यर्थः । 'निकषान्तिके' 'समयान्तिकमध्ययोः' इति चामरः 'विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति' इति माघः । हा कृष्णाभक्तमिति । हा इत्याकारान्तमव्ययं खेदे । 'हा विषादशुगर्तिषु' इत्यमरः । तदाह—तस्य शोच्यत इत्यर्थः इति । कृष्णाभक्तः शोच्य इत्यर्थ इत्यन्ये । प्रतियोगमुदाहरति—बुभुक्षितमिति । क्षुधार्तस्य किञ्चिदपि न स्फुरतीत्यर्थः । 'भा दीप्तौ' । इह तु उपसर्गबलात् स्फुरणे वर्तते । ततो लक्षणादावृत्तेः प्रतेर्न कर्मप्रवचनीयत्वम् । एवं च 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इत्यनेन गतार्थत्वं न भवति ।

(५४५) अन्तराऽन्तरेण युक्ते । अन्तरा इत्याकारान्तमव्ययं न तु टाबन्तम् । अन्तरेणेत्यप्यव्ययमेव, न तु तृतीयान्तम् इति भाष्ये स्थितम् । अन्तरा त्वां मां हरिरिति । तव च मम च मध्ये हरिरित्यर्थः । 'अन्तरा मध्ये' इत्यमरः । अन्तरेण हरिमिति । हरेर्वर्जने सुखं नास्तीत्यर्थः । 'पृथग्विनान्तरेणर्ते हिरुङ्नाना च वर्जने–' इत्यमरः । किमनयोरन्तरेण गतेनेत्यत्र तु अन्तरशब्दो विशेषवाची । अनयोर्विशेषेण ज्ञातेनेत्यर्थः । अत्र अन्तरेणेत्यस्य तृतीयान्त-

---

शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है । उदाहरण—(क) उपर्युपरि लोकं हरिः (= हरि इस लोक के ऊपर ऊपर हैं) । (ख) अध्यधि लोकं हरिः (= हरि लोक में कहीं पास ही हैं) । (ग) अधोऽधो लोकं हरिः (= हरि पाताल लोक के नीचे है) । इन तीनों वाक्यों में सम्बन्ध के अर्थ में द्वितीया हुई है । उपरि, अधि तथा अधस् शब्दों को सामीप्य अर्थ में द्वित्व हुआ है ("उपर्यध्यधसः सामीप्ये" ८-१-७) । ४—इन के अतिरिक्त भी कुछ शब्दों के योग में द्वितीया-विभक्ति होती है । इसका स्पष्टीकरण आगे के वार्तिक में किया जारहा है । (वा०) अर्थ—अभितः, परितः, समया, निकषा, हा तथा प्रति—इनके योग में द्वितीया-विभक्ति होती है । क्रमशः उदाहरण—(क) अभितः कृष्णम् (= कृष्ण के दोनों ओर गोप हैं) । (ख) परितः कृष्णम् (= कृष्ण के चारों ओर गोप हैं) । (ग) ग्रामं समया (= गाँव के पास कूप है) । (घ) निकषा लङ्काम् (= लङ्काके पास समुद्र है) । शिशुपालवध में भी निकषा के योग में द्वितीया का उदाहरण दिया गया है—'विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति' (= लङ्का के समीप मारा जायगा) । (ङ) हा कृष्णाभक्तम् (= कृष्ण के अभक्त के विषय में विषाद) । (च) बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् (= भूखे को कुछ नहीं सूझता) । इन छहों वाक्यों में सम्बन्ध-अर्थ में षष्ठी विभक्ति हुई है । अन्तिम वाक्य में 'प्रति' उपसर्ग है । अतः कर्मप्रवचनीय होने की शङ्का करने का कोई अवसर नहीं हैं ।

विशेष—इस वार्तिक के अन्त में 'अपि' शब्द का प्रयोग करने से यह सूचित होता है कि इन के अतिरिक्त भी अन्य शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है । अतः 'ऋते' शब्द के योग में भी द्वितीया का प्रयोग मिलता है—'फलति पुरुषाराधनऋते' (शिवमहिम्नः स्तोत्रम्) ।

(५४५) पद—अन्तराऽन्तरेण युक्ते । अनुवृत्ति—द्वितीया । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—इन दोनों के योग में द्वितीया हो । जैसे—(क) अन्तरा त्वां मां हरिः । (ख) अन्तरेण हरिं न सुखम् ।

विवरण—प्रकरणवश "कर्मणि द्वितीया" (२-३-२) से द्वितीया की अनुवृत्ति की जाती है । तदनुसार " 'अन्तरा' तथा 'अन्तरेण' के योग में (अन्तरा च अन्तरेण च अन्तरान्तरेणौ, ताभ्यां युक्तः–अन्तरान्तरेण युक्तः, तस्मिन्, द्वन्द्वगर्भित-तत्पुरुष) द्वितीया विभक्ति होती है । 'अन्तरा' (= मध्य) तथा 'अन्तरेण' (= विना) शब्द 'निपात' (अव्यय) हैं । क्रमशः उदाहरण—(क) अन्तरा त्वां मां हरिः (= तुम्हारे और मेरे बीच में हरि हैं) । (ख) अन्तरेण हरिं न

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तरेण हरिं न सुखम् । (५४६) **कर्मप्रवचनीयाः १।४।८३ ॥** इत्यधिकृत्य । (५४७) **अनुर्लक्षणे १ । ४ । ८४ ॥** लक्षणे द्योत्येऽनुरुक्तसञ्ज्ञः स्यात् । गत्युपसर्गसञ्ज्ञापवादः ।

त्वादव्ययत्वाभावान्न तद्योगे द्वितीया । न चैवं सति 'हलोऽनन्तराः संयोगः' इत्यत्र 'द्वयोश्चैवान्तरा कश्चित्' इति भाष्यप्रयोगः कथमिति शङ्क्यम्, मध्यत्वनिमित्तमवधित्वं हि ययोर्निर्णीतं तत्र द्वितीया । ययोस्तु न तन्निर्णयस्तत्र सम्बन्धसामान्ये षष्ठ्येव भवति, युक्तग्रहणादिति कैयटः ।

(५४६) कर्मप्रवचनीयाः । इत्यधिकृत्येति । 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' इति पर्यन्तमिति बोध्यम् ।

(५४७) अनुर्लक्षणे । लक्षणे द्योत्ये इति । **लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्धे द्योत्ये इत्यर्थः ।**

सुखम् (= हरि के बिना सुख नहीं मिलता) । इन दोनों वाक्यों में भी सम्बन्ध-अर्थ में षष्ठी का बाध किया गया है ।

(५४६) पद—कर्मप्रवचनीयाः । **(संज्ञा) अधिकारसूत्र ।**

मूलार्थ—इसका अधिकार है ।

विवरण—यह सूत्र 'संज्ञा' तथा 'अधिकार' दोनों रूप में कार्य करता है । इसका अधिकार "विभाषा कृञि" (१-४-९८) पर्यन्त है । अतः वहाँ तक 'कर्मप्रवचनीय'-संज्ञा का प्रभाव रहेगा ।

विशेष—**'कर्मप्रवचनीय'** संज्ञा अन्वर्थक है ।[1] 'कर्मप्रवचनीय' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इस बात का द्योतक है— कर्म = क्रियां प्रोक्तवन्तः = कथितवन्तः, जिन्होंने कर्म अर्थात् क्रिया को कहा है[2] (कर्म-प्र√वच्+अनीयर्-भूतकाल में कर्ता अर्थ में अनीयर् प्रत्यय) । तदनुसार अतिक्रान्त क्रियागत सम्बन्ध को कर्मप्रवचनीय द्योतित करते हैं, वे वर्तमान दशा में किसी क्रिया को प्रकट नहीं करते । किन्तु क्रियाजनित सम्बन्ध के भेदक (विशेषक) मान लिये जाते हैं । भाव यह है कि कर्मप्रवचनीय के साथ क्रियाजनित सम्बन्ध की प्रतीति होती है । यह सम्बन्ध किसी अन्य पद द्वारा ठीक ठीक अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि उन पदों की शक्ति सीमित है और वे अपना स्वाभाविक अर्थ ही व्यक्त कर सकते हैं । अतः सम्बन्ध के द्योतक किसी अन्य पद के न रहने से 'कर्मप्रवचनीय' को ही क्रियाजनित उस सम्बन्ध का भेदक मान लिया जाता है ।[3] ये स्वरूप में उपसर्ग और निपात के तुल्य होने पर भी उपसर्ग से भिन्न हैं । इनका स्वतन्त्र प्रयोग होता है । इनके योग में द्वितीया, पञ्चमी, तथा सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं । 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा 'उपसर्ग' एवं 'गति'-संज्ञा की बाधक है । अतः 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होने पर उपसर्ग-जनित षत्वादि कार्य एवं गतिसंज्ञा-जनित अनुदात्तादि स्वर नहीं होते । 'उपसर्ग' और 'कर्मप्रवचनीय' में यही भेद है कि 'उपसर्ग' वर्तमान क्रियागत विशेषण को द्योतित करते हैं जब कि 'कर्मप्रवचनीय' वर्तमान क्रिया के द्योतक नहीं रहते । पाणिनि ने ग्यारह 'कर्मप्रवचनीय' गिनाए हैं—अनु, उप, अप, परि, आङ्, प्रति, अभि, अधि, सु, अति तथा अपि । इनके बारह अर्थ दिये हैं—हेतुलक्षण, सहार्थ, हीनता, आधिक्य, वर्जन, मर्यादावचन, लक्षण, इत्थम्भूताख्यान, भाग, वीप्सा, प्रतिनिधि, प्रतिदान, आनर्थक्य, पूजा, अतिक्रमण, पदार्थ, सम्भावन, अन्ववसर्ग, गर्हा, समुच्चय, स्वाम्य और अधिकार ।

(५४७) पद—अनुः, लक्षणे । **अनुवृत्ति**—कर्मप्रवचनीयाः । **संज्ञासूत्र ।**

---

१. " किमर्थं महती संज्ञा क्रियते ? अन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत । कर्म प्रोक्तवन्तः कर्मप्रवचनीया इति । के पुनः कर्म प्रोक्तवन्तः ? ये सम्प्रति क्रियां नाहुः । ये अप्रयुज्यमानस्य क्रियामाहुः । ते कर्मप्रवचनीयाः ।" महाभाष्यम् ।

२. अत एव कर्म प्रोक्तवन्तः, क्रियाकृतं विशेषसम्बन्धं द्योतयन्तीति कर्मप्रवचनीया उच्यन्ते ।

३. क्रियाया द्योतको नाऽयं सम्बन्धस्य न वाचकः ।
नापि क्रियापदापेक्षी सम्बन्धस्य तु भेदकः ॥ वाक्यपदीय २।२०६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५४८) कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया २।३।८॥ एतेन योगे द्वितीया स्यात्। पर्जन्यो जपमनुप्रावर्षत्। हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः। परापि हेतौ तृतीया अनेन

उक्तसंज्ञ इति। कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञ इत्यर्थः। लक्ष्यते ज्ञायतेऽनेनेति लक्षणम्, तच्च हेतुभूतं विवक्षितम्, न तु वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युदितिवत् चिह्नमात्रम्, तथा सति 'लक्षणेत्थम्' इत्येव सिद्धेरिति वक्ष्यते। गत्युपसर्गसञ्ज्ञापवाद इति। अनेन क्रियायोगे एव कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञेति सूचितम्। 'कर्मप्रवचनीयाः' इति महासञ्ज्ञाकरणसामर्थ्यादन्वर्थत्वम्। कर्मेति क्रियोच्यते, तां प्रोक्तवन्तः कर्मप्रवचनीयाः, भूते कर्तरि बाहुलकादनीयर्प्रत्ययः, ततश्च क्रियामेव न द्योतयन्ति किं तु क्रियानिरूपितसम्बन्धविशेषं द्योतयन्ति। एवं च अनुप्रत्यादिषु क्रियानिरूपितसम्बन्धस्य द्योत्यत्वेन अन्वयात् तत्र गत्युपसर्गसञ्ज्ञयोः प्राप्तिर्बोध्या।

(५४८) कर्मप्रवचनीय। युक्ते इति भावे क्तः। तदाह—एतेन योगे इति। पर्जन्यो जपमन्विति। कदा पर्जन्योऽवर्षदिति प्रश्ने उत्तरमिदम्। अत्र वृष्टिकाल उपदेश्यः, स च दुर्ज्ञानत्वात् शाखाग्रं प्रति द्विकलश्चन्द्र इतिवत् प्रज्ञानं किञ्चिदवलम्ब्यैव ज्ञाप्यः। जपोऽत्र प्रज्ञानम्, तत्र जपकाले पर्जन्यः प्रावर्षदिति सम्भवति। हेतुभूतजपो ह्यत्र लक्षणम्।

मूलार्थ—'लक्षण' (हेतु) अर्थ में 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। यह गति और उपसर्ग-संज्ञा का अपवाद है।

विवरण—'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा का प्रकरण आरम्भ हो रहा है। अधिकार-लभ्य पद 'कर्मप्रवचनीयाः' की अनुवृत्ति आरही है। तदनुसार संज्ञा-कर्मप्रवचनीय है तथा संज्ञी-अनु है। अतः लक्षण बताने के अर्थ में 'अनु' कर्मप्रवचनीय होता है। यहाँ 'लक्षण' शब्द से तात्पर्य 'विशेष हेतु' का होना अभिलक्षित है (लक्ष्यते अनेन इति लक्षणम्)। उदाहरण-पर्जन्यः जपम् अनु प्रावर्षत् (= जप समाप्त होते ही मेघ ने वर्षा की)। 'जप-समाप्ति' के पूर्व जप होने की सूचना 'अनु' से द्योतित होती है (कर्म प्रोक्तवन्तः)। इसके साथ ही 'अनु' से वर्तमान काल में किसी क्रियाविशेष का बोध नहीं होता। षष्ठी-विभक्ति के समान सम्बन्ध अर्थ का भी बोध नहीं होता है, क्योंकि सम्बन्ध को द्वितीया-विभक्ति बता देती है। इसके अतिरिक्त 'अनु' से किसी क्रिया का आक्षेप भी नहीं होता। आक्षेप मानने पर क्रिया के साथ सम्बन्ध होने पर कोई विभक्ति प्राप्त होगी। इस तरह यहाँ पर 'जप' लक्षण है तथा 'वर्षा' लक्ष्य। एवं लक्ष्य-लक्षण के सम्बन्ध का सूचक 'अनु' है। दूसरे शब्दों में वर्षा होने में जप हेतु है। उससे वर्षण लक्षित होता है। अतः 'अनु' की कर्मप्रवचनीय-संज्ञा हुई। उसका फल है 'जपम्' में द्वितीया-विभक्ति- "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" (२-३-८)।

विशेष—१-"हेतौ" (२-३-२३) सूत्र से प्राप्त तृतीया का यह बाधक है। "लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः" (१-४-९०) के अनुसार 'अनु' कर्मप्रवचनीय है। उसका आश्रय लेकर भी द्वितीया-विभक्ति हो सकती थी। परन्तु इस सूत्र से पुनः विधान किये जाने पर "हेतौ" से प्राप्त होने वाली तृतीया का निषेध सूचित किया गया है।

२—इस प्रकरण में 'निपाताः' का भी अधिकार होने से 'अनु' आदि में अव्ययसंज्ञा होकर 'सु' विभक्ति का लोप हो जायगा।

३—गति और उपसर्ग-संज्ञा का बाध होने से इन संज्ञाओं को मानकर होने वाले कार्य नहीं होते। प्रकृत उदाहरण में 'अनु' का सम्बन्ध √वर्षू धातु (क्रिया) से नहीं हुआ।

(५४८) पद—कर्मप्रवचनीययुक्ते, द्वितीया। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ तथा विवरण—कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। जैसे—पर्जन्यः जपम् अनु प्रावर्षत्। 'हेतुस्वरूप जप से वर्षण लक्षित है'—यही इस वाक्य का अर्थ है। "हेतौ" सूत्र से प्राप्त तृतीया विभक्ति यद्यपि पर है तथापि इससे वह बाधित हो जाती है। इसका कारण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाध्यते, 'लक्षणेत्थम्भूत—' (सू ५५२) इत्यादिना सिद्धे पुनः संज्ञाविधानसामर्थ्यात् । (५४९) तृतीयार्थे १ । ४ । ८५ ॥ अस्मिन्द्योत्येऽनुरुक्तसञ्ज्ञः स्यात् । नदीमन्व-

---

हेतुत्वं च पूर्वकालवृत्तित्वघटितम् । एवं च वर्षहेतुभूतवरुणजपोत्तरकाले पर्जन्यः प्रावर्षदित्युत्तरं पर्यवस्यति । तत्र लक्षणत्वं हेतुत्वं चेति द्वयं द्वितीयार्थः । तदुभयमनुना द्योत्यते । लक्षणत्वं च ज्ञानजनकज्ञानविषयत्वम् । जपज्ञानेन तदुत्तरकालविशिष्टा वृष्टिर्ज्ञाप्यते । ततश्च जपात्मकहेतुज्ञानजन्यज्ञानविषयो वर्षणमिति बोधः । तदाह—हेतुभूतेति । अनभिहिताधिकाराच्च पर्जन्यात् तृतीया, तस्य तिङा अभिहितत्वात् । ननु हेतुत्वांशस्य कथमिह लाभः, 'अनुर्लक्षणे' इत्यत्र तदनुपादानात् । एवं च हेतुत्वाविवक्षायां वृक्षमनु विद्योतते विद्युदित्यत्र 'अनुर्लक्षणे' इति सावकाशम् । 'हेतौ' इति तृतीया तु धनेन कुलमित्यादौ सावकाशा । पर्जन्यो जपमनुप्रावर्षदित्यत्र तु तदुभयमपि प्रसक्तम् । तत्र परत्वात् हेतुतृतीयैव स्यादित्यत आह—परापीति । 'अनुर्लक्षणे' इति कर्मप्रवचनीयत्वप्रयुक्तद्वितीयाविधिनेत्यर्थः । पुनः सञ्ज्ञेति । वृक्षमनु विद्योतते विद्युत् इत्यत्र 'अनुर्लक्षणे' इत्यस्य न प्रयोजनम्, 'लक्षणेत्थम्' इत्येव सिद्धेः । ततश्च 'अनुर्लक्षणे' इत्यारम्भसामर्थ्यात् हेतुभूते लक्षणे अनोः कर्मप्रवचनीयत्वलब्धया द्वितीयया हेतौ तृतीया बाध्यत इति विज्ञायते इत्यर्थः । ततश्च हेतुत्वमपि शाब्दबोधे विषय इति फलति ।

(५४९) तृतीयार्थे । अनुरित्यनुवर्तते । कर्मप्रवचनीयाः इत्यधिकृतम् । अस्मिन् द्योत्ये इति । 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इति तृतीयार्थे साहित्ये द्योत्ये इत्यर्थः । अत्र 'तृतीयार्थे' इत्यनेन कर्तृकरणे न गृह्यते, रामेण शरेणानुहतो बालीत्यत्र 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' इति न्यायेन तृतीयया एव प्रवृत्त्या अस्याः संज्ञायाः फलाभावात् । नापि 'येनाङ्गविकारः' इति तृतीयार्थोऽत्र विवक्षितः, 'अनन्तरस्य' इति न्यायेन कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इत्यस्य 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इत्यस्यैव बाधकत्वात् । तदाह—नद्या सह सम्बद्धेति । साहित्यं द्वितीयार्थः, अनुस्तद्द्योतक इति भावः । ननु अवसितशब्दस्य अवपूर्वात् 'षो अन्तकर्मणि' इति धातोरुत्पन्नत्वात्कथमुक्तार्थलाभ इत्यत आह—षिञ् बन्धने क्त इति । उपसर्गबलेन सम्बन्धवृत्तेरस्मात् क्तप्रत्यय इत्यर्थः । अत्र यदवश्यं पुनः पुनर्लक्ष्यस्य ज्ञापकं तदेव न

यह है कि "लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः" (१-४-९०) सूत्र से लक्षण अर्थ में 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा सिद्ध रही । पुनः विधान-सामर्थ्य से तृतीया का बाध होता है । पूर्व सूत्र (५४७) में इसका स्पष्टीकरण किया जा चुका है ।

(५४९) पद—तृतीयार्थे । अनुवृत्ति—अनुः, कर्मप्रवचनीयाः । संज्ञासूत्र ।

मूलार्थ—तृतीया का अर्थ द्योत्य रहते 'अनु' कर्मप्रवचनीय होता है । जैसे—नदीम् अन्ववसिता सेना । अर्थात् सेना नदी के साथ सम्बद्ध है । 'अन्ववसिता' में बन्धनार्थक √षिञ् (सि) धातु से 'क्त' प्रत्यय हुआ है ।

विवरण—"कर्मप्रवचनीयाः" (१-४-८६) का अधिकार है । पूर्वसूत्र से 'अनुः' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार "तृतीयार्थ द्योतित होने पर 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।" उदाहरण—नदीम् अन्ववसिता सेना (= नदी के साथ साथ सेना पड़ी हुई है) । यहाँ पर 'अनु' शब्द से सहभाव (साथ होना) द्योतित हो रहा है । अतः कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उसके योग में 'नदीम्'-में द्वितीया विभक्ति हुई ।

विशेष—१-'अवसित' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'सम्बद्ध' है । अव-√सि (षिञ्) +त (क्त) । बन्धनार्थक 'सि' (षिञ्) धातु से 'क्त' (त) प्रत्यय संयुक्त हुआ है । उसके पूर्व 'अव' उपसर्ग है । 'अव' उपसर्ग के बल से 'सम्बन्ध' अर्थ हो जाता है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वसिता सेना । नद्या सह सम्बद्धेत्यर्थः । 'षिञ् बन्धने' क्तः । (५५०) हीने १ । ४ । ८६ ॥ हीने द्योत्येऽनुः प्राग्वत् । अनु हरिं सुराः । हरेर्हीना इत्यर्थः । (५५१) उपोऽधिके च १ । ४ । ८७ ॥ अधिके हीने च द्योत्ये उपेत्यव्ययं प्राक्सञ्ज्ञं स्यात् ।

लक्षणम्, किन्तु सकृत् ज्ञापकमपि । यथायं कमण्डलुना भवान् अद्राक्षीत्, स छात्र इति । सकृदेव हि कमण्डलुपाणिर्दृष्टः, तस्य कमण्डलुर्लक्षणमिति 'अनुर्लक्षणे' इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम् । तेन व्याप्त्यात्मकलिङ्गमेवात्र लक्षणमिति न भ्रमितव्यम् ।

(५५०) हीने । हीने द्योत्ये इति । निकर्षे द्योत्ये इत्यर्थः । हीन इति भावे क्तः । 'ओहाक् त्यागे' इति धातोरोदित्त्वात् 'ओदितश्च' इति निष्ठानत्वम् । अनुः प्राग्वदिति । कर्मप्रवचनीयसंज्ञ इत्यर्थः । अनु हरिं सुरा इति । अत्र निकृष्टभावोऽनुद्योत्यो द्वितीयार्थः । तदाह—हरेर्हीना इत्यर्थः इति । हरेरिति षष्ठी प्रतियोगितायाम्, हरिप्रतियोगिकनिकर्षवन्त इत्यर्थः ।

(५५१) उपोऽधिके च । चकारात् हीने इति समुच्चीयते । तदाह—अधिके हीने चेति । आधिक्ये निकर्षे चेत्यर्थः । प्राक्संज्ञमिति । प्रागुक्तकर्मप्रवचनीयसंज्ञकमित्यर्थः । अधिके संज्ञाविधानं न द्वितीयार्थमित्याह—अधिके सप्तमी वक्ष्यत इति । 'यस्मादधिकम्' इत्यनेन कर्मप्रवचनीयसंज्ञाकार्यं सप्तमी वक्ष्यत इत्यर्थः । हीने इति । उदाहरणं वक्ष्यत इति शेषः । उप हरिं सुरा इति । हरेर्हीना इत्यर्थः ।

२–यद्यपि तृतीया के अनेक अर्थ हैं तथापि यहाँ पर सहार्थ ही लिया जाता है । अन्य अर्थों में 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा करने का कोई फल नहीं है । तृतीया के मुख्य अर्थ कर्ता और करण में कारक-विभक्ति के बलवान् होने से 'कर्मप्रवचनीय'–संज्ञा निष्फल ही रहती ।

(५५०) पद—हीने । अनुवृत्ति—अनुः, कर्मप्रवचनीयाः । संज्ञासूत्र ।

मूलार्थ—हीन अर्थ में 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है । जैसे—अनु हरिं सुराः । इस का अर्थ है—देव हरि से हीन हैं ।

विवरण—'अनु' के सम्बन्ध में ही अर्थ-विशेष को अभिलक्षित कर 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा की जारही है । तदनुसार "हीन अर्थ में 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है" । उदाहरण—अनु हरिं सुराः (= देवगण हरि से हीन हैं) । 'अनु' के कारण 'हरिं' में द्वितीया हुई ।

विशेष—दो पदार्थों के रहने पर ही 'हीनभाव' प्रकट होता है । इस प्रकार एक निकृष्ट होगा तो दूसरा उसकी अपेक्षा उत्कृष्ट । इन दोनों में से उत्कृष्ट से ही द्वितीया विभक्ति आती है, हीन से नहीं ।

(५५१) पद—उपः, अधिके, च । अनुवृत्ति—हीने, कर्मप्रवचनीयाः । संज्ञासूत्र ।

मूलार्थ—आधिक्य और हीनता अर्थ द्योतित करने पर 'उप' अव्यय की कर्मप्रवचनीय-संज्ञा होती है । आधिक्य अर्थ में आगे सप्तमी कहेंगे । हीन अर्थ में—उप हरिं सुराः ।

विवरण—प्रकृत सूत्र में 'च' की उपस्थिति से 'आधिक्य' अर्थ के अतिरिक्त 'हीन' अर्थ भी ग्रहण किया जाता है । अतः पूर्व सूत्र "हीने" (१-४-८६) से उसकी अनुवृत्ति की जारही है । तदनुसार 'उप' अव्यय के यहाँ पर दो अर्थ अपेक्षित हैं—आधिक्य और हीनता । इन दोनों में से आधिक्य अर्थ में "यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी" (२-३-९) से सप्तमी विभक्ति होगी । इसका उदाहरण वहाँ दिया जायगा । हीन अर्थ का उदाहरण—उप हरिं सुराः (देवगण हरि से हीन हैं) । हीन अर्थ में 'उप' के योग में 'हरिम्' में द्वितीया विभक्ति हुई ।

विशेष—हीनभाव की तरह आधिक्य भी सापेक्ष है । ऐसे स्थलों में हीनता-द्योतक से सप्तमी-विभक्ति होगी, क्योंकि एक की हीनता से ही दूसरे की उत्कृष्टता बताई जाती है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिके सप्तमी वक्ष्यते । हीने—उप हरिं सुराः । (५५२) **लक्षणेत्थम्भूताख्यानभाग-वीप्सासु प्रतिपर्यनवः १ । ४ । ९० ॥** एष्वर्थेषु विषयभूतेषु प्रत्यादय उक्तसञ्ज्ञाः स्युः ।

---

(५५२) लक्षणेत्थंभूत । लक्षणं ज्ञापकम् । अयं प्रकारः इत्थं, तं प्राप्तः इत्थंभूतः, तस्याख्यानमुपपादकमित्थंभूताख्यानम् । भागः स्वीकार्योंऽशः तत्स्वामी विवक्षितः । व्याप्तुं कात्स्न्र्येन सम्बन्धुमिच्छा वीप्सा । लक्षणं च इत्थंभूताख्यानं च भागश्च वीप्सा चेति द्वन्द्वाद्विषयसप्तमी । तदाह—एष्विति । एष्वर्थेषु द्योत्येष्विति तु नाश्रितम्, व्याप्तुमिच्छायास्तद्द्योत्यार्थत्वाभावादिति भावः । लक्षणे इति । उदाहरणं वक्ष्यते इति शेषः । वृक्षं प्रतीति । लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्धो द्वितीयार्थः । स च प्रत्यादिद्योत्यः । वृक्षेण लक्ष्यमाणा विद्युत् विद्योतते इत्यर्थः । उत्पन्नविनष्टा विद्युत्, तदुत्पादितो वृक्षप्रकाशोऽपि उत्पन्नविनष्ट एव च वृक्षप्रकाशोत्तरं विद्युतोऽसत्त्वेन प्रत्यक्षाभावादनुमेया सा । ततश्च प्रकाशितेन वृक्षेण विद्युज्ज्ञानात् वृक्षो लक्षणम् । इत्थम्भूताख्यान इति । उदाहरणं वक्ष्यत इति शेषः । भक्तो विष्णुं प्रतीति । भज सेवायाम् । भक्तिरस्यस्येति भक्तः, मत्वर्थीयोऽर्शआद्यच्, विषयतासम्बन्धः प्रत्यादिद्योत्यो द्वितीयार्थः, तस्य भक्तावेकदेशेऽन्वयः विष्णुविषयकभक्तिमानित्यर्थः । भक्तः भक्तिरूपं प्रकारविशेषं प्राप्तत्वात् इत्थंभूतः तस्य विष्णुविषयकतया उपपाद्य-

---

(५५२) पद—लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु, प्रतिपर्यनवः । अनुवृत्ति—कर्मप्रवचनीयाः । संज्ञासूत्र ।

मूलार्थ—इन अर्थों के अभिलक्षित होने पर 'प्रति' आदि कर्मप्रवचनीय संज्ञक होते हैं । (क) लक्षण—वृक्षं प्रति परि अनु वा विद्योतते विद्युत् । (ख) इत्थंभूताख्यान—भक्तः विष्णुं प्रति परि अनु वा । (ग) भाग—लक्ष्मीः हरिं प्रति परि अनु वा । इस वाक्य का अर्थ–लक्ष्मी हरि का हिस्सा है । (घ) वीप्सा—वृक्षं वृक्षं प्रति परि अनु वा सिञ्चति । 'उपसर्ग' न होने से 'स्' के स्थान पर 'ष्' नहीं हुआ । इन अर्थों में कहने का क्या प्रयोजन है ? परिषिञ्चति ।

विवरण—क्रमप्राप्त 'प्रति' 'परि' तथा 'अनु' शब्दों की कर्मप्रवचनीय 'संज्ञा' की जारही है । इस प्रसङ्ग में यह बताया जारहा है कि यदि प्रति, परि तथा अनु से (१) लक्षण (= ज्ञापक), (२) इत्थम्भूताख्यान (= परिस्थिति का कथन) (३) भाग (= स्वीकार्य अंश अर्थात् हिस्सा) (४) तथा वीप्सा (= सब के साथ सम्बन्ध करने की इच्छा) अर्थ द्योतित होता हो तो वे 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञक होते हैं । सूत्रस्थ पदों का विग्रह—लक्षणं च, इत्थम्भूताख्यानं च, भागश्च, वीप्सा च—लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्साः, तासु—इतरेतर-द्वन्द्व । इसी प्रकार प्रतिश्च, परिश्च, अनुश्च–प्रतिपर्यनवः में भी इतरेतर द्वन्द्व है । इनमें से (१) लक्षण का अर्थ पहले बताया जा चुका है । (२) इत्थम्भूताख्यान—प्रकार-विशेष को प्राप्त कर निरूपण करने वाला (अयं प्रकारः इत्थं भूतः प्राप्तः = कञ्चित्प्रकारं प्राप्तः, आख्यायते अनेन इति आख्यानम्–कथनम्, इत्थंभूतस्य आख्यानम्—इत्थम्भूताख्यानम्) । (३) भाग अर्थात् स्वीकार्य अंश, यहाँ उसका स्वामी अर्थ विवक्षित है (भागः अस्य अस्ति) । (४) वीप्सा का अर्थ है अभिव्याप्ति । वीप्सा अर्थ में शब्द को द्वित्व हो जाता है । अतः वीप्सा के स्थलों में एक शब्द दो बार आता है ।

उदाहरण—(१) **लक्षण अर्थ**—**वृक्षं** प्रति परि अनु वा विद्योतते विद्युत् (= वृक्ष की ओर बिजली चमक रही है) । बिजली से प्रकाशित वृक्ष को देखने पर उस ओर बिजली का ज्ञान होने के कारण वृक्ष उसका 'ज्ञापक' है । अतः प्रति, परि, अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से **'वृक्षम्'** में द्वितीया हुई । (२) **इत्थम्भूताख्यान**—भक्तः **विष्णुं** प्रति परि अनु वा (=भक्त विष्णु की भक्ति से युक्त है) । यहाँ भक्तिरूप विशेष-विधि को प्राप्त होने से भक्त 'इत्थम्भूत' है । अर्थात् विष्णु और भक्ति का यहाँ विषय-विषयिभाव है । अतः प्रति, परि, अनु की 'कर्मप्रवचनीय'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लक्षणे—वृक्षं प्रति, परि, अनु वा विद्योतते विद्युत् । इत्थम्भूताख्याने—भक्तो विष्णुं प्रति, परि, अनु वा । भागे—लक्ष्मीर्हरिं प्रति, परि, अनु वा । हरेर्भाग इत्यर्थः । वीप्सायाम्—वृक्षं वृक्षं प्रति, परि, अनु वा सिञ्चति । अत्रोपसर्गत्वाभावान्न षत्वम् । एषु किम् ? परिषिञ्चति । (५५३) **अभिरभागे १।४।९१ ॥** भागवर्जे लक्षणादावभिरुक्तसञ्ज्ञः स्यात् ।

त्वाद्द्वयतासम्बन्धस्तदुपपादकः प्रतिद्योत्य इति ज्ञेयम् । भाग इति । उदाहरणं वक्ष्यत इति शेषः । लक्ष्मीर्हरिं प्रतीति । स्वामित्वं द्वितीयार्थः प्रत्यादिद्योत्यः । तदाह—हरेर्भाग इत्यर्थः इति । हरेः स्वभूतेति यावत् । वीप्सायामिति । उदाहरणं वक्ष्यत इति शेषः । वृक्षं वृक्षं प्रतीति । 'नित्यवीप्सयोः' इति द्विर्वचनम् । अत्र सन्वाच्या इच्छा स्वरूपवती व्याप्तिरेव तु विवक्षिता, सा च कात्स्न्र्येन सम्बन्धात्मिका । तथा च प्रकृत्यर्थगतकात्स्न्र्यमेव व्याप्तिः सा यद्यपि द्विर्वचनद्योत्या, तथापि प्रतिपर्यनुयोगे तद्द्योत्यत्वमपि । तथा च कृत्स्नं वृक्षं सिञ्चतीत्यर्थः । व्यक्तिकात्स्न्र्यमिह विवक्षितम्, न त्ववयवकात्स्न्र्यमिति 'नित्यवीप्सयोः इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम् । ननु सेचने वृक्षस्य कर्मत्वादेव द्वितीयासिद्धेः किमिह कर्मप्रवचनीयसंज्ञयेत्यत आह—अत्रेति । गत्युपसर्गसंज्ञापवादः कर्मप्रवचनीयसंज्ञेत्युक्तम् । अतोऽत्र प्रतेः कर्मप्रवचनीयसंज्ञाया उपसर्गसंज्ञाया बाधात् 'उपसर्गात् सुनोति' इति षत्वं न भवति । कर्मप्रवचनीयत्वाभावे तु प्रतेरुपसर्गत्वात्ततः परस्य सिञ्चतेः सस्य षत्वं स्यादित्यर्थः । भाष्ये तु 'किमर्थमिदमुच्यते, कर्मत्वादेव द्वितीया सिध्यति, उपसर्गसंज्ञानिवृत्तिस्तु न प्रयोजनम् । क्रियायोगाभावे तदप्रसक्तेरित्याक्षिप्य द्वितीयार्थमेवैतत् कर्मप्रवचनीयसंज्ञाविधानम्' इत्युक्तम् । वृक्षस्य सेचने कर्मत्वेऽपि तदविवक्षायां सम्बन्धविवक्षायां षष्ठीं बाधितुमिदं कर्मप्रवचनीयत्वविधानम् । किं च वृक्षस्य सेचने कर्मत्वेऽपि प्रथमतः प्रतिद्योत्यसम्बन्धे अन्वयेन अन्तरङ्गत्वात्तन्निमित्तषष्ठीबाधनार्थमिदम् । वृक्षं वृक्षं प्रति पक्षिण आसते इत्यादौ अकर्मकधातुयोगे अधिकरणादिसंज्ञानिरासार्थं चेदमिति भाष्याशय इति शब्देन्दुशेखरे मञ्जूषायां च स्पष्टम् । एषु किमिति । 'लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु' इति किमर्थमित्यर्थः । परिषिञ्चतीति । अग्निमित्यादि शेषः । अत्र लक्षणाद्यभावात् कर्मप्रवचनीयत्वाभावे 'उपसर्गात्सुनोति' इति षत्वमिति भावः ।

(५५३) अभिरभागे । लक्षणादाविति । आदिना इत्थम्भूताख्यानवीप्सयोः सङ्ग्रहः ।

संज्ञा होने से 'विष्णु' में द्वितीया हुई । (३) **भाग**—लक्ष्मीः हरिं प्रति परि अनु वा (= लक्ष्मी हरि का हिस्सा है) । यहाँ लक्ष्मीरूप भाग का हरि के साथ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है । भाग अर्थ में प्रति आदि की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होने के फलस्वरूप 'हरिम्' में द्वितीया विभक्ति हुई । (४) **वीप्सा**—वृक्षं वृक्षं प्रति परि अनु वा सिञ्चति (= प्रत्येक वृक्ष को सींचता है) । वीप्सा में शब्द को द्वित्व हो जाता है । यहाँ पर प्रति इत्यादि अव्ययों से अभिव्याप्ति सूचित होती है । अतः इन की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई । उपसर्ग-संज्ञा न होने का यह फल हुआ कि 'सिञ्चति' में "उपसर्गात् सुनोति सुवति०" (८-३-६५) सूत्र से 'स्' के स्थान पर 'ष्' नहीं हुआ । अन्यथा उपसर्ग होने से 'परि' सिञ्चति में षकार हो जाता । कर्मप्रवचनीय संज्ञा का यहाँ यही प्रयोजन है । वृक्ष सेचन क्रिया का कर्म है, अतः उससे द्वितीया-विभक्ति स्वतः सिद्ध है ।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में लक्षणादि अर्थ में ही प्रति आदि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा का विधान किये जाने के फलस्वरूप 'परिषिञ्चति' (= चारों ओर सींचता है) में कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती । कारण यह है कि 'परिषिञ्चति' में 'परि' का अर्थ चारों ओर (सर्वतः) है । अतः 'परि' की उपसर्ग-संज्ञा होने से 'स्' = 'ष्' हो जाता है ।

(५५३) **पद**—अभिः, अभागे । **अनुवृत्ति**—लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु, कर्मप्रवचनीयाः । **संज्ञासूत्र** ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरिमभि वर्तते। भक्तो हरिमभि। देवं देवमभि सिञ्चति। अभागे किम्? यदत्र ममाभिष्यात्तद्दीयताम्। (५५४) अधिपरी अनर्थकौ १।४।९३॥ उक्तसञ्ज्ञौ स्तः। कुतोऽध्यागच्छति। कुतः पर्यागच्छति। गतिसञ्ज्ञाबाधात् 'गतिर्गतौ' (सू ३९७७)

लक्षणे उदाहरति—हरिमभि वर्तते इति। जयः क्वेति प्रश्ने इदमुत्तरम्। लक्ष्यभावः अभिद्योत्यो द्वितीयार्थः। हरिलक्ष्यो जय इत्यर्थः। भक्तो हरिमभीति। इत्थंभूताख्याने उदाहरणमिदम्। विषयतासम्बन्धः अभिद्योत्यो द्वितीयार्थः। हरिविषयकभक्तिमानित्यर्थः। वीप्सायामुदाहरति—देवं देवमभिसिञ्चतीति। कात्स्न्यसम्बन्धात्मिका व्याप्तिर्द्वितीयार्थः, अभिद्योत्यश्च। कृत्स्नं देवमभिसिञ्चतीत्यर्थः। पत्वाभावादिपूर्ववत्। यदत्रेति। बहूनां द्रव्यं तण्डुलादि यत्र संसृष्टं तत्रेदं वाक्यम्। स्वस्वामिभावः षष्ठ्यर्थः। अभिस्तद्द्योतकः। अत्र संसृष्टद्रव्ये यद् वस्तु मम स्वभूतं स्यात्, तत् मह्यं दीयतामित्यर्थः। स्यादित्यस्तेर्लिङि रूपम्। अत्र मम भाग इत्यर्थतः पर्यवसानादभाग इति कर्मप्रवचनीयत्वपर्युदासात् उपसर्गत्वस्य निर्बाधत्वात् 'उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः' इति षत्वम्।

(५५४) अधिपरी अनर्थकौ। उक्तसंज्ञौ स्त इति। कर्मप्रवचनीयसंज्ञकावित्यर्थः। कुतोऽध्यागच्छति, कुतः पर्यागच्छतीति। अत्र कुत इत्यपादानपञ्चम्यास्तसिल्। कस्मात् प्रदेशादागच्छतीत्यर्थः। नन्वत्र अधिपर्योरनर्थकतया सम्बन्धस्य तद्द्योत्यत्वाभावेन द्योत्यसम्बन्ध-

---

मूलार्थ—भाग अर्थ को छोड़ कर शेष लक्षणादि अर्थों में 'अभि' की 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होती है। जैसे—(१) हरिम् अभि वर्तते। (२) भक्तः हरिम् अभि। (३) देवं देवम् अभि सिञ्चति। 'अभागे' का क्या प्रयोजन है? यद् अत्र मम अभिष्यात् तद् दीयताम्।

विवरण—पूर्वसूत्रोक्त 'भाग' वर्ज लक्षणादि अर्थों के द्योतित करने पर 'अभि' शब्द की 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा का विधान किया जारहा है। "पूर्व सूत्र" (१-४-९०) से "लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु" की अनुवृत्ति प्रमुख रूप में अपेक्षित है। 'कर्मप्रवचनीय' का आधिकारिक प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि 'भाग अर्थ को छोड़ कर—अर्थात् लक्षण, इत्थम्भूताख्यान तथा वीप्सा—इन अर्थों में 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **लक्षण**—**हरिम्** अभि वर्तते (= हरि की ओर है)। यहाँ हरि की अनुकूलता ही जय (लक्ष्य) का ज्ञापक (लक्षण) है। अतः 'अभि' की कर्मप्रवचनीय-संज्ञा होने पर '**हरिम्**' में द्वितीया विभक्ति हुई। (२) **इत्थम्भूताख्यान**—**भक्तः हरिम् अभि** (= भक्त हरि की भक्ति से युक्त है)। भक्त का 'प्रकार' बतलाया गया है। (३) **वीप्सा**—**देवं देवम् अभिसिञ्चति** (= प्रत्येक देव को स्नान कराता है)। सब के साथ सेचन-सम्बन्ध की इच्छा के कारण 'वीप्सा' है। 'अभि' की उपसर्ग-संज्ञा न होने के कारण 'सिञ्चति' में "उपसर्गात् सुनोति०" (८-३-६५) से 'स्' के स्थान पर 'ष्' नहीं हुआ।

प्रत्युदाहरण—'भाग' अर्थ कर्मप्रवचनीय-संज्ञा का प्रतिबन्धक है। अतः 'यद् अत्र मम अभिष्यात् तद् दीयताम्' (= इस में जो मेरा हिस्सा है, वह दीजिये) में 'अभि' की उपसर्ग-संज्ञा हुई, अतः 'स्यात्' में 'स्' के स्थान पर 'ष्' आदेश हो गया—"उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः" (८-३-८७)।

(५५४) **पद**—अधिपरी, अनर्थकौ। **अनुवृत्ति**—कर्मप्रवचनीयाः। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—(निरर्थक 'अधि' तथा 'परि') उक्त संज्ञक होते हैं। जैसे—(१) कुतः अध्यागच्छति। (२) कुतः पर्यागच्छति। "गतिर्गतौ" से निघात (अनुदात्त) नहीं हुआ।

विवरण—सूत्रार्थ उपपन्न होने के लिए केवल अधिकारलभ्य 'कर्मप्रवचनीयाः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार "'अधि' तथा 'परि' शब्द यदि विशेष अर्थ को व्यक्त न करें तो वे 'कर्म-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति निघातो न। (५५५) सुः पूजायाम् १।४।९४॥ सुसिक्तम्। सुस्तुतम्। अनुपसर्गत्वान्न षः। पूजायाम् किम्? सुषिक्तं किं तवात्र। क्षेपोऽयम्। (५५६) अति-

---

प्रतियोगित्वरूपकर्मप्रवचनीययुक्तत्वस्याभावान्न द्वितीयाप्रसक्तिरित्यत आह—गतिसंज्ञाबाधादिति। अत्र 'गतिर्गतौ' इत्यत्र पदादित्यधिकारात् पदात्परत्वसम्पत्तये कुत इत्युपात्तमिति भावः। अत्र प्रभवति पराभवति अनुभवतीत्यादौ प्रादेरिवार्थान्तरद्योतकत्वाभावेऽपि धात्वर्थद्योतकत्वमस्त्येव। अर्थान्तरद्योतकत्वाभावेन अनर्थकत्वव्यवहारः। उक्तं च भाष्ये—'अनर्थान्तरवाचिनौ धातुनोक्तक्रियामेवाहतुः' इति। एवं च क्रियायोगाभावात् गतित्वस्यापि न प्रसक्तिरिति शङ्का निरस्ता।

(५५५) सुः पूजायाम्। कर्मप्रवचनीय इति शेषः। सुसिक्तं सुस्तुतमिति। अत्र सोः कर्मप्रवचनीयत्वे प्रयोजनमाह—अनुपसर्गत्वान्न ष इति। 'उपसर्गात् सुनोति' इत्यनेनेति शेषः। पूजायां किमिति। सुना पूजायाः नित्यं प्रतीतेः प्रश्नः। सुषिक्तं किं तवात्रेति। त्वया सम्यक् सिक्तं, किन्तु अत्रास्मिन् सुसेके कृते सति सेक्तुस्तव किं, न किञ्चिदपीत्यर्थः। क्षेपोऽयमिति। निन्दाऽत्र गम्यत इत्यर्थः। सेकक्रियाकर्तुः पूज्यत्वे गम्य एवात्र कर्मप्रवचनीयत्वम्। तदभावात् 'उपसर्गात् सुनोति' इति षत्वमिति भावः।

प्रवचनीय' संज्ञक होते हैं। क्रमशः **उदाहरण**—(१) कुतोऽध्यागच्छति (कहाँ से आता है)। (२) कुतः पर्यागच्छति (= कहाँ से आता है)। इन दोनों उदाहरणों में 'अध्यागच्छति' (=आता है) तथा 'पर्यागच्छति'. (= आता है) का अर्थ समान है। 'अधि' तथा 'परि' के संयोग से 'आगच्छति' के अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। अतः ये दोनों ('अधि' तथा 'परि') अनर्थक हैं। 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होने से 'उपसर्ग' एवं 'गति'संज्ञा का बाध हो गया। इसके फलस्वरूप 'अधि' और 'परि' को "गतिर्गतौ" (८-१-७०) से निघात (अनुदात्त) नहीं हुआ। यही 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा का फल है। यदि गतिसंज्ञा होती तो 'आ' (आङ्) को 'गति' मानकर 'अधि' और 'परि' गतिसंज्ञकों को अनुदात्त हो जाता। उसके न होने से 'स्वरसञ्चार' की स्थिति इस प्रकार है—'अधि-आ-गच्छति' में 'अधि' का 'अ' "निपाता आद्युदात्ताः" (फिट्० ८०) से उदात्त हुआ। 'धि' अनुदात्त रहा। 'आ' भी उदात्त है—"उपसर्गाश्चाभिवर्जम्" (फिट्० ८१)। तदनन्तर 'गच्छति' पद सर्वानुदात्त है—"तिङ्ङतिङः" (८-१-२८)। अर्थात् अतिङ् 'आ' से परवर्ती 'तिङ्' (क्रियापद) सर्वानुदात्त हो गया। 'आगच्छति' में उदात्त 'आ' से परवर्ती अनुदात्त 'ग' को "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः" (८-४-६५) से स्वरित होकर यह स्थिति होगी—आर्गच्छति। पुनः अधि+आर्गच्छति इस स्थिति में 'यण्' सन्धि होकर (स्वरित+उदात्त) आकार भी उदात्त हो जाता है (अध्यार्गच्छति)। तदनन्तर "स्वरितात् संहितायाम् अनुदात्तानाम्" (१-२-३९) से अनुदात्तों को एकश्रुति हो जाती है—अध्यार्गच्छति। इसी प्रकार 'पर्यागच्छति' में भी स्वरसञ्चार होगा।

(५५५) **पद**—सुः, पूजायाम्। **अनुवृत्ति**—कर्मप्रवचनीयाः। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—(पूजा अर्थ में 'सु' को उक्त संज्ञा हो)। सुसिक्तम्। सुस्तुतम्। उपसर्ग-संज्ञा न होने से षकार नहीं हुआ। 'पूजायाम्' का क्या प्रयोजन है? सुषिक्तं किं तवात्र? यह आक्षेप है।

विवरण—पूजार्थक (प्रशंसा अर्थ) 'सु' शब्द की 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होती है।

उदाहरण—(१) सु सिक्तम् (= अच्छी तरह सींचा है)। (२) सु स्तुतम् (= अच्छी स्तुति की है)। प्रशंसार्थक 'सु' की 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा हुई। 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा का फल—'उपसर्ग' संज्ञा न होने से "उपसर्गात् सुनोति०" (८-३-६५) सूत्र से "स्" को 'ष्' नहीं हुआ।

प्रत्युदाहरण—'पूजायाम्' पद का यह प्रयोजन है कि प्रशंसा के अतिरिक्त निन्दा आदि अर्थों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रतिक्रमणे च १।४।९५॥ अतिक्रमणे पूजायां च अतिः कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञः स्यात्। अति देवान्कृष्णः। **(५५७) अपिः पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु १।४।९६॥** एषु द्योत्येष्वपिरुक्तसञ्ज्ञः स्यात्। सर्पिषोऽपि स्यात्। अनुपसर्गत्वान्न षः। सम्भावनायां लिङ्। तस्या एव विषयभूते भवने कर्तृदौर्लभ्यप्रयुक्तं दौर्लभ्यं द्योतयन्न-

---

(५५६) अतिरतिक्रमणे च। चकारात् पूजायामिति समुच्चीयत इत्याह—पूजायां चेति। अतिक्रमणमुचितादाधिक्यम्। अति देवान् कृष्णः इति। प्रपञ्चसंरक्षणविषये देवेभ्योऽधिकः कृष्ण इत्यर्थः। देवानां पूज्य इति वा। आद्येऽर्थे 'कुगतिप्रादयः' इति समासो न, 'स्वती पूजायाम्' इति नियमात्। द्वितीये त्वनभिधानान्नेत्याहुः।

(५५७) अपिः पदार्थं। पदार्थश्च सम्भावनञ्च अन्ववसर्गश्च गर्हा च समुच्चयश्चेति द्वन्द्वः। एषु द्योतकतया विद्यमानः अपिः कर्मप्रवचनीय इत्यर्थः। तदाह—एष्विति। अप्रयुज्यमानस्य पदान्तरस्यार्थः पदार्थः, तद्द्योतकमपिमुदाहरति—सर्पिषोऽपि स्यादिति। यत्रातिदौर्लभ्यादत्यल्पमाज्यं भुञ्जानेभ्यो दीयते तदुपसहासार्थमिदं वाक्यम्। अत्रापेः कर्मप्रवचनीयत्वे प्रयोजनमाह—अनुपसर्गत्वान्न ष इति। 'उपसर्गप्रादुर्भ्याम्' इत्यनेनेति शेषः। अपिद्योत्यं पदार्थं विशदयितुमाह—सम्भावनायां लिङिति। 'उपसंवादाशङ्कयोश्च' इति सूत्रे 'उपसंवादाशङ्कयोर्लिङ्' इति पठितवचनेनेति शेषः। तत्र आशङ्का—उत्कटान्यतरकोटिका शङ्का, सम्भावनैवेति भावः। सा च प्रकृत्यर्थगता भवति, प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्तेः। अस्धातोश्च भवनमर्थः, 'अस् भुवि' इत्युक्तेः। भवनं च सत्ता, 'भू सत्तायाम्' इत्युक्तेः। ततश्च सम्भावनाविषयीभूतभवनार्थकादस्धातोः कर्तरि लिङि श्नसोरल्लोपे यासुडागमादौ स्यादिति रूपम्। तेन च सम्भावनाविषयभवनाश्रयः कर्ता अवगतः, स च कर्ता क इत्याकाङ्क्षायां प्रकरणात् औचित्यात् सर्पिष इत्यवयषष्ठीबलाच्च बिन्दुरिति गम्यते, तमेवापिशब्दो द्योतयति। स च बिन्दुरपिशब्दद्योत्यः कर्ता प्रकृत्यर्थं सम्भावनाविषये भवने स्वस्य बिन्दोर्दौर्लभ्यात् तदेव दौर्लभ्यं पुरस्कृत्यान्वेति, सम्भावनाविषयत्वबोधे दौर्लभ्यस्यापि सम्भावनाविषयतया अनुभवसिद्धत्वात्। तदिदं दौर्लभ्यमपि अपिशब्दो द्योतयति। एवं च बिन्दोः कर्तृविशेषरूपेण द्योत्योक्तदौर्लभ्यसम्बन्धेन च स्यादित्यत्रान्वयः। तदाह—तस्या एवेति। सम्भावनाया एवेत्यर्थः। कर्तुर्बिन्दोर्दौर्लभ्यात्

में 'सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होगी। अतः 'सुषिक्तं किं तवात्र'? (=वाह, तुमने खूब सींचा)। इस वाक्य में 'सु' निन्दार्थक है। अतः 'उपसर्ग' होने से 'सिक्तम्' के 'स्' को 'ष्' हो गया।

(५५६) पद—अतिः, अतिक्रमणे, च। अनुवृत्ति—कर्मप्रवचनीयाः। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—अतिक्रमणार्थक एवं पूजार्थक 'अति' कर्मप्रवचनीय होता है। जैसे—अतिदेवान् कृष्णः।

विवरण—अधिकारलभ्य 'कर्मप्रवचनीय' के अतिरिक्त सूत्रस्थ 'च' पद से 'पूजा' अर्थ भी अभीष्ट है। तदनुसार "अतिक्रमण और पूजा अर्थ में 'अति' शब्द की 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होती है"। उदाहरण—अति देवान् कृष्णः (=कृष्ण दोनों से बढ़कर हैं)। प्रकृत वाक्य में अतिक्रमण (बढ़कर) तथा पूजा (प्रशंसा) अभिलक्षित होने से कर्मप्रवचनीय 'अति' के योग में 'देवान्' में द्वितीया विभक्ति हुई।

(५५७) पद—अपिः, पदार्थ·····समुच्चयेषु। अनुवृत्ति—कर्मप्रवचनीयाः। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—पदार्थ, सम्भावन, अन्ववसर्ग, गर्हा तथा समुच्चय अर्थों में 'अपि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जैसे—(१) सर्पिषः अपि स्यात्। उपसर्गसंज्ञा न होने से षकार नहीं हुआ। यहाँ संभावना अर्थ में लिङ् लकार है। संभावना के विषयस्वरूप 'होना क्रिया' में कर्ता की दुर्लभता के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पिशब्दः स्यादित्यनेन सम्बध्यते। सर्पिषः इति षष्ठी त्वपिशब्दबलेन गम्यमानस्य बिन्दोरवयवावयविभावसम्बन्धे। इयमेव ह्यपिशब्दस्य पदार्थद्योतकता नाम। द्वितीया तु नेह प्रवर्तते। सर्पिषो बिन्दुना योगो न त्वपिनेत्युक्तत्वात्। अपि स्तुयाद्विष्णुम्—

भवनक्रियायां यद् दौर्लभ्यं तद् द्योतयन् अपिशब्दः स्यादित्यनेन सम्बध्यत इत्यर्थः। ननु सर्पिरेव कर्तृत्वेनान्वेतु इत्यत आह—सर्पिषः इति। सम्बन्ध इत्यनन्तरं वर्तत इति शेषः। एवं च सर्पिरवयवबिन्दुदौर्लभ्यप्रयुक्तदौर्लभ्यवती बिन्दुकर्तृका सम्भावनाविषयीभूता सत्तेति बोधः। इयमेवेति। बिन्दुदौर्लभ्यद्योतकतैवेत्यर्थः। ननु कर्मप्रवचनीयेनापिना अन्वयसत्त्वात् सर्पिषो द्वितीया स्यादित्यत आह—द्वितीया तु नेति। कुत इत्यत आह—सर्पिष इति। सर्पिषः बिन्दुनैव योगः, न त्वपिनेत्येव सर्पिष इति षष्ठी त्वित्यादिसन्दर्भेण उक्तत्वादित्यर्थः। कर्मप्रवचनीयद्योत्यसम्बन्धप्रतियोगित्वमेव कर्मप्रवचनीययुक्तम्, प्रकृते च अपिद्योत्यस्य उक्तसम्बन्धस्य बिन्दुरेव प्रतियोगी न तु सर्पिरिति भावः। तदेवं पदार्थद्योतकमपिमुदाहृत्य सम्भावनद्योतकमपिमुदाहरति—अपि स्तुयाद्विष्णुमिति। 'सम्भावने-

---

कारण वस्तु के अस्तित्व की दुर्लभता को प्रकट करता हुआ 'अपि' शब्द 'स्यात्' क्रिया के साथ सम्बद्ध होता है। 'अपि' शब्द के बल से प्रतीयमान बिन्दु के अवयवावयविभाव-सम्बन्ध के कारण 'सर्पिषः' में षष्ठी विभक्ति हुई है। यही 'अपि' शब्द की पदार्थद्योतकता है। 'सर्पिष्' का 'बिन्दु' के साथ अन्वय है, अपि के साथ नहीं। अतः द्वितीया नहीं होती। (२) अपि स्तुयात् विष्णुम्—शक्ति के उत्कर्ष को प्रकट करने के लिए अत्युक्ति का दूसरा नाम 'सम्भावन' है। (३) अपि स्तुहि—इच्छानुसार काम करने की अनुमति देना 'अन्ववसर्ग' है। (४) धिक् देवदत्तम् अपि स्तुयात् वृषलम्—यहाँ निन्दा की गई है। (५) अपि स्तुहि, अपि सिञ्च—यह समुच्चय का उदाहरण है।

विवरण—कुछ विशेष अर्थों को अभिलक्षित कर 'अपि' शब्द को 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होने के सम्बन्ध में निर्देश दिए जा रहे हैं। (१) पदार्थ, (२) सम्भावन, (३) अन्ववसर्ग, (४) गर्हा तथा (५) समुच्चय—इन पाँच अर्थों के द्योतक 'अपि' शब्द की 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होती है। (विग्रह—पदार्थश्च, सम्भावनं च, अन्ववसर्गश्च, गर्हा च, समुच्चयश्च—पदार्थ·····समुच्चयाः, तेषु, इतरेतर-द्वन्द्व)। इन पाँचों का अर्थ इस प्रकार है—(१) **पदार्थ**—किसी अप्रयुक्त पद का अर्थ[1] (पदस्य अर्थः=पदार्थः)। (२) **सम्भावन**—शक्ति के उत्कर्ष को प्रकट करने के लिये बढ़ा-चढ़ा कर कहना। (३) **अन्ववसर्ग**—इच्छापूर्वक काम करने की अनुमति देना। (४) **गर्हा**—निन्दा। (५) **समुच्चय**—अनेक पदार्थों को एकत्र करना। इनके क्रमशः उदाहरण दिये जा रहे हैं। (१) **पदार्थ**—सर्पिषः अपि स्यात् (= थोड़ा सा घी भी चाहिये)। प्रकृत वाक्य में 'सर्पिषः' पद का अर्थ सापेक्ष है। वह 'बूँद' ('बिन्दु') की अपेक्षा रखता है। 'घी को बूँद' ('सर्पिषः बिन्दुः') कहने से उत्कण्ठा शान्त हो जाती है। अर्थात् अर्थ पूरा हो जाता है। वक्ता का आशय श्रोता समझ लेता है। किन्तु वाक्य में 'बिन्दु' पद का प्रयोग नहीं किया गया है। वह 'अपि' शब्द से द्योतित होता है[2]। भट्टोजी दीक्षित ने इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—'प्रकृत वाक्य में 'स्यात्' पद √अस् धातु से सम्भावनार्थक लिङ् लकार है। सम्भावना (= उत्प्रेक्षा) में उत्कटकोटिक (अत्यधिक) शङ्का विद्यमान रहती है। अतः सम्भावना (अत्यधिक शङ्का) से सम्बन्ध रखने वाली घृत की सत्ता में बिन्दु कर्ता की दुर्लभता के कारण उसके अस्तित्व की दुर्लभता को द्योतित करता हुआ 'अपि' शब्द 'स्यात्' के साथ अन्वित होता है। वाक्य में 'सर्पिषः' शब्द षष्ठी विभक्ति में है और यह षष्ठी अवयवावयविभाव सम्बन्ध सूचित करती है। तदनुसार 'घी' अवयवी है और 'बिन्दु' उसका अवयव

---

१. पदस्य = अप्रयुज्यमानपदान्तरस्य अर्थः—पदार्थः।

२. अत्र बिन्दुरित्यादेः पदस्यार्थोऽपिद्योत्यः। तदुक्तं वृत्तिकृता—'मात्रा बिन्दुस्तोकमित्यस्यार्थेऽपिर्वर्तते'।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्भावनं शक्युत्कर्षमाविष्कर्तुमत्युक्तिः। अपि स्तुहि—अन्ववसर्गः कामचारानुज्ञा। धिग्देवदत्तम्। अपि स्तुयाद् वृषलम्—गर्हा। अपि सिञ्च, अपि स्तुहि—समुच्चये। **(५५८) कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे २। ३। ५॥** इह द्वितीया स्यात्। मासं कल्याणी। मासमधीते। मासं गुडधानाः। क्रोशं कुटिला नदी। क्रोशमधीते। क्रोशं

ऽलमिति चेत् सिद्धाप्रयोगे' इति लिङ्। सम्भावनपदं व्याचष्टे—सम्भावनमित्यादिना। अवाङ्मनसगोचरं विष्णुमपि स्तुयात्। स्तोतुं शक्त इत्यर्थः। अत्युक्तिरियम्, अवाङ्मनसगोचरस्य विष्णोः केनापि स्तोतुमशक्यत्वात्। तत्र कर्मप्रवचनीयत्वे उपसर्गत्वबाधात् 'उपसर्गात् सुनोति' इति षत्वं न। अन्ववसर्गद्योतकमपिमुदाहरति—अपि स्तुहीति। स्तुहि वा, न वा, यथेष्टं कुर्वित्यर्थः। अन्ववसर्गपदं व्याचष्टे—अन्ववसर्गः कामचारानुज्ञेति। 'प्रैषातिसर्ग' इति लोट्। गर्हाद्योतकमपिमुदाहरति—अपि स्तुयाद् वृषलमिति। 'गर्हायां लडपिजात्वोः' इति लटं बाधित्वा परत्वादन्तरङ्गत्वाच्च सम्भावनायां लिङ्। अत्र वृषलस्य निन्द्यत्वात् तत्स्तुतेर्निन्द्यत्वं गम्यमानमपिशब्दो द्योतयति। धिग्देवदत्तमिति तदनुवादः। समुच्चयद्योतकमपिमुदाहरति—अपि सिञ्च अपि स्तुहीति। अपिद्वयेन मिलितेन समुच्चयद्योतनात् प्रत्येकं कर्मप्रवचनीयत्वादुभयत्रापि षत्वाभावः। सिञ्च, स्तुहि चेत्यर्थः।

(५५८) कालाध्वनोः। इहेति। कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे इत्यर्थः। निरन्तरसंयोगः अत्यन्तसंयोगः। अन्तः विच्छेदः तमतिक्रान्तः अत्यन्तः स चासौ संयोगश्चेति विग्रहः।

है। 'अपि' शब्द के सामर्थ्य से अवयवी ('सर्पिष्') के साथ अवयव ('बिन्दु') का स्वाभाविक सम्बन्ध ज्ञात हो जाता है।[1] इस प्रकार उपर्युक्त वाक्य का अर्थ 'सर्पिषः बिन्दुरपि स्यात्' है। अन्नशुद्धि के लिये 'घी की एक बूँद भी तो हो'। यही 'अपि' शब्द की पदार्थ को द्योतित करने की शक्ति है। 'बिन्दु' के साथ 'सर्पिषः' का सम्बन्ध होने से द्वितीया विभक्ति नहीं होती। 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा करने का फल यह होता है कि 'स्यात्' में सकार को षत्व नहीं होता। (२) **सम्भावन**—अपि स्तुयाद् विष्णुम् (= क्या विष्णु की स्तुति कर सकेगा)। प्रकृत वाक्य में अत्युक्ति है। इसका यह तात्पर्य है कि अवाङ्मनस-गोचर विष्णु की स्तुति करना असम्भव है। 'सम्भावन' अर्थ को द्योतित करने से 'अपि' की 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा हुई। 'उपसर्ग' न होने के कारण 'स्तुयात्' में 'स्' = 'ष्' नहीं हुआ। (३) **अन्ववसर्ग**—अपि स्तुहि (= स्तुति करो या न करो जैसी तुम्हारी इच्छा)। 'इच्छानुसार' अर्थ को प्रकाशित करने के कारण 'अपि' की 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होने से पूर्ववत् 'स्तुहि' में 'ष्' नहीं हुआ। (४) **गर्हा**—धिक् देवदत्तम् अपि स्तुयाद् वृषलम् (=देवदत्त को धिक्कार है जो वह वृषल की स्तुति करता है)। यहाँ 'वृषल' के निन्द्य होने से उसकी स्तुति (चापलूसी) करने में निन्दा का बोध होता है। 'अपि' की 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होने से यहाँ भी 'स्तुयात्' में 'स्' को 'ष्' नहीं हुआ। (५) **समुच्चय**—अपि सिञ्च, अपि स्तुहि (= सींचो भी और स्तुति भी करो)। यहाँ 'अपि' शब्द 'समुच्चय' को प्रकट करता है। अतः 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होने के फलस्वरूप 'सिञ्च' तथा 'स्तुहि' दोनों पदों में 'स्' = 'ष्' नहीं हुआ।[2]

(५५८) **पद**—कालाध्वनोः, अत्यन्तसंयोगे, द्वितीया। **अनुवृत्ति**—द्वितीया। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—(कालवाचक और मार्गवाचक शब्दों से) यहाँ (अत्यन्त संयोग में) द्वितीया विभक्ति होती है। जैसे—१ (क) मासं कल्याणी (ख) मासम् अधीते। (ग) मासं गुडधानाः।

---

१. "एवञ्च सर्पिरवयवबिन्दुदौर्लभ्यप्रयुक्तदौर्लभ्यवती तत्कर्तृका सम्भावनाविषयः सत्तेति बोधः। विशिष्टसत्तायाः सम्भावनाविषयत्वबोधे दौर्लभ्यस्यापि सम्भावनाविषयत्वमनुभवसिद्ध"मिति लघु-शब्देन्दुशेखरे निरूपितम्।

२. अपिद्वयेन मिलितेन समुच्चयद्योतनात् प्रत्येकं संज्ञायाम् उभयत्रापि षत्वाभावः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गिरिः। अत्यन्तसंयोगे किम्? मासस्य द्विरधीते। क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः। (५५९) स्वतन्त्रः

गुणक्रियाद्रव्यैरित्यौचित्यात् गम्यते। गुणक्रियाद्रव्यैः कालाध्वनोरविच्छिन्नसंयोगे गम्ये द्वितीया स्यादित्यर्थः। सा च कालाध्वभ्यामेव भवति, श्रुतत्वात्। तत्र गुणात्यन्तसंयोगे उदाहरति—मासं कल्याणीति। भवतीति शेषः। त्रिंशद्दिनात्मको मासः। तस्मिन्नविच्छिन्न-मङ्गलवानित्यर्थः। क्रियात्यन्तसंयोगे उदाहरति—मासमधीते इति। त्रिंशद्दिनात्मके (मासे) प्रतिदिनमुचितकाले निरन्तरमधीत इत्यर्थः। द्रव्यात्यन्तसंयोगे उदाहरति—मासं गुडधाना इति। मासे प्रतिदिनं निरन्तरं गुडधानाः सन्तीत्यर्थः। कालात्यन्तसंयोग-मुदाहृत्य अध्वात्यन्तसंयोगे उदाहरति—क्रोशं कुटिला नदीत्यादि। मासस्य द्विरिति। मासे त्रिंशद्दिनात्मके द्वयोर्दिनयोः प्रतिदिनमेकवारमित्येवं द्विरधीत इत्यर्थः। 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' इति द्विशब्दात् कृत्वोऽर्थे सुच् 'कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे' इति षष्ठी। शेष-षष्ठीति केचित्। 'शिवरात्रौ जागृयात्' इत्यत्र तु अधिकरणत्वस्य विवक्षितत्वात् सप्तमी-त्याहुः। उपपदविभक्तीनां शेषत्वविवक्षायामेव प्रवृत्तेरिति तदाशयः। इति द्वितीया विभक्तिः।

२—(क) क्रोशं कुटिला नदी। (ख) क्रोशम् अधीते। (ग) क्रोशं गिरिः। 'अत्यन्तसंयोग' का क्या प्रयोजन है? १—मासस्य द्विरधीते। २—क्रोशस्य एकदेशे पर्वतः।

विवरण—"कर्मणि द्वितीया" (२-३-३) सूत्र से 'द्वितीया' की अनुवृत्ति करने पर सूत्रार्थ उपपन्न होता है। तदनुसार "अत्यन्त संयोग (अत्यन्तं सयोगः—अत्यन्तसंयोगः, तस्मिन्, कर्म-धारय) गम्यमान होने पर 'काल' और 'मार्ग'वाची शब्दों में द्वितीया विभक्ति होती है"। अत्यन्त संयोग का अर्थ है 'अविच्छिन्न (लगातार) संयोग'। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जब कोई क्रिया कुछ समय तक लगातार होती रहे या कुछ दूरी तक होती रहे तब कालवाचक और मार्ग-वाचक शब्दों में द्वितीया विभक्ति होगी। 'काल' और 'अध्वन्' का यह अविच्छिन्न संयोग गुण, क्रिया और द्रव्य इन तीनों से होता है[1]। अतः इनमें प्रत्येक के तीन-तीन उदाहरण होंगे। उदा-हरण—(क) कालवाची शब्द—(१) मासं कल्याणी (=मासपर्यन्त शुभकारी है)। प्रकृत वाक्य में कालवाची 'मास' शब्द का 'गुण' ('कल्याणी') के साथ अत्यन्त संयोग होने से द्वितीया हुई। (२) मासम् अधीते (=पूरे महीने भर पढ़ता है)। कालवाची शब्द का क्रिया के साथ नैरन्तर्य होने से द्वितीया हुई। (३) मासं गुडधानाः (=महीने भर गुड़मिश्रित धान्य खाता है)। कालवाची शब्द का द्रव्य के साथ अत्यन्त संयोग होने से द्वितीया विभक्ति हुई। (ख) मार्गवाची शब्द—(१) क्रोशं कुटिला नदी (कोस भर नदी टेढ़ी है)। मार्गवाची (क्रोश) शब्द के साथ गुण (कुटिल) का अत्यन्त संयोग होने से द्वितीया विभक्ति। (२) क्रोशम् अधीते (=कोस भर पढ़ता है)। यहाँ मार्गवाची शब्द का क्रिया के साथ अत्यन्त संयोग है, अतः द्वितीया हुई। (३) क्रोशं गिरिः (=कोस भर पहाड़ है)। मार्गवाची (क्रोश) शब्द का द्रव्य (गिरि) के साथ नैरन्तर्य होने से द्वितीया विभक्ति हुई।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अत्यन्त-संयोग' पद न रखने पर कालादिवाची शब्दों का द्रव्यादि के साथ एक भाग में संयोग होने पर द्वितीया विभक्ति होने लगती। ऐसे स्थलों पर द्वितीया न होने के लिये 'अत्यन्तसंयोगे' पद का निवेश किया गया है। अतः (क) 'क्रोशस्य एकदेशे पर्वतः' (=कोस के एक भाग में पहाड़ है) तथा (ख) 'मासस्य द्विरधीते (=महीने में दो दिन

---

१. "अत्यन्तसंयोगो निरन्तरं सम्बन्धः। स च गुणक्रियाद्रव्यैरभावेन च। तेन मासं भोजना-भावः इत्यादेः संग्रहः। गुणादिभिः कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे प्रत्यासत्त्या कालाध्ववृत्तिभ्यां द्वितीये-त्यर्थः"। ल० श० शे०।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्ता १।४।५४॥ क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात्। **(५६०) साधकतमं करणम् १।४।४२॥** क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं कारकं करणसञ्ज्ञं स्यात्।

---

(५५९) अथ तृतीया विभक्तिः। स्वतन्त्रः कर्ता। कारकाधिकारात् क्रियाजनने स्वातन्त्र्यमिह विवक्षितमित्याह—क्रियायामिति। स्वातन्त्र्यमिह प्राधान्यमिति भाष्ये स्पष्टम्। ननु स्थाली पचतीत्यादौ कथं स्थाल्यादीनां कर्तृत्वं, स्वातन्त्र्याभावादित्यत आह—विवक्षितोऽर्थ इति। 'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति' इति भाष्यादिति भावः। स्वातन्त्र्यं च धात्वर्थव्यापाराश्रयत्वम्। फलानुकूलव्यापारो धात्वर्थः। तत्र पचतीत्यत्र विक्लित्तिरूपफलाश्रये तण्डुलेऽतिव्याप्तिवारणाय व्यापारेति। उक्तं च हरिणा—'धातुनोक्तक्रिये नित्यं कारके कर्तृतेष्यते' इति। धातूपात्तव्यापारवंतीत्यर्थः।

(५६०) साधकतमं करणम्। क्रियासिद्धाविति। क्रियोत्पत्ताविव्यर्थः। कारकाधिकारलभ्यमिदम्। प्रकृष्टोपकारकमिति। कर्त्रा क्रियायां जनयितव्यायां यत् सहायभूतं तदुपकारकमित्युच्यते। साधकतममित्यस्य व्याख्यानमेतत्। साधकशब्दात् 'अतिशायने तमप्' इति तमप्। अतिशयितं साधकं साधकतममिति भावः। यद्व्यापारानन्तरं क्रियानिष्पत्तिः

पढ़ता है) इत्यादि स्थलों में अत्यन्त संयोग न होने से द्वितीया नहीं हुई। सम्बन्ध होने के कारण षष्ठी विभक्ति हुई।

(५५९) पद—स्वतन्त्रः, कर्ता। अनुवृत्ति—कारके। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—क्रिया करने में जिसकी स्वतन्त्रता मानी जाय, वह कर्ता कारक होता है।

विवरण—प्रकृतसूत्र 'कर्ता' की परिभाषा का परिचायक है। "कारके" (१-४-२३) अधिकार का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है। कैयट के अनुसार "कारके" (१-४-२३) सूत्र में 'कारक' पद से क्रिया विवक्षित है[1]। तदनुसार "क्रिया करने में जिसकी स्वतन्त्रता विवक्षित हो, उसे कर्ता कहते हैं"। अर्थात् जिसका 'स्व' (आत्मा) 'तन्त्र' (प्रधान) हो वह 'स्वतन्त्र' है। यद्यपि क्रिया की निष्पत्ति में सभी कारकों का हाथ रहता है तथापि क्रिया के द्वारा जिसका व्यापार प्रमुख रूप में व्यक्त होता है, उसे ही स्वतन्त्र कहा जाता है। 'कर्ता' इसलिये स्वतन्त्र माना जाता है कि वह दूसरे कारकों की अपेक्षा पहले ही शक्ति-लाभ करता है। अन्य कारक कर्ता के द्वारा स्वातन्त्र्य प्राप्त करते हैं। कर्ता की अधीनता से दूसरे कारक क्रियाशील होते हैं। 'कर्ता' संज्ञा होने से "प्रातिपदिकार्थ०" (२-२-४४) में प्रथमा विभक्ति होती है।

(५६०) पद—साधकतम, करणम्। अनुवृत्ति—कारके। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—क्रिया की सिद्धि में प्रकृष्ट उपकारक की 'करण' संज्ञा होती है। 'तमप्' का क्या प्रयोजन है? गङ्गायां घोषः।

विवरण—अधिकारलभ्य 'कारक' पद की अनुवृत्ति के फलस्वरूप सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "क्रिया की सिद्धि में जो सबसे अधिक उपकारक (साधकतमं) होता है उसे 'करण' कारक कहते हैं। जिस व्यापार के अनन्तर क्रिया की निष्पत्ति विवक्षित होती है उसे 'करण' माना जाता है। 'करण' कारक में प्रकृष्ट उपकारकता अन्य कारकों की दृष्टि से है। यद्यपि कर्ता क्रिया की सिद्धि के लिये करण (साधन) का आश्रय लेता है तथापि वह स्वातन्त्र्य के कारण प्रधान रहता है। परायत्त वृत्ति के कारण 'करण' गौण होता है, क्योंकि करण कर्ता के बिना व्यापारशील नहीं होता। करण संज्ञा होने के फलस्वरूप तृतीया-विभक्ति होती है। **उदाहरण**—कृषकः दात्रेण लुनाति। काटने की क्रिया में सबसे अधिक उपकारक 'दात्र' है, अतः तृतीया विभक्ति हुई>दात्रेण।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र को "साधकं करणम्" इस रूप में कहने पर भी 'साधकतम' अर्थ का लाभ हो सकता था। यह कारक का प्रकरण है, 'कारक' का अर्थ है—साधक। सूत्रस्थ

---

१. क्रियाऽत्र सूत्रे कारकशब्देनोच्यते। सा हि कर्त्रादीनि विशिष्टव्यपदिष्टानि करोति इति।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'तमब्ग्रहणं' किम् ? गङ्गायां घोषः। (५६१) कर्तृकरणयोस्तृतीया २। ३। १८॥ अनभिहिते कर्तरि करणे च तृतीया स्यात्। रामेण बाणेन हतो बाली। 'प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' (वा १४६६)। प्रकृत्या चारुः। प्रायेण याज्ञिकः। गोत्रेण गार्ग्यः।

तत् प्रकृष्टम्। कर्तृव्यापाराधीनयद्व्यापाराव्यवहिता क्रियानिष्पत्तिः तत्तस्यां करणमिति यावत्। तमब्ग्रहणं किमिति। साधकमित्येवोच्यताम्। कारकाधिकारादेव सिद्धे पुनः साधकग्रहणादेव प्रकृष्टं साधकमिति विज्ञायत इति प्रश्नः। गङ्गायां घोष इति। अयमाशयः—कारकप्रकरणे गौणमुख्यन्यायः एतत्सूत्रादन्यत्र न प्रवर्तते इति ज्ञापनार्थं तमब्ग्रहणम्। अन्यथा 'आधारोऽधिकरणम्' इत्यत्र अन्वर्थमहासंज्ञाबलादेवाधारलाभे पुनस्तद्ग्रहणसामर्थ्यात् सर्वावयवव्याप्त्या य आधारः सोऽधिकरणमित्यर्थः स्यात्। एवं च तिलेषु तैलं, दध्नि सर्पिरित्यादावेव स्यात्, गङ्गायां घोषः, कूपे गर्गकुलमित्यादौ न स्यात, अतस्तमब्ग्रहणमिति भाष्ये स्पष्टम्। अत्र यद्वक्तव्यं तत् 'आधारोऽधिकरणम्' 'सप्तम्यधिकरणे च' इत्यत्र वक्ष्यते।

(५६१) कर्तृकरणयोस्तृतीया। 'अनभिहिते' इत्यधिकारादाह—अनभिहित इति। रामेणेति। रामकर्तृकबाणकरणकहिंसाक्रियाविषयो बालीत्यर्थः। प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानमिति। तृतीयाया इति शेषः। उपपदविभक्तिरियम्। यथायोगं सर्वविभक्त्यपवादः। प्रकृत्या चारुरिति। सम्बन्धस्तृतीयार्थः। प्रकृतिः स्वभावः, तत्सम्बन्धिचारुत्ववानित्यर्थः। यदा तु स्वभावेनैवान्यमभिरूपः न त्वलङ्कारादिनेति करणान्तरव्युदासाय प्रकृतेः करणत्वं विवक्ष्यते, तदा 'कर्तृकरणयोः' इत्येव सिद्धमिति भाष्यम्। प्रायेण याज्ञिक इति। प्रायशब्दो

'साधक' पद से ही साधकतम अर्थ सम्भव हो जाता। पृथक् 'तमप्' ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है ? इसका समाधान यह दिया जाता है कि "कारक" अन्वर्थ संज्ञा है। अतः इस सूत्र में गौणमुख्य न्याय प्रवृत्त नहीं होता। फलतः "आधारोऽधिकरणम्" (१-४-४५) में 'आधारमात्र' की अधिकरण-संज्ञा अपेक्षित है, विशेष आधार की नहीं। इस हेतु 'गङ्गायां घोषः' (= गङ्गा में झोपड़ी) में गौण आधार होने पर भी सप्तमी होती है। इस वाक्य का लाक्षणिक अर्थ है 'गङ्गा के किनारे झोपड़ी'। 'आधारतम' की परिकल्पना में यहाँ सप्तमी-विभक्ति प्राप्त नहीं रही।

(५६१) **पद**—कर्तृकरणयोः, तृतीया। **अनुवृत्ति**—अनभिहिते। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अनुक्त कर्ता और करण में तृतीया होती है। जैसे—रामेण बाणेन हतः बाली। वा० प्रकृति आदि शब्दों से तृतीया विभक्ति होती है। जैसे—(१) प्रकृत्या चारुः। (२) प्रायेण याज्ञिकः। (३) गोत्रेण गार्ग्यः। (४) समेन एति। (५) विषमेण एति। (६) द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति। (७) सुखेन दुःखेन वा याति इत्यादि।

विवरण—सूत्रार्थ उपपन्न होने के लिये अधिकारलभ्य "अनभिहिते" (२-३-१) की अनुवृत्ति अपेक्षित है। इसका अन्वय 'कर्तृकरणयोः' ('कर्तरि' तथा 'करणे') के साथ होता है। अतः "अनुक्त कर्ता और करण में 'तृतीया' विभक्ति होगी"। करण में सर्वत्र तृतीया का प्रयोग होता है। **उदाहरण**—**रामेण बाणेन** हतो बाली (= राम के द्वारा बाली बाण से मारा गया)। यहाँ पर 'हतः' (√हन्+क्त) में 'क्त' प्रत्यय कर्मवाच्य में है, अतः कर्म उक्त है और कर्ता अनुक्त है। अनुक्त कर्ता होने से 'रामेण' तृतीया हुई। 'साधकतम' होने से 'बाण' करण है, अतः करण में तृतीया—बाणेन। आगे कारक-विभक्ति से भिन्न तृतीया-विभक्ति का निर्वचन किया जारहा है।

वा० अर्थ—'प्रकृति' आदि गणपठित शब्दों से तृतीया विभक्ति होती है। **उदाहरण**—(१) प्रकृत्या चारुः (= स्वभाव का अच्छा)। यहाँ सम्बन्धार्थ में तृतीया हुई है। यदि स्वभाव से ही किसी व्यक्ति की सुन्दरता अपेक्षित हो (अलङ्कारादि उपकरणों से नहीं) तो करण अर्थ की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समेनैति। विषमेणैति। द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति। सुखेन दुःखेन वा यातीत्यादि। **(५६२) दिवः कर्म च १।४।४३॥** दिवः साधकतमं कारकं कर्मसञ्ज्ञं स्यात्,

---

बहुलवाची। बहुलाचारसम्बन्धियाज्ञिकत्ववानित्यर्थः। सम्बन्धश्च ज्ञाप्यज्ञापकभावः। बहुलेन आचारेण हेतुना ज्ञाप्ययाज्ञिकत्ववानित्यर्थस्तु 'इत्थम्भूतलक्षणे' इत्येव सिद्धम्। बहुलेन आचारेण सम्पन्नयाज्ञिकत्ववानित्यर्थस्तु करणत्वादेव सिद्धमिति भाष्यम्। गोत्रेण गार्ग्यं इति। गोत्रमस्य गार्ग्यं इत्यर्थः। अत्र प्रथमा प्राप्ता। गोत्रेण हेतुना ज्ञाप्यगार्ग्यत्ववानित्यर्थे तु 'इत्थम्भूतलक्षणे' इत्येव सिद्धम् इति भाष्यम्। समेनैति विषमेणैतीति। क्रियाविशेषणमेतत्। समं विषमं च गमनं करोतीत्यर्थः। कर्मणि द्वितीया प्राप्ता। समेन विषमेण वा पथा एतीत्यर्थे तु करणत्वमेव सिद्धम् इति भाष्यम्। द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणातीति। द्वयोर्द्रोणयोः समाहारः द्विद्रोणम्। पात्रादित्वान्न ङीत्वम्। द्विद्रोणसम्बन्धि धान्यमित्यर्थे षष्ठी प्राप्ता। द्विद्रोणपरिमितधान्यमूल्यं हिरण्यं द्विद्रोणं, तेन क्रीणातीत्यर्थे तु करणत्वादेव सिद्धम् इति भाष्यम्। सुखेनैति। सुखजनकं यानं करोतीत्यर्थः। क्रियाविशेषणम्। द्वितीया प्राप्ता। इत्यादीति। नाम्ना सुतीक्ष्णः। नामसम्बन्धिसुतीक्ष्णत्ववानित्यर्थः। नामज्ञाप्यसुतीक्ष्णत्ववानित्यर्थे तु 'इत्थम्भूतलक्षणे' इत्येव सिद्धम्। धान्येन धनवानित्यत्र तु अभेदस्तृतीयार्थः। धान्याभिन्नधनवानित्यर्थः। वह्नित्वेन वह्निं जानामीत्यत्र तु प्रकारत्वं तृतीयार्थः। वह्नित्वप्रकारकवह्निज्ञानवानस्मीत्यर्थ इत्याद्यूह्यम्।

(५६२) दिवः कर्म च। साधकतममित्यनुवर्तते। तदाह—दिवः साधकतममिति। दिवुधात्वर्थं प्रति साधकतममित्यर्थः। चादिति। चकारात् करणसंज्ञकमित्यपि लभ्यत इत्यर्थः।

विवक्षा में तृतीया विभक्ति भी सम्भव है[1]। (२) **प्रायेण** याज्ञिकः (= अधिक आचार-सम्पन्न याज्ञिक)। प्रकृत्यादि गण-पठित 'प्रायः' शब्द से सम्बन्धार्थ में तृतीया हुई। 'प्रायः' शब्द का अर्थ यदि 'अधिक आचार से' यह माना जाय तो "इत्थम्भूतलक्षणे" (२-३-२१) से भी तृतीया विभक्ति सिद्ध हो सकती है। (३) **गोत्रेण** गार्ग्यः (= इसका गोत्र गार्ग्य है)। प्रकृत्यादि-गण-पठित 'गोत्र' शब्द से तृतीया विभक्ति हुई। यहाँ पर भी यदि गोत्र को 'गार्ग्य' होने का हेतु मान लिया जाय तो पूर्ववत् "इत्थम्भूतलक्षणे" (२-३-२१) से तृतीया विभक्ति सिद्ध हो सकती है। (४) **समेन** एति (= सीधा चलता है)। (५) **विषमेण** एति (= टेढ़ा चलता है)। 'सम' और 'विषम' शब्दों में तृतीया। यदि यहाँ पर 'सम' और 'विषम' पदों को करणवाची 'मार्ग' का विशेषण मान लिया जाय तो करणार्थ में तृतीया-विभक्ति सिद्ध हो सकेगी। (६) **द्विद्रोणेन** धान्यं क्रीणाति (= दो द्रोण तोल के भाव से धान्य मोल लेता है)। सम्बन्धार्थ में तृतीया शब्द। यदि 'द्विद्रोण' को 'तादर्थ्य' में प्रयुक्त मानकर 'दो द्रोण के सुवर्ण के मूल्य से' यह अर्थ माना जाय तो 'करण' में भी तृतीया हो सकती है। (७) **सुखेन दुःखेन** वा याति (सुखपूर्वक अथवा दुःख-पूर्वक जाता है)। क्रियाविशेषण होने के कारण प्राप्त 'द्वितीया' विभक्ति को बाध कर तृतीया विभक्ति हुई। 'इत्यादि' कथन से 'नाम्ना सुतीक्ष्णः' आदि प्रयोगों की सिद्धि भी इसी प्रकार जानी जाय।

(५६२) पद—दिवः, कर्म, च। **अनुवृत्ति**—साधकतमम्, कारके। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—√दिव् धातु के साधकतम कारक की 'कर्म' संज्ञा और 'करण' संज्ञा होती है। जैसे—अक्षैः अक्षान् वा दीव्यति।

विवरण—विशेष अवस्था में √दिव् धातु के साधकतम कारक की कर्मसंज्ञा की जारही है। साथ

---

१. "कर्तृकरणयोस्तृतीयेत्येव सिद्धम्। इह तावत् प्रकृत्याऽभिरूपः प्रकृत्या दर्शनीय इति प्रकृतिकृतं तस्याभिरूप्यम्"। महाभाष्यम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चात्करणसञ्ज्ञम्। अक्षैरक्षान्वा दीव्यति। (५६३) **अपवर्गे तृतीया २। ३। ६॥** अपवर्गः फलप्राप्तिः, तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया स्यात्। अह्ना क्रोशेन वा अनुवाकोऽधीतः। अपवर्गे किम्? मासमधीतो नायातः। (५६४) **सहयुक्तेऽप्रधाने २। ३। १९॥** सहार्थेन युक्तेऽप्रधाने तृतीया स्यात्। पुत्रेण सहागतः पिता।

---

(५६३) अपवर्गे तृतीया। **अपवर्गः** समाप्तिः, 'कमापवर्गलौकिका अग्नयः' इत्यादौ दर्शनात्। इह तु फलप्राप्तिर्विवक्षिता, फलप्राप्तिपर्यन्तत्वात् प्रायेण क्रियायाः। तदाह—अपवर्गः फलप्राप्तिरिति। कालाध्वनोरिति। अनेन 'कालाध्वनोः' इति द्वितीयाया अयमपवाद इति सूचितम्। अह्नेति। अह्नि क्रोशे वा निरन्तरम् अनुवाकोऽध्ययनेन गृहीत इत्यर्थः। नायात इति। न गृहीत इत्यर्थः।

(५६४) सहयुक्ते। 'पृथग्विनानानाभिः' इतिवत् सहेनेत्येव सिद्धे युक्तग्रहणं सहार्थकशब्दानां साकमित्यादीनामपि ग्रहणार्थमित्याह—सहार्थेनेति। पुत्रेणेति। पितुरत्रागमनक्रियासम्बन्धः शाब्दः। पुत्रस्य तु तत्साहित्यगम्य आर्थिक इति तस्याप्राधान्यम्। यद्यप्यागमनक्रियाकर्तृत्वादेव पुत्रात् तृतीया सिद्धा, तथापि पुत्रेण सह स्थूल इत्याद्येवास्य

में स्वभावतः करणसंज्ञा भी होगी। सूत्रस्थ 'च' पद से करणसंज्ञा का समावेश होता है[1]। अतः "√दिव् धातु के साधकतम कारक की कर्म और करण दोनों संज्ञायें होती हैं"। पूर्व सूत्र से करण संज्ञा ही प्राप्त थी, यहाँ कर्म का भी विधान किया गया है। इसके फलस्वरूप द्वितीया और तृतीया दोनों विभक्तियाँ होंगी। **उदाहरण**—(क) **अक्षान्** दीव्यति (= पासों से खेलता है)—कर्म में द्वितीया। (ख) **अक्षैः** दीव्यति—करण में तृतीया।

(५६३) **पद**—अपवर्गे, तृतीया। **अनुवृत्ति**—कालाध्वनोः अत्यन्तसंयोगे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अपवर्ग का अर्थ है फलप्राप्ति। उसे बताने के लिये काल और मार्गवाचक शब्दों के अत्यन्त संयोग में तृतीया विभक्ति होती है। जैसे—अह्ना क्रोशेन वा अनुवाकः अधीतः। 'अपवर्ग' का क्या प्रयोजन है? मासम् अधीतः न आयातः।

विवरण—सूत्रार्थ उपपन्न होने के लिये पूर्व सूत्र से "कालध्वनोरत्यन्तसंयोगे" (२-३-५) की अनुवृत्ति अपेक्षित है। पूर्व सूत्र से द्वितीया विभक्ति प्राप्त थी। यहाँ पर 'अपवर्ग' (अर्थात् क्रिया की समाप्ति होने पर फल की प्राप्ति) अर्थ में काल और मार्गवाची शब्दों से अत्यन्त संयोग (लगातार अर्थ) गम्यमान होने पर तृतीया विभक्ति होती है। (क) कालवाची का **उदाहरण**—**अह्ना** अनुवाकः अधीतः (= एक दिन में अनुवाक पढ़ लिया)। इसका तात्पर्य यह है कि अनुवाक पढ़ने के साथ वह याद भी हो गया। याद हो जाने से फलप्राप्ति हो गई, अतः तृतीया विभक्ति—'अह्ना'। (ख) मार्गवाचक का **उदाहरण**—**क्रोशेन** अनुवाकः अधीतः (= एक कोसभर में अनुवाक पढ़ लिया)। यहाँ भी 'याद होना' फलप्राप्ति है, अतः तृतीया विभक्ति हुई।

प्रत्युदाहरण—'अपवर्ग' (कार्यसिद्धि) के न होने पर पूर्वसूत्र से ('कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' २-३-५) द्वितीया-विभक्ति होगी—'**मासम्** अधीतो न आयातः' (= एक महीने भर पढ़ा, किन्तु समझ में नहीं आया)।

विशेष—अनुवाक—अष्टकादि वेद में कुछ मन्त्रों के समूह का नाम है।

(५६४) **पद**—सहयुक्ते, अप्रधाने। **अनुवृत्ति**—तृतीया। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'सहार्थक' शब्दों के योग में अप्रधान में तृतीया विभक्ति होती है। जैसे—पुत्रेण सह आगतः पिता। इसी प्रकार साकं, सार्धं तथा समं के योग में भी (अप्रधान में तृतीया होती है)।

---

१. अत्र चकारबलेन संज्ञाद्वयसमावेशः। तेनात्र पर्यायेण तृतीया-द्वितीये। तथा च दिवः साधकतमस्य शक्तिद्वययोगो बोध्यते। एकैव शक्तिः संज्ञाद्वयोपयोगिनीति तु चिन्त्यम्। कर्मादिपदानां कर्मत्वादितत्तच्छक्तिरूपेण बोधकतया तयोर्बोधस्यैवौचित्यादिति मञ्जूषायां विस्तरः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं साकंसार्धंसमंयोगेऽपि। विनापि तद्योगं तृतीया, 'वृद्धो यूना' (सू ९३१) इत्यादि-निर्देशात्। (५६५) येनाङ्गविकारः २। ३। २०॥ येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततः तृतीया स्यात्। अक्ष्णा काणः। अक्षिसम्बन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः।

मुख्योदाहरणम् इति भाष्ये स्पष्टम्। अर्थग्रहणस्य प्रयोजनमाह—एवं साकमिति। ननु 'पुत्रेणागतः पिता' इत्यत्र सहादिशब्दाभावात् कथं तृतीयेत्यत आह—विनापीति। 'वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेत्'इति सूत्रे सहादिशब्दाभावेऽपि तदर्थावगमेऽपि तृतीयानिर्देशदर्शनादित्यर्थः।

(५६५) येनाङ्गविकारः। अङ्गान्यस्य सन्तीत्यङ्गं शरीरम्। अर्श आद्यच्। तस्य विकार इति विग्रहः। येनेत्यनेन प्रकृत्यर्थभूतमङ्गं परामृश्यते। न ह्यविकृतेन अङ्गेन अङ्गिनो विकारः सम्भवति। तदाह—येनाङ्गेनेत्यादिना। अक्ष्णा काण इति। काणशब्दः काणत्ववति वर्तते। सम्बन्धस्तृतीयार्थः। स च काणत्वेऽन्वेति। तदाह—अक्षिसम्बन्धीति। सम्बन्धश्च विकारप्रयुक्तत्वरूपः। अक्षिविकारप्रयुक्तकाणत्ववानिति यावत्। यद्यपि एकमक्षि विकलं काणमित्युच्यते, तथाऽप्यवयवधर्मस्य शरीरे तदवच्छिन्नात्मनि व्यवहारो निरूढः। द्वौ विप्राविवित्वत् अक्ष्णेति पदस्य प्रयोगः सामर्थ्यः।

इनका योग न होने पर भी तृतीया विभक्ति होती है। इस विषय में पाणिनि द्वारा प्रयुक्त "वृद्धो यूना०" इत्यादि उदाहरण प्रमाण है।

विवरण—प्रकरणवश "कर्तृकरणयोस्तृतीया" (२-३-१८) सूत्र से 'तृतीया' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "सह के समानार्थक शब्दों के योग में अप्रधान में तृतीया विभक्ति होती है"। **उदाहरण—पुत्रेण** सह पिता आगतः। यहाँ पर 'पिता' प्रधान है, क्योंकि मुख्य रूप से आने की क्रिया में वही समर्थ है। पुत्र केवल उसके साथ आया है। अतः पुत्र 'अप्रधान' है। इस कारण 'पुत्रेण' में तृतीया विभक्ति हुई।

विशेष—१-इसी प्रकार 'सह' के समानार्थक साकं, सार्धं, समम् आदि के योग में भी तृतीया विभक्ति होती है।

२—पाणिनि ने "वृद्धो **यूना** तल्लक्षणश्चेदविशेषः" (१-३-६५) सूत्र में 'सह' शब्द का प्रयोग किए बिना 'यूना'—'तृतीया' विभक्ति—का प्रयोग किया है। इससे ज्ञात होता है कि 'सह' आदि शब्दों का प्रयोग न करने पर भी सहार्थ की प्रतीति होने में तृतीया विभक्ति होती है। ऐसे स्थलों पर 'सह' का अध्याहार किया जाता है।

(५६५) पद—येन, अङ्गविकारः। **अनुवृत्ति**—तृतीया। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—जिस अङ्ग के विकार से व्यक्ति (अङ्गी) विकृत दिखाई पड़ता है, उस 'अङ्ग' में तृतीया होती है। जैसे अक्ष्णा काणः। अर्थात् आँख सम्बन्धी विकार से युक्त है। 'अङ्ग-विकार' का क्या प्रयोजन है? अक्षि काणमस्य।

विवरण—प्रकरणवश "कर्तृकरणयोस्तृतीया" (२-३-१८) से तृतीया की अनुवृत्ति की जाती है। तदनुसार "जिस अङ्ग (शरीरावयव) के द्वारा 'अङ्गी' अर्थात् शरीर का विकार (अङ्ग-विकारः) अभिलक्षित हो, उसमें (अङ्गवाचक शब्द में) तृतीया विभक्ति होती है"। सूत्रस्थ 'अङ्ग' पद से यहाँ 'अङ्गी का समुदाय' (शरीर) अभिलक्षित है। इस अर्थ की अभिव्यक्ति में 'मतुप्'-प्रत्यय के अर्थ में 'अच्' प्रत्यय कर 'अङ्ग' शब्द निष्पन्न हुआ है—'अङ्गम्' अस्य अस्ति इति ("अर्शआदिभ्योऽच्" ५-२-१२७)। **उदाहरण—अक्ष्णा** काणः (= आँख से काना)। यहाँ 'अक्षि' शब्द से तृतीया हुई, क्योंकि 'अक्षि' (अङ्ग) विकृत है। उसके कारण व्यक्ति-विशेष को काना कहा जाता है। वस्तुतः काणत्व धर्म आँख का है, व्यक्ति का नहीं। तथापि उस विकार के कारण पूरे शरीर का कानापन परिलक्षित हो रहा है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अङ्गविकारः' किम् ? अक्षि काणमस्य। (५६६) इत्थंभूतलक्षणे २। ३। २१॥ कञ्चित्प्रकारं प्राप्तस्य लक्षणे तृतीया स्यात्। जटाभिस्तापसः। जटाज्ञाप्यतापसत्वविशिष्ट इत्यर्थः। (५६७) सञ्ज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि २। ३। २२॥ सम्पूर्वस्य जानातेः कर्मणि तृतीया वा स्यात्। पित्रा पितरं वा सञ्जानीते। (५६८) हेतौ २। ३। २३॥

---

(५६६) इत्थम्भूतलक्षणे। अयं प्रकारः इत्थं, तं भूतः प्राप्तः इत्थंभूतः। 'भू प्राप्तौ' इति चौरादिकात् 'आधृषाद्वा' इति णिजभावे 'गत्यर्थाकर्मक' इत्यादिना कर्तरि क्तः। लक्षणं ज्ञापकम्। प्रकारविशेषं प्राप्तस्य ज्ञापकं (सम्बन्धे द्योत्ये) इत्यर्थः। तदाह—कञ्चित्प्रकारमिति। जटाभिस्तापस इति। तपः अस्यास्तीति तापसः। 'तपस्सहस्राभ्यां विनीनी' 'अण्च' इति मत्वर्थीयः अण्प्रत्ययः तापसत्ववति वर्तते। लक्ष्यलक्षणभावस्तृतीयार्थः। तदाह—जटाज्ञाप्येति। न च ज्ञाने करणत्वादेव तृतीया सिद्धेति वाच्यम्, करणत्वाविवक्षायां लक्ष्यलक्षणभावमात्रविवक्षायां तृतीयार्थत्वात्।

(५६७) संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि। सम्पूर्वस्य ज्ञाधातोरनुकरणात् षष्ठ्येकवचनं 'संज्ञ' इति। तदाह—सम्पूर्वस्य जानातेरिति। द्वितीयापवादोऽयं तृतीयाविकल्पः। सञ्जानीते इति। सम्यक् जानीते इत्यर्थः। 'सम्प्रतिभ्यामनाध्याने' इत्यात्मनेपदम्।

(५६८) हेतौ। हेत्वर्थे इति। हेतुरिह कारणपर्यायो लौकिक एव विवक्षितः, न तु 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' इति कृत्रिमः, तस्य चकारेण कर्तृसंज्ञाया अपि सत्त्वेन कर्तृतृतीययैव सिद्धेः। ननु हेतोरपि करणत्वादेव तृतीया सिद्धेत्याशङ्क्य हेतुत्वकरणत्वयोर्भेदमाह—

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'अङ्ग' शब्द से 'अङ्गी' (व्यक्ति) का ग्रहण होता है। अतः 'अक्षि काणम् अस्य' (= इसकी एक आँख कानी है) में तृतीया विभक्ति नहीं हुई, क्योंकि यहाँ केवल अङ्ग का विकार परिलक्षित होता है।

(५६६) पद—इत्थम्भूतलक्षणे। अनुवृत्ति—तृतीया। विधिसूत्र।

मूलार्थ—किसी विशेष विधा को प्राप्त किये हुए लक्षण (ज्ञापक) से तृतीया विभक्ति होती है। जैसे—जटाभिः तापसः। यहाँ जटाओं से तपस्विता का बोध होता है।

विवरण—"कर्तृकरणयोस्तृतीया" (२-३-१८) से पूर्ववत् 'तृतीया' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। अतः "प्रकार-विशेष (इत्थम्भूत) का जो लक्षण (ज्ञापक), उसमें तृतीया विभक्ति होती है"। 'इस प्रकार को जो प्राप्त हुआ'—यह इत्थम्भूत शब्द का अभीष्ट अर्थ है। **उदाहरण**—जटाभिः तापसः (= जटाओं से तपस्वी है)। यहाँ जटाओं से 'तपस्वी' होना सूचित होता है। अतः 'तपस्विता' यहाँ इत्थम्भूत है और उसका लक्षण (चिह्न) जटायें हैं। अर्थात् जटाओं से तपस्वी लक्षित किया जारहा है। अतः चिह्नवाची 'जटा' से तृतीया—'जटाभिः'।

(५६७) पद—संज्ञः, अन्यतरस्यां, कर्मणि। अनुवृत्ति—तृतीया, अनभिहिते। विधिसूत्र (विकल्प)।

मूलार्थ—'सम्' उपसर्गपूर्वक √ज्ञा धातु के कर्म में विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है। जैसे—पित्रा पितरं वा संजानीते।

विवरण—विशेष अवस्था में 'तृतीया' विभक्ति की समीचीनता प्रमाणित की जारही है। तदनुसार "'सम्' उपसर्गपूर्वक √ज्ञा धातु के अनभिहित कर्म कारक में विकल्प से (अन्यतरस्यां) तृतीया विभक्ति होती है"। पक्ष में यथाप्राप्त द्वितीया होगी। **उदाहरण**—पित्रा पितरं वा संजानीते (= पिता को अच्छी तरह पहचानता है)। √सं+ज्ञा (संजानीते) का कर्म पिता है, अतः पक्ष में तृतीया-विभक्ति हुई—'पित्रा'। तृतीया न होने पर द्वितीया—'पितरम्'। "संप्रतिभ्यामनाध्याने" (२-३-४६) सूत्र से 'संजानीते' में आत्मनेपद हुआ है।

(५६८) पद—हेतौ। अनुवृत्ति—तृतीया। विधिसूत्र।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हेत्वर्थे तृतीया स्यात्। द्रव्यादिसाधारणं निर्व्यापारसाधारणं च हेतुत्वम्। करणत्वं तु क्रियामात्रविषयं व्यापारनियतं च। दण्डेन घटः। पुण्येन दृष्टो हरिः। फलमपीह हेतुः। अध्ययनेन वसति। 'गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका'। अलं श्रमेण। श्रमेण

द्रव्यादिसाधारणमिति। आदिना गुणक्रियासङ्ग्रहः। द्रव्यं गुणं क्रियां च प्रति यज्जनकं तत्र सर्वत्र विद्यमानमित्यर्थः। निर्व्यापारसाधारणं चेति। द्वारीभूतव्यापारवति तद्रहिते च विद्यमानं चेत्यर्थः। एवं च द्रव्यगुणक्रियात्मककार्यत्रयनिरूपितं निर्व्यापारसव्यापारवृत्ति च यत् तद्धेतुत्वमिति फलति। करणत्वं त्विति। क्रियाजनकमात्रवृत्ति व्यापारवद्वृत्ति च यत् तदेव करणत्वमित्यर्थः। एवं च हेतुत्वकरणत्वयोः भेदादन्यतरेण अन्यतरस्य नान्यथासिद्धिरिति भावः। तत्र द्रव्यं प्रति हेतुमुदाहरति—दण्डेन घट इति। दण्डहेतुको घट इत्यर्थः। दण्डे व्यापारसत्त्वेऽपि क्रियाजनकत्वाभावान्न करणत्वमिति भावः। क्रियां प्रति हेतुमुदाहरति—पुण्येन दृष्टो हरिरिति। यागादिना स्वर्गादिफले जननीये यदवान्तरव्यापारभूतमपूर्वं तत् पुण्यमित्युच्यते। तस्य हरिदर्शनजनकत्वेऽपि निर्व्यापारत्वान्न करणत्वमिति भावः। गुणं प्रति हेतुत्वे तु पुण्येन ब्रह्मवर्चसमित्याद्युदाहार्यम्। ननु अध्ययनेन वसतीत्यत्र कथं तृतीया? अध्ययनस्य गुरुकुलवासं प्रति हेतुत्वाभावात् प्रत्युत अध्ययनस्य वाससाध्यत्वादित्यत आह—फलमपीह हेतुरिति। अध्ययनं यद्यपि वासफलं तथापि वासं प्रति हेतुरपि भवति। इष्टसाधनताज्ञानस्य प्रवृत्तिहेतुतया अध्ययनस्य फलस्य स्वज्ञानद्वारा वासजनकत्वात्। यदा त्वध्ययने फले एतादृशं हेतुत्वमविवक्षित्वा अध्ययनार्थमेव वासो विवक्ष्यते, तदा चतुर्थ्येव भवति—अध्ययनाय वसतीति। एतच्च प्रकृतसूत्रे कैयटे स्पष्टम्। ननु अलं श्रमेण इत्यत्र कार्यस्य कस्यचिदप्यश्रवणात् करणत्वहेतुत्वयोरसम्भवात् कथं तृतीयेत्यत आह—गम्यमानाऽपीति। न केवलं श्रूयमाणैव क्रिया विभक्तौ प्रयोजिका, किं तु गम्यमानाऽपीत्यर्थः। करणतृतीयैवेयमित्यभिप्रेत्याह—अलं श्रमेणेति। ऊषरक्षेत्रं परिष्कुर्वाणं प्रति इदं वाक्यं प्रवृत्तम्। अत्र अलमिति नञर्थे निषेधे वर्तते। 'अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इत्यमरः। साध्यमित्यध्याहारलभ्यम्। तदाह—श्रमेण साध्यं

मूलार्थ—कारण (हेतु) अर्थ में तृतीया होती है। हेतु द्रव्यादि का साधक होता है तथा सव्यापार (क्रियायुक्त) और निर्व्यापार (क्रियारहित) दोनों प्रकार का होता है। करणत्व केवल क्रिया का जनक होता है एवं सदा व्यापारयुक्त में ही रहता है। जैसे—(क) दण्डेन घटः। (ख) पुण्येन दृष्टः हरिः। (इसके अतिरिक्त) यहाँ फल भी हेतु माना गया है। जैसे—अध्ययनेन वसति। अर्थ द्वारा प्रतीत होने वाली क्रिया (गम्यमाना) भी कारक-विभक्ति का हेतु होती है। जैसे—अलं श्रमेण। अर्थात्—परिश्रम से साध्य नहीं है। यहाँ साधन-क्रिया के प्रति श्रम करण है, अतः उससे तृतीया हुई। 'शतेन शतेन वत्सान् पाययति' का अर्थ—'सौ सौ में बाँटकर जल पिलाता है'। यहाँ 'बाँटकर' क्रिया का 'शत' करण है, अतः उससे तृतीया हुई है। वा० अशिष्ट व्यवहार में √दाण् धातु के प्रयोग में चतुर्थी के अर्थ में तृतीया होती है। जैसे—दास्या संयच्छते कामुकः। धर्मानुकूल व्यवहार में—भार्यायै संयच्छति।

विवरण—'करण' अर्थ के अतिरिक्त 'हेतु' अर्थ में तृतीया का विधान किया जारहा है। इस विधान से यह सूचित होता है कि 'करण' और 'हेतु' में अन्तर है। 'हेतु' का अर्थ है कारण। अतः 'हेतुवाची' शब्द से तृतीया विभक्ति होगी। 'हेतु' और 'करण' के अन्तर को स्पष्ट किया जारहा है। (१) **हेतु**—द्रव्य, गुण तथा कर्म—इन तीनों का साधक होता है। इसके साथ ही हेतु क्रियाहीन एवं क्रियायुक्त दोनों प्रकार का होता है। (२) **करण**—कारक है। अतः वह केवल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साध्यं नास्तीत्यर्थः। इह साधनक्रियां प्रति श्रमः करणम्। शतेन शतेन वत्सान् पाययति पयः। शतेन परिच्छिद्येत्यर्थः। 'अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया' (वा०

नास्तीत्यर्थ इति। सद्यः खेदाधायकत्वात् साधने व्यापृतिरेव श्रम इत्युपचर्यते। नन्वेवमपि साधनीयस्य व्रीह्यादिफलस्य क्रियारूपत्वाभावात् कथं श्रमस्य तत्र करणत्वमित्यत आह—इहेति। साध्यमित्यत्र प्रकृतिभूतो यो धातुस्तदर्थः साधनक्रिया उत्पत्त्यात्मिका तां प्रतीत्यर्थः। एतेन श्रमस्य साधनक्रियायाश्चाभेद इति निरस्तम्, श्रमशब्देन व्रीह्याद्युत्पत्त्यनुकूलकर्षणादिव्यापारस्य साधनक्रियां प्रतीत्यनेन व्रीह्याद्युत्पत्तेश्च विवक्षितत्वात्। 'गम्यमानाऽपि क्रिया विभक्तौ प्रयोजिका' इत्यत्र उदाहरणान्तरमाह—शतेनेति। वीप्सायां द्विर्वचनम्। एकैकेन शतेन सङ्ख्यया वत्सान् पाययतीति प्रतीयमानार्थः। तत्र वत्सनिष्ठशतसङ्ख्यायाः पायने करणत्वाभावात् परिच्छिद्येति गम्यते। एकैकशतसङ्ख्यया वत्सान् परिच्छिद्य तदधिकवत्सेभ्यो व्यावर्त्य पाययतीत्यर्थः। तथा च शतसङ्ख्यायाः परिच्छेदं प्रति करणत्वमिति भावः। अशिष्टेति। इदञ्च 'दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे' इत्यनेन ज्ञाप्यत इति पदव्यवस्थायां वक्ष्यते। वैदिकमार्गानुयायिनः शिष्टाः, वेदमार्गादपेताः अशिष्टाः, तेषां व्यवहारः आचारः तस्मिन् विषये दाण्धातोः प्रयोगे सति चतुर्थ्यर्थे सम्प्रदाने तृतीया वाच्येत्यर्थः। दास्या संयच्छते कामुक इति। दास्यै कामुकः प्रयच्छतीत्यर्थः।

क्रिया का साधक होता है—अर्थात् वह केवल क्रियायुक्त (सव्यापार) होता है। (क) द्रव्य के प्रति हेतु का उदाहरण—दण्डेन घटः (=डंडे से घड़ा)। यहाँ घट बनने में 'दण्ड' हेतु है। दण्ड द्रव्य है और वह क्रियाशील है, क्योंकि उससे चाक घुमाया जाता है। अतः तृतीया विभक्ति हुई है। (ख) क्रिया के प्रति हेतु का उदाहरण—पुण्येन हरिः दृष्टः (= पुण्य से हरि को देखा)। यहाँ पर 'देखना' क्रिया का हेतु 'पुण्य' है। पुण्य क्रिया-हीन (निर्व्यापार) है, क्योंकि वह अमूर्त है। 'हेतुबोधक' शब्द 'पुण्य' में तृतीया हुई। निर्व्यापार (क्रिया-हीन) होने से यह करण नहीं हो सकता।

विशेष—(१) इस सूत्र के अनुसार फल का अन्तर्भाव भी हेतु में होता है। यद्यपि फल क्रिया के बाद होता है एवं हेतु क्रिया से पहले रहता है; तथापि सूत्र के अनुसार हेतु से 'फल' अर्थ भी ग्रहण किये जाने से **'अध्ययनेन वसति'** (= अध्ययन के लिये रहता है) में 'अध्ययन' शब्द से तृतीया हुई है। उसका कारण यह है कि गुरुकुल में रहने (वसति) का फल (ध्येय) अध्ययन है। यदि 'फल' को हेतु नहीं मानते तो 'अध्ययनेन' में तृतीया सम्भव नहीं थी, क्योंकि 'वास' क्रिया से साध्य होने के कारण 'अध्ययन' को 'हेतु' नहीं कहा जा सकता। किन्तु वास-क्रिया (रहना) के द्वारा 'साध्य' होने से अध्ययन भी 'फल' है। हेतु की विवक्षा न करने पर चतुर्थी ही होगी—'अध्ययनाय वसति'।

(२) कारक-विभक्तियों के सम्बन्ध में एक विशेष व्यवस्था और की जा रही है। यदि क्रिया का शाब्दिक प्रयोग न किया गया हो किन्तु वाक्यार्थ में उसकी प्रतीति होती हो तो वह (गम्यमान) क्रिया भी कारक-विभक्तियों का निमित्त बन जाती है। उस क्रिया को निमित्त मानकर 'कारक' की सिद्धि की जाती है। इसके फलस्वरूप **'अलं श्रमेण'** (श्रम व्यर्थ है, यह कार्य परिश्रम से साध्य नहीं) में तृतीया विभक्ति हो गई। यहाँ गम्यमान (प्रतीयमान) 'साधन' क्रिया के प्रति 'श्रम' प्रकृष्ट उपकारक है। अतः वह 'करण' हो जाता है। फलतः करण में तृतीया विभक्ति सिद्ध हो जाती है। दूसरा **उदाहरण—'शतेन शतेन वत्सान् पाययति पयः'** (=सौ सौ बछड़ों को अलग कर पानी पिलाता है)। इसका प्रतीयमान अर्थ है—'बछड़ों को सौ-सौ की संख्या में विभक्त कर'। अतः विभाजन क्रिया के करण 'शत' शब्द से तृतीया उपपन्न हो जाती है—'शतेन'।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५०४०)। दास्या संयच्छते कामुकः। धर्म्ये तु भार्यायै संयच्छति। (५६९) **कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् १। ४। ३२॥** दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदान-सञ्ज्ञः स्यात्। (५७०) **चतुर्थी सम्प्रदाने २। ३। १३॥** विप्राय गां ददाति। अनभिहित इत्येव। दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः। 'क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्'

कामुकः इत्यनेन रत्यर्थमिति गम्यते। दास्यां रतिः धर्मशास्त्रनिषिद्धत्वादशिष्टव्यवहार इति भावः। अशिष्टपदप्रयोजनमाह—धर्म्ये त्विति। धर्मादनपेत इत्यर्थः। न तृतीयेति शेषः। 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यदिति रत्नाकरः। धर्मे त्विति पाठस्तु सुगम एव। इति तृतीया विभक्तिः।

(५६९) अथ चतुर्थी विभक्तिः। कर्मणा यमभिप्रैति। कर्मसंज्ञकेन गवादिद्रव्येण यमभिप्रैति शेषित्वेनाध्यवस्यति स सम्प्रदानमित्यर्थः। शेषित्वं भोक्तृत्वम्। सम्प्रदीयते यस्मै तत् सम्प्रदानमित्यन्वर्थसंज्ञा। ततश्च कस्याः क्रियायाः कर्मणेत्याकाङ्क्षायां दान-स्येति गम्यते। तदाह—दानस्येत्यादिना। देयद्रव्योद्देश्यं सम्प्रदानमिति फलितम्। दान-स्येति किम्? पयो नयति देवदत्तस्य। अत्र देवदत्तस्य पयोनयनोद्देश्यत्वेऽपि न सम्प्रदा-नत्वम्, पयसो दानकर्मत्वाभावात्।

(५७०) चतुर्थी सम्प्रदाने। विप्रायेति। विप्रमुद्दिश्य गां ददातीत्यर्थः। अनभिहित

वा० अर्थ—अनैतिक आचरण सूचित करने के लिये 'दा' धातु का प्रयोग करने पर चतुर्थी के स्थान में तृतीया होती है। **उदाहरण—दास्या** संयच्छते कामुकः (= कामुक पुरुष दासी के निमित्त धन देता है)। प्रकृत वाक्य में 'दा' (= यच्छ्) धातु का प्रयोग किया गया है तथा दासी को लुब्ध करने के लिये 'धन दिया जाना' अशिष्ट व्यवहार का सूचक है। अतः चतुर्थी के अर्थ में तृतीया का प्रयोग हुआ—'दास्या'। इसके विपरीत शिष्ट व्यवहार में 'दान' अर्थ सूचित करने के लिए 'चतुर्थी' विभक्ति का प्रयोग होगा और क्रिया 'परस्मैपद' होगी—'**भार्यायै** संयच्छति' (= पत्नी को देता है)। अशिष्ट व्यवहार में √ 'दाण्' धातु आत्मनेपदी होता है।

(५६९) **पद**—कर्मणा, यम्, अभिप्रैति, सः, सम्प्रदानम्। **अनुवृत्ति**—कारके। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—दान के कर्म से जिसका अभिप्राय सिद्ध किया जाय वह सम्प्रदान कारक होता है।

विवरण—क्रमप्राप्त 'सम्प्रदान' कारक का निर्वचन किया जारहा है। सूत्रस्थ 'कर्मणा' पद करण-वाची है। 'अभिप्रैति' में 'अभि' उपसर्ग अभिमुख-वाची है तथा 'प्र' उपसर्ग प्रकर्षवाचक है। तदनुसार 'अभिप्रैति' पद का अर्थ होता है—'प्रकर्षरूप से किसी के अभिमुख जाना'। 'देय वस्तु के द्वारा दानक्रिया की सिद्धि के लिये विशेष रूप से किसी के प्रति अभिमुख होने पर' ही यह सम्भव होगा। अतः मीमांसक[1] भी इसे 'अन्वर्थ' संज्ञा मानते हैं। उनके अनुसार 'सम्प्रदान' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'जिसके लिये दिया जाय' (सम्यक् प्रदीयते अस्मै तत् 'सम्प्रदानम्')। 'किस क्रिया के कर्म द्वारा' इस आकाङ्क्षा की पूर्ति 'दानक्रिया' की उपस्थिति से की जाती है। इसी को अभिलक्षित कर सूत्र की वृत्ति द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि 'दानक्रिया के कर्म द्वारा जिसका अभिप्राय सिद्ध किया जाय (जिसको लक्षित किया जाय) वह कारक सम्प्रदान-संज्ञक होता है'। 'संप्रदान' में चतुर्थी विभक्ति होती है। सूत्र आगे बताया जारहा है।

(५७०) **पद**—चतुर्थी, सम्प्रदाने। **अनुवृत्ति**—अनभिहिते। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'सम्प्रदान' में चतुर्थी होती है। जैसे—विप्राय गां ददाति। अनुक्त होने पर ही (चतुर्थी होती है)। (अतः यहाँ नहीं हुई) दीयते अस्मै दानीयः विप्रः। वा० क्रिया के द्वारा

---

१. मीमांसकास्तु 'अन्वर्थसंज्ञाविज्ञानात् त्यज्यमानद्रव्योद्देश्यत्वे सति स्वीकारवत्वं 'सम्प्रदान-त्वम्' इति स्वीकुर्वन्ति। 'स्वीकारश्च यथेष्टविनियोगयोग्यतोपधायकः प्रतिग्रहः' इति मन्यन्ते।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वा १०८५)। पत्ये शेते। 'यजेः कर्मणः करणसञ्ज्ञा सम्प्रदानस्य च कर्मसञ्ज्ञा'

इत्येवेति। अनुवर्तत एवेत्यर्थः। दानीयो विप्र इति। दानोद्देश्य इत्यर्थः। 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति बहुलग्रहणात् सम्प्रदाने अनीयर्। तेन कृता सम्प्रदानस्य विप्रस्याभिहितत्वान्न चतुर्थीति भावः। ननु दानक्रियाकर्मोद्देश्यस्यैव सम्प्रदानत्वे पत्ये शेते इत्यत्र अकर्मकशयनक्रियोद्देश्यस्य पत्युः कथं सम्प्रदानत्वमित्याशङ्क्यां 'क्रियाग्रहणमपि कर्त्तव्यम्' इति वार्तिकं प्रवृत्तम्। तदेतदर्थतः सङ्गृह्णाति—क्रियया यमिति। क्रियोद्देश्यमपि सम्प्रदानमिति यावत्। पत्ये शेते इति। पतिमुद्दिश्य शेते इत्यर्थः। नन्वेवमपि ओदनं पचतीत्यादावपि सम्प्रदानत्वप्रसङ्गः। न च कर्मसंज्ञाविधिवैयर्थ्यं शङ्क्यम्, अत एव तत्र कर्मत्वसम्प्रदानत्वयोर्विकल्पोपपत्तेरिति चेत्? न, पत्ये शेते इत्यकर्मकस्थले सावकाशायाः सम्प्रदानसंज्ञायाः सकर्मकस्थले कर्मसंज्ञया बाधात्। तथा च अकर्मकक्रियोद्देश्यमपि सम्प्रदानमिति फलतीति भावः। कर्मणः करणसंज्ञा सम्प्रदानस्य च कर्मसंज्ञेति। वार्तिकमिदम्। एकस्मिन् वाक्ये कर्मणः सम्प्रदानस्य च समवाये सतीति शेषः। यजधातुविषयमेवेदमित्यभिप्रेत्योदाहरति—पशुना रुद्रं यजति इति। अत्र यजधातुर्दानार्थक इत्यभिप्रेत्याह—पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थ इति। इदं वार्तिकं छान्दसमेवेति कैयटः।

जिसकी ओर अभिमुख हुआ जाय, वह भी 'सम्प्रदान' कारक होता है। जैसे—पत्ये शेते। वा० √यज् धातु के कर्म की 'करण' संज्ञा तथा सम्प्रदान को 'कर्म' संज्ञा होती है। जैसे—पशुना रुद्रं यजते। अर्थ—रुद्र के लिये पशु देता है।

विवरण—'अनभिहिते' अधिकार के फलस्वरूप 'सम्प्रदान के उक्त न होने पर चतुर्थी विभक्ति होती है'। **उदाहरण**—उपाध्यायाय गां ददाति (=यजमान उपाध्याय को गाय देता है)। प्रकृत वाक्य में 'गाम्'—यह 'देना' क्रिया का कर्म है। 'गाय' के साथ उपाध्याय का स्वत्व स्थापित करने पर 'सम्प्रदान' संज्ञा सिद्ध होती है। यहाँ पर 'ददाति' क्रिया का निष्पादक (निर्वर्तक) उपाध्याय है। दान-क्रिया तब तक सिद्ध नहीं हो सकती जब तक गाय की रस्सी पकड़कर उपाध्याय के हाथ में नहीं दे दी जाती। 'सम्प्रदान' संज्ञा होने से 'चतुर्थी' विभक्ति हुई। 'अनभिहिते' अधिकार के फलस्वरूप 'दानीयः' (विप्रः) में 'चतुर्थी' विभक्ति नहीं होती। कारण यह है कि 'दानीय' शब्द में √दा धातु से सम्प्रदान में 'अनीयर्' प्रत्यय ('दीयते अस्मै'—"कृत्यल्युटो बहुलम्"—३-३-११३) हुआ है। अतः 'कृत्' प्रत्यय से सम्प्रदान उक्त होने के कारण 'प्रातिपदिकार्थ' मात्र में प्रथमा हुई।

विशेष—महाभाष्यकार ने 'सम्प्रदान' संज्ञा को अन्वर्थक नहीं माना है। अतः उन्होंने 'दा' धातु के प्रयोग में स्वत्वनिवृत्ति न होने पर एवं 'दा' धातु का प्रयोग न करने पर भी क्रिया-मात्र के उद्देश्य की 'सम्प्रदान' संज्ञा मानी है। इसके अनुसार 'रजकाय वस्त्रं ददाति' (= धोबी को कपड़ा देता है) में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग समीचीन बताया है। इस प्रकार अर्थ स्वीकार करने से दान-क्रिया से भिन्न सभी क्रियाओं के सम्प्रदान सिद्ध हो जाते हैं। इस बात का प्रतिपादन करने के लिए ग्रन्थ में वार्तिक का उल्लेख किया गया है।

वा० १—**अर्थ**— क्रिया के द्वारा कर्ता जिससे अभिसम्बन्ध करना चाहता है वह भी 'सम्प्रदान' कारक होता है। अर्थात् किसी के लिये जब कोई विशेष कार्य किया जाय तो जिसके लिये वह कार्य अभीष्ट होगा उसमें चतुर्थी होगी। **उदाहरण**—पत्ये शेते (= पति के लिये सोती है)। यहाँ पर पति को अपने अनुकूल करने की क्रिया द्वारा 'कर्ता' का उद्देश्य 'पति' है। अतः उसकी 'सम्प्रदान' संज्ञा होने से चतुर्थी विभक्ति हुई।

२—**अर्थ**—यदि √यज् धातु के योग में एक वाक्य में 'कर्म' और 'सम्प्रदान' दोनों का प्रयोग हो तो 'कर्म' की 'करण' संज्ञा तथा सम्प्रदान की 'कर्म' संज्ञा हो जाती है। **उदाहरण**—पशुना रुद्रं यजते (= रुद्र के लिये पशु को देता है)। यहाँ 'कर्म' 'पशु' शब्द की 'करण' संज्ञा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वा १०८६)। पशुना रुद्रं यजते। पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः। (५७१) रुच्यर्थानां प्रीयमाणः १।४।३३॥ रुच्यर्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणोऽर्थः सम्प्रदानं स्यात्। हरये रोचते भक्तिः। अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः। हरिनिष्ठप्रतीतेर्भक्तिः कर्त्री। 'प्रीयमाणः' किम्? देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि। (५७२) श्लाघह्नुङ्स्थाशपां

(५७१) रुच्यर्थानाम्। रुच्यर्थानां धातूनामिति। 'रुच दीप्तावभिप्रीतौ च'। दीप्तिरिह न रुच्यर्थः प्रीयमाण इति विरोधात्। तथा च प्रीतिजनकार्थानामित्यर्थः। प्रीयमाण इति। समवायेन प्रीत्याश्रय इत्यर्थः। हरये रोचते भक्तिरिति। भक्तिः स्वविषयां प्रीतिं हरौ जनयतीत्यर्थः। भक्तिगतव्यापारप्रयोज्यप्रीत्याश्रयत्वाद्धरेः कर्मत्वं प्राप्तम्, तदपवादोऽयम्। नन्वेवं सति हरिर्भक्तिमभिलषतीत्यत्रापि भक्तेः प्रीतिविषयत्वात् सम्प्रदानत्वं स्यादित्यत आह—अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिरिति। समवायेन प्रीत्याश्रयापेक्षया यदन्यत तत्कर्तृकाभिलाषः रुचधात्वर्थः। प्रीत्याश्रयकर्तृकः किञ्चिद्विषयक इच्छाविशेषोऽभिलाषः। तथा च अभिलषतेः रुच्यर्थकत्वाभावान्न तद्योगे सम्प्रदानत्वम्। प्रकृते च प्रीत्याश्रयो हरिः, तदपेक्षया यत् अन्यत् भक्तिः, तत्कर्तृकैव प्रीतिरिति रुच्यर्थयोगः। नन्विह भक्तेः सम्प्रदानत्वं कुतो न स्यात्, विषयतासम्बन्धेन भक्तेरपि प्रीत्याश्रयत्वादित्यत आह—हरिनिष्ठप्रीतेर्भक्तिः कर्त्रीति। हरेरेव समवायसम्बन्धेन प्रीत्याश्रयतया प्रीयमाणत्वात् भक्तेः कर्त्र्या उक्तरीत्या प्रीयमाणत्वाभावाच्च न सम्प्रदानत्वमिति भावः। भक्तिर्हरिं प्रीणाति प्रीणयतीत्यादौ तु न भक्तेः सम्प्रदानत्वप्रसक्तिः, तिङा अभिहितत्वात् समवायेन प्रीत्याश्रयत्वाभावाच्च। नापि हरेः, प्रीयमाण इति कर्मणि शानच्प्रयोगबलेन प्रीधातुयोगे रुच्यर्थानामित्यस्याप्रसक्तेर्विज्ञानात् अन्यथा प्रीधातुकर्मणः सम्प्रदानत्वे कर्मणि शानचो दौर्लभ्यात्। मोदकः पथीति। अत्र पथः प्रीयमाणत्वाभावान्न सम्प्रदानत्वमिति भावः।

(५७२) श्लाघह्नुङ्। 'श्लाघृ कत्थने' 'ह्नुङ् अपनयने' 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' 'शप उपा-

(तृतीया विभक्ति) तथा 'सम्प्रदान' वाचक 'रुद्र' की 'कर्म'संज्ञा (द्वितीया) हुई। प्रकृत वार्तिक को कैयट ने वेदविषयक माना है।

(५७१) पद—रुच्यर्थानाम्, प्रीयमाणः। अनुवृत्ति—सम्प्रदानम्, कारके। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—'रुचि' अर्थ के धातुओं के योग में प्रीयमाण (सन्तुष्ट होने वाला) की सम्प्रदान संज्ञा होती है। जैसे—हरये रोचते भक्तिः। अन्यकर्तृक अभिलाष को रुचि कहते हैं। (उदाहरण में =) हरि में रहने वाली इच्छा (प्रीति) ही 'कर्ता' है। 'प्रीयमाण' का क्या प्रयोजन है? देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि।

विवरण—विशेष स्थिति में 'सम्प्रदान' संज्ञा का विधान किया जारहा है। तदनुसार "रुचि अर्थात् अभिलाषार्थक (रुचिः अर्थः येषां ते रुच्यर्थाः, तेषाम्) धातुओं के प्रयोग में प्रसन्न होने वाला व्यक्ति (प्रीयमाणः) 'सम्प्रदान' कारक होता है। उदाहरण—हरये रोचते भक्तिः (= हरि को भक्ति अच्छी लगती है)। यहाँ 'रुचि' का अर्थ इच्छा है। किसी दूसरे के द्वारा उत्पन्न की हुई इच्छा (अभिलाप) 'रुचि' है। यहाँ पर 'भक्ति' ही हरि की प्रसन्नता या रुचि को उत्पन्न करती है एवं भक्ति से प्रसन्न होने वाले (प्रीयमाण) हरि हैं। अतः 'सम्प्रदान' संज्ञा होने से चतुर्थी विभक्ति हुई—'हरये'।

प्रत्युदाहरण—सूत्र द्वारा 'प्रीयमाण' की 'सम्प्रदान' संज्ञा का विधान बताया गया है। अतः 'देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि' (= देवदत्त को रास्ते में लड्डू अच्छा लगता है) में प्रसन्न होने वाले 'देवदत्त' की 'सम्प्रदान' संज्ञा तो हुई किन्तु 'पथि' में चतुर्थी नहीं हुई, क्योंकि रास्ता तो प्रसन्न नहीं होता। 'मार्ग' तृप्ति का कर्म नहीं है, आधार है। अतः सप्तमी विभक्ति हुई है—'पथि'।

(५७२) पद—श्लाघह्नुङ्स्थाशपां, शीप्स्यमानः। अनुवृत्ति—सम्प्रदानम्, कारके। संज्ञासूत्र।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञीप्स्यमानः १ । ४ । ३४ ॥ एषां प्रयोगे बोधयितुमिष्टः सम्प्रदानं स्यात् । गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते ह्नुते तिष्ठते शपते वा । 'ज्ञीप्स्यमानः' किम् ? देवदत्ताय श्लाघते पथि ।

(५७३) धारेरुत्तमर्णः १ । ४ । ३५ ॥ धारयतेः प्रयोगे उत्तमर्णं उक्तसञ्ज्ञः स्यात् । भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः । उत्तमर्णः किम् ? देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे ।

लम्भे' एषां द्वन्द्वः । शपामित्यनन्तरं प्रयोगे इत्यध्याहार्यम् । श्लाघादीनां स्तुत्यादिना बोधनमर्थः, ज्ञीप्स्यमान इति लिङ्गात् । ज्ञापनवाचिनो ज्ञपेः सन्नन्तात् कर्मणि शानच्, तदाह—एषां प्रयोगे इत्यादिना । गोपी स्मरादिति । मन्मथपीडावशात् गोपी आत्मस्तुत्या विरहवेदनां कृष्णं बोधयतीत्यर्थः । कृष्णस्यैव स्तुत्यत्वे तु द्वितीयैवेत्याहुः । ह्नुते इति । सपत्न्यपनयनेन स्वाशयं कृष्णं बोधयतीत्यर्थः । तिष्ठते इति । गन्तव्यमित्युक्तेऽपि स्थित्या स्वाशयं कृष्णं बोधयतीत्यर्थः । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इत्यात्मनेपदम् । शपते इति । उपालम्भेन स्वाशयं कृष्णं बोधयतीत्यर्थः ।

(५७३) धारेरुत्तमर्णः । धारेरित्यनन्तरं प्रयोगे इत्यध्याहार्यम् । 'धृङ् अवस्थाने' इत्यस्य हेतुमण्ण्यन्तस्य धारेरिति निर्देशः । तदाह—धारयतेरित्यादिना । अन्यस्वामिकं द्रव्यं नियतकाले पुनरर्पणबुद्ध्या गृहीतम् ऋणमित्युच्यते । तत्र ऋणस्य ग्रहीता अधमर्णः, ऋणस्यार्पयिता धनस्वामी उत्तमर्णः । प्रतिमासमशीतिभागादिवृद्ध्या उत्तमम् अधिकतां प्राप्तम् ऋणं यस्येति विग्रहः । भक्तायेति । भक्तसम्बन्धी यो मोक्षः अपरिमितनित्य

मूलार्थ—√श्लाघ, √ह्नुङ्, √स्था तथा √शप् धातुओं के प्रयोग में ज्ञीप्स्यमान (जिसे बतलाना अभीष्ट हो) की 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है । जैसे—गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते, ह्नुते, तिष्ठते, शपते वा । 'ज्ञीप्स्यमानः' का क्या प्रयोजन है ?' देवदत्ताय श्लाघते पथि ।

विवरण—विशेष स्थिति में 'संप्रदान' संज्ञा के सूचक दूसरे सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "√श्लाघ् (प्रशंसा करना), √ह्नु (छिपाना), √स्था (ठहरना) और √शप् (शपथ लेना)—इन चार धातुओं के प्रयोग में जिसे बताना अभीष्ट (ज्ञीप्स्यमानः) हो, उसकी 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है" । सूत्र में ज्ञापनार्थक√ज्ञप् धातु के सन्नन्तरूप से कर्म में 'शानच्' प्रत्यय करने से 'ज्ञीप्स्यमान' शब्द निष्पन्न हुआ है । इसका अर्थ ग्रन्थकार ने 'बोधयितुम् इष्टः' द्वारा व्यक्त किया है । यह सूत्र 'कर्म' संज्ञा का अपवाद है । क्रमशः **उदाहरण**—(१) गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते (= गोपी वासनावश कृष्ण की प्रशंसा करती है) । (२) गोपी स्मरात् कृष्णाय ह्नुते (= गोपी कामवश कृष्ण को छिपाती है) । (३) गोपी स्मरात् कृष्णाय तिष्ठते (= गोपी वासनावश कृष्ण की प्रतीक्षा करती है) । (४) गोपी स्मरात् कृष्णाय शपते (= गोपी कामवश कृष्ण को उलाहना देती है) । इन चारों उदाहरणों में उपर्युक्त धातुओं के योग में 'ज्ञीप्स्यमान' (कृष्ण) की 'सम्प्रदान' संज्ञा होने से 'कृष्णाय' में चतुर्थी विभक्ति हुई ।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'ज्ञीप्स्यमानः' पद न हुआ होता तो 'देवदत्ताय श्लाघते पथि' (= मार्ग में देवदत्त की प्रशंसा करता है)-इस वाक्य में 'पथिन्' शब्द में भी चतुर्थी होने लगती । 'पथिन्' (मार्ग) को कुछ बताया जाना अभीष्ट नहीं है, अतः उसकी 'सम्प्रदान' संज्ञा नहीं हुई । किन्तु आधार-युक्त सप्तमी हुई ।

(५७३) पद—धारेः, उत्तमर्णः । **अनुवृत्ति**—सम्प्रदानम्, कारके । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—णिजन्त √धृ धातु के प्रयोग में उत्तमर्ण की सम्प्रदान संज्ञा होती है । जैसे—भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः । 'उत्तमर्ण' का क्या प्रयोजन है ? देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे ।

विवरण—विशेष स्थिति में 'सम्प्रदान' संज्ञा विधान करने का यह तीसरा सूत्र है । इसके अनुसार "णिच्-प्रत्ययान्त √धृ धातु के प्रयोग में ऋणदाता (उत्तमर्णः—ऋणे उत्तमः, निपातन से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५७४) स्पृहेरीप्सितः १ । ४ । ३६ ॥ स्पृहयतेः प्रयोगे इष्टः सम्प्रदानं स्यात् । पुष्पेभ्यः स्पृहयति । 'ईप्सितः' किम् ? पुष्पेभ्यो वने स्पृहयति । ईप्सितमात्रे इयं सञ्ज्ञा ।

सुखविशेषः तं धारयतीत्यर्थः । धरते मोक्षः, अवतिष्ठते इत्यर्थः । तं प्रेरयति, धारयति, अवस्थापयतीति यावत् । पूजयन् हि भक्तः तुलसीदलादिद्रव्यं प्रयच्छति, तच्च गृह्णन् तुष्टो हरिः तत्प्रदत्तद्रव्यं मोक्षदानेन निष्क्रीणाति । तदाहुः पौराणिकाः—

'तोयं वा पत्रं वा यद्वा किञ्चित् समर्पितं भक्त्या ।
तदृणं मत्वा देवो निःश्रेयसमेव निष्क्रयं मनुते ॥' इत्यादि ।

तथा चात्र भक्तस्य ऋणदातृत्वेन उत्तमर्णत्वात् सम्प्रदानत्वम् । सम्बन्धषष्ठ्यपवादः ।

(५७४) स्पृहेरीप्सितः । 'स्पृह ईप्सायाम्' चुरादावदन्तः । ततः स्वार्थे णिचि अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात् लघूपधगुणाभावे स्पृहिशब्दात् षष्ठ्येकवचनम् । प्रयोग इत्यध्याहार्यम् । तदाह—स्पृहयतेरित्यादिना । ननु पुष्पेभ्यः स्पृहयतीत्येव स्यात्, न तु पुष्पाणि स्पृहयतीत्यपि । उभयं त्विष्यते तत्राह—ईप्सितमात्र इति । यदा त्वीप्सितत्वस्यापि न विवक्षा किं तु विषयतामात्रविवक्षा, तदा पुष्पाणां स्पृहयतीति साधुः, 'कुमार्यं इव कान्तस्य त्रस्यन्ति स्पृहयन्ति च' इत्यादिदर्शनात् । वाक्यपदीये तु—'स्पृहयतियोगे कर्मसंज्ञायाः शेषषष्ठ्याश्रायमपवाद' इति स्थितम् । हेलाराजोऽप्येवम् । तन्मते पुष्पाणि स्पृहयति पुष्पाणां स्पृहयतीत्याद्यसाध्वेवेत्यन्यत्र विस्तरः ।

'ऋण' शब्द की परत्र स्थिति) की 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है"। **उदाहरण**—भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः (= हरि भक्त के लिये मोक्ष धारण करते हैं)। इस वाक्य में 'धारि' (धृ+णिच् = ऋण धारण करना) का प्रयोग है। उत्तमर्ण अर्थात् 'भक्त' की 'सम्प्रदान' संज्ञा होने से चतुर्थी विभक्ति हुई। भक्त के द्वारा हरि की पूजा में दी जाने वाली सामग्री ही ऋणस्वरूप है। अतः भक्त महाजन (उत्तमर्ण) है। षष्ठी का अपवाद है।

प्रत्युदाहरण—'देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे' (= देवदत्त का सौ रुपये का ग्राम में ऋण है) में 'ग्राम' शब्द में चतुर्थी नहीं हुई, क्योंकि 'ग्राम' उत्तमर्ण नहीं है। आधार होने से सप्तमी हुई।

(५७४) पद—स्पृहेः, ईप्सितः। **अनुवृत्ति**—सम्प्रदानम्, कारके। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—(स्वार्थ-णिजन्त) स्पृह् धातु के योग में ईप्सित (इष्ट) वस्तु 'संप्रदान' संज्ञक होती है। जैसे—पुष्पेभ्यः स्पृहयति। 'ईप्सित' का क्या प्रयोजन है ? पुष्पेभ्यः वने स्पृहयति। केवल 'ईप्सित' अर्थ में ही यह संज्ञा होती है। 'ईप्सिततम' अर्थ में तो 'पर' होने के कारण 'कर्म' संज्ञा ही होगी—पुष्पाणि स्पृहयति।

विवरण—विशेष स्थिति में 'सम्प्रदान' संज्ञा का निदर्शक यह तीसरा सूत्र है। तदनुसार "चुरादिगण में पठित 'स्पृह' धातु के प्रयोग में ईप्सित (इष्ट) पदार्थ की 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है"। **उदाहरण**—पुष्पेभ्यः स्पृहयति (= फूलों को चाहता है)। यहाँ स्पृहा (इच्छा) का विषय पुष्प हैं। अतः पुष्प की 'सम्प्रदान' संज्ञा होने पर चतुर्थी विभक्ति हुई।

प्रत्युदाहरण—'ईप्सित' पदार्थ की ही सम्प्रदान संज्ञा होने के फलस्वरूप 'पुष्पेभ्यः वने स्पृहयति' (= वन में फूलों को चाहता है)। यहाँ पर 'वने' 'सम्प्रदान' संज्ञा नहीं हुई, क्योंकि इच्छा का विषय 'वन' नहीं है। 'अधिकरण' होने से सप्तमी विभक्ति संयुक्त हुई।

विशेष—'स्पृह' धातु के योग में केवल 'ईप्सित' अर्थ में ही 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है। 'ईप्सिततम' अर्थ की विवक्षा होने पर (= प्रकर्ष की विवक्षा में) सूत्रक्रम में 'पर' होने के कारण "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" १-४-४९ से कर्म-संज्ञा होगी। तदनुसार "पुष्पाणि स्पृहयति" में प्रकर्ष विवक्षा के कारण 'कर्म'संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकर्षविवक्षायां तु परत्वात्कर्मसञ्ज्ञा। पुष्पाणि स्पृहयति। (५७५) क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः १।४।३७॥ क्रुधाद्यर्थानां प्रयोगे यं प्रति कोपः स उक्तसञ्ज्ञः स्यात्। हरये क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति वा। 'यं प्रति कोपः' किम्? भार्यामीर्ष्यति। मैनामन्योऽद्राक्षीदिति। क्रोधोऽमर्षः। द्रोहोऽपकारः। ईर्ष्या अक्षमा। असूया गुणेषु

(५७५) क्रुधद्रुह। क्रुधाद्यर्थानामिति। 'क्रुध क्रोधे, द्रुह द्रोहे'श्यन्विकरणौ। 'ईर्ष्य ईर्ष्यायां' शब्विकरणः। 'असूञ् उपतापे' कण्ड्वादिः। एषामर्था एवार्था येषामिति विग्रहः। हरये क्रुध्यतीति। रावणादिरिति शेषः। हरिविषयकं कोपं करोतीत्यर्थः। धातेच्छासमनियतश्चित्तवृत्तिविशेषः कोपः। अकर्मकत्वात् षष्ठी प्राप्ता। द्रुह्यतीति। कोपात् हरिविषयकमपकारं करोतीत्यर्थः। अकर्मकत्वात् षष्ठी प्राप्ता। अपकारो दुःखजनिका क्रिया। धात्वर्थोपसङ्ग्रहादकर्मकः। ईर्ष्यतीति। ईर्ष्या असहनम्। हरिं कोपान्न सहत इत्यर्थः। कर्मणि द्वितीया प्राप्ता। असूयति वेति। असूया गुणेषु दोषारोपः। यथाविहितकर्माचारे दम्भादिकृतत्वारोपणम्। इह कोपात् हरिं दुर्गुणं मन्यत इत्यर्थः। मैनामिति। एनां भार्यामन्यो न पश्येत् इत्येतदर्थं भार्यागुणेषु दोषारोपणं करोतीत्यर्थः। नात्र भार्यां प्रति कोपः, किन्तु परेण दृश्यमानां तां न सहत इत्येव विवक्षितमिति बोध्यम्। एवञ्च क्रोधद्रोहेर्ष्या-

(५७५) पद—क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां, यं, प्रति, कोपः। अनुवृत्ति—सम्प्रदानम्, कारके। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—'क्रुध्' आदि धातुओं के एवं तत्समानार्थक धातुओं के प्रयोग में, जिसके प्रति क्रोध किया जाय, उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है। जैसे—हरये क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति वा। 'यं प्रति कोपः' का क्या प्रयोजन है? भार्याम् ईर्ष्यति। (इस कारण ईर्ष्या है कि) उसे कोई दूसरा न देखे। अमर्ष (असहनशीलता) का नाम 'क्रोध' है। किसी का अपकार करना 'द्रोह' है। 'ईर्ष्या' का अर्थ है अक्षमा। गुणों में दोष निकालना 'असूया' है। द्रोह आदि भी कोप से ही उत्पन्न होते हैं। अतः सूत्र में सामान्य रूप से 'यं प्रति कोपः' कहा गया है।

विवरण—विशेष स्थिति में सम्प्रदान संज्ञा का यह चौथा सूत्र है। इसमें चार धातुओं के अर्थ का परिगणन किया गया है। तदनुसार "'क्रुध' (क्रोध करना), द्रुह (द्रोह करना), ईर्ष्य (ईर्ष्या करना), तथा असूय (गुणों में दोष ढूँढना) धातुओं तथा तदर्थक धातुओं के प्रयोग में जिस पर क्रोध किया जाय, उस कारक की 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है"(क्रुधश्च, द्रुहश्च, ईर्ष्यश्च, असूयश्च—क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयाः, तेषाम् अर्थाः—क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थाः, क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानामिव अर्था येषां ते—क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थाः, तेषाम्—द्वन्द्वगर्भित बहुव्रीहि)। उदाहरण—(१) हरये क्रुध्यति (= हरि पर क्रोध करता है)। (२) हरये द्रुह्यति (= हरि से द्रोह करता है)। (३) हरये ईर्ष्यति (= हरि से ईर्ष्या करता है)। (४) हरये असूयति (= हरि के गुणों में दोष निकालता है)। इन चारों उदाहरणों में क्रोध का पात्र 'हरि' है। अतः 'हरि' की सम्प्रदान संज्ञा होने से 'चतुर्थी' विभक्ति प्रयुक्त हुई है।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'यं प्रति कोपः' कहने से जिसके प्रति कोप हो उसमें ही चतुर्थी विभक्ति होगी। अतः 'भार्याम् ईर्ष्यति'—(= भार्या के विषय में सहन नहीं करता है)—इस वाक्य में 'भार्या' के प्रति कोप न होने से उसकी 'सम्प्रदान' संज्ञा नहीं होती। उसके प्रति ईर्ष्या का कारण यह है कि उसे कोई दूसरा न देखे (मा एनाम् अन्यः द्राक्षीत्)।

विशेष—(१) सूत्रोक्त चारों धातुओं के अर्थ का अन्तर दिखाने के लिये उसकी सूक्ष्म व्याख्या की जारही है। (क) चित्त में उग्रता (अमर्षः) उत्पन्न करने वाला भाव 'क्रोध' है। (ख) किसी का भला न करना हो 'द्रोह' है। (ग) असहिष्णुता (अक्षमा) ही 'ईर्ष्या' है। (घ) गुणों में भी दोष प्रकट करना 'असूया' कही जाती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोषाविष्करणम्। द्रोहादयोऽपि कोपप्रभवा एव गृह्यन्ते। अतो विशेषणं सामान्येन 'यं प्रति कोपः' इति। (५७६) क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म १। ४। ३८॥ सोपसर्गयोरनयोर्योगे यं प्रति कोपः तत्कारकं कर्मसञ्ज्ञं स्यात्। क्रूरमभिक्रुध्यति, अभिद्रुह्यति वा। (५७७) राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः १। ४। ३९॥ एतयोः कारकं सम्प्रदानं स्यात्, यदीयो विविधः प्रश्नः क्रियते। कृष्णाय राध्यति, ईक्षते वा। पृष्टो गर्गः शुभाशुभं

सूयानां कोपमूलकत्व एवेदमिति भाष्ये स्थितम्। तथा च कुप्यति कस्मैचिदित्याद्यसाध्वेव, कोपस्य कोपमूलकत्वाभावात् क्रुधार्थकत्वाभावाच्च। प्ररूढकोप एव हि क्रोधः, 'नह्यकुपितः क्रुध्यति' इति भाष्यात्।

(५७६) क्रुधद्रुहोः। उपसृष्टयोरित्येतत् व्याचष्टे—सोपसर्गयोरिति। पूर्वसूत्रापवादोऽयम्। हरेः क्रोधद्रोहोद्देश्यत्वाभावात् 'क्रियया यमभिप्रैति' इति सम्प्रदानत्वस्य न प्रसक्तिः। नापि तादर्थ्यचतुर्थ्याः क्रुधद्रुहोरकर्मकत्वात् न हरेः कर्मत्वम्। अतः शेषषष्ठ्यां प्राप्तायां वाचनिकं कर्मत्वम्।

(५७७) राधीक्ष्योः। यदीय इति। यद्विषयक इत्यर्थः। विप्रश्न इत्येतद्व्याचष्टे—विविधः प्रश्न इति। कृष्णाय राध्यति ईक्षते वा। पृष्टो गर्ग इति। गर्गो नाम ज्योतिश्शास्त्रवित् ऋषिविशेषः, स कृष्णाय राध्यति ईक्षते वेत्यन्वयः। 'राध संसिद्धौ' 'ईक्ष दर्शने'। इह तु प्रश्नविषयशुभाशुभपर्यालोचनमर्थः, यस्य विप्रश्न इति लिङ्गात्। तदाह—शुभाशुभं

---

(२) द्रोह आदि भी यहाँ क्रोध से उत्पन्न लिये जाते हैं। अतः सूत्र में सामान्य रूप से सबका एक ही विशेषण 'यं प्रति कोपः' (जिसके प्रतिकोप हो) कहा गया है। अन्यथा 'यं प्रतिकोपः' के साथ 'यं प्रति द्रोहः', 'यं प्रति ईर्ष्या', 'यं प्रति असूया' आदि का पृथक् उल्लेख करना पड़ता।

(३) उपर्युक्त चारों उदाहरणों में से (क) में अकर्मक होने से षष्ठी प्राप्त रही। उसका बाधकर सम्प्रदान संज्ञा हुई। (ख) में भी अकर्मक होने से षष्ठी प्राप्त रही। उसको बाधकर 'सम्प्रदान' संज्ञा हुई। (ग) में 'कर्म' में द्वितीया प्राप्त रही। उसको बाध कर सम्प्रदान संज्ञा हुई। (घ) में भी कर्म में द्वितीया प्राप्त रही। उसको बाध कर 'सम्प्रदान' संज्ञा हुई।

(५७६) पद—क्रुधद्रुहोः, उपसृष्टयोः, कर्म। अनुवृत्ति—यं प्रति कोपः, कारके। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—उपसर्ग सहित √क्रुध् तथा √द्रुह् धातुओं के योग में जिस पर क्रोध किया जाता है, उस कारक की 'कर्म' संज्ञा होती है। जैसे—क्रूरम् अभिक्रुध्यति, अभिद्रुह्यति वा।

विवरण—पूर्वसूत्रस्थ विषय के प्रसङ्ग में 'कर्म'संज्ञा का विधान किया जारहा है। अतः "क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः" (१-४-३७) सूत्र से 'यं प्रति कोपः' अंश की अनुवृत्ति अपेक्षित है। 'कारके' अधिकार का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है। सूत्र में केवल दो धातुओं का निर्देश किया गया है। तदनुसार "उपसर्गसहित √क्रुध् और √द्रुह् धातुओं के प्रयोग करने पर जिसके प्रति-क्रोध किया जाय, उस कारक की कर्म संज्ञा होती है"। यह 'सम्प्रदान'संज्ञा का अपवाद है। उदाहरण—क्रूरम् अभिक्रुध्यति, अभिद्रुह्यति वा' (= क्रूर पर क्रोध या द्रोह करता है)। इन दोनों वाक्यों में क्रोध के आलम्बन 'क्रूर' की 'कर्म'संज्ञा होती है। अतः द्वितीया विभक्ति हुई।

(५७७) पद—राधीक्ष्योः, यस्य, विप्रश्नः। अनुवृत्ति—सम्प्रदानम्, कारके। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—इन (√राध् और √ईक्ष् धातुओं) के योग में, जिसके विषय में शुभाशुभ विषयक प्रश्न होता है, उसकी 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है। जैसे—कृष्णाय राध्यति ईक्षते वा। पूछे जाने पर गर्ग कृष्ण के शुभाशुभ का विचार करते हैं।

विवरण—विशेष स्थिति में 'सम्प्रदान' संज्ञा करने का यह पाँचवाँ सूत्र है। सूत्र में दो धातुओं का निर्देश किया गया है। ये दो धातु हैं—√'राध्' तथा √'ईक्ष्'। यहाँ पर इन दोनों धातुओं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर्यालोचयतीत्यर्थः । (५७८) **प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता १ । ४ । ४० ॥** आभ्यां परस्य श्रृणोतेर्योगे पूर्वस्य प्रवर्तनारूपस्य व्यापारस्य कर्ता सम्प्रदानं स्यात् । विप्राय गां प्रतिश्रृणोति, आश्रृणोति वा । विप्रेण मह्यं देहीति प्रवर्तितस्तत्प्रतिजानीते इत्यर्थः ।

पर्यालोचयतीत्यर्थ इति । अत्र शुभस्याशुभस्य च प्रश्नविषयस्य धात्वर्थोपसङ्ग्रहादकर्मकावेतौ । अत एव राध्यतीति श्यन्नुपपद्यते । अन्यथा 'राधोऽकर्मकात्' इति नियमात् श्यन् न स्यात् । एवञ्च किं कृष्णस्य शुभमशुभं वेति पृष्टो गर्गः कृष्णविषयकं शुभाशुभं पर्यालोचयतीत्यर्थः । कृष्णस्य सम्प्रदानत्वं पष्ठ्यपवादः ।

(५७८) प्रत्याङ्भ्याम् । प्रत्याङ्भ्यामिति दिग्योगे पञ्चमी । परस्येत्यध्याहार्यं श्रुव इत्यस्य विशेषणम् । 'श्रु श्रवणे' इह तु प्रेरणापूर्वकाभ्युपगमे वर्तते । पूर्वशब्दः प्रेरणात्मकव्यापारं पराक्षुशति । तदाह—आभ्यामित्यादिना । पूर्वस्येत्यस्य व्याख्यानम्—प्रवर्त्तनारूपस्येति । प्रेरणारूपस्येत्यर्थः । प्रत्याङ्भ्यामित्यनेन समुदिताभ्यां परस्येति नार्थो विवक्षितः, किन्तु प्रत्येकमेव तयोर्निमित्तत्वम्, अन्यथा 'अभिनिविशश्च' इतिवत् 'प्रत्याङ्श्रुवः' इत्येव ब्रूयादित्यभिप्रेत्योदाहरति—विप्राय गां प्रतिश्रृणोति आश्रृणोति वेति । अत्र प्रतिपूर्वक आङ्पूर्वकश्च श्रुधातुः प्रेरणापूर्वकाभ्युपगमे वर्तते, ततश्च प्रवर्तितः प्रतिजानीते इति लभ्यते । केन प्रवर्तित इत्याकाङ्क्षायां विप्रः कर्तृत्वेनान्वेति । तत्र विप्रस्य प्रेरणाकर्तृत्वात् सम्प्रदानत्वं कर्तृतृतीयापवाद इत्यभिप्रेत्याह—विप्रेणेति । मह्यं गवादिद्रव्यं देहीति विप्रेण पृष्टः सन् देवदत्तः तुभ्यं ददामीत्यभ्युपगच्छतीति योजना ।

का 'विप्रश्न' अर्थ में तात्पर्य (विविधः प्रश्नः) है । 'विविध प्रश्न अर्थात् शुभाशुभ भाग्यसम्बन्धी प्रश्न पूछना' । तदनुसार "इन दो धातुओं के योग में, जिसके विषय में अनेक प्रश्न किये गए हों, उस कारक की 'सम्प्रदान' संज्ञा होगी" । **उदाहरण**—कृष्णाय राध्यति ईक्षते वा (= गर्ग कृष्ण के शुभाशुभ विचार करते हैं) । यहाँ √'राध्' और √ईक्ष् धातुओं का प्रयोग (कृष्ण के विषय में) 'प्रश्न सम्बन्धी विचार करने के अर्थ में' किया गया है । माता के द्वारा कृष्ण के भविष्य-जीवन सम्बन्धी प्रश्नों पर गर्ग विचार कर रहे हैं । सम्बन्धार्थ षष्ठी-विभक्ति के अपवाद-स्वरूप 'कृष्ण' की सम्प्रदान संज्ञा होती है । अतः चतुर्थी विभक्ति हुई—'कृष्णाय' ।

(५७९) **पद**—प्रत्याङ्भ्यां, श्रुवः, पूर्वस्य, कर्ता । **अनुवृत्ति**—सम्प्रदानम्, कारके । संज्ञासूत्र ।

मूलार्थ—इन दोनों ('प्रति' तथा 'आङ्') से पर √श्रु धातु के योग में पूर्व प्रेरणारूप व्यापार (क्रिया) के कर्ता की 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है । जैसे—विप्राय गां प्रतिश्रृणोति आश्रृणोति वा । अर्थात् विप्र (ब्राह्मण) के द्वारा 'मुझे दो' इस तरह प्रेरणा प्राप्त करने पर दान देने वाला व्यक्ति अपनी स्वीकृति देता है ।

विवरण—विशेष-स्थिति में 'सम्प्रदान' संज्ञा का निदर्शक यह छठा सूत्र है । तदनुसार "'प्रति' और 'आङ्' उपसर्गों से पर 'श्रु' धातु (प्रतिज्ञा अर्थ) के योग में (प्रति च आङ् च—प्रत्याङौ, ताभ्याम्, इतरेतर-द्वन्द्व), जो पहले प्रेरणा देने वाला हो, उस (कर्ता = प्रेरक) की 'सम्प्रदान' संज्ञा होगी" । **उदाहरण**—विप्राय गां प्रतिश्रृणोति आश्रृणोति वा (= ब्राह्मण के लिये गाय देना स्वीकार करता है) । यहाँ पर 'विप्र' प्रेरक है, अतः उसकी 'सम्प्रदान' संज्ञा होने के फलस्वरूप 'चतुर्थी विभक्ति हुई—'विप्राय' । इस वाक्य से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "पहले विप्र (ब्राह्मण) ने यजमान से गाय देने के लिये कहा कि 'मुझे गाय दो', तब यजमान गाय देने की प्रतिज्ञा करता है" । इस तरह प्रेरक के रूप में पूर्व व्यापार (क्रिया) का कर्ता 'विप्र' है । अतः कर्ता में तृतीया विभक्ति को बाध कर 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५७९) अनुप्रतिगृणश्च १ । ४ । ४१ ॥ आभ्यां गृणातेः कारकं पूर्वव्यापारस्य कर्तृभूतमुक्तसंज्ञं स्यात् । होत्रेऽनुगृणाति, प्रतिगृणाति वा । होता प्रथमं शंसति, तमध्वर्युः प्रोत्साहयतीत्यर्थः । **(५८०) परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् १ । ४ । ४४ ॥**

---

(५७९) अनुप्रतिगृणश्च । पूर्वस्य कर्तेत्यनुवर्तते । 'गृ शब्दे' इत्यस्य श्नान्तस्य अनुकरणशब्दात् गृण इति षष्ठी । अत्र गृधातुः शंसितृकर्मके शंसनविषयकप्रोत्साहने वर्तते । तत्र पूर्वव्यापारस्य शंसनस्य कर्ता सम्प्रदानमित्यर्थः । तदाह—आभ्यामिति । पूर्वसूत्रे प्रत्याङ्भ्यामिति द्विवचननिर्देशबलात् प्रत्येकमेव धातुसम्बन्धावधारणात् तत्साहचर्यात् इहापि प्रत्येकमेव धातुसम्बन्ध इत्यभिप्रेत्योदाहरति—होत्रे अनुगृणाति, प्रतिगृणाति वेति । होता प्रथममिति । शंसितारं होतारम् उत्तरोत्तरशंसनविषये प्रोत्साहयतीति यावत् । 'ओऽथ मोदै व' इति प्रतिगरमन्त्रः । 'ओ' इति सम्बोधने, मोदै इति लोडुत्तमपुरुषैकवचनम् । व इत्येवकारार्थे । हे होतः अथ त्वदीयशंसनानन्तरं तुष्याम्येवेति तदर्थः । प्रोत्साहने होतुः कर्मत्वं प्राप्तम्, पूर्वव्यापारं शंसनं प्रति कर्तृत्वाद्धोतुः सम्प्रदानत्वम् ।

(५८०) परिक्रयणे । नियतकालमिति । तुभ्यमेतावद्वेतनं दीयते, तत् गृह्णन् एतावन्तं कालं त्वं मम कर्मकरो भव इत्येवं परिमितकालं भृत्या स्वीकरणं परिक्रयणमित्यर्थः ।

विशेष—सूत्रस्थ 'प्रत्याङ्भ्याम्' द्विवचनान्त प्रयोग से यहाँ 'प्रति' और 'आङ्' उपसर्गों का पृथक् योग अपेक्षित है । यदि सामूहिक प्रयोग अभीष्ट होता तो "अभिनिविशश्च" (१-४-४७) के समान इस सूत्र का स्वरूप "प्रत्याङ्श्रुवः" हुआ होता ।

(५७९) पद—अनुप्रति, गृणः, च । **अनुवृत्ति**—पूर्वस्य कर्ता, सम्प्रदानम्, कारके । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—'अनु' तथा 'प्रति' उपसर्ग पूर्वक √गृ धातु के योग में पूर्व व्यापार (क्रिया) के कर्ता की 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है । जैसे—होत्रे अनुगृणाति, प्रतिगृणाति वा । इसका यह अभिप्राय है कि 'प्रथम होता मन्त्र पढ़ता है, तदनन्तर अध्वर्यु उसे प्रोत्साहित करता है' ।

विवरण—पूर्व सूत्र के प्रसङ्ग में 'प्रेरक' (पूर्व व्यापार का कर्ता) को अभिलक्षित कर विशेष स्थिति में 'सम्प्रदान' संज्ञा का विधान किया जारहा है । अतः "प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता" (१-४-४०) से 'पूर्वस्य कर्ता' को आंशिक अनुवृत्ति अपेक्षित है । इसके अतिरिक्त प्रकरण-वश 'सम्प्रदानम्' तथा 'कारके' की अनुवृत्ति यथापूर्व की गई है । इस प्रकार 'सम्प्रदान' संज्ञा के विशेष विधान का यह सातवाँ सूत्र है । सूत्र में 'अनुप्रति' यह लुप्तपञ्चम्यन्त पद है । अतः 'अनु' तथा 'प्रति' से 'पर' अर्थ अपेक्षित होगा । √गृ धातु क्र्यादिगण में पढ़ा गया है । 'गृणा' की षष्ठी विभक्ति का रूप 'गृणः' है । तदनुसार समष्टिरूप में सूत्र का यह अर्थ होगा कि "अनु-√गृ तथा प्रति-√गृ(प्रोत्साहित करना अर्थ) के योग में पूर्व व्यापार का कर्ता-कारक 'सम्प्रदान' संज्ञक होता है" । **उदाहरण**—होत्रे अनुगृणाति (= होता को प्रोत्साहित करने के लिये अध्वर्यु मन्त्र बोलता है) । यहाँ पूर्व व्यापार अर्थात् शंसन (उच्चारण) का कर्ता 'होता' है । उसकी 'सम्प्रदान' संज्ञा होने से चतुर्थी विभक्ति हुई>'होत्रे' ।-'कर्म' संज्ञा को बाध कर सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है ।

विशेष—यह प्रसङ्ग याज्ञिक प्रक्रिया से सम्बन्ध रखता है । 'होता' याज्ञिक स्तुति करता है । वह देवता का आह्वान करता है । उसके शंसन (स्तुतिपरक उच्चारण) करने पर 'अध्वर्यु' (दूसरा याज्ञिक) 'ओऽथ मोदै व' (बहुत अच्छा, मैं प्रसन्न हूँ) कह कर 'होता' को पुनः पुनः शंसन करने के लिये प्रोत्साहित करता है । प्रोत्साहन के इन वाक्यों की संज्ञा 'अनुगर' एवं 'प्रतिगर' है ।

(५८०) पद—परिक्रयणे, सम्प्रदानम्, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—साधकतमम्, कारके । **संज्ञासूत्र । (विकल्प) ।**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियतकालं भृत्या स्वीकरणं परिक्रयणम्, तस्मिन्साधकतमं कारकं सम्प्रदानसञ्ज्ञं वा स्यात्। शतेन शताय वा परिक्रीतः। 'तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या' (वा १४५८)। मुक्तये हरिं भजति। 'क्लृपि सम्पद्यमाने च' (वा १४५९)। भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते सम्पद्यते,

---

साधकतममित्यनुवर्तते। तदाह—तस्मिन् साधकतममिति। सम्प्रदानत्वाभावे करणसंज्ञा। शतेनेति। सुवर्णादियत्किञ्चिद्द्रव्यशतेनेत्यर्थः। तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्येति। 'चतुर्थी सम्प्रदाने' इति सूत्रभाष्ये पठितमेतत्। तस्मै इदं तदर्थम्। अर्थेन नित्यसमासः। तदर्थस्य भावः तादर्थ्यम्। ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्। तेन च उपकार्योपकारकभावसम्बन्धो विवक्षितः। तत्र उपकार्यादेव चतुर्थी, भाष्ये यूपाय दारु, कुण्डलाय हिरण्यम् इत्युदाहृतत्वादित्यभिप्रेत्योदाहरति—मुक्तये इति। मुक्त्यर्थमित्यर्थः। उपकार्यत्वं च बहुविधं जन्यत्वादि। यथा मुक्तये हरिं भजतीति, मुक्तिर्जन्येति गम्यते प्राप्यत्वं वा, ब्राह्मणाय दधीति ब्राह्मणस्योपकार्यत्वं गम्यते इत्यादि। न चैवमपि अनेनैव सिद्धे 'चतुर्थी सम्प्रदाने' इति सूत्रं सम्प्रदानसंज्ञाविधानं च व्यर्थमिति वाच्यम्, 'हरये रोचते भक्तिः' इत्यादौ 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इत्याद्यर्थं तदावश्यकत्वादिति भाष्ये स्पष्टम्। क्लृपि सम्पद्यमाने चेति। क्लृपीति सप्तमी, सम्पत्तिः विकारात्मना उत्पत्तिः, परिणाम इति यावत्, क्लृपिधातौ प्रयुज्यमाने

मूलार्थ—'परिक्रयण' अर्थ में साधकतम कारक की विकल्प से 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है। निश्चित काल के लिय किसी को वेतन या मजदूरी पर रखना 'परिक्रयण' है। जैसे—शतेन, शताय वा परिक्रीतः। वा० 'प्रयोजन के लिये'—इस अर्थ में चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे—मुक्तये हरिं भजति। (वा०) 'क्लृप्' धातु के प्रयोग में उत्पद्यमान अर्थ में वर्तमान शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे—भक्तिः ज्ञानाय कल्पते, सम्पद्यते, जायते इत्यादि। (वा०) उत्पात जिसे सूचित करता हो उससे चतुर्थी होती है। जैसे—वाताय कपिला विद्युत्। (वा०) 'हित' शब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे—ब्राह्मणाय हितम्।

विवरण—इस सूत्र के द्वारा विशेष स्थिति में 'करण' कारक के अर्थ में पाक्षिक 'सम्प्रदान' संज्ञा का विधान किया जारहा है। इस प्रकार यह विशेष विधान का आठवाँ सूत्र है। अतः सूत्र अर्थ सम्पन्न करने के लिये "साधकतमं करणम्" (१-४-४८) से 'साधकतमम्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। "कारके" अधिकार का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है। तदनुसार "परिक्रयण अर्थ में 'करण' कारक (साधकतमं कारकं) की 'सम्प्रदान' संज्ञा होगी। 'परिक्रयण' का प्रकार यह है। 'किसी ने किसी दूसरे को रुपया उधार दिया, पर वह उसको लौटा न सका। ऋणदाता उसके बदले में ऋणग्रहीता को खरीद लेता है। जब तक वह रुपया न चुका दे तब तक उसकी नौकरी करता रहे'। इसी अर्थ को संक्षेप में भट्टोजी दीक्षित ने कहा है कि 'निश्चित काल के लिए किसी को वेतन या मजदूरी पर रखना' परिक्रयण कहलाता है। परिक्रयण में जो अत्यन्त उपकारक हो उसकी विकल्प से 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है। पक्ष में करण में तृतीया विभक्ति होगी। उदाहरण—शतेन शताय वा परिक्रीतः (= सौ रुपये पर रखा है)। यहाँ पर परिक्रयण (= बदले में कार्य कराना) का अत्यन्त उपकारक 'शत' है। अतः वैकल्पिक सम्प्रदान होने से चतुर्थी विभक्ति हुई—'शताय'। पक्ष में 'करण' कारक में तृतीया—'शतेन'।

अब 'उपपद' चतुर्थी-विभक्ति का विधान करने वाले चार वार्तिकों का उल्लेख किया जारहा है। वा० १—अर्थ—जिस प्रयोजन के लिए कोई कार्य किया जाय[1] (तस्मै इदं-तदर्थम्, तदर्थस्य भावः तादर्थ्यम्), उस प्रयोजन से चतुर्थी होती है। उदाहरण—मुक्तये हरिं भजति (= मुक्ति के लिए

---

१. तादर्थ्यमुपकार्योपकारकभावरूपः सम्बन्धः। यदा तादर्थ्यस्य सम्बन्धत्वेन भानं तदा षष्ठी। यथा गुरोः इदं गुर्वर्थमिति।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जायते इत्यादि। 'उत्पातेन ज्ञापिते च' (वा १४६०)। वाताय कपिला विद्युत्। 'हितयोगे च' (वा १४६१)। ब्राह्मणाय हितम्। **(५८१) क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः २। ३। १४॥** क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य तस्य स्थानिनोऽप्र-

---

सति सम्पद्यमानेऽर्थे वर्तमानात् चतुर्थी वाच्येत्यर्थः। भक्तिरिति। ज्ञानात्मना परिणमते इत्यर्थः। क्लृपीत्यर्थग्रहणमित्यभिप्रेत्योदाहरति—सम्पद्यते, जायते इत्यादीति। आदिना परिणमते इत्यादिसंग्रहः। परिणामत्वप्रकारकबोधार्थमिदं वचनम्। अन्यथा तादर्थ्य-चतुर्थ्येव सिद्धमित्याहुः। उत्पातेन ज्ञापिते चेति। अशुभसूचकः आकस्मिकः भूतविकारः उत्पातः, तेन सूचितेऽर्थे विद्यमानात् चतुर्थी वाच्येत्यर्थः। वातायेति। महावातस्य सूचिकेत्यर्थः। हितयोगे चेति। चतुर्थी वाच्येति शेषः। ब्राह्मणाय हितामिति। ब्राह्मणस्य सुखकृदित्यर्थः। याजनादीति शेषः।

(५८१) क्रियार्थं। क्रिया अर्थः प्रयोजनं यस्याः सा क्रियार्था। क्रियेति विशेष्यमध्याहार्यम्। क्रियाफलकं क्रियावाचकमिति यावत्। क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्येति विग्रहः। तुमुनो विशेषणमेतत्। उपोच्चरितं पदम् उपपदम्। स्थानिन इत्यपि तद्विशेषणम्। स्थानं प्रसक्तिरस्यास्तीति स्थानी, तस्येति विग्रहः। अप्रयुज्यमानस्येति यावत्। तादृशस्य तुमुन्नन्तस्य कर्मणि चतुर्थीति फलितम्। 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्'

हरि को भजता है)। यहाँ 'मुक्ति' प्रयोजन है, अतः उसमें चतुर्थी हुई—मुक्तये। वा० २—अर्थ—'√क्लृप्' धातु तथा तदर्थक धातुओं के प्रयोग में जो उत्पन्न अथवा परिणत (सम्पद्यमान) होता है, उससे वर्तमान में चतुर्थी विभक्ति होती है। **उदाहरण**—भक्तिः ज्ञानाय कल्पते (= भक्ति ज्ञान के लिए होती है)। प्रकृत वाक्य में √क्लृप् धातु के योग में उत्पद्यमान अर्थ में वर्तमान 'ज्ञान' है। अतः चतुर्थी विभक्ति–'ज्ञानाय'। वा० ३—अर्थ—शुभाशुभ-सूचक भौतिक विकार (उत्पातेन) से सूचित होने वाले अर्थ में 'चतुर्थी' विभक्ति होती है। **उदाहरण**—

"वाताय कपिला विद्युद् आतपायातिलोहिनी।
पीता वर्षाय विज्ञेया, दुर्भिक्षाय सिता भवेत्"॥

(= भूरे रंग की बिजली आँधी, अधिक लाल रंग की बिजली तेज धूप, पीली रंग की बिजली वर्षा और सफेद रंग की बिजली अकाल की सूचक होती है)। इस कथन में वात, आतप, वर्षण तथा अकाल इन चारों बातों का 'उत्पात' से (भूरे रंग की बिजली आदि से) ज्ञापित होना सूचित किया गया है। अतः चतुर्थी हुई—'वाताय', 'आतपाय', 'वर्षाय', 'दुर्भिक्षाय'। वा० ४—अर्थ—'हित' शब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति आती है। **उदाहरण**—ब्राह्मणाय हितम् (ब्राह्मण के लिये सुखकर)। 'हित' शब्द के योग में 'ब्राह्मण' शब्द में चतुर्थी हुई—'ब्राह्मणाय'। चतुर्थी–तत्पुरुषसमास-विधायक सूत्र 'हित' शब्द के योग में चतुर्थी होने में प्रमाण है—"चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः" (२-१-३६)।

(५८१) पद—क्रियार्थोपपदस्य, च, कर्मणि, स्थानिनः। **अनुवृत्ति**—चतुर्थी, अनभिहिते। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—क्रियार्थक-क्रिया उपपद हो किन्तु तद्वाचक 'तुमुन्' प्रत्ययान्त प्रयोग न किया गया हो, उसके कर्म में चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे—(क) फलेभ्यः याति। इसका अभिप्राय है कि 'वह फल लाने के लिए जाता है'। (ख) नमस्कुर्मः नृसिंहाय। अर्थ—नृसिंह को अनुकूल करने के लिए नमस्कार करते हैं। इसी तरह 'स्वयम्भुवे नमस्कृत्य' इत्यादि प्रयोग भी जाने जायँ।

विवरण—यहाँ से उपपद 'चतुर्थी'–विभक्ति का विधान आरम्भ होता है। तदनुसार "चतुर्थी सम्प्रदाने" (२-३-१३) सूत्र से 'चतुर्थी' पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है। इसके साथ ही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युज्यमानस्य तुमुनः कर्मणि चतुर्थी स्यात्। फलेभ्यो याति। फलान्याहर्तुं यातीत्यर्थः। नमस्कुर्मो नृसिंहाय। नृसिंहमनुकूलयितुमित्यर्थः। एवं 'स्वयम्भुवे नमस्कृत्य' इत्यादावपि। **(५८२) तुमर्थाच्च भाववचनात् २।३।१५॥** 'भाववचनाश्च' (सू० ३१८०) इति सूत्रेण यो विहितस्तदन्ताच्चतुर्थी स्यात्। यागाय याति। यष्टुं यातीत्यर्थः।

इति तुमुन्विधिमहिम्ना क्रियाफलकमुपपदं क्रियावाच्येव लभ्यते। तदाह—क्रियार्था क्रियेति। स्थानिन इत्यस्य व्याख्यानम्–अप्रयुज्यमानस्येति। फलेभ्यो यातीत्यत्र कस्य तुमुन्नन्तस्य प्रसक्तिरित्यत आह—फलान्याहर्तुमिति। इह फलाहरणक्रियार्था यानक्रिया, तद्वाचके उपपदे आहर्तुमित्यध्याहारलभ्यं तुमुन्नन्तार्थाहरणक्रियां प्रति फलानां कर्मत्वात् चतुर्थी। द्वितीयापवादः। न च तादर्थ्यचतुर्थ्या गतार्थता शङ्क्या, नहि यानक्रिया फलार्था, किन्तु फलकर्माहरणक्रियार्थैव, अतो न फलेभ्यस्तादर्थ्यचतुर्थीप्रसक्तिः। एवं च फलकर्माहरणक्रियार्था यानक्रियेति बोधः। उदाहरणान्तरमाह—नमस्कुर्म इति। तुमुन्नन्तार्थाध्याहारं दर्शयति—नृसिंहमनुकूलयितुमिति। न चात्र 'नमःस्वस्ति' इत्येव चतुर्थी सिद्धेति वाच्यम्, 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' इति द्वितीयापत्तेः। एतत्सूचनार्थमेवेदमुदाहरणान्तरं दर्शितम्।

(५८२) तुमर्थाच्च। 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' इति सूत्रम्। क्रियार्थायां क्रियायामुपपदभूतायां भविष्यति काले तुमुन्ण्वुलौ स्तः। भोक्तुं व्रजति, भोजको व्रजति, भविष्यद्भुजिक्रियार्थो व्रजतिरत्रोपपदम्। अस्य तुमुनः अर्थ इवार्थो यस्य तस्मादिति विग्रहः। भावः क्रिया, उच्यते अनेनेति वचनः, भावस्य वचनः भाववचनः, तस्मादिति

'अनभिहिते' अधिकार का प्रभाव भी विद्यमान है। अतः सूत्र से यह ज्ञात होता है कि "तुमुन्प्रत्ययान्त क्रियापद का शाब्दिक प्रयोग न होनेपर भी यदि किसी पद से उसका अर्थ अभिव्यञ्जित होता हो तो उसी तुमुन्नन्त अप्रयुज्यमान (प्रतीयमान) क्रियापद के अनुक्त कर्म में चतुर्थी विभक्ति हो"। सूत्र की वृत्ति में इसका स्पष्टीकरण इस तरह किया गया है–क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य सः–क्रियार्थोपपदः, तस्य–क्रियार्थोपपदस्य (उत्तरपदलोपी बहुव्रीहि)—अर्थात् क्रियार्थक क्रिया प्रयोजन है जिसका, उस तुमुन् प्रत्यय का शाब्दिक प्रयोग न होने पर भी (स्थानिनः अप्रयुज्यमानस्य) उसके अर्थ की प्रतीति होने पर उसके कर्म में (कर्मणि) चतुर्थी विभक्ति होती है। इस प्रकार यह 'कर्म' (कारक-विभक्ति) का अपवाद है। **उदाहरण**—(क) **फलेभ्यः याति** (=फल लाने के लिए जाता है)। यहाँ 'याति' क्रियार्थक-क्रिया है, क्योंकि उसका प्रयोग 'फल लाने के लिये' (फलानि आहर्तुं) अर्थ में किया गया है और वह उपपद भी है। तथा वाक्य में तुमुन्-प्रत्ययान्त ('आहर्तुं') का प्रयोग नहीं किया गया है। अतः उसके 'कर्म' (फल शब्द) में चतुर्थी विभक्ति हुई—'फलेभ्यः'। (ख) **नमस्कुर्मः नृसिंहाय** (= नृसिंह को अपने अनुकूल करने के लिये नमस्कार करता है)। यहाँ पर पूर्ववत् नृसिंह में चतुर्थी—'नृसिंहाय'। (ग) **स्वयम्भुवे** नमस्कृत्य (= ब्रह्मा को अनुकूल करने करने के लिये नमस्कार कर)। यहाँ भी पूर्ववत् स्वयम्भू में चतुर्थी हुई—'स्वयम्भुवे'। अन्तिम दोनों उदाहरणों में भी कारक-विभक्ति द्वितीया को बाध कर 'चतुर्थी' विभक्ति होती है।

(५८२) पद—तुमर्थात्, च, भाववचनात्। **अनुवृत्ति**—क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः, चतुर्थी, अनभिहिते। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—"भाववचनाश्च" सूत्र से जो 'यञ्' प्रत्यय होता है, तदन्त शब्द से 'चतुर्थी' होती है। जैसे—यागाय याति। इसका अर्थ—याग करने के लिए जाता है।

विवरण—पूर्व सूत्र के विषय में विस्तार किया जारहा है। अतः यहाँ पूर्वसूत्र (२-३-१४) की पूरी अनुवृत्ति अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त प्रकरणवश 'चतुर्थी' तथा अधिकारलभ्य 'अनभिहिते'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५८३) नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च २ । ३ । १६ ॥ एभिर्योगे चतुर्थी स्यात् । हरये नमः । 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' (प १०३) नमस्करोति देवान् । प्रजाभ्यः स्वस्ति । अग्नये स्वाहा । पितृभ्यः स्वधा । 'अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्' (वा १४६२) । तेन दैत्येभ्यो हरिरलं, प्रभुः, समर्थः, शक्त इत्यादि ।

विग्रहः । क्रियावाचिन इति यावत् । प्रत्ययादिति शेषः । तत्र 'अव्ययकृतो भावे' इति तुमुनो भाव एव विहितत्वेन तुमर्थकस्य प्रत्ययस्य भाववचनत्वे सिद्धे पुनर्भाववचनग्रहणं सूत्रविशेषपरिग्रहणार्थमित्याह—भाववचनाश्चेति । भावे इत्यधिकृत्य ये घञादिप्रत्यया विहिताः ते क्रियार्थक्रियायामुपपदभूतायां भविष्यति स्युरिति तदर्थः । यागाय यातीत्यादुदाहरणम् । एवं च क्रियार्थक्रियोपपदलाभार्थं तुमर्थादिति विशेषणम् । अत्र तादर्थ्यस्य तुमुनेव घञा द्योतितत्वात् 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति न्यायेन तादर्थ्यचतुर्थ्या अप्राप्तौ प्रथमायाः प्राप्तावेदं वचनम् । तुमर्थादिति किम् ? पाकः त्यागः इत्यादौ घञो भावे इत्यधिकारस्थत्वेऽपि न चतुर्थी, क्रियार्थक्रियोपपदत्वाभावेन तुमर्थकत्वाभावात् । 'भाववचनादिति' किम् ? पाचको व्रजति । पक्तुं व्रजतीत्यर्थः । 'तुमुन्ण्वुलौ' इति ण्वुल् । तस्य तुमर्थकत्वेऽपि 'भावे' इत्यधिकारे विध्यभावान्न चतुर्थी । तादर्थ्यस्य ण्वुलैवोक्तत्वान्न तादर्थ्यचतुर्थी, किन्तु प्रथमैव ।

(५८३) नमः स्वस्ति । युज्यत इति योगः, कर्मणि घञ् । नमस् इत्यादिभिर्युक्तादित्यर्थः । फलितमाह—एभिर्योगे इति । न च तादर्थ्यचतुर्थ्या गतार्थत्वं शङ्क्यम्, तादर्थ्यस्य शेषत्वविवक्षायां षष्ठीनिवारणार्थत्वात् । तादर्थ्यं हि उपकार्योपकारकभावः, तस्य यदा सम्बन्धत्वेन भानं तदा षष्ठी यथा 'गुरोरिदं गुर्वर्थम्' इति भाष्ये स्पष्टम् । एवं च नमःस्वस्त्यादियोगे तादर्थ्यस्य शेषत्वविवक्षायामपि चतुर्थ्यैवेत्येतदर्थमिदं सूत्रम् । ननु नमस्करोति देवानित्यत्रापि चतुर्थी स्यादित्यत आह—उपपदविभक्तेरिति । पदान्तरयोगनिमित्तिका विभक्तिः उपपदविभक्तिः, तदपेक्षया कारकविभक्तिर्बलीयसीत्यर्थः । 'अन्तरान्तरेण' इति सूत्रे भाष्ये पठितमिदं वचनम् । तच्च न्यायसिद्धम् । क्रियाकारकयोर्हि सम्बन्धः अन्तरङ्गः । उपपदार्थेन तु यत्किञ्चित्क्रियाकारकभावमूलकः सम्बन्ध इति तन्निमित्ता विभक्तिर्बहिरङ्गेति कैयटः । अन्ये तु उपपदविभक्त्या सम्बन्धसामान्यमवगम्यते, विशेषावगमस्तु प्रकरणादिपर्यालोचनया लभ्यः । कारकविभक्त्या तु कर्मत्वादिसम्बन्धविशेषो झटित्येवावगम्यत इति सा बलीयसीत्याहुः । नमस्करोति देवानिति ।

पदों का प्रभाव भी विद्यमान है । तदनुसार " 'तुमुन्' प्रत्यय के अर्थ में "भाववचनाश्च" (३-३-११) सूत्र से विहित 'घञ्' प्रत्ययान्त कर्मवाची शब्द से भी चतुर्थी विभक्ति होती है" । उदाहरण—यागाय याति (= यज्ञ करने के लिए जाता है) । प्रकृत उदाहरण में 'याग' शब्द √यज् धातु से 'तुमुन्' प्रत्यय के अर्थ में 'घञ्' (अ) प्रत्यय करने पर (यज्+अ<याज्+अ, <याग्+अ—याग) निष्पन्न हुआ है । इस प्रकार 'याग' शब्द तुमुन्-प्रत्ययार्थक 'घञ्' प्रत्ययान्त होने के साथ 'कर्म' भी है । अतः चतुर्थी हुई—यागाय ।

(५८३) पद—नमः··· ··योगात्, च । अनुवृत्ति—चतुर्थी । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—इन के योग में चतुर्थी होती है । जैसे—(१) **हरये** नमः । परि० उपपद-विभक्ति से कारक-विभक्ति प्रबल होती है । जैसे—नमस्करोति देवान् । (२) प्रजाभ्यः स्वस्ति । (३) अग्नये स्वाहा । (४) पितृभ्यः स्वधा । वा० 'अलम्' शब्द यहाँ 'पर्याप्ति'-अर्थ का बोधक है । इस कारण (५) दैत्येभ्यः हरिः अलं, प्रभुः, समर्थः, शक्तः इत्यादि में भी (चतुर्थी होगी) । 'प्रभु' आदि शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति भी साधु है । पाणिनि ने सूत्रों में दोनों का प्रयोग किया है—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभ्वादियोगे षष्ठ्यपि साधुः। 'तस्मै प्रभवति—' (सू १७६५) 'स एषां ग्रामणीः' (सू १८७८) इति निर्देशात्। तेन 'प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य' इति सिद्धम्। वषडिन्द्राय। चकारः पुनर्विधानार्थः। तेनाशीर्विवक्षायां परामपि 'चतुर्थी चाशिषि—' (सू ६३१)

करशिरस्संयोगादिना तोषयतीत्यर्थः। करशिरस्संयोगादिमात्रार्थत्वे अकर्मकत्वापातात्। प्रजाभ्यः स्वस्तीति। प्रजासम्बन्धि कुशलमित्यर्थः। अग्नये स्वाहेति। अग्न्युद्देश्यकं द्रव्यदानमित्यर्थः। पितृभ्यः स्वधेति। पित्रुद्देश्यकं द्रव्यदानमित्यर्थः। 'स्वं रूपं शब्दस्य' इति अलंशब्दस्यैव ग्रहणे कुमारीणामलङ्कार इत्यत्रातिव्याप्तिः। किञ्च दैत्येभ्यो हरिरलमित्यत्रैव स्यात्, दैत्येभ्यो हरिः प्रभुरित्यादौ न स्यादित्यत आह—अलमितीति। वार्तिकमेतत्। अलमित्यनेन पर्याप्त्यर्थकशब्दानां ग्रहणमित्यर्थः। तेनेति। पर्याप्त्यर्थग्रहणेनेत्यर्थः। इत्यादीति। आदिना कुमारीणामलङ्कार इत्यत्रातिव्याप्तिनिरासस्सङ्ग्रहः। ननु 'प्रभुर्बु-

---

"तस्मै प्रभवति" तथा "स एषां ग्रामणीः"। अतः 'प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य' यह प्रयोग भी उचित है। (६) वषट् इन्द्राय। सूत्र के अन्त में 'च' पद चतुर्थी के पुनर्विधान के लिए है। अतः आशीर्वाद की विवक्षा में (सूत्रक्रम में) पर होने के कारण "चतुर्थी चाऽऽशिषि०" से प्राप्त षष्ठी को बाध कर चतुर्थी ही होती हैं। जैसे—स्वस्ति गोभ्यः भूयात्।

विवरण—सूत्रार्थ उपपन्न होने के लिए "चतुर्थी सम्प्रदाने" (२-३-१३) से चतुर्थी की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार "नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलं तथा वषट्–इन छह अव्ययों के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है"। तात्पर्य यह है कि जो शब्द इन अव्ययों के साथ आयेंगे उनसे चतुर्थी विभक्ति होगी। क्रमशः **उदाहरण**—(१) **हरये** नमः (= हरि को नमस्कार है)। (२) **प्रजाभ्यः** स्वस्ति (= प्रजा का कल्याण हो)। (३) **अग्नये** स्वाहा (= अग्नि को आहुति है)। (४) **पितृभ्यः** स्वधा (= पितरों के लिये अन्नादि पदार्थ हैं)। (५) **दैत्येभ्यः हरिः अलम्** (= दैत्यों को मारने के लिये हरि समर्थ हैं)। (६) **इन्द्राय** वषट् (= इन्द्र को हविर्दान)।

प्रसङ्गवश 'उपपद-विभक्ति' और 'कारक-विभक्ति' के एक साथ एकत्र होने पर कौन बलवान् है—इस सम्बन्ध में एक परिभाषा का उल्लेख किया जारहा है। **परि० अर्थ**—'उपपद विभक्ति' से 'कारक-विभक्ति' बलवती होती है[1]। उपपद-विभक्ति और कारक-विभक्ति का अन्तर इस प्रकार है। 'जब किसी वस्तु या व्यक्ति का साक्षात् क्रिया से अन्वय सूचित करने के लिये प्रथमादि विभक्तियों का प्रयोग किया जाता है तो वे **कारक-विभक्ति** कहलाती हैं। इसके विपरीत जब किसी शब्द का क्रिया के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता तथा वाक्य में उसका अन्वय बतलाने के लिए किसी अन्य शब्द (पद) का प्रयोग करने पर जिस विभक्ति का प्रयोग होता है वह **उपपद-विभक्ति** कहलाती है'। "इस उपपद-विभक्ति से कारक-विभक्ति प्रबल होती है"। **उदाहरण**—नमस्करोति **देवान्** (= देवों को नमस्कार करता है)। इस वाक्य में 'नमः' के कारण चतुर्थी प्राप्त है और 'नमस्करोति' क्रिया के कारण 'देवान्' में द्वितीया प्राप्त होती है। 'कारक-विभक्ति' के प्रबल होने से द्वितीया हुई।

विशेष—१-यद्यपि 'अलं' अव्यय के भूषणादि अनेक अर्थ हैं, तथापि प्रकृत सूत्र में 'अलं' शब्द केवल 'पर्याप्ति' अर्थ का वाचक है। इसे **वार्तिक** द्वारा स्पष्ट किया गया है। तदनुसार यहाँ 'अलं' के साथ तदर्थक समर्थ, प्रभु, शक्त आदि शब्दों का भी ग्रहण होगा। इनके योग में भी चतुर्थी होगी। उदाहरण—**दैत्येभ्यः हरिः अलं, प्रभुः, समर्थः, शक्तः** (= दैत्यों को मारने के लिये हरि समर्थ (पर्याप्त) हैं।

---

१. क्रियाकारकयोः सम्बन्धोऽन्तरङ्गः। उपपदार्थेन तु यत्किञ्चित्-क्रियाकारकभावमूलकः सम्बन्ध इति तन्निमिता विभक्तिर्बहिरङ्गा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha and eGangotri

इति षष्ठीं बाधित्वा चतुर्थ्येव भवति। स्वस्ति गोभ्यो भूयात्। (५८४) **मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु २। ३। १७॥** प्राणिवर्जे मन्यतेः कर्मणि चतुर्थी वा स्यात्तिरस्कारे। न त्वां तृणं मन्ये, तृणाय वा। श्यना निर्देशात्तानादिकयोगे न। न त्वां तृणं

भूषुर्भुवनत्रयस्य' इत्यादौ कथं षष्ठीत्यत आह—प्रभ्वादियोगे षष्ठ्यपि साधुरिति। कुत इत्यत आह—स एषां ग्रामणीरिति निर्देशादिति। नन्वेवं सति दैत्येभ्यः प्रभुरिति चतुर्थी न स्यात्। अलंशब्दस्तु पर्याप्तीतरार्थक एव भविष्यतीत्यत आह—यस्मै प्रभवतीति। वषडिन्द्रायेति। इन्द्रोद्देश्यकं हविर्दानमित्यर्थः। ननु स्वस्ति गोभ्यो भूयात् इत्याशीर्वाक्ये चतुर्थ्येवेष्यते। तत्र 'चतुर्थी चाशिष्यायुष्य' इत्यादिना परत्वात् पक्षे षष्ठीप्रसङ्ग इत्यत आह—चकारः पुनर्विधानार्थ इति। तेनेति। पुनर्विधानसामर्थ्येनेत्यर्थः।

(५८४) मन्यकर्मणि। अप्राणिष्विति च्छेदः। 'मन ज्ञाने' दिवादिः श्यन्विकरणः, 'मनु अवबोधने' तनादिरुविकरणः। तत्र मन्येति श्यना निर्देशात् दैवादिकस्य ग्रहणमित्याह—मन्यतेरिति। कर्मणीति। अतो द्वितीयां बाधित्वा पक्षे चतुर्थीति सूचितम्। तिरस्कारे इति। अनादर इत्यस्य व्याख्यानमेतत्। 'अनादरः परिभवः परीभावस्तिरस्क्रिया' इत्यमरः। न त्वां तृणमिति। हे देवदत्त त्वां तृणत्वेनापि न मन्ये इत्यर्थः। नन्वपादानादयमर्थो लभ्यते। तृणादप्यधमत्वप्रतीतेस्तिरस्कारातिशयः फलितः। तृणं त्वां मन्ये तृणाय वेत्युक्तौ तृणसाम्यमेव प्रतीयेत। न तु ततोऽप्यपकृष्टत्वम्। एतदेवाभिप्रेत्य भाष्येऽपि नञुपात्तः। न च मन्यकर्मत्वाविशेषात् त्वामिति युष्मच्छब्दादपि चतुर्थी शङ्क्या,

---

२—'प्रभु' आदि शब्दों के योग में षष्ठी भी होती है। 'चतुर्थी' होने के सम्बन्ध में तो वार्तिक का उल्लेख किया जा चुका है। अतः दोनों विभक्तियों की समीचीनता के सम्बन्ध में भट्टोजी दीक्षित ने पाणिनि द्वारा प्रयुक्त दोनों विभक्तियों के निदर्शक सूत्रों का उल्लेख किया है। तदनुसार वे दोनों सूत्र ये हैं—(क) "तस्मै प्रभवति सन्तापादिभ्यः" (५-१-१०१), तथा (ख) "म एषां ग्रामणीः" (५-२-७८)। इस प्रकार 'तस्मै प्रभवति' तथा 'तस्य प्रभवति' दोनों प्रयोग साधु हैं। षष्ठी विभक्ति की प्रामाणिकता के फलस्वरूप महाकवि माघ ने भी शिशुपालवध (१-४९) में 'प्रभु' शब्द के साथ 'बुभूषुः' 'षष्ठी' विभक्ति का प्रयोग किया है—'प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य' (तीनों लोकों का स्वामी बनने का इच्छुक)।

३—प्रकृत सूत्र में 'च' शब्द दृढ़ता का सूचक है। 'नमः' 'स्वस्ति' आदि के योग में चतुर्थी के अतिरिक्त अन्य कोई विभक्ति नहीं होगी। अतः आशीर्वाद अर्थ में 'स्वस्ति गोभ्यः भूयात्' वाक्य में 'पर' होने के कारण "चतुर्थी च शिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः" (२-३-८३) सूत्र से प्राप्त षष्ठी विभक्ति का बाध कर 'चतुर्थी' विभक्ति ही होती है—'गोभ्यः'।

(५८४) **पद**—मन्यकर्मणि, अनादरे, विभाषा, अप्राणिषु। **अनुवृत्ति**—चतुर्थी, अनभिहिते। **विधिसूत्र** (विकल्प)।

मूलार्थ—अनादर गम्यमान होने पर 'दिवादिगण' पठित √मन् धातु के प्राणिवर्जित अनभिहित कर्म में विकल्प से 'चतुर्थी' विभक्ति होती है। जैसे—न त्वां तृणं मन्ये तृणाय वा। सूत्र में 'श्यन्' का निर्देश होने से 'तनादिगण' पठित √मन् धातु के साथ चतुर्थी नहीं होती। अतः द्वितीया होगी—न त्वां तृणं मन्वेऽहम्। सूत्रस्थ 'अप्राणिषु' पद को हटाकर नौ, काक, अन्न, शुक, शृगाल शब्दों से भिन्न कहना चाहिये। तब तो प्राणिभिन्न होने पर भी 'न त्वां नावं मन्ये' में चतुर्थी नहीं होती तथा प्राणिवाचक होने पर भी 'न त्वां शुने मन्ये' में चतुर्थी होती है।

विवरण—विशेष अर्थ को अभिलक्षित कर चतुर्थी विभक्ति का विधान किया जा रहा है। अतः पूर्ववत् 'चतुर्थी' तथा 'अनभिहिते' की अनुवृत्ति की जारही है। तदनुसार तिरस्कार अर्थ में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन्वे। अप्राणिष्वित्यपनीयं 'नौकाकान्नशुकशृगालवर्जेष्विति वाच्यम्' (वा १४६४)। तेन 'न त्वां नावमन्नं वा मन्ये' इत्यत्राऽप्राणित्वेऽपि चतुर्थी न। 'न त्वां शुने मन्ये' इत्यत्र प्राणित्वेऽपि भवत्येव। **(५८५) गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि**

अनादरद्योतके कर्मणि इत्यर्थस्य विवक्षितत्वात्। तृणमेव ह्यन्नानादरद्योतकम्, न तु युष्मदर्थः। इयनेति। तानादिकमनुधातुकर्मणि द्वितीयैव, न तु पक्षे चतुर्थीति भावः। न त्वां तृणं मन्वे इति। मनुधातोरुविकरणस्य लङुत्तमपुरुषैकवचनम्। ननु 'न त्वां नावमन्नं मन्ये' इत्यत्रापि चतुर्थीविकल्पः स्यादित्यतिव्याप्तिः। न त्वां शुने मन्ये इत्यादौ तु प्राणित्वात् चतुर्थीविकल्पो न स्यादित्यव्याप्तिः कर्मण प्राणित्वादित्यत आह—अप्राणिष्वित्यपनीयेति। न त्वां नावं मन्ये इति। जीर्णां नावं प्रति वाक्यमेतत्। न त्वामन्नं मन्ये इत्यप्युदाहार्यम्। कुत्सितमन्नं प्रति वाक्यमेतत्। उभयत्राप्यप्राणित्वेऽपि न चतुर्थीविकल्पः, किन्तु द्वितीयैवेति भावः। न त्वां शुने मन्ये इति। हे देवदत्त त्वां श्वत्वेनापि न मन्ये इत्यर्थः। न त्वां काकं मन्ये, न त्वां शुकं मन्ये, न त्वां शृङ्गालं मन्ये इत्यप्युदाहार्यम्। एषु प्राणित्वेऽपि न चतुर्थीविकल्प इति भावः।

(५८५) गत्यर्थ। शारीरपरिस्पन्दश्चेष्टा। मनसेति। अत्र शारीरचेष्टायाः अभावान्न द्वितीयाचतुर्थ्यौ, किन्तु द्वितीयैवेति भावः। 'आस्थितप्रतिषेधो वक्तव्यः' इति वार्तिकमर्थतः

(अनादरे) दिवादि-गण-पठित √मन् धातु (मन्यतेः) के प्राणिभिन्न (अप्राणिषु) कर्म में (कर्मणि) विकल्प से 'चतुर्थी' विभक्ति होती है"। पक्ष में यथाप्राप्त "कर्मणि द्वितीया" (५३७) से द्वितीया-विभक्ति होगी। जैसे—न त्वां तृणं मन्ये तृणाय वा (मैं तुम्हें तिनके के बराबर भी नहीं समझता)। यहाँ दिवादिगण पठित √मन् (मन्ये) धातु का कर्म 'तृण' प्राणिवर्जित है, अतः वैकल्पिक चतुर्थी हुई—'तृणाय'। पक्ष में द्वितीया होती है 'तृणम्'। 'तिनका भी नहीं समझता' ऐसा कहना अत्यन्त अनादर है। √मन् धातु दिवादि तथा तनादि दोनों गणों में पढ़ा गया है, किन्तु इस सूत्र में दिवादिगणस्थ विकरण 'श्यन्' (मन्+य=मन्य) का निर्देश होने से तनादि-गण-पठित √मन् धातु के योग में पाक्षिक चतुर्थी नहीं होती। वहाँ कर्म में यथाप्राप्त द्वितीया होगी—'न त्वां तृणं मन्वे'।

विशेष—१—प्रकृत सूत्र के अर्थ को अभिलक्षित कर इन दो वाक्यों में दोष सम्भावित है। (१) प्रथम 'न त्वां नावं अन्नं वा मन्ये' (=मैं तुम्हें नाव भी नहीं मानता, अन्न भी नहीं मानता)—इस वाक्य में 'नौ' शब्द के प्राणिभिन्न होने से 'चतुर्थी' प्राप्त है। (२) द्वितीय—'न त्वां शुने मन्ये' (=मैं तुम्हें कुत्ता भी नहीं समझता)—इस वाक्य में 'श्वन्' शब्द प्राणिवाचक होने से चतुर्थी का निषेध प्राप्त है। इन दोषों के निराकरण का उपाय वार्तिक द्वारा किया जारहा है। सूत्रस्थ 'अप्राणिषु' पद को हटाकर उसके स्थान में 'नौ-काकान्न-शुक-शृगाल-वर्जेषु'—पद को कहना चाहिये। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होगा कि "नौ (=नाव), काक (=कौआ), अन्न, (=अनाज) शुक, (=तोता) शृगाल (=सियार)—इनको छोड़कर तिरस्कार गम्यमान रहते दिवादिगण-पठित √मन् धातु के अनभिहित कर्म में विकल्प से चतुर्थी विभक्ति होती है"। इस प्रकार अर्थ की कल्पना कर (१) वाक्य में प्राणी न होनेपर भी 'नौ' और 'अन्न' में चतुर्थी नहीं हुई। (२) वाक्य में वार्तिक के विशेष अर्थानुसार प्राणिवाचक 'श्वन्' से चतुर्थी हो गई।

२—'न त्वां तृणाय मन्ये' इत्यादि वाक्यों में √मन् धातु के दो कर्म हैं 'तृण' तथा 'त्वाम्'। तदनुसार 'तृणाय' की तरह 'युष्मद्' शब्द में चतुर्थी क्यों नहीं हुई? इसका समाधान यह है कि 'तिरस्कार-द्योतक' कर्म से ही चतुर्थी-विभक्ति होती है। उदाहरणवाक्य में अनादर-सूचक कर्म 'तृण' है, 'युष्मद्' शब्द अनादरसूचक नहीं है। अतः 'युष्मद्' शब्द से चतुर्थी नहीं होती।

(५८५) पद—गत्यर्थकर्मणि, चेष्टायाम्, अनध्वनि। अनुवृत्ति—अनभिहिते। विधिसूत्र।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२।३।१२॥ अध्वभिन्ने गत्यर्थानां कर्मण्येते स्तश्चेष्टायाम्। ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति। 'चेष्टायाम्' किम्? मनसा हरिं व्रजति। 'अनध्वनि' इति किम्? पन्थानं गच्छति। गन्त्राऽधिष्ठितेऽध्वन्येवायं निषेधः। यदा तूत्पथात्पन्था एवाक्रमितुमिष्यते तदा चतुर्थी भवत्येव। उत्पथेन पथे गच्छति। (५८६) ध्रुवमपायेऽपादानम् १।४।२४॥ अपायो

संगृह्णाति—गन्त्राऽधिष्ठिते इति। गन्त्राक्रान्ते अध्वन्येव अनध्वनीत्ययं निषेध इत्यर्थः। यथा—पन्थानं गच्छतीति। पन्थानं प्राप्नोतीत्यर्थः। अत्र पथः प्राप्त्याश्रयत्वेन गन्त्राधिष्ठितत्वान्निषेधः। अस्य वार्तिकस्य प्रयोजनमाह—यदा त्विति। उत्पथादिति। अमार्गादित्यर्थः। ल्यब्लोपे पञ्चमी। उज्जयिनीं प्राप्तुं प्रस्थितः मोहात्तन्मार्गात् प्रच्युतो मार्गान्तरं प्रविष्टः, तं परित्यज्य पुनरुज्जयिनीमार्गः आक्रमितुमिष्यते, तदा अनध्वनीति निषेधाभावाच्चतुर्थ्यपि भवत्येवेत्यर्थः। तादृशं लक्ष्यं दर्शयति—उत्पथेन पथे गच्छतीति। उत्पथेनेत्यनन्तरं गन्तुमशक्त इति शेषः। उत्पथेन उज्जयिनीं प्राप्तुमशक्तः। उत्पथं परित्यज्य उज्जयिनीमार्गं प्रवेष्टुं तदीयमार्गमनुसरतीत्यर्थः। अत्र उज्जयिनीमार्गस्य गन्त्राधिष्ठितत्वाभावात् अनध्वनीति निषेधो न भवति, अतश्चतुर्थी भवति, पक्षे द्वितीया चेति भावः। इति चतुर्थीविभक्तिः।

(५८६) अथ पञ्चमी विभक्तिः। ध्रुवमपाये। अपायपदं व्याचष्टे—अपायो विश्लेष इति।

मूलार्थ—यदि गति में चेष्टा हो तो गत्यर्थक धातुओं के मार्गरहित कर्म में द्वितीया और चतुर्थी दोनों विभक्तियाँ होती है। जैसे—ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति। 'चेष्टायां' का क्या प्रयोजन है? मनसा हरिं व्रजति। 'अनध्वनि' का क्या प्रयोजन हैं? पन्थानं गच्छति। यह निषेध मार्ग चलने के अर्थ में ही है, अतः जब कोई कुमार्ग से सन्मार्ग की ओर आता है तो चतुर्थी ही होती है। जैसे—उत्पथेन पथे गच्छति।

विवरण—विशेष स्थिति में गत्यर्थक धातुओं के कर्म में चतुर्थी का विधान किया जारहा है। कर्म में द्वितीया प्राप्त रही। सूत्रस्थ 'अनध्वनि' पद के अन्तर्गत 'अध्वन्' शब्द अर्थपरक है। 'अनभिहिते' अधिकार का प्रभाव पूववत् विद्यमान है। तदनुसार सूत्र का अर्थ यह होगा—"यदि गति में (क्रिया करने में) शारीरिक चेष्टा हो तो गत्यर्थक धातुओं के कर्म में द्वितीया और चतुर्थी दोनों विभक्तियाँ होती हैं, किन्तु कर्म में प्रयुक्त शब्द 'मार्ग' वाची न हो"। **उदाहरण—ग्रामं ग्रामाय** वा गच्छति (= गाँव को जाता है)। यहाँ √गम् धातु का प्रयोग है, उसका कर्म ग्राम है। वह मार्ग वाची शब्द से भिन्न है। 'गति' (क्रिया) में शारीरिक चेष्टा भी है। अतः द्वितीया—'ग्रामम्' तथा चतुर्थी—'ग्रामाय' दोनों विभक्तियाँ हुई।

प्रत्युदाहरण—(१) 'गत्यर्थ' क्रिया में 'शारीरिक चेष्टा' होने पर ही द्वितीया तथा चतुर्थी-विधान अपेक्षित होने से 'मनसा हरिं व्रजति' में (= मन से हरि के पास जाता है) चतुर्थी नहीं हुई। कारण यह है कि 'मानसिक क्रिया' में बाह्य चेष्टा नहीं होती। (२) मार्गवाची शब्द (अनध्वनि) कर्म के रूप में ग्रहण न किये जाने के फलस्वरूप 'पन्थानं गच्छति' (रास्ता चलता है) में 'पथिन्' शब्द से चतुर्थी नहीं हुई, क्योंकि यहाँ गत्यर्थक 'धातु' (√गम्) का कर्म 'पथिन्' (= मार्ग) ही है।

विशेष—उपर्युक्त निषेध उसी मार्ग के सम्बन्ध में प्रवृत्त होता है जिस मार्ग पर गमन-कर्ता (गन्ता) अवस्थित हो (अर्थात् उस मार्ग के ऊपर चल रहा हो)। अतः 'पन्थानं गच्छति' में निषेध प्रवृत्त होगा। किन्तु 'उत्पथेन पथे गच्छति' (बुरे मार्ग से अच्छे मार्ग पर आता है) में चतुर्थी का निषेध नहीं हुआ। कारण यह है कि व्यक्ति-विशेष अभी अच्छे मार्ग पर आया नहीं है किन्तु आने की चेष्टा कर रहा है।

(५८६) पद—ध्रुवम्, अपाये, अपादानम्। अनुवृत्ति—कारके। संज्ञासूत्र।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्लेषः तस्मिन्साध्ये ध्रुवमवधिभूतं कारकमपादानं स्यात् । (५८७) **अपादाने पञ्चमी** २ । ३ । २८ ॥ ग्रामादायाति । धावतोऽश्वात्पतति । 'कारकम्' किम् ? वृक्षस्य पर्णं पतति । 'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसङ्ख्यानम्' (वा० १०७९) । पापाज्जुगुप्सते,

---

वियोग इत्यर्थः । ध्रुवपदं व्याचष्टे—अवधिभूतमिति । द्वयोः संयुक्तयोरन्यतरस्य चलना-द्विश्लेष इति स्थितिः । तत्र तादृशचलनाऽनाश्रयभूतं ध्रुवम् । तच्चेहार्थादवधिभूतं विवक्षितमिति भावः ।

(५८७) अपादाने इति । स्पष्टत्वान्न व्याख्यातम् । ग्रामादायातीति । आगच्छतीत्यर्थः । कस्मादित्याकाङ्क्षाविषयत्वात् ग्रामोऽवधिरिति अपादानत्वात् पञ्चमी । माथुराः पाटलि-पुत्रकेभ्य आढ्यतराः इत्यादौ बुद्धिकल्पितविशेषावधित्वमादाय अपादानत्वमिति भाष्ये स्पष्टम् । ननु विश्लेषानुकूलचलनानाश्रयभूतं यत् तदेव ध्रुवमिति व्याख्यायताम्, किमवधित्वविवक्षयेत्यत आह—धावतोऽश्वात् पततीति । अश्वस्य चलनाश्रयत्वेऽपि पतनक्रियां प्रति कस्मादित्याकाङ्क्षाविषयत्वलक्षणमवधित्वं न विरुद्धमिति भावः । जुगुप्सेति । जुगुप्सा-द्यर्थकधातुभिर्योगे जुगुप्सादिविषयस्यापादानत्वमित्यर्थः । पापाज्जुगुप्सत इति । पापविषये

मूलार्थ—पृथक् होना 'अपाय' है । विश्लेष (पार्थक्य) साध्य होने पर ध्रुव या अवधिभूत कारक को 'अपादान' कहते हैं ।

विवरण—यहाँ 'अपदान' संज्ञा है तथा 'अपाये ध्रुवम्' संज्ञा । "कारके" (१-४-२३) का अधिकार चल रहा है । अतः 'अपादान' कारक की परिभाषा बताई जारही है । सूत्रस्थ 'अपाय' शब्द का अर्थ है अलग होना । 'ध्रुव' शब्द का अर्थ है—निश्चित अर्थात् जो स्थिर रहे । तद-नुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "दो वस्तुओं के विश्लेष (अलग) होने पर जो वस्तु अपनी जगह से नहीं हटती (ध्रुवम्), उस कारक की 'अपादान' संज्ञा होगी" । अपादान की परिभाषा 'वाक्यपदीय' में इस प्रकार कही गई है—

"अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाऽचलम् ।
ध्रुवमेवातदावेशात् तदपादानमुच्यते ॥"

अर्थात् अपाय (अलग) होने में जो उदासीन हो, वह (चाहे चल या अचल हो) 'ध्रुव' ही कहलाता है । कारण यह है कि वह वियोग-कारक क्रिया का आश्रय नहीं है । अतः वह अपादान कहा जाता है ।

निष्कर्ष—कायसंसर्ग अथवा बुद्धिसंसर्ग-पूर्वक अपाय की विवक्षा होने पर अवधिभूत ध्रुव अपादान कहा जाता है । यह तीन प्रकार का होता है—(१) निर्दिष्ट-विषय, (२) उपात्त-विषय तथा (३) अपेक्षितक्रिय । (१) धातु के द्वारा पार्थक्य-विषय निर्दिष्ट होने पर 'निर्दिष्ट-विषय' कहलाता है । जैसे—'ग्रामात् आगच्छति' (= गाँव से आता है) । (२) जहाँ एक क्रिया अन्य क्रिया के अर्थ के अङ्गरूप में स्वार्थ को व्यक्त करती है, वहाँ 'उपात्त-विषय' होता है । जैसे—'बलाहकात् विद्योतते' (= बादल से निकलकर प्रकाश चमकता है) । (३) जहाँ क्रियापद की प्रतीति होती है, किन्तु प्रयोग नहीं हुआ रहता, वह अपेक्षितक्रिय है । जैसे—'माथुराः पाटलिपुत्र-केभ्यः आढ्यतराः' (= मथुरावासी पाटलिपुत्रनिवासियों से अधिक धनी हैं) ।

(५८७) पद—अपादाने, पञ्चमी । **अनुवृत्ति**—अनभिहिते । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—(अपादान में पञ्चमी होती है) । जैसे—ग्रामात् आयाति । धावतः अश्वात् पतति । 'कारक' कहने का क्या प्रयोजन है ? वृक्षस्य पर्णं पतति । वा० निन्दा, विराम तथा प्रमादार्थक धातुओं के कारक की 'अपादान' संज्ञा होती है । जैसे—(क) (ख) पापात् जुगुप्सते, विरमति । (ग) धर्मात् प्रमाद्यति ।

विवरण—आधिकारिक पद 'अनभिहिते' का अनुवृत्तिजन्यप्रभाव विद्यमान है । तदनुसार "अनभिहित (अनुक्त) अपादान कारक में पञ्चमी विभक्ति होती है" । **उदाहरण**—(१) ग्रामात्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरमति । धर्मात्प्रमाद्यति । (५८८) **भीत्रार्थानां भयहेतुः १ । ४ । २५ ॥** भयार्थानां त्राणार्थानां च प्रयोगे हेतुरपादानं स्यात् । चोराद् बिभेति । चोरात्त्रायते । 'भयहेतुः'

न प्रवर्तत इत्यर्थः । विरमतीति । पापादित्यनुषज्यते । पापविषये न प्रवर्तत इत्यर्थः । धर्मात् प्रमाद्यतीति । धर्मविषये मुह्यतीत्यर्थः । वास्तवसंयोगविश्लेषयोरभावात् वचनमिदम् । यदा तु जुगुप्सते इत्यादेर्जुगुप्सादिभिर्निवर्तत इत्यर्थ आश्रीयते, तदा बुद्धिकृतविश्लेषावधित्वमादाय अपादानत्वादेव सिद्धमिति वार्तिकमिदं भाष्ये प्रत्याख्यातम् ।

(५८८) भीत्रा । चोराद् बिभेतीति । **चोरेण हेतुनेत्यर्थः** । हेतुतृतीया प्राप्ता । चोरात्त्रायत इति । **चोरेण हेतुना आत्मानं** तत्कृतवधबन्धनादिनिवृत्त्यै रक्षतीत्यर्थः । यदा तु चोरात्

आयाति । (=गाँव से आता है) । कहाँ से आता है—इस प्रकार आकाङ्क्षा का विषय ग्राम है । वह आने वाले का अवधिरूप है । अतः अपादान कारक हुआ । इस हेतु 'अपादान' में 'पञ्चमी' हुई । (२) धावतः अश्वात् पतति (= दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है) । यहाँ पर घोड़ा पतन-क्रिया की अवधि है[1], अतः 'अश्वात्' में पञ्चमी ।

प्रत्युदाहरण—'कारके' अधिकार के फलस्वरूप 'किसी' के पृथक् होने में 'ध्रुव' (निश्चल वस्तु) का कारक होना अपेक्षित है । अतः 'वृक्षस्य पर्णं पतति' (= वृक्ष का पत्ता गिरता है)—इस उदाहरण में 'वृक्षस्य' का सम्बन्ध 'पतति' से न होकर 'पर्णं' के साथ है, अतः षष्ठी विभक्ति हुई है । 'सम्बन्ध' कारक न होने से पञ्चमी नहीं होती । **वा० अर्थ**—घृणा, विराम (रुकना) तथा प्रमादार्थक (असावधानी) धातुओं के कारक की अपादान संज्ञा होती है । उसका फल यह होता है कि जुगुप्सा आदि के विषय में पञ्चमी विभक्ति होती है । बुद्धिकृत विभाग गौण होने के कारण "ध्रुवमपायेऽपादानम्" सूत्र से अपादान-संज्ञा प्राप्त नहीं रही, अतः वार्तिक द्वारा उसका विधान किया जारहा है । **उदाहरण**—(क) (ख) **पापात् जुगुप्सते, विरमति वा** (पाप से घृणा करता है, पाप करने से रुकता है) । (ग) धर्मात् प्रमाद्यति (= धर्म से प्रमाद करता है) । इन तीनों वाक्यों में क्रमशः पाप तथा धर्म में जुगुप्सा, विराम तथा प्रमादार्थक क्रिया के योग में 'अपादान' संज्ञा होती है । अतः पञ्चमी विभक्ति हुई ।

विशेष—महाभाष्यकार के मतानुसार 'कारक' प्रकरण में गौण-मुख्य न्याय प्रवृत्त नहीं होता । अतः बुद्धिगत 'अपाय' का आश्रयण कर सूत्र से ही 'अपादान' संज्ञा होती है । तदनुसार उन्होंने इस वार्तिक को अनावश्यक बताया है ।[2]

(५८८) **पद**—भीत्रार्थानां, भयहेतुः । **अनुवृत्ति**—अपादानम्, कारके । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—भयार्थक और रक्षणार्थक धातुओं के योग में 'भय' के हेतु की 'अपादान' संज्ञा होती है । जैसे—(क) चोराद् बिभेति । (ख) चोरात् त्रायते । 'भयहेतु' कहने का क्या प्रयोजन है ? अरण्ये बिभेति त्रायते वा ।

विवरण—आधिकारिक प्रभाव से 'कारके' तथा प्रकरणवश 'अपादानम्'—इन दोनों पदों का लाभ अनुवृत्ति द्वारा होता है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "भयार्थक और रक्षार्थक धातुओं के प्रयोग में भय का हेतुरूप कारक 'अपादान' संज्ञक हो" । **उदाहरण**—(क) **चोराद् बिभेति** (= चोर से डरता है) तथा (ख) **चोरात् त्रायते** (चोर से बचाता है) । इन

---

१. 'पततो ध्रुव एवाश्वो यस्मादश्वात् पतत्यसौ ।
तस्याप्यश्वस्य पतने कुड्यादि ध्रुवमिष्यते' ॥

२. एषां धातूनां स्वार्थपूर्वकबौद्धविश्लेषजनकनिवृत्तिलक्षणया सूत्रेणैव सिद्धत्वेदं वार्तिकम् उत्तरसूत्राणि च प्रत्याख्येयानीति स्पष्टं भाष्ये । एतेन तत्तदर्थपूर्वकनिवृत्तिलक्षणयाऽपादानत्वसिद्धौ सम्बन्धित्वेन विवक्षायां प्राप्तायाः षष्ठ्या बाधनार्थमिमानीति शङ्का निरस्ता ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किम् ? अरण्ये बिभेति, त्रायते वा। **(५८९) पराजेरसोढः १। ४। २६॥** पराजेः प्रयोगेऽसह्योऽर्थोऽपादानं स्यात्। अध्ययनात्पराजयते। ग्लायतीत्यर्थः। 'असोढः' किम् ?

बिभेति भीत्या निवर्तते, चोरात्त्रायते आत्मानं त्रातुं निवर्तयतीत्यर्थः आश्रीयते, तदा बुद्धिकल्पितविश्लेषावधित्वमादायापादानत्वं सिद्धमिति इदं सूत्रं भाष्ये प्रत्याख्यातम्।

(५८९) पराजेरसोढः। सहधातोः क्तप्रत्यये धत्वढत्वष्टुत्वढलोपेषु कृतेषु 'सहिवहोरोदवर्णस्य' इत्योत्त्वे सोढ इति रूपम्। तत्र क्तार्थो भूतकालो न विवक्षितः। तदाह असह्योऽर्थ इति। सोढुमशक्य इत्यर्थः। हेतुतृतीयाऽपवादोऽयम्। ग्लायतीत्यर्थ इति। असहनादिति शेषः। यदा तु असहनान्निवर्तत इत्यर्थं आश्रीयते, तदा ध्रुवमित्यपादानत्वादेव

दोनों उदाहरणों में क्रमशः 'भय' और 'रक्षा' हेतु 'चोर' की 'अपादान' संज्ञा होने से पञ्चमी विभक्ति हुई।

प्रत्युदाहरण—सूत्र द्वारा 'भयहेतु' (भयहेतुः) की अपादान संज्ञा किये जाने के फलस्वरूप 'अरण्ये बिभेति त्रायते वा' (जंगल में डरता है या रक्षा करता है)—इन उदाहरणों में 'अरण्य' भय का कारण न होने से, उसकी अपादानसंज्ञा नहीं हुई। यदि अरण्य को ही भय का कारण माना जाय तो 'अरण्याद् बिभेति' (जंगल से डरता है) यह प्रयोग भी समीचीन होगा।

विशेष—बुद्धिपरिकल्पित विशेष अवधिरूप का आश्रयण कर भाष्यकार ने इस सूत्र को भी अनावश्यक बतलाता है[1]। तदनुसार उन्होंने 'चोराद् बिभेति' का अर्थ 'चोर के डर से भाग जाता है'—यह माना है।

(५८९) पद—पराजेः, असोढः। **अनुवृत्ति**—अपादानम्, कारके। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—'परा' पूर्वक √जि धातु के योग में 'असह्य' की अपादान संज्ञा होती है। जैसे—अध्ययनात् पराजयते। अर्थात् हार मानता है। 'असोढः' का क्या प्रयोजन है ? शत्रून् पराजयते। अर्थात् हराता है।

विवरण—विशेष स्थिति में 'अपादान' संज्ञा की जारही है। प्रकरणवश "ध्रुवमपायेऽपादानम्" (१-४-२४) से 'अपादानम्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। सूत्रस्थ 'असोढः' पद में 'क्त' प्रत्यय का अर्थ भूतकाल विवक्षित नहीं है, किन्तु 'शक्य' अर्थ विवक्षित है। तदनुसार " 'परा'पूर्वक 'जि' धातु के प्रयोग में जो सहन न किया जा सके, उस कारक की 'अपादान' संज्ञा होती है"। फलतः पञ्चमी विभक्ति होगी। इस प्रकार यह 'हेतु'तृतीया का अपवाद है। **उदाहरण**—अध्ययनात् पराजयते (= पढ़ाई से भागता है अर्थात् पढ़ाई के श्रम को सहन नहीं कर सकता)। यहाँ 'असह्य' से तात्पर्य 'अध्ययन' है, अतः पञ्चमी विभक्ति हुई। यदि 'असहन होने के कारण पढ़ाई से विमुख होता है'—इस प्रकार अर्थ अपेक्षित हो तो "ध्रुवमपायेऽपादानम्" (१-४-२४) से ही 'अपादान' संज्ञा सिद्ध हो सकती है।[2]

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'असोढः' पद के अभाव में सामान्यतः परा+ √जि के योग में अपादान संज्ञा होने लगेगी। वह न हो। अतः 'शत्रून् पराजयते' (= शत्रुओं को हराता है) में 'शत्रुओं' के असह्य न होने के कारण 'अपादान' संज्ञा नहीं हुई। इस तरह वहाँ द्वितीया हुई।

---

१. "य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी सुहृद् भवति स पश्यति यदोमं चौराः पश्यन्ति ध्रुवमस्य वधबन्धनपरिक्लेशा इति स बुद्धया संप्राप्य निवर्तयति। तत्र 'ध्रुवमपायेऽपादान'मित्येव सिद्धम्"। महाभाष्यम्।

२. "अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्। कथमध्ययनात् पराजयते इति। य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति दुःखमध्ययनं दुर्धरं च, गुरवश्च दुरुपचारा इति स बुद्धया सम्प्राप्य निवर्तते। तत्र "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इत्येव सिद्धमिति"। महाभाष्यम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शत्रून्पराजयते । अभिभवतीत्यर्थः । (५९०) **वारणार्थानामीप्सितः । १ । ४ । २७ ॥** प्रवृत्तिविघातो वारणम् । वारणार्थानां धातूनां प्रयोगे ईप्सितोऽर्थोऽपादानं स्यात् । यवेभ्यो

सिद्धमिति भाष्यम् । अभिभवतीति । तिरस्करोतीत्यर्थः । अत्र शत्रूणामभिभवनीयतया असह्यत्वान्नापादानता ।

(५९०) वारणार्थानामीप्सितः । प्रवृत्तिविमुखीकरणं वारणम् । यवेभ्य इति । यवेषु प्रवर्तितुकामां गां प्रवृत्तिविमुखीकरोतीत्यर्थः । संयोगपूर्वकविश्लेषाभावात् 'ध्रुवमपाये' इत्यप्राप्तविदं वचनम् । तत्र यवानां स्वकीयतया संरक्षणीयत्वेन ईप्सितत्वादपादानत्वं, न तु गोः, तस्याः परकीयत्वेनानीप्सितत्वात्, वारणीयतया ईप्सितत्वव्याघाताच्च । तथा च 'तथायुक्तं च' इति गोः कर्मत्वात् द्वितीया । यदा तु यवाः परकीयाः, गौस्तु स्वकीया, तदा वारणमसम्भावितमेव । वस्तुतस्तु यवानां परकीयत्वेऽपि तद्विनाशादधर्मः स्यात् । यवस्वामी गामपहृत्य बध्नीयात् । गोस्वामिनं च यवस्वामी दण्डयेत् । अतो यवानां रक्षितुमिष्टत्वात् ईप्सितत्वादपादानत्वमस्त्येव । गोस्तु स्वकीयत्वेऽपि बाधकनिवृत्त्यै वारयितुमिष्टतमत्वात् कर्मत्वम् । न च गोरीप्सिततमत्वेऽपि ईप्सितत्वस्यापि सत्त्वादपादानत्वं किं न स्यादिति वाच्यम्, ईप्सिततमत्वे 'वारणार्थानाम्' इत्यपादानत्वं बाधित्वा 'कर्तुरीप्सिततमम्' इति कर्मत्वस्यैव परत्वात् प्राप्तः । न च 'वारणार्थानामीप्सितः' इत्यपादानत्वस्य 'कर्तुरीप्सिततमम्' इति कर्मत्वापवादत्वं शङ्क्यम्, 'कर्तुरीप्सिततमम्' इति कर्मत्वं हि ईप्सिततममात्रविषयम् । वारणार्थानामित्यपादानत्वं तु ईप्सितविषयम् । तस्य प्रकृते ईप्सितेषु यवेषु परकीयेषु सावकाशत्वात् न 'कर्तुरीप्सिततमम्' इति कर्मत्वापवादत्वम् । अतः परत्वात् गोः स्वकीयायाः परकीययवापेक्षया ईप्सिततमत्वात् कर्मत्वमेव । न च अग्नेर्माणवकं वारयतीत्यत्र अग्नेरीप्सितत्वाभावात् कथमपादानत्वमिति वाच्यम्, इष्टत्वभ्रमादग्नौ विषये स्पर्शनफलकप्रवृत्त्यभिमुखं माणवकं प्रवृत्तिविमुखीकरोतीति हि तदर्थः । तत्राग्निस्पर्शे माणवकस्य दाहप्रसङ्गात् तद्विषयप्रवृत्तिविमुखीकरणात्मकवारणक्रियया आप्तुमिष्टतमत्वेन वारयितुरीप्सिततमत्वात् माणवकस्य कर्मत्वम् । अग्नेस्तु वारणक्रियेप्सिततममाणवकीयस्पर्शक्रियया आप्तुमिष्टतमत्वेऽपि

---

(५९०) पद—वारणार्थानाम्, ईप्सितः । अनुवृत्ति—अपादानम्, कारके । संज्ञासूत्र ।

मूलार्थ—वारणार्थक धातुओं के योग में ईप्सित अर्थ 'अपादान' होता है । जैसे—यवेभ्यः गां वारयति । 'ईप्सित' कहने का क्या प्रयोजन है ? यवेभ्यः गां वारयति क्षेत्रे ।

विवरण—इस सूत्र से भी विशेष स्थिति में 'अपादान' संज्ञा का विधान किया जारहा है । तदनुसार 'अपादानम्' तथा 'कारके' पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् की जारही है । अतः "वारणार्थक धातुओं के योग में 'इष्ट' (ईप्सित) (कारक) की 'अपादान' सज्ञा होती है" । **उदाहरण**—यवेभ्यः गां वारयति (= जौ से गाय को हटाता है) । यहाँ 'यव' ईप्सित हैं । उसकी 'अपादान' संज्ञा हुई, अतः पञ्चमी—'यवेभ्यः' । 'गाय' दूसरे की होने के कारण 'ईप्सित' नहीं है । वह हटायी जाती है, अतः अनीप्सित है । इसके फलस्वरूप "तथायुक्तं चानीप्सितम्" (१-४-५०) से 'कर्म'संज्ञा होने के कारण द्वितीया हुई—'गाम्' । भाष्यकार ने बुद्धिपरिकल्पित विश्लेषजन्य 'अपादान' का आश्रयण कर "ध्रुवमपायेऽपादानम्" (१-४-२४) से ही निर्वाह होना सम्भव बताया है ।[1]

---

१. 'अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम् । कथं यवेभ्यो गां वारयतीति ? पश्यत्ययं यदीमा गावस्तत्र गच्छन्ति, ध्रुवः सस्यविनाशः, सस्यविनाशेऽधर्मश्चैवं राजभयं च । स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तयति । तत्र "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इत्येव सिद्धम्" । महाभाष्यम् ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गां वारयति। 'ईप्सितः' किम्? यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे। (५९१) **अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति १।४।२८॥** व्यवधाने सति यत्कर्तृकस्यात्मनो दर्शनस्याभावमिच्छति तदपादानं स्यात्। मातुर्निलीयते कृष्णः। अन्तर्धौ किम्? चौरान् न दिदृक्षते। इच्छतिग्रहणं किम्? अदर्शनेच्छायां सत्यां सत्यपि दर्शने यथा स्यात्। (देवदत्ताद्यज्ञदत्तो

वारयितुरीप्सितत्वात् अपादानत्वम्। एतेन कर्तुर्व्यापारजन्यफलाश्रयः कर्मेत्येवास्तु, 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' 'तथायुक्तं चानीप्सितम्' इति किमीप्सिततमानीप्सितयोः पृथग्ग्रहणेन। एतावतैव हरिं भजति, ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति, विषं भुङ्क्ते इत्यादिसर्वलक्ष्यसङ्ग्रहादिति निरस्तम्। कर्तृव्यापारजन्यफलाश्रयः कर्म इत्युक्तौ हि 'वारणार्थानाम्' इति सूत्रमस्यापवादः स्यात्, विशेषविहितत्वात्। तथा च माणवकस्य कर्मत्वं न स्यात्। न चाग्नौ 'वारणार्थानाम्' इति सावकाशमिति वाच्यम्, वारयतेर्ह्यत्र स्पर्शफलकप्रवृत्तिविघटनमर्थः। तच्चान्यतो नयनादिरूपम्। तादृशव्यापारप्रयोज्यफलं माणवककर्तृकस्पर्शफलकप्रवृत्तिविरहः। तत्र स्पर्शांशोऽग्निनिष्ठः माणवकनिष्ठश्च, संयोगरूपस्य स्पर्शस्य द्विनिष्ठत्वात्। प्रवृत्तिविरहश्च विषयतया अग्निनिष्ठः आश्रयतया माणवकनिष्ठश्च। तथा च कर्तृव्यापारप्रयोज्यफलाश्रयत्वलक्षणकर्मत्वस्य परत्वादुभयत्रापि प्राप्तौ 'वारणार्थानाम्' इत्यपादानत्वं निरवकाशत्वादपवादः स्यादिति माणवकादपि पञ्चमी स्यात्, तद्बाधनार्थं 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इत्यारब्धव्यम्। एवञ्च ईप्सितमात्रे अग्नौ सावकाशस्यापादानत्वस्य परत्वादीप्सिततमे माणवके बाधः सिध्यति। कर्तुरीप्सिततममित्यारब्धे च द्वेष्योदासीनसङ्ग्रहार्थं 'तथायुक्तम्' इत्यप्यारब्धव्यमित्यास्तां तावत्। भाष्ये तु बुद्धिकल्पितसंयोगविश्लेषकृतमपादानत्वमाश्रित्य प्रत्याख्यातमिदं सूत्रम्।

(५९१) अन्तर्धौ। अन्तर्धावित्येतत् व्याचष्टे—व्यवधाने सतीति। व्यवधानेनेति यावत्। यत्कर्तृकस्येति। येनेति कर्तृतृतीयेति भावः। आत्मनो दर्शनस्येति। आत्मन इति दर्शनशब्दयोगे कर्मणि षष्ठी। आत्मन इत्यध्याहारलभ्यम्। अत एव येनेति कर्तरि तृतीया सङ्गच्छते। अन्यथा कृद्योगषष्ठीप्रसङ्गात्। आत्मन इत्यध्याहारे तु उभयप्राप्तौ कर्मण्येवेति नियमान्न कृद्योगषष्ठी। आत्मशब्देन इच्छतिकर्ता विवक्षितः। व्यवधानेन स्वविषये

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'ईप्सित' पद का निवेश करने पर 'यवेभ्यः गां वारयति क्षेत्रे' (=खेत में गाय को जौ से हटाता है) में 'क्षेत्रे' शब्द से पञ्चमी नहीं होती, क्योंकि निवारण करने में 'क्षेत्र' इष्ट वस्तु नहीं है। 'आधार' होने से अधिकरण में सप्तमी हुई।

(५९१) पद—अन्तर्धौ, येन, अदर्शनम्, इच्छति। अनुवृत्ति—अपादानम्, कारके। संज्ञासूत्र।

मूलार्थ—'छिपाना' अर्थ में जिससे अपने आपको छिपाना चाहता है, उसकी 'अपादान' संज्ञा होती है। जैसे—मातुः निलीयते कृष्णः। 'अन्तर्धौ' का क्या प्रयोजन है? चौरान् न दिदृक्षते। 'इच्छति' पद का क्या प्रयोजन है? छिपने की इच्छा होने पर यदि दिखाई पड़ जाय तो भी अपादान संज्ञा हो (देवदत्ताद् यज्ञदत्तः निलीयते)।

विवरण—पूर्वक्रमानुसार विशेष अर्थ को अभिलक्षित कर 'अपादान' संज्ञा की जारही है। 'अपादानम्' तथा 'कारके' दोनों पदों का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार 'व्यवधान के कारण जिससे छिपना चाहता हो, उस कारक की 'अपादान' संज्ञा होती है"। उदाहरण—मातुः निलीयते कृष्णः (= कृष्ण माता से छिपता है)। व्यवधानार्थक 'ली' धातु के योग में 'कृष्ण माता से छिपने का इच्छुक है' अतः 'मातृ' शब्द की 'अपादान' संज्ञा होने के फलस्वरूप 'पञ्चमी' विभक्ति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निलीयते)। (५९२) आख्यातोपयोगे १।४।२९॥ नियमपूर्वकविद्यास्वीकारे वक्ता प्राक्संज्ञः स्यात्। उपाध्यायादधीते। उपयोगे किम्? नटस्य (गाथां) शृणोति।

यत्कर्तृकदर्शनस्य अभावमिच्छतीति यावत। मातुर्निलीयते कृष्ण इति। 'लीङ् श्लेषणे' श्यन्विकरणः। इह तूपसर्गवशात् व्यवधानेन परकर्तृकस्वविषयकदर्शनविरहानुकूलव्यापारे वर्तते। ततश्च कृष्णः मातृकर्तृकस्वविषयकदर्शनविरहाय कुड्यादिना प्रच्छन्नो भवतीत्यर्थः। अत्र व्यवधानमाश्रित्य मातृकर्तृकस्वविषयदर्शनविरहस्य कृष्णेनेष्यमाणतया मातुरपादानत्वात् पञ्चमी। कर्तृतृतीयापवादोऽयं षष्ठ्यपवादो वा। भाष्ये तु बुद्धिकृतमपादानत्वमाश्रित्य इदमपि प्रत्याख्यातम्।

(५९२) आख्यातोपयोगे। आख्याता उपयोगे इति छेदः। आख्यातेति तृजन्तात् प्रथमैकवचनम्। उपयोगपदं व्याचष्टे—नियमपूर्वकेति। भाष्ये तथोक्तेरिति भावः। आख्यातेति तृजन्तं व्याचष्टे—वक्तेति। अध्यापयितेत्यर्थः। उपाध्यायादधीते इति। नियमविशेषपूर्वकम् उपाध्यायस्योच्चारणम् अनूच्चारयतीत्यर्थः। षष्ठ्यपवादोऽयम्। भाष्ये तु उपाध्यायान्निर्गतं वेदं गृह्णातीत्यर्थमाश्रित्य प्रत्याख्यातमिदम्।

हुई। इस प्रकार सूत्रकार के मत में यह विधान 'कर्तृ' तृतीया या 'षष्ठी' का अपवाद है। भाष्यकार ने तो बुद्धिपरिकल्पित अपादान का आश्रयण कर इस सूत्र को भी अनावश्यक बतलाया है।[1]

प्रत्युदाहरण—यदि सूत्र में 'अन्तर्धौ' पद न होता तो व्यवधान अथवा ओट के न होने पर केवल छिपाना मात्र अर्थ में भी 'अपादान' संज्ञा हो जाती। वह न हो। अतः 'अन्तर्धौ' पद का समावेश किया गया है। इसके फलस्वरूप 'चौरान् न दिदृक्षते' (= चोरों को नहीं देखना चाहता) में व्यवधान अर्थ न होने से 'अपादान' संज्ञा नहीं हुई।

विशेष—सूत्र में 'अदर्शनम् इच्छति' (छिपना चाहता है) का आशय यह है कि द्रष्टा के छिपने की इच्छा होने पर यदि दृश्य वस्तु दिखाई भी पड़ जाय तो अपादान संज्ञा हो जायगी। जैसे—देवदत्ताद् यज्ञदत्तः निलीयते (= देवदत्त से यज्ञदत्त छिपता है)। यहाँ पर दिखाई पड़ जाने पर भी 'देवदत्त' से पञ्चमी विभक्ति हुई-'देवदत्तात्'।

(५९२) पद—आख्याता, उपयोगे। **अनुवृत्ति**—अपादानम्, कारके। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—नियमपूर्वक विद्याध्ययन में पढ़ाने वाले की 'अपादान' संज्ञा होती है। जैसे—उपाध्यायात् अधीते। 'उपयोगे' का क्या प्रयोजन है? नटस्य (गाथां) शृणोति।

विवरण—प्रकरणवश 'अपादाने' तथा 'कारकम्' की अनुवृत्ति पूर्ववत् आरही है। 'नियमपूर्वक अध्ययन करना' अर्थ में 'उपयोग' शब्द रूढ है। 'आख्याता' का अर्थ है—उपदेष्टा, वक्ता, अध्यापयिता। तदनुसार "नियमपूर्वक विद्याध्ययन करने में 'पढ़ाने वाले' की 'अपादान' संज्ञा होती है। **उदाहरण**—**उपाध्यायात्** अधीते (= गुरु से पढ़ रहा है)। 'अपादान' संज्ञा होने के फलस्वरूप 'उपाध्याय' मे 'पञ्चमी' विभक्ति हुई—'उपाध्यायात्'। षष्ठी का अपवाद है। भाष्यकार ने—'उपाध्याय के मुख से उच्चरित वेद को ग्रहण करता है'—इस अर्थ की कल्पना कर पूर्ववत् इस सूत्र को भी अनावश्यक ही बनाया है।[2]

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'उपयोगे' (नियमपूर्वक गुरुमुख से अध्ययन करने में) पद न रखने

---

१. अत्रापि भाष्यकारेण एवं निगदितम्—'कथमुपाध्यायादन्तर्धत्ते' इति। पश्यत्ययं यदि माम् उपाध्यायः पश्यति ध्रुवं मे प्रेषणमुपालम्भो वा इति स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तते। तत्र "ध्रुवमपाये-ऽपादानम्" इत्येव सिद्धम्।

२. "अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्। कथमुपाध्यायादधीते इति? अपक्रामति तस्मात् तदध्ययनम्। यद्यपक्रामति किं नात्यन्तायापक्रामति। सन्ततत्वात्। अथवा ज्योतिर्वज् ज्ञानानि भवन्ति।" महाभाष्यम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५९३) **जनिकर्तुः प्रकृतिः १ । ४ । ३० ॥** जायमानस्य हेतुरपादानं स्यात् । ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते । (५९४) **भुवः प्रभवः १ । ४ । ३१ ॥** भवनं भूः । भूकर्तुः प्रभवस्तथा । हिमवतो गङ्गा प्रभवति । तत्र प्रकाशते इत्यर्थः । 'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च'

---

(५९३) जनिकर्तुः प्रकृतिः । जनिर्जननमुत्पत्तिः । 'जनी प्रादुर्भावे' दैवादिकोऽकर्मकः । 'इणजादिभ्यः' इति भाव इण् । 'जनिवध्योश्च' इति निषेधान्नोपधावृद्धिः । जनेः कर्तेति विग्रहः । शेषषष्ठ्या समासः । 'तृजकाभ्यां कर्तरि' इति निषेधस्तु कारकषष्ठ्या एवेति वक्ष्यते । जायमानस्येति । जनधातोः कर्तरि लटश्शानच् , श्यन् , 'ज्ञाजनोर्जा' 'आने मुक्' उत्पत्त्याश्रयस्येत्यर्थः । प्रकृतिशब्दं व्याचष्टे—हेतुरिति । ब्रह्मण इति । हिरण्यगर्भादित्यर्थः । घटादिषु कुलालादिवत् तस्य प्रजोत्पत्तौ निमित्तकारणत्वमिति भावः । वृत्तिकृन्मतमेतदयुक्तम् , संयोगविश्लेषसत्त्वेन 'ध्रुवमपाये' इत्येव सिद्धत्वात् । अतोऽत्र मूले हेतुशब्दः उपादानकारणपर एव । अत एव भाष्यकैयटयोः 'गोमयाद् वृश्चिका जायन्ते' 'गोलोमाविलोमभ्यो दूर्वा जायन्ते' इत्युदाहृत्य परिणामेषु प्रकृतिद्रव्यावयवानुस्यूतिसत्त्वेऽपि बुद्धिकृतविश्लेषसत्त्वात् 'ध्रुवमपाये' इत्येव सिद्धमिति प्रत्याख्यानं सङ्गच्छते । एवञ्च 'ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते' इत्यत्र ब्रह्मशब्देन मायोपहितमीश्वरचैतन्यमेव विवक्षितम् । तद्धि सर्वकार्योपादानमिति वेदान्तसिद्धान्तः ।

(५९४) भुव प्रभवः । पूर्वसूत्रे समासनिर्दिष्टमपि कर्तृग्रहणमेकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञाबलादिहानुवर्तते । तदाह—भूकर्तुरिति । भवनं भूः, सम्पदादित्वात् क्विप् । भुवः कर्ता भूकर्ता, तस्येत्यर्थः । प्रभव इति । प्रभवति प्रथमं प्रकाशतेऽस्मिन्निति प्रभवः, प्रथमप्रकाशस्थानमित्यर्थः । प्रभवतीत्यस्य उत्पद्यते इत्यर्थे तु असङ्गतिः, गङ्गायास्तत्रानुपपत्तेः । तदाह—प्रकाशते इत्यर्थ इति । प्रथमं प्रकाशते इति यावत् । अत एव 'हिमवति प्रकाशते' इत्यत्र न भवति । एतेन जनिकर्तुरित्यनेन 'ध्रुवमपाये' इत्यनेन च गतार्थत्वं निरस्तम् ।

पर 'नटस्य (गाथां) शृणोति' (= नट का 'गीत' सुनता है) में 'नट' की अपादान संज्ञा होने लगती । कारण यह है कि वक्ता 'नट' है । 'उपयोगें' पद का समावेश करने से 'नट' की अपादान संज्ञा नहीं होती, क्यों कि श्रोता 'नट' से नियमपूर्वक अध्ययन करने के रूप में 'गीत' नहीं सुन रहा है ।

(५९३) **पद**—जनिकर्तुः, प्रकृतिः । **अनुवृत्ति**—अपादानम्, कारके । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—उत्पत्ति का आश्रय 'अपादान' संज्ञक होता है । जैसे—ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते ।

विवरण—प्रकरणवश 'अपादानम्' तथा 'कारके' का प्रभाव यथापूर्व विद्यमान है । तदनुसार 'जन्' धातु के कर्ता (जनेः कर्ता, तस्य, जनिकर्तुः) के हेतुरूप कारक की 'अपादान' संज्ञा होती है ।"

उदाहरण—ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते (= ब्रह्मा से प्रजा उत्पन्न होती है । प्रकृत उदाहरण में √जन धातु का 'कर्ता' प्रजा है । उसका हेतु (प्रकृति) 'ब्रह्मा' है । उसकी 'अपादान' संज्ञा होने से 'पञ्चमी' विभक्ति हुई—'ब्रह्मणः' । भाष्यकार ने यहाँ भी बुद्धिकृत विश्लेष की कल्पना कर "ध्रुवमपायेऽपादानम्" (२-३-४) से ही 'अपादान' संज्ञा की है ।[1]

(५९४) **पद**—भुवः, प्रभवः । **अनुवृत्ति**—अपादानम्, कर्तुः, कारके । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—'भू' का अर्थ प्रकट होना है । प्रकट होने के कर्ता का मूल स्थल 'अपादान' कारक होता है । जैसे—हिमवतः गङ्गा प्रभवति । इसका अर्थ है कि गङ्गा वहाँ से प्रादुर्भूत होती है । वा० 'ल्यप्' का लोप होने पर उसके कर्म और अधिकरण में पञ्चमी होती है । जैसे—(क) प्रासादाद्

---

१. 'अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम् । कथं गोमयाद् वृश्चिको जायते ? अपक्रामन्ति ताः तेभ्यः' ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वा १४७४–१४७५)। प्रासादात्प्रेक्षते । आसनात्प्रेक्षते । प्रासादमारुह्य, आसने उपविश्य प्रेक्षते इत्यर्थः । श्वशुराज्जिह्रेति । श्वशुरं वीक्ष्येत्यर्थः । 'गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तीनां निमित्तम्' (वा ५०४१)। कस्मात् त्वम् ? नद्याः । 'यतश्चाध्वकाल-

---

भाष्ये तु अपक्रामतात्यर्थमाश्रित्य 'ध्रुवमपाये' इत्यनेनैव सिद्धमिति स्थितम्। ल्यब्लोपे इति। ल्यबन्तस्य लोपे अदर्शने अप्रयोगे सति गम्यमानतदर्थं प्रति कर्मणि अधिकरणे च पञ्चमी वाच्येत्यर्थः। जिहेतीति। लज्जते इत्यर्थः। नन्वत्र ल्यबन्तस्य प्रयोगाभावात् कथं तदर्थं प्रति कर्माद्यवगतिरित्यत आह—गम्यमानाऽपीति। प्रकरणादिनेत्यर्थः। गम्यमानाऽपीत्यस्य प्रयोजनान्तरमाह—कस्मात्त्वमिति। आगतोऽसीति गम्यमानक्रियापेक्षमपादानत्वमिति भावः। नद्या इत्युत्तरम्। आगतोऽस्मीति गम्यमानक्रियापेक्षमपादानत्वमिति भावः। यतश्चेति। यत इति तृतीयार्थे तसिः। येनावधिना अध्वनः कालस्य वा निमानं परिच्छेदः इयत्ता गम्यते, ततः पञ्चमी वाच्येत्येकं वाक्यम्। तत्र पञ्चमीति पाठेऽप्ययमेवार्थः। तद्युक्तादिति। तेन पञ्चम्यन्तेन युक्तादन्वितात् अध्ववाचिनः प्रथमासप्तम्यौ वाच्ये

प्रेक्षते (ख) आसनात् प्रेक्षते। इन दोनों का अर्थ क्रमशः यह है—'महल पर चढ कर' तथा 'आसन पर बैठकर' देखता है। (ग) श्वशुरात् जिहेति। इसका अर्थ है—श्वशुर को देख कर लजाती है। परि० गम्यमान क्रिया भी कारक-विभक्तियों का निमित्त होती है। जैसे—कस्मात् त्वम् ? नद्याः। वा० जिस स्थान या समय से किसी दूसरे स्थान की दूरी या समय का अन्तर बताया जाय, उसमें पञ्चमी होती है। वा० स्थान की दूरी बताने वाले शब्द में सप्तमी होती है। वा० समय का अन्तर बताने वाले शब्द में सप्तमी होती है। जैसे—(क) वनात् ग्रामः योजनं योजने वा। (ख) कार्तिक्याः आग्रहायणी मासे।

विवरण—'आधिकारिक' एवं 'प्राकरणिक' पदों की अनुवृत्ति के अतिरिक्त पूर्व सूत्र "जनिकर्तुः प्रकृतिः" (१-४-३०) से 'कर्तुः' की अनुवृत्ति भी अपेक्षित है। सूत्रस्थ, भुवः पद का अन्वय अनुवृत्त 'कर्तुः' पद के साथ होता है। तदनुसार "भू धातु के कर्ता के उत्पत्तिस्थान (प्रभवः) की 'अपादान' संज्ञा होती है"। **उदाहरण**—हिमवतः गङ्गा प्रभवति (= हिमालय से गङ्गा निकलती है)। यहाँ पर 'भू' धातु का कर्ता 'गङ्गा' है, उसका प्रभव 'हिमवत्' है। अतः उसकी 'अपादान' संज्ञा होने के फलस्वरूप 'पञ्चमी' विभक्ति हुई—'हिमवतः'।

विशेष—१—सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर 'जनी' तथा 'भू' इन दोनों धातुओं के अर्थ में अन्तर विदित होता है। तदनुसार जो कभी नहीं था उसका प्रादुर्भाव 'जन्' का वाच्यार्थ है। तथा जो वस्तु पहले थी उसका प्रथम प्रकट होना 'प्रभव' है। अतः 'जनिकर्ता' और 'भूकर्ता' इन दोनों अर्थों में अन्तर होने से उपर्युक्त दोनों सूत्रों का विषय भिन्न-भिन्न है।

२—इसके पूर्व छह सूत्रों की तरह इसके सम्बन्ध में भी भाष्यकार ने अरुचि ही प्रकट की है। यहाँ भी उन्होंने हिमाचल के जल से पृथक् होने की कल्पना कर "ध्रुवमपायेऽपादानम्" (२-४-२३) से ही अपादान संज्ञा का निर्वाह किया है'।[1]

---

१. "अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्। कथं हिमवतो गङ्गा प्रभवतीति ? अपक्रामन्ति ताः तस्माद् आपः। यदि अपक्रामन्ति किं नात्यन्तायापक्रामन्ति ? सन्ततत्वात्। अथवा अन्याश्चान्याश्च प्रादुर्भवन्ति।" महाभाष्यम्।

इत्थं च "भीत्रार्थानाम्" इत्यारभ्य इयं सप्तसूत्री भाष्ये प्रत्याख्याता। यद्यपि मुख्यार्थपुरस्कारेण षष्ठीप्रयोगस्य दुर्वारत्वात् तं बाधितुं सप्तसूत्र्याः सार्थकता शब्दकौस्तुभेभ ट्टोजिदीक्षितेन स्पष्टीकृता। तदेतदभिसन्धाय "व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधौ" श्रीविश्वेश्वरसूरिमहोदयैरेवं प्रतिपादितं यत्तत्र गौणमुख्यसाधारणमेवापादनत्वं सर्वत्र सम्भवतीति। तथा हि—"अवधित्ववदपादानम्। अवधित्वं च प्रकृतधात्वर्थप्रयुक्तकर्तृकर्मान्यतरसम्बन्धनिवृत्तिमत्त्वम्। अश्वात् पतति देवदत्तः इत्यत्र प्रकृत-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्माणं ततः पञ्चमी' (वा १४७७)। 'तद्युक्तादध्वनः प्रथमासप्तम्यौ' (वा १४७९)। 'कालात्सप्तमी च वक्तव्या' (वा १४७८)। वनाद् ग्रामो योजनं–योजने वा। कार्तिक्या

इति द्वितीयं वाक्यम्। 'कालात्सप्तमी च वक्तव्या' इति वाक्यान्तरम्। तद्युक्तादित्यनुषज्यते। तेन पञ्चम्यन्तेन अन्वितात् कालवाचिनः सप्तमी वक्तव्येत्यर्थः। वनादिति। अत्र योजनात्मकमध्वपरिमाणं वनेन पूर्वावधिना परिच्छिद्यते, कस्मादारभ्य योजनमित्याकाङ्क्षोत्थानात्। योजने योजनमिति प्रथमासप्तम्योरपि स्वोत्तराव्यवहितदेशवृत्तित्वमर्थः। वनात्मकपूर्वावधिकयोजनोत्तरदेशे ग्राम इत्यर्थः। अवधित्वसत्त्वेऽपि विश्लेषाप्रतीतेर्ध्रुवमित्यपादानत्वाभावाद्वचनम्। कार्तिक्या इति। कार्तिक्याः मासे आग्रहायणीत्यन्वयः।

३—भट्टोजी दीक्षित ने "शब्दकौस्तुभ" में उपर्युक्त सात सूत्रों को मुख्यार्थ की विवक्षा में प्राप्त षष्ठी के अपवादस्वरूप पञ्चमी का विधान करने के लिये सार्थक माना है। पण्डित विश्वेश्वर पाण्डेय ने 'व्याकरणसिद्धान्त-सुधानिधि' में उपर्युक्त सातों सूत्रों के उदाहरणों में गौण तथा मुख्य दोनों अर्थों में साम्य दिखाकर सामञ्जस्य स्थापित किया है। तदनुसार "ध्रुवमपायेऽपादानम्" (१०५) सूत्र से ही अपादान संज्ञा हो सकती है।

४—प्रसङ्गप्राप्त कारक–पञ्चमी के सम्बन्ध में कुछ वार्तिकों का उल्लेख किया जारहा है। वा० अर्थ—'ल्यप्' प्रत्ययान्त शब्दों का प्रयोग न करने पर प्रतीयमान अर्थ के कर्म और अधिकरण कारकों में 'पञ्चमी' विभक्ति होती है। **उदाहरण**—(क) **प्रासादात् प्रेक्षते** (= महल के ऊपर चढ़कर देखता है)। (ख) **आसनात् प्रेक्षते** (आसन पर बैठकर देखता हैं)। इन दोनों उदाहरणों में क्रमशः ल्यप् प्रत्ययान्त 'आरुह्य' (= चढ़कर) तथा 'उपविश्य' (बैठकर)—इन दो पदों का प्रयोग नहीं किया गया है किन्तु उनके अर्थ की प्रतीति होती है। इन प्रतीयमान अर्थों के 'कर्म' प्रासाद तथा अधिकरण 'आसन' हैं। अतः इन दोनों शब्दों से पञ्चमी विभक्ति हुई।

शङ्का—'ल्यप्' प्रत्ययान्त शब्द का प्रयोग न होने पर प्रतीयमान अर्थ को आधार मानकर 'कर्म' रूप कारक और 'अधिकरण' रूप कारकों की कल्पना किस प्रकार सम्भव है? **समाधान**—गम्यमान ('प्रकरण' आदि से प्रतीयमान) क्रिया भी कारक-विभक्तियों का निमित्त बनती है। इस नियम को तृतीया–विभक्ति के प्रकरण में बताया जा चुका है। इस प्रकार के प्रयोग भी बोल-चाल में प्रचलित हैं। जैसे–**कस्मात् त्वम्? नद्याः**—तुम कहाँ से आये हो? नदी से आया हूँ। इन दोनों वाक्यों में 'आगतः' पद का अध्याहार किया जाता है तथा उस क्रिया के प्रति अपादान होने से 'प्रश्न' एवं 'उत्तर' वाक्यों के पदों—क्रमशः 'कस्मात्' एवं 'नद्याः'–में पञ्चमी विभक्ति हुई है।

वा० अर्थ—(क) जिस अवधि से (जिसको आधार मानकर) मार्ग और समय की इयत्ता (दूरी) जानी जाय उस शब्द (देशवाचक या कालवाचक) से पञ्चमी विभक्ति होती है। (ख) इस प्रकार पञ्चमी से युक्त मार्ग की दूरी बतलाने वाले शब्दों से 'प्रथमा' और 'सप्तमी' दोनों विभक्तियाँ होती हैं। (ग) इस प्रकार की पञ्चमी से युक्त समय को बतलाने वाले शब्दों से 'सप्तमी' विभक्ति होती है। इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं—(क) तथा (ख) **वनात् ग्रामः योजनं योजने वा**

धात्वर्थः पतनं तत्प्रयुक्ता देवदत्तरूपस्य कर्तुः संयोगस्य निवृत्तिरर्थे तद्वानश्वोऽपादानम्। **परस्परान्मेषावपसरत** इत्यत्रापि अपसरणप्रयुक्ता मेषयोः संयोगस्य निवृत्तिः। **वृकाद् बिभेति** इत्यत्र वृकप्रयुक्ता देवदत्तसम्बन्धस्य निवृत्तिर्बुद्धे। **चौरेभ्यः त्रायते देवदत्तम्** इत्यत्र त्राणप्रयुक्ता कर्मसंज्ञकदेवदत्तसम्बन्धस्य निवृत्तिश्चौरेषु। **उपाध्यायाद् अधीते** इत्यत्रापि कर्मणः शब्दस्य ध्वन्यात्मकस्य निवृत्तिः उपाध्याये वर्तते। **माषेभ्यो गां वारयति** इत्यत्र वारणक्रियाप्रयुक्ता कर्मभूतानां गवां सम्बन्धस्य निवृत्तिर्माषेषु। **गोमयाद् वृश्चिकः जायते** इत्यादावपि कर्तृभूतवृश्चिकतादृप्यसम्बन्धनिवृत्तिः गोमयादौ। **हिमवतो गङ्गा प्रभवति** इत्यादावपि प्रभवनक्रियाकर्तृगङ्गाजलसम्बन्धस्य निवृत्तिः हिमवति। यतः काश्चिदापो हिमवतो निर्गच्छन्ति काश्चिदन्यास्तत्र तिष्ठन्ति" इति।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आग्रहायणी मासे। (५९५) अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते २। ३। २९॥ एतैर्योगे पञ्चमी स्यात्। अन्येत्यर्थग्रहणम्। इतरग्रहणं प्रपञ्चार्थम्। अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात्। आराद्वनात्। ऋते कृष्णात्। पूर्वो ग्रामात्। दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः। तेन सम्प्रति देशकालवृत्तिना योगेऽपि भवति। चैत्रात्पूर्वः फाल्गुनः। अवयववाचियोगे तु न। 'तस्य परमाम्रेडितम्' (सू ८३) इति निर्देशात्। पूर्वं कायस्य।

अत्र मासात्मकं कालपरिमाणं कार्तिक्या पूर्वावधिना परिच्छिद्यते, कस्मादारभ्य मास इत्याकाङ्क्षोत्थानात्। मास इति सप्तम्यास्तु स्वोत्तराव्यवहितकालवृत्तित्वमर्थः। कार्तिकपौर्णमास्यात्मकपूर्वावधिकमासोत्तरकाले मार्गशीर्षपौर्णमासीत्यर्थः।

(५९५) अन्यारात्। युक्त इति भावे क्त इत्याह—एभिर्योगे इति। अन्य, आरात्, इतर, ऋते, दिक्शब्द, अञ्चूत्तरपद, आच्, आहि एतैरष्टभिर्योगे सतीत्यर्थः। भिन्नादिशब्दयोगे पञ्चमीं साधयितुमाह—अन्येत्यर्थग्रहणमिति। व्याख्यानादिति भावः। अन्यार्थकशब्दयोगे पञ्चमीति फलितम्। तर्हीतरग्रहणं व्यर्थमन्यार्थकत्वादेव सिद्धेरित्यत आह—इतरग्रहणं प्रपञ्चार्थमिति। 'पचि विस्तारे'। अन्यशब्दस्य अन्यार्थकशब्दग्रहणोपलक्षणार्थत्वकथनस्य प्रयोजनकथनार्थमिति यावत्। अन्यो भिन्न इतरो वेति। भेदवान् विलक्षण इत्याद्युपलक्षणमिदम्। कृष्णप्रतियोगिकभेदवानित्यर्थः। षष्ठ्यपवादोऽयम्। अन्यादिशब्दानामवधिनियमसत्त्वेऽपि संयोगविश्लेषाभावादपादानत्वस्य न प्रसक्तिः। एवमग्रेऽपि। आराद्वनादिति। वनस्य दूरं समीपं वेत्यर्थः। 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यमरः। ऋते कृष्णादिति। ऋते इत्येकारान्तमव्ययम्। 'ऋते वर्जने' इत्यमरः। कृष्णस्य वर्जने सुखं नास्तीत्यर्थः। 'क कर्मप्रध्वंसः फलति पुरुषाराधनऋते' इति शिवरहस्यान्तर्गतस्तुतिगतः प्रयोगस्त्वार्षः। 'ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' इति वा द्वितीया। 'ऋते द्वितीया च' इति चान्द्रं सूत्रम्। अथ दिक्शब्दयोगे उदाहरति—पूर्वो ग्रामादिति। ग्रामावधिकपूर्वदिग्वर्ती ग्राम इत्यर्थः। ननु चैत्रात् पूर्वः फाल्गुन इत्यत्र पूर्वशब्दस्य कालवाचकतया दिग्वाचकत्वाभावात् कथं तद्योगे पञ्चमीत्यत आह—दिशि दृष्ट इति। रूढ्या दिग्विशेषवाचकाः पूर्वादय एव गृह्यन्ते। न त्वैन्द्रीककुबादयः। सम्प्रतीति। कदाचिद्दिग्वाचकानामिदानीं कालवाचकानामपि योगे पञ्चमी भवतीत्यर्थः। नन्वेवं सति पूर्वं कायस्येत्यत्रापि स्यादित्यत आह—अवयववाचीति। तस्य परमिति। तस्येति हि प्रकृतं द्विरुक्तं परामृशति। द्विरुक्तस्य परं परावयवभूतमाम्रेडितमिति तदर्थः। पूर्वं कायस्येति। शरीरस्य पूर्वावयव इत्यर्थः। अञ्चु धातुः उत्तरपदं

(= जंगल से गाँव एक योजन या चार कोस है)। यहाँ 'वन' में पञ्चमी तथा मार्ग की दूरी को बतलाने वाले शब्द 'योजन' में प्रथमा तथा सप्तमी विभक्तियां हुईं। (ग) कार्तिक्या आग्रहायणी मासे (= कार्तिकी पूर्णिमा से मार्गशीर्ष-पूर्णिमा एक मास में होती है)। यहां पर भी अवधि होने के कारण 'कार्तिकी' शब्द से पञ्चमी तथा कालवाचक 'मास' शब्द से सप्तमी विभक्ति हुई।

विशेष—यहाँ पर 'अवधि' होने पर भी 'विश्लेष' (अलग होना) के अभाव होने से 'अपादान' संज्ञा प्राप्त नहीं होती। अतः इस वार्तिक की उपयोगिता है।

(५९५) पद—अन्या···युक्ते। अनुवृत्ति—पञ्चमी। विधिसूत्र।

मूलार्थ—इनके योग में पञ्चमी होती है। 'अन्य' शब्द तदर्थबोधक है। 'इतर' शब्द का प्रयोग विस्तार के लिए है। जैसे—(क) अन्यः भिन्नः इतरः वा कृष्णात्। (ख) आरात् वनात्। (ग) ऋते कृष्णात्। (घ) पूर्वः ग्रामात्। यहाँ पर 'दिक्' शब्द का अर्थ है जो शब्द दिशा अर्थ में प्रचलित (दृष्टः) है। इसलिए सम्प्रति देश और काल अर्थ के वाचक होने पर 'पूर्व' आदि के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अञ्चूत्तरपदस्य तु दिक्शब्दत्वेऽपि 'षष्ठ्यतसर्थ—' (सू ६०९) इति षष्ठीं बाधितुं पृथग्ग्रहणम्। प्राक्–प्रत्यग्वा ग्रामात्। आच्–दक्षिणा ग्रामात्। आहि—दक्षिणाहि ग्रामात्। 'अपादाने पञ्चमी' (सू ५८७) इति सूत्रे 'कार्तिक्याः प्रभृति' इति भाष्य-

---

यस्य सः अञ्चूत्तरपदः प्रागादिदिक्शब्दः, न तु सध्र्यङ् इत्यादिशब्दोऽपि, दिक्शब्द-साहचर्यात्। तेन सध्र्यङ् देवदत्तेनेत्यत्र न पञ्चमी। ननु दिक्शब्दत्वादेव सिद्धे अञ्चूत्तर-पदग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—अञ्चूत्तरपदस्येति। षष्ठ्यतसर्थेत्यनन्तरं परत्वात् प्राप्तामिति शेषः। प्राक् प्रत्यग्वा ग्रामादिति। ग्रामावधिक इत्यर्थः। आजिति। आच्प्रत्ययान्तयोगे उदाहरणं वक्ष्यत इति सूचनमिदम्। दक्षिणा ग्रामादिति। ग्रामावधिकायां दक्षिणस्यां दिशीत्यर्थः। आहीति। आहिप्रत्ययान्तयोगे उदाहरणसूचनमिदम्। दक्षिणाहि ग्रामादिति। ग्रामावधिकायां दक्षिणस्यां दिशि दूर इत्यर्थः। 'आहि च दूरे' इत्याहिप्रत्ययः। आजाहिप्रत्ययान्तयोर्दिक् शब्दत्वेऽपि 'षष्ठ्यतसर्थे' इति षष्ठीं बाधितुं पृथग् ग्रहणम्। नन्वेवमपि 'भवात्प्रभृत्यारभ्य वा सेव्यो हरिः' इत्यादौ कथं पञ्चमी? अन्यादिशब्द-योगाभावादित्यत आह—अपादाने इति। प्रभृतियोग इति। प्रभृत्यर्थकशब्दयोगे इत्यर्थः। तथा हि—'अपादाने पञ्चमी' इति सूत्रे भाष्ये 'यतश्चाध्वकालनिर्माणम्' इति वार्तिकं पठित्वा 'कार्तिक्याः आग्रहायणी मासे' इत्युदाहृत्य 'इदं न वक्तव्यम्' इति तद्वार्तिकप्रत्या-

---

योग में पञ्चमी होती है। जैसे चैत्रात् पूर्वः फाल्गुनः। किन्तु अवयववाची पूर्वादि के योग में पञ्चमी नहीं होती। इस में "तस्य परमाम्रेडितम्" सूत्र प्रमाण है। जैसे—पूर्वं कायस्य। 'अञ्चु' उत्तरपद शब्दों के दिशावाची होने पर भी "षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन" सूत्र से प्राप्त षष्ठी का बाध करने के लिए यहाँ उसका पृथक् ग्रहण किया है। जैसे—प्राक् प्रत्यक् वा ग्रामात्। आच्—दक्षिणा ग्रामात्। आहि—दक्षिणाहि ग्रामात्। "अपादाने पञ्चमी" सूत्र में 'कार्तिक्याः प्रभृति' इस भाष्य के प्रयोग से प्रभृत्यर्थक शब्दों के योग में पञ्चमी होती है। जैसे—भवात् प्रभृति आरभ्य वा सेव्यः हरिः। "अप-परिबहिः०" सूत्र में 'बहिः' के साथ 'पञ्चम्यन्त' के समास का विधान होने से 'बहिः' के योग में पञ्चमी होती है। जैसे—ग्रामाद् बहिः।

सन्दर्भ—प्रसङ्गप्राप्त उपपद पञ्चमी-विभक्ति का निर्वचन किया जारहा है।

विवरण—प्रकरणवश "अपादाने पञ्चमी" (२-३-२८) से 'अपादाने' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। सूत्र में केवल एक पद है। उसका विग्रह इस प्रकार है—अन्यश्च, आरात् च, इतरश्च, ऋते च, दिक्शब्दश्च, अञ्चूत्तरपदश्च, आत् च, आहि च—अन्या···जाहयः, तैः युक्तः—अन्यारादितर···जाहियुक्तः, तस्मिन्, द्वन्द्वगर्भित तत्पुरुष। तदनुसार "अन्य, आरात्, इतर, ऋते, दिक्शब्द, 'अञ्च'–उत्तरपद, 'आच्' प्रत्ययान्त तथा 'आहि' प्रत्ययान्त शब्दों के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है"। सूत्र में अन्य पद तदर्थक शब्दों का बोधक है। 'इतर' शब्द अन्यार्थक होने पर भी उसका पृथक् ग्रहण विस्तार के लिये किया गया है। (क) अन्यार्थक शब्दों के उदाहरण—अन्यः भिन्नः इतरः वा कृष्णात् (= कृष्ण से भिन्न)। अन्यार्थक शब्दों के कारण 'कृष्ण' शब्द में पञ्चमी हुई। (ख) आरात् वनात् (= वन से दूर या समीप)। 'आरात्' के योग में 'वन' से पञ्चमी। (ग) ऋते कृष्णात् (= कृष्ण के बिना)। 'ऋते' के योग में पञ्चमी। (घ) दिशावाचक शब्द के योग में—पूर्वः ग्रामात् (= गाँव से पूर्व की ओर)। इस सन्दर्भ में प्रकृत सूत्रस्थ 'दिक्शब्द' की व्याख्या की जारही है। इस शब्द का विग्रह 'दिशि दृष्टः शब्दः' है। मध्यमपदलोपी समास होने से 'दृष्ट' शब्द का लोप हो गया है। तदनुसार 'दिक्शब्द' का अभीष्ट अर्थ यह है कि दिशावाची (प्रचलित) पूर्वादि शब्द। अतः ये शब्द यदि प्रयोग में कालवाचक भी हों तो इनके योग में पञ्चमी विभक्ति होगी। जैसे—चैत्रात् पूर्वः फाल्गुनः (= चैत्र से पहले

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोगात्प्रभृत्यर्थयोगे पञ्चमी। भवात्प्रभृति आरभ्य वा सेव्यो हरिः। 'अपपरिबहिः—' (सू ६६६) इति समासविधानात् ज्ञापकाद् बहिर्योगे पञ्चमी। ग्रामाद् बहिः।

ख्यानमुपक्षिप्य इदमत्र प्रयोक्तव्यं सत्र प्रयुज्यते-'कार्तिक्याः प्रभृत्याग्रहायणी मासे' इत्युक्तम्। प्रभृतिशब्दाभावेऽपि तदर्थसत्तया पञ्चमी सिद्धेत्यर्थः। एवं वदता भाष्यकृता 'प्रभृत्यर्थकशब्दयोगे पञ्चमी'ति वचनं ज्ञाप्यते। अन्यथा पञ्चम्यर्थे वार्तिकस्यावश्यकत्वात्तदसङ्गतिः स्पष्टैव। एवञ्च प्रभृतिशब्दपर्यायशब्दयोगेऽपि पञ्चमी भवति। अत एव च 'कार्तिक्याः प्रभृति' इति भाष्यव्याख्यावसरे तत आरभ्येत्यर्थ इति कैयट आह। तत्र हि तत इति पञ्चम्यास्तसिः। एतत् सर्वमभिप्रेत्योदाहरति—भवात् प्रभृति आरभ्य वेति। भवः उत्पत्तिः, आरभ्येत्यस्यावधिं परिगृह्येत्यर्थः। प्रभृतीत्यव्ययमप्येतदर्थकमेव। भवमवधिं परिगृह्य हरिः सेव्य इत्यर्थः। उत्पत्तिक्षणात्मकपूर्वावधिकोत्तरकाले सर्वदा आमरणं हरिः सेव्य इति यावत्। अत्रारभ्येति क्रियापेक्षया कर्मत्वविवक्षायां द्वितीयैव, 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' इत्युक्तेः। यथा 'सूर्योदयमारभ्य आस्तमयाद् जपति' इत्यादौ। शेषत्वविवक्षायां तु षष्ठीं बाधित्वा भवशब्दात् पञ्चमी। प्रभृतिशब्दयोगे तु आरभ्येत्यर्थे कदापि न द्वितीया, प्रभृतिशब्दार्थस्यावधिं परिगृह्येत्यस्यावध्यादिघटितत्वेन क्रियात्वाभावात्। अपपरीति। बहिः शब्दयोगे पञ्चमीं सिद्धवत्कृत्य 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' इति समासविधानात् बहिश्शब्दयोगे पञ्चमी विज्ञायते इत्यर्थः। इदञ्च 'अपपरि' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। 'करस्य करभो बहिः' इति त्वसाध्वेव। 'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र' इति वा कथञ्चित्समाधेयम्।

फाल्गुन आता है)। यहाँ कालवाचक 'पूर्व' शब्द के योग में पञ्चमी हुई। यदि दिशावाचक शब्द से किसी अवयवी के अवयव का बोध होगा तो वहाँ पञ्चमी विभक्ति नहीं होगी। पाणिनि ने "तस्य परमाम्रेडितम्" सूत्र में 'पर' शब्द के साथ 'तस्य' (षष्ठी) का प्रयोग कर इस बात को प्रमाणित किया है। तथा 'पूर्वं कायस्य' (= शरीर का अगला भाग) आदि उदाहरण भी मिलते हैं। 'अञ्चु' उत्तरपदवाले शब्द यद्यपि दिशावाची हैं तथापि इनका यहां पुनः उल्लेख इस लिए किया गया है कि "षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन" (२-३-३०) सूत्र से प्राप्त षष्ठी की निवृत्ति हो जाय। उसका यह अपवाद है। प्राक् (प्र-√अञ्च्), प्रत्यक् (प्रति-√अञ्च्) वा **ग्रामात्** (= गांव से पूर्व या पश्चिम)। √अञ्च्-उत्तरपद युक्त प्राक् एवं प्रत्यक् शब्दों के योग में पञ्चमी हुई। (च) आच्-दक्षिणा (दक्षिण+आच्) ग्रामात् (= गांव से दक्षिण की ओर)। यहां पर 'दक्षिण' शब्द से 'अदूर' (समीप) अर्थ में "दक्षिणादाच्" (५-३-३६) से 'आच्' प्रत्यय हुआ है। (छ) आहि-दक्षिणाहि **ग्रामात्** (= गांव से दूर दक्षिण की ओर)। 'दक्षिण' शब्द से 'दूर' अर्थ में 'आहि' प्रत्यय हुआ—"आहि च दूरे" (५-३-३७)। उसके योग में पञ्चमी विभक्ति हुई 'ग्रामात्'। 'आच्' एवम् 'आहि' प्रत्ययान्त शब्द दिशावाची होने पर भी "षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन" सूत्र से प्राप्त षष्ठी का बाध करने के लिये इन दोनों का भी पृथक् ग्रहण किया गया है।

विशेष—१-"अपादाने पञ्चमी" (२-३-२८) के सन्दर्भ में महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'यताश्चाध्वकालनिर्माणम्' वार्तिक की व्याख्या करते हुए 'कार्तिक्याः आग्रहायणी मासे' उदाहरण दिया है। कैयट ने इसका स्पष्टीकरण 'कार्तिक्याः प्रभृति आग्रहायणी मासे'—इन शब्दों में किया है। तथा प्रभृति का अर्थ भी 'उससे लेकर' (ततः प्रभृति) किया है। इससे यह विदित होता है कि प्रभृत्यर्थक शब्दों के योग में पञ्चमी विभक्ति आती है। 'प्रभृति' अव्यय अवधिरूप अर्थ का द्योतक है। उसका यह **उदाहरण है—भवात्** प्रभृति आरभ्य वा सेव्यः हरिः (= जन्म से लेकर हरि की सेवा करनी चाहिए)। यहाँ पर कर्म की शेषत्व विवक्षा में प्राप्त षष्ठी को बाधकर पञ्चमी विभक्ति हुई।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५९६) **अपपरी वर्जने १।४।८८ ॥** एतौ वर्जने कर्मप्रवचनीयौ स्तः। (५९७) **आङ् मर्यादावचने १।४।८९ ॥** आङ्मर्यादायामुक्तसञ्ज्ञः स्यात्। वचनग्रहणादभिविधावपि। (५९८) **पञ्चम्यपाङ्परिभिः २।३।१० ॥** एतैः कर्मप्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी स्यात्। अप हरेः, परि हरेः संसारः। परिरत्र वर्जने। लक्षणादौ

---

(५९६) अपपरी वर्जने। कर्मप्रवचनीयौ स्त इति। **कर्मप्रवचनीयाः इत्यधिकृतस्य द्विवचनेन विपरिणाम इति भावः। वर्जने किम्? परिषिञ्चति। सर्वतः सिञ्चतीत्यर्थः। अत्रोपसर्गत्वात् 'उपसर्गात्सुनोति' इति षत्वम्।**

(५९७) आङ् मर्यादावचने। उक्तसंज्ञ इति। **कर्मप्रवचनीयसंज्ञक इत्यर्थः। ननु 'आङ्मर्यादायाम्' इत्येव सिद्धे वचनग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—वचनग्रहणादिति। तेन विनेति मर्यादा। तेन सहेत्यभिविधिः। मर्यादाशब्दो यत्रोच्यते तन्मर्यादावचनम्। 'आङ्मर्यादाभिविध्योः' इति सूत्रम्। तत्र य आङ् दृष्टः स कर्मप्रवचनीयसंज्ञकः स्यादित्यर्थः। तथा च मर्यादाभिविध्योराङ् कर्मप्रवचनीय इति फलतीति भावः।**

(५९८) पञ्चम्यपाङ् परिभिः। एतैरिति। **अप आङ् परि इत्येतैरित्यर्थः। कर्मप्रवचनीयैरिति। कर्मप्रवचनीययुक्ते इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः। अप हरेः परि हरेः संसार इति।**

२—"अपपरिवहिरञ्चवः पञ्चम्या" (२-१-१२) सूत्र से 'बहिः' पद का पञ्चम्यन्त के साथ समास करने से यह सूचित होता हैं कि 'बहिः' पद के योग में 'पञ्चमी' विभक्ति आती है, अन्यथा 'बहिः' पद का पञ्चम्यन्त के साथ समास-विधान व्यर्थ हो जाता। **उदाहरण—ग्रामात् बहिः।**

(५९६) पद—अपपरी, वर्जने। **अनुवृत्ति**—कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—इन दोनों की 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होती है।

विवरण—'कर्मप्रवचनीय'पञ्चमी का विधान किया जारहा है। तदनुसार 'अप' और 'परि' ये दोनों अव्यय 'वर्जन' अर्थ में 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञक होते हैं। 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होने का फल आगे 'पञ्चमी' होना बताया जायगा।

(५९७) पद—आङ्, मर्यादावचने। **अनुवृत्ति**—कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—मर्यादा में 'आङ्' भी 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञक होता हैं। 'वचन' ग्रहण करने से अभिविधि अर्थ भी गृहीत है।

विवरण—"कर्मप्रवचनीयाः" (१-४-८२) अधिकार का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार 'मर्यादा' (सीमा) अर्थ में 'आङ्' (आ) की 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होती है। सूत्र में 'वचन' ग्रहण करने से 'अभिविधि' अर्थ का भी समावेश हो जाता है। मर्यादा किसी अवधि को कहते हैं, अभिविधि भी मर्यादा ही होती है। उसमें अन्तर इतना ही है कि जहाँ से किसी बात की अवधि बाँधी जाय उसको लेकर अभिविधि होती है तथा मर्यादा उस अवधि से पूर्व तक समझी जाती है। जैसे 'आ पाटलिपुत्रात् वृष्टो देवः' इस वाक्य का मर्यादा अर्थ करने पर यह अभिव्यञ्जित होता है कि 'पाटलिपुत्र से पूर्व (पहले) वर्षा हुई'। इसे ही अभिविधिपरक मानने में इससे यह अभिव्यञ्जित होगा कि 'पाटलिपुत्र को लेकर वर्षा हुई' अर्थात् पाटलिपुत्र में भी वर्षा हुई। 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होने से 'आ' के योग में 'पञ्चमी' विभक्ति होती है।

(५९८) पद—पञ्चमी, अपाङ्परिभिः। **अनुवृत्ति**—कर्मप्रवचनीययुक्ते। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—इन कर्मप्रवचनीयों के योग में 'पञ्चमी' विभक्ति होती है। जैसे—अप हरेः, परि हरे, संसारः। यहाँ 'परि' शब्द वर्जनार्थक है। लक्षणादि अर्थों में द्वितीया विभक्ति होती है—हरिं परि।

विवरण—सूत्रार्थ को सम्पन्न करने के लिये "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" (२-३-८) सूत्र से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तु हरिं परि। आ मुक्तेः संसारः। आ सकलात् ब्रह्म। (५९९) प्रतिः प्रतिनिधि-प्रतिदानयोः १। ४। ९२॥ एतयोरर्थयोः प्रतिरुक्तसञ्ज्ञः स्यात्। (६००) प्रति-निधिप्रतिदाने च यस्मात् २। ३। ११॥ अत्र कर्मप्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी स्यात्।

अपहरेः संसारः परिहरेः संसार इत्यन्वयः। हरिं वर्जयित्वा जनिसृतिचक्रात्मकं संसरण-मित्यर्थः। ननु 'वृक्षं प्रति विद्योतते, भक्तो हरिं प्रति' इत्यादौ 'लक्षणेत्थम्भूत' इति कर्मप्रवचनीयत्वात् 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इति द्वितीयां परत्वात् अपवादत्वाच्च बाधित्वा 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इति पञ्चमी स्यादित्यत आह—परिरत्रेति। 'पञ्चम्यपाङ्-परिभिः' इत्यत्र वर्जनार्थकेनापेन साहचर्यात् परिरपि वर्जनार्थक एव गृह्यत इत्यर्थः। आ मुक्तेरिति। मुक्तेः प्रागिति यावत्। आ सकलादिति। ब्रह्म सकलमभिव्याप्य वर्तते इत्यर्थः।

(५९९) प्रतिः प्रतिनिधि। सदृशः प्रतिनिधिः, दत्तस्य प्रतिनिर्यातनं प्रतिदानम्। उक्तसंज्ञ इति। कर्मप्रवचनीयसंज्ञक इत्यर्थः।

(६००) प्रतिनिधि। अत्रेति। सूत्रोक्तविषये इत्यर्थः। सूत्रे यस्मादिति षष्ठ्यर्थे पञ्चमी अस्मादेव निर्देशात्। 'कृष्णस्य प्रतिनिधिः' इति तु 'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र' इति समा-

---

'कर्मप्रवचनीये' पद की अनुवृत्ति की जारही है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "कर्मप्रवचनीयसंज्ञक अप, परि तथा आङ् (अप च, आङ् च, परि च-अपाङ्परयः, तैः)के योग में पञ्चमी विभक्ति हो"। **उदाहरण**—(१) अप **हरेः** संसारः (=हरि के बिना संसार=जन्ममरण का चक्र)। (२) परि **हरेः** संसारः (= हरि से बिना संसार)। 'अप' तथा 'परि' की 'कर्मप्रवच-नीय' संज्ञा होने के फलस्वरूप पञ्चमी हुई। इस सूत्र में वर्जनार्थक 'अप' के साहचर्य से 'परि' भी वर्जनार्थक लिया जाता है। इसका फल यह है कि लक्षणादि अर्थ में तो "लक्षणेत्थम्भूताख्यान०" (१-४-२०) सूत्र से 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होने पर द्वितीया विभक्ति होगी—**हरिं** परि (= हरि विषयक भक्ति से युक्त)। (३) **'मर्यादा'** अर्थवाचक 'आङ्' (आ) के योग में पञ्चमी का **उदाहरण**—आ **मुक्तेः** संसारः (=मुक्ति तक संसार है)। यहाँ मुक्ति संसार की मर्यादा है, जिसमें मुक्ति का समावेश नहीं। (४) **'अभिविधि'** अर्थ-वाचक 'आङ्' (आ) के योग में पञ्चमी का **उदाहरण**—'आ **सकलाद्**' ब्रह्म (=ब्रह्म सब में व्याप्त है)। ब्रह्म में 'सकल' भी सम्मिलित है, अतः अभिविधि सूचित होती है।

(५९९) **पद**—प्रतिः, प्रतिनिधिप्रतिदानयोः। **अनुवृत्ति**—कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—इन अर्थों में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

विवरण—क्रमप्राप्त 'कर्मप्रवचनीयाः' की अनुवृत्ति की जारही है। तदनुसार 'प्रतिनिधि' और 'प्रतिदान' अर्थों में 'प्रति' की 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होती है।

विशेष—मुख्य के समान गुणवाला व्यक्ति 'प्रतिनिधि' कहलाता है। प्राप्त की हुई वस्तु का विनिमय 'प्रतिदान' कहलाता है।

(६००) पद—प्रतिनिधि-प्रतिदाने, च, यस्मात्। **अनुवृत्ति**—पञ्चमी, कर्मप्रवचनीययुक्ते। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—इस विषय में 'कर्मप्रवचनीय' के योग में 'पञ्चमी' विभक्ति होती है। जैसे—प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति। (२) तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान्।

विवरण—अर्थ की सम्पूर्ति के लिये "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" (२-३-८) सूत्र से 'कर्म-प्रवचनीययुक्ते' तथा "पञ्चम्यपाङ्परिभिः" (२-३-१०) से पञ्चमी पद की अनुवृत्ति की जारही है। सूत्र में 'यस्मात्' पद षष्ठी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रद्युम्नः कृष्णात्प्रति । तिलेभ्यः प्रति-यच्छति माषान् । (६०१) **अकर्तर्यृणे पञ्चमी** २ । ३ । २४ ॥ कर्तृवर्जितं यदृणं हेतुभूतं ततः पञ्चमी स्यात् । शताद् बद्धः । 'अकर्तरि' किम् ? शतेन बन्धितः । (६०२) **विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्** २ । ३ । २५ ॥ गुणे

धेयम् । तथा च यत्सम्बन्धिनी प्रतिनिधिप्रतिदाने तस्मात् कर्मप्रवचनीययुक्तात्पञ्चमीत्यर्थः फलति । प्रद्युम्नः कृष्णात्प्रतीति । युद्धादौ प्रद्युम्नः कृष्णनिरूपितसादृश्यवानित्यर्थः । पञ्चम्यर्थः सादृश्यम् । प्रतिस्तु तद्द्योतकः । तिलेभ्य इति । ऋणत्वेन गृहीतान् तिलान् स्वरूपेण मूल्याद्यात्मना वा प्रत्यर्पयतीत्यर्थः । कर्मणि पञ्चमी ।

(६०१) अकर्तर्यृणे । 'हेतौ' इति सूत्रमनुवर्तते । अकर्तरि हेतुभूते ऋणे विद्यमानादित्यर्थः फलितमाह—कर्तृवर्जितमिति । कर्तृसंज्ञारहितमित्यर्थः । शताद्बद्ध इति । नियमितकाले प्रत्यर्पणाभावे सति सुवर्णादिशतेन ऋणेन हेतुना अधमर्णो बद्ध इत्यर्थः । हेतुतृतीयापवादः । शतेन बन्धित इति । अधमर्णः उत्तमर्णेनेति शेषः । बन्धेर्हेतुमण्ण्यन्तात्कर्मणि उक्तः । अधमर्णः उत्तमर्णेन बद्ध इत्यण्यन्तस्यार्थः । शतेन ऋणेन प्रयोजककर्त्रा उत्तमर्णेन प्रयोज्यकर्त्रा बन्धनं कारितः अधमर्ण इति ण्यन्तस्यार्थः । अत्र शतस्यृणं प्रयोजकत्वात् कर्तृसंज्ञं हेतुसंज्ञं च, 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' इत्यत्र चकारेण कर्तृसंज्ञाया अपि विधानात् । ततश्च शतशब्दात् कर्तरि तृतीयां बाधित्वा अपवादत्वात् पञ्चमी स्यात् । अतः अकर्तरीत्युक्तमिति भावः । शतस्य हेतुत्वेऽपि कर्तृत्वान्न पञ्चमीति भावः ।

(६०२) विभाषा । हेतावित्यनुवर्तते । तदाह—गुणे हेतावर्थेलिङ्ग इति । विद्यमानादिति

'जिसका प्रतिनिधि और जिसका प्रतिदान हो उससे 'कर्मप्रवचनीय' के योग में 'पञ्चमी' विभक्ति होती है । तदनुसार यहाँ 'प्रति' ही कर्मप्रवचनीय लिया जाता है । **उदाहरण**—प्रतिनिधि अर्थ में (१) प्रद्युम्नः **कृष्णात्** प्रति (= प्रद्युम्न कृष्ण का प्रतिनिधि है) । प्रतिदान अर्थ में—**तिलेभ्यः** प्रतियच्छति माषान् (= तिलों के बदले में उड़द देता है) । इन दोनों उदाहरणों में क्रमशः 'प्रतिनिधि' एवं 'प्रतिदान' (विनिमय) अर्थों में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने के फलस्वरूप पञ्चमी विभक्ति हुई ।

विशेष—'कृष्णस्य प्रतिनिधिः' इत्यादि प्रयोगों की साधुता का निर्वाह 'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र' (ज्ञापकसिद्ध सर्वत्र प्रचलित नहीं होते) का अनुसरण कर किया गया है ।

(६०१) **पद**—अकर्तरि, ऋणे, पञ्चमी । **अनुवृत्ति**—हेतौ । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—कर्तृसंज्ञा से रहित ऋण के हेतुभूत होने पर, उससे पञ्चमी विभक्ति होती है । जैसे—शताद् बद्धः । 'अकर्तरि' का क्या प्रयोजन है ? शतेन बन्धितः ।

विवरण—सूत्रार्थ की निष्पत्ति के लिये "हेतौ" (२-३-८४) सूत्र की अनुवृत्ति अपेक्षित है । अतः "कर्तृभिन्न (अकर्तरि) हेतुवाची शब्द से ऋण वाच्य होने पर (ऋणे) पञ्चमी विभक्ति होती है" । **उदाहरण**—**शताद्** बद्धः (= सौ रुपए के ऋण से बँध गया) । यहाँ पर बन्धन का हेतु सौ रुपये हैं और वह हेतुवाची है । अतः पञ्चमी विभक्ति हुई—'शतात्' ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में यदि कर्तृभिन्न (अकर्तरि) प्रतिबन्ध न रहा होता तो प्रयोजक-कर्ता को भी पञ्चमी विभक्ति हो जाती । 'अकर्तरि' पद रखने पर वह नहीं होती । अतः 'शतेन बन्धितः' (सौ रुपये के कारण ऋणदाता ने ऋणी को बँधवा दिया) में 'शत' शब्द से तृतीया विभक्ति हुई । यहाँ पर 'शत' प्रयोजक-कर्ता है यद्यपि इसके साथ ही वह हेतुसंज्ञक भी है ("तत्प्रयोजको हेतुश्च" (१-४-५४) ।

(६०२) **पद**—विभाषा, गुणे, अस्त्रियाम् । **अनुवृत्ति**—हेतौ, पञ्चमी । **विधिसूत्र** ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हेतावस्त्रीलिङ्गे पञ्चमी वा स्यात्। जाड्यात्–जाड्येन वा बद्धः। 'गुणे' किम्? धनेन कुलम्। 'अस्त्रियाम्' किम्? बुद्धया मुक्तः। 'विभाषा' इति योगविभागादगुणे स्त्रियां च

भावः। जाड्यादिति। जडस्य भावो जाड्यम्। 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इति ष्यञ्। ननु धूमादग्निमानित्यादौ कथं पञ्चमी, धूमादेरगुणत्वादित्यत आह—योगविभागादिति। 'विभाषा' इति योगो विभज्यते। हेतावित्यनुवर्तते, पञ्चमीति च। हेतौ पञ्चमी वा स्यादित्यर्थः। ततश्च धूमादग्निमानित्यादि सिद्धम्। ततः गुणेऽस्त्रियामिति। तत्र विभाषेत्यनुवर्तते पञ्चमीति च। गुणे हेतावस्त्रीलिङ्गे पञ्चमी वा स्यादित्युक्तोऽर्थः। ततश्च जाड्याद् बद्ध इत्यादि सिद्धम्। ननु विभाषेत्येव सिद्धे गुणेऽस्त्रियामिति व्यर्थमित्यत आह—अगुणे स्त्रियां च क्वचिदिति। योगविभागस्य इष्टसिद्ध्यर्थत्वादिति भावः। अत्रागुणे उदाहरति—धूमादिति। अग्निमानित्यनन्तरं ज्ञायत इति शेषः। धूमस्य अग्निज्ञानहेतुत्वात् अत्र धूमस्य अगुणत्वेऽपि हेतुत्वात् ततः पञ्चमीति भावः। स्त्रियामुदाहरति—नास्ति घट इति। घट इत्यनन्तरम् इति ज्ञायत इति शेषः। अनुपलब्धेरिति। उपलब्धिः ज्ञानम्, तस्या अभावः अनुपलब्धिः। नञ्तत्पुरुषः। न चार्थाभावेऽव्ययीभावः शङ्क्यः, अर्थाभावे तयोर्विकल्पस्य वक्ष्यमाणत्वात्।

मूलार्थ—जो गुणवाचक शब्द हेतु भी हो किन्तु स्त्रीलिङ्ग में न हो तो उससे विकल्प में 'पञ्चमी' विभक्ति होती है। जैसे—जाड्यात् जाड्येन वा बद्धः। 'गुणे' का क्या प्रयोजन है? धनेन कुलम्। 'अस्त्रियाम्' का क्या प्रयोजन है? बुद्धया मुक्तः। 'विभाषा' योग विभाग करने से गुणवाचक शब्दों से भिन्न तथा स्त्रीलिङ्ग में होने पर कहीं-कहीं 'पञ्चमी' होती है। जैसे—(१) धूमात् अग्निमान्। (२) नास्ति घटः अनुपलब्धेः।

विवरण—विशेष परिस्थितिवश पूर्वसूत्रोक्त विधान में विकल्प की व्यवस्था की जारही है। तदनुसार पूर्व सूत्र (२-३-२४) से पञ्चमी एवं "हेतौ" (२-३-२३) से 'हेतौ' की अनुवृत्ति करने के पश्चात् सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर अर्थात् पुंलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में वर्तमान जो हेतुवाची गुण बोधक शब्द, उसमें विकल्प से 'पञ्चमी' विभक्ति होती है"। अतः पक्ष में "हेतौ" (२-३-२७) से प्राप्त तृतीया विभक्ति भी होगी। **उदाहरण**—जाड्यात् जाड्येन वा बद्धः (= मूर्खता से बन्धन में फँस गया)। 'जाड्य' शब्द बन्धन का कारण है और स्त्रीलिङ्ग वाची भी नहीं है, अतः पञ्चमी और तृतीया विभक्ति हुई।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'गुण' वाचक हेतु से पञ्चमी का विधान किये जाने के फलस्वरूप 'धनेन कुलम्' (= धन से कुल प्रतिष्ठित है) में 'धन' शब्द से पञ्चमी नहीं हुई, क्योंकि 'धन' गुण बोधक नहीं किन्तु द्रव्य है। अतः यथाप्राप्त "हेतौ" (२-३-२३) से तृतीया विभक्ति हुई। (२) इसी प्रकार 'हेतु' के स्त्रीलिङ्ग में अपेक्षित न होने से (अस्त्रियाम्) 'बुद्धया मुक्तः' (=बुद्धि से छूटा) में पञ्चमी नहीं हुई। यद्यपि छूटने में 'बुद्धि' हेतु है किन्तु उसके साथ ही वह स्त्रीलिङ्ग भी है। अतः यथाप्राप्त हेतु-तृतीया हुई।

विशेष—"विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्" (२-३-२५) सूत्र को योगविभाग द्वारा दो सूत्रों में विभक्त कर प्रथम अंश "विभाषा" में यथाप्राप्त "हेतौ" और "पञ्चमी" पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार इस अंश का यह अर्थ होगा कि "हेतु से पाक्षिक पञ्चमी विभक्ति होती है"। इस पूर्वभाग में "गुणेऽस्त्रियाम्" के अभाव में गुणभिन्न हेतु और स्त्रीलिङ्ग हेतु से भी पञ्चमी विभक्ति हो जाती है। अतः (१) धूमात् अग्निमान् (= धूएँ से अग्निमान् है)[1] तथा (२) नास्ति घटः अनुपलब्धेः (= घड़ा नहीं है, उपलब्धि न होने से)—इन दोनों उदाहरणों में 'धूम' (हेतु) तथा 'अनुपलब्धि' (स्त्रीलिङ्गवाची शब्द) शब्दों से पञ्चमी विभक्ति हुई।

---

१. धूमपदं स्वज्ञाने, अग्निमत्पदं च स्वज्ञानविषये लाक्षणिकम् इति बोध्यम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्वचित्। धूमादग्निमान्। नास्ति घटोऽनुपलब्धेः। (६०३) **पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् २। ३। ३२॥** एभिर्योगे तृतीया स्यात् पञ्चमीद्वितीये च। अन्यतरस्यां ग्रहणं समुच्चयार्थम्। पञ्चमीद्वितीये चानुवर्तेते। पृथग्रामेण—रामं वा। एवं विना, नाना। (६०४) **करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य २। ३।**

---

(६०३) पृथग्विना। पञ्चमीद्वितीये चेति। तृतीयाभावपक्षे इति शेषः। 'अपादाने पञ्चमी' 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन' 'एनपा द्वितीया' 'पृथग्विना' इति सूत्रक्रमः। तत्र षष्ठीत्यस्वरितत्वान्नानुवर्तते, पञ्चमी द्वितीयेति चानुवर्तते। तथा च तृतीयाभावपक्षे पञ्चमी द्वितीया चेति भावः। ननु तृतीयाभावपक्षे द्वितीयैव सन्निहितत्वात् स्यात्, न तु पञ्चम्यपि, षष्ठ्यतसर्थेत्यत्र तदनुवृत्तेरभावात्। अतोऽत्र पञ्चम्याः समावेशोऽनुपपन्न इत्यत आह—अन्यतरस्याङ्ग्रहणमिति। तृतीया चेत्येतावतैव सन्निहितद्वितीयासमुच्चयसिद्धेरन्यतरस्यामिति गुरुयत्नकरणं व्यवहिताया अपि पञ्चम्याः समुच्चयार्थम्, अव्ययानामनेकार्थकत्वादिति भावः। ननु पञ्चम्याः 'षष्ठ्यतसर्थ' इत्यत्रानानुवृत्ताया इहानुवृत्तेरसम्भवात् कथमिह तदुपस्थितिरित्यत आह—पञ्चमीद्वितीये चानुवर्तेते। मण्डूकप्लुत्येति शेषः। पृथग्रामेणेति। रामप्रतियोगिकभेदवानित्यर्थः। एवं विना नानेति। **विना रामेण, रामात्, रामम्। नाना रामेण, रामात्, रामं वा। पृथग्विनानानाशब्दयोऽपि भेदार्थका इति केचित्। 'पृथग्विनान्तरेणतैर्हिरुङ्नाना च वर्जने' इत्यमरः। रामस्य वर्जने सुखं नास्तीत्यर्थः।**

(६०४) करणे च। एभ्य इति। **स्तोक अल्प कृच्छ्र कतिपय एभ्यश्चतुर्भ्य इत्यर्थः।** असत्त्वपदं व्याचष्टे—अद्रव्येति। **अन्यतरस्यामित्यनुवर्तते, पञ्चमीति च। ततश्च करणे**

---

(६०३) पद—पृथग्विनानानाभिः, तृतीया, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—द्वितीया, पञ्चमी। **विधिसूत्र** (विकल्प)।

मूलार्थ—इनके योग में तृतीया होती है। पक्ष में पञ्चमी और द्वितीया भी। सूत्र में 'अन्यतरस्यां' पद समुच्चयार्थक है। पूर्व सूत्रों से 'पञ्चमी' और 'द्वितीया' की अनुवृत्ति भी होती है। जैसे—पृथक् रामेण, रामं, रामात् वा। इसी प्रकार 'विना' 'नाना' के साथ भी (तीनों विभक्तियाँ होंगी)।

विवरण—प्रकृत सूत्र से तीन विभक्तियों का विधान किया जारहा है। इन तीनों में मुख्य विधेय तृतीया विभक्ति है, जिसका सूत्र में निर्देश किया गया है। पाक्षिक विधान होने से समीपस्थ "एनपा द्वितीया" (२-३-३१) सूत्र से अनुवृत्त 'द्वितीया' पद के कारण 'द्वितीया' विभक्ति का लाभ होता है। 'पञ्चमी' विभक्ति के लिए अधिक आयास अपेक्षित है। अतः मण्डूकप्लुतिवश "अपादाने पञ्चमी" (२-३-२८) सूत्र से अनुवृत्त 'पञ्चमी' पद का आश्रय लेकर 'पञ्चमी' विभक्ति सिद्ध होती है। मण्डूकप्लुति के कारण बीच के सूत्र "षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन" (२-३-३०) में 'पञ्चमी' की अनुवृत्ति छोड़नी पड़ती है। अतः भट्टोजी दीक्षित ने सूत्रस्थ 'अन्यतरस्याम्' पद का अर्थ समुच्चयार्थक माना है। **उदाहरण**—(१) पृथक् **रामेण, रामाद्, रामं** वा (= राम से भिन्न)। 'पृथक्' शब्द के कारण तीनों विभक्तियाँ हुई। इसी प्रकार (२) विना **रामेण, रामात्, रामं** वा (= राम के विना) तथा (३) नाना **रामेण, रामात्, रामं वा** (= राम के विना) में भी 'विना' तथा 'नाना' के साथ तीनों विभक्तियाँ हुई।

विशेष—'नाना' शब्द यद्यपि अनेकार्थक है तथापि यहाँ साहचर्यवश 'नाना' शब्द का प्रयोग 'विना' के अर्थ में ही किया गया है। अमरकोषकार ने भी 'नाना' शब्द को वर्जनार्थक माना है।

(६०४) पद—करणे, च, स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्य, असत्त्ववचनस्य। अनुवृत्ति—तृतीया, पञ्चमी, अनभिहिते। **विधिसूत्र।**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३३ ॥ एभ्योऽद्रव्यवचनेभ्यः करणे तृतीयापञ्चम्यौ स्तः । स्तोकेन स्तोकाद्वा मुक्तः । द्रव्ये तु स्तोकेन विषेण हतः । (६०५) दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च २ । ३ । ३५ ॥ एभ्यो द्वितीया स्याच्चात्पञ्चमीतृतीये च । प्रातिपदिकार्थमात्रे विधिरयम् । ग्रामस्य दूरम्—दूरात्—दूरेण वा, अन्तिकम्—अन्तिकात् अन्तिकेन वा । असत्त्ववचनस्य इत्यनुवृत्तेर्नेह, दूरः

पञ्चमी वेति लभ्यते । तदभावे तु तृतीया सिद्धैव । तदाह—तृतीयापञ्चम्याविति । स्तोकेन स्तोकाद्वा मुक्त इति । लघुना आयासेन मुक्त इत्यर्थः । आयासो न द्रव्यमिति भावः । द्रव्ये त्विति । द्रव्ये वृत्तौ स्तोकेन विषेण हत इति तृतीयैवेत्यर्थः । अल्पेनाल्पाद्वा मुक्तः । कृच्छ्रेण कृच्छ्राद्वा मुक्तः । कष्टेनेत्यर्थः । कतिपयेन कतिपयाद्वा मुक्तः । अकृत्स्नेन साधनेनेत्यर्थः ।

(६०५) दूरान्तिक एभ्य इति । दूरार्थकेभ्यः अन्तिकार्थकेभ्यश्चेत्यर्थः । चकारः व्यवहितयोरपि पञ्चमीतृतीययोः समुच्चयार्थः, न तु 'दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम्' इति सन्निहितषष्ठ्या अपि, व्याख्यानात् । तदाह—चात्पञ्चमीतृतीये चेति । प्रातिपदिकार्थमात्रे विधिरयमिति । व्याख्यानादिति भावः । तथा च प्रथमापवाद इति फलितम् । 'दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावनेजनम्'—इति भाष्यप्रयोगात् सप्तम्यर्थेऽधिकरणेऽप्ययं विधिः ।

मूलार्थ—सूत्रोक्त स्तोक आदि चारों शब्द जब द्रव्यवाचक न हों किन्तु करण के रूप में प्रयुक्त हों तो इनके योग में तृतीया और पञ्चमी विभक्तियाँ होती हैं । जैसे—स्तोकेन स्तोकात् वा मुक्तः ।

विवरण—सूत्रार्थ को पूरा करने में पूर्वसूत्र (६०३) से 'अन्यतरस्यां' तथा 'पञ्चमी' की अनुवृत्ति आरही है । अतः इस सूत्र का विधेय करण-कारक अर्थ में पञ्चमी विभक्ति है । फलतः यह सूत्र कारक-विभक्ति का प्रतिपादक है । सूत्रस्थ 'कतिपयस्य' पद पञ्चमी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा वृत्ति में 'एभ्यः' पद उसका परामर्शक है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "स्तोक (थोड़ा), अल्प (थोड़ा), कृच्छ्र (कठिनता) तथा कतिपय (कुछ), (स्तोकश्च, अल्पश्च, कृच्छ्रश्च, कतिपयश्च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयम्, तस्य)—इन अद्रव्यवाचक शब्दों से करणकारक में तृतीया और (च) पञ्चमी विभक्ति हों" । क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त होने पर ये शब्द अद्रव्यवाचक होते हैं । उसी स्थिति में ये शब्द इस सूत्र के उदाहरण होंगे । **उदाहरण**—**स्तोकेन स्तोकाद्** वा मुक्तः (= सरलता से छूटा) । तृतीया और पञ्चमी विभक्तियाँ हुईं ।

प्रत्युदाहरण—'स्तोक' पद से द्रव्यवाची होने पर पञ्चमी विभक्ति नहीं होगी । अतः 'स्तोकेन विषेण हतः' (= थोड़े से विष से मर गया) में तृतीया विभक्ति ही हुई ।

(६०५) पद—दूरान्तिकार्थेभ्यः, च । **अनुवृत्ति**—(अन्यतरस्याम्) पञ्चमी, तृतीया । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—दूर और अन्तिकार्थक शब्दों से द्वितीया विभक्ति होती है । सूत्रस्थ 'च' पद से पञ्चमी और तृतीया भी होती है । यह सूत्र केवल प्रातिपदिकार्थ में इन विभक्तियों का विधायक है । जैसे—ग्रामस्य दूरं दूरात् दूरेण वा; अन्तिकम् अन्तिकात् अन्तिके न वा । असत्त्ववचनस्य (अद्रव्यवाचक) की अनुवृत्ति आने से यह विधान यहाँ नहीं होता—दूरः पन्थाः ।

विवरण—प्रकृत सूत्र से द्वितीया, पञ्चमी और तृतीया—ये तीन विभक्तियाँ विधेय हैं । इनमें से सूत्र में द्वितीया पद का उल्लेख होने से द्वितीया का साक्षात् विधान है । अन्य दो विभक्तियाँ सूत्र में प्रयुक्त 'च' शब्द के बल से संगृहीत हैं । इसके लिये "पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्" (२-३-३२) से 'अन्यतरस्याम्' पद की अनुवृत्ति का आश्रय लेना पड़ता है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "दूर शब्द और उसके पर्यायवाची, अन्तिम (समीप) और उसके पर्यायवाची शब्दों के योग में द्वितीया, पञ्चमी और तृतीया विभक्तियाँ हों" । उदाहरण **दूरार्थक**—**ग्रामस्य दूरं, दूरात्, दूरेण वा** (गाँव से दूर) । **अन्तिकार्थक**—**ग्रामस्य अन्तिकम्, अन्तिकात्, अन्तिकेन वा** (= गाँव के समीप)—यथोक्त तीनों विभक्तियाँ हुईं ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पन्थाः । (६०६) षष्ठी शेषे २ । ३ । ५० ॥ कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिसम्बन्धः शेषः । तत्र षष्ठी स्यात् । राज्ञः पुरुषः । कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव । सतां गतम् । सर्पिषो जानीते । मातुः स्मरति । एधो दकस्योपस्कुरुते ।

ननु दूरः पन्था इत्यत्र कथं न पञ्चमीत्यत आह—असत्त्ववचनस्येति । दूरः पन्था इत्यत्र पन्थाः द्रव्यम् । तद्विशेषणं दूरशब्दः सत्त्ववचन इति भावः । इति पञ्चमी विभक्तिः ।

(६०६) अथ षष्ठी विभक्तिः । षष्ठी शेषे । उक्तादन्यः शेषः । 'कर्मणि द्वितीया' इत्यादिसूत्रेषु द्वितीयादिविधिषु हि कर्मकर्तृकरणसम्प्रदानापादानाधिकरणकारकाण्यनुक्रान्तानि । प्रथमाविधौ प्रातिपदिकार्थोऽनुक्रान्तः । एतेभ्यः अन्यः स्वस्वामिभावादिसम्बन्धः शेषपदार्थ इत्यर्थः । तत्रासति बाधके सम्बन्धो विशेषरूपेण सामान्यरूपेण च भासते 'न हि निर्विशेषं सामान्यम्' इति न्यायात् । सति तु बाधके मातुः स्मरतीत्यादौ सम्बन्धत्वेनैव भानम् । कर्मत्वादिविशेषरूपेणापि भाने द्वितीयादिप्रसङ्गादिति स्थितिः । राज्ञः पुरुष इत्यत्र स्वस्वामिभावरूपविशेषात्मना सम्बन्धत्वरूपसामान्यात्मना च सम्बन्धः षष्ठ्यर्थः । राजाश्रितस्वामित्वनिरूपितस्वत्वात्मकसम्बन्धाश्रयः पुरुष इति बोधः । आश्रयत्वादि तु संसर्गमर्यादया भासते । तत्र पुरुषो मुख्यं विशेष्यम् । सम्बन्धस्त्वाधेयतया पुरुषविशेषणम् । राजा तु आश्रयतया सम्बन्धविशेषणम् । सम्बन्धस्त्वाधेयतया राजानं प्रति विशेष्यम्, 'प्रधानप्रत्ययार्थवचनम्' इति वचनेन प्रत्ययार्थस्य प्रकृत्यर्थं प्रति प्राधान्यावगमात् । अत एव पुरुषशब्दादपि न षष्ठी, राजनिरूपितसम्बन्धाश्रयः पुरुष इति बोधे सम्बन्धस्य प्रकृत्यर्थपुरुषं प्रति विशेषणत्वेन च भानानुपपत्तेः । यदा तु पुरुषगतस्वत्वनिरूपितस्वामित्वरूपसम्बन्धाश्रयो राजेति बोधः, तदा पुरुषस्य राजेति पुरुषशब्दात् षष्ठी भवत्येवेत्यन्यत्र विस्तरः । सतां गतमित्यादौ कर्तृतृतीयादिकमाशङ्क्याह—कर्मादीनामपीति । कर्मत्वकर्तृत्वादीनामपि सम्बन्धत्वसामान्यात्मना विवक्षायां षष्ठ्येव, नतु कारकविभक्त्य इत्यर्थः । तथा च 'क्तस्य च वर्तमाने' इति सूत्रे भाष्यम्—'कर्मत्वादीनामविवक्षा शेषः' इति । सतां गतमिति । भावे क्तः । तत्सम्बन्धिगमनमित्यर्थः । कर्तृत्वविवक्षायां

विशेष—प्रकृत सूत्र में "करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य" (२-३-३३) से 'असत्त्ववचनस्य' की अनुवृत्ति आती है । 'दूरः पन्थाः' (= मार्ग दूर है) में दूर शब्द विशेषणवाचक होने से द्रव्यवाची है, अतः यहाँ द्वितीया, तृतीया तथा पञ्चमी विभक्तियाँ नहीं हुईं । प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा हुई ।

(६०६) पद—षष्ठी, शेषे । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—कारक और प्रातिपदिकार्थ से भिन्न स्वस्वामिभाव आदि सम्बन्ध 'शेष' है । उस शेष अर्थ में षष्ठी विभक्ति होती है । जैसे—राज्ञः पुरुषः । 'कर्म' आदि के सम्बन्धमात्र की विवक्षा में भी षष्ठी होती है । जैसे—(१) सतां गतम् । (२) सर्पिषः जानीते । (३) मातुः स्मरति । (४) एधो दकस्योपस्कुरुते[1] । (५) भजे शम्भोः चरणयोः । (५) फलानां तृप्तः ।

विवरण—क्रमप्राप्त 'षष्ठी' विभक्ति का निरूपण किया जारहा है । सम्बन्धसामान्य में षष्ठी विभक्ति होती है । 'सम्बन्ध' कारक नहीं है । प्रस्तुत प्रकरण में यह बताया जारहा है कि 'षष्ठी' विभक्ति का प्रयोग किस प्रकार के सम्बन्धों को सूचित करने के लिए होता है । अतः 'शेष' पद का स्पष्टीकरण अपेक्षित है । 'शेष' पद का अर्थ होता है बचा हुआ (अवशिष्ट) । अब तक जो कहा

---

१. "एधः कर्तृ कर्ता, वा दकस्य उदकस्य । एधशब्दोऽदन्तः पुंलिङ्गः "कारके" इति सूत्रे भाष्ये प्रयुक्तः—एधाः पक्ष्यन्ते इति । सान्तः क्लीबो वा" इति शब्देन्दुशेखरे ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भजे शम्भोश्चरणयोः। फलानां तृप्तः। (६०७) षष्ठी हेतुप्रयोगे २। ३। २६॥

तु सन्निर्गतमिति तृतीया भवत्येव। कृद्योगलक्षणा षष्ठी तु न भवति, 'न लोक' इति निषेधात्। सर्पिषो जानीते इति। करणत्वविवक्षायां सर्पिषा उपायेन प्रवर्तते इत्यर्थः। करणत्वस्य सम्बन्धत्वविवक्षायां तु षष्ठी, कर्त्राश्रिता सर्पिस्सम्बन्धिनी प्रवृत्तिरिति बोधः। मातुः स्मरतीति। कर्मत्वविवक्षायां मातरं स्मरतीत्यर्थः। कर्मत्वस्य शेषत्वविवक्षायां तु देवदत्तकर्तृकं मातृसम्बन्धि स्मरणमित्यर्थः। एधोदकस्योपस्कुरुते इति। एधशब्दः अकारान्तः पुँल्लिङ्गः, 'कारके' इति सूत्रे 'एधाः पच्यन्ते' इति भाष्यप्रयोगात्। एधाश्च उदकानि चेति द्वन्द्वात् षष्ठी। 'जातिरप्राणिनाम्' इत्येकवद्भावः। कर्मत्वविवक्षायाम् एधोदकं शोषण-गन्धद्रव्याधानादिना परिष्कुरुते इत्यर्थः। कर्मत्वस्य शेषत्वविवक्षायां तु एधोदकसम्बन्धि-परिष्करणमिति बोधः। एधश्शब्दस्सकारान्तोऽप्यस्ति नपुंसकलिङ्गः 'काष्ठं दार्विन्धनं त्वेध इध्ममेधः समित् स्त्रियाम्'—इति कोशात्, 'यथैधांसि समिद्धोऽग्निः' इत्यादिदर्शनाच्च। तथा सति एधः दकस्येति छेदः, उदकशब्दसमावेशे एध उदकस्येत्यापत्तेः। उदकशब्द-पर्यायो दकशब्दोऽप्यस्ति, 'भुवनमम्भुतं जीवनं स्याद् दकं च' इति हलायुधकोशात्। तथा च एधः कर्तृ उदकं परिष्कुरुते इत्यर्थः। कर्मत्वस्य शेषत्वविवक्षायां तु षष्ठी, निम्ब-करञ्जादिकाष्ठविशेषप्रज्वलिताग्नितप्तोदकस्य गुणविशेषो वैद्यशास्त्रप्रसिद्धः। भजे शम्भो-श्चरणयोरिति। अत्र चरणयोः कर्मत्वस्य शेषत्वविवक्षायां षष्ठी। शम्भुचरणसम्बन्धि भजन-मित्यर्थः। फलानां तृप्त इति। अत्रापि करणत्वस्य शेषत्वविवक्षायां षष्ठी। फलसम्बन्धिनी तृप्तिरिति बोधः।

(६०७) षष्ठी हेतुप्रयोगे। हेताविस्यनुवर्तते। तदाह—हेतौ द्योत्ये इति। हेतुत्वे द्योत्ये इत्यर्थः। हेतुवाचकात् षष्ठीति फलितम्। 'हेतौ' इति तृतीयां बाधित्वा षष्ठी। हेतुप्रयोगे

गया है उससे बचा हुआ—अर्थात् कर्ता आदि छहों कारकों से भिन्न स्वस्वामिभाव आदि सम्बन्ध 'शेष'पदबोध्य है। इन सम्बन्धों को बताने में षष्ठी का प्रयोग होगा। **उदाहरण**—राज्ञः पुरुषः (= राजा का पुरुष)। यहाँ 'राज' पदार्थ का 'पुरुष' पदार्थ के साथ स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध है। अतः 'राजन्' शब्द से 'षष्ठी' हुई—राज्ञः।

विशेष—जब 'कर्म' आदि का क्रिया के साथ केवल सम्बन्धमात्र विवक्षित हो, सम्बन्ध का प्रकारविशेष—ईप्सिततमत्व, साधकतमत्व, विश्लेष आदि—बताना अभीष्ट न हो तो 'कर्म' आदि संज्ञायें नहीं होतीं। तब षष्ठी विभक्ति हो जाती है। ऐसी स्थिति में उनका कारकत्व नष्ट नहीं होता। **उदाहरण**—(१) सतां गतम् (= सज्जनों का जाना)। 'कर्ता' ('सत्') में प्रथमा की अविवक्षा के कारण षष्ठी विभक्ति हुई। (२) सर्पिषः जानीते (= घी के कारण त्रस्त होता है)—'करण' की अविवक्षा में षष्ठी। (४) एधो दकस्योपस्कुरुते (= लकड़ी जल को परिष्कृत करती है)—कर्म की 'सम्बन्ध'-विवक्षा में षष्ठी। (५) भजे शम्भोः चरणयोः (= शम्भु के चरणों को भजता हूँ)—कर्म के स्थान पर सम्बन्ध की विवक्षा में षष्ठी। (६) फलानां तृप्तः (=फलों से तृप्त) करण की शेषत्व विवक्षा में षष्ठी।

(६०७) **पद**—षष्ठी, हेतुप्रयोगे। **अनुवृत्ति**—हेतौ। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—हेतु शब्द के योग में यदि उससे हेतु द्योत्य हो तो षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—अन्नस्य हेतोः वसति।

विवरण—सूत्रार्थ पूरा होने के लिए "हेतौ" (२-३-२३) सूत्र की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार 'हेतु' शब्द के प्रयोग में यदि हेतु द्योतित हो रहा हो तो उस शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है। **उदाहरण**—अन्नस्य हेतोः वसति (= अन्न के कारण रहता है) यहाँ रहने का हेतु अन्न

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हेतुशब्दप्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी स्यात्। अन्नस्य हेतोर्वसति। (६०८) **सर्वनाम्नस्तृतीया च २। ३। २७॥** सर्वनाम्नो हेतुशब्दस्य च प्रयोगे हेतौ द्योत्ये तृतीया स्यात् षष्ठी च। केन हेतुना वसति। कस्य हेतोः। 'निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्' (वा १४७३)। किं निमित्तं वसति, केन निमित्तेन, कस्मै निमित्ताय इत्यादि। एवं किं कारणम्, को हेतुः, किं प्रयोजनम् इत्यादि। प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमाद्वितीये न स्तः। ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः। ज्ञानाय निमित्ताय इत्यादि।

किम्? अन्नेन वसति। हेतौ द्योत्ये इति किम्? अन्नस्य हेतोस्तुभ्यं नमः। अत्र युष्मच्छब्दान्न भवति।

(६०८) सर्वनाम्नस्तृतीया च। सर्वनाम्न इति षष्ठी। तदाह—सर्वनाम्नो हेतुशब्दस्य चेति। कस्माद्भवतीत्यपेक्षायां सन्निहितत्वात् सर्वनामहेतुभ्यामिति गम्यते इत्यभिप्रेत्योदाहरति—केन हेतुनेति। सर्वनाम्न इति यदि पञ्चमी स्यात्, तदा हेतुशब्दात् षष्ठी न स्यादिति बोध्यम्। निमित्तपर्यायेति। निमित्तपर्यायाणां प्रयोगे तेभ्यस्तत्समानाधिकरणेभ्यश्च सर्वासां विभक्तीनां प्रायेण प्रयोगो भवतीत्यर्थः। किं निमित्तं वसतीति। प्रथमान्तं द्वितीयान्तं च ज्ञेयम्। इत्यादीति। कस्मात् निमित्तात्, कस्य निमित्तस्य, कस्मिन्निमित्ते। पर्यायग्रहणस्य प्रयोजनमाह—एवं किं कारणमित्यादि। प्रायग्रहणस्य प्रयोजनमाह—

है तथा हेतु शब्द का प्रयोग भी किया गया है, अतः षष्ठी। अन्न के साथ सामानाधिकरण्य होने से 'हेतु' में भी षष्ठी हुई। यह हेतु-तृतीया का अपवाद है।

(६०८) पद—सर्वनाम्नः, तृतीया, च। **अनुवृत्ति**—षष्ठी, हेतुप्रयोगे, हेतौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सर्वनाम के साथ हेतु शब्द का प्रयोग होने पर यदि वे हेतु-अर्थ प्रकट करते हों तो 'सर्वनाम' और 'हेतु' दोनों में ही तृतीया और षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—केन हेतुना वसति। कस्य हेतोः वसति। वा० निमित्त के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग होने पर प्रायः सभी विभक्तियाँ देखी जाती हैं। जैसे—किं निमित्तं वसति। केन निमित्तेन वसति। कस्मै निमित्ताय वसति इत्यादि। इसी तरह—किं कारणम्, को हेतुः, किम् प्रयोजनम् इत्यादि भी जानें।

विवरण—यह सूत्र अर्थ के विचार से स्वयम् अपूर्ण है। अतः सम्पूर्ण "षष्ठी हेतुप्रयोगे" (२-३-२६) सूत्र तथा "हेतौ" की अनुवृत्ति की जाती है। तदनुसार सूत्र का यह अर्थ होता है कि "हेतु के रूप में सर्वनाम शब्द का प्रयोग होने पर तथा 'हेतु' शब्द का भी वाक्य में प्रयोग होने पर 'सर्वनाम' शब्द से तृतीया विभक्ति आती है और षष्ठी भी"। यह सूत्र पूर्वसूत्र का अपवाद है। **उदाहरण**—(१) केन हेतुना वसति (= किस हेतु से रहता है)—सर्वनामवाची 'किम्' शब्द से तृतीया। सामानाधिकरण्य होने से 'हेतु' शब्द से भी तृतीया। अथवा (१) कस्य हेतोः वसति (= किस हेतु से रहता है)—में षष्ठी विभक्ति हुई।

वा० अर्थ—निमित्तार्थक शब्द के योग में हेतुवाचक शब्द से सामान्यतः सभी विभक्तियों का प्रयोग होता है। **उदाहरण**—(१) किं निमित्तं वसति (= किस निमित्त रहता है)—प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति। (२) केन निमित्तेन वसति (किस कारण से रहता है)—तृतीया विभक्ति। (३) कस्मै निमित्ताय वसति (= किस लिए रहता है)—चतुर्थी विभक्ति। इसी तरह कस्मात् निमित्तात्, कस्य निमित्तस्य और कस्मिन् निमित्ते—ये प्रयोग भी होंगे। इसी प्रकार किं कारणम्, कः हेतुः, किं निमित्तम्, आदि रूप भी बनते हैं।

विशेष—वार्तिक में 'प्रायः' शब्द का उल्लेख होने से यह विदित होता है कि जो शब्द 'सर्वनाम' नहीं हैं उनसे प्रथमा और द्वितीया विभक्तियाँ नहीं होतीं। जैसे—ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः अथवा ज्ञानाय निमित्ताय हरिः सेव्यः (= ज्ञान के लिये हरि की सेवा करनी चाहिये)—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri Gyaan and eGangotri

(६०९) षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन २ । ३ । ३० ॥ एतद्योगे षष्ठी स्यात् । 'दिक्शब्द–' (सू ५९५) इति पञ्चम्या अपवादः । ग्रामस्य दक्षिणतः, पुरः, पुरस्तात्, उपरि,

---

प्रायग्रहणादिति । एवं च 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' 'सर्वनाम्नस्तृतीया च' इति सूत्रद्वयं न कर्तव्यं भवतीति भावः ।

(६०१) षष्ठ्यतसर्थ । एतद्योगे इति । 'दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः' इत्यारभ्य 'आहि च दूरे' 'उत्तराच्च' इत्यन्तैः सूत्रैर्दिग्देशकालवृत्तिभ्यः शब्देभ्यः स्वार्थे प्रत्यया विहिताः । तत्र 'दक्षिणोत्ताराभ्यामतसुच्' इति विहितः यः अतसुच्प्रत्ययः तस्यार्थः दिग्देशकालरूपः स एवार्थो यस्य सः अतसर्थप्रत्ययः प्रयोगे इत्यर्थः । यद्यप्यतसर्थप्रत्ययेषु अस्तातिरेव प्रथमः तथापि लाघवादतसर्थेत्युक्तम् , न त्वस्तात्यर्थेति, संयुक्ताक्षरघटितत्वेन गौरवात् । दिक्शब्देतीति । 'अन्यारात्' इति सूत्रे दिक्शब्देत्यनेन या पञ्चमी विहिता तदपवाद इत्यर्थः । दक्षिणत इति । सप्तमीपञ्चमीप्रथमान्तात् स्वार्थे दिग्देशकालवृत्तेः दक्षिणशब्दात् अतसुच् । दक्षिणस्यां, दक्षिणस्याः, दक्षिणा वा दिगित्यर्थः । एवं देशे काले च । पुरः इति । पूर्वशब्दादस्तात्यर्थे 'पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम्' इत्यसिप्रत्ययः प्रकृतेः पुरादेशश्च । पूर्वस्यां, पूर्वस्याः, पूर्वा वेत्यर्थः । पुरस्तादिति । पूर्वशब्दादस्तातिप्रत्यये सति 'अस्तातिच' इति प्रकृतेः पुरादेशः । पुरश्शब्दसमानार्थकमिदम् । उपरीति । 'उपर्युपरिष्टात्' इति सूत्रेण ऊर्ध्वशब्दात् रिष्टातिलप्रत्ययः प्रकृतेरुपादेशश्च निपातितः । ऊर्ध्वायां दिशि, ऊर्ध्वाया दिशः, ऊर्ध्वा दिगिति वा अर्थः । एवं देशे कालेऽपि ।

में ज्ञान और निमित्त शब्दों से तृतीया और चतुर्थी विभक्ति हुई, प्रथमा और द्वितीया विभक्तियाँ नहीं हुईं । 'इत्यादि' कहने से पञ्चमी, षष्ठी और सप्तमी विभक्तियों का प्रयोग होने में कोई बाधा नहीं है ।

(६०१) पद—षष्ठी, अतसर्थप्रत्ययेन । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—'अतस्' अर्थक प्रत्ययों के योग में षष्ठी विभक्ति होती है । 'दिक्शब्दयोग' षष्ठी का यह अपवाद है । जैसे—ग्रामस्य दक्षिणतः, पुरः, पुरस्तात्, उपरि, उपरिष्टात् ।

विवरण—अर्थ की दृष्टि से सूत्र स्वयं पूर्ण है । सूत्रस्थ 'अतस्' पद अतस् अर्थ में लाक्षणिक है अतः 'अतस्' शब्द का 'अर्थ' शब्द के साथ मध्यमपदलोपी समास होने पर (अतसर्थः अर्थो यस्य स अतसर्थः, अतसर्थः प्रत्ययः अतसर्थप्रत्ययः) 'अतसर्थ शब्द का 'प्रत्यय' शब्द के साथ समास होने पर सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "अतस्-अर्थक प्रत्ययान्त शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति हो" । यह सूत्र "अन्यारादितरर्तेदिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते" (२-३-९) सूत्र से प्राप्त होने वाली 'पञ्चमी' का अपवाद है । उदाहरण—ग्रामस्य दक्षिणतः, पुरः, पुरस्तात्, उपरि-उपरिष्टात् (=गाँव से दक्षिण की ओर, आगे, ऊपर की ओर)—में अतसर्थक-प्रत्ययों-के योग में क्रमशः अतसुच्, अस्, अस्तात्ति, रिल् तथा रिष्टात् ग्राम शब्द में षष्ठी हुई—'ग्रामस्य' । इन शब्दों का रचनाप्रकार—(१) दक्षिण+अतसुच्>दक्षिणतः । (२) पूर्व+असि (अस्) ▷पुरः । (३) पूर्व+अस्तात्ति (अस्तात्)>पुरस्तात् । दोनों स्थानों पर पूर्व = पुर आदेश । (४) ऊर्ध्व+रिल् (रि) >उपरि । (५) ऊर्ध्व+रिष्टाति (रिष्टात्) >उपरिष्टात् । दोनों स्थानों पर ऊर्ध्व के स्थान में 'उप' आदेश ।

विशेष—अतसर्थक प्रत्ययों के अन्तर्गत "दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्-देश-कालेष्वस्तातिः" (५-३-२७) सूत्र से लेकर "आहि च दूरे" (५-३-३७) सूत्र तक विहित प्रत्यय संग्राह्य हैं । ये सभी सूत्र दिक्, देश और कालवृत्ति शब्दों से स्वार्थ में अस्तात्ति आदि प्रत्ययों का विधान करते हैं । इसी के मध्य "दक्षिणोत्ताराभ्याम् अतसुच्" (५-३-२८) सूत्र भी है । अतः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपरिष्टात्। (६१०) एनपा द्वितीया २। ३। ३१॥ एनबन्तेन योगे द्वितीया स्यात्। 'एनपा' इति योगविभागात्षष्ठ्यपि। दक्षिणेन ग्रामं—ग्रामस्य वा। एवम् उत्तरेण। (६११) दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् २। ३। ३४॥ एतैर्योगे षष्ठी स्यात्पञ्चमी

---

(६१०) एनपा द्वितीया। 'षष्ठ्यतसर्थै' इति षष्ठ्याः नित्यं बाधे प्राप्ते आह—योगविभागादिति। एनपेति योगो विभज्यते। 'षष्ठ्यतसर्थै' इति पूर्वसूत्रात् षष्ठीत्यनुवर्तते। एनबन्तेन योगे षष्ठी स्यादित्यर्थः। द्वितीयेति योगान्तरम्। एनपेत्यनुवर्तते। एनबन्तेन योगे द्वितीया स्यादित्युक्तोऽर्थः। दक्षिणेनेति। 'एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः' इत्येनप्। एवमुत्तरेणेति। उत्तरेण ग्रामं ग्रामस्य वेत्युदाहरणमित्यर्थः। पूर्वेण ग्रामं ग्रामस्य वेत्याद्यपि बोध्यम्, दिक्शब्देभ्य एनब्विधेः। भाष्ये तु 'षष्ठ्यतसर्थै' इति सूत्रात् प्राक् 'एनपा द्वितीया' इत्यस्य पाठ इति 'पृथिग्वना' इति सूत्रे उक्तम्। अतोऽत्र सत्यपि योगविभागे षष्ठीग्रहणानुवृत्तेरसम्भवादेनपा योगे षष्ठ्यसाधुरेवेति युक्तम्।

(६११) दूरान्तिकार्थे। एतैरिति। दूरार्थकैरन्तिकार्थकैश्च शब्दैर्योगे इत्यर्थः। पञ्चमी चेति। षष्ठ्यभावे 'अपादाने पञ्चमी' इत्यतः अनुवृत्ता पञ्चमीति भावः। 'एनपा द्वितीया'

'दिक्' शब्द अतसर्थ प्रत्ययान्त है। इनके आरम्भ में 'अस्ताति' प्रत्यय होने पर भी सूत्रकार ने 'अस्तात्यर्थक' नहीं कहा, लाघववश 'अतुसर्थ' कहना युक्तिसंगत समझा।

(६१०) पद—एनपा, द्वितीया। विधिसूत्र।

मूलार्थ—'एनप्' प्रत्ययान्त शब्दों के साथ द्वितीया विभक्ति होती है। 'एनपा' इस योगविभाग से षष्ठी भी होती है। जैसे—दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा। इसी तरह उत्तरेण ग्रामं ग्रामस्य वा।

विवरण—अर्थ के विचार से सूत्र स्वतः पूर्ण है। अतः 'एनप्' प्रत्ययान्त शब्दों के योग में द्वितीया होती है। 'एनप्' प्रत्यय ("एनबन्यतरस्यामदूरे०" ५-३-३५) का समावेश अतसर्थ प्रत्ययों के अन्तर्गत है, अतः "षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन" (२-३-३०) से षष्ठी प्राप्त रही। उसका यह अपवाद है। इस सूत्र का योगविभाग करने से पक्ष में षष्ठी विभक्ति भी हो जाती है। प्रकृत सूत्र को दो सूत्रों में विभक्त करने पर प्रथम अंश "एनपा" में पूर्व सूत्र से षष्ठी की अनुवृत्ति करने से 'एनप्' प्रत्ययान्त के साथ 'षष्ठी' विभक्ति भी हो जायगी। अनन्तर 'द्वितीया' अंश में 'एनपा' की अनुवृत्ति होने से द्वितीया विभक्ति भी होगी। उदाहरण—(१) दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा (= गाँव के दक्षिण की ओर)। दक्षिणेन (दक्षिण+एनप्) शब्द 'एनप्' प्रत्ययान्त है अतः 'ग्राम' शब्द से द्वितीया तथा षष्ठी विभक्तियाँ हुईं। 'एनप्' प्रत्यय का विधायक सूत्र "एनबन्यतरस्यामदूरे०" (५-३-३५) है। यह प्रत्यय समीप अर्थ में होता है। इसी प्रकार (२) उत्तरेण ग्रामं ग्रामस्य (= गाँव के उत्तर की ओर) में भी द्वितीया एवं षष्ठी हुई।

विशेष—भाष्यकार ने "षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन" (२-३-३०) से पूर्व "एनपा द्वितीया" सूत्र की स्थिति मानी है। इस स्थिति में योगविभाग करने पर भी 'षष्ठी' पद की अनुवृत्ति असम्भव होने के कारण 'एनप्' प्रत्ययान्त शब्दों के योग में 'षष्ठी' विभक्ति नहीं हो सकती।

(६११) पद—दूरान्तिकार्थैः, षष्ठी, अन्यतरस्याम्। अनुवृत्ति—पञ्चमी। विधिसूत्र (विकल्प)।

मूलार्थ—दूर और समीपार्थक शब्दों के साथ षष्ठी और पञ्चमी होती है। जैसे—दूरं निकटं ग्रामस्य ग्रामात् वा।

विवरण—दूरार्थक और समीपार्थक शब्दों के योग में जिनसे दूरी अथवा समीपता विदित होती है, उनमें विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है। पक्ष में पञ्चमी होगी। उदाहरण—(१) दूरं ग्रामस्य ग्रामात् वा (=गाँव से दूर)। (२) निकटं ग्रामस्य ग्रामात् वा (=गाँव के निकट)। दूर और निकट शब्दों के कारण 'ग्राम' शब्द से षष्ठी तथा पञ्चमी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

च। दूरं निकटं ग्रामस्य–ग्रामाद्वा। (६१२) ज्ञोऽविदर्थस्य करणे २। ३। ५१॥ जानातेरज्ञानार्थस्य करणे शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी स्यात्। सर्पिषो ज्ञानम्। (६१३) अधीगर्थदयेशां कर्मणि २। ३। ५२॥ एषां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात्।

इति 'पृथग्विनानानाभिस्तृतीया' इति द्वितीयातृतीये सन्निहिते अपि न समुच्चीयेते, व्याख्यानात्।

(६१२) ज्ञोऽविदथस्य। ज्ञः अविदर्थस्येति च्छेदः। ज्ञ इति ज्ञाधातोरनुकरणात् षष्ठ्यर्थे कवचनम्। विद् ज्ञानम् अर्थः यस्य विदर्थः, स न भवतीति अविदर्थः। ज्ञानार्थकभिन्नस्येति यावत्। तदाह—जानातेरज्ञानार्थस्येति। शेषत्वेनेति। सम्बन्धत्वेनेत्यर्थः। शेष इत्यनुवृत्तेरिति भावः। सर्पिषो ज्ञानमिति। वस्तुतः करणीभूतं यत्सर्पिः तत्सम्बन्धिनी प्रवृत्तिरित्यर्थः। अविदर्थस्येति लिङ्गादेव 'ज्ञा अवबोधने' इति धातोः प्रवृत्तौ वृत्तिः। 'षष्ठी शेषे' इति सिद्धेऽपि 'प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते' इत्येतदर्थं वचनम्।

(६१३) अधीगर्थ। एषामिति। 'इक् स्मरणे' नित्यमधिपूर्वः, तस्यार्थः इवार्थो यस्य सः अधीगर्थः। स्मरणार्थक इति यावत्। शेष इति। 'षष्ठी शेषे' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः। मातुः स्मरणमिति। वस्तुतः कर्मीभूतसर्पिस्सम्बन्धिस्मरणमित्यर्थः। सर्पिषो दयनमिति। वस्तुतः कर्मीभूतसर्पिस्सम्बन्धि दयनमित्यर्थः। 'दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु'। दीनान् दयते इत्यत्र दुःखाद्वियोजयितुमिच्छतीत्यर्थः। परदुःखापहरणेच्छा दया। ईशनं वेति। सर्पिष इत्यनुषज्यते। वस्तुतः कर्मीभूतसर्पिस्सम्बन्धी यथेष्टविनियोग इत्यर्थः। इदमपि समासनिषेधार्थमेव। लोकानीष्टे इत्यत्र तु यथास्वेच्छमाज्ञापयतीत्यर्थः।

विशेष—प्रकृत सूत्र षष्ठी का विधायक है। 'अन्यतरस्यां' का उल्लेख होने से व्यवधान रहते हुए भी "अपादाने पञ्चमी" (२-३-२७) सूत्र से 'पञ्चमी' की अनुवृत्ति होकर 'पञ्चमी' का विधान किया गया है। किन्तु उसकी अपेक्षा निकट होते हुए भी "एनपा द्वितीया" (२-३-३१) से द्वितीया तथा "पृथग्विना०" (२-३-३२) से तृतीया की अनुवृत्ति व्याख्यानवश नहीं की गई।

(६१२) **पद**—ज्ञः, अविदर्थस्य, करणे। **अनुवृत्ति**—षष्ठी शेषे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ज्ञानार्थ-भिन्न 'ज्ञा' धातु के करण में सम्बन्ध की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—सर्पिषः ज्ञानम्।

विवरण—प्रकरणवश "षष्ठी शेषे" (२-३-५०) की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार "ज्ञानार्थभिन्न (अविदर्थस्य) 'ज्ञा' धातु के (ज्ञः) करणकारक में शेषत्व की विवक्षा में (शेषे) षष्ठी होती है। **उदाहरण**—**सर्पिषः** ज्ञानम् (= घी के कारण होने वाली प्रवृत्ति)। 'ज्ञा' धातु का यहाँ प्रवृत्ति अर्थ है। उसके करण 'सर्पिष्' से सम्बन्धमात्र की विवक्षा में षष्ठी हुई।

(६१३) **पद**—अधीगर्थदयेशां, कर्मणि। **अनुवृत्ति**—षष्ठी शेषे। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'अधि' पूर्वक 'इक्' धातु के समानार्थक धातु तथा 'दय्' एवम् 'ईश्' धातुओं के कर्मकारक में सम्बन्धमात्र की विवक्षा में षष्ठी होती है। जैसे—(१) मातुः स्मरणम्। (२) सर्पिषः दयनम् ईशनं वा।

विवरण—पूर्ववत् "षष्ठी शेषे" (२-३-५०) की अनुवृत्ति है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "'अधि'पूर्वक 'इक्' धातु के समानार्थक धातु तथा 'दय्' (देना, दया करना) एवं 'ईश्' (स्वामी होना) धातुओं के कर्मकारक में सम्बन्धमात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हो" 'अधि'पूर्वक 'इक्' धातु स्मरणार्थक है। क्रमशः तीनों अर्थों में **उदाहरण**—(१) **मातुः** स्मरति (माता का स्मरण करता है) (२) **सर्पिषः** दयनम् (= घी का दान) (३) **सर्पिषः** ईशनम् (घी का स्वामी होना)। तीनों में षष्ठी विभक्ति हुई।

CC-0.Pahini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मातुः स्मरणम् । सर्पिषो दयनम्, ईशनं वा । (६१४) **कृञः प्रतियत्ने २ । ३ । ५३ ॥** प्रतियत्नो गुणाधानम् । कृञः कर्मणि शेषे षष्ठी स्याद् गुणाधाने । एधो दकस्योपस्करणम् ॥ (६१५) **रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः २ । ३ । ५४ ॥** भावकर्तृकाणां ज्वरिवर्जितानां रुजार्थानां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात् । चौरस्य रोगस्य रुजा । 'अज्वरिसन्ता-

---

(६१४) कृञः प्रति । कर्मणीति, शेष इति चानुवर्तते । प्रतियत्नो गुणाधानम् । तदाह—कृञः कर्मणीति । एधो दकस्योपस्करणमिति । एधश्शब्दस्सकारान्तो नपुंसकलिङ्गः । दकशब्द उदकवाची । एधश्च दकं चेति द्वन्द्वः । यद्वा एधशब्दः अकारान्तः पुंल्लिङ्गः । एधश्च उदकं चेति द्वन्द्व इत्यनुपदमेवोक्तम् । वस्तुतः कर्मीभूतैधोदकसम्बन्धि परिष्करणमित्यर्थः ।

(६१५) रुजार्थानाम् । रुजा पीडा रोग इत्यर्थो येषामिति विग्रहः । भाववचनानामित्येतद्व्याचष्टे—भावकर्तृकाणामिति । वक्तीति वचनः, कर्तरि ल्युट् । प्रकृत्यर्थो न विवक्षितः । भावः धात्वर्थः वचनः कर्ता येषामिति विग्रहः । भावकर्तृकाणामिति फलितमिति भाष्ये स्पष्टम् । शेष इति कर्मणीति चानुवर्तते । तदाह—कर्मणि शेष इति । इदमपि समासाभावार्थमेव । चौरस्य रोगस्य रुजेति । अत्र रुजेति व्याधिकृतसन्तापादिपीडोच्यते । रोगश्चौरं सन्तापादिना पीडयतीति पर्यवसन्नोऽर्थः । रोगकर्तृका वस्तुतः कर्मीभूतचौरगता सन्तापादिपीडेत्यर्थः । अत्र भावघञन्तेन रोगशब्देन शारीरक्षयादिविकारविशेषो विवक्षितः । स च रुजायां कर्ता । तत्कर्मणश्चौरस्य शेषत्वविवक्षायां षष्ठी । रोगस्य चौररुजेति समासो न भवतीति बोध्यम् । अज्वरिसन्ताप्योरिति । 'रुजार्थानां भाववचनानां ज्वरि-

---

(६१४) **पद**—कृञः प्रतियत्ने । **अनुवृत्ति**—कर्मणि, शेषे षष्ठी । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—गुणाधान अर्थ में 'कृञ्' धातु के कर्म में सम्बन्धमात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है । जैसे—एधो दकस्योपस्करणम् ।

विवरण—सूत्रार्थ पूरा होने के लिये "शेषे षष्ठी" (२-३-५०) के अतिरिक्त "अधीगर्थदयेशां कर्मणि" (२-३-५२) से 'कर्मणि' की भी अनुवृत्ति अपेक्षित है । अतः सूत्र का यह अर्थ है कि "गुणाधान" (प्रतियत्ने) गम्यमान होने पर 'कृ' धातु के कर्म में शेषत्व की विवक्षा होने पर 'षष्ठी' विभक्ति होती है । किसी गुण को दूसरे रूप में बदलना 'प्रतियत्न' कहलाता है । **उदाहरण**—एधो दकस्य उपस्करणम् (ईंधन का जल में उष्णता आदि उत्पन्न करना) । गुणाधान के कारण 'दकस्य' में षष्ठी । 'दक' शब्द उदक का समानार्थक है ।

(६१५) **पद**—रुजार्थानाम्, भाववचनानाम्, अज्वरेः । **अनुवृत्ति**—कर्मणि, शेषे षष्ठी । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'ज्वरि' को छोड़कर अन्य रोगवाचक धातुओं के कर्म में सम्बन्धमात्र की विवक्षा में षष्ठी होती है, यदि उनका कर्ता भाववाचक हो । जैसे—चौरस्य रोगस्य रुजा । वा० (सूत्र में) 'ज्वरि' और 'सन्तापि' धातु को छोड़कर ऐसा कहना चाहिये । जैसे—रोगस्य चौरज्वरः चौरसन्तापः वा । इस वाक्य-समुदाय का अर्थ है—रोगकर्तृक चोरसम्बन्धी ज्वर और सन्ताप ।

विवरण—'कर्मणि' तथा 'शेषे षष्ठी' की अनुवृत्ति पूर्ववत् अपेक्षित है । 'भाववचन' शब्द का अर्थ भावकर्तृक अपेक्षित है (भावः=धात्वर्थः, वचनः= कर्ता येषां ते) । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि 'ज्वरि' धातु को छोड़कर रोगार्थक अन्य धातुओं से कर्म में शेषत्व विवक्षा रहने पर षष्ठी विभक्ति होती है, जब वह भावकर्तृक हो" । **उदाहरण**—चोरस्य रोगस्य रुजा (= रोगकर्तृक चोरसम्बन्धिनी पीड़ा) । यहाँ पर 'रोग' भाववाचक शब्द है (रुज्+घञ्–भाव में) तथा रुजा (= पीड़ा) का कर्ता है, अतः भावकर्तृक होने से 'रुज्' के कर्म 'चोर' से शेषत्वविवक्षा में षष्ठी हुई । प्रतिपदविधान षष्ठी होने के कारण 'चोरस्य रुजा' में समास नहीं हुआ ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri Gyaan and eGangotri

प्योरिति वाच्यम्' (वा १५०७) रोगस्य चौरज्वरः, चौरसन्तापो वा । रोगकर्तृकं चौरसम्बन्धि ज्वरादिकमित्यर्थः । (६१६) **आशिषि नाथः २ । ३ । ५५ ॥** आशीरर्थस्य नाथतेः शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । सर्पिषो नाथनम् । 'आशिषि' इति किम् ? माणवक-नाथनम् । तत्सम्बन्धिनी याच्ञेत्यर्थः । (६१७) **जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां**

सन्तापिवर्जितानाम्' इति सूत्रं वक्तव्यमित्यर्थः । रोगस्य चौरज्वर इति । अत्र चौरज्वर-शब्दे शेषष्ठ्याः समासो भवत्येव, शेषषष्ठ्याः पुनर्विध्यभावात् । एवं रोगस्य चौरसन्ताप इत्यत्रापि बोध्यम् । अत्राज्वरिसन्ताप्योरित्यनुक्तौ तु रुजार्थानां भाववचनानां कर्मणि शेषे चौरशब्दात् षष्ठी स्यादित्यतिव्याप्तिं दर्शयितुमाह—रोगकर्तृकमिति । रोगकर्तृकः वस्तुतः कर्मीभूतचौरसम्बन्धी ज्वरः सन्तापो वेति यावत् । एवञ्च ज्वरिसन्ताप्योः रुजार्थकत्वात् रोगात्मकभावकर्तृकत्वाच्च तत्कर्मणश्चौरस्य शेषत्वविवक्षायां नानेन षष्ठी, किन्तु कृद्योगे षष्ठी, 'षष्ठी शेषे' इत्येव षष्ठी वा । अतः चौरज्वरः चौरसन्तापः इति समासो भवत्येवेति भावः ।

(६१६) आशिषि नाथः । 'शेषे' कर्मणि इति चानुवर्तते । तदाह—आशीरर्थस्येति । इदमपि समासाभावार्थमेव । सर्पिषो नाथनमिति । इदं मे भूयादितीच्छा आशासनम् । तदेवाशीः नाथतेरर्थः । वस्तुतः कर्मीभूतसर्पिस्सम्बन्धि आशासनमित्यर्थः ।

(६१७) जासिनिप्र । कर्मणि शेषे इत्यनुवर्तते । तदाह—हिंसार्थानामित्यादिना । इदमपि समासाभावार्थमेव । चौरस्योज्जासनमिति । 'जसु ताडने' 'जसु हिंसायाम्' इति चुरादौ ।

वा० अर्थ—सूत्रस्थ 'अज्वरेः' के स्थान पर 'अज्वरिसन्ताप्योः' ऐसा कहना चाहिए । इस कथन का यह आशय है कि सूत्रोक्त निषेध 'ज्वरि' और 'सन्तापि' दोनों धातुओं को होना चाहिए । तब इन दोनों धातुओं के प्रयोग में शेषत्व विवक्षा होने पर कर्म में षष्ठी विधान नहीं होगा । इसके फलस्वरूप "षष्ठी शेषे" अथवा "कर्तृकर्मणोः कृति" से षष्ठी होने पर समास हो जायेगा, क्योंकि यह प्रतिपपदविधान षष्ठी नहीं है । उदाहरण—(१) रोगस्य चौरज्वरः (= रोगकर्तृक चोरसम्बन्धी ज्वर) तथा (२) रोगस्य चौरसन्तापः (= रोगकर्तृक चोरसम्बन्धी सन्ताप) । इन दोनों उदाहरणों में भावकर्तृक रुजार्थक 'ज्वरि' और 'सन्तापि' धातुओं के कर्म को शेषत्व विवक्षा में प्रकृत वार्तिक से षष्ठी का निषेध हो गया । इसके फलस्वरूप "षष्ठी शेषे" (२-३-५०) से षष्ठी होने के कारण समास हो जाता है । इसी को सूचित करने के लिए सूत्र की वृत्ति में संश्लिष्ट-वाक्य का अर्थ सूचित किया गया है ।

(६१६) पद—आशिषि, नाथः । अनुवृत्ति—कर्मणि, षष्ठी शेषे । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—आशीर्वाद अर्थ में 'नाथ्' धातु से शेषत्व रूप से विवक्षित कर्म में षष्ठी होती है । जैसे—सर्पिषः नाथनम् (= घीसम्बन्धी इच्छा करना) । 'आशिषि' का क्या प्रयोजन है ? माणवक-नाथनम् । अर्थ है—बालक के प्राप्ति की मांग करना ।

विवरण—"षष्ठी शेषे" तथा "कर्मणि" की अनुवृत्ति पूर्ववत् चली आ रही है । तदनुसार "आशीर्वचन अर्थ में √नाथ् धातु के कर्म में शेषत्व की विवक्षा होने पर कर्म में षष्ठी होती है" । उदाहरण—सर्पिषः नाथनम् (= घृतसम्बन्धी इच्छा का आशीर्वाद) । यहाँ पर √नाथ् का आशीर्वाद अर्थ होने से 'सर्पिषः' में षष्ठी हुई ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में √नाथ् का आशीर्वाद अर्थ अपेक्षित होने के कारण 'माणवकनाथनम्' (बालकसम्बन्धी याचना) में कर्मणि षष्ठी नहीं हुई । शेष-षष्ठी होनेपर षष्ठी-समास हो गया ।

(६१७) पद—जासि-निप्रहरण-नाथ-क्राथ-पिषाम्, हिंसायाम् । अनुवृत्ति—कर्मणि, शेषे षष्ठी । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—हिंसार्थक जासि, नि-प्र-पूर्वक हन्, नाटि, क्राथ् और पिष् धातु के कर्म में सम्बन्ध-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंसायाम् २ । ३ । ५६ ॥ हिंसार्थानामेषां शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । चौरस्योज्जासनम् । निप्रौ संहतौ विपर्यस्तौ व्यस्तौ वा । चौरस्य निप्रहणनम्–प्रणिहननम्–निहननम्–प्रहणनं वा । 'नट अवस्कन्दने' चुरादिः । चौरस्योन्नाटनम् । चौरस्य क्राथनम् । वृषलस्य पेषणम् । 'हिंसायाम्' किम् ? धानापेषणम् । (६१८) व्यवहृपणोः समर्थयोः

वस्तुतः कर्मीभूतचौरसम्बन्धिनी हिंसेत्यर्थः । 'जसु मोक्षणे' इति दैवादिकस्य तु न ग्रहणम् , हिंसार्थत्वाभावात् जासीति निर्देशाच्च । निप्राविति । निप्रहणेति निप्रपूर्वस्य हन-धातोः निर्देशः । तत्र नि प्र इत्येतौ समस्तौ गृह्येते, प्रनीत्येवं व्युत्क्रमेण च गृह्येते, प्रेति नीति च पृथगपि गृह्येते, व्याख्यानादित्यर्थः । समस्तावुदाहरति—चौरस्य निप्रहणनमिति । वस्तुतः कर्मीभूतचौरसम्बन्धि हननमित्यर्थः । 'हन्तेरत्पूर्वस्य' इति णत्वम् । विपर्यस्तावुदाहरति—प्रणिहननमिति । 'नेर्गद' इति णत्वम् । हन्तेर्नकारस्य तु न णत्वम् , 'अट्-कुप्वाङ्' इति नियमात् नेर्नकारस्य तदनन्तर्भावात् । व्यस्तावुदाहरति—निहननं प्रहणनं वेति । निमित्ताभावान्निहननमित्यत्र 'हन्तेरत्पूर्वस्य' इति णत्वं न । चुरादिरिति । 'नट नृत्तौ' इति तु न गृह्यते, नाटेति दीर्घोच्चारणादिति भावः । चौरस्योन्नाटनमिति । उपसर्गवशान्नाटेर्हिंसायां वृत्तिरिति भावः । चौरस्य क्राथनमिति । 'क्रथ हिंसायाम्' इति घटादौ । 'घटादयो मितः' इति तस्य मित्त्वेऽपि 'मितां ह्रस्वः' इति न भवति, इह दीर्घनिपातनात् । वृषलस्य पेषणमिति । हिंसेत्यर्थः ।

(६१८) व्यवहृपणोः । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—शेषे कर्मणि षष्ठी स्यादिति । समौ तुल्यौ

मात्र की विवक्षा में षष्ठी होती है । जैसे—चौरस्य उज्जासनम् । √हन् धातु में नि और प्र उपसर्ग सम्मिलित, पृथक् तथा दोनों अलग रहें तो भी षष्ठी विभक्ति होगी । जैसे—चौरस्य नि-प्र-हणनम्, प्रणि-हननम्, निहननम्, प्रहणनं वा । √नट धातु चुरादि में नृत्यार्थक है । जैसे—(१) चौरस्योन्नाटनम् । (२) चौरस्य क्राथनम् । (३) वृषलस्य पेषणम् । 'हिंसायां' का क्या प्रयोजन है ? धानापेषणम् ।

विवरण—सूत्रार्थ की सम्पूर्ति के लिए 'कर्मणि' तथा 'षष्ठी शेषे' की अनुवृत्ति पूर्ववत् अपेक्षित है । तदनुसार "हिंसार्थक √जासि धातु (चुरादि-गण-पठित √जसु ताडने तथा √जसु हिंसायाम्), नि-प्र-पूर्वक √हन् धातु, √नाटि धातु (चुरादिगण-पठित √नट् धातु), √क्राथ् धातु (चुरादिगण-पठित √क्रथ् धातु) और √पिष् धातु के कर्म में सम्बन्धमात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है" । उदाहरण—(१) चौरस्य उज्जासनम् (चोर को पीटना)—चोर से शेषत्व विवक्षा में षष्ठी । इसका फल—समास का न होना है । (२) सूत्रस्थ नि-प्र-हणन पद का यह आशय है कि √हन् धातु के साथ 'नि' और 'प्र' उपसर्ग (नि+प्र), दोनों मिलकर, विपरीत क्रम से (प्र+नि) तथा पृथक् पृथक् (प्र तथा नि अलग अलग) रहेंगे तो भी षष्ठी विभक्ति होगी । जैसे—(क) चौरस्य निप्रहणनम्, (ख) चौरस्य प्रणिहननम्, (ग) चौरस्य निहननम्, (घ) चौरस्य प्रहणनम् (सब का अर्थ—चोर को पीटना)—इन उदारणों में शेषत्व विवक्षा में षष्ठी हुई । ये क्रमशः 'नि' और 'प्र' उपसर्गों से युक्त √हन् धातु के संहत, विपरीत-क्रम तथा पृथक् स्थिति के उदाहरण हैं । (३) प्रकृत सूत्रमें 'नाट' पद चुरादिगण-पठित √नट अवस्कन्दने धातु का बोधक है । तदनुसार उसका उदाहरण चौरस्य उन्नाटनम् (= चोर का मारना) है । (४) चौरस्य क्राथनम् (= चोर को पीटना) (५) वृषलस्य पेषणम् (= वृषल को अधिक दण्ड देना)—उदाहरणों में षष्ठी विभक्ति हुई ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में उक्त धातुओं के हिंसार्थक रहने पर ही कर्म की शेषत्व विवक्षा में षष्ठी-विधान होने के कारण 'धानापेषणम्' (= धान कूटना, पीसना) में "कर्तृकर्मणोः कृति" (२-३-६५) से कर्म में षष्ठी विभक्ति हुई । 'शेषषष्ठी' न होने से समास हो जाता है ।

(६१८) पद—व्यवहृपणोः, समर्थयोः । अनुवृत्ति—कर्मणि, षष्ठी शेषे । विधिसूत्र ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२।३।५७॥ शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात्। द्यूते क्रयविक्रयव्यवहारे चानयोस्तुल्यार्थता। शतस्य व्यवहरणं, पणनं वा। 'समर्थयोः' किम्। शलाकाव्यवहारः। गणनेत्यर्थः। ब्राह्मणपणनं स्तुतिरित्यर्थः। (६१९) दिवस्तदर्थस्य २।३।५८॥ द्यूतार्थस्य क्रयविक्रयरूपव्यवहारार्थस्य च दिवः कर्मणि षष्ठी स्यात्। शतस्य दीव्यति। 'तदर्थस्य'

अर्थौ ययोरिति विग्रहः। शकन्ध्वादित्वात् पररूपम्। एकार्थकस्य व्यवपूर्वकहृञ्धातोः पणधातोश्च कर्मणि शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी स्यादित्यर्थः। इदमपि समासनिवृत्त्यर्थमेव। ननु 'पण व्यवहारे स्तुतौ च' इति पणधातुः स्तुतावपि वर्तते, न तु व्यवहार एव, तत्कथमनयोरेकार्थकत्वमित्यत आह—द्यूते इति। द्यूते अक्षैः क्रीडने क्रयविक्रयविषयकमूल्यसंवादे चानयोः व्यवहृपणोः एकार्थकत्वमित्यर्थः। तथा च एतादृशव्यवहारार्थकयोरिति फलतीति भावः। शतस्य व्यवहरणं पणनं वेति। द्यूतव्यवहारेण क्रयविक्रयव्यवहारेण वा गृह्णातीत्यर्थः। केवलव्यवहारार्थकत्वे अकर्मकत्वापातात्। तथा च वस्तुतः कर्मीभूतशतसम्बन्धि अक्षक्रीडनेन ग्रहणं, क्रयविक्रयविषयकमूल्यसंवादेन ग्रहणं वेत्यर्थः। समर्थयोः किमिति। व्यवहारार्थकयोरिति किमर्थमित्यर्थः। शलाकाव्यवहार इति। प्रत्युदाहरणे व्यवहरतेर्न व्यवहारार्थकत्वमित्याह—गणनेत्यर्थ इति। वस्तुतः कर्मीभूतशलाकासम्बन्धिगणनेति फलितम्। अत्र षष्ठ्याः पुनर्विध्यभावादस्त्येव समास इति भावः। ब्राह्मणपणनमिति। पणतेः प्रत्युदाहरणम्। पणिर्न व्यवहारार्थ इत्याह—स्तुतिरित्यर्थ इति। वस्तुतः कर्मीभूतब्राह्मणसम्बन्धिनी स्तुतिरित्यर्थः। अत्रापि अस्त्येव समास इति भावः।

(६१९) दिवस्तदर्थस्य। पूर्वसूत्रे निर्दिष्टव्यवहृपणौ तच्छब्देन पराम्रृश्येते। तयोः व्यवहृपणोः अर्थ एवार्थो यस्येति विग्रहः। तदाह—द्यूतार्थस्येति। द्यूतमक्षक्रीडनेन ग्रहणम् अर्थो यस्य दिव इति विग्रहः। क्रयेति। क्रयविक्रयविषयकमूल्यसंवादोऽर्थः यस्य दिव

मूलार्थ—('समानार्थक' वि और 'अव' उपसर्गपूर्वक √हृ और √पण् धातुओं के) कर्म से शेषत्व विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है। जुआ खेलना, मोल लेना और बेचना अर्थों में इन दोनों धातुओं की समता है। जैसे—शतस्य व्यवहरणम्, पणनं वा। 'समर्थयोः' का क्या प्रयोजन है? शलाका-व्यवहारः। यहाँ व्यवहार का अर्थ गिनना है। ब्राह्मण-पणनम्। 'पणनम्' का अर्थ स्तुति है।

विवरण—अनुवृत्ति-पूर्ववत् 'कर्मणि' तथा 'शेषे षष्ठी'। सूत्रार्थ—समानार्थक वि-अव उपसर्ग पूर्वक √हृ (हृञ् हरणे) तथा √पण् धातु (पण व्यवहारे स्तुतौ च) के कर्म में सम्बन्धमात्र की विवक्षा में षष्ठी होती है। ये दोनों धातु जुआ खेलना तथा क्रय-विक्रय करना अर्थ में समानार्थक हैं। उदाहरण—शतस्य व्यवहरणं पणनं वा (= सौ रुपये का लेन-देन करना या जूआ खेलना)—सम्बन्धमात्र में षष्ठी। अतः समास नहीं हुआ।

प्रत्युदाहरण—दोनों धातुओं के समानार्थक (समर्थयोः) रहने पर ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। अतः 'शलाकाव्यवहारः' (सलाई की गिनती), 'ब्राह्मणपणनम्' (ब्राह्मण की स्तुति)—इन दोनों उदाहरणों में द्यूत और क्रय-विक्रय-व्यवहार अर्थ न होने से प्रकृत सूत्र से षष्ठी विभक्ति नहीं हुई। इसके फलस्वरूप "षष्ठी शेषे" (२-३-५०) सूत्र से षष्ठी विभक्ति होने के उपरान्त समास हो गया।

(६१९) पद—दिवः, तदर्थस्य। अनुवृत्ति—कर्मणि, षष्ठी, अनभिहिते। विधिसूत्र।

मूलार्थ—द्यूत और क्रय-विक्रय व्यवहार में √दिव् धातु के कर्म में षष्ठी होती है। जैसे—शतस्य दीव्यति। 'तदर्थस्य' का क्या प्रयोजन है? ब्राह्मणं दीव्यति। अर्थ—स्तुति करता है।

विवरण—सूत्र में 'तदर्थस्य' पद पूर्वसूत्र में प्रतिपादित विषयका परामर्शक है (सः अर्थः यस्य, तस्य)। सूत्रार्थ को पूरा करने में "अधीगर्थदयेषां कर्मणि" (२-३-५२) से 'कर्मणि' तथा "षष्ठी शेषे"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किम् ? ब्राह्मणं दीव्यति । स्तौतीत्यर्थः । (६२०) **विभाषोपसर्गे** २ । ३ । ५९ ॥ पूर्वयोगापवादः । शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति । (६२१) **प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासम्प्रदाने** २ । ३ । ६१ ॥ देवतासम्प्रदानेऽर्थे वर्तमानयोः प्रेष्यब्रुवोः कर्मणोर्हविषो

इति बहुव्रीहिः । कर्मणि षष्ठीति । इह शेष इति नानुवर्तते, व्याख्यानादिति भावः । तथा च कर्मणः शेषत्वविवक्षाभावात् 'षष्ठी शेषे' इत्यप्राप्तौ इदं वचनम्, न तु कृदन्तयोगे समासनिवृत्त्यर्थम् । तत् ध्वनयन्नुदाहरति—शतस्य दीव्यतीति । शतमक्षक्रीडनेन क्रयविक्रयविषयकमूल्यसंवादेन वा गृह्णातीत्यर्थः । अत्र शेष इत्यननुवृत्तेः कर्मत्वप्रकारक एव बोधः । अत एव 'द्वितीया ब्राह्मणे' इत्युत्तरसूत्रे 'गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः' इत्यत्र नित्यषष्ठीप्राप्तौ द्वितीयार्थमित्युक्तं भाष्यकैयटयोः सङ्गच्छत इत्यन्यत्र विस्तरः ।

(६२०) विभाषोपसर्गे । उपसर्गे सति व्यवहृपणार्थस्य दिवः कर्मणि षष्ठी वा स्यादित्यर्थः ।

(६२१) प्रेष्यब्रुवोः देवतासम्प्रदाने इति । देवता सम्प्रदानं यस्य तस्मिन्नित्यर्थः । प्रेष्यब्रुवोरिति । 'इष गतौ' दिवादिः श्यन्नन्तः, उपसर्गवशात् प्रेरणे वर्तते । प्रेष्यश्च ब्रूश्च तयोरिति विग्रहः । कर्मण इति । 'अधीगर्थ' इत्यतः कर्मणीत्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणम्यत इति भावः । हविष इति । हविश्शब्दः न स्वरूपपरः किन्तु हविर्विशेषवाचकशब्दपरः, व्याख्यानात् । तथा च देवतासम्प्रदानकक्रियावाचिनोः प्रेष्यब्रुवोः कर्मीभूतः यो हविर्विशेषः तद्वाचका-

---

(२-३-५०) से षष्ठी एवम् 'अनभिहिते' अधिकार की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होता है कि "व्यवहारार्थक √दिव् धातु के अनभिहित कर्म में षष्ठी विभक्ति हो" । **उदाहरण**—शतस्य दीव्यति (= सौ रुपये का व्यापार करता है)—कर्मवाची 'शत' शब्द से षष्ठी ।

प्रत्युदाहरण—द्यूत और क्रय-विक्रय अर्थ (तदर्थस्य) न होने से 'ब्राह्मणं दीव्यति' (= ब्राह्मण की स्तुति करता है) में षष्ठी विभक्ति नहीं हुई । अतः कर्म में द्वितीया विभक्ति हुई ।

विशेष—पूर्व सूत्र में 'दिव्' का समावेश करने से ही इष्टसिद्धि सम्भव होने पर आगे के सूत्र में 'दिव्' की अनुवृत्ति जाने के लिये पृथक् सूत्र का सार्थकता है ।

(६२०) **पद**—विभाषा, उपसर्गे । **अनुवृत्ति**—दिवस्तदर्थस्य, कर्मणि, षष्ठी, अनभिहिते । **विधिसूत्र** (विकल्प) ।

मूलार्थ—पूर्वसूत्र का अपवाद है । जैसे—शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति ।

विवरण—सोपसर्ग √दिव् धातु के सम्बन्ध में यह पूर्वसूत्र का अपवाद है । तदनुसार उपसर्ग सहित √दिव् धातु से द्यूत और क्रय-विक्रय व्यवहाररूप अर्थ में उसके कर्म को विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है । पक्ष में यथाविहित कर्मणि द्वितीया होगी । **उदाहरण**—शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति (= सौ रुपये दाव पर लगाता है) । यहाँ पर 'शत' में विकल्प से षष्ठी हुई ।

(६२१) **पद**—प्रेष्यब्रुवोः, हविषः, देवतासम्प्रदाने । **अनुवृत्ति**—ब्राह्मणे, कर्मणि, षष्ठी, अनभिहिते । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—देवताओं को देना अर्थ में वर्तमान 'प्रेष्य' और 'ब्रू' धातुओं के कर्म में हविर्विशेषवाचक शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है । जैसे—अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य अनुब्रूहि वा ।

विवरण—"अधीगर्थदयेशां कर्मणि" (२-३-५२) से अनुवृत्त 'कर्मणि' पद षष्ठी में परिवर्तित किया गया है । सूत्र में प्रयुक्त 'हविष्' शब्द भी स्वरूपपरक नहीं है किन्तु हविर्विशेष का बोधक वस्तुपरक है । तदनुसार अनुवृत्त पदों के साथ सामञ्जस्य स्थापित करते हुए प्रकृत सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होगा कि "प्र पूर्वक √'इ ष्' धातु (दिवादिगणपठित) तथा √ब्रू धातु के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाचकाच्छब्दात् षष्ठी स्यात्। अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य अनुब्रूहि वा। (६२२) कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे २। ३। ६४॥ कृत्वोऽर्थानां प्रयोगे कालवाचिन्यधिकरणे शेषे षष्ठी स्यात्। पञ्चकृत्वोऽह्नो भोजनम्। द्विरह्नो भोजनम्।

च्छब्दात् षष्ठीति फलितम्। अत्रापि शेष इति नानुवर्तते, व्याख्यानात्, तथा च द्वितीयापवादोऽयम्। अग्नये छागस्येति। मैत्रावरुणं प्रति अध्वर्युकर्तृकोऽयं सम्प्रैषः। हे मैत्रावरुण! अग्न्युद्देशेन प्रदास्यमानं छागसम्बन्धि यद्धविः वपाख्यं मेदोरूपं तत् प्रेष्य। 'होता यक्षदग्निं छागस्य वपाया मेदसो जुषतां हविर्होतर्यज' इति प्रैषेण प्रकाशयेत्यर्थः। अत्र यद्यपि 'अग्नये छागस्य वपाया मेदसः प्रेष्य' इत्येव कल्पसूत्रेषु दृश्यते न तु हविष इत्यपि, तथापि तथाविधः प्रैषो भाष्योदाहरणात् क्वचिच्छाखायां ज्ञेयः। मेदश्शब्देन वस्त्रखण्डतुल्यो मांसविशेष उच्यते। अनुब्रूहि वेति। अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसोऽनुब्रूहीत्युदाहरणम्। हे मैत्रावरुण! अग्न्युद्देशेन प्रदास्यमानं छागसम्बन्धि यद्धविः वपाख्यं मेदोरूपं तत्पुरोऽनुवाक्यया प्रकाशयेत्यर्थः। प्रेष्यब्रुवोः किम्? अग्नये छागस्य हविर्वपां मेदो जुहुधि। 'हविषः किम्? अग्नये गोमयानि प्रेष्य। देवतासम्प्रदाने किम्? माणवकाय पुरोडाशं प्रेष्य। 'हविषः प्रस्थितत्वविशेषणे प्रतिषेधो वक्तव्य' इन्द्राग्निभ्यां छागस्य हविर्वपां मेदः प्रस्थितं प्रेष्य। प्रस्थितमिति अव्यक्तमित्यर्थः।

(६२२) कृत्वोऽर्थ। कृत्वोऽर्थानामिति। कृत्वसुच्प्रत्ययस्यार्थ एवार्थः येषां ते कृत्वोऽर्थाः, तेषां प्रयोग इत्यर्थः। शेषे षष्ठीति। 'दिक्स्तदर्थस्य' इत्यादिपूर्वसूत्रे विच्छिन्नमपि शेषग्रहणं

'हविष्यवाचक' कर्म में (हविषः) यदि देवताओं को देना अर्थ अभिलक्षित हो तो षष्ठी विभक्ति होती है"। **उदाहरण**—प्र+√इष् का—(१) अग्नये छागस्य वपायाः मेदसः प्रेष्य (=अग्नि देवता के लिए छाग की वपा और मेदस्रूप हवि को प्रकट करो)। प्रकृत नियम से हविर्विशेष के वाचक वपानामक मेदोरूप कर्मवाची शब्द से 'षष्ठी' विभक्ति हुई। 'छागस्य' = सम्बन्ध-सामान्य में षष्ठी है। प्रकृत वाक्य यज्ञ से सम्बन्ध रखता है। यह मैत्रावरुण के प्रति अध्वर्यु का प्रेरणारूप कथन है। इसका वास्तविक अर्थ यह है—"हे मैत्रावरुण, अग्नि देवता के उद्देश्य से दिये जाने वाले छागसम्बन्धी हवि ('वपा' नामक मेदोरूप) को प्रेरक वचन द्वारा प्रकट करो"। प्रेरक-वचन इस प्रकार है—"होतायक्षदग्निम् छागस्य वपाया मेदसो जुषतां हविः, होतर्यज"। √ब्रू धातु—(२) अग्नये छागस्य वपाया मेदसः अनुब्रूहि (= अग्नि देवता के लिए छाग सम्बन्धी हवि—वपा नामक मेदोरूप—को समर्पित करो)। प्रकृत वाक्य में 'मेदसः' तक पूर्ववाक्य के समान अर्थ है। आगे उसे 'पुरोऽनुवाक्या' से प्रकाशित कर' इस प्रकार अर्थ 'अनुब्रूहि' पद से अभिव्यञ्जित किया गया है। वैदिक यज्ञ आरम्भ करने से पहले पढ़ी जाने वाली ऋचायें 'पुरोऽनुवाक्या' कहलाती हैं।

विशेष—(१) देवताओं को समर्पित किया जाने वाला पदार्थ 'हविष्' है। (२) इस सूत्र में भी पूर्व सूत्र के समान 'शेषे' पद की अनुवृत्ति नहीं आती। यह 'कर्मणि द्वितीया' का अपवाद है एवं कारक-षष्ठी है। (३) वस्त्रखण्ड के समान मांस विशेष की 'मेदस्' संज्ञा है। (४) 'छाग' शब्द बकरे का पर्यायवाची है।

(६२२) पद—कृत्वोऽर्थप्रयोगे, काले, अधिकरणे। **अनुवृत्ति**—षष्ठी शेषे, अनभिहिते। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'कृत्वसुच्' प्रत्यय के अर्थ में वर्तमान जो प्रत्यय हैं, तदन्त प्रातिपदिकों के प्रयोग होनेपर कालवाची अधिकरणों में शेषत्व की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—(१) पञ्चकृत्वः अह्नः भोजनम्। (२) द्विः अह्नः भोजनम्। 'शेषे' का क्या प्रयोजन है? द्विः अहनि भोजनम्।

विवरण—प्रकृत सूत्र में 'मण्डूकप्लुति' से सम्पूर्ण सूत्र "शेषे षष्ठी" (२-३-५०) की अनुवृत्ति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'शेषे' किम् ? द्विरह्न्यध्ययनम् । (६२३) कर्तृकर्मणोः कृति २ । ३ । ६५ ॥ कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी स्यात् । कृष्णस्य कृतिः । जगतः कर्ता कृष्णः । 'गुणकर्मणि

मण्डूकप्लुत्या इहानुवर्तते, व्याख्यानात् । पञ्चकृत्वोऽह्नो भोजनमिति । पञ्चवारं वस्तुतः अधिकरणीभूतम् यदह्नः तत्सम्बन्धि भोजनमित्यर्थः । 'सङ्ख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' । इह षष्ठ्याः शेषे पुनर्विधानान्न समासः । द्विरह्न्यध्ययनमिति । 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' इति कृत्वोऽर्थे सुच् । अत्र अधिकरणस्य विवक्षितत्वात्सप्तम्येव, न तु षष्ठी ।

(६२३) कर्तृकर्मणोः कृति । कृत्प्रत्यये प्रयुज्यमाने सतीत्यर्थः । फलितमाह—कृद्योग इति । तत्र कर्तुर्युदाहरति—कृष्णस्य कृतिरिति । भावे स्त्रियां क्तिन् । कृष्णकर्तृका सृष्टिरित्यर्थः । कर्मण्युदाहरति—जगत इति । जगत्कर्मकसृष्ट्यनुकूलव्यापारवानित्यर्थः । गुणकर्मणीति । कृदन्तद्विकर्मधातुयोगे अप्रधानकर्मणि षष्ठीविकल्प इष्यत इत्यर्थः । प्रधानकर्मणि तु नित्यैव षष्ठी । 'अकथितं च' इत्यत्र भाष्ये स्थितमेतत् । नेता अश्वस्येति । 'अकथितं च' इत्यत्र 'ग्राममजां नयति' इत्युदाहरणे अजा प्रधानं कर्म, ग्रामस्तु गुणकर्मेति प्रपञ्चितं प्राक् । तद्रीत्या अत्र अश्वः प्रधानकर्म, स्रुघ्नस्तु गुणकर्मेति ज्ञेयम् । स्यादेतत्—कृतीति व्यर्थम् । न च तिङ्व्यावृत्त्यर्थं तदिति वाच्यम्, ओदनं पचतीत्यादौ 'न लोके' इति लादेशयोगे षष्ठीनिषेधादेव षष्ठ्यभावसिद्धेः । शतेन क्रीतः शत्योऽश्वः इत्यादौ तु तद्धितयत्प्रत्ययाभिहितत्वादेव अश्वादेः षष्ठी न भविष्यति । न च देवदत्तं हिरुगित्यादौ हिरुगाद्यव्ययबोध्यवर्जनादिक्रियां प्रति कर्मत्वादनेन षष्ठी शङ्क्या, 'न लोकाव्यय' इति तन्निषेधात् । शेषत्वविवक्षायां तु षष्ठ्यत्र इष्यत एव । एवञ्च परिशेषात् कृद्योग एवेयं षष्ठी पर्यवस्यतीति किं कृद्ग्रहणेनेति पृच्छति—कृति किमिति । उत्तरमाह—तद्धिते इति । तद्धितयोगे षष्ठीनिवृत्त्यर्थमिति यावत् । कृतपूर्वी कटमिति । कटः पूर्वः कृतः अनेनेति लौकिकविग्रहः । तत्र पूर्वमिति क्रियाविशेषणम् । 'सुप्सुपा' इति समासः । अनेनेत्यवृत्तौ कृतपूर्वशब्दात् 'पूर्वादिनिः' 'सपूर्वाच्च' इति इनिप्रत्ययस्तद्धितः । तत्र करोतिक्रियापेक्षया कटस्य कर्मत्वा-

---

की जा रही है । सूत्रस्थ 'कृत्वोऽर्थप्रयोगे' शब्द में बहुव्रीहिगर्भित तत्पुरुष समास है—कृत्वसः अर्थः—कृत्वोऽर्थः, कृत्वोर्थ एव अर्थो येषां ते कृत्वोऽर्थाः, कृत्वोऽर्थस्य प्रयोगः—कृत्वोऽर्थप्रयोगः, तस्मिन् । 'कृत्वसुच्' प्रत्यय क्रिया की आवृत्ति की गणना अर्थ में प्रयुक्त होता है । इसका विधायक सूत्र है "संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्" (५-४-१७) । इसी अर्थ में दूसरा प्रत्यय 'सुच्' भी होता है—"द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्" (५-४-१८) । ये दोनों प्रत्यय जिनके अन्त में होंगे, वे ही शब्द प्रायः इस सूत्र के विषय हैं । तदनुसार "कृत्वसुच् तथा तत्समानार्थक प्रत्ययों के योग में कालवाची अधिकरण से सम्बन्धमात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होगी" । अधिकरण-सप्तमी का यह अपवाद है । **उदाहरण**—१-पञ्चकृत्वः अह्नः भोजनम् (दिन में पाँच बार भोजन)—कृत्वसुच् (पञ्च+कृत्वस्) प्रत्यय के कारण कालवाची अधिकरण 'अहन्' शब्द से षष्ठी हुई । २-द्विः अह्नः भोजनम् (= दिन में दो बार भोजन)—'सुच्' (द्वि+सुच्) प्रत्यय के योग में कालवाची अधिकरण-रूप 'अहन्' से षष्ठी हुई ।

प्रत्युदाहरण—जब सम्बन्ध-मात्र (शेषे) की विवक्षा न होकर अधिकरण की विवक्षा होगी तो 'सप्तमी' ही होगी । जैसे—द्विः अह्नि अध्ययनम् (= दिन में दो बार पढ़ना) ।

(६२३) पद—कर्तृकर्मणोः, कृति । **अनुवृत्ति**—षष्ठी, अनभिहिते । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—कृत्प्रत्ययान्त शब्दों के योग में उनके कर्ता और कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है । जैसे—(१) कृष्णस्य कृतिः । (२) जगतः कर्ता कृष्णः । वा० गौण कर्म में विकल्प से षष्ठी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेष्यते' (वा ५०४२)। नेता अश्वस्य स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा। 'कृति' किम् ? तद्धिते मा

दनेन षष्ठीप्राप्तौ तद्धितयोगान्न भवति। ननु कृतः कटः पूर्वमनेनेति विग्रहे कृतशब्दस्य पूर्वशब्देन समासो न सम्भवति। कृतशब्दस्य कटशब्दापेक्षत्वेन सामर्थ्यविरहात्। अत एव तद्धितः इनिप्रत्ययोऽपि दुर्लभः। किञ्च कृत इति क्तप्रत्ययेन कटस्य कर्मणोऽभिहितत्वेन ततः षष्ठ्याः प्राप्तिरेव नास्तीति किं तन्निवृत्त्यर्थेन कृद्ग्रहणेन। क्तप्रत्ययेन कृता अभिहितत्वादेव कटात् द्वितीयापि दुर्लभेति चेत् ? मैवम्, कृत अम् पूर्वं अम् इत्यलौकिकविग्रहवाक्ये कटस्यासन्निहितत्तया कर्मत्वेनान्वयासम्भवेन कृन्धातोस्तदानीमकर्मकतया कर्मणि क्तप्रत्ययस्यासम्भवे सति 'नपुंसके भावे क्तः' इति भावे क्तप्रत्यये कृते सति कृतशब्दस्य कटशब्दसापेक्षत्वाभावात् समासतद्धितौ निर्बाधौ। ततश्च कृतपूर्वीति तद्धितान्तस्य पूर्वं कृतवानित्यर्थः पर्यवस्यति। किं कृतवानिति कर्मजिज्ञासायां कटमित्यन्वेति, गुणभूतयापि क्रियया कारकसम्बन्धस्य कटं कृतवानित्यादौ दर्शनात्। तच्च कर्मत्वं न क्तप्रत्ययेनाभिहितम् तस्य भावे विधानात्। नापीनिप्रत्ययेन, तस्य कर्तरि विधानात्। तथा च असति कृद्ग्रहणे षष्ठी स्यात्, तन्निवृत्त्यर्थं कृद्ग्रहणमिति भाष्ये स्पष्टम्। न च निष्ठायोगे निषेधादेवात्र षष्ठी न भविष्यतीति वाच्यम्, 'नपुंसके क्ते भावे षष्ठ्या उपसङ्ख्यानम्' इति 'क्तस्य च वर्तमाने' इति सूत्रस्थवार्तिकेन निष्ठायोगे षष्ठीनिषेधस्यात्राप्रसक्तेः। तथा च षष्ठ्यभावे उक्तरीत्या अनभिहितत्वात् द्वितीया सुलभैव। न च कृतेऽपि कृद्ग्रहणे षष्ठी दुर्वारा, कृतेति क्तप्रत्ययात्मककृद्योगस्य सत्त्वादिति वाच्यम्, कृद्ग्रहणासामर्थ्येन भाष्योदाहरणेन च वृत्त्यन्तर्भावापन्नकृद्योगस्य विवक्षितत्वात्। प्रकृते च कृतेत्यस्य तद्धितवृत्त्यन्तर्भूतत्वान्न तद्योगः षष्ठीनिमित्तम्। न चैवं सति ओदनस्य पाचकतमः, ओदनस्य पाचकग्रहणम् इत्यादौ षष्ठी न स्यात्, वृत्त्यन्तर्भूतकृद्योगाभावात्। तथा च ओदनं पाचकतमः, ओदनं पाचकग्रहणम् इति द्वितीयैव स्यादिति वाच्यम्, इष्टापत्तेः। अत एव मतुबधिकारे 'प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो णः' इत्यत्र 'प्राज्ञो व्याकरणम्' इत्युदाहरिष्यते मूलकृता। न चैवं घटः क्रियत इत्यत्रापि कर्मणो विवक्षाभावमाश्रित्य भावलकारे सति अनन्तरं घटस्य

होती है। जैसे—नेता अश्वस्य स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा। 'कृति' कहने का क्या प्रयोजन है ? तद्धित में न हो। जैसे—कृतपूर्वी कटम्।

विवरण—यहाँ 'शेषे' पद की अनुवृत्ति नहीं होती। 'कर्ता' और 'कर्म' के अनुक्त होने पर ही कृत् प्रत्ययों में षष्ठी होगी, क्योंकि 'अनभिहिते' अधिकार का यह फल है कि जिस 'कृत्' प्रत्यय का प्रयोग होगा उस कृत् प्रत्यय से कर्ता और कर्म का उक्त होना अभीष्ट नहीं है। तदनुसार "अनभिहित कर्ता और कर्म (कर्तृकर्मणोः) में 'कृत्' का प्रयोग होने पर षष्ठी विभक्ति होगी"। **उदाहरण**—१-कृष्णस्य कृतिः (= कृष्ण की रचना)। यहाँ पर 'कृति' शब्द में √कृ धातु से भाव अर्थ में "स्त्रियां क्तिन्" (ति) ३-३-९४ सूत्र से कृत्संज्ञक 'क्तिन्' प्रत्यय हुआ है, उसके योग में 'करना' क्रिया के कर्ता 'कृष्ण' से षष्ठी विभक्ति आई। भाव में 'क्तिन्' प्रत्यय का विधान होने से कर्ता अनुक्त है। तृतीया के अपवादस्वरूप यह षष्ठी-विधान है। २-जगतः कर्ता कृष्णः (= जगत् को बनाने वाला कृष्ण)। यहाँ कर्ता में √कृ+तृच् ("ण्वुल्तृचौ" ३-१-१३३) प्रत्यय होकर 'कर्ता' शब्द बना है। अतः कृद्योग होने के कारण क्रिया के अनुक्त कर्म 'जगत्' में षष्ठी हुई। यहाँ पर द्वितीया के अपवादस्वरूप षष्ठी हुई है।

वा० अर्थ—गौण अर्थात् अप्रधान कर्म में प्रकृत सूत्र से प्राप्त षष्ठी-विभक्ति विकल्प से होती है। अप्रधान कर्म में षष्ठी का विधान विकल्प से होने के कारण प्रधान कर्म में उसका नित्य होना स्वतः सिद्ध है। **उदाहरण**—नेता अश्वस्य स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा (= घोड़े को स्रुघ्न ले जाने वाला)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूत । कृतपूर्वी कटम् । (६२४) उभयप्राप्तौ कर्मणि २ । ३ । ६६ ॥ उभयोः प्राप्तिर्यस्मिन्कृति तत्र कर्मण्येव षष्ठी स्यात् । आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन । 'स्त्रीप्रत्ययय्योर-

---

कर्मत्वेनान्वयसम्भवात् अनभिहितत्वात् द्वितीया दुर्वारेति वाच्यम्, वैषम्यात् । कृतपूर्वीत्यत्र हि अलौकिकविग्रहदशायां कटशब्दस्यासन्निधानात् कर्मणो विवक्षा न सम्भवतीति भावे क्तप्रत्यय इति युक्तमाश्रयितुम् । क्रियते इत्यत्र तु न सम्भवत्येवाविक्षा, कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपवृत्तिपञ्चकान्तर्भूतत्वेन वृत्तिशून्यतया विग्रहाभावात् । तथा च वृत्तिविषय एवायं व्युत्पत्तिप्रकार इति प्राचीनमतानुसारी पन्थाः । शब्देन्दुशेखरे तु ओदनं पाचकतम इत्यादौ द्वितीया असाधुरेव, षष्ठ्यैव साधुरिति प्रपञ्चितम् । विस्तरभयान्नेह तल्लिख्यते । ननु भट्टिकाव्ये—

'ददैर्दुःखस्य मादृग्भ्यो धायैरामोदमुत्तमम् ।
लिम्पैरिव तनोर्वातश्चेतयः स्याज्ज्वलो न कः ॥'

इति श्लोकोऽस्ति । श्रीरामस्य विरहार्तस्य वाक्यमेतत् । अत्र दुःखस्येति तनोरिति च कर्मणि षष्ठी । मादृग्भ्यो दुःखं ददैर्ददद्भिः, पुष्पादीनाम् आमोदं परिमलं धायैः पोषकैः तनोः तनुं शरीरं लिम्पैः लिम्पद्भिः कः चेतनः प्राणी ज्वलः ज्वलन्निव न स्यादित्यर्थः । अत्रामोदस्योत्तमस्येति कर्मणि षष्ठ्या भाव्यम् । धायशब्दस्य पोषणार्थकधाव्धातोः 'ददातिदधात्योः' इति णप्रत्ययात्मककृदन्तत्वादिति चेत् ? न, उत्तममामोदं पुष्पादीनां गृहीत्वा दुःखस्य पोषकैरित्येवं गृहीत्वेत्यध्याहृत्य तद्योगे द्वितीयाया उपपत्तेः ।

(६२४) उभयप्राप्तौ कर्मणि । पूर्वसूत्रात् कृतीत्यनुवर्तते । उभयप्राप्ताविति बहुव्रीहिः ।

यहाँ पर 'अश्व' प्रधान कर्म है तथा स्रुघ्न अप्रधान ("अकथितं च" १-४-५१) कर्म । 'नेतृ' शब्द में पूर्ववत् कर्ता अर्थ में 'तृच्' (√नी+'तृच्') प्रत्यय हुआ है । अतः ले जाना (नयनम्) क्रिया के गौण कर्म 'स्रुघ्न' में विकल्प से 'षष्ठी' हुई । पक्ष में द्वितीया होती है । प्रधान कर्म 'अश्व' में सूत्र के नियमानुसार नित्य षष्ठी हुई है ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'कृति' पद का क्या प्रयोजन है ? प्रश्न का आशय इस प्रकार है—"सूत्र में प्रयुक्त 'कर्म' और 'कर्ता' पदों से ही क्रिया का आक्षेप हो जायगा, क्योंकि क्रियावाचक शब्द धातु होते हैं । धातुओं से 'तिङ्' और 'कृत्'—ये दो प्रकार के प्रत्यय आते हैं । उनमें से 'तिङ्' प्रत्यय का प्रयोग किये जाने पर 'कटं करोति' इत्यादि वाक्यों में "न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" (२-३-६९) सूत्र से षष्ठी का निषेध हो जायगा । तब अवशिष्ट 'कृत्' प्रत्यय ही रहेंगे । ऐसी स्थिति में 'कृत्' प्रत्ययों के योग में ही षष्ठी विभक्ति होगी । अतः सूत्र में 'कृति' पद की क्या उपयोगिता है ? इसके उत्तर में यह कहा गया है कि "यहाँ केवल 'कृत्' प्रत्ययों का ही योग अपेक्षित है" । यदि 'कृत्' प्रत्ययों में तद्धित-प्रत्यय संयुक्त हो जायँ तो ऐसी स्थिति में 'षष्ठी' विभक्ति न हो । यही 'कृति' पद की सार्थकता है । जैसे—कृतपूर्वी कटम् (= इसने चटाई पहले बना ली है) । यहाँ पर √कृ+क्त = कृत शब्द निष्पन्न हुआ है । 'क्त' प्रत्ययान्त 'कृत' शब्द का 'पूर्वम्' क्रियाविशेषण के योग में 'कृतं पूर्वम् अनेन' इस विग्रह में समास होने पर "सपूर्वाच्च" (५-२-८७) सूत्र से तद्धित 'इनि' प्रत्यय करने पर 'कृतपूर्वी' शब्द सिद्ध होता है । 'कृतपूर्वी कटम्' में 'कृत' शब्दस्थ 'क्त' प्रत्यय का 'कट' रूप कर्म से सम्बन्ध होने पर भी 'पूर्व' शब्दस्थ तद्धित 'इनि' प्रत्यय से व्यवहित होने के कारण 'कर्म' का अभिधान नहीं हो पाता । इस तरह 'कर्म' अनुक्त होने से 'षष्ठी' की प्राप्ति हो जाती । 'कृति' ग्रहण करने का फल यह हुआ कि तद्धित-प्रत्यय के आधिक्य से यहाँ षष्ठी नहीं हुई । अतः प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा हुई ।

(६२४) पद—उभयप्राप्तौ, कर्मणि । अनुवृत्ति—कृति, षष्ठी, अनभिहिते । नियमसूत्र ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काकारयोर्नायं नियमः' (वा १५१३)। भेदिका बिभित्सा वा रुद्रस्य जगतः। 'शेषे विभाषा' (वा १५१४)। स्त्रीप्रत्यये इत्येके। विचित्रा जगतः कृतिर्हरेः—हरिणा वा। केचिदविशेषेण विभाषामिच्छन्ति। शब्दानामनुशासनमाचार्येण—आचार्यस्य वा।

अन्यपदार्थः कृत्। तदाह—उभयोः प्राप्तिर्यस्मिन् कृतीति। एकस्मिन् कृति उभयोः कर्तृकर्मणोः षष्ठीप्रसक्तौ कर्मण्येव षष्ठी स्यात्, न तु कर्तरीति यावत्। आश्चर्य इति। अगोपकर्तृकः गोकर्मकः यो दोहः स अद्भुत इत्यर्थः। उभयोः प्राप्ताविति षष्ठीसमासाश्रयणे तु ओदनस्य पाको ब्राह्मणानां च प्रादुर्भाव इत्यत्रापि कर्मण्येव षष्ठी स्यान्न तु कर्तरि। बहुव्रीह्याश्रयणे तु एकस्यैव कृतो निमित्तत्वलाभात् भिन्नक्रियानिरूपितकर्तृकर्मणोः षष्ठीप्राप्तौ नायं नियम इति फलति। स्त्रीप्रत्ययोरिति। वार्तिकमेतत्। 'स्त्रियां क्तिन्' इत्यधिकारविहितयोः अकाकारप्रत्ययोः कृतोः प्रयोगे कर्मण्येवेत्युक्तनियमो नास्तीत्यर्थः। कर्तर्यपि षष्ठी भवतीति फलितम्। भेदिकेति। धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल्, अकादेशः, टाप् प्रत्ययस्थात्' इतीत्त्वम्। बिभित्सेति। भिदेः सन्नन्तात् 'अ प्रत्ययात्' इत्यकारप्रत्ययः, टाप्। रुद्रकर्तृकं जगत्कर्मकं भेदनं भेदनेच्छा वेत्यर्थः। शेषे विभाषेति। इदमपि वार्तिकम्। अकाकारप्रत्ययव्यतिरिक्तप्रत्यययोगे 'उभयप्राप्तौ' इति नियमो विकल्प्यत इत्यर्थः। स्त्रीप्रत्यये इत्येके इति। उक्तो विकल्पः स्त्रीप्रत्ययोगे सत्येव भवतीति केचिन्मन्यन्ते इत्यर्थः। विचित्रेति। हरिकर्तृका जगत्कर्मिका कृतिरित्यर्थः। केचिदविशेषेणेति। अकाकारभिन्नस्त्रीप्रत्यये अस्त्रीप्रत्यये च कृति प्रयुज्यमाने उक्तविकल्प इत्यर्थः। शब्दानामिति। आचार्यकर्तृकं शब्दकर्मकमनुशासनमित्यर्थः। अनुशासनमसाधुभ्यो विवेचनम्।

मूलार्थ—जहाँ दोनों में षष्ठी प्राप्त हो, वहाँ पर केवल कर्म में ही षष्ठी होती है। जैसे—आश्चर्यः गवां दोहः अगोपेन। वा० स्त्रीप्रत्यय में होने वाले 'अक' और 'अ' प्रत्ययों के साथ यह नियम नहीं लगता। जैसे—भेदिका बिभित्सा वा रुद्रस्य जगतः। वा० कुछ आचार्यों के मत में ('अक' और 'अ' प्रत्ययों के अतिरिक्त) स्त्रीलिङ्ग कृत्प्रत्ययों के योग में विकल्प से षष्ठी होती है। जैसे—विचित्रा जगतः कृतिः हरेः हरिणा वा। दूसरे आचार्य सामान्य रूप से सर्वत्र कृत्प्रत्ययान्तों के साथ 'कर्ता' में विकल्प से षष्ठी-विभक्ति का प्रयोग करते हैं। जैसे—शब्दानाम् अनुशासनम् आचार्येण आचार्यस्य वा।

विवरण—पूर्व सूत्र से कर्ता और कर्म दोनों में 'षष्ठी' प्राप्त थी, अब यह नियम किया जा रहा है कि जिस कृत्प्रत्यय के योग में कर्ता और कर्म दोनों में (उभयप्राप्तौ) एक साथ षष्ठी प्राप्त हो वहाँ अनभिहित कर्म में (कर्मणि) ही षष्ठी हो कर्ता में नहीं। **उदाहरण**—आश्चर्यः गवां दोहः अगोपेन (=जो गोपरवाला नहीं है, उससे गायों का दुहा जाना आश्चर्य की बात है)। कृत वाक्यस्थ 'दोहः' शब्द 'घञ्' प्रत्ययान्त कृदन्त है। 'अगोप' कर्ता है, तथा 'गो' कर्म है—इन दोनों में पूर्वसूत्र से षष्ठी प्राप्त थी। इस नियम से 'कर्म' ('गो') में षष्ठी हुई। (अनुक्त) 'कर्ता' (अगोप) में तृतीया हुई।

वा० अर्थ—"स्त्रियां क्तिन्" (३-३-९४)—इस अधिकार में विहित कृत्-स्त्रीप्रत्यय 'अक' और 'अ' का प्रयोग होने की स्थिति में दोनों की प्राप्ति होनेपर कर्म में षष्ठी होने का नियम नहीं लगता। अर्थात् कर्ता और कर्म दोनों में ही षष्ठी होगी। **उदाहरण**—भेदिका बिभित्सा वा रुद्रस्य जगतः (=रुद्र के द्वारा जगत् का विनाश या जगत् के नाश की इच्छा)। यहाँपर कृत्-प्रत्ययान्त 'भेदिका' में (भिद्+ण्वुल् = अक+टाप्) स्त्रीप्रत्ययान्त 'अक' तथा 'बिभित्सा' (भिद्+सन् = बिभित्स +अ+आ) में स्त्रीप्रत्यय के अधिकार का 'अ' प्रत्यय होने से कर्ता 'रुद्रस्य' तथा कर्म 'जगतः' में षष्ठी हुई।

वा० अर्थ—'अक' और 'अ' प्रत्यय से भिन्न (शेषे) स्त्रीलिङ्ग कृत्प्रत्ययों के योग में भी विकल्प से षष्ठी होती है। **उदाहरण**—विचित्रा जगतः कृतिः हरेः हरिणा वा (=हरि के द्वारा की गई यह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६२५) क्तस्य च वर्तमाने २ । ३ । ६७ ।। वर्तमानार्थस्य क्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । 'न लोक—' (सू ६२७) इति निषेधस्यापवादः । राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा । **(६२६) अधिकरणवाचिनश्च २ । ३ । ६८ ।।** क्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । इदमेषामासितं

---

(६२५) क्तस्य च वर्तमाने । ननु 'कर्तृकर्मणोः कृति' इत्येव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आप—न लोकेति । राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वेति । मनुधातोः बुधधातोः पूजधातोश्च 'मति-बुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इति वर्तमाने क्तप्रत्ययः । तत्र मतिरिच्छा, बुद्धेः पृथक् ग्रहणात् । राज-कर्तृकवर्तमानेच्छाविषयः राजकर्तृकवर्तमानज्ञानविषयः राजकर्तृकवर्तमानपूजाश्रय इति क्रमेणार्थः । 'पूजितो यः सुरासुरैः' 'त्वया ज्ञातो घटः' इत्यत्र तु भूते क्तप्रत्ययो बोध्यः । न च 'मतिबुद्धि' इत्यनेन भूतक्तस्य बाधः शङ्क्यः, 'तेन' इत्यधिकारे 'उपज्ञाते' इति लिङ्गात् तदबाधज्ञापनादित्याहुः ।

(६२६) अधिकरणवाचिनश्च । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—क्तस्य योगे षष्ठीति । शयितमिति । शेतेऽस्मिन्निति शयितम् । 'शीङ् स्वप्ने' 'क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्य–' इति क्तप्रत्ययः । तत्र एषामिति कर्तरि षष्ठी । 'न लोक' इति निषेधापवादः । भुजेस्तु प्रत्यवसानार्थकत्वात्

जगत् की रचना विचित्र है)। कृत्प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द 'कृति' के कारण 'कर्ता' ('हरि') में विकल्प से षष्ठी । पक्ष में कर्तरि तृतीया ।

वा० कुछ आचार्यों का यह मत है कि सामान्यतः सर्वत्र कृत्प्रत्ययान्त के साथ कर्ता में विकल्प से षष्ठी होती है । **उदाहरण**—शब्दानाम् अनुशासनम् **आचार्येण आचार्यस्य** वा (= आचार्य के द्वारा शब्दों का अनुशासन)। यहाँ पर (कृत्प्रत्यय) ल्युट् होने से 'अनुशासन' शब्द बना है। उसके योग में उसके कर्ता 'आचार्य' में विकल्प से 'षष्ठी' । पक्ष में तृतीया हुई ।

(६२५) पद—क्तस्य, च, वर्तमाने । **अनुवृत्ति**—षष्ठी, अनभिहिते । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—वर्तमानाथक 'क्त' प्रत्यय के योग में षष्ठी होती है। आगे आने वाले "न लोकाव्ययनिष्ठा"० इत्यादि सूत्र का यह अपवाद है । जैसे—राज्ञां मतः, बुद्धः, पूजितः वा ।

विवरण—प्रकरणवश 'षष्ठी' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। 'कर्ता' में षष्ठी का विधान होने के कारण 'अनभिहिते' का प्रभाव भी विद्यमान है। तदनुसार "वर्तमानार्थक 'क्त' प्रत्यय के प्रयोग में भी षष्ठी होती है" । निष्ठासंज्ञक होने के कारण "न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" (२-३-६९) सूत्र से 'क्त' प्रत्ययान्त के प्रयोग में 'षष्ठी' प्राप्त नहीं थी । प्रकृत सूत्र से वर्तमान काल में विहित 'क्त' प्रत्यय से षष्ठी-विभक्ति का विधान किया गया है। वर्तमान काल में 'क्त' प्रत्यय का विधायक सूत्र है—"मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च" (३-२-१८८)। **उदाहरण—राज्ञां** मतः, बुद्धः, पूजितः वा (= राजा मानते हैं, जानते हैं या पूजते हैं)। यहाँ वर्तमान काल में √मन्, √बुध् तथा √पूज् धातुओं से 'क्त' प्रत्यय हुआ है, अतः इनके योग में षष्ठी विभक्ति हुई—'राज्ञाम्' ।

(६२६) पद—अधिकरणवाचिनः, च । **अनुवृत्ति**—क्तस्य, षष्ठी, अनभिहिते । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अधिकरणार्थक 'क्त' प्रत्यय के योग में भी षष्ठी होता है। जैसे—इदम् एषां आसितम् ।

विवरण—इस सूत्र में प्रमुख रूप में "क्तस्य च वर्तमाने" (२-३-६७) सूत्र से 'क्तस्य' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। शेष अनुवृत्ति पूर्वसूत्र के समान है। अतः यह सूत्र भी अग्रिम निषेध-सूत्र का अपवाद है। तदनुसार "अधिकरणवाची 'क्त' प्रत्ययान्त के योग में भी 'षष्ठी' विभक्ति होती है। अधिकरण में 'क्त' विधायक सूत्र है—"क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगति-प्रत्यवसानार्थेभ्यः" (३-४-७६)। **उदाहरण**—(१) इदम् **एषाम्** आसितम् (=यह इनका आसन है)। (२) इदम् **एषां** शयितम् (=यह इनकी शय्या है)। (३) इदम् **एषां** गतम् (= यह इनका मार्ग है)। (४) इदम् **एषां** भुक्तम् (= यह इनका भोजनपात्र है)। इन चारों का क्रमशः विग्रह है—(१) आस्यते अस्मिन् आसितम्, (२) शय्यते अस्मिन् शयितम्, (३) गम्यते अस्मिन् गतम्, (४) भुज्यते अस्मिन्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शयितं गतं भुक्तं वा। (६२७) न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् २।३।६९॥ एषां प्रयोगे षष्ठी न स्यात्। लादेश–कुर्वन् कुर्वाणो वा सृष्टिं हरिः। उ–हरिं दिदृक्षुः अलङ्करिष्णुर्वा। उक–दैत्यान्घातुको हरिः। 'कमेरनिषेधः' (वा १५१९)। लक्ष्म्याः' कामुको हरिः। अव्ययम्–जगत्सृष्ट्वा, सुखं कर्तुम्। निष्ठा–विष्णूना हता दैत्याः।

अधिकरणे क्तप्रत्ययः। 'इदमेषां भुक्तमोदनस्य' इत्यत्र तु कर्तृकर्मणोर्द्वयोरपि षष्ठी। 'उभयप्राप्तौ' इति नियमस्तु न प्रवर्तते, मध्येऽपवादन्यायेन 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति षष्ठ्या एव तन्नियमाभ्युपगमात्।

(६२७) न लोक। एषामिति। ल, उ, उक, अव्यय, निष्ठा, खलर्थ, तृन् एषामित्यर्थः। उ, उक इत्यत्र सवर्णदीर्घे सति ऊकेति भवति। ततो ल ऊकेत्यत्र आद्गुणे लोकेति भवति। लादेशेति। अविभक्तिकनिर्देशोऽयं लादेशोदाहरणसूचनार्थः। ल इति लडादीनां सामान्येन ग्रहणम्। तेषां च साक्षात्प्रयोगाभावात् तदादेशग्रहणमिति भावः। कुर्वन् कुर्वाणो वेति। लटः शतृशानचौ। इह कर्मणि षष्ठीनिषेधात् द्वितीया। उ इति। तदुदाहरणसूचनमिदम्। उ इत्यनेन कृतो विशेषणात्तदन्तविधिः। हरिं दिदृक्षुरिति। दृशेस्सन्नन्तात् 'सनाशंसभिक्ष उः' इति उप्रत्ययः कृत्। व्यपदेशिवत्त्वेन उकारान्तोऽयं कृत्। हरिकर्मकदर्शनेच्छावानित्यर्थः। अलङ्करिष्णुर्वेति। हरिमित्यनुषज्यते। 'अलं कृञ्' इत्यादिना ताच्छीलिकेत्यादाविष्णुच्। उवर्णस्यैव ग्रहणे त्वत्र निषेधो न स्यात्। उक इति। इदमपि तदुदाहरणसूचनार्थम्। दैत्यान् घातुको हरिरिति। 'आ क्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु' इत्यधिकारे 'लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशॄभ्य उकञ्' इति तच्छीलादिषु हनधातोः कर्तरि उकञ्प्रत्ययः, उपधावृद्धिः। 'हो हन्तेः' इति हस्य घत्वम्। 'हनस्तोऽचिण्णलोः' इति नकारस्य तकारः। घातनशीलो घातनधर्मा घातनसाधुकारो वेत्यर्थः। कमेरिति। वार्तिकमिदम्। उकान्तकमेर्योगे षष्ठ्या निषेधो नास्तीत्यर्थः। लक्ष्म्याः कामुक इति। 'लषपत' इत्यादिना उकञ्। अव्ययमिति। उदाहरणसूचनमिदम्। जगत्सृष्ट्वेति। हरिरास्ते इति शेषः। 'समानकर्तृकयोः' इति क्त्वाप्रत्ययः। 'क्त्वातोसुन्कसुनः' इति अव्ययत्वम्। सुखं कर्तुमिति। भक्तस्य हरिः प्रभवतीति शेषः। 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' इति तुमुन्। 'कृन्मेजन्तः' इत्यव्ययत्वम्। इह कृदव्ययमेव गृह्यत इति केचित्। वस्तुतस्तु

भुक्तम्। उपर्युक्त सूत्र से अधिकरण अर्थ में 'क्त' प्रत्यय हुआ है, अतः उस क्त योग में उक्त क्रियाओं के अनुक्त कर्ता 'इदम्' से षष्ठी विभक्ति हुई।

विशेष—इन चारों में से √'आस्' और √'शीङ्' धातु अकर्मक हैं, अतः उनके 'कर्म' के अनुक्त होने का प्रश्न नहीं उठता। √गम् और √भुज् धातु अवश्य सकर्मक हैं, अतः इनके अनुक्त कर्म में भी षष्ठी होगी—(१) इदमेषां गतं ग्रामस्य (=यह इनके गाँव जाने का मार्ग है) 'तथा' (२) इदमेषां भुक्तम् ओदनस्य (यह इनका भातखाने का पात्र है)। "उभयप्राप्तौ कर्मणि" (२-३-६६) नियम के अनुसार केवल कर्म में ही षष्ठी होने का नियम यहाँ नहीं प्रवृत्त होता। कारण यह है कि "मध्य में पठित अपवाद अपनी पूर्ववर्ती विधि के बाधक होते हैं, उत्तरवर्ती विधि के नहीं"।

(६२७) पद—न, लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्। अनुवृत्ति—षष्ठी, अनभिहिते। विधि-(निषेध)-सूत्र।

मूलार्थ—इनके योग में षष्ठी नहीं होती। जैसे—(१) लादेश—कुर्वन् कुर्वाणः सृष्टिं हरिः। (२) उ—हरिं दिदृक्षुः अलङ्करिष्णुर्वा। (३) उक—दैत्यान् घातुकः हरिः। वा० कम् धातु के साथ षष्ठी का निषेध नहीं होता। जैसे—लक्ष्म्याः कामुकः। (४) अव्यय—जगत् सृष्ट्वा। (५) निष्ठा–

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दैत्यान्हतवान्विष्णुः। खलर्थाः—ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा। तृन् इति प्रत्याहारः "शतृशानचौ' इति तृशब्दादारभ्य आ तृनो नकारात्। शानच्—सोमं पवमानः। चानश्—

अविशेषात् अकृदन्तमपीति तत्त्वम्। देवदत्तं हिरुक्। तत्कर्मकं वर्जनमित्यर्थः। निष्ठेति। उदाहरणसूचनमिदम्। 'क्तक्तवतू निष्ठा'। विष्णुना हता इति। अत्र भूते कर्मणि क्तः। कर्तरि षष्ठीनिषेधात्तृतीया। दैत्यान् हतवानिति। भूते कर्तरि क्तवतुः। कर्मणि षष्ठीनिषेधात् द्वितीया। खलर्था इति। उदाहरणसूचनमिदम्। ईषत्कर इति। 'ईषद्दुस्सुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्' इति कर्मणि खल्। अर्थग्रहणात् 'आतो युच्' इति खलर्थको युजपि गृह्यते। ईषत्पानः सोमो भवता। ननु तृन्नित्यनेन यदि तृनेव गृह्येत, तर्हि सोमं पवमान इत्यादा न स्यादित्यत आह—तृन्निति प्रत्याहार इति। कुत आरभ्य किमन्तानामित्यत आह—शतृशानचाविति तृशब्दादारभ्य आ तृनो नकारादिति। लटः शतृशानचावित्यत्र शत्रादेशस्य एकदेशस्तृशब्दः तत आरभ्य 'तृन्' इति सूत्रस्थनकारपर्यन्तानामित्यर्थः। 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' 'सम्बोधने च' 'तौ सत्' 'पूङ्यजोश्शानन्' 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' 'इङ्धार्योश्शत्रकृच्छ्रिणि' 'द्विषोऽमित्रे' 'सुञो यज्ञसंयोगे' 'अर्हः प्रशंसायाम्' 'आ क्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु' 'तृन्' इति सूत्रक्रमः। अत्र [illegible]नन्नादितृन्नन्तानां ग्रहणम्, न तु 'लटः शतृ' इति तृशब्दस्यापि, शत्रादेशैकदेशस्य तस्य क्वापि पृथक् प्रयोगानर्हत्वात्। नापि शानचः, लादेशत्वादेव सिद्धेः इति स्थितिः।

(क) दैत्यान् हतवान् विष्णुः। (ख) विष्णुना हताः दैत्याः (५) खलर्थ—ईषत्करः प्रपञ्चः हरिणा। (६) 'तृन्' प्रत्याहार के रूप में गृहीत है। 'शतृशानचौ' के 'तृ' से आरम्भ होकर 'तृन्' के नकार तक लिया गया है। इसके अन्तर्गत उदाहरण—(क) शानच्—सोमं पवमानः, (ख) चानश्—आत्मानं मण्डयमानः, (ग) शतृ—वेदम् अधीयन्, (घ) तृन्—कर्ता लोकान्। वा० शतृ-प्रत्ययान्त √द्विष् धातु के योग में विकल्प से षष्ठी निषेध होता है। जैसे—मुरस्य मुरं वा द्विषन्। यह सब कारकषष्ठी का ही निषेध है। शेष-षष्ठी तो होगी। जैसे—(क) ब्राह्मणस्य कुर्वन्। (ख) नरकस्य जिष्णुः।

विवरण—"कर्तृकर्मणोः कृति" (२-३-६५) सूत्र से प्राप्त षष्ठी का निषेध किया जा रहा है। सूत्र में 'न' पद निषेध का वाचक है। जिन कृत् प्रत्ययों के योग में कर्ता और कर्म में षष्ठी का निषेध अभीष्ट है उनका परिगणन इस सूत्र में किया गया है। वे 'कृत्' प्रत्यय ये हैं—(१) लादेश—'लट्' लकार के स्थान में होने वाले शतृ, शानच्, कानच्, क्वसु, कि, किन् आदेश, (२) उ प्रत्यय तथा उकारान्त प्रत्यय, (३) उकञ् प्रत्यय, (४) कृदन्त के अव्यय—मान्त, एजन्त, क्त्वा, तोसुन् और कसुन् प्रत्ययान्त शब्द, (५) निष्ठा—'क्त' और 'क्तवतु' प्रत्यय, (६) खलर्थ प्रत्यय—खल्, (७) तृन् प्रत्याहार—इसके अन्तर्गत "लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे" (३-२-१२४) सूत्र के 'तृ' से आरम्भ कर 'तृन्' (३-२-१३५) सूत्र के नकारपर्यन्त आए हुए प्रत्ययों का समावेश होता है। तदनुसार शानन्, चानश् तथा कर्ता में शतृ—इन प्रत्ययों का इसमें संग्रह होता है। फलतः "इन प्रत्ययों के योग में षष्ठी विभक्ति नहीं होगी"। क्रमशः उदाहरण—(१) लादेश—(क) 'शतृ' तथा 'शानच्'—कुर्वन् कुर्वाणः वा सृष्टिं हरिः (=सृष्टि को करता हुआ हरि)। षष्ठी का निषेध हुआ, अतः कर्म अनुक्त होने से द्वितीया हुई। (ख) 'कानच्' तथा 'क्वसु'—ओदनं पेचानः (पच्+कानच्) पेचिवान् वा (पच्+क्वसु) (=रसोइये ने भात पकाया)। कर्म अनुक्त होने से द्वितीया। (२) उ—(क) हरिं दिदृक्षुः (=हरि को देखने का इच्छुक—दृश्+सन्+उ—"सनाशंसभिक्ष उः" (३-२-१६८)। इष्णु—(ख) हरिम् अलङ्करिष्णुः (=हरि को अलंकृत करने वाला)। उकारान्त का ग्रहण होने से इष्णुच् प्रत्ययान्त शब्द भी गृहीत हैं। इष्णुच् विधायक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मानं मण्डयमानः । शतृ–वेदमधीयन् । तृन्–कर्ता लोकान् । 'द्विषः शतुर्वा' (वा १५ २२) । मुरस्य मुरं वा द्विषन् । सर्वोऽयं कारकषष्ठ्याः प्रतिषेधः । शेषे षष्ठी तु

शानाविति । उदाहरणसूचनमिदम् । सोमं पवमान इति । 'पूङ्यजोश्शानन्' । आत्मानं मण्डयमान इति । 'मडि भूषायाम्' 'ताच्छील्यवयोवचन' इति चानश् । शतृ इति । उदाहरणसूचनमिदम् । वेदमधीयन्निति । 'इङ्धार्योः' इति शतृप्रत्ययः । तृन्निति । उदाहरणसूचनमिदम् । कर्ता लोकानिति । तृन्निति सूत्रेण तच्छीलादिषु तृन्प्रत्ययः । शानन्नादितृन्नन्तानां लादेशत्वाभावात् प्रत्याहाराश्रयणमिति बोध्यम् । द्विषश्शतुर्वेति । शत्रन्तद्विषधातुयोगे षष्ठीनिषेधो वा वक्तव्य इत्यर्थः । मुरस्य मुरं वा द्विषन्निति । 'द्विषोऽमित्रे' इति शतृप्रत्ययः । तस्य तृन्प्रत्याहारप्रविष्टत्वान्नित्यनिषेधे प्राप्ते विकल्पोऽयम् । सर्वोऽयमिति । 'अनन्तरस्य' इति न्यायादिति भावः । शेषे षष्ठी त्विति । शाब्दबोधे प्रकारवैलक्षण्यं फलमिति भावः ।

सूत्र—"अलंकृञ्निराकृञ्प्रजनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्यपत्रपवृतुवृधुसहचर इष्णुच्" (३-२-१३६) (अलं +कृ+इष्णु) । दोनों जगह कर्म अनुक्त होने से द्वितीया । (३) उक—दैत्यान् धातुकः हरिः (= दैत्यों को मारने वाला हरि) । यहाँ पर √हन्+(ताच्छील्य अर्थ में) उकञ्—"लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशम्यः उकञ्" (३-२-१५४) । वा० अर्थ–'उक' प्रत्यय के प्रसङ्ग में वार्तिककार ने यह सूचित किया है कि √कम् धातु से 'षष्ठी' का निषेध नहीं होता । अतः लक्ष्म्याः कामुकः हरिः (= हरि लक्ष्मी के इच्छुक हैं) में षष्ठी विभक्ति हुई—लक्ष्म्याः । (४) अव्यय—(क) क्त्वा—जगत् सृष्ट्वा हरिः आस्ते (= संसार को रचकर हरि विराजमान हैं) । √सृज्+क्त्वा—"समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" ३-४-२१ = सृष्ट्वा । "क्त्वातोसुन्कसुनः" (१-१-४०)—'अव्यय'संज्ञा । (ख) तुमुन्—सुखं कर्तुं भक्तस्य हरिः प्रभवति (भक्त का सुख करने के लिये हरि सन्नद्ध हैं) । कृ+तुमुन्–'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्" 'तुम्' (३-३-१०) । मकारान्त होने के कारण 'तुम्' प्रत्यय "कृन्मेजन्तः" (१-१-३९) से अव्यय-संज्ञक है । 'कर्म' अनुक्त होने से 'सुखं' में द्वितीया हुई । (५) निष्ठा—(क) 'क्त' विष्णुना हता दैत्याः (= विष्णु ने दैत्यों का वध किया) । √हन्+क्त (त) "निष्ठा" (३-२-१०२) । कर्ता उक्त न होने से 'विष्णुना' में तृतीया । (ख) क्तवतु—दैत्यान् हतवान् विष्णुः (विष्णु ने दैत्यों को मारा) । √हन्+क्तवतु (तवत्)—"निष्ठा" (३-२-१०२) । कर्ता उक्त होने से 'विष्णुः' में प्रथमा । (६) खलर्थ—ईषत्करः प्रपञ्चः हरिणा (=हरि के लिये संसाररूपी प्रपञ्च सरल है) । ईषत्–कृ+खल् (अ)—"ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्" (३-३-१२६) । कर्मवाच्य में 'खल्' प्रत्यय होने के कारण 'कर्ता' अनुक्त है, अतः हरिणा में 'तृतीया' हुई । (७) तृन् प्रत्याहार—(क) शानन्—सोमं पवमानः (= सोम को पवित्र करता है) । √पू+शानन् (आन) "पूङ्यजोः शानन्" (३-२-१२८) तथा मुक् (म्) आगम "आने मुक्" (७-२-८२) । 'शानन्' प्रत्यय कर्ता में होता है अतः कर्म अनुक्त होने से 'सोमं' में द्वितीया । (ख) चानश्—आत्मानं मण्डयमानः (= अपने को सजाता हुआ) । √मण्ड+चानश (आन)—"ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्" (३-२-१२९), पूर्ववत् मुक्–आगम । कर्ता में चानश् होने के कारण कर्म अनुक्त होने से 'आत्मानम्' में द्वितीया हुई । (ग) शतृ प्रत्यय—वेदम् अधीयन् (वेद को पढ़ता हुआ) । अधि–इङ्+शतृ (अत्)–"इङ्धार्योः शत्रकृच्छ्रिणि" (३-२-१३०) । यहाँ 'शतृ' प्रत्यय कर्ता में हुआ है । अतः कर्म अनुक्त होने से द्वितीया हुई—'वेदम्' । यह 'शतृ' प्रत्यय पूर्वोक्त 'लट्' के स्थान में होने वाले 'शतृ' आदेश से भिन्न है । (घ) तृन्—कर्ता लोकान् (= संसार को रचने वाला) । कृ+तृन् (तृ)—"तृन्" (३-२-१३५) । यह 'तृन्' प्रत्यय कर्तृवाच्य में हुआ है । अतः कर्म अनुक्त होने से 'लोकान्' में द्वितीया हुई ।

वा० अर्थ—कृदन्त प्रकरणस्थ 'शतृ' प्रत्ययान्त √द्विष् धातु के योग में षष्ठी का निषेध विकल्प से होता है । उदाहरण—मुरस्य मुरं वा द्विषन् (= मुर नामक राक्षस का शत्रु) । √द्विष्+शतृ (अत्) "द्विषोऽमित्रे" ३-२-३१ । अनुक्त कर्म होने से प्रकृत सूत्र से षष्ठी का नित्य निषेध

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्यादेव । ब्राह्मणस्य कुर्वन् । नरकस्य जिष्णुः । (६२८) **अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः २ । ३ । ७० ॥** भविष्यत्यकस्य भविष्यदाधमर्ण्यार्थेनश्च योगे षष्ठी न स्यात् । सतः

ब्राह्मणस्य कुर्वन्निति । हरिरिति शेषः । लटश्शत्रादेशः । मुखतो ब्राह्मणसम्बन्धिसृष्ट्यनुकूल-व्यापारवानित्यर्थः । कर्मत्वविवक्षायां तु द्वितीयैव । नरकस्य जिष्णुरिति । 'ग्लाजिस्थश्च क्स्नुः' इति तच्छीलादिषु क्स्नुप्रत्ययः । नरकसम्बन्धिजयवानित्यर्थः । कर्मत्वविवक्षायां तु द्वितीयैव ।

(६२८) अकेनोर्भविष्य । नेत्यनुवर्तते । अकश्च इन् च तयोरिति विग्रहः । भविष्यच्च आधमर्ण्यं च तयोरिति द्वन्द्वः । यथासङ्ख्यं नेष्यते, भाष्यात् । भविष्यति आधमर्ण्ये च वर्तमानयोः अकेनोः योगे षष्ठी नेति फलितम् । तत्र आधमर्ण्यांशः अकेन नान्वेति 'आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः' इत्युक्तेः । अतो भविष्यदंश एवाके अन्वेति । इनेस्तु भविष्य-दाधमर्ण्ययोरुभयोरप्यन्वयः, सम्भवात् । तदाह—भविष्यत्यकस्येति । भविष्यदाधमर्ण्यार्थे-नश्चेति । भविष्यदर्थकस्य आधमर्ण्यार्थस्य चैव इत्यर्थः । सतः पालकः इति । सज्जनात् पाल-यिष्यन् हरिः प्रादुर्भवतीत्यर्थः । 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' इति भविष्यति ण्वुल्, तत्र 'भविष्यति गम्यादयः' इत्यतो भविष्यतीत्यनुवृत्तेः । ओदनस्य पाचक इत्यत्र तु न षष्ठीनिषेधः, 'ण्वुल्तृचौ' इत्यस्य भविष्यति विधानाभावात् । व्रजं गामीति । 'गमेरिनिः' इत्यौणादिक इनिः । स च भविष्यति विहितः, 'भविष्यति गम्यादयः' इत्युक्तेः । गोष्ठं

प्राप्त रहा, प्रकृत वार्तिक से वैकल्पिक निषेध हुआ । अतः 'षष्ठी' और 'द्वितीया' दोनों विभक्तियाँ हुईं । यह 'शतृ' भी प्रत्यय है, लादेश नहीं है । अतः परस्मैपद का भ्रम नहीं होना चाहिये ।

विशेष—प्रकृत सूत्र से विहित षष्ठी का निषेध कर्ता और कर्म में विहित षष्ठी (कारक-षष्ठी) का ही है, शेषषष्ठी का नहीं । इस विषय में एक नियम है—'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा" । जिसके अनुसार 'समीपस्थ की ही विधि या निषेध होता है' । इसके फलस्वरूप इस निषेध की प्रवृत्ति "कर्तृकर्मणोः कृति" (२-३-६५) इत्यादि समीपस्थ सूत्रों तक ही होती है । दूरस्थ सूत्र "षष्ठी शेषे" (१-३-५०) में इस निषेध की प्रवृत्ति न होने से शेष षष्ठी होती है । अतः 'ब्राह्मणस्य कुर्वन् हरिः' (= ब्राह्मण को बनाता हुआ हरि) तथा 'नरकस्य जिष्णुः' (नरकासुर का जीतने वाला)—इन दोनों उदाहरणों से सम्बन्धमात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी ही हुई ।

(६२८) पद—अकेनोः, भविष्यदाधमर्ण्ययोः । **अनुवृत्ति**—न, षष्ठी, अनभिहिते । **विधि (निषेध) सूत्र ।**

मूलार्थ—'भविष्यत्' अर्थ में विहित 'अक' और 'भविष्यत्' तथा 'आधमर्ण्य' अर्थ में विहित 'इन्'—इन दोनों प्रत्ययों के योग में षष्ठी नहीं होती । जैसे—(१) सतः पालकः अवतरति । (२) व्रजं गामी । शतं दायी ।

विवरण—इस सूत्र से भी षष्ठी का निषेध किया जारहा है । अतः "न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थ-तृनाम्" (२-३-६९) सूत्र से 'न' की अनुवृत्ति के अतिरिक्त "षष्ठी शेषे" (२-३-५०) से 'षष्ठी' पद की अनुवृत्ति भी अपेक्षित है । तदनुसार "भविष्यत् अर्थ में होने वाले 'अक' प्रत्यय तथा भविष्यत् और आधमर्ण्य (कर्जदार) अर्थ में होने वाले इनि (इन्) प्रत्ययों के योग में षष्ठी नहीं होती" । 'अक' प्रत्यय का मूल-भूत प्रत्यय 'ण्वुल्' (वु) है—"तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्" (३-३-१०) । उसके स्थान पर 'अक' आदेश होता है । 'इनि' (णिनि) प्रत्यय का विधायक सूत्र है—"आवश्यकाधमर्ण्ययोः णिनिः" (३-३-१७०) । क्रमशः इनके उदाहरण—अक'—(१) सतः पालकः अवतरति (= सज्जनों का पालन करने वाला अवतार लेता है)—पालि+ण्वुल् (अक) । 'णिनि'—(२) व्रजं गामी (= व्रज को जाने वाला)—भविष्यत् (आवश्यक) अर्थ में णिनि । व्रजं-गम्+णिनि । शतं दायी (=सौ रुपये का देनदार)—'आधमर्ण्य' अर्थ में णिनि । शतं-दा+

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पालकोऽवतरति । व्रजं गामी । शतं दायी । (६२९) कृत्यानां कर्तरि वा २।३।७१ ॥ षष्ठी वा स्यात् । मया–मम वा सेव्यो हरिः । कर्तरि इति किम् ? गेयो माणवकः साम्नाम् । 'भव्यगेय—' (सू २८९४) इति कर्तरि यद्विधानादनभिहितं कर्म । अत्र योगो विभज्यते । कृत्यानाम् । उभयप्राप्तौ इति न इति चानुवर्तते । तेन नेतव्या व्रजं गावः

गमिष्यन्नित्यर्थः । शतं दायीति । ऋगत्वेन गृहीतं शतं प्रत्यर्पयतीत्यर्थः । 'आवश्यकाधमर्ण्य-योर्णिनिः' इत्याधमर्ण्ये णिनिः । तस्य भविष्यति विधानाभावात् भविष्यदर्थकतया गतार्थत्वं न शङ्क्यम् ।

(६२९) कृत्यानाम् । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—षष्ठी वा स्यादिति । कृत्या इत्यधिकृत्य विहिताः कतिपयकृत्प्रत्ययविशेषाः, तद्योगे कर्तरि षष्ठी वा स्यादित्यर्थः । 'कर्तृकर्मणोः' इति नित्यं प्राप्ते विकल्पोऽयम् । मया मम वा सेव्यो हरिरिति । षेवृ सेवायाम्, 'ऋहलोर्ण्यत्' इति कर्मणि ण्यत्प्रत्ययः । अस्मच्छब्दार्थस्य कर्तुः अनभिहितत्वात् षष्ठीतृतीये । गेय इति । नन्विह साम्नः कर्मत्वस्य 'अचो यत्' इति यत्प्रत्ययाभिहितत्वात् कथं षष्ठीप्रसक्तिरित्यत आह—भव्येति । ननु 'नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेन' इत्यत्र कृत्यसञ्ज्ञकतव्यप्रत्ययोयोगात् 'उभयप्राप्तौ' इति बाधित्वा कृष्णात् षष्ठीविकल्पः स्यात्, व्रजात्तु 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति नित्यं षष्ठी स्यादित्यत आह—अत्र योगो विभज्यत इति । विभागप्रकारं दर्शयति—कृत्या-नामिति । अनुवर्तते इति । तथा च कृत्ययोगे कर्तृकर्मणोः उभयोः प्रसक्ता षष्ठी नेत्यर्थः फलति । नेतव्या व्रजमिति । 'गुणकर्मणि वेष्यते' इति व्रजाद्विकल्पस्तु न भवति, नेता अश्वस्य स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वेति उभयप्राप्तिरहिते कृत्यव्यतिरिक्ते चरितार्थस्य 'दोग्धव्या गावः पयः कृष्णेन' इत्यादौ गौणकर्मण उक्तत्वेन प्रधानकर्मणि चरितार्थेनानेन परत्वात् बाधात् ।

णिनि । इन तीनों उदाहरणों में षष्ठी का निषेध होने से कर्म में द्वितीया हुई । यह सूत्र भी "कर्तृकर्मणोः कृति" (२-३-६५) का अपवाद है ।

(६२९) **पद**—कृत्यानां, कर्तरि, वा । **अनुवृत्ति**—षष्ठी, अनभिहिते । **विधिसूत्र** (विकल्प) ।

मूलार्थ—('कृत्य' प्रत्ययों के योग में कर्ता में विकल्प से) षष्ठी होती है । जैसे—मया मम वा सेव्यः हरिः । 'कर्तरि' का क्या प्रयोजन है ? गेयः माणवकः साम्नाम् । यहाँ "भव्य गेय०" इत्यादि से कर्ता में 'यत्' प्रत्यय का विधान होने से कर्म अनुक्त है । इस सूत्र को विभक्त किया जाता है । प्रथम अंश "कृत्यानाम्" है । इस भाग में "उभय प्राप्तौ" तथा "न" इन पदों की अनुवृत्ति आती है । उसका फल है—'नेतव्याः व्रजं भावः कृष्णेन' (में षष्ठी का निषेध होना) । उसके बाद है "कर्तरि" । इसका अर्थ पहले कह दिया गया है ।

विवरण—प्रकरणवश "षष्ठी शेषे" (२-३-५०) से 'षष्ठी' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । अतः "कृदन्तप्रकरणस्थ "कृत्याः" (३-१-९५) अधिकार के अन्तर्गत प्रत्ययों के योग में अनभिहित कर्ता में विकल्प से षष्ठी होती है, कर्म में नहीं होती" । "कर्तृकर्मणोः कृति" (२-३-६५) से कर्ता में नित्य षष्ठी प्राप्त थी, अब वह वैकल्पिक होगी । **उदाहरण—मया मम** वा सेव्यः हरिः (= मेरे द्वारा हरि की सेवा करनी चाहिए) । यहाँ √सेव् धातु से कर्म में "ऋहलोर्ण्यत्" (३-१-१२४) से 'ण्यत्' प्रत्यय ('कृत्य' संज्ञक) हुआ है । अतः उसके योग में षष्ठी हुई । पक्ष में कर्तृ-तृतीया हुई ।

प्रत्युदाहरण—'कृत्य' प्रत्ययों के योग में 'कर्ता' में ही विकल्प से षष्ठी का विधान करने के फलस्वरूप 'गेयो माणवकः साम्नाम्' (=बालक सामवेद का गान कर रहा है) में 'यत्' प्रत्यय के कर्तृवाच्य में होने से कर्म अनुक्त है । अतः "कर्तृकर्मणोः कृति" (२-३-६५) से षष्ठी हुई । गेयः = गा+यत्—"भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापाद्या वा" (३-४-६८) ।

विशेष—भाष्यकार ने इस सूत्र का भी योगविभाग किया है । तदनुसार इसके दो अंश

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृष्णेन। ततः कर्तरि वा। उक्तोऽर्थः। **(६३०) तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम् २। ३। ७२॥** तुल्यार्थैर्योगे तृतीया वा स्यात्पक्षे षष्ठी। तुल्यः सदृशः समो वा कृष्णस्य कृष्णेन वा। 'अतुलोपमाभ्यां' किम्? तुला उपमा वा कृष्णस्य नास्ति। **(६३१) चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः २। ३। ७३॥** एतदर्थैर्योगे चतुर्थी वा स्यात्पक्षे षष्ठी। आयुष्यं चिरञ्जीवितं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात्। एवं मद्रं भद्रं कुशलं निरामयं सुखं शम् अर्थः प्रयोजनं हितं पथ्यं वा भूयात्। आशिषि

ततः कृतरि वेति। 'कृत्यानाम्' इति सूत्रप्रणयनानन्तरं कर्तरि वेति पृथक् प्रणेतव्यमित्यर्थः। उक्तोऽर्थ इति। 'कृत्यानाम्' इत्यनुवर्त्य कृत्ययोगे कर्तरि षष्ठी वा स्यादिति व्याख्येयमित्यर्थः। अनुभयप्राप्तिविषये मया मम वा सेव्यो हरिरित्यादाविदमवतिष्ठते।

(६३०) अथोपपदविभक्तयः। तुल्यार्थैः। शेषषष्ठ्यां नित्यं प्राप्तायां तृतीयाविकल्पोऽयम्। तुल्यैरिति बहुवचनादेव पर्यायग्रहणे सिद्धे अर्थग्रहणं पदान्तरनिरपेक्षश्चेत्तुल्यार्थस्तेषां ग्रहणार्थम्। तेन गौरिव गवय इत्यादौ नेत्याहुः। अतुलोपमाभ्यामिति पर्युदासात् अनव्ययोग एवेदमित्यन्ये।

(६३१) चतुर्थी च। एतदर्थैरिति। आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ, हित एतदर्थकैरित्यर्थः। पक्षे षष्ठीति। चकारेण तत्समुच्चयावगमादिति भावः। आयुष्यपर्यायश्चिरञ्जीवितमिति। कुशलं निरामयमिति मद्रभद्रपर्यायौ। शमिति सुखपर्यायः। प्रयोजनमित्यर्थपर्यायः। पथ्यमिति हितपर्यायः। 'हितयोगे च' इति नित्यचतुर्थी तु

होंगे—(१) कृत्यानां तथा (२) कर्तरि वा। (१) प्रथम अंश में 'उभय प्राप्तौ' तथा 'न' की अनुवृत्ति की जाती है। तदनुसार 'कृत्य' प्रत्ययों के योग में 'कर्ता' और 'कर्म' दोनों को षष्ठी प्राप्ति का निषेध किया जाता है। जैसे—'नेतव्याः व्रजं गावः कृष्णेन' (= कृष्ण को व्रज में गायें ले जानी चाहियें) में कर्म 'व्रज' से तथा कर्ता 'कृष्ण' से षष्ठी नहीं हुई। अतः द्वितीया और तृतीया विभक्ति हुई। (२) द्वितीय सूत्र 'कर्तरि वा' है। इसका अर्थ संयुक्त-सूत्र के समान है।

(६३०) पद—तुल्यार्थैः, अतुलोपमाभ्यां, तृतीया, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—षष्ठी शेषे। **विधिसूत्र** (विकल्प)।

मूलार्थ—तुला और उपमा शब्दों से भिन्न तुल्यार्थक शब्दों के योग में तृतीया विकल्प से होती है। पक्ष में षष्ठी होगी। जैसे—तुल्यः सदृशः समो वा कृष्णेन कृष्णस्य वा। 'अतुलोपमाभ्यां' का क्या प्रयोजन है? तुला उपमा वा कृष्णस्य नास्ति।

विवरण—प्रसङ्गवश उपपद 'षष्ठी' का प्रकरण आरम्भ होता है। षष्ठी के प्रकरण में इस सूत्र का सन्निवेश होने से सूत्र में निर्दिष्ट 'पाक्षिक' तृतीया के न होने पर षष्ठी होगी। अतः सम्पूर्ण सूत्र "षष्ठी शेषे" (२-३-५०) की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तब सूत्र का समष्टिगत अर्थ यह होता है कि "तुला और उपमा दो शब्दों को छोड़कर (अतुलोपमाभ्याम्—तुला च उपमा च तुलोपमे न तुलोपमे अतुलोपमे. ताभ्याम्) शेष तुल्यार्थक शब्दों के साथ विकल्प से तृतीया हो"। पक्ष में षष्ठी होगी। **उदाहरण**—तुल्यः सदृशः वा **कृष्णेन कृष्णस्य** वा (कृष्ण के सदृश)। तुल्य, सदृश आदि तुल्यार्थक शब्दों के योग में 'कृष्ण' से तृतीया तथा षष्ठी हुई।

प्रत्युदाहरण—'तुला उपमा वा **कृष्णस्य** नास्ति' (= कृष्ण की समता नहीं है)। इस वाक्य में तुल्यार्थक 'तुला' तथा 'उपमा' शब्द होने के कारण सम्बन्ध में षष्ठी हुई, क्योंकि उपपद षष्ठी में इन दोनों का योग अपेक्षित नहीं है।

(६३१) पद—चतुर्थी, च, आशिषि, आयुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः। **अनुवृत्ति**—षष्ठी शेषे, अन्यतरस्याम्। **विधिसूत्र** (विकल्प)।

मूलार्थ—'आशीर्वाद' अर्थ में इनके योग में विकल्प से चतुर्थी होती है। पक्ष में षष्ठी होगी। जैसे—आयुष्यं चिरञ्जीवितं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात्। इसी तरह—मद्रं, भद्रं, कुशलं, सुखं, शम्,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किम् ? देवदत्तस्यायुष्यमस्ति । व्याख्यानात्सर्वत्रार्थग्रहणम् । मद्रभद्रयोः पर्यायत्वादन्यतरो न पठनीयः । **(६३२) आधारोऽधिकरणम् १ । ४ । ४५ ॥** कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठ-

---

नाशिषि ज्ञेया । ननु 'स्वं रूपम्' इति परिभाषया आयुष्यादिशब्दानामेव ग्रहणमुचितमित्यत आह—व्याख्यानादिति । ननु मद्रभद्रयोः पृथग्ग्रहणादेतदर्थैरिति व्याख्यानमयुक्तमित्यत आह—मद्रभद्रयोरिति । इति षष्ठी विभक्तिः ।

(६३२) अथ सप्तमी विभक्तिः । आधारोऽधिकरणम् । कारके इत्यधिकृतं प्रथमान्ततया विपरिणम्यते, तच्च आधारस्य विशेषणम्, आधारः कारकमधिकरणमिति लभ्यते । क्रियान्वयि कारकम् । एवञ्च कस्याधार इत्याकाङ्क्षायाम् उपस्थितत्वात् क्रियाया इति लभ्यते । क्रिया च कर्तृकर्मगता विवक्षिता । तदाधारत्वं च न साक्षात्, किन्तु कर्तृकर्मद्वारैव, व्याख्यानात् । तदाह—कर्तृकर्मद्वारेति । तन्निष्ठेति । कर्तृकर्मनिष्ठेत्यर्थः ।

अर्थः, प्रयोजनम्, हितं, पथ्यं वा भूयात् । 'आशिषि' का क्या प्रयोजन है ? देवदत्तस्य आयुष्यम् अस्ति । पूर्वाचार्यों के व्याख्यान होने से सूत्रोक्त सभी शब्दों के समानार्थक शब्दों का ग्रहण किया जाता है । पर्यायवाची होने के कारण 'मद्र' और 'भद्र' इन दोनों में से किसी एक का ग्रहण नहीं करना चाहिए ।

विवरण—यह भी उपपद 'षष्ठी' का सूत्र है । पूर्वसूत्र से 'अन्यतरस्यां' तथा सम्पूर्ण "षष्ठी शेषे" (२-३-५०) सूत्र की अनुवृत्ति करने पर यह अभिव्यञ्जित होता है कि "आशीर्वाद अर्थ में 'आयुष्य' (दीर्घजीविता), 'मद्र', 'भद्र', (शुभ, भला) 'कुशल', (आरोग्य) 'सुख', 'अर्थ' (प्रयोजन) और 'हित' (लाभ)—इन शब्दों के समानार्थकों के योग में विकल्प से चतुर्थी हो" । पक्ष में शेषे षष्ठी होगी । **उदाहरण**—आयुष्यं चिरञ्जीवितं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात् (= कृष्ण आयुष्मान् या चिरंजीवी हों) । यहाँ 'आयुष्य' अर्थ में ही 'चिरंजीवितं' पद है । अतः दोनों के योग में विकल्प से चतुर्थी हुई । पक्ष में षष्ठी होती है । इसी तरह—मद्रं, भद्रं, कुशलं, निरामयं, शम्, अर्थः, प्रयोजनं, हितं, पथ्यं वा कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात् (= कृष्ण की कुशल, शुभ, आनन्द, नीरोगता, सुख, कल्याण, सफलता, प्रयोजन, हित अथवा भला हो) । आशीर्वाद अर्थ होने के कारण मद्रादि शब्दों के योग में विकल्प से चतुर्थी हुई । पक्ष में षष्ठी होती है ।

प्रत्युदाहरण—'देवदत्तस्य आयुष्यम् अस्ति' (देवदत्त दीर्घायु है)—में तथ्य-वर्णन है, आशीर्वाद अर्थ नहीं है । अतः चतुर्थी नहीं हुई । यथाप्राप्त शेषषष्ठी हुई ।

विशेष—१–इस सूत्र में कहे गए सभी शब्दों के समान अर्थ का ग्रहण होता है । अतः इनके पर्याय भी यहाँ लिये जाते हैं । २–'मद्र' और 'भद्र' शब्द पर्यायवाची हैं । अतः इनमें से किसी एक का उल्लेख नहीं होना चाहिये । ३–षष्ठी-विभक्ति-प्रकरण के अनुसार षष्ठी के चार प्रकार दिखाये गये हैं—(क) शेषषष्ठी (सम्बन्ध-सामान्य में षष्ठी) (ख) कारक-शेषषष्ठी (ग) कारक-षष्ठी ('कृत्' प्रत्ययों के योग में) तथा (घ) उपपदषष्ठी (तुल्यादि शब्दों के योग में) ।

(६३२) पद—आधारः, अधिकरणम् । **अनुवृत्ति**—कारके । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—कर्ता और कर्म के द्वारा तन्निष्ठ क्रिया के आधारभूत कारक की 'अधिकरण' संज्ञा होती है ।

विवरण—'अधिकरण' संज्ञा है तथा आधार 'संज्ञी' । "कारके" का अधिकार है । उसे प्रथमा विभक्ति में परिवर्तित किया गया है । सूत्रस्थ 'आधार' पद का वह विशेषण है । 'कारक' से क्रिया का आक्षेप होता है । किसका आधार ? इस आकाङ्क्षा में 'क्रिया का आधार' लिया जाता है, साक्षात् आधार नहीं । अतः कर्ता और कर्म के द्वारा आधार की अधिकरण संज्ञा होती है[1] । कारक

---

१. कर्तृकर्मान्यतरव्यवधानेन क्रियाश्रयः कारकम् अधिकरणसंज्ञम् इत्यर्थः । तदाह हरिः—
"कर्तृकर्मव्यवहितामसाक्षाद् धारयत् क्रियाम् । उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रियाया आधारः कारकमधिकरणसंज्ञः स्यात् । (६३३) सप्तम्यधिकरणे च २ । ३ । ३६ ॥ अधिकरणे सप्तमी स्यात्, चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यः । औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा । कटे आस्ते । स्थाल्यां पचति । मोक्षे इच्छास्ति । सर्वस्मिन्नात्मास्ति । वनस्य दूरे अन्तिके वा । 'दूरान्तिकार्थेभ्यः—' (सू ६०५) इति विभक्तित्रयेण सह चतस्रोऽत्र विभक्तयः फलिताः । 'क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसङ्ख्यानम्' (वा

---

(६३३) सप्तम्यधिकरणे च । चकाराद् दूरेति । 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' इति पूर्वसूत्रात् दूरान्तिकार्थेभ्य इत्यस्य चकारेणानुकर्षणादिति भावः । औपश्लेषिक इति । उपश्लेषः संयोगादिसम्बन्धः । तत्प्रयोज्य आधारः प्रथम इत्यर्थः । वैषयिक इति । विषयतासम्बन्धकृत आधारो द्वितीय इत्यर्थः । अभिव्यापक इति । सकलावयवव्याप्तिकृत आधारस्तृतीय इत्यर्थः । तत्र औपश्लेषिकं कर्तृद्वारकमाधारमुदाहरति—कटे आस्ते इति । देवदत्त इति शेषः । तत्र साक्षाद्देवदत्तात्मकर्तृगतामासनक्रियां प्रति कटस्य संयोगसम्बन्धं पुरस्कृत्य देवदत्तद्वारा तदाधारत्वादधिकरणत्वम् । अथ कर्मद्वारकमौपश्लेषिकमाधारमुदाहरति—स्थाल्यां पचतीति । तण्डुलानिति शेषः । साक्षात्तण्डुलात्मककर्मगतां पाकक्रियां प्रति स्थाल्याः संयोगसम्बन्धं पुरस्कृत्य तण्डुलद्वारा आधारत्वादधिकरणत्वम् । रूपे रूपत्वमस्ति, शरीरे चेष्टास्तीत्यादौ समवायेन औपश्लेषिकमाधारत्वमित्यादि ज्ञेयम् । अथ वैषयिकमाधारमुदाहरति—मोक्षे इच्छास्तीति । अत्र कर्तृभूतेच्छागतां सत्ताक्रियां प्रति मोक्षस्य विषयतासम्बन्धपुरस्कारेण इच्छाद्वाराधारत्वादधिकरणत्वम् । अथाभिव्यापकमाधारमुदाहरति—सर्वस्मिन्नात्मास्तीति । अत्र आत्मरूपकर्तृगतां सत्ताक्रियां प्रति कृत्स्नव्याप्तिं पुरस्कृत्य आत्मद्वारा सत्ताधारत्वात्सर्वस्याधिकरणत्वम् । अथ चकारानुकृष्टदूरान्तिकार्थेभ्य उदाहरति—वनस्य दूरे अन्तिके वेति । दूरमन्तिकमित्यर्थः । प्रातिपदिकार्थमात्रे विधिरयम् । विभक्तित्रयेणेति । द्वितीयापञ्चमीतृतीयाभिरित्यर्थः । वस्तुतस्तु उप-समीपे, श्लेषः—सम्बन्धः, तत्कृतमौपश्लेषिकमिति व्युत्पत्त्या सामीपिकमेवाधारत्वमौपश्लेषिकम् । अत एव 'अधिकरणं नाम त्रिप्रकारम्—व्यापकमौपश्लेषिकं वैषयिकमिति । शब्दस्य तु शब्दे कोऽन्योऽभिसम्बन्धो भवितुमर्हति अन्यदत उपश्लेषात् 'इको यणचि' 'अच्युपश्लिष्टस्य' इति 'संहितायाम्' इत्यत्र भाष्यं सङ्गच्छते । अच्युपश्लिष्टस्य अच्समीपोच्चारितस्येत्यर्थ इति कैयटः । अत एव मासेऽतिक्रान्ते दीयत इत्यत्र मास औपश्लेषिकमधिकरणमिति 'तत्र च दीयते कार्यं भववत्' इत्यत्र भाष्यं सङ्गच्छते । अत एव च 'तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः' इत्यत्र 'एकादश माषा अधिका अस्मिन् कार्षापणशते' इत्यत्राधिकानाम् एका-

---

क्रिया-सापेक्ष है । क्रिया कर्ता या कर्म में अवस्थित रहती है । फलतः अधिकरण कर्ता तथा कर्म का आधार होता है । इस प्रकार अधिकरण परम्परा से क्रिया का आधार होता है ।

(६३३) पद—सप्तमी, अधिकरणे, च । अनुवृत्ति—दूरान्तिकार्थेभ्यः, अनभिहिते । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—अधिकरण में सप्तमी होती है । 'च' पद से 'दूर' और समीपार्थक का भी (ग्रहण होता है) । आधार तीन प्रकार का है—१–औपश्लेषिक, २–वैषयिक और ३–अभिव्यापक । जैसे—(१) कटे आस्ते, स्थाल्यां पचति । (२) मोक्षे इच्छास्ति । (३) सर्वस्मिन् आत्मा अस्ति । दूरार्थक—वनस्य दूरे अन्तिके वा । "दूरान्तिकार्थेभ्यः०" सूत्र से विहित तीन विभक्तियों सहित इस सप्तमी को मिलाकर चार विभक्तियाँ फलित हुईं । वा० 'क्त' प्रत्ययान्त शब्दों से 'इन्' प्रत्यय करने के पश्चात् निष्पन्न हुए शब्दों के कर्म में सप्तमी विभक्ति होती है । जैसे–अधीती व्याकरणे । 'अधीतम्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१४७५)। अधीती व्याकरणे। अधीतमनेनेति विग्रहे—'इष्टादिभ्यश्च' (सू १८८८) इति कर्तरीनिः। 'साध्वसाधुप्रयोगे च' (१४८६)। साधुः कृष्णो मातरि, असाधुर्मातुले। 'निमित्तात्कर्मयोगे' (१४९०)। निमित्तमिह फलम्। योगः संयोगसमवायात्मकः।

दशानां कथं शतमधिकरणमित्याक्षिप्य व्यापकवैषयिकाधिकरणासम्भवात् 'औपश्लेषिकमधिकरणं विज्ञायते' इति भाष्यं सङ्गच्छते। एवञ्च 'कटे आस्ते' इत्यादौ औपश्लेषिकाधारोदाहरणं मूलोक्तमनुपपन्नमेव, उक्तभाष्यविरोधात्। एवञ्च 'कटे आस्ते' इत्यादौ एकदेशव्याप्त्या गौणमभिव्यापकाधारत्वम्। सर्वावयवव्याप्तिकृताधिकरणत्वमेव मुख्यम्, वैषयिकमौपश्लेषिकं च गौणमित्यर्थस्य भाष्यसम्मतत्वात्। अत एव 'स्वरितेनाधिकारः' इति सूत्रे 'साधकतमं करणम्' इति सूत्रे च भाष्ये 'अधिकरणमाचार्यः किं मन्यते ? यत्र कृत्स्नमाधारात्मा व्याप्तो भवति तर्हि इहैव सप्तमी स्यात्—'तिलेषु तैलं, दध्नि सर्पिः इति। गङ्गायां घोषः, कूपे गर्गकुलम् इत्यत्र तु न स्यात्, मुख्य एव कार्यसम्प्रत्ययात्' इत्याशङ्क्य 'स्वरितेनाधिकं कार्यं भवतीति वचनात् तमब्ग्रहणाच्च न दोषः' इति समाहितम्। एवञ्च ' कटे आस्ते' 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ गौणमप्यधिकरणं सप्तम्यर्थ एव। यदि तु 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ सामीपिकमधिकरणत्वं न विवक्ष्यते तदा लक्षणेति बोध्यम्। विस्तरस्तु शब्देन्दुशेखरे द्रष्टव्यः। क्तस्येन्विषयत्येति। न च 'कृतपूर्वी कटम्' इत्यत्रापि सप्तमी शङ्क्या, इन्प्रत्ययान्तो यः क्तप्रत्ययान्तस्तस्य कर्मणीत्यर्थाभ्युपगमात्। कर्तरीनिरिति। भावक्तान्तात् अधीतशब्दात् कर्तरीनिप्रत्यये कृते अधीतीत्यस्याधीतवानित्यर्थः पर्यवस्यति। किम् अधीतवानिति कर्मविशेषजिज्ञासायां व्याकरणम् अध्ययने कर्मत्वेनान्वेति। तच्च व्याकरणकर्मत्वं न केनाप्यभिहितमिति कृतपूर्वी कटम् इतिवत् द्वितीयायां प्राप्तायामनेन सप्तमीति भावः। साध्वसाधुप्रयोगे चेति। सप्तमी वक्तव्येति शेषः। साधुरिति। हितकारीत्यर्थः। असाधुरिति। अहितकारीत्यर्थः। उभयत्र शेषषष्ठ्यपवादः। 'साधुनिपुणाभ्यामर्चायाम्' इत्येव सिद्धे इह साधुग्रहणमनर्चार्थम्। यथा—साधुर्भृत्यो राजनि। इह तत्त्वकथने तात्पर्यम्। साधुनिपुणाभ्यामित्यत्र साधुग्रहणस्य प्रयोजनं वक्ष्यते। निमित्तादिति। कर्मयोगे हेतुवाचकाच्छब्दात् सप्तमी वाच्येत्यर्थः। ननु 'जाड्येन बद्धः'

अनेन' इस विग्रह में "इष्टादिभ्यश्च" सूत्र से कर्ता अर्थ मे 'णिनि' प्रत्यय हुआ है। वा० 'साधु' और 'असाधु' शब्दों के प्रयोग में सप्तमी होती है। जैसे—१–साधुः कृष्णः मातरि। २–असाधुः कृष्णः मातुले। वा० निमित्त-वाचक शब्द से सप्तमी होती है। यहाँ निमित्त का अर्थ क्रिया का फल है। योग शब्द का अभिप्राय यहाँ संयोग और समवाय दोनों से है। जैसे—(क) चर्मणि द्वीपिनं हन्ति, (ख) दन्तयोः कुञ्जरं हन्ति, (ग) केशेषु चमरीं हन्ति, (घ) सीम्नि पुष्कलकः हतः। इनमें "हेतौ" तृतीया प्राप्त रही। उसका निवारण करने के लिए यह विधान है। सीमा का अर्थ 'अण्डकोश' है। पुष्कलक कस्तूरी मृग को कहते हैं। 'योगविशेषे' का क्या अभिप्राय है ? वेतनेन धान्यं लुनाति।

विवरण—यह सप्तमी-विभक्ति का विधायक सूत्र है। "अनभिहिते" (२-३-१) अधिकार का प्रभाव विद्यमान है। तदनुसार अनुक्त अधिकरण में 'सप्तमी' विभक्ति होती हैं। 'च' पद से यह लाभ होता है कि 'दूर' और 'अन्तिकार्थक शब्दों में भी सप्तमी होती है। अतः "दूरान्तिकार्थैभ्यो द्वितीया च" (२-३-३५) सूत्र से 'दूरान्तिकार्थेभ्यः' का अनुकर्ष किया जाता है। आधार तीन प्रकार[1] का होता है—१–औपश्लेषिक—जहाँ आधार और आधेय का संयोग हो (उप समीपे, श्लेषः संयोगः, तेन निर्वृत्तः तत्र भवो वा औपश्लेषिकः) उसे औपश्लेषिक आधार माना जाता

---

१. प्रक्रियाकौमुद्याम् आधारश्चतुर्धा इति कथितम्—'औपश्लेषिकः, सामीपिकः, विषयो, व्याप्त' इति।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् ।
केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः ॥' इति भाष्यम् ।
हेतुतृतीयाऽत्र प्राप्ता । सीमा अण्डकोशः । पुष्कलको गन्धमृगः । योगविशेषे किम् ?

इत्यत्रापि सप्तमी स्यादित्यत आह—निमित्तमिह फलमिति । फलमेवेत्यर्थः । इष्टसाधनताज्ञानस्य प्रवर्तकतया फलस्यापि हेतुत्वं बोध्यम् । जन्यजनकत्वादिसम्बन्धं व्यावर्तयितुमाह—योगः संयोगसमवायात्मक इति । अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः । अन्ययोस्तु संयोगः । चर्मणीति । चर्मार्थं व्याघ्रं हन्तीत्यर्थः । अत्र द्वीपिना कर्मणा चर्मणः समवाय एव, अवयवावयविनोरयुतसिद्धत्वात् । दन्तयोरिति । दन्तार्थमित्यर्थः । अत्र कुञ्जरेण कर्मणा दन्तयोः समवाय एव । केशेष्विति । केशार्थमित्यर्थः । चमरी सृगविशेषः । सीम्नीति । सीमार्थमित्यर्थः । हेतुतृतीयाऽत्र प्राप्तेति । तादर्थ्यचतुर्थ्यपीति बोध्यम् । सीमा अण्डकोश इति । 'सीमा घट्टस्थितिक्षेत्रेष्वण्डकोशेषु च स्त्रियाम्–' इति मेदिनी । पुष्कलको गन्धसृग इति । 'अथ पुष्कलको गन्धसृगे क्षेपणकीलयोः'–इति मेदिनी । अत्रापि पुष्कल-

---

है । जैसे—(क) कटे आस्ते (= चटाई पर बैठा है) । यहाँ पर बैठने वाले का (कर्ता का) चटाई के साथ संयोग-सम्बन्ध है । अतः 'कट' में सप्तमी । (ख) स्थाल्यां पचति (= पतीली में पकाता है) । यहाँ पर (कर्म) चावल का पतीली के साथ संयोग सम्बन्ध है । अतः 'स्थाली' में सप्तमी । २–**वैषयिक**—'विषय' से सम्बन्ध रखने वाला आधार 'वैषयिक' कहलाता है । जैसे—**मोक्षे** इच्छाऽस्ति (= मोक्ष विषयक इच्छा है) । यहाँ पर 'मोक्ष' इच्छा का विषय है । अतः वैषयिक आधार है । 'मोक्ष' से सप्तमी विभक्ति आई । ३–**अभिव्यापक**—जिसका आधेय के साथ सर्वावयव (अभिव्याप्नोति सर्वम्) सम्बन्ध हो वह 'अभिव्यापक' आधार है । जैसे—(क) **सर्वस्मिन्** आत्मा अस्ति (सब में आत्मा है) । यहाँ 'आधेय' आत्मा 'सब' में अभिव्याप्त है, अतः अधिकरण होने से 'सर्व' शब्द से सप्तमी विभक्ति हुई । (ख) **तिलेषु** तैलम् (=तिलों में तेल है) । यहाँ यद्यपि तिल और तैल का संयोग सम्भव है किन्तु देश-विभाग न होने से 'संश्लेष' नहीं माना जा सकता । 'तैल' (आधेय) के आधार का तिलों के साथ सर्वात्मना संयोग है न कि किसी अवयव से, अतः अभिव्यापक आधार है । **दूरान्तिकार्थैः** शब्दों में सप्तमी का उदाहरण—१–वनस्य **दूरे** (= वन के दूर) । २–वनस्य **अन्तिके** (= वन के समीप) । इन दोनों शब्दों में सूत्रस्थ 'च' शब्द द्वारा अनुकर्षण से प्राप्त सप्तमी विभक्ति हुई है । इस प्रकार दूरार्थक और समीपार्थक शब्दों से पूर्वोक्त "दूरान्तिकार्थैभ्यो द्वितीया च" (२-३-३५) सूत्र द्वारा विहित द्वितीया, तृतीया और पञ्चमी विभक्तियों के साथ इस सप्तमी को मिलाकर चार विभक्तियाँ फलित हुईं ।

वा० अर्थ—१–'क्त' प्रत्ययान्त शब्दों में 'इन्' प्रत्यय संयुक्त होने से जो शब्द बनते हैं उनके कर्म में सप्तमी विभक्ति होती है । **उदाहरण**—अधीती **व्याकरणे** (= जिसने व्याकरण पढ़ लिया है) । 'अधीती' शब्द में 'क्त' प्रत्यय करने पर 'इन्' प्रत्यय हुआ है—अधीतम् अनेन इति अधीती (अधि–इ+क्त = अधीत+कर्ता में इनि–'अधीतिन्'–"इष्टादिभ्यश्च (५-२-८८) णिनि । अतः कर्म में सप्तमी ।

वा० अर्थ—२–'साधु' और 'असाधु' शब्दों के योग में भी सप्तमी विभक्ति होती है । **उदाहरण**—(क) साधुः कृष्णः **मातरि** (= कृष्ण माता के लिए अच्छा है) । 'साधु' शब्द के कारण 'मातरि' में सप्तमी । (ख) असाधुः कृष्णः **मातुले** (=कृष्ण मामा के लिए बुरा है) । यहाँ 'असाधु' शब्द के योग में 'मातुले' में सप्तमी ।

वा० अर्थ—३–यहाँ 'निमित्त' शब्द से तात्पर्य क्रिया का फल है । 'योग' शब्द का अभिप्राय यहाँ संयोग और समवाय दोनों से है । अतः "जिस निमित्त या प्रयोजन से कोई क्रिया की जाती है, वह निमित्त या प्रयोजन यदि क्रिया के कर्म से युक्त हो तो उसमें सप्तमी विभक्ति होती है ।" अर्थात् यदि क्रिया का प्रयोजन क्रिया के कर्म से युक्त हो तो प्रयोजन-वाचक शब्द में सप्तमी होती है । कौमुदी में दिए हुए श्लोक के चार चरण चार उदाहरणवाक्य हैं—(१) **चर्मणि** द्वीपिनं हन्ति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेतनेन धान्यं लुनाति । (६३४) **यस्य च भावेन भावलक्षणम् २ । ३ । ३७ ॥** यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते, ततः सप्तमी स्यात् । गोषु दुह्यमानासु गतः । 'अर्हाणां कर्तृत्वेऽनर्हाणामकर्तृत्वे तद्वैपरीत्ये च' (वा १४८७–१४८८) । सत्सु तरत्सु असन्त आसते । असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति । सत्सु तिष्ठत्सु असन्तस्तरन्ति । असत्सु तरत्सु सन्त-

---

केन कर्मणा सीम्नः समवाय एव । हरदत्तस्तु सीमाग्रामादिमर्यादा । तस्याः ज्ञानार्थं पुष्कलकः शङ्कुर्हतः निखात इति व्याचष्ट । अत्र पुष्कलकेन कर्मणा सीम्नः संयोगो बोध्यः । वेतननेति । अत्र वेतनं भृतिद्रव्यम् , तदर्थमित्यर्थः । अत्र वेतनस्य लूयमानस्य धान्यस्य च तादर्थ्यमेव सम्बन्धः, न तु संयोगः, नापि समवाय इति भावः ।

(६३४) यस्य च । भावशब्दौ क्रियापर्यायावित्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—यस्य क्रियेति । क्रिया च कर्त्राश्रया कर्माश्रया च । तत्र कर्माश्रयामुदाहरति—गोष्विति । देवदत्तः कदा गत इति प्रश्ने उत्तरमिदम् । अत्र लक्षकत्वसम्बन्धे सप्तमी । शेषषष्ठ्यपवादः । वर्तमान-दोहनविशिष्टाभिर्गोभिर्ज्ञाप्यगमनवानित्यर्थः । अत्र दोहनक्रियायाः साक्षाल्लक्षकता । गवां तु तदाश्रयतया । ततश्च गोदोहनदशायां गत इत्युत्तरं पर्यवस्यति । दुग्धासु गत इत्यत्र तु अतीतदोहनविशिष्टाभिः गोभिर्ज्ञाप्यमानगमनवानित्यर्थः । गोदोहोत्तरकाले गत इति फलितम् । कर्तृगतक्रियायास्तु ब्राह्मणेष्वधीयानेषु गत इत्युदाहार्यम् । अत्र यदवश्यं

(= चमड़े के लिए बाघ को मारता है) । (२) दन्तयोः कुञ्जरं हन्ति (=दाँतों के लिये हाथी को मारता है) । (३) केशेषु चमरीं हन्ति (= बालों के लिए चमरी को मारता है) । (४) सीम्नि पुष्कलकः हतः (= अण्डकोश के लिये कस्तूरी-मृग को मारा)[1] । इन चारों वाक्यों में चर्म, दन्त, केश तथा सीमन् शब्दों में सप्तमी हुई है, क्योंकि ये चारों हनन के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं । 'चर्म' आदि लब्ध वस्तुओं का हनन-क्रिया के कर्म 'द्वीपी' आदि के साथ समवाय-सम्बन्ध है । प्रकृत वार्तिक का फल यह है कि "हेतौ" (२-३-२३) सूत्र से प्राप्त तृतीया विभक्ति नहीं होती । पूर्वोक्त चारों उदा-हरणों में 'तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या' वार्तिक से प्राप्त चतुर्थी का भी प्रकृत वार्तिक से निवारण होता है ।

प्रत्युदाहरण—अन्तिम वार्तिक में 'योग' शब्द का अर्थ 'योगविशेष' है । तदनुसार फल वाचक शब्द का कर्म के साथ संयोग या समवाय सम्बन्ध होना आवश्यक है । अतः 'वेतनेन धान्यं लुनाति' (= वेतन के लिये धान काटता है) में 'वेतन' और 'धान्य' में संयोग या समवाय सम्बन्ध नहीं है । फलतः सप्तमी नहीं हुई, किन्तु "हेतौ" (२-३-२३) से तृतीया विभक्ति हुई ।

(६३४) पद—यस्य, च, भावेन, भावलक्षणम् । **अनुवृत्ति**—सप्तमी । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—जिसकी क्रिया से कोई दूसरी क्रिया लक्षित की जाय उससे सप्तमी होती है । जैसे—गोषु दुह्यमानासु गतः । वा० योग्य के कर्तृत्व बतलाने में तथा अयोग्य के अकर्तृत्व बतलाने में या इसके विपरीत कार्य बतलाने में (कर्ता और तद्बोधक क्रिया) इन दोनों में सप्तमी होती है । जैसे—(क) सत्सु तरत्सु असन्तः आसते । (ख) असत्सु तिष्ठत्सु सन्तः तरन्ति । (ग) सत्सु तिष्ठत्सु असन्तः तरन्ति । (घ) असत्सु तरत्सु सन्तः तिष्ठन्ति ।

विवरण—प्रकरणवश "सप्तम्यधिकरणे च" (२-३-३६) सूत्र से 'अधिकरणे' की अनुवृत्ति आ रही है । सूत्रस्थ 'भाव' शब्द का अर्थ 'क्रिया' है । क्रिया भी कर्ता अथवा कर्म के आश्रित रहती है । तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "जिस (कर्तृनिष्ठ / कर्मनिष्ठ) क्रिया से किसी दूसरी क्रिया का होना सूचित हो उस (कर्तृनिष्ठ / कर्मनिष्ठ) क्रिया में तथा उसके कर्ता और कर्म में भी 'सप्तमी' विभक्ति होती है । इसे 'सति सप्तमी' या 'भावे सप्तमी' कहते हैं । **उदाहरण (कर्माश्रित क्रिया)—गोषु दुह्यमानासु गतः** (= गायों के दुहे जाते हुए वह गया) ।

---

१. हरदत्तस्तु—पुष्कलकः शङ्कुः, सीम्नि सीमज्ञानार्थं, हतो निहतः निखातः इत्याह । अस्मिंस्तु पक्षे सीमपुष्कलकयोः संयोगसम्बन्धः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्तिष्ठन्ति। (६३५) षष्ठी चानादरे २। ३। ३८॥ अनादराधिक्ये भावलक्षणे षष्ठी सप्तम्यौ स्तः। रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत्। रुदन्तं पुत्रादिकमनादृत्य सन्न्यस्तवानित्यर्थः।

पुनः पुनर्लक्ष्यज्ञापकं तदेव न लक्षणम्। किन्तु सकृज्ज्ञापकमपि। यथा—यं कमण्डलुपाणिं भवानद्राक्षीत् स छात्र इति। यद्यपि सकृदसौ कमण्डलुपाणिर्दृष्टः, तथापि तस्य कमण्डलुर्लक्षणं भवत्येवेति प्रकृतसूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। 'उदिते आदित्ये जुहोति' इत्यत्र तु सामीपिकमधिकरणत्वं सप्तम्यर्थः। उदितादित्यसमीपकाल इत्यर्थः। आदित्योदयोत्तरसमीपकाल इति पर्यवसन्नोऽर्थः। 'उपरागे स्नायात्' इत्यत्र तु उपरागपदेन उपरागाश्रयकालो लक्ष्यत इत्यधिकरणसप्तम्येवेत्यन्यत्र विस्तरः।

(६३५) षष्ठी चानादरे। चात्सप्तमीत्यनुकृष्यते। अनादरे इति विषयसप्तमी। यस्य चेति पूर्वसूत्रमनुवर्तते। अनादरे गम्यमाने सति यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः षष्ठी सप्तमी चेत्यर्थः। फलितमाह—अनादराधिक्ये इति। अनादरः अधिको यस्मादिति विग्रहः। रुदति रुदत इति। कदा संन्यस्तवानिति प्रश्ने उत्तरमिदम्। अत्र लक्षकत्वं षष्ठीसप्तम्योरर्थः। अनादरविशिष्टं प्रव्रजनं धात्वर्थः। षष्ठीसप्तम्यौ तात्पर्यग्राहिके। अनादरश्च लक्षकक्रियाश्रयपुत्रादिविषयः। वर्तमानरोदनक्रियाविशिष्टपुत्रादिज्ञाप्यम्, अनादरविशिष्टं प्रव्रजनमित्यर्थः। फलितमाह—रुदन्तं पुत्रादिकमिति।

यहाँ पर गो-रूपी कर्म में विद्यमान दोहन-क्रिया से गमन-रूपी दूसरी क्रिया अभिलक्षित है। अतः 'गोषु' तथा 'दुह्यमानासु' में सप्तमी हुई।

वा० अर्थ—(क) योग्य का कर्तृत्व बतलाने में (ख) अयोग्य का अकर्तृत्व बतलाने में या इसके विपरीत (ग) (घ) बतलाने में कर्ता और उससे अन्वित क्रिया दोनों से ही सप्तमी-विभक्ति आती है। **उदाहरण**—(क) **सत्सु तरत्सु** असन्तः आसते (= सज्जनों का उद्धार होते हुए असज्जन रह जाते हैं)—'सत्सु' और 'तरत्सु' में सप्तमी। (ख) **असत्सु तिष्ठत्सु सन्तः** तरन्ति (= असज्जनों के ठहरते सज्जन पार हो जाते हैं)। 'असत्सु' तथा 'तिष्ठत्सु' में सप्तमी। (ग) योग्य का अकर्तृत्व—**सत्सु तिष्ठत्सु** असन्तः तरन्ति (= सज्जनों के रहते हुए असज्जन तर जाते है)—'सत्सु' और 'तिष्ठत्सु' में सप्तमी। (घ) अयोग्य का कर्तृत्व—**असत्सु तरत्सु सन्तः** तिष्ठन्ति (= असज्जनों के पार होते हुए सज्जन रह जाते हैं)—'असत्सु' तथा 'तरत्सु' में सप्तमी।

(६३५) पद—षष्ठी, च, अनादरे। **अनुवृत्ति**—यस्य च भावेन भावलक्षणम्, सप्तमी। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अनादर की अधिकता प्रकट करने पर भावलक्षण में षष्ठी और सप्तमी होती है। जैसे—रुदति रुदतः वा प्राव्राजीत्। इसका अर्थ है—रोते हुए पुत्रादि को छोड़ कर संन्यास ले लिया।

विवरण—पूर्व सूत्र से सम्बद्ध अर्थ को अभिलक्षित कर परिस्थिति-विशेष में षष्ठी एवं सप्तमी विभक्ति का विधान किया जा रहा है। अतः सम्पूर्ण सूत्र "यस्य च भावेन०" (२-३-३७) तथा प्राकरणिक 'सप्तमी' पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "जिससे क्रियान्तर अभिलक्षित होता हो, उसमें अनादर गम्यमान होने पर, षष्ठी तथा (= च) सप्तमी विभक्ति भी हो"। **उदाहरण**—**रुदति रुदतः** वा प्राव्राजीत् (= रोते हुए को छोड़कर बिना परवाह किये परिव्राजक बन गया)। यहाँ 'रोदन' क्रिया से 'प्रव्रजन' क्रिया अभिलक्षित होती है तथा अनादर भी प्रकट होता है, अतः 'सप्तमी' और 'षष्ठी' दोनों विभक्तियाँ हुईं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६३६) स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च २ । ३ । ३९ ॥ एतैः सप्तम्यर्थयोगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । षष्ठ्यामेव प्राप्तायां पाक्षिकसप्तम्यर्थं वचनम् । गवां–गोषु वा स्वामी । गवां–गोषु वा प्रसूतः । गा एवानुभवितुं जात इत्यर्थः । **(६३७) आयुक्त-कुशलाभ्यां चासेवायाम् २ । ३ । ४० ॥** आभ्यां योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तस्तात्पर्येऽर्थे । आयुक्तो व्यापारितः । आयुक्तः कुशलो वा हरिपूजने–हरिपूजनस्य वा । 'आसेवायाम्'

---

(६३६) स्वामीश्वर । षष्ठीसप्तम्याविति । चकारेण तदुभयानुकर्षणादिति भावः । ननु शेषषष्ठ्यैव सिद्धे किमर्थमिह षष्ठीविधानमित्यत आह—षष्ठ्यामेवेति । गवां गोषु वेति । गोसम्बन्धीत्यर्थः । गवां गोषु वा ईश्वरः । गवां गोषु वा अधिपतिः । गवां गोषु वा दायादः । पुत्रादिभिर्ग्रहीतुं योग्यः । पित्राद्यर्जितधनांशो दायः । तमादत्त इति दायादः । 'आतोऽनुपसर्गे' इति कविधौ अनुपसर्गग्रहणे सत्यपि अत एव निपातनात् कः । गोसम्बन्धिदायाद इत्यर्थः । गवां च दाये अन्वयः । नित्यसाकाङ्क्षत्वाद् वृत्तिः । गवात्मकस्यांशस्य आदातेति फलितोऽर्थः । 'यस्मादधिकम्' इति सूत्रभाष्ये तु दायादशब्दः स्वामिपर्याय इति स्थितम् । गवां गोषु वा प्रसूत इति । गोसम्बन्धीत्यर्थः । सम्बन्धश्च भोक्तृत्वरूपः । तदाह—गा एवेति । एवशब्दात् महिषादिव्यावृत्तिः ।

(६३७) आयुक्त । आसेवापदं व्याचष्टे—तात्पर्ये इति । औत्सुक्ये इत्यर्थः । 'तत्परे प्रसितासक्ताविष्टार्थोद्युक्त उत्सुक' इत्यमरः । आयुक्तपदं व्याचष्टे—व्यापारित इति । प्रवर्तित इत्यर्थः । आयुक्तः कुशलो वेति । हरिपूजनविषये आयुक्तः प्रवर्तित इत्यर्थः । अत्र वैषयिका-

---

(६३६) पद—स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैः, च । अनुवृत्ति—षष्ठी, सप्तमी । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—इन सातों के योग में षष्ठी तथा सप्तमी हो । षष्ठी प्राप्त होने पर भी पाक्षिक सप्तमी के लिए यह विधान है । जैसे—गवां गोषु वा स्वामी । गवां गोषु वा प्रसूतः । अर्थ—गायों का ही उपयोग करने के लिये उत्पन्न हुआ ।

विवरण—प्रकरणवश 'सप्तमी' तथा अर्थवश 'षष्ठी' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । अतः "स्वामी (प्रभु), ईश्वर (प्रभु), अधिपति (स्वामी), दायाद (अंशहर) साक्षी (गवाह), प्रतिभू (जामिन) और प्रसूत (उत्पन्न)—इन सात शब्दों के योग में षष्ठी और सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं" । वस्तुतः सम्बन्ध अर्थ में षष्ठी स्वतः सिद्ध रही, पक्ष में सप्तमी का विधान करने के लिए इस सूत्र की उपयोगिता है । उदाहरण—(क) गवां गोषु वा स्वामी (= गायों का मालिक) । 'स्वामी' के योग में 'गो' शब्द से 'षष्ठी' एवं 'सप्तमी' । इसी प्रकार (ख) गवां गोषु वा प्रसूतः (= गायों के मध्य उत्पन्न) । अर्थात् गायों का उपयोग करने के लिए पैदा हुआ । प्रसूत शब्द के योग में षष्ठी एवं सप्तमी ।

(६३७) पद—आयुक्तकुशलाभ्यां, च, आसेवायाम् । अनुवृत्ति—षष्ठी, सप्तमी । विधिसूत्र ।

मूलार्थ—तात्पर्य अर्थ में इन दोनों शब्दों के योग में षष्ठी और सप्तमी होती है । आयुक्त का अर्थ—लगाया हुआ । जैसे—आयुक्तः कुशलो वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा । 'आसेवायां' का क्या प्रयोजन है ? आयुक्तो गौः शकटे । अर्थ—जुता हुआ है ।

विवरण—पूर्ववत् 'षष्ठी' और 'सप्तमी' पदों की अनुवृत्ति की जा रही है । अतः "आयुक्त और कुशल शब्दों के योग में भी (=च) तत्परता गम्यमान होने पर (आसेवायाम्), षष्ठी और सप्तमी विभक्ति होती हैं" । यहाँ आयुक्त शब्द का अर्थ है—लगाया हुआ । उदाहरण—आयुक्तः कुशलः वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा (हरिपूजन में संलग्न)—'हरिपूजन' शब्द से षष्ठी एवं सप्तमी ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किम् ? आयुक्तो गौः शकटे। ईषद्युक्त इत्यर्थः। (६३८) **यतश्च निर्धारणम्** २। ३। ४१ ॥ जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणं यतस्ततः षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। नृणां–नृषु वा द्विजः श्रेष्ठः। गवां–गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा। गच्छतां–गच्छत्सु वा धावञ्छीघ्रः। छात्राणां–छात्रेषु वा मैत्रः पटुः। (६३९) **पञ्चमी**

धिकरणत्वविवक्षायां सप्तम्यामेव प्राप्तायां, सम्बन्धमात्रविवक्षायां तु षष्ठ्यामेव प्राप्तायां वचनम्। आयुक्तो गौरिति। आङीषदर्थे। 'युजिर्योगे'। तदाह—ईषद्युक्त इत्यर्थः इति।

(६३८) यतश्च निर्धारणम्। जातिगुणेति। यत इति तत इति च पञ्चम्यर्थे तसिः। यस्मात्समुदायात् एकदेशस्य जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः पृथक्करणं स्वेतरव्यावृत्तधर्मविशेषवत्त्वबोधनं निर्धारणशब्दवाच्यं गम्यते, तस्मात् षष्ठीसप्तम्यावित्यर्थः। अत्र स्वशब्देन एकदेश उच्यते। तत्र जात्या पृथक्करणमुदाहरति—नृणां नृषु वेति। नृशब्दो मनुष्यसमुदाये वर्तते। उद्भूतावयवभेदविवक्षायां बहुवचनम्। द्विज इति तु जात्यभिप्रायमेकवचनम्। षष्ठीसप्तम्योः अवयवावयविभावः सम्बन्धोऽर्थः उदाहृतनिर्धारणविषयत्वरूपश्च। ततश्च मनुष्यसमुदायैकदेशभूतो द्विजः स्वेतरव्यावृत्तश्रैष्ठ्यरूपधर्मक इत्यर्थः। गुणेन पृथक्करणमुदाहरति—गवां गोषु वेति। गोसमुदायैकदेशभूता कृष्णा गौः स्वेतरव्यावृत्तबहुक्षीरत्वरूपधर्मिकेत्यर्थः। क्रियया पृथक्करणमुदाहरति—गच्छतां गच्छत्सु वेति। गच्छत्समुदायैकदेशभूतो धावन् स्वेतरव्यावृत्तशैघ्र्यधर्मक इत्यर्थः। संज्ञया पृथक्करणमुदाहरति—छात्राणामिति। छात्रसमुदायैकदेशभूतो मैत्रनामा स्वेतरव्यावृत्तपटुत्वधर्मक इत्यर्थः।

(६३९) पञ्चमी विभक्तेः। विभागो विभक्तमिति। भावे क्तप्रत्ययाश्रयणादिति भावः।

प्रत्युदाहरण—'आयुक्तः गौः शकटे' (= गाड़ी में थोड़ा जुता हुआ बैल) में लगाया हुआ अर्थ (आयुक्त) न होने से दोनों विभक्तियाँ नहीं हुई। केवल सप्तमी ही हुई।

(६३८) पद—यतः, च, निर्धारणम्। अनुवृत्ति—षष्ठी, सप्तमी। विधिसूत्र।

मूलार्थ—जाति, गुण, क्रिया तथा संज्ञा की विशेषता के आधार पर किसी एक का अपने समुदाय से पृथक् करना निर्धारण कहलाता है। जिसमें से छाँटा जाय उसमें षष्ठी और सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं। जैसे—(क) नृणां नृषु वा द्विजः श्रेष्ठः। (ख) गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा। (ग) गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः। (घ) छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः।

विवरण—'षष्ठी' तथा 'सप्तमी' दोनों पदों की अनुवृत्ति पूर्ववत् अपेक्षित है। सूत्रस्थ 'यतः' पद 'तसि' प्रत्ययान्त होने से पञ्चमी के अर्थ में प्रयुक्त है। नियमानुसार 'यतः' पद के कारण 'ततः' पद का अध्याहार किया जाता है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "जिससे (यतः) निर्धारण हो, उससे (ततः) षष्ठी और सप्तमी विभक्ति हो"। निर्धारण (छाँटना) किसी समुदाय से ही सम्भव होता है। समुदाय में से जो वस्तु छाँटी जायगी वह उसकी अपेक्षा न्यून होगी। सूत्रस्थ 'यतः' पद से निर्धार्यमाण समुदाय का बोध होता है। अतः उसमें षष्ठी तथा सप्तमी विभक्तियाँ होंगी। निर्धार्यमाण समुदाय चार प्रकार का अपेक्षित है—(क) जातिविशिष्ट, (ख) गुणविशिष्ट, (ग) क्रियाविशिष्ट तथा (घ) संज्ञाविशिष्ट। क्रमशः इनके उदाहरण दिये जारहे हैं। जातिवाचक—(क) **नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः** (= मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है)। गुणवाचक—(ख) **गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा** (=गायों में काली गाय अधिक दूध देती है)। क्रियावाचक—(ग) **गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः** (चलने वालों में दौड़ने वाला शीघ्र जाता है)। संज्ञावाचक—(घ) **छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः** (= छात्रों में मैत्र चतुर है)। इनमें षष्ठी और सप्तमी दोनों विभक्तियाँ हुई।

(६३९) पद—पञ्चमी, विभक्तेः। अनुवृत्ति—यतश्च निर्धारणम्। विधिसूत्र।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभक्ते २।३।४२॥ विभागो विभक्तम्। निर्धार्यमाणस्य यत्र भेद एव तत्र पञ्चमी स्यात्। माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः। **(६४०) साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः २।३।४३॥** आभ्यां योगे सप्तमी स्यादर्चायाम् न तु प्रतेः प्रयोगे। मातरि साधुर्निपुणो वा। 'अर्चायाम्' किम्? निपुणो राज्ञो भृत्यः। इह तत्त्वकथने तात्पर्यम्। 'अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम्' (वा १४९३)। साधुर्निपुणो वा मातरं प्रति

'यतश्च निर्धारणम्' इत्यनुवर्तते। निर्धारणावधिभूतानां द्विजानां च सामान्यात्मना अभेदो विशेषात्मना भेदश्च स्थितः। एवञ्च निर्धारणे सर्वत्र कथञ्चिद् भेदस्य सत्त्वात् विभक्त इत्यनेन भेद एवेत्यर्थो विवक्षितः। ततश्च यत्र निर्धारणावधेर्निर्धार्यमाणस्य च भेद एव, न तु केनाप्युपात्तरूपेण अभेदः तत्रैवास्य प्रवृत्तिरित्यभिप्रेत्याह—निर्धार्यमाणस्येति। निर्धारणावधेरिति शेषः, 'यतश्च निर्धारणम्' इत्यनुवृत्तेः। अत्रावधिन्यावृत्तधर्मत्वबोधनमेव न तु समुदायादेकदेशस्येत्यंशो विवक्षितः, असम्भवादित्यभिप्रेत्योदाहरति—माथुरा इति। अवधित्वं पञ्चम्यर्थः। मथुरादेशीयाः पाटलिपुत्रदेशीयापेक्षया अतिशयेनाढ्या इत्यर्थः। अत्र मथुरादेशीयत्वपाटलिपुत्रदेशीयत्वयोः गोत्वाश्वत्ववद्विरोधात् कथञ्चिदपि तद्रूपेण नाभेद इति निर्धारणावधेः पञ्चमीति भावः।

(६४०) साधुनिपुणाभ्याम्। शेषषष्ठ्यपवादः। मातरि साधुरिति। हितकारीत्यर्थः। निपुणो वेति। मातरि कुशल इत्यर्थः। शुश्रूषायामिति शेषः। निपुणो राज्ञ इति। साधुशब्दप्रयोगे तु अर्चां विनापि सप्तमी भवत्येव, साध्वसाधुप्रयोगे च इत्युक्तेः। इह साधु-

---

मूलार्थ—विभक्त पद का अर्थ विभाग है। निर्धार्यमाण के भेद होने पर उसमें पञ्चमी होती है। जैसे—माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्यः आढ्यतराः।

विवरण—सम्पूर्ण पूर्वसूत्र ("यतश्च निर्धारणम्" २-३-४१) की अनुवृत्ति इस सूत्र में आ रही है। तदनुसार "दो समुदायों की तुलना में जिससे विशेषता (या भेद) बताया जाय, उसमें 'पञ्चमी' विभक्ति होती है"। **उदाहरण**—माथुराः **पाटलिपुत्रकेभ्यः** आढ्यतराः (= मथुरावासी पाटलिपुत्र वालों से अधिक धनी हैं)।

विशेष—बुद्धिकल्पित विश्लेष का आश्रय लेकर भाष्यकार ने यहाँ भी अपादान की सिद्धि की है। अतः इस सूत्र का भी उन्होंने प्रत्याख्यान किया है।

(६४०) पद—साधुनिपुणाभ्याम्, अर्चायाम्, सप्तमी, अप्रतेः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—प्रशंसार्थक 'साधु' और 'निपुण' शब्दों के योग में सप्तमी विभक्ति होती है, किन्तु 'प्रति' के योग में नहीं होती। जैसे—मातरि साधुः निपुणः वा। 'अर्चायां' का क्या प्रयोजन है? निपुणः राज्ञः भृत्यः। यहाँ वास्तविकता में तात्पर्य है। वा० 'अप्रत्यादिभिः' यह कहना चाहिए। जैसे—साधुः निपुणः वा मातरं प्रति, परि अनु वा।

विवरण—अर्थ की दृष्टि से यह सूत्र स्वतः पूर्ण है। तदनुसार "सत्कार गम्यमान होने पर 'साधु' तथा 'निपुण' शब्दों के योग में 'प्रति' का प्रयोग न होनेपर 'सप्तमी' विभक्ति होती है"। शेषषष्ठी का यह अपवाद है। **उदाहरण—मातरि** साधुः निपुणः वा (= माता के प्रति सज्जन अथवा माता की सेवा में निपुण)। 'साधु' तथा 'निपुण' शब्दों के योग में 'मातृ' शब्द से सप्तमी हुई—'मातरि'।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'अर्चायां' ग्रहण करने से 'राज्ञः भृत्यः निपुणः' (= राजा का सेवक निपुण है) में 'राजन्' शब्द से सप्तमी नहीं हुई। यहाँ पर वास्तविकता है, प्रशंसा नहीं है।

वा० अर्थ—सूत्र में 'अप्रतेः' के स्थान पर 'अप्रत्यादिभिः' कहना चाहिए। तदनुसार प्रति, परि, अनु का प्रयोग होने पर साधु तथा निपुण के योग में सप्तमी नहीं होगी। अतः साधुः निपुणः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परि अनु वा। (६४१) **प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च २। ३। ४४॥** आभ्यां योगे तृतीया स्यात् चात्सप्तमी। प्रसित उत्सुको वा हरिणा–हरौ वा। (६४२) **नक्षत्रे च लुपि २। ३। ४५॥** नक्षत्रे प्रकृत्यर्थे यो लुप्संज्ञया लुप्यमानस्य प्रत्ययस्यार्थस्तत्र वर्तमानात्तृतीयासप्तम्यौ स्तोऽधिकरणे। मूलेनावाहयेद्देवीं श्रवणेन विसर्जयेत्। मूले श्रवणे

ग्रहणं तु अर्चायां प्रत्यादियोगे सप्तमीनिवृत्त्यर्थम्। अप्रत्यादिभिरिति। प्रति, परि, अनु एतैर्योगे सति साधुनिपुणाभ्यां योगेऽपि न सप्तमीति भावः।

(६४१) प्रसितोत्सुकाभ्याम्। 'तत्परे प्रसितासक्तावविष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः' इत्यमरः। वैषयिकाधिकरणत्वे सप्तम्यामेव प्राप्तायामिदं वचनम्।

(६४२) नक्षत्रे च लुपि। नक्षत्र इत्यनन्तरं प्रकृत्यर्थे सतीति शेषः। लुप्शब्देन लुप्संज्ञया लुप्तप्रत्ययार्थो विवक्षितः। तदाह—नक्षत्रे प्रकृत्यर्थे इति। अधिकरण इति। 'सप्तम्यधिकरणे च' इत्यतः मण्डूकप्लुत्या तदनुवृत्तेरिति भावः। मूलेनेति। मूलनक्षत्रयुक्तः

वा मातरं प्रति, परि, अनु वा (=माता के प्रति सज्जन) में सप्तमी विभक्ति नहीं हुई। तब "लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः" (१-४-९०) से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई।

(६४१) **पद**—प्रसितोत्सुकाभ्यां, तृतीया, च। **अनुवृत्ति**—सप्तमी। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—इन दोनों के योग में तृतीया विभक्ति होती है, सप्तमी भी। जैसे—प्रसितः उत्सुकः हरिणा हरौ वा।

विवरण—"साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः (२-३-४६) से 'सप्तमी' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "प्रसित और उत्सुक शब्दों के योग में तृतीया विभक्ति होती है। तथा 'च' पद से सप्तमी विभक्ति का भी लाभ होता है"। उत्सुक शब्द के साहचर्य से 'प्रसित' शब्द भी 'तत्पर' अर्थवाची लिया जाता है। **उदाहरण**—प्रसितः उत्सुकः **हरिणा हरौ** वा (= हरि के लिये तत्पर)। हरि के प्रति तत्परता होने के कारण 'प्रसित' के योग में 'हरि' शब्द से तृतीया हुई, पक्ष में सप्तमी भी।

(६४२) **पद**—नक्षत्रे, च, लुपि। **अनुवृत्ति**—तृतीया, सप्तमी। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—जब प्रकृतिवाची शब्द का अर्थ नक्षत्र हो और प्रत्यय का 'लुप्' शब्द से लोप हुआ हो किन्तु उसका अर्थ यदि विदित हो तो उस नक्षत्रवाचक शब्द से अधिकरण अर्थ में तृतीया और सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं। जैसे—मूलेन आवाहयेद् देवीं श्रवणेन विसर्जयेत्। अथवा मूले, श्रवणे। 'लुपि' का क्या प्रयोजन है ? पुष्ये शनिः।

विवरण—प्रकृत सूत्र से प्रमुख रूप में 'तृतीया' विधेय है। अधिकरण में तो "सप्तम्यधिकरणे च" (२-३-३६) से सप्तमी स्वतः सिद्ध है। अतः यहाँ 'अधिकरणे' पद की अनुवृत्ति मण्डूकप्लुति से की जा रही है। सूत्रस्थ 'लुप्' पद लुप्त प्रत्यय के अर्थ का बोधक है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "लुबन्त नक्षत्रवाची शब्द से भी तृतीया और सप्तमी विभक्ति होती है"। नक्षत्रवाची शब्द से जहाँ 'काल से युक्त' अर्थ में प्रत्यय होकर उसका लोप होता है, वहीं इस सूत्र का विषय है। तदनुसार उस नक्षत्रवाची शब्द से अधिकरण में तृतीया एवं सप्तमी होती है। **उदाहरण—मूलेन** आवाहयेद् देवीं **श्रवणेन** विसर्जयेत्, **मूले श्रवणे** वा (= मूलनक्षत्र से युक्त काल में देवी का आवाहन करे और श्रवणनक्षत्र से युक्त काल में विसर्जन करे)। यहाँ पर 'मूल' और 'श्रवण' नक्षत्रवाची शब्दों से "नक्षत्रेण युक्तः कालः" (४-२-३) सूत्र से 'काल से युक्त' अर्थ में अण् प्रत्यय होकर "लुबविशेषे" (४-२-४) सूत्र से उस प्रत्यय का लोप (लुप्) हुआ है। प्रत्यय का लोप होने पर भी उसका अर्थ विद्यमान रहता है, अतः 'मूल' तथा 'श्रवण' शब्दों से 'तृतीया' और 'सप्तमी' विभक्तियाँ हुईं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति वा। 'लुपि किम्' ? पुष्ये शनिः। (६४३) सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये २।३।७॥ शक्तिद्वयमध्ये यौ कालाध्वानौ ताभ्यामेते स्तः। अद्य भुक्त्वाऽयं द्व्यहे द्व्यहाद्वा भोक्ता। कर्तृशक्त्योर्मध्येऽयं कालः। इहस्थोऽयं क्रोशे–क्रोशाद्वा लक्ष्यं विध्येत्। कर्तृकर्मशक्त्योर्मध्येऽयं देशः। अधिकशब्देन योगे सप्तमीपञ्चम्याविष्येते। 'तदस्मिन्नधिकम्—' (सू १८४६) इति 'यस्मादधिकम्—' (सू ६३५) इति च सूत्रनिर्देशात्। लोके–

काल इत्यर्थः। 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' इत्यण्। 'लुबविशेषे' इति तस्य लुप्। अधिकरणे किम्? मूलं प्रतीक्षते। नक्षत्र इति किम्? पञ्चालेषु तिष्ठति। इह 'जनपदे' इति लुप्।

(६४३) सप्तमीपञ्चम्यौ। कारकशब्दः कर्तृत्वादिशक्तिपरः, न तु कर्त्रादिपरः, व्याख्यानात्। मध्यस्थावधिद्वयसापेक्षत्वात् कारकयोर्मध्यमिति विग्रहः। तदाह—शक्तिद्वयमध्ये इति। 'कालाध्वनोः' इत्यनुवृत्तं पञ्चम्यन्ततया विपरिणम्यत इत्याह—यौ कालाध्वानाविति। अद्य भुक्त्वेति। सामीपिकाधिकरणत्वे सप्तम्यामेव प्राप्तायां वचनम्। अद्य भुक्त्वा द्व्यहे तत्समीपे तृतीयेऽह्नि भोक्तेत्यर्थः। भविष्यति लुट्। कर्तृशक्त्योरिति। अद्यतनभुजिक्रियानिरूपितकर्तृत्वस्य द्व्यहोत्तरदिनगतभुजिक्रियानिरूपितकर्तृत्वस्य चेत्यर्थः। कारकशब्दस्य कर्त्रादिपरत्वे त्विह न स्यात्, क्त्वाप्रत्ययस्य कर्त्रैकत्वे विधानात्। कर्तृशक्तिस्तु भुजिक्रियाभेदात् भिद्यत एव। कारकद्वयमध्येऽप्युदाहरति। इहस्थोऽयमिति। इहापि देशतः सामीपिकमधिकरणत्वं पञ्चमीसप्तम्योरर्थः। इह तिष्ठन्नयमिष्वास इषुणा क्रोशोत्तरसमीपदेशे लक्ष्यं विध्येदित्यर्थः। कर्तृकर्मशक्त्योरिति। कर्तृकर्मत्वरूपशक्त्यो-

---

प्रत्युदाहरण—सूत्र में यह प्रतिबन्ध लगाया गया है कि नक्षत्रवाची शब्द से 'युक्त काल' अर्थ में होने वाले प्रत्यय का लोप होने पर ही (लुपि) तृतीया विभक्ति होती है। अतः पुष्ये 'शनिः' (= पुष्य नक्षत्र में शनि है)—में तृतीया नहीं हुई। नियमानुसार अधिकरण में सप्तमी हो गई।

(६४३) पद—सप्तमीपञ्चम्यौ, कारकमध्ये। अनुवृत्ति—कालाध्वनोः। विधिसूत्र।

मूलार्थ—दो शक्तियों (कारकों) के बीच में जो काल और मार्गवाचक शब्द उनमें सप्तमी और पञ्चमी विभक्तियाँ होती हैं। जैसे—(१) अद्य भुक्त्वा अयं द्व्यहे द्व्यहात् वा भोक्ता। यहाँ एक कर्ता की दो शक्तियों के बीच का काल है। (२) इहस्थः अयं क्रोशे क्रोशात् वा लक्ष्यं विध्येत्। यहाँ कर्ता और कर्म इन दो शक्तियों के बीच का देश (स्थान) है। अधिक शब्द के योग में सप्तमी और पञ्चमी विभक्तियाँ इष्ट हैं। इसमें "तदस्मिन्नधिकम्०" तथा "यस्मादधिकम्०" दो सूत्र प्रमाण हैं। जैसे—लोके लोकात् वा अधिकः हरिः।

विवरण—सूत्रार्थ सम्पन्न होने के लिए "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया" (२-३-५) सूत्र से "कालाध्वनोः" पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तथा अनुवृत्त पद 'कालाध्वनोः' की सप्तमी विभक्ति का 'पञ्चमी' विभक्ति में विपरिणाम (परिवर्तन) किया गया है। सूत्र में 'कारक' शब्द 'कर्तृत्व' आदि शक्ति से युक्त लिया गया है, केवल कर्ता आदि के रूप में नहीं। 'शक्ति' और 'शक्तिमान्' अभिन्न होते हैं, अतः 'कारकमध्ये' का अर्थ होगा—'दो कारकशक्तियों के बीच में' (कारकयोः मध्यः, तस्मिन् तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि "जब कोई कालवाची और देशवाची शब्द दो कारकशक्तियों के बीच के समय और स्थान के अवकाश को सूचित करें तब देशवाची और कालवाची शब्दों से 'सप्तमी' और 'पञ्चमी' विभक्तियाँ आती हैं"। 'कर्तृ' शक्ति के बीच (१) कालवाची का उदाहरण—द्व्यहे द्व्यहाद् वा भोक्ता (= यह आज खाकर दो दिन में या दो दिन बाद खायेगा)। इस वाक्य में 'कर्ता' और उसके भोजन की मध्यावधि ही 'काल का अवकाश' है। यद्यपि भोजन करने वाला एक ही है फिर भी कालभेद से भिन्नता प्रतीत होती है। इस लिये 'कर्ता की दो शक्तियों' के मध्य 'द्व्यह' शब्द से 'सप्तमी' तथा 'पञ्चमी' दोनों विभक्तियाँ हुईं। (२) 'कर्ता'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकाद्वा अधिको हरिः। (६४४) **अधिरीश्वरे १। ४। ९७॥** स्वस्वामिसम्बन्धे अधिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात्। (६४५) **यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी २। ३। ९॥** अत्र कर्मप्रवचनीययुक्ते सप्तमी स्यात्। उप परार्धे हरेर्गुणाः। परार्धादधिका इत्यर्थः। ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पर्यायेण सप्तमी। अधि भुवि रामः।

र्मध्य इत्यर्थः। कारकशब्दस्य कर्त्रादिपरत्वे त्विहैव स्यात्। अद्य भुक्त्वाऽयमित्यत्र न स्यादिति। सूचयितुमिदमप्युदाहृतम्। ननु लोके लोकाद्वा अधिको हरिरित्यत्र अवधित्वसम्बन्धे शेषषष्ठ्यै वोचितेत्याशङ्क्याह—अधिकशब्देनेति। लोके लोकाद्वेति। अवधित्वसम्बन्धः सप्तमीपञ्चम्योरर्थः। लोकापेक्षया श्रेष्ठ इत्यर्थः।

अधेः कर्मप्रवचनीयकार्यं वक्ष्यन् कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञामाह—(६४४) अधिरीश्वरे। ईश्वरशब्देन ईश्वरत्वं स्वस्वामिभावसम्बन्धात्मकं विवक्षितम्। 'कर्मप्रवचनीयाः' इत्यधिकृतमेकवचनान्ततया विपरिणम्यते। तदाह—स्वस्वामीति।

(६४५) यस्मादधिकम्। कर्मप्रवचनीययुक्ते इत्यनुवर्तते। तदाह—अत्र कर्मप्रवचनीयेति। शेषषष्ठ्यपवादः। उप परार्धे इति। अवधित्वं सप्तम्यर्थः। तदाह—परार्धादधिका इत्यर्थ इति। यस्मादधिकं सङ्ख्यान्तरं न विद्यते तत्परार्धम्। तदपेक्षयेत्यर्थः। 'उपोऽधिके च' इति उपेत्यस्य कर्मप्रवचनीयत्वस्येदं फलम्। यस्येश्वरवचनमित्यस्य यत्सम्बन्धी ईश्वर उच्यते ततः सप्तमीत्येकोऽर्थः। इह यच्छब्देन स्वमुच्यते। एवञ्च स्ववाचकात्सप्तमीति लभ्यते। ईश्वरशब्दो भावप्रधानः यस्येश्वरत्वमुच्यते ततः सप्तमीत्यन्योऽर्थः। यन्निष्ठमीश्वरत्वमुच्यते ततः सप्तमीति यावत्। एवञ्च स्वामिवाचकात्सप्तमीति लभ्यते। तदाह—ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पर्यायेण सप्तमीति। अधि भुवि राम इति। अधिरीश्वरपर्यायः, सम्बन्धः

और 'कर्म' के बीच 'देशवाची' का **उदाहरण**—अयम् इहस्थः क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत् (= यहीं बैठा बैठा यह एक कोस पर या एक कोस से लक्ष्य भेद सकता है)। इस वाक्य में 'कर्ता और कर्म की शक्ति' के मध्य मार्गवाची' 'क्रोश' शब्द देश का अवकाश बतलाता है। अतः यहाँ 'सप्तमी' और 'पञ्चमी दोनों विभक्तियाँ हुईं।

विशेष—पाणिनि ने 'अधिक' शब्द के योग 'सप्तमी' और 'पञ्चमी' दोनों विभक्तियों का प्रयोग किया है। तदनुसार यह विदित होता है कि 'अधिक' शब्द के योग में 'सप्तमी' और 'पञ्चमी' विभक्तियाँ होती हैं। इसके प्रमाणस्वरूप सूत्र हैं—"तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः" (५-२-४५) तथा "यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी" (२-३-९)। अतः लोके लोकाद् वा अधिकः हरिः (= हरि लोक से बढ़कर हैं) में 'अधिक' शब्द के योग में 'लोके' (सप्तमी) तथा 'लोकात्' (पञ्चमी) का प्रयोग समीचीन है।

(६४४) **पद**—अधिः, ईश्वरे। **अनुवृत्ति**—कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—स्वस्वामि-सम्बन्ध में 'अधि' 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञक होता है।

विवरण—'प्रसङ्गवश' कर्मप्रवचनीय-सप्तमी का निरूपण किया जा रहा है। "कर्मप्रवचनीयाः" (१-४-८२) सूत्र से 'कर्मप्रवचनीयाः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा है, 'ईश्वरे अधिः' संज्ञी। तदनुसार "ईश्वर (स्वस्वामिभाव) अर्थ में 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है"।

(६४५) **पद**—यस्माद्, अधिकं, यस्य, च, ईश्वरवचनं, तत्र, सप्तमी। **अनुवृत्ति**—कर्मप्रवचनीययुक्ते। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—जिससे अधिकता बताई जाय और जिसका स्वस्वामिभाव सम्बन्ध कहा जाय, उन शब्दों से कर्मप्रवचनीय के योग में सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे—उप परार्धे हरेर्गुणाः। अर्थ—हरि के गुण परार्ध से भी अधिक हैं। ऐश्वर्य में 'स्व' और 'स्वामी' दोनों से ही क्रमशः सप्तमी होती

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधि रामे भूः। 'सप्तमी शौण्डैः' (सू ७१७) इति समासपक्षे तु रामाधीना। 'अषडक्ष—'(सू २०७९) इत्यादिना खः। (६४६) **विभाषा कृञि १।४।९८॥**
अधिः करोतौ प्राक्संज्ञो वा स्यादीश्वरेऽर्थे। यदत्र मामधिकरिष्यति। विनियोक्ष्यत

सप्तम्यर्थः। भुवः स्वामी राम इत्यर्थः। अत्र स्ववाचकात्सप्तमी। अधि रामे भूरिति। अत्र अधिः स्वशब्दपर्यायः। सम्बन्धः सप्तम्यर्थः। रामस्य स्वभूता भूरित्यर्थः। अत्र स्वामिवाचकात्सप्तमी। समासपक्षे त्विति। शौण्डादिगणे अधिशब्दस्य पठितत्वेन तेनाधिशब्देन रामे इति सप्तम्यन्तस्य समासे सति 'सुपो धातु' इति सुब्लुकि रामाधिशब्दात् 'अषडक्षाशितङ्ग्वलङ्कर्मालम्पुरुषाध्युत्तरपदात् खः' इति खप्रत्यये 'आयनेयीनीयियः' इति तस्य ईनादेशे रामाधीना भूरिति सिध्यति। रामस्वामिकेत्यर्थः। विभक्त्यर्थे अव्ययीभावे तु अधिरामं भूः। रामाधिकरणिका भूरित्यर्थः। खप्रत्ययस्तु न, अध्युत्तरपदत्वाभावात्।

(६४६) विभाषा कृञि। 'अधिरीश्वरे' इत्यनुवर्तते। कर्मप्रवचनीया इत्यधिकृतम्। तदाह—अधिः करोताविति। कृञ्धातौ परे अधिः कर्मप्रवचनीयो वा स्यादीश्वरे इति यावत्। यदत्र मामधिकरिष्यतीति। अस्मिन् विषये मामधिकरिष्यतीति यत्तद्युक्तमित्यर्थः। अत्र कर्मप्रवचनीययोगे मामिति द्वितीया। अधिकरिष्यतीत्येतद् व्याचष्टे—विनियोक्ष्यत इत्यर्थ

है। जैसे—(१) अधि भुवि रामः। (२) अधिरामे भूः। "सप्तमी शौण्डैः" से (वैकल्पिक) समास होने पर "अषडक्ष०" इत्यादि सूत्र से 'ख' प्रत्यय (= ईन) करने के पश्चात् 'रामाधीना' रूप बनता है।

विवरण—यह कर्मप्रवचनीय-सप्तमी का विधायक सूत्र है। अष्टाध्यायी-क्रम में इससे पूर्व सूत्र "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" (२-३-८) है। अतः वहाँ से 'कर्मप्रवचनीययुक्ते' पदकी अनुवृत्ति आरही है। तदनुसार "जिससे आधिक्य सूचित होता हो तथा जिसका स्वामित्व (ईश्वरत्व) कहा गया हो, ऐसी स्थिति में कर्मप्रवचनीय के योग में उन शब्दों से सप्तमी विभक्ति होती है"। पूर्वसूत्र (२-३-८) से द्वितीया प्राप्त थी, यह उसका अपवाद है। **उदाहरण**—(१) उप परार्धे हरेः गुणाः (= हरि के गुण परार्ध से भी अधिक हैं)। यहाँ अधिक अर्थ में 'उप' शब्द की "उपोऽधिके च" (१-४-८७) से 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा हुई है। सर्वाधिक संख्या को 'परार्ध' कहते हैं। इससे बड़ी कोई संख्या नहीं होती। अतः 'उप' कर्मप्रवचनीय के योग में 'परार्ध' से सप्तमी हुई। (२) 'स्व' वाचक में सप्तमी का **उदाहरण**—(क) अधि भुवि रामः (=राम पृथ्वी के स्वामी हैं)। यहाँ पर 'अधि' शब्द की "अधिरीश्वरे" (१-४-९७) से 'स्वस्वामित्व अर्थ में 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा हुई है। तदनुसार इस वाक्य में राम 'स्वामी' हैं और भू 'स्व' है (अर्थात् जिस पर राम का स्वामित्व है)। अतः स्वामित्व बतलाने के लिए 'भू' रूप द्रव्य में सप्तमी हुई। (ख) **स्वामिवाचक** में सप्तमी का **उदाहरण**—अधि रामे भूः (= पृथ्वी राम के अधिकार में है)। इस उदाहरण में 'भू' पर स्वामित्व बतलाने के लिए 'कर्मप्रवचनीय' 'अधि' के योग में स्वामी ('राम') से सप्तमी विभक्ति हुई। शौण्डादिगण में 'अधि' का पाठ होने से 'राम' और 'अधि' का "सप्तमी शौण्डैः" (२-१-४०) से समास करने पर (रामे अधि) "अषडक्षाशितङ्ग्वलंकर्मालम्पुरुषाध्युत्तरपदात् खः" (५-४-७) से 'ख' प्रत्यय (= ईन) होता है। इस तरह 'रामाधीन' शब्द सिद्ध होता है। 'भूः' शब्द के साहचर्य से 'टाप्' होकर 'रामाधीना भूः' यहवाक्य बनेगा।

(६४६) **पद**—विभाषा, कृञि। **अनुवृत्ति**—अधिः, कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—ईश्वर अर्थ होने पर 'कृ' धातु के योग में 'अधि' शब्द की विकल्प से 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होती है। **उदाहरण**—यद् अत्र माम् अधिकरिष्यति। अर्थात् इसमें (मुझे) जो नियुक्त करेगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यर्थः । इह विनियोक्तुरीश्वरत्वं गम्यते । अगतित्वात् 'तिङि चोदात्तवति' (सू ३९७८) इति निघातो न । इति सप्तमी विभक्तिः ।

इति कारकप्रकरणम् ।

इति । तर्हि कर्मत्वादेव द्वितीयासिद्धेः किं कर्मप्रवचनीयत्वेनेत्यत आह—अगतित्वादिति । तिङि चेति । उदात्तवति तिङि परे गतिर्निहन्यत इति तदर्थः । अत्र करिष्यतीति तिङन्तमुदात्तवत्, 'तिङ्ङतिङः' इति निघातस्य 'निपातैर्यत्' इत्यादिना निषेधात् । ततश्च अधेरत्र गतित्वान्निघात इह प्राप्तः । कर्मप्रवचनीयत्वे तु स न भवति, तेन गतित्वस्य बाधात् । अतः अधेर्निघाताभावार्थमिदं सूत्रमिति सिद्धम् ।

इति श्रीमद्वासुदेवदीक्षितविदुषा विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां बालमनोरमाख्यायां विभक्त्यर्थनिरूपणं समाप्तम् ।

यहाँ नियोक्ता का स्वामित्व विदित होता है । 'गति' संज्ञा न होने के कारण "तिङि चोदात्तवति" से अनुदात्त नहीं होता ।

विवरण—'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा का यह दूसरा सूत्र है । अतः पूर्व सूत्र ("अधिरीश्वरे" १-४-९६) से 'अधिः' की अनुवृत्ति आ रही है । "कर्मप्रवचनीयाः" (१-४-८२) का आधिकारिक प्रभाव विद्यमान है । तदनुसार "'कृ' धातु के परवर्ती होने की स्थिति में 'स्वस्वामिभाव' सम्बन्ध की प्रतीति होने पर 'अधि' शब्द की 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होती है" । **उदाहरण**—यदत्र **माम्** अधिकरिष्यति (=क्योंकि जो मुझे यहाँ नियुक्त करेगा) । इस वाक्य में नियोक्ता का प्रभुत्व प्रकट होता है । 'अधि' की 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होने के फलस्वरूप 'माम्' में द्वितीया विभक्ति हुई । इस प्रकरण में इस सूत्र के पढ़ने का फल यह है कि 'अधि' की 'गति'-संज्ञा नहीं होती । अतः "तिङि चोदात्तवति" (८-१-७१) सूत्र से अनुदात्त (निघात) नहीं होता । तदनुसार यहाँ स्वरसिद्धि का प्रकार दिया जाता है—**यदत्र माम् अधिकरिष्यति**—यहाँ 'अधि' की 'गति' संज्ञा का बाध होने से उसके अनन्तर तिङन्त पद 'करिष्यति' में "तिङ्ङतिङः" (८-१-२८) से सर्वानुदात्त प्राप्त रहा । उसका "निपातैर्यद्यदिहन्तकुवित्नेत्चेत्चण्कच्चिद्यत्रयुक्तम्" (८-१-३०) सूत्र से निषेध होने के कारण उदात्तवान् तिङन्त 'करिष्यति' के परवर्ती होने से "तिङि चोदात्तवति" (८-१-७१) सूत्र से 'अधि' को निघात (अनुदात्त) नहीं होता । 'करिष्यति' में प्रत्ययस्वर से 'स्य' उदात्त है, अतः शेष वर्ण अनुदात्त रहते हैं । "स्य" के उदात्त-अकार से परवर्ती अनुदात्त 'ति' का इकार स्वरित हो गया है । अतः 'करिष्यति' पद उदात्तस्वरयुक्त है । इसी तरह 'अधि' में अकार आद्युदात्त होने पर 'धि' अनुदात्त रहा, वह उदात्त से पर होने के कारण स्वरित हो जाता है—'अधि' । उसका करिष्यति के साथ योग होने पर यह स्थिति होगी—'अधि करिष्यति' ।

स्कन्दत्रिशून्ययुग्माब्दे (२०३६) चाश्विने शुक्लपक्षके ।
दशम्यां कारकान्तस्य 'दीपिका' पूर्णतां गता ॥

कारकप्रकरण समाप्त ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारकान्तान्तर्गत-सूत्रसूची

सूत्राणि	पृष्ठाङ्काः
अ	
अ अ	३०
अकः सवर्णे	११९
अकथितं च	७००
अकर्तर्यृणे पञ्चमी	७६९
अकेनोर्भविष्य	७९३
अङ्गस्य	२२४
अचः	४८८
अचः परस्मिन्पू	७९
अचश्च	६०
अचि र ऋतः	३५०
अचि श्नुधातुभ्रु	३०२
अचो ञ्णिति	२८४
अचोऽन्त्यादि टि	११५
अचो रहाभ्यां द्वे	४८
अच्च घेः	२८०
अजाद्यतष्टाप्	५७५
अट्कुप्वाङ्नुम्व्य	२२१
अणोऽप्रगृह्यस्या	१४२
अणुदित्सवर्णस्य	३९
अतः कृकमिकंस	१८३
अतिरतिक्रमणे च	७२५
अतो गुणे	१९१
अतो भिस ऐस्	२२६
अतोऽम्	३७०
अतो रोरप्लुता	१८७
अत्रानुनासिकः पू	१६२
अत्वसन्तस्य चा	४९९
अदर्शनं लोपः	८४
अदस औ सु	५२१
अदसो मात्	१३५
अदसोऽसेर्दादु	४९१
अदेङ्गुणः	४५
अद्ड्तरादिभ्यः	३७३
अधः शिरसी पदे	१८५
अधिकरणवाचि	७८९
अधिपरी अनर्थकौ	७२४
अधिरीश्वरे	८०७
अधिशीङ्स्थासां	७१४
अधीगर्थदयेशां	७७८
अन उपधालो	५९०
अनङ् सौ	२८०
अनचि च	७६
अनभिहिते	६९६
अनाप्यकः	४११
अनिदितां हल	४८८
अनुदात्तं सर्वं	४७७
अनुनासिकात्परोऽनु	१६३
अनुपसर्जनात्	६०८
अनुप्रतिगृणश्च	७४६
अनुर्लक्षणे	७१८
अनुस्वारस्य ययि	१५४
अनेकाल्शित् सर्वस्य	७०
अनो बहुव्रीहेः	५८८
अन्तरं बहिर्योगोप	२४८
अन्तरान्तरेण युक्ते	७१७
अन्तर्धौ येनादर्श	७५९
अन्तर्वत्पतिवतो	६३२
अन्तादिवच्च	११०
अन्यतो ङीष्	६४२
अन्यारादितरर्ते	७६४
अपदान्तस्य	२३३
अपपरी वर्जने	७६७
अपरिमाणबि	६२२
अपवर्गे	७३३
अपादाने पञ्चमी	७५५
अपिः पदार्थसं	७२६
अपृक्त एकाल्प्र	२८२
अपो भि	५३१
अप्तृन्तृच्स्वसृ	३१४
अप्लुतवदुप	१३२
अभाषितपुंस्काच्च	६०६
अभिनिविशश्च	७१४
अभिरभागे	७२३
अमि पूर्वः	२१९
अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः	२९९
अम् सम्बुद्धौ	४०१
अर्थवदधातुरप्र	२०५
अर्वणस्त्रसाव	४३४
अलोऽन्त्यस्य	६७
अलोऽन्त्यात्पूर्व	२८१
अल्लोपोऽनः	२६६
अवङ् स्फोटायन	१२३
अव्यक्तानुकरणस्या	११७
अव्ययादाप्सुपः	५६८
अव्ययीभावश्च	५६८
अष्टन आ	४४१
अष्टाभ्य औश्	४४२
अस्थिदधिसक्थ्य	३८४
अस्वाङ्गपूर्व	३६१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्राणि	पृष्ठाङ्काः
अहन्	५३८
आ	
आकडारादेका	२६४
आख्यातोपयोगे	७६०
आङि चापः	३३४
आङो नास्त्रि	२७८
आङ् मर्यादाभिवि	७६७
आङ्माङोश्च	१७२
आच्छीनद्यो	५५३
आटश्च	३००
आण्नद्याः	३००
आतो धातोः	२७३
आदाचार्याणां	६०८
आदिरन्त्येन	९
आदेः परस्य	६८
आदेशप्रत्यययोः	२३३
आद् गुणः	१००
आद्यन्तवदेक	४१२
आद्यन्तौ टकितौ	६१
आधारोऽधि	७९६
आमन्त्रितं	३८४
आमि सर्वनाम्नः	२३९
आयनेयीनीयियः	६१७
आयुक्तकुशला	८०२
आवटयाच्च	६८५
आशिषि नाथः	७८०
आ सर्वनाम्नः	५०५
इ	
इको गुणवृद्धी	६०
इकोऽचि विभक्तौ	३८१
इको यणचि	७४
इकोऽसवर्णे शाक	१२५
इग्यणः संप्रसारण	३९६
इणः षः	१७७
इण्कोः	२३३
इतोऽत्सर्वनाम	४३६
इतो मनुष्यजातेः	६७६
इत्थम्भूतलक्षणे	७३५
इदमोऽन्वादेशे	४१४
इदमो मः	४१०
इदुदुपधस्य चाप्र	१७८
इदुद्भ्याम्	३४९
इदोऽय् पुंसि	४१०
इन्द्रवरुणभवशर्व	५०५
इन्द्रे च	१२४
इन्हन्पूषार्यम्णां	४२४
इसुसोः सामर्थ्ये	१८१
ई	
ईदूतौ च सप्तम्यर्थे	१४१
ईदूदेद् द्विवचनंप्रगृह्यं	१३४
ई ३ चाक्रवर्मणस्य	१३४
उ	
उगितश्च	५८०
उगिदचां सर्वनाम	४२९
उच्चैरुदात्तः	१८
उञः	१३९
उञि च पदे	१९४
उद ईत्	४९४
उदः स्थास्तम्भोः	१४८
उदीचामातः	५९८
उपदेशेऽजनुनासिक	१४
उपसर्गाः क्रिया	४८
उपसर्गादति	१०९
उपान्वध्याङ्वसः	७१५
उपोऽधिके च	७२१
उभयप्राप्तौ	७८७
उभे अभ्यस्तम्	५०२
उरण्परः	१००
ऊ	
ऊँ	१४०
ऊकालोऽज्झ्रस्व	१६
ऊङुतः	६७७
ऊधसोऽनङ्	६२६
ऊरूत्तरपदादौ	६८०
ऋ	
ऋत उत्	३१६
ऋतो ङिसर्व	३१३
ऋत्यकः	१२७
ऋत्विग्दधृक्स्र	४४६
ऋदुशनस्पुरु	३१३
ऋन्नेभ्यो ङीप्	३६५
ए	
एकः पूर्वपरयोः	९९
एकवचनम्	२१७
एकवचनस्य च	४६८
एकाचो बशो	३९३
एकाजुत्तरपदे	३६७
एङः पदान्ता	१२२
एङि पररूपम्	११३
एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः	२१७
एच इग्घ्रस्वा	३८८
एचोऽयवायावः	९०
एत ईद् बहुवचने	५२२
एतत्तदोः	२०१
एत्येधत्यूठ्सु	१०३
एनपा द्वितीया	७७७
एरनेकाचोऽसंयोग	३०३
ओ	
ओः सुपि	३१९
ओत्	१३८
ओतो गार्ग्यस्य	१९२
ओमाङोश्च	११७
ओसि च	२३०
औ	
औङ आपः	३३२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्राणि	पृष्ठाङ्काः
औत्	२८६
औतोऽम्शसोः	३२८
क	
करणे च	७७१
कर्तुरीप्सिततमम्	६९४
कर्तृकरणयोस्तृतीया	७३१
कर्तृकर्मणोः कृति	७८५
कर्मणा यमभिप्रैति	७३८
कर्मणि द्वितीया	६९७
कर्मप्रवचनीययुक्ते	७१९
कर्मप्रवचनीयाः	७१८
कस्कादिषु च	१७०
काण्डान्तात्क्षेत्रे	६२४
कानाम्रेडिते	१७०
कारके	६९३
कालाध्वनोरत्यन्त	७२८
किमः कः	४०९
कुप्वो ≍क≍पौ च	१६९
कृञः प्रतियत्ने	७७९
कृत्तद्धितसमासाश्च	२०६
कृत्यानां कर्तरि वा	७९४
कृत्वोर्थप्रयोगे का	७८४
कृदतिङ्	४४७
कृन्मेजन्तः	५६७
केवलमामकभागधेय	६३०
कौरव्यमाण्डूका	६१९
क्तस्य च वर्तमाने	७८९
क्तादल्याख्यायाम्	६५६
क्त्वातोसुन्कसुनः	५६७
क्रव्यस्तदर्थे	९७
क्रियार्थोपपदस्य	७४८
क्रीतात्करणपूर्वात्	६५८
क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थां	७४३
क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः	७४४
क्विन्प्रत्ययस्य कुः	४४८
क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे	९६
ख	
खरवसानयोः	१११
खरि च	१५२
ख्यत्यात्परस्य	२८५
ग	
गतिबुद्धिप्रत्यव	७०६
गतिश्च	४८
गत्यर्थकर्मणि	७५३
गुरोरनृतो	१३१
गोतो णित्	३२८
घ	
घेर्ङिति	२७८
ङ	
ङमो ह्रस्वादचि	१६१
ङसिङसोश्च	२७९
ङसिङ्योः स्मात्	२३८
ङिच्च	६८
ङिति ह्रस्वश्च	३४७
ङेप्रथमयोरम्	४५७
ङेराम्नद्याम्नीभ्यः	३०१
ङेर्यः	२२६
ङ्णोः कुक्टुक्शरि	१५८
ङ्याप्प्रातिपदिकात्	२०९
च	
चतुरनडुहोरामु	३९८
चतुर्थी चाशिष्या	७९५
चतुर्थी सम्प्रदाने	७३८
चादयोऽसत्त्वे	४८
चुट्	२१५
चोः कुः	४४९
चौ	४८९
छ	
छे च	१७२
ज	
जश्शसोः शिः	३७२
जक्षित्यादयः	५०३
जनिकर्तुः प्रकृतिः	७६१
जराया जरसन्य	२५७
जसः शी	२३७
जसि च	२७५
जातेरस्त्रीविष	६७१
जानपदकुण्ड	६४६
जासिनिप्रहण	७८०
ज्ञोऽविदर्थस्य	७७८
झ	
झयो होऽन्यतर	१५१
झरो झरि	१०१
झलां जश्झशि	८३
झलां जशोऽन्ते	११९
ट	
टाङसिङसामि	२२५
टाबृचि	५८५
टिड्ढाणञ्	६०९
टेः	३७३
ड	
डः सि धुट	१५९
डति च	२९०
डाबुभाभ्यामन्य	५८८
ढ	
ढ्रलोपे पूर्वस्य	१९८
त	
तथायुक्तं	६९९
तदोः सः सावन	४५५
तद्धितश्चासर्व	५६४
तद्धिताः	६८५
तपरस्तत्कालस्य	४२
तवममौ ङसि	४६९
तस्माच्छसो	२२०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्राणि	पृष्ठाङ्काः
तस्मादित्युत्तरस्य	६६
तस्मिन्निति	६६
तस्य परमाम्रे	११९
तस्य लोपः	९१
तस्यादित उदात्तम्	२१
तिरसस्तिर्यलोपे	४९५
तिरसोऽन्यतरस्याम्	१८०
तुभ्यमह्यौ ङयि	४६७
तुमर्थाच्च भाव	७४९
तुल्यार्थैरतुलोप	७९५
तुल्यास्यप्रयत्नं स	२६
तृज्वत्क्रोष्टुः	३१२
तृतीयार्थे	७२०
तृतीयादिषु भाषित	३८३
तृतीयासमासे	२५४
तेमयावेकवचनस्य	४७८
तोः षि	१४६
तोर्लि	१४८
त्यदादिषु दृशोऽना	५०४
त्यदादीनामः	२९४
त्रिचतुरोः स्त्रियां	३४९
त्रिप्रभृतिषु शाकटा	८७
त्रेस्त्रयः	२९३
त्वमावेकवचने	४४६
त्वामौ द्वितीयायाः	४७९
त्वाहौ सौ	४५८

थ

थो न्थः	४३६

द

दश्च	४१०
दादेर्धातोर्घः	३९२
दामहायनान्तच्च	६२९
दिक्पूर्वपदान्डीप्	६६९
दिव उत्	४०४
दिव औत्	४०३
दिवः कर्म च	७३२
दिवस्तदर्थस्य	७८२
दीर्घं च	५९
दीर्घाज्जसि च	२७२
दीर्घात्	१७३
दीर्घादाचार्याणाम्	८८
दूरादधूते च	१३०
दूरान्तिकार्थैभ्यो	७७२
दूरान्तिकार्थैः	७७७
द्वन्द्वे च	२५४
द्विगोः	६२२
द्वितीयाटौस्स्वेनः	४१५
द्वितीयायां च	४६४
द्वित्रिश्चतुरिति	१८१
द्व्येकयोर्द्विवचनैक	२१३

ध

धातोस्तन्निमित्त	९४
धारेरुत्तमर्णः	७४१
ध्रुवमपायेऽपादानम्	७५४

न

न क्रोडादिब	६६७
नक्षत्रे च लुपि	८०५
नखमुखात्सं	६६८
न ङिसम्बुद्ध्योः	४१७
न चवाहाहै	४८२
न तिसृचतसृ	३५०
न पदान्तद्विर्वचन	८०
न पदान्ताट्टोरनाम्	१४५
नपरे नः	१५८
नपुंसकस्य झलचः	३७२
नपुंसकाच्च	३७१
न बहुव्रीहौ	२५०
नं भूसुधियोः	३०८
नमःस्वस्तिस्वाहा	७५०
नमस्पुरसो	१७७
न मु ने	५२३
न यासयोः	५९४
न लुमताङ्गस्य	२९२
न लोकाव्ययनिष्ठा	७९०
न लोपः प्राति	२६९
नलोपः सुप्स्वर	४२०
न विभक्तौ	२१६
न वेति विभाषा	५१
नशेर्वा	५०६
नश्च	१६०
नश्चापदान्तस्य	१५३
नश्छव्यप्रशान्	१६७
न षट्स्वस्रादिभ्यः	३६८
न संयोगाद्वम	४२३
न सम्प्रसारणे	४३३
नहो धः	५२५
नाञ्जलौ	३७
नाञ्चेः पूजायाम्	४९६
नादिचि	१८८
नादिन्याक्रोशे	८५
नाभ्यस्ताच्छतुः	५०२
नामन्त्रिते समा	४८६
नामि	२३१
नाम्रेडितस्या	११८
नासिकोदरौष्ठज	६६४
नित्यं संज्ञाछ	६३०
नित्यं सपत्न्या	६३६
नित्यं समासेऽनु	१८२
निपात एकाज	१३७
नीचैरनुदात्तः	१९
नुम्विसर्जनीयश	५१०
नृ च	३२५
नृन्पे	१६८
नेदमदसोरकोः	४१३
नेयङुवङ्स्थाना	३६१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्राणि	पृष्ठाङ्काः
नोपधायाः	४४०
प	
पङ्क्तेश्च	६७८
पञ्चमी विभक्ते	८०३
पञ्चम्यपाङ्परि	७६७
पञ्चम्या अत्	४६९
पतिः समास एव	२६९
पत्युर्नो यज्ञसं	६३३
पथिमथ्यृभुक्षा	४३५
पदस्य	४७७
पदात्	४७७
पदान्तस्य	२२२
पदान्ताद्वा	१७३
पद्दन्नोमास्हृन्नि	२६१
परः सन्निकर्षः	५७
परश्च	२०९
पराजेरसोढः	७५७
परिक्रयणे सम्प्रदा	५८०
पर्यायैश्चानालो	४८२
पाककर्णपर्णपुष्प	६७६
पादः पत्	४८७
पादोऽन्यतरस्याम्	५८५
पुंयोगादाख्या	६५३
पुंसोऽसुङ्	५१८
पुमः खय्यम्परे	१६६
पुरुषात्प्रमाणे	६२५
पूतक्रतोरै च	६३७
पूर्वत्रासिद्धम्	३१
पूर्वपरावरदक्षिणो	२४६
पूर्वादिभ्यो नव	२४९
पृथग्विनानानाभि	७७१
प्रतिः प्रतिनिधि	७६८
प्रतिनिधिप्रति	७६८
प्रत्यभिवादेऽशूद्रे	१२८
प्रत्ययः	२०८
प्रत्ययलोपे	२९१
प्रत्ययस्थात्कात्	५९१
प्रत्ययस्य लुक्श्लु	२९१
प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः	७४५
प्रथमचरमतया	२५६
प्रथमयोः पूर्वस	१८७
प्रथमायाश्च द्विव	४६१
प्रसितोत्सुका	८०५
प्राग्रीश्वरान्निपाताः	४६
प्राचां ष्फ तद्धितः	६१७
प्रातिपदिकार्थ	६८७
प्रादयः	४८
प्रेष्यब्रुवोर्हविषो	७८३
प्लुतप्रगृह्या	१२५
ब	
बहुगणवतुडति	२९०
बहुवचनस्य	४७८
बहुवचने झल्येत्	२२८
बहुव्रीहेरूधसो	६२७
बहुषु बहुवचनम्	२१३
बहुव्रीहेश्चान्तो	६५९
बह्वादिभ्यश्च	६५२
बाह्वन्तात्संज्ञा	६७८
भ	
भस्त्रैषाजाज्ञाद्वा	६०१
भस्य	२६६
भस्य टेर्लोपः	४३७
भीत्रार्थानां भय	७५६
भुवः प्रभवः	७६१
भूवादयो धातवः	४५
भोभगोअघोअपूर्व	१९०
भ्यसो भ्यम्	४६८
म	
मघवा बहुलम्	४२९
मनः	५८७
मनोरौ वा	६३९
मन्यकर्मण्यनादरे	७५२
मपर्यन्तस्य	४५७
मय उञो वो वा	१४०
मिदचोऽन्त्यात्परः	६२
मुखनासिकावचनो	२५
मोऽनुस्वारः	१५३
मो नो धातोः	४०८
मो राजि समः क्वौ	१५६
य	
यः सौ	५२८
यङश्चाप्	६८४
यचि भम्	२६४
यजश्च	६१५
यतश्च निर्धारणम्	८०३
यथासङ्ख्यमनुदे	१५७
यरोऽनुनासिकेऽनु	१४७
यस्मात्प्रत्ययविधि	२२३
यस्मादधिकं यस्य	८०७
यस्य च भावेन भा	८००
यस्येति च	३७१
याडापः	३३४
युजेरसमासे	४४८
युवावौ द्विवचने	४६०
युष्मदस्मदोः षष्ठी	४७७
युष्मदस्मदोरनादेशे	४६६
युष्मदस्मद्भ्यां ङसो	४७०
यूनस्तिः	६८५
यूयवयौ जसि	४६३
यू स्त्र्याख्यौ नदी	२९९
येन विधिस्तदन्तस्य	५४
येनाङ्गविकारः	७३४
योऽचि	४६६
र	
रषाभ्यां नो णः स	२६७
रात्सस्य	३१७
राधीक्ष्योर्यस्य वि	७४४
रायो हलि	३३१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्राणि	पृष्ठाङ्काः
रुच्यर्थानां प्रीयमा	७४०
रुजार्थानां भाव	७७९
रोः सुपि	४०६
रो रि	१९८
रोऽसुपि	१९६
र्वोरुपधाया दीर्घ	५०९
ल	
लक्षणेत्थम्भूताख्या	७२२
लशक्वतद्धिते	२२०
लोपः शाकल्यस्य	९७
व	
वनो र च	५८२
वयसि प्रथमे	६२०
वर्णादनुदात्तात्तोप	६४०
वर्षाभ्वश्च	३२१
वसुस्रंसुध्वंस्वनडु	४०१
वसोः सम्प्रसारणं	५१५
वाक्यस्य टेः प्लुत	१२८
वा द्रुहमुहष्णुहष्णि	३९५
वा नपुंसकस्य	५५३
वान्तो यि प्रत्यये	९१
वा पदान्तस्य	१५५
वामि	३६१
वाम्शसोः	३५६
वारणार्थानामी	७५८
वाऽवसाने	२२९
वा शरि	१७५
वा सुप्यापिशलेः	१११
वाह ऊठ्	३९७
वाहः	६७०
विप्रतिषेधे परं	२००
विभक्तिश्च	२१२
विभाषा कृञि	८०८
विभाषा गुणेऽस्त्रि	७६९
विभाषा ङिश्योः	२६९
विभाषा जसि	२५५
विभाषा तृतीया	३१६
विभाषा दिक्समा	३३७
विभाषा द्वितीया	३३८
विभाषा सपूर्वस्य	६३४
विभाषोपसर्गे	७८३
विरामोऽवसा	५६
विश्वस्य वसु	४५३
विष्वग्देवयोश्च	४९०
विसर्जनीयस्य	१६३
वृद्धिरादैच्	४४
वृद्धिरेचि	१०३
वृषाकप्यग्निकुसि	६३८
वेरपृक्तस्य	४४७
वोतो गुणवच	६४९
व्यवहृपणोः सम	७८१
व्योर्लघुप्रयत्नतरः	१९१
व्रश्चभ्रस्जसृज	३४५
श	
शप्श्यनोर्नित्यम्	५५४
शरोऽचि	४०६
शर्परे विसर्जनीयः	१७४
शश्छोऽटि	१५१
शसो न	४६५
शात्	१४४
शार्ङ्गरवाद्यञो	६८२
शि तुक्	१६०
शि सर्वनामस्था	३७२
शे	१३७
शेषे लोपः	४५८
शेषो घ्यसखि	२७६
शोणात् प्राचाम्	६४९
श्लाघह्नुङ्स्था	७४०
श्नयुवमघो	४३२
ष	
षः प्रत्ययस्य	६१७
षट्चतुर्भ्यश्च	४०५
षड्भ्यो लुक्	२९१
षढोः कः सि	३४५
षष्ठी चानादरे	८०१
षष्ठी शेषे	७७३
षष्ठी स्थानेयोगा	६३
षष्ठी हेतुप्रयोगे	७७४
षष्ठ्यतसर्थप्रत्य	७७६
षिद्गौरादिभ्यश्च	६४३
ष्टुना ष्टुः	१४५
ष्णान्ता षट्	४३९
स	
संयोगान्तस्य	८४
संयोगे गुरु	५९
संहितशफलक्ष	६८१
संहितायाम्	१७२
सख्यशिश्वीति भा	६७१
सख्युरसम्बुद्धौ	२८४
संख्याविसायपूर्व	२७१
सख्याव्ययादे	६२८
संज्ञायाम्	६८२
संज्ञोऽन्यतरस्यां	७३५
सपूर्वायाः प्रथमा	४८३
सप्तमीपञ्चम्यौ	८०६
सप्तम्यधिकरणे	७९७
समः समि	४९५
समः सुटि	१६२
समाहारः स्वरितः	२१
सम्प्रसारणाच्च	३९७
सम्बुद्धौ च	३३३
सम्बुद्धौ शाकल्य	१३८
सम्बोधने च	६९२
सरूपाणामेकशेष	२१४
सर्वत्र लोहितादि	६१९
सर्वत्र विभाषा	१२२
सर्वत्र शाकल्यस्य	८८
सर्वनामस्थाने चा	२८१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्राणि	पृष्ठाङ्काः
सर्वनाम्नः स्मै	२३७
सर्वनाम्नः स्या	३३५
सर्वनाम्नस्तृतीया	७७५
सर्वादीनि सर्व	२३५
ससजुषो रुः	१८६
सहनञ्विद्यमान	६६८
सहयुक्तेऽप्रधाने	७३३
सहस्य सध्रिः	४९५
सहेः साडः सः	४०२
साधकतमं करणम्	७३०
साधुनिपुणाभ्याम	८०४
सान्तमहतः संयोग	३७५
साम आकम्	४७०
सामन्त्रितम्	४८४
सावनडुहः	३९९
सुः पूजायाम्	७२५
सुडनपुंसकस्य	२६३
सुपः	२१२
सुपि च	२२५
सुप्तिङन्तं पदम्	५७
सूर्यतिष्यागस्त्य	६४४
सोऽचि लोपे	२०३
सोऽपदादौ	१५२
सौ च	४२४
स्कोः संयोगाद्योर	४५३
स्तोः श्चुना श्चुः	१४३
स्त्रियाः	३५५
स्त्रियाम्	५७२
स्त्रियां च	३६५
स्थानिवदादेशोऽन	७७
स्थानेऽन्तरतमः	६३
स्पृशोऽनुदके क्विन्	५०७
स्पृहेरीप्सितः	७४२
स्वं रूपं शब्दस्या	५३
स्वतन्त्रः कर्ता	७२९
स्वमज्ञातिधनाख्या	२४७
स्वमोर्नपुंसकात्	३८०
स्वरादिनिपातम	५५९
स्वरितेनाधिकारः	७१
स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्	६६२
स्वादिष्वसर्वनाम	२६३
स्वामीश्वराधिपति	८०२
स्वौजसमौट्छष्टाभ्यां	२११
ह	
हन्तेरत्पूर्वस्य	४२६
हलन्त्यम्	८
हलस्तद्धितस्य	६१६
हलि च	४२२
हलि लोपः	४११
हलि सर्वेषाम्	१९४
हलोऽनन्तराः	५८
हलो यमां यमि	८९
हल्ङ्याब्भ्यो	२८२
हशि च	१९०
हीने	७२१
हृक्रोरन्यतरस्याम्	७१२
हेतौ	७३५
हे मपरे वा	१५६
हैहेप्रयोगे हैहयोः	१३१
हो ढः	३९१
हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु	४२५
ह्रस्वं लघु	५२
ह्रस्वनद्यापो नुट्	२३१
ह्रस्वस्य गुणः	२७६
ह्रस्वो नपुंसके	३७९

कारकान्तान्तर्गत-परिभाषासूची

परिभाषा	सूत्राङ्क
अकृतव्यूहाः	४६, ४१७, ४३५
अङ्गकार्ये कृते	३८८
अनन्तरस्य विधिर्वा	३५९
अनिनस्मन्ग्रह	३४९
अन्त्यबाधेऽन्त्यसदे	४१९
अर्थवद्ग्रहणे नानर्थ	७३
असिद्धं बहिरङ्गमन्त	४६
उपपदविभक्तेः का	५८३
ताच्छीलिके णेऽपि	४७०
नानर्थकेऽलोन्त्य	३४७
नानुबन्धकृतमनेका	२१४
निर्दिश्यमानस्या	२२७
पदाङ्गाधिकारे	२२७
परनित्यान्तरङ्गा	४६
पुरस्तादपवादा	१९१
प्रकृतिवदनुकरणम्	२८३
प्रत्ययग्रहणे त	२१७, ४५६
प्रातिपदिकग्रहणे	१८२
यत्रानेकविधमान्तर्यं	३९
लाश्रयमनुबन्धकार्यं	४७०
संज्ञाविधौ प्रत्ययग्र	२१७
सन्निपातलक्षणो	२०४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारकान्तान्तर्गत–वार्तिकसूची

वार्तिक	सूत्राङ्क
अ	
अकर्मकधातुभिर्योगे	५३९
अक्षादूहिन्यामुपसं	७३
अज्वरिसन्ताप्यो	६१५
अण्वपरिमाणे च	६३
अनपत्याधिकारस्था	४७२
अनव्ययस्येति वाच्यं	१५२
अनाम्नवतिनगरीणा	११४
अन्त्यात्पूर्वो वा नुम्	४४३
अन्वादेशे नपुंसके	४४२
अपुरीति वक्तव्यम्	२१७
अप्रत्यादिभिरिति	६४०
अप्राणिष्वित्यपनीय	५८४
अभितः परितः	५४४
अभिवादिदृशोरा	५४१
अभुक्त्यर्थस्य न	५४४
अर्यक्षत्रियाभ्यां	५०५
अर्हाणां कर्तृत्वे	६३४
अष्टका पितृदेवत्ये	४६४
असंयुक्ता ये डलका	२९३
असितपलितयो	४९६
अस्य सम्बुद्धौ वा	४३६
अहरादीनां पत्यादिषु	१७२
आ	
आचार्यादणत्वं च	५०५
आदिखाद्योर्न	५४०
आब्ग्रहणं व्यर्थमलि	४५२
आमनड्डुहः स्त्रियाम्	४९८
आशिषि वुनश्च न	४६४
आसुरेरुपसंख्यानम्	४७७
इ	
इयं त्रिसूत्री पुंयोगे	४९३
उ	
उगिद्वर्णग्रहण	२६
उत्तरपदलोपे न	४६४
उत्पातेन ज्ञापिते च	५८०
उपमानात्पक्षाच्च पु	५११
उभयोऽन्यत्र	२१७
उभसर्वतसोः कार्या	५४४
ऋ	
ऋलृवर्णयोर्मिथः	१२
ऋति सवर्णे ऋ वा	८५
ऋते च तृतीया	७३
ऌ	
ऌति सवर्णे ऌ वा	७५
ए	
एकतरात्प्रतिषेधो	३१६
एकतिङ् वाक्यम्	४०७
एकाचो न	८१
एकादेशशास्त्रनिमित्त	१५५
एते वांनावादय	४०७
एवे चानियोगे	७८
ओ	
ओतो णिदिति वा	२८५
ओत्वोष्ठयोः समासे	७९
औ	
औङः श्यां प्रतिषेधो	३११
औत्त्वप्रतिषेधः सा	४३७
क	
कबरमणिविषशरेभ्यो	५११
कमेरनिषेधः	६२७
कर्मणः करणसंज्ञा	५७०
काम्ये रोरेवेति	१५२
कृत्येन्विषयस्य	६३३
क्रियया यमभिप्रैति	५७०
क्वौ लुप्तं न स्थानिवत्	२७३
क्षिपकादीनां च न	४६४
ख	
खरुसंयोगोपधान्न	५०२
खर्परे शरि वा	१५१
ख्यानादेशे न	१३९
ग	
गतिकारकेतरपूर्वं	२७२
गुणकर्मणि वेष्यते	६२३
गोयूतौ छन्दस्युप	६३
ङ	
ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो	३५२
च	
चयो द्वितीया	१३०, ४४३
छ	
छत्वममीति वाच्यम्	१२१
छन्दसि क्नमेके	४९६
ज	
जल्पतिप्रभृतीनाम्	५४०
जातान्तान्न	५०८
जातिपूर्वादिति वक्त	५०८
जुगुप्साविराम	५८७
ड	
डाचि बहुलं द्वे	८२
त	
तत्परे च	५५
तद्युक्तादध्वनः	५९४
तस्य दोषः सं	२३५, ४३४
तादर्थ्ये चतुर्थी	५८०
तारका ज्योतिषि	४६४
तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि	४९९
त्यकनश्च निषेधः	४६४
त्यक्त्यपोश्च	४६३
त्रिचतुर्भ्यां हायन	४८६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वार्तिक	सूत्राङ्क
ह	
हन्करपुनःपूर्वस्य	२८२, ३०६
हशेश्च	५४०
द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः	२६५
द्विषः शतुर्वा	६२७
ष	
षात्वन्तयकोस्तु	४६५
न	
नञ्स्नञीकक्ख्युंस्त	४७०
न समासे	९१
नानर्थकेऽलोन्त्य	३४७
निमित्तपर्यायप्रयोगे	६०८
निमित्तात्कर्मयोगे	६३३
नियन्तृकर्तृकस्य	५४०
नीलादोषधौ	५००
नील्या अन्व	५००
नुर्मचिर	२८०, २९९, ३२०, ३२२, ३२३
प	
पाणिगृहीती भार्या	५०८
पालकान्तान्न	५०४
पाशकल्पककाम्ये	१५२
पिशङ्गादुपसंख्यानम्	४९६
पुच्छाच्च	५११
पूर्वत्रासिद्धे न	१३५, ४३४
प्रकृत्यादिभ्य उपसं	५६१
प्रत्यये भाषायां	१६६
प्रथमलिङ्गग्रहणं च	२६६
प्रवत्सतरकम्बल	७३
प्राणिनि च	५००
प्रादूहोढोढ्यसैप्येषु	७३
ब	
बहुव्रीहौ वा	४५६
बहूञि नुम्प्रतिषेधः	४४३
भ	
भक्षेरहिंसार्थस्य न	५४०
भोराजन्यविशां	९४
म	
मत्स्यस्य ङ्याम्	४९९, ५१८
मातरि षिच्च	४९९
मामकनरकयोः	४६३
मासश्छन्दसि	३१७
मुहुसः प्रतिषेधः	१५५
मूलान्नञः	४५४
य	
यणो मयो द्वे वाच्ये	५४
यणः प्रतिषेधो	५४
यतश्चाध्वकाल	५९४
यवनाल्लिप्याम्	५०५
यवलपरे यवला	१२७
यवाद्दोषे	५०५
र	
रज्ज्वादिपर्युदासादु	५२१
रादेशात्पूर्वविप्रतिषेधेन	३००
रूपरात्रिरथन्तर	१७२
लघ्वक्षरं पूर्वम्	९०५
ल्यब्लोपे कर्मण्यधि	५९४
व	
वनो न हश इति	४५६
वयस्यचरम इति	४७८
वयोवाचकस्यैव	४८६
वर्णका तान्तवे	४६४
वर्तका शकुनौ प्राचाम्	४६४
वा हतजग्धयोः	५५
विभक्तौ लिङ्ग-विशिष्टा	३००
विभाषाप्रकरणे	२२६
वृद्धयौत्त्वतृज्वद्भाव	३२०
श	
शकन्ध्वादिषु पररूपम्	७९
शब्दायतेर्न	५४०
शरः खयः	१३८
शूद्रा चामहत्पूर्वा	४५४
शेषे विभाषा	६२४
श्वशुरस्योकाराकार	५२३
षाद्यन्थाव्वाच्यः	५२८
स	
संज्ञायां वा	५००
सम्पुङ्कानां सो	१३८, १३९
सम्बद्धौ नपुंसकानां	३६८
सम्भस्त्राजिनशण	४५४
सदच्काण्डप्रान्त	४५४
समानवाक्ये निघात	४०७
समासप्रत्ययविधौ	२६
सिति च	९१
सीमन्तः केशवेशे	७९
सूतकापुत्रिका	४६४
सूर्यागस्त्ययोश्छे	४९९
सूर्यादेवतायां चा	५०४
स्त्रियां न	९४
स्त्रियाम्	४८४
स्त्रीप्रत्यययोरकाका	६२४
स्वादीरेरिणोः	७३
ह	
हयगवयमुक्यमनुष्य	५१८
हितयोगे च	५८०
हिमारण्ययोर्महत्त्वे	५०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गणपाठः

पृष्ठसंख्या

४७ चादयोऽसत्त्वे (१-४-५७) चादीनां समावेशः अव्ययेषु वर्तते ।

४८ प्रादयः (१-४-५८) । प्रादीनां पाठः "गतिश्चे"ति सूत्रे मूले एव वर्तते ।

११५ (वा०) शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम् । अस्मिन् गणे पठिताः शब्दा मूले एव द्रष्टव्याः ।

१७० कस्कादिषु च (८-३-४८) । कस्कः, कौतस्कुतः, भ्रातुष्पुत्रः, शुनस्कर्णः, सद्यस्कालः, सद्यस्क्रीः, साद्यस्कः, कांस्कान्, सर्पिष्कुण्डिका, धनुष्कपालम्, बर्हिष्पलम् (बर्हिष्पलम्), यजुष्पात्रम्, अयस्कान्तः, तमस्कान्तः, अयस्काण्डः, तमस्काण्डः, मेदस्पिण्डः, भास्करः, अहस्करः । आकृतिगणोऽयम् ।

१९६ (वा०) अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः । अहरादिः—अहर्, गीर्, धुर् । पत्यादिः—पति, गण, पुत्र ।

२३५ सर्वादीनि सर्वनामानि (१-१-१७) । सर्वादिशब्दाः मूले एव पठिताः । तत्रैव द्रष्टव्याः ।

३६८ न षट्स्वस्रादिभ्यः (४-१-१०) । स्वस्रादि-सप्त-शब्दा मूले कारिकायां निर्दिष्टाः ।

५५९ स्वरादिनिपातमव्ययम् (१-१-३७) । अव्ययानां पाठोऽपि ग्रन्थे मूले वर्तते । तत्रैव अनुसन्धेयः ।

५७५ अजाद्यतष्टाप् (४-१-४) । अजा, एडका, कोकिला, चटका, अश्वा, मूषिका, बाला, होडा, पाका, वत्सा, मन्दा, विलाता, पूर्वापिहाणा (पूर्वापहाणा), अपरापहाणा । सम्भस्त्राजिनशणपिण्डेभ्यः फलात् । सदच्कण्डप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पात् । शूद्रा चाम्महत्पूर्वा जातिः । क्रुञ्चा, उष्णिहा, देवविशा, ज्येष्ठा, कनिष्ठा । मध्यमा पुंयोगेऽपि । मूलान्नञः । दंष्ट्रा ।

५९५ (वा०) क्षिपकादीनां च । क्षिपका, ध्रुवका, चरका, सेवका, करका, चटका, अवका, लहका, अलका, कन्यका, ध्रुवका, एडका । आकृतिगणोऽयम् ।

६३६ नित्यं सपत्न्यादिषु (४-१-३५) । समान, एक, वीर, पिण्ड, श्व (शिरि), भ्रातृ, भद्र, पुत्र । दासाच्छन्दसि ।

६४३ षिद्गौरादिभ्यश्च (४-१-४१) । गौर मत्स्य मनुष्य शृङ्ग पिङ्गल हय गवय मुकय ऋष्य [पुट तूण] द्रुण द्रोण हरिण कोकण (काकण) पटर उणक [आमल] आमलक कुबल बिम्ब बदर फर्कर (कर्करक) तर्कार शर्कार पुष्कर शिखण्ड सलद शष्कण्ड सनन्द सुषम सुषव अलिन्द गडुल षण्डश आढक आनन्द आश्वत्थ सृपाट आखक (आपच्चिक) शष्कुल सूर्य (सूर्म) शूर्प सूप यूष (पूष) यूथ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वार्तिक	सूत्राङ्क
ट	
टुनदीर्घात्पूर्वस्य	२८२, ३०६
टेश्च	५४०
टिपर्यन्तानामेवेष्टिः	२६५
टिषः शतुर्वा	६२७
ठ	
ठात्वन्तयकोस्तु	४६५
न	
नञ्स्नञीकक्ख्युंस्त	४७०
न समासे	९१
नानर्थकेऽलोन्त्य	३४७
निमित्तपर्यायप्रयोगे	६०८
निमित्तात्कर्मयोगे	६३३
नियन्तृकर्तृकस्य	५४०
नीलादोषधौ	५००
नील्या अन्व	५००
नुमचिर	२८०, २९९, ३२०, ३२२, ३२३
प	
पाणिगृहीती भार्या	५०८
पालकान्तान्न	५०४
पाशकल्पककाम्ये	१५२
पिशङ्गादुपसंख्यानम्	४९६
पुच्छाच्च	५११
पूर्वत्रासिद्धे न	१३५, ४३४
प्रकृत्यादिभ्य उपसं	५६१
प्रत्यये भाषायां	१६६
प्रथमलिङ्गग्रहणं च	२६६
प्रवत्सतरकम्बल	७३
प्राणिनि च	५००
प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु	७३
ब	
बहुव्रीहौ वा	४५६
बहूञि नुम्प्रतिषेधः	४४३
भ	
भक्षेरहिंसार्थस्य न	५४०
भोराजन्यविशां	९४
म	
मत्स्यस्य ङ्याम्	४९९, ५१८
मातरि षिच्च	४९९
मामकनरकयोः	४६३
मासश्छन्दसि	३१७
मुहुसः प्रतिषेधः	१५५
मूलान्नञः	४५४
य	
यणो मयो द्वे वाच्ये	५४
यणः प्रतिषेधो	५४
यतश्चाध्वकाल	५९४
यवनाल्लिप्याम्	५०५
यवलपरे यवला	१२७
यवाद्दोषे	५०५
र	
रज्ज्वादिपर्युदासादु	५२१
रादेशात्पूर्वविप्रतिषेधेन	३००
रूपरात्रिरथन्तर	१७२
लघ्वक्षरं पूर्वम्	९०५
ल्यब्लोपे कर्मण्यधि	५९४
व	
वनो न हश इति	४५६
वयस्यचरम इति	४७८
वयोवाचकस्यैव	४८६
वर्णका तान्तवे	४६४
वर्तका शकुनौ प्राचाम्	४६४
वा हतजग्धयोः	५५
विभक्तौ लिङ्ग-विशिष्टा	३००
विभाषाप्रकरणे	२२६
वृद्धयौत्वतृज्वद्भाव	३२०
श	
शकन्ध्वादिषु पररूपम्	७९
शब्दायतेर्न	५४०
शरः खयः	१३८
शूद्रा चामहत्पूर्वा	४५४
शेषे विभाषा	६२४
श्वशुरस्योकाराकार	५२३
षाद्यनश्चाव्वाच्यः	५२८
स	
संज्ञायां वा	५००
सम्पुङ्कानां सो	१३८, १३९
सम्बद्धौ नपुंसकानां	३६८
सम्भस्त्राजिनशण	४५४
सदक्काण्डप्रान्त	४५४
समानवाक्ये निघात	४०७
समासप्रत्ययविधौ	२६
सिति च	९१
सीमन्तः केशवेशे	७९
सूतकापुत्रिका	४६४
सूर्यागस्त्ययोश्छे	४९९
सूर्यादेवतायां चा	५०४
स्त्रियां न	९४
स्त्रियाम्	४८४
स्त्रीप्रत्यययोरकाका	६२४
स्वादीरेरिणोः	७३
ह	
हयगवयमुकयमनुष्य	५१८
हितयोगे च	५८०
हिमारण्ययोर्महत्त्वे	५०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गणपाठः

पृष्ठसंख्या

४७ चादयोऽसत्त्वे (१-४-५७) चादीनां समावेशः अव्ययेषु वर्तते ।

४८ प्रादयः (१-४-५८) । प्रादीनां पाठः "गतिश्चे"ति सूत्रे मूले एव वर्तते ।

११५ (वा०) शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम् । अस्मिन् गणे पठिताः शब्दा मूले एव द्रष्टव्याः ।

१७० कस्कादिषु च (८-३-४८) । कस्कः, कौतस्कुतः, भ्रातुष्पुत्रः, शुनस्कर्णः, सद्यस्कालः, सद्यस्क्रीः, साद्यस्कः, कांस्कान्, सर्पिष्कुण्डिका, धनुष्कपालम्, बर्हिष्पलम् (बर्हिष्पलम्), यजुष्पात्रम्, अयस्कान्तः, तमस्कान्तः, अयस्काण्डः, तमस्काण्डः, मेदस्पिण्डः, भास्करः, अहस्करः । आकृतिगणोऽयम् ।

१९६ (वा०) अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः । अहरादिः—अहर्, गीर्, धुर् । पत्यादिः—पति, गण, पुत्र ।

२३५ सर्वादीनि सर्वनामानि (१-१-१७) । सर्वादिशब्दाः मूले एव पठिताः । तत्रैव द्रष्टव्याः ।

३६८ न षट्स्वस्रादिभ्यः (४-१-१०) । स्वस्रादि-षस-शब्दा मूले कारिकायां निर्दिष्टाः ।

५५९ स्वरादिनिपातमव्ययम् (१-१-३७) । अव्ययानां पाठोऽपि ग्रन्थे मूले वर्तते । तत्रैव अनुसन्धेयः ।

५७५ अजाद्यतष्टाप् (४-१-४) । अजा, एडका, कोकिला, चटका, अश्वा, मूषिका, बाला, होडा, पाका, वत्सा, मन्दा, विलाता, पूर्वापिहाणा (पूर्वापहाणा), अपरापहाणा । सम्भस्त्राजिनशणपिण्डेभ्यः फलात् । सदच्काण्डप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पात् । शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः । क्रुञ्चा, उष्णिहा, देवविशा, ज्येष्ठा, कनिष्ठा । मध्यमा पुंयोगेऽपि । मूलान्नजः । दंष्ट्रा ।

५९५ (वा०) क्षिपकादीनां च । क्षिपका, ध्रुवका, चरका, सेवका, करका, चटका, अवका, लहका, अलका, कन्यका, ध्रुवका, एडका । आकृतिगणोऽयम् ।

६३६ नित्यं सपत्न्यादिषु (४-१-३५) । समान, एक, वीर, पिण्ड, श्व (शिरि), भ्रातृ, भद्र, पुत्र । दासाच्छन्दसि ।

६४३ षिद्गौरादिभ्यश्च (४-१-४१) । गौर मत्स्य मनुष्य भृङ्ग पिङ्गल हय गवय मुकय ऋष्य [पुट तूण] द्रुण द्रोण हरिण कोकण (काकण) पटर उणक [आमल] आमलक कुबल बिम्ब बदर फर्कर (कर्करक) तर्कार शर्कार पुष्कर शिखण्ड सलद शष्कण्ड सनन्द सुषम सुषव अलिन्द गडुल षण्डश आढक आनन्द आश्वत्थ सृपाट आखक (आपच्चिक) शष्कुल सूर्य (सूर्म) शूर्प सूप यूष (पूष) यूथ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूप मेथ वल्लक घातक सल्लक मालक मालत साल्वक वेतस वृक्ष (वृस) अतस [उभय] भृङ्ग मह मठ छेद पेश मेद श्वन् तक्षन् अनड्वही अनड्वाही । एषण: करणे । देह देहल काकादन गवादन तेजन रजन लवण औद्गाहमानि आद्गाह-मानि गौतम (गोतम) [पारक] अयस्थूण (अय:स्थूण) भौरिकि भौलिकि भौलिङ्गि यान मेध आलम्बि आलजि आलम्धि आलक्षि केवाल आपक आरट नट-टोट नोट मूलाट शातन [पोतन] पातन पाठन (पानठ) आस्तरण अधिकरण अधिकार अग्रहायणो (आग्रहायणी) प्रत्यवरोहिणी [सेचन] सुमङ्गलात्संज्ञा-याम् । अण्डर सुन्दर मण्डल मन्थर मङ्गल पट पिण्ड [षण्ड] उर्द गुर्द शम सूद औड (आर्द्र) हृद (ह्रद) पाण्ड [माण्डल] माण्ड [लोहाण्ड] कदर कन्दर कदल तरुण तलुन कल्माष बृहन् महत् [सोम] सौधर्म । रोहिणी नक्षत्रे । रेवती नक्षत्रे । विकल निष्कल पुष्कल । कटाच्छ्रोणिवचने । पिप्पल्यादयश्च । पिप्पली हरितकी (हरीतकी) कोशातकी शमी वरी शरी पृथिवी कोष्टु मातामह पितामह । इति गौरादि: ।

६५२ **बह्वादिभ्यश्च** (४-१-४५) । बहु, पद्धति, अश्वति, अङ्कति, अंहति, शकटि (शकति) । शक्ति: शस्त्रे । शारि, वारि, राति, राभि (शाधि), अहि कपि, यष्टि, मुनि । इत: प्राण्यङ्गात् । कृदिकारादक्तिन: । सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके । चण्ड, अराल, कृपण, कमल, विकट, विशाल, विशङ्कट, भरुज, ध्वज, चन्द्रभागान्नद्याम् (चन्द्रभागा नद्याम्), कल्याण, उदार, पुराण, अहन्, क्रोड, नख, खुर, शिखा, बाल, शफ, गुद । आकृतिगणोऽयम् । तेन भग, गल, राग इत्यादि ।

६८२ **शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्** (४-१-७३) शार्ङ्गरव, कापटव, गौरगुलव, ब्राह्मण, बैद, गौतम, कामण्डलेय, ब्राह्मणकृतेय, (आनिचेय) आनिधेय, आशोकेय, वात्स्यायन, मौञ्जायन, कैकस, काप्य, शैव्य, एहि, पर्येहि आश्मरथ्य, औदपान, अराल, चण्डाल, वतण्ड । भोगवद्गौरिमतो: संज्ञायां घादिषु (६-३-४३) नित्यम् ह्रस्वार्थम् । नृनरयोर्वृद्धिश्च ।

७३१ (वा०) **प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्** (२-३-१८) । प्रकृति, प्राय, गोत्र, सम, विषम, द्विद्रोण, पञ्चक, साहस्र ।

७५३ (वा०) **नौ-काकान्न-शुक-शृगालवर्जेषु** (२-३-१७) । नौ, काक, अन्न, शुक, शृगाल ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्टम्

(१) व्याकरणे विशेषोपयोगीनि लक्षणानि

(१) किमिदं व्याकरणम् ?

व्याक्रियन्ते = व्युत्पाद्यन्ते शब्दाः अनेन इति व्युत्पत्त्या शब्दसाधुत्वप्रतिपादकं शास्त्रं व्याकरणमिति। साधुशब्दा हि प्रयुज्यमाना यथार्थम् अर्थम् अवबोधयन्ति न असाधुशब्दाः। साधुशब्दप्रयोगे तु व्याकरणाध्ययनं हि प्रधानं प्रयोजकम्। न हि व्याकरणज्ञानरहितः साधुशब्दान् प्रयोक्तुं क्षमः।

(२) सूत्रस्य लक्षणम्

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥ यथा "वृद्धिरादैच्" आदीनि ग्रन्थोक्तानि सूत्राणि।

(३) सूत्र-भेदाः

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्॥

(क) तत्र च संज्ञासञ्ज्ञिप्रत्यायकं सूत्रं सञ्ज्ञासूत्रम्। यथा "वृद्धिरादैच्" "अदेङ्गुणः" "शेषो घ्यसखि" इत्यादीनि। (ख) अनियमे नियमकारिणी परिभाषा। सा च अव्यवस्थायां व्यवस्थामापादयति। यथा "तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य" इत्यादीनि सूत्राणि। (ग) आदेशादिविधायकं सूत्रम् विधिसूत्रम्। यथा "इको यणचि" "एचोऽवयवायावः" इत्यादीनि सूत्राणि। निषेधसूत्राणाम् अभावरूपापूर्वबोधकत्वेन विधिसूत्रेषु अन्तर्भावो भवति। (घ) प्राप्तस्य विधेः नियामकं सूत्रं नियमसूत्रम्। यथा "नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति" "कृत्तद्धितसमासाश्च" इत्यादीनि। (ङ) अन्यतुल्यत्वविधानम् अतिदेशः। यथा "स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ", "गोतो णित्" इत्यादीनि सूत्राणि। (च) एकत्र उपात्तस्य अन्यत्र व्यापारः अधिकारः। यथा "कारके" "प्रत्ययः" "परश्च" इत्यादीनि सूत्राणि। तत्रापि अधिकारस्य प्रभावः त्रिप्रकारकः। तथा हि—

सिंहावलोकितं चैव मण्डूकप्लुतमेव च।
गङ्गाप्रवाहवच्चापि अधिकारास्त्रिधा मताः॥

(४) वार्तिकलक्षणम्

"उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा विचक्षणाः॥"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथा "यणः प्रतिषेधो वाच्यः" "छत्वममीति वाच्यम्" "शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्" इत्यादीनि तत्र तत्र निर्दिष्टानि ।

(५) भाष्यलक्षणम्

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वर्णैः सूत्रानुसारिभिः ।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥

यथा महामुनि-पतञ्जलिविरचितं सुप्रसिद्धं महाभाष्यम् ।

(६) व्याख्यानलक्षणम्

पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना ।
आक्षेपश्च समाधानं व्याख्यानं षड्विधं मतम् ॥

यथा सूत्राणां काशिका-प्रक्रियाकौमुदी-सिद्धान्तकौमुद्यादिरूपं ग्रन्थात्मकं व्याख्यानम् ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) रूपदीपिका

छात्राणां लेखसौष्ठवपरिज्ञानाय कौमुदीस्थानां कतिपयरूपाणां लेखनप्रकारः प्रदर्श्यते। रूपसिद्धौ तावत् प्रथमं प्रमुखानि कार्याणि निरूपणीयानि। तदनु मध्यवर्तिन्यः शङ्का यथाक्रमं प्रस्थापनपूर्वकं निराकरणीयाः।

सुद्ध्युपास्यः—'सुधी + उपास्यः' इत्यवस्थायां "तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य" "स्थानेन्तरतमः" इति परिभाषासूत्रद्वयसहकारेण उकाररूपाजव्यवहितपूर्वस्य ईकारस्य स्थाने तालुस्थानजन्यत्वधर्मेण अन्तरतमे यकाररूपयणादेशे, "अनचि च" इत्यनेन सकारोत्तरवर्त्युकारात् परस्य धकारस्य द्वित्वे 'सु ध् ध् य् उपास्यः' इति स्थिते, "झलां जश् झशि" इति सूत्रेण जश्त्वात् पूर्वधकारस्य दकारे, 'यणो मयो द्वे वाच्ये' इति वार्तिकसहकारेण 'मय' इति पञ्चमी 'यण' इति षष्ठीति पक्षे यकारस्य द्वित्वेन द्विधं द्वियं 'सुद्ध्य्युपास्यः' इत्येकं रूपम्। यकारद्वित्वाभावे द्विधम् एकयं 'सुद्धयुपास्यः' इति द्वितीयं रूपम्। धकारस्य द्वित्वाभावे यकारस्य द्वित्वपक्षे च एकधं द्वियं 'सुध्य्युपास्य' इति तृतीयं रूपम्। धकारयकारोभयोरपि द्वित्वस्य पाक्षिकत्वाद् अप्रवृत्तौ एकधम् एकयं 'सुध्युपास्यः' इति चतुर्थं रूपम्।

ननु अत्र "स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ" इति यणः स्थानिवत्त्वेन अच्परतया "अनचि च" इति धकारस्य द्वित्वं न स्यात् इति चेन्न—'अनल्विधौ' इति तन्निषेधात्। नापि "अचः परस्मिन्" इति तस्य स्थानिवत्त्वम्, "न पदान्त" इत्यादिना सूत्रेण द्वित्वे कर्तव्ये स्थानिवद्भावनिषेधात्। नाप्यत्र "संयोगान्तस्य लोपः" इति सूत्रेण 'सुद् ध् य् उपास्यः' इति स्थितौ पूर्वपदान्तत्वाद् यकारस्य लोपः शङ्कनीयः, 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' इति वार्तिकेन तस्य निषेधादिति।

हर इह—हरे + इह इत्यवस्थायाम् "एचोऽयवायावः" इति सूत्रेण "यथासंख्य-मनुदेशः समानाम्" इति परिभाषाबलेन एकारस्य स्थाने 'अय्' आदेशेन हरय् + इह इति जाते, ततश्च "लोपः शाकल्यस्य" इति सूत्रेण पाक्षिके यकारलोपे 'हर इह' इति सिध्यति। न च अत्र हर + इह इत्यस्याम् अवस्थायां "आद् गुणः" इति सूत्रेण गुण-सन्धिः स्यात् इति वाच्यम्—"पूर्वत्रासिद्धम्" इति शास्त्रेण सपादसप्ताध्यायि-गुण-दृष्टौ लोपस्यैवासिद्धत्वात्। तथा च अकारेकारयोर्मध्ये यकार-स्थिति-कल्पनया गुणस्य प्रवृत्तिर्नैव भवति। लोपाभावपक्षे हरयिह इति रूपं भवति।

कृष्णर्द्धिः—कृष्ण + ऋद्धिः इत्यवस्थायाम् "आद् गुणः" इति सूत्रेण पूर्वपरयोः अकार-ऋकारयोः स्थाने "उरण् रपरः" इति सूत्रसहकारेण 'अर्' इत्यादेशे 'कृष्ण्-अर्-ध् धिः इति जाते, "अचो रहाभ्यां द्वे" इति सूत्रेण रेफात्परस्य धकारस्य द्वित्वेन कृष्ण्-अर्-ध्-ध्धिः' इति स्थितौ "झरो झरि सवर्णे" इति सूत्रेण हलः (प्रथमधकारात्) परस्य झरः (द्वितीयधकारस्य) लोपेन 'कृष्ण्-अर्-ध् धिः' इति जाते, ततश्च "झलां जश् झशि" इति सूत्रेण पूर्वधकारस्य स्थाने जश्त्वेन दकारे कृते सति 'कृष्णर्द्धिः'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति रूपं सिद्धयति। लोपाभावपक्षे कृष्णद्ँद्धिः। यदा तु द्वित्वमपि न स्यात् तदा 'कृष्ण्-अर्-ध्-धिः' इत्यवस्थायाम् हलः परस्य सवर्णंझरः पूर्वंधकारस्य लोपेन एकधकारात्मकं 'कृष्णधिः' इति रूपमपि भवति।

शिवेहि—शिव + आ + इहि इति स्थिते, तत्र च 'शिव + आ' इत्यत्र "अकः सवर्णे दीर्घः" इति दीर्घे प्राप्ते 'आ + इहि' इत्यत्र च गुणे प्राप्ते, धातूपसर्गंकार्यत्वेन अन्तरङ्गत्वात् प्रथमम् "आद् गुणः" इति सूत्रेण गुणसन्धौ कृतायाम् 'शिव + एहि' इति जाते, तदनु "अन्तादिवच्च" इति परिभाषाबलेन पूर्वान्तवद्भावेन आङ्त्वे, "ओमाङोश्च" इति सूत्रेण परूपे च कृते सति 'शिवेहि' इति रूपस्य सिद्धिर्भवति।

एहि कृष्ण ३ अत्र अत्र गौश्चरति—अत्र वाक्यद्वयम्। 'एहि कृष्ण ३' इति प्रथमं वाक्यम्। अत्र 'गौः चरति' इति द्वितीयं वाक्यम्। तत्र प्रथमवाक्यान्तस्य कृष्णशब्दस्थ-णकारोत्तराकारस्य "दूराद्धूते च" इति सूत्रेण प्लुतविधानात् तस्य तदुत्तरवर्ति-द्वितीय-वाक्यस्थाऽकारे अचि परे "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्" इति सूत्रेण प्रकृतिभावे सति सवर्णंदीर्घस्य निवृत्त्या इष्टरूपसिद्धिः भवति।

हरी एतौ—अत्र 'हरि' शब्दस्य द्विवचनान्तं 'हरी' इति रूपम्। तच्च ईकारान्तं वर्तते। अतः तस्य "ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" इति सूत्रेण प्रगृह्यसंज्ञायां कृतायां "प्लुत-प्रगृह्या अचि नित्यम्" इति सूत्रेण प्रकृतिभावविधानात् "इको यणचि" इति सूत्रेण प्राप्तः यण् विधिः न भवति।

मनीषा—मनस् + ईषा इति स्थितिः। अत्र "अचोऽन्त्यादि टि" इति सूत्रेण 'मनस्'-शब्दावयवाऽस्भागस्य 'टि' संज्ञायाम् कृतायाम् 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इति वार्तिकसहकारेण पररूपत्वात् 'अस्'भागस्य 'ईकाररूपे' परिवर्तनेन 'मनीषा' इति रूपं सिद्धयति।

हरिश्शेते—हरिस् + शेते इत्यवस्थायां "स्तोः श्चुना श्चुः" इति सूत्रेण शकारस्य योगे सकारस्य स्थाने श्चुत्वेन शकारे कृते सति 'हरिश्शेते' इति रूपं सिद्धयति।

उत्थानम्—उद् + स्थानम् इति स्थितौ "उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य" इत्यनेन प्राप्तः पूर्वंसवर्णः कस्य स्थाने स्यादिति जिज्ञासायां "तस्मादित्युत्तरस्य" इति परिभाषासहकारेण उदः परस्य स्थेत्यस्याकारस्य स्थाने प्राप्तः, तं प्रबाध्य "आदेः परस्य" इति परिभाषाबलात् विवारमहाप्राणप्रयत्नवतः सकारस्य स्थाने तादृशे थकारे जाते सति 'उद् + थ् थानम्' इत्यवस्थायां "झरो झरि सवर्णे" इति सूत्रेण पूर्वंथकारस्य पाक्षिकलोपेन 'उद् + थानम्' इति जाते, ततश्च दकारस्य स्थाने "खरि च" इति चर्त्वेन तकारे कृते सति 'उत्थानम्' इति रूपं सिद्धयति। न च अत्र थानमिति थकारस्य चर्त्वेन तकारत्वं स्यादिति वाच्यम्—चर्त्वंदृष्ट्या पूर्वंसवर्णस्य असिद्धत्वात्तदप्राप्तेः।

सञ्छम्भुः—सन् + शम्भुः इत्यवस्थायां "शि तुक्" इति सूत्रेण "आद्यन्तौ टकितौ" इति परिभाषासहकारेण नकारान्तावयवे तुगागमे सति 'सन्-त् + शम्भुः' इत्यवस्थायां "शश्छोटि" इति सूत्रेण पदान्ततकारात् परस्य शकारस्य स्थाने छकारादेशविधानेन 'सन्-त् + छम्भुः' इति स्थितौ "स्तोः श्चुना श्चुः" इति श्चुत्वेन तकारस्य स्थाने चकारे कृते

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सति पुनः श्चुत्वेन नकारस्य ञकारादेशेन 'सञ् च् + छम्भुः' इत्यवस्थायां "झरो झरि सवर्णे" इति सूत्रेण चकारलोपे 'सञ्छम्भुः' इति सिद्धयति। लोपाभावे 'सञ् च् छम्भुः', छत्वलोपयोरभावे 'सञ्च्शम्भुः', छत्वतुकोरभावपक्षे 'सञ् शम्भुः' इति मिलित्वा चत्वारि रूपाणि भवन्ति। तथा चोक्तम्—

"ञछौ ञचछा ञचशा ञशाविति रूपचतुष्टयम्।
रूपाणामिह तुक्छत्वचलोपानां विकल्पनात्॥" इति।

नॄंः पाहि—'नॄन् + पाहि' इति विग्रहे पञ्च रूपाणि सिद्धयन्ति। तेषु एकम् रूपं 'नॄंः पाहि' इति भवति। तथा हि—नॄन् + पाहि इत्यवस्थायां "नॄन् पे" इति सूत्रेण नकारस्य स्थाने पाक्षिके रुत्वे 'नॄर् + पाहि' इति जाते, "अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः" इति सूत्रेण रोः पूर्वस्मादनुस्वारागमे कृते सति 'नॄंर् + पाहि' इति दशायां "खरवसानयो-र्विसर्जनीयः" इति सूत्रेण विसर्गे कृते सति 'नॄंः पाहि' इति रूपं सिद्धयति।

मनोरथः—प्रकृते मनस् + रथः इत्यवस्थायां "ससजुषो रुः" इति सूत्रेण सकारस्य रुत्वे कृते सति "हशि च" इति सूत्रेण रोः उत्वं प्राप्नोति, "रो रि" इति सूत्रेण च पूर्वरेफस्य लोपः प्राप्नोति। तयोः मध्ये कतरेण भाव्यम् इति विवादे "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" इति नियमेन सूत्रक्रमे परत्र पठितत्वात् "रो रि" इति रेफस्य लोपः प्राप्नोति, किन्तु असिद्धत्वकल्पनया "पूर्वत्रासिद्धम्" इति सूत्रदृष्ट्या लोपशास्त्रस्य असिद्धत्वेन "हशि च" इति सूत्रेण उत्वे कृते सति 'मन-उ-रथः' इति स्थिते "आद् गुणः" इत्यनेन गुणे जाते 'मनोरथः' इति सिद्धयति।

हरी रम्यः—हरिस् + रम्यः इत्यवस्थायां "ससजुषो रुः" इति सूत्रेण सस्य रुत्वे, उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते हरिर् + रम्यः इति जाते, "रो रि" इति सूत्रेण पूर्वरेफस्य लोपे, "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" इति सूत्रेण पूर्वस्य अणः दीर्घत्वेन अत्र इकारस्य दीर्घे सति 'हरी रम्यः' इति सिद्धयति।

रामः—'रमु' क्रीडायाम् इति धातोः "हलश्च" इति सूत्रेण घञि, अनुबन्धलोपे, आदेः अचः वृद्धौ 'राम' इति निष्पन्नं भवति व्युत्पत्तिपक्षे। अत्र "कृत्तद्धितसमासाश्च" इति सूत्रेण प्रातिपदिकसंज्ञायाम् "स्वौजसमौट्०" इत्यादिना प्रथमैकवचने 'सु' प्रत्यये उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'रामस्' इत्यत्र "ससजुषो रुः" इति रुत्वे, उकारानुबन्धलोपे 'रामर्' इत्यवस्थायां "खरवसानयोर्विसर्जनीयः" इति सूत्रेण रेफस्य विसर्गे 'रामः' इति रूपं भवति। अव्युत्पत्तिपक्षे तु 'राम' शब्दस्य प्रातिपदिकसंज्ञा "अर्थवदधातुर-प्रत्ययः प्रातिपदिकम्" इति सूत्रेण भवति। अन्यत् सर्वं पूर्ववत् ज्ञेयम्।

सर्वेषाम्—"सर्वादीनि सर्वनामानि" इति सूत्रविहित-सर्वनामसंज्ञक 'सर्व' शब्दस्य प्रातिपदिकसंज्ञायाम् षष्ठी-बहुवचन-विवक्षायाम् 'आम्' विभक्तौ सर्व + आम् इति अवस्था-याम् नुटं बाधित्वा "आमि सर्वनाम्नः" सुट् इति सूत्रेण सुडागमे, उकारटकारयोः इत्संज्ञायां लोपे च 'सर्व-स् + आम्' इति स्थिते, "बहुवचने झल्येत्" इति अकारस्य एत्वे, "आदेशप्रत्यययोः" इति सूत्रेण षत्वे 'सर्वेषाम्' इति सिद्धम्।

निर्जरसौ—जरायाः निर्गतः इति विग्रहे 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इति समासः। ततः सुब्लुकि "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" इति सूत्रेण ह्रस्वविधानात् 'निर्जर'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति रूपं निष्पद्यते। तदनन्तरं 'निर्जर' शब्दस्य "कृत्तद्धितसमासाश्च" इति प्रातिपदिकसंज्ञायां प्रथमाद्विवचने 'औ'-विभक्तौ "जराया जरसन्यतरस्याम्" इति सूत्रेण जराशब्दस्य 'जरस्'-आदेशे 'निर्जरसौ' इति रूपं सिद्धयति। ननु निर्जर+औ इति स्थितौ सूत्रे 'जरा'शब्दस्य जरसादेशविधानेन अत्र तत्त्वाभावात् कथं जरसादेश इति चेन्न—'पदाङ्गाधिकारे तस्य तदन्तस्य च' इति नियमेन जरसादेशस्य अङ्गाधिकारतया तदन्तेऽपि प्रवृत्तिसम्भवात्। न च जरसादेशस्य तदन्तेऽपि प्रवृत्तौ तस्य अनेकाल्त्वात् सर्वादेशः स्यादिति वाच्यम्—'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इति परिभाषासहकारेण जरांशस्यैव स्थाने जरसादेशस्योचितत्वात्। ननु अस्याः परिभाषायाः प्रवृत्तावपि अत्र 'जरा' इत्यस्याभावात् कथं जरसादेश इति चेन्न—'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति परिभाषोपस्थित्या अत्र ह्रस्वेन एकदेशविकृतेऽपि जरात्वानपायादिति सर्वं सुस्थम्।

बहुश्रेयस्याम्—'बह्व्यः श्रेयस्यः यस्य सः' इति विग्रहे "अनेकमन्यपदार्थे" इति बहुव्रीहिसमासे, सुब्लुकि, "स्त्रियाः पुंवत्०" इति बहुशब्दस्य पुंवद्भावे कृते सति 'बहुश्रेयसी' इति रूपं निष्पद्यते। ततश्च "कृत्तद्धितसमासाश्च" इति सूत्रेण प्रातिपदिकसंज्ञायां सप्तम्येकवचनविवक्षायां 'ङि' प्रत्यये अनुबन्धलोपे च कृते, "यू स्त्र्याख्यौ नदी" इति सूत्रेण नदीसंज्ञायाम् "ङेराम्नद्यामीभ्यः" इति सूत्रेण ङेः स्थाने आमादेशे, ततश्च नुटं प्रबाध्य "आण् नद्याः" इति आडागमे, "आटश्च" इति सूत्रेण वृद्धौ च कृतायां 'बहुश्रेयसी+आम्' इति स्थिते "इको यणचि" इति सूत्रेण यणि 'बहुश्रेयस्याम्' इति रूपं सिद्धयति। ननु 'बहुश्रेयसी' शब्दस्य इदानीं पुंस्त्वात् "यू स्त्र्याख्यौ नदी" इत्यत्र नित्येदूदन्तयोः नदीत्वविधानात् कथं नदी-संज्ञायाः प्रवृत्तिः स्यादिति चेन्न—"प्रथमलिङ्गग्रहणं च" इति परिभाषाबलेन समासादिवृत्तेः प्राक् नित्यस्त्रीलिङ्गस्य शब्दस्य सम्प्रति पुंस्त्वेऽपि नदीत्वानापत्तेः। तदुक्तं भाष्यकृता—'अवयवस्त्रीविषयत्वात् सिद्धम्। अवयवोऽत्र स्त्रीविषयः। तदाश्रया नदीसंज्ञा भविष्यति' इति।

क्रोष्टा—आह्वानरोदनार्थकात् क्रुश धातोः 'सितनिजमिमसिसत्यविधान्क्रुशिभ्यस्तुन्' इति 'तुन्' प्रत्यये, "व्रश्चभ्रस्ज"० इति शस्य षे, "ष्टुनाष्टुः" इति ष्टुत्वे, कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां प्रथमाया एकवचने सौ, "तृज्वत् क्रोष्टुः" इत्यनेन तृज्वद्भावेन 'क्रोष्टु' शब्दस्य स्थाने क्रोष्ट्रभावे जाते, "ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः" इति सूत्रेण प्राप्तं गुणं बाधित्वा "ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च" इति सूत्रेण अनङि, "हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्" इति विभक्तिलोपे, एकदेशविकृतस्यानन्यतया "अप्तृन्तृच्" इति तृजन्तत्वाद्दीर्घे, "नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य" इति नलोपे च कृते 'क्रोष्टा' इति सिद्धम्।

मत्याम्—'मति' शब्दस्य प्रातिपदिकसंज्ञायां सप्तम्येकवचने ङौ अनुबन्धलोपे च कृते, "ङिति ह्रस्वश्च" इति सूत्रेण नदीसंज्ञायाम्, "इदुद्भ्याम्" इति सूत्रेण ङेरामि कृते, "इको यणचि" इति यणादेशे तत्सिद्धम्। ननु मत्यामित्यत्र नदीसंज्ञापक्षे "ङेराम्नद्याम्नीभ्यः" इत्यनेनैव आमि सिद्धे "इदुद्भ्याम्" इत्यस्यारम्भो व्यर्थ इति नाशङ्कनीयम्—"ङेराम्नद्याम्नीभ्यः" इति सूत्रस्य 'मत्याम्' इत्यत्र, "औत्" इत्यस्य च 'सख्यौ' 'पत्यौ' इत्यादौ चारितार्थ्येन प्रकृते "औत्" इत्यस्य प्रवृत्त्यापत्तेः। सति त्वस्मिन् निरवकाशेन अनेन 'औत्' इत्यस्य बाधो भवेत् इत्यभिप्रायेण अस्य आरम्भः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुल्वा, सुलुना—सुष्ठु लुनाति इति विग्रहे क्विपि (सु-लू + क्विप्) तस्य सर्वापहारि-लोपे 'सुलू' शब्दस्य "कृत्तद्धितसमासाश्च" इति प्रातिपादिकसंज्ञायां, "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" इति ह्रस्वत्वे, ततः तृतीयैकवचनविवक्षायां 'टा' विभक्तौ टकारस्येत्संज्ञा-लोपयोः "तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य" इति पुंवद्भावेन दीर्घान्तादेशे 'सुलू-+आ' इति स्थितौ "ओः सुपि" इति सूत्रेण यणादेशे कृते 'सुल्वा' इति रूपं सिद्धयति। पाक्षिकपुंवद्भावादन्यत्र "इकोऽचि विभक्तौ" इति सूत्रेण नुमागमे 'सुलुना' इति द्वितीयं रूपं भवति।

धुक्षु—प्रपूरणार्थक 'दुह्' धातोः क्विपि तस्य सर्वापहारे सति 'दुह्' इति निष्पद्यते। ततः "कृत्तद्धितसमासाश्च" इति प्रातिपदिकसंज्ञायां सप्तमीबहुवचनविवक्षायां सुप्प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, "दादेर्धातोर्घः" इति सूत्रेण हस्य घत्वे, "एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः" इति सूत्रेण भष्भावेन दकारस्य धकारे, "खरि च" इति चर्त्वेन घस्य ककारे, "आदेशप्रत्यययोः" इति सूत्रेण प्रत्ययावयवसकारस्य षकारे, ककार-षकारयोः क्षत्वे जाते सिद्धं रूपं 'धुक्षु' इति।

अनड्वान्—अनः शकटं वहतीत्यर्थे अनस्-उपपदात् प्रापणार्थाद् वहेः 'अनसो डश्च' इति क्विपि, सकारस्य डकारे च कृते "वचिस्वपियजादीनां किति" इति सूत्रेण यजादि-त्वात् सम्प्रसारणत्वेन उकारे "सम्प्रसारणाच्च" इति सूत्रेण पूर्वरूपे कृते सति कृदन्तत्वात् 'अनडुह्' इत्यस्य प्रातिपदिकसंज्ञायां प्रथमैकवचने 'सु' विभक्तौ 'अनडुह् + सु' इति स्थिते सति "चतुरनडुहोरामुदात्तः" इति सूत्रेण आमि, "सावनडुहः" इति नुमि, उमि गते 'अनडु + आ—न्—ह् + सु' इति स्थिते, हकारस्य संयोगान्तलोपे, विभक्तेः लोपे, संयोगशास्त्रस्य दृष्ट्या "पूर्वत्रासिद्धम्" इति शास्त्रबलेन संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वात् नलोपाभावे "इको यणचि" इति यणा वकारे कृते तत्सिद्धम्। अत्र 'नुम्' विधिसामर्थ्याद् दत्वं न भवतीत्यपि ज्ञेयम्।

यूनः—'युवन्' शब्दस्य प्रातिपदिकसंज्ञायां द्वितीयाबहुवचने शसि अनुबन्धलोपे च 'युवन् + अस्' इति स्थिते, "श्वयुवमघोनामतद्धिते" इति वकारस्य सम्प्रसारणत्वाद् उकारे "सम्प्रसारणाच्च" इति पूर्वरूपे, "अकः सवर्णे दीर्घः" इति दीर्घे 'यून् + अस्' इत्यवस्थायां पुनः यकारस्य स्थाने प्राप्तस्य सम्प्रसारणस्य "न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्" इति निषेधे, रुत्वे विसर्गे च 'यूनः' इति सिद्धम्।

युष्मत्—'युष्मद्' शब्दस्य अव्युत्पन्नतया "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" इति सूत्रेण प्रातिपदिकसंज्ञायां 'पञ्चमीबहुवचन-विवक्षायां 'भ्यस्' विभक्तौ "पञ्चम्या अत्" इति सूत्रेण भ्यसः स्थाने विधीयमानस्य 'अत्'—आदेशस्य अनेकाल्त्वात् "अनेकाल्-शित्सर्वस्य" इति सूत्रबलेन सर्वादेशे, "शेषे लोपः" इति 'टि' लोपे रूपसिद्धिः। अन्त्यलोपपक्षे तु "अतो गुणे" इति पररूपे कृते सति तत्सिद्धिः।

ऋत्विक्—'ऋतु'—उपपदाद् 'यज्' धातोः "ऋत्विक्दधृक्०" इति सूत्रेण क्विनि, अनुबन्धलोपे, इकारस्योच्चारणार्थकत्वे, यणः सम्प्रसारणे पूर्वरूपे च कृते, यणि, "वेरपृक्तस्य" इति सूत्रेण वस्य लोपे, "कृदतिङ्" इति कृत्संज्ञायां, कृदन्तत्वात् प्राति-पदिकेन प्रथमैकवचने सु-विभक्तौ 'ऋत्विज् + सु' इति स्थिते सति उकारलोपे, "हल्ङ्या-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्भ्यो दीर्घात्'० इति सूत्रेण सकारस्य लोपे "क्विन्प्रत्ययस्य कुः" इति कुत्वस्य असिद्धत्वात् "चोः कुः" इति कुत्वेन जकारस्य गकारे, "वाऽवसाने" इति चर्त्वविकल्पेन 'ऋत्विक्'–'ऋत्विग्' इति रूपे सिद्धयतः।

प्राङ्क्षु—प्रपूर्वकात् पूजार्थकात् अञ्चतेः "ऋत्विक्दधृक्स्रक्०" इत्यादिना सूत्रेण क्विनि, सर्वापहारिलोपे, प्राञ्चस्य नलोपस्य "नाञ्चेः पूजायाम्" इति निषेधेन 'प्राञ्च्' इत्यस्मात् सप्तमीबहुवचने सुपि अनुबन्धलोपे 'प्राञ्च् + सु' इत्यवस्थायां पदत्वेन "संयोगान्तलोपः" इति सूत्रेण चकारस्य लोपे 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इति नियमेन अनुस्वार-परसवर्णयोरपि अभावे नकारस्थितौ 'प्रान् + सु' इति स्थिते सति नकारस्य कुत्वेन ङकारे "ङ्णोः कुक् टुक् शरि" इति कुगागमे, सकारस्य षत्वे, 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' इति वार्तिकसहकारेण ककारस्य खकारे 'प्राङ्ख्षु' इति निष्पद्यते। द्वितीय-वर्णाभावे कषसंयोगि-क्षत्वे 'प्राङ्क्षु' इति रूपं सिद्धयति। कुगागमाभावे 'प्राङ्षु' इति च रूपं भवति। तदेवं त्रीणि रूपाणि सम्पद्यन्ते।

पिपठीष्षु—'पिपठिष्' शब्दात् सप्तमीबहुवचने सुपि, अनुबन्धलोपे, "स्वादिष्वसर्वनामस्थाने" इति पदसंज्ञायां "पूर्वत्रासिद्धम्" इति षत्वस्यासिद्धत्वात् "ससजुषो रुः" इति सूत्रेण षकारस्य रुत्वे, अनुबन्धलोपे, "वोरुपधाया दीर्घ इकः" इति सूत्रेण इकारस्य दीर्घे कृते 'पिपठीर् + सु' इत्यवस्थायां "रोः सुपि" इति सूत्रेण रोः विसर्गे, तस्य "वा शरि" इति सूत्रबलेन पाक्षिक-स्थितौ, तदभावे विसर्गस्य सकारादेशे 'पिपठीस् + सु' इति स्थिते "नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि" इति सुपः सकारस्य षत्वे, ष्टुत्वेन पूर्वसकारस्य षकारे च 'पिपठीष्षु' इति रूपं सिद्धयति।

अमुना—'अदस्' शब्दात् तृतीयैकवचनविवक्षायां 'टा'विभक्तौ, अनुबन्धलोपे, "त्यदादीनामः" इति सूत्रेण सकारस्य स्थाने अकारे, ततः पररूपे "अदसोऽसेर्दादुदो मः" इति मुत्वे कृते सति 'अमु + आ' इति जाते, "शेषो घ्यसखि" इति घिसंज्ञायाम् "आङो नाऽस्त्रियाम्" इति नाभावे कर्तव्ये मुत्वस्यासिद्धत्वं प्राप्तं, तच्च "न मु ने" इत्यनेन निषिध्यते। ततश्च नाभावे कृते 'अमुना' इति सिद्धयति। अत्र मुत्वस्य असिद्धत्वात् "सुपि च" इति दीर्घस्य प्रवृत्तिः न शङ्क्या, तेनैव नाभावे जातेऽपि मुत्वस्यासिद्धत्वनिषेधात्।

उपानत्—उपपूर्वकात् 'णह' बन्धने इत्यस्माद् धातोः कर्मणि क्विप् प्रत्यये, "नहिवृति०" इत्यादिना सूत्रेण दीर्घे, "णो नः" इति णस्य नकारे, क्विपः सर्वापहारिलोपे, कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां प्रथमाया एकवचने 'सु' विभक्तौ, उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च, ततः "हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०" इति सूत्रेण सकारस्य लोपे, "नहो धः" इति सूत्रेण हकारस्य धकारे, "झलां जशोऽन्ते" इति धकारस्य दकारे, "वाऽवसाने" इति चर्त्वे 'उपानत्' इति सिद्धयति।

अस्याः—'इदम्' शब्दात् ङसि, अनुबन्धलोपे, "त्यदादीनामः" इति सूत्रेण मकारस्य अकारे, "अतो गुणे" इति पररूपे च कृते स्त्रीत्वे द्योत्ये "अजाद्यतष्टाप्" इति टाप् प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, सवर्णदीर्घे, "सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च" इति सूत्रेण स्याडागमे ह्रस्वे च कृते, "हलि लोपः" इति सूत्रेण 'इद' भागस्य लोपे, "अकः सवर्णे दीर्घः" इति दीर्घे, सकारस्य रुत्वे विसर्गे च 'अस्याः' इति रूपं सिद्धयति।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सजूःषु—सह जुषते इति विग्रहे 'सह'पूर्वात् जुषेः क्विप्। ततः "सहस्य सः संज्ञायाम्" इति सहस्य सादेशे, क्विपः सर्वापहारिलोपे, प्रातिपदिकसंज्ञायाम् सप्तमी-बहुवचनविवक्षायां सुपि, पकारस्येत्संज्ञायां लोपे कृते सति "स्वादिष्वसर्वनामस्थाने" इति पदसंज्ञायां "ससजुषो रुः" इति सूत्रेण षकारस्य रुत्वे "वोरुपधाया दीर्घ इकः" इति उकारस्य दीर्घे सति 'सजूर् + सु' इति जाते, नित्यविसर्गं बाधित्वा "वा शरि" इति सूत्रेण पाक्षिके विसर्गे, "नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि" इति सूत्रेण षत्वे च 'सजूःषु' इति सिद्धम्। विसर्गाभावपक्षे तु "विसर्जनीयस्य सः" इति सूत्रेण विसर्गस्य स्थाने सकारे, पूर्वसूत्रेण षत्वे, ष्टुत्वे च 'सजूष्षु' इति द्वितीयं रूपम् सिद्धयति।

अहोभ्याम्—'अहन्' शब्दस्य प्रातिपदिकसंज्ञायां तृतीयाद्विवचनविवक्षायां 'भ्याम्' विभक्तौ 'अहन्' इत्यस्य "स्वादिष्वसर्वनामस्थाने" इति सूत्रेण पदसंज्ञायाम् "अहन्" इति सूत्रेण नकारस्य रुत्वे, "हशि च" इति सूत्रेण उत्वे 'अह–उ + भ्याम्' इत्यवस्थायाम् "आद् गुणः" इति सूत्रेण गुणेन अकारोकारयोः स्थाने ओंकारादेशे 'अहोभ्याम्' इति सिद्धयति।

गवाक्—गाम् अञ्चतीति विग्रहे "ऋत्विक्दधृक्स्रग्०" इत्यादिना सूत्रेण क्विनि, गत्यर्थे "अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति" इति सूत्रेण न-लोपे, उपपदसमासे, विशिष्टात् 'सु'विभक्तौ 'गो-अच् + सु' इत्यवस्थायाम्, "अवङ् स्फोटायनस्य" इति सूत्रेण अवङादेशे, सवर्णदीर्घे, "स्वमोर्नपुंसकात्" इति सूत्रेण सोर्लुकि, "क्विन्प्रत्ययस्य कुः" इति कुत्वे, जश्त्वे, पाक्षिके चर्त्वे 'गवाक्' इति रूपम्।

यत्र—यत्र इति त्रलन्तस्य "तद्धितश्चासर्वविभक्तिः" इति सूत्रेण अव्ययसंज्ञायां, ततः परस्याः सप्तम्याः "अव्ययादाप्सुपः" इति लुकि रूपसिद्धिः भवति।

अजा—'अज' शब्दात् स्त्रीत्वे द्योत्ये "अजाद्यतष्टाप्" इति 'टाप्' प्रत्यये टकार-पकारयोः इत्संज्ञायां लोपे च सवर्णदीर्घे, ततः 'अजा' शब्दात् प्रथमाविभक्तेः एकवचने 'सु' प्रत्यये अनुबन्धलोपे "हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०" इति सकारस्य लोपे 'अजा' इति रूपं सिद्धयति।

गार्गी—'गर्गस्य अपत्यं स्त्री' इत्यर्थे "गर्गादिभ्यो यञ्" इति सूत्रेण 'यञ्' प्रत्यये, आदिवृद्धौ, अकारलोपेन 'गार्ग्य' इति जाते, ततः "यञश्च" इति ङीपि गार्ग्य + ई इत्यवस्थायां भसंज्ञात्वे "यस्येति च" इति सूत्रेण यकारोत्तरवर्त्यकारलोपे, "हलस्तद्धितस्य" इति सूत्रेण यकारस्य लोपे, प्रथमाविभक्तेः एकवचनविवक्षायां 'सु'प्रत्यये, अनुबन्धलोपे, "हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०" इति सूत्रेण सकारस्य लोपे 'गार्गी' इति सिद्धयति।

श्वश्रूः—श्वशुरशब्दात् तदर्थगते स्त्रीत्वे द्योत्ये "श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च" इति वार्तिकेन 'ऊङ्' प्रत्यये उकाराकारयोर्लोपे च 'श्वश्रू' इति जाते, ततश्च 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति परिभाषया "स्वौजसमौट्०" इत्यादिना सूत्रेण 'सु' विभक्तौ, अनुबन्धलोपे, रुत्वे विसर्गे च 'श्वश्रूः' इति रूपं सिद्धयति।

युवतिः—'युवन्' शब्दात् तदर्थगते स्त्रीत्वे द्योत्ये "यूनस्तिः" इति सूत्रेण 'ति' प्रत्यये, "स्वादिष्वसर्वनामस्थाने" इति पदसंज्ञायां "नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य" इति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्रेण नकारस्य लोपे 'युवति' इत्यवस्थायां 'सु' विभक्तौ, रुत्वे विसर्गे च 'युवतिः' इति सिद्धम् ।

कृष्णः—'कृष्ण' शब्दे (वसुदेवापत्यरूपे) पुंस्त्वस्य नियमेन भानसत्त्वात् नियतलिङ्गत्वं वर्तते । अतः नियतपुंस्त्वस्य प्रातिपदिकार्थमात्रत्वात् प्रथमैकवचने 'सु' प्रत्यये, "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" इति सूत्रेण उकारस्येत्संज्ञायां "तस्य लोपः" इत्यनेन लोपे, रुत्वे विसर्गे च 'कृष्णः' इति सिद्धयति ।

हरिं भजति—अत्र कर्ता देवदत्तः, तद्वृत्तिक्रिया प्रीत्यनुकूलव्यापाररूपा, तया (क्रियया) आप्तुम् (सम्बन्धुम्) इष्टतमम् (इच्छोद्देश्यं) हरिपदरूपं कारकं, तत् "कर्म" इति कथनेन "कर्मणि द्वितीया" इति सूत्रेण द्वितीयाविभक्तौ (एकवचने) अमि प्रत्यये, पूर्वरूपे 'हरिम्' इति सिद्धम् ।

लक्ष्म्या सेवितः—हरिः इति शेषः । भूते कर्मणि क्तः । कर्तरि तृतीया । अत्र सेवितहरेः कर्मणः कृता अभिहितत्वात् "अनभिहिते" इत्यधिकारेण द्वितीयाया अप्रवृत्तौ 'हरिः' इत्यत्र प्रातिपदिकार्थसूत्रेण प्रथमैव ।

बलिं भिक्षते वसुधाम्—अत्र दुहाद्यर्थानां धातूनां कर्मणा युक्तम् अपादानादिविशेषैरविवक्षितं क्रियान्वयिमात्रं कारकसंज्ञं सत् कर्मसंज्ञकं भवतीत्यर्थकेन "अकथितं" च इति सूत्रेण भिक्ष् धातोः कर्मणा वसुधया स्वस्वामिभावेन युक्तस्य बलेः अपादानादिभिरविवक्षणेन कर्मसंज्ञायां, वसुधायाश्च याचनक्रियाजन्यपरस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकस्वस्वत्वोपत्तीच्छारूपफलाश्रयत्वेन इच्छोद्देश्यतया "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" इति कर्मसंज्ञायां "कर्मणि द्वितीया" इति द्वितीयाविभक्तौ तत् साधु ।

अतिदेवान् कृष्णः—अत्र उचिताद् आधिक्यार्थद्योतकाद् अतेः "अतिरतिक्रमणे च" इति सूत्रेण कर्मप्रवचीयसंज्ञायां "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" इति सूत्रेण तद्योगे 'देव' शब्दात् द्वितीया इति तत्सिद्धिः ।

जटाभिः तापसः—अत्र प्रकारविशेषं तपस्वित्वं (तापसत्ववत्त्वं) प्राप्तस्य व्यक्तिविशेषस्य ज्ञापकानां जटानां "इत्थम्भूतलक्षणे" इति सूत्रेण तृतीयाविधानात् तत्सिद्धिः । न च ज्ञाने करणत्वादेव अत्र तृतीया इति वाच्यम्, लक्ष्यलक्षणभावमात्रविवक्षायां तृतीयार्थत्वात् ।

पुष्पेभ्यः स्पृहयति—अत्र स्पृहयतेः प्रयोगे ईप्सितानां पुष्पाणां "स्पृहेरीप्सितः" इति सूत्रेण सम्प्रदानसंज्ञायां "चतुर्थी सम्प्रदाने" इति चतुर्थी विभक्तिः ।

चोराद् बिभेति—अत्र भयार्थक 'भी' धातुप्रयोगे चोरस्य भयजनकत्वेन "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इत्यनेन अपादानसंज्ञायाम् "अपादाने पञ्चमी" इति पञ्चमी ।

परि हरेः संसारः—अस्यार्थस्तु हरिं वर्जयित्वा जनिमृतिचक्रात्मकं संसरणमिति । अतोऽत्र 'परिः' वर्जनार्थः । वर्जनार्थत्वात् परेः "अपपरी वर्जने" इति सूत्रेण कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां "पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इति सूत्रेण पञ्चमी ।

भजे शम्भोः चरणयोः—अत्र चरणयोः कर्मत्वस्य शेषत्वविवक्षायां सम्बन्धमात्रे "षष्ठी शेषे" इति सूत्रेण 'चरण' शब्दात् षष्ठी । शम्भुचरणसम्बन्धिभजनमित्यर्थः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरिं विदृक्षुः—अत्र दृशेः सप्तम्तात् "सनाशंसभिक्ष उः" इति सूत्रेण विहिते 'उ' इति कृत्प्रत्यये परतः कर्मणः 'हरेः' "कर्तृकर्मणोः कृति" इति प्राप्तायाः कर्मषष्ठ्याः "न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इति निषेधे कर्मणि द्वितीया 'हरिम्' इति। अस्य वाक्यस्य अर्थः हरिकर्मकदर्शनेच्छावानिति।

सर्वस्मिन् आत्माऽस्ति—अभिव्यापकाधारस्योदाहरणमिदम्। अत्र आत्मरूपकर्तृगतां सत्ताक्रियां प्रति कृत्स्नव्याप्तिं पुरस्कृत्य आत्मद्वारा सत्ताधारत्वात् "आधारोऽधिकरणम्" इति सूत्रबलात् सर्वशब्दस्य आधारसंज्ञायाम् "सप्तम्यधिकरणे च" इति सूत्रेण सप्तमी 'सर्वस्मिन्' इति।

अधि भुवि रामः—अत्र 'अधिः' ईश्वरपर्यायः। सम्बन्धः सप्तम्यर्थः। भुवः स्वामी रामः—इति वाक्यार्थोऽत्रापेक्षितः। ततश्च स्वस्वामिभावसम्बन्धात्मकस्य 'अधेः' "अधिरीश्वरे" इति सूत्रेण कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां प्राप्तायाः शेषषष्ठ्याः निषेधेन "यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी" इति सूत्रेण सप्तमी विधीयते। अतः 'भुवि' इति सप्तम्यन्तं पदम्। एवमन्यान्यपि रूपाणि लेखनेन अभ्यसनीयानि।

इति संक्षिप्ता रूपदीपिका।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) पङ्क्तिदीपिका

हलन्त्यम्—ननु वाक्यार्थबोधे पदजन्यपदार्थोपस्थितेर्हेतुतया "हलन्त्यम्" इत्यस्य वाक्यार्थबोधो न स्यात्, तस्य 'हल्' पदार्थज्ञानाभावात्। अपि च "आदिरन्त्येन सहेता" इत्यस्यापि बोधो न स्यात्, तस्य इत्पदार्थज्ञानाभावात्। तथा च परस्परमन्योन्याश्रयात् किमपि कार्यं न स्यात् इति चेन्न—हलन्त्यमिति सूत्रावृत्त्या तद्दोषस्य सुपरिहरत्वात्। तथा हि—आवृत्तसूत्रस्य 'हल्' सूत्रे अन्त्यम् इत्संज्ञकं भवति इत्यर्थस्वीकारेण इत्पदार्थ-बोधे "आदिरन्त्येन सहेता" इत्यस्य वाक्यार्थबोधात् 'हल्' प्रत्याहारसिद्धौ अपरस्य "हलन्त्यम्" इत्यस्य उपदेशेऽन्त्यं हल् इत् स्यादित्यर्थे सति न कश्चिद्दोषो भवेत्।

प्रत्याहारेष्वितां न ग्रहणम्। अस्यायमाशयः—प्रत्याहारेषु इत्संज्ञिनां वर्णानां ग्रहणं न भवतीति। अस्मिन् विषये "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" इति सूत्रे 'अनुनासिक' निर्देश एव प्रमाणम्। यदि हि अजादिप्रत्याहारेषु इतामपि ग्रहणं स्यात् तर्हि अच्प्रत्याहारे 'ऋलृक्' इति ककारस्यापि प्रविष्टत्वेन अच्त्वात् तस्मिन् परे इकारस्य "इको यणचि" इति यणादेशे "लोपो व्योर्वलि" इति लोपे 'अनुनास्कः' इति स्यात्, इकारो न श्रूयेत। श्रूयते च। अतः प्रत्याहारेषु इत्संज्ञकवर्णानां न ग्रहणमिति विज्ञायते।

एदैतोः ओदौतोश्च न मिथः सावर्ण्यम्—यदि हि कण्ठतालुस्थानविवृतप्रयत्नसाम्यात् एकारैकारयोः ओकारौकारयोश्च परस्परं सावर्ण्यं स्यात् तर्हि एकारेण ऐकारप्रपञ्चस्य ओकारेण औकारप्रपञ्चस्य च ग्रहणसम्भवात् 'ऐऔच्' इति सूत्रं नारभ्येत। आरभ्यते च। अतः तयोः न परस्परं सावर्ण्यम् इति विज्ञायते। अच्, इच्, एच् इत्यादि प्रत्या-हारास्तु ञकारेणैव निर्वाह्याः। 'एच्' 'एङ्' इति प्रत्याहारद्वयग्रहणसामर्थ्यात् एदैतोः ओदौतोश्च न मिथः सावर्ण्यम्।

हकारस्याकारो न सवर्णः। अस्यायमाशयः—कण्ठस्थानविवृतप्रयत्नसाम्यात् अकारह-कारयोः तथा इतरेषाम् इकारशकारादीनां तत्तत्स्थानप्रयत्नसाम्यात् सवर्णसंज्ञायां यद्यपि यणादिरूपो दोषः प्राप्नोति तथापि "नाज्झलौ" इत्यनेन अज्झलोः सावर्ण्यनिषेधात् न दोष इति। ननु "नाज्झलौ" इति सूत्रोक्तपञ्चमवाक्यदिशा "अणुदित्०" सूत्रार्थबोधात् प्रागेव "नाज्झलौ" इति अज्झलोः सवर्णसंज्ञानिषेधात् अक्षरसमाम्नाये दीर्घाकारादीनां पाठाभावात् तैः सह हलां सवर्णसंज्ञानिषेधाभावात् विश्वपाभिः इत्यादौ आकारे हकार-बुद्धया ढत्वादिशास्त्रप्रवृत्तिः दुर्बोधा एव इति चेन्न, "नाज्झलौ" इति सूत्रे आकार-प्श्लेषेण दीर्घैः सह अपि हकारादीनां सवर्णसंज्ञानिषेधेन दोषाभावात्। अत्र "काल-समयवेलासु तुमुन्" इति सूत्रनिर्देशोऽपि अनुकूल एव। अन्यथा आकारे हल्त्वबुद्धया तस्य च इणन्तर्गततया 'वेलासु' इत्यत्र "आदेश प्रत्यययोः" इति षत्वापत्तिः दुर्वारा स्यात्।

कानि सन्ति कौ स्तः इति—ननु कानि + सन्ति, कौ + स्तः इत्यादौ पदसंस्कारपक्षे परस्परनिरपेक्षाणां पदानाम् एव सिद्धौ दोषाभावेऽपि वाक्यसंस्कारपक्षे पदानि वाक्याद् उद्धृत्य संस्क्रियन्ते इति नियमात् किम्–जस् + अस्–झि, किम्–औ + अस्–तस् इति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थितौ पूर्वत्र किमः कादेशे, जसः शौ, नुमि, दोर्घे, अस्तेः "श्नसोरल्लोपः" इति अकारस्य लोपे, झकारस्य अन्तादेशे, अपरत्रापि कादेशे वृद्धौ अस्तेश्च अकारलोपे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते—उभयत्रापि स्थानिभूताद् अकारात् पूर्वस्य इकारस्य औकारस्य च यणि आवादेशे च कर्तव्ये अकारलोपस्य स्थानिवद्भावात् पूर्वत्र यण् परत्र आवादेशश्च स्यात् इति चेन्न—"न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोप०" सूत्रेण पदान्तविधौ स्थानिवद्भावनिषेधात् ।

अचि किम् ? कुमारी शेते । ननु "अकः सवर्णे दीर्घः" इति सूत्रे 'अच्' पदानुवृत्तिर्व्यर्था । अकः सवर्णे परे दीर्घः—इत्यर्थकरणेऽपि "नाञ्झलौ" इति सूत्रबलेन ईकार-शकारयोः सावर्ण्यनिषेधे दोषाभावात् इति चेन्न—तत्र सूत्रे 'अच्' पदेन दीर्घादीनां ग्रहणाभावेन दीर्घादीनां हलां च परस्परं निषेधस्य वक्तुम् अशक्यत्वात् । यतः 'अच्' पदेन दीर्घादीनां ग्रहणम् "अणुदित्" सूत्रेण भवति । तच्च न सम्भवति । अणुदित् सूत्रं हि लब्धात्मकमेव सत् "अस्य च्वौ" इत्यादौ प्रवृत्तिमर्हति । "नाञ्झलौ" इति प्रवृत्तिदशायां ग्रहणकशास्त्रमिदं न लब्धात्मकम् । सवर्णसंज्ञाविधायकं च 'तुल्यास्य' सूत्रं सामान्यतः स्वार्थं बोधयदपि "नाञ्झलौ" इति अपवादविषयं परिहृत्य तदन्यत्रैव पर्यवसानं लब्ध्वा स्वकार्यक्षमताम् अश्नुते । एवं च 'अणुदित्' सूत्रस्य "नाञ्झलौ" इति निषेधसहित-"तुल्यास्य" सूत्रस्य प्राक् अलब्धात्मकतया "नाञ्झलौ" इत्यत्र अञ्ग्रहणेन दीर्घप्लुतानां ग्रहणाभावेन ईकारशकारयोः सावर्ण्यनिषेधाभावेन सावर्ण्यसत्त्वात् 'कुमारी शेते' इत्यत्र सवर्णदीर्घप्राप्तौ तन्निवृत्त्यर्थम् 'अचि' इति अनुवृत्तिः आश्रयणीया इत्यर्थः ।

वक्किम्—ननु "अप्लुतवदुपस्थिते" इति सूत्रे 'वद्' ग्रहणाभावे "अप्लुतः उपस्थिते" इति सूत्रकरणेऽपि प्रत्यासत्त्या 'प्लुतः' इत्यस्योपस्थित्या 'प्लुतः अप्लुतः भवति' इत्यर्थे 'अग्नी ३ इति' इत्यत्र अप्लुतभावेन "ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" इति प्रगृह्यसंज्ञाप्रवृत्तौ "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्" इति प्रकृतिभावेन सन्धिकार्याप्रवृत्तौ दोषाभावेन 'वत्' करणं व्यर्थमेवेति चेन्न—एवं हि सर्वथैव प्लुतस्य निवृत्त्या 'अग्नी' इत्यादौ "गुरोरनृतः" इत्येतद्विहितप्लुताश्रयस्य प्रकृतिभावस्य प्लुतस्यासिद्धत्वादप्राप्तावपि "ईदूदेद्द्विवचनम्" इति सूत्रेण प्रगृह्यत्वे तदाश्रये प्रकृतिभावेऽपि प्लुतस्य अप्लुतत्वविधानात् इष्टस्य प्लुतस्य श्रवणं न स्यात् । 'वद्' ग्रहणे कृते तु सन्ध्यादिकार्यस्यैव निषेधः न तु प्लुतश्रवणस्यापीति ।

अर्थग्रहणम् किम् ? "ईदूतौ सप्तम्यर्थे" इति सूत्रे 'अर्थ' पदोपादानस्य किं प्रयोजनमिति प्रश्नस्य आशयः । यतः "ईदूतौ च सप्तमी" इति सूत्रितेऽपि सप्तमीविभक्तेः प्रत्ययत्वात् 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' इति नियमेन तदन्तविधौ 'ईदूदन्तं सप्तम्यन्तं प्रगृह्यसंज्ञं स्यात्' इत्यर्थसम्भवेन 'सोमो गौरी अधिश्रितः' इत्यादौ प्रत्ययलक्षणेन सप्तम्यन्ततया प्रगृह्यत्वेन अभीष्टसिद्धिः स्यादेव । न च "संज्ञाविधौ" इति परिभाषया तदन्तविधिनिषेधात् "ईदूदेद्द्विवचनम्" इतिवत् ईदूदन्ता या सप्तमी सा प्रगृह्यसंज्ञिका इत्यर्थापत्त्या एकादेशस्य परादिवद्भावात् सप्तमीत्वेन 'ययी आस्ते' इत्यादौ एव प्रगृह्यसंज्ञा स्यात् न तु 'सोमो गौरी अधिश्रितः" इत्यादौ सप्तम्या लुकापहारात्, तदर्थमर्थग्रहणमावश्यकमिति वाच्यम्—'ययी' इत्यादेः अनभिधानात् । कथंचन ईकारांशे चारितार्थ्येऽपि ऊकारांशे सर्वथा असम्भवात् । सूत्रारम्भसामर्थ्यात्, "ईदूतौ सप्तमीप्रगृह्यम्", "अदसः", "एच्च

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्विवचनम्" इति लघुभूतन्यासेनैव सिद्धे गुरुभूतन्यासकरणाच्च संज्ञाविधौ इत्यस्याः परिभाषाया अप्रवृत्त्या तदन्तविधिना ईदूदन्तं सप्तम्यन्तम् इत्याद्यर्थं 'सोमो गौरी अधिश्रितः' इत्यादौ दोषाभावेन अर्थग्रहणवैयर्थ्यात्। सप्तम्यर्थमात्रबोधकत्वे एव ईदूदन्तस्य प्रगृह्यसंज्ञाविधानार्थं तस्यावश्यकत्वात्। अत एव वाप्यामश्वो 'वाप्यश्वः' इत्यत्र प्रगृह्यसंज्ञा न भवति। यतः समासत्वात् तत्र सप्तम्यर्थमात्रवृत्तित्वं न वर्तते।

चतुर्मुखः—ननु 'चतुर् + मुखः' इत्यवस्थायां "यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा" इति सूत्रेण पदान्तस्य यरः (रेफस्य) अनुनासिके (मुखशब्दावयवमकारे परे) अनुनासिकः (मूर्धस्थानजन्यत्वेन णकारः) कुतो न भवति इति चेत्—अत्रोच्यते—"स्थानेन्तरतमः" इति सूत्रे प्रथमान्तपाठस्वीकारे 'स्थानिनः स्थाने अन्तरतमः एव आदेशः भवति' इत्यर्थः यथा सम्पद्यते तथैव सम्यन्तपाठं स्वीकृत्य भाष्यकारेण 'आदेशः अपि अन्तरतमस्य एव स्थानिनः स्थाने भवति' इति नियमः अङ्गीकृतः। एवं च अत्र अनुनासिकादेशः णकारः सर्वेषां स्थानिनां यरां मध्ये स्पृष्टप्रयत्नवत्त्वेन टवर्गीयवर्णानां स्थाने भवति इत्यर्थस्वीकरणेन 'चतुर्मुखः' इत्यत्र रेफस्य स्थाने णकारो न भवतीति। प्रथमान्तपाठपक्षे तु "यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा" इत्यस्मिन् सूत्रे "अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः" इति सूत्रात् सवर्णग्रहणम् अपकृष्य 'सवर्णः अनुनासिकादेशः भवति' इत्यर्थः स्वीक्रियते। ततश्च णकारादेशः रेफस्य सवर्णानुनासिकाभावेन न भवति।

अशि किम् ? देवाः सन्ति। "भोभगोअघो०" इत्यादिसूत्रे 'अशि' ग्रहणं किमर्थम् ? 'अश्' पदाभावेऽपि 'देवास् + सन्ति' इत्यत्र "ससजुषो रुः" इति सूत्रेण रुत्वे कृते सति "भोभगोअघो०" इत्यादिना सूत्रेण यत्वे प्राप्ते अपि तस्य "पूर्वत्रासिद्धम्" इति नियमेन असिद्धत्वात् "खरवसानयोर्विसर्जनीयः" इति विसर्गादेशे 'देवाः सन्ति' इत्यस्य सिद्धिः स्यादेवेति प्रश्नस्य आशयः।

अस्य उत्तरम्—विसर्गे कृते अपि तस्य स्थानिवद्भावेन रुत्वातिदेशे पुनरपि यत्वं प्राप्नोति। तस्य निवारणार्थम् 'अशि' ग्रहणं कर्तव्यम्। अशिग्रहणे कृते सति सकारस्य अशित्वाभावात् यकारो न प्राप्नोति इति।

पूर्वसूत्रेण सिद्धे समासग्रहणं नियमार्थम्। अयं भावः—यथा 'राम' शब्दस्य "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" इति सूत्रेण प्रातिपदिकसंज्ञा भवति तथैव 'राजपुरुषः' इत्यादि समासस्थले अपि समुदायस्य प्रत्ययान्तभिन्नतया अर्थवत्सूत्रेणैव प्रातिपदिकसंज्ञासिद्धौ कृत्तद्धितेतिसूत्रे समासग्रहणं व्यर्थमिति चेन्न—'सिद्धे सति आरभ्यमाणो विधिः नियमाय भवति' इति नियमानुसारेण समासग्रहणस्य नियमार्थत्वात्। नियमस्य अन्यनिवृत्तिफलकतया अयं नियमाकारः स्वीक्रियते—'यस्मिन् समुदाये पूर्वो भागः पदं तस्य चेद् प्रातिपदिकसंज्ञा भवति तर्हि समासस्यैव' इति। तथा च समासेतरस्य पदसंज्ञकपूर्वभागकसमुदायस्य प्रातिपदिकसंज्ञा न भवति इति फलितार्थकथनम्। तेन 'गाम् आनय' इति वाक्यस्य प्रातिपदिकसंज्ञा न भवतीति।

सम्बुद्ध्याक्षिप्तस्येति। अस्यायमाशयः—'येन विना यदनुपपन्नं तत्तेनाक्षिप्यते' इति न्यायात् "एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः" इति सूत्रे अङ्गस्य सम्बुद्धिविशेषणतायाः उचिततया 'अङ्गात् परा या सम्बुद्धिः तदवयवो हल् लुप्यते स एङ्ह्रस्वाभ्यां परीभूतश्चेत्' इत्येवार्थो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि युक्तः तर्हि 'हे कतरत्' इत्यत्र तकारस्य लोपः प्राप्नोति । स कथं न भवति ? तस्य निवारणाय यत्नो विधेयः । यदि तु 'हल्' पदस्य सूत्रे नानुवृत्तिः तदा 'हे कतरद्' इत्यत्र सम्बुद्धेः 'अत्' इत्यस्य ह्रस्वात् परीभूतत्वाभावेन तकारस्य ह्रस्वात् परत्वेऽपि सम्बुद्धित्वाभावेन अङ्गात्परत्वाभावेन च लोपाप्राप्त्या न दोष इत्युच्यते तर्हि 'हे कुल' इत्यत्र "स्वमोर्नपुंसकात्" इत्यतः प्राक् "अतोऽम्" इति परत्वात् अमादेशे, "अमि पूर्वः" इति पूर्वरूपे, 'उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्' इति नियमेन अन्तवद्भावाप्राप्त्या सम्बुद्धेः ह्रस्वान्ताङ्गात् परत्वाभावात् तल्लोपो न स्यादिति चेन्न—'अन्याक्षिप्तस्य अन्यत्र अन्वयः कार्यः' इति स्वीकारेण दोषाभावात् । तेन एङन्ताद् ह्रस्वान्ताच्चाङ्गात् सम्बुद्धयवयवो हल् लुप्यते इत्यर्थः अङ्गीकरणीयः । तेन न कुत्रापि दोषः इति ।

सुपि चेति दीर्घः यद्यपीह परः तथापि न प्रवर्तते । अयं भावः—यद्यपि रामाणाम् इत्यत्र 'राम + नाम्' इति स्थितौ "सुपि च" "नामि" इत्युभाभ्यां दीर्घविधिः प्राप्नोति । तथापि आरम्भसामर्थ्यात् सन्निपातपरिभाषाविरोधात् च परमपि "सुपि च" इति शास्त्रं बाधित्वा "नामि" इति सूत्रेण दीर्घमेव भवति इति । न च 'कतीनाम्' इत्यत्र अदन्ताङ्गाभावेन "सुपि च" इति दीर्घाप्राप्त्या "नामि" इत्यस्य चारितार्थ्येन आरम्भसामर्थ्यादिति कथनमसङ्गतमिति वाच्यम्, एवं हि "कतेर्नामिः" इति सूत्रे कर्तव्ये सामान्यसूत्रारम्भस्य वैयर्थ्यात् । किं च "न तिसृचतसृ" इति निषेधसूत्रमपि अत्र प्रमाणम् । अन्यथा दीर्घाप्राप्त्या निषेधारम्भो निरर्थक एवेति दिक् ।

उभशब्दो द्वित्वविशिष्टस्य वाचकः । अस्यायमाशयः—यत् उभशब्दः द्वित्वसंख्याविशिष्टार्थबोधकः । ततश्च तस्मात् नित्यद्विवचनोत्पत्तिः भवति । ननु स्मै-शीभावादीनां सर्वनामसंज्ञाप्रयुक्तकार्याणाम् एकवचन-बहुवचनयोरेव सत्त्वात् उभशब्दस्य च तत्त्वाभावात् तस्य सर्वनामगणे पाठो व्यर्थ इति चेद्—अत्रोच्यते—'उभकौ' इति सिद्धये अकच्-प्रत्ययार्थं सर्वनामगणे तस्य पाठः आवश्यक इति । न च पाठाभावेऽपि 'क'प्रत्ययमाश्रित्य 'उभकौ' इति प्रयोगसिद्धिः स्यादेवेति वाच्यम्, एवं हि द्विवचनपरत्वाभावेन तस्मिन् परे अयचः प्रवृत्त्या उभकावित्यसिद्धयापत्तेः । अकचि तु न दोषः । यतः 'अकच्' प्रत्ययस्य टेः प्राग् विधानात् तन्मध्यपतितन्यायेन तद्विशिष्टोभग्रहणेन द्विवचनपरत्वानपायात् । केचित् तु 'क'प्रत्ययस्यापि स्वार्थिकतया 'स्वार्थिकाः प्रत्ययाः प्रकृतितोऽविशिष्टा भवन्ति' इति न्यायेन 'क'प्रत्यये परतः अपि द्विवचनव्याघाताभावेन 'अयच्' प्रत्ययाभावात् इष्टरूपसिद्धौ व्यर्थ एव अस्य सर्वनामगणे पाठ इति समामनन्ति ।

इह समासात् प्रागेवेति । अयं भावः—"विभाषा दिक् समासे बहुव्रीहौ" इति सूत्राद् बहुव्रीहिग्रहणसम्भवेन "न बहुव्रीहौ" इति सूत्रे पुनः बहुव्रीहिग्रहणेन अलौकिकप्रक्रियावाक्यस्य ग्रहणं भवति । ततश्च बहुव्रीह्यर्थकल्प्यमानालौकिकप्रक्रियावाक्यघटकसर्वादीनां 'सर्वनाम'संज्ञा न भवतीति "न बहुव्रीहौ" इति सूत्रस्य अर्थः सम्पद्यते । तेन अकचि 'त्वत्कपितृकः' 'मत्कपितृकः' इत्यादिरूपाणि सिद्धयन्ति । अन्यथा अतिभवकन्तमिव त्वकत्पिकृकः मकत्पितृकः इत्यनिष्टमेव रूपं स्यात्, 'भुक्तवन्तं प्रति मा भुङ्क्था इति ब्रूयात् किं तेन कृतं स्यात्' इति न्यायेन जातस्य अकचः सति समासे निषेधेऽपि अनपायात् इति । भाष्यकारस्तु 'अकच्स्वरौ तु कर्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयौ' इति वदन् उक्तरूपे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एव इष्टापत्ति विधाय "न बहुव्रीहौ" इति सूत्रं तिरश्चकार। भाष्यकारमते तु 'त्वक-त्पितृकः' 'मकत्पितृकः' इत्येव रूपे भवतः। ततश्च अस्माभिः किं करणीयमिति चेदत्रोच्यते—यथोत्तरं मुनोनां प्रामाण्यमिति सिद्धान्तमुररीकृत्य भाष्यकारमतमेव स्वीकरणीयम्।

वृत्तिकृता तु 'निर्जरसिन' 'निर्जरसात्' इति रूपे सिद्धयतः न तु 'निर्जरसा' 'निर्जरसः' इति उक्तम्। अस्यायमाशयः—"विप्रतिषेधे परं कार्यम्" इत्यत्र 'अपरम्' इति पदच्छेदं स्वीकृत्य जरसादेशात् प्रागेव विभक्त्यादेशाः पूर्वविप्रतिषेधेन भवन्ति इति अर्थं स्वीकृत्य सन्निपातपरिभाषायाश्च अनित्यत्वमाश्रित्य तृतीयैकवचने पञ्चम्येकवचने च पूर्वमेव इनादेशे अदादेशे च कृते जरसादेशे 'निर्जरसिन' 'निर्जरसात्' इति रूपे सिद्धयतः न तु 'निर्जरसा' 'निर्जरसात्' इति। सिद्धान्ते तु भाष्यविरोधात् तन्न स्वीक्रियते। तथा हि—भाष्यकृता "बहुवचने झल्येत्" "ओसि च" "आङि चापः" "आपः सम्बुद्धौ च" इति क्रमेण सूत्राणां पाठः स्वीकृतः। "आङि चापः" इत्यत्र च "आङि च" इति योग-विभागमाश्रित्य आङि परे अतः एत्वम् इत्यर्थकेन 'रामेण' इत्यस्य सिद्धिः कृता। तथैव च 'राम' शब्दात् परस्य 'ङसि' प्रत्ययस्य 'अत्' आदेशे अकारोच्चारणबलात् पररूपस्य बाधाच्च सवर्णदीर्घेण च 'रामात्' इत्यस्यापि सिद्धिः कृता। अनेन प्रकारेण भाष्यकृता "टाङसिङ-सामिनात्स्याः" इत्यत्र 'आत्' पदे दीर्घोच्चारणम् इनादेशे इकारग्रहणं च प्रत्याख्यातम्। तथा च तन्मते 'निर्जरसिन' इत्यादिरूपासिद्धेः प्रत्याख्यानासङ्गतिः स्यादतो जरसादेशः परत्वाद् विभक्त्यादेशेभ्यः पूर्वं भवतीत्येव भाष्यसम्मतः सिद्धान्तः।

कथं तर्हि दुर्धियो वृश्चिकभिय इति ? अयं भावः—अत्र 'गतिकारकेतर पूर्वपदस्य यण् नेष्यते' इति नियमेन 'दुर्' इति शब्दस्य गतिसंज्ञकतया कथं यणो निषेधो भवेत् ? इति प्रश्नस्य आशयः। एव वृश्चिकशब्दस्य "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इति सूत्रेण विहितायाः अपादानसंज्ञायाः कारकसंज्ञायाश्च विधानेन तदितरपूर्वकत्वाभावात् यणः प्रतिषेधः नैव सम्भवति इति पूर्वपक्षिणः अभिप्रायः। अस्य समाधानं दीक्षितेन एवं कृतम्—'दुःस्थिता धीः येषाम्' इति विग्रहे 'दुर्धियः' इत्यत्र 'यत् क्रियायुक्ताः प्रादयः तं प्रत्येव गत्युपसर्गसंज्ञा' इति नियमात् 'दुर्' इत्यस्य स्थितिक्रियां प्रत्येव गतित्वम् अस्ति न तु 'धी'शब्दार्थं प्रति इति विज्ञानेन अत्र न दोषः। 'वृश्चिकभियः' इत्यत्र तु वृश्चिक-सम्बन्धिनी भीः इति उत्तरपदलोपिसमासाश्रयणात् कारकत्वमेव नास्तीति दोषाभाव एव।

प्रराणाम् इति माधवः। अस्यायमाशयः—'प्ररि + आम्' इति अवस्थायां नुमागमं बाधित्वा नुडागमे कृते सति "रायो हलि" इति सूत्रेण आत्वे णत्वे च 'प्रराणाम्' इति रूपं निष्पद्यते। आत्वे कर्तव्ये सन्निपातपरिभाषाविरोधस्तु नास्त्येव, आमि अवश्यं दीर्घेऽपि सन्निपातपरिभाषायाः अनित्याश्रयणात्—इति माधवमतम्। कौमुदीकारः अस्य समाधानम् एवम् कृतवान्—"नामि" इति सूत्रारम्भसामर्थ्यात् तत्सूत्रजन्ये दीर्घे सन्निपा-तपरिभाषायाः अनित्यत्वेऽपि "रायो हलि" इति सूत्रेण विहिते आत्वविषये तदनित्यत्वे मानाभावः। तस्मात् तदभावे नुटि दीर्घे च कृते 'प्ररीणाम्' इत्येव रूपं समीचीनमिति।

न च अल्लोपः स्थानिवत् इति। अस्यायमाशयः—'राजन् + अस् (शस्)' इति स्थिते "अल्लोपोऽनः" इति सूत्रेण अनः अकारस्य लोपे, "स्तोः श्चुना श्चुः" इति श्चुत्वेन नकारस्य ञकारे, सस्य रुत्वे विसर्गे च 'राज्ञः' इति सिद्धयति। तत्रेयमाशङ्का—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्र जातस्य अकारलोपस्य "अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" इति सूत्रेण जकारात्परस्य नकारस्य श्चुत्वे कर्तव्ये स्थानिवद्भावात् श्चुत्वस्य प्रवृत्तिः नैव सम्भवति। तन्न युक्तम्। यतः 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' इति नियमेन स्थानिवद्भावस्य प्रसक्तिरेव नास्ति। न च असिद्धं 'बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति परिभाषाबलेन अन्तरङ्गे श्चुत्वे कार्ये कर्तव्ये बहिरङ्गस्य अकारलोपस्य असिद्धत्वात् पुनरपि दोषस्तदवस्थ इति वाच्यम्—यथोद्देशपक्षे षाष्ठीं परिभाषां प्रति त्रैपादिकस्य श्चुत्वस्य असिद्धतया अन्तरङ्गशास्त्राभावेन तन्निरूपितबहिरङ्गासिद्धत्वासम्भवात् इति दिक्।

योगविभागमामर्थ्याद् इति। 'वृत्रहन्' शब्दाद् द्वितीयाबहुवचने शसि मसंज्ञायाम् "अल्लोपोऽनः" इति सूत्रेण अनः अकारलोपे, "हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु" इति सूत्रेण कुत्वेन हकारस्य घकारादेशे, ष्टुत्वे, विसर्गे च 'वृत्रघ्नः' इति रूपं सिद्धयति। ननु अत्र "एकाजुत्तरपदे णः" सूत्रेण नकारस्य स्थाने णत्वं कुतो न स्यादिति चेन्न—"हन्तेरत्पूर्वस्य" इति योगविभागेन हन्तेः अत्पूर्वस्यैव नस्य णः इत्यर्थकेन नियमेन अत्र नकारस्य अत्पूर्वकत्वाभावात् णत्वाप्राप्तेः। किं च योगविभागसामर्थ्यादेव "अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा" इति न्यायस्यापि अत्र अप्रवृत्त्या विप्रकृष्टस्यापि "एकाजुत्तरपदे णः" इत्यस्य तेनैव नियमनं भवति। यत्तु माधवाचार्येण अत्र "प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च" इति वैकल्पिकं णत्वमुक्तं तद् भाष्यवार्तिकविरुद्धत्वात् प्रत्याख्येयम्। तथा हि भाष्यकृता "कुब्व्यवाये हादेशे णत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः, किं प्रयोजनम्? वृत्रघ्नः, स्रुघ्नः, प्राघानि। 'हन्तेरत्पूर्वग्रहणं न कर्तव्यं भवति"—इत्युक्तम्। अनेन वचनेन णत्वाभावे तात्पर्यं स्फुटमेवावगम्यते, णत्वे तु तद्विरोधः स्यादेवेत्यलम्।

इह पूर्वस्मादपीति। 'प्रियाष्टन्' शब्दात् द्वितीयाबहुवचनविवक्षायां शसि, अल्लोपे, 'प्रियाष्टन्+अस्' इत्यवस्थायां 'म'संज्ञानिमित्तकः "अल्लोपोऽनः" इति अकारस्य लोपः भवति। ततश्च 'प्रियाष्ट्नः' इति रूपं सिद्धयति। न चात्र "ष्टुना ष्टुः" इति सूत्रेण ष्टुत्वेन नकारस्य स्थाने णकारः स्यादिति चेन्न—"अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" इति सूत्रे पञ्चमीसमासाश्रयणेन अल्लोपस्य स्थानिवत्तया अकारेण व्यवधानात् तदप्रवृत्तेः। न च 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' इत्यनेन तन्निषेधे दोषस्तदवस्थ एव इति वाच्यम्, 'तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु' इति नियमेन तदप्रवृत्तेः। ननु "रषाभ्यां नो णः समानपदे" इत्यारम्भसामर्थ्यात् "अचः परस्मिन्निति" सूत्रस्थ-पञ्चमीसमासस्य अनित्यत्वात् ष्टुत्वविधिः पुनरपि दुर्वारैवेति चेन्न—कार्यकालपक्षे 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति परिभाषाबलेन अन्तरङ्गष्टुत्वदृष्ट्या बहिरङ्गस्य अकारलोपशास्त्रस्य असिद्धत्वेन अकारव्यवधानबुद्ध्या दोषाभावात् इति।

भाविनः सुटो निवृत्त्यर्थं ससुट्कनिर्देशः। ननु 'युष्माकम्' 'अस्माकम्' इत्युभयत्र 'युष्मद्+आम्' 'अस्मद्+आम्' इत्यवस्थायाम् आकमादेशात् प्राक् अनादेशतया "योऽचि" इति यत्वप्राप्त्या यत्वनिमित्तेतरविभक्तिनिमित्तकतया च शेषे लोपाप्राप्त्या अदन्तत्वाभावात् "आमि सर्वनाम्नः सुट्" इति सूत्रेण सुडागमस्याप्राप्त्या "साम आकम्" इति सूत्रे ससुट्कनिर्देशो व्यर्थः इति चेन्न—आकमादेशोत्तरं शेषे लोपे अकारान्ततया प्राप्तस्य सुटः पूर्वमेव वारणेन ससुट्कनिर्देशस्य सार्थकत्वात् अपरं च "अस्तेर्भूः" इत्यनेन यथा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्धधातुकविषये अस्तेः अप्रयोगः भूधातोः एव प्रयोगः प्रतिपाद्यते, तथैव अत्रापि आमि सुडामोः अत्यन्तम् अप्रयोग एव बोध्यते इति दिक् ।

अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्येति । ननु विमलदिवी इत्यत्र 'विमलदिव् + औ' इत्यवस्थिते औङः शीभावे, प्रत्ययलक्षणेन अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वाद् 'राजपुरुषः' इत्यत्र नलोप इव अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य अत्रापि पदत्वात् "दिव उत्" इति सूत्रेण उत्वं स्यात् इति चेन्न—"उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ प्रतिषेधः" इति नियमेन उत्तरपदस्य पदत्वनिषेधेन दोषाभावादिति सर्वं समञ्जसम् ।

अजादिभिः स्त्रीत्वस्य विशेषणान्नेह—पञ्चाजी । ननु प्रत्ययविधौ पञ्चम्या उपस्थित्या "अजाद्यतष्टाप्" इति सूत्रे 'अजाद्यतः' इति पदस्य पञ्चम्यन्तीकारेण तस्य अनुवृत्तेन प्रातिपदिकाद् इत्यनेन सामानाधिकरण्यात् तदन्तविधिना अजादिभ्यः अदन्तेभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः टाप् प्रत्ययो भवेत् इत्यर्थं एवोचितः, अजादीनामित्यादिषष्ठ्यर्थाङ्गीकारो व्यर्थ एवेति चेन्न—'पञ्चानाम् अजानाम् समाहारः' इति विग्रहे समासादिकार्ये 'समाहारोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियाम् इष्टः' इति वार्तिकेन स्त्रीत्वेऽपि 'टाप्' प्राप्तेरनिष्टापत्तेः । षष्ठ्यन्तपक्षे तु पञ्चाजपदस्य समाहारनिष्ठस्त्रीत्वेऽपि अजनिष्ठत्वाभावात् टापः प्रसक्तिः न भवति ।

अमहत्पूर्वा किम् ? महाशूद्री । अयमाशयः—'शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः' इति वार्तिके 'अमहत्पूर्वा' ग्रहणाभावे शूद्रशब्दात् टाप् भवति जातिश्चेद् वाच्या—इत्ययमेवार्थः स्यात् । ततश्च 'शूद्र' शब्दात् टापि प्रत्यये 'शूद्रा' इति रूपसिद्धिः भवेत् । 'महत्पूर्वकशूद्रशब्दस्य प्रतिषेधः' इति नियमबलात् तदन्तविधिसम्भवेऽपि अत्र समासप्रत्ययविधौ तदन्तविधिनिषेधेन महाशूद्रशब्दात् टापः अप्राप्त्या दोषाभावेन "जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" इति सूत्रेण 'ङीष्' प्रत्यये 'महाशूद्री' इति रूपस्य सिद्धिः स्यादेव । अतः तत्पदं व्यर्थं सद् ज्ञापयति यत् स्त्रीप्रत्यये तदन्तविधिर्भवतीति । तेन 'परमनदी' इत्यादिषु नदीवत् 'ङीप्' प्रत्ययो भवति ।

वक्ष्यमाणेत्यत्र टित्वाद् उगित्वाच्च ङीप् प्राप्त इति । अयं भावः—'ब्रूञ्' धातोर्लृटि, तत्स्थाने "लृटः सद्वा" इति शानचि, वचादेशे, कुत्वे, षत्वे, टापि, "आने मुक्" इति मुगागमे, उकारककारयोः इत्संज्ञायां लोपे च, ककार-षकारयोः संयोगेन क्षकारे, णत्वे च 'वक्ष्यमाणा' इति रूपं सिद्ध्यति । ननु अत्र लृटः टित्वाद् उगित्वाच्च तदादेशभूते शानचि स्थानिवद्भावेन तद्धर्ममतिदिश्य टापं बाधित्वा "टिड्ढाणञ्०" इत्यादिना अथवा "उगितश्च" इति सूत्रेण ङीप् स्यादिति चेन्न—'अनल्विधौ' इति स्थानिवद्भावनिषेधात् । न च "न ल्यपि" इति ज्ञापनात् 'अनल्विधौ इति निषेधः अनुबन्धकार्ये न प्रवर्तते' इति कथनेन न दोष इति वाच्यम्, यासुटो ङित्करणेन लाश्रयमनुबन्धकार्यं नादेशानाम् इति ज्ञापनेन अदोषात् । न च भाष्ये 'ङिच्च पिन्न, पिच्च ङिन्न' इत्युक्त्या लिङि ङित्वस्य तिपि आनयनासम्भवात् ङित्करणं न निरर्थकमिति वाच्यम्, श्नः शानचः शित्वेन क्वचिद् अनुबन्धकार्ये अनल्विधौ इति निषेधः प्रवर्तते इति ज्ञापनेन अदोषात् । यदि भाष्ये तस्य प्रत्याख्यानात् ज्ञापनासम्भव इति स्वीक्रियते तदा तु अजादिगणे 'वक्ष्यमाणा' शब्दस्य पाठकल्पनेन दोषो निराकरणीय इति दिक् ।

मातरि पिच्चेति षित्वादेव ङीष् सिद्धे गौरादिषु मातामहीशब्दपाठात् अनित्यः षितां

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ङीष् । दंष्ट्रा । अस्यायमर्थः—"पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः" इत्यनेन मातामह-पितामहशब्दयोः निपातनं क्रियते । 'मातरि षिच्च' इति वार्तिकेन च तयोः षित्वं व्याख्यातं, तच्च व्यर्थं, गौरादिगणे पाठादेव ङीषः सुलभत्वात् । अतः तज् ज्ञापयति 'अनित्यः षिल्लक्षणो ङीष्' इति । तत्फलं तु दंश् धातोः "दाम्नीशसयुयुजसिसिच०" इत्यादिना सूत्रेण 'ष्ट्रन्' प्रत्यये, शस्य षत्वे, ष्टुत्वादिना निष्पन्ने दंष्ट्रा-शब्दे सत्यपि षित्वे न ङीष् इति ।

द्रोणो व्रीहिः—द्रोणः परिमाणविशेषः । व्रीहिरिति जातौ एकवचनम् । व्रीहिराशिः इत्यर्थः । न हि एकस्याः व्रीहिव्यक्तेः द्रोणपरिमाणं सम्भवति । इत्थं च 'द्रोणो व्रीहिः' इति परिमाणमात्रे प्रथमायाः उदाहरणम् । नह्यत्र द्रोणत्वेन रूपेण परिमाणविशेषवाचि-द्रोणशब्दात् स्वार्थे प्रथमा विभक्तिरिष्यते, येन प्रातिपदिकार्थमात्रे गतार्थता स्यात् । किन्तु द्रोणत्वेन परिमाणवाचिनो द्रोणशब्दात् परिमाणत्वसामान्यरूपेण द्रोणपरिमाणे विवक्षिते प्रथमा विभक्तिर्विधीयते । ततश्च प्रत्ययार्थे परिमाणसामान्ये द्रोणशब्दार्थात्मकप्रकृत्यर्थः परिमाणविशेषः सामान्यविशेषात्मकाभेदसंसर्गेण अन्वेति । परिमाणसामान्यात्मकप्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहौ अन्वेति । तथा च द्रोणाख्यपरिमाणविशेषात्मकं यत् सामान्यपरिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरिति बोधः फलति । अन्यथा द्रोणाख्यपरिमाण-परिच्छिन्नो व्रीहिरिति बोधः स्यात् । परिमाणसामान्यं न प्रतीयेत । तदर्थम् इह परिमाण-ग्रहणम् इत्यर्थः ।

'तमब्-ग्रहणं किम् ? पयसा ओदनं भुङ्क्ते' । "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" इति सूत्रे 'तमब्' ग्रहणाभावे 'पयस्' शब्दादपि कर्मसंज्ञात्वेन द्वितीया स्यात् । तन्न भवतु । एतदर्थं 'तमब्' ग्रहणं क्रियते । तथा हि 'पयसा ओदनं भुङ्क्ते' इत्यस्य पयसा मिश्रमित्यर्थः संभवति । यद्यप्यत्र भोक्तुरोदन एव पयसा मिश्र उद्देश्यः, न तु केवलं पयः, नापि केवल ओदनः । न ह्यसौ केवलपयःपानेन तुष्यति, नापि केवलौदनेन । तथापि यदा भुक्तवानेव पयो-लिप्सया पुनः ओदनभोजने प्रवर्तते तदा इदं प्रत्युदाहरणम् । तत्र यद्यपि पय उद्देश्यं भुजिक्रियां प्रति, तथापि भुजिक्रियाकर्मीभूतमोदनं प्रति मिश्रणसाधनतया गुणत्वेनैव तदु-द्देश्यम्, नतु भोज्यत्वेन । अतस्तत्र पयसो गुणत्वेन ओदनस्य तत्संस्कार्यतया उद्देश्यत्वात् ओदनस्यैव ईप्सिततमत्वम्, न तु पयसोऽपि । तस्मादोदन एव ईप्सिततमः, गुणेषु अस्य नानुरोध इति भावः ।

तमब्ग्रहणं किम् ? गङ्गायां घोषः । अयं भावः—अस्मिन् सूत्रे 'साधकम्' इत्येव उच्यताम् । यतः कारकाधिकारादेव 'साधक'लाभात् सूत्रे च साधकग्रहणात् प्रकृष्टं साधकमिति विज्ञायेत, अतः 'तमब्' ग्रहणं किमर्थं क्रियते इति प्रश्नस्य आशयः । उत्तरा-शयस्त्वेवम्—अस्मिन् कारकप्रकरणे गौणमुख्यन्यायः एतत्सूत्राद् अन्यत्र न प्रवर्तते इति ज्ञापनार्थं 'तमब्' ग्रहणम् । अन्यथा "आधारोऽधिकरणम्" इत्यत्र 'अधिकरणम्' इति अन्वर्थमहासंज्ञाबलादेव आधारलाभे पुनः तमग्रहणसामर्थ्यात् सर्वावयवव्याप्त्या य आधारः सः अधिकरणमित्यर्थः स्यात् । एवं च 'तिलेषु तैलम्', 'दध्नि सर्पिः' इत्यादावेव अधिकरणसंज्ञा प्रवर्तेत 'गङ्गायां घोषः' 'कूपे गर्गकुलम्' इत्यादौ न स्यात् । अतः 'तमब्' ग्रहणम् कृतमिति भाष्ये निरूपितम् । तेन "साधकतमं करणम्" इति सूत्रे 'करणम्' इति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महासंज्ञाबललभ्यार्थस्य अनाश्रयणात् 'साधक' पदं केवलसाधकस्यैव बोधकं न तु प्रकृष्ट-साधकरूपार्थस्येति तदर्थलाभाय सूत्रे 'तमब्' ग्रहणस्य संनिवेशेन स्वांशे चरितार्थता ।

अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः । "रुच्यर्थानां प्रीयमाणः" इति सूत्रस्थं 'रुचि'शब्दार्थं दीक्षितः स्पष्टीकरोति । तत्पूर्वं तेन अस्य सूत्रस्य अर्थः निरूपितः । तदनुसारं रुच्यर्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणोऽर्थः सम्प्रदानं भवति । तथैव च उदाहरणवाक्यं 'हरये रोचते भक्तिः' इति उल्लिलिखम् । तस्यार्थस्तु 'भक्तिः स्वविषयां प्रीतिं हरौ जनयति' इति । अत्र भक्ति-गतव्यापारप्रयोज्यप्रीत्याश्रयत्वाद् हरेः कर्मत्वं प्राप्तम्, तदपवादोऽयं विधिः । अतः सम्प्रदान-संज्ञाविधानात् हरिशब्दात् चतुर्थीविभक्तिः । नन्वेवं सति 'हरिः भक्तिम् अभिलषति' इत्य-त्रापि भक्तेः प्रीतिविषयत्वात् सम्प्रदानत्वं स्यादिति चेदुच्यते—समवायेन प्रीत्याश्रयापेक्षया यदन्यत् तत्कर्तृकाभिलाषो रुचधात्वर्थः अत्र विवक्षितः । तथा च प्रीत्याश्रयकर्तृकः किञ्चि-द्विषयकः इच्छाविशेषः अभिलाषः । इत्थं च अभिलषतेः रुच्यर्थकत्वाभावात् न सम्प्रदा-नत्वम् । प्रकृते च प्रीत्याश्रयो हरिः, तदपेक्षया यद् अन्यद् भक्तिः, तत्कर्तृकैव प्रीतिरिति रुच्यर्थयोगः । न च इह विषयतासम्बन्धेन भक्तेरपि प्रीत्याश्रयत्वात् भक्तेः सम्प्रदानत्वं कुतो न स्यादिति वाच्यम्—हरेरेव समवायसम्बन्धेन प्रीत्याश्रयतया प्रीयमाणत्वाद् भक्तेः कर्त्र्या उक्तरीत्या प्रीयमाणत्वाभावादिति ।

ईप्सितः किम् ? यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे । अस्य वाक्यस्य अर्थः—यवेषु प्रवृत्ति-कामां गां प्रवृत्तिविमुखीकरोति इति । र्योगपूर्वकविश्लेषाभावात् "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इत्यप्राप्तौ "वारणार्थानाम् ईप्सितः" इति सूत्रेण 'यव' शब्दात् पञ्चमी भवति । तत्र यवानां स्वकीयतया संरक्षणीयत्वेन ईप्सितत्वाद् अपादानत्वं न तु गोः, तस्याः परकीयत्वेन अनीप्सितत्वात्, वारणीयतया ईप्सितत्वव्याघाताच्च । तथा च "तथायुक्तं चानीप्सितम्" इति सूत्रेण 'गोः' कर्मत्वाद् द्वितीया । यदा तु यवाः परकीयाः, गौस्तु स्वकीया तदापि यवानां विनाशाद् अधर्मः स्यात् । यवस्वामी गाम् अपहृत्य बध्नीयात् । गोस्वामिनं च यवस्वामी दण्डयेत् । अतो यवानां रक्षितुमिष्टत्वाद् ईप्सितत्वाद् अपादानत्वमस्त्येव । गोस्तु स्वकीयत्वेऽपि बाधकनिवृत्त्यै वारयितुम् इष्टतमत्वात् कर्मत्वम् ।

कृति किम् ? तद्धिते मा भूत् । कृतपूर्वी कटम् । अयम् आशयः—"कर्तृकर्मणोः" इत्येव सूत्रमस्तु, कर्तुः कर्मणश्च क्रियायोगे एव कारकत्वात् सम्भवः, क्रिया च धात्वर्थ एव । धातोश्च द्विप्रकाराः प्रत्यया भवन्ति—तिङः कृतश्च । तत्रापि तिङ्प्रत्ययानां लादेशतया 'कटं करोति' इत्यादौ "न लोकाव्ययनिष्ठा०" इति प्रतिषेधेन भाव्यम् । ततश्च परिशेषात् कृद्योग एव षष्ठी भविष्यति तस्मात् सूत्रे 'कृति' ग्रहणं किमर्थमिति प्रश्नः । 'कृति' ग्रहणं व्यर्थं सज् ज्ञापयति यत् मुख्यविशेष्यताकोपस्थितिजनककृत्प्रत्ययान्त-योगे एव षष्ठो भवति न तु तद्धितार्थविशेषणतयोपस्थितिजनककृदन्तयोगे । तेन 'कृतपूर्वी कटम्' इत्यत्र कर्मणः पूर्वम् अविवक्षया भावे 'क्त' प्रत्यये ततः पूर्वशब्देन समासे "पूर्वा-दिनिः सपूर्वाच्च" इत्यनेन कर्तरि इनि प्रत्यये तद्धितान्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायाम् विभ-क्त्युत्पत्तौ कृतपूर्वी इति । तदनन्तरं कर्मणः विवक्षायां कटशब्देन सह योगे तस्य "कर्तुरी-प्सिततमं कर्म" इति कर्मसंज्ञायां तस्य 'कृतः' इति कृदन्तयोगेऽपि अनेन सूत्रेण षष्ठी न भवति, तस्य तद्धितेनिप्रत्ययार्थविशेषणतया मुख्यविशेष्यताकोपस्थितिजनकत्वाभावात् ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधारस्त्रिधा—औपश्लेषिको, वैषयिकः, अभिव्यापकश्चेति। षट्सु कारकेषु अधिकरणस्य स्वरूपं वक्तुकामो दीक्षितः आधारस्य त्रीन् भेदान् निरूपयति। तथा च आधारस्य प्रथमो भेदः औपश्लेषिक इति। उपश्लेषः संयोगादिसम्बन्धः। तत्प्रयोज्यः आधारः प्रथमः इत्यर्थः। द्वितीयश्च वैषयिकः। विषयतासम्बन्धकृतः आधारः द्वितीयः इत्यर्थः। तृतीयस्तु अभिव्यापकः। स च सकलावयवव्याप्तिकृतः। तत्र औपश्लेषिकस्य कर्तृद्वारकस्य आधारस्योदाहरणं 'कटे आस्ते' इति। अत्र देवदत्तः कर्ता। तत्र साक्षाद्देवदत्तात्मककर्तृगताम् आसनक्रियां प्रति कटस्य संयोगसम्बन्धं पुरस्कृत्य देवदत्तद्वारा तदाधारत्वाद् अधिकरणत्वम्। कर्मद्वारकस्य औपश्लेषिकस्य आधारस्य उदाहरणं 'स्थाल्यां पचति' इति। अत्र 'तण्डुलान्' इति शेषः। तत्र च साक्षात्तण्डुलात्मककर्मगतां पाकक्रियां प्रति स्थाल्याः संयोगसम्बन्धं पुरस्कृत्य तण्डुलद्वारा आधारत्वाद् अधिकरणत्वम्। एवं च 'रूपे रूपत्वम् अस्ति' 'शरीरे चेष्टा अस्ति' इत्यादौ समवायेन औपश्लेषिकमाधारत्वं ज्ञेयम्। वैषयिकस्य आधारस्य उदाहरणं 'मोक्षे इच्छा अस्ति' इति। अत्र कर्तृभूतेच्छागतां सत्ताक्रियां प्रति मोक्षस्य विषयतासम्बन्धपुरस्कारेण इच्छाद्वारा आधारत्वात् अधिकरणत्वम्। अभिव्यापकस्य आधारस्य उदाहरणं 'सर्वस्मिन् आत्मा अस्ति' इति। अत्र आत्मरूपकर्तृगतां सत्ताक्रियां प्रति समग्रव्याप्तिं पुरस्कृत्य आत्मद्वारा सत्ताधारत्वात् सर्वस्य अधिकरणत्वम् अस्ति।

गोषु दुह्यमानासु गतः। "यस्य च भावेन भावलक्षणम्" इति सूत्रेण विहितायाः सप्तमीविभक्त्या उदाहरणमिदम्। तदनुसृत्य सूत्रस्यार्थो वृत्तिकृद्भिः एवं कृतः। तथा च सूत्रे 'भाव'पदेन क्रिया गृह्यते। तस्य (भावस्य) च लक्षणं सूचनमित्यर्थः। अत्र यद् अवश्यं पुनः पुनः लक्ष्यज्ञापकं तदेव न लक्षणम् किन्तु सकृद् ज्ञापकमपि। यथा—'यं कमण्डलुपाणिं भवान् अद्राक्षीत् स छात्रः' इति। यद्यपि सकृदसौ कमण्डलुपाणिः दृष्टः तथापि तस्य कमण्डलुः लक्षणं भवत्येव। क्रिया च कर्त्राश्रया कर्माश्रया च। निर्ज्ञातकाला हि क्रिया अनिर्ज्ञातकालायाः क्रियायाः कालपरिच्छेदकत्वात् लक्षणम्। तत्र प्रसिद्धक्रियाश्रययोः कर्तृकर्मणोर्वाचकात् शब्दात् लक्ष्य-लक्षणभावसम्बन्धे षष्ठ्यां प्राप्तायां सप्तमी-विधानार्थं वचनमिदम्। लक्षकत्वम् इह क्रियायाः साक्षात्, आश्रयस्य तु क्रियाद्वारेण परम्परयेति बोध्यम्। तत्र कर्माश्रयायाः क्रियायाः उदाहरणम् तु 'गोषु दुह्यमानासु गतः' इति। देवदत्तः कदा गतः इति प्रश्ने उत्तरमिदम्। लक्षकत्वसम्बन्धे अत्र सप्तमी भवति। तत्रापि दोहनक्रियायाः साक्षात् लक्षकता। गवां तु तदाश्रयतया। ततश्च गोदोहनदशायां गतः इत्युत्तरं पर्यवस्यति। 'दुग्धासु गतः' इत्यत्र तु अतीतदोहनविशिष्टाभिः गोभिः ज्ञाप्यमानगमनवान् इत्यर्थः पर्यवस्यति। गोदोहोत्तरकाले गत इति फलितम्। कर्तृगतक्रियायास्तु-'ब्राह्मणेषु अधीयानेषु गतः' इत्युदाहार्यम्।

निमित्तमिह फलम्। अयं भावः—'निमित्तात् कर्मयोगे' इति वार्तिके 'निमित्त' शब्दः फलार्थमवबोधयति। यदि तु कारणमित्युच्येत तर्हि 'जाड्येन बद्धः' इत्यादावतिप्रसङ्गः स्यात्। अतः इष्टसाधनताज्ञानस्य प्रवर्तकतया फलस्यापि हेतुत्वं बोध्यम्। एवं हि 'कर्मयोगे हेतुवाचकात् शब्दात् सप्तमी वाच्या' इति वार्तिकस्यार्थः पर्यवस्यति।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्र योगपदेन संयोगात्मकःसमवायात्मको वा सम्बन्धो गृह्यते न तु जन्यजनकभावादि-सम्बन्धः। तथा हि अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः। अन्ययोस्तु संयोगः इति। उदाहरणानि च यथा—(१) चर्मणि द्वीपिनं हन्ति, (२) दन्तयोः कुञ्जरं हन्ति, (३) केशेषु चमरीं हन्ति, (४) सीम्नि पुष्कलकः हतः। एषु प्रथमम् उदाहरणं 'चर्मार्थं व्याघ्रं हन्ती'त्यर्थं बोधयति। अत्र द्वीपिना कर्मणा चर्मणः समवाय एव, अवयवावयविनोः अयुतसिद्धत्वात्। द्वितीयं वाक्यं 'दन्तार्थं कुञ्जरं हन्ती' त्यर्थावबोधकम् अस्ति। अत्रापि कुञ्जरेण कर्मणा दन्तयोः समवाय एव। तृतीयं वाक्यं 'केशार्थं चमरीं हन्तो'त्यर्थावबोधकम्। अत्रापि चमर्या कर्मणा केशानां समवायः सम्बन्धः। चतुर्थं वाक्यं 'सीमार्थं पुष्कलको मृगो हतः' इत्यर्थावबोधकम्। अत्रापि पुष्कलकेन कर्मणा सीम्नः (अण्डकोषस्य) समवाय एव। चतुर्ष्वपि वाक्येषु सर्वत्र कर्ता तेन तेन फलेन युज्यते।

इति पङ्क्तिदीपिका

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुद्धिपत्रम्

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३२	४	श्वसानुप्रदाना	श्वासानुप्रदाना
३३	१५	वर्गेन	वर्गेषु
७२	३३	आधिक्रियते	अधिक्रियते
१०८	३२	बुद्धि	वृद्धि
१५२	४	कुत्वेन	चुत्वेन
१५३	७	तत्र	अत्र
१५३	८	वकारस्य	चकारस्य
१५७	५	म एव	यवला
१५७	६	स्यादित्यर्थः	स्युरित्यर्थः
१५७	१२	तथापि	तत्रापि
१६३	३	एतपवादे	एतदपवादे
१६४	३	····अनुस्वारास्याप्यच्त्वात्	····अनुस्वारस्याप्यच्त्वात्
१७०	२	कस्कदिषु च	कस्कादिषु च
१९७	४०	विन्धुं	सिन्धुं
१९७	४०	दिव्सस्तभायद्	दिव्यस्तभायद्
३०८	१०	'इको यणचि'	'अचि श्नु०'
२४२	३४	बहुवचव	बहुवचन
२४४	१६	आवश्यक	अनावश्यक
२९७	३८	वात-प्र-√म	वात-प्र-√मा
२२२	७	कुमति चेति	कृत्यचः चेति
३११	२९	द्वितीया एकवचन	प्रथमा-द्वितीया-द्विवचन
३१५	२७	··· सर्वस्थानयोः	···सर्वनामस्थानयोः
३१६	८	अङ्गस्येत्यधिकृतम्	अङ्गस्येत्यधिकृतम्*
३१६	३०	अधिकार	आक्षेप
२२९	१	गावो	गावौ
३३५	३	सवस्याः	सर्वस्याः
३४५	३२	भ्याम्,	भ्याम्, < निश्भ्याम्, <निष्भ्याम्
३५२	३०	नुम्	नुट्

* अधिकृतमित्यस्य आक्षिप्तमित्यर्थः। अस्मिन् प्रसङ्गे रूपावतारेधर्ममीतिरपि तथैव सूचितवान्। अतः तत्र तेन एवं निगदितम्—"ऋकारान्तस्याङ्गस्य ङसिङसोः अति परतः पूर्वपरयोः उकारादेशो भवति, रपरश्च" इति।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३५६	३८	हे अतिस्त्रियः	हे अतिस्त्रयः
३५७	१	अतिस्त्रियः	अतिस्त्रयः
३५९	२७	हे अतिस्त्रियः	हे अतिस्त्रयः
३५९	२७	'इयङ्'	'गुण'
३६६	१	पुगर्भूः	पुनर्भूः
३६६	१०	पुनर्भ्वाः	पुनर्भ्वँ, पुनर्भ्वः
३७४	६	स्वमोद्डादेश····	स्वमोरद्डादेश····
३७८	४	प्रत्ययलक्षणभावे	प्रत्ययलक्षणाभावे
३८८	५	मांसपचन्या	मांस्पचन्या
३८६	२८	टा-अजादि	टा-आदि अजादि
४०९	३७	···योग्यार्थकत्वाभवात्	योग्यार्थकत्वाभावात्
४१६	१८	'अन्वादेशे'	'इदमः', 'अन्वादेशे'
४७३	३९	६-२-९८	७-२-९८
४९९	३४	अत्वसन्तस्य	अतु, असन्तस्य
५०१	११	उणादिसूत्रमेतत्	उणादिसूत्रमेतत्
५०३	२७	जक्षित्यादयः	जक्ष्, इत्यादयः
५०४	७	निरूप्यन्ते	निरूप्यन्ते
५०४	१४	सुब्लकि	सुब्लुकि
५११	६	'सर्वाभ्यां वामौ'	'सवाभ्यां वामौ'
५१८	१६	समाससान्ततायाः	समासान्ततायाः
५१८	२५	'पातेर्डसुन्'	'पातेर्डुसुन्'
५१९	७	नुमस्थानिकानुस्वारस्यैव	नुम्स्थानिकानुस्वारस्यैव
५५४	४	तुदन्ती-नुदन्ती	तुदन्ती-नुदती
५६०	९	तरस्	तिरस्
५६३	१०	···वाक्यलङ्कार···	·· वाक्यालङ्कार···
५६४	१५	अहोस्वित्	आहोस्वित्
५६८	६	अव्यवीभावश्च	अव्ययीभावश्च
५६८	३८	···वदिचरितमि···	वदिचरिहुतमि···
५७४	३३	··· शब्दाभ्यामुपाक्तौ	शब्दाभ्यामुपात्तौ
५८७	३०	भाष्ये	भाष्ये
५८७	३३	लघुशब्देम्दुशेखरे	लघुशब्देन्दुशेखरे
५९३	३१	उणादि ३२७	३२७
५९४	१४	'तदो सः सौ'	'तदोः सः सौ'
५९९	३९	शुश्रूषन्त	शुश्रूषन्ते
६०५	१९	'टाप'	'टाप्'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
६०५	२३	'आत स्थाने'	'आतः स्थाने'
६०८	१८	गङ्गका	गङ्गाका
६१८	२४	"यस्येति च" ३१२	"यस्येति च" ३११
६२६	३५	सवंतः	सर्वतः
६३२	३१	१	२
६३२	३३	२	१
६३२	३८	भिषजी	भेषजी
६३२	३९	नवर्तिकौषधिः	निर्वर्तिकौषधिः
६९१	२	वितेकः	विवेकः
६९७	६	·· प्रयोज्यतुष्टरूप···	···प्रयोज्यतुष्टिरूप····
६९७	२६	अन्यपदार्थकर्मणे	अन्यपदार्थकर्मणो
६९९	२	स्पशति	स्पृशति
७०७	२९	प्रयोज्यकर्तृणां	प्रयोज्यकर्तृणां
७१५	६	दृश्यये	दृश्यते
७१७	२७	षष्ठी	द्वितीया
७२८	३९	यथेष्टविनियोग···	यथेष्टविनियोगः···
७५२	२८	चतुर्थी च शिष्या···	चतुर्थी चाशिष्या···
७५३	८	कर्मण	कर्मणः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

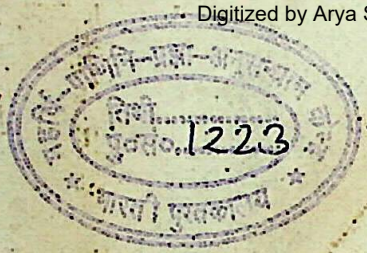

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

❀ आगामी प्रकाशन ❀

काशिका

'दीपिका' हिन्दी-व्याख्या-सहित

व्याख्याकार—

श्री गोपालदत्त पाण्डेय

संस्कृत-व्याकरण के प्रक्रिया-ग्रन्थों में वामन-जयादित्य प्रणीत काशिका का महत्त्व सर्वविदित है। पाणिनि-व्याकरण की पूर्णता के प्रतीक इस संस्कृत [illegible] गई दो व्याख्यायें न्यास और पञ्जिका सुप्रसिद्ध हैं। हिन्दी में इस [illegible] व्याख्या अभी तक कोई नहीं लिखी गई है। इस अभाव की पूर्ति के लिये सोपानक्रमानुसार विश्लेषण-पूर्वक यह व्याख्या लिखी गई है। सूत्रार्थ की निष्पत्ति के लिये प्रकृत व्याख्या में अपेक्षित पदच्छेद, पदार्थनिर्वचन, समास-विग्रह, वाक्ययोजना, आक्षेप तथा समाधान आदि का यथामति निरूपण किया गया है। अध्यायक्रमानुसार आठ खण्डों में यह ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित किया जा रहा है।

पाणिनि-व्याकरण का आलोचनात्मक इतिहास

लेखक—

श्री गोपालदत्त पाण्डेय

अपनी विशेषताओं के कारण पाणिनि व्याकरण ही संस्कृत व्याकरण का पर्याय समझा जाता है। पाणिनि [illegible] नैयायिकों का तेज मन्द हो गया। इसी के फलस्वरूप लगभग ३००० वर्षों से इसकी अनवच्छिन्न परम्परा चली आ रही है। देश-विदेश में इस पर बहुत अनुशीलन हुए हैं। इस पर आधारित व्याख्याओं के परिवेश में पठन-पाठन प्रणाली में परिवर्तन होते चले आए हैं। पाणिनि के समय से आज तक जो इसमें परिवर्तन एवं परिवर्धन हुए हैं उनकी समीक्षात्मक समीक्षा इस पुस्तक की रचना का मुख्य उद्देश्य है।

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक एवं वितरक)

के ३७/११७ गोपालमन्दिर लेन,

पो० बा० नं० १२९,

वाराणसी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.